

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE



पण्डितराज श्रीजगन्नाथ विरचितः

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकारः

मैथिलभोजप्रियकविरोसर—

पण्डित श्री बदरीनाथ झा

मुजफ्फरपुरस्थित राजकीय संस्कृत महाविद्यालयस्य भूतपूर्व प्रध्यापकः।

हिन्दीव्याख्याकारः

व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य—

पण्डित श्री मदनमोहन झा

मुजफ्फरपुरस्थित राजकीय संस्कृत महाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः



चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

प्रकाशकः—

चौखम्बा विद्या भवन,

चौक, बनारस -

(अस्य पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽविकाराः प्रकाराकर्षीन् ।)

Chowkhamba Vidya Bhawan,

Chowk, Banaras-1

1955

मुद्रकः—

विद्याविलास प्रेस,

बनारस



प्रस्तावना

अलङ्कार-शास्त्र

'अपकारकस्वादलङ्कारः सप्तममहम्' इति पाष्पावरोधः, (काव्यमीमांसा)

'अपकारक होने से अलङ्कार (शास्त्र) सप्तम अह (वेदाह) है'

कविराज राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ के शास्त्र-निर्देशाध्याय में जिस अलङ्कार-शास्त्र की खोज की है, वह कौन सा शास्त्र है ? उस शास्त्र की परिभाषा क्या हो सकती है ? यह सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु है ।

विचार करने से निश्चित होना है कि उस विचार-पुञ्ज को अलङ्कार-शास्त्र कहते हैं, जो राजशेखर के ब्रह्मावतार पञ्चदश विधा-स्थान^१ काव्य-पदार्थ का शासन करता है अर्थात् काव्यरूप-रस के लक्षण जिस शास्त्र में किये गये हों, उसका नाम अलङ्कार-शास्त्र है अथवा अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि उन विविध आलोचनाओं का नाम अलङ्कार-शास्त्र है, जिनके द्वारा काव्य की बारीकियाँ, अच्छा और बुराई सात हो सके ।

इस शास्त्र को साहित्य शास्त्र भी कहते हैं, यद्यपि संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य इत्यादि-रस में 'वाक्य' रूप व्यापक अर्थ में भी साहित्यपद का प्रयोग होता है, राजशेखर ने साहित्य शब्द का अर्थ 'काव्य' माना है^२, तथापि शास्त्रपद के साथ प्रयुक्त साहित्यपद का तात्पर्यार्थ काव्य-नियामक-विषय ही समझा जाता है ।

अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भकाल

अलङ्कार के विषय में विचार करनेवाला सबसे प्राचीन निबन्ध 'अभिपुराण' उपलब्ध होता है, उसमें शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, विधान और रीति आदि के विवेचन किये गये हैं, अतः अलङ्कार-शास्त्र का मूल अभिपुराण की ही मानना पड़ेगा । परन्तु इन विवेचनों को शास्त्र कहलाने का गौरव इण्डी, नामह आदि विद्वानों ने प्रदान किया, क्योंकि अभिपुराण के बाद सबसे प्राचीन अलङ्कार विषयक निबन्ध इन्हीं महात्मियों को प्राप्त हुए और इन्होंने ही सर्व प्रथम काव्य के नियमन करनेवाली आलोचनाओं को अलङ्कारशास्त्र कहना प्रारम्भ किया ।

अलङ्कारशास्त्र के नामकरण का बीज

यद्यपि उक्त काव्य-नियामक शास्त्र में अलङ्कारों के साथ साथ रस, गुण, दोष आदि सभी काव्याङ्गों का निरूपण किया गया है, तथापि 'अलङ्कार-शास्त्र' ही नाम क्यों पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ विद्वान् यह देते हैं कि नामधेयक अलङ्कार पद 'अलङ्कृत्यते अनेन' इस कर्णव्युत्पत्ति से अनुप्राप्त आदि का बोधक नहीं, अपितु 'अलङ्कृति अलङ्कारः' इस भावव्युत्पत्ति से दोष-त्याग और गुणालङ्कारादि-प्रवृत्ति प्रयुक्त सौन्दर्य का बोधक है और इस सौन्दर्य के प्रतिपादक होने के कारण उक्त शास्त्र का व्यवहार 'अलङ्कार-शास्त्र' नाम से किया गया है । इस तर्क की

१. 'सकलविधास्थानैकाग्रतनं पञ्चदश काव्य विधास्थानम्'

२. 'शब्दार्थयोर्दोषसद्भावान्न विधा साहित्यविधा'

पुष्टि 'वामन' के सन्दर्भ से भी होती है। उन्होंने कहा है कि 'अलङ्कार-युक्त होने से काव्य का ग्रहण (ज्ञान) करना चाहिये। सौन्दर्य को ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार पद भावसाधन होने से अलङ्कृति-परक है। करणव्युत्पत्ति मानकर इस पद का प्रयोग यमक, उपमा आदि में भी होता है। वर सौन्दर्य काव्य में दोष का त्याग और शुण, अलङ्कार आदि के ग्रहण से उत्पन्न होता है'

वस्तुतः 'अलङ्कार शास्त्र' के नामकरण का बीज यह प्रतीत होता है कि दण्डी, भामह, भट्टोन्नद, रुद्रट और वामन पर्वन् जिन प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी प्रदन्धों की रचना की वे सब के सब ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर अलङ्कार-कोटि में ही समाविष्ट किये। अतः एव उन लोगों ने काव्य में अलङ्कार को ही सर्व-प्रधान माना, किरतो 'प्रधान के अनुसार व्यवहार होते हैं, जैसे अन्य लोगों का आवास रहने पर भी मङ्गप्रधान ग्राम में 'मङ्गग्राम' ऐसा व्यवहार होता है' इस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों के युग में प्रकृतशास्त्र का 'अलङ्कार-शास्त्र' यह नामकरण प्रमाणयुक्त ही था। बाद में 'ध्वन्यालोक' के निर्माता 'भानन्दवर्धन' ने अनेक सुक्तियों से काव्य में ध्वन्यमान अर्थ की प्रधानता स्थापित कर दी, तदनन्तर भावी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थों में भी रस आदि असंख्यकमव्यङ्ग्यों के ही सर्व प्रधान होने की व्यवस्था दी, तदनुसार यद्यपि आज के युग में प्रकृतशास्त्र का नाम उक्त युक्ति से 'ध्वनिशास्त्र' अथवा 'रस-शास्त्र' होना चाहिये, तथापि ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि हम भारतीय सदा से रुढ़ि के भक्त रहे, फिर यहा प्रकट ही उस भक्ति को कैसे मुखा देहने? फलतः हम आज भी प्राचीन परम्परा के अनुरोध से काव्य-नियामक प्रदन्धों के विषय में 'अलङ्कार-शास्त्र' इसी नाम से व्यवहार करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास

इस अलङ्कारशास्त्र में जितनी गम्भीर आलोचनाएँ की जाती हैं, उतनी अधिक समसंस्थिता उसमें उत्तरोत्तर उत्पन्न होती है और उसके फलभूत काव्य में भी अधिकाधिक उपादेयता सम्पन्न होती है।

प्रायः सभी समालोचक एक स्वर से हम बात को स्वीकार करते हैं कि अखिल भाषा साहित्यों का उद्गमस्रोत वह सृष्टिग वाच्य ही है जिसका साहित्य अनादि है और अन्तस्फलस्पर्शी साहित्यकारों के गम्भीरतम विवेचनाओं से क्रमशः मार्मिकता की चरम सीमा पर पहुँच चुका है। प्रायः प्राचीन काल से आज तक सभी आलङ्कारिकों ने अपने अपने निदन्धों में इस बात का मार्मिक विचार किया है कि 'वचिरार्थक शब्दों का समुचित सन्निवेशरूप काव्य' किन् किन् साधनों से सङ्घट्टों के हृदयावर्जन करने में अधिक सक्षम होगा। स्थूल रूप से उनके विचारों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) एक युग यह था, जब विच्छिन्ति-विशेषवती पद-रचना को ही आलङ्कारिक लोग काव्य की आत्मा मानते थे, और काव्य के शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ में परिलक्षित होने वाले

१ 'काव्यं प्राह्ममलङ्कारात्, सौन्दर्यमलङ्कारः । अलङ्कृतिरलङ्कारः । करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कार-शब्दो यमकोपमादिषु वर्तते । स दोषशुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम् ।' (अलङ्कारसूत्र)

२ 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति, मत्तयामादिवत् ।'

३ 'रीतिरात्मा काव्यस्य' । (वामन)

अलङ्कार का ही काव्य में चमत्कार का कारण बनते थे। गमद आदि कविषय विद्वानों की दृष्टि वाच्य से अयोग्य गई और उन्होंने व्यङ्ग्य अर्थ को देखा—समझा—परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ को भी उन्होंने वाच्य का ही पोषक माना, जग, एव उनके मतानुसार व्यङ्ग्य भी अलङ्कार-श्रेणी में ही रह गया, उससे ऊपर नहीं उठ सका। मूढ आदि लाचार्यों ने यद्यपि रसमाय आदि पदार्थों को भी बूढ़ निकाला, तबपि उनमें भी अपने वादित्त्विक पूर्वजों का संस्कार अनुवर्तमान था, जिससे उन्होंने वाच्यार्थ का पोषक मान कर रसमाय आदि को भी 'रसवत्' 'प्रेय' आदि अलङ्कारों की ही सभा प्रदात की।

(२) बाद में अलङ्कार-त्रय का दूसरा युग आया, जब अभिषा, लज्जा। और तात्पर्य इन तीनों धृतिवों से अतिरिक्त व्यङ्ग्यधृति की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा वाच्य और लक्ष्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार के वादीवाद के बार ग्राह्य में सिद्ध कर दिया गया और वही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान समझा गया, तथा उत्तम सप्तक ध्वनिकाव्य का कारण कहाया। इस मध्यकाल में आनन्दवर्धन के स्वरूप के अनुसार मम्मदमद आदि अलङ्कारिकशिरोमणि बलु, अलङ्कार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनिवों को काव्य की आत्मा मानने लगे।

(३) इसके अनन्तर आज वह युग भी उपस्थित है, जब उक्त तीनों ध्वनिवों को काव्यात्मा न मानकर केवल रसक ध्वनि को ही निद्रजन काव्य की आत्मा कहने लगे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उत्तरोत्तर अन्तस्तल की गवेषणा करता हुआ अलङ्कारिकों का हृदय चरम विश्रान्तिस्थान रस को पार ही सुप्रसन्न हो सका।

ऊपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्रान्ति का जन्मदाना सस्कृत साहित्यकारों की मर्म-गवेषिणी दृष्टि उत्तरोत्तर तार्त्विक आलीबन करने में सफल हुई।

अलङ्कारशास्त्र की यह मार्मिक आलोचनापद्धति पण्डितराज मगधोपसक्त भास्कर विश्रान्त हो गई। इनके बाद आज तक किसी ने समय काव्याहो पर सर्वमान्य आलोचनात्मक निरन्ध की सृष्टि नहीं की। यद्यपि आज की सस्कृत का अलङ्कारशास्त्र सर्वथा नवीनता में शीज नहीं है, तथापि इतना तो मानना हो पड़ेगा कि रसगङ्गाधर की श्रेणी में आने योग्य निरन्ध की रचना न मिले। और न आने ही होने की आशा है।

रसगङ्गाधर

आलोचना अलङ्कारशास्त्र का प्राणभूत है, अतः अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में उत्कृष्टता और मयकृष्टता के चारतम्य-विवेचन करने के लिये सबसे पहले इसी बात पर ध्यान देना होगा कि किस ग्रन्थ की आलोचना-पद्धति कैसी है ?

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'रसगङ्गाधर' सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार-ग्रन्थ सिद्ध होता है, क्योंकि रसगङ्गाधर का जिनना साग उपलब्ध है और उसमें अलङ्कारशास्त्र काव्यो जो विषय प्रतिपादित हुआ है, वह पूर्व के निरन्धों की अपेक्षा अति विशद है और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित प्रतिपादन कौली के द्वारा स्थिर किया गया है तथा वादयुग के अनुकूल नव्यन्याय की भाषा में वर्णित हुआ है, जिससे अब अलङ्कार-क्षेत्र में जिस किसी की नुक्ति दृष्टी वस्तु समझ कर प्रविष्ट नहीं हो

सकती। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि इसमें सभी विषयों की अन्तःस्पर्शिनी आलोचना की गई है।—प्राचीनों के निबन्धों में उस प्रकार की आलोचना करने के लिए उतनी सुविधा भी नहीं थी, क्योंकि प्रायः वे सभी निबन्ध पद्यरूप थे। पद्यनिर्माण में निपुणतम विद्वान् भी गिनेगिनाए अक्षरों में उन उन शब्दों के सभी अतिशयों को समाविष्ट नहीं कर सकते। काव्य-प्रकाश की कारिकाओं से नया सभी प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट अवगत होते हैं। यदि हा, तो फिर मम्मटमदृ स्वयं वृत्ति में उन्हीं विषयों को विशद करने की चेष्टा क्यों करते ?

दूसरी अशुविधा यह थी कि प्राचीन साहित्य निबन्धकारों के समय में बहुत विषय ऐसे थे, जिनके स्वरूप ही सर्वथा निर्गोत नहीं हो सके थे, जैसे वामन आदि के समय में ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। फिर तादृश विषयों की चरम आलोचना उन निबन्धों में कैसे हो सकती थी ? बहुत विषय ऐसे होते हैं जो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार क्रमिक आवर्तन-परिवर्तनों से ज्ञाना प्रकार की परिस्थितियों का अनुभव कर लेने के बाद ही पूर्ण परिनिष्ठित होते हैं।

काव्यों की जितनी अधिक सृष्टि होनी है, अलङ्कारशास्त्र में गुण-दोषों की गवेषणा, नानाविध उदाहरणों के सामने में रहने से, उतनी ही अधिक मर्माभिमुखी होती है। ऐसा होना समुचित और स्वाभाविक भी है, क्योंकि अनेक प्रकार के लक्ष्यों के उपस्थित रहने पर ही लक्षणसम्बन्धी प्रचुर विचारों का अवसर प्राप्त होना है, अत एव व्याकरणशास्त्र में यह एक सिद्धान्त ही मान लिया गया है कि 'उत्तरोत्तर मुनि प्रमाणभूत' है^१।

रसगङ्गाधर में ये सभी सुविधायें जुट गईं। नाट्यशास्त्रप्रवर्तक भरत मुनि से लेकर आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त आदि तक के विद्वानों ने काव्य के जीवानुभूत जिन तत्त्वों की गवेषणा की, वे वादि-प्रतिवादियों के नानाविध सच्यों के बाद सिद्धान्तित होकर पण्डितराज जगन्नाथ से प्राकृतन आचार्यों के निबन्धों में पूर्ण परिनिष्ठित हो चुके थे। अतः उन तत्त्वों के स्थापन में पण्डितराज को आयास नहीं करना पड़ा, केवल पूर्वस्थापित विषयों में मार्मिक परिष्कार करना ही उनके लिये अवशिष्ट रहा, जिसको उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सफल रीति से सम्पन्न किया है। इसकी पुष्टि करने के लिये मैं उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझता, अधिकारप्राप्त सङ्कटय पाठक ग्रन्थ के अध्ययन करने पर स्वयमेव इस बात की सत्यता का अनुभव करेंगे।

विषयप्रतिपादनशैली

रसगङ्गाधर की प्रतिपादनशैली बहुत ही प्राञ्जल है। वक्तव्य वस्तु का प्रतिपादन देने नये मुठे, प्रौढ तथा साध साध मधुर अक्षरों के द्वारा किया गया है, जिसमें सन्देह विना अर्थान्तर-कल्पना का थोड़ा भी अवकाश नहीं रह जाता। पद्यरूप लक्षण ग्रन्थों में जिस तरह विवश होकर लेखक को वर्णनीय विषय का सजीव करना पड़ता है अथवा अन्य के देर-फेर से अर्थान्तर-कल्पना का अवसर दीक्षाकारों को प्राप्त हो जाता है, उस प्रकार इस ग्रन्थ में नहीं होता।

'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार के दोष अत्यधिक मात्रा में दीख पड़ते हैं। उस ग्रन्थ की प्रतिपादनशैली इतनी सक्षिप्त और अस्पष्ट है, कि अनेकानेक टीका टिप्पणियों के होने पर भी उस ग्रन्थ की दुर्दृष्टता ही ज्यों की त्यों नहीं बनी रही, अपितु टीकाकारों की बरसूर विरोधिनी ज्ञाना-विष व्याख्याओं से और अधिक भ्रान्ति की ही सृष्टि हुई। मेरा यह कथन कहीं तक सत्य है,

इसका अनुभव काव्यप्रकाश के अमर पाठक स्वयं कर सकते हैं, अतः काव्यप्रकाश के उद्धरण देकर प्रस्तुत प्रस्तावना का काव्यवर्धन व्यर्थ है।

रसगद्गाधर की प्रतिपादनशैली इन दोनों से सर्वथा निर्मुक्त है। यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली में नव्यन्याय के दृढ़ की (अवच्छेदकतावच्छिन्न से युक्त) भाषा अपनाई गई है, जिससे नव्यन्याय से सर्वथा परिचय नहीं रखने वाले अल्पश व्यक्तिओं को आपाततः यह ग्रन्थ कठिन प्रतीत होता है, तथापि यह कठिनता निम्न प्रकार की वस्तु है, इसके रहने पर भी उक्त दोनों का प्रसङ्ग नहीं आता। वस्तुतः इस कठिनता का अनुभव नव्यन्याय की शैली से परिचित पाठकों को होता भी नहीं है।

कुछ लोग यह प्रश्न उठा सकते हैं कि साहित्य ग्रन्थ में नव्यन्याय की भाषा अपनाई ही क्यों जाए, जिससे बेचारे नव्यन्यायप्रतिपक्ष पाठक इस ग्रन्थ के रसास्वादन से वञ्चित रहें? मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर हम बादयुग से पूछना चाहिये, जिसमें बिना उस भाषा को अपनाने या उस शैली का अनुसरण किये, किसी का निरन्तर पण्डितमण्डली की प्रहार कत्तौदी पर सरा उतर ही नहीं सकता था। संस्कृत साहित्य का वह एक बड़ा ही विचित्र बादयुग था, उस युग में एक, दूसरे का खण्डन करने के लिये मुँह बाँधे खड़ा रहता था। यदि किसी के ग्रन्थ में आपाकृत अथवा शैलीकृत किंवा विषयगन्ध भी शिथिलता भा जाती थी, तो अभिलम्ब ही प्रतिवादी उसको डुङ्गे डुङ्गे करके दूर फेंक देते थे, फलतः लेखक को कौनों के बदले अनीति ही हाथ आती थी। अतः पण्डितराज को विषय होकर उस प्रकार की प्रौढ़ भाषा और शैली का ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि प्रतिवादियों के प्रहार से बचने के लिये यही एक रास्ता था।

इस प्रकार की भाषा तथा शैली को अपनाने का दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व साहित्यशास्त्र की उसी भाषा और शैली के अभाव के कारण, प्रौढ़ पण्डित हीनदृष्टि से देखते थे और विद्या की यह पवित्र शास्त्र नयमाया हो रही थी, सभी उस पर अधिकारी होने का दावा करते थे, अथवा संस्कृत में साहित्यशास्त्र में अपनी नोंच गढ़ाने लगे थे, यह स्थिति साहित्यमर्मज्ञ पण्डितराज को सह्य नहीं हुई, अतः उन्होंने जानबूझ कर इस ग्रन्थ में उस प्रौढ़शैली को अपनाया। उनका उद्देश्य पूर्ण भी हुआ। इस ग्रन्थ के निर्माण हो जाने के बाद अलङ्कारशास्त्र एक अमोघ दुर्ग हो गया। अब इस शास्त्र में साधारण संस्कृतियों का प्रवेश ही ही नहीं सकता। प्रौढ़ पण्डितों के लिये भी अब यह शास्त्र हीन दृष्टि से देखने योग्य नहीं समझा जाना है। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इसके उचित अधिकारी हैं। मेरी तो यहाँ तक धारणा है कि बिना उस शैली को अपनाने विषय का तटस्थशी विश्लेषण होता ही नहीं, जिसका जामास पाठकों को अग्रिम सन्दर्भ से प्राप्त होगा।

विषयों का स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण

पण्डितराज ने रसगद्गाधर में विषयों का जैसा स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण किया है, वैसा अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों में मिलना दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में जिस विषय की पकड़ है, उसको मूर्तरूप मानो पाठकों के सामने खड़ा कर दिया है। इस बात की जाँच करने के लिये इस ग्रन्थ का रसनिरूपण देखिये। अमिनदयुग के अन्त की व्याख्या काव्यप्रकाश में मम्मट ने और

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना काव्यप्रकाशभाष्य के अध्ययन से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होना है ? भट्टनायक का मत तो काव्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रकाश' मौन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है ?' इस स्वाभाविक जिज्ञासा की ज्ञान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशधर को आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक शब्दों में विशदरूप से लिखा है।

'नवों रसों के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आलंकारिक लिखते हैं, मम्मटमठ ने भी लिखा है, परन्तु क्यों वे स्थायीभाव हैं ? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं ? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं कहलाते ? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना असम्भव है।

स्योपारस के दो भेद हैं, सयोग और वियोग इतना सभी कहते हैं और साहित्य से थोड़ा भी सवन्ध रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु सयोग और वियोग से यहाँ क्या विवक्षित है इस बात को किसी ने भी नहीं लिखा, किंतु यदि साधारण पाठक सयोग का अर्थ सामानाधिकरण्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझे, तो इसमें उनका क्या दोष ?

वस्तुतः सयोग और वियोग पद के अर्थ यहाँ सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य नहीं विवक्षित है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावस्था में जो एक शय्यासीन दम्पति में भी वियोग माना जाना है, एवम् एक जगह नहीं रहने पर भी मान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दृष्ट में भी सयोग वर्णित होता है, वह असंगत ही जायगा, अतः सयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे वितरङ्गिणों विवक्षित हैं, यत्प्रयुक्त 'संयुक्त हूँ' और 'वियुक्त हूँ' इस तरह की उक्ति होती है। यह है रसगङ्गाधर का विश्लेषण।

कितना गिताया जाय, पाठकों की पद पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराज का विषय-विश्लेषण पाण्डित्य परिलक्षित होगा, अलंकार-प्रकरण में पण्डितराज की वह विश्लेषणातुरी और अधिक प्रकट हुई है। परन्तु उस प्रकरण से प्रस्तुत भाग या सवन्ध नहीं है, अतः उस प्रकरण का विवेचन प्रितीव भाग की प्रस्तावना में ही देखिये

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

यद्यपि काव्य की आत्मा व्यङ्ग्य अर्थ है, परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ का भी आधार शरीरस्थानीय पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का भी एक स्वतन्त्र महत्त्व है। कान्ता-समिन्त-उपदेश जो एक काव्यका प्रमुख प्रयोजन माना गया है, उसके लिये विदेशों को अभिमुख करनेवाले काव्य-तत्त्वों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्व प्रथम सामने आनेवाली पद-रचना ही श्रोता के मन को आकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उससे आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही कौन करेगा ? अतः यहाँ पद-रचना-कौशल सर्वाधिक सम्प्रेक्षित है। आकर ग्रन्थों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अलंकार तो गण हैं, वस्तुतः वचनों की अलंङ्कृति शृष्ट तथा तिव् की

व्युत्पत्ति है। इसी को सौश्रम्य कहते हैं, अर्थाव्युत्पत्ति ऐसी वस्तु नहीं है।^१ अतिप्राचीन आचार्यों ने तो पद-रचना की यहाँ तक गौरव-प्रदान किया कि उन्हीं की कान्य की आत्मा स्वीकार कर लिया।^२ सप्यकाव्यिक आचार्यों ने भी उत्तरोत्तर उसका महत्त्व अधिक ठहराया है। पतञ्जलक ही और निम्न प्रशस्तीकृतियों हैं—

‘किंवा कवितया राजन् ! किंवा वनितया तथा ।

एदविन्यासमायेन मनो नापहतं यया ॥’

अपि च—

‘अदिवितगुणापि सत्कविभगितिः कर्णेण धमति मधुधारां ।

अनविगतपरिमलापि च इतं हरति मालती-माला ॥’

‘उस कविना अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद-विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन की नहीं हर लेनी।^३ एवम् ‘गुणज्ञान न होने पर भी सत्कवियों की वक्ति कानों में मधुधारा बरसाती है। ठीक ही है—सौरभ का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माला दृष्टि का हरण करती ही है।’

किन्तु व्याकरण के पटिल नियमों से बद्ध इस संस्कृत भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही शुष्कन बठिन ही नहीं, अपितु एक प्रकार से असम्भव सा ही है। इस पक्ष से संस्कृत भाषा में रचना करने वाले पाठक घबड़ावें नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से गैरे कथन पर विचार करें। उदा०, ह्यप्, सयोग आदि को छोड़ कर कथन, विप्रलम्भ आदि श्लेषरूप रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी बठिन है, उस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं तादृश रचना करने का प्रयास कभी किये होंगे। देखिये—पूर्वकाव्यिक अर्थ पद-पद पर आता है, और वहाँ के किये अनुशिष्ट ‘वत्ता’ प्रत्यय देता है कि मधुराक्षर-सुकु हृन्त धातु को भी ‘इद्वा’ ‘ऊद्वा’ इत्यादि कडुनरूप में परिणत कर देता है।

यदि उन्नयन जोड़ कर ‘व्यप्’ के रूप में उसको लाते हैं, तथापि दो व्यक्तियों का सयोग अनिवार्य ही रहेगा। इसी तरह हृन्त धातु से ‘क’ ‘तुमुन्’ आदि प्रत्यय करने पर भी कटाक्षरता सामने आती है, कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है। अमरक के समान महाकवि—जिनका एक-एक पद्य सौ प्रशस्तियों के समान माना जाता^४ है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं। आचार्य सम्मट भट्ट भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उन पद्यों को उद्धृत करने के कारण पदरचना के औचित्य से अनिश्चित से ही प्रभावित होते हैं। क्योंकि अमरक के एक पद्य^५ को

१. ‘रूपकादिरलकारं बाह्यामाचक्षते परे। सुपां निष्ठा च व्युत्पत्तिं वाचा वाङ्मन्यलकृतिम् ॥

२. ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ । ३. ‘अमरकवैरेक पद्यं प्रबन्धशतायते’ ।

४. शल्य वास-गृह विलोम्यशयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः ।

निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्यपत्युर्मुखम् ॥

विश्रम्भं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम् ।

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हस्ता नाला चिर चुम्बिता ॥

इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनैः, शनैर्निद्रा, निर्वण्यपत्युर्मुखम्, विश्रम्भम्, परिचुम्ब्य, लज्जा-नम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं।

उन्होंने गृह्यारतस ॥ उदाहरण में स्पष्ट किया है, जिसमें बहुतेरे पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं। सत्य बात तो यह है कि अलङ्कार-शास्त्र-ग्रन्थों आचार्यों ने माधुर्य गुण के लिये 'दशगोहन, समुक्ताक्षर-रहित' इत्यादि रूप से वर्णों की गणना अवश्य की है, परन्तु प्रयोग में उसका निर्वाह वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रसङ्ग पर अधिक विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अलङ्कारशास्त्र की कोई भी पुस्तक उदाहरण उसमें मधुर रसों के उदाहरणरूप से आये हुये कतिपय पद्य ही ऐसे मिलेंगे, जो सर्वथा निषिद्ध समुक्ताक्षरादि से रहित होकर निर्दोष सिद्ध हों।

प्रायः प्राकृत साहित्य के सहयोग से संस्कृत के कवियों ने भी जब पद-रचना-विषयक इस मार्मिकता को अपनाया तब पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मार्मिक विद्वान् देखेंगे कि सम्प्रति मध्य के समय में संस्कृत भाषा की मधुर रचना के विषय में विगना विचार किया गया तदपेक्षया साहित्यदर्पण के निर्माण काल में उसका विचार कुछ अधिक होने लगा। अतः एव स्वयं साहित्यदर्पणकार विजयनाथ के द्वारा अथवा तत्समकालिक अन्य कवियों के द्वारा रचे हुए संस्कृत के पद्य, अधिक कलिन पदानवी से अलंकृत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल यह था जब संस्कृत साहित्य से सुन्दर-सुन्दर अंशों को लेकर समृद्ध होनी हुई मगधभाषा (हिन्दी) पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। सन्त सूर, तुलसी और 'सगसर' के निर्माता बिहारीलाल द्वारा हिन्दी कविता अधिक प्रफुल्लित हो उठी थी। हिन्दी भाषा में-तदभव शब्दों के द्वारा अक्षरों को छन्द तथा गुण बना लेने की बड़ी स्वतन्त्रता थी, जिससे बिहारीलाल की रचना में महान् सौख्य प्राप्त हुआ। बिहारीलाल का प्रत्येक पद्य प्रायः इस बात का उदाहरण हो सकता है। वे इष्टि, वृत्ति, मात्र, कर्कश और स्पष्ट आदि शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान में क्रमशः दीठि, दुति, गात, करकस और परस आदि तदभव शब्दों का प्रयोग करते हैं^१, जिससे मूल सरल शब्दों के द्वारा रचे गये पद्यों की अपेक्षा उन तदभव शब्दों के द्वारा बनाये गये पद्यों में कुछ गुणा माधुर्य बढ़ गया है इस बात को कौन सहृदय नहीं मानेगा। पण्डितराज बिहारी लाल की कविताओं से पूर्ण परिचय वे अथ. उन पर बिहारीलाल की कीमल-कान्त-पदावली का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

यह मानना होगा कि पहले जैसे प्राकृत भाषा के सहयोग से संस्कृत की पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा था, वैसे पण्डितराज के समय में हिन्दी साहित्य का भी प्रचुर प्रभाव संस्कृत-पद-रचना पर पड़ा होगा। अब हिन्दी के कवि शृङ्गार-कण आदि रसों में तदनुकूल मधुर-रस-योजना का यथोचित निर्वाह करते हैं और तद्वद्वारा रसपरिपोष का प्रसार होता है, इस संस्कृत भाषा में ही यह नियम स्थिर होकर केवल अलङ्कार-ग्रन्थों में ही पड़ा रहे-प्रयोग में नहीं आसके-यह सर्वतोमुख प्रतिभासम्पन्न पण्डितराज को कैसे सफ हो सकता, अतः एव संस्कृत साहित्य के सभी विषयों को अपने विचार-निकष पर बसने वाले पण्डितराज ने रस-गङ्गाधर में पद-रचना विषयक नियमों को दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में समुक्ताक्षर विषयक बहुत से नवीन नियमों का आनिर्माण किया है। उसके स्वरूप से परिचित होने के लिये पाठक को रसगङ्गाधर का उक्त प्रकरण देखना चाहिये।

१. 'दीठिन मङ्गल समान दुति बनक, केक से गात।

भूषण कर करकस लगत परस पिछाने जात ॥'

पण्डितराज प्रनिमाशाली विद्वानों में चूडामणिदे, मन प्रब उन्हे ने संस्कृत सम्बन्धी तादृश मार्मिक विचार को जन्म दिया, जिसके सामने हिन्दी के वीरकों को भी होना पड़ा है। किम वर्ण के अनन्तर विलस वर्ण के आने से कदुना बढ़ जाती है इसके नियम में मार्मिक विचार को पण्डितराजने प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

पण्डितराज नागदेवताकृत मम्मट के समान केवल नियमनिर्माण में ही प्रवीण नहीं प्रत्युत स्वरचित उदाहरणों में उन नियमों का अनुवर्तन भी पूर्णरूप से करते थे। रचना के ऐसे ऐसे उदाहरणों के रसगङ्गाधर में बना कर दिये हैं, जिनमें प्रतिपक्षी किसी दोष नहीं दिखा सकना।

अनुप्रास की छटा

वैसे तो अनुप्रास, धमक आदि छप्तालङ्कारों का विधान सभी आलङ्कारिकों ने अपने निरन्धों में दिया है और संस्कृत के कवियों ने स्थान-स्थान पर उनके प्रयोग भी किये हैं, पण्डितराज के समय में प्रथमाचार्य-कवियों के द्वारा विशेषकर पद्याष्टीकान्तों में का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लगा था। इस अन्तानुप्रास का प्रयोग प्राचीन संस्कृत कव्या नहीं हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत ही जगह उसका प्रयोग सफल रूप में पाया जाता है। पण्डितराज के पद्यों में विशेषतः मालभारणी वृत्तमें पदान्तानुप्रास की एक निराली ही छटा दोरार पड़ती है, इसी प्रकार शिरारिणी छन्द में भी इस अनुप्रास का प्रयोग दृढ़ाचार्य आदि ने भी किया है, परन्तु पण्डितराज की शिरारिणियों में इस अनुप्रास का लोकोत्त प्रयोग हुआ है।

अपवादों छन्द में जिस तरह का अनुप्रास होता है, ठीक उसी तरह के अनुप्रासों का हिन्दी भाषाके अमृगध्वनि आदि अन्ध छन्दों में भी हैं और उस प्रयोग में हिन्दी के कवियों की अधिक सफलता भी मिली है। फिर मल्ल पण्डितराज उस चमत्कार की संस्कृत में बिना लाये कैसे रहते। उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उस तरह के अनुप्रासों का परिपक्व प्रयोग किया है। कान्हे का सारांश यह है कि समसामयिक हिन्दी कवियों की कविताओं में प्रयुक्त इस अनुप्रासशैली से प्रभावित होकर ही पण्डितराजने संस्कृत में उसका प्रयोग प्रारम्भ किया यह बात सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पण्डितराज अपनी प्रतिभा से उसमें और अधिक परिपक्व लाये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पण्डितराज के हर एक पद्य में गवेषकों को शब्दकृत चमत्कार अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं में व्यवहृत चमत्कार के साथ साथ शब्दकृत अतिशय भी कोई न कोई अवश्य रहता है और उसका रहना आवश्यक भी है, क्योंकि उसी के

१. 'नस्तुरैकातिलकमालि' विभाव साधम्... इत्यादि (पृ. २६१-६२)

२. तुलसी विलोकि अकुलानी जलुधानी कहै, चित्रहूके कपित्थी निसावर न कपिदे,।

'नीती औषि जावन की छाल मनमानन की छग मर्द बौवन की सावन की रतिषी ॥'

३. 'नितरा हितवश्य निद्रया मे बल यामे चरमे निवेदिताय' (पृ. ३०६)

४. 'तवोत्सहे गन्ने यदि पतति क्षणस्तनुपूताम्।

तदा मातः शानकलवपदलामोक्षयितुषु ॥' (उद्गाराचार्य)

५. 'वल्गुगण्डिभनमुक्तकाष्ठवलयगञ्जालवलीताण्डव' (पृ. ३०७)

और मध्यम दो ही भेद होते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर के हिसाब से उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से काव्य के चार प्रकार माने जाते हैं ।

अन्य सभी अलङ्कार-ग्रन्थों में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से दत्ताष्टरूप स्थायीभाव के चार भेद जानकर वीर रस के चार ही प्रकार प्रणिर्वादित्र हुये हैं, किन्तु रसगङ्गाधर का कथन है कि गृहकार रस के समान वीर रस के भी बहुत भेद हो सकते हैं और तदनुसार युक्ति एवम् उदाहरण देकर सलवीर, पाण्डित्यवीर, दामावीर और वल्वीर ये चार भेद अधिक उसमें प्रणिर्वादित्र हुये हैं ।

सभी प्राचीन आलङ्कारिक निबन्ध-ग्रन्थों को रसमात्र धर्म मानते हैं, किन्तु निबन्धराज रसगङ्गाधर में प्रचुर खण्डन मण्डन के बाद गुणों की शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों के धर्म स्तिर किये गये हैं ।

प्राक्तन सभी अलङ्कारग्रन्थों में भावध्वनि के समान वृथक् भावशान्ति, भावीदय, भावमग्नि और भाव-शब्दना की ध्वनियों की व्यवस्था की गई है, किन्तु रसगङ्गाधर में ये ध्वनियाँ भी भावध्वनि में ही गन्तार्थ कर दी गई हैं और गन्तार्थना के लिये दी गई युक्तियों भी बड़ी मार्मिक हैं ।

सभी अन्य निबन्ध रसमात्रादि को असद्व्ययक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर स्थानविशेष में रसमात्रादि की भी सद्व्ययक्रम बगलता है ।

दीनिय आनन में और भी बहुत से सैद्धान्तिक मन्त्रभेद हैं, जो दीनियभाग की भूमिका में दिखलाये गये हैं ।

रसगङ्गाधर का एक असाधारण वैशिष्ट्य

रस मननत्र जीवगत उत्तार में नर-देह दुर्लभ है और नर-देह प्राप्त होने पर भी विद्वान् होना दुर्लभतर है इनो प्रकार विद्वान् होने पर भी कवि होना दुर्लभ है और कवि हो जाने पर शक्ति (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है^१ । शारदा के वरदपुत्र पण्डितराज में इन सभी दुर्लभ गुणों का समन्वय समाविष्ट था । वे अपने युग के महामानव होने के साथ साथ बिभ्रनकारि विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे ।

किसी भी अन्य अलङ्कार-निबन्ध-निर्माता में उक्त सभी गुण उत मात्रा में नहीं थे, जिस मात्रा में कि पण्डितराज में थे । श्रीमान् गम्भिरमहर्षि विद्वान् बहुत बड़े अवश्य थे, अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान उनमें महान् था, परन्तु वे कवि नहीं थे. अतः उन्हें अपने प्रसिद्ध अलङ्कार निबन्ध काव्यप्रकाश में उदाहरण के लिये परमुखापेक्षी होना पड़ा । प्रायः यही कारण था कि काव्यीय विविध वस्तुओं के कितने भेद बुद्धि में स्फुरित होने पर भी उदाहरणमात्र से उन्होंने नहीं लिखे । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यद्यपि अपने को अष्टादश-भाषा-व्याकरणसिन्धो-मुद्राङ्ग की उपाधि से विभूषित किया है और यत्र तत्र 'हृद मम' कहकर स्वनिर्मित पद्य की उदाहरण के रूप में उपस्थित भी किये हैं, तथापि विद्वान् लोग उन्हें पण्डितराज के समान प्रतिभाशाली महाकवि नहीं मानते, क्योंकि यदि उनमें उच्चकोटि की कवित्वशक्ति होती, तो वे अपने निबन्ध 'साहित्यदर्पण' में परकीय पद्यों को उदाहरण के रूप में क्यों रखते ? अन्य अलङ्कार ग्रन्थों में भी प्रायः परकीय उदाहरण ही लिये गये हैं ।

१. 'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा । कविर्लं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥' .

किन्तु एक पण्डितराज ही इस भंड में अपवादभूत हैं। उनकी प्रतिष्ठा है कि 'कस्तूरी का जन्म देनेवाला मृग पुष्पो ॥ गन्ध-ग्रहण नहीं करता। मैं इस रसगङ्गाधर में एक भी परवीर पत्र उदाहरण के रूप में नहीं लिखूँगा'। इस प्रतिष्ठा की पूर्ति उन्होंने खूब ही की है। एक से एक सुदृढ़ स्वनिर्मित पद्य उदाहरण रूप से सम्पूर्ण रसगंगाधर में उपस्थित किये हैं। वे पद्य भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग पर भिन्न-भिन्न रसों से ओत-प्रोत हैं, रसगङ्गाधर में आये हुये ऐसे पद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी है, यद्यपि उन पद्यों में से कतिपय पद्य पण्डितराज के अन्य काव्य तथा स्तोत्र ग्रन्थों में भी आ चुके हैं, तथापि ऐसे भी श्लोक कम नहीं हैं, जो पण्डितराज के भी अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। इस दृष्टिकोण से देखने पर रसगंगाधर अलङ्कारशास्त्र के निबन्धराट्ट होने के साथ साथ एक सुन्दर सुकक कविनामों का संग्रहात्मक काव्यग्रन्थ भी है।

प्रकृत पुस्तक के कतिपय प्रधान विषयों का विस्तार विवेचनः—

काव्य-प्रयोजन

'मन्दबुद्धियों, की भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती'। इस न्याय के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में प्रयोजनकथन की रीति प्रचलित है। अतः यह काव्य-लक्षणवादों में भी रक्षण करने से पहले काव्य-प्रयोजन के प्रतिपादन करने का परम्परा है, पण्डितराज ने भी रसगंगाधर में इस परम्परा की रक्षा की है अर्थात् उन्होंने भी काव्य के प्रयोजन दिखलाये हैं, परन्तु सन्धे में इनकी अपेक्षा लम्हट और विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में इसके विषय में कुछ अधिक लिखा है। इन्हीं तीनों आचार्यों के कथनों का विवेचन हम प्रकार में करना है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि इन ग्रन्थों में जो काव्य-प्रयोजन दिखलाये गये हैं उनमें दो तरह के प्रयोजन हैं। कुछ तो काव्य-निर्माण के और कुछ काव्याध्ययन के।

यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अनर्थ-निवृत्ति, परम सुख और कान्तासम्पन्न उपदेश इन काव्य-प्रयोजनों का कलेख मम्मट ने किया^१ है। इनमें यश, अर्थ और अनर्थनिवृत्ति ये तीन काव्यनिर्माण के प्रयोजन हैं तथा व्यवहार-ज्ञान और उपदेश ये दो काव्याध्ययन के प्रयोजन हैं, अवशिष्ट 'परमसुख' रूप प्रयोजन दोनों का ही सकता है। अन्य पाठकों के समान काव्य-निर्माता भी अपने काम के पाठक होते हैं, अतः काव्याध्ययनसुख तो उन्हें मिलता ही है साथ साथ काव्य-निर्माण-प्रयुक्त भी एक प्रकार का सुख उन्हें मिलता है, काव्यनिर्माण से ही सुख प्राप्त होता है, उसका अनुभव काव्यनिर्माताओं की ही हो सकता है, पाठकों को चाहिये कि इस सुखानुभव का भी यत्न करें।

हमके बाद नम्बर आता है दर्पणकार विश्वनाथ का। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय को सुखपूर्वक प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन कहा^२ है तथा काव्य से इन प्रयोजनों

१ 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप काव्य प्रधान निहित न परस्व विप्रिय'। (५० ६)

२ 'प्रयोजनप्रतुदिव न मन्दोऽपि प्रकल्पे'।

३ 'काव्य यश्चेर्भृते व्यवहारविदे श्रियेतरक्षणये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तसम्पितमप्योपदेशयुजे' ॥

४ 'चतुर्वर्ग-कल-प्राप्ति-सुखादस्यपिवागमि। काव्यादेव यत्नतः तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥'

की प्राप्ति कैसे होगी इस प्रसङ्ग में बहुत सी सुक्तियाँ भी बतलाई हैं, उन सुक्तियों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये प्रयोजन काव्य के निर्माता और अध्येता दोनों के लिये बराबर हैं।

पण्डितराज ने काव्य-प्रयोजन के संबन्ध में केवल एक पङ्क्ति लिखी है, जिसमें यश, परम आनन्द और गुरु, राजा तथा देवता आदि की प्रशंसा ये काव्य-प्रयोजन बनलाये गये^१ हैं, ये सभी प्रयोजन काव्य-निर्माण के ही हो सकते हैं, काव्याध्ययन के नहीं। यह बात दूसरी है कि इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये लोगों की प्रवृत्ति काव्य-निर्माण की ओर होगी और काव्य के निर्माण के लिये उसका अध्ययन आवश्यक होगा।

वस्तुतः इन प्रयोजनों का उल्लेख लोगों की काव्य के निर्माण और अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिये उस प्रकार का एक प्रयोजक उपायमात्र है, जिस तरह का पिन्ताभों का सीरी के नमकीले डुकड़ों के विषय में केनाकों के शनि यह कहना होता है कि 'ये बड़े अच्छे मोमी हैं, जस्तूर सरोद लंबिये'। परमार्थन काव्य का प्रयोजन रसास्वाद-मूलक आनन्दातिशय ही है। यद्यपि लोग क्षीर्ति आदि के लिये भी काव्य-निर्माण करते ही हैं तथा जीविका आदि के लिये भी काव्य पढ़ते ही हैं, तथापि ये सब काव्य के अनन्य साधारण प्रयोजन नहीं हो सकते, क्योंकि क्षीर्ति आदि के लिये अनेक रास्ते हैं और जीविका आदि के लिये भी विविध उपाय किये जा सकते हैं। इन सब गौण प्रयोजनों की वृत्ति बनाकर काव्य का लिखना-पढ़ना सर्वथा सफल भी नहीं होना। कहने का अन्तिमार्थ है कि रसास्वाद करने-कराने के लिये लिखा गया काव्य ही पूर्ण सफल हो सकता है, एवम् रसास्वाद के लिये किया गया काव्याध्ययन ही वास्तविक अध्ययन कहा जा सकता है।

काव्य

काव्य पदार्थ का विवेचन करने से पूर्व कविसम्बन्धार्थ का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार काव्य पद का अर्थ होता है 'कवि का कर्म'। अतः कविसम्बन्धार्थ का ज्ञान बिना कराये काव्यपदार्थ का ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

अन्त्या, तो हम पहले यही विचार करें कि कवि किसे कहते हैं? शब्द-स्वारस्य के अनुसार किसी वस्तु के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं क्योंकि काव्यमीमांसा में 'कवृ वर्णे' भातु से कविपद की सिद्धि मानी गई है^२। कुछ लोगों का कथन है कि 'कवृ वर्णे' भातु से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह ध्वन्योपपन्न है, अतः 'कुवृ शब्दे' भातु से कविपद की सिद्धि करनी चाहिये। यदि यही व्युत्पत्ति ठीक हो, तथापि अर्थ में कोई अधिक अन्तर नहीं होता क्योंकि उदत्तुसार भी किसी विषय का कहने वाला ही कवि पद का अर्थ होता है। कोष में कवि पद का अर्थ पण्डित किया गया^३ है। अतः योग तथा रुढ़ि दोनों की सामन्तवात्मक दृष्टि

१. 'कीर्तिपरमाकाङ्क्षगुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकरस्य काव्यस्य' 'इत्यादि' (१८)।

२. 'श्रुतवचनमङ्गादिभ्यः कर्मणि च' इति ध्वन्।

३. 'कविसम्बन्ध कवृ वर्णे इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपात्' (काव्यमीमांसा)।

४. 'संख्यावान् पण्डितः कवि' (अमर)

से विचार करने पर यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु का वर्णन प्रतिपादन करने वाले विद्वान् को कवि कहा जा सकता है।

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णयिता सर्वत्र परमात्मा को कवि कहा गया है^१। इसके बाद लौकिक साध के द्वारा रामचरित के वर्णन करने वाले वाल्मीकि को 'आदि कवि' की पदवी दी गई। तदनन्तर महाभारत तथा पुराणों के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये हैं। इस तरह प्रायः पुराणयुग तक सभी (अनन्द अथवा अजुनन्द) वर्णन करने वाले विद्वानों में कवि पद का प्रयोग होता रहा, अतः एव राजनीति विषयों के प्रतिपादक शुक्राचार्य को भी कवि कहा दी गई^२ है।

किन्तु पुराणयुग के बाद वर्णयितामान को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गई। अब चमत्कृतिपूर्ण वर्णन करने वाले विद्वान् को ही कवि कहा जाने लगा अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णयिता को कवि पदवी का अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके चमत्कारवश वर्णन को सुनकर सद्बुद्धय श्रोताओं के मानस में परमानन्द की रश्मि बौंचिया उठने लगती थीं। इसीलिये छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखने पर भी सृष्टिकारों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) को कवि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

यद्यपि आज के विद्वान् कवि की बहुत तरह की परिभाषायें बताते हैं—जैसे कवि कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का कथन है कि—'कवि सृष्टि के सौन्दर्य का भ्रमण है। वह एक ऐसा यन्त्र है, जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपयोग करता है, और उन्मत्त हो जाता है, तब उसके प्रत्यक्ष रूप में उसकी उन्मत्तता का कुछ प्रसार सद्बुद्धय जनों को मिल जाता है। वह प्रकाश ही काव्य है। तत्त्ववेत्ता और कवि में अन्तर है। तत्त्ववेत्ता मस्तिष्क का निवासी है और कवि हृदय का हृदय मनुष्य प्राण के है। पर कुछ तो हृदय के मर्म को समझते ही नहीं, कुछ समझते तो हैं, पर उनकी वाणी में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे उसे प्रकट कर सकें। कवि हृदय की बातें भी समझता है और उसे कह भी सकता है। साधारणजन और कवि में यही अन्तर है इत्यादि।' परन्तु कवि पद की इसतरह की सभी व्याख्याओं का आधार वही पूर्वोक्त कवि पद का स्वारसिक अर्थ है वह समझना कुछ कठिन नहीं है।

अस्तु, यह तो हुई कवि की बात, अब देखना यह है कि कवि का कर्म क्या है? कवि क्या करता है किसी काव्यपद भ्यक्त करता है? इसका उत्तर साधारणतया स्पष्ट है कि किसी विषय का चमत्कृतिपूर्ण-श्रोताओं को सुग्ध कर देने वाला-वर्णन ही कवि का कर्म है। वर्णन यद्यपि अर्थ का होता है, परन्तु वह शब्द के रूप में ही होता है, अतः यह कहना होगा कि वह शब्द ही कवि का कर्म है।

यद्यपि कवि शब्दों को नहीं गटना, अपितु उनका अतिनियुक्तमात्र को रचना दे, तथापि सक्ति युग्मन से युक्त वह पदावली कवि का कार्य कहलाती है, जैसे ध्वनिगोष्मता कुम्भकार का कार्य घट कहलाता है। इसतरह यह सिद्ध हुआ कि कितनी किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतृजनहृदयहारी, वर्णन जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द ही काव्य हैं।

१. 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्' (शुक्लयजु संहिता अ. ४० म ८)

२. 'उग्रना भार्गव कवि' (अमर)

यह तो हुआ काव्य का सामान्य रेखाचित्र। अब विवेचनीय यह है कि किम किमुने अपनी प्रतिभा रूप तृप्ति से रह भरकर उस रेखाचित्र का केमा केमा रूप तैयार किया है। अभिप्राय यह है कि काव्य के उक्त साधारण रचना में परिवर्तन-परिवर्धन करके भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आज तक कितने प्रकार के काव्यरसग्रह तैयार हुये हैं, यही इस प्रकरण का विवेच्य विषय है।

अब तक प्रायः निम्नलिखित आचार्यों प्रथम काव्यरसग्रहकार हुये हैं। (१) अग्निपुराणकार, (२) दण्डी, (३) रघुट, (४) वामन, (५) आनन्दवर्धन, (६) मोज, (७) मम्मट, (८) चाणूक्य, (९) वीरूषवर्ध, (१०) विश्वनाथ, (११) गोविन्दठाकुर और (१२) पण्डितराज जगन्नाथ।

अब यहाँ क्रमशः इन्हीं आचार्यों के काव्यरसग्रहों की चर्चा संक्षेप में की जायगी।

(१) 'अभिष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाली पदावली काव्य' है। यह रसग्रह अग्नि-पुराण में किया गया है, जिसका शब्द अर्थ यह होना है कि वक्तव्य विषय की सुन्दर दृष्टि से प्रतिपादन करने वाला नग-गुला परसमूहात्मक वाक्य काव्य कहलगा है। संक्षेप पद का रसग्रह में समावेश करने से रसग्रहकार का अभिप्राय यह है कि न्यून पदों का आकर्षक काव्य में नहीं होना चाहिये। अग्निपुराण का निर्माणकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उल्लेख काव्यरसग्रहों में यह से प्रथम रसग्रह यही है।

(२) आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक निबन्ध में जो काव्यरसग्रह किया है, उसे अग्निपुराण के रसग्रह से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शब्द अर्थ से न्यवच्छिन्न (नयी-नुली) पदावली काव्य का शरीर' है। यह जो उनका रसग्रह है, उसमें अग्निपुराणरसग्रहगत 'संक्षेपाद्' और 'वाक्यम्' इन दो पदों की केवल हटा दिया गया है, जो वस्तुतः व्यर्थ ही थे। कारण यह कि 'न्यवच्छिन्न' तथा 'पदावली' इन दोनों पदों से ही उक्त दोनों पदों के अर्थ निकल जाते हैं। दण्डी का काल अनुमान के आधार पर छठी शताब्दी माना जाता है।

(३) इसके बाद आचार्य रघुट ने काव्यरसग्रह में एक महान् परिवर्तन उपरिष्ठ किया। अब तक जो केवल शब्द को काव्य कहा जाता रहा, वह उनकी गवेषणात्मक स्तम्भश्रुति में ठीक नहीं लगा, जग-उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य कहने लगे। साथ ही यह कि उनके विचार से सम्मिलित शब्दार्थ युग्म ही काव्य निरूप हुआ। विचार करने से उनका कथन बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य पद का मूलभूत अर्थ जो 'कविकी कृति' है, उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किसी तरह की आपत्ति नहीं होती, कारण यह है कि शब्द की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की ही कृति होता है अर्थात् काव्य में वर्णित अर्थ वास्तविक नहीं होते, वरन् केवल कल्पना-प्रभू रहते हैं, इतिहासप्रसिद्ध पदावली को भी कवि अपने दृष्टि से नवीन रूप में ही उपस्थित करता है। भास की रामचन्द्रा, कालिदास की शकुन्तला और श्रीहर्ष की दमयन्ती ऐतिहासिक नायिकाएँ होकर भी वास्तविक से सर्वथा भिन्न हैं। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि बालमीकि के राम-लक्ष्मण और कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) के कृष्ण अर्जुन भी

१. 'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थन्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यम्'।

२. 'शरीरं तावदिष्टार्थन्यवच्छिन्ना पदावली'।

३. 'ननु शब्दार्थो काव्यम्'।

वास्तविक उनसे बहुत कुछ विभ्र ही है। प्रकरण (जो एक रूपक का भेद है और जिसके पात्र ऐतिहासिक नहीं होते) के पात्रों में यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है भवभूति के 'मालतीमाधव' में वर्णित मालती तथा माधव आदि और शूद्रक (१) के 'गृन्थकविक्र' में वर्णित वसन्तसेना प्रियं चारुदत्त आदि का तो इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अगत्या इन पात्रों को तो कवि-कृति मानना ही पड़ेगा, फिर उसी दृष्टान्त से इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के विषय में भी यह समझना अनुचित नहीं हो सकता, कि वे कवि के ही गढ़े हुए होते हैं। 'काव्य-रसक अनन्त ससार में कवि ही सदा होता है, उसके रसन्द के मुताबिक ही अर्थ को बन जाना पड़ता है।' यह लिखकर आलङ्कारिकविरोधनि आनन्दवर्धनाचार्य ने भी काव्यवर्णित पदार्थों की मानस होने की बात की पुष्टि की है। अतः रसक का शब्दार्थयुगल-कान्यताराद्वय विताम्य लक्ष्मण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनका समय अनुमानतः वासन में पूर्व का माना जाता है।

(४) इसके अनन्तर अलङ्कारसूत्रकार वासन ने कान्यलक्षण के विषय में कुछ और नवीन बात कही। उन्होंने कहा कि 'अलङ्कार रहने के कारण काव्य प्राप्त है' और 'अलङ्कार कहते हैं सौन्दर्य की'। इस तरह इनके कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्ययुक्त होने के कारण काव्य का ग्रहण करना समुचित है। अब जिज्ञासा यह उठती है कि काव्य में सौन्दर्य का कारण क्या हो सकता है? इनका उत्तर वासन यह देते हैं कि 'दोहों के स्थाप और गुण तथा अलङ्कारों के ग्रहण करने से काव्य में वह सौन्दर्य उत्पन्न होता है'। अतः एक अन्त में उन्होंने काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में कहा है कि 'यह काव्य शब्द, गुण तथा अलङ्कारों से सुसज्जित शब्दार्थयुगल का वाक्य है'।

गुणालङ्कारहीन शब्दार्थयुगल में प्रयुक्त काव्य पद को उन्होंने लाक्षणिक माना है^१। उनके कथन का आशय यह होता है कि वस्तुतः गुणालङ्कार युक्त शब्दार्थ समूह को ही काव्य कहना चाहिये, परन्तु प्राचीन आचार्यों ने जब केवल शब्दार्थसमूह को ही काव्य कहा, तब से काव्य पद शब्दार्थयुगल में रूढ़ हो गया, अतः आज भी लोग केवल शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहा करते हैं। परमार्थतः तादृश प्रयोग में 'कलित तादृशी है' के समान रुढ़िमूला लक्षणा ही समझनी चाहिये, वासन का समय नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पूर्व का माना जाता है।

(५) धनिमार्ग-प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में काव्यलक्षण नहीं लिखा है। काव्य का लक्षण करना उनका उद्देश्य भी नहीं था, धनि का स्थापन करना जो उनका उद्देश्य था, उसको पूर्ण उन्होंने खूब ही की है। व्यक्तिविवेक के लेखक महिममट्ट को छोड़कर प्रायः सभी अनन्तरभाषी आलङ्कारिक बहुत अंशों में उनके अनुयायी ही हैं। अस्तु, प्रकृत में मुझे कहना यह है कि काव्य का लक्षण न किया कर भी आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थयुगल ही काव्य है, केवल शब्द नहीं' इस सिद्धान्त में अपनी सम्पत्ति प्रकट की है, क्योंकि प्रमह्वश एक स्थान पर धन्यालोक में वे लिखते हैं कि 'काव्य का शरीर शब्दार्थसमूह है'^२। इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध समझा जाता है।

१. 'अपारे काव्य-संतारे बहिरिव प्रजापति । यथास्य रोवेने विष तथेव परिवर्तने ॥'

२. 'काव्य प्राप्तमलङ्कारात्'। ३. 'सौन्दर्यमलङ्कारात्'। ४. 'स दोषयुगलालङ्कारानादानाम्प्रा'।

५. 'कान्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसकृन्वो शब्दार्थयोरन्तरे'।

६. 'मत्वा तु शब्दार्थमनवचनो गृह्यते'। ७. 'शब्दार्थयुगलं तावत् काव्यम्'।

(१) इसके बाद संस्कृत के परम अनुरागी, संस्कृतियों के कृततर, अथवा अनेक कमनीय निबन्धों के निर्माता भारविपति भोज का समय आता है। यद्यपि उन्होंने काव्यलक्षण पर खासकर अपनी लेखनी नहीं चलाई, तथापि काव्य-प्रज्ञा के प्रमत्त पर अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'सरस्वती कण्ठाभरण' में एक पद्य लिखकर काव्यलक्षण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। उस पद्य का भाव यह है कि 'दोषरहित, गुणरहित, अलंकारों से अलंकृत और सरस काव्य को बनाने वाला कवि कीर्ति के साथ गुप्त को भी पाता है'।^१ इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण सर्वथा संगत नहीं हो सकता, कारण 'सरस' केवल शब्दसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। और 'अलंकारों से' हम बहुवचन से शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों ही उनके विवाचिन जानते हैं, यदि शब्दमात्र में उन्हें काव्यार्थ अभिमत होना तो अर्थालङ्कार का समावेश क्यों करते? अर्थालङ्कार शब्द को अलंकृत नहीं कर सकता। इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी का उच्चार्थ माना जाता है।

(७) अब अलङ्कार ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकाश के लेखक वाग्भट्टाचार्य के अपर भवतार महामान्य मम्मट का उदय हुआ। उन्होंने काव्यलक्षण में वामन का अनुवर्तन किया, परन्तु गुण तथा अलङ्कारों का समान स्थान काव्य में उन्हें समुचित प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् काव्य में गुण का रहना इनके विचार से नान्वरीयक समझा गया और अलङ्कार का होना आनुप्रासिक। स्पष्ट आशय यह हुआ कि अलङ्कार के रहने पर काव्य की श्रेष्ठता उन्हें भी स्वीकृत है, किन्तु उसके स्पष्ट न रहने पर भी काव्यस्व रहें स्पष्ट है, अतः उन्होंने 'दोषरहित और गुण सहित शब्दार्थ को काव्य कहा और अलङ्कार के विषय में कहा कि अधिकतर स्थानों में अलङ्कार का रहना आवश्यक है, पर कहीं यदि स्पष्ट अलङ्कार न भी रहे तो कोई हानि नहीं'।^२

एक बात और यद्यपि मम्मट ने काव्यलक्षण में रस की चर्चा नहीं की, तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान है, यह बात काव्यप्रकाश के अन्य मंडों से विदित होनी है, क्योंकि बिन गुणों का रहना काव्य में उन्होंने आवश्यकतम बतलाया है, उनसे वे स्पष्ट शब्दों में रसका वर्णन करते हैं।^३ इनका आविर्भाव करुण बारहवीं शताब्दी निश्चित है।

(८) मम्मट के बाद उसी शताब्दी में एक नाममट नाम के आचार्य हुए, जिनका वाग्भट्टालङ्कार नामक ग्रन्थ है। उनके युग तक आनन्दवर्णनाचार्य ने ध्वनि की स्थापना कर दी थी, ध्वनियों में भी रस आदि असलक्षणकमन्यद्वयों की प्रधानता निहित हो चुकी थी, अतः उन्होंने वामन तथा मम्मट दोनों के मतों को जोड़ कर एक नवोक्त काव्यलक्षण का निर्माण कर दिया, जिसका स्वरूप यह है कि 'गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित अच्छे शब्दार्थों का समूह काव्य है'।^४

(९) इसके अनन्तर गण्डालोक नामक निबन्ध के निर्माता 'प्रीतूषवर्ण' उपाधि से भूषित जयदेव का अवसर आया। इनसे पूर्व भावी आचार्यों के द्वारा जितने काव्यतत्त्व निरूपित हुए थे,

१. 'निर्दोष गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् । रसान्वित कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति ॥'

२. 'तददोषो शब्दार्थो सगुणावबलङ्करी गुणः कावि ।'

३. 'ये रसरसाङ्गिनो यमाः शौर्वादय इवात्मनः । उत्कृष्टैतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

४. 'गुणालंकाररीतिसौपेयः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम् ।'

उन सभी तत्त्वों को इन्होंने काव्यलक्षण में समाविष्ट कर दिया और 'दोषहीन गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस तथा वृत्ति इन समस्त उपादानों से परिपूर्ण वाणी को काव्यसिद्ध किया' ।^१

परन्तु इनके लक्षण में बहुत पदार्थों का समावेश हो जाने के कारण अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों की शंका अधिक हो सकती है और यह लक्षण अनुगत भी नहीं हो सकता, अतः इसकी लक्षण न मानकर काव्यगत्त्यों का सम्प्राप्त वाक्यमात्र माने तो अधिक उपयुक्त होगा। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही है।

(१०) इसके अनन्तर काव्य-जगत् में कुछ नवीन सन्देश लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अवतीर्ण हुये। इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर प्रीतृषवर्ष तक के आचार्यों ने जो उत्तरोत्तर लम्बा काव्यलक्षण तैयार किया था उसको काट छाँट कर सक्षिप्त कर दिया और काव्य में केवल रस-भाव आदि असलक्षण कह दिये जानेवाले व्यङ्ग्यार्थों का रहना आवश्यक समझा। अलङ्कार इनके विचारानुसार केवल उत्कर्ष के कारण हैं—स्वरूपावयक नहीं। इसी तरह दोष केवल अपकर्ष के हेतु हैं—स्वरूपविषयक नहीं। यह विचार उनका ठीक भी है। अलङ्कारहीन होने पर भी मनुष्य में मनुष्यता की हानि नहीं होती और काणत्वादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य मनुष्यत्व को नहीं खोता। अतः इन्होंने 'रसात्मक वाक्य'^२ को काव्य कहा और 'रस' पद से आत्मादयोग्य 'रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशुद्धता इन सभी असलक्षणकर्मण्डलों का समग्र किया। यद्यपि विश्वनाथ का यह लक्षण सर्वथा अभिनव नहीं है। इनसे बहुत पहले शौडोदनि नामक एक आचार्य ने अपने अलङ्कारवृत्त में 'रसादिमद्' वाक्य को काव्य कहा था, तथापि आदि पद से अलङ्कार का बोध कराकर अलङ्कार का भी स्थान उन्होंने रसके समकक्ष ही मान लिया था, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये केशव मिश्र ने अलङ्कारशेखर में लिखा है कि रस अथवा अलङ्कार दोनों में से किसी एक के रहने पर वाक्य काव्य कहलाता है। परन्तु विश्वनाथ को अलङ्कार रस का समकक्ष नहीं जचा, अतः इन्होंने अपने लक्षण में अलङ्कारबोधक आदि पद को स्थान नहीं दिया। विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णीत सा है।

(११) इसके बाद नम्बर आता है गोविन्दठकुर का। यद्यपि ये भूलकार नहीं हैं, तथापि काव्यप्रकाश पर लिखा हुआ इनका 'प्रदीप' बहुत अर्थों में मौलिकता रखता है, अतः पद आलोचनिक जगत् में इनकी प्रतिष्ठा किसी भूलकार से कम नहीं है।

इन्होंने काव्यप्रकाशीय काव्यलक्षण का विदलेषण करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि सम्मत् रसहीन और स्पष्ट अलङ्कार से भी रहित वाक्य अर्थ को नाव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है, क्योंकि रस तथा अलङ्कार ये दोनों पदार्थ नाव्य में चमत्कारजनक हैं, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चमत्कार कहाँ से आवेगा और जहाँ चमत्कार ही नहीं हो, उसे काव्य कहेंगे ही कैसे ! कारण यह कि काव्य में चमत्कार ही सार है। अतः यह मानना उचित होगा कि सरस स्थल में भले ही अलङ्कार की अपेक्षा नहीं हो, परन्तु रस स्थल में अलङ्कार का

१ 'निर्दोष गुणालङ्कारलक्षणरीतिवृत्तिमद् वाक्यं काव्यम्'।

२ 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

३ 'रसादिमद् वाक्यं काव्यम्'।

रहना आवश्यक है^१। फलतः इनके कथन से भी वही बात सिद्ध हुई जो केशव मिश्र ने कही थी। गोविन्द ठक्कर मैथिल ब्राह्मण थे और इनका समय सोनहरवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित है।

(१२) इसके अनन्तर ही रसगद्गाधर के निर्माता पण्डितराज जगन्नाथ का काल माना है। इन्होंने काव्यलक्षण का जो रूप स्थिर किया है और उसके सम्बन्ध में जो कुछ मार्मिक बातें कही हैं, वे सब प्रकृत पुस्तक में देखी जा सकती हैं, अतः उनका उल्लेख यहाँ विष्टपेयण समझकर नहीं किया जाना है, जिशासुओं को ग्रन्थ में वे बातें देखनी चाहिये।

अब इस प्रकरण के उत्तरार्ध-भाग में मुझे यह कहना है कि—प्रारम्भ में सौन्दर्यपूर्ण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वर्णों को काव्य कहा जाता था। बादमें केवल सौन्दर्यपूर्ण वर्णों को काव्य कहा जाने लगा, पर अवनक काव्य का कोई साम लक्षण नहीं बना था। सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य का सात लक्षण किया गया, जिसके अनुसार सौन्दर्यमय अर्थों का सुन्दर परिपादन करनेवाले शब्द काव्य समझे जाने लगे। दण्डी तक यह शब्दमात्र काव्यता-वाद बना। इसके अनन्तर रूद्र के काल में शब्दार्थोभयकाव्यतावाद की घोषणा हुई, जो मम्मट मठ तक चलता रहा। पर सौन्दर्य का कारण क्या है इस विषय में इस बीच के आचार्यों में भी मतभेद बना रहा। वामन आदि कविराय आचार्य सौन्दर्य का कारण समानरूप से गुण तथा अलङ्कार को मानते रहे। आ^१ चलकर मम्मट ने अलङ्कार को गौण बना दिया और गुण तथा गुणव्यञ्जक रचना को प्रमुखा माना। काव्य में दोष का न होना वामन से लेकर मम्मट पर्यन्त आचार्यों के मत में समानरूप से आवश्यक समझा जाता रहा।

विश्वनाथ के समय में भाकर पुनः काव्यलक्षण का रस बरौठा। अब फिर शब्दमात्र को काव्य माना जाने लगा, अर्थ को काव्यलक्षण से वरिष्कृत कर दिया गया। इस युग में भाकर गुणालङ्कारों का स्वीकृति भी नगण्य सा होगया अर्थात् ऐसा समझा जाने लगा कि गुण अलङ्कार काव्य में रहें, तो अच्छी बात है, पर वे यदि न भी रहें, तब भी शब्दविशेष को काव्य कहलाने में बाधा नहीं हो सकती। इस समय में दोनों पर भी कुछ बसा रिखाई गई। तत्पर्य यह है कि उसके रहने पर भी शब्दविशेष को काव्य कहने में लोगों को आपत्ति नहीं रही। प्राचीन मान्यताओं में इन सब शिथिलताओं के आगमन का प्रधान हेतु यह हुआ कि विश्वनाथ तथा उनके समकालीन अन्य विद्वज्जन काव्य में सौन्दर्य का कारण एकमात्र रस को मानने लगे। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि रस पद से यहाँ सकल असम्बन्धियों का समग्र अभीष्ट है।

यद्यपि वस्तु, अलङ्कार और रसादिरूप विविध ध्वनियों का अन्वेषण तथा प्राधान्य विश्वनाथ से बहुत पूर्व ही आनन्दवर्धन के द्वारा स्थापित हो चुका था, परन्तु काव्यलक्षण में ध्वन्यर्थ का प्रवेश विश्वनाथ से पहले किसी ने नहीं कराया था। ध्वन्यर्थों में भी केवल रस को काव्य की

१ 'नन्वनलकारेऽतिव्याप्तिः, सालङ्कारत्वविशेषणानुपादानादिति न वाच्यम्, यतः 'कापि'—स्थानेनैतदुक्तम्—यत्सर्वसाङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्, कनित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः, नजोऽप्यर्थकत्वात्, अत्यल्पस्य चात्रास्फुटत्वे एव विधायमात्। नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः। वयं तु पश्यामः—नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्कारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। नीरसे तु यदि न स्फुटालङ्कारः स्यात्, तत्किंकृतश्चमत्कारः स्यात्। चमत्कारसारश्च काव्यम् इत्यवश्यं स्फुटालङ्कारापेक्षा।'

आत्मा मानकर वस्तु तथा अलंकाररूप ध्वनि की विभनाथ ने गीण बना दिया । पण्डितराज ने केवल रस को काव्यसौन्दर्य का साधन न मानकर सभी श्यों (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य) को सौन्दर्य का स्वरूप योग्य कारण माना है, अन्य अर्थों में पण्डितराज विभनाथ का ही समर्थन करते हैं ।

काव्य-कारण

इस प्रकरण में मुझे मित्र-मित्र आचार्यों के मतों के आधार पर वह विचार करना है कि काव्य का कारण क्या है ?

अच्छा तो पहले यह समझिये कि काव्य-कारण के विषय में प्रधानतया विद्वानों के दो मत हैं । रुद्रट, रामन और पण्डितराज आदि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं और दण्डी, बाणभट्ट और दीयूषधर आदि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण बताते हैं । काव्यमीमांसाकार रानडेपर इस विषय में इन सबों से कुछ भिन्न ही मत रखते हैं ।

अब मैं उनके विचारों को संक्षेप में यहाँ उपस्थित करता हूँ, जिससे पाठक उन सब विचारों को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से पढ़कर अपना मत निश्चित कर सकें ।

दण्डी का कथन है कि 'स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर और दीर्घदीन शास्त्र-श्रवण अर्थात् व्युत्पत्ति, एवम् परिपूर्ण अभ्यास-अर्थात् पुनः पुनः काव्य बनाते रहना ये सब काव्यसम्पत्ति अर्थात् काव्य की उत्कृष्टता के कारण हैं' ।

इसके आगे उन्होंने एक बात और कही है, वह यह है कि 'पूर्वजन्म की वासना के गुणों से संबद्ध अद्भुत प्रतिभा यदि न भी हो, तथापि शास्त्रश्रवण-अर्थात् व्युत्पत्ति और यत्न-अर्थात् अभ्यास के द्वारा सेवित वाग्देवी सेवकों पर कुछ अनुग्रह अवश्य ही करती है' ।

इन उक्तियों से दण्डी का अभिप्राय ऐसा ज्ञान पड़ता है कि उत्कृष्ट काव्य के प्रति प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों कारण हैं पर साधारण काव्य प्रतिभा के अभाव में भी केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास से बन सकता है ।

रुद्रट केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही कारण मानते हैं और शक्ति का विवेचन इसप्रकार करते हैं—

'जिसकी प्राप्ति होने पर, समाधिस्थ (सर्वथा एकाग्र) मन में अनेक प्रकार के गर्भ स्फुरित होते हैं और कीमल कान्त पदावली वृत्तिगोचर होने लगती है, वस्तुको 'शक्ति' कहते हैं ।'

इसके आगे पुनः वे लिखते हैं कि 'उस शक्ति के दो भेद हैं—एक सत्त्व अर्थात् स्वभावसिद्ध, ओ ईश्वर-प्रदत्त अथवा अद्भुत-जन्य होती है और दूसरी उत्पाद-अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली, जो

१ 'नैसर्गिकी च प्रतिभा शूनं च बहु निर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्या' कारणं काव्य-सम्पद । ॥'

२, 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववातनाशुणानुशान्तिप्रतिमानमद्भुतम् ।

क्षुत्तेन यत्तेन च बाधुषासिना प्रव करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥'

३ 'मनसि सदा मुक्तमपिनि विस्फुरणमदेकशास्त्रमिधेयस्य ।

अविष्टानि पदानि च विमान्ति यस्यामसौ शक्ति' ॥'

उत्कृष्ट न्युत्पत्ति से उत्पादित होती है^१ ।^२ इस कथन से यह आशय निकलता है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, एक अदृष्टमन्य और दूसरी न्युत्पत्ति-जन्य ।

इसके बाद बामन ने भी केवल प्रतिभा की ही काव्य का कारण माना है । उनका कथन है कि 'वर्णित या बीज प्रतिमान'^३ है ।^४

इससे आगे चम्पार वाच्यप्रशिक्षकार मम्मट ने पुनः दण्डी के कारणप्रयवाद को अपनाया । वे शब्दप्रकाश में लिखते हैं कि 'शक्ति (प्रतिभा) और लोकमन्यद्वारा, शास्त्राध्ययन तथा काव्य परिशीलन आदि से उत्पन्न निपुणता (न्युत्पत्ति) एवम् परम्यश्व अर्थात् काव्य के निर्माण तथा समाधोषविना से शिक्षा प्राप्त कर तदनुसार अभ्यास ये दोनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के कारण^५ हैं ।' मम्मट को इस उक्ति में दण्डी की उक्त उक्ति से नवीनता केवल इतनी है कि न्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्या सुचारुरूप से कर दी गई है ।

बाम्मत इस प्रसङ्ग में लिखते हैं कि—'प्रतिभा काव्य का कारण है, न्युत्पत्ति भूषण है और अभ्यास काव्यरचना में प्राप्ति लाता है'^६ । हमका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि काव्य की उत्पन्न केवल प्रतिभा करती है न्युत्पत्ति उसमें सौन्दर्य लाती है और अभ्यास से शीघ्र काव्य तैयार होता है । फलतः घुमा फिरा कर तीनों को बाम्मत कारण मानने हैं ।

पीयूषदर्प भी बाम्मत की बात को ही दृष्टान्त के साथ दुहराते हैं । उनका कथन है कि—'न्युत्पत्ति तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा उसी तरह काव्य के प्रति हेतु है, जिसतरह मृत्तिका और जल के सहयोग से बीज हता के प्रति'^७ । इसका भी अभिप्राय बही होता है कि बीजे हता का बीज उत्पादक, मृत्तिका पोषक और जल सम्पर्क कारण है, वैसे ही कविता का प्रतिभा उत्पादक, न्युत्पत्ति पोषक और अभ्यास सम्पर्क कारण है ।

अब पण्डितरान इस प्रसङ्ग पर कहते हैं कि—काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और प्रतिभा के स्वरूपभेद से दो कारण हैं, कहीं देवता अथवा महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण न्युत्पत्ति-अभ्यास^८ ।

अब यह भी एक विचारणीय बात है कि प्रतिभा क्या चीज है ? इसके रूप के विषय में भी उक्त भाषायों का परस्पर बड़ा मत-भेद है । दण्डी के हिसाब से 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि है । यद्यपि शब्दतः उन्होंने प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है, तथापि प्रतिभा में गिन दो विशेषणों की उन्होंने जोड़ा है, उनसे उनका उक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है । उन्होंने एक जगह प्रतिभा का विशेषण 'नैर्गम्य' कहा है और दूसरी जगह 'पूर्ववातनायुष्मानुबन्धि' । ये दोनों

१. 'सहजोत्पादा च सा दिवा भवति, उत्पादा तु कश्चित् न्युत्पत्त्या जन्यते परया ।'

२. 'कवित्वस्य बीज प्रतिमानम्' यस्माद् विना काव्य न निष्पद्यते, निष्पन्न वा हास्यायतन स्यात् ॥

३. 'शक्तिर्निपुणता लोकज्ञातकाव्याधवेक्षणम् । काव्यशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥'

४. 'प्रतिभा कारणं तस्य न्युत्पत्तिस्तु निभूषणम् । न्युत्पत्तिकुटम्ब्यान् हस्वदिकवित्तकथा ॥'

५. 'प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति । हेतुर्गदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्नैर्गमिव ॥'

६. 'तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविता केवला प्रतिभा । तस्याश्च हेतुः कविदेवतामहापुरुषा-

दिजन्ममदृष्टम् । कविश्च विलक्षणन्युत्पत्तिकारणभ्यासौ ।'

ही विशेषण—यदि प्रतिमा का अर्थ अदृष्ट अथवा संस्कार—विशेष किया जाय—तब संगत नहीं होते, क्योंकि अदृष्ट पुरुष—प्रयत्न से उत्पन्न किया जाता है, फिर वह नैसर्गिक—स्वामयिक कैसे हो सकता है ? संस्कार भी अनुभवजन्य होने से पुरुष—प्रवास—साध्य ही है, स्वमयिक नहीं, और वह वासना रूप ही है, वासना गुणानुबन्धी नहीं, अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रतिमा का अर्थ उन्हें बुद्धि ही अमीष्ट है ।

द्वितीय की भी प्रतिभापरपर्यायादिकि बुद्धि ही हो सकती है, अदृष्ट अथवा संस्कार नहीं, क्योंकि द्वितीय भेद उत्पादक कि जो उन्होंने व्युत्पत्तिजन्य माना है और व्युत्पत्ति से अदृष्ट अथवा संस्कार की उत्पत्ति विदग्जन-सिद्धान्त-सम्मत नहीं । हाँ, बुद्धि-ज्ञान-की व्युत्पत्ति से उत्पत्ति अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तानुकूल भी है ।

वामन ने प्रतिभा की व्याख्या शब्दत की है और प्रतिमा का अर्थ संस्कार माना है^१ ।

सम्मत ने भी वामन की व्याख्या की ही वहीं शब्दों में दुहराया^२ है, अतः उनके मन से भी प्रतिभा का अर्थ संस्कार ही सिद्ध होता है ।

वाग्भट और पीयूषर्ष ने भी तो प्रतिभा की शब्दत कुछ व्याख्या की है और न कोई ऐसा विशेषण उसमें जोड़ा है, जिससे यह ज्ञान हो सके कि वे प्रतिभा का क्या अर्थ मानते थे ।

पण्डितराज प्रतिभा की व्याख्या में लिखते हैं कि 'जिनसे काव्य बनसके, ऐसे शब्दार्थों की उत्पत्ति प्रतिभा है'^३ । इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि पण्डितराज के विचार से भी प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का ही नाम है ।

प्रतिभा की यह व्याख्या उस आत्मज्ञानोक्ति से भी समर्थित होगी है, जिसमें 'उत्त बुद्धि-विशेष को प्रतिभा कहा गया है, जिसके द्वारा नर-नरं सृष्ट पैदा हो'^४ ।

ये ही बुद्धे उन आचार्यों के मत, अब यदि मैं इन मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता हूँ, तो पण्डितराज का ही मत सबसे तथ्य-पूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य बनाने में शक्ति की सुन्दर पदों तथा अर्थों की योजना ही तो करनी पड़ती है और यह काम बुद्धि-विशेष से ही हो सकता है । सकृच्चन्द्रनादिके समान अदृष्ट से वह सिद्ध रूप में प्राप्त नहीं होता और न शुण्डस्वरूप संस्कार से ही बन सकता है । हाँ, यह बात मानने योग्य अवश्य है कि हमारी नवनवोन्मेषशास्त्रिणी बुद्धि के प्रति अदृष्ट और संस्कार कारण हो सकते हैं ।

काव्यकारण के विषय में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में बहुत सुन्दर और विशद विचार किया है, जो मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब मैं यहाँ पाठकों के ज्ञानवैशेष के लिये संक्षेप में उनके विचारों को उपरिष्ठ कर देना अच्छा समझता हूँ ।

१ 'कवित्वस्य बीज प्रतिमानम्' की व्याख्या में वामन लिखते हैं कि 'कवित्वस्य बीज संस्कार-विशेष-कथित'

२ 'शक्ति कवित्वबीजरूप संस्कार-विशेष, वा बिना काव्य न प्रसरेत्, प्रसृत वा उपरमनी-यम् स्यात् ।'

३ 'ता (प्रतिभा) च काव्यपटनानुकूलशब्दार्थोत्पत्ति ।'

४ बुद्धिर्नवनवोन्मेषशास्त्रिणी प्रतिभा मत्वा ।'

काव्यमीमांसा के विचार इस प्रकार हैं:—

‘काव्यकर्म’ में कवि की ‘समाधि’ सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है, वह श्यामदेव का मत है। समाधि मन की एकाग्रता को कहते हैं। समाधिस्थ चित्त अर्थात् को देवता है। ‘अभ्यास’ काव्य-कर्म में सब से बड़ा सहायक है, यह मञ्जल का मत है। लगातार काव्य-निर्माण-प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास सब में सर्वविषयक हो सकता है और वह सब विषयों में मनुष्य को अधिकशाल बना देता है।

आचार्य (राजशेखर) का मत है कि समाधि मानस और अभ्यास वाद्य प्रयास है, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और उन दोनों से प्रकट की गई शक्ति ही काव्य का कारण है। यह शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति से बहुत दूर की वस्तु है। शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति की उत्पन्न करती है। शक्तिशाली को ही कुछ भागिन होता है और शक्तिशाली ही व्युत्पन्न होता है। शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कारतन्त्र और उक्ति-शैली सब इसी तरह की अन्य कवितापेक्षित विषयों को जो हृदय में छलका दे, उसी की प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा होने के लिये सामान की वस्तु भी परोक्ष के सम्मान ही रहती है और प्रतिभाशालियों के लिये आलों से दूर की वस्तु भी प्रत्यक्ष के समान हो जाती है।

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इन दोनों में प्रथम पुनः तीन प्रकार की होती है—सहजा, आदौर्भा और औपदेशिकी। ये तीनों कवि के उपकारक होने से कारयित्री कहलाती है। भावुक-सहृदयों का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। बड़े कवि के मन तथा अभिप्राय का ज्ञान कराने है। कवि-व्यापार-बृक्ष उसी के चलते सफल होता है, अन्यथा वह निष्फल हो जायगा^१।

कितने सुन्दर हैं काव्यमीमांसा के ये विचार ! पाठकों को पूर्वोद्धृत सतों की अपेक्षा इन विचारों में अवश्य नूतनता प्रतीत होगी। इस प्रसङ्ग के और भी बहुतरे नवीन विचार उस ग्रन्थ में लिखे गये हैं, जिनको मैं यहाँ विस्तार-मय से उद्धृत नहीं कर सका हूँ। जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

रस

रस पर कुछ कहने से पूर्व ईश्वरकाण्ड की उत्पत्ति के विषय में ही शब्द कह देना आवश्यक

१. ‘काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्तिवते’ इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहित चित्तमर्थान्तरं पश्यति। ‘अभ्यास’ इति मञ्जलः। ‘अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः’। तद्धि सर्व-गामी सर्वत्र निरतिशय कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो पाद्यस्त्वभ्यासः। तादुमावपि शक्ति मुक्तासप्ततः। ‘सा केवल काव्ये हेतुः’ इति आचार्यरीयः। विप्रसृतिश्च (दूरवर्तिनी) सा प्रतिभा-व्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिर्गुरुं हि प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणः। शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममयसत्यमलङ्कारतन्त्रमुक्त्यात्मन्यपि तयानिधमपि हृदय प्रतिभासप्तति सा प्रतिभा। अप्रतिमस्य पदार्थसार्वभौम इव, प्रतिभावनः पुनरपश्यतोऽपि प्रसन्न इव। सा द्विधा कारयित्री-भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। सा हि त्रिभिः सहजाऽऽपूर्वोपदेशिकी च। भावकस्योप-कुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः अग्रगण्यप्रापन्न भावयति। तथा सतु फलितः कवेर्यापारतः अन्यथा सोऽवकेनी स्यात्। (काव्यमीमांसा)

है, क्योंकि दृश्यकाव्य के माध्यम से ही मुझे रस का विवेचन करना है और ऐसा इसलिए करना है कि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्पष्टरूप से किया अथवा कराया जा सकता है।

हार्दिक आनन्दविरिक्त के सख्त बच्चों के खेल-कूद ही दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी शब्द वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अभिष्ट का जिस किसी तरह निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की राह सी आ जाती है, उस आनन्द की बड़ी बाढ़ को वे अपने छोटे हृदय-सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते। फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग-अङ्ग में फूट पड़ता है और वे उछल-कूद मचाने लगते हैं, आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों से सहायगृहीत रहने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों या यह आनन्द-प्रदर्शन (उत्सव-कूद) बड़े अभिभावकों की भी रचिकर ही प्रतीत होता है।

जब लोगों ने इस तरह के आनन्द-प्रदर्शन के दर्शन से अपना मनोरञ्जन होते देखा, तब कुछ आगरूक और व्यसना-शील हृदय वालों ने इस मनोरञ्जक साधन का अनुकरण करके मनोरञ्जन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल-कूदों के साथ तदनुकूल वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरञ्जन हो सकता है। इस दिक्कत के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने-कराने लगे जो वस्तुतः मूल अनुकरण से अधिक रोचक सिद्ध हुआ। आज भी उस तरह के अनुकरणात्मक पद्यबद्ध छंद ग्रामों में यत्र तत्र दृष्टि-गोचर होते हैं।

उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर 'अभिनय' पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुस्तकें लिखी गईं, उसके अनेक भेद (आङ्गिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य (नाटक, ड्रामा आदि) हैं।

प्रारम्भ में उदापीह वाले शिक्षित जब उन अभिनयों से आनन्दान्वित होकर यह सोचने के लिये अन्तःकरण के द्वारा विवश किये गये कि नाटकीय वस्तुओं में वह कौन सी वस्तु है जिसमें यह आनन्द छिपा रहता है।

उन तर्कशील मानवीं का गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'रस' शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु-विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके^१।

बहुत कुछ सोचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नद अथवा नदी को अभिनय करते देख कर जिस प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्मरण दर्शकों को हो जाता है और उन स्थितिकारुण्य प्रेमी-प्रेमिकाओं के नार-नार अनुसन्धान करने से एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आनन्द साहित्यिक परिभाषा में विभाव ही 'रस' है। तदनुसार कुछ दिनों तक यह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि 'आस्वाद्यमान विभाव ही रस है'^२।

कुछ दिनों के बाद लोगों ने विचार-धारा में परिवर्तन हुआ, उस सिद्धान्त असंगत प्रतीत

१. 'रस्यते= आस्वाद्यते इति रस'।

२. 'आनन्दमानो विभाव एव रस'।

होने लगा, क्योंकि उन परिनिर्मित विचार-धारा वाले आलोचकों ने सोचा—यदि आलस्य विभाव ही रस रूप ही, तब उस आलस्य विभाव-स्थानीय नट में रति आदि के अनुकूल चेष्टाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिये, परन्तु यह होगा नहीं, अतः विभाव रस नहीं है प्रत्युत उसकी वे चेष्टायें अर्थात् अनुभाव ही रस है जो पुनः पुनः भाग्यमान होकर आनन्द देता है। इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपातनः स्थिर हुआ कि 'पुनः पुनः अनुमयीयमान अनुभाव ही रस है'।^१

इस विचार से कुछ समय के लिये लोगों के मन में तृप्ति मिली, परन्तु आगे चलकर लोगों को कृत विचार में तृप्ति प्रतीत होने लगी और लोगों की गवेषणात्मिका बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये छटपटा उठी।

उक्त सिद्धान्त में असन्तोष का कारण यह हुआ कि लोगों की दृष्टि आलस्य विभाव की चित्त-वृत्तियों पर पड़ी, उनपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें मान होने लगा कि वे चित्तवृत्तियाँ ही आनन्ददायिनी हैं—विभाव अथवा उनकी चेष्टायें नहीं, क्योंकि नट अथवा नटी नाना प्रकार की प्रेमपात्रीय चेष्टाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा पाते, जब तक कि वे प्रेमी की हर्ष, आवेग आदि चित्तवृत्तियों का सफल प्रदर्शन नहीं करते। अतः उन विचारकों ने यह स्थिर किया कि 'पुनः पुनः अनुसन्धान के द्वारा व्यभिचारी भाव (हर्षादिक चित्त-वृत्तियाँ) ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं'।^२

इस तरह उक्त तीनों सिद्धान्तों का अब क्रमिक विकास हो चुका, तब उन मतों पर आलोचार्थ होने लगी और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से निषण्ण किसी एक को आनन्ददायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी किसी में रमणीय-रूप-माधुरी-मेदुर-नट को देख कर ही आनन्द का अनुभव होता है, तो किसी नाटक में नट के आह्विक अभिनयों को देख कर दर्शक मुग्ध हो उठते हैं, एवम् किसी नाटक में नट के द्वारा किया गया मनोभावों का क्वचित् चित्रण ही लोगों को चमत्कृत करता है। अतः यह मानना उचित है कि 'इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी हो, वहाँ वही रस है और चमत्कार-होन होने पर कोई भी रस नहीं है'।^३

इस पर भी विद्वानों की गवेषणात्मक बुद्धि विरत नहीं हुई, रस-विषयक गवेषणा का क्रम जारी हो रहा, जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाव और अनुभाव की अपेक्षा चित्तवृत्त्यात्मक व्यभिचारी-भाव प्रधान है और उनसे भी रति, शोक, उत्साह, रोष, भय, विस्मय, जुगुप्सा और निर्वेद ये आठ भाव प्रधान हैं, क्योंकि इन आठों में से एक एक भी होता है, जो भिन्न-भिन्न नाटकों में आदि से अन्त तक प्रतीत होता रहता है। जैसे शृङ्गार रस प्रधान नाटक में रति और करुण प्रधान नाटक में शोक आदि। अन्य हर्ष, स्मृति आदि ऐसे कृत हुये, जो कभी अनुभूत होते थे, कभी नहीं।

इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने भावों का नाम स्थायी रखा जो नाटक भर में प्रतीयमान थे। इसी तरह वे भाव व्यभिचारी कहलाये, जो कभी कभी अनुभूत होते थे।

इस प्रकार अब विद्वानों की स्पर्धाभासी ज्ञान हुआ तब उन्हीं के आधार पर उन लोगों

१. 'अनुभावस्थान'। २. 'व्यभिचार्यैव तथा तथा परिणमति'।

३. त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा त्रयोऽपि न'।

ने रस को नौ भागों में विभक्त कर दिया। तदनुसार उसके बाद से आज तक शृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र वीभत्स अद्भुत और ज्ञान्त ये नव-विध रस सर्वसम्मत हो कर प्रचलित हैं। परन्तु इस विभाग के हो जाने पर फिर विद्वानों के समक्ष 'रस क्या है?' यह प्रश्न विकट रूप में उपस्थित हुआ, क्योंकि इस वर्गीकरण के अनुसार पूर्वोक्त रसस्वरूपबोधक चारों ही मनुष्यहीन प्रतीत होने लगे।

विद्वानों की यह प्रतीति बिल्कुल सत्य थी, कारण यह कि एक ही वस्तु अनेक रस का विभाव हो सकती है, जैसे व्याघ्र, वीर, रौद्र और भयानक तीनों रसों का विभाव हो सकता है। इसी तरह अनुभाव भी अनेक रसों का एक हो सकता है, जैसे अलुपात, शृङ्गार, करुण और भयानक ये तीनों ही रसों के अनुभाव हैं।

व्यभिचारीभाव भी नियमित नहीं है, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव शृङ्गार, वीर, करुण तथा भयानक इन सभी रसों के पोषक होते हैं।

अब सोचिये कि इस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से किसी एक की (चाहे यह भगवत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रस कैसे आया जा सकता है, क्योंकि जब ये अनेक रसों में समानरूप से देखे जाते हैं, तब इनमें से एक एक से किसी निश्चित रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, अतः लोगों ने स्थिर किया कि—'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों का समूह रस है'।^१ इस सिद्धान्त के अनुसार अब उक्त दोष का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावार्थिक में से एक-एक मछे ही अनेक रस साधारण हो, पर उन तीनों का समूह भिन्न-भिन्न रस का भिन्न-भिन्न निश्चित हो रहेगा, अतः अब वियत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है।

इसके बाद ही नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि का आविर्भाव हुआ, उन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अनिश्चय के द्विदोके में इधर-उधर झूझ रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठा कर रस की एक ऐसी मुख्यवस्थित परिभाषा बनाई कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग, अर्थात् मिश्रण से स्थायीभाव रसरूप में परिणत हो गया है'।^२

तात्पर्य यह है कि 'जैसे मोहन-विशेषण समक, ठेठ और मसाले आदि नाना विध वस्तुओं से बने हुये नयनों के साथ मिलाकर भाग छाते हैं और व्यक्तियों के मिश्रण से भान में एक विलक्षण भास्वरूप का अनुभव करते हैं, वैसे ही विद्वज्जन भावों (विभावदिकों) और अभिनयों से सम्बद्ध स्थायीभावों का भास्वरूप करते हैं'।^३

इस सिद्धान्त के मूल में यह समालोचना काम करती है, जिसके द्वारा यह विदित होता है कि रति आदि उक्त आठों चित्तवृत्तियों—जो नाटक भर में प्रतीयमान होने के कारण स्थायीभाव कहलाती हैं—को विभाव उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उन आठों वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारीभाव यदा-कदा उनके साथ रह कर उन्हें पुष्ट करते हैं। अतः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव उनके उपकरणभाव हैं, प्रधान वे चित्तवृत्त्यात्मक आठों भाव ही हैं, वे ही अभिनय

१. 'विभावोदयश्च स्मृतिरसः'। २. 'विभावनानुमानव्यभिचारिसंयोगादरसिष्पत्तिः'।

३. 'यथा बहुद्वययुनैर्व्यक्तेर्वैदुर्भियुंम्'। आत्वादयन्ति मुञ्जान मत्त मत्तविदो वना ॥

भावभिनयमन्वद्वा स्थायिभावस्तथा मुधा। आत्वादयन्ति मनसा तस्मात्त्रादयसा स्मृताः॥

में भानन्ददायक है, और तन्हीं आठों भावों का आस्वादन हम मम्पयन करते हैं, फिर तो उन्हीं को रस मानना युक्तियुक्त है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों को वृक्ष-पृषक् अथवा समुद्रिन रूप में रस मानना युक्तिहीन अतः प्व अनुचित है।

हमके उपरान्त रस के विषय में भरतमुनि की उक्त परिभाषा को प्रमाणाभूत मानकर उसकी व्याख्या आरम्भ हुई। मट्ट लोहट, चंकुन, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरत-सूत्र के प्रधान व्याख्याकार हुये। यद्यपि अभिनवगुप्त के अनिरिक्त प्रथम तीन आचार्यों के व्याख्यायन्य आज उपलब्ध नहीं होते, त्वारि काव्यप्रकाश आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके मतों का अनुवाद नामोद्वेष्टपूर्वक किया गया है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि किमी युग में उन आचार्यों के द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे थे।

उक्त चारों आचार्यों ने रससम्बन्धी भरतसूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। चारों व्याख्याओं में प्रधानतया दो बातों पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है, एक तो हम पर कि रस का या रसात्मक बोध कैसा है? अर्थात्—ज्ञान के जो अनेक प्रसिद्ध भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द आदि उनमें से रस का कौन सा ज्ञान होगा? और दूसरे इस पर कि जिस रस का हमें अनुभव होता है, वह वस्तु किम में रहता है? अनुकार्य रामादि में अथवा अनुकर्ता नदादि में, किंवा सदृश्य सन्धों में?

इन दोनों दो प्रश्नों का समाधान उक्त चारों आचार्यों ने भरने-भरने दृष्टि से भरती-भरती व्याख्या में किया है।

(१) प्रथम व्याख्याकार मट्ट लोहट ने कहा है कि रस वस्तु अनुकार्य रामादि में ही रहता है, परन्तु नट आदि अनुकर्ता में जो राम आदि के आरोप कर लेने के कारण रह सकता है। इनके मत के अनुसार रस का ज्ञान 'सीमाविषयक रति से युक्त यह (नट) राम है इत्यादि' रूप से होता है जो प्रत्यक्षात्मक है और 'सुरभिचन्दनम्' के समान सामने में उपस्थित विशेषभूत नर' अथ में लौकिक तथा सामने में अनुपस्थित सीतादि के अथ में अलौकिक माना जाता है। इनकी व्याख्या भीमानादर्शन के अनुसार समझी जाती है।

(२) द्वितीय व्याख्याकार आचार्य शङ्कर की लोहट का मत ठीक नहीं जवा। इन्होंने कहा—संसार में सम्यग्ज्ञान, निष्प्राज्ञान, सशेषज्ञान और सादृश्यज्ञान ये चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं। 'यह राम ही है', 'यही राम है' और 'यह राम है हो' ये तीनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। इन तीनों ज्ञानों में क्रमशः 'इसके राम न होने का' 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने का' और 'इसके सर्वथा राम न होने का' निवारण होता है। इन्हीं निवारणों को क्रमशः अयोग्यवच्छेद, अन्ययोग्यवच्छेद तथा गत्यन्तायोग्यवच्छेद कहते हैं।

'यह राम नहीं है' इस तरह के उत्तरकालिक वाक्यज्ञान से पूर्वकाल में होने वाले 'यह राम है' इस तरह के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। 'यह राम है या नहीं' इस प्रकार के एकधर्मीकानिरिक्त विशेषणद्वयावगाही ज्ञान को सशेष-ज्ञान कहते हैं। 'यह राम के सदृश है' इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्य ज्ञान कहते हैं।

परन्तु अभिनेता नट की देखकर जो उसमें 'यह राम है' इत्यादि ज्ञान हमें होता है, यह उक्त चारों ज्ञानों से भिन्न है, वह उसी तरह का ज्ञान है। जिस तरह का ज्ञान जिस में पीछे की देखकर 'यह पीछा है' इत्यादि रूप से होता है।

इस तरह के ज्ञान के द्वारा नट को राम आदि सद्यस्त होने पर अभिनव-निपुण नट के कौशल से स्थायीभाव के कारण कार्य और सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं, और तब सहृदय सामाजिक, रामादि कृत्री सीतादि-विषयक रति की अनुमिति नट में कर लेते हैं। उसी अनुमिति का नाम रस है। इस मत के अनुसार नरतुंग रस अनुकार्य में ही रहता है, परन्तु उसका आस्वादन अनुमिति द्वारा सामाजिकों की होता है अतः 'सामाजिकों में रस है' ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। ज्ञान रस मत में अनुमित्यात्मक सिद्ध हुआ। इसका मत न्यायदर्शन से प्रभावित माना जाता है।

(३) भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक को यह मत भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने कहा—काम्य के तीन व्यापार होते हैं, अभिधा, भावना और भोगकृत्व इनमें से प्रथम व्यापार के द्वारा काम्य के वाच्यार्थ ज्ञात होते हैं। द्वितीय व्यापार से राम, सीता आदि नाटकीय पात्र साधारण कर दिये जाते हैं अर्थात् व्यक्तिविशेषधर्म—रामत्व-सीतात्व आदि से रहित होकर केवल नायक-नायिका आदि के रूप में उपस्थित करा दिये जाते हैं और तृतीय व्यापार के जरिये रस का अनुभव होता है। परमार्थ आत्मानन्द में विश्राम ही भोग है अतः वही रस है। इस मत के अनुसार रस सामाजिकों में रहता है और उसका ज्ञान आत्मसाक्षात्काररूप है। यह मत सांख्यदर्शनानुयायी माने जाते हैं।

(४) भरत सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार आचार्य अभिनवशुक्त का मत रस के विषय में सर्वाधिक मान्य है, अतः एवं प्रकार भी आज तक इसी मत का सबसे अधिक है। उन्होंने भट्ट नायक के मत में भी दोष दिखाकर कहा कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त अर्थात् व्यञ्जनाश्रुति के द्वारा ज्ञात रति आदि स्थायीभाव रस है'। इस मत के अनुसार सामाजिकों की आत्मा में वासनारूप से स्थित अपनी रति आदि चिन्तश्रुतिवाँ ही इस रूप की जाती हैं, ज्ञान इस मत के अनुसार शब्द है, पर शब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यबोध शब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है।

कुछ नवीन विद्वानों का कथन है कि काय-अवयव अथवा नाटक-दर्शन से विभारसिकों के ज्ञान ही जाने पर सहृदय पुरुष व्यञ्जनाश्रुति के द्वारा रामादिनिष्ठ सीतादिविषयक रति का ज्ञान करते हैं, तदनन्तर सहृदयतासङ्कट पुनः पुनः अनुमन्यमान रूप भावनात्मक बोध से सामाजिकों अथवा श्रोताओं की अन्तरात्मा अश्रुनाशन हो जाती है, फिर उस अश्रुनाशन आत्मा में, सीत में चोरी के समान अनिवर्तनीय रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न हो जाते हैं और जबका तद्दोषों की आत्मचैतन्य के साथ अनुभव होता है उन्हीं रति आदि का नाम रस है।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि राम आदि की रत्नादि ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, न अनिवर्तनीय रति आदि की कल्पना की ही आवश्यकता है। अभिनेता अथवा पाठकों की चेष्टा आदि से सीता आदि की रत्नादि राम आदि में अनुमति होती है और तदनन्तर एक भावनात्मक बोध से अपने को राम आदि समझने लगे सहृदयों में एक घम उत्पन्न होता है कि 'मैं सीताविषयक रतिवाला राम हूँ'। इसी अर्थ की रस समझना चाहिये।

इस तरह रस के विषय में ११ मतों का बख्खेल पण्डितराज ने अपने रसज्ञापन में किया है और प्रथम तीन मतों को छोड़ कर शेष नौ मतों में भरत-सूत्र सगमन भी किया है। परन्तु

होल्ड, शङ्कु, महुनायक और अभिनवगुप्त के मतों से भिन्न मतों की चर्चा अन्यत्र नहीं दीस पड़ती, अतः मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि पण्डितराय ने इसमें उन मतों का आधिकार अपनी प्रसार-प्रतिभा के द्वारा किया है।

रसों की सख्या के संबन्ध में भी तागा मत-भेद है, अधिक लोग पूर्वीक नौ रस मानते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शान्तरस नहीं मानते विशेषकर नाटक में उन्मत्तो भक्तम्बर बनलाते हैं^१।

सबभूति केवल करुण रस को ही मानते हैं और अन्य रसों को उसी के विहार कहते हैं^२। धाराभरणीय भोग केवल शृङ्गार को ही रस कहते हैं और अन्य रसों में रसप्रसिद्धि को ऐतिहासिक मूलक बनलाते हैं^३। नारायण पण्डित अद्भुत को ही रस मान कर अन्य रसों का प्रायास्यान करते हैं^४।

अग्निपुराण में रस का विचार कुछ भिन्न ही ढङ्ग का वर्णन होता है। उसमें कहा गया है कि 'वैशान्तदर्शनों के द्वारा जो व्यापक नित्य परमज्ञ प्रतिपादित हुआ है, उसमें सद्म आनन्द विद्यमान है। यह आनन्द किसी किसी समय पर प्रकट होता है, उसी आनन्दाभिभ्यक्ति को चैतन्य समझाते और रस कहते हैं। उस आनन्दाभिभ्यक्ति का प्रथम विकार ही अहङ्कार है। उस अहङ्कार से अभिमान (ममता) उत्पन्न होता है, जिस ममता में समस्त विनीकों आवद्ध है। उसी ममता से रति (प्रेम) उत्पन्न होती है। वही रति व्यवहारिभावों की समानता से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कहलाती है। उसी के हास्य आदि अनेक भेद हैं। वही रति सत्त्वादि गुणों के प्रसार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और सकोच इन चार रूपों में परिणत होती है, उनमें राग से शृङ्गार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और सकोच से वीमलता की उत्पत्ति होती है। अतः स्वभावतः ये चार ही रस हैं। किन्तु अनन्तर शृङ्गार से हास्य, रौद्र से क्रोध, वीर से अद्भुत और वीमलता से मयानक को छष्टि हुई तथा रति के अभावस्वरूप निवेद से शान्त को छष्टि हुई^५।

१. 'शान्तरस समस्तान्तरान्ते च तदसंभवत् । अष्टावै रसा नात्ये न शान्तरस्य युज्यते ॥'

२. 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् मित्रान् शुष्कं शृङ्गिदाश्रयते विवर्तान् ।

आवर्तमुद्धर-उरज्जमयान् विकारावन्मो यथा सलिलमेव च तत्समस्तम् ॥'

३. 'शृङ्गारवीरकरागदुःखरौद्रहास्य-वीमलसक्तसम्भवानि कलागताम् ।

आम्नासिपुर्दारसान् श्रुतिमो वय ॥ शृङ्गारमेव रसत्वाद् रसयामनाम् ॥'

'बोरादभुतादिषु च वेद रसप्रसिद्धि' सिद्धाकुनोपि वदयश्वदाविधानि ।

लोकेगतानुमतिप्रकल्पवशादुपेक्षामेतां निवर्तयितुमेव परिश्रमो नः ॥'

४. 'रसो सारथ्यमत्कारः सर्वत्राप्यनुसूयते । तत्त्वमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥

तरसादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् '.....' ।

५. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमर्थं विभुम् । वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरोष्मरम् ॥

आनन्दः सद्बलस्य व्यन्तरे स कदाचन । व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कारसाधया ॥

आधस्तात्प विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्थितः । ततोऽभिमानसन्निधेः समाप्तं सुवनप्रथम् ॥

अभिमानात् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी । व्यवहार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥

गुण -

इस प्रकरण में मुझे निम्नलिखित विषय-सूचकों पर विचार करना है । (१) गुणों का उत्पत्ति,
(२) गुणों का कान्य में स्थान और (३) गुणों के वर्णन ।

(१) गुण-निष्पत्ति-परक-वर्णों को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक प्राचीनों का मत, दूसरा नवीनों का मत । नवीन-मत में गुणों की संख्या निश्चित स्वी हो गई है, परन्तु प्राचीन मत में उनकी संख्या सर्वथा अनिश्चित है ।

प्राचीन मत के प्रथम आविष्कारक भरतने इच्छेय, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, भोज, सुकुमारता, अर्धव्यक्ति, उदारता और कान्ति ये दश गुण गानते हैं^१ ।

अग्निपुराणकार ने इच्छेय, लाजित्व, गन्धर्व्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिको ये सात शब्दगुण^२, माधुर्य सविधान, क्षेमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व ये छ अर्धगुण,^३ दम्य प्रसाद, सौभाग्य, यशस्वरूप, उदारता, प्रक और राग ये छ उभय गुण-अर्थात् शुद्ध और अर्ध दोनों के गुण^४ मिलाकर वीस गुण बताये हैं ।

वासन ने प्राचीन मत के अनुसार गुणों का विस्तृत विवेचन किया है । प्राचीन मतों में सबसे अधिक प्रचार इन्हीं के मत का हुआ, मत जब परवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने इन्हीं के मत का टुटन अपने अपने मतों में किया है । इनके हिसाब से गुणों की संख्या बीस है, जिनमें दश शब्द गुण और दस अर्धगुण, वहाँ जो नाम दश शब्दगुण के हैं, वे ही अर्ध गुणों के भी रहे गये हैं, किन्तु छद्मों में भेद कर दिए गये हैं । वे नाम हैं—इच्छेय, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता अर्ध-व्यक्ति, उदारता, भोज कान्ति और समाधि^५ । प्रकृत पुरुष में वासन के मत का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है ।

भोजदान ने वासन के दशशब्द गुणों के अभिविक्त उदात्तता, रजितता, प्रेयस्, दृढ धृति, सुहृन्ता गन्धर्वता, विलस, सक्षेप, समित्तव, आविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि ये चौदह अन्य गुण मानकर इनकी संख्या चौबीस कर दी है^६ ।

तत्प्रेमाः काममिदरे इत्येवायं अल्पनेकदा । स्वस्वस्थवि विशेषोत्पत्तिरिपोरस्वच्छया ॥

सखादिगुणस्वन्तानाञ्जायन्ते परमात्मनः । रागाद्वृद्धिं शृङ्गरो रीदलैर्हृन्मात्रावृत्ते ॥

वीरिद्वन्द्वमजं सकोचभूमीमल इत्येति । शृङ्गारजायते हासो रीदस्तु कलपी रस ॥

वीरान्वाद्गुणनिष्पत्तिं स्वाज्ञोमत्ताद्गुणानकः । शृङ्गारवीरकल्मसौवोरयवायका ॥

रीमत्ताद्गुणजान्ताह्वः स्वयन्ताम्बुगुणो रसा । लक्ष्मीरिव विना सायात्र बाणी मागिनीरसा ॥

१. इच्छेय प्रसाद समता समाधिमाधुर्यभोज परसौकुमार्य ।

अर्धव्यक्त्युदारता च कान्तिश्च अर्धव्यक्त्युगुणदशैवे ॥ (नाट्यशास्त्र)

२. इच्छेयो लाजित्वगन्धर्व्यौ सौकुमार्यमुदारता । सत्येव यौगिकी चेति गुणा द्वादशस्य सप्तमा ॥

३. माधुर्यं सविधानं च क्षेमलत्वमुदारता । प्रौढि सामयिकत्वं च तत्प्रेमा-वट् चरतति ॥

४. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यशस्वरूपमुदारता । हासो रस इति प्राप्ते वट् प्रपञ्चा अप्रथिता ॥

५. इच्छेय प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्धव्यक्तिरुदारत्वमेव कान्तिरसमाश्रयः ॥

६. योऽयं प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्धव्यक्तिरुदात्तकान्तिरुदारत्वमुदारता ॥

इसके अतिरिक्त दण्डी, नागमठ और पीपूषवर्ष ने भी गुण पर लेखनी चलाई है परन्तु इनके मतों में कोई खास समीक्षा नहीं है। दण्डी और नागमठ तो मरत मत के एक तरह से अनुवादक मात्र हैं। पीपूषवर्ष ने मरत के गुणों में से ही कान्ति को गृह्यार-रस में और अर्थव्यक्ति की प्रसाद गुण में गतार्थ मानकर उनकी सल्लाह दत्त से घटाकर भाठ कर दी है।

इस प्रकार इन प्राचीनों में गुणों की संख्या में ही मनभेद नहीं है, अपितु लक्ष्य में भी परस्पर बहुत अधिक मन-भेद है। फलन यही कहना पड़ता है कि इन आचार्यों के समय में गुण के सङ्ग्रह में पूर्ण विचार नहीं किया गया, एक ने दूसरे के कथन की निष्पक्ष समालोचना नहीं की, बरन, जिसके मन में जब भी बात आई, उन्हीं को उसने अपने ग्रन्थ में लिख दिया, जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि इनके समय तक गुण के विषय में अराजकता की सी स्थिति बनी रही।

गुण के विषय में नवीन मत के आविर्भावक प्रथम आचार्य भामह हुए। इन्होंने प्राचीनों के मतों की अत्यधिक समालोचना करके सिद्ध किया कि गुण तीन हैं—भोज, प्रसाद और माधुर्य।

भामह ने त्रिगुणवाद का स्थापन तो किया, परन्तु इस मत का पूर्ण प्रचार हुआ मम्मट के समय में। मम्मट ने प्राचीनों के कतिपय गुणों को दोषाभावरूप, कुछ को ध्वनि और गुणीभूत व्याकरणरूप तथा कुछ को वैचित्र्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और शेष को इन्हीं तीनों गुणों में गतार्थ कर दिया। तब से आज तक इसी त्रिगुणवाद का प्रचार है। पण्डितरान ने भी गुणों की संख्या के विषय में मम्मट का अनुगमन ही किया है।

(२) काव्य में गुणों का क्या स्थान है इसके विषय में वामन तथा भोज का कथन है कि—
'काव्य युवती के रूप के तुल्य है, क्योंकि जैसे युवती का रूप शरीर पातित्य आदि अच्छे गुण और बुरे-बुरे अलंकारों के योग से अधिक आकर्षक होता है, वैसे ही काव्य भी आधुन्यादिगुण और अनुपास तथा उपादि अलंकारों के सम्बन्ध से अधिक रुचिकर होता है, परन्तु गुणहीन काव्य जीवनविहीन नामिका के शरीर के समान है, उस स्थिति में जन-प्रिय अलंकार भी अधीनकार हो जाते हैं'।^१ इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है।

भोज ने इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'तालकाद होने पर भी गुण-हीन काव्य सुनने योग्य नहीं होता। क्योंकि गुण और अलंकार के योग में गुण का योग प्रधान है'।^२

ओजस्त्यान्यदौर्जित्य प्रेयानय सुसन्दता । तदय समाधिः सौख्यं च गान्भीर्यमय विलरः ॥
सञ्चेयः सम्मिततल च भाविकल गतिस्तथा । रीतिकक्तिस्तथा प्रीतिःइत्यादि' ।

(सुरस्वतीकण्ठाभरण)

१. युवतीरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदत्ते शुद्धगुण तदप्यतीव ।

विदितप्रणय निरन्तराभिः सदलकारविहङ्गकल्पनाभिः ॥

यदि भवति ध्वजद्वयुत गुणैर्वो अपरिव बौवनबन्धमङ्गनाया ।

अपि जनदवितानि दुर्गन्त निषनमलकरणाणि सप्रयन्ते ॥

२. अलङ्कनमपि ध्वन्य न काव्यं गुणवर्जितम् । गुणयोगस्तुमुक्त्वो गुणालङ्कारयोगयोः ॥

काव्यप्रकाशकार आदि ने भी काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों की मुख्यता स्वीकार की है, क्योंकि वे कहते हैं कि गुण साक्षात् रस को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्द-अर्थ के द्वारा।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि काव्य में गुणों का स्थान अलंकारों से ऊपर और रसादि आभरणानीय व्यञ्जनों से नीचा है।

(३) गुण के लक्षण के सम्बन्ध में भी विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। भरत दोषों का निरूपण करके लिखते हैं कि 'इन दोषों के विपरित जो कुछ वस्तु है वे गुण हैं'।

अमरपुराणकार कहते हैं कि 'काव्य में विपुल शोभा को जन्म देने वाली वस्तु शब्द गुण है'। 'शब्दप्रतिपाद्य जिस किसी वस्तु को उत्कृष्ट बनानेवाली चीज अर्थगुण है'। और 'शब्द तथा अर्थ दोनों का उपकारक जो हो वह शब्दार्थोन्मेष गुण है'।

दण्डी का कथन है कि 'जो वस्तु विशिष्ट रचना का प्रगण हो, वह गुण है'। वामन कहते हैं कि 'काव्य-शोभा-कारक धर्मगुण है'।

इसके अनन्तर वह शका उत्पन्न हुई कि अब शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाने वाले पदार्थ-विशेष ही गुण और अलंकार भी हैं, तब इन दोनों में भेद क्या है?

इसके उत्तर में वामन ने कहा कि 'काव्यशोभा के जन्मदायक धर्मगुण हैं और उस शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म अलंकार हैं'।

परन्तु भानन्दवर्धन के द्वारा आविष्कृत ध्वनिवाद के अनुसार रसादि अलङ्कारमन्त्रियों की काव्यात्मता स्थापित हो जाने पर गुण के विषय में लोगों का मत बदला और मम्मट ने कहा कि 'आत्मा के शौर्य आदि के समान काव्य में अक्षिभूत रस (अस्तव्यक्तमन्त्रय) के उत्कर्ष धर्मगुण हैं और ये गुण काव्य में अचलस्थिति-अर्थात् अवश्य रहने वाले हैं'। इस कथन से गुणालंकार में परस्पर भेद भी सिद्ध हो जाता है—अर्थात् रस के धर्म और काव्य में नियतः रहनेवाले गुण और शब्दार्थ के धर्म तथा अनियमित रूप में रहनेवाले अलंकार हैं। एतन्मूलक ही ध्वनिकारलुभायियों का यह कथन है कि 'शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शून्यता आदि के समान हैं, दोष कालत्वादि के तुल्य हैं और अलंकार कटककुण्डलादिकों के सदृश हैं'।

यह तो हुई गुण के सामान्य लक्षण की बात, अब विशेष लक्षण की ओर चलिये। प्राचीनों के गुणों के खण्डन हो जाने के बाद जिस त्रिगुणवाद की स्थापना नवीनों ने की उसने अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद ये जो तीन नाम गुणों के रखे गये, उसके मूल में कोमल-कठोर

१. 'गुणास्त्रिपदेषाम्'। २ 'य काव्ये महतीं ज्ञायामनुगृह्णाति असौ गुणः'।

३ 'उच्यमानस्य शब्देन पश्य कस्यापि वस्तुन । उत्कर्षमावहृष्यो गुण इत्यभिधीयते ॥'

४. 'शब्दार्थोत्पत्तुर्वाणो नाम्नीमधगुण रचन'।

५. 'यते नैदधर्मार्थस्य प्राणा दश गुणा स्मृता'। (काव्यादर्श)

६ 'काव्यशोभाया-कर्तारो धर्मा गुणा'। (अलंकारध्वज)

७ 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा', तदनिश्चयहेतवस्त्वलंकाराः ।

८ 'ये रसव्याप्तिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन । उत्कर्षहेतवस्तेत्युरनवस्थितयो गुणाः ॥'

९. 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीर, रसादिश्चात्मा, गुण शौर्यादिवत्, अलंकारा कटककुण्डलादिवत्'।

और स्पर्धात्मक यह रचना की त्रिविधता ही है, यह समझ कर कुछ लोग गुणों की रचनाएँ ही मानने लगे।

परन्तु आगे चलकर जब यह विमर्श किया गया कि श्रृंगार, करुण और शान्तरसों के लिये कोमल, वीर, रौद्र और वीरमल्य रसों के लिये कठोर तथा सभी रसों के लिये स्पर्धात्मक रचना आवश्यक है, तब इन रचनाओं से युक्त रसों के आस्वादन से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अन्वेषण किया गया, जिससे यह निश्चय हुआ कि कोमल-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्तद्रुत होता है, कठोर-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त उदीप्त होता है और स्पर्धात्मक-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त विकसित होता है।

कुछ और अधिक गम्भीर आलोचन करने पर यह भी सात हुआ कि चित्त पर उक्त प्रकार के प्रभावों की कालने वाली रचनाएँ नहीं हैं बल्कि रस है, क्योंकि विरह रस में विरह रचना उस तरह का प्रभाव नहीं डाल पाती। कल्पन: यह निर्यय हुआ कि कोमल रसों में रहनेवाली आलस-रस ही माधुर्य, कठोर रसों में रहने वाली उद्दीपकता ही भोज है और शुष्कस्थान में अग्नि के समान तीव्र चित्त को व्याप्त करने वाली विकासकता ही प्रसार है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि गुण वस्तुतः रस-वर्ग हैं परन्तु आरोप के द्वारा 'यह रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होते हैं।

पण्डितराज के विचार से दुःखि, दीक्षि और विकास ये चित्तवृत्तियाँ ही क्रमशः माधुर्य, भोज और प्रसार गुण हैं, रस उनके प्रयोजक हैं, अतः प्रयोजकता संरन्ध से रस में भी ये गुण रहने वाले हुये अतः एव 'रस मधुर है' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। एक बात उन्होंने भीर कही है, वह यह कि जिस तरह रस गुणों के प्रयोजक होते हैं, उसी तरह शब्द, अर्थ और रचना भी, अतः इनमें भी प्रयोजकता संरन्ध से ये गुण रहते ही हैं, फिर उपचार के द्वारा 'शब्द मधुर है', 'रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार की सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग प्राज्ञन थे^१। इनके पिता का नाम वैरभट्ट^२ अथवा वैरमभट्ट^३ था। इनकी जननी रुक्मी नाम से प्रसिद्ध थी^४। इनके पिता वैरभट्ट अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने ज्ञानेन्द्रमिश्र नामक मित्रजी सत्याजी से वेदान्तशास्त्र का, महेन्द्र नामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का, छण्डदेवीनाम्पाय से पूर्व भौमनामा का और शेषवीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया^५ था। इतना ही नहीं, इन ज्ञानों से भिन्न वेदादि शास्त्रों में भी वे परम प्रवीण थे^६।

पण्डितराज ने अपने सर्वविद्याविद्वान् पिता से ही सब विषयों का अध्ययन किया, परन्तु अपने पिता के गुरु शेषवीरेश्वर से भी प्रायः कुछ पढ़ा था, ऐसा माना जाता है, क्योंकि मनोरमा

१. "तैलङ्गकुलावन्तं पण्डितजगन्नाथेन" (आत्मचरितम् का आरम्भ)

२. 'तं महे वैरभट्टाख्यम्' (पृ० २) ३. प्राणागरण में।

४. 'रुक्मीकान्तं महायुक्तम्' (पृ० ३) ५. 'श्रीमदज्ञानेन्द्रमिश्रो' इत्यादि (पृ० ३)

६. रसगंगाधर के 'सर्वविद्याधर' पद से सूचित होता है।

कुचमर्दन' नामक अपने ग्रन्थ में पण्डितराज ने अपने गुरु के रूप में उनका स्मरण किया है^१।

पण्डितराज स्वयं भी सब शास्त्रों में प्रगाढ़ पण्डित थे, विशेष कर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था। इस बात की पुष्टि रसगङ्गाधर में स्थान-स्थान पर व्यक्त किये गये विचारों से होती है, अतः इसकी पुष्टि के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पण्डितराज अपने युग के विद्वानों में सर्वाधिक भाग्यशाली समझे जा सकते हैं, क्योंकि ये युवावस्था में ही अपनी विमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के कृपा-पात्र बन गये और उन्हीं से 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त कर उन्हीं के आश्रय में अपनी युवावस्था को सुखपूर्वक बिताये^२। शाहजहाँतनय दाराशिकोह का वर्णन पण्डितराज ने अपने 'जगदाभरण' नामक निबन्ध में किया है, अतः दाराशिकोह की छत्रच्छाया में भी इनके जीवन का कुछ अंश व्यतीत हुआ था ऐसा भी लोगों का अनुमान है।

स्थितिकाल

यह निश्चित है कि पण्डितराज शाहजहाँ के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और शाहजहाँ के विषय में इतिहास बतलाता है कि १६२८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ और १६५८ ई० में अपने पुत्र औरङ्गजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया, तथा १६६६ ई० में मर गया, अतः यह निश्चित होता है कि पण्डितराज का भी स्थितिकाल वही है। हाँ यह सम्भव है कि शाहजहाँ के मरण के बाद भी पण्डितराज अपनी स्थिति से इस भूतल को कुछ समय तक कृतार्थ करते रहे हों।

किंवदंतियाँ

पण्डितराज के विषय में अनेक तरह की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं और सभी किंवदंतियों कुछ अंशों में मिला होने पर भी बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, अतः उन किंवदंतियों में तथ्य अवश्य होगा ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास है।

कुछ लोगों का कथन है कि 'पण्डितराज अध्ययन के बाद आरम्भ में जयपुर आये और वहाँ उन्होंने एक पाठशाला स्थापित की और वहीं दिल्ली से आये हुये किसी काजी की, मुसलमानों के मजहबी ग्रन्थों को छोड़ पठकर विवाद में परास्त कर दिया। जब वह काजी जयपुर से छोड़कर दिल्ली गया तब बादशाह के आगे उसने पण्डितराज की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह काजी के मुख से पण्डितराज की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को दिल्ली बुला लिया।

विकासनय दिल्ली दरबार में बादशाह के कृपाभाजन बने हुये पण्डितराज किसी बदन-कन्या पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस बचनी प्रेयसी के साथ पाणि-ग्रहण करने में भी समर्थ हुये। इस तरह इन्होंने अपनी युवावस्था बादशाह के आश्रय में ही सुखपूर्वक बिताई। परन्तु वृद्ध होने पर उस बदन प्रेयसी को साथ लेकर वे काशी चले आये। किन्तु काशी में अप्यय दीक्षित आदि विद्वानों ने 'यवनी-समर्प-दूषित' कह कर इनका बहुत अपमान किया और जातिभ्रुत भी कर दिया।

१ 'अरमपुरपण्डितवीरभराणाम्' "" (मनोरमाकुचमर्दन)

२ 'दिल्लीदरबारपाणिपल्लवतले नीत नवीन वय' (भामिनीविलास)

काशी में पण्डितराज अपने की पवित्र सिद्ध करने के लिये गङ्गा-तट पर मग से ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर तत्काल रचिन स्वकीय पद्यों से (जिनका समग्र गङ्गानन्दरी नाम से प्रकाशित है) गंगा की स्तुति करने लगे। आपको स्तुति से गंगा जी प्रसन्न होकर प्रति पद्य पर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती हुई बाकनारे पद्य पर आपके निकट पहुँच गई और यवननन्द्या सहित आप गंगा जी के पावन जल में समाहित हो गये।

इम्प्रांति काशीवासी पण्डित-मण्डल पण्डितराज के इस चमत्कार को देख कर चकित हो उठे और वही दिन से सभी पण्डितराज की स्तुति करने लगे।

कुछ लोग कहते हैं कि—‘बादशाह की कृपा से अतुल सम्पत्ति प्राप्त पण्डितराज पनीन्यस्त हो उठे, यौवनरूप बहि में उस सम्पत्ति ने घृणाहुनि का काम किया, वनकी विवेक-व्योति द्रुप्त हो गई और वे अन्ध होकर निम्नो यवन-तल्ली पर आसक्त हो गये। परन्तु कुछ ही समय के बाद उस यवनी की मृत्यु हो गई। उनके मरण से पण्डितराज के हृदय पर बड़ी चोट लगी, दिनों भी उन्हें अप्रिय प्रतीत होने लगी, मग वे दिनों छोड़ कर काशी चले आये, किन्तु काशी में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली, प्रेयसी का विरह तो इन्हें सता ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी इन्हें सनाना आरम्भ कर दिया। यवनी ससर्ग की बात सुन कर काशी के पण्डित दान-दान में इनका अनादर करने लगे। अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से ऊब गये और वर्षों की उमरवती हुई गङ्गा की धारा में स्व-निर्मित बंगालहरी का पाठ करते हुये कूद पड़े-दूब मरे।’

एक किंवदन्ती यह भी है कि—‘बृद्धावस्था में एक दिन काशी के गङ्गा-तट पर पण्डितराज अपनी यवन-प्रेयसी को बगल में बसाये तो रहे थे और इनकी इच्छा शिखा सदिया ते नीचे लटक रही थी, कुछ दूर से उड़ा था। इसी समय समीप से अण्णवदीक्षित उसी पाठ पर स्नान करने के लिये आये और एक वृद्ध का पैसा निकट आचरण देख कर कह उठे—

‘किं निरुक्त तेरे तेरे वयसि ध्वसागते मृत्यौ ?’

‘इस शेष वय में जब मृत्यु क्षिर पर लटक रही है—इस तरह निरुक्त होकर क्या तो रहे हो ?’—मग मो तो विषय-भोग से मुक्त भीड़ों, कुछ ईश्वर का चिन्तन करो।

इस पलायन की सुनकर पण्डितराज ने जब मृग्य निकाल कर वनकी ओर देखा, तब उन्हें पश्चात्ताप कर दीक्षिण जी क्षत कह उठे—

‘अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति ज्वाहवी भवतः ॥’

‘अथवा आप सुख से सोये, क्योंकि आपके निकट में गङ्गा जी वर्तमान है।’

कुछ लोग इससे भी कुछ भिन्न तरह की किंवदन्ती कहते हैं। उसका सारांश यह है कि ‘पाठावस्था में ही जयपुरनरेश मिरजा राजा जयसिंह जी काशी से इन्हें जयपुर ले आये। कारण यह था कि बादशाह के दरबार में कुछ लोग उक्त जयपुरनरेश पर आक्षेप करते हुये कहते थे कि ‘आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं, क्योंकि पञ्चुराम जी ने जब इकोश नार इस पृथ्वी को निःसृजित बना डाला, तब आपके पूर्वज वने कैसे ! दूसरे यह कि अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है।’

यह आक्षेप जयपुर नरेश को बरानर सत्यता था, परन्तु इन आक्षेपों का कोई उपयुक्त उत्तर सूझ नहीं पड़ता था, अतः वे किसी ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् के अन्वेषण में थे, जो उन आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें वह स्फुरन्मुखी प्रतिमा दीख पड़ी, उनसे उन्होंने उक्त आक्षेपों की बात कही। पण्डितराज ने उन मुद्दों को निरुत्तर करने की प्रतिज्ञा की, इसके बाद पण्डितराज जयपुर लगे गये। जयपुर आकर पण्डितराज ने कहा कि प्रथम आक्षेप का उत्तर तो मैं अभी दे सकता हूँ, परन्तु द्वितीय आक्षेप के उत्तर देने के लिये मुझे अरबी का अध्ययन करना आवश्यक होगा, इस पर जयपुरनरेश ने आगरे में रख कर पण्डितराज को अरबी पढ़ने का अवसर दिया। जब पण्डितराज ने अरबी का अध्ययन कर लिया, तब जयपुरनरेश उन्हें दिल्ली के साही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर पण्डितराज ने प्रथम आक्षेप का उत्तर यह दिया कि 'परशुराम ने पृथ्वी को २१ बार नि क्षत्रिय किया' इस लोकोक्ति का यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, क्योंकि यदि वैसा अर्थ माना जाय तब २१ बार वाली बात मिथ्या हो जायगी—अर्थात् प्रथमवार में ही जब सब क्षत्रिय मारे जा चुके, तब फिर क्षत्रिय आये ही कहाँ से जो फिर-फिर उन्होंने पृथ्वी को नि क्षत्रिय किया? अतः यह मानना होगा कि अधिकतर क्षत्रियों के मर जाने पर भी कुछ क्षत्रियशिष्ट बचे रहे फिर यदि २० बार तक कुछ कुछ क्षत्रिय बच रहे, तो २१ वीं बार भी कुछ बच गये होंगे और वे ही इन क्षत्रिय राजाओं के पूर्वज हैं।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने यह कहा कि 'मुसलमानों के 'इदीस' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'मुसलमानों को हिन्दुओं से सर्वथा विपरीत आचरण करना चाहिये, वही उनका धर्म है'।

इस वाक्य से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व हिन्दुओं का कोई धर्म था और धर्म भाषा के बिना हो नहीं सकता, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं की कोई धार्मिक भाषा भी और वह भाषा संस्कृत से अनिरिक्त हो नहीं सकती, अतः एव यह निर्णीत हो जाता है कि अरबी से संस्कृत भाषा प्राचीन है।

इन उत्तरों को सुनकर गुणमाही बादशाह शाहजहाँ परम प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को अपने वहाँ आदरपूर्वक रख लिया।

इन किंवदन्तियों से जो तथ्य निकलते हैं, वे ये हैं—पण्डितराज का बादशाह के दरबार में प्रवेश जयपुर महाराज के द्वारा हुआ। वहाँ पण्डितराज ने किसी यवनी पर आतंक हो कर उसकी अपनी प्रेयसी बनाया। अन्तिम अवस्था में वे काशी में अल्पयदीक्षित आदि विद्वानों से अपमानित हुये। पण्डितराज किसी यवन सुन्दरी पर आसक्त थे इस बात की पुष्टि उन्हीं के बनाये धर्मतिथय पत्रों से भी होती है।

१ 'यवनी नवभौनकोमलाङ्गी, यवनीये यदि नीयते कदापि ।

अवनीतलमेव साधु मन्ये, नवनी मायवनी विनोदहेतु ॥

न याचे गजाङ्गि न वा बाजि राज, न विचेपु चित्तं मदीय कदापि ।

इयं मुसनी मस्तकन्यस्तहस्ता, लवङ्गी कुरङ्गी इगङ्गी करोतु ॥

सुरपुनिमुनिकन्ये ! तारये पुण्यवल्गुम् ।

अण्वयदीक्षित और पण्डितराज

कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितराज अण्वयदीक्षित के समकालीन नहीं थे, क्योंकि दीक्षित जी के आत्मीय नानकण्ठ दीक्षित अपने नीलकण्ठ-विजय चम्पू में लिखते हैं कि 'यद् नोत्कण्ठ विजयकान्ध कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है' ।

यह समय ईसवी सन् १६२९ के लगभग होता है, जो शाहजहाँ का राज्य-काल था। भयः यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ दीक्षित ही पण्डितराज के समकालीन थे, न कि उनके पितामह-आचार्य अण्वयदीक्षित।

पण्डितराज अण्वयदीक्षित के समकालीन नहीं थे इसमें दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि—'देव श्रीकृष्ण के पुत्र मेघवीरेण्वर पण्डितराज के पिता के गुरु थे और श्वषीकृष्ण के छात्र थे भट्टीकि दीक्षित, जो अण्वयदीक्षित के समकालीन थे, फिर पण्डितराज अपने पिता के गुरु के पिता के कान में होने वाले दीक्षित के समकालीन कैसे हो सकते हैं? और जब ये दोनों विद्वान् समकालीन थे ही नहीं, तब इन दोनों में परस्पर विरोध की बात भी निराधार ही है इत्यादि ।'

परन्तु गम्भीर विचार करने पर इन दोनों का समकालीनत्व असंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इन दोनों के समकालीन होने में किञ्चदन्तरों के साथ साथ बहुत कुछ प्रमाण भी प्राप्त होते हैं, जैसे—'सिद्धान्तसंग्रह' के कुम्भीकगवाले सस्तरच की सूचिका में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'अर्वाले द्वाविट (अण्वयदीक्षित आदि) के दुराग्रहकन-भूतावेद्य से गुरद्वीही भट्टीकिदीक्षित के मही सभा में बिना सोचे-समझे पण्डितराज की स्तब्ध कह दिया था, जिसको धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनकी (भट्टीकिदीक्षित की) मनोरमा का कुच मर्दन करके सत्य कर दिखाया, अर्थात् उनके मनोरमा नामक ग्रन्थ का संपदन कर दिया और अण्वयदीक्षित आदि (भट्टीकिदीक्षित के समर्थक) देखते ही रह गये ।'

एवमुदाविदुर्महमहवशान्मिह मुहुरीहिणा,

यम्भलेष्टेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टीजिना ।

सस्तरपापितमेव धैर्यनिधिना धास व्यमृद्नात् कुचम्,

निर्धम्याभ्य मनोरमामस्यवद्व्यप्ययाद्यान् स्थितान् ।

'स तरति निजपुण्यैस्त्व किं ते महत्तम् ।

यदि हि यत्नकन्या पापिनी मा पुनीदि,

तदिदं तन महत् तन्महत् महत्तम् ॥

यवनी रमणी विपदः शम्भनी, कमनीयतमा सवनीवसगा ।

जदि ऊरि वचोऽमृतपूर्णमुखी स मुखी जगतीह यद्वद्वयम् ॥'

२. 'अष्टविंशदुष्कृतसप्तमताधिक्यतुःसहस्रेषु ।

कलिवर्षेषु यत्नेषु अग्निना किल नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥'

इस पय से सिद्ध होना है कि मट्टोजिदीक्षित, अप्ययदीक्षित और पण्डितराज एक काल में ही इस परा को सुशोभित कर रहे थे ।

एक दूसरा भी इन्हीं इस प्रसंग पर उद्धृत करने योग्य उपलब्ध है जिसका सारांश है कि—
‘अप्ययदीक्षित अपने जीवन के ७२ वें वर्ष के पूर्वार्ध में विश्वजित् याग करने के उद्देश्य से पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण करते हुये मट्टोजिदीक्षित आदि सकल विद्वानों को विजय किया और उस प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ (जो पहले ज्ञातिच्युत किये गये थे) का उद्धार कर दिया । फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् याग करके चिदम्बरम् क्षेत्र में सभी सज्जनों के सामने आत्मज्योति को प्राप्त कर गये ।’

यष्टु विश्वजिता यत्ता परिवर्त सर्वे बुधा निर्जिता,

भट्टोजिप्रमुखा, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः ।

पूर्वेऽर्धे, चरमे, हिससतितमस्यान्दस्य सद्बिश्वजित्-

राजी यश्च चिदम्बरे स्वममज्ञं ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

इन इल्लु के अनुसार भी पण्डितराज, अप्ययदीक्षित और मट्टोजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होना है ।

वात रही उक्त दोनों विरोधी युक्तियों की, पर उनका समाधान भी बठिन नहीं है, क्योंकि प्रथम युक्ति के द्वारा पण्डितराज अप्ययदीक्षित के भानु-पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीन सिद्ध किये गये हैं, यदि यह बात मान भी ली जाय, तथापि पण्डितराज और अप्ययदीक्षित के समकालीनत्व में कोई बाधा नहीं होगी क्योंकि यह समव है कि ‘नीलकण्ठ-विजय’ के निर्माणकाल तक अप्ययदीक्षित जीवित रहे हों । युवक पौत्र को देखने वाले वृद्ध आज भी सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, उन युग में तो लोग और अधिक वीर्यायु होते थे और नीलकण्ठ दीक्षित तो अप्ययदीक्षित के अपना पौत्र भी नहीं, बरन भानु-पौत्र थे, फिर तो यह सर्वथा सम्भव है कि १० वर्ष के भानु-पौत्र के समय में ७२ वर्ष के पितामहभ्राता वर्तमान रहा हो ।

द्वितीय युक्ति का समाधान भी इसी तरह किया जा सकता है—क्योंकि मट्टोजिदीक्षित और अप्ययदीक्षित समकालीन थे, यह बात निर्णीत है और मट्टोजिदीक्षित क्षेपश्रीकृष्ण के छात्र थे, यह क्षेपश्रीशेखर-जो पण्डितराज के गुरु थे—उनके पुत्र थे, फिर पण्डितराज और अप्ययदीक्षित की समकालीनता में सन्देह करने का कोई अवसर ही नहीं है । हाँ, इसकी बात अवश्य है कि जब पण्डितराज युवक रहे होंगे, तब दीक्षित जो वृद्ध हो गये होंगे, अन पक्ष दक्षिण, महाराष्ट्र और तैलङ्ग इन सदभोजी जातियों में उनकी सरपत्नी तथा उनके द्वारा पण्डितराज की ज्ञातिच्युति की बात भी सुनत होनी है ।

स्वभाव

पण्डितराज का स्वभाव अत्यन्त उग्र था, वे कड़ु सत्य को भी अनायास व्यक्त करने में सज्जित नहीं होते थे । एक समय किसी ने पण्डितराज की अपनी कविता सुनाना चाहा । परन्तु उन्होंने कविता सुनने के पहले ही कह दिया—‘मित्र ! यदि भाव पूर्ण परिपक्व होने के कारण पूरे हुये दास के रस की मधुरता के गर्व की खर्च कर देने में समर्थ बचनों

के मर्मज्ञ है, तब तो मेरे सामने छुप से अपनी कविता पढ़िये। अन्यथा यदि आप उस तरह की बागी के मर्मज्ञ न हों तो स्वकृत पापावरण के समान अपनी कविता को हृदय से बाहर मत कीजिये^१।

विधान ने पण्डितराज के स्वभाव में अभिमान को कूट-कूट कर मर दिया था। इनकी गवौंलियों सहज ममाव में प्रसिद्ध है। वे कहते हैं—'दुनिया में कविता करने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु मृद्धिज्ञापात्र अर्थात् अत्यन्त मधुर-बागी का आचार्य में ही हूँ, इस पद के अधिकारी होने का सीमाव्य दूसरे को कहीं^२ ?' कितनी बड़ी गवौंलि है ? किमी नायिका के वर्णन में आप कहते हैं—'वह नायिका मेरी कविता के समान^३ मनोहर है ?' गर्व को अभिव्यक्त करने की कैसा निरासी छटा है ? आपको कविता में जिन्हें आनन्द का अनुभव नहीं होता, उन्हें आप जीविन-मृतक कहते हैं।^४

उस स्वभाव के कारण ही पण्डितराज प्रणिष्ठिन से प्रणिष्ठिन विद्वानों की उक्तियों में दोष दिखाने में नहीं चूकते। अप्रवर्धित से तो पण्डितराज का स्वाभाविक विरोध ही था, अतः यदि उनके ग्रन्थों का अध्ययन उन्होंने दुराग्रहपूर्वक किया है तो उनका अनुचित नहीं, क्योंकि विरोधियों का रणरत्न सभी करते हैं। परन्तु जिन आनन्दवर्धन, मम्मट आदि विद्वानों का स्थान स्थान पर आने आदर से स्मरण किया है, उनके वचनों में भी यत्र-यत्र दोष-दोषानि में आप बाज नहीं आते हैं।

धर्म और अन्तिम फल

पण्डितराज ने यद्यपि रसान-स्थान पर सभी देवताओं का स्मरण महत्तरूप में किया है, तथापि आप प्रयोजनवादी वैराग्य धर्म के अनुयायी थे, ऐसा प्रतीत होता है। आपके जीवन का अन्तिम भक्तिमय समय काशी अथवा मथुरा में व्यतीत हुआ।^५

१ निर्माते यदि मामिकोऽस्ति नितात्तापमप्राकट्यवत्

मृद्वीकृतमधुमधुरीमदपरीक्षोद्भूतानां गितम् ।

काम्य तर्हि तत्ते सुतेन कथय स्व सम्पुते माधुर्या,

नो चेदुत्कृतमात्मना कृतमिव रवा तादृहिर्मा कृता ॥

२ 'आमूलादत्तसत्तामोर्मल्यवदविनादा च कूलपयोधे,

यावत् सन्ति काम्यप्रययनद्वयस्ते विशङ्खं वदन्तु ।

मृद्वीकामप्यनिर्यन्मद्युरससरीसापुरीगाम्यभाजा,

वाचमाचर्मत्रया पदमनुमन्ति कोऽस्ति धन्यो मदन्त्य ॥'

३ 'ता मामग्रीनववितेव मनोऽभिरामा

रामा कदापि हृदयान्मम नापयानि ।'

४ 'भुव ते जीवन्तोऽप्यहह मृनकामन्दसखो,

न येषामानन्द जनयति जगन्नाथ-भगिति ।'

५ 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्व पर चिन्त्यते'

यद्यथा भामिनीविलास के कुछ पुराणों में है और कुछ पुराणों में तो—

'सम्प्रत्युज्ज्वलनासन मधुपुरीमध्ये हरि-सेवते' ऐसा पाठ है ।

‘रुचिरा’ संस्कृत-हिन्दी टीका

प्रस्तुत प्रथम भाग में कविशेखर ५० बदरीनाथ झा जी की संस्कृत टीका प्रकाशित हुई है, यह टीका बहुत ही सुन्दर है, इसमें सरल शब्दों के द्वारा ग्रन्थ के भर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है। यह टीका न अधिक विस्तृत है और न अधिक संक्षिप्त ही। मुझे विश्वास है कि इस टीका से विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और मध्यम कोटि के विद्वान् भी इस टीका के आधार पर भली प्रकार इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परीक्षार्थी छात्रों के लिये तो यह टीका अत्यधिक उपादेय है।

‘कविशेखर जी’ की संस्कृत टीका के साथ साथ मेरी हिन्दी टीका यत्र-तत्र कुछ विस्तृत हो गई है, शिष्टता धारण-वैसा करने का मेरा दुराम्भ नहीं बरन जटिल विषयों को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयासमात्र है। मेरा विश्वास है कि इस विस्तृत विवरण से पाठकों को ग्रन्थ के रहस्यों की समझने में जो सुविधा होगी, वह संक्षिप्त विवरण से नहीं। मैंने राष्ट्र भाषा को पवित्र रखने का भरसक यत्न किया है, तथापि जो छुटि रह गई हो, उसकी सूचना पाठक मुझे दें, ताकि अग्रिम संस्करण में उसका संशोधन किया जा सके।

एक बात और यह कि कहीं कहीं मुझे समालोचक का रूप धारण कर मूलकार के विरुद्ध भी लिखना पड़ा है। परन्तु यह विरुद्ध आलोचना कहीं तत्त ठीक हुई है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे। हिन्दी भाषा में भी मैंने ग्रन्थ-ग्रन्थि-विमोचन का प्रयास सर्वत्र ही किया है, सफलता अथवा असफलता का निर्णय करना तो मेरा काम नहीं, यह विद्व पाठकों का ही कर्तव्य होगा।

उपकार

रसगङ्गाधर की हिन्दी टीका लिखने में मुझे सबसे बड़ी सहायता पूज्यवर कविशेखर ५० श्री बदरीनाथ जी झा की संस्कृत टीका से मिली है। हिन्दी टीका लिखने की मेरी स्वीकृति पाते ही प्रकाशक महोदय ने झाजी की संस्कृत टीका मेरे पास भेज दी थी। इसे एक सुयोग ही बहना चाहिये। यदि उनकी टीका मेरे पास न होती, तो मुझे हिन्दी टीका लिखने में इतनी सुविधा नहीं होती, यह एक निश्चित सत्य है।

कहीं, कहीं—यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं—आप से मेरा मत-भेद भी हुआ है। यद्यपि उचित तो यह था कि मैं अपनी टीका लिखने से पूर्व आप से मिलकर एकवाक्यता कर लेता, परन्तु समयाभाव के कारण ऐसा नहीं हो सका। अस्तु, यदि उन मतभेद-स्थलों में मेरे मत सगम हों, तो उसका श्रेय भी आप गुरुजनों को ही प्राप्त है और यदि मेरे मत सगम नहीं हों, तो उसका दोषो मैं हूँ, एवम् उस स्थिति में मैं इस पृष्ठ के लिये आदरणीय ‘गुरुवर’ से क्षमा प्रार्थी हूँ।

उपकारकों में दूसरा स्थान है ५० श्री पुष्पोत्तम शर्मा जी अनुवैदी के अनुवाद का। उनके अनुवाद से भी मुझे श्रान-स्थान पर अत्यधिक सहायता मिली है। इस पुरतक की भूमिका के विषयविशेषण भाग की तो आधार-भित्ति उनकी भूमिका ही है।

उपकारकों में सम्माननीय मधुरानाथ जी मट्ट का नाम भी स्तुति करने योग्य है। आपके सम्पादित रसगङ्गाधर और उसकी ‘सरला’ टीका से भी मुझे अधिक सहायता मिली है, विशेषण भूमिका लिखने में तो आपकी भूमिका अधिक पथप्रदर्शक हुई है।

कृतज्ञता-शापन

जिन-जिन महानुभावों की कृपियों से मैं इस टीका के प्रगटन में लाभान्वित हुआ हूँ उनके प्रति मैं जिन शब्दों में कृतज्ञता-शापन करूँ, वे शब्द दूँडे नहीं मिलते। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन एक प्रथमाव है। वास्तविक कृतज्ञता-शापन तो हृदय से होना है, अतः आप महानुभाव मेरी गुरु पर सच्ची हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

इस कृतज्ञता-शापन के प्रसङ्ग पर मैं ग्रेडिटर बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त, अध्यक्ष 'चौखम्बा सस्कृत सोरिज' तथा 'चौखम्बा विद्या भवन' बनारस को भी नहीं भूल सकता, जिनके सहजसौजन्य से मुझे इस टीका के निर्माण का सुअवसर प्राप्त हुआ।

अन्त में अपने अहर्निश स्नेही बन्धु प० श्री रामचन्द्र जी दा के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता-प्रकाशन करना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सौहार्द से मेरा संरन्ध उक्त व्यापारम से हुआ।

शुक्रपूर्णिमा }
सं० २०१२ }

विनीत—
मदनमोहन मा

निवेदनम्

‘धातुश्रुतुर्मुखीकण्ठशृङ्गाटकविहारिणीम् ।

नित्यं प्रगल्भवाचालामुपतस्थे सरस्वतीम् ॥’

जनजीवने क्षणा आयान्ति यान्ति च तत्र पुण्यास्ते क्षणा यत्र जनः किमपि महत्त्व-
मयं कार्यमारभते, समारम्भकर्मपरिसमाप्तये सपरिकरवन्धुः प्रयतते, प्रारब्धपरिममाप्तौ
परितुष्यति च ।

अहमपि निजजीवन्तस्य तान् क्षणानतिपुण्यमयान् जाने यत्र निखिलालङ्कारमन्ध-
गर्वलक्षणानिपुणस्य श्रीजगन्नाथपण्डितराजनिबद्धस्य रसगङ्गाधरालयस्य महानियन्धस्य
व्याख्या मयाऽऽरभ्यते, प्रत्यूहस्पृहैः साकं सङ्गरसुपकाम्यता तत्परिसमापनाय प्रायस्यत,
तत्परिसमाप्तौ च हृतकृत्यताजन्मा मह्यन्मोहोऽन्वभूयत ।

रसगङ्गाधरव्याख्यानावसरलाभः

सैषिलब्राह्मणजातीयश्रीश्रियशास्त्रायां लब्धजन्माऽग्निनन्दनीयविक्रमां पूजनीयः कवि-
शेखरधीवदरीनायकारामां विहारप्रान्तीयसुजपफरपुरस्थ-राजकीय-धर्म-समाजसंस्कृतमहा-
विद्यालयस्यप्रधानाचार्यपद्मालङ्कारं ‘ष्वन्यालोक-दीपिति’-‘रसगङ्गाधर-सुरभी’-व्याधनेकान्
व्याख्यामन्मान् ‘राधापरिणय’प्रयुतीन्विजन्तो भौतिक-संस्कृतकाव्यनिबन्धाश्च निर्माय प्रका-
शितान् विधाय च ततो लब्धदीर्घावकाशो ग्रामे धर्माचरणचर्चं जीवन् यापयन् वार्यक्य-
प्रभाव-परवशोऽप्यहानिस्फूर्तिं रसगङ्गाधरप्रपञ्चाननस्य चन्द्रिकाख्यां संस्कृतभाषामयी
व्याख्यां विरचय्य प्रकारानाथ चौखम्बा-विद्याभवनानिधाने वाराणसीगते ग्रन्थालये
श्रयच्छत् ।

उक्तग्रन्थालयाधिपतिः श्रेष्ठिप्रवर श्रीनयकृष्णदासगुप्तमहोदयश्च तदीयां ता व्याख्यां
हिन्दीव्याख्याया सहैव प्रकाशयितुं कामयमानौ हिन्दीव्याख्यामपि विधातुं तमेव लब्धप्रतिष्ठ-
माचार्यप्रवरं प्राक् प्रार्थयामास । परं ततो नकारात्मकमुत्तरमुपलभ्य तदनुमन्त्रेण मह्यं
तावतो भागस्य हिन्दीव्याख्यां कर्तुं भारभार्षयत् । इतः पूर्वमेव मम ‘रसगङ्गाधररहस्य’-
नामकमेकं लघुपुस्तकं परीक्षाविच्छात्रजनानुरोध-बल-लब्ध-समुद्भवं तरिमन् ग्रन्थालये
प्रकाशितमासीत् ।

यदा तं भारं प्रदातुमुक्तप्रकाशकमहोदयो मम पुरः समुपस्थितोऽभूत् तदा प्रथमं
रसगङ्गाधरस्य न्यून्यायभाषासन्देहस्य हिन्दीव्याख्याया दुष्करतामिवानुध्यायजहं
तं भारमन्वीकर्तुमेव मनसाऽनुयतोऽभवम्, परन्तु तदभिगम्य एव बीणापाणिप्रेरितं
किमपि विलक्षणं सादृशं मम मानसे समचरत् । यत्कळं मन्मुखातद्धारस्वीकारोक्तिनिरासति-
समभूत् । भारो मयाऽज्ञोद्धतः । किन्तु यदा तद्धारवहनाय स्कन्धो योजितौ तदा विविधा
विज्ञाः सम्मुक्तमापतितः । कदाचिदनुद्धमरो स्कन्धावेवान्दोलनमिवास्म्यन्तौ प्रतोयेतेस्म,
वृत्ताचितामयाभाषोऽनुमूयतेस्म, कदाचिदस्वास्थ्यादीनि मार्गरोषकानि अतिभान्तिस्म ।

परमेताद विद्वान् विद्वान्य यथाकथमिदं तं महान्तं भारं वहन् व्याख्यानिर्माणसरणा-
चम्रेऽसरम् । अस्याद्वाप्रेसरताया तत्साहित्यमेव सर्वाधिकं सहायक समभवत् ।

अन्ततस्तेऽपि दिवसा समागता यदा रसगङ्गाधरप्रथमाननस्य हिन्दीव्याख्या
सम्पूर्णा, विशाला प्रस्तावनाऽपि प्रस्तुता, प्रकाशनाय गन्धमास्ता च ।

यदा तत्पुस्तक गन्धस्थमतिष्ठत्तदा ममान्त करणे के ॥ भावा प्रादुर्भूय विनश्यन्तिस्म
तान् कथं कथयामि, 'मम व्याख्यामवलोक्य विद्वांसः किं कथयिष्यन्ति ? स्तोष्यन्ति ?
निन्दयिष्यन्ति वा ?' इत्यादयो भयमिश्रितास्ते भावा आसन्, एतावदेव साम्प्रतं वक्तुं
पारयामि । परन्तु यदा प्रकाशित तत्पुस्तक विदुषा करेण स्थानमापत्तदाऽसन्तोषस्य कोऽप्य-
वसरो नोपस्थित, यतो विद्वांसो मम व्याख्याया प्रशंसा यदि नाकुर्वन् तर्हि निन्दामपि नैव
प्राकटयन्, प्रत्युत कर्णाकर्णितया तस्या व्याख्याया प्रशंसैव श्रुतिपयातिथ्यमयासीत् ।

अथ तेनैव प्रकाशकश्रेष्ठेन श्रेष्ठिवरेण श्रीजयकृष्णदासगुरुमहोदयेन रसगङ्गाधराग्रिमभाग-
स्यापि पूर्वभागस्येव संस्कृत हिन्दी-टीका-द्वयोपेत संस्करण प्रकाशयितुकामेन पुनः स एव
विह्यासकीर्ति प्रथमभागसंस्कृतटीकाकारो द्वितीयभागटीकाकरणायामन्वित । किन्तु
माहाराष्ट्रावनतासंस्थजनसौभाग्येन जीवन्नपि स बार्धक्यवराङ्गौकिकप्रपञ्चवैमुख्यवशाच्च
द्वितीयभागस्य व्याख्या कर्तुं नैच्छत् । ततः पुनस्तदादेशेनैव श्रेष्ठिवरोऽसौ रसगङ्गाधर-
द्वितीयभागस्य द्वितीयाननायुत्प्रेक्षान्तस्य संस्कृत-हिन्दी-भाषा-पुगलनिबद्धा व्याख्या विधातुं
मामन्वयन् ।

मयापि प्रथमभागगतहिन्दीटीकाभाष्यसमुत्साहितेन सहर्षं तथा विधातुं स्वीया
स्वीकृतिर्वितीर्णा समारम्भा च प्रथमभागगतसंस्कृतटीकाकारविधृतचन्द्रिकाख्यैव संस्कृत-
व्याख्यया सह राष्ट्रभाषाहिन्दीव्याख्यया ।

परिस्थितिः

भावावेशदशाया विहित एव लेखी भावकेभ्यो रोचत इति प्रायः समेषा लेखकानां
तुल्योऽनुभवः । भावावेशदशासम्पत्तिश्च तदैव सम्भवति, यदि निश्चित समयापहारकं
किमपि कार्यान्तरं न भवेत्, जीवनयापनोपयोगिनोऽर्थस्य कार्करं न तिष्ठेत्, कोऽपि
व्याधिः कार्यं भाग्यमेत, आधिर्हृदयं न पुम्नेत, लेखकजनोपयुक्तरह प्रकोष्ठभावो वा
न भवेत् ।

मम पुरस्तु व्याख्याकरणकाले पुरौदीरितनयर्घप्रतियोगिन एव नियमतोऽतिष्ठत् ।
यतो महाविशालयेऽध्यापकपदासीनस्य मम समयापहारकं महाविद्यालयसम्बन्ध्यभाष-
नादिकार्यं निश्चितस्तिष्ठत्वेव ।

अथाधिरेव विधिविधानाधीनोऽवशिष्यते । सोऽपि बाह्यं प्रकृतटीकाटीकाकाले समु-
पस्थितो, न तादृक् प्राक् कदाचिन्मम जीवने । यमवलोक्य नानाविध मनोरथ पुर्वाण आसन्
यो न ममैव, अपि तु समस्तस्य परिवारस्य श्रेष्ठेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्, यो लघुनि निज-
जीवने भविष्यतावा अनेकानि प्रमाणानि प्राकटयत्, यदीया रूपमाधुरी यदीयं स्वभाव-
सौन्दर्यं, यदीय आचारकर्मो नात्मीयानेव, किन्तु तदस्यानपि प्राग्वयम्, ॥ सप्तवर्षीयो
वीरेन्द्रमोहनाभिघस्तन्योऽस्तुमाचिकिन्साया अवसरमदत्तैव विस्मिकारोगेण हृदतोऽ-

स्मानपदाय परमपितुः क्रोडे क्रीडितुमिव लोभान्तरमगमत् । हन्त । भगवन् । नेतादरां
दुरवसरं कस्मैनिदेहि ।

देवदुर्विलासादितयाऽन्या दुर्मदन्मातादरा आघातोद्भूदयेऽन्तगद् येन प्रकान्तव्याख्या-
पूर्णे सम्माचनो समाप्तप्राया समजति । परन्तु समयः सर्वं शमयति । ममापि शोकः
क्रमशः सश्रुतामासादयत् । पुनरहं 'विप्रैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना' प्रारब्धमुत्तमगुणा
न परित्यजन्ति' इत्याप्तजनोक्तिमनुस्मरन् व्याख्याकर्त्रणि सल्लभोऽभवम् ।

अस्या विषमपरिस्थितेः सुनिश्चितं परिणामोऽयमभवद्यन्महाविलम्बेन व्याख्याकार्यं
सम्पद्यत । सम्पद्यत, एतदेव बहु मन्त्रव्यम् ।

'आत्यन्तिकप्रतिदिवितम्बिसिद्धयो चर्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ?'

संस्कृतव्याख्या

मदीया संस्कृतव्याख्या कोदरी सञ्जाताऽस्तीति यद्यपि न मम निर्णये विषयः, अपि-
तु सद्भयानामालोचनात्मकदृष्टिकोणं पुरो निधाय पाठकानामेव, तथापि वक्तव्यमेव ममाप्ये-
तावद्यस्या व्याख्याया ग्रन्थकारस्य इदं स्प्रष्टुं महान् धर्मो विहितः यत्ततः प्रतिपादन-
शैली सरलकृता, सर्वत्रावतरण-ग्रन्थलापनयोरनन्तरं सारासौ लिखितः ।

इयं व्याख्याशैली भवेदन्यैर्व्याख्याकारैरन्यत्र भुण्णा, परन्तु मया हानपुरस्तरं न
कस्यापि शैली समनुवृत्ता । सम्भवति—यैकाकारणे प्रथमप्रवृत्तस्य मम तद्विषयकाचातुर्येण
शुद्धिदोषेण वा कियत्येकैव भवेदुच्यते ।

हिन्दीव्याख्या

व्याख्यानुवाच्योर्मद्वन्तरं भवतीति सर्वानुभवसाक्षिकं वस्तु । मया यद्यपि हिन्दी-
भाषायामपि व्याख्यैव कृता, नानुवादस्तथापि क्वचित्कविदनुवादशैली-छाया तत्र लभ्येत
भावकैः । तत्र व्याख्या-शैली-समप्रेक्षित-दृष्टकादिदोष-अस्त-पङ्क्ति-गूढि-परिजिहीर्षैव
हेतुः । सम्भवति—दुरुदस्थलीय-भावस्फोरणं कामयमानेनापि मया सर्वथा हिन्दीभाषायां
न कृतं भवेदिति । इदमपि सम्भवति भाषा सर्वथा परिमाजिता न स्यादिति । यद्यप्येवमा-
विमिदोपैतुं निजलेखं सुखं रक्षितुं मया नाल्पं समवधानं स्वीकृतम् तथापि स्वतः समासादि-
विधिवशात् स्वर्णरेखासुरैर्विरागान्मर्थगातं मोदीकुर्वत्यां, परतो नन्य-न्याय-शैली-समुपवृद्धि-
ताया संस्कृतभाषायामुपभियदस्य ग्रीढतरस्य निबन्धस्य भाष-स्फोरणं तादृशवैशिष्ट्यपरि-
द्विते भाषान्तरे दुष्करं भवतीति ते दोषा नासम्भवन् ।

प्रस्तावना

अद्यत्वे ग्रन्थगतविषयाणां संक्षेपतो दिग्दर्शनेन सहैव तेषु विषयेषु निमित्तान्तराणां
गतानि यथा विज्ञातानि भवन्ति तादृशै एवालोकनात्मिकायै अत एव दीर्घायै प्रस्तावनायै
सृष्टवन्ति पाठका इत्यनुमक्ता प्रकाशकमहाभागेनानुबद्धोऽद्यपि तादृशीमेव प्रस्तावना
पुस्तकेऽस्मिन् निर्माणं समयोपयम् ।

प्रस्तावनायामस्या केचन तथाविधा अपि सैद्धान्तिका विषया प्रतिपादिताः सन्ति
येऽपुनावधि मया हत्वानाङ्गीकृता अपि परेषामनभिमता भवेयुः तत्र यदि केऽपि युक्तियुक्तं

विरोधं विधास्यन्ति तदा 'तत्कालादारभ्याहमपि स्वविचारं परिवर्तयिष्यामि,' तदनुसारं समुचितं संशोधनमपि भाविनि संस्करणे करिष्यामीति ।

साहाय्यम्

व्याख्याकरणकाले विख्यातकौत्तिभिः विद्वच्चूडामणिभिर्नामैश्वर्यैः कृतया शुद्धमर्मप्रकाशस्य व्याख्याया, अथर्ववे श्रीमद्युगानायमहमहोदयैः कृतया सरलमिथया टिप्पण्या च समुक्तं मूलरसगङ्गाधरपुस्तकम्, विद्वद्भिर श्रीपुण्डरीकशर्मचतुर्देवमहोदयैः लिखितं हिन्दो-रसगङ्गाधरपुस्तकञ्च मयाप्रेष्यवर्तताम् । रसगङ्गाधरस्य तैम्योऽन्यटीकाटिप्पण्यादिकमुपलब्धमपि नास्त्येव । अतो यदल्पं महद् वा साहाय्यं समभूतत एवेति स्वीकरणे न मम राहोच । भूमिकामागे तु चतुर्वेदमहोदयानां पुस्तकेन सहैव लब्धप्रतिष्ठस्य समालोचक-मूर्धन्यश्रीवलदेवोपाध्यायमहारायाणां भारतीयसाहित्यसाम्राज्यमकेन पुस्तकेनापि विपुल साहाय्यं मम कृतमिति सत्यतरं वच ।

धन्यवादसंग्रहपत्रम्

येषां पुस्तकेभ्यो मया साहाय्यं कथं तैभ्यो प्रागुक्तनामधेयेभ्यो विद्वद्भ्यः शतधा-सहस्रधा वा धन्यवाददानं मनसा विदधामि । सहैव यैरत्रत्यैः सहवासिभिर्व्यस्यकल्पविद्वद्भिः साकं समये समये कृता व्याख्येयग्रन्थगुडस्थलविचारवातां मार्गदर्शिका समभून् तानपि शून्यबाहवोभिः संवर्धयामि ।

आलोचकान् प्रति

नवप्रकाशितस्य मौलिकग्रन्थस्य व्याख्याग्रन्थस्य वा समालोचनं कर्तव्यमेव विद्वद्भिर-लोचकैः यत आलोचनैव नव-नव-रहस्योन्मेषजननी । परन्तु समालोचकैर्दोषैकहस्तिर्न भव्यम् । गुणानपश्यन्तः पश्यन्तोऽपि वाऽप्रकटयन्तो दोषदशा समालोचका प्रणमात्र-मवेपिकाभिर्मक्षिकाभिरेवोपमोयन्ते । अतो गुणदोषोभयप्रकटनपरैः पञ्चपातरहितैः स्वयं कृतकृतिभिः राजशेखराभिर्नन्दितकोटिवैस्तत्त्वाभिनिवेशिभिरालोचकैर्भवितव्यम् ।

उपसंहारः

दोषमयेऽस्मिन् प्रपञ्चे न निर्दोषं किञ्चित् । लेखका सदोषा, सम्पादका सदोषा, प्रकाशका सदोषा, प्रकाशनव्यग्रमपि सदोषमेव । एव दोषकवलितानां समावे स्वरूपं क्षममानं पुस्तकं सर्वेषां निर्दोषं स्यादिति दुर्घटानामाश्रयम् । अतः प्रकाशमेप्यतोऽप्य पुस्तकस्य सम्मानितानां दोषाणां कृते क्षमासारान् सतः पाठकान् क्षमामहं याचे, प्रयाचे च दोषान् क्षमयितुम् । सूचिता दोषा कालान्तरे दूरीकर्तुं शक्या भवेयुरित्याशासे ।

अन्ते चाहम्—

'व्याख्ये मे विदुषा प्रीतिं प्राप्नुतामिति साञ्जलि ।

कुरुणाकारिणं याचे पार्वती-रमणं शुभम् ॥'

प्रस्तावना

(द्वितीय भाग)

उपक्रम

‘विना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथञ्चित् प्रपद्ये कवीनाम् ।

आलम्बते सत्पुण्यमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न सौलविन्दुः ॥’ (गङ्गा)

वस्तुतः कव्यमीमांसा-कविना-कालिन्दी का एक कृत्य यदि कवि है तो दूसरा कृत्य आलोचक । कवि यदि आत्मन्यानुभूति की सामग्री प्रस्तुत करता है तो आलोचक आनन्दानुभावक दृष्टि प्रदान करता है । यदि साहित्यमर्मशास्त्रियों की नानाविध आलोचनाएँ सामने न आतीं तो आज हम वात्स्यिक, व्यास तथा कालिदास, भवभूति आदि की कविताओं को पढ़कर एवं नाटकों को देखकर वह आनन्द प्राप्त न कर सकते, जो आज प्राप्त करते हैं ।

उन्हीं आलोचकों में से एक मुकुटपद्मान आलोचक की आलोचनाओं का सिद्धान्तोपनिषद् प्रस्तावना द्वारा कराने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है ।

पूर्वभास

प्राचीन आलोचक आचार्यों में से कतिपय आचार्यों ने काव्य के उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूतम्यङ्ग्य) और अधम (व्यङ्ग्यव्यङ्ग्य) ये तीन भेद माने हैं । अन्य (रससम्प्रदायवादी) आचार्यों ने प्रथम दो भेदों को ही स्वीकृत किया है—रसव्यङ्ग्य होने के कारण तृतीय (अधम) भेद में उन्हें साम्यरव अभीष्ट नहीं है ।

प्रकृत निबन्ध-प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ ने तो काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम ये चार भेद किये हैं । उत्तमोत्तम नामक प्रथम काव्य-भेद के पुनः स्थूलरूप में पाँच भेद किये गये हैं । इन भेदों का विवरण प्रकृत निबन्ध में निम्न रूप से किया गया है—

‘अभिधा और रक्षगामूलध्वनि दो प्रकार की होती है । उनमें प्रथम के पुनः तीन प्रकार होते हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि । द्वितीय के भी पुनः दो प्रकार हो जाते हैं—अर्थान्तरसकगितदान्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ॥ - - -

इसका तात्पर्य यह है कि व्यङ्ग्य-वर्ण अथवा व्यङ्ग्य शब्द के भेद से ‘ध्वनिकाव्य’ का भेद होता है और व्यङ्ग्य-वर्ण की प्रतीति तब होती है जब शब्द अभिधा अथवा रक्षगाद्वारा अपना अर्थ उपस्थित कर लेते हैं । अभिधा अथवा रक्षगाद्वारा शब्द का कोई अर्थ सात रूपों में व्यङ्ग्य-वर्ण प्रकाशित नहीं हो सकता । अतः व्यङ्ग्य-वर्ण सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—एक वे जो अभिधाद्वारा शब्दार्थज्ञान होने के बाद प्रतीति होते हैं, दूसरे वे जो रक्षगाद्वारा शब्दार्थ ज्ञानोत्तर सात होते हैं । इनमें पहले को अभिधामूलक व्यङ्ग्य और दूसरे को रक्षगामूलक व्यङ्ग्य कहते हैं । इन्हीं को काव्यप्रकाशकार आदि, क्रमशः ‘निवक्षितान्यपरवाच्य’ और ‘अनिवक्षितवाच्य’ भी कहते हैं ।

‘रसध्वनि’ नामक जो अभिधामूलक ध्वनिभेद कहा गया है उसको ‘असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य’ और शेष भेदों को ‘सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य’ कहते हैं।

‘ध्वनि’ शब्द के पाँच अर्थ होते हैं—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जना वृत्ति, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति और व्यङ्ग्यार्थ-प्रधान काव्य।^१ इन पाँचों अर्थों में ‘ध्वनिकार आनन्दवर्धन’ ने ‘ध्वनि’ शब्द का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। रसगङ्गाधरकार प्रायः व्यङ्ग्य और काव्य अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

उपयुक्त पाँचों अर्थों में से अन्तिम अर्थ के अनुसार व्यङ्ग्यार्थप्रधान सर्वोत्कृष्ट (उत्तमोत्तम अथवा प्राचीन मत से उत्तम) काव्य की सजा ‘ध्वनि’ मानी गई है जिसके पाँच भेद पहले लिखे गये हैं।

रसध्वनि के भेद व्यङ्ग्य-भेद के आधार पर न करके व्यञ्जक-भेद के आधार पर हमलिये किये गये हैं कि रसादिरूप व्यङ्ग्यों की संख्या अनन्त हो जाती है—उनकी गणना संभव नहीं। अतः असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-स्वरूप से वहाँ व्यङ्ग्य का एक ही भेद माना जाता है।

प्रकाशकारादि के मत से व्यञ्जक-भेद छह प्रकार के होते हैं—प्रबन्ध (पूरा ग्रन्थ), वाक्य, पद, पदैकभाग (प्रकृति प्रत्यय), वर्ण और रचना। इन भेदों के कारण ही उक्त ध्वनिकाव्य के भी छह भेद वे लोग मानते हैं। किन्तु रसगङ्गाधरकार वर्ण तथा रचना को रस-व्यञ्जक न मानकर गुण-व्यञ्जक ही मानते हैं, अतः उनके मत से चार ही भेद होते हैं। यह बात दूसरी है कि रसगङ्गाधरकार राग आदि को भी रसव्यञ्जक मानते हैं और तदनुसार और भी भेद हो सकते हैं।

[यहाँ तक का विवेचन प्रथम भाग (प्रथमानुबन्ध) में आ चुका है। प्रत्येक पूर्वाभास के रूप में, उचित समझकर, यहाँ भी उसका दिग्दर्शन कर दिया गया है।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि-भेदों के निरूपण से द्वितीय आनन्द आरम्भ होता है। मध्य में प्रसङ्गवश अभिधा तथा लक्षणावृत्तियों का और लक्षणानिरूपण के मध्य में ही प्रसङ्ग आ जाने से, ‘उपमा’ तथा ‘रूपक’ अलङ्कारों के भेदों का विस्तृत विचार किया गया है। शेष अंश में अलङ्कारों का निरूपण है।]

विषय-विवेचन

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद

वाच्यार्थ की प्रतीति होने के अनन्तर ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, यह सूत्र उपक्रम में सूचित किया जा चुका है। व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का हो सकता है—बदला वस्तुरूप और दूसरा अलङ्काररूप। यद्यपि अलङ्कार भी ‘वस्तु’ के अन्दर आ जाता है, पर यहाँ अलङ्कार का

१ ‘इह हि काव्य पुरुषावतारस्य ध्वनिकारस्य व्यवहारात्—ध्वनतीति ध्वनि शब्द, ध्वन्यते-
ज्जेनेति ध्वनि शब्दादिशक्तिः, ध्वन्यते (य) इति रसादिरर्थः, ध्वनन ध्वनिरिति रसादिप्रतीति,
ध्वन्यते-स्मिन्निति ध्वनिः काव्यम् इत्येव ध्वनियोगा उपलभ्यन्ते। इति साहित्यदर्पणभूमिकायां
म० म० श्रीदुर्गाप्रसादमहाभागा ।’ (चतुर्वेदीजी के हिन्दी रसगङ्गाधर की भूमिका से उद्धृत)

पृथक् ग्रहण करने से 'वस्तु' के अन्दर अलङ्कारानिरिक्त वस्तुओं का समावेश समझना चाहिये। फलतः 'वस्तु' पद से साधारण वस्तु का और 'अलङ्कार' पद से वैचित्र्य-विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होता है। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिये 'प्रकाशकार' आदि ने 'अविचित्र' और 'विचित्र' नाम से भेद किया है।

उक्त दोनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ कहीं शब्द-सामर्थ्य से और कहीं अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं। शब्द-सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ शब्दशक्तिमूलक और अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ अर्थशक्तिमूलक कहलाते हैं। इस तरह सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रथमतः ये ही दो भेद होने हैं। उनमें शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य के उक्त रीति से वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि ये ही दो भेद होते हैं। पर अर्थशक्तिमूलक के आठ भेद हो जाते हैं, क्योंकि निम्न अर्थ के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य-प्रतीति की बात कही गई है वह अर्थ भी साधारणतया वस्तुरूप और अलङ्काररूप भेद से दो प्रकार का होता है और काव्य-जगत् में आकर उन दोनों प्रकारों के भी पुनः दो-दो प्रकार—अर्थात् वस्तुरूप और अलङ्काररूप अर्थ भी स्वामाविक तथा कविकल्पित दो-दो प्रकार—के हो जाते हैं। अलङ्कारशास्त्र में स्वामाविक अर्थ को 'स्वन-सम्भवो' और कविकल्पित अर्थ को 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक अर्थ चार प्रकार के होते हैं—स्वन-सम्भवो वस्तु, स्वन-सम्भवो अलङ्कार, कविप्रौढोक्तिमिद्ध वस्तु और कविप्रौढोक्तिमिद्ध अलङ्कार। इन चार प्रकार के व्यञ्जक अर्थों से अभिव्यक्त होनेवाला (व्यङ्ग्य) अर्थ भी वस्तुरूप तथा अलङ्काररूप—दोनों प्रकार का हो सकता है। अतः सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अर्थशक्तिमूलक भेद आठ होने हैं। फलतः पूर्वोक्त शब्दशक्तिमूलक दो भेदों को लेकर, 'पण्डितराज' के मत से सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक 'ध्वनि'-काव्य के कुल दस भेद होते हैं।

पद्यवि काव्यप्रकाशकार आदि इन भेदों के अतिरिक्त चार भेद और मानते हैं, क्योंकि उन लोगों के विचार से कविकल्पित व्यञ्जक अर्थ के समान कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ भी व्यञ्जक हो सकता है। इस प्रकार के अर्थों की सहायता उन लोगों ने 'कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिसिद्ध' रखी है। यह कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ भी वस्तु तथा अलङ्कार भेद से दो प्रकार का हो सकता है और इन दोनों अर्थों के सामर्थ्य से होनेवाले व्यङ्ग्य भी वस्तु तथा अलङ्कार दोनों रूप हो सकते हैं, अतः उनके मत से, अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद और शब्दशक्तिमूलक के उक्त दो भेद (इस तरह कुल बीस भेद) सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के होते हैं।

पण्डितराज का तर्क यहाँ यह है कि—कविकल्पित वक्ता के द्वारा कल्पित अर्थ भी वस्तुतः कविकल्पित अर्थ ही है, अतः तत्प्रयुक्त पृथक् भेदों की गणना उचित नहीं। यदि इस तरह भेद-संख्या में वृद्धि की जायगी तो कविकल्पित वक्ता से कल्पित वक्ता आदि द्वारा कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर अनन्त भेदों की कल्पना हो जायगी।

यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ के उद्घाटन में शब्द तथा अर्थ दोनों का अनुसन्धान अपेक्षित होता है, अतः सभी सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक भी होते ही हैं, फिर कुछ को केवल शब्दशक्तिमूलक और कुछ को केवल अर्थशक्तिमूलक मानना अपाततः अत्युक्त प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः वैसा मानना अशुभ नहीं है, क्योंकि वैसा मानने का तात्पर्य है—वैसा

व्यवहार करना और व्यवहार होता है प्रधानानुरोधी । जैसे सामान्य लोगों के रहने पर भी अधिकतर पहलवान से-सुक्त ग्राम में 'मत्तग्राम (पहलवानों का ग्राम)' ऐसा व्यवहार होता है । इस दृष्टिकोण से सोचने पर, जहाँ परिवृत्तिसह (जिनका पर्यायान्तरद्वारा परिवर्तन कर देने पर भी व्यङ्ग्य होता ही रहे ऐसे) शब्दों की प्रचुरता हो वहाँ शब्दशक्ति रह कर भी प्रधानशक्ति की अनुगामिनी अर्धशक्ति प्रधान सिद्ध होती है, अतः वैसे स्थलों में अर्धशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार सर्वथा उचित है । इसी तरह जहाँ परिवृत्तिसह (परिवर्तन को न सह सकने वाले) शब्दों की अधिकता रहेगी, वहाँ शब्दशक्ति की ही प्रधानता और अर्धशक्ति की अनुगामिता सिद्ध होगी, अतः वैसे स्थलों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार सुसंगत ही है ।

इसी विदलेषण से एक और साहित्यिक तथ्य उद्भूत हो जाता है कि जहाँ परिवृत्तिसह तथा परिवृत्तिसह दोनों प्रकार के शब्द समान मात्रा में हों—किन्हीं एक प्रकार के शब्दों की प्रचुरता न हो—वहाँ शब्दार्थोभयशक्तिमूलक व्यङ्ग्य की सत्ता ही माननी पड़ेगी, अतः वैसे स्थलों में 'द्व्युत्थ (शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्तियों से उत्पन्न)' ध्वनि का ही व्यवहार होगा । फलतः सत्त्वप्रक्रमव्यङ्ग्य का एक और भेद सिद्ध हो जाता है ।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त लक्षणात्मक ध्वनि-भेदों का प्रसङ्ग इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है जिसका सारांश यह है कि रुद्धिमूला लक्षणा के स्वल में बह्वचार्थ का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता । बची प्रयोजनमूला लक्षणा, उसके छे भेद होते हैं—सारोपा गौणी, साध्यवसाना गौणी, जहत्स्वार्था शुद्धा, अजहत्स्वार्था शुद्धा, सारोपा शुद्धा और साध्यवसाना शुद्धा । इन छे भेदों में से केवल जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दो भेद ही ऐसे हैं जहाँ 'ध्वनिकाभ्यता' सम्भव है, क्योंकि अन्य चार भेद अलङ्काररूप में परिणत हो जाते हैं—अर्थात् गौणी सारोपा रूपक अलङ्काररूप में, गौणी साध्यवसाना भतिशयोक्ति अलङ्काररूप में और शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना शुद्धा हेतु अलङ्काररूप में परिणत हो जाती हैं । यह सर्वमत सिद्ध सिद्धान्त है कि जहाँ अलङ्कार की प्रधानता हो जाती है वहाँ ध्वनिकाभ्य का लक्षण सघटित नहीं होता । फलतः लक्षणात्मक ध्वनि के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्थात्मक दो भेद होते हैं । प्राचीन (प्रकाशकार आदि) आचार्य इन दोनों (जहत्स्वार्था—अजहत्स्वार्था) लक्षणाओं को उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा कहते हैं ।

यहाँ पण्डितराज उक्त ध्वनिभेदों में से द्व्युत्थ ध्वनि को केवल वाक्यगत और अन्य सभी भेदों को पदगत तथा वाक्यगत मानते हैं ।

इस तरह रसगङ्गाधरकार के मत में असत्त्वप्रक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि के चार, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो, अर्धशक्तिमूलक ध्वनि के आठ, शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि का एक और लक्षणात्मक ध्वनि के दो, इस प्रकार कुल सत्रह ध्वनिभेद प्रथमतः होते हैं । उनमें शब्दशक्तिमूलक दो, अर्धशक्तिमूलक आठ और लक्षणात्मक दो—इन बारह भेदों के पुनः पदगत तथा वाक्यगत भेद से दो-दो भेद हो जाते हैं । फलतः उक्त सत्रह में बारह और जोड़ देने पर कुल उनतीस ध्वनिभेद होते हैं । ध्वनिभेद के विषय में पण्डितराज ने शब्दतः इतनी ही बातें कही हैं ।

ध्वनिभेद के सम्बन्ध में प्रकाशकारादि के मत

यह पहले लिखा जा चुका है कि प्रकाशकार असत्त्वप्रक्रमव्यङ्ग्य के छे भेद और सत्त्वप्रक्रमव्यङ्ग्य भेदों में से अर्धशक्तिमूलक के बारह भेद मानते हैं । साथ-साथ वे उन बारह भेदों के

पदगत, वाक्यगत तथा प्रबन्धगतरूप से पुनः तीन-तीन भेद करते हैं, अतः उनके मत से अर्धशक्तिमूलक के कुल छत्तीस भेद होने पर ध्वनि के शुद्ध भेद इक्यावन होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—असंलक्ष्यक्रम के प्रबन्धगत, वाक्यगत, पदगत, प्रदाशगत, वर्णगत और रचनागत छे भेद एवं संलक्ष्यक्रम में अधिधामूलक के एकतात्तिस भेद (सम्प्रशक्तिमूलक के पदगत वस्तु, पदगत अलंकार, वाक्यगत वस्तु और वाक्यगत अलंकार—चार भेद, अर्धशक्तिमूलक की उक्त रीति से छत्तीस तथा उभयशक्तिमूलक का एक भेद) और लक्ष्णामूलक के चार (अर्थान्तरसंक्रमित पदगत, वाक्यगत और अत्यन्ततिरस्कृत पदगत, वाक्यगत)। इस तरह उक्त इक्यावन संख्या सिद्ध होती है।

काव्यप्रकाश में इन भेदों का एक से दूसरे का मिश्रण भी चार प्रकार का माना गया है जिसमें सदेहसंकर, अहासिभावसंकर तथा एकध्वजकानुप्रवेशरूपसंकर, ये तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की सृष्टि है। तदनुसार एक-एक भेद के इक्यावन भेदों को चौगुने करने पर $(41 \times 41 \times 4) = 6848$ (दस हजार चार सौ पार) मिश्रित भेद भी होते हैं। इन मिश्रित भेदों में शुद्ध भेदों (इक्यावन) को जोड़ देने पर प्रकाशकार के मत से समग्र ध्वनिभेद 20444 (दस हजार चार सौ पचपन) होते हैं।

साहित्यदर्पणकार का मत

मूलभूत इक्यावन भेदों को प्रकाशकार के समान दर्पणकार भी मानते हैं, पर मिश्रित भेदों को संख्या में वे प्रकाशकार का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि एक ही अपने साथ अपना कोई मिश्रण नहीं हो सकता, दूसरे जब एक भेद का संकर दूसरे के साथ लिख दिया गया तब दूसरे के साथ उस भेद का संकर भी वहीं वस्तु हुई—अर्थात् जब अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के साथ मिश्रण लिखा जा चुका है तब फिर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के साथ मिश्रण कोई अतिरिक्त भेद नहीं रह जाता, अतः ऐसे भेदों को गणना नहीं करनी चाहिए। फलतः उनके मत से कुल मिश्रित भेद 4104 (पाँच हजार तीन सौ चार) होते हैं। उनमें शुद्ध इक्यावन भेदों को जोड़ने पर समग्र ध्वनिभेद उनके मत में 4545 (पाँच हजार तीन सौ पचपन) होते हैं।

साहित्यदर्पणकार के मत का खण्डन

काव्यप्रकाश के सुप्रसिद्ध टीकाकार मैत्रिल पण्डित श्री गोविन्द ठाकुर ने उक्त दर्पणकार के मत का खण्डन किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि—एक ही ध्वनि यदि भिन्न-भिन्न रूपों में आवे—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तुध्वनि हो—तो उनके संकर तथा सृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं। अतः 'अपने साथ अपना मिश्रण नहीं हो सकता' वह दर्पणकार का कथन असुक्त है पर दर्पणकार का यह कथन भी ठीक नहीं है कि 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के साथ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के मिश्रण को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भेदों में गिन देने पर अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के भेदों में वैसे भेदों को गिनना अनुचित है।' क्योंकि जैसे सभी रस (ईश) रस के साधारण दृष्टि से एकरूप होने पर भी रसकोविदों की दृष्टि में पीठे आदि विशिष्ट रस के रस तथा साधारण रस के रस के हवादा में भेद होता ही है, ऐसी अवस्था में जहाँ पीठे के रस की अधिकता

और पौंडे के रस की न्यूनता होगी उसे—इन दोनों मिश्रणों को—एक रूप नहीं कहा जा सकता, जैसे ही जहाँ जिस व्यङ्ग्य की प्रधानता होगी वहाँ उस व्यङ्ग्य के साथ अन्य व्यङ्ग्य का मिश्रण माना जायगा और अन्यत्र अन्य का। अतः दर्पणकार की दूसरी युक्ति भी सिध्द हो जाती है। अब यदि यहाँ यह कहा हो कि—जहाँ दोनों भेद समान मात्रा में मिलित होंगे, किसी एक की प्रधानता नही रहेगी, वहाँ एक भेद और मानना पड़ेगा—तो इसका समाधान यह है कि वैसी स्थिति में उस भेद का दोनों नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है। फिर उसका तीसरा नाम रखने की कोई आवश्यकता नहीं।

पर्यवसितार्थ

इस तरह पर्यवसित यह हुआ कि प्रकाशकार आदि द्वारा माने गए मूलभूत इत्यादि भेदों में बाइस भेदों को पण्डितराज नहीं मानते। वे बाइस भेद निम्न हैं—असंलक्ष्यक्रम में वर्णगत तथा रचनागत दो, अर्धशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धत्वमूलक चार और इस प्रकार स्वमतसिद्ध अर्धशक्तिमूलक आठ भेदों को प्रबन्धगत नहीं मानने से गुणनप्रक्रिया में घट जाने वाले सौलह। अभिप्राय यह है कि प्रकाशकार आदि व्यञ्जक अर्थ के स्वतः सम्यक्, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध—तीन प्रकार मानते हैं और वे तीनों ही प्रकार वस्तु और अलङ्कारभेद से दो दो प्रकार के होते हैं, अतः उनके मत से व्यञ्जक अर्थ छे प्रकार के हो जाते हैं और उनसे अभिव्यक्त होनेवाले अर्थ भी वस्तु एवं अलङ्कारभेद से दो प्रकार के होते हैं। इस तरह उनके मत से अर्धशक्तिमूलक के जो पहले बारह भेद कहे गये हैं उन बारहों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत होने से समग्र भेद छत्तीस हो जाते हैं। पर पण्डितराज के मत में व्यञ्जक अर्थ चार ही प्रकार के सिद्ध होते हैं और उनसे वस्तु तथा अलङ्कार द्विविध अर्थ की अभिव्यक्ति होने से आठ भेद बनते हैं और उन आठ के पदगत तथा वाक्यगत होने से सौलह भेद हो जाते हैं।

अब यहाँ विचार यह करना है कि पण्डितराज के मत में यह भेदों की कमी धाष्टिक्य है अथवा शुक्तिपूर्ण। इस प्रसङ्ग में ध्वन्यालोक की ओर अनायास ध्यान घला जाता है, क्योंकि ध्वनिविचार में परवर्ती सभी आचार्यों के उपजीव्य ध्वन्यालोककार ही हैं। ध्वन्यालोककार वर्ण और रचना को भी असंलक्ष्यक्रम-व्यञ्जक मानते हैं।^१ पण्डितराज उन दोनों को गुण-व्यञ्जक कहते हैं। पर वस्तुतः जब वे खास-खास वर्णों तथा रचनाओं को खास-खास रस के प्रति प्रतिकूल अथवा अनुकूल मानते हैं, तब उन्हें रसव्यञ्जक भी मानना ही चाहिये।

ध्वन्यालोककार ने भी कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध की चर्चा नहीं की है और तदनुसार पण्डितराज ने भी उसको नहीं माना है और न मानने में युक्ति भी दी है। यद्यपि नागेश ने पण्डितराजोक्त युक्ति का खण्डन किया है, तथापि इस विषय में पण्डितराज का ही मत सुन्दर प्रतीत होता है।

१. 'वस्तुलक्ष्यक्रमव्यञ्जको ध्वनिर्वर्णवदादिषु।

वाक्ये सङ्कटनायाच्च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥' (ध्वन्यालोक)

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत मानने या न मानने की बात ध्वन्यालोक में भी निवादास्पद ही है। मूलध्वन्यालोक की कुछ पङ्क्तियाँ ऐसी हैं जिन्हें आपाततः उक्त ध्वनि का प्रबन्धगत होना सिद्ध होता है, पर प्रसिद्ध रमवार्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने स्लेचन में उन पङ्क्तियों की जो व्याख्या की है उस व्याख्या के अनुसार वे पङ्क्तियाँ रसध्वनिपरक सिद्ध होती हैं। ध्वन्यालोक की 'दीपिति' टीका के रचयिता कविराज आचार्य बदरीनाथ झा जी ने काव्यप्रकाश आदि के स्वारस्यानुकूल उन पङ्क्तियों की व्याख्या में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को ही प्रबन्धगत सिद्ध किया है। पण्डितराज यहाँ अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हैं। यद्यपि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि को प्रबन्धगत न मानने में कहीं किसी ने कुछ भी शक्ति नहीं दी है, तथापि उनकी इदवगण युक्तियों का तर्क किया जा सकता है, और वे युक्तियाँ प्रायः ये हैं—एक तो प्रबन्ध से किन्ती एक अर्थ अथवा अलंकार को अभिव्यक्ति नहीं होनी यह अनुभवसिद्ध है, दूसरे जिस महाभारतगत शृंग-गोमातु-सुवार को उक्त ध्वनि के उदाहरणरूप में चुना गया है उसको अनेक वाक्यों का एकत्रावस्थापन महावाक्यरूप वाक्य भी माना जा सकता है—अर्थात् प्रबन्ध पद से किन्ती पूरे ग्रन्थ का ही बोध मानना उचित है और वह वैसा नहीं है।

संकर-संसृष्टि प्रयुक्त होने वाले भेदों के विषय में भी रसगङ्गाधरकार का मत स्पष्ट नहीं है। ध्वन्यालोककार ने ध्वनि-संकर तथा ध्वनि-संसृष्टि का विस्तृत विवेचन किया है। पण्डितराज ध्वनिसंकर भी भी नहीं मानते अथवा नहीं मानना चाहते ऐसी बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उभय(शब्द-अर्थ)शक्तिमूलक ध्वनि का निरूपण करते समय 'वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों की शक्तियाँ समानभाव से किन्ती अर्थ की अभिव्यक्ति में काम करती हैं वहाँ शब्दशक्ति-मूलक और अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों का संकर ही मान लिया जाय—अतिरिक्त उभयशक्तिमूलक-ध्वनिभेद मानने की क्या आवश्यकता।' हम शंका के उत्तर में उन्होंने 'व्यङ्ग्यमेव एव संकर-स्येष्टे' लिखकर ध्वनिसंकर की बात स्वीकार की है। फिर भी जो उन्होंने उन भेदों का निरूपण या खण्डन नहीं किया इसके कारणों में एक तो यह हो सकता है कि वे आगे किसी प्रसङ्ग पर उन भेदों की चर्चा करते, पर ग्रन्थ की अपूर्णता से ऐसा नहीं हो सका। दूसरे, उनकी भावः ऐसी ही मान्यता है कि 'वे भेद शास्त्रार्थप्रक्रिया से सिद्ध तो किए जा सकते हैं, ध्वनि की मद्द्ष्टा सिद्ध करने को एकमात्र लक्ष्य मानकर ध्वनिकार ने वैसा किया भी है, पर वस्तुतः उन भेदों में परस्परविलक्षण ध्वनिकार अनुभूत नहीं होता और जिनने भेद माने गए हैं उन सभी के उदाहरण भी प्राप्त नहीं होते। अतः उन भेदों की गणना करना एक प्रकार व्यर्थ ही है'।

मेरे विचार में तो उभयशक्तिमूलक ध्वनि के सङ्ग में भी पण्डितराज ने अपनी एकान्त सम्मति नहीं दी है, क्योंकि उसको न माननेवाले मत का भी उन्होंने युक्तिपूर्ण उल्लेख किया है। जो भी हो, ध्वनिसंकर के सङ्ग में अधिक संभव यही है कि—अग्रिम ज्ञानन (जो दुर्भाग्यवश नहीं लिखा गया) में पण्डितराज उसका विचार करते। इस आधार पर यदि पण्डितराज के मत से ध्वनिसंकर आदि का हिसाब लगाया जाय तो मिश्रित भेद तीन हजार तीन सौ चौमठ होंगे और उनमें कुछ उनकी ही भेदों को जोड़ देने पर समग्र भेद तीन सौ तिरानवे हो जावेंगे।

इसके बाद काव्यभेदों में शुभाभूतव्यङ्ग्य आदि का प्रसङ्ग आता है, पर इस अपूर्ण निबन्ध में वे सब प्रसङ्ग नहीं आ सके। उन प्रसङ्गों पर पण्डितराज क्या विचार करते इसकी जानकारी तो

अब अर्त्तभय ही है और प्रकाशकार आदि ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है उसमें अधिक मतभेद किया जादिलता नहीं है, अतः उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जाती। विशासुओं को उनके विषय में अपेक्षित जानकारी तत्तद्ग्रन्थों से प्राप्त हो सकती है।

शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्यार्थ के विषय में शास्त्रार्थ

द्वितीयानुसन्ध के प्रारम्भ में ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लक्ष्य स्थिर करने के लिये एक लम्बा विवरण उपस्थित किया गया है। प्राचीनों के मत से शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वही होती है जहाँ अनेकार्थक शब्द हों क्योंकि श्लेष से भिन्न स्थानों पर अनेकार्थक शब्दों का एक ही अर्थ प्रस्तुत रहता है, दूसरे अर्थ का प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पर ऐसी स्थिति में भी जो कहीं-कहीं दूसरा अर्थ भी हमें प्रतीत हो जाता है, वह अभिधा से नहीं, अपितु व्यञ्जना से प्रतीत होता है और उसी अप्राकरणिक अर्थ को उन्हीं स्थिति में शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि यदि बहनोई आदि परिहासी कुटुम्बों जनों के भोजन के समय सारे लोग कहें कि 'सैन्धवमन्य (सैन्धव छात्रों)' तो उसका अर्थ अभिधा से 'नमक लाओ' होगा, क्योंकि प्रकरण (भोजन) से उसी अर्थ का सम्बन्ध है, पर वहाँ उस वाक्य का 'बोझा लाओ' अर्थ भी महद्दर्थों को ज्ञात अवश्य होता है और वह व्यञ्जना से ही होता है।

यहाँ 'अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से क्यों नहीं होता?' इस प्रश्न का उत्तर देने में शास्त्रार्थ उठ खड़ा होता है। प्राचीनों ने उक्त प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से किया है, जिसका रूप नकारात्मक है अर्थात् उन दोनों ही प्रकारों में 'उक्त अर्थ का बोध अभिधा से नहीं होता' यह सिद्ध किया गया है। पर पण्डितराज ने उन दोनों प्रकारों का प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन करके सिद्ध कर दिया है कि—'अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध होता है'। उक्त तीनों मतों का माराज्ञ निम्न रूप का है—

१—अनेकार्थक शब्दों का अर्थ होने पर यद्यपि प्रथम उक्त शब्द के सभी अर्थ स्मृति-पथ में आते हैं, क्योंकि बोध आदि से उस पद का सकल समानरूप से सभी अर्थों में ज्ञात हुआ रहता है, पर प्रकरण आदि (सयोगी विप्रयोगश्च... इत्यादि, जिसका विशद वर्णन इस ग्रन्थ में इसी प्रसङ्ग पर आगे किया गया है) से वक्ता का तात्पर्य किसी एक ही अर्थ में ज्ञात होता है और इस तात्पर्यनिर्णय के होने-होते प्रथम स्मृति विलीन ही हो जाती है, अतः पुनः पदार्थ का स्मरण होता है और यह द्वितीय बार का स्मरण केवल प्राकरणिक अर्थ का होता है। अतएव अभिधा से उक्तरीत्या स्मृत एकमात्र प्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाता है, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं। ऐसी स्थिति में अप्राकरणिक अर्थ की स्मृति जब व्यञ्जना की सहायता से होती है तब उसका बोध होता है, अतः वह अप्राकरणिक अर्थ व्यङ्ग्य कहलाता है, वाच्य नहीं। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि प्रकरण आदि व्यञ्जनाद्वारा होने वाली अप्राकरणिकार्थस्मृति को क्यों नहीं रोकते? तो इसका समाधान यह है कि प्रकरण आदि वैयञ्जनिक स्मृति को नहीं रोकते, क्योंकि व्यञ्जना का प्राटुर्भाव ऐसे ही अर्थों का स्मरण कराने के लिये हुआ है। (यह है प्रथम मत का सांग्रह)।

२—अनेकार्थक शब्दों से होने वाले अर्थ-बोध में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय भी एक हेतु है, अतः बोध आदि द्वारा समानरूप से सभी अर्थों में समस्त ज्ञात होने के कारण अनेकार्थक

शब्द-अवगोचर सभी अर्थों का स्मृति होने पर भी अन्वयबोध प्राकरणिक अर्थ का ही होना है, क्योंकि प्रकरण आदि द्वारा वक्ता का तात्पर्य उसी अर्थ में निर्णीत होता है। इस तरह वक्तृ-तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का जो बोध होता है वह ध्वजना के सिवा अन्य किसी उपाय से साध्य नहीं है। ध्वजना से होने वाले बोध में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय सर्वत्र अपेक्षित नहीं है क्योंकि जहाँ व्यवहय अर्थ भी अनेक हों वहाँ वैयक्तिक बोध में भी तात्पर्यनिर्णय हेतु है किन्तु जहाँ व्यवहय अर्थ एक ही हो वहाँ वैयक्तिक बोध में तात्पर्यनिर्णय हेतु नहीं होता। (यह है द्वितीय मत का सारांश)।

प्रथम और द्वितीय मत में अन्तर यह हुआ कि प्रथम मत में दुबारा केवल एक अर्थ का स्मरण मानना पड़ता था और प्रकरण आदि के ज्ञान से अप्राकरणिक अर्थ के स्मरण का प्रतिपाद (प्रापद) स्वीकार करना पड़ता था, किन्तु द्वितीय मत में ये दोनों बातें नहीं माननी पड़ती।

इ—‘अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों’ में, प्रकरणादि के द्वारा, केवल एक अर्थ का ही स्मरण होता है, अन्य का नहीं’ यह जो प्रथम मत में कहा गया है वह मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि सत्कार तथा उद्घोषक दोनों के रहने पर स्मरण का न होना असम्भव है। यदि अनेकार्थक शब्द के एक ही अर्थ का स्मरण हो, अन्य का नहीं, तो ‘य सुन्दर है’ इस वाक्य के ‘य’ शब्द का अर्थ जब वक्ता के तात्पर्य (दूध) के विरुद्ध कोई ‘जल’ कहता है तब जो प्रकरणादि समझनेवाला यह कहता सुना जाता है कि ‘महाशय ! यहाँ इस शब्द का अर्थ दूध है, जल नहीं’ यह नहीं बन सकता, निषेध करने वाले को प्रकरण आदि ज्ञान रहने से अप्राकरणिक (जल-रूप) अर्थ उपस्थित ही नहीं होगा, फिर उम्मेद निषेध वह कैसे कर सकता है। अतः प्रथम मत अयुक्त है।

द्वितीय मत में वक्तृतात्पर्यनिर्णय को आभिधिक अन्वय-बोध के प्रति कारण मानकर प्राकरणिक अर्थ का ही अभिधा से बोध समर्थित हुआ है, पर वह समर्थन असंगत है, क्योंकि आभिधिक अथवा वैयक्तिक—किसी भी प्रकार के अर्थ-बोध में वक्तृतात्पर्य-निर्णय को कारण मानना अनुचित है। यदि ऐसा कार्यकारणभाव माना जाय, तो शुद्ध आदि पक्षियों के द्वारा उक्त वाक्यों का अर्थबोध ही नहीं होगा, क्योंकि वहाँ वक्ता (पक्षियों) का किसी भी अर्थ में तात्पर्य नहीं रहता। वे (पक्षी) तो किसी अर्थ का बोध कराने की इच्छा से वाक्य नहीं बोलते बल्कि सुने हुए वाक्यों को बिना अर्थ समझे दुहरा कर देते हैं। इस पर यदि ध्याना हो कि तात्पर्य-निर्णय का क्या कोई कुछ उपयोग है ही नहीं तो इसका समाधान यह है कि उसका उपयोग अर्थबोध में नहीं, अपितु बोद्धा की प्रवृत्ति में है अर्थात् अनेकार्थक शब्दों से अनेक अर्थों को समझ कर भी बोद्धा प्रवृत्त उसी अर्थ में होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य उसे निर्णीत होता है। अतः अनेकार्थक शब्द के सभी (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों का अभिधा से बोध मानने में कोई बाधा नहीं। यह बात तो तब हुई जब सभी अनेकार्थक शब्दों के स्थल में अप्राकरणिक अर्थ को भी नियमत प्रतीति मानो जाय।

पर यदि वक्तृतात्पर्य के ज्ञान अथवा श्रोता की विशिष्ट बुद्धि-शक्ति की कारण मानकर यह माना जाय कि अप्राकरणिक अर्थ को समझने वाली व्यञ्जना कहीं प्रादुर्भूत होती है और कहीं नहीं, तो यह भी सगत नहीं, क्योंकि तात्पर्य-ज्ञान को वैयक्तिक बोध-स्थल में कारण नहीं

माना जाता। रही श्रोता को बुद्धि शक्ति, तो उसे व्यञ्जना का प्रादुर्भावक मानने की अपेक्षा प्रकरणादि के ज्ञान से दली हुई अमिथाशक्ति को उद्भूत करने वाली ही क्यों न माना जाय ? वह किसी पद को अप्राकरणीकार्थोपस्थापक अमिथा को उद्भूत न करके व्यञ्जना को उद्भूत करे, यह मान्यता युक्तिविहीन है। इस तरह दोनों मत स्पष्टित हो जाते हैं।

अब यदि कहा जाय कि जहाँ अप्राकरणिक अर्थ अबाधित रहेगा वहाँ उसका बोध भले ही अमिथा से हो पर जहाँ अप्राकरणिक अर्थ जुगुप्सित अतएव वद्विकरणक सेरु के समान बाधित रहेगा वहाँ तो उसका बोध अमिथा से नहीं हो सकता, क्योंकि बाध निश्चय की तद्वत्ताबुद्धि के प्रति सभी प्रतिबन्धक मानते हैं, अतः वैसे अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना की ही शरण लेनी पड़ेगी, क्योंकि वैयञ्जनिक बोध में बाधनिश्चय प्रतिबन्ध नहीं करता, तो हमका समाधान यह है कि जैसे अवबुद्धि, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों के स्थल में वाच्य अर्थ ही बाधित रहते हैं—अतः शाब्दज्ञान में बाध निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता वैसे वहाँ भी बाधित अप्राकरणिक अर्थ का बोध अमिथा से ही हो जा सकता है।

इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि अनेकार्थक शब्दस्थल में द्वितीय (अप्राकरणिक) अर्थ का बोध व्यञ्जना द्वारा नहीं, किन्तु अमिथा द्वारा ही होता है। हाँ, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की उपमा अवश्य ही व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होती है।

इस प्रकार प्राचीनों की शिथिल होती हुई युक्ति को बल देने के लिये पण्डितराज ने एक ऐसा स्थल भी ढूँढ निकाला है जहाँ व्यञ्जना के बिना द्वितीय अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। वह स्थल है—योगरूढ शब्दों से बने पद्य।

‘रुद्धियोंनापहारिणी’ हम नियम के अनुसार योगरूढ शब्दों के रूढ अर्थ ही अमिथाद्वारा ज्ञान हो सकते हैं। वहाँ यौगिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से ही करना पड़ेगा। अतः वस्तुन-शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का लक्ष्य वैसे ही पद्य हो सकता है जो योगरूढ पदों से बना हो। इतना कह देने के बाद यह भी कहा जा सकता है कि जब योगरूढ शब्द-स्थल के लिये व्यञ्जना माननी ही पड़ी तब अनेकार्थक शब्दस्थल में भी द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जना से मानना ही सरल पक्ष है। यह है दुर्गाय मत का माराश। वहाँ हम माराश सकलन का प्रयोजन यह है कि ग्रन्थगत विशद शास्त्रार्थ को समझने में पाठकों को सुविधा हो।

शब्द-शक्ति

अब यहाँ शब्दों की उन शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करना है जिनके आधार पर उक्त विशाल ‘ध्वनि प्रामाद’ खड़ा किया गया है। उन शक्तियों के पृथक्-पृथक् विवेचन से पूर्व सामान्य ज्ञान के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि ये शक्तियाँ सख्या में तीन हैं—अमिथा, लक्षणा और व्यञ्जना। यद्यपि अन्य शास्त्रों में अमिथा और लक्षणा ये दो ही शब्द शक्तियाँ मानी गई हैं तथापि यहाँ अलङ्कार-शास्त्र के माध्यम से ही शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में विचार करना है और अलङ्कार-शास्त्र में उक्त तीनों ही शक्तियाँ स्वीकृत हुई हैं, अतः शक्तियों की संख्या तीन ही समझते हुए यह भी समझना चाहिए कि अलङ्कारशास्त्र के समान व्याकरणशास्त्र में भी उक्त

तीन शक्तियों समर्पित हुई है। इन शक्तियों का वर्णन शास्त्रों में 'वृत्ति' शब्द से भी किया गया है, अतएव अलङ्कार-शास्त्र में 'शक्ति' शब्द का प्रयोग केवल 'अभिधा' के लिये ही हुआ है अर्थात् अलङ्कार-शास्त्र में 'शक्ति' पद का अर्थ 'अभिधा' समझना चाहिए।

अलङ्कारशास्त्र के जिन ग्रन्थों में, मुख्यरूप से इन वृत्तियों का विवेचन किया गया है, वे ग्रन्थ निम्न हैं—

अभिपुराण, अभिधावृत्तिमातृका, शब्दन्यापारविचार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्तिक और रसगङ्गाधर। इनमें अभिपुराणमें वृत्ति-निरूपण कुछ भिन्न ही प्रकार का है, अतः उसकी चर्चा यहाँ दोनों वृत्तियों का विवेचन कर लेने के बाद ही की जायगी।

अभिधावृत्तिमातृका में प्रायः मीमांसकों के मतानुसार अभिधा तथा लक्षणा को ही मान्यता दी गई है और व्यञ्जना नहीं मानी गई है। शब्दन्यापारविचार और काव्यप्रकाश के निर्माता एक ही व्यक्ति (मम्मट) हैं, अतः उनमें मतभेद की सम्भावना ही नहीं है। साहित्यदर्पण भी इस महा में बहुत कुछ प्रकाश का ही अनुगमन करता है। और जो कुछ विशेष है उसका विशेष ध्यावसर आगे किया जायगा। वृत्तिवार्तिक के रचयिता अप्यवदीयित के मत का तो सर्वत्र पण्डितराज सन्देह ही करते हैं, अतः वृत्तिविचार में भी उनके मत का उल्लेख ही इस ग्रन्थ में किया गया है।

अभिधा

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध विशेष का नाम अभिधा है। यह संबन्धविशेष शब्द-शक्ति-स्वरूप एक स्वतन्त्र पदार्थ है यह कुछ लोगों (मीमांसकों) का मत है। नैवायिक लोग इस सम्बन्ध विशेष अथवा अभिधा को 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए' इस रूप में होने वाली अथवा 'यह पद इस अर्थ को समझावे' इस रूप में होने वाली ईश्वर की इच्छा अथवा किसी तरह आधुनिक मनुष्यों की इच्छा मानते हैं। पर यहाँ प्रथम मत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि, द्वितीय मत में एका तो यह प्रतिक्रिया खड़ी हो जाती है कि यदि उत्तमप्रकारक ईश्वरेच्छा को अभिधा माना जाय तब उत्तमप्रकारक ईश्वर-ज्ञान की ही अभिधा क्यों नहीं माना जाय ? दूसरे, यदि अभिधा को ईश्वरेच्छारूप माना जाय तो लक्षणा (और विशेषतः स्मृतिमूला लक्षणा) को भी ईश्वरेच्छारूप क्यों नहीं माना जाय ? फलतः सिद्ध हुआ कि अभिधा का अर्थ है वह और पदार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध और वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है—एक प्रकार की शब्द-शक्ति है, इच्छा आदि रूप नहीं।

इसी प्रसङ्ग पर यह भी समझ लेना चाहिए कि तबल अभिधा को समझने का साधन क्या है ? शास्त्र में, शक्तिग्रह (अभिधा-ज्ञान) के ये आठ साधन बतलाए गए हैं^१। व्याकरण, उपमान, कोष, आश्रयवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और सिद्ध पद का साधनार्थ। इन साधनों में व्यवहार को शक्तिग्राहक-श्रोतमणि (सबसे मुख्य साधन) कहा गया है। अतः, उक्त मुख्य साधन का आधार पर ही यहाँ इस प्रसङ्ग की कुछ मीमांसा की जाती है।

१. शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोषवाक्यव्यवहारतथ।

वाक्यस्व शेषादिकुनेर्बेदनि साधनत्वतः सिद्धपदस्य वृत्ता ॥

देखा जाता है कि किसी व्यक्ति से 'गामानय (गौ को लाओ)' मान कहते ही वह गौ को ले आता है। अब यदि वहाँ कोई बालक (जिसको उक्त वाक्य का अर्थज्ञान नहीं रहता) उपस्थित रहता है, तो उसे उक्त व्यवहार में उक्त वाक्य का (अन्त में उस वाक्य के अन्दर आए हुए पदों का भी) शक्ति-ग्रह होता है और वह इस प्रकार होता है कि पहले बालक प्रत्यक्ष प्रमाण से उन वस्तुओं को देखता तथा सुनता है अर्थात् वाक्य की कान से सुनता है और वक्ता के बोद्धव्य (जिसके प्रति वक्ता उक्त वाक्य कहता है) को तथा लार् जानेहुई गौ को आँखों से देखता है। इसके बाद वह बालक बोद्धव्यगत ज्ञान का अनुमान करता है अर्थात् 'इस बोद्धव्य व्यक्ति ने, उक्त वाक्य से अवश्य ही गौ का लाना समझा है, क्योंकि उसको चेष्टा उसी तरह की हो रही है—वह गौ को ला रहा है' यह समझता है। इसके बाद उस बालक के मन में स्वभावतः यह जिज्ञासा उठती है कि क्यों इसने (बोद्धव्य ने) उक्त वाक्य का वही अर्थ (गौ का लाना) समझा, दूसरा कोई अर्थ क्यों नहीं समझा, अतः अवश्य ही उक्त वाक्य का उस ('गामानय' का 'गौ का लानारूप अर्थ') के साथ कोई सम्बन्ध है। इस तरह, उक्त वाक्य तथा उक्त वाक्यार्थ के बीच जिस पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति) की सहायता से, बालक को होता है वही अभिधा है और उस अभिधा का उक्त प्रकार से होने वाला ज्ञान ही व्यवहार द्वारा होनेवाला 'शक्ति-ग्रह' है। पर यह शक्ति-ग्रह अस्पष्ट वाक्य का अस्पष्ट वाक्यार्थ में हुआ, अर्थात् उक्त व्यवहार से बालक इतना समझ सका कि 'गामानय' यह एक अस्पष्ट वाक्य है जिसका 'गौ का लानारूप अर्थ' के साथ सम्बन्ध है। यह नहीं समझ सका कि इस वाक्य के अन्दर 'गाम्' एक पद है और उसका सम्बन्ध 'गौ' से है, इसी तरह 'आनय' दूसरा पद है और उसका सम्बन्ध 'लाने' से है। इस तरह का पद-शक्ति-ज्ञान बालक को तब होता है, जब वक्ता कहता है—'गाम् नधान (गौ को बाँध दो)' 'अश्वम् आनय (घोड़े को ले आओ)'। तात्पर्य यह कि जब उक्त वाक्य की सुन कर तदनुसार आचरण करवे हुए बोद्धव्य को बालक देखता है तब उक्त प्रक्रिया से बालक को उस पद की अभिधा प्राप्त होती है। उसी का नाम 'शेषबोधकभाव' अथवा 'बोधजनयना' किंवा 'तादात्म्य' है।

यहाँ यह भी समझ लेना उचित है कि अभिधा-ज्ञान से शब्दार्थ का ज्ञान कैसे होता है। सन्निधियों के विषय में यह नियम है कि—एक सन्निधी का ज्ञान होने पर दूसरे सन्निधी का अपने आप स्मरण हो आता है, जैसे 'मोहन' का घर देखने पर 'मोहन' का स्मरण तुरन्त हो आता है। इसी नियम के अनुसार हमें किसी भी नाम (जो एक प्रकार का शब्द है) के सुनते ही उससे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु का और किसी भी वस्तु के देखते ही उसके नाम का स्मरण हो आता है तथा इस प्रकार से स्मृतिपथ में आए हुए अर्थों का पीछे अन्वयबोध होता है। उक्त नियम के अनुसार शब्दग्रहण के अनन्तर उक्त शब्द से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ का स्मरण उन्हीं को होता है जो उस सन्निधि (अभिधा) को जानता रहता है। अतः किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये इस पूर्वोक्त सम्बन्धरूप अभिधा का ज्ञान आवश्यक है।

अभिधा के भेद

अभिधा के तीन भेद हैं—रूढि, योग और योगरूढि । कुछ लोग वीगिकरूढि नामका एक चतुर्थ भेद भी मानते हैं । इन सबका सोदाहरण विवरण प्रकृत ग्रन्थ में ही यथास्थान विशद रूप में आया है ।

वाच्य अर्थ

इस अभिधा किंवा शक्तिनामक वृत्ति से जिस अर्थ का बोध होता है उसको वाच्य अर्थ कहते हैं । शब्दान्तर में इस प्रकार कह सकते हैं कि उक्त अभिधावाचक साधनों से जिस अर्थ का बोध होता है उसका नाम वाच्य अर्थ है । वह वाच्य अर्थ अभिधेय, शक्य अथवा मुख्य अर्थ के नाम से भी कहा जाता है ।

वाचक शब्द

अभिधावाचिन द्वारा अर्थ का बोध कराने वाला शब्द वाचक कहलाता है ।

लक्षणा

प्रायः देखा जाता है कि शब्दों का प्रयोग पूर्वोक्त मुख्य अर्थ से अन्य अर्थ में भी कभी-कभी होता है । सहृदय पुरुष अपकार करने वाले से कहता है—‘तुमने बड़ा उपकार किया, तुम तो भरत जीमो’ । इन वाक्यों में क्रमशः ‘उपकार’ का अर्थ ‘अपकार’ और ‘जीमो’ का अर्थ ‘नहीं जीमो’ है । पर उक्त दोनों पक्षों के उक्त दोनों अर्थ हो नहीं सकते, क्योंकि उन अर्थों में उन शब्दों की अभिधा, क्रोध किंवा व्याकरण अथवा व्यवहार आदि से हात नहीं होती और तब तक किसी शब्द का कोई अर्थ हो नहीं सकता जब तक उस शब्द में उस अर्थ की बोधिका कोई वृत्ति न हो । ऐसी ही स्थिति में, ऐसे ही अर्थों को सिद्ध करने—समझाने—के लिये ‘लक्षणा’ की आवश्यकता होती है ।

लक्षणा का स्वरूप

विश्लेषण करने पर विदित होता है कि शब्द पहले अपने साक्षात् सम्बन्ध—अभिधा से द्वारा वाच्य अर्थ को समझाता है, पर जब वह अर्थ वक्ता के तात्पर्य से विरुद्ध पड़ता है, तब उस पद के वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी ऐसे अर्थ को उस पद का अर्थ मानना पड़ता है जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल होता है । अभिप्राय यह कि ऐसा अर्थ पद और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्धद्वारा नहीं, अपितु पद के वाच्य अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण शान होता है ।

स्पष्ट रूप में हम बात को यों भी कह सकते हैं कि पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात्सम्बन्धद्वारा और दूसरे परंपरा-सम्बन्ध (अपने सवन्धी-वाच्य-अर्थ के संबन्ध) द्वारा । इनमें प्रथम सवन्ध को अभिधा और द्वितीय सवन्ध को लक्षणा कहते हैं । जब केवल प्रथम संबन्ध कार्यकारी नहीं होता (वक्ता के तात्पर्य के विपरीत अर्थ का बोधक नहीं हो पाता) तभी द्वितीय सवन्ध का उपयोग किया जाता है । अतएव अभिधा प्रथम वृत्ति और लक्षणा अभिधा की पुष्ट्यभूत वृत्ति समझी जाती है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि शक्य वाच्य (मुख्य) अर्थ के सवन्ध का नाम लक्षणा है । लक्षणा का यही स्वरूप (लक्षण)

प्रकृत निबन्ध में स्वीकृत हुआ है। न्यायदर्शनमण्डिता आचार्यों ने भी लक्षणा के इस स्वरूप का ही समर्थन किया है।

अभिप्रायविचारकाकार मुकुल भट्ट की यह उक्ति भी लक्षणा के इसी स्वरूप की ओर इशारा करती है। वे कहते हैं—‘शब्द के व्यापार से जिसकी प्रतीति होती है वह अर्थ मुख्य कहलाता है और शब्द के अर्थ द्वारा जो अर्थ ज्ञात होता है अर्थात् जिस अर्थ के समझने में मुख्य अर्थ मध्य में पड़ता है उस अर्थ को रश्न (लक्षणाद्वारा ज्ञात) समझना चाहिए।’

लक्षणास्वरूप के विषय में मतान्तर

कतिपय प्राचीन विद्वान् ‘वाच्य अर्थ के सन्बन्धद्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ के ज्ञान (स्मरण)’ को लक्षणा मानते हैं।^१ कान्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट-जून लक्षणा से भी लक्षणा का यही प्राचीन-सम्मत-स्वरूप कल्पित होता है क्योंकि उन्होंने कान्यप्रकाश में कहा है—‘मुख्य अर्थ का वाच रहने पर रुटि अथवा प्रयोजन से जो अन्य अर्थ ज्ञात होता है वह रश्ति लक्षणा है, शब्द में यह लक्षणा आरोपित की जाती है।’^२ इस लक्षणा में ‘अन्य अर्थ को लक्षित होता है वह लक्षणा है’ इतना अन्त स्वरूपकथन-वस्तु है और अन्य अर्थ लक्षणा-हेतु-कथनपरक है। इस लक्षणा से लक्षणा का उक्त प्राचीनाभिमत स्वरूप ही पर्यवसित होता है।

यद्यपि कतिपय टीकाकारों ने अन्तर्तीय लक्षणास्वरूपबोधक कारिका की व्याख्या अपने-वक्त्र से करके ‘शब्द-सन्बन्ध लक्षणा है’ ऐसा अभिप्राय निराला है, पर वह अभिप्राय पशुपतः मम्मट का नहीं है, क्योंकि मम्मट ने ‘मुख्यार्थवाचादिप्रत्यय हेतु’ लिखकर स्पष्ट शब्दों में ‘शब्द-सन्बन्ध’ को लक्षणा का कारण माना है और ‘शब्द-सन्बन्ध’ लक्षणा ॥ कारण शब्दसन्बन्ध ही नहीं सकता।

भट्टानिकाकार कुमारिल भट्ट (भीमात्मक) का लक्षणा भी बहुत कुछ इसी वक्त्र का है। उनका कथन है—‘मुख्य अर्थ को स्वीकार करना यदि अन्य प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) से विरुद्ध पड़ता हो तब अभिप्रेत (वाच्य) अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की जो प्रतीति होती है वह लक्षणा है।’^३ इन सभी मतान्तरों का सारभूत एक होने से इन सब को एक मतान्तर कह सकते हैं।

कुछ लोग ‘शब्दवाच्यवच्छेदकारोप’ को लक्षणा कहते हैं। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि मुख्य अर्थ में रहने वाले जसाधारणधर्म का मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ में आरोप करना ही लक्षणा का स्वरूप है। जैसे—‘गङ्गा में घोड़ा’ इस वाक्य में गङ्गापदवाच्यतावच्छेदक गङ्गात्व का गङ्गापदार्थ-प्रवाह-विशेष से सम्बद्ध तब में आरोप करवा। अन्य लोग वक्ता के तात्पर्य (इच्छा-विशेष) को ही लक्षणा कहते हैं।

१. शब्दव्यापारतो वस्तु प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।

वर्षावतेवश्य पुनर्नक्षत्राणामुच्यते ॥

२. ‘शब्दसन्बन्धेनाशब्दप्रतिपत्तिर्लक्षणा’ इति प्राचा सधम्म ।

३. मुख्यार्थभावे तयोपे रश्ति त्र्यर्थप्रयोगान्तर ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्ना लक्षणातोपिना किया ॥

४. ‘मानान्तरविरोधे ॥ मुख्यार्थस्यापरोप्यते ।

अभिप्रेतविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेच्यते ॥

समीक्षा

यहो प्रथम मतान्तर संगत नहीं, क्योंकि शब्द से अर्थ का स्मरण होने में वित्तका शान कारणरूप हो वह पदार्थ शब्द की वृत्ति अथवा शक्ति कहलाना है। वैसा पदार्थ स्मरण नहीं यदि तु सम्बन्धविशेष ही हो सकता है, क्योंकि 'पूर्वोक्त स्मरण (शान) का शान' उदय अर्थ के बोध का कारण नहीं है। सरासरी यह कि शान का कारण वृत्ति है, शान ही नहीं। अतः संबन्ध को ही लक्षणा मानना उचित है, न कि स्मृति को।

यदि किसी तरह सम्मत की कारिका से शक्य-सम्बन्ध का लक्षणा होना सिद्ध किया जा सके, और अग्रिम तदीय-अन्य का विरोध परिहृत कर दिया जाय, तब प्रकाशगत लक्षणा को ही ठीक माना जा सकता है।

इसी तरह कुमारिलमठ के बार्तिक को ध्यात्वा यदि 'अभिधेयविनाभूतप्रतीतिः' पद का 'अभिधेयसम्बन्ध' अर्थ की प्रतीति हो जिनसे' वह पदार्थ अर्थ मानकर की जाय तब वह लक्षण भी ठीक ही है।

शक्यतावच्छेदकारोप को लक्षणा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर—

‘कथतल्लस्यति ध्वनं ध्वनात् कुञ्जकुड्मलं विमेति ।

मध्याद् विमेति नयनं लपनादधरः समुद्विजति ॥

अर्थात् केश से मुख ढरना है, मुख से उर्ध्वग स्तन भीत होना है, मध्यभाग (छाटि) से नयन लपनीत है और नयन से अधर उद्विग्न हो उठता है।'

इस पद्य में लक्षणा करने का कोई फल नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह कि—यहाँ कथ, ध्वन, कुञ्जकुड्मल, मध्य, नयन तथा अधर शब्द, क्रमशः राहु चन्द्र, कमल, सिंह, हरिण और पत्थररूप अर्थ में लाक्षणिक हैं। अब यदि शक्यतावच्छेदकारोप की लक्षणा माना जाय तब कवल आदि का राहु आदि में आरोप किया जायगा, पर वृत्तिसे प्रकृत में कोई लाभ नहीं, क्योंकि वृत्ति वृत्ति के आरोप से राहु आदि भी केश आदि ही समझे जायेंगे, फिर उनसे चन्द्र आदि के करने का कोई कारण हो नहीं रह जायगा।

अग्रिम मत भी अच्छा नहीं है क्योंकि आगे दिसलाया जायगा कि लक्षणा का एक कारण तात्पर्य की अनुपपत्ति है। यदि तात्पर्य ही लक्षणा हो तब पूरा कार्यस्वरूप ही कारण के पद में समा आयागा, फिर वक्त दोनों पदार्थों का कार्यकारणभाव कैसे बन सकता है।

लक्षणा के कारण

अब यहाँ शका यह उठती है कि—लक्षणा किन्हीं कारणों के आधार पर होती है अथवा वेसे ही ? इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि—कारणों के आधार पर ही लक्षणा होती है क्योंकि यदि वो ही लक्षणा की जाय तब सर्वत्र सभी पदों को जिस किसी सबद अर्थ में लक्षणा मान ली जा सकती। अब देराना यह है कि वे कारण कौन से हैं जिनके आधार पर लक्षणा होती है। प्रथम कारण वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति (असिद्धि) है, अर्थात् जब किसी पद के मुख्य अर्थ से वक्ता का तात्पर्य (जो कुछ वक्ता कहना चाहता है वह वाक्यार्थ) सिद्ध नहीं हो पाता तब उस पद की लक्षणा होती है।

कुछ लोग अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का प्रथम कारण मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि—जब मुख्य अर्थ का अन्वय वाक्यान्तर्गत अन्य पद के अर्थ के साथ नहीं हो सके तब लक्षणा होती है। पर यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यदि इसी कारण के आधार पर लक्षणा हो तब तो 'गङ्गा में घोष' ऐसा कहने पर जो नियमित गङ्गा पद की तट में लक्षणा मानी जाती है वह आवश्यक नहीं रह जायगा—अर्थात् घोषपदार्थ में गङ्गापदार्थ का अन्वय नहीं हो सकने के कारण ही अब लक्षणा का आश्रय करना ठहरा, तब हमको क्या आवश्यकता कि गङ्गा पद की ही लक्षणा तट में मानी जाय। घोष पद की भीन-झोवाल आदि में लक्षणा मानकर भी 'गङ्गा में भीन अथवा झोवाल' यह अभिव्यक्त अर्थ किया जा सकता है।

इसी तरह 'कौओं से दही की रक्षा कीजिए' इस प्रसिद्ध लक्ष्णोदाहरण में लक्षणा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जायगा, क्योंकि यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् केवल कौओं से दही की रक्षा कर देने पर भी वाक्य अभिव्यक्त हो ही जाता है।

तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का कारण मानने वालों के मत से तो यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य उन सभी प्राणियों से दही की रक्षा करने में है जिनसे दही की बरबादी संभव हो, फिर यदि कौओं से बचाकर भी कुत्तों से दही नष्ट करा दिया जाय तब वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न होता है, अतः काक पद को लक्षणा दृष्ट्युपपातक में होती है। इसी तरह अन्यत्र भी दोष हो सकते हैं। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का प्रथम कारण मानना चाहिए—अन्वयानुपपत्ति को नहीं।

यदि तात्पर्यानुपपत्तिरूप एक ही कारण लक्षणा का माना जाय तो वक्ता कुछ भी बोले, कुछ भी अर्थ रुपावे, उसे रोका नहीं जा सकता, और ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किन अर्थ में है यह समझना श्रद्धांश असंभव हो जाय, अतः लक्षणा के ये दो निषात्मक कारण और हैं—रुद्धि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन। अतः तात्पर्यानुपपत्ति के अतिरिक्त इन दोनों में से किन्ना एक का होना भी लक्षणा के लिये अनिवार्य है।

इस सब का सारांश यह हुआ कि—मुख्यार्थ का वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल न होना और उस अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि अथवा कोई प्रयोजन—इन दोनों में से एक—ये लक्षणा के दो कारण हैं। ये जब तक न हों तब तक कोई लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा के भेद

पण्डितराज का मत

रुद्धि (प्रसिद्धि) तथा प्रयोजनरूप कारणों के भेद से प्रथमतः लक्षणा के दो भेद होते हैं। उनमें रुद्धि के कारण होनेवाली लक्षणा को रुद्धा किंवा निरुद्धा और प्रयोजन के कारण होनेवाली लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने रुद्धा लक्षणा के भेद नहीं माने। पण्डितराज ने भी अव्यक्तिरूप में ही उनके भेद किए हैं, क्योंकि उन्होंने उक्त प्रकार से दो भेद करके कहा है कि इन दोनों (रुद्धा तथा प्रयोजनवती) भेदों में द्वितीय (प्रयोजनवती) के पुनः दो भेद होते हैं—गौणी तथा शुद्धा। उनमें प्रथम (गौणी) के भी दो भेद होते हैं—सारांश और साध्यवसाना। और द्वितीय (शुद्धा) के चार भेद होते हैं—वह्यत्वाभा, भजद

स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना । इतना कहकर रुग्णों के दो उदाहरण दिए गए जिनमें एक जगद शक्य का संबन्ध सादृश्यरूप और दूसरी जगद सादृश्य से मिश्ररूप देखा गया, अतः रुद्धा लक्षणा के भी गौणी और शुद्धा—दो भेद मानते हैं ऐसा लिखा, फिर प्रयोजनवती के उदाहरणों का विचार आत्म्य किया । इस कथन-क्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्धा लक्षणा के एक दो भेदों के विषय में ग्रन्थकार की पूर्ण सम्मति नहीं है । जो कुछ भा हो, इस तरह पण्डितराज के मत से प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा जहत्स्वार्था, शुद्धा अजहत्स्वार्था, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना—ये छे भेद होते हैं । इन छे भेदों में यदि रुद्धा के दो भेद मानकर उन्हें भी सम्मिलित कर लिया जाए तो कुल लक्षणाभेद आठ और यदि उसका एक ही भेद मान कर सम्मिलित कर लें तो पण्डितराज के मत से कुल लक्षणाभेद सात सिद्ध होते हैं ।

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था का नामान्तर

अन्यत्र जहत्स्वार्था को महद्भुजा अथवा लक्षणलक्षणा और अजहत्स्वार्था को अत्रहद्भुजा अथवा उपादान-लक्षणा भी कहा गया है ।

जहदजहत्स्वार्था भेद का निराकरण

वृत्तिवातिक के रचयिता अण्वपदीक्षित ने वेदाभित्यो के मतानुसार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक जहदजहत्स्वार्था नामक भेद और माना है । पर प्रकृत ग्रन्थ में उस भेद की कहीं चर्चा ही नहीं हुई है, अतः यह मानना पड़ता है कि पण्डितराज इस भेद को नहीं मानते क्योंकि जहाँ वाचक शब्द अन्य अर्थ के लिये अपने अर्थ (वाच्य) को अपिष्ट कर दे वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा होगी है । यह बात दूसरी है कि यह अर्थ की सर्वांग में अथवा किसी अश्व-विशेष में छोड़े । इस प्रकार जिस तरह सर्वांग में वाचकद्वारा अपने अर्थ को छोड़ देने की स्थिति में जहत्स्वार्था मानी जाती है, वही तरह किसी अश्व विशेष में वाचकद्वारा अपने अर्थ को छोड़ने की स्थिति में भी जहत्स्वार्था मानी हो जा सकती है, फिर द्वितीय स्थिति में जो एक जहदजहत्स्वार्था नामक नवीन भेद कहा जाता है उसकी कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् जिसकी भाव नवीन भेद मानना चाहते हैं वह जहत्स्वार्था नामक भेद में ही अभ्यर्तित हो जाता है । यह विचार काव्यप्रकाश की प्रतीय तथा उद्योत नामक टीकाओं में व्यक्त किया गया है । वृत्तिनैपिकाकार ने भी कुछ और शास्त्रांगों वङ्ग की सुक्तियों के आधार पर इसी तथ्य को पुष्ट किया है ।

लक्षणा के भेदों का उपयोग

लक्षणा के आठ भेदों में निरुद्धा लक्षणा व्यवहारहित होती है, अतः साहित्यशास्त्र में उसका कोई सुन्दर उपयोग नहीं होता, अर्थात् उसके आधार पर न तो कोई प्वनिकाव्य होता है, न अलंकार । प्रयोजनवती के भेदों में से गौणी सारोपा का रूपक अलंकार में, गौणी साध्यवसाना का अति-उपेक्षा अलंकार में और शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना (दोनों) का हेतुअलंकार में उपयोग होता है । यह बात प्रसङ्गवश पहले ही लिखी जा चुकी है । रहे दो भेद, इनमें से शुद्धा जहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' और शुद्धा अजहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अर्थान्तरसम्प्रेषितवाच्य' नामक दो प्वनिभेद होते हैं ।

भस्मट का मत

भस्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में लक्षणा के भेद इस प्रकार किए हैं—लक्षणा प्रथमतः दो प्रकार की होती है—रुदिमूला तथा प्रयोजनमूला। उनमें प्रयोजनमूला के प्रथमतः दो भेद होते हैं—शुद्धा और गौणी। उनमें प्रथम भेद (शुद्धा) के चार भेद हो जाते हैं—शुद्धा उपादान-लक्षणा सारोपा, शुद्धा उपादानलक्षणा साध्यवसाना, शुद्धा लक्षणलक्षणा सारोपा और शुद्धा लक्षणलक्षणा साध्यवसाना। गौणी के दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस तरह प्रयोजनमूला के छे भेद होते हैं। इन छे भेदों के पुनः दो दो भेद हो जाते हैं, क्योंकि प्रयोजन-रूप व्यङ्ग्य गूढ (सहृदयमाश्रयेण) तथा अगूढ (सर्वजनवेध) भेद से दो प्रकार का हो सकता है। कलतः भस्मटभट्ट के मत से, रुदिमूला का एक और प्रयोजनमूला के बारह—इस तरह समग्र लक्षणाभेद तेरह सिद्ध होते हैं।

यद्यपि अन्तः कनिष्ठ आलोचकों ने रुदिमूला के भी गौणी शुद्धा भेद मान कर भस्मट के मत से कुल चौदह लक्षणाभेद माने हैं, पर काव्यप्रकाश में रुदिमूला लक्षणा के दो भेदों की कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती, अतः भस्मट के मत से उक्त भेद-संख्या सगत नहीं हो सकती। काव्य-प्रकाश के प्रतिष्ठ टीकाकार बामनाचार्य ने भी अपनी टीका में तेरह भेद ही माने हैं।^१

विश्वनाथ का मत

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज लक्षणा के प्रथमतः दो भेद करते हैं—रुदिमूला और प्रयोजनमूला। इन दोनों भेदों के भी उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा-भेद से पुनः दो दो भेद मानते हैं। इस तरह सिद्ध किए गए चार भेदों के पुनः सारोपा तथा साध्यवसाना-भेद से दो दो भेद कर देते हैं। इस तरह लक्षणा के आठ भेद सिद्ध किए जाते हैं। ये आठों भेद पुनः गौणी शुद्धा भेद से दो दो प्रकार के माने जाते हैं। इस प्रकार लक्षणा के प्रधान भेद सोलह सिद्ध किए जाते हैं।^२ इस तरह उनके मत से, १—रुदिमूला उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा, २—रुदिमूला उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा, ३—रुदिमूला लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा, ४—रुदिमूला लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा, ५—रुदिमूला उपादानलक्षणा सारोपा गौणी, ६—रुदिमूला उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी, ७—रुदिमूला लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी और ८—रुदिमूला लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी—ये आठ रुदिमूला लक्षणा के और इसी तरह इन्हीं नामों वाले आठ प्रयोजनमूला लक्षणा के भेद होते हैं। इनमें रुदिमूला के उक्त आठ ही भेद रह जाते हैं, पर प्रयोजनमूला लक्षणा के उक्त आठों भेदों के पुनः प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य के गूढगूढभेद से दो दो भेद कर दिए जाते हैं। इस तरह प्रयोजनमूला के सोलह भेद सिद्ध होते हैं और ये सोलहों भेद पुनः कल (प्रयोजन) के धर्मी तथा धर्मपत होने से दो-दो प्रकार के बन कर बत्तीस हो जाते हैं। इस तरह प्रयोजनमूला के बत्तीस और रुदिमूला के आठ—कुल चालिस भेद लक्षणा के कर दिए जाते हैं। किन्तु इतने पर भी दर्पणकार को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि जिस तरह वैवाकरण लोग अर्धमात्रा लक्ष्य से पुनश्चेत्यव मनाने हैं^३,

१. 'तथा च व्यङ्ग्यमहिता रुदिलक्षणा एकविधा, उक्तवद्विधा प्रयोजनलक्षणा गूढव्यङ्ग्या-गूढव्यङ्ग्यत्वेन द्विविधा, मिलित्वा लक्षणा प्रबोदशविधा बोध्या।

२. अर्धमात्राकाव्येन पुनश्चेत्यव मन्यन्ते वैवाकराः।

वसी तरह आलंकारिक छोट भेद-वर्धन से अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। फलतः उक्त चालीस भेदों को भी पदार्थ और वाक्यगत मान कर विग्रहण करिखान लक्षणा-भेदों को अस्सी तक खींच ले गये हैं।

विभिन्न मतों की समीक्षा

पाठक कृपया इस सूत्र का ध्यान रखें कि प्रकृतोपयोग तथा चरम बिन्दु तक पदार्थों का सूक्ष्मतम विभेदन, इन दो दृष्टिकोणों से लक्षणा के विषय में—किमी भी पदार्थ के विषय में—विचार किया जा सकता है। यह जो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न प्रकार का लक्षणा निरूपण दृष्टिकोचर होता है उसका रहस्य बहुत कुछ उक्त दृष्टिकोण-विभिन्नता में ही निहित है। अभिप्राय यह कि—रसगद्गापर का लक्षणा विचार सर्वथा अलंकारशास्त्र में उसके उपयोग की दृष्टि में रमकर किया गया है। काव्यप्रकाश का लक्षणा विचार भी यद्यपि उसी दृष्टिकोण की मुख्य मान कर हुआ है तथापि उसमें कुछ-कुछ दूसरा दृष्टिकोण भी झलकता है। साहित्यदर्पण का लक्षणा-विचार विशुद्ध पदार्थविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से किया गया प्रतीत होता है।

अलंकारशास्त्र में होने वाले उपयोग की दृष्टि में रस कर यदि विचार किया जाय तो वस्तुतः निरुद्धालक्षणा का भेद दिखलाना ही नहीं, एक तरह से उसकी चर्चा ही निरर्थक है क्योंकि निरुद्धालक्षणा तो फलतः अभिधा ही है। विरप्रसिद्धि के कारण जब कोई शब्द अपने योगार्थ को छोड़ कर सदा के लिये अन्य अर्थ में रुढ़ हो जाता है तब उसमें वाचक शब्द से कुछ अन्तर नहीं रह जाता। जैसे—जान 'लापण्य' शब्द के योगबलवन्त 'नमकीन' रूप अर्थ की ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता, बिना अवान्तर शक्य सन्वादि शान के उस पद से सौन्दर्यविशेष की प्रतीति भाषामर को होती है। फिर ऐसे निरुद्धालक्षणिक शब्दों में 'यहाँ शक्य का संबन्ध क्या है' इत्यादि बातों की ध्यानहीन करना भाषाविज्ञान की दृष्टि में भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। अलंकारशास्त्रोपयोगिता की दृष्टि से तो सर्वथा उक्त ध्यानहीन निरर्थक है, क्योंकि अलंकारशास्त्र में शब्द के उपयोगानुपयोग वर विचार व्यक्त्यर्थ अर्थ के आधार पर ही किया जाता है, स्पष्ट शब्दों में ध्वनिमार्गप्रस्थापक परमाचार्य आनन्दबर्धन ने महाकवियों को यत्पूर्वक व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जक शब्दों की ही पहचानने की सलाह दी है^१। और उक्त निरुद्धालक्षणिक शब्दों के स्वयं में व्यङ्ग्य-वार्थ रहता नहीं है।

ऐसी स्थिति में कम से कम साहित्यिकों के लिये इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि—लक्षणा का एक निरुद्ध भेद भी होता है—इससे अधिक की उन्हें आवश्यकता नहीं है। इसी दृष्टिकोण से प्राचीनों ने और मध्यमयुग ने भी निरुद्धालक्षणा के भेद करना अचित नहीं समझा और पण्डितराज ने भी परकीय मत के रूप में—सादृश्य तथा सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धमूलक योगी-शुद्धा—दो भेद उसके लिए कर मौन साध लिया।

पर साहित्यदर्पणकार का दृष्टिकोण दूसरा था—वे लक्षणा का निरूपण शुद्ध पदार्थ-विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से करना चाहते थे, अलंकारशास्त्रोपयोगिता की दृष्टि से नहीं, अतः

१. सौर्जस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कथन।

यस्यतः प्रत्यभिप्रेती तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ (ध्वन्यालोक)

उन्होंने निरुदात्तलक्षणा के भी बाठ भेद खोज निकाले जो उचित हैं, क्योंकि उन्होंने उन आठों भेदों के जो उदाहरण उपस्थित किए हैं वे सर्वथा उचित हैं, तथा ऊन्हीं के आधार पर वे भेद माने जा सकते हैं। विस्तार-भय से यहाँ उन उदाहरणों का उल्लेख नहीं किया गया है।

रसवृत्तापरकार तथा कान्यप्रकाशकार ने प्रयोजनवती गौणीलक्षणा के जहत्स्वार्थ-अजहत्स्वार्थ भेद नहीं किए क्योंकि उन भेदों का प्रकृत शास्त्र में उपयोग नहीं है और उन आचार्यों की दृष्टि पदार्थविश्लेषण की अपेक्षा प्रकृतोपयोग पर अधिक थी। यद्यपि कान्यप्रकाश के टीकाकारों ने उक्त भेदों को असम्भव भी ठहराया है—कतिपय आलोचकों ने भी उक्त टीकाकारों को शुक्तियों को उद्धृत कर दर्पणकार को गलत कहा है, पर वह एक भावार्थ की शैली है, उस शैली से दर्पणकार के मत को भी ठीक किया जा सकता है। जैसे—

उक्त टीकाकारों ने उक्त भेदों को असम्भविता में पुष्टि दी है कि—‘जहाँ प्रयोजनवती गौणीलक्षणा के जहत्स्वार्थ-अजहत्स्वार्थ भेद कहे जाते हैं वहाँ लक्षणा का बीजभूत (प्राचीन मत से) लक्षणास्वरूप (नवीन मत से) सम्बन्ध सादृश्य है अथवा अन्व ? यदि सादृश्य है तब वहाँ अजहत्स्वार्थभेद नहीं हो सकता, क्योंकि वह भेद लक्षणी होता है जब लक्ष्य अर्थ के अन्दर-मुख्य अर्थ भी रहे—उत्तरका त्याग न होगा हो और सादृश्य की सम्बन्ध मानने पर लक्ष्य के अन्दर मुख्य का रहना सम्भव नहीं, क्योंकि अपने में अपना सादृश्य नहीं हो सकता—अर्थात् सादृश्य भेदव्यति पदार्थ है, अतः वह दूसरे में दूसरे का हो सकता है। यदि सादृश्य से अन्य कोई सम्बन्ध नहीं माना जाय तब उस भेद को गौणी नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्यसम्बन्ध-मूलक लक्षणा की ही गौणी मानते हैं।’ यही है उनकी शुक्ति और कान्यप्रकाश का समर्थन करने के लिये वह ठोक भी है, पर साहित्यदर्पण के समर्थन में यह भी ठो कहा जा सकता है कि यहाँ सादृश्य पदार्थ को भेदाप्यति ही मानते हैं—कल्पकालकार में भेदाप्यति सादृश्य का ही अवेश अधिकारियों ने माना है, मन अपना सादृश्य अपने में हो ही सकता है और तदनुसार प्रयोजनवती गौणी का अजहत्स्वार्थभेद मानने में कोई बाधा नहीं। कान्यप्रकाश में जहाँ उक्त विरोधि शुक्ति है वही प्रसिद्ध विद्वान् नागेश ने अपने ‘उद्योत’ में इस (मेरे द्वारा उपस्थिति की गई) शुक्ति का उल्लेख किया है।

व्यङ्ग्य के गुडामूढत्व भेद से होने वाले लक्षणा भेदों का रसवृत्तापरकार उल्लेख नहीं करते। इसका कारण वह प्रतीत होता है कि—पण्डितराव व्यङ्ग्य की चित्ररूपता के आधार पर लक्षणा का प्रमेद करना उचित नहीं समझते, क्योंकि व्यङ्ग्य की मिश्रता से स्वयम्भवात्मक लक्षणास्वरूप में निगी तरह की मिश्रता नहीं होती। काव्य के भेद करते समय अवश्य व्यङ्ग्य भेद का मूल्य होता है।

कान्यप्रकाशकार ने व्यङ्ग्य के गुडामूढत्व के आधार पर लक्षणा के भेद माने हैं। इस अर्थ में ‘लक्षणा में एक वह भी वैचित्र्य होता है’ इस बात को प्रकट करना ही उनका सही अभिप्राय हो सकता है। वस्तुतः व्यङ्ग्यभेद लक्षणा के भेदक नहीं हो सकते।

दर्पणकार ने तो व्यङ्ग्य के गुडामूढत्व के आधार पर जो भेद किए वह किए ही, फल को धर्म तथा धर्मगत मानकर भी भेद माने, पदगतत्व और वाक्यगतत्व के आधार पर भी भेद

किए। इस भेदबुझ का रहस्य लक्षणात्मकीय विविध वैचित्र्य का विरलेषण द्वारा प्रकटन ही है। प्रकृतोपयोग की दृष्टि से देखने पर इन भेदों की कोई आवश्यकता नहीं है, यह वाचन अत्रान्त सत्य है। किसी आलोचक का यह कथन कि 'लक्षणा वस्तुतः अर्थ का सत्य है, अतः उसका पद अथवा वाक्य में रहना नहीं बन सकता,' कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि आधिर लक्षणा को पदनिष्ठ दृष्टि तो सभी मानते ही हैं और आरोप अथवा परम्परासङ्ग के आधार पर ही ऐसा मानते हैं, फिर उस रीति से वाक्य में भी उसको क्यों नहीं रखा जा सकता? वाच्यलक्षणावादी भी कुछ आचार्य हैं ही। जाति गुण-क्रिया आदि के आधार पर लक्षणा के भेद नहीं किए गए, अतः जो भेद किए गए वे असंगत हैं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। लक्षणा का सूक्ष्म विरलेषण करते समय यदि वैसे भेद भी किए जाँय तो उसको असंगत नहीं कहा जा सकता। किन्तु अलङ्कारशास्त्र में वैसे भेदों का कोई सास उपयोग नहीं है, यह आरम्भ में ही ठिक्का जा चुका है।

तत्पर्य यह है कि—शुद्ध पदार्थविरलेषणात्मक दृष्टिकोण से विचार करने के कारण दर्पणकार के कई हुए भेद भी अपनी जगह पर ठीक हैं और प्रकृतोपयोग के दृष्टिकोण से विचार करने के कारण रसगङ्गाधरकार तथा काव्यप्रकाशकार के भेद भी सुमत हैं।

लक्ष्य अर्थ तथा साक्षणिक शब्द

लक्षणा द्वारा छात होने वाले अर्थ लक्ष्य, औपचारिक, साक्षणिक, अमूल्य आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं। इस तरह लक्षणा द्वारा किसी अर्थ के बोधक शब्द को लक्षक किंवा साक्षणिक कहते हैं।

व्यञ्जना

श्रुति-विवेचन-प्रसङ्ग में भव व्यञ्जना का पर्याय प्राप्त है। वरिष्ठ भक्तभक्तों रसगङ्गाधर निदग्ध में व्यञ्जना-निरूपण प्रकरण नहीं आ सका, तथापि साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक मदत्त रखने वाले इस व्यञ्जना श्रुति के विवेचन से विरहित यह प्रसङ्ग अधूरा न रहे, इसलिये ग्रन्थान्तर के आधार पर यहाँ व्यञ्जना का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

सामान्य परिचय

शब्द में अमिषा और लक्षणा के अतिरिक्त एक अन्य वृत्ति भी रहती है। उदाहरण रूप में 'चन्द्र-गण्डव उदित हुआ' इस वाक्य को यदि चोरे विरहिणी सखी के तमझ कहती है तो सखी को नायिका का यह अभिप्राय स्पष्ट होता है कि 'यह अब अपने जीवन की अस्तमान मान रही है,' यदि दूती अभिसारिका कहती है तो वह (अभिसारिका) समझती है कि 'अभिसार की तैयारी करती चाहिये,' यदि अभिसारिका ही दूती से कहती है तो वह (दूती) समझती है कि 'बाँदनी में पहुँचाने जाने के मय से यह अभिसार का निषेध कर रही है' इत्यादि।

उक्त वाक्य के ये अर्थ किसी कोष में नहीं लिखे हैं तब इस वाक्य के द्वारा ये और ऐसे ही अन्य अर्थ कैसे ज्ञात होते हैं? इस वाक्य से ये अर्थ ज्ञात होते ही नहीं पड़ती बात तो कोई अनुभव शक्ति-सम्पन्न जन कह नहीं सकता। अतः मानना पड़ेगा कि इन अर्थों की समझाने की शक्ति भी इस वाक्य में अवश्य है।

पर इस शक्ति को 'अभिधा' नहीं कह सकते, क्योंकि इस वाक्य में रहनेवाली 'अभिधा' को कोष आदि की सहायता से पूर्णरूपेण जानने वाला भी सहृदयता आदि के अभाव में उन अर्थों को नहीं समझ पाता। 'लक्षणा' भी इस शक्ति को नहीं मान सकते, क्योंकि मुख्यार्थबाध और रुदिप्रयोजनान्तररूप कारणों के अभाव में 'लक्षणा' का प्रसङ्ग ही नहीं आता—और यहाँ न मुख्य अर्थ का बाध है, न रुदि है, न प्रयोजन, अतः वहाँ 'लक्षणा' नहीं मानी जा सकती। फलतः उक्त वाक्य में उक्त अर्थों को समझाने वाली जो एक तीसरी शक्ति माननी पड़ेगी उसी का नाम 'व्यञ्जना' है।

लक्षणा

व्यञ्जना का जो सामान्य परिचय ऊपर दिया जा चुका है, उसी के आधार पर साहित्यदर्पण-कारादि प्रायः सभी आलम्बारिक व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार करते हैं—'अभिधा आदि वृत्तियों के विरत हो जाने पर (अपने-अपने अर्थों का बोध कराकर छीन दी जाने पर) जिससे अन्य (वाच्य तथा लक्ष्य से मिल) अर्थ का बोध होता है उस शक्ति को व्यञ्जना कहते हैं'।^१

गोमेशचन्द्र ने व्याकरणप्रश्न में व्यञ्जना का लक्षण इस प्रकार किया है—'उत्त सत्कार-विशेष का नाम व्यञ्जना है जो बिना मुख्यार्थबाध की अपेक्षा किये अर्थ का बोध कराता हो, जो मुख्य अर्थ से संबद्ध तथा असंबद्ध—दोनों तरह के अर्थों का बोध कराता हो, जो प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध—दोनों ही प्रकार के अर्थों की अपना विषय बनाता हो और जो वक्ता आदि की विलक्षणता के चिह्न तथा प्रतिमा आदि से उत्पन्न होता हो'।^२

सारार्थ यह कि—अभिधा केवल प्रसिद्ध (सकेतित) अर्थों को ही समझा सकती है, अप्रसिद्ध अर्थों को नहीं, और लक्षणा मुख्य अर्थ से संबद्ध अर्थों को ही समझा सकती है और वह भी तब, जब मुख्य अर्थ बाधित हो, किन्तु व्यञ्जना के लिये ऐसी किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं है, वह ही सर्वत्र अप्रतिह्न रूप से अपना स्थान बनाती है। अतएव 'चन्द्रमण्डल इरितं दुर्भा' इस वाक्य के पूर्वोक्त अर्थ करने में न तो व्याकरण तथा कोष में उन अर्थों के लिखे रहने की ही आवश्यकता पड़ती है और न मुख्य अर्थ के बाधित होने की।

अन्य वृत्तियों की अपेक्षा व्यञ्जना की एक खास विलक्षणता

अभिधा तथा लक्षणा ये दोनों वृत्तियाँ शब्द में ही रहती हैं, उनका क्षेत्र शब्द तक ही सीमित है, पर व्यञ्जना का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। वह वृत्ति शब्द (वाक्य, पद, पदेकदेश = प्रकृति तथा प्रत्यय, वर्ण, प्रकरण, प्रवचन), अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) और श्रेष्ठा आदि में समान रूप से रहती है। सारार्थ यह कि व्यङ्ग्य अर्थ की अनीति जिस तरह किसी शब्द विशेष से होती है उसी तरह उक्त सभी व्यञ्जनों (व्यञ्जना के आत्म्यों) से होती है।

१. 'विरतात्त्वभिधापातु यवायौ बोध्यते पर ।

सा वृत्तिव्यञ्जना नाम.....' (साहित्यदर्पण)

२ 'मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारण प्रसिद्धाप्रसिद्धाविषयको वक्तादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिमापुद्गलः सत्कारविशेषो व्यञ्जना ।' (परमलघुमञ्जूषा)

व्यञ्जक

व्यञ्जना द्वारा अर्थ-प्रतिपादक, उद्भूत अर्थ आदि सभी व्यञ्जक कहलाते हैं। 'ध्वनि' शब्द के जो अनेक अर्थ पहले लिखे जा चुके हैं उनमें एक के अनुसार व्यञ्जक को 'ध्वनि' भी कहते हैं।

व्यञ्जन्य अर्थ

व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यञ्जन्य कहते हैं। वस्तु अनेक अर्थों में से एक के अनुसार उसे 'ध्वनि' भी कहते हैं।

व्यञ्जना के विरुद्ध मत

संस्कृत वाच्य के इतिहास में 'व्यञ्जनावान' एक प्रेमा विषय है जिसके विरोध में मित्र-मित्र संप्रदाय के आचार्यों द्वारा बहुतेरे आक्षेप किए गए हैं जिनमें से कनिष्क प्रमुख आक्षेपों की चर्चा यहाँ की जाती है—

(१) अमिषावादी आचार्यों का कथन है कि 'व्यञ्जना' 'अमिषा' में ही गतार्थ है अर्थात् अमिषा से अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की कोई वृत्ति नहीं है। तात्पर्य यह कि जिन अर्थों को लोग व्यञ्ज्य कहना चाहते हैं वे अमिष्य (वाच्य) अर्थ ही हैं, उनका बोध भी अमिषा से ही होता है।

(२) लक्षणावादी आचार्यों की मान्यता है कि—व्यञ्ज्य से अन्य व्यञ्जक कोई वस्तु नहीं है, अतः व्यञ्जना भी लक्षणा से अतिरिक्त वृत्ति नहीं है।

(३) अनुनामवादी आचार्यों का कहना है कि—अमिषा और लक्षणा ये दो ही वृत्तियाँ हैं। अब यदि कुछ ऐसे अर्थ हैं जिनका बोध वक्त दोनों में से किसी भी वृत्ति से नहीं हो पाता तो कम स्थिति में भी उन अर्थों का बोध करने के लिये किसी महीन वृत्ति (व्यञ्जना) की आवश्यकता नहीं है, अपितु वक्त तरह के अर्थों का बोध अनुमान से होता है वही मानना चाहिए।

(४) कुछ लोगों का कथन है कि—व्यञ्जनावृत्ति की बात असंगत है, क्योंकि व्यञ्जना मानने के बाद भी प्रश्न उठेगा कि यह व्यञ्जना स्वरूपसती (अज्ञान रूप से रहनेवाली) बोधक है अथवा ज्ञाता ? दोनों ही पक्ष दोषग्रस्त हैं क्योंकि स्वरूपसती व्यञ्जना को बोधक मानने पर व्यञ्जक पद से सदा ज्ञानी को व्यञ्ज्य अर्थ का बोध होना चाहिए जो होता नहीं, ज्ञाता व्यञ्जना को बोधक मानना मन ही नहीं सकता, क्योंकि जिस तरह अमिषा-वाचक बोध-व्याकरण आदि हैं उस तरह व्यञ्जनाव्यापक ही कोई नहीं है, फिर व्यञ्जना ज्ञाता ही ही नहीं सकती। अतः व्यञ्ज्य अर्थों का मानस बोध ही मानना चाहिए।

(५) कुछ लोग कहते हैं कि—'अर्थापत्ति-प्रमाण' से व्यञ्ज्य कहे जाने वाले अर्थों का बोध होता है, अतः व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं।

(६) अन्य कतिपय विद्वान् कहते हैं कि वे अर्थ 'सूचनबुद्धिवेव' ही हैं जिनको आप व्यञ्ज्य कहते हैं।

उप्युक्त सभी आक्षेपों के मूल में रहस्यमूल वस्तु एक यही है कि ध्वनिस्थापक आनन्दवर्धन से पूर्व स्वतन्त्र व्यञ्ज्य अर्थ की सत्ता से प्रायः विदग्धमण्डली अपरिचित ही थी, अतः जब वक्त

ध्वनिशास्त्रक आचार्य ने 'ध्वन्यालोक' नामक विलक्षण निबन्ध बना कर व्यङ्ग्य और व्यञ्जना की स्थापना ही नहीं, अपितु साहित्यशास्त्र में प्रमुखता भी सिद्ध कर दी तब विद्वन्मण्डली में एक तूफान-सा उठ पड़ा। पुरानी लीक पर गाँछ मूँद कर चढ़ने वाले विद्वानों ने व्यञ्जना का विरोध किया, व्यञ्जना के विरोध में युक्तियाँ खोजी जाने लगीं, निबन्ध बनने लगे। इस तरह ध्वनिकार के बाद में और पहले भी उक्त व्यञ्जनाविरोधी मतों की सृष्टि हुई। पर ध्वन्यालोक के निष्पक्ष अध्येता आलकारिकों ने और महावैयाकरण नागेश मट्ट ने अपने निबन्धों में उक्त आक्षेपों का सुन्दर तथा प्रबल युक्तियों के आधार पर खण्डन कर ध्वनि (व्यञ्जना) का स्थापन किया और आचार्य आनन्दवर्धन को आलकारशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ मौलिक आलोचक सिद्ध कर दिया।

यद्यपि आनन्दवर्धन को 'ध्वनि' के विषय में व्याकरण के मूलभूत सिद्धान्त (ध्वनि व्यङ्ग्य स्फोटारम्भक शब्द) से प्रेरणा अवश्य मिली थी, पर इससे उनकी मौलिकता पर आँच नहीं आती। क्योंकि 'ध्वनि' शब्द की चर्चा रहने पर भी आशय से प्राचीन व्याकरणशास्त्रीय निबन्धप्रणैता किसी आचार्य ने पृथक् रूप से व्यञ्जनावृत्ति का निरूपण अपने निबन्धों में नहीं किया। अस्तु, उक्त आक्षेपों का समाधान संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम आक्षेप का खण्डन

व्यञ्जना अभिधा में गतार्थ तभी हो सकती है जब व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थ में गतार्थ हो जाय- अर्थात् व्यङ्ग्य तथा वाच्य अर्थों की एकरूपता सिद्ध हो सके। किन्तु वस्तुस्थिति उन दोनों अर्थों की एकरूपता सिद्ध नहीं होने देती, क्योंकि वाच्य अर्थ का बोधा पद-पदार्थ-ज्ञान वाला होना वैयाकरण भी होता है और व्यङ्ग्य अर्थ का धागा सङ्ख्य ही होता है, वाच्य जहाँ विधिरूप रहता है वहीं व्यङ्ग्य निषेधरूप हो जाता है, 'वाच्य जिस पद का पद रहता है उससे होने वाले व्यङ्ग्य अनेक हो जाते हैं, वाच्य का ज्ञान पहले होगा है व्यङ्ग्य का पीछे, वाच्य का विषय दूसरा रहता है व्यङ्ग्य का दूसरा और वाच्य का आशय शब्द मात्र होता है व्यङ्ग्य का आशय शब्द, शब्द का एकदेश, अर्थमघटना आदि सभी होते हैं। इतने भेदों के रहने पर व्यङ्ग्य वाच्य नहीं हो सकता और जब वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ सिद्ध है तब वाच्यार्थबोधक वृत्ति से भिन्न व्यङ्ग्यार्थबोधक वृत्ति भी माननी ही पड़ेगी, नाम उस वृत्ति का 'व्यञ्जना' रखें अथवा और कुछ।

अभिधा की गति अधिक से अधिक वाक्यार्थ तक होती है (वस्तुतः पदार्थ तक ही) और व्यङ्ग्य अर्थ वाक्यार्थज्ञान के बाद विदित होता है फिर वहाँ तक अभिधा की गति सम्भव भी नहीं है। और भी बहुत सी युक्तियाँ इन प्रसङ्ग पर ग्रन्थों में दी गई हैं, पर यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं।

द्वितीय आक्षेप का खण्डन

लक्षणा में व्यञ्जना गतार्थ तब हो सकती जब नियमतः व्यङ्ग्य अर्थ का बोध मुख्य अर्थ के बाधित रहने पर ही होता, पर ऐसा होना नहीं है, क्योंकि वहाँ भी व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होते देखा जाता है जहाँ मुख्य अर्थ बाधित नहीं रहता। दूसरे, लक्षणा वृत्ति नियमतः अभिधा की अपेक्षा करती है—अभिधा जब तक अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर लेती तब तक लक्षणा का

प्रसन्न ही नहीं आता, पर व्यञ्जना में ऐसा नियम नहीं है, वह तो चेष्टा (हँसारे) आदि में भी रहती है, फिर उसे अभिधा की अपेक्षा क्या ? उद्योगों द्वारा नियमन मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ हो शक्त होता है, पर व्यञ्जना द्वारा कहीं मुख्यार्थ से संबद्ध, कहीं भतवत् और कहीं भसवत्-संबद्ध सभी तरह के अर्थ प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में व्यञ्जना की उद्योगों से गतार्थ कहना दुराग्रह मात्र है।

तृतीय आक्षेप का खण्डन

अनुमान में हेतु का निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, अतः अनुमान से व्यङ्ग्य अर्थ नहीं समझे जा सकते। न्यायग्रन्थों में जिन पाँच दोषों का निरूपण किया गया है उनमें से यदि एक भी दोष हेतु में रहेगा तो उस हेतु से अनुमिति नहीं हो सकती। पर व्यञ्जना में यह बात नहीं होती, नहीं हेतु (व्यञ्जक) दुष्ट हो अथवा अशुद्ध, उससे व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती ही है और कान्य में बहवनामूलक हेतुओं में दोष का रहना निश्चितमात्र है। दूसरी बात यह कि शास्त्ररक्षक में किसी तरह अनुमिति के कारण जुटाए भी जाँव तो चेष्टा आदि से होने वाले व्यङ्ग्य-बोध स्थल में उनका जुटना सर्वथा असम्भव है, अतः व्यञ्जना अनुमान में भी भन्तर्भूत नहीं हो सकती।

चतुर्थ आक्षेप का खण्डन

चतुर्थ आक्षेप में व्यङ्ग्यों का मानस बोध मानने की बात कही गई है जो संगत नहीं है क्योंकि मानस बोध से वैयक्तिक बोध में विलक्षणता उपलब्ध होती है। हम यदि भावना द्वारा दुष्पन्न-शकुन्तला आदि के वृत्तान्तों को अपने अन्दर लाकर उनका मानस बोध करते हैं तब ऐसा आनन्द नहीं आता, जैसा उन्हीं वृत्तान्तों का कान्यग्रन्थ द्वारा वैयक्तिक बोध करने पर आता है, अतः मानना पड़ता है कि वैयक्तिक बोध मानस बोध से भिन्न वस्तु है। अतः तृतीय आक्षेप का यह अन्त जिसमें व्यञ्जना का स्वरूपसत्ता अथवा शक्त किसी भी रूप में बोधक न हो सकने की बात कही गई है, पर हम शुद्धी की भी बड़े सुन्दर दृष्टि से आलङ्कारिकों ने छल्लाया है। उन्होंने कहा है कि—व्यञ्जना स्वरूपसत्ता ही बोधक होती है—अर्थात् व्यञ्जना की रहना भर आदिष्ट, उतका शक्त होना आवश्यक नहीं है। यदि यह शका की जाय कि—यह सभी की सदा व्यञ्जना से अर्थबोध क्यों नहीं होता ? तो इसका समाधान यह है कि—व्यङ्ग्य बोध के प्रति वासना (प्राकृत और इदानीन संस्कारविशेष) कर्मण है, अतः जिसमें वह वासना नहीं रहती अथवा रह कर भी प्रसन्न रहती है, उसको व्यङ्ग्य बोध नहीं होता।

पञ्चम आक्षेप का खण्डन

पञ्चम आक्षेप में 'अर्थापत्ति' से व्यङ्ग्य बोध की बात कही गई है जो समुचित नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न वस्तु नहीं है, क्योंकि जिस तरह अनुमान व्याप्ति रहने पर होता है उसी तरह अर्थापत्ति भी व्याप्ति के रहने पर ही बोधक होती है। 'जीवति चात्र गोष्ठयान् भविष्यमानश्रैः' अर्थात् इस गोष्ठी में अनुपस्थित चैत्र जीता है' ऐसा कहने पर जो चैत्र का बाहर कहीं रहना शक्त होता है उसी को अर्थापत्ति का उदाहरण माना जाता है, पर वस्तुतः यह अनुमान का ही उदाहरण है—अर्थात् 'जो जीता है वह कहीं न कहीं अवश्य रहता है' इस तरह की व्याप्ति निश्चित रहने पर ही एक वाक्य से चैत्र का बाहर रहना शक्त होता है, 'फलतः'

यहाँ अनुमान का ही यह प्रकार हुआ कि—‘जैव बाहर कहीं अवश्य है, क्योंकि यहाँ नहीं है और जीवित है।’

इस तरह जब अर्थापत्ति अनुमानरूप सिद्ध हुई, तब उससे व्यञ्जनबोध की बात चल ही नहीं सकती क्योंकि अनुमान से व्यञ्जनबोध के न हो सकने की बात पहले कही जा चुकी है।

यद्यप्युक्त का स्पष्टन

‘सूत्रन बुद्धि’ भी अनुमान का ही एक प्रकार है, क्योंकि विवेका अंगुली के द्वारे से जो अपने सहायकों को मूल्य आदि की बात समझा देता है, वही ‘सूत्रन बुद्धि’ का उपयोग माना जाता है और वहाँ विवेका के द्वारे से उनके सहायकों को उस वस्तु का ज्ञान स्तुतिवे हो जाता है कि पहले उसे यह व्याप्ति छात करा दी गई रहती है कि मैं यदि एक अंगुली दिशार्क से तुम परका अर्थ १० रामदा केना, फलत यह अनुमान ही हुआ और अनुमान से व्यञ्जना की अगता-र्यता की बात बुद्धिमान की आवश्यकता नहीं है।

एक चतुर्थ वृत्ति भी है

शास्त्रों में एक तीन वृत्तियों से सिद्ध एक चतुर्थ वृत्ति (तात्पर्य) का भी उल्लेख हुआ है। यह वाक्य की वृत्ति मानी जाती है अर्थात् यह वृत्ति पद में नहीं, अपितु पद-समूहात्मक वाक्य में ही रहती है। इस वृत्ति से पदार्थों के सम्बन्ध का बोध होता है। इस वृत्ति को जानने में वृत्ति यह हो जाती है कि—वाक्यान्तर्गत पदों में रहने वाली अविद्या अपने अर्थों का बोध कराकर विरत (हीन) हो जाती है, अतः उस वृत्ति से एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता—अर्थात् दो पदार्थों का सम्बन्ध उस वृत्ति से जान नहीं हो सकता, अतः उस सम्बन्ध का बोध कराने के लिये तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता मानी जाती है। इस वृत्ति के आधिकारक आचार्य ‘अभिहितान्वयवादी’ कहलाते हैं, जिसका अर्थ होता है अभिहित = अविद्या द्वारा बोधित अर्थों का अन्वय = सम्बन्ध, अन्य पदार्थों के साथ होता है ऐसा कहने वाले। दूसरे आचार्य ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि अन्वित अर्थ का ही अविद्या से बोध होता है—अर्थात् अन्वयवादी का भी बोध अविद्या से ही हो जाता है, उसके लिये किसी अन्य वृत्ति का समाना आवश्यक नहीं। ऐसे आचार्य ‘अभिहितान्वयवादी’ कहलाते हैं।

नेनापिछ श्रेण सम्बन्धाङ्ग को आकांक्षा भाव्य मानते हैं—अर्थात् राजा का पुत्र्य ऐसा कहने पर राजा और पुत्र्य का बोध तो उन दोनों पदों की अविद्या से होता है, पर सम्बन्ध (स्वस्वामि-मान) का बोध अपने आप हो जाता है, क्योंकि राजा पुत्र्य अङ्ग में और पुत्र्य राजा अङ्ग में सार्वज्ञ है, अतः सम्बन्धाङ्गबोधक वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती।

सारान्न यह हुआ कि यह वृत्ति एकदेशीय है, श्रेण है। अतएव पहले उक्त तीन वृत्तियों के साथ इसकी चर्चा नहीं की गई।

अभिपुराणगत वृत्ति-विचार

पहले लिखा जा चुका है कि—वृत्ति-विचार के अन्त में अभिपुराणगत वृत्ति विचार प्रस्तुत किया जायगा, अतः अब अभिपुराण का यह अङ्ग हिन्दी रसगङ्गाधरकार श्रीमान् आचार्य पुरुषो-त्तमशर्मा चतुर्वेदी जी की भूमिका से उद्धृत किया जाता है—

‘साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम श्रुतियों का विचार अभिपुराण में ही किया गया है। अभिपुराण में तीन प्रकार के शब्दकारों का वर्णन है—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालङ्कार। इनमें शब्दार्थालङ्कारों के वर्णन में ही श्रुतियों का भी विचार है। वहाँ ‘अभिव्यक्ति’ नाम से एक शब्दार्थालङ्कार माना गया है। जिसका विवरण करते हुए अभिपुराणकार ने लिखा है—‘शब्द से अर्थ के प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति (अभिधा-लक्षणा) तथा भाष्य (व्यञ्जना)। उनमें शब्द का अपने अर्थ को अभिव्यक्त करना श्रुति कहलाता है। श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी (किसी निमित्त = प्रयोजन को मानकर होने वाली) और परिभाषिकी (किसी परिभाषा को मानकर होनेवाली—अर्थात् रुद्धि)। बिना किसी निमित्त के किए गए शब्दों को परिभाषा कहते हैं, उनके द्वारा होनेवाली श्रुति परिभाषा की कहलाती है। नैमित्तिकी और परिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ मुख्य (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) इस प्रकार दो तरह की होती हैं। जिस श्रुति के द्वारा, अपने वाक्य में जिसकी स्थिति स्थिति हो रही है ऐसा अर्थात् वाक्य अर्थ की ठीक ठीक प्रतिपादन न करने वाला शब्द किसी निमित्त (प्रयोजन अथवा रुद्धि) के कारण मुख्य से भिन्न अर्थ का वाचक हो जाता है वह श्रुति औपचारिकी मानी जाती है और उसे ही लाक्षणिकी (रुद्धिलक्षणाकम्) कहते हैं। गौणी लक्षणा श्रुतियों के योग (अर्थात् सादृश्य) के कारण होती है। वाक्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।

वाक्य अर्थ के साथ (साधारण) सम्बन्ध द्वारा, समीपता द्वारा, समवाय द्वारा, विपरीतता द्वारा और क्रिया के योग द्वारा लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है। गौणी लक्षणा श्रुतियों के अनन्त होने के कारण अनन्त प्रकार की होती है। वहाँ लोक-मयादा का उल्लेख न करते हुए (अर्थात्—पारम्परिक समय को न तोड़ते हुए) व्यक्ति के द्वारा ‘गौणी’ के कथन की दृष्टि से अन्य वस्तु का धर्म अन्य वस्तु में आरोपित किया जाता है उसे इस शास्त्र में समाधि कहते हैं।

श्रुति (अभिधा लक्षणा) द्वारा न प्राप्त होने वाला अर्थ जिस श्रुति के द्वारा सदृशों को प्रतीत होता है, वह श्रुति ‘भाष्येय’ कहलाती है और यही ध्वनि है, क्योंकि ध्वनि के द्वारा वहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं एवं वहाँ किसी विशेष को बताने की दृष्टि से निषेध सा होता है उसे भी भाष्येय कहते हैं।^१

१. ‘प्रकटत्वमभिव्यक्तिः’, श्रुतिरक्षेप इत्यादि। तत्रा भेदी श्रुतिरूपेण शब्दं स्वार्थसमर्पणम् ॥ भेदेनैमित्तिकी परिभाषिकी द्विविधेव सा। संकेतः परिभाषेति तत्र। स्वाध्यापरिभाषिकी ॥ मुख्योपचारिकी चेति सा च सा च दिष्टा दिष्टा ॥ सा(स्वा)भिधेयस्तत्तद्व्यतिरिक्तमुख्यार्थस्य वाचकः। यथा शब्दो निमित्तेन केनचित्सौपनारिकी ॥ सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणा गुणयोगतः। अभिधेया विनाभूतप्रतीतिलक्षणेऽप्येते ॥ अभिधेयेन सम्बन्धात् सामीप्यात् समवायतः। विपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥ गौणी गुणानामानन्वादनन्ता, सद्विरक्षया। अन्यधर्मस्ततोऽन्यथ लोकासीनानुरोपिता। सम्बन्धाधीयते यत्र स समाधिरेव स्मृतः ॥ श्रुतेरलम्बमानोऽर्थो वरमाप्नोति सचेतसाम्। स भाष्येयो ध्वनिः स्वाध्या ध्वनिना व्यन्यते यतः ॥ श्रुदेन्नाभेन यथार्थं कृत्वा स्वयमुपार्जनम्। प्रतिषेध इवेत्यर्थो विशेषाभिहित्तया ॥ तत्राक्षेपं प्रवृत्त्यर्थम्.....॥

उपमा और रूपक में भेद

‘मुख चन्द्र —अर्थात् मुख चन्द्र है’ यह जो रूपक का प्रसिद्ध उदाहरण है वही गौणी सारोपा लक्षणा का भी उदाहरण होता है। तात्पर्य यह कि रूपकस्थल में सर्वत्र नियमत सारोपा गौणी लक्षणा रहती ही है। लक्षणा यहाँ चन्द्रपद की चन्द्रसदृश अर्थ में होती है, चन्द्रसादृश्यरूप धर्म में नहीं, क्योंकि वैयाकरणों पर चन्द्रपदार्थ (चन्द्रसादृश्य) का मुखपदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि दो नामांशों में अभेद से अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं होता यह नियम है और यहाँ चन्द्रसादृश्य का मुख के साथ अभेद बाधित है। फलतः ऐसे स्थलों में चन्द्र आदि पदों की स्वसदृश अर्थों में ही लक्षणा माननी पड़ती है और तदनुसार ‘चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख’ इत्यादि रीति से ही बोध मानना पड़ता है।

अब प्रश्न उठता है कि—जब ‘मुख चन्द्र’ इस रूपकस्थल में ‘चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख’ ऐसा बोध होता है तब ‘चन्द्रसदृशम् मुखम् चन्द्र इव मुखम्’ इस उपमा से उक्त रूपक में भेद क्या रहा—अर्थात् ये दो अलङ्कार कैसे हुए, क्योंकि इन उपमावाक्यों से भी ‘चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख’ ऐसा ही बोध होता है। प्राचीन आचार्यों तीन प्रकार से इसका समाधान करते हैं।

(१) प्रथम समाधान का सारांश यह है कि—शेषस्थल के समान उक्तरूपकस्थल में चन्द्र तथा सत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक चन्द्रपद से ही होती है, अतः यहाँ एकपदोपादानरूप युक्ति के बल से व्यञ्जना का उत्थान होता है जिससे उक्त सामान्यबोध के बाद मुख में चन्द्र का ताद्रूप्य प्रतीत होता है और उक्त उपमास्थल में चन्द्र तथा सत्सदृश अर्थ की उपस्थिति एक पद से नहीं, अपितु दो पदों (चन्द्र और सदृश अथवा इव) से होती है, अतः एकपदोपादानरूप युक्ति के अभाव में व्यञ्जना का उत्थान नहीं होता, फलतः यहाँ चन्द्रताद्रूप्य की प्रतीति मुख में नहीं होती। इस तरह से सिद्ध यह हुआ कि उपमा और रूपक के स्वरूप में यद्यपि कोई भेद नहीं होता, तथापि फलांश (लक्षणा के फल अंश) में भेद होने से दोनों अलङ्कारों में भेद हो जाता है।

(२) द्वितीय समाधान का सारांश यह है कि—रूपकस्थल में लाक्षणिक चन्द्रपद से यद्यपि चन्द्रसदृश रूप में ही अर्थ की उपस्थिति होती है, तथापि मुख के साथ अन्वयबोध होता है चन्द्ररूप में ही—अर्थात् रूपकस्थल में ‘चन्द्राभिन्न मुख’ ऐसा ही बोध होता है। क्योंकि उन-उन पदों की लक्षणा के छान को—उन-उन पदों के शक्यतावच्छेदक (चन्द्रत्व आदि) जिसमें प्रकार हों और लक्ष्य (मुख आदि) जिसमें विशेष्य हों ऐसे—बोध के प्रति हेतु मानते हैं। यहाँ यदि कहें कि पदार्थ की उपस्थिति और पदार्थ के शाब्दबोध में जो समानाकारता का नियम है—अर्थात् यह जो नियम है कि जिस रूप से पदार्थ की उपस्थिति हो, शाब्दबोध भी उसी रूप से हो, उसका क्या होगा ? अभिप्राय यह कि आप जिस तरह बोध करते हैं उसमें उक्त नियम का विरोध होता है—अर्थात् चन्द्रसदृश रूप में पदार्थोपस्थिति और चन्द्ररूप में पदार्थबोध मानने में उक्त नियम का अतिक्रमण होता है, तो इसका उत्तर यह है कि लाक्षणिक पदों से होनेवाले बोधों में इस तरह की विलक्षणता होती है यह अनुभव से ही सिद्ध है, अतः उक्त समानाकारकतानियम को लाक्षणिकबोध से अन्यस्थलपरक मानना चाहिए। इस तरह उपमा से रूपक का स्वरूपानुगत तथा फलानुगत दोनों ही प्रकार का भेद स्पष्ट है।

(३) तृतीय समाधान का अभिप्राय यह है कि—सादृश्य दो तरह का होता है, एक में भेद का प्रवेश माना जाता है और दूसरे में नहीं—अर्थात् एक मत से 'तद्विभक्त में तद्वत् अधिकतर धर्मों का रहना' सादृश्य है और दूसरे मत से 'तद्वत् अधिकतर धर्मों का रहना' मात्र सादृश्य है, इन दोनों में भेद का ज्ञान आवश्यक नहीं है। इन दो तरह के सादृश्यों में से प्रथम—अर्थात् भेदविनासादृश्य उपमा का नियामक है और द्वितीय—अर्थात् भेदव्यतिरिक्तसादृश्य गौणोपमा सारोपा लक्षणा का। अतः उपमावत्त्व में चन्द्र का भेद गुण में घात होता है और रूपकस्थल में उसका उसमें अभेद। इस तरह दोनों के स्वरूप ज्ञान में ही भेद सिद्ध हो जाता है, फिर फलव्यतिरिक्त भेद तक जाना व्यर्थ ही है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के समाधान प्राचीनों के हैं। नवीन विशाख (अभ्यवशीक्षित आदि) तो उक्त तीनों प्रकारों से भिन्न एक चतुर्थ प्रकार से ही उक्त प्रय का उत्तर करते हैं। उनके कथन का सारांश यह है कि—रूपकस्थल में लक्षणा होती ही नहीं, लक्षणा के बिना ही 'मुल चन्द्रः' इत्यादि स्थलों में मुख तथा चन्द्र का अभेदान्वय होता है। "—'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाधनिश्चय की विषयानुवादा में 'चन्द्राविध मुख' यह अभेदान्वयरोध कैसे हो सकता है" इस प्रश्न का उत्तर वे यह देते हैं कि—जैसे आहार्यरोध को बाधनिश्चय नहीं रोकते, वैसे शब्दान्वय रोध को भी नहीं रोकते ऐसा मानना चाहिए। अतएव 'अत्यन्तासत्यमिदं शानं शब्दः करोति हि—अर्थात् जो शब्द (आकाशगुण्य आदि) वस्तुतः दुनिया में नहीं भी रहते, उनका भी शान शब्द करा ही देता है' यह प्राचीनों का कथन भी संगत होता है।

अथवा रूपकस्थल में आहार्य शब्दरोध ही मानना चाहिए और आहार्यरोध को बाधनिश्चय नहीं रोकते यह सर्वमतसिद्ध सिद्धान्त है। 'प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही आहार्य होता है' यह एक नियम है, फिर परोक्षरूपक शब्दज्ञान आहार्य कैसे हो सकता है? इसको उत्तर में उनका कहना है कि—उक्त नियम में कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष-परोक्ष सभी ज्ञान आहार्य हो सकते हैं। इस मत के अनुसार रूपकस्थल में सादृश्य का बोध होता ही नहीं और उपमावत्त्व में यह होता है, अतः दोनों में भेद स्वयं सिद्ध है।

उपर्युक्त नवीन मत का खण्डन पण्डितराज ने किया है और खण्डन में युक्ति यह दी है कि—जनत्कारी साधारणधर्म जब-तक उपस्थित नहीं होता तब-तक उपमा के समान रूपक की भी सिद्धि नहीं होती यह बात सभी सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है, अन्यथा 'यह नगर चन्द्रमण्डल है' इसमें वाक्य की श्रुति लेने पर भी जो रूपक ज्ञात नहीं होता, वही रूपक, उक्त वाक्य में नगर का 'सकलकल' विशेषण कह देने पर जो ज्ञात होने लगता है यह नहीं समझ होगा। वास्तव में यह कि 'कलकलशब्दसहित' और 'सकलकलायुक्त' इन दो अर्थों वाले उक्त शिष्ट विशेषण के अर्थ होने पर एक विशेषणविशिष्टस्वरूप साधारणधर्म की उपस्थिति होने से रूपक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। यह बात 'मुखचन्द्र' आदि प्रसिद्ध रूपकस्थल में भी है, अर्थात् वहाँ भी आकाशकल आदि साधारणधर्म की उपस्थिति होने पर ही रूपक ज्ञात होता है। अन्तर इतना ही है कि अप्रसिद्ध साधारणधर्मरोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा होती है, अन्यथा उसकी उपस्थिति नहीं हो पाती और प्रसिद्ध साधारणधर्मरोधक पद के उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती, उसके बिना भी उसकी उपस्थिति हो जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि रूपकस्थल में भी साधारणधर्मोपस्थिति आवश्यक है। अब आप सोचें कि—यदि साधारणधर्मवत्त्वरूप सादृश्य का प्रवेश रूपक में नहीं माना जाय तब जो साधारणधर्म की अनुपस्थितिदशा में रूपक सिद्ध नहीं होता, चमत्कार की प्रतीति नहीं होती, तो क्यों ? आहार्य अभेदबुद्धि जो साधारणधर्म की अनुपस्थिति-दशा में भी हो सकती थी। फलतः रूपकस्थल में लक्षणा अवश्य होती है और फिर भी जो उपमा तथा रूपक दो भलकार माने जाते हैं उसका कारण प्राचीन मतों में कथित रूपकस्थलीय सादृश्यप्रतीति ही है।

अलङ्कारों का उद्गम

अलङ्कारों का उद्गम प्रायः काळमय के साथ ही हुआ, क्योंकि संस्कृतवाङ्मय के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद की ऋचाओं में अलङ्कार का प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में अलङ्कारशास्त्र का निर्देश नहीं मिलता, तथापि मूलमूल अलङ्कार—उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमें वैदिक संहिताओं और उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। अलङ्कारों में उपमा अत्यन्त प्राचीन है। इसका सङ्ग कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। इसीलिये कर्तृपय आत्माय उपमा को अन्य सभी अर्थालङ्कारों की जननी मानते हैं^१ और राजशेखर उपमा को कवि-माता कहते हैं^२। इस उपमा का तो उदाहरण ऋग्वेद में प्राप्त होता ही है साथ साथ अन्य अलङ्कारों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ एक ऋचा में एक साथ चार उपमाओं का प्रयोग किया गया है—

‘अभ्रातेष पुंस एति प्रतीची, यतीरुतिव सन्त्ये धनानाम् ।

आयेव पश्य उवासी शुबासा, उपा हस्तेव निरिणीते अप्स ॥’ (ऋ. वे. १।१२।१७)

अतिशयोक्ति अलङ्कार का भी प्रयोग किया गया है—

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समान नृच परिपस्वजाते ।

सयोरन्मः पिप्पल स्वाद्वायमक्षन्नयो भमिचाकशीति ॥’ (ऋ. वे. १।१६।२०)

रूपकालङ्कार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के एक अन्न में किया गया है—

‘आत्मानं रयिर्न विद्धि शरीरं इयमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रमहमेव च ॥’ (कठोपनिषद् १।३।३)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रों में अलङ्कारों की सत्ता स्पष्ट विद्यमान है। यही क्यों ? उपमाशब्द भी ऋग्वेद (५।६।४९, १।३।१२५) में उपलब्ध होता है जिसका अर्थ सायण ने किया है—उपमान या इष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इनने प्राचीन काल में उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया था। यह सामान्य निर्देश मात्र है।

इसके बाद निरुक्त तथा निषण्ड में उपमा अलङ्कार का विवेचन शास्त्रीय दृष्टि पर उपलब्ध होता है। निषण्ड में वैदिक उपमा के चोत्तक नारद गिणार्थों (अव्ययों) का उल्लेख मिलता है।

१. उपमैवा शैलूरी सप्राप्ता चित्रभूमिवाभेदान् ।

रजयति कान्दरजे नृत्यन्ती तदिदा चेतः ॥

२. उपमा कविवशस्य मातृवेति मतिर्मयः ।

इसी प्रसङ्ग में यास्क ने उपमा के अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैवाकरण द्वारा रचित उपमा-लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य हैं। उनका उपमा-लक्षण इस प्रकार है—“उपमा यहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो।” साय-साय गार्ग्य ने यह भी कहा है कि—“उपमान सामान्यतः उपमेय की अपेक्षा अधिकगुणयुक्त होता है, पर वहीं-वहीं न्यूनगुण-युक्त उपमान से भा अधिक-गुणयुक्त उपमेय की तुलना की जाती है।” यह उपमानलक्षण भट्टम्भट्ट के उपमा-लक्षण^१ से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन किया है। उपमाघोतक निपात-इव, यथा, न, पिद, तु और भा हैं। इन वाचक पदों का प्रयोग रहने पर यास्क के अनुसार ‘कर्मोपमा’ होती है। ‘आजन्तो अग्नौ यथा’ (ऋ वे १।५।१३) = “अग्नि के समान चमकते हुए” यह कर्मोपमा का उदाहरण है। “मृत्योपमा” यहाँ होती है जहाँ उपमेय इक्ष्वक् उपमान बन जाता है। ‘होरोपमा’ यहाँ होती है जहाँ उपमेय उपमान के साथ स्वरूप के विषय में समता रखता है। ‘मिदोपमा’ में उपमान स्वतः सिद्ध रहता है और एक विशिष्ट गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढकर रहता है। ‘वत्’ प्रत्यय के जोड़ने पर यह उपमा निश्चय होती है, जैसे—‘वाद्यगवत्’, ‘वृषलवत्’। अग्निम भेद ‘अर्धोपमा’ है जिसका दूसरा नाम ‘धृतोपमा’ है। यह पञ्चातकालिक मालद्वयिक का रूपकालङ्कार है।

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि वास्क के समय में अलङ्कार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

इसके अनन्तर पाणिनि के समय में उपमा की यह शास्त्रीय करारना सर्वत्र स्वीकृत हो चुकी थी यह स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि पाणिनि का अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अष्ट द्वारद्वार के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।^२

इसके बाद जगन्नाथ पञ्चलिने भी पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त ‘उपमान’पद की व्याख्या महाभाष्य (१।१।५५) में की है। उनका कथन है कि—मान उस वस्तु की तथा है जो किसी अज्ञान वस्तु के निर्धारण के लिये प्रयुक्त की जाती है। ‘उपमान’ मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं प्रत्युत सामान्य रूप से निर्दिष्ट करता है, जैसे—‘गौरिव गवया’=गाय के समान नीलगाय होता है^३। यद्यपि कान्वयवृद्धि से चमत्कार-विहीन होने के कारण ‘गौरिव गवया’

१. उपमा यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः । यदासां कम ज्यायसा वा शुभेन प्रत्येकान्तेन वा कनीयास वा प्रत्युत वोपमावते, जयापि कनीयसा ज्यायासम् । (निरुक्त २।१३)

२. सादृश्यमुपमाभेदे । (कान्वप्रकाश)

३. तुल्यार्थैरुपमाभ्यां तुल्यान्यतरस्याम् । (२।१।७२)

उपमानानि सामान्यवचनैः । (२।१।५५)

उपमितं व्याप्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । (२।१।५६)

४. मान हि नाम अनिर्वाणार्थमुपादीयते अनिर्वाणार्थं शब्दवामीति । तत्समीपे यत् नात्यन्तादमिमीते तद् उपमानम् गौरिव गवय इति । [पाणिनि पर महाभाष्य २।१।५५]

उपमालङ्कार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमानिरूपण महत्त्व रखता है। अलङ्कारों के सम्बन्ध में अब तक जिन बातों का निर्देश किया गया है वे अलङ्कारशास्त्र के प्रारम्भिक युगको कही जा सकती हैं—अर्थात् अलङ्कारशास्त्र का इतिहास जब ही आरम्भ होता है उससे पहले की वे बातें हैं, क्योंकि अलङ्कारशास्त्र का इतिहास भरत के नाट्यशास्त्र से ही आरम्भ होता है।

यद्यपि कुछ विद्वान् अग्निपुराण को नाट्यशास्त्र से भी प्राचीन मानते हैं और तदनुसार अलङ्कारशास्त्रीय इतिहास का आरम्भ नाट्यशास्त्र से न मानकर अग्निपुराण से मानते हैं, पर नवीनतम अन्वेषणों से निश्चित रूप में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अग्निपुराण का वह भाग—जिसमें अलङ्कारशास्त्रीय विषयों का वर्णन प्राप्त होता है—उतना प्राचीन नहीं है, अपितु उसका काल भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्य का है, अतः अलङ्कारों के विकास का मूल खोजने के लिये, पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतञ्जलि के महाभाष्य के बाद भरत के नाट्यशास्त्र की ओर ही अग्रसर होना पड़ता है।

भरत का नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र का आदिग्रन्थ ही नहीं, अपितु अलङ्कारशास्त्र का विश्वकोष है। इसमें नाट्योत्पत्ति, नाट्यगृह, अलङ्कार, छन्द, मूलकम्प, रस, अभिनय, सङ्गीत आदि का सुन्दर और साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होगा है। भरत के पहले यद्यपि राजशेखर के द्वारा काव्यमीमांसा में वर्णित इतिहास के अनुसार अलङ्कारशास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी, तथापि आज उन ग्रन्थों को उपलब्धि न होने के कारण अलङ्कार तथा रस के सर्वप्रथम विवेचन का श्रेय भरत को ही प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में नाटिक अभिनय निरूपणप्रसङ्ग पर अलङ्कारों का भी निरूपण किया गया है। पर अलङ्कारनिरूपण होने के बावजूद भी इस महानिबन्ध का नाम नाट्यशास्त्र ही हुआ और 'अलङ्कारशास्त्र' यह नाम प्रागल्भ्य रूप में उसके अन्दर समाविष्ट रहा।

'अलङ्कारशास्त्र' यह नाम समारम्भ में तब प्रकट हुआ जब आचार्य भामह का भाषिर्भाव इस धराधाम में हुआ। यद्यपि भरत और भामह के मध्य का लम्बा काल अलङ्कारशास्त्रीय विषयों से सर्वथा शून्य ही रहा हो यह समझ नहीं है—भामह ने अपने ग्रन्थ में येषां च शब्द नामक किसी एक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थप्रणेता आचार्य और उनके नतिपथ सिद्धान्तों का उल्लेख किया भी है, पर उनका ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं होगा। फलतः भामह ही स्वतन्त्र अलङ्कारशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

भामह का 'काव्यालङ्कार' ही अलङ्कारशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। भामह ने यद्यपि रसवादी आचार्य भरत से ही प्रेरणा प्राप्त की है, पर वे भरत के समान रसवादी न रह कर अलङ्कारवादी बन गए। इसका कारण यह हुआ कि भामह शब्दकाव्य के विविध उपादानों का विवेचन करने के लिये प्रवृत्त हुए थे और उन्हें ग्रन्थकाव्यों में रस की प्रधानता अभीष्ट नहीं थी—दृश्यकाव्यों में ही रस की मुख्यता उन्हें मान्य थी। अतः भामह ने अपने काव्यालङ्कार में मुख्यतया अलङ्कारों का ही विवेचन किया। यह बाणभट्ट ही कि काव्यस्वरूप दोष, गुण आदि अन्य काव्यतत्त्वों का भी वर्णन उनके ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, उद्देश्य उनका अलङ्कारों की व्यवस्था करना ही था। उनके लिये ऐसा करना उचित भी था क्योंकि वे अलङ्कार को ही काव्य में मुख्य मानते थे।

मामह ने जब अलंकारशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर दिया—तब इस शास्त्र को विकसित करने वाले बहुतेरे आचार्य हुए जिन्होंने इस शास्त्र के भिन्न भिन्न अंशों का विश्लेषण सूत्रों से सूक्ष्म रूप में करके इस शास्त्र को चरम विकास की अवस्था में पहुँचा दिया। इन अलंकारशास्त्र-विकासक आचार्यों में मामह के बाद दण्डी, वामन, उद्भट, रघु, आनन्दवर्षन, अमिनवधुत, कुन्तक, भोजराज, मम्मट, रघुक, विश्वनाथ, वाग्मट, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, अण्णदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख हैं।

ये आचार्य 'काव्य में मुख्यता किस तत्त्व की है' इस प्रश्न के उत्तर में वर्यपि भिन्न-भिन्न मत रखते हैं, तथापि अलंकारतत्त्व का अपनाप किमी ने नहीं किया और प्रधान अथवा गौण रूप में अलंकारों का विवेचन सभी ने अपने अपने ग्रन्थ में सुन्दर ढङ्ग से किया है।

इस तरह सुशोभित काल में भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा जो अलंकारतत्त्व का विश्लेषण हुआ उसमें इष्टिकोण से मनभेद का होना स्वाभाविक ही था, वह मनभेद भी एक भ्रम में नहीं, प्रत्युत अनेक अर्थों में हुआ है, जैसे—अलंकारों के मूलभूत तत्त्व के विषय में, अलंकारों के स्वरूप के विषय में, अलंकारों से अलङ्कृत होनेवाले काव्यतत्त्व के विषय में और अलंकारों की सख्या के विषय में मनभेद इष्टिकोणर होता है।

अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य मामह ने बकोक्ति को समस्त अर्थालंकारों का मूल माना है^१। अतिशयोक्ति ही मामह की बकोक्ति है क्योंकि बकोक्ति का रक्षण मामह ने नहीं किया और अतिशयोक्ति का रक्षण 'निमित्ततो यच्च यत् शोकातिक्रान्तौ चरम्—अर्थात् वह उक्ति जिसमें शोक (साधारण जन) के कथन का अतिक्रमण (उलङ्घन) किया गया हो।' इस तरह से करके उसके साथ बकोक्ति की समता दिखलाई है। बकोक्ति से भिन्न उक्ति को मामह 'वार्ता' कहते हैं^२।

आनन्दवर्षन भी इस विषय में मामह के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने कहा है कि 'समी अलंकारों में मूलतत्त्व के रूप में अतिशयोक्ति रखी जा सकती है। अतिशयोक्ति जिस अलंकार के अन्दर निराजनी रहती है उसी में करिग्रन्थिमादेतुक्त चारत्वातिशय का योग रहता है, फलतः वैसा अलंकार ही वस्तुतः अलंकार है, इससे भिन्न तरह के अलंकार तो केवल भ्रम भर के अलंकार हैं, अतः अलंकरणयोग्यतासंसादक होने के कारण अतिशयोक्ति ही सकल-अलंकाररूप है^३।'।

१—'सेषा सर्वत्र बकोक्तिरन्यार्थो विभाव्यते।

यजोऽस्वा कविना कथं कोऽलंकारोऽनया विना॥'

२—'गतोऽस्तमर्कः भावीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इत्येवमादि किं काव्यम्? वार्तामिना प्रचक्षते॥'

३. 'अतिशयोक्तिगर्भेण सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया (अतिशयोक्तिगर्भालंकारमभिव्यक्ति कवि-प्रतिभावावशात्तस्य चारत्वातिशययोगोऽन्यस्य स्वलंकारमात्रमेवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वे-नाभेदोपचाराद्यैव सर्वालंकाररूपा।'।

। दण्डी 'स्वभावोक्ति' को आदिअलकार कहते हैं। उपमादि अलकारों का मूल उनकी दृष्टि में भी वक्तोक्ति ही है^१।

हृदय औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलकारमूल मानते हैं। एकावलीकार विद्याधर औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलकारमूल कहते हैं। अलकारों के स्वरूप में भी भेद प्राप्त होता है। भामह के विचार से जो वक्तोक्ति 'लोकातिक्रान्त गोचर वचन' रूप सिद्ध होकर सभी अलकारों का मूलभूत सामान्य अलकार था, वह वामन के विचार से 'सादृश्यत्वं लक्षणा वक्तोक्तिः' होकर अर्थालकारविशेष हो गया, और हृदय के विचार से वही वक्तोक्ति अपेक्षित मूलक आशालकाररूप हो गया।

वामन ने आक्षेपनामक एक अलकार मानकर उनके दो भेद किए हैं, पर मम्मट ने उनमें से एक भेद को प्रतीप अलकार या और दूसरे को समासोक्ति अलकार का रूप दे दिया। यह तो एक दिग्दर्शनमात्र है, सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर मित्र मित्र आत्मकारिकों के मत से अनेक अलकारों के स्वरूप मित्र-मित्र हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो परवर्ती आचार्यों ने जो पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किए गये सत्त्व अलकारों के लक्षणों का खण्डन करके नवीन नवीन लक्षण प्रस्तुत किए हैं वह कैसे समझ हो पाता? आखिर एक लक्षण का खण्डन कर अन्य लक्षण का निर्माण करना लक्षणीय वस्तु के स्वरूप को मित्र सिद्ध करना ही तो है।

अलकार्यं कहे जाने वाले काव्यतरंग के विषय में भी प्रचुर मतभेद उपलब्ध होता है। अलकार-सम्प्रदायवादी आचार्य शब्द और मुख्य वाच्यार्थ को ही अलकारों से अलंकृत होनेवाले काव्यतत्त्व के रूप में स्वीकार करेंगे, दूसरा रास्ता ही नहीं है, क्योंकि वे रस आदि प्रतीयमान काव्यतत्त्व को काव्य में मुख्य मानते ही नहीं हैं। वक्तोक्तिजीविगकार कुन्तक ने वस्तुस्वभाव को ही अलकार्य कहा है^२। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थ (वस्तु-अलकार रसादिरूप त्रिविध व्यङ्ग्य) को अलकार्य माना है। रसवादी आचार्यों ने केवल अमरव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यनाम से व्यवहृत होने वाले रस आदि व्यङ्ग्यों को अलकार्य कोटि में रखा है। रसगङ्गाधरकार ने तो कवितास्वरूप-विषयीभूत मुख्य वाच्यार्थ (ऐसा अर्थ उनके विचार से कहीं रसादि, कहीं तन्निष्ठ व्यङ्ग्य, कहीं रमणीय वाच्यार्थ भी हो सकता है) को अलकारों से उपलब्ध होने वाला कहा है^३।

१ 'श्लेष' सर्वांशु पुष्पाति प्रायो वक्तोक्तिषु भिन्नम् ।

दिशामिध स्वभावोक्तिर्वक्तोक्तिश्चेति शास्त्रमयम् ॥' (काव्यादर्श)

'स्वभावोक्तिराचालकारः' । वक्तोक्तिशब्देन उपमादयः सकीर्णपर्यन्ता अलकारा उच्यन्ते ।'

(हृदयगंगा टीका)

२ 'अलङ्कारकृतां तेषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः' ।

अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥

शरीर पेदलकार किमलङ्कृतेऽपरम् ।

आत्मेव नात्मनः स्वार्थं कथिदम्यथिरोहति ।'

३ 'इयं चैवभेदोपमा वस्तुलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्तुलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोप-
स्कारकनया पञ्चधा ।' (मट्ट मञ्जरानाम कृत सत्करण, पृष्ठ २२५)

अलंकारों की संख्या के विषय में तो सबसे अधिक मतभेद है। प्रायः किन्हीं दो अलंकारिकों के मन इस विषय में समान नहीं है।

नाट्यशास्त्र में अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक इन चार ही अलंकारों का नाम-निर्देश मिलता है, अतः मानना पड़ेगा कि मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं जिनमें एक (अनुप्रास) शब्दालंकार है और तीन अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर कुशलमानन्द में अलंकारों की संख्या १२५ तक पहुँच गई है, जो प्रायः अलंकारों के सङ्ग में सबसे बड़ी संख्या है। अन्य व्यालंकारिक इन्हीं दो संख्याओं के मध्य की भिन्न भिन्न संख्या अलंकारों की मानते हैं, जैसे—काव्यादर्शकार दण्डी अलंकारों की संख्या १५ मानते हैं। अलंकारसारसंग्रहप्रणेता जङ्गल मट्ट अलंकारों की संख्या ४१ बताते हैं। सरस्वतीकण्ठामरण-रचयिता मौजराज शब्दालंकार २४, अर्थालंकार २४ और उपमालंकार भी २४—कुल अलंकार-संख्या ७२ कर देते हैं। काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र शब्दालंकार ६ और अर्थालंकार २९—कुल अलंकार-संख्या ३५ मानते हैं। वाग्यटालंकार वाग्यट शब्दालंकार ४ और अर्थालंकार ३५—कुल ४९ अलंकार संख्या लिखते हैं। काव्यानुशासनकार वाग्यट द्वितीय ६१ अर्थालंकार और ६ शब्दालंकार—कुल ६९ अलंकारों की गणना करते हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट कुल अलंकारसंख्या ६७ मानते हैं जिसमें शब्दालंकारों की संख्या ६ और अर्थालंकारों की संख्या ६१ है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में निम्नलिखित अलंकारों का लक्षण अथवा स्वसम्मत अलंकारों में अन्वर्भाव दिखलाया है—१-आयुक्ति, २-अनुप्रास, ३-अनुशा, ४-अनुपलब्धि, ५-अनुमान, ६-अर्थान्वि, ७-अन्तर, ८-अवस्था, ९-असमव, १०-असम, ११-उदाहरण, १२-उन्मीलित, १३-उपमान, १४-उत्पास, १५-उत्प्रेष, १६-उज्ज्वल, १७-उत्प्रेष, १८-गूढोक्ति, १९-उत्प्रेषोक्ति, २०-जाति, २१-निरुक्ति, २२-परिकार, २३-परिणाम, २४-परिचित, २५-पूर्वक, २६-प्रत्यक्ष, २७-प्रस्तुताङ्कुर, २८-प्रवर्धन, २९-प्रेष, ३०-प्रौढोक्ति, ३१-माया, ३२-मिथ्याप्रवृत्ति, ३३-मुद्रा, ३४-युक्ति, ३५-रत्नावली, ३६-रत्नवट, ३७-ललित, ३८-लेश, ३९-लोकोक्ति, ४०-वर्णमान, ४१-वाक्यार्थरूपक, ४२-विकल्प, ४३-विकल्प, ४४-विचित्र, ४५-वितर्क, ४६-विधि, ४७-विद्वोक्ति, ४८-विशेष, ४९-विशद, ५०-शब्द, ५१-समव, ५२-समाहित और ५३-हेतु।

इनमें कतिपय अलंकारों का ण्डितराज ने अपने रत्नगवाक्ष में सयुक्तिक पुनः स्थापन किया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ बहिराज ६ शब्दालंकार और ७२ अर्थालंकार—कुल ७८ अलंकार मानते हैं। इमी नरह भासह, रत्नट, चामल आदि आलङ्कारिकों का भी अलंकार संख्या विषयक मत समान नहीं है।

अलंकारों की संख्या के विषय में दृष्टिगोचर होनेवाला यह मतभेद कोई आश्चर्य में डालने-वाली बात नहीं है क्योंकि वक्ति की विविधता ही अलंकाररूप में परिणत होती है और वक्ति-वैविध्य की कोई श्रुति नहीं है—वह अनन्त है—‘असन्ता चाद्यमयस्यास्य गोपस्येध विविधता’ यह सिद्धान्त बहुत ही प्राचीन है। अतः जिस आचार्य को जितने प्रकार के वक्ति-वैविध्य प्रतिपादित हुए उसने उतने प्रकार के अलंकारों की कल्पना कर ली।

अब तक जितने प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की जा चुकी है, मविध्य में उनसे और अधिक प्रकार के अलङ्कारों की कल्पना की जा सकती है।

अलङ्कार की सामान्य परिभाषा

‘काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते’ (काव्यादर्श)

इस परिभाषा के द्वारा आचार्य वर्णों को उन सभी काव्यतत्त्वों का समूह समीष्ट है जो काव्य में चमत्कारोत्पादक हैं। इस तरह उनके हिसाब से प्रसाद, माधुर्य आदि गुण ही नहीं, प्रत्युत नाट्य के शोभाविधायक अङ्ग—सन्धि, सन्ध्यङ्ग, वृत्ति आदि भी अलङ्कार शब्द के अर्थ हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप में लिखा है कि ‘शास्त्रान्तर में जो तत्त्व सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग, लक्षणा आदि पदों से अभिहित हुए हैं वे सभी मुझे अलङ्काररूप से ही दृष्ट हैं’।

इस व्यापकता को हटाने के लिये कतिपय आचार्यों ने कहा—

‘काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः’।

अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले तत्त्व गुण हैं और गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा को अतिशयित करनेवाले तत्त्व अलङ्कार हैं।

पर इन उल्लेखों से वस्तुनिवृत्ति सर्वथा स्पष्ट हुई नहीं, अतः भिन्न भिन्न आलङ्कारिकों के फुटकर उल्लेखों के आधार पर प्रस्तुत अलङ्कारतत्त्व की कुञ्ज और छान बीन करना आवश्यक है।

आनन्दवर्चन ने अलङ्कार की मूल भावना का निर्देश इन शब्दों में किया है—‘अलङ्कारो हि चारुवहेतुः प्रसिद्धः’—अर्थात् अलङ्कार काव्य में चारुता के कारणरूप से प्रसिद्ध तत्त्व है। अभिनव गुप्त ने अलङ्कार को सशरी विच्छिन्ति प्रकार स्वीकार किया है। कुल्लुक ने अलङ्कार-स्वरूप में दो बातों पर विशेष जोर दिया है—वैविध्य और कविप्रतिमानिर्वर्तितत्व। यद्यपि ये दोनों लक्षणा काव्य की ही मूल कल्पना के साथ सम्बद्ध हैं, तथापि अलङ्कार में भी इनका अस्तित्व अवश्य रहता है।

अलङ्कार को विविध और चारुत्वसम्पन्न होना ही चाहिए और इसके लिये आवश्यक है कि वह कवि की प्रतिभा के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। इसीलिये भिन्न आलङ्कारिकों ने अपने ग्रंथों में अलङ्कार के प्रसङ्ग में विच्छिन्ति, चारु, सुन्दर आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। अब यह सिद्ध हुआ कि विच्छिन्तिविशेष का सामान्य अभिधान अलङ्कार है—‘वैचित्र्यमलङ्कारः’। कुल्लुक की इस अलङ्कारत्वमीमाणा का प्रभाव अवान्तरकालीन आलङ्कारिकों पर विशेषरूप से पड़ा है। मम्मट भी अलङ्कार की वैचित्र्यरूप ही मानते हैं। वही अलङ्कार काव्य का शोभाभायक हो सकता है जो विचित्रता या रुचिरता उत्पन्न करे। वे अलङ्कार के साथ रसजन्य चमत्कार के भी पक्षपाती हैं, परन्तु रस के अभाव में अलङ्कार के ही कारण उक्ति की विचित्रता में किमा प्रकार का हास नहीं होना। मम्मट की स्पष्ट उक्ति है—‘यत्र तु नास्ति रसः तत्र उक्तिवैचित्र्यमात्र-पदं वसायिनः’।

१. ‘यच्च सन्ध्यङ्ग वृत्त्यङ्ग लक्षणायागमान्तरे।

व्यावर्णिमिद चेष्टमलङ्कारतवेव नः ॥’ (काव्यादर्श)

‘हेतु’ को अलंकार की श्रेणी में स्थान न देने का कारण सम्मत ने स्पष्ट वैधिव्य का अभाव कहा है—‘वैधिव्याभावाच्च हेतुर्नालङ्कारः ।’ कव्यक भी इस विषय में कुन्तक से प्रभावित है। वे भी अलङ्कार को कविप्रतिमोत्थित मानते हैं। संदेहालङ्कार के विषय में उनका कहना है—‘कविप्रतिमोत्थिते संदेहे संदेहालङ्कारः ।’ ‘आन्ति’ अलङ्कार के विषय में भी कविप्रतिमोत्थित आन्ति को ही उन्होंने अलङ्कार कहा है।

इन विवेचनों से कुन्तक की दृष्टि में अलंकार का सामान्य स्वरूप होगा—‘कविप्रतिमोत्थितः विचित्रवृत्तिविशेषः अलंकारः’ अर्थात्—कवि की प्रतिभा से उत्पादित विचित्रवृत्ति विशेष-व्यक्तिकार का एक प्रकार ही अलंकार है। पर यह परिभाषा भी व्यापक हो जाती है और कान्यार निवामक सभी तत्वों को अपने अन्दर समेट लेती है, अतः यदि उक्त परिभाषा में कवित प्रतिमोत्थित विचित्रवृत्तिविशेष का संबन्ध शब्द अथवा अर्थ के साथ जोड़ दें, अर्थात् यह कहें कि ‘शब्द अथवा अर्थ में रहने वाले कविप्रतिमोत्थित विचित्रवृत्ति विशेष, का नाम अलंकार है’ तो अलंकार की सही-सही सामान्य परिभाषा बन जाती है।

‘शब्दाद्यर्थोपरिचारा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तो तेऽलंकारा अद्भुतादिवत् ॥’

अर्थात् शब्द अर्थ के अभिव्यक्त शोभातिशायी और रस आदि के उपकारक धर्मों का नाम अलंकार है। यह नाम लौकिक अद्भुत आदि अलंकारों की समता के कारण प्रचलित है। इस परिभाषा में दो विशेषणों पर ध्यान देना है—एक ‘अस्थिराः’ और दूसरा ‘रसादीनुप-कुर्वन्तः’। इनमें से प्रथम विशेषण शृंगों को अलंकारश्रेणी से वृत्त करने के लिये कहा गया है। शृंगों में भी सभी अन्य अलंकारत्व नियामक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, पर वे कान्य के स्थिर (नियत) धर्म हैं और अलंकार हैं अस्थिर (अनियत)। दूसरा विशेषण अलंकारों के कर्तव्य की ओर इशारा करता है, अर्थात् कान्यवाच्य के मुख्य अर्थ को उपरूप करना—पुष्ट बनाना ही अलंकारों का कर्तव्य है, उक्त कर्तव्य से विमुक्त तत्त्व अलंकार पद से अभिव्यक्त हो ही नहीं सकते।

यहाँ पण्डितराज अलंकारनिरूपण के आरम्भ में अवतरणरूप से लिखते हैं कि—‘अथास्त्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यरसमयी व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते ।’ इस अवतरणग्रन्थ में ‘रसादेः’ न लिख कर ‘व्यङ्ग्यस्य’ को लिखा गया है उससे पण्डितराज का यह अभिमत निकाला जाता है कि—‘पण्डितराज विविध (वस्तु, अलंकार तथा रसादि) व्यङ्ग्यों को कान्यात्मा मानते हैं ।’ किन्तु उपमानिरूपण प्रकरण में एक स्थल पर पण्डितराज लिखते हैं—‘इयं चैवमेवोपमा चरत्खलकाररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानाम् चरत्खलकारयोश्चोपरकारक-तया पञ्चधा ।’ प्रसङ्गवश पहले भी यह पङ्क्ति टिप्पणी में उद्धृत की जा चुकी है। इसका अर्थ है—‘उपमा पाँच प्रकार की होती है क्योंकि वह (उपमा) कहीं वस्तुत्व प्रधानव्यङ्ग्य को, कहीं अलंकाररूप प्रधानव्यङ्ग्य को, कहीं रसादिरूप प्रधानव्यङ्ग्य को—इस तरह विविध व्यङ्ग्य को—और कहीं प्रधानवाच्यवस्तु को तथा कहीं प्रधानवाच्य अलंकार को अलंकृत करती है ।’ इस उद्देश से तो पण्डितराज की कान्यात्मत्वविवेक धारणा कुछ भिन्न ही प्रतीत होती है, क्योंकि यह निश्चित है कि जिस तत्त्व को जो कान्यात्मा माना है वह उसी तत्त्व को अलंकार्य

वत्ताता है। इस हिसाब से यदि पण्डितराज त्रिविध व्यङ्ग्य भाष को कान्यात्मा मानते होते तब वाच्यवस्तु (अलंकार) को अलंकार्य (उपस्कार्य) नहीं कहते। ऐसा लगता है कि पण्डितराज सभी प्रकार के रमणीय अर्थों को कान्यात्मा मानने वाले हैं। इस धारणा की दृष्टि पण्डितराज की अन्य उक्ति से भी होती है। उपमालक्षण में सादृश्य का विशेषण 'वाक्यार्थोपस्कारकम्' कहा गया है, 'व्यङ्ग्यार्थोपस्कारकम्' नहीं। इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज—केवल रमणीय वाक्यार्थ के रहने पर भी, अर्थात् रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ के नहीं रहने पर भी, वाक्य को कान्य मानते हैं। विचार करने की बात है कि—कान्यात्मभूत तत्त्व के अभाव में भी क्या कान्यत्व माना जा सकता है? नहीं। अतः माना जाता है कि पण्डितराज आलंकारिक जगत् में ध्वनिवादी होते हुए भी रमणायतावादी हैं।

उक्त अवतरण के बाद उपमानिरूपण से अलंकारनिरूपण प्रकरण आरम्भ होता है। अलंकार-सामान्य की परिभाषा—जो विशेषविषयक जिज्ञासा के प्रति सामान्य ज्ञान को कारण मानने वालों के मत से आवश्यक समझी जाती है—नहीं दी गई है।

यद्यपि नागेश ने उक्त अवतरणग्रन्थ में ही अलंकारसामान्यलक्षण, खोज निकाला है। अर्थात् नागेश की दृष्टि में उक्त अवतरण का 'व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजकाः' यह अर्थ अलंकारसामान्य का लक्षण है। फलतः नागेश के कथनानुसार पण्डितराज का अलंकारसामान्य-लक्षण हुआ 'व्यङ्ग्यरमणीयताप्रयोजककाम्यचर्मत्व'। पर वह सगत नहीं ज्ञान पड़ता, क्योंकि ऊपर दितलाया जा चुका है कि पण्डितराज अलंकार को केवल व्यङ्ग्य अर्थ की रमणीयता का प्रयोजक नहीं मानते हैं। बस्तुतः स्पष्ट उल्लेख नहीं रहने पर भी पण्डितराज के मन से अलंकारसामान्य का लक्षण—'कविप्रतिभानिर्घतितमुख्यवाक्यार्थोपस्कारकसुन्दरशब्दार्थ-धर्मत्व' समझा जा सकता है, क्योंकि रमणालंकारनिरूपण में एक जगह पण्डितराजने लिखा है—'प्रभासव्यङ्ग्यव्याहृत्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं सर्वेषु अलंकारलक्षणेषु वैषम्यं', सप्तवेदालंकारगत रमणीय विशेषण की व्याख्या—'चमत्कारीणीत्यर्थः' इन शब्दों में करके कहा—'एतच्च विशेषणं सामान्यालंकारलक्षणप्राप्तमेव। एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम्'। इसी तरह आग्निमान् अलंकार के लक्षण का विवरण करते हुए कहा है—'चमत्कारीति। कविप्रतिभानिर्घतित ह्यर्थः।' इन उल्लेखों से उक्त अलंकारसामान्यलक्षण ही प्रीत होता है, जो बहुत कुछ पूर्वोक्त कुन्तक के विचार से प्रभाषित है।

रसगोश्वर ग्रन्थ में निम्न ७० अलंकारों का निरूपण किया गया है—

१ उपमा, २ उपमेयोपमा, ३ अनन्वय, ४ असम, ५ उदाहरण, ६ स्मरण, ७ रूपक, ८ परिणाम, ९ ससन्देह, १० आर्तमान्, ११ उल्लेख १२ अपहृति, १३ उपेक्षा, १४ अतिशयोक्ति, १५ तुल्ययोगिता, १६ दीपक, १७ प्रतिवस्तुपमा, १८ दृष्टान्त, १९ निदर्शना, २० व्यतिरेक, २१ सदोक्ति, २२ विनोक्ति, २३ समासोक्ति, २४ परिकर, २५ श्लेष, २६ अप्रस्तुतप्रशंसा, २७ पर्यायोक्त, २८ व्याजस्तुति, २९ आशेष, ३० विरोध, ३१ विभावना, ३२ विशेषोक्ति, ३३ असंगति, ३४ विषय, ३५ सम, ३६ विविध, ३७ अधिक, ३८ अन्योन्य, ३९ विशेष, ४० व्याघात, ४१ कारणमाला, ४२ पञ्चावली, ४३ सार, ४४ काव्यलिङ्ग, ४५ अर्थान्तरभास, ४६ अनुमान, ४७ यथामरुत, ४८ पर्याय, ४९ परिहृति, ५० परिसंख्या,

५१. अर्धोपसृति, ५२. विकल्प, ५३. समुच्चय, ५४. समाधि, ५५. प्रत्यनोक, ५६. प्रतीप, ५७. श्रौतौकि, ५८. ललित, ५९. प्रहर्षण, ६०. निषादन, ६१. उल्लास, ६२. अवशा, ६३. अनुधा, ६४. तिरस्कार, ६५. लेश, ६६. मृदुगुण, ६७. अनमृदुगुण, ६८. मीलित, ६९. सामान्य और ७०. उत्तर। यहाँ अग्निम उत्तरालकारनिरूपण में ही अकरमाव ग्रन्थ खण्डित होकर समाप्त हो गया है। इस प्रकार समाप्ति होने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो लिखते समय ही लेखक को अकरमाव मृत्यु हो जाना और दूसरा किसी कारणवश अग्रिम अन्त का पण्डितराज-लिखित मूल ग्रन्थ से नष्ट हो जाना। जो भी हो, इस स्थिति में आज यद्यपि पण्डितराजाभिमत अलंकारों की सख्या बनाना असम्भव है तथापि इतना निश्चित है कि पण्डितराज अलंकार-निरूपण में चन्द्रालोकीय अर्थात्कारानुक्रमणिका को ही आधार मानकर चले हैं, क्योंकि उक्त सूचर अलंकारों में केवल उदाहरण, तार, अनुमान और तिरस्कार ये चार ही अलंकार दिये हैं जो चन्द्रालोकीय अर्थात्कारानुक्रमणिका से सहिभूत हैं। चन्द्रालोककार षोडशवर्ष अयदेव ने अपने अनुक्रमणिका में सौ अलंकारों का निर्देश किया है जिसमें उत्तरालकारपर्यन्त अलंकारों में से आशुति, दीपक, परिकराहुर, प्रस्तुताहुर, न्याजनिन्दन, असम्भव, अल्प, मालादीपक, साधक, कारकदीपक, विकस्वर, सभावन, मिथ्याभ्यवसिति, रक्षावली, पूर्वरूप, उन्मीलित और निमीलित इन सोलह अलंकारों की चर्चा पण्डितराज ने स्वमन्त्र अलंकार के रूप में न करके अन्य अलंकारों में ही उनका अन्तर्भाव दिसाया है। फलतः उच्चर के आगे चन्द्रालोकन सूक्ष्मविहित, न्यायोक्ति, गूढोक्ति, निवृत्तोक्ति, युक्ति, श्लोकोक्ति, ऐकोक्ति, बकोक्ति, स्वमावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निकृति, प्रतिषेध, विधि और हेतु ये सोलह अलंकार बच जाते हैं। इन सोलहों के सङ्ग्रह में पण्डितराज क्या लिखते, उन्हें इतन्त्र अलंकार मानते अथवा नहीं, यह आज नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पण्डितराजाभिमत अलंकारों की सख्या भी प्रायः सौ के लगभग ही होती।

(१) उपमा

भारम्भ में अति उपयुक्त उपमा लक्षण कहा गया है। तदनन्तर लक्षण में विविध पदों के फल स्पष्ट किए गए हैं। इसके बाद कल्पितोपमा—जिसमें उपमान कल्पित पदार्थ रहता है, अतः जिसे प्राचीन आलंकारिक अलंकारान्तर की संज्ञा प्रदान करते हैं—को उपमा के अन्दर सङ्घुक्तिक समूहोक्त किया गया है। इसके अनन्तर साधारणधर्म के विषय में विचार करते हुए 'विश्वप्रति-विश्वभाव' तथा 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' का इतना सुन्दर विश्लेषण किया गया है जैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसके बाद एक सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया गया है। इसके अनन्तर प्राचीन भाचार्यों के द्वारा रचित उपमालक्षणों की आलोचना की गई है जिसमें अप्ययदीक्षित, विद्यानाथ, मम्मट, अलंकारसर्वलकार, अलंकाररत्नाकर आदि के लक्षणों का सङ्घुक्तिक खण्डन किया गया है। इसके अनन्तर प्राचीनोक्त पचीस भेदों को गिनाकर उनके उदाहरण दिए गए हैं। इसके बाद 'इहान्यानिपि भेदान्त्ये निगदन्ति' से आरम्भ करके कतिपय प्राचीनमतसिद्ध अन्य भेदों की चर्चा की गई है और उनमें से कुछ का खण्डन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में यत्तत्र अप्ययदीक्षित के मत का भी खण्डन किया गया है। इसके बाद उपमावर्गभेद से वर्णना के पाँच भेद करके उनके उदाहरण दिए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में अलंकार है अलंकार भी उपरंकार्य

कैसे हो सकता है इस बात की सुन्दर मोमोसा की गई है जो अन्यत्र अप्राप्य ही है। इस तरह पक्षीस भेद मानने वाले प्राचीनों के मत से प्रत्येक के पञ्चविध हो जाने से एक सौ पक्षीस और बत्तीस भेद मानने वाले प्राचीनों के मत में एक सौ साठ भेद हो सकते हैं यह बात कही गई है। इसके बाद पण्डितराज ने अपनी प्रतिमा के बल से और बहुत भेदों की उद्गाहना को है। साधारण-धर्म के अनुगामी, केवल भिन्नप्रतिविम्बवापन्न, उभय, वस्तुपतिवस्तुभावकरम्भित भिन्नप्रतिविम्ब-मावापन्न, उपचरित और केवल शब्दात्मक भेद मानकर उपमा के भेद किए गए हैं और सभी भेदों के संदीप्त उदाहरण भी उपस्थित किए गए हैं। इसके बाद भी 'प्रकारान्तर च सुधीभि' स्वयमुद्येतुं वाचयम्' कह कर एक विश्लेषण भेद और दिखलाया गया है जिसमें उपमा को ही उपमा का साधारणधर्म सिद्ध किया गया है। उदाहरण भी इस भेद का देखने योग्य दिया गया है। अन्त में भेदों के सम्बन्ध में 'इयमेवभेदा प्राचीनैर्मर्देगुणने वागमोचद भूमान भजन्माका मेधस्तासहसि' लिख कर ही ग्रन्थकार ने सन्तोष किया है। इसके बाद शाब्दशेष का विचार विशद रूप से किया गया है जो अलकारशास्त्र को न्याय आदि शास्त्रों के समान प्रीति प्रदान करता है। अन्तः यह निश्चिन्त है कि उपमा का वैसा सर्वस्पष्टी तथा विशद विचार इस ग्रन्थ में हुआ है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं हुआ है।

(२) उपमेयोपमा

उपमेयोपमा को यद्यपि पण्डितराज उपमा का ही प्रभेद मानते हैं,^१ तथापि इसका निरूपण उन्होंने स्वतन्त्र अलकार के रूप में किया है और लक्षण, उदाहरण आदि सब कुछ भलग लिखे हैं। उनका उद्देश्य है कि इसके भी उपमा की तरह अनन्त भेद हो सकते हैं^२। उपमेयोपमा निरूपण में भी अप्ययदीक्षित, अलकारसर्वस्वकार तथा विमर्शनीकार के मतों का खण्डन किया गया है।

(३) अनन्वय

अनन्वय निरूपण में लक्षण, उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण दिखलाने के बाद भेदफलन है। उपमा के समान अनन्वय का भी पहले पूर्णतुल्य भेद माना गया है, फिर पूर्णभेद के पूर्णोपमा की तरह है भेद हो सकने की बात कही गई है। तुल्यमेव में धर्मतुल्य के पुन पाँच भेद मान कर वाचकतुल्य भेद भी दिखलाया गया है। धर्मवाचकीभवतुल्यभेद भी स्वीकृत हुआ है। अतन्द्र होने के कारण इसके उपमानतुलादि भेद नहीं हो सकते इस वचन से भेदविवरण समाप्त किया गया है। इसके बाद रसाकर के विविध अनन्वयलक्षण तथा उदाहरणों का उल्लेख करके खण्डन किया गया है और अलकारसर्वस्वकार तथा अप्ययदीक्षित की उक्तियों का भी सण्डन किया गया है।

१. 'यथा जनावा-स्वकानताया स्तनावनमे नितरा समासि।

तया कला पल्लविनी समवे शोभापराया-सदृशी तवापि॥'

२. 'मुखमिव चन्द्र इति प्रतीये, चन्द्र इव मुख मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोपमायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वात्प्रतिप्रसङ्गं' अङ्गुलीय, तयोः संग्राह्यात्वात् ॥ (उपमानिरूपणे)

'अथास्या एव भेद उपमेयोपमा निरूप्यते—' (उपमेयोपमानिरूपणस्यावतरणग्रन्थ)

३. 'एव पूर्णतुल्यदयोऽप्यस्याः (उपमेयोपमाया) उपमाया इव प्रावश सर्वत्रैपि भेदा-सम्भवन्ति।' -

(४) असम

अलंकार-संसार में अल्प-अन्त-समर्थित 'असम' अलंकार को मान कर इस अलंकार का निरूपण करते समय लक्ष्मणोत्तरेय के बाद सर्वप्रथम पण्डितराज कहते हैं कि 'यद्यपि असम-पदार्थ अनन्वय में नियमतः व्युत्पन्न होता है, तथापि वहाँ वह अलंकार पदम्यबहार्य होने योग्य नहीं होता, क्योंकि वहाँ वह अनन्वय के चमत्कार का ही बोधक रहता है, इसीलिये रूपक-दीपक आदि में नियमतः अभिव्यक्त होने पर भी उपमा अलंकारपद से व्यवहृत नहीं होती। जहाँ 'असम' वाच्य रहता है वहाँ वह स्वयम्भूत चमत्कार का उदाहरण होता है, और तब उसकी स्वतन्त्र अलंकार भी मानना ही चाहिए।' रसाकर के मत का सङ्गठन वहाँ भी हुआ है। यह छद्मा भी की गयी है कि—'असमालंकार' ध्वनि से ही चमत्कार उत्पन्न होता है ऐसा मानकर 'अनन्वय' का अस्वीकार क्यों नहीं कर दिया जाय ? उत्तर में कहा गया है कि उपमा ध्वनि से कृतार्थता मान कर दीपकादि का भी अपलाप क्यों नहीं कर देते ? इत्यादि। अन्त में यह भी कह दिया गया है कि प्राचीन इस अलंकार को नहीं मानते।

(५) उदाहरण

यह अलंकार भी अलंकारजगत् के आचार्यों का बहुमत नहीं प्राप्त कर सका है। पर पण्डितराज का समर्थन इसे प्राप्त है। 'सामान्य विशेष का वाच्य अवयवावयविभाव' इसका लक्षित स्वरूप है। हव, यथा, मिदर्शन, दृष्टान्त आदि शब्दों को इस अलंकार का बोधक माना गया है। हव और यथा शब्द सादृश्य-वाचक हैं, सामान्यविशेषभाव के बोधक ये कैसे हो सकते हैं इस शका के समाधान में कहा गया है कि—अभिराश्रुति द्वारा मले ही हव और यथा पद सामान्य-विशेषभाव के बोधक नहीं हों, पर लक्षणावृत्ति द्वारा तो हो ही सकते हैं। अन्यथा कामेक्षा-बोधक भी ये पद नहीं हो सकेंगे। 'अनन्तरूपप्रभवस्य'—इस काठिकासीय प्रसिद्ध पद्य में पण्डितराज यही (उदाहरण) अलंकार मानते हैं। 'अर्थान्तरन्यास' से इसमें वैलक्षण्य यह माना गया है कि—इसमें अर्थान्तरन्यासविशेषको कहकर यह श्रुत होते हैं और सामान्य विशेष दोनों अर्थों का अन्वय एक ही विधेय (किया) के साथ होता है, अर्थान्तरन्यास में ये दोनों बातें नहीं होतीं। सामान्य-विशेषात्मक दो पदार्थों में सादृश्य वलसित हो नहीं हो सकता, अतः उपमा में भी इसकी गतार्थता समभव नहीं। अन्त में यह भी कह दिया गया है कि—प्राचीन इस अलंकार को उपमा में ही गतार्थ मानते हैं और 'सामान्य' विशेष से अतिरिक्त नहीं होता—अतः सादृश्योपमा की व्यवस्था दे देते हैं।

(६) स्मरण

पण्डितराजकृत स्मरणालंकार के लक्षण में बहुत कुछ नवीनता है। अलंकारसर्वस्व, रसाकर आदि में 'सदृशपदार्थानुभवजन्य स्मृति' को स्मरणालंकार माना गया है। अन्यत्र भी स्मरण-पदार्थ का स्वरूप अनुभवजन्यत्वधटित ही प्रायः माना गया है। पर पण्डितराज का कथन है कि—यदि सदृशानुभवजन्य स्मरण को ही अलंकार माना जाय तब जहाँ सदृशपदार्थ के स्मरण से सत्सारादौबोधक्रमेण स्मरण उत्पन्न होता है वहाँ स्मरणालंकार नहीं हो सकेगा। उदाहरण भी वैसा (स्मरणप्रयोज्य स्मरण का) सुन्दरतम उपस्थित किया गया है। अतः पण्डितराज ने

‘सादृश्यमान से उद्भूत ओ सत्कार उससे साक्षात् अथवा परम्परया सम्पन्न होनेवाले स्मरण’ को स्मरणालङ्कार माना है। यह लक्षण उक्त सभी स्मरणों में स्पष्टित होता है।

(७) रूपक

पण्डितराजकृत रूपक-विचार भी अतलस्पर्शी और विशद है। लक्षण ही पहले विलक्षण है। विलक्षणता नवीनपदार्थ निर्वचनाश में नहीं है, अपितु परम्परागत रूपकपदार्थ के स्फुटी-करणार्थ में है। परमत् को समीक्षा भी सुन्दर वद से की गई है। रत्नाकर ने उपमान-उपमेय के अभेद की तरह कार्य-कारण के अभेद को भी रूपक माना है, पर पण्डितराज ने उसका सयुक्तिक खण्डन करके सादृश्यभूलक—फलतः उपमानोपमेय के—तादात्म्य को ही रूपक कहे जाने का प्रमाण-पत्र दिया है। अप्यवदीक्षित का खण्डन करना तो पण्डितराज के आवश्यक कर्तव्यों में था अतः उस कर्तव्य की पूर्ति रूपकनिरूपण में भी खूब की गई है। रूपक के प्रभेदों के विषय में भी पण्डितराज ने अपनी मौक्तिक प्रतिभा का चमत्कार परिपूर्ण मात्रा में दिखलाया है।

आरम्भ में प्रकाशकारादिसम्मत आठ भेदों की साङ्गोपाङ्ग चर्चा की गई है। इसी प्रसङ्ग में परम्परितरूपकत्वनिवामक आरोपद्वय का उपायोपेयभाव कैसे सम्भव है ? ‘शशिपुण्डरीक’ आदि में पुण्डरीकरूपक का व्यवहार कैसे होता है क्योंकि पुण्डरीक-तादात्म्य की प्रतीति नहीं होती, प्रतीति होती है शशितादात्म्य को, तदनुसार शशिरूपक का व्यवहार होना चाहिए, इत्यादि शङ्काओं का विलक्षण समाधान उपस्थित किया गया है जो सर्वथा नवीन मतीत होता है। तदनन्तर पण्डितराज ने अपनी नवनवीनपेशालिनी बुद्धि से अनेक नवीन भेदों की कल्पना की है, जिसमें वाक्यार्थरूपक की कल्पना सर्वथा नवीन घात होती है। इसी अवसर पर ‘रूपक में विन्व प्रति-विन्वभाव नहीं होता’ इस प्राचीन भ्रम का प्रबल पुक्तियों के आधार पर खण्डन किया गया है। अन्त में नव्यम्याय की शैली से शाब्दबोध का विचार करके अलङ्कारशास्त्रीय आलोचना-पद्धति की एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया गया है।

(८) परिणाम

‘उपमान जहाँ उपमेयरूप से ही प्रकृत कार्य में उपयुक्त होता है, स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ परिणाम होता है’ यह लक्षण पहले किया गया है। फिर ‘परिणाम में विषय का अभेद विषयी में उपयोगी सिद्ध होता है, रूपक में ऐसा नहीं होता’ यह परिणाम तथा रूपक में परस्पर भेद बतलाया गया है। इसके बाद समानार्थिकरण परिणाम के वाक्यगत समासगत दो भेद और व्यधिकरण परिणाम का एक भेद इस तरह कुल तीन भेद करके उन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं और दीक्षितोक्त व्यधिकरण परिणामोदाहरण का खण्डन किया गया है, सर्वस्वकारकृत लक्षण उदाहरण दोनों का सयुक्तिक खण्डन किया गया है और ‘केचित्तु’ कह कर उन प्राचीनों का मत उपस्थित किया गया है जो परिणाम को रूपक से भिन्न धलकार नहीं मानते और कहते हैं कि—‘वहाँ केवल उपमेय अपने रूप में प्रकृतकार्य में उपयुक्त नहीं सिद्ध होता, अतः आरोप्यमाण (उपमान) से अभिन्न रूप में स्थित होकर उपयुक्त होता है ऐसी जगह आरोप्यमाण परिणाम होता है। वहाँ आरोप्यमाण (उपमान) अपने रूप से उपयुक्त न हो सकने के कारण उपमेय से अभिन्न होकर उपयोग (लाभ) करवा है वहाँ विषयपरिणाम होता है,

पर वस्तुतः ये दोनों ही प्रकार रूपक के ही हैं, क्योंकि उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक में से किसी एक को मागे रख कर निश्चित किया जाने वाला उपमान अथवा उपमेय ही रूपक का स्वरूप है। अन्त में परिणामनाम्य के आम्बवोध का विचार किया गया है।

(९) ससन्देह

बैसे तो अलङ्कार आदि सभी कान्वयतत्त्वों के निरूपण में पण्डितराज ने अपनी विद्वत्पुण्य विद्वत्ता का परिचय दिया है, पर ससन्देहालङ्कार के निरूपण में तो आपकी प्रतिभा दर्शनीय है। विलक्षण लक्ष्य, पवित्र पदकल्प-कथन प्रणाली, उदाहरणों की अनुपम अनुकूपता। यहाँ तक कहा जाय। वस्तु, एक लक्षण छिर लेने के बाद 'यद्वा' कहकर दूसरा भी लक्ष्य किया गया है। लक्ष्य के बाद पहले प्राचीनों के हिसाब से कुछ, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त इन तीन भेदों का वल्लेख करते उन भेदों के उदाहरण दिए गये हैं। उन उदाहरणों में वर्णित सद्य में विटारी में बन्द कटक-कुण्डलादि की तरह अलङ्कार-स्ववहार माना गया है, अर्थात् स्वय-प्रमाण वाच्यार्थरूप के सद्य उपस्थापकता के अभाव से केवल स्वरूपयोग्यता के कारण अलङ्कारपद से न्यवहृत होते हैं। सादृश्यमूलक सद्य ही अलङ्काररूप होता है, इस सिद्धान्त के समर्थन में प्रत्युदाहरणरूप से विचित्र उदाहरण ही तत्कालरचिन वाक्य उपस्थित किया गया है। 'अद्भुत शैव', दीर्घ और गान्धीय से युक्त तथा एक क्षण के लिये भी प्राणमिया सीता को समीप से हटाने में अक्षम भगवान् रामचन्द्र को भी पहले देख चुका था, वह उनकी दीन तथा प्रियाविरहकातर देखकर 'यह राम है अपना नहीं' इस सद्य में पड़ गया।' भाव माधुर्य तो इस न्याल्या से परस में आ गया, अब पदमाधुरी भी देखें—

‘तं दृष्ट्वा मममद्वुतर्पैर्मवीर्य-गान्धीर्यमक्षणमिमुक्तसमीपजानिम् ।

वीर्याथ दीनमवलाविरहम्यमार्त रामो न वायमिति सद्यमाप लोकाः ॥’ (पृ ५६४)

कौत्सी सीधी-सादी पर कितना गहरा असर डालने वाला भाषा है। 'अवला' पद की ध्वनि कितनी मार्मिक है। अपने लिये भगवान् राम को उतना दुःख नहीं, जितना उस 'अवला' के लिये है। सन्देहालङ्कार आरोपमूलक होता है, पर विमर्शिनिकार उसको अध्यवसानमूलक भी मानते हैं, उदाहरण भी यथालाभ्य उपयुक्त उपस्थित करते हैं। किन्तु पण्डितराज की कत्तौदी पर जाने के बाद यह उदाहरण भी आरोपमूलक ही टहरता है। सशयालङ्कार-निरूपण में अनेक बार भिन्न भिन्न प्रसङ्ग पर दक्षिणतम की आलोचना की गई है और सभी आलोचनाओं का निष्कर्ष दीक्षित के विरुद्ध ही निकला है। अभिनव भेद भी बहुतेरे किए गए हैं। पञ्चालोक्तार आनन्दवर्धन का स्मरण निरुद्ध रूप में और अलादर के साथ यहाँ किया गया है।

(१०) भ्रान्तिमान्

लक्षण-कथन के बाद सर्वप्रथम यह कहा गया है कि अलङ्कार का नाम वस्तुतः भ्रान्ति है भ्रान्तिमान् नहीं, भ्रान्तिमान् तो वह वाक्सुन्दर कहला सकता है, जिसमें यथार्थविद्वत् भ्रान्ति का अनुवाद किया जाता है। इस अलङ्कार के मूल में भी सादृश्य का रहना पण्डितराज आवश्यक मानते हैं। अर्थात् एक ही निश्चय को अलङ्कार सिद्ध करने के लिये पण्डितराज ने लक्ष्य में

में भ्रान्ति-लक्षण प्राप्ति का 'निरास हो। दीक्षितोक्त लक्षण का खण्डन करते समय उनके द्वारा उत्तरोत्तर भ्रान्ति के उदाहरणरूप में उद्धृत निम्न पद्य की आलोचना की गई है—

‘शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं सुम्बितं चञ्चरीकैः,

तन्नासोष्णासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः।

तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिता काकलोकै-

रित्वं चोलेन्द्रसिंह स्वदरिमृगदृशा भाप्परण्यं शरण्यम् ॥’ (५, ५९७)

चोल-मरेश की यह स्तुति है। कवि कहता है—‘राजन् ! तुम्हारे शत्रुओं की कामिनियों के लिये अरण्य भी शरण-दायक नहीं हो सका, क्योंकि चञ्चरीकों ने उनके स्तनकलशयुगल को मञ्जरी-भ्रम से धूम लिया, उनके भय से उछलित ललित लीलाओं वाले करों को कीरों ने किसलय-भ्रान्ति से काट रखा, और उनके वारणार्थ अनाप-दानाप बकती हुई उन कामिनियों को कौओं ने कोकिल-कलरव-भ्रम से ताटना दी।’

किन्ना अश्वत्था पद्य है। पण्डितराज की आलोचना से पूर्व प्रायः इस पद्य में किसी को कोई दोष नहीं दिखलाई पड़ा था—दीक्षित जैसे मर्मज्ञ विद्वान् ने अपने ग्रन्थ में इस पद्य को आदर के साथ स्थान दिया। पर पण्डितराजीय आलोचना के बाद वही पद्य दोष का आकर बन गया। पण्डितराज इस पद्य को उद्धृत करके प्रकृत निबन्ध में लिखते हैं—

“तत्र विचार्यते स्तनकलशयुगे हि न तावन्मञ्जरीसादर्यं क्वचित्समयसिद्धम्, येन तन्मूला चञ्चरीकाणां भ्रान्तिरुपनिवर्धयेत्। द्योपान्तरमूला तु सा मालङ्कारः। अपि च धर्मिणि कलशरूपकानुवादेन मञ्जरीभ्रान्तिरूपमलङ्कारान्तरमुपनिवर्धयमानमुद्देजकमेव सहृदयानाम्। न हि सादरवमूलैकालङ्कारावच्छिन्ने सादर्यमूलमलङ्कारान्तरं लोभते” । प्रयुक्त कलशरूपकेण मञ्जरीसादर्यतिरस्फुराच्च । ‘तन्नासोष्णासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः’ इत्यत्र विधेयाविमर्शाद्विधेयान्तरमाकाशितम् । कीरैर्दृष्टा इति ॥ भाष्यम् । जाता इत्यध्याहारेऽपि विवक्षितस्याविधेयत्वमविवक्षितस्य च विधेयत्वं प्रसज्येत । परं ‘तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिता काकलोकै’ इत्यत्र न तावत्पिकनिनदा-स्तादनयोग्या काकानाम् येन तद्विया आलपन्त्यस्तैस्ताडयेत् । नापि पिकनिनदधम आलपन्तीषु सम्भवति । सम्भवन् वा न सादर्यमूल । पिकनिकरधियेति तु भाष्यम् ।” इत्यादि ।” (५, ५९७)

अन्त में सर्वस्वकारकल भ्रान्ति-लक्षण को भी पण्डितराज ने कुलक्षण सिद्ध कर दिया है।

(११) उल्लेख

लक्षण (तदीय पदकृत्य) कथन के बाद शुरु (अलङ्कारान्तर से अभिव्यक्त) उल्लेख का एक उदाहरण दिया गया है। ईदशोदाहरण-दान-श्रयास उन आलङ्कारिकों के सुप्रमुद्रणार्थ किया गया है जो उल्लेखालङ्कार को नियमत अलङ्कारान्तर से मिश्रित ही मानते हैं। इसके बाद सर्वांग भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसी प्रसङ्ग में दीक्षितमत का खण्डन किया गया है। दीक्षितजी ने अपभ्रुतिसंकीर्ण उल्लेख में अतिव्याप्तिनिराकरणार्थ उल्लेखलक्षण में ‘निषेधासृष्ट’ विशेषण जोड़ने की जो बात कही है उसका खण्डन पण्डितराज ने यह कह कर किया है कि यदि सर्वांग उल्लेख आपकी

मान्य नहीं हो तब तो उक्त विशेषण से, निर्बोध नहीं होगा क्योंकि ज्ञान्ति आदि अन्य अलङ्कारों से सकीर्णतास्थल में अतिव्याप्ति रह ही जायगी। यदि उल्लेख के सकीर्णभेद भी आपके अभिमत हों तब उक्त विशेषण की आवश्यकता ही क्या है? अपहृतिस्वीकार उल्लेख मानने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके बाद स्वरूपोल्लेख, फलोल्लेख आदि भेदों को मानकर उन भेदों के उदाहरण दिए गए हैं और एक भिन्न प्रकार के उल्लेख का दृष्टान्त आदि प्रस्तुत किया गया है। अनन्तर द्विविध उल्लेखों में भेदक तत्त्वों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि एक प्रकार में शङ्काश चमत्कारी रहता है और द्वितीय प्रकार में केवल प्रकाश। इसके बाद एकरूपण दोनों स्थलों का अनुगम करने का प्रयास किया गया है। अन्त में उल्लेखध्वनि का उदाहरण है।

(१२) अपहृति

सर्वप्रथम दृष्टान्त किया गया है। तदुत्तर रूपक से हमें भेद दिखाते हुए कहा गया है कि अपहृति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध किया जाता है जिससे उपमेयतावच्छेदक तथा उपमान-तावच्छेदक (उपमेय उपमान में रहने वाले जात-यास भर्त्ता) का विरोध अभिव्यक्त होता है और रूपक में वह विरोध निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानता-वच्छेदक का सामानाधिकरन्ध्र रहता है। इसके बाद अपहृति के सावयव-निरवयव आदि भेद उदाहरण द्वारा दिखाये गए हैं। हेत्वबहुति भी उन्हीं उदाहरणों में कही गयी है। इसके अनन्तर यह स्पष्टीकरण किया गया है कि अपहृति में कहीं वाक्यभेद होता है और कहीं वाक्य-व्यंजक। अहाँ नञ् आदि द्वारा साक्षात् अथवा परमवसिद्धता की चर्चा करके—अर्थात् दूसरे देखा कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता, इस तरह से—उपमेय का निषेध होता है वहाँ वाक्यभेद हो जाता है, पर जहाँ मिश्र, छल आदि पदों द्वारा उपमेय का निषेध किया जाता है वहाँ वाक्यभेद नहीं होता। इसके बाद इस बात की चर्चा की गई है कि अपहृति में कहीं पहले निषेध होता है बाद में आरोप, कहीं पहले आरोप ही कर लिया जाता है फिर निषेध, कहीं निषेध और आरोप दोनों शब्दतः कथित होते हैं, कहीं इन दोनों में से कोई एक ही शब्दतः उक्त होता है और कहीं दोनों को दोनों अनुक्त रहकर भी अर्थतः श्राव्य होते हैं। कहीं अपहृति निषेध होती है और कहीं अनुवाच। इस तरह अनेक प्रकार अपहृति के दो सन्तति हैं, पर इनमें सभी प्रकारों को अलङ्कार-कोटि में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि सर्वत्र वैचित्र्य नहीं उपलब्ध होता और वैचित्र्य ही अलङ्कार है। अन्ततः सिद्ध यह हुआ कि जहाँ-जहाँ वैचित्र्य श्राव्य हो वहाँ-वहाँ अलङ्कार मान्य होगी, अन्यत्र नहीं।

अपहृति-विरूपण में कुण्डलानन्दकार दीक्षिण के मत को बहुत विशद रूप में उद्धृत किया गया है और स्पष्टन भी जतने हो विस्तृत रूप में किया गया है, निश्चय सारांश यह है कि दीक्षिण के मत से अपहृति का एक पर्यव्यापहृति नाम का भी भेद होता है, जिसका उदाहरण 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' वह वाक्य है, पर पण्डितराम के विचार से यह भेद अपहृति का नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ 'अपहृतितामान्वलक्षण' ही स्पष्टित नहीं होता अतः उक्त वाक्य को वृद्धारोप रूपक का ही उदाहरण मानना चाहिये। अपहृतिध्वनि के दोक्षि-तोक्त उदाहरण का भी स्पष्टन किया गया है।

(१३) उत्प्रेक्षा

प्रस्तुत निबन्ध में उत्प्रेक्षा-निरूपण भी अति विस्तृतरूप से किया गया है। प्रायः सभी आलङ्कारिक उत्प्रेक्षालङ्कार के मूलतः दो भेद मानते हैं, एक धर्म्युत्प्रेक्षा और दूसरा धर्मोत्प्रेक्षा। पर इसके आगे आलङ्कारिकों में दो भेद हो जाते हैं अथवा यह समझिए कि पण्डितराज ही सतभेद उत्पन्न करते हैं, क्योंकि इनसे पूर्व के अतिप्राचीन तथा मध्यकालीन आचार्य इस अर्थ में प्रायः एकमत ही थे। सतभेद का विषय यह है कि—प्राचीन एकधर्मी में दूसरे धर्मी की संभावना को धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं और एक धर्म में दूसरे धर्म की संभावना को धर्मोत्प्रेक्षा, फलतः उनके विचारसे दोनों ही स्थलों पर सवन्ध तादात्म्य ही होता है और पण्डितराज धर्म्युत्प्रेक्षा के सवन्ध में उक्त प्राचीनों के फथन से सहमत होते हुए भी धर्मोत्प्रेक्षा के सवध में भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि धर्मोत्प्रेक्षा यहाँ होती है जहाँ एक धर्मी में अन्य धर्मियत धर्म की संभावना की गई होती है। फलतः पण्डितराज के मत से दोनों स्थलों पर सवन्ध दो हो जाते हैं—अर्थात् प्रथमस्थल में ठीक तादात्म्यसंबन्ध होता है पर द्वितीय स्थल में तादात्म्य नहीं, अपितु सदितर समवायादि-संबन्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि पण्डितराज के मत में उत्प्रेक्षा का लक्षण दो प्रकार का होगा—एक तादात्म्यसंबन्धघटित-अर्थात् भेदघटित और दूसरा सवन्धान्तरघटित अर्थात् अत्यन्ताभावघटित। इन दोनों प्रकार के लक्षणों का उल्लेख पण्डितराज ने एक ही वाक्य द्वारा अग्रन्त में किया है। लक्षण में प्रविष्ट पदों के फल बड़े सुन्दर ढङ्ग से दिखलाए गए हैं। इसके बाद उत्प्रेक्षा के प्रधान दो भेदों (वाच्य, प्रतीयमान) की व्यवस्था की गई है। प्राचीनों ने भी यह व्यवस्था ठीक इसी रूप में दी है। पर इन दोनों भेदों की स्थिति कब कैसे होती है इसका स्पष्टीकरण पण्डितराज जैसा प्राचीनों ने नहीं किया। पण्डितराज का स्पष्टीकरण इस विषय में यह है कि, ह्य, नूनम्, भन्त्ये, जाने, अवेमि, ऊहे, तर्कयामि, लज्जे, उत्प्रेषे इत्यादि वाचक पद हों और उत्प्रेक्षा की सामग्री (रमणीय सभान्वयधर्म सवन्धादिरूप) भी, सब वाच्य, और उक्त वाचक पदों के अभाव में उक्त सामग्री के रहने पर प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है।

जहाँ सामग्री के अभाव में केवल वाचक पद हों वहाँ सम्भावना मात्र है उत्प्रेक्षा नहीं—अर्थात् अलङ्काररूप नहीं। फिर स्वरूपोत्प्रेक्षा हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नाम से उक्त दोनों भेदों के तीन-तीन भेद किए गए हैं। प्राचीनों ने भी ये भेद किए हैं। पर प्राचीनों ने इन तीनों ही भेदों के और बहुत से भेद किए हैं। जैसे—जाति की जाति में, गुण की गुण में, किया की किया में और द्रव्य की द्रव्य में उत्प्रेक्षा, और वह भी कहीं जाति को निमित्त बनाकर, कहीं गुण को निमित्त बनाकर, कहीं किया को निमित्त मानकर और कहीं द्रव्य को निमित्त ठहरा कर, उसमें भी कहीं एक को निमित्त मानकर, कहीं अनेक को, इत्यादि। इन भेदों का वर्णन यद्यपि पण्डितराज ने भी सङ्गोपाङ्ग (उदाहरणादिसहित) किया है, पर अन्त में लिख दिया है कि प्राचीनों के अनुरोध से ये सब भेद उदाहरण हुए हैं। वस्तुतः इन सभी भेदों में अनुभूत होने वाले चमत्कारों में कोई परस्पर विलक्षणता अनुभूत नहीं होती, अतः ये सब भेद उदाहरणीय नहीं हैं। हाँ, हेतु, फल और स्वरूप की उत्प्रेक्षाओं में विलक्षण-विलक्षण चमत्कार अवश्य अनुभूत होता है, अतः ये भेद उदाहरण के योग्य हैं।

इसके बाद पूर्वोक्त प्राचीन-जनीन के मतभेदों की बात विरुद्ध रूप में कही गई है। इसी के मध्य में प्रसङ्गबद्ध व्याकरणशास्त्रीय विवाद (आस्थान क्या है ? उतका अर्थ क्या है ? शाब्दबोध में प्रधानता किमकी होती है ? 'भावप्रधानमास्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि' इत्यादि वाक्यों के क्या तात्पर्य हैं ? इत्यादि) उठाया गया है। इसी क्रम में दीक्षितोक्ति का भी खण्डन किया गया है। अलङ्कारसर्वस्वकारकृत उत्प्रेक्षाविचार की समीक्षा भी की गई है। अन्त में अपना विशिष्ट मत प्रस्तुत किया गया है। अपना मत लिख लेने के बाद 'इत्यलं स्वगोत्रकलहेन' कहकर हम प्रसङ्ग को समाप्त किया गया है। इसके अनन्तर उत्प्रेक्षा-लक्ष्य-निविष्ट धर्म का बिलेखण अपने ढङ्ग से अतिसुन्दर किया गया है जिसमें कहा गया है कि धर्म कोई स्वतः-साधारण (जन्मानुपमेयोपमवृत्ती) होता है और कोई उपाय द्वारा साधारण बनाया जाता है। साधारण बनाने के उपाय स्थलभेद से रूपक, इलेन, अपहृति, विष्वग्निविष्वभाव, उपचार और भेदोप्यवसाय हो सकते हैं। इन सभी उपायों का स्पष्टीकरण उदाहरण द्वारा किया गया है।

काव्यात्मा

अब यद्यपि इस द्वितीयानुसृत के उत्प्रेक्षासङ्ग्रहान्त द्वितीय भाग के प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन समाप्त है और इसके साथ ही प्रस्तुत प्रस्तावना की भी समाप्ति होनी चाहिए। पर आरम्भ-साम में इस प्रतिपाद्य के अनुसार एक अति आवश्यक अथवा व्यापक विषय (जो इस ग्रन्थ में प्राति-स्निकरूपेण-विवेचित नहीं हो सका है) का विवेचन अवशिष्ट रह गया है। वह विषय है काव्यात्मा।

काव्याङ्गमूल अनेक तत्त्वों में वह कौन-सा तत्त्व है जो सबसे प्रधान है—जिसे आरम्भ-पर प्रधान किया जाय—जिसे बिना काव्यत्व सत्ताकङ्क नहीं हो सके, इस प्रश्न का समाधान देना अलङ्कारशास्त्रियों के लिये परमावश्यक था। पर इस प्रश्न का समाधान देने में अलङ्कारशास्त्रप्रवर्तक आचार्य एकमत नहीं हो सके। यह वैकल्पिक का अभाव कुछ तो कविक विकासवाद-सिद्धान्त की सत्यता के कारण हुआ है, कुछ इतिवृत्तभेद के कारण भी। अस्तु उक्त प्रश्न का सबसे प्राचीन समाधान 'रस' शब्द में किया गया है—यह सर्वसम्मत कथा है, क्योंकि आज परिचित अलङ्कार-शास्त्रियों ने मरत अथवा अग्निपुराणकार ही सर्वसुतत आचार्य हैं। जो रसवादी हैं, वे काव्य में सबसे मुख्य तत्त्व 'रस' को मानते हैं, अतः उनके हितानुसार 'रस' ही काव्य की आत्मा ठहरता है। यद्यपि अग्निपुराण की इनकी प्राचीनता विवादग्रस्त है, तथापि भरतकृत नाट्यशास्त्र की परम प्राचीनता सकललोचक-स्वीकृत-वस्तु है। दूसरा उत्तर उक्त प्रश्न का 'अलङ्कार' शब्द से दिया गया प्रतीत होता है, क्योंकि भरत के बाद सबसे पहले आचार्य भामह का ही नाम हम इतिहास में पाते हैं जो अलङ्कारवादी हैं। भामह अलङ्कार को ही सर्वभेद, सर्वप्रधान काव्य-तत्त्व अङ्गीकार करते हैं।

यद्यपि यह कुछ विविध सा लक्षता है कि 'रस' जैसे सूक्ष्मतरंग पर पडुँच कर फिर 'अलङ्कार' जैसे स्थूल वस्तु पर कैसे साहित्यसंसार जोट जाया, पर मनन करने पर यह विचित्रता अपनी आश्चर्यजनक नहीं रह जाती क्योंकि प्राचीन रससिद्धान्त नाट्य तक सीमित सा था, भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य का ही विचार किया है, करना अभीष्ट भी था, जो 'नाट्यशास्त्र' रस

नाम से भी सूचित होता है। ग्रन्थकाव्य की चर्चा भी भरत ने नहीं की है। ऐसा लगता है जैसे उस समय तक ग्रन्थकाव्य की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। यद्यपि राजशेखर ने जो अपनी 'काव्य-मीमांसा' में साहित्यशास्त्र के विकास का इतिहास दिया है, उससे ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि भरत से पूर्व भी अथवा उनके समकाल में ही नाट्याभिरुक्त काव्यों के निर्माण भी हो गए थे, ग्रन्थकाव्यादि भेदों से लोगों का परिचय हो चुका था, परन्तु आज उनके बनाए ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, नाम भी उन आचार्यों के दूब से गए, राजशेखर से अन्य ग्रन्थकार उनका स्मरण भी प्रायः नहीं करते।

भरत के बाद कई शताब्दियों तक का इतिहास अन्वकारपूर्ण है। उनके बाद के सर्वप्रथम आचार्य मानें उनसे अनेक शताब्दियों का जन्तराल रखते हैं। ऐसा लगता है कि बीच में किसी अशांत कारणवश भरत के द्वारा आरम्भ आलोचनापद्धति की परम्परा नष्ट हो गई हो। अतः आम्बह के युग में प्रायः रस का सर्वव्यापक नाट्य के साथ ही मान लिया गया। नए सिरे से ग्रन्थकाव्य को साध्य बनाकर आलोचना शुरू हुई। ग्रन्थकाव्य को नाट्य से सर्वथा पृथक् वस्तु समझा गया और ग्रन्थकाव्य में शब्दार्थ की ओर—उसकी विलक्षणताओं की ओर—अधिक ध्यान दिया गया। यह कुछ अंश में उचित भी था, क्योंकि दृश्यकाव्यों के दर्शक अब ग्रन्थकाव्य के पाठक बन गए थे। दृश्यकाव्य में जहाँ सहृदय नेत्रों के द्वारा आनन्दजनक सामग्री को प्राप्त करते थे वहाँ ग्रन्थकाव्य में वे कानों के द्वारा उक्त सामग्री को प्राप्त करने लगे। फलतः शब्द-अर्थ की ओर आकृष्ट आलोचक भी शब्दार्थार्थ अलंकार को काव्य में मुख्य तत्त्व मानने लगे। अतः उस युग में 'अलंकार' काव्यात्म पद पर आसीन हुआ।

इतनी बात कही जा सकती है कि हम युग में प्रायः काव्य पद से ग्रन्थकाव्य ही अभिप्रेत रहता था। अभिप्राय यह कि काव्य पद प्रवृत्ति निमित्त 'ग्रन्थ' तक ही सीमित हो गया था। उनका दृष्टिकोण प्रायः यह था कि कविकृतित्व की प्रधानता 'ग्रन्थ' में ही है, दृश्य में ती अभिनेतृ-कृतित्व की प्रधानता है। दृश्य को प्रायः काव्य समझा ही नहीं जाता था, उसको नाट्य समझा जाता था जो मंड से सज्जब जोड़े हुए है। ग्रन्थ अवश्य ही काव्य है और कवि से सज्जब जोड़े हुए है। इस युग के स्वापक प्रभाव के कारण ही आज तक 'नाट्यकाव्य' ऐसा ही समानान्तर तर्कों के लिये प्रयोग किया जाता है। फलतः अलंकारशास्त्र का प्रथम अध्याय 'राम' से ही आरम्भ होता है, उससे पूर्व नाट्यशास्त्र था। अलंकारसर्वस्वकार ने भी अलंकारशान्तीय सिद्धान्त विकास की समीक्षा राम के अलंकारप्राधान्य-परक युग से ही शुरू किया है।

अलंकारतत्त्व की प्रधानता इस युग में किस हद तक मानी गई इसका स्पष्ट आभास हमें परवर्ती अलंकारसम्प्रदायानुयायी आचार्य चन्द्रालोककार जयदेव की उक्त उक्ति से मिलता है जिसमें उन्होंने कहा है कि 'जो अलंकाररहित शब्द-वर्ण को काव्य मानने के पक्षपाती हैं वे विद्वज्जन अनुष्ण पदार्थ को अमि नहीं नहीं मानते'। अलंकार की उन्नता के समान अलंकारात्मक-काव्यतत्त्व के सामने अन्य किसकाव्यतत्त्व को आत्म-यत्न दिया जा सकता था?

‘अलंकारतत्त्व’ को काव्यात्मा माननेवाले प्रधान आचार्य भागवत, उद्भट, रुद्रट, जयदेव आदि हैं। इनसे रसतत्त्व भी अपरिचित नहीं था, होता भी कैसे, जब कि इनसे पूर्व भारत का रसवाद पूर्ण प्रचार प्राप्त कर चुका था, पर उस रसतत्त्व को भी ये लोग अलंकारतत्त्व के अन्दर ही काव्यक्षेत्र में समाविष्ट समझते थे। रसवादसे अलंकार वाली युग में कल्पित हुए हैं। प्रतीयमान अर्थ—जिसका विरलेषण बहुत बाद में आनन्दवर्षेण ने व्यापक रूप से किया—का भी पता अलंकारप्राधान्यवादी आचार्यों को अवश्य था, क्योंकि प्रतीयमान अर्थ के आधार पर ही समासोक्ति, भयस्तुतमसंज्ञा आदि अलंकारों की कल्पना की गई है। अलंकारयुग का महेश्वर इस शास्त्र के इतिहास में सर्वाधिक है, क्योंकि अलंकारों के गम्भीर मनन-चिन्तन से ही परवर्ती च्यवन-युग, यत्नोक्तियुग आदि का आविर्भाव समझ हो सका है। काव्यक्षेत्र में स्वतन्त्र रसयुग का उदय भी अलंकारयुग के मथन का ही परिणाम है। इस युग का प्रभाव बाद के युग में अवतीर्ण होने वाले आचार्यों पर इतना गहरा पड़ा कि कि प्रधानतया काव्य में अलंकारों पर ध्यान की मानकर भी ये लोग अलंकारतत्त्व के निरूपण में अलंकारप्राधान्यवादियों की भाँति बढ़ गये। यद्यपि ‘अलंकार काव्य की आत्मा है’ ऐसा कहाँ स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ नहीं उपलब्ध होता, पर उसकी सर्वाधिक महत्ता मानने का ही अर्थ हो जाता है कि उस युग में अलंकार ही काव्यात्मसूत्र रत्न माना जाता था।

27211

इसके बाद उक्त प्रश्न का समाधान ‘रीति’ शब्द से किया गया—अर्थात् वामन ने रीति को काव्य में सर्वातिशयोक्ति एवं स्वीकार किया, अतः उन्होंने धोषणा की—‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ और रीति है विशिष्ट रचना। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण उत्पन्न होती है। रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिये ‘रीतिमत’ ‘गुणसम्प्रदाय’ के नाम से पुकारा जाता है। रीतियों के स्पष्ट विभाजन का भ्रम आचार्य इन्हीं की है। गुण और अलंकार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन का कथन है कि काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण हैं और उसके अधिष्ठान करनेवाले धर्म अलंकार हैं। रीति-काव्यात्मतावादी आचार्य वामन भी रसतत्त्व किंवा च्यवनतत्त्व से अपरिचित नहीं थे, यद्यपि अलंकारकाव्यात्मतावादी आचार्यों को अपेक्षा, उनका परिचय उन तत्वों से गहरा ही था, क्योंकि अलंकारप्राधान्यवादियों ने रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बाहिराङ्ग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कान्तिनामक गुण के अन्दर रस का अन्तर्भाव मान कर काव्य में रस की महत्ता पर अधिक ध्यान दिया है। च्यवनतत्त्व का अनुगोच वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा से अभिन्न यत्नोक्ति से किया है। पर काव्य को आत्मा उन्होंने रीति को ही माना। सनका इष्टिकोण प्रायः यह था कि विशिष्ट वृत्त से पदों की योजना करने से ही काव्य में चमत्कार उत्पन्न होता है।

- इसके अनन्तर उक्त प्रश्न का उत्तर अलङ्कारशास्त्र में गुणान्तरकार आनन्दवर्षेण ने ‘ध्वनि’ शब्द से किया। अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्षेण का नाम सदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरणशास्त्र में जी ह्येन पाणिनि की प्राप्ति है तथा अद्वैत वेदान्त में श्री रघुनाथ शंकराचार्य की मिली है, अलङ्कारशास्त्र में वही स्थान आनन्दवर्षेण का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा में ले जाने का भ्रम उन्हें ही प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन

यथायं है कि—ध्वन्यालोककार (आनन्दवर्चन) ने अलङ्कारिकों का मार्ग, सदा के लिये व्यवस्थित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' वस्तुतः युगान्तरकारी ग्रन्थ है।

आनन्दवर्चन ने शास्त्र आचार्यों के द्वारा उद्घाटित अलङ्कारतत्त्व के गम्भीर चिन्तन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य में उरीरस्थानीय शब्द-वर्ण दोनों ही गौण हैं, उनके दर्शन अलङ्कार आदि की गौण हैं। मुख्य तो हैं प्रतीयमान अर्थ, क्योंकि उन्हीं अर्थों के ज्ञान से सद्बुद्धों को आनन्दविशेष प्राप्त होता है, अतः इन्होंने स्थिर किया कि 'काव्यस्यायमा ध्वनिः' अर्थात् ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) ही काव्य की आत्मा है। प्रतीयमान अर्थ के प्रधानता उन्होंने तीन श्रेष्ठ किए—रस अर्थात्, वस्तु और अलङ्कार। इन तीनों में यद्यपि रस आदि की मुख्यता ध्वनिकार की ही अभिमत है, पर ऐसी बात नहीं है कि वे रस आदि के रहने पर ही काव्यता स्वीकार करते हों, चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य के रहने पर भी काव्यत्व उन्हें मान्य है, अतः सामान्यतः ध्वनि (त्रिविध व्यङ्ग्य) ही उनके मत से काव्य की आत्मा है, रसादि ध्वनिमान नहीं। इसी युग में दूर्य तथा अन्य दोनों को स्पष्टरूप से काव्यात्मक रस तथा की दो शाखायें माना गया और दोनों ही शाखाओं में काव्यत्वनिश्चयक तत्त्व एक ही प्रतीयमान को माना गया और उसी जातभूत तत्त्व के पोषक अन्व अलङ्कार गुण, रीति आदि काव्यतत्त्वों को स्थिर किया गया। इस मत के अनुयायी सबसे अधिक हैं। अम्भट आदि प्रसिद्ध आचार्यों इसी मत के समर्थक हैं।

इसके बाद आचार्य कुन्तक ने उक्त प्रश्न का उत्तर 'वक्रोक्ति' शब्द से दिया—अर्थात् उन्होंने कहा—'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् (वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है)' और वक्रोक्ति का लक्षण उन्होंने किया 'वेदग्न्यभट्टमणिनिः वक्रोक्तिः'—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से विवरण, अलौकिक दृष्टि से कथन। यह मत आनन्दवर्चन के ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप में उत्पन्न हुआ। अमिमांश यह कि—अलङ्कारसिद्धान्त पर मुख्य कुन्तक के उद्देश्य में ध्वनिसिद्धान्त की जानकारी होने पर भी झुंझलाहट पैदा हुई। उन्होंने तोया कि—यदि अलङ्कारसिद्धान्त में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो ध्वनि के समकक्ष होकर खड़ा हो सके। आखिर उन्होंने ध्वनि के समकक्ष तत्त्व वक्रोक्ति को खोज निकाला। इस खोज में उन्हें प्राकृत अलङ्कार-वादी आचार्यों के विभिन्न विचारों से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई।

वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीनकाल से संस्कृत वाक्य में चल आ रहा है और यह शब्द अनेक जगहों में व्यवहृत होता है। वागबट्ट ने कादम्बरि में इस पद का प्रयोग अनेक बार किया है। उन्होंने चन्द्रावीठ की राजधानी का वर्णन करते हुए वर्णों के विद्यापीठजनों को वक्रोक्तिनिपुण कहलाया है—'वक्रोक्तिनिपुणेन विद्यासिञ्जेन।' अन्यत्र शुक के द्वारा शारिका के लिये कहा गया है—'एषापि सुष्यत एव एतावती वक्रोक्ती।' यहाँ वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग कोटा कलाप अथवा परिहास तथा के अर्थ में किया गया है। अमरशतक में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में दीक्षित पड़ता है। 'वक्रोक्ति' का अर्थ ही है वक्र वक्ति—मार्वात् टेढ़ा कथन। प्राचीनकाल से अलङ्कारिकों ने काव्य में किन्ती अपिश्रय, कथन की सत्ता मानी है। साधारण बोलचाल में शब्दों का जिन अर्थों में व्यवहार होता है, वया वही अर्थों को लेकर कवनीय काव्य की रचना हो सकती है। कदापि नहीं। इसके लिये किसी न किसी प्रकार

की विचित्र चक्र की आवश्यकता होती है। काव्य में व्यापार की ही ही प्रधानता रहती है। साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत कथन-प्रकार वक्रोक्ति के नाम से अभिहित होता है। अलङ्कारशास्त्र में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

सैषा सर्वत्र यन्त्रोक्तिरनयाघो विभाष्यते ।

यतोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

(भामह-काव्यालङ्कार)

भामिनीवृत्त ने भामह के 'वक्राभिधैव शब्दोक्तिरिष्टा याचामलङ्कृतिः ।' इस पद्य को उद्धृत करके वक्रोक्ति का लक्षण यह दिया है—'शब्दस्य हि यम्यता, अभिधेयस्य च यम्यता, लोकोत्तीर्णनं रूपेणावस्थानम्' (लोचन) । यम्य तथा अर्थ की यम्यता क्या है ? इनकी लोकोत्तर रूप से स्थिति । भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप से होता है उस रूप में न हो कर उससे बिल्कुल रूप में होना वक्रोक्ति कहलाना है । जैसे 'बह नर गया' ऐसा न कह कर 'बह क्षीणिद्येष हो गया' कहना वक्रोक्ति के भीतर आता है ।

भानुचन्द्र दण्डी ने समग्र वाङ्मय की दो भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति तथा (२) वक्रोक्ति । स्वभावोक्ति के भीतर उन स्थानों का अन्वयार्थ किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो । स्वभावोक्ति ही 'काव्यादर्श' में जाति नामक आध अलङ्कार के रूप में गृहीत हुई है । स्वभावकथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय-कथन' का समावेश किया गया है । इस प्रकार उपमा आदि अर्थालङ्कार तथा रसवत्, प्रेय आदि रससम्बद्ध अलङ्कार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं । इस प्रकार दण्डी ने भामह की वक्रोक्तिकल्पना को स्वीकार किया है । भामह में वक्रोक्ति सब अलङ्कारों की भूल थी । परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से दृष्ट कर दिया है क्योंकि इस अलङ्कार के लिये वे अतिशय कथन को आवश्यक नहीं मानते ।

वामन में भी वक्रोक्ति का वर्णन है परन्तु उसका रूप भामह-प्रदर्शित वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है । वहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का सामान्य मूलभूत आधार माना था, वहाँ वामन उसे अर्थालङ्कारों में परिमणित करते हैं । वक्रोक्ति उनकी दृष्टि से सादृश्य के ऊपर आधारित होने वाली लक्षणा ही है ।

कद्वट के समय में आकर वक्रोक्ति एक शब्दालङ्कार बन जाता है । परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विच्छिन्न है । कुन्तक ने उक्तविचारों से प्रेरणा ग्रहण करके जो अपनी मौलिक प्रतिभा से वक्रोक्ति के स्वरूप को अतिव्यापक बना दिया । उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया । वक्रोक्ति की काव्य का जीवन—आत्मा—मानने के कारण ही कुन्तक का ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' कहा जाता है । कुन्तक बड़े ही मौढ़ तथा मार्मिक आलोचक थे । उनकी मौलिकता के कारण यदि उन्हें आनन्दवर्धन के समकक्ष माना जाय तो अनुचित नहीं होगा । वे रस ध्वनि आदि समस्त उपादेय तत्त्वों का समावेश वक्रोक्ति में ही करते हैं । प्रधानतया वक्रोक्ति के छे भेद—१. वर्ण-यम्यता, २. पदपूर्वार्थयम्यता, ३. पदोत्तरार्थयम्यता, ४. वाक्ययम्यता, ५. प्रकरणयम्यता, और

६. प्रदम्बकता नाम से उन्होंने किए हैं। इन भेदों के अवान्तर भेद भी बहुत हैं। उपचार-वक्ता नामक भेद में ध्वनि के प्रचुर भेदों को गतार्थ किया गया है। खेद है कि इस मत के अनुयायी बाद के आचार्यों नहीं हुए और इस सिद्धान्त को किसी ने अग्रसर नहीं किया। साहित्य-दर्पण आदि में जो 'वक्त्रोक्तिः काव्यजीवितम्' का खण्डन किया गया वह सर्वथा वक्त्रोक्तिजीवन-कार के अभिप्राय को नहीं समझ कर। ऐसा लगता है कि जैसे 'वक्त्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ को खण्डनकर्ताओं ने नहीं देखा, केवल 'वक्त्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इस एक शब्द को कहीं से सुन लिया और वक्त्रोक्ति का स्वरूप वही समझ लिया जो रुद्रट ने लिखा था।

इसके अनन्तर आलङ्कारिक समय ने एकटा खाया और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि आचार्यों ने असंख्यक्रमव्यङ्ग्य कहे जाने वाले रस, भाव आदि को काव्य की आत्मा कहना आरम्भ किया। इस मत के प्रवर्तक आचार्यों में सबसे प्रधान लोचनकार अभिनवगुप्त हैं। अभिनव-गुप्त आलङ्कारिक होने के साथ बहुत बड़े दार्शनिक भी थे। 'शैवाग्रम' के प्रधान ग्रन्थकार आप ही हैं। आधुनिक रसवाद पर शैवाग्रम का प्रभाव आपके सम्बन्ध से ही विद्वान्त मानते हैं। आप भरतकृत नाट्यशास्त्र के ऊपर एक मात्र उल्लेख टीक अभिनव भारती के रचयिता हैं। अतः भरत के रसवाद का ग्रहण आपने सर्वात्मना किया है। इतना कहा जा सकता है कि भरत के समय में प्रायः 'रस' शब्द का अर्थ शृङ्गार, वीर आदि तन्मय रस ही था, पर अभिनवगुप्त के आलोचनाकाल में 'रस्यते = आस्वाद्यते' इस व्युत्पत्ति के बल पर उसका अर्थ समस्त असंख्य-क्रमव्यङ्ग्य हो गया जिसकी मानकर विश्वनाथ आदि ने 'रसात्मक वाक्यम् काव्यम्' यह काव्यलक्षण प्रस्तुत किया।

वहीं आकर अभिप्राणकार से भी एकवाक्यता हो गई, क्योंकि उन्होंने भी 'वाग्वैद्यग्य-प्रधानेऽपि रस पृथग्न जीवितम्' कहा है। ध्वनिनिरोधी आचार्य महिममट्ट ने भी इसी मत में अपनी आस्था प्रकट की है, क्योंकि उनका भी 'काव्यस्यात्मनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमर्शितः' ऐसा कथन है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने रसशेष के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी और अनुमान से रस का बोध माना। इस सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि वस्तु, अलङ्कार आदि विविध व्यवृत्तियों के रहने पर भी रसानुभव का भूखा सदृशों का हृदय रसानु-भव से ही सन्तुष्ट हो पाता है। रस आनन्दरूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जो वस्तु सत्तार में मय, शोक आदि की भी उत्पन्न करती है अपना क्रोध का कारण बनती है वह भी काव्य में वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है और इसीलिए वह आनन्द का उद्बोधन करती है।

साहित्य में रस मत की महत्ता अवश्य है। लौकिक संस्कृत का प्रथम पथ, जो कौशिक से गर्भागत महर्षि वात्सीकि के मुक्त से उद्गत हुआ था, रसयव ही था। इस सिद्धान्त का मूलभूत सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र छोटा-सा प्रतीत होने पर भी परमसारगर्भित है। भरत ने इस सूत्र पर जो माध्य लिखा है वह बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। परन्तु पीछे के टीकाकारों ने इस सीधे तथा सरल सूत्र की व्याख्या करने में अपना सारा बुद्धि-बल खर्च कर दिया है। किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य

के देखने से चित्त में जो भौतिक आनन्द हुआ करता है वही रस है। इसकी व्यवस्था करने में भरत के टीकाकारों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से इसका विभिन्न प्रकार से अर्थ किया है। वेसे तो पण्डितराज ने रस के विषय में ग्यारह मनों का उल्लेख करके उनमें से आठ मनों में उक्त सूत्र को संघटित किया है, पर इस विषय में चार मन अनिवार्य समझिये हैं। इन मनों के व्यवस्थापक अलङ्कारिकों के नाम ये हैं—(१) मट्ट स्रोत, (२) मट्ट गङ्गा, (३) मट्ट नायक तथा (४) अभिनवगुप्ताचार्य। इनके मनों का सारांश-सङ्गम पूर्वभाग की भूमिका में किया जा चुका है। यहाँ इतना मर कहना है कि—मट्टनायक का मत रिलय है और विलयनता यह है कि इन्होंने रसबोध के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं मानी, और काव्य में व्यापारों की प्रधानता स्वीकार की। इनके मत से अभिधा, मावकत्व और मोवकत्व इन तीन व्यापारों की सहायना से रस घात होता है। मावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाट्य में अभिनीत व्यक्ति अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देश को छोड़ कर सामान्य पुरुषरूप में हो गृहीत होता है। इस साधारणीकरण की पूर्वा अभिनवगुप्त के मत में भी की गई है और यह तथ्य भी है कि रसानुभव से पूर्वखण्ड में विभाव, अनुभाव आदि सभी पदार्थों का अनुभव सामान्य रूप से ही होता है, व्यक्तिविशेष के सम्बन्धीरूप में नहीं। इस तरह सामान्यरूप से गृहीत विभावादिकों से हो रस की अभिव्यञ्जना होती है।

ललित वस्तुओं के गुणग्रहण के अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारणरूप से ही तथा संरन्ध-रहित होकर ही लोभ्य होता है। किसी वादिका में लगे हुए गुणों के फूल की शोभा देखते हुए जब आपका चित्त आकृष्ट होता है तब उसके प्रति कैसी भावना होती है, उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोड़ने के लिये आगे बढ़ते, शत्रु का समझते तो उससे द्वेष उत्पन्न होता, यदि किसी उत्तर व्यक्ति को समझते तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः यह गुणों का सुन्दर फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है, और न किसी वदासीन का है^१।

इस विषय में सबन्ध के ग्रहण तथा परिवर्तन की कोई बात ही नहीं रहती। गुणों एक सुन्दर फूल है। वह सुन्दर वस्तु का प्रतिनिधि है। ललितकला के विषय में साधारणीकरण का यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। रसमीमांसा के अवसर पर भी इस सामान्य नियम का प्रयोग मट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों ने किया है। पर अभिनवगुप्त जहाँ रस पदार्थ की प्रधानता स्वीकार कर उसको काव्य की आत्मा कहते हैं, वहाँ मट्टनायक पदार्थ की नहीं, अपितु उसको समझने वाले व्यापार की प्रधानता मानते हैं, और वही है उनका तीसरा व्यापार मोवकत्व अथवा भोग किंवा मुक्ति। इस तरह यद्यपि मट्टनायक के मत से यह भोग-व्यापार ही काव्य का आत्मा है तथापि इस मत को रसमत में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये। इस तरह काव्यात्मा के विषय में निम्नलिखित छे मत पर्यवसित होते हैं—

(१) अलङ्कार काव्य की आत्मा है। (मामरु, उल्लट, रुद्र आदि)

(२) रीति काव्य की आत्मा है। (वामन)

(३) ध्वनि = त्रिविध (वस्तु अलङ्कार रसादि) व्यवहृत काव्य की आत्मा है।

(आनन्दवर्धन-आदि)

१—परस्पर न परस्परैति मयेति न मयेति च।

उदात्तादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ (साहित्यदर्पण)

(४) वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है । (कुन्तक)

(५) रस (असत्त्वकगन्धर्व) काव्य की आत्मा है । (अमिनवगुप्त विश्वनाथ आदि)

(६) योग काव्य की आत्मा है । (भट्टनायक)

काव्यात्मतत्त्व के विषय में मनमोद होने के कारण ही अलङ्कारशास्त्र में सम्प्रदायों की सृष्टि हुई । वे सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

(१) अलङ्कारसम्प्रदाय ।

(२) गुण अथवा रीति-सम्प्रदाय ।

(३) वक्रोक्तिसम्प्रदाय ।

(४) ध्वनिसम्प्रदाय ।

(५) रससम्प्रदाय (भट्टनायक के भोगवाद को इसी में अन्तर्भूत समझना चाहिये)

इस विषय का स्पष्टीकरण अलङ्कारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने बड़े अच्छे ढङ्ग से किया है । उनका कथन है कि—विशिष्ट उद्देश्य और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं । उद्देश्य अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से सम्भव हो सकती है—

(१) धर्म से, (२) व्यापार से, (३) व्यङ्ग्य से ।

धर्म दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य । अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नहीं रहती जितनी नित्य धर्म की । अनित्य धर्म है अलङ्कार और नित्य धर्म का नाम है गुण । इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार-सम्प्रदाय (२) गुण या रीतिसम्प्रदाय । व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—भणिति-वैचित्र्य (वक्रोक्ति) तथा भोगरस । इस प्रकार व्यापारमूलक वैशिष्ट्यप्रतिपादक भी दो सम्प्रदाय होने चाहिये—(१) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और (२) भोगसम्प्रदाय । पर भोगसम्प्रदाय स्वतन्त्र नहीं हो सका, क्योंकि बाह्य भट्टनायक ने रस की निष्पत्ति समझाने के लिये ही इस व्यापार की कल्पना की थी, अतः यह रस सम्प्रदाय के ही अन्दर समाविष्ट समझा जाता है । यद्यपि समुद्रबन्ध ने स्वतन्त्र रससम्प्रदाय का भी उल्लेख नहीं किया है क्योंकि ध्वन्यालोकिय सिद्धान्त का विवरण करते वाले मूल सर्वस्वकार के आधार पर ही अपनी व्याख्या उन्हें प्रस्तुत करनी थी और ध्वन्यालोक में विविध व्यङ्ग्य को एक कोटि में ही रक्खा गया है जिसका विवरण समुद्रबन्ध व्यङ्ग्यमूलक वैशिष्ट्य कह कर करते हैं^१ तथापि भरत, अमिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि के मतानुसार स्वतन्त्र रससम्प्रदाय भी पूर्ण सम्मानित है ।

समुद्रबन्ध के उक्त विवरण में औचित्यसम्प्रदाय भी असंगृहीत है । इस सम्प्रदाय का समग्र समुद्रबन्ध के विवरण में इसलिये नहीं हो सका है कि उनसे अर्वाचीन हैं औचित्यसम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र । क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचाररचा में औचित्य का बहुत अच्छा विद्वेषण किया है तथा औचित्य को ही काव्य में सबसे मुख्य तत्त्व अथवा आत्मपदप्राप्तियोग्य ठहराया

१ 'इह विशिष्टो उद्देश्यो काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्य धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमु-
लेन वेति त्रयः पक्षाः । आद्येऽपि अलङ्कारानो गुणो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण
भोगरसत्वेन वेति द्वैधम् । इति पञ्चसु पक्षेषु आद्य उद्देश्यादिमिरहीकृत द्वितीयो नामनेन, तृतीयो
वक्रोक्तिजीविनकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन पञ्चम आनन्दवर्धनेन ।'

है। इस प्रकार कान्यासूत्र के विषय में पूर्वोक्त छे मतों के अतिरिक्त एक सातवाँ मत भी है (औचित्यमात्रमा कान्यस्य) ऐसा समझना चाहिये।

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसी कान्य की व्याख्या मानने का प्रयत्न यद्यपि छेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना, साहित्यसंसार में बहुत ही प्राचीन काल से चली आती थी। भरत के नाट्यशास्त्र में ही सिद्धान्तरूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार-रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि—लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस देश में व्यवहृत होती है उस देश के नाटक-नायिकाओं का चित्रण वही रूप में करना चाहिये। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक अतिप्रामाणिक है—

‘अदेष्टाजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति ।

मेखलोरसिचन्द्रे च हास्यापेक्ष प्रजापते ॥’ (नाट्यशास्त्र)

जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अङ्ग में पहना जाता है उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई मेखला को छाती पर पहन ले तो वह हास्यास्पद ही होगा। इस पक्ष से सिद्ध है कि भाष्य आलोचक भरत को ललितकला में औचित्य का सिद्धान्त द्रष्टव्य था। आनन्दवर्धन ने भी औचित्य की व्यापक कान्यतत्त्व स्वीकार किया है। रसमग की व्याख्या के अवसर पर उन्होंने कहा है—

‘अनौचित्यात् ऋते नान्यद्द्रष्टव्यस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिबन्ध परा ॥’ (ध्वन्यालोक)

अनौचित्य ही रसमग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक कान्य में उत्पन्न नहीं होता। रस के उन्नेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन, कान्य में कल्पना और विधान। इसके अन्तर्गत अन्य प्राचीन भङ्गकारग्रन्थप्रणेता भाचार्यों ने भी औचित्यतत्त्व की स्वीकार किया है। पर औचित्य की व्यापक कान्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है आचार्य छेमेन्द्र ने ही। औचित्य कितने कहते हैं? उचित का भाव औचित्य कहलाता है और जो वस्तु जिसके सङ्ग ही, जिससे जिसका मेल मिले उसे कहते हैं ‘उचित’।

‘उचित प्राङ्गुलाचार्याः सप्तशं किल यस्य धत् ।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥’ (औचित्यविचारधर्मा)

यह औचित्य ही रस का अनिवार्यमूल है, प्राण है तथा कान्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चाह चर्वणे ।

रसजीवितमूलस्य विचारं कुर्वतेऽधुना ॥’ (औचित्यविचारधर्मा)

छेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, उक्ति, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र देखा-कर छेमेन्द्र ने साहित्यरसिकों का बड़ा उपकार किया है। इस प्रकार छेमेन्द्र ने औचित्य को साहित्यशास्त्र में व्यवस्थित रूप दिया है। पर उन्हें ही इस तत्त्व का उद्गाढक नहीं कहा जा सकता। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि छेमेन्द्र ने औचित्य के विषय में भरत तथा आनन्द-

वर्षन से प्रेरणा प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, क्षेमेन्द्र का औचित्यविषयक, निम्ननिर्दिष्ट पद्य भी पूर्वोक्त भारतीय पद्य का परिष्कृत रूपान्तर मात्र प्रतीत होता है।

‘कृष्णे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा

पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन ॥’

‘शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया चायान्तिके हास्यतां

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते माछं हृतिर्नो गुणा ॥’

यह तो हुआ प्राकृतन आचार्यों के मतों का सकलन। अब यहाँ पर विचार कर लेना भी उचित होगा कि पण्डितराज का काव्यात्मा के सम्बन्ध में क्या मत है? पण्डितराज उक्त सम्प्रदायों में से किस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं? जैसे तो पण्डितराज अथवा उनके ग्रन्थों की अब तक बहुत थोड़ी आलोचना हो सकी है, पर जो भी आलोचना हुई है, उसमें पण्डितराज को ध्वनिसम्प्रदायानुयायी सिद्ध किया गया है, तदनुसार पण्डितराज के मत से ध्वनि (त्रिविध व्यङ्ग्य) को काव्यात्मा ठहराया गया है। वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ विश्वनाथ आदि के समान रसवादी नहीं हैं—अर्थात् वे केवल रस (असलक्ष्यकमव्यङ्ग्य) को काव्य की आत्मा नहीं मानते, क्योंकि ऐसी मान्यता का परिणाम यह होता कि चमत्कारी वस्तुव्यङ्ग्य तथा चमत्कारी अलंकारव्यङ्ग्य की प्रतीति होते रहने पर भी रस प्रतीति के अभाव में किसी गद्य अथवा पद्य को वे काव्य नहीं मानते, किन्तु उनके ग्रन्थ (रसगङ्गाधर) में एक नहीं, अनेक ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर सबल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे रस-व्यङ्ग्य होने पर भी रमणीय वस्तुअलंकाराभिप्रेत्यक पद्य को काव्य अवश्य मानते हैं।

त्रिविध व्यङ्ग्यों को अलङ्कारोपसर्कार्य मानना भी पण्डितराज की ध्वनिवादी ही सूचित करता है, रसमात्रवादी नहीं। ऐसी स्थिति में पण्डितराज को मम्मट, अप्सवदोक्षित आदि के समान ध्वनिसम्प्रदायानुयायी मानना समुचित ही है। परन्तु रसगङ्गाधर के मनन से ऐसा भास होता है कि—पण्डितराज ध्वनिवादी होते हुए भी अन्य ध्वनिवादियों से कुछ अधिक प्रगतिशील थे। जिस तरह रसवादी रस की, ध्वनिवादी त्रिविध व्यङ्ग्यों में से किसी एक व्यङ्ग्य की सत्ता को काव्यत्व के लिये आवश्यकतम मानते हैं, उस तरह पण्डितराज नहीं मानते। वे तो रमणीय अर्थ (वह अर्थ चाहे रस ही अबदा वस्तु तथा अलंकारव्यङ्ग्य हो, किं वा वाच्य तथा लक्ष्य ही हो) की सत्ता को काव्यत्व के लिये अपेक्षित समझते हैं, इसीलिये वे ‘रमणीयार्थ-प्रतिपादक’ शब्द काव्यत्व में ‘व्यङ्ग्य’ बद नहीं कह कर वाचक, लक्षक, व्यङ्ग्यक तीनों प्रकार के शब्दों के समग्रार्थ सामान्य ‘प्रतिपादक’ शब्द कहते हैं। इतना ही नहीं, व्यङ्ग्य अर्थों के साथ-साथ वाच्य-अर्थविशेष-को भी पण्डितराज अलङ्कारों से अलङ्कृत होने वाला कहते हैं^१। ऐसी स्थिति में अकामेनापि यह मानना पड़ेगा कि—किसी तरह का चमत्कारी

१ यद्यपि पहले भी प्रसङ्गवश यह विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँ कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक था।

२. देखिए—रसगङ्गाधर का उपमालक्षण तथा उपमानिरूपण का वह अग्रिम भाग जो पीछे अलंकारविवेचन के अवसर पर उद्धृत भी किया जा चुका है।

व्यङ्ग्य न हो और रमणीय वाच्यार्थ हो तब भी पण्डितराज को काव्यत्व दृष्ट है। अब यदि पण्डितराज केवल व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) को काव्यात्मा मानते होते, तब उसके अभाव में उन्हें काव्यत्व कैसे दृष्ट हो सकता था ? आत्ममूर्त तत्त्व के अभाव में तो किसी भी संप्रदाय के आचार्यों को काव्यत्व दृष्ट नहीं होता। अतः वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य कोई भी अर्थ रहे पर यदि वह रमणीय हो—लोकोत्तर जाह्लाद्बलक हो—तो उसे पण्डितराज काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में थे, 'रमणीयौऽर्थः काव्यस्यात्मा' यही पण्डितराज का मत है फलतः पण्डितराज का संप्रदाय साहित्यजगत् में अमिनब हो है। यदि इस संप्रदाय का नाम-करण किया जाय तो मेरे विचार से उसका नाम 'रामणीयक-संप्रदाय' होना चाहिए।

उपसंहार

जो स्वयं छन्दोदिका कवि नहीं, उसे छन्द कोटि की कविता की परख कैसे हो सकती है ? काव्य-शास्त्र का सच्चा आलोचक नहीं हो सकता है जो स्वयं छन्द कोटि का कवि हो। भाषाचार्य का यह कथन सत्य ही है—'कविर्भावयति भाषकश्च कविः'—कवि ही भावना करता है और भाषक ही काव्य सृष्टि करता है। भाषक (आलोचक) कवि कभी अथम दृष्टा प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी प्रतिष्ठा सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक होनी है—

'प्रतिभाताश्चम्येन, प्रतिष्ठा मुवि भूरिषा।

भाषकस्तु कविः प्रायो, न भवत्येषमां दृष्टाम् ॥' (काव्यमीमांसा)

वात यह है कि कारयित्री तथा भाषयित्री दोनों तरह की प्रतिमाओं की स्थिति एकत्र असंभव नहीं, तो दुर्लभ अवश्य है।

इमीलिये तो काव्यमीमांसाकार रामेश्वर की भी कहना पड़ा—

'नद्येकस्मिन्नतिस्त्राययतां सञ्चिषाते गुणानाम्।

एकं सूते कनकमुपलस्तत्परीषापमोऽभ्यः ॥'

पर, इसके साथ ही, इमी पद्य के प्रथम दो चरणों के रूप में ही, यह भी कहना पड़ा—

'कश्चिद् वाचां रचयितुमलं श्रोतुमेवापहस्ताम्।

कण्ठ्याणी ते भक्तियुग्मया विस्मय नस्तनोति ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ की सर्जक और आलोचक उभयविध प्रतिभा विष पाठकों को विस्मय में डाल देती है। भाष्यवान् हैं वे श्रुतीजन जिन्हें पण्डितराजीय प्रतिभा से विस्मित होने का सुत्रवत्तर प्राप्त होगा है। अन्त में रसधाम घनद्वय से मेरी प्रार्थना है कि वे विद्वन्मण्डल के भन में रसगङ्गाधराध्ययन द्वारा एक विस्मय-सरोवरवगाहन की प्रेरणा प्रदान करें।

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

विनीत—

मदनमोहन म्ना

रसगङ्गाधरे प्रमापकाः

प्रथमानने

	पृष्ठाङ्काः		पृष्ठाङ्काः
अभ्ययदीक्षितः	४४	भरतमुनिः	१७५
अभिनवगुप्ताचार्यपादाः	९२	भागवतम्	१७४
अलङ्काररत्नाकरः	१२८	मम्मटमहः	८८
आनन्दवर्धनाचार्यः	३६३	महाकवि (भाष आदि)	७३
करुणालहरी	१४५	महाभारतम्	१६७
काव्यप्रकाशः	४७	यमुनाधर्मनम्	७०
काव्यप्रकाशटीकाकाराः	२१४	योगवासिष्ठम्	३७२
गीतगोविन्दम्	१९८	रत्नावली	"
गीता	१६७	रामायणम्	"
चित्रमीमांसा	४४	व्यक्तिविवेककृत	५३
जयदेवः	१९८	रात्रिवेवः	१६९
ध्वनिकारादयः	१६	श्रीवत्सलाञ्छनः	१५५
पद्मलहरी	३७२	सङ्गीतरत्नाकरः	३७
महनायकः	९२	साहित्यदर्पणः	२२

द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तभागे

	पृष्ठाङ्काः		पृष्ठाङ्काः
अलङ्कारभाष्यकाराः	५००	बादरायणचरणाः	३५
आख्यातवादशिरोमणिभ्याख्याकारः	३१९	ब्रह्मसूत्रम्	"
अलङ्कारिकाः	२६७	महामाध्यम्	१८९
उत्तरमीमांसा	३५	विद्याधरः	५४९
कालिदासः	३७१	विद्यानाथः	२१६
कुवलयानन्दः	४३२	विमर्शिनीकारः	४५४
कैयटः	२४७	श्रुतिवार्तिकम्	१२८
नैयायिकाः	३३८	वैयाकरणाः	२५२

विषय-सूची

(प्रथमानन्तः भागः)

विषयः	पृष्ठा	विषयः	पृष्ठा
मङ्गलान्वरणादि	१	वीर	१५०
काव्यलक्षणम्	५	अद्भुत	१५५
काव्यप्रकाशोक्तलक्षणे आक्षेपः	१४	तत्र प्रकाशोदाहरणे आक्षेपः	१६५
साहित्यदर्पणलक्षणे	२३	हास्य	१६८
प्रतिभाया एव काव्यकारणता	२५	भयानक	१७०
काव्यस्य वातुर्विध्यम्	३३	बीमन्तः	१७५
उत्तमोत्तमलक्षणम्	३३	रसानां संख्यानियम	१७६
उत्तम	३९	रसानां विरोधाविरोधचिन्ता	१७६
मध्यम	७०	रसदोषा	१८८
अध्यम	७२	गुणनिरूपणम्	२०१
प्रकाशकृद्भेदेषु कदाक्षः	७४	गुणनिरूपणे स्वमतम्	२०८
रसस्वरूपम्	८०	गुणनिरूपणे वामनादीनां मतम्	२०९
रसस्यैकाग्रसंभेदा	८३	शब्दगुणानां लक्षणम्	३
भरतसूत्रस्याष्टधा व्याख्यानम्	८३	श्लेष	११०
रसानां नवधात्वम्	१२१	प्रसाद	१११
शान्तस्य रसत्वव्यवस्थापनम्	१२५	समता	११२
रतिलक्षणम्	१२५	माधुर्यम्	११३
शौकलक्षणम्	१३०	सुकुमारता	११३
कण्विप्रलम्भस्याशक्तं कण्वेऽशक्तम्	१३०	अर्थव्यक्ति	११४
शृङ्गारेऽन्तर्भावः	१३२	उदारता	११५
निर्वेद	१३२	क्रोध	११६
क्रोध	१३२	कान्ति	११६
उत्साह	१३३	समाधि	११७
विस्मय	१३३	अर्थगुणानां लक्षणम्	११८
हास	१३४	श्लेष	११८
मयम्	१३४	प्रसाद	११९
सुगुप्ता	१३४	समता	१२०
विभावदिस्वरूपम्	१३८	माधुर्यम्	१२१
शृङ्गारद्विध्यम्	१४३	सुकुमारता	१२२
कण्व	१४३	अर्थव्यक्ति	१२३
शान्त	१४४	उदारता	१२३
रोद	१४४		

विषयाः	पृष्ठा०	विषयाः	पृष्ठा०
श्रोज	२२३	सुप्तम्	३००
कान्तिः	२२७	विबोधः	३०२
समाधिः	२२९	अमर्षः	३०६
अर्थे तेषां त्रिधेवान्तर्भावः	२३१	अवद्विष्टम्	३०७
गुणानां व्यञ्जिका रचना	२३३	उपपत्ता	३०८
रचनायां वर्जनीयम्	२३९	उन्माद	३१०
तत्र विरोपतो वर्जनीयम्	२४०	मरणम्	३११
भावान्नितिरूपणम्	२६४	वितर्कः	३१४
भावलक्षणम्	२६९	विपादः	३१५
हर्षः	२७३	श्रौत्स्वम्	३१८
स्मृतिः	२७४	आवेगः	३१९
प्रीडा	२७९	जडता	३२०
मोहः	२८०	आलस्यम्	३२३
धृतिः	२८२	असूया	३२५
राडा	२८३	उपपत्ता	३२८
रत्नानि	२८४	कपलता	३२९
दैन्यम्	२८५	निर्वेदः	३३१
चिन्ता	२८८	अभिचारिणां संख्या	३३४
मदः	२८९	रसाप्राप्तः	३३५
धमः	२९२	मावशान्तिः	३४७
गर्वः	२९४	मावोदयः	३४८
निद्रा	२९६	भावसन्धिः	३४९
मतिः	"	मावशयलता	३५०
व्याधिः	२९८	अलक्ष्यकमध्वनेरपि कचिल्लक्ष्यकमता	३६२
श्रावः	२९९	वर्णरसनादीनां रसाभिप्यञ्जकत्व- निराकरणम्	३७०

विषय-सूची

(द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः)

विषय	पृष्ठा०	विषय	पृष्ठा०
संलक्ष्यक्रमध्वनि	१	कविप्रौढौकिसिद्धवस्तुना अलङ्कारध्वनि	११२
शब्दशक्तिमूलकध्वनौ गम्मतमम्	२	" अलङ्कारेण	११४
" " ध्वनिधारमतम्	१	उभयशक्तिमूलको ध्वनि	११७
" " स्वमतम्	१३		
मानार्थे शक्तिनियामकरूपेणम्		अथ लक्षणामूला	
संयोग	३९	अलङ्कारार्थमूलको ध्वनि	१२०
विप्रयोग	४०	अलङ्कारार्थमूलको ध्वनि	१२१
सांख्यिकम्	४२	अभिधानिरूपणम्	१२३
विशेषिता	४७	वाचकशब्दनिरूपणम्	१२८
अर्थ	५४	लक्षणशक्तिनिरूपणम्	१४९
प्रकरणम्	५६	लक्षणशक्तिवाक्यानां शब्दबोधनिरूपणम्	१५५
लिङ्गम्	५७		
शब्दस्यान्यस्य सज्जिधि	"	अलङ्कारनिरूपणम्	
सामर्थ्यम्	६१	उपमाक्षगम्	१९५
श्रीचिन्ता	६४	आचोतोक्षोपमाभेदलक्षणम्	२१६
देश	६५	" भेदालोचनम्	२४५
काल	६६	उपमास्यलक्षणशब्दबोधविचार	३१०
व्यक्ति	६७	सादृश्यस्य समान्यधर्मरूपत्वे बोध	३३४
स्वर	"	उपमादोष	३३९
		उपमेयोपमा	३५६
शब्दशक्तिमूलका ध्वनिः		अतन्वय	३८०
शब्दशक्तिमूलाऽलङ्कारध्वनि	७०	अगम	४००
शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनि	८७	उदाहरणम्	४०९
अर्थशक्तिमूलको ध्वनिः		स्मरणम्	४२०
वस्तु सम्मतिना वस्तुना वस्तुध्वनि	९३	रूपकम्	४४६
" " अलङ्कारध्वनि	९८	परिणाम	४६१
" अलङ्कारेण वस्तुध्वनि	१०५	ससन्देह	४६८
" " अलङ्कारध्वनि	१०८	आन्तिमान्	४९०
कविप्रौढौकिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनि	१०९	उल्लेख	६०४
" अलङ्कारेण "	१११	अपहृति	६२५
		उल्लेख	६४३



॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

सुखममृच्छन्ममृ

स्मृतापि तरुणातपं करणया हरन्ती नृणा-
मनङ्कुरतनुत्विषां बलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कऽपि कादम्बिनी ॥ १ ॥

पुष्परत्नैः गौरी-गङ्गाधरतामवापितौ तपसा ।
मायाविद्यानायौ प्रणम्य करुणानिधी पितरौ ॥
प्रसूहपङ्कजक-क्षौद- प्रतिभाप्रभातहृदय-
तन्धो सृष्टिरपि यस्या निधाय ता भारतीमन्त- ॥
नित्यं ब्रजे लभन्ती शितशितिमहती नमस्यता राधय-
रसगङ्गाधरविभूतिर्बदरीनागेन चन्द्रिका ध्रियते ॥

अत्र साहित्यपदार्थानामान्वीक्षिणीप्रथितपथेन यथायथं सूक्ष्मसमीक्षया परोक्षप्रेक्षायतां प्रसादाय, प्रतिपक्षस्मयान्पतमसावसादाय च तैलङ्गपण्डितराजो जगन्नाथभट्टः कमपि नूतनं प्रबन्धमारम्भाणस्तत्समाप्तिप्रचारादिप्रतिबन्धकान्तरायसन्ततिशान्तये श्रुतिबोधितैतिकर्तव्य-
साकं महलमानरत्न शिष्यान् विशिष्य शिष्यायितु निबध्नाति—स्मृतापीति ।

स्मृता स्मरणविषयीकृताऽपि (विमुक्त स्मरणमाणा, दृष्टा स्मृता वा न तु दृष्टैव दृष्टिद्वारा स्मृष्टैव वा) नृणा मनुष्याणाम्, (सर्वेषां, न तु कस्यचिदेकस्यैव) तरुणं प्रौढं तीव्रमिति यावत्, आतपं दिनकरद्योतं तत्त्वेनाध्यवसितमाधिभौतिकदिसन्तापम्, करुणया निजनैस-
गिकजीवानुकम्पया, हरन्ती नाशयन्ती (न पुनर्दृष्टयती हरिष्यन्ती वा) तथा—अनङ्कुरा
अनङ्कुरस्तनूनां वपुषा त्विषः कान्तयो भासां, तास्तयोकाः, तासां विद्युता चपलानां तत्त्वे-
नाध्यवसितानामाभीरवाममुवा, शतैरनेकशतसङ्ख्याभिः (भस्तुतस्तत्सङ्ख्याभामिस्ताभिः)
बलयिता परिहृता, तथा—कलिन्दगिरिनन्दिनीयशुनाया, तटे तीरे (कुन्दावने निवसमाना)
सुरद्रुमान् मन्दारादिदेववृक्षान् हरिप्रियापरपर्यायितया कदम्बपादपान् वा, यद्वा—तट एव
सकलामिलापप्रकृत्वात् सुरद्रुमस्तम्, अवलम्बते स्वविलासाधिष्ठानतयाऽऽश्रयति तच्छ्रीला,
काऽप्यनिर्वचनीयत्वेन प्रसिद्धकादम्बिण्या विलम्बणा, कादम्बिनी येषमन्ता तत्तदेवाध्यवसिता
शृङ्गाराविष्टातृदेवतश्रीकृष्णमूर्तिः, मदीयमतेर्यामकीनसुन्दे, चुम्बिनी विषयोभूता भवत्वित्यर्थः ।

तथा च 'अज्ञाशोचोत् आतप' 'नीपप्रियक-कदम्बास्तु हरिप्रिय' 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमर । इह यद्यपि किंशत्याया सदैवने सर्वा सङ्गवेयसङ्गधयो ॥' इत्यमरानुशासनेन सङ्गधा-
वाचकस्य शतशब्दस्यैकवचनान्तत्वमेव प्राप्तम्, किन्तुनेकशतसङ्गधावेवशायां 'सङ्गधाऽयं
द्विवहुस्ते स्त' इति तस्यैवानुशिष्टे 'सार्धं मनोरथशतैस्त्व घूर्त' 'कान्ता' 'कृतास्पदामूमि-
भृता सहस्रै' इत्यादिवद् बहुवचनान्तत्वं प्रयुक्तम् । अत एव 'दासीना सुकुमारोणा द्वे शते
समलङ्कृते ॥' 'इर्षस्थान-सहस्राणि शोकस्थानशतानि च ॥' इत्यादयो भागवत-भारत-
प्रयोगा सङ्गच्छन्ते । न चैव तदनुशासने सदापरोपादानवैयर्थ्यप्रसङ्ग, तस्य द्वित्वबहुत्वान-
वच्छिन्नशतत्वसङ्गधा-सदवच्छिन्नयोर्विकल्पो सार्धैक्यस्य व्यवस्थापनान् । सङ्गधाया आश्रय-
द्वारा बल्यनक्रियाया कर्तृत्वमिति कर्तारि तृतीया । अभेदे तृतीयेति कश्चित् । वस्तुतस्त्वेता-
दृशास्थलेषु शतशब्दस्त्वन्त्रेण सङ्गधाया सङ्गधेयाना य वाचक इति सङ्गधेयनिष्ठैवाप्रापि
कर्तृता, विद्युषिष्ठशतत्वसङ्गधाविशिष्ट-तत्कर्तृकबल्यनस्यैव प्रतीतिश्च । बल्यितेत्यत्र बल्यं
करोतीत्यर्थे णिन्, तदन्ताच्च क ।

आतपत्वेन त्रिविधमन्तापस्य, विद्युत्त्वेन बल्यववरणित्वीनाम्, कादम्बिनीत्वेन श्रीकृष्ण-
मूर्तेष्वोपमेयानां निगारणादभेदेऽभेदाध्यवसानात्मिकाऽतिशयोक्ति । प्रसिद्धा मित्र कादम्बिनी
क्षणभङ्गशीलरान्तिभिर्विजुगुप्सताभिर्वेष्टिता, जडतया सुतरा कालम्यविरहिणी, दर्शनावेव, वृष्टि-
द्वारा स्पर्शनावेव वा, कैपाचित् स्वावच्छिन्नाकाशतले विद्यमानानामेव प्रीप्तामिहिरातप हरति ।
इदन्वातपसन्तापहारित्वादिसाधर्म्यमागमि पूर्वप्रतिपादितप्रकारैस्तद्विलस्येति व्यतिरेक ।
स्मृताऽपीत्वपिना दर्शनाद्यर्थापादनादर्शयति । तत्र एव सुरहुम इति परो रूपकश्च । तत्र
मियोनिरपेक्षाभ्यामर्थापतिरूपकभ्यां सङ्कीर्णं व्यतिरेकोऽतिशयोक्तिं पुष्पातीति तयोरङ्गाङ्गि-
भावेन सङ्गरोऽलङ्कार । रूपकानिशयोक्तो निरिक्तालङ्कारत्वेनाङ्गीकारस्त्वर्षावामरोचक जन-
यतीत्यवसरे प्रतिपादयिष्याम । 'नियमितनियमरहिताम्' इत्यादिवक्ष्येपमेवैकल्यममर्ष-
कविशेषपैरेवोपमान-साम्ययोरावापाद् व्यतिरेकसत्ता न दुर्घटा । कालिन्दीकूलस्थलवैपुर्वात्
कालिकाया, वर्णवैपरीत्याद् राधायाश्च कादम्बिनोत्प्रेनाध्यवसानं तु दुरवगममेव ।

अपि कैमुतिकन्यायेन दर्शनादेरधिकतापापनोदत्वम्, तापस्य साक्ष्यमसहनीयत्वद्वारेण
त्वरयाऽपनयनौचित्यम्, करुणवेति तापोपरामनस्य बुद्धिपूर्वकत्व-सार्धनिरुद्धे, शतप्रत्ययो
हरणस्य वर्तमानमलिकत्वेन स्मृहणीयतमत्वम्, नृणामिति बहुवचनं साक्ष्यमुत्प्रेनाम्यतो
व्यतिरेकम्, तनुत्विकभङ्गता विजातीयताम्, विद्युत्त्वेन गोपनितम्बिनीतां निगारणमद्वितीय-
सौन्दर्यसाम्राज्यम्, शतैरित्येकमादिव्यवच्छेदद्वारा प्रसिद्धवैजात्यम्, बल्यितेति तथोपा-
स्याङ्गणकरवेन सुषमाऽतिरेकम्, कालिन्दीकूलनिलिम्पपादपावसम्बिता स्वेतरव्यतिरेकम्,
श्रीकृष्णमूर्ते कादम्बिनीन्वाध्यवसानं सद्यःफलदानार्हताशोभोत्कर्षो, मतेरमूर्ततया चुम्बन-
कर्मत्वाम्भवात् तच्चुम्बन नियतविषयविषयिभावसम्बन्धम्, भवत्विति लोटलकारं प्रार्थनाम्,
समस्त सन्दर्भं कस्मिन्मयेत श्रीकृष्णविषयमस्तिताव न व्यनक्ति । पृथ्वी छन्द ॥ १ ॥

सादर करता हूँ आप, आप प्रगति पुत्र प्रभु पद पर ।

यह नव आत्म सफल हो, है, यही वाचना एतुत्तर ॥

ग्रन्थसमाप्ति में प्रतिबन्ध उपस्थित करने वाली सम्भावित विघ्न बाधाओं के प्रशमन
की कामता से ग्रन्थकार विद्वज्जन परम्परा प्राप्त महत्वबोधक पद्य की रचना करते हैं—
'स्तुति'—इत्यादि ।

जो स्तुतिमात्र नियम होकर जो (न कि दृष्टि किंवा दृष्टिद्वारा स्वयं का नियम होकर
ही) मनुष्यों के (न कि किसी एक व्यक्ति के) यौग्य ज्ञान (ज्ञानिद्विक, आधिसौतिक,

आध्यात्मिक त्रिविध ताप) को दबा से हर लेती है, जो कभी भग्न नहीं होने वाली दारीर प्रभा से युक्त (न कि घणभर चमकने वाली) विद्युन्माला से वेष्टित है और जो कलिन्दकन्या-यमुना के तीर (चन्द्रावन) के सुरतरु (कदम्ब) को (विक्राम के छिये) आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त घनघटा (घनरयाम श्रीकृष्णचन्द्रजी की मनोहर मूर्ति) सेरी मति को चूमने वाली बने—सदा उस मञ्जु मूर्ति का ज्ञान मुझे होता रहे।

भावार्थ यह है कि जो मेघमाला प्रसिद्ध है, वह देखने पर ही ध्वनिविशेष के ताप को दान्त करती है, उसको परिवृत करने वाली विजली घणभर है, यमुनातट के कदम्ब-तरु उसका आलम्बन भी नहीं है, खचेतन होने से उसमें कृष्ण की सम्भावना भी नहीं, इन सब कारणों से कवि की विवक्षित मेघमाला वह नहीं अपितु कृष्णमूर्ति हो सकती है। इसी ध्यतिरेक को स्पष्ट करने के लिए कवि ने 'कादम्बिनी' का विशेषण 'काश्वि' कहा है। अत एव इस श्लोक में ध्यतिरेक अलङ्कार है और सन्ताप, गोपिकायें, तथा कृष्ण मूर्ति, जो यहाँ उपमेय हैं, उनका क्रमशः जातप, त्रिबुत्, कादम्बिनी रूप उपमानों से निगारण होने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है। इन दोनों अलङ्कारों के परस्पर सायं रहने से सङ्कर नामक तृतीय अलङ्कार होता है। (तत्तत्पदों से होने वाले ध्वजों का ज्ञान संस्कृत टीका से करना चाहिये।)

अथ स्वोच्छेदादेयतमत्वं द्योतयितुं गुरुवन्दनापदेशेन विद्याजन्मवंशयो परिशुद्धि पथद्वयेन प्रतिपादयति—

श्रीमदज्ञानेन्द्रमित्रोरभिगतसकलत्रयविद्याप्रपञ्चः,

अज्ञादीराजपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।

देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं,

शेषाष्टप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः ॥ २ ॥

पाषाणादपि पीयूषं स्वन्दते यस्य लीलया ॥

तं वन्दे पैरुमहाद्वयं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥ ३ ॥

य (पैरुमहा) श्री सरस्वती, तद्वाचासी ज्ञानेन्द्रस्तज्जामा मिथु सन्न्यासी, तस्माद्गु-
पाध्यायात्, अधिगतौ ज्ञातं पठित इति यावत्, एकल कृत्स्नो प्रयथिद्याया वेदान्तस्य
प्रपञ्चो विस्तरो येन तादृशः । तथा यः, महेन्द्रात् तदाख्यविशेष, अज्ञादी कणादेन प्रोक्ता
पैशेषिकरूपा, अपिच—अज्ञापादी अज्ञपादेन गौतमेन प्रोक्ता न्यायलक्षणा, गहनगिरो
गम्भीरार्यकवाणी, अवेदीत्—अज्ञासी पततेति यावत् । तथा य स्मरहरस्य शिवस्य
नगरे शास्यम्, देवान् सुष्ठवेयनामकप्रण्डितादेव (गुरु यत्, कृतद्वित्) जैमिनीयं
जैमिनिना प्रोक्तं शासनं पूर्वमीमांसादर्शनशास्त्रम्, अध्यगीष्टप्राप्तम् । तथा य शेष इत्यङ्को
नामैच्छेशतया चिह्नं यस्य स शेषाष्ट, तस्माच्छेषविरेश्वरकोविदान् प्राप्ता लब्धा ज्ञाता
इत्यनर्थान्तरम्, शेषस्य पतञ्जले, अमला निर्दूषणा अणितयो व्याकरणमहामाध्यक्षरूपिरो
येन, तथाभूतं सन्, सर्वविद्याधर सर्वासा चतुर्दशानामष्टादशानां वा विद्याना धारकोऽभूत् ।

किञ्च यस्य लीलया शिखण्डेष्टया पक्षे समीहया, पाषाणादपि जडत्वेन प्रस्तरतुल्यादपि
(नत, क्रिमुत कुतश्चन विद्वद्वात्) पक्षे प्रस्तरादपि, पीयूषं माधुर्येणामृततुल्यं काव्यम्,
पक्षेऽमृतम्, स्वन्दते प्रादुर्भवति, पक्षे स्रवति । तं लक्ष्म्याः तत्त्वाम्ना आहु पक्षे रमाया,
कान्तं यत्नमम्, पैरुमहाद्वयं पैरुमहात्मानम्, महान्तं जलन—सर्वविद्याशिष्याभ्या पक्षे रसखेन
धेष्टम्, गुरुं पितरं पक्षे महनीयं विष्णुम्, वन्देऽभिवादयामौत्सर्ग्यं ।

इह श्रीशब्दस्य सरस्वतीनामकत्वे 'श्रीव ते लक्ष्मीध परन्वौ' इति श्रुतिः, 'श्रीलक्ष्मी-

रमणं नोभि' इत्यादयः प्रयोगाश्च प्रमाणम् । तस्य प्रह्लादचरितवाचकता तु केनचित् कल्पितैव प्रमाणानुपलम्भात् । एवमेवेशानन्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वमप्यप्रसिद्धम् । सत्यभामा सत्येतिवत् खण्डदेवो देवपदेन बोध्यते । शेषोपाधे श्रीकृष्णादौ शब्देऽप्यौचित्याद् बीरेश्वरस्य ग्रहणम् । अविगतविद्यानुपादानं तु कमविरुद्धम्, सर्वतः प्राग्बेदान्तस्य सर्वान्ते व्याकरणस्य बोधादानात् ।

गुरोः सर्वविद्याऽविगन्तुतया स्वस्मिन् सर्वात्ममपि ताम्ना सञ्चान्ति, तथा स्वपाण्डित्यप्रकर्षमुखेन स्वोक्तेरुपादेयतमत्वम्, स्वस्वकीयरचनोद्भवयोः पापाण-पीयूषघयतादात्म्य-प्रदर्शनेन स्वरस्य विनयः स्वरत्वनयाश्चमत्कारकश्च च, अपिनाऽर्थापत्तिपञ्चवकेन परमं तत्सौकर्यातिराज, सोलमात्रस्यैव तत्त्वसम्प्रादरवेन गुरोरद्भुतमहिमशालिज्ञा, तथा वन्दनौचित्यं च सूच्यते ।

पूर्वस्मिन् पद्ये यमपात्रासत्सृष्ट काव्यलिङ्गम्, परस्मिन्नर्थापत्ति-काव्यलिङ्गोपस्कृता समासोक्तिरतिशयोक्तिर्वाऽलङ्कार, क्रमेण सङ्घराऽनुष्टुप् च छन्दः ॥ २-३ ॥

ग्रन्थकार गुरुवन्दन—ध्याज से अपने विद्या तथा जन्मवर्द्धों की परिशुद्धि को दिखलाते हैं—'श्रीमन्ज्ञान' इत्यादि ।

श्रीमान् 'ज्ञानेन्द्र' नामक संन्यासी से जिन्होंने तमग्र प्रह्लादविद्या का विस्तार वेदान्तशास्त्र (लक्ष्य या उस शास्त्र का ज्ञान यहाँ विवक्षित है) प्राप्त किया, काणाद तथा गौतम की (अर्थाद्बहुल होने से) गम्भीर उत्कृष्टियाँ (वैशेषिक तथा न्यायदर्शन) 'महेन्द्रशास्त्री' से समझीं, 'खण्डदेवोपाध्याय' से जैननीयशास्त्र (पूर्वमीमांसा) काशी में रह कर पढ़ा और 'शेष' उपाधिवारी बीरेश्वर पण्डित से शेषात्रतार पत्रप्रक्षिप्ति की निर्मल उत्कृष्टियाँ (महाभाष्य) अधिगत कीं, इस प्रकार जो सब विद्याओं का धारण करने वाले हुए ।

जिनकी लीला-शिल्पज्येष्ठा और हृदया से पापाण—पत्थल, अथ च पापाण तुल्य नीरस मुझसे भी अमृत-अथच अमृत तुल्य सरस काव्य शर रहा है—प्रादुर्भूत हो रहा है, उन जन्म तथा शिक्षा दोनों के प्रदायक लक्ष्मीदास्त (लक्ष्मी धाम्नी मेरी माता के पति अथवा विष्णुरूप) 'पुरुष' नामक महान्—पूज्य गुरुदेव—पिताजी को मैं प्रणाम करता हूँ ।

यहाँ संन्यासी से प्रह्लादविद्याज्ञानलाभ की बात कह कर स्वजनया गृहस्थों में प्रह्लादविद्याज्ञान की अपरिपक्वता को सूचित करते हैं, 'अवेदी' इस क्रियापद से 'वैशेषिक तथा न्यायदर्शन को उन्होंने समझा न कि केवल रट लिया' इस विशेष को अभिव्यक्त करते हैं और गुरु को सर्वविद्यानिधान बतला कर उनके मेधावी शिष्य अपने में भी उन विद्याओं के सम्क्रमण को व्यक्त करने हैं । इसी तरह अपने में पापाण के तथा अपनी कविता में पीयूष के तादात्म्य का प्रदर्शन कर अपने में विनय एवं अपनी कविता में चमत्कार-विशेष को सूचित करते हैं । प्रथम पद्य में 'यमक तथा अनुप्रास' इन दोनों शब्दालङ्कारों से संसृष्ट काव्यलिङ्ग अलङ्कार और द्वितीय पद्य में काव्यलिङ्ग से सहकृत अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

स्वप्रबन्धस्य सुविचार्य विदितस्त्वेन येयस्त्व सृचरति—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलघेरन्तरुद्धर, मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्तन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरुदो गुणवतामलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

मननमनुप्यामभेव गम्भीरतया जलमि समुद्रस्तस्य, अन्तरुद्धरम् उद्धमप्येज्जन्तस्तल इति यावत्, क्लेशैर्विभुभिर्दुःखै (नलनायासम्) नितरामत्यन्त मग्नेन (नन्वीपदेव प्रविष्टेन) मया जगन्नायेन, लोके मर्त्यमुखने, उद्ध्वं नीत उद्धृत उपर्यानीत इत्यनर्थान्तरम्,

ललितो निर्दूषणत्वेन गुणालङ्कारोपहितत्वेन वा सुन्दरो रसगङ्गाधरस्तद्यामाऽयं प्रबन्ध एव स्फुटपदार्थप्रतिभासकत्वेन मणि, गुणवता वैदग्ध्यगता (नलसहृदयानाम्) हृदयं चित्तं वक्ष्य, अग्रिहृदं प्रविष्ट आरुह्य, अन्तर्ध्वान्तं मानसिकं साहित्यपदार्थविषयकज्ञानम् आन्तरालिप्तं तमय, हरषपनयन्, सर्वानशेषान् (ननु कतिपयानेव) अलङ्कारान् लङ्कार-प्रतिपादकान् ग्रन्थान् भूषणानि च, शक्तिः स्वयमेव च्युतो गर्वोऽसाधारण्यमदो येषां तादृशान्, रचयतु करोतित्यर्थः ।

अत्र परेषापि रत्नोद्धारिणा समुद्राभ्यन्तरे चिरं मग्नेन दुष्करप्रयानमवदत्तो मणिर्मही-यसा वक्षस्यलमास्व स्वेतरभूषणानि स्वापेक्षया हीनकान्तीनि करोतीति प्रतीति रूपकानु-प्राणिता समासोक्तिरलङ्कारः । अन्तरराब्दस्य द्विरुपादानं द्विविद् द्विविद्धिति विच्छिनत्ति । सम्पूर्णं सन्दर्भेण सुचिन्त्य विहितोऽयं प्रबन्धः परकीयालङ्कारप्रबन्धेभ्यः सर्वथोत्कृष्ट इति वदताऽभिधेयचतुष्टयं प्रकाशयते । गुणवतावित्यनेन 'मनुकिमेदन्तर्मदयति सुबोभूय सुधिमः', किमस्या नाम स्यादलसपुरुषानादरमरः ॥ इति पदार्थार्थं प्रतिपाद्यते । अलङ्कारेषु गर्वस्य चित्तवृत्तिविरोधात्मनोऽप्येवमथवा सादृश्यस्यासम्भवेन तिरस्कुतवाच्यत्वम् । रचयति च प्राग्वन् प्रार्थनाया लोट् । शिखरिणी छन्दः ॥ ४ ॥

अपने प्रबन्ध की मर्यादा करते हैं—'निमग्नेन' इत्यादि ।

मैंने (साहित्यिक पदार्थों के) अनुचिन्तनरूप समुद्र के अन्तस्फल में बड़े दुःखों से—न कि अनायास, निश्चय मग्न होकर—न कि थोड़ा सा प्रविष्ट होकर, संसार में इस 'रसगङ्गाधर' रूप सुन्दर मणि को निकाला है । इस तरह निकाली गई यह (रसगङ्गाधर रूप) मणि, गुणियों के हृदयों में प्रविष्ट होकर आन्तरिक अन्धकार (साहित्यशास्त्र विषयक अज्ञान) को हरण करती हुई, सभी अलङ्कारों (अलङ्कारसम्बन्धी नियमों तथा आभूषणों) को गर्वरहित कर दे । तात्पर्य यह है कि—मैंने खूब सोच समझ कर इस ग्रन्थ को लिखा है, यह अलङ्कार ग्रन्थों में मणि रूप है, इससे साहित्यशास्त्र विषयक समस्त अज्ञान धारणायें दूर हो जायेंगी, अतः सहृदय जन इस ग्रन्थ को अपने हृदयों में स्थान अवश्य देंगे, इस ग्रन्थरस के प्रभाव से और-और अलङ्कार ग्रन्थ नगण्य हो जायेंगे । सम्पूर्ण सन्दर्भ से यह बात निकली कि इस निबन्ध में अन्य नियमों की अपेक्षा बहुत कुछ महत्ता है, अतः उपादेय है ।

यहां यह अर्थ प्रतीत होता है कि—किसी ने बड़े छेत्तों से समुद्र में गोता लगा कर एक मणि निकाली, सीकीनों ने उसे द्वार में गुँथ कर अपने ऊरस्थल पर धारण किया और उसकी पवित्र प्रभा के सामने सब सुवर्णादि निर्मित अलङ्कारों की प्रभा हीन हो गई । इसलिये इस पद्य में रूपकानुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार है ।

इयं स्वग्रन्थस्य प्राचीनैरप्यतार्थं प्रतिपाद्य नवीनैरपि स्वसजातीयग्रन्थान्तरैरुपगतायं प्रतिपाद्यति—

परिष्कुर्यन्त्यर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये,
तथाऽपि वक्त्रेशो मे कथमपि गतायौ न भविता ।
तिमीन्द्राः सङ्क्षोभं विदधतु पयोधे, पुनरिमे,
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरे ॥ ५ ॥

कतिपये कतिचन (भूयांसोऽपि) सहृदयधुरीणा सचेतना प्रवरा, अर्थान् साहित्य-शास्त्रीयपदार्थान्, परिष्कुर्यन्तु स्वप्रतिभाञ्जुरूपं यथेच्छं (ग्रन्थान् रचयन्तः) विवेचयन्तु । तथाऽपि तेषां विवेचनेनापि, मे मम, वक्त्रेश एतद्ग्रन्थरचनाप्रयास-कथमपि केनापि प्रकारेण (ईषदपि) गतायौऽन्यथासिद्धप्रयोजनक, न भविता नैव भविष्यति इमे ओर्कैरस्यमाना,

तिनीन्द्रा महामत्स्या, पुनर्मूयः, पयोधेः सागरस्य, सङ्क्षोभं मुहुर्द्वर्ततेः सम्यगालोदनम्, विदधतु कुर्वन्तु, एतेन तिमोन्द्रास्मलनेन, मन्दरगिरेर्मन्याचलस्य, आयासो रत्नोद्धारय समुद्रमन्यनपरिश्रम, किं विफलो व्यर्थो भवति ? अपितु न भवतीत्यर्थः ।

इह यथा तिमोन्द्रास्मलनेन रत्नोद्धारणरूपप्रयोजनाभिप्रेत्या कथमपि मन्दरस्य प्रशसो न निष्कलो भवति, तथैव साहित्यपदार्थानामितरनिवृत्त्यभिप्रेत्येण विद्वान्तावधारणलक्षणप्रयोजनासिद्धया कथमपि ममैतद्ग्रन्थरचनाश्रमो भूतार्थो न भविष्यतीति वाक्यार्थसाम्यस्य गम्यत्वात्, सत्त्वाभावरूपस्यैकस्यैवोभयसाधारणधर्मस्य 'न भविता' 'किं भवति' इति शब्दभेदेन वाक्यद्वये द्विनिर्देशश्च प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । नत्वर्थान्तरन्यासः, वाक्यार्थयोः सामान्यविशेषभाव-कार्यकारणभावयोरभावात् ।

भवितेति भविष्यत्सामान्यबोधकनृटोऽप्रयोगेण स्वतुल्यकाले कियतामेतादृशप्रबन्धरचनाश्रमाणा विचक्षणानां सद्भावस्य सम्भवेऽप्यग्रे सर्वथा तदसम्भवं सूच्यत इति चेन्न । शिखरिणी छन्दः ॥ ५ ॥

सहृद्यों में भूर्यन्य माने जाने वाले कुछ पण्डित अर्थों का परिष्कार करें—ग्रन्थ बना-यना कर साहित्य पदार्थों का विवेचन करते रहें, परन्तु उक्त लोगों के विवेचन से मेरा कष्ट—'रसगङ्गाधर'-निर्माण में होने वाला धम—किसी तरह, भगार्थ-निष्प्रयोजन नहीं हो सकता । ये भ्रष्ट हीन पढ़ने वाले बड़े-बड़े मत्स्य समुद्र को कुण्ठ करते हैं, सो करें, परन्तु इससे क्या मन्दराचल का धम-अधनप्रवासनिष्फल होता है ? यहाँ 'जैसे मत्स्यों के आलोदन से रत्नोद्धारण रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होने के कारण रत्नों को निकालने वाला मन्दराचल का भयनगलेन विफल नहीं होता, उसी तरह अन्य विद्वानों के विवेचनों से साहित्यसिद्धान्त-निर्णय-रूप-प्रयोजन की सिद्धि न होने के कारण, साहित्यसिद्धान्त-निर्णायक इम ग्रन्थ के निर्माण में होने वाला मेरा धम भी किसी तरह व्यर्थ नहीं, अपितु सर्वथा सार्थक है' ऐसा वाक्यार्थ गम्यमान है और 'न भविता, तथा किं भवति' इम दोनों से एक ही सत्ता का अभाव रूप धर्म दो वाक्यों में निर्दिष्ट है, अतः प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है ।

स्वपाण्डित्यप्रकर्षं प्रशारायच्छेत्तत्प्रबन्धस्य सजातीयव्यतिरेकं प्रदर्शयति—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।

किं सेव्यते सुमनसा मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥६॥

उदाहरणानुरूपं ध्वनिगुणालङ्कारादिलक्ष्यत्वयोग्यम्, नूतन नवीन भाषिणीविलासाख्यं काव्यम्, मया निर्माय रचयित्वा, अत्र रसगङ्गाधरे, परस्यान्यस्य, किञ्चिदीपदपि 'उदाहरणम्' न निहितं नैव निबद्धम् । कस्तूरिकाजननशक्तिभृता कस्तूर्युत्पादनसामर्थ्यभाजा, मृगेण, सुमनसा कुसुमाना, गन्ध परिमल, मनसाऽपि (किं पुनर्नासिकया) किं सेव्यत उपादीयते ? अपि नेत्यर्थः ।

अत्र पूर्ववत् प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । कस्तूरिकाभृतेत्यनुक्त्वा तच्चननशक्तिभृतेति कथनं स्वस्य यावदपेक्षितपद्योत्पादनऽतत्तत्तम्, समस्तवाक्यार्थश्च परेषां साहित्यग्रन्थकाराणां परवीयोदाहरणप्रवृत्तान् तदभावम्, तत् आत्मनेस्तेभ्य, एतद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थेभ्यो वैलक्षण्यमवगमयति । वसन्ततिलक छन्दः ॥ ६ ॥

अन्य निबन्धों से अपने निबन्ध में विद्यमान विशेष का दिग्दर्शन करते हैं—'निर्माय' इत्यादि ।

इम निबन्ध में उदाहरणों के अनुरूप-ध्वनिगुण अलङ्कारों में जिसका जैसा उद्यम होना चाहिए वैसा—काव्य बनाकर मैंने उपस्थित किया है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिया,

(टीक ही है) जो कस्तूरी की छटि कर सकता है वह भृगु क्या कभी मन से भी किसी पुष्पसौरभ की सेवा करने की कामना करता है ? यहाँ भी पूर्ववत् प्रतिवस्तुता अलङ्कार समझना चाहिये ।

‘कस्तूरी को धारण करने वाला’ ऐसा न कहकर ‘कस्तूरीजनन की शक्ति को धारण करने वाला’ इस कथन से स्वागत-समस्त-काव्य-निर्माण-सामर्थ्य और समग्र वाक्यार्थ से अन्य अलङ्कार-ग्रन्थ-निर्माताओं में परकीय उदाहरणों के ग्रहण करने के कारण उस कवित्वशक्ति का अभाव व्यङ्ग्य होता है, उस व्यङ्ग्य से भी अन्य-पण्डितापेक्षया अपने में तथा तरकृत ग्रन्थापेक्षया स्वकृत ग्रन्थ में वैलक्षण्य व्यक्त होता है ।

‘सिद्धार्थं सिद्धमन्यन्धं श्रोतुं श्रौता प्रवर्तते ॥ शास्त्रादौ तेन वक्तव्यं सम्यग्धं संप्रयोजनं ॥’ इत्यभिधुकोक्तेरभिधेयस्य प्रज्ञासाय प्रतिजानीते—

मननतरितीर्णविद्याऽर्णवो जगन्नाथपरिडनरेन्द्रः ।

रसगङ्गाधरनाम्नी करोति कुतुकेन काव्यमीमांसां ॥ ७ ॥

मननमेव पारनाथक्येन तर्जनीं, तथा तीर्णं प्राप्तापरः, विद्या एव साम्नांवेण दुस्तार-तया वाऽर्णवं समुद्रो येन स, जगन्नाथयासौ पण्डितानां नरेन्द्रः पण्डितनयणामिन्द्रः पण्डितेषु नरेन्द्र इव, पण्डितयासौ नरेन्द्रो नरप्रेष्ठः पण्डितराजपराभिधानो वा, इमां रसगङ्गाधरनाम्नी काव्यस्य (तद्वृत्तानामलङ्कारादीनां च) मीमांसा विचार उद्देशलक्षणपरीक्षा यत्र, तादृशी रचना, कुतुकेन कुतूहलेन (न तु क्लेशेन) करोतीत्यर्थः ।

इह रूपरामनुप्रासबालङ्कारः । पूर्वार्धेन प्रगल्भपण्डितविदितरत्ने प्रयन्धस्योपादेयन्यम्, काव्यमीमांसामित्यनेन विषयः प्रयोजनं च, कुतुकेत्यनेन स्वस्यैतादृशग्रन्थरचनेऽपि क्लेशरामावदारेण पाण्डित्यातिरेकश्च व्यज्यते । आर्या सुन्दः ॥ ७ ॥

ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय (प्रतिपाद्य विषय उस विषय के साथ ग्रन्थ का सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी) अवश्य कहना चाहिये अन्यथा उस ग्रन्थ के अध्ययन में लोगों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नियम है । अतः प्रकृत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इसकी सूचना देने के साथ साथ ग्रन्थकार अपना तथा अपने ग्रन्थ का नाम निवेश करते हैं—‘मननतरि’ इत्यादि । जिसने मननरूप (विद्या समुद्र से पार ले जाने की शक्ति रखने के कारण) नीका से दुरवगाह होने के कारण विद्या-रूप-समुद्र को पार कर लिया है, वह पण्डितराज ‘जगन्नाथ’ कोतुक से (ज कि अग्रास से) काव्य-विवेचन-मय ‘रसगङ्गाधर’ नामक-निबन्ध की रचना करता है । यहाँ ‘मननतरि’ इत्यादि विशेषण से ग्रन्थकार-गत-ग्रीह-पाण्डित्य सूचित होता है, जिससे अविर्मित प्रबन्ध में उपलब्धता व्यक्त होती है, ‘काव्यमीमांसा’ इस पद से विषय तथा प्रयोजन की सूचना मिलती है । अलङ्कार यहाँ रूपक तथा अनुप्रास है ।

स्वप्रबन्धस्य प्रचारमाशंसति—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु ।

किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चिरञ्जयतु ॥ ८ ॥

रसा एवास्वाद्यत्वेन गङ्गा, तस्मा धर प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धेन धारकः, यद्वा रसानां प्रतिपादनेन गङ्गाधरः शङ्कर इव, रसगङ्गाधर इति नाम यस्य, तादृशः, अयं युधि-गोवरीकृतः, सन्दर्भः पञ्चाङ्गकवचयस्यो ग्रन्थः, चिरमनन्वन्तजं, जगत् सर्वेभ्यः साहित्य-ग्रन्थेभ्यः उत्कृष्टतया वर्तताम् । किञ्च तथा, निसर्गात् स्वभावात् (न तु व्याजात्) सम्यग्नि-सन्ध्याव्यविरचन-विवेचनव्यसन्तितया समीचीनावि, कवीनां चान्यस्व निर्मातृणां विवेचकस्य-हृदयनिर्मुखा च, कुलानि वृन्दानि, रचयत साहित्यसिद्धान्तनिर्णयबोधनेनानन्दव्यतिर्यकः ।

अत्र यमकमलद्वारः । वाक्यस्य पञ्चाङ्गानि तु—‘विषयो विशयधैव पूर्वपक्षस्तयोत्तरम् ॥ निर्णयधेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥’ इत्यनेन भट्टवरणैर्दर्शितानि । ‘सङ्घावान् पण्डित कवि’ इत्यमरादुशासनात् कविशब्दस्य विद्वद्वाचकत्वमपि । कुलपदस्यात्र वंशपरत्वं चिन्त्यमेव, तद्वंशपरम्पराया वैदुष्ये प्रमाणाभावाद् रक्षणानर्हत्वात् । आर्या छन्दः ॥ ८ ॥

ग्रन्थकार स्वकृत ग्रन्थ के प्रति अपनी शुभकामना प्रकट करते हैं—रसगङ्गाधर इत्यादि । ‘रसगङ्गाधर’ (रसरूप गङ्गा को धारण करने वाला, अथवा रस के विषय में गङ्गाधर-शिव के सदृश) नामक यह निबन्ध चिरकाल तक विजयी बने सर्वोत्कृष्ट होकर रहे और अक्षय्य मनोहर स्वभाव से ही उत्तम कवियों (काव्यकारों तथा काव्यालोचक-कोविदों) के समानों का अनुरजन करता रहे । परलोकवासिष्णु दुराग्रही दुर्जनों का मनोरजन भले ही इस ग्रन्थ से न हो पर जो सबब गुणग्राही होंगे, उनका हृदय इस ग्रन्थ के अध्ययन से ध्वरय ही खुली होगा, वह बात यहाँ ‘विसर्गसुन्दर’ इस कविकुल विशेषण से अभिव्यक्त होती है । अलङ्कार यहाँ यमक है ।

तत्र तावत् काव्यलक्षणसूत्रमवतारयति—

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया गुणालङ्कारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताऽवच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते—

तत्र चिकीर्षिते ग्रन्थे । कीर्तिर्यशः, परमाह्लादो वेदान्तरसम्पर्कगुण्यत्वेनाद्वितीय आनन्दः, गुरुणा राज्ञा देवतानां च प्रसादः स्तुतिविरचनाकलाभ्यां प्रसङ्गता चादियेषां, तानि तादृशान्यनेकानि प्रयोजनानि फलानि यस्य तत् तथोक्तम्, तथाभूतस्य, काव्यस्य यद्यमानलक्षणक-कवि-कर्मविशेषस्य, व्युत्पत्तेर्नैपुण्यलक्षण-तद्विषयकविशेषज्ञानस्य, कवे काव्यकर्तुं, सहृदयस्य तद्वसा-स्वाप्रियुक्तं, परमावश्यकतया नितरामपेक्षितत्वेन, गुणा माधुर्यादयं, अलङ्कारा अनुप्रासोपमाऽऽदयश्चादयो येषां तादृशै रसभावप्रवृत्तिभिर्हेतुभिः, निरूपणीय उद्देशलक्षण-परीक्षाभिर्विवेचनीये, तस्मिन् काव्ये, विशेष्यताऽवच्छेदकं काव्यनिष्ठायां ‘रमणीयार्थप्रतिपादकं शब्द काव्यम्’ इति शब्दबोधीयविशेष्यतायां, अवच्छेदकमन्यूनानतिप्रसक्तो धर्मः, च तथा, तदितरभेदबुद्धौ ‘काव्ये अन्येतरभ्यो भिन्न रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वात्’ इति भेदानुमितौ, साधनं हेतुभूतं, तस्य काव्यस्य लक्षणं तावदादौ विरूप्यते प्रतिपाद्य विवेच्यत इत्यर्थः । इह तत्रेति तावन्निरूप्यत इत्यनेन सम्बद्धम् । प्रथमेनादिपदेन व्यवहारज्ञान-कान्तासम्मितोपदेशयोरेवादानम्, कीर्ति-परनिर्णयो कथ्यत, धनप्राप्ते राजप्रसादजन्यत्वेन, प्रत्यवायधुतेषु गुरु-देवताप्रसादसाध्यत्वेन प्रतिपादनम् । तथा चोक्तं काव्यप्रकारो—

‘काव्यं यशसेऽर्जकृते व्यवहारविदे शिवैतद्वदतये ।

सद्यः परनिर्णये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥’ इति ।

अत्रैव चतुर्वर्गप्राप्तेरप्यन्तर्भावः ।

प्रदीपकदर्शितदिशा कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनभेदे यथायथमवधार्य । कवे कवित्वं न तदनुभवप्रयोजकम्, किन्तु सहृदयत्वमेव । आवश्यकताशब्दस्य साधनमस्मद्रसमञ्जरी-भुरभिरुप्यनेऽवलोकनीयम् । द्वितीयेनादिपदेन रसमावाद्यकस्य प्रवृत्तम् । निरूपणं हि शाब्दबोधानुसूत्रे व्यापार उद्देश-लक्षण-परीक्षास्य । तस्मिन्निहितं सप्तम्यर्थो निष्ठत्वम् । वेपाचिन्मते प्रकारस्यापि विशेष्यताऽवच्छेदकत्वस्वीकारात् काव्यासाधारणधर्मस्य तल्लक्षणस्य काव्ये प्रकारत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतावच्छेदकत्वमधुनामवधारणीयम् । काव्यलक्षणज्ञानस्यैव तत्र प्रवृत्तिप्रयोजकत्वेन तद्विषयकेच्छीयविषयताऽवच्छेदकत्वं च तस्यैवावसेयम् ।

अथ अन्यकार काव्यलक्षण की अवतारणा करते हैं—'न वीति' इत्यादि। पद्म, लोकोत्तर आनन्द, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता, प्रभुति अनेक भिन्न काव्य के प्रयोजन हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति (निपुणता-रूप-तद्-विषयक-विशिष्ट-ज्ञान) कवि, (काव्यनिर्माता) और सद्बोध (काव्यानन्द का अनुभव करने वाला) के लिये आवश्यक है। इसलिये पहले काव्यलक्षण का निरूपण करते हैं। यदि यहाँ आप यह शङ्का करें कि कविसहृद्यों को काव्यज्ञान कराने के लिये पहले काव्यलक्षण निरूपण की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि गुण, अलङ्कार, रस, भाव आदि के ज्ञान से ही तो काव्य का ज्ञान होगा, फिर उन्हीं वस्तुओं का निरूपण पहले करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि गुण अलङ्कार आदि के निरूपण के बाद जो 'काव्यं गुणादिमत्' ऐसा ज्ञान होगा—चाहे कराया जायगा, वह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि काव्यत्व का ज्ञान न हो जाय। यदि आप पूछेंगे ऐसा क्यों? तो मैं कहूँगा कि उक्त ज्ञान में काव्य विशेष्य है, और गुणादि विशेषण अतः 'काव्यम्' ऐसा ज्ञान पहले से रहना आवश्यक है, कारण? यदि विशेष्य स्वयम् अविज्ञ-अज्ञात रहेगा तब उसमें विशेषण नहीं लगाया जा सकता और 'काव्यम्' इस विशिष्ट ज्ञान में काव्यत्व-रूप-विशेषण-ज्ञान (जो कारण है) की अपेक्षा है, अतः 'काव्यं गुणादिमत्' इस ज्ञान में विशेष्यतावन्वैदिक (जो प्रवर्तक ज्ञान विषय होने से इष्टतावच्छेदक भी है) का अर्थात् 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दस्वरूप' काव्यत्व का निरूपण पहले करते हैं। पहले लक्षण निरूपण करने का दूसरा कारण यह भी है कि किसी एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु में भेद रहता है, इसका समझना व्यवहार के लिए उपयोगी है, उस भेदज्ञान के बिना कोई व्यवहार चल ही नहीं सकता, मान लीजिये कोई जड़ली 'जो घट तथा पट में कोई भेद नहीं समझता' अगर व्यवहार में प्रवृत्त हो तो क्या होगा? घट का कार्य पट से और पट का कार्य घट से लेने लगेगा। अथ यह बात स्पष्ट हो गई कि 'किसी एक वस्तु में तदतिरिक्त समस्त वस्तुओं से भेद है' यह समझना आवश्यक है। यह नियम काव्य के सम्बन्ध में भी लागू होगा अर्थात् काव्य अतिरिक्त सकल पदार्थों से भिन्न है ऐसा ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है, अन्यथा लोग काव्यानन्द को घरे में बंदने लग जायें, और काव्य में हृत्तरभेद ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं, कारण? काव्य अमूर्त वस्तु है, फिर अगत्या उस ज्ञान के लिये अनुमान प्रमाण की धारण करनी होगी, जैसे—'काव्यं काव्येतरस्मात् भिन्नम्'—काव्य काव्यातिरिक्त वस्तु से भिन्न है, क्यों? 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक-शब्दत्वात्'—रमणीय अर्थों का प्रतिपादन करने वाला जो शब्द तद्रूप होने से, यही हेतु दिया जायगा अर्थात् सब जगह हृत्तर भेदानुमिति में लक्षण ही हेतु होता है, इस लिये भी प्रथम काव्यलक्षण निरूपण की आवश्यकता समझनी चाहिये।

काव्यं लक्षयति—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १ ॥

रमणीयस्य स्वज्ञानद्वारक-विबुधचमत्कारकारणतया सुन्दरस्वार्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यक्त्या-न्यतमस्य, प्रतिपादके बोधक शब्द-काव्य काव्यपदेन व्यपदेश्य इति शब्दार्थः। रमणीयार्थप्रतिपादकत्वे सति शब्दत्वमिति तावद्व्यञ्जकम्। तत्र रमणीयस्यानुरागाद्यर्थस्य व्यञ्जके कदाहनिबोधार्थेऽतिव्याप्तिं वारयितुं विशेष्यत्वम्। अत्र चमत्कारकार्यबोधके 'घटमात्रय' इत्यादिवाक्येऽतिप्रसन्ननिरासार्थमर्थस्य रमणीयत्वविरोधम्। रमणीयार्थनिरूपितस्य वाचकत्वस्य निवेदो तादृशार्थव्यञ्जके, व्यञ्जकत्वस्य निवेदो च तत्वाविधार्यवाचके शब्देऽव्याप्तिं तिरयितुं तदुभयसाधारणस्य प्रतिपादकत्वस्य प्रवेशः। रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणेऽतिव्याप्तिं परिहर्तुं नार्थस्य प्रवेशोऽनुरोधः।

काव्य लक्षण के स्वरूप कहते हैं—'रमणीय' इत्यादि।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला—अर्थात् जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध

हो, वह शब्द काव्य है। इस लक्षण में यदि 'शब्द' पद नहीं कहें, अर्थात् 'रमणीय अर्थ' के प्रतिपादन करने वाला जो हो वह काव्य है' इतना ही लक्षण करें, तो रमणीय अनुराग रूप अर्थ को व्यक्त करने वाला रमणी-कटाक्ष-निक्षेप भी काव्य हो जायगा, अतः 'शब्द' का निवेश लक्षण में किया गया है। अर्थ में रमणीय विशेषण लगाने का फल, अरमणीय-अर्थ-बोधक 'घटमानय' इत्यादि साधारण वाक्यों में काव्यत्व का निरास समझना चाहिये। वाचक, लक्षक, व्यञ्जक ये जो तीन प्रकार के शब्द साहित्यशास्त्र में स्वीकृत हुए हैं, वे तीनों ही काव्य कहला सकते हैं, यदि उनके अर्थ (वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य) रमणीय हों, इसी अर्थ को सूचित करने के लिये लक्षण में 'वाचक अथवा व्यञ्जक' न कहकर सामान्य 'प्रतिपादक' पद कहा गया है। रमणीय शब्द के प्रतिपादक तो व्याकरण के भी शब्द हैं, उनमें काव्यत्वावृत्ति न हो आय इसलिये 'अर्थ' पद का निवेश समझना चाहिये।

लोकवचनैर्विचित्रैर्गणनिष्ठाया रमणीयताया अव्यवस्थानादव्यवस्थितिमावहे—

रमणीयता च लोकोत्तराद्वादनजनकज्ञानगोचरता ।

व्यञ्जकत्वार्थक । लोकोत्तरस्यालौकिकस्य, आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादक यज्ज्ञान, तद्व्यवस्थातमित्युक्तं विषयतारूपानिष्ठा रमणीयतेत्यर्थः ।

अर्थ में रमणीयता क्या हो 'सकती है' ? यदि आप कहें अच्छा लगता ही अर्थ में रमणीयता है, तो मैं कहूँगा कि घात आपकी सीक है, परन्तु वह रमणीयता अव्यवस्थित होगी, कारण ? कबिभेद से एक ही अर्थ किसी को अच्छा और किसी को बुरा लग सकता है, अतः ग्रन्थकार व्यवस्थित रमणीयता का निर्वचन करते हैं—'रमणीयता च' इत्यादि ।

जिसके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है ।

सन्वादादिनिष्ठ लोकोत्तरत्व सातिशयं निरतिशयं वा ? आये तन्निवेशेऽपि बहुविधा-मानानन्दानां पूर्ववत् सद्ग्रहेणाननुगमः, द्वितीयेऽपि ब्रह्मानन्दस्यैव तेन ग्रहणादनुपपत्तिरित्यतो लोकोत्तरत्व निर्वक्ति—

लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्यापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः ।

आह्लादगत आनन्दनिष्ठ, चमत्कारत्वं विस्मयलक्षण-चित्तविस्तारात्मकवृत्तिनिधर्म-विशेषोऽपर पर्यायो नामान्तर यस्य तादृश, तथा अनुभव सहृदयसमवेत प्रत्यक्ष चर्णालक्षण साक्षी प्रमाण यस्मिंस्तथाभूतश्च, जातिविशेषो विलक्षणसामान्यम् । अनुभवसाक्षिकत्वकथनेन 'सचेतमाननुभव प्रमाणं तत्र केवलम्' इति दर्पणदर्शितस्तत्र प्रत्यक्षेतरप्रमाणविरहो बोध्यते । तथा चान्येषामानन्दानामेतादृशलोकोत्तरत्वैर्धुर्यात् सद्ग्रहीतुमशक्यत्वात् दोषः ।

अब प्रश्न यह उठता है कि लोकोत्तर आनन्द किसको कहेंगे ? अर्थात् आनन्दगत लोकोत्तरत्व यदि सातिशय (जिससे बड़ा दूसरा भी आनन्द हो सकता हो, ऐसा) विवक्षित मानेंगे, तब लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि व्यक्तिभेद से-रचिभेद से भिन्न-भिन्न आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जायगा, जिसमें अव्यवस्था घनी ही रहेगी । यदि आनन्दगत लोकोत्तरत्व निरतिशय (जिससे बड़ा दूसरा आनन्द न हो) विवक्षित कहेंगे, तो ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त आनन्द (काव्यानन्द, जिसको विषयसंगृह्य होने के कारण ब्रह्मानन्द सहोदर होने पर भी उससे भिन्न माना गया है) संप्रदीत नहीं हो सकेगा, जिसका समग्र करना ही इस आयोजन का मुख्य उद्देश्य है, इसलिये इन दोनों से विलक्षण लोकोत्तरत्व का निर्वचन करते हैं—'लोकोत्तरत्वञ्च' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ का लोकोत्तरत्व सातिशय, निरतिशय, कुछ नहीं, घटत्व, पतल्य जैसा आनन्द में रहने वाला एक जातिविशेष है, चमत्कारत्व जिसका दूसरा नाम है, सहृदयों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिस जिस आनन्द में सहृदयों को 'लोकोत्तर, लोकोत्तर' ऐसा अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने

भी इस प्रसङ्ग में कहा है—‘सर्वेनसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्’ जब अव्यवस्था की शक्ती नहीं हो सकती है।

नन्दीशं लोकोत्तरत्वमत्कारं को जनयतोत्याकाङ्क्षायामाह—

कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसन्धानात्मा ।

चत्वर्यं । तदवच्छिन्ने चमत्कारत्वस्य—लोकोत्तरत्वमात्यवच्छिन्नेऽलौकिकाद्भावे, पुनःपुनरनुसन्धानं काव्यार्थस्य भूयोभूय समानविषयक स्मृतिविशेष आत्मास्थिरूपं यस्य, तादृशो भावनाविशेषस्तु कारणमित्यर्थः । इह न्यायनयोकभावनाऽऽख्यसंस्कारस्य व्यवच्छेदाम् पुनरित्याद्युपात्तम् । काव्यार्थस्य निरन्तरस्मरणेनैव लोकोत्तराद्भावे जन्यते, नन्वन्यादृशार्थज्ञानमात्रेणेत्याशयः । केचिन् तात्किञ्चाङ्गीकृतभावनायां संस्कारात्मकत्वेन ज्ञानजन्यत्वात् पुनःपुनरनुसन्धानादात्मा यस्येति व्यधिकरणबहुमोहिरिहेत्यपि वदन्ति ।

पूर्वोक्त लोकोत्तर भावन् की छट्टि करने वाले कारण का निर्देश करते हैं—‘कारणं च’ इत्यादि । चमत्कारत्वापरिपूर्य लोकोत्तरत्व जाति से प्रवृत्ति पर्यवसित अर्थात् विशिष्ट लोकोत्तर भावन् में पुनः पुनः अनुसन्धानरूप अर्थात् धारावाहिक, भावनाविशेष शाब्दबोधोपात्तक—अनुभव ही कारण है । सार यह समझना चाहिये कि जब हम किसी काव्यवाक्य को सुनते हैं, तब वाक्य स्मरणादि जो शाब्दबोध की सामग्री मानी गई है, तदनुसार पहले वाक्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ रहा, तो व्यङ्ग्यता वृत्ति द्वारा उसका बोध होता है, जो सहृदयों को अन्धा लगता है, अतः सहृदयजनन चार चार उस बोध को करता चाहते हैं, जिसके लिए पुनः पुनः उन शब्दों को पढ़ते हैं, इस तरह स्मरण की गयी वह बोधधारा सहृदयों को भावना में पूर्वोक्त लोकोत्तर भावन् की रूपरत्न करती है । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ नहीं रहता, वहाँ विलक्षण वाक्यार्थ को तादृश बोधधारा (भावना) ही भावन् की छट्टि करती है ।

आद्भावे लोकोत्तरत्वनिवेशस्य फलं दर्शयति—

‘पुनस्ते जातः’ ‘धनं ते दास्यामि’ इति वाक्यार्थधीजन्याद्भादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः ।

प्रसक्तिरूपति । अद्यप्येतद्वाक्यद्वयार्थज्ञानेनापि कथनामन्दो जन्यत एव, किन्तु तदानन्दस्य प्रागुक्तभावनाविशेषजन्यताग्राह्यलोकोत्तरत्वस्य विरहेण रमणीयार्थप्रतिपादकत्वविधुरताया नैतद्वाक्यद्वये काव्यलक्षणातिव्याप्तिरित्यभिसन्धिः ।

भावन् में लोकोत्तर विशेषण लगाने का फल कहने हैं—‘पुनस्ते’ इत्यादि । यद्यपि ‘तुम्हारे घर में लटका पैदा हुआ’ ‘तुमको मैं धन दूँगा’ इन वाक्यों से होते वाली भावना भी भावन्दायिनी है, तथापि ये वाक्य काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि इन वाक्यार्थों की भावना से होने वाला भावन् लोकोत्तर नहीं है, सहृदयों को उस भावन् में लोकोत्तरत्व की प्रतीति नहीं होती । मूल लक्षण में यद्यपि ‘शब्दः’ यह एकवचनान्त प्रयोग किया गया है, तथापि वह एकत्व संख्या विवक्षित नहीं है, अतः संक्षेपतः काव्य का यह स्वरूप हुआ कि ‘जिस शब्द-अथवा जिन शब्दों के अर्थों की भावना करने से किसी अलौकिक भावन् की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको काव्य कहते हैं’ ।

अथ काव्यलक्षणनिकर्ष मन्त्रेण प्रपञ्चयति—

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकनासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् ।

इत्थमनुना प्रकारेणोक्तार्थसिद्धौ सत्या, चमत्कारस्य लोकोत्तराद्भादस्य अनिका वा भावना धार्यविषयकपुनःपुनरनुसन्धानम्, तस्या विषयो योऽर्थः, तस्य प्रतिपादकत्वे सति

शब्दत्वं काव्यत्वमिति फलितमिति सर्वत्रान्वयः । अस्मिन् प्रथमलक्षणे प्रागुक्तं ज्ञानपदं विहाय भावनापदप्रवेशस्य प्रयोजनं किमिति चेत्, ध्रुवताम्—यत्र कस्यचित् पुंस सामग्री-
बलेन काव्यार्थविषयकं तदितराद्यन्तर्गतकार्यविषयकं चैकमेव समूहालम्बनानात्मकं ज्ञानं जायेत,
तत्र तदितराद्यन्तर्गतस्यापि चमत्कारजनक-तत्पुरुषसमवेत-काव्यार्थविषयकज्ञानीयविषयता-
ऽऽश्रयत्वेन तदप्रतिपादकशब्दे काव्यवदकाव्येऽपि काव्यत्वं तदितरावाक्ये प्रसज्येत । भावना-
निवेशे तु, तस्या स्मृतिविशेषरूपत्वेन समूहालम्बनात्मकत्वविरहाद् विषयान्तरस्य तज्ज्ञाने
प्रवेशामम्भवात् दोषः । पुनरुपनयनस्य हि युगपदनेकविषयकताया फलबलेन
सामग्रीसंबलनासम्भवः कथञ्चित् कल्पनीयः । सत्कारस्यापि कश्चित् समूहालम्बनत्वमन्यत्र
व्यवस्थापितमिति तदुपादानात् दोषनिस्तारः ।

अत्रापि लक्षणेऽतिव्याप्तेर्यत्प्रतिपादितेत्यादिना द्वितीयं लक्षणं विहितम् । तथाहि—
यत्र कस्यचित् काव्यवाक्यार्थविषयिका निरन्तरोत्पद्यमानतया धारावाहिनी स्मृतिविशेषरूपा
भावना जायेत, तत्र चमत्कारजनकभावनाविषयोभूतानां सर्वेषामेव समानाधराणां तेषां
वाक्यार्थानां प्रतिपादकत्वात्सरूपे तादृशावाक्यरूपदम्बके काव्यलक्षणातिव्याप्ति स्फुटैव । तत्र
हि सर्वेषां तादृशावाक्यानां चमत्कारानाधायकत्वात् काव्यत्व न कस्यापि सम्मतम्, अपि-
त्वेकस्यैव तेषु कस्यचिदित्यापत्तिरेपितुमपि न शक्या । येन यादृशानुपूर्वीमता शब्देन,
प्रतिपादिते बोधिते, अर्थे निष्ठा वृत्तिमती, या विषयता, वन्निरूपिता या भावनानिष्ठा
विषयिता, तदवच्छेदकं भावनात्वम्, चमत्कारनिष्ठजन्यतानिरूपित-भावनानिष्ठजनकताया
विषयतासम्बन्धेनालम्ब्येदम्, तादृशानुपूर्वीमन्त्र काव्यत्वमिति लक्षणार्थः । तथा च प्रकृत-
वाक्यसमूहरूपशब्दस्य चमत्कारजनकत्वविरहात् तादृशानुपूर्वीमन्त्रभावाच्चातिव्याप्तिः ।
आनुपूर्वी तु तद्वर्णोत्तर-तद्वर्णस्वरूप धावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदको धर्मः ।

अस्मिन्नपि लक्षणे यदादिपदप्रतिपादार्थानां प्रकारतया शब्ददोषे विषयीभावाद्
वृत्तिज्ञानाधीनतत्पदस्थितानां कारणत्वेनापेक्षणाद् गौरवम्, यत्तच्छब्दयोरव्यवस्थितार्थरू-
पाऽननुगमश्च दूषणं दुन्दुहरमिति स्वविशिष्टत्वादिना तृतीयं लक्षणमभिहितम् । अत्र हि
संसर्गविषया भासमानानां सदर्थानामुपस्थिते शब्ददोषेऽनपेक्षणाप्लावकम्, यत्तच्छब्द-
विरदादननुगमाभावश्च व्यक्तमवसीयते । स्वशब्दस्तुपात्तोऽपि वैशिष्ट्यषट्कार्षोपस्थापकत्वे-
नानुगतार्थक एव । स्वशब्देनात्र चमत्कारत्वस्य ग्रहणम् । तथा च स्वविशिष्टा चमत्कारत्वा-
वच्छिन्नजन्यतानिरूपिता या भावनानिष्ठा जनकता भावनायामर्थस्य विषयतासम्बन्धेन
निरोपणात् । तदवच्छेदको बोधोऽर्थः, तदप्रतिपादकत्वं सम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन चमत्कारत्व-
विशिष्टत्वे सति शब्दत्वं काव्यत्वमिति पर्यवसितम् ।

तादृशचमत्कारस्वरूपसमानप्रधिकरणं तदेव काव्यं 'काव्य'मित्याद्यनुगतप्रतीतिविषय-
ताऽवच्छेदकतायाऽऽत्मादिविशेषजनकताऽवच्छेदकतया वा सिद्धं जातिविशेषरूपमुपाधिरूपं वा
रुच्यताऽवच्छेदकमिति व्याख्यातारः ।

लक्षणमिदं जगन्नाथस्य न सर्वथा स्वोपपन्नम् 'सज्जेषाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥
काव्यम्' इत्यामेयेन, कस्यगुणमस्य 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डि-
भट्टेन च प्रतिपादनात् । खण्डनन्तु केवलशब्दवृत्तिकाम्यत्वाद्वाक्यनिरसनशब्देन पुरस्ताद-
प्यभिधीयते ।

अथ नम्यं शब्द की शैली से काव्यलक्षण का परिष्कार करते हैं—'चमत्कारजनक'
इत्यादि । चमत्कार (लोकोत्तर आनन्द) को उत्पन्न करने वाली जो भावना (ज्ञानधारा)

उसका विषय (जिसकी भावना हो वह) जो अर्थ, प्रतिपादक शब्द का नाम हुआ काव्य और तादृश वाक्य का काव्यत्व । इस प्रथम परिष्कृत लक्षण में ज्ञान पद न कह कर ज्ञानधारा-वाचक-भावना-पद क्यों कहा गया, इस शब्द का समाधान निम्नलिखित समझना चाहिये । कभी-कभी ज्ञातव्य विषयक ज्ञान सामग्री से होने वाला ज्ञान अकस्मात् विषयान्तरोद्बोधक सामग्री के जुट जाने से उदासीन वस्तु को भी विषयक बना लेता है— अर्थात् ज्ञातव्य तथा उदासीन-दोनों का एक ही ज्ञान हो जाता है, ऐसे ज्ञान को समुहा-लम्बन ज्ञान कहते हैं, अब आप कहना कीजिये कि—जहां 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि काव्यार्थ-विषयक-चमत्कारकारी ज्ञान में उद्बोधकान्तर-समवधान से घटरूप अर्थ भी भासित हो गया, वहां काव्यार्थ विषयक होने के नाते चमत्कार-जनक-ज्ञान का विषय घटरूप अर्थ भी हुआ, अतः उस घटरूप अर्थ के प्रतिपादन करने वाला 'घटः' इत्याकारक शब्द में भी काव्यत्व प्राप्त हो जायगा, उसी काव्यत्वापत्ति को हटाने के लिए ज्ञान पद न कह कर भावना पद कहा गया है । भावना पद कहने पर आपत्ति इसलिये नहीं हुई कि एक बार मले ही उद्बोधकान्तर के जुट जाने से काव्यार्थ विषयक ज्ञान में घटरूप अर्थ भासित हो जाय परन्तु काव्यार्थ विषयक ज्ञानधारा में उसका भासित होना असम्भव है, कारण ? अकस्मात् जुटने वाला उद्बोधक वरारर जुटता रहेगा, ऐसी समावधान नहीं की जा सकती है । यदि कोई वादी ऐसा दुराग्रह करे कि—हां, महाशय, जब-जब काव्यार्थ-विषयक ज्ञान हुआ तब-तब, उद्बोधक जुटता ही रहा, उदासीन घटादिरूप अर्थ उस ज्ञान में भासित होता ही गया, तब तो भावना पद निवेदित हो भी निस्तार नहीं, अतः 'प्रतिपादितार्थ' इत्यादि द्वितीय परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता हुई, जिससे वादी का उक्त दुराग्रह भी दूर हो जाय, कहने का आशय यह है कि—'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि काव्य वाक्य तथा 'घटः' इन दोनों शब्दों से प्रतिपादित-अर्थ-विषयक-भावना के एक होने पर भी काव्य शब्द प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्व, एवं 'घटः' इत्यादि उदासीन शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व एक नहीं, भिन्न है । इस स्थिति में चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक (परिचायक) कस्य शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व ही हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि—जिसका जो धर्म अन्यून (अवपदेश में न रहने वाला) और अतिप्रसक्त (अधिक पैरा में न रहने वाला) होता है, वही धर्म उसका अवच्छेदक हो सकता है, उदासीन 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्व शुद्ध 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावना पर भी है, जहां चमत्कार-जनकता नहीं है, अतः वह अधिक वैशष्टी (अतिप्रसक्त) धर्म होने से चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक समुहालम्बन स्थल में नहीं होगा, फिर द्वितीय लक्षण के हिसाब से उक्त स्थल में आपत्ति नहीं हुई । किन्तु इस द्वितीय लक्षण में भी एक नई आपत्ति यह उपरिधत हो जाती है कि—यह लक्षण उस पद और तब पद से घटित है, जिसका अर्थ अनुगत है—अर्थात् कोई एक निश्चित नहीं है, अतः तादृश यत्तव पद घटित लक्षण भी अनुगत होगा, फिर लक्षण बनाने का उद्देश्य (अनुगम करना) सिद्ध नहीं हो सकेगा, दूसरी बात यह है कि काव्यपद वाक्यतावच्छेदक गुरु हो जाने से मौल्य भी होगा, अर्थात् लक्षण को लघु होना चाहिये, तो नहीं हुआ, इसलिये 'स्वविशिष्टजनकता' इत्यादि तृतीय लक्षण का अवतार समझना चाहिये । तृतीय परिष्कार के अनुसार काव्य का लक्षण 'चमत्कारत्वत्वं' मात्र हुआ, जो न धदा है, न यत्, तब पद घटित ही, अतः गौरव किंवा अनुगम की शङ्का जाती रही । यहां लोकोत्तरत्व का पर्यायवाची चमत्कारत्व जाति विशेष माना गया है, जो, यद्यपि साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) से चमत्कार—लोकोत्तर आनन्द में ही रह सकता है, काव्य में नहीं तथापि ग्रन्थोक्त 'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्यं प्रतिपादकता' रूप परम्परा सम्बन्ध से काव्य में रहेगा । यद्यपि यह सम्बन्ध लम्बा अवश्य है, तथापि सम्बन्ध लक्षण घटक नहीं कहलाता, इसलिये अब उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित हो सकता,

ऐसा समझना चाहिये । इस सम्बन्ध में स्वपद से चमत्कारत्व का प्रहण करना चाहिये, समवाय सम्बन्ध से तद्विशिष्ट होगा चमत्कार, उसकी (तद्विरूपित) जनकता रहेगी भावना (ज्ञानभारा) में, उस जनकता से निरूपित विषयता सम्बन्धावलिष्ठ अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात्—विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः यह (काव्यार्थ) भी भावनानिष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा—उस, काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध से स्व (चमत्कारत्व) शब्द में रहेगा । इसी तरह से लक्षण का समन्वय करना चाहिये ।

इत्थं स्वकीयं काव्यलक्षणं प्रतिपाद्य काव्यप्रकाशकृतस्तत् खण्डयितुमुपक्रम्य तत्र प्रथमं विशेष्यदलेऽर्थस्य निक्षेपमाक्षिपति—

यत्तु प्राञ्चः—‘अदोषो सगुणो सालङ्कारो शब्दार्थो काव्यम्’ इत्याहुः । तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्, ‘काव्यमुच्चैः पठ्यते’ ‘काव्यादर्थोऽपगम्यते’ ‘काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः’ इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविरोधस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।

तुना वक्ष्यमाणाऽरुचि सूच्यते । प्राञ्च काव्यप्रकाशकारा । आहुरित्यभिप्रेतान्वय । विचार्यते गुणाद्युक्तत्वमितिशेष । विश्वेभ्य सर्वेभ्यो जनेभ्यो हितो विश्वजनीनो व्यवहार । प्रत्युतोक्तैवपरीत्ये । एवकार शब्दार्थयोरर्थमात्रस्य व्यवच्छेदक ।

प्राचीनैः शब्दार्थोभयस्य काव्यत्वमङ्गीक्रियत इति न शोभनम्, यतः शब्दार्थयोः काव्यत्वस्य ज्ञापकं किञ्चिदपि प्रमाणं नोपलभ्यते । किञ्चार्थस्य कण्ठतात्वाद्यभिघातजन्योच्चारणलक्षणपाठयोरन्यत्वेन ‘काव्यमुच्चैः पठ्यते’ इत्यादिरूप, अर्थस्यापि काव्यपदार्थत्वेन पृथक् सत्तुल्लेखानर्हत्वात् ‘काव्यादर्थोऽपगम्यते’ इत्यादिरूप, अर्थस्य ध्वन्यासम्भवात् काव्यपदार्थत्वेनैव सव्याप्तत्वाच्च ‘काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः’ इत्यादिरूपश्च सर्वानुमतो व्यवहारो नोपपद्यते । अर्वाचीनमते तु प्रमाणान्तराभावेऽपि, शब्द विरोधमात्रस्य काव्यत्वाभ्युपगमेन प्रादुर्भवन्ती तद्व्यवहारोपपत्तिरेव प्रमाणीभवतीति तत्त्वम् ।

अथ पण्डितराज स्वसम्मत काव्यलक्षणं विरूपणं कर लेने के बाद प्राचीन आचार्य द्वारा किए गये काव्य लक्षणों के खण्डन प्रसङ्ग में सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार मम्मट कृत लक्षण की खर्चा करते हैं—‘यत्तु प्राञ्च’ इत्यादि । काव्यप्रकाशकार ने ‘दोषरहित, गुण तथा अलङ्कार सहित शब्दार्थ युगल’ को काव्य माना है, हा, अलङ्कार के अंश में इतनी छूट उन्होंने अवश्य दी है कि—कहीं-कहीं स्पष्ट अलङ्कार नहीं रहने पर भी और अंश के रहने पर शब्दार्थसमूह को काव्य कहा जा सकता है, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के विचार से यह लक्षण ठीक नहीं है, कारण ? पहले ‘शब्दार्थ युगल’ को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं । प्रत्युत ‘काव्य जोर से पढ़ा जा रहा है, काव्य से अर्थ समझा जाता है, काव्य सुना अर्थ ज्ञात न हो सका’ इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं क्योंकि ‘शब्द और अर्थ’ दोनों को काव्य मानने पर उक्त व्यवहार नहीं बन सकते—अर्थात् यदि अर्थ भी काव्य होता तो उसका पाठ कैसे सम्भव हो सकता, अर्थ के भी काव्य के अन्दर आ जाने पर काव्य से अर्थ का समझना भी नहीं बन पड़ता, और अर्थमिश्रित काव्य का ध्वन्य भी समुचित नहीं जान पड़ता, अतः शब्दमात्र को ही काव्य मानना ठीक है ‘शब्द अर्थ’ दोनों को नहीं ।

प्रतिपक्षिपक्षमुपक्षिप्याक्षिपति—

व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमतं शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात् । तदेव तु न पर्याप्तम् ।

व्यवहारः 'काव्यमुच्ये पठ्यते' इत्यादिसङ्ख्यप्रयोगादयः । अत्रयथावयवविभावरूपशक्य-
सम्बन्धमूलकगौणवृत्त्या । परागमिन्ते काव्यप्रकाशकारादिसम्मतम् । काव्यशब्दशब्दे काव्यपद-
निष्ठाभिधायी । प्रमाणकं ज्ञापकम् । तदेव शब्दार्थोभयशक्तिप्रादुर्भूतं प्रमाणमेव ।

यथा 'पूर्वं पद्यात्' इत्यादौ समस्तपद्यालदेशवाचकतां पद्यालदेशान्ना तदेकदेशो
लक्षणाया प्रयोगः, तथैवोक्तव्यवहारेषु शब्दार्थोभयवानकस्य काव्यशब्दस्य स्वार्थैकदेशो शब्द-
मात्रे लक्षणायाः स्वीकारेण व्यवहाराणामुपपत्तिः स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, काव्यपदनि-
ष्ठाया शब्दार्थोभयनिस्सपेताभिधायी प्रादुर्भूतस्य काव्यविदपि प्रमाणस्यानुपलम्भादिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि—जहाँ शब्दमात्र के लिये काव्य पद का प्रयोग किया गया हो, वहाँ
लक्षणावृत्ति से काम लिया गया है, अर्थात्—उक्त व्यावहारिक वाक्यों में काव्यपद का
लक्षणावृत्ति प्रयोग है, शब्दार्थ युगल पाठक काव्यपद का प्रयोग लक्षणावृत्ति के द्वारा केवल
शब्द में भी हो सकता है, जैसे समस्त-पाद्याल-देश-वाचक पाद्याल शब्द का प्रयोग
'पूर्वं पाद्याल' इत्यादि स्थलों में देश के एक भाग में भी लक्षणा से होता है, इस तर्क का
उत्तर प्रकृतिराज यह देते हैं कि—आपका यह (लक्षणा द्वारा काम चलाने वाला) कथन
तब सत्य हो सकता था, जब आप किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्यपद
का मुख्य (वाच्य) अर्थ 'शब्द और अर्थ' दोनों ही हैं । परन्तु ऐसा प्रमाण ही तो नहीं
दृष्टिगोचर होता ।

ननु तत्र कथं प्रमाणभावः, प्रमाणान्तरविरहेऽपि काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनोक्तरेष
प्रमाणत्वादित्यत आह—

विमंतावाक्यं स्वप्नद्वेयमेव ।

अनुपपत्तिप्रकटनेन तन्मतनिराकरणपरैरस्माभिस्तद्वान्मतेषु कथं प्रमाणत्वेन विश्वसनीय-
मिति भावः ।

यदि आप कहें कि प्रमाण क्यों नहीं दृष्टिगोचर होता ? क्या आप शब्दप्रमाण को नहीं
मानते ? अर्थात् आपका मन्मत का वाक्य ही शब्दार्थ युगल को काव्यपद वाच्य होने
में प्रमाण है । हाँ, शब्द को मैं प्रमाण मानता हूँ, परन्तु अर्थ के शब्द को—वादी के शब्द
को नहीं, मन्मत ही वादी है उन्हीं के साथ मेरा विवाद है कि उनके शब्द को ही
प्रमाण कैसे मान लें ?

उपसंहरति—

इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिप्रादुर्भूतं प्रमाणे प्रागुक्ताद्
व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्धचन्ती शक्ति को नाम निवारयितुमीष्टे ।

इत्थं प्रतिपक्षिवाक्यस्याश्रयेदत्वेनाप्रामाण्येन । प्रागुक्तत्वं 'काव्यमुच्ये पठ्यते' इत्यादि-
स्यात् । शब्दविशेषे रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमात्रे । को नाम नैवकश्चिन् । ईष्टे शक्नोति ।

इदमुच्यते—'शक्तिप्रादुर्भूतं व्याकरणोपमान-कोशासवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य घृष्टा ।'

इति तार्किकसिद्धान्तादिह व्याकरणादिशक्तिप्रादुर्भूतप्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि पूर्वं कथितो
व्यवहार एव काव्यपदस्य शब्दमात्रशक्तिपदे प्रमाणम्, तस्यापि शक्तिप्रादुर्भूतानुपलम्भेणात् ।

इस तरह जब कि 'शब्द और अर्थ' दोनों में काव्यपद की अभिवाशक्ति को सिद्ध
करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, तब पूर्वाक्त व्यवहाररूप प्रमाण से शब्दमात्र में सिद्ध होने
वाली काव्य-पद-शक्ति को कौन रोक सकता है ।

एकतरफे विनिगमनानिरादुभयत्र शब्दार्थयोः काव्यशब्दशक्तिस्वीकृता मतं निराकरोति—

एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति अत्युक्तम् ।

एतेन पूर्वोक्तव्यवहाररूपविनिगमकसद्भावेन । एकतरपक्षपातिनी युक्तिर्विनिगमना । प्रत्युक्तं सङ्गठितम् ।

इसी से 'शब्दमात्र को काव्य मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है, इसलिये 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य मानना चाहिये' इस तर्क का भी उत्तर हो जाता है, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने में पूर्वोक्त-लौकिक-व्यवहाररूप-विनिगमक (एकतरपक्षपातिनीयुक्ति) वर्तमान है ।

पर्यवसितमाचष्टे—

तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य ।

प्राक् प्रदर्शितव्यवहारैर्यदा काव्यपदस्य शब्दविशेषमात्रे शक्तिर्निर्धारिता, तदा तादृश-शब्दमात्रवृत्त्येव काव्यस्य लक्षणं कथयितुमुचितम्, न पुन शब्दार्थोभयवृत्तीति सारम् ।

इस तरह विशिष्ट प्रकारक शब्द को ही काव्य सिद्ध हो जाने पर तदनुसार शब्दमात्र-गत-काव्यलक्षण बनाना उचित है, न कि अपनी ओर से काव्यरूप में कल्पित-शब्दार्थ युगल-गत लक्षण बनाना ।

स्वमतं द्रष्टयितुं प्रसङ्गादाह—

एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेऽप्यपि गतिः । अन्यथा तत्रापीय दुरवस्था स्यात् ।

एषैव शब्दविशेषमात्रवृत्तित्वस्थोक्तिरेव । गतिरुपाय । आदिपदेनेतिहासप्रवृत्तिपरिग्रह ।

अन्यथा वेदत्वादिरपि शब्दार्थोभयवृत्तित्वस्थोक्तिरे । दुरवस्थातत्तद्व्यवहारविरोधापत्तिः ।

'वेद उच्ये पठ्यते' 'वेदादर्थोऽवगम्यते' 'वेद श्रुतः, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादितत्तद्व्यवहारैर्यो वेदपुराणादिलक्षणांशमपि शब्दविशेष एव शक्तिमवधार्य शब्दविशेषमात्रवृत्त्येव वेदादिलक्षणं निधेयम् । शब्दार्थोभयवृत्तितत्त्वज्ञाननिर्माणे तु काव्यवद् व्यवहारविरोधः स्फुट एवेत्याशयः ।

एतच्च 'स्वगतविशेषजनकताऽवच्छेदकजातिभेदकफलोद्देश्यकप्रयोजन्यप्रयत्नविषयवाक्य-परम्परा प्रत्यक्ष । तद्वृत्तिप्रत्यक्ष जाति । प्रत्यक्षव्याप्या एव वेदत्वादिकास्तत्त्वः ।' इत्यादि-सन्दर्भेण काव्यप्रकाशशिखरिणे विस्तरेण प्रपञ्चितम् ।

स्वमत को पुष्ट करने के लिये प्रसङ्ग प्राप्त विषयान्तर की चर्चा करते हैं—'एषैव च' इत्यादि । वेद, पुराण, इतिहास, प्रवृत्ति के लक्षणों के सम्बन्ध में भी यही उपाय करना होगा, अर्थात् इन सबों का लक्षण भी शब्दविशेष मात्र वृत्ती ही बनाना चाहिये अन्यथा वहाँ भी इसी तरह की गड़बड़ होगी, कहने का तात्पर्य यह है कि—यदि शब्दार्थ समूह को वेद आदि मानेंगे तो 'वेद' ओर से पढ़ा जाता है, वेद से अर्थ समझा जाता है, वेद सुना, अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि व्यवहार विरुद्ध हो जायेंगे ।

प्राचीनमतं पुनरापाद्यावयति—

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्ट-मित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मत-त्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः । किं बहुना नाट्याद्वाना सर्पणमपि प्रायशस्तया-त्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव ।

आहुरित्यनेन चत्विक्त्वन्वेति । अविशिष्टं तुल्य साधारणमिति यावत् । रागस्य सङ्गीतानु-शासनेक-गीतस्वरविशेषस्य भैरवादिस्तञ्जकस्य । गीतरागानां रसव्यञ्जकता ध्वनिकृता तृतीयोद्बोधो दर्शिता । लक्षणीयत्वापत्तेः रागस्यापि रसव्यञ्जकताऽऽस्वादोद्बोधकत्वलक्षण-

लक्ष्यताऽवच्छेदनान्तरेण तत्र काव्यलक्षणातिव्याप्यापत्तेः । सर्वेषां नाट्यज्ञानां भरतोकानां मतोपकरणाद्वारादीनाम् । प्रायशो बाहुस्येन, तेन कस्यचिन् तदभावोऽपि । तथाप्येना-
स्तादौघोपनत्वेन । तथात्वापत्तिः । वाक्यत्वातिव्याप्तिः ।

‘अलौकिकास्तादस्यैव काव्यस्य प्रचानप्रयोजनत्वेनाभियुक्तोऽस्तद्व्यपञ्चमेव काव्यत्वं
सक्तुं युक्तम् । आस्तादव्यञ्जिता च कचिच्छब्दे कचिदर्थे कचिचोभयनेत्यनायत्वा शब्दार्थयो-
रेव वाक्यत्वमभ्युपगन्तव्यम्, न पुनः शब्दमात्रे’ इति केशचिन्मतमनूयतम्, आस्तादव्यञ्ज-
कत्वमानस्य रसन्यञ्जकेषु रागेषु स्तिपयेषु नाट्याङ्गेषु चातिप्रसङ्गज्ञः । न चेष्टाऽऽपत्तिः,
तेषामुपदेशादिप्रयोजनान्तरानुत्पादकत्वादित्याकृतम् ।

यहाँ मम्मट-मत-समर्थक कुछ लोग एक और नवीन तर्क उपस्थित करते हैं । उनका
कथन यह है कि—काव्य उसको कहना चाहिये, जिससे रस का उदोघ होता हो, जिससे
सहृदयों को भौतिक आह्लाद प्राप्त होता हो और उस आह्लाद को देने की शक्ति शब्द
और अर्थ दोनों में समानरूप से है, अतः ‘शब्द और अर्थ’ दोनों को काव्य कहना न्याय
प्राप्त है । षण्ढितराज का कथन है—आपका यह तर्क ठीक नहीं । यदि रस को उद्बुद्ध
करने वाली जो भी चीज हो उसको काव्य माना जाय तो राग को भी काव्य मानना
पड़ेगा क्योंकि ध्वनिकार ‘आनन्दवर्धन’ आदि सभी साहित्यिक मनोवियों ने राग को रस
व्यञ्जक माना है । यदि आप कहें कि—राग को भी काव्य मान लेने में आपत्ति ही क्या
है, तो सुनिषे—रसभञ्जक होने से यदि किसी को काव्य माना जाय, तो फिर राग मात्र
को ही काव्य मान लेने से पुटकारा छोड़े ही मिल जायगा, नाटक के जितने अङ्ग (नृत्य,
वाच, नेपथ्य सामग्री, आदि) हैं सभी को काव्य मानना पड़ेगा, जो किसी को भी इष्ट
नहीं हो सकता ।

आदिकं मतान्तरं निरस्यति—

एतेन रसोद्घोषसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम् ।

एतेन रागादिप्रतिप्रसङ्गेन । रसोद्घोषसामर्थ्यं व्यञ्जना, तस्य शब्दवदर्थेऽप्यशक्तमित्यु-
भयोरैव वाक्यत्वम् । लक्ष्यत्वं काव्यत्वस्येति शेषः । अपिना पूर्वमतसंगतः ।

इसी कारण से ‘जो रसोद्घोषन में समर्थ हो—जिससे सहृदयों का आनन्द प्राप्त
हो उठे—वही काव्यलक्षण का लक्ष्य है’ यह कथन भी षण्ढित समझना चाहिये ।

उक्तमतानि पुनर्विकल्पोपन्यासेन वृथयति—

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम् ? प्रत्येकपर्याप्तं वा ?
नाद्यः, ‘एको न द्वौ’ इति व्यवहारस्यैव ‘श्लोकवाक्यनकाव्यम्’ इति व्यवहारस्या-
पत्तेः । न द्वितीयः, एकास्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः ।

प्रवृत्तिनिमित्तं शक्यताऽवच्छेदकम्, ‘वाक्यत्वे सति, वाक्यवृत्तित्वे सति, वाक्योपस्थि-
तिमकारत्वम्’ इति तल्लक्षणस्यान्यत्राभिधानम् । व्यासक्तं व्यासज्यवृत्ति एकमेवोभयं व्याप्य
तिष्ठत् । प्रत्येकमेकस्मिन्नेकस्मिन् शब्दे चायं च पर्याप्तं पर्याप्तिसम्बन्धेन विद्यमानम्,
नतुशयवृत्तिः । वाराब्दे विकल्पार्थकः । नाद्यः पद्यं सङ्गत इति शेषः, स च काव्यत्वस्य
शब्दार्थोभयव्यासकत्वप्रतिपादकः । द्वितीयस्तु प्रत्येकपर्याप्तत्वप्रतिपादकः ।

प्रत्येकवृत्तिपर्याप्तच्छिन्नानुयोगितानिरूपकस्य, व्यासज्यवृत्तिभर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरू-
पकस्य तु भेदस्येष्टत्वात् ‘एको न द्वौ’ इति व्यवहारः ‘घटो न घटपटी’ इत्यादि व्यवहारवद्
यथाभवति, तथैव प्रकृते काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तितायाः स्वीकारे रलोभ्याव्यात्म-
कशब्दनामपर्याप्तिविरहाच्छ्लोकाव्यत्वावच्छिन्नानुयोगिताक-सादृशशब्दार्थोभयत्वावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकभेदस्य सुवचत्वेन 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारो भवेत् । शब्दमात्र-
पर्याप्त्यङ्गीकारे तु भेदीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकसुप्रतियोगिताऽवच्छेदकयोरेक्याद् 'धटो न घटः'
इत्यादिबन्ध तथा व्यवहारस्यापत्तिः । शब्दे चार्थे च प्रत्येकमपि काव्यत्वं पर्याप्त्या वर्तत
इत्यास्थाने पुनः शब्दाशे पृथक् काव्यत्वं अर्थोशे च पृथक् तदादाय सर्वाभिमत एकस्मि-
न्नपि काव्ये 'काव्यद्वयमिदम्' इति व्यवहारस्यापत्तिः । न चैतावता का क्षतिरिति वाच्यम् ।
तादृशस्थले 'नैकं काव्यम्' इत्याकारकौत्तरकालिकवाचप्रहविरहात् 'एकं काव्यम्' इति
ग्रमाऽऽत्मकप्रतीत्युच्छेदापत्तेरिति नाव ।

महामहोपाध्यायगोकुलनाथचरणस्तु—'यद्यप्यर्थो न कविकर्म, तथाऽपि प्रथमप्रकाश्य-
मेवात्र कर्माभिधीयते । अन्वया शब्दमित्यतावादे मौनिना लिखित्वा ह्यापिते च शब्देऽपि
कविकर्मत्वं न स्यात् । तथाच विनिगमनाविरहादर्थविशेषावरुद्धः शब्द इव शब्दविशेषाव-
रुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यमित्युभयो प्राधान्येन निर्देशः । 'काव्यं
शृणोति' इति व्यवहारस्त्वर्थोऽपि शाब्दबोधार्थकशृणोतिनोपपादयितुं शक्यते 'आत्मा
श्रोतव्यः' इति क्व । यत्तु 'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' इति वचनम्, तत्र
व्यवच्छेद समुच्चय एव, नत्ववच्छिन्नत्वम्, विनिगमनाविरहान् । 'रसवच्छब्दार्थोभयत्वं काव्य-
लक्षणम्' । तत्र योतादावतिव्याप्तेर्वारणायार्थ, अभिनेयार्थवारणाय शब्दोऽप्युपात्तः ।' इत्युक्तम् ।

नागेशमहाशु—'यदित्वात्त्वादव्यञ्जकत्वस्याप्युभयत्राप्यविशेषा चमत्कारिव्यञ्जनकज्ञान-
विषयताऽवच्छेदकवर्मवत्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यताऽवच्छेदक-
त्वोभयवृत्तित्वाच्च 'काव्यं पठितम्' 'श्रुतं काव्यम्' 'बुद्धं काव्यम्' इत्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च
काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यहृतिः । अत एव वेदत्वादेकमवृत्तित्वप्रतिपादक 'तदधीते'
इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते । लक्षणयाऽन्वतरस्मिन्नपि तत्त्वाद् 'एको न
द्वौ' इति वक्ष्यते तदापत्तिः । तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशकं निर्वाच्यम् । एव मात्रादादी
नैलक्षण्यनिवेशादुक्तलक्षणद्वयमपि निर्वाचयामि नान्यमतपि दुष्टमित्युच्यते, तर्कस्तु
तथा ।' इत्याचक्षते ।

सं० स० गङ्गाधररात्रिणस्तु—'अत्रेदमवधेयम्' 'तदबोधो शब्दार्थो' 'अदोप गुणवत्
काव्यम्' इत्यादिषु प्रदर्शितानां दोषाभावगुणाद्वाराणां काव्यसामान्यलक्षणोद्देश्यताऽवच्छे-
दककोटिप्रवेशो नास्त्येव । उद्देश्यता पुनः शब्दार्थयोरेव, न तु शब्दमात्रे, शब्दमात्रे कवि-
रन्मगोचरत्वायोगेन लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्मताया उभयत्राप्यविशेषात्, कव्युच्चारणकर्म-
ताया शब्दे, कविसमवेतरसबोधोपयिकसामग्रीसङ्गठनविषयकज्ञानकर्मताया अर्थे सत्त्वात् ।
अर्थपदेन वाच्यलक्षणवद्वात्मानिनिष्ठस्यापि विवक्षाया सर्वैस्त्वालङ्कारिकैरिक्तयनिरूपणेना-
परममभ्युपगन्तव्यतया सर्वविषयस्यापि व्यवहृत्य निरुक्तज्ञानकर्मतया काव्यत्वस्य दुर्वात्त्वान् ।
इत्येव च फक्किरुत्तरसविषयकज्ञानौपयिकसामग्रीसङ्गठनविषयकज्ञानविषयत्वं शब्दार्थयो-
रनुगत काव्यत्वम् 'अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता' 'अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सह-

१ तवाच 'तदधीते' तद्वद । किमर्थमुक्तव्यर्थो निर्दिश्यते । न चाधीते वेत्तव्यसौ । यस्तु वेत्त-
धीतेऽप्यसौ । नैनयोरावयव समवेदः । भवति हि कश्चिन् सङ्घाठं पठति अवेत्ति, तथा कश्चिद्
वेत्ति, न च सङ्घाठं पठति ।' इति भाष्यम् । 'यो हि यं ग्रन्थमधीते, स तत् स्वरूपतोऽनर्थं वेत्ति ।
य च स्वरूपतो वेत्ति, सोऽवदर्थमधीत इति भावः । नैनवोरिति—अर्थवर्णनो वेदनमभिप्रेतम्,
न तु स्वरूपमात्रवेदनम् । तत्र परस्परव्यभिचाररक्षणादुभयवपदानमित्यर्थः । सङ्घाठमिति—
अर्थनिरपेक्ष स्वाध्यायं पठनीत्यर्थः ।' इति च तदवधीतः ।

कारितया मतः ।' इत्युक्तिरिदंभयस्यापि निरुक्तसामग्रीषट्कतायाः सूपपादत्वात् । इत्थं च न सास्याज्ञाना काव्यत्वापत्तिः, तस्य कविकर्तृकनिरुक्तज्ञानविषयताया अभावात्, विषयान्तर-व्यासक्तसामाजिकमनसा तद्विषयाभिमुख्यपरिहारपूर्वकं काव्यार्थमावना अवगतासम्पादकत्वेन रसोद्वोधं प्रति परम्परया प्रयोजकत्वेऽपि प्रदर्शितसागमीषट्कताया अभावाच्च ।

अत एवार्थदोषाणामर्थगुणानामर्यात्तद्वाराणामर्यशक्तिमूलकध्वनीना च निरूपणमुप-पद्यते । शब्दमात्रस्य काव्यत्वे तद्वतांगमेव दोषगुणालङ्कारध्वनीना निरूपणस्यैवित्येन भूयसामर्यगताना तेषां निरूपणस्याप्रसक्त्या तद्विरूपणस्योन्मत्तप्रत्यापत्वारसते । न च दोषा-मुत्तमायन्यतमकाव्यपदार्थप्रवेशाभावेऽपि रसोपयोगितामात्रेण निबन्धनमुपपद्यत इति वाच्यम्, काव्याङ्गनिरूपणं प्रतिहाय तेषां निरूपणस्यासङ्गत्वात्तत्तदुत्तिनाधानत्वान् । प्रसृत त्वदापादितप्रकारेण सास्याज्ञाना निरूपणीयताऽऽपत्तेस्त्वन्मत एव दोषत्वाद । एवं च 'काव्यं शुभम्' इत्यादिप्रतीतीनामपि श्रुत्वादेरर्यशब्दोभयवृत्तितया महाभाष्यकारादिनिरु-क्तत्वेन 'श्रुत्वा पठति' इत्यादिप्रतीतीनामिव आकत्वमेव ।

'एतेन वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति शब्दमात्रे काव्यसामान्यलक्षणयोगिता प्रतिजा-नान, स्वयमेवाग्ने-हरयध्वविभेदेन पुनः काव्यं द्विधानतम्' इत्यभिदधत्, पूर्वापरनिरोधन-प्लगादलपन् दर्पणग्रन्थोऽन्योऽपि तन्वातोयो ग्रन्थद्विन्त्य एवेति सहृदया विभावयन्तु । इति व्याहरन्ति ।

तदेवजिरालमपि समासेन प्रदर्शितमस्माभिः साहित्यमीमांसाया काव्यलक्षणनिरूपण-प्रसङ्गेन ।

'शब्द और अर्थ' दोनों काव्य नहीं हैं इस सिद्धान्त के समर्थन में पण्डितराज कुक्ष और गवीन मुक्ति प्रतलते हैं— 'अथि' इत्यादि । इस सन्दर्भ का भाव यह है कि किसी समुदाय में ही रहने वाला धर्म व्यासज्यवृत्ति कहलाता है—जैसे द्वित्व, बहुत्व आदि, और एक में रहने वाला धर्म कहलाता है, प्रत्येक पर्याप्त जैसे मनुष्यत्व आदि । अब विचार यह करना है कि काव्य-पद-मनुति-निमित्त (काव्यत्व) किम कोटि का धर्म है ? शब्दार्थ समूह में रहने वाला, व्यासज्यवृत्ति ? किम वाद और अर्थ में रहने वाला, प्रत्येक पर्याप्त ? अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक पृथक् पृथक् ? यदि आप प्रथम पक्ष को कबूल करते हैं, तब तो जैसे 'एक, दो नहीं है, घट, घट-पटोमय नहीं है' ये सब व्यवहार होते हैं—अर्थात् एक में दो का भेद मानते हैं, दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह 'श्लोक वाक्य काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् श्लोक वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकते, क्योंकि वाक्य, काव्य का एक अवयव मात्र है । यदि द्वितीय पक्ष को अपनाते हैं, सब भी एक ही श्लोक में 'यहाँ दो काव्य है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् शब्दभाग को लेकर एक काव्य और अर्थभाग को लेकर दूसरा काव्य कहलायगा, इष्टापत्ति तो कर नहीं सकते, कारण ? इष्टापत्ति करने से एक पक्ष में होने वाली 'यह एक काव्य है' इस प्रामाणिक प्रतीति का उच्छेद हो जायगा । 'यह प्रतीति प्रामाणिक नहीं है' यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि जब उत्तरकाल में आप ज्ञान नहीं होता, तब उस प्रतीति को भ्रम कैसे माना जा सकता है ।

पर्यवसितं निगमयति—

तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्यैव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठत्वैवोचिता ।

साध्यं स्मृतिदर्शनादि । एवकारोऽर्थनिष्ठत्वं व्यवच्छिन्नमिति । इह वक्तव्यं प्रत्युक्तमेव ।

इसलिये वेद, शास्त्र, (स्मृति, दर्शन प्रमृति) और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण भी शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये । अर्थात् शब्दमात्र को काव्य मानना चाहिये,

शब्द-अर्थ दोनों को नहीं। यद्यपि महामहोपाध्याय 'मोकुलनाथ उपाध्याय', महावैयाकरण 'नागेशभट्ट' और महामहोपाध्याय 'गङ्गाधरशास्त्री' नेमिच-मिच युक्तियों से शब्द-काव्यत्व-वाद का खण्डन कर शब्दार्थ युगल में काव्यत्व को स्थिर किया है, तथापि मैं ग्रन्थ विस्तारभयसे थहाँ उन सब युक्तियों का उल्लेख नहीं करता हूँ। जिज्ञासुओं को संस्कृतटीका से उमका ज्ञान करना चाहिये।

इत्थं मम्मटभट्टोक्तकाव्यलक्षणषट्क विशेष्यदल निरस्थ विशेषणदलमपि निरसितुमुपक्रमते—

लक्षणो गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्त, 'उदितं मण्डलं विभो' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाधिरहिष्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिविषयजीवनाभाव-दिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः।

लक्षणे काव्यसामान्यलक्षणे। प्रथमेनादिपदेन दोषाभावा, मध्यमेन सहचरीप्रभृति, चरमेण च वल्लभासत्तिप्रमुख पराभूरयते। 'उदितं मण्डलं विभो' इति चन्द्रविम्वर्तुमौदय-क्रियाऽर्थकम्। दूत्यासुदीरितशब्दानामभिसरणविध्यादिभिर्व्यङ्ग्यै सह यथासङ्गमन्वयः। तथा चाभिसरणस्य विधिव्यङ्ग्यो दूत्या, निषेधोऽभिसारिकाया, जीवनाभावश्च निरहिष्या 'गतोऽस्तमर्कः' इति च सूर्यकर्तृकास्तत्रमनार्थकम्। अव्याप्त्यापत्तिश्च तयोर्गुणालङ्काराभावात्।

यदि काव्यसामान्यलक्षणे सगुणत्वं सालङ्कारत्वं शब्दार्थयोर्निवेश्येत, तर्हि 'उदितं मण्डलं विभो' इति काव्यस्य दूत्या नाविक्रम प्रत्यभिरितस्याभिसार कुर्वितिव्यञ्जकतया, अभिसारिकया दूतीं प्रति कथितस्य 'तमसा चसादिदानीं कथमभिसरिष्यामि' इति व्यञ्जक-तया, विरहिष्योदीरितस्य 'वियोगवेदनावाहुत्येन मम जीवनमधुनाऽसम्भवि' इति व्यञ्जक-तया च काव्यत्वेन सर्वसम्मतस्यापि गुणालङ्कारवैधुर्यात्तत्त्व न स्यादित्यव्याप्ति स्पष्टैव। एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावपि प्रकरणवैलक्ष्येन तत्तदर्थव्यञ्जकत्वेऽपि गुणालङ्कारविरहात् काव्यत्वस्याव्याप्तिरापद्येत। तस्मान्न सामान्यलक्षणे गुणालङ्कारनिवेशः समुचितः। न वा दोषाभावनिवेशोऽपि, तथा सति हि। 'न्यङ्कारो ह्ययमेव मे यदरय' इत्यादि पदौ तत्तदर्थव्य-ञ्जकतया प्यनिकारादिभिर्दत्तमव्यव्यत्वेनाभ्युपगतेऽपि द्विधा विषेया निमर्सादोपसंस्पर्शान् काव्यत्वस्यापि स्यादव्याप्तिरिति तात्पर्यम्।

प्रवीपमारास्तु—'नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न शक्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्कारश्च द्वय चमरमारहेत्। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानम्, न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—'अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कारविरहेऽपि छायाऽति-शय पुष्पाति।' इति तस्मात् सालङ्कारत्वमात्रं न विशेषणम्, किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतर-त्वम्।' इत्यवोचन्।

परेतु गुणालङ्कारयोः काव्ये सर्वत्र स्थितिनिवश्यकौ, तदभावे विच्छिन्नविरोधानाधानात् काव्यत्वमेव दुर्बलम्, तत्त्वस्य तद्वयोज्यत्वात्। अन्यथा चित्रवृत्तान्तवर्णनपराणामितिहास-भागानामपि तात्पापत्तिः। अत एव 'नहि कथेरिति वृत्तगोत्रवर्णनेनात्मलाभ, इतिहासादेरेव तत्पिन्दे।' इति ध्वनिकारेणोक्तम्। लोकरुद्यन्तस्तल्लौकिके मन्व्यवस्तुनि गर्वया नोप-युज्यते। अन्यथा लोकरुद्रक्षा दुस्कारणेभ्योऽपि काव्ये सुखोदात्तिर्नोपपद्येत। विभावादि-निमित्तभारगनाशोऽपि स्वरूपकार्यनाशमावश्य लोकरुप्रतिकूलो नोपपद्येत। गुणमत्तया रस-सत्ताऽप्यवसानुं शक्यैव, व्यापकत्वात्। 'नहि प्रथिमन्तो देशा इति वचन्ये शौर्यादिमन्तो देशा' इति केनाप्युच्यते' इत्यादि कस्याचिदुक्तिः त्वाप्रवृत्तिवन्वयैव, उपपादस्वैधुर्यात्। अन्यथा भीमासकाज्ञोक्तार्थापत्तिर्विहस्तीभवति। शब्दार्थयोर्गुणवत्ता तु व्यङ्ग्यव्यञ्जक-

भावेन 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इत्यभिप्रायः । निर्गुणशब्दार्थयोः काव्यलक्षणाव्याप्तिस्त्वैव, 'अचलस्थितयो गुणा' इत्यभिधानात् । अलङ्कारस्त्वस्फुटोऽपि चमत्कारकः, स्फुटस्तु सुतराम्, 'न कान्तमपि निर्भूयं विभाति वनिताऽऽननम्' इतिप्रतिपादनात् । किञ्च ननोऽल्पायकत्वेन तस्या स्फुटत्वे तस्य च विवक्षितप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वे पर्यवसानाददोषत्वमपि काव्यसामान्यलक्षणघटकशब्दार्थविशेषणमुचितमेव । तथाच 'न्यङ्कारः' इत्यादौ तत्तद्व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिजनितचमत्कृतिसम्पदा कशीयान् विभेयाविमर्शो विवक्षितो रसादिप्रतीतिं प्रतिबन्धुं तिरोहितशक्तिरूपेण नेष्ट इति तत्र काव्यत्वान्वाप्तिरसम्भवः । तादृशकाव्यमेव 'दुष्ट काव्यम्' इत्यादि व्यवहारविषयः । 'स्वामनुनायते कुचयुग पत्रावृतम्' इत्यादौ तु तादृशव्यङ्ग्यपदोपनयनचमत्कारव्यतिरेकाद् दोषस्य तिरोक्ताविरहादकाव्यत्वमिष्टमेव' इत्याहुः ।

इस तरह मर्मगोचर लक्षणों में विशेष्य दल का लण्डन हो चुका, अब विशेषण दल का लण्डन करने के लिये लिखते हैं—'अन्तु गुणालङ्कार' इत्यादि । मर्मट ने जो काव्य लक्षण में 'शब्दार्थ' के साथ सगुण, सादृश और अदोष ये तीन विशेषण लगाये हैं, ये भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि गुण और अलङ्कार के रहने पर ही काव्य कहलावे, तब 'उदित मण्डल विधोः' (चन्द्रमण्डल उदित हुआ) और 'गतोऽरतमर्कः' (सूर्य अस्त हुआ) ये तब वाक्य गुण तथा अलङ्कार से रहित होने के कारण काव्य नहीं कहे जा सकेगे । यदि आप पूछें कि—इन वाक्यों को काव्य मानते ही क्यों हैं ? इनको काव्य माना ही जाए, यह जरूरी तो है, नहीं, फिर अगर ये वाक्य काव्य कहलावें, तो क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ (जो काव्य का जीवन माना गया है) जब यहाँ है तब उन वाक्यों को काव्य कैसे नहीं मानें ? अर्थात्—उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य को जब कोई दूती बोलती है, तब 'चान्दनी घरस रही है, मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है, अब काटे पृथने का भय नहीं, अतः सौक से तुम अभिसार करने के लिये सज्जित स्थान पर जा सकती हो' यह व्यङ्ग्य अर्थ ज्ञात होता है । उसी वाक्य को जब अभिसारिका स्वयं बोलता है, तब 'चन्द्रमा के इस प्रसन्न प्रकाश में सज्जित स्थान तब कैसे जाऊँ ? दूर से भी देख कर लोभ मुझे पहचान लेंगे, फिर तो मेरी सब प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी' यह व्यङ्ग्य स्पष्ट प्रतीत होता है । यदि यह वाक्य विरहणी के मुख से निकलता है, तब 'उद्दीपक इस चन्द्रिका को देख कर मेरी विरह वेदना अत्यधिक बढ़ रही है अतः अब मेरा मरण निश्चित है' यह व्यङ्ग्य निश्चित होता है । द्वितीय वाक्य से भी प्रसन्न भेद प्रयुक्त अलंकरण व्यङ्ग्य अवगत होते हैं, जैसे चरवाहों को 'अब राशों को रोको,' दूर जाने वाले पथिकों को 'अब आगे नहीं जाना चाहिये' दिन भर धूप में चलने वालों को 'अब साप नहीं है' धार्मिकों को 'अब सन्ध्या की उपासना करनी चाहिये' इत्यादि व्यङ्ग्य ज्ञान होता है । अतः इन वाक्यों को काव्य मानना आवश्यक है ।

संस्कृत टीकाकार महोदय ने यहाँ भी प्राचीनों की विविध युक्तियों का विवरण देकर बहुत कुछ मर्मट-मत की मरमती की है, जिसको जिज्ञासुजन संस्कृत टीका देख कर समझें ।

पुनराशङ्क समादधाति—

न चेद्गकाव्यमिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च । 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च ।

इदम् 'उदितं मण्डल विधोः' इति वाक्यम् । अत्र काव्यं गुणालङ्कारहीनत्वात् । चमत्कारित्वं चमत्कारः ।

ननु 'उदितम्' इत्यादौ गुणालङ्कारशून्यत्वादेव्याप्तिरिष्टेवेति चेत्, मैवम्, यतश्चमत्कृतिरेव काव्यतया प्रधानं साधनम् । तान्तु गुणालङ्कारापेक्षया भूयसीमेव त्रिविधं व्यङ्ग्यमु-

त्पादयति । तच्च वस्तुस्वरूपमिहापि चक्रास्त्येवेति कुत' अव्यत्वाव्याप्तिः । अन्यथा पटैः प्रकाशकारादिभिर्गुणालङ्कारयुक्तत्वाद् यत् किञ्चित् काव्यमित्यङ्गीक्रियते, तदस्माभिरपि व्यवस्थापकविरहादकाव्यमित्युच्येत । तस्माच्चमत्कार एव प्रधान्येन तत्त्वप्रयोजकोऽङ्गीकार्यः । इत्थं चमत्कृतेरिहाप्यनुव्यवसीयमानतयाऽकाव्यत्वमस्य वक्तुं न युक्तम् । किञ्च गुणानामलङ्काराणां च प्राचीनमतमतेभेदेनानियमाद् गुणत्वमलङ्कारत्वं चानुगतं न सम्भवतीति कथं तयोः काव्यलक्षणे प्रवेशः स्यात् ।

यदि च 'रसवृत्तित्वे सति रसोपयोगित्वम्' गुणत्वम्, 'शब्दार्थान्यतरवृत्तित्वे सति परम्परया रसोपकारकत्वम्' अलङ्कारत्वं चानुगतमित्युच्यते, तर्हि शब्दार्थयोरिहादोषाविति विशेषणाद् दोषमात्र एव काव्यत्वाद् दुष्टं काव्यम्' इति सर्वजनीनव्यवहारस्यानुपपत्तिरेवापत्तिः प्रतिपत्तव्या । न च 'दुष्ट काव्यम्' इत्यत्र काव्यपदस्य गुणालङ्कारमात्रत्वेन काव्यसदृशो शब्दार्थोभये लक्षणेत्यपि वक्तुं युक्तम्, काव्यलक्षणे दोषामावनिवेशे बलवत्प्रमाणविरहेण मुख्यार्थान्वयमात्रलक्षण-लक्षणाकारणवैयर्थ्येण लक्षणाया असम्भवात् । अधिकमिदं दृष्टव्यं तु प्रागुक्तमेव ।

'यह काव्य नहीं है' ऐसा आप किसी तरह नहीं कह सकते, कारण ? काव्य के जीवातुभूत चमत्कार के रहने पर भी यदि आप उन वाक्यों को काव्य नहीं मानेंगे तो आप जिसे काव्य मानेंगे, उसको भी दूसरे काव्य मानने के लिये तैयार नहीं होंगे । काव्य लक्षण में गुण और अलङ्कार के निवेश को अप्रतित सिद्ध करने का यह भी दूसरा पर्याप्त कारण है कि—गुणाव और अलङ्कारव का अनुगमनी नहीं है—अर्थात् आज तक यह निश्चित नहीं हो सका कि गुण और अलङ्कार क्या हैं, किसने हैं, भिन्न-भिन्न अलङ्कारिक उनकी भिन्न-भिन्न सध्या मानते हैं । इस स्थिति में अनुगमक लक्षण में उनका निवेश अनुचित है, क्योंकि जो स्वयम् अनुगुत (अनिश्चित) हैं, वे दूसरे को अनुगुत (निश्चित) नहीं बना सकते । यदि आप 'रस में रह कर जो साक्षात् रस को उपकृत करे वह गुण है और जो शब्द अथवा अर्थ में रह कर परम्परया रस का उपकार करे, वह अलङ्कार है' इस तरह गुण और अलङ्कारों का अनुगम कर दिखायेंगे, तब भी 'दोष रहित' कहना तो अनुचित ही है, क्योंकि लोक में 'यह काव्य दुष्ट है' ऐसा व्यवहार होता है । अर्थात् काव्यपद दोष रहित ही में नहीं अपितु दोष सहित में भी प्रयुक्त होता है । यदि आप कहें कि—दोष सहित में काव्यपद का प्रयोग मुख्य नहीं, गौण है—अर्थात् निर्दोष वाचक काव्य पद की सदोप में वहाँ लक्षण है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण ? मुख्यार्थवाच, मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रुढ़ि अथवा प्रयोजन (जो लक्षण के कारण माने गये हैं) के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती ।

प्राचीनमतेन पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च संयोगामाववान् वृत्तः संयोगीतिवदंशभेदेन दोषरहितं दुष्टमिति कथ्य-हारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्, 'मूले महीरुहो विहङ्गमसयोगी, न शास्त्रायाम्' इति प्रतीतेरिवेदं पद्य पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनो विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तित्वाया अपि तस्यायोगात् । शौर्यादिव-दात्मधर्माणां गुणानां हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरपदकत्वानुपपत्तेश्च ।

स्वरसवाहिन स्वारसिकस्य । विश्वजनीनानुभवस्य सर्वलोकानुबूलप्रत्यक्षस्य । अपि-पूर्वोक्तखण्डनदेतुं समुचितोति । तस्य दोषाभासस्य । अयोगादसम्भवात् ।

यथा तार्किका वृक्षस्य मूलवच्छेदेन पक्षिसंयोगं शाखावच्छेदेन तदभावं चावसाय पक्षिसंयोगाभावं तत्राव्याप्यवृत्तिं मनानाः 'पक्षिसंयोगवान् वृक्षः पक्षिसंयोगाभाववान्' इति व्यवहरन्ति, तथैव प्रकृते काव्ये यत्किञ्चिद्देशावच्छेदेन दोषस्य तदितरदेशावच्छेदेन दोषाभावस्य च सम्भवादव्याप्यवृत्तिं दोषाभावमादाय 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारः सम्भवत्येवेति न कचिदनुपपत्तिरिति चेत्, स्यादेवम् । यदि तद्वत् 'इदं वाक्यं पूर्वाभावच्छेदेन (दोष-निरहान्) काव्यम्, उत्तराभावच्छेदेन तु (दोषवत्तया) अकाव्यम्' इति सर्वलोकानुभवः स्यात् । स एव तु नानुव्यवसीयते । तर्हि कथमव्याप्यवृत्तित्वं दोषाभावस्य स्वीकर्तुं शक्यम् । तस्याव्याप्यवृत्तित्वाभावे वा कथं व्यवहार उपपद्यताम् । अथ यदि काव्यस्य सामान्य-समर्थो दोषाभावगतिवेद्य विरोधलक्षणे च निवेद्य सामान्यतात्पर्येण 'दुष्ट काव्यम्' इति व्यवहार उपपाद्येत, तदा सगुणो बालद्वारवृत्तिविशेषणद्वयमेव शब्दार्थयोर्नोपपद्यत इति दोषस्तदवस्थ एव । तथाहि—यथा शौर्यादयो गुणा लोकात्मनिष्ठा, हारादयश्चालङ्कारा शरीरनिष्ठा, ननु शरीरोभूता, तथा माधुर्यादयो गुणा कस्यस्य रसनिष्ठा, अनुप्रासोपमाऽऽवयवालङ्कारा रसव्यर्थनिष्ठा, ननु तद्वत् एवेति शब्दार्थलक्षणस्य काव्यस्य सगुणत्वादिविशेषणानुपपत्तिरिति तात्पर्यम् ।

वस्तुतस्तत्तद्व्याप्यवृत्तिरुपपत्तिरेवेति शब्दार्थाव्यतिरेकस्य श्रुतिकारायज्ञीकाराज शरीरवद्वत्त्वात्तुपपत्तिः । समाधानान्तरमपि प्रागुच्यते विधेयम् ।

'अदोष' इति विशेषण को सङ्गत सिद्ध करने के लिये प्राचीनों ने एक और नवीन युक्ति दी है, उसका भी ज़रफ़्त करते हैं 'न च संयोगाभाववान्' इत्यादि । पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि जैसे एक ही तरह के मूल देश में पक्षि प्रकृति का संयोग और शाखा देश में इसका अभाव ज़रूर रहता है, अर्थात् वृक्ष की जड़ में पक्षी बैठे हो और बाल पर वह न पैदा हो तब 'संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगी' (सपक्ष रहित वृक्ष संयोग वाला है) ऐसा व्यवहार होता है, उसी तरह एक भी वाक्य अर्थ भेद से दोष रहित (काव्य) और दुष्ट (अकाव्य) कहलायगा । परन्तु यह कथन भी उनका उचित नहीं, क्योंकि 'मूले महीरहो विहङ्गम संयोगो न शाखायाम्' (वृक्ष की जड़ में पक्षी है और बाल पर नहीं) ऐसी स्वारसिक प्रतीति सब लोगों को होती है, अतः संयोग को अव्याप्यवृत्ती माना है, तद्वत् यदि 'यह पक्ष पूर्वार्थ में काव्य है और उत्तरार्थ में नहीं' ऐसी प्रतीति होती रहती, तो काव्यत्व को भी अव्याप्यवृत्ती मान सकते थे, सो होती नहीं । अर्थात् अकाव्य-वृत्ती पदार्थ ही एक आधार पर अर्थ भेद से कहीं रहता, कहीं नहीं भी रहता, जैसे, उक्त संयोग । जो पदार्थ व्याप्यवृत्ती है, (जैसे काव्यत्व) वह त्रिषु तेषु त्रैलु जैसे जड़ रहेगा, तब सम्पूर्ण आधार में ही, नहीं तो कहीं नहीं, अतः उक्त दृष्टान्त के मुताबिक दोष रहित दुष्ट यह व्यवहार नहीं हो सकता है । एक बात और है—जिसके कारण गुण तथा अलङ्कार काव्यलक्षण में प्रविष्ट नहीं हो सकते । यह यह है कि जिस तरह सूरता एवं वीरता प्रकृति आत्मा के धर्म हैं, शरीर में नहीं रह सकते, वैसे ही गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं, शब्द और अर्थ (जो काव्य के शरीर हैं) में नहीं रह सकते हैं और जिस तरह अलङ्कार (दार आदि) शरीर को शोभित करने वाली चीज़ें हैं, शरीर के अवयव नहीं, उसी तरह काव्यालङ्कार, अनुप्रास, उपमा प्रकृति काव्य शरीर-शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले हैं, अतः उसके (शरीर स्थानीय शब्द अर्थ के) अवयव नहीं हो सकते हैं ।

पर्यन्ते विश्वनाथकृतं काव्यलक्षणमाक्षिपति—

यत्तु 'रसप्रदेव काव्यम्' इति सग्रहितदर्पणे निर्णीतम्, तत्र, वस्तुतस्तद्व्याप्य-प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । नचेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्या-

कुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि, कपिवालादिविलसितानि च । न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौधलति' 'भृगो.धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यव्यतमत्यादिति दिक् ।

रसवद् रसादिव्यञ्जकं वाक्यमिति रोप । यस्त्वलङ्कारप्रधानानां प्रधान्येन वस्तुव्यञ्जकानाम् 'पन्थिश्च । न एत्य' इत्यादीनाम्, प्रधान्येनालङ्कारव्यञ्जकानाम् 'महिलामहस्सभरिण' इत्यादीनां च । अक्षव्यत्वापत्ते रसादिव्यञ्जकत्वाभावात् । सम्प्रदाय. पारम्परिक समुदाचारः । आकुलीभाव उच्छेदः । तथा चेत्यादीनां सम्प्रदायस्य प्रदर्शनम् । जलस्य प्रवाहो निपतनं नौर्धर्मनम्, उत्पतनमुल्धर्मनम् च । कपोता पालानां पालिकानां च विलसितानि क्रीडाश्चेष्टा वा । आदिपदेन पक्षिप्रभृतीनां परिग्रहः । तत्रापि जलप्रवाहादिवर्णनैष्वपि । यथा रूपयित् परम्परया स्वव्यञ्जकविभावादिप्रतिपादकत्वेन । स्पर्शः सम्बन्धः । अतिप्रसक्तत्वेनातिव्याप्तत्वेन । अप्रयोजकत्वान्निष्कलत्वम् । अर्थमात्रस्य सर्वेषामेव पदार्थानाम् ।

रसादिव्यञ्जकवाक्यमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे काव्यत्वेन सर्वानुमतेष्वपि वस्तुमात्रस्यालङ्कारमात्रस्य वा व्यञ्जकेषु वाक्येष्वप्यप्यति । तदापत्तेरनुपपत्तेः तु प्राचीनसम्प्रदायस्योच्छेदः । तत्रक्षयं तेषु विभावादिद्वारकरसादिसम्बन्धरूपनाशः तु 'गौधलति' इत्याद्ययमत्कारकाव्येष्वप्यतिव्याप्तिरस्यादितिसारम् ।

इह शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे पुरस्तात् प्रतिपादितानि दूषणान्यप्याकलनीयानि ।

शास्त्रिचरणास्तु—'प्रकृते रसरूपेण परिणेत्यमानरस्यादिविषयकमस्कारोद्बोधकताया असार्वत्रिकत्वादिय प्रौढि, विशिष्टवाक्यार्थानां रसतात्पर्यकत्वाभावे तत्सामग्रीघटकोद्बोधकताया अभावात् । यत्र त्वस्ति तत्तात्पर्यकत्वम्, तत्राच्चेपादिभ्यत एव विशिष्टबोधजननमुखेन चमत्कारित्वम् । यथाऽऽह—

'सद्भाषधेद् विभावादेर्गोरेकस्य वा भवेत् ।

कवित्यन्यसमाच्चेपे तदा दोषो न विद्यते ॥' इति ।

एवञ्च जलप्रवाहादिवर्णनेऽप्युक्तीत्या महावाक्यार्थवीक्षारा वा रसोद्बोधकत्वस्य सत्त्वात् काव्यत्वस्य न सति ।' इति व्याजः ।

अथ पण्डितराज, दर्पणकार विश्वनाथकृत काव्य लक्षण की खण्डनार्थक समीक्षा करते हैं—'यत्' इत्यादि । 'विश्वनाथ' ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है, उनके हिसाब से काव्य में रस का रहना जितान्त आवश्यक है, उसके बिना कोई वाक्य काव्य नहीं कहला सकता । परन्तु उनका उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं ज्ञेयता । कारण ? यदि उनका कथन मान लिया जाय, तब जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन ही मुख्य है—अर्थात् 'पथिक ! नात्र सतरतरमस्ति, महिलासहस्रभरिते' इत्यादि स्थलों में जहाँ क्रमशः वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य का बोध ही अग्रकारजनक है—ये सब काव्य, काव्य नहीं कहला सकेंगे । ये सब वाक्य काव्य नहीं ही हैं, ऐसी इष्टापत्ति तो नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसी इष्टापत्ति करने पर महाकवियों की चिरकाल से आने वाली व्यावहारिक परम्परा उच्छिन्न हो जावगी । उन लोगों ने समय-समय पर जल के प्रवाह, वेग, पतन, उच्छ्रलन और भ्रमण, पुनः यन्दों और घालकों की क्रीडाओं का वर्णन अपने में किया है । क्या आप उनको अकाव्य कहेंगे ? यदि आप कहें कि नहीं जी, हम उनको अकाव्य क्यों कहेंगे, वे सब काव्य हैं और इसलिये काव्य हैं, कि उनमें रस का स्पर्श है, क्योंकि ये सब वर्णित

पदार्थं किसी न किसी रस के उद्दीपन विभाव ही जो रहते, फिर रस का सम्बन्ध तो हो ही गया। इसका उत्तर पण्डितराज कहते हैं चाहजी, ऐसा रस स्पर्श भी कहीं काव्य कहलाने का कारण हो सकता है ? यदि हाँ, तो फिर 'ग्रीष्मलति, मृगो घावति' (बैल चलता है, मृग दौड़ता है) ये सब वाक्य क्यों नहीं काव्य कहलाते ? जब कि किसी तरह रसस्पर्श यहाँ भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ विभाव-धनुभाव क्षयवा व्यभिचारी भाव हो सकती हैं, फिर तो दुनिया के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायें। अतः रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना युक्तिसङ्गत नहीं। म० म० गङ्गाधर शास्त्रीजी ने यहाँ भी पण्डितराज के मत का खण्डन किया है, उनकी विचारशैली संस्कृत टीका में देखनी चाहिये।

इत्थं काव्यस्य लक्षणं निरूप्य कारणं निरूपयति—

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दा-
र्थोपस्थितिः। तद्वत्तं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिवि-
शेष उपाधिरूपं वा खण्डनम्।

तस्य काव्यस्य । नस्त्वर्यकः । कविगता कविसमवेता । केवला तन्मात्रम्, न तु
व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । प्रतिभा तथा नवोन्मेपशालिनी बुद्धिः, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेपशालिनी
प्रतिभोच्यते।' इति प्राच्योक्तं । सा प्रतिभा । काव्यस्य घटनाया रचनाया अनुकूलस्य
जनकस्य शब्दार्थोभयस्य उपस्थिति स्मृतिभट्टिति स्फूर्तिरिति यावत् । अनुकूलत्वान्त-
रुपस्थितिविरोधं वा । तद्वत्तं प्रतिभानिष्ठम् । स्वविषयवृत्तानसमवायित्वसम्बन्धेन काव्यं
प्रति समवायेन प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावात्तन्मरानुकूलतर्कमूलकान् 'स्वविषयवृत्तान-
समवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नकाव्यस्यावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रति-
भानिष्ठा कारणता किञ्चिदमवच्छिन्ना, कारणतात्वात्, घटनिष्ठकारणतानिरूपितदण्डनिष्ठ-
कारणतावत्' इत्यनुमानान् सिद्धः प्रमाणितः, 'नित्यत्वे सत्यवेकसमवेतत्वम्' इति जाति-
लक्षणसमन्वयाच्च जातिविशेषः । उपाधित्वस्य त्यागे जातित्वस्य आहोकारे तत्र बीजानुप-
सम्भावीलघटत्ववत् सत्सङ्गोपाधिरूपं वा प्रतिभात्वम् । तस्य च नवनवोन्मेपशालित्ववैशिष्ट्या-
दखण्डत्वासम्भवाद् 'अखण्डम्' इति पाठस्त्वसङ्गत एव ।

काव्ये प्रतिभामात्रस्य कारणत्वं तु न विचारसहम्, अल्पहसनीयकाव्यत्वावच्छिन्नकार्य-
तानिरूपितकारणताया दण्डनवादिन्यायेन प्रत्येकं प्रतिभाप्रवृत्तिषु त्रिष्वपि स्वीकारस्यापरि-
हार्यत्वात् । तथा चाह- शास्त्रिणः—अत्र 'प्रतिभा कारणं तत्र व्युत्पत्तिस्तु विमूषणम्,
मृशोत्पत्तिकृदभ्यासः' इति क्रमेण विशिष्टकाव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वाद् एवो-
पपन्नः । शक्तिर्हि द्विविधा उत्पादिका व्युत्पादिका च । आद्यया पदसङ्घातस्य शोभनेऽपि,
द्वितीयस्या अग्राने विनेयसमवेतविलक्षणवाक्यार्थविशेषोऽसम्भवेन लोकोत्तरवर्णनानिपुण्यस्य
कविगतस्याभावाद् विशिष्टकविकर्मतायास्तत्तत्त्वं एव सम्भवात् । तत्र द्वितीयैव निपुणता
नाम । अभ्यासो लोकोत्तरत्वं प्रत्येवोपयुज्यते । तथा च लोकोत्तरवर्णनानिपुणताविशिष्टक-
विकर्मरूप काव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वमुचितमेव । इति ।

इदं पुनरिहावगन्तव्यम्—केचन 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधे-
यस्य । अक्रियानि पदानि च विमान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥' इत्यभिरुचोक्तं शक्तिरादव्य-
पदेश्यं कवित्वबीजमूत भावनामयं वासनास्वरूपं वा देवताप्रसादादिजन्यं संस्कारविशेषं काव्य-
धारणीभूतप्रतिभात्वेनोत्पद्यते । तथा च 'प्रणिधानसहकृते चेतसि यो भवितुमुद्यते

क्षिप्तपदपदार्थगोचरः संस्कारः, सा प्रतिभा विद्वदादिपदप्रवृत्तिनिमित्तम् ।' इति तदीय-
माख्यानम् ।

परे ॥ 'यसौ कविरमुं विषयं घटयत्विति सारस्वतेच्छास्वरूपं देवताप्रसादमेव शक्तिमभि-
धाय तत्त्वेनाभिदधते । अपरे ॥ देवताप्रसादादिजन्यमदृष्टमेव प्रतिभामभ्युगत्य कवित्वस्य
निमित्ततयाऽचक्षते ।

तत्र नाय पक्षः श्लोदक्षम्, संस्कारस्य तादृशस्मृत्यात्मकस्फूर्तिमात्रजनकत्वेन काव्यं
प्रत्यजनकत्वात्, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते' इति कोशानुशासनविरोधाच्च । न
वा द्वितीय, तादृशदेवतेच्छाया कालादिवत्साधारणकारणत्वेनासाधारणकारणतया परिगण-
नानुपपत्तेः । नापि तृतीय, कार्यमात्रं प्रत्यदृष्ट्यापि साधारणकारणताया एव सर्वसम्मतत्वात्,
अदृष्टस्य प्रतिभाकारणताया वक्ष्यमाणत्वेन काव्यं प्रत्यन्यथासिद्धेदुर्वारत्वाच्च ।

तस्मादुल्लिखितकोशसाराभ्यां काव्यघटनानुकूलपदपदार्थविषयकफट्टितस्फूर्तिवपुषं बुद्धि-
विशेषमेव प्रतिभापदार्थं काव्यजनकत्वा निश्चिन्तन्त्यर्थाच्च ।

पूर्वोक्त रीति से काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद पण्डितराज काव्यकारण का
निर्देश करते हैं—'तस्य च कारणम्' इत्यादि । मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'शक्ति,
निपुणता और अभ्यास' इन तीनों को काव्य के प्रति कारण माना है । परन्तु पण्डितराज
ऐसा नहीं मानते, वे कहते हैं—केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है और प्रतिभा
कहते हैं—काव्यनिर्माण के लिये जो शब्द तथा अर्थ अनुकूल, उपयुक्त हों, जिनसे काव्य
निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति को, अर्थात् काव्यनिर्माण के लिये जहाँ जिस शब्द की
और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ तत्काल उसका स्मरण हो जाना प्रतिभा है । कोश-
कार ने भी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कही है । प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व
एक जाति विशेष है, जिसकी सिद्धि के प्रसङ्ग में निम्नलिखित बातें समझनी चाहिये—
जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है, किसी-किसी जाति की सिद्धि अनुगताकार
(एक तरह की) प्रतीति से होती है, जैसे घटत्व आदि जाति की सिद्धि सब घटों में
होने वाली 'घटा, घट' इस तरह की एकाकार आपास प्रतीति से होती है और किसी-
किसी जाति की सिद्धि अनुमान से होती है, जैसे द्रव्यत्व आदि जाति की । अब हमें यह
विचार करना है कि प्रसङ्ग प्राप्त प्रतिभात्व जाति की सिद्धि कैसे होगी ? उत्तर यह है कि
अनुमान से । अर्थात् स्व (काव्य) विषयक-ज्ञान-समवायिस्व-सम्बन्ध से काव्य के प्रति
समस्तस्य सम्बन्ध से, प्रतिभा, कारण है, नृप कार्यकारण, शब्द के सिद्ध हो, जाने, पर
तन्मूलक अनुमान (जिसका आकार संस्कृत टीका में लिखित है) प्रतिभात्व जाति की
सिद्धि होगी । भाव्य यह है कि सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अपरिच्छिन्न हुआ
करती हैं, अतः प्रतिभा में रहने वाली कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी
और वह धर्म प्रतिभात्व से अतिरिक्त हो नहीं सकता । यद्यपि यहाँ भी यह शङ्का उपस्थित
की जा सकती है कि—उक्त अनुमान से जिस प्रतिभात्व की सिद्धि हुई, वह जातिरूप है,
धर्ममात्र नहीं, इसमें क्या प्रमाण ? इसका उत्तर यह है कि उस प्रतिभात्व को धर्ममात्र मानने
से उसका अनन्त ध्वंस, अनन्त प्रागभाव और अनन्त सृष्टि मानने पड़ेंगे, क्योंकि धर्मरूप
में वह प्रतिभात्व अनित्य हो होया । इसी गौरव के भय से प्रतिभात्व को नित्य जाति मान
लेते हैं, ऐसा मान लेने से कोई छति हुई ही नहीं और छाघव हुआ, सो छाम अलग ।
अथवा प्रतिभात्व को जाति न मान कर नीलघटत्व के ऐसे सखण्ड उपाधि ही मान लें ।

काव्यकारणीभूताया प्रतिभाया कारणमाह—

तस्याश्च हेतुः कचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, कचिच्च विल-
क्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ ।

तस्याः प्रतिभायाः । कचिच्च तु सर्वत्र । महापुरुषा विपुलतपोमाहात्म्यभाजः सिद्धपुरुषाः । प्रसादोऽनुग्रह इत्यनर्थान्तरम् । आदिपदेनोपपत्त्याप्रवृत्तेः परिग्रहः । अदृष्टं पुण्यम् । विलक्षणा मानविषलोकदृष्ट-शास्त्र-वाक्येतिहासप्रवृत्तिपर्यालोचनप्रसूता, व्युत्पत्तिनिपुणता विशिष्टज्ञानमिति यावत् । विलक्षणः काव्यज्ञशिक्षाप्रयोजकः । काव्यस्य कारणे निर्माणोऽभ्यासः पौनःपुन्येन प्रवृत्तिश्च हेतुरिति शेषः ।

कव्यनिर्द् देवताऽऽदिप्रसादजन्यादृष्टेनैव, कस्यचित् पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेवोत्पादिता प्रतिभा काव्यं जनयतीतिसारम् ।

काव्यकारणीभूत प्रतिभा का कया कारण है, हमका भव विचार करते हैं— 'नशाश्च हेतुः' इत्यादि । प्रतिभा के कारण दो हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न भाग्यविशेष और दूसरा—विलक्षण (विविध लोकाचार, दास्य, काव्य, इतिहास, प्रवृत्ति के पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निपुणता—विशिष्ट ज्ञान) और पुनः पुनः काव्य बनाने का अभ्यास—अर्थात् किसी में देवता या महात्माओं की कृपा से नवनवोन्मेषशालिनी मुदिरूपा प्रतिभा उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है, दोनों ही प्रतिभाओं का कार्य यह होता है कि काव्यभाग प्रवाहित हो उठती है—उक्त प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति काव्य-निर्माण करने में सफल सिद्ध होता है ।

अदृष्टादीनां स्वातन्त्र्येण प्रतिभा प्रति कारणत्वं व्यवस्थापयति—

न तु प्रथमेव, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः ।

प्रथमदृष्टं व्युत्पत्तिरभ्यासश्च, कारणमिति शेषः । तौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ । प्रसादपदं तज्ज-न्यादृष्टपरम् । प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनादिति शेषः ।

अर्थ भाव —प्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमग्न्यायेनैव कारणता, अन्यथा कर्णपूरप्रवृत्तीनां धारय एव व्युत्पत्त्यभ्यासवैधुर्येऽपि प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनाद् व्यभिचारः स्यात् । पृथकारणत्वे तु कार्यताऽवच्छेदककौटव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेन व्यभिचारे वाक्येयम् ।

नागेरामशास्त्रु—“विलक्षणव्रितयजन्यप्रतिभा चातिविलक्षणा, तज्जन्यं काव्यं चातिविलक्षणमेवेति न दोषः” इति वदन्ति ।

प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, पृथक् और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, पृथक् कारण हैं, सम्मिलित नहीं, इसी बात को युक्ति से स्पष्ट करने हैं—‘न तु प्रथमेव’ इत्यादि । कहने का भाव यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करते हैं, ऐसी बात नहीं है, अपितु पूर्वोक्त रीति से कहीं अदृष्ट स्वतन्त्र तथा प्रतिभा का उत्पादक होता है, और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास मिलकर प्रतिभा की सृष्टि करते हैं । यदि तीनों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बालक में महापुरुषों के कृपामात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देसी गई है, (कवि कर्णपूर के विषय में इस तरह की क्विदन्ती है) वहाँ उक्त कार्यकारणभाव व्यभिचारित हो जायगा, अर्थात् जिस वच्चे ने कभी व्युत्पत्ति नहीं बनायी, अभ्यास नहीं किया फिर भी उसमें केवल महापुरुष कृपा से प्रतिभा उत्पन्न हो गई, उसमें सम्मिलित कारणवादी के हिसाब से कारण के बिना ही कार्य हुआ, इसी को व्यभिचार कहते हैं ।

१ पञ्चमवयवस्य मूकस्य कर्णपूरस्य मुखे प्रसन्न श्रीकृष्णचैतन्यगङ्गुल्यश्च प्रवेद्य सद्यो विलक्षणा कविताशक्तिरनिर्मीयतेति जनश्रुतिः ।

दर्शितस्य व्यभिचारस्य वारणमाशङ्क्य निरस्यति—

न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पन वाच्यम्, गौरवान्मानाभावात् कार्य-
स्थान्यथाऽप्युपपत्तेश्च ।

तत्र महापुरुषदिप्रसादमात्रात् प्रतिभोत्पत्तिस्थले । तयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः । तस्मिन्नेव
वालेऽन्यस्मिन्नमनि विद्यमानयोः । कल्पनमनुमानम् । न चेति वाच्यमित्यनेनानुपपत्तम् ।
गौरव तादृशानुमानविधानेन । मानाभावस्तत्त्रितयस्य समुदितस्य कारणतायाम् । कार्यस्य
प्रतिभाया । अन्यथाऽपि केवलदृष्टेनापि ।

यथा नास्तिकग्रन्थेषु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिदर्शनादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय
जन्मान्तरीय तन्मङ्गलमनुनीयते, तथैव कश्चिर्गुणपूरादिबालेष्वपि साम्प्रतिकव्युत्पत्त्यभ्यासयो-
र्विरहेऽपि प्रतिभोत्पत्तिदर्शनाज्जन्मान्तरीयौ व्युत्पत्त्यभ्यासावनुमेयाविति व्यभिचाराभावात्
त्रयाणां समुदितानां कारणतायां सिद्धिरिति पूर्वज्ञाशयः ।

जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यभ्यासयोरिहानुमितौ गौरवम् । तथा मङ्गलसमीप्यो कार्यकारण-
भाव प्रमाणान्तरसिद्ध इति तत्र कचिदुपस्थितव्यभिचारवारणाय मङ्गलानुमानभारः, सोढव्यो
भवति, प्रकृते तु कार्यकारणभाव एव प्रमाणभाव इति तद्गौरवमसहनीयमेव । किञ्च यदि
व्युत्पत्त्यभ्यासौ विनाऽदृष्टात् कचिदपि प्रतिभा नोत्पद्येत, तदैवानायस्या तत्कल्पनमौचित्यं
शुभ्वेत । न तु तथा प्रकृत एव व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । एतावतैव कार्यानुपपत्तिरेवात्र
मानमित्यपि न वर्ज्यं शक्यम् । तस्मात् कुतो व्युत्पत्त्यभ्यासयोरिह कल्पना, कथं वा
समुदितानां त्रयाणां कारणतैत्तत्परस्य तात्पर्यम् ।

अदृष्ट आदि समुदित कारणतावादी द्वारा उक्त व्यभिचार वारण के लिये उपस्थित
क्रिये गये समाधान का खण्डन करते हैं—'न च तत्र तयोः' इत्यादि । जहाँ कहीं आपको
व्युत्पत्ति अभ्यास के बिना अदृष्टमात्र से प्रतिभा उत्पन्न होती देखती है, वहाँ भी अदृष्टमात्र
से प्रतिभा नहीं हुई है, अपितु अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास इन तीनों से ही, यद्यपि उसने इस
जन्म में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास नहीं किये, तथापि जन्मान्तर (पूर्वजन्म) में अवश्य
क्रिये होंगे, ऐसी कल्पना करेंगे, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति तथा
अभ्यास की निम्नि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति सामग्री को जुटाने में
गौरव होगा । दूसरी बात यह कि—इन तीनों को सम्मिश्रितरूप में प्रतिभा के प्रति कारण
मानने में प्रमाण भी नहीं है । यदि आप कहें कि प्रमाण है, क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी
तो एक प्रमाण है—अर्थात् तीनों को कारण बिना माने कार्य होता नहीं, अतः तीनों को
कारण मानिये ? परन्तु यह दर्शक भी सन्नत नहीं, कारण ? जब अदृष्टमात्र से कार्य होते
देखते हैं, तब कार्यानुपपत्तिरूप प्रमाण का यहाँ अवसर ही नहीं है ।

उत्तरपक्षस्याशयं विवृणोति—

लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थि-
तस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि
कल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिप-
त्तिरेव जायते ।

लोके सर्वत्र प्रकृतेतरस्थलेषु । आगम श्रुति, तदादयः स्मृतीतिहायप्रवृत्तयः ।
प्रमाणस्य बलवत्त्वं श्रुत्यादिरूपत्वात् । अन्यथा बलवत्तरश्रुत्यादिप्रमाणहेतुकारणतानिर्णया-
भावे तु । पूर्ववृत्ते प्राग्जाते कारणतायां निर्णये निषयाभावज्ञाने । भ्रमत्वस्य प्रतिपत्ति-
प्रतीतिः । एवकारस्तादृशनिर्णयस्य प्रामाण्यव्यावृत्त्या कार्यासाधकत्वं सूचयति ।

यदि श्रुत्यादिप्रमाणैः कार्यकारणभावेऽवधारितेऽपि कचिद्व्यभिचार आपतति, तर्हि तत्र तादृशप्रमाणानुरोधेनोपस्थितव्यभिचारवाणस्य जन्मान्तरीयकारणानुमानविधानगौरव-मगत्या मृष्यते । तादृशप्रमाणविरहे तु तादृशकार्यकारणभावज्ञानस्यैव प्रमातृत्वमतीक्रियत इति सम्प्रदायः । प्रकृते तु प्रमाणाभावान्नैव तदनुमितिरिति भावः ।

उक्त बातों का ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लोके हि' इत्यादि । नास्तिक ग्रन्थों में मद्बल के बिना समाप्ति हो जाने से उपस्थित व्यभिचार कारण के लिये जैसे आचार्यों ने जन्मान्तरीय मद्बल की कल्पना करने में होने वाले गौरव को सद्य माना है, उसी तरह यहाँ जन्मान्तरीय श्रुत्यपत्ति एवम् अभ्यास की कल्पना करने में जो गौरव होगा, उसको सहना चाहिये । हाँ, अष्टान्त तो आपने सोज निकाला, परन्तु यहाँ वह छागू नहीं हो सकता, क्योंकि वेदादि प्रबल प्रमाणों से सब किसी कार्य के प्रति कोई कारण निश्चित हो चुका रहता है और किसी स्थलविशेष पर उस कार्यकारणभाव में व्यभिचार (कारण के बिना भी कार्य हो जाना या कारण के रहने पर भी कार्य का न होना) उपस्थित होता है, तब अगत्या (क्योंकि वेदादि मिथ्या नहीं हो सकते) जन्मान्तरीय कारण की कल्पना की जाती है, परन्तु जहाँ वेदादि प्रमाण से कार्यकारणभाव निश्चित नहीं हुआ है यद्यपि स्वयं हम आप एक प्रकारके कार्यकारण भाव की भाव बैठे हैं, यहाँ यदि पीछे किसी जगह व्यभिचार आपतित होता है, सब थड़ी समझा जाता है कि हम लोगों का कार्यकारणभाव ज्ञान सही नहीं था, भ्रम था अर्थात् 'मद्बल समाप्ति के प्रति कारण है' ऐसा कार्यकारणभाव वेदोद्घोषित है, अतः नास्तिक ग्रन्थ में व्यभिचार होते देखकर नास्तिक-कृत-जन्मान्तरीय मद्बल की कल्पना की जाती है, यहाँ तो प्रतिभा के प्रति अदृष्टादिप्रितय की कारणता वेदादिविधित नहीं अपितु स्वरूपित है, अतः इस जगह व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय श्रुत्यपत्ति अभ्यास की कल्पना नहीं की जा सकती है वरन् समुचित कारणता ज्ञान भ्रम है—कार्यजनन में असमर्थ है, यही भाव ज्ञायका ।

तत्र मतान्तरं निराकरोति—

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तंचित् कालं कार्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भा-
यस्य दर्शनात् ।

नापाति वदितुं शक्यमित्यनेनान्वेति । केवलमदं स्पष्टार्थम्, एवकारोपादानात् । कारणं प्रतिभा प्रतीति शेषः । अदृष्टं पुण्यम्, पापस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अपि प्रागुक्तपक्षस्य समुच्चारकः । काव्यकारणोऽशक्तिर्युत्पत्त्यभ्यासयोरविरहेण प्रतिभातुदयान् । कथमपि केनापि तादृशविद्वद्विरतसहवासादिना प्रकारेण । व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सतीरिति शेषः ।

अदृष्टभावेऽपि क्वचित् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेव प्रतिभोत्पत्तेरुपलम्भेन व्यभिचारात् सर्वा प्रतिभाः प्रत्यक्षमेव कारणम्, किन्तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । किञ्च यद्यदृष्टमेव कारणं स्यात्, तर्हि तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासोऽप्यसौ प्रागपि कदाचित् प्रतिभा प्रादुर्भूय काव्य जनयेदि-
त्यभिप्रायः ।

अब अदृष्टमात्र कारणतावाद का निराकरण करते हैं—'नापि' इत्यादि । यदि कोई कहे कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की दृष्टि कारण मानने की आवश्यकता ही क्या है ? अदृष्टमात्र को सब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिये तो सो सी टीक नहीं, कारण ? कतिपय मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो बहुत काल तक काव्य बनाना नहीं जानते, पर कुछ समय के बाद जब किसी तरह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उपपन्न हो जाती है, वे काव्यनिर्माण करने लगते हैं अर्थात् यहाँ अदृष्ट के अभाव में

भी केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति देखते हैं, अतः उन दोनों को भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है।

तत्राप्याशङ्का खण्डयति—

तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः ।

तत्रापि किञ्चित्कालानन्तरोत्पन्नव्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्त्यायमानप्रतिभोत्पत्तावपि । अदृष्ट-
स्याङ्गीकारे कारणत्वेनेति शेषः । ताभ्यां व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्याम् । तस्या प्रतिभाया ।
प्रसक्तेरुत्पत्त्यापत्तेः ।

ननु तादृशस्थले तत्र पुरुषेऽदृष्टं तिष्ठत्येवेति तैर्नैव प्रतिभा जन्यते, न तु व्युत्पत्त्यभ्या-
साभ्यामिति चेत्, तदादृष्टस्य तत्र जन्मस्य प्रभृत्येव विद्यमानतया व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्ते पूर्व-
नपि प्रतिभोत्पत्तिरापद्यत इत्यदृष्टमात्रस्य कारणत्वं दुर्वचमेवेति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि अदृष्ट तो अदृष्ट ही है वह दृष्टिगोचर तो होता नहीं, फिर वहां
(जहां आप व्युत्पत्ति अभ्यासमात्र से प्रतिभोत्पत्ति मानते हैं) अदृष्ट नहीं है इसमें क्या
प्रमाण ? मैं कहूँगा कि वहां भी अदृष्ट है, उसीसे प्रतिभा उत्पन्न होती है, तो यह बलीक
भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि यदि वहां अदृष्ट था और उसीसे प्रतिभा उत्पन्न हुई, तो
व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पहले उनमें वह अदृष्ट प्रतिभा की क्यों पैदा कर दिया ? व्युत्पत्ति
तथा अभ्यास से पूर्व वे क्यों काय बनाने में असमर्थ रहे ? अर्थात् 'उक्तुदितः स हि यो
यदनन्तरः' के हिसाब से व्युत्पत्त्यभ्यास प्रयुक्त ही वहां प्रतिभोत्पत्ति माननी पड़ेगी ।

भूयोऽज्ञाभिनिवेशिनो मतमुपन्यस्य निरस्ति—

न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यम्, तादृशा-
नेकस्थलगततादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यासयोरैव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने
लाघवात् । अतः प्रागुक्तसरणिरेव ध्यायसी ।

न चेति वाच्यमित्यनेनानुपपत्तम् । तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासप्राकाशः । अदृष्टहेतुकप्रतिभोत्पत्तौ ।
अदृष्टान्तरमन्यदृष्टं बाधकम् । कल्प्यं प्रतिभाऽनुत्पत्तेरनुमेयम्, प्रत्यक्षाविषयत्वान् ।
एकमदृष्टं प्रतिभोत्पत्तौ साधकम्, अपरं च बाधकमित्यदृष्टद्वयम् । व्युत्पत्त्यभ्यासयोः क्लृप्तत्वं
च प्रतिबन्धकादृष्टनिवर्तकत्वेन । एवमन्वदोऽदृष्टद्वयकल्पनाव्यावृत्तिपरः । साधकत्वपक्षे पक्षे
प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पनाभावात् । प्रागुक्ता सरणि क्वचिददृष्ट क्वचिच्च व्युत्पत्त्यभ्यासौ
प्रतिभाया कारणमित्येवं स्वीकारः । ज्ञायसी श्रेष्ठा दोषवैयर्थ्यात् ।

नन्वत्र व्युत्पत्त्यभ्यासतः प्राक् प्रतिभाया उत्पादकदृष्टस्य सत्त्वेऽपि प्रतिबन्धकादृष्टस्य
सत्त्वान्न तदुत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि नवीनादृष्ट-तत्प्रतिबन्धकत्वयोः कल्पनागौरवमेव दूषणम् ।
मतान्तरे तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ पुनः क्लृप्तावेव, तद्वेतुता केवलं कल्पनीयेति लाघवम् ।
तस्माददृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारण्यजिन्यायेन पृथगेव प्रतिभा प्रति कारणत्वमिति
प्रागुक्तमेव युक्तमिति सारम् ।

यदि आप कहें कि जिस मनुष्य में कुछ दिनों के बाद प्रतिभा देरने में आती है, उसमें
पहले कोई घुसा अदृष्ट था, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति के कुछ दिनों के लिये रोक रखा था,
किसी तरह उस दूरदृष्टि के दृष्टने पर शुभ अदृष्ट ने अपना काम किया, प्रतिभा उत्पन्न हुई, इस
तरह अदृष्ट मात्र को प्रतिभा के प्रति कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं दीए पड़ती, यद्यपि
व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को कारण की श्रेणी में घुसेड़ने से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है
कि—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होने पर ही काय बनाने वाले प्रायः अधिक होते हैं, इसलिये
अनेक जगहों पर दो-दो (अच्छे और बुरे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा प्रतिभोत्पत्ति को

शोक देने वाले दुरष्ट के नाश करने के लिये आप जिन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना करते हैं—जिनके आगमन से प्रतिबन्धक दुरष्टि नष्ट हो जाता है, उन्हीं (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को कारण मान लेना समुचित है—अर्थात् प्रतिबन्धक अदृष्टि को हटाने के लिये जब आपको भी व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी ही पड़ती है, तब एक प्रतिभोत्पादक अदृष्ट और एक प्रतिभोत्पत्ति-प्रतिबन्धक अदृष्ट इन दो-दो अदृष्टों को मान कर व्यर्थ गौरव-भार को दोनों से क्या लाभ ? अतः पूर्वोक्त मार्ग (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना) ही श्रेष्ठ है।

नन्वेवमप्यदृष्टमात्रोत्पत्तिप्रतिभास्यले व्युत्पत्त्यभ्यासरूपतत्कारणभावेऽपि प्रतिभालक्षण-कार्योत्पत्तिदर्शनाद् व्यतिरेकव्यभिचारः स्यादेवेत्यत आह—

सादृशादृष्टस्य सादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतवैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः ।

प्रतिभाद्वित्तैलक्षण्यमदृष्टस्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्वं व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्वं च ।

अदृष्टाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वच्छिन्नं प्रत्यदृष्टं कारणम्, व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रति तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ कारणमिति कार्यताऽवच्छेदककौदाव्यवहितोत्तरत्वनिवेसाददृष्टोत्पत्तिप्रतिभाया व्युत्पत्त्यभ्यासौ न कारणमिति व्युत्पत्त्यभ्यासयोरभावेऽपि प्रतिभाया उत्पत्तौ नैव व्यभिचार इत्यभिसन्धिः ।

अब यहाँ यह बाह्या उठनी है कि जब आप प्रतिभा के प्रति अदृष्ट को अलग और व्युत्पत्ति-अभ्यास को अलग कारण कहते हैं—अर्थात् दो कार्यकारण भाव मानते हैं, तब दोनों कार्यकारण भावों में व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक, ऐसी स्थिति में अदृष्ट के बिना व्युत्पत्ति-अभ्यास से और उसके बिना अदृष्ट से प्रतिभा होगी। इसका उत्तर यह है कि—अदृष्ट के बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति अदृष्ट और व्युत्पत्ति-अभ्यास के बाद होने वाली प्रतिभा के व्युत्पत्ति-अभ्यास को कारण मानना ही मेरा अभीष्ट—अर्थात् जैसे कारण दो हैं, वैसे कार्य भी दो ही हैं, एक नहीं, अतः व्यभिचार की शङ्का समाप्त हो गई ।

नन्वपि भिन्नयोर्विद्यो प्रतिभयोर्हो अन्ये प्रति पृथक्कारणत्वे त्रियो व्यभिचार आपतो-देवेत्याचष्टे—

प्रतिभात्वं च कवितायाः कारुणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकान्यं प्रतीति नात्रापि सः ।

अत्रापि द्वितीयस्मिन् प्रतिभाकाम्यकार्यकारणभावेऽपि । स व्यभिचारः ।

प्रतिभात्वं हि काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताऽवच्छेदकतयैव सिद्धमतः काम्यं प्रति प्रतिभा कारणमिति सामान्याकारणैव कार्यकारणभावः । तथासति यदि व्यभिचार आपद्यते, तर्हि पूर्वोक्तं वैलक्षण्यमादाय विलक्षणकान्यं प्रति विलक्षणप्रतिभा करणमित्येवं विशेषाकारेण कार्यकारणभावमवलम्ब्य व्यभिचारो वारणाय इत्याकृतम् ।

इह विकल्पार्थक-नाशब्दोपादानेन कल्पद्वयमुपस्थाप्यते । तत्र प्रथमं कल्पं प्रसङ्गादे-वोपात्तं प्रकृतानुपयोगित्वात् । यदा सामान्यरूपेण कार्यकारणभावप्रदर्शनमप्यावश्यकमेव 'वयोर्विशेषेण कार्यकारणभावः, तयोः सामान्येनापि' इति न्यायात् ।

अब कहने हैं कि—अच्छा भाई, यहाँ तो आपने व्यभिचार-याप से पिण्ड छुड़ाया, परन्तु जब दो तरह की (अदृष्टजन्य और व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्य) प्रतिभा से काम्यरूप एक कार्य होगा, तब फिर वह व्यभिचार तत्स्थित हो जायगा । यहाँ समाधान दो प्रकार

से हो सकता है—१. एक तो यह कि जैसे काव्यरूप कार्य एक मानते हैं, वैसे प्रतिभा रूप कारण को भी एक ही मान लेंगे—अर्थात् कारण (प्रतिभा) में अदृष्टजन्यत्व तथा व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्यत्व विशेषण नहीं देकर 'काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है' इस तरह एक ही सामान्य कार्यकारणभाव बनायेंगे जिसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि काव्य निर्माण के लिये प्रतिभा चाहिये, वह प्रतिभा कैसे बनी? किससे बनी? इस गवेषणा की आवश्यकता नहीं, सब प्रतिभावों से कार्य (काव्य) एक सा ही होगा। २. दूसरा समाधान पूर्वोक्त रीति से कार्य को भी दो बना देना है—अर्थात् अदृष्टजन्य प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति अदृष्टजन्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा को कारण मान लेने से व्यवभिचार की सम्भावना जाती रहेगी।

अथ पूर्वकार्यकारणभावे व्यवभिचारमापाद्यापनुदति—

न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्तिः, तन्नाश्रयव्यभिचार इति धाव्यम्, तत्र तयोस्तादृशपैलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वात्।

कारणसत्त्वेऽपि कार्यभावो ह्यन्वयव्यभिचारः, स चात्र व्युत्पत्त्यभ्यासात्मककारणसत्त्वेऽपि प्रतिभा रूपकार्यानुत्पत्तेः प्रसक्त इति चेन्न यथा प्रतिभानिष्ठं वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकम्, तथैव व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठमपि, तच्च वैलक्षण्यमिह व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यदि स्यात्, तदा प्रतिभा जायेतैव, न च जायते प्रतिभेति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वाभावबतोर्युत्पत्त्यभ्यासयोरत्रोदासीनतया तत्सत्त्वे प्रतिभाऽनुद्यस्य व्यवभिवारूपत्वाभावादिति भावः।

इस प्रसङ्ग में एक बात और विचारणीय यह रह जाती है कि—बहुत मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो जीवन भर व्युत्पत्ति और अभ्यास करते रहे, परन्तु उनमें प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई, काव्य बनाने की छालसा उनकी अपूर्ण ही रह गई। अब सोचिये कि वहाँ कारण के रहने पर भी कार्य क्यों नहीं हुआ? और जब किसी भी हेतु से कारण के रहने पर कार्य नहीं हुआ, तब अन्वय व्यवभिचार क्यों नहीं हुआ? उत्तर दोनों का एक है कि—विलक्षण व्युत्पत्ति अभ्यास को ही हम प्रतिभा के प्रति कारण मानते हैं, फिर आप वहाँ सामान्यता उसके रहने पर भी प्रतिभा नहीं देखते, वहाँ समझना चाहिये कि उस व्युत्पत्ति-अभ्यास में वह विलक्षणता नहीं थी, अतः प्रतिभा नहीं हुई और जब कारण कार्य कुछ भी नहीं हुआ, तब व्यवभिचार कैसा?

ननु व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठं वैलक्षण्यमरक्षासहकृतत्वमेव वक्तव्यम्, तच्चात्र तयोस्त्येवेति कृतो व्यवभिचार इत्येव पक्षान्तरमुपाददाति।

पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः।

तत्र तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासतः प्रतिभोत्पत्तौ। पापविशेषस्य दुरदृष्टस्य। दोषो व्यवभिचारः।

अस्त्यपि व्युत्पत्त्यभ्यासात्मके कारणे तत्र दुरदृष्टस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावादेव न प्रतिभोत्पत्तिर्भवतीति नान्यव्यभिचार इति भावः।

व्युत्पत्ति-अभ्यास-गत-वैलक्षण्य का निर्वचन असम्भव है, अतः पक्षान्तर कहते हैं—'पापविशेषस्य' इत्यादि। कहने का आशय यह है कि व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हो तो, वहाँ कोई विशिष्ट प्रकार का पाप (घुरा अदृष्ट) प्रतिबन्धक था, अतः कारण विशेष (व्युत्पत्ति-अभ्यास) के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई।

ननु तर्हि प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य कारणताकल्पनादेव गौरवमित्यत आह—

प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितरास्त्यादित्रयहेतुवागादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा।

अविशिष्टा तुल्यता ।

प्रतिबन्धकदृष्टाभावस्य कारणत्वकल्पनं न नवीनम्, यन्मे गौरवाय कल्पेत, अपि तु शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासानां समुदिताना कारणत्वं यद्विभिन्नैर्द्विरपि कल्पनीयमेव प्रतिबन्धक-संगर्गाभावरूप कार्यमात्रं प्रति कारणतायाः सर्वसिद्धान्तसिद्धत्वादित्याशयः ।

यदि आप कहें कि—इस तरह प्रतिबन्धक पाप के अभाव को कारण मानने में गौरव होगा, तो इसका उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि यह गौरव मुझे ही नहीं सबको सहना पड़ता है, क्योंकि प्रतिबन्धकभावको कार्यमात्र के प्रति सामान्य कारण माना गया है, अतः यह गौरव, शक्ति आदि तीनों दृष्ट्युद्दे कारण मानने वाले सम्मत के मत में भी दुर्निवार ही है।

हेतुप्रदर्शनेनोत्तमर्थं द्रष्टव्यम्—

प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहितानेक-प्रयन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात् ।

कवेर्विहितेत्यादिविशेषण प्रतिभाऽऽदिकारणसमवधानप्रत्यायकम् ।

यत्रानेकव्यापिनिचितवतोऽपि कवेः क्रुद्ध प्रतिवादी स्वकीयमन्त्रादिप्रभावेन किमती-
रिवसान् यावद् बाधः स्तम्भन करोति, तत्र तत्कवेरेकमपि काव्यं तदा नोत्पद्यते, कवि-
तत्प्रतिभाप्रभृतिकारणानां सद्भावेऽपि प्रतिबन्धकस्य मन्त्रादिजन्यादृष्टस्य सत्त्वादितोहापि
यदि प्रतिबन्धकमन्त्रिधानात् कार्यं न जायते, तर्हि न किञ्चिदुत्तमिस्थमिधाय ।

वाक्यादि समुदित हेतुतायादी के मत में भी प्रतिबन्धकभाव को कारण मानना क्यों आवश्यक होगा ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—“प्रतिवादिना” इत्यादि । ऐसा वैप्रेने में आता है कि जो पूर्ण प्रतिभाशाली है, अनेक उत्तम काव्य धवाकर कवि के प्रतिष्ठित पद पर अभिविक्त हो चुका है, वह भी तब कुछ काल के लिये काव्य बनाने में असमर्थ हो जाता है, जब कोई साम्प्रिक प्रतिवादी उसकी वाणी को मन्त्रवत् से स्तम्भित कर देता है, अब सोचिये कि ऐसा क्यों होता है ? प्रतिभा उसमें है ही, फिर उससे काव्य क्यों नहीं बनता ? अगरवा प्रतिवादिकृत-मन्त्र-प्रयोग को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, अतः प्रतिबन्धक सामान्याभाव की कारणता मेरे मत (प्रतिभामात्र काव्य के प्रति कारण है, इस पक्ष) में और आपके मत (शक्त्यादि समुदित कारणतावाद) में भी अग्रतः सिद्ध है।

इत्थं काव्यस्य कारण निरूप्य प्रसारान् व्यादरति—

तथोत्तमोत्तमो-त्तम-मध्यमा-धमभेदाश्चतुर्धा ।

तत् काव्यम् उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अधमं चेति चतुर्विधमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्यकारण के निरूपण कर लेने के बाद काव्य के भेदों को कहते हैं—
‘तच्च’ इत्यादि । जिस काव्य के सम्बन्ध में इतनी विवेचना की गई है, उस काव्य के चार भेद हैं । १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम और ४. अधम ।

तत्र प्रथमं प्रकारं सूत्रेण लक्षयति—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥२॥

यत्र काव्ये, शब्दो पञ्च, अर्थो वाच्यश्च^१ गुणीभवितात्मानौ व्यङ्ग्यपापपितृयाऽप्रधानी-
कृतस्वरूपौ कमपि चमत्कारातिशयाधानेनार्निर्वचनीयं प्रधानमर्थम् अभिव्यङ्क्तौ व्यञ्जनया
बोधयतः, तत् काव्यमाद्यमुत्तमोत्तमं भवतीत्यर्थः । एतदेव ध्वनिकाव्यमन्यैरभिहितम् ।

१. वाच्यपदमिह लक्ष्यवद् यथोरपि सप्रार्हकम् । अन्यथा तदोरुपसर्जनीभावेन व्यञ्जकतायामभ्यासि ।

तथा च ध्वनिग्रन्थः—

‘यत्रार्थः शब्दो वा तन्मर्यादुपर्युक्तस्तत्स्वार्थो ।

व्यङ्ग्यं, कान्यविरोधं स ध्वनिरिति सुरिभि र्स्थितः ॥’ इति ।

जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, रस्य, व्यङ्ग्य) दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी (चमत्कार जनक अतः पूर्य प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करें—इतना प्रति द्वारा समझावें, उसे ‘उत्तमोत्तम’ काव्य कहते हैं ।

लक्षणपटकनदृष्ट्यभिधायि—

कमपीति—चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोनिरासः । अपराङ्ग-वाच्यसिद्धयङ्ग्यव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय—गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यङ्ग्ये प्राधान्याभिप्रायकम् ।

भूमिराश्रयस्तदुत्पादनात् । अतिगूढादिपदनसुन्दरव्यङ्ग्यस्याप्युपलक्षकम् । निरासो व्यावृत्तिः । अपरादिपदस्य सन्दिग्धप्राधान्य-तुल्यप्राधान्य-काङ्क्षितिव्यङ्ग्यपानामप्युपलक्षकम् । इति विरोधगतोपस्थापकः, तद्विशेषणमेव स्वापेक्षयेत्यादिप्रतिपाद्यम् । स्वराब्धौ व्यङ्ग्यमाहो । गुणीभावितेत्यादिविशेषणेनाप्यतिगूढव्यङ्ग्यपादोना निरासः सम्भवतीति सूचयितुं द्वयोः सहैवोक्तिः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारादृष्टस्य लक्षणस्य नातिव्याप्तिः, अतिगूढव्यङ्ग्य-स्फुटव्यङ्ग्य-सुन्दरव्यङ्ग्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारानाधारत्वात्, तेषु ततोऽवशिष्टेषु च प्रकारेषु व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थपेक्षया प्राधान्यस्य विरहात् । अपराङ्गव्यङ्ग्यादिषु कतिपयेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कार-जनकत्वाच्च प्रयमोद्येनैव निर्वाह इत्याशयः ।

लक्षण वाच्य में निश्चित पदों का फल दिखलाते हैं—‘कमपीति-चमत्कृतिभूमि’ इत्यादि । इस लक्षण में ‘कमपि’ पद से चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान अर्थ विवक्षित है, अतः जिसमें व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ़ (दिपा हुआ) अथवा अत्यन्त स्पष्ट (वाच्य सा) हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं रहते हैं । असुन्दर व्यङ्ग्य का भी कारण इसी विशेषण से समझना चाहिये । अपराङ्ग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग) और वाच्यसिद्धयङ्ग्य (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ की सिद्धि असम्भव हो) व्यङ्ग्य भी चमत्कारजनक होते हैं, अतः हम भेद में उनका भी ग्रहण न हो जाय, इसलिये लक्षण में ‘अपने को गौण बनकर’ कहा गया है जिसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ (वाच्यदि) से व्यङ्ग्य में प्रधानता होनी चाहिये, सो अपराङ्ग प्रभूति व्यङ्ग्यों में नहीं होती अर्थात् वे सब व्यङ्ग्य स्वयं गौण रहते हैं, अतः वे (साक्षात् व्यङ्ग्य वाले) काव्य भी उत्तमोत्तम नहीं हो सकते हैं ।

प्रतिज्ञाऽमुरूपं स्वीयं पयमुदाहरति—

उदाहरणम्—

क्षिप्तवधपूवृत्तान्तं वर्णयति—

‘शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमक्षो मनोरथान् ।

दयिता दयितमननाम्बुजं दरमोललजयना निरीक्षते ॥’

अहो अद्भुतम्, सविधे दयितस्य सखिधौ, शयिताऽपि अणयितस्योवननिर्वन्धाद् भोगावाप्तस्य विविचत्वादनुरागाङ्कुरोत्पत्तेय कृतघयनाऽपि, मनोरथान् स्वहृदि दिपमानान् नानाऽऽवारकरोडादिपयःप्रभिधानान्, सफलीकृतं चरितार्थयितुं तदनुत्पन्नाचरितुमिति यावत्, अनीश्वरा त्रपासाप्यसाविरेकेणासमर्थं, दयिता जाता वानतयैव सम्यगिति मन शीघ्रं नवोदप्रिया इत्युक्ते प्रेयसी नानिका, दरमोललजयती त्रपौत्सुक्यसाहचर्येण सङ्गच्छती नयने

लोचने चत्स्यास्तादृशी सती, दमितस्य परिचयवरोन किञ्चित्प्रणयोदयनम् प्रियस्य, आन-
नाम्बुनं मुञ्चकमलं, निरीक्षते चेन्नर्तं विलोकते, न तु चुम्बितुमालिङ्गितुमाप्राप्तं बोधयते, नापि
नयने नितरा निमीलयति, न वा तादृन्निरीक्षणं निरमतीत्यर्थः ।

इह सविपशयनरूपकारणस्य सत्वेऽपि मनोरथसफलकरणलक्षणकार्यानुत्तमाद् विशेष-
योक्तिमहोदयः प्रकाशयति । वियोगिनी छन्दः ।

अथ 'निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपम्' इस प्रतिज्ञा के अनुसार पण्डितराग स्वरचित
पद्य उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं—'उगिता' इत्यादि । नयनपू अपने
प्रियतम के समीप सोई है, परन्तु आश्चर्य है कि वह अपने मनोमत मनोरथों को सफल
बनाने में थममर्ण है—यह चाहती तो बहुत कुछ है, किन्तु लज्जा और भय ने उसे हम
झगड़ दबा रखा है, जिसने यह कुछ कर नहीं पाती, हम स्थिति में प्रियतम की
अभिलाषायें भी पूर्ण नहीं हो पत्तीं, यह स्वतः विद्र है, फिर भी वह प्रियतम की क्षयिता
है, प्रेयसी है, हो क्यों नहीं, केलि-विमुख भी नबोझ पानी सहृदय प्रेमियों के लिये,
अप्रीतिकार नहीं, अपितु प्रीतिपर्यंक ही होती है । इससे पाठक यह नहीं समझें कि यह
केवल पति के बगल में मुर्दा सो पड़ी है, वह बराबर प्रियतम के सुरकमल को देख रही
है, घूमने का, आलिङ्गन करने का साहस मले ही उसे न हो पर झगड़ने से यह विरत नहीं
होती, हाँ, उसके देखने में भी कुछ विलङ्घनता अवश्य है, हृष्टा रहने पर भी उसकी उत्सुक
आँखें सर्वथा विस्फारित नहीं, धन्य कुछ कुछ मुँदी हुई सी रहती हैं । यहाँ 'अहो' पद्य
समीपशयनरूप कारण के रहने पर भी मनोरथ साफल्यरूप कार्य के अभावरूप विशेषेण
अलङ्कार को प्रकाशित करता है ।

अत्र व्यङ्ग्यं निर्दिशति—

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, सविपशयनाक्षितस्य रदःस्थानादेरहीपनस्य च
विभावस्य, तादृशनिरीक्षणादेरनुभावस्य, त्रयोस्तुक्वादेश्च व्यभिचारिणः संयो-
गाद् रतिरभिच्यज्यते ।

इह एकान्तम्, तथा च यदि तत् स्थानमेकान्तं न स्यात्, तदा साऽवप्रपारावदयान्
तत्र नायकस्य समीपे क्यमपि न सम्भवेति नायकसमीपशयनान्धपाऽनुपपत्त्या तत्स्थानस्यै-
कान्तत्वं कल्प्यते । निरीक्षणे तादृशत्वमीधनुकुलीकृतनेत्रकम्पम् । नयनैर्यन्मीलनेन लब्धा,
निरीक्षणेन चैतुस्यं सूच्यते । संयोग आलम्बनादिभिः सह स्थायिभावस्य रतेः सम्बन्धः ।
रतिश्चात्र नायकालम्बना नायिकाऽऽभवा, तस्याद्येष्ट परिपोषेण निरीक्षणस्य च प्रवृत्तत्वेन
सम्भोगशृङ्गाररसरूपता ।

इह नायिकानिष्ठरते स्थायिभावस्य नायकरूपालम्बनविभावेन, एकान्तस्थानरूपोद्दीप्त-
विभावेन, मुकुलीकृतनयननिरीक्षणलक्षणानुभावेन, लब्धौस्तुक्वरूपाभ्यां व्यभिचारिभावान्वा
च सम्बन्धात् प्राधान्येन सम्भोगशृङ्गाररसास्वाद, वाच्यवाचक्योस्तु शुभीभाव एवेति सुत-
रामुत्तमोत्तममस्य काव्यस्य सिद्धयतीत्याशयः ।

अब यहाँ ग्रन्थकार इस पद्य से होने वाले उस व्यङ्ग्य को दर्शाते हैं, जिसके बल पर
यह श्लोक उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण होता है—'अथ' इत्यादि । यहाँ नायिका-निष्ठ-
रति का, आलम्बनविभावनयक वाच्य है, एकान्तस्थानरूप-उद्दीप्त-विभाव, पति-
पत्नी के समीपशयन से आच्छिन्न होता है, नायिका-कचुक-नायक-मुख-निरीक्षणरूप-
अनुभाव भी वाच्य ही है, लब्धा तथा औत्सुक्यरूप-व्यभिचारी भाव क्रमशः नयन-गान-
दर मीलन से और निरीक्षण से व्यक्त होते हैं । इन सब भावों के संयोग से नायक-
विपश्यक-नायिका-निष्ठ-रति (स्थायी भाव) व्यङ्ग्य होती है, जो परिसुष्ट होने से सम्भोग

महार, रस, रूप है—सहृदय पाठकों का आस्वाद्य है। यहाँ का यह व्यङ्ग्य अत्यन्त चमत्कारी है तथा शब्द अर्थ गौण है, अतः उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण सघटित हुआ।

नन्वालम्बनादीनि तत्र किं स्वरूपाणीत्याकाङ्क्षायामाह—

आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते ।

वक्ष्यते पुरस्तादस्मिन्नेवानने 'एवमेवा स्थायिभावानाम्' इत्यादिना सन्दर्भेण ।

आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभाव, ध्वनिचारीभाव तथा स्थायिभावों के स्वरूप आगे (इसी आनन में) कहेंगे ।

अत्र नायिकेच्छाविशेषस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यतामाशङ्क्य परिहरति—

नच 'यद्ययं शयितः स्यात्, तदाऽस्याननं चुम्बेयम्' इति नायिकेच्छाया एव व्यङ्ग्यत्वमत्रेति वाच्यम्, 'मनोरथान् सफलीकर्तुमसमर्था' इत्यनेन मनोरथाः सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः, स्वशब्देन मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण तादृशेच्छाया अपि निषेदनात् ।

अयं नायकः । शयित इति जाग्रतो लज्जा-प्रत्याक्षिप्तनादिभीत्यो सम्भवः । इति शब्दो नायिकेच्छाऽऽकारपरामर्शकः । एवकार प्रायुक्तव्यङ्ग्यव्यावर्तनपरः । स्वशब्देनेत्यस्य विवरणं मनोरथपदेनेति ।

नायिकाया समीचे सत्पृष्ठं च नायकमुखनिरीक्षणेन मूलोपलब्धिताकारिकेच्छैवात्र प्राधान्येन व्यज्यत इति कस्यचिन्मतम्, अयुक्तमेव, अतः सर्वथा मनोरथानां नायिकाया हृदि सङ्गाथो मनोरथान् सफलीकर्तुमनीश्वरेत्यनेन विशेषणैरूच्यते, तथा च मनोरथ-चुम्बन-विषयकेच्छयोः सामान्यविशेषभाषादयमिच्छाविशेषोऽपि मनोरथपदेनेच्छात्वरूपसामान्यधर्म-प्रकारकप्रतीतिगोचरः कियत् एवेति वाक्यपदवीमाह्वयमत्कारविशेषानाधानाज प्रधान-मितिसारम् ।

इस श्लोक में नायिका का इच्छा विशेष ही प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं है ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—'न च यद्ययं शयितः' इत्यादि । शङ्का करने वालों का अभिप्राय है कि इस पद्य में 'सलज्जित नायिका सरपृष्ठं भाव से नायक के मुख की बारबार देख रही है' यह बात वर्णित है, जिससे 'यदि यह (नायक) सो गया हो, तो मैं इसका मुख चूम लूँ' इस तरह की नायिका की इच्छा व्यङ्ग्य होती है, फिर इसी व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर यहाँ काव्यलक्षण का समन्वय करना चाहिए, पूर्वोक्त स्तिरूप व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर नहीं । समाधान का आशय यह है कि नायिका की उक्त इच्छा यहाँ व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'नायिका अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है' यह बात इस पद्य में वर्णित है, जिससे यह सूचित होता है कि नायिका के हृदय में सब मनोरथ वर्तमान हैं, और चुम्बन की इच्छा भी एक तरह का मनोरथ ही है—जो सामान्यरूप में मनोरथ पद का वाच्य अर्थ ही होता है, फिर व्यङ्ग्य कैसे होगा ?

पुनराशङ्क्य समापत्ते—

न च मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि, 'चुम्बेयम्' इति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वे किं साधकमिति वाच्यम्, चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात् ।

विषयविशेषचुम्बनम् । चमत्कारपदं तदतिशयपरम्, अतिविचित्रमत्कारस्य ततोऽपि सम्भवान् । अन्यथा वाच्यप्रधानमेतस्य व्यङ्ग्यत्वानापत्तिः, चुम्बनेच्छाया इत्यादिना द्वितीय-हेतुप्रदर्शनानवकाशश्च ।

सामान्यपदमैच्छात्वेनावेच्छाया वाच्यत्वेऽपि, विशेषधर्मेषु चुम्बनेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वं कुतो न स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, इच्छाया अभिधावोप्यत्वेनोत्तमोत्तमवाच्यत्वसम्पादकस्य चमत्कारातिरादरस्यैव ततोऽनुदयादित्यर्थः ।

यदि भाष कहे कि मनोरथ पद से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी चुम्बन विषयक इच्छा (जो विशेष है) वाच्य हुई नहीं, फिर उसको व्यङ्ग्य होने में क्या पाया है ? इसका समाधान यह है कि—चमत्कार नहीं होगा—अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं होगी—यस, यही बाधक है ।

व्यङ्ग्यस्य हि प्रकारान्तरेणापि वाच्यत्वे चमत्कारोत्सर्पजननेन गुणीभावात् प्राधान्यमिति भावः । तदेवाह—

नहि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहितोऽर्थः सङ्गदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात् ।

हि यत् । विशेषाकारेण विशेषपर्यावच्छिन्नत्वेन । अभिहितोऽभिधारत्वा बोधितो वाच्यः । चमत्कृतिस्तदुत्कर्षः । रंष्टे क्षमते । कथमपि केनापि प्रकारेण वाच्यवृत्तिरभिधा, तयाऽनालिङ्गितस्याबोधितस्य । एवमव्यो वाच्यव्यवच्छेदकः ।

आलङ्कारिका हि—

‘मान्धीप्रयोधर इवातितरा प्रकाशो नोगुर्जरीस्तन इवातितरा निगूढः ।

अयो गिरामपिहित विहितश्च राक्षसः सौभाग्यमेति मरुद्वधुज्जुवाह ॥’

इत्यनियुक्तोत्कर्षजनाश्रुतिमात्रप्रोध्यस्यार्थस्य चमत्कारोत्कर्षायायुक्तं मन्यते । प्रकृतो तु चुम्बनेच्छाया इच्छात्वेन मनोरथपदस्यभिधया बोधितत्वाच्च चमत्कृतिप्रकारोत्पादकत्वमित्याकृतम् । एतच्च मूलव्याङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रशरतिरूपणे पञ्चमोक्तासे, रसदोषनिरूपणे सप्तमोक्तासे च काव्यप्रकाशे स्फुटम् ।

इस पर यदि भाष पूर्ण कि आपके कहने ही से चमत्कार नहीं होगा ? या बसने न होने में कुछ युक्ति भी है ? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं ही ऐसा नहीं कहता, अपितु अलङ्कार शास्त्र के सभी भर्मजों ने एक स्वर से उसी व्यङ्ग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे, अतः जो प्रार्थ सामान्यरूप से भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप से व्यङ्ग्य होने पर भी सङ्गद्यों मन में चमत्कार की उत्पत्ति नहीं कर सकता—अभिधावृत्ति मानो वह छूत का रोग है, जिससे छू जाने पर स्वस्थ व्यङ्ग्य भी अस्वस्थ हो जाता और उसकी चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है ।

अनु कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्पादकत्वाम्युपगमे ‘यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यम्, न तयोच्यते ।’ इति मम्मटभट्टोक्तेः पर्यायोक्तालङ्कारे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यत्वे चमत्कारिताऽनुपपत्तिरित्युक्ते पूर्वोक्तपण्डनस्य हेतुन्तरं व्याहरति—

चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावतयैव सुन्दरत्वेन तदव्यञ्जने ‘चुम्बेयम्’ इति शब्द-अनालङ्क्युम्बनेच्छावदचमत्कारित्वाच्च ।

रतिपदं तत्तत्प्रायिकश्चकारपरम् । एवकाररतदितरप्रकारव्यावृत्तिपूचकः । सुन्दरत्वेन चमत्कारविधायकत्वेन । तच्छब्देन रतिरेतुव्यङ्ग्यारस्य परामर्शः । ‘चुम्बेयामि’ इति पाठस्तु भ्रान्तिमूलक, निजर्थासङ्गते । शब्देत्यादेः शब्दजन्यप्रतीतिविषयीभूतेच्छावदित्यर्थः ।

यदा रतिस्वाभिरुग् शृङ्गार प्रधानतया व्यज्यते, तदैव तदनुमानत्वेन व्यज्यमानाशु-
भ्यनेच्छायाश्चमत्कारोत्कर्षकनस्त्वम्, इतरथा तु शान्दबोधगोचरीभूततादृशेच्छातो वैलम्ब-
न्याभावात् तत्त्वम्, अतः शृङ्गारस्यैव प्रधान्येन व्यज्यत्वमिहोचितमिति तात्पर्यम् । इदं
पुरः 'सर्वथा वाच्यवृत्त्यनुमित्यस्यैव तथालमिति अनिमर्शप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात् ।' इति
सन्दर्भेण सप्तसन्देहालङ्कारनिरूपणे स्फुटीकरिष्यति ग्रन्थकृत् ।

नायिका की इच्छा को प्रधान व्यङ्ग्य व भाव्य रति को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में
दूसरी युक्ति भी देते हैं—'सुभ्यनेच्छाया' इत्यादि । सुभ्यनेच्छा रति (प्रेम) का फल है,
यदि रति न हो, तो सुभ्यनेच्छा हो ही नहीं सकती, यदि किसी कारण से हो भी तो
उसमें सौन्दर्य नहीं रहेगा, रति के अनुभाव (कार्य) रूप में जब उसकी प्रतीति होती है
तभी वह भाव्यी लगती है, इस स्थिति में यदि यहाँ रति व्यङ्ग्य न हो तब, सुभ्यनेच्छा
व्यङ्ग्य होकर भी उसी तरह अचमत्कारी होगी, जिस तरह 'चूमूंशा' इस शब्द से अभिहित
होने पर वह अचमत्कारी होती है । अतः रति को प्रधानतया व्यक्त होना आवश्यक है,
उसके अभिध हो जाने के बाद यदि उसीके अनुभावरूप से उक्त इच्छा भी अभिव्यक्त हो,
तो कोई आपत्ति नहीं ।

इत्यभिच्छाया प्रधानव्यङ्ग्यता निरस्य सञ्जाया अपि परेणाशङ्क्यमाना वा निराकरोति—

एवं प्रयाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवाद्यताऽवच्छेदकतया
प्रतीतार्या तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् ।

एवं अन्तर्कारविशेषास्तुत्यादकत्वेन । अपि पूर्वोक्तेच्छासंप्राप्तक । अत्रत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्ये-
ष्टत्वात् प्राधान्येनेति । अनुवाद्यतोद्देश्यत्वम् । तस्यां प्रयायाम् । मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात्
प्राधान्येन वाक्यतात्पर्यविषयतासम्बन्धमाभावात् ।

एवमिह वरेत्यादिपदेन यद्यपि लज्जा व्यज्यते, तथापि तस्या न प्राधान्यम्, यतोऽत्र
दरमीलनयनात्त्वमुद्दिश्य निरीक्षणं विधीयत इति निरीक्षणविधिविषयतानिरूपितोद्देश्यताया
उक्तविशेषणनिष्ठाय अवच्छेदकत्वं लज्जाया उद्देश्यविशेषणीभूताया इत्युद्देश्यताऽवच्छेदकतया
प्रतीयमाना लज्जाऽत्र न विधेयीभवनमुद्दिशति । न वाविधेयीभूयोऽर्थात्पर्यायमुख्यविशे-
यतामाश्रयितुं शक्नोति । न वा तदनाभयरोऽपि कस्यचन प्राधान्यमित्यभिप्रेत्य ।

'लज्जा ही इस पद्य में प्रधान व्यङ्ग्य है' इस मत का स्पष्टन कर रहे हैं—'एवं प्रयाया'
इत्यादि । किसी-किसी का मत है कि यहाँ 'मेरी' को कुछ-कुछ मुकुलित करती हुई
इस नायिकाविशेषण से जो लज्जा व्यक्त होती है, उसीको प्रधान व्यङ्ग्य मान कर एत-
लोक में तामूलक काव्यता स्वीकार करनी चाहिये । परन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि
यहाँ नायिका को उद्देश्य बना कर निरीक्षण का विचार किया गया है और उस उद्देश्यभूत
नायिका का विशेषण है, 'दरमीलनयना' 'कुण्ड-कुण्ड नेत्रों को मुकुलित करती हुई'
जिससे लज्जा अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार से लज्जा की प्रतीति उद्देश्यतावच्छेदक
(उद्देश्य विशेषण) रूप में होती दीखती है, फिर वह लज्जा, प्रधान वाक्यांश कैसे हो
सकता है ? अर्थात् जो कदा विषय रहता है, उसीमें वाक्य का तात्पर्य होता है और
तात्पर्यविषयभूत अर्थ ही मुख्य वाक्यार्थ कहलाता है, अतः लज्जा किसी तरह मुख्य
वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता है ।

पुनरपरणाऽऽशङ्क्य समादधाति—

न च दरमीलनयनात्त्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवाद्यताऽवच्छेदकतया
तस्या इति वाच्यम्, एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलनय-
नात्त्वनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् ।

उभयत्र वैशिष्ट्यं सामानाधिकरूपेण । तस्यास्त्रयायाः । एवमपि विशिष्टस्य विधानेऽपि । तत्कार्यत्वेऽपि त्रयाजन्यत्वेऽपि । मात्राशब्देन त्रयाप्रवृत्तीनां व्याप्तिः ।

इदमुच्यते—दरमीलननात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य विधानेन यद्यपि लब्धाया विधेयश्लेष्टि-
प्रविष्टेन नयनेयमिमीलनेन व्यङ्ग्यतया नोद्देश्यताऽनच्छेदकत्वम्, तथाऽपि तस्याः प्राधान्यं
दुरुह्येव, यतो नयनेयमिमीलनमेव लब्धाजन्यमिति तेनैव स्वस्वरणीभूता लब्धा व्यङ्ग्यते,
समस्तो नयनेयमिमीलनविशिष्टश्लेष्टेन विधेयेन तु स्वहेतुभूता रतिरेव तृतीयितुं शक्यत
इति सर्वतोमुखं पार्यन्तिद्वं प्राधान्यं लब्धाया न सम्भवति ।

यदि आप कहें कि लज्जा को प्रधान चावधार्य न मानने में आपने जो युक्ति दी है, वह
तब ठीक होती, यदि हम लज्जा का भाव उद्देश्यतावच्छेदक रूप में मानते होते, उसीको
हम नहीं मानते हैं, हम तो दरमीलननात्व विशिष्ट निरीक्षण को विधेय मान कर
विधेयतावच्छेदक (विधेय विशेषण) रूप में ही उसका मान स्वीकार करते हैं—अर्थात्
यह निरीक्षण ऐसा है, जिसमें नेत्र कुङ्कु-कुङ्कु मुकुलित हो रहे हैं, यही लज्जा का अभिप्राय
है, अथ लज्जा को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं उठ सकती । इसका उत्तर
यह है कि इस तरह लज्जा को आप विधेयकोटि में ले आ सकते हैं, परन्तु तब भी वह
सुलभ नहीं हो सकती, क्योंकि नेत्रों का कुङ्कु-कुङ्कु मुकुलित होना, भले ही लज्जा का कार्य
हो, किन्तु निरीक्षण उसका कार्य नहीं हो सकता, वह तो रति (प्रेम) का ही कार्य है,
फिर प्रधान-विधेय-निरीक्षण से अभिव्यक्त होने वाली रति को प्रधान न मान कर, विधेय
विशेषण-नयन-गव-दा-मीलन से व्यक्त होने वाली लज्जा को प्रधान मानना युक्ति-
सम्मत नहीं होगा ।

ननु मीलननात्वनाप्रमत्र विधेयमास्ताम्, तथा च सनप्रविधेयदलव्यङ्ग्यतया त्रयायाः
प्राधान्यमशतमेवेत्याशङ्का निराकरोति—

त्रयाया यथ सुखत्वेन व्यङ्ग्यतया निरीक्षणोक्तेरतिप्रयोजनकत्वापत्तेः ।

यद्यत्र त्रयामात्रस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यतया कवेरभिमतं स्यात्, तर्हि स निरीक्षणपर्यन्तं
नोपादहीत, ईष्ययनामिमीलनेनैव तद्विषयस्य त्रयाव्यङ्ग्यस्य सिद्धे अधिकोपादानस्य निष्फ-
लत्वापत्तेः । रते कार्यत्वेन तद्व्यङ्ग्यं निरीक्षणमप्युपादहीत कविना प्राधान्येन रतेरेव
व्यङ्ग्यता बोधिता । तस्मात्त्रयायाः प्राधान्येन व्यङ्ग्यतया योपनायेपममीलननात्वस्य
विधेयत्वेत्यभिप्रायः ।

इसके बाद भी यदि आप यह प्रमणित करें कि हम निरीक्षण को भी विधेय नहीं मानेंगे,
अपितु निरीक्षण करने वाली नायिका को उद्देश्य बनाकर दरमीलननात्व का ही विधान
करेंगे, फिर तो प्रधान-विधेय-व्यङ्ग्य होने के नाते लज्जा प्रधान होगी । इस प्रमाण का
उत्तर यह है कि—हाँ ! भाई ! आप वाद में बड़े निपुण हैं, इस तरह लज्जा को प्रधान
बना सकते हैं, परन्तु बनाना नहीं चाहिये, कारण ? यदि इस तरह से लज्जा को ही
प्रधानतया व्यक्त करना कवि को अभिमत होता, तो कवि निरीक्षण की बात ही नहीं
वहते, केवल इतना ही कहते कि 'आँखों को मुकुलित कर रही है', लज्जा की अभिव्यक्ति
तो वावन्मात्र से हो ही जाती, अर्थात् लज्जा को प्रधान मानने में 'देतती है' यह कथन
निष्प्रयोजन ही नहीं होता वरन् बाधक भी होता है, अतः रतिको ही प्रधान व्यङ्ग्य मानना
चाहिये, लज्जा को नहीं ।

ननु विधेयश्लेष्टी विशेष्यविशेषणभावविषयस्य निरीक्षणविशिष्टेपममीलननात्वमेव विधेयी-
करणीयम्, तथा चेह विधेयविशेष्यास्यव्यङ्ग्यतया त्रयायाः प्राधान्यं स्यादेवेत्याशङ्का निरस्यति—

पाच्यगुण्या रतेरनुमावे निरीक्षणे त्रयायाः अनुभावस्य दरमीलनस्येव, व्यङ्ग्य-
नया तस्यां तथा अपि गुणीमात्रप्रत्ययौचित्यात् ।

वाच्यस्य बोधिका वृत्तिर्व्यापारोऽभिधा तथा वाच्यवृत्त्या । अनुभावत्वं लोके तत्कार्य-
त्वेन । तस्या रतौ । तस्याल्लपाया । गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रत्यय प्रतीति ।

अभिधावृत्त्या यथा रतेरनुभावो निरीक्षण प्राधान्येन, त्रपाया अनुभावो नयनेपक्षिमील-
नन्तु तद्वद्वत्त्वेन प्रत्याप्यते, तथैव व्यञ्जनयाऽपि रते प्राधान्येन, त्रपायास्तद्वत्त्वेन प्रत्या-
यनमेवोचितम्, इतरथा 'भावप्रधानमाह्वयात्, सत्प्रधानानि नामानि' इति यास्कसिद्धान्त-
विरोधो दुःखरोधो भवेदिति तात्पर्यम् ।

रज्जा को गौण व्यङ्ग्य मानने में ही औचित्य की रक्षा भी होती है इसी बात को स्पष्ट
करते हैं—'रत्नयू या' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि रति का कार्य 'देखना' और लज्जा
का कार्य 'आँखों को कुछ कुछ मुकुलित करना' दोनों वाच्य हैं, जिनमें रति का कार्य
'देखना' प्रधान है और लज्जा का कार्य 'आँखों को कुछ कुछ मुकुलित करना' गौण है,
अथ आप सोचिये कि इन दोनों कार्यों से व्यक्त होने वाले कारण-रति तथा लज्जा में
किसको प्रधान होना उचित है ? उत्तर स्पष्ट है कि वाच्य कोटि में जिसका कार्य प्रधान है,
व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से व्यक्त होने वाला वह कारण प्रधान और वाच्यकोटि में
जिसका कार्य गौण है व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से अभिव्यक्त होने वाला 'वह कारण गौण
हो यही समुचित है, वदा अब भी रति को प्रधान और लज्जा को गौण होने में कुछ सन्देह
किया जा सकता है ? नहीं, अर्थात् वाच्यकोटि में जब निरीक्षण प्रधान है, तब व्यङ्ग्यकोटि
में उस निरीक्षण से अभिव्यक्ति रति प्रधान होगी और वाच्यकोटि में गौण-नयन-गत-
दर-मीलन से व्यक्त होने वाली त्रपा व्यङ्ग्यकोटि में भी गौण ही रहेगी ।

द्युत्पत्तिनिमित्तं किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा वा—

उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणमिति योजना । नायको वयस्य व्याहरति, स्वयं वा विमृशति—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।

दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत् ॥'

गुरुणा श्वभ्रूप्रभृतीना मध्यगता तन्निष्ठस्यानोपविष्टा, नताङ्गी शालीनतौचित्र्यात् सत्त-
तावयवां, सा, मया, नीरजकोरकेण कमलमुकुलेन, मन्द शनैर्निवृत्तमिति यावत्, निहता
नितरा ताडिता, दरमीपत् कुण्डलस्य ताण्डवं मदन, यत्र, तद् यथा स्यात्, तथा, किञ्च
नताऽस्यानखलीकरणजन्यमन्युना नन्नीभूता भ्रूलतिका यत्र तद् यथा स्यात्, तथा, चकितं
श्वरमादिसाक्षिभ्यान्मयि साभ्यस्त्य च माम्, अवलोक्य ('शृष्ट । किमेव गुरुजनमप्ये खली-
कोरपि' इति मनसैवोपालभमाना) घूर्णिता भ्रान्ताऽऽसीदित्यर्थः ।

निघातस्य भ्रान्तेन कुण्डलताण्डवस्येपरत्वं, गुरुमध्ये निघातेन भ्रूनमन चोपपाद्यत इति
हेतुहेतुमद्भावेन काव्यलिङ्गालङ्कारो मालभारिणीच्छन्दश्च ।

इह 'दुर्विदग्ध । किमिदं रहसि विधेयं गुरुजननिष्ठेऽपि विहितवानसि' इति वस्तुव्यञ्ज-
नपुरस्सरं नायकविषयकोऽमर्षो व्यभिचारिभावो वाच्यवाचकपक्षेऽधिकवचनकारितया
प्राधान्येन व्यञ्ज्यत इत्यस्योत्तमोत्तमकाव्यत्वम् ।

पूर्वोक्त उदाहरण रस (सम्मोह शृङ्गार) का दिया गया था, अब भाव (हर्ष आदि
व्यभिचारीभाव) का उदाहरण देते हैं—'गुरुमध्यगता' इत्यादि । नायक अपने मित्र से
कह रहा है अथवा स्वयं मन में सोच रहा है—सास, नन्द प्रभृति गुरुजनों के बीच घंटी
हुई तथा शालीनता को प्रकट करने के लिये नम्रमुस्ती, प्रिया को मैंने धीरे से—अर्थात्
छोड़ों की आँखें बचा कर एक कमल कलिका से मार दिया । (मार पड़ने के बाद) उसने
तीव्ररूप से मुझे देखा और फिर दूसरी तरफ घूम गई—मुख फेर लिया । परपि

गुरुजनों के मध्य में बैठी हुई नवीना हल्कामिनी का पति की ओर देखना शालीनता का विरोधी था पर वह बेचारी करे तो क्या ? पति महोदय के असामयिक आचरण से वह दुःख हो उठी थी—उसके हृदय में अनर्पभाव जगमगा उठा था, अतः पति पर एक तीर्यक् दृष्टि डालने के लिये वह विवश हो गई, फिर भी उसे अपनी शालीनता-मर्यादा का ध्यान था, अतएव वह साफ मस्तक उठा कर न देख सकी, तथा अपने अनर्प को ही स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकी, उसका देखना ऐसा हुआ, जिससे कान के कुण्डल घोड़ा नाच उठे तथा झूलतायें भीची हो गई—अर्थात् उसके इस दर्शन व्यापार को पति के अतिरिक्त कोई जान भी न सका। यहाँ प्रहार-गत-मान्य-कथन से कुण्डल-नर्तन की अवस्था तथा गुरुजनों के मध्य में उस प्रहार के होने से झूलता का नक्षीभाव उत्पन्न किये जाते हैं, अतः हेतुहेतुमन्त्रावमूलाक का स्पष्ट अलङ्कार वाच्य है।

तदेवापष्टे—

अत्र 'पूर्णिताऽऽसीत्' इत्यनेन 'असमीक्ष्यकारिन् ! किमिदमनुचितं कृत-
यानसि' इत्यर्थसंचलितोऽमर्पश्चर्याविश्रान्तिधामत्वात् प्राधान्येन व्यज्यते ।
तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः ।

संचलितो विशिष्टः, वैशिष्ट्य चाङ्गाभिभावेन, तथाहि—इत्थरूपव्यङ्ग्यस्यामर्पं प्रति
पोषकत्वेनाङ्गत्वम् । विश्रान्तिधामत्वं पार्यन्तिस्वस्वादविषयत्वम् । तन्नामर्पे । अर्थो वाच्यो
यस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यपक्षः । गुणोऽङ्गप्रधानमिति यावत् । पूर्वोदाहरे व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थापेक्षयैव
प्राधान्यं दर्शितम्, इह तु यस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यार्थापेक्षनाऽपीति वैलक्षण्यमीक्षणीयम् ।

इस श्लोक में 'पूर्णितासीत्—पूरा गई' इस उक्ति से 'दे अविवचरिन्—असामयिक काम
करने वाले ! तुमने वह अनुचित कार्य क्यों किया' इस अर्थ से युक्त अनर्प (व्यभिचारीभार)
प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ परतु व्यङ्ग्य के रहने पर भी उक्त भावव्यङ्ग्य ही
क्यों प्रधान होगा, इस सङ्का की निवृत्ति के लिये उसकी प्रधानता में कारण का निर्देश
करते हैं—'चर्याविश्रान्तिधामत्वात्'। आशय यह है कि सहृदयहृदयों में उक्त यस्तु-
व्यङ्ग्य को आधार बना कर उठी हुई आत्माधारा पर्यवसान में उक्त भावव्यङ्ग्य के
आत्माध में ही विश्रान्त होती है, अतः वह भावव्यङ्ग्य ही प्रधान है। प्रथम उदाहरण में
वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता दिखलायी गई थी और इस द्वितीय उदाहरण में
वाच्यार्थ तथा यस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ दोनों की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य की प्रधानता कही गई है।

अत्र 'किंचित्प्रतिक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा वा—

अचिरप्रवत्स्यस्यतिरुनवोदवधूस्त कश्चिद् वक्ति—

'तत्पगताऽपि च सुवनु' आसासङ्गं न या सेहे ।

सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणि मन्दमाक्षिपति ॥'

या तवोदधू, सुवनु सुन्दरी नितरा कोमलाङ्गी, अत एव तत्प्रे केलिनिलप्रत्यश्रयाया,
गताऽपि कथञ्चन सहचरीसहस्रात्रुरोधेन शयितापि च (का चर्चा वहि स्थितायाः)
आसस्य पलुनिरश्वासस्य, आसङ्गमीक्ष्यसम्पर्कम् (का कथोपगूहनादीनाम्) न सेहे नैव ममर्प
(किन्त्वज्ञानि समकोष्यद् यहिरपससार वा) सा (सैव, न त्वन्या) सम्प्रति प्रियनिदेश-
यात्रापूर्वरात्राविदानी, हृदयगतं सराङ्गेन प्रियेण हृदये वक्षसि निहितं, प्रियस्य पाणि करम्,
मन्दं भाविनिरहातडेन शनै (न तु प्रागिव तरसैव) आक्षिपति नवोदा जातिस्वभावात्
स्वस्थानं प्रापयन्त्यपसारयतीत्यर्थः । काव्यलिङ्गालङ्कार उपगीतिरुक्तं दृश्यम् ।

इह आश्रमे सहाचर्यक प्रियस्वान्वय पदार्थैकदेशतया दुर्घटः । तद्वदेत्यप्रतिनिर्देश-
भावव्यभावेन गतशब्दस्य पौनःपुन्यं च सहस्रानां हृदयं झुनोति ।

ग्रन्थकार पुनः उत्तमोत्तम काव्य का ही एक और विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह विलक्षणता क्या है ? इस जिज्ञासा की शान्ति अग्रिम प्रसङ्ग से होगी । जिसका पति कहीं दूर देश में जाने के लिये तैयार बैठा है, उस प्रवत्स्यपतिका नवोदा वधू का वृत्तान्त 'तत्पगताभि' इस पद्य में वर्णित है । पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—जो अतिकोमलाङ्गी सुन्दरी, नव-प्रणयिनी (सहचरियों के अनुरोध से) पल्ल पर सोई हुई भी, पति के स्वास के ईषत्सम्पर्क को भी (आलिंगनादि की बात ही क्या !) नहीं सह सकती थी—अर्थात् पति के स्वास के लगने से भी अङ्गों को सिकोड़ने लगती थी, वही सम्प्रति (पति के विदेश जाने की पूर्व रजनी में) हृदय पर रखे हुये शङ्कित पति के हाथ को भाविविरहातङ्ग से धीरे-धीरे (न कि पूर्ववत् शीघ्रता से) हटा रही है । यहाँ 'सम्प्रति' पद्य के अर्थ से आक्षेप-गल-भ्रान्त की उपपत्ति की जाती है, अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है ।

उदाहरणमिदं विवरीतुमवतरणिका भणति—

इदञ्च पद्यं मन्त्रिर्मितप्रबन्धगतत्वेन पूर्वसाकाङ्क्षमिति दिक्भूमेण व्याख्यायते—

अथ तत्पगतेत्यादिश्लोको यद्यपि जगन्नाथपण्डितराजरचिते भामिनीविलासामिधप्रबन्धे नवोदाप्रकरणे पठित इति तत्प्रकरणषट्कश्लोकान्तरसम्बद्धतया पूर्वं व्याख्यातुमशक्योऽपि किञ्चिद्व्याख्यायत इति सारम् ।

यह पद्य पण्डितराज-रचित—'भामिनीविलास' नामक-प्रबन्ध का है, अतः इसका सम्बन्ध दूसरे पद्यों से भी है, इसलिये यद्यपि इस पद्य की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं की जा सकती, तथापि जिज्ञा प्रदर्शन के लक्ष्यसे से कुछ-कुछ व्याख्या कर दी जाती है ।

व्याख्यानमेव निर्दिशति—

या नववधूः पत्यङ्कशयिता आसस्यासङ्गमात्रेणापि सङ्कुचदङ्गलतिकाऽमूत्, सा, सम्प्रति प्रस्थानपूर्वजरज्या प्रवत्स्यपतिका प्रियेण संशङ्केन समर्पित हृदि पार्णि नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु मन्दम् ।

पत्यङ्ग खट्वाविशेष । आसस्यासङ्गमात्रेणापि सङ्कुचदङ्गलतिकाऽमूत् । आसङ्गाक्षेपपदयोराश्वीप-द्वयक । प्रवत्स्यन् बिदेश गमिष्यन् पतिर्यस्या सा प्रवत्स्यपतिका । स्वभाव एव स्वाभाव्यम्, प्राप्तादिगणस्याकृतिगणतया तदन्तर्गते सर्ववेदादिगणे स्वभावशब्दस्य पाठे कल्पयित्वा 'गुणकचनप्राप्तादिभ्यः कर्मणि च' इति पाणिनीयसूत्रेण स्वार्थे घ्यनोविधानाद् रूप साधनीयम् । नववधूना जातेर्नववधूत्वस्य स्वाभाव्याजिसर्गात् । प्रियस्य पाण्यपणे शङ्का प्राग्वत् सरभमनिवारणपलायनादे । आक्षेपस्य मान्यर्थे प्रवत्स्यपतिसत्त्वोचिता सत्वर-भाविप्रियविप्रयोगाद् भीतिरुपपादिका ।

जो बात पद्य के अर्थरूप में लिखी गई है उसीको ग्रन्थकार अपनी भाषा में कहते हैं—'या नववधू' इत्यादि । कहने का अभिप्राय यह है कि—नवोदाओं के हृदय में पति के प्रति प्रेम नहीं रहता है, अथवा अल्प प्रेम रहता है, ऐसी बात नहीं है प्रेम तो अधिक ही रहता है, परन्तु उस प्रेम के साथ लज्जा और मर का भाव भी मिले रहते हैं, जो स्वभाविक भी है अतः वे (नवोदायें) पति के पास जाने में हिचकिचाती रहती हैं, लेकिन सलियों खींचावानी कर उन्हें पति की शय्या पर सुलाकर ही छोड़ती हैं । इस तरह वे पति की शय्या पर पड़ी अवश्य रहती हैं पर कुछ खिंची-झानी सी अर्थात् पति जो कुछ चाहते रहते हैं उनमें वे सम्मिलित नहीं होतीं, स्थिति यह हो जाती है कि पति के स्वासों का लगना भी उन्हें असह्य सा प्रतीत होता रहता है, फिर अगर पति उनके देहों पर हाथ रखना चाहें तो उसको वे नवोदायें केने बर्दास्त कर सकती हैं, फल यह होता है कि जभी पति महाशय उनके अङ्गों पर हाथ रखते, तभी वे उन हाथों को उठाकर दूर फेंक देती हैं, इसी तरह नवदम्पतियों की रातें आशा तथा असफलताओं के धोच में झूलती रहती हैं, परन्तु

जब वह रात आती है, जिसके प्रभात में पति महाशय चले जायेंगे, तब स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है, उस अन्तिम रात में पति सदाइ होकर भी कुछ साहस से काम लेने के लिए कृत सङ्कल्प से हो जाते हैं, परन्तु उन्हें प्रायः साहस से काम लेने का अवसर नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उपर नववधूओं की दशा-मनोवृत्ति भी पहले जैसी नहीं रह जाती, वे सोचती हैं यदा धात्र भी वे निगोदी लज्जा और भय मेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे ? यदि ऐसी बात हुई, तब तो यदा अनर्थ होगा, न जाने कब फिर उनसे (पति से) भेट हो, नहीं, धात्र किसी तरह भय या लज्जा को अपने पास फटकने नहीं दूंगी, इस तरह वे मदीहायें प्रस्थान पूर्व रजनी में सज्ज होकर ही पति की क्षय्या पर जाती हैं, फिर भी जब पति के हाथ उनके हृदय पर पड़ते हैं तब वे एक बार कुछ चौंक उठती हैं, और पति के हाथों को भी अपने हृदय पर से बलग अवरोध करती हैं। हाँ ! इतना अन्तर अवश्य रहता है कि धात्र पति के हाथों को दूर हटाने में बड़ वेग नहीं रहता जो और दिनों में रहता था, अर्थात् नववधू-जाति-स्वभाव से बड़ होने के नाते वे हाथों को हटाती जरूर हैं, परन्तु धीरे-धीरे ।

तथादानसङ्गतये व्यङ्ग्यं प्रकटयति—

अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याक्ष्यः स्थायी संलक्ष्य-
क्रमतया व्यज्यते ।

अत्र तत्प्रेत्यादिपद्ये । शनैर्न तु वेगेन । स्वस्थानप्रापणमात्मा स्वरूपं यत्येति बहुमीहिः । एतेन रसनिवारणभावः सूचितः । आक्षेपे मान्यं रतेरनुभावः, प्रणयसम्भाव एव तस्य सम्भवात् । रतेः स्थायितोपादानाद् रसस्मृत्वं प्रतीयते । संलक्ष्यक्रमतमेव रतिव्यङ्ग्यत्वेन पूर्वोदाहरणद्वयाद्विशेषः ।

यहाँ 'मन्दनाक्षरति' का वाच्यार्थ है धीरे-धीरे अपने स्थान पर रूप देना, जिससे रतिनामक स्थायीभाव (जो सम्मोहप्रकार के रूप में परिणत हो जाता है) संलक्ष्यक्रम होकर अभिव्यक्त होता है, क्योंकि रति के बिना हाथ का धीरे-धीरे हटाना सम्भव नहीं है ।

ननु रत्यादीनां स्थायिनामन्यत्र सर्वैरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताया एव व्यवस्थापनादिह रतौः संलक्ष्यक्रमतया व्यङ्ग्यत्वमसङ्गतमित्यतोऽभिदधाति—

उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

उपपादयिष्यते रसनिष्पन्नप्रकरणेऽनैवानने मयेति शेषः । तथाहि—यत्र प्रकरणस्य स्पष्टार्थकतया हततरं प्रतीयमानैर्विभावादिभिः सङ्गदयानामतिशये रसपदवीमासावयतां रत्यादीनां प्रतीतिर्जायते, तत्र वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावेन कतिपयस्यापि पूर्वापरी-
भावरूपस्य क्रमस्याद्युत्तरभावितया सम्यग् लक्षयितुमशक्यत्वेनासंलक्ष्यक्रमत्वम् । यत्र तु प्रकरणस्यास्पष्टार्थकतया विभावादीनां प्रतीतानेव विलम्बेन रत्यादिप्रतीतावास्वादपदवी-
प्रापकसाग्रीसंवलनविलम्बात् क्रमस्य सम्यग् लक्ष्यता, तत्र रत्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमत्वम् । यथा प्रकृतश्लोके—'सम्प्रति' इति शब्देन पूर्वापरसन्दर्भसम्बन्धेन 'तस्या नववधूभावे पूर्वमन्यादृशः सङ्कोच आसीत्, सम्प्रति तु क्रमेण न्यूनतयाऽन्यादृश एवाभूत्' इत्याद्यर्थस्य विलम्बेन प्रत्यायनाद् रत्यादिप्रतीतेर्विलम्बितया संलक्ष्यक्रमत्वम् ।

परे तु—'वाच्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे वाच्यप्रतीतानेन विलम्बेन रत्यादिव्यङ्ग्यप्रतीतेर्न संलक्ष्यक्रमत्वम् । व्यङ्ग्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे तु गूढ-
व्यङ्ग्यवचनमत्कारोदयविलम्बात् सङ्गदयवैयर्थ्येनोत्कर्षव्याघात एवेति कृतो रत्यादिव्यङ्ग्यस्य संलक्ष्यक्रमता' इति व्याहरन्ति ।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि आमतक सभी आलङ्कारिक आचार्यों ने तो रति आदि स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही माना है, फिर आप यहाँ रति को संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य क्यों और कैसे कहते हैं, इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार लिखते हैं—‘उपपारिष्यते च’ इत्यादि। अर्थात् स्थायीभाव भी क्यों और कैसे संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य हो जाते हैं, यह बात आगे कही जायगी, तात्पर्य यह है कि प्राचीन सभी आचार्य स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य मानते हैं, उनका आशय है कि यद्यपि स्थायीभावों-रसों की प्रतीति के पूर्व विभाव आदि की प्रतीति अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि उन दोनों प्रतीतियों में कार्य-कारणभाव है, विभावादि-प्रतीति, कारण है, और रसादि-प्रतीति, कार्य, अतः उन दोनों में पूर्वापरीय (आगे पीछे का) भाव अवश्य है, परन्तु मध्य के समय अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका यह क्रम (पूर्वापर भाव) हमें लक्षित नहीं होता, जैसे जब हम कमल के सौ पत्तों को एक के ऊपर एक के हिसाब से रक्कर उनमें सुई को चुभाते हैं, तब यद्यपि एक के बाद ही दूसरे पत्ते में छेद होता होगा पर सुई ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्तों में छेद हो गया। इसके विरुद्ध पण्डितराज का कथन है कि हाँ, स्थायी-भाव असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य है, पर सब जगह नहीं, जहाँ प्रकरण स्पष्ट रहता है, वहाँ विभावादि-प्रतीति में विलम्ब नहीं होता और ‘सहृद्यों को ऐसा ही भान होता है कि एक साथ ही विभावादि तथा स्थायीभाव की प्रतीति हो गई, और जहाँ प्रकरण स्पष्ट नहीं रहता वहाँ तो विभावादि की प्रतीति में ही अति विलम्ब हो जाता है, फिर यहाँ कम लक्षित क्यों नहीं होगा? अर्थात् स्थायीभाव भी दोनों प्रकार के होते हैं, कहीं संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य और कहीं असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य, प्रकृत पद्य में प्रकरण स्पष्ट नहीं है अतः यहाँ का रतिरूप स्थायीभाव संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन का भी यही सिद्धान्त है।

अस्य प्राग्व्यप्रकारस्य स्वकपोलकल्पितत्वं परिहर्तुं प्राचीनमतसंवादं दर्शयति—

अनुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति ।

अनुमुत्तमोत्तमरूपम् । अभ्यासार्थकस्यापि, मनतेरुपसर्गयोगात् स्वीकारार्थकत्वम् । ध्वनिकारप्रभृतय इति शेषः । व्यङ्ग्यस्य वाच्यवाचकापेक्षया अधिक्यमरसराधायकत्वे ध्वनिकार-प्रभृतय प्राचीनान्चार्या यं ध्वनिमाचक्षते, [स एवायम्, न तु नूतन कश्चित् प्रकार इति भावः ।

वाक्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को प्राचीन आचार्य ध्वनि काव्य कहते हैं ।

अथ ‘निश्शेषच्युतचन्दनम्’ इत्यादिपद्यो ध्वनित्वस्यापनार्थमप्यध्यदीक्षितावलम्ब्यता व्याख्यानपद्धतिं वृण्वितुमुपपादयति—

यत्तु ‘चित्रमीमांसायामप्यध्यदीक्षितैः’ ‘निश्शेषच्युतचन्दनम्’ इति पद्य ध्वन्यु-दाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—‘उत्तरीयकर्पणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरि-हाराय निश्शेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोग-चिह्नोद्घाटनाय तदग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तत्र तु स्तनयोस्तट उपरिभाग एव दृश्यते, इयमार्लेपकृतैव ।

तथा ‘निर्मृष्टरागोऽधरः’ इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात् प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय ‘निर्मृष्टरागः’ इति रागस्य निश्शेषमृष्टतोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनाय ‘अधरः’ इति विशिष्य-ग्रहणम् । ‘उत्तरोष्ठे सरागोऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव ।’ इत्यादिना ‘इदमपि ध्वनेरुदाहरणम् ।’ इत्यन्तेन सन्दर्भेण ‘तटादिषट्तिता धाक्यार्थाः स्नानवशात्तृत्तिद्वारा सम्भोगाद्धानामार्लेपचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्य-ङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति ।’ इति ।

‘निरशेषच्युतचन्दनं स्तनतट निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनसने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

मिथ्यावादिनि । दूति । बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे

वापी स्नातुमिदो गताऽसि, न पुनस्तस्याधमस्यान्तिस्मृ ।”

इत्थं पूर्णं शरीरोऽमरुतकषट्कम् । नायकमानेर्तुं प्रहिता तमुपभुज्य समायातां
दूतीमुदिरय स्नानकार्यप्रकाशनद्वारा सम्भोगं प्रकाशयन्त्या विदग्धोत्तमनायिकाया लक्ष्मि-
रियम् । अयि । मिथ्यावादिनि । ‘मत्प्रसादनेनापि नायको नयात्’ इति मृगाभाषिणि ।
बान्धवजनस्य बान्धवो ‘शत्रुमित्रयोः’ इति हेमकौशाद् मट्टपस्य मित्रजनस्य अज्ञातः
स्वार्थान्धतयाऽविभाजित पीडाऽऽगमः’ यत्प्राप्तिर्मया, तदाभूते !, दूति । सन्देशहारिणि ।
(न तु रात्रि ! नापि यथार्थवादिनि । मत्प्रतारणादुत्थान्) इतो मदन्तिज्ञानं, स्नातुं
मलिलाग्रहादनं कर्तुम्, वापी दंष्ट्रिकम्, गताऽसि, अधमस्य नितरामनुदितावारणाचोचस्य,
तस्य नायकस्य, अन्तिकं समीपं तु पुनः, न गताऽसि । (यतः) ता स्तनयोर्दशोज्ज्वलाः,
तटं प्रान्तसमदेश उपरिभागे वा निरशेषं यथा स्यात् तथा च्युतं गलितं चन्दनं श्रीराजं
पुष्पं वा यतस्तादृशमस्ति । तथा—अधरो निम्नोष्ठः, निरशेषं यथा स्यात् तथा (न त्वीदम्)
मृष्टं प्रक्षालितो रागस्ताम्बूलसरकिम्बा यस्य, तादृशोऽस्ति । तथा—नेत्रे नयने, दूरं
प्रान्तभागेऽत्यन्तं वा अनजने कञ्जलरहिते स्तः । तथा—इयं पुरोलहरमाणा तनुर्देहयष्टिः
तन्वी (सद्यः स्नानात्) कोमला, पुलकिता जातरोमाया चास्तीत्यर्थः ।

उत्तरीयवसनसङ्घर्षणादपि स्तनयोश्चन्दनच्युतिः सम्भवतीति तत्परिहाराय—निरशेषे-
त्युक्तम् । तथा च निरशेषं चन्दनच्युतिः उत्तरीयवसनसङ्घर्षणात् सम्भवति, किन्तु सम्मर्दन-
बहुलात् सम्भोगादेव । तथाऽपि निरशेषचन्दनच्युते प्रक्षालनप्रधानात् स्नानादपि सम्भव
इति साक्ष्यं स्नानसाधारण्यं निवारयितुं-तदपहसुपात्तम् । तेन तु स्तनोपरिदेश एव चन्दन-
च्युतिः सम्भोगादेव न तु स्नानादिति सम्भोगस्य व्यञ्जनम् । एवं ताम्बूलमश्रुते विलम्बा-
दपि पूर्वरागस्य म्लानि सम्भवतीति-निरित्युत्कर्षं उपात्तम् । तथा च ताम्बूलमश्रुते विलम्बाद्
रागस्याधन्तम्लानिर्नोपपद्यते, अपि तु सम्भोगादेवाधरपानप्रधानात् ‘कामिनामधरास्यादः
सुरतादतिरिच्यते’ इति कामशास्त्रादुदाहरणम् । तथाऽपि रागात्यन्तम्लाने, स्नानादपि
सम्भोग इत्यसाधारण्यं सम्भोगप्रधानपदस्योपादानम् । तथा चोत्तरोष्ठस्य लुप्यनं कामशा-
स्त्रप्रतिभूलमित्यधरमात्रस्य रागात्यन्तम्लानि सम्भोगादेवेति तद्व्यञ्जनम् । आदिपदप्रतिपा-
द्यन्तु नेत्रसारजनात्यन्तराहित्यं ततोस्तानत्रं पुलकितत्वं च । तथा चाञ्जनप्रहणविलम्बात्
स्नानाच्च नेत्रयोः क्विदेवाञ्जनराहित्यं सम्भवति, न तत्पन्तमिति नेत्रयोरत्यन्ताञ्जनराहित्येन
सम्भोगमात्रजन्येन तद्व्याञ्जनम् । एवं ततोस्तानत्रं पुलकितत्वं च काश्यात् स्नानादपि किञ्चि-
देव सम्भवति, न तु अभूततरमोदशमित्येतत् सम्भोगमात्रजन्यमित्यतोऽपि तद्व्यञ्जनम् ।
दरशब्दस्यात्यन्तवाचकत्वं व्यक्तम्, आन्तमात्र इति तु मानसिकोऽर्थः । ‘तयादिप्रदिता’
इत्यादि ‘आचरन्ति’ इत्यन्तं वाच्यं निर्गलितार्थबोधकम् । वाक्यार्था निरशेषेत्यादीनां
विशेषणवाक्यानामर्थः । आदिपदेन सुरतसम्मर्दवृत्तिः । प्रधानव्यञ्ज्य सम्भोगः साहाय्यं
सहायस्य कर्म-उपकरणम् ।

स्नानात् सम्भोगाच्च सम्भविनेऽपि स्वचन्दनच्युतिप्रवृत्तिपदार्थं निरादिशम्भोग-
सम्बन्धमहिम्ना सम्भोगमात्रजन्यत्वेन प्रकाशयमाना प्रतिपादगम्यमाद्येनाभगपदार्थनोप-

स्त्रियमाणा. प्राधान्येन सम्भोगमेवात्मगमयन्त. ध्वन्यस्य ध्वनित्वं सम्पादयन्तीत्याकृतम् ।

प्रसिद्ध आलङ्कारिक 'अप्ययदीक्षित' ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने निबन्धन में 'नि शेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण माना है और उसमें ध्वनिकाव्यता की सिद्धि करने के लिये उस पद्य की व्याख्या अपने ढङ्ग से की है, परन्तु उनकी व्याख्या 'पण्डितराज' को अभिमत नहीं, अतः 'पण्डितराज' 'दीक्षित' के मत का खण्डन करने के लिये पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—'यद्य' इत्यादि । किसी विरहिणी नायिका ने एक दूती को दूर स्थित अपने प्रियतम को बुला छाने के लिये भेजा, किन्तु वह दूती स्वयम् उससे सम्भोग करके छोट आई और नायिका के पास आकर झुंझूट बात बनाने लगी कि—'तुम्हारा नायक लाख अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आया' इत्यादि । अतः नायिका को असल बात समझ में आ गई, परन्तु वह उस बात को स्पष्ट कैसे कहे, अतः उस नायिका ने स्नान साधारण वाक्यार्थों के द्वारा उस बात को व्यक्त किया, इसी प्रसङ्ग पर 'नि.शेषच्युतचन्दनम्' यह पद्य 'अमरशतक' में कहा गया है, (सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में देरमा चाहिये) अर्थ इसका यह है कि—हे झूठ बोलने वाली दूती ! तू अपने बान्धव की (मेरी) पीड़ा को नहीं समझ सकी—उसके दिल में जो वेदना है—उसको नहीं जान सकी, अतएव तू उस अधम (नायक) के पास न आकर वावड़ी महाने चली गई । यह बात तेरी चेष्टाओं से स्पष्ट सूचित हो रही है, देखो, तेरे स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है, नीचे के होठ की छाली (ताम्बूलकृत) बिलकुल नष्ट हो गई है, नेत्र अत्यन्त अशुभ रहित हो गए हैं और चुम्बल यह तेरा घरीर रोमाञ्चयुक्त हो उठा है यह तो हुई इस पद्य की सामान्य व्याख्या, अब 'दीक्षित' की विधिष्ट व्याख्या सुनिये—उनका कथन है कि 'स्तनों का चन्दन वस्त्र के सहर्ष से भी मिट सकता है, सो नहीं समझा जाय इसलिये नायिका के मिटने का विशेषण 'सर्वथा' कहा, जिससे यह सूचित होता है कि चन्दन का सर्वथा मिट जाना मर्दन के बिना वस्त्र के सहर्ष मात्र से सम्भव नहीं । इसी तरह स्नान से भी चन्दन को मिटने की सम्भावना थी, उस सम्भावना को दूर करने के लिये चन्दन का विशेषण 'ऊपर भाग का' कहा, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्नान से यह नहीं हुआ है क्योंकि स्नान से जब चम्बल मिटेगा, तब समग्र स्थान का, पर तब चन्दन तो स्तन के ऊपरी भाग में ही मिटा है ऐसा आलिङ्गन से ही हो सकता है । इसी प्रकार ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने से भी होठ की छाली नष्ट हो जा सकती है, परन्तु यहाँ सो नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये ताम्बूल नाश का विशेषण 'बिलकुल' कहा, अर्थात् ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने पर भी होठ की छाली बिलकुल नष्ट नहीं हो सकती, अलगसे कुछ फीकी हो जाय, इसी तरह स्नान से भी यह छाली नष्ट नहीं हुई है इस बात को सूचित करने के लिये 'अपर' पद कह दिया, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह छाली का विनाश चुम्बन से ही हुआ है स्नान से नहीं क्योंकि स्नान से यदि छाली नष्ट होती तो ऊपर तथा नीचे दोनों ही होठों की, न केवल निचले होठ की ही, चुम्बन से तो ऐसा सम्भव है, क्योंकि ऊपरी होठ का चुम्बन कामशास्त्र में निषिद्ध है । यहाँ से लेकर 'यद्य भी ध्वनि का उदाहरण है' यहाँ तक के सन्दर्भ से 'दीक्षित' ने यह सिद्ध किया है कि 'ऊपर भाग' आदि पदों से युक्त उक्त वाक्यों के जो अर्थ हैं, वे सम्भोग के अङ्ग—आलिङ्गन, चुम्बन आदि के व्यञ्जन या प्रतिपादन के द्वारा मुख्य व्यङ्ग्य (सम्भोग) की अभिव्यक्ति करने में साहाय्य प्रदान करते हैं । सारांश यह है कि इस तरह की उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूती के अङ्गों में परिलक्षित होने वाले ये विकार नायक के साथ किये गये सम्भोग से ही उत्पन्न हुए हैं, दूसरे किसी तरीके से नहीं ।

खण्डयति—

तदेतदलङ्कारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम्, प्राचीनसकलमन्यविद्वत्तत्त्वाहु-
पपत्तिविरोधाय ।

उपपत्तिर्युक्तिरौचित्यनर्णान्तरम् ।

अथ पण्डित राम 'दीक्षित' कृत पूर्वोक्त विवेचन का खण्डन करते हैं—'तदेतदलङ्कार' इत्यादि । 'दीक्षित' का उक्त विवेचन जनमिज्ञता का सूचक है, अर्थात् ये अलङ्कार शास्त्रों के मर्म को नहीं समझते, अतः वैसा कहते हैं, क्योंकि उनका उक्त विवेचन प्राचीन सब ग्रन्थों से तथा युक्तियों से विरुद्ध है ।

प्राचीनग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य सन्दर्भं विरोधं दर्शयितुमुपन्यस्यति—

तथाहि पञ्चमोऽङ्गासशेषे—'निरशेषेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनचयवनादी-
न्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्ता-
नीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि ।' इति काव्यप्रकाशकृतोक्तम् ।

गमकतया—अनुमितिहेतुत्वेन । कारणान्तरतोऽपि—स्नानरूपकारणादपि । उपभोग
एव प्रतियोगानि—भवदभिमतो वृत्तीकर्तृकसम्भोगरूपसाध्यव्याप्यानि । अनैकान्तिकानि—स्नान-
साधारण्येन व्यभिचारितानि । अस्मिन्नेव पक्षे स्नानजन्यत्वेनोपादीयमानत्वाच्चन्दनचयुतिर्हि
सम्भोगात् स्नानाच्च सम्भवन्ती न सम्भोगव्याप्या, तस्मान् इतस्तथा व्यभिचारिण्या सम्भो-
गोऽनुभातुं शक्य इति सम्भोगावगमनाय व्यजनाशक्तिरभ्युपेयैवेति तदग्रन्यासम् ।

चन्दनचयवनादीनां सम्भोगव्यभिचारित्वं प्रतिपादयतामुना ग्रन्थेन सह सम्भोगव्याप्यत्वं
प्रतिपादयतो दर्शितचित्रमोमामाग्रन्यस्य विरोधः स्फुटोऽवधारणीयः ।

प्राचीन ग्रन्थ से विरोध दितलाने के लिये 'काव्यप्रकाश' का उद्धरण देते हैं—
'तथाहि पञ्चमोऽङ्गासशेषे' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'प्रकृत (निरशेषेत्युत इत्यादि)
श्लोक में जो सम्भोगरूप अर्थ व्यङ्ग्य माना जाता है, उसके ज्ञान के लिये व्यजनावृत्ति की
आवश्यकता नहीं है, अनुमान से ही उस अर्थ का ज्ञान हो जा सकता है' इस मत के
समर्थन प्रसङ्ग में मम्मट कहते हैं कि सम्भोग का ज्ञान अनुपपन्न से तब होता, यदि श्लोक में
उक्त चन्दनचयुति प्रभृति सम्भोग व्याप्य होते—अर्थात् सम्भोग से ही वे सब (चन्दन-
चयुति आदि) होने वाले रहते, सो तो है नहीं, क्योंकि सम्भोग से अतिरिक्त कारणों से भी
वे हो सकते हैं, जैसे इसी पक्ष में उनको स्नानरूप कारण का कार्य कहा गया है, इसलिये
चन्दनचयुति पौरुष सम्भोग के व्यभिचारी (उसके बिना भी होने वाले) हैं, अतः उन
हेतुओं से सम्भोग की अनुमिति नहीं हो सकती । यहाँ इस सन्दर्भ को उद्धृत करने
का तात्पर्य है कि मम्मट चन्दनचयुति प्रभृति को सम्भोग, स्नान आदि अनेक कारणों
से होने वाला साधारण पदार्थ मानते हैं और आप (दीक्षित) बताते हैं, उसको
सम्भोग मात्र से होने वाला असाधारण पदार्थ । अतः मम्मट के ग्रन्थ से आपका
विवेचन विरुद्ध हुआ ।

काव्यप्रकाशस्यैव पुनः स्थलान्तरं विरोधप्रकाशनायमुपाददाति—

तथा तत्रैव तेन—

'भम धम्मिअ । वीसत्यो सो सुणओ अज्ज मरिओ देण ।

गोलाणइकच्छनिक्कुडंगयासिणा दरिअसीदेण ॥'

इत्यादी लिङ्गजलिङ्गिज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्तिगतार्थयतो व्यक्तिविवेक-
कृतो मतं प्रत्याचक्षणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च सन्दिह्यमानादपि लिङ्गाद्
व्यञ्जनमभ्युपगताम् ।

तत्रैव—काव्यप्रकाशपद्यमोन्वासा एव । तेन—मम्मटग्रन्थेन—

भम धम्मिक । विश्वस्त स शुनवोऽय मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छनिक्कुडंगयासिणा दत्तसिदेन ॥' इति सस्कृतच्छाया ।

पुष्पावचयाय स्वसङ्केतनिकेतनीभूतगोदावरीतीरनिकुञ्जं प्रति प्रयाणाभिमुखस्य कस्यचित् स्वरहस्यप्रकाशराश्या घारणाय कस्याधन पुंश्रल्या भणितिरियम् । धार्मिक । हे धर्मात्मन । विश्वस्त' सदिश्वास स्वैरमिति यावत् , न ॥ प्राग्वत् सन्नासम् , भ्रम कुसुमान्यवचेतुं (मद्गृहपरिसरे न तु गोदावरीतीरे) सधर । यत् स त्वत्प्राप्त्यहिकत्रासस्य हेतुतया प्रसिद्धः शुनकश्च कुशकुलः, अथ—अस्मिन्नहनि तेन दुर्दान्ततया सर्वत्र प्रसिद्धेन, प्रायस्त्वया केवलमज्ञातेन, गोदानया गोदावरीसरितः, कच्छनिकुञ्जे तीरस्थलतामण्डपे, वासिना सार्वदिकनिवसनशीलेन, न त्वक्स्मादागत्येन, एतेन प्रसह्य जीवजीवनापहरणदर्पोद्धतेन, सिंहेन कैसरिणा, मारितो हत इत्यर्थः । जघनविपुला छन्दः ।

अत्र शासकारणीभूतस्य शुनो विनाशोपन्यासेन धार्मिकस्य गृहपरिसरे । भ्रमणविधानं वाच्यम् । शुनोऽपि भीरोस्तस्य गोदावरीतीरनिकुञ्जे सिंहसङ्क्रान्तप्रतिपादनेन भ्रमणनिषेधस्तु दस्तुरूप पुंश्रल्या दक्षिणा वैशिष्ट्येन व्यङ्ग्य । विशेषविचारस्तस्मदीयचन्यालोकदोधिता-
वालौचनीयः ।

लिङ्गं पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टोऽनुमानस्य हेतुः, तज्जन्य बल्लि-
ङ्गिनः साप्यस्य ज्ञानं, तदेवमुमानम् । व्यक्तिर्व्यञ्जना । व्यक्तिविवेककृतस्तार्किकमतानुया-
यिनो महिमभक्ष्यः । प्रत्यावक्षायणेन खण्ड्यता । अभ्युपगतमश्लीलतम् । तेनेत्यभ्युपगत-
मित्यनेन सम्बद्धम् ।

अयमाशयः—'गोदावरीतीरनिकुञ्जं श्वभीहभ्रमणायोग्यम् , सिंहवत्त्वात्' इत्यनुमितिरे-
वात्र भ्रमणनिषेधलक्षण व्यङ्ग्य गोचरयितुमलम् , कृत व्यञ्जनाया स्वीकारेणेति महिममदृश्य
मत्तं काव्यप्रकाशकारस्तादृशहेतोर्व्यभिचारित्वमसिद्धत्वं च प्रदर्शयितुं शक्यम् । तथाहि—कचि-
द्वार्मिकत्वेन स्पर्शदोषाच्छुनो भीरोरपि बीरस्वभावस्य शुन-प्रभुनिवेश-त्रिषाऽनुराग-निधि-
लाभसम्भाषनाऽऽदिपारवश्येन सिंहाधिष्ठानेऽपि स्थाने गमनस्य दर्शनादितौ व्यभिचारः, तत्र
सिंहसङ्क्रान्तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धत्वेन पुंश्रल्युच्चारितत्वादप्रमाणीभूततादृशवाक्यमात्रवे-
द्यतया वासिद्धत्वमिति द्विधा दुष्टेन हेतुनाऽनुमिते सर्वथाऽसम्भवः । व्यञ्जनापक्षे तु व्यभि-
चारिणः सन्देहयोगोऽपि हेतोर्निर्वाचो व्यङ्ग्यार्थावगमः, तत्र व्याप्त्याद्यनुसन्धानानपेक्ष-
णात् । तथा च प्रकृते हेतोर्व्यभिचारित्वप्रदर्शनप्रयासात् काव्यप्रकारेण सह विरोधः स्फुट
एव बोध्यः ।

प्राचीन ग्रन्थ से 'दीक्षित' मत में पढ़ने वाले विरोध को दृढ़ करने के लिये पुनः
काव्यप्रकाश के ही दूसरे स्थल को उद्धृत करते हैं—'तथा तत्रैव तेन' इत्यादि । 'भ्रमभ्रमिभ्र !'
इत्यादि श्लोक संलघय क्रमशः (नस्तुव्यङ्ग्य) का उदाहरण है । किसी व्यभिचारिणी
नायिका ने गोदावरी नदी के तटवर्ती किसी कुञ्ज को अपना सङ्केत स्थान बना रखा था,
परन्तु कोई एक धार्मिक पुरुष वहाँ नित्य पुष्प चुनने के लिये जाया करता था, अतः उस
व्यभिचारिणी ने अपने स्वैर विहार में बाधा पड़ती देख कर उस धार्मिक से कहा—हे
धर्म भुरगधर ! अब आप विश्वास पूर्वक (न कि पहले जैसे करते हुए) धूम्रिये (फूल
चुनने के लिये मेरे घर के अगल-बगल न कि गोदावरी तट पर फिरते रहिये) क्योंकि
जिस कुत्ते का भय बराबर बना रहता था, उसको गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश की
झाड़ी में बसने वाले (न कि अकस्मात् आये हुये) भक्त सिंह ने मार डाला । सारांश
यह है कि घर के पास कुत्ते से भी डरने वाले पण्डितजी ! अब आप घोंसे से भी गोदा के
कुञ्ज में मत जाइये, क्योंकि वहाँ सिंह रहता है, यदि जाने का झुस्साहस कीजियेगा, तो
माणों से हाथ धोना पड़ेगा । इस तरह से वहाँ भ्रमण का विधान (धूम्रिये) वाच्य है और

अमण-निषेध (मत धूमो) व्यङ्ग्य, यह व्यञ्जनावादी का मत है, परन्तु लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का ज्ञान—जो अनुमान है—उससे व्यञ्जना को गतार्थ (व्यर्थ) करने वाले व्यक्ति विवेककार महिममदृ का कथन है कि यहाँ अमण निषेध का ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना का स्वीकार व्यर्थ है, क्योंकि 'गोदावरी कटवती कुञ्ज कुत्तों से डरने वालों के अमण करने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सिंह है' इस अनुमान से ही उसका (अमण निषेध का) ज्ञान हो ही जायगा । व्यक्ति विवेककार के इस मत के खण्डन के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि उक्त अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ के हेतु (सिंह का रहना) में व्यभिचारित्व-अव्यगामित्व तथा असिद्धत्व का सन्देह है अर्थात् स्वर्ण दोष से बचने वाला धार्मिक यदि धीर हो तो कुत्ते से डरकर भी सिंह से नहीं डरेगा । अथवा डरते रहने पर भी गुरु अथवा प्रभु की आज्ञा, प्रेयसी के अनुराग तथा निधि लाभ की आशा से सिंह युक्त स्थान में भी जा सकती है, इसलिये उक्त हेतु में व्यभिचारित्व (अमणभाव रूप साध्यरहित पक्ष रहने का) सन्देह है और 'गोदावरी तट पर सिंह है' हमका निर्गन्ध कैसे होगा ? स्वयं तो उस धार्मिक ने देखा नहीं, पुण्डरी नायिका का कथन तो प्रमाण नहीं हो सकता, वह झूठ कहती हो ऐसा भी सम्भव है, अतः उक्त हेतु में अनिश्चि का संशय है, यदि आप पूछें कि व्यञ्जनावादीयों को भी तो 'सिंह है' इस वक्ति से ही अमण निषेध का ज्ञान होता है, सा कैसे ? हमका उत्तर यह है कि व्यञ्जनावादीयों को 'सिंह है' यह वक्ति सत्य है किंवा मिथ्या इस बात की खोज नहीं करनी पड़ती, क्योंकि व्यङ्ग्यकरण में व्यञ्जक का सत्य होना असाधारण (अव्यभिचारी) होना आवश्यक नहीं माना गया है और अनुमान में हेतु का वैसा होना आवश्यक माना गया है । अब स्पष्ट हो गया कि सन्दिग्ध तथा साधारण व्यञ्जक से भी व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाले इस प्रकाश ग्रन्थ से असन्दिग्ध तथा असाधारण व्यञ्जक से ही अव्यक्तिक का समर्थन करने वाला दीक्षित ग्रन्थ विरुद्ध है ।

विरोधे ध्वनिकर्तुरपि मतसंवादं दर्शयति—

इत्थमेव च ध्वनिकृताऽपि प्रथमोद्घोते ।

अभ्युपगतमिति ध्वन्यालोक इति च शेषः ।

वाच्य-व्याख्ययोः स्वरूपभेदप्रदर्शनप्रसङ्गेन ध्वनिसरोऽप्यत्र व्यभिचारसिद्धिद्विप्लवतादपि सिंहसद्भावरूपादेतोर्व्यङ्ग्यस्य अमणनिषेधस्यावगमं स्वीचकारेति तदपि हेतोरव्यभिचारित्वसम्पादकेनाप्यवदोषितस्य प्रकृतप्रयासेन विरुद्धमेवेत्यभिमतम् ।

द्विती प्रकार ध्वन्यालोककार राजावक 'आनन्दपर्यवाचार्य' ने भी ध्वन्यालोक का प्रथम उद्घोत में कहा है, अर्थात् उन्होंने भी 'अमणमिमम' इस पक्ष में साधारण तथा सन्दिग्ध व्यञ्जक व्यङ्ग्य का होना स्वीकार किया है, अतः ध्वन्यालोक ग्रन्थ से भी दीक्षित के उक्त विवेचन विरुद्ध होता है ।

तदेवाचष्टे—

एवं च व्यञ्जकानां साधारण्यं प्रतिपादयतां प्रामाणिकानां ग्रन्थैः सहासाधारण्यं प्रतिपादयतस्तत्र ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः ।

एवमुक्तप्रकारेण । व्यञ्जकानां चन्दनच्यवनादीनाम् । साधारण्यं व्याख्या व्याप्यत्वं व्यभिचारित्वमिति यावत् । ग्रन्थैः कव्यप्रकाशादिभिः । तत्र ग्रन्थस्य चित्रमीमांसायाः ।

प्रामाणिक-प्राचोनग्रन्थेषु व्यभिचारिणाऽपि हेतुना व्यङ्ग्यस्य प्रतीति प्रतिपादिता, तथा पुनः प्रकृते व्यञ्जकहेतुना व्यवभिचारित्वसम्पत्तये गृहीयान् प्रयासः कियत इत्येतत् सर्वथा प्राचीनपथप्रतिकूलत्वादप्राप्ताभित्योपेक्षणायमेव स्यादितिसारम् ।

इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यञ्जक चन्दनच्युति आदि की साधारणता (व्यङ्ग्य तथा तदतिरिक्त वस्तुओं से सम्बन्ध रचना) के प्रतिपादन करने वाले प्रकाशकार

आदिके ग्रन्थों से व्यञ्जक की असाधारणता (व्यङ्ग्यमात्र से सम्यन्ध रक्षना) का प्रतिपादक अल्पव्य दीर्घित का ग्रन्थ विरह अवश्य है।

ननु व्यञ्जकाना साधारण्येऽपि व्यञ्जनमभ्युपगच्छद्भिः प्राचीनग्रन्थकारैरसाधारण्ये तेषां तदुत्तरामभ्युपगतमेवेति व्यञ्जकासाधारण्य एव व्यञ्जनं प्रतिपादयतो मद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थे सह नास्ति निरोध इत्यतोऽहचेरुपपत्तिविरोधलक्षणं दूषणान्तरं क्रमेणोपपादयति—

‘किञ्च यदिदं निश्शेषेत्याद्यन्तरवाक्यार्थानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण व्यङ्ग्यसाधारण्यं सम्पाद्यते, तत् किमर्थमिति पृच्छामः। व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनार्थमिति चेत्, न, व्यञ्जकगतासाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपायत्वात्।

अवान्तरवाक्यानि श्लोकरूपमहावाक्यघटकानि निश्शेषेत्यादिवाक्यानि, तेषामर्थानि निश्शेषचन्दनच्यवनादयः। व्यावृत्तिर्व्यञ्जकच्छेद इत्यनर्थान्तरम्। सम्पाद्यते प्रियते त्वयेति शेषः। व्यङ्ग्यस्य सम्भोगस्य। उपायत्वं प्रयोजकता।

व्यञ्जकाना वाक्यार्थानामव्यभिचारिस्वसम्पादनार्थमियानयं प्रयासस्तथाऽपि विफल, व्यभिचारिभिरपि तैर्व्यञ्जनस्य शतशोऽनुभवादिति भावः।

यदि आप कहें कि जब साधारण व्यञ्जक से भी व्यङ्ग्य का होना प्रकाशकार भादि प्राचीन आचार्यों को अभिमत है, तब असाधारण व्यञ्जक से उसका होना तो सुतराम् उन लोगों का अभिमत सिद्ध होता है, फिर तो असाधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य का होना (जो दीर्घित का अभिप्राय है) विरह नहीं होता। अतः अथ पण्डितराज युक्तिविरोध दिखलाते हैं—‘किञ्च यदिदम्’ इत्यादि। पण्डितराज दीर्घितजी से पूछते हैं कि आप जो ‘ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है’ इत्यादि बीच के वाक्यों के अर्थों को वापी ज्ञान में संकृत नहीं होने वाले बता कर केवल व्यङ्ग्य (सम्भोग) के ही संकृत होने वाले (असाधारण) रक्ताते हैं, सो क्यों? व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति हो सके इसलिये? यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि व्यञ्जक का असाधारण होना अर्थात् व्यञ्जक वस्तु व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखे और किसीसे नहीं, इस बात का होना आवश्यक नहीं है।

देव व्यभिचारस्फुल्लमुदाहरति—

‘औरिणहं दोम्बल्लं चिंता अलससंतर्णं सणीससिअम्।

महं मदभाङ्गीणं केरं सहि। सुहं वि परिभवइ ॥’

‘औरिणहं दोम्बल्लं चिन्ताऽलसत्वं सनिश्चसितम्।

मम मन्दभागिन्या कृते सखि। त्वामपि परिभवति ॥’ इति संस्कृतच्छाया।

कामुकान्तिके प्रदिता स्वयमेव तमुपभुज्य तद्वियोगेन व्याकुलीभवन्ती सखी प्रति विदित-सकलरहस्याया कस्याश्चन नायिकाया उक्तिरियम्। अपि सखि! मन्द-शोभनफलाङ्गि-कृष्टधासौ भागो भागधेयमस्त्यस्यामिति मन्दभागिनी हीनभावात्, तस्या मम कृते मदर्यम्, औजिद्रथं निद्राराहित्यं प्रजागर इति यावत्, दोम्बल्लं दुर्बलता, चिन्ता विषयानुप्यानम्, सनिश्चसितं निश्चयाससहितम्, अलसत्वमालस्यं च त्वामपि परिभवति पीडयतीत्यर्थः।

तथा च ‘अर्थे कृतेऽप्ययं तावत् सादर्यै-वर्तते द्वयम्’ इति वंशसार, ‘भागो रूपार्थके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयो’ इति विश्व। ‘आर्या छन्दः। काव्यप्रकाशसम्भते पाठे चतुर्थ-चरणोऽहहेत्यधिकशब्दसमावेशेन मात्रात्रयाधिक्याद् गीतिरछन्दः’।

‘व्यञ्जक का असाधारण होना आवश्यक नहीं है’ इसको पुष्ट करने के लिये उस तरह का उदाहरण दितलाते हैं, जहाँ साधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य हुआ है—‘औरिणहं’ इत्यादि। नायक से स्वयं सम्भोग करके आई हुई दूती की चेष्टाओं को देख कर उससे नायिका

कहती है—हे सखि ! मुझ जमागी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, थालस्य और दम फूलना, ये सब पीड़ा दे रहे हैं अर्थात् मेरा दुर्भाग्य ऐसा प्रयत्न है जिससे मैं स्वयं तो दुःख भोग ही रही हूँ, साथ-साथ मेरे लिये तुझे भी कष्ट भोगना पड़ता है ।

प्रकृतोपादानमुपपादयति—

इत्यादी साधारणानामेवोन्निद्रादीनां चक्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यञ्ज-
कताया अभ्युपगतेः ।

आदिमेनादिपदेन दौर्बल्यप्रभृतीनां द्वितीयेन च प्रतिपाद्याया रक्षया संप्रह । अर्थविशेष-
कामुकोपभोग ।

अत्रौन्निद्रादीनां रोगान् प्रब्रतमवियोगाच्चापि सम्भव इति रोग-वियोगोभयसापा-
रणस्येऽपि वक्ष्या इतरहस्याया निवृत्ततर्जनपरमया नायिकाया, प्रतिपाद्याया पूर्वमनेकदा
दृष्टदुष्टचेष्टाया सख्यश्च वैशिष्ट्यपात् तत्सामुकोपभोगो व्यज्यत इत्याचार्यैरज्ञोक्तम् । तच्चौ-
न्निद्रादीनां व्यञ्जकनामसाधारण्यविरहादसङ्गत स्यादित्यसाधारण्यस्य व्यञ्जनागुपयोगित्वं
निर्वायत इत्याशयः ।

यहाँ जागरण आदि व्यञ्जक पदार्थ सर्वथा साधारण हैं, अर्थात् सम्मोग, वियोग, रोग
प्रभृति कतिपय कारणों से हो सकते हैं, फिर भी इन (जागरण आदि) व्यञ्जकों से दूती
का सम्मोग व्यङ्ग्य होता है, ऐसा सभी आचार्यों ने माना है । यद्यपि आप यहाँ यह प्रश्न
उठा सकते हैं कि भाई ! जब जागरण आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो सम्मोग, वियोग, रोग
सदृश हो सकते हैं, तब उनसे सम्मोग ही क्यों व्यङ्ग्य हुआ ? इसका समाधान यह है
कि थोड़ने वाली नायिका और प्रतिपाद्य दूती में कुछ ऐसी विलक्षणता है, जिस पर गौर
करने से सहृदयों के मन में सम्मोगरूप अर्थ अभिव्यक्त हो उठता है । अर्थात् कहने वाली
नायिका का मुख तमवमाया सा है, वाणी स्पष्ट है, जो समवेदनासूचक नहीं हो सकती
इसी तरह दूती के मुख पर भय की छाया है, उसकी दुष्ट चेष्टाएँ अनेक बार पहले पकड़ी
जा चुकी हैं, इन सब विलक्षणताओं पर ध्यान देने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि दूती
अपराधीनी है और नायिका उसे प्रहृष्टप्रसन्न से तर्जना दे रही है । इतना समझ लेने पर
दूती के (नायिका के पति के साथ) सम्मोगरूप अपराध को समझने में किसी सहृदय
को विलम्ब कैसे हो सकता है ? इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक का असाधारण
होना व्यङ्ग्य होने का उपाय नहीं है, किन्तु वक्ता और प्रतिपाद्य का वैशिष्ट्य ही
उसका नियामक है ।

नन्वसाधारण्यस्य व्यञ्जनागुपयोगित्वेऽपि क्वचित्पुनस्तस्य सति तर्गने कथं कथम-
सङ्गतमित्यरुचेर्दोषान्तरमाह—

प्रत्युत्सासाधारण्यस्य न्याय्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिभूलत्वाच्च ।

प्रत्युत्पत्तौ परीत्यार्थकमव्ययम् । व्यप्यत्वेनाभिमतस्य व्यापकाभावाधिकरणारित्वं
न्यासि । यदि व्यञ्जकानामपि हेतूनामनुमितिहेतुवद् व्याप्यत्वरूपमसाधारण्यं कथमपि भवेत्,
तर्हि ततो व्यङ्ग्यस्य सुतरामनुमितेरेव स्यात्, तथाच व्यञ्जनाया आनर्थन्यमिति व्यञ्जका-
साधारण्यप्रतिपादनस्य व्यञ्जनेच्छेदलक्षणं विपरीतमेव फलमापद्येत, तस्मान्नासाधारण्यं व्यञ्ज-
कानामुचितमित्यभिहितम् ।

यदि आप कहें कि सर्वत्र असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी गले दी न हो परन्तु
स्थलविशेष में अगर व्यञ्जक असाधारण हो तो उसका प्रतिपादन असङ्गत क्यों होगा ?
इसी अर्थचि को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार दोषान्तर का उल्लेख करते हैं—'दण्ड' इत्यादि
कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं भी असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी नहीं हो सकता,

अपित् प्रतिकूल ही होगा, क्योंकि असाधारण्य अर्थात् व्यञ्जक अर्थ का व्यङ्ग्य अर्थ मात्र से सम्बन्ध रखना व्याप्तिरूप ही सिद्ध होगा, फिर वो उस व्याप्ति से विशिष्ट, व्यञ्जक-रूप हित से व्यङ्ग्य का अनुमान ही हो सकता है व्यञ्जन नहीं, सारांश यह कि इस प्रकार मानने पर व्यञ्जनावृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा जो व्यञ्जनावृत्ति ही कहते को भी अभिमत नहीं हो सकता है ।

व्यञ्जनासाधारण्यं पुनरपरया निराकरोति—

अथ तटादिषट्ति तत्त्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, सलिल-
सार्द्रवसनकरणकप्रोच्छन्नादिनाऽपि तत्सम्भवादिति चेत्, तर्हि वापीस्नानव्यावर्त-
नेन कः पुरुषार्थः ? एकग्रनैकान्तिकत्वस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया
अनुमितिप्रतिकूलत्वाद् व्यक्त्यप्रतिकूलत्वाच्च ।

प्रथम आदिराष्टोऽभररागमस्तान्यतिराशीन्, द्वितीयरतु जलविन्दुपातादीन् राष्ट्रताति ।
सलिलेनार्द्रं क्लृप्तं यद्बसनं, तत्करणं यस्य यत्र वा, तत्तादृशं प्रोच्छन्नं वक्ष = प्रवृत्त्यर्थान् ।
'वापीस्नानव्यावर्तनेत्यत आह 'तटाद्युपादानात्' इति शेषः । पुरुषार्थं पुरुषोद्यमफलम् ।
व्यभिचारस्य तथाऽपि जागरूकत्वं फलभावे हेतुः । 'ज्ञाताया' इत्यत्र 'ज्ञाताया' इति पाठस्तु
कस्यचिन्नित्य एव व्यभिचारस्य ज्ञातस्थैव (न तु स्वरूपसत) व्याप्तिप्रहविषटकतयाऽनु-
मितिप्रतिबन्धकत्वात् ।

तटाद्युपादानेन वापीस्नानं व्यावर्त्य निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां कामुकोपभोगसाधारण्य
सन्निपादयितस्तत्त्वामीष्टसिद्धिर्दुर्घटैव, तेषां स्तनतटात्यन्तचन्दनचयवनादीनामार्द्रवसनकर-
णकप्रोच्छन्नादिभिरपि जननसम्भवात् कामुकोपभोगमात्रजन्यत्ववैयर्थ्येण व्यभिचारस्य जागरू-
कतयाऽसाधारण्यस्य प्रतिष्ठानासम्भवान् । इत्थं च यथाऽनेकेषु स्थलेषु, तथा कुत्रचिदेकप्रापि
स्थले दृष्टोऽपि व्यभिचारोऽनुमिते प्रतिबन्धक इतीह हेतोर्व्यभिचारितया त्वन्मते व्यङ्ग्य-
बोधविरह एवापद्येत । मन्मते तु वैयञ्जनिकबोधे हेतुसाधारण्यस्याप्रतिबन्धकत्वाच्च क्षति-
रिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि 'नि शेषस्तुतचन्दनम्' इस पद्य में 'उपरिभागवाचक तट आदि
पर्वों से रचित वाक्वों का अर्थ यद्यपि ऐसा है जो स्नान प्रवृत्ति में नहीं लग सकते, तथापि
वे असाधारण नहीं हैं अर्थात् सम्भोगमात्र से होने वाले नहीं हैं, क्योंकि गीले कपड़े से
पोंछे देने पर भी सर्वथा ऊपर भाग मात्र का चन्दन मिट सकता है, और जब वे असाधारण
नहीं होंगे, तब अनुमान की बात ठट नहीं सकती, इसके उत्तर में हम प्रश्नकर्ता से यह
पूछना चाहेंगे कि जब आप 'ऊपरभाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि व्यञ्जक
वाक्यार्थ को असाधारण नहीं बनाना चाहते अर्थात् गीले कपड़े से पोंछने पर भी होने
वाले ही मानते हैं, तब वापी स्नान से वे नहीं हो सकते ऐसा कहकर क्या छान डठाये ?
क्योंकि जैसे एक स्थान पर व्यभिचारित होना, सम्भोग से भिन्न कारण से सम्बन्ध रखना,
अनुमान के प्रतिकूल और व्यञ्जन के अनुकूल है, वैसे ही अनेक स्थानों पर व्यभिचारित
होना भी । अतः चन्दन मिटने का सम्बन्ध सबसे रहने दीजिये, किसी से उसके सम्बन्ध
को विच्छिन्न करने का प्रयास व्यर्थ है ।

नन्विद्वैव श्लोके 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽमीति प्राधान्येनाद्यमपदेन व्यज्यते' इत्येव-
कारपटितवाक्यमुल्लिखन्निर्मममटमैर्यदेव व्यञ्जकानामसाधारण्यं सूचितम्, तदेव गयाऽपि
वापीस्नानव्यावर्तनगुणेनोक्तम्, न तु नूतनं किञ्चिदिति मनसिकृत्याभिधत्ते—

अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति व्यङ्ग्यशरीरे तदन्तिकगमनं
रमणरूपफलाशयेति द्वयं घटकम् । तत्र तावत् तदन्तिक गताऽसीत्यंशस्य त्वन्मते

व्यङ्ग्यत्वं दुरूपपादम्, त्वदुक्तीत्या विशेषणवाक्यार्थानां निरशेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वान् वाच्यकृत्वागतप्रधानवाक्यार्थभूतविधि-निषेधप्रतिपादकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणा निषेधस्य विषेध प्रतीतेरुपपत्तेः ।

अपि चेति सख्यप्रशङ्गान्तरत्वसूचकम् । शरीरनाशः स्वरूपमिति नावत् । घटकं तदन्तर्वात । तन्मत इत्यनेन स्वमते तद्व्यङ्ग्यतायाः सुपपादत्वं सूच्यते । त्वदुक्तीत्या विशेषणवाक्यार्थानां तदादिपादितत्वेन सम्भोगासाधारण्यनित्येवंरूपया । वापीस्नाने तेषां बाधितत्वं सम्भोगासाधारण्यस्यैव । वाच्यकृत्वागतप्रधानवाक्यार्थभूतौ 'वापीस्नानुनितो गताऽसि' 'तस्याघनस्यान्तिकं पुनर्न गताऽसि' इति वाक्यार्थयोः कृतेन प्रवानीभूतौ यौ विधि-निषेधौ, तयोः प्रतिपादकभ्यां बोधकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणा 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादिवद्वैपरीत्यलक्षणसम्बन्ध-मूलकलक्षणलक्षणा, अनेन (गतेत्यनेन) निषेधस्य (न गतेत्यनेन) विषेध प्रतीतिरिति सम्बन्धः ।

यदि त्वदभिमत निरशेषेत्यादिवाक्यार्थानां सम्भोगनाशजन्यत्वं स्यात्, तदा वापीस्नानजन्यत्वाभावात् तत्र तेषां बाधितत्वमिति विपरीतलक्षणा गतेत्यनेन गतिनिषेधस्य, न गतेत्यनेन गतिविषेध प्रतीतिः, तन्मूलकलक्षणया पुनः प्रयोजनस्य रमणरूपस्य कैवल्यस्य प्रतीतिः स्यादिति 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽमी'ति सम्पूर्णवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमसम्भवमेव । मन्त्रते तु विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्यमात्माद् वापीस्नानेऽपि बाधितत्वविरहेणात्र लक्षणायाः प्रसरणाभावात् समस्तवाक्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमशतमेवेति तेषामसाधारण्यं विशेषणवाक्यार्थानां दुरूपपादनेवेत्याहृतम् ।

दीक्षित-मत-खण्डन-प्रसङ्गं मे भव एक दूसरी पुक्ति ग्रन्थकार देते हैं—'भविष्यत्' इत्यादि, 'निःशेषमुत्तमचन्दनम्' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'तू (दूती) उसके पास रमण करने गई थी ।' इस व्यङ्ग्य में दो अर्थ हैं । उनमें से एक अर्थ है 'उसके पास गई थी' वह और दूसरा अर्थ है 'रमण' जो कलरूप है । अब दीक्षित की व्याख्या के अनुसार 'उसके पास गई थी' यह अंश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, क्योंकि ठमकी व्याख्या के मुताबिक 'निःशेषमुत्तमचन्दनम्' इत्यादि वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है 'बापी में स्नान करने गई थी, उस अर्थ के पास नहीं' वह बाधित है अर्थात् स्नान में नहीं लग सकता । अतः अगत्या 'मुख्यार्थगणे सङ्गुक्त' इत्यादि रीति से यहाँ विनयीत लक्षणा करनी पड़ेगी, जिससे वाक्यकोटि में यहाँ 'नहीं गई थी' है यहाँ 'गई थी' अर्थ होगा, और जहाँ 'गई थी' है, यहाँ 'नहीं गई थी' अर्थ होगा, अन्यथा वाच्य अर्थ सङ्गत ही नहीं हो सकेगा और जब लक्षणावृत्ति से ही 'उसके पास गई थी' यह अंश प्राप्त हो जायगा, तब उस अंश को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

ननु तदन्तिकमननाशस्याप्रदायितत्वेन लक्षणाग्रन्थत्वेऽपि व्यङ्ग्यत्ववैयर्थ्यं कुतो नेत्यत आह—

न हि मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता ।

उन्मीलिते लक्षणा बोधिते । व्यक्तिवेद्यता व्यङ्ग्यनाचोप्यता ।

मुख्यार्थबाधहेतुत्वापितलक्षणाग्रन्थप्रतीतिविशेषोऽर्थो यस्माद् व्यङ्ग्यनाशमन्यवोपपत्तिरिति न भवति, तस्मान् तदन्तिकमननाशस्य व्यङ्ग्यत्वमसम्भवीति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से समस्त में आ जाने वाला) अर्थ व्यङ्ग्य क्यों नहीं हो सकता है ? इस सङ्का का समाधान करते हैं—'नहि मुख्यार्थ' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि साहित्य भाष्य में औचित्य की रक्षा आवश्यक मानी गई है । 'अनीधित्या-

इते नान्यदसमग्रस्यकारणम्' कहा गया है। और किसी जी वृत्ति से समस्त में आ जाने वाले अर्थ को पुनः व्यञ्जना से समस्त यह अनुचित तथा व्यर्थ है। अतः लक्षणा से समस्त गया 'उसके पास गई थी' यह अर्थ व्यञ्जना से समस्तने योग्य नहीं रह जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है।

उदाहरणप्रदर्शनोक्तमर्थं द्रढयति—

यथा—'अहो ! पूर्ण सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः ।' इत्यत्र कर्तृविशेष-
णानुपपत्त्यधीनोद्भासे पूर्णत्वामावे ।

शुष्ककल्पं तडागं निन्दत कस्यचिद् भणितिरियम् । यत्र यस्मिन् सरसि लुठन्त इत-
स्तत् परिवर्तमाना न तु स्नानोचितजलाभावेन निमज्जु शक्नुवन्त, मानवा, स्नान्ति, तादृ-
शमिदम्, अहो अद्भुतं, पूर्णं सलिलैरिरिक्तं, सर सरोवरमस्तीत्यर्थः । कर्तृणा स्नानकर्तृणा
विशेषणस्य लोठनस्यानुपपत्त्यधीन सरस पूर्णत्वेऽन्यथानुपपत्त्या जनित ध्वत्तासौ लाक्षणिको
बोधो भवत्य, तादृशो पूर्णत्वामावे रिकत्वे न व्यजनेति शेषः ।

'लुठन्त' इति विशेषणपदार्थस्य पूर्णपदवाच्यार्थेऽन्यस्य बाधाविवक्षणाया प्रत्याख्यमानः
पूर्णत्वामावो यथा व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषयो न भवति, तथैव प्रकृते भवदुक्तव्यङ्ग्यप्रपञ्चा-
शोऽपि न भवेदिति भावः ।

अमुमेवार्थं चित्रमीमांसाज्ञाने—'एवं च तदादिघटिताना वाक्यार्थाना मुख्यार्थवापी-
स्नानपक्षे बाधितत्वाद् विरोधिलक्षणाया 'वापी स्नातु न गताऽसि, किन्तु तदन्तिकम्' इति
प्रतिपत्तौ विगलितव्यञ्जनाव्यापारेण यथा—'अहो ! पूर्ण सरो यत्र लुठन्त स्नान्ति मानवाः'
इत्यत्र 'लुठन्त' इति विशेषणस्य मुख्येऽर्थेऽनुपपत्त्या विरुद्धोऽर्थो भासमानोऽपि न
व्यङ्ग्यः ।' इति सन्दर्भेण पण्डितराज स्वयं स्फुटीयकारः ।

लक्षणा-बोध-अर्थ व्यङ्ग्य नहीं कहलाता, इस बात को उदाहरण ।दिललाकर
बढ़ करते हैं—'यथा' इत्यादि । 'अहा ! सरोवर अधिक भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य छोड़ते
हुए स्नान करते हैं' । जो जलाशय जल से पूर्ण रहेगा उसमें लोग छोड़ते हुए स्नान नहीं
करते, अपितु हुचकियाँ लगाते हैं, और यहाँ स्नानकर्ता का विशेषण 'छोड़ते हुए' कहा गया
है, जिससे सरोवर का विशेषण जो कहा गया है 'भरा हुआ' उसका अर्थ बाधित हो
जाता है अर्थात् उसका अन्वय 'छोड़ते हुए' के साथ नहीं बैठता, अतः पूर्ण पद की पूर्णत्वा
भाव (नहीं भरा हुआ) में विपरीत लक्षणा करनी पड़ती है, इस स्थिति में जैसे 'सरोवर
पूर्ण नहीं है अर्थात् शुष्क है' यह अर्थ लक्ष्य ही कहलाता है, व्यङ्ग्य नहीं, वैसे ही दीक्षित
की रीति से 'उसके समीप गई थी, नहाने नहीं' यह अर्थ विपरीत लक्षणा के विषय हो
जाने से व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

नन्वेवमपि कामुकोपभोगरूपस्य द्वितीयाशस्य व्यञ्जनावोध्यत्वत्वक्षतमेवेत्याक्षेपं समादधाति—

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य फलारासस्य लक्ष्यशक्ति
मूलध्वननवेद्यत्वमव्याहतमेवेति चेत्, 'अघमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा
वा भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति' इत्यादिना
सन्दर्भेण भवतैरार्यापत्तिवेद्यतायाः स्फुट वचनात् ।

लक्षणावेद्यत्वेऽपि विपरीतलक्षणाजन्यबोधाविषयत्वेऽपि । रमणः कामुकोपभोगः । लक्ष्यस्य
बोधिका शक्तिवृत्तिर्लक्षणा मूल यस्य, तादृशं ध्वननं लक्षणा मूला व्यञ्जना । चित्रमीमांसाप्रमथ-
संवादाय 'वक्षोत्सस्य स्थाने वदतीति पाठ एव निहितः । उत्कृष्टजातिरनायिकाया अपकृष्ट-
जातिरनायकेऽनुरागानौचित्यात् तन्नायिकायास्तत्कथनानौचित्यम् । आदिराब्देन 'नाभि

स्वापरान्तरपर्यवसायिदूतीसम्भोगादिहीनकर्मतिरिचिनेन कर्मणा । तादृशं दूतीप्रेषणान् प्राचीनं सर्वं स्तोत्रमेवेति नोद्घाटनाहम् । अन्यथा स्वयं दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेः ।' इत्यादि पुरस्तान्मूलेऽनुपदेक्ष्यमाणं चित्रमीमांसाप्रकरणं परागृह्यते ।

अप्यप्यदीक्षितमते रमणरूपफलाशस्यापि व्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, किन्त्वर्थापत्तिगम्यत्वमेव, यतस्तदुक्तरीत्या रमणं विना नायकाधमत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तेनार्थापत्त्यैव 'स्तोत्रपादकं तद् बोध्यते, न तु व्यञ्जनया तत्प्रत्याभ्यते । तथाहि—जात्या नायकस्याधमत्वमनयोत्तमनायिकयाऽनौचित्याद् दुर्बलमेव, दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेस्तस्मात् पुरातनानामपराधानां सोढत्वाच्च तैरप्यधमत्वं दुष्पपादमेवेत्यायत्या दूतीसम्प्रेषणोत्तरकालिकं दूतीसम्भोगलक्षणमेव धामानुरागतगर्हितं नायकस्य कर्म तदुपपादकमायूर्यत इति स्फुटतरे तदीयसन्दर्भाशयेऽर्थापत्तिवेद्यत्वमेवात्र व्यङ्ग्यस्येत्यभिप्रायः ।

अब यदि यहाँ आप कहें कि 'उसके पास गई थी' यह अंश लक्षणा से ज्ञात हो जाने के कारण स्पष्ट नहीं हो सकता, न हो 'रमण' जो फलरूप होने से मुख्य है—अंशतो-लक्षणांमूला व्यञ्जना से स्पष्ट होना ही और उसी मुख्य स्पष्ट को लेकर इस श्लोक में ध्वनिकाम्य का लक्षण सहजित करेंगे । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही 'चित्रमीमांसा' में उस अंश को भी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से समझने योग्य कहा है । यदि कोई पूछे कि कैसे ? तो सुनिये—'चित्रमीमांसा' में उसने कहा 'अधम का मतलब है अपकृष्ट और अपकृष्ट कोई दो ही तरीके से हो सकता है, जाति से अधवा कर्म से । अब सोचिये कि प्रकृत श्लोक में जो नायिका ने नायक के लिये अधम शब्द का प्रयोग किया है, वह किस आशय से ? जाति से अपकृष्ट समझकर अधवा कर्म से ? उत्तर स्पष्ट है कि कर्म से ही अपकृष्ट समझकर उक्त प्रयोग नायिका ने किया होगा, क्योंकि उत्तम नायिका किसी भी हालत में अपने पति को जाति से हीन होने के नाते अपकृष्ट नहीं समझ सकती और न उसके चलते अधम ही कह सकती' इत्यादि । अब जरा सद्बुद्धयगण गौर करें कि 'रमण' 'अर्थापत्ति' से ज्ञात होगा या नहीं ? मैं कहूँगा अवश्य होगा, क्योंकि नायिका जिस कर्म के चलते नायक को अधम समझने लगी वह कर्म दूतीप्रेषण से पूर्वकाल का नहीं हो सकता, अन्यथा दूती की वह भेजती ही नहीं, फलतः दूती के भेजने के बाद का जो (अपकाल है, उसी में नायक के द्वारा किये गये किसी कुकर्म को लक्ष्य कर नायिका नायक को अधम कह रही है वह निश्चित है फिर तो अधम कहने से मध्यकालिक नायक का वह दूती-सम्भोग-रूप-कुकर्म अर्थात् स्पष्ट हो ही जायगा ।

ननु दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वमपि स्यादिति को दोष इत्यत आचष्टे—
अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थताया अस्वीकृतेः ।

'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ' इति सिद्धान्तेन प्रकृते दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिबोध्यत्वेऽन्यलभ्यत्वाद् व्यञ्जनावोध्यत्वं न स्यादित्यर्थः ।

यदि आप कहें कि 'रमण' अर्थापत्तिवेद्य होकर भी व्यञ्जनावेद्य क्यों नहीं कहलायगा ? इसका उत्तर अन्यकार देते हैं—'अनन्य' इत्यादि । 'अन्य किसी भी युक्ति से जो समझ में नहीं आ सकता हो, उसी को किसी शब्द का अर्थ मानना चाहिये' ऐसा नियम है । अतः अन्य—अर्थापत्ति प्रमाण से लभ्य समझ में आने योग्य उक्त 'रमण' शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ नहीं हो सकता है ।

नन्वर्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिविधौ चारिताध्यात् प्रमाणान्तरत्वस्य तार्किकादिभिरनभ्युपगमाद् वृत्तित्वाभावाच्चात्र सम्भोगस्य तद्वेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वं निर्बाधमेवेत्याशङ्कामभ्युपगम्य प्रकारान्तरेण निरस्यति—

अपि च यथाकथञ्चिदङ्गीकुरु वाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारम्, तथापि न तवेष्ट-

सिद्धिः, वाच्यानां निरशेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्तरीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसम्भोगसात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् ।

यथाकथञ्चिदर्थोपत्तेरतिरिक्तत्वाभावादित्येव । तव विशेषणवाक्यार्थासाधारण्यवादिन । इष्टस्य प्राधान्येन दूतीसम्भोगव्यङ्ग्यतया प्रकृतकव्ये ध्वनित्वस्य न सिद्धिः । त्वदुक्तरीत्याऽसाधारण्येन । प्रकारान्तरेण दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा ज्ञात्या वा । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य वाच्यसिद्धयन्ततया गुणीभूतत्वादस्य कव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्वं भवदमित्यमिति सात्पर्यम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि त विना वाच्याधमत्वादेरनुपपत्त्या तदुपपादकत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्य वाच्यसिद्धयन्ततया गुणीभूतत्वादस्य कव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्वं भवदमित्यमिति सात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि 'अर्थोपपत्ति' तो कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, मैयायिकों ने उसकी अनुमान में ही मतार्थ किया है, फिर उसको पृथक् प्रमाण मानकर उससे किसी अर्थ को समझने की बात करना उचित प्रमाण सा है, अतः 'रमण' को व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो पण्डितराज इस तर्क को स्वीकार कर दूसरे तरीके से दीक्षित मत का खण्डन करते हैं—'अपि न' इत्यादि कहने का सात्पर्य यह है कि यदि 'रमण' किसी तरह व्यङ्ग्य हो सकता है, यह बात मान भी ली जाय तथापि आप को इष्टसिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् यह पक्ष ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'रत्नों के ऊपर भाग का चन्दन मिटना, नीचले होठ का हीरक उड़ना तथा नायक का अधम होना' ये सब जो वाच्य अर्थ हैं, वे आपके हिम्मा से केवल दूती सम्भोग से ही हो सकते हैं, वापीस्तान आदि से नहीं और यह दूती सम्भोग वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त व्यङ्ग्य ही वाच्य अर्थ को सङ्गत बनाने वाला है फिर वह व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ की अपेक्षा गौण हो जायगा, जिससे यह पक्ष 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य का उदाहरण होगा, 'ध्वनि' नामक उत्तम काव्य का नहीं ।

उपसंहारः—

एव ओपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव ।

एननुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थासाधारण्येन काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गे च । त्वदपत्तिविरोधो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, काव्यप्रकाशकाराद्यनुरोधस्यागन्धर्विना सूच्यते दूषणम् । इस तरह से दीक्षित के मन में युक्ति विरोध भी है, अतः उनका मत असङ्गत है ।

अधमत्राण्यव्यदिक्षितदर्शितदिशा सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वमपास्य कव्यप्रकाशाद्यनुरोधपरमः स्वमतेन पुनरपराया स्थापयितुमुपक्रमते—

तस्माद्वाच्यार्थासाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपितानां विशेषणवाक्यार्थानाम् ।

तस्मादसाधारण्याद्रीकारे प्रायुक्तदोषापातात् । वाच्यार्थे वापीस्ताने साधारण्यमेव, न तु व्यङ्ग्यसम्भोगमात्रव्याप्यत्वम् । विदग्धा सहृदया, तथा च 'द्वयं पदै पिशुनयेच रहस्यवस्तु' इति नयेन व्यङ्ग्यसम्भोगवाच्यवापीस्तानयो साधारण्या एव तदुत्तरीचित्यम्, न तु पामरनारीवत् स्पष्टतरार्याया । निरूपिताना योधिताना कथिताना वा ।

इसलिये यह समझना चाहिये कि अति अनुर नायिका के मुख से निकले हुए 'निरशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि विशेषणों का अर्थ ऐसा हो होना चाहिये जो वाच्य अर्थ (वापीस्तान) और व्यङ्ग्य अर्थ (सम्भोग) दोनों में साधारण हो अर्थात् दोनों में लय सके, न कि ऐसा जो केवल व्यङ्ग्य सम्भोग में ही लगे ।

न हि विदग्धानायासा स्फुटतरं वक्तुं शक्नुयादहस्यमिति वाच्यव्यङ्ग्येभ्यस्तापारण्यमेवोचितं विरोपणवाक्यार्थानामिति सारम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोपपत्तये स्वयं तत्तत्तं विवृणोति—

तथाहि—‘अपि बान्धवजनस्याघातपीडागमे ! स्वार्थपरायणे ! स्नानकालातिक्रमभयवशेन नदी-भदीयप्रिययोरन्तिकमगत्यैव, वापीं स्नातुम्, इतो मदन्ति काद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाधमस्यान्ति-
न्तिकम् । यतो निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तदमेव नीरःस्थलम्, वापीगतबहु-
लपुञ्जन-त्रपापारजस्यादसद्वयलम्नाम-स्यस्ति कीकृत-भुजलतायुगलेन तदस्यै-
वोन्नततया मुहुरामरात् । एव त्वरया सम्यगञ्जालनेनोत्तरोष्ठो न निर्गृष्टरागः,
अधरस्तु तदपेक्षया गण्डपजल-रदनशोधनाहुल्यादीनामधिकसम्भवेमाह-
तीति तथा । किं च—सम्यगञ्जालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद् दूरमुपरिभाग-
एमानञ्जने । शीनयशात् तानवाय तव तनुः पुलकिता, इति । एव तस्या विदग्धा-
या गूढतात्पर्येणोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभङ्गापत्तेः ।

एवं साधारण्येष्वपि वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य भट्टित्य-
नाकलनात् कुनोऽत्र लक्षणाऽपकाराः । अनन्तरं च वाक्यार्थप्रतिपत्तेर्यस्यैवोद्-
व्य-नायकादीनां पैशिष्ट्याय प्रतीती सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःख-
दातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाक्यार्थदशायामपराधान्तर-निमित्तक-दुःख-
दातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तक-दुःखदातृत्वान्तरेण
पर्ययस्यतीत्यालङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः ।

स्वार्थपरायण इत्यनेन बान्धवैत्यादिसम्बोवनफलितार्थरूपनम् । यथा नायिकाप्रियस्य
च दूरस्थतया तदन्तिवागमने वापीगमने च स्नानकालातिक्रमो हेतुः । इत इत्यस्य विवरणं
मदन्ति कादिति । व्यङ्ग्यसम्भोगस्यागूढतापरिहाराय परेत्याद्यधमत्वसम्पादकोपादानम् ।
वाक्या नतत स्नानादर्थं स्थिता, बहुला भूवासो ये दुःखजना, तैम्बदतस्मान्निनी वा
या त्रपा तत्र युक्त्या लब्ध, तस्या पारवश्यात् तन्पारतन्त्र्यात् । अग्रहये स्नानयुगले, लम्बः
सम्यद, अप्र कररूपोऽप्रभागे यस्य, तादर्यं स्वस्ति कीकृतमर्धमुकुलीकृतं च यद् भुजलता-
युगलं तेनेति सम्यन्ध । मुहुरामरं स्तनतटौघत्वं हेतुः । एवं-त्रपापारवरयात् । त्रपापार-
वरयं त्वराया मूलम्, त्वरामूलकश्च सम्यक् क्षालनाभावः । तथा-निर्गृष्टरागः । मात्रशब्दे-
नाहुलिससर्गव्यवच्छेदः । शीतेति भावप्रधाननिर्देशः । तानवं कोयलता वरयं च । व्याख्या-
नपर्यवसानसूचक इति शब्दः । एवमुक्ते प्रकारः । तस्या वक्तव्या नायिकायाः । गूढं साना-
रणशीलाब्जिनवेयं तात्पर्यमाशयो यस्या इति बहुवीहि- । उक्तेर्गूढतात्पर्यत्वे धीर्न वैदग्ध्य-
मेव । अत एवोक्तेर्गूढार्थक्ये तद्गृहप्रसङ्गः । मुख्यार्थवाधविरहे विशेषणवाक्यार्थानामुभय-
साधारण्यं हेतुः । एवं मुख्यार्थवाधविरहाञ्जालनाया अग्रसङ्गे । मुख्यार्थे वापीस्नाने । अनन्तरं
वाक्यार्थबोधोत्तरम् । वनत्री विदग्धोत्तमानायासा, बोद्धव्या पुंष्वनी दूती, काठ्यप्रवृत्तिव्यादिपदेन
प्रतिपाद्यते । तात्पर्यार्थस्य वक्त्रीसमवेतेच्छाविषयीभूतलक्ष्यार्थस्य भट्टिति व्यञ्जनाव्यापारेण
विनाऽनाकलनादनुपस्थिते । स्वप्रवृत्तिप्रयोजक-स्वोच्चारणकारणीभूतः । अपराधान्तरं तीव्र-
विरहवेदनोपेक्षाऽऽदिरूपा अन्येऽपराधा निमित्तं यस्य, तादर्यं दुःखदातृत्वम् । तत्र दुःखं

वाच्यप्रतीतावपराधान्तरनिमित्तकं, व्यङ्ग्यप्रतीतौ तु निषिद्धतीसम्भोगनिमित्तकं भासते ।
आलङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्ष इत्यनेन स्वमतस्य द्रष्टव्यं सूच्यते ।

इदमाकूतम्—इह पामरीवद् विदग्धोत्तमनायिकाया व्यक्ततरार्थकवाक्योपादानानौचित्याद् विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगसाधारण्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिरूपामीशसिद्धेरभावात्, तेषां सम्भोगस्नानयोरुत्तरीत्या साधारण्यमेवोचितम् । अथमत्वसम्पादकधर्मोऽपि दुःखदातृत्वरूप एव प्रदीदुमुक्तं, वाच्यव्यङ्ग्यकक्षयोरन्वयानुकूल्यात् । पदार्थोपस्थितिकाल एव वाच्यार्थान्वयवाधप्रवृत्तयोर्यच्च न विपरीतलक्षणा । किन्तु स्नानपक्षीयवाच्यार्थप्रतीतौ वाच्यमात्रविदामवसिताया, प्रकरणादिपर्यालोचनेन काव्यार्थभावनाप्रसाधितयिया सम्भोगपक्षयोऽर्थं प्राधान्येन वैयञ्जनिकप्रतीतिपदबोमवतरं चमत्कारातिरेकसम्पादकत्वात् काव्यमिदमुत्तमोत्तमीकुर्वन् ध्वनिरेवेन व्यपदेशयति । दीक्षितदर्शितद्विरा तु ग्रन्थोपपत्तिविरोधो वञ्चलेपायित एव ।

अब जिससे उक्त दोषों का अवकाश न हो, तथा यह पक्ष ध्वनिकाव्य का उदाहरण हो सके, ऐसी व्याख्या उक्त श्लोक की पण्डितराज करते हैं—“तथादि” इत्यादि। ‘दो अर्थ वाले पदों से रहस्य वस्तु को सूचित करना चाहिये’ इस नियम के अनुसार चतुर नायिका दूती से कहती है—‘हे दूति ! तुम्हारी रक्षाधिनी हो, तभी तो मुझ जैसी सखी के दिल में बहती हुई पीड़ा का कुछ भी क्याल न कर अपने स्नान समय के चूक जाने के भय से मेरे प्रिय के पास नहीं गई, न मझी किनारे ही गई (क्योंकि वह भी दूर था) और सीधे मेरे पास से बापी पर स्नान करने चली गई । दूसरे की पीड़ा को (जानते हुए भी) न जानकर तुल देने वाला मेरा यह नायक भी अधम ही है (अन्यथा बुलाने के लिये तुम्हें भेजने की अपेक्षा ही नहीं बहती) वृत्तस अधम के पास नहीं गई वरन स्नान करने चली गई यह बात तेरी चेष्टाओं से ही सूचित हो रही है । देखो तेरी छाती में चन्दन ज्यों का त्यों बना हुआ है पर स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है और ऐसा इसलिये हुआ है कि बापी पर बहुतरे पुष्क स्नान करते रहे होंगे, अतः तूने लज्जा के मारे अपने मुँहें हुए हाथों की कन्धे पर रखकर केहुनी से स्तनों को मला होगा, जिससे ऊँचे स्तन के ऊपर भाग पर ही सद्बर्ण हो सका, निम्नभाग में नहीं इसी तरह सीप्रता से ठीक से न धो सकने के कारण ऊपर के होठ की छाली कुछ-कुछ घनी रही परन्तु नीचे का होठ ऊपरी होठ की अपेक्षा अधिक कुलों का जल, दांत स्वेच्छ करने की अट्टली आदि के सद्बर्ण लगाने से सर्वथा स्वेच्छ हो गया और ठीक से नहीं धो सकने के कारण ही ओंखों में जल का ही संसर्ग हो पाया (अट्टलियों का नहीं) इसलिये ऊपर ऊपर का ही कज्जल मिट सका (नीतर का नहीं) इसी तरह अधिक ठण्ड पड़ने से पुबछा, पतछा तेरा शरीर रोमाञ्चित हो गया है ।’ इस प्रकार चतुर नायिका की उक्ति ऐसी ही होनी चाहिये, जिसका अभिप्राय छिपा हुआ हो, अन्यथा उसकी चतुरता ही नष्ट हो जायगी । इसी तरह से जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण (स्नान, सम्भोग आदि अनेक कारणों से होने वाले) होंगे, तब मुख्य (स्नान करने के लिये जाना) अर्थ बाधित नहीं होगा, वक्ता का तात्पर्य श्रुत से समझने में नहीं आवेगा, अतः लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकेगा । वाच्य अर्थ के ज्ञान हो जाने पर जब बोलने वाली नायिका जिसके प्रति यह पथ कहा जा रहा है, उस दूती जिसको बुलाने के लिये दूती को भेजा गया था, उस नायक तथा वक्तव्य की विलक्षणताओं पर ध्यान दिया गया अर्थात् जब काव्य मर्मज्ञ सहृदय सोचेंगे कि यह नायिका विरहणी है, दूती स्वेच्छाचारिणी है, इस तरह पतिमता प्रेयसी की उपेक्षा करने वाला नायक भी व्यभिचारी होगा और नायिका की उक्ति भी अनेक अर्थों से युक्त है, अगर स्नान ही ही बात कहनी होती तो फिर इस तरह के दो दो अर्थ वाले पदों के प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी ? इत्यादि चष सहृदयों के भस्तिष्क में यह बात आयागी कि हमने जो ‘नायिका साधारण दुरा देने के कारण ही नायक को अधम कह रही है’ ऐसा

वाच्य अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है अवरण कोई विशेष कष्ट नायिका को नायक ने दिया है, अतः वह नायक को अपम कह रही है, परन्तु वह विशेष कष्ट कौन सा हो सकता है ? इस तरह जिज्ञासा उत्पन्न होने पर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि नायक ने इस दूती से सम्भोग किया है जिसका ज्ञान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ क्रोध भी, अतः पूव नायिका पतिव्रता होकर भी पति के प्रति कटु वचन का प्रयोग कर रही है, अपम कह रही है । यही ध्वङ्कारशास्त्रमर्मज्ञों के सिद्धान्त का सार है ।

पूर्वोक्तस्तथैव पुनरप्यव्यवहितोत्तमपदपर्यायव्याख्यानमपि दूयति—

एतेन—‘अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तत्र जात्या कर्मणा ता भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति । नापि स्वापराधपर्यवसायि-दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा । तादृशं च दूतीसम्प्रेषणात् प्राचीन सोढमेवेति नोद्धाटनार्हमितीतरक्यावृत्त्या सम्भोगरूपमेव पर्यवस्यति ।’ इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्, विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तादुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमतिममनौचित्येन प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसद्व्यतया दूती प्रति प्रतिपिपादयिपितत्वादिति विष् ।

एतेन विदग्धोत्तमनायिकायाः कामुकापराधरूपदूतीसम्भोगस्य सखीसमक्षं स्पष्टमुद्धाटितुमत्यन्तमनर्हत्वेन, महर्षितदिशा व्याख्यमर्यादयैव तद्वोधनौचित्येन च । अपमेत्यादिध्वन्मोमासाप्रप्यो दीक्षितस्य । जात्याऽधमत्वं द्विजातिभिन्नानाम्, कर्मणा तु द्विजातीनामपि । नायिकाया उत्तमत्वमुच्चलोत्पन्नत्वेन विदग्धतया प्रकृत्या च । जात्यपकर्षक्यने नायिकाया नीचकुलोत्पन्ननायकानुरागनौचित्यादुत्तमत्वमङ्गप्रसङ्गः । स्वस्य नायिकाया अपराधपर्यवसायी दुःखोत्पादकत्वेनापराधरूपो यो दूतीसम्भोगो नायकस्य दूतीकर्मक्षेपभोग आदिव्येता तानि यावन्ति हीनान्यपकर्षप्रयोजकानि कर्माणि, तेभ्योऽतिरिक्तेन भिद्येन । अतितमाप्राचीन-दूती-प्रेषणात् पूर्वकाले विहितम् । इतरन्वाहृत्याऽधमत्वप्रयोजकमन्तरव्यवच्छेदेन । इतिशब्दः प्रकृतविचारपर्यवसानम्, दिक्छन्दस्तदमिमकोटिसम्भावना च सूचयतः ।

दूतीसम्भोगात्मकनायकापराधस्य स्फुटाख्याने नायिकाया विदग्धमङ्गप्रसङ्गात् पूर्ववदपमपदमन्यसाधारणस्य तस्य व्यञ्जकमेवेति सारम् ।

महामहोपाध्यायगङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—‘इदमत्र दीक्षिताकृतम् । वाच्यसिद्धपक्ष (व्यङ्ग्य)-रूपमध्यमज्ञाव्यता तत्रैव, यत्र व्यङ्ग्यार्थोपसृक्तं वाच्य दर्पणाविभ्रमघातः, न तु व्यङ्ग्यार्थान्तरोपस्कारकमपि । यथा त्वयैवोदाहृते—‘राधविरह-’ इत्यादि पद्ये । ‘कुप्यन्ति’ इति कौपस्यैव व्यङ्ग्यार्थोपसृक्तस्य प्राधान्यम्, न तु तेनाप्यन्यद्व्यन्यते ।

यत्र तु वाच्यार्थताऽवच्छेदकमेव स्वरूपेणानुपपन्नं व्यङ्ग्यं स्वोपपादकतया न्यग्भावयति, यथा—‘गच्छाम्यच्युत ।’ इत्यादि पद्ये, ‘आमन्त्रणमङ्गिस्त्विति-’ इति सूचनपदार्थताऽवच्छेदकस्याच्युतादिपदध्वननीयार्थमन्तर्भाष्यैव निराकाङ्क्षान्दधीपर्यवसायित्वम्, तत्र विशिष्टवोधायप्राधान्यविरहेऽपि कविसंरम्भापर्यवसानभूमितासामान्यात् पूर्वप्रदर्शितस्वरूपकत्वं न हीयते ।

अन्यथा ‘अ नास्ति कश्चिद् विषयः’ इत्यादि प्रकाशदर्शितदिशा सामाजिकप्रतिमानात्रकल्पनीयव्यङ्ग्यविरहासम्भवेन सर्वस्यैव काव्यस्य मध्यमखण्डदल एवोदाहरणीयताऽऽपत्तेः ।

अत एवाहुः—‘प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति’ इति । प्राधान्य चात्रार्थं न तु शाब्दम्, तस्य प्रवृत्त्यादावौदासीन्यात् ।

एवञ्च प्रकृतेऽधमपदव्यञ्जनीय-सम्भोगसम्भावकतामात्र उपयोक्तव्यमाणाया स्तनतटा-दिपदद्योत्यार्थानां गुणीभावेऽपि सम्भोगस्यावाच्यतया लक्षणाफलत्वेनालक्षणीयतया च स्वतर्कितत्वप्रकारमुख्योपविपालक्षणावर्थाप्राधान्यगद्गात्रेण तत्प्रयुक्तमुत्तमत्वं को निशारयेत् ।

अन्यथा भवदुर्लभेतिदिशोऽपि चापीगमनोपपादकतामात्रेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं कथं निवारणीयम् । प्रत्युत भवत्प्रदर्शितकम एव दोषो दुर्बारे चापीगमनस्य वाच्यत्वात् । सम्भोगस्य च व्यङ्ग्यत्वेन धैर्योत्पात् ।

यदि तु नायिकानिधान्तिभूमितायां सम्भोग एव कल्पनेन पछिरिष्यसि, तर्हि व्यङ्ग्यता-मनपहुंत्तुं नुप्यत्तुं भवात् । अत एव च नायकव्यङ्ग्यस्य विषय, उपपाद्योपपादकयो-रुभयोरपि व्यङ्ग्यत्वात् । तदादिपदार्थानां केवलमिधावलेनोपस्थितानां स्नानसम्भोगसाधारणत्वेन विदग्धनायिकात्रैश्वर्यनिश्चयव्यञ्जनीयावधारणानां पुलकितैत्यत्र तयाविधिविरोधस्य च व्यङ्ग्यतायां दुरपेक्षत्वात् ।

यत्तु सम्भोगस्य स्तनतटाद्यवधारणव्यञ्जनीयत्वाभ्युपगमेऽनुमानप्रसारागतपातितया व्यञ्जनाव्यापारनैरर्थभयभयेन साधारण्येन बोधविषयतोपपादनम्, तत् प्रकारापञ्चमोद्गाम-शेषदर्शितदिशाऽयमत्वादेरिव स्तनतटादिमात्रबन्धनच्यव(नादेरपि)प्रमाणप्रतिपक्षताविरहे-णाप्रमितस्यानुमापकतानङ्गोक्तिरेण व्याप्तिपरामर्शज्ञाने अनपेक्ष्य, प्रतिभामात्रद्यौत्यताया अनुभवसिद्धत्वेन च न सिद्धिः । इतरथा ‘उत निबल !’ इत्याद्यावपि निस्पन्दत्वेनाश्वस्त-ताया अनुनेयस्त्वैवापत्तेरिति निपुणतरमालोचनीयम्’ इत्याहुः ।

उक्त नीति से ही दीक्षित द्वारा की गई अधम पद की व्याख्या में दोष दिखलाते हैं—‘पतेन’ इत्यादि । ‘अधम पद का अर्थ अपकृष्ट-हीन है और अपकृष्टता मनुष्य में दो तरह से आसक्त होती है—एक जाति द्वारा दूसरा कर्मद्वारा, अर्थात् हीन जातिके होने से कोई हीन हो सकता है, अथवा हीन कर्म करने से हीन हो सकता है । उन दोनों में अपने नायक की जातिमूलक हीनता को उत्तम नायिका जवान पर नहीं छा सकती है । अगर हीन कर्म मूलक हीनता, वह अनेक प्रकार की हो सकती है, कारण ? हीन बनाने वाले कर्म विविध हैं, परन्तु उन सब कर्मों में से दूरी सम्भोगरूप हीन कर्म करने वाले अपने नायक को ही उच्चम नायिका हीन-अधम कहती है, वह भी इस लिये कि दूरी सम्भोगरूप हीनकर्म, घुमा फिरा कर नायिका का अपना ही अपराध सिद्ध हो जाता है, इस तरह के हीन कर्म करने वाले नायक की उत्तम से उत्तम नायिका को भी लोग कह बैठते हैं—कि जब तुम में कोई आस दुर्गुण है, तब न तुम्हारा नायक तुम जैसी सुन्दरी कुलीना को छोड़कर एक साधारण दूरी पर आसक्त है । और वैसे कर्म भी जो दूरी को भेजने से पहले हुए थे वे सब सह ही छिप गए थे, अतः वे अब बोलने योग्य रह ही नहीं गए, इस लिये और सब कर्मों के छूट जाने से नायक का दूरीसम्भोगरूप हीन कर्म ही ऐसा सिद्ध होता है, जिससे स्पष्ट अथवा सिद्ध होकर नायिका उसको अधम कहने लगी है’ इत्यादि जो दीक्षित ने कहा है, वह भी पूर्वोक्त स्पष्टन युक्ति से ही स्पष्टित है, क्योंकि चतुर सया उत्तम नायिका सरियों के समूह में ही उस (दूरी) के साथ छिप गए सम्भोग रूप अपने नायक के अपराध को स्पष्ट कहे, यह परम अनुचित है, अतः यह समझना चाहिए कि सह छिप गए नायक के पुराने अपराध ही आज नायिका के मन में किसी कारण से असह्य हो उठे हैं, जिससे नायिका उन अपराधों को ही दूरी के सामने बोल उठी ।

एवं प्रथमं प्रसारमुत्तमोत्तमं निरूप्य द्वितीयमुत्तमं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् ।

यत्र यस्मिन् काव्ये । अप्रधानं व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया वाच्यापेक्षया च गुणीभूतम् । एका-
रोऽवधारणे, तेन न कथमपि प्रधानमित्यर्थः । द्वितीयमुत्तमं काव्यम् ।

यस्मिन् काव्ये वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यार्थान्तरापेक्षया च गुणीभूतो न तु प्रधानं व्यङ्ग्यार्थः
स्वज्ञानद्वारा चतुर्वारस्य जनको भवति, तद् द्वितीयमुत्तमं काव्यमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्य के प्रथम भेद 'उत्तमोत्तम' का निरूपण कर चुकने के बाद अब
काव्य के द्वितीय भेद 'उत्तम' का लक्षण बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादि । जिस काव्य में व्यङ्ग्य
अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय 'उत्तम' नामक काव्य कहलाता है,
अर्थात् जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा भी गौण हो—
किसी भी अर्थ से शुरुव नहीं हो—किर भी चमत्कारजनक हो, वह 'उत्तम' काव्य है ।

लक्षणवाक्य्य एवकारनिवेशस्य फलमाह—

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूत व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादायादिव्या-
प्तिवारणायावधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव ।

प्रधानीभूतं गुणीभूतमिति च व्यङ्ग्यस्यैव निरोधणं न विरुद्धम्, वाच्य-व्यङ्ग्यान्तरहय-
निरूपकभेदान् । तेन द्वितीयस्य लक्षणासमन्वयेन, तस्यापरव्यङ्ग्याभूतव्यङ्ग्यस्य, ध्वनित्व-
मुत्तमोत्तमत्वमेव, न तूत्तमत्वम्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात् ।

एवशब्दस्य निवेशाभावे यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानं सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयमित्येव
कारणं स्यात् । तथासति—'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः । नाभ्यूर्जजघनस्पर्शी
नीवीविस्तृतः करः ॥' इत्यादिपराश्रव्यङ्ग्योदाहरणेषु शृङ्गारस्वभ्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया
प्राधान्येऽपि प्रधानीभूतव्यङ्ग्यकण्ठरसापेक्षयाऽप्राधान्याल्लक्षणसमन्वयेनातिव्याप्तिः स्यात् ।
एवशब्दस्य निवेशे तु तस्य सर्वथाऽप्राधान्यं निवक्षितमिति शृङ्गारव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया
प्राधान्याल्लक्षणसङ्गमनाभावात्नातिव्याप्तिः

न चात्र वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षया शोकोत्कर्षकतया प्राधान्यादेवकारनिवेशोऽप्यतिव्याप्तिः
स्यादेवेति वाच्यम्, व्यङ्ग्यरसापेक्षया वाच्यवस्तुनः प्राधान्यं निवक्षतश्चमत्कारोत्कर्षस्य सद्भावे
प्रमाणाभावात्, प्रदीपोदयोतयो शृङ्गारस्यैव कर्णोत्कर्षकताऽभिधानाच्च, वाच्यापेक्षया शृङ्गार-
स्यैव प्राधान्यात् ।

शृङ्गारपदन्वयत्र शृङ्गाररसस्थायिमाधुरतिपरम्, रसस्यापरिच्छिन्नात्मकतया पराहता-
सम्भवात् । प्रधानीभूतकण्ठरसमादाय ध्वनित्वम्, गुणीभूतं शृङ्गारस्याधिरतिमादाय आपरा-
हव्यङ्ग्यरपगुणीभूतत्वं चेत्याकलनीयम् ।

लक्षणवाक्य्य में 'अप्रधान होकर ही' इस अवधारण-नियम का निवेश क्यों किया गया
इसका फल इसलिये है—'वाच्यापेक्षया' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त अव-
धारण नहीं करेंगे, तब 'व्यङ्ग्य अप्रधान होकर चमत्कारजनक हो' यही लक्षण होगा,
और ऐसा लक्षण होने पर जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ से प्रधान और गुण्य व्यङ्ग्य से
गौण होगा, वहाँ उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, जैसे 'अयं स रसनोत्कर्षी, पीनस्तन
विमर्दनः । नाभ्यूर्जजघनस्पर्शी, नीवीविस्तृतः करः ॥' इस अवश्राव्यङ्ग्य नामक मध्यम
काव्य के उदाहरण में (जहाँ शृङ्गार तथा कण्ठ दोनों रस व्यङ्ग्य हैं, परन्तु आलम्बन नायक

की शुरु हो जाने से कण्ठ मुख्य और शृङ्गार तदपेक्षया गौण है) वाच्य से प्रधान होने का भी शृङ्गार रूप व्यङ्ग्य कण्ठ से तो गौण है, अत उक्त लक्षण के सघटित हो जाने से यह श्लोक उत्तम (द्वितीय भेद) काव्य कहलाने लगेगा । अत. 'अवधारण' का निवेश किया गया है। निवेश करने पर दोष नहीं हुआ, क्योंकि उस निवेश से यह मतलब निकलता है कि जो व्यङ्ग्य किसी से प्रधान न हो—सब से गौण ही हो, और वहाँ का शृङ्गार कण्ठ से गौण होने पर भी वाच्य से प्रधान है । इस प्रकरण में शृङ्गार अथवा कण्ठ पद से रति तथा शोक रूप स्थायीभाव समझना चाहिये अन्यथा रसों के सिद्धान्त दृष्टि से अपरिच्छिन्न पूर्ण चानन्दरवरूप माने जाने के कारण उनमें गौण प्रधानभाव असम्भव होगा ।

चमत्कारकारणमिति निवेशस्य प्रयोजन प्रतिपादयति—

लीनव्यङ्ग्य-वाच्यचित्रातिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि ।

लीनव्यङ्ग्यमस्फुटव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य काव्यतृतीयभेदस्य प्रभेद । वाच्यचित्र-सर्वालङ्कारोपस्कृतमविवक्षितव्यङ्ग्य चित्राख्य चतुर्थमभयमव्यङ्ग्यम् । तत्र व्यङ्ग्यस्य सर्वथाऽ-प्राधान्याद् द्वितीयाभ्यालक्षणातिव्याप्तिरस्य दत्तचमत्कारकारणमिति निवेशितम् । तन्निवेशो तु तयोर्व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वविरहाच्च दोषः । 'अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीषता । नादृष्टेन न दृष्टेन भवतालम्बते सुखम् ।' इत्यस्फुटव्यङ्ग्योदाहरणे 'यथाऽदृष्टं कदाऽपि न स्या, तथा कुत्र' इति व्यङ्ग्यस्य सत्त्वेऽपि सुखेन सहृदयैरपि प्रत्येतुमशक्यतया यथाऽचमत्कारित्वम्, तथैव 'वाणीर-कुलङ्करीण सतृणि-कोलाहल सुणन्तीषु । घरकम्म-वापटाए बहुए सीअन्ति अग्राहं ।' 'वानीरकुलङ्करीणसतृणिकोलाहल शृण्वत्या । शृण्वन्मप्यापृताया नत्वा । सीदनयज्जानि ॥'

(इतिच्छाया) इत्यसुन्दरव्यङ्ग्योदाहरणे 'इतसद्वेतो नायको वेतसीलताकुञ्ज प्रविष्ट' इति व्यङ्ग्यस्यापीति तदुपलक्षणमपीदमवगन्तव्यम् । इतरेषां तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराणां पूर्वैर्गैव व्यावृत्तिः । एव वाच्यचित्रपद शब्दचित्रस्याप्युपलक्षकम् । यत्तु शब्दचित्रे व्यङ्ग्यभाव इति कैश्चिदुक्तम्, तन्न, तत्रापि बहुत्र भावव्यक्तेरानुभविकत्वादव्यङ्ग्यपदस्याविवक्षितव्यङ्ग्यपरत-यैवाभियुक्तव्याख्यानान् ।

अथ लक्षणघटक व्यङ्ग्य में जो 'चमत्कार का कारण हो' ऐसा विशेषण दिया गया है, इसका प्रयोजन कहते हैं—'लीनव्यङ्ग्य' इत्यादि । वाच्यचित्र काव्यों में व्यङ्ग्य लीन रहता है अर्थात् वाच्य उपमा रूपक आदि के चमत्कार में उसका चमत्कार तिरोहित हो जाता है, फलतः व्यङ्ग्य में चमत्कार नहीं रहता, अतः उन काव्यों में यह लक्षण नहीं जाता है, अथ चमत्कार कारण नहीं कहने पर लक्षण उनमें भी चला जायगा, इस लिये 'चमत्कार कारण' कहते हैं । कुछ लोग यहाँ की मूल पंक्ति में लीन व्यङ्ग्य और वाच्य चित्र को अलग अलग दो परस्परलभ मानते हैं, उनके हिसाब से लीन व्यङ्ग्य अर्थात् अस्फुट व्यङ्ग्य नामक तृतीय काव्य और वाच्यचित्र नामक चतुर्थ काव्य दोनों जगह अतिव्याप्तिवारण के लिये लक्षण में चमत्कार-कारण विशेषण लगाया गया है, ऐसा समझना चाहिये ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रसङ्गमत्रत्या मष्टमम्मटकृततल्लेखे व्याख्यातुनिवेशित चित्रान्यत्व निराकरोति-यत्—'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम्, तन्न, पर्यायोक्त-समासोक्त्यादिप्रधानकाव्येष्वन्याप्यापत्ते' । तेषां गुणीभूतव्यङ्ग्यतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वात् ।

'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यं तु मध्यमम् ।' इति पूर्ण लक्षणम् । लक्षणे गुणीभूत-व्यङ्ग्यलक्षणमध्यमकाव्यप्रकारस्येति शेषः । चित्रान्यत्व चित्राख्यभिन्नत्वं दत्त निवेशितम् । पर्यायोक्तसमासोक्तादयः प्रधानानि येष्विति बहुव्रीहिः । आदिपदेन चमत्कारिव्यङ्ग्यभाजा-भावेनाप्रस्तुतप्रशसाप्रवृत्तीनामलङ्काराणां परिग्रहः ।

यदि गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रत्यक्षधरणे चित्रमिच्छत्वं निवेशयेत्, तर्हि पर्यायोक्तप्रभृत्यलङ्कार-
युक्तानां काव्यानामर्थचित्रत्वसत्ताद् व्यावृत्त्याऽप्रधानोभूतचमत्कारजनकव्यङ्ग्यसद्भावादिष्ट-
मपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यादर्थचित्रान्यत्वं न निवेशनीयम् । न चैकत्रैव काव्यद्वयव्यव-
हारोऽसिद्ध इति वाच्यम्, व्यवहारस्य सर्वालङ्कारिकसम्प्रदायसिद्धत्वादित्याकृतम् ।

इदं पुनश्चिन्तनीयम्—पर्यायोक्तालङ्कारकृतकाव्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिताया भवदभि-
मतायाः सद्भावेनाव्यङ्ग्यपत्वरूपाया अविवक्षितव्यङ्ग्यत्वलक्षणाया ता चित्रताया असम्भवान् ।
तथाहि—‘चकाभिधातप्रसमाश्रयैव, चकार यो राहुनघूजनस्य । आलिङ्गनोद्गमविलासयन्त्र्यं,
रतोत्सवं बुन्वनमाश्रयोपम् ।’ इत्यादौ पर्यायोक्तोदाहरणे राहुशिरस्छेदनात्मनो व्यङ्ग्यपत्त्य-
वयविवक्षितत्वम्, तर्हि न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, अथवा यदि विवक्षितत्वम्, तदा कृतचि-
न्ता, व्यङ्ग्यपत्त्य विवक्षितानिवक्षितत्वयोर्विरोधेन गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रत्वयोरपि विरुद्ध-
त्वात् । इत्य च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वमपि चिन्त्यमेव, ध्वनिकार-मम्मट-प्रदीपकृदाद्य-
सम्मतत्वादिति सहृदयैरालोचनीयम् ।

यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रसङ्ग उपस्थित है, अतः एक और विचार करना आवश्यक
सीखता है, वह विचार यह है कि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने ‘अतादृशगुणीभूत व्यङ्ग्य
व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्’ इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के लक्षण में चित्रान्यत्व का निवेश आवश्यक
बतलाया है । उनका आशय यह है कि जहाँ अलङ्कार प्रधान हो, वह चित्रनामक काव्य का
एक पृथक् भेद है । उसमें गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं जाना चाहिए । परन्तु मम्मट
का उक्त लक्षण उसमें भी चला जायकता है, अतः यह कहना उचित है कि गुणीभूत व्यङ्ग्य
काव्य वही है, जो ‘चित्र (अलङ्कार प्रधान) काव्य न हो । पर उन टीकाकारों का उक्त
कथन समुचित नहीं, क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आशेष, अप्रस्तुत प्रशंसा प्रभृति
अलङ्कार जहाँ प्रधान हैं, अत एव चित्रकाव्यत्व इष्ट है, वहाँ चित्रान्यत्व वदित गुणीभूत-
व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं घट सकेगा, यदि कोई कहे कि जब उन अलङ्कारप्रधान
काव्यों में चित्रत्व इष्ट है तब तो वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण न घटे वही उचित
है अर्थात् चित्रकाव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य भी हो यह आवश्यक नहीं है, इसका उत्तर यह है
कि उन अलङ्कार प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व दोनों ही इष्ट हैं, अर्थात्
अलङ्कारिकों ने उन अलङ्कार प्रधान काव्यों को दोनों (चित्र तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य) ही माना है ।

द्वितीयं काव्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरहसन्तापं वगवासिनो रामचन्द्रस्य कश्चिद् वर्णयति—

‘राघवविरहज्वाला-सन्तापितसहस्रशैलशिखरेषु ।

शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनसनयाय ॥’ इति ।

राघवस्य श्रीरामचन्द्रस्य यो विरहो वैदेहीवियोगः, तस्य बहेरिवान्तर्बहिर्दहकत्वाद्
या ज्वाला कीलस्ताप इति यावत्, तथा सन्तापितेष्ममशीकृतेषु, सल्लस्य तदाख्यदाशिणात्य-
शैलस्य, शिखरेषु शृङ्गेषु, शिशिरे शीतती, सुखं वस्राद्यभावेऽप्यशीतल्लेशं यथा स्यात्,
तथा शयानाः स्वपन्तः, कपयः सुप्रीवस्यवानरा, पवनसनयाय (वैदेहीकुराल्वातासूचनेन
रामस्य सन्तापं शमितवते) हनुमते, कुप्यन्ति पुनरशीतवापां सम्भावयन्तस्तमुद्दिश्य
कुप्यन्तीत्यर्थः । इह रघुनाथसुप्रीवयोरतिवह्मं कपीनामपि सर्वदा हितकरं हनुमन्तं प्रति
तेषामाकस्मिन्ने वाच्यभूतं कोपोऽन्यथाऽनुपपन्न इति तदुपपादकाकङ्क्षायामनायत्या जानकी-
कुरालसूचनविहितरामविरहसन्तापानोद्गता न्यायार्थ एव पुरः परस्फुरमज्ञता भजनापि,

यथा दौर्भाग्येण दासोऽमात्ममापन्नाऽपि राजमहिषो, काचनविलक्षणा नैसर्गिकीं सुप्रमामावहति, तथैव कश्चिद् विलक्षणं चमत्कारं करोतीति व्यङ्ग्यस्य गुणीभाषेऽपि चमत्कारितोत्कर्षेण द्वितीयकाव्योदाहरणत्वमेतस्य ।

द्वितीय काव्यभेद उत्तम का उदाहरण देते हैं—'गणव' इत्यादि । रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से (यहाँ ज्वाला की उक्ति से विरह में बहिरूपता व्यङ्ग्य होती है) तप्त धनाये गये सहजानामरु पर्वत के शिखरों पर, शीत श्रुत के समय में, सुख पूर्वक सोने वाले बन्दर पवनतनय-हनुमान् पर प्रकुपित होते हैं—क्रोध करते हैं ।

तदाह—

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत 'इति व्यङ्ग्यमाकस्मिककपिकर्तृकहनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि, दुर्देववशातो वास्यमनुभवद् राजकलत्रमित्र कामपि कमनीयतामावहति ।

शिशिरीकृत शीतलीकृत ।

इस पद्य का व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि 'हनुमान् ने जानकी की कुशलवार्ता सुनाकर रामचन्द्र को शीतल बना दिया, अर्थात् हनुमान् के मुख से सीता की सकुशल लक्षा में रहने की बात सुनकर रामचन्द्र का विषम-ताप शान्त हो गया' और वाच्य-अर्थ है 'हनुमान् पर बन्दरों का सहसा होने वाला क्रोध' । इन दोनों (व्यङ्ग्य तथा वाच्य) अर्थों में अङ्ग-अङ्गी (पोष्य-पोषक) भाव है, अर्थात् व्यङ्ग्य है पोषक और वाच्य है पोष्य, क्योंकि जो 'हनुमान् रामचन्द्र तथा सुग्रीव दोनों का कृपापात्र था—स्नेहभाजन था और बन्दरों का भी प्रिय-हित-चिन्तक था, उसी पर अकस्मात् बन्दर सब क्रुद्ध हो उठे, यह वाच्य अर्थ तब तक संगत प्रतीय नहीं होता, जब तक उक्त व्यङ्ग्य अर्थ न समझ लिया जाय अर्थात् जब हम 'हनुमान् ने राम के विरहताप को शान्त कर दिया, जिससे विरह-ज्वाला-तप्त सहज-शिखर, शीतल हो गये और शीत के मारे बन्दरों के सुख-शयन में बाधा पड़ने लगी' इस व्यङ्ग्य अर्थ को समझ लेते हैं, तब हनुमान् पर बन्दरों का क्रोध संगत ज्ञेयता है । इस तरह से उक्त व्यङ्ग्य अर्थ, वाच्य-अर्थ के साधक होने के कारण पद्यपि गौण हो गया तथापि जिस प्रकार बुराट की मारी हुई कोई राजाज्ञाता, किसी की दासी धनकर रहने पर भी, अपने सहज-सौन्दर्य को नहीं छोड़ती अर्थात् उस दशा में भी उसकी सुन्दरता शलकरी ही है, उसी प्रकार उक्त व्यङ्ग्य में भी (गौण होने के फलस्वरूप) विलक्षण चमत्कार परिलक्षित होता है । अब 'जहाँ व्यङ्ग्य गौण होकर चमत्कार-जनक हो' इस लक्षण का समन्वय, उक्त पद्य में, स्वयं स्पष्ट है ।

'तल्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादिप्रागुक्तप्रथमकाव्योदाहणे द्वितीयकाव्योदाहरणता-माशङ्क्य समादधाति—

नन्वेव प्रागुक्तमाक्षेपगतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमान व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्येति चेत्, न यतो ह्यनुदिनसख्युपदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमान मान्द्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचर्चणागोचरतामाधत्तुम् ।

प्राक् उत्तमोत्तममाश्रयतृतीयोदाहरणे 'तल्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादौ । व्यङ्ग्येनैव विप्रलम्भरतिरूपश्रृङ्गारस्यायिमावेनैव, न तु वाच्यादिना । उपपादयते सप्ततीक्रियते । श्रुतुदिन प्रत्यह यं सखीनामुपदेशं केलिकलासु वामतापरित्यागाय शिक्षा, स आदिर्द्वेषा, ते तदादयः सततशान्तिष्य प्रचुरपरिचयप्रभृतयः, तै । इदमाक्षेपगतं मान्द्यम् । प्रथमचित्तचुम्बिनीं प्रागेव मुद्दिगोचरीभवन्तीम् । स्वातन्त्र्येण स्वरूपं (मन्दत्व) मात्रेण । परनिर्वृते परमानन्दस्य, या चर्चणाऽऽत्वाद, तस्या गोचरता विषयताम् । आपातुं वोढुम् ।

यथा प्रकृते वाच्यस्य हनूमदुपरि कपिक्रोपस्यान्यथाऽगाम्भवादनुपपन्नस्य, हनूमता सीताकुशलनिवेदनेन रामस्य शीतल्यकरणं व्यङ्ग्यं कपिसुखमुसिव्याधातादुपपादकं वाच्या-
जीभूय, काव्यमिदमुत्तमोत्तमकक्षातोऽपकर्षति, तथैव 'तत्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादौ
पूर्वोक्त उत्तमोत्तमकाव्यतुलीयोदाहरणे, वाच्यस्य प्रियकराक्षेपमान्दस्य नवोदवधूस्वभाव-
विरुद्धत्वादन्यथाऽनुपपन्नस्य, व्यञ्ज्यमाना विप्रलम्भश्चकार-यायिनी रतिरुपपादिकाऽज्ञोन्व-
तीति कथं तत्राप्युत्तमोत्तमत्वम्, वैषम्ये वीजामावादिति न वाच्यम्, उभयोर्वैषम्यस्य
जागरूकत्वात् । तथाहि प्रकृते तद्व्यङ्ग्यमन्तरेण किमप्यर्थान्तरं वाच्यस्योपपादकं नोपलब्धं
शक्यते । 'तत्पगताऽपि च' इत्यादौ त्वाक्षेपमान्दं वाच्यं, यथा व्यङ्ग्य विप्रलम्भरति', तथैव
प्रात्यहिकसत्तीक्ष्णप्रभितिरप्युपपादयितुमर्हतीत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्विरह इत्यभिप्रायः ।

'तत्पगताऽपि च सुतनु' इत्यादि पूर्वोक्त प्रथम-वाच्य (उत्तमोत्तम) के उदाहरण में
'वह भी द्वितीय (उत्तम) काव्य का ही उदाहरण क्यों नहीं ? यदि वही होता उचित
है' इस शङ्का का उत्थान कर खण्डन करते हैं—'नवैवम्' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जैसे
'राघव-विरह-शाला' यहाँ पर अन्यथा (व्यङ्ग्य-ज्ञान के बिना) अनुपपन्न होने वाला,
हनूमान् के ऊपर अकस्मात् बन्दरों का मोघ, (वाच्य) हनूमान् के द्वारा राम की विरह-
ताप-शान्ति (व्यङ्ग्य) से उपपन्न किया जाता है, अतः वह व्यङ्ग्य गौण हो जाने से
चमत्कारजनक होकर भी स्वव्यञ्जक-पदावली को उत्तमोत्तम काव्य नहीं बना सका, वैसे ही
'तत्पगताऽपि च सुतनु' यहाँ पर भी 'प्रियकर को मन्द मन्द हडाना' रूपवाच्य, नव-वधू-
स्वभाव-विरुद्ध होने से अनुपपन्न है अर्थात् नवोदा का वही स्वभाव होता है कि अपने
अनों पर धरे हुये पति-क्यों को हट से हटा देती है और वहाँ 'नवोदा मन्द मन्द
प्रियकर को हटा रही है' ऐसा कहा हुआ है जो असंगत सा दीखता है । फिर तो
रतिरूप व्यङ्ग्य से ही वह (वाच्य) उपपन्न बनाया जायगा अर्थात् जब हम यह
समझ लेंगे, कि—उस नवोदा को अब पनि से प्रीति होने लगी है और शीघ्र ही उस
प्रीतिभत्ता पर विरह के ओले गिरने वाले हैं, तभी नववधू का धीरे-धीरे प्रियकर को
हडाना सङ्गत प्रतीत होगा, इस स्थिति में वहाँ का विप्रलम्भ रतिरूप व्यङ्ग्य भी वाच्य
अर्थ के उपपादक होने से गौण ही हुआ, अतः उसे भी उत्तमोत्तम-काव्य-व्यवहार-
नियामक नहीं होना चाहिये अर्थात् इन दोनों स्थलों के व्यङ्ग्यों की स्थिति समान है,
इसलिये दोनों पद्य उत्तम काव्य के ही उदाहरण हो सकते हैं, उत्तमोत्तम के नहीं, यह है
शङ्का । समाधान यह है कि आपने दोनों पद्यों के व्यङ्ग्यों को समान कोटिक समझ रहे हैं,
वह आप का भ्रम है क्योंकि दोनों जगहों में वैषम्य स्पष्ट है, देखिये—'राघव-विरह-शाला'
यहाँ का व्यङ्ग्य ऐसा है जिसके बिना वाच्य सिद्ध हो ही नहीं सकता अर्थात् व्यङ्ग्य से
मिथ कोई बात ऐसी नहीं जो वाच्य को सिद्ध कर सके और 'तत्पगताऽपि' यहाँ का व्यङ्ग्य
ऐसा नहीं है अर्थात् यहाँ का व्यङ्ग्य ऐसा है जिससे मिथ बातें भी वाच्य को सिद्ध कर
सकती हैं, जैसे दिन दिन के सतियों के उपदेश, सखत साक्षिण्य, प्रचुर परिचय आदि से
भी 'प्रियकर को धीरे-धीरे हडाना' रूपवाच्य सिद्ध हो सकता है, अतः उसको सिद्ध
करने के लिये विप्रलम्भ रति की ही विरोध आवश्यकता नहीं है । फलतः यह सारा
निकला कि वाच्यसिद्धि का अङ्ग वही व्यङ्ग्य कहलाता है, जो वाच्यसिद्धि का एक मात्र
कारण हो, विप्रलम्भ-रति-रूप-व्यङ्ग्य ऐसा नहीं है, अतः वह गौण नहीं हुआ फिर
यह 'तत्पगताऽपि' इस पद्य को उत्तमोत्तम काव्य क्यों नहीं बना सकता ? यदि आप
कहें कि जब सत्युपदेशादि से भी 'तत्पगता' का वाच्य सिद्ध हो जाता है, तब उक्त
वाच्य से विप्रलम्भ रतिव्यङ्ग्य होगी ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि आभिक सहृदयों के
हृदय में पहले यही बात उठ खड़ी होती है कि 'नववधू होकर भी जो यह धीरे धीरे स्वाह-
पतित-पति-क्यों को हटा रही है, बरद नहीं, वह आसन्नविरहकालिक प्रेम की फल-

है। इसको बिना ध्वनित किए संख्युपदेशादि से होने वाला मान्य (धीरे धीरे हटाना) पर-आनन्द (जिसके सम्बन्ध में 'प्रह्लादस्वादस्तोदरः' कहा हुआ है) के आस्वाद का विषय हो भी तो नहीं सकता।

तुल्यन्यायादावष्टे—

इत्थं 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपदेष्वधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्यातिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शङ्कनीयः।

अधमत्वं नायकस्य। व्यङ्ग्यातिरिक्तेन दूतीसम्मोयरूपव्यङ्ग्यभिधेनापराधान्तरनिमित्तकं दुःखदातृत्वरूपेणार्थेन। आपाततस्तत्काले, पर्यन्ते त्वन्यत्र तात्पर्यविरहाद् दूतीसम्मोय-निमित्तकदुःखदातृत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्। निष्पन्नशरीराणि कृतोपपादनानि, वाच्यधम-त्वस्य दूतीसम्मोयगतिरिक्तापराधैरप्युपपादयितुं शक्यत्वात् गुणीभावो व्यङ्ग्यस्य।

इसी तरह 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि पदों में भी अधमत्व प्रभृति वाच्य की सिद्धि जैसे व्यङ्ग्य दूती-सम्मोय से हो सकती है, वैसे ही अपराधान्तर (नायक के दूती-सम्मोय से भिन्न अपराध) से हो सकती है, अतः उक्त व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का एक मात्र कारण नहीं है। इसलिये न वह व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धि काव्यज्ञ हुआ, न गौण, यह विदित करना चाहिये।

अधमत्वस्य वाच्यस्योपपत्तिर्यथा व्यङ्ग्येन दुःखजनकेन दूतीसम्मोयेन विधीयते, तथैव वाच्यार्थप्रत्ययाद्यमरेऽपराधान्तरेणापि विधातुं शक्यत इत्यन्यथाऽनुपपत्तिवैधुर्याद् दूतीसम्मो-गरूपप्रधानव्यङ्ग्यस्य न वाच्याङ्गत्वमिति भावः। ननु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारितावास्तुरूपतया वाच्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोर्भेदं कृतं स्वीकृतं कृपाराध्याया प्रवीति—

अनयोर्भेदयोरनपह्यनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेषः।

अनयोर्दूतमोत्तमोत्तमरूपयोः। भेदयोः काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोः। प्राधान्याप्राधान्याभ्यां व्यङ्ग्यस्येति शेषः। विशेषो वैलक्षण्यं भेदे इति यावत्।

यद्यप्युभयोरपि भेदयोश्चमत्कारिव्यङ्ग्यसद्भावात् तुल्यत्वमेव, किन्तुत्तमोत्तमे व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, उत्तमे पुनरप्राधान्यमिति भेदस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् पृथग्भेदद्वयप्राप्तिरिति इत्यभिसन्धिः।

इदं पुनरत्र विचारणीयम्—'चमत्कारोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यवि-पक्षा' इति ध्वनिकारानुशासने जायते, व्यङ्ग्यस्य यदीह वाच्यापेक्षया चमत्कारोत्कर्षः, तर्हि नाप्राधान्यम्, अथाप्राधान्यम्, तर्हि न चमत्कारोत्कर्षः। यदि च व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्कर्षेऽपि वाच्योपपादकतयाऽङ्गत्वमिष्यते, तदा तदङ्गत्वमप्यकिञ्चित्करम्, चमत्कारोत्कर्षनिबन्धनस्य शिष्टपरिपाटीसम्मतप्राधान्यस्य तथाप्यव्याहतत्वात्। किञ्च यत्र तुल्यचमत्काराधा-यकत्वे न वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं सन्दिग्धं वा प्राधान्यम्, तयोर्गुणीभूत-व्यङ्ग्यप्रकारयोर्भवन्मते कुत्रान्तर्भावः? न चाव्याप्तिरेषितुं शक्यते, 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये। आमद-न्यथ चो मित्रमन्वथा दुर्मनायते।' 'हरस्तु किञ्चित् परितुप्तपैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बु-राशिः। उमासुखे विम्वफल्ग्वधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।' इत्यनयोश्चमत्कारस्यापला-पानर्हत्वेन मध्यमकाव्यतायाः सर्वसम्मतत्वात्।

यद्यपि उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन् दोनों वाच्य-भेदों में व्यङ्ग्य चमत्कारजनक रहता है—व्यङ्ग्य की चमत्कार-जनकता का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, तथापि उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य प्रधान रहता है और उत्तम का अधिपान अर्थात् उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य वाच्य-

सिद्धि का अङ्ग नहीं रहता और उच्चम काव्यरूप वाच्य-सिद्धि का अङ्ग रहता है, इसलिये इन दोनों भेदों में एक की अपेक्षा दूसरे में कुछ विशेष अवश्य है, जिसे सहृदयहृदय वाले ही समझ सकते हैं। दोनों प्रभेदों को एक ही क्यों नहीं मान लिया जाय इस शङ्का का अवसर नहीं है। यही इस विशेष प्रदर्शन का तात्पर्य है।

‘प्रहरविरतौ’ इत्यादावप्यन्यदोक्षितप्रतिपादितं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं निरस्यति—

यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम् ।

चित्र-मीमांसाकार अप्यप्यदोक्षित द्वारा दिये गये गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण का खण्डन करता है—‘यत्तु’ इत्यादि। चित्र-मीमांसाकार ने जो कहा है।

बालाप्रियस्य प्रवासनिवृत्तिकारणं कथिद् व्याहरति—

‘प्रहरविरतौ मध्ये बाह्वस्ततोऽपि परेण वा,

किमुत सकले याते वाऽहि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।

इति विनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य वियासतो

हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥’ इति ।

हे प्रिय ! वल्लभ ! (प्रवासान्तर्ग पुनः) त्वं, प्रहरस्यैकयामस्य, विरतौ समाप्तौ । वाऽपवा, अहो विरसस्य, मध्ये प्रहरद्वयान्तराले ! वा यद्वा, ततोऽपि मध्याह्नतोऽपि, परेण पश्चादपराह्णे तृतीयप्रहर इति यावत् ? किमुत वा किंवा, सकले सम्पूर्ण, अदि दिनै, याते विगते सायं समये सति, इह मदन्तिके, एष्यस्यागमिष्यसि ? इतीत्येवं रूपै, सबाष्पगलज्जलैर्वाष्प-वक्षिष्पतदधुमिश्रितै, आलापै प्ररनात्मकमापणै, दिनाभा शतेन (ननु पञ्चपैदिनै, पक्षेण, मासेन वा) प्राप्यं गन्तुं योग्यं (दूरतर) देशं जनपदं, वियासतः कर्मानुरोधेन गन्तुमिच्छतः, प्रियस्य वल्लभस्य, गमनं प्रस्थानं, बाला नववधूर्मुग्धा हरति निवारयतीत्यर्थः । पृष्ठी छन्दः ।

अस्मिन् पद्ये प्रियपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वम् । अलशब्दस्य धृष्यकयनाद् बाष्प उष्णमाश्रम् । अयि च प्रभेण प्रहरान्तमध्याह्ना-पराह्ण-दिनान्तमाश्रस्य प्रियागमनसमयस्य, नायिकया प्ररनगोचरी-हरणेन व्यज्यमानम् ‘समस्तं दिनमेव परमोऽवधिस्तद्विरहे नम जीवनस्य, दिनात्परं तु त्वदनागमने बाहं कथमपि जीविष्यामीति वस्तु’ आलापै प्रियस्य गमनं बाला हरतीति पदकदम्बकाभिधीयमानस्य बालाकर्तृकालापकरणकप्रियगमननिवारण-स्योपपादकतायाऽङ्गमिति धातुसिद्धयङ्गव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति दीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम्, यतस्तत्र बाष्पवद्विगलदधुमिश्रितालापरूपं वाच्यमेव गमननिवारणलक्षणं व्यङ्ग्य-मुपपादयितुमीडे, न ॥ तदर्थं व्याख्यापेक्षा । तादृशालापाना गमननिवारणन्या प्रति प्रहृ-ष्टतमकारणत्वरूपकरणत्वाभावे कण्ठे तृतीयाऽनुपपत्तिश्च वाच्यस्यैव वाच्योपपादकता साधयति । तस्माज्ज्ञात्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, किन्तु व्यङ्ग्यस्य पार्थन्तिकविश्रान्तिधामतया ध्वनित्वमेव ।

कोई नवोढा का पति, किसी दूर देश में जाने के लिये उत्सुक था यात्रा की सब तैयारी कर चुका था, परन्तु गया नहीं, क्यों ? इसका कारण किसी ने बतलाया है—‘प्रहरविरतौ’ इत्यादि। प्रिय ! क्या तुम एक पहर के बाद छोट आओगे या दोपहर में अथवा उसके भी बाद ? किंवा समूचा दिन बीत जाने पर ही लौटोगे ? गरम-गरम आँसू-सहित इन आलापों से बाला (नवोढा), जहाँ सैकड़ों दिनों में पहुँचा जा सकेगा, उस देश में जाने के लिये उषत अपने प्रेमी के गमन का कारण कर रही है।

तदाह—

अत्र सकलमहः परमावधिस्त्वतः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्धयङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति, तन्न,

सबाष्पगलज्जलानां 'प्रहरविरता' वित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपधा-
न्यसिद्धयङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् । 'आलापै'रिति तृतीयया प्रकृत्य-
र्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः ।

गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रकृत्यर्थस्याल्पपदवाच्यत्वम् ।

पूर्वोक्लिखितवाच्यव्यङ्ग्यभयोर्मध्ये प्रियगमनहरणरूपवाच्यसिद्धयङ्गतया वाच्य एव विनि-
गमनाहेतुः करणतृतीयैवेति पृथक् तदुपन्यासो बोध्यः ।

इस श्लोक में नवोदनायिका अपने प्रेमी से एक पहर के बाद, दो पहर में, अपराह्न में, अथवा शाम तक आने की बात पूछती है और उसके बाद में आने की बात नहीं पूछती—अर्थात् कल, परसों, तरसों, आजोगे, ऐसा प्रश्न नहीं करती जिससे सारा दिन पूर्ण अवधि है, उसके बाद तोरे विरह में मैं न जी सकूँगी यह व्यङ्ग्य होता है । परन्तु यह व्यङ्ग्य प्रेमा के गमन का निवारणरूप वाच्य की सिद्धि में अङ्गभूत है अर्थात् मेरी का गमन अभी एक सकता है, जब वह यह जानले कि 'यह मेरी नकोड़ा प्रेयसी मेरी अनुपस्थिति में एक दिन के बाद न जी सकेगी' । इस तरह से वह व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि के अङ्ग हो जाने से गौण है और चमत्कारी भी, अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है । परन्तु यह चित्रमीमांसाकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उाण-अधुधारा-मिश्रित 'बया तुम एक पहर के बाद छोड़ आजोगे' इत्यादि उक्ति से ही 'प्रियगमन-निवारण रूप वाच्य उपपन्न हो जाता है इसके लिये व्यङ्ग्य की कोई अपेक्षा नहीं है—अर्थात् व्यङ्ग्य अवगत होने पर ही वह वाच्य उपपन्न होगा ऐसी बात नहीं है, 'आलापै'—आलापों से यहाँ करण अर्थ में तृतीया हुई है और करण वही कहलाता है जो क्रिया का प्रकृततम साधक हो, अतः यह सिद्ध हुआ कि वक्त आलाप ही निवारण क्रिया को सिद्ध करने वाले हैं । अतः उक्त व्यङ्ग्य गौण नहीं है, फिर यह पक्ष गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण कैसे हो सकता है ? यह तो ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य का ही उदाहरण है, क्योंकि उक्त वस्तु व्यङ्ग्य बहुत ही चमत्कारी है और प्रधान भी ।

पुनराशङ्क्य समापत्ते—

न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्धयङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्,
'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादाविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्धयङ्गताया दूतीसम्भो-
गादौ सम्भवाद् गुणीभावापत्तेः ।

व्यङ्ग्यस्य तत्पर प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीत्यस्य । अपिनाऽऽलापरूपो वाच्यार्थः
समुच्चोयते ।

गमननिवारणरूपवाच्यस्य तादृशाल्परूपवाच्येनोपपत्तावपि, तत्परमित्यादिव्यङ्ग्य-
स्यापि वाच्योपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गताया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्य काव्यस्य न दुर्-
क्षमिति न युक्तम्, यत एवं सति, 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादावपि नायकाधामत्वरूप-
वाच्यस्य निश्शेषस्तनचन्दनच्यवनारूपवाच्येनैवोपपत्तावपि दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यस्यापि
तदुपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गताया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं भवतोऽप्यनभिमतमापद्यते ।
तस्माद् वाच्येनैवोपपत्तौ, व्यङ्ग्यस्योपपादकत्वसम्भवेऽपि न गुणीभाव इति भावः ।

उक्त चण्डन के बाद क्षीयित मतको स्थिर करने वाली एक और नवीन युक्ति का
उत्थान का पुनः चण्डन करते हैं—'न च' इत्यादि । यदि आप कहें कि 'प्रहर विरता' यहाँ
'आलापों से' इस तृतीयास्त पद के वाच्यार्थ से यद्यपि 'गमननिवारण' रूप वाच्य की
सिद्धि होती है, तथापि उक्त व्यङ्ग्य से भी तो उस वाच्य की सिद्धि हो सकती है, अतः एवं
हमने उस व्यङ्ग्य को गुणीभूत कहा है, तो यह युक्ति भी आपकी सगत नहीं है क्योंकि
वाच्य सिद्धि की क्षमता मात्र रखने पर यदि व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाय तो 'निरनोपच्युत-

चन्द्रम' इत्यादि पद्य में भी 'द्विती सम्मोग' रूप व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जायगा, क्योंकि वह व्यङ्ग्य भी नायक को अधमत्तारूप वाच्य को सिद्ध करने की योग्यता रखता है, और उस द्वितीसम्मोग को गुणीभूत मानना तो आपको भी इष्ट नहीं है, अतः ऐसा मानना चाहिये कि वाच्य से यदि वाच्य को सिद्ध हो जाती हो सब व्यङ्ग्य से उसकी सिद्धि की सम्भावना रहने पर भी उस (व्यङ्ग्य) को गुणीभूत नहीं समझा जाय।

ननु नायिकायास्तादृशालापा नायकस्य गमनोत्तरं विदेशे विरहितेतिवारकत्वेनापि कृतकृत्या भवितुं शक्नुवन्तीतिपूर्वोक्ताच्योपपादनसामर्थ्यमिह व्यङ्ग्यस्यैव, न वाच्यस्यापीति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युपगत्य प्रकृष्टान्तरेण ध्वनित्वं व्यवस्थापयति—

अस्तु वा 'ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यस्य वाच्य-सिद्धयङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायकादेर्विभावस्य, वाष्पादेरनुभावस्य, चित्तावेगादेश्च सञ्चारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं फो-
तिवारयेत्।

अस्तु वेत्यभ्युपगमार्थस्य गुणीभाव इत्यनेन सम्बन्धः। तथाऽपि तादृशसंलक्ष्यक्रम-
व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि। ध्वनित्वं ध्वन्यस्येति शेषः।

यद्यपि वस्तुलक्षणं व्यङ्ग्यमिह गुणोभयति, तथाऽपि विप्रलम्भशृङ्गाररसरूपव्याप्त्यस्य
प्राप्त्यनेन काव्यस्य ध्वनित्वं केत्स्वत्येवेत्याशयः।

नागेराभश्चस्तु—'आन्तरालिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यादिव्यवहारस्योप-
पन्नानतया विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्' इति किन्तुम्, अन्यथा 'प्राप्ततृणम्'
इत्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्योपपन्नाराधुकोदाहरणानामप्यसद्व्यापत्तौ व्याकुलीत्यात्। रात्रापि
व्यङ्ग्यसङ्केतमन्नेन वाच्यमुपमातिन्यातिशयस्यानुभावमुलेनैव विप्रलम्भाभासोपपन्नम्, न
केवलेन सङ्केतमन्नेन, तस्याकर्तव्यत्वबुद्ध्याऽपि सम्भवात्' इतीह व्याजहुः।

न हि सर्वत्र पार्यन्तिकेनैव व्यङ्ग्येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यपदेशः, किन्त्वान्तरालि-
केनापि सः। इतरथा 'प्राप्ततृणम्' इत्यादौ पार्यन्तिकव्यङ्ग्ये शृङ्गाररसामासे जायते,
ध्वनित्वस्यैवानिर्धार्यतयाऽऽन्तरालिक वस्तुरूपव्यङ्ग्यमादाय विहित आलङ्कारपरम्पराया
गुणीभूतव्यङ्ग्यवसिद्धान्तो नितरा व्याकुष्येत। तस्मादयं पण्डितराजस्य प्रौढिवाद एवेति
सदभिप्रायः।

उक्त वस्तुव्यङ्ग्य को गुणीभूत मान लेने पर भी 'ग्रहर विरती' इत्यादि पद्यको मुख्य
विप्रलम्भ-शृङ्गाररूप व्यङ्ग्य के अनुसार ध्वनिकाव्य का ही उदाहरण मानना समुचित है,
यही बात अब कहते हैं—'अस्तु वा' इत्यादि। तात्पर्य है कि यदि आप कहें कि नायिका के
'एक पहर वाद आलोगे' इत्यादि अभ्युमिश्रित आलाप तो 'विदेश में अधिक द्वितीं तक
नहीं ठहरना' इस बात को सिद्ध करके भी परिहार्य हो सकते हैं, फिर उन आलापों में
'सर्वथा जाने का निवारण' रूप अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य यदि
है तो 'उसके बाद मैं न जो सकूँगी' इस व्यङ्ग्य में ही, अतः यह व्यङ्ग्य गुणीभूत अवश्य
है। इस पर पण्डितराज कहते हैं—अच्छा, उक्त व्यङ्ग्य को वाच्यसिद्धि का अङ्ग बनाकर
गौण समक्षिये किन्तु नायक प्रभृति निभाव, अभ्यु आदि अनुभाव तथा चित्तावेग आदि
सचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार के कारण जो ध्वनि काव्यता
इस पद्य में प्राप्त होती है, उसको कौन रोक सकता है। वस्तुतः यहाँ दीक्षित मत के खण्डन
करने में पण्डित राज जगन्नाथ का दुराग्रह हो झलकता है। क्योंकि सर्वत्र परम व्यङ्ग्य के
आधार पर ही 'ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य की व्यवस्था हो, आन्तरालिक (बीच के)
व्यङ्ग्य के आधार पर नहीं, ऐसा नियम आलङ्कारिकों से जाटत नहीं है, अन्यथा (तादृश-

नियम के आक्षर करने पर) 'ग्रामतरणम्' इत्यादि पद्य में भी चरम शृङ्गारसामास रूप व्यङ्ग्य के आधार पर ध्वनि काव्यता ही हो जायगी, फिर तो 'सकेत भग' रूप वीथ के व्यङ्ग्य को आधार मान कर उक्त पद्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना आलङ्कारिकों का असंगत ही हो जायगा। इस दृष्टिकोण से देखने पर 'इसके बाद मैं न जी सकूँगी' इस आन्तरालिङ्ग व्यङ्ग्य को आधार मानकर 'प्रहर-विरती' इत्यादि श्लोक को गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना दीक्षित का अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

अथ तृतीयप्रकार मध्यमकाव्यं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ।

व्यङ्ग्यचमत्कारस्याधिकरणोऽवर्तमानो व्यङ्ग्यचमत्कारसमानाधिकरण । तत्त्वं च वाच्य-चमत्कारे व्यङ्ग्यचमत्कारस्यास्फुटत्वात् ।

यत्र काव्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिजन्यचमत्कारो लेशतः प्रादुर्भवन्नपि वाच्यप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य सर्वतोमुखीनस्थान्तर्निर्गोर्ण स्पष्टतयाऽनुभवगोचरता नाचमति, तत् तृतीयं मध्यमं काव्यमित्यर्थः ।

इह व्यङ्ग्यचमत्कारस्य सर्वथाऽसङ्ग्राह्यस्तु नाभिधेय, तथासति वाच्यचमत्कारस्याप्यसम्भव इत्यनुपपत्तये स्फुटीकरिष्यति मूलकृत् ।

अब काव्य के तृतीय भेद 'मध्यम' का लक्षण करते हैं—'यत्र' इत्यादि। जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे—अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार लघु भग में रहकर भी ग्राह्य वाच्य अर्थ के चमत्कार में सम्मिश्रित हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत न हो, वह 'मध्यम' नामक काव्य कहलाता है।

मध्यमं काव्यमुदाहरति—

यथा यमुनायर्णने—'तनयमैनाकागवेषणलम्बीकृत-जलाधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरि-रिमुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति ।

तनय (हिमालयस्य) सुतश्चासौ मैनाकस्तज्जामा रौलः, तस्य (इन्द्रभिषा समुद्रान्तर्-र्णनस्य) गवेषणायान्वेषणाय, लम्बीकृताऽऽयतीकृता, जलधे समुद्रस्य, जठर उदरे, प्रविष्टा, हिमगिरेर्हिमावसस्य, भुजा बाहुरिषाचरतीति तस्या, भगवत्या परमेश्वर्या, भागीरथ्या गङ्गाया, सखी सहचरी, यमुनैत्यर्थः ।

अत्र श्वेतायतनपूरप्रवाहा गङ्गा हिमालयस्य भुजैव, समुद्रपूरे निमग्नस्य तनयस्य मैनाक-स्यान्वेषणाय प्रविष्टेति सहशाचारार्थकस्य च सत्त्वादुपक्रम उपमाया, पर्यवसाने तु सम्भावनाया प्रतीतिरुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कारस्य कारणम् । गङ्गाया स्वच्छता-पाताल-पर्यन्तानुधावनप्रवृत्तिर्यद्यपि पश्चात् प्रतीतिपदवीमवतरदपि तावन्तमेव चमत्कारं कर्तुं प्रभवति, यावान् वाच्यचमत्कारकुशलेव निक्षिप्तो भवति, न त्वधिकं शृङ्खलं प्रतीयते, यथा स्वभावगौराङ्गपाङ्गमिहनायिकया कल्पितस्य काश्मीरदेवेणाङ्गरागस्य प्रभया तस्या व्यज्ञाना गौरता तिरोहीयते ।

ततश्चात्र व्यङ्ग्यचमत्कारस्य वाच्यचमत्कारे निक्षिप्ततयाऽस्फुटत्वाद् व्यङ्ग्यचमत्कारा-समानाधिकरण्यं वाच्यचमत्कारस्येति तृतीयप्रकारत्वमित्याशयः ।

मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा यमुनायर्णने' इत्यादि । (यह यमुना) उस गङ्गा की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को खोजनेके लिये छत्र की हुई तथा समुद्र के उदर में पेड़ी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है ।

तदाह—

अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः । नैत्य-पातालतलचुम्बित्वादीनां चमत्कारो
लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरानिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पितकारमीर-
द्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते ।

एवकारः शैत्यादिव्यङ्ग्यं व्यवच्छिन्नति । चमत्कृतिहेतुत्वं ज्ञानद्वारकम् । मैनाकस्य समु-
द्रान्तःपातालद्वारस्यतया पातालतलचुम्बित्वप्रतीतिः । सन्नपीति कथनेनात्रभेदे व्यङ्ग्यचम-
त्कारसद्भावनिवेशाभावः पुष्यते । नायिकया नागरिकेतरत्वेन प्रसाधनानभिज्ञता सूच्यते ।
कारमीरं सम्प्रति 'केसर' इति प्रसिद्धं गन्धद्रव्यम् । इवो रसः । यथा प्रसाधनानभिज्ञया प्राम्ण्य-
नायिकया स्वतः सुप्रमाजनकमपि स्वकीयाङ्गगौरव्यं कल्पितेन पीततरकारमीराङ्गरागेणाच्छा-
दितं नैव मुह्यतमां सुप्रमां जनयति, तथा प्रकृतोदाहरणे व्यज्यमानतया यत्किञ्चिच्चमत्कार-
जनकोऽपि भागोरयोश्चेतिमादिष्वमत्कारकतमवाच्योत्प्रेक्षाचमत्कारेणाच्छादितः प्राधान्यं नाद-
धातीति काव्यतृतीयप्रभेदत्वमेवैतस्येति तात्पर्यम् ।

यहाँ संस्कृत में 'व्यङ्' प्रत्यय से और हिन्दी में 'मानो' पद से वाच्य होने वाली
उत्प्रेक्षा (अलङ्कार) ही चमत्कार का कारण है । यहाँ उत्प्रेक्षा कुछ नहीं अवित्त उपमोप-
क्रमोत्प्रेक्षा है, यह समझना चाहिए क्योंकि 'व्यङ्' प्रत्यय सहस्र आचार अर्थों में व्याकरण से
अशुद्ध है, अतः आरम्भ में उपमा की प्रतीति होती है, परन्तु अन्त में समावना की ही
प्रतीति स्थिर रहती है । यद्यपि इस गद्यांश में, गङ्गा में की गई हिमालय-मुनोत्प्रेक्षा से
गङ्गा की 'श्वेतता' और 'पुत्र मैनाक को खोजने के लिये समुद्र के उदर में पैड़ी हुई' इस
वक्ता से गङ्गा का 'पाताल के तह तक पहुँचना' व्यङ्ग्य होतो है, जो किसी अंश में चमत्कार-
जनक भी है ही, तथापि वह चमत्कार वाच्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार के भीतर छिपा हुआ है,
जैसे किसी प्राम्ण नायिका की गौरता, केसर-रस के लेप के भीतर छिप जाती है । कहने
का सारांश यह है कि वाच्य उत्प्रेक्षा की प्रतीति से होने वाला चमत्कार स्पष्ट है—प्रदीप्त है,
और उसके सामने उक्त व्यङ्ग्य की प्रतीति से पीछे होने वाला चमत्कार अस्पष्ट है—छीप
है, अतः यह मध्यम काव्य का उदाहरण ठीक है ।

सर्वथा व्यङ्ग्यासद्भावनिवेशाभावबीजमुपपादयति—

न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो
रमणीयतामधातुं प्रभवति ।

मैनागीयत् । अनानुष्टप्रतीयमानोऽस्पृष्टव्यङ्ग्यो व्यङ्ग्यसम्बन्धशून्य इति यावत् । व्यङ्ग्य-
सम्बन्धेनैव वाच्यस्य चमत्कारिता, सर्वथा तदभावे तु रमणीयताविरहात् काव्यत्वमेव न
स्यादतो यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसम्बन्ध आवश्यकः । अत एव व्यङ्ग्यासद्भावो न निवेशित इति भावः ।

इस मध्यम नामक काव्य के तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है,
क्योंकि कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा है ही नहीं, जो थोड़ा भी व्यङ्ग्य अर्थ के साथ बिना
सम्बन्ध रखे स्वयं चमत्कार को पैदा कर सके—अर्थात् वाच्य अर्थ की चमत्कारी होने के
लिये यह नितान्त आवश्यक है । उसका सम्बन्ध किसी व्यङ्ग्य से रहे । फिर यदि इस
तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना ही अभीष्ट मान लिया जाय, तब तो असम्भव
ही हो जायगा—एक भी लक्ष्य नहीं मिलेगा ।

• नन्वलङ्कारप्रधानानि काव्यान्तेषु प्रयेदेषु कान्तर्भवन्तीत्यानवधारयामभिधाति—

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं
निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम् ।

एवशब्दः प्रथमचतुर्थप्रकारव्यवच्छेदकः । जागरूको 'रायविरह'—इत्यादीनि चमत्का-

रविरोषापायकतया चर्वणामोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादकत्वेनाप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्र, तथाऽजागरूक 'तनयमेनाक' इत्यादाविव चमत्कारविशेषानाघायकतया चर्वणाऽगोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपेक्षयाऽप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्रेति च बहुमोहिः । इत्यमलङ्कारमत्कारितया प्रधानं यत्र तदलङ्कारप्रधानम् । अलङ्कारपदमर्थालङ्कारपरं सन्दर्भशुद्धयनुरोधतः ।

इदमुच्यते—समासोक्तिप्रभृतिष्वलङ्कारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितया तत्प्रधानककाव्यस्य द्वितीयभेदेऽन्तर्भावः । दीपकादिष्वलङ्कारेषूपमाऽऽदिरूपव्यङ्ग्यस्य तु तदभावात् तत्प्रधानकाव्यस्य तृतीयभेदेऽन्तर्भावः । इत्यमलङ्कारप्रधानं सकलमपि काव्यमुक्तभेदद्वय एवान्तर्भवति ।

अलङ्कार प्रधान काव्यों का अन्तर्भाव किस भेद में होगा ? इस जिज्ञासा की शान्ति करते हैं—'अनयोरेव' इत्यादि । इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) ही भेदों में व्यङ्ग्य यद्यपि गुणीभूत रहता है, तथापि, एक (द्वितीय) में, व्यङ्ग्य, जागरूक—अर्थात् चमत्कार-विशेषजनक होने से अनुभव योग्य रहता है, और एक (तृतीय) में व्यङ्ग्य, चमत्कार-विशेष-जनक नहीं होने से अनुभव के अयोग्य । अतः समासोक्ति प्रभृति जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग्य गौण होकर भी चमत्कारी हों उन अलङ्कारों से पुक्त काव्यों का द्वितीय भेद में और दीपक आदि जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग्य गौण तो हों ही, साथ-साथ चमत्कारी भी नहीं हों, उन अलङ्कारों से पुक्त काव्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए ।

अथ चतुर्थ प्रकार काव्यस्य लक्षणम्—

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् ।

शब्दार्थयोश्चमत्कृतिजनकतमलङ्कारनिमित्तकं प्रतीतिद्वारकं च । उपस्कारो गुणाधानम् । अत एवाज्ञता शब्दचमत्कृतावर्षचमाकृते ।

यत्र हि वाच्यार्थप्रतीतिजन्यचमत्कारोपेक्षितस्य शब्दप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य प्राधान्यम्, न तु कथञ्चित् सतोऽप्ययोग्यतयाऽविश्रितस्य व्यङ्ग्यस्य, तदधमं नाम चतुर्थं काव्यमित्यर्थः ।

अथ काव्य के चतुर्थ प्रकार 'अधम' का लक्षण करते हैं—'यत्रार्थचम' इत्यादि । जिस काव्य में वाच्य अर्थ के चमत्कार से परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो, उसको 'अधमकाव्य' कहते हैं । इस काव्य में भी कुछ न कुछ व्यङ्ग्य अवश्य रहता है, परन्तु वह रह कर भी चमत्कार जनक न होने से अविवक्षित रहता है अतः उसकी प्रधानता नहीं रहती ऐसा समझना चाहिए ।

चतुर्थ काव्यमुदाहरति—

यथा—

भक्त कश्चिद् भगवन्त स्तौति—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवरात्रवे ।

गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' इति ।

मित्र सूर्योऽत्रिपुत्रश्चन्द्रश्च नेत्रे यस्य, तस्मै, त्रय्या ऋग्यजुस्तामवेदाना शात्रवस्याप-
हारकतया रिपोर्हयप्रतिदेवस्य रात्रवे नाशकाय, गोत्राण्य पर्वताना पक्षच्छेदनादरेरिन्द्रस्य
गोत्रजान् वंश्यान् देवास्त्रयते रक्षतीति तयामृताय, गो पृथिव्या गवां धेनूना वा प्रात्रे रक्ष-
काय, ते विष्णवे नमो नमोऽस्तिवति विष्णुपक्षेऽर्थः । शिष्यपक्षे तु त्रय्या ध्वसनाच्छात्रवशा-
ममुराणाम्, यद्वा त्रय्या विज्ञानप्रतिबन्धनाच्छात्रवस्य कामदेवस्य रात्रवे, गोर्हयस्य प्रात्रे, ते
शिवायेति विशेषः ।

तथा च 'सूर्याचन्द्रमसौ विराज' पुरुषस्य दक्षिणवामे चक्षुषी' इति प्रसिद्धिः । 'मित्र

सुद्धि न ह्यो । पुंसि सूर्ये 'गोत्र, शैले गोत्रं कुलाख्ययो' इति मेदिनी । 'त्रियामृत्साम-
यजुषी इति वेदाख्यत्रयी' इत्यमरः । 'गोः स्वर्गे इयमे रस्मौ यज्ञे शीतकरे पुमान् । अर्जुनी-
नेत्रदिग्वाण-भूषणादिषु योषिति' इति विश्वः ।

इह इत्यनुप्रासस्तनवशब्दालङ्कारप्रयोज्यधर्मत्वात् एव कविसंस्मृमौचरतया प्रधानम् ।
वाच्यार्थप्रतीतिजन्मा, भगवद्विषयक-वर्तुनिष्ठ-रतिभावादिब्यङ्ग्यप्रतीतिजन्मा वा लेशतः
सद्यपि ननत्कारोऽस्तुत्वालोकोऽङ्गतामेव भजतीति निर्वापयतुर्यथा-यलक्षणसमन्वयः ।

चतुर्थे 'अधम' काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा, मित्रात्रि' इत्यादि । कोई भक्त
मगरान् की स्तुति करता है—मित्र-सूर्य और अत्रिपुत्र-चन्द्र जिनके मेघ हैं, त्रयी वेदों
के शत्रुओं (भसुरों) के जो शत्रु हैं तथा गोत्र-पर्वत के लरि-शत्रु (दृष्ट) के गोत्रजों-
वंशजों (देवताओं) के प्राता-रचक हैं, उन गोत्राता (गोपाल) अथवा घृणमवाहन
(शिव) भावको बार-बार नमस्कार है ।

तदाह—

उत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृती लीना ।

यहाँ इत्यनुप्रासरूप वाच्यशब्दालङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है क्योंकि कवि का मुख्य
प्रयास उसी वंश में हुआ है यह शब्द ध्वज से स्पष्ट प्रतीत होता है । अर्थ का चमत्कार
अथवा भक्तनिष्ठ भगवद्विषयक भावरूप व्यङ्ग्य का चमत्कार लेशतः यद्यपि है तथापि
वह शब्द के चमत्कार में क्षिप्त हुआ है ।

न्यायप्राप्तस्य काव्यपद्यमप्रकारनिरूपणस्याकरणान्यूनतामापादयति—

यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पञ्चममधमाधममपि
काव्यविधासु गणयितुमुचितम् । अर्थकात्तर-पदार्थावृत्तियमक-पद्यबन्धादि ।

काव्यस्थ विधा प्रवारः । एकाक्षरानुप्रासो यथा—'दाददो दुददुदादो दादादो दूददो-
ददोः । दुदादं दददे दुदे ददाददददोऽदद' । इति । तनुप्रापरनामकं पदार्थावृत्तियमकं
यथा—'अयशोऽभिदुरालोके कोपधामरणादते । अयशोभिदुरालोके कोपया मरणादते ॥'
इति । पद्यबन्धो यथा—'मारमागुपया चाहृत्वा मारवभूतना । मातृवृत्तमावासा सा दाना
मेऽस्तु मारया ॥' इति । अक्षिपदेन द्वयस्तरानुप्रासमहायमकपराख्यपद्यावृत्तियमक-चक्र-
खड्ग-मुरज-हार-नाग-शक्ति-गौमूत्रिक-सर्वतोभद्रवन्द्यादीनि शुक्लशब्दसप्तविंशति
शृङ्खन्ते ।

नित्राप्रोत्यादिपद्येऽर्थचमत्कारोऽस्तुद्योऽप्यस्त्येव । यत्र पुनरेकाक्षरानुप्रासादिशालिपद्येषु
ध्वनमर्थचमत्कारो नास्त्येव, किन्तु केवलं शब्दचमत्कारः स्फुरति, तादृशानामपि बहूनां
अन्यानामुपतन्माञ्छब्दचमत्कृतिमात्रवान् पद्यमोऽपि काव्यप्रकारः कुणो नात्र गणित
इत्यभिप्रायः ।

यद्यपि जिस काव्य में अर्थ का चमत्कार बिल्कुल नहीं हो और शब्द का चमत्कार हो
जैसे एकाक्षरपद्य, अर्थावृत्तियमक, पद्यबन्ध आदि, उस काव्य के पूर्ववर्ती भेद 'अधमाधम'
की भी गणना काव्य प्रमेदों में करनी चाहिए ।

समादधाति—

तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दसारूप-काव्यसामान्यलक्षणानाकान्ततया
वस्तुतः काव्यत्वामावेन, महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरन्धानैस्तत्रतत्र काव्येषु
निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात् ।

अर्थ मान, —एकाक्षरविचित्रार्थिकचमत्कारस्य सर्वथाऽनुपलम्भाद् रमणीयार्थप्रति-

पादकशाब्दत्वरूपं बहुक्तकाव्यसामान्यलक्षणमेव यदा न समन्वेति, तर्हि तेषु मन्मते वास्तविकं काव्यत्वमेव नास्तीति कुतस्तत्प्रकारत्वेन तेषां गणना स्यात् । अथ वा तदगणने ग्रन्थस्य न्यूनता स्यात् ।

ननु माघादिमहाकविभिरिशुपालवधादिमहाकाव्येषु सञ्जिवेशितानामेकाक्षरादिचित्राणां कथं काव्यत्वमिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषु वास्तविकं काव्यत्वम्, रमणीयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वाभावात् । तैस्तु भूतानुगतिकत्वयैव प्राचीनानां महाकवीनां परम्परायां अनुरोधेन तथा विहितम्, न तु वस्तुतत्त्वविवेकेन । तद्विवेकपुरस्सरं प्रवर्तमानैरस्माभिस्तु तात्कूपशा-रजलन्यायेन तदुपेक्षितमेव, असद्विषये महाजनानुसरणस्यानौचित्यात् ।

तदाहुरिह शास्त्रिणः—‘सर्वथाऽर्थरहितसञ्जिवेशमात्रे चमत्कृत्यनिर्वाहकतया हुष्करशब्द-सञ्जिवेशनिर्वाहणीयविशिष्टवाच्यार्थपीजनकस्यैकक्षरादिचित्रस्य कथञ्चिदपि कृत्याकृत्यप्रवृ-त्तिनिवृत्त्यौदासीन्याच्चमत्कृतिविरोपजनकरवेऽपि काव्यत्वं नास्तीक्रियते । इति ।

वयन्तु—न एकाक्षरादिचित्रेषु ‘सर्वथाऽर्थरहित्यम्, चमत्कृतिराहित्यं वा, अनुभव-विरोधात्, तच्छुभ्रूपया प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तौ । आर्थिक एव चमत्कार काव्यत्वप्रयोजको-न तु शाब्दिक इति त्वन्निष्कर्षोक्त-चित्रोदाहरणेष्वप्यभिप्रेक्षमाणेन प्राचीनस्थितिलङ्घनैक-प्रतेन भवतैव केवलं व्याख्याते, न तु केनाप्यन्येन । कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्यं तु ‘भम धम्मिअ !’ इत्यादावपि तुल्यमेव । एवं सत्यैवचमत्काराच्छब्दचमत्कारस्य निकर्षेऽपि प्राचीनकविपरम्पराऽनुमतं निकृष्टकाव्यत्वमेकाक्षरादिचित्रेषु निर्वाधमेवेति विप्र ।

किन्तु ‘एकाक्षरपद्य’ आदि रचनाओं में जय अर्थकृत चमत्कार शिल्कुल नहीं रहता, तब तो वे शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले नहीं हुए, फिर तो मेरे हिसाब से उन शब्दों में काव्य का सामान्य लक्षण ही सङ्कटित नहीं होता, अतः काव्यप्रभेदों में उनकी गणना करने की बात सर्वथा असङ्गत है । यद्यपि महाकवियों (माघ आदि) ने प्राचीन परिपाटी के अनुरोध से अपने काव्यों में जहाँ तहाँ उस तरह की रचनाएँ की हैं, तथापि हमने उस तरह का काव्य-भेद इसलिये नहीं माना कि वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है न कि अन्धपरम्परा का ।

मम्मटादिमम्मत काव्यस्य त्रिप्रकारत्वमात्रं निराकर्तुमुपक्रमते—

फेचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते ।

केचित् काव्यप्रकाशकारप्रभृतयः प्राचीनाचार्याः, इमानिहोक्तानुत्तमोत्तमादीन्, चतुर काव्यस्य भेदान् प्रकरन्तपि, अगणयन्तोऽप्रन्वाना उत्तमत्वेन मध्यमत्वेनाधमत्वेन च त्रिविधं त्रिप्रकारकमेव, न तु चतुष्प्रकारकं काव्यमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थः । नामानुस्तेखेन तन्मतेऽऽचि सूच्यते ।

उच्च सज्जन काव्य के ये चार भेद नहीं मानते। ये—उत्तम मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं ।

निराकरोति—

तत्रार्थचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेणायमत्यमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुट-मुपलब्धेः ।

अर्थात् लङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यं अर्थचित्रम्, शब्दालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यम् शब्दचित्रम्, तयोरविशेषेण तुल्यतया, अथमत्यं निवृत्तकाव्यत्वं वक्तुमयुक्तम्, तारतम्यस्य तयोर्न्यूनाधिकभावस्य, स्फुट स्पष्टम्, उपलब्धेरनुमवादित्यर्थः ।

अर्थविशेषाधिकृतमत्कारस्य शब्दविशेषे च न्यूनचमत्कारस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात् काव्य-
प्रकाराकारादिसम्मतमुभयोः साम्यमनुकमित्याशयः ।

इह तत्तमयोर्भावस्तारतम्यमित्यनुकरणे तत्तमशब्दात् ध्यम् । अन्यथा केवलप्रत्यय-
परताया साधुत्वं दुर्गमम् ।

उनके सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि अर्थ-चित्र (अर्थालङ्कारों से युक्त
अविवक्षित व्यङ्ग्य काव्य, जो प्रकृत ग्रन्थ के हिसाब से तृतीय भेद में आता है) और
शब्द-चित्र (शब्दालङ्कारों से युक्त अविवक्षित व्यङ्ग्य, काव्य, जो इस ग्रन्थ के अनुसार
चतुर्थ भेद में समाविष्ट होता है) दोनों को एक सा-अपम-ही कहना समुचित नहीं,
क्योंकि उन दोनों में तारतम्य-न्यूनाधिक भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अर्थात् अर्थचित्र
में अधिक चमत्कार का और शब्द चित्र में उसकी अपेक्षा कम चमत्कार का अनुभव
होता है, फिर दोनों को एक कोटि में घसीट कर लाना अनुचित है

पूर्वोक्तमनुकिसुपपादयति—

को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानवमात्ममन्दिरान्' 'स छिन्नमूलः क्षतजेन
रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद्-' इत्यादीनां पामररताभ्यानामपि-
शेषं द्रुयात् । सत्यपि तारतम्ये यथेकमेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययो-
रीपदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः ।

'भवत्पुण्यस्य यहच्छयाऽपि यम् । ससम्पन्नेन्द्रहुतपातिसार्गल, निर्मालिताक्षीवभियाऽ-
मरावती ॥' इति प्रथमस्य, 'तस्योपरिष्ठान् पवनाकधूलः । आशरशेषस्य हुताशनस्य,
पूर्वोदितो धूम इवानामासे ॥' इति द्वितीयस्य, 'अच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्युच्छदा-मूर्च्छ-
म्नोद्धमहर्षिहर्षनिहितस्नानाद्विक्रान्ताम् वः । भियादुद्यदुदारदुर्दुदरोदीर्वाद्विद्वन्-द्रोहोद्रेक-
गहोर्मिन्दुरमवा मन्दाकिनी मन्दताम् ।' इति तृतीयस्य च पद्यस्य शेषाश्च । प्रथमं मम्मट-
भट्टेन, द्वितीयमप्यमरदक्षिणैः चार्थविशेषादहरणतयोपन्यस्तम्, तृतीयम् मम्मटेन शब्दवि-
शेषादहरणतयेत्यवसेयम् ।

आशयोरुत्प्रेक्षाऽर्थालङ्कारस्येव चमत्कारितया, व्यङ्ग्यस्य लेखात् सतोऽपि चमत्कारानु-
पधानादर्थचित्रत्वमिति सम्प्रदायविदः ।

प्रतीपकारास्तु—'विनिर्गतम्' इत्यादौ ह्ययोवप्रमावातिरायलक्षणव्यङ्ग्यस्य जागरूकतया
विवक्षणादर्पचित्रत्वं व्यपास्य 'मध्ये व्योम स्फुरति सुमनो धन्वन' शाणचक्र, मन्दाकिन्या
विपुलपुलिनाम्भायती राजहंस । अद्भुतदे त्वरितचरणम्यासमाकाशलक्ष्म्या, संसर्पन्त्या-
ध्वजपतितं पुण्डरीकं मुवांशु ॥' इति रूपकप्राबुध्यंशालिनि स्वकीयपद्ये तद् व्यवस्थापयामासुः ।

एवं तत्तारतम्याभिज्ञतया । काव्यार्थभावनापरिपक्वद्विशाली रसास्वादकुशलो वा
सहृदय, आहारादिमात्रनिपुणोऽप्यो प्राम्यजनस्तु पामरः । अविशेषमवैलक्षण्यं तुल्यत्व-
मिति यावत् ।

इदमाकृतम्—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदध्व' इत्यभि-
शुक्तोत्तरान्तविजातीयचमत्कारवत्तया विरुद्धधर्माध्यासाद् विभिन्नयोरपि, शब्दार्थविशेषयो-
र्यथेकप्रकारत्वं स्वीक्रियते, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्यमात्रात्पदेतुक्तभेदभाजोर्ध्वनेर्गुणी-
भूतव्यङ्ग्यस्य च वाक्ययोर्विभिन्नप्रकारत्वं कुनोऽङ्गीक्रियते, तयोरप्येकप्रकारत्वमूरीक्ष्यताम् ।

कौन ऐसा होगा जो सहृदय होकर—

विनिर्गतं मानवमात्ममन्दिरादवत्पुण्यस्य यहच्छयाऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रदुतपातितार्गला निमीलिताचीव भियाऽमरावती ॥^१

तथा

सन्धिचमूलं चतुर्जेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।

अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽवभासे ॥^२

इत्यादि काव्यों के साथ—

रवच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतरांशुच्छटा

मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानादिकाऽह्वाय वः ।

भिन्नादुपदुदारदुर्दरी दीर्घा दरिद्रदुम-

द्रोहोद्वेगमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥^३

इत्यादि काव्यों का केवल निगमश्रेणी के अल्पज जन जिनकी प्रशंसा करते हैं, साध्य कह सकता है। और सारतम्य के रहने पर भी यदि दोनों को एक भेद में गिना जाय, तब जिनमें बहुत ही कम (व्यङ्ग की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अन्तर है, उन 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को अलग अलग भेद में गिनने का कुरामह क्यों? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तिसङ्गत है।

ननु यत्र लक्ष्ये शब्दचमत्कृतिर्यच्चमत्कृतिश्च सदैव तिष्ठत, तस्यातिरिक्तप्रकारत्वं स्यादिति चेत्, न तथोच्यमत्कृत्योऽसामानाधिकरण्येऽपि सूक्ष्मेक्षिकया कचिदेकस्या प्राधान्यमपरस्या अप्राधान्यं लक्षितं स्यादेव। ततश्च पूर्वोक्तलक्षणानुसारमर्थचमत्कृते सूक्ष्मेऽपि प्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वम्, शब्दचमत्कृते प्राधान्येऽधमकाव्यत्व व्यपदेश्य-मित्याह—

यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यम्, तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथातक्षणं व्यवहर्तव्यम्।

ऐकाधिकरण्यं समानाधिकरणत्वम्।

जिस लक्ष्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों साथ साथ हों, वह क्या काव्य का एक अतिरिक्त (पञ्चम) भेद होगा? नहीं तो उसका समावेश किस भेद में होगा? इसका उत्तर वैसे हैं—'यत्र च' इत्यादि। आशय यह है कि यदि किसी काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक साथ रहेगा, तब वहाँ विचार से काम लेना होगा

१ इस पद्य में इन्द्रजीव राक्षस का प्रभाव वर्णित है। इसका अर्थ इस प्रकार है—अपने इन्द्रजीवों को सम्मान देने वाले तथा अनिष्टवर्तों के सम्मान को नष्ट करने वाले जिस इन्द्रजीव का स्वेच्छा-पूर्वक भी (न कि भाग्यमग्न करने के लिये) अपने भवन से निकलना सुनकर बबकाप हुए इन्द्र के द्वारा शीघ्रता से गिरवाई गई है अर्थात् (कीले) जिसमें ऐसी अतरावती (देव-पुत्री) मानी भय से नेत्र मूढ़ ली है।

२ यह पद्य युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग का है। इसका अर्थ इस प्रकार है—सैन्य-सम्पद से जो धूलि उड़ती, उसकी नष्ट शोणित ने काट दी अर्थात् शोणित से घरा आर्द्र हो गई जिससे भूतल से ऊपर उठती हुई धूलि का तौता टूट गया, पर अकाश में धूलि उड़ती ही रही। (इस अवस्था में) वह धूलि ऐसी शोभित होती थी मानी आग के केवल अङ्गारे शेष रह गए हैं उससे जो पहले निकल चुका था वह धुआँ ऊपर उठ रहा है।

३ यह गङ्गा का वर्णन है। इसका अर्थ इस प्रकार है—वह गङ्गा आपसी मन्दता-अज्ञता को शीघ्र दूर करे, जल प्रायः प्रदेश के गड्ढों में छाया=डुबल-तदितर=प्रबल, स्वतन्त्रतापूर्वक उछलते हुए, और स्वच्छ जल की परम्परा से नष्ट हो रहे हैं मोह-अज्ञान जिनके ऐसे सहायिगण, हर्षपूर्वक जिसमें स्नान तथा दैनिक कर्म (सन्ध्याकन्दन) करते हैं और जो (गङ्गा) दोख पटने वाले, विशाल गेदकों का आवास स्थानभूत कन्दराओं से युक्त है और बड़े बड़े पत्थरों के झोद (गिराने) में अधिक-शक्तिशाली महान् तरङ्ग ही जिस (गङ्गा) का गहरा गर्व है।

अर्थात् यदि शब्द का चमत्कार प्रधान होगा तो चतुर्थ अथवा काव्य में और यदि अर्थ का चमत्कार प्रधान होगा तो तृतीय मध्यम काव्य में समावेश किया जायगा। अतिरिक्त काव्यभेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

ननु यत्र रत्नेक्षिन्नयामपि द्वयोरर्थ-शब्दचमत्कृत्यो तुल्यमेव, (न त्वेकस्याः कस्यापि-
न्यूनमधिकं वा) प्राधान्यं स्यात्, तत्र क्व गतिरित्याक्षेपस्यायामाख्याति—

समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

मध्यमता प्रागुक्तमध्यमतृतीयप्रकारत्वम्, व्यङ्ग्यवचमत्कृत्यसमानाधिकरणवाच्यचमत्कृ-
तेरुपलम्भात् । शब्दचमत्कृतिप्राधान्यस्य उपलम्भेऽप्यविरोधित्वम् ।

यदि सूक्ष्म-विचार करने पर भी प्रधानता का निर्णय नहीं होता अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का समान ही प्राधान्य लक्षित हो, तब क्या होगा—उसका समावेश कहाँ किया जायगा ? इसका समाधान करते हैं—‘समप्राधान्ये’ इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में उसको मध्यम काव्य ही माना जायगा, क्योंकि व्यङ्ग्य-चमत्कार-रहित, वाच्य-चमत्कार * वहाँ उपलब्ध रहेगा और शब्द-चमत्कार की प्रधानता रहने से भी कोई विरोध नहीं होगा।

चमत्कृतिद्वयतुल्यप्राधान्यमुदाहरति—

यथा—

कविरदितं भानुमन्तं वर्णयति—

‘उल्लासः कुल्लपट्टेरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां

निस्तारः शोकदाधानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः

सह्यातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥’

कुल्लानां विकसितानां, पट्टेरुहाणां कमन्थना, पटलात् समुदात्, पटले समूहे वा पतन्तो निस्सरन्तः, पतन्तः प्रत्यासीदन्तो वा, ये पुष्पन्धया भ्रमरा, तेषामुल्लासो नैराकु-
शयकौशान्धनमौचकत्वात्, स्क्लन्दमरन्दभरास्वादसामग्रीसम्पादनाद्वा आनन्दः,
दृढेत्तुषां, शोकः प्रियतमविप्रयोगजन्मा वित्तवृत्तिविशेष एव तापातिशयदानाद् दावानलो
वनवहिः, तेन विकलं सिद्धं, हृदयं मनो यासां तां शोकदानलविकलहृदः, तासां शोकदा-
धानलविकलहृदाम्, कोकसीमन्तिनीनां चक्रवाक्यधूनाम्, आश्वासनविधानाभिस्तारशोक-
सागरपारगमनं तत्सम्पादके वा, तामसानां तिमिरनिकराणां तमस्त्वभावतया तमस्विनी-
सञ्चरणशीलोलूकादीनां वा, उत्पातो विनाश उच्चाटनं तन्निदानं वा, उपहतं तिमिरावरणाद्
विनष्टं महत्पदार्थसार्थप्राहकप्रकाशो येषां, तादृशा चक्षुषा दृष्टा तिमिरावरणतिरोचापनाद्
पक्षपातः साहायकं तत्कारको वा, अयमुदीक्ष्यमाणः, कोऽपि दीपक-खद्योतादिविलक्षणः,
धाम्ना तैजसा, सह्यातः समुदायः सूर्यः, उदयगिरेः पूर्वोत्तरस्य प्रान्ततः शिखरात्, प्रादुरा-
सीत् प्रातराविरम्बित्यर्थः ।

इहायमिति निर्देशोऽद्यतनभूतकाले लब्धविधिभिनत्यः । नैवशिकत्वाङ्गीकारेण बोधपाद-
पकाराद्यतरासकृदाश्चे ‘अनेकस्यैकं वा साम्यमसकृदाऽप्यनेकं वा । एकस्य सकृदप्येव वृत्त्य-
नुप्रास इत्येव ।’ इति दर्पणलक्षितो वृत्त्यनुप्रासः शब्दात्कृत्वा, पूर्वोक्तवर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य
वैशिष्ट्यात् ‘आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद् वचः । श्रोजः स्यात्’ इति प्राचीनलक्षित श्रो-
जोऽभिधानरशब्दगुणश्च शब्दं भूषयति, तथाऽञ्जसैव स्फुटत्वाऽर्थविवगमात् ‘मस्मादन्तःस्थितः
सर्वः स्पष्टमर्थोऽवभासते । सलिलस्येव सूक्ष्मस्य सप्रसाद इति स्मृतः’ इति प्राचीनलक्षितः

प्रसादनामाऽर्थगुणः, सूर्यरूपे तेजस्सद्भाते पुष्पन्धयोऽस्मात्स्व-कोकसीमन्तिनीशोकनिस्तारस्व-
तामसोत्पातत्व-चक्षुरपक्षपातत्वक्षणधर्मचतुष्टयारोपात् 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'
'भाला तु पूर्ववत्' इति प्रकाशशक्तिं मात्ररूपकम्, तल्लासादिधर्मकरणस्य तेजःपुष्पस्थो-
ल्लासादिकाभ्यैरभेदेनाभिधानात् 'अभेदेनाभिधा हेतुहेतौहेतुमता सह' इति पुनर्दर्पणलक्षितो
हेत्वलङ्कारो वा वाच्यार्थं प्रसाधयतीति शब्दस्यार्थस्य च चमत्कारस्तुल्यकस्य एवेत्युभयोः
प्राधान्यान्मध्यमकाव्यत्वम् । शब्देऽलङ्कारगुणयोरर्थे च गुणालङ्कारयोरन्यासेनात्र क्रम-
विपर्ययोऽवश्यः । तादृष्यारोपापेक्षया तादात्म्याभ्यासे विच्छित्तिविशेष इत्यर्थालङ्कारान्तरो-
पादानस्य निदानम् । 'यत्तल्लासादीना तत्कार्यत्वात् कथं रूपक'मित्यलङ्कारान्तरोपादानबीज-
प्रदर्शन टीकाकृतः, तच्चिन्तनीयम्, 'सुखं चन्द्र' इत्याद्यापि बाधग्रहे जाग्रत्प्रेष तादृष्यारोपाद्
रूपकस्य सर्वसम्मतत्वात्, कार्यकारणयोरभेदस्याप्येवं बाधप्रासादलङ्कारान्तरोपादानस्या-
प्यसङ्गतत्वाच्च ।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार जहाँ समानरूप से प्रधान है ऐसे उदाहरण का निर्देश करते हैं—'यथा, उल्बान 'इत्यादि । 'मयूरभट्ट' अपने सूर्यशतक नामक ग्रन्थ में उदयाचलावलम्बी प्रातः कालिक सूर्य का वर्णन करते हैं । खिले हुए कमलों के समूह से निकलते हुए अथवा खिले हुए कमलों के समूह पर गिरते हुए (रातभर मधुपान करने के कारण अथवा मधुपान की आवाज से) मत्त, झमरों का उल्लास, (आनन्ददायक) शोक-रूप दावानल से विकल दृश्य घाटी चक्रवाकियों का निस्तार (प्रिय-वियोग-सम्पादक होने से शोक-कारणीभूत-रात्रि का अन्त करके दुःख का नाशक) अन्धकार के समूहों का उत्पात (नाशक) और अन्धकार के कारण जिनके सेज नष्ट हो गए हैं उन मेघों का पक्षपात, (सहायक) यह कोई तेज पुष्प, उदयाचल के प्राप्त-भारा से प्रादुर्भूत हुआ ।

तदेवाह—

अत्र वृक्षयुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य, प्रसादगुणयोगाद-
नन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कारयोस्तुल्यस्क-
न्धत्वात् सममेव प्रापान्यम् ।

लकारादीनामप्यावृत्तेर्हेत्यनुप्रासस्य प्राचुर्यम् । ओजसः शब्देन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकमा-
वात् प्रकाशकोक्ति । तुल्यस्कन्धत्व साम्याम् । अन्यत् सुगमम् ।

यहाँ पकारादि अक्षरों की बारबार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुपास की प्रचुरता है और सम्पूर्ण श्लोक में उस वृत्त्यनुपास के वर्तमान रहने से इस पद्य की पदावली 'ओजगुण' की व्यक्त करती है, इसलिये इस पद्य में शब्द का चमत्कार प्रधान है और प्रसाद-गुण-युक्त होने से शब्द-ध्वनि के बाद शीघ्र शीघ्र हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलङ्कार-रूप वाच्य-अर्थ का चमत्कार भी प्रधान ही है । अतः इस पद्य को मध्यम काव्य कहना उचित है ।

अथ रसध्वनिलक्षणाय समासेन ध्वनिप्रकारान् निर्दिष्टुमवतरणमभिदधति—

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासङ्ग-धमेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते—

तत्र तेषु चतुर्षु बाध्यप्रकारेषु मध्ये, उत्तमोत्तमस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ध्वने । अतस्तत्र-
धमेदस्यापि विभावादिभेदानन्त्यप्रयोज्यानन्तरप्रकारकत्ववद्-रवादिध्वनिघटितत्वात् प्राति-
स्विकरूपेणान्वयप्रकारस्यापि, सामान्यतोऽविशेषरूपेण, केऽपि साधारणा, भेदा प्रकारा,
निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

यद्यपि रसादिध्वनिघटितत्वाद् ध्वनिप्रकाश विशेषरूपेण सङ्गधातुवशक्या इति तन्नि-
रूपणमशक्यमेव । तथापि केचन परिगणिता विवक्षितान्यपरत्वाच्या-विवक्षितवाच्यत्वादिसा-
मान्यधर्मपुरस्कारेण भेदा इह निरूप्यन्त इति सारम् ।

उक्त चार प्रकार के काव्यों में 'ध्वनि' नाम का जो उत्तमोत्तम काव्य है, उसके यद्यपि अलङ्कार-भेद हैं अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के भेद से ध्वनि-काव्य के भेद अनन्त हो सकते हैं अतः उन सब भेदों का एक एक कर उल्लेख करना असम्भव है तथापि सामान्य-रूप से कुछ भेदों का यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

तानेव ध्वनिसामान्यभेदान् निरूपयति—

द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च । तन्नायस्त्रिविधः—रस-चस्त्व-लङ्कारध्वनिभेदान् । रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रस भाव-तदामास-भाव-शान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानां ग्रहणम् । द्वितीयश्च द्विविधः—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

अन्यत्राभिधामूलत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथममुपादेयत्वेऽपि सूचीकृतान्याये-नोपादानलाघवाल्लक्षणांमूलस्याविशिशितवाच्यध्वनेरेव प्रहणुपादानम् । इह लक्षणाया लक्ष-णोपजीव्यत्वात् । तन्नायसमुपेक्ष्य प्राकृतमेव क्रममनुष्ठेयं तदिति न विपर्ययः । द्विविध-सामान्यरूपेणेति शेषः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । अभिधामूलत्वादेव विवक्षितवाच्यत्वं, लक्षणा मूलत्वादेव आविर्भूततावाच्यत्वमवस्येयम् । तथाहि—विवक्षितो वाच्यताऽवच्छेदकरूपेणान्वय-बोधविपर्ययेनापेक्षितोऽन्यपरोव्यङ्ग्योपसर्जनीभूतो वाच्योऽर्थो यत्र, स विवक्षितान्यपरवा-च्योऽभिधामूलो ध्वनिः, पदार्थोपस्थित्यवसर एवान्वयराशे जापरुकेऽविवक्षितो वाच्यजात्या-दिरूपेणान्वयबोधविपर्ययतयाऽपेक्षितो वाच्योऽर्थो यत्र, स चाविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनिः । चकार 'समुच्चयार्थकः' । तत्र तयोर्ध्वन्योर्मध्ये । अथोऽभिधामूलो विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनिः । त्रिविधो रसध्वनिर्वस्तुध्वनिरलङ्कारध्वनिश्चेति त्रिप्रकारकः । रसपदं रस्यन्त-भास्वायन्त इति न्युत्पत्तिभोगाद् रस-भाव-रसामास-भावामास-भावशान्ति-भावोदय-भाव-सन्धि-भावशबलत्वानामुपलक्षणं प्रतीयकम् ।

अन्यत्र रसध्वनेः पद्याभिर्दिष्टत्वेऽपीह सर्वप्राधान्ययोधनाय पूर्वनिर्देशः । द्वितीयो लक्षणा-मूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनिः । चकारस्त्वर्थकः । पदार्थान्तरान्वययोग्यत्वायोग्यत्वाभ्यां वाच्यस्य विवक्षानिषत्ते बोधे ।

ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक । इनमें प्रथम अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि-काव्य के पुनः तीन भेद होते हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि । यहाँ 'रस-ध्वनि' पद, असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें व्यञ्जक-ज्ञान और व्यङ्ग्य-ज्ञान के बीच में होने वाला क्रम (पूर्व-पश्चाद्-भाव) छिपित नहीं होता) का बोधक है, अतः 'रस-ध्वनि' पद से रस, रसामास, भाव, भावामास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता सब का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वे सब असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के अन्दर आ जाते हैं । द्वितीय अर्थात् लक्षणामूलक-ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और दूसरा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य । (यहाँ यह विशेष समझना चाहिये कि 'अभिधामूलक ध्वनि' को 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' और 'लक्षणामूलकध्वनि' को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' भी कहते हैं) ।

रसध्वनेः प्राधान्यं शब्देन बोधयन् स्वरूपस्य निरूपणमवतारयति—

एव पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—

एवं—पूर्वोक्त-रसध्वन्यादिभिः प्रकारैः, पद्यात्मके-पद्यस्वरूपे, ध्वनौ (पद्यकृतस्य सत्-म्यर्थतया) ध्वनिषट्कस्य, रसध्वने प्रथमस्य, परमरमणीयतयाऽलौकिकस्वादनजनकत्वेन, तदात्मा तस्य रसादिध्वने, आत्मा जीवनावायकत्वात् प्रधानम्, रसो वक्ष्यमाणस्वरूपः, तावदादौ (सर्वेभ्यः प्रथमम्) अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः ।

रसादिध्वने परमरमणीयत्वं तु 'काव्यस्यात्मा ॥ एवार्थ' इतीतरव्यवच्छेदार्थमेवकारमु-
पनिबध्नाता ध्वनिकृताऽपि प्रतिपादितम् ।

इस तरह ध्वनि-काव्य के सामान्यतः पांच भेद हैं । उनमें 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक
रमणीय (आरवाद-जनक) होता है, इसलिये रसध्वनि की आत्मा (साररूप होने से
प्रधान) जो 'रस' है, उसका निरूपण पहले करते हैं ।

प्रथममाचार्याभिनवगुप्तादिसम्मतं रसस्वरूपमाह—

समुचित-ललित-सञ्जिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदय-
हृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, त्रिग-
लितदुःखान्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदे-
शैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुदीपनकारणैः,
अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भा-
वितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशविराणाज्ञानेनात-
एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्त-
वेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्निविष्टवामना-
रूपो रत्यादिरेवरसः ।

समुचितो रसादिप्रतीत्यनुकूल, अत एव ललितो मनोरमः, सञ्जिवेश शब्दार्थोर्गुम्भ-
नम्, तेन चारुणा मुन्दरेण, काव्येनोक्तलक्षणो न कविकर्मविरोधेन, समर्पितैरुपस्थापितैः,
अत एव सहृदयानां सचेतसा, (न त्वत्सचेतनामपि) हृदयं प्रविष्टैर्यमस्कारितमा मनोरमैः,
तदीया तेषां सहृदयतामाजिकानां सम्यग्निधनी (तज्जिज्ञा) या सहृदयता वैदग्ध्यो (रसा-
स्वादनवातुरी) तथा सहकृतेन विहितरागाद्येन (उपोदलितेन) भावनाविशेषस्य सहृदये-
तरदुष्करत्वाद् विलक्षणस्य शाश्वतिकतद्दर्शानुसन्धानस्य, महिम्ना प्रभावेण, विगलित प्रती-
त्यविषयोभूत शकुन्तलादिनिष्ठो दुःखान्तरमणीत्वादिलौकिकोपसाधारणधर्मो येषां तैः, लोको-
त्तर-विभावानुभाव-व्यभिचारणव्यापारवत्यालौकिकविभावानुभाव-व्यभिचारि (भाव)-
शब्दै (नामभि) व्यपदेश्यैर्व्यवहार्यैः, शकुन्तलादिभिः (आदिशब्दो नायिकान्तरयोषक)
आलम्बनकारणैरालम्बनविभावाद्यैः, चन्द्रिकादिभिः (आदिना रसवन्दनादिग्रहणम्) उदी-
पनकारणैरुदीपनविभावस्यैः, अश्रुपातादिभिः (आदिपदेन कटाक्षमुज्ज्वलादि गृह्यते) कार्यै-
रनुगावाद्यैः, च पुनः, चिन्तादिभिः (आदिपद उज्ज्वलादिग्राह्यम्) सहकारिभिर्व्यभिचारि-
भावाद्यैः, (प्रतीतिगोचरीक्रियमाणैः) सम्भूय विभावविभावकभावादिसम्बन्धैर्मितित्वा,
प्रादुर्भावितेनादिभिरलौकिकेन व्योमचरेणाद्भुतेनेति यावत्, व्यापारेण भावकत्वापरप-
र्यायेण भावनाविशेषरूपेण (कारणेन), तत्काले तस्मिन् भावनाविकरण एव समये, तत्कालं
वा, निवर्तितमपसारितम्, आनन्दांशस्य चिदात्मरूपस्य, आचरणमवरोधकमज्ञानं यस्य,
तादृशेन (भावनाविशेषोपसारित-सञ्चिदानन्दस्वरूपात्माज्ञानेनेति प्रमातृविशेषणम्), अत
एव-आचरणस्याज्ञानापसारणादेव (यावत्प्रमेयप्रत्ययसम्भवात्) प्रमुष्टो लुप्त परिमितप्रमातृ-
त्वादिरित्यावत् (परिच्छिन्न) पदार्थज्ञातृत्वप्रवृत्तिर्निजार्थो जीवात्मनैरसंगिकधर्मो यस्य,
तादृशेन, प्रमात्रा ज्ञाया (सहृदयेन) स्वप्रकाशतया (तादृशज्ञानस्यात्माभेदेनात्मनैव प्रति-

भामान्) प्रकाशान्तराप्रकारयत्वेन, वास्तवेन प्रमात्मक-प्रत्यक्षविषयताया सत्येन, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेर्मिजस्थात्मनः स्वरूपेणानन्देन, सहभेदेन ('रसोऽहम्' इत्यादिप्रतीतेः) गोचरीमित्रसाणोऽनुभूयमानः, प्राक् पूर्वं जन्मान्तरेऽत्र जन्मनि च, विनिवि-
ष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा, वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूपं यस्य, तादृशो रत्यादौ रत्युत्साहप्रभृतिस्तत्तदसंस्कारविधाव एव रस इत्यर्थः ।

इदमुच्यते—रजस्तमोऽभिभवेन सत्त्वगुणोत्कर्षे, अथ्यस्रव्यधवणेन, हरयस्रव्याभि-
नयदर्शनेन वा, धन्यानां केषांचन सहृदयानां हृदये, रत्यादेः, शकुन्तला—चन्द्रिकाप्रभृती-
भ्यामननोदीपनशरणानि, अश्रुपातादीनि कार्याणि, चिन्तादीनि सहकारिकारणानि च, वस्तु-
सौन्दर्येण चर्च्यमाणानि, सहृदयसाक्षात्निष्ठनिष्ठवैदग्ध्यपरिपोषिताया भूयोभूयोऽनुसन्धान-
लक्षणविलक्षण—भावनाया यत्नेन, लौकिकसाधारण—शकुन्तलात्म-दुष्यन्तारमणीत्वादि-
धर्माणः प्रमोपेऽलौकिक-साधारण—कान्तात्वादिधर्मपुरस्कारेण ह्ययनानान्यलौकिकविभावनादि-
व्यापारवस्तुयाऽलौकिकविभावादिपदनाच्यस्वं प्रतिपद्यन्ते । तैव परस्परं सज्जते प्रभावाद्-
लौकिको भावकत्वव्यापारः प्रादुर्भाव्यते । तेन तु व्यापारेण, सद्य एव, सच्चिदानन्दरूप-
स्यात्मनो दीपस्येव शरावादिरावणरूपमज्ञानमपसार्यते । अयाज्ञानस्य विगलनादेव, तस्य
सचेतसः, परिच्छिन्नज्ञातृत्वमित्यतानिधन्वितवस्तुनाप्रवेदित्वगदिर्येषां, तेषु जीवधर्मेषु विन-
ष्टेषु, समुज्जृम्भितेषु च सार्वरथादिषु परमात्मधर्मेषु, रसस्यात्मनश्च नित्यत्वाज्ञानरूपत्वा-
दानन्दरूपत्वाभिदेन, जन्मान्तराणामेतच्चन्मनश्च वासनाहयसंस्काररूपेण पूर्वं हृदि प्रविष्टो
भोजकत्वापरपययिण रसनाव्यापारेण, आस्तादपदवी नीयमानो रत्यादिस्तत्तद्रसस्वायी भाव
एव रसोऽस्ति ।

तथा चोक्तम्—

‘विभावेनानुभावेन व्यक्तं सञ्चारिणा तथा । रसतामेति रत्यादि-स्थायीभावः सचेतसाम् ॥’

‘सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्दयिन्ममः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मात्वादसहोदरः ॥

लोकोत्तरत्वंतत्कारणं वैशित्प्रमातृभिः । स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥’

‘पुण्यपन्तः प्रनिष्पन्ति योगिब्रह्मसन्ततिम् । सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्यादनं भवेत् ॥’

निर्वासनस्तु रज्जान्तःकाष्ठकुक्कुब्जाशमसन्निभा ॥ इत्यादि ।

अथ रस-निरूपण-प्रसङ्गं सर्वप्रथमं ‘ममूत तथा अभिनवगुप्त’ आदि विद्वानां के
अभिमत—‘रस’-शब्दका उल्लेख करते हैं—‘नमुचित’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि
अपने जीवन में मनुष्य बहुतेरे भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता
है, तो कभी किसी का सोच, कभी किसी पर क्रोध करता है तो कभी किसी पर घृणा,
कभी किसी से भय खाता है, तो कभी किसी काम में उत्साह दिखलाता है, कभी किसी पर
हँसता है, तो कभी किसी बात पर आश्चर्य (विस्मय) प्रकट करता है । इसी तरह कभी
यह शान्ति का अनुभव भी करता है । ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के
हृदय में उनका संस्कार सदा के लिये अमिट हो जाता है अर्थात् वासनारूप में वे सब भाव
मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं । वे ही वासनारूप से मानव हृदयों में बसने
वाले भाव साहित्यशास्त्र में रसि, शोक, क्रोध, घृणुप्सा, मोहि, उत्साह, हास, विस्मय
और घम इन नामों से स्थायीभाव कहलाते हैं, जो वस्तुतः एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ
हैं, जिनका वर्णन विशदरूप से आगे स्वयं ग्रन्थकार करेंगे । जब वे स्थायीभाव ‘सत्य
विज्ञानमानन्द ब्रह्म’ इत्यादि वेदनाक्य के अनुसार सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वतः
प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुगूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही ‘रस’ सत्ता

को प्राप्त करते हैं। उसी अवस्था में 'रसोऽहं' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायीभावों को आत्मानन्द का साथ तब तक नहीं हो सकता, न उनके साथ उनका अनुभव ही तबतक किया जा सकता, जबतक उस आनन्द स्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, अतः उस आवरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (क्रिया) की सृष्टि की जाती है। जिस (व्यापार) का नाम है, 'भावकरव'। जब वह लोकोत्तर व्यापार, आनन्द-स्वरूप-आत्मा को ढकने वाले उस अज्ञानावरण को हटा देता है, तब अनुभवकर्ता में जो अल्पज्ञता रहती है, वह कुछ पदार्थों का ही ज्ञाता हो पाना है-संसार के समस्त पदार्थों का नहीं, वह नष्ट हो जातो है अर्थात् मनुष्य में जो जीवधर्म (अल्पज्ञता परस्पर का भेद-भाव आदि) रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और परमात्म-धर्म-सर्वज्ञत्व आदि जागरित हो जाते हैं। तब उस अनुभवकर्ता को आत्मानन्द के साथ रति आदि स्थायीभावों का अनुभव होने लगता है। उस लोकोत्तर 'भावकरव' व्यापार की सृष्टि, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव परस्पर मिलकर करते हैं। अब यहाँ उस 'भावकरव' व्यापार की सृष्टि करने वाले विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी-भावों का परिचय प्राप्त करना पाठकों को आवश्यक प्रतीत होगा, अतः संक्षेप में उन भावों का परिचय कराया जाता है। आत्मानन्द के साथ अनुभूत होने पर 'रस' सज्ञा को प्राप्त करने वाले चित्त-वृत्ति-विशेष-स्वरूप, 'रति' आदि स्थायीभाव जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे उन स्थायीभावों के आलम्बन कारण कहलाते हैं, और अपने अपने आलम्बन कारणों से उत्पन्न वे स्थायीभाव, जिनसे उद्दीप्त होते हैं, वे कहलाते हैं उद्दीपन कारण। इसी प्रकार 'उम चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के उत्पन्न होने पर उनके परिणाम-स्वरूप शरीर आदि में जो कुछ विशेष प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, वे कहलाते हैं कार्य। इसी तरह उम चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के साथ ही कुछ और चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो स्थायीभाववात्मक चित्तवृत्तियों की सहायता करने के कारण सहकारी कारण कहलाती हैं। उदाहरण के द्वारा ये बातें और अच्छी तरह समझी जा सकती हैं। अतः निम्नलिखित एक उदाहरण पर ध्यान दीजिये—शकुन्तला को देखकर उसके विषय में दुष्यन्त के हृदय में रति-मेम उत्पन्न हुआ, अतः उस रति का उत्पादक होने के नाते शकुन्तला आलम्बन कारण हुई, एकान्त स्थान चन्द्र-ज्योत्स्ना, कुसुमित कानन आदि उस प्रेम को उद्दीप्त करने वाले हुये, अतः वे तथा उसी तरह की दूसरी चीजें उद्दीपन कारण हुई। इस तरह प्रेम के हृद हो जाने पर अकस्मात् शकुन्तला दुष्यन्त के लिये हर्षित हो गई, उसके विरह में दुष्यन्त रोने लगे उनका वह रोना उस रति का कार्य हुआ और उस प्रेम के साथ ही दुष्यन्त के हृदय में चिन्ता ने भी जन्म-ग्रहण किया—अर्थात् 'शकुन्तला कसे मिलेगी' इत्यादि तरह की चिन्ता उस रति की सहायता करने वाली हुई, अतः वह सहकारि-कारण हुई। यह उदाहरण तो केवल शृङ्गार-रस विषयक हुआ, इसी तरह करुण आदि रसों के स्थायीभाव शोक आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अब उक्त रीति से लोक में जो शकुन्तला प्रभृति रति आदि के आलम्बन कारण होते हैं, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे सयोगावस्थान में रोमाञ्च आदि और वियोगावस्था में अधुपात आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, एवं हर्ष अथवा चिन्ता आदि रति के सहकारी भाव होते हैं, वे ही सब जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उपयुक्त तथा सुन्दर शब्दों के गुम्फन से मनोहर काव्यों के द्वारा उपस्थापित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण शकुन्तलात्व, दुष्यन्तत्व आदि धर्म उनमें से निकल जाते हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जाते हैं, अतः जो कारण ये वे विभाव, जो कार्य ये वे अनुभाव और जो सहकारी ये वे व्यभिचारी-भाव कहलाने लगते हैं। इसी अलौकिकीकरण के लिये 'दर्पणकार' आदि आचार्यों ने काव्य में 'सापरणीकृति' नामक एक व्यापार माना है—'व्यापारोऽस्ति विभादे. नाम्ना

साधारणीकृतिः' इत्यादि । इन्हीं बलौकिक विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा उत्पादित भावकाव व्यापार से अज्ञान-रूप आवरण के मद्द होने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार वासनारूप में पहले से हृदय में स्थित और 'मोजकत्व अथवा रसना किंवा व्यञ्जना' नामक व्यापार से आस्वाद्य बनाया गया, रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है ।

उक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वं प्रकटयति—

तथा चाहुः—'व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्यायिभावो रसः स्मृतः ।' इति ।

आहुतिस्त्र 'सन्न्यप्रकाशे मम्मटमदा' इति शेष । बहुवचनेन तदुक्तौ गौरवं सूच्यते । आचार्य मम्मट भी अपने कान्यप्रकाश में इसी बात को प्रमाणित करते हैं—'व्यक्त' इत्यादि । अर्थात् विमादिकों से जब स्थायीभाव (रसि प्रकृति) व्यक्त होता है, तब 'रस' कहलाता है ।

कारिकायुक्त 'व्यक्त' पदं निरूपोति—

व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः ।

रसनाजन्यास्वादाभिन्नचैतन्यगोचरीकृत इत्यर्थः ।

मममोक्त कारिका में विद्यमान 'व्यक्त' पद की व्याख्या करते हैं—'व्यक्तौ व्यक्ति-विषयीकृतः' इति । 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि चित् शक्ति का विषय होना—उसके द्वारा भासित होना ।

व्यक्तिरन्यत्र व्यञ्जनैव प्रसिद्धेति प्रकृतेऽपि तद्भ्रान्तेनिरासार्थमाह—

व्यक्तिश्च भग्नावरेणा चित् ।

यत्स्वयं । भ्रमावरणमज्ञानं यस्यास्तादृशी शुद्धा विचेतन्यमास्वाद इह व्यक्तिर्न तु तदास्वाद कारणीभूता रसनावृत्तिः । सा हि—

'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते पुनः ।

रसव्यक्तौ पुनर्वृत्ति रसनाख्या परे यितुः ॥' इति ।

दर्पणोत्प्रेर्यजनाप्रकारविशेषः ।

व्यक्ति पद का अर्थ अन्यत्र व्यञ्जनावृत्ति प्रसिद्ध है, अतः यहाँ भी उस पद का अर्थ वही होगा इस भ्रम के निराकरणार्थ कहते हैं—'व्यक्ति भगवत्तत्त्वावरेणा चित्' इति । अर्थात् व्यक्ति पद से यहाँ यह शुद्ध आस्वादनरूप चैतन्य विवक्षित है जिनका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है, कि व्यञ्जनावृत्ति ।

निर्दर्शनप्रदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन् ।

हेत्वर्थको हि —

यथा शरावादिना मृत्पात्रविशेषेण, पिहित आच्छादितो दीपः (न प्रकाशयति पदार्थान् न वा स्वयं प्रकाशते) तस्मावरणस्य निवृत्तावपसरणे तु, सन्निहितान् समोपस्थान् पदार्थान् घटपदादीन्, प्रकाशयति स्वभासा लोकलोचनगोचरीकरोति, स्वयं दीपश्च, प्रकाशते दृग्विषयीभवति, एवं तथा, आत्मैव ज्ञानरूपत्वाच्चैतन्यम्, अज्ञानरूपस्यावरणस्य विनाशे, सन्निहितान्तःकरणवृत्तितया सन्निकृष्टान्, विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धैर्विभावादिभिः संवलितान् सम्बद्धान् रत्यादिसंस्थायिभावान् प्रकाशयति चर्चणागोचरीकरोति, स्वयं च 'रमो वै स' इत्यादियवणा तद्भेदेन प्रकाशत आस्वादविषयोभवतीत्यर्थः ।

एतान्त दिखला कर उक्त विषय का समर्थन करते हैं—'यथा हि' इत्यादि । जैसे 'कदोरे' आदि से ठँका हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता है, न स्वयं

प्रकाशित हो पाता है और उस (कशोरे आदि) दृक् के हट जाने पर निरुद्धस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी दृष्टिगोचर होता है, इसी तरह आत्मरूप-चैतन्य, अज्ञानरूप-आवरण के हट जाने पर अन्तःकरण-वृत्ति-रूप होने से सञ्ज्ञिहित तथा विभावादि से मिश्रित रति आदि स्थायीभावों को प्रकाशित करता है—आस्वाद का विषय बनाता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है—‘रक्षो वै ॥’ इस धृति के अनुसार रति आदि से अभिन्न होकर आस्वाद का विषय होता है।

ननु ‘मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्’ इति परिभाषितस्यान्तःकरणस्य, ये धर्मा वासनारूपा रत्यादयः, ते साक्षादात्मना भासिता भवन्तु, ये ॥ घटपटादय इव विभावादयोऽन्तःकरणधर्मतो भिन्ना बाह्या पदार्था अन्तःकरणसंयोगेन परम्परयाऽऽत्मना भासनीया, तेषां कथं साक्षादात्मभास्यत्वमित्याशङ्क्या व्याहरति—

अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः ।

साक्षिभास्यत्वं साक्षादात्मभास्यत्वम् । पञ्चम्यर्थो हेतुरभिमेणा विरुद्धं मित्यनेनान्वेति ।

वेदान्तेऽन्तःकरणधर्मा ज्ञानादयः साक्षादात्मना भास्यत्वात् साक्षिभास्या, बाह्यत्वाद् अन्तःकरणधर्मा घटपटादिपदार्थास्त्वन्तःकरणद्वारेण परम्परिकमन्वन्धेनात्मभास्या इत्यन्तःकरणभास्या मन्यन्ते । एवं सति प्रकृते वासनारूपाणां रत्यादीनामन्तःकरणधर्मत्वात् साक्षिभास्यत्वेऽपि, विमानादीनामन्तःकरणद्वारेण घटादीनामिव परम्परामन्वन्धेनात्मभास्यानां साक्षादात्मभास्यत्व विरुद्धमिति न विभावनीयम्, लोके नायिकादिपदार्था घटादय इव बाह्या अपि, काव्ये लोकोत्तरविभावनादिव्यापारवत्तयाऽलौकिकध्वर्षणावसरे रत्याद्येरीभूतास्तद्वदन्तःकरणधर्मता भजन्त साक्षिभास्या भवन्तीति सङ्गते सत्त्वादित्याकृतम् ।

‘रति आदि स्थायीभावों को आत्म—चैतन्य प्रकाशित करता है’ इसमें धृति बतलाते हैं—‘अन्तःकरण’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं, सब केवल आत्मा (यक्ष) है, बाह्य घट, पट आदि पदार्थ, आत्मा के वृत्ति-रूप हैं अर्थात् अन्तःकरणरूप नदी के द्वारा आत्मा—प्रकाश ही घट-पट-रूप में भासित होता है, और अन्तःकरण की वृत्तियाँ सुख-दुःख आदि भी आत्मा—प्रकाश से ही प्रकाशित होती हैं, अन्तर केवल यह होता है कि बाह्य-पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा को अन्तःकरण की सहायता अपेक्षित होती है और अन्तःकरण वृत्तियों (सुख आदि) को प्रकाशित करने में उसकी सहायता अपेक्षित नहीं होती, उनको आत्मा स्वयं प्रकाशित करती है अतएव अन्तःकरण वृत्तियाँ साक्षि (आत्म) भास्य कहलाती हैं । रति आदि स्थायीभाव भी अन्तःकरण के धर्म (वृत्तियों) हैं अतः साक्षि-भास्य हैं—आत्मा से प्रकाशित होने वाले हैं ।

तदेव दृष्टान्तद्वयदर्शनेन द्रव्यति—

विभावादीनामपि स्वप्रतुरगादीनामिव, रज्जरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम् ।

अपीरत्यादिसमुच्चयक । स्वप्रतुरगादि स्वप्नावस्यादृष्टान्त, रज्जरजतादिस्तु जाग्रदशा-दृष्टान्त इत्युभयनिर्देशः । दुरगोऽयं, रजं रजतं च घातम् ।

यथा—स्वप्नदशायां प्रत्यक्षीक्रियमाणास्तुरगादयो वाग्यपदार्था काल्पनिरा इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्याः । यथा वा—जाग्रदृश्यां चाकस्मिन्सदोपाद् रज्जे रजतस्य भ्रान्तौ जायमानाया रजतं वाह्यं प्राप्तिभासिकमितिन्द्रियमयोग्यगृह्यं साक्षादात्मभास्य, तथैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिता साक्षादात्मभास्या इति न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम् ।

रति आदि स्थायीभाव अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साधि-भास्य हो सकते हैं परन्तु विभाव आदि अर्थात् शकुन्तला प्रभृति—जो घट-पट के जैसे वाद्य-पदार्थ हैं—का केवल आत्मा के द्वारा भान कैसे होगा—साधिभास्य वे कैसे कहलायेंगे अर्थात् उनके भान में घट आदि वाद्य पदार्थों के जैसे आत्मा को अन्तःकरण की सहायता लेनी पड़ेगी, इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—‘विभावान्नामरि’ इत्यादि । अतिशय यह है कि घोड़े, रत्न और रजत वे सब वाद्य पदार्थ हैं अतः साधिभास्य कहलाने योग्य नहीं है परन्तु सपने में जब घोड़े का भान होता है अथवा जागते में जब रत्न में रजत का भ्रम, दूरत्व तथा सादृश्य आदि दोषों से होता है, तब वे (घोड़े तथा रजत) साधिभास्य हो माने जाते हैं अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भान होता है, क्योंकि उस अवस्था में वस्तुतः वे चीजें हैं नहीं केवल काव्यनिक हैं, उसी तरह उन विभावों को भी साधिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं अर्थात् शकुन्तला आदि भी भावनारूप होने पर वास्तविक नहीं काव्यनिक ही हैं अतः उस अवस्था में उन सबों का भान भी आत्मचैतन्य-मात्र से हो सकता है वाद्य यन्त्रादि इन्द्रियों से नहीं ।

नन्वेवमात्मनैतन्याभिज्ञत्वज्ञीकारे रसस्य नित्यत्वे, ‘उत्पन्नो रसः’ ‘विनष्टो रसः’ इति सर्वाभिव्यक्तयोस्तु तदुत्पत्तिविनाशौ कथमुपपादनीयमिति शङ्का समादधति—

व्यञ्जकविभावादिचर्चणाया आवरणभङ्गस्य बोधोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्यते, वर्णनित्यतायामिव, व्यञ्जकतात्वादिब्यापारस्य गकारादौ ।

व्यञ्जकत्वं रसादिनिवृत्तितम् । चर्चणाऽऽत्मादः । आवरणभङ्गः प्रायुक्तशान्तारा । उत्पत्तिविनाशाभ्यामिति हेतौ पञ्चमी, उत्पत्तिविनाशयोः सत्त्वादिति बोधयति । उपचार आरोपः । वर्णानां नित्यता वैयाकरणानां मीमांसकानां चाभिमतः । गकारादुत्पत्तिविनाशादुपचर्यते इति सम्मन्यः ।

यथा वैयाकरणादिनैते ‘उत्पन्नो गकारः’ ‘विनष्टो गकारः’ इत्यादिप्रतीतिगोचरयोः उत्पत्तिविनाशयोर्नित्येषु वर्णेषु वस्तुतोऽसम्भवात् तद्व्यञ्जककृष्टतात्वादिब्यापारेषु च सम्भवादारोपः, तथैव रसादिषु नित्येषु ‘उत्पन्नो रसः’ ‘विनष्टो रसः’ इत्यादिप्रतीतिगोचरयोः उत्पत्तिविनाशयोः रसादिव्यञ्जिकायां विभावादिचर्चणाया विद्यमानयोश्चर्चणाविपर्ययोर्भूतेषु रसादिब्यापारेषु इत्यर्थः ।

रसादिव्यञ्जकविभावादिचर्चणाया रसाभिव्यक्तयो वास्तविकमुत्पत्तिविनाशौ न सम्भवत इति धडादिकार्येषु विद्यमानादुत्पत्तिविनाशौ प्रथमं कदाचित्कत्वेन साधर्म्येण रसादिचर्चणाया, पश्चात् तद्विपर्ययता रसादिब्यापारेभ्यो इति साक्षात्सम्बन्धाभावेऽप्यारोपाज्ञीकाररूपाश्चे पक्षान्तरसुपस्थापितमावरणभङ्गस्य वेति । आवरणभङ्गोत्पत्तिविनाशयोर्विभावादिब्यापाररसादिचर्चणायामारोप इति तदर्थः । तथा चोक्तम्—‘अथपि रसानन्यतया चर्चणस्यापि न कार्यत्वम्, तथापि तस्य कदाचित्कतयोपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।’ इति । ‘गकारस्तात्तलन्यतया तात्वादिब्यापारस्य गकारादौ’ इति नोचितम्, किन्त्वहंरसमात्मनोऽप्यारोपस्य, स्थानेषु च कष्टस्य प्रायम्येनोपदेशाद् ‘व्यञ्जककृष्टतात्वादिब्यापारस्याकारादौ’ इतीह मूले पठितुमुचितम् । तथा-व्यापारस्य = ‘उत्पत्त्यादे’ इति त्वप्यव्याख्यानम्, वर्णोच्चारणानुसृत्य यमिपातमियाया एव तद्व्यपारपदार्थद्वारादुत्पत्तिरभिव्यक्त्या तन्मन्यत्वेन तद्विज्ञतात्वात् ।

रस को आत्म-चैतन्य-स्वरूप मानने पर ‘रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ’ इत्यादि व्यवहार असंभव हो जायेंगे क्योंकि आत्म-चैतन्य नित्य है, अतः तत्स्वरूप रस भी नित्य होगा, इस शङ्का का समाधान करते हैं—‘व्यञ्जक’ इत्यादि । जैसे वैयाकरणों के मत में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके (वर्णों के) व्यञ्जक, कण्ठ स्नायु आदि स्थानों के व्यापारों में होने वाले उत्पत्ति तथा विनाश के आरोप वर्णों में करके ‘गकार उत्पन्न हुआ,

गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार रस के नित्य होने पर भी उसके (रस के) व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा अथवा आवरण-भङ्ग में होने वाले उत्पत्ति और विनाश रस में आरोपित होते हैं, जिससे 'रस उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। यहाँ 'विभावादि-चर्वणा' का उल्लेख कर पुनः 'अथवा आवरण-भङ्ग' ऐसा उल्लेख इसलिये किया गया है कि रसादि-व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा रस से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही है, फिर तो जैसे रस में उत्पत्ति-विनाश असम्भव है, वैसे विभावादि-चर्वणा में भी, अतः 'विभावादि-चर्वणा के उत्पत्ति-विनाश, रस में आरोपित होते हैं' ऐसा कहना अनुचित था। गकारवर्ण, व्याकरण के मत से तात्पर्याधीन नहीं है अतः 'व्यञ्जकताद्वादि-व्यापारस्य गकारादौ' यह मूलपाठ सङ्गत नहीं होता, इसलिये 'व्यञ्जक-कृपादि-व्यापारस्य अकारादौ' ऐसा मूलपाठ मानना चाहिये क्योंकि वर्ण-समाप्ताय में अकार प्रथम है और स्थान में कण्ठ।

नन्दावरणभङ्गे जाते विभावादिचर्वणेपरतापि, रत्यादिस्थायिना कथं न तदाऽवभास इत्याक्षेपं क्षययति—

विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृत्त-
त्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

विभावादिचर्वणाऽवधि' सीमा (तदुत्तरं तदसत्त्वाद्) यस्येति बहुव्रीहि। तस्या विभावादिचर्वणायाम्। प्रकाशस्य चिदानन्दास्वादस्य। विद्यमानः सुदमत्कारेणान्तरिति शेषः। यथासमवायिकारणसत्तावधिरेव कार्यरता, तथाऽऽवरणभङ्गस्तापवैव तिष्ठति, यावद् विभावादिचर्वणा भवतीति विभावादिचर्वणायाम् विनष्टायामावरणभङ्गेऽपि विनष्टे, ज्ञानात्मनि प्रकाशे पुनरज्ञानेनावृते, शरावपिहितदीपवदन्तिष्ठितोऽपि रत्यादिस्थायिनो नास्वाद् इत्यभिप्रायः।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि जब रति आदि स्थायीभाव, वासनारूप में सदा वर्तमान रहता है, तब सर्वदा रस-रूप में उसका भाग क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जबी तक आत्मा के ऊपर रहने वाला आवरण अज्ञान ढंका रहता है, तभी तक आत्मा, रति आदि को आसित करती है, बाद में नहीं और अज्ञान का आवरण आत्मा पर से सभी सङ्क हटा रहता है, अब तब विभाव आदि की चर्वणा विद्यमान रहती है अर्थात् जब विभाव आदि की चर्वणा समाप्त हो जाती है तब आवरण-भङ्ग भी नहीं रहता—आत्मा फिर अज्ञानावरण से ढँक जाती है, अतः उस दशा में स्थायी (रति आदि) विद्यमान रह कर भी प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक के ढँक जाने पर समीप में पड़ी हुई चीजें भी प्रकाशित नहीं हो पाती।

मतेऽस्मिन् भावकत्वव्यपारोऽधिकं कर्पनीयो भवतीत्युच्चेर्लोषवाय पक्षान्तरमुपन्यस्यति—

यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावरोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगितश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।

सहृदयस्य निजसहृदयतावरात् स्ववैदग्ध्यवलात्, उन्मिषितेनभ्युदितेन, विभावादीनां या चर्वणा, तस्या महिम्ना प्रमावेण (कारणेन) योगिनः समाधौ योपचरमात्रे निर्विकल्प-नामनीव, तैस्तैश्च स्थायिनी रत्यादिभिः, उपहितं विषयतया सम्बद्धं, स्वमात्मा सचिदानन्द-रक्षण स्वरूपं यस्या (अत एव) आनन्द आरागे यस्यास्तादृशी सचिदानन्दात्मरूप-रसाभिज्ञा तन्मयीभावरूपा रसात्मतादत्त्यावगाहिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानम् (आस्वाद) उपजायते भवतीत्यर्थः।

चिदानन्दाधरेत्यस्य सद्विषयेति निवृत्तिर्न युक्ता, आनन्दस्य रसात्मरूपेण (न तु विषय-

तया) प्रतीतेः । तथा निर्विकल्पकसमाधानानन्दाकारवृत्तिरुत्तरेभावमभिधाय समाधिपदेन सविकल्पकसमाधेरैव प्रदूषणमित्यभिधानमसमञ्जसम्, आनन्दात्मचेतन्यस्य निर्वीजतामाध्या-
वपि सर्वांजुमतत्वात् । अत एव रसाद्यास्वादस्य प्रज्ञास्वादसहोदरत्वं सङ्गच्छते । एवं
तन्मयीभवनमित्यस्य 'आनन्दविषयतया तत्प्रचुरेत्यर्थः' इति विवरणमपि नोपपत्तिसहम्,
आनन्द-रस-चेतन्यानां तादात्म्येन विषयविषयिभावासम्भवात् स्वरूपार्थ एव (न तु
प्राचुर्यायै) मयटोऽत्र विधानौचित्यात् । अद्याज्ज्ञे तु भेदमभ्युपेत्य सर्वमुपपादनोपमिति
मुद्योभिराकलनोपम् ।

अत्र मते रसाद्यकृतादृश-प्रतीत्युत्पत्तौ केवलं काव्यव्यञ्जनाद्यस्य रसनापरमार्थ-
भोजकत्वव्यापारस्यापेक्षा, न तु भावकत्वस्यापीति स्फुटं लाघवम् । ननु भावकत्वव्यापार-
मन्तरेणाज्ञानावरणनिरासो दुर्घट इति चेत्, न, यतः प्रकृत्यर्थप्रकारस्यैव भावत्वाद् भावनैव
भावकत्वम् । सा च सहृदयस्य स्वोपसहृदयतासहकारेण काव्यार्थविषयिणी पूर्वोत्पन्नैव
विभावादीनां साधारणीकरणं प्रमातुरावरणमत्र च कर्तुमीशीतेति न तदर्थमावान्तरिक-व्यापा-
रान्तरकरपनाऽऽवरणकीत्याशयः ।

उक्त प्रथम पक्ष में अज्ञानावरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (भावकरव)
की कल्पना करनी पड़ती थी, जिससे गौरव होता था, अतः अब पदान्तर का उल्लेख करते
हैं—'यदा' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप आवरण को हटाने के लिये किसी
तथोक्त व्यापार की कल्पना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सहृदयता की सहायता से परिपक्व
होई काव्यार्थ-विषयक-भावना ही सहृदयों की आत्मा पर छाये हुए अज्ञानावरण को
दूर कर देगी और विभावादि का साधारणीकरण भी करेगी, 'भावकरव' भी तो भावना से
अतिरिक्त कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, 'प्रकृति-तन्मय-बोधे प्रकारीभूतो धर्मो भाव-
प्रत्ययार्थः' इस नियम के अनुसार भावराय का पर्यवसित अर्थ भावना ही होगा । इस
लिये ऐसा समझना चाहिए कि उक्त भावना से साधारणीकृत विभावादिकों का जो
आस्वादन सहृदय-जन करते हैं, उसका प्रभाव उनके ऊपर सहृदयता के कारण गहरा
पड़ता है, और उस प्रभाव के द्वारा काव्यवर्ती व्यञ्जना-वृत्ति से सहृदयों के चित्तों में रति
भादि स्थायीभावों से युक्त, अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचेतन्यस्वरूप आनन्दाकार वृत्ति
उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदयमण उस आनन्द में डीब हो जाते हैं—डूब जाते हैं तन्मय हो
जाते हैं, जैसे योगियों के चित्तों में सविकल्पक समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति होती है
अर्थात् उस अवस्था में योगियों को सांसारिक किमी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे
सब प्रज्ञानन्द में डीब रहते हैं, वन्ही स्थायिभावों से युक्त आनन्दाकार चित्तवृत्ति को
साहित्यशास्त्र में 'रस' कहते हैं ।

नन्वस्यापि चित्तवृत्तिविशेषरूपस्यानन्दस्य लौकिकतया, लौकिक-द्रव्यचन्दनाद्युपभोग-
जन्यमुख्येभ्योऽविशेषो विशेषो वा ? आद्ये तानि निहाय किमिति परोक्षकः सहृदयोऽस्मै प्रव-
र्तत । द्वितीये को नाम स इत्याकाङ्क्षां मनसिकृत्याह—

आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वान् ।

अयं पूर्वोक्तचित्तवृत्तिविशेषरूप आनन्दः (सुखविशेष) प्रज्ञानन्दभिन्नत्वाल्लौकिक-
सामप्रोजन्यत्वाच्च लौकिकेऽपि, यान्यन्यानि सक्चन्दनाद्युपभोगजन्यानि लौकिकसुखानि, तैः
साधारणस्तुरयो नास्ति (किन्तु तद्विरुद्धोऽस्ति), अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वादनन्तःकरण-
वृत्त्यवच्छिन्नचेतन्यरूपत्वामावात् ।

अन्येषां हि लौकिकसुखानामन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचित्पदत्वं, रसरूपानन्दस्य तु शुद्ध-
चेतन्यरूपतयाऽन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदकरहितत्वादनवच्छिन्नत्वानन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-

चैतन्यरूपत्वम् । रसात्मकानन्दानुगवे चित्तवृत्तेरानन्दरूपतयैव परिणमनादेतदानन्दस्य तद्वृत्तिरूपावच्छेदकभावाच्चिरवच्छिन्नतया, लौकिकसुखान्तरानुगवे त्वन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदक-सङ्गावाच्चिरवच्छिन्नतयाभावान्मयो वैकृष्ट्यमिति सारम् ।

यदि कोई कहे कि यह चित्त-वृत्ति-विशेषात्मक आनन्द तो अलौकिक नहीं है, अतः लौकिक सुखों से इसमें कुछ विशेष नहीं रहेगा और जब विशेष नहीं रहेगा, तब कोई अन्य लौकिक सुखों को छोड़कर इस काव्यसुख की स्पृहा क्यों करेगा, इस सवाल का उत्तर देते हैं—'आनन्दो ह्ययम्' इत्यादि । यद्यपि ब्रह्मानन्दसे मिश्र तथा लौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण यह पूर्वोक्त चित्तवृत्ति विशेषात्मक आनन्द (सुखविशेष) लौकिक अवश्य है, तथापि अन्य (सक, चन्दन, वनितादि-उपभोग-जन्य) लौकिक सुखों के समान नहीं अपितु विच्छेदक है क्योंकि अन्य लौकिक सुख अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य-स्वरूप रहते हैं अर्थात् उन सुखों के अनुभव करते समय चैतन्य का अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ सम्बन्ध रहता है, और यह स्वरूप आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप नहीं अपितु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है अर्थात् रसात्मक आनन्द के अनुभव करते समय चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है, अतः वह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अवच्छेदक (ह्ययम्-ग्राहक) नहीं हो पाती, जिससे यह आनन्द अनवच्छिन्न (ह्ययम्-रहित) ही रहता है, यही अन्य लौकिक सुखों की अपेक्षा इस रसात्मक सुख में विच्छेदकता है ।

उपसंहारः—

इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् ।

इत्यमुकरीत्याऽभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादीना ये च्चन्यालोकलोचन-काव्यप्रकाशप्रभृतयो ग्रन्थास्तेषां स्वारस्येनभिप्रेततया, भग्नमग्नानुरूपमावरणं यस्या सा भग्नावरणा चित् (विशुद्धचैतन्यम्) तद्विशिष्टस्तद्विषयीभूतो रत्यादि स्थायी भावो रस इति स्थितं पर्यवसन्नमित्यर्थः ।

काव्यप्रकाशे रसनिरूपणप्रकरणे चतुर्यस्याचार्याभिनवगुप्तमतस्यैव सर्वाभ्यर्हितत्वेनोपास्य, साधारणीकृत-चैतन्यविषयीभूतरत्यादिस्थापिभाव एव रस इति सारम् ।

अब अभिनवगुप्तादि सम्मत रससम्बन्धी मत का उपसंहार करते हैं—'रस्य च' इत्यादि । इस तरह अभिनवगुप्त (चन्यालोक की लोचन नामक टीका को बनाने वाले) तथा मम्मट (काव्यप्रकाश के रचयिता) आदि के ग्रन्थों के अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण से युक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' है' यह स्थिर हुआ ।

नन्वेव रसस्य रत्यादिस्थापिरूपतया चैतन्यभिन्नत्वे, चैतन्याभेदप्रतिपादित्वा 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतयो विरुद्धान्तीति सिद्धान्तमतमभिदधाति—

वस्तुतस्तु यद्यमाणभृतिस्वारस्येन रत्यादावच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।

रत्यादीनां विषयतया चिदवच्छेदकत्वम् । रत्यादिविषयक भग्नावरणं चैतन्यमेव रसो न तु चैतन्यविषयीभूतरत्यादि, श्रुतिस्वारस्यमङ्गप्रसङ्गादित्याशयः ।

इस प्रक्रिया के अनुसार जब रस रति-आदि स्थायीभाव के स्वरूप हुआ चैतन्य-स्वरूप नहीं, तब तो चैतन्य और रस को अभिन्न बतलाने वाली 'रसो वै स' इत्यादि श्रुति विरुद्ध हो जायगी, अतः सिद्धान्तभूत मत का उल्लेख करते हैं—'वस्तुतस्तु' इत्यादि । आशय यह है कि उक्त श्रुति के अनुरोध से रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणयुक्त शुद्धचैतन्य को ही 'रस' कहना चाहिये, न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को ।

मतद्वयेऽपि रसस्य नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धमेवेति दर्शयति—

सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय, नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम् ।

सर्वथैव—उभयथाऽपि (कल्पद्वयेऽपि) विशिष्टात्मनोऽवच्छेद्यावच्छेदकभावेन चित्रशिष्टरत्यादिरूपाया रत्यादिविशिष्टचिद्रूपाया वा, अस्या रसादिभ्यस्ते रसादिरूपतया मतायाधितो वा, पूर्वकल्पे रत्यादेर्विशेष्यत्वाद् विशेषणम्, उत्तरकल्पे रत्यादेर्विशेषणत्वाद् विशेष्यं वा चिदंशं चेतन्यरूपम्, आदायावत्प्रत्यय, नित्यत्वमुत्पत्तिविनाशराहित्यं, स्वप्रकाशत्वं प्रकाशान्तराप्रकारयत्वं च सिद्धं निष्पद्यमित्यर्थः ।

विशेषणतया विशेष्यतया वा चितोऽङ्गीकारे कल्पद्वयेऽपि रसादीनां नित्यता स्वप्रकाशता च परिहायेतेति सारम् ।

दोनों ही भनों में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता सिद्ध ही है' यही बात कहने हैं— 'सर्वथैव' इत्यादि । छात्रात्मक चैतन्य के विषयीभूत रति आदि स्थायीभावों को रस कहिये अथवा रति आदि स्थायीभाव विषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों प्रकारों में यह मिश्रित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही आशिकरूप से हैं, भन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य है और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य है और रति आदि विशेषण । दोनों ही कल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है ।

अतः यथा 'नित्यो रसः', 'स्वप्रकाशो रसः' इत्यादिव्यवहार रसविषयका भवन्ति, तथैव 'उत्पन्नो रसः' 'विनश्ये रसः' 'इतरमात्स्यो रसः' इत्यादयोऽपि व्यवहार ये भवन्ति, तेषां कथमुपपत्तिरिति पृच्छाया व्याहरति—

रत्यांशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च ।

अस्या विशेष्यं विशेषणं वेति शेषः ।

अस्या रसभ्यस्ते, पूर्वस्मिन् कल्पे विशेष्यम्, परस्मिन् कल्पे विशेषणं रत्यांशमादाय तु, अनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशराहित्यम्, इतरभास्यत्वं परप्रकारयत्वं च सिद्धमित्यर्थः ।

रत्यादेरनित्यत्वमितरभास्यत्वं चारोप्य रसविषयकः प्रागुक्तव्यवहार उपपादनीया इत्यभिसन्धिः ।

'रस उत्पन्न हुआ, रस विनश्य हुआ' इत्यादि व्यवहारों से प्रतीत होने वाली रस की अनित्यता के सम्बन्ध में कहते हैं—'रत्याद्यय' इत्यादि । कहने का तात्पर्य है कि जिस तरह चैतन्यांश को लेकर रस नित्य और स्वप्रकाश है, उसी तरह रति आदि अंश को लेकर रस अनित्य भी है और परप्रकाश भी । अतः उक्त व्यवहार भी असंगत नहीं कहे जा सकते ।

'नर्व्यमाणो रसः' इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये चर्वणा निरूपयति—

चर्वणा चास्य चिद्रूपावरणमङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा ।

अस्य रसस्य पूर्वकल्पे (अभिनवगुप्तादिमते) चिद्रूपावरणमङ्गचैतन्यावरणाज्ञानध्वंस एव, नाशमनोत्तरकल्पे (यद्वा मते) तदाकारा रत्याद्यवच्छिन्नात्मानन्दरूपाऽन्तःकरणवृत्ति-व्येतनैव चर्वणेत्यर्थः ।

रसचर्वणयोस्तादात्म्यस्यान्यत्र निर्णीतत्वेन सोकोत्तरवमत्कारप्राणत्वादिह चर्वणायाः पूर्वकल्पोक्तमावरणमङ्गलत्वमचमत्कारित्वापत्तेर्नोचितमिति पञ्चान्तरोपन्यासोऽवसेयः । उभयोस्तादात्म्ये 'रसचर्वते' इत्यादिव्यवहारास्तु भेदारोपाधिर्बाहणीया ।

'रस' चर्वते' ऐसा व्यवहार प्राचीनकाल से होता आ रहा है, अतः रस की यह

चर्वणा क्या चीज है ? ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक थी, उसी जिज्ञासा की दान्त के लिये चर्वणा का निर्वेचन करते हैं—‘चर्वणा च’ इत्यादि। चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का हट जाना ही रस की चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रस-चर्वणा समझनी चाहिए। यहाँ अभिनवगुप्त मत की प्रथम व्याख्या के हिसाब से पूर्वम्बर और उनकी द्वितीय व्याख्या के हिसाब से उत्तररूप कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

इहानी रसचर्वणाया अस्वादाद् नैतच्छण्य वर्णयति—

इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंबलितविज्ञान-
न्दात्म्यनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्।

इयं पूर्वांका रसचर्वणा परब्रह्मण सच्चिदानन्दस्यास्वादे शत्र तादृशान् समाधेरसम्प्र-
ज्ञातयोगचरभावाद् (वस्तुतस्तु तत्कालोत्पद्यमानपरब्रह्माज्ञातकारात्) विलक्षणा मित्रा,
विभावादिभिर्विषयैर्ज्ञेय संबलितो निमित्तविज्ञानन्दो रस आलम्बनं विषयो यस्यास्तत्त्वान्।
च पुनरियं चर्वणा काव्यव्यापारमात्रात् केवल्या व्यञ्जनया (न तु श्रवणादिब्यापारैः) भाव्यो-
प्याया भवतीत्यतोऽपि अज्ञाताज्ञातकाराद् गिज्ञेत्यर्थः।

परब्रह्माज्ञातकारो विषयासंबलितत्वाद् विशुद्धब्रह्मविषयक श्रवणादिब्यापारजन्यश्च,
रसास्वादस्तु विभावादिसंबलितत्वाद् विशिष्टरसविषयको व्यञ्जना (रसना) मात्रजन्यश्चेति
तयोर्विषयकारणविशेषाद् विशेषे नं यन्नप्रतिपाद्यः। साम्यं पुनरलौकिकनित्यानन्दविन्म-
यत्वेन स्फुटम्। न च भेदाज्ञीकारे ‘ब्रह्मैव रस’ ‘रसो वै स’ इत्याद्यभेदप्रतिपादकध्रुतिविरोधः,
तासामपि ‘आदित्यो यूय’ इत्यादीनामिव सादृश्य एव सात्पर्यपर्यवसानात्।

अत्रापि समाधिपदस्य सन्निकर्षकयोगपरत्वं परोक्षं न युक्तम्, पूर्वोक्तयुक्ते, समाधी
अज्ञाताज्ञातकारो न तु समाधिरेव स इति तयोर्भेदस्य सिद्धत्वेनासाध्यत्वाच्च।

ब्रह्मास्वाद से रस-चर्वणा में जो वैलक्षण्य है उसका वर्णन करते हैं—‘इयं च’ इत्यादि।
स्वविकल्पक समाधिकाल में जो ब्रह्मानन्दस्वाद होता है, उससे यह रस-चर्वणा (रसास्वाद)
विलक्षण—मित्र तरह की है क्योंकि रस-चर्वणा का आलम्बन विभावादि-विषयों
(सांसारिक पदार्थों) से मिश्रित आनन्दानन्द है और काव्य की व्यञ्जना (व्यापार) से
ही यह चर्वणा होती है इसके विरुद्ध ब्रह्मानन्दास्वाद का आलम्बन, विषय-विहीन-शुद्ध
आनन्दानन्द है और श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप व्यापारों से वह होता है। अतः ब्रह्मास्वाद
सथा रसास्वाद ॥ कारण एवं विषय दोनों के मिश्र होने से भेद है ऐसा समझना चाहिए।

अथ रसचर्वणाया आनन्दमयत्वं वाच्येवाक्येन व्यवस्थापयति—

अथास्यां सुखाशभाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्वाने किं मान-
मिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्।

अस्यां रसास्वादलक्षणाया चर्वणायाम्। पर्यनुयोगस्य प्रतिप्रश्नस्य।

यथा समाधिकालिकप्रतीतौ भवदभिमतमानन्दमानन्दस्य मानम्, तथैव रसचर्वणा-
यामपि मदभिमतं तद् भवतीत्युभयोस्तुल्यतायाम्—‘यत्रोभयो समो दोष परिहारोऽपि
तादृशः। नैकं पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥’ इत्युक्तेरेकस्यैव शिरसि प्रश्नसमाधानभा-
वारोपो नीचित इति मात्र।

यदि आप पूछें कि इस रसास्वाद में सुख का अंश भासित होता है इसमें प्रमाण
क्या है ? तो हम पूछेंगे कि समाधि में भी सुख भासित होता है, इसमें क्या प्रमाण है ?
सात्पर्य यह है कि जैसे समाधि में सुख का मान मानते हैं वैसे ही रसास्वाद में भी सुख
का मान मानना चाहिए।

ननु नोभयोस्तुल्यता समाधौ सुखाशमाने शब्दप्रमाणस्य जागकरूढत्वादित्याह—

‘सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिभाह्यमतीन्द्रियम् ।’ इत्यादिः शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत् ।

तत्र समाधिसुखाशमाने—आत्यन्तिकं सकलत्रैकिकमुखातिरागि, बुद्धिप्राप्तं बुद्धिमात्र-
वेद्यम्, अतएवातीन्द्रियं ‘मनसस्तु पराबुद्धिः’ इत्युक्तेन्द्रियागोचरोभूतं, यत् सुखं परमाज्ञादं,
तद्, अयं योगी, वेत्ति साक्षात्करोतीत्यर्थक शब्दो गीतापञ्चाध्याये भगवद्वाक्यं, मानमस्तीति
नोभयोः साम्यमिति चेद् यदि, कथ्यत इत्यर्थः । ‘वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।’
इति पद्योच्चारः ।

यदि आप कहें कि समाधि में सुख मान को ‘सुखमात्यन्तिकम्’ इत्यादि गीता के शब्द
प्रमाणित करते हैं अर्थात् गीता में कहा हुआ है कि ‘समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह
बुद्धि-मात्र से वेद्य है इन्द्रियों से नहीं’ । इस तरह से ‘समाधि में सुख का मान होता
है’ इसमें शब्द प्रमाण मिलता है, और रसास्वाद में सुख का मान होता है इसमें तो कुछ
प्रमाण नहीं मिलता ।

रसचर्वणादामपि सुखाशमाने प्रमाणद्वयं दर्शयति—

अस्त्यत्रापि ‘रसो वै सः’ ‘रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति’ इत्यादिश्रुतिः,
सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् ।

अत्रापि रसास्वादे सुखाशमानेऽपि, स सच्चिदानन्दरूप आत्मा, वै निख्येन, रसः इत्य-
पिना, हि निख्येन अग्रमात्मा, रसं, लब्ध्वाऽऽस्वाद्य, एव न त्वन्वया आनन्दीभवति परमा-
ज्ञादरूपता प्रतिपद्यत इत्यर्थिका ष श्रुतिर्वैदः, काव्यरसास्वादसमये सकलसहृदयानां सर्वविद्-
ग्यानां, प्रत्यक्षमनुभवश्चेति प्रमाणद्वयमुभे प्रमाणे स्त इति कथं न तुल्यतेत्यर्थः ।

रसास्वाद में भी सुख का मान मानने में प्रमाण है, देखिये श्रुति कहती है—‘रसो वै सः’
(वह आत्मा इसरूप है) और ‘रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति’ (रस को पाकर ही
यह आनन्दरूप होता है) इस तरह से समाधि में सुखमानका प्रमाणक यदि गीता का
शब्द है तो रसास्वाद में उसका प्रमाणक वेद-शब्द है, अब आप स्वयं सोच सकने हैं कि
किंभर का पल्ला भारी है, इतना ही नहीं, ‘रसास्वाद में सुखका भाव होता है’ इसमें तो
सकलसहृदय समाज का हृदय भी प्रबलतम दूसरा प्रमाण उपस्थित है । सभी सहृदय
रसास्वाद में सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

अथ रसचर्वणानां प्रसङ्गाच्छाब्दपरोक्षज्ञानात्सकलं व्यक्त्यापयति—

येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता, सा शब्दव्या-
पारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षत्मिका ।

द्वितीयपक्षे श्रेष्ठमिति, या इयमुपादीयमाना, रसचर्वणा, उपन्यस्ता प्रतिपादिता, सा
शब्दव्यापारभाव्यत्वादभिधाऽऽदिशब्दनिष्ठचित्तजन्यत्वाच्छाब्दी शब्दबोधरूपा, अपरोक्षं
प्रत्यक्षविषयीभूतं यत् सुखमानन्द आत्मलक्षणं, तदात्म्यनत्वान् तद्विषयत्वाच्च, अपरोक्षत्मिका
प्रत्यक्षरूपा चास्तीति शेषः ।

अब इस बात की व्यवस्था करते हैं कि रसचर्वणा शब्दज्ञानरूप होकर भी अपरोक्षा-
त्मक है—‘वेद्यम्’ इत्यादि । ‘यद्वा’ मत में जो आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रस की चर्वणा
कही गई है वह (चर्वणा) शब्दके व्यञ्जना-व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः शाब्दी अर्थात्
शब्द बोधरूप है और प्रत्यक्षसुख अर्थात् आह्लासबन्धु उंस (चर्वणा) का आलम्बन है
अतः अपरोक्षात्मक-प्रत्यक्षरूपक भी है । कहने का तात्पर्य है कि यद्यपि शब्दबोध की

गगना परोक्षज्ञान में ही अन्यत्र की गई है तथापि रसचर्चणा शब्दबोधरूप होकर भी प्रायश्चारमक है ।

इष्टान्तोपम्यासेनैकस्या एव प्रतीते शब्दत्वं प्रत्यक्षत्वं चोपपादयति—

तत्त्वं वाक्यजबुद्धिवत् ।

भवेन्मयादिनये शब्दत्वं-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोधः, किन्तु वेदान्तमते, वाक्य 'तत्त्वमसि' इत्यादिभूतिवाक्यं, तस्मान्वाता बुद्धिजीवप्रकृत्यप्रतीतिः, तस्या यथा वेदान्तिभिः शब्द-अन्यत्वाच्छब्दत्वम्, अपरोक्षमहात्म्यवत्ताचापरोक्ष (प्रत्यक्ष) त्वं चाज्ञीक्रियते, तथैव रसप्रतीतेरपि शब्दस्वगपरोक्षत्वं च स्यादित्यर्थः ।

एक ज्ञान में शब्दत्व तथा प्रत्यक्षत्वकत्व दोनों कहीं कहीं रहते हैं, इसमें इष्टान्त विलक्षते हैं—'तत्त्वमित्यादि'। आशय यह है कि शब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नैयायिक लोग मानते हैं, वेदान्ती नहीं, वे तो—'तत्त्वमसि' इस वेद वाक्य से जो जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य बुद्धि होती है,—उस बुद्धि को शब्दजन्म होने के कारण शब्द और अपरोक्ष ब्रह्म विषयक होने से प्रत्यक्षरूप मानते हैं, उसी तरह साहित्यिक भी रसचर्चणा को प्रत्यक्ष और शब्द दोनों मानते हैं ।

आयमभिनवगुप्ताचार्यमतमभ्यवसितमवगमयति—

इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः ।

लौकिककारणादिजनितो वासनारूपेण सदृश्यस्य हृदयं प्रविष्टे रत्यादिस्तत्सदृश्यत्व-सदृक्तभावनाप्रभावाभिमतसाधारण्यालौकिकविभावादिभाव-विभावादिप्रादुर्भावितभावनाविशेष-रूपभावकत्वव्यापारसम्पादितवरणाज्ञानपक्षेण समुदितसार्वभौम्येन सदृश्येनात्मस्वरूपे-गानन्देन सहारमाभेदेनास्वाद्यमानस्तथाविधरत्याद्यास्तादो वा रस इत्यवसितस्य प्रथम-मतस्य सारम् ।

यह प्रथम मत आचार्य अभिनव गुप्त का है ।

अथ हृदयदर्पणादिनिर्मातुर्भेदनायकस्य भेदमभेदेनाप्युपातं मतं द्वितीयत्वेनोपक्षिपति—

(२) भट्टनायकस्तु—तादस्येन रसप्रतीतावनास्वादत्वम् । आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः, शकुन्तलाऽऽदीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात् ।

तादस्येनौदासीन्येन स्वसम्बन्धराहित्येन 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्या-कारणत्वेनेति यावत् । अनास्वादत्वमवमत्कारित्वम् । आत्मगतत्वेन स्वसम्बन्धितया 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्याकारणत्वेनेत्यनर्थान्तरम् । प्रत्यय आस्वादात्मिका प्रतीतिः । दुर्घटोऽसम्भवः । सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वाद् दुष्यन्तेतरसहृदयनिष्ठश्चरारसालम्बनत्वा-भावात् ।

अभिज्ञानशकुन्तलाभिनयदर्शनावसरे यदि सामाजिकानां 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याकारिका प्रतीतिः स्यात्, तदा स्वसम्बन्धराहित्येन तस्याव्यवहारित्वं न स्यात् 'सर्वं सत्त्वात्मनः अमाय प्रियं भवति' इत्यादिवचनात् । तथा च तत्र रसत्वमेव न स्यात्, 'रसे सारथमत्कार' 'लोकोत्तरचमत्कारप्राप' इत्याद्युक्ते । शकुन्तला मातृवन्मम पूज्येति ज्ञाने जागृक्ते, 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'निति प्रतीतेरप्यसम्भव इत्यर्थः ।

साम्प्रदायिकास्त्वत एव सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायिसाधारण्येन, विमा-वादिप्रतीतिमूरीकुर्वन्तीति—'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति ॥ तदास्वादे विभावादे-परिच्छेदे न विद्यते ॥' इत्यादिनाऽन्यत्र स्फुटम् ।

अथ पण्डितराज 'हृदय-दर्पण' आदि ग्रन्थों के निर्माता भट्टनायक के मत को रस-निरूपण-प्रसङ्ग में द्वितीय स्थान देते हैं—'भट्टनायकास्तु' इत्यादि । भट्टनायक का कथन है कि तदर्थभाव से अर्थात् 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रतिवाला है' इस रूप से रसकी प्रतीति होने पर उसमें आश्चर्यता-चमत्कार नहीं होगा और जब चमत्कार ही नहीं रहेगा तब वह रस होगा ही कैसे ? क्योंकि 'रसे सारस्वमत्कारः' ऐसा सिद्धान्त सर्व-सम्मत है । उदासीन भाव से शकुन्तलादि रति की प्रतीति होने पर उसमें चमत्कार का न होना भी समुचित ही है क्योंकि 'सर्वं खल्वस्मान्नः कामाय शिवं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार अपने में प्रतीयमान किसी के प्रेम (रति) में ही चमत्कार (आस्वाद) हो सकता है । यदि आप कहें कि अपने में ही रस की प्रतीति मानिये अर्थात् 'मि शकुन्तला-विषयक रतिवाला हूँ' ऐसी ही प्रतीति इष्ट है, तब तो आस्वाद होने में कोई बाधा नहीं होगी, सो भी ठीक नहीं क्योंकि जब शकुन्तला आदि सामाजिकों के विभाव नहीं है—उनसे सामाजिकों का कोई ज्ञाता नहीं है, तब ठीक प्रतीति हो ही नहीं सकती अर्थात् उदासीन शकुन्तला का प्रेम अपने में समझना बल ही नहीं सकता है ।

ननु विभावादिप्रतीतिं विनैव रसप्रतीतिर्भवत्वित्याशङ्कमपास्यति—

विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः ।

अनालम्बनस्यालम्बनविभावरूपाधारशून्यस्य । आदिपदेनानुभावादिपरिमहः । तेषूही-पनादिशून्यस्येति बोध्यम् ।

रसादीनामुद्गमादि हि कश्चिदर्धमालम्ब्यैव भवतीति तदालम्बनादिभावमन्तरेणानुभविष्यपि रसादिप्रतीतिं सामाजिकानां न सम्पत्तीति भावः ।

विभाव के बिना ही रस की प्रतीति मानें ? सो भी संगत नहीं, कारण ? आलम्बन रहित रति आदि का ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् प्रेम पात्र के अभाव में भी कोई अपने को प्रेमी समझे यह कैसे सम्भव है ।

पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च कान्तात्वं साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, अप्रा-माप्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावताऽवच्छेदककोटाववर्यं निवेद्यत्वान् ।

अत्रापि शकुन्तलाऽऽदिभूतिना गृह्येतत्त्वां नव्यामपि, साधारणविभावताऽवच्छेदक-मालम्बनविभावतासमनियतसामान्यधर्मः, कान्तात्वं नाविकस्यम्, अस्त्येव, तस्मात् तदात्मन्यैव रसोद्गमः स्यादिति च न वाच्यम्, 'नाविश्रावमप्रमाणम्' इति निष्प्रयो यद्विष-यको भाभूत्, तदप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गितं यद् 'इयं ममागम्या' इत्याकारकगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानम्, तस्य विरहोऽभावस्तस्य, विशेष्यत्वे सम्बन्धस्तदवच्छिन्ना या प्रतियोगिता तज्जिह्म-पकस्य, (तादृशभाववैशिष्ट्यस्य) विभावताया आलम्बनविभावताया, अवच्छेदकस्य समनियतधर्मस्य, कोटौ कुतौ, अवश्यं नियमेन, निवेद्यतादित्यर्थः ।

ननु कतिपयशकुन्तलाप्रयामपि विभावताऽवच्छेदकसामान्यधर्मं कान्तात्वमस्त्येवेति तस्या आलम्बनविभावत्वे निर्वाधे, रसप्रतिपत्ति स्यादेवेति चेत्, न, यत्—न केवलं कान्तात्वमालम्बनविभावताऽवच्छेदकम्, अपि तु स्वल्पादीनां तत्त्वस्य व्यवच्छेदाय, विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेनाप्रामाण्यनिश्चयाविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानभावेन सामा-न्यविरूप्यसम्बन्धेन विशिष्टं कान्तात्वमितीदृशकान्तात्वरूपात्मनविभावताऽवच्छेदकस्य तत्राभावाद्रसप्रतिपत्तेर्न सम्भवतीति तात्पर्यम् ।

कान्ताविशेष्यकागम्यात्वप्रकारकज्ञाने नायमानेऽपि तज्ज्ञानविषयकाप्रामाण्यनिश्चये रति न कार्यसिद्धिरित्यप्रामाण्यनिश्चयनालिङ्गितत्वं ज्ञानविशेषणम् ।

अनालिङ्गितत्वमविषयत्वम् 'ज्ञानविशेष' इति त्वपव्याख्यानं ज्ञानविषयतयोर्भेदात् । अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं विशेष्यतया कान्तायामिति विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-स्तदभावोऽपेक्षितः । 'विशेष्यतासम्बन्धः समवायः' इति विवृतिरपि चिन्तनीयैव, समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशज्ञानाभावस्य सर्वत्र कान्तामुसद्धावात् तादृशभाववि-शिष्टकान्तात्वस्य विभावताऽवच्छेदकोटौ निवेशोऽपि 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधि' इति न्यायेन न स्वसादेस्तत्त्वस्य परिहार इत्यापत्ते स्फुटत्वात् । कान्तात्वस्य तादृशज्ञाना-भावस्य चैकत्र कान्ताया सत्त्वात् परस्परं समानाधिकरण्यसम्बन्धः ।

यदि आप कहें कि अनालम्बन रति आदि की प्रतीति नहीं हो सकती यह तो ठीक है परन्तु यहाँ आलम्बन का अभाव घोड़े ही है ! शकुन्तला प्रभृति आलम्बन उपरिधत्त है, तब रही बात यह कि शकुन्तला आदि सामाजिकों का विभाव नहीं बन सकती तो बात भी अकिञ्चित् कर ही है क्योंकि किसी नायक को प्रेम (रति) का कारण कहलाने के लिये कान्ता-सुन्दर नायिका का होना ही पर्याप्त है और शकुन्तला आदि सुन्दर नायिकायें हैं ही फिर वे सामाजिकों की रति के आलम्बन क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर यह है कि केवल कान्ता होना ही नायकमात्र की रति के आलम्बन कारण बनने के लिये पर्याप्त नहीं है यदि ऐसी बात मानली जाय तब तो कान्ता होने के नाते माँ वहन भी पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन कारण हो जाय अतः यह कहना पड़ेगा कि जिस नायिका में जिस नायक को 'यह अगम्य है—सम्भोगयोप्य नहीं है' ऐसा ज्ञान न हो, वही नायिका उसी नायक की रति के आलम्बन-विभाव हो सकती है, माँ वहनों में तो पुत्र भ्रातादिकों को वैसे (यह अगम्य है) ज्ञान रहता ही है अतः वे उनके प्रेम के कारण नहीं होती । एक बात और कल्पना कीजिये किसी नायिकाके सम्बन्ध में पहले किसी को यह ज्ञान हुआ कि 'यह नायिका अगम्य है' और इस ज्ञान के दूसरे क्षण में उस ज्ञान में अप्रमात्व का निश्चय हुआ अर्थात् उस नायिका को मेरा अगम्य समझना अप्रमाण है ऐसा निश्चय हुआ, तब क्या होगा ? वह नायिका उसकी रति का विभाव होगी या नहीं ? उत्तर 'हाँ' में ही देना होगा, यदि आप कहें कि उस नायिका में विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव तो नहीं है अर्थात् 'यह अगम्य है' ऐसा ज्ञान ही उस नायिका में विशेष्यता सम्बन्ध से है, फिर वह तत्पुरुषीय रति का आलम्बन विभाव कैसे होगी ? बात ठीक है, इसीलिये ग्रन्थकार अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान में 'अप्रामाण्यनिश्चयाना-लिङ्गित' विशेषण लगाया है अर्थात् उस नायिका में शुद्ध अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव के न रहने पर भी अप्रामाण्य निश्चयानालिङ्गितत्वविशिष्ट उक्त ज्ञान का अभाव रहेगा, इसी तरह के अभाव को 'विशेषणभावप्रयुक्तविशिष्टभाव' कहते हैं, अतः वह नायिका उस नायक के प्रेम का आलम्बन अवश्य हो सकती है । अच्छा अब प्रकृत में विचार कीजिये कि इस परिष्कार के अनुसार शकुन्तला आदि सामाजिकों की रति के आलम्बन विभाव होगी या नहीं ? उत्तर ग्रन्थकार का नकारात्मक है कारण ? शकुन्तला आदि—जो दृश्य कोटि में हैं—में 'अगम्य' इत्याकारक ज्ञान ही सामाजिकों को रहता है और उस ज्ञान में कभी अप्रामाण्यनिश्चय अर्थात् 'अगम्य' यह ज्ञान मिथ्या है ऐसी धारणा भी नहीं होती, अतः विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक, अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव-विशिष्टकान्तात्वरूप विभावतावच्छेदकधर्म शकुन्तला आदि में नहीं है । सारांश यह कि आलम्बनत्वेन इसकी प्रतीति नहीं हो सकती—अर्थात् 'शकुन्तलाविषयक रतिवाला मैं हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता है ।

उक्तनिवेशाभावे दोषं दर्शयति—

अन्यथा स्वप्नादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः ।

अन्यथा शृङ्गारालम्बनविभावताऽनच्छेदकोट्युक्तनिवेशाकरणे । स्वप्नादिपदेनागम्या-
ज्ञानान्तरपरिग्रहः । तत्त्वं आत्मादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वम् ।

अप्रामाण्यनिश्चयविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका-
भावविशिष्टकान्तात्वस्य शृङ्गारालम्बनविभावताऽनच्छेदकताऽनभ्युपगमे, भगिनीप्रभृत्यग-
म्यस्त्रीणामपि, सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य सत्त्वाद्, आत्मादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्व-
मापद्येत, तस्मादुक्तनिवेश आवश्यक इत्यभिप्रायः ।

कान्तामात्र को रति का विभाव मान लेने पर जो दोष होगा, उसका उल्लेख करते हैं—'अन्यथा' इत्यादि । कहने का सारांश यह है कि रति के आलम्बन विभाव होने के लिये नायिका में जित सब विशेषों का रहना आवश्यक बतलाया गया है, उनका अङ्गीकार यदि न किया जाय, केवल कान्तात्व को ही विभावताबच्छेदक माना जाय, अर्थात् नायिका होना ही रति के आलम्बन होने के लिये पर्याप्त समझा जाय, तब भी वहने भी कान्ता होने के भाते पुत्र तथा आत्मा की रति के आलम्बन हो जायगी, यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ ।

रसान्तरेष्वप्येवं निवेशावश्यकता प्रकटयति—

एषमशौच्यत्व-कापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ ।

अशौच्यत्वमशौचनीयत्वं, तच्च पुंसः सर्वथा कृतकृत्यत्वाज्जीवदशाजायमानविषमयातना-
निवर्तनाद्वा, कापुरुषत्वं तु पौरुषोन्नितानाचरणात् कदाचरणाद्वा । तथाविधस्य विशेष्यतास-
म्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य ।

एवं शृङ्गाररसोक्तरीत्या, करुणरसादावपि विभावताऽनच्छेदकोट्यावरोच्यत्वकापुरुषत्व-
प्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमानाधिकरणविनष्टपुरुषत्वमेवाल-
म्बनविभावताऽनच्छेदकम् । अन्यथा विनष्टस्याशौच्यस्यापि पुरुषस्य विनष्टपुरुषत्वादिसामा-
न्यधर्मयोगात् करुणरसालम्बनविभावत्वमापद्येत (एवमेव रसान्तरेष्वप्युहनीयम्) इत्याशयः ।

केवल शृङ्गार रस के ही नहीं अपितु अन्य रसों के विभाव के विषय में भी उक्त प्रकार का विचार करना पड़ेगा, यही बात कहते हैं—'एवम्' इत्यादि । आशय यह है कि जैसे शृङ्गार रस में आलम्बन विभावताबच्छेदक केवल कान्तात्व को न मान कर उक्त वितोषविशिष्ट कान्तात्व को माना गया है, उसी तरह करुण रस के विभावताबच्छेदक भी केवल कृत जनत्व को न मान कर अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित, अशौच्यत्व अथवा कापुरुषत्व प्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टमृतजनत्व को मानना चाहिये, अर्थात् करुण रस का-शोक का-आलम्बन-विभाव (कारण) केवल मरा हुआ व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता, अन्यथा, वह व्यक्ति भी शोक का आलम्बन हो जायगा, जो मृत्युज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मरा है—जिसको जीवन मरण में कोई विशेष नहीं भासित होता था, अथवा जो कापुरुष था—निन्दित था, अर्थात् जिसके मरण से लोभों को सुप्तो हो होती है, अपितु वह व्यक्ति विशेष ही मृत होकर शोक का आलम्बन होता है, जिसमें 'वह अशौच्य था, कुत्सित आचरण करने वाला था' ऐसा ज्ञान हो । शेष विचार शृङ्गार रस के विभाव-निरूपण के अनुसार ही करना चाहिये ।

नन्वच्छेदककोटिप्रवेशितस्तादृशज्ञानाभावात् सुखं दस्यत आद—

तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिषन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः ।

तादृशस्याप्रामाण्यज्ञानविषयागम्यात्वादिप्रकारकं भ्रमज्ञानं, तस्यानुत्पादोऽनुत्पत्तिः, ॥

पुनः, तत्प्रतिबन्धकान्तराणां तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिरोधकानामप्येता, निर्वचनं निरूपणम्, अन्तरेण विना, दुष्पपादो दुर्वच इत्यर्थः ।

शकुन्तलादिनिषयकमगम्यास्वप्रकारकज्ञानं तत्प्रतिबन्धकं, यानदेतद्भिन्नं तत्प्रतिबन्धकं किञ्चिन्न परिकल्प्येत । तन्निवेद्ये तु विशिष्टविभाक्ताऽऽन्तरेदकविरहान् प्रकृते रसप्रतीत्यभाव इति भावः ।

यदि आप कहें कि 'शकुन्तला आदि के विषय में सामाजिकों को 'ये हमारे लिये आगम्य हैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा' यह कथन ठीक नहीं, मैं कहता हूँ उक्त ज्ञान सामाजिकों को नहीं उत्पन्न होगा, इस श्रवण को सुलझाने के लिये कहते हैं 'तादृश' इत्यादि । कहने का कारण यह है कि परलोकमात्र के विषय में 'यह आगम्य है' ऐसा ज्ञान होना ही सत्पुरुष के लिये उचित तथा सम्भव है, सीता, शकुन्तला, दमयन्ती प्रभृति की तो बात ही क्या ? उन सबको सभी पूज्य समझते हैं, अतः उनके विषय में उक्त ज्ञान का होना अनिवार्य सा है, हाँ, निःसन्देह तब वह नहीं हो सकता, यदि उस ज्ञान की उत्पत्ति को रोक देने वाला कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे, परन्तु वैसा प्रतिबन्धक कोई दृष्टि-गोचर होता नहीं, फिर तो सामाजिकों को शकुन्तला आदि के विषय में आगम्यास्वप्रकारक ज्ञान होगा ही ।

तत्र पुनराह व समाधायि—

स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेष तथेति चेत्, न, नायके धराधौरेयत्व-धीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोध-स्यैव दुर्लभत्वात् ।

स्वात्मनोति सम्बन्धो विरोध्यत्वम् । तस्याऽगम्यास्वादिप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धका । धराधौरेयत्वं भूभारबाहुनञ्जमत्वम् । धीरत्वं प्राकृतमत्वं धृतिविशेषशालित्वं वा । प्रथमेतादि-शब्देन स्वात्मनि सर्वथाऽसम्भाव्यानां प्राचीनकालवृत्तित्व-लोकोत्तरशौर्यादिगुणानां द्वितीयेन चाल्यहस्तादीनां स्वदोषाणां ग्रहणम् । वैधर्म्यं विरुद्धो धर्मः । प्रतिपत्तिर्ज्ञानम् ।

स्वात्मविरोध्यकं दुष्यन्तप्रकारकमभेदसर्वकं 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकं सामाजिकस्य यदि जायत, तर्हि शकुन्तलादिनिषयकमगम्यास्वप्रकारक ज्ञानं सामान्यनिरहाचैत्योत्पद्येत, तर्हि तादृशज्ञानवृत्त्यपे प्रतिबन्धकान्तररत्ननया, दुष्यन्ताभेदबुद्धयैवागम्यास्वप्रकारकज्ञानोत्पत्ति-प्रतिबन्धकसम्भवादिति कथनं तु न सङ्गतम्, स्वात्मन्यसम्भाव्यानां धराधौरेयत्वादीनां दुष्यन्तगुणानां, दुष्यन्तेऽसम्भाव्यानामाधुनिकत्वादीनामात्मदोषाणां च मिथोविरुद्धधर्माणां ज्ञाने स्फुटं विद्यमाने, यावत्तस्य स्वात्मविरोध्यकदुष्यन्ताभेदज्ञानस्योत्पत्त्येवाराष्ट्रवादित्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यास्वप्रकारक ज्ञान को रोकने वाला प्रतिबन्धक आपको दृष्टिगोचर नहीं होता, यह तो आपका दृष्टि-बोध है, मैं तो प्रतिबन्धक को देगता हूँ और आपको भी दिखला सकता हूँ, देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल आदि के अभिनय देखते समय मत्वेक सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझता रहता है, वही दुष्यन्तादिक (जिनकी शकुन्तला आदि प्रेममियाँ थीं) और अपने में होने वाली अभेद-बुद्धि अर्थात् 'मैं दुष्यन्त हूँ' यह बुद्धि ही शकुन्तला आदि में आगम्यास्व ज्ञान की प्रतिबन्धिज्ञा है, यह भी तर्क ठीक नहीं, क्योंकि शकुन्तला आदि के नायक दुष्यन्त आदि प्राचीन काल के धराधौरेय और धीर पुरुष थे और हम इस युग के धृष्ट मानव हैं, यह विरुद्ध धर्म जब स्पष्ट प्रतीत होता रहेगा, तब 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस तरह के अभेद ज्ञान का होना ही दुर्लभ है—असम्भव है ।

ननु कथं चैवमज्ञाने कश्चिद्वदति, ज्ञातेवेच्छामूलकमाहर्षरूपं दुष्यन्तभेदज्ञानं भवेदेवे-
त्यहचे, प्रकारान्तरेण खण्डनमुपपन्नम्—

किं च केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न व्यावहा-
रिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्वविचीनामिवास्या अप्यदृष्टत्वापत्तेः ।

क्रियेत्यादिना प्रथमकौमुद्युपपादनं तत्खण्डनं च । इयं रसत्वेनाभिमतता, प्रतीतिः का कि-
मात्मिकेति प्रश्नः । प्रमाणान्तराणां प्रत्यक्षानुमानोपमानानाम् । शाब्दी शब्दजन्या शब्दबो-
धरूपा । व्यावहारिकशब्दान्तराणि काव्यातिरिक्तलौकिकव्यवहारप्रयुक्ता अन्ये शब्दाः ।
नायकमिथुनं नायिका नायकद्वय । वित्तिर्बोध । अस्या काव्यशब्दजन्यरसप्रतीतिः । अद्वयत्व-
मचमत्कारिता ।

इदमुच्यते—रसत्वेनाभिमतयेयं सामाजिकप्रतीतिः शब्दजन्यत्वादमिथाऽऽदिष्टिसापेक्ष-
त्वाच्च न प्रत्यक्षम् । व्याप्तिमहायनपेक्षणाभाजुमानम् । सादरयज्ञानामूलकत्वाच्च नोपमानमि-
त्यनागत्या, शाब्दबोधस्वरूपैवान्युपमता स्यात् । एवं सति प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामयमत्का-
रित्वस्य सर्वसम्मतत्वादस्या अपि कमत्काररूप्यतया 'रसे सारथमत्कारः' इत्युक्ते रसत्वं
न स्यात् । अन्यथा नायकमिथुनवृत्तान्तबोधककाव्यातिरिक्तशब्दजन्याया अचमत्कारक-
प्रतीतेरपि रसत्वमापयेति भावः ।

अभिनेयकाव्यजन्यप्रतीतिः शब्दजन्यत्वाभावाच्छब्दत्वं तु चिन्तनीयम् ।

यदि किसी कारण से वह विरह धर्म का ज्ञान न हो, अथवा वह विरह धर्म के ज्ञान
होने पर भी इच्छामूलक 'दुष्यन्तोऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान तो हो ही सकता है क्योंकि
आहार्यज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान ही वाप्यनिश्चय का प्रतिबन्ध होता है, अतः प्रकारान्तर से
खण्डन का उपक्रम करते हैं—'किञ्च' इत्यादि । अब हम आपसे पूछते हैं—जिसको आप
रस कहते हैं वह सामाजिकों की आत्मा में होवे वाली प्रतीति क्या है ? क्या उसका
स्वरूप है ? शब्दजन्य तथा अमिथा आदि वृत्ति-सापेक्ष होने से वह प्रतीति प्रत्यक्ष रूप
नहीं हो सकती, व्याप्तिज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं करने से अनुमिति रूप भी उसको
नहीं कह सकते, सादर-ज्ञान-मूलक नहीं होते, उपमित्वात्मक भी नहीं मानी जा सकती,
किन्तु अगत्या 'हाम्-प्रमाणजन्य होने से शाब्दबोधक रूप ही उस प्रतीति को कहेंगे,
परन्तु सो हीक नहीं, कारण ? प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञानों को सब लोग अचमत्कारी मानते हैं और
शाब्दबोध भी प्रत्यक्षातिरिक्त है, अतः वह भी अचमत्कारी होने से रसरूप नहीं हो सकेगा,
क्योंकि 'रसे सारथमत्कारः' ऐसा सिद्धांत है, अन्यथा दिन रात व्यवहार में जाने वाले
काव्य मिथ्य शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए स्त्री-पुरुषों के वृत्तान्तों का ज्ञान भी रस संज्ञा को
प्राप्त कर लेगा ।

ननु सा प्रतीतिर्मानस्येव भवेदित्याशङ्क्यामाह—

नापि मानसी, चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या
वैतच्छ्रयोपलम्भात् ।

अपि. प्रायुक्तशब्दधीसमुच्चायक ।

मानमी ज्ञानलक्षणप्रत्यागतिजन्यालौकिकप्रत्यक्षलक्षणाऽपि सा प्रतीतिर्न भवितुमर्हति,
चिन्तया पुनरुपनुरनुमानरूपमावनया, उपनीतानां 'मुरभिचन्दनम्' इत्यत्र सौरमाशयद-
लौकिकप्रत्यक्षगोचरोक्तानां, तेषां शकुन्तलाऽऽदोनामेव पदार्थानां या मानमी प्रतीतिः,
तस्याः (सकाशात्) अस्या काव्यशब्दजन्यरसप्रतीतिः, वैतच्छ्रयस्य चगत्कृतिप्रशुभेदस्य,
उपलम्भादनुमवादित्यर्थः ।

अयमाशयः—सुरमिचन्दनमित्यादौ ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षेण सौरभादीना स्मरण-
मिव भानमेव भवति, न तु तत्कृतं कथनं चमत्करम् । इह तु चमत्कारोऽपीत्युभयोः
कार्यभेदाद् भेदस्यानुभवसिद्धत्वाच्चैकस्यम् ।

यदि आप उक्त प्रतीति को मानस अर्थात् ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति-जन्य अलौकिक
प्रत्यक्षरूप कहना चाहें तो सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्ता (पुनः पुनः अनुसन्धान-
रूप भावना) के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय बनाये गये अर्थात् समझे गये उन्हीं
शकुन्तला आदि पदार्थों की मानस प्रतीति से काव्यशब्दजन्यरसप्रतीति में विलक्षणता
उपलब्ध होती है अर्थात् 'सुरमिचन्दनम्' इत्यादि स्थलों में ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक
सम्बन्ध से होने वाले सौरभास-ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत नहीं होता और यहाँ
रसात्मकप्रतीति में वह अनुभूत होता है, अतः रसात्मकप्रतीति मानस नहीं हो सकती ।

नन्वेवमनुभूतिमिमांसा सा प्रतीति स्मृतिरेवाज्ञीक्रियतामित्यत आचष्टे—

न च स्मृतिः, तथा प्रागननुभवात्

चक्षुरेण प्रागुक्तशब्दबोधोदिसङ्ग्रहः । अस्तीति शेषः ।

स्मरणानुभवयोः कार्यकारणभावस्य सर्वत्र निर्णीतत्वादिह शकुन्तलादिपदार्थविषयका-
नुभवस्य प्रागभावादस्य ज्ञानस्य न स्मरणत्वमित्याशयः ।

अस्या प्रतीति स्मृतिरूपताऽज्ञीकारे परोक्षात्मकतयाऽवमत्सारित्वप्रसङ्गः स्यादिमपि
न जिस्मरणीयम् ।

स्मृतिरूप भी रस प्रतीति को नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव
कारण है अर्थात् जिन चीजों का जिस रूप में पहले अनुभव हुआ करता है उन्हीं चीजों का
उस रूप में पीछे स्मरण होता है, यहाँ तो शकुन्तला आदि पदार्थों का उसरूप में पहले
कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, फिर उनका स्मरण कैसे हो सकता है ?

इत्थं विकल्पान् निरस्य भट्टनायकममृत रसस्वरूपमुपन्यस्यति—

तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भाग्यकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरो-
धिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते । एवं
साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थाऽऽदिषु, पक्षौ पूर्व-
व्यापारमहिम्नि, तृतीयस्य भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना, निर्गोर्णयो रजस्तमसो-
रुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्युतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण,
विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादि स्थायी रसः ।

तस्मात्-पूर्वोक्तरीत्या प्रकाशान्तरासम्भवात् । निवेदिता—अव्यकाशेऽभिधया बोधिता,
रस्यकाव्येतिन्द्रियसन्निकर्षेण प्रत्यक्षविषयता नीता । पदार्था दुष्यन्तादयो रत्यादयश्च ।
भावकत्वं हि साधारणीकरणलक्षण काव्ये विभावादिव्यापार, तदुक्तम्—

‘व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।

तत्प्रभावेण यस्या सन् पायोधिप्लवनादयः ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥’ इति

‘साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते ॥’ इति च ।

अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा-शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वादिरप्रकारकम्
(अत एव) रसस्य ज्ञानलक्षणस्य प्रतिबन्धकत्वाद् विरोधि प्रतिकूल, यज्ज्ञान तस्य
प्रतिबन्धद्वारा तत्प्रतिबन्धं प्राग् विधाय कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण कान्तात्वादयो
ये रसानुकूल रसप्रतीत्युपयोगिनो धर्मा, तेषां पुरस्कारेण वैशिष्ट्येन । अवस्थाप्यन्ते

प्रतीतिविषयीकियन्ते । एवम्—उक्तभावस्वरूपव्यापारेण । साधारणीकृतेषु सामान्यधर्माव-
च्छिन्नत्वेन (विशेषधर्मानवच्छिन्नतया) बोधितेषु । सीतादिशब्दवच्छकुन्तलाशब्दस्य
पूर्वनिपात उचितः । देश उपवनादिस्थानम् । कालो वसन्तादिसमयः । वयो दात्यादि ।
अवस्था संयोगविप्रयोगादिदशा । आदिपदेन रत्यादि स्थायि-लज्जादिव्यभिचारि-कटाक्ष-
निक्षेपायतुभावादीनां ग्रहणम् । पद्मी कृतकृत्यत्वाद् विरते सतीति शेषः । पूर्वव्यापारो भावक-
त्वम् । तृतीयत्वं भोवकत्वस्याभिधा-भावकत्वापेक्षया बोध्यम् । भोगकृत्वं भोजकत्वमित्यन-
यान्तरम् । निगरणमधःकरणमभिभव इति यावत् । तद्विरां रजस्तमोगुणावभिभूयान्निर्भूतं
यत् सत्त्वं (गुण) तन्नितेनेति साक्षात्कारविशेषणम् । निजा स्वोया (आत्मरूपा)
वित्त्वभावा चैतन्यामारा, या निर्वृत्तिरानन्दो विधान्तिर्वैधविषयान्तरपरिहारेणाप्रतिपत्ति-
संश्लेषं स्वरूपं यस्य, तारयेन, साक्षात्कारेणापरोक्षज्ञानेन, विषयीकृतौ गौचरता नीतः ।
भावनयोपनीत उपस्थापितः (अत एव) साधारणत्वा सम्बन्धिविरोधानवच्छिन्नरूपः ।

अभिधयोपस्थापितेषु, भावकत्वेन साधारणीकृतेषु विभावादिषु, भोगरत्नेन साक्षात्का-
रविषयता नीतो रत्यादिः स्थायोवेद्यान्तरस्पर्शान्तर्य सच्चिदानन्दरूपो रस इत्येतन्मतनिरूप्यम् ।

इस तरह से अनेक विरूपों का खण्डन कर अब मट्टनायकमिमत रसस्वरूप का
उपपादन करते हैं—‘रगादभिधया’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त एक ही प्रकार
की नहीं हो सका, अतः ऐसे समझना चाहिए कि यद्यप्य रस में अभिधा के द्वारा और
पर्याय में चक्षुरिन्द्रिय से पहले शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, उसके
बाद काम्य में रहने वाले ‘भावकत्व’ व्यापार से—शकुन्तला आदि के विषय में जो
रस विशेषी ‘भगन्त्या इयम्’ इत्यादि ज्ञान होता था—यह रोक दिया जाता है और
कान्ताव आदि रसोपयोगी धर्म के साथ उन (शकुन्तला आदि) पदार्थों की उपस्थिति
करा दी जाती है । इस तरह वह ‘भावकत्व’ व्यापार शकुन्तला, पुष्पन्त, देश, काल, वय
और संयोग, वियोग आदि दशा सबको साधारण बना देता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार
की विशेषता नहीं रहने देता कि जिससे रसोद्बोध में बाधा पड़े । बस, इतना कार्य करके
वह व्यापार विरत हो जाता है । इसके बाद ‘भोगकत्व-भोजकत्व’ नामक तृतीय काम्य
व्यापार से रसोगुण और तमोगुण निर्माण कर लिये जाते हैं—दवा दिये जाते हैं और सख-
गुण उद्दिष्ट-प्रबुद्ध हो जाता है, जिससे हम (सामाजिक) सांसारिक समस्त विषयों से
छुटकारा पाकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते हैं, बस, उसी
साक्षात्कार-आत्मानन्दाशुभव का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव ‘रस’ कहलाता
है, जिस स्थायीभाव को पूर्वोक्त ‘भावकत्व-भावनाविशेष’ साधारण रूप में उपस्थित कर
लुका था । यहाँ यह भी एक समझ लेने की बात है कि सखगुण के उद्रेक से जो
आत्मानन्द प्रकाशित होता है, उसी चैतन्यरमक ज्ञान को ‘भोग’ कहते हैं, जिसके विषय
बन जाने पर रति आदि स्थायी भावों की सखा ‘रस’ पड़ती है ।

श्रुतिस्वरस्यरक्षायै श्रमन्द् विकल्पयति—

तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः ।

तत्र भोगविशिष्ट इत्यादिरूपे । उभयं भोगविषयीभूतरत्यादी रत्यादिविषयकभोगरचेति-
विकल्पनाद् इयम् ।

उक्तिश्रुतिविरोधरूपविनिगमकस्योपलम्भेऽपि ‘विनिगमनाविरहादाह—’इत्यवतरणं
चिन्तनीयम् ।

इस पद में भी प्रथम पद की तरह ही भोग ‘किय’ जाते हुए अर्थात् चैतन्य से युक्त
रति आदि स्थायीभाव जयवा रति आदि स्थायी भावों का भोग अर्थात् रति आदि से युक्त
चैतन्य ये दोनों ही ‘रस’ हैं ।

आस्वादात्मनोऽस्य रसभोगस्य, प्रज्ञास्वादाद् बलश्रृण्वं सादृश्यप्रदर्शनकपटेन प्रकटयति-
सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् प्रज्ञास्वादसविषयवर्तीत्युच्यते ।

विषयसंवलनात्-स्वेतरविषयसम्बन्धान् । प्रज्ञास्वादस्य सविषयवर्ती-निकटस्य सदृश-
(नत्वेक) इति यावत् ।

इदमुच्यते-प्रज्ञास्वादोऽविशिष्टविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयासम्पृक्तो निर्विषय, रसभो-
गस्तु विभावादिविशिष्टस्याविषयकत्वम् स्वभिन्नविषयसम्पृक्त सविषय इत्युभयोर्भेदः,
अच्चिदानन्दशाब्दापरोक्षसाक्षात्काररूपतया च तुल्यत्वम् । रजस्तमसोः सत्त्वेनाभिभूतत्वा-
दनयोः साक्षात्कारयोः केवलानन्दरूपता, त्रैकिकमुल्लासाक्षात्कारे तु रजस्तमसोरभिभावात् कषा-
यित्वा दुःखनोदयोरपि सम्भेदस्य सम्भवात् ततो भेदः, सत्त्वरजस्तमसाः क्रमेण सुखदुःखमोह-
लक्षणपरिणतेः साङ्ग्यामिमतस्त्वान् ।

यह भोग-रसास्वाद, प्रज्ञास्वाद का सविषयवर्ती-सदोदर अर्थात् सदृश कहलाता है,
प्रज्ञास्वादरूप नहीं, क्योंकि यह रसास्वाद-भोग, विभाव आदि से विशिष्ट स्थायिभाव को
विषय रूप में साथ रखे रहता है और प्रज्ञास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को
विषयरूप में साथ नहीं रखता अर्थात् रसास्वाद सविषयक होता है और प्रज्ञास्वाद
निर्विषयक, अतः इन दोनों में भेद है, परन्तु भेद के रहने पर भी शब्दजम्ब, सच्चिदानन्द-
मय, अपरोक्ष-साक्षात्काररूप होने से ये दोनों समान कहलाने योग्य अवश्य हैं ।

इदानीमुपसंहरति—

एवं च त्रयोऽङ्गाः काव्यस्य—‘अभिधा भावना चैव तन्मोहीकृतिरेव च ॥’
इत्याहुः ।

अंशा व्यापारा । अभिधेति लक्षणेन्द्रियसन्निकर्षयोरप्युपलक्षणम्, लाक्षणिकहरयकाव्य-
मौलुरोचत् । भोगीकृतिर्भोगस्य निदानं भोजकत्वम् । भोगो भुक्तिरस्वाद इत्यनर्थान्तरम् ।
आहुतिरित्यस्य पूर्वोक्ते ‘भट्टनायका’ इत्यनेन सम्बन्धः ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्य के तीन अंश हैं अर्थात् काव्य में तीन व्यापार
रहते हैं—एक अभिधा, जिसमें सर्वप्रथम काव्यार्थों को समझा जाता है, यहाँ अभिधा
पद को हरय तथा अम्यकाव्य के अनुरोध से लक्षणा तथा इन्द्रिय सन्निकर्षों का भी
उपलक्षण समझना चाहिये । दूसरा अंश काव्य का है—भावना या भावकत्व, जिससे
शकुन्तला आदि का साधारणीकरण होता है और तीसरा अंश है भोगीकृति या भाग्यकृष
अथवा भोजकत्व, जिससे रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है ।

अभिनवगुप्तमताद् भट्टनायकमतस्य विशेषविशेष च दर्शयति—

मत्स्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ।
भोगस्तु व्यक्ति । भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु सैव सरणिः ।

एतस्य भट्टनायकमतस्य, पूर्वस्मात् आशुप्ताद् अभिनवगुप्तस्य मताद्, भावकत्वमेव
व्यापारान्तरं पूर्वोक्ताद् भिन्नं व्यापारः, तस्य स्वीकार एव विशेषो वैषम्यम्, अस्तीति शेषः ।
एवमत्रोऽपि योजनीयम् । भोगस्तु भुक्तिर्यक्तिर्भगनावरणचिद्रूप आस्वाद इति यावत् । भोग-
कृत्त्वं भोजकत्वरूपं तु पुनः, व्यञ्जनाद् रसनाख्यकृते, अविशिष्टमवलक्षणमभिनिमित्तनयान्-
न्तरम् । अन्या तदतिरिक्ता तु साऽभिनवगुप्तोक्ता, एव, न तु तद्विज्ञा, सरणि पदतिरित्यर्थः ।

प्रथममते यथा व्यञ्जनाऽज्ञानावरणमपसार्य, सत्त्वोद्रेके सति, भगनावरणचिदवच्छिद्य-
रत्यार्ति, रस्याद्यवच्छिन्न-भगनावरणचितं वा, सच्चिदानन्दास्वादपदवीं नीत्वा रसत्वेन व्यव-
हारयति । तमेव द्वितीयमते भोजकत्वं सत्त्वोद्रेके सति, स्वीयभगनावरणसच्चिदानन्दरूपेण

साक्षात्कारेण, रत्यादि मोचरयित्वा रसत्वेन व्यवस्थापयतीति व्यञ्जनास्यानौबमेव भोजकत्वम् । केवलं भावकत्वव्यापारस्य स्वीकारो नवीन इत्याकृतम् ।

ननु भावकत्वमपि न व्यापारान्तरम्, 'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः' इत्यादिना विभावादीनां साधारणीकरणाय तस्याद्यमतेऽप्यभ्युपगमादिति चेत्, उच्यते, आद्यमते विभावादीनां साधारण्यं सहृदयनिष्ठ-तदोपग्रहदयत्वप्रग्नवित-भावनाविशेषमहि-मैव सम्पद्यते । इह तु तदर्थं विभावादिनिष्ठस्य नूतनव्यापारस्याङ्गीकार इत्युपयोर्भेदः । 'व्यापारोऽस्ति विभावादेः' इत्याद्युक्तिस्तु द्वितीयमतानुसारिणी । तस्या आद्यमतानुसारिता तु भावकत्वस्य सहृदयभावनाविशेषरूपताऽभ्युपगमेन घोष्या ।

पूर्व मत से इस मत में क्या अन्तर है इसकी समझा करने हैं—'मन्यतेन' इत्यादि । अभिनवगुप्त ने जिस वस्तु को 'मन्नावरणचित्' कहा है, उसी वस्तु को मन्त्रावक 'मोग' कहते हैं, अर्थात् संज्ञामात्र के भेद रहने पर भी वदार्थ में कोई भेद नहीं है । मोगकृत्वा या भोजकत्व व्यञ्जना का ही नामान्तर है क्योंकि दोनों का कार्य एक ही है अर्थात् दोनों ही सप्तगुणोद्भेद द्वारा अज्ञानावरण को हटा कर रसरूप आभावाग्द का अनुभव कराते हैं । और तौर-तरीके भी प्रत्येक दोनों मतों में समान ही हैं, हाँ, एक विशेष इस द्वितीय मत में अवश्य है और वह है नवीन भावकत्व व्यापार का स्वीकार करना अर्थात् द्वितीय मत में साधारणीकरण के लिये एक विलक्षण भावकत्व या भावना नाम का व्यापार काव्य के शब्दों में अभिधा आदि के जैसे मान लिया गया है और प्रथम मत में सहृदयतासहृदय, काव्यायों का पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना से ही साधारणीकरण होगा, इसके लिये काव्य शब्दों में किसी मुख्य व्यापार का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, ऐसा उपसहार में मान लिया गया है ।

अथ तृतीयं नव्यमतमुपपादयितुमुपक्रमते—

(३) नव्यास्तु—'काव्ये नाट्ये च, कविता नटेन च प्रकाशितेषु विभावा-दिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनेन्तरं च सह-दयतोल्कासितस्य भ्रमन्नाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वाद-च्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकले इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽ-निर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादरेव रसः ।'

नव्या इत्यस्य 'इत्याहु' इत्यनेन सम्बन्धः । विभावादिषु काव्ये (नाट्यस्य पृथगुपा-दानात्) ध्व्यकाव्ये, च तथा नाट्ये तौर्यत्रिकमये गटामिनेये दृश्यकाव्ये, कविता शब्दैर्नटेन चतुर्विधमिनेयैव प्रकाशितेषु बोधितेषु सत्तु, व्यञ्जनव्यापारेण व्यक्त्या, शकुन्तलादिरतौ शकुन्तलादिविषयकरतौ, दुष्यन्तादौ दुष्यन्ताद्यधिकरणे, सहृदयेन गृहीतायां ज्ञाताया सत्याम् अनन्तरं तदनु, सहृदयस्य या सहृदयता, तयोल्कासितस्य प्रादुर्भासितस्य, पोषितस्य वा, भावनाविशेषरूपस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनात्यक्तस्य, दोषस्य ध्वन्यमात्रभ्रमकारणस्य, महिम्ना प्रभावेण, कल्पितमात्मन्यसदपि सत्त्वेन ज्ञातमवास्तविकं, यद्दुष्यन्तत्वं तेनावच्छादितेतदव-च्छिन्नविशेष्यताश्रुति अज्ञानावच्छिन्ने तदभावविशेष्यक-सत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वाभ्युपग-माद् दुष्यन्तत्वाभाववन्तमप्यात्मानं दुष्यन्तत्वेन जानने, सहृदयस्य स्वात्मनि, शुक्तिकाशकले शुक्तिशब्दे वास्तविकरजतत्वाभाववत्पि रजतत्वेन ज्ञायमाने, इव यथा, समुत्पद्यमान' प्राति-भासिकसत्ताश्रितत्वाज्ज्ञायमान, अनिर्वच्यो वास्तविकत्वाभावाच्च सन् प्रत्यङ्गोचरत्वाच्च नोत्पत्तिरिति सदसद्विलक्षणतया निर्वचनार्हः, रजतखण्डः, तत्रैव साक्षिभास्योऽन्तःकरणमा-

स्वत्वात् साक्षादात्मभास्य, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव (न तु तज्ज्ञानादि किञ्चिदन्यत्) रसोऽस्तीत्यर्थः ।

चाकचिक्वदोषेण शुक्तिस्रष्टे रजतभ्रमे यथाऽनिर्वचनीय साक्षिभास्यश्च रजतखण्डः प्रतिभासिक्वसत्ता लभते, तथैव विलक्षणभावनादोषेण सहृदयस्य स्वात्मनि शकुन्तलादिरत्यादिमद्दुष्यन्तादिभ्रमे, रत्यादि प्रतिभासमानो रसत्वं लभत इति मतेऽस्मिन् न नवीन-व्यापारकल्पनापेक्षेति सारम् ।

अब रस के विषय में नवीन विद्वानों के तृतीय मत का प्रतिपादन करते हैं—'नव्यास्तु' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अग्न्य-काव्य में कवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों को प्रकाशित करता है, हरयकाव्य में नट अभिनयों के द्वारा उनको प्रकाशित करता है, हम (समाजिकों) को अव्यकाव्य के पठन से और हरय के अवलोकन से उन विभावादिकों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्यञ्जना-वृत्ति से दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति का ज्ञान करते हैं अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा हम यह समझते हैं कि—'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्'—दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेमी था । इसके बाद हमारी सहृदयता हममें एक प्रकार की भावना पैदा करती है अर्थात् हम सहृदय होने के नाते दुष्यन्त आदि के सम्बन्ध में पुनः पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं, और वह भावना पुनः पुनः दुष्यन्त आदि के विषय में अनुसन्धान—एक ऐसा दोष है, जिससे हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस भावनारूप दोष के चलते हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित आत्मा में कल्पित शकुन्तला विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविकरूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्व दोष से चौंड़ी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चौंड़ी के टुकड़े प्रतीय होने लगते हैं । यद्यपि न हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविकरूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चौंड़ीपन तथापि साक्षी-आत्मा उनका मान करा देती है । इस तरह वे दोनों (हम में भासित होने वाली शकुन्तला आदि की रति और सीप के टुकड़ों में प्रतीयमान चौंड़ीपन) अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् उनको कल्पित होने के कारण सत् नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने के कारण असत् भी नहीं मान सकते, अतः वे सत् असत् इन शब्दों से नहीं कहे जाने योग्य होकर अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं । वस, उक्त भावना दोष से 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली, साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति आदि रथायीभाव ही 'रस' है ।

'उत्पद्यो रस' 'विनष्टो रस' इत्यादिव्यवहारमिदमेव रसोत्पत्तिविनाशयोः कारणे प्रतिपादयति—अयं च कार्यो दोषविशेषस्य, नाशश्च तन्नाशस्य ।

अयं रस । च पुनः । दोषविशेषस्य प्राणुक्तविलक्षणभावनाया । कार्यो निष्पाद्य प्रादुर्भाव्य इति ॥ तन्नाशस्य भावनाविशेषरूपदोषध्वंसस्य । नाशो ध्वंस्यस्तिरोघाप्त्यो वा ।

विलक्षणभावनाया सत्यामेव रस उत्पद्यते, तस्या विनश्यतामेव विनश्यतीति तद्भावनाया सत्तासत्त्वयोरेव रसस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः, यथा शुक्ति-रमिक-प्रान्ते- सत्तासत्त्वयोरेव रजतखण्डस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः । इतरथा नित्येतस्मिन्स्तद्व्यवहारानुपपत्तिरित्यभिसन्धिः ।

यह रस पूर्वोक्त भावनारूप दोष का कार्य है और उस दोष के नाश के अर्धीन ही उत्तरा नाश है अर्थात् प्रथम और द्वितीय मत में रस को नित्य माना गया है अतः परकीय

उत्पत्ति-विनाश के आरोप से 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सिद्ध किये गये हैं परन्तु हम तृतीय मत में आरोप के द्वारा उन व्यवहारों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, कारण ? रस को इस मत में स्वयम् उत्पत्ति-विनाश-शाली मान लिया गया है, उक्त दोष ही रस का उत्पादक है और उसके नाश हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उक्त दोष का प्रभाव हम पर रहता है, तभी तक शकुन्तला आदि की रति (जो रस है) की प्रतीति अपने में होती है और जब उस दोष का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब उस रति की प्रतीति भी अपने में नहीं होती। ठीक भी है, बाध-विधाय हो जाने पर भ्रम दूर हो हो जाता है, जब हम चाँदी समझकर सोप के टुकड़ों के समीप में पहुँच जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये सोप के टुकड़े हैं (रजत नहीं) तब रजसत्व (चाँदीपन) की प्रतीति नहीं ही होती है।

प्रसङ्गाद् रसस्यानन्तरूपता प्रतिपादयति—

स्योत्तरमात्रिणा लोकोत्तराद्भावेन भेदाप्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति ।

स्वं रसस्तदुत्तरं तदव्यवहितानन्तरं भावी भविता यो लोकोत्तराश्रयो लौकिकमुखवि-
लक्षणं परमानन्दः, तेन, सहास्य भेदाप्रहात् 'तस्माद्यं भिन्न' इति ज्ञानाभावात् तादा-
त्म्येन ज्ञायमानत्वात्, सुखपदेन (सुखपदस्यानन्दाद्युपलक्षकत्वेन) सुखानन्दप्रवृत्तिशब्देन,
व्यपदेश्यो व्यवहारः, अयं रसो भवतीत्यर्थः ।

रसानन्दयोरुत्पत्तिवैर्वाच्येण भेदेऽप्यतिसन्निकर्षाद् दूरस्थभिसंबन्धस्तद्व्यवद् भेदाज्ञाना-
दैक्यव्यवहार इति तात्पर्यम् ।

पद्यपि यह (रस) वास्तविक में सुखरूप नहीं है, तथापि 'मैं शकुन्तला विषयक रति वाला दुष्यन्त हूँ' इत्यादि प्रतीति के बाद जो अलौकिक सुख होता है, उसमें और उक्त रतिरूप रस में भेद (जो वस्तुतः है) ज्ञात नहीं होता अर्थात् उन दोनों को हम अभिन्न ही समझते हैं, अतः 'रस सुखरूप है' ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

नह रसस्य लोकोत्तराद्भावेन सह भेदाप्रहात् व्यञ्जनासाक्षात्सम्पर्कशून्यतया व्यङ्ग्यपत्यम्,
अनिर्वचनीयतया वर्णनीयत्वं च न सम्भवतीत्याशङ्क्यामभिधत्ते—

स्यपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तद्वप्रहात् तद्वतित्वेनैकत्वाभ्यवसानाद् व्यङ्ग्यो
वर्णनीयश्चोच्यते ।

तस्माद् रसात् (रसोत्पत्तेः) पूर्वं प्राक् (अव्यवधानेन) उपस्थितेन व्यञ्जनया प्रती-
तिगोचरीभूतेन व्यङ्ग्येन, अल्पनिकत्वाभावाच्चिर्वचनीयेन च इत्यादिना (दुष्यन्तादिनिष्ठेन)
सह, अस्य स्वात्मनिष्ठ-दोषविरोधकस्थित-रस्यादिरूपरसस्य, तद्वप्रहाद् भेदाज्ञानाद्, भेदा-
प्रहेऽपि परकीयधर्मलामासम्भवे तु, बाधत्वा, तद्वतित्वेनैकत्वाभ्यवसानाद् व्यङ्ग्यपरति-कल्पित-
रसोरोक्कारोपान्तः, अयं रसः, व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्च, उच्यते कथ्यत इत्यर्थः ।

सहदमद्वये यः प्राग् वासनारूपेण विनिविष्टो इत्यादिः, स व्यञ्जनागम्यो निर्वचनार्हश्च
प्रसिद्धः, तेन सहास्य रसस्य भेदाप्रहादैक्यारोपान्ना व्यङ्ग्यत्वं वर्णनीयत्वं चोपपद्यत इत्याशयः ।

इसी तरह रस वस्तुतः न व्यङ्ग्य है न वर्णन करने योग्य, परन्तु इस रस के उत्पन्न होने से पूर्व व्यञ्जनावृत्ति से जो शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति आदि गृहीत-ज्ञात हुये थे, उसका और दोष के कारण अपने में आसित होने वाली, झड़ी, स्मरूप, शकुन्तला आदि की रति आदि का भेद ज्ञात नहीं होता अथवा उस वास्तविक और इस कल्पित रति को एक समझ लेते हैं अतः यह रस व्यङ्ग्य और वर्णनीय कहलाता है अर्थात् दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक वास्तविक रति आदि का ज्ञान वस्तुतः हमें व्यञ्जना के द्वारा होता है और उसका वर्णन भी कविगण वस्तुतः काव्यों में करते

हैं अतः यह रति आदि वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय है, अथ यह कल्पित रसरूप रति आदि यदि वस्तुतः व्यञ्जना से ज्ञात न भी होता, कवि उसका वर्णन न भी करता, तथापि उस वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय रति से इस कल्पित रति को अभिन्न समझ लेने के कारण हम ऐसा कहते हैं कि यह व्यञ्जनावृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है।

सचेतसाऽऽत्मनि कल्पितस्यावच्छादकस्य दुष्यन्तत्वस्य तत्त्वमाचष्टे—

अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टधोषे विशेष्यताऽवच्छेदकत्वम्।

यथा सहृदयस्यात्मनि इत्यादि कल्पनिकत्वादनिर्वचनीय, तथैव 'शकुन्तलाविषयकर तिमाश्च दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकप्रतीति रत्यादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितस्वात्मनिष्ठविशेष्यताय अवच्छेदकमवच्छादकप्रतिपार्थ दुष्यन्तत्वमपि कल्पनामात्रनिष्पन्नत्वादननिर्वचनीयमेवेति साधार

जिस तरह हम सहृदय सामाजिकों में शकुन्तला आदि की रति कल्पना मात्र प्रसू होने से अनिर्वचनीय है उसी तरह सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाले दुष्यन्तत्व भी काव्यनिक होने के कारण अनिर्वचनीय हो है। उस दुष्यन्तत्व में अवच्छादक अर्थात् आत्मा का अवच्छादन करना क्या वस्तु है यह भी समझ लेना चाहिये वह यह है कि 'शकुन्तलाविषयक रति वाला मैं दुष्यन्त हूँ' इत्याकारक रत्यादि विशिष्ट ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक होना ही दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व है अर्थात् उक्त ज्ञान में शकुन्तला की रति 'मैं' पदार्थ में प्रकारतया-विशेषणरूप से भासित हुई है अतः उस ज्ञान में विशेष्य हुआ 'मैं' जो वस्तुतः दुष्यन्त नहीं है, इसलिये उस 'मैं' पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक-परिचायक दुष्यन्तत्व को नहीं होना चाहिये धरन 'मैं' पदार्थ में रहने वाले धर्म आत्मत्व या स्वरूप को होना चाहिये परन्तु जिस लिये मैं अपने आपको दुष्यन्त समझ रहा था, इसलिये दुष्यन्तत्व ही विशेष्यता का अवच्छेदक होगा और यही अवच्छेदक हो जाना आत्मा को अवच्छादित करना हुआ।

पर्यवसितं प्रतिवादिमतनिरासं प्रकाशयति—

एतेन 'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्याग्र रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः। स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता।' इत्यादिकमपास्तम्।

एतेन भावनाविशेषस्य दोषत्वाङ्गीकरणेन अतत्सम्बन्धिभिः सहृदयनिष्ठरत्याद्यात्मनत्वशून्यैः। इत्यादिकं प्रतिवादिमतमपास्तमित्यन्यथा।

विरक्षणभावनात्मकदोषप्रभावादननिर्वचनीयदुष्यन्तत्वेन ज्ञायमाने सहृदयस्यात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतरनिर्वचनीयाया रसत्वेनाभिमतया भागं न बाधितम्, न वाऽवमत्कारिते सर्वसामग्रस्ये, द्वितीयमतत्वेनोपन्यस्ता परकीयाच्चेष्टा निरस्ता इत्यभिप्रायः।

भट्टनाथक के द्वारा द्वितीय मत में उठाई गई अनेक शङ्काओं का इस मत में अवकाश नहीं रहा जाता, यही दिखलाते हैं—'एतेन' इत्यादि आशय यह है कि 'दुष्यन्त आदिमें रहने वाली शकुन्तला आदि की रति रसरूप नहीं हो सकती, क्योंकि उदासीन होने से उस रति में सामाजिकों के लिये आत्मापता नहीं रहती। स्वनिष्ठरति की अभिव्यक्ति उस शकुन्तला आदि से होगी ही क्यों? जिससे येरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कहें कि अपने दुष्यन्त आदि से अभिन्न समझ लेने पर तो शकुन्तला आदि के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध टहर जाता है, फिर शकुन्तला आदि से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति हो सकती है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब 'दुष्यन्त प्राचीन युग के थीर सम्राट् के और मैं वर्तमान युग का एक साधारण मनुष्य हूँ, 'अतः मैं दुष्यन्त से अभिन्न नहीं हो सकता'

ऐसा वाच्य-निश्चय है, तब उक्त अभेदबुद्धि हो ही नहीं सकती' इन शब्दाओं का इस मत में अवसर ही नहीं आना, क्योंकि इस मत में सहृदयतामूलक भावना विशेषरूप दोष से दुष्यन्त आदि की अभेद-बुद्धि सिद्ध की गई है, जिस (अभेद-बुद्धि) को वाच्य-निश्चय नहीं रोक सकता। कारण ? दोषविशेषाजन्य-अर्थात् दोषमूलक जो नहीं हो उस बुद्धि के प्रति ही वाच्य-निश्चय को प्रतिपन्थक माना गया है।

नन्वेतन्मते दोषविशेषकल्पनैव मारयत इत्याद्येषं समादधाति—

यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादि-
शब्दैः शकुन्तलाद्यादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोष-
विशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवरयकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि
दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

प्राचीनैरभिनवगुप्तादिभिरपि यदपि, विभावादीनां साधारण्यं शकुन्तलादीनां कान्तात्वा-
दिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमुक्तम्, तदपि नितर्गतं शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मप्रका-
रकबोधजनकैः शकुन्तलादिशब्दैः काव्येन प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, विलक्षणभावना-
त्मकदोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादं दुःखेनोपपादयितुं योग्यं यतोऽस्ति, अतोऽस्माद् विभा-
वादिसाधारण्यसम्पादकत्वादेतो, दोषविशेषेऽवरयकल्प्ये, तेन दोषविशेषेणैव, स्वात्मनि
स्वधर्मिका दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि दुष्यन्ताद्यभेदप्रकारकप्रतीतिरपि, सूपपादादुत्तेनोपपादयितुं
योग्येत्यर्थः।

प्रथमपटकानां शकुन्तलादिशब्दानां शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मावच्छिन्ने शकुन्तलाच्छ-
कुन्तलादीनां कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वस्य साधारण्यं दोषविशेषप्रभावे-
णैव कथञ्चन भवितुमर्हतीति दोषविशेषकल्पना प्राचीनैरभ्यङ्गीकृतत्वाच्च नवीना। तदर्थं कल्पितौ
च दोषविशेषे, 'एका क्रिया द्वयपर्यङ्करो' इति न्यायेन तेनैव शुक्लौ रजताभेदबोध इव सहृदया-
त्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबोधोऽपि सम्भवत इति भावः।

दोष-विशेष की कल्पना भी इस मत की मधी चीज नहीं है, प्राचीन-मतों में भी वह
कल्पना करनी पड़ती है यही बात कहते हैं—'यदपि' इत्यादि। मम्मटमह आदि प्राचीन
आचार्यों ने शकुन्तला प्रभृति विभावादिशब्दों का साधारणीकरण माना है अर्थात् उन्होंने
कहा है कि साधारणीकरण व्यापार के बल से शकुन्तला आदि अपने व्यक्तिगत धर्म
शकुन्तलात्व आदि को छोड़ कर कान्तात्व आदि साधारण धर्म के साथ सहृदयों के सामने
उपस्थित होते हैं, परन्तु यह बात दोषविशेष की कल्पना किये विना बन नहीं सकती
क्योंकि काम्योंमें शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन किया
रहता है जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं फिर कान्तात्वेन उनका
बोध कैसे हो सकता है ? अतः भावनारूप दोष की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी अर्थात्
यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सहृदयतामूलक भावनारूप दोष के कारण ही हमें (सहृदयोंको)
शकुन्तला, साधारण कान्ता के रूप में समझ पड़ती है, इस तरह जब वह दोष मानना ही
पड़ा, तब उसी से सहृदयों को अपने में दुष्यन्त की अभेद-बुद्धि भी हो जायगी।

अथ अराज्ञात् कथनादिरसस्यायिन शोकादेर्दुःखजनकतामाशङ्कते—

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुण-
रसादिषु तु स्थापितः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लाद-
हेतुत्वम् ? प्रत्युत भावक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवोचितत्वात्।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तम्, न कल्पितस्यैति नायकाना-

मेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्, रज्जुसर्पदिर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत् ।

एवमपि शृङ्गारस्याह्लादमयत्वे साधितेऽपि रतिर्युक्तोऽस्तीति, शोकस्त्वभीष्टनाशादिजन्यं वैकल्यम् । शोकादेरित्यादिपदेन भय-क्रोध-जुगुप्साना ग्रहणम् । प्रत्युक्तोक्तवैपरीत्ये । न चेत्यादिनाऽऽन्तर्त्तिकी शङ्का, रज्ज्वत्त्वादिना तदुत्तरं च निर्दिश्यते । सत्यस्य वास्तविकस्य । कल्पितं निश्चितम् । कल्पितस्य भ्रान्त्या भासितस्य । नायकानामित्यत्रैकवचनमुचितं सन्दर्भशुद्धयनुरोधात् । रज्जौ भ्रान्त्या भासित सर्पो रज्जुसर्पः । अनुचितापठनमापत्तिः । उचिता-सङ्घटनमनुपपत्तिः । इति चेदित्यन्तं शङ्कादलम् ।

प्रणयात्मिकाय रतेर्लोके नायक इव, काव्ये सहृदये सुखविशेषोत्पादकत्वाच्छृङ्गाररसस्यानन्दमयताया सिद्धावपि, शोक-भय-क्रोध-जुगुप्साना वैकल्यादिरूपाणा पुनर्लोक इव काव्येऽप्यनुभावकदुःखजनकत्वस्यैवौचित्यात् कण-मयानक-रौद्र-बीभर्त्सरसानामानन्दमयत्वं नोपपद्यते ।

ननु लोके शोकादीना वास्तविकत्वाद्दुःखजनकत्वमुचितम्, काव्ये तु काल्पनिकत्वात् कथं तत्त्वमिति चेत्, न, तथाऽशोकरे रज्जौ भ्रान्तिभासितस्य सर्पस्याप्यवास्तविकत्वाद् भय-कम्पादिजनकताऽऽनुभविक्यपि न सिध्येत्, काव्ये रतेरपि काल्पनिकत्वेन सुखजनकता न स्यादिति शङ्कापक्षः स्वीयानिति भावः ।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि आपने 'रस यद्यपि स्वतः सुखरूप नहीं है तथापि अनिर्वचनीय रति आदि स्थानीभावस्वरूप रस की प्रतीति के बाद जो विलक्षण सुख उत्पन्न होता है, उससे उक्त रति आदिरूप रस में भेद का ज्ञान नहीं होता अतः रस को सुखरूप कहा जाता है' इस विवेचन के द्वारा जो 'अनिर्वचनीयस्वाधीभावामकरस-प्रतीति के बाद विलक्षण सुख की उत्पत्ति' स्वीकार की है, यह सर्वांश में ठीक नहीं जचता, क्योंकि वास्तविक शकुन्तला को रति वास्तविक दुष्यन्त में सुख-जनक होती है अतः कल्पित शकुन्तला विषयक रति, कल्पित दुष्यन्त स्वरूप सहृदयों में भी सुख को उत्पन्न कर सकती है, परन्तु वास्तविक, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि तो ससार में दुःख-जनकरूप से प्रसिद्ध हैं, फिर वे जहाँ कल्पित होकर रस बनेंगे, वहाँ उनसे सहृदयों में सुख कैसे उत्पन्न होगा ? और वे रस सुखरूप कैसे कहलायेंगे ? प्रत्युत उनसे जैसे वास्तविक नायक को दुःख हुआ था उसी तरह सहृदयों को भी उनसे दुःख ही होना चाहिए । यदि आप कहें कि सबे शोक आदि से दुःख होता है कल्पित से नहीं, अतः नायकों को जिनमें शोक आदि सत्य थे—दुःख हुआ होगा और कल्पित शोक आदि के अनुभव करने वाले सहृदयों को दुःख नहीं होता, यह तर्क भी सगत नहीं, क्योंकि हम रसों में भ्रमवश कल्पित सर्प से भी भय, कण होते देखते हैं, आपके हिसाब से यह नहीं होना चाहिए । दूसरी बात यह कि जब आप कल्पित शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति नहीं मानते, तब सहृदयों में कल्पित रति से सुख की उत्पत्ति भी नहीं माननी चाहिए, परन्तु शृङ्गाररस-स्थल में वैसा मान चुके हैं ।

अभ्युपगम्य प्रथमकल्पेन समापत्ते—

सत्यम्, शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन करुणस्य कल्पनीयत्वान्नोत्तरव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव, दुःसप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम् ।

सत्यं यथार्थमित्यभ्युपगम्य । शृङ्गाररसप्रधानानि शकुन्तलादीनि, करुणरसप्रधानानि चोत्तररामचरितादीनि कथ्यानि । केवलो दुःखासम्भिन्न आह्लाद एव, न तु दुःखमिश्रितः ।

सहृदयानां हृदयं साक्षात्परित्यात् प्रमाणं यत्र स सहृदयहृदयप्रमाणकः । कार्यानुरोधेन कारणानि कल्पन्त इति सिद्धान्तः । लोकोत्तरव्यापारोऽयं मते दोषात्मा विलक्षणभावना ।

यथा शकुन्तलाद्यभिनयदर्शनाद् रसास्वादसमये सहृदयानां लेशतोऽपि न दुःख-
नुभवः, तथैव यद्युत्तररश्मिचरित्ताभिनयदर्शनाद् रसास्वादसमयेऽप्यनुभवसिद्धः, तर्हि सहृदय-
प्रत्यक्षप्रमाणत्वाद् दुःखोत्पत्त्यभावरूपकार्यानुरोधेन दोषस्य विलक्षणभावनेयं तत्र (दुःख-
नुत्पत्तौ) प्रतिबन्धकत्वेन निर्णयः । अन्यत्रापि सुस्तावसरे नखदशनाघातरूपविलक्षण-
व्यापारस्य मुखविशेषजनकत्वं दुःखोत्पत्तिप्रतियन्धकत्वं च प्रसिद्धमेव । एवं भावनायां प्रति-
बद्धं दुःखं तत्र नोत्पद्यत इत्याशयः ।

उक्तवाक्य का उत्तर यह है कि जिस प्रकार शृंगार-रस-प्रधान काव्यों से सुख उत्पन्न होता है, उसी तरह करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही उत्पन्न होता है यह बात यदि सहृदयों के हृदय के द्वारा प्रमाणित हो चुकी हो, तब 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम के अनुसार लोकोत्तर दोषात्मक उक्त भावना में आनन्द-जनकताके जैसे दुःख-प्रतिबन्धकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस तरह उक्त भावनाको आनन्दका उल्लेख करते वाला मानते हैं, उसी तरह उसको दुःख का रोकनेवाला भी मान लेंगे । सम्भोग काळीत दन्तकृतादि व्यापार में सुख-जनकत्व तथा दुःख-प्रतिबन्धकत्व दोनों प्रसिद्ध ही हैं ।

प्रतिवादिमतं सर्वधोन्मूलयितुं द्वितीयं कल्पमुपन्यस्यति—

अथ यथाह्लाद एव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम् । स्वस्वकारणप्रशासोभयमपि भविष्यति ।

अनेति प्रनार्यकम् । आदादशब्दस्य पुंस्त्वात् प्रमाणसिद्धमित्यस्य विभक्तिविपरिणामः । प्रतियन्धकत्वं दुःखोत्पत्तेरिति शेषः । उभयं सुखं दुःखं च ।

काव्यात् सुप्तस्य दुःखस्य बोधत्तौ सहृदयहृदयानुभव एव प्रमाणमिति करुणरसप्रधान-
अन्याकल्पनात् सहृदयं सुखमिव दुःखमप्यनुभवति, तदा धर्मानुरोधेन दुःखोत्पत्तिप्रतियन्ध-
कत्वं लोकोत्तरव्यापारस्य न कल्पनीयम्, दुःखोत्पत्तेरेव तत्र सुखस्य कारणान्मुखोत्पत्तिः, दुःखस्य
च कारणान् दुःखोत्पत्तिरिति कारणभेदादेकत्र विहृदयोरपि सुखदुःखयोस्तत्तौ न बाधः ।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से सुख और दुःख दोनों ही होते हैं यही बात यदि सहृदय-
हृदय-द्वारा प्रमाणित होती हो, तब उक्त भावना में दुःख-प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं
करनी चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि उक्त भावना दुःखोत्पत्ति को रोकती है ।
अपने-अपने कारण से सुख और दुःख दोनों होंगे अर्थात् काव्य के भौतिक व्यापार से
सुख की और शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति होगी ।

दुःखोत्पत्तिस्वीकारिणि द्वितीयमते पुनराशङ्कते—

अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ?, अनिष्टसाध-
नत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत् ।

तत्र करुणरसप्रधानकाव्ये कवीनां कर्तुं सहृदयानां श्रोतुं न प्रवृत्तिः कथं स्यात्, प्रवृत्तिः
प्रतीक्षाधनत्वग्रहस्य अरुणतायां प्रसिद्धेः । प्रवृत्ते दुःखरूपानिष्टसाधनत्वग्रहस्य सद्भावात्ततो
निवृत्तेरुचितत्वादिति पूर्वपक्षः ।

अथ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि करुण आदि रस प्रधान काव्यों से दुःख की
उत्पत्ति होती है, तब ऐसे काव्यों की रचना करने के लिये कवि की और सुनने के लिये
सहृदयों की प्रवृत्ति क्यों होती है ? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट (दुःख) के साधन हैं,
तब उनसे निवृत्त होना ही उचित है ।

द्वितीयमत उत्तरयति—

इष्टस्याधिक्यमिति प्रत्यक्षं च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रव्यलोपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।

धर्पणादिप्रसन्नमनस्य दुःखरूपानिष्टस्याल्पत्वात् सौख्यस्यैवानुभवजन्यसुखरूपेण न च कृत्वा यथा चन्दनद्रव्यलोपे सर्वेषां निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिर्यवति, यथैवात्रापि दुःखलोपे न सुखस्य शक्त्युत्पत्तिः प्रवृत्तिर्भवतीत्यभिप्रायः।

इत्थं प्रश्न का उत्तर देते हैं—‘इत्येवेति’। अर्थात् कष्ट आदि रसों में दुःख के होने पर भी उसकी मात्रा बहुत रहती है और सुख की मात्रा अधिक, अतः कष्ट आदि रस-प्रधान काव्यों में प्रवृत्ति होती है, जैसे चन्दन घिसने में अक्षत, दुःख के रहने पर भी लोग-हीतलता आदि के अनुभव से सुख अधिक होने के कारण चन्दन-लेवन में लोगों की प्रवृत्ति होती है।

प्रथममते प्रवृत्त्युपपादनप्रयोजनाभावमाह—

केषलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यक्षैव।

केषलाह्लादवादिनां—

हेतुत्वं शोभद्वर्पादिर्गतेभ्यो न्येकसंश्रयात्। शोभद्वर्पादयो लोके जायन्तां नाम लैकिकाः। अलौकिकविभावत्वं आसेभ्यः काव्यसंश्रयात्। सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति वा दिति।

इत्यादिना कष्टरसप्रधानकाव्यादपि सुखमात्रोत्पत्तिवादिनां मतेऽनिष्टसाधनत्वप्रदर्शन-सम्भवात् तत्र प्रवृत्तिर्निष्प्रत्यूहा निर्वापैव स्यादिति सारम्।

जो लोग इत्थं भावनात्मक व्यापार को दुःख-प्रतिबन्धक मानकर कहते हैं इस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही मानते हैं उन लोगों की प्रवृत्ति में तो कोई विषय बाधा है ही नहीं।

ननु प्रथममते तत्र दुःखानुभवादे दुःखकार्याणि कविसमुपातादीनि जायन्त इत्याहं समादधाति—

अभ्युपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्।

अभ्युपातप्रवृत्तयो न केनलं तु सादेव, अपि तु सुखादपि भवन्तीति प्रकृतेश्चुपातादीनां मानन्दजन्यत्वात् सम्भवात् इति। तदुक्तम्—

‘अभ्युपातादयस्तद्वद् दृढत्वाच्चेतसो मताः’ इति।

कष्ट-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल आनन्द ही होता है ऐसी मान्यता वाली से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि कष्ट आदि रसों में भी केवल दुःख ही सुख होता है, तब उसके अनुभव से अभ्युपात आदि क्यों होते हैं? इसी का उत्तर देते हैं—‘अभ्युपातादयोऽपि’ इत्यादि। अभ्युपात केवल दुःख से ही होता है ऐसी बात नहीं है, किसी-किसी आनन्द के अनुभव से भी यह होता है, कष्ट रस के अनुभव करते समय भी अभ्युपात होता है यह आनन्दातिरेक के कारण ही—दुःख के कारण नहीं।

निर्दर्शनदरान्नोक्तमर्थं समर्थयति—

अतएव भगवद्भक्तानां भगवद्दर्शनात्कर्णनाद्भ्युपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्यपि तु खानुभवोऽस्ति।

अतएव सुखादभ्युपातादिसम्भवादेव। उपपद्यन्ते शुष्यन्ते। जातु कदाचित्। भगवद्दर्शनप्रवणजन्य-दुःखाद्यभिन्नसुखजन्यतामभ्युपातादीनां भगवद्भक्तेषु दर्शनात् केवल दयानन्दाद्भ्युपातादीनामुत्पत्तिर्निश्चितैवेतिमान्।

आनन्द से भी अभ्युपात होता है इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—‘अतएव’ इत्यादि भगवत्-कथा-ध्वन-काल में भक्तों की आँखों से अद्विष्ट अभ्युपाता प्रवाहित होते

रहती है, यह क्या दुःख से ? नहीं दुःख का तो यहाँ लेश भी नहीं रहता, अत्यधिक आनन्द का ही यह फल है, उसी तरह कण्ठरसानुभव से होने वाला अधुपात आनन्द-तिरेक का ही सूचक है, दुःख का नहीं ।

कण्ठरसादावादादोत्पत्तिरयोभ्यतां पुनरुपपद्यते—

न च कण्ठरसादौ स्वात्मनि शोकादिमदशरथादितादात्म्यारोपे यदाह्लादः, तदा स्वप्नादौ सन्निपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि न स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहपि तदेव युक्तमिति वाच्यम् ।

न चेति वाच्यमित्यत्रान्वेति । स्वात्मनि सहृदयस्येति शेषः । सहात्म्ययोः विशेष्यत्वम् । स्वप्नादौ स्वप्ने व्यामोहे वा । सन्निपातादौ त्रिदोषज्वरेऽपस्मारदिरोमान्तरे वा । तदारोपे शोकादिमदशरथादितादात्म्यारोपे । स आह्लादः । आनुभविकमनुभवप्रमाणशिद्धम् । इहापि कण्ठरसादावपि । तदेव दुःखमेव ।

सहृदयस्य पुत्रवियोगजरोकवदशरथोऽहमित्याकारक-शोचद्विप्रकारक-स्वात्मविशेष्यक-प्रतीतिरेव यदि; कण्ठरसादावाह्लादः स्वीक्रियते, तर्हि स्वप्न-सन्निपातादावपि कदाचिद् सहृदयस्य तादृश्याः प्रतीतिः सम्भवत् तत्राप्याह्लादः स्वीक्रियताम्, पूर्वोक्तादात्म्यारोप-स्योभयत्र तुल्यत्वात् । न च तत्राप्याह्लादोऽभ्युपगन्तुं शक्यः, स्वप्नादितादृशयोवाद् तुल्य-स्यैव सर्वानुभवसिद्धत्वात् । एवं सति कण्ठरसादावपि तादृशप्रतीतिः केवलदुःखोत्पत्तिरेव युजेति पूर्वपक्षमिप्रमः ।

यदि आप यह प्रश्न करें कि कण्ठ आदि रसों में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि का भवेद अपने में भाग लेने पर जब सहृदयों को आनन्द होता है, तब स्वप्न आदि में भयवा सन्निपात आदि रोग में अपने में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के भवेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिये, परन्तु अनुभव सिद्ध हो यह है कि उन अवस्थाओं में दुःख ही होता है, अतः यहाँ (कण्ठ आदि रसों में) भी केवल दुःख होना ही उचित है ।

उत्तरयति—

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोग्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति ।

काव्यस्य व्यापारोऽत्र व्यञ्जनादिति । यत्प्रयोग्या व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषया । य एव लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा पदार्था, त एव काव्ये समुपनिषदास्तदीयव्यञ्जनाव्यञ्जनाव्यापारमहिम्नाऽलौकिकीभूता अलौकिकं सुखमेव जनयन्ति, न तु द्रागपि दुःखमिति सर्वानु-भवविरुद्धत्वात् कण्ठरसादौ न तु सोत्पत्तिरित्युत्तरपक्षारायः ।

इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यह अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना) की महिमा है कि उसके द्वारा ज्ञात किये गये अनुन्द (दुःखजनक) शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं ।

काव्यव्यापारजप्रतीतिरलौकिकनया वैलक्षण्यमेव व्याहरति—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाण्यान्तरजादनुभवात् ।

इतरव्यापारप्रमाणजन्यानुभवानामवमस्फुरितया न कमनीयता, काव्यव्यापारजन्या-स्वादरूपानुभवस्य त्वलौकिकतया चमत्कारित्वेन कमनीयतेत्युभयोरैकलक्षण्यमित्याकृतम् ।

अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले अनुभवों की अपेक्षा काव्य के रमणीयव्यापार से उत्पन्न होने वाला आस्वाद (अनुभवविशेष) विलक्षण है । अर्थात् अन्य अनुभवों में चमत्कार नहीं होता और काव्यजन्य अनुभव में वह होता है ।

नन्वास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाच्चिन्त्यत्वाभावात् कथं काव्यव्यापारजन्यत्वमित्यत आचष्टे—

जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम् ।

स्वं काव्यव्यापारो व्यञ्जना, तच्चन्या या तद्व्यापारान्तररूपा भावना, तच्चन्यत्वे सति रत्यादिविषयकत्वमास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वमितिस्वीकारे रसास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाच्चिन्त्यत्वविरहेऽपि तत्त्वमवापमित्यभिप्रायः ।

यद्यपि इस मत में अलौकिक आनन्दजनक आस्वाद (रस) काव्य की व्यञ्जना से उत्पन्न नहीं होता, फिर पूर्वोक्त वाक्य के 'काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाला' इस अंश का क्या अर्थ हो सकता है ? इस जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कहते हैं— 'जन्यत्वम्' इत्यादि । उक्त अंश का अर्थ यह है कि काव्य के व्यापार (व्यञ्जना) से उत्पन्न होने वाली उक्त शोषात्मक भावना से उत्पन्न रति आदि का आस्वाद । अतः अब उक्त अंश के अर्थ में दीख पड़ने वाली असंगति समाप्त हो गई ।

तदाह—

तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न च्छेति ।

जन्यत्वस्य परिष्कृतत्वादित्याशयः ।

इस तरह से व्याख्या कर देने पर यदि रसास्वाद साक्षात् काव्यव्यापारजन्यभावा से उत्पन्न होने वाला नहीं भी है, तथापि कोई छेति नहीं ।

अत्रापि प्रागुक्तदोषमुद्धरन् नव्यमतमुपसंहरति—

शकुन्तलादायगम्यात्वक्षानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रति-
बध्यते । इत्याहुः ।

शकुन्तलादिविशेषकमगम्यात्वप्रकारकं रसविरोधिज्ञानं सहृदयस्य, 'दुष्यन्तोऽहम्' श्रयाकारकेण स्वात्मविशेषक-दुष्यन्ताभेदप्रकारक-ज्ञानेन प्रतिबद्ध भोत्वत्तु तत्र शकुन्त्यादिति तृतीय नव्यानां मतं सम्पूर्णम् ।

मतेऽस्मिन् प्राचीनैरेवास्वीकृताया भावनाया दोषत्वस्य, रसानां प्रातिभासिकत्वेनानिर्व-
चनीयत्वस्य आस्वीकृतिः, न च व्यापारान्तरस्य नवीनस्य रूपमेति लाजवम् ।

अब रही एक बात और यह यह कि शकुन्तला आदि में 'यह मेरे लिये अगम्य है' यह ज्ञान हम सहृदयी को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि शोषात्मक भावना से जो दुष्यन्त आदि की अभेद बुद्धि अपने में हम लोगों को होती है, उसी बुद्धि से उक्त अगम्यात्वज्ञान रोक दिया जाता है अर्थात् जब हम स्वयं दुष्यन्त बन जाते हैं, तब फिर शकुन्तला को स्वसंभोग योग्य नहीं समझें, यह असम्भव है ।

अथ चतुर्थं परकीयमतमुपन्यस्यति—

(४) परे तु—व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयत्वानेज्ञानभ्युपगमेऽपि, प्रागुक्त-
दोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादि-
मदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजिन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः ।

तुरीय मतमिदम् । परेतिरिति वदन्तीत्यनेनान्वेति ।

व्यञ्जनव्यापारस्य दुष्यन्तादिनिष्ठ-शकुन्तलादिविषयकरीतिग्राहकत्व, अनिर्वचनीय-
ख्याते 'साक्षिमास्य सदसद्विलक्षण-शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्यनुभवविषयी-
भूतानिर्वचनीयत्वस्य च तृतीयमतेऽस्वीकृतस्य, अनभ्युपगमेऽनज्ञोक्तरेऽपि, प्राग् तृतीयमते
, उक्तस्य दोषस्य भावनाविशेषस्य, महिम्नाप्रभावेणैव, स्वात्मनि स्वात्मविशेषक, दुष्यन्ता-
दितादात्म्यावगाहो दुष्यन्ताभेदविषयक, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोध शकु-

न्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदप्रकारको 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारको यो मानसो मनस्मधिकर्षजन्मा, कान्यार्यस्य भावनाया जन्म यस्य तादृश', विलक्षणविषयता-शाली लोकोत्तर इत्यादिनिष्ठविषयतानिरूपक, यत्र आस्वाद, ॥ एव रस इत्यर्थः ।

अथ रस के विषय में अन्य विद्वानों के चतुर्थ मत का विवेचन करते हैं—'परे तु' इत्यादि। धर्मिप्राय यह है कि व्यञ्जना व्यापार के त्रिसे प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वान् छिमी न किसी रूप में अवश्य मानते हैं) और अनिर्वचनीय रसाति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् रस को व्यङ्ग्य अथवा अनिर्वचनीय मानना आदर्यक नहीं है। फिर रस है क्या? मुनि ये—भूतीय मत में जिस भावनात्मक दोष की चर्चा की गई है, उसके प्रभाव से सहृदयों को एक प्रकार का मानस-मन-मन्तिकर्ष से उत्पन्न होने वाला (जिसमें बाह्य इन्द्रियों के सम्बन्ध की अनेका नहीं पड़ती) ज्ञान होता है, वही (ज्ञान) 'रस' है। उस ज्ञान में सहृदयों की आत्मा विनोद्य होती है, जिस (आत्मा) में दुष्यन्त आदि का तादात्म्य-भेद भावित होता रहता है और शकुन्तला आदि की रति आदि प्रकार होता है, अर्थात् 'मं दुष्यन्त, शकुन्तला विषयक रति बाह्य ह' ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान से होता है। लोकोत्तर-विलक्षण रति आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं अत एव यह ज्ञान विलक्षण-विषयता-शाली कहा जाता है। सबैष में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार के भ्रम को 'रस' कहते हैं।

नन्वेवं स्वप्नकालिकज्ञानस्यापि मानसत्वाद् रसत्वापत्तिरित्यत आह—

स्वप्नाविस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः । तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः ।

स्वप्नकालिष्ठो हि शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकबोधो मनस्सधिकर्षजन्यः सद्यपि, न कान्यार्यमाननाजन्य इति न तस्य रसत्वम्, न वा तत्राह्लादविरोध आपद्यत इत्यभिप्रायः ।

आप कहेंगे कि यदि इस तरह के मानसज्ञान को ही रस कहा जाय, तब तो स्वप्न आदि में जो इसीप्रकार का मानसज्ञान होता है, उसको भी रस कहना पड़ेगा इसी शङ्का का समाधान देते हैं—'स्वप्नाविस्तु' इत्यादि। स्वप्न आदि में भी इस तरह का मानसज्ञान होता है, यह बात सही है, परन्तु वहाँ का वह ज्ञान काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान से नहीं हुआ रहता, अतः रस नहीं कहला सकता और न उसमें उस प्रकार का आनन्द ही आ-सकता है, क्योंकि काव्यार्थ के अनुसन्धान से होने वाले उस कमार का ज्ञान ही रस कहा गया है तथा आनन्दजनक माना गया है।

सहृदये वास्तविकरतेरभावादनुभवे च विषयसत्यस्य कारणतयाऽपेक्षया प्रकृते रत्यादिबोधस्यासम्भवं इत्याशङ्कते—

एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात् ? ।

एवमपि सहृदयस्य शकुन्तलादिरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकमानसबोधस्वीकारेऽपि, स्वस्मिन् सहृदयात्मनि । इतरत् स्फुटम् ।

इस तरह मानने पर भी एक शङ्का यह रह जाती है कि जो रति आदि हम में हैं ही नहीं केवल मनगढ़न्त हैं, उनका अनुभव ही कैसे होगा? क्योंकि अनुभव के प्रति विषय-सत्ता को कारण माना गया है।

समाधत्ति—

मैत्रम्, नह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात् । अपि तु भ्रमः ।

लौकिकप्रत्यक्षे हि कारणतया विषयस्य वस्तुतः सत्त्वमपेक्ष्यते, अत्र तु रञ्जावसतोऽपि सर्पस्य भानमिति सहृदयसमवेतरत्यादिप्रतीतिर्दोषजन्यत्वाद् भ्रमत्वेन न वास्तविकविषय-सद्भावापेक्षेति भावः ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही विषय-सत्ता कारण है अर्थात् लौकिक अनुभव के सम्बन्ध में ही यह नियम है कि जिन वस्तुओं का अनुभव होता है वे जाल, कान, नाक आदि ज्ञान-जनक इन्द्रियों के सामने अवश्य उपस्थित रहते हैं, भ्रम में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् भ्रम विषय के बिना भी होता है, जैसे रत्नी में सर्प का भ्रम विषय (सर्प) के न रहने पर भी होता है, भावनारूप दोषप्रयुक्त यह इति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है अतः उस रति आदि विषय के वस्तुतः न रहने पर भी उसके ज्ञान होने में किसी तरह की बाधा नहीं हो सकती ।

नन्वेतन्मते भ्रमात्मकस्य रत्यादिज्ञानस्यैव रसत्वात् तद्विषयकज्ञानान्तरानुरूपतेरस्वादी-रसविषयक इति व्यवहारो नो पपद्यत इत्यतोऽभिपक्षे—

आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः इत्यपि पदन्ति ।

भ्रमरूप-रस-विषयीभूतरत्यादीनामास्वाद एव रसास्वादव्यवहारः, तत्रत्यरसपदस्य रसत्वानुकूलरत्यादिपरत्वस्य विवक्षणादिति सात्पर्यम् ।

आप कहेंगे कि जब रस भ्रमात्मक ज्ञान रूप है, तब 'रस का आस्वादन होता है' यह व्यवहार असंगत हो जायगा क्योंकि आस्वादन भी एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं—'आस्वादनस्य' इत्यादि रति आदि जो भ्रम के विषय है अर्थात् जिन रति आदि के विषय में भ्रम होता है उसका आस्वादन हो सकता है, होता भी है, वन उसी विषय (रति आदि) का आस्वादन का विषयी (भ्रमात्मक रस) में आशेष करके उक्त व्यवहार होता है । वस्तुतः रस का आस्वादन ही नहीं होता । वे लोग यह भी कहते हैं ।

तुरीयमते विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-भ्रमात्मकज्ञानरूपरसस्य विनिगमनाविरहान् त्रैविध्यं प्रतिपादयति—

एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्त्वधर्मिताऽवच्छेदक-शकुन्तलादिविषयकरति-वैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट-दुष्यन्तवा-दात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्त्व-शकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः ।

एतैस्तुरीयमतालम्ब्यभि । एतैरित्यभ्युपेयमित्यनेनान्वेति । स्वं सहृदय । रतिवैशिष्ट्यं धर्मो दुष्यन्तस्य धर्मो । दुष्यन्त्वधर्मिताऽवच्छेदकं रजः, तादृश यच्छकुन्तलाविषयकरति-वैशिष्ट्यम्, तदवगाहीतद्विषयक 'अहं दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमाह' इत्याकारक एको मानसो बोधः ।

स्वात्मत्वविशिष्टे निजतमनि, शकुन्तलाविषयकरतिविशिष्टो यो दुष्यन्तस्तस्य तादात्म्य-मभेदमवगाहते विषयीकरोति, तादृश शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्तोऽहम् इत्याकारको द्वितीयो बोधः ।

स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्त्वस्य शकुन्तलाविषयकरत्येव यद् वैशिष्ट्यं सम्बन्ध, तदव-गाही 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमाधाहम्' इत्याकारक तृतीयो बोधः ।

त्रिषु विषयैक्येऽपि विविगमनाविरहादुद्देश्यविधेयभावभेदाद् बोधभेदः । त्रिविधोऽयं बोध एवान्न भवेत् रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः स्वीकार्य इत्यर्थः ।

इस मत के अनुसार जिस ज्ञान को रस कहते हैं, उसका स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है यही दिखलाते हैं—‘एतन्न’ इत्यादि । ज्ञान के तीनों स्वरूप निम्नलिखित हैं—
१. दुष्यन्त आदि में रहनेवाली जो शकुन्तला आदि की रति है, उस (रति आदि) से युक्त में हूँ । २. मैं शकुन्तलादि-विषयकरति-युक्त-दुष्यन्त मैं अभिन्न हूँ । ३. मैं दुष्यन्तत्व से और शकुन्तला विषयक रति से भी युक्त हूँ । इन तीनों ही ज्ञानों को इस मत के अनुसार रस मानना पड़ेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने में कोई खास युक्ति नहीं है । यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक सा ही है, तथापि उद्देश्य-विधेय-भाव के भेद से ये ज्ञान परस्पर भिन्न होते हैं अर्थात् प्रथम ज्ञान में ‘मैं’ उद्देश्य है और दुष्यन्त में रहने वाली रति विधेय । द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य वही ‘मैं’ है परन्तु विधेय है, शकुन्तला-विषयकरति युक्त-दुष्यन्त का अभेद । और तृतीय ज्ञान में भी उद्देश्य ‘मैं’ ही है किन्तु विधेय दो हैं—एक दुष्यन्तत्व और दूसरा शकुन्तला-विषयक-रति, अतः एवं यह तृतीय ज्ञान समुच्चयात्मक है ।

मतेऽस्मिन् रत्यादिप्राङ्क्षयानुमानस्यावरयकतामाचष्टे—

तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद्, व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम् ।

तत्र बोधप्रये, स्वात्मनि विशेषणीभूता या रतिः, तस्याः शब्दादप्रतीतत्वाच्च-शब्दादज्ञातत्वात्, तत्प्रत्यायिकाया रतिबोधिकाया, व्यञ्जनायाश्चामतेऽनभ्युपगमादस्वीकाराच्च, आदौ प्रथमम्, चेष्टा नटादिन्यापार एव लिङ्गं हेतुर्यत्र, तादृशम् ‘अयं (मटरूपो) दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षभुजवितोषादिचेष्टावत्त्वात्’ इत्याकारक-मनुमानं विशेषणज्ञानार्थं रतिप्रत्ययनिमित्तम्, अभ्युपेयमज्ञातकरणोपमित्यर्थः ।

अयं मते पूर्व दुष्यन्तत्वेन ज्ञाते नटे चेष्टया शकुन्तलरतेरनुमानम्, पश्चात् तादृश-दुष्यन्तेन सहात्मनस्तादात्म्यावगाहि प्रागुक्तं त्रिविधं मानसं ज्ञानमेव रस इति सारम् । शुरीयं मतमवसितम् ।

इस मत में रति के ज्ञान करने के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, इसी बात का प्रतिपादन करते हैं—‘नत्र’ इत्यादि । भाव्य यह है कि इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण-रूप से प्रविष्ट है अतः इन ज्ञानों के होने से पूर्व रति का ज्ञान हो जाना आवश्यक है, परन्तु उसका ज्ञान होगा कैसे ? काव्य के शब्दों से हो नहीं सकता, क्योंकि काव्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते और उसका बोध करानेवाली जो व्यञ्जना अन्य मतों में स्वीकृत थी, उसका स्वीकार इस मत में किया ही नहीं गया है, फिर तो जगत्या विशेषणीभूत उस रति आदि के ज्ञान के लिये अनुमान की शरण इस मत में लेनी ही पड़ेगी, अर्थात् उक्त ज्ञानों से पहले नट आदि की चेष्टा को हेतु बनाकर ‘दुष्यन्तः, शकुन्तला विषयक रति वाला है, क्योंकि उस रति से होने वाली चेष्टा उसमें विद्यमान है’ ऐसा अनुमान करना पड़ेगा ।

पञ्चमं मल्लोद्भवादीना मतमुपपादयति—

(५) ‘मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाभिनय-प्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तारि नटे समारोप्य, साक्षात्क्रियते’ । इत्येके ।

मुख्यतया साक्षात्सम्बन्धेन वस्तुतः, दुष्यन्तादियतोऽनुकार्यवृत्तिरेव, तत्त्वतुक्तं-नयदिशति, तत्र तस्यारोपितस्वैनावास्तविकत्वाद् । कमनीयो यो विभावादीनामभिनयोऽ-

वस्तुानुकार, तस्य प्रदर्शने लोचिदो निपुण' । दुष्यन्तादीनामनुकर्ताऽनुकरणकृत् । इदं दृश्यकाव्ये, श्रव्यकाव्ये त्वनुकरणाभावात् काव्यपाठके स्वात्मनि समारोपः । एके प्राचीनैष्वपि प्रसिद्धतमा भट्टलोल्लटप्रभृतयो वदन्तीति शेषः ।

अथ रस के विषय में भट्ट लोल्लट आदि कतिपय पण्डितों के मतों का उपपादन करते हैं—'मुख्यतया' इत्यादि । वस्तुतः सत्त्वात् सम्बन्ध से दुष्यन्त आदि अनुकार्य में रहने वाले रति आदि ही रस हैं, उन रति आदि को ही भाटक में विभाव आदि के सुन्दर अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि का पाठ करने वाले नट पर और काव्य में उसके पाठकों के ऊपर आरोपित करके हम उनका अनुभव करते हैं ।

एतन्मतप्रतिपाद्यं शेषमाचष्टे—

भतेऽस्मिन् साक्षात्कारो 'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमान्' इत्यादिः प्राग्बद्धन्यासो लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिकः ।

साक्षात्कार प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम् । प्राग्बद्धन्यास इव विनिमयनादिरहादुद्देश्यविधेय-भाववैलक्षण्येन त्रिविधः । धर्मोऽदन्त्वेन गृह्यमाणो नट, तस्य चक्षुस्सन्निकृष्टत्वात् साक्षात्कारो लौकिकः । आरोप्यं दुष्यन्तत्वादि, तस्य चासन्निकृष्टत्वादलौकिकः साक्षात्कारो भवतीति शेषः । भरतसूत्रप्याख्याता भट्टलोल्लटो भीमासक इत्येतन्मतं भीमासकमतत्वेनान्य-प्रोल्लिखितम् । तथाहि—'विभावैर्जनित', अनुभावं प्रकाशित', व्यभिचारिभावैश्च पोषितश्च शकुन्तलादिविषयको दुष्यन्तादानुकार्यं वास्तविक' अभिनयकौशलेन दुष्यन्तादिरूपेण ज्ञायमानेऽनुकर्तारि नटे आरोपित, सहृदयै पश्चाद् भावनास्मदोपजन्य-नटतादात्म्याभ्या-सादात्मनि साक्षारिक्यमाणो रत्यादि' स्थायो रस इत्यन्यत्र तन्मतम् । पञ्चममतं सत्पूर्णम् ।

इस मत में भी रस-ज्ञान का स्वरूप, पूर्वमत की तरह 'शकुन्तला विषयक रति से युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' इत्यादि रीति से उद्देश्य-विधेय-भाव में भेद होने के कारण तीन प्रकार का होगा यह समझना चाहिये । ये तीनों ही ज्ञान नटरूप धर्मों (विशेष्य) अथ में उसके अंशों के सामने उपस्थित रहने के कारण लौकिक और आरोप्य (जिसका आरोप करते हैं) दुष्यन्तत्व में अलौकिक होते हैं क्योंकि यह अंश अंशों के सामने उपस्थित नहीं रहता ।

काव्यप्रकाशे द्वितीयमतत्वेनोपात्तं षष्ठं तार्किकश्रीशङ्कमतमभिधत्ते—

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिनटो पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते, विभावादिभिः कुत्रिमैरप्यकुत्रिमतया गृहीतैः, भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादानुमीयमानो रसः ।' इत्यपरे ।

अपरे वदन्तीति शेषः । दुष्यन्तत्वेन गृहीते 'दुष्यन्तोऽहम्' इति दुष्यन्तत्वप्रकारक-ज्ञानविषयीकृते, नटेऽनुकर्तारि शैलूपे, पक्षे सन्दिग्धसाध्यवन्ति, कुत्रिमै क्रियाया निर्मूलैः शिभाभ्यासादिमात्रविदितत्वाद्वास्तविकैरपि, अकुत्रिमतया गृहीतै साम्यातिशयेन वास्तविक-तया ज्ञातै, विभावादिभिर्हेतुभूतै, समाने विषये प्रत्यक्षसागम्या बलवत्त्वेऽपि, विभिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या एव बलवत्त्वजन्यविषयकप्रत्यक्षप्रतिबन्धनादानुमीयमानो दुष्यन्ताद्यनुकार्यगत शकुन्तलादिविषयको रत्यादिरेव रसः । अथमपि भरतसूत्रस्य व्याख्याता ।

इदमिहावगन्तव्यम्—'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमान्', तद्विषयकमदासमुजवि-धेयादिचेष्टावत्त्वान्' इत्यनुमित्याकारः । अनुमेयवस्तुसौन्दर्यबलादस्यानुमानस्येतदनुमानेभ्यो रमणीयत्वम्, मृदादिपटेभ्य इव कनकपटस्य । इन्द्रियसन्निकर्ष-नटविषयकप्रत्यक्षसामग्री-सद्भावेऽपि, रत्यादिसाध्यविषयकानुमितिसामग्र्या विभिन्नविषयकत्वेनेतरप्रतीतिप्रतिबन्धक-

त्वाद् रस्याद्यनुमितिरेव भवति, ननु नटप्रत्यक्षम् । परोक्षज्ञानस्यावमत्कारित्वं चात्र पक्षेऽ-
वचिनीयम् । पक्षे मतं समाप्तम् ।

अब रस के विषय में श्रीराहुक के छठे मत ॥ प्रतिपादन करते हैं—‘दुष्यन्तादिगतौ’
इत्यादि । अमिषाय यह है कि जब हम ‘अभिज्ञानसाकुन्तल’ आदि नाटक देखते रहते हैं
उस समय नट में हमें दुष्यन्त आदि का ज्ञान होता है और वह ज्ञान-चित्र-छिन्नित तुरंग
को देखकर जो ‘यह कोदा है’ ऐसा ज्ञान होता है—ठीक वैसा ही है अर्थात् वह ज्ञान
सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य ज्ञानों से विलक्षण रहता है क्योंकि वस्तुतः दुष्यन्त से भिन्न में
होने के कारण उस ज्ञान को सम्यक् (प्रमात्मक) नहीं कह सकते, उत्तर-काल में बाध
न होने से उसको मिथ्या (समात्मक) भी नहीं मान सकते, सादृश्य-अंश की प्रतीति
न होने से सादृश्यज्ञान भी उसको नहीं बतला सकते, कलता वह ज्ञान विलक्षण है, यही
कहा जासकता है । वस्तुतः पूर्वमत की तरह विशेष्य अंश में छौकिक और विशेषण अंश
में अलौकिक अमात्मक ज्ञान ही यह है । इस तरह हम सहृदयों से दुष्यन्त आदि रूप में
समझा गया और अभिन्नव करने में निपुण कट आदि के द्वारा प्रकाशित विभाव आदि—
जो वस्तुतः कृत्रिम-अवास्तविक रहते हैं—अकृत्रिम-वास्तविक माहुर पढ़ने लगते हैं,
अतः वास्तविक-स्वामाविक माहुर पढ़ने वाले उन विभादिकों से दुष्यन्तादि रूप से
समझे गये नट रूप पक्ष में साकुन्तला आदि की रति की अनुमिति होती है और उसी
अनुमिति का विषयोभूत रति आदि ‘रस’ है । यद्यपि अन्य अनुमितियों में चमत्कार-
आस्वाद नहीं होता अतः इस अनुमिति में भी वह नहीं होगा ऐसी दावा यहाँ की
जासकती है, तथापि यहाँ अनुमेय वस्तुओं के सौन्दर्य से अनुमिति में चमत्कार पैदा हो
जाता है ऐसा समझना चाहिये अत एव सहृदयजन पार पार उस अनुमिति को करते
हैं, जिससे रस रति आदि की चर्चणा उन्हें होती है । यद्यपि अनुमान के द्वारा किसी चीज
की एक बार सिद्ध हो जाने पर दुबारा उस चीज की अनुमिति उसी व्यक्ति के द्वारा
वहीं की जासकती क्योंकि सिद्धि को अनुमिति का प्रतिबन्धक माना गया है तथापि
अनुमिता-अनुमिति की इच्छा के रहने पर सिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती यह ज्ञात होना
चाहिये । अनुमिति का आकार यह होता है कि ‘यह (नट) दुष्यन्त-साकुन्तला-विषयक
रतिवाला है, क्योंकि तद्विषयक कटाक्ष सुमोचन आदि चेष्टाओं से वह युक्त है’ । एक बात
और—यहाँ यह दावा उठ सकती है कि जिस चण में अनुमिति होती है उस चण में
वहाँ और और भी बहुतसी दर्शनीय वस्तुयें आस्तों के सामने उपस्थित रहती हैं, जिससे
उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष भी अवसर प्राप्त रहता है, फिर उस समय में उक्त अनुमिति न
होकर उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही क्या नहीं होता ? पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिये
कि एक काल में दो ज्ञान नहीं हो सकते, अतः दोनों ही (अनुमिति और प्रत्यक्ष) होंगी
यह बात नहीं कही जासकती । इसका उत्तर यह है ॥ जहाँ एक ही समय में एक वस्तु
की प्रत्यक्ष सामग्री और दूसरी वस्तु की अनुमिति-सामग्री जुट जाती है, वहाँ उस स्थिति
में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि मिश्रविषयक प्रत्यक्ष के प्रति मिश्रविषयक
अनुमिति सामग्री को दार्शनिकों ने प्रतिबन्धक माना है । क्यों उसको प्रतिबन्धक माना
गया है ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए ।
मिश्रविषयक प्रत्यक्ष के प्रति मिश्रविषयक अनुमिति-सामग्री को प्रतिबन्धक मानने का
पहला कारण यह है कि उस स्थिति में अनुमिति का होना ही अनुभव सिद्ध है । दूसरा
कारण यह भी है कि प्रत्यक्ष सामग्री की अपेक्षा अनुमिति-सामग्री गुप्त-भूत रहती है,
अर्थात् प्रत्यक्ष-सामग्री (चक्षुःसन्निकर्ष आदि) को छुटाना नहीं पड़ता अगर किसी अंश
में छुटाना भी पड़े तो उसमें बहुत अल्प आभ्यास करना पड़ता है और अनुमिति-सामग्री
(व्याप्तिज्ञान आदि) मिश्रकी सख्या अधिक है) को छुटाना पड़ता है जिसमें बहुत
अधिक आभ्यास करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में अगर उक्त दोनों सामग्रियों में से किसी

एक सामग्री को व्यर्थ करना पड़े तो लोग किसको व्यर्थ करना चाहेंगे ? उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष-सामग्री को, क्योंकि वह खोबी है और उसमें आयास भी कम करना पड़ा था। अब नाटक देखते समय भिन्न विषयक प्रत्यक्ष-सामग्री के जुटी रहने पर भी शकुन्तलादि विषयक रति की अनुमिति ही क्यों होती है इस शङ्का का उत्तर पाठकों को स्पष्ट रूप से समझ आ जायगा। यह तो हुई नाटक की बात, काव्य में उसके पाठकों पर ही यह जगन्नादावृजता है अर्थात् उन्हीं को दुष्यन्त आदि समझा जाता है और उन्हीं को पठ बनाकर रति आदि की अनुमिति की जाती है।

अथ प्रकीर्ण मतपक्षके प्रथमं पूर्वक्रमाच्च सप्तमं मतं निर्दिशति—

(७) 'विभावाद्यस्त्रयः समुदिता रसाः' इति कतिपये ।

'समुदिताः परस्परं मिलिताः, विभावाद्यो विभावानुभावव्यभिचारिरूपायिगाना एव रसा रसनव्यापारयोगाद्वास्वाद्या इति कतिपये कियन्तो व्याहरन्तीत्यर्थः ।

'प्रतीयमानं प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते । ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥

प्रमाणकरसंन्यायाचर्यमाणो रसो भवेत् ॥'

इत्युक्ते खण्डमरिचादीनामिव विभावादीनां मियस्सम्मेलनेन प्रमाणकरस इव काव्यरसः कोऽपि निष्पद्यत इत्याशयः ।

अब रस-विषयक सप्तम मत्त का प्रतिपादन करते हैं—'विभावादयः' इत्यादि । कुछ लोगों का कहना है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर 'रस' कहलाते हैं ।

द्वितीयं पूर्वक्रमादष्टमं मतमुपन्यस्यति—

(८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः । अन्यथा तु त्रयोऽपि न ।' इति बह्वः ।

त्रिषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, न एवान्यतम स्वपौपकमामग्रीप्रकर्षात्, चमत्कारी विच्छिद्यतिविशेषशालो, स एव, न तु चमत्कृतिशून्योऽपि, रसो भवतीति शेषः । अन्यथा चमत्कारिताविरहे तु, त्रयो विभावादयो मिलिता अपि, किमुतैक, न रस इति बहवो व्याहरन्तीत्यर्थः । लोकोत्तरचमत्कारस्यैव रसत्वव्यवस्थापकत्वात् तदभावे विभावादित्वमात्रेणैव न रसत्वमिति भावः ।

अथ रस-सम्बन्धी अष्टम मत का उपादान करते हैं—'त्रिषु' इत्यादि । कतिपय विद्वानों का कथन है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इन तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है और यदि चमत्कारी न हो, तब एक की बात ही क्या, तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकते क्योंकि छोटीछोटी चमत्कार को ही काव्य का प्राण माना गया है ।

तृतीयं पूर्वक्रमादष्टमं मतं प्रकाशयति—

(९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यन्ये ।

भाव्यमानं पुनः पुनरनुसन्धानरूपभावनाविषयीक्रियमाणो विभाव आत्मन्यनोदीपनात्मक एव, न त्वनुभावव्यभिचारिणावपि, रस इत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः ।

प्रादुर्भावेऽपि विभावस्यैव प्राप्येन प्राधान्याद् रसत्वमिति तात्पर्यम् ।

अब रस-सम्बन्धी नवम मत का उल्लेख करते हैं—'भाव्यमान' इत्यादि । अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धान क्रिया गया विभाव (आलम्बन और उद्दीपन कारण) ही रस है (अनुभाव और सञ्चारी नहीं) ।

चतुर्थं पूर्वक्रमाद् दशमं मतमभिदधाति—

(१०) 'अनुभावस्तथा' इतीदरे ।

अनुभावः स्थायिकार्यरूपः, तथा भाव्यमानो रस इतीतरे प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ।

भावनाया = प्रभावेण, कारणपेक्षया कार्यस्य विच्छिन्तिविशेषाभावात् न चानुभावस्यैव रसत्वं नन्तव्यमित्याहुतम् ।

अथ रस-सम्बन्धी दशम मत की खर्चा करते हैं—'अनुभाव' इत्यादि । कुछ पण्डितों का मत है कि पुनः पुनः चिन्तन किया गया अनुभाव ही रस है (विभाव राक्षारी नहीं) ।

पदमं पूर्वक्रमादेकदशं मतमान्ये—

(११) 'व्यभिचार्यैव तथा तथा परिणमति' इति केचित् ।

पूर्वस्तराशब्दो भाव्यमानार्थको द्वितीयश्च रसार्थकः ।

तथा भावनाविषयविषयीक्रियमाणो व्यभिचारी भाव एव तथा रसरूपतया परिणम-
तीत्येकै कथयन्तीत्यर्थः ।

अथ रसम्बन्धी व्याहृष्टं द्वे मत का प्रतिपादन करते हैं—'व्यभिचार्यैव' इत्यादि ।
अनेक पण्डितों का कथन है कि व्यभिचारी भाव ही पुनः पुनः चिन्ता का विषय होकर
रस रूप में परिणत हो जाता है ।

भावनामहिम्ना प्राधान्यं भजन् व्यभिचार्यपि भावत्वमिव रसत्वं प्रतिपद्यत इति भावः ।

उक्तमतेष्वष्टाना मयेण प्रामाणिकत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इतिसूत्रं तत्तन्मतपर-
तया व्याख्यायते—

तत्र तेष्वेकादशसु मतेषु, समूलकत्वं साययितुमाचार्यभरतस्य विभावैत्यादिसूत्रं,
तत्तन्मतपरतया तेषां तेष्वमादितोऽष्टाना मतानामनुकूलतया व्याख्यायते मयेति शेषः ।

अथ उक्त मतों में कितने प्रामाणिक और कितने अप्रामाणिक हैं इस बात का निर्णय
करने के लिये रससम्बन्धी मूलभूत-भरतसूत्र की व्याख्या करने का उपक्रम करते हैं—
'व' इत्यादि । उस उस मत के अनुसार 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः'
इस सूत्र की व्याख्या करते हैं ।

आद्याचार्याभिनवगुप्तमते द्विविधकल्पानुकूलं सूत्रव्याख्यामाह—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद् व्यञ्जनाद् रसस्य चिदानन्दवि-
शिष्टस्याप्यात्मनः, स्थाव्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाश-
मम् ।' इत्याद्ये ।

विभावानुभावेन व्यभिचारिभावेन (सह) संयोगाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धात्
प्रथमकल्पे चिदानन्दविशिष्टस्याप्यात्मनश्चेतन्याद्वादविषयीभूतरत्यादिरूपस्य, द्वितीयकल्पे
स्थाव्युपहितचिदानन्दात्मनो रत्यादिविषयक्यैतन्याद्वादरूपस्य, रसस्य, निष्पत्तिः स्वरूपेण-
प्रकाशनमित्याद्यमते सूत्रार्थः ।

प्रथम आचार्य अभिनव गुप्त-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव'
इत्यादि । 'विभाव', अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनिगत
होने से, आत्मानन्द-सहित स्थायीभावरूप अथवा स्थायीभावरात्मक उपाधि से युक्त
आत्मानन्दरूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् यह अपने वास्तवरूप में प्रकाशित होता
है यह प्रथम मत में अर्थ है ।

द्वितीये मतानुक्रमते सूत्रव्याख्यामभिधाति—

'विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक् साधारणात्मतया योगाद् भावफलव्या-
पारेण भावनाद्, रसस्य स्थाव्युपहित-सत्त्वोद्वेकप्रकाशित-स्वात्मानन्दरूपस्य,
निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः ।' इति द्वितीये ।

संयोगस्य सम्यग् योगादिति, सम्यगित्यस्य साधारणात्मतयेति, योगादित्यस्य भाव-
कत्वव्यापारेण भावनादिति, रसस्येत्यस्य सत्त्वोद्वेगोद्भासित-रत्यादिविषयक-स्वात्मानन्द-
रूपार्थकं स्थाव्युपहितेत्यादि, निष्पत्तिरित्यस्य युक्त्यपरपर्याय-भोगात्मकसाक्षात्कारविषयी-
करणार्थक भोगाद्येनेत्यादि च द्वितीयमते सूत्रार्थः ।

द्वितीय भट्टनायक-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि ।
'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (स+योग) सम्यक् अर्थात् साधारणरूप से
योग अर्थात् भावस्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभावरूप उपाधि के सहित
सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वकीय आत्मानन्द रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग
नामक साक्षात्कार का विषय बनाना' यह द्वितीय मत में सूत्रार्थ है ।

तृतीये नव्यमते सूत्रव्याख्यां प्रवीति—

विभाधानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दोषाद् रसस्या-
निर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये ।

इह भावनाविशेषरूपो दोष एव संयोग, अनिर्वचनीयभावपञ्चो दुष्यन्तादिनिष्ठ-शङ्कुन्त-
लादिविषयकृत्यादिरेव रसः, प्रातिभासिकोत्पत्तिरेव निष्पत्तिरिति विशेषः ।

तृतीय 'नव्य' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव,
अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग अर्थात् सहृदयता मूलक काव्यार्थभावनारूप
दोष से दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति'
यह तृतीय मत में सूत्र का अर्थ है ।

चतुर्थे परकीयमते सूत्रव्याख्या मूले—

'विभाषादीनां संयोगाज् ज्ञानाद्, रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' ।
इति चतुर्थे ।

अत्र संयोगो ज्ञानम्, रसश्च मानसप्रत्यक्षरूप इति विशेषः ।

चतुर्थ 'पर' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाषादीनाम्' इत्यादि ।
'विभाव आदि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञान-विशेष रूप रस की निष्पत्ति अर्थात्
उत्पत्ति' यह चतुर्थ मत में सूत्र का अर्थ है ।

पञ्चमे भट्टलोकटमते सूत्रव्याख्या व्याहरति—

'विभाषादीनां सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पञ्चमे ।

इह संयोग सम्बन्धः, नट आरोप्यमाणो रत्यादौ रसः, निष्पत्तिरारोपः । सामाजिकस्य
॥ भावनात्मकदोषवशात् कथञ्चिजटेन सह तादात्म्याप्यासादास्ताद् इति विशेषः ।

पञ्चम भट्ट लोकट-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि ।
'विभाव आदि के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट
आदि पर आरोप' यह पञ्चम मत में सूत्र का अर्थ है ।

षष्ठे श्रीशङ्कुकमते सूत्रव्याख्या प्रतिपादयति—

'विभाषादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद् रसस्य-
रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति षष्ठे ।

अत्र संयोगोऽनुमितिहेतु-व्याप्तिज्ञानरूपमनुमानम्, अनुमेयो रत्यादौ रसः, निष्पत्तिधा-
नुमितिरिति विशेषः ।

षष्ठ श्रीशङ्कुक मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाषादिभिः' इत्यादि । 'कृत्रिम
होने पर भी स्वामाविक रूप ॥ समझे गए विभाषादिकों (हेतु) के साथ संयोग अर्थात्

व्याप्ति नामक सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति (नट रूप पद्य में) यह पद्य मत में सूत्र का अर्थ है ।

सप्तमे वतिपद्यमते सूत्रव्याख्यामुपन्यस्यति—

‘विभावादीनां त्रयाणां संयोगात् समुदायाद् रसनिष्पत्ती रसपदव्यवहारः’ इति सप्तमे ।

इह संयोगो मिश्रसम्मेलनेन समुदायः, निष्पत्ती रसपदप्रतिपाद्यत्वेन व्यपदेश इति विरोधः ।

सप्तम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—‘विभाव आदि तीनों से संयोग अर्थात् सम्मेलन से रस की निष्पत्ति अर्थात् इस समूह में रस पद का व्यवहार’ यह सप्तम मत में सूत्र का अर्थ है ।

अष्टमे बहुमते सूत्रव्याख्या निगदति—

‘विभावादिषु सम्यग् योगाद्यमत्कारात्’ इत्यष्टमे ।

अत्र संयोगश्चमत्कार इति विशेषः ।

अष्टम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—‘विभाव आदि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार से रस कहलाता है’ यह अष्टम मत के अनुसार सूत्र का अर्थ है ।

उपसंहरति—

तदेवं पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधः ।

एवमुक्तप्रकारेण, केवलं पूर्वोक्तेष्वष्टु मतेषु भरतसूत्रानुसारित्वस्य सम्भवात्, त्रिष्वपिमेव त्वैकैकमात्रोपादानाद् विभावादीनां त्रयाणामनुपादानाद् भरतसूत्रस्य प्रागुद्धिखितस्य, विरोधः पर्यवसित इत्यर्थः ।

भरतसूत्रानुसारि मताष्टकमेव साधीय, तद्विरुद्धमतप्रयं तु निर्मूलकत्वादनुपादेयमेवेति सारम् ।

इदमपीहाकलनीयम्—यथा भरतसूत्रविरोधाविहान्तिमं मतत्रयं हेयम्, भावस्वरूपाधिकव्यापारस्वीकारगौरवाद् द्वितीयम्, भावनादोषत्वकल्पनागौरवाद्, रसस्याभिर्वचनीयत्वाज्ञाकारोऽवास्तविकत्वापाताच्च तृतीयम्, मानसज्ञानात्मनो रसस्य भ्रमत्वाभ्युपगमेऽज्ञात्विक्त्वापत्तेस्तुतीयम्, रसस्य नटवृत्तेर्वस्तुतः सामाजिकवृत्तित्वानङ्गीकारेण विलक्षणत्वादासम्भवात् पञ्चमम्, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामवमत्कारित्वस्य सर्वमतसिद्धतया रसस्यानुमेयत्वस्वीकारोऽचमत्कारित्वप्रसङ्गात् षष्ठम्, विभावादिसमूहमात्रेण लोकोत्तररसत्वप्राप्त्यसम्भवात् सप्तमम्, एकस्य विभावाद्यन्यतमस्य रससारचमत्कार-परिपूर्णताऽसङ्गादादृष्टं च मठमश्विभासादनादेयमेव ।

अवशिष्ट तीन मतों में सूत्र का अर्थ सगत नहीं होता, अतः उन मतों में सूत्र का विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे मत खतन्त्र हैं, सूत्रानुसारो नहीं ।

ननु भरतसूत्र एव सन्मिलितानां विभावादीनां त्रयाणामुपादानस्य किं बीजम् ? ये नात्र विभावादिष्वेकमात्रमवलम्ब्य चरमं मतत्रयं सूत्रविरोधादुपेक्ष्यत इत्याराडा निरस्यति—

विभावाद्यनुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरसव्यञ्जकताऽनुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम् ।

इदमुक्तं भवति—विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च क्रियन्तोऽनेकरससाधानत्वेकरसनिधताः सन्तीति तत्रैकमात्रोपादाने रसप्रतीतिनियमः स्यात्, मित्तिता विभावादयद्वयत्वे-

करसाधारणा इति तदुपादाने न व्यभिचार इति सूत्रे मिलिताना त्रयाणामुपादानमावश्यकम् । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—‘व्याघ्रादयो विभावा भयानकरयेव रौद्राद्भुतवीराणाम्, अश्रुपात-
दयोऽनुभावा शृङ्गारस्येव करुणभयानकरयो, चिन्तादयो व्यभिचारिण शृङ्गारस्येव करुणवीर-
भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टा ।’ इति । ‘वियदलिमलिनाम्बु-
गर्भमेधम्’ इत्यादौ केवलविभावानाम्, ‘परिमृदितमृणालीम्लानमद्गम्’ इत्यादौ केवलानुभावा-
नाम्, ‘दूरादुत्सुकमागते विचलितम्’ इत्यादौ केवलव्यभिचारिणा उपपादाने शृङ्गाररसप्रतीते-
प्रसिद्धत्वात् त्रयाणा मिलितानामुपादानमावश्यकमित्युक्तिर्निर्मूलैति चेत्, न, उक्तस्थले‘वेक’
मात्रस्य शृङ्गाररसासाधारणस्योपादानेऽप्यवशिष्टान्यद्वयस्य तादृशस्यैव ऋटित्यालोपेण सामा-
न्यव्यभिचारासम्भवात् । तदुक्तम्—

‘सद्भावधेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ।

ऋटित्वन्यसमालोपे तदा दोषो न विद्यते ।’ इति ।

विभावादिकों में से प्रत्येक से रस की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इस शंका का समा-
धान देते हैं—‘विभावानुभाव’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी-
भाव इनमें से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव, अथवा केवल व्यभिचारी-
भाव किसी नियत रस का व्यञ्जक नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही विभाव, एक ही अनु-
भाव अथवा एक ही व्यभिचारीभाव अनेक रस का हो सकता है, जैसे व्याघ्र आदि जिस
तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, उसी तरह वीर, अश्रुपत और रौद्र रस के
भी, अश्रु पात आदि जिस तरह शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह करुण और
भयानक रस के भी, चिन्ता आदि जिस तरह शृङ्गार के व्यभिचारीभाव हो सकते हैं,
उसी तरह करुण, वीर और भयानक रस के भी । अतः भरत-सूत्र में तीनों का उल्लेख
किया गया है ।

तदेवाह—

एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे, यत्र कचिदेकस्मादेवासाधारणाद्
रसोद्बोधः, तत्रेतरद्वयमात्रेऽप्यम्, अतो नानैकान्तिकत्वम् ।

अनैकान्तिकत्वं व्यभिचारः ।

इस तरह जब यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों (विभाव अनुभाव और व्यभिचारी-
भाव) सम्मिलित रूप में ही किसी खास रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कही,
किसी असाधारण (जो किसी एक ही रस का सम्बन्धी हो सकता हो) विभाव, अनुभाव
अथवा व्यभिचारीभाव में से किसी एक से ही खास रस की अभिव्यक्ति होती है, तब वहाँ
जो एक वर्णित हो, उसके अतिरिक्त दो का उचित रूप से आशेष कर लेना चाहिये, अतः
सूत्र का विरोध वहाँ नहीं होगा । इस प्रसङ्ग में मम्मट ने उदाहरणार्थ निम्नलिखित तीन
श्लोक काव्य प्रकाश में उद्धृत किये हैं । (१) ‘वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेधम्’ इत्यादि ।
(२) ‘परिमृदितमृणालीम्लानमद्गम्’ इत्यादि । (३) ‘दूरादुत्सुकमागते विचलितम्’
इत्यादि । इन श्लोकों में क्रमशः प्रथम में केवल विभावों का, द्वितीय में केवल अनुभावों
का और तृतीय में केवल व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे विभाव,
अनुभाव और व्यभिचारी भाव असाधारण हैं अर्थात् केवल शृङ्गार रस में ही होने वाले हैं,
अतः यहाँ अनेक रसों के व्यञ्जक होने का संदेह नहीं हो सकता । तब बात रही यह कि
शृङ्गार भी एक एक से कैसे अभिव्यक्त होगा, जिसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है कि
वर्णित से अतिरिक्त दो का आशेष कर लिया जायगा ।

महत्त रसस्वरूपनिरूपणमुपसंहरति—

इत्थं च नानाजातीयामिः शेषुपीभिर्नानारूपतयाऽवसितोऽपि, मनीषिभिः

परमाज्ञादाविनाभावितया प्रतीयमानः, प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ।

इत्युक्तरीत्या, नानाजातीयाभिरनेकविधाभिः, श्रेयुषीभिर्जुष्टिभिः, मनीषिभिः काव्यश्रो-
विदैः, नानारूपतयाऽनेकप्रकारकत्वेन, अवसितो ज्ञातोऽवधारितो वापि, परमाज्ञादाविनाभावि-
तया लोकोत्तरानन्दव्याप्यत्वेन, प्रतीयमान आस्वादपदवीमवतरन्, रसः, अस्मिन् प्रपञ्चे
सन्दर्भे विश्वस्मिन् वा, रमणीयतामावहति सुषमाविशेषं नमस्करोत्कर्षं वाऽऽदधातीति निर्वि-
वादं निर्णीतमिन्यर्थः ।

शुभानां बुद्धिवैविष्येन रसस्य स्वरूपनिरूपणे प्रकारबाहुल्येऽपि विच्छित्तिविशेषापाय-
कत्वे न काचित्प्रतिस्तिरित्यभिप्रेत्यः ।

इस प्रकार विद्वज्जनो ने, यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियों के द्वारा रस को अनेक रूपों
में समझा है, तथापि इस बात में किसी तरह का विवाद नहीं है कि रस अलौकिक
आनन्द का व्याप्य पदार्थ है और वह संसार में एक सौन्दर्यमय वस्तु है ।

एवं रसस्य स्वरूपं निरूप्य प्रकारानाच्छे—

स च—

‘शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।

हास्यो भयानकश्चैव, बीभत्सयेति ते नव ॥’

इत्युक्तेर्नवधा ।

स रसः शृङ्गारादिभेदेन नवधा नवप्रकारक इत्यर्थः ।

अब रस के भेदों को बिसलाते हैं—‘न च’ इत्यादि । पूर्वोक्त रस हैं शृङ्गार, करुण,
शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और विभत्स ये नौ भेद हैं ।

नन्वेतदुक्तौ किं प्रमाणमित्याक्षयशायामभिदधाति—

मुनियचनं चात्र प्रमाणम् ।

अत्रास्यां रसनवविधायुक्तौ, मुनेर्महर्षिभरतस्य—‘शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-
भयानकाः । बीभत्सा-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ॥’ इति नाट्यशास्त्रोक्तं वचनं
च (चकारात्सहृदयानुभवः) प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

रस की इस सङ्ख्या में भरत मुनि का वचन ही प्रमाण है । अपने नाट्यशास्त्र में भरत
मुनि ने शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः । बीभत्सा-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः
स्मृताः ॥’ यह वचन कहा है ।

अथ नाट्ये शान्तरसस्याभावमाशङ्कते—

केचित्तु—

‘शान्तस्य शमसाध्यत्वाग्रटे च तदसम्भवात् ।

अग्रावैव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥’ इत्याहुः ।

नामानुपादानेन तुना चैतन्मतस्यारुचिप्रस्तता सूच्यते ।

शान्तस्य रसस्य, शमसाध्यत्वाच्छान्तिस्यापि स्मृतात्, नटे वास्तविकसहृदयताविधुरे
केवलशिक्षाभ्यासादिनाऽनुकरणपटीयसि, तस्य शमस्यासम्भवाच्च हेतोः, नाट्येऽग्निनेयकान्ये,
अथै शृङ्गारप्रभृतय एव रसा भवन्ति, तत्र नाट्ये शान्तो रसो न युज्यते (नटस्य शमा-
भावात्) इत्यर्थः । केचिदित्यस्य—इत्याहुरित्यनेन सम्बन्धः ।

शान्तरसस्यापिशमस्य नटेऽराहृदयेऽसम्भवाच्चाव्ये शान्तातिरिक्ता एवाथै रसा इति
पूर्वपक्षस्य सारम् ।

नाटक में शान्त-रस नहीं हो सकता इस परकीय शब्दा का स्वरूप दिखलाते हैं—
'केचित्' इत्यादि । नाटक में आठ ही रस होते हैं, शान्त नहीं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं
और वे अपने कथन में युक्ति यह देते हैं कि शान्त रस की सिद्धि शम (शान्ति) से
ही हो सकती है, जो (शान्ति) वैराग्य से सम्बन्ध रखता है और नट ठहरा सांसारिक
झमेलों में आसक्त जीव, अतः उसमें शान्ति की सम्भावना नहीं, फिर नाटक में शान्तरस
हो, तो, कैसे ?

समादधाति—

तच्चापरे न क्षमन्ते । तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः, नटे रसाभि-
व्यक्तेरस्यीकारात् । सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

इत्थमुच्यते—नटे शमासम्भवो न तु सामाजिके । नटे तु 'यत् कश्चित् रसं स्वदते
नट' इत्युक्तेनैव रसास्वादाभावः । सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकताऽपच्छेदक न तु नटत्वम् ।
यच्च कश्चित्तदस्यास्वादः, स तस्य काव्यार्थभावनया, सहृदयत्वेनैव 'काव्यार्थभावेनायमपि
सम्यग्पदास्पदम्' इति दर्पणात् । किञ्च—वक्ष्यमाणक्रमेण ध्वन्ये महाभारतादौ शान्तरसस्वी-
कृतौ न कस्यापि विमतिः । इत्येकाम्ये तु नटे वास्तविकशमाभावादभिनयासम्भवात्, केचित्
मन्यन्ते । परंतु तत्रापि 'अद्यावेव रसा नाव्ये-ष्विति केचिदचूचुदन् । तदच्चाह, यत्, 'कश्चित्
रसं स्वदते नट' ॥' इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्य, प्रबोधचन्द्रोदयाद्यभिनये रसं साक्षात्कृत्य च
तमूरीकुर्वन्ति । तस्य स्थायिनं केचन निवेदं मन्यन्ते । अपरे निवेदस्य निश्चयिपयात्मप्रत्य-
यात्मकस्यासमावमानरूपस्य वा, चमत्कारित्वाभावं व्यपदिश्य, सकलदुष्णानिर्वृत्तिजगत्यात्मप-
रिपूर्णत्वरूपविलक्षणानन्दलक्षणम्—'यच्च सप्त मुख लोके, यच्च दिव्य महत्सुखम् । दुष्णाक्षय-
सुखस्यैव नार्हत योऽशी कलाम् ।' इत्युक्तमहिमानं शममेव तथा व्याहरन्तीति दिक् ।

उक्त शब्दा का समाधान करते हैं—'तच्चापरे' इत्यादि । दूसरे लोग उक्त शब्दा-कारक
की बात को मानना नहीं चाहते । उनका कथन है कि नाटक में शान्तरस के त होने में
आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट में शान्ति की सम्भावना नहीं है', वह सगत नहीं,
क्योंकि हम लोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानते ही नहीं, फिर उसकी शान्ति अथवा
अशान्ति से हमें क्या लेना देना ? जहाँ हम रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सामाजिक
यदि शान्ति-युक्त होंगे, तब उनमें रसोद्बोध होगा ही, वहाँ उसके होने में तो किसी तरह
की बाधा है नहीं ।

नटे शमान्तीकारेऽनुपपत्तिः प्रकटय निरस्यति—

न च नटस्य शमाभावात् तदभिनयप्रकाशत्यानुपपत्तिरिति धाच्यम्, तस्य-
भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः ।

प्रथमेन तच्छब्देन शमस्य, मध्यमेन नटस्य, चरमेण च भयक्रोधादेः परामर्शः ।

यदि नटे शम स्यात्, तदा स तदभिनयं विधातुं समेत । न च तथा, तस्मादभिनय-
काव्ये शान्तरसो नोचित इति पूर्वपक्षे, यद्यपि नटे वास्तविक कोऽपि स्थायी न तिष्ठति,
तथापि शिक्षाभ्यासादिवलेन तदभिनयं सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्यनिरहेऽपि
तदभिनयानुष्ठानेनासङ्गतिः । अन्यथा नटे रौद्रस्याधिकोपस्य, भयानकस्याभिभयस्य
चासत्त्वात्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम् ।

यदि आप कहें कि शान्ति-विहीन नट शान्त-रस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर
सकता, तब हम आपसे कहेंगे कि नट, भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये
अभिनय करता है, यह तो आप भी मानते हैं, परन्तु आपके शान्तरस विषयक इस नूतन
चर्क के अनुसार वह भी असंगत हो जायगा, क्योंकि नट में जैसे वास्तविक शान्ति नहीं

रहती, उसी तरह वास्तविक भय और क्रोध भी नहीं रहते, अतः इस कारण से भयान्तरस के अभिनय करने का अधिकारी वह नहीं होता तो भयानक और रौद्र रस के अभिनय का अधिकारी ब होना भी उसके लिये उचित प्राप्त है।

इदमपूर्वपक्षं विधाय निराकरोति—

यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वालवतत्कार्याणां वधवन्धादीनामुत्पत्त्य-
सम्भवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित उत्पत्तौ नास्तिबाधकमिति नि-
रीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि नुत्यम् ।

नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि शत्रूणां वधवन्धप्रभृतीनि
नोत्पत्तुं सम्भवन्ति, किन्तु वास्तवक्रोधादीनां सत्त्वाद्वास्तवानि तत्कार्याणि गर्जनतर्जनादीनि
शिक्षाभ्यासादिवत्साद् बानकवैभुर्यात् कथं नोत्पद्येरन्निति दृष्टान्तदर्शान्तिरुपेक्ष्यमानोक्त्यते
चेत्, तर्हि नटेऽपि वास्तवशमाभावेन वास्तवशमाश्रयाणां सकलतृष्णाविरामादीनामुत्पत्तेर-
भावेऽपि, वलितशयकार्याणामक्षिन्मौलनादीनां शिक्षान्यासादिवलादुत्पत्तिबोधकभावात्
कथं न स्यादुभयेष्वप्यनिरादित्वाशयः ।

यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण क्रोधादिक ॥ वास्तविक
कार्य वध-वन्धन आदि के उत्पन्न न होने पर भी कृत्रिम (बनावटी) वध-वन्धन आदि
की शिक्षा और अभ्यास आदि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, तब हम कहेंगे
कि यहाँ भी वैसा ही समझिये अर्थात् वास्तविक शम के अभाव में वास्तविक शम-कार्य
शरीर में अनास्था आदि के न होने पर भी शिक्षादि से नट बनावटी शम के कार्यों को
दिलला सकता है ।

इतरशङ्कते—

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्, सामाजिकेऽपि विषयवैमु-
ख्यात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत् ।

गीतवाद्यादयो हि विशेषेण भ्रौतुर्मनः सिन्वन्तीति विषया मनोविशेषकृतः, तेषां
शमविरोधिना नाट्ये प्राचुर्येण सत्त्वाद् विषयैभ्यो वैमुख्यमात्मास्वरूपं यस्य, तादृशस्य
विषयविशेषत्वभावस्य शान्तरसस्य, सहृदयेऽपि (किमुत नटे) कथम्, उद्रेक आविर्भावो
भवेत् ? तस्मात् नाट्ये शान्तो रस इति पूर्वपक्षमिष्यते ।

एक शङ्का आप यह उपस्थित कर सकते हैं कि नाटक में शान्त रस के विरोधी गीत,
बास आदि वस्तुओं के विद्यमान रहने पर सामाजिकों में भी शान्तरस का उदय कैसे होगा ?
क्योंकि विषयों से विमुख होना ही शान्त रस का स्वरूप है ।

उत्तरयति—

नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात् वद्वीतवाद्यादेस्तस्मिन् विरोधि-
ताया अकल्पनात् ।

ये नाट्येऽपि शान्तं रसं स्वीकुर्वन्ति, ते देवनिषकमाने विषयवैमुख्यसत्त्वावेऽपि, तद्भावा-
नुकूलस्य गीतवाद्यादेर्यथा फलानुरोधेन विरोधिता न मन्यन्ते, तयाऽप्यपीत्युत्तरपक्षशयः ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि शान्तरस-प्रधान नाटक के वर्णन से सहृदय सामाजिकों में
शान्त रस का उदय होते देखते हैं, अतः नाटक में शान्त रस को स्वीकार करने वाले उन
गीत-वाद्यादिकों को शान्त रस के विरोधी नहीं मानेंगे, क्योंकि फल के अनुसार ही कारण
को कल्पना की जाती है ।

उत्तरपक्षं समर्पयन्नुक्तव्यवस्थातिक्रमे दोषमाह—

विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे, तदीयालम्बनस्य संसारा-

नित्यत्वस्य, तदुद्दीपनस्य पुराणप्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः ।

तत्र शान्तरसे । पुण्यवनानि वृन्दावन-नैमिषारण्यप्रभृतीनि । तीर्थानि कारयादीनि ।

विषयचिन्तासामान्यमेव शान्तरसविरोधीति गीतवाद्याद्यनुकूलविषयसम्बन्धेऽपि, न नाट्ये शान्तरस इत्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत एवमङ्गीकारे शान्तरसालम्बनोद्दीपनयोरपि विषयत्वाच्छब्दव्यकाशेऽपि तदसत्त्वमापद्येत, तस्मादनुकूलानां विषयाणां विरोधित्वं न कल्पनीयमित्यभिप्रायः ।

दूसरी बात यह कि विषय-चिन्तन-भाव को यदि शान्त रस के विरोधी मान लिया जाय, तब शान्त रस का आलम्बन-संसार का अनिवार्य होना एवम् उसके उद्दीपन-पुराणों का सुप्ता, सत्सङ्ग, पुविग्रवन और तीर्थों के दर्शन आदि भी विषय ही हैं, अतः वे सब भी शान्त रस के विरोधी हो जायेंगे । इसलिये जिनमें शान्त रस के अनुकूल वर्णन हो, वे भजन-कीर्तन आदि उसके विरोधी नहीं हैं, अपितु उसके अभिव्यञ्जक ही हैं, ऐसा मानना चाहिए ।

उक्तार्थे प्राचीनसम्प्रति दर्शयन् निगमयति—

अत एव च चरमाध्याये सङ्गीतरत्नाकरे—

‘अष्टावेव रसा नाट्ये-प्यिति केचिदभूचुदन् ।

तदचारु, यतः कश्चिन्न रसं स्यदते नटः ॥’

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् ।

अत एवेत्यस्य व्यवस्थापितमित्यत्र सम्बन्धः । सङ्गीतरत्नाकरनाम्ना प्राचीनसङ्गीतविद्या-प्रबन्धः । अचूचुदन् व्याहृत्य । अचारु सङ्गतिशून्यतयाऽमुन्दरम् । यत इत्यादिना तद्देव-पत्न्यासः । कश्चित् कश्चिदपि । स्वदत्त इत्यन्तर्भावितण्यर्थत्वादात्वादयतीत्यर्थकम् । अन्यथाऽ-र्थासङ्गतिर्नटपदाच्चतुर्ध्यां दुर्निवारत्वं च स्यात् ।

यथा नटे नानास्वादितानामपि रसान्तराणां नाट्ये सत्त्वं स्वीक्रियते, तमेव शान्तस्यापि स्वीकरणीयम्, वैषम्ये धोजानुपलम्भादित्याकृतम् ।

वक्तुं अर्थ में प्राचीनों की सम्प्रति दिखलाते हैं—‘अत एव च’ इत्यादि । जिसलिये वे गीत-वाद्य, शान्त रस के विरोधी नहीं हैं और नाटक में भी शान्त रस का होना उचित है, इसी लिये ‘सङ्गीतरत्नाकर’ के अन्तिम अध्याय में ‘अष्टावेव रसानाट्ये इत्यादि’ अर्थात् नाटकों में आठ ही रस होते हैं’ ऐसा कुछ लोग कहे हैं, परन्तु उनका वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता-इत्यादि ठीक के द्वारा-नाटकों में भी शान्त रस होता है यह सिद्ध किया है ।

नाट्ये शान्तरसामानाभ्युपगमेऽन्यन्यत्र तत्सत्त्वस्वीकृतिरावश्यकीत्याह—

यैरपि नाट्ये शान्तो रसोनास्तीत्यभ्युपगम्यते, तैरपि बाधकाभायान्महाभार-तादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकाभुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽ-वश्य स्वीकार्यः ।

नाट्ये शान्तरसामाना भदन्तोऽपि बाधकानुपलम्भाद् महाभारतप्रभृतिप्रबन्धेषु शान्त-रसप्रधान्यस्य सकलसदृशानुभवसिद्धतयाऽनपलपनीयत्वेन शान्तरसस्य नाट्येतरकाव्ये सप्ता-मवश्य स्वीकृत्युरित्येतत्वाऽपि शान्तरससत्ता, रसानां नवता च सिध्यत्येवेत्यभिप्रायः ।

नाटकों में शान्त रस को न मानने पर भी काव्य में उसका मानना आवश्यक है इसी बात का उल्लेख करते हैं—‘यैरपि’ इत्यादि । आशय यह है कि जो लोग नाटकों में शान्त रस नहीं मानते हैं उन्हें भी काव्यों में उसको (शान्त रस को) अवश्य मानना

चाहिए क्योंकि उनके हिसाब से भी यहाँ उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महामारत आदि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है।

पुनः शान्तरससत्तामेव समर्थयन् सन्दर्भमुपसंहरति—

अत एव 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य, 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इति सम्मतमद्वैतं अप्युपसमहार्युः।

अत एव काव्ये शान्तरससत्त्वादेव। उपक्रम्य प्रारम्भः। उपसमहार्युः समाप्तिमुदाहृत्य।

अव्यक्तव्येऽपि शान्तरसान्नीकारे 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इत्युपसंहारोक्तिर्मम्मद-भट्टानां शान्तरसस्यं, तत्त्वमत्त्वस्य नाम्नावज्ञं सङ्गच्छेत, यस्मात् काव्ये शान्तरससत्ता निर्विवादैवेति सारम्।

इसीलिये सम्मत मद् में ही 'नाटकों में आठ रस होते हैं' इस तरह से आश्रय करके 'शान्त नामक एक नवम रस भी है' इस रूप में उपसंहार किया है। अर्थात् काव्यों में शान्त रस का होना सम्मत मद् के सतानुसार भी सिद्ध है। अतः रसों की कुछ संख्या नौ है, यह निस्सन्देह बात है।

एवं रसान् परिगणय्य, तेषामास्वादे भेदाभावाच्चित्तोऽभेदे प्रसक्ते, स्थायिभेदेन भेदं दिव्यभिषुः स्थायिभावान् नमेण परिगणयति—

अमीषां च—

रतिः शोकश्च निर्वेद-क्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।

हासो भयं क्षुण्णता च, स्थायिभावाः क्रमादमी ॥

अमीषां शब्दारादिरसानाम्। क्रमात् शब्दारास्य रतिः, करुणस्य शोकः, शान्तस्य निर्वेदः, रौद्रस्य क्रोधः, वीरस्योत्साहः, अद्भुतस्य विस्मयः, भयानकस्य भयम्, बीमत्स्य च क्षुण्णता स्थायिभावः। एतेषां स्वरूपमग्रे स्फुटीभविष्यति।

अब इन रसों के स्थायीभावों के नाम गिनते हैं—'अमीषां च' इत्यादि। उक्त रसों के क्रमशः रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय और क्षुण्णता (यि) स्थायीभाव होते हैं। अर्थात् शब्दारा का रति, करुण का शोक, शान्त का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीमत्स का क्षुण्णता स्थायीभाव होता है।

अथ प्राणुत्तमतभेदेन रसानां स्थायिभ्यो भेदं दर्शयति—

रसेभ्यः स्थायिभावानां घटादेर्घटाश्वच्छिन्नाकारादिव प्रथम-द्वितीयमतयोः, सत्परजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः।

अभिनवगुप्त-भट्टनायकमतयो रत्याश्वच्छिन्नचैतन्यस्य रसत्वाश्रीकारात् तयोरवच्छेद्या-वच्छेदभावरूपो भेदः। तृतीये नव्यमते प्रातिभासिकरस्यादेरसत्वाश्रीकारात् तयोः सादस्यात्मा-भेदः। चतुर्थे परकीयमते रस्यादिविषयज्ञानस्य रसत्वाश्रीकारात् विषयविषयिभावरूपो भेदो बोध्य इत्यर्थः।

प्रथमपद्धमतयोस्तु रस-स्थायिनोरभेदः। सामादिषु तु मतेषु स्थायिनोऽनुपादानमेवेति मतचतुष्टय एव भेदो वर्णितः।

रसों और स्थायीभावों में क्या भेद होता है इसी बात का विवेचन मतभेद से करते हैं—'रसेभ्यः' इत्यादि। अभिनव गुप्त और भट्टनायक के मतों (जो इस ग्रन्थ में प्रथम

और द्वितीय है) के अनुसार रस और स्थायीभाव में परस्पर जैसा ही भेद है, जैसा घट और उसके अन्तर्गत आकाश में है। अर्थात् जैसे व्यापक आकाश घटरूप उपाधि के अन्दर बिर कर छोटा सा हो जाता है, उसी तरह व्यापक चैतन्य रति आदि स्थायीभाव रूप उपाधि से प्रस्त होकर केन्द्रित सा हो जाता है। तृतीय नव्य मत के अनुसार रस और स्थायीभाव में वैसा भेद है, जैसा सत्य-चाँदी और काष्णिक चाँदी में है अर्थात् रस काष्णिक चाँदी सा है और स्थायीभाव सत्य चाँदी सा। चतुर्थ परकीय मत के हिसाब से उन दोनों में उस तरह का भेद है, जिस तरह का भेद ज्ञान और उसके विषय में होता है अर्थात् रस ज्ञानरूप है और स्थायीभाव विषयरूप।

ननु रत्यादीनां पारमार्थिकस्थिरत्वाभावात् कथं स्यायित्वमित्यत आचष्टे—

तत्र आ प्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्यायित्वम् ।

रत्यादीनां वस्तुतः कूटस्थत्वविरहेऽपि, तत्र कल्पेण, अप्रबन्धं प्रबन्धमभिव्याप्य, स्थिरत्वात् स्यायित्वमित्यर्थः ।

रस्यादयो हि कूटस्थतया न स्यायिनः, किन्तु व्यभिचार्यपेक्षया नियमेन प्रबन्धव्यापक-स्थितिशालिन्नादिति सारांशः ।

ये पूर्वोक्त भाव सब स्थायी क्यों कहलाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—‘तत्र’ इत्यादि । ये भाव कूटस्थ नित्य नहीं हैं, वरन् जैसे व्यभिचारीभाव किसी भी सम्पूर्ण प्रबन्ध में अनेक बार जाते, जाते और बदलते रहते हैं, उस तरह ये भाव बदलते नहीं अर्थात् प्रबन्ध समाप्ति पर्यन्त बने रहते हैं, अत एव स्थायी कहलाते हैं ।

पुनश्चाहते—

न च चित्तवृत्तिविशेषरूपाणामेवामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम्, वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिप्रतिप्रसक्तमिति वाच्यम् ।

एषा रत्यादीनाम् । अतिप्रसक्तमभिव्याप्यम् ।

चित्तस्यातिचपलत्वात् तद्वृत्तीनां क्षणमहुरतया बह्यमाणरीत्या तदेकरूपाणां रत्यादीनां स्थिरत्वं न सम्भवति । न च तेषां क्षणिकत्वेऽपि तद्वासनाख्यसंस्काराणामक्षणिकत्वात् तद्रूपाणामेव तेषां स्थिरत्वं सम्भवति, एवं सति, व्यभिचारिवासनाया अप्यक्षणिकत्वाद् व्यभिचारिणामपि स्यायित्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षः ।

यदि आप कहें कि ये रति आदि भाव तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अत एव चणभर के बाद नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इसलिये सम्पूर्ण प्रबन्ध में इनका स्थिर रहना असम्भव है, फिर ये (भाव) स्थायी कैसे कहला सकते हैं ? और वासना (संस्कार) रूप से इनको स्थिर मानने पर व्यभिचारी भाव भी स्थायी कहलाने लगेंगे, क्योंकि वासनारूप से ये भी अन्तःकरण में सदा वर्तमान रहते हैं ।

समादधाति—

वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् । व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युद्योतप्रायत्वात् ।

अमीषां रत्यादीनाम् । मुहुर्मुहुरभिव्यक्ते पुनःपुनःप्रतीते । विद्युद्योतप्रायत्वात् कदाचित्त्वत्वात् ।

नैस्तर्पणं भूयो भूयो वा प्रतीयमानत्वमेवात्र स्थिरत्वम् । तच्च स्यायिनमेव, न तु व्यभिचारिणाम्, विद्युत्प्रकाश इव कदाचिदेव तेषां प्रतीतिरिति प्रतिदत्त्वादित्युत्तरम् ।

उक्त शब्दों का उत्तर यह है कि वासनारूप रति आदि भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति ही यहाँ स्थिरता विवक्षित है अर्थात् रति आदि भाव समग्र प्रबन्ध में बार बार प्रतीत होते

है यही उनकी स्थापिता है व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति तो बिजली की तरह चुन-
भट्टर होती है अर्थात् जिस तरह बिजली कभी कभी ही घमकती है बराबर नहीं, उसी
तरह ग्रन्थ भर में दो चार बार भले ही किसी व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो जाय,
परन्तु नियमतः सम्पूर्ण ग्रन्थ में उसकी प्रतीति नहीं होती अतः ये स्थिर नहीं कहला सकते ।

उत्तार्य प्रमाणयति—

यदाहुः—

‘विरुद्धैरविरुद्धैर्वा, भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभावं नयत्याहुः, स स्थायी लवणाकरः ॥

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।

रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

चिरमिति व्यभिचारिवारणाय । अनुबन्धिभिर्विभावाच्चैः ।

तथा—

‘सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।

यावद्रसं वर्तमानः, स्थायिभाव उदाहृतः ॥’ इति ।

अनुबन्धिभिः सम्बन्धिभिर्विभावादिभिः । लवणाकरः क्षारसमुद्रसदृशः ।

यथा क्षारसमुद्रः स्वादिष्टैरस्वादिष्टैर्वा नदीपूरैर्मिश्रितोऽपि स्वभावं न जहाति, किन्तु तावेष
स्वभावं प्रापयति, तथैव यो भावः प्रतिकूलैरनुकूलैर्वा विभावादिभिर्मिश्रितोऽपि स्वभावं न
जहाति (विच्छेदं न प्राप्नोति), अपितु तान् भावानेव स्वभावं प्रापयति, स स्थायी भाव
इति प्रथमकारिकायाम् ।

ये (वासनारूपेण) चिरं (ननु व्यभिचारित्वं कदाचिदेव) चित्ते तिष्ठन्ति, तथाऽनु-
बन्धिभिर्विभावादिभिः सम्मिलिता भवन्ति, किञ्च रसत्वं प्राप्नुवन्ति, तेऽत्र कव्ये स्थानियो
भावाः प्रसिद्धा भवन्तीति द्वितीयकारिकायाम् ।

सदृशैरसदृशैर्वा भावैर्यस्य स्वरूपपरिवर्तनं न भवति, तथा यः स्रक्स्प्रन्यायेन रस-
सत्तामभिधाय्य तिष्ठति स कव्ये स्थायीभावः कथितो भवतीति तृतीयकारिकायाम् । तदेवोक्त-
मन्यत्रापि—विरुद्धा ‘अविच्छेदा वा, यं तिरोपातुमशक्ता’ । आत्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ, भावः
स्थायीति सञ्ज्ञितः ।’ इति । विरुद्धत्वं तु तत्र केचिद्विद्वद् व्यभिचारिभावानां बोध्यम् ।

उक्त अर्थ को प्राचीनों की सम्मति दिखलाकर प्रमाणित करते हैं—‘यदाहुः’ इत्यादि ।
प्राचीनों ने भी उक्त अर्थ को अपनी अपनी सम्मति देकर प्रमाणित किया है । उन लोगों ने
लिखा है कि स्थायीभाव उसको कहते हैं, जो विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिन्न
नहीं होता, परन्तु विरोधीभावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, और
क्षारसमुद्र के समान है अर्थात् जिस तरह क्षार समुद्र में जाकर सब वस्तुएँ क्षार हो जाती
हैं, उसी तरह जिससे मिलकर सब सद्रूप हो जाते हैं । जो भाव बहुत काल तक चित्त में
वासना रूप से रहते हैं, विभावादिकों के साथ सम्बद्ध होते हैं और अन्त में रसरूप बन
जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य में) स्थायीभाव नाम से प्रसिद्ध हैं । तथा—जिस भाव का
स्वरूप, सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत अर्थात् परिवर्तित न हो सके,
और जो जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक वर्तमान रहे, उसीको स्थायीभाव कहते हैं ।

स्थायिलक्षणे मतान्तरमुपन्यस्य निरस्यति—

केचित्तु रत्यादन्यतमत्वं स्थायित्वमाहुः, तत्र, रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररुद्धे-
ऽन्यस्याप्ररुद्धस्य व्यभिचारित्वोपगमात् ।

यतो रत्यादयः स्वरूपेणैव न स्थायिभावाः, किन्तु प्ररोहेण, अप्ररोहे तु तेऽपि प्ररुद्धस्य

भावान्तरस्य वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारिभावा एव भवन्तीत्यस्या स्थितौ, रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमिति लक्षणस्य, नाममात्रेण स्थायिपु, प्ररोहामावात् व्यभिचारितामापक्षेषु रत्यादिध्वेवातिव्याप्तिः । तस्मादेतल्लक्षणमसङ्गतमिति भावः । यदि च तदतिव्याप्तिवारणाय रत्यादिषु प्ररुद्धत्वं निवेश्येत, तथापि तत्तद्विभक्तित्वस्यान्यतमत्वादनुयोगि-प्रतियोगि-त्वाभ्यां जगत् प्रवेशेन गौरवमापतेत् । तत्तद्विभक्तित्वप्रतियोगिकभाववत्त्वमेवान्यतमत्वमित्यङ्गी-कारे न गौरवमिति विभावनीयम् ।

स्थायीभाव के लक्षण के विषय में परमत का उत्थान कर उसका खण्डन करते हैं— 'केचित्' इत्यादि । कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त रति आदि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायीभाव कहलाने के लिये पर्याप्त परिचय है । परन्तु वह परिचय पर्याप्त हो नहीं सकता, क्योंकि वे रति आदि भाव तत्तज्ज्ञानधारी होने पर भी जहाँ अप्ररुद्ध अर्थात् दबे हुए रहते हैं, वहाँ उन्हीं रति आदि भावों में से जो प्ररुद्ध अर्थात् समृद्ध रहता है उसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । इस स्थिति में यदि रति आदि नामधारी होने से वे भाव स्थायी भी कहलाने लगे, खब सो, वहाँ भी वे स्थायी कहलाने लगे जहाँ अप्ररुद्ध होने के कारण वस्तुतः वे व्यभिचारी हो गये हैं । अतः उक्त परिचय-पत्र (लक्षण) ठीक नहीं । इसके अतिरिक्त उस लक्षण में अन्यतमत्व का प्रवेश कराया गया है और अन्यतमत्व पदार्थ तत्तद्विभक्त-कूट-प्रतियोगिकभाववत्त्व रूप है, जिसमें अनेक नवर्थ सन्निविष्ट हैं, अतः उक्त लक्षण गौरव-प्रस्त होने के कारण भी अग्राह्य-कोटि में जा पड़ता है, यह समझना चाहिए ।

प्रसङ्गाद् भावानां प्ररोहप्ररोहौ निरूपयति—

प्ररुद्धत्वाप्ररुद्धत्वे अल्पविभावजत्वे ।

बहुविभावजन्यत्वं प्ररुद्धत्वम्, अल्पविभावजन्यत्व त्वप्ररुद्धत्वमित्यर्थः ।

ऊपर के ग्रन्थ में आये हुए 'प्ररुद्ध' और 'अप्ररुद्ध' शब्द की व्याख्या करते हैं—'प्ररुद्ध' इत्यादि । अर्थात् बहुत विभावों से जिसकी उत्पत्ति हो वह प्ररुद्ध और थोड़े विभावों से जिसकी उत्पत्ति हुई हो, वह अप्ररुद्ध कहलाता है ।

तत्र दार्ढ्याय प्राचीनसम्मतिं चरयति—

तदुक्तं रत्नाकरे—

‘रत्यादयः स्थायिभावाः, स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।

स्तोकैर्विभावैरुत्पन्ना-स्त एव व्यभिचारिणः ॥’ इति ।

भूयिष्ठं विपुलं स्तोकं चाल्पम् । विभावपदमनुभाव-व्यभिचारिभावयोरप्युपलक्षकम् । अत्रैव सङ्गीतरत्नाकरोपात्त-विभावपदोत्तरबहुवचनस्वरसः । भूयिष्ठैर्विभावादिभिर्जनितः । कारण-गुणा कार्यगुणानारभन्ते’ इत्युत्तेर्बलवत्तमा रत्यादयः स्थायिभावाः, अल्पैर्विभावादिभिर्जनि-तास्तु दुर्बला व्यभिचारिणो भवन्तीत्यर्थः ।

प्ररुद्ध और अप्ररुद्ध पद की स्वकृत व्याख्या को प्राचीनों के उद्धरण देकर समाजित करते हैं—‘तदुक्त रत्नाकरे’ इत्यादि । रत्नाकरकार ने भी उक्त व्याख्या के अनुकूल भाव व्यक्त किये हैं । उन्होंने लिखा है कि प्रसूत विमादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही अल्प विभाव आदि से उत्पन्न होकर व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।

द्वन्द्वों करय स्थायिनः कुत्र रसे व्यभिचारित्वमग्निनाभावित्वं च भवतीत्याख्याति—

एवं च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हामः, व्यभिचारी भवति नान्तरीयकश्च ।

अप्यपद्यकारो भिन्नकमः सत्त्वानुपेयान् ।

एकनावप्ररोहेऽपरभावप्ररोहान्मुपगमादुत्साहप्ररोहेण वीररसे प्रधाने, रौद्रस्याप्यपि दोषोऽप्ररुद्धेन व्यभिचारी, क्रोधं विना वीररसपरिपोषासम्भवादत्यावश्यकतया नान्तरीय-
कश्च भवति, रौद्ररसे प्रधाने वीरस्याप्युत्साहः, शृङ्गाररसे प्रधाने हास्यस्यापि हासश्च व्यभिचारी नान्तरीयकश्च भवतीत्यर्थः । एवमेकस्मैपैकत्र स्यायितायाः परत्र व्यभिचारितायाश्च प्ररोहाप्ररोहान्या दर्शनाद् रत्याद्यन्यतमास्यं स्यादित्युक्तं न सङ्गतमिति भावः ।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह और शृङ्गार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी हो जाते हैं और इनका वहाँ रहना आवश्यक भी है अर्थात् क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र और हास के बिना शृङ्गार रस हो भी नहीं सकते, क्योंकि ये ही उन रसों के पोषक हैं ।

विशेषमाह—

यदा तु प्रधानपरिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते, तदा तु रसालङ्कार इत्यादि बोध्यम् ।

यदा पुनः प्रधानस्य मुख्यस्य, रसस्य परिपोषार्थं सोऽङ्गभूतो भानोपि, बहुविभावजो रसत्वसम्पादकविभावादिसामग्रीसंवल्लिः क्रियते, तदा सामग्रीसमवयवानाद् रसत्वनापन्नस्य तस्य प्रधानोभूतरसाङ्गत्वाद् रसालङ्कारो रसवद्भङ्गारो भवतीत्यर्थः । तदुक्तं प्यनिकारेण—

‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गान्तु रसादयः ।

अन्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति ये मतिः ॥’ इति ।

अन्यत्र तु रतेरन्योन्यनिष्ठत्वे शृङ्गारस्यादित्वम्, अपरिपोषे देवादिविषयकत्वे वा भावत्वम्, उपपत्तिविषयकत्वादौ च भावाभासत्वम् । तथाहि—‘रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तयाऽङ्गितः । भावः प्रोक्तः’ इति प्रकाशे । ‘रत्यादिष्वेतिरक्तः स्याद् देवादिविषयोऽप्यत्र । अन्याङ्गभावभाग् वा स्यात् तदा स्यादिसादभाक् ॥’ इति प्रदीपे । ‘उपनायकमस्यायां, मुनिपुरुषपत्नीगतायां च । बहुनायकविषयायां, रतौ तयानुभयनिष्ठायाम् । प्रतिनायकनिष्ठत्वे, तद्वधमपात्रतिर्यग्गदिगते शृङ्गारेऽनौचित्यम्’ इति दर्पणे च ।

कवित् पुनः—नायकमिधुनान्योन्यविषयिका रतिः शृङ्गाररसस्यायिभावः, देवादिविषय-
विषयिका च भ्रष्टान्तररसस्यायिभावः, पुत्राद्यनुकम्पनीयविषयिका च यासत्स्यं वरसलर-
सस्यायिभावः, प्रत्यपाद्यत ।

जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस अङ्गभूत क्रोध आदि को भी बहु-विभाव-
जन्य बना देते हैं, तब वे व्यभिचारी भाव न कहलाकर ‘रसवद्’ अलंकार कहलाते हैं—
इत्यादि समझना चाहिये ।

अथ स्यायिमात्रां कमेण लक्षणञ्चादौ शृङ्गाररसस्यायिरिति लक्षयति—

तत्र—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्यायिमात्रः ।

गुरु-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।

तत्र तेषां स्यायिभावानां मध्ये, नायिकानिष्ठो नायकविषयकः, नायकनिष्ठो नायिकाविषय-
कश्च प्रेमाख्यः प्रीत्यपरपर्यायश्चित्तवृत्तिविशेषः ‘रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्’
इत्युक्तस्वरूपो मनसः उत्कथ्यवेश एव ‘सर्वं वाक्यं रावधारणम्’ इतिदर्शनाद् रतिः शृङ्गाररसस्य
स्यायिभावो भवति विपुलविभावादिजन्यत्वादित्यर्थः ।

अथ स्यायिभावों के लक्षण करने के क्रम में सर्व प्रथम रति का लक्षण करते हैं—‘लो

पुंसयो' इत्यादि । स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उसको रति संज्ञक स्थायीभाव कहते हैं । वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारीभाव कहलाता है ।

द्वितीयं करुणरसस्याभिभावं शोक उक्त्यति—

पुत्रादिविषोग-मरणादिजन्मावैकलव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।

पुत्रादीनां पुत्रप्रभृत्यभीष्टसम्यन्धिना वियोगान्मरणादेश्च जन्मोत्पत्तिर्भस्य, तादृशो वैकलव्याख्योऽवसादलक्षण 'इष्टनाशादिभिद्येतो वैकलव्यं शोकशब्दभाक्' इत्यन्यत्रोक्तस्वरूप-क्षित्तवृत्तिविशेषो यदुविभावज शोक' करुणरसस्य स्याभिभावो भवतीत्यर्थः ।

अन्ये तु—'इष्ट नाशादिनिघाते करुणाख्यो रसो भवेत्' इत्यादिदर्शनादिष्टनाशवदनिघाते-रपि वैकलव्यजनकत्वम्, मनुष्याणामिव मनुष्येतराभीष्टप्राणिनाम्, प्राणीतराभीष्टवस्तूना च विनाशाद्, अनिष्टानां प्राणिनामप्राणिनामप्यापतनाचोत्पन्न चित्तावसादं शोक करुणरसस्या-चिन्म व्याहरन्ति ।

शोक का लक्षण करते हैं—'पुत्रादि' इत्यादि । पुत्र-प्रभृति इष्ट जनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्त-वृत्ति होती है उसको शोक कहते हैं । यहाँ एक बात और समझने योग्य है । 'इष्टनाशादिनिघाते' करुणाख्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण नामक रस होता है । इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कतिपय विद्वानों का मत है कि जैसे इष्ट के विनाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसी तरह अनिष्ट की प्राप्ति से भी, साथ साथ उस इष्ट अथवा अभिष्ट का मनुष्य होना ही आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य भी हो सकता है, मनुष्य से भिन्न प्राणी भी हो सकता है और प्राणी से भी भिन्न कोई अचेतन वस्तु हो सकती है, इस तरह से पर्यवसित यह हुआ कि किसी भी वस्तु पदार्थ के नाश से अथवा किसी भी अभिष्ट पदार्थ की प्राप्ति से जो व्याकुलता होती है, वह शोक और करुण रस का स्थायी भाव भी है । इस मत के अनुसार प्रिय कुत्ता का मरण, प्रिय भँगूरी का कहीं खो जाना तथा छिप गये कर्ज के रुपये मागने के लिये आया हुआ प्यादा आदि को भी आधार बनाकर करुण रस प्रधान काव्य की सृष्टि की जा सकती है ।

ननु लक्षणपटक्पुत्रादिपरन्याथापि ग्रहणात् तद्वियोगेऽपि शोकस्याङ्गीकाराद् विरहहेतुको विप्रलम्भश्चरितो निविषय स्यादित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैकलव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः, वैकलव्यं तु सञ्चारिमात्रम् ।

स्त्रीपुंसयो जीव पुमांश्च तयो, वियोगे विभिन्नस्थानवासे, एकत्रापि दर्शनाद्ययोगे, जीवितत्वज्ञानदशायां मम प्रणयिजनो जीविति न तु मृत इति ज्ञानस्य स्थितौ, वैकल्येन पोषितायाः शृङ्गारस्यागिरतेरेव प्राधान्यादेतो, विप्रलम्भाख्यो विरहहेतुकविप्रलम्भनामा शृङ्गारः (न तु करुण) रसः, करुणस्यापिचित्तवैकल्यस्याप्राधान्यादित्यर्थः ।

स्त्री पुरुष के परस्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक तो अवश्य है, परन्तु वह शोक करुण रस का स्थायीभाव सभी हो सकता है यदि वह प्रेमपात्र के मरण-ज्ञान के साथ हो, अन्यथा अर्थात् 'प्रेम-पात्र कहीं जीता है' ऐसे ज्ञान के रहने पर वह शोक स्थायीभाव नहीं, बरन् व्यभिचारीभाव मात्र होता है, क्योंकि उस अवस्था में शोक से पुष्ट की गई रति की ही प्रधानता रहती है, अतः यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही होता है ।

करुणरसस्य विषयमभिदधाति—

मृतत्वज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्य वैकलव्यस्येति करुण एव ।

प्रणयिजनमरणज्ञाने जाते तु, रतिरूपालम्बनस्य विच्छेदाद् दीर्घकालेनाज्ञभूतया रत्या पोषितस्य करुणस्यायिनो मनोवैकल्यस्यैव प्राधान्यात् करुण एव रसो न तु शृङ्गार इत्यर्थः।

प्रेम-पाश के मरण ज्ञान के रहने पर स्त्री पुरुष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है और रति होती है उस को पुष्ट करने वाली, अतः उस स्थिति में करुण रस ही होगा। यह बात में पहले भी लिख चुका हूँ।

तत्रैव विशेषमाह—

यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथञ्चित् स्यात्, तदा लम्बनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, न स करुणः।

मरणज्ञानेऽपि यदि देवताप्रसादिना केनापि कारणेन, पुनरुज्जीवनज्ञानं भवेत्, तर्हि चिरप्रवासे दीर्घतमकालव्यापिनि परदेशवास इवात्राप्यालम्बनस्य प्रणयिजनस्यात्यन्तविच्छे-
दभावाद् रतेरेव प्राधान्यात् विप्रलम्भ एव रस इत्यर्थः।

प्रेम-पाश के मर जाने का ज्ञान होने पर भी जब देवता की प्रसन्नता आदि से किसी तरह, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान रहेगा, तब आलम्बन (प्रेम-पाश) के सर्वदा के लिये वितट न हो जाने के कारण चिरकालिक परदेश-वास की तरह 'विप्रलम्भ' ही होता है, करुण नहीं।

सं विप्रलम्भमुदाहरति—

यथा-चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतायाक्येषु।

महाश्वेतायाः पुण्डरीकमरणज्ञानेऽपि, गगनचारिपचनाद् पुनरुज्जीवनज्ञानस्य जनना-
लालम्बनात्यन्तिकविच्छेदाभावाद् यथा कादम्बरी प्रवन्धे महाश्वेतौकिषु विप्रलम्भशृङ्गार एव
रसस्तथात्रापीत्यभिप्रायः।

इसा विप्रलम्भ का उदाहरण दिसलाते हैं—'यथा' इत्यादि। कादम्बरी-प्रवन्ध में चन्द्रापीड के प्रति महाश्वेता ने जो वाक्य कहे हैं, उसमें इसी तरह का 'विप्रलम्भ' अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि पुण्डरीक की मृत्यु की बात को जानती हुई भी महाश्वेता आकाशबाणी के द्वारा उसके पुनः जीवित होने की बात जान चुकी थी।

इह भवान्तरमुपन्यस्यति—

केचित्तु—रसान्तरमेवात्र करुण-विप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति।

अत्र पुनरुज्जीवनज्ञानस्यले। तदुक्तं दर्पणे—

'यूनेरेकतरस्मिन्, गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।

विमनायते यदैक-स्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥' इति।

पूर्वोक्तरीत्या विप्रलम्भमात्रस्वीकारेणैव निर्वाहे, करुणविप्रलम्भरूपरसान्तरस्वीकारो व्यर्थ इत्यद्यपि केचित्चित्त्यनेन सूच्यते।

परे तु—चिरप्रवासे निरलेपे सत्यप्यालम्बनबंधाभावाद् रतेरविच्छिन्नतया प्राधान्येन, वैकल्यस्य यथाकादाचित्कत्वेनाल्पविभावजत्वाद् सवार्तिताम्, तथा मरण-पुनरुज्जीवन-
योर्ज्ञाने न सम्भवति, तत्रालम्बनबंधस्य कालिद्यव्याप्यवृत्तित्वेऽपि वास्तविकत्वेन इति-
सोतसः पूर्वपेक्षया किञ्चित्हीनप्रायत्वेन, वैकल्यस्य चेपदायिज्येन, करुणरसेन पोषितस्य
विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य करुणविप्रलम्भाख्यप्रकारस्य स्वीकारेऽपि न गौरवम्, नवा रसान्तर-
लमिन्युदाहरन्ति।

कुछ लोगों को इच्छा है कि जहाँ प्रेम-पाश के मरणोपर काल में किसी कारण वश पुनः

उस के जोवित हो जाने की आशा है-विश्वास है, वहाँ न 'कहण रस' का होना उचित है, न 'विप्रलम्भ भट्टार रस' का, अतः वहाँ 'कहण-विप्रलम्भ' नामक एक तृतीय रस मानना चाहिए ।

तृतीय शान्तरस्यायिभावं निर्वेदं लक्षयति—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः ।

नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्ग्राह्यगतो विचारद्विवेकजन्यः यस्य तादृशः, विषयेभ्योऽनित्य-
वस्तुभ्यो विरागाख्यो विवृणोभावरूपवित्तवृत्तिविशेषो निर्वेद इति सूत्रार्थः ।

अब निर्वेद का लक्षण करते हैं—'नित्यानित्य' इत्यादि । वेदान्त आदि के द्वारा नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (ससार) वस्तुओं के विचार करने से जिसकी उत्पत्ति होती है, उस विषय-विरक्ति (अनित्य वस्तुओं से विवृण्णा-वैमुख्य) नामक वित्त-वृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं ।

क्षणिको निर्वेदस्तु न स्थायी, किन्तु व्यभिचार्यवेत्याह—

गृहकलहजादिस्तु व्यभिचारी ।

आदिपदमन्येषामपि कादाचित्कनिर्वेदकारणानामुपलक्षणम् । निर्वेदस्य निरन्तरस्थिते-
रभावान्न स्थायित्वमित्यवशेयम् ।

घरेलू झगड़ा आदि से उत्पन्न, 'निर्वेद' तो व्यभिचारी भाव कहलाता है, स्थायी भाव नहीं ।

चतुर्थ रौद्ररसस्यायिभावं क्रोधं लक्षयति—

गुरुबन्धुवधादि-परमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः ।

गुरुणा पित्रादीनां बन्धूना च वधादिर्हत्याऽऽदिर्येष तादृशेभ्यः परमापराधेभ्यो जन्म
यस्य, स प्रज्वलनाख्यवित्तस्य दीप्तत्वरूपो वृत्तिविशेषः क्रोधो रौद्ररसस्यायिभाव इत्यर्थः ।

अपराधानां परमत्वं गुरुतमत्वेनासहनीयत्वम् ।

'क्रोध' का लक्षण करते हैं—'गुरुबन्धु' इत्यादि । गुरु, अथवा पुत्र-प्रभृति-बन्धु की हत्या आदि परम (असहनीय) अपराध से उत्पन्न होनेवाली प्रज्वलन (जलन) नामक वित्त-वृत्ति 'क्रोध' है ।

रौद्ररस-स्यायिक्रोध-व्यभिचार्यमर्पयोर्भेदं वर्त्तयति—

अयं च परयिनारादिहेतुः । क्षुद्रापराधजन्मा तु पुरुषवचनासम्भाषणादि-
हेतुः । अयमेवामर्पाख्यो व्यभिचारीति विवेकः ।

अयं परमापराधजन्यः च तु, परेषामपराधिना (रिपूणां) विनारादेहेतुनिमित्तं क्रोधः
स्थायी, क्षुद्रोऽवज्ञादिरूपोऽल्पमात्रो योऽपराधः, तस्माज्जन्म यस्य तादृशस्तु वित्तवृत्तिविशेषोऽ-
स्यविभावजत्वात् पुरुषवचनं कर्तृत्वि, असम्भाषणमपराधिना सदानालम्पनमादिर्येषां तादृश-
कार्याणां हेतुः, अमर्पाख्यो व्यभिचारीभावो भवतीत्युभयोर्विवेकः पार्थक्यमस्तीत्यर्थः ।

कारणगौरवलापवाच्या कार्यगौरवलापवाच्या च क्रोधमर्पयोर्भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

क्रोध वाशु के विनाश आदि का कारण होता है । यही जलन रूप वृत्ति यदि किसी छोटे मोटे अपराध से उत्पन्न होती है, तब वह शत्रु-विनाश का कारण न होकर केवल फटोर वचन, अपराधी के साथ बोल-चाल का बन्द करना आदि का कारण होती है, और तब वह 'अमर्प' नामक व्यभिचारी कहलाती है, क्रोध नहीं, 'अमर्प' और 'क्रोध' में यही भेद है ।

पञ्चमं वीररसस्यायिभावमुत्साहं लक्षयति—

परपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ।

परंपरान्येषां रिपूणां वा, पराक्रमस्य दानादेव श्लाघ्यकर्मणः, स्मृत्याः स्मरणान्नम् यस्य, तादृशचित्तस्थौषत्वरूपो वृत्तिविशेष उत्साहो नीरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' इति लक्षणम्, 'कार्यारम्भेषु, सन्निकृष्टकार्येषु स्थेयान् संरम्भ उक्त आवेश उत्साह' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

पष्ठमद्वयतरसस्यायिभावं विस्मयं लक्षयति—

अथ 'उत्साह' का छद्म लिखते है—'परपराक्रम' इत्यादि । दूसरे के पराक्रम तथा दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होनेवाली उत्पत्तता नामक चित्त वृत्ति को 'उत्साह' कहते हैं । कहीं कहीं 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' अर्थात् उपरिपत कार्यों में उत्कट आग्रह उत्साह कहलाता है, यह उत्साह का छद्म किया गया है ।

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासारूपो विस्मयः ।

अलौकिकानां लोकोत्तराणां वस्तूनां दर्शनादेः साक्षात्कारस्मरणप्रभृतेः, जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषोऽद्वयतरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'विविधेषु पदार्थेषु, लोकसीमातिवर्तिषु । विस्फारयन्तेऽसौ वस्तु स विस्मय उदाहृतः' इति लक्षणम्, 'लोकसीमातिवर्तिषु लोकव्यवहारप्राप्तिक्रान्तेषु, विस्फारो विस्तारः । स च दृष्टहेतुभ्योऽसम्भविस्त्वज्ञानेन हेतुसन्धाने मनोव्यापाररूपः' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

अथ 'विस्मय' का लक्षण करते हैं—'अलौकिक' इत्यादि । लोकोत्तर किसी वस्तु के दर्शन अपवा स्मरण आदि से उत्पन्न होनेवाली विकास-(आश्चर्य)-नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय' कहते हैं ।

अतमं हास्यरसस्य स्थायिभावं हासं लक्षयति—

बागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासारूपो हासः ।

अन्यस्य वाचि-शब्देषु, आदिपदेन वै भूषणे च विकारस्यान्यथाभावस्य दर्शनात् (कचित् स्मरणादपि) जन्म यस्य, तादृशचित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषो हासो हास्यरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'बागारिवैकृतैश्चेतो-विकारो हास इष्यते' इति ।

अथ 'हास' का लक्षण करते हैं—'बागङ्गादि' इत्यादि । दूसरों के अङ्ग, वचन, वेष और भूषण में विकार (अन्यथाभाव-बादबर्दी) के दर्शन से (कहीं कहीं ध्वज से भी) उत्पन्न होनेवाली विकास (मिन्न जाना) नामक चित्त-वृत्ति 'हास' कहलाती है ।

अष्टमं भवानकरसस्य स्थायिभावं भयं लक्षयति—

व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैकल्यारूपः स भयम् ।

व्याघ्रपदमन्येषामपि सद्योमरणानाम्, आदिपदं सन्निकर्षस्मरणयोद्योपलक्षणम् । परमानर्थविषयको मरणावनर्त्यसम्पादकः । वैकल्यं विह्वलत्वम् ।

व्याघ्रादिसद्योमरणकारणवस्तुदर्शनस्मरणादेर्जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य वैकल्यरूपो वृत्तिविशेषो भयं भवानकरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अथ 'भय' का लक्षण लिखते हैं—'व्याघ्र' इत्यादि । व्याघ्र आदि के दर्शन (जिससे परम अनर्थ-मरण सम्भावित हो) से उत्पन्न होनेवाली वैकल्य-विह्वलता-नामक चित्त-वृत्ति 'भय' कहलाती है ।

स्थायिनोभयस्य व्यभिचारिणस्त्वाद्यद् भेदमाह—

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी ।

स एव चित्तवैकल्यरूपवृत्तिविशेष एव, परमानर्थविषयकत्वाभावे सद्योमरणप्रयोजकत्वा-

भावे धुरवैकल्यसम्पादकत्वे, श्रासोऽरूपविभावजत्वाद् भवानकरसस्य व्यभिचारी, ननु स्थायीभावो भवतीत्यर्थः ।

अथ हि कार्यभेदाद् भयत्रासयोर्भेदोऽवधारणीयः ।

‘रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैकल्यमयं भयम्’ इति परोक्षं लक्षणं चिन्तनीयम्, चित्तवैकल्यस्यैव भयत्वान् तत्कारणस्य भयत्वाङ्गीकारे तु चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वमङ्गप्रसङ्गात् ।

यदि व्याघ्रादि-दर्शन-अन्य-विद्वलता से परम अनर्थ-भरण की सम्भावना नहीं हो, तो वह भयानक रस का स्थायीभाव ‘भय’ न कहलाकर उसी रस का व्यभिचारीभाव ‘त्रास’ कहलाता है । भय और त्रास में परस्पर यही भेद है ।

भयत्रासयोः स्वरूपभेदे मतान्तरमुल्लिखति—

अपरे तु—औत्पातिकप्रभयश्चासः, स्वापराधद्वारोत्यं भयमिति भयत्रासयोर्भेदमाहुः ।

महावात—वज्रनिर्घातप्रवृत्त्युत्पातप्रभूत (स्वल्प) मनःक्षोभश्चासः, स्वापराधद्वारोत्यं गुह्यतरनिजापराधजन्यं यत्त्वचित्तवापन्नं तु भयमित्युच्यते । कारणभेदाद् भेदः सपर आहुरित्यर्थः ।

‘उत्पातप्रभवश्चासः स्वापराधोत्यं भयम्’ इति मूलपाठः समुचितः । अथवौत्पातिक उत्पातजन्यः प्रभय उत्पत्तिर्यस्य स, स्वापराध एव द्वारम्, तस्मादुत्पत्त्युत्पन्नं स्वापराधद्वारोत्यमिति कथञ्चिज्ज्ञापनीयम् ।

बुद्ध विद्वान् कहते हैं कि भयद्वर आंघी, वज्र-वात आदि उत्पातों से उत्पन्न होने वाली विद्वलता का नाम ‘त्रास’ और अपने अपराधों से उत्पन्न होने वाली विद्वलता का नाम ‘भय’ है । यही भय और त्रास में भेद है ।

नयनं धीमत्तरसस्थापिमावं जुगुप्सां लक्षयति—

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यचित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ।

कद्वर्णाणां पुणेत्यादकत्वात् कुत्सितानां वस्तूनां विलोकनाख्यम् यस्य, स विचिकित्साख्य-चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा धीमत्तरसस्थापिमाव इत्यर्थः ।

‘विचिकित्सा तु संशयः’ इत्यमरकौशे, ‘जुगुप्सा गर्हणाऽर्धानां दोषसन्दर्शनादिभिः’ । इत्यन्यत्र च दर्शनाद् विचिकित्सास्थाने मूले गर्हणाया उपार्शानमुचितं प्रतिभाति ।

अथ ‘जुगुप्सा’ का लक्षण करते हैं—‘कदर्य’ इत्यादि । किसी पृथित वस्तु के देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा (पुणः) नामक चित्त-वृत्ति को ‘जुगुप्सा’ कहते हैं ।

इत्थं रसानां स्थायिभावव्यवस्थित्वा विभावानुभावव्यभिचारिभावारिर्लक्षयिषु-प्रथमं विभावार्लक्षयति—

एवमेपां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयो-दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येषु काव्यनाट्ययोव्यज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।

नायकपदं तत्तत्स्थापिमावाश्रयपरम् । आलम्बनत्वमुदीपनत्व च प्रसिद्धौ हेतुः, कारणत्व च प्रकारः ।

एवममुना प्रकरणे, एषां रत्यादिस्थापिभावानां लोके यानि वस्तूनि, आलम्बनतयो-दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तेषु इत्यादिस्थापिभावेषु काव्यनाट्ययो ध्वन्यदर्य-काव्ययो ध्वन्यज्यमानेषु रससु, तान्यालम्बनोदीपनकारणानि, विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते व्यवहियन्त इत्यर्थः ।

अथ विभाव-पदार्थ का परिचय कराते हैं—'एवमेवायं' इत्यादि । सांसारिक नायक नायिकाओं में हम इन पूर्वोक्त रति आदि (स्थायी) भावों का अनुभव दिन रात करते हैं और इनके (रति आदि भावों के) कारणों का भी अनुभव करते हैं, जो (कारण) दो प्रकार के होते हैं, एक आलंबन अर्थात् रति आदि जिनके विषय में होते हैं, वे—जैसे रति का विषय नायिका । दूसरा उद्दीपन अर्थात् उन स्थायी भावों में जो जोस पैदा करते हैं—जैसे रति में जोस पैदा करने वाले, एकान्त स्थान आदि । इस तरह कारण रूप में हम जिन आलंबन और उद्दीपन को जानते हैं, वे ही जब काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर उक्त स्थायीभावों के व्यञ्जक होते हैं, तब विभाव कहल्यो हैं ।

विभावसंज्ञाया व्युत्पत्तिं दर्शयति—

विभावमन्तीतिव्युत्पत्तेः ।

हेतौ पद्यमीति विभावराजदेन व्यपदिश्यन्त इत्यनेन प्राचीनैरान्वयः ।

विभावमन्ति स्थायीन् विरोपेणास्वादाङ्कुरयोग्यतामानयन्तीति विभावा उच्यन्त इत्यर्थः । क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार, विभाव-शब्द का अर्थ, रति आदि स्थायीभावों को विरो-परूप से आस्वाद के योग्य बनाना होता है ।

अनुभावसंज्ञायति—

यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन ।

छोके स्थायिभावानां यानिधर्मतया प्रसिद्धानि, काव्यनाट्ययोग्यमानानां स्थायिनां तान्यनु (पश्चाद्) भावयन्ति (बहिःप्रसरयन्ति) इत्यनुभावा उच्यन्त इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'तदुक्तं कारणे स्वैः स्वैः-बहिर्भाव्यं प्रकाशयम् ।

लोकैः यः धर्मरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥' इति ।

'उक्ता' छीणामलङ्कारा आह्वयस्व स्वभावजाः ।

तदुपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ॥' इति च ।

अनुभाव पदार्थ का परिचय कराते हैं—'यानि च' इत्यादि । उन रति आदि स्थायी-भावों के जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं—जैसे रति के रोमाञ्च आदि । इनको काव्य तथा नाटक में अनुभाव कहते हैं ।

अनुभावसंज्ञाव्युत्पत्तिं दर्शयति—

अनुपश्वाङ्गात् व्युत्पत्तिर्येषाम्, अनुभावमन्तीति वा व्युत्पत्तेः ।

अनुभावानां स्थायिकार्यत्वात् पश्चादुत्पत्तिः । अथर्व प्राचीनपरम्पराऽनुरोधेन द्वितीय व्युत्पत्त्युपन्यासे शोभम् ।

क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव पद का अर्थ स्थायीभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाला भाव (चित्तवृत्तिविशेष) अथवा विभावों के द्वारा आस्वादयोग्य बने हुए स्थायीभावों का अनुभव कराने वाला भाव होता है ।

व्यभिचारिभावसंज्ञायति—

यानि व्यभिचरन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन ।

यानि हर्षादीनि स्थायिभावेन सहचरन्ति फेनबुद्बुदन्यायेन सम्मिलन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति शेषः । तदुक्तम्—

'विरोपादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः ।

स्थायिन्युन्नाम-निर्ममा-अवर्हित्राय तद्भिदाः ॥' इति ।

'मिदं कर्तुं पामान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् ।

उपकृत्य च मच्छन्ति, ते भता व्यभिचारिणः ॥' इति च ।

अथ व्यभिचारी पदार्थ का परिचय कराते हैं—‘यानि’ इत्यादि । रति आदि स्थायीभावों के साथ अनियमित रूप से रहने वाली चिच्छृत्तियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं—जैसे चिन्ता आदि ।

अथ रसानो विभावानुभावव्यभिचारिभावान् विमज्ज्य दर्शयन्नादौ शृङ्गाररसस्य समा-
हृत्य दर्शयति—

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसावालम्बने, चन्द्रिका-वसन्त-विविधोपवन-रहस्या-
नादय उद्दीपनविभावाः, तन्मुखावलोकन-तद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽन्ये सात्त्विक-
भावाश्चानुभावाः, स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः ।

तत्र तेषु रसेषु । स्त्री च पुंसाव स्त्रीपुंसौ, नायिका नायकश्च परस्परमालम्बनम् । आदि-
मादिपदेन मलयानिल-मधुपशुभ्रन-श्लोकिलकूजनप्रभृतयः सम्राज्याः । तच्छब्देन रतिविषयी-
भूतव्यक्तिर्वीष्या । मध्यमादिपदेन सलालझार-कटाक्षभुजविक्षेपादयो ज्ञेयाः । ‘विकाराः
सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः’ इत्यन्यत्र लक्षिताः, ‘स्तम्भः स्वैरोऽप रोमाञ्चः स्वर-
भङ्गोऽय वेपथुः । वैवर्ण्यमथु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृताः ।’ इति परिगणिताश्च सात्त्विक-
भावाः । तेषां चेष्टात्वेऽपि गोवलीवर्दन्यायेन पृथगुपादानम् । ‘त्यक्तौर्म्यमरणालस्यलुपुप्ता
व्यभिचारिणः’ इति व्यवच्छिन्नलक्षणोऽन्ये हर्षप्रभृतयोऽन्तिमादिपदावहेयाः ।

अथ उक्त नव-विध रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का पृथक्-पृथक्
प्रदर्शन करने के क्रम में सर्वप्रथम शृङ्गाररस सम्बन्धी उन भावों का वर्णन करते हैं—‘तत्र’
इत्यादि । शृङ्गार-रस के स्त्री-पुरुष आलंबन विभाव, चन्द्र-उपोत्सवा, वसन्त ऋतु, अनेक
तरह के बाग-बगीचे, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र के मुख का दर्शन,
उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन प्रभृति तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प,
विवर्णता, अधुपात, प्रलय ये भावों ‘सात्त्विक भाव’ अनुभाव, स्मरण और चिन्ता आदि
व्यभिचारी भाव होते हैं ।

कहणस्यालम्बनादीनि दर्शयति—

कहणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि, तत्सम्बन्धिगृहतुरगाभरणदर्शनादय-
स्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपकाः, गात्रक्षेपाश्रुपातादयोऽनुभावाः, ग्लानिक्षयमोह—
विषाद-चिन्तौत्सुक्य-दीनता-जडतादयो व्यभिचारिणः ।

प्रयमादिशब्देनानिष्टाप्ते संग्रहः, ‘इष्टनाशादिनिष्टाप्ते’ इत्याद्युक्तेः । गात्राणामज्ञाना शोक-
वेगप्रकर्षाद् विद्वलानामितस्ततो न्यासः क्षेपः ।

अथ कहण-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—‘कहणस्य’ इत्यादि । कहण-रस के
इष्टजनों के विनाश आदि आलंबन विभाव, उसके व्यवहार में आने वाली वस्तुओं (घर,
‘चोदे, आभूषण आदि) के दर्शन आदि तथा उसके संबन्ध में कही गई बातों का श्रवण
आदि उद्दीपन विभाव, अज्ञों का इधर उधर फेरना और अधुपात आदि अनुभव और
ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जडता आदि व्यभिचारी-
भाव होते हैं ।

शान्तस्य विभावादीनि दर्शयति—

शान्तरसस्यानित्यत्वेन ज्ञात जगदालम्बनम्, वेदान्तश्रवण-तपोवन-ताप-
सदर्शनाद्युद्दीपनम्, विषयारुचि-शत्रुमित्रौदासीन्य-चेष्टाहानि-नासामदृष्ट्या-
दयोऽनुभावाः, हर्षोन्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिणः ।

अगतोऽनित्यत्वेन ज्ञानमेव तद्विषयकनिर्वेदोत्पापकम् । विषयेषु सांसारिकभोग्यवस्तुषु-
स्विरप्रीतिः । शत्रुमित्रयोर्दोषासीन्य समानमानः । चेष्टाहानिनिस्पृहत्वेन प्रवृत्तिराहित्यम् ।

अथ शान्त-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'शान्त' इत्यादि । शान्त-रस के अनिय रूप से समझा गया संसार धालंबन विभाव, वेदान्त-शास्त्र का भवण तपोवन तथा तपस्वियों के दर्शन आदि उद्दीपन विभाव, सांसारिक वस्तुओं से अरुचि, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता (समान भाव), निश्चेष्टता, नास्तिका के भ्रम भाग पर परा-वर दृष्टि को जमा कर रखना आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, मति आदि व्यभि-चारीभाव होते हैं ।

रौद्रस्य विभावादीन् दर्शयति—

रौद्रस्यागस्कृत्पुरुषादिरालम्बनम्, तत्कृतोऽपराधादिरुद्दीपकः, यद्यबन्धादि-फलको नेत्रारुण्य-दन्तपीडन-परुषभाषण-शस्त्रग्रहणादिरनुभावः, क्षमर्ष-वैगौ-ग्न्य-चापलादयः सञ्चारिणः ।

आगस्कृत्परापेक्षां पुरुष । आदि पदेन तादृग् बोधिरपि । तत्कृतोऽपराधिबोधकः । यद्योभ्यादिषु फलं यस्येति बहुव्रीहिः । क्षमर्षौ वैगौग्न्यं चापलं च पृथक् सञ्चारी ।

अब रौद्र-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'रौद्रस्य' इत्यादि । रौद्र-रस के अपराध करने वाला पुरुष आदि आलंबन विभाव, उसके द्वारा किये गये अपराध आदि उद्दीपन विभाव, आँखें लाल करना, दाँत कटकड़ाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि जिनका फल (अपराधी का) यद्य अथवा धंधन आदि होते हैं, अनुभाव और क्षमर्ष, वैग, उग्रता, चञ्चलता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं ।

वीराद्भुतहास्यभयानकबीभत्सरससंघन्यविभावाद्यनभिधानोत्पन्नान्तां परिहरति—

एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः, स तस्या आलम्बनम्, निमित्तानि चोद्दीपका-नीति बोध्यम् ।

एवं शृङ्गारायुक्तीत्या, यस्याश्चित्तवृत्तेर्यस्य स्यामिभावस्य, यो विषयो भवति, स तस्या चित्तवृत्तेः स्यामिभावस्य, आलम्बनमालम्बनविभावः, यानि च तस्या निमित्तानि चरणानि, तान्नुद्दीपकान्नुद्दीपनविभावः, यानि पुनस्तत्क्षर्याणि, तान्यनुभावयानि च तस्योपकानि तानि सञ्चारिभाव इत्यर्थः ।

तथादि—वीररसस्य द्विपदालम्बनम्, तत्पराक्रमदर्शनायुद्दीपनम्, प्रहारप्रतिप्रहारा-दिरनुभावः, हर्षवेगादिष्व व्यभिचारिभावः अद्भुतरसस्यातीतिक्रमत्करकृदस्त्वालम्बनम्, तत्साक्षात्कारायुद्दीपनम्, नेत्रविस्फारस्तम्भरोमाद्यादिरनुभावः, वितर्कादिष्व व्यभिचारिभावः । हास्यरसस्य विकृतवागादिमत्पुरुषादिरालम्बनम्, तद्विकृतिलुद्दीपनम्, रदनप्रक्षरादिरनु-भावः, भीमोद्वेगादिष्व व्यभिचारिभावः । भयानकरसस्य मयाबहवस्त्वालम्बनम्, तद्विकटव्या-पारायुद्दीपनम्, मुसुहोपपलपनदिरनुभावः, जाड्यकम्पादिष्व व्यभिचारिभावः । बीभत्सर-सस्य च गुणुप्तिवत्त्वालम्बनम्, तद्वन्धायुद्दीपनम्, निद्रोपनादिरनुभावः, शलान्यादिष्व व्यभिचारिभाव इत्यन्यत्र स्फुटम् ।

इस तरह जो चित्त-वृत्ति (रति आदि) जिसके विषय में होती है, वह (विषय) उस (रति आदि) चित्तवृत्ति (स्यामीभाव) का आलंबन और जिस चित्तवृत्ति (स्यामी-भाव) के जो निमित्त (कारण) हैं, वे उसके उद्दीपन होते हैं—यह समझना चाहिए । इसी प्रकार जिस चित्तवृत्ति के जो कार्य हैं वे (कार्य) उस (चित्त-वृत्ति) के अनुभाव और जिस चित्तवृत्ति का पोषण जो चित्तवृत्तियाँ करती हैं, वे वृत्तियाँ उस वृत्ति के व्यभि-चारीभाव होती हैं, यह भी ज्ञात करना चाहिए । जैसे—वीर रस के शत्रु आलंबन शत्रु के पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन, दोनों ओर से होने वाले प्रहार आदि अनुभाव और हर्ष, वेग आदि व्यभिचारी हैं । अद्भुत रस के आश्चर्य-जनक वस्तु आलंबन, उस वस्तु

के दर्शन आदि उद्दीपन, नेत्रों का विकास, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभाव और वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास्य-रस के विकृत-वाणी-वक्त्र-वेष आदि से युक्त व्यक्ति आलम्बन उसके ये अङ्गादि-विकार उद्दीपन, दांत निपोढ़ना आदि अनुभाव और श्रम, उद्द्वेग आदि व्यभिचारी हैं। मयानक-रस के व्याघ्र आदि भयावह वस्तु आलम्बन, उस भयावह वस्तु की भयङ्कर क्रियायें उद्दीपन, मुस का सूखना, मागना आदि अनुभाव और जड़ता कम्प आदि व्यभिचारी हैं। विमर्श-रस के घृणास्पद वस्तु आलम्बन, उसके गन्ध आदि उद्दीपन, धूँकना आदि अनुभाव और ग्लानि आदि व्यभिचारी हैं।

अथ शृङ्गाररसस्य प्रकारद्वयं निरूपयति—

तत्र शृङ्गारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च । रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः ।

‘संयोगः सम्मोगः सँयुक्ता सँयुक्तो बाडस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविरोधः, वियोगो विप्रलम्भो विमुक्ता विमुक्तो बाडस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविरोधश्च परिमन्त्रकाले भवति, तत्कालवर्तिनी वा रति, सा कालस्यावच्छेदकतया संयोगकालावच्छिन्ना सँयुक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिनी, तत्काले प्रथम प्रकारः शृङ्गारस्य संयोगो भवति । रतेर्वियोगकालावच्छिन्नत्वे विमुक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिकत्वे तु द्वितीयः प्रकारः शृङ्गारस्य विप्रलम्भो भवतीत्यर्थः ।

अब रसों के अर्थांतर भेद और उदाहरण आदि के प्रदर्शन-क्रम में पहले शृङ्गार-रस के अर्थांतर भेद और उदाहरण का प्रदर्शन करते हैं—‘तत्र’ इत्यादि । शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—एक संयोग और दूसरा विप्रलम्भ । रति जब-झी पुरुषों के संयोग काल में उप-युक्त होती रहती है, तब ‘संयोग-शृङ्गार’ और जब रति झी पुरुषों के वियोगकाल में उपयुक्त नहीं होती रहती है, तब ‘विप्रलम्भ-शृङ्गार’ कहलाता है ।

संयोगस्मैकाधिकरणवृत्तिरूपता, वियोगस्य च विभिन्नाधिकरणवृत्तिरूपता निरा-कृत्य, प्रागुक्त-सँयुक्तत्व-विमुक्तत्वप्रकारकज्ञानरूपता व्यवस्थापयति—

संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकस्यायनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्र-लम्भस्यैव वर्णनात् । एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात् । तस्माद् द्वयविधौ संयोगवियोगाख्यायन्तःकरणवृत्तिविरोधौ, यत् सँयुक्तो विमुक्तश्चा-स्मीति धीः ।

यदि जायापत्यो सामानाधिकरण्यं संयोगो वैयधिकरण्यं च वियोगः स्यात्, तदा तयो-रैकस्यां शय्यायां शयितयोरपि हृदीर्ष्यायां आपत्यां सर्वाभियतस्य निप्रलम्भस्याभावः, सर्वा-नभिगतस्य संयोगस्य च सङ्गतः प्रसज्येत । तयो रन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपत्वाङ्गीकारे तु ज्ञानविरोधरूपस्य विप्रलम्भस्यैव तत्र सत्त्वाच्च अऽपि दानिरित्याशयः ।

संयोग शब्द का अर्थ यहाँ ‘झी-पुरुषों का एक स्थान पर रहना’ नहीं है, क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि रहता है, तब विप्रलम्भ शृङ्गार का ही वर्णन प्राचीन काल से आज तक कवि लोग करते आये हैं । इसी प्रकार वियोग पद का अर्थ भी यहाँ, अलग-अलग रहना नहीं है, क्योंकि दोष उक्त है अर्थात् ऐसा मानने पर पुनः झी-पुरुषों के एक शय्या पर रहने की हालत में ‘विप्रलम्भ-शृङ्गार’ का वर्णन असंगत हो जायगा । इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि ‘संयोग और वियोग’ ये दोनों एक प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ हैं, जिनके चलते ‘मिला हुआ हूँ’ और ‘विछुड़ा हुआ हूँ’ ये ज्ञान होते हैं अर्थात् ‘मिला हुआ हूँ’ इस प्रकार का मनोभाव ही संयोग है और ‘विछुड़ा हुआ हूँ’ इस प्रकार का मनोभाव ही वियोग है ।

सम्भोगशृङ्गारमुदाहरति—

तत्रागो यथा—

संयोग और निप्रलम्भ के मध्य में संयोग जैसे—

तत्र संयोग-निप्रलम्भयोः ।

‘शयिता सविधेऽप्यनीधय’ इत्यत्र निरूपितः ।

निरूपित उत्तमोत्तमकाव्योदाहरणप्रसङ्गेन पूर्वमिति शेषः ।

उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण, प्रसङ्ग से ‘शयिता सविधे’ इत्यादि श्लोक में निरूपित हो चुका है ।

अप्यप्यदीक्षितदर्शितं सम्भोगशृङ्गारजनैरुदाहरणं दूषयति—

यत्तु चित्रमीमांसायां—‘वागर्थाविव सम्पृक्ती’ इत्यत्र रसभ्यनिः, निरतिशय-यप्रेमशालिताभ्यञ्जनात् इति, तद् ध्वनिमार्गानाकलननिबन्धनम्, पार्वतीपरमेश्वरविषयक-काचरती प्रधाने निरतिशयप्रेमणो गुणीभायान् ।

मुद्रार्यत्ये प्रधानशब्दो निग्यनपुमकलित्र इति न लोकित्रनिर्देशः । ‘वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ बन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।’ इति पद्यस्यावशिष्टशः । वागर्थो वाणी-तदभिधेया-विषय सम्पृक्ताभ्योन्यं सदागमिमिलितौ, न तु कदाचिदपि विच्छिद्यौ, जगतः स्थावरजङ्गमात्मकविश्वस्य, पितरौ प्रसृजनयितारौ, पार्वती-परमेश्वरौ निरतिशयप्रेमणौ, वागर्थयोः शब्दाभिधेययोः, प्रतिपत्तये ज्ञानाय, बन्दे नौमीति तदर्थः ।

अत्र नतिकर्माभूतयोगौरीगिरीशयोर्वागर्थवञ्जित्यसारलेपात् तत्स्वरणीभूतरतोः प्राधान्येन व्यञ्जमानत्वान् सम्भोगशृङ्गारजनैरुदाहरणमिति चित्रमीमांसाकर्तुंरमियानं ध्वनिसिद्धान्तविरुद्धम्, इह शब्दों के कवि (कालिदास) निष्ठाय गौरीगिरीशविषयाया अप्रत्यक्षप्रकाशनाया रतौरेव प्राधान्येन व्यञ्जपत्तया, पार्वतीपरमेश्वरशृङ्गारस्य न तत्सोपक्रमेणान्वयतया रसध्वनेरसम्भवादित्याकृतम् ।

अब अप्यप्य दीक्षित द्वारा दिये गये सम्भोग शृङ्गारोदाहरण का सङ्केत करते हैं—‘यत्’ इत्यादि । ‘चित्रमीमांसा’ में जो यह लिखा है कि ‘वागर्थाविव संपृक्ती वागर्थ-प्रतिपत्तये, जगतः पितरौ बन्दे पार्वती-परमेश्वरौ’ (अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह परस्पर सते हुए, संसार के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) की तरह और अर्थ के ज्ञान के लिये, प्रगाम करता हूँ) इस श्लोक में शृङ्गार-रस की ध्वनि है, क्योंकि यहां जो ‘वागर्थाविव संपृक्ती’ अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह सदा सते हुए कभी अलग नहीं रहने वाले इस रूपमा से सदा सते रहने का कारण शिव-पार्वती के निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है । वह ध्वनिमात्रं अज्ञान-मूलक है । क्योंकि इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि की रति-ओ भाव कहलाती है—प्रधान है और शिव पार्वती का परस्पर प्रेम व्यञ्जमान होकर भी उस (कविनिष्ठ रति) की अपेक्षा गौण हो गया है ।

उक्तमेवार्थं समर्थयति—

नहि गुणीभूतस्य रत्यादे रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम्, ‘भिन्नो रसाध-लङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः’ इति सिद्धान्तात् ।

‘रगमात्र-तदाभास-भाषशान्त्वादिरकम्’ इति काव्यप्रकाशे कविकथा-पूर्वाहः ।

इदमिहाकलनीयम्—ध्वनिमज्ञानाना उद्भूतमतानुयायिन कवितयं रसादीना प्रागान्ये रसवदादलङ्कारिन्, गौणत्वे तदात्तालङ्कारद्वितीयप्रकारमूरीकुर्वन्ति । ध्वनिकारस्तु—‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्रात्रान्तरा रसादयः । काव्ये तस्मिन्लङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।’ इत्यादिसन्दर्भेण रसादीना प्रधान्येऽलङ्कार्यत्वेनालङ्कारत्वाम्भावाच्चमत्कारोत्कर्षाच्च रसादिध्वनीन्,

गौणत्वे तु रसदायलङ्काराद्य निर्णयन्ति । तदेवामिश्रेत्य महम्ममटोऽपीमा कारिकामुपन्य-
स्यति—अकमोऽसंलक्ष्यकमव्यञ्जयोऽलङ्कार्यतयाऽङ्गितया स्थितो रसादिः, रसायलङ्काराद्
रसदायलङ्काराद्, मिथोऽङ्गत्वाभावादतिरिक्तोऽस्तीति तदर्थः । एवं सति 'वागर्थाविव'
इत्यादौ शृङ्गारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि कविनिष्ठरतिभावाङ्गत्वाऽलङ्कार्यत्वविरहाच्च निव्यवहारका-
रणत्वमिति ।

गौण रति आदि 'यहां रस-ध्वनि है' इस व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता अर्थात्
गौण रति आदि को लेकर रस-ध्वनि नहीं हो सकती, कारण ? यह सिद्धान्त है—मिथो-
रसाष्टलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः । अर्थात् जिसको अलङ्कार आदि से शोभित किया जाता
है, वह (रस आदि) रस-भाव आदि को शोभित करने वाले अलङ्कार रूप रस आदि से
भिन्न है । अभिप्राय यह है कि अप्रधान रस आदि अलङ्कार कहलाते हैं, ध्वनि नहीं, अतः
उक्त स्थल (वागर्थाविव) में शृङ्गार-रस व्यङ्ग्य होकर भी अलङ्कार ही कहलायगा, जिससे
ज्ञात-पार्वती विषयक कवि-निष्ठ भाव अलङ्कृत होता है, फलतः यह वच भाव-ध्वनि का
उदाहरण हो सकता है, रस-ध्वनि का नहीं ।

विप्रलम्भाख्यं द्वितीयं शृङ्गाररसप्रकारमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

शृङ्गारस्य द्वितीय प्रकारः ।

'वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पन्त्यनल्पं जने

केलीमन्दिरमावृतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।

निरन्वासग्लपिताधरोपरिपतद्वाप्यार्द्रवसोरुहा

धाला लोलविलोचना शिव ' शिव !! प्राणेश मालोकते ॥'

प्रयाणसमये प्रणेशस्य प्रवासाय प्रस्थानावसरे, जने परिजने गुरुजने वा, माङ्गलिकी-
कथयाणप्रयोजना 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' इत्यादिका, वाचो वाणी, अनल्पमप्रसू, जल्पति
व्याहरति सति, केलीमन्दिरस्य कौतुकानगरस्य, आवृतायनमुखे यवाक्षामभागे, विन्यस्तं तद्दि-
क्षौस्तुक्वेन संलम्बितं वक्त्राम्बुमुखकमलं यथा, तादृशी, निरन्वासे' सद्योभवद्विप्रयोगजयात-
नावशास्तिस्सरस्मिन्नासानिलै' ग्लपितस्य शोथान्ग्लपितस्याधरस्य, उपर्युष्मभागे, पतस्मिन्नि-
रन्तरं स्वलीङ्ग, वाप्यैरश्रुभिः, आर्द्रौ विलनीं वलोरुहौ कुचौ यस्या, सा लोलविलोचना प्रती-
कवाचनवधारणात् तरलनयना, धाला मुग्धा, शिवशिव ! आ कष्टं, प्राणेश प्राणनाथम्,
मालोकते प्रतिषेधाश्रमतया केवलं पश्यति, नत्वपश्यया प्रयाणनिषेधकवचनं किञ्चिदुच्चा-
रयतीत्यर्थः ।

अथ 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का उदाहरण देते हैं—'द्वितीयो यथा' इत्यादि । 'वाचो माङ्ग-
लिकी' इत्यादि श्लोक शृङ्गार के द्वितीय प्रकार विप्रलम्भ का उदाहरण है । नायिका की
सखी अपने मन में सोचती है, अथवा एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव पर-
देश के लिए यात्रा कर रहे हैं, शुभचिन्तक लोग जोर-जोर से माङ्गलिक वचनों की शोभा
रहे हैं, परन्तु वह बाला (मुग्धा) रति-मन्दिर के वातायनों में मुख-कमल को छाल कर
बैठी है, उसके आस प्रबल वेग से चल रहे हैं, जिससे उसके अधर झुक होकर ग्लान हो
चुके हैं और उन अधरों पर गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली अश्रु धारा से
उसके उरोज भीग गये हैं, शिव ! शिव ॥ इस दुर्दशा में पक्षी हुई वह (बाला) चञ्चल
नेत्रों से अपने प्राणेश को देख रही है । उस बेचारी को यात्रा फाट में अश्रु-पात से होने-
वाले अशकुन का बोध नहीं है, लोक-लज्जा की चिंता भी नहीं है क्योंकि वह मुग्धा है ।

उक्तपद्यस्योदाहरणत्वमुपपादयति—

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निश्वासाश्रुपातादेरनुभावस्य, विषादचिन्ताऽ-
वेगादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् रतिरभिव्यज्यमाना, वियोगकालावच्छिन्नत्वाद्
विप्रलम्भरसपदव्यपदेशहेतुः ।

अत्रापि 'वाचो मात्रलिप्ती' इत्यादिपद्येऽपि । आलम्बनस्य नायिकाविग्रहतेरिति शेषः ।
संयोगो विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धः । रतिरिह वियोगकालावच्छिन्नत्वं विप्रलम्भशृङ्गार-
रसव्यपदेशनिदानम् ।

इस श्लोक में नायक-रूप आलम्बन, विधास, अश्रुपातादि रूप अनुभाव और विषाद,
चिन्ता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से नायिका की रति अभिव्यक्त होती
है, जो वियोग काल में रहने के कारण 'विप्रलम्भ रस' शब्द से व्यवहृत होती है ।

स्थूणभिक्षुननम्यायेन पुनरुदाहरति—

यथा वा—

‘आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः

कान्तिः काचिन्निखिलतनयनाकर्षणे कर्मणश्चा ।

श्यासो दीर्घस्तदवधि मुखे, पाण्डिमा गण्डयुग्मे ।

शून्या वृत्तिः कुलभृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥’

यदवधि यस्मात् कालादारभ्य, नन्दसूनोर्नन्दनन्दनस्य कृष्णचन्द्रस्य, मधुस्यन्दिनी-
लोकलोचनासेवनकृतया मधुसावित्री, निखिलतनयानां सकलजीवलोचनानाम्, आकर्षणे परी
करौ, कर्मणश्चा कर्मणं तद्वशीकरणसाधकमन्त्रादि जानातीति तथाभूता, अक्षसैन वशीका-
रिणी, काचिदनिर्वचनीया, कान्तिर्देहवृत्तिः, आविर्भूता प्रकटीभूताऽभूत्, तदवधि तस्मात्का-
लादारभ्य, कुलभृगदृशां कुलीनहरिणासीना, रमणाश्रमत्वात् मुखे दीर्घः श्वासः, गण्डयुग्मे
कपोलपुले, पाण्डिमा भीमभावः, चेतसि चित्ते, विरादोत्कर्षेण शून्या निरालम्बना, वृत्ति-
व्यापारश्च प्रादुरासीत् प्रकटीदित्यर्थः ।

इदं कर्मकरणयोः पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिरुदाहरः । श्रीकृष्णस्यालम्बनस्य, श्वा-
सादेरनुभावस्य, तद्वपङ्गयविषादप्रभृतेष्व व्यभिचारिणः संयोगाद् व्यज्यमाना, कुलीनगुणा-
स्तीनिष्ठा वियोगकालावच्छिन्ना रतिर्विप्रलम्भशृङ्गारत्वं भजति ।

विप्रलम्भ रस का दूसरा उदाहरण देते हैं—‘यथा वा’ इत्यादि । ‘आविर्भूता’ इत्यादि
पद्य भी विप्रलम्भ शृङ्गार रस का उदाहरण है । शोककुलवासिनी कोई नायिका अपने मन
में सोच रही है—अब से मधु-वृष्टि करने वाली और जीवसात्र के नेत्रों को आकृष्ट करने
का जादू जानने वाली नन्द-तनय कृष्णचन्द्र की अनिर्वचनीय देह-वृत्ति संसार में प्रकट
हुई, सभी से कुलाङ्गनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, कपोल-युगल में घेतता तथा चित्त
में शून्यवृत्ति (ज्ञान-राहित्य) प्रादुर्भूत हो गई है । यहाँ कृष्णचन्द्ररूप आलम्बन, श्वास
आदि अनुभाव, स्वप्न ॥ विषाद आदि व्यभिचारी भाव के संयोगसे कुलकामिनी निष्ठ,
वियोगकालिक रति की अभिव्यक्ति होती है, अतः विप्रलम्भ शृङ्गार का यह उदाहरण हुआ ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

‘नयनाञ्जलावमर्शः, या न कदाचित् पुरा सेहे ।

आलिङ्गिताऽपि जोषं, तस्यौ सागन्तुकेन वयिनेन ॥’

या नवोढा, पुरा प्रस्थानदिवसात् पूर्वम्, नयनाञ्जलस्य लोचनाप्रभासस्य कटाक्षस्य,

अवमर्शं संस्पर्शं (किमुत समप्रनयननिरीक्षणम्) द्वियाभिया वा, न सेहे नागृह्यत्, सा से नत्वन्या, गन्तुकेन जियमिपुणा निर्णीतविदेश-यमनेनेति यावत्, प्रियेण वल्लभेन, आलङ्घि गाढमुपगूढाऽपि, जोष तूष्णीं तस्यौ, न तु चंचाल, नवा निवारयाधकारेत्यर्थः ।

नयनाञ्जलवमर्शमित्यस्य नयनपद्मस्पर्शमिति विवरणन्त्वर्शसङ्गतेर्धित्या ।

पुनः विप्रलम्भ का ही एक और उदाहरण देते हैं—'नयनाञ्जला' इत्यादि । प्रवत्स्पर्श का नायिका की बात किसी से कोई कह रहा है—जो नायिका, (नवोढा) पहले कर्म पति-नयन-फोण (कटाक्ष) के स्पर्श को भी नहीं सहती थी अर्थात् जो कनली से म पति को अपनी ओर देखते देखकर भाव खड़ी होती थी, वही परदेश जाने के लिये उद्यम प्रिय से आलङ्घित होकर भी चुप ही रही—भागने की बात क्या, मुख से भी निवारण नहीं की अनुभावादिप्रदर्शनेनास्य पद्यस्य विप्रलम्भधनित्वं प्रतिपादयति—

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणौ ।

इह नयनेत्यादिपद्ये । अपि. 'आविर्भूते'त्यादिपूर्वपद्यप्रतिपाद्यान् विप्रलम्भव्यञ्जकान् समुच्चिनोति । सहजस्य स्वाभाविकस्य चाञ्चल्यस्य निवृत्ति स्तिमितीभावोऽनुभावः, तत्कारण तया व्यज्यमाना जडता च व्यभिचारिभावः, प्रिय आलम्बनविभावश्च सम्भूय, नवोढाया प्रवसत्यतिकाया वियोगकालवच्छिन्ना रतिं विप्रलम्भपद्वीं नयति ।

इस श्लोक में भी स्वाभाविक चञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और जडता व्यभिचारि भाव है । अर्थात् उक्त अनुभाव, व्यभिचारीभाव और प्रियरूप आलम्बनविभाव के संयोग से यहां भी विप्रलम्भ शब्दार्थ व्यक्त होता है ।

मम्मटाद्यभिमतं विप्रलम्भास्य भेदपद्यकं निरस्यति—

इसं च पञ्चविधं माञ्च प्रवासादिभिरुपाधिमिरामनन्ति । ते च प्रवासाभिलाष-विरहेर्ष्या-शापानां विशेषानुपलम्भात्तास्माभिः प्रपञ्चिताः ।

इमं विप्रलम्भम् । अस्त्वर्थकः ।

माञ्च काव्यप्रकाशकारादयः, इमं विप्रलम्भशब्दरसं, प्रवासेनानुरक्तयोरपि गुरुकार्य-वशाद् विभिन्नदेशस्थित्या, अभिलाषेण पूर्वरागरूपेण कदाचिदप्यसमागतयोरपि नायकयो-र्गुणश्रवणादिनैकतरानुरागेण परस्परप्रेमसा वा, विरहेण समानाधिकरणयोरपि गुरुजनलज्जा-पारस्पर्यादिप्रतिबन्धेन, ईर्ष्या मानजनन्या, शापेन वियोगजनक-तपस्विषाग्विशेषेण चोपा-धिभिर्निमित्तैरुपलक्षित पञ्चविधं प्रवासादिनिमित्तप्रकारपद्यकविशिष्टम्, आमनन्ति कथयन्ति ।

अस्माभिरुतु प्रवासाद्युपाधीना विशेषस्य मियोधैलक्ष्ण्यस्य, अनुपलम्भात् प्रतीतिगोचर-स्वाभावात्, ते भेदाः प्रवासनिमित्तश्चादिप्रकारा, न प्रपञ्चिता नैव विस्तरेण वर्णिता, किन्त्येकप्रकार एवायं सामान्येनासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यवद् वर्णित इत्यर्थः ।

विशेषानुपलम्भादित्ययं प्रौढवाद एव, प्रवासादिषु त्रियुक्तत्वप्रकारकबुद्धेरुत्तरूपत्वेऽपि तद्विद्विकारणानां भेदस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वात्, कार्येऽपि भेदस्यावश्यमभ्युपेयत्वाद्, 'अय-मेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद् विद्वद्वर्गमाप्यास कारणभेदश्च' इत्याद्यभियुक्तोक्तेः । अयथाऽ-न्यथापि भेदाधिगमो दुर्घट स्यात् । 'यूनोरेकतरस्मिन्' इत्यादिना लक्षितं कणविप्रलम्भा-ख्यमपि प्रकार प्रागुच्यतीत्या व्याहरन्ति केचिदिति प्रेक्षावद्भिः परीक्षणीयम् ।

प्राचीन आचार्यों ने इस विप्रलम्भ रस को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है परन्तु प्रवास, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शापरूप पाँच उपाधियों के कारण जो विधोग होता है उनमें किसी बौलक्ष्ण्य की उपलब्धि न होने से हमने विस्तारपूर्वक उनका वर्णन नहीं किया । यहाँ जब प्रवासादि का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये अनुरक्त-

नायक-नायिका में से किसी एक के कार्यवश परदेश में रहने पर प्रवास, समागम से पहले ही गुणध्वज आदि से अभिषेक, गुरुजनों की कृपादि के कारण समागम से वञ्चित रहने पर विरह, मान से ईर्ष्या और किसी सपत्नी आदि के अपराधी होने पर उनके वाग्निमोहरूप शाप कहलाते हैं ।

करुणां निरूपयति—

करुणो यथा—

अथ 'करुण' रस का उदाहरण देते हैं—'करुणो यथा' इति । 'करुण' रस जैसा—
सयोमृतं पुत्रमुदित्य पिता प्रवीति—

'अपहाय सकलबान्धव-चिन्तामुद्धास्य गुरुकुलप्रणयम् ।

हा तनय ! चिनयशालिन् ! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ॥'

हा चिनयशालिन् सुविनीत ! तनय पुत्र ! सकलबान्धवानां 'आश्रयिष्यामीत्यजनानां, 'मां विना कथमेते प्राणाश्च धारयिष्यन्ती'ति चिन्ताम्, अपहाय त्यक्त्वाऽकृतेति यावत् । तथा गुरुकुलस्योपाध्यायगृहस्य पित्रादिपूज्यजनस्य वा प्रणयं प्रेमाणम् (भक्तिम्) उद्धास्य तस्य-
प्रेक्षणागणयित्वैतन्धर्मान्तरम्, कथमिव केन प्रकारेण, त्वं परलोकस्य पथिकोऽप्यन्योऽभूतिस्पर्षः ।

बन्धुर्वाचिन्ता भुरजवप्रणयं चोपेक्ष्य तथासमये परलोकप्रस्थानं सर्वथाऽनौचित्येन निरुप शोचनीयमित्यमित्यर्थः ।

दुरत मो हृद पुत्र को उदरय कर पिता कहता है—'अपहाय' इत्यादि । अर्थात् हाय ! भक्ति-विनीत पुत्र ! तू सब बन्धुओं की पिता को त्यागकर और गुरुकुल के प्रेम को भी विस्तरकर कैसे परलोक का पथिक हो गया ?

तत्र विभावान् दर्शयति—

अत्र प्रयाततनय आलम्बनम्, तत्कालावच्छिन्नबान्धवदर्शनाद्युद्दीपनम्, रोदनमनुभावः, दैन्यादयः सञ्चारिणः ।

अत्रापहायेत्यादिपद्ये । प्रमीतोमृतधात्री तनय इति कर्मधारयः । तत्कालो मरणस्य कालः । कालस्यावच्छेदकत्वमधिकरणत्वेन । 'स्वजनस्य हि दुःखममृतो विभूतद्वारमिवोप-
जायते' इत्याद्युक्ते बान्धवजनदर्शनस्य शोकोद्दीपकत्वम् ।

इदालम्बनविभवादिषामभीसमवधानाच्छोकस्याधिक-करणरसस्याभिभ्यक्तिर्नयति । अस्य करणविप्रलम्भाद् भेदस्तु स्याविभेदेनाभ्यत्र दर्शितः ।

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है, उस समय में वहाँ पर उपस्थित बान्धवों का दर्शन आदि उद्दीपन है, रोना अनुभाव है और बीनता आदि ध्वनिधारी भाव है ।

शान्तरसं निरूपयति—

शान्तो यथा—

कथितं स्थितप्रज्ञः परमस्थिति—

'मलयानिलकालकूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयोः ।

स्वपचात्ममुयोनिरन्तरा, मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥'

मलयानिलोदक्षिणपवनः सुखजनकतयोऽनुकूल, कालकूटोऽपरलं शूलजनकतया प्रतिकूल-
स्तयोः, तथा रमण्या ललनायाः, कुन्तलसंश्लिष्टोऽनुकूल, भोगिभो भुजगस्य भोगः फणादि-
कायः प्रतिकूलस्तयोः, एवं स्वपचक्षणद्वारे नीयतया प्रतिकूल स्वात्ममूर्ध्नाऽऽत्मज्ञानीवाऽ-
स्तुकृतायाऽनुकूलस्तयोः, निरन्तरा निर्वैलक्षण्या (तुल्या) स्थितिर्धारणाप्रतिष्ठा प्रतिपत्तिर्वा
मम समरसः, परमात्मनि परब्रह्मणि, जातोत्पत्ताऽभूदित्यर्थः ।

अथ 'शान्त-रस' का उदाहरण देते हैं—'शान्तो यथा' इत्यादि। किसी आत्म-ज्ञानी की उक्ति है—मलयपर्वत के पवन और विष में कामिनीयों के केश-कलाप और सर्प की फणा में पुष्प चाण्डाल तथा मृदा में तुष्य अर्थात् भेद-भाव-रहित मेरी स्थिति परमात्मा में हो गई है।

उदाहरण विभावदीर्घ निर्दिशति—

अत्र प्रपञ्चः सर्वोऽप्यालम्बनम्, सर्वत्र साम्यमनुभावः, मत्यादयः सञ्चारिणः।

सर्वोऽपि प्रपञ्चश्चावरणः क्षणमद्वयतया निर्धारित आलम्बनविभावस्तमालम्ब्यैव निर्वेदोद्गमात्, सर्वत्रोत्तमेष्वप्येषु च, अलङ्कृत्य प्रतिक्लृप्त्य वा, साम्यं समादृष्टानुभावो निर्वेदस्य कार्यत्वात्, मत्यादिपदोपस्थाप्य। वृत्तिप्रवृत्तयः सञ्चारिमावाश्च निर्वेदेन स्थायिना सम्भूय शान्तरसास्वादं जनयन्ति।

यहाँ सम्पूर्ण ससार आलम्बन है, सब पदार्थों में समानता की बुद्धि अनुभाव है और मति आदि सञ्चारीभाव हैं।

उक्तोदाहरणे भग्नप्रक्रमत्वमाराध्य निराकरोति—

यद्यपि प्रथमार्थे उत्तमाधमयोक्तप्रक्रमः, द्वितीयार्थेऽधमोत्तमवचनं प्रक्रम-भङ्गमापद्यति, तथापि वक्तुर्महत्त्वमकतयोत्तमाधमज्ञानयैकत्वं सम्प्रज्ञमिति द्योत-नाय क्रमभङ्गो गुण एव।

आवृत्ति जनयति। तथा चाक्रमत्वदोषाद्दुष्ट काव्यमिति विवृतिस्तु किन्तानीयैव, अक्रमत्वस्य वाचकातिरिक्तक्रमव्यत्यासस्थल एवाङ्गोक्षरात्।

प्रथमार्थे आदिचरणद्वये, उत्तमस्य मलयानिलस्य रमणीकृतलस्य च पूर्वम्, अधमस्य कालकूटस्य भोगिमोमस्य च पश्चाज्जिर्देशो न उपक्रान्तः, उत्तरार्थेऽधमस्य श्वपचस्य पूर्वम्, उत्तमत्वात्ममुष्य पश्चाज्जिर्देशेन न्यत्यासः कृत इति पूर्वप्रत्युत्थिताकाङ्क्षाविषयीकृतप्रकारेण पश्चादनुक्ते 'प्रक्रममज्ञान् काव्यमिदं दुष्टमिति न विभावनीयम्, यतो ब्रह्मन्यमासादितवत्-सर्वत्र समदशो वक्तुस्तमाधमत्वादिप्रकारकज्ञानरान्यत्वाद् वचसि प्रक्रममज्ञो वक्तुः स्थित-प्रवृत्तातिशयमेव प्रकाशयन् गुणत्वमेव प्रयाति, न तु दोषत्वमित्यभिसन्धिः।

यद्यपि उक्त पद्य के पूर्वार्थ में यह क्रम है कि पहले मलय-पवन आदि उत्तम वस्तुओं का निर्देश, बाद में विष आदि अधम वस्तुओं का, परन्तु उत्तरार्थ में उस क्रम को छोड़कर पहले अधम चाण्डाल का, बाद में उत्तम मृदा का निर्देश किया गया है। अतः क्रम-भङ्ग दोष यहाँ होता है, तथापि 'वक्ता ब्रह्म-रूप हो जाने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान से रह्य हो गया है' इस बात को प्रकाशित करने से 'क्रम-भङ्ग' गुण ही है।

विशिष्य शिष्यप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमाह—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

कथिद्भगवद्भक्तस्तदीयसाक्षात्कारमाशंसति—

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन् नयनयो-

विषायान्तर्मुद्रामय सपदि विद्राव्य विषयान्।

विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुराया चिति कदा,

निमग्नः स्यां कस्यां च न नवनमस्याम्बुदरुचि ॥'

अहं कदा कस्मिन् काले, सुरस्रोतस्विन्या देवना गङ्गाया, पुलिनं तीरम्, अधितिष्ठन् पुलिने वर्तमान, नयनयोर्देशो, अन्तर्मुद्रामभ्यन्तरनिमीलितं तत्पूर्वप्यालम्, विषय कृत्वा, अथ तदनु, सपदि शीघ्रं, विषयानिस्त्रियमप्राप्यपदार्थान्, विद्राव्य द्रवयित्वा, विधूतं

ज्ञानोदयाद् विष्वस्तमन्तर्धान्तं मानसाज्ञानं यस्य, तादृशः सन्, कस्यां च नानिर्वचनीयायां, मधुमेधुरायामतिमनोरमायां, नवनमस्याम्बुदश्चि नवीनमपदीयत्रकद्वान्तौ, चिति चैतम्यात्मनि श्रीकृष्णचन्द्रे, निमग्नो नितरां लीनः, स्यां भवेयमित्यर्थः ।

पथेऽस्मिन्नन्तररसस्य द्विरुपादानं सौन्दर्यं विधिदाकुञ्चयतीति चिन्त्यम् ।

अब त्रिज्ञासुत्रों के त्रिज्ञाद-ज्ञान के लिये 'शान्त-रस' के प्रत्युदाहरण भी दिलावते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि । कोई भगवद्भक्त भगवत्साक्षात्कार की आशांता करता है—सुरनदी (गङ्गा) के तीर में बैठा हुआ मैं अपनी इष्टि को अन्तर्मुख बनाकर शीघ्र समस्त सांसारिक विषयों को दूर हटाकर, अत एव अन्तःकरण के अन्धकार (अज्ञान) से हीन होकर भादोमास के महीन जलद के तृप्त कान्ति वाले किमी (अनिर्वचनीय) अतिमधुर चैतन्य (कृष्णचन्द्र) में कब निमग्न होऊँगा ?

इह निर्वेदस्य व्यग्रपत्वेऽपि, यथा न शान्तरसश्च निव्यपदेशं स्तथा प्रतिपादयति—

अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बनः सुरस्रोतस्विनीतटाद्युदीपितो नयननिमी-
लनादिभिरनुभावितः स्थायी निर्वेदः प्रतीयते, तथापि भगद्वासुदेवालम्बनायां
कविरतो गुणीभूत इति न शान्तरसव्यपदेशहेतुः ।

अत्रापि त्वयिः पूर्वपदसमुच्चारकः । तथा च पूर्वश्लोक इवात्र श्लोके निर्वेदस्य शान्त-
स्यामिनः, विषयसमुदवालम्बन-सुरधुनीतीराद्युदीपन-नेत्रनिमीलनाद्यनुभावसम्बन्धाच्छा-
न्तरसश्च निव्यपदेशो न भवति, निर्वेदस्य व्यग्रपत्वेऽपि सर्वप्राधान्येन व्यग्र्यमानाया कवि-
निष्ठाया श्रीकृष्णविषयकरतौ सामग्रीसङ्गनामावादपुष्टतया भावे, गुणीभावाद् भावश्चने रस-
वदलङ्कारस्य वा व्यपदेशास्नौचित्यादित्याकृतम् ।

यद्यपि इत रलोक में भी विषयों के अनादररूप आलम्बन से अङ्कुरित गङ्गा के तीर
आदि उदीपन से उदीपित इष्टि के अन्तर्मुखीकरण आदि अनुभवों से प्रतीति घोस्य
बनाया गया स्थायीभाव निर्वेद प्रतीयमान है, तथापि कृष्णचन्द्र-विषयक कवि-निष्ठ
रति की अपेक्षा यह शौण हो गया है, अतः उसके रहने पर भी यहाँ 'शान्त-रस' की
ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान स्थायीभाव ही रसरूप में परिणत होता है यह
पहले लिखा जा चुका है । तत्पर्य यह है कि यहाँ का 'निर्वेद' कथञ्चित् रसालङ्कार ही कहला
सकता है । एक बात और—यहाँ का 'विषयगणालम्बनः' यह मूलपाठ आमक है, क्योंकि
'विषय-समूह शान्त रस का आलम्बन है' यह अर्थ उस पाठ से प्रतीत होता है, जो
सङ्गत नहीं लैबस, क्योंकि ? शान्तरस में विषयों से विमुखता अपेक्षित मानी गई है,
किर विषय उस रस का आलम्बन कैसे होगा ? अतः 'अनादरप्रतीत्येतं जात' यह विशेषण
'विषय' में जोड़ना पड़ेगा, तब कहीं मूलपाठ सङ्गत हो सकेगा, इससे अच्छा है कि
'विषयावगगनालम्बनः' ऐसा मूलपाठ माना जाय, जिससे अम का अन्तर ही न आ सके ।

मालवतिलमेवोक्तपद्यस्य समर्थयति—

इदं च पद्यं मन्त्रिमितायां भगवद्भक्तिप्रधानायां 'कृष्णालङ्कार्या' मुपनिबद्धमिति
तत्प्रधानभावप्राधान्यमेवाहति ।

भक्तिर्भगवद्विषयारतिः । तस्या कृष्णालङ्कार्या प्रधानं यौ भावः (रति) तस्य प्राधान्य-
मेव, न तु गुणीभूतनिर्वेदस्य ।

कृष्णालङ्कार्याय रतिभावप्राधान्यात् तद्वद्वेऽस्मिन् पथेऽपि यतो भावप्राधान्यमेव
शुक्लम्, अन्तरशान्तरसश्च निवेद सम्भवतीत्याशयः ।

यह पद्य तण्डितराज रचित 'कृष्ण-लङ्करी' का है और उस ग्रन्थ में भगवान् की
भक्ति-भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी भाव की ही प्रधानता समुचित है ।

पुनरन्यथा शान्तरसानुगुणान्यमिह दर्शयति—

शान्तरसानुगुणध्यायभोजस्वी गुम्फ इति चानुदाहार्यमेवैतत् ।

ओजस्वितया शान्तरसानुगुणत्वम् । अयं सुरस्रोतस्वीत्यादिलोक । ओजस्वी वक्ष्य-
माणपरिपाद्योऽन्यगुणव्यञ्जक । गुम्फो रचितलोकसन्दर्भ । इतिहेतौ । चकार. समुच्ये ।

अस्य लोकास्य समासरेफ-संयोग-टवर्गादिघटितत्वाच्छान्तरसप्रतिकूलोऽन्यगुणव्यञ्ज-
कत्वादपि न शान्तरसञ्चन्युदाहरणत्वमुचितमिति भावः ।

दूसरी बात यह है कि इस श्लोक की रचना समास रेफ-संयोग और टवर्ग आदि से
सुक्त होने के कारण ओजस्विनी है, जो शान्तर-रस के प्रतिकूल पदवी है, इसलिये भी इस
पद्य को शान्तरस का उदाहरण नहीं माना जा सकता है ।

नन्वेवं मलयेत्यादिपद्येषु वृत्तिनिष्ठ-परमात्मविवेकरोते प्रतीतेस्तस्य कथं शान्तरस-
ञ्चन्युदाहरणत्वमित्याशङ्कामपस्यति—

पूर्वपद्ये तु 'परमात्मनि स्थितिः' इत्यनेन तत्ताद्रूप्यावगमाद् रतेरप्रतिपत्तिः ।

तस्य परमज्ञानस्तादृश्यस्य तदैकात्म्यस्य अवगमाद् बोधाद् रतेरप्रतिपत्तिरप्रतीतिः ।

तादात्म्ये पूज्यपूजकभाववसायाभावाद् रतेरसम्भवाच्च प्रतीतिरिति न तत्प्राधान्यस्य
सम्भव इति तुरादव्यञ्जयमुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यमतिरोहितमिदमभिप्रायः ।

यदि कहें कि 'मलयानिलकालकृतयोः' इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति
का वर्णन है', अतः वहाँ भी भाव की प्रधानता होनी चाहिये, 'शान्तर-रस' के उदाहरणरूप
में उसको कैसे उपरिष्ठा कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति'
इस उक्ति के द्वारा वक्ता की ग्रन्थ-रूपता दिखलाई गई है, अतः परमात्मा में वक्ता का
प्रेम नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रेम, प्रेम-पात्र और प्रेम करने वालों में भेद रहने पर ही
हो सकता है, उन दोनों में ऐक्य-ज्ञान होने पर नहीं ।

अथ रौद्ररसं निरूपयति—

रौद्रो यथा—

शिवशरासनमग्नानिमग्नसमाधि समुदीपितकोप परशुरामो ब्रवीति—

'भवोच्छलितयौवन-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे, मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं धृञ्चति ।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभ्रूदलस्खलद्गुधिरघस्मरो मम परस्वधो भैरवः ॥'

भवोच्छलितेन नूतनोन्नतितेन, यौवनेन तादृश्येन, स्फुरन् विजृम्भमाण, अखर्वोऽन्यथो
गर्वोऽभिमान एव तापवत्पाज्ज्वर सन्तापो यस्य, तस्मिन्, तथा मदीयगुरोर्ममशत्रात्र-
विद्याभ्यापकस्य शम्भो, कार्मुक धनु, गलितसाध्वस निर्भय यथा भवति, तथा धृञ्चति
छिन्दति, उत्कटापराधकारित्वादप्राप्तानामनि जने, अयमुत्तोल्यमान, दलितेभ्यः, समरे खण्डि-
तेभ्यः, क्षान्तां दर्पोक्षितानां, भूयता क्षितिपतीनां गलेभ्यः कण्ठेभ्यः, स्खलतो निष्पततः,
रुधिरस्य शोणितस्नः, घस्मर पाता, ममाद्भुतपराक्रमस्य मार्गवस्य, परस्वध परशु, निर्दयं
निष्करणं यथा भवति तथा, पतन्वित्यर्थः ।

अथ 'रौद्र-रस' का उदाहरण देते हैं—'रौद्रो यथा' इत्यादि । शिव-धनु-भङ्ग से प्रकुप्य
परशुराम की उक्ति है । नवीन उधृलती हुई युवावस्था के कारण घड़े हुए अत्यधिक
अभिमानरूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरु-गियत्री-के धनुष को तोड़
हाला है । अग्रा, अब युद्ध में काटे गये गर्वीले भूषों के गले से चूते हुये शोणित की
पीने वाला यह मेरा मयूर फरसा उसके ऊपर निर्दयतापूर्वक गिरे ।

प्रकृते रौद्रसव्यञ्जकसाधनार्थां प्रथममालम्बनविभावं दर्शयति—

अत्र तदानीं रामत्वेनाज्ञातो गुरुकर्मकमञ्जक आलम्बनम् ।

अत्रोक्तोदाहरणे । तदानीं क्रोधोद्रेकवसरे । रामत्वेनाज्ञातो रामोऽप्यमित्याद्यरक्षणा-
विषयीकृत, गुरुकर्मकमञ्जकः शिवधनुर्लोदको राम आलम्बनं क्रोधस्येति शेषः ।

गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ने वाला वह राम यहाँ आलम्बन है, जिसका
रामरूप से ज्ञान परशुरामजी को उस समय तक नहीं था ।

तत्र रामनामानुपादानस्य हेतुं दर्शयन्तुं समर्थयति—

अत एव विरोध्यानुपादानम्, गुरुद्रुहो नामग्रहणानौचित्यात्, क्रोधाविष्काराद्वा ।

अत एव गुरुद्रोहस्य बलवदपराधस्य वा कर्तृर्जनस्याप्राप्तनामत्वादेन । विरोधस्य
रामस्यानुपादानं नामाग्रहणम् । क्रोधोत्थाविष्कार उद्रेकः ।

इदमुच्यते—‘आत्मपातं प्राक् परशुरामेण दारारविरामस्य नाम न ज्ञातम्, ज्ञातमपि
वा दुष्कृतापराधविधानजन्यमन्युमरेण नोपातमिति क्रोधोद्रेकव्यजनादुचितमेव । अन्यथा
नवेत्यादि विरोधपक्षोपादानेऽपि विशेष्यरामानुपादानमनुचितमेव प्रतिभायात् ।

अथवा गुरु-द्रोही का नाम नहीं लेना चाहिए इस कारण, या क्रोध उत्पन्न हो जाने के
कारण ‘तोड़ने वाला’ यह विशेषण-भावा कहा गया है, विशेष्य (तोड़ने वाले का
नाम) नहीं कहा गया ।

उद्दीपनविभावं वक्ति—

ध्वनिविशेषानुमितो निरशङ्कधनुर्मङ्ग उदीपकः ।

ध्वनिविशेषो धनुर्मङ्गोत्पितस्तुमुलनिनास्, स च धनुषो निरशङ्कमञ्जनं विना कयमपि न
सम्भवतीत्यनुमानेन दृष्टोत् तादृशं रामस्य धनुर्मञ्जनसाहसमिह क्रोधस्योद्दीपनमिति सारम् ।

विलक्षण वङ्ग की जगद्व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ ‘निर्भय’ होकर धनुष का
बोझ देना’ उद्दीपन है ।

अनुभावमाह—

परुषोक्तिरनुभावः ।

भार्गवस्य क्वचि क्रोधस्य कार्यत्वादनुमान इति तात्पर्यम् ।

कटु वचन अनुभाव है ।

व्यभिचारिणो व्याहरति—

गर्वोत्पत्त्यादयः सञ्चारिणः ।

गर्व उग्रता आदि पदमात्रा अगर्भप्रवृत्तयो व्यभिचारिभावाः क्रोधस्य शेषवत्त्वात् ।

गर्व और उग्रता आदि व्यभिचारी हैं ।

प्रकरणं प्रकाशयति—

एषा च धनुर्मङ्गध्वनि-भग्नसमाधेर्भार्गवस्योक्तिः ।

एषां नवेत्यादिः । अस्मादुक्तशब्दश्रवणात् समाधिर्मङ्गः । तथाच क्रोधोदयौचित्यम् ।

यह धनुष के मङ्ग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है ।

रौद्रसातुर्लघुवृत्तिदर्शनादप्युक्तं समर्थयति—

वृत्तिरप्यत्र महोदृता रौद्रस्य परमौजस्वितां परिपुष्पाति ।

महोदृता दीर्घसमासबहुला संयुक्ताश्चरमयो पक्षपालाग्नी वृत्तिरप्यत्र पयो ओजोयुगा-
यस्य रौद्रसस्य व्यञ्जने परमोपकारकतया रौद्रसस्य शोषिकस्तीति रौद्रसोदाहरणमिदम् ।

छन्दे समासों से युक्त, संयुक्ताश्चरमयो, ‘पक्ष’ नाम की वृत्ति (रचना-विशेष) सी
इस पद्य में ‘रौद्र-रस’ की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है ।

पुना रौद्ररसव्यञ्जनशमतमेव दर्शयति—

अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहम्भावविगमस्यावश्यकतया, प्रकृते चाजहत्स्वार्थ-
लक्षणाभूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कर्षस्यैव प्रकशनात् स्फुटं गम्यमानेन
विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्यं गम्यते ।

अन्यत्र क्रोधानुदयावसरे । अहम्भावोऽहङ्कारः । प्रकृते क्रोधोद्रेके । अजहत्स्वार्थोपा-
दानलक्षणा, वाच्यस्यापि लक्ष्येण सह 'प्रधानप्रतीति विषयत्वात् । अकुदावस्थाया, गुरोः
स्मरणे, विनयोदयादहङ्कोपशमस्यैवौचित्यम् । सम्प्रति क्रोधदशायान्तु, मदीयेत्यस्मच्छ-
ब्देनैवविंशति धारास् श्रितिनिःक्षत्रियत्वसम्पादननिरशङ्कं मातृप्रातृवधानुष्ठानपित्रादेशपरिपा-
लनाददभुतकर्मशालिस्वात्मन्युपादानलक्षणया, व्यज्यमानेन, बीजभूतेन गर्वोत्कर्षेण, विवेक-
शून्यत्वं क्षारीकृत्य, व्यज्यमानं क्रोधाधिक्यं, रौद्ररसं गोचरयतीति रौद्ररसध्वनेरिदमुदाहरणम् ।

यद्यपि, जहाँ क्रोध का जयस्तर नहीं रहता, गुरु का स्मरण होने पर विनय-भाय के
उदित हो जाने से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है, परन्तु यहाँ वैसा नहीं हुआ है, यह बात
स्पष्ट है क्योंकि यहाँ गुरु में जो 'मदीय' (मेरे) विशेषण लगाया गया है, वह लाक्षणिक है
अर्थात् मदीय पद की इक्कीस बार पृथ्वी को निःशत्रिय बनाने वाले अस्मच्छद्वार्थ में
अजहत्स्वार्था (उपादान) लक्षणा है, जिससे अस्मच्छद्वार्थ (परशुराम) का गर्वोत्कर्ष
ध्वनित होता है, उससे परशुराम की विवेकहीनता प्रतीत होती है, (गुरु के सामने
अपना गर्वोत्कर्ष दिखलाना विवेक-हीनता का सूचक होता है) उस (प्रतीयमान-विवेक-
हीनता) से भी परशुराम का क्रोधाधिक्य व्यक्त होता है । इस तरह स्थायीभाव 'क्रोध'
की सब तरह से पुष्टि होने के कारण यह पद्य 'रौद्र-रस' का उदाहरण होता है ।

प्रत्युदाहरणं व्याहरति—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

क्रुद्धं परशुरामं कविद वर्णयति—

‘धनुर्विदलनध्वनिप्रवण-सत्तृणाधिर्भयन्

महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगभूताधरः ।

विलोचनविनिस्सरद्गुह्यविस्फुल्लिङ्गप्रज्ञो

रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥’

धनुष, शिवकामुकस्य विदलनात् खण्डनाद् (उद्धूत) ध्वनिर्निनादः, तस्य ध्वना-
दाकर्णनात्, तत्क्षणे सद्यः, आधिर्भवन्ती समुत्पद्यमाना, महागुरोः पितुर्ममदग्निमुनेः,
वधस्य सहस्रबाहुसन्कर्तृकथातस्य, स्मृतिः स्मरणं यस्य सः, तथा श्वसनस्य क्षत्रियकृता-
पराधस्मरणोद्भूतमोघोद्भावितास्य, वेगेन रंहसा, भूत कम्पितोऽधरो निम्नोष्ठो यस्य,
स, तथा विलोचनाभ्यां भ्रमेचलेहितनेत्राभ्यां, विशेषेण प्राचुर्येण, निस्तरन् निर्गच्छन्,
बहलो विपुलो विस्फुल्लिङ्गवज्रोऽग्निनकणगणो यस्य, तादृशो रघुप्रवरं रामचन्द्रम्, आक्षिपन्
धनुर्मञ्जनापराधकारित्वादाक्रोशन्, जामदग्न्यो जमदग्निमुनुर्मुनि- परशुरामो जयति सर्वो-
त्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः ।

रौद्र-रस का प्रत्युदाहरण दिखलाते हैं—‘इदं पुनर्नोदाहार्यम्’ इत्यादि । ‘धनुर्विदलन’...
यह श्लोक ‘रौद्र-रस’ के उदाहरणरूप में उपस्थित करने योग्य नहीं है । कोई, क्रुद्ध-
परशुराम का वर्णन करता है—धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काळ, जिसको महागुरु-
पिता जमदग्नि की सहस्रबाहुतमय द्वारा की गई हत्या का स्मरण हो आया, अत एव
निःशस्-वायु के वेग में नीचे का होठ फड़कने लगा और आँखों से आग की चिनगातियों

का महान् पुञ्ज झरने लगा, वे ऐसी स्थिति में, रामचन्द्र पर आशेष करते हुए मुनि परशुराम, सबसे उरकृष्ट हैं ।

घनुरित्यादिपद्यस्य कुतो न रौद्रध्वनुदाहरणत्वमित्युपपादयति—

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनालम्बितो घनुविदलनध्वनिश्रवणेनोदीपितो निश्वास-नेत्रज्वलनादिभिरनुभावितो महागुरुबधमृत्वि-गर्वोमत्वादिभिश्च सञ्चारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववर्णनबीजभूतायां कविरसौ गुणीभूत इति न रौद्ररसध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

अपि पूर्वश्लोकसमुच्चायक । अथराधो घनुर्भञ्जनरूप, तदनुयायी रामचन्द्र आलम्बनम्, घनुर्भञ्जनिभ्रवणमुदीपनम्, निदृष्टासौ नेत्रज्वलनादिष्वानुभाव, पितृवपस्त्रातिगर्व उग्रता च व्यभिचारिभाव, सम्पूय क्रोधं रौद्रस्यायिनं रसत्वं नयतीति रौद्ररसोदाहरणत्वमस्य प्राप्तम्, किन्तु 'जयति जयदग्न्यो मुनिः' इति कथनाद् वर्णनीयज्ञानदग्ध्यतिपयक-कविनिष्ठरतिभावस्यैव प्राधान्याद् भावध्वनेरेवेदमुदाहरणम् । क्रोधस्त्वत्र व्यज्यमानोऽपि रसो पोषकत्वैनाहभूत एवेति नेदं रौद्रध्वनेरुदाहरणमित्यभिसन्धिः ।

यद्यपि इस पद्य में भी उस 'क्रोध-रूप' स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसका आलम्बन, अपराधी रामचन्द्र है, उदीपन, घनु-मर्द-ध्वनि का अवन है, अनुभाव, आस तथा नेत्रों का जलना है और सञ्चारी—पिता की हत्या का स्मरण, गर्व, एवम् उग्रता आदि हैं, तथापि वह (क्रोध) 'रौद्र-रस' रूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस (परशुराम विषयक) कवि-निष्ठ-रति को अपेक्षा वह गौण हो गया है अर्थात् कवि इस पद्य के द्वारा परशुरामजी के प्रति अपने 'भाव' को ही प्रधानरूप से प्रकट करना चाहता है, रौद्र-रस' के स्थायीभाव क्रोध को नहीं । अतः वह श्लोक रौद्र-रस-ध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता है ।

काव्यप्रकाशोक्तित्तमुदाहरणं दृश्यति—

काव्यप्रकाशगत रौद्ररसोदाहरणौ तु—'कृतमनुकृतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इतिपद्ये रौद्ररसव्यञ्जनसमा नास्ति दृष्टिः, अतस्तत्कवेरशक्तिरेव ।

वच्यमाणावचित्तुना सूच्यते । 'अनुजपशुभिर्निर्योदेर्नवद्विस्त्रयायुधैः ॥ नरकरिपुणा-सार्धं समीरन्किरीडित-मपमहमसृज्योदेमार्गैः करोमि रिसा नजिम् ॥' इति रसाजसिद्धांशः । वेगीतंहारे-श्रीगान्धार्यशिरश्छेदात् क्रुद्धस्याश्रुत्याम्नोऽर्जुनं प्रत्युक्तिरियम् । रौद्ररसस्य व्यञ्जने समा समास-संयुक्तायश्रवहुता परया दृष्टिः । तामेव गौडी रीतिं नामनादयो मन्यन्ते । तत्कवेर्बेगीतंहारकर्तुर्महानायकस्य । अत्राति प्रतिभाऽल्पता, एव नत्वत्र कथञ्चन समाधिः सम्भवः ।

रौद्ररसोचितायाः परयाया दृष्टेरनिबन्धनात् कवेरशक्तिरिदं प्रतीयत इति नादुष्टमिदमुदाहरणम्, 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्यता संप्रियते कवेः । यस्त्वरशक्तिकृतस्तस्य ॥ मृदित्येव भासते ।' इति ध्वनिकारोचेरित्याकृतम् ।

परंतु—अज्ञानिरूपगुणमुपक्रम्य द्वितीय उद्घोते—'तत्प्रकारानपरिचार्योऽनपेक्षितदीर्घसमासरचन' प्रसन्नवाचस्यभिषेय । यथा—'यो यः शब्दं विमर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ । तृतीये पुनः 'तथा रौद्रादिष्वसमासा दृश्यन्ते । यथा—'यो यः शब्दम्' इत्यादौ ।' इति ध्वनिकृतेव समासादिप्रयोज्यशब्दकठिन्ध्वनिरहेऽप्यर्थकठिन्यमात्रादप्योजोगुणस्य तदाश्रयरौद्रादिरसनाय च व्यज्यमानताया निर्वाचनमिषानात् 'कृतमनुकृतम्' इत्यादौ रौद्ररसव्यञ्जनाशमदृष्टि-निबन्धनात् कवेरशक्तिकृतदोषस्योद्घोष-पण्डितराजस्यैव विवेकाशक्तिं सूचयति, न तु कवेः, सद्व्यानुमवसाशक्तिपिच्छित्तेरकृतत्वादिति व्याहरन्ति ।

अथ काव्यप्रकाशकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित 'रौद्ररस के उदाहरण' में कृपण दिखलाते हैं—'काव्यप्रकाशगत' इत्यादि । मम्मट ने यह पद्य 'रौद्ररस' के उदाहरण दिखलाने के लिये उद्धृत किया है—

‘कृतमनुमत दष्ट वा’ ... ‘करोमि दिशो बलिम् ॥’

‘वेणीसहार’ नाटक में द्रोणाचार्य की हत्या से क्रुद्ध अश्वत्थामा की, अर्जुन के प्रति यह उक्ति है—क्षत्र उठाने वाले ‘मर्यादा-रहित, जिन, नर-पशुओं ने यह (द्रोणवधरूप) महापाप किया है या अनुमति दी है अथवा उस कुकर्म को आँखों के सामने होता देता है—कृष्ण के साथ साथ—उन, भीम, अर्जुन प्रभृति सभी लोगों के शोणित, मत्वा तथा मांस से मैं अकेला ही दिक्पालों की बलि करता हूँ । इस पद्य की रचना ‘रौद्र-रस’ को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है क्योंकि इसकी रचना में न समास की बहुलता है, न संयुक्ताक्षरों की और संयुक्ताक्षर-बहुल रचनारूप ‘परपा’ वृत्ति अथवा वागम आदि अग्राचार्यों के मत से वाद्वस गोणी रीति की ही ‘रौद्ररस’-व्यञ्जक माना गया है । अतः यहाँ यही मानना पड़ेगा कि कवि में शक्ति की कमी थी, जिससे वह रौद्ररसाभिव्यक्ति की अभिलाषा रख कर भी सघोर पदावली की रचना नहीं कर सका ।

अथ वीररसं विभज्य निरूपयति—

वीरश्रुतुर्धनं, दान-दया-युद्ध-धर्मस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात् ।

तदुपाधेर्वीररसोपादानस्योत्साहस्य दान-दया-युद्ध-धर्मरूपविषयभेदेन निश्चितयोपधे-यस्य वीररसस्यापि चतुर्भेदकत्वं भवतीत्यर्थः ।

अथ ‘वीररस’ का विभाग प्रदर्शनपूर्वक निरूपण करते हैं—‘वीर’ इत्यादि । ‘वीररस’ के चार भेद हैं क्योंकि वीररस का स्थायीभाव ‘उत्साह’ दान, दया, युद्ध और धर्मरूप विषय के भेद से चार प्रकार का हो सकता है ।

दानवीरमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

विप्रवेण्येण सान्मानयेन्द्रायादेयकन्यादिदानाङ्गीकरमाकलस्य चकितान् सभ्यान् कर्णौ प्रवीति—

‘क्रियदिदमधिकं मे यद् द्विजाचार्यमित्रे
कथंचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि’ ।

अकरुणमयकृत्य द्वाक् कृपायोनं निर्यद्-
बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥’

मे यस्मै कस्मै विदपि याचकाय महार्घमपि सदा सोल्लास वितरणात् प्रसिद्धस्य कर्णस्य मम, अर्थयित्रे याचमानाय, द्विजाय विप्राय, अरमणीयं चर्मरूपत्वादसुन्दरम्, सुवर्णनिर्मित-त्वात् साधारणे कुण्डले च, यद् अपर्यामि ददामि, इदं तत् क्रियदधिकम् (प्रत्युत क्षुल्लमेव) । द्वाग् भद्रिति, अकरुणं निर्दयं यथा स्यात् तथा कृपायोनं सह्येन, अवकृत्य क्षित्वा, निर्यती निस्त्रवन्ती बहला विपुला रुधिरस्य धारा यस्मात् तादृश मौलिमात्ममस्तकम्, आवेदयामि समर्पयामीत्यर्थः ।

शोदीयः कवचादिदानादेव मयः किमिति चकितः ! अहं तु प्राज्ञायैव याचितः सयः स्वशिरोऽपि क्षित्वा समर्पयितुमर्हामीति सारम् ।

उभयें प्रथम अर्थात् दानवीर जैसे—याचक-रूप में प्राज्ञाय-वेध चारण करके उपस्थित इन्द्र की कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर उस दान से चकित सभ्यों के प्रति

कर्ण की उक्ति है—मेरे लिये यह कौन बड़ी बात है कि मैं याचक माझण को, साधारण, कवच और कुण्डल अर्पण कर रहा हूँ । निर्दयता-पूर्वक, तलवार से तत्काल काट कर बहती हुई प्रगाढ़-रुधिर-धारा से युक्त अपने मस्तक को भी उनके आगे निवेदित करता हूँ—समर्पित कर सकता हूँ ।

प्रकरणमुपन्यस्यति—

एषा द्विजवेपायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तदानविस्मितान् सभ्यान् प्रत्युक्तिः ।

पित्रा भगवता मात्करेण कर्णस्य रक्षार्थं कवचादीनां दत्तत्वाददेयानामपि दानोद्यमेन सम्माननामाश्चर्यम् । एषेत्युक्तिविशेषणम् ।

(यहाँ का अनुवाद श्लोकार्थ के अवतरणरूप में ऊपर किया जा चुका है ।)

आलम्बनादीन् दरायति—

अत्र याचमान आलम्बनम् । तदुदीरिता स्तुतिरुपेक्षिका । कवचादिचित्रणं सत्र लघुत्वबुद्ध्यादिकं चानुभावः । 'मे' इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वन्युत्थापितो गर्वः, स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिसृष्टिश्च सञ्चारिणी ।

अत्र 'किम्' इत्याद्युदाहरणे । याचमानोऽर्थो द्विजवेप इन्द्रः । स्तुतिर्वाचककृता प्रार्थना । सत्र कवचादिषु, लघुत्वबुद्धिस्तुच्छत्वज्ञानम् । 'मे' इत्यस्मच्छब्दस्योच्चारणमिश्रमिषेऽभिधा, निरग्रहं समस्तैर्धनदानदत्तत्वादिसर्वविशिष्टस्वार्थेऽज्ञहत्त्वार्था प्रयोजनवतो लक्षणा, स्वकीया द्वितीयदानशौण्डत्यादिप्रयोजने च व्यञ्जनेत्वर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः । तेन व्यञ्जमानो-गर्व आत्मनोऽमर्त्यादित्वजन्यत्वसृष्टिभावश्च व्यभिचारिभावौ विसावादिभिः सम्भूय दानो-त्साहं दानवीररसत्वं प्रापयन्तीति हृदयम् ।

यहाँ याचक (द्विज-वेप-धारी इन्द्र) आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रार्थना उद्दीपन है, कवच आदि का समर्पण और उस समर्पण में गुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' और अनुवाद के 'मेरे लिये' पद से व्यक्त होने वाला गर्व तथा अलौकिक पिता-सूर्य से अपनी उरगति का स्मरण सञ्चारी भाव है । यहाँ 'मे भगवा मेरे लिये' पद से गर्व आदि क्यों और कैसे व्यक्त होते हैं यह भी समझ लेना चाहिये—'अस्मद्' दाक्ष उच्चारणकर्ता का वाचक है अतः उस पद के न रहने पर भी वाक्य के वाच्यार्थ में कोई कमी नहीं रहती, फिर वह पद कहा ही क्यों गया ? इसका उत्तर यह होगा कि 'मे' पद लाघणिक है—वाचक नहीं, अतः उस पद से केवल उच्चारणकर्ता का बोध नहीं होता, यत्न विलक्षण-दान-शक्ति आदि धर्मविशिष्ट उच्चारणकर्ता का बोध होता है । जिससे उक्त अर्थ—जो लक्षणा का प्रयोजन है—व्यक्त होता है । इसीसे अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्यध्वनि कहते हैं ।

द्वल्लवृत्तेरपि रसालुकृतां प्रकटयति—

धृतिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गम—विरामशालितया सहृदयैकचमत्कारिणी । तथाहि—उत्साहपोषकं कवचकुण्डलार्पणयोर्लघुत्वनिरूपणं विधातुं पूर्वार्थे तदनु-कूलशिथिलबन्धात्मिका । उत्तरार्थे तु 'मौलि'तः प्राग् वचूगत्-गर्वोत्साहपरिपोष-णायोद्धता । ततः परं माझणो सविनयत्वं प्रकाशयितुं तन्मूलीभूतं गर्वराहित्यं धनयितुं पुनः शिथिलैव । अतः यथावेदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि धितराभीति वा ।

अत्रोदाहरणे । वृत्तिरूपनामिकादिव्रितयान्यतमरूपा । तत्तदर्थानुरूपोद्गमविरामशालि-तया—तस्य तस्य चार्थस्यानुरूपौ तुल्यौ यादृग्गमविरामौ आरम्भसमाप्ती, ताम्या शालितया तद्वत्त्वेन । एकशब्दो मुख्यार्थक, मुख्यत्वं चात्यन्तत्वपर्यवस्यति । कवचस्य कुण्डलयोर्वाच-

गस्य दानस्य यत्नधुत्वस्य तुच्छताया निरूपणम्, तत् तद्दानविषयस्रोत्साहस्य पोषकम् । शिथिलबन्धात्मिका मृदुलवर्णघटिता कोमलाख्या वृत्तिः । मौलितो 'मौलि'मित्यस्मात्, निर्वि-
मत्तिकानुकरणात्तसिल् । उद्धता कर्कशवर्णघटितापरुषा वृत्तिः । शिथिला कोमलैव, न तु परुषा ।
ददामीत्यादेर्गर्वप्रकाशसम्भवः ।

अयं भावः—इह पद्ये वर्णनीयार्थानुसारी वृत्तिसन्निवेशः सहृदयहृदयहृत् । तथा चादि-
मचरणद्वये देयकवचादिलघुत्वविभावनाद् दातुस्साहस्य पुष्टिरिति धीररसोचिता परुषा वृत्तिः ।
तृतीय-चतुर्थचरणयोः 'मौलिम्' इति शब्दात् पूर्वं वक्षु कर्णस्य, गर्वोत्साहयोर्वीवनाच्च
सैव वृत्तिः । तदर्थं दानीवविग्रस्तापापौद्धत्यपरिहारनम्रताप्रदर्शनयोरौचित्येन तदनुकूला
कोमला वृत्तिः सन्निवेशिता । ददामि वितरामोत्याद्युक्तौ वक्त्रि दातृत्वाभिमानं प्रतीयते, सम-
र्पणार्थकान्देयामीति कथनेन तु विनयातिशय इति विवेकः ।

इस पद्य में वृत्ति (पद-योजना की शैली) भी उन्नत-उच्च अर्थों के अनुकूल कहीं पीढ़
और कहीं कोमल होने के कारण सहृदयमात्र को चमत्कृत करने वाली है । देखिए—
पूर्वांघ्र में कवच और कुण्डल के समर्पण में तुच्छता का भाव—जो उत्साह को पुष्ट करता
है—कराने के लिये पद-योजना शिथिल (कोमल) है और उत्तरार्ध में ' 'मौलि' ' से
पहले, वक्त्र के गर्व और उत्साह को पुष्ट बनाने के लिये, उद्धत (पीढ़) है, उसके बाद
फिर व्यास्रण के विषय में विनय प्रकाशित करने के लिये, विनय के मूलभूत गर्वोत्साहस्य को
अभिम्यक्त करने वाली कोमल रचना है । इसीलिये 'आवेदयामि—निवेदन करता हूँ—' कहा,
किन्तु 'ददामि—देता हूँ' 'वितरामि—वितरण करता हूँ' नहीं कहा ।

प्रसुसाहरणं दर्शयति—

इवन्तु नोदाहरणीयम्—

'दानवीर' का यह उदाहरण नहीं देना चाहिए—

दानवीरं नरेशं कथिद् वर्णयति—

'यस्योद्दामदिवानिशार्थिलसदानप्रवाहप्रथा—

माकर्ण्यनिमग्नहस्तागत-वियद्वन्दीन्द्रवृन्दाननात् ।

ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकर-ध्यावल्गादुधस्सरत्—

पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृद्धपयोदायते ॥'

यस्य गृहस्य, तस्मिन् निरन्तरप्रवृत्त्यादनवच्छिन्नः, दिवानिशं रात्रिन्दिवम्, अस्मिन् या-
चकेषु, विलसन् प्रवर्तमानो यो दानस्य प्रवाहः परम्परः, तस्य प्रथा ख्यातिम्, अचनिमग्न-
हताद् भूलोकाद्, आगतस्य वियद्वन्दीन्द्रवृन्दस्य स्वर्गस्तुतिपाठकप्रेष्ठमूढस्य, आगन्तुमुत्तात्,
आकर्ण्यं श्रुत्वा, सुरेन्द्रसुरभिर्देवराजकामधेनु, ईर्ष्या प्रतिस्पर्धदानयशस्समुत्कर्षप्रवणासहि-
ष्णुतया, निर्भरमतिमात्रं फुल्लोद्धितो रोमनिकरो लोमपाक्षिर्यस्य, सादृशम्, अत एव ध्याव-
ल्गात् क्षोभेण सञ्चलद्, यद् ऊर्ध्वं स्तनमार, तस्मात् स्रवतां निर्गलतां, 'पीयूषाणां नवीन-
दुग्धानां, प्रकरैः पूरैः (हेतुभिः) प्रावृद्धपयोदायते वर्णयति इवाचरतीत्यर्थः ।

यस्य राज्ञः सार्वदिकदानातिशयरचनान् कामधेनु, प्रतिस्पर्धया वर्णयति इव नितरं पथः
प्रवाहयति, तादृशो दानिनामप्रणीरप राजेति तात्पर्यम् ।

इन्द्र शब्दस्यात्र द्विरुपादानं चाहतां किञ्चिदपकर्षतीति सहृदयैवेवम् ।

कवि किसी दानी राजा का वर्णन करता है—भूमण्डल से छोट कर जाये हुये स्वर्गीय
बन्दीजनों के मुख से, उस दान-प्रवाह—जो बिना रुकावट के रातदिन याचकों को दिया
जाया है—की ख्याति को सुनकर, कामधेनु, ईर्ष्या के कारण अत्यन्त उत्फुल्ल (कण्टकित)

रोमराजि से तने हुये स्तन-भार से चूटे हुये असूत शयनकीन दुग्ध के समूहों से वर्षा काष्ठिक जलद सी हो जाती है अर्थात् राजा की दानकीर्ति को सुन कर कामधेनु के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिससे उसके अङ्गों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोम के खड़े हो जाने से उसके स्तन-स्थान में एक प्रकार की गुदगुदी पैदा होती है जिससे दूध की अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है ।

कुतो नैदमुदाहरणमित्युपपादयति—

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बनः, अथनिमग्नहागत-वियदृष्टदी-
न्द्रवदनरिनिर्गत-राजदानवर्णनोदीपितः, ऊयःप्रस्तुतपीयूषप्रकरैरमुभाषितः, असं-
यादिभिः सञ्चारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत वत्साङ्गो राजस्तुतिगुणीभूत
इति न रसव्यपदेशहेतुः ।

इह 'यस्ये'त्यादिपद्ये यद्यपि देवसमावृत्तान्तवर्णनान् तत्सदस्य वर्गालम्बनस्य, भूलोका-
गतवन्दिकृत राजदानवर्णनरूपोदीपनस्य, कामधेनुस्तनशीरसरणलक्षणाभानस्य, ईर्ष्याजनक-
तया व्यङ्ग्यपस्यासूयादेय व्यभिचारिभावस्य, सम्बन्धान् कामधेनुनिष्ठो दानोत्साहो दानवीर-
रसत्वभासादयति, तमाप्यसौ रसः स्तुतिव्यङ्ग्याया वन्दिनिष्ठराजरता वन्निभूतायामहस्वमेव
वभातीति नैव दानवीररसध्वनेरुदाहरणम्, अपि तु रतिभावध्वनेरित्यभिप्रायः ।

यद्यपि इस पद्य में भी कामधेनु का उल्लाह भूमिपूज्य होता है क्योंकि उसके
अभिप्रेत एक सामग्री यहाँ वर्तमान है, जैसे—इन्द्र की सभा में उपस्थित सब वर्तमान
आलम्बन हैं, भूलोक से आगत दिव्य वन्दोजनों के मुख से निस्सृत, राजा के दान का
वर्णन (तत्परक वाच्य) उदीपन है, स्तनभार से चूटे हुये असूतोपम नूतन दुग्धसमूह
अनुभाव है और ईर्ष्या की उक्ति से व्यक्त होने वाली ईर्ष्या-कारण असूया आदि सञ्चारी-
भाव हैं । तथापि यह उल्लाह 'दानवीर' रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि
यह कवि-विवक्षित राजविययक स्तुति की अपेक्षा गौण है अर्थात् कविनिष्ठ राजविययक
रतिभाव ही यहाँ प्रधान है और उक्त उल्लाह उसके पोषक होने से अङ्ग है, अतः यह
श्लोक भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है—रसध्वनि का नहीं ।

वीररसस्याज्ञात्वादन्यथापि तद्वचनव्यपदेशमात्रं दर्शयति—

अत एवेवमपि नोदाहरणम्—

इसी कारण से यह उदाहरण भी नहीं देना चाहिए—

वलिबामनहस्तं कश्चिद् वर्णयति—

'साग्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां

सर्पां घामपि, सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः ।

प्रादुर्भूतपरममोद-विदलरोमाञ्चितस्तत्क्षणं

व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरोन्वस्तवान् ॥'

अग्निभिः सप्तभिः क्षाण्दिभिः समुद्रैः द्वीपैः सप्तभिः पार्श्वद्वयोः पारतभूमौ पुष्करा-
दिभिः, कुलाचलैः सप्तभिर्विन्ध्यदिभिर्षण्डाष्टम्भ-पर्वतैश्च सहिता वसुमती पृथ्वीम्, अपि
तथा सप्तान्तरां स्वरादिसप्तप्राक्धरां, सर्पां सम्पूर्णान्, घामूर्ध्वमुवनावलीम्, पद्मधाम्,
आक्रम्य, सस्मितेन परपराजयजनितोपहसितेन, हरिणा त्रिविक्रमेण, मन्दं (हृष्यामेव पद्मपां
छलेन सर्वस्वप्रदणात्) स्तिमितं यथा स्यात् तथा समालोकितो दृष्ट्वा, प्रादुर्भूतो भगवत्साक्ष-
स्कारेणोत्पन्नः, पर आनन्दान्तरेभ्य उत्कृष्टो ग प्रमोदः सुखविशेषः, तेन विदलन् विकसन्
रोमाद्यो रोमपिच्छाह सञ्जातो यस्मिंस्तदृष्ट्वा, तत्क्षणं सद्यः, (प्रणामाय) व्यानम्रीकृता

विशेषण नतीकृता कन्धरा प्रीति येन, तादृशश्च, असुरवरो दैत्यधैर्यो बलिः, मौलिं मस्तकम् (तृतीयचरणारोपणाय) पुरो भगवतोऽग्रे, न्यस्तवानतिविषदित्यर्थः ।

कोई कवि बलि तथा घामनावतार भगवान् का वर्णन करता है—सात समुद्रों, सात द्वीपों तथा सात प्रधान पर्वतों से युक्त पृथ्वी को और सात परकोट वाले सम्पूर्ण स्वर्ग को भी चरणों से आक्रमण कर लेने के बाद जब भगवान् त्रिविक्रम ने ईषद्वारा पूर्वक राजा बलि की ओर तिरछी नजर से देखा, तब उस असुरराज ने उत्कृष्ट सुख की वरपत्ति के कारण रोमाञ्चित होकर उसी काल में नतानव होकर मस्तक सामने रख दिया । सारांश यह है कि भगवान् राजा बलि को झुलने के लिये बौने का रूप धर कर उसके द्वार पर गये और तीन पग पृथ्वी उससे मांगें, उदार चूड़ामणि बलि ने इस साधारण याचना को सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु भगवान् ने एक पग में समग्र भूलोक और दूसरे पग में सम्पूर्ण स्वर्गलोक को माग लिया, फिर 'तीसरा पग आपने के लिये तुम्हारे पास अगह नहीं है, अब अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति कैसे करोगे ?' इस अनोमाय को झटकाने के लिये बलि की ओर देख कर कटाक्ष करने लगे, तब बलि उन्हें साक्षात् परमेश्वर समझ उनके दर्शन से आनन्दमग्न हो उठा और तीसरा पग धरने के लिये अपना मस्तक उनके आगे रख दिया, इस व्यापार से उसने यह प्रार्थना की कि मेरा मस्तक तो आपने अभी तक मापा नहीं, वह मेरा अभी तक अपना है, अब आप उसीको माप कर मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें ।

अत एवेत्येतदभिप्रेतमर्थं प्रकाशयति—

इह च भगवद्भामनालम्बनः, तत्कर्तृकमन्दनिरुत्तणोदीपितः, रोमाञ्चादिभि-
रनुभाविताः, हर्षादिभिः पोषिताः, उत्साहो व्यज्यमानोऽपि गुणः ।

अत्र श्लोके त्रिविक्रमेणालम्बनेन, तत्कृतमन्दालोकोदीपनेन, रोमाञ्चादिभिरनुभावैः, हर्षादिभिर्मन्त्रित्यभिप्रेतैकं सम्भूयाभिज्यमानो बलिनिष्ठो दानोत्साहो दानवीररसत्वभासाद-
यद्यपि बलिस्तुते प्रधानाभूताया उपकारकत्वादङ्गमिति नेदं वीररसत्त्वेनैव दाहरणमित्याशयः ।

प्रमोदपदेनेह मुक्तमुच्यते, इर्वस्तु तदंशावच्छिन्नावरणभञ्जकवितृष्टिबिरोध इति न हर्षस्य बाध्यत्वम्, न च तस्य बाध्यत्वे व्यभिचारिवाच्यत्वरूपरसोपापात् ।

इस श्लोक में भी यद्यपि भगवान् घामनरूप आलम्बन, तत्कृत ईषद् वर्णनरूप उद्दीपन, रोमाञ्च आदि अनुभाव और हर्ष आदि सञ्चारी भावों के संगे से बलि का 'उत्साह' व्यक्त होता है तथापि बहु गौण है ।

निदर्शनदर्शनेनोत्साहस्याङ्गत्वमिह समर्थयति—

प्रागन्धगतस्त्वेव प्रकृते राजगतस्याऽपि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् ।

हेतौ पञ्चमी ।

प्राग् 'यस्ये'त्यादिश्लोकेऽन्यगतस्य 'भामगवीरुतेरुत्साह' (स्याधिकवीररस)स्य यथावर्ण-
नीयरजस्तुतेरुत्कर्षकत्वम्, तथा प्रकृते 'साञ्ची'त्यादिश्लोके राजा बलिस्तच्छिष्टस्यापि तस्योत्साह' (स्याधिकवीर)स्य स्वकीयस्तुतेरुत्कर्षकत्वम् । तस्मादङ्गप्रधानयो पूर्वत्र भिन्नसम्ब-
न्धित्वम्, प्रकृते त्वेकसम्बन्धित्वमिति विशेषेऽपि, परोत्कर्षकत्वेनाविशेषादुभयोरप्युत्साह-
(स्याधिकवीर)योरङ्गत्वमेव ननु प्राधान्यमिति भावः ।

उत्साह को गौण होने का कारण बतलाते हैं—'प्रागन्ध' इत्यादि । पूर्व (परयोद्गम इत्यादि) पद में अभ्य (कामधेनु) का उत्साह जिस तरह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट बनाने वाला था, उसी तरह यहाँ राजा (बलि) का उत्साह भी राजा बलि की स्तुति को उत्कृष्ट बनाता है । अतः इन दोनों पदों में स्तुति प्रधान और उत्साह गौण है ।

सारवोषिन्या काव्यप्रवृत्तिवित्तौ श्रीवत्सलान्धनमन्त्राचार्येणोद्धितं दानवीरोदाहरणं
खण्डयति—

एतेन 'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्सलान्ध-
नोक्तमुदाहरणं परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गेऽनुदाह-
रणीयत्वात् ।

'उत्ततिर्जमदमितः, ग गगनात् देवः पिनाकी गुरु-वीर्यं यत्तु, न तद् गिरां पयि,
ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः ॥ त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः, सत्यमद्रतपो-
निषेर्भगवतः किं किं न लोकोत्तरम् ॥' इत्ययं सम्पूर्णः श्लोकः । एतेन—परशुरामनिष्टो-
त्साहस्यायिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, कविनिष्ठतद्विषयकतौ गुणीभूतत्वेन । तस्य—
उत्साहस्यायिकवीरस्य । अत्रत्वाद् गुणीभूतत्वम् ।

श्रीवत्सलान्धनमन्त्राचार्येण 'त्यागः' इत्यादिपद्यात् दानवीररसध्वन्युदाहरणत्वं बहुलम्,
तदसमञ्जसम्, 'सावरी'-त्यादाविवात्राप्युत्साहस्यायिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि परास्तया
गुणीभावादित्यभिसन्धिः ।

इससे 'सार-वीषिनी' नामक 'काव्यप्रकाश' की टीका में 'श्रीवत्सलान्धन' मन्त्राचार्य
के द्वारा दिया गया 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण भी खण्डित हो गया, ऐसा
समझना चाहिए । उन्होंने—

'उत्तरतिर्जमदमितः'-----'न लोकोत्तरम् ॥'

इस श्लोक को धीररस ध्वनि का उदाहरण कहा है । यह श्लोक 'महावीरचरित' नाटक
के द्वितीय अङ्क में आया है, धनुर्भङ्ग से ऋद्ध परशुराम को रामचन्द्रजी कह रहे हैं—
मगवान् ! आपका क्या-क्या लोकोत्तर नहीं है भर्षात् आपकी सभी क्रियायें अलौकिक ही
हुई हैं, आपका जन्म जगत्प्रसिद्ध जमवर्ति मुनि से हुआ है; धनुर्भङ्ग साक्षात् शिवजी आपके
गुरु हैं—उन्हीं से आपने धनुर्विद्या प्राप्त की है, आपका पराक्रम आपके कर्मों से ही प्रकट
होता है—बचनों से यह प्रकट नहीं किया जा सकता, तथा भी आपका निराशा ही है,
सात समुद्रों से परिवेष्टित भर्षात् समूची पृथ्वी का अक्षय्य भाग से दान कर देना
साधारण बात नहीं है । आप उन्निर्घोषित तथा प्रादुर्गोषित दोनों तरह की समस्या के
निधान हैं । परन्तु यह पद्य 'रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ का
'उत्साह' रूप स्थायीभाव वाला 'दानवीररस' व्यङ्ग्य होकर भी कविनिष्ठ परशुराम
विषयक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, अतः यह श्लोक 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का अथवा
भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है ।

तुल्यन्यायेनातिपठे—

ननु 'अकरुणमकृत्य' इत्यत्रापि प्रतीयमानस्य दानवीरस्य; कर्णस्तुल्यत्वात्
कर्म ध्वनित्वमिति चेत् ।

पूर्वोक्ते 'क्रियदिदम्' इत्यादिपद्ये व्यङ्ग्यमानस्य दानवीररसस्याप्येवं कर्णस्तुतेरतत्वेन
गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात् कर्म रसध्वनित्वम्, तुल्यन्यायादित्याक्षेपराशयः ।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि 'अकरुणमकृत्य' इत्यादि पद्य में भी जिस
'दानवीर रस' की प्रतीति होती है, वह भी कर्ण की स्तुति का पोषक है अतः अङ्ग है—
गौण है—गंधान नहीं, फिर यह पद्य भी 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो
सकता ।

वसरयति—

सत्यम्, अत्र कवेः 'कर्णवचनानुवादमात्रतात्पर्यकत्वेन कर्णस्तुतौ तात्पर्य-
निरहात् ।

नात्र तुल्य न्यायावसरः, समोस्तौत्याभावात्, तथाहि—'अकृष्णमवकृत्य' इत्यादि-
पद्ये कवेर्दानवीर-कर्ण-वचनानुवादमात्रे तात्पर्यम्, न तु कर्णस्य स्तुतौ, तेन कर्णस्तुते-
स्तात्पर्यविषयस्वभावाच्चात्रित्वम्, नवा वीररसस्य तदङ्गत्वम् । 'सान्निध्यद्वीपे'त्यादौ तु स्तुते-
रेव वक्ष्यतात्पर्यविषयत्वात् प्राधान्यमित्युभयोर्वैषम्यमित्याशयः ।

उक्तं राज्ञा ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखिये, वहाँ कवि का
तात्पर्य केवल कर्ण के वचनों का अनुवाद करने में है, न कि कर्ण की स्तुति करने में ।

ननु कवेरिह कर्णस्तुतौ तात्पर्याभावेऽपि, कर्णस्यैव चेदात्मस्तुतौ तात्पर्यम्, तर्हि न
कयं स्तुते' प्राधान्यमित्याशङ्का निरस्यति—

कर्णस्य च महाशयत्वेनात्मस्तुतौ तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव ।

चस्त्वर्थकः । महाशय उदात्तमवा । तात्पर्यस्यनुपपत्तिरसङ्गतिः । अवाक्यार्थस्तात्पर्य-
विषयत्वाभावाद् वाक्यार्थबोधाविषयः ।

न हि महाशया आत्मरत्नाधिना भवन्तीति महाशयस्य कर्णस्यात्मस्तुतौ तात्पर्यासम्भ-
वादश्च स्तुते सत्त्वेऽपि, तात्पर्यविषयत्वाभावाच्च प्राधान्यसम्भावनैति वीररसस्य गुणीभावा-
भावाद् रसध्वनैरेवेदमुदाहरणमित्याकृतम् ।

यदि आप कहें कि प्रशंसा-सूचक होने से उक्त श्लोक स्तुतिवाक्य सो अवश्य है,
तब रही बात यह कि कवि उस वाक्य का अनुवादक मात्र है, अतः उसका स्तुति में
तात्पर्य नहीं माना जा सकता, ठीक है, परन्तु मूल वक्ता कर्ण का तात्पर्य अपनी स्तुति
में कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ण महाशय पुरुष है और अपने मुख से अपनी
स्तुति कोई छुड़ाशय ही कर सकता है । फलतः स्तुति उस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत
अर्थ नहीं है ।

ननु 'कियदिदम्' इत्यादिपद्ये प्रतीयमाना स्तुतिरपलियितुमशक्या, तात्पर्यविषयत्वविर-
हाद् यदि न शाब्दधीविषय, तर्हि कामतिरित्यत आह—

परन्तु वीररसप्रत्ययानन्तरं तादृशोत्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साऽनुमीयते
राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतौ तात्पर्याद्वाक्यार्थतैव तस्याः ।

लिङ्गेन हेतुना । स्वाधिकरणे धोतुरात्मनि । सा स्तुतिः ।

दानवीररसप्रधानक—शाब्दात्मकवाक्यार्थबोधे पर्यवसन्ते, व्यक्त्वा प्रतीतेन कर्णस्यो-
त्साहेन हेतुना, श्रोत्रात्मनि 'कर्णं स्तुत्यो (विभावाद्यभिप्रेत्य) दानविषयकोत्साहवत्त्वात्'
इत्याकाराऽनुमितिर्जायत इति प्रतीयमाना स्तुतिरत्रानुमितेयोरुचरो ननु शाब्दबोधस्येत्याशयः ।

इतनी बात अवश्य है कि 'दानवीर रस' की प्रतीति हो जाने के बाद उस उत्साहरूप
हेतु से सहृदयों के हृदय में वह (कर्ण की स्तुति) अनुमित होती है । इस तरह से यहाँ
वो स्तुति की प्रतीति होती है, वह अनुमितरूप है—शाब्दबोधरूप नहीं । परन्तु जहाँ राजा
का वर्णन किया गया हो, वहाँ वो राजा की स्तुति में ही श्लोक वाक्य का तात्पर्य रहता है
अतः वहाँ स्तुति की प्रधानता माननी ही पड़ती है ।

अथ दयावीररसध्वनिमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

दूसरा दयावीर, जैसे—

राजा शिवि शरणपथं कपोतरूपं धर्मं वक्ति—

‘न कपोत ! भवन्तमएवपि, स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम् ।

इदमद्य मया तृणीकृतं, भवदायुःकुशलं कलेवरम् ॥’

हे कपोत पारावत ! श्येनान् पक्षिघातकविहङ्गात् समुद्भवं उत्तरतिर्यस्य, तादृशं भयं भवन्तम्, यद्यपि मनागपि, न स्पृशतु (द्रामपि श्येनान्मामैषीः) यत् इदं पुरोवर्ति, भवदायुःकुशलं रक्षकत्वाद् भवदायुः धैर्यकृतं, कलेवरं (स्वस्य) शरीरम्, यद्य, मया दीनदयावतिना शिविना, तृणीकृतं भवद्रक्षाय श्येनाय भक्षयितुं समर्पमाणत्वात् तृणवत्तुच्छं मतमित्यर्थः ।

इह शिवेर्दयालुतापरीक्षायै श्येनरूपेणैन्द्रेणाकम्पमाणो गीतः कपोतरूपो धर्मः प्राण-परिप्राणाय शिवि शरणमगन्तुम् । स च दयार्थचेता स्वशरीरसमर्पणेन श्येनात् कपोतमरक्षी-दिति पौराणिकमिति रक्तम् ।

अत्र दयाविषयकशिवविभूतिस्तत्साहः स्वायो, कपोत आलम्बनम्, सरीयस्याकुलत्व-मुदीपनम्, शरीरार्पणमनुभावः, कृत्यादयश्च व्यभिचारिणः सम्भूय दयावीररसमास्वाद-पदवीं नयन्ति ।

हे पारावत ! (कवृत्तर !) बाज से उत्पन्न होने वाला भय थोड़ा भी तेरा स्पर्श न करे, (यह मैं चाहता हूँ) अर्थात् तू बाज से मत डर । (यद्यपि) आज मैंने तेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ हूँ अपने शरीर को मृग बना दिया है । तात्पर्य यह है कि हे कपोत ! तेरे शरीर के बचले मैं अपना शरीर बाज का दे रहा हूँ, जिसके भक्षण से मृत होकर बाज तेरे ऊपर आघात नहीं करेगा, फिर तुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है ।

कपोतापेक्षया श्येनं प्रयुक्त्या भूयो भयनिवृत्तं सम्भवात् पादन्तर कल्पयति—

अभवेत् चिन्त्यास—

चिन्त्यास पदानामिति शेषः ।

अथवा इम पद्य के स्थान पर इसतरह की रचना समक्षिपे—

शिविः श्येनेन व्रते—

‘न कपोतकपोतकं तव, स्पृशतु श्येन ! मनागपि स्पृहा ।

इदमद्य मया समर्पितं, भयते चाहतरं कलेवरम् ॥’

हे श्येन ! तव स्पृहा निषेत्ता, मनागपि, कपोतक-पोतकं पारावतस्यानुसम्पनीयशक्तं न स्पृशतु । यत् इदं चाहतरं कपोतशरीरपेक्षयाऽधिकमासक्तत्वादतिमनोरमं कलेवरम्, अद्य मया भवते समर्पितमित्यर्थः ।

हे श्येन ! (बाज !) तेरी स्पृहा (मारने की इच्छा) दृष्टवीय इस कवृत्तर के बचने का थोड़ा भी स्पर्श न करे (ऐसी मेरी अभिलाषा है) । मैंने आज तेरे लिये इस सुन्दरतम शरीर को अर्पित किया क्योंकि तू मेरे शरीर को खाकर अपनी पुष्टा-वृद्धा को शान्त कर और कवृत्तर के उस बचने को मत मार । प्रथम पद्य में कवृत्तर के बचने को निर्भय रहने का आश्वासन दिया गया है और द्वितीय पद्य में बाज को, कपोत-पोतक का हनन नहीं करने की सम्मति दी गई है जो उक्त आश्वासन की अपेक्षा अधिक सङ्गत है । अत एव प्रत्यकार ने प्रथम पद्य को द्वितीय पद्य में बदलना आवश्यक समझा । इस श्लोकार्थ का आधार एक पौराणिक कथा है—राजा शिवि की दयालुता की कथानि बहुत हो चुकी थी, इन्द्र ने उनको दयालुता की परीक्षा करना चाही, अतः इन्द्र स्वयं बाज बन गये और धर्म को कपोत बनाया । फिर उस बाज से अभिद्रुत होकर उस कपोत ने राजा शिवि की शरण ली ? और शिवि ने अपना शरीर देकर बाज से कपोत की रक्षा की ।

प्रकरणमालम्बनादि च प्रसज्यति—

एषा शिवेः कपोतं श्येनं प्रति चोक्तिः । अत्र कपोत आलम्बनम्, तद्वत्-
व्याकुलीभवनमुद्दीपनम्, तस्य कृते स्वकलेवरार्पणमनुभावः ।

पाठभेदेन बोधनीयव्यक्तिभेदः । तद्वत् कपोतनिष्ठम् । तस्य कृते कपोतस्य जीवनरक्षायै ।
धृत्यादिव्यभिचारिभावश्च बोध्यः ।

यह राजा शिव की प्रथम श्लोक में कपोत के बच्चे के प्रति [और द्वितीय श्लोक में
बाज के प्रति उक्ति है । यहाँ कपोत का बच्चा आलम्बन है, उसकी व्याकुलता उद्दीपन है
और उसकी रक्षा के लिये अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है । इसी तरह धैर्य आदि
सञ्चारी हैं, यह भी समझ लेना चाहिये । सारांश यह है कि इन सब भावों के संयोग से
'दया-वीररस ध्वनि' के व्यवहार का कारण होता है ।

इहोदाहरणे दानवीरध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद् दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति याच्यम्, श्येनकपो-
तयोर्भक्ष्यभक्षकभावापन्नत्वेन शिविशरीरस्यार्थिनोऽभावात् तदप्रतिपत्तेः ।

प्रत्ययो ज्ञानम् । श्येनो भक्षक, कपोतश्च भक्ष्य । श्येन कपोतशरीरस्यार्थी, ननु
शिविशरीरस्येत्यर्थिनोऽभावः शिविशरीरस्य । तदप्रतिपत्तेः शरीरदानाप्रतीतेः ।

अत्र पक्षे कपोतरक्षायै शिविकर्तृक-श्येनोद्देशक-शरीरदानं प्रतीयत इति पूर्ववद् दान-
वीरध्वनेरपीदमुदाहरणमिति पूर्वपक्षः ।

श्येनो हि भक्ष्यस्य कपोतशरीरस्यार्थी, नत्वभक्ष्यस्य शिविशरीरस्य, तस्मादावकस्या-
भावेऽत्र दानप्रतीतिरभ्यभवाच्च दानवीररसध्वनिरित्युत्तरपक्षश्चावसेयः ।

यहाँ शरीर-दान की प्रतीति होती है अतः यह पक्ष 'दानवीर ध्वनि' का ही उदाहरण है
ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि वाज्र का खाद्य कपोत है, अतः वह कपोत का
याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं, और जिस चीज का याचक जहाँ नहीं हो,
वहाँ उस चीज का दान कैसे हो सकता है अर्थात् यहाँ दान की प्रतीति होती ही नहीं है ।

ननु शिविहृत शरीरार्पणमेव दानमिति कृतो न दानप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्यामभिदधाति—

श्येनशरीरनिवेदनस्य कपोतशरीरवाणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्यत्वात् ।

उपाधिः प्रयोजनरूपं निमित्तम् ।

अतः शिवि कपोतशरीररक्षायै तत्परिवर्ते स्वशरीरमार्पयत् । ततो (द्रव्यस्य)
विनिमयो न तु दानं प्रतीयते, निरुपाधिकस्यैव एव दानस्य प्रत्ययादित्याशयः ।

यदि आप कहें—शिवि के द्वारा शरीर का अर्पण दान नहीं तो क्या है ? इसी का उत्तर
देते हैं—'श्येनशरीर' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यहाँ कपोत-शरीर की रक्षा के लिये शिवि
ने अपना शरीर दिया है, किन्तु वह दान कैसे कहलाया ? क्योंकि किसी चीज के बदले में जो
दूसरी चीज दी जाती है वह विनिमय (छेन-देन) कहलाता है—दान नहीं ।

मुद्गवीररसध्वनिमुदाहरति—

तृतीयो यथा—

तृतीय 'मुद्गवीर' जैसे—

-समग्ररूपे सत्तदं रावणं श्रीरामो प्रवीति—

'रणे दीनान् देवान् दशवदन ! विद्राव्य, वहति,

प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः ।

सलाटोद्यज्ज्वाला-कवलितजगज्जालविभवो

भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु ॥'

रे दशवदन रावण ! दीनान् निरतिशयपरान्महीनतया दुर्गतान्, देवानिन्द्रादीन्, राखे समरे, विद्रव्य बान्दिशोकान् विधाम्य, प्रभावशायकत्वं प्रभुत्वप्रौढमनुभावनृष्टता वा, बहति धारयति (स्वल्पवल्गुमरविजयाद् वीरमानिनि) त्वयि विषये, तु पुनः, मम त्रिभुवनैकवीरस्य, परिकरः समराय सन्नाहः सगारम्भो वा, कोऽयं कौटश ? । (किन्तु) ललाटाद् मालाद् दण्डस्या, ज्वालाया तृतीयनयनानलशिखया, कलितो, भङ्गित- (भस्मीकृत) जगत्पालस्य घृणाग्नमण्डलस्य, विभवो विभूतिर्येन, तादृशः (तृतीयनेत्रोन्मीलनमात्रभस्मीकृतत्रिभुवनस्तत्साहाय्यार्थमुपस्थित) भवः स्वयं भगवान् विनाकी, मे रामस्य, कोदग्नाद् धनुष, ध्युनस्य निर्गतास्य बाणस्य केन रंहः, कलयन्, धारयतु जानातु वैतर्यः ।

शुद्धवीर्यामरविजयमात्रेण प्रभुत्वगर्वाप्मातेन त्वया सह त्रिभुवनैकवीरस्य मे युद्धं नोचितम्, केवलनेत्रोन्मीलननस्मीकृताद्येपभुवनैर्न भवेन्नैव मे युद्धमुचितमिति भावः ।

हे दशमुख रावण ! पराक्रमहीन-वीर वंशजाओं को युद्ध में खदेड़कर महा-सामर्थ्य वाली बनने वाले मेरे विषय में तो मेरी (त्रिभुवनैकवीर की) तैयारी क्या हो सकती है, हाँ, जिनके छलाट से निकलती हुई ज्वालायें ममघ सृष्टि के वैभव को प्राप्त कर लेती हैं, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष से निकले हुये बाणों के बेग को समझें । अनिमाय यह है कि मैं तुम्हें तो अपने सामने कोई चीज ही नहीं समझता, परन्तु यदि समस्त तैयार के संहारक महाकाल हर भी युद्ध में मेरे सामने आवें तो वे भी मेरे बाणों के बेग को देखकर विस्मित हुये बिना नहीं रहेंगे ।

भगवन् प्रसन्नादि दर्शयति—

एषा दशवदनं प्रति भगवतो रामस्योक्तिः । इह भव आलम्बनम्, रणदर्शनसुदीपनम्, दशवदनायत्ताऽनुभावः, गर्वः सञ्चारी । शृङ्गिरज देवानां प्रस्तावे तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा धीररसानालम्बनत्वावगतयेऽनुद्धतैः, दशवदनप्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरस्यप्रतिपादनायोद्धताऽपि, तस्यावहाया रामगतोत्साहनालम्बनत्वेन, तदालम्बनस्य रसस्याप्रत्ययान्न प्रकर्षयती, भगवतो भवस्य तु परमोत्तमालम्बनविभावयत्नान् तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्योजस्विनो धीररसस्य निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता ।

गर्वो रामस्य वीरोक्तिव्यङ्ग्यः । तद्गतस्य देवनिष्ठस्य, कातर्यस्य भीरुत्वस्य । अनुद्धता कोमला वृत्तिर्दशवदनेति यावत् । उद्धता गरुणा प्रागल्भ्यं यावत् । तदालम्बनस्य रावणालम्बनस्य । न प्रकर्षयती नाविश्वेद्धता । उत्तरार्धे तु शिवस्य प्रस्ताव उपादानम् । श्लोत्स्विन श्लोकांशुणाश्रयस्य । निष्पत्तिरुत्वाद । प्रकृष्टोद्धताऽतिपरुषा ।

इदमुच्यते—एषेऽस्मिन् प्रतीयमानस्य वीररसस्यावशापात्रतया रावणो नालम्बनम् । तेन रावणालम्बनकवीररसस्य न प्रतीतिः । अत एव द्वितीयचरणे रावणस्यामरविद्रावण-रामार्थमूवनाय यद्यप्युद्धता, किन्तु न प्रकृष्टोद्धतावृत्तिः । विद्यविदितपराक्रमो भगवान् भवस्तु सर्वथाऽऽलम्बनत्वयोग्य इति तदालम्बनकवीररसप्रतीतिः । तस्मादुत्तारार्धे तदनुकूलैः प्रकृष्टोद्धता रूतिः । सर्वत्र रसानुसारिणी वृत्तिव्यवस्था कोप्या ।

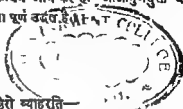
यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है । यहां सिव आलम्बन है, युद्ध-दर्शन सुदीपन है, रावण का तिरस्कार अनुभाव है और उच्च वीरतापूर्ण उक्ति से व्यङ्ग्य होने वाला राम का गर्व संचारीभाव है । वृत्ति (रचनाविशेष) देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत (गाठ) नहीं है अर्थात् कोमल है, जिससे उनकी (देवताओं की) कातरता प्रकट होती है और कातरता की अभिव्यक्ति से यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचन्द्र उनको वीररस का आलम्बन नहीं समझते । हाँ, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन

करने वाली उसकी वीरता का प्रतिपादन करने के लिये रचना उद्भूत अवश्य है, परन्तु उस औद्यत्य में प्रकर्ष नहीं है क्योंकि राम ने उसका तिरस्कार किया है, उसको अपनी घरावरी का नहीं समझा है अतः वह उनके उत्साह का आलम्बन होने योग्य नहीं है, फिर उसको आलम्बन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु भगवान् शङ्कर आयुत्तम आलम्बन विभाव हैं और उनको आलम्बन मान कर ही ओजागुणयुक्त वीररस की सिद्धि होती है, अतः उनके प्रस्ताव में रचना पूर्ण उद्भूत है।

धर्मवीररसश्च निमुदाहरति—

चतुर्थो यथा—

चतुर्थ धर्मवीर जैसे—



अधर्मेणापि शत्रुविजयं विधेहीति वदन्तं युधिष्ठिरो व्याहरति—

‘सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मी-रूपरि पतन्त्ययवा कृपाणधाराः ।

अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो-मम तु मर्तिर्न मनागपैति धर्मात् ॥’

राज्यलक्ष्मी (मम), सपदि शीघ्रं, विलयं नाशम्, एतु शत्रोस्तु । अथवा (मम) रूपरि, कृपाणस्य खड्गस्य, धाराः पतन्तु । (अथवा) कृतान्तोऽन्तकः (मम) शिरः, अपहरतुतरां नितरां छिनत्तु । तु पुनः (तथापि) मम धर्मेऽस्मिन् युधिष्ठिरस्य, मर्तिर्नुद्धिः धर्मात्, मनागीयदपि, न, अपैति नापसरतीत्यर्थः ।

राज्यनारा-शरीरापात-शिररछेदापेक्षयाऽपि धर्मोपेक्षा मे दुस्सहेत्याशयः ।

चाहे राज्य-लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाय अथवा खड्गों की धारों मेरे ऊपर गिरें, किंवा स्वयं मम मेरे शिर को काट ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अनुमात्र भी विचलित नहीं होती ।

अत्र प्रसङ्गादि प्रतिपादयति—

एषाऽधर्मेणापि रिपुर्जैतव्य इति वदन्तं प्रति युधिष्ठिरस्योक्तिः । अत्र धर्म-विषय आलम्बनम्, ‘न जातु कामात्र भयात् लोभा-द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।’ इत्यादिवाक्यालोचनमुदीपनम्, शिररछेदाद्यन्नोकारोऽनुभावः, धृतिः सञ्चारिणी ।

धर्मस्य विषयः सम्बन्ध्यनुष्ठानम्, धर्म एव वाऽनुष्ठानोद्देश्यतया विषयः । ‘धर्मो नित्य-सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्मै त्वनित्यः ॥’ इति भारतीयपयस्यावशिष्टांशः । आलोचनं समीक्षा ।

यह ‘अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिये’ ऐसा कहने वाले के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है । यहा पार्थिव विषय आलम्बन है, ‘काम, भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना प्राण के लिये भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये’ इत्यादि वचनों का विचार करना उदीपन है, मस्तक कर्तन आदि का स्वीकार करना अनुभाव है और धैर्य सञ्जारीभाव है ।

वीररसस्य प्रकारचतुष्टयवत्त्वेऽर्चिं सूचयन्नुपसहरति—

इत्थं वीररसस्य चातुर्विध्यं प्रपञ्चितं प्राचामनुरोधात् ।

प्राचां मम्मटादीनामनुरोधात्, न तु स्वविचारात् ।

इस तरह मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस के चार भेद दिख-लाये गये हैं ।

तमेव स्वविचारं प्रकाशयति—

यस्तु तस्तु—यद्यपि वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते ।

तथाहि—प्राचीन एव ‘सपदि विलयमेतु’ इत्यादिपद्ये ‘मम तु मर्तिर्न मनागपैति

सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरतां प्रापिते सत्यवीरस्यापि सम्भवान् ।

प्राचीने धर्मवीरोदाहरणतया प्रागुपात्ते । तथाहीत्यादिना प्रकरबाहुल्यप्रतिपादनम् ।

एवं यदि किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेण प्रकारभेदः स्यात्, तर्हि शृङ्गाररसवद् वीररसस्यापि भूयासः प्रकाश भवेत् । तस्माच्चेदं प्रकारभेदकल्पनं युक्तमिति स्वरसः ।

यस्तुतः शृङ्गार की तरह वीर-रस के भी बहुत ही भेद विसृजये जा सकते हैं। देखिये,— यदि पूर्वोक्त 'सररि विलम्बेत' इत्यादि पद्य को 'मम ह्य मतिर्न मनागपैतिसरयात्' अर्थात् 'मेरी बुद्धि तो थोड़ा भी सत्य से विचलित नहीं होती' इम तरह चतुर्थ चरण को बदल कर पद्यान्तर के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है ।

प्राचीनपञ्चपाती शङ्कते—

न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति-
याच्यम् ।

सत्यमपि धर्म एवेति धर्मवीरेणैव सत्यवीरस्यापि यतार्थतया नाधिकप्रकाररूपनासम्भव इत्यभिप्रायः ।

यदि आप कहें कि सत्य भी धर्म के अन्दर आ ही जाता है, अतः 'सत्य-वीर' की भी अन्तर्भाव 'धर्म-वीर-रस' में ही हो जायगा फिर अतिरिक्त भेद मानने की क्या आवश्यकता ?

समाधत्ते—

दानदययोरपि तदन्तर्गततया वीरयोरपि धर्मवीरात् पृथग्गणनानौचित्यात् ।

प्रथमस्तच्छब्दो धर्मस्य, द्वितीयस्तु दानदययोः परामर्शकः ।

यया सत्यं धर्म एव, तथैव दानं दया चेति तुल्यन्यायात् सत्यवीरवद् दानवीर-दया-वीरयोरप्युपादानं पृथक् न सञ्चक्षते । तस्मात् प्राक् प्रकरपरिगणना नोचितेत्याशयः ।

सब मैं कहूँगा कि दान और दया भी तो धर्म के अन्तर्गत ही है, फिर 'दान-वीर' और 'दया-वीर' को भी पृथक् भेद के रूप में गिनना व्यर्थ है ।

सत्यवीररूपनवीनप्रकाराभ्युपगमेऽपि निस्तार इत्याचष्टे—

एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते ।

एवं-दानादिवीरवत् ।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' की भी प्रतीति होती है ।

उदाहरति—

यथा—

हयग्रीवोपासनालब्धसिद्धिः कथनं पण्डितः सदसि प्रभू—

'अपि वक्ति गिरा पतिः स्वयं, यदि सासामधिदेवताऽपि वा ।

अयमस्मि पुरो हयानन-स्मरणोल्लाङ्घित्वाङ्मयाम्बुधिः ॥'

अदि स्वयं गिरा पतिर्बृहस्पतिरपि (का कया मानवपण्डितानाम्) वक्ति राज्ञार्यविचारै पूर्वपक्षमुपक्षिपति, यदि वा सासा गिराम् अधिदेवता वाग्देवी (स्वयं) सरस्वत्यपि वक्ति, (तर्हि) हयाननस्य भगवतो हयग्रीवस्य, स्मरणेन, उल्लाङ्घित तत्त्वोर्णो वाङ्मय शब्दब्रह्मवा-
पारत्वादम्बुधिर्न, तादृशो हयग्रीवोपासनासादितसकलशास्त्रतत्त्वावगमः, अयं सम्मुखस्योऽहम्, पुरस्तदुत्तरदानायात्रेऽस्मि भनापोत्यर्थः ।

हयग्रीवोपासकालब्धपाण्डित्यसिद्धिरहं साक्षाद्बृहस्पतिना सरस्वत्या वा राज्ञार्यविचारै न मनागपि विभेभि, क्रिमुतान्यैः सहेति सारम् ।

जैसे—हयग्रीव की उपासना से अद्वितीय विद्वत्ता को प्राप्त करने वाला कोई पण्डित सभा में बैठ कर कह रहा है—‘अग्निं वत्ति’ इत्यादि। यदि स्वयं बृहस्पति अथवा साक्षात् वागधिष्ठात्री देवी भी बोलें तथापि हयग्रीव के स्मरण से समस्त वाङ्मय-समुद्र को पार करने वाला यह मैं भागे में उपस्थित हूँ अर्थात् जब मैं बृहस्पति तथा सरस्वती से भी वाद में डरने वाला नहीं हूँ तब इस सभा में उपस्थित आप जैसे साधारण पण्डितों की बात ही क्या ? जिसका मन करे, आकर मुझसे शास्त्रार्थ-विचार कर सकता है।

स्वोक्तं समर्थयितुमालम्बनायाह—

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनः सभादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानुभावितो गर्वेण सद्धारिणा पोषित उस्ताहो वक्त् प्रतीयते।

स्यापि उस्ताहस्य बृहस्पतिः सरस्वती चालम्बनम्, सभा सदृकपण्डितमण्डली चेश्च ‘बोद्दीपनम्’, सभास्यसकलविद्वत्तिरस्कारोऽनुभावः, पाण्डित्यविषयको गर्वश्च व्यभिचारीति वक्तृगतस्य पाण्डित्यवीररसप्रतीतिर्भवतीति शेषः।

यहां बृहस्पति और सरस्वती आलम्बन हैं, सभा आदि का दर्शन उद्दीपन है, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली का तिरस्कार करना अनुभाव है और गर्व सद्धारिभाव है, इन भावों से वक्ता का पाण्डित्य-विषयक उस्ताह अभिव्यक्त होता है, जो ‘पाण्डित्य-वीर-रस’ का स्थायीभाव होकर उस रस के व्यवहार को प्रथम देगा।

पाण्डित्यवीरं युद्धवीरेप्रागुक्तेऽन्तर्भाव्यात्तेपरिहारमाशङ्कते—

ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य बादसाधारणस्य वाच्यत्वादिति चेत्।

शस्त्रयुद्ध-शस्त्रयुद्धयोर्विजिगीषकमूलवत्त्वेन युद्धत्वस्योभयत्रापि सत्त्वेनाभेदात् पाण्डित्य-वीरस्य युद्धवीर एवान्तर्भवति, नत्वतिरिक्त इति शङ्कापक्षायः।

। यदि आप कहेंगे कि यह तो ‘युद्ध-वीर’ ही है क्योंकि वाद-विवाद में भी वीजगीषा रहती है, अतः युद्ध से उसका भी समझ हो जाता है।

समादधाति—

क्षमावीरे किं श्रूया ?

पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीरेऽन्तर्भावेऽपि क्षमावीररूपं प्रकरो नूतनोऽपलवितुमशक्य एवेति प्राचा प्रकारपरिगणनमशङ्कतमेवेति भावः।

तो, मैं भी आप के कथनानुसार कथंचित् वाद को युद्ध मान लेता हूँ किन्तु फिर भी तो आप की इष्ट-सिद्धि होती नहीं दीखती, क्योंकि ‘क्षमा-वीर’ के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे ? अर्थात् उसका अपलप तो नहीं किया जा सकेगा।

क्षमावीरमुदाहरति—

यथा—

क्षमावान् व्याहरति—

‘अपि बदलदहनजालं, मूर्ध्निरिपुर्मे निरन्तरं धमत्तु।

पातयतु वाऽसिधारा सहमणुमात्रं न किञ्चिदभाषे ॥’

रिपुं शत्रुर्मे मम मूर्ध्नि शिरसि, वहत्वं भूयिष्ठम्, दहनजालमपिपुत्रम्, अपि निरन्तरं सन्ततं धमत्तु क्षत्रुमयोरेन कर्षयतु, असिधारा करालकला, वा पातयतु, (तथापि) अहं तितिक्षुः, अणुमात्रमप्यदपि, न किञ्चिद् श्रमापे निवारकवचनं वदामात्यर्थः।

जैसे—शत्रु भले ही मेरे मस्तक पर अग्नि-पुत्र को फूक-फूक कर धकावे (प्रज्वलित करे) अथवा तलवार को गिरावे, पर मुझे कुछ भी खोलना नहीं है।

प्रसङ्गमाह—

क्षमायत उक्तिरियम् ।

अत्रोत्साहस्य रिपुहताप्रकार आलम्बनम्, तदस्य प्रशंसाशुदीपनम्, मौनमनुभावो धृतिश्च व्यभिचारिभावः ।

यह किसी क्षमा-शील पुरुष की उक्ति है। यहां शत्रुहृन् अपराधरूप आलम्बन से अङ्कुरित, उदासीन व्यक्ति-कृत प्रशंसारूप उदीपन से उद्दीपित मौन-धारण-रूप अनुभाव से अनुभावित और धैर्य आदि सञ्चारी भावों से पोषित वक्ता का क्षमाविषयक उत्साह-जो 'क्षमा-वीर' का स्थायीभाव है—प्रतीयमान होकर 'क्षमा-वीर-रस-व्यवहार' का कारण होता है ।

क्षमायोरवद् बलवीररूपप्रकारस्यापि सम्भवत् परिगणनमयुक्तमेवेत्याह—

बलवीरं वा किं समादध्याः ?

उक्तरीत्या बलवीरेशोऽपि प्रकारः सम्भवतीति तदप्रश्ने किं समाधानं कुर्याः । न हि तस्य प्रकारान्तरेऽन्तर्भावः कथमपि कर्तुं शक्य इत्याशयः ।

. अथवा 'बल-वीर' के विषय में क्या समाधान देंगे ? अर्थात् 'बल-वीर' नाम का भी 'वीर-रस' का एक भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा ।

बलवीररसश्च निमुदाहरति—

यथा—

वैनतेयो वासवं ब्रवीति—

'परिहरतु धरां फणिप्रवीर', सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय ।

अहमिह पुरुहूत ! पञ्चकोणे, निखिलमिव जगदण्डकं वहामि ॥'

हे पुरुहूत महेन्द्र ! फणिप्रवीर सर्पश्रेष्ठ शेष, धरां शिरसि धृत्वा वज्रधा, परिहरतु परित्यजतु, कमठः कूर्मो भगवानपि ता पृष्ठस्था पृष्ठीं विहाय विस्मय्य सुखं त्वास्पर्दम्, अयतां प्राप्नोतु । अहं वैनतेय, इहान् पञ्चस्य गच्छतः, कोण एकदेशे (न तु समस्ते पक्षे) इदं प्रपञ्चगोचरम्, निखिलं सम्पूर्णं, (धारादिघटितं) अगदण्डकं ब्रह्माण्डमण्डलं, वहामि (हेलयैव) धरत्वा मोक्षार्थः ।

इह शेष शिरसः, कमठः पृष्ठेन च कथञ्चन पृष्ठीं विभक्ति, अहं पुनः पञ्चकोणेनाप्य-स्त्राण्डब्रह्माण्डमण्डलं हेलया बोधुमलमिति शेषकमठपेक्षयाऽऽत्मनो व्यतिरेकः प्रतीयते ।

जैते—सर्पों में सब से वीर शेषनाग अपने ऊपर से पृथिवी को हटा दें और कच्छप भगवान् भी उसे त्याग कर सुन्न-लाम करें । हे देवेन्द्र ! मैं अकेला ही अपने पंख के एक कोने पर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मण्डल को धारण कर लेता हूँ ।

प्रसङ्गमभिपत्ते—

पुरुहूतं प्रत्येषा गरुत्मत उक्तिः ।

अत्रापि शेषकूर्मालम्बनस्य, तत्प्रशंसाकर्षणाशुदीपनस्य, धराधारणोद्यमाशुभावस्य, गर्वादि व्यभिचारिणश्च प्राग्बहो विधेयः । चरमचरणे 'जगदण्डकम्' इति व्याख्यात्रनुमतः पाठ एवाप्रीकृतः । 'जगदण्डकम्' इति पाठस्तु व्यतिरेकप्रोपकत्वादुचितोऽपि ब्रह्माण्डमण्डलस्य सर्वविशया महत्तमत्वेन चौर्योत्कर्षबोधकत्वात् परित्यक्तः ।

यह इन्द्र के प्रति गरुड की उक्ति है । यहां 'बल-वीर-रस' की प्रतीति होती है ।

उक्तोदाहरणत्रये वीररसश्चनेरभावमाशङ्कते—

मनु 'अपि वाक्' 'परिहरतु धराम्' इति पञ्चद्वये गर्व एव, नोत्साहः । मध्य-

स्थपये तु धृतिरेव ध्वन्यत इति भावध्वनय एवैते, न रसध्वनय इति चेत् ।

मध्यस्थं पदम् 'अपि बहले'त्यादि ।

प्रथम-तृतीयपदयोः प्राधान्येन गर्वस्यैव, द्वितीयपदे च धृतेरेव व्यभिचारिभावस्य, ननुत्साहस्य स्थायिनः प्रतीतिरिति 'व्यभिचारी तथाऽजित' इत्युक्तेरानि श्रीयसि भावध्वनैरेव, न तु रसध्वनेरुदाहरणानीति शङ्कादलतात्पर्यम् ।

यदांशङ्का बह होती है कि 'अपि वक्ति "...." और 'परिहरतु धराम्' इन दोनों जिनको आप क्रमशः 'पाण्डित्य-वीर' और 'बल-वीर' के उदाहरण मानते हैं—पद्यों में गर्व की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, और 'अपिबहल "...." इत्यादि पद्य में धैर्य की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, अतः ये तीनों पद्य 'रस-ध्वनि' के उदाहरण नहीं हो सकते, वरन्, 'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि 'व्यभिचारी तथाऽजित' इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित व्यभिचारी भावों को 'भाव' माना गया है ।

समादधति—

तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिव्यनितामेव किं न त्रयाः ? रसध्वनिसामान्य-मेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतार्थये ?

'तद्व्यभिचारिध्वननेन' इति पाठस्तु सन्दर्भाशुदेस्तिरस्कृतः ।

यदि व्यभिचारिप्रतीतेरेव भावध्वनित्वं तेषूच्यते, तदा दानदयायुद्धवीरेष्वपि गर्वस्य, सत्यवीरे च धृतेर्व्यभिचारिभावस्य प्रतीतेर्भावध्वनित्वमुच्यताम्, वीररसध्वनेरुच्छेद एव कियताम् । अथवेत्यं सर्वेषु रसध्वनिषु तत्तद्व्यभिचारिभावस्यावश्यं प्रतीते सर्वत्र भावध्वनिरेवाङ्गीक्रियताम्, तेनैव रसध्वनिर्गतायीक्रियताम्, इत्थं हि सकलरसतन्त्रम्याकुलीभाष-स्यादित्यहो तत्र मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्ष इति समाधानपक्षारायः ।

परन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यदि इस तरह उक्त पद्यों में भावध्वनियों का स्वीकार किया जाय, तब 'युद्ध-वीर' आदि उदाहरणों में भी गर्व आदि भावों की ध्वनियों ही क्यों नहीं मान ली जाय ? क्योंकि दान, दया और युद्ध-वीरों के उदाहरणों में गर्व की और धर्म तथा सत्यवीर के उदाहरणों में धैर्य की प्रतीति अवश्य ही होती है । अथवा जहाँ जिस रस की ध्वनि होती है, वहाँ उस रस के समुचित व्यभिचारी भावों की प्रतीति का होना आवश्यक ही है, फिर उन सब जगहों में उन उक्त व्यभिचारीभावों की ध्वनियों को ही मान कर 'रस-ध्वनिमात्र' का उच्छेद क्यों नहीं कर दिया जाय ? अर्थात् आपके हिसाब से 'रसध्वनि' नाम की कोई चीज ही साहित्यशास्त्र में नहीं रह जायगी ।

ननु रसध्वनिषु व्यभिचारिभाषापेक्षया स्थायिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति तद्वलादसध्वनिव्यपदेशः, उक्तोदाहरणेषु तु गर्वादिव्यभिचारिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति भावध्वनित्वमेवोच्यत इति चेत्, न, उभयत्रोत्साहस्यैव स्थायिभावस्योत्कटत्वेन प्रतीयमानत्वात् । किञ्च बलवीरागुदाहरणेषूत्साहस्य प्रतीतिर्न भवति, दानदयायुद्धवीरोदाहरणेषु तु भवतीति कस्यचिदुक्तिरपि राजाशेवोपपत्तिविचारवधितैव, उभयत्र वैषम्याननुभवात् । तस्मात् प्राचीनानां वीररसप्रकारपरिगणनमसप्रतमित्येवाह—

स्थायिप्रतीतिर्दरपहवा चेत्, तुच्यं प्रकृतेऽपि । अनन्तरोक्षपदे तु नोत्साहः प्रनीयते, दयावीरादिषु प्रतीयत इति राजाज्ञामात्रम् ।

दुरपहवत्वेनोत्कटत्वं प्रतीते । अनन्तरोक्षपद 'परिहरतु' इत्यादि ।

यदि आप कहें कि 'रस-ध्वनि' के जो सर्वसम्मत उदाहरण हैं, उनमें व्यभिचारीभावों की अपेक्षा स्थायीभावों की प्रतीति उत्कट रूप से होती है, अतः वहाँ रस-ध्वनि मानते हैं, तब मैं कहूँगा—यहाँ (पाण्डित्य-वीर आदि में) भी उत्साहरूप स्थायीभाव की उत्कट

प्रतीति होती है, अतः यहाँ भी वीर-रस-ध्वनि मानिये । 'युद्ध-वीर' आदि में उत्साह की प्रतीति होती है और 'पाण्डित्य-वीर' आदि में नहीं, ऐसा कथन तो राजाजामात्र होगा-युक्तिसंगत नहीं । सरांस यह है कि प्राचीनों की 'वीर-रस' के चार भेद हैं। यह मान्यता अवश्य ज्ञतामूलक है, वस्तुतः उसके बहुत-से भेद हो सकते हैं ।

अथाद्भुतरसध्वनिमुदाहरति—

अद्भुतो यथा—

अथ 'अद्भुत-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं—'अद्भुतो यथा' इति । 'अद्भुत-रस' जैसे—
वदनान्तर्गतविश्वदर्शनवकिता यशोदा गोविन्दं वदति—

'चराचरजगज्जाल-सदनं वदनं तव ।

गलतृगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥'

हे कृष्ण ! चराचरजगज्जालस्य स्थावरजगमात्मकविश्वमण्डलस्य, सदनमधिकरणम्, गलतृगयद् गगनस्य व्योम्नः (किमुतान्यवस्तूनाम्) गाम्भीर्यमगाधत्वं यस्मान्, तादृशम्, तव बालकृष्णस्य, वदनं मुखं, वीक्ष्य विलोभ्य, हृतचेतना विस्मयातिशयेन जघ्नीभूताऽस्मीत्यर्थः ।

जो स्थावर और जड़-सम्पूर्ण ससार का निवास-स्थान है और जिसके सामने मैं गगन की सी गम्भीरता नष्ट हो जाती है, उस ठेरे मुख को देख कर मेरा चैतन्य लुप्त हो गया है—भाष्य से मैं हत-बुद्धि हो गई हूँ ।

प्रकरणादि प्रदर्शयति—

फदाचिद् भगवतो वासुदेवस्य वदनमात्मोक्तिवत्या यशोदाया इयमुक्तिः । अत्र वदनमालम्बनम्, अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुदीपनम्, हृतचेतनत्वम्, तेन गम्यं रोमाञ्च-नेत्रस्फारणादि चानुभावः, त्रासादयो व्यभिचारिणः ।

फदाचिज्जुम्भाप्रसरे, तथा च श्रीमद्भागवते—'पतिप्रायस्य जननी, सा तस्य हविर-स्मितम् । मुखं कालयती राजन् !, जूम्भतो दहरो हृदम् ॥ खं रोहसी ज्योतिरनीकमारा', सूर्येन्दु-रद्विघ्नसन्मुखीव । क्षीपात् नगास्तदुहितूर्वनानि, भूतानि यानि स्थिरजगमानि ॥ सा वीक्ष्य विरवं सहसा, राजन् ! सज्जातवेपथुः । सम्मील्य मृगशावाक्षी, नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥' अन्तर्गतं कृष्णमुखमप्यस्यम् । तेन हृतचेतनत्वेन गम्यं वाचकशब्दविरक्षात् कार्थतया व्यक्त्यम् । नेत्रयोः स्फारणमतिविकासनम् ।

इह प्राधान्येन प्रतीयमानस्य स्थायिनो विस्मयस्थालम्बनादिसामग्रीसमवधानाद्-द्भुतरसध्वनिः ।

यह किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण के विद्युत वदन को देखने के बाद यशोदा की उक्ति है । यहाँ विद्युत-मुख आलम्बन है, उसके अन्दर सम्पूर्ण स्थावर जगमात्मक संसार का अवलोकन उद्दीपन है, चैतन्य-क्षोभ तथा उससे व्यक्त होनेवाले रोमाञ्च एवं नयन-विकास आदि अनुभाव हैं और त्रास आदि सज्जादीभाव हैं । तात्पर्य यह है कि इन सब भावों के सयोग से अभिव्यक्त विस्मयाख्य स्थायीभाव की यहाँ प्रधानता है, अतः 'अद्भुत-रस' की ध्वनि यहाँ होती है ।

अत्र रतिभावध्वनिस्वभावाद्धितं सम्ब्यति—

नैवात्र पुत्रगता प्रीतिः प्रतीयते, न्यस्तकाभावात् ।

नन्वत्र यशोदानिष्ठया पुत्रविषयकरतेरेव प्राधान्ये व्यज्यमानत्वाद् मादध्वनेरिदमु-दाहरणं नन्वद्भुतरसध्वने, विस्मयस्व प्राधान्येनाप्रत्ययविति चेत्, न, पुत्रविषयकरतेरत्र व्यञ्जकविरहेणाव्यक्तत्वादित्याशयः ।

यहाँ यशोदा का पुत्र-प्रेम, वस्तुतः रहकर भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसकी प्रतीति

कराने वाला एक भी पद इस पद्य में नहीं है, अतः पुत्र-विषयक रति-रूप-भाव-ध्वनि का ही यह उदाहरण है—‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ का नहीं, ऐसी शब्दा नहीं करनी चाहिये।

ननु पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनयाऽत्रापि रतिप्रत्ययो भवत्येवेत्यत्राह—

प्रतीतायां या तस्यां विस्मयस्य गुणत्वं न युज्यते ।

तस्या पुत्रतौ । गुणत्वमप्राधान्यम् ।

प्रकरणपर्यवेक्षणेनात्र पुत्रगतिप्रतीतियानुभविकी, तथापि तस्या भङ्गत्वाद् इतचेत-
नत्वेन मुख्यतया व्यञ्ज्यमानस्य विस्मयस्य प्रधानत्वाच्च रतिभावध्वनि, अपित्वद्भुतरसध्व-
निरिति भावः ।

यदि प्रकरण-पर्यालोचन से यहां पुत्र-प्रीति की प्रतीति होती है वह बात अनुभव-
सिद्ध हो, तब भी वह (पुत्र-प्रीति) चैतन्य-लोप की वान से प्रधानतया व्यक्त होनेवाले
विस्मय की अपेक्षा गौण ही होगी, विस्मय उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता।

अत्रैव भक्तिरसध्वनित्वं केनाप्याशङ्कितं निराकरोति—

एवं ‘कश्चिन्महापुरुषोऽयम्’ इति भक्तिरपि, तस्या. ‘पुत्रो ममायं बालः’ इति
निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तमेव नेष्टे। अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः।

एवं विस्मयस्यैवाङ्गित्वेन व्यक्ती । तस्या यशोदाया । ईष्टे शक्नोति । तस्या भक्तौ ।

ननु वदनान्तर्गतविरविलोकनाद् यशोदाया ‘कोऽपि महानुभावः’ पुरुषोऽयम्’ इत्या-
कारकपुद्गावुत्पत्त्या जायमाना तद्विषयकभक्तिरिहास्ति प्रधानम्, विस्मयस्तु तत्सौपकत्वा-
द्भक्तिविपुनर्नायमद्भुतरसध्वनिरिति न शङ्कनीयम्, यशोदाया ‘पुत्रो ममायं बालः’
इत्याकारकनिश्चयात्मकप्रतीतौ जागरूक्यां, समाने विषये निश्चयस्य तदितरज्ञानोत्पत्तिप्रति-
बन्धकत्वात् ‘महापुरुषोऽयम्’ इति ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वादिहावुत्पत्तेर्भक्तौ सर्वथाऽसम्भवा-
दिति तात्पर्यम् ।

इसी तरह ‘यह कोई महापुरुष है’ यह समझ कर भक्ति भी यहां उत्पन्न नहीं हो
सकती, क्योंकि ‘यह बालक मेरा पुत्र है’ इस प्रकार का यशोदा का निश्चय उसकी उत्पत्ति
में प्रतिबन्धक है, अतः भक्ति की अपेक्षा भी विस्मय की गौणता अशङ्कनीय ही है।

अथ काव्यप्रकाशदृता इतमद्भुतरसध्वनेरुदाहरणं दूषयति—

यसु सङ्कथयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतम्—

‘चित्रमहानेप नयानतारः, क कान्तरेपाऽभिनयैव भङ्गि’ ।

‘लोकोत्तरं धैर्यमहो ! प्रभावः, काऽप्याकृतिर्वनूतन एव सर्गः ॥’ इति ।

चित्रमाश्चर्यम्, एष महान् परमोत्कृष्ट, नवावतारो नूतनो महापुरुषस्याविर्भावः, एषाऽस्य
शरीरे विद्यमाना कान्तिर्युतिः क ? (कुत्राप्यन्यत्र न) अभिनवाऽभूतसर्वथास्य भङ्गीरिति,
लोकोत्तरं मनुष्यलोकाप्य, धैर्यं पृथि, अहो अद्भुत प्रभावोऽनुभावः, काऽप्यनिर्यचनीयं,
आकृतिराकारः (अकृतचिन्ता) एष (तस्माद् धातुः) नूतनोऽभूतः, सर्गं सृष्टिरस्तीत्यर्थः ।

अथ काव्यप्रकाशकार द्वारा उपस्थित ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ के उदाहरण को दूषित
करने के लिये उसका स्वरूप पहले दिखलाते हैं—‘रतु’ इत्यादि । सहृदय-शिरोमणि
प्राचीन आचार्यों ने ‘चित्रमहानेप’ “” इत्यादि श्लोक को ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ के उदाह-
रणरूप में लिखा है । उस श्लोक का अर्थ यह है—यह महान् नूतन, अवतार आश्चर्य-
जनक है, ऐसी कान्ति आज तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई, यह चलने, बैठने, चोलने और
देखने का उद्ग भी सर्वथा नवीन ही है, अलौकिक धैर्य है, क्लिष्ट-आश्चर्य-चकित कर
देनेवाला प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है, यह एक नई सृष्टि है अर्थात् अब तक ऐसा
कोई उत्पन्न नहीं हुआ, जरूर इस रूप में यह किसी महापुरुष का आविर्भाव हुआ है ।
यह भगवान् धामन के दर्शन से विस्मित बलि की उक्ति है ।

‘इह विस्मयस्य प्राधान्येन व्यञ्जनतयाऽऽशुतरसस्यनिरिति मध्यममट’ । तन्मतं सम्ययति—
तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयतां नास्मात्र विस्मयः, परन्त्वसौ कथङ्कारं ध्वनिव्यप-
देशहेतुः ? प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोत्रगतभक्तेः प्रक-
र्षकत्वेनास्य गुणीभूतत्वात् ।

तत्र मध्यमोक्तविषये । असौ विस्मयः । कथङ्कारं केन प्रकारेण ।

अत्रोदाहरणे प्रतीयमानोऽपि विस्मयो वर्णनीयमहापुरुषविषयाया भक्तेरभिभूताया
सत्कर्षप्रयोजकत्वादङ्गम् । तस्मान्महापुरुषविषयकभक्तिप्राधान्याद् भावध्वनेरुदाहरणमि-
दं स्वद्रुत-रस-ध्वनिः, विस्मयस्य गुणीभावादित्याशयः ।

यहाँ प्रधानतया विस्मय व्यङ्ग्य होता है, अतः यह ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ का उदाहरण
है; इस मध्यम-मत का खण्डन करते हैं—‘तत्रेदं वक्तव्यम्’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि इस
पद्य में ‘विस्मय’ स्वाधीभाव की प्रतीति होती है, हो, मैं उसका अपलाप करना नहीं
चाहता, पर उस विस्मय के कारण यहाँ अद्भुत-रस-ध्वनि का व्यवहार कैसे हो सकता
है ? क्योंकि इस श्लोक में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय में
स्तुति करने वाले (चरित) की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है और विस्मय उसको
उदाहृत बनाता है, अतः उसकी अपेक्षा वह गौण हो गया है ।

निदर्शनदर्शनेन स्वमतं द्रवयति—

यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य—‘पश्यामि देवांस्तव देव !
देहे, सर्वास्त्वया भूतविशेषसङ्ग्रहम् ॥’ इत्यादी वाक्यसन्दर्भे ।

पार्थस्य वाक्यसन्दर्भे इति सम्यग्य ।

यथा भगवतो विश्वरूपं विलोकित्वा भुविनामिहितया ‘पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे’
इत्यादिमग्नद्वीताघटकवाक्यपरम्पराया भक्ति (भयवद्विषया रति) प्रतीयमाना प्रधानम्,
अदृष्टपूर्वस्वरदर्शनजन्यो विस्मयस्तु भक्तिपक्षपातयाऽङ्गमिति भावव्यतिरिक्तशुतरसस्याङ्गत्वेन
रसवदलङ्कारश्च, तत्रैव प्रकृते ‘चित्रम्’ इत्यादावपि भक्तेः प्राधान्यमद्भुतस्य वाङ्मयमित्यभिप्रेतः ।

ऐसे स्थलों पर भक्ति की ही प्रधानता होती है और विस्मय गौण रहता है इसमें
ब्रह्मन्त दिव्यलोक है—‘यदा’ इत्यादि । भगवान् ने भुग्ध अर्जुन को अपना विराट् रूप
दिखलाया, जिसको देखकर अर्जुन भगवान् से कहते हैं—हे देव ! मैं आपके शरीर में सब
देवताओं को तथा माना तरह के सब प्राणियों को देख रहा हूँ । इत्यादि गीता के वाक्यों
में यद्यपि विस्मय की प्रतीति होती है, तथापि उस भक्ति की अपेक्षा वह गौण है, जो
अर्जुन के हृदय में भगवान् के प्रति उत्पन्न हुई । तात्पर्य यह है कि जैसे यहाँ विस्मय की
प्रधानता नहीं है, वैसे ही उक्त पद्य में भी उसकी प्रधानता नहीं ही है ।

पर्यवसितमाह—

इत्थं चास्य रसालङ्कारत्वमुचितम् ।

अस्य प्राचीनोक्तानुतरसध्वन्युदाहरणस्य । रसालङ्कारत्वं रसवदलङ्कारोदाहरणत्वम् ।
एतद् भावध्वन्युदाहरणत्वस्याप्युपलक्षकम्, पूर्वसन्दर्भानुरोधम् ।

पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि ‘चित्रं महानेयं’ ... इत्यादि श्लोक अद्भुत-रस-ध्वनि
का उदाहरण नहीं हो सकता, व्यक्त भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, हाँ, विस्मय
भी यहाँ बहु-विभावजन्य है, अतः तन्मूलक ‘रसवत्’ अलंकार यहाँ होगा ।

अत्रैव पुनरभ्ययाऽऽशङ्क्य निरस्यति—

भक्तिर्नैवात्र प्रतीयत इति चेत्, द्रमुकुलितलोचनं विदाङ्गुर्वन्तु सहृदयाः ।

यदि च भक्तिरुदाहरणे प्रतीयत एव न, दूरे तस्या प्राधान्याप्राधान्यपरीक्षा, तथा

सति विस्मयस्यैवात्र प्राधान्येनाद्भुतरसध्वनित्वमेवेति प्राचीनपक्षपातेन कथिन् कथयेत्, तर्हि विषयेऽस्मिन् तदस्या परमात्माः सहृदया एव भावनयेयन्मीलितनयनं यथा स्यात्, तथा तस्यात्प्यं जानन्तु, वयं न किञ्चिद्भ्रूम इति सारम् ।

आग्रह विहाय सहृदयैर्विहिते विचारे मकरिह प्राधान्यं विस्मयस्य चाप्राधान्यं व्यक्तं प्रतिभायादिति भावः ।

यदि आप कहें कि 'चित्रं महानेप' इत्यादि श्लोक में भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं, तब मैं इसका उत्तर क्या दे सकता हूँ ? केवल सहृदयों से इतनी प्रार्थना कहेंगा कि आप जरा धीरे धीरे कर स्वस्थ होकर सोचें और फिर कहें कि यहाँ भक्ति की प्रतीति होती है अथवा नहीं ? अर्थात् दुराग्रह छोड़कर विचार करने से आप को भी, यहाँ भक्ति की प्रधानता अवश्य अवगत होगी ।

अथ हास्यरसमुदाहरति—

हास्यो यथा—

रसविशेषणतयैव पुंस्त्वम्, अन्यथा 'हासो हास्य च' इत्यमरान् क्रीयत्वमेव ।

अब 'हास्य-रस' का उदाहरण देते हैं—'हासो यथा' इत्यादि । हास्य जैसे—
याकिरां नवताकिकपुत्रो प्रसीति—

‘श्रीतातपार्त्तैर्वाहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा ।

अहं गत्वा पूर्वमहो पवित्र, कथं न या रासभयमपत्न्या ॥’

श्रीतातपार्त्तैर्वाहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा ।
अहं गत्वा पूर्वमहो पवित्र, कथं न या रासभयमपत्न्या ॥
श्रीतातपार्त्तैर्वाहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा ।
अहं गत्वा पूर्वमहो पवित्र, कथं न या रासभयमपत्न्या ॥
(यदि) गत्वा येनूनाम्, पूर्वमहं पूर्वकाय, पवित्रं मेधम्, (तदा तुल्यन्यायात्) रासभयमपत्न्या, धर्मपरन्या गर्दभ्या (पूर्वमहम्) कथं न या पवित्रमस्तीति शेषः । गत्वा पदार्थ-
स्यैव धर्मशासनानुमते पवित्ररते, पूर्वार्थस्य तत्त्वकथनं तत्तुल्यस्कन्धतया गर्दभ्या अपि
पूर्वार्थस्य नवीनतर्केण पवित्रलोपपादनं चात्र हास्यकरमवसेयम् ।

किमी ताकिक का पुत्र कहता है—श्रीमान् पिताजी से रचे गये नियन्ध में यह एक नवीन युक्ति दीख पड़ी कि जब गायों का पूर्व अहं पवित्र है, तब गर्दभ को धर्मपरनी का यह अहं पवित्र क्यों नहीं माना जाय ? अर्थात् गौ और गर्दभी एक समान हैं । धर्मशास्त्र में गौ के पश्चार्ध भाग को ही पवित्र कहा गया है, परन्तु यहाँ उसके पूर्वार्ध भाग को पवित्र घोषित किया गया है और तत्तुल्य म्याव से गर्दभी के उम भाग को भी पवित्र मानने की सलाह दी गई है—यही असंगत बात यहाँ हास्यास्पद है ।

आलम्बनाद्याचष्टे—

ताकिकपुत्रोऽत्रालम्बनन, तदीया निशङ्कोक्तिरुदीपिका, रदनप्रकाशादि-
रुद्रेगादयश्चातुभात्र-व्यभिचारिणः ।

ताकिक उक्ताद्भुततर्कवित् । निशङ्का दृढोक्तिः । रदनप्रकाशो दन्तविवृतिस्तदादिरजु-
भावः । रुद्रेगादयो व्यभिचारिणः ।

यहाँ ताकिक का पुत्र आलम्बन है, उसका नि शङ्क कथन उद्दीपन है, दांत का निषोदना अनुभाव है और रुद्रेम आदि सञ्चारी भाव हैं ।

अथ हास्यस्य भेदं दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमनुवदति—

अत्राहुः—

‘आत्मस्थः परसंस्थश्चेत् यस्य भेदद्वयं मतम् ।

आत्मस्थो द्रुतुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ॥’

हसन्तमपरं दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते ।
 योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः, परस्यः परिकीर्तितः ॥
 उत्तमानां मध्यमानां, नीचानामप्यसौ भवेत् ।
 व्यवस्यः कथितस्तस्य, पद्भेदाः सन्ति चापरे ॥
 स्मितं च हसितं प्रोक्त-मुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
 भवेद् विहसितं चोप-हसितं मध्यमे नरे ॥
 नीचेऽपहसितं चाति-हसितं परिकीर्तितम् ।
 ईपत्फुल्लकपोलाभ्यां, कटाक्षैरप्यनुलब्धेः ॥
 अदृश्यदशनो हासो-मधुरः स्मितमुच्यते ।
 धक्त्रनेत्रकपोलैश्चे-दु फुल्लैरुपलक्षितः ॥
 किञ्चिन्नतितवन्दश्च, तदाहसितमिष्यते ।
 सशब्दं मधुरं काय-गतं वदनरागवत् ॥
 आकुञ्चिताक्षिमन्द्रं च, विदुर्विहसितं युषाः ।
 निकुञ्चितांसरीर्षश्च, जिह्वार्द्राघिलोक्तः ॥
 वल्लुङ्गनासिक्यो हासो-नाम्नोपहसितं मतम् ।
 अस्थानजः आश्रुदंष्ट-राकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
 शार्ङ्गदेवेन गर्दितो-ऽसौऽपहसिताह्वयः ।
 स्थूलकर्णकटुध्यानो-वाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
 करोपगूढपाशश्च, हासाऽतिहसितं मतम् ।^१ इति ।

यत्र दृष्ट्वा तत्त्वनिविभावदर्शनान् स्वबलवन्ने हासः, स आरमस्य । यत्र चापरं हसन्तं दृष्ट्वोत्पद्यते, स परस्य इति प्रकारद्वयं हास्यरसस्य । अस्य हास्यरसस्य विभावस्तु परकीय-हास्यदर्शनादुद्भवति । आश्रयत्योत्तम-मध्यमा-धमत्वैर्हास्यस्यापि त्रैविध्यं जायते । तस्य हास्यस्य स्मित-इषित-विहसितो-पहसिता-पहसितातिहसितरुपाः पद्भेदाः । तेषु प्रथमं द्विधमुत्तमे, द्वितीयं मध्यमे, तृतीयं चावमे । अनुत्पन्नैर्लुब्धैः कटाक्षैरुपलक्षित इति शेषः । कायगतं सकलशरीरव्यापि । कालगतमिति पाठान्तरम् । वदनरागवन्मुञ्चनैर्हित्यविशिष्टम् । मन्दं गम्भीरमिति युक्तम् । निकुञ्चितानि सङ्कुचितान्यसौ स्कन्धौ शीर्षं शिरस्य यस्मिन्निति बहुमीदृशः । जिह्वा कुटिलया दृष्ट्या विलोक्तं यत्र तादृशः । अस्थानेऽनुचितावसरे जातः । आकम्पा अभिव्याप्तकम्पाः स्कन्धौ मूर्धजाः केशाश्च यत्र तादृशः । शार्ङ्गदेव आचार्यः । स्थूलऽप्रबलः कर्णकटुः कर्णाकान्तुदो ध्यानं शब्दो यत्र सः । वाष्पपूरणाश्रुतमूढेन प्लुते व्याप्ते ईक्षणे नेत्रे यत्र सः । कराभ्यामुपगूढे हास्यवेगधारणायावत्कथिते पार्श्वे यत्र सः ।

अब हास्य के विविध भेदों को दिखाने के लिये प्राचीन आचार्यों की उक्ति का अनुवाद करते हैं—'आत्मसः' इत्यादि । हास्य-रस के दो भेद हैं—एक आत्मस्य, दूसरा परस्य । आत्मस्य उसको कहते हैं, जो विभाव (हास्य के विषय) के दर्शनमात्र से दृष्टा में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, तथा जिसका कारण भी हास्य ही रहता है, उसको हास्य-रस के विशेषज्ञ जन परस्य कहते हैं । यह हास्यरस उत्तम, मध्यम और अधम तीनों श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः इसकी तीन अवस्थाएँ कहलाती हैं । इसी तरह हास्य के दूसरे छः भेद हैं—उत्तम पुरुष में स्थित और हसित, मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित, एवं भीष पुरुष में

अपहसित और अतिहसित होते हैं। जिसमें कपोल अल्प विकसित हों, नेत्रकोण अधिक विस्तार को प्राप्त नहीं करें, दांत दृष्टि-गोचर न होने पावें और जो मधुर हो, वह हास्य स्मित कहलाता है। जिस हास्य में मुख, नयन और कपोल विकसित हो जायें और दांत भी थोड़ा दृष्टिगोचर हो जायें, वह हसित कहा जाता है। जिस हास्य में शब्द सुनाई दे, फिर भी मधुर हो, जिसके विकार शरीर के सब अङ्गों में उत्पन्न हो जायें, जिसके होने से मुख लाल हो जाय, आँखें कुछ टेढ़ी हो उठें और गम्भीर हो, उसको बुधगण विहसित कहते हैं। जिसमें कन्धे और सिर सिकुड़ जायें, चक्र दृष्टि से देखना पड़े और नाक फैल जाय, उस हास्य की सजा उपहसित है। जो हास्य अनवरत का हो जिससे भाँखों में आँसू भागाय और कन्धे तथा केश खूब कम्पमान हो उठे उसका नाम शार्ङ्गदेव आचार्य ने अपहसित रखा है। जिसमें कर्ण को कट्टा लगनेवाला बहुत जोर का शब्द हो, नेत्रों में अधु की वाद सी आ जाय और हाथों से पार्श्व-भागों को पकड़ना पड़े, उस हास्य को अतिहसित मानते हैं।

अथ भयानकरसध्वनिमुदाहरति—

भयानको यथा—

अब 'भयानक रस' का उदाहरण देते हैं—'भयानको यथा' इति। भयानक-रस जैसे—
रयेनाद्भीतस्य लावकस्य वृत्तं वर्णयति—

‘श्येनमम्बरतलादुपागतं, शुष्यदाननयिलो विलोकयन्।

कापमानतनुराकुलेक्षण, स्पन्दितुं नहि शशाक लावकं ॥’

अम्बरतलादाकाशमण्डलात्, उपागतं सन्निकृष्टम्, रयेनं पक्षिपातकपक्षिविरोधम्, विलोकयन् परयन्, शुष्यद् सृत्योर्भयाच्छोष गच्छद् आननं मुलमेव विलं यस्य, तादृशं, कम्पमाना वेपथुमती तनु शरीरं यस्य, तादृशं, तथा आकुले विह्वले ईक्षणे यस्य तादृशं, लावको वर्तकजातीयो लावेति प्रसिद्धः पक्षिविरोधः, स्पन्दितुमीपबलितुम् (अपि) न शशाक न च क्षम इत्यर्थः।

मरणं सन्निकृष्टं विमानयन् भीतिविमूढो बभूवेति तात्पर्यम्।

किन्ती ध्वनि का कथन है कि विषम लावक (एक प्रकार का पक्षी, जिसे खोखी कहते हैं) ने जमी भयानक से झपटते हुए बाज को देखा तभी उसका मुल सूख गया, देह कापने लगी, आँखें आकुल हो गईं, इस तरह वह हिल भी न सका।

अलम्बनादि दर्शयति—

अत्र श्येन आलम्बनम्, सवेगापतनमुदीपनम्, आननशोपादयोऽनुभाषाः
दैन्यादयः सञ्चारिणः।

सवेग वेगवदम्बरदापतनं श्वेनस्यावसेयम्।

यहाँ धान आलम्बन है, उसका बहुत वेग से झपटना उदीपन है, मुख सूखना आदि अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारीभाव है।

अथ भीमत्सरसध्वनिमुदाहरति—

बीमत्सो यथा—

अब 'बीमत्स-रस' का उदाहरण दिसलावे हैं—'बीमत्सो यथा' इति। 'बीमत्स-रस' जैसे—
रमरानं वर्णयति—

‘नखैर्विदारितान्त्राणां, शवानां पूयशोणितम्।

आननेष्वनुलिम्पन्ति, दृष्ट्वा चेत्तालयोपितः ॥’

इद्य अत्रसा विपुलमदवत्यामां प्रसप्ता, भूतविरोधप्रियं, नखैर्विदारितानि पाटितान्य-

न्नामि येषां ते । निदारितान्त्रास्तेषां शवानां मृतकशरीराणां, पूयानां शोणितानां च समाहारः
पूयशोणितम्, (पीतावशेषम्) आननेषु स्वमुद्येषु मिश्रः सद्वचरीवदनेषु च अनुलिम्पन्तीत्यर्थः ।

हर्षयुक्त चेतालों की स्थिति नयी से मुरदों की अतडियों को फाड़ कर मवाद और
रुधिर को मुर पर लेप रही हैं । यह रमसान अथवा रण-क्षेत्र का चर्चन है ।

आलम्बनादि दर्शयति—

शवा इहालम्बनम्, अन्त्रविदारणाद्युदीपनम्, आक्षिप्ता रोमाञ्च-नेत्रनिमी-
लनाद्योऽनुभावाः, आवेगादयः सञ्चारिणः ।

इह बीभत्सरसे । आक्षिप्ता जुगुप्साश्चर्यतया वैयञ्जनिकप्रतीतिमोचरा ।

यहाँ मुरदे आलम्बन है, अतडियों का फाड़ना उद्दीपन है, आक्षेपों के द्वारा लम्ब
रोमाञ्च, आँखों का मूड़ना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि सञ्चारीभाव हैं ।

बीभत्स—हास्यरसयोरालम्बनाश्रययोः प्रथमप्रतीति रमान्तरेभ्यो वैयम्यमाशङ्कते—

ननु रति-क्रोधो-त्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु, यथाऽऽ-
लम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च, तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतिः ।

हास्यादीनामुपदेश-प्रतिनिर्देशयोः क्रमविपर्यये मूलं भूयम् । 'प्रागुदाहृतेषु' इत्यत्र
'पूर्वमुदाहृतेषु' इत्युचितः पाठः सन्ध्युत्थितत्वात्प्राप्तत्वात् । तत्र हासजुगुप्सयोः ।

शृङ्गारादिरूपेषु यथा रत्यादीनामालम्बनादाश्रयः प्रथक् प्रतीयते, न तथा हास्ये
बीभत्से च । तत्र हासजुगुप्सोरालम्बनाद्विकृताकारादिमत्तगुणपादेः प्रथक् तयोरश्रयस्य
हासादिमतोऽप्रतीतिः प्रागुक्तसत्तत्वापेक्षया हास्य-बीभत्सयोर्वैयम्यमिति शङ्कादलाराधः ।

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और
निर्वेद इन स्थायीभावों में जिस प्रकार आलम्बन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है,
जैसे नल और दमयन्ती में जो परस्पर रति (प्रेम) है, उसका उन दोनों में से एक
आलम्बन और दूसरा आश्रय होता है अर्थात् नल का प्रेम दमयन्ती में वर्णित हो तो
दमयन्ती आलम्बन और नल आश्रय तथा दमयन्ती का प्रेम नल में वर्णित हो तो नल
ही आलम्बन और दमयन्ती आश्रय के रूप में प्रतीत होती हैं । उस प्रकार हास और
जुगुप्सा में नहीं होती अर्थात् इन दोनों में केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है,
आश्रय की नहीं ।

पुनराश्रयान्तरिकी शङ्कासुपन्यस्योन्मूलनं पूर्वपक्षं समापयति—

पदग्रं तुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् ।

ननु हासप्रशङ्कं जुगुप्साप्रधानकं च शृण्वन् पुरुष एव हास-जुगुप्सयोरश्रयः स्यादतो
न रसान्तरेभ्यो वैयम्यमिति चेत्, उच्यते—लौकिकत्वेनालौकिकत्वेन च हास-जुगुप्सयोरभि-
रत्यादिः द्वैविध्यम् । तत्र पदघोता काव्योपनिबद्धत्वात्लौकिकत्वमापद्योरेव हास-जुगु-
प्सयोरश्रयो भवितुमर्हति न ॥ लौकिकयोरपि, तस्मादलौकिकयोर्हासजुगुप्सयो रत्यादिनत-
पृथगाश्रयानुपलम्भात् वैयम्यं स्थितमेवेति पूर्वपक्षः ।

यदि आप कहें कि उक्त दोनों स्थायीभावों में छोटा ही आश्रय होते हैं, तो यह
समुचित नहीं, क्योंकि वे तो रसास्वाद के आश्रय हैं—उन्हें तो अलौकिक रस की चर्चणा
होती है, अतः वे अलौकिक हास और जुगुप्सा के आश्रय नहीं हो सकते ।

समाधानमभिदधाति—

सत्यम्, तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् ।

तदाश्रयस्य लौकिकहासजुगुप्सयोरधिकरणस्य । तत्र हास्य-बीभत्सयोः । आक्षेप्यः ।

सादाश्रयानुरोधेनाधारस्य कल्पनीयत्वात् ।

लौकिकयोर्हासजुगुप्सयोरपि कर्तृत्वादाश्रयः कविलौकिक पुरुषः स्यादेव । ॥ एवानयो-
राश्रयः कल्पनीय इति न वैषम्यमित्युत्तरपक्षाभिप्रायः ।

उक्त शङ्का सच है, परन्तु वहाँ उन दोनों भावों के आश्रय किसी दर्शक पुरुष-विशेष का आश्रय कर लेना चाहिये अर्थात् ऊपर से उसको समझ लेना चाहिये ।

ननु तदाश्रयाद्येषाभावे कागतिरित्यत आह—

तदनाक्षेपे तु, श्रोतुं स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्गोष्ठे बाधकाभावात् ।

तदनाक्षेपे तु—आश्रयपुद्गलविशेषा कल्पनेऽपि । पुरुष स्वकान्तावर्णनपद्य शृण्वन् लौकिक-
रतेराश्रयोऽपि यथा शृङ्गारस्यायिभावस्यालौकिकरतेरप्याश्रयो भवति, तथैव हासजुगुप्सयोरपि
लौकिकालौकिकयोरेक एवाश्रयः स्यात्, लौकिकभावस्याश्रयोऽवस्थाभेदेनाप्यलौकिकभावस्या-
श्रयो न स्यादिति नियमस्याभावादिति सारम् ।

यदि उक्त आश्रय करना नहीं चाहें, तो श्रोता को ही आश्रय समझिये, जहाँ स्वपत्नी
विषयक वर्णन वाले पद्यों को सुनकर पति को रस का उद्गोष्ठ होता है, वहाँ जैसे लौकिक
प्रेम और अलौकिक रस दोनों का आश्रय वह पति ही होता है, वैसे यहाँ भी एक ही श्रोता
को लौकिक हास-जुगुप्सा और अलौकिक हास्य-वीभत्स रस दोनों का आश्रय मान लेने
में कोई बाधा नहीं ।

उपसंहरति—

एवं च संक्षेपेण निरूपिता रसाः ।

एवमुक्तप्रकारेण । आलम्ब्यनापन्नतया रसानामनवधिप्रमेदानां निरूपयितुमनर्हत्वेन
संक्षेपेणैव निरूपणमपेक्षम् ।

इस तरह संक्षेप से रसों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ रसध्वने रसवदलङ्कारस्य च स्वसम्मतं विषयविभागं निर्दिशति—

एषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, गुणीभावे तु रसानङ्कारत्वम् ।

रसस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वे ध्वनिः, अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदो रस-
वदलङ्कार इत्युभयोर्विमलविषयव्यवस्थेत्यर्थः ।

अथ रसध्वनि तथा रसवत् आदि अलङ्कार के लक्षणों का विभाग करते हैं 'एषां' इत्यादि ।
जहाँ वे रस प्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसध्वनि' का व्यवहार होता है और जहाँ
वे 'रस' अङ्गरूप से व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसालङ्कार' व्यवहार का होता है ।

उभयोर्विभागो परकीयमत प्रतिपादयति—

केचित्तु—'प्राधान्य एषां रसत्वम्, अन्यथाऽलङ्कारत्वमेव । रसालङ्कार-
व्यपदेशरूपत्वसङ्कारध्वनिव्यपदेशवद्, आक्षेपश्रमणन्यायात् । एवमसंलक्ष्यक्रम-
व्यङ्ग्यतायामेव, अन्यथा तु वस्तुमात्रम् ।' इत्याहुः ।

एषां—रसानां प्राधान्ये सत्वेन रसध्वनित्वम्, अन्यथा—प्राधान्याभावे (प्रधानीभूतान्य-
स्य, पोषकत्वे) ॥ पुनरलङ्कारत्वं रसवदलङ्कारत्वमेव, ननु ध्वनित्वं भवति । रसानां काव्या-
त्मतया स्वयमलङ्कार्यत्वादलङ्कार (रसवदलङ्कार) त्वस्य व्यवहारस्तु, आक्षेपश्रमणन्यायात्
तथाहि—यथा पूर्वं आक्षेपे पश्चाद् बौद्धसंन्यासिनि (श्रमणे) 'साम्प्रतिकामावे भूतपूर्व-
स्यावगति' इति सिद्धान्तेन तात्कालिकप्राज्ञाणत्वमावेऽपि प्राचीनप्राज्ञणत्वमादाय 'प्राज्ञाण-
श्रमणोऽयम्' इति व्यवहारः, यथा तां प्राधान्येन व्यज्यमानतया ध्वनिरूपता भजत्यलङ्कारे
स्वयमलङ्कार्यत्वेन परालङ्कारकत्वलक्षण-तात्कालिकालङ्कारत्वविरहेऽपि भूतपूर्वालङ्कारत्व-
मादाय 'अलङ्कारध्वनि' इति व्यवहारः, तथैव रसानामलङ्कार्यत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या रसालङ्का-

रसव्यवहारो बोध्यः । एवं-रसध्वनित्वं रसबलद्वारत्वं च, एषा रसानाम्, असंलक्ष्य-
क्रमतायामेव, अन्यथा-संलक्ष्यक्रमतायां तु तेषां व्यङ्ग्यं वस्तुमात्रं, ननु रसा इति
केचिदाहुरित्यर्थः ।

केचिदित्यनेन सूचिताविवीजन्तु पूर्वोक्तरीत्यैव रसालङ्कारत्वेपपत्तौ, तदर्थं भूतपूर्वग-
त्यावाश्रयणमधिक्रानुचितमिति व्याख्यातारः ।

हृद्य लोगों का कथन है कि जब ये प्रधान हों तभी इनको रस कहना चाहिये, गौण
हो जाने पर तो ये अलङ्कार-मात्र कहे जा सकते हैं अर्थात् उनमें तब रस-विशेषण नहीं
लगाया जा सकता । क्योंकि रस ये तभी तक कहला सकते हैं, जब तक अलङ्कार्य हैं और
जब वे गौण हो जाने से स्वयम् अलङ्कार हो जाते हैं, तब ठबमें रस कहलाने की योग्यता
ही नहीं रह जाती । फिर भी जो लोग गौण रसों में केवल अलङ्कार पद का प्रयोग न कर
रसालङ्कार पद का प्रयोग करते हैं, उसको अलङ्कार-ध्वनि पद का प्रयोग जैसा समझना
चाहिये अर्थात् ध्वनि (व्यङ्ग्य) अर्थ को अलङ्कृत करने वालों को अलङ्कार कहा जाता
है और ध्वनि (व्यङ्ग्य) को अलङ्कार्य । इस स्थिति में जो ध्वनि (व्यङ्ग्य) हो गया, वह
घणपि अलङ्कार नहीं कहला सकता, अतः अलङ्कार-ध्वनि ऐसा व्यवहार उचित नहीं,
तथापि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्धमत को धोषा लेकर 'अमन' (बौद्ध-भिक्कु) बन जाय,
तब वह ब्राह्मण नहीं रह जाता, फिर भी लोग उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण 'ब्राह्मण-
अमन' कहा करते हैं, जिसका अभिप्राय यह रहता है कि इसने ब्राह्मण-कुल से आकर
संन्यास लिया है, उसी तरह 'अलङ्कारध्वनि' इस व्यवहार का तात्पर्य है—जो पहले
अलङ्कार था, अब वह ध्वनि है । अब गौण रसों में जो 'रसालङ्कार' ऐसा व्यवहार होता है,
उसका भी आशय स्पष्ट हो गया अर्थात् जो कभी रस था, वह अभी अलङ्कार है यही तात्पर्य
जहाँ भी समझना चाहिये । इन लोगों का एक सुझाव यह भी है कि ये (स्वायीभाव)
रस तभी कहे जाते हैं, जब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं, संलक्ष्यक्रम हो जाने
पर तो वस्तु वाच्य से ही इनका व्यवहार होता है ।

रसानामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं व्यवस्थापयति—

एतै चासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः सहृदयेन रसव्यक्ती ऋणिति जायमानायां
विभावानुभावव्यभिचारिविमर्शक्रमस्य सतोऽपि, सूचीशतपत्रपत्रशतवेधक्रम-
स्येवालक्षणात् ।

एतै-निरूप्यमाना, रसा भावादयश्च असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या न सम्यग् लक्ष्य आशु-
भावितया प्रत्येतुं योग्यो वाच्यव्यङ्ग्यार्थप्रतीत्यो-क्रमौ येषु सादृशा भवन्ति, रसव्यक्ती
कार्यरूपाया रस (प्रतीति) प्रतीतौ, ऋणिति शीघ्रतरं, जायमानायां, कारणरूपस्य वाच्य-
विभावोदिविमर्शस्य, यः क्रमः पूर्वापरीभाव, तस्य सतो विद्यमानस्यापि, सूच्या शतपत्रस्य
क्रमस्य, पत्राणां शतस्य वेधे यः क्रमस्तस्यैव सम्पङ्क समीचीनतया, अलक्षणादिप्रत्यया-
दित्यर्थः । यथा सूच्या क्रमलक्षशतवेधे द्रुततरं क्रियमाणे पूर्वापरक्रम औपपत्तिकत्वेन
कल्प्यमानोऽप्याशुभावितया न सम्यग् लक्ष्य, तथैव वाच्यविभावोदिविमर्शप्रतीतिव्यङ्ग्यरसादि-
प्रतीत्योः कार्यकारणरूपतया क्रम कल्पितोऽप्याशुभावितया सहृदयेन न सम्यग् लक्षणीय
क्षयसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या एव रसादय इत्याशयः ।

ये रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाते हैं, क्योंकि सहृदयों को रस की प्रतीति बहुत
शीघ्र होती है, अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के विमर्श (प्रतीति) और
रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम वस्तुतः रहता है, वह लक्षित नहीं होता अर्थात् उसका
ज्ञान नहीं होता । देखिये—व्यङ्ग्यों की असंलक्ष्यक्रमता को रद्द करने के लिये ग्रन्थकार

ने कितना उपयुक्त रहान्त पेश किया है, शतपत्र कमल के सौ पत्तों को गहाकर रखिये, फिर उस पर सुई चुभोइये, सौ-के-सौ पत्ते निमिषमात्र में विध जायेंगे, अथ आप सोचिये कि वे सब पत्ते एक ही बार विधे, या क्रमशः ? विवेक कहेगा क्रमशः, परन्तु मन ऐसा नहीं समझता अर्थात् मन में ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्ते विध गये। वास्तविकता यह है कि पत्तों के शीघ्र विध जाने से वेध के आगे पीछे का क्रम ज्ञात नहीं हो पाता, यही रीति यहाँ भी समझनी चाहिये।

ननु मा क्रम कल्पतामित्याशङ्क निराकरोति—

तत्त्वक्रमव्यङ्ग्याः, व्यक्तेस्तद्धेतूनां च हेतु-हेतुमद्भावासङ्गत्यापत्तेः।

व्यक्तिवैयर्थनिकप्रतीतिः। हेतुहेतुमद्भाव-कार्यकारणभावः।

विभावादिप्रतीति-रसादिप्रतीत्योः प्रमो नास्त्येवेति वक्तुं न शक्यम्, यतस्तयोः प्रमा-भावे (यौगपथे) कार्यकारणभावस्यैवासम्भवं, कार्योत्पत्त्यवहितप्राकृष्टभावच्छेदेन कार्याधिकरणवर्तिन एव कारणत्वस्य स्वीकारादित्यभिप्रायः।

अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहे से रसों को अक्रमव्यङ्ग्य नहीं समझना चाहिये अर्थात् क्रम है ही नहीं ऐसा समझना शक्य होगा, क्रम है अवश्य, केवल वह ज्ञात नहीं होता, यदि क्रम रहता ही नहीं, तो विभाव आदि की प्रतीति को कारण और रस की प्रतीति को कार्य जो माना गया है, वह असङ्गत हो जायगा क्योंकि कार्योत्पत्ति के पूर्वावस्था में जो वहाँ (कार्योत्पत्ति देश में) निवसत उपस्थित रहे वही कारण कहलाता है, फिर तो कारण और कार्य के मध्य में क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) का होना अनिवार्य है।

अथ भक्तैरतिरिक्तरसत्वमाशङ्कते—

अथ कथमेत एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्छाश्रुपातादिभिरनुभा-वितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनु-भूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपहवत्यात्। भगवदनुसरणरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः।

अथेति प्रश्नार्थकम्। अत एव नवैव। हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावे। भगवद्भक्तैः सह-दयै। अनुभूयमानस्यास्वाद्यमानस्य। अनुराग श्रोतिरतिरित्यनर्थान्तरम्। स्थायिभाव—रसरूपयोर्मक्त्योर्हास्ययोरेव लौकिकालौकिकत्वाभ्या भेदोऽवश्यम्।

स्थायिभाव-विभावादिप्रमाणसामग्रीसंवलनात् सहृदयभगवद्भक्तानुभवप्रमाणितस्य भक्ति-रसस्यापि परामस्यापठपितुमशक्यतया रसानां नवत्वमेवेति नियमो न सङ्गच्छत इति पूर्वपक्षसाराशः।

अथ भक्ति नामक दशम रस की शङ्का करते हैं—‘अथ’ इत्यादि। रस इतने (गौ) ही क्यों हैं ? क्योंकि भागवत ‘आदि पुराणों के श्रवण करते समय भक्त लोग जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं, वह ‘भक्ति’ नामक दशम रस भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है। साक्षात् भगवान् उस रस के आलम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि उपलब्ध हैं, रोमाञ्छ, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं। तथा इसका स्थायीभाव है भगवान् के विषय में प्रेम-रूप ‘भक्ति’।

अवान्तरे भक्तिरसस्य शान्तरसेऽन्तर्भावमाशङ्क्य खण्डयति—

न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।

असौ भक्तिरसः।

भक्तिरसस्याविभावस्य भगवदनुसरणरूपत्वाच्छान्तरसस्याभिन्नो निर्वेदस्य च वैराग्य-रूपत्वाद् विरुद्धस्याधिकस्य रसस्य विरुद्धस्याधिके रसेऽन्तर्भावसम्भवात् मत्तेः शान्तेऽन्तर्भाव इति भावः।

‘नदि आप कहें कि ‘भक्ति-रस’ का अन्तर्भाव शान्त-रस में ही हो जायगा, अतः वह अनिरक्त नहीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ‘भक्ति-रस’ का स्थायीभाव अनुराग है, और ‘शान्त-रस’ का वैराग्य (निर्वेद), जो दोनों परस्पर भिन्न हैं, फिर उन दोनों स्थायीभावों को आधार बनाकर होने वाले ‘भक्ति’ और ‘शान्त’ रसों में से कोई एक दूसरे में अन्तर्भूत नहीं हो सकता ।

समादभति—

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्यानुपपत्तेः ।

‘रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तयास्त्रितः ।

भाषः प्रोक्त-स्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः ॥’

इति हि प्राचां सिद्धान्तात् ।

उच्यते समाधिरिति शेषः ।

दैव-गुरु-पितृप्रभृतिविषयकरति, प्राधान्येन अजितोऽभिव्यक्तिविषयीकृतो व्यभिचा-
रिभावश्च भावः प्रोक्तः । अनौचित्येन कौत्तिकोपपत्तिराहित्येन प्रवर्तिता काव्ये व्यवहृता
रसा भावाश्च तदाभासा रसाभासा भावार्थेति अरिचार्थः । प्राचा काव्यप्रकाराकाराणाम् ।

भक्तेर्देवादिविषयकरतिरूपाया काव्यप्रकाराकाराविप्राचीनालङ्कारसिद्धान्तानुमतत्वेन
यतो भावस्तमेव, ननु रसत्वम्, अतोऽतिरिक्तस्य दशमस्य भक्तिरसस्य न सम्भव इति
समाधानपक्षमिश्रणः ।

उच्यतीति से दशम ‘भक्तिरस’ है, यह वाङ्मा स्थिर हो चुकी, अब उसका समाधान
देते हैं—‘उच्यते’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती
है, उसी को भक्ति कहते हैं, अतः वह भाव है, रस नहीं, क्योंकि देवता आदि के विषय में
होने वाली रति और व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञात हुये व्यभिचारीभाव ‘भाव’ कहलाते हैं और
अनुचित रीति से प्रवृत्त रस तथा भाव क्रमशः ‘रसाभास’ और ‘भावाभास’ कहलाते हैं
यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है ।

तत्रैव पुनरुच्यते—

न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात् ।
अस्तु वा भगवद्भक्तौ स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, निनिगम-
काभावादिति याच्यम् ।

यथा कामिनीविषयकरतौ रतित्वं, तथैव देवादिविषयकरतिष्वपीति तुल्यताया कामिनी-
विषयकरतेरेव कर्ष स्थायित्वम्, अपरासां च रतीना साधारणभावत्वमङ्गीक्रियते ? वैषम्ये
बीजाभावादित्येक पूर्वपक्षः । अथवा निनिगमकामावाद् भवदङ्गीकृतिप्रतिकूलं भगवद्भि-
षयकरतेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिविषयकरतीनामेव च भावत्वमङ्गीक्रियतामिति द्वितीय
पूर्वपक्षः ।

आप कहेंगे—यदि ऐसी ही बात है, तो कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) होती
है, उसको भी ‘भाव’ मानिये, क्योंकि देवतादि विषयकप्रेम और कामिनीविषय प्रेम में
कोई भेद नहीं है—आखिर दोनों प्रेम ही तो हैं, अथवा भगवद्भक्ति को ही मन्दार का
स्थायीभाव मान लीजिये और कामिनीविषयक रति को ही सज्जारीभाव, क्योंकि इसमें
कोई खास युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायीभाव मानना चाहिये ।

द्वयो- पूर्वपक्षयोरुक्तमेव समाधानमाह—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात् ।

अत्र साहित्ये, भरतप्रणतिमुनिवचनानामेव, न तु साधारणजनोक्तानां रसत्वस्य भाव-

त्वस्य च व्यवस्थापने स्वातन्त्र्ययोग सर्वाधिकारिता यतोऽस्ति, तस्मात् स्वेच्छया विपरो-
तवत्पना नात्र कर्तुं शक्यत इत्याशयः ।

‘स्वातन्त्र्यायोगात्’ इति पाठे तु भरतादिभिन्नवचनानां रसभावव्यवस्थापने स्वातन्त्र्या-
भावादित्यर्थः ।

उक्त शङ्का के उत्तर में भोरा कथन है कि साहित्य में रस-भाव आदि की व्यवस्था
भरत-आदि मुनियों के चक्रनों के अनुसार की जाती है, अतः इस विषय में स्वतन्त्रता
का स्थान नहीं है अर्थात् भरत आदि मुनियों ने देवता आदि विषयक रति को भाव और
कामिनी-विषयक रति को स्थायीभाव माना है, इसलिये हम लोगों को भी वैसा ही
मानना चाहिये ।

उक्त समर्पयति—

अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपिरस्तेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात् ? न स्याद्
वा कुतः शुद्धभावरत्नं जुगुप्सारोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात् ।

अन्यथा-भरतादिवचनानामेव रसादिव्यवस्थापने स्वातन्त्र्यानभ्युपगमे । पुत्रादिविष-
यत्वं रतेरपुष्टत्वोपलक्षम् । शुद्धभावत्वं स्थायित्वासङ्कीर्णव्यभिचारिभावत्वम् । अखिल-
दर्शनस्य समस्तसाहित्यशास्त्रस्य, वैयाकुली व्याकुलत्वमव्यवस्थितत्वमिति यावत् ।

कस्यापि रसादिविषये व्यवस्थापकस्यानभ्युपगमे विशिष्टकृतकसम्पर्कात्, सकलं साहित्य-
शास्त्रमेवानियन्त्रितं स्यादिति भरतादिवचनानां रसादिव्यवस्थापकत्वाङ्गीकार आपरयक
इति भावः ।

यदि रस-भाव आदि के विषय में किसी को प्रामाणिक व्यवस्था देने वाला नहीं माना
जाय अर्थात् केवल तर्क से काम लिया जाय, तब तो सकल साहित्य-दर्शन ही उलट-पलट
जायगा, क्योंकि उस स्थिति में पुत्र आदि के विषय में जो माता-पिता का प्रेम होता है,
उसको भी स्थायीभाव और जुगुप्सा तथा शोक को शुद्ध (स्थायी नहीं) सञ्चारीभाव क्यों
नहीं मान लिया जायगा ?

भणोरसत्वरस्य स्वीकारे दोषं दर्शयन् प्रसङ्गमुपसहरति—

रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भव्येत, इति यथा शास्त्रमेव व्यायः ।

इतिहेतौ । शास्त्र भरताद्यनुगामनमनतिवृत्त्य यथाशास्त्रम् । ज्याय श्रेष्ठम् । यदि भक्ति-
रसोऽपि दशमो भवेत्, तर्हि भरतमुनिना तत्त्वदृष्ट्या निर्वाच्योक्तस्य रसानां नवत्वसङ्ख्या-
वच्छिन्नत्वस्य भङ्ग प्रसज्येत, तस्माद् रसभावादिव्यवस्था भरताद्यनुशासनानुसारिण्येव
सर्वथा श्रेयसीति सारम् ।

इस तरह भरत आदि मुनियों को व्यवस्थापक मान लेने पर दशम ‘भक्ति-रस’ का
स्वीकार न करना ही उचित है, अन्यथा भरतमुनि ने बहुत सोच समझकर जो रसों की
सख्या नौ बतलाई है, वह असङ्गत हो जायगी । तात्पर्य यह है कि इन सब विषयों में शास्त्रों
का अनुसरण करके चलना ही धैर्यस्वरूप है ।

अथ प्रमद्वाद् रसानां परस्परमाविरोधं विरोधं च निर्दिशति—

एतेषां परस्परं कैरपि सहाविरोधः, कैरपि विरोधः । तत्र—धीरशृङ्गारयोः,
शृङ्गारहास्ययोः, धीराऽनुत्थो, धीररौद्रयोः, शृङ्गाराऽनुत्थोऽप्यविरोधः । शृङ्गार-वीर्य-
रसयोः, शृङ्गारकण्ठयोः, धीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयेऽप्यविरोधः ।

एतेषां रसानाम् । अविरोधे उपमायौपकारकमात्रो विरोधश्चाप्यभावकभावः । चकारेण
शान्ताऽनुत्थयोः, धीरवीर्यमत्स्योद्य तादृश्यस्य सप्रहः । तत्र रसानां विरोधमात्रप्रदर्शनं
दर्शने यथा—

‘आद्य’ कृष्ण-वीर-रस-रौद्र-वीर-भयानकैः । भयानकेन कृष्णे-नापि हास्यो विरोधभाक् ॥
कृष्णो हास्यश्चक्षार-रसाभ्यामपि तादृशः । रौद्रस्तु हास्य-शृङ्गार-भयानकरसैरपि ॥
भयानकेन शान्तेन, तथा वीररस स्मृतः । शृङ्गार-वीर-रौद्राख्य-हास्य-शान्तैर्भयानकः ॥
शान्तस्तु वीर शृङ्गार रौद्र हास्य-भयानकैः । शृङ्गारेण तु वीरमत्स इत्याख्याता विरोधिता ॥’ इति ।

अब रसों का परस्पर अविरोध और विरोध का विचार करते हैं—‘एनेषाम्’ हास्यदि । इन रसों का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध । जैसे—वीर और शृङ्गार में, शृङ्गार और हास्य में, वीर और अद्भुत में, वीर और रौद्र में एवं शृङ्गार और अद्भुत में परस्पर अविरोध अर्थात् विरोध नहीं है । शृङ्गार और वीरमत्स में, शृङ्गार और कृष्ण में, वीर और भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और शृङ्गार में परस्पर विरोध है ।

इत्थं रसानामविरोधं च प्रदर्शयन् प्रपञ्चे निर्योर्विद्वद्वरससन्निवेशाभावात्प्रमुपदिशति—

तत्र कथिना प्रकृतरसं परिपोष्टुकामेन, तदभिग्न्यङ्गके काञ्चे तद्विरुद्धरसा-
ज्ञानां निबन्धन न कार्यम् । तथाहि सति, तदभिग्न्यङ्गी विरुद्धः प्रकृतं चाचेत ।
सुन्दोपसुन्दन्यायेन बोभयोरुपहतिः स्यात् ।

तत्र-तैषु रसेषु, प्रकृत मूलतः प्रस्तुतं रसं, परिपोष्टुकामेन प्रबलीकर्तुमिच्छता, कविना,
काञ्चे विरक्ष्यमानप्रबन्धे, तद्विरुद्धरसाज्ञाना प्रकृतरस-विरोधिरसविभावादीनां, निबन्धनं
निवेशनं, न कार्यम् । हि यतः, तथा प्रकृतरसविरोधिरसाप्रसन्नविशेषे सति, तदभिग्न्यङ्गी
विरुद्धरसस्य स्थाप्ये पोषितस्य प्रतीती, विरोधो रस कदाचित् प्रबलः प्रकृतं रसं बाधेत ।
उभयोः प्रकृतरस-विरोधिरसयोः समवतत्वे वा सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परमुपहतिरुपपातः
स्यादित्यर्थः ।

सोदरी सुन्दोपसुन्दनामानौ द्वैतौ तादृकायामेकैव स्त्रियामात्मकत्वा विरुद्धौ तुल्ययत्न-
त्वान् परस्परमभिग्नप्रतुरितीदृशीरानिकमितिवृत्तम् ।

प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पृष्ट करने की चाह यदि कवि को हो अर्थात् यदि उसकी
इच्छा हो कि मेरे काव्य में अमुक रस का परिपाक पूर्णतया हो, तब उसको चाहिये कि
उस रस को अभिव्यक्त करने वाले काव्य में उससे विरुद्ध रस के अङ्गों का प्रयोग न करे
क्योंकि विरुद्ध रस की अभिव्यक्ति होने पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा
‘सुन्दोपसुन्द न्याय’ से दोनों रस नष्ट हो जायेंगे अर्थात् एक का भी परिपाक न हो सकेगा ।
सुन्द और उरसुन्द की कथा महाभारत में आई है, वे दोनों सोदर भाई थे, मल्लाशी के
ब्राह्मण से दोनों लाले हुए, केवल अपने भाइयों में से एक दूसरे को मार सकता
था, जिसकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु माँ की गति प्रबल होती है, किसी
सुन्दरी अप्सरा में दोनों आसक्त हुये, जिससे दोनों में वैर उत्पन्न हुआ और उसके लिये
दोनों आपस में लड़ कर मर मिटे । इस तरह दोनों के समान बलशाली होने के कारण
आपस में लड़ कर नष्ट हो जाने के डर को ‘सुन्दोपसुन्द’ न्याय कहने हैं ।

प्रयोजनवशाद् विद्वद्वरसयोरपि कवन समावेशमनुशास्त्रं तस्य प्रकारमुपदिशति—

यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोरैकत्र समावेश इच्छ्यते, तदा विरोध परिहृत्य
विधेयः । तथाहि—वराधस्तावद् द्विविधः, स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च । आद्य-
स्तदधिकरणानुत्तिारूप । द्वितीय—तज्ज्ञानप्रतिबन्धज्ञानकत्वलक्षणः । तत्रा-
धिकरणान्तरे विरोधिनः स्थापने प्रथमो निवर्तते । यथा—नायकगतत्वेन वीररसे
युगोत्पीये प्रतिनायके भयानकस्य ।

एकत्र प्रबन्धे । इत्येतदभिलषते कवितेति शेषः । आद्य स्थितिविरोध, सर्वैकस्मिन्-

धिकरणेऽवृत्तिरूपः । द्वितीयो—ज्ञानविरोधः, ॥ च तज्ज्ञानेन विरोधिरसज्ञानेन प्रतिषेधं
वाप्यं ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूपः । 'प्रतिषेध' स्याने 'प्रतिषेध' इति पाठे ॥ प्रतिषेधं बाधितं
ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूप इत्यर्थः । 'प्रतिषेधज्ञानजनकत्वम्' इत्यपपाठः, अत्यन्ततिरिक्तज्ञान प्रति-
विषयस्य जनकत्वाभावात् । तत्र—तयोर्विरोधयोर्मध्ये प्रथमः स्थितिर्विरोधो विरोधिरसयो-
रधिकरणभेदेन स्थापने निवृत्तो भवति । यथा—नायके वीररसस्य, प्रतिनायके च भयानक-
रसस्य यदि वर्णनं कविना म्रियेत, तदैकस्मिन्पि काव्यप्रवन्धे विरोधिनोरपि वीरभयानक-
रसयो समावेशो विरोधनिवृत्त्या न दोषाय कल्पत इति सारम् ।

अब विरुद्ध दो वा अनेक रसों का समावेश यदि एक काव्य में करना चाहें, तो कैसे
बह किया जा सकता है ? इसको बतलावे हैं—'यदि तु' इत्यादि । यदि विरुद्ध रसों का एक
जगह समावेश करना इष्ट हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिये । विरोध-
परिहार का प्रकार भी समझिये । विरोध का प्रकार दो है—एक स्थिति-विरोध और दूसरा
ज्ञान-विरोध । स्थिति-विरोध का मतलब है—किसी एक अधिकरण में दोनों का न रह
सकता और ज्ञान-विरोध का मतलब है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का एक जाना
अर्थात् एक के ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न सके, तब ज्ञान-विरोध
कहलाता है । उनमें प्रथम अर्थात् स्थिति-विरोध विरुद्ध रस को भिन्न अधिकरण में स्थापित
करने से निवृत्त हो जाता है । जैसे—नायक में यदि वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रति-
नायक (उसके शत्रु) में भयानक रस का वर्णन करना चाहिये ।

ननु नायकाद्यवृत्तीनां परब्रह्मवदपरिच्छिन्नानां रसानामेकस्मिन्धिकरणे समावेशो
विरोधो वा न सम्भवतीत्यत आह—

रसपदेनात्र प्रकरणे सद्गुपाधिः स्थायिभावो गृह्यते, रसस्य सामाजिकवृत्ति-
त्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासम्भवाच्च ।

अत्र प्रकरणे विरोध-समावेशादिप्रस्तावे सद्गुपाधौ रसानां स्थिरो धर्मः स्थायिभावः ।
वेद्यान्तरस्पर्शरून्यानां सन्निधानन्दलक्षणानामपरिच्छेदानां नायकाद्यधिकरणेऽवृत्तीनां
रसानामद्वितीयतया भिन्नो विरोधस्य समावेशस्य चासम्भव इति तु न विभावनीयम्, यत्
इदं रसपद रसोपाधे रसरन्वोम्यस्य वा स्थायिभावस्य बोधकम् । तस्य चापरिच्छिन्नत्वा-
भावाच्च विरोधो न वा समावेशोऽसम्भवः । तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'आध्रयैम्ये विरुद्धोय',
॥ काव्यो भिन्नसंश्रयः । रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥' इति, 'रसपदेनात्र प्रकरणे
स्थायिभावात् सप्तत्ययेति' इति, न. १.

इस प्रकरण में 'रस-पद' से उसके उपाधिरूप स्थायीभावों का ग्रहण समझना
चाहिये क्योंकि रस सामाजिकों (नाटक के दर्शक तथा काव्य के श्रोता) में रहता है—
नायक आदि में नहीं । दूसरी बात यह कि रस अद्वितीय आनन्द-मय है अर्थात् ग्रह्यरूप
है—उसके ज्ञान होते समय अन्य किसी का ज्ञान होता ही नहीं, फिर रसों में परस्पर
विरोध का होना असम्भव है ।

प्रथमविरोधपरिहारेण समावेशमुदाहरति—

उदाहरणम्—

स्थिति-विरोध कैसे दूर किया जा सकता है, इसका उदाहरण देखिये !

कथन चाटुकारो राजानं स्तौति—

'कुण्डलीकृतकोदण्ड-दोर्दण्डस्य पुरस्तव ।

मृगायतेरिव मृगा, परे नैवावतस्थिरे ॥'

दे राजन् ! समग्रदृष्टे, कुण्डलीकृतमत्याकर्षणेन वर्तुलीकृत कोदण्डं धनुर्वाभ्या,

तादृशौ दोर्दण्डौ भुजगरीधौ यस्य, सतपोषः, तथामृतस्य दुराकृष्टपनुगस्तापुरोऽप्ये, मृगाराते-
सिंहस्य पुनः मृगा हरिणा इव, परे राजको नैव भवतस्त्रिरे, गीत्या दुतं पत्न्यायकिर इत्यर्थः ।

इह नायके वर्णनीयवृत्ते चीररसस्य, प्रतिनायकेषु प्रतीपनृपेषु च भयानकरसस्य समावेशो
यथा न दोषाय, तथाऽन्यत्रापि बोध्याम् । मृगशन्दस्य दिग्गदादनन्तु किञ्चिन्महर्कति विचिह्नन्ति ।

कोई कवि राजा की चापल्यी करता है—हे राजन् ! युद्ध में जब आपने कान तक लौंच
कर कुण्डल के समान खेल किये हुये धनुष को हाथ में लिया, तब आपके आगे शत्रु उसी
तरह नहीं उहर सके, जिस तरह सिंह के आगे मृग नहीं टहरते अर्थात् धनुष लेकर
युद्ध में आपके जाते हैं। भय के मारे शत्रु भाग खड़े हुये । यहाँ नायक में 'वीर' और
प्रतिनायक में 'भयानक' का वर्णन किया गया है जो भिन्न अधिकरण स्थिति होने से
दोषावाचक नहीं है ।

द्वितीयविरोधनिवर्तनादेकन समावेशस्योपायमभिधाय बहुदाहरणं दर्शयति—

रसान्तरस्याविरोधिनः सन्धिकर्तुरिवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निय-
तैः । यथा मन्निर्मितायामाल्यायिस्त्रयां काण्डाश्रमगतस्य श्वेतकैतोर्महर्षेः शान्त-
रसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—'किमिदमनाकलितपूर्वं रूपम् ?', कोऽयमनिर्वाच्यो
यत्नरचनाया मधुरिमा ?' इत्यनुभुतरसान्तरस्यस्थापनेन 'वरवर्णिनी' प्रत्यनु-
रागरणने ।

सन्धिकर्ता विरुद्धयमैत्रीस्वरकः । अन्तरालेद्रयोर्मध्ये । द्वितीयो ज्ञानविरोधः । कण्ठ-
श्वेतकेतुश्च महर्षी । अनारलितपूर्वमदृष्टाश्रुतं रूपम् । वरवर्णिनी तदाप्याऽऽख्यायिकाया नायिका ।

अत्र प्रथमं शान्तस्तदनु शृङ्गारो रसश्च भिन्नो विरुद्धी स्थापितौ भुवं दोषाय कल्पेताम्,
यदि विरुद्धयोस्तयोर्मध्ये, सन्धिकृद्विबोभयाविरुद्धः 'किमिदम्' इत्यादिवानवद्वयव्याजोऽदभु-
तरसो न सन्निवेश्येत । तथा विहिते त्वमयोर्नैस्तर्थाभावाज्ज्ञानकृतो विरोधो निवृत्त इति
न कोऽपि दोषः ।

अब द्वितीय 'ज्ञान-विरोध' को निवृत्त करने की विधि बतलाते हैं—'रसान्तर' इत्यादि ।
ज्ञान-विरोध भी तब निवृत्त हो जाता है, जब उन दोनों विरोधी रसों के बीच में स्थिर
(सुलभ) करने वाले की तरह किसी अविरुद्ध (जो उन दोनों रसों का विरोधी न हो)
रस को स्थापित कर दिया जाता है । जैसे—मेरी (पवित्रतारा की) आवायायिका में—
कण्ठाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शान्त रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत रहने पर 'यह
कैसा अनुभूत रूप है, यह कैसी अवर्णनीय यत्न-परिश्रमी की मधुरता है,' इस तरह
अद्भुत रस को मध्य में रख कर वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया
गया है । यहाँ शान्त और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों के बीच में उन दोनों का ही
अविरोधी अद्भुत भाग्य, जिससे उन दोनों का भी विरोध मिट गया क्योंकि लगातार
रहना ही विरोध का मूल था, यह अब नहीं रहा ।

द्वितीयविरोधनिवृत्तद्व्यहरणान्तरं दाढ्याय प्रतिपादयति—

यथा या—

सद्य समरोत्तुष्टारीर-गौरवतं वर्णयति—

'सुराङ्गनाभिरारिल्ला-व्योम्नि धीरा विमानगाः ।

विलोकन्ते निजान् देवान्, फेरुनारीभिरावृतान् ॥'

सुराङ्गनाभिरमस्मारोगि (सप्यरोगि) आरिल्लाः कदाचिदपि मागनुपसम्भरता
शब्द सप्रणयनान्निहितः, व्योम्नि यवने, विमानगाः (तयः समरे इवम् एवम् गन्तुं)

म्योमयानाह्ला', वीरा शूरा, फेरुनारीभि क्रोष्ट्रीभि, आहतान् मासुलोभेन वैष्टितान्,
(रणभुवि निष्प्राणान्) निजान् स्वीभान्, देहान्, विलोकन्ते सौम्याहं पश्यन्तीत्यर्थः ।

अथवा—कोई कवि युद्ध में मर कर स्वर्ग जाने वाले वीरों के वृत्तान्तों का वर्णन करता है—
(युद्ध में मरे हुये) वीर जब देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से आलिङ्गित होकर, विमानों में
बैठे हुये, आकाश मार्ग से (स्वर्ग जाते रहते हैं), तब वे (रणभूमि में) निष्प्राण पड़े हुये
अपने देहों को मादा-सियारों से घिरे हुये देखते हैं ।

उपपादयति—

ॐ. प्र सुराङ्गना-मृतशरीरयोरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभा-
क्षिप्तो वीररसो निवेशितः । अन्तर्निवेशश्च तदुभयचर्चणाकालान्तर्वृत्तिकालगत-
चर्चणाकल्पम् । तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्थ एव शृङ्गारचर्चणोत्तरं वीरस्य चर्चणाद-
नन्तरं च द्वितीयार्थं बीभत्सस्येति स्फुटमेव ।

अत्रास्मिन् पद्ये । सुराङ्गना शृङ्गारस्य, मृतशरीरस्य बीभत्सस्यालम्बनम् । अन्तर्माथ्ये
स्वर्गलाभेन पूर्वाचर्चप्रतिपादितेन, आक्षिप्त उत्साहस्याभिद्वारेण बोधितो वीररस, शृङ्गारपी
भरसयोरविरोधी, निवेशितचर्चणागोचरता नीतः । चत्सर्वे । तदुभयस्य विरुद्धरसद्वयस्य
यौ चर्चणायाः कालौ, तदन्तर्वर्ती मध्यगतो यः कालः, तत्र चर्चणा यस्य, तत्त्वमन्तर्निवेशः

इहोदाहरणे सुराङ्गनालम्बनकशृङ्गाररसचर्चणायाः पश्चात्, शृङ्गालम्बनकबीभत्सरसचर्च-
णायाश्च प्रान्तः, विरोधिनीस्तयो रसयोरविरोधसम्पादनाय मध्ये तदुभयाविवक्षस्य विलोक-
नोत्साहस्यापि वीररसस्य सज्जिपेशादबोधो इत्याशयः ।

इदम् पुनरत्र विधाननीयम्—‘आय कण-वीगता-रौद्र-वीर-भयानकैः ।’ इति
दर्पणोक्तं शृङ्गारस्य अपा वीगतो विरुद्धः, तथैव वीरोऽपि, तस्माद् विरुद्धयोः शृङ्गार-बीभ-
त्सयोरविरोधसम्पादनाय कथं वीरस्यान्तरसमावेशः सङ्गच्छते ? तारक्ष्यभावात् ।

यहाँ देवाङ्गनाओं को आलम्बन मान कर शृङ्गार-रस और वीरों के मृत शरीरों को
आलम्बन मान कर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है और ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं,
अतः इन दोनों के मध्य में तदुभयविरोधी वीर-रस का निवेश किया गया है । यद्यपि
वीर-रस-व्यञ्जक शब्द यहाँ नहीं है, तथापि स्वर्ग-लाभ की बात से उसका आक्षेप हो
जाता है । अन्तर्निवेश—बीच में प्रवेश—का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के
आस्वादन का जो समय है, उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना । वह यहाँ
स्पष्ट ही है क्योंकि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृङ्गार-रस का आस्वादन होने के बाद वीर-रस
का आस्वादन होता है और उसके बाद द्वितीयार्ध में बीभत्स-रस का ।

पूर्वक्रमव्यत्यासेनोदाहरणान्तरं पुनर्दर्शयति—

‘भूरेणुदिग्धान्’ इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथममृतवीभत्ससाम-
ग्रीनशाद् बीभत्सचर्चणोत्तरं तत्सामप्रयातिप-निशङ्कप्राणत्यागादिरूपसामग्री-
कस्य वीरस्य चर्चणे, शृङ्गारचर्चणेति विवेकः ।

‘भूरेणुदिग्धान्’ ‘नवपारिजात-मालारजोवासितबाहुमभ्या’ ।

गाढ शिवाभिः परिभ्यमानान्, सुराङ्गनामिलशृङ्गान्तरालम् ॥

सशोणितैः मन्व्यभुजा स्फुरद्भिः, पश्यैः खगानामुपबोज्यमानान् ।

सवोजिताध्वन्द्वनवारिकैः, सुगन्धिभिः कल्पलतादुन्दुलैः ॥

विमानपर्यङ्कितले निपन्ना, कुङ्कुमविष्टया तदानीम् ।

निर्दिरयमानाङ्गलानाङ्गुलीभिः-वीरा स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥’

इति ध्वन्यालोक-काव्यप्रकाशोद्धृत-पद्यत्रयात्मकैव वाक्यावरोप । प्रथमं पूर्वं श्रुताऽवगता वीमत्सरसस्य या सामग्री, तद्वशात् तस्या बलाद् वीमत्सरस्य चर्वणा, तदुत्तरं तत्सामग्र्या वीमत्सरसास्वादजनककारणकृतेन, आक्षिप्ता प्रतीतिपदवीमयताविरता निरशङ्कप्राणत्यागादि-रूपासामग्री वीररसप्रतीतिप्रकरणकृते यस्य, स तथोक्तः, तथाभूतस्य वीरस्य चर्वण आस्वादे निष्पन्ने सति, शृङ्गारस्य चर्वणा भवतीति विवेक पूर्वस्मात् पृथग्विचार इत्यर्थः ।

सुराह्नेत्याद्युदाहरणे पूर्वं शृङ्गारस्य, मध्ये तदस्यत्वेन वीरस्य, अन्ते विरोधिनी वी-भारसरसास्वादः । 'भूरेणुदिग्धान्' इत्याद्युदाहरणे तु पूर्वं वीमत्सरस्य, मध्ये वीरस्य, अन्ते शृङ्गारस्य आस्वाद इति द्वयोर्द्वयाहरणयोः क्रममात्रेण भेदः ।

‘भू-रेणु-दिग्धान्’ पतितानपरयन् ॥’ (संस्कृत टीका पृ. १८० देखें)

यह युद्ध-भूमि का वर्णन है । युद्ध में मारे गये वीरों को दिमागों पर सजे सजाये पल्लों के ऊपर बैठा कर अन्तरायें स्वर्ग ले जा रही थीं और उम्हें उस समय वे अन्तरायें अपनी अङ्गुलियों के हस्तों से युद्ध-भूमि में गिरे हुये उनके मृत शरीरों को दिग्वला रही थीं तथा वे वीर अपने उन शरीरों को कौतुक पूर्वक देख रहे थे । हा ! उन मृतक मर्त्य शरीरों में और इन सजीव दिव्य शरीरों में कितना अन्तर था ? मृत शरीर, भू-भूलियों से भूसर, शृङ्गालियों से कस कर आलिङ्गित और मासाहारी पक्षियों के रुधिर-लिप्त अत एव चमचमाते हुये पक्षों से झले जा रहे थे और ये दिव्य देह, नवीन पारिजात-पुष्पों की मालाओं के परागों से सुगन्धित बूझ बाड़े, सुराह्नाओं के आलिङ्गनों से भरे हुये भुज-मत्स्यों से युक्त चम्बन जल के सेकों से सुगन्धित एवं कवच-बहियों से प्राप्त दिव्ययक्षों के द्वारा बने हुये, व्यजनों से झले जा रहे थे । इस काव्यप्रकाश के पद्यों में तो पहले वीभारस की सामग्री का अखण होने के कारण उसका आस्वाद होता है और तदनन्तर वीमत्सर की सामग्री से आक्षिप्त-निर्मयता पूर्वक-प्राण-त्यागादि रूप सामग्री से वीर-रस का आस्वाद होता है, उसके बाद शृङ्गार का आस्वाद होता है—यद् भेद है । अर्थात् पण्डितराज के पद्य में क्रमशः शृङ्गार, वीर और वीमत्सर का आस्वाद होता है और काव्य-प्रकाश के पद्यों में वीभारस, वीर और शृङ्गार का क्रमिक आस्वाद प्राप्त होता है ।

उपसंहरति—

इत्थं चोदासीनचर्येण प्रतिबन्धकज्ञाननिवृत्तौ, निष्प्रत्यूहः प्रतिबन्धचर्व-णोदय इति फलितोऽर्थः ।

इत्थं च उक्तप्रकारेण तु, उदासीनस्य तदस्वस्यान्तरालवर्तिनी वीररसस्य, चर्येण प्रत्यक्षलक्षणज्ञानेन, प्रतिबन्धक बद् विरोधिरसज्ञानं तस्य (आत्मविरोपगुणानामेवोत्तर-वर्तिविशेषगुणनारयस्वनियमान्) निवृत्तौ विरतौ जातायाम्, निष्प्रत्यूहः प्रतिबन्धकामावालि-रन्तरायः, प्रतिबन्धचर्वणस्य द्वितीयविरोधिरसास्वादस्य, उदय उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

ज्ञानानां क्षणत्रयावस्यायित्वान्मध्यमज्ञानोत्पत्तिशुणे प्रतिबन्धकस्य प्रथमज्ञानस्य विलये, प्रतिबन्धस्य तृतीयज्ञानस्योत्पत्तौ न किञ्चिद् बाधकमिति भावः ।

इस तरह से फलित यह हुआ कि उदासीन रस के आस्वाद से प्रतिबन्धक विरोधी रस का ज्ञान जब नष्ट हो जाता है (क्योंकि आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि, अग्रिम घण में होने वाले विशेष गुणों से नष्ट होवे हैं, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रव्य, ज्ञान, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये विशेष गुण कहलाते हैं यह भी समझना चाहिये), तब द्वितीय विरोधी रस का आस्वाद निर्विघ्नरूप से होता है ।

विरुद्धरसद्वयस्य प्रकारान्तरेण विरोधनिवृत्तिमाचष्टे—

अङ्गाङ्गिनोः, अङ्गिन्यन्यस्मिन्नङ्गयोर्वा न विरोधः, अङ्गत्वानुपपत्तिप्रद्वान् ।

अत्र चाङ्गी च—अङ्गाङ्गिनौ पोषकपोष्यौ, यौ रसौ, तयोरेव परस्परं विरोधः स्यात्, तदा पोषकस्य तत्र दूषकत्वादङ्गत्वमेव नोपपद्येत, तथाऽन्यस्मिन् रसेऽङ्गिनि प्रधाने, अत्रयो पोषकत्वं प्राप्तयो, मियोविरुद्धयोरपि राजनि सेवकयोरिव, रसयोर्विरोधो नोपपद्येत, परको पात्रतया स्वातन्त्र्यविरहेण विरोधासम्भवादिति रसद्वयविरोधनिवृत्ते प्रकारद्वयमित्यभिप्रायः ।

अथ अन्य प्रकार से विरोध हटाने की युक्ति दिखलाते हैं—‘अङ्गाङ्गिनो’ इत्यादि । यदि दो रसों में परस्पर अङ्गाङ्गीभाव अर्थात् पोष्य-पोषक भाव हो, तो विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं होता क्योंकि यदि विरोध हो, तब अङ्ग-अङ्गीभाव ही न बने । इसी तरह जहाँ कोई एक रस अङ्गी-मुख्य-हो और उसके अङ्ग दो ऐसे रस हों जो परस्पर विरोधी कहे जाते हों, तो वहाँ भी उन अङ्गभूत रसों में विरोध उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार किसी एक राजा के परस्पर विरोधी सेवकों में वह नहीं होता अर्थात् विरोध दो स्वतन्त्रों में ही हो सकता है और जब स्वतन्त्रता नहीं—दोनों ही एक तीसरे के अङ्ग हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

तत्र प्रथमं विरोधनिवृत्तिप्रकारमुदाहरति—

यथा—

पुरस्ताच्चिपतिता मतजीवितां प्रेयसी प्रियो प्रवीति—

‘प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः,

स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः ।

मामद्य मञ्जुरचनेर्वचनैश्च बाले !,

हा लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि ॥’

अथि बाले मुखे । अद्यास्मिन् दिने, सखीभिरास्त्रीभिः, सह, सहसा (मध्यागते) स्मृति, सविनयं विनयपुरस्सरम्, प्रत्युद्गता सत्करणात् प्रत्युपस्थिता, स्मेरैरीयदासवलितैः, स्मरस्य मदनस्य, सचिवैः सूचकतया सहायै, सरसावलोकैः सानुरागनिरीक्षणैः, मञ्जुर्मनोरमा रचना विन्यासो येषां, ते तयोक्तास्तादशैरितिललितैः, वचनैर्भाषणैश्च (अन्यदिनवत्) हा हन्त ! लेशतोऽपीषदपि, भा, कथं केन कारणेन, सत्करोषि नैव सम्मानयसीति वद कथयेत्यर्थः ।

जैसे—हा ! बाले ! ! योहो, आज, तुम, सीप्यों के साथ शीघ्र सामने में विनय पूर्वक उपस्थि होकर, कामभाव को जगाने वाली, विकसित तथा सरस चितवनों से और सुन्दर-रचना वाले वचनों से, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों न नहीं कर रही हो ?

प्रसङ्गमभिधाति—

इयं च पुरो निपतितां प्रमीतां नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः ।

प्रमीता मृता ।

यह आगे में पढ़ी हुई मृत नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

उपपादयति—

इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावै-रवगविपादादिभिः सञ्चारि-भिश्च व्यव्यमाना, नायकगता रति-स्तुल्यसामप्रथमिव्यक्ते प्रकृतत्वात् प्रधानी-भूते सद्गत एव शोके प्रकर्षकत्वादङ्गम् ।

तुल्यया सजातीयया सामप्रथा कारणकृतेनाभिव्यक्ते । प्रकृतत्वान्मरणे वृत्ते प्रस्तुतत्वात् । सद्गते नायकनिष्ठे । प्रकर्षकत्वादुपकारकत्वात् ।

अत्र नायिकाऽऽलम्बनम्, अश्रुपातप्रभृतयोऽनुभावा, आवेगादयश्च व्यभिचारिणः, तैः सम्भूयाभिव्यज्यमाना शृङ्गाररसस्यापिरूपा नायकनिष्ठा रति, नायिकाया निधनात्दा-
लम्बनस्य, अश्रुपाताद्यनुभावितस्य, आवेगादिप्रेषितस्य, कदम्बरसस्यायिनः शोकस्य प्रकर्ष-
कत्वाद्वहमिति परत्र निरोधिनोरपि शृङ्गारकणयोः प्रकृतेऽज्ञाप्तिभावाद् विरोधनिवृत्तिरिदमुदा-
हरणम् । भविकास्तु—

‘अविरोधी विरोधी ना रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।

परिपोषं न नेतव्य-स्तथा स्यादविरोधिता ॥’

इत्यहरसपरिपोषाविधानादविरोधमावधते ।

यहां नायिकारूप आलम्बन में नायक की रति (शृङ्गार का स्थायीभाव) अनुभावादि
अनुभाव और आवेग, विषाद आदि सञ्चारीभावों से अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं
सामग्रियों से अर्थात् अश्रुपातदि से नायक का शोक (कण का स्थायीभाव) भी व्यक्त
होता है, परन्तु प्रधानतया यहां शोक की है क्योंकि नायिका के मरण-ज्ञान से यही प्रस्तुत
है, रति उसका पोषक है—अहं है, कारण ? प्रेम जोक को बढ़ाता है यह अनुभव सिद्ध है ।

नन्वालम्बनविच्छेदाद् रतेरप्राप्तते कथं शोकाद्वत्त्वमित्याकाङ्क्षायांमाह—

यदि तु नायकता रतिनां प्रतीयते, किन्तु निरुक्तसामग्र्या शोक एव
प्रकृतत्वादित्यागृह्यते, तदा नायकालम्बना प्रत्युद्गमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः
पोषिता नायिकाप्रत्या रतिरेव तद्वहमस्तु, नायिकागतरतेर्नायकरोकप्रकर्षहेतुतायाः
सर्वसम्मतत्वात् ।

नायकरतिप्रत्ययस्वानुभवित्वादिह तुना, आप्रप्यत इत्यनेन चार्चि सृज्यते । निरुक्त-
सामग्र्या रतिव्यञ्जनेन तेनैव कारणवृत्तेन । तद्वत् शोकस्य प्रकर्षकम् । नायिकेत्यादिना हेतु-
पन्थात् । अत्र नायिकाया आलम्बनस्य विनाराक्षिरालम्बनाया नायकनिष्ठाया रतेः प्रतीतिर्न
सम्भवति, किन्तु तन्निष्ठस्य शोकस्यैव प्रतीतिरिति वदग्रहः (न तु वास्तविकविचारः)
क्रियते, तर्हि नायकविषया या नायिकानिष्ठा प्राचीना रति, तस्या एव शोकस्योपकारकत्वा-
द्वहत्वमास्ताम्, तावतापि रते शोकाद्वत्त्वस्य सिद्धत्वात्, तादृशरतेस्तच्छोकोपकरत्वस्य
विप्रतिपत्तिप्रस्तत्वाभावादिति सारम् ।

इदं पुनरिह विवेचनीयम्—यद्यालम्बनविनाराक्षायकनिष्ठरतेरप्रतीतिरिहाभ्युपगम्यते,
तदाऽऽश्रयविनाराक्षायिकानिष्ठरतेः प्रतीतिः कथङ्कार स्यात्, उभयोर्वैषम्ये योजनोप-
लम्भात् । यदि तु बहुप्रमाणरहित्या स्मर्यमाणाया नायिकनिष्ठाया रते शोकाद्वत्त्वं न्याय्यम्,
तदा तादृशया नायकनिष्ठरतेरपि तत्त्वे धापकभावात् ।

ननु रसानामपरिच्छिन्नत्वेन सच्चिदानन्दरूपतया केयान्तरस्पर्शगुण्यत्वेन च मिथो
बाध्यबाधकभावत्क्षणस्य विरोधस्योपकार्योपकारकभावत्क्षणस्याज्ञाप्तिभावस्य च कथं सम्भव
इति चेत्, उच्यते—रसपदेनान्तरकरणे रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसत्वयोग्यतत्तत्स्यार्यैक्यव
परत्वाभ्युपगमेन दोषाभावात् । अत एव—‘मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्
रसरान्देवोच्चाः ।’ इति अनिर्कृतोऽप्यभिदधते ।

यदि यहा यह आग्रह किया जाय कि—नायक की रति (प्रेम) यहा प्रतीत नहीं होती,
परन्तु उक्त सामग्री से उसका शोक ही यहां प्रतीयमान है, क्योंकि यही प्रस्तुत है अर्थात्
मृत नायिका को आगे में पड़ी देखकर शोक का होना सम्भव तथा स्वाभाविक ही है, तब
उस नायिकानिष्ठ रति को ही शोकका अहं समझना चाहिये, जिसका तत्पद आलम्बन है,

सत्कार के लिये आगे आना अनुभाव है और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं, क्योंकि यह बात सब आचार्यों को मान्य है कि नायिका का प्राक्तन प्रेमाचरण नायक के शोक को बढ़ाने वाला होता है। यहाँ एक बात विचारणीय यह है कि—यदि आलम्बन (नायिका) के नाश हो जाने से नायकनिष्ठ रति की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा मानते हैं, तब आश्रय (नायिका) की विनाश-दशा में नायकानिष्ठ रति की प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि इन दोनों प्रकारों में विषमता—स्वीकार करने का कोई उपयुक्त कारण नहीं है। यदि ग्रन्थकार के द्वारा आगे प्रदर्शित की गई रीति के अनुसार स्मरण की गई नायकनिष्ठ रति को शोक का अङ्ग मानते हैं, तब तो स्मरण की गई नायकानिष्ठ रति को भी शोक का अङ्ग मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मुझे तो ग्रन्थकार का आशय यह मालूम पड़ता है कि नायिका की मृत्यु के बाद नायक को नायिका का प्रेम ही स्मरण होता है, अपना प्रेम नहीं, यही समुचित भी है। कारण ? प्राणीमात्र स्वार्थ-पाश में बद्ध है उसे हर समय में अपना ही अभाव खटकता है, फिर उक्त स्थिति में नायक अपने प्रेम के विषय में क्यों सोचे ? जब कि वह अब भी अपने प्रेम का स्थान अनेक बना सकता है। हाँ, नायिका के प्रेम के विषय में वह अवश्य सोच कर सकता है—उसकी याद उसे जरूर आती है और सताती भी है क्योंकि वह उसे इस जीवन में ही नहीं जन्मान्तर में भी मिलने को नहीं,—उसका अभाव सदा खटकता ही रहेगा। अनुभव भी प्रायः इसी तरह का है।

ननु नायकानिष्ठरतिरिदानीमविद्यमाना कथं शोकमुपस्फुर्यादित्यत्राह—

न च नायिकाया नाशात् तद्रूपाया स्तेरसन्निधानात् कथमङ्गतेति वाच्यम्,
सन्निधानस्याङ्गतायामसन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः।

सन्निधानं सन्निकर्षं सत्त्वमिति वाच्यं । अतन्त्रत्वं कारणत्वेनाविवक्षितत्वम् । नायिकाया विनाशान्, तन्निष्ठरतेरविद्यमानत्वेन शोकस्थोपकारकत्वासम्भव इति च न वाच्यम्, नायकानिष्ठरतेस्तत्कालमविद्यमानत्वेऽपि, स्मर्यमाणायास्तस्या नायकनिष्ठशोकोत्कर्षकत्वसम्भवादङ्गत्वस्थोपपत्तत्वादिरयमिष्टाय ।

यदि आप कहें कि नायिका जब नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम भी वर्तमान नहीं है, फिर वह शोक का अङ्ग कैसे हो सकता ? इसका समाधान यह है कि अङ्ग होने में विद्यमान रहना यहाँ अपेक्षित नहीं है, अतः स्मरण किया हुआ प्रेम भी शोक का अङ्ग हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मूर्तपदार्थ का अङ्ग वर्तमान मूर्तपदार्थ ही हो सकता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है अर्थात् जहाँ एक प्रकार की भावना का अङ्ग अन्य प्रकार की भावना को होना है, फिर भावना का विषय वर्तमान रहे वा अतीत दोनों बराबर है अर्थात् भावना जैसे वर्तमान की कीजा सकती है, वैसे अतीत की भी।

अन्यस्मिन्नङ्गित्वमात्रयो रसयोर्विरोधनिवृत्तिमुदाहरति—

अङ्गयोर्यथा—

स्त्रीय रस के अङ्गी रहने पर उसके अङ्गभूत विरुद्ध दो रसों का अविरोध, जैसे—
राजानं चाटुभार कथिदभिदपाति—

‘उत्तिष्ठतः कवरीभर, विवलिता, पार्श्वद्वय, न्यक्कृता,

पादाम्भोजयुग, रुपा परिहृता दूरेण चेलाञ्जनम् ।

गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभट—दमापालवामभ्रुवा,

यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिता के के न भूमीरुहा ॥’

हे राजन् ! गहनेषु काननेषु, भवद्गिया पलायमानानां भवतो ये प्रतिभटा परिपन्थिन-
दमापालाभूमिपा, तेषां या वामभ्रुवोऽङ्गना, तासाम्, कवरीभरं केशपाशम्, उद्ध्वं शिता
उधोता सन्त, पार्श्वद्वयमुभे पार्श्वे, विवलितावकीरुता, पादाम्भोजयुगं स्वरणकमलद्वयं,

न्यक्कृता अथ कृताः, चेलाखलं शादीवसनश्रान्तं, रुपा ओषेन, दूरेणापरात्, परिहृता दविता,
कण्टकैस्तीक्ष्णावयवैश्चिता न्यासाः, के केन अपितु सर्व एव, भूमिदहा वृक्षा गृहन्तीत्यर्थः ।

अत्र कण्टकपदस्य वृक्षतीक्ष्णवयवे रोमाधे च शक्तिः । तथा च प्रस्तुतेषु भूमौष्ठ-
कर्तृक-रिपुनामहिपीडनरीप्रवृणप्रयतिव्यवहारेऽप्रस्तुतहठग्रमुककर्तृकवत्तद्वयवहाणा समा-
रोपात् समासोक्तिरलङ्कारः । तत्र वाच्यप्रस्तुतभूमौष्ठव्यवहारव्यङ्ग्य कण्ठ, व्यङ्ग्या-
प्रस्तुतहठकमुकव्यवहारव्यङ्ग्य शृङ्गारय रसौ मियो विरोधिनावपि, प्रधानीभूते वर्णनीयरान-
निपयक-वकृतिप्रतिभावेऽज्ञताज्ञतावितुमयो विरोचनिवृत्त्या समावेशः ।

कोई कवि राजा की चाटुकारिता करता है कि—हे राजनू ! आपके शत्रुभूत राजाओं
(जो आपके भय से सपरिवार जङ्गल में भाग गये हैं) की जङ्गल में जाती हुई छियों की
बड़ी दुर्दशा होती है, कौन ऐसे छँटीले घृष है जो उनसे छेद छ्दाट नहीं करते ! सुनिये—
उन छियों के द्वारा ऊँचे किये जाने पर वे घृष केस-पारा को पकड़ लेते हैं, टेढ़े किये जाने
पर दोनों दगलों को मोच लेते हैं, नीचे किये जाने पर दोनों चरण-कमलों को चूम लेते हैं,
और दूर हटा देने पर भी सट से वलों के घोर को ही पकड़ लेते हैं ।

तदाचष्टे—

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्यां तरु-कामि-कर्तृक-रिपुकामिनीकपर्यादिग्रहण-
रूपाभ्यां प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्यां व्यक्तयोः कण्ठ-शृङ्गारयो राजविषयकरति-
भावाङ्गत्वम् ।

व्यवहारयो समासोक्तैरवयवत्वं निष्पादकत्वात् । व्यक्तयोर्व्यञ्जनावगतयो । इतरत् स्पष्टम् ।

इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार है और उस अलङ्कार के दो अंश होते हैं—एक
प्रस्तुत का व्यवहार और दूसरा अप्रस्तुत का व्यवहार, जैसे यहाँ वृक्षों के द्वारा छियों के
केस आदि का ग्रहण प्रस्तुत का व्यवहार है और किसी कामी पुष्ट के द्वारा उगका प्रदग्
अप्रस्तुत का व्यवहार है । इन दोनों व्यवहारों में से प्रथम से कण्ठ-रस की और द्वितीय
से शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति होती है और वे दोनों रस यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि
यहाँ विरोध नहीं होता क्योंकि वे दोनों ही वही वही कवि-निष्ठ-राजा-विषयक-रति-मात्र
के अङ्ग हैं अर्थात् प्रधान यहाँ उक्त आव ही है, वे दोनों रस उसके पोषकमात्र हैं अतः उनमें
विरोध नहीं होता ।

पुनःप्रकारान्तरेण विद्वत्समावेशं प्रतिपादयति—

किञ्च प्रकृततरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनीऽपि रसस्य बाध्यत्वेन तिबन्धनं
कार्यमेव । तथाहि सति, वैरिचिखयकृता वर्यस्य काऽपि शोभा सम्पद्यते ।

प्रस्तुतस्य रसस्य परिपोषमिच्छता कविना प्रस्तुततरविरोधिनीऽपि रसस्य, अभिभव-
नीयत्वेन निवेशः कर्तव्य एव, यतो बाध्यस्य विरोधिना सत्तया प्रस्तुतस्य रसस्य पुष्टिरेव
भवति, न तु बाधः, यद्य निजितस्य वैरिण सत्तया वर्णनीयस्य गहोपतेरुत्कर्ष एव सम्पद्यते
नत्वपकर्ष इति सारम् ।

अब विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता बतलाते हैं—'किञ्च' इत्यादि । प्रस्तुत रस
को अच्छी तरह पुष्ट करने की इच्छा रखने वाले कवियों को विरोधी रस का भी बाध्य रूप
से वर्णन करना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करने से, वर्णनीय (प्रस्तुत) रस की शोभा वैरी
(विरोधी रस) का विजय कर लेने के कारण अनिवार्यनीय हो बढ़ती है, अर्थात् बाध्य रूप
से विरोधी रस का वर्णन रहने से प्रस्तुत रस की पुष्टि ही होती है, बाध नहीं । जैसे विजित
घातुर के वर्णन से वर्णनीय विजेता राजा का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, अपकर्ष नहीं ।

रसस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिना- रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु, निष्पत्तेः प्रतिबन्धः ।

स्वाङ्गेषु स्वकीयव्यञ्जनोपयोगिष्वात्म्यनादिषु, विद्यमानेषु प्रतीयमानेष्वपि, प्रबलैः परिपोषविशेषं प्राप्तैः, विरोधिना रसस्य, अङ्गैरालम्ब्यनादिभिरुपकारकैः (कर्तृभिः) निष्पत्तेः प्रस्तुतरसास्वादपरिपोषस्य, प्रतिबन्धोनिरोध एव रसस्य बाध्यत्वमित्यर्थः । परिपुष्टविरोधिरसाङ्गस्पर्शकापुष्टाङ्गप्रस्तुतरसास्वादप्रतिबन्धनमेव रसस्य बाध्यत्वमित्याशयः ।

रस के बाधित होने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण, अपने अङ्गों के वर्तमान रहने पर भी अपनी (बाध्य रस की) अभिव्यक्ति का रुक जाना । अर्थात् किसी रसके अभिव्यक्त होने की सामग्री (आलम्बन आदि) के प्रतीयमान होने पर भी, दूसरे रस की आलम्बन आदि सामग्री के प्रबल (प्राप्त परिपोष) होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना ।

व्यतिरेकं दर्शयन् व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

व्यभिचारिणो बाध्यत्वं तु तदीयरसनिष्पत्तिप्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभिव्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावात् ।

तदीयस्तद्व्यभिचारिभावोपेक्ष्यो यो रसस्तस्य निष्पत्तेरास्वादस्य प्रतिबन्धादेव, न तु रसवत् स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, तदास्वादे बाधकाभावादित्वर्थः ।

रसस्य बाध्यत्वे तदास्वादाभावः, व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वे तु तत्प्रेष्यरसास्वादाभाव इत्युभयोर्व्यतिरेकोऽवसेयः ।

व्यभिचारीभावों का बाध्य होना तो उसके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिये थी, उसका रुक जाना ही है, न कि व्यभिचारीभावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्योंकि व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालने वाला कोई नहीं है । अर्थात् रस के बाध्य होने पर उस रस का आस्वाद नहीं होता और व्यभिचारीभावों के बाध्य होने पर भी उनका आस्वाद होता ही है, परन्तु उन व्यभिचारीभावों से पोषित होने वाले रस का आस्वाद नहीं होता, यही रस और व्यभिचारीभावों की बाध्यता में भेद है ।

ननु विरोधिरसामिव्यक्त्या यया प्रकृतरसास्वादस्य प्रतिबन्धः, तथैव व्यभिचारिभावस्यापि स्वप्रेष्यरसविरोधिरसाङ्गभूतव्यभिचारिभावानिव्यक्त्याऽभिव्यक्तिप्रतिबन्धः कुतो नेत्याशङ्कामपास्यति—

न च विरोधिरसाङ्गाभिव्यक्त्या प्रतिबन्धात्प्रतिबन्धकिरिति वाच्यम्, तद्व्यञ्जकशब्दार्थज्ञानसमये विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्यासन्निधानात् प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशबलताया उच्छेदापत्तेश्च ।

विरोधिना रसस्य पोषकत्वादङ्गानां व्यभिचारिणामभिव्यक्त्याऽऽस्वादेन प्रतिबन्धाद् बाधाद्, नाभिव्यक्तिव्यभिचारिणामिति शेषः ।

तद्व्यञ्जकौ व्यभिचारिप्रत्यायकौ यौ शब्दाद्यौ, तयोर्ज्ञानस्य समये स्थितिकाले असन्निधानाद् विनष्टत्वात्, उभयोः शब्दार्थज्ञानयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य कल्पनाया प्रमाणाभावात् । किञ्च यदि भावज्ञानयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्य कल्पना स्यात्, तदा भावशबलताया उच्छेदः आपयेत्, तत्रैकभावज्ञानस्यापरभावज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् तदनुसृतिप्रसङ्गात् । तस्माच्च व्यभिचारिभावानां बाध्यत्व स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, अपि तु स्वप्रेष्यरसास्वादाभावदिति सारम् ।

यदि आप कहें कि जैसे विरोधी रस की अभिव्यक्ति से प्रकृत रस की अभिव्यक्ति रुक जाती है, उसी तरह विरोधी रसके अद्भुत व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति से प्रतिबन्ध हो जाने के कारण प्रकृत रस के व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति क्यों नहीं रुक जायगी ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि से अतिरिक्त सब ज्ञान दो ही चण रहते हैं, अतः जिन व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध आशंकनीय हो, उनके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान जिस चण में होगा, उस चणमें प्रतिबन्धक रूप से स्वीकरणीय व्यभिचारीभावों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर दोनों ज्ञानों में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक की कल्पना करने में कोई प्रमाण ही नहीं है । अर्थात् एक काल में रहने वाले दो ज्ञानों में ही एक दूसरे का प्रतिबन्ध (रुकने वाला) और प्रतिबन्धक (रोकने वाला) हो सकता है । यहां तो दोनों ज्ञान एक काल में रहते ही नहीं, अतः प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव नहीं होगा । यदि आप कहेंगे कि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी उसके संस्कार तो रहेंगे ही, अतः उन संस्कारों में ही प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक तो उद्बोधक के रहने पर संस्कार का प्रतिबन्ध अनुभव-विरुद्ध है अर्थात् वह नहीं रुकता है । दूसरी बात यह कि सम्भव होने पर भी उस तरह के प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक-भाव की कल्पना नहीं करनी चाहिये, अन्यथा 'भाव-शबलता' का उच्छेद ही हो जायगा क्योंकि एक पद्य में अनेक विरोधी भावों के जुटने का ही नाम है 'भावशबलता' और उक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव के मानने पर एक से दूसरे का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण एक जगह अनेक विरोधी भाव अभिव्यक्त ही न हो सकेंगे ।

नन्येयमेव रसोऽपि निष्पत्तिप्रतिबन्धः माभूदित्याराद्धा निराकरोति—

रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति तां प्रत्येय विरोध्यज्ञानां वलपता-
मभिठ्यक्तेः प्रतिबन्धकत्वं न्याप्यम् ।

स्वविरोधिरसाज्ञाभिव्यक्त्या रसाभिव्यक्तेः प्रतिबन्धस्तु सङ्ख्येयानुभवसिद्धत्वात् प्रामा-
णिकः, तस्माद् बलवतो विरोधिरसाज्ञाभिव्यक्तिर्विरोधिरसाज्ञादस्यैव प्रतिबन्धिका, न तु
व्यभिचार्याज्ञादस्येति भावः ।

यदि कहें कि तब रसाभिव्यक्ति का भी प्रतिबन्ध क्यों मानते हैं ? तो, इसका उत्तर यह है कि विरोधी रस के प्रबल अङ्गों के रहने पर रसाभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध (रुकाना) अनुभव से सिद्ध है अर्थात् उस स्थिति में रसकी अभिव्यक्ति नहीं होती यह बात सबको अनुभूत है । अतः रसाभिव्यक्ति के प्रति प्रबल-विरोधी रसाङ्गों की अभिव्यक्ति को प्रतिबन्धक मानते हैं और व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति के प्रति उनको प्रतिबन्धक नहीं मानते, क्योंकि उनका प्रतिबन्ध अनुभव से सिद्ध नहीं है ।

पुनः प्रकारान्तरेण रसविरोधनिवृत्तिं प्रतिपादयति—

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिः, तत्रापि
विरोधो निवर्तते ।

मियोविद्वद्भिरमद्वयव्यञ्जकार्थद्वये, तुल्यानि साधारणानि, यानि विशेषणानि, तेषां महिम्ना
प्रभावेण, परस्परं विरुद्धयोरपि रसयोर्भावयोर्वा यत्राभिव्यक्तिः, तत्रापि तयोर्विरोधो निवर्तते ।
अन्यथा तादृशास्पृक्षेणैकतरप्रतीतिः सुतरामनरुद्धा स्वादित्यभिसन्धिः ।

अब विरोध-निवृत्ति का एक और उपाय बतलाते हैं—'अपि च' इत्यादि । जहां समान
विरोधों के द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहां भी उनका विरोध निवृत्त
हो जाता है ।

उदाहरति—

यथा—

कथिद् राजानं स्तौति ।

‘नितान्तं यौवनोन्मत्ता-गाढरक्ताः सदाह्वे ।

यमुन्धरां समालिङ्ग्य, शेरते वीर । तेऽरयः ॥’

वीर नृपते ! नितान्तमत्यन्तं, यौवनेन तारुष्येन, उन्मत्ता उद्धता, सदा, आह्वे युद्धे गाढं विक्षुब्धतया विपुल रक्तं हविर येषां, तादृशा, पक्षान्तरे गाढमत्यन्तं रक्ता अनुरक्ता, यमुन्धरा समरभूमिम् भूतत्वात्, पक्षान्तरे नायिक्य प्रणयात् समालिङ्ग्य सम्यगुपगूह्य, ते तव, अरयः शत्रवः, शेरते रवपन्तीत्यर्थः ।

इह ‘यौवनोन्मत्ता’ ‘गाढरक्ता’ इत्यादिविशेषणवलादरिमरणप्रतीते प्रथमं कर्णरसाभिव्यक्तिं पश्चाच्च शृङ्गाररसाभिव्यक्तिरिति साधारणविरोधपक्षेण प्रतीयमानयौर्विद्वद्वोरपि कर्णशृङ्गाररसयौर्विरोधस्य निवृत्तिः ।

जैसे—हे ! वीर—राजन् ॥ जवानों से अत्यन्त उन्मत्त बने हुये और युद्ध में सर्वदा अङ्गों के लत-विद्धत हो जाने के कारण अत्यधिक रधिर-प्रवाहसे युक्त, दूसरे पक्ष में अत्यन्त अनु-रक्त भावके शत्रु लोग, मर कर गिर जाने से समर-भूमिको, दूसरे पक्ष में प्रणय से नायिका को सम्यक् रूप से आलिङ्गन-बद्ध करके सो रहे हैं । यह किसी कवि से की गई राजा की स्तुति है । वहां ‘यौवनोन्मत्त’ ‘गाढरक्त’ इत्यादि शत्रु-मरण-प्रत्यायक विशेषणों से पहले कर्ण-रस की अभिव्यक्ति होती है, पश्चात् उन्हीं विशेषणों से शृङ्गार-रस की भी प्रतीति होती है । इस तरह अन्यत्र विद्वद् कहे जानेवाले कर्ण और शृङ्गारमें यहां विरोध इस लिये नहीं होता कि वे दोनों ही वहां एकविध विशेषणों के द्वारा ही अभिव्यक्त हो जाते हैं ।

एव रसानामविरोधप्रनाराजत्वा दोषान् वक्ति—

इत्थमविरोधसम्पादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वा नाभिधातुमुचितः, अनास्वाद्यताऽऽपत्तेः । तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात् ।

सामान्येन रसशब्देन, विशेषेण शृङ्गारादिशब्दैर्वा रसानामभिधेया बोधनमनुचितत्वाद्दोषः, यत्तत्तपाराति रसश्चमत्कारापकर्षात्तत्त्वादिभिर्भुज स्वात् । केवलम्यञ्जनावृत्तिबोध्यत्व एव रसाना चमत्कारकत्वम् । यथा गुडस्य रसवेन्द्रियमात्रसन्निकर्षेण ग्रन्थशात्मक आस्वादः, तथैव रसादैरपि व्यञ्जनबोधस्थापनैर्नैव । एतच्च ‘कथमपि वाच्यरस्यनालिङ्गितस्यैव व्यञ्जयस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिके भ्वीकारात् ।’ इत्यनेनात्रापि प्रागुपन्यस्तम् । ‘व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।’ इत्यादिना कान्यप्रकाशे रसदोषप्रकरणेऽप्येतदेव प्रतिपादितम् ।

‘निर्माय नूतनमुदाहरणसुस्पष्टम्’ इत्यादिनाऽऽदौ ग्रन्थकृता कृता स्वकीयोदाहरणदान-प्रतिष्ठा प्रायो दोषमिमा परित्यजेतीह तदुदाहरणद्वयमन्यदीय क्रमेण दीयते—

‘तामनग्नयमग्निलभियः, किपिदुषभुजमूल्लोकिताम् ।

नेत्रयो कृतवतोऽस्य गोचरे, कोऽप्यजायत निरन्तर ॥’ इति ।

‘तामुद्रीक्ष्य कुरङ्गाक्षी, शृङ्गारे मममन्तरम् ।’ इति च ।

अथ रस दोषों का श्लेषचन करते हैं—‘रसम्’ इत्यादि । इस प्रकार विरोध का परिहार कर लेने के बाद भी वर्णनीय रसों का उल्लेख ‘रस’ शब्द अथवा ‘शृङ्गार आदि’ शब्दों से नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिधावृत्ति के द्वारा बोधित होने पर उन रसों में आस्वाद्यता (चमत्कार) नहीं रह जाती । अतएव पहले भी कहा जा चुका है कि रस तभी आस्वा-दन करने योग्य होता है, जब व्यञ्जनावृत्ति से उनका बोध होता है ।

ननु रसाना व्यञ्जनया धाम्यमानानामभिधया बोधने वा क्षतिरित्याशङ्क्यामाह—

यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधानं, तत्र को दोष इति चेत्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

स्वशब्देन रसशब्देन सूत्रादिशब्देन च । सामान्यतोऽविशेषात् । भुक्तस्योद्विग्न-मिव व्यञ्जनागम्यस्य पुनरभिधया बोधनमिति वमनतुल्यत्वात्तदाख्या दोषस्य । अन्योऽयम-पूर्ण इत्यग्रेऽस्य दोषस्यानिरूपणम् ।

व्यङ्ग्यस्य रसस्याभिधया बोधने वमनाख्यदोषापाताद् वाच्यत्वं बोधितमिति सारम् ।

जहां वाच्य विभावादिकों से अभिव्यक्त हुये रस का पुनः रस अथवा शब्दों आदि पदों से उल्लेख कर दिया जाय वहां कौन दोष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यङ्ग्य को वाच्य बना देने पर 'वमन' नामक दोष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा । अर्थात् व्यञ्जना-वृत्ति से ज्ञात अर्थ का पुनः अभिधावृत्ति द्वारा ज्ञान करना, तादे हुये अर्थ के उगलने जैसा है । अतः एव इस दोष का 'वमन' यह नाम करण हुआ । खेद है कि अपूर्ण रह जाने से ग्रन्थ में इस दोष की चर्चा आगे नहीं हो सकी । अखिल व्यङ्ग्यों में होने वाला यह दोष सामान्य है ।

अत्रैव सामान्यदोऽनुक्त्वा विशेषदोषं वक्ति—

आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया, रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेय-कल्पत्वेन विरोपदोषत्वाच्च ।

रसस्य येन रूपेणास्वाद्यता भवति, तदास्वाद्यताऽवच्छेदकं रूपं वैयञ्जनिपरोक्षज्ञान-विषयत्वम् । प्रत्ययाजनकतयाऽऽस्वादजनकत्वाभावेन । वाच्यवृत्तेरभिधायी । कापेयकल्पत्वेन वातरचेष्टितमुह्यत्वेन निरर्थक्येन । दोषविशेषो निरर्थक्यं, तच्च 'न कुर्यादभिफलं कर्म' इत्यादिनाऽन्यत्र निषिद्धम् ।

अभिधया रसादीनां शब्दप्रतीतिमात्रं न तु लोकोत्तरचमत्कारप्राण आस्वाद इत्यभिधया आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण रसादास्वादजनकत्वाभावाद् रसादीनां व्यङ्ग्यमानामपि पुनरभिधया बोधकस्य चेष्टा कपिचेष्टेऽपि मिथ्यैवेति निरर्थक्यरूपदोषविशेषोऽङ्गीह सम्भवतीत्याहृतम् ।

रस-शब्दारादि पदों से रसों को वाच्य बना देने पर 'निरर्थकत्व' नामक विशेष दोष भी होता है क्योंकि आस्वाद्यताऽवच्छेदक रूप से प्रतीति-जनक नहीं होने के कारण रस-स्थल में अभिधा-वृत्ति का प्रयोग व्यङ्ग्यों की चेष्टा के जैसे निरर्थक है । अभिप्राय यह है कि रस आस्वाद्यताऽवच्छेदक रूप से प्रतीयमान हो कर ही चमत्कारी होता है और वह रूप है—व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का विषय होना, अतः अभिधा वृत्ति से उसकी प्रतीति होने पर भी चमत्कार उत्पन्न होता ही नहीं, फिर तो उस वृत्ति के द्वारा रसों की प्रतीति कराने का प्रयास व्यर्थ होगा ही । आस्वाद्यताऽवच्छेदक पद का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—रस आस्वाद्य होता है अतः आस्वाद्यता उसमें रहती है और रस में रहने वाला कोई खास (असाधारण) धर्म उस आस्वाद्यता का अवच्छेदक (परिचायक) होता है, जो यहा वैयञ्जनिक-अपरोक्ष-ज्ञान विषयत्व अभिप्रेत है ।

रसदोषेष्वेवं प्रथमं निरूप्य, द्वितीयं तृतीयं च निरूपयति—

एवं स्थायि-व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः ।

एवं रसवत्, स्थायिना व्यभिचारिणा च भावानां, शब्दवाच्यत्वं रत्यादिशब्दैर्हर्यादि-शब्दैश्चाभिधेयत्वमपि दोषो भवतीत्यर्थः । तथा चोक्तं दर्शये—

'रसस्योक्तिः स्वशब्देन, स्थायित्वशारिणोरपि ।' इति ।

तत्र स्यायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं द्वितीय, व्यभिचारिणा तु स्वशब्दवाच्यत्वं तृतीयो दोषः । इहापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यत्व एवास्वादो न वाच्यत्वे । विशेषस्तु प्रदीपादवसेयः ।

‘सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम् ।

‘ठण्ठकारैः श्रुतिगतैस्तसाहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥’ इति पूर्वम् ।

‘सम्रोडा दयितानने मरुहणा मातङ्गचर्माम्बरे,

सत्राद्या भुजगे, सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।

सेर्या जङ्घसुताऽवलोकनविधौ, रीना कपालोदरे,

पार्षत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दष्टि शिवायास्तु च ॥’

इत्यपरस्योदाहरणम्, पूर्वोक्ताहस्य स्यायिन, अपरत्र श्रीमदीना व्यभिचारिणां च स्वशब्देनोपादानात् ।

इसी तरह स्वाश्रीभावों और व्यभिचारीभावों का भी नामोल्लेखपूर्वक वर्णन करना दोष है अर्थात् अभिज्ञा-वृत्ति के द्वारा इन भावों का प्रतिपादन करने पर भी चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक प्रकार का वैयर्थ्य ही होता अथवा द्रष्टाओं को उत्पन्न हो जाता है अतः वैसा नहीं करना चाहिये ।

चतुर्थं पञ्चमं च रसदोषं निरूपयति—

एव विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्यये वा, न रसास्याद इति तयोर्दोषत्वम् ।

असम्यक् प्रत्ययोऽस्फुटा प्रतीतिः । विलम्बेन प्रत्ययो वाच्यप्रतीतितृतीयवक्षणादौ प्रतीतिः । तयोर्विभावानुभावविषयकास्फुटप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोः । तदुक्त भङ्गमन्मटेन—

‘कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः ।’ इति । तत्र विभावा सम्यक् प्रत्यय-विलम्बित प्रत्यययोरेक एव चतुर्थ, अनुभावा सम्यक्प्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोस्त्वपर पञ्चमो रसदोषः

परिहरति रतिं मतिं लुनीते, स्थलतितरा परिवर्तते च भूय ।

इति यत विषया दशाऽस्य देह, परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्मः ॥’ इत्येकस्य,

‘कर्पूरधूलिधवलश्रुतिपूरधौत-दिङ्मण्डले गिशिररोचिषि तस्य यून ।

लीलाशिरोऽशुकनिवेशशिरोपक्लृति-म्यक्तस्तनोश्चतिरभूजयनारवौ रा ॥’

इति चापरस्योदाहरणम् ।

इसी प्रकार विभावों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा विलम्ब से प्रतीत होना दोष है, क्योंकि कि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं होता ।

षष्ठं रसदोषं निरूपयति—

समबल-प्रबल-प्रतिज्वलरसाज्ञाना निबन्धनन्तु प्रकृतरसपोषप्रतीपिक-मिति दोषः ।

रामयज्ञाना प्रबलना ॥ प्रतिकूलस्य प्रकृतरसविरोधिना रसस्याज्ञाना विभावादीना निबन्धन निवेशनम्, प्रकृतरसस्य य पोष पुष्टिस्तस्य सुन्दोषमुन्दन्यायेन, मत्स्थन्यायेन वा प्रतीपिक प्रतीप शत्रुस्तत्कार्यस्य सम्पादकमिति हेतोर्दोष इत्यर्थः ।

विरोधिरसाज्ञाना दुर्घलना वाच्यतया निबन्धनन्तु न दोष, किन्तु गुण एव—‘विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे ॥ विरोधिनाम् । वाच्यानामज्ञानं वा प्राप्तानामुक्तिरल्लला ॥’ इति ध्वन्यालोके, ‘सम्भावादिर्विरुद्धस्य वाच्यत्वेन वचोगुणः ।’ इति दर्पणे च दर्शनात् । उदाहरणन्तु—

‘मान माकुल तन्वाङ्गि ॥ श्लात्वा यौवनमस्थिरम् ।’ इति श्लोकम् ।

जहां जिस रस का वर्णन करना कवि को इष्ट हो उस प्रस्तुत रस के विरोधी रसों के समबल (प्रस्तुत रस के अङ्गों की अपेक्षा समान बलवाले) अथवा प्रबल (प्रस्तुत रस के अङ्गों की अपेक्षा अधिक बल वाले) अङ्गों (विभावादिकों) का वर्णन करना दोष है, क्योंकि वे प्रस्तुत रस के परिपोष में बाधक होते हैं ।

‘सप्तमं रसदोषं निरूपयति—

प्रयन्ये प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्रयेण रसाध्याद इति विच्छिन्नदीपन दोषः ।

प्रयन्य सङ्घटितानावाक्यसमुदायः, रा च ग्रन्थरूपस्तद्वान्तरप्रकरणरूपमप्येति प्रदीप-
प्रतिपादिते सन्दर्भविशेषे, स्नसामधीबलेन परिपोष प्राप्तस्य, प्रसङ्गान्तरेणावान्तरिकान्यविषय-
प्रस्तावेन, विच्छिन्नस्यावच्छेदस्वादप्रवाहस्य रसस्य, पुनर्दीपने भूयोभूयःप्रसङ्गे सामाजि-
कानां सचेतता, सामग्रयेण साक्ष्येन रसाध्यादो न भवतीति हेतोर्विच्छिन्नस्य रसस्य
पुनर्दीपनं दोषः । तथा हि—परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥ रसस्य स्याद्
विरोधाय’ इति प्यन्यालोके, ‘उपभुञ्जो हि पुनरुपभुज्यमान उपभुक्तकुसुमपरिमल इव सह-
द्यानामात्मादापकर्षक’ इति प्रदीपोद्घोतयोश्च प्रतिपादितम् ।

उदाहरणम्—कुमारसम्भवचतुर्थसर्गे रतिविलापप्रकरणे ‘अथ मोहपरायणा सती,
विहरा कानधूर्विबोधिता ।’ इत्यादिसन्दर्भेणादौ दीपितस्य, ‘यथ सा पुनरेव विह्वला
धनुषाऽऽलिङ्गनधूसररतनी ।’ इत्यादिना मध्ये दीपितस्य, वसन्तदर्शनप्रस्तावेनावान्तरे
विच्छिन्नप्रवाहस्य कण्ठस्य कण्ठविश्रलम्भस्य ॥ रसस्य ‘तमवेक्ष्य रुदोद सा मृगम्’
इत्यादिना पुनर्दीपनं दोषः । अज्ञातानामेव शब्ददीपने दोषः, अहिरसत्त्व तु रान्तस्य
महाभारतादौ, कण्ठस्य रामायणादौ च पुनःपुनर्दीपने नास्वादापकर्षः, प्रस्तुत परिपोष
एवेति प्रदीपकृत्सम्मतम् ।

किसी भी ग्रन्थ (परस्पर अन्वित वाक्यसमूहात्मक ग्रन्थ अथवा उसका अवान्तर
प्रकरण) में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक बार किसी भी प्रसङ्गान्तर
से (दूसरे प्रसङ्ग से) विच्छेद हो जाय, तब पुनः आगे उसका दीपन करने से—विच्छिन्न
कथा को दुबारा उठाने से—‘विच्छिन्न दीपन’ नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छेद
हो जाने से प्रस्तुत रसका आस्वादन सहृद्यों को पूर्ण रूप से नहीं होने पाता । यहां
प्रदीपकार का मत है कि अज्ञात रसों का ही पुनः पुनः दीपन दोष है, अज्ञी रसों का नहीं,
क्यों कि अज्ञी रसों का पुनः पुनः दीपन करने पर भी आस्वाद में किसी तरह की कमी नहीं
होती, वरन् परिपुष्टि ही होती है अत एव महाभारत आदि में शान्त रस का और रामायण
आदि में कण्ठ रस का पुनः पुनः दीपन किया गया है ।

अष्टमं नवमं च रसदोषं निरूपयति—

तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्हेऽवसरे प्रस्तावः, विच्छेदानर्हे च विच्छेदः ।

‘अक्राण्टे प्रथमच्छेदो’ इति दर्पणोक्ते, सहृदयानुभावाच रसानां प्रस्तावायोग्येऽवसरे
प्रस्तावोऽनुचितत्वादोषः, तथा विच्छेदायोग्येऽवसरे विच्छेदश्च क्रमेणाद्यो नवमश्च रसदोषः ।

इसी तरह जहां जिस रस का प्रस्ताव नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का प्रस्ताव
करना और जहां जिस रस का विच्छेद नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का विच्छेद कर
देना दोष है ।

तद्दोषद्वयं नमेणोदाहरति—

यथा—

सन्ध्याग्रन्दन—देवयजनादिधर्मवर्णने प्रसज्ये, कथाऽपि कामिन्या सह कस्य-
चित् कामुकस्यानुरागवर्णने ।

यथा च—

समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिमदेषु, मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु, नायकस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचितम्'

प्रसक्त श्रौचित्यात् प्रप्ते । महाहवदुर्मदेषु विकटमुदोदतेषु । प्रतिमदेषु प्रतिकूलयोधेषु । मर्मभिन्दि मर्मस्पृक्तया हृदयविदारकाणि ।

सन्ध्यावन्दनेत्यादिना प्रथमस्य, समुपस्थितेर्वित्यादिना च द्वितीयस्य दोषस्योदाहरणं दर्शितम् । पूर्वत्र शृङ्गारस्यानवसरे प्रस्ताव । उत्तरत्र तु वीरस्य रौद्रस्य वाऽनवसरे विच्छेद ।

जैसे—सन्ध्या—वन्दन, देव—पूजन आदि धर्म—वर्णन के प्रस्तुत रहने पर, किसी कामिनी के साथ किसी कामुक का प्रेम—वर्णन अनुचित होने पर भी यदि कर दिया जाय, तो वह दोष होगा । और मर्म भेदी वचनों को बोलते हुये विकट—युद्ध—मद—मत्त, शत्रु—योद्धाओं की उपस्थिति में नायक के सन्ध्या—वन्दन आदि का वर्णन भी अनुचित होने से दोष है । यहाँ प्रथम उदाहरण में शृङ्गार का अनवसर में प्रस्ताव हुआ है । द्वितीय में वीर अथवा रौद्र का अनवसर में विच्छेद कर दिया गया है ।

दशम रसदोषं निरूपयति—

एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाविधानां चरितानामनेकविधायाञ्च सम्पदो नायकसम्बन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीयः ।

नायकस्य प्रतिकूल प्रतिनायक तेभ्यश्चरितादिभ्यः ।

नायकचरितादि—सम्पदपेक्षया प्रतिनायकचरितादि—सम्पदवर्णनमधिक न विधेयम्, तेषामङ्गत्वात्तद्विस्तृतैर्निषिद्धत्वात् । सहुक्त भट्टमम्मदेन—‘आङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।’ इति ।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट नहीं रहता, उस प्रति नायक आदि के नामा प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की सम्पत्तियों की, नायक (प्रधान वर्णनीय) के चरित्र और सम्पत्तियों से, अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिये ।

ननु तथा वर्णने का हानिरित्यत आह—

तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्धयेत् ।

नायकचरिताद्यपेक्षया प्रतिनायकचरिताद्यधिकवर्णने विहिते सति, नायकस्यापकर्षः, प्रतिनायकस्य कोत्कर्षः सिद्धयेदिति सारम् ।

बैसा करने पर नायक का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिसका वर्णन करना इष्ट है । अर्थात् प्रतिनायक का ही उत्कर्ष सिद्ध होगा, जो अभीष्ट नहीं है ।

तावता वा क्षतिरित्याशङ्क्यामभिधाति—

तत्प्रयुक्तो रसपोषश्च न स्यात् ।

तत्प्रयुक्त प्रतिनायकोत्कर्षप्रतीतिनिमित्तकः ।

प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य प्रकृतरसात्वादविच्छेदकत्वाद्दोषत्वमिति तात्पर्यम् ।

और प्रतिनायक—गत—उत्कर्ष की प्रतीति होने पर भी तत्प्रयुक्त रस की पुष्टि नहीं होगी ।

पुनरशङ्कते—

न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य तदभिभावक—नायकोत्कर्षाङ्गत्वात् कथमवर्णनीयत्वमिति वाच्यम् ।

तदभिभावकस्य प्रतिनायकपरामवकारकस्य ।

विज्ञेयोत्कर्षो हि वर्णितो विज्ञेतुष्टकर्षमेव अत्राययतीति प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनमपि प्रहेऽप्रमेव, ततस्तस्य कथमवर्णनीयत्वमिति शङ्कापक्षमिप्रायः ।

यदि आप कहें कि प्रतिनायक के उत्कर्ष (विजेय) का वर्णन उसको प्राप्त करनेवाले (विजेता) नायक के उत्कर्ष का उद्घ (पोषक) ही होता है अर्थात् विजेय के उत्कर्ष का वर्णन विजेता के उत्कर्ष की ही प्रतीति कराता है—फिर आप प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन को क्यों अनुचित कहते हैं ?

उत्तरयति—

यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गतासम्पाद-
कत्वं तादृशस्येष्टत्वात् । तद्विरोधिन एव निषेधत्वात् ।

प्रतिनायकोत्कर्षस्य यावद् वर्णनं विजेतृनायकोत्कर्षस्योपकारकत्वाद्भ्रमेव, तावच्च निषि-
ध्यते, किन्तु ह्यप्रोक्तवधे—प्रतिनायकस्य ह्यप्रोक्तस्य जलकीडादिवर्णनमिव यन्नायकोत्कर्षानु-
पकारकं, तदेव निषिध्यत इति सारम् ।

उक्त शब्दा का उत्तर यह है कि—प्रतिनायक के उत्कर्ष का जैसा वर्णन विजेता नायक
के उत्कर्ष का उपकारक अङ्ग-पोषक हो सके, वैसा वर्णन हमें इष्ट है—स्वीकृत है—निषेध तो
उसी प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोधी हो ।

ननु प्रतिनायकोत्कर्षस्य सर्वमेव वर्णनं नायकोत्कर्षस्य साधकमेव, विजितोत्कर्षस्य सर्वस्य
विजेतारि सङ्क्रमात् को दोष इत्याशङ्कते—

न च प्रतिपक्षस्य प्रकृतापेक्षया वर्यमानोऽप्युत्कर्षः स्याप्रयहन्तृतामात्रादेव
प्रकृतगतमुत्कर्षमतिशाययेत्, अतो न दोषवह इति वाच्यम् ।

प्रतिपक्षस्य प्रतिनायकस्य । प्रकृतो वर्ण्यमानो नायकः । स्वम, उत्कर्षः, तस्याधयो य-
प्रतिनायकः तस्य हन्तृतामात्रात् तत्कर्मरुदननकर्तृत्वादेव । मात्रशब्देन प्रस्तुतवैषम्यम्याहृतिः ।
अतिशाययेदतिशयितं कुर्याद् वर्धयेदित्यनर्थान्तरम् ।

प्रतिनायकस्य वर्ण्यमानः सर्वोऽप्युत्कर्षः केवलं तस्यायं हन्तेतिहेतोर्नायकस्यैवोत्कर्षं
यतो वर्धयति, तस्माच्च तस्य दूषकतेति शङ्कितुराकृतम् ।

यदि आप कहें कि उक्त उत्तर में जो आप ने 'यादृश सारश'—'जैसा वैसा'—निषेध
किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिनायक (विजित) का उत्कर्ष किसी भी तरह—अधिक
से अधिक भी वर्णित क्यों न हो, वह (उत्कर्ष) अपने आधय (प्रतिनायक) को मारने
वाले नायक के उत्कर्ष की ही यङ्गमेका, अर्थात् उत्कर्ष को मारने वाला—जैसे वाला—और
अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगा अतः वैसा समस्त वर्णन दोषाधारक नहीं होना यही कहना चाहिये ।

विराजोति—

एवं हि सति महाराजं कमपि विपशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य
शबरस्येव, प्रकृतस्य, नायकस्य, न कोऽप्युत्कर्षः स्यादिति ।

वराकस्य विक्रमादिगुणहीनतया दीनस्य । शबरस्य पुलिन्दजातीयस्य 'सुसहर' इति
प्रतिपक्षस्य यनेचरस्य । इति शब्दो हेत्वर्थकः ।

यदि हननादेव सकलो बध्योत्कर्षो घातुकमाश्रयेत्, तदा निलीय विषाक्तवागक्षेपेण
विक्रान्तं नृपं हतवत् शबरस्यापि स स्यात्, न च तथा, तस्माद् वैषम्यमस्येवेति तात्पर्यम् ।

उक्त शब्दा का उत्तर देते हैं—'एव हि सति' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट को किसी
प्रकार से मार देने वाला उससे (मृत से) अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है, यह बात ठीक
नहीं ज्ञायती क्योंकि यदि ऐसी बात हो तब तो किसी भी महान् राजा को एक जहरीले
बाण से मार देने वाला साधारण मील भी उस महाराज से उत्कृष्ट सिद्ध हो जाय, परन्तु
पेसा होता नहीं । उसी तरह यदि नायकोत्कर्ष-वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायकोत्कर्ष वर्णन बहुत
बड़ा चढ़ा कर कर दिया जाय और अन्त में यह भी कह दिया जाय कि उस उत्कृष्ट प्रति-
नायक को नायक ने मार दिया, तथापि उससे नायक का कुछ भी उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा ।

एकादशं रसदोष निरूपयति—

तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तराऽन्तरा न चेद्, दोषः ।

रसस्य यदालम्बनं यथाश्रय, तयो रत्युपकारकतयाऽङ्गिभूतयो-रन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, अनुसन्धानमन्वेष्टेण स्मारकमुपादान, चेद् यदि, न स्यात्, तदा तद्दूषणमित्यर्थः ।

तदुक्तम्—‘अङ्गिनोऽननुसन्धानम्’ इति ।

इह पूर्ववाक्यघटको यथार्थश्चेच्छब्द उत्तरवाक्ये तच्छब्दोपादान बलवदपेक्षत इत्यनुसन्धेयम् ।

अथ शरद्वे रस दोष का उल्लेख करते हैं—‘तथा’ इत्यादि । इसी प्रकार रस के आलम्बन और आश्रय का यदि मध्य मध्य में अनुसन्धान न हो, तो दोष है ।

अङ्गयननुसन्धानस्य दूषकतामुपपादयति—

तदनुसन्धानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा, तदननुसन्धाने विरता स्यात् ।

रसस्य प्रतिपत्तिधाराऽऽस्वादप्रवाह, द्वियत, तदनुसन्धानाधीनाऽऽलम्बनाध्यानुसन्धान-प्रयोज्या, अतस्तयोरनुसन्धाने विस्मरणे, विरता विच्छिन्ना, स्यात्, तस्मात् तदपि दूषण रसस्येभ्यः ।

उक्त दोष के होने में सुक्ति बतलाते हैं—‘तदनु’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि रसालम्बनाधीन धारा आलम्बन और आश्रय के पुनः पुनः अनुसन्धान के ही अधीन है, अतः यदि इनका अनुसन्धान बीच-बीच में न होगा तो रसास्वाद-धारा विच्छिन्न हो जायगी ।

द्वादशं रसदोष निरूपयति—

एव प्रकृतरसानुपकारकस्य यस्तुनो वर्णनमपि, प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद् दोष एव ।

प्रकृतरसविरामहेतुत्वादिति दूषकतावीजनिर्देशः । विरामो विच्छेदः ।

प्रस्तुतरसस्य यदनुपकारकं तद्वर्णनेन प्रस्तुतरसास्वादधाराया विच्छेदात् तस्यापि दोषत्वमित्यर्थः । तदुक्तम्—‘अनङ्गस्य च कीर्तनम्’ इति ।

अथ शरद्वे दोष का उल्लेख करते हैं—‘एवम्’ इत्यादि । इसी तरह जिस शरत का वर्णन प्रस्तुत रस का उपकारक न हो, उसका वर्णन भी एक रस-दोष है, क्योंकि उस तरह का वर्णन भी प्रस्तुत-रसास्वाद धारा को समाप्त कर डालता है ।

त्रयोदश रसदोष निरूपयति—

अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात् परिहरणीयम् ।

अनौचित्यं रसास्वादोपयोगिपदार्थसार्थनिष्ठम् । तुराप्तेऽस्य प्रकारान्तरान्तर्भाव व्यवच्छिन्नति । रसेत्यादिना दूषकतावीजनिर्देशः । रसास्वादव्यानातकारणत्वादनौचित्यं दोष इति सारम् ।

जो वातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रसभङ्ग का कारण होता है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है ।

रसस्य मूर्तत्वामावादा मर्दानासम्भवाद् भङ्गपदार्थमाचष्टे—

भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिक्तादि-निपातजनितेवाकनुदत्ता ।

सिक्ता घालुका । अकनुदत्ता मर्मच्छेदिताऽप्रियतेति यावत् ।

यथा पानकरसास्वादस्य घालुकापातो विघातवत्, तथैवानौचित्यमप्रापीति रसस्या स्वादविघात एव भङ्ग इत्याशयः ।

रस तो कोई मूर्त पदार्थ है नहीं, फिर उसका भङ्ग क्या ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये ‘भङ्ग’ पद की व्याख्या करते हैं—‘भङ्गश्च’ इत्यादि । जिस तरह शरवत आदि सरल

वस्तु में बालुका आदि के पद जाने से वह खटकने लगता है, उसी तरह रस के आस्वाद में खटकने को रस का भङ्ग कहते हैं।

अनौचित्यं विवृणोति—

तच्च जाति-देश-काल-वर्णा-भ्रम-वयो-अवस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपञ्च-जातस्य तस्य तस्य, यत्लोक-शास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुण-क्रियादि, तद्भेदः ।

तदनौचित्यम् । चस्त्वर्थे । वयोऽनवस्थयोर्भेद-प्रागेन निगदित । व्यवहार समुदाचार । प्रपञ्चजातस्य सासारिकवस्तुव्यूहस्य (आत्मादिरूपस्य) ।

यस्य जाति-देश-कालादेर्यद् द्रव्य-गुण-क्रियादिसंज्ञितं शास्त्रतत्त्व सिद्धत्वावुचितं, तद्विज्ञातमनौचित्यमित्यर्थः ।

अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सासारिक पदार्थों के विषय में जो जो छोक और शास्त्र से सिद्ध तथा उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होगा।

अनौचित्यमुपपादयति—

जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि । स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि । शिरिरे जल-विहारादीनि, ग्रीष्मे वह्निसेवा । ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम् । ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्चणम्, दारोपसंग्रहः । बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनाञ्च विरागः । दरिद्राणां भाव्याचरणम्, आढ्यानां च दरिद्राचारः ।

आत्यनुचितं गवादिरित्यादिना, देशानुचितं स्वर्ग इत्यादिना, कालानुचितं शिशिर-इत्यादिना, वर्णानुचितं ब्राह्मणेत्यादिना, आश्रमानुचितं ब्रह्मचारीत्यादिना, वयोऽनुचितं शालेत्यादिना, अवस्थानुचितं च दरिद्रेत्यादिना विवृतम् ।

साधुभावो गवादिवदार्जवम् । मृगया पशुपक्षिहिंसाऽऽलेखः । बाहुजः क्षत्रियः । निगमो-वेदः । यतिः सन्मासी । शरीरसंग्रहः पत्नीपरिणयः । आश्रयो धनी, तदाचरणं विपुलव्य-यादि । अन्नं सर्वत्र तत्तदनौचित्यं रसभङ्गकारणतया दूषणम् ।

अथ जाति आदि के अनुचित बातों का कुछ उदाहरण लिखलाते हैं—‘आत्मादेः’ इत्यादि । जाति-विहङ्ग जैसे—बैल, गाय आदि के तेज और दल के कार्य, पराक्रम आदि एवं सिंह आदि का सीधापन आदि । देश-विहङ्ग जैसे—स्वर्ग में वृद्धत्व, रोग प्रभृति और भूतल पर अमृत-पान प्रभृति । काल-विहङ्ग जैसे—शीतकाल में जल-विहार प्रभृति और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन प्रभृति । वर्ण-विहङ्ग जैसे—ब्राह्मणों का शिकार खेलना, क्षत्रियों का दान लेना और शूद्रों का वेद पढ़ना । आश्रम-विहङ्ग जैसे—ब्रह्मचारी और सन्यासियों का ताम्बूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना । अवस्था-विहङ्ग जैसे—बच्चे तथा बुढ़ों का स्त्री-सेवन और युवकों का बैरागी होना । इसी तरह दरिद्रों का धनिकों के सा और धनिकों का दरिद्रों के सर आचरण ।

प्रकृत्यनुचितं विवृण्वत् प्रकृतिभेदानाद्—

प्रकृतयो दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्याश्च धीरोदात्त-धीरोद्वत्-धीरललित-धीरशान्ता उत्साह-क्रोध-कामिनीरति-निर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमा-धमाश्च ।

प्रकृतयो नायकप्रभृतयः—नेता विनीतो मधुरस्वागी दश प्रियंवदः । रत्नलोकः शुर्वागमो रूढवंशः स्थिरो युवा । बुद्धयु-त्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मानसमन्वितः । शूरो-दृढ तेजस्वी शास्त्रक्षुब्ध धार्मिकः । इति दशरूपकोकलशृङ्गा, दिवि स्वर्गे भवा दिव्या-

देवैकरूपा इन्द्रादयः, अदिव्या मानवैकरूपा माधववत्सराजादयः, दिव्यादिव्या देवा अपि मानवरूपेणावतीर्णा राम-कृष्णादय इति प्रथमं त्रिविधा । ते च—“महासत्त्वोऽतिगम्भीर क्षमावानविकृत्यन् । स्थिरो निगूढहृद्धारो धीरोदात्तो हृद्वत् ।” “मायापर प्रचण्डधूपलोऽ-हृद्धारदर्पभूयिष्ठ । स्थेयान् निगूढमानो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ।” “निश्चिन्तो धीरललित कलासक्त सुखो मृदु ।” “सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् ।” इति लक्षिता उत्साहप्रधानधीरोदात्त-क्रोधप्रधानधीरोद्धत-कामिनीरतिप्रधानधीरललित-निर्वेदप्रधानधीर-शान्त इति प्रत्येकं चतुर्धा, पुनस्ततः मध्यमा-धमत्वैस्त्रिविधा इति सङ्कलनया षट्त्रिंश-प्रकृतयो बोध्या । शृङ्गाररसेत्वनुकूल-दक्षिण-वृष्ट-शठत्वैः प्रकृतीनां चतुर्विधरचनाकलनीयम् । नायिकाप्रकारसङ्कलना तु मदीयरसमञ्जसुरभोरवसेया ।

अथ प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध का उदाहरण दितलाने के क्रम में पहले प्रकृति का विभाग करते हैं—“प्रकृतयो” इत्यादि । अलङ्कारशास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की प्रकृतिर्था (नायक की) होती हैं—कुछ दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी मनुष्यरूप में अवतीर्ण राम, कृष्ण आदि) होते हैं । इसी तरह उन प्रकृतिर्था के दूसरे भेद भी होते हैं, जैसे—धीरोदात्त नायक, जिनमें उत्साह की प्रधानता रहती है, धीरोद्धतनायक, जिनमें क्रोध की प्रधानता होती है, धीरललित नायक, जिनमें स्त्रीविषयक प्रेम की प्रधानता होती है, एव धीरशान्त नायक, जिनमें वैराग्य की मुख्यता होती है । इस प्रकार नायक के बारह भेद हुये, फिर उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद और मान लेने से उक्त बारह भेद छत्तीस हो जाते हैं ।

प्रकृत्यनौचित्ये प्रथम रत्यनौचित्य प्रतिपादयति—

तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्याभिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि, रते सम्भोग-रूपाया मनुष्येष्विदोत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभावं वर्णनमनुचितम् ।

तत्र तासु प्रकृतिषु, रत्यादीनां भयातिरिक्तस्याभिभावानां भयभिज्ञानामष्टानां रतिप्रभृतीनां, सर्वत्र सर्वासु प्रकृतिषु समत्वं एकवित्त्वे साधारणतया सत्यपि, मनुष्येषु इव उत्तमदेवतासु गौरी-गिरीशप्रभृतिषु, सम्भोगरूपाया रते, स्फुटीकृता स्पष्टमाप्याता सकलानुभावा सर्वे न्यापारा यत्र कर्मणि तद्यथा भवति, तथा वर्णनमनुचितमित्यर्थः ।

पित्रोरिषोरकृष्टदेवतयोः सम्भोगस्य स्पष्टतया वर्णनमनौचित्यादनाचरणीयमेव । उत्तम-स्युक्तस्या मध्यगादिषु कामवार । भयस्याभयभेदेन नैषम्याद् भयातिरिक्तानामित्युक्तम् । वस्तुतस्तु रति-क्रोधादीनामप्याधयभेदाद् वैषम्यमनुभविकमेवेति तदुपादानमकिञ्चित्कर-मिति विभावनीयम् ।

इन सभी प्रकृतिर्था (नायकों) में भय के अतिरिक्त रति आदि स्याद्यभिभाव यद्यपि समानरूप से होते हैं, तथापि सम्भोगरूप रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह सब अनुभावों (आलिङ्गन-सुगन्ध आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है ।

रत्यनौचित्यवत् क्रोधानौचित्य प्रतिपादयति—

क्रोधस्य च लोकमस्मीकरणपटो-दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाश्चर्यकारिणो दिव्ये-ष्विवादिष्येषु ।

चकारेण वर्णनमनुचितत्वादनाचरणीयमित्यनुषङ्गः ।

लोकानां भुवनानां जनानां वा, मस्मीकरणे, पटोः कुशलस्य तथा दिन च रात्रिश्च दिनरात्री, तयोर्भावयोः दिनस्थाने रात्रि, रात्रिस्थाने च दिनमिति विपर्यायः, तदादीना-

मनेकाख्याणा कारिण, क्रोधस्य, दिव्येष्विव देवतावद्, अदिव्येषु मानवेषु, वर्णनमनुचित-
मिति नाचरणीयमित्यर्थः ।

जगत को भस्म कर देने में निपुण तथा दिन और रात को बदल देना आदि विविध
माध्यमजनक कार्यों को कर देने वाले क्रोध का वर्णन जिस तरह दिव्य नायकों में किया
जाता है, उसी तरह अदिव्य नायकों में करना अनुचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

तत्र हेतुमभिधत्ते—

आलम्बनगताराध्यत्वस्यानुभावागत-मिष्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्लासापत्तेः ।

यतस्तयावर्णने दिव्येष्वालम्बनेषु, तद्वत्तस्य तन्निष्ठस्य, आराध्यत्वस्य पूज्यत्वस्य,
प्रतीत्या, अदिव्येष्वालम्बनेषु तदनुभावागतस्य पूर्वोक्तेकमस्मीकरणादिलोकोत्तरक्रोध-
व्यापारनिष्ठस्य, मिष्यात्वस्यासम्भार्यतयाऽसत्यत्वस्य, प्रतीत्या च रसानुल्लासस्य रौद्रसा-
त्त्वादानुद्गमस्य, आपत्तिः स्यात्, तस्मात्तया वर्णनीयमित्यर्थः ।

उक्त प्रकृत्यनौचित्य का कारण यह है कि हमें जिन दिव्य आलम्बनों (उत्तम देवताओं)
में पूज्यतादि है, यदि उनमें साधारण भावकों के जैसे अनुभावों को सर्वथा छोड़कर रति
का वर्णन करेंगे, तो उसको सुनकर सहृदयों के हृदयों में रस का विकास नहीं होगा, बरन
एक प्रकार का सह्योच ही होगा। इसी तरह यदि साधारण (अदिव्य) नायकों में उस
प्रकार के क्रोध का वर्णन किया जाय, जिस तरह का क्रोध दिव्यनायकों में वर्णित किया
जाता है, तो उसमें श्रोताओं को हृदय का क्षान होगा। अतः उस वर्णन से रस का विक-
सित होना सम्भव नहीं है ।

ननु प्राग्भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोऽलसितस्य भावनाविशेष-
रूपदोषस्य च महिम्ना यद् साधारणीकरणं प्रतिपादितं, तेन प्रतिबद्धमालम्बनविषयकमा-
राध्यत्वप्रकारकं ज्ञानमिह नोत्पत्तमर्हतीति न रसानुल्लासापत्तिरिति शङ्कते—

न च साधारणीकरणद्वाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम् ।

विशेषदर्शनावच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य साधारणीकरणस्य, विशेषधर्मावच्छिन्नप्रकार-
ताकज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति भावः ।

यदि आप कहें कि रसास्वाद से पूर्व, भट्टनायक मत के अनुसार भावकत्व व्यापार से
और नव्यमत के अनुसार सहृदयता मूलक भावना-विशेष रूप दोष से विभादिकों का
साधारणी करण हो जाने से दिव्यनायकों में भी पूज्यता-बुद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती ?

समावधाति—

यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धः, तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् ।

न हि सर्वत्र साधारणीकरणस्य कल्पना, किन्तु यत्र सचेतसा रसास्वादोऽनुभवासाय-
सिद्धः सामग्रीविरहाश्लेषपक्षते, तत्रैव तदुपपत्तयेऽनायतया तत् कल्पित इति फलानुतेषाद्
तत्कल्पनायां प्रकृतेऽमम्भव इत्यभिसन्धिः ।

उक्त शङ्का का समाधान यह है कि जहाँ सहृदयों का रसास्वाद प्रमाण से सिद्ध रहता
है, वहीं साधारणीकरण की कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं, तात्पर्य यह है कि उक्त
स्थान में सहृदयों का रसानुभव प्रमाण-मिद्ध नहीं है, अतः वहाँ साधारणीकरण की कल्पना
नहीं की जा सकती ।

साधारणीकरणकल्पनायां सार्वत्रिकत्वाभ्युपगमे दोष दर्शयति—

अन्यथा स्वमातृविषयक-स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः ।

तत्रापि साधारणीकरणस्य कल्पनायां सम्भवादित्याशयः ।

यदि सब जगह साधारणी करण की कल्पना की जाय, तब साधारणीकरण के बल से

अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसास्वाद होने लगेगा ।

काचित्क विपरीतं दृष्टान्तमुपन्यस्य निरस्यति—

जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्त-मत्तद्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन यथा वर्णयितुं साम्प्रतम् ।

तुनाऽऽचि सूच्यते । अथशुक्त समय सिद्धान्त सङ्केतो वा । मत्तज्जैर्दन्तावलैः । मत्तहस्तिदृष्टान्त समयभेदेने निदानमुन्मत्तं, न तूपपत्तिविवेकं सूचयति । निदर्शनं दृष्टान्तः । इदानीन्तनेनाधुनिकेन कविना । साम्प्रतं युक्तम् ।

अनुन्मतेन ययोन्मादिव्यवहारो नानुम्रियते, तथैवाधुनिकेन कविना केषाचित् प्राचा समयोक्तं नानुकरणीयम्, प्राचामनौचित्यस्य तन्महिमातिरेकादिभिरपि तिरोधापयितुं शक्यत्वादिति सारम् ।

यद्यपि जयदेव प्रभृति कुछ कवियोंने गीतगोविंद आदि निबन्धों में उत्तम देवता विषयक सम्भोगवर्णन अनुभावों वेषष्टी करण के साथ किया है, परन्तु उन्होने मद्धमत्त हाथियों की तरह, सम्पूर्ण सहृदय समाज से आहत उक्त मर्यादा को तोड़ डाला है, अतः उनके दृष्टान्त से आधुनिक कवियों को वैसा नहीं करना चाहिये ।

चरमं व्यवहारानौचित्यं प्रतिपादयति—

तथा विद्या-धयो-धर्मा-श्रम-तपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न सबहुमानेन वचसा व्यग्रहसंध्यम् ।

विद्यादय उत्कर्षे हेतव । सबहुमानेन वचसा विपुलादरसूचकेन वचनेन । वचसेति-व्यवहारान्तरस्याप्युपलक्षणम् । 'सम्बहुमानेनेति' काचित्कपाठे तु सम्यग् बहुमान यत्रेति विग्रहः ।

विद्यादिभिरुत्कृष्टैः स्वापेक्षयाऽपकृष्टेषु विधीयमानो बहुमानोऽनुचितत्वाद् रसापकर्षक इति सारम् ।

अथ व्यवहार-विहङ्ग का उदाहरण दिसलाने हैं—'तथा' इत्यादि । इसी प्रकार जो विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तपस्या प्रभृति के कारण उत्कृष्ट हों, उन्हें अपने से अपकृष्ट लोगों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वचनों से व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

यत्र तद्व्यवहारौचित्यं, तदाह—

व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरुत्कृष्टेषु ।

विद्यादिभिरपकृष्टैस्तत्कृष्टेषु मत्तहुमानेन, न वचसा, व्यवहर्तव्यमित्यर्थः ।

अपकृष्टों को उत्कृष्टों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वाणी के द्वारा व्यवहार करना चाहिये ।

उत्कृष्टेष्वपि विरोधमभिदधाति—

तत्रापि 'तत्रभवन्' 'भगवन्' इत्यादिभिः सम्बोधनैर्मुनि-गुरु-देवताप्रभृतय एव, न राजादयः, जात्योत्तमैर्द्विजैरेव, नाधमैः क्षूद्रादिभिः, 'परमेश्वर' इत्यादि-सम्बोधनैश्चक्रवर्तिन एव, न मुनिप्रभृतयः, सम्बोद्ध्याः ।

तत्राप्युत्कृष्टेष्वपि । तत्रभवच्छब्द पूज्यार्थक । सम्बोधनैरभिमुखीकरणशब्दे । देवताऽपेक्षयाऽपि गुरोरभ्यर्हितत्वाद् गुरुशब्दस्य पूर्वं निर्देशः । द्विवैर्वाङ्मण-क्षत्रियवैरये । चक्रवर्तिन सम्राज ।

उत्कृष्टेष्वपि विषयभेदाद् व्यवहर्तुर्भेदाच्च व्यवहारस्योचितानुचितत्वे बोधे इत्याशयः ।

उत्कृष्टों के लिये अपकृष्टों के द्वारा प्रयोग करने योग्य सम्मानयुक्त सम्बोधनों का भ्रानभेद से विभाग दिसलाने हैं—'तत्रापि' इत्यादि । 'तत्र भवन्' 'भगवन्' इत्यादि

सम्बोधनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही सम्बोधन किया जाना चाहिये, राजा आदि का नहीं। वह भी जो जानि से उत्तम-अर्थात् ब्राह्मण, चरित्र अथवा वैश्य हों, वे ही ऐसे सम्बोधनों का प्रयोग करें, शूद्र आदि नहीं। इसी प्रकार 'परमेश्वर' आदि सम्बोधनों का प्रयोग चक्रवर्तियों के प्रति ही किया जाना चाहिये, मुनि आदि के प्रति नहीं।

अनौचित्यस्य रसभङ्गकारणत्वं प्रमाणयति—

तथा चाहुः—

यही सब सोच समझ कर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्घोत में लिखा है—

आनन्दवर्धनाचार्य ध्वन्यालोक्तृतीयोद्घोत इति शेषः ।

‘अनौचित्यादृते नान्यद्, रसभङ्गस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा ॥’ इति ।

अनौचित्यादृतेऽनौचित्यं विना, रसभङ्गस्य, नान्यत् कारणं नास्तीति शेषः, यत्. प्रसिद्धस्य लोकशास्त्रादुद्दिष्टस्य, औचित्यस्य, बन्धो योजनं, तु पुनः, रसस्य, परोक्षं, उपनिषत् प्रकाशनोपाय इत्यर्थः ।

अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य प्रधानं कारणं, तेन सहृदयवैमुख्यसम्पादनम् । औचित्यं पुनस्तथैव रसं प्रकाशयति, यथोपनिषत् परब्रह्म तस्मादनौचित्य सर्वथा परिहरणीयमित्यभिप्रायः ।

कल्पप्रकारो तु—‘औचित्योपनिषत्परा’ इति पाठे दृश्यते ।

अनौचित्य से अतिरिक्त रस-भङ्ग का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही सब से बड़ी रस की उपनिषत् अर्थात् प्रकाशनोपाय है। अभिप्राय यह है कि अनौचित्य ही रस-भङ्ग का प्रधान कारण है, क्योंकि—उसी से सर्वाधिक वैमुख्य सहृद्यों में होता है, अतः उसका (अनौचित्य का) परिहार अवश्य करना चाहिये और औचित्य उसी तरह रसको प्रकाशित करता है, जिस तरह उपनिषत् परब्रह्म का, अतः उसकी रक्षा अवश्य कवियों को करनी चाहिये ।

तत्र विशेषमाह—

यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तावत् तु न धार्यते, रसप्रतिष्कूलस्यैव तस्य निषेधस्त्याजः ।

यत्परिमाणेनानौचित्येन रसस्य परिपोष एव स्यात् (न तु बाधः), तत्परिमाणमनौचित्यं तु न निन्द्यते, यतो रसविरोधिना एवानौचित्यस्य निषेधस्तमित्यर्थः ।

अनौचित्य-परिहार में भी यह विशेष समझना चाहिये कि मितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उतने अनौचित्य का परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो अनौचित्य रस के प्रति कूल हो, उसो का निषेध समुचित है ।

उक्तमर्थमुदाहरणद्वारेण द्रवयति—

अत एव—

इसी लिये—

रसाविरोध्यनौचित्यस्य मर्पणीयत्वादेन । दृष्टान्तद्वारि समुपस्थितान् भङ्गादीन् दौवारिको वदति—

‘ब्रह्मन् अध्ययनस्य नैव समयस्तूष्णीं बहिः स्वीयतां,
स्वल्पं जल्पं बृहस्पते जहमते ! नैषा समा वशिणः ॥
वीणां संहार नारद ! स्तुतिकथात्वापैरलं तुस्तुरो,
सीता-रत्नकमल-भिन्नहृदयः स्वस्यो न लङ्घेभरः ॥’

हे ब्रह्मन् ! अध्वयनस्य वेदपाठस्य, एष समयोऽवसरो नास्ति, तत् तूष्णीं ज्ञेयं बहि-
रितो वायस्यले (त्वया) स्वीयताम् । हे जडमते ! वाचालत्वादवसरानवबोधोद्योच विवेकरून्य-
मुद्धे ! बृहस्पते ! स्वल्पमतिस्तोकं (नत्वधिक) जल्प वद, यत एषा वज्रिण इन्द्रस्य
(त्वच्छिष्यस्य) समा नास्ति । हे नारद ! वीणा महती, सहस्र वादनाद्विरमय । हे
तुम्बुरो ! देवगायक गन्धर्व ! (तव) स्तुतिरुत्थालपै प्रशसावाक्यभाषणै, श्रुतं न किमपि
फल स्यात्, यत सीताया जानन्या रत्नकं ('शिरस्सिन्दूरसरणि छाीणामारत्नकं स्मृतम्'
इति हलायुधोक्ते) सीमन्तसिन्दूरलेखैव ब्रह्म 'भाला' इति प्रसिद्ध कुन्त, तेन भिन्नं विदीर्णं
हृदयं मनो यस्य, स लङ्केश्वरो रावण, स्वस्थो न, किन्तु व्याकुलोऽस्तीत्यर्थः ।

ब्रह्मन् ! वेद-पाठ का यह समय नहीं है, सुनचाप बाहर बैठो ! मूर्ख ! बृहस्पते ! यह
हृद् की समा नहीं है, कि जब तक मन करे, तब तक अण्डसण्ड बन्दते रहो, जो कुछ कहना
हो, संक्षेप में कह डालो । नारद ! अपनी वीणा को बन्द करो । हे तुम्बुरो ! इस समय स्तुति
कथायें—चापलूनी की बातें व्यर्थ हैं, क्यों कि सीता की त्रिोनियों के भाले से लङ्केश्वर—
महाराज रावण का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं ।

उपपादयति—

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये, विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गीभूत-धीररसाक्षेपकपरमैश्वर्य-
परिपोषकतया स्थितदौवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यक्षेपपरस्यानौचित्यं न दोषः ।

इत्याकारके कस्यचिन्नाटकस्य श्लोके, सीतालम्बनस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य, आङ्गीभूत
पोषकतयाऽज्ञता प्राप्तिं यो रावणनिष्ठो धीररस, तस्याक्षेपक व्यञ्जकं यत् (तद्दीर्घं) परमैश्वर्यं
लोकोत्तरप्रभुत्वं तस्य परिपोषकतया (हेतुभूतया) स्थितो रावणद्वारि विद्यमानो यो दौवारिको
द्वारपाल, तस्य ब्रह्म-बृहस्पति-नारद-तुम्बुरतिरस्कारसूचकं यदिद वचन, तस्य ब्रह्मादीनां
तिरस्कारानर्हत्वाद् यदनौचित्यं, तत्र दोष-प्रकृतरसोपस्कारकत्वादित्यर्थः ।

किसी नाटक के इस पद्य में, ब्रह्मा आदि के तिरस्कार करने के लिये बोले गये द्वारपाल
के वचन का अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि उस तिरस्कार वचन से रावण के परम ऐश्वर्य
की पुष्टि होती है, जिससे धीर-रस का आक्षेप होता है, जो विप्रलम्भशृङ्गार (रसाभास)
का अङ्ग होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—

एवमेव—'अले ले सद. समुत्पादिभ-हरिय-कुसर्गाथिमयाच्छमालापह-
वित्ति-विस्संभिभ-भालविह्वदः कञ्जणा बम्हणा' इत्यादिविदूषकवचनेऽपि
रेशन्दादिप्रयोगस्य तत् तथा, हास्यनुगुणत्वात् ।

एवमतौचित्यस्य रसोपस्कारकत्वादेव । 'अरे रे सब समुत्पादितकुशप्रस्थिमयाऽऽ-
भाला-परिवृत्तिविस्मिन्निधायविधवाऽन्तःकरणा ब्राह्मणा ?' इति प्राकृतच्छाया । 'अरे रे'
इति नीचसम्बोधनम् । तदनौचित्यम् । तथा न दोषः ।

सद्यस्तत्काल, समुत्पादितता उत्साता अन एव हरिता ये कुशप्रस्थयो दर्भपत्राणि, तन्मयी
तद्वा याऽऽभाला, तस्या परिवृत्त्या (परिवर्तनेन) जयविजयन्या विस्मिन्निधं विद्यासितम्
(वसितम्) बालविधवानामन्तःकरणं यैस्तादृशा अरे रे नीचा ब्राह्मणा ?' इत्यादिविदू-
षकवाक्ये रेशन्दादीनां पूजनीयद्विजराजविषये प्रयोगस्य यदनौचित्यं, तत् प्रकृतस्य हास्य-
रसस्य, यतीनापकर्षकम्, प्रत्युद्योत्कर्षकमेव, तस्मान्न दोष इत्यर्थः ।

इसी तरह 'अरे ओ ! तत्काल उम्हाड़े हुये हस्ति कुशों की गाँठों से बनी हुई जयमा-
छाओं के फेरने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विद्यासयुक्त बनाने वाले ब्राह्मणों । '

इत्यादि विदूषक के वचन में भी वाह्यों के प्रति रे शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है, क्यों कि वह हास्य-रस के अनुकूल है।

उपरि परिपक्विता एते त्रयोदशैव न रसदोषाः, किन्तु 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' इति मम्मटोक्तैः, सहृदयानुमत्तान्येऽपि सम्भवन्ति, तस्मादनन्या रीत्याऽन्येऽपीदृशा रसदोषा-स्वरयं सुवीभिरिति प्रतिपादयन् दोषनिरूपणमुपसहरति—

एषा हि दिगुपदर्शिता, अनया सुधीभिरन्यदप्यूह्यम् ।

अन्यदिति सामान्ये नपुंसकम् ।

इस तरह अनौचित्य ज्ञान के लिये यह दिग्दर्शन करा दिया गया है, इसी रीति से बुद्धिमानों को और-और अौचित्यों का भी स्वयम् उह कर लेना चाहिये।

अथ प्रसङ्गसङ्ख्या गुणान् निरूपयति—

रसेषु चैतेषु निगदितेषु, माधुर्योञ्जप्रसादाख्यां स्त्रीन् गुणानाहुः ।

रसप्रतिपादनानन्तरं तदाभितत्वान्माधुर्यमोजप्रसादश्चेति स्त्रीन् गुणान् प्रतिपादयन्ति प्राय इत्यर्थः ।

अब प्रसङ्ग-प्राप्त गुणों का निरूपण करते हैं—'रसेषु' इत्यादि । इन पूर्वोक्त नौ रसों में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण रहते हैं—ऐसा प्राचीनों का कथन है ।

तेषु माधुर्यं कुत्र रसे कियत् तिष्ठतीति निश्चाराय मतव्यमुपन्यस्यति—

तत्र 'शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं, ततोऽतिशयितं करुण्ये, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात्' इति केचित् ।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-शान्तयो-स्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे ।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वतिशयितमेव, न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये ।

अतिशयितमधिकमात्रम् । तत संयोगशृङ्गारात् । ताभ्यां संयोगशृङ्गारकरुणाभ्याम् । तेभ्यः संयोग-करुण-विप्रलम्भेभ्यः । चित्तस्य द्रुतेर्विलक्षणादौभावस्य । ताभ्यां करुण-शान्ताभ्याम् ।

चित्तद्रुतेर्माधुर्यम् च तादात्म्याच्चित्तद्रुतितादात्म्यमेवानुसरति रसेषु माधुर्यस्य तारतम्यमिति सम्मोहादधिकं करुण्ये, सम्भोग-करुणाभ्यामप्यधिकं विप्रलम्भे, सम्भोग-करुण-विप्रलम्भेभ्योऽप्यधिकं माधुर्यं शान्ते रसे तिष्ठतीति प्रथमं मतम् । सम्मोहादधिकं (मिथस्तु तुल्यमेव) करुण-शान्तरसयो, करुण-शान्ताभ्यामप्यधिकं माधुर्यं विप्रलम्भे तिष्ठतीति द्वितीयं मतम् । सम्भोगशृङ्गारादधिकं (मिथस्तु तुल्यमेव) करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यं तिष्ठतीति च तृतीयं मतम् ।

उक्त गुणों के विषय में कतिपय पण्डितों का कथन है कि—सम्मोहा-शृङ्गार में जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में और उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार रस में, एवम् इन सबसे अधिक शान्त-रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर उत्तर रस में चित्त अधिक द्रुत होता है । अन्य विद्वानों का मत है कि—सम्मोहा-शृङ्गार से अधिक माधुर्य, करुण और शान्त रसों में होता है और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में होता है । कुछ विद्वानों का कहना है कि—सम्मोहा-शृङ्गार से करुण, विप्रलम्भ-शृङ्गार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य होता है, फिर इन तीनों में परस्पर कुछ भी तारतम्य (कमी-बेशी) नहीं होता, अर्थात् वे सब समान ही मधुर होते हैं ।

मतव्यं परीक्षते—

तत्र प्रथम-चरमयोर्मतयोः—'करुण्ये विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'

इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्, तस्योत्तरसूत्रगतस्य 'क्रमेण' इति पदस्थापकपानप-
कर्पाभ्यां व्याख्याद्वयस्य सम्भवात् ।

मध्यस्थे तु मते करुण-शान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये, यदि सहृद-
यानामनुभवोऽस्ति, तदा स प्रमाणम् ।

संयोगापेक्षया क्रमेण करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वधिकं माधुर्यमिति प्रथममते, संयोगा-
पेक्षयाऽधिकं मियस्तु तुल्यं करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यमित्यन्तिममते व प्राचां मम्मट-
मठाना—'कदरे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति सूत्रमनुकूलत्वात् प्रमाणम् ।
तथाहि-तस्य कारिकावर्ण्यस्य सूत्रस्य, 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसरिति । वीभत्स-
रौद्ररसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ।' इत्युत्तर यत् कारिकात्मक सूत्र, तत् 'क्रमेण' इति
पदस्थापकपेण प्रथमा व्याख्या, तदनपकर्षेण चान्तिमा व्याख्या सम्भवतीति ते मते प्राची-
नानुमते प्रामाणिके । संयोगापेक्षयाऽधिकं मियस्तु समप्रमाणक माधुर्यं करुण-शान्तयो,
ततोऽप्यधिकं विप्रलम्भे तिष्ठतीति मध्यम (द्वितीय)मते तु, यत् करुण-शान्तापेक्षयाऽ-
धिकं विप्रलम्भे माधुर्यमुच्यते, तत्र प्रमाणान्तरानुपलम्भात्, सहृदयानामनुभवो यदि भवेत्,
तदा स एवानुभव प्रमाणम्, अन्यथा त्वप्रमाण तन्मतमनादेयमित्यर्थः ।

पूर्वोक्त तीन मतों में से प्रथम और तृतीय मत में 'क्रमेण विप्रलम्भे' इत्यादि सूत्रोक्त
मम्मट का सूत्र प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र से अग्रिम 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतु-
रौजोवीररसरिति । वीभत्स-रौद्र-रसयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ॥' इस सूत्र में कथित
'क्रमेण' पद का सम्बन्ध उक्त सूत्र में मान लेने पर प्रथम मतानुकूल व्याख्या और उस पद
का सम्बन्ध वहाँ नहीं मानने पर तृतीय मतानुकूल व्याख्या हो सकती है। परन्तु मध्यम मत
में उक्त सूत्र किसी भी तरह प्रमाण नहीं हो सकता, अतः यदि सहृदयों का ऐसा अनुभव
हो कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ-शब्दार्थ में अधिक माधुर्य होता है, सब
इस सहृदयानुभव को ही प्रमाण मान कर मध्यम मत भी ठीक है अन्यथा अप्रामाणिक होने
के कारण वह मत अग्राह्य है ।

इत्यश्वत्थारदिरसत्रये माधुर्यस्य स्थितिं प्रतिपाद्य, वीरदिरसत्रय ओजस स्थितिं प्रतिपादयति—

वीर-वीभत्स-रौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्त-
दीप्तेर्जननात् ।

यतो वीरपेक्षया वीभत्से, तदपेक्षयाऽपि रौद्रेऽधिका चित्तदीप्तिर्जायते, तस्माद् वीर-
रसादधिकं वीभत्से, ततोऽप्यधिकं रौद्ररस ओजस्तिष्ठतीत्यर्थः ।

ओज गुण वीर-रस में माधारण, वीभत्स-रस में उससे अधिक और रौद्र-रस में
सबसे अधिक होता है, क्योंकि ये तीनों रस क्रमशः हृदय में अधिक दीप्ति (जोश) उत्पन्न
करते हैं ।

अथावशिष्टोऽद्भुतादिरसत्रये प्रसादस्य मतभेदाद् गुणान्तरेण सद्गोर्णमसद्गोर्णं च
स्थितिं प्रतिपादयति—

अद्भुत-हास्य-भयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु प्रसादमात्रम् ।

अद्भुते हास्ये भयानके च रसे प्रसाद ओजस गुणौ तिष्ठत इत्येक मतम् । प्रसाद एव
केवल तिष्ठतीत्यपरं मतम् ।

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, यह कुछ
विद्वानों का मत है, इन तीनों रसों में प्रसाद गुण ही रहता है—ओज नहीं, ऐसा मत अन्य
विद्वानों का है ।

गुणद्वयापेक्षया प्रसादस्य नैकश्रेष्ठमाचष्टे—

प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च साधारणः ।

माधुर्यमोज्ज्वलं प्रतिनियतसत्रयवृत्तिं नियतरचनाव्यङ्ग्यं च, प्रसादस्तु नादभुतादिरसत्रय
एव तिष्ठति, किन्तु सर्वेषु, न वा नियतरचनयैव व्यङ्ग्यते, किन्तु सकलाभिरेव रचनाभिरिति
माधुर्यजोऽपेक्षया प्रसादस्य वैत्तन्मध्यमस्तीत्याशयः ।

इदमिहाहलनीयम्—काठिन्यादिदोषापगमादित शृङ्गारादिरसत्रयनर्तनाजन्यवित्तस्या
द्वौभावस्य आनन्दलक्षणो वृत्तिविशेषो हृत्तिरेव माधुर्यं गुणः, न तु हृतेः कारण माधुर्यम्,
हृतेरास्वादाभिज्ञतया माधुर्यमर्थत्ववैधुर्यात् । नपैवं माधुर्यस्य रसभेदापत्तिः, कारणभेदात्,
तथाहि—रसस्य विभागादिसम्बन्धो वृत्तेस्तु शृङ्गारादिरसात्वाद् कारणम् ।

तथा—प्रतिपक्षोत्कर्षदर्शनायाहितो बीरादिरसत्रयचर्चबाजान्यश्चित्तस्य विस्ताररूपो वृत्ति-
विशेषो दीप्तिरेषौजो गुण, न तु दीप्ते कारणम्, दीप्तिस्वरगताया बीरादिरसस्त्वादिनिष्ठत्वात् ।

एव सरलशब्दार्थानाहितोऽद्भुतादिरसचर्चणाग्रन्यथितस्य विकासरूपो रसविशेषः प्रसादो गुणः, न तु विकासस्य कारणम्, प्रागुक्तयुक्ते । स हि शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यलेश- मिश्रितः, क्षीरादिरसत्रय ओजोलेरामिश्रितः, अद्भुतादिरसत्रये तु निस्त्वपस्नस्तिष्ठतीति रसत्रये सर्वेषु रसेषु चास्य वृत्तिस्तत्राप्युते ।

प्रसाद गुण सब रसों में तथा सब तरह की रचनाओं में रहता है। तात्पर्य यह है कि साधुर्य तथा औज गुण उक्त तीन तीन निश्चित रसों में ही रहते हैं, एवम् उक्त दोनों गुणों को सम्मिश्रित करनेवाली रचना भी नियत ही है। परन्तु प्रसाद गुण के विषय में ऐसी बात नहीं है, यह सब रसों में होता है और सब प्रकार की रचनाओं से व्यक्त होता है, यही अन्य गुणों की अपेक्षा प्रसाद गुण में विशेषता है।

हृत्पादित्तत्सीमा गुणवदसास्वादजन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्व, नतु गुणजन्यत्वमित्याह—

गुणानां चैषां द्रुति-दीप्ति-विकासाख्यास्तिस्रश्चिह्नवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः,
तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्बणाजन्या इति यावत् ।

इत्यादिविचरुतीना मायुर्यादिगुणविशिष्टादिरसास्वादेन साशमभ्यस्वाद् गुणप्र-
योऽयत्वं, न तु साक्षाद्गुणजन्यत्वमिति सारम् ।

इन गुणों में माधुर्य वृत्ति का, ओज वीरि का और प्रसाद विकास का प्रयोजक है—जनक नहीं। जनक तो इनके उन गुणों से युक्त रसों के आस्वाद होते हैं। अर्थात्—वृत्ति, वीरि और विकास ये तीनों चित्तवृत्तिगर्भ उक्त तीनों गुणों से साक्षात् उत्पन्न नहीं होतीं, अपि तु इन गुणों से विनिर्गट रसों के आस्वादन से साक्षात् उत्पन्न होती हैं। सारांश यह है कि मधुर रसास्वाद से चित्त पिघल जाता है, ओजस्वी रसों के आस्वाद से चित्त में एक प्रकार का जोश पैदा होता है और प्रसाद गुणयुक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है।

नन्वेवं गुणानां रसमात्रवृत्तित्वस्वाभ्युपगमे गुणविशिष्टरचनाबोधका 'मधुरा रचना' इत्यादिव्यवहारा गुणानां रचनावृत्तित्वस्य विरहात् कथमुपपद्येरन्नित्याशङ्का समादधत्प्राचीन-मतमुपसंहरति—

एवमेतेषु गुरोषु रसमात्रधर्मेण व्यवसितेषु, 'मयुरा रचना' 'ओजस्वी वन्द्यः' इत्यादयो व्याहाराः 'आकरोऽस्य शूरः' इत्यादिन्यवहारवदौपचारिकाः इति मम्मटभट्टादयः ।

एतेषु त्रिषु । ध्यवसितेषु निर्णतिषु । औपचारिका लक्षणिका । मम्मदभ्युदय
आहुरिति शेषः ।

यथा शौर्यस्यात्मवृत्तिव्यवस्थानवयवसंस्थानविशेषरूपाकारवृत्तित्वाभावेऽपि 'आकारोऽस्य शूरः' इत्यादिव्यवहारः स्वाश्रयव्यवस्थान्वयेन लक्षणदोषपायते, तथैव गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे निर्णीते, 'मधुरा रचना' 'श्रोत्रस्वीबन्ध' इत्यादयो व्यवहारः स्वाश्रयव्यवस्थान्वयेन लक्षणदोषपादनीयाः इति मम्मटभट्टादीना मतमित्यर्थः ।

इस प्रकार इन गुणों के केवल रस-धर्म (उन्हीं में रहने वाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो-रचना मधुर है' 'बन्ध श्रोत्रस्वी है' इत्यादि व्यवहार होता है, वह 'हमका आकार शूर है' इस व्यवहार के समान लक्षणिक है—मुख्य नहीं। अर्थात् शौर्य आत्मा में रहनेवाला धर्म है, अवयवों का गठन-विशेष-रूप आकार में रह नहीं सकता, फिर 'हमका आकार शूर है' इस व्यवहार को उपपन्न करने के लिये जैसे लक्षणा की शरण लेनी पड़ती है, उसी प्रकार रस में रहनेवाले गुणों की रचना और बन्ध में रखने के लिये लक्षणा का आश्रय करना चाहिये। यह मम्मटभट्ट आदि प्राचीन विद्वानों का मत है ।

खण्डमाय प्राचीनमते प्रत्यक्षप्रमाणभावं दर्शयति—

येऽमी माधुर्योऽजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्ताः, तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं मानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादेः कार्यादननगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयाऽनुभवः, तथाद्रुत्यादिचित्तवृत्तिव्यो रसकार्यव्योऽन्येषां रसगतगुणानां सन्ननुभवात् ।

'येऽमी' इत्यारम्भ 'मादशा' इति यावत् सन्दर्भेण परमतखण्डनपूर्वकं स्वमतमुपक्षिप्तम् । गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने सति, प्रत्यक्षं प्रमाणमस्तीति वक्तुं न शक्यम्, यतो यथाऽनेदाहादिस्वात् कार्यात् पृथक्करेणुणस्योष्णस्पर्शादेः प्रत्यक्षं जायते, न तथा रसानां कार्यव्यो रूत्यादिचित्तवृत्तिव्यो पृथग् रसगतानां रसविधाना माधुर्यादीनां गुणानां रूत्यादिचित्तवृत्तित्वात्मात्मात्प्रत्यक्षजायत इत्यर्थः ।

अत्र कार्यस्य दाहादेर्गुणस्य बोष्णस्पर्शादेर्भिन्नतया पृथगनुभवः, रसानां कार्यस्य रूत्यादेर्गुणस्य न माधुर्यादेर्भिन्नतया न पृथगनुभव इति गुणानां रसवृत्तित्वे प्रत्यक्षप्रमाण-भावं बोध्य इत्यभिसन्धिः ।

अब पण्डितराज गुण के विषय में एक प्राचीनों के मत का खण्डन करते हैं 'येऽमी' इत्यादि । उनका कथन है कि प्राचीनों ने जो गुणों को केवल रस का धर्म बतलाया है—अर्थात् उन्होंने जो यह कहा है कि गुण रस में ही रहते हैं—रचना आदि में नहीं—इसमें प्रमाण क्या है ? आप यदि कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि उत्करीति से उन-उन रसों के आस्वाद से हमको उन चित्त-वृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है, तब हम कहेंगे कि—नहीं, जैसे अग्नि का कार्य दाह (जलाया) है और उष्ण स्पर्श उसका (अग्नि का) गुण है, इन दोनों का अनुभव हमें अलग-अलग होता है अर्थात् हम जब आग से जलते नहीं, तब भी हमें उसके गुण-उष्ण स्पर्श (गर्मी) का अनुभव होता है, उसी तरह रसों के कार्य जो वृत्ति-आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अनिश्चित रसों में रहनेवाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता ।

तत्रानुमान प्रमाणमप्युपन्यस्य निरस्यति—

तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादि-कारणत्वात् कारणताऽवच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवान् ।

तादृशीमाधुर्यादिभिर्गुणैर्विशिष्टानां रसानाम् । आदिपदेन दीप्ति-विकासयोर्ग्रहणम् । 'द्रुत्यादिनिष्ठकार्यतानिष्ठविता रसनिष्ठा कारणता, किञ्चिद्भावच्छिन्ना, कारणतात्वात्' इत्याकार-

कानुमित्यनन्तरं परितोषानुमितिर्गुणसाधिका । प्रकोष्ठस्थो नकारो मूलेऽऽश्लेषि नागेशमहा-
मतः सन्दर्भमज्ञतये स्थापितः । प्रातिस्विकरूपेण शृङ्गारत्वादिविशेषधर्मेण । गौरवं वक्ष्यमानां
शृङ्गारत्वादीनामेव कारणतावच्छेदकत्वकल्पनेनैव निर्वाहेऽकल्पमाना गुणानां तात्त्विकल्पनाद्
बोध्यम् । कल्पनमनुमानम् ।

द्रुतित्वादिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितगुणवद्भसनिष्कारणताऽनच्छेदकत्वेन गुणानामनु-
मानं प्रमाप्यनस्तीति न वाच्यम्, गौरवेण गुणानुमानासम्भवात् । तथाहि—द्रुतिं प्रति
शृङ्गारः कारणमिति विशेषेण वक्ष्यि नव कार्यकारणमाणा, 'द्रुतिं प्रति माधुर्यवदसः कारण'
मिति सामान्येन वृत्तय एव कार्यकारणमाणा स्वीकरणीया भवन्ति, किन्तु कल्पमानां शृङ्गार-
त्वादीनामवच्छेदकत्वकल्पनापेक्षयाऽकल्पमाना माधुर्यादीनामवच्छेदकत्वकल्पन एव गौरवं
भवति । तस्मान्न सामान्येन कार्यकारणभावो न चानुमानं गुणानामित्यभिगच्छि ।

यदि आप कहें कि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता तो न मही, माधुर्य आदि गुणों से युक्त
होकर ही रस, द्रुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् गुणहीन रसों से द्रुति आदि चित्त-
वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः कारणता के अवच्छेदक अर्थात् कारण में रहने-
वाले एक धर्म-विशेष के रूप में उनका अनुमात्र हो सकता है । तात्पर्य यह है कि 'सभी
कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न (परिचित) अवश्य होती हैं' इस तरह की
व्याप्ति के निश्चय हो जाने पर द्रुति-आदि में रहने वाली कार्यता से निरूपित, रस में
रहने वाली कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न है, क्योंकि वह भी कारणता है, जैसे घट में
रहने वाली कार्यता से निरूपित दण्ड में रहने वाली कारणता (दण्डत्व से अवच्छिन्न है),
इस तरह की अनुमिति के हो जाने पर परितोषानुमान से अर्थात् 'रस में रहने वाली कार-
णता के अवच्छेदक, गुण हैं, क्योंकि वे ही उसके (रसके) समनियत (न अधिक में रहने
वाले, न कम में रहने वाले) धर्म हैं' इस अनुमान से गुणों की सिद्धि होगी और धर्मि-
ग्राहक मान (जिस गमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उनी) से गुणों की रस-धर्मता भी
निश्च हो जायगी । परन्तु यह कथन भी आपका ठीक नहीं, क्योंकि गुणविशिष्ट रसों से ही
द्रुति-आदि होते हैं, ऐसा मान लेने पर भी द्रुति-आदि और रस में जो कार्य-कारण-भाव
कल्पित होगा, उसमें गुणों को घुसेड़ने से क्या लाभ ? अर्थात् 'द्रुति के प्रति शृङ्गार कारण
है' इस तरह से प्रत्येक रस का नाम लेकर ही कार्यकारणभाव बनाया-जायगा, फिर तो
शृङ्गारत्व आदि बलुप्त (अनिवार्य) धर्म को ही कारणतावच्छेदक मान लेने से निर्वाह हो
जायगा, अवलुप्त गुणों की कल्पना से होने वाले गौरव का स्वीकार नहीं करेंगे ।

लायवमाराद्भव निराकरोति—

शृङ्गार-करुण-शान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं, प्रातिस्विकरूपेण
कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरतरादिगुणानां
पृथग् द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतयाऽभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारण-
ताया गङ्गुभूतत्वात् ।

परेण मम्मटमहादिना । गङ्गु 'धेव' इति प्रसिद्धो गलग्नव्य । शृङ्गारतरता इत्यादीना
कारणानि, माधुर्यादिगुणस्तु प्रयोजका इति प्रागवेदितम् ।

ननु 'शृङ्गारो द्रुते कारणम्' 'करुणो द्रुते-कारणम्' 'शान्तो द्रुते-कारणम्' इति विशेष-
रूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रय, दीर्घविक्रमयोश्च प्रत्येक त्रय इति सकलनया नव कार्य-
कारणभावाः कल्पनीया भवन्ति, 'द्रुतिं प्रति शृङ्गार-करुण-शान्ता माधुर्यवत्त्वेन कारणानि'
'दीर्घं प्रति वीर-वीरमत्स-रौद्रा ओजोवत्त्वेन कारणानि' 'विक्रमं प्रति चाद्रुत-हास्य-भया-
नसः प्रसादवत्त्वेन कारणानि' इति सामान्यरूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रय एव कार्य-

कारणभावा कल्पनीया -भवन्तीति सामान्येन कारणत्वानुपगमे लाघवं गुणसिद्धिश्च भवतीति पूर्वपक्षाशयः ।

प्राक्प्रतिपादितमम्मटादिमतान् मधुरस्त्वेन सम्भोगस्य, मधुरतरस्त्वेन करुणस्य, (शान्तस्य च) मधुरसमस्त्वेन विप्रलम्भस्य च कारणस्य, हुते, अतिहुते, अतितमा हुतेश्च कार्यस्य त्रैविध्यात् 'हुतिं प्रति माधुर्यवान् सम्भोगः कारणम्' 'अतिहुतिं प्रति नितरा माधुर्यवान् करुणः (शान्तश्च) कारणम्', 'अतितमा हुतिं प्रति नितरा माधुर्यवान् विप्रलम्भः कारणम्' इति त्रयः सङ्कलनया नव कार्यकारणभावा विशेषरूपेण, त्रयश्च भवदभिमतता सामान्य-रूपेणेति सङ्कलनया षाड्शाना कार्यकारणभावाना कल्पनीयत्वाद् भवता लाघवस्थाने गौरव-मेवापतेदित्युत्तरपक्षाशयः ।

यदि आप कहेंगे कि उक्त कार्यकारणभाव में गुणों का निवेश अवश्य करना पड़ेगा, क्योंकि अलग-अलग कार्यकारणभाव मानने पर 'शृङ्गार वृत्ति का कारण है' 'करुण वृत्ति का कारण है' 'शान्त वृत्ति का कारण है' ये तीन, इसी तरह 'वीर दीप्ति का कारण है' 'वीभास दीप्ति का कारण है' 'रौद्र दीप्ति का कारण है' ये भी तीन, पुनश्च 'अद्भुत विकास का कारण है' 'हास्य विकास का कारण है' 'अयानक विकास का कारण है' ये भी तीन, फलतः नौ कार्यकारणभाव मानने पड़ेंगे और 'वृत्ति के प्रति माधुर्य' गुणयुक्त रस कारण है 'दीप्ति के प्रति ओज गुण युक्त रस कारण है' विकास के प्रति प्रसाद गुण युक्त रस कारण है' इस तरह से गुणद्वारक कार्यकारणभाव मानने पर तीन ही कार्यकारणभाव होते हैं, क्योंकि प्रथम में माधुर्य गुण युक्त होने के कारण शृङ्गार, करुण और शान्त का, द्वितीय में ओज युक्त होने के कारण वीर, वीभास और रौद्र का, तृतीय में प्रसाद युक्त होने के कारण अद्भुत, हास्य और अयानक का समूह हो जाता है। इस स्थिति में लाघवाद् गुणद्वारक कार्यकारणभाव ही मान्य होंगे, किन्तु यह तर्क भी संज्ञत नहीं है, क्योंकि मम्मटभट्ट ने शृङ्गारादिवृत्तिक में क्रमशः माधुर्य का वीरादिवृत्तिक में क्रमशः ओज का और अद्भुतादिवृत्तिक में क्रमशः प्रसाद का आधिक्य माना है और तदनुसार कार्य में भी वृत्ति, अतिवृत्ति, दीप्ति, अतिदीप्ति इत्यादि रूप से सारतम्य माना है। अतः अलग-अलग नौ विशेष कार्यकारण-भाव मानने ही पड़ेंगे और साथ-साथ व्याप के कथनानुसार उक्त तीन सामान्य कार्य कारणभाव भी होंगे, जो उसी तरह व्यर्थ हैं, जिस तरह गड्ड (घेय-गलप्रस्थि)। सरांश यह हुआ कि गुणद्वारक सामान्य कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता, अतः अनुमान प्रमाण से भी गुणों की सिद्धि किंवा इस-धर्मता प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

निगमयति—

इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम् ।

सामान्यकार्यकारणभावत्रयाकल्पनादिति शेषः ।

गुणद्वारक कार्यकारणभाव वाले पक्ष में सामान्य और विशेष के योग से कार्यकारण-भावों की संख्या द्वादश हो जाती है, जिसकी प्रक्रिया ऊपर बताई जा चुकी है और प्रत्येक रस का नाम लेकर (गुण को द्वार न बनाकर) कार्यकारणभाव स्वीकार करने पर उक्त रीति से उनकी संख्या नौ ही रहती है, अतः इस पक्ष में ही लाघव भी है।

ननु मम्मटादिरीत्या प्रातिस्विकरूपेण कारणतोपगमेऽपि रसधर्मत्वेन गुणा सिध्यन्त्ये-
वेत्याशङ्कयामाह—

किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् ।

सविदानन्दस्वरूपो निर्गुण आत्मेति वेदान्तसिद्धान्तेन कव्यात्मभूतानां रसानामपि निर्गुणत्वस्यैवित्याह माधुर्यादिगुणसिद्धिरित्याशयः ।

अतः उक्त दलीलों से गुणों की रसधर्मतावादी प्राचीनों का कुछ विरोध नहीं, क्योंकि

प्रातिस्थिकरूपेण (गुण को द्वार न बनाकर अलग-अलग) कार्यकारणभाव मानने पर भी 'गुण रस का धर्म है' यह मिट्ट होमा हो। तात्पर्य यह है कि शृङ्गार अथवा वीर किंवा हास्य रस होने के नाते द्रुति अथवा क्षोभि किंवा विकास के कारण नहीं हो सकते, कारण ? ऐसा मानने पर सभी रस द्रुत्यादि तीनों चित्त वृत्तियों के कारण हो जायेंगे, क्योंकि सभी रस ब्रह्मरूप हैं, ह्रूह हैं, अतः अगरवा यही मानना पड़ेगा कि शृङ्गार इसलिये द्रुति कारण है कि वह माधुर्य गुण शाली है, वीर इस लिये क्षोभि का कारण है कि वह ओज गुण से ओत-प्रोत है, हास्य इस लिये विकास का कारण है कि वह प्रमाद गुण से प्रसादित है और जब ऐसा मान लिया गया, तब तो उक्त प्रातिस्थिक रूप वाले कार्यकारणभाव से भी कारणता-वच्छेदक रूप में गुणों की रसधर्मता सिद्ध होगी ही। इसी अवतरण को हृदय में रख कर अन्यकार पण्डित राज जगन्नाथ दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'रस' इत्यादि। गुण, रस-धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तानुसार रस आत्मरूप है और आत्मा निर्गुण है—अर्थात् आत्मा में कोई गुण नहीं रहता, ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है।

ननु माधुर्यादिगुणानां रसगुणत्वाभावेऽपि रसोपाधिस्वरूपस्यापिभावगुणत्वमेवास्तु, तावताऽपि गुणसिद्धिः स्यादेवेत्याशङ्क्यामभिदधाति—

एवं तदुपाधिरस्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, परीत्या गुणे गुणान्तरस्या-
नौचित्याच्च ।

अनुपपन्नमित्यनुवर्तते ।

माधुर्यादीनां यथा रसगुणत्वं युक्तिप्रमाणाभावादनुपपन्नम्, एवं तदुपाधयो रसस्यापिभावा-
ये रत्यादयः, तथा गुणत्वमपि ग्राहकप्रमाणाभावात्, परीत्या मम्मदाद्युक्तीत्या रस्यादीनां
मुख्यरूपत्वाङ्गीकारेण गुणरूपतया, तत्र पुनर्गुणानां माधुर्यादीनां गुणे गुणाभाव इति सिद्धान्ते-
नास्तत्प्राप्तानुपपन्नमित्यर्थः ।

यदि आप कहें कि 'गुण रस के धर्म हैं' इस उक्ति का तात्पर्य है, रस के उपाधिभूत
रति आदि स्थायीभावों के धर्म गुण हैं, तो यह भी सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि प्रथम तो
इसमें कुछ प्रमाण नहीं और दूसरे काव्यप्रकाशकार आदि विद्वानों के मत से रति आदि
सुख रूप हैं, अतः वे स्वयं गुण हैं, फिर उनमें अन्य गुणों का होना सम्भव नहीं, कारण ?
गुण में गुण नहीं रहते, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है।

ननु शृङ्गारादिरसेषु माधुर्यादिगुणानङ्गीकारे 'शृङ्गारो मधुरः' 'वीर ओजस्वी' इत्यादयो
व्यवहारः कथमुपपद्येरसत्याशङ्क्यामाह—

अथ 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादि-
चित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु।
व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवदक्षतः ।

द्रुत्यादीनां शृङ्गारादिवृत्तिताया रस्यादिवृत्तितायाश्चोक्तेर शृङ्गारे माधुर्यात्सम्भवात्
'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादि व्यवहारः प्रसिद्धो नोपपद्येतेति शङ्क्याम्—द्रुत्यादिप्रयोजकत्वम्, अथवा
संसर्गकुशिप्रविष्टपदार्थानां स्वरूपेणैव भाननियमाङ्गाधवाय प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव
माधुर्यादिकमस्त्वङ्गीकृत्या माधुर्यादीनां निर्वचनम्, वाजिगन्धाया 'असगन्धः' इति
प्रसिद्धाया अश्वगन्धोषवेस्तत्कालमुष्णत्वस्यानुपलम्भेऽपि पारिणामिक तदादाय, यथा 'वाजि-
गन्धोष्णा' इति व्यवहारो भवति तथैव शृङ्गारादिरसानां सद्यो द्रुत्याद्यभावेऽपि पार्यन्तिका-
स्वादकालिक-द्रुत्यादिकमादाय 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारो भवेदिति व्यवहारोपपादनं
च समाधानं बोध्यम् ।

माधुर्यादीनां द्रुत्यादिप्रयोजकत्वस्य द्रुत्यादितादृश्यस्य चाङ्गीकृतौ सदृशानुभवस्य
प्रमाणस्य सत्त्वात् मतान्तरवदप्रमाणत्वमित्याकृतम् ।

अब यहाँ यह साझा हो सकती है कि जब आप के हिसाब से गुण न रस के धर्म हो सके, और न रसोपाधिभूत रति आदि के अर्थात् गुण कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सका, तब 'शृङ्गार रस मधुर होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व (उन चित्तवृत्तियों का परम्परया कारण होना) ही माधुर्य आदि गुण है, अथवा प्रयोजकतासम्बन्ध से द्रुति आदि चित्तवृत्तियों ही गुण हैं अर्थात् उक्त चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ उभारने का (प्रयोजकता) सम्बन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। इस द्वितीय कल्प में प्रयोजकता को सम्बन्ध कोटि में ले आने से यह लाघव होता है कि उसका भान स्वरूपतः हो जायगा अतः प्रयोजकता के आने प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी और प्रथम कल्प में उसका भान स्वरूपतः नहीं होगा जिससे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना करनी होगी, अतः गौरव होगा। यदि आप कहें कि इस प्रकार से गुणों का निर्वचन भले ही कर लिया जाय, परन्तु इसमें 'शृङ्गार मधुर है' इत्यादि व्यवहार तो उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि प्रयोजकता वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं है—अर्थात् उस सम्बन्ध से कोई पदार्थ कहीं रहने वाला नहीं कहा जा सकता, अतः अब कोई दूसरा दृष्टान्तभूत ऐसा व्यवहार भी दृष्टि गोचर नहीं होता। इसका समाधान यह है कि यदि प्रयोजकता को वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं मानें, तब 'असगन्ध (औषध) उष्ण (गरम) है' यह व्यवहार कैसे होता ? क्योंकि असगन्ध में उष्णता नहीं है, वरन् वह उष्णता का प्रयोजक है। अतः प्रयोजकता सम्बन्ध से असगन्ध को उष्णता का आश्रय मान कर 'असगन्ध उष्ण है' यह व्यवहार जैसे होता है, वैसे उक्त व्यवहार भी होंगे।

ननु द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव यदि माधुर्यादि, तदाऽदृष्ट-कालेश्वरेच्छादीनां कार्यमात्र-प्रयोजकत्वात् तेष्वपि माधुर्यादिव्यवहार प्रयज्येतेत्यत आचष्टे—

प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः।

चकारो हेत्वर्थक। अदृष्टादिविलक्षणमदृष्टावृत्ति। शब्दार्थाव रसाव रचनायेति द्वन्द्वः। अतिप्रसक्तिरित्येति।

यतोऽदृष्टावृत्ति शब्द-तदर्थ-रस-रचनामात्रवृत्ति द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव माधुर्यादि गृह्यते, तस्मादादृष्टादिषु माधुर्यादिव्यवहारातिव्याप्तिरिति सारम्।

यदि आप कहें कि इस तरह प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रव्यादि रूप माधुर्य आदि गुण तो अदृष्ट (धर्म अधर्म) काल आदि में भी रह सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि कार्यमात्र के प्रयोजक हैं, उनकी प्रेरणा के बिना सत्कार के कोई भी कार्य नहीं होता—एक पक्ष भी नहीं द्रिस्त, अतः द्रुति आदि की प्रयोजकता भी उनमें अवश्य स्वीकर्तव्य होगी, फिर तो आप के हिसाब से 'अदृष्ट मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होने लगेंगे। इसका उत्तर यह है कि रस में रहने वाली द्रव्यादि प्रयोजकता असाधारण और अदृष्टादि में रहने वाली साधारण है, अतः यहाँ अदृष्ट आदि से व्यावृत्त (उनमें नहीं रहने वाली) शब्द, अर्थ और रचना इन सबों में ही रहने वाली प्रयोजकतासम्बन्ध के रूप में ग्राह्य है, अतः उक्त दोष नहीं होगा।

तथाऽङ्गीकारे कलं दर्शयन् स्वमतमुपसंहरति—

तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः, इति तु मादृशाः।

ईदृशस्य द्रव्यादिप्रयोजकत्वरूपस्य। तुना मम्मटादिव्यवच्छेदः।

तथा च माधुर्यादीनां द्रव्यादिप्रयोजकत्वरूपताऽभ्युपगमे च, ईदृशस्य द्रव्यादिप्रयोज-

कस्वरूपस्य माधुर्यादेः शब्देऽर्थे च सत्त्वात्, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी धनम्' इत्यादि-
व्यवहारोपपत्तये, उपचारः 'गुणकृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थगोप्यता' इत्युक्तेर्लक्षणा, मम्म-
टादिमतवदस्मन्मते, न कल्प्यो भवति मुख्यार्थान्वयनापेक्षयादिति फलं भवतीति मादृशा
निवेचना नदन्तीति शेषः ।

इदमिहाकृतनीयम्—गुणानां शब्दार्थगतत्वं, विश्रुतित्वं, काव्यशोभाकारित्वेन तदति-
कारिभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च वामनेनास्तियतम् । माधुर्योऽप्रसादात्मकत्वेन त्रित्वं, कमेण
द्रुति-दीप्ति-विकासकारणत्वं, रसमात्रवृत्तित्वेन शब्दार्थमात्रवृत्त्यलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च
गुणानां मम्मदेनानुशिष्टम् । विश्रुतायेन ॥ माधुर्यादीनां हृत्वादितादात्म्यमाश्रमभिनवं
स्वीकृत्य मम्मदपयमेवानुसृतम् । जगन्नाथेन पुनर्दृष्ट्यादीनां जनकत्वस्य रसास्वादमाश्रयित्व-
तया, गुणानां रसप्रयोजकत्वं शब्दार्थरसरचनावृत्तित्वं नामिहितम् । तत्र परीक्षायां विश्रुताय-
मतमेव सर्वथा निर्दोषं प्रतिभाति । न च गुणानामानन्दविशेषात्मकदुल्यादिरूपत्वे रसभेदा-
पत्तिः, कारणभेदेनोभयमेवैदस्य प्रायेण निवेदितत्वात् । अत एव रसगुणयोराधाराधेयोऽपि
नानुपपन्नः । न च गुणानां रसमाश्रयिताङ्गीकारे 'मधुरा रचना' इत्यादिषु लक्षणास्वीकाराद्
गौरवम्, उपायान्तरानामेव गौरववैष्टत्वात् । इतरथा 'आकारोऽस्य रसः' 'कलिज्ज्ञ साह-
सिक' इत्यादिष्वपि लक्षणाभ्यादाकारे शौर्यस्य, देशे साहसिकत्वस्य च स्वीकारेण, हृदि-
मूलकलक्षणा उच्छेद एव कृताः स्यात् ।

इस तरह माधुर्य आदि गुणों का निर्वचन करने पर एक बड़ा लाभ यह होता है कि
'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली मधुर है' 'यह अर्थ ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहारों को
सिद्ध करने के लिये लक्षण का आश्रयण नहीं करना पड़ता, क्योंकि उक्त प्रकारक
माधुर्यादि गुण शब्द, अर्थ और रचना आदि में भी रह ही सकते हैं—रहते ही हैं । ये हैं
हमारे (पण्डितराज) जैसे—विद्वानों के विचार ।

इत्थं स्वमतं गुणाश्च प्रतिपाद्य, निराविकीर्यया नामनादिमतं प्रतिपादयति—
जरत्तरास्तु—

'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ॥

अर्थव्यक्ति-रुदरता-मोज-कान्ति-समाधयः ॥'

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति । नामानि पुनस्तान्येव,
लक्षणं तु भिन्नम् ।

जरतरा अतिऽनीना नामनादय इत्याहुरित्यर्थः ।

लक्षणमित्येकवचनं तु प्रत्येकमिष्टायेन योजनीयम् ।

श्लेषादीनि तान्येव शब्दगुणानां नामानि, तान्येवार्थगुणानामपीति नामसान्येऽपि तेषां
स्वरूपभेदालक्षणभेद इत्याशयः ।

अत्यन्त प्राचीन आचार्य वामन आदि तो :—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्यं सुकुमारता,
अर्थ व्यक्ति, रुदरता, मोज, कान्ति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों
के गुण मानते हैं । नाम दोनों के वे ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं ।

अथ प्रथमं बुद्धिविषयत्वेन शब्दगुणान् निरूपयन्नाद्यं श्लेषं लक्षयति—

तथा हि—

शब्दानां मित्रानामप्येकत्वप्रतिमानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्ण-
विन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।

मित्रानां विरूपाणाम् । एकत्वेनाभेदेन प्रतिमानस्य ज्ञानस्य प्रयोजकः । संहिताया

परसन्निकर्षेण सन्धिकार्येण एकजातीयानां सदृशानां वर्णानां विन्यासविशेषो विलक्षणरचना ।
गाढत्वमपरपर्यायो नामान्तर यस्य स ।

। भिन्नानामपि शब्दानां व्याकरणानुशिष्टसन्निकर्षविशेषप्रयुक्तमिच्छतप्रकारकप्रतीति-
प्रयोजको गाढत्वनामा श्लेष शब्दगुण इत्यर्थः ।

अथ शब्द-गुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम 'श्लेष' का लक्षण दिखलाते हैं—'तथाहि' इत्यादि । मित्र-भिन्न रूप वाले शब्दों के भी उस योजना-विशेष को 'श्लेष' कहते हैं, जो एक जातीय वर्णों से युक्त हो और अत्यन्त सन्निकर्ष (सर्वथा समीप-समीप में रहना) से एक ही तरह के शब्दों से बना हुआ सा प्रतीत हो । उस योजना-विशेष का दूसरा नाम 'गाढत्व' भी दिया जाता है ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहु—'श्लिष्टमस्पर्शैथिल्यम्' इति ।

। श्लिष्टं श्लेष इति भावे क । अस्पष्टं न स्फुटं शैथिल्य पदानां भेदो यत्र, तद्, 'यद्गुणानामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा श्लेष' इत्यन्यत्र दर्शनात् ।

श्लेष के उक्त लक्षण में प्राचीनों की भी सम्मति है—उन्होंने लिखा है कि-श्लेष उस रचना-विशेष को कहते हैं, जिसमें मिथिलता (पदों का भेद) स्पष्ट लक्षित नहीं हो ।

श्लेषमुदाहरति—

यथा—

कश्चिच्छादुरारो राजानं वर्णयति—

'अनवरतविद्वद्बुद्धमद्रोहिवारिद्रचमाद्यद्विपोदामवर्षौषविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' इति ।

अनवरत सतत विद्वत् एव परार्पणीवितत्वात् फल्गौरपनतत्वाद्वा हुमास्तेषां द्रोहि-
पीटाकरत्वादिति, यद्धारिद्र्य निर्धनत्वं, तदेवानिवारणीयत्वात्माद्यन्मन्सीभवन् द्विपो हस्ती,
तस्य य उदामवर्षौष अकटमद्रासि, तस्य विद्रावणे दूरीकरणे प्रौढः प्रगल्भ पञ्चानन
सिंहस्त्वमसौत्सर्ष । इह भिन्नानामपि शब्दानां सन्निवयोनाभिभवत्यतिमानं स्पष्टम् ।

जैसे—कोई कवि किसी राजा का वर्णन करता है कि—हे राजन् ! तुम, विद्वत्समाजरूप
पुरुषों (दूसरों के लिये जीने वाले) के सर्वदा द्रोह करने वाले दारिद्र्य रूप भव-मत्त
हामी के अकट गर्व-समूह (भव) को नष्ट करने में महान् सिंह हो-अर्थात् तुम्हारे वर्णन
से विद्वानों की वरिद्धता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस तरह सिंह के वर्णन से भव-
मत्त गजों के दानवारी सुख जाते हैं । यहाँ सन्धि करने के कारण भिन्न-भिन्न पद भी
एक पद के समान प्रतीत होते हैं, अतः यह 'श्लेष' गुण का उदाहरण है ।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः ।

भिन्नानामभिन्नतया मानं गाढत्वम्, भिन्नतया मानन्दु शैथिल्यम्, तयोः क्रमेण आदौ
गाढत्वम्, अन्ते शैथिल्यमिति रीत्या, सन्निवेशस्तु बन्धमणौ समाधिगुणौ, अत्र तु व्युत्क्रमेण
विपरीतक्रमेण—आदौ शैथिल्यमन्ते गाढत्वमिति रीत्या सन्निवेश इति समाधि-प्रसादयोर्भेदः ।

अथ 'प्रसाद' गुण का लक्षण देखिये—रचना में गाढता (भिन्न पदों का एक जैसा
लगना) और शिथिलता (पदों का 'भिन्न जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम से
मिश्रण अर्थात् रचना का पहले शिथिल और बाद में गाढ होना—'प्रसाद' गुण कहलाता है ।

प्रसादमुदाहरति—

यथा—

राजानं चाटुकारो ब्रवीति—

‘किं ब्रूमस्तव वीरतां धयाम्मी, यस्मिन् घराखण्डल !

क्रीडाकुण्डलितभ्रूरोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।

माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूपासहस्रोत्करै-

विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥’

हे घराखण्डल घरणोन्द्र ! यस्मिन्त्वयि, क्रीडया क्रीडाया वा कुण्डलिते घटुलीकृते ध्रुवी यत्र, तवया स्थान्, तथा शोणनयने रक्तनेत्रे दोर्मण्डलं बाहुबल्यं पश्यति सति, विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहा विन्ध्याचलकाननकन्दरायतनसन्निकुटशृङ्गा, तत्कालं तस्मिन्नेव समये (मिया पलाय्य गतानां त्वगैरिनुपाया) माणिक्यावलिकान्तिभिः शोणमणिधेनी-युतिभिः, दन्तुरतरैरत्युन्नतैः, भूपासहस्रोत्करैः साक्षावलम्बितमूषणसहस्रसमुदायैः, रक्षा-सिता अतितरा शोभितां भवन्ति, तस्य तव वीरता पश्यन्मम, अमी वराका, वयं किं ब्रूमः किमपि वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ।

जैसे—किसी चाटुकार (सुनामदों) कवि ने राजा का वर्णन किया है—हे ध्रुवी के हृन् ! जिन आप के खेल में भ्रूयुगल को गोल और नेत्रों को छाल करके भुज-मण्डल को देखने पर तत्काल ही विन्ध्य पर्वत के बनों के कन्दरा-रूप घटों में रहने वाले घृष्ट, माणिक्या-बलि की कान्तियों से अत्यन्त उन्नत हज्जारों भामूषणों के समूहों से चमकने लग गये, उन आप की वीरता का वर्णन हम बेचारे क्या करें। श्लोक का सारांश यह है कि जिस राजा की उक्त चेष्टाओं से घबड़ा कर शत्रुभूत राजा लोग भाग कर विन्ध्य पर्वत की गुहाओं में जा छिपे, उनकी वीरता का वर्णन साधारणजन क्या कर सकते हैं ।

रूपपादयति—

अत्र ‘यस्मिन्नि’त्यन्तं शैथिल्यम्, ‘भ्रू’ शब्दान्तं गाढत्वम्, पुनर्नयने’त्यन्तं प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

प्रथमं शैथिल्यम् । अत्र श्लोके प्रथमचरणे यस्मिन्निति यावद् बन्धस्य शैथिल्यं विभागप्रत्ययभासात्, तदनु द्वितीयचरणे भ्रूशब्दं यावद्गाढत्वम्, पुनस्तत्रैव नयने इति यावच्च शैथिल्यमिति प्रसादो गुणो ज्ञेय इत्यर्थः ।

इस श्लोक में ‘यस्मिन्’ पद तक शिथिलता है, फिर ‘भ्रू’ शब्दपर्यन्त गाढता है और पुनः ‘नयने’ पद पर्यन्त शिथिलता है, अतः ‘प्रसाद-गुण’ का उदाहरण होता है, इत्यादि समझना चाहिये ।

सूचीया समता लक्षयति—

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

उपक्रमादारम्भान्, आ समाप्तेरवसानं यावत्, रीतिरूपनागरिकादिवृत्तिलक्षणाया वैदग्ध्यैः अभेद एकलक्षता समता नाम गुण इत्यर्थः ।

अब समता का लक्षण करते हैं—‘उपक्रमात्’ इत्यादि । आरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की रीति के होने को ‘समता’ कहते हैं । यहाँ यह भी समझना चाहिये कि—उपनागरिका, परया और कोमला ये तीन रीतियाँ होती हैं । इन्हीं को वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाळी भी कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—चक्ष्यमाण-माधुर्योदाहरणे ।

‘नितरां परुषा’ इत्यादौ ।

जैसे कि आगे-माधुर्य के उदाहरण ‘नितरां परुषा’... इत्यादि श्लोक में है ।

उपपादयति—

तत्र ह्युपनागरिकयैवोपक्रमोपसंहारी ।

तत्र ‘नितरां’मित्युदाहरणे यत् आदेरन्तं यावदेकैवोपनागरिकं वृत्तिरतः समेत्यर्थः ।

यहाँ ‘उपनागरिका’ वृत्ति से ही आरम्भ और उसी से समाप्ति की गई है ।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

संयोगपरहस्वातिरिक्तवर्णधटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।

संयोगो ह्युपानन्तर्यं परो येभ्यस्तादृशा ये हस्ववर्णा एकमात्रिकाक्षराणि, तैभ्योऽतिरिक्तैर्वर्णैर्धटितत्वे सति, पृथक्पदत्वमसरिलक्ष्यपदत्वं माधुर्यं गुण इत्यर्थः । संयोगे परे येषां हस्वाक्षराणां गुरुत्वं, तद्विभक्त्यस्य लक्षणे निवेशः, संयोगश्चात्र परसवर्णैर्नानिष्पन्नैर्हस्वैर्निरपठितो गृह्यते, तेन तत्पथे ‘पल्लवाना’मित्यत्र पद्योत्तरहस्वाक्षरस्य लक्षरद्वयसंयोग-परकत्वेन गुरुत्वेऽपि न क्षतिः, लक्षरद्वयसंयोगस्य परसवर्णानिष्पन्नत्वात् । पदानां सहितया छिद्यत्वाभावः पृथक्पदत्वम् ।

अब माधुर्यगुण का लक्षण देते हैं—‘तथोप’ इत्यादि । संयुक्त (स्वर-रहित अनेक व्यंजन) वर्णों के आगे में रहने से पूर्व के जिन ह्रस्व स्वरों को गुरु सज्ञा होती है, ऐसे ह्रस्व स्वरों से अतिरिक्त वर्णों की सहायता से रचिन होना और पदों का अलग अलग रहना—अर्थात् सन्धि और समाम से रहित होना, इन दोनों ‘होने’ को सम्मिलित रूप में ‘माधुर्यगुण’ कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकुहयितः प्रणयिनीं वदति—

‘नितरां परुषा सरोजमाला, न मृणालानि विचारपेशलानि ।

यदि कोमलता तवाङ्गकाना-भयं का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ॥’

हे प्रिये ! यदि तव अङ्गकाना मृदुत्वातिशयेनानुकम्पनायावयवाना कोमलता विभाव्यते, तदा सरोजाना सरोजन्यत्वेन मृदुतमाना कमलाना, माला सक्त, नितरामत्यन्तं, परुषा कर्कशा, प्रतिभाति । मृणालानि विसानि च, विचारे तवाङ्गानि मृणालानि वाऽधिकं कोमलानि विवेचनायामल्पगुणतया पेशलानि योग्यानि न प्रतिमान्ति । अथ तदुमयातुल्यत्वनिर्णये, पल्लवाना किसलानां कथा त्वदङ्गसाम्यवर्त्ताऽपि च ? न काऽपीत्यर्थः ।

इह प्रायः पदानि पृथग्भूतानि परसवर्णनिष्पन्नसंयोगनिमित्तकगुर्वक्षराधटितानि चेति माधुर्यं गुणः । तच्च प्रशुक्त्या समतया, चक्ष्यमाणयाऽर्थव्यक्त्या च सङ्कीर्णम् ।

जैसे—नायक नायिका से क्षुशामदमरी बातें कहता है—हे प्रिये! जब-जब मैं तुम्हारे इन कोमल अङ्गों के विषय में सोचता हूँ, तब-तब मुझे कमलपुष्पों की माला अत्यन्त कठोर मालूम पड़ती है, मृणाल तो इस विचार में आने योग्य भी नहीं दीखते कि-ये तेरे अङ्गों के समान कोमल हैं—किं वा नहीं, रहे पल्लव तो जब कमल और मृणालों की वह दशा है, तब उनकी तो चर्चा भी तुम्हारे अङ्गों के सामने व्यर्थ है । यहाँ यद्यपि पल्लव पद में दो छकारों का ऐसा संयोग है जिसके परे पद्योत्तर अक्षर को गुरु सज्ञा होती है, तथापि

दोष इतलिये नहीं होता कि-उक्त लक्षण में जो संयोग पद आया है, उससे ऐसा ही संयोग लिया जाता है जो परसवर्ण (एक प्रकार की स्वाकरणानुष्ठित सन्धि) के द्वारा अनिपन्न हल्बर्णों से युक्त न हो और यहां का लकारद्वय संयोग परसवर्ण द्वारा निपन्न नहीं हुआ है, अतः ऐसे हल्बर्णों से युक्त ही हुआ।

प्रथमी सुकुमारता लक्षयति—

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता ।

केवलकोमलवर्णघटितत्वं बन्धस्य सुकुमारत्वं गुण इत्यर्थः ।

अब सुकुमारता गुण का लक्षण सुनिये—कठोर वर्णों से मिल्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है।

उदाहरति—

यथा—

नायको वदति परावृत्तति वा—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालि-कपोलपालिवोलायितप्रवणकुण्डलयन्दनीया ।

आनन्दमङ्गुरयति स्मरणेन काऽपि, रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥'

स्वेदाम्बुनो घर्मजलस्य, सान्द्रैर्निविष्टै, कणैर्विन्दुभिः, शालिन्या शोभमानायां, कपोल-पालौ गण्डस्थिते, दोलायिताभ्यामितस्ततः प्रवण-प्रवणस्थिताभ्यां कुण्डलाभ्यां, वन्दनीया स्थावरीया, काऽप्यनिर्वचनीया, मदिरेक्षणाया खजनाख्या (प्रेयस्याः) रम्या मनोरमा, रराजवत्या, स्मरणेन (इति) आनन्दम्, अङ्कुरयत्युपादयतीत्यर्थः ।

जैसे—नायक किसी से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बिन्दुओं से शोभित कपोल—स्थल पर झूलते हुए कानों के कुण्डलों के कारण अभिनन्दनीय और अनिर्वचनीय, मङ्गलात्ते नयन वाली नायिका की रमणीय अवस्था, पाद आते ही, हृदय में आनन्द की अङ्कुरित कर देती है।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्थे । उत्तरार्थे तु माधुर्यमपि ।

अत्र लोके पूर्वां प्रथमद्वितीयचरणयोः कोमलवर्णघटितत्वात् सुकुमारता शुद्धा । उत्तरार्थे तु पृथक्पदत्वान्माधुर्येण सङ्गीर्णा । लकारस्य चार्कश्येऽप्येककृत्या न गणना । अवण-कुण्डलेत्यत्र पौनःकृत्यम्, अवणस्थितत्वबोधकत्वेन परिहारस्तु 'स्थितेभ्येतत् समर्थकम्' इत्यनुरासनात् प्राचीनतमोक्तिरेव युक्तः ।

उक्त पद्य के पूर्वार्थ (प्रथम-द्वितीय चरणों) में सुकुमारता है। उत्तरार्थ (तृतीय-चतुर्थ चरणों) में माधुर्य और सुकुमारता दोनों का मिश्रण है।

पद्योर्मय्यपि लक्षयति—

भूमिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थरूपक्तिः ।

भूमिति शीघ्रमाकाङ्क्षादिस्वाभावमवधानात् प्रतीयमानोऽर्थानामन्वय सम्बन्धो यत्र, तत्त्वम्, अन्विलम्बेन शब्दबोधजनकत्वं पदानामर्थव्यक्तिरित्यर्थः ।

अब 'अर्थव्यक्तिगुण' का लक्षण देखिये—अर्थों के अन्वय का शीघ्र ज्ञान होना अर्थात् शीघ्र ज्ञान-बोध के होने को—'अर्थ-व्यक्तिगुण' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—'नितराम्' इत्यादी ।

माधुर्योदाहरणे ।

जैसे कि 'नितराम्' परुषा सरोजमाला इत्यादि—पूर्वोक्त पद्य आदि में ।

सप्तमीमुदारता लक्षयति—

कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।

टवर्गादिकठोरवर्णघटितत्वं चन्वस्योदारता गुण इत्यर्थः ।

अथ 'उदारता गुण' का लक्षण परस्मिन्—रचना का टवर्ग आदि कठोर वर्णों से युक्त होना—जिसे विकटत्व भी कहते हैं—'उदारता गुण' कहलाता है ।

उदाहरति—

यथा—

शिवस्य ताण्डव भक्तो वर्णयति—

'प्रमोदभरतुन्विलप्रमथदत्ततालाग्ली-

विनोदिनिविनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।

ललाटतदविस्फुटभ्रुकूपीटयोनिच्छटा-

हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥'

प्रमोदभरेण तुन्विलैरानन्दतिशयेनोत्फुल्लैः, प्रमथं शङ्करपारिपदैः दत्ताभिर्विहिताभिः, तालावलीभिः कालक्रियामानवोपकरणपरम्परामि, विनोदिनि कौतूहलधृति, विनायके गणेशो, डमरुं डिण्डिम च वाद्यविशेषं चनयति बाधयतीति तच्छृङ्खले सति, ललाटतटात् कपालस्थलात्, विस्फुटगती प्रकटीभवन्तो कूपीटयोनेरग्नेरुद्धा प्रभा यस्य तादृशः, हठेन नृत्याभिनिवेशेन, उद्धताभिश्चर्वं विकीर्णाभिः, अट्टाभिः, उद्धृतो विकट, गतपटो दिगम्बर-त्वाभिर्वसन, नटो नर्तकः शिषो नृत्यतीत्यर्थः ।

जैसे—कोई भक्त शिवजी के ताण्डव-नृत्य का वर्णन करता है—भाल-देश से फूटकर निकलती हुई अग्नि की नवीन-छटा से युक्त और हठ से (नृत्याभिनिवेश से) ऊपर उछाली हुई जटा के कारण विकट लगाने वाले नगे नटराज (शिव) नाच रहे हैं, अति आनन्द से फूले हुये प्रमथ लोगों के द्वारा दी गई तालियों से विनोद-मग्न गणेशजी डमरु और डिण्डिम (वाद्यविशेष) को बजा रहे हैं ।

अत्र परोक्तिमाक्षिपति—

'पदानां नृत्यप्रायत्वं विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते । उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीना, ऋदिति शणितमासीत्' इत्यादि । तत्र तेषामेतादृशी विकटत्वलक्षणां मुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति स एव जानन्ति ।

ऋदिति स्थानेऽनुकरणार्थको ऋणित्वाति, स्वचरणस्थाने सुचरणेति पाठश्च साधोयान् । तत्र तस्मिन् विषये । तेषां टीकाकाराणाम् ।

• काव्यप्रकाशव्याख्यातृमिर्यत् 'पदानां नृत्यप्रायत्वं विकटता' इत्युदारताया लक्षणं कृत्वा 'स्वचरणे'त्यायुदाहरणं दत्तम्, तच्च समीचीनम्, उदारताया ओजस्यन्तर्भावं कुर्वत काव्यप्रकाशान्तरकमूलप्रत्ययकृतोऽभिमतो विरुद्धत्वादित्याशयः ।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानों का असंगत मत है, जिसका अब सफाई करते हैं—'पदानाम्' इत्यादि । काव्यप्रकाश के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदों के नाचने से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं—'स्वचरणविनिविष्टे ...' इत्यादि । इस विषय में पण्डितराज का कथन है कि—टीकाकार के अभिमत इस तरह की विकटता से अभिध उदारता का ओजगुण में अन्तर्भाव करने वाले मूलकार (मम्मट) उनके अनुकूल कैसे हुये अर्थात् मूलकार और टीकाकार में एकवाक्यता कैसे हुई—इसे वे ही जानें ।

तामेवानभिप्रति प्रकाशयति—

न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिमानमस्ति । 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नतैः' इत्यत्र सन्नप्यो-
जसो लवो न चमत्कारी । नापि तत्र नृत्यत्प्राप्यत्वं वर्णानामनुभवन्ति सहृदयाः ।
अंशान्तरे तु माधुर्यमेव ।

हि यत् अत्र 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणे ओजसो गुणस्य, वैपुल्येन बहुलतया प्रतिभानं
प्रतीतिर्नास्ति, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नतैः' इत्येतावदशे संयुक्तपङ्कारटकाररेफवदितत्वात् सन् विद्य-
मानोऽपि, ओजसो लवो लेरा, वैपुल्याभावाद् वीरायोजस्विरसामावाच चमत्कारी न भवति,
वर्णानां नृत्यत्प्राप्यत्वस्यानुभवोऽपि सहृदयानामत्र न भवति, अंशान्तरे 'स्वचरणे'त्याद्यंशे
यद्युत्र तु पुनर्माधुर्यमेवास्ति, तस्मान्मात्रौजो गुण इत्यर्थः ।

अत्रौजसो लेरातो माधुर्यस्य तु बाहुल्येन सद्भावान् पदनृत्यत्प्राप्यत्वाननुभवाच्च
टीकास्तुस्वचराताया लक्षणोदाहरणे न समोचये इति सारम् ।

अब उक्त मूलकार और टोकाकार में होने वाले विरोध का स्वरूप तथा उसमें युक्ति
बतलाते हैं— न ह्यत्र इत्यादि । 'स्वचरण' इत्यादि पद में प्रचुर रूप से ओजोगुण
भासित नहीं होना । यद्यपि 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नतैः' इस अंश में कुछ ओज है, पर वह
चमत्कारी नहीं और उस पद में सहृदयों को नाचते से पदों का अनुभव भी नहीं होता ।
अन्य अंशों में माधुर्य का ही अनुभव होता है । कहने का सारांश यह है कि—उक्त
पद में ओज अगर है भी तो अशत और माधुर्य प्रचुर—मात्रा में है और नाचते हुये से पद
भी नहीं है, अतः टीकाकार ने जो उदारता के लक्षण और उदाहरण दिते लिये हैं, वे टीका
नहीं और मूल ग्रन्थ से विरुद्ध भी हैं ।

अष्टममोजो लक्षयति—

संयोगपरदस्वप्राचुर्यरूप गाढत्वमोजः ।

संयोगः परो येन्यस्तादृशानां हस्त्ववर्णानां प्राचुर्यं विपुलत्वमेव रूपं यस्य, तद्गाढत्वं
वर्णादीनामोजो गुण इत्यर्थः ।

अब 'ओजोगुण' का लक्षण सुनिधे—गाढता को 'ओजोगुण' कहते हैं और गाढता कहते
हैं—आगे में स्थित संयुक्त अक्षरों से गुरु बने हुये हस्व स्वरों की बहुलता को ।

उदाहरति—

यथा—

चाङ्गिह्वरं क्षितिपतिं स्तौति—

'साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्वर—

क्षुभ्यत्तीरधिबल्लुवीचिवल्लयग्रीगर्वसर्वद्वपाः ।

तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता

भूमीभूषण । भूषयन्ति सुवनामोमं भवत्कीर्तयः ॥'

हे भूमीभूषण चरालङ्कार वृष । साहङ्काराया सबलाभिमानाया, सुरासुरावलेद्वैवदानव-
पङ्के, करैराकृष्टेन, अत एव अमता घूर्णमानेन, मन्दरेण मन्थाचदम्बोभूतापर्वतेन, क्षुभ्यतो
विलोटनान् सञ्चल्य, क्षीरपेर्दुग्धसमुद्रस्य, वल्लुना सुन्दराणां, वीचिवल्लयानां तरङ्गमण्डलानां,
त्रियं शोभया, गर्वस्य श्रेतिमाग्निमानस्य, सर्वद्वपा- सर्वोपहारकारिका, तृष्णया पिपासया
प्रेप्सया वा, ताम्यङ्गिर्व्यग्रीमचङ्कि, अमन्दैरुत्कृष्टै, तापसकुलैरमरस्त्वलमनिमित्तकृतपस्या-
परायणगणै, सानन्दं रूपतादृश्यादभूताप्रेणे साहादम्, आलोकिता दृष्टा, भवत कीर्तयः,
सुवनानाम्, आमोमं विस्तारं, भूषयन्त्यलङ्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

अत्रोक्तसंयोगनिमित्तसुरासुराहस्त्ववर्णप्राचुर्यादोजोगुणः ।

जैसे-कोई चाटुकार राजा की स्तुति करता है-हे घरालङ्कार ! अत्यधिक अभिमानशाली देवीं और दानवीं की पङ्क्तियों से लिंचे हुये, अत एव घूमते हुये, मन्दराचल से झुञ्च बने हुये खीर-सागर की मनोहर तरङ्गों के समूह की शोभा के गर्व को सर्वथा मष्ट कर देने वाली और प्यास से व्याकुल तपस्वियों के झुण्डों से (तृषा-शान्ति का साधन समझ कर) आनन्द पूर्वक देखी गईं आपकी कीर्तियाँ सम्पूर्ण ससार को शोभित करती हैं। यहाँ अग्रिम संयोग निमित्तक गुह्यता को प्राप्त करने वाले हृत्पद स्वरों की अधिकता है, अतः 'ओजोगुण' का उक्त लक्षण सघटित हुआ।

उदाहरणान्तरमाह—

यथा या—'अयं पततु निर्दयम्' इत्यादिप्रागुदाहृते।

प्राग्वैद्वरसनिरूपणे । 'नवोच्छलित-' इत्यादिपद्ये ।

अथवा, 'रौद्र-रस' के निरूपण-प्रसङ्ग में उल्लिखित 'अयं पततु.'..... इत्यादि पद्य को, 'ओजोगुण' का उदाहरण समझना चाहिये।

नवमी कान्ति लक्षयति—

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपयोज्ज्वल्य कान्तिः ।

यथा—'नितरां' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

असहृदयानां वैदिकप्रवृत्तीनां प्रयोगोचितानि यानि पदानि, तानि विहाय, सहृदयैः कविभिः प्रयुज्यमानानि यानि पदानि, तेषु, याऽलौकिकी शोभा, सैवोज्ज्वलत्वरूपा कान्तिरिति सारम् ।

अत्र विदग्धमात्रप्रयोज्यपदवाहुस्यात् कान्तिः, पूर्वोक्तमाधुर्यार्थव्यक्तिभ्यां सङ्कीर्णा ।

अथ 'कान्तिगुण' का लक्षण देखिये—सहृदयता-शून्य वैदिक आदि लोगों के प्रयोग करने योग्य पदों को छोड़कर, सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक अलौकिक शोभा होती है-मिसको उज्ज्वलता भी कहते हैं-उसी (शोभा) को 'कान्ति' गुण कहते हैं।

जैसे कि—'नितरां परुषा' ... इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में। इस पद्य में सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों की प्रचुरता रहने के कारण 'कान्ति' गुण है और 'माधुर्य' तथा 'अर्थव्यक्ति' गुण भी हैं, अतः तीन गुणों का सङ्ग यहाँ माना जायगा।

दशमं शब्दगुण समाधिं लक्षयति—

बन्धगाढत्व-स्थितिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।

यन्धस्य प्राग्गाढत्वं पश्चाच्छिथिलत्वमेवं क्रमेण, न तु प्रसादबहुव्युत्क्रमेण, अवस्थापनं विन्यसनं समाधिरित्यर्थः ।

अब 'समाधि' गुण का लक्षण करते हैं—रचना की गाढता और स्थितिलता को क्रम से रखना-अर्थात् पहले गाढ़ रचना का और पश्चात् स्थितिल रचना का होना-'समाधि' गुण कहलाता है।

स्वोक्तिं प्राचीनसम्मत्या द्रढयति—

अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः ।

अनयोर्बन्धस्य गाढत्वस्थितिलत्वयोरेव, प्राचीनैर्वाचनादिभिः, आरोहावरोहयोः, व्यपदेशो व्यपहारः कृत इत्यर्थः ।

आरोहो गाढत्वम्, अवरोहश्च शैथिल्यं बन्धस्य क्रमेण प्राचीनैः 'बन्धस्तुत्रप्रमितकण्ट-
गदामिघात-सङ्गुणितोक्त्युक्तस्य सुयोधनस्य । स्यान्नावबद्धधनशोणितशौणपाणि-रत्तंसवि-
व्यति कचास्तव देवि ! भीमः ।' इत्यत्रोदाजहे ।

इन्हीं—गाढता और शिथिलता को प्राचीन बामन आदि आचार्य आरोह और अवरोह शब्द से कहते हैं ।

प्रसादात् समावेर्न्यतिरेकं दर्शयति—

क्रम एव हि तयोः, प्रसादादस्य भेदकः, तत्र हि तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तेः ।

तयोर्गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमः पूर्वापरीभाव एवास्य समाधेः प्रसादाद् भेदकः, हि यत्-
स्तत्र प्रतादे तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तिः, इह तु क्रमेणेत्युक्तमेव प्रसादरूपेण प्राक् ।

प्रसाद और समाधि गुण में परस्पर भेद दिखलाते हैं—'क्रम एव' इत्यादि । गाढता और शिथिलता का भिन्न क्रम से रहना ही प्रसाद और इस समाधि गुण को परस्पर भिन्न बनाता है, क्योंकि प्रसाद गुण में ये दोनों (गाढता और शिथिलता) विपरीत क्रम से रहती हैं । तत्पर्यं यह है कि प्रसाद गुण में पहले शिथिलता और पश्चाद् गाढता तथा समाधि गुण में प्रथम गाढता और पश्चात् शिथिलता रहती है ।

समाधिमुदाहरति—

यथा—

कविः कश्चिद् वर्णयति—

'स्वर्गनिर्गतनिर्गलगङ्गा-तुङ्गभङ्गुतरङ्गसखानाम् ।

केवलानृतमुचां वचनानां, यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम् ॥'

स्वर्गनिर्गताया निष्पतिताया, निर्गलगङ्गा निष्प्रतिबन्धया, गङ्गाया मन्दाकिन्या, तुङ्गा उचा, भङ्गुराभङ्गुरातिनख मे तरङ्गा, तत्सखानां तत्सखानां, केवलानृतमुचा पीयूष-
मात्रं प्रवाहयता, वचनानां, लास्यगृहं वृत्त्यायतनमुक्तासास्पर्धं, यस्य, आस्यं मुखमेव सरोजं
कमलमस्तीत्यर्थः ।

समाधि का उदाहरण जैसे—

कवि किसी का वर्णन करता है—जिसका मुख-कमल, स्वर्ग से निकली हुई, अत एव निर्विघ्न होकर प्रवाहित होने वाली मन्दाकिनी की ऊँची-नीची अपांद् लचकती हुई लहरों के भिन्न (अर्थात् उनके समान) तथा केवल अमृत बरसाने वाले वचनों का नाट्य-गृह है अर्थात् जिसके मुख में सर्वदा ऐसे वचन विराजमान रहते हैं ।

उपपादयति—

अत्रारोहः प्रथमेऽर्थे, तृतीयचरणे त्ववरोहः ।

अत्र स्वर्गेत्यादिपदे, प्रथमेऽर्थे प्रथमद्वितीयचरणयोः, आरोहो गाढत्वम्, तृतीयचरणे त्ववरोहः शैथिल्यमिति समाधिः, गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमेण सञ्जवेसात् । इह 'तृतीयचरणे' इत्यत्र बहुव्रीहिरिति कैषाश्चिद् विवरणं चिन्त्याम्, बहुव्रीहिणा तस्योत्तरार्धपरत्वाभ्युपगमे तद्वद्वचनचतुर्थचरणे बन्धशैथिल्यप्रतीतेर्लक्षणसमन्वयासम्भवात् ।

उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में आरोह (गाढता) और तृतीय चरण में अवरोह (शिथिलता) है ।

अत्रैव पूर्वार्धे माधुर्यवाङ्मयं निराकृत्योत्तरार्धेऽभ्युपगच्छति—

गङ्गेत्यादी माधुर्यस्य व्यञ्जकेषु वर्णेषु सत्स्वपि, दीर्घसमासान्त-रूपातिवया न तस्य प्ररोहः । उत्तरार्धे तु सोऽपि ।

उपोदाहरणे पूर्वार्धे गङ्गेत्यादिपदघटकवर्णानां माधुर्यव्यञ्जकत्वात् सत्स्वेऽपि, तेषां

दीर्घसमासेषट्कत्वेन 'पृथक्पदत्वविरहाज माधुर्यस्य प्ररोह' ('दीर्घ्यम्'), उत्तरार्धे ॥ दीर्घ-
समासभावान्माधुर्यस्य प्ररोहोऽपीति माधुर्यसङ्कोचं समाधिरस्तोत्यर्थः ।

यद्यपि यहाँ गङ्गा आदि पदों में माधुर्य-गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, तथापि वे पद लम्बे
समास के मध्य में पद गण्य हैं, अतः माधुर्य गुण दुष्ट नहीं हो सकता, हाँ, उत्तरार्ध में वह
(माधुर्य) भी अवश्य है, क्योंकि उधर लम्बे समास नहीं हैं । इस तरह यहाँ समाधि
और माधुर्य का सङ्कर है, ऐसा समझना चाहिये ।

शब्दगुणनिरूपणमुपसंहरति—

एते दश शब्दगुणाः ।

एते श्लेषादयो दश शब्दगुणा निरूपिता इत्यर्थः ।

वे ही दश शब्द गुण हैं ।

अप्रार्थगुणेषु अप्रथम श्लेष निरूपयित्वावति—

एवं क्रियापरम्परया, विदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपादक-
युक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः ।

एवं शब्दगुणवत्, विदग्धचेष्टितस्य चतुरचेष्टाया, तदस्फुटत्वस्य तच्चेष्टाया अन्यक-
त्वस्य, तदुपपादिकायास्तद्व्यापारसाधिकाया युक्तेरुपायस्य च यत् सामानाधिकरणम्
एकस्मिन्नधिकरणे क्रियापरम्परया पूर्वापरीभूतानेकक्रियाभिः, (वर्णितत्वाद्) धूर्तत्वम्,
तद्वत्त्वं य संसर्गं स श्लेष इत्यर्थः ।

चातुर्येण कार्यविधानस्य, तद्गोपनस्य, तत्साधकोपायस्य चार्यस्य क्रमिकानेकक्रिया-
भित्तिकैव नियत्सम्बन्धकरणपूर्विका घटना श्लेषनामाऽर्थगुण इति सारम् ।

'क्रियापरम्परया' इति षष्ठ्यन्तपाठे तु क्रियापरम्परया विदग्धचेष्टितादीनां सामाना-
धिकरण्यं बोध्यम् ।

एतदुदाहरणान्तरमकथयेर्यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयने पिघाय विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।

ईषद्वकिटकन्धर-सपुलक प्रमोक्षसन्मानसा-

मन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरा चुम्बति' ॥ इति ।

धूर्तश्चतुरो जायकः, एकसनसंस्थिते एकस्मिन्नेवास्तरण उपविष्टे, प्रियतमे ज्येष्ठकनिष्ठे
प्रेयस्यौ, इन्द्रा निवृत दूरादवलोक्य, तद्वदृष्टिपथ परिहरन् पश्चात् पृष्ठतः, आदरादत्किता-
लिङ्गनकौटुकान्, उपेत्योपगत्य, निहितं कृतं क्रीडातुबन्धस्याधिनिमीलनरूपलोलातुष्टानस्य-
छलम् उभयत्र तुल्यप्रेमाभावान्द्व्याजं येन, तादृशं, एकस्या कनिष्ठाया, नयने पिघाय,
कराभ्यां निमीलय, ईषद्वकिटकन्धरो प्रोवाधिकनमने कदाचिन् कनिष्ठारहस्य जालीयादिति भिया
किञ्चिदिव कुटिलितप्रोव, सपुलक स्वामीष्टसिद्धिसान्निध्यसम्भूतद्वर्पात् सरोमाद्यः, प्रेम्णा
सपरत्यपेतयाऽऽत्मनि पतिप्रणयाधिक्यावधारणादुद्भूतया प्रीत्या, उल्लसदामोदमानं मानसं
यस्यास्तादृशीम्, अन्तर्हासिन रहस्यमेदमिया स्मितरूपाम्यच्छदयितेन, न्यसच्छोभमानं कपोल-
फलकं सज्जिकृष्टकाण्डतल यस्यास्तथाभूताम्, अपरा ज्येष्ठा चुम्बतीत्यर्थः ।

अत्रैकस्या वधनेनावरस्याश्चुम्बनं विदग्धचेष्टितम्, तत्सास्फुटत्वमपरयाऽज्ञातत्वात्,
तदुपपादकयुक्तिश्च नयननिमीलपूर्वकं क्रीडानुष्ठानम्, तेषां पश्चादागमन-नयननिमीलनलीला-
विधान-चुम्बनरूप-क्रमिकक्रियाणां च सामानाधिकरण्येन निबन्धतः श्लेषः ।

अथ अर्थगुण-निरूपण के छम में सर्वप्रथम श्लेष का लक्षण करते हैं—'श्लेष' इत्यादि । इसी तरह चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध करने वाली युक्ति, इनका क्रियापरम्परा (एक के बाद दूसरी क्रिया) द्वारा एक ही स्थान में इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने पावे श्लेष कहलाता है । जैसा कि अमरक कवि का 'द्यूकासनसंस्थिते' इत्यादि पद्य है, जो संस्कृतटीका में उद्धृत है । इस पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—धूर्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमा (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) एक ही भासन पर बैठी हुई हैं । दूबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर एक (नायिका) के नेत्रों को, खेल करने के दृढ से, बन्द कर दिया, इसके बाद रोमाञ्चयुक्त वह नायक अपनी गारदन को घोड़ी-सी टेढ़ी करके उस दूसरी नायिका को चूम रहा है, जिसका मन सपत्नी की अपेक्षा अपने में पति का अधिक अनुराग देखकर प्रेम से प्रमथ हो रहा है और (सपत्नी न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल क्षोभित हो रहे हैं । यहाँ एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका को श्रमना चतुरता से काम करना है, वह प्रकट भी न हो सका क्योंकि दूसरी नायिका उसको नहीं समझ सकी और उसको सिद्ध करने वाली युक्ति है आँखमिचौनी का खेल । इन सब बातों का पीछे से आना, मौल मूँदना और खेल करना आदि क्रियाओं के साथ-साथ होते रहना वर्णन किया गया है ।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

पावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ।

पावदर्थकान्यर्थान्मूलाधिकानि पदानि यत्र, तद्रूपमर्थस्य वैमल्यस्याप्रतीयमानता लक्षणा स्वच्छता प्रसाद इत्यर्थः ।

यत्रैकमपि पदं निरर्थकं विलम्बेनाद्योपस्थापकं वा न, स प्रसादोऽर्थगुण इति सारम् ।

अथ 'प्रसाद गुण' का लक्षण देखिये—जितने अर्थ हों उतने ही पदों का होना अर्थात् पदों का अर्थ से न्यून भवना अधिक न होना 'प्रसाद गुण' कहलाता है, अर्थ-वैमल्य भी इसी को कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

नायको वृत्ती वा वदति—

'कमलानुकारि वदनं किल तस्याः' इत्यादि ।

इह वदननिष्ठ-कमलमादरयदार्द्राबोधनात् किलेत्यस्यापि सार्पक्ष्यात् प्रसादः ।

जैसे—नायक किसी नायिका के विषय में कहता है—उसका मुखकमल का अनुकरण निश्चिन्त रूप से करता है । यहाँ शब्द और अर्थ दोनों नये तुले हैं, 'किल' पद मुख में कमल-सादरय को इद करना है, इसलिये यह भी सार्पक्ष है, अतः प्रसाद गुण का उक्त लक्षण यहाँ समन्वित हुआ ।

स्पष्टप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमपि दर्शयति—

प्रत्युदाहरणान्तु यथा—'कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्' इत्यादि ।

अत्र 'अनन्यतन्म्यो हि शन्दार्थः' इति सिद्धान्तेन कान्तिपदानुपादानेऽपि प्राग्बत-पर्यावगतसम्भवात्तार्थवैमल्यम् ।

पाठकों को स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये प्रत्युदाहरण का भी निर्देश करते हैं—'प्रत्युदाहरणं तु' इत्यादि । अर्थात् उक्त पद्यांश को ही यदि '(उसका) मुखकमल की कान्ति का अनुकरण करता है' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तो प्रसाद गुण का प्रत्युदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'कान्ति' पद वक्तव्य अर्थ में अनपेक्षित होने के कारण निरर्थक है ।

तृतीया समता लक्षयति—

प्रक्रमभङ्गेनार्थघटनात्मकवैषम्यं समता ।

प्रक्रम आरम्भक्रमस्तस्याभङ्गेनानन्यथाकरणेन, चाऽर्थस्थ घटना, तद्रूपम् अवैषम्यं विषमताऽभावः समतेत्यर्थः ।

आदौ येन शब्देन यस्वार्थस्योपादनं क्रियेत, तेनैव न तु तत्पर्यायेण, अन्तं यावन्निर्वाहो यत्र विधीयेत, तत्र समतेत्याशयः ।

अब 'समता गुण' का लक्षण सुनिये—विषमता के अभाव को 'समता गुण' कहते हैं और विषमता का अभाव कहते हैं—आरम्भ का क्रम जिससे भग्न न होने पावे, इस तरह की अर्थयोजना को अर्थात् आरम्भ में जिस तरह का आर्थिक क्रम रखा गया हो, भग्न तक उस क्रम का निर्वाह करना ही 'समता' है ।

उदाहरति—

यथा—

भगवद्भक्तो वक्ति—

'हरिः पिता, हरिर्माता, हरिर्भ्राता, हरिः सुहृत् ।

हरिं सर्वत्र पर्यामि, हरेरन्यत्र भाति मे ॥'

भाति रोचते, मे मद्यम् । अन्यत् स्फुटमेव ।

जैसे—कोई भक्त कहता है—(मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही सखा हैं । मैं सब स्थानों में हरि को ही देखता हूँ, मुझे कहीं भी हरि से भिन्न वस्तुदृष्टिगोचर नहीं होती ।

उपपादयति—

अत्र 'विष्णुर्भ्राता' इत्यादिनिर्माणे प्रक्रमभङ्गात्मकं वैषम्यम् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, य शब्दानुगमार्हते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥'

इत्यभियुक्तोक्तौ शब्दस्यापि शाब्दिकनये शब्दबोधविषयत्वादिह हरिशब्दस्य विष्णु-शब्देन परिश्रुती, प्रक्रमान्तरविषयभावाद् वैषम्ये नानुदाहरणत्वं स्यादिति तात्पर्यम् ।

यहां यदि 'हरि भाई हैं' की जगह 'विष्णु भाई है' ऐसा कह दिया जाय तो प्रक्रम-भङ्गरूप विषमता हो जायगी, यद्यपि 'हरि' और 'विष्णु' शब्द के अर्थ में कोई भेद नहीं है, तथापि शब्द और अर्थ में एक ऐसा तादात्म्य है कि एक अर्थ भी दो शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होने पर दो जैसे लगने लगता है, अतः हरि शब्द से आरम्भ करने पर उसी शब्द से समाप्ति भी करनी चाहिये, तभी समता की रक्षा होगी अन्यथा विषमता दुर्वार है ।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

एकस्या एवोक्तेर्भङ्गचन्तरेण पुनःकथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।

एकस्यैवार्थस्य, भङ्गचन्तरेण भिन्नेन प्रकारेण, पुनरुपादानमुक्तिवैचित्र्यं सत्, तदेव माधुर्यमित्यर्थः । इहोक्तेरर्थस्येति विवरणन्तु 'एवोऽर्थ' इत्यभिप्रायप्रत्ययानुरोधेन विहितम् ।

अब 'माधुर्य गुण' (अर्थगत) का लक्षण करते हैं—एक ही अर्थ को भिन्न भिन्न भङ्गी (प्रकार) से पुनः पुनः कहना यह जो उक्ति की विचित्रता है, उसे 'माधुर्य-गुण' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

भक्तो भागीरथी भाषते—

‘विधत्तां निरशङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो,
मुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।
कृतं प्रायश्चित्तरत्नमथ तपोदानयजनैः,
सवित्री कामातां यदि जगति जागति भवती ॥’

भगवति गते ! कामानां स्वर्गादिविषयकसकलामिलापाणां, सवित्री पूरयित्री, भवती, यदि अहो ! जगति भूलोके, जागति सानधानां तिष्ठति, अथ तथा, विधिर्गद्गा, निरशङ्कं कर्तव्याभावाजिस्तन्देहं, निरवधिं निस्सीमं समाधिं विधत्ताम्, हरिर्बिष्णुः सुखं सनिर्दृतिं शेषेऽनन्तसौगन्ध्यासाय, शेतां स्वरितुः, हरः शिवः, अविरतं सततं नृत्यतु, प्रायश्चित्ते-पाप-नाराकानुष्ठानविरोधैः, कृतमत्तम्, अन्ययैव तत्साध्यसिद्धे, तपोदानयजनैस्तपसा दानेन यत्नं नालं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।

जैसे—कोई भक्त भगवती भागीरथी से कहता है—ब्रह्मा (कुछ भी कर्तव्य नहीं रहने के कारण) तन्वेष्ट रहित होकर, अनन्त समय तक समाधि में बने रहें, विष्णु भगवान् शेष-शाय्या पर सुखपूर्वक सोते रहें और शिवजी भी सदा ताण्डव-नृत्य में मग्न रहें करें, मुझे उन सबों से कुछ प्रयोजन नहीं । अब मेरे लिये प्रायश्चित्तों (पाप-नाशक अनुष्ठान विशेष) की भी कोई आवश्यकता नहीं और नप, दान तथा यज्ञ ये सब भी अब मेरी दृष्टि में व्यर्थ हैं, जब कि हे जगन्माता ! सब मनोरथों को पूर्ण करके वाली तू संसार में (मेरे लिये) सावधान होकर खड़ी है ।

उपपादयति—

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येषोऽर्थः, समाधिविधानादि-प्रेरणारूपेणोक्तिर्वैचित्र्येणाभिहितः, अन्यथाऽनवीकृतत्वापत्तेः ।

अत्रोदाहरणे भवत्या सत्या विधिहरिप्रशंसायां किंप्रयोजनमित्येतादृश एक एवार्थः समाधिविषय-सुखशयनविप्रवर्तनास्वरूपेण नवनवेन प्रकारेणोक्त इति भाव्यम् । अन्यथा कथनप्रकारनवनवत्वाभावे ‘सदा चरति कै भावु’, सदा बहति मावतः ।’ इत्यादिनिवात्राप्य-नवीकृतत्वबोधनत्वापात्तं स्वादित्यर्थः ।

यहाँ ‘ब्रह्मा-आदि से कुछ भी प्रयोजन नहीं है’ इसी एक अर्थ को ‘समाधि में बने रहें’ इत्यादि प्रेरणात्मक उक्ति-वैचित्र्य से कहा गया है, अन्यथा ‘अनवीकृतता’ नामक दोष आ जाता ।

पद्यतो सुकुमारतां लक्षयति—

अक्षाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं सुकुमारता ।

अक्षाण्डेऽनपरे शोकदायित्वं शोकजनकत्वं पारुष्यं कठोरता, तदभावश्च सुकुमारतेत्यर्थः । अब ‘सुकुमारता-गुण’ का लक्षण दिखलाते हैं—अपारुष्य (कठोरता के अभाव) को ‘सुकुमारता’ कहते हैं और कठोरता का अभाव कहते हैं—बिना खास अवसर के शोक न देने को ।

उदाहरति—

यथा—‘त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः ।’

प्रियाया विरहान् अतरन्नस्तं पान्थः पथिकोऽयं त्वरया शीघ्रं याति गृहं गच्छतीत्यर्थः ।

जैसे कि—यह पथिक प्रियतमा के वियोग से डरता हुआ शीघ्रता से जा रहा है। यह एक स्त्री की किसी दूसरी स्त्री के प्रति उक्ति है।

उपपादयति—

‘प्रियामरणकातरः’ इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य सत्त्वात् पाठ्यम्। इदञ्चारलीलतादोषव्याप्यम्।

त्वरयेत्यादुदाहरणे विरहशब्दस्य मरणशब्देन परिवर्तने च, विरहस्य तु खननकवेऽपि शोकजनकत्वाभावादपाठ्यम्, मरणस्य स्वालम्ब्यननाशरूपतया शोकजनकत्वेन पाठ्यमिति क्रमेणोदाहरणप्रत्युदाहरणत्वे स्फुटं। इदं पाठ्यं च मोक्ष-जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जनत्वेन त्रिविधस्याश्लीलतादोषस्य व्याप्यं तृतीयप्रकारतयाऽन्तर्गतमित्यर्थः।।

यहाँ यदि ‘प्रियतमा के मरण से डरता हुआ’ ऐसा कह दिया जाय, तो शोक-सूचक ‘मरण’ पद के आ जाने से पद्य में कठोरता आ जायगी। यह कठोरता अमङ्गल-व्यञ्जक ‘अश्लीलता’-नामक दोष के अन्तर्गत है।

पट्टीमर्थव्यक्तिं लक्षयति—

वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारण-क्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः।

वर्णनीयस्य वस्तुनो पदार्थस्य तदेकजातिमात्रवृत्तितयाऽसाधारणो इतरव्याप्यो, ये क्रियारूपे व्यापाराधयवसंस्थाने, तयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिरित्यर्थः।

अब ‘अर्थ व्यक्ति गुण’ का उल्लेख करते हैं—जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण (सास) कर्तव्य और रूप का वर्णन करना ‘अर्थ-व्यक्ति’ गुण कहलाता है।

उदाहरति—

यथा—

नायकः सखायं प्रवीति—

‘गुरुमध्ये कमलाक्षी, कमलाक्षेण प्रहर्तुक्षमं माम्।

रदयन्त्रितरसनाग्रं, तरलितनयनं निवारयाञ्चके।।’

गुरुणा श्वभूप्रभृतीना मध्ये स्थिता कमलाक्षी नलिननयना प्रिया, कमलाक्षेण पद्मवीजेन, प्रहर्तुक्षमं ताडयितुमिच्छुं, माम्, रदयन्त्रैर्यन्त्रित निपीडित रसनाया जिह्वाया अग्रं यत्र, तद्यथा स्यात् तथा, तरलिते चञ्चलीकृते नयने च यत्र, तद्यथा स्वासत्या मैवं कार्पीरिति निवारयाञ्चके निवारितवतीत्यर्थः।

इह कमलवर्दीर्घनयनरूपस्य रूपस्य, जिह्वाग्रदन्तनिपीडन-सोचनपञ्चलोकरूपरूपमोक्ष-वितावरणनिवारणसूचकक्रिययोश्च ललनाजनमात्रहृत्सीना वर्णनादर्शव्यक्तिः।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है—सास-जनक आदि गुरुजनों के बीच में बैठी हुई कमल से नेत्रों वाली (नायिका) ने कमल के बीजों से अपने उपर प्रहार करने के डिपे उद्यत मुझको दूर्तों से जीम के अग्रभाग को दबा कर तथा नेत्रों को पञ्चल बना कर (नचाकर) रोक दिया—सूचन कर दिया, कि ऐसा न कीजियेगा, अन्यथा बकी हूँगी होगी। यहाँ नायिका के कमलवत्-दीर्घ-नयनात्मकरूप और जीम के अग्रभाग को दबाने तथा नेत्रों के पञ्चल करने-रूप कृतव्यों का वर्णन किया गया है, अतः ‘अर्थव्यक्ति गुण’ का उल्लेख संचयित हुआ।

अर्थव्यक्तेः स्वभावोक्त्यलङ्काररूपताभावः—

अयमेवेदानीन्तनैः स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते।

अयमर्थव्यक्तिगुण एव, इदानीन्तनैराधुनिकैर्विद्वद्भिः, स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते व्यवहियते ‘स्वभावोक्तिस्तु हिम्मादेः स्वक्रिया-रूपवर्णनम्’ इत्यादिभिरित्यर्थः।

हृसी की आधुनिक विद्वज्जन 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहते हैं !

सप्तमीसुदारता लक्षयति—

‘चुम्बनं देहि मे माये ! कामचाण्डालतृप्तये’ इत्यादिग्राम्यार्थ-
परिहार उदारता ।

त्रिविधा हि शब्दा—नागरिका औपनागरिका ग्राम्याश्च । तत्रोत्तमप्रकृतौ वक्त्रि
भार्यादितृतीयशब्दार्थस्यानौचित्येन यद्ग्राम्यत्वं दोष, तदभावे उदारतेत्यर्थः ।

ग्राम्यभिन्न सर्वमेवोदारताया उदाहरणं सम्भवतीति गृह्यन् प्रतिपादितम् ।

अथ ‘उदारता गुण’ का लक्षण दिखलाते हैं—‘चुम्बन देहि मे माये’ । काम चाण्डाल-
तृप्तये’ अर्थात् ‘अरी मेहरिया ! तू काम-रूप चाण्डाल को तृप्त करने के लिये मुझे
अपना एक चुम्बन दे’ इत्यादि ग्राम्य (गमैया) बातों का परित्याग करना ही
‘उदारता’ कहलाता है । सत्यतः यह है कि शब्दों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, जिनमें
भार्या आदि शब्द तृतीय श्रेणी के कहे जाते हैं, अतः उत्तम श्रेष्टि के वक्ताओं को उनका
प्रयोग नहीं करना चाहिये । इस गुण का उदाहरण अलग करके इसलिये नहीं दिखलाया
गया कि उक्त तृतीय श्रेणी के शब्दों से अतिरिक्त सब शब्दों का प्रयोग होने पर उक्त गुण
का उदाहरण सम्भव है, जिसका समझना सरल है ।

अष्टमभोजो लक्षयति—

एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहुनां चैकेन, तथैकस्य
वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेष-
पणानां सामिप्रायत्वं चेति पञ्चविधभोजः ।

एकपद-प्रतिपाद्यस्यार्थस्यानेकैः पदै प्रतिपादनं प्रथमः प्रकारः, अनेकपदप्रतिपाद्य-
स्यार्थस्यैकेन प्रतिपादनं द्वितीय प्रकारः, एकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यानेकैर्वाक्यैः प्रतिपादनं
तृतीय प्रकारः, अनेकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन वाक्येन प्रतिपादनं, चतुर्थः प्रकारः, सार्य-
विरोपणकत्वं च पञ्चम प्रकार इति प्रकारपञ्चकान्यतमत्वभोज इत्यर्थः ।

अथ ‘भोजगुण’ (अर्थागत) का लक्षण देखिये—‘भोजगुण’ के पाँच भेद हैं—१. एक
पद से कहने योग्य अर्थ का अनेक पदों के द्वारा कथन । २. अनेक पदों से कहने योग्य
अर्थ का एक पद से कथन । ३. एक वाक्य से कहने योग्य अर्थ का अनेक वाक्यों के द्वारा
प्रतिपादन । ४. अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य अर्थ का एक वाक्य के द्वारा
प्रतिपादन । ५. विरोपणों का सम्प्रयोजन होना—निरर्थक नहीं होता ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘पदार्थे वाक्यरचना, वाक्यार्थे च पदाभिधा ।

प्रौढिव्यास-समासौ च, सामिप्रायत्वमस्य च ॥’ इति ।

विरुणोति—

पूर्वार्थप्रतिपाद्यं द्वयम्, व्यास-समासौ चेति चतुष्प्रकारा प्रौढिः, सामिप्रा-
यत्वं चेति पञ्चप्रकारभोज इत्यर्थः ।

पदार्थस्य वाक्येन, वाक्यार्थस्य पदेन प्रतिपादनम्, “एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्यैः प्रति-
पादनं व्यास”, अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समासश्चेति प्रकारचतुष्टयस्या प्रौढिः,
अस्य विशेषणसामिप्रायत्वं सार्यकत्वं चेति पञ्चप्रकारभोज इत्यर्थः ।

॥ वाक्यपदं योग्यतादिमतस्तद्रहितस्य च पदसमूहस्य बोधकं बोध्यम् । इतराऽनु-
पदं वक्ष्यमाणे 'सरसिजे'-त्याद्यादहरणे प्रथमचरणस्य वाक्यत्वं न स्यात् ।

ओज के लक्ष पाँच भेदों के विषय में प्राचीन आचार्यों की भी सम्मति है, उन्होंने लिखा है—एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का कथन तथा किसी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढ़ि—अर्थात् घर्जन करने की विचित्र निपुणता और विशेषणों का सप्रयोजन होना—इस प्रकार से ओज के पाँच भेद होते हैं ।

प्रौढेरतिरिक्तप्रकारस्वप्ननिवारणार्थमभिधत्ते—

प्रौढिः प्रतिपादनवैचित्र्यम् ।

उक्तिवैचित्र्यरूपा प्रथमप्रकारचतुष्टयबोधिका प्रौढिर्न प्रकारान्तरमित्याशयः ।

प्राचीनों की कारिका में 'प्रौढ़ि' से ओज का कोई सास छूटा भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रतिपादन की विचित्रता मात्र विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये ।

ओजसः प्रथमं प्रकारं पदार्थे वाक्यरचनारूपमुदाहरति—

यथा—

प्रभातं व र्णयति—

'सरःसजवनवन्धु-श्रीसमारम्भकाले,

रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति ।

परमपुरुषवक्त्रा-दुद्रतानां नराणां,

मधुमधुरगिरा च प्रादुरासीद् विनोदः ॥'

सरसिजनवन्धो सूर्यस्य, श्रिय कान्ते समारम्भस्य प्रारम्भस्य, काले प्रभातसमये, रजनिरमणराज्ये चन्द्रसुषमवैभवे, आशु, नाशं लोप प्रयाति सति, परमपुरुषस्येश्वरस्य वक्त्रांमुखादुद्रतानामुत्पन्नानां नराणां प्राङ्गणानां, मधुमधुरगिरा विनोदः क्षौद्रमधुरसौतमन्त्रो-
च्चारणकौतुकं प्रादुरासीदभवदित्यर्थः ।

जैसे कि—ओज के प्रथम भेद (पद के अर्थ में वाक्य-रचना) का उदाहरण—जिस समय कमल-कानन के बान्धव (अकारण हितैषी) भगवान् सूर्य की शोभा का प्रारम्भ हो रहा था—अर्थात् सूर्य उदित हो रहे थे और निशा-नाथ चन्द्र का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था—अर्थात् चन्द्र अस्त हो रहे थे, उस समय परम पुरुष (जगदीश ब्रह्मा) के मुख से उल्लस हुए मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मधु के समान मधुर वचनों (अर्थात् वेदों) का विनोद प्रकट हुआ । यह प्रभात का घर्जन है, जिसका सारास है कि प्रातःकाल में ब्राह्मणों ने वेद-पाठ करना प्रारम्भ किया ।

उपपादयति—

अत्रोपसीत्येकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरणः ।

अत्रोदाहरणे, उपसीत्येकपदेन प्रतिपादयस्य प्रभातस्य बोधनाय सरसिजेत्यादिराद्यचरणः समस्तैकपदरूप उपात्त इत्यर्थः ।

यहाँ 'प्रातःकाल में' इस एक पद के अर्थ में पूर्वार्थ के दो चरण (जो वाक्य रूप हैं) बनाये गये हैं ।

अप्रेऽप्येवमूहितमुपदिशति—

इत्याद्यप्रेऽपि बोध्यम् ।

अप्रेऽप्येवमुपपादनमूहनोयमित्यर्थः ।

और 'ब्राह्मणों' तथा 'वेदों' इन एक-एक पदों के अर्थ में आगे के छेद चरण की रचना की गई है, अतः यह 'पद के अर्थ में पद की रचना' का उदाहरण हुआ।

द्वितीयं प्रकारमुदाहरति—

'खण्डितानेककञ्जालि-मञ्जुरञ्जनपण्डिताः ।

मण्डिताखिलदिकप्रान्ता-अण्डांशोर्भाग्नि मानवः ॥'

खण्डिताया इतरत्तलनाल्यनीतरात्रिक-प्रातरपेत्तपतिप्रतिकूलावरणावगमोदितदु खमा-मिवाया- नेत्ररुजालेनयननलिनश्रेण्या, मञ्जुनि सुन्दरे, रञ्जने शोणिसम्पादने, पण्डिता निपुणा, मण्डिता प्रभया प्रकाशेन भूषिता अखिला दिकप्रान्ता आशान्ता यैस्तादृशा, चण्डाशोः सूर्यस्य, भागव- किरणा, यान्ति शोभन्ता इत्यर्थः ।

अथ 'वाक्य के अर्थ में पद की रचना का उदाहरण सुनिये—खण्डिता नायिकाओं के नेत्र-कमलों की पड़ियों को सुन्दरनवा रंगने में निपुण तथा दिग्भागों को भूषित करने वाली सूर्य की किरणें शोभित हो रही हैं।

उपपादयति—

अत्र 'यस्याः पराङ्मनोहात् पतिः प्राचर्गृहेऽञ्जति' इति वाक्यार्थे खण्डिता पदाभिधानम् ।

'यस्या' इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन खण्डितापदेन प्रतिपादनादत्रौजसो द्वितीय प्रकार इत्यर्थः ।

यहां 'जिसका पति दूसरी नायिका के घर से प्रातःकाल में अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान में केवल 'खण्डिता' पद का प्रयोग किया गया है।

तृतीयं प्रकारमुदाहरति—

'अयाचितः सुखं वत्ते, याचितश्च न यच्छति ।

सर्वस्वं यापि हरते, विधिरुच्छद्भुतो नृणाम् ॥'

उच्छृङ्खलः स्वातन्त्र्यादुन्मुक्तवन्धन, नृणा विधिर्देवम्, अयाचितोऽप्रापितः, सुखं, दत्ते वितरति, याचितश्च पुनः सुखं न यच्छति न ददाति, अपि तु सर्वस्वं पूर्वसंक्षितसकलधन-मपि हरते नारायतीत्यर्थः ।

अथ 'एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों का कथन' का उदाहरण देखिये—कोई बीन व्यक्ति अपने भाग्य को खोजता है। कहता है—उच्छृङ्खल वैश (भाग्य) बिना मांगे सुख देता है और मांगने पर नहीं देता, वरन् उसका सर्वस्व भी छट लेता है।

उपपादयति—

अत्र वैवाधीनं सर्वमित्येकस्मिन् वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यासपद-वाच्यो विस्तरः ।

एकवाक्यार्थस्य चतुर्भिर्वाक्यैरभिधानादिह व्यासरूप औजसस्तृतीय प्रकारः ।

यहां 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्य का कथन हुआ है, अतः यह विस्तार है, जिसको प्राचीन आचार्य 'व्यास' कहते हैं।

चतुर्थं प्रकारमुदाहरति—

'तपस्यतो मुनेर्बक्ताद् वेदार्थमधिगत्य सः ।

वासुदेवनिविष्टात्मा, विवेश परमं पदम् ॥'

तपस्यतस्वयं कुर्वतः, मुने, बक्त्रान्मुखात्, सः, वेदार्थम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, वासुदेवे भगवति परब्रह्मणि निविष्टः प्रविष्ट आत्मा मनो यस्य, सादृशः परमं पदं मुक्तिपदवीं

दिवेशेत्यर्थः । 'आत्मा क्लेशवरे, यत्ने, स्वभावे, परमात्मनि । चित्ते, प्रती च, बुद्धौ च परमा-
वर्तनेऽपि च ।' इति धरणिश्लोकादात्मपदमिह मनोवाचकमवसेयम् ।

'अथ 'अनेक वाक्यों के अर्थ में एक वाक्य की रचना' का उदाहरण देमिये—कोई
किसी भक्त के विषय में कहता है कि—उसने तपस्या करते हुए मुनि के मुम में वेद के अर्थ
को समझ कर वासुदेव भगवान् में मन को लगा कर मोक्ष को प्राप्त किया ।

उपपादयति—

अत्र 'मुनिस्तपस्यति' 'तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्' 'तदनन्तरं वासुदेवे
परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्' 'ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाक्यार्थकलापः शतृ-कत्वा-
बहुव्रीहिभिस्तिष्ठन्तेन चानुवाचविधेयभावेनैकवाक्यार्थीकृत ।

वाक्यार्थकलाप उल्लिखितवाक्यचतुष्टयार्थसमूहः । तपस्यत इत्यत्र शतृप्रत्ययः । अधि-
गत्येत्यत्र कत्वाप्रत्ययः । तृतीयचरणे बहुव्रीहिः । विवेशेति च तिष्ठन्तम् । अनुवाचमुद्देश्यम् ।
वाक्यचतुष्टयप्रतिपाद्यार्थानामुद्देश्यविधेयभावेन सम्बन्धितानामेकवाक्यप्रतिपाद्यतासम्पादनात्
समासः ओजसवत्तुर्थः प्रकरोऽत्र धोष्यः ।

यहाँ (१) मुनि तपस्या करते हैं । (२) उनके मुख से उसने वेद के अर्थ को समझा ।
(३) उसके बाद भगवान् में मन लगाया और (४) तदुत्तर मोक्ष को प्राप्त किया, इतने
वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यतः), कत्वा-प्रत्यय (अधिगत) और
बहुव्रीहि समास (वासुदेव निविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाच रूप से और तिष्ठन्त (क्रिया,
विशेष) के द्वारा विधेय रूप से लिख कर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है ।

विशेषणस्य सामिप्रायत्वं विवृणोति—

सामिप्रायत्वं च प्रकृतार्थोपपत्ता ।

प्रकृतस्य प्रस्तुतविशेष्यस्य पोषकत्वमुपस्वारकत्वं विशेषणस्य सामिप्रायत्वमित्यर्थः ।

विशेषण की सामिप्रायता से यहाँ यह तात्पर्य है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट
करना अर्थात् उसमें सहायता पहुँचाना ।

पञ्चम प्रकारमुदाहरति—

यथा—

भक्तो भगवन्तं प्रार्थयते—

'गणिकाऽजामिलमुख्यानपता भवता वताहमपि ।

सीदन् भवमरुगते, करुणामूर्ते न सर्वोपेक्ष्यः ॥'

हे करुणामूर्ते प्रत्यक्षकारुण्यरूप भगवन् । गणिका विदेहनगरस्था पिङ्गलाभिधा वेश्या,
अजामिलस्तज्जामा बान्धवकुञ्जदेशोद्भूतो दासीपतिद्विजराती मुख्यौ येषां, तान् पतितान्,
अवता नरकाद् रक्षता, भवता, भव संसार एव क्लेशकरत्वान्मरुगते निर्जलदेशा-टस्तत्र
सीदन् यातनामनुभवन्, वत हन्त । अहमपि सर्वथा नितरां न उपेक्ष्य उपेक्षणीय इत्यर्थः ।
पिङ्गलाऽजामिलयो कया श्रीमद्भागवते प्रसिद्धा ।

जैसे कि—हे करुणामूर्ते । गणिका (पिङ्गला नाम की एक वेश्या) और अजामिल
(एक, दासी-पति द्विज) आदि (पापिजनों में) मुख्य-जनों की रक्षा करने वाले आप
संसार रूप महत्पल (निर्जल) गह्वे में जो मैं सीदित हो रहा हूँ उसकी उपेक्षा नहीं
कीजियेगा । यह एक भक्त की भगवान् से प्रार्थना है ।

उपपादयति—

अत्रोपेक्षाऽभावे करुणामूर्तित्वं पोषकम् । पापिष्ठत्वात् करुणाया अभावे,
प्रकृतेऽस्याः सम्पादनाय गणिकेत्यादि, सीदन्निति च ।

यद्यन्योऽपि कारुणिको दयनीयं न कदाचिदुपेक्षते, तदा सप्तात्करुणामूर्तिः कथमुपे-
क्षितुमर्हतीति करुणामूर्तिर्त्वं भगवतो विशेषणमनुपेक्षायाम् सावकम्, पापातिशयाचरणान्
स्वस्तिन् करुणायाम् अनुत्पत्तिस्मरने पतितेष्वपि भगवतो दयालुतया बोधकत्वाद् गणिके-
त्यादिविशेषणं ऋणोत्पादने सावकम्, दुःखिनोऽनुपेक्षणवित्त्वान् सीदन्निति निजविशेषणं
स्वानुपेक्षायाम् सावकमिहास्तीति विशेषणसामिप्राप्तत्वम् ।

यहां 'उपेक्षा न कीजियेगा' इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये भगवान् में 'करुणामूर्ति'
विशेषण लगाया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जब साधारण कारुणिक भी किसी
हीन की उपेक्षा नहीं करता, तब आप करुणामूर्ति होकर मेरी उपेक्षा कैसे करेंगे—नहीं
कर सकते । पर यदि महान् पापी समझ कर करुणा न करें, तो यह भी आपके स्वभाव के
अनुकूल नहीं है, इसी बात को प्रमाणित करने के लिये गणिका आदि का उल्लेख दिया
गया है और अपना विशेषण 'सीदिन होता हुआ' लिखा है । इस तरह यहाँ एक भी पद
निश्चयोजन नहीं है, सब में कुछ न कुछ अमित्राव है ।

नवमीं कान्तिं लक्षयति—

दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

दीप्ति स्फुटप्रतीयमानतयोज्ज्वल्ये रसो यत्र, तत्त्वं कान्तिरित्यर्थः ।

अथ 'कान्ति गुण' का लक्षण देखिये—दीप्ति-रसत्वं को 'कान्ति' कहते हैं ।

दीप्तरसत्वं विश्रुतेति—

तच्च स्फुटप्रतीयमानरसत्वम् ।

रसप्रतीति स्फुटताऽनिलम्बितोत्पत्तिः । *

स्पष्टतया रस के प्रतीत होने को दीप्तरसत्व कहते हैं । दीप्ति उत्पन्न होना ही रस-प्रतीति
की स्पष्टतया यहाँ विवक्षित है, यह भी समझना चाहिये ।

उदाहरणार्थान्तरान्तरा परिहरति—

उदाहरणं च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च ।

प्राग् रसरूपस्थे 'शब्दित' इत्यादिना वर्णितम्, अग्रे वर्णयिष्यते चालक्षरप्रसङ्गेन
तदुदाहरणमितीदं नोपन्यस्तमित्याशयः ।

इसके उदाहरण रसप्रकरण में 'शब्दितशब्द' इत्यादि शब्दों के द्वारा दिखलाया जा
चुका है और आगे भी दिखलाया जायगा, अतः यहाँ नहीं दिखलाया गया ।

दशमं समाधिं लक्षयति—

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छाया चेति कवेरालोचनं समाधिः ।

अयं वर्ण्यमानोऽयं केनापि पूर्वं न वर्णित इत्यवर्णितपूर्वोऽयोनिरित्यन्यत्र प्रसिद्धः,
अथवा पूर्वं केनापि वर्णितस्वैवार्थस्य छाया (आदृश्य) यस्मिन्सादृशोऽन्यच्छायोनिरिति-
प्रसिद्धोऽस्तीति कवेः कविकृत् यदालोचनं विभावनं, तत् समाधिः । तत्रावर्णितपूर्वत्वाल्लोचनं
प्रथमं, पूर्ववर्णितच्छायत्वलोचनं द्वितीयं प्रसङ्गः समापेरिति मारम् ।

अथ 'समाधिगुण' का लक्षण पहिये—कवि अथ किसी वस्तु का वर्णन करने लगता है,
तब वह सोचता है कि इस वस्तु का वर्णन पहले किसी ने नहीं किया है ? अथवा किसी
के द्वारा पूर्व-वर्णित वस्तु का यह (मेरा वर्णनीय वस्तु) क्या मात्र है ? इस तरह की
कवि की आलोचना को 'समाधि गुण' कहते हैं । तात्पर्य यह निश्चित कि समाधि के दो
भेद हैं, एक 'यह अर्थ पूर्व वर्णित नहीं है' इस तरह का आलोचन और दूसरा 'यह पूर्व
वर्णित की छाया है' इस प्रकार का आलोचन ।

आलोचनस्य ज्ञानविशेषरूपतयाऽऽत्मगुणत्वेनार्थगुणत्वसम्पादनायाह—

ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थगुणता ।

ज्ञान समवायेनात्मनि विषयतया ■ सम्बन्धेन विषये ज्ञेयार्थे तिष्ठतीति ज्ञानविशेषरूपा-
लोचनस्यार्थगुणत्वमुपपद्यत इत्याशयः ।

अथ 'आलोचन ज्ञान-विशेष-रूप है, अतः वह आत्मा में रहेगा—अर्थ में नहीं, फिर वह अर्थ-गुण कैसे होगा ?' इस शङ्का का समाधान करते हैं—'ज्ञानस्य' इत्यादि । समाधान का आशय यह है कि ज्ञानात्मक आलोचन यद्यपि समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहेगा, तथापि विषयतासम्बन्ध से ज्ञान के विषय अर्थ में भी रहता ही है, अतः उसे अर्थगुण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती ।

तयोः प्रथमं प्रकारमुदाहरति—

आद्यो यथा—'तनयमैनाकनावेपण—' इत्यादौ ।

काव्यतृतीयप्रकारनिरूपणे प्रागेव व्याख्यातमिदं गद्यम् । इह मगवत्या भार्गीरध्या हिमाचलभुजायमानत्वं पूर्वं केनापि न वर्णितमिति 'सद्योमुद्रितमसतद्रूपविह्वलप्रस्पृधिरात्र-
कम्' इत्यादायि च कविना केवलं प्रतिभमैव कल्पितम् ।

अब समाधि गुण के प्रथम भेद का उदाहरण देते हैं—जैसे कि 'तनय मैनाक'...'' इत्यादि गद्य में । इस गद्य का पूर्व रूप काव्य के तृतीय भेद के उदाहरण के रूप में पहले दिखाया जा चुका है, इसकी व्याख्या भी वहाँ की जा चुकी है । इस गद्य में हिमालय की भुजा के रूप में गङ्गा की उल्लेख की गई है, जो सर्वथा नवीन कल्पना है, पहले किसी ने इस तरह की कल्पना नहीं की, अतः यह प्रथम भेद का उदाहरण हुआ ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणस्य बाहुल्य दर्शयन् क्रमनमतमुपसहरति—

द्वितीयस्तु प्रायशः सर्वत्रैव' इत्याहुः ।

प्रायशो बाहुल्येन 'कविरजुहरतिच्छायां' इत्युक्ते । केवलं सर्वत्रैवेत्युक्तौ ■ प्रथम-
प्रकारविशेषप्रसङ्गः । उदाहरणान्वेषणे तु नायिकामवननक्षितयो सादरस्य कविसमय-
प्रतिदत्तत्वे, निजनयनप्रतिविम्बैरभ्युनि बहुश प्रतारिता काऽपि । नीलोत्पलेऽपि निपृशति,
करमर्पयितुं कुमुदलाभी ।' इत्येव ज्ञेयम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'जरत्तरास्तु' इत्यनेनान्वयः ।

द्वितीय भेद अर्थात् अन्यच्छायाभ्योनि अर्थ का उदाहरण तो प्रायः सर्वत्र ही मिल सकता है अर्थात् अधिकतर वर्णन इसी तरह का होता है, जिससे पूर्व वर्णित की छाया रहती है । यह है अति प्राचीन आचार्य वामन आदि का सिद्धान्त ।

अथ परमतमखण्डितमभ्युपगतं भवतीति प्राचीनतरमतं निराकरोति—

अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुचैत्रिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावाल्लङ्घ-
नैश्च गतार्थयन्तः, यन्निश्चिद्वैचित्र्यमात्ररूपतया, कचिद् दोषतया च भन्यमाना
न तावतः स्वीकुर्वन्ति ।

अपरे वामनादिभ्यो नवीना मम्मटादयस्तु । त्रिभिर्माधुर्यैश्च प्रसादैः । वक्ष्यमाणा ये
दोषाभावा अलङ्काराश्चतैः । गतार्थयन्तो निष्प्रयोजनीकुर्वन्तः । तावतो दशरथन्दगुणान् दशार्थ-
गुणान् न स्वीकुर्वन्ति । इतरस्तुपदं स्फुटीमविन्यति ।

अथ गुण के विषय में वामन आदि ने नवीन मम्मट आदि आचार्यों के मत का उल्लेख करते हैं—'अपरे तु' इत्यादि । मम्मट आदि विद्वान् तो २० गुण नहीं मानते हैं, क्योंकि वे इन २० गुणों में से कुछ को पूर्वोक्त स्व सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों में गतार्थ कर देते हैं, कुछ को आगे वर्णित होने वाले दोषों के अभाव रूप मान लेते हैं और कुछ को अलङ्कारस्वरूप कह कर उड़ा देते हैं । इसी तरह कुछ को विचित्रता मान

लेते हैं तथा कुछ को गुण की जगह दोषरूप ही कह सकते हैं। इस प्रकार वे केवल ३ गुण मानते हैं, २० नहीं।

तत्र प्रथमं केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागान् परे श्रिता । अन्ये सञ्जन्ति दोषत्वं कुत्रचित् ततो दश ।' इति समाखेन शब्दगुणानां दशत्वसम्बन्धमुपपादयति—

तथाहि—रलेपोदारता-प्रसाद-समाधीनामोजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः ।

वामनोक्ता रलेपोदारताप्रसादमभावयो न शब्दगुणा मम्मद्येकौजोगुणव्यञ्जकवर्णरच-
नारूपत्वावित्याकृतम् ।

अर्थात् अथ २० गुण नहीं मानने की युक्तियाँ भी सुनिये। वे कहते हैं—पूर्वोक्त दश शब्द-गुणों में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन चार गुणों का ओजोगुण को अभिव्यक्त करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है।

तत्राष्टादश समादधाति—

न च रलेपोदारतयोः सर्वशो गाढबन्ध्वात्मनोरोजोव्यञ्जकघटनाऽन्तर्भा-
वोऽस्तु, प्रसादसमाध्योस्तु गाढशियिलात्मनोरशोनीजोव्यञ्जकान्तर्भावेऽप्यंशा-
न्तरेण कुत्रान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्याभिव्यञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके चेति
सुवचत्वात् ।

वामनोक्तयो रलेपोदारतयो सर्वस्मिन्नंशे गाढबन्धस्वरूपत्वावोरोज्यञ्जकरचनायामन्त-
र्भावस्य सम्भवेऽपि, प्रसादसमाध्यो निश्चिदर्शावच्छेदेन गाढबन्धस्वरूपत्वात्, किञ्चिदर्शा-
वच्छेदेन च शिथिलबन्धस्वरूपत्वाच्चौजोव्यञ्जकरचनाया गाढमाश्रयस्वरूपायामन्तर्भावस्या-
सम्भव इति न वाच्यम्, तयोः शिथिलबन्धाशब्द माधुर्यव्यञ्जकरचनाया प्रसादव्यञ्जकरच-
नाया वा तदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वादित्याशयः ।

यहाँ यदि आप शङ्का करें कि—श्लेष और उदारता सब अंशों में गाढ़ रचनारूप होते हैं, अतः उनका अन्तर्भाव ओज को अभिव्यक्त करने वाली रचना में भले ही हो जाय, परन्तु प्रसाद और समाधि तो गाढ़ और शिथिल दोनों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ़) अंश का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव होने पर भी दूसरे (शिथिल) अंश का अन्तर्भाव किसमें होगा ? तो इसके उत्तर में सुख से यह कहा जा सकता है कि माधुर्य अथवा प्रसाद की व्यञ्जक रचना में। अर्थात् शिथिल अंश भी कहीं माधुर्य गुणव्यञ्जक रचना में और कहीं प्रसाद गुणव्यञ्जक रचना में समाविष्ट हो जायगा, अतः ये चार अतिरिक्त गुण नहीं हो सकते।

माधुर्यगुणं निराकरोति—

माधुर्यं तु परेपामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यञ्जकमेव ।

मम्मदायुक्त-रमनिष्ठ-व्यञ्जयमाधुर्यगुणव्यञ्जकरचनेव वामनादिसम्मत माधुर्यं गुण इति तस्यापि गुणत्वं निरस्तमिति याव ।

शाचीनों का माधुर्य गुण तो हमारे (मम्मद के) माधुर्य को अभिव्यक्त करने वाली रचना ही है।

पर्यवसितमाह—

एवं च सर्वत्र व्यञ्जके व्यञ्जकशब्दप्रयोगो भाक्तः ।

एवमुच्यतेत्या, सर्वत्र शब्दप्रतिपादितवामनोक्तम्लेषादिगुणचतुष्टये, व्यञ्जके तत्तद्गुण-
व्यञ्जकरचनाविरोधे व्यञ्जकरलेपादिगुणवाचकस्य रलेपादिशब्दस्य प्रयोगो भाक्तो लाक्षणिके
ज्ञेय इति सारम् ।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मत में सब जगह व्यञ्जक (रचना) में व्यङ्ग्य (माधुर्य आदि) का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। अतः एव ओज गुण का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

समताया गुणत्वं निरस्यति—

समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रतिपाद्योद्भूतत्वानुद्भूतत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात्।

सर्वत्रेति समतान्वयि। उद्भूतत्वमुद्भूतत्वम्।

अतः क्वचिदेकस्मिन्नेव पद्ये, यत्राद्ये वाच्यमुद्भूतम्, तत्रोद्भूता रचनेष्टा, यत्राद्ये वाच्य-मनुद्भूतम्, तत्र कोमलैव रचनेष्टा, तस्मात् सर्वेषु पद्येषु सर्वाद्ये रचनाया एकविधत्वमनौ-चित्यादौष इति मार्गभेदरूपा समता न गुण इत्यभिप्रायः।

अथ समता की बात सुनिये—सब जगह तो वह (समता) अनुचित ही है, क्योंकि वस्तुस्थिति के उद्भूत होने से उद्भूत और उचित अनुद्भूत होने से अनुद्भूत रचना का एव ही श्लोक में होमा इष्ट है।

तदुदाहरण दर्शयति—

यथा—

मुक्तपितृभिमानात्मातद्दय कथितं परं विपथितं भूते—

‘निर्माणे यदि मामिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-

मृद्वीकामधुमाधुरी-मदपरीहरोद्घुराणा गिराम्।

काव्यं तर्हि सखे। सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,

नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्वहिर्मा कथाः॥’

हे सखे! यदि त्वम् अत्यन्तपाकेनातिशयितपक्वतया, द्रवन्त्या सरसीभवन्त्या, मृद्वी-काया शशाया, मधुनो मधुररसस्य, माधुर्यामिष्टताया, मतस्याभिमानस्य, परीहारे निरा-करणे, उद्घुराणामुद्युक्तानां शक्तानां वा, गिरा काव्यवाचा, निर्माणे रचने, मामिको मर्मज्ञ (कुशल) असि, तर्हि मादृशां मतस्यानामत्युत्कृष्टकाव्यरचनाकुशलानां, सम्मुखे पुर, स्वरचित काव्य, सुखेन, कथय, नोचेत् तदमामिको ययसि तदा, आत्मना कृतं दुष्कृत पातकमिव, तत् काव्यं, स्वान्ताग्मनसं, बहिर्मा कथा नितरां योपचेत्यर्थः।

जैसे—हे सखे! यदि तুম अत्यन्त एक ज्ञान के कारण चूते हुये दास के मधुर रस की मधुरता के मद की हृदा देने में समर्थ वचनों की रचना में कुशल हो, तब अपने काव्य को मेरे जैसे लोगों के सामने सुखपूर्वक कहो। परन्तु यदि ऐसा (मृद्वीका-मधुर-वाणी-निपुण) न होओ, तो जिस तरह अपने किये हुये पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, उसी तरह उस (अपने काव्य) को अपने हृदय से बाहर न करो-मन ही मन रख लो, ज्ञान पर मत आने दो।

उपपादयति—

अत्र पूर्वाधे तृतीयचरणे च लोकोत्तरनिर्माणप्रतिपादके यो मार्गो न स चतुर्थचरणे कदर्यकाव्यप्रतिपादक इति वैषम्यमेव गुणः।

मार्गो वर्णरचनारोति। कदर्यं कुत्सितम्। गुणत्वमुपकारकत्वम्।

‘निर्माणे’ इत्यादावेकस्मिन्नेव पद्ये तृतीयचरणान्तं यावद् वाच्यस्य लोकोत्तरनिर्माण-स्योद्भूतत्वाद्भूतता रचना, तृतीयचरणे तु वाच्यस्य कुत्सितकाव्यस्यानुद्भूतत्वाद्भूततैव रचनेति विपरीतवैपकारकत्वादगुणः। ‘वक्तु-वाच्य-प्रवचनानामौचित्येन क्वचित् क्वचित्। रचना-वृत्ति वर्णानां-मन्यवात्त्वमपीष्यते।’ इत्युक्ते—प्रत्युतसमतायामत्रकृतायां दोष एव स्यादित्याशयः।

यहाँ अलौकिक काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले यदि तीन चरणों में जिस मार्ग (चर्ण-रचना की रीति) का ग्रहण किया गया है, उसका कदर्प (वृत्तित-हीन) काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ चरण में ग्रहण नहीं किया गया अर्थात् प्रथम तीन चरणों का वाच्य अर्थ उद्भूत था, अतः वहाँ तदनुकूल उद्भूत वर्ण-विन्यास ही किया गया और चतुर्थ चरण का प्रतिपाद्य अर्थ अनुद्भूत था, अतः वहाँ का वर्ण-विन्यास अनुद्भूत-निमित्त-रखा गया, इस तरह यहाँ विषमता ही गुण (उपकारक) है और यदि समता-एक ही रीति-कर दी जाती, तो दोष ही कहलाता।

कान्तेः सुकुमारतायाश्च दोषाभावरूपत्वाद् गुणत्व निरस्यति—

ग्राम्यत्व-कष्टत्वयोस्त्यागान् कान्ति-सौकुमार्ययोर्गतार्थता।

ग्राम्यत्वदोषाभावरूपतया कान्ते, भुतिकदुस्त्वलक्षणकष्टत्वदोषाभावरूपतया च सुकुमारताया गतार्थता तदभावात्तर्भावाद् गुणत्वाभाव इत्यर्थः।

कष्टत्वमिह दुरभवत्वम्, न तु दुस्वृत्त्व सत्यार्थवृत्तित्वान्। ओजो व्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपकष्टत्वाभावरूपता, माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपसौकुमार्यस्यासम्भवाच्चिन्तनीयेति हेया-चिदाद्योपस्तु, परैरपहर्षवर्णघटित सौकुमार्य परुषवर्णघटितत्वं च कष्टत्वमभिधानैरुभयो-परस्परभावरूपता व्यवस्थापयद्भिर्निरस्तः।

अब रही कान्ति और सुकुमारता, ये भी ग्राम्यता और कष्टत्व नामक जो दोष हैं, उनके अभाव में अन्तर्भूत हैं—अर्थात् कान्ति ग्राम्यत्व-दोषाभाव-स्वरूप है और भुतिकदुस्त्व-रूप-कष्टत्व-दोषाभाव-स्वरूप सुकुमारता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ 'कष्टत्व' का मतलब 'दुस्वृत्ता' नहीं है, क्योंकि वह अर्थ में रहने वाला दोष है और यहाँ शब्द-गुण को दोष में गतार्थ करने का प्रसङ्ग चल रहा है, फिर शब्द-गुण अर्थ-दोष में कैसे गतार्थ किया जा सकता था। यहाँ नागेश ने लिखा है कि कष्टत्व दोष का लक्षण है 'ओजोव्यञ्जकवर्ण-घटितत्व' और सुकुमारत्व-गुण का लक्षण है 'माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्व' अतः ये (कष्टत्व और सुकुमारत्व) एक दूसरे का अभावरूप नहीं हो सकते, फिर सुकुमारता को कष्टत्व के अभाव में गतार्थ करने की मूलोक बात असंगत है। परन्तु विचार करने पर नागेश का कथन ही असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि मम्मट ने कष्टत्व का लक्षण 'परुषवर्णघटितत्व' किया है और प्राचीनों ने सुकुमारता का लक्षण 'अपहर्षवर्णघटितत्व' कहा है, अब देखिये—कि सुकुमारता, कष्टत्व के अभावरूप सिद्ध होता है या नहीं? कहना पड़ेगा कि अवश्य, फिर जो नागेश ने अपने मन से लक्षणों की कल्पना करके मूल की असंगति दिखलाई है, वह किसी तरह मूल ग्रन्थ का खण्डन करने का बुराग्रह मात्र है।

प्रसादेऽन्तर्भावादर्थव्यक्ति निराकरोति—

प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति।

प्रसादेन गुणेन रूपप्रतीतिनवनवत्त्वाया अर्थव्यक्तेश्च गतार्थतेति शेषः। इत्यं च वामदेन—
 'पदव्यासस्य गाढत्वं वदन्योनः कवीश्वरा'। शब्दत्वमोजसा निभं प्रसादं च प्रपद्यते ॥
 पत्रैकपदद्वयाव' पदाना भूयसामपि। अनालक्षितसन्धीनां स श्लेष परमो गुणः ॥
 प्रतिपादं प्रतिष्ठोकमेकमार्गपरिमह'। दुर्वन्धो दुर्निभश्च समतेति गुणो मतः ॥
 आतोहन्त्यवरोहन्ति व्रजेण यतयो हि यत्। समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूजा सरस्वती ॥
 वन्द्ये पृथक्पदत्वं च माधुर्यं कथितं बुधैः। वन्द्यस्यापरठलं च सौकुमार्यमुदाहृतम् ॥
 विकटत्वं च वन्द्यस्य कथयन्ति ह्युदारताम्। पथादवगतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुतः ॥
 यज्ञार्थव्यक्तिहेतुत्वात्, सोऽर्थव्यक्ति-स्मृतो गुणः। औजस्वत्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ॥
 इति प्रतिपादितानां दशानामपि शब्दगुणानामन्तर्भावादिभिर्निराकरणं समाप्तमिति सूचयतीति शब्दः।

अब केवल 'अर्थ-व्यक्ति गुण' अपशिष्ट रह जाता है, परन्तु प्रसाद गुण के मान लेने पर उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती अर्थात् प्रसाद गुण में ही वह भी गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार अति प्राचीन आचार्यों का अभिमत, गुणों की विंशति संख्या असंगत है, यह बात सिद्ध हो गई।

अथार्थगुणानामपि दशाना निरसनमारभते—

अर्थगुणेष्वपि—श्लेषः, ओजस आद्याश्रित्यारो भेदाश्च, वैचित्र्यमात्ररूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति ।

वामनोक्तस्य श्लेषस्यौजससमास्तान्तप्रकारचतुष्टयस्य च क्षोदिष्ठचमरकृतिजनकत्वेन हुर्यादिनिस्तृप्तिरूपवासम्भवाच्च गुणत्वमिति तात्पर्यम् ।

अब वामन आदि अति प्राचीन आचार्यों से स्वीकृत दश अर्थ-गुणों का दण्डन आरम्भ करते हैं—'अर्थ-गुणेष्वपि' इत्यादि। अर्थ-गुणों में भी श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो विचित्रता मात्र हैं, अतः उन्हें गुणों के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है।

वैचित्र्यमात्रस्य गुणत्वाङ्गीकारे दोषमाह—

अन्यथा प्रतिरलोकमर्थवैलक्षण्याद् गुणभेदापत्तेः ।

यदीदृशार्थवैचित्र्यस्यापि गुणत्वमभ्युपगम्येत, तर्हि सर्वेषु श्लोकेषु यतिकविदर्थवैचित्र्यस्य सत्त्वान् तत्रापि गुणत्वाभ्युपगमे गुणप्रकारवाहुल्यमापयेतैत्यभिसन्धिः ।

अन्यथा (विचित्रतामात्र को गुण मान लेने पर) प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ अर्थों की विचित्रता अवश्य रहती है, वे सब विलक्षणतायें गुण कहलाने लगेंगी, जिनकी गणना भी असम्भव हो जायगी ।

ओजःपञ्चमप्रकारसहितं वामनोक्तार्थगुणसप्तक दोषाभावरूपतादर्शनेन निरस्यति—

अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपारुप्यशरीर सौकुमार्यम्, अप्राग्व्यत्वरूपोदारता, वैषम्याभावलक्षणा समता, साभिप्रायत्वात्मकः पञ्चम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्ति, स्फुटरसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वा-नवीकृतत्वा-मङ्गलरूपारलील-प्राग्व्य-भग्नप्रक्रमा-पुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन, स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, रसध्वनि-रसवदलङ्कार-योश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि ।

यथासङ्गमन्वयः ।

अधिरूपदत्वरूपदोषाभावरूपत्वात् प्रसाद, अनवीकृतत्वदोषाभावरूपत्वान्माधुर्यम्, अपारुप्यशरीरालीलत्वदोषाभावरूपत्वान् सुकुमारता, प्राग्व्यत्वदोषाभावरूपत्वान्मादुदारता, भग्नप्रक्रमात्वदोषाभावरूपत्वात् समता, अपुष्टार्थत्वदोषाभावरूपतया साभिप्रायविशेषणत्वात्मक ओजसः पञ्चमप्रकार, स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतयाऽर्थव्यक्ति, रसप्राधान्ये रसध्वनिरूपतया रसप्राधान्ये रसवदलङ्काररूपतया कान्तिश्च नैव गुणत्वेन गणनामर्हतीति सारम् ।

दश अर्थगुण मानने वाले वामन आदि के मत के अनुसार पद का अधिक न होना प्रसाद है, उक्ति की विचित्रता माधुर्य है, कठोरता का न होना सुकुमारता है, प्राग्व्यता का न होना उदारता है और विषमता का न होना समता है, शब्द पदों का साभिप्राय होना ओज-गुण का पाचवा भेद है। ये सब क्रमशः अधिक पदत्व, अनवीकृतत्व, भग्नप्रक्रमा सूचक अशीलता, प्राग्व्यता, भग्न-प्रक्रमता और अपुष्टार्थता रूप दोषों के निकाल देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषों के अभावमात्र हैं, गुण नहीं। इसी तरह किसी वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन करना जो अर्थ-व्यक्ति गुण है वह स्वभावोक्ति अलङ्कार में गतार्थ

है और रस का स्पष्टता प्रतीयमान होना जो कान्ति गुण है, वह रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्यथा रसक अलङ्कार में गतार्थ है।

समाधिं निराकरोति—

समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारण, न तु गुणः ।

आलोचनात्ममज्ञानरूपत्वादात्मगुणो न तु रसवृत्तिः कविनिष्ठः समाधिस्तु न गुणः, किन्तु काव्यस्य कारणमित्यर्थः ।

अब बचा केवल समाधिगुण, वह भी गुण नहीं, अपि तु काव्य का कारण है, क्योंकि उसका स्वरूप आलोचनात्मक माना गया है और आलोचन एक प्रकार का ज्ञान है, अतः वह कवि की आत्मा में रहेगा, रस किंवा अर्थ में नहीं, फिर उसे अर्थ गुण कैसे कहा जा सकता ? यदि उसे विषयता सम्बन्ध से अर्थ में रहने के कारण अर्थ का गुण माना जाय, तब तो—

ननु काव्यकारणत्वेऽपि समाधेः कृतो न गुणत्वमित्यत आह—

प्रतिभाया अपि काव्यगुणस्यापत्तेः ।

यदि हि काव्यस्य कारणमपि गुण स्यात्, तर्हि शृणुष्व प्रतिभाऽपि काव्यस्य कारण-त्वाद् गुण स्यादित्यापत्तेः समाधिरपि न गुण इत्यभिसन्धिः ।

प्रतिभा भी काव्य का गुण हो जाय, क्योंकि आलोचन और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकारके ज्ञान हैं और कवि में रहते हैं तथा विषयता सम्बन्ध से अर्थ में भी रह सकते हैं, फिर यदि प्रतिभा को काव्य-कारण माना जाता है, तब आलोचन को ही गुण क्यों मानें ?

निगमयति—

अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः ।

अत उच्चाद्येति, अतो माधुर्योऽङ्गप्रसादा एव, न तु श्लेषादयोऽपि गुणाः सम्भवतीति मम्मटभट्टादय आहुरित्यर्थः ।

अतः अन्त में यही सिद्ध हुआ कि गुण तीन ही हैं, दश या बीस नहीं। यह है—मम्मट आदि विद्वानों की विचार-पद्धति ।

अप आधीनोपगुणानां कियता रचनास्त्वन्तर्भावकचनान्तराज्ञानस्यापेक्षाया ता- क्रमेण निरूपयन्नादौ माधुर्यव्यञ्जनरचना निरूपयति—

तत्र टवर्गायजितानां वर्गाणां प्रथम-तृतीयैः, शभि-रन्तस्यैश्च चरिता, नैक-द्येन प्रयुक्तेरनुस्वार-परसवर्णैः शुक्लानुनासिकैश्च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः सयोगार्थैरनुम्बिता, अष्टतिर्मृदुवृत्तिर्वा रचनाऽऽनुपूर्व्या-त्मिका माधुर्यस्य व्यञ्जिका ।

तत्र तामु रचनासु । नैकद्येन सामौघ्येन । परसवर्णैस्तदादेशनिष्पन्नवर्णैः । शुद्धैः केवलै-रनुनासिकैः । वृत्तिपदं प्रकरणात् समासमात्रपरम् । अस्तुपूर्वी अन्वयप्रत्ययविषयताऽवच्छे-दकं तद्वर्णोत्तरतद्वर्णत्वम् ।

आनुपूर्वीरूपा रचना यदि टवर्गातिरिक्तवर्गान्तुष्टवर्गवर्णैः प्रथम-तृतीयवर्णैः, शभि-रश-पत्ते, अन्तराद्यैरन्तस्यैश्च चरिता, अदूरप्रयुक्तानुस्वार-परसवर्णैश्च अनुनासिकयुक्ता, अनुपद-निषेत्स्वमानसंयोगादिरहिता, समासपूर्व्याऽल्पसमासा वा स्यात्, तर्हि सा माधुर्यस्य गुणस्य व्यञ्जिका भवतीत्यर्थः ।

अब तत्तद्गुण-व्यञ्जक-रचना-निरूपण के क्रम में सर्व प्रथम माधुर्य-गुण-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—तत्र' इत्यादि । आनुपूर्वी (क्रम बढ वर्ण-विन्यास) रूपा वह

रचना माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करती है, जो, टवर्ग से भिन्न वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्णों अर्थात् क-ग, ख-घ, त-द, प-ब, इन अक्षरों, तथा झ-झ-स एवं य-र-ल-व से युक्त, समीप समीप में प्रयुक्त किये गये अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनामिकों से शोभित, भागे वर्णित होने वाले, साधारणतया और विशेषरूपेण निषिद्ध सयोगादिकों से रहित और समास से गून्व अथवा छोटे-छोटे कतिपय समासों से युक्त हो ।

तद्वर्गचतुष्टयपटङ्ग-व्यवच्छिन्न-द्वितीयचतुर्थवर्णविषये विशेषमाह—

द्वितीय-चतुर्थास्तु वर्गा गुणस्यास्य नानुकूला, नापि प्रतिकूलाः, दूरतया सन्निवेशिताश्चेत् ।

वर्गों भवा पर्याय वर्णों ।

टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयस्यावशिष्ट द्वितीयाक्षतुर्थाय वर्गा अस्य माधुर्यगुणस्य, अनुकूला उपकारका न भवन्ति, यदि दूरतया विप्रकर्षेण सन्निवेशिता, तदा प्रतिकूला विरोधिनोऽपि न भवन्ति, किन्तुःसर्पिणा एषोऽवर्गः ।

टवर्ग से अतिरिक्त चार वर्गों के दूसरे और चौथे वर्ण अर्थात् ए-व, छ-त, ध-ध, फ-भ, यदि दूर-दूर में प्रयुक्त किये गये हों, तो वे न माधुर्य गुण के अनुकूल होते हैं, न प्रति वृद्ध, अर्थात् उदासीन रहते हैं—उनके रहने और न रहने से कुछ बनता, बिगड़ता नहीं ।

तत्रापि विशेषमभिप्रेत—

नैकट्येन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः ।

यदि तदायत्तस्तद्वर्गोऽनुप्रासो भवति, तर्हि नैकट्येन सामीप्येन सन्निवेशितास्ते द्वितीयादिवर्णा माधुर्यस्य प्रतिकूला अपि न तदासीना भवन्तीत्यर्थः ।

यदि समीप-समीप में लगता प्रयोग हुआ हो और उनसे अनुप्रास भी बन जाते हों, तब प्रतिपक्ष भी हो जाते हैं ।

अथैव परस्मै मतमाचष्टे—

अन्ये तु—वर्गस्थानां पञ्चानामप्यविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः ।

टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयानां पञ्चनामपि (न तु द्वितीयचतुर्थवर्गानां) वर्णानाम् अवशिष्टेन दूरतया नैकट्यनिवेशादिविचारराहित्येन वा, माधुर्यगुणव्यञ्जकतामन्ये वदन्तीत्यर्थः ।

वर्गाद्वितीयचतुर्थवर्गानां नैकट्येन प्रयुक्तानामेवोपगम्यञ्जकत्वस्यानुपपन्न वदन्त्यागत्या तत्र विचाररमणीयमिति बोध्यम् ।

टवर्ग से भिन्न वर्गों के पाँचो अक्षर समान रूप से माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है ।

माधुर्यगुणव्यञ्जकरचनामुदहरति—

उदाहरणम्—

भगवद्भक्त स्वान्तं वोऽयति—

‘ता तमालतरुभ्रान्तिलङ्घिनीं, किङ्करीकृतनयाम्बुदस्तिपम् ।

स्वान्तं । मे कलय शान्तये चिरं, नैचिकीनयनशुश्रूषितां श्रियम् ॥’

हे स्वान्त मानव ! तमालतरुस्तपिच्छहृमस्य, वान्ते श्यामश्रुते, लङ्घिनीमति-
शायिनी, किङ्करीकृता विजितत्वादासीकृता नयाम्बुदस्य नयनमेघस्य स्तिद्धतिर्यया
तादृशीम्, नैचिकीना धेनूनां नयनैशुश्रूषिता प्रेम्णा विलोकिता, श्रियं श्रीकृष्णशोभा, मे
मम शान्तयेऽन्तस्सुखाय, चिर चिन्ताय आवयेत्यर्थः ।

इह स्वान्तोत्पत्त्यामन्त्रितसञ्ज्ञोत्तरम्—‘अमन्त्रितमविवक्षितम्’ इत्यनेनान्विष्टमान-
वद्भावे पदात्परत्वाभावात्प्रमेत्यस्य न आदेशश्चिन्तनीयः ।

अथ माधुर्यं स्पष्टं रचना का उदाहरण देलिये—कोई अफ़्त आपने अन्तःकरण से
कहता है—हे मेरे मन ! तू, शान्ति के लिये चिरकाल तक उस श्री-शोभा की भावना
कर, जो तमाल तरु की कान्ति (श्यामरूपिणी) को लौंघ गई है—अर्थात् उससे भी अधिक
श्यामलता-मनोहर है, और जिसने नवीन अलङ्कार की धुति को दास बना लिया है—अर्थात्
उसको परान्वित कर दिया है—अपने सामने तुच्छ बना डाला है, एवं जो गाणों के मैत्रों से
चुम्बित (इकट्ठा देती गई) है। सारांश है कि नवाम्बुद-श्यामल भगवान् गोपाल की
शोभा का स्मरण सदा करता रह ।

पुनरुदाहरति—

यथा या—

‘स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-

रन्त’स्मितालसविलोकनयन्दनीया ।

आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन क्वऽपि,

रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणाया ॥’

पद्यमिदं सप्रसन्ननिर्देशं प्राग्विस्तमेवेतिह चेवलं उवर्गपरिहाराय परिवर्तितपदमात्रं
व्याख्यायते—अन्तःस्मितेनाभ्यन्तरस्थतयाऽव्यक्तासेन, अलसविलोकनेन पदधमादिप्रयुक्ता-
लस्ययुक्तनिरीक्षणेन, सहाऽन्तःस्मितं यत्र, तादरोनालसविलोकनेन, वन्दनीयेत्यर्थः ।

अथवा, जैसे—तिसड़ा कपोल-कलक सघन घर्म-जल-विन्दुओं से शोभित है और जो
आन्तर (अप्रकट) मन्द हास एवं अलसाई हुई चित्तवर्णों से प्रमत्ता करने योग्य है, उस
मन्दमय नयन वाली नायिका की स्मणीय और अनिर्वचनीय अवस्था, स्मरण करते ही मेरे
मन में आनन्द को पनपा देती है ।

पदाद्वयोदाहरणतामुपपादयति—

प्रथमे पद्येऽतिशयोक्त्यलङ्कृतस्य भगवद्धानौत्सुक्यस्य भगवद्विषयकर-
त्वेन ध्वन्यमानायाः शान्ता एव पर्यवसानात् तद्वत्तमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका । रचने-
यम् । द्वितीये तु स्मृत्युपपद्यशृङ्गाररसस्य ।

प्रथमे ‘गाम्’ इत्यादिपद्ये गौविन्दधियस्तमाउत्तरुवान्तिलङ्घन-नवाम्बुदस्विक्षासंकरण-
सम्बन्धकल्पनादतिशयोक्त्यलङ्कारोपस्कृतस्य भगवद्धानौत्सुक्यरूपमभिचारिभावस्य, विनि-
गमनविरहाद् भगवद्विषयकरतिभावनस्य वा म्यज्यमानस्य प्रपानव्याप्य-शान्तरसोपस्कारक-
तया शान्तरसदृशितामधुर्यगुणस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्ति । द्वितीये ‘स्वेदाम्बु-’ इत्यादिपद्ये
व्यज्यमानेन मदिरेक्षणादशास्मृतिलक्ष्यमिचारिभावेन पोषिते शृङ्गाररसे वर्तमानस्य नाड्य-
यस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्तीत्यर्थः ।

इह ‘रतेर्वा’ इत्यत्र ‘रतिमावयय वा’ इति गुणम् ।

यहा प्रथम श्लोक में गोपाल की शोभा का सम्यन्ध, तमाल-तरु कान्ति-लघन से और
नव-जल-कान्ति-दासीकरण से विललासा गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है,
जिससे वह भगवान् के ध्यान की उत्सुकता (ध्वनिचारीभाव) अथवा वह भगवान् के
विषय में प्रेम (स्वाधीभाव) अलङ्कृत होता है, जो व्यङ्ग्य है, परन्तु ये दोनों भाव यहां
अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, बरन चरम व्यङ्ग्य शान्त रस के पोषक हैं, अतः यहां की
रचना शान्तरस-गाता माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होती है । द्वितीय श्लोक में नायिका की
दशा के स्मरण (म्यभिचारीभाव) से पुष्ट हो कर अभिव्यक्त होने वाले शृङ्गार-रस के
माधुर्य को रचना ध्वनित करती है ।



श्रौजोव्यञ्जनरचना निरूपयति—

नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्ण-टवर्ग-जिह्वामूलीयो-पध्मानीय-विसर्ग-सकारबहुलैर्वर्णैर्घटितो मध्य-रेफान्यतरघटितसंयोगपरद्वयैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरालिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः ।

द्वितीयैश्चतुर्थैश्च टवर्गातिरिक्तवर्णचतुष्टयवर्णैः, टवर्गेण, जिह्वामूलीयेनोपध्मानीयेन, विसर्गेण, सकारेण च बहुलैर्भूयिष्ठैः, समीप्येन प्रयुक्तैर्वर्णैः, घटित, पध्मवर्णातिरिक्तवर्ण-यष्टकवर्णात्मकेन मध्यप्रत्याहारेण रेफेण वा घटितो य संयोग, य परो येभ्यस्तादृशैर्ह्रस्व-वर्णैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैर्युक्तः, दीर्घसमासरूपश्च गुम्फो रचनाविशेष ओजसो व्यञ्जक इत्यर्थः ।

अथ ओजो-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—‘नैकट्येन’ इत्यादि। यह गुम्फ (रचना-विशेष) ओजोगुण का व्यञ्जक होता है, जो समीप-समीप में प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्णों के द्वितीय और चतुर्थ अर्थात् स-च आदि वर्णों टवर्ग के पाँचो अक्षरों और जिनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग तथा सकार ये अक्षर अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्णों के आदि चार-चार अक्षररूप द्वय प्रत्याहार अथवा रेफ के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हों ऐसे समीप-समीप में प्रयुक्त ह्रस्व स्वरों से युक्त, पृथक् बड़े-बड़े समास बाँटा होता है।

विशेषमाचष्टे—

अस्मिन् पतिता प्रथम-तृतीयवर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूला-संयोगाघटकाश्चेत् । तद्वटकास्त्वनुकूला एव । एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि ।

अस्मिन् गुम्फे, पतिता गुम्फघटका, प्रथमे काया, तृतीया गाथाश्च ये वर्गा वर्ग-चतुष्टयघटका वर्णा, ते मापूर्यव्यञ्जकत्वात्स्यौजोगुणस्य, अनुकूला न भवन्ति, यदि संयोगस्याघटकास्तदा प्रतिकूला अपि न किन्तुदासीना भवन्ति । त एव पुनस्संयोग-घटका ओजसो व्यञ्जकत्वादुपकारका एव भवन्ति । इत्यमनुस्वार-परसवर्णा अपि संयोग-घटका उदासीना संयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः ।

इस ओजोगुण व्यञ्जक रचना-विशेष के मध्य में आगत वर्णों के प्रथम और तृतीय—अर्थात् क-ग आदि वर्ण यदि सयुक्त न हों, तब ओजोगुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, और यदि सयुक्त हों, तब तो अनुकूल ही हो जाते हैं। इसी तरह अनुस्वार और परसवर्ण को भी समझना चाहिये अर्थात् वे भी ओज के अनुकूल, प्रतिकूल कुछ नहीं होते।

उदाहरति—

यथा—‘अय पततु निर्दय दलितदम्प-’ इत्यादौ प्रागुदाहृते ।

न वोच्छलित-’ इत्यादिनाऽऽरम्भोऽस्य पद्यस्य । गुम्फोऽय मध्य-संयोगादिघटितत्वा-ओजसो व्यञ्जक, किन्तु टवर्गशून्य ।

जैसे—‘अय पततु निर्दयम् “ ”’ इत्यादि श्लोक में। इस पद्य का आरम्भ ‘नवोच्छलित-’ इत्यादि वाक्यों से है, और पहले रीढ़-रस आदि के उदाहरणों में लिखे जा चुके हैं। यद्यपि इस पद्य में टवर्ग के वर्ण नहीं आवे, तथापि मध्य प्रत्याहार तथा संयोग आदि से युक्त होने के कारण यह पद्य ओजोगुण व्यञ्जक रचना का उदाहरण होता है। (हन्दी में भूषण कवि की रचना प्रायः इसी गुण की अभिव्यक्ति है)

प्रसादव्यञ्जनरचना निरूपयति—

श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलवदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य ।

या घटना वर्णविशेषनियमरहिता श्रवणेनैव सद्यः करतलस्थितं वदरमिव सर्वांगैर्वाक्यार्थं निवेदयन्ती वाक्यार्थबोधिका भवति, सा प्रसादगुणस्य व्यञ्जिकास्तीत्यर्थः ।

अथ प्रसादगुण—व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं 'पुनमात्रा' इत्यादि । जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के चैर की तरह दीगने लगे—उसके समझने में कुछ भी आयास नहीं करना पड़े—वही रचना प्रसादगुण-व्यञ्जिका कहलाती है ।

अत्र विशेषमाह—

अयं च सर्वसाधारणो गुणः ।

अयमेतद्वदनाव्यञ्जको गुणः प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वोत्तरचनासु च साधारणः, केवल-मिह वाक्यार्थस्य झटितिप्रतीतिविषयत्वमपेक्षित इति भावः ।

यह (प्रसाद) गुण सब रसों में सब भावों में रहता है, इस गुण की अभिव्यक्ति भी सब प्रकार की रचनाओं से हो सकती है, यहाँ वे रचनायें झटिति अर्थबोधक हों ।

उदाहरणविषये प्रतीति—

उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पद्यानि । तथापि यथा—

यद्यपि मद्रचितानि सर्वाण्येव प्रायशो यावृत्त्येनात्र प्रसादव्यञ्जकरचनायामुदाहरणानि, सन्तीति विशिष्यनिर्देशस्यापेक्षा नास्ति तथापि दिग्दर्शनाय किञ्चिन्निर्दिश्यते ।

भावः मेरे (पण्डितराज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं, तथापि जैसे-मानिनी मुग्धा सहचरी परिबोधयति—

‘चिन्तामीलितमानसो मनसिजः, सख्यो विहिनप्रभा’,

प्राणेशः प्रणयाकुल, पुनरसावास्तां समस्ता कथा ।

एतत्त्वां विनिवेदयामि मग चेदुक्तिं हितं मन्यसे,

मुग्धे । मा कुरु मानमाननमिदं राकापविर्जेप्यति ॥’

हे मुग्धे ! त्वदस्थानमानदुरामहेण मनसिजः कम, का परिणतिरस्य स्यादिति चिन्तया मीलित सङ्कुचितं मानसं यस्य, तादृशोऽस्ति, सख्य सहचर्यथ विपरीतफलशङ्कया विहीन-प्रमानिस्तैजस्काः सन्ति, प्राणेश प्रियतमस्य प्रणयेनाकुल स्वापराधानाकलनादभ्यप्रवि-सौऽस्ति, (एतदाकल्प्य मनाद्विरम, अथवा) असी स्वजनदौस्म्यस्य समस्ता कथा पुन-रास्ता तिष्ठतु (न कथयामि, किन्तु) चेद् यदि, मम सदा हितानुरणपरायणया उक्तिं हिता स्वोपकारिणी मन्यसे, तर्हि, ‘अपुना पूर्णचन्द्रोदयसमये, भागं मा कुरु, अन्यथा, इदं निसर्गानिष्कलङ्कमपि रोषकलुषितमिदं तवाननं राकापति’ पूर्णचन्द्रो नातनाविधानेन सक-लद्वोऽपि सुयमाप्रकर्षणं जेष्यति’ इत्येतत् त्वां विनिवेदयामि कथयामीत्यर्थः ।

मुग्धा मानिनी नायिका को सखी समझा रही है कि मेरे दुराम्रह को देख कर ‘इसका क्या परिणाम होगा’ इस चिन्ता से कामदेव का मन सङ्कुचित हो रहा है, सखियाँ विपरीत फल की आशङ्का से कान्तिहीन हो गई हैं और प्राण-नाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे हैं—अब भी तो मान का त्याग कर, अच्छा, इन बातों को छोड़ भी दे, फिर भी यदि मेरे कथन को अच्छा मानती है—जैसा कि धरावर मानती आ रही है—तो तुझसे इतना निवेदन कर देती हूँ कि मुग्धे ! तू लम्बी मान कर, अन्यथा इस सुन्दर मुर को पूनो का चोंद जोत लेगा—कोप से मुर के कलुषित हो जाने के कारण कलङ्की चन्द्र की भी सुयमा बंद जायगी । ऐसी मुग्धता किम काम की ? जिसके चलते अपना हित भी समझ में न आ सके ।

उपपादयति—

अत्र सर्वाधिक्येदेन प्रसादाभिव्यञ्जकत्वम्, अशभेदेन तु माधुर्याजोऽभि-व्यञ्जकत्वमपि, मनसिजान्तस्य माकुर्वादेश्च माधुर्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्, सख्य-इत्यादेरौजोगमकत्वात् ।

अत्रास्मिन् पद्ये मनमिज इत्यन्ते 'मा कुरु' इत्यादौ चांशे माधुर्यव्यञ्जकतायाः, सख्य इत्यादावंशे औजोव्यञ्जकताया दर्शनार्थं शो माधुर्यौजोव्यञ्जकत्वेऽपि, सर्वैरंशैर्मदित्यर्थ-समर्पणात् सर्वांशे प्रसादाभिव्यञ्जकत्वमेवेति मारम् ।

यह सम्पूर्ण श्लोक प्रसन्न गुण को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी रचना ऐसी है, जिससे वाक्य के अर्थ को समझने में कोई कठिनाता नहीं होती। हाँ! इस श्लोक का कोई-कोई अंश ऐसा भी है, जो माधुर्य और ओज को भी अभिव्यक्त करता है, जैसे—'चिन्ता-भीलित-मानसो मनसिज' और 'मा कुरु मानमाननमिदम्' ये दोनों अंश माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं, तथा 'सख्यो विहीनप्रभा' इत्यादि भाग ओज को ध्वनित करता है।

अत्रौजोव्यञ्जकरचनाया अप्रसक्तिमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्यत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्याभिव्यक्तये तदनुकूलाऽस्तु नाम रचना, ओजस्तु कः प्रसन्नो यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्, नायिकामानो-पशान्तये कृतानेकयन्त्राथास्तदीयं हितमुपदिशन्त्याः सख्याः सक्रोधरस्य व्यञ्जनीयतया तथाविन्यासस्य साफल्यत् ।

शृङ्गार आश्रयो यस्येति विग्रहः । तदनुकूल माधुर्यव्यञ्जक । क प्रसन्नो वीरादिरसा-प्रतीति । तथा विन्यासस्य-औजोव्यञ्जकवर्णरचनाया । साफल्यत् सार्थकत्वात् ।

इह वीरादिरसाम्यञ्जनादौजोव्यञ्जकरचनाया निरर्थकत्वं न शङ्कनीयम्, व्यङ्ग्यसखीमोहो-पहितरौद्ररसप्रतीत्या तद्वृत्त्यौजोरचनाया सार्थकत्वस्य स्फुटं सत्त्वादिति मारम् ।

यदि यहाँ वह शङ्का की जाय कि यहाँ शृङ्गार-रस की प्रधानता है, अतः उस रसमें रहने वाले माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल रचना ठीक है, परन्तु ओज का तो यहाँ कोई प्रसन्न ही नहीं है, क्योंकि वह (ओज) वीर-रस का गुण है और यहाँ रस है शृङ्गार, फिर औजोगुण के अनुकूल रचना क्यों की गई? इसका समाधान यह है कि सखियों ने नायिका के मान को शान्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किये पर नायिका ने अपने हठ को नहीं छोड़ा, अथ भी उसके हित का ही उपदेश सखियाँ कर रही थीं, किन्तु नायिका उसका ग्रहण नहीं कर रही थी, इस स्थिति में सखियों का क्रोधयुक्त हो उठना स्वाभाविक है, उसी क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये ओजो गुण के अनुकूल वर्ण-विन्यास भी अत्र-विशेष में किया गया है और वह सफल है।

दत्तरपक्षं समर्पयति—

किं बहुना—रसस्थौजस्यिनोऽमर्षादिभावस्य चापि वक्ष्यामि, वक्षरि क्रुद्ध-तया प्रसिद्धे, वाच्ये वा क्रूरतरे, आख्यायिकादी प्रबन्धे वा परुषवर्णघटनेष्यते ।

यतो ह्यौजोव्यञ्जकरचनाया रौद्रादिरसामर्षादिभावव्यञ्जनस्थल एव नैव नियतत्वम्, अतो यत्र रौद्रादिरसस्य, अमर्षादिभावस्य च यत्र न विवक्षा, तथापि क्रोधित्वेन प्रत्याते वक्षरि, अतिकर्षे (शरणागते वा) वाच्ये, दीर्घसगातो विताड्यायिकादी प्रबन्धे च 'वर्ण-वाच्य-प्रवन्धनामौचित्येन कचिन् कचिन् । रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथास्वमपीष्यते ।' इति मम्मटोक्तैर्लक्ष्य-वाच्य-प्रवन्धानुरोधेनौजोव्यञ्जकरचना दृश्यते, तस्मादुत्तरपक्ष एव सम्यगित्याकृतम् ।

अधिक कहने सुमने की कोई आवश्यकता नहीं, जहाँ ओजस्वी रस (वीर आदि) और अमर्ष प्रवृत्तिभाव (जो ओज गुण के आश्रय के रूप में प्रसिद्ध है) नहीं भी वर्णनीय हो, वहाँ भी यदि वक्ता क्रोधी के रूप में प्रसिद्ध हो, अथवा वर्णनीय अर्थ क्रूरतामय हो, यहाँ लेखनीय निबन्ध आख्यायिका आदि हो, तो क्रूर वर्णों का विन्यास इष्ट है।

पूर्वोदाहरणे माधुर्यसाङ्ख्यादसङ्कीर्णमुदाहरणमाह—

यथा वा—

मक्तो भगवन्तं भाषते—

‘वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ ! शिञ्जा भदा—

स्तां स्वप्नेऽपि न सस्पृशाम्यहमहम्भावावृतो निक्षपः ॥

इत्यागशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत—

स्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते । मत्तो न मत्तः परः ॥’

हे नाथ ! यदुपते । निर्मलया स्फुटया निर्दोषया वा, सुधामधुरयाऽमृतमिष्टया, वाचा, मद्यमासौ, या कर्तव्यशिक्षा स्वमदा व्यवहार्या, अहम्भावोऽभिमानस्तेनावृत आच्छन्नः, निक्षप कर्तव्यव्यवहोचितलज्जान्धः, अह स्वप्नेऽपि का कथा जागरणस्य, ता शिक्षा, न सस्पृशामि नानुतिष्ठामि न स्मरामि वा, इत्यागशतशालिमैवंरूपकपराधरातविधायिनं मा, पुनरपि तथापि, स्वीयेष्वर्तनीयजनमध्ये, बिभ्रतो गगयतः पुण्यतो वा स्वत्तस्वत्तकाशात्, परोऽन्यो दयानिधि काहणिकतमो मत्तो मत्सवारात् परो मत्तः क्षीवोऽज्ञानोपहतान्तरात्मा वा नास्तीत्यर्थः ।

अवस्था, यदि माधुर्य और ओजोगुण से सङ्कीर्ण प्रसाद के उदाहरण में आपत्ति पड़ती है, तो, जाने दीजिये उसको अब शुद्ध प्रसाद गुण का ही उदाहरण लीजिये—हे नाथ ! आप ने अवृत तुषय मधुर और निर्मल वाणी के द्वारा, जो शिक्षा दी, उसे अहङ्कार से आच्छन्न तथा निर्लज्ज मैं सपने में भी नहीं छूता-स्मरण करता । हे यदुपते ! इस तरह सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर भी मुझको आश्रयीय जनों में गिनने वाले आपसे अधिक कोई दयालु मर्दों है, और मुझ से अधिक कोई मत्त (पागल) नहीं है ।

वपपादयति—

अत्र गुणान्तरासमानाधिकरणः प्रसादः ।

अत्र माधुर्यैगौजसा वा न प्रसादः सङ्कीर्ण, किन्तु स्वतन्त्र इत्यर्थः ।

पदान् अल्प गुणों से अभिश्रित अर्थात् केवल-प्रसाद गुण है ।

अयोक्तृत्वानु सामान्येन विरोधेन च भवणोद्देशकत्वाद्दर्जनीयानां निरूपणमवतारयति—

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनतमाया निमित्तेः परिचयाय, सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते—

वर्णानां स्थानन्तर्यं सकृदप्येकपदगतत्वे किञ्चिदभन्यम् ।

निर्मिते रचनाया ।

किञ्चिदित्यनेन कचित्स्य क्षम्यता सूच्यते ।

स्थानन्तर्यं स्वाव्यवहितोत्तरत्वं, वर्णानां, किञ्चिदीपत्, अध्वं भवणेऽप्रियत्वादनहं तदा भवति, यदि एक पदगतमेकस्मिन्नेव पदे सादृशद्वयं तिष्ठेदित्यर्थः ।

अब उक्त गुणों को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखने वाली रचना के परिचय कराने के लिये, साधारणतया-अर्थात् जिनको सब रसों में छोड़ना चाहिये और विशेषतया—अर्थात् जिनको किसी-किसी खास रस में ही छोड़ना चाहिये, सब में नहीं, व्याज्यों का कुछ निरूपण किया जाता है । एक बार भी यदि कोई वर्ण एक ही पद में लगातार दो बार प्रयुक्त हो, तो वह सुनने में कुछ महा सा लगता है, अब ऐसा नहीं करना चाहिये ।

उदाहरति—

यथा—‘ककुभसुरभिः, विततगान्, पल्लमिवाभाति’इत्यादौ ।

ककुभः कुटजः । पल्लं मांसम् । अत्र ककारद्वयस्य, तकारद्वयस्य, लकारद्वयस्य चैकपदगतस्य सकृदप्यव्यवधानं किञ्चिदभन्यत्वाद् वर्जनीयमिति भावः ।

जैसे—ककुभसुरभि (कुटज पुष्पके समान सुगन्धित), विततगात्र (विस्तृत अङ्ग वाला), और पटलमिवामाति (मान सा दीप्तता है), इत्यादि स्थलों में । तात्पर्य यह है कि यहां क्रमशः क-क, त-त और ल-ल ये अक्षर एक ही एक ही पद में लगातार दो-दो बार प्रयुक्त होने के कारण अश्रव्य हो गये हैं ।

विशेषमावष्टे—

असकृच्चैदधिकम् ।

एकपदघटनानां वर्णानामसकृदनेकवारं यदि स्वानन्तर्यं, तर्हि तदधिकं नितरामश्रव्यत्वाद्दर्शनमित्याशयः ।

यदि एक ही पद में अनेक बार एक ही अक्षर लगातार प्रयुक्त हों, तब तो और अधिक अश्रव्यता-दोष आ जाता है ।

उदाहरति—

यथा—‘वितततरस्तरुपे भाति मूमौ’ ।

अत्रैकपदघटकस्य तत्कारस्य द्विस्वानन्तर्यमधिकमश्रव्यम् । अतो न श्रम्यमित्याशयः ।

जैसे—‘वितततरस्तरुपे भाति मूमौ’ इत्यादि मूलोक्त व्याख्य में । यहाँ एक ही पद में लगातार तीन बार तकार का प्रयोग हुआ है ।

स्वानन्तर्यस्य पृथक्पदघटकत्वेऽप्यश्रव्यत्वमाह—

एवं भिन्नपदगतत्वेऽपि ।

एवमेकपदवत् ।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर के बार-बार आने से भी अश्रव्य प्रतीत होता है ।

उदाहरति—

यथा—‘शुक ! करोषि कथं विज्ञने रुचिम्’ इत्यादौ ।

अत्र पृथक्पदघटकयोः ककारयोः सकृदानन्तर्यमोपदश्रव्यमिति ज्ञेयम् ।

जैसे—‘शुक ! करोषि कथं विज्ञने रुचिम्’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में । यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में ककार का एक बार प्रयोग हुआ है ।

पृथक्पदघटकत्वेऽसकृत् स्वानन्तर्यस्यातिवर्ज्यत्वमभिधाति—

असकृद्विश्रपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम् ।

ततः पूर्वपक्षयाऽप्यधिकमश्रव्यम् ।

भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक ध्वन-पीड़ा-दायक होता है ।

उदाहरति—

यथा—‘पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकाशम्’ ।

ककुभोदिश । इह भिन्नपदघटकककारासकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम् ।

जैसे—‘पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकाशम्’ इत्यादि मूल के पदों में । यहाँ भिन्न-भिन्न पद में ककार का बार-बार प्रयोग हो गया है । वाक्य का अर्थ यह है कि ‘हे कोकिल ! तू, दिशाओं को यथेच्छ अपनी गूँस से भर दे’ ।

इत्थं स्वानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं प्रतिपाद्य, स्ववर्गानन्तर्यस्य तत् प्रतिपादयति—

एवं स्ववर्गानन्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

एवं स्वानन्तर्यवत् ।

हमी प्रकार त्रिप वर्ग आ अवर पूर्व में आ जुड़ा हो, उसके साथ-साथ उसी वर्ग के भिन्न अवर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार किया जाता है, तो वह भी कानों में कुछ राटकता है।

उदाहरति—

यथा—‘वितयस्ते मनोरथः ।’

वितयो निष्कलः ।

अत्र तकार-यकारयोरेकवर्गपदयोरेकपदगतयोरानन्तर्यं किञ्चिदभ्यस्यम् ।

जैसे—‘वितयस्ते मनोरथः’ (तुम्हारा मनोरथ विफल है) इस वाक्य में ‘त’ और ‘य’ का।

विरोपमाह—

असकृच्चेदधिकम् ।

अतस्तत् स्ववर्गान्तर्यं वर्णानां यदि स्यात्, तदा नितरा तदभ्यस्यमित्यर्थः ।

एक पद में एक वर्ग के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अभ्यस्य होता है।

उदाहरति—

यथा—‘वितयतरं वचनं तव प्रतीमः ।’

प्रतीमो जानीमः ।

इह तकार-यकार-तकाराणामेकपदास्थानामसकृदानन्तर्यमभिरुमभ्यस्यम् ।

जैसे—‘वितयतरम्’ इत्यादि मूल के वाक्य में। यहाँ त-य-त का प्रयोग। वाक्य का अर्थ यह है कि ‘तेरे वचन को हम अत्यन्त मिथ्या समझते हैं’।

भिन्नपदपठकवर्णानां सकृत् स्ववर्गान्तर्यस्य किञ्चिदभ्यस्यत्वमभिधत्ते—

एवं भिन्नपदगतत्वे ।

एवमेकपदपठकवचत् ।

इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एक-वर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अभ्यस्य होती है।

उदाहरति—

यथा—‘अथ तस्य वचः श्रुत्वा’ इत्यादी ।

अत्र भिन्नपदपठकयोस्वकार-तकारयोः सकृदानन्तर्यं किञ्चिदभ्यस्यत्वमभिधत्ते ।

जैसे—‘अथ तस्य’ इत्यादि मूलवाक्य में। यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एक वर्गीय ‘य’ और ‘त’ का प्रयोग।

भिन्नपदपठकस्ववर्गानां सकृदानन्तर्यस्य नितरामभ्यस्यत्वमाह—

असकृद् भिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम् ।

तत एकावृत्त्याऽपि ।

भिन्न पदों में भी बार-बार ऐसा होने पर और अधिक अभ्यस्य हो जाता है।

उदाहरति—

‘अथ तथा कुरु, येन सुखं लभे’ ।

इह भिन्नपदपठकानां यकार-वकार-यकाराणामसकृदानन्तर्यं नितरामभ्यस्यम् ।

जैसे—‘अथ तथा’ इत्यादि मूल की पंक्ति में। यहाँ ‘य-त-य’ का प्रयोग।

विरोपमाह—

एतच्च वर्गानां प्रथमद्वितीययो-स्तृतीयचतुर्थयोरान्तर्यम् ।

वर्णाणां प्रथमद्वितीययोः, तृतीयचतुर्थयोर्वा वर्णयोर्बन्तु सकृदसकृद्वाऽऽनन्तर्यं, तदेव नितरामश्रव्यमित्यर्थः ।

यह एक वर्ग के वर्णों का सह-प्रयोग [प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो, तभी अश्रव्य होता है ।

तदतिरिक्तानामोषदश्रव्यत्वमाचष्टे—

प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा नाश्रव्यम्, किन्त्वीपत्, निर्माणमामिकैकवैद्यम् ।

सकृदिति शेषः ।

तथा प्रथमद्वितीयानन्तर्यवदधिकम् । ईषत्त्वस्य विवरणं निर्माणोत्पादि ।

यथा प्रथमद्वितीययोः सकृदानन्तर्यमश्रव्यं, तथा प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं नाधिकमश्रव्यम्, किन्तु निर्माणे कायरचनाया ये मामिक (निपुणतया) तन्मात्र-वैद्यमत्यल्पमित्यर्थः । उदाहरणान्तु 'निगदति खग शुकोऽयम्' इत्यादि श्रेयम् ।

एक वर्गीय प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और तृतीय अक्षरों का सहप्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता—बहुत कम होता है, जिसको रचना-मर्मज्ञ जन ही समझ सकते हैं ।

असकृत्तदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

एतद्व्यसकृच्चत्, ततोऽधिकत्वात् साधारणैरपि वेद्यम् ।

एतत् प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोरानन्तर्यमपि, यद्यसकृत् स्यात्, तर्हि तत्राश्रव्यत्व-स्याधिक्यात् साधारणैर्निर्माणमामिकभिन्नैरपि ज्ञेयत्वं भवतीत्यर्थः ।

यह (प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय का सहप्रयोग) भी यदि बार-बार हो, तब उसे साधारण शिक्षित भी समझ सकते हैं ।

क्रमेणोदाहरति—

यथा—'खग ! फलानिधिरेष विजृम्भते ।' 'इति वदति दिवानिशा स धन्यः !'

इह पूर्वत्र खकार-गकार-ककाराणां वर्गद्वितीय-तृतीयप्रथमानामसकृदानन्तर्यात्, परत्र च दकार-तकार-दकाराणां वर्गतृतीय-प्रथम-तृतीयानामसकृदानन्तर्यादधिकाश्रव्यत्वम् ।

जैसे—'खग ! फल' 'इत्यादि और 'इति वदति दिवा' 'इत्यादि मूल लिखित वाक्यों में । यहाँ प्रथम वाक्य में ख-ग-क' रूप वर्ग के द्वितीय-तृतीय और प्रथम अक्षरों का अनेक बार सहप्रयोग है, एवं द्वितीय वाक्य में 'द-त-द' रूप वर्ग से तृतीय-प्रथम और फिर तृतीय का अनेक बार सहप्रयोग हुआ है ।

वर्गपञ्चमवर्णानन्तर्यविषये विशेषमाह—

पञ्चमानां मधुरत्वेन स्ववर्णानन्तर्यं न तथा ।

वर्गपञ्चकस्य ये पञ्चमा वकारादयो वर्णा, तेषां स्ववर्णैः सहानन्तर्यं मधुरत्वात् तथाऽश्रव्यं न भवतीत्यर्थः ।

पाँचों वर्गों के पञ्चम अर्थात् 'जमखणन' मधुर अक्षर हैं, अतः उनमें से किसी भी वर्ण का अपने-अपने वर्ग के किसी भी भिन्न अक्षर के साथ प्रयोग अश्रव्य नहीं होता ।

उदाहरति—

यथा—'तनुते तनुतां तनी ।'

अत्र नकारस्य तक्षरेण सहसकृदानन्तर्यं नैवाश्रव्यं मधुरत्वात् ।

जैसे—'तनुते तनुतां तनी' अर्थात् 'शरीर में दृशता का विस्तार करता है' इस वाक्य में नकार का तकार के साथ अनेक बार अव्यवधानेन प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं हुई ।

विरोधमभिदधाति—

स्थानन्तर्यं त्वश्रव्यमेव ।

वर्गपदमानामपि स्थानन्तर्यमश्रव्यमेव, न तु मधुरम्, स्ववर्गघटकस्वान्यानन्तर्यस्यैव मधुरत्वात् ।

‘जमङ्गल’ इन पदम वर्गों में भी किसी एक ही वर्ण का साथ ही साथ बार-बार प्रयोग तो अश्रव्य होता ही है ।

उदाहरति—

यथा—‘मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत् ।’

इह मकारस्य मकारेणैवासकृदानन्तर्यमश्रव्यम् ।

जैसे—‘मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत्’ यथात् ‘मेरे मन में बड़ी व्यथा उत्पन्न हुई’ इस वाक्य में मकार का प्रयोग ।

प्रागुक्तानामपवादमाह—

पदानि चाश्रव्यत्वानि गुरुव्यवायेनापोद्यन्ते ।

गुरुव्यवायेन गुरुवर्णव्यवधानेन । अपोद्यन्ते बाध्यन्ते ।

प्रागुक्तानामश्रव्यत्त्वानि कथितानि, तत्र सर्वत्र यदि गुरुवर्णों व्यवधानं भवेत्, सदाऽश्रव्यत्वदोषस्य बाधः स्यात् ।

पूर में जितनी अश्रव्यतायें कही गई हैं, वे सब तब दूर हो जाती हैं, जब दो अश्रव्य व्यञ्जनों के बीच में गुरु स्वर रख दिया जाता है ।

उदाहरति—

‘सञ्ज्ञायतां कथङ्कारं काके केफा-कलस्वमः ।’

इह गुरुभिराकारैकाराकारैर्व्यवधानात् ककारस्यासकृत् स्थानन्तर्यमपि नाश्रव्यम् । काकेति प्रथमान्तपाठे सम्बोधनम्, तवेत्यभ्याहारः । यत्तु टीकायां सप्तम्यन्तपाठस्यैव गुरुत्वमभिहितम्, तच्चिन्त्यम्, प्रथमान्तपाठे काकेति वर्णसमुदायाद्व्यास्यमकस्य लानात् षष्ठी-तत्पुरुषाङ्गोचारे तवेत्यभ्याहारानपेक्षणात् ।

जैसे—‘सञ्ज्ञायतां कथङ्कारं काके केफा-कलस्वमः’—अर्थात् ‘कौवे में मयूर-वाणी सा मधुर शब्द कैसे हो’ इस वाक्य में यद्यपि ककार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अश्रव्य नहीं लगता, क्योंकि बीच-बीच में आदर आदि गुरु स्वर आ गये हैं ।

दार्ढ्याय पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नामकं परामृशति—

‘यथा यथा तामरसायतेक्षणा, मया सरागं नितरां निषेचिता ।

तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो-विकृष्य मामेकरस चकार सा ॥’

सा रातशोऽनुभूता प्रसिद्धा वा, तामरसायतेक्षणा सरोजदीर्घनयना, मया, सरागं मप्रगथ नितरामत्यन्तं, यथायथा येन येन प्रकारेण, निषेचिता परिचरिता भावितोपभुक्ता वा, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण तत्त्वकथा गुरुकृतप्राज्ञणोपदेशभणितिरिव, माम्, सर्वतो सर्वेभ्यो विषयेभ्यः, विकृष्याकृष्य, एकरसं स्वयाजसंख्यावित्तं चकारेत्यर्थः ।

अत्र ‘पा-ता’ ‘या त’ ‘या त’ इत्यंशेषु यकारस्य स्ववर्गेण तत्कारेणानन्तर्यं दीर्घा-वागुपव्यवधानाच्चाश्रव्यम् । एवं ‘मा मे’ इत्यंशे स्थानन्तर्येऽपि दीर्घव्यवायादश्रव्य-त्वान्नो बोध्यः ।

अथवा जैसे—‘यथा यथा’ इत्यादि पद्य में। इसका अर्थ है—नायक अपने मित्र से कहता है अथवा स्वयं सोचता है कि—मैंने उस कमलनयनी नायिका का प्रेमपूर्वक ज्यों-ज्यों पूर्णतया सेवन किया, त्यों-त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (गुरुप्रदत्त ब्रह्मोपदेश) की तरह, सब ओर से खाँच कर, एक-रस कर दिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही केवल दीख पड़ता है, वैसे मुझे भी सब जगह वही नायिका दिखाई देने लगी है। यहाँ ‘धा-ता-’ ‘धा त’ ‘धा त’ इन अक्षों में थकार का स्ववर्गीय तकार के साथ अन्यवधानेन प्रयोग, दीर्घ आकार-स्वर के मध्य में रस देने से अश्रव्य नहीं हुआ।

तदाह—

इदन्तु दीर्घव्यवाये ।

दीर्घत्वाद् येषां गुरुत्वं, तद्व्यवधानस्येदमुदाहरणम् ।

गुरु स्वर दो प्रकार के होते हैं—दीर्घ और ह्रस्व, जिनके आगे में सयुक्त व्यञ्जन होता है। उनमें से पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घ होने के नाते गुरु स्वरों के मध्य में आ जाने के कारण अश्रव्यता निवृत्त हो गई—यह दिखाया गया है।

येषां पुनर्लन्यूनानामपि सयोगपरकत्वेनातिदेशिकं गुरुत्वं तद्व्यवधानमुदाहरति—

संयोगपरव्यवाये तु—

‘सदा जयानुपङ्गाणां भङ्गानां सङ्गरस्थलम् ।

रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डवैः ॥’

सदा सततं, जयेऽनुषङ्गं सम्बन्धो येषां, यद्वा जय एवानुपङ्ग आनुपङ्गिकफलं येषां, तथाभूतानाम्, अङ्गानां गङ्गादक्षिणतटस्थदेशविशेषाणां तद्वाङ्गिना वा, सङ्गरस्थलं युद्धस्थानम्, तत्तत्तुरगताण्डवैस्तेषां तेषां तुरगाणामश्वानां ताण्डवैर्मुहुर्मण्डलाकारसम्भारणरूपोद्धततृत्यं रङ्गाङ्गणमिव नृत्पशालाप्रस्थलमिव आभाति शोभत इत्यर्थः ।

अत्र चतुर्थचरणे ह्रस्वस्य संयोगपरकत्वप्रसङ्गगुरुत्वस्यावर्णस्य व्यवाये स्वानन्तर्यं तकारस्य नाश्रव्यम् ।

अब ह्रस्व होने पर भी जो स्वर आगे में सयुक्त व्यञ्जन के रहने से गुरु हो गये हैं, उनके मध्य में आ जाने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण देखिये—मद्रा जयानु इत्यादि। कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जय जिनका सर्वदा आनुपङ्गिक-स्वाभाविक फल रहा-अर्थात् जो सदा विजयको ही पाते रहे-कभी पराजित नहीं हुये, उन अङ्गदेश-वासियों का युद्ध-स्थल उन-उन (बिलक्षण) अक्षों के मूल्यों (गति-विशेषों) से नाटक-चर के प्राङ्गण सा भासित होता है। यहाँ चतुर्थ चरण में तकार का बार-बार लगातार प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं, क्योंकि सयुक्त व्यञ्जन के आगे में रहने से गुरु बना हुआ अकार बीच में आ गया है।

उक्तापवादे विशेषमभिधत्ते—

इदन्तु बोध्यम्—गुरुयोर्योर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयो-रानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमप्यदति, तेनात्र [यकारतकारानन्तर्यकृतदोषापवादोऽपि] तकारतकारानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमनपनोदितमेव ।

अप्यदति बाधते । अत्र ‘यथायथा’ इत्यादिष्वे । अनपनोदितमनिरस्त विद्यमानमेवेति यावत् ।

ययोर्योर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं व्यपोहति, नतु तदुत्तरस्याप्यपि, तस्माद्यथेत्यादिष्वे शुर्वाकारव्यवधितयोस्यायेति यातेति यकारतकारयोरानन्तर्यस्याश्रव्यत्वव्यापोहम्, नतु तथेति तथेति तकारयकारयोरपि, ततस्तदंशेऽश्रव्यताऽस्त्येवेत्याशयः ।

यहाँ एक बात और समझने योग्य यह है कि—जिन दो वर्णों के बीच में गुरु स्वर

आता है, उन दोनों वर्णों के सामीप्य (एक के बाद एक की स्थिति) से उत्पन्न अश्रव्यता को ही वह गुरु दूर करता है, अतः 'यथा-यथा तामरसा .. ' इत्यादि पूर्वोक्ति पद्य में 'धा-त' 'धा-त' इस अंश में जो यकार के अनन्तर तकार आया है, उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद यकार के आने से जो अश्रव्यता उत्पन्न होती है, वह वनी ही रही-उसकी निवृत्ति नहीं हुई, क्योंकि उसके मध्य में कोई गुरु स्वर नहीं, अपि तु ह्रस्व अकार है।

अभ्रव्यान्तर वदति—

एवं व्यादीनां संयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्यः।

एवमुक्त्यलङ्कार व्यादीनां त्रिप्रभृतीनां (त्रयाणां चतुर्णां वा) वर्णानां, संयोगोऽपि प्रायेण बहुधाऽश्रव्यो भवतीत्यर्थः । प्रायेणेति क्वचिन् व्यादिसंयोगस्याप्यश्रव्यत्वं सूचयति ।

इसी प्रकार तीन अथवा तीन से भी अधिक वर्णों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है। यहां प्राय-पद इस बात को सूचित करता है कि कहीं-कहीं तीन-चार वर्णों का संयोग भी अश्रव्य नहीं होता।

उदाहरणमुपसंहरति—

'राष्ट्रे तबोद्ध्वः परितश्चरन्ति' इत्येवमादयः श्रुतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनुभवानुसारेण बोध्याः।

श्रुतिकाटवं श्रुतिकटुत्वम्।

राष्ट्र इत्यत्र पकार-टकार-रेफाणां त्रयाणाम् उद्ध्व इत्यत्र च यकारराहितानां त्रया चतुर्णां संयोगः। अन्येऽपि श्रुतिकटुत्वप्रकारा एवमूहनीया इति सारम्।

जैसे—'राष्ट्रे तबोद्ध्वः परितश्चरन्ति'—अर्थात् 'तेरे राष्ट्र में उड़नियां चारों ओर चरती-फिरती हैं' इस वाक्य में एक जगह पकार-टकार-रेफों का और दूसरी जगह पकार-टकार-रेफ-यकारों का संयोग है। इसी प्रकार श्रुति-कटुता के अन्य अन्य भेदों को भी अनुभव के अनुसार समझ लेना चाहिये।

पुनरभ्रव्यान्तरमावधे—

अथ दीर्घानन्तरं संयोगस्य भिन्नपदगतस्य सकृदित्यश्रव्यम्, असकृत् तु सुतराम्।

पृथक् पदपङ्क्तयः संयोगस्य सकृदपि दीर्घादभ्यवहितोत्तरत्वमश्रव्यमभवति, असकृत् पुनः सुतरामश्रव्यं भवतीत्यर्थः।

पूर्व पद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य होता है और यदि अनेक बार हो, तब तो बहुत ही अधिक अश्रव्य होता है। यहाँ एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि-यह दोष संस्कृत में ही होता है, हिन्दी में नहीं, क्योंकि वहाँ भिन्न पद में संयोग के रहने पर भी पूर्व-पद के स्वर का गुरु जैसा उच्चारण करने की रीति प्रायः नहीं है।

उदाहरति—

'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।

सेवितं सर्वसम्पद्भि-रपि तद्भवनं वनम् ॥'

यत्र भवने, हरिणीप्रेक्षणा गृहिणिलोकना, गृहिणी न विलोक्यते, सर्वसम्पद्भिः सेवितमपि तद्भवनं वनमित्यर्थः। अत्र हरिणीपदपङ्क्तदीर्घोत्तरानन्तरं प्रेक्षणापदावयवस्य प्रेति-संयोगस्य सकृदित्यश्रव्यम्। समारादिदैकपदत्वेऽपि भिन्नपदत्वं श्रुत्यनुकृत्याऽन्येयम्। ईशान्वश्रव्यत्वं पण्डितराजस्यापि पद्येषु—'मन्त्रविद्या-प्रपञ्च' 'रम्या स्फुरति बहुविधा' 'आप्रयागान्' इत्यादिषु बहुश उल्लभ्यते। असकृद्दीर्घाव्यवहितोत्तरसंयोगोदाहरणं मृग्यम्।

जैसे—‘हरिणीप्रेक्षणा यत्र’ इत्यादि। अर्थात्—जहाँ मृगी स्त्री चपल और विशाल नयनों वाली मृहिणी (घर की मालिकिन) दृष्टि-गोचर नहीं होती, वह मृह सप्त सम्पत्तियों से भरा पूरा होने पर भी वन है—निर्जन वन के एकान्त वास जैसा ही वहाँ का वास मन-हूस होता है। यहाँ पूर्व-पद ‘हरिणी’ शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है।

अभिन्नपदकत्वे दीर्घानन्तर्य संयोगस्य नाश्रव्यमित्याह—

एकपदगतस्य तु तथा नाश्रव्यम् ।

किञ्चिदश्रव्यं तु भवत्येवेति तथा शब्देन सूच्यते ।

यदि दीर्घस्वर और उसके आगे का संयोग एक ही पद में हों, तब वैसी अश्रव्यता नहीं होती।

उदाहरति—

यथा—‘जाग्रता विचितः पन्थाः, शात्रवाणां युयोधमः ।’

यथा व्यर्थ उद्यमो यत्र, तदस्य शात्रवाणां शत्रूणां पन्थाः, यथा जाग्रता विचितोऽन्विष्ट इत्यर्थः । इह जाग्रतेत्येकपदषट्कत्वे दीर्घानन्तर्य प्रेतिसंयोगस्य तु तथा नाश्रव्यम् ।

जैसे—‘जाग्रता’ इत्यादि—अर्थात्—व्यर्थ उद्योग वाले क्षत्रुओं के मार्ग को मैंने सावधानतापूर्वक खोज निकाला। यहाँ ‘जाग्रता’ इस एक पद में ‘जा’ के आगे ‘यन्’ का संयोग उत्तमा अश्रव्य नहीं होता।

संयोगान्तरे विशेषमभिधत्ते—

परसवर्णकृतस्य तु संयोगस्य सर्वथा दीर्घाद् भिन्नपदगतत्वाभावात्तन्मधुर-त्वाज्ञानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यम् ।

परसवर्णनिष्पन्नो हि संयोगः पूर्वपदावयवत्वान् सर्वथा भिन्नपदषट्क एकपदाषट्को न, मधुरः सुश्रवश्च भवतीति तस्य दीर्घानन्तर्यं भेदप्यश्रव्यं भवतीत्यर्थः ।

पर-सवर्ण से बने हुए संयोग का दीर्घ स्वरके अनन्तर विद्यमान होना, नाम मात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह संयोग सर्वथा भिन्न पद-गत नहीं होता और मधुर भी होता है।

उदाहरति—

यथा—‘तान्तमालतरुनान्ति-’ इत्यादिपद्ये ।

पूर्वमुदाहृते ।

जैसे—‘तान्तमाल-तरु-नान्ति’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में।

इह ‘तान्ते’ति ‘नीङ्कि’मिति संयोगस्य दीर्घानन्तर्यं भिन्नपदगतत्वाभावात्तन्मधुर-त्वाज्ञानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यमित्याह—
अत्र ‘ता’मित्यत्र ‘नी’मित्यत्र च परसवर्णस्य पूर्वपदभक्ततया न संयोगो भिन्नपदगतः ।

असत्त्वमवयवत्वम् ।

उक्त श्लोक के ‘तान्त और नीङ्कि’ इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण जुड़ा है, वह पूर्व-पद का अवयव है, अतः यह संयोग भिन्न-पद में होने वाला नहीं कहा जा सकता।

ननु ‘ह्रस्वोऽनन्तरा संयोगः’ इति सूत्रभाष्ये प्रत्येक ह्रस्वर्णानां संयोगसंज्ञाया अपि व्यवस्थापना-सत्पद्ये ‘तान्ते’त्वादौ संयोगस्य भिन्नपदषट्कत्वमस्त्विति चेत्, उच्यते—
तथासति नकारस्य पूर्वपदावयवत्वमावात् तेन व्यवहितस्य संयोगस्य न दीर्घाव्यवहित-परत्वमिति न दोष इत्याह—

प्रत्येक संयोगसंज्ञेति यत्नेऽपि भिन्नपदगतः संयोगो न दीर्घाव्यवहितपरः ।

यदि आप कहें कि व्याकरण-भाष्य के कर्ता पतञ्जलि ने ‘प्रत्येक संयोगसंज्ञा’—अर्थात्

‘संयुक्त व्यञ्जनो मी प्रत्येक व्यञ्जन को पृथक्-पृथक् संयोग कहना चाहिये’ यह पक्ष भी माना है, तदनुसार तो उक्त स्थल में ‘न’ और ‘त’ आदि दोनों अलग-अलग संयोग कहे जायेंगे, फिर ‘त’ रूप संयोग भिन्न पदगत कहलायगा, इसका उत्तर यह है कि उक्त रीति से ‘त’ रूप संयोग भिन्न पदगत अवश्य हुआ, परन्तु वह दीर्घस्वर से अल्पवर्हित अग्रिम वर्ण ही नहीं हुआ, क्योंकि मध्य में ‘नकार’ व्यवहित है। सारांश यह निश्चय हुआ कि समुदाय को संयोगपदक मानिये, चाहे प्रत्येक को, वहां अभिव्यक्ता नहीं हो सकती।

नन्वेवमपि ‘नव-अभ्युद-’ इत्यत्र दीर्घादेशस्य पूर्वापरपदद्वयान्वयत्वे निर्णीते, परपदगतस्य ‘भ्यु’ इति संयोगस्य, पूर्वपदान्वयवदीर्घाभ्यादानन्तर्यं भिन्नपदपटकत्वं नास्त्ये-
वेत्यध्वन्यत्वं तुपरिहरमिति चेत्, न, भिन्नपदगतत्वमित्यस्यैकपदपटकत्वपरत्वात्,
प्रकृतेर्दीर्घादेशस्य पूर्वपदस्याप्यन्यवन्नेन संयोगघटितपरपदपटकत्वादेकपदापटकत्वस्या-
भावाच्च दोष इत्याह—

‘नवान्भुदे-’ इत्यत्र स्वेकादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाद्विभक्तपदगतत्वे सत्य-
व्यवहितोत्तरत्वं यद्यपि परसन्वर्णकृतसंयोगस्य भवति, तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्व-
मेकपदगतभिन्नत्वं विवक्षितमित्यदोषः ।

इसी श्लोक के ‘नवान्भुदे’ पद में ‘नव’ शब्द के अन्तिम स्वर ‘अ’ और ‘अभ्युदे’ शब्द के आदि स्वर ‘अ’ के स्थान में जो ‘आ’ दीर्घ हुआ है, वह व्याकरण के नियमानुसार एका-
देश है, अतः वह व्याकरण के ‘अन्तादिवच’ सूत्र के लक्ष से दोनों पदों का अवयव माना जाता है, इसलिये जब वह पूर्व पद का अवयव माना जायगा, तब ‘भ्यु’ में जो संयोग है, वह यद्यपि भिन्न-पद-गत है, दीर्घ से आगे है, तथा उसके बीच में कोई व्यवधान भी नहीं है, अतः एव यहाँ अभिव्यक्ता दोष हो सकता था। तथापि यहाँ ‘भिन्न-पद-गत’ संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं होता। सारांश यह है कि ‘नव’ और ‘अभ्युदे’ पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि समास हो जाने के कारण ‘नवान्भुदे’ रूप एक पद हो गया है, अतः अभिव्यक्ता का अवसर नहीं रहा।

इत्थं दीर्घादनन्तरस्य परसन्वर्णानिष्पन्नस्य भिन्नपदपटकस्य संयोगस्य सकृदपि प्रयोगेऽ-
भिव्यक्तं चेत्, तदा क्रियतामकृत्ययोग इत्यादिवाचि—

वसकृत्तु मुतराम् ।

अथव्यत्वमिति शेषः ।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार-बार आवे, तब और अधिक कर्णकट्ट हो जाता है।

उदाहरति—

यथा—‘एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला’ ।

इह ‘प्रति’ ‘प्रिति’ संयोगोर्भिन्नपदगतयोर्दीर्घाकारानन्तर्यात् दोषः ।

जैसे—‘एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला’—अर्थात्—‘यह मेरी प्रियसी छाना से व्याकुल होकर कहां गई’ इस वाक्य में। यहाँ उक्त प्रकार का संयोग बार-बार आया है—अर्थात् ‘प्र’ और ‘त्र’ इन दो स्थानों पर है।

नन्वेतेनाथव्यत्वेन काव्यस्य का सतिरित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

इदं चाप्रच्यत्यं काव्यस्य पङ्क्त्यमिव प्रतीयते ।

पङ्क्तं खप्रता ।

पङ्क्तं शरीरस्थेनाथव्यत्वेन काव्यस्यापठ्यकमित्येव सतिरित्याशयः ।

उक्त अधिव्यक्त्यै काव्यकी पङ्क्ता (छन्दोपायन) जैसी लगती है—अर्थात् इन अधिव्य-

ताओं के कारण काव्य की सरस धारा में रुकावट पैदा हो जाती है, अतः इनका परिहार करना नितान्त आवश्यक है।

अभ्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ स्वेच्छया सन्ध्यकरणं सकृदप्यभ्रव्यम् ।

स्वेच्छयेत्यनेन प्रकृतिभावव्यवच्छेदः । सन्धि सन्धिकार्यं यणादि ।

सूत्रापेक्षया सकृदपि यदि सन्धिकार्यं न कियेत, तदप्यभ्रव्य स्यादित्यर्थः ।

अथ सन्धि के नियमों के सम्बन्ध में सुनिये । अपनी इच्छा से (न कि व्याकरण के नियम से) एक बार भी सन्धि का नहीं करना अभ्रव्य होता है ।

उदाहरति—

यथा—‘रम्याणि इन्दुमुखि । ते किलकिञ्चितानि ।’

किलकिञ्चितं ‘स्मितशुष्करदित-इसित-प्रास-क्रोध-धसादीनाम् । साङ्ग्यं किलकिञ्चित-मभीष्टतमसङ्गमादिजाद्वयात् ।’ इत्युत्पलक्षणम् । अत्रेकारद्वयस्य सूत्रप्राप्तोऽपि सत्पूर्णादीर्घ उपेक्षित इत्यभ्रव्यता ।

जैसे—‘रम्याणि’ इत्यादि-अर्थात् ‘हे चन्द्रवदने ! सुन्दारे मे किलकिञ्चिन (अभीष्ट जन के संगम आदि हेतुओं से उत्पन्न हर्ष के कारण होने वाले ईषत्-हास्य, हाष्क-रीदन, क्रोध, भय और क्षम आदि भावों का मिश्रण) घड़े रमणीय है’ । यहाँ ‘रम्याणि’ पद का अन्तिम और ‘इन्दुमुखि’ पद का आदिम इकार का ऐच्छिक सन्धि-विरह अभ्रव्य है ।

प्रगृह्यसंज्ञया प्रकृतिभावे सकृत् सन्धिकार्याकरणे नाश्रयत्वम्, अशकृत्त्वभ्रम्यत्वमेवेत्याह—

प्रगृह्यताप्रयुक्तं त्वसकृदेव ।

सकृत् सन्ध्यकरणस्य दुष्टत्वे तु विधायकराजवेयर्थ्यं प्रसज्येत ।

प्रगृह्यसंज्ञा के कारण जो सन्धि नहीं की जाती वह बार-बार आवे, तभी अभ्रव्य होती है, केवल एक बार आवे से नहीं ।

उदाहरति—

‘अहो अमी इन्दुमुखीचिलासाः’ ।

अत्र द्विरादेशादीर्घरूपसन्धिकार्याकरणं प्रगृह्यसंज्ञाप्रकृतिभावप्रयुक्तमित्यभ्रव्यता ।

जैसे—‘अहो अमी’ इत्यादि-अर्थात् ‘चन्द्रमुखी माविका के मे विलास आश्रय-जनक हैं’ । यहाँ ओ + अ और ई + इ में ।

एव ‘लोप शाकश्यस्य’ इति सूत्रेण य-वयोर्लोपस्यासिद्धताप्रयुक्तमसकृद् विरलेपरूप सन्धिकार्यानिनुष्ठानमप्यभ्रव्यमित्युपदिशति—

एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम् ।

उदाहरति—

‘अपर इषव एते कामिनीनां दगन्ताः’ ।

अत्रासकृदलोपस्यासिद्धत्वाद्गुणवृद्धिरूपसन्धिकार्यानिनुष्ठानादभ्रव्यत्वम् । वस्तुतस्तत्र सन्धिविश्लेषतादोषः । ‘इषव’ इत्यत्र ‘इव त’ इति पाठान्तरम् ।

इसी तरह ‘य’ और ‘व’ के छोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह भी यदि बार-बार आवे तो कर्णकटु प्रतीत होती है, जैसे—‘अपर इषव’ ‘’ इत्यादि—अर्थात् ‘कामिनीयों के ये कटाव दूसरे बाण हैं’ यहाँ अ + इ और अ + ए में ।

स्वीयकाव्य एतदोपमासाङ्ग्य परिहरति—

कथं तर्हि—

चाटुकारो नृपमाचष्टे—

‘भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण ! ।

तारा इव, तुरगा इव, सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥’

इति भवदीयं काव्यमिति चेद्, अकृत्यैव यलोपं पाठान्न दोषः ।

हे श्रवणीरमण ! भूषते ! भक्तो मन्त्रिणोऽमात्या, गरुडदेवताका गारुडा मन्त्रा इव भुजगाना सर्पाणां निवारकत्वादहिता प्रकृतिः स्वभावो येषां तादृशाः, पक्षे भुजगाना विद्यानां निरोपकत्वादहिता प्रकृतियेषां, यदा—भुजगाहिता अधिष्ठिताः प्रकृतयः प्रजा, यैस्तादृशाः सन्ति । तथा तारा लठव इव, तुरगा अश्वा इव च, शोभने खे ममसि लीना, पक्षे सुष्ठु खलीनं कविदा येषां तादृशाः, मन्त्रपक्षे सुखे सौख्ये लीनानि मन्त्राः सन्तीति श्लोकार्थः ।

इह दोषमिव जानताऽपि भवता स्वकान्ये ‘मन्त्रा इव’ ‘तारा इव’ ‘तुरगा इव’ इत्यत्र त्रिव्यलोपप्रयुक्तो विरलेपः कथं कृत इति शङ्काया—यलोपस्य वैकल्पिकत्वेन मन्त्रा यिवेत्यादि यशस्पटितपाठे त्रिलेखविरहात् दोष इति समाधानम् ।

उक्त मसत्र पर यदि कोई पूछे कि—‘भुजगाहित’—‘इत्यादि काव्य, जिसका अर्थ है—हे राजन्, आपके मन्त्री गारुड मन्त्रों की तरह, ‘भुजगाहित-प्रकृति’ हैं—अर्थात् गारुड मन्त्रों के स्वभाव जैसे भुजगों-सर्पों के लिये अहित होते हैं, वैसे भुजगों-भूतों के लिये मन्त्रियों के स्वभाव अहित हैं, अथवा भुजगों-बाहुओं से गाहित-अधिष्ठित प्रकृति-प्रजाजन वाले हैं और आपके मन्त्री तारे तथा घोड़ों के जैसे सुखलीन हैं—अर्थात् तारे सु-सुन्दर स्-आकाश में लीन हैं, घोड़े सु-सुन्दर सलीन-छगम वाले हैं और मन्त्री सुख-आनन्द में लीन-मग्न हैं—कैसे बना डाला आप ने-यहा तो यलोप-प्रयुक्त सम्यक्का अभाव बार-बार हुआ है ? इसका उत्तर यह है कि यकार का लोप न करके पढ़ने से दोष नहीं होगा, अर्थात्—‘मन्त्रा यिव’ ‘तारा यिव’ ‘तुरगा यिव’ इसी प्रकार पढ़ना चाहिये ।

अभव्यान्तराणि सङ्गृह्य वक्ति—

एवं रोहस्यस्य, इति लोपस्य, यण्-गुणवृद्धि-सवर्णदीर्घ-पूर्वरूपादीनां नैकट्येन चाटुल्यमश्रव्यताहेतुः ।

इत्थं ‘वीरो वरो नरो याति’ इत्यादौ रोहस्यस्य, ‘इमा निरा गता व्यर्थम्’ इत्यादौ इति यलोपस्य, ‘सर्वर्यप्रिदमवेद्य’ इत्यादौ यण्, ‘रमेशोमेरालोकेरा’ इत्यादौ गुणस्य, ‘प्रौढ-सूर्याशतोऽज्ञा’ इत्यादौ वृद्धि, ‘अयात्रीन्द्रविभूद्य’ इत्यादौ सवर्णदीर्घस्य, परत्र पूर्वरूप-पररूपप्रभृतीनां निकटतया प्रयोगप्राचुर्यमश्रव्यताया कारणमित्यर्थः । एतान्येव सुप्तादित-विसर्गतादिदोषरूपेणान्यत्र निरूपितानि ।

इसी प्रकार ‘र’ के ‘उ’, हल्पर रहते ‘य’ के लोप, यण्, गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्वरूपादिकों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग भी अभव्यता का कारण होता है ।

उपसंहृति—

एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः ।

इत्यमिमे प्रागुक्ता सर्वेऽपि वर्णत्वानन्तर्यप्रभृतयोऽश्रव्यत्वदोषप्रकारा काव्यसामान्ये, न तु श्रुतिकटुत्वादिवत् काव्यविशेष एव, वर्जनीया नित्यदोषत्वात् परिहरणीया इत्यर्थः ।

इदमिहावगन्तव्यम्—श्रुतिकटुत्व कठोरवर्णपठितत्वेन श्रवणोद्देजकत्व मधुररसप्रतिकूल-भोजनविरसाकुलमित्यनित्यदोष काव्यविशेष एव परिहारमर्हति । अश्रव्यत्वं स्वनेकविधं कोमलवर्णपठितत्वेनापि, वर्णत्वानन्तर्यादिमूलकं धवणानर्हत्वरूपं सर्वरसप्रतिकूलतया निरव-दोषता विभ्रन् काव्यसामान्ये परिहरणीयमित्युक्तव्यं जातम् ।

ये ऊपर बड़े गये अश्रव्यों के समी भेद समी काव्यों में वर्जनीय हैं, चाहे किसी रस का वर्णन हो, इन अश्रव्यताओं का परिहार करना ही समुचित है। यहाँ यह विशेष समझना चाहिये कि 'श्रुतिकटुत्व' और यह 'अश्रव्यत्व' दो दोष हैं, एक नहीं, क्योंकि 'श्रुतिकटुत्व' का अर्थ है 'कटोर-वर्ण-युक्त रचना का ध्यान में उद्देश्य पैदा करना' जो मधुर-रसों का प्रति कूल और भोजस्वी रसों का अनुकूल है, अतः अनित्य दोष है और काव्य-विशेष (मधुर-रस वाले काव्य) में ही त्याज्य है। परन्तु पूर्वोक्त अनेकविध अश्रव्यत्व का सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनन्तर उन-उन वर्णों के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने योग्य न होना, चाहे वह कोमल वर्णों से ही क्यों न बनी हो' यह दोष सब रसों का प्रतिकूल ही है, अतएव निरव्य है और सभी प्रकार के काव्यों में त्याज्य है।

अथ रसविशेषानुसारं काव्यविशेषे वर्जनीयान् दोषान् वक्तुमुपक्रमते—

अथ विशेषतो वर्जनीयाः। तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते, त एतौ जस्विष्यन्तुकूलाः, ये चानुकूलतयोक्ताः, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः।

तत्र तेषां मध्ये। मधुररसेषु मारुर्यगुणाश्रयेषु शृङ्गार-कहण-शान्तरसैषु। अनुपदं 'दीर्घसमास'मित्यादिना वक्ष्यन्ते। श्रोत्रस्विष्वोजोगुणाश्रयेषु वीर-वीर्य-रौद्ररसेषु। अनुकूला उपकारकत्वाद्वर्जनीया। अनुकूलतयोक्ता मधुररसेष्विति शेषः, टवर्गवर्जितेत्यादिना पूर्वं कथिता। प्रतिकूला विरोधिन श्रोत्रस्विरसेष्विति शेषः।

मधुरसापकारका श्रोत्रस्विरसोपकारका, श्रोत्रस्विरसापकारका मधुररसोपकारका भवन्तीति साधारणतया निर्णयोऽस्तीत्यर्थः।

अथ विशेषतया वर्जनीयो (अर्थात् जो रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में ही त्याज्य हैं, सब काव्यों में नहीं) का निरूपण किया जाता है। उनमें से जो दोष मधुर-रसों में विशेष रूप से निषिद्ध हैं और जिनका प्रतिपाद्य अभी किया जायगा, वे भोजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं—अर्थात् वहाँ उनका रहना उचित ही नहीं आवश्यक भी है और जो दोष मधुर-रसों के अनुकूल कहे गये हैं, वे भोजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उन दोषों से उन रसों को बचना चाहिये। यह एक साधारण नियम है।

मधुररसेषु प्रतिकूलतया वर्जनीयान् गणयन्नादावसकृद्व्ययोग एव दूषकान् ध्रुवीति—

मधुररसेषु दीर्घसमासं मय्यघटितसयोगपरह्रस्वस्य, विसर्जनीयादेशसकार-जिह्वामूलीयो-पश्माणीयानां टवर्ग-मया, रेफ-हकारान्यतरघटितसयोगस्य, हला-ज-म-न-मिन्नानां स्पात्मना मंयोगस्य, मय्यदृष्टघटितसयोगस्य चासकृत् प्रयोगं नैकव्येन वर्जयेत्।

मधुरेषु, न त्रौजस्विषु रसेषु व्यङ्ग्येषु दीर्घसमासं मयादिशब्दप्रतिपाद्यानां नैकव्येनासकृत्प्रयोगं च वर्जयेदित्यन्वयः। पञ्चमवर्णातिरिक्ता वर्गपञ्चमघटकां विंशतिवर्णां मय्यसञ्ज्ञका, तद्व्यघटित सयोग परो यस्मात् तादृशस्य ह्रस्वस्य, विसर्जनीयो विसर्गस्तत्स्वानिकदेशभूत-सकारस्य, अचरपरस्य काक्षम्या पूर्वस्यार्धविसर्गानारस्यविसर्जनीयादेशस्य जिह्वामूलीयस्य, अचरपरस्य पफाम्या पूर्वस्यार्धविसर्गावरस्योगष्मानायस्य च विसर्जनीयादेशस्य टवर्गस्य, मय्य (असयुक्तस्य), रेफहकारावरान्यनरेण घटितस्य संयोगस्य, लकार-मकार-नकारातिरिक्तानां हला व्यञ्जनवर्णानां स्पात्मना घटितस्य मंयोगस्य च नैकव्येनासकृत् प्रयोगं दीर्घसमासं च वर्जयेदित्यर्थः।

अथ मधुर-रसों के प्रतिकूल वस्तुओं को गिनाते हैं—'मधुर' इत्यादि। लभ्ये समाम, तिनके आगे मय्य प्रत्याहार के वर्णों अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के मयोग हो—येमे ह्रस्वस्वर, त्रिमर्ग, विमर्ग के स्थान में आदेश-द्वारा आये

हुये सकार, जिह्वामूलीय, उपध्मावीप, टवर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षर, रेफ अथवा हकार-द्वारा बने हुये संयोग, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के उन्हीं के साथ संयोग—अर्थात् उनके द्वित्व और वर्णों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यन्त के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन सबों के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगों को मधुर-रसों में छोड़ना चाहिये ।

अथ सकृदसकृच्च प्रयोगो ययौर्वर्जनीयौ, तावाह—

सर्वणमयद्वयघटितसंयोगस्य, शर्भिन्नमहाप्राणघटितसंयोगस्य सकृदपीति संक्षेपः ।

रावणं प्राप्तसर्वणमञ्जाकं यज्जम्बूप्रत्याहारघटकं वर्णद्वयं तेन घटितस्य संयोगस्य तथा शर्भिणैः शयनातिरिक्तमहाप्राणप्रयत्नवद्विर्गपञ्चकषटकद्वितीयचतुर्वर्णघटितस्य संयोगस्य नैकत्वेन, सकृदपि किमुतासकृत्, प्रयोग मधुररसेषु वर्जयेदित्यर्थः ।

सर्वण—अर्थात् जिनके स्थान पर प्रपञ्च एक से हो—ऐसे वर्णों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों से बने हुये संयोग और श-य-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के द्वारा बने हुये संयोग का एक बार भी प्रयोग मधुर-रसों में नहीं करना चाहिये । यह लक्षेयता मधुर-रसों में वर्जनीयों का विवरण दिया गया है ।

अथ वर्जनीयालुदाहरणद्वयशृङ्गेण प्रथमं दीर्घसमासमुदाहरति—

भीर्षत्समासो यथा—

अभिमारिका वर्णयति—

‘लोलालकावलि-यलभयनारविन्द्-

लीलाधराव्वदितलोकविलोचनायाः ।

सायाहनि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-

श्रेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ॥’

लोलया गतिवशाच्चपलाया अलकावलेक्षणकुन्तलप्रेष्या, यलतोरसद्वया चक्षलीभयतो-र्नयनारविन्दयोश्च लीलया विलसिन, यद्वा लोत्रलकावत्या यलतो संसृज्यमानयोर्नयनार-विन्दयोर्लीलाया, वराव्वन्दितानि स्वाधीनीकृतानि कोकानां वराकमुपवसनाया विलोचनानि यथा, तादरया, प्रणयिनो वल्लभस्य भवनं सायाहनि सार्यसन्ध्यासमये व्रजन्त्या, अङ्गनाया चरवर्णिन्या, गति, कस्य चेतो न हरत इत्यर्थः ।

अत्र पूर्वार्धे दीर्घसमासस्य प्रयोग शृङ्गाररसप्रतिकूलत्वाद्दर्शनीयः ।

अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिवे । उम्मा समास जैसे—‘लोलालका’ ..’ इत्यादि । अभिमारिका का वर्णन है कि—चञ्चल केश-कपाल और चपल नेत्र-कमलों की लीला से दर्शक जन के नयनों की पक्षीमृत कर लेने वाली, साथ समय में अपने प्रेमी के घर जाती हुई नायिका की चाल किसका चित्त नहीं चुराती ? इस श्लोक में शृङ्गार-रस के प्रतिकूल उम्मा समास पूर्व के दो चरणों में किया गया है ।

द्वितीयमुदाहरति—

भयघटितसंयोगपर-हस्थानां प्राचुर्यं नैकट्येन यथा—

रुलनाननं विलोक्यन् कोऽपि विवशति—

‘हीर-स्फुरद्रदनशुभ्रिमशोमि किञ्च,

सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः ।

वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुनिम्बं,

दूरीकरोति न कर्म विदुषां वरेण्यः ॥’

हीरा वज्रमणय इव शुक्लतया स्फुरन्त शोभमाना ये रदना दन्तास्तेषां शुभ्रिण्या स्वच्छतया, शोभि शोभनशीलम्, किं सान्द्रं धनममृत (मण्डलेऽपरे च) यत्र तादृशम्, एणविलोचनाया मृगनयनाया, चदन मुष, विधाय विरचय्य, विदुषा वरेण्य भ्रैयत्, (न त्वनभिज्ञ) वेषा प्रज्ञा, पुनरुक्तमिव पुनरुच्चारितपदमिव निष्प्रयोजनं, चन्द्रविम्बमिन्दु-मण्डलं, कथं न दूरीकरोति कुतो न दूरे निक्षिपतीति न जाने, यद्वा नयकका दूरीकरोत्येवेत्यर्थः ।

जिनके धागे शय प्रत्याहार के वर्णों के संयोग हों—ऐसे इस्व स्वरों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग, जैसे—‘हरि-नकुल-रदन ’ ’ इत्यादि । नायिका के मुख को देखता हुआ कोई अपने मन में सोचता है कि—हीरों के समान चमकते हुये दांतों की स्वच्छता से शोभित और सघन अमृत (अक्षर-विम्ब-रस) से युक्त मृग-नयनी नायिका के मुख को बनाकर विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता पुनरुक्त के समान (निरर्थक) चन्द्र-विम्ब को क्यों नहीं हटा देता—अथ भी गगन में उसे क्यों उगा रखा है ?

उपपादयति—

अत्र भ्रशब्दपर्यन्तं शृङ्गारानुगुणम्, शिष्टन्तु रमणीयम् । उत्तरार्धे फकार-तकाररूपकयुग्यसंयोगस्य सत्त्वेऽपि, प्राचुर्याभावात् दोषः । यदि तु ‘दन्तांशुना-न्तमरविन्दरमापहारि, सान्द्रासृतम्’ इत्यादि क्रियते, तदा सर्वमेव रमणीयम् ।

इह क्रमेण फ-द-भ-रूपकमात्रभूषणपटितान् ‘स्फु-द्र-त्रि-’रूपसंयोगत्रयात् पूर्ववर्तिना मकारयोस्कारस्य च ह्रस्वाना प्राचुर्यं शृङ्गाररसस्यानुपपन्नम् । शिष्टं तदतिरिक्तं ॥ दोषरा-हित्यान् सुन्दरम् । उत्तरार्धे चैतिरुत्तरतत्परयो संयोग सन्नपि प्राचुर्यविरहात् दूषकः । यदि तु प्रथमचरणे ‘दन्तानामशुभि किरणै कान्त मनोहरम्, अरविन्दस्य पद्मस्य रमाया धियोऽपहारि’ इत्यर्थकं दन्तेत्यादिपाठान्तरं क्रियते, तर्हि तादृशसंयोगपरह्रस्वाभावात् सर्वमेव सुन्दरमित्यर्थः ।

पूर्वोक्त पद्य में ‘त्रि’ शब्द पर्यन्त की रचना शृङ्गार-रस के प्रतिकूल है, क्योंकि यहाँ कन से ‘क-द-भ’ रूप शब्द से बने हुये ‘स्फु-द्र-त्रि’ रूप संयोग से पूर्व में स्थित अकार-इय तथा एक उकार रूप स्वरों की अधिकता समीप-समीप में है । अवशिष्ट अक्षर इस पद्य का सुन्दर है—शृङ्गार के अनुकूल है । यद्यपि उत्तरार्ध में ‘पुनरुक्त’ पद में फकार और तकार का संयोग है तथापि ऐसे संयोगों की अधिकता नहीं रहने के कारण दोष रूप वह नहीं होता और यदि इसी पद्य के प्रथम चरण की ‘दन्तांशुना-न्त-’ इत्यादि मूलोक्त रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब सम्पूर्ण पद्य निर्दोष रमणीय हो जा सकता है । परिवर्तित पाठ का अर्थ यह होगा कि—‘दांतों की किरणों से मनोहर और कमल की शोभा को चुराने वाला’ (मुख) ।

तृतीयमुदाहरति—

विसर्गप्राचुर्यं यथा—

इहोदाहरणानुरोधाद् विसर्गपदं तत्स्थानिकयो समरघुत्वनिष्पन्नसकारादेशयोगोक्तम् ।

विसर्गो—अर्थात् विसर्ग के स्थान में आदिष्ट हुये ‘स’ और ‘श’ की अधिकता जैसे—
नायको विभावयति—

‘सानुरागास्सानुकम्पाश्चतुराशशीलशीतलाः ।

हरन्ति हृदयं हन्त ! कान्तायास्स्यान्तवृत्तयः ॥’

अनुरागेण सहिता सानुरागा, अनुकम्पया कृपया समेता सानुकम्पा, चतुरा पर-वशीकरणकुशला, शक्तिन विनयार्जवादि सद्गुणेन शीतला योषाद्यौष्ण्यरहिता सन्तापहारका या, कान्ताया स्वान्तवृत्तयो मनोव्यापारा, हन्त यत ! मे हृदय हरन्ति वशीकुर्वन्तीत्यर्थः ।

नायक सोचना है कि—सुन्दरियों की प्रेम से युक्त और दया से मृदुल तथा चतुर और विनय आदि अच्छे आचरणों से शीतल चित्तवृत्तियाँ, हाय ! हृदय को हरण किये लेती हैं ।

उपपादयति—

अत्र शकारद्वयसंयोगान्तं पूर्वार्धं माधुर्याननुगुणम् ।

इह विसर्गस्थानिकमकारस्य, तत्स्थानिकराकारस्य, 'श'अक्षरद्वयसंयोगस्य च 'रशी'ति पर्यन्तं पूर्वार्धं प्राचुर्यमोजस्विरसानुकूलत्वान्मधुररसप्रतिकूलमिति वर्जनीयम् । किमदन्त्याशविकले पूर्वार्धं प्रयुक्तं पूर्वार्धशब्दोऽव्यये, माधुर्यशब्दश्च तदाप्रथमेषु लाक्षणिकः ।

पूर्व पद्य में दो शकारों के संयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुर-रस के प्रतिकूल है ।

विसर्जनोपादेशजिह्वामूलीयप्राचुर्यमुदाहरति—

जिह्वामूलीयप्राचुर्यं यथा—

जिह्वामूलीय की अधिकता, जैसे:—

विशोभिनी सखी मूले—

‘कलितकुलिशायाताऽकेऽपि खेलन्ति वाताः-

कुरालमिह कथं वा जायतां जीविते मे ।

अयमपि वत ! गुञ्जन्नल्लि ! माकन्दमौली,

चुलुक्यति मदीयां चेतनां पञ्चरीकः ॥’

हे आलि ! कपय, यत कलित कृत कुलिशास्य वज्रस्य घात इव वातो धैस्ते तद्यः-प्राणहारका, केऽपि विशेषण वर्णयितुमशक्या, वाता मलयानिला, खेलन्ति लताभिः क्रीडन्त इव वहन्ति । अयि न-अयं पुरःस्थ, माकन्दमौली रसातलशिखरे, गुञ्जन् निस्वनन्, बबरीको मधुरः, मदीयां चेतनां सखा वत । चुलुक्यति चुलुकस्यसलिलमिव निरयोयी-करोति, तस्मान्मे मम जीविते जीवने, कुरालं कल्याणं कथमिह वा जायताम्, न कथनपीर्ययः ।

विरहिणी नायिका सखी से कहती है—वज्र के समाप्त आघात करने वाले न जाने कौन से वायु (मलयानिला) खेल रहे हैं—लताओं के साथ खेलते से बहरहे हैं, फिर, भला ! मेरे जीवन में कल्याण कैसे उत्पन्न हो सकता और हे सखि ! सबसे बड़ी खेद की बात तो यह है कि धान के शिखरों पर गुँगता हुआ यह भ्रमर भी मेरी चेतना (ज्ञान-शक्ति) को चुलुक किये जा रहा है—नष्ट करता जा रहा है ।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयजिह्वामूलीयपर्यन्तमनुगुणं माधुर्यस्य । यदि च—‘कथय कथ-मिवाशा जायतां जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः ।’ इति पिधीयते, तदा नायं दोषः ।

इह प्रथमचरणे जिह्वामूलीयस्य द्विपातस्य प्राचुर्यं शब्दरस्य प्रतिकूलत्वाद्दर्जनीयम् । मलयाचलस्य सर्पमुखनिस्सृता विरहिणामन्तका वाता वान्तीत्यर्थकपाठान्तरकरणे तु जिह्वामूलीयामावाहोपाभावः । वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वाच्च नास्तीत्या ।

उक्त श्लोक में द्वितीय जिह्वामूलीय पर्यन्त का भाग माधुर्य के अनुकूल नहीं है । यदि यहाँ पर ‘कथय कथमिवाशा’ “”””” इत्यादि मूलोक्त के रूप में प्रथम और द्वितीय चरणों को परिवर्तित कर दिया जाय, तब यह दोष नहीं रहता । परिवर्तित पाठ का अर्थ (जो पूर्व पाठ में नहीं था) यह होगा कि ‘मलयाचल पर रहने वाले सर्पों से वान्त (उनके मुख से निकले हुए) विरहिणियों के लिये कृतान्तरूप वायु कहते हैं’ ।

विसर्गस्थानिकोपध्मानीयप्राचुर्यमुदाहरति—

उपध्मानीयप्राचुर्यं यथा—

उपध्मानीयो की अधिकता, जैसे—

निर्विण्ण. परामृशति—

‘अलकाऽफणिशावतुल्यशीला-नयनान्ताऽपरिपुङ्खितेषु लीलाः ।

चपलोपमिता खलु स्वयं या, वत । लोके सुखसाधनं कथं सा ॥’

यस्याः त्रिया अलकायूर्णकुन्तला फणिशावतुल्यशीला सर्पशिंशुसदृशकुटिलस्वभावाः सन्ति, तथा यस्याः नयनान्ता कटाक्षा परिपुङ्खितेषुणामारोपितपद्म-वाणाना लीला इव लीला येषा तादृशास्तीक्ष्णतमाः सन्ति, किञ्च या स्वयं खलु चपलया विद्युन्नतयोपमिताऽति-चञ्चलाऽस्ति, सा स्त्री, लोके कथं वत । सुखस्य सौख्यस्य साधनं सम्पादिका स्यादित्यर्थः ।

कोई दुखी जन अपने मन में सोचता है कि—जिसके केश सर्प के बच्चों के सुव्यवस्था वाले हैं, जिसके कटाक्ष पद्म वाले वाणों की सी लीला दिखलाने वाले हैं और जो स्वयं विद्युन्नता सरीसृपी है, वह (स्त्री) ससार में सुख का साधन कैसे हो सकती ?

उपपादयति—

अथ द्वावुपध्मानीयावेयं न शान्तानुगुणौ ।

अत्र श्लोकेऽन्येषा शान्तरसस्तुकूलवेऽपि, पूर्वार्धघटकं विसर्गस्थानिकोपध्मानीयद्वयं केवलं माधुर्यार्पकत्वाच्छान्तरसस्य प्रस्तुतस्य प्रतिकूलत्वाद् वर्जनीयमित्याशयः ।

जिह्मामूलीयोपध्मानीयोदाहरणयोः ‘कुण्डोऽकऽपौ च’ इति सूत्रस्य वैकल्पिकतादिदेश-विधायकत्वेन विसर्गस्थितौ नाय दोषः सम्भवतीति विभावनीयम् ।

उक्त श्लोक में और सब शान्त रस के अनुकूल है, परन्तु दोनों उपध्मानीय केवल उस (शान्त रस) के अनुकूल नहीं हैं ।

टवर्गस्य भ्रया च प्राचुर्यमुदाहरति—

टवर्ग-भ्रयां प्राचुर्यं यथा—

प्राधान्यश्लिष्टमयायेन टवर्गस्य पृथगुपाशानम् ।

टवर्ग और श्लष्ट अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्गों की अधिकता जैसे—

न्यङ्कृतो नायको मानिनीमनुनयन्नभिदधाति—

‘वचने तव यत्र माधुरी सा, हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् ।

अधुना हरिणाक्षि ! हा कथं वा, कटुता तत्र कठोरताऽऽधिरासीत् ॥’

हे हरिणाक्षि ! यत्र तव कोमले वचने साऽनुभूतपूर्वा माधुरी, कोमले हृदि पूर्णा करुणा च मानात् पूर्वमभूत् ; अधुना मानसमये, हा ! तत्र तव वचने कटुता, हृदि कठोरता च कथं वाऽऽधिरासीदुदभूदित्यर्थः ।

अत्रोत्तरार्धे टकारठकारात्मकटवर्गस्य ककारषकारादीनां भ्रयां च नैक्येन प्राचुर्यं मधुरतमविप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद् वर्जनीयम् । ‘कोमले’ इत्यस्य सम्बोधनत्वापेक्षया वचन-हृदयविशेषणत्वमेवाधिक्यमत्वारकम् ।

नायक किसी नायिका से कहता है कि—हे हरिणवेशे ! तेरे जिस वचन में वह अनिर्वचनीय मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दयालुता थी, हाय ! आज उन्हीं दोनों (वचन और हृदय) में (क्रमशः) कटु और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई ! यहां उत्तरार्ध में टकार-ठकार रूप टवर्ग और ककार षकार आदि रूप श्लष्ट की समीप-समीप में ही अधिकता है ।

अथैव पाठान्तरदर्शनेन दोषं परिहरति—

‘अधुना सखि ! तत्र हा कथं वा, गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ।’ इति त्वनुगुणम् ।

इदानीं सख्या उक्तिरियम् । गुणानां मधुरत्वादीनां गतिरन्यैव विलोक्यते, तत्स्थाने कदत्वादीनामुपलम्भादित्यर्थकोतरार्धपाठपरिवर्तने तु उदगायमावाहोपामाव ।

यही यदि सखी की उक्ति के रूप में ‘अधुना सखि’ इत्यादि मूलोक्त रीति से उत्तरार्ध को बदल दिया जाय, तब मधुरतम विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुकूल हो जायगा । बदले हुये पाठ के अनुसार अर्थ यह होगा कि—‘हे सखि ! अब उन्हीं दोनों में गुणों की गति दूसरी ही क्यों इष्टिगोचर होती है’ ।

रेफषटितसंयोगस्यप्राचुर्यमुदाहरति—

रेफषटितसंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

रेफों के द्वारा बने हुये संयोग का बार-बार प्रयोग जैसे—

अनुपमम्मन्यामन्याऽभियते—

‘तुला मनालोक्य निजामस्वयं, गौराङ्गि ! गर्वं न कदापि कुर्याः ।

लसन्ति नानाफलभारवत्यो-लता’ कियत्यो गहनान्तरेषु ॥’

हे गौराङ्गि ! प्रतिवेशिबुवतीषु निजा तुल्य स्वकीबोपमाम्, अनालोक्य, अक्षर्यं विपुलं गर्वमनुपमत्वाभिमानं, कदापि न कुर्याः, यतो गहनान्तरेषु काननप्रवेशेषु, नानाफलानां भारोऽस्त्यास्त्विति नानाफलभारवत्यः कियत्यो भूयस्य, लता (तादरव) लसन्ति शोभन्त इत्यर्थः ।

अत्र रेफषटितसंयोगप्राचुर्यं शृङ्गाररसप्रतिकूलम् ।

अपने को अनुपम मानने वाली किसी नायिका से कोई दूसरी नायिका कहती है कि—हे गौरी अह्नों वाली । अपनी तुलना न देख कर तुम अत्यधिक गर्व नहीं करना चाहिये । वनों के मध्य में विविध फलों के भार से झुकी हुई कितनी लताये शोभित हो रही हैं । यहाँ रेफों के द्वारा बने हुये संयोगों का बार-बार प्रयोग हुआ है, जो शृङ्गार-रस के प्रतिदूष है ।

पाठपरिवर्तनेन दोषं परिहरति—

यदि तु ‘तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्’ इति निर्मायते, तदा साधु ।

पाठपरिवृत्तावेकस्य रेफप्रयोगस्याभावात् दोष इत्याशयः । किन्तु तथापि रेफषटित-संयोगद्वयस्य तादवस्थ्यात् कथं न प्राचुर्यमिति विभावनीयम् । इह हकारघटितसंयोग-प्राचुर्योदाहरणमुत्तिष्ठति—‘भिरमिलिताउपगुहा प्रणयिजनौ गुह्यमकम् वदत’ इत्यनेन कथञ्चन विधेया ।

उक्त पद्य के प्रथम चरण की जगह में ‘तुलामनालोक्य’ इत्यादि मूलोक्त रीतिसे पाठ-परिवर्तन कर दिया जाय, तब श्रेष्ठ हो जाय । परिवर्तित अक्ष का अर्थ यह होगा, कि—‘इस पृथ्वी पर समानता न देख कर’ ।

लकार-भकार-नकारभिन्नानां व्यञ्जनवर्णानां स्वेनैव संयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—

हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मनासंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

ल, म और न से मिश्र व्यञ्जनों का उन्ही व्यञ्जनों के साथ संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे—

लण्डिता नायकमुपालभते—

‘विगणय्य मे निकाम्यं, तामनुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम् ।’

हे शठ ! मे मम निकाम्यं भवनं, विगणय्य विहाय, तामन्यां प्रियसीम्, यत् त्वम् अनुयातोऽनुगतोऽसि, तच्चैव न्याय्यमुचितमस्त्यर्थः । अत्र यकारस्यासकृत् स्वसंयोगो विप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्दोषः ।

लण्डिता नायिका उपपत्ति से कहती है कि—मेरे घर की अवहेलना करके (तू) उस (सपत्नी) के पीछे लगा फिरता, यह न्यायोचित नहीं है । यहाँ यकार ‘का’ बार-बार संयोग, विप्रलम्भ ग्यङ्कार के प्रतिकूल होने से दोष है ।

नकारादिवर्णत्रयव्यच्छेदकारणं भणति—

ल-म-नानां स्यात्मना संयोगस्तु न तथा पारुष्यभावाद्भति ।

प्रावहति जनयति । ल-म-नमिहानां हला स्वात्मनासंयोगो यथाऽश्रव्यता जनयति तथा ल-म-नानां नेति तद्विभक्त्यं हलां निवेशितमिति भावः ।

ल, म और न का जो अपने आप के साथ संयोग होता है, वह इतना कठोर नहीं होता ।

उदाहरति—

यथा—

लक्षितां नायिकामालि पृच्छति—

‘इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा, परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते ।

जलदालिमयं जगद् वितन्वन्, कलितः कापि किमालि । नीलमेघः ॥’

हे आलि ! इयं ते मुखस्य शोभा थी, उल्लसिता निवराशुष्कमिता यदस्ति, यच्च ते नयनाम्बुजद्वयं परिफुल्लं परितो विकसितमस्ति, तत्, जलदालिमयं वपुःप्रभया नीरदधेयीमयं जगद्विश्वं वितन्वन् नीलमेघस्तत्त्वेनाप्यवसित—कृष्णचन्द्र, किं कापि कलितो विभोक्तौ मिलितो बाधूत् ? । अन्येष्वेदशोक्षासासम्भवादित्यर्थः ।

अत्र लकारद्वयसंयोगस्य द्वि प्रयोगेऽपि नाश्रव्यत्वम् । एवं मकारद्वय-नकारद्वय-संयोगेऽपि ज्ञेयम् । तदुदाहरणान्तु मृग्यमेव ।

जैसे—सखी लक्षितागोपी से कह रही है कि—हे सखि ! तेरे मुख की यह शोभा उल्लास युक्त हो रही है, और तेरे दोनों नेत्र-कमल पूरे खिल रहे हैं, यह क्यों ? क्या, कहीं, संपूर्ण संसार को मेघ-माला मय बनाने वाला नील मेघ (भगवान् कृष्ण) मिल गया था ? यहाँ लकार-लकार का संयोग दो बार आया है, फिर भी अश्रव्यता प्रतीत नहीं होती ।

मृग्यद्वयसंयोगमुदाहरति—

मृग्यद्वयघटितसंयोगस्य यथा—

मधुरविप्रलम्भप्रतिकूलतयाऽश्रव्यत्वमिति शेषः ।

शब्द प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का बार-बार संयोग, जैसे—

नायको मानिनीं प्रवोति—

‘आ सायं सलिलभरे, सविचारमुपास्य सादरं तपसा ।

अधुनाऽब्जेन मनान् तव, मानिनि । तुलना मुखस्याप्ता ॥’

अग्नि मानिनि । आसायं सायं-संध्यापर्यन्तं सलिलभरे वारिपूरे, सनितारं सूर्य सादर-सुपास्य, पूजयित्वा, तपसा तदुपतपस्यया, अब्जेन कमलेन, अधुना तद्वितीयदिने माना-वसरे तव मुखस्य तुलना समता, मनायीषत्, आप्ता लब्धेत्यर्थः ।

दूती अथवा सखी किं वा नायक मानिनी नायिका से कहते हैं, कि—हे मानिनि ! मन्धा काल तक गहरे जलमें रहकर आदर-पूर्वक सूर्य भगवान् की उपासना करने के बाद उसी तपस्या के बल से अब कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र शोभा प्राप्त की है ।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयार्थमरम्यम् ।

अत्र वकारजकारयोः गकारतकारयोश्च भयोः संयोग उत्तरार्थे द्विरुपात्तो दोषावहः ।

यहां उत्तरार्थ रमणीय नहीं है, क्योंकि वकार-जकार और तकार-यकार-रूप क्षप् का संयोग दो बार आ गया है, जो दोष है ।

तत्परिहाराय पाठं परिवर्तयति—

‘सरसिजकुलेन सम्प्रति, भामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता ।’ इति तु साधु ।

भयद्वयसंयोगामावादिति तु साधु सम्यक् । इह तृतीयचरणान्वस्य भामिनोति सम्योचन-पदस्याविद्यमानत्वात् तत्वेत्यस्य त आदेशो दुर्लभ इति तत्वेत्येव तस्याने पठनीयम्, अन्यथाऽप्युतसंस्कारतास्यात् ।

यदि ‘सरसिजकुलेन’ इत्यादि मूलोक्त-रूप में उत्तरार्थ को परिवर्तित कर दिया जाय, तब दोष के हट जाने से पद्य रमणीय हो जाय । परिवर्तित पाठ का यह अर्थ होगा कि—‘हे मानि ! अब जाकर कमल-कुल ने तेरे मुख की तुल्यता प्राप्त की है’ । यहाँ परिवर्तित पाठ में ‘ते’ का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि उससे पूर्व ‘भामिनि’ यह सम्बोधन पद है, जिसको व्याख्यान के अनुसार अविद्यमानवद्भावे हो जायगा, फिर पद से पर नहीं होने के कारण ‘ते’ आदेश होगा ही नहीं, अतः ‘तव’ ऐसा ही पाठ मानना चाहिये, अन्यथा व्युत्पत्तिस्कारता नामक अलङ्कार-दोष हो जायगा ।

मध्यमसंयोगस्त्वसकृदुष्टः, सवर्णमध्यमसंयोगस्तु सकृदपि दुष्ट इत्युदाहरणम्—

सवर्णमध्यमघटितसंयोगस्य सकृत्प्रयोगो यथा—

सवर्णं क्षप् से बने हुये संयोग का एक बार प्रयोग जैसे—

नायको मानिनीमनुनयन् धृते—

‘अयि ! मन्दस्मितमधुरं, वदनं तन्यद्भि ! यदि मनाकुसुमे ।

अधुनैव फलय शमितं, राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ॥’

अयि तन्यद्भि कोमलावयये । त्वं यदि वदनं मन्दस्मितेनाभ्यपहसितेन, मधुरं मनोहरं, मनागोपदपि कुरुषे, तर्हि अधुनैव न तु फलान्तरे, राकारमणस्य पूर्णिमाधन्द्रस्य, साम्राज्यं क्षुभमैकाधिपत्यं, हन्त ! (हर्षे) शमितं निवर्तितं, फलय जानीहीर्यर्थ ।

इह ‘मनाकुसुमे’ इत्यत्र सवर्णककारद्वयघटितसंयोगस्य सकृदपि सत्त्वाद्दोषः ।

नायक मानिनि नायिका से अनुनयमरी बात कहता है कि—हे कृताङ्गि ! यदि तू अपने मुख को, थोड़ा भी मन्द-हास से मनोहर बना ले, तब हर्ष की बात होगी कि रजनीपति चन्द्रमा का साम्राज्य (शोभा के विषय में एकाधिपत्य) अभी-अभी फलान्त हो जायगा, ऐसा तू निश्चित समझ । यहाँ ‘मनाकुसुमे’ इस अर्थ में दो सवर्ण क्षप् रूप ककार का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने से अशुभ हो गया है ।

सवर्णमध्यमघटितसंयोगनिषेधस्य निषेधान्तरैर्गैतार्थत्वमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्वत्र ककारद्वयसंयोगस्य हलघटितस्वात्मसंयोगत्वेनैव निषेधात्, क-ख-संयोगस्य महाप्राणसंयोगनिषेधविषयत्वात्, तृतीयसंयोगस्य चासम्भवात्, सवर्णमध्यमसंयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्, न, सकृत्प्रयोगविषयत्वेनास्य पार्यक्यात् । अन्यथा ‘मनाकुसुमे’ इति निर्दोषं स्यात् ।

इह ककारद्वयसंयोगः, क-ख संयोगश्चेति द्वावेव सवर्णभ्रूयघटितसंयोगः सम्भवति, न तु तृतीयः कश्चित्, तथा च-कखरद्वयसंयोगस्य हलस्वात्मसंयोगनिषेधेनैव, क-ख संयोगस्य तु महाप्राणघटितसंयोगनिषेधेनैव निषिद्धत्वात् सवर्णभ्रूयसंयोगनिषेधो यदत्र विशिष्य विधीयते, तन्निरर्थकमेवेति पूर्वपक्षे—

हलस्वात्मसंयोग-महाप्राणघटितसंयोगयोरसकृत्प्रयोग एव दुष्टतया निषेधः, सवर्णभ्रूयसंयोगस्य तु सकृत् प्रयोगेऽपि दुष्टतया निषेधः पृथगपेक्षित एव, न तु ततो गतार्थः । पृथगेतन्निषेधानुपादाने तु 'मनाक्कुरवे' इत्यासकृत् संयोगाभावाद् दोषाभावः प्रसज्येतेत्युत्तरम् । क-खसंयोगस्तु 'सम्यक् खेलेसि' 'मनाक् खिद्यते' इत्याद्यावहनीयः ।

सवर्ण द्वय का संयोग दो ही प्रकार का हो सकता है, एक ककार-ककार का, दूसरा ककार-खकार का, तृतीय प्रकार का सवर्ण द्वय का संयोग सम्भव ही नहीं है, अतः यह दावा हो सकती है कि सवर्ण दो श्रवणों का संयोग जो पृथक् करके निषिद्ध माना गया है, वह व्यर्थ है—उसका कहीं अवकाश ही नहीं रह जाता, क्योंकि ककारद्वय संयोग (जो उक्त पद्य में आया है) का निषेध तो—व्यञ्जनों का जो अपने आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है—उसी से हो जाता है और जहाँ क ख संयोग रहेगा, वहाँ महाप्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उसी से वह गतार्थ हो जायगा । इसका उत्तर यह है कि व्यञ्जनों का अपने आपके साथ संयोग अथवा महाप्राणों का संयोग बार-बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट होता है, अतः उसका निषेध भी उसी स्थिति में किया गया है और सवर्ण द्वय का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने पर दुष्ट है, अतः उसका निषेध पूर्व निषेध से गतार्थ नहीं हो सकता—अर्थात् ये तीन दोष भिन्न-भिन्न हैं, फिर अलग-अलग उनका निषेध करना भी आवश्यक ही है । यदि सवर्ण द्वय का संयोग भी बार-बार आने पर ही दुष्ट माना जाय, तब 'मनाक्कुरवे' यह निर्दोष ही हो जायगा, क्योंकि बार-बार यहाँ उक्त संयोग नहीं है ।

महाप्राणप्रयत्नद्वर्णघटितसंयोगमुदाहरति—

महाप्राणघटितसंयोगो यथा—

'अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले समातनुपे ।' उत्तरार्धं तु प्राचीनमेव ।

अत्र महाप्राणप्रयत्नवता भकारेण घटित संयोगो दुष्टः । सात्रापूर्तादिभिः, चैच्छब्दस्य प्राबिन्वेशेन सम्भवन्ती छन्दःकलशुद्धिः प्रायो महाप्राणसंयोगदर्शनार्थमेवोपेक्षिता । अशुभैव महाप्राणसंयोगनिषेधस्यासकृत् प्रयोगविषयता व्यवस्थाप्य, तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदर्शनं कथं सङ्गच्छत इति चिन्त्यम् । इह पद्ये चरणद्वयमुपात्तं प्राचीनस्य 'अयि मन्द-स्मितमधुर'मित्यादिपदस्य पूर्वार्धं विधाय श्लोकपूर्तिविधेया ।

महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों से बने हुये संयोग का प्रयोग जैसे—पूर्वोक्त 'अयि मन्द-स्मित' ' ' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध को 'अयि मृगमदबिन्दुम्' इस मूलोक्त के रूप में परिवर्तित कर देने पर । यहाँ महाप्राण भकार के साथ दकार का संयोग दोपयुक्त है । अर्थ इस परिवर्तित अंश का यह है कि 'हे बाले ! यदि ललाट पर कस्तूरी की बिन्दी लगा लोगी, तब " ' । उत्तरार्ध तो वही रहेगा, मित्रका अर्थ पहले लिखा जा चुका है । यहाँ एक बात विचारने की यह है कि जब ग्रन्थकार ने पूर्व में यह सिद्धान्त कर दिया है कि महाप्राण वर्ण से बने हुये संयोग बार बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट है, तब फिर महा प्राणघटित संयोग का 'अयि मृगमद' " ' इत्यादि उदाहरण कैसे दिखलाया, क्योंकि यहाँ महाप्राणघटित संयोग का प्रयोग एक ही बार हुआ है, बार-बार नहीं ।

अथ मधुररसेषु व्यङ्गनीयेषु वर्जनीयान्तराणि प्रतिपादयति—

एवं त्वप्रत्ययं, यङन्तानि, यङ्लुगन्तान्यन्यानि च शाब्दिकप्रियाण्यपि मधुर-
रसे न प्रयुज्यते ।

एवमुक्तसंयोगवत् कविर्भावार्थकं त्वप्रत्ययं, यङन्तयङ्लुगन्तानि, पराणि चेद्वरानि
कृतादितान्तराणि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुज्यतेत्यर्थः । अयं निषेधो विपुललक्ष्यानुरोधादसकृत्-
प्रयोगविषयक एव, सकृत्प्रयोगे तेषां दुष्टत्वाभावात् । अत एव, 'अलमतिचपलत्वात् स्वप्न-
मायोपमत्वात्' इत्याद्येवान्यत्र दुःश्रवत्वेनोदाहृतम् । स्वादीनामसकृत्प्रयोगे कर्कशत्वं स्फुटमेव ।

जैसे उक्त अध्वर्यों का मधुर-रस प्रधान कान्यों में स्थापन करना आवश्यक है, वही
प्रकार—'त्व' प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुगन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग (कृदन्त लङि-
तान् आदि) यद्यपि वैपाकरण लोगों को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका
प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अथ ध्वनिकारानुमतानि मधुररसेषु वर्जनीयान्याह—

एवं व्यङ्ग्यध्वर्षणातिरिक्तयोजनविरोधापेक्षा-नापाततोऽधिकचमत्कारिणोऽ-
नुप्रासप्रबन्धान् यमकादींश्च सम्भवतोऽपि कविर्न निबन्धीयात् ।

ये व्यङ्ग्यरसादिध्वर्षणाया अतिरिक्तं यज्ञविशेषरूपं योजनविशेषमपेक्षन्ते, तान्, आपा-
तस्तत्काल एव (न तु परिणामे) चमत्कारिणः परिणतिचमत्कारबुद्धान्, अनुप्रास-
यमक-शब्दश्लेष-चित्रप्रभेदान्तिदुर्घटान् वाचकलङ्कारान्, प्रतिभाप्रभावेन कथञ्चन सम्म-
विनोऽपि, रसाद्यास्वादस्य पृथग्यनभिर्विषयेन प्रतिबन्धयन्, कविर्मधुररसव्यङ्ग्ये प्रस्तुते,
न प्रयुज्यतेत्यर्थः । अत एवोक्तं ध्वनिकृता—'रसाक्षिततया यस्य सन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यनभिर्विषयः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत्तः ॥' इति ।

व्यङ्ग्यों के भावादान करने के लिये जो परब करना पड़ता है, उसमें पृथक् बात
जिनके समावेश में अपेक्षित हो जाय, ऐसे, ऊपरी तौर से (न कि गहरी दृष्टि से विचार
करने पर) अधिक चमत्कार-जनक भी प्रतीत होने वाले अनुप्रास के समूहों तथा यम-
कादिकों का, यद्यपि वे कवि के साध्य हों, तथापि समावेश न करना चाहिये, यह कवि के
लिये ध्यान देने योग्य परामर्श है ।

तेषां वर्ज्यताया निमित्तमभियुक्ते—

यतो हि ते रसध्वर्षणायामनन्तर्भवन्तः सहृदयहृदयं स्वाभिमुखं विदधाना
रसपराङ्मुखं विदधीरन् ।

अनुप्रासादीनां प्रतीतिः स्ववैचित्र्यविशेषेण रसाद्यास्वादान्ताभोधाभावात् सदा रसास्वादे-
कपरायणस्य सहृदयहृदयस्य स्वाभिमुखीकरणेन रसाद्यास्वादपराङ्मुखीकरणस्य कदाचित्
सम्भवात्, ते मधुररसेषु वर्जनीया इत्यर्थः ।

रस-प्रधान काव्य में अनुप्रास आदि के निबन्ध नहीं करने का बीज यह है कि यदि
वे अधिक और प्रधान हो जायेंगे, तो उनके समावेश रस के भावादान में न हो सकेगा
और वे सहृदय जन के हृदय को अपनी ओर खींच लेंगे, इस कारण रस से विमुख कर
देंगे—अर्थात् सहृदय जन उनके चमत्कार के चक्कर में बढ़कर रसास्वाद से वञ्चित हो
रह जायेंगे ।

'विप्रलम्भे विशेषतः' इत्युक्त विप्रलम्भश्चत्वारण्यनौ विशेषेण तच्चिधेयमाह—

विप्रलम्भे तु सुतराम् ।

ते वर्जनीया इति शेषः ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार ॥ तो खासकर अनुप्रास आदि के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिये।

तत्र हेतुं प्रतिपादयति—

यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव, तनीयानपि स्वा-
तन्त्र्यमावहन् पदार्थ, सहृदयहृदयारुन्तुदतयान सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति ।
सामानाधिकरण्यमेकत्र वृत्ति ।

यतोऽस्य विप्रलम्भस्य सम्भोगाद्यपेक्षयाऽधिकमधुरत्वात् तदास्वादे विलक्षणपानक-
रसास्वाद इव स्वतन्त्रास्वादकस्य वस्त्वन्तरस्य लेशतोऽपि सम्पर्कः सर्वथा सहृदयहृदयो-
द्भेजक स्यात्, तस्मादनेन सहानुप्रासादीनां समावेशो न विधेय इत्याशयः ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में अनुप्रास आदि के प्रयास नहीं करने के संबंध में अधिक साव-
धान रहने का कारण यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार सब रसों से अधिक मधुर माना गया है
और इसी कारण, उसे शुद्ध चीनी के बनावे हुए शरबन की उपमा दी गई है, उसमें
यदि थोड़ी मात्रा में भी कोई ऐसी चीज मिल जाय, जिसका स्वाद अपनी स्वतन्त्र
सत्ता रखता हो, तो वह सहृदयजनों के हृदय में बड़ी मार्मिक धीमा पहुंचाती है, विप्र-
लम्भ शृङ्गार में अनुप्रास आदि ठीक वैसी ही चीजें हैं, अतः उसके साथ उनका रहना
सर्वथा अनुचित है।

एतत्प्रपञ्चकोक्तमर्थं प्रमाणयति—

यदाहुः—

ध्वनिकारा इति शेषः ।

‘ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिवेशनम् ।

शक्तावपि प्रमादित्वं, विप्रलम्भे विशेषतः ॥

इह शृङ्गारपद मधुरतममाश्रयम् । आदिपदेन स्वतन्त्रप्रयोज्यलक्षणात्तन्तरपरिग्रहः ।
शक्नोति प्रतिभाया सत्यामपि प्रमादित्वं कवेरनवधानता दोषः । विप्रलम्भस्य मधुरतमत्वात्तत्र
विशेषेण तेषां निषेधः ।

जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—“ध्वन्यात्मभूते हायादि—
अर्थात् यदि कवि में ऐसी शक्ति हो ॥ ध्वनि-काव्य में अवायास यमक आदि की रचना
कर सके, तब भी जिस ध्वनि-काव्य की भाँसा शृङ्गार रस है, उसमें यदि कवि वैसा
यमक आदि का निवेश) करे तो कहना चाहिये कि उसकी असावधानता है जो उसने
उन्हें (यमकादिकों को) शृङ्गार प्रधानकाव्य में आ जाने दिया और यदि विप्रलम्भ शृङ्गार
प्रधान काव्य में वे (यमक आदि) आ गये, तब तो विशेष-रूप से कवि की असावधा-
नता समझी जायगी ।

निषेधप्रतिप्रसवमाख्याति—

ये तु पुनरुक्तिः एतयाऽनुव्रतस्कन्धतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किन्तु
रसचर्चणायामेव सुसुखं गोचरीकर्तुं शक्या, न तेषामनुप्रासादीनां व्यागो युक्तः ।

अक्रिष्टताऽकठिनप्रयत्ननिष्पाद्यता । अनुव्रतस्कन्धत्वमनुत्कट्यत्वम् । सुसुखमतिमुदेना-
नायासमिति यावत् ।

ये पुनरनुप्रासादयोऽप्यपृथग्यज्ञनिष्पाद्या अपृथग्भावनाविषयीभावयोग्याश्च, रसप्रति-
कूलत्वाभावात्तेषां नैव निषेध इति तात्पर्यम् ।

जो अनुप्रास आदि विलुप्त और विसृष्ट न होने के कारण धृक् (रसनिवेश प्रयास
से) पल की अपेक्षा नहीं रखते और न रसास्वाद से धृक् आस्वाद की ही आवश्यकता

रसते, किन्तु रस-परिपाक के लिये जो प्रयत्न किया जाय, उसी से बन जा सकते हैं, उन अनुप्रासादिकों को छोड़ देना भी उचित नहीं।

मधुररसातुल्यमनुप्रासमुदाहरति—

यथा—

सखी नायिकां व्याहरति—

‘कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं,
स्मेरानना सपदि शीलये सौधमौलिम् ।

प्रीदि भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा—

मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥’

हे आलि ! सायं कस्तूरिकातिलक आले विधाय, स्मेराननेपदसितमुखो, त्वं सौधस्य सुधा(शुक्लिचूर्णलेप)नयनप्रासादस्य, मौलिं शिखरं, सपदि शीघ्रं, शीलयाभ्यास्त्व, तथा च तैन कुमुदानि मुदामुदारा प्रीदिमतिशयितोत्सामं भजन्तु प्राप्नुवन्तु, हरितो दिशश्च परितो विष्वक्, मुल्लान्यप्रमाणान् उल्लासयन्तुल्लासयन्स्वित्यर्थः ।

अत्र दृश्यतुप्रास-शृङ्गाररसापृथग्यत्ननिगच्छत्वादहंकृत एवेति न निषिद्धः ।

जैसे—‘कस्तूरिकातिलक ...’ इत्यादि । सखी नायिका से कहती है—हे सखि ! वृत्त-सायकाल मैं कस्तूरी का तिलक लगाकर शीघ्र मन्द-मन्द हँसती हुई भट्टारी पर चढ़ जा, जिसमें कुमुद अपार हृष्य को प्राप्त कर लें—अर्थात् पूर्णरूप से विकसित हो उठें और दिशाएँ अपने मुखों की पूर्णतया उलटसित बना लें उनके प्रारम्भिक भाग बरगड़ी तरह प्रकाशमय हो जायें । यहाँ अनुप्रास है, परन्तु कवि उनके लिये पृथक् यत्न किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, वरन ऐसा ही प्रतीत होता है कि शृङ्गाररस के लिये जो कवि का यत्न हुआ है, उसी से अनुप्रासों की भी सृष्टि हो गई है और इन अनुप्रासों का आश्वासन भी रस के आश्वासन के साथ ही हो जाता है, अतः ऐसे अनुप्रास कोमल रसों में भी प्रादुर्भाव है ।

माधुर्यगुणाधयरसन्यञ्जकरचनादोषप्रदर्शनमुपसंहरति—

इत्यनेनैतैः प्रसङ्गतो मधुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां सङ्क्षेपेण तिरुहिता दोषाः ।

इहौजस्वि-प्रसङ्ग-रसाभिव्यञ्जकरचनयोर्वर्जनीयानामनभिधानान्मूलता न शङ्कनीया, ‘मधुररसेषु येऽनुकूला, त एवौजस्विरसेषु प्रतिकूला’ इति श्रुतिबोधस्वरसप्रतिकूलतां सामान्येनाभिधानात्, प्रसादगुणस्य सर्वरसरचनासाधारण्येन तदपञ्जकरचनायां वर्जनीय-त्वाभावाच्च ।

इस तरह प्रसंग आ जाने के कारण मधुररसों की अभिव्यक्त करने वाली रचना में होने वाले इन दोषों का निरूपण संक्षेप में कर दिया गया है ।

प्रसङ्गाद् वैदर्भी रीतिं निस्पद्यति—

‘एभिर्विशेषविषयैः, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता ।

माधुर्यभारमधुर-सुन्दर-पद-वर्णविन्यासा ॥

व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता ।

तां विबुधा वैदर्भी, वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाका ॥’

एभिरुचैः सामान्यैर्विशेषैश्च दूषणै रहिता, माधुर्यभारेण मधुराणामतिमधुराणामत एव सुन्दराणां पदानां वर्णानां च विन्यासो यत्र, सा, या निर्मातु कवेः व्युत्पत्तिं काव्यशास्त्रादिनिपुणता मुद्गिरन्ती सूचयन्ती, प्रसादेन गुणैर्न व्यञ्जकतया युता, ता गृहीतः परिपाके रसास्वादपरिनिष्ठा यस्याः तादृशों वैदर्भी वृत्ति रीतिं, विबुधाः व्यव्याप्यभावनाकुशल्य वदन्तीत्यर्थः । अस्या एवोपनागरिकावृत्तिरिति नान्तरं बोध्यम् ।

अथ प्रसङ्ग-प्राप्त वैदर्भीरीति का निरूपण करते हैं—‘एभि’ इत्यादि । विद्वज्जन उस रचना-विशेष को ‘वैदर्भीरीति’ कहते हैं, जो उक्त विशेष और साधारण-दोनों प्रकार के दोषों से रहित हो, जिसमें माधुर्य-गुण के भार से मरे हुये अतएव सुन्दर पदों और वर्णों का विन्यास हो, जिससे बनाने वाले (कवि) की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो जो प्राप्त गुण से युक्त हो और जिसमें रस का पूर्ण परिपाक हुआ हो । इसी रीति को कुछ लोग उपनागरिक वृत्ति के नाम से पुकारते हैं ।

अस्याः प्रसिद्धिं दर्शयति—

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्ति पद्यानि ।

अस्या वैदर्भीरीतौ, उदाहृतानि शृङ्गाररस-माधुर्यगुणोदाहरणतयोक्तानि, कियन्त्य-
नत्वामि पद्यान्येवोदाहरणानीति न तदपेक्षेत्याशयः ।

इस रीति के उदाहरण हो सकने वाले कितने ही पद्य पूर्व में कहे जा चुके हैं ।

तथापि सहृदयहृदयविनोदायोदाहरति—

यथा वा—

मानिनीमालि प्रेयान् वा बोधयति—

‘आयातैष निशा, निशापतिफरैः कीर्णं विश्रामन्तरं

भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरङ्गासयन्ति भियम् ।

वामे । मानमपाकरोपि न मनागद्यापि रोपेण ते

हा हा !! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति ॥’

हे वामे मानप्रहिले ! निशा आयाता प्राप्त (न तु निशारम्भे विलम्ब) विश्राम-
न्तरं मध्य निशाकरस्य करैः किरणैः कीर्णं व्याप्तमुद्रासितमिति यावत्, भामिन्योऽपरा-
मानवस्यश्च, विलासोचितकालमालोप्य, भवनेषु भोगावासेषु, भूषणगणैः परिहितालङ्कार-
निरैः, भ्रियं शोभामुल्लासयन्ति वर्धयन्ति, त्वं पुनरद्यापीदानीमपि मानं न अपाकरोपि
न त्यजसि, तेन रोपेण बालान्मृणालादपि, अतितमा नितमा तन्वी कोमला, ते तनुस्ता-
म्यति क्लान्तमतीत्यर्थः । अत्रोक्तलक्षणा वैदर्भीरीति । अतितमामित्यत्र तकारस्य स्वान-
न्तर्यादथम्यत्वं विभावनीयम् ।

अथवा, जैसे —

नायक नायिका से कह रहा है —प्रेयसि ! अब रात आधी गई, उसके जाने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं है, विश्वास न हो तो देख निशा-नाथ चन्द्र-देव की किरणों से दिशाओं के अन्तराल व्याप्त हो चुके हैं और मानिनी खिया मान छोड़कर आभूषणों से म्रीडा-मन्दिरों में शोभा को बढ़ा रही है । हे वामे ! सत्तार भर से विपरीत ही आचरण करने वाली ! तू अब भी मान को किञ्चित् भी कम नहीं कर रही है । हाय ! हाय ! देन तो नवीन मृणाल से भी अत्यन्त दुर्बल यह तेरा शरीर तेरे ही रोप के कारण क्लान्त हो रहा है । जाने दे, यदि मेरे ऊपर दया नहीं करती, तो मतकर, परन्तु अपने इस सुकोमल शरीर पर तो दयाकर । यहा वैदर्भीरीति के उक्त सभी लक्षण घटते हैं ।

एतद्रचनायाः स्थूलनपरिहाराय कवेरवधानातिशयस्यापेक्षा प्रतिपादयति—

अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम् । अन्यथा तु परि-
पाकभङ्गः स्यात् ।

अन्यथाऽवधानाभावे ।

इस रीति के निर्माण करने में कवि को अत्यन्त सावधानी से धरतना चाहिये, अन्यथा परिपाक का भङ्ग हो जायगा—रस में जितनी माधुरी आनी चाहिये, उतनी नहीं आ सकेगी ।

अमरककवेरनयनानेनोपहितं परिपाकगद्गमुदाहरति—

यथाऽमरककविपद्ये—

जैसा कि अमरक कवि के पद्य में हुआ हैः—

सुग्धावृत्तं वर्णयति—

‘शून्य बासगृहं विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-

र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।

विश्रब्धं परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गरडस्थलीं

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥’

बासगृहं छोड़ागारं, शून्य प्रियातिरिक्तलोकहरिह, विलोक्य मिलीनसहचरोसद्भाव-
सन्देहाद् विशेषेण दृष्ट्वा, शयनात् तत्प्रात्, किञ्चिदोपदेव (तावत् पार्श्वपरिवर्तनोप-
न्यासेनाप्यपलपितुं शक्यत्वात्) शनैर्यथाभूषणमणत्कारो न भवेत् तथा मन्दम्, अपर-
कायेनैवोत्थाय, निद्राव्याजमनुरागजिज्ञासया कृतकनिद्राविदम्बनम्, उपागतस्य लब्धवत्,
पत्युः स्वामिनो न ॥ परिचयप्राचुर्यविरहादवलम्बस्य, मुखं सुचिरं जागरणशब्दया सुदीर्घकालं,
निर्वर्ण्य निद्रानिर्णयाय निरोपमवेक्ष्य, विस्रब्धं सविश्रामं यथा स्यात् तथा गाढं, परिचुम्ब्य
परितः कपोल-नयनादिषु चुम्बित्वा, तेन जातपुलकामुद्रिजरोमाभा, गरडस्थलीं कपोल-
पालिम्, आलोक्य, लज्जा सादृश्याः अत एव नम्रमुखी नतानना, बाला घोडाशवारिणी
(सुग्धा), हसता स्वाभोधानायामलम्बहेतुकहासमृता, प्रियेण, चिरं लज्जाऽपगमपर्यन्तं,
चुम्बिताऽभूदित्यर्थः ।

समानकर्तृक-प्राथम्यकालिकक्रियाया कृत्यो विधानात्तदर्थमिह पञ्चाद्यन्तलज्जापदपार्श्व-
व्यसनवरोचम् ।

कोई सुग्धा नायिका के आचरणों का वर्णन करता है कि—बाला (सुग्धा नायिका)
झीड़ागृह को जनों से शून्य देखकर-प्रियप्राणेश-मात्र को वहाँ पाकर धीरे धीरे तप्या से
हुड़ उठी और निद्रा का व्याज किये हुये (न कि वस्तुतः सोये हुये) पति के मुख को
धिरकाळ तक निहार कर (पति के निद्रा-मात्र हो जाने के विश्वास से) छगी उसके मुख
को भण्डी तरह चूमने, पर चूमने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोल-प्रदेश रोमा-
ञ्चयुक्त हो उठे हैं, तब लज्जा के मारे उसका मुख नीचा हो गया, पति के सामने उसकी
इष्टि टिक न सकी । फिर क्या था ! पतिमहाशय उठ बैठे और हँस हँस कर छट्टीं सुग्धा
पत्नी को चूमते रहे ।

उपपादयति—

अत्र ‘उत्थाय किञ्चिच्छनैः’ इत्यत्र सवर्णस्यद्वयसंयोगः, तत्रापि नैकट्येन
सुतरामश्रव्यः । एवं ऋषट्ठितसंयोगपरद्वयस्यापि । तथा ‘शनैर्निद्रा’ इत्यत्र
‘निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्’ इत्यत्र च रेफघटितसंयोगस्य, ऋषट्ठितसंयोगपरद्वयस्य
च प्राचुर्यम् । ‘विस्रब्धम्’ इत्यत्र महाप्राणपटितस्य, ‘लज्जा’ इत्यत्र स्वात्मसवर्ण-
स्यद्वयघटितस्य, ‘मुच्यी प्रियेण’ इत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घानन्तरस्य संयोगस्य,
तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्वः, लोकतेश्च द्विः प्रयोगः कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं
प्रकारायति ।

‘उत्थाय किञ्चिच्छनैः’ इत्यत्र तथयोश्चच्छयोश्च सवर्णकृत्यो सामीप्येन संयोग एक,
भयद्वयघटितसंयोगद्वयात् पूर्वयोर्ह्रस्वोकारेकारयोः सत्त्वादपरद्वय दोषः, ‘निद्रा’ इत्यत्र ‘पत्युः’
इत्यत्र च क्रमेण इक्षर-तक्षररूपभयघटितसंयोगतः पूर्ववर्तिन इक्षरारूपरूपद्वयस्य

प्राचुर्यं, 'शर्वेन्द्रा' 'निर्वर्ण्य' 'पत्युर्मुखम्' इत्यत्र रेफघटितसंयोगस्य प्राचुर्यं च दोषः, 'विग्रन्धम्' इत्यत्र धकाररूपमहाशणघटितसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'लज्जा' इत्यत्र मयो जकारस्य स्वात्मना सवर्णमया संयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र पृथक्पद-घटकस्य दाघेकारानन्तर-पक्षररेभसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'उत्थाय' 'निर्वर्ण्य' 'परिचुम्ब्य' 'आलोक्य' इति पञ्चनारान् कृत्वाप्रत्ययस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'आलोक्य' इति द्विलोकधातोः प्रयोगो दोषश्च कवे रचयितुः, निर्माणसामग्र्योदारित्थं स्वव्यरचनाकारणी-भूताया व्युत्पत्त्युद्भातितप्रतिभाया राहित्यमल्पत्व वा प्रचारायति बोधयतीति कविमिवैदभी-रौतिनिर्माणे सावधानेर्भाव्यमिति भावः ।

उक्त पद्य में 'उत्थाय' और 'क्रिञ्चिच्छ्वेन' इन दो स्थानों पर दो दो सवर्णसयों (तकार-यकार और चकार-झकार) का संयोग है और वह भी समीप-समीप में, अतः अतिशय अश्रव्य है । इसी तरह इसी स्थान पर उक्त श्रव्यों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके भागे हैं, उन इत्थों (उकार और हकार) का भी प्रयोग हुआ है । तथा 'शर्वेन्द्रा' और 'पत्युर्मुखम्' इन दो जगहों पर रेफ के द्वारा बने हुये संयोग को और श्रव्यों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके भागे हैं, उन इत्थों की अधिकता है । एवम् 'विग्रन्धम्' इस जगह महा श्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण श्रव्यों का अपने ही साथ संयोग और 'मुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न पदगामी दीर्घ के दाघ का संयोग है । इसी प्रकार कृत्वा-प्रत्यय का पाँच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वर्ण्य, परिचुम्ब्य और आलोक्य, इन पदों में) और 'लोक' धातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य में) प्रयोग किया गया है, जिससे कवि के पास रचना की सामग्री की कमी सूचित होती है ।

'महीदत्ता दोषोद्धोषणमात्मन एव दूषणं भवतीत्यभियुक्तोक्तिं स्मरन्तस्तौ विरमति—

इत्यल्ल परकीयकव्यविमर्शनेन ।

परकीयकाव्यदोषाश्लोचनेनात्मम् 'परस्वभावकर्माणि न प्रशस्येन गर्हयेत्' इति भगव-द्वादरायणोक्तैरित्यर्थः ।

पर, जाने दीजिये, दूसरों के काव्यों की आलोचना करना स्वर्ध है ।

प्रधान्तं सविरोपरसनिरूपणमुपसंहरति—

इति सङ्क्षेपेण निरूपिता रसाः ।

रसाना प्रकारानन्त्याद् विस्तरेण वर्णयितुमशक्यत्वम् ।

इस प्रकार रसों का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ ।

रसध्वनिनिरूपणानन्तर प्राप्तावसरतया भावध्वनिं निरूपयितुमाचष्टे—

अथ भावध्वनिनिरूप्यते—

अथ भाव-ध्वनि का निरूपण करते हैं:—

प्रथमं भावस्य ज्ञानाय लक्षणं पृष्ट्वा परोक्षं तद् सम्बध्यति—

अथ किं भावत्वम् ? विभावानुभावमिन्नत्वे सति, रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवार्थेऽतिव्याप्त्यापत्तेः ।

रसव्यञ्जके काव्यवाक्ये विभावानुभावमिन्नत्वस्य रसव्यञ्जकत्वस्य च सत्त्वाद् भावत-क्षणातिव्याप्तेरिदं लक्षणं न सम्यगित्यभिसन्धिः ।

यह सार्व प्रथम विचारणीय वस्तु यह है कि 'भाव' किनको कहते हैं ? उनका लक्षण क्या है ? यदि कोई कहे कि 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों-जिनसे रस व्यक्त हों, उन्हीं को 'भाव' कहते हैं, तो, यह समुचित नहीं, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है-अर्थात् रस-प्रति-

पादक काव्य के नाक्य विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त हुई है और रस-व्यञ्जक भी हैं, अतः उनको भी 'भाव' कहना पड़ेगा ।

ननु शब्दस्य व्यञ्जकत्वविरहान् कुतोऽतिव्याप्तिरस्य आह—

अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् ।

साक्षाद्व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थद्वारेण परम्परया शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् । तदुक्तम्—'शब्द-
बोध्यो व्यनक्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ।'
इति । इत्थं सहकारिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्यातिव्याप्तिस्तदवस्यवेत्याशयः । वस्तु तस्तु गीतवा-
द्यादिशब्दानां वाच्यार्थाप्रत्यायकत्वेऽपि रसव्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकारादिभिर्निर्णीतत्वेन न
शब्दस्यार्थद्वारेण व्यञ्जकत्वम् । तथा च नाग्रिमनिवेशस्यावसरः ।

यदि धाही कहें कि रस के व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं, शब्द नहीं, फिर शब्द-समूह-रस
वाक्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो इसका उत्तर यह है कि साक्षात् रस
व्यञ्जक अर्थ ही भले हों पर उन अर्थों के द्वारा शब्द भी रस-व्यञ्जक माने जाते हैं, अतः एक
विद्वानों का कथन है कि 'शब्द-बोध्यो व्यनक्त्यर्थः तस्योऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्ज-
कत्वे तदन्यस्य सहकारिता'—अर्थात् 'अर्थ शब्दों के द्वारा अवगत होकर व्यञ्जक होता है,
और शब्द भी अर्थों का आश्रय-वाचक हो कर ही (न कि निरर्थक) व्यञ्जक होता है,
अतः एक के साक्षात् व्यञ्जक होने पर दूसरा सहकारी होता है' । वस्तुतः तो ध्वनिकार
आदि ने शब्दों को भी साक्षात् व्यञ्जक माना है, तबनुसार अर्थद्वारा वाक्य को व्यञ्जक
मानने की आवश्यकता भी नहीं है ।

शब्दस्य साक्षाद्व्यञ्जकत्वमनुष्ठा दोषवारणाय लक्षणे निवेशं विधाय निरस्यति—

द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि
भावनाद्वारेण व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेः ।

विभावादिभिन्नत्वे सति साक्षाद्व्यञ्जकत्वमिति लक्षणे तु दोषद्वयं स्यात्, रसस्य
पुनःपुनरनुसन्धानरूपाया भावनाया एव साक्षाद्व्यञ्जकत्व, भावस्य तु भावनाद्वारेण रसव्य-
ञ्जकत्वमस्तीति साक्षाद्व्यञ्जकत्वस्य भावेऽप्यभावादसम्भव एकः, साक्षाद्व्यञ्जिकाया
भावनायामतिव्याप्तिश्च द्वितीयो दोष इत्येतन्निवेशोऽतस्तत्र इत्यभिप्रायः ।

धाही कह सकते हैं कि इसी लक्षण में 'जो किसी को द्वार बना कर रसों का व्यञ्जक
हो' इस तरह व्यञ्जक में एक विशेषण और लगा देंगे, तब तो वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं
होगी, क्योंकि वह अर्थ को द्वार बना कर व्यञ्जक है, परन्तु ऐसा करने पर लक्षण में अस-
म्भव दोष ही आ जायगा—अर्थात् यह भाव का लक्षण कहीं भी संप्रदित ही हो सकेगा,
क्योंकि जिनको सब लोग भाव मानते हैं, वे भी भावना (द्वार-द्वार अनुसन्धान) के
द्वारा ही व्यञ्जक होते हैं । दूसरे, भावना में अतिव्याप्ति भी हो जायगी, क्योंकि बिना
किसी के द्वार बनाये वही रसों की व्यञ्जिका होती है । वस्तुतः तो उक्त रीति से शब्द भी
बिना किसी को द्वार बनाकर व्यञ्जक होता ही है, अतः वही तथा भावना में उक्त लक्षण
को अतिव्याप्ति ही होगी—असम्भव नहीं ।

ननु काव्यवाक्येऽतिव्याप्तिं वारयितुं शब्दभिन्नत्वे सतीत्यपि लक्षणे प्रवेरयतामित्युक्तिं
निराकरोति—

अत एव च [विभावानुभावभिन्नत्वस्येव] शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे
न निस्तारः । प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताऽभावादव्याप्त्यापत्तेः ।

निस्तारो निर्वाहः ।

अत एव—भावनाया साक्षाद्व्यञ्जकत्वाच्छब्दमिन्नत्वाच्च तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेरेव,

एवं भावध्वनौ भावस्य प्राधान्येन व्यञ्ज्यमानतया रसव्यञ्जकत्वाभावाद् भावलक्षणाव्याप्तेः शब्दभिन्नत्वनिवेदनापि न निर्वाह इति सास्त्रम् ।

हृत्ती लिये व्यञ्जक में 'शब्द-भिन्नत्व' विशेषण जोड़ने पर भी उद्धार नहीं हो सकता—अर्थात् यदि 'विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त तथा शब्द से भिन्न जो रसों का व्यञ्जक हो, वह 'भाव' है' ऐसा भी लक्षण बनावें, तब भी छुटकारा नहीं, क्योंकि भावना (जो शब्द से भिन्न है) में अतिव्याप्ति रहेगी ही । एवम् भाव-ध्वनि-स्थल में जो भाव प्रधान-तया अभिव्यक्त होता है, वह रसों का व्यञ्जक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अभ्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव में लक्षण संघटित नहीं होगा ।

भावध्वनाव्याप्तिमात्रवारणमाशङ्क्य खण्डयति—

न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति याच्यम्, भावध्वनिविलोप-प्रसङ्गात् ।

तत्र भावध्वनावपि प्रान्ते भावध्वननानन्तरमन्ते भावेन रसस्य व्यञ्जनं भवत्येव, तत्तत्र भावस्यापि रसव्यञ्जकत्वाव्याप्तिरिति वक्तुं नैव शक्यम्, यतो भावध्वनावपि यदि पर्यन्ते रसप्रतीति स्वीक्रियेत, तर्हि तत्रापि रसस्यैव प्राधान्याद् रसध्वनित्वमेव स्यात् न तु भाव-नित्यमिति भावध्वनेर्विलोप एव भवेदतो न तत्र पार्यन्तिकी रसप्रतीतिरङ्गीकार्येति तात्पर्यम् ।

यदि वादी यह तर्क उपस्थित करें कि जहाँ भावही ध्वनि प्रधान होती है, वहाँ भी भाव-ध्वनि के बाद अन्त में रस की ध्वनि होती ही है, अतः उस तरह के भावों में रस-व्यञ्जकता है ही । इसका समाधान यह है कि यदि भाव-ध्वनि-स्थल में भी अन्त में रस की अभिव्यक्ति मान लेंगे, तब तो वहाँ भी रस की ही प्रधानता ही जाने से रस-ध्वनि का ही व्यवहार होने लगेगा, फलतः, 'भाव-ध्वनि' का साहित्यिक जगत् में उच्छेद ही जायगा, अतः भाव-ध्वनि-स्थल में रस की ध्वनि नहीं माननी चाहिये ।

पुनरिहाशङ्क्य समादधाति—

भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यञ्ज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनित्वपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्काररहितरस-व्यक्तौ मानानापात् ।

ननु भावध्वनिस्थले प्रथमं भावप्रतीति, पश्चाद्रसप्रतीतिश्च भवति, किन्तु तत्र रसप्रती-तेष्वमत्कारकत्वाभावात् रसध्वनिव्यवहार, अपि तु भावप्रतीतेष्वमत्कारितया भावध्वनि-व्यवहार एव स्यादिति चेत्, न, 'लोकेश्वरचमत्कारप्रमाण' 'रसे सारथ्यमत्कार' सर्वप्राप्यनु-भूयते' इत्याद्युक्तानुमनाच्च चमत्कारितरहिताया रसप्रतीतेरङ्गीकृतौ गानामावादिदि भाव' ।

यदि इस पर भी वादी यह कहें कि 'भाव-ध्वनि' स्थल में भी भाव की अभिव्यक्ति के बाद अन्त में रस की अभिव्यक्ति यद्यपि अवश्य होती है, तथापि वहाँ 'रस-ध्वनि' का व्यवहार इस लिये नहीं होता कि रसमिव्यक्ति में वहाँ कोई चमत्कार नहीं रहता और भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार रहता है अतः 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार होता है, परन्तु यह कथन भी वादियों का ठीक नहीं, क्योंकि चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-हीन होता ही नहीं ।

तदेव समर्थयति—

रसे हि धर्मिप्राहकमानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात् ।

येन सहृदयसमवेतप्रत्यक्षरूपप्रमाणेनात्र धर्मिणी रसस्य प्रदूर्णं ज्ञानं साधनं वा भवति, तद्धर्मिप्राहकं मानम्, तेन यत् सन्निधानन्दमगो मद्गुणनामिरेव रसो ज्ञापितः, तस्मान् तस्य

रसस्य चमत्काराभिज्ञानन्दं विनाऽभावाद् रसाभिव्यक्तिश्चमत्कारिष्येव, न तु कदापि तद्व-
हिता, स्वीक्रियत इति प्राग् रसनिरूपणेऽपि प्रतिपादितमित्यर्थः ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जिस सहृदयानुभव-रूप प्रमाण से रस शब्दार्थ की सिद्धि होती है, उसी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि रसमें आनन्द (चमत्कार) अंश का अविनाभाव (उसके बिना न होना) है—अर्थात् रस चमत्कार स्वरूप ही जब है, तब चमत्कार-रहित रस की सत्ता कैसे हो सकती है ।

इदानीं भावध्वनौ पार्यन्तिकी रसाभिव्यक्तिमभ्युपगम्यतापि तद्व्यपलक्षणं वृण्वति—

अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम्, तथापि देश-काल-वयोऽवस्थादिनानापर्य्यायपर्यटिते पदवाक्यार्थे तथाप्यति-
व्याप्तिः, तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात् ।

तथापि भावध्वनयव्याप्यतापत्तिवारणेऽपि । तथापि विभावानुभावभिन्नत्वे सति, शब्द-
भिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वमिति कथनेऽपि । विभावानुभावभिन्नत्वे सतीति शब्दभिन्नत्वे
सतीत्यस्याभ्युपगमणम् ।

अथवा भावध्वनावपि चरमदशायां रसाभिव्यक्तिरस्तु, तथापि न तवेष्टसिद्धिः, यतो
ध्वन्यमानभावस्य रसाभिव्यञ्जकत्वाङ्गीकारेण तत्रोक्तपूर्वायां भावलक्षणाभ्यासेवारेणोऽपि,
काव्यवाक्यार्थस्य देशकालावनेकपदार्थपर्यटितस्य विभावानुभावभिन्नत्वेन शब्दभिन्नत्वेन
रसाभिव्यञ्जकत्वेन च, तत्र भावलक्षणातिव्यासेर्जागृक्षत्वादित्याशयः । इह 'न भावहीनोऽस्ति
रसो न भावो रसजितः' इत्यभित्युक्तेर्भावध्वनावपि विवाहप्रवृत्तभृत्यानुगत राजवद् रसस्य
प्रतीतिरूपचमत्कारा भवन्ती, राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद् भावस्य प्रतीतिचमत्कारोत्कर्ष-
निबन्धन प्राधान्यं न विलोपुमर्हतीत्येवाभ्युपगमपक्षस्य निदानम् ।

अथ यदि बादी कहे कि रस की अपेक्षा भाव के गौण होने पर भी वाक्य की अपेक्षा
प्रधान होने के कारण, अथवा विवाह में दूल्हे बने हुये दीवान आदि गौकर के पीछे चलते
हुये राजा की तरह (क्योंकि वहां राजा की अपेक्षा दूल्हा भी प्रधानता रहती है) रस की
अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्य में 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार हो सकता है,
तो हम प्रधानतया ध्वनित होने वाले भाव को भी पर्यन्त में रस-व्यञ्जक मान लेते हैं,
परन्तु तब भी भाव का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि देश-काल अवस्था
और स्थिति आदि (जो विभाव-अनुभाव से भिन्न हैं) अनेक श्रुतियों से बने हुये श्लोक के
वाक्यार्थ में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त भी है
और रस का व्यञ्जक भी है । सारांश यह है कि वह लक्षण किसी भी प्रकार से सङ्गत नहीं
हो सकता ।

पुनर्लक्षणान्तरमुपक्षिप्य निरस्वति—

नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्, भावादिकचर्वणाया-
मतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम् ।

‘कालागुरुद्रवं सा, हालाहलवद् विजानती नितराम् ।

अपि नीलोत्पलमालां, नाला न्यालावलि किलामनुते ॥’

इत्यत्र हालाहलसदृशत्वप्रकारक्षानेऽतिव्याप्तेः, तस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन
रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च ।

ननु रसाभिव्यञ्जकत्वे सति, चर्वणाविषयोमूतत्वे च सति, चित्तवृत्तित्वमेव भावस्य
लक्षणमस्तु, रसाभिव्यञ्जकत्वमात्रविशेषणे भावचर्वणायामतिव्यासेवारेणाय चर्वणाविषयी-

भूतस्त्वमपि चित्तवृत्तिर्विशेषणमुपात्तम्, तथा च भावादित्त्वर्चणायां चर्वणाविषयत्वाभावात्-
तिव्याप्तिरिति पूर्वपक्षः ।

‘सा दयनीयदशापन्नत्वेन प्रसिद्धा, बाला सदसद्विषयेकविधुरा मम सखी, बालागुरुद्वयं
कृष्णागुरुसमपि हाहाहतवत् गरत्तुस्यं, विजानती, नीलोत्पलानां कुमलयात्रां, मालामपि,
व्यालवलिं कृष्णसर्पधेनीम्, आननुते सर्वथा मन्यते, इत्यर्थके नायकं प्रति वियोगिण्या
साङ्ख्योक्ते ‘काले’त्यादिषु, नायिकानिष्ठस्य कालागुरुद्वयाधिष्ठानकस्य हाहाहलसादृश्यप्रकारक-
चित्तवृत्तिविशेषरूपस्य ज्ञानस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसानुभावत्वाद् रसाभिन्वयकृतया चर्वणा-
गोचरतया च तत्प्रतिव्याप्तिः स्यादतो नेदं लक्षणं युक्तमित्युत्तरपक्षः ।

नागेशभट्टास्तु—लक्षणेऽस्मिन्ननुभावभित्तत्वमपि निवेशयतिप्रसङ्गं वारयन्ति ।

अथ यदि कोई यह लक्षण बनावे कि ‘उस चित्तवृत्ति को ‘भाव’ कहते हैं, जो रस को
अभिष्यक्त करनेवाली चर्वणा (आस्वाद) का विषय हो-उस आस्वाद में आ जाती हो ।
यही ‘रसाभिन्वयक चित्तवृत्ति का नाम भाव है’ इतना ही लक्षण करने पर भावों की चर्वणा
(आस्वाद) में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी रस को अभिष्यक्त करती है और
चित्तवृत्ति रूप भी है, अतः ‘चर्वणा-विषय’ यह विशेषण चित्तवृत्ति में लगाया गया,
जिससे उक्त अतिव्याप्ति का वारण हो गया, क्योंकि चर्वणा, चर्वणा का विषय नहीं होती,
यह समझना चाहिये । परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि—‘अगर-काष्ठ को जहर के
समान समझने वाली वह बाला (भले बुरे के ज्ञान से शून्य मेरी सभी) गोल-कमलों की
माला को भी, मानो, सर्पों की पङ्क्ति मानती है’ एतद्व्यक्त, नायक के प्रति विरहिणी की
सखी के द्वारा कहे गये ‘कालागुरुद्वय सा’...’ इत्यादि पद्य में जो ‘कालागुरु (अगर)
को जहर के समान समझती है’ इत्याकारक नायिका ॥ ज्ञान का वर्णन किया गया है, उस
ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गारका अनुभव है—वियोग
कालिक प्रेम के चलते ही उत्पन्न हुआ है, अतः उसका आस्वाद होता है और वह आस्वाद
रस का व्यञ्जक भी होता है, इस तरह वह ज्ञान रसाभिन्वयक चर्वणा का विषय है और
चित्तवृत्ति रूप भी, क्योंकि ज्ञान चित्तवृत्ति रूप ही माना जाता है । नागेश भट्ट उक्त लक्षण
में ‘अनुभावभित्तत्व’ यह एक और विशेषण जोड़ कर अतिव्याप्ति का वारण करते हैं । यहाँ
हिन्दी रसगङ्गाधर के निर्माता पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदीजी लिखते हैं कि—‘इस स्थान
पर, सहृदयभावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान हो रहा है, उसमें लक्षण की अति
व्याप्ति हो जायगी । वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभाव है—उत्ते के द्वारा उत्पन्न हुआ
है’...’इत्यादि’ परन्तु चतुर्वेदी जी का यह कथन सङ्गत नहीं जैसता, क्योंकि—सहृदय भावक
‘को जहर की बराबरी का ज्ञान कैसे होगा ? उस ज्ञान की उत्पत्ति तो वियोग कालिक प्रेम
से होती है, और सहृदय वियुक्त प्रेमी नहीं रहता, हाँ, नायिकानिष्ठ उक्त ज्ञान वा ज्ञान
सहृदय को अवश्य होता है । परन्तु वह ज्ञान—ज्ञान, न अनुभाव ही है न रस व्यञ्जक ही ।

गत्यन्तरविरहाद् भावत्वमल्लक्षणेऽपाधि मन्यमानानां मतमुपाकरोति—

नाप्यखण्डम्, तत्त्वे मानाभावात् ।

भावत्वमिदमखण्डमेव, तेन नास्य लक्षणनिर्देशापेक्षेत्यपि निर्गदितुं न शक्यम्, भाव-
त्वस्याल्लक्षणेऽपाधित्वाद्गोचरेऽनुगतप्रतीत्यादिज्ञापकमानाभावाद्, भावत्वस्यान्यथाऽपि निर्वक्तुं
शक्यत्वात् ।

यदि चारी कहें कि भावत्व अखण्ड उपाधि है, अतः उसके लक्षण करने की कोई
आवश्यकता नहीं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि—भावत्व को अखण्ड उपाधि मानने में
अनुगत प्रतीति आदि जो ज्ञापक प्रमाण हो सकता है, वह नहीं है, उसे अखण्ड
उपाधि बिना माने भी निर्वाह हो सकता है, फिर वैसा मानना निरर्थक भी है ।

इत्थं परकीयलक्षणानि प्रतिशिष्य, स्वकीयं लक्षणमुपशिष्यति—

अत्रोच्यते—

विभावादिभ्यज्यमान-दर्पाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ।

विभावादिभ्यज्यमानत्वे सति, दर्पाद्यन्यतमत्वं भावत्वम् । दर्पादियद्यतु विरादनन्तरं निरूपयिष्यन्ते । विशेषणानुक्तौ वाच्यदर्पादिषु, विशेष्यानुक्तौ च रसादिध्वतिव्याप्तिः ।

अन्यतमत्वस्य लक्षणकुक्षिप्रवेशे यौरवं, उत्परिहरणं च भया प्राप्तेष्वोपन्यस्तमवसेयम् ।

उक्तं रीति से परकीय-भाव लक्षणों का लक्षण करके अब स्व-सम्मत सिद्धान्तमूल 'भाव' का लक्षण करते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि । विभाव आदि से जनित किये जाने वाले दर्प आदिकों (जिनकी रागना आगे की जायगी) में से एक एक का नाम 'भाव' है ।

स्वलक्षणं प्राचीनोक्त्वा इदमिति—

यदाहुः—

'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति ।

अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयीभूतो व्यभिचारी भावः स्यादिति तदर्थः । अन्यत्र तु प्राधान्ये-नाभिव्यक्तौ व्यभिचारी, अपुष्टः स्थायी च भावः कथितः ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'व्यभिचार' इत्यादि । अर्थात् जनित होने वाले व्यभिचारी-भाव को 'भाव' कहते हैं ।

अधुना दर्पादिभावानामभिव्यक्तिं मतत्रयमेवेन क्रमात् त्रिविधा दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमतेन दर्शयति—

दर्पादीनां च सामाजिकक्रांतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः ।

न्यायस्तुल्यता ।

वासनारूपेण सामाजिकना दृश्ये स्थितानां अभ्यन्तरोपस्थापितैरविरुद्धैर्विरुद्धैश्च भावैरनभिभूतानां स्वाभिव्यक्तिसामग्रा यथा स्थायिभावानां स्थिराभिव्यक्तिः, तथैव प्राधान्यमुपलब्धता दर्पादीनामपि स्थिराभिव्यक्तिरिति रसनिरूपणे शृणुपन्यस्तं प्रथमं सिद्धान्तमतम् ।

भाव किस तरह जनित होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने तीन तरीके बतलाये हैं, अब ग्रन्थकार उन्हीं तीनों तरीकों का क्रमशः प्रदर्शन करने के क्रम में सर्व-प्रथम सिद्धान्त-भूत तरीके का उल्लेख करते हैं—'दर्पादीनाम्' इत्यादि । सामाजिकों नाटकादिके देखनेवालों और काव्यके पढ़ने सुनने वालों में वासनारूप से जो दर्पादिक रहते हैं, उन्हीं की स्थायीभावों की तरह अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् वासनारूप से सामाजिकों के रहने वाले और काव्य अथवा नाटक से उपस्थित किये गये अनुकूल तथा प्रतिशूल सभी तरह के भावों से नहीं दबाने योग्य स्थायीभावों की जैसे अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान बने हुये दर्प आदि भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है ।

द्वितीयं मतमाचष्टे—

साऽपि रसन्यायेनेति केचित् ।

साऽभिव्यक्तिः ।

सामाजिकानां दृश्ये स्वभावतो विद्यमानोऽपि निहितो विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्रा सत्त्वो-द्वेदेकेण पिधानस्य निवर्तने स्थायिभावोपहितो भगवदव्यभिचानन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्य-ज्यते, तथैव विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्रा सत्त्वोद्वेदेकेण भगवदव्यभिचिद्विशिष्टा दर्पादयो भावा अपि सामाजिकदृश्येऽभिव्यज्यन्ते इति रसनिरूपणे केनदित्यनेनोपन्यस्तं द्वितीयं मतम् ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भावों की अभिव्यक्ति रस की तरह होती है अर्थात् जैसे, सामाजिकों में स्वभावतः रहने वाला भी आत्मानन्द अविद्या से ढका रहता है, पर काव्यगत अलौकिक व्यापार से उस अविद्यामय आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है और उसी आवरणमुक्त स्थायीभाव से उपहित चिदानन्द को रस कहा जाता है, उसी तरह आवरणमुक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं।

तृतीय मतमुपादत्ते—

व्यङ्ग्यथान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यते ।

व्यङ्ग्यथान्तरं रसमिदं वस्तुरूपमलङ्काररूपं च ।

वाचकशब्दाद् वाच्योपस्थितावपि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्ये सत्त्वनुरणनन्यायेन यथा वस्तुलङ्काररूपो व्यङ्ग्योऽपि श्रोतॄणा हृदयेऽभिव्यज्यते, तथैव विभावादिवाचकतत्तच्छब्द-प्रत्ययानन्तरमनुरणनन्यायेन हर्षादयो भावा अपि श्रोतॄणा हृदयेऽभिव्यज्यन्ते इति रस-निरूपणोऽपर इत्यनेनोपन्यस्त तृतीय मतम् ।

अन्य विद्वानों का यह भी मत है कि अन्य व्यङ्ग्यों की तरह भावों की अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् जैसे काव्य तथा नाटक के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद वक्ता एवं बोद्धव्य आदि के ज्ञान-द्वारा वस्तु अलङ्काररूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थ सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं।

अथैषा भावानामभिव्यक्तौ कारणं परीक्षते—

विभावाऽनुभावौ चात्र व्यञ्जकौ, न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः ।

अत्र भावव्यञ्जने विभावानुभाववैव व्यञ्जकौ, न तु स्वातिरिक्तौ व्यभिचारिभावो व्यञ्जकः, अन्यस्य व्यभिचारिणोऽभिव्यक्तिकुक्षिप्रवेरो कदाचिद् तस्यैव प्राधान्यस्य सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकत्वमत्र नास्तीति तत्तत्स्थानम् ।

अब इन भावों के व्यञ्जक कौन हो सकते हैं ? इस बात की परीक्षा करते हैं—'विभावाऽनुभावौ' इत्यादि । विभाव और अनुभाव ये दो ही भावों के व्यञ्जक हैं, व्यभिचारीभाव नहीं, यदि एक व्यभिचारी (जिसको प्रधान व्यङ्ग्य होने के नाते भाव कहते हैं) के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी को व्यञ्जक मानना आवश्यक समझा जायगा, तब वही (व्यञ्जक व्यभिचारीभाव ही) प्रधान हो जायगा । कारण यह है कि जैसे यह (भाव माना जाने वाला) व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त होता है वैसे ही वह (व्यञ्जक माना जाने वाला) भी अभिव्यक्त होता है और व्यञ्जकता उसमें अधिक है । अतः भावों के दो ही (विभाव और अनुभाव) व्यञ्जक मानना उचित है ।

प्रकरणादीना तात्पर्यनियामकत्वेन व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकतयाऽभ्युपगमेऽपि न प्राधान्यापत्तेः सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्यापि व्यञ्जकत्वमभ्युपेयमेवेति सिद्धान्तपक्षमाह—

यस्तुतस्तु—प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे, तदीयसाम-ग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया तनिमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि न क्षतिः । यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य ।

प्रकरणादिवशात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने सति, तद्भावंस्य व्यञ्जिका या सामग्री, तथैवा-विनाभावित्वेन यतो व्यञ्ज्यमानोऽपरो भावो भवति, तस्मात् स्वल्पतया भासमानोऽपि परो-व्यभिचारिभाव-प्रधानभावस्याङ्गमेव भवति, न त्वङ्गीति विभावानुभाववद् व्यभिचार्यन्तरस्य

भावव्यपकताङ्गीकारे न तत्प्राधान्यापत्तिः । अत एव गर्वाद्दौ भावेऽङ्गिनि, व्यभिचार्यन्तरस्या-
मर्पस्य, अप्रमर्पादौ चाङ्गिनि गर्वस्याङ्गत्वं न विरुद्धमित्यभिप्रायः ।

वस्तुतः तो जब प्रकरण आदि के बल से कोई एक भाव प्रधान हो जायगा, तब उसको
ध्वनित करने वाली सामग्री के द्वारा, अन्यभाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही
नहीं हो सकता, इस कारण यदि कोई अन्य भाव ध्वनित हो भी जाय और वह प्रकरण
प्राप्त भाव की अपेक्षा दुर्बल होने के कारण उसका अङ्ग बनकर रहे तो कोई हानि नहीं—
अर्थात् प्रकरण आदि की सहायता से प्रबल बना हुआ एक भाव जब प्रधान हो जायगा,
सब दूसरा भाव अन्यथासिद्ध के रूप में अभिगम्य होकर भी दुर्बल रहेगा, अतः प्रधान
हो नहीं सकता, इसलिये यदि विभाव अनुभाव की तरह स्थितिचारीभाव को भी भावों
का अङ्ग माना जाय तो किसी हानि की सम्भावना नहीं है । जैसे कि गर्व के प्रधानतया
व्यङ्ग्य होनेपर अमर्प अङ्ग और 'अमर्प के प्रधान व्यङ्ग्य होने पर गर्व अङ्ग होता है ।

नन्वेकस्मिन् भावेऽङ्गिनि परस्य भावस्याङ्गत्वे, गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं, न तु भावध्वनित्वं
तत्र स्यादित्याहुष समादधाति—

न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव
(भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात् ।

यत्र प्रधानभावव्यङ्गिकाया विभावानुभावरूपरामप्रथा मिश्रया सामप्रथा भावान्तरम-
भिव्यज्यते, तत्रैव तस्य भावान्तरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारकारणतम्, न त्वङ्गत्वेनैव ।
प्रकृते तूमयोरैकेव सामग्री व्यङ्गिका, तस्मात्तात्र गुणीभूतत्वं सम्भवतीति भावः ।

यदि भाव कहें कि इस तरह भाव-ध्वनि-स्थल में एक भाव को अङ्गीरूप में और
दूसरे भाव को अङ्ग रूप में व्यङ्ग्य मानने पर वह काव्य 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' कहलायगा 'भाव-
ध्वनि' नहीं, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि
प्रधान भाव को व्यक्त करने वाले विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त विभाव और अनुभाव
से जो गौण भाव व्यक्त होता है, अत एव प्रधान भाव के व्यङ्ग्य होने पर जिसका व्यक्त
होना आवश्यक नहीं, अपि तु आकस्मिक है, वही काव्य में गुणीभूत व्यङ्ग्य-व्यवहार का
कारण होता है, भाव-ध्वनिस्थल में तो अङ्गभूत भाव भी उन्हीं विभाव-अनुभावों से
अभिगम्य हुआ रहता है, जिससे अङ्गीभाव ध्वनित होता है, अतः वहाँ का अङ्गभूत भाव-
व्यङ्ग्य, गुणीभूत-व्यङ्ग्यता का नियामक नहीं बन सकता ।

उक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वने-
रुच्छेद एव भवेत् ।

अत एवाभिन्नसामग्रीव्यङ्ग्यत्वादेव नान्तरीयकयोर्नित्यसम्बन्धयोर्भावयोर्गुणप्रधानभावा-
भावः । अन्यथा—तत्रापि गुणप्रधानभावाभ्युपगमे गर्वादिभावध्वनाव्यपमर्पादिभावानामभिन्न-
रामग्रीव्यङ्ग्याना बलाद् गुणीभूतव्यपदेशे सर्वत्र प्रकृते, भावध्वनिव्यपदेशस्य सर्वथा लोप एव
स्यादित्यर्थः ।

जिसलिये उक्त रीति से आकस्मिक भाव ही अङ्गभूत होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता का
कारण होता है, इसीलिये भावध्वनिस्थल में प्रधान भाव से भिन्न उसी भाव की ध्वनि
होती है, जो नान्तरीयक रहता है—प्रधान भाव के ध्वनित होने पर जिसका ध्वनित होना
आवश्यक होता है—अर्थात् जो प्रधान भाव-व्यञ्जक-सामग्र्य से ही व्यक्त हुआ रहता है ।
तात्पर्य यह है कि भाव-ध्वनि स्थल में प्रधान भाव से भिन्न उस भाव की ध्वनि नहीं होती,
जिसका प्रधान-भाव-ध्वनि के साथ ध्वनित होना विधिवत् नहीं है । अन्यथा (यदि प्रधान
भाव-ध्वनि के साथ बिचमत ध्वनित होने वाले अङ्गभूत भाव भी गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व-

व्यवहार के कारण हों, तब) गर्वादिभावध्वनि का छोप ही हो जाय, कारण यह कि गर्वादि-प्रधान-भाव-ध्वनि-स्थल में अङ्गरूप से नियमतः ध्वनित होने वाले भ्रमर्प आदि को लेकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का व्यवहार ही सर्वत्र हो जायगा ।

विभावस्य भावे निमित्तकारणता वक्ति—

विभावस्त्यत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्येव सर्व-
थैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते ।

अत्र भावध्वनौ । यथा रसे व्यञ्जनीये विभावस्यालम्बनतयोद्दीपनतया चापेक्षा भवति,
तथा व्यभिचारिभावे व्यञ्जनीये न भवति, किन्तु व्यभिचारिभावं प्रति विभावस्य निमित्त-
कारणतैव सामान्यत इत्यर्थः ।

विभावपद से यहाँ व्यभिचारीभाव के साधारण निमित्तकारण का ग्रहण समझना
चाहिये, न कि रस की तरह उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित है ।

विरोधमाह—

यदि तु क्वचित् सम्भवः, तदा न वार्यते ।

क्वचित् कस्मिंश्चिद्, भावे व्यञ्जनीये सति, आलम्बनविभाववदुद्दीपनविभावस्यापि यदि
सम्भव स्यात्, तदा ते आलम्बनोद्दीपने न वार्यते । अत एवाग्रे रसाभासोदाहरणप्रसङ्ग उद्दी-
पनस्याप्नुयादानं नासङ्गतम् ।

यदि कहीं किसी खास भाव की ध्वनि में विभाव का आलम्बन और उद्दीपन होना
भी सम्भव हो, तो उसका निषेध भी नहीं करना है । अत एव आगे रसाभास के उदाहरण-
प्रसङ्ग में आलम्बन के जैसे उद्दीपन की भी की गई चर्चा असंगत नहीं होती है ।

भावरूपता प्राप्तान् हर्षादीन् क्रमेणोद्दिशति—

हर्षादयस्तु—

हर्ष-स्मृति-व्रीडा-मोह-धृति-शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-भ्रम-गर्व-
निद्रा-मति-व्याधि-त्रास-सुप्त-विचोधा-अमर्षा-अवहित्योप्रतोन्माद-मरण-वि-
तर्क-विपादात्सुक्या-ऽऽवेग-जडता-ऽऽलस्या-ऽसूया-ऽपस्मार-चपलताः ।

प्रतिपक्षकृतधिकारादिजन्मानिवेदथेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः । गुरु-
देव-नृप-पुत्रादिविषयारतिथेति चतुस्त्रिंशत् ।

भावानामिहोद्देशक्रमः प्राचीनग्रन्थप्रतिकूलः ।

हर्षप्रभृतयस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा गुर्वादिविषयकरतिथेति चतुस्त्रिंशद् भावा-
सन्तीत्यर्थः ।

इह गुर्वादिविषयकरतिरिति 'रसावस्थः परं भावः स्थायिता प्रतिपद्यते ।' 'रत्यादिष्वेति-
रङ्गः स्यादेवादिविषयोऽप्यवा । अन्यथाह्मभानाम् वा स्यान्न तदा स्थायिरनन्दभाक् ।' 'रत्या-
दयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः' 'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषयारति । उद्बुद्धमात्र-
स्थासौ च भाव इत्यभिधीयते ।' इत्यादिदर्शनात् सामग्रीविरहेणाप्राप्तैरसभावानामन्येषामपि
स्थाविभावानामुपलक्षणम् ।

अब भावों का परिगणन करते हैं—'हर्षादयस्तु' इत्यादि । भावों की कुल संख्या
३४ है । उनमें से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शङ्का, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, मद,
भ्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विचोधा, अमर्ष, अवहित्या, उप्रता, उन्माद,

मरण, वितर्क, विषाद, श्वसुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपरमार, चपलता और प्रति पक्षी के द्वारा किये गये तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद ये ३३ व्यभिचारी हैं और चौतिसवाँ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र आदि के विषय में होने वाला प्रेम ।

ननु पुत्रादिविषयकरतिस्त्रायिकं चात्तत्त्वनामकं रसान्तरमेवान्यत्रोक्तमिति कुतोऽत्र तत्रतेर्भावत्वेन गणनेत्याशङ्क्यो निराकरोति—

एतेन वास्तव्याख्यं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम्, उच्छृङ्खलताया मुनिवचनपराहतत्वात् ।

रससङ्घात्स्वीकारे भरतमुनिवचनस्यैव व्यवस्थापकत्वं यत् प्राग् रसरूपेणोऽनायत्नाऽ-
ङ्गीकृतम्, अतस्तेनैव मुनिना पुत्रादिविषयकरतेर्भावत्वेन व्यवस्थापनाज् वास्तव्यरसोऽ-
स्तीति सारम् ।

अथ किसी किसी विद्वान् ने जो 'वास्तव्य' को रस माना है, उसका खण्डन करते हैं—
'एतेन' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि पुत्र आदि विषयक प्रेम को उक्त भावों की श्रेणी में क्यों गिनते हैं ? अथ कि अन्य विद्वान् उसको 'वास्तव्य' नामक रस मानते हैं और पुत्र आदि को उस रस का आलम्बन आदि । इस ग्राह्य के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि 'वास्तव्य' नामक कोई रस नहीं हो सकता, क्योंकि भरत मुनि ने ऐसा नहीं माना है और उच्छृङ्खलता उनके आगे चल नहीं सकती, अतः भरत मुनि के कथनानुसार उसे भाव मानना ही उचित है ।

इदानीमेकैकशो हर्षादीन् निरूपयितुमुद्यत उद्देशकमेणादौ हर्षं निरूपयति—

तत्र—

इष्टप्राप्त्यादिजन्या सुखविशेषो हर्षः ।

इष्टप्राप्त्यादिजन्य सुखविशेषो हर्ष इति लक्षणम् । भावत्वेनास्य चित्तवृत्तिविरोधरूपता ।
अथ क्रमशः उक्त भावों में से एक एक का निरूपण, लक्षणोदाहरणादि-प्रदर्शन द्वारा करते हैं ।

(अभिलषित वस्तु की प्राप्ति आदि से जो एक तरह का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं ।)

आदिपदब्राह्मैर्विभावैः सहास्यानुभावान् दर्शयितुमन्यदोयमपि लक्षणं वक्ति—

तदुक्तम्—

'देव-भर्तु-गुरु-स्वामिप्रसादः प्रियसङ्गमः ।

मनोरथासि रप्राप्यमनोहरधनागमः ॥

तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते ।

नेत्र-चक्रप्रसादश्च, प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः ॥

अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं समादिशेत् ॥' इति ।

भर्ता पतिः स्वामी त्वनिपति । पुत्रायुत्पत्तिपर्यन्तं हर्षस्य निमित्तानि विभावा, नेत्र-
प्रसादादयश्च नैमित्तिकान्दनुभावाश्च यत्र जायन्ते, तं हर्षमादिशेदित्यन्वयः ।

हर्ष का परिमाण प्राचीनों ने भी इसी तरह की है, जैसे—'देवभर्तु' इत्यादि जिसका अर्थ यह है कि—देवता, पति, गुरु और स्वामी (निपति) की प्रसन्नता, प्रिय समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और छोय-जनक धन का लाभ या पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता प्रियवचन, रोमांच, आँसू और प्रवेद आदि जिनके अनुभाव होते हैं, उसको हर्ष कहना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायकः सखायं कथयति—

‘अवधौ दिवसावसानकाले, भवनद्वारि विलोचने दधाना ।

अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी धमूय ॥’

अवधौ प्रतिज्ञातावसनसमयसीमनि, दिवसस्यावसानकाले गोभूलिसमये, भवनस्थ द्वारे दूरादेव मम दिदृक्षया विलोचने रणरणकालिरेकेणोभे अपि नयने, दधाना संयोजयन्ती रामा, तदा तदवसरे समागतं प्राप्तं माम्, अवलोक्य, अथ हर्षोद्भवानन्तर, विकसन्मुखी विहसद्ददना, धमूवेत्यर्थः ।

उदाहरणं देखिये—‘अवधौ ’ इत्यादि । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आगमन के अवधि-दिन की गोभूलि बेली थी, प्रियतमा ने घर के द्वार पर अपनी आँखें बिछा रखी थीं—मेरे दर्शन की प्रतीक्षा में उसकी आँखें एकटक द्वार की ओर लगी थीं, उसी समय उसने मुझे आया हुआ देखा, फिर क्या था, हर्ष से उसका मुख खिल उठा ।

अत्र हर्षस्य विभावमनुभावं चाह—

अत्रावधिकाले प्रियागमनं विभावः, मुखविकासोऽनुभावः ।

विभावातुभावज्ञानं भावज्ञानसाधनम् ।

यदा प्रियका आगमन विभाव और मुख का खिल उठना अनुभाव है ।

स्मृतिं निरूपयति—

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ।

अनुभवज्ञानानां क्षणत्रयमात्रावस्थायित्वे विलम्बेन स्मरणानुपपत्ते स्मृतिं प्रति ज्ञानस्य कारणता निरस्य चिरस्थायिन संस्कारस्यैव कारणता निर्णयन्ति नैयायिका रत्यनुभावजन्य-संस्कारजन्य ज्ञानं स्मरणमवसेमम् । तदुक्तम्—‘स्मृतिं पूर्वानुभूतार्थविषय ज्ञानमुच्यते ।’ इति ।

किन्हीं वस्तुओं के दर्शनारम्भ-श्रवणारम्भ आदि ज्ञान से जो हृदय में संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम ‘स्मृति’ है । दार्शनिकों के विचारानुसार सभी ज्ञान (अपेक्षा बुद्धि को छोड़कर) तीन ही स्वरूप रहते हैं, अर्थात् ज्ञान को स्मरण के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, इसलिये अनुभव-तन्मय-संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मरण कहा गया है, यह विशेष यहाँ समझना चाहिये ।

उदाहरति—

यथा—

नायको विमृशति—

‘तन्मञ्जु मन्दहसितं शसितानि तानि,

सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननश्रीः ।

अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !,

सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥’

द्वितीयचरणान्ते समुच्चयार्थक्यकार आक्षेप्य, अथवा—‘वामश्व पुरुष पशुम्’ इत्यत्रैव तदर्थप्रतीतिर्बोद्धा ।

सायन्तनाम्बुजस्य निमीलनमुच्चकमलस्य सहोदरसदृश लोचन यस्या सा तादृशी, तस्या विलासश्रमेण वस्तुतस्तुत्वानन्दातिरेकेण निमीलयनाया प्रेयस्या, तत् पूर्वानुभवैक-

गोचरोभूतं मधुमुग्धं मन्दहसितं स्मितम्, तानि श्रुतितानि भ्रमादिजन्यवासाः, सा कलङ्क-
विपुला निष्कलङ्काऽत एव पूर्वेन्दुस्रग्मापेक्षयाऽपि मधुरा मनोहरा, आनन्योर्वदनशोभा च
(स्मर्यमाणानि) हन्त ! कत !, मे मम हृदयं मानसम्, अपुनाऽसाधिष्यकालेऽपि, उन्मद-
यन्त्युन्नतोर्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

जैसे—

नायक अपने मन में सोचता है अथवा किसी मित्र से कहता है कि—सायंकालिक
कमलों के समान, धन्य-सुदृष्ट नयनों वाली प्रेयसी का यह सुन्दर मन्द हास, वैशाल, वद
निष्कलङ्क और मधुर मुख की शोभा, हाथ ! आज भी मेरे हृदय को पागल बना रही हैं ।
विभावादि प्रतिपादयति—

चिन्ताविशेषोऽत्र विभावः, ध्रुन्नति-गात्रनिश्चलत्वादय आक्षेपगन्था अनुभावाः ।

चिन्ताविशेषस्य भावनाहयसंस्काररूपस्य स्मृतौ निमित्ताया विभावात्, अनुक-
त्वादाक्षेपबोधना ध्रुन्नतिप्रवृत्तौ च कार्यत्वादनुभावत्वमाह्वयनीयम् ।

यहां एक तरह की चिन्ता विभाव है, झूटता का उन्नयन, शरीर का निश्चलीमयन-
आदि जो वाच्य नहीं हैं, फिर भी भाषेप से समझ में आ जाते हैं—अनुभाव हैं ।

इहोदाहरणे विप्रलम्भध्वनिरव्याशुदृष्ट निरस्यति—

यद्यप्यत्रास्या एव स्मृतेः सञ्चारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हन्तपद-
गन्धस्य हृदयैकत्वरूपानुभावात् संयोगाद् विप्रलम्भरसाभिष्यक्ते रसध्वनित्यं
शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवान् पुरस्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तदध्यनित्वमुक्तम् ।

विभावस्यालम्बनस्य । पुरोऽप्रे स्फूर्ति- प्रतीतिर्यस्याः सा पुरस्फूर्तिक, तस्या भाव-
स्तत्त्वम् । तदध्यनित्वं स्मृतिध्वनित्वम् ।

नन्वस्मिन्नुदाहरणे नायिकारूपालम्बनविभावस्य, हन्तपदव्यङ्ग्यहृदयैकत्वरूपानु-
भावस्य, स्मृतिरूपव्यभिचारिभावस्य च नायकनिष्ठरतौ सन्दर्भ्याद् विप्रलम्भध्वनिरेवेति
शङ्काया —पद्याद्भवन्त्याभ्यन्तरकारायां सत्यामपोह विप्रलम्भप्रतीती, पुरो भावित्वाद्-
धिक्यमकारवत्त्वाच्च स्मृतिप्रतीति, स्मृतिभावध्वनित्वमिति सामान्यम् ।

यद्यपि यहां नायिकारूप विभाव 'हन्त' अथवा 'हाम' शब्द से व्यक्त होने वाला हृदय
की विकलतारूप अनुभाव और स्मृतिरूप सञ्चारीभाव के संयोग से विप्रलम्भ-व्यङ्ग्य-रस
की अभिव्यक्ति होती है, अतः यहां रस-ध्वनि है ऐसा कहा जा सकता है, तथापि भाव-
ध्वनि इसलिये कही गई कि पहले स्मृति की ही प्रतीति होती है और चमत्कारिणी
भी है, हाँ । पद्यात् उक्त रस भी ध्वनित हो सकता है, वो हो, पर उसमें उतना चमत्कार
नहीं होगा ।

ननु तच्छब्दस्य बुद्धिविषयीभूतार्थवाचकत्वाद् बुद्धिविशेषरूपामा स्मृतेरपि तद्वाच्यतया
कथमिह स्मृतिध्वनित्वमित्याशङ्क्य मत्तद्वयेन समादयति—

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये-बुद्धेः शक्यताऽवच्छेदकानु-
गमकतया न वाच्यतासंस्पर्शः । बुद्धिस्थत्वं शक्यताऽवच्छेदकमिति नयेऽपि
स्मृतिध्वनेन स्मृतेर्व्यक्तिवेद्यतैव ।

'तच्छब्दस्य' प्रकरणवशाद् घटपटादिनानाऽर्थबोधकत्वस्य दर्शनदर्यादिपदवचनानार्थ-
कत्वापत्तेर्वारणाय, बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वोपलक्षित-तत्त्वदर्मावच्छिन्ने शक्ति । न च
तथापि शक्यताऽवच्छेदकमेवावच्छिन्ने, शक्यताऽवच्छेदकानां जानात्वेऽपि, तेषामनु-
गमकस्य बुद्धिरिषयताऽवच्छेदकत्वरूपस्योपलक्षणधर्मस्यैक्याच्छब्देरैक्यमेव, ननु गानात्तम् ,

इत्यस्मिन् प्रथममते बुद्धे शक्यताऽवच्छेदकानुगमकधर्मकुक्षिप्रवेशेऽप्युपलक्षणतया वाच्यत्वा-
भावाद् ध्वन्यमानत्वमशुतमेव । तच्छब्दस्य बुद्धिविषयत्वावच्छिन्ने शक्तिरिति मतेऽपि,
बुद्धित्वेन सामान्यधर्मेण स्मृतेर्वाच्यतायामपि स्मृतित्वेनासाधारणधर्मेणावाच्यावाद् ध्वनित्वे
न किञ्चिद्वाचकमिति द्वितीयमतेऽपि दोषभावो बोध्यः ।

ननु द्वितीयमते बुद्धित्वेनाभिधया बोध्यमानाया एव स्मृते स्मृतित्वेन व्यङ्ग्यताङ्गीकारे
'शयिता सविधे' इत्यादौ प्रागुपात्तस्य—'व्यङ्ग्यस्य कयमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्घितस्यैव चमत्का-
रित्वादित्यालङ्कारिकसमयः' इति स्वकीयप्रन्वस्य विरोधः स्फुट एवेति चेत्, उच्यते—
वाच्यताऽवच्छेदको व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकश्च प्रतीतिविषयो जातिरूपस्तदन्यो वा यत्रैक एव
धर्मो भवति, तत्रैव तदर्थस्य न व्यङ्ग्यता चमत्कारिता वा, यत्र सामान्यविशेषभावा-
दिनाऽपि तद्वर्ग्योस्तनीयानपि भेदः, तत्र नायं नियमः, तथा च 'शयिते' इत्यादौ वाच्यताऽ-
वच्छेदकस्य मनोरथत्वस्य, व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकस्येच्छात्वस्य च घटत्व—कलशत्ववैयर्थ्यम्,
इह तु बुद्धित्व-स्मृतित्वयोर्गुणात्वहानत्वत्वात् सामान्यविशेषभावाद् भेदस्तस्मात्तदोप-
पत्तिरित्याह ।

यहां एक शङ्का यह होती है कि जब तत्पद का वाच्य 'बुद्धि-विषयीभूत अर्थ' है,
तब तो बुद्धि भी उसके वाच्य की ध्येयी में आगई और स्मृति भी एक प्रकार की बुद्धि
(ज्ञान) ही है, अतः स्मृति यहां ध्वन्य कैसे होगी ? क्योंकि वाच्य अर्थ को आलङ्कारिक
लोग ध्वन्य नहीं मानते, इसी शङ्का का उत्तर मन्थकार देते हैं—'तदादे' इत्यादि । अधि-
प्राय यह है कि तत्पद के घट-पट आदि अनेक अर्थ हैं, फिर हरिप्रभृति पद के जैसे वह
(तत्पद) भी नामार्थक क्यों नहीं माना जाय ? यह प्रश्न जब उठा, तब सभी दार्शनिकों
ने एक स्वर से समाधान किया कि अर्थ के अनेक होने से कोई एक नानार्थक नहीं होता,
वरन् किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित अनेक शक्ति मानने से वह पद नानार्थक होता
है, यदि किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित होकर भी शक्ति एक ही हो, तब वह पद एका-
र्थक ही कहलाता है और शक्ति के एक होने के नियम ये हैं कि यदि शक्य एक हो, तब
शक्ति एक, यदि शक्य अनेक भी हों और शक्यतावच्छेदक एक हो, तब भी शक्ति एक, यदि
वह भी अनेक ही हों, तब भी शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक के एक होने पर शक्ति एक ही
होती है, सारांश यह कि शक्य के पीछे यदि कहीं कोई अनुगमन एक धर्म हो, तो शक्ति
एक होती है । इस पर प्रश्न उठा कि तत्पद में शक्ति एक है ? या अनेक ? इसका उत्तर
भी सभी ने समान ही दिया कि—एक । इसके बाद यह प्रश्न सामने आया कि—क्यों ?
अर्थात् ऊपर जो शक्ति को एक बनाने वाले अनेक नियम बतलाये गये हैं, उनमें से यहां
कौन सा नियम लागू होता है ? इसके उत्तर में दार्शनिकों के दो मत हो गये । कुछ
लोगों का मत है कि बुद्धिस्थ जो प्रकार (भेदक विशेषण) तदवच्छिन्न अर्थात् तद्विशिष्ट
में तत्पद की शक्ति है । जैसे—घटत्व-पटत्व आदि प्रकार (भेदक विशेषण) को बुद्धिस्थ
कर लेने पर तद्विशिष्ट घट-पट आदि में तत्पद की शक्ति होती है । इस मत के अनुसार
तत्पद से घट-पटादि का बोध असाधारण अर्थात् घटपटादिरूप में ही होता है । इसी
घात को कुछ लोग 'बुद्धि-विषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्न' में तत्पद की शक्ति
है' इस रूप से भी कहते हैं, तात्पर्य एक ही है । इस तरह से शक्ति मानने पर यद्यपि
तत्पद के शक्य घट-पट आदि अनेक होते हैं, शक्यतावच्छेदक (उक्त प्रकार) घटत्व-
पटत्व आदि भी अनेक ही होते हैं, तथापि शक्यतावच्छेदक घटपटादिकों का अनुगम
करने वाला, शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक, बुद्धिस्थत्व अथवा बुद्धिरूप उपलक्षक धर्म एक
है, अतः शक्ति एक ही होगी और तत्पद नानार्थक नहीं होगा । अन्य लोगों का मत
इससे कुछ भिन्न है, उनका कथन यह है कि—तत्पद की शक्ति बुद्धिस्थावावच्छिन्न में है,

इस मत के अनुसार तत्पद से घट आदि का बोध असाधारण घट आदि के रूप में नहीं होता, अपि तु साधारण बुद्धिरूप के रूप में। इसप्रकार शक्ति मानने पर तत्पद के शक्य घटादि तो अनेक हुये, पर शक्यतावच्छेदक बुद्धिरूप एक ही हुआ और अनुगत भी, अतः इस मत में भी अनेक अर्थ निरूपित एक ही शक्ति तत्पद की मिट्ट हुई, इस मत में शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक पर्यन्त, अनुगम के लिये अनुधावन नहीं करना पड़ता, यह लाघव है। फलतः इस मत के अनुसार भी तत्पद वानार्थक नहीं कहा सकता। अतः, ये तो हुये दार्शनिकों के झगड़े। अब प्रकृत में विचार यह करना है कि उक्त दोनों मतों में से किसी भी मत के अनुसार स्मृति (जिसकी ध्वनि यहां मानते हैं) तत्पद का वाच्य होती है या नहीं? उत्तर यह है कि—नहीं, क्योंकि प्रथम मत के अनुसार तत्पद के अर्थ तुदि का स्थान तीसरे दर्जे—अर्थात् शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक में है और किसी भी पद की वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित रहती है अर्थात् शक्य और शक्यतावच्छेदक ही पद के वाच्य होते हैं, उसके आगे शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक नहीं वाच्य होता, दूसरी बात यह कि बुद्धि यहां शक्यतावच्छेदकों का अनुगम कराने के लिये उपलक्षण मात्र है, विशेषण नहीं, फिर वह वाच्य हो भी कैसे सकता है? द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि बुद्धि शक्यतावच्छेदक है और विशेषण भी—उपलक्षण नहीं, अतः वह तत्पद का वाच्यार्थ अवश्य हो गया और स्मृति भी बुद्धिरूप होने से वाच्य हो गई, तथापि बुद्धि इस सामान्यरूप से ही स्मृति वाच्य हुई, स्मृतित्व-रूप से तो स्मृति व्यङ्ग्य ही होगी और इस रूपभेद के कारण स्मृति के व्यङ्ग्य होने में कोई बाधा भी नहीं होगी। चाहे यदि कहें कि—पहले आप कह आये हैं कि वही अर्थ व्यङ्ग्य हो सकता है, जिसमें किसी भी तरह वाच्य-वृत्ति (अभिप्रा) का स्पर्श न हो, अतः जब आपने 'वापिता सविधे'.... इत्यादि पद्य में मनोरथस्वरूपेण वाच्य बन चुकी सुखवेष्टा को व्यङ्ग्य नहीं माना है, फिर यहाँ आप बुद्धित्वेन रूपेण वक्ष्य बनी हुई स्मृति को व्यङ्ग्य कैसे मानते हैं? यह तो आपकी परस्पर विरुद्ध बातें होती हैं, इसका समाधान यह है कि शक्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक (चाहे वह जातिरूप हो या अन्य कोई) धर्म जहाँ एक ही रहता है, वहीं वह अर्थ व्यङ्ग्य नहीं होता और चमत्कारी भी नहीं, जैसे 'वापिता' इत्यादि पद्य में मनोरथ और इच्छात्व जो क्रमशः वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक है—एक ही जाति है—अर्थात् जैसे घटाव और कलसाव में कोई भेद नहीं है, वैसे उन दोनों में भी भेद नहीं है, अतः मनोरथस्वरूप से वाच्य हो जाने पर इच्छास्वरूप से व्यङ्ग्य नहीं होता।

पर यहाँ ऐसी बात नहीं है—अर्थात् बुद्धित्व और स्मृतित्व एक नहीं है, इन दोनों में सामान्यविरोधभाव है, अतः गुणत्व और ज्ञानत्व के जैसे ये दोनों दो धर्म हैं, फिर बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य होने पर भी स्मृतित्वेन व्यङ्ग्य होने में क्या आपत्ति हो सकती है? किंवा विरोध कैसे होगा? अर्थात् न कोई आपत्ति होगी, न कोई विरोध होगा।

स्मृतिरिह पदप्रकारयत्वं व्यवस्थापयति—

तस्यात्रात्र वाक्यवेदात्वेऽपि, पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात् पदध्वनिविषयत्वम् ।
एतेन भावानां पदव्यङ्ग्यत्वे न धैचित्र्यमिति परास्तम् ।

तस्या स्मृतेः । वाक्येन तन्मन्त्रिज्ज्यादिना । पदस्य उच्छन्दस्य । कुर्वद्रूपत्वं पैलशष्य-
मपूर्वशक्तिरिति यावत् । एतेन पदप्रकारव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारित्वातिशयानुभवेन ।

स्मृतेर्व्यञ्जकं यद्यपि समस्तमेव वाक्यमिदम्, किन्तु तच्चमत्कारपेक्षयाऽपि चमत्कार-
स्तात्पदव्यङ्ग्यस्मृतेरेवानुभूयत इति प्राधान्यात् पदप्रकारमध्यनित्यमेवात्र प्रतिद्वम् । एता-
वताभावानां पदप्रकारयत्वे नैव चमत्कारो भवतीति वदन्तः प्रत्युक्तम्, तथापि चमत्कृतोरानु-

भविकत्वात्, 'विच्छित्तिशोभिनेकेन भूषणेनेव क्षमिनी । पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ।' इति ध्वनिकारानुपपत्त्यात् ।

यद्यपि यहां सम्पूर्ण वाक्य से ही स्मृति अवगत होती है, तथापि तत्पद ही कुर्वद्रूप है—अर्थात् वह एक पद ही स्मृति को ध्वनित करने में अग्रसर है, अतः यह 'पद-ध्वनि' का ही लक्ष्य माना जाता है । इससे लोगों की जो यह धारणा है कि—भाव यदि 'पद' के द्वारा ध्वनित हो, तो उनमें कुछ विचित्रता (चमत्कार) नहीं होती, उसे नष्ट हो जाना चाहिये ।

प्रसङ्गादत्र पद्ये पदान्तरव्यङ्ग्य प्रकाशयति—

सायन्तनाम्बुजोपमानेन नयनयोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा तस्या आनन्दमग्नताप्रकाशः ।

नेत्रयोः सायकालिककमलोपमया प्राक् क्रमिकनिमीलनोन्मुखत्वं, पश्चात्तादिकाया आनन्दमग्नत्वं च व्यज्यत इत्यशयः ।

यहां नेत्रों को जो सायकालिक कमलों की उपमा दी गई है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि नेत्र उत्तरोत्तर (भागें भागे) अधिक मुद्रित होते जा रहे हैं, जिससे नायिका की आनन्द मग्नता ध्वनित होती है ।

प्रस्तुताहरणमाह—

'दरानमत्कन्धरबन्धमीष-भ्रिमिलितस्निग्धविलोचनाब्जम् ।

अनल्पनिश्वासभरालसाङ्ग, स्मरामि सङ्ग चिरमङ्गनाया ॥'

दरमीपदामन् नलोभयन् कन्धरावन्धो घ्रीवाभावो यत्र, तम्, निमीलिते आनन्दातिरेकेण लज्जातिशयेन वा मुद्रिते, विलोचनाब्जे नयनकमले यत्र, तम्, अनल्पेन भूयसा, निदासभरेण विलासायासजन्यनिरवसितभारेणालसानि शिथिलपातु कियानुन्मुखानि अङ्गानि यत्र, सादरा च, अङ्गनाया लज्जाया, सङ्ग चिरं स्मरामीत्यर्थः ।

अब स्मृति-भाव का प्रस्तुताहरण देखिये । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैं, चिरकाल तक, नायिका के उस सङ्ग का स्मरण करता रहता हूँ, जिसमें पराधन कुछ हुकती रहती है, प्रीति पगे, नयन कमल कुछ कुछ मुद्रित होते रहते हैं और अङ्ग भावविक्रम आस के कारण अलसाये होते हैं ।

समीक्षते—

इत्यत्र स्मृतिर्न भावः, स्वशब्देन निवेदनादव्यङ्ग्यत्वात् । नापि स्मरणा-लङ्कारः, सादर्यामूलकत्वात्, सादर्यमूलकस्यैव स्मरणालङ्कारत्वम्, अन्यस्य ॥ व्यञ्जितस्य भावत्वमिति सिद्धान्तात् । किन्तु विभाव एव सुन्दरत्वात् कथञ्चिद्रसपर्यवसायी ।

अत्र पद्ये स्मरामीति स्वभावकशब्दवाच्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वाभावेन स्मृतिर्न भावः । न चैषा स्मृति स्मरणालङ्कारः, सादर्योद्भाविताया एव स्मृतेरलङ्कारत्वस्य व्यवस्थापयिष्य-माणत्वात् । असादर्यमूलिकमस्तु व्यङ्ग्याया स्मृतेर्भवित्वम्, वाच्यायास्त्वर्थसात्रता । एव स्थिताविह मनोहरस्य भायिकासालम्बनस्यैव माहात्म्यात् बन्धरेपसमन-नयनेर्वा-मीलनायनुभावस्य, तत्कारणतयाऽऽक्षिप्तस्य लज्जात्मकव्यभिचारिणस्य सप्तर्षिभायकनिष्ठरते शृङ्गाररसे पर्यवसानमित्याशयः । राजानकव्यक्तस्तु—वैसादर्यमूलिकमपि स्मृति स्मरणा-लङ्कारमङ्गीकृत्य 'शिरीषद्वीपरिषु प्रपेदे, यदा यदा दुःखशतानि सीता । तदा तदाऽस्या भवनेषु सौख्य-लक्षणि दृष्टौ गलदधु राम ।' इत्युदाहरणम् ।

यहां जिस स्मृति की प्रतीति होती है, उसे 'भाव' नहीं मान सकते, क्योंकि वह साक्षात् स्मृति-वाचक 'स्मरणम्' पद से ज्ञात होने से वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं, स्मरणालङ्कार यहां नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न स्मरण को ही 'स्मरणालङ्कार' मानते हैं और यहां वा स्मरण किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न नहीं हुआ है। इस तरह सिद्धान्त यह स्थिर हुआ कि सादृश्यमूलक स्मरण 'स्मरणालङ्कार' होता है और जो सादृश्य मूलक नहीं हो, वह स्मरण यदि व्यङ्ग्य रहे, तो 'भाव' कहलाता है, अतः यहाँ का स्मरण सादृश्यमूलक और व्यङ्ग्य न होने के कारण 'भलंकार' भयवा 'भाव' कुछ नहीं है। अथ आप पूछ सकते हैं कि यदि ऐसी बात है तो यहां चमत्कार का बीज ही क्या है, जिससे इस पद्य को काव्य कहते हैं? हमका उत्तर यह है कि इस में दण्डित नायिकारूप विभाव ही समीचीन होने के कारण किसी तरह मृद्वार-रस के रूप में पर्यवसित होता है और चमत्कार प्रेक्ष करता है, अतः पद्य इस श्लोक को काव्य कहते हैं। यदा कथञ्चित् पद से जो अस्वास्व सुचित होता है, वह यह है कि केवल विभाव तो रसरूप में परिणत हो नहीं सकता, अतः प्रीति के मन्त्रीभाव और नेत्रों के मुद्रण को अनुभाव मानकर उसके कारणरूप में लज्जारूप सञ्चारी का आचेष करना पड़ेगा, जो वल्लभ-प्रद है।

श्रीडा निरूपयति—

स्त्रीणः पुरुषमुखालोकनादेः, पुसां च प्रतिज्ञाभङ्ग-पगमवादेरुत्प-
न्नो वैषण्यार्थो मुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो श्रीडा ।

परामर्शो वैरिजितः । वैषण्यं वर्णन्याभावात् । पुरुषमुखालोकनादिजन्यः स्त्रीवृत्तिः, प्रतिज्ञाभङ्गादिजन्यश्च पुरुषवृत्तिवैषण्यमिदं निजवृत्तिविशेषो श्रीडा लज्जेत्यर्थः । तदुक्तम्—
'सञ्जीवयेततो श्रीडा वैषण्यार्थो मुखतरङ्गः' इति ।

अथ श्रीडा (लज्जा) का लक्षण करते हैं—'स्त्रीणां' इत्यादि। स्त्रीयों में पुरुष-मुख-दर्शन आदिसे और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भङ्ग एवं पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली और विघर्षता एवं नताननता आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली जो एक तरह की चित्त-वृत्ति है, उसका नाम 'श्रीडा' है।

तदावृत्ति—

यथा—

नायको मुग्धावृत्तं सत्तायं व्याहरति—

'कुचकलशमुगान्तर्मामकीर्णं नखाङ्कं,

सपुलकननु मन्दं मन्दमालोकमाना ।

विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे,

चकितनतनताङ्गी सद्यः संगो विवेश ॥'

बाला मुग्धा, कुचावेव पृथुलत्वादुन्नतताञ्च कलशौ तयोर्युगस्य युग्मस्यान्तर्मध्ये, माम-
कीर्णं मया कृतत्वान्मत्सम्बन्धिनं, नखाङ्कं नखविहं, (रङ्गि) सपुलकननु हर्षोद्भूतरोमावा-
यितशरीरं यया स्यात् तथा, मन्दं मन्दं शनैश्चनैः, आलोकमाना पश्यन्ती, गवाक्षे तद्दर्-
शनाद्वातापने, विनिहितवदनं स्थापितमुखं (परमन्तं) मां वीक्ष्य, चकितान्याद्यर्थेन, नत-
नतानि नम्रतमानि च लज्जयाऽङ्गानि यस्यास्तादृशी, सद्यस्तत्काले, सद्यः गर्भग्रहं विवेशेत्यर्थः।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशों के समान विशाल तथा उन्नत दोनों उरोजों के मध्य में मेरे द्वारा ही किये गये नख-पत के चिह्न को पुलकितान्गी होकर घीरे-
घीरे देखती हुई उस मुग्धा नायिका ने ज्यों ही शरीरे में मुख दाखे हुये (अपनी ओर

देखते हुये) हमें देखा, क्यों ही वह चकित होकर अपने अर्धों को सिकोड़ती हुई घर में भाग गई ।

उपपादयति—

अत्र प्रियस्य दर्शनम्, तेन नायिकाकर्तृकतत्कुचान्तर्वर्तिप्रियनखत्तावलो-
कनजन्य-हर्षावेदकतत्पुलकादेर्दर्शनं च विभावः । सद्यः सदनप्रवेशोऽनुभावः ।

तेन प्रियेण ।

ताभ्यां विभावानुभाव्या प्राधान्येन लज्जाया व्यञ्जनास्तिबोधनेरिदमुदाहरणम् ।

यहां नायिका को प्रियतम का दिखाई देना और उसके उरोजों में प्रिय के मल-जल के देखने से उत्पन्न हुये हर्ष की सूचना देने वाले रोमाञ्च आदि का प्रियतम को देख जाना विभाव है तथा तुरत घर में भाग जाना अनुभाव है । इन दोनों विभावानुभावों से प्रधानतया लज्जा चित्रित होती है, अतः यह पद्य 'भाव-स्वनि' का उदाहरण हुआ ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः सन्नायमाह्वयति—

‘निरुद्धं चान्तीं तरसा कपोतीं, कूजत्कपोतस्य पुरो दधाने ।

मयि स्मिताद्रं वदनारविन्दं, सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव ॥’

मयि, तरसा बैयेन कौपालाश्रयाद्वा चान्तीं कपोतीं पारावस्रवधूं, निरुद्धपावकद्वय, कूज-
तो रिरंस्तया कलकलं कुर्वत, कपोतस्य, पुरोऽग्रे, दधाने स्थापयति, सति, स्मितेनाद्रं स्तिमितं
वदनं, मन्दमन्द सा प्रेयसी, नमयाम्बभूव नम्रीचकारेत्यर्थः ।

अथवा जैसे—‘निरुद्धं चान्तीम्’ ... ‘...’ इत्यादि पद्य में । किसी मित्र के प्रति नायक का कथन है कि जब मैं वेग से दूर भाग कर जाती हुई कबूतरी को बलवोरी रोक कर (कामातुरता के कारण) कूजता हुआ कबूतर के आगे रख रहा था, तब उस नायिका ने (मेरे आचरण को देखकर) मन्द-हास से आर्द्र, मुख-कमल का धीरे धीरे नीचा कर लिया ।

उपपादयति—

पूर्वत्र श्रास इवात्रापि हर्षो लेशतया सन्नपि व्रीडाया अनुगुण एव । प्रियकर्तृकं
कपोतस्थोमे फर्षत्कलः, उपर्षजं प्रियस्यः, यदजलप्रतप्तनुभावः ।

यथा पूर्वत्र ‘कुचकलश’ इत्यादौ चकितत्वेन लेशतया प्रतीयमानकासो लज्जाया पोषक-
त्वादनुगुण एव, न तु प्रतिकूल, तथैवात्र ‘निरुद्ध’ इत्यादौ स्मितवदनत्वेन प्रतीयमानो
हर्षोऽपि न प्रतिकूल किन्तु व्रीडाया पोषक एवेत्यर्थः ।

जैसे ‘कुच-कलश’ ... ‘...’ इत्यादि पद्य में नायिका में ‘चकित’ विशेषण लगानेसे श्रास ईषत् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा के अनुकूल (पोषक) हुआ है, उसी तरह यहाँ (निरुद्धं चान्तीम् ... इत्यादि पद्य में) ‘मन्दहास से आर्द्र’ इस मुख-विशेषण से हर्ष किञ्चित् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा का पोषक ही होता है, विरोधी नहीं । नायक का कबूतर के आगे कबूतरी का रखना विभाव है और नायिका का मुख नीचा करना अनुभाव है, जिनसे यहाँ ‘व्रीडा-भाव’ अभिव्यक्त होता है ।

मोहं निरूपयति—

भयवियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चिचटृत्तिर्मोहः ।

भयविशेषप्रभृतिभिर्व्याकुलत्वं, तेन च मोहो जन्यत इति प्रयोज्यत्वं निनेशितम् । मोहे
सति न कस्य वस्तुनस्तत्त्वावधारणं न भवतीति तदाख्यानम् । भयादिजन्यव्याकुलत्वजन्यो

वस्तुतत्त्वानवधारणजनकचित्तवृत्तिविशेषो मोह इत्यर्थः । तदुक्तम्—‘मोहो विचित्रता भीति-
दुःखावेगानुबिन्दनैः । धूर्णनप्लानपतन-अभ्रणादर्शनादिकृत् ॥’ इति ।

अथ मोह का निरूपण करते हैं—‘भय’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति को ‘मोह’ कहते हैं जिसकी उत्पत्ति भय-विशेष आदि से उत्पन्न व्याकुलता के कारण होती है और जिसके कारण किसी भी वस्तु की वयार्थता की समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है—अर्थात् मोह के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य का अन्तःकरण शुन्य सा हो जाता है, जिससे वह किसी भी चीज को वयार्थरूप से समझने की शक्ति को खो देता है ।

नवीनमतमाह—

‘अवस्थान्तरावलिता सा तथा’ इति तु नव्याः ।

सा चिन्ताख्या वक्ष्यमाणैव वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थानन्तरं गता चित्तवृत्तिरेव तथा मोहाख्येति ॥ नव्याः कथयन्तीत्यर्थः ।

नवीन विद्वानों का मत है कि ‘चिन्ता’ नाम की जिस चित्त-वृत्ति का वर्णन आगे किया जायगा, वही जब एक खास अवस्था तक पहुँच जाती है, तब ‘मोह’ नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् चिन्ता जब इस दशा को पहुँच जाती है कि खूबना-समझना सब बन्द हो जाय, तब उसे मोह कहते हैं अतः चिन्ता से पृथक् उसकी (मोह की) गणना नहीं करनी चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

बालया मोहावस्थाभ्यापारं वर्णयति—

‘विरहेण विकलहृदया, विलपन्ती दयित । दयितेति ।

आगतमपि सं सविधे, परिचयहीनेव वीक्षते बाला ॥’

विरहेण विकलहृदया व्याकुलमना, अत एव दयित । दयित । कासीति विलपन्ती, सा बाला, सविधे समीपे, आगतमपि, सं दयितं, परिचयहीनाऽसज्जातपरिचयेव, वीक्षते पश्यति, न तु किमपि कथयतीत्यर्थः ।

अथ मोह का उदाहरण देखिये—

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—‘प्यारे-प्यारे’ की रट लगाती हुई उस सुगन्ध नायिका का हृदय विरह से इतना कातर हो गया है कि पास में आये हुये भी प्रिय को इस तरह देखती रह जाती है, जैसे उसके साथ उसका कभी का कोई परिचय ही न हो ।

अत्र विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र कान्तवियोगो विभावः, इन्द्रियवैकल्यं लज्जाद्यभावश्चानुभावः ।

इन्द्रियाणां वैकल्यं ग्राह्याग्राहणम्, तच्चात्र परिचितचरस्य पत्युष्वधुया विषयीकरणेऽपि परिचयान्नात्, लज्जाऽभावश्च बालात्वेऽपि पुरस्स्यस्य पत्युस्तथादर्शनादवयती विभावानुभावौ नायिकाया मोहरूपं भावं व्यङ्ग्यम् ।

उक्त पद्य में प्रिय का विरह विभाव है और इन्द्रियों (चक्षु आदि) की विकलता (ज्ञान-शक्ति का लोप) तथा लज्जा आदि का अभाव अनुभाव है । लज्जा का अभाव यहाँ इस बात से प्रतीत होता है कि नायिका बाला होकर भी पति के सामने में (जय बाला की लज्जालुता प्रसिद्ध है) अपरिचित सी देखती रह जाती है । उक्त विभाव और अनुभावों से मोहभाव की ध्वनि होती है ।

पुनरुदाहरति—

‘शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले, कल्लोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।

नैवाकर्षत्यम्बु, नैवाम्बुजालं, कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥’

कान्ताया प्रियहस्तिन्या अपेतो विरहित, कल्लोलिन्याः सरित, कूले तटे, शुण्डादण्डं शुण्डाद्वस्त एव दीर्घत्वादण्डस्तं, कुण्डलीकृत्य लम्बमपि वर्तुल विधाय, कृत्यशून्य स्वविधे-
यज्ञानविधुर, गजेन्द्रो दस्तिराज, अम्बु नवा मलं, दिनान्तरवत्, नैवाकर्षति करेण नैव पियति,
अम्बुजालं सरसिजश्रेणीं चापि प्राप्नोति, नैवाकर्षति नैव गृह्णातीत्यर्थः ।

अत्र कान्तावियोगो विभाव, सरित्पटेऽपि सलिलावनाकर्षणमनुभावश्च वस्तुतत्त्वानव-
धारणरूप मोहमवसमयत । ‘कृत्यशून्य’ इति विशेषणनाभिहितप्रायो मोह इत्यस्मारपूर्वमेवो-
दाहरण उचिरं प्रतिभाति ।

अथवा, जैसे—‘शुण्डादण्डम्’... ‘...’ इत्यादि पद्य में । कोई दर्शक कहता है कि—
हथिनी से बियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूँघ को वर्तुलाकार बना कर और नेत्रों को कुछ
कुछ सिकोड़ कर नदी के तट पर खड़ा हो है, परन्तु न जल को खींचता है और न कमलों की
पङ्क्ति को । यहाँ कान्ता का वियोग विभाव है और नदी के तट पर रह कर भी जल तथा
कमलों को न खींचता अनुभाव है, जिससे मोह स्पष्ट होता है ।

धृतिं निरूपयति—

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतचित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।

लोभ-शोक-भयादिभिर्जनितस्य, उपप्लवस्य चित्तशोभरूपोपद्रवस्य, निवारणे कारणी-
भूतचित्तवृत्तिविशेषो धृतिरित्यर्थः । तदुक्तम्—‘अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्ती स्पृहा पर्याप्तता धृतिः ।
सौहित्य-वदनोद्भास-सहासवचनादिकृत् ।’ इति ।

अब ‘धृति’ का निरूपण करते हैं—‘लोभ’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का नाम ‘धृति’ है,
जिसके कारण लोभ, शोक और भय आदि से उपपन्न होने वाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

धीरं परामृशति—

‘सन्तापयामि हृदयं, धावं धावं धरातले किमहम् ।

अस्ति मम शिरसि सततं, नन्दकुमार. प्रभुः परमः ॥’

अहं (लोभेनाभिभूत) सतत धरातले (हस्ततः) धावं धावं धावित्वा धावित्वा,
हृदयं मन, किं कुत सन्तापयामि पीयामि । यत परम सर्वोत्कृष्ट, प्रभुः सर्वं कर्तुमर्ह-
मन्यया वा कर्तुं समर्थ, नन्दकुमार कृष्णचन्द्र, मम शिरस्यस्थेवेत्यर्थः ।

इह नन्दकुमारस्य शिरस्यत्वकथनेन भारभूतत्वप्रतीतिश्चास्ताहानिरिति ‘अस्ति ममाग्रे’
इति पाठ समीचीन प्रतिभाति ।

‘धृति-भाव’ का उदाहरण देखिये—

किसी धैर्य-शाली पुरुष का मानसिक विचार है कि—मैं व्यर्थ मृतल पर दूधर-उधर
दौड़-दौड़ कर अपने हृदय को क्यों सतप्त कर रहा हूँ । मेरे शिर पर प्रभुपर नन्दगन्धन
सर्वदा विराजमान है—मुझे विन्ता करने की क्या आवश्यकता ? वे स्वयं सब बातों की
व्यवस्था कर ही लेंगे ।

दिया, जिससे मैं प्रिय के सकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय है कि न जाने, महाराज कामदेव मेरे विषय में क्या करना चाहते हैं।

उपपादयति—

अत्र राजापराधो विभावः, मुखवैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावाः ।

मुखवैवर्ण्यादीनां शाश्वतत्वानुक्तत्वादाक्षेप्यत्वम् ।

इस श्लोक में राजा का अपराध करना विभाव है और मुख का विवर्ण हो जाना आदि अनुभाव हैं। यद्यपि यहां ये अनुभाव कहे नहीं गये हैं, तथापि आक्षेप (उपर) से उनका ज्ञान कर लिया जाता है।

शङ्का चिन्ताया म्यतिरेक्यति—

इयन्तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता ।

इस शङ्का भयमुत्पाद्य कम्पाद्यनुभावं जनयति, चिन्ता पुनर्न जनयतीति कम्पादिजनकत्वमेव शङ्कायाश्चिन्तापेक्षया वैचर्म्यम् ।

उक्त चित्त-वृत्ति (जिसको शङ्का कह आये हैं) चिन्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि शङ्का भय को उत्पन्न कर तद्वारा शरीर में कम्प आदि को उत्पन्न करती है और चिन्ता ऐसा नहीं करती, यह दोनों में भेद है।

ग्लानिं निरूपयति—

आधिभ्याधिजन्य-बलहानिप्रभवो वैवर्ण्य-शिथिलाकृत्व-दम्भम-णादिहेतुदुःखविशेषो ग्लानिः ।

आधिर्मनोभ्यया । व्याधिपदं क्षुदाद्युपलक्षकम् । दुःखविशेषचित्तवृत्तिविशेष एवेति न प्रक्रमनञ्, नापि भावसामान्यलक्षणासमन्वयः । उक्तञ्चान्वयः—‘रत्यायासमनस्तापक्षुरिषा-सादिसम्भवा । ग्लानिर्निष्प्राणता कम्प-कार्यानुत्साहितादिकृत् ॥’ इति । आधिभ्याधिजन्याया बलहानेवत्यभो वैवर्ण्यादिजनकचित्तवृत्तिविशेषो ग्लानिरिति सारम् ।

अब ‘ग्लानि’ का निरूपण करते हैं—‘आधि’ इत्यादि । उक्त दुःख-विशेष को ‘ग्लानि’ कहते हैं, जो मानसिक व्यथा और शारीरिक रोग आदि के कारण उत्पन्न दुर्बलता से पैदा होती है तथा विवर्णता, अङ्गों की शिथिलता और आँखों में चौंध अगना आदि अनुभावों को जन्म देती है।

वदाहरति—

यथा—

वियोगिनीदरा वर्णयति—

‘शयिता शैवलशयने, सुपमाशेषा नवेन्दुलोखेव ।

प्रियमागतमपि सविधे, सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव ॥’

नवोयन्ती, इन्दुलेखा चन्द्रकलेव, सुपमा परमशोभैव शेषोऽवशिष्टशो यस्यां तादृशी, शैवलस्य शयने शय्यायां शयिता सुप्ता निरहिणी, सविधे तल्पसमीपे, आगतमपि, प्रियं दयितं, मधुरैर्मनोरमैर्वाक्षिणैरालोकनैरेव, न त्वभ्युत्थानादिभिः, सत्कुरुते सम्मानयतीत्यर्थः ।

जैसे—‘शयिता’..... इत्यादि पद्य में। एक सखी दूसरी सखी से वियोगिनी के वृत्तान्त का वर्णन करती है कि—नवीन चन्द्र-कला के समान जिसमें परम-शोभा है। शेष पद्य गाई है, वह सेवाल की सेज पर सोई हुई सुन्दरी समीप में आये हुये मी प्रिय-यति का सत्कार केवल मधुर चित्तवर्णों से ही करती है, (अभ्युत्थान आदि से नहीं) अर्थात् विरह-वेदना से उसके अन्त इतने दुर्बल अत एव शिथिल हो गये हैं कि प्रियतम के आने पर भी रुक नहीं सकती, बोल नहीं सकती।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र प्रियविरहो विभावः, मधुरवीक्षणैरेवेत्येवकारेण बोध्यमाना प्रत्युद्गम-
चरणनिपतना-श्लेषादीनां निवृत्तिरनुभावः ।

इह प्रियविरहपदं तत्त्वव्याधिसम्भूतबलहानिपरं सन्दर्भशुद्धयतुरोधात् । निवृत्तिरभावः ।

उक्त पद में प्रियविरह का विरह विभाव है और 'मधुरवीक्षणैरेव' यहां के एवकार से
ज्ञात कराई गई, स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिङ्गन करने आदि की
निवृत्ति अनुभाव है ।

अत्रोदाहरणे श्रमश्रमिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र श्रमः शङ्क्य, कारणाभावात् ।

इह श्रमस्य प्राधान्येन श्रम इति शङ्कनीयम्, बहुतरंगारोपन्यासस्य तत्कारणत्वेन
वक्ष्यमाणस्य प्रकृतेऽसत्त्वादित्यर्थः ।

यहां श्रम-भाव हो प्रधानतया श्रमिष्ठ होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये
क्योंकि श्रम के जो कारण अधिक शरीर-न्यासार आदि वर्णित किये जायेंगे, उनका यहाँ
अभाव है—अर्थात् शारीरिक श्रम का वर्णन यहाँ नहीं है, फिर अकारण श्रम की प्रतीति
हो, तो कैसे ?

ग्लानिः परकीयं लक्षणमुपन्यस्य निराकरोति—

केचित्तु—व्याध्यादिप्रभव-बलनाशं ग्लानिमाहुः, तेषां मते चित्तवृत्त्यात्म-
केषु भावेषु, नाशरूपाया ग्लानिः कथं समावेश इति ध्येयम् ।

व्याध्यादिजन्यबलभाव एव ग्लानिरिति केषांश्चित्तमपुष्पम्, अभावरूपत्वाङ्गीकारे
ग्लानेरवमन्सारकत्वात्, चित्तवृत्तिरूपत्वानावेन भावत्वाभावाच्चेत्याशयः ।

कुछ लोग 'रोगादि से होने वाले बल-नाश (बल का अभाव) को ही 'ग्लानि'
कहते हैं । परन्तु उनके मत में यह बात विचारणीय है कि जब सभी भाव चित्त-
वृत्तिरूप माने जाते हैं, तब उन भावों में इस नाश (अभाव जो चित्तवृत्तिरूप नहीं
हो सकता) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता, अतः उनका
कथन अनागत है ।

परकीयलक्षणे भरतोक्तलक्षणसंवादात् सङ्गतिमाशङ्क्य खण्डयति—

यद्यपि—'बलस्यापचयो ग्लानिरपि व्याधिसमुद्भवः ।' इति लक्षणवाक्या-
वपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं दुःख-
मेव बलापचयशब्देन विवक्षितम् ।

भरतमुनिलक्षणे बलापचयस्यैव ग्लानित्वप्रतिपादनात् प्रामाणिकं ग्लानेरभावरूपत्वं यथ-
स्थिति, किन्तु भावानां चित्तवृत्तिरूपत्वस्य प्रतिपादिक्रया भरतमुनेरेव प्रागुक्तेस्तात्पर्यानु-
पपत्तेरपचयपदस्य तत्त्वव्यदु लक्षिते लक्षणया पूर्वोक्तसङ्गतिविधेयेत्यमिश्रितम् ।

यद्यपि प्रार्थानों के 'आधि (मनोव्यथा) और व्याधि (रोग) से उत्पन्न होने वाला
बल का अपचय ग्लानि है' इस उल्लेख-वाक्य में जो अपचय पद आया है, उससे
बल का नाश ही प्रतीत होता है तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण बल के नाश से
उत्पन्न होने वाला दुःख ही यहाँ 'बलापचय' पद से वक्ता का विवक्षित है, ऐसी कल्पना
करनी चाहिये ।

दैर्घ्यं निरूपयति—

दुःख-दारिद्र्या-पराधादिजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुवित्त-
वृत्तिविशेषो दैन्यम् ।

दुःसादिजन्य' स्वापकर्षभाषणादिजनकचित्तवृत्तिविशेषो दैन्यमित्यर्थः ।

अब 'दैन्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'दुःख' इत्यादि । किसी प्रकार के दुःख, दमिद्रता तथा अपराध आदि कारणों से उत्पन्न होकर जो चित्तवृत्ति अपने आप के विषय में हीन शब्द-प्रयोग आदि का कारण होती है, उसी चित्तवृत्ति को 'दैन्य' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीं विवास्य रामचन्द्रोऽनुतपति—

'हृत्केन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।

अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येष परा सरस्वती ॥'

हृत्केन हृत्भावेन विनष्टौचित्तिविचारेण वा, मया रामेण, सहसा सपदि (अविचार्यैव) वनान्तरे काननमध्ये, विवासिता निर्वासिता, वनजाक्षी ! बलिनयना (कीमन्तावृतया स्वयं प्रतिकर्तुमक्षमा) सती पतिव्रता (कथमपि पत्यन्तरानजोत्तरिणी) सीता, अधुना सम्प्रति, पतितस्य पतित्यभ्योजकपापाचरणाद् भ्रष्टस्य द्विजस्य, परा स्मृत्यादिसकलशास्त्रमूलत्वाद् सर्वोत्कृष्टा, सरस्वती श्रुतिपाणीव, मम साऽनुभूतपूर्वा, कुत्र ? का ? मिलित्येत्यर्थः ।

उदाहरण सीत्रिये—'हृत्केन' 'इत्यादि । हृत्-भाग्य होने से मैंने पहले जिस कमल-नयनी (सीता) को वन में निर्वासित कर दिया, पतित पुरुष को बेद-बाणी की तरह, वह पतिव्रता अब मुझे कहाँ मिल सकती है ?

प्रकरणादि दर्शयति—

सीतां परित्यक्तवतो भगवतः श्रीरामचन्द्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्याग-रूपोऽपराधस्तज्जन्यं दुःखं वा विभावः, पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषण-मनुभावः ।

तत्तन्मयमपराधसमुद्भूतम् । अपराधदुःखयोर्विभावत्वे विकलस्य बीजं विनिगमनाविरहः ।

सीता को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान् रामचन्द्र की यह अनुतापोक्ति है । यहा सीता का परित्याग अथवा परित्याग-जन्य दुःख विभाव है और अपने विषय में 'पतित के समान' यह हीन कथन अनुभाव है, जिससे 'दैन्य' व्यक्त होता है ।

प्राचीनसम्मत्या स्वीकृतिं दृश्यति—

यदाहुः—

'चित्तीत्सुक्यान्मनस्तापाद् दीर्गत्याश्च विभावतः ।

अनुभावात्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥

देहोपस्करणत्यागाद् दैन्य भाव विभावयेत् ॥' इति ।

'दीर्गत्या इरनोजस्य दैन्य मलिनताऽदिकृत् ॥' इति च ।

दीर्गत्वं दादिधम् । शिरसोऽभ्यावृत्तिः पुन पुनर्घर्षनम् । यात्राणामज्ञाना गौरवं गुरुत्वं मन्दसञ्चारत्वम् । देहस्योपस्करण प्रसाधनम् । विभावनं ज्ञानम् । अनोजस्यमोजोही मता । मनस्तापादिजन्यं शिरोऽभ्यावृत्त्यादिजनकं चित्तवृत्तिविशेषं दैन्यं जानीयादित्यर्थः ।

दैन्य भाव के विषय में प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'चित्त की उत्सुकता, मानसिकताप और दमिद्रता इन विभावों से तथा शिर का बार-बार हिलाना, शारीरिक-प्रयाधनों का परित्याग और अङ्गों के भातीपन इन अनुभावों से 'दैन्य भाव' को पहचानना चाहिये । और यह भी लिखा है कि-दुर्गति आदि के कारण जो ओजस्रिता नष्ट हो जाती है—उसका अभाव हो जाता है, उसी का नाम 'दैन्य' है । वह मालिन्य आदि का जनक होता है ।

इहोपमालङ्कारस्य दैन्यभाचोपकारकत्वं प्रतिपादयति—

अत्र हनकेन मया विधासिता, न तु विधिनेत्यस्यार्थस्य पतितोपमयैव परिपोषः, न तु शूद्राद्युपमया, यतः शूद्रस्य जात्यैव अनिदौर्लभ्यं विधिना कृतम्, पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना अस्मिन्मते स्वभावेन कृतेऽपि, तेनैव तथाविधं पापमाचरता स्वतः अनिदूरीकृतेति वक्ष्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च अत्येत्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्करोति ।

‘सर्वं वाक्यं सावधारणं भवती’ति सिद्धान्तेन मयेति क्वनाश तु विधिनेत्यस्य प्रतीतिः । शूद्रोपमया ‘कुलम्येव’ इति पाठकल्पनलक्षणा । जात्यैव शूद्रत्वेनैव जन्मज्ञेन वा ‘न जी-शूद्रौ वेदमधीयीताम्’ इत्यादिश्रवणात् । स्वभावेन निसर्गेण जात्या जन्मना वा । तेन ब्राह्मणादिना । तथाविधं पतितत्वप्रयोजकम् । तस्य रामस्य । तस्याः सीतायाः । यया पतितो द्विजो जन्मना सुलभापि श्रुति पातसाचरणात् स्वयं दूरीकरोति, तत्रैव जान्या सुलभामपि सीतामहं स्वपितृकाद् दूरीकृतमिति वादिनि रामे पतितद्विजमादरयमेनेवितम्, न तु शूद्रसादरवम्, शूद्रस्य जात्या श्रुतिमुनमताया अमम्मवात् । तथा च रामे पतितमादरयं सीतायाः च श्रुतिसादरयमेनोपमालङ्कारोऽयं वाच्यो ब्यङ्ग्यं स्वापकर्षमाणाजनकं दैन्यमुपस्करोति न तुम्हास्मृतिर्गं प्रजानीभवतीति न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसन्देह इति ऊरम् ।

यहां हममाय में ने सीता को निकाल दिया है—‘न कि विधाना मे’—हम अर्थ की पुष्टि ‘पतिन’ की उपमा से ही होती है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं, क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाना ने शूद्र-जानि में जन्म देकर ही श्रुति (वेद) दुर्लभ कर दी है (‘न जी-शूद्रौ वेदमधीयीताम्’ अर्थात् की और शूद्र वेद न पढ़ें, यह शास्त्रीयवचन उक्त कथन का मूल है) परन्तु ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनके लिये तो विधाना ने स्वभावतः श्रुति सुलभ कर दी थी—अर्थात् ब्राह्मणादि उरच कुल में जन्म देकर वेद पढ़ने का अधिकार दे दिया था पर उन्होंने वैसा पाप करके स्वयं श्रुति को दूर कर दिया अर्थात् वे स्वयं पतित बनकर वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित हो गये । इसलिये रामचन्द्र की पतित से सम्मानना और सीता की श्रुति से सम्मानना, यह जो वाक्य उपमा अलङ्कार है, यह दैन्य भाव की ही अलङ्कृत करता है अर्थात् उपमा अलङ्कार यह दैन्य का चोचक है—अष्ट है । अतः यहाँ ‘उपमा अलङ्कार ही प्रधान है’ इस तरह की धाँसा का अवसर नहीं है ।

दैन्योपधारकत्वं दर्शयति—

तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणा मूलध्वनिभ्यां कृतप्रत्यकृतब्राह्म-निर्दयत्व-दयावतीत्वादिवर्णनप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेति स्मृत्या च लेखतः प्रतीयमानया ।

अत्र मयेत्यस्मच्छब्दस्य कृतप्रत्य-निर्दयत्वादिवर्णनप्रकाशित्वार्थे, सेतितच्छब्दस्य च कृतप्रत्य-दयावतीत्वादिवर्णनप्रकाशित्वार्थे च, तत्तदतिशयबोधनरूपप्रयोजनवत्या स्वार्थस्याभ्युपादानदुपादानलक्षणायाः सत्त्वात् प्रतीयमानोऽप्योऽपि दैन्यमुपस्करोति, तथा पूर्वानुमृतार्थकेन सेतितच्छब्देन परिपोषकत्वमर्थविरहात् सूक्ष्मतया प्रतीयमाना स्मृतिरपि दैन्यमेवोपस्करोतीति शारम् ।

‘हनकेन’ इत्यादि श्लोक में ‘मया’ और ‘सा’ इन दोनों पदों में प्रयोजनमूला उपादान लक्षणा है, जिससे ‘मया’ का ‘जिससे उसने आकृत कष्टावरणा में जो नहीं छोड़ा, उस मैंने’ यह और ‘सा’ का ‘वन-वास की सद्बचरी उसे’ यह वाच्यार्थ-मिथित लक्षणा

होता है, जिससे राम की कृतघ्नता तथा निर्दयता एवं सीता की कृतज्ञता तथा दयालुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होकर दैन्य भाव को ही पुष्ट करते हैं। इसी तरह अनुभूतार्थक 'सा' इस उत्पद से जो स्मृति की थोड़ी सी (प्रचुर सामग्री के अभाव से पुष्ट नहीं) प्रतीति होती है, उससे भी दैन्य भाव की ही पुष्टि होती है। अतः यहाँ दैन्यभाव ही प्रधान व्यङ्ग्य रहा। कृतघ्नता आदि गुणीभूत रहे। इसलिये यह पद्य दैन्य-भाव-ध्वनि का उदाहरण हुआ।

चिन्ता निरूपयति—

इष्टाप्ताप्स्यनिष्टाप्स्यादिजनितो ध्यानापरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेखना-धोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।

इष्टस्याप्ताप्तिरनिष्टस्य च प्राप्तिश्चिन्तायाः कारणम् । ध्यानमपरपर्यायो यस्य सा । भूलेखनमधोमुखत्वं च चिन्तायाः कार्यम् । अस्याः कम्पाद्यजनकतया शङ्कतो भेदः । चित्तवृत्तिविशेषस्य विशेष्यतया विशेषणपदानां पुंस्त्वमेवोचितमिति पाठः परिचितः ।

अथ 'चिन्ता-भाव' का निरूपण करते हैं—'इष्टा' इत्यादि । अभिलषित वस्तु का प्राप्त न होना और अनभिलषित वस्तु का प्राप्त हो जाना आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली तथा विवर्णता, भूमिका छिन्नता और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली एक तरह की चित्तवृत्ति को 'चिन्ता-भाव' कहते हैं। इसी चिन्तात्मक चित्तवृत्ति को 'ध्याम' भी कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'विभाषा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा ।

इष्टार्थापहृतिः शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥

सन्तापः स्मरणं चैव कार्यं देहानुपस्मृतिः ।

अवृत्तिश्चानुभावाः स्युः, सा चिन्ता परिकीर्तिता ॥ इति ।

वितर्कोऽस्याः क्षणो पूर्वं पाश्चात्ये बोधजायते ।' इति ।

'ध्यानं चिन्ता हितानाम्ने सन्तापादिकरी मता ।' इति च ।

दारिद्र्यपैश्वर्यभ्रंशनयोः पृथगुपादानादितिष्ठं जन्मसिद्धमैश्वर्यभ्रंशनं च पश्चाद् भूतमवसेयम् । स्मरणं तट्टाचर्यानाम् । वितर्को भावो वक्ष्यमाणलक्षणः । अस्याश्चिन्तायाः । पूर्वं क्षणो पाश्चात्ये परस्मिन् क्षणो वा ।

प्राचीनों ने भी 'चिन्ता' की परिभाषा इसी तरह की-की है। जैसे—'विभाषा' इत्यादि-अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में दारिद्र्यता, पैश्वर्य (राज्य आदि) से व्युत्पन्न हो जाना और हुए वस्तु का अपहरण विभाव (उत्पादक कारण) हों, और बार-बार श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, सन्ताप, स्मरण, कृशता देह को परिष्कृत न करना और धैर्य का अभाव ये अनुभाव (उत्पाद्य कार्य) हों, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। इसके पहिले अथवा विच्छेद क्षण में वितर्क (जिसकी परिभाषा आगे की जायगी) उत्पन्न हुआ करता है। कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'हितवस्तु की अपाप्ति से जो ध्यान (विचार-परम्परा) होता है, उसका नाम 'चिन्ता' है, वह सन्ताप अदिका उत्पादक होती है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायिकागल्लोक्य नायक चिन्तयति—

'अधरवृत्तिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलहिनी ।

अकृतप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीदराः ॥'

मृगदशो नायिकायाः, अस्ताः कान्त्या निजितः पल्लवः कितलये यया तादृशी, अघरस्य वृत्तिः, शशिनचन्द्रस्य कान्ते शुभमाया लङ्घिनी विजयिनी मुखस्य शोभा श्रीः, अकृताऽ-विहिता प्रतिमा तुल्याकृतिर्यस्यास्तादृशी तनुश्च, कस्य धन्यस्य गूनः कृते प्रयोजनाय, विधिना विद्याया कृता रचिताऽमूदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । किसी सुन्दरी को देख कर कोई नायक अपने मन में सोचता है कि—विद्याता ने किस (धन्य युवक) के लिये इस सृजनयनी नायिका के, अघर-कान्ति को, पल्लवों की जीतनेवाली, मुख-शोभा को चन्द्र-कला को मान देने वाली और शरीर को अमृत-प्रतिम-सदृश-द्वितीय रहित-अर्थात् अनुपम, बनाया ।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र तद्व्याप्तिर्विभावः, अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावाः ।

तस्या पूर्ववर्णितनायिकाया अप्राप्तिश्चिन्ताया कारणतया विभावः, अनुतापराक्षक्यासौ-च्छासप्रवृत्तयश्च शब्दानुवायेऽपि धार्यतया धन्यमाना अनुभावा अत्र सन्तीत्यर्थः ।

यहां नायिका की अप्राप्ति विभाव है और आक्षेप के द्वारा ज्ञात होने वाले अनुताप भावि अनुभाव हैं ।

औच्छुक्क्यध्वनिमन्त्राद्वय निराकरोति—

न चात्रौच्छुक्क्यध्वनिरिति धाच्यम्, 'कस्य कृते' इत्यनिर्धारितधन्यात्तन्वनाया-श्चिन्ताया एव प्रतीयमानतया सतोऽप्यौच्छुक्क्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येनाबोधनम् ।

इह नायिकाया अप्राप्तितात्प्रतिविषयकोत्पद्येच्छाग्रहणस्त्वैवौच्छुक्क्यस्य प्राधान्येन व्यञ्जनात्तद्व्यनित्वमेवेति पूर्वपक्षस्य—'कस्य कृते' इत्यनेन 'क' शब्दु युवा धन्य' इत्यादिवत्, अनिर्धारितमभिहितं भोक्तारं धर्मिणं विषयतयाऽऽलम्बमानायाश्चिन्ताया एवात्र प्रथमं प्राधान्येन प्रतीतेः, औच्छुक्क्यस्य तु पञ्चादगौणतया च प्रतीतेर्न तद्व्यनित्वमिति समाधानम् ।

नायिका की अप्राप्ति से उसकी प्राप्ति के विषय में होने वाली उत्पन्न इच्छाग्रहण 'औच्छुक्क्य-भाव' ही वहां प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'कस्य कृते-अर्थात् किसके लिये' इस वाक्य-सङ्ग से किसी अनिश्चित पुरुष के विषय में होने वाली चिन्ता ही ध्वनि होती है, अतः यद्यपि वक्ता में उस नायिका के लिये उत्सुकता है अथवा, तथापि वह इस भाव से प्रधानतया नहीं बोधित होती । तात्पर्य यह है कि यदि वक्ता पद्य में 'कस्य कृते'—इत्यादि शब्दों को दृष्ट कर उसकी जगह 'धन्यजनस्य इत्ये' इस तरह से रचना की गई होखी, तब उत्सुकता ही प्रधानतया ध्वनित होती, परन्तु उस पदके रहने पर तो चिन्ता ही प्रधानरूप से व्यक्त होती है, पीछे यदि उत्सुकता भी गौणरूप से व्यक्त होगी, तो होती रहे, वह ध्वनि काव्य-व्यवहार का कारण नहीं हो सकती । फलतः यहां 'चिन्ता-भाव-ध्वनि' का ही व्यवहार होना उचित है ।

मदं निरूपयति—

मद्याद्युपयोगजन्मा, उल्लासाख्यः, शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्ति-विशेषो मदः ।

उपयोगः सेवगम् । उल्लासाख्य उल्लासापरपर्याय ।

अब 'मद-भाव' का निरूपण करते हैं—'मदाद्य' इत्यादि । मद्य आदिके सेवन से उत्पन्न होने वाली और शयन-रोदन आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली उल्लास नामक जो एक चित्त-वृत्ति है, उसको 'मद' कहते हैं ।

लक्षणे प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘सम्मोहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगजः । इति ।

व्यामोहात्मन सम्मोहस्यानन्दस्यसन्दोह समवाय सम्मोहो वामदस्तप्रोभवोरनुभवात् ।
जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘सम्मोहा’ इत्यादि, अर्थात् मद्य के सेवन से उत्पन्न होने वाले, सम्मोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है ।

प्रकृतिभेदेनानुभावभेदं प्रतिपादयति—

तत्रोत्तमे पुरुषे स्वापोऽनुभावः । मध्यमे हसितगाने । नीचे तु रोदन-
परुषोक्त्यादि ।

एतत्—‘अमुना चोत्तम रोते, मध्यो हसति गायति । अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ।’ इति दर्पणानुकूलमपि, ‘उत्तमसत्त्व प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृति । परुषवचनाभिधायी रोते रोदित्यधमसत्त्व ।’ इति प्रदीपस्य तु प्रतिकूलमेवेति ज्ञेयम् ।

मदके उत्पन्न होने पर उसका अनुभाव (कार्य) उत्तम पुरुष में स्वाप होता है—अर्थात् मद (मत्ता) से उत्तम पुरुष सो जाता है, मध्यम कोटि का पुरुष हँसता और गाता है और नीच पुरुष रोता तथा गाली गलौज बकता है । यद्यपि यह कथन ‘काव्य-प्रदीप’ के उत्तमसत्त्व प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृति । परुष-वचनाभिधायी रोते रोदित्यधमसत्त्व ॥ अर्थात् मद के कारण उत्तम-स्वभाव वाला पुरुष हँसता है, मध्यम-स्वभाव वाला पुरुष गाता है और अधम-स्वभाव वाला पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता है । इस वचन से विरुद्ध है, तथापि अनुभव ‘रसगङ्गाधरकार’ के ही मत में सही होता है, और ‘दर्पणकार’ भी इन्हीं के मत में सम्मति दिये हैं, क्योंकि उन्होंने ने लिखा है—‘अमुना चोत्तम रोते मध्यो हसति गायति । अधमप्रकृतिश्चापि परुष वक्ति रोदिति ॥ अर्थ इसका यही है, जो रसगङ्गाधरकार के कथन का है ।

मद त्रिधाविभज्य तत्तत्स्वरूपं दर्शयति—

अथ च मदस्त्रिविधः—तद्वर्णमध्यमाधमभेदात् । अन्वक्तासङ्गतवाक्यैः सुकु-
मारस्खलद्रुत्या च योऽभिनीयते, स आद्यः । भुजाक्षेप-स्खलत-धूर्णितादिभिर्म-
ध्यमः । गतिमङ्ग-स्मृतिनाश-हिक्का-च्छर्द्यादिभिरधमः ।

अग्यक्षरस्फुटशरैरसप्तैरसम्बद्धार्थवैध वाक्यैः । सुकुमारोऽनुदता स्खलन्ती मध्ये-
मध्ये त्रुव्यन्ती चासी गतिः सुकुमारस्खलद्रुति, तथा । योऽभिनीयत इत्यस्याभिनिवाक्य-
इयेऽपि सम्बन्धः । हिक्का ‘हिचकी’ इति भाषाया प्रसिद्धा । छर्दिर्वमनम् ।

इस मद के तीन भेद हैं—तर्लण, मध्यम और अधम । उनमें से जिसका अभिनय (प्रदर्शन) अस्फुट अक्षर वाले और असम्बद्ध अर्थ वाले वाक्यों, तथा अत्यन्त सूक्ष्म एवं फिफलनी हुई चाल से किया जाता है, वह तर्लण-मद कहलाता है । जिसका अभि-
नय बाहुओं के झुंझ-उधर फेंकने, फिफल पड़ने और घूमने आदि से किया जाता है, वह मध्यम-मद कहलाता है । इसी तरह जिसका अभिनय गति के रुक जमे, स्मृति के नष्ट हो जाने और हिचकी तथा वमन आदि से किया जाता है, वह अधम मद होता है ।

मध्यमपुरुषगत तर्लणमदमुदाहरति—

रुदाहरणम्—

मत्तद्वत्तं वर्णयति—

‘मधुरतरं स्मयमान, स्वस्मिन्नेवालपञ्चनैः किमपि ।

कोकनदर्यसिलाकी-मालम्बनशून्यमीक्षते क्षीनः ॥’

श्रीवोमत्तं मधुरतरमसिसुन्दरं स्मयमान ईषदसन, स्वस्मिन्नेवात्मगतमेव, किमप्य-
सम्बद्धम्, शनैर्यन्दमव्यक्तम्, अलङ्घ्य प्रलयन्, तथा परितो विलोकनेन मदारुणलाचनकृपा
त्रिलोकीं लक्षयन्, कोकनद्यन् रणाम्बुजवदणीकुर्वन्, आलम्बदशून्यं निर्लक्ष्यं यथास्यात्
तथेक्षते परमतोत्तरम् ।

उदाहरण देखिये । किसी नशे बाज का वर्णन है कि—मदमत्त मनुष्य अत्यन्त सुन्दर
तरीके से मन्द-मन्द होमता हुआ और अपने आप से धीरे-धीरे कुछ बातें सा करता हुआ,
तथा मद के कारण अरुण नयन-कान्ति से त्रिलोकी को रक्त कमल सी बनाता हुआ शून्य
की ओर देख रहा है—अर्थात् उसके देखने का कोई लक्ष्य नहीं है ।

विभागानुभावौ दर्शयति—

अत्र सादृक्प्रत्ययेवर्णनं विभावः, अलङ्घ्यत्वालापागुनुभावः ।

मादकद्वयाणां मैथिलिजयादीनां सेनपानम् ।

वहाँ मादक पदार्थों का सेवन विभाव है और अलङ्घ्य होलना आदि अनुभाव हैं ।

इह स्वभावोक्त्यलङ्कार प्राधान्यमाशङ्क्य निरस्यति—

अत्र मत्तस्वभाववर्णनस्य तल्लिङ्गमदव्यञ्जनार्थत्वात्प्रमदभाव एव प्रधानमिति
न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्व्यञ्जन्युपस्कारकत्वमेव ।

'स्वभावोक्तिस्तु हिम्मादेः स्वक्रिया-रूपवर्णनम्' इत्युक्तप्रणेत्य स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य,
श्रीवमाश्रयित्व्यापारवर्णनादिह प्राधान्यमिति शङ्काया—मत्तस्वभाववर्णनमत्र मत्तनिष्ठमह-
भावस्य व्यञ्जनार्थमेव कृतमिति स्वभाववर्णनस्य मदमात्रवर्णनोपस्कारकत्वमेव, न तु प्राधान्य
मित्युत्तरम् बोध्यम् ।

यहाँ मत्त-पुरुष के स्वभाव-वर्णन होने के कारण 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार की प्रधानता
है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मत्त-स्वभाव का वर्णन यहाँ केवल उसके मत्त
को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है, अतः ध्वनित होने वाला 'मदभाव' ही प्रधान
और वाच्यस्वभावोक्ति अलङ्कार उभयों पर है ।

ननु तथापि नेह मदध्वनिः सम्भवति, प्राधान्येन व्यञ्ज्यमानस्यापि मदस्य मदास्कन्दि-
तत्वपर्यन्तेन क्षीयप्रदेनाभिधयाऽपि बोधनात्, 'कथमपि वाच्यवृत्त्यनामित्रितयैव व्यञ्ज्यस्य
चमत्कारत्वम्' इति प्राक् प्रतिपादनात्, अतः स्वभावोक्त्यलङ्कार एव चमत्कारितया प्रधानं,
न तु मदभाव इत्युक्तेरुदाहरणान्तरं दर्शयति—

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

• मत्तं प्रिया मूले—

'मधुरसान्मधुरं हि तथाघरं, तरुणि ! मददने विनिवेशाय ।

मम गृहाण करेण कराम्बुज, पपपतामि हहा ! ममभूतले ॥'

हे तरुणि ! यतस्तव अघरो मधुरसादपि मधुरोऽस्मि, अतस्तं मददने विनिवेशाय,
किं यत्—हहा हा ! हन्त ! ममभूतले मूलसे, पपपतामि पतामि, अतः करेण मम कराम्बुजं
गृहाण समालम्बस्तेत्यर्थः ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यञ्ज्यमान मद स्वभावोक्ति अलङ्कार से प्रधान
है, तथापि मद-ध्वनि नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'चीव' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः
उसमें विशेषण रूप से मद भी आ जाता है, और पहले यह सिद्धान्त सर्व-समति से
स्वीकृत हो चुका है कि 'किसी भी प्रकार से जिसमें वाच्य-ध्वनि का स्पर्श न हो, वही
व्यञ्ज्य चमत्कारी होता है', फिर तो अगत्या वाच्य स्वभावोक्ति अलङ्कार के चमत्कार से

ही उक्त पद्य को काव्य मानना पड़ेगा, अर्थात् यह पद्य 'मद्-भाव-ध्वनि' का उदाहरण नहीं होगा, इसी अभिप्राय से दूसरा उदाहरण दिखलाते हैं—'इदं वा उदाहरणम्—' अथवा, यह उदाहरण लीजिये । मत्त नायक अपनी प्रेयसी से कहता कि—हे तरुणि ! मधु के रस से भी अधिक मधुर अपने अघर को मेरे मुख में रस दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ से पकड़ ले, देख तो, अब-ज-जमीन पर गि-गि-गिरता जा रहा हूँ ।

उपपादयति—

अत्रापि स एव विभावः, अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः । पूर्वार्धगता ग्राम्योक्तिः, उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये, स्वकरस्य तदुपमेयतया निरूपणं च, मदमेव पोषयतः ।

स एव मादकद्रव्यसेवनरूप एव । अधिकवर्णोच्चारणं क्षतुर्यचरणौ । आदिपदेन प्रथम-चतुर्थचरणरसज्ञतार्यकालापग्रहणम् । ग्राम्योक्तिर्द्वितीयचरणौ—'अघरं मददने विनिवेशय' इति ग्राम्यजनमवबुक्तिः, चतुर्थचरणौ तरुणीकरस्य समुचितं वमलोपमेयत्वेन प्रतिपादनं विहाय स्वकरस्यैव तथा कथनमित्यसङ्गतिस्थोमे सम्भूय मदस्यैवोपकारिके इति मदध्व-निरिह श्रेयः ।

यहाँ भी वही (मादक-द्रव्य-सेवन ही) विभाव है और अधिक वर्णों का उच्चारण आवि अनुभाव है । पूर्वार्ध का ग्राम्य (मेरे मुख में अपने अघर को धर दे, यह) वचन और उत्तरार्ध में स्त्री के हाथों को कमल की उपमा देने की जगह अपने हाथ की उसकी उपमा देना भी 'मद्-ध्वनि' को ही पुष्ट करते हैं ।

श्रमं निरूपयति—

बहुतरशारीरव्यापारजन्मा निश्श्वासा-ङ्गसम्मर्द-निद्रादिकारणी-भूतः खेदविशेषः श्रमः ।

शारीरव्यापारो दूरगमन-बहुमावहनादि श्रमस्य चरणतया विभावः, निश्श्वासा-द्वयस्य कार्यतयाऽनुभावः । खेदो दुःखमिच्छितवृत्तिविशेष एव ।

अब 'श्रम-भाव' का निरूपण करते हैं—'बहुतर' इत्यादि । खेद नामक उस चित्त-वृत्ति विशेष को 'श्रम' कहते हैं, जो अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होता है और निश्श्वास, अङ्गदाई तथा निद्रा आदि अनुभावों की उत्पत्ति में कारण होता है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अध्व-व्यायाम-सेवायैर्विभावैरनुभावकैः ।

गात्रसंवाहनै-रास्यसङ्कोचै-रङ्गमोटनैः ।

निश्श्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ।' इति ।

'श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ।' इति च ।

अध्वा च व्यायामश्च सेवा चाद्या येषां तैर्विभावैः, गात्रसंवाहनादिभिरनुभावैश्च धमो श्रेयः । अध्वपदं तत्र गमनपरम् । संवाहनं यथापनयनाय पीडनमर्दनादि । अज्ञाना मोटनं तदर्थं नमनम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'अध्व-व्यायाम' इत्यादि-अर्थात् मार्ग-गमन, व्यायाम-करण और सेवन आदि विभावों से तथा शरीर दबवाना, मुख का सिकुड़ जाना, अङ्गदाई सेना, निद्रास लीचन, जृम्भा का जाना-इन सब अनुभावों से श्रम का ज्ञान होता है । कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'श्रम खेदो' इत्यादि-अर्थात्

मार्ग-गमन आदि से उत्पन्न होने वाले और निद्रा तथा निषास आदि को उत्पन्न करने वाले वेद को भ्रम कहते हैं ।

भ्रमालान्योर्मैदमानद्ये—

अयं च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव जायते न तु ग्लानिः, अतो ग्लानेः भ्रमस्य च भेदः ।

ग्लानेराधिव्याधिजन्यबलहानिजन्यत्वात्, भ्रमस्य न बलसद्भावेऽपि शारीरविपुलव्यापारजन्यत्वान्मियो बलक्षयमिति सारम् ।

भ्रम और ग्लानि में परस्पर यह भेद है कि भ्रम बल के रहने पर भी अत्यधिक शारीरिक व्यापार करने से उत्पन्न होता है और ग्लानि-आधि व्याधि आदि से बल की हानि होने पर ही उत्पन्न होती है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको विपरीतसुरतवृत्तं सखायं कथयति—

‘विधाय सा मद्दनानुकूलं, कपोलमूलं हृदये शयाना ।

चिराय चित्ते लिखितेष तन्वी, न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमाऽऽसीत् ॥’

सा तन्वी, कपोलस्य मूलं मद्दनानुकूलं तदीयमुखसंयोगयोरयं विधाय, हृदये ममोरसि शयाना सती (भ्रमेण) चित्रे लिखिता इव, मन्दभीषदपि स्पन्दितुं बलितुं क्षमा समर्था नासीदित्यर्थः ।

एक ‘अन-साव’ का उदाहरण देखिये—नायक अपने मित्र को विपरीत-रति के बाद की स्थिति कह रहा है कि—वह कृशाग्री अपने कपोल-मूल भाग को मेरे मुख के सामने करके मेरे वक्षःस्थल पर सो गई और चित्रलिखित की तरह, बहुत देर तक, धोड़ी भी नहीं हिल सकी ।

विभावादिरटपति—

अत्र विपरीतसुरतरूपः शारीरव्यापारो विभावः, स्पन्दराहित्य-शयनादयोऽनुभावाः ।

स्फुटम् ।

यहाँ विपरीत-रति-रूप शारीरिक कार्य विभाव है और हिल न सकना, तथा सो जाना आदि अनुभाव हैं ।

इह निद्राव्यभिचाराद्वय निराकरोति—

न चात्र निद्राभावध्वननेन शतार्थतेति शङ्क्यम्, सुषुप्तौ हि ज्ञानराहित्येनैव यद्राहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितुं न क्षमाऽऽसीदित्यस्यानतिप्रयोजनकत्वापत्तेः, शीकाऽमिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च । अमे त्वानुगुण्यमुचितम् ।

चित्रलिखितत्वोपपत्त्या, व्यङ्ग्यमाना निद्रैवात्र प्रधानमिति निद्राव्यभिचारात् न तु भ्रम-व्यभिचारे पूर्वपक्षः—चित्रलिखितत्वद्वयध्वनेन सुषुप्तिरूपमिद्राया एव व्यङ्ग्यत्वात्, सुषुप्तेव ज्ञान-सामान्यशून्यत्वादात्मनिरिकविषयव्यङ्ग्यशून्यत्वाद्वा यत्र राहित्ये सुषुप्तमवगन्तुं योग्ये, यत्र राहित्यप्रतीत्यर्थं चतुर्थवरणोपादानस्य वैयर्थ्यं स्यात्, तस्य स्पष्टत्वगमार्पकत्वात्तोद्यरेऽपि, शयनेतिशोऽपानुना निद्रायाः प्रकारतयाऽभिभावोपपत्तेन व्यङ्ग्यत्वाभावाद् व्यनित्यं न स्यादिति नैव निद्राव्यभिचारेत्युत्तरपक्षश्च बोध्यः । अमे प्राधान्येन व्यङ्ग्ये ॥ तदर्थस्य भ्रम-व्यभिचारेणकारकत्वमेवेति न दोष इत्याशयः ।

यदि 'अम-भाव' के लक्ष्य उक्त (विधाय-'' इत्यादि) श्लोक और अन्य भी इसी तरह के श्लोक ही हों, तब 'अम-भाव-ध्वनि' मानना व्यर्थ है, क्योंकि यह 'निद्रा-भाव-ध्वनि' में ही गतार्थ हो जायगा, जैसे 'विधाय-'' इत्यादि पद्य में 'चित्र-लिखित की तरह' इस उपमा से निद्रा-भाव ध्वनित होता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यदि यहाँ निद्राभाव को प्रधान व्यङ्ग्य मानेंगे, तब, 'घोड़ी भी नहीं हिल सकी' यह कथन निष्प्रयोजन हो जायगा, कारण यह कि निद्रावस्था में ज्ञान के नियमनः न होने से यत्न का न होना निश्चित ही है । यदि आप कहें कि निद्रा की बात से विदित होने वाले दृग्-राहित्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये यदि किसी शब्द से कह भी दिया गया, तथापि निद्रा को व्यङ्ग्य मानने में कोई बाधा थोड़े ही होती है ? इस पर मैं कहता हूँ कि हाँ, भाइ ! उससे बाधा नहीं होती, ठीक है, पर शिद् घातु से जो निद्रा को वाच्य बना दिया गया, उससे तो उसके व्यङ्ग्य होने में बाधा जरूर होगी, क्योंकि वाच्य-वृत्ति से अस्पष्ट अर्थ को ही व्यङ्ग्य माना जाता है । अतः यहाँ 'अम-भाव-ध्वनि' का स्वीकार ही उचित है और जब यहाँ 'अम-भाव' को प्रधान व्यङ्ग्य मान लेते हैं, तब उसके अनुभाव होने के नाते निद्रा आदि का वाच्य रूप में वर्णन अनुकूल ही होता है ।

गर्व निरूपयति—

रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।

रूपादिप्रयोज्यो य आत्मन उत्कर्षस्तज्ज्ञानजन्यं यत्परेषामवहेलनं तिरस्कारात्मिकाचित्त-वृत्तिः सैव गर्वः । अवहेलनस्य भावत्वसम्पत्तये चित्तवृत्तिपर्यन्तानुधावनम् । तदुक्तम्—

'गर्वो मदः प्रभाव-भी-विद्या-सत्कुल-जन्मभि ।

अवज्ञा-सवित्तसाहचर्याना-विनयादिकृत् ॥' इति ।

अब 'गर्व-भाव' का निरूपण करते हैं—'रूपधन' इत्यादि । रूप, धन और विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरों की अवहेलना (तिर-स्कार) करने का मनोभाव पैदा होता है, उसी मनोभाव (अवहेलनात्मक चित्तवृत्ति) को 'गर्व' कहते हैं ।

सदाहरति—

उदाहरणम्—

विद्यागर्वितो प्रवीति—

'आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-

र्यावन्त' सन्ति काष्ठ्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं घटन्तु ।

मृद्रीकामभ्य-निर्यन्मसृणरसमूरीमाधुरीभाग्यमाजां,

वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥'

रत्नसानो सुमेरो 'सर्वेषामेव वर्णाणा मेरुस्तरत स्थित' इत्यभिधानाद् आमूलान्मूळ-मभिव्याप्य, मलयेन चन्दनगिरिणा वलयिताद्देष्टितात् पयोधेर्दक्षिणसमुद्रस्य, आमूलाच्च तटमभिव्याप्य च, यावन्त काष्ठस्य प्रणयने निर्माणे पटवो निपुणाः सन्ति, ते विशङ्कं निस्तन्देहं यथास्यात्तया, मृद्रीकाना परिपक्वाक्षणा मध्यात्, निर्यतो निस्सरन्ती मसृणा घना च या रसस्य मूरी निर्मर (प्रवाह) तस्या माधुरी मधुरतैव सौभाग्यं भजन्तीति तद्वाजं, तादृशीना वाचामाचार्यताया पदं प्रतिष्ठां, अनुभवितुमशियन्तु मदन्यः, धन्यः पुण्यवान् कोऽस्तीति वदन्वित्यर्थः ।

उदाहरण देत्रिये । पण्डितराज की ही उक्ति है कि—सुमेरु पर्वत की तरह ही से छेकर मलयाचल से घिरे हुये समुद्र के तट तक, जितने काष्ठ-निर्माण में निपुण जन हैं, वे

निराश्र होकर कहें कि—दाखों के अन्दर से निकलती हुई चिकनी रस-धारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है—जो उसके समान मधुर हैं, उन बच्चों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मुझसे भिन्न कोन पुरुष धन्य है, यह सीमास्थ और किसी को प्राप्त हो सकता है ? तत्पर्यय यह कि मुझ जैसा मधुर बचन बोलने वाला, सरस कविता करने वाला मैं ही हूँ, दूसरा नहीं ।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञानं विभाव, पराधिष्ठेपरैतादृ-
शवाक्यप्रयोगोऽनुभावः ।

अनन्यसाधारणताऽनुन्यता सर्वोक्ततेति यावत् । पराधिष्ठेपरस्यान्यतिस्वरतासर्व-
वस्य, एतारशस्य 'आमूला'दित्यादिरूपस्य ।

यही अपनी कविताओं में सर्वोत्ता का ज्ञान विभाव है और अन्य कवियों का ति-
स्कार करने के लिये इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है ।

इह प्रतीयमानाध्याया गर्वोपकत्वमाह—

इमं चासूयाऽपि लेशतः पुष्णाति ।

अत्र वक्ष्यमाणलक्षणाऽसूया पराधिष्ठेपेण किञ्चित् प्रतीयमानाऽपि गर्वस्योपकारि-
तयाऽङ्गमेवेत्यर्थः ।

'आमूलात्' -- 'इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाले 'गर्व' को परतिस्कार के द्वारा
किञ्चित् प्रतीयमान अक्षुया भी पुष्ट हो करती है अर्थात् असुवागर्व का अङ्ग ही हो सकती
है, अङ्गी नहीं ।

वीररत्नध्वनि-गर्वध्वन्योर्भेदं दर्शयति—

उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररत्नध्वनिः, अन्यन्तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य
विशेषः ।

वीररत्नध्वनाजुत्साहस्य स्थायित्वेन प्रधान्यम्, गर्वस्य तु व्यभिचारितया कादाचित्क-
त्वम्, गर्वध्वनौ उत्साहस्याप्रत्ययात् प्रत्ययेकाऽङ्गत्वाद्गर्वस्यैव प्रधान्यमित्युभयोर्भेद इत्यर्थः ।

वीर-रत्न की ध्वनि में उत्साह प्रधान रहता है, अतः पद्य प्रकट भी, और गर्व गुप्त रहता
है, अतः पद्य अप्रधान भी, और गर्व-भाव-ध्वनि में गर्व ही प्रधान तथा प्रकट होता है,
उत्साह की प्रतीति हममें होती ही नहीं, यदि होती भी है तो सौगन्ध से । वही वीर-रत्न-
ध्वनि से गर्व-भाव-ध्वनि में विशेष भेद है ।

तदेवोपपादयति—

तथाहि—

वीररत्नप्रसङ्गे प्रागुदाहृतै 'अपि वक्ति' इत्यादिपद्ये गीष्पतिना गिरामधिदेव-
तयाऽपि साकम्भं धदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया स्थितः
सर्वेभ्यः परिहृतेभ्योऽहर्माधक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले
मदन्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रतीयमानः ।

पूर्वपाठानुरोधात् 'यदि वक्ति' इत्यत्र 'अपि वक्ति' इति पठितम् ।

'अपि वक्ति' इत्यादि प्रागुक्तपाण्डित्यवीरोदाहरणपद्ये गीष्पत्यादिनाऽपि सह कथां कति-
प्यामीत्युक्त्या प्राधान्येनोत्साहो न्यूनः, ततश्च सर्वापेक्षयाऽहसुकृष्ट इति गर्वस्तनुपकारक-
त्वेनैव व्यज्यत इति वीररत्नध्वनिः । 'आमूलात्' इत्यादिपद्ये तु 'मदन्य' कोऽस्ति' इति
सौत्रासौकत्या प्राधान्येन गर्वस्यैव व्यञ्जनाद् गर्वध्वनिरेव न वीररत्नध्वनिरित्याशयः ।

ऊपर जो वीररस और गर्वभाव की ध्वनियों में विशेष बतलाया गया है, उसी का अब उपपादन करते हैं—‘तथादि’ इत्यादि से—अर्थात् वीर-रस के प्रसङ्ग में जो ‘अपि व्यक्तिगतां पतिःस्वयम्’... यह उदाहरण दिया गया है, उसमें ‘वृहस्पति और धामादेवी सरस्वती के साथ भी मैं घाद करूँगा’ इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता है, उसको ‘सम पण्डितों से मैं अधिक हूँ’ इस रूप में ध्वनित होने वाला गर्व सूत्र करता है, कि ‘आम्-छात् ...’ इत्यादि पद्य की तरह ‘भूलोक में मुझ से भिन्न नहीं ही है’ इस प्रकार स्पष्ट वर्णित विद्वाने वाले वचन रूप अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

निद्रा निरूपयति—

श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।

चेतस्सम्मीलनं पुरीतणादीप्रवेशाजिरिन्द्रियप्रदेरावस्थानम् । तदुक्तम्—

‘चेतस्सन्मीलन निद्रा श्रमकर्ममदादिना ।

जृम्भाऽक्षिमीलनोच्छ्वास-गात्रभ्राष्ट्रिश्चरणम् ।’ इति ।

श्रमस्य सङ्गच्छते निद्राजनकत्वेनोपादानात् प्रयोज्यत्वमिह जन्यत्वमेवादसेयम् । अत एवानुपपन्नं श्रमं निद्राया विभावं वक्ष्यति ।

अब ‘निद्रा-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘श्रमादि’ इत्यादि । श्रम-भादि के कारण होने वाले चित्त-सम्मीलन अर्थात् पुरीतत् नामक बाधों से चित्त के प्रवस को ‘निद्रा’ कहते हैं ।

श्रमादिविभावस्योक्तत्वाद्नुक्ताननुभावानेवाद—

नेत्रनिमीलन-गात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावाः ।

अस्या निद्राया ।

आँखों का मुद्रित हो जाना, अङ्गों का निष्प्रेष्ट हो जाना आदि इसके अनुभाव हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको प्रवीति—

‘सा मदागमनवृद्धिततोषा, जागरेण गमिताखिलदोषा ।

बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न, प्रातराननजसौरभलुब्धैः ॥’

मदागमनेन प्रवासान्मभागमनेन वृद्धितो वर्द्धितस्तोष आहारो यस्यास्तादृशी, तथा जागरेण विपुलालापविलासप्रयुक्तनिद्राऽभावेन गमितं व्यपितमखिल समस्त दोषा रात्रिर्यया, तादृशी, प्रातः प्रभाते, आननजे मुत्तजन्ये सौरभे सुगन्धौ लुब्धैर्लोलुपै, मधुपैर्भ्रमरै, बोधिता जागरिताऽपि, सा, न बुबुधे नाविचेतदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । नायक किसी से कहता है कि—मेरे आगमन से उसकी प्रसन्नता बहुत बढ़ गई और उसने जग कर सम्पूर्ण रात चिता दी, प्रातःकाल में (जब वह निद्रित हो गई थी) मुझ के सुवास के कोमल भ्रमरों से जगाने पर भी वह नहीं जग सकी ।

विभावानुभावौ सूते—

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभावः, मधुपैर्बोधाभावोऽनुभावः ।

यहाँ रात्रि-जागरण-जन्य श्रम विभाव है और भ्रमरों के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है ।

मतिं निरूपयति—

शास्त्रादिविचारजन्यपर्यानिर्द्धारणं मतिः ।

शास्त्राणां लोकवृत्तादीनां च विचारेणोत्पन्नमर्थस्य वस्तुनो निर्धारणं निर्णयरूपचित्तवृत्ति-
मतिरित्यर्थः । तदुक्तम्—

‘नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।

स्मेरतावृत्तिघन्तोपौ बहुमानस्य तद्गवा ॥’ इति ।

अथ ‘मति-भाव’ का लक्षण करते हैं—‘शास्त्रादि’ इत्यादि । शास्त्र तथा लौकिक
वृत्तान्तों के विचार से जो किसी वस्तु के विषय में निर्णयरूपक चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है
उसे ‘मति’ कहते हैं ।

विभावस्य लक्षण एवोक्तत्वात् केवलाननुभावान् वक्ति—

अत्र निरशङ्कतदर्थानुष्ठान-संशयोच्छेदादयोऽनुभावाः ।

अत्र मतौ । तदर्थस्य निर्णोतार्थस्यानुष्ठानं निधानम् ।

निराशङ्क होकर निर्णोत काम को करना और सन्देह का विनाश आदि इसमें (मति
में) अनुभाव होते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

उद्भूतमति कश्चिद्विभावयति—

‘निखिलं जगदेव नश्वरं, पुनरस्मिन् नितरां कलेवरम् ।

अथ तस्य कृते कियानयं, क्रियते हन्त ! मया परिश्रमः ॥’

यदा, निखिलं समस्तं, जगद् विश्वमेव नश्वरं जारायोलमस्ति, अस्मिन् जगति, कलेवरं
शरीरं पुनर्नितरां नश्वरमस्ति, अथ तदा, तस्याविनश्वरकलेवरस्य कृते पोषणनिमित्ताय,
हन्त ! मया, अयं कियान् परिश्रमः कियत इत्यर्थः । मूढवन्मम विनश्वरतमवस्तुपोषणाय
परिश्रमस्य करणमिति निर्णयान्मतिरिहावसेया ।

उदाहरण देखिये । कोई विरक्त व्यक्ति कहता है कि—जब यह समस्त संसार ही नाश-
वान् है—अर्थात् इसमें किसी वस्तु की स्थिरता नहीं और फिर इस संसार में भी यह
शरीर अल्पकाल ही नाशवान् है—‘वृणादूर्ध्वं न जानामि विधाता किं विधास्यति’—के अनुसार
एक क्षण के बाद इस शरीर की क्या गति होगी, कुछ भी पता नहीं, हाय ! तब भी मैं इस
क्षणमग्निर शरीर के छिमे कितना परिश्रम करता हूँ !

विभाषानुभावौ वक्ति—

‘शरीरमेतज्जलबुबुदोपमम्’ इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः, हन्तपद-
गत्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिर्विवृण्णता चानुभावः ।

विरतिर्निवृत्तिः ।

यहां ‘शरीरमेतज्जलबुबुदोपमम्’ (अर्थात् यह शरीर जल के बुलबुले के समान है)
इत्यादि शास्त्र का पर्यालोचन विभाव (पुनः पुनः विचार) है और ‘हन्त’ पद से प्रतीत
होने वाली अपनी निन्दा राज-सेवा आदि से निवृत्ति तथा वृण्णरहित होना आदि
अनुभाव हैं ।

मन्वन् शान्तरसम्पन्निरेव न कश्चित्थत आह—

भगिति मतेरेव चमत्काराद् ध्वनिन्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन
प्रतीतेः ।

यतोऽत्र भवति प्रतीयमाना मतिरेव नितरां चमत्कारिणी, शान्तरस्य विलम्बेनास्वा-
धमानोऽल्पचमत्कारकृत्, ततो मतिज्वनिरेवात्र न शान्तरसम्पन्निरित्याशयः ।

जिसलिये यहां शीघ्र प्रतीयमान मति-भाव का चमत्कार अधिक है और शान्त रस का
आत्माद विलम्ब से होता है, अतः पूर्व अपेक्षाकृत उसका चमत्कार भी न्यून है, इसलिये

मति-भाव-ध्वनि ही रक्त पद्य को काव्य-कोटि में छाती है, शान्त-रस-ध्वनि नहीं अर्थात् शान्त-रस-ध्वनि यहाँ नहीं होती, मति-भाव-ध्वनि ही होती है।

व्याधिं निरूपयति—

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।

व्याधिरोगयोरभेदेऽन्यत्र प्रसिद्धे चित्तवृत्तिरूपत्वासम्भवात् तच्चन्यमनस्तापोल्लेखः ।

अब 'व्याधि-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोग' इत्यादि । रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होने वाले मन के ताप को 'व्याधि' कहते हैं । रोग और व्याधि अपर पर्याय हैं, यह बात प्रसिद्ध है, फिर रोग को व्याधि न कहकर रोगजन्य मानसिक ताप को व्याधि-भाव कहने का तात्पर्य यह है कि—'सभी भाव चित्त-वृत्ति-स्वरूप हैं, इस सिद्धान्त के अनुरोध से चित्त-वृत्त्यात्मक मनस्ताप को ही व्याधि-भाव माना जा सकता है, वाद्य रोग को नहीं, यह विशेष यहाँ समझना चाहिये ।

लक्षण एव विभावोच्चेरनुभावात् वधि—

गात्रशैथिल्य-ख्यासादयं ऽत्रानुभावः ।

अङ्गों की शिथिलता और खास आदि व्याधि-भाव में अनुभाव होते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं प्रतिपादयति—

यदाहुः—

'एकैकरो द्वन्द्वरो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः ।

वातपित्तकफानां स्युर्न्याधयो ये ऽजरादयः ॥

इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरि-र्याभिधीयते ।'

लोक वात-पित्त-कफना मध्ये प्रत्येकं द्वन्द्वयोलायाणां त्रयाणां वा दोषाणां प्रकोपाद् ये ऽजरादयो भवन्ति, इह साहित्ये तत्प्रभनस्तदुत्पन्नो मगस्तापचित्तवृत्तिविशेषो व्याधिर्भाव उच्यत इत्यर्थः ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'एकैकरो ...' इत्यादि । अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों में से एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के प्रकोप से जो अजर आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को साहित्य शास्त्र में 'व्याधि' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वियोगव्याधिता नायिका वर्णयति—

'हृदये कृतशोभलानुपज्जा, मुहुर्ज्जानि यतस्ततः क्षिपन्ती ।

तदुदन्तपरे मुखे सखाना-मतिदीनामियमादधाति दृष्टिम् ॥'

इयं वियोगिनी, हृदये वक्षसि कृत शोभलानुपज्जा सम्बन्धो यस्या यया वा, तादृशी, तथा मुहुर्वारं वारं यतस्तत इतस्ततः, अज्जानि क्षिपन्ती, तदुदन्तपरे नायकवृत्तान्तवर्णन-परायणे सखीना मुखे, अतिदीना दृष्टिमादधाति निक्षिपतीत्यर्थः ।

मुख इत्येकवचनेन सर्वासामेकस्यैव वृत्तस्य कथनं सूच्यते ।

विरह-पीडित नायिका का वर्णन है कि—विरहिणी नायिका सेज पर पड़ी है, सखियों ने विरह-ताप को शान्त करने के उद्देश्य से उसके वक्ष पर सेवाओं को रग छोड़ा है, फिर भी वह नायिका बार-बार अङ्गों को इधर उधर घटक रही है, अब चेवारी सखियाँ क्या करें, कुछ उपाय नहीं सूझता, आखिर सब सखियाँ मिल कर उसके प्रिय के सम्यन्ध की बातें करने लगीं, तब नायिका ने प्रिय-कथापरायण सखियों के मुख पर कातर दृष्टि डालने लगी ।

अत्र पद्ये व्याधे विभावानुभावौ दर्शयति—

विरहोऽत्र विभावः, अङ्गत्वेपादिरनुभावः ।

यहां विरह विभाव है और अङ्गों का पटकना आदि अनुभाव है ।

प्रासं निरूपयति—

भोरोर्धोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जधुथवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषपक्षासः ।

धोरसत्त्वत्वं मयानकप्राणिना दर्शनात्, स्फूर्जयोर्वज्रनिर्घोषस्य यवणाद्यन्मोत्वत्ति-
र्यस्य, हाहशो भोरो' कातरस्य चित्तवृत्तिविशेषपक्षास इत्यर्थः ।

अब 'प्रास' का निरूपण करते हैं—'भोरो' इत्यादि । भोर (डरपोक) व्यक्ति के हृदय में व्याप्त आदि मयानक प्राणियों के दर्शन और बिजली की कड़क के श्रवण आदि से जो एक तरह की चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम 'प्रास' है ।

अनुभाषानाह—

अनुभाषाश्चास्य रोमाञ्च-कम्प-स्तम्भ-भ्रमादयः ।

स्तम्भधेष्टाप्रतीपात । विभावद्वयं तु सभ्रण एवोक्तम् ।

रोमाञ्च, कम्प, निश्चेष्टा और भ्रम आदि प्रास-भाव के अनुभाव होते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

धदाहुः—

'औत्पातिकैर्नैतं क्षेपपक्षासः कम्पाविकारकः ।'

उत्पातमूचकैरौत्पातिकैर्धोरसत्त्वदर्शनादिभिर्जन्यो मनसः क्षेपक्षपलात्मकवृत्तिविशेषः ।

प्राचीनों ने भी कहा है कि—उत्पातकारक वस्तुओं से होने वाले मन के विशेष को 'प्रास' कहते हैं और यह कम्प आदि का जनक होता है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायक सञ्चार्य पति—

'आलीपु कैलीरभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।

आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुपमामयासीत् ॥'

आलीपु सखीना मध्ये, कैलीरभसेन श्रीकाकौतुकेन, मम सम्बन्धिनमालापं मुहु' उदा-
लपन्ती विदधती, बाला मुग्धा, आराद् दूरे मदीयां गिरम् बाधमुपाकर्ण्य निराम्य, सौदामनीयां
प्रासोदयादिभिरप्रभतया क्षपलासम्बन्धिनीं, सुपमाम् अयासीद् विद्युदिव सद्यस्तिरोऽभूदित्यर्थः ।
'आलापमुपालपन्ती' इत्यत्र 'वाचमुवाच कौत्स' इत्यत्रेवाधिकपदत्वम् ।

उदाहरण देखिये । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मुग्धा नायिका खेड के वेग
से सखियों के बीच में मेरे सम्बन्ध की बातें कह रही थी, परन्तु दूर से थोड़ी ही मेरी
आवाज सुनी, त्यों ही बिजली की झोमा को प्रास कर गई—अर्थात् देखते ही माग गई ।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णनं विभावः, पलायनमनुभावः ।

'शब्दानामनुशासनमात्रायेण' इत्यत्रेव पत्येति कर्तरि तृतीया । इह स्वशब्देन नायिका-
परामर्शोऽभिप्रेतः, किन्तु 'निजस्वात्मादिशब्दानां प्रधानभूतक्रियाकर्तृपरामर्शात्पम्' इति
व्युत्पत्तिविरोधात्प्रोक्तः ।

यहां पति के द्वारा स्वकीय वचन का श्रवण करना विभाव और भाग जाना अनुभाव है ।

लज्जाञ्च निमग्नशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शैशवेनैव तस्या निरासात् ।

यतो बालापदोपस्थापितेन बाल्येनैव नायिकया लज्जाया असम्भव, त्रासस्य च सम्भव सूचित, तस्मात्तिरोधानेन नात्र लज्जा व्यज्यते, अपितु त्रास एवेति भाव ।

‘बालीषु’... इत्यादि पद्य में ‘लज्जा’ व्यङ्ग्य है। यह साझा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ‘बाला’ पद से नायिका का बचपन बोधित हुआ है, जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाती है—अर्थात् बचपन में लज्जा नहीं होती, त्रास होता है ।

ननु ‘प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा । कथिता मृदुख माने समधिकलज्जा-धृती मुग्धा ॥’ इत्यन्यत्र लक्षिता मुग्धैवात्र बालापदबोध्या, न तु शिशु । तथा च लज्जा-यारतस्यामाधिकायाद् व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेत्यरुचेरुदाहरणान्तरमाह—

इदं धाविचिक्कमुदाहरणम्—

विविक्त लज्जाऽसङ्कीर्णत्रासव्यञ्जकम् ।

यदि यह बात कही जाय कि यहाँ ‘बाला’ पद से बच्ची नहीं विवक्षित है, अपितु ‘मुग्धा’ जिसके लक्षण में ‘समाधिक लज्जावती’ अर्थात् ‘अधिक लज्जावाली’, कहा गया है, अतः लज्जा ही प्रधान व्यवहृत होगी, तो मैं कहूँगा कि यह कथन आप का ठीक है, इसी अरुचि को इदम् में रखकर ग्रन्थकार दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—‘इदं वा विविक्त मुदाहरणम्’—अर्थात् अथवा यह विशुद्ध उदाहरण त्रास का लीजिये—

विलम्ब्य ग्रहमागत क्रुद्धाया मातुस्ताडनोद्यम इद्धा प्रस्तौ बालकृष्णो मातरं प्रधीति—

‘मा क्रुद्ध करां कराब्जे, करुणावति । कम्पते मम स्वान्तम् ।

खेलन् न जातु गोपैरन्ध्र ! विलम्ब करिष्यामि ॥’

हे करुणावति ! अम्ब ! कराब्जे निजकरकमले, करां ताडनरज्जु, मा क्रुद्ध मा प्रही, मे मम स्वान्तं हृदयं कम्पते, पुनरत परं जातु कदाचित्, गोपैः पशुपालबालैः सह खेलन् अहं विलम्ब न करिष्यामीत्यर्थः ।

अयि ! इषावति ! तू अपने कर-कमल में (मुझे मारने के लिये) कोढ़ा मत ले, मेरा मन काँप रहा है । मां ! गोपालों के साथ खेलते हुये अब कभी विलम्ब नहीं करूँगा ।

प्रसङ्ग प्रतिपादयति—

पथा [भगवतो] लीलागोपकिशोरस्योक्तिः ।

लीलाया लीलायै वा गोपकिशोरस्य वस्तुतः परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मातरं प्रत्युक्तिरेषा । इह त्रासस्य कशोत्तोलनं विभाव, कम्पबालुभाव । भावान्तरेणासङ्कीर्णत्रासोऽत्र चदन्यते ।

यह लीला से गोप-किशोर बने हुये श्रीकृष्ण भगवान की उक्ति है । यहाँ माँ का कोढ़ा हाथ में लेना त्रास का विभाव और कम्प अनुभाव है ।

स्वप्नरूपं सुप्तं निरूपयति—

निद्राविभावोत्थञ्जानं सुप्तम् ।

निद्राया विभावोत्थं धमादिभ्य उत्थमुत्पन्नं हानं विषयावगात, स्वप्न एव सुप्तं भाव इत्यर्थः । तदाह—

स्वप्न इति यावत् ।

अब ‘सुप्त’ का निरूपण करते हैं—‘निद्रा’ इत्यादि । निद्रा-रूप विभाव (कारण) से उत्पन्न हुये ज्ञान का नाम ‘सुप्त’ है । जिसे स्वप्न कहते हैं ।

अमादेर्विभावस्य निद्राविभावत्वेनैवोक्तत्वाद्नुभावमात्रं वक्ति—
अस्यानुभावः प्रज्ञापादिः ।

अस्य स्वप्नभावस्य । प्रज्ञापोऽनर्थकमापणम् । आदिना रोदनहसनादिस्वान्नग्यासारसङ्ग्रहः ।
चटवदाना आदि इसके अनुभाव हैं ।

तनु अमादयोविभाव इव, नेत्रनिमीलनादयोऽनुभावा अपि निद्राया एवास्य कथं
नोच्यन्त इत्याशङ्का व्यपोहते—

नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया [एव] अनुभावाः, न स्वस्य, अतिदृष्टान्यत्वात् ।

नेत्रनिमीलनादीना हि निद्राजन्यत्वं, न तु स्वप्नजन्यत्वमिति नेत्रनिमीलनादयो न स्वप्न-
स्यानुभावा । इत्थं स्वप्नस्य निद्रायाय स्वरूपैक्येऽपि कार्यभेदाद् भेदो विभावनीयः ।

आँखों का मींचना आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, सुष के नहीं, क्योंकि वे स्वप्न
से उत्पन्न नहीं होते ।

प्राचीनेति खण्डयति—

यत्तु प्राचीनैः—‘अस्यानुभावा निश्चृतगात्रनेत्रनिमीलनम्’ इत्याद्युक्तम्,
तदन्यथा सिद्धान्तामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

अन्यथा-सिद्धानि कारणान्तरादेवोत्पन्नानि । नेत्रनिमीलनादयो हि निद्रयैव (न तु
स्वप्नेन) जनितानि स्वप्नं यावत् तिष्ठन्तीति स्वप्नसमयेऽपि तदुपलम्भाद्भ्रमेण स्वप्नजन्यत्वं
तेषां प्रतिपादितमित्याहृतम् । उक्तवान्यत्र—‘स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विधयानुभवस्तु यः’ ।
कोपावेगमयगलानि-‘सुषु’ लादिकारकः ।’ इति ।

प्राचीनों ने ‘सुष के अनुभाव अहाँ की निश्चेष्टता और आँखों का मींचना है’ ऐसा जो
छिला है, उसका भावय यह है कि यद्यपि इन अनुभावों के प्रति स्वप्न कारण नहीं है,
स्वप्न के लिये ये सब अन्यथासिद्ध हैं—अर्थात् स्वप्न के अभाव में भी ये अनुभाव निद्रा
से उत्पन्न होने वाले हैं, तथापि ये अनुभाव स्वप्न के व्यापक अपरप हैं—अर्थात् स्वप्ना-
पस्या में भी इनका रहना निश्चित है । सारांश यह हुआ कि स्वप्न की अवस्था में भी
इत (नेत्र-निमीलनादि) अनुभावों को नियमित रहते देखकर प्राचीनों को अत्र हो
गया कि ये स्वप्न के ही कार्य हैं, अतः उन्होंने वैसा छिल दिया । बस्तुतः उनका छिलना
ठीक नहीं है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

स्वप्नामृतप्रियासमागमो नावको निद्रा वदति—

‘अकृष्ण ! भृषाभापासिन्धो ! विगुञ्ज भमाञ्जलं,

तव परिचितः स्नेहः सम्यक् मयेत्यनुभाषिणीम् ।

अविरलगलद्राग्णां तन्वीं निरस्तविभूषणां,

क इह भवतीं मदे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥’

हे मदे कल्याणकारिणि ! निद्रे स्वप्नदशे ! भवतीं विना क इह—‘हे अकृष्ण निर्दय !
भृषाभापासिन्धो सर्वदा मिथ्याभाषिन् ! मम अञ्जलं वसनाग्रं मुखं त्यज, तव स्नेहः प्रणय-
परिणित मया तव कपटप्रेमा सुनिर्दिष्ट’ इति वाक्यानि, अनुभाषिणीं वदन्तीम्, अविरल-
गलद्राग्णां निरन्तरच्यवमानाश्रुधाराम्, निरस्तविभूषणां निष्कसितालङ्काराम्, तन्वीं प्रेयसीं,
विनिवेदयेत् समर्पयेद्दर्शयेदित्यर्थः ।

निद्रे ! तवेवैतन्माहात्म्यं यदविद्यमानामपि प्रियतमा तथा दूरायसीत्याशयः । इह
शब्दचारिमच्छन्दसोऽनुशेषाद् ‘भवतीं’मित्यस्य ‘विने’स्वनेन महान् विप्रकर्षः सुयमामपकर्षति ।

अथ 'सुप्त-भाव' का उदाहरण लीजिये। 'हे निर्दय ! हे मिथ्याभाषणों के समुद्र ! मेरे अञ्जल को छोड़ दे, मुझे तेरे प्रेम का अच्छा परिचय प्राप्त हो चुका।' इस तरह कहती हुई और लगातार आंसू बहाती हुई आभूषणविहीन कृष्णाक्षी को, हे कल्याणकारिणि ! निद्रे ! तेरे बिना कौन छाकर उपस्थित कर सक्ता ? हे देवि ! इस तरह प्रिया-समागम करा देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है।

प्रकरणमाह—

एषा प्रयासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवं भाषिणीं दृष्टवन्तो निद्रां प्रति कस्यचिदुक्तिः।

अपिरप्राप्रयोजन प्रतिभाति।

यह उक्त रीति से कहती हुई प्रियतमा को स्वप्न में भी देखने वाले किसी प्रवासी नायक की उक्ति है।

ननु वस्तुनो रसस्य चापि व्यञ्जयत्वादिह कथं भावध्वनिरेव व्यपदिश्यत इत्यत आह—

'यद्यप्येवम्भूतायाः प्रियतमावस्थाया निवेदनेन निद्रे । मम भवत्या महानुपकारः कृतः' इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथमवतरति, तथापि पुरःस्फूर्तिकतया स्वप्नप्रवृत्तनमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमीष्टे।

अत्रोदाहरणे निद्राकर्तृकप्रियतमानिवेदनरूपमहोपकारविधानात्मकवस्तुन शृङ्गाररसस्य च व्यञ्जनाद् वस्तुध्वनि-रसध्वन्योरपि यद्यपि सङ्भाव, किन्तु तयो पश्चात् प्रतीतिरिति साम्यामङ्गभूताभ्या सह पूर्वप्रतीतिकत्वात् प्रधानस्य स्वप्नभावध्वने साद्व्यर्थमिति तदध्वनि-व्यपदेश एवेति सारम्।

यद्यपि 'हे निद्रे ! तू ने प्रिया की प्यारका दशा (परच भाषण, रोदन और आभूषण-त्याग आदि) का ज्ञान कराकर मेरा महान् उपकार किया है' इस वस्तु तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों की प्रतीति यहां होती है, तथापि पहले स्वप्न की ही स्फूर्ति (प्रतीति) होती है, अतः इस पद्य को स्वप्न-भाव-ध्वनि का ही उदाहरण कहा गया है, परन्तु अन्त में उक्त वस्तु और रस भी ध्वनित होंगे, स्वप्न-भाव-ध्वनि, उन्हें रोक नहीं सकती।

जागरणलक्षणं विबोधं निरूपयति—

निद्रानाशोत्तरं जायमानो विबोधो विबोधः।

निद्रानाशस्य भाषणभावाद् बोध इति, बोधस्य चान्यदाऽपि सम्भवान्निद्रेत्यादि च लक्षणे निवेशितम्। तदुक्तम्—'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधधेतुनागमः। जृम्भाऽङ्गभङ्गनग्नम्रीलनाङ्गावलोककत्।' इति।

अथ 'विबोध-भाव' का निरूपण करते हैं—'निद्रानाश' इत्यादि। निद्रा के नष्ट होने के बाद जो बोध होता है, उसको 'विबोध' कहते हैं।

विभावाननुभावांश्च दर्शयति—

निद्रानाशश्च तत्पूर्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्दस्पर्शादिभिर्जायत इति न एवात्र विभावाः। अक्षिमर्दन-गात्रमर्दनादयोऽनुभावाः।

तत्पूर्ति-निद्रापूर्तिः। स्वप्नान्त-स्वप्नदशाऽवसानम्। स्पर्श परकृतः। निद्रानाशस्य यानि कारणानि, तान्येव विबोधस्यापीति निद्रानाशकारणान्येवविबोधे विभावा अक्षिमर्दनाद-यश्चानुभावा भवन्तीत्यर्थः।

निद्रा का नाश निद्रा के पूर्ण हो जाने से स्वप्न के अन्त हो जाने से और प्रवण शब्दों के श्रवण से तथा किसी के स्पर्श से होता है, इसलिये वे विबोध के विभाव हैं और आँसू मलना, शरीर मलना आदि अनुभाव हैं।

उदाहरणवाहुल्यसम्भवाद्—

तत्र सङ्क्षेपेणोदाहरणम्—

यद्यपि इस भाव के उदाहरण बहुत हो सकते हैं, तथापि संक्षेप से ही वे दिसलाये जाते हैं।

स्वप्नोपलम्ब्यमानप्रेयसीसाम्प्रिध्यो भेषगर्जितापगतविद् चिन्तमानः कश्चित् प्रवासी सखायमाख्याति—

‘नितरां हितयाऽहं निद्रया मे, बत यामे चरमे निवेदिताया।

सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत् प्रजुकोपवारिवाहः ॥’

अथ, चरमे यामे चतुर्थे प्रहरे, मे मम, नितरा हितया परमोपकारिका, निद्रया स्वप्नवस्था, निवेदिताया प्रापिताया, सुदृशः प्रेयस्या आलपितमुद्यताया, वचनं, यावत्तु शृणोमि, तावद्दत्त, मयि, वारिवाहो जलधर प्रजुकोप प्रकुपित इव जगज्जैत्यर्थः ।

वापक अपने मित्र से कहता है कि—मेरा अत्यन्त हित चाहने वाली निद्रा से (स्वप्नावस्था से) रात के अन्तिम प्रहर में उपरिपत की गई सुनयना प्रेयसी का वचन जब तक सुनूँ—सुनूँ तभी मेरे ऊपर जलधर प्रजुस हो उठा—उसने अपने मीषण गर्जन से मेरे सुखद स्वप्न को भग्न कर दिया।

विभाषमनुभावं चाह—

अत्र गजितश्रवणं विभावः, प्रियावचनप्रवणोल्लासनारोऽनुभावस्तुभेयः ।

उभेयः साक्षाच्छब्दानुकोऽपि अतराब्देनावगमनीयः ।

यहाँ सेव-गर्जन का श्रवण विभाव और प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुआ था, उसका विनाश अनुभाव है, परन्तु उस अनुभाव का वर्णन स्पष्ट शब्दों में यहाँ नहीं किया गया, अतः ‘बत’ पद से उसका चर्क कर लेना चाहिये।

मतान्तरेण विबोधं निरूपयति—

केचिद्विद्याध्वंसजन्यमप्यमुमामनन्ति । तेषां मते—

‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ॥’

इति गीतापद्यमुदाहार्यम् ।

अविद्यायां संसारनिदानभूताशिनस्य ध्वंसेन विनाशोऽयं ध्वंसं ज्ञानमपि केचिद् विबोधभावं मन्यन्ते, तेषां मते—‘हे अच्युत गोविन्द । त्वत्प्रसादात् तत्त्वोपदेशनात्मकत्वादनुग्रहात्, मम मोहो देहात्मभ्रमो नष्टः, मया स्मृतिहात्मस्मरणं च लब्ध्वा पुनरवस्था, साम्प्रतं गतसन्देहः कर्तव्याकर्तव्यसंशयरहितः, स्थितोऽस्मि । तेन तव वचनं करिष्ये स्वदादेशं पालयिष्यामी’—स्वर्गकं ‘नष्टो मोहः’ इत्यादिभगवद्गीतापद्यमत्रोदाहरणीयम्, तत्राविद्याध्वंसजन्यविबोधस्य सत्पादित्यर्थः ।

कुछ लोग ‘विबोध’ को अविद्या के नाश से उत्पन्न होने वाला भी मानते हैं, उनके मत के अनुसार ‘नष्टो मोहः’ इत्यादि गीता के श्लोक को ‘विबोध-भाव-ध्वनि’ का उदाहरण समझना चाहिये। उस गीता-श्लोक का अर्थ यह है कि—हे भगवान् ! आपकी अनुकम्पा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन सत्त्वों को मैं भूल रहा था, वे मुझे पुनः समझ में आ गये। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ, आपके कथन का अङ्गरेषाः पालन करूँगा। यह महाभारत युद्ध में मोह-प्रस्त धनुर्धर का उपदेश सुन लेने के बाद भगवान् कृष्णचन्द्र के प्रति उक्ति है।

सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वोदाहरणेऽसूयाध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न तु वारिवाहविषयाया असूयाया एवान्न वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोध-
प्रतीतौ हि सत्यां तस्मिन्ननौचित्यावगमे सत्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवाहेऽ-
सूयाया विलम्बेन प्रतीतेः; परमुखनिरीक्षकत्वात् ।

वाक्यार्थता वाक्यार्थबोधप्राधान्यम् । तस्मिन् विबोधे । परमुखनिरीक्षकत्वमसूयाया
पराधीनप्रतीतिकत्वम् ।

‘नितरा’मित्याद्युदाहरणे परमोपकारकनिद्रामञ्जक—मेघविषयकासूयाया एव प्राधान्येन
व्यङ्ग्यत्वादसूयाध्वनिरेवेति न शङ्कनीयम्, इहासूयाप्रतीति परसापेक्षत्वेन प्रथममुत्पत्तुम-
शक्तत्वात् । तथाहि—प्रथममिह विबोधस्यैव प्रतीतिर्जायते, तदनु स्वप्नस्य सुखकरत्वेन
विबोधानौचित्यस्य प्रतीतिः, तदनन्तरमनुचितविबोधकारणगर्जितविधायकत्वेन मेघविषय-
कासूयाया प्रतीतिरिति विलम्बेन भवन्ती परसापेक्षाऽसूया न प्रागन्यमर्हतीति सारम् ।

‘नितरा हितया’ ‘’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का प्रधान वाक्यार्थ मेघ के विषय में होने
वाली असूया है, यह साक्षात् करना समुचित नहीं, क्योंकि जब पहले विबोध-भाव की
प्रतीति हो जायगी, तब उस विबोध में अनौचित्य का—अनवसर में होने का—ज्ञान होगा
और उसके बाद अनुचित विबोध को उत्पन्न करने वाले मेघ में असूया होगी । अतः वह
असूया परमुखापेक्षिणी—अर्थात् स्वोपपादक विबोध का मुँह जोहने वाली है, इसीलिये
उसकी प्रतीति भी विलम्ब से ही होगी, फिर वह प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो सकती है ?

उक्तार्थं समर्थयितुमसूयाया विषयं विशदीकरोति—

स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिविबोधकं
किञ्चिदपि स्यात् ।

तस्या—असूयाया ।

यदीह पद्येऽपि ‘आत । तावदह शठेन विधिना निद्रादरिद्रोक्त’ इत्यादौ विधे-
शठत्वमिव, नेपथ्य निर्दयत्वादि किमप्यसूयाम्यञ्जक विशेषणमुपासं स्यात्, तदैवासूयाया
प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व स्यात्, न च तथा, तस्मादासूयाध्वनिरिति भावः ।

उक्त पद्य में असूया की भी प्रधानता हो सकती थी, यदि ‘आतस्तावदहं शठेन विधिना
निद्रा-दरिद्रोक्त’—अर्थात् हे भाई ! तब तक शठ बिधाता ने मेरी निद्रा को भंग कर
दिया’ यहाँ जैसे बिधाता को शठ कहा गया है, उसी तरह यहाँ भी मेघ के विषय में
निर्दयता आदि का बोध कराने वाली कुछ बातें वर्णित रहतीं । परन्तु उस तरह की एक
भी बात यहाँ वर्णित नहीं है, अतः यहाँ असूया-ध्वनि नहीं हो सकती ।

स्वप्नध्वनिशङ्कामपि निराकरोति—

नापि स्वप्नध्वनिः, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तेः ।

यतो मेघस्य गर्जितेन स्वप्ननाशस्यैव प्रतीतिरत्र भवति, अतः स्वप्नध्वनिरपि न सम्भव-
तीत्यर्थः । नष्टत्वेन प्रतीयमानस्य स्वप्नस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वासम्भवादित्याशयः ।

उक्त पद्य में स्वप्न—भाव की ध्वनि है, यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि
मेघ के गर्जन से उसके (स्वप्न के) नाश की ही प्रतीति होती है, फिर विनष्ट रूप से
ज्ञात होने वाला वह स्वप्न प्रधान व्यङ्ग्य कैसे हो सकता ?

अथ जीवनाहरणकर्तृत्वाविगमकस्य वारिवाहपदस्य, बोधनप्रकृतिकत्वावगमकस्य त्रिधा-
पदस्य वा सत्त्वादसूयाध्वनिः, स्वप्नभावस्य प्रशमेन भावशान्तिध्वनि च पर्यवैक्ष्य, ताभ्यां
सहसूयाध्वने सादृश्यमभ्युपगच्छति—

अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनासूया च सहास्य सङ्करः ।

सादृश्येऽप्यज्ञिता विबोधध्वनेरेवेत्याहुतम् ।

यदि कहें कि 'नितरां हिन्या' ---- इस पद्य में मेघ के लिये 'वारिवाह' पद का प्रयोग किया गया है और वारिवाह पद का जल देने वाला (पनमरा) भी एक अर्थ होता है, अतः इस प्रकार के होने शब्द के प्रयोग से मेघ के प्रति असूया व्यक्त हो सकती है और मेघ-गर्जन से स्वप्न-नाश की बात तो आप स्वयम् ऊपर कह आए हैं, अतः स्वप्न-भाव-प्रशम की ध्वनि आप के विचार से भी होती ही है, तो इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि—ठीक है, इस तरह यहाँ इन दोनों ध्वनियों के साथ विबोध-भाव-ध्वनि का सङ्कर ही रहे । अभिप्राय यह है कि—इस तरह सङ्कर मान लेने पर भी अन्ही विबोध-ध्वनि ही होगी और उक्त दोनों ध्वनियाँ उसके अङ्ग होकर रहेंगी ।

व्युत्पत्तिदार्ढ्याय प्रमुदाहरति—

इदन्तु नोदाहार्यम्—

'गाढमालिङ्गं य सकलां, यामिनीं सहतस्थुपीम् ।

निद्रा विहाय स प्रातः-रालिलङ्गाय चेतनाम् ॥'

स प्रकान्तं पुमान्, गाढं दृढमालिङ्गं समाश्लिष्य सकलां सम्पूर्णां यामिनीमभिव्याप्य, सहतस्थुपीं साकं स्थितवतीं, निद्रामेका नायिकामिव, प्रातः प्रभाते, विहाय, अथ चेतनां सकलामपरा नायिकामिव, आलिलिङ्गेत्यर्थः ।

अब पाठकों के ज्ञान को दृढ़ करने के उद्देश्य से विबोध-भाव का प्रमुदाहरण—भी दिलाते हैं—'इदन्तु नोदाहार्यम्'—अर्थात् यह उदाहरण नहीं देना चाहिये । जो पुरुष रात भर साथ रहने वाली (एक नायिका के समान) निद्रा का प्रसाद आलिङ्गन करके रहा, नहीं प्रातः-काल में उस (निद्रा) को छोड़कर (दूसरी नायिका के समान) चेतना-संज्ञा-का आलिङ्गन कर लिया ।

इतो नेदमुदाहरणीयमित्याह—

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वान् ।

चेतना-विबोधयोरभेदादिह चेतनापदेनाभिधीयमानस्य विबोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रागु-क्तरीत्या न वमत्कारिता ।

यहाँ विबोध चेतना पद से वाच्य ही हो गया है, अतः यह पद्य विबोध-भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता ।

अपि तु समासोक्त्यलङ्कार एवात्र वमत्कारक इति प्रतिपादयति—

यथा कश्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्यां नायिकाभ्यां द्वौ अल्लानुपभोगार्थं दत्त्वा, यथोचिते काल एकामुपभुज्य, कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरां भुङ्क्ते; तथैवायं रात्रौ निद्रां, प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात् ।

इदं प्रस्तुतेन विबुद्धपुरुषेणाप्रस्तुतस्य द्विपत्नीकसत्यप्रतिज्ञपुरुषस्य व्यङ्गनात्समासोक्त्य-लङ्कारस्येदमुदाहरणं, न तु विबोधध्वनेरित्यभिप्रायः ।

'गाढमालिङ्गं' - 'इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में वर्णित, रात में निद्रा का और प्रातःकाल में चेतना का आलिङ्गन करने वाले प्रस्तुत पुरुष में उस अप्रस्तुत तथा सत्य-प्रतिज्ञ पुरुष का व्यवहार आरोपित है, जो दो नायिकाओं को उपभोग के लिये दो पृथक्-पृथक् समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के बाद, दूसरे समय में, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है । अतः यहाँ समासोक्ति अलङ्कार प्रधान—वमत्कारी—है । भाव-ध्वनि तो यहाँ है ही नहीं ।

अमर्षं निरूपयति—

**परकृतावज्ञादि-नानापराधजन्यो मौनवाक्पाठ्यादिकारणीभूत-
श्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ।**

रात्रुकृतास्तिरस्कारप्रयत्नो ये नानापराधास्तज्जन्य, मूकीभाव-कठोरभाषणादिजनक-
थाभिनिविष्टत्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्ष इत्यर्थः । तदुक्तम्—‘निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽ-
भिनिविष्टता । नेत्ररम्य-शिरःकम्ब-भ्रूमङ्गो-तर्जनादिकृत् ।’ इति ।

अथ ‘अमर्ष-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘परकृता’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का
नाम ‘अमर्ष’ है, जो दूसरे के किये हुये अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होती
और मौन (चुप्पी) तथा कठोर-भाषण आदि को उत्पन्न करती है ।

विभावाननुभावाश्च दर्शयति—

प्राग्बतु कारणानां कार्याणां च क्रमेण विभावाननुभावत्वम् ।

अमर्षस्य परकृतावज्ञादीनि कारणानि विभावा, मौनादीनि कार्याणि चानुभावा इत्यादि
इति सारम् ।

पहले ही की तरह यहाँ भी कारणों (परकृत अपमान आदि अनेक अपराधों) को
विभाव और कार्यों (मौन आदि) को अनुभाव समझ लेना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिनीवृत्तं वर्णयति—

‘यक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे, यातस्य द्रागाननाञ्जं प्रियस्य ।

शोणाम्राभ्यां भामिनी, लोचनाभ्यां, जोषं जोषं जोषमेवावतस्ये ॥’

यक्षोजाग्रं कुचतट, सहसा, पाणिना करेण, आमृश्य संस्पृश्य, (सन्निधौ ताडनादि-
सम्भवात्) द्राग् भटिति, दूरे यातस्य गतस्य, प्रियस्य कृतागसो वल्लभस्य, आननाञ्ज मुख-
कमलम्, भामिनी कोपना नायिका, शोणाम्राभ्यां रक्तश्रेणभ्यां, लोचनाभ्यां, जोषं जोष
निर्निमेषं दृष्ट्वा दृष्ट्वा, जोष तूष्णीमेव, अवतस्येऽस्यादित्यर्थः । इहाग्रशब्दो द्विरुपात्तः ।

उदाहरण देखिये । कुचों के अग्रभाग को हाथ से मलकर दूर भागे हुये प्रियतम
के मुख-कमल को, कोच-मुक्त नायिका लाल-लाल आँखों से देख-देकर ही चुप
रह गई ।

विभावादि प्रकाशयति—

इह त्वाकस्मिकस्तनाग्रस्पर्शो विभावः, नयनारुण्यनिर्निमेषनिरीक्षणौ
अनुभावौ ।

लक्षणघटकादिपदग्राह्यविभावानुभावसङ्गावसूचस्तुशब्दः । निर्निमेषनिरीक्षणसिद्ध
सेवन-वीक्षार्थकाभ्यां जुषतिणमुल्भ्या प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां सूच्यते । निर्निमेषनिरीक्षणं
मौनस्याप्युपलक्षणम् ।

यहाँ अकरमात् स्तनों के अग्रभागों को छूना विभाव है और नेत्रों की रक्तता तथा
उकटकी लगाकर देखना अनुभाव है ।

ननु क्रोधाभ्यर्थो स्यादियमिच्छारिणो कार्य्यकारणैक्ये मिय कयं भेद इत्यत आह—

ननु क्रोधाभ्यर्थोः स्यादिय-सञ्चारिणोर्भावयोः किं भेदकमिति चेत्, विषयता-
चैलक्षणेमेवेति गृहाण ।

विषयताया वस्तुनोरुभयोरवस्थाया वैलक्षण्यमेव भेदकं जानीहीत्यर्थः ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी-भाव क्रोध और व्यभिचारी भाव अमर्ष में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि जैसे भेद कुङ्कुमही है, फिर भी दोनों (क्रोध और अमर्ष) की विषयता अर्थात् अवस्था में जो वैलक्षण्य-भेद है, वही क्रोध अमर्ष में परस्पर का भेदक होता है।

ननु भयोर्निषयताभेदः कथमवधार्यत इत्यतोऽभिपद्यते—

तत्र तु गमकं भवति परविनाशादौ प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिकं चेति कार्य-वैलक्षण्यम् ।

तत्र विषयतावैलक्षण्ये तु । यतस्तस्यैव भावस्योत्कटावस्थायाः क्रोधरूपतया परविनाशादौ प्रवृत्तिः कार्यं भवति, अनुत्कटावस्थायां न स्वमर्षरूपतया वचनवैमुख्यादिकं कार्यं भवतीति क्रोधामर्षयोः कार्यवैलक्षण्यमेव विषयतावैलक्षण्यद्वयपरकमित्यर्थः ।

क्रोध और अमर्ष की अवस्था में जो वैलक्षण्य (भेद) है, उसका ज्ञान दोनों के कार्य-वैलक्षण्य अर्थात् भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से करना चाहिये । तत्पर्य यह कि क्रोध का कार्य शीघ्र दूसरों के विनाश में प्रवृत्ति होती है और अमर्ष का कार्य केवल चुप रह जाना आदि होता है । सारांश यह सिद्ध हुआ कि एक ही भाव जब कोमलावस्था में रहता है, तब अमर्ष कहलाता है और जब उत्कटावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब क्रोध कहलाता है ।

अवहित्यं निरूपयति—

प्रीडादिमिनिर्मितैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्यम् ।

दर्पाद्यनुभावानां 'हर्षस्त्विष्टावातेर्मेन प्रसादोऽश्रुगदसादिकरः' इत्युत्तराश्रुप्रवृत्तीनां हर्षादिकार्याणां, गोपनायापहवाय, प्रीडादिभिः 'प्रीडा-भय-धाष्ट्य-कौटिल्य-गौरव', निमित्तैर्हेतुभिः जनित उत्पन्न, भावविशेषोऽवहित्य इति विशेषोऽवहित्यमित्यर्थः ।

अब 'अवहित्य' नामक भाव का निरूपण करते हैं—'प्रीडा' इत्यादि । हर्ष आदि भावों के जो अधुपस्त आदि अनुभाव (कार्य) होते हैं, उनको छिपाने के लिये लजा आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति को 'अवहित्य' कहते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तम्—

'अनुभावपिधानार्थेऽवहित्यं भाव उच्यते ।

तद्विभाज्यं भय-प्रीडा-धाष्ट्य-कौटिल्य-गौरवः ॥'

विधानं गोपनम् । विभाव्यमुत्पादनीयं तदवहित्यम् । धाष्ट्यं प्रगल्भतागौरवं महत्त्वम् ।

इस बात को प्राचीनों ने भी कहा है, जैसे—'अनुभावपिधानार्थे'..... इत्यादि । अर्थात् अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे 'अवहित्य' कहते हैं । वह भय, लज्जा, छट्ता, कुटिलता और गौरव इन सब कारणों से उत्पन्न किया जाता है ।

उदाहरति—

यथा—

कुलाश्रनावहित्यं वर्णयति—

'प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-

रुपाकर्ण्यं स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः ।

विपन्वालाजालं भगिति वमतः पत्ररापतेः,

फणायां साक्षर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम् ॥'

गुरुषु गुरुजनसमीपे, गोपनां प्रयत्ने कालियदमनादिकथाप्रस्तावे, बहुपते श्रीकृष्णस्य, महिमानमुत्कर्षम्, उपाकर्ष्य श्रुत्वा, स्थितन्तौ धर्मभाजौ पुलकितौ जातरोमाशौ च कपोलौ यस्यास्तादृशी, कुलवधू कुलोनाऽकुलटा वधूर्गोपाङ्गना, प्रणयजस्वेदरोमाधापहवाय, विप-ज्वालाणा जाल समुदाय, मृगिति सत्वर वमतो मुखशतान्निष्कासयत, पञ्चगपते कालिय-नागस्य, फणाया, (तस्य) ताण्डवविधिमुद्धतनृत्यविधानं, साध्वर्यमाध्वर्येण सहितं, कयय-तितरा मुहुर्वदतीत्यर्थ । इह प्रीटया प्रणयजस्वेदरोमाध्वर्योर्गोपनम् ।

जैसे—गोपजनों ने प्रसन्न-वस्त्र, गुरुजनों के मध्य में, कृष्ण की महत्ता का वर्णन किया जिसको निकट में रहने वाली किसी कुलाङ्गना ने भी सुन लिया, जिससे उसके कपोलों पर प्रेम के कारण सार्विक भाव के चिह्न पसीना और रोमाञ्च उत्पन्न हो गये । कुलवधू ने देखा कि अब तो मेरा कृष्ण के प्रति प्रेम लोगों पर प्रकट होना चाहता है, वस, उसने दृष्ट से विप-ज्वाला के समूह को छगानार उगलते हुये अहिराम कालिय के फणों पर कृष्ण के मृग का आध्वर्य-सहित वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे लोग समझ लें कि यह श्वेद और रोमाञ्च कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, अपि तु उनके पराक्रम के वर्णन के कारण हुये हैं ।

विभावानुभावविभवे—

अत्र प्रीटा विभावः, तादृशकालियकथाप्रसन्नोऽनुभावः ।

तादृशस्य विपज्वालाजालवमनकारिण । प्रणयजन्यौ स्वेदरोमाशौ लज्जयाऽऽध्वर्य-जन्यरवेनापहतौ ।

यहां लज्जा विभाव है और भयङ्कर कालिय नाग के फणों पर ताण्डव करने की कथा का प्रसन्न अनुभाव है ।

इदं प्रीटाप्रयोज्यमवहित्यमुदाहृत्य भयादिप्रयोज्यस्य तस्योदाहरणानामुदाहरणमाचष्टे—

एवं भयादिप्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

अवहित्यमिति शेष ।

इसी प्रकार भय आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अविहत्य-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिये ।

उग्रता निरूपयति—

अधिज्ञेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याशङ्कारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।

अधिज्ञेपो निन्दा, अपमानस्तिरस्कार, आदिपदेन राजापराधस्य, अविविमानदोषोद्धो-पस्य, चौरग्रहणस्य च परामर्शः । निन्दादिजन्यो वन्धुवधादिजनक क्रूरतारूपक्षितवृत्ति-विशेष उग्रतेत्यर्थः ।

अब 'उग्रता-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधिज्ञेप' इत्यादि । निन्दा और अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली 'इसका क्या कर पाऊँ' इस तरह की चित्त-वृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहु.—'नृपापराधोऽसहोपकीर्तनं चोरधारणम् ।

विभावाः स्यु-रथो बन्धो वधस्ताडनमर्त्सने ॥

एते यत्रानुभावास्तदीय निर्दयतात्मकम् ।' इति ।

उग्रताया नृपापराधादयो हेतवो विभावा, बन्धादीनि कार्याणि चानुभावा । अस्य किं करोमीत्याशङ्कारा चित्तवृत्तिं करत्वं निर्दयतात्मिकनयान्तरम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है—‘नृपापराधः . . .’ इत्यादि । अर्थात् राजा का अपराध, शूटे घोषों का कथन और अपने शोरों को रख लेना ये जिसमें विभाव हों और बाधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हों, उसे ‘उग्रता’ कहनी चाहिये, निर्दयता जिसका दूसरा रूप है ।

उदाहरति—

यथा—

गाण्डीवनिन्दयोग्रतामापन्नोऽर्जुनो युधिष्ठिरं तर्जयति—

‘अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराज्ञये, नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम् ।

परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्तो हृदयं न कम्पते ॥’

हे युधिष्ठिर ! सङ्गराज्ञये सुदृक्बले, अङ्गाधिपतेरज्ञदेशस्वामिनः कर्णात्, नितान्तमस्य-
न्तम्, असङ्कलं बीराणां कृतेऽनुमम्, अङ्ग (पराक्रमहीनस्वरूपस्वदोषम्) पराजयम्,
अवाप्य लब्ध्वा, समानिर्षयनीयविक्रमस्यार्जुनस्य, परप्रभावंसुरकुलानुभावं, गाण्डिवं राधाद्यं,
धनुषापं विशेषेण निन्दतोऽधिपत, ते वच, हृदयं न कम्पते ? इत्यर्थः ।

जैसे—समर-भूमि में अङ्गराज कर्ण से आयन्त अमङ्गल (शोरों के लिये अशोभन)
पराजय को प्राप्त करके, आज तु मेरे परम प्रभावशाली गाण्डीव धनुष की निन्दा करता
है । तेरा हृदय कम्पित नहीं होता ॥

प्रकरणमाचष्टे—

एषा कर्णेन पराभूतं, गाण्डिवं निन्दन्तं, युधिष्ठिरं प्रति धनस्तयस्योक्तिः ।

विशेषणदुर्गं युधिष्ठिरस्य । गाण्डीवशब्दो ह्रस्वगण्योऽपि द्विरूपकोरोऽनुशिष्टः । धन-
अयोऽर्जुनः ।

एतु कर्ण से पराजित और गाण्डीव की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की
उक्ति है ।

विभावानुभावी प्रकाशयति—

युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डिवनिन्दाऽत्र विभावः, वधेच्छाऽनुभावः ।

निर्घोषस्य गाण्डिवस्य निन्दा विभावः, युधिष्ठिरकर्मकवधेच्छा चानुभावेऽत्र बोध्या ।

यहां युधिष्ठिर के द्वारा की गई गाण्डीव की निन्दा विभाव है और मारने की इच्छा
अनुभाव है ।

अमर्षादुग्रताया अमेदमाशङ्क्य निरस्यति—

न चामर्षोऽप्रत्ययोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्राप्नुदाहतेऽमर्षध्वनावुग्रताया
अप्रतीतिः ।

पूर्वोक्ते ‘वज्रोजाग्रम्’ इत्याद्यमर्षध्वन्युदाहरणे वधेच्छारूपानुभावप्रतीतेरभावानुग्रताया
अप्रतीतिः, इह तु वधेच्छाप्रत्ययासत्प्रतीतिरपीति वधेच्छारूपानुभावभेद एवामर्षादुग्रताया
भेदको ज्ञेय इति तारम् ।

‘अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है’ ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि पूर्व
में जो अमर्ष-ध्वनि का उदाहरण (वज्रोजाग्रम् . . .’ इत्यादि पद्य) दिया गया है, उसमें
उग्रता की प्रतीति नहीं होती और यहां होती है, इस बात का परिचय आपको दोनों
उदाहरणों को मिलाकर देखने पर मिल सकता है । तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप
नहीं और उग्रता तद्रूप होती है ।

तर्हि शोधोपेतयोरेवैक्यमाप्तामित्याशङ्क्यामाह—

नाप्यसौ शोधः, तस्य स्थायित्वेन, अस्याः सञ्चारिणीत्वेन भेदात् ।

क्रोधो हि गुरुबन्धुवधादुत्पन्न उत्क्रान्तस्यो रौद्ररसस्य स्थायीभावः, अभावप्रता तु वाम-
पराधजन्यत्वात् क्रोधापेक्षयाऽल्पमात्रव्यभिचारिभाव इत्युभयोर्विभावभेदाद्भेद इत्यभिसन्धिः ।

उग्रता को क्रोधरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध स्थायीभाव है और उग्रता
सञ्चारीभाव, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है । स्पष्ट बात यह है कि एक ही चित्त-वृत्ति जब
गुरु-बन्धु-वधादि महान् अपराधों से उत्पन्न होती है, तब क्रोध कहलाकर रौद्ररस का
स्थायीभाव बनती है और जब मिन्दा आदि साधारण नाबिक अपराधों से वही चित्त-
वृत्ति उत्पन्न होती है, तब उग्रता नामक सञ्चारीभाव कहलाती है ।

उन्मादं निरूपयति—

विप्रलम्भ-महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः ।

विप्रलम्भात् प्रियत्रययोगात्, महापत्तेर्मेहत्वा विपत्ते, परमानन्दादेरुत्कृष्टाहादप्रभू-
तैश्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, स, अन्यस्मिन् वस्तुनि, अन्यस्य वस्तुनोऽवभासस्तद्भावबहिरोप्यक
सत्प्रकारवशान्न भ्रमात्मकवृत्तिविशेष उन्मादो भाव इत्यर्थः ।

अथ 'उन्माद-भाव' का निरूपण करते हैं—'विप्रलम्भ' इत्यादि । प्रिय-त्रियोग गुरुतर-
विपत्ति और परम आनन्द आदि कारणों से जो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम उत्पन्न
होता है, उसी भ्रमात्मक चित्त-वृत्ति को 'उन्माद' कहते हैं ।

उन्मादलक्षणस्य भ्रान्तिभावेऽति-याति वारयितुं विशेषणं जन्मान्तमुपात्तम्, सर्वेषां
भ्रमाणां साधारणधर्मवद्भ्रमिदानीदिप्रतिनियतहेतुजन्यत्वेन विप्रलम्भाद्यजन्यत्वादित्याह—

शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम् ।

विशेषणमुपात्तमिति शेषः ।

शुक्तिवर्मिकरजतत्वप्रकारकभ्रमात्मकज्ञानस्य विप्रलम्भाद्यजन्यत्वेन नोन्यादसमित्याशयः ।

सभी भ्रमों में उन्माद का लक्षण न बला जाय, इसलिये अवभास (भ्रम) में
'जन्मान्त' विशेषण लगाकर विप्रलम्भ आदि कारणों का निर्वेश किया गया है, जिससे
शुक्ति आदि में जो रजत आदि का भ्रम दूरत्व-स्वाकचिर्यादि दोषों से होता है, उसमें
उन्माद लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह भ्रम विषेय आदि कारणों से
उत्पन्न नहीं होता ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विप्रयोगोन्मत्तारुत इती निवेदयति—

'अरुणहृदय ! प्रियतम ! मुक्तामि त्वामितः पर नाहम् ।

इत्यालपति कराम्बुज-मादायालीजनस्य विकला सा ॥'

'हे अरुणहृदय प्रियतम ! त्वामित' परं न मुक्तामि' इति (वाक्य) विकला विप्र-
लम्भेनोद्भिप्रहृदया सा नायिका, आलीजनस्य सखीसमुदायस्य, कराम्बुज हस्तकमल प्रियतम-
भयाद् आदाय गृहीत्वा, आलपति व्याहरतीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । वह, सखी के कर-कमल को पकड़ कर 'हे दयाहीन-हृदय घाले
प्रियतम ! मैं (जो छान्द चुकी तो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुझे छोड़ती ही नहीं ।' इस
तरह विकल होकर बातें करती रहती है ।

प्रकरण-विभावानुभावान् प्रतिपादयति—

एषा प्रवासगतं स्वनायिकावृत्तान्तं पृच्छन्तं [नायक] प्रति कस्याश्चित्
सन्देशाहारिण्या चक्तिः । प्रियविहोऽत्र विभावः, असम्बद्धोक्तिरनुभावः ।

सन्देशाहारिण्या इत्या । प्रियप्रमेण सखी प्रत्युपादानादुक्तेरसम्बद्धता ।

यह अपनी नायिका के समाचार पूछते हुये किसी प्रवासी के प्रति संदेश लेकर जाने वाली दूती की उक्ति है। प्रिय का विरह यहाँ विभाव और असम्भ्रम वार्तालाप अनुभाव है।

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावेऽपि धृयगुपादानस्य प्रयोजनं प्रकाशयति—

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावे सम्भवत्यपि, धृयगुपादान व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय।

स्फोरण प्रकाशनम्।

उन्मादोऽपि व्याधिरन, किन्त्वस्य व्याध्यन्तरापेक्षयाऽधिक चमत्कारकत्वमिति सूचयितुं धृयगुपादानमित्याशयः।

यद्यपि व्याधि-भाव में ही उन्माद का भी अन्तर्भाव हो सकता था, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद-व्याधि में कुछ विलक्षण विचित्रता है यह दिखलाने के लिये इसका धृयगु ग्रहण किया गया है।

मरणं निरूपयति—

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम्।

आदिपदेन 'विश्रलम्भप्रवृत्तिपरामर्श'। मरणाद्विबोद्धमनात् प्रागवस्था पूर्वकालिकस्थितिः।

तत्तुल्यं प्रदीपे—

'जीवस्योद्भूतमनारम्भौ मरणं परिकीर्तितम्।

सम्बोद्धेन्द्रियसङ्कुलानि-गात्रविद्योपणादिकृत् ॥' इति।

इन्द्रियाणां सम्यग्मूलनिर्विषयग्रहणाक्षमता।

अब 'मरण-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोगादि' इत्यादि। रोग आदि से उत्पन्न होने वाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है, उसको मरण कहते हैं।

ननु प्राणनिष्क्रमणरूप मरणं कुतो न गृह्यत इत्याशङ्का निरस्तयति—

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम्, चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्या प्रसक्तेः।

मुख्यमरणस्य शरीरप्राणसम्बन्धपूर्णरूपत्वाच्चित्तवृत्त्यात्मकत्वाद्भावत्वाभावात् प्रमाणम्।

'मरण-भाव' में प्राण-वियोगप्रत्यक्ष (प्राणों का छूट जाना रूप) मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि भावों की जब चित्तवृत्ति रूप मानते हैं, तब उन में मुख्य मरण का प्रसङ्ग नहीं आता, कारण यह है कि वह चित्त-वृत्ति रूप नहीं है।

मुख्यमरणे भावत्वाभावस्य हेतुमाह—

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात्।

सर्वेषु हर्षादिभावेषु कार्यसहवर्तितया तत्तच्चित्तवृत्तिरूपव्यापारानुकूलत्वेन, यतः शरीर-प्राणसंयोगो हेतुः, अतो मुख्यं मरणं न भाव इत्यर्थः। प्राणवियोगोत्तरं चित्तवृत्तेरभावश्च तस्य तत्त्वमिरयाशयः।

मुख्य मरण का भावों में ग्रहण नहीं करने का दूसरा कारण यह भी है कि हर्ष आदि सभी भावों के प्रति शरीर-प्राण-संयोग कारण है और कारण भी ऐसा नहीं कि कार्योपपत्ति के पूर्व घण में ही रहे, अपितु ऐसा कि जो कार्य के साथ-साथ भी वर्तमान रहे। इस स्थिति में मुख्य मरण को भाव कैसे कहा जा सकता? क्योंकि उसके साथ शरीर-प्राण संयोग का रहना असम्भव है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सुमूर्धनायिकावस्थां वर्णयति—

‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती, शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत् ।

अधुना खलु हन्त । सा कृशाङ्गी, गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ॥’

या कृशाङ्गी वियोगव्ययादुर्वलावयवा सम्प्रति इतः किञ्चित्क्षणमेव पूर्वं, दयितस्य प्रियतमस्य, गुणान्, अनुस्मरन्ती ध्यायन्ती, शयने तत्प्रे, विलोकिता दृष्टाऽसीदभूत् । हन्त ! अधुनाऽस्मिन् क्षणे, सा, भाषिता सखीभिः किञ्चिदुक्ताऽपि, गिरं नाङ्गीकुरुते सञ्चारमन्यतया न प्रतिवक्षीत्यर्थः ।

अथ ‘मरण-भाव’ का उदाहरण देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि— जिसको, अभी प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुये, शय्या पर देखा था, हाय ! वह कृशाङ्गी, इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती, उसकी वाक्शक्ति नष्ट हो गई है ।

विभावानुभावविदधाति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, यचनविरामोऽनुभावः ।

यचनविरामो भाषणशक्तिनिवृत्तिः ।

प्रियतम का वियोग यहाँ विभाव और वाक्शक्ति का नष्ट हो जाना अनुभाव है ।

इह मरणध्वने पदप्रवरयतां दर्शयति—

हन्तपदस्यात्रात्यन्तमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽस्य भावः, पदव्यङ्ग्य-तामावहति ।

अत्र पद्ये, यद्यपि सम्पूर्ण वाक्येन मरणभावो व्यज्यते तथापि हन्तपदस्य दुःखातिरेक-बोधकतया पदान्तरापेक्षयाऽत्यन्तं तत्रोपकारकत्वात् पदव्यङ्ग्य एवात्र स भाव उच्यते, प्राधान्येन व्यपदेशादित्यर्थः ।

इस पद्य में यद्यपि सम्पूर्ण वाक्य से मरण-भाव व्यक्त हुआ है, तथापि वह (मरण-भाव) पद-व्यङ्ग्य ही कहलाता है, क्योंकि ‘हन्त’ पद ही दुःखाधिक्य के बोधक होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में अधिक उपकारक है ।

परकीयमतं निरस्यति—

एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यतायां नात्यन्तं वैचित्र्यमिति परास्तम् ।

एतेन पदव्यङ्ग्यस्यापि मरणभावस्यातिव्यक्तकारकतायां अनुभूयमानत्वेन ।

इससे (ऊपर के पद्य में मरण-भाव को हन्त-पद-व्यङ्ग्य सिद्ध कर देने से) ‘भाव यदि पद से व्यङ्ग्य हो, तो उसमें अधिक विचित्रता नहीं रहती’ यह कथन परास्त हो जाता है ।

विप्रलम्बचनेः कर्णध्वनेर्वाऽत्र कुतो न व्यपदेश इत्याशङ्का निवारयति—

‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती’त्यनेन व्यज्यमान ‘चरमावस्थायामपि तस्या दयितगुणविस्मरणनाभू’र्दात वस्तु, विप्रलम्बस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

व्यज्यमानमिति वस्तुविशेषणम् । प्रकृते भट्टिति प्रत्युज्जीवनासम्भवाद विप्रलम्भासम्भव इति कर्णस्यायिशोकोपादानम् ।

इह व्यङ्ग्येन वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्बस्य, वस्तुतः शोकस्याधिककर्णस्य पार्यन्ति-

कप्रतीतिविषयत्वेन न प्राधान्यम्, मरणभावस्य तु प्राथमिकचमत्कारिप्रतीतिविषयतया तत्त्व-
मिति तद्व्यनिव्यपदेश एव, न तु रसध्वनेः, न वा वस्तुध्वनेर्व्यपदेश इत्याशयः ।

उक्त पद्य में 'दधितस्य गुणाननुस्मरन्ती'-अर्थात् प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई इस कथन से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'उस नायिका को अन्तिम अवस्था में भी प्रियतम के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ' और इस स्वयम्भूत वस्तु से उक्त पद्य के द्वारा सब से अन्त में अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की पुष्टि होती है । तत्पर्य यह है कि वैसे तो प्रायः भाव-ध्वनि-स्थल में सर्वत्र अन्त में किसी न किसी रस की भी ध्वनि होती ही है, परन्तु खासकर मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की ध्वनि अन्त में नियमतः होती है, भूतः यहाँ भी अन्त में उक्त दोनों रसों में से किसी एक की अभिव्यक्ति होगी और साथ-साथ यहाँ उक्त वस्तु भी ध्वनित हुई है, फिर भी व्यवहार यहाँ भाव-ध्वनि का ही होगा, क्योंकि पहले उसी का चमत्कार सदृश्यों को मारुट करता है ।

मरणभावस्य विप्रलम्भ-करुणयोरपि पोषकत्वं विषयभेदेन दर्शयति—

अयं च भावः स्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिनः । वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः ।

अयं मरणरूपी भाव । कस्त्वयं । एवं मरणम् । सन्दर्भे प्रसङ्गो महावाक्यमिति यावत् । प्रत्युज्जीवनं पुनर्जीवनम् । अन्यथा प्रत्युज्जीवनाभावे ।

अयं मरणभाव एकस्मिन् प्रसङ्गे स्वयञ्जक यद्वाक्यं, तदुत्तरवर्तिना वाक्यरोपकरणेन यदि केनापि वाक्यान्तरेण नायिकावाक्यवर्णनस्य पुनर्जीवन प्रतिपादितं भवति, तथा इत्य-
विच्छेदाद् विप्रलम्भशृङ्गारस्य पोषको भवति, पुनर्जीवनस्य वर्णनाभावे तु रतिविच्छेदाद् करुणस्य पोषक इति विषयभेदादस्य तदुभयपोषकत्वमिति सारम् ।

ऊपर जो यह कहा गया है कि मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में शृङ्गार अथवा करुण अन्त में अवश्य ध्वनित होता है, उससे क्या यह समझा जाय कि दोनों रस ध्वनित होते हैं ? या एक ? इसका उत्तर यद्यपि यह जनायास दिया जा सकता है कि 'एक', क्योंकि दोनों का एक जगह ध्वनित होना असम्भव है, परन्तु 'एक' के निर्णय हो जाने पर भी यह सन्देह बना ही रहता कि वह एक कौन ? शृङ्गार अथवा करुण ? यदि परिस्थितिभेद से दोनों ही उस 'एक' में आ सकते हैं, यह प्रश्न का तत्पर्य समझा जाय, तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि 'यह परिस्थिति-भेद' क्या है ? अर्थात् किस परिस्थिति में विप्रलम्भ ध्वनित होगा और किस परिस्थिति में करुण ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये यह विवेक करना चाहिये कि—मरण-भाव, सन्दर्भ में, इस वाक्य (मरण-भाव-अञ्जक वाक्य) के अनन्तर आने वाले दूसरे वाक्य से यदि नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन किया गया हो, तब विप्रलम्भ का अन्यथा करुण का पोषक होता है—अर्थात् मरण-भाव-अञ्जक वाक्य की अपेक्षा सन्दर्भगत अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन के वर्णन होने पर विप्रलम्भ-शृङ्गार अन्त में ध्वनित होता है और यदि अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन हो, तब करुण-रस ध्वनित होता है ।

मुख्यमरणानुदाहरणकारणं मणति—

कथय, पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात् ।

पुनरसन्दस्त्वयैकः । न वर्णयन्ति शृङ्गार इति शेषः । तदुक्तम्—'रसविच्छेदहेतुत्वा-
न्मरणं नैव वर्णयते ।' इति । करुणे तु तद्वर्णनमपीष्टमेव, यथा-रघुवंगोष्ठमसर्वं ।

कवि लोग इस मरण-भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भाव एक

तरह से अमङ्गल सा है। यह निषेध शब्दार्थ रस के विषय में ही समझना चाहिये, कण में नहीं अतः एव 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में कालिदास ने कण की पुष्टि के लिये इस भाव का वर्णन किया है, शब्दार्थ में ही यह निषेध समुचित भी जान पड़ता है, क्योंकि 'रस-विच्छेदहेतुवामरणं नैव वर्ण्यते—अर्थात् रस-विच्छेद का हेतु हो जाने के कारण मरण का वर्णन नहीं किया जाता है' के द्वारा जो मरण-वर्णन-निषेध का बीज (रस-विच्छेद) दिखलाया गया है, वह शब्दार्थ में ही सहित होता है कण में नहीं—अर्थात् मरण-वर्णन से शब्दार्थ रस का ही विच्छेद सम्भव है, कण का नहीं।

वितर्कं निरूपयति—

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः ।

सन्देहात् संशयात्, आदिपदेन विपर्ययाद्यनन्तरं जायमान ऊहोऽभ्याहारश्चित्तवृत्ति-विरोधो वितर्क इत्यर्थः । तदुक्तम्—'तर्को विचारः सन्देहाद् अशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ।' इति ।

अब 'वितर्कभाव' का लक्षण करते हैं—'सन्देहा' इत्यादि । सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने वाला जो ऊह (एक प्रकार का विचार) है, उसे 'वितर्क' कहते हैं ।

चिन्तादिभ्याश्च ते पक्षेति—

स च निश्चयानुपूर्वः ।

प्राक् सन्देहो विपर्ययो वा, मध्ये सम्भावनारूपो वितर्कः, अन्ते च निश्चय इति प्रत्ये वितर्कस्यैव निश्चयजनकत्वं, न तु चिन्तादेरिति स्फुटम् ।

वितर्क निश्चय का जनक होता है—अर्थात् वितर्क के बाद निश्चयसमकज्ञान उत्पन्न होता है ।

उदाहरति—

'यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी, नितरामेव न विद्यते भुवि ।

अथ मे कथमस्ति जीवित, न विनाऽऽलम्बनमाश्रितस्थितिः ॥'

सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी जानकी, यदि नितरामेव भुवि न विद्यते सर्वथा परलोकमेवा-गात्, अथ तदा, मम रामस्य, जीवित जीवनं, कथं केन प्रकारेणास्ति, यतः—आलम्बन-माधार विना, आश्रितस्यापेयस्य, स्थितिः अपि न भवतीत्यर्थः ।

जानकीजीवनं विना मञ्जीवनालम्बनान्मञ्जीवनेनैव जानकीजीवनं सम्भावनीयमिति सारम् ।

अब इस 'वितर्क-भाव' का उदाहरण लीजिये । यदि जनकनन्दिनी (सीता) पृथिवी पर सर्वथा है ॥ नहीं—अर्थात् परलोक नहीं गई, तब फिर मेरा जीवन किस तरह चर्तमान है, क्योंकि आधार के बिना आश्रय (आधार में रहने वाला पदार्थ) की स्थिति कहीं नहीं रहती । अभिप्राय यह ॥ जानकी ॥ मेरे जीवन का आधार है, उसके नहीं रहने पर मेरे जीवन का नहीं रहना भी निश्चित है । एतावता यह सिद्ध हो गया कि जय मेरा जीवन है, तो जानकी भी कहीं अवश्य जीवित है ।

प्रसङ्ग-विभावानुभावानाह—

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैवोक्तिः । भुवि सीताऽस्ति न चेत्ति सन्देहोऽत्र विमानः । भ्रूतेऽप-शिरोऽङ्गुलिनर्तनमाश्रितमनुभावः ।

स्वात्मनि स्वयं नितरङ्गम् । शिरोनर्तनमङ्गुलिनर्तनं दितर्काज्जायते । आश्रितत्वं शब्दानुक्तत्वात् ।

यह भगवान् रामचन्द्र की अपने मन में उक्ति है । यहाँ 'सीता पृथ्वीपर है अथवा नहीं' यह सन्देह विभाव है और पक्ष में वर्णित न होने पर भी आश्रय के द्वारा शत होने वाले भ्रू-चाटन और मस्तक तथा अङ्गुलियों का नर्तन अनुभाव है ।

चिन्तैव कुतो न वितर्क इत्याशङ्कान् निरस्यति—

न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयं प्रत्यप्रयोज-
कत्वात् ।

यतश्चिन्ताया कदाचिदेव निश्चयो जायते, वितर्के तु सर्वदा नियमेन निश्चयो भवतीति
चिन्ताया नियतपूर्ववर्तित्वविरहादिशङ्कान्न कृत्वा द्वितर्काद् भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

‘उक्त पद्य में चिन्ता-भाव ही ध्वनित होता है’ यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि
चिन्ता नियमतः निश्चय का जनक नहीं होती—अर्थात् चिन्ता से कदाचित् कहीं निश्चया-
त्मक ज्ञान की उत्पत्ति भले ही हो जाय, परन्तु यह विषय नहीं है कि चिन्ता से मदा सर्वत्र
निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होगा ही और वितर्क से नियमतः निश्चय की उत्पत्ति होती
ही है, यही चिन्ता सया वितर्क में भेद है, अतः प्रकृत पद्य में वितर्क ही ध्वनित होता है,
इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

वितर्कलक्षणे नियमेनेत्यस्यानुस्तेज्जातदन्विशेषे प्रमत्तं पुनस्तत्रोरैक्यं निवारयति—

‘किं भविष्यति’ ‘कथं भविष्यति’ इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः ‘इदमित्थं भवि-
तुमर्हति प्रायशः’ इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्यत्वात् ।

किं भविष्यतीत्याद्याकारकस्यानरूपचिन्ताया अनिर्धारितो विषय इदमित्थं भविष्यति
प्रायश इत्याकारकस्योत्पत्तिकोटिकराद्वात्म्यसम्भावनारूपस्य वितर्कस्य तु किञ्चिन्निर्धारितो
विषय इत्युभयोर्विषयभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि उक्त वितर्क-लक्षण में ‘नियमतः’ पद का निवेश तो नहीं किया
गया, फिर जो भेद उन दोनों में ऊपर दिखाया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा ? इसका
उत्तर यह है कि जाने दीजिये, यदि उस प्रकार भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तो न हो,
उन दोनों में विषय के भेद से भेद सिद्ध है । विषय-भेद इस प्रकार है कि चिन्ता का
आकार होता है ‘किं भविष्यति’ ‘कथं भविष्यति’—अर्थात् ‘क्या होगा’ ‘कैसे होगा’ इत्यादि,
अतः चिन्ता का विषय अनिर्णीत रहता है और वितर्क का आकार होता है ‘इदमित्थं भवि-
तुमर्हति प्रायशः’—अर्थात् ‘प्रायः यह ऐसा हो सकता है’ यह सम्भावनात्मक, अतः वितर्क
का विषय कुछ निर्णीत सा रहता है ।

नन्वत्र चरमरूपेऽर्थान्तरन्यासात्प्रतीती कथं भावध्वनितमिष्यत आह—

‘न चिन्तेत्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः ।

सामान्येन विद्योपसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासात्प्रतीतीऽपि प्रतीयमानौऽस्मिन् वितर्कभाव
एवोपकारकत्वादनुकूलो न तु चिन्ताया, तेन नालङ्कारस्य न वा चिन्तायाः प्राधान्यं
सम्भवतीत्याशयः ।

उक्त पद्य में ‘न विनालम्बनमाश्रित-स्थितिः’—अर्थात् ‘विना आधार के आश्रय की
स्थिति नहीं रहती’ इस कथन के द्वारा जो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार बाध्य होता है, वह
भी वितर्क में ही अनुकूल पड़ता है, चिन्ता में नहीं । तात्पर्य यह है कि सामान्य (आधार
के विना आश्रय की स्थिति का असम्भव-कथन) से विशेष (ज्ञानकी के जीवन के विना
राम के जीवन का सम्भव-वर्जन) का समर्थन करना ही तो यहां अर्थान्तरन्यास
अलङ्कार है, जिससे प्रतिपाद्य वस्तुका निर्णय होता है, तो वितर्क का विषय है, चिन्ता का
विषय तो अनिर्णीत ही रहता है, फिर उसके समर्थन की आवश्यकता ही नहीं होती ।

विषादं निरूपयति—

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः ।

महता प्रयासेनाप्यभीष्टस्य सिद्धे राज्ञो गुरुणामन्येषा महीयतामपराधाद्येव विषादः किमिदं
कृतमिति पश्चात्तापरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो भाव इत्यर्थः । तदुक्तम्—

‘उपायामावजन्मा तु विपाद’ सत्त्वसदृश्यः ।

निरन्तरासौष्ट्यासहस्राप-सहायान्वेषणादिवृत् ॥’ इति ।

अथ ‘विपाद-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘इष्टा-मिदि’ इत्यादि । बहुत प्रयास करने पर भी अभीष्ट अर्थ के सिद्ध न होने से तथा राजा और गुरु आदि पूज्य जनों के अपराध आदि के करने से उत्पन्न होने वाली ‘यह क्या हुआ’ अथवा ‘मैंने यह क्या किया’ इत्याकारक पश्चात्तापरस्वरूप चित्त-वृत्ति को ‘विपाद’ कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

कर्णे मृते युद्धविजयाक्षिराशो दुर्योधन स्वजीवितं व्याहरति—

‘भास्करसूनावस्तं, याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।

दुर्योधनस्य जीवितं कथमिष नाद्यापि निर्यासि ? ॥’

हे दुर्योधनस्य कर्णैकप्राणस्य दशविजयौहिणीपतिवन्दितस्य प्रबलप्रतापपराभूतपाण्डवस्य वा मम जीवितं । भास्करसूना सूर्यमुते कर्णे, अस्तं यातेऽन्तं प्राप्ते सति, पाण्डवानां युद्ध उत्कर्षं आपिक्वे च जाते सति, अद्यापीदानीमपि, कथमिव कुतो हेतोः, न निर्यासि त्वं नैव निर्गच्छसीत्यमे ।

इह भास्करसूनुत्वेनास्तज्ञतमनौचित्यं सूच्यते । स्वोच्चारितस्य दुर्योधनपदस्य कर्णैकप्राणत्वादिलक्ष्यताऽवच्छेदकविशिष्टे स्ववाच्ये लक्षणवा दुःसातिशयव्यञ्जकत्वादर्धान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः । इषशब्द-सत्त्वादिषद् व्यापयालङ्कारे शेषः ।

उदाहरण देखिये । कर्ण के मर जाने के बाद विजय से निराश बने हुए दुर्योधन का अपने जीवन के प्रति यह कथन है कि—सूर्य-पुत्र कर्ण के अस्त हो जाने पर (यहाँ सूर्य-पुत्र पद से कर्ण का बोध कराने से उसके अस्तगमन का औचित्य सूचित होता है) और पाण्डवों के उत्कर्ष (विजय) की भी सिद्धि हो जाने पर, हे कर्ण को ही अपना प्राण समझने वाले, अथवा ग्यारह अश्वौहिणियों के नायकों से वन्दित होने वाले, किं वा अपने प्रबल-पराक्रमों से अनेक बार पाण्डवों के छुके छुड़ानेवाले दुर्योधन के जीवन ! आज भी सूर्यवों नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी कोई दुःख देखना शेष है ?

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

अत्र स्यापकर्षं परोत्कर्षयोर्दर्शनं विभावः, जीवितनिर्याणाशसा, तदाक्षिप्तं यदननमनादि चानुभावः ।

आरंसा कामना । तथाऽऽक्षिप्तं सहचरत्वेनायूरितम् । आदिना निष्प्रभत्वादि ।

यहाँ अपने अपकर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देखना विभाव है और प्राण के निकलने की कामना करना तथा उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाला मुख का मग्न होना आदि अनुभाव है ।

विपादध्वनिं प्रकृते द्रव्ययुक्तमर्थान्तरध्वनेरङ्गत्वमाचष्टे—

अस्मिन्नेव च विपादध्वनी दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिरनुप्राहकः ।

च हेतौ । अनुप्राहको दुःसातिशयव्यञ्जकत्वादुपस्कारको न तु प्रधानम् ।

इस पद्य में यद्यपि ‘दुर्योधनस्य’ इस छायागिक पद से (लक्ष्यार्थ का स्वरूप ऊपर में श्लोकार्थ लिखते समय लिखा जा चुका है) ‘अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य’ नामकी दुःसातिशय-ध्वनि भी होती है, तथापि वह प्रधान नहीं है, अपि तु उक्त विपाद-ध्वनि का पोषक मात्र है ।

त्रासध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र त्रासभावध्वनित्वं शङ्क्यत्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्याप्ययोगात् ।

परवीरस्योत्कृष्टवीरस्य ।

इस पद्य में त्रास-भाव की ध्वनि है, यह शङ्का तो किमो भी तरह नहीं की जा सकती, क्योंकि उत्कृष्ट वीर नायक दुर्योधन में लेशतोऽपि त्रास का होना असम्भव है ।

चिन्ताध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि चिन्ताध्वनित्वम्, युद्धा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात् ।

युद्धा न स्वखादि त्यक्त्वा । व्यवसायान्निर्धारणात् । चिन्तायां न निश्चयः ।

चिन्ता-भाव की ध्वनि भी यहां नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्योधन का यह हृद निश्चय है कि 'युद्ध करके ही मरूंगा, भग्न-त्याग करके नहीं।' तात्पर्य है कि यदि यहाँ चिन्ता होती, तो वह निश्चय नहीं हो सकता, कारण यह कि चिन्ता से किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता यह बात पहले भी प्रसङ्गवश लिखी जा चुकी है ।

दैन्यध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि दैन्यध्वनित्वम्, सकलसैन्यस्येऽपि विपदस्तेनागणनात् ।

मतो दुर्योधनेन विपदो न गणितास्तस्मादुद्धादिदैन्यविभावानावाप्त दैन्यध्वनिरपीति भावः ।

दैन्य-भाव की ध्वनि मानना भी यहां ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन उस कोटि का मनुष्य ही नहीं था, कि कभी दैन्य का अनुभव करे, जब उसके समस्त सैनिकों का विनाश हो चुका, तब भी उसने विपत्ति को नहीं गिना ।

वीररसध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे परापकर्षजीवितस्योत्साहस्याभावात् ।

परस्य परिस्थित्योऽनर्क्यो जीवितं प्रधानं यस्य, तादृशोत्साहस्य सर्वथा स्थापकर्षनिर्णये मरणमेव शरणमिदानीमिति निर्धारणदशायामसम्भवाच्चात्र वीररसध्वनिरिति सारम् ।

वीर-रस की ध्वनि भी यहाँ मानने योग्य नहीं, क्योंकि वीर-रस का स्थायीभाव जो उत्साह है, उसका प्राण है, शत्रुओं का अपकर्ष—अर्थात् जब तक शत्रुओं में अपने से अपकृष्टता का ज्ञान रहता है, तभी तक उत्साह भी रहता है और यहाँ तो दुर्योधन ने शत्रु की शरण ले ली है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसने अब शत्रुओं को अपने से उत्कृष्ट समझ लिया है, फिर उसमें उत्साह का रहना असम्भव है और उत्साह (स्थायीभाव) के अभाव में वीर-रस-ध्वनि सर्वथा असम्भव है ।

दार्ढ्याय प्रत्युदाहरति—

इदं पुनरत्र नोदाहार्यम्—

वस्तु उत्तर सारशिमर्जुनं कथयति—

‘अयि पवनरथाणां निर्दयानां ह्याना,

ऋषय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे ।

श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्यद्—

भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः ॥’

अयि सारथे ! पवनरथाणां वायुतुल्यवेगानां निर्दयानां क्रूराणां ह्यानामश्वानां गतिं ऋषय मन्दोद्धर, अहं सङ्गरं युद्धं द्रष्टुं नेहे नेच्छामि, यतः प्रकुप्यन्तोऽतिकुप्यन्तो ये

भुजगा सर्पास्तन्निमास्तत्सदृशा भुजा बाहवो येषां तयाभूतानां बाहुजाना क्षत्रियाणाम्, अमो ध्रुवमाणा निनादा वीरगजितशब्दा, मे मम श्रुतिविवर कर्णविल दारयन्ति पाटयन्ती-त्यर्थः । अत्र 'ममो मे' इति स्वासकृदावृत्तिर्न शोभते ।

'अयि पवनरयाणां'..... इत्यादि पक्ष को विपाद-ध्वनि के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये, जिसका अर्थ यों है—अयि सारथे ! तू पवन के समान वेगवाले इन अश्वों की गति को मन्द कर दे, मैं कुछ देखना नहीं चाहता । कुछ सपों के समान बाहु वाले इन क्षत्रियों के नाद मेरे कानों के छिद्रों को विदीर्ण कर रहे हैं—उन्हें सुन-सुन कर मेरे कानों के परदे फटे जा रहे हैं । यह कायर विराट-पुत्र 'उत्तर' को अपने सारथि वृद्धल्ला-वेप-धारी अश्वों के प्रति उक्ति है ।

उपपादयति—

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विपादस्थाप्रतीतिः ।

उत्तरस्य भीरुत्वप्रकाशेन त्रास एवात्र प्राधान्येन प्रतीयते, न तु विपाद इति न विपाद-ध्वनिरित्यम् ।

यहाँ त्रास-भाव ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है, जब 'विपाद-भाव' की प्रतीति नहीं हो सकती ।

ननुत्तरीययुद्धोद्यमापरावजानुतापरूपस्य विपादस्यापि प्रतीतिरत्र दुरपलपेत्याशङ्क्यामाह—

लेशतया प्रतीतौ वा त्रास एषानुगुण्यौचित्येन ध्वनिव्यपदेशाद्योभ्यत्यात् ।

सूक्ष्मतया प्रतीयमानस्याप्यत्र विपादस्य प्रधानम्यक्षेत्रासीपस्कारकत्वमेव, न तु ध्वनि-व्यवहारस्य योग्यता ।

यदि कहें कि उत्तर ने जो युद्धोद्योगरूप अपराध किया, तजन्व्य अनुताप (विपाद) का उसमें उदय होना स्वाभाविक है, अतः विपाद की प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, तो मैं कहूँगा कि—हाँ ! छुमात्रा में विपाद की प्रतीति यहाँ होती है, यह बात ठीक है, परन्तु प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले त्रास का पोषक होना ही उसके लिये उचित है, अतः वह (विपाद) इस योग्य नहीं है कि उसको लेकर हम पक्ष में ध्वनि का व्यवहार किया जा सके ।

श्रीस्तुक्य निरूपयति—

अधुनैवास्य लाभो मयास्त्वितीच्छा, औस्तुक्यम् ।

'अधुनैव न ॥ विलम्बेन, अस्य वस्तुनो लाभो मयास्तु' इत्याचारिकोरुदेच्छैव, औस्तुक्यमित्यर्थः । तदुक्तम्—

'इष्टानवाप्तेरौस्तुक्य कालक्षेपा सद्विद्युता ।

चिततापत्वरान्नेद-दीर्घनिरध्वसितादिकृत् ॥' इति ।

अब 'श्रीस्तुक्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधुना' इत्यादि । किसी वस्तु के विषय में जो इस तरह की इच्छा होती है कि 'अमुक वस्तु मुझे अभी प्राप्त हो जाय' उस (इच्छा) को 'श्रीस्तुक्य' कहते हैं ।

विभावमनुभावात्माह—

इष्टविरहादिरत्र विभावः, त्वराचिन्तादयोऽनुभावाः ।

अभीष्ट वस्तु का अभाव आदि यहाँ विभाव और क्षीप्रता प्रथम चिन्ता आदि अनुभाव होते हैं ।

प्राचीतसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘संज्ञातमिष्टविरहादुद्दोषं प्रियसंस्मृतेः ।

निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥

अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ।’ इति ।

प्रियसंस्मरणरूपोद्दोषनविभावदर्शनमिह नवीनम् । अनुभावितमनुभावनन्यापारकर्माकृतम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘तथात’ इत्यादि—अर्थात्—अमीष्ट वस्तु के अभाव से छापछ, प्रिय के स्मरण से उद्दोष और निद्रा, तन्द्रा, अङ्गों का भारीपन, एवम् चिन्ता से अनुभावित भाव को भाव-विशेषज्ञों ने ‘औत्सुक्य’ कहा है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रवासाभिवर्तमानो नायकः कामयते—

‘निपतद्वाष्पसंरोध-मुक्तचाञ्चल्यलारकम् ।

कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥’

निपततो निर्गतो वाष्पस्याश्रुणं संरोधेन संस्तम्भेन मुक्तं त्वक् चक्षुष्यं याभ्यो तारस्यौ तारके कर्तृनिके यस्य तदाभूतम्, मृगोदृतो नयननीलाब्जं नेत्रेन्द्रीवरम्, कदा कस्मिन् क्षणे, आलोकेय पर्येयमित्यर्थः ।

अत्र प्रियातपनदर्शनोत्प्रेक्षा-रूपौत्सुक्यस्य प्राधान्येन प्रतीयमानतया भ्रमिष्यपवेश-हेतुत्वम् ।

उदाहरण देखिये । प्रवास से छोटनेवाला नायक अपने मन में कामना करता है कि—(प्रवास के दिने मेरी यात्रा के समय अपशकुन के भय से) जिसकी पुतली ने गिले हुए औत्सुक्यों के रोकने से चञ्चलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रही थी, क्योंकि यदि वह थोड़ी भी हिलती तो सम्भव था कि आँखु गिर पड़ने, मृगाक्षी के उस नयनरूप नीलकमल को कष्ट देती ।

आवेगं निरूपयति—

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्प्रपाख्या वृत्तिरावेगः ।

अतर्कितान्निष्ठमदभ्युपगमकेनानर्थातिशयेनोत्पादिता सम्प्रपाख्या स्वरणरूपा चित्तवृत्ति-रुद्देशपरपर्याय आवेग इत्यर्थः । हर्षो तु हर्षोऽप्यावेग उत्तस्तथादि—‘आवेगः सम्प्रम-स्तत्र हर्षजे पिण्डिताहता । उत्पत्तजे घस्तताहते, धृमाशकुलताप्रसिजे । राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गवादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाशकुलताप्रसिजा ॥’ इति ।

अब ‘आवेग’ का निरूपण करते हैं—‘गनशा’ इत्यादि । आत्यधिक अनर्थों के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की संश्रम नामक वृत्ति को ‘आवेग’ कहते हैं, जिसका उद्देश्य भी अपर पर्याय है । हर्षणकार ने तो आवेग को हर्ष-अव्य भी माना है, जैसे—‘उन्होंने कहा है—‘आवेग. सम्प्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताहता । उत्पत्तजे घस्तताहते ...’ इत्यादि—अर्थात् आवेग सम्प्रम को कहते हैं, यह दो प्रकार का होता है, एक हर्षज, दूसरा उत्पत्तज । हर्षज आवेग में अङ्गों की सिकुड़न होती है और उत्पत्तज में अङ्गों की गिलिलता ।’ इत्यादि ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रामे युद्धार्थमागते रावणभार्येद्विधा स्वगतं वक्ति—

‘लीलया विहितसिन्धुबन्धनः, सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।

दर्पदुर्विलसितो दशाननः, कुत्र यामि ? निकटे कुलक्षयः ॥’

लीलया न त्वायासेन विहितं सिन्धोर्बन्धनं येन, तादृशं, स बालिवधादिपरायमप्रसिद्धं, अयं पुरो लक्ष्यमाणः, रघुवंशनन्दनं ओराधवः, एत्यागच्छति, न ल्गममिष्यति, दशाननो रावणो मत्पतिश्च दर्पदुर्विलसितः स्ववीर्यगर्वाचरितदुर्व्यवहार उत्कटभिमानो वाऽस्तीति कुत्र यामि विपत्प्रतीकरायं क्व गच्छामि ? कुलस्य वंशस्य न त्वेकस्य क्षयो नाशो निकटे सञ्जिघावस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—लीला से समुद्र में सेतु तैयार कर देने वाले वै-वालि आदि का वध करने से प्रसिद्ध—रघुकुलभूषण रामचन्द्र जो आ रहे हैं, न कि आवेंगे और रावण—मेरा पति—है, दर्पाध-कृतव्याकर्तव्य का विचार नहीं करने वाला—किसी भी परिस्थिति में नष्ट नहीं पड़ने वाला—अब मैं कहाँ जाऊँ, कुल का विनाश निकट आ गया—रक्षा का कोई भी उपाय दिखाई नहीं पड़ता ?

प्रकरणविभावानुभावानाह—

एषा स्यात्प्रतिमन्त्रोदर्या उक्तिः, रघुनन्दनागमनमत्र विभावः, कुत्र यामीत्ये-
तद्वृत्त्यङ्ग-य-स्थैर्याभावोऽनुभावः ।

स्थैर्याभावश्चाक्षर्यम् ।

यह मन्त्रोदरी की आत्मगत उक्ति है। रामचन्द्र का आगमन यहाँ विभाव है और ‘कुत्र यामि—अर्थात् कहाँ जाऊँ’ इस उक्ति से व्यक्त होने वाला स्थिरता का अभाव (चञ्चलता) अनुभाव है ।

चिन्ताधनित्वमत्राशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामीति स्फुटं प्रतीतेन स्थैर्याभावेनोद्वेगस्येव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परन्त्वावेगचर्च-
णायां तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्ताऽपि विषयीभवति ।

गुणत्वेनाश्रयेन । विषयीभवति प्रतीतिगोचरीभवति । यतोऽत्र कुत्र यामीत्युक्त्या स्पष्टं बोध्यमानश्चाक्षर्यरूपोऽनुभाव आवेगस्यैव न तु चिन्ताया प्राधान्येन व्यज्यत, तस्मात् चिन्ताधनि, किन्तु प्रधानीकृता वेगप्रत्ययोपकारकत्वाच्चिन्ताऽपि तत्रैव भासता इति सारम् ।

‘लीलया’.....इत्यादि पद्य में चिन्ता ही प्रधान शब्द है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ‘कुत्र यामि—कहाँ जाऊँ’ इस कथन के द्वारा प्रतीत होने वाली चञ्चलता से जिस तरह उद्वेग झलकता है, उस तरह चिन्ता नहीं । हाँ, इतना बात अवश्य है कि ‘आवेग-भाव’ के आस्वाद में उसके पोषक होने के नाते गौणरूप से चिन्ता भी विषय होती है ।

जडता निरूपयति—

चिन्तो-त्कण्ठा-भय-विरहे-प्रानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्या-
र्थप्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।

‘चिन्तोत्कर्षः’ इति पाठान्तरम् । इष्टानिष्टयोः प्रियाप्रिययोर्दर्शनं भवणं च । प्रति-
सन्धानमनुस्मृतिनिर्धारणं वा । चिन्तादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थानुसन्धानशून्या चित्तवृत्तिर्ज-
डतेत्यर्थः ।

अथ 'जड़ता' का निरूपण करते हैं—'चिन्ता' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति को 'जड़ता' कहते हैं, जिसका जन्म चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह और प्रिय-जन के अतिष्ठ देखने-सुनने आदि से हुआ हो, एवम् जिस (चित्तवृत्ति) में अवश्य करने योग्य कार्यों का स्मरण अवकाश निर्णय न होने पावे ।

जड़ताया मोहान् प्राक् पश्चाच्चेत्यतिमाह—

इयं च मोहान् पूर्वतः परतश्च जायते ।

इयं जड़ता मोहान् पूर्वा परा च चित्तस्य वृत्तिरित्यर्थः ।

यह जड़ता मोह से पहले तथा पीछे भी हुआ करती है ।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'कार्याविवेको जड़ता परतः शृण्वतोऽपि वा ।

तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनप्रवणौ रुजा ॥

अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भाव-विस्मरणादयः ।

सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम् ॥'

वा शब्द समुच्चयार्थक । विदां रसायान्वादकुशलानाम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है 'कार्याविवेको' इत्यादि-अर्थात् देखते तथा सुनते हुए भी कर्तव्य का विवेक न होना जड़ता कहलाती है । प्रिय अथवा प्रिया के अनिष्टों का देखना-सुनना, तथा किसी प्रकार की दुस्सह पीडा ये उसके विभाव हैं, और सुप हो जाना मूल जाना आदि अनुभाव हैं । यह मोह से पहले पीछे भी उत्पन्न हुआ करती है । यह विज्ञों का मत है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विरहिणी सहचरी व्याहरति—

'यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां, सहचरि ! दैवयोगेन दूरतोऽभूत् ।

तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै-रथकरणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥'

हे सहचरि ! दैवयोगेन भाग्यविपर्ययेण, दयित प्रिय, विलोचनाभ्यां दूरतोऽभूत् परोक्षमगात्, तदवधि मदीयै-रणैश्चरणादिभिः, निजक्रियासु स्वजन्यप्रमोत्पादकव्यापारैषु, प्रणय आसक्तिः, शिथिलीकृतो म्यूनीकृतैत्यर्थः । इहायशब्दोऽनुप्रासमात्रप्रयोजनकः । 'प्रणयो निज' इत्यत्र सन्धावरलीलत्वम् ।

उदाहरण लीजिये । कोई विरहिणी सखी से कहती है कि—हे सखा साथ रहने वाली ससि ! दुर्भाग्य-वश जब से प्रियतम आँखों से ओझल हुए, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने व्यापारों से प्रेम करना छोड़ दिया-अर्थात् तब से न सुखी आँखों से छुसता, न कानों से सुनाई पड़ता, न त्वचा से स्पर्श का बोध होता, न नाक से किसी चीज की गन्ध का पता चलता और न जिह्वा से किसी रस का स्वाद ही परख में आता है । तात्पर्य यह कि सभी इन्द्रियाँ बेकार हो गई हैं ।

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, करणैश्चक्षुरश्रवणादिभिः क्रियासु तत्तत्प्रमितिषु प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः ।

तत्तत्प्रमितिषु आधुपादि-प्रत्ययरूपासु ।

यहां प्रिय का विरह विभाव है और आँख-कान आदि इन्द्रियों का अपने-अपने व्या-

पारों-अर्थात् ज्ञानों में प्रेम शिथिल कर देना-आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिये वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है ।

मोहाज्जडताया घैलक्षण्यं दर्शयति—

मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम्, इह तु प्रकारविरोपवैशिष्ट्येन बाहुल्ये-
नाजननमिति तस्मादस्य विशेषः ।

प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन समुचिततत्प्रकारकत्वेन । बाहुल्येन भूषा, तेन क्वचिदुचित
प्रकारकप्रतीतिजननमनुमन्यते । मोहे चक्षुरादीनां सर्वथा व्यापारविरामाच्चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां
मनुत्पत्तिरेव, जडताया तु चक्षुरादीनां व्यापारस्य शैथिल्यात् न तु निरामात्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां
समुचितं प्रकारैरनुत्पत्तिं त्वनुचितं प्रकारैरनुत्पत्तिं, क्वचित्त्वितैनापि प्रकारेणोत्पत्तिरिति
मोहाज्जडतयोः कार्यभेदाद्भेद इत्याशयः ।

मोह और जडता में यह भेद है कि-मोह में चक्षुरादि इन्द्रियों सर्वथा व्यापार हीन हो
जाती हैं, जिससे चाक्षुष आदि ज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं होती, परन्तु जडता में ऐसी
थात नहीं होती-अर्थात् उनमें चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार सर्वथा मष्ट नहीं होता, परन्तु
शिथिल मात्र पड़ जाता है, जिससे चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु समु-
चित प्रकार से नहीं होती । तात्पर्य यह कि मोह में आँखों से सूक्ष्मता ही नहीं और जडता
में सूक्ष्मता तो है, पर विशेषरूप से परिचय नहीं हो पाता । इसी तरह अन्य इन्द्रियों
के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये । यहाँ मूल में 'बाहुल्येन' पद आया है, जिसका अभि-
प्राय है कि जडता में कभी कभी इन्द्रियों से समुचित ज्ञान भी हो जाता है, पर मोह में
कभी भी वैसा नहीं होता ।

उक्तं समर्थयति—

अत एवोदाहरणे-‘शिथिलीकृतः’ इत्युक्तं, न तु ‘स्यक्तः’ इति ।

अत एव जडताया चक्षुरादिभिः स्वव्यापारात्त्यागादेव ।

जिस लिये जडता में इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा मष्ट नहीं होते, किन्तु शिथिल मात्र
पड़ते हैं, अत एव ‘यद्वधि’... इत्यादि उदाहरण में ‘शिथिलीकृतः’ अर्थात् ‘शिथिल
कर दिया’ ऐसा ही कहा गया है, ‘स्यक्तः’ अर्थात् ‘छोड़ दिया’ ऐसा नहीं कहा गया ।

आलस्यं निरूपयति—

अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽ-
लस्यम् ।

अत्र क्रियानुन्मुखता यदि व्यापारविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावः, तदाऽभावस्यतयाऽऽ-
लस्य भावो न भवेत्, तस्माज्जाटयविशेषात्तमक क्रियामान्यर्थमेवालस्यम् । तदुक्तम्—
‘आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाटयं जृम्भाऽऽसितादिकृतं’ इति । न चैवं जडताया सहाभेदाविति,
जडताया प्रकारव्यत्यासेन चाक्षुषादिज्ञानजनकत्वम्, अस्य तु समुचितेनैव प्रकारेणेति ‘कार्य-
भेदेनोभयोर्भेदस्य जागरूकत्वादिति निभावनीयम् ।

अथ आलस्य का निरूपण करके हैं—‘अतितृप्ति’ इत्यादि । अत्यन्त तृप्ति, गर्भ,
रोग और परिश्रम आदि के कारण चित्त का कर्तव्य-क्रियाओं के प्रति उन्मुख न होना ही
‘आलस्य’ है ।

पुनर्जडता-ग्लानिभ्यामालस्यं व्यतिरेक्यति—

अत्र च नासामर्थ्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम् । तेन कार्याकरणरूप-
स्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि, ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः ।

ग्लानौ जडतायामालस्ये च कार्याकरणरूपोऽनुभाव एक एवेति तेषामभेदो न शङ्कनीयः,

गलानावसामर्थ्यं नालस्य इति गलानिनो भेदस्य, जडताया कार्वाकर्मविवेकान्यत्वं नालस्य इति जडताबाधे भेदस्य स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् ।

गलानि, जड़ता और आलस्य इन तीनों ही भावों में 'कार्यों का न करना' रूप अनुभाव समान है अर्थात् उक्त तीनों भावों की स्थिति में अनुभूत व्यापारहोन हो जाता है, अतः इन तीनों भावों में अभेद की-अर्थात् ये तीनों भाव एक ही हैं, भिन्न नहीं, इस तरह की सहा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि गलानि में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती और आलस्य में वह रहती है, अतः गलानि से एवं जड़ता में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है और आलस्य में वह बच नहीं होता, अतः जड़ता से भी 'आलस्य' भिन्न ही है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रजनीवृत्तं सुहृ पृच्छन्ती सखीमलसा वदति—

'निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-दुपयातेन विधोषिता कथाभिः ।

अधिकं न हि पारयामि वक्तुं, सखि ! मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥'

हे सखि ! दूरादिप्रकृष्टदेशाद् उपयातेनोपागतेन, प्रियेण, कथाभिर्विविधवार्तालपैः, (हेतुभिः) लीलाभिर्वा, निखिलां समस्ता रजनीमभिव्याप्य, विधोषिता जागरिताऽस्मीत्यहं संप्रत्यधिकं वक्तुं न वक्तुं न पारयामि न शक्नोमि, त्वं मा जल्प मुहुर्मा प्राप्स्यी, तव रसज्ञा जिज्ञा, आयसी लौहनिर्मिताऽस्ति, यदेवं जल्पनेऽपि न धाम्यतीत्यर्थः ।

स्वद्वन्मनापि यथायसी रसज्ञा स्यात्, तदैव सकलप्ररनामा मुत्तरं वक्तुं शक्नुयादिति भावः ।

उदाहरण लीलाभिः—यतिदेव दूर से आये थे, (यहाँ 'दूर' पद यद्यपि देवाकृत दूरी का ही बाधक है, परन्तु व्यञ्जनया वह कालकृत दूरी का भी बोधक होता है—अर्थात् 'दूर से आये थे' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'विलम्ब से आये थे') वे, मुझे कथाओं से-विविध वार्तालापों से-रात भर जगाये रहे । अतः मैं अधिक सोल नहीं सकती, वृथा बात न कर, माझुम पदवा है तेरी रसज्ञा (रसना-जिह्वा) लोहे की बनी है, यह बात सही है कि वह रस का ज्ञान करने के लिये ही बार-बार प्रयास कर रही है, फिर भी उस निगोड़ी को बार-बार व्यापार करने में कुछ भी तो थकना चाहिये, पर वह तो थकती ही नहीं ।

प्रसङ्गं प्रतिपादयति—

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिवसे मुहुर्निशावृत्तान्तं पृच्छन्ती सखी प्रति रज-निजागरणजनितालस्यायाः कस्याश्चिदुक्तिः ।

यस्मिन् दिने प्रिय आगतस्तस्माद् द्वितीयस्मिन् दिने ।

यह, पति के आगमन के द्वितीय दिन में, पुनः पुनः रात का समाचार पूछती हुई सखी के प्रति, रात्रि-जागरण से लकड़ाई हुई किसी नायिका का कथन है ।

विभावानुभावौ प्रकाशयति—

अत्र रजनिजागरणं विभावः, अधिकसम्भाषणमावोऽनुभावः ।

यहाँ रात्रि का जागरण विभाव और अधिक वार्तालाप का अभाव अनुभाव है ।

जडताया आलस्ये चैलक्षण्यान्तरं दर्शयति—

जडताया मोहात् पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्वं वा नियतम्, न त्वत्रेत्यपरो विरोधः ।

जडतानियमेन मोहात् पूर्व परं वोत्पद्यते, न त्वाल्स्यमित्युभयोर्भेदोऽयमपि बोध्य इत्याशयः ।

'जड़ता-भाव' के विषय में यह नियम है कि वह मोह से पहले अथवा पीछे हुआ करता है पर आलस्य में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् 'आलस्य भाव' के पूर्व अथवा पश्चात्

मोह का होना आवश्यक नहीं है' यह भी एक जड़ता से आलस्य में भेद है। इस भेद का भाव पाठकों को ऊपर के उदाहरण में अवश्य होना चाहिये, अतः पूरा उदाहरण दिलाने के बाद इस विषय की चर्चा की गई है।

ननु सुरतलीलानामतिगोप्यत्वात् तत्रैव कथाशब्दस्य जहृत्स्वार्थलक्षणाया व्यङ्ग्य भ्रमातिशय एव प्रधानमिह स्यादित्याशङ्कामंशतोऽभ्युपगमेन निरस्यति—

गोपनीयविषयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यम्, तदा श्रमोऽस्तु परिपोषक', श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अनार्यत्वात्।

इह कथाभिरित्यत्र लक्षणाभूलव्यञ्जनया श्रमस्य बोध्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु श्रमस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, जनकत्वेनालस्यपोषकतयाऽऽस्त्यमेव, न प्राधान्यमतो न धर्मभ्रान्तिरित्यभिसन्धिः।

यहाँ एक और भी बहुत ही मार्मिक अतः एव समझ लेने योग्य विचार यह है कि—क्या 'निलिखो रजनीम् ...' इत्यादि पूर्वोक्त पद में 'कथाभिः' यह पद वाच्य वार्तालापरूप अर्थ का बोध करा कर कृतार्थ हो जाता है? कभी नहीं, यद्यपि आगे की जागरणोक्ति उस अर्थ से भी उपपन्न सी लगती है तथापि जागरण की वार्तालापहेतुक उपपत्ति भावुकों के हृदय में रमती नहीं, रमना तो दूर रहे, उस उपपत्ति के मूल में तथ्य का बल है ही नहीं, अतः एव वह उपपत्ति बाधित है—चिरकाल पर मिले हुये दम्पति बातों में ही रात बिता देंगे, क्या यह सम्भव है? नहीं, निधुवन-विनोद के बिना उनमें प्रमोद असम्भव है। बोलने वाली नायिका का भी 'कथाभिः' पद से सुरत-सम्मोग का बोध करना ही उद्देश्य है, हाँ, वाच्य-व्याया उस गोपनीय अर्थ का बोध कराकर वह निर्लज्ज नहीं बतना चाहती, अतः एव 'लीलाभिः' न कह कर उसने 'कथाभिः' कहा, जिसका वाच्य (वार्तालाप) अर्थ अविवक्षित है—अर्थात् वह पद सुरतरूप अर्थ में लाक्षणिक है, इस तरह वाच्यार्थ-ज्ञान की शक्ति से कुछ अधिक शक्ति अर्जित करने वाले सद्बुद्ध भले ही उस पद के लक्ष्यार्थ (सम्मोग) को समझ लें, पर वकी नायिका, सकल साधारण जनों से दी जाने वाली 'निर्लज्जा' उपाधि से तो बच ही गई। एक बात और, वह यह कि उक्त प्रकार से 'कथाभिः' पद को सम्मोगरूप अर्थ में लाक्षणिक मान लेने पर इस पद्य का इन्द्रित निम्नलिखित अर्थ की ओर भी मुझे प्रतीत होता है। सरस समवयस्का सखी, चिरमिलित प्रियतम के साथ, रात बिता कर प्रातःकाल मिली हुई सखी से, रात्रिकृत-सम्मोग-सुख की बात, खोद खोद कर, पूछ रही है। परन्तु सलज्जा नायिका साफ साफ वह बात कहना नहीं चाहती और इधर उधर की बातें बता कर उस बात का आभास करा देने पर भी सखी मानती नहीं, आखिर आनिज आकर नायिका उससे कहती है कि—कह तो बिया, दूर से आये हुये प्रिय के साथ क्या करने में रात भर जगती रही, अधिक बोल बुलवा कर तन भत करो, मैं समझती तो हूँ कि—तू मुझसे साफ शब्दों में कुछ कहलाना चाहती है, पर मैं इससे अधिक कुछ न कहूँगी, कह भी नहीं सकती, बोलने में 'आलस्य' हो रहा है और साफ साफ कहने में रस भी नहीं आता, तू जो अपनी बात साफ साफ लोगों से कहती फिरती है, वह तो इसलिये कि तेरी जिह्वा नाममात्र की रसज्ञा है, वस्तुतः वह लौह निर्मित पट्टिका है, अतः संचित कथन में रस का अनुभव नहीं कर पाती। इस तरह जीभ को लौहमय कद कर उस जीभ वाली पर भी यह आरोप किया गया कि तू लोहे की बनी है, तेरा हृदय लोहे का बना है, नहीं तो, इस तरह क्यों पूछती? मेरे 'कथा' पद का लक्ष्यार्थ को क्यों नहीं समझती?

यद्यपि इस तरह की व्याख्या किसी ने अभी तक कहीं लिखी नहीं, पर मेरे मन में लगा कि यह व्याख्या भी हो सकती है, वस, छेखनी ने उसको कागज पर उतार दिया, अब इसका निर्णय सदैव विवेक पाठक ही करेंगे। अस्तु, प्रकृत में मन्थकार का कथन है कि यदि उक्त रीति से 'कथाभिः' पद को अविवक्षितवाच्य (लाक्षणिक) मानना युक्ति सद्गत है, तब तो उस लाक्षणिक पद के लक्ष्यार्थ (सम्मोग)

से 'धम-भाव' मने में व्यङ्ग्य होगा, फिर भी उसी की ध्वनि यहाँ क्यों नहीं मानते ? इसका उत्तर यह है कि—जब आलस्य की उत्पत्ति में श्रम को एक प्रयत्न कारण कहा गया है, तब तो श्रमज-आलस्य-स्थल में उसकी प्रतीति होगी ही, पर, पितृस्थानीय होने के नाते सुवस्थानीय आलस्य के पोषकरूप में ही। अतः श्रम से परिपोषित आलस्यभाव को प्रवाचनतया ध्वनित होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि पोषक श्रम गौण पद जाता है।

ननु धमालस्ययो सर्वत्र सङ्कीर्णविषयत्वे विभावभेदोक्तिरफला स्यादित्याशङ्कामपनयति—
अतितृप्त्यादिजनिते स्वालस्ये श्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम् ।

आदिना गर्भादिग्रहणम् । श्रमजन्य प्रवालस्ये श्रमसङ्कीर्णविषयता, गर्भादिजन्ये तु विविक्तविषयताया एव सत्वाच्च विभावभेदोक्तैर्न फल्यमिति भावः ।

यदि श्रमभाव से अभिधित आलस्यभाव का उदाहरण कहाँ होगा, यह समझना चाहें, तो—अतितृप्ति आदि कारणों से उत्पन्न 'आलस्य' में समक्षिये ।

असूया निरूपयति—

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।

" असूयायाः परोत्कर्षदर्शनादयो विभावाः, परनिन्दादयश्चागुभावाः । तदुक्तम्—

'असूयाऽन्यगुणद्वीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।

दोषोद्धोष-भूतिभेदावज्ञा-क्रोधेज्जितादिकृता ॥' इति ।

क्रोधेज्जितानि मित्रावरदंशनादीनि ।

जब 'असूया-भाव' का निरूपण करते हैं—'परोत्कर्ष' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति का नाम 'असूया' है, जिसके, विभाव (कारण) दूसरे का उरुर्ष देखना आदि हैं और भुतभाव (कार्य) दूसरे की निन्दा आदि हैं ।

असूयायाः सङ्शान्तरमाह—

इमामेवासहनादिशब्दैर्यवहरन्ति ।

इमामसूयाम् । असहनमसहिष्णुता ।

इसी असूया को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

रामोत्कर्षमसहमाना राजानो वदन्ति—

'कुत्र शैवं धनुरिदं, क चार्यं प्राकृतः शिशुः ।

मह्वस्तु सर्वसंहर्त्रा, कालेनैव विनिर्मितः ॥'

इदं शैवं शिवसम्बन्धि धनुः कुत्र १, अयं प्राकृतो मानव शिशुर्वालो रामश्च कास्ति, तदुभयोर्घटनाया असम्भवाद्, धनुषोपगमस्तु, सर्वेषां स्थावरजङ्गमाला संहर्त्रा विनाशकेन कालेनैव नतु रामेण विनिर्मितं कृतोऽमृदित्थं । विनिर्माते रचनायामेव प्रयोगः कवि-सम्प्रदायसिद्धोऽपीद्वान्वयाकृत इत्यालोचनीयम् ।

जैसे—कहाँ यह शिवका धनुष और कहाँ यह साधारण मानव-बालक, इसका मह तो संसार के समस्त पदार्थों का सहार करनेवाला काल ने ही कर दिया । तात्पर्य यह है कि चिरकालतक पड़े रहने के कारण, यह धनुष अपने आप ही क्षीण हो गया था अन्यथा इसका मह करना इस साधारण क्षत्रियकुमार-रामचन्द्र-के बल का नहीं है ।

प्रकरण-विमानानुमानान् दर्शयति—

एषा भग्नहरकामुकस्य रामस्य पराक्रममसहमानानां वचनानां राज्ञामुक्तिः ।

२८, २६ २० गं०

अत्र च श्रीमदाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शन विभावः, प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दाऽनुभावः ।

तत्रायानां सीतापरिणयनार्यमुपस्थितानाम् ।

यह, शिव-धनुष को तोड़ने वाले रामचन्द्र के पराक्रम को ब सहेते हुए-उस सभा में उपस्थित राजाओं का कथन है । यहां श्रीमान् दशरथजनय रामचन्द्रजी के बलमें सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और 'प्राकृतशिशु-साधारण बालक' इस पद से श्वक्त होने वाली राम की निन्दा अनुभाव है ।

शुद्धामस्यामुदाहृत्यामर्षसद्गीर्णमुदाहरति—

‘तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे,

मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।

माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,

धातः । किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराहम्बरः ॥’

उद्यन्तमेव चन्द्रमस्युदैराच्छजमुदीच्य सकल्पटनासम्पादकं विधातारं कश्चिदाकरोति हेधातविधे । अधुना रजनीमुखे चन्द्रोदयावसरे, तृष्णाचन्द्रिकापिपासया लोले विलोचने यस्य तादृश, चकोरव्रजे जीवजीवतमूहे, प्राचीं दिश कलयति पश्यति सति, किञ्च कैरवकुले कुमुदसमुदये, मौनं दैनिकमुदणं मुञ्चति त्यजति सति, तथा कामे मन्मथे सहायसम्पत्त्या विजयाय धनुर्धुन्वति बाणमारोपयितुमधिजय कुर्वति कम्पयति वा सति, अपि च मानवती-जनस्य भामिनोनिकरस्य माने श्रमकोपे, स्वाकृष्टानासम्भावनामालोच्य तपदि शीघ्र, प्रस्थातुकामे प्रयियासति सति, विधौ चन्द्रे, धाराधराहम्बरो मेघच्छादन, किं नु त्वया विधातुमुचितो मुक्तः ? कथमपि नोचित इत्यर्थः ।

अब असूयाभाव का एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसमें अमर्षभाव का निशेध हुआ है—उदीयमान चन्द्र को अकस्मात् घन-घटा से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय पुरुष विधाता को कोसता है कि—हे विधे ! अभी-जब कि चन्द्र-धरोरना-पान-छोछुग चकोर-वध, पूरव दिशा की ओर आशा-भरी अत एव चञ्चल नगरों से देख रहा है, कुमुद-कुल-दिक्षत-कृत मुदण को छोड़ रहा है—विकसित हो रहा है, कामदेव अपने धनुष को घुम रहा है—कपा-कपा कर टट्टार शब्द कर रहा है, और भामिनियों का मान झीम्र भागने ही वाला है—अकस्मात् इस तरह ‘चन्द्रमा पर मेघ का आवरण ढाल देना क्या तेरा समुचित है ? कभी नहीं, यह आपने बहुत बुरा काम किया ।

उपपादयति—

अत्रापि यद्यपि तदीयोत्कृष्टलतादि[दर्शन]जन्या, अनुचितकारित्वरूपनिन्दा-प्रकाशानुभाविता, कविगता, विधात्रालम्बनाऽसूया व्यव्यव इति शक्यते वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिव्यक्तेनामर्षेण शयलितैवासी न विविक्ततया प्रतीयते ।

तदीया विधातृसम्बन्धिनी, उत्कृष्टलता स्वच्छन्दावारिता । प्रकाश-प्रत्यय । विधात्रालम्बना विधातृविषयिण । कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादसूयाऽमर्षयोरनुभावविभावयोस्तुल्य-कालोपस्थितत्वात् ।

‘तृष्णे’रसाद्यदाहरणे यद्यप्यस्या प्रतीयते, किन्तु साऽमर्षेण सद्गीर्णतया न शुद्धा, तस्मात्तेदं शुद्धासूयेदाहरणमिति तात्पर्यम् ।

यहां भी विधाता के विषय में कविकी अस्या अभिव्यक्त होती है जिसका विभाव यहां पद्य में वर्णित विधाता की उत्कृष्टलता है और अनुभाव है, प्रतीति-पद्य में आनेवाली

अनुचितकारितारूप विधाता की निन्दर, यह बात यद्यपि कही जा सकती है, तथापि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यहाँ शुद्ध अस्व्या की वृत्ति प्रतीति नहीं होती, वरन, अस्व्या के जो अनुभाव-विभाव (कार्य कारण) हैं, उन्हीं से अभिव्यक्त होने वाले अमर्ष-भाव से मिश्रित अस्व्या की ही प्रतीति होती है। सारांश यह हुआ कि यहाँ उक्त (अस्व्या और अमर्ष) भाव-द्वय-ध्वनियों का संकर है, यही कहना समुचित है।

ननु 'कुत्र शैवम्' इत्यादावप्यमर्षेण सङ्गोर्णैवास्व्या प्रतीयत इत्युदाहरणद्वयस्य तुल्य-तत्पेक्षत आह—

नहि विधातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीराणा-
मप्यमर्षोऽभिव्यज्येत ।

यथाऽत्र विधातुरपराधात् तस्मिन् कवेरमर्ष, न तथा तत्र रामस्यापराधोऽस्ति, येन वीराणां राज्ञापमर्षः प्रतीयेत, तस्मात्तत्रामर्षप्रतीतेः शुद्धोदाहरणमेव तदित्याशयः ।

'तृष्णाढ्यो' '...' इत्यादि पद्य में जैसे विधाता के अपराधी होने के कारण उनमें कवि का अमर्ष व्यक्त होता है, वैसे 'कुत्र शैवम्' '...' इत्यादि प्रथम अस्व्या-भाव के उदा-हरण में वीरों का राम के प्रति अमर्ष व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि राम अपराधी नहीं हैं, अतः यह शङ्का की जा सकती है कि, वह उदाहरण जो अमर्ष-मिश्रित अस्व्या का है। तात्पर्य यह कि उस उदाहरण को शुद्ध अस्व्या-भाव का समझना चाहिये ।

ननु तत्रापि रामस्य शैवधनुर्मर्जनमेवापराध इत्यतोऽभिपद्यते—

स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादनं वीराणाम् ।

यतोऽत्युत्कृष्टकार्यकरणं वीराणां स्वभाव एव तेन शैवधनुर्मर्जनं रामस्य स्वभाव एव नत्वपराध इत्यर्थः ।

यदि कहें कि शिवजी के धनुष को तोड़ बाँटना क्या राम का अपराध नहीं है ? तो, इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, क्योंकि अत्यन्त उन्नत (जिसको दूसरे न कर सके, ऐसे) कार्यों का करना वीर-पुरुषों का स्वभाव है—वे किसी को दुःखी बनाने की भावना से वैसा नहीं करते, अतः शिव-धनुर्मर्ज करना रामचन्द्रजी के स्वभाव में आ जाता है, इसको उनके अपराधों में नहीं गिन सकते ।

नन्वत्र वस्तुनो ध्वननाश्राव्याध्वनिरित्याशङ्का समादधाति—

अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननाश्राव्यसूया-
ध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एकध्वनेर्ध्वन्यन्तराधिरोधित्यात् ।

चन्द्रोदयातिरिक्तादिनादिकाले वादशचन्द्रवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वम्, कस्मिंश्चिराजकुमारेऽ-
त्युत्कर्षमवलम्बमान एवाकस्मिन्कविपदापातनरूपवृत्तान्तस्य च विवक्षितत्वात् प्रस्तुतत्वम् ।
इहाप्रस्तुताभिप्रायेण प्रस्तुतत्वज्ञानाद् वाच्योऽप्रस्तुतप्रशसालङ्कारस्तस्योपितस्तु वस्तुध्वनिः ।
आस्तामिह वस्तुध्वनिरपि, न शैवास्व्याध्वनेर्हानि, नतो नैकस्य ध्वनेरपरेण ध्वनिना सह निरोधः, अपि तु मिय सापेक्षत्वादपि साध्यम्, नैरपेक्ष्ये तु संवृष्टिरित्याशयः ।

इदन्तु चिन्तनीयम्—

अप्रस्तुतप्रशसाया व्यवधानस्य वस्तुनो वाच्योपस्कारकत्वेन गुणीभावेऽपि कथं वस्तुध्वनिरिति ।

यदि आप कहें कि यहाँ वस्तुतः चन्द्रमा का वृत्तान्त प्रस्तुतमान नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा कि उसके द्वारा प्रसङ्ग-प्राप्त राजकुमारादिकों का वृत्तान्त ध्वनित होता है, तात्पर्य यह है कि 'तृष्णाढ्यो' '...' इत्यादि श्लोक चन्द्रोदय से मिला काल में उस राज-कुमार को छत्र करके कहा गया है, जो सब तरह से उन्नति कर ही रहा था, तब तक

अस्मात् उसके ऊपर विपत्ति का प्रहार दृढ़ पड़ा। इस विपत्ति में उक्त राजकुमार के घृष्टान्त को ध्वनित करने के लिये ही चन्द्र-वृष्टान्त का वर्णन किया गया है, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी और इस तरह से 'अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान' रूप अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ही वाच्य होकर भी प्रधान है, अर्थात् असूया-ध्वनि यहाँ है ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि यदि यहाँ उक्तरीति से प्रस्तुत राजकुमारादिका-वृष्टान्त ध्वनित होता है, तो, हो, उससे असूया-भाव की ध्वनि होने में बाधा नहीं होगी, क्योंकि एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि का विरोधी होना कोई निश्चित नियम नहीं है।

विरोधाप्रोकारे धोषं दर्शयति—

अन्यथा महावाक्यध्वनेरयान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरस्यं कुत्रापि न स्यात् ।

महावाक्यध्वनिः समस्तप्रवन्धप्रधानव्यङ्ग्यः । अयान्तरध्वनयस्तदन्तर्गतवाक्यप्रधान-व्यङ्ग्यः । तेषामयान्तरवाक्यध्वनीनाम् । ध्वनिद्वयस्य विरोधाभ्युपगमे सामानाधिकरस्या-सम्भवात् सङ्करसंघट्टिम्यवहारविलोपः प्रसज्येतेति भावः ।

यदि एक ध्वनि दूसरी ध्वनि का विरोध करे—अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के साथ एक स्थान पर नहीं । वह सकती यह सिद्धांश यदि माना जाय, तब, कहीं भी, महावाक्य की ध्वनियों का अवांतर वाक्यों की ध्वनियों के साथ रहना और अवांतर वाक्यों की ध्वनियों का पदों की ध्वनियों के साथ रहना सङ्गत ही नहीं । सारांश यह कि ध्वनियों का सङ्कर आलङ्कारिकों की अभिमत वस्तु है। अतः उक्त पक्ष में भी दो ध्वनियों का समावेश अनुचित नहीं है।

अपरस्मारं निरूपयति—

वियोग-शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्वोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ।

मनस्तापकृमाणां व्यापीनामन्तर्गतस्यापस्मारस्य वित्तवृत्तिविशेषरूपतया भावत्वम् । तदुक्तम्—'मनःक्षेपस्त्वपस्मारो प्रहावावेशनादिषु' । भूपात-कम्प-प्रस्वेद-क्लेश-लालादि-कारण ॥ इति । मन्सौ नाडीविशेषनिवेशेन धूर्णनं मनःक्षेपः । प्रहा पतनादयः ।

अब 'अपस्मार-भाव' का निरूपण करते हैं 'वियोग' इत्यादि । वियोग, शोक, भय तथा घृणा आदि की अधिकता पूर्व भूत-प्रेत के डर जाने आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक व्याधि-विशेष-को 'अपरस्मार' कहते हैं ।

व्याधिसामान्योपादानेनैव गतार्थत्वेऽपस्मारस्य पृथगुपादाने प्रयोजनं प्रतिपादयति—

व्याधिरत्वेनास्य कथनेऽपि, विरोधाकारेण पुनः कथनं बीभत्स-मयानकयो-रस्यैव व्याघेरङ्गत्वं, नान्यस्येति स्फोरणाय ।

विरोधाकारेणापस्मारत्वेन विशेषः स्फोरणाय । स्फोरणाय प्रकाशनाय । बीभत्समयानकर-सयोरङ्गत्वमपस्मारस्यैव न तु व्याघ्यन्तरस्येति वैलक्षण्यं बोधयितुं पृथगुपादानमित्याशयः ।

अपि पूर्व में जो सामान्यतः 'व्याधि-भाव' का निरूपण किया जा चुका है, उसी से इस अपस्मार नामक व्याधिका भी कथन हो जाता है, तथापि विशेष रूप से इस (अपस्मार) का कथन हुए लिये हुआ है कि 'बीभत्स' और 'मयानक' रस में यही (अपस्मार) व्याधि शङ्क हो सकती है, अन्य नहीं, यह बात स्पष्ट हो जाय ।

विप्रलम्भे विशेषमाह—

विप्रलम्भे तु व्याघ्यन्तरस्यापि च ।

अज्ञत्वमिति शेषः । विप्रलम्भेऽन्येषां व्याधीनामपस्मारस्य चाज्ञत्वमित्यर्थः ।

विप्रलम्भश्चकार रसमंतो वया अपस्मार, क्या अन्य, सभी व्याधियों अज्ञ हो सकती हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

भ्रीकृष्णागमनयवणाक्षितवित्तस्य कंसस्य वृत्तं वर्णयति—

‘हरिमागतमाकण्डे, मधुरामन्तकान्तकम् ।

कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले ॥’

कंसो भोजपतिः, अन्तकस्य सर्वसंहारकस्याप्यन्तकं संहारकं, हरिं भ्रीकृष्णं, मधुरा स्ववधार्थमागतम्, आकर्ष्य, भयेन, कम्पमानः श्वसन् महीतले निपपातेत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । कति, कृष्ण के आगमन को सुनकर विहसि हुये कंस के घृतांत का वर्णन करता है कि—अन्तक (यमराज) का भी अन्त करने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र को मधुरा में अपने वध के लिये आगत सुनकर, कंस काँपता हुआ तथा श्वास खींचता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

विभावमनुभावावाह—

अत्र भयं विभावः, कम्प-रवास-पतनादयोऽनुभावाः ।

यहाँ भय विभाव है और काँपना, श्वास खींचना तथा गिरना आदि अनुभाव हैं ।

अपलता निरूपयति—

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ।

अत्रामर्षादिजन्यवाग्विह्वलादि पाठस्तु विरोधद्वयस्य ‘गुणानां च परापरवादसम्यग्व्यासमत्वात्’ इति भीमांसकसिद्धान्तेनान्वयासम्भवात् समासस्य दुर्धटवोपेक्षितः । अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिजनिका च चित्तवृत्तिश्चपलतेत्यर्थः ।

जब ‘अपलता’ का निरूपण करते हैं—‘अमर्षा’ इत्यादि । अमर्ष आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली और कटुभाषण आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली चित्त-वृत्ति ‘अपलता’ कहलाती है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘अमर्ष-प्रातिकूल्येर्ष्या-राग-द्वेषाश्च भर्त्सरः ।

इति यत्र विभावाः स्युः अनुभावस्तु भर्त्सनम् ॥

वाक्पारुष्यं प्रहारश्च, ताडनं वध-बन्धने ।

तथापलमनालोच्य कार्यकारित्वमुच्यते ॥’ इति ।

प्रातिकूल्य विरुद्धाचरणम् । चकारो भिन्नकम् । प्रहारोऽस्त्रादिभिः । ताडनं हस्तपादादिभिः । अनालोच्य युक्तयुक्तविचारमकृत्वा कार्यकारित्वम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है ‘अमर्ष-प्रातिकूल्येर्ष्या-राग-द्वेषाश्च भर्त्सरः’ इत्यादि । अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में अमर्ष, प्रातिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हैं और धमकाना, वधन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, वध करना और बन्धन में डाल देना ये अनुभाव हैं, उस को ‘अपलता’ कहते हैं, जिसको आप ‘बिना सोचे समझे कार्य कर घटना’ समझिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

हिरण्यकशिपुः प्रह्लाद वदति—

‘अद्विषत ! पापात्मन् ! मैवं मे दर्शयन्ननम् ।

आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावितः ॥’

अद्विषत मद्पकारकं भगवदास्यमेव कृतं नियतविधेयं नस्य, तत्सम्बुद्धौ हे अद्विषत ! विप्रपकारावरणादेव हे पापात्मन् ! प्रह्लाद ! त्वं मे मह्यम्, एवं धृष्टवत् सस्मितम्, आननं मुखं, मा दर्शय, दूरं गच्छ, येन मदीयेनात्मना शरीरेण, त्वं भावित उत्पादितोऽसि, तं बुद्धोत्पादकमात्मानं त्वं, हन्तुमिच्छामोत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—हे अद्विषत ! (भगवान् की वासतारूप मेरे अतिष्ठकर नियम का पालन करने वाला) पापात्मन् ! (चित्तविरोध रूप पाप का आवरण करने वाला) प्रह्लाद ! तू धृष्ट के जैसे अपना हँसता चेहरा मत दिखा । मुझे तो मैं ठाण उपाय करके भी न सुधार सका और न मार ही सका। अब मैं आत्म-हत्या ही करना चाहता हूँ, क्योंकि तुम को पैदा करने का अपराध तो मैंने ही किया है ।

मत्सङ्गविभावानुभावानाह—

एषा भगवदतुरक्तिविषयतनोपायमपरयतः, प्रह्लादं प्रति, हिरण्यकशिपोरुक्तिः ।
भगवदुद्वेपोत्थापितः पुत्रद्वेपोऽत्र विभावः, आत्मयचेच्छा परपथचनं चानुभावः ।

पुत्रे स्वतो द्वेपासम्भवाद्द्वेपाथीनद्वेपोत्थापितम् ।

यह प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु की उस समय में उक्ति है, जब उसकी भगवन्नक्ति को विषयित करने का कोई उपाय उसे नहीं सूझ रहा था । भगवान् में द्वेष रहने के कारण भगवत्पक्षपाती पुत्र में भी होने वाला द्वेष यहाँ-विभाव है और आत्म-हत्या करने की इच्छा और कठोर उद्यम अनुभाव है ।

अमर्षप्रतिवृत्तिमाशङ्क्य खण्डयति—

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसम्भूतत्वेनात्मयचेच्छाया इदम्प्रथमतानुपपत्तेः, इदम्प्रथमकार्यस्य चेदम्प्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिविलक्षणाया एव चपलताख्यचित्तवृत्ते सिद्धे ।

अत्र हिरण्यकशिपुवृत्तेरमर्षस्यैव प्रधानव्यवहार न सम्भवति, यतः प्रह्लादस्य भगवद-नुरागो नाघतन एव, किन्तु चिरकालिक इति तज्जन्योऽमर्षोऽपि चिरसंशित एव भवेत्, तदस्तज्जन्याया हिरण्यकशिपोरभ्रमवधेच्छाया इयं प्रथमा तस्यां सेदम्प्रथमा, तस्या भाष-स्तत्ता प्रथमोत्पत्तिरेवा न गुज्यते । किञ्च यथात्मवधेच्छारूपस्य पूर्वतो विलक्षणस्य कार्यस्य कारणं पूर्वतो विलक्षणा चित्तवृत्तिः कश्चिन्मन्यते, तदा सैवापूर्वा चित्तवृत्तिचपलता सिद्धयति, तस्मात्तान्नामर्षयनि, अपि तु चपलताचनिरेवेत्यभिप्रायः ।

यहाँ हिरण्यकशिपुवृत्ती अमर्ष-भाव ही प्रधान रूप से व्यक्त होता है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सदा से ही भगवान् के साथ प्रेम करने वाले प्रह्लाद के प्रति हिर-ण्यकशिपु का अमर्ष भी नवीन नहीं अपि हूँ पुराना था, फिर यदि इस अमर्ष को हो उसकी आत्म-वधेच्छा का कारण माना जाय, तब तो इस आत्म-वधेच्छा का प्रथम-प्रथम होना नहीं सिद्ध होता कारण यह कि अमर्षरूप कारण के पहले भी रहने से उक्त वधेच्छारूप कार्य का भी पहले होना सम्भावित है, और यह आत्मवधेच्छारूप कार्य हो रहा है आज पहले पहल, अतः उसका कारण भी कोई नवीन-आज ही होने वाला अवश्य होना चाहिये । अतः उक्त वधेच्छा के कारणरूप में प्राचीन अमर्षात्मकचित्तवृत्ति से विलक्षण चपलता नामक चित्तवृत्ति की सिद्धि हो आती है ।

पुनरपराऽऽशङ्क्य निरुक्नोति—

न धामर्षप्रकर्ष एवात्मवेषेच्छादिकारणमभिव्यक्तमिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्याभाविकविलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदार्थत्वात् ।

स्वाभाविकाद् विलक्षणं लक्षणं यस्या सा स्वभाविकविलक्षणलक्षणा, तस्या भावस्तत्ता । प्रकृतस्यामर्षस्यैवात्मवेषेच्छात्मकार्यस्य कारणत्वेन व्यञ्जनमिहास्तामित्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत साधारणामर्षस्य प्रकृतस्यामर्षस्य विलक्षणताऽवश्यं स्वीकार्या, अन्यथाऽऽत्मवेषेच्छात्मविलक्षणकार्यस्यासम्भवः, तथा च स कारणनिष्ठो विलक्षणाख्यः प्रकर्ष एव चपलताऽस्तीति सर्वथा चपलताया सिद्धिरिति भावः ।

यदि आप कहें कि 'हिरण्यकशिपुके मन में आत्म-वष की इच्छा जब आज पहले पहल उत्पन्न हो रही है, तब उसका कारण भी कोई नवीन ही आज का जुटा है, यह अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि प्राचीन अमर्ष से आत्मवष की इच्छा हो सकती, तो पहले भी होती' ये सब तर्क ठीक हैं, तथापि इस नवीन आत्मवषेच्छा रूप कार्य को जन्म देने के लिये एक अभिनय चपलताव्यवहितवृत्ति की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि उसी पुरानी अमर्षात्मक-धृति में केवल एक नवीन प्रकर्ष की कल्पना कर लेनेसे काम बन जाता है अर्थात् हम यह कहें कि अमर्ष जब तक साधारण था, तब तक आत्म-वष की इच्छा नहीं हुई, पर जब वही अमर्ष चिरकालानुवृत्त होने से आज प्रकट (उरकट) हो गया, तब उक्त इच्छा हुई । परन्तु इस जोड़ तोड़ से भी आप का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चपलता नहीं माननी पड़े, यही तो आप का मनोरथ है, जिसकी पूर्ति उस तरह से बात बनाने पर भी सम्भव नहीं, कारण यह कि स्वाभाविक अमर्ष से तबूत प्रकर्ष का कुछ विलक्षण ही लक्षण करना पड़ेगा, अन्यथा फिर विलक्षण कार्य असम्भव ही रहे जायगा और जब अमर्ष में विलक्षण प्रकर्ष मान लेंगे तब तो चपलता सिद्ध हो ही जायगी अर्थात् हम उसी विलक्षण प्रकर्ष की चपलता मान लेंगे ।

निर्वेदं निरूपयति—

भीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिचेष्ट-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्टविरहपरसम्पद-शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदनदीर्घ-श्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः ।

आक्रोशनाधिचेष्टयोः सामान्यविशेषभावाद् प्राज्ञणवशिष्टान्धात्वेन दृश्यगुणादानम् । उत्तमेषु पुरुषेणिति शेषः ।

अयमपुरुषेष्वाक्रोशनादिजन्या, तत्तमपुरुषेष्ववज्ञादिजन्या, रोदनादिजनिका च विषय-द्वेषरूपा चित्तवृत्तिरेव निर्वेद इत्यर्थः । अस्य स्थायिनिर्वेदादशेषमनुपदं वदयति ।

अब 'निर्वेद' का निरूपण करते हैं—'भीच-पुरुषेषु' इत्यादि । आलम्बन-भेद से, निर्वेद दो प्रकार का होता है, एक भीच पुरुष में होने वाला और दूसरा उत्तम-पुरुष में होने वाला । जिसमें भीच पुरुष-गत-निर्वेद उस चित्तवृत्ति को कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति, गाली गलौज, तिरस्कार, रोग, मार खाना, दर्दि होना, अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति और दूसरे की सम्पत्ति का दर्शन आदि से होती है और उत्तम-पुरुष-गत-निर्वेद उस चित्त-वृत्ति का नाम है, जिसकी उत्पत्ति अवज्ञा आदि से होती है, अनुभाव दोनों 'निर्वेदों' के एक से-रोदन, जोर-जोर से श्वास ग्रहण, मुख पर दैन्य-ये सब होते हैं । इस निर्वेदात्मक चित्त-वृत्ति का दूसरा नाम विषयो से द्वेष भी है । स्पष्ट मतलब यह समझिये कि भीच पुरुष को गाली आदि देने से जैसे कष्ट होता है और तत्प्रयुक्त जो विकार उसमें उत्पन्न होते हैं, ठीक वैसे ही कष्ट और तन्मय विकार उत्तम पुरुष में साधारण अवज्ञा आदि से होते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरही धीरामो लक्ष्मणं भणति—

‘यदि लक्ष्मण ! सा मृगेच्छणा, न मदीक्षासरणिं समेप्यति ।

अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ॥’

हे लक्ष्मण ! सा मृगेच्छणा सीता, यदि मदीक्षासरणिं मद्दृष्टिपर्यं, न समेप्यति नाम-
मिष्यति, तदा, अमुना विफलेन विपरीतफलजननेन, जडजीवितेन हतजीवनेन जगता विश्वेन
वा, मे मम किं फल स्याज् किमपि फलमित्यर्थः ।

तद्वर्णन एव मे जीवनं जगच्च सफलमिति भावः । इह प्रियाविरही विभावः, जीवन
जगत्सिफलव्यभिधानमनुभावि । ‘किं फलमित्यनेन पौनरुक्त्यवारणाय विफलेनेत्यस्य
विपरीतफलजननेनेति व्याख्यानेऽपि फलपदस्य द्विरुपादानात्, कथितपदत्वं पुष्परिहरगेव ।
उत्तरवाक्ये तच्छब्दानुपादानमविभृष्टविधेयतामावहति ।

अथ उदाहरण देखिये । वैदेही-विरह-कातर रामचन्द्रजी लक्ष्मण से कह रहे हैं कि—
हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगाची (सीता) मेरे जवन-पथ में न आवेगी-अर्थात् यदि
मुझे उसके दर्शन नहीं होंगे तब इस जड़-अर्थात् गति-हीन-जीवन से अथवा विपरीत
फलजनक जगत् से क्या फल है । मेरे लिये न वह जीवन काम का है, न यह जगत्-अर्थात्
सीता के दर्शन प्राप्त होते रहने पर ही मेरा जीवन सार्थक हो सकता है और मेरे लिये यह
संसार भी तभी सार्थक है । यहाँ प्रिया-विरह को विभाव और जीवन तथा जगत् के
निष्फलरचकथन को अनुभाव समझना चाहिये ।

निर्वेदसङ्गात्वेन शान्तरसम्भनिरेष न कृत इत्यस्य आह—

नित्यानित्ययस्तुविवेकजन्यत्वाभावाभासो रसपदव्यपदेशाद्देहुः ।

यतोऽतौ निर्वेद शान्तरसस्यायिनो निर्वेदाद्भिन्नकारणजन्यत्वाद् भिन्न, तस्मात्तत्र
शान्तरसम्भनिरव्यवहारः । कारणभेदस्तु तस्य निर्वेदस्य नित्यानित्यबोधस्तुनोविवेकेन जन्य-
त्वात्, अस्य चाक्रोशनादिना जन्यत्वात् स्फुट एव वेव ।

‘निर्वेद’ शान्त-रस का स्वादिभाव है, अतः ‘यदि लक्ष्मण “.....” इत्यादि पथ में शान्त
रस की ध्वनि है, ‘निर्वेद-भाव’ की नहीं, ऐसी शब्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नित्य
और अनित्य वस्तुओं के विवेक से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही ‘निर्वेद’ शान्त-रस का
स्वाधीभाव होता है, और जो ‘निर्वेद’ भाव रूप होता है, उसकी उत्पत्ति तो नित्यानित्य-
वस्तु-विवेक से नहीं होती, ध्वनि आक्रोश आदि कारणों से होती है, जो पहले कहा जा
चुका है, अतः यहाँ का ‘निर्वेद’ शान्त-रस-पद से व्यवहार करने योग्य नहीं है ।

इत्यमरानुदेशप्रभेण भावान् निरूप्य देवादिविषयकस्तिभावमुदाहरति—

देवादिविषया रतिर्यथा—

भक्तो भगवन्तं मापते—

‘भवद्भारिकृध्यज्ञय-विजय-दण्डाहतिदत्तात्,

किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः ।

वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलितया,

वराका. के तत्र छपितमुर । नाक्षयिपतयः ॥’

हे क्षपितमुर ! मुरारे ! यत्र भवद्भारि, मुख्यतोरन्नसरेऽननुमतप्रवेशान् कुप्यतो,
अथविजययोस्तदध्यक्षारपातयोः, (वारणाय गुरुर्विधीयमानाणि) ‘दण्डाहतिभिर्विनाशतैः,

दलन्ति विशीर्णभवन्ति किरीटानि शिरोमण्डनानि येषां तादृशाः, विधिमहेन्द्रप्रभृतयो मङ्गेन्द्रादयः, कोटा इव निवार्यमाणा अपि निरुद्धेया, युष्माकं नयनयो परिपातस्य सम्यङ्-निक्षेपस्य उत्कलियोत्कण्ठया, विविधगुणैः, तत्र, वराक्ष दयनीया, नाकाभिपतय स्वर्गैकदेश-स्वामिन कुबेरप्रभृतयः, के ? न केऽपीत्यर्थः ।

उक्तं रीति से अन्य तैत्ति स भावों का निरूपण कर चुकने के बाद, अब देवादि विषयक रतिभाव का (इसका लक्षण करना यहां आवश्यक नहीं था, अतः) उदाहरण दिखलाते हैं—‘देवादि विषयक रतिर्यया’ अर्थात् देवादि विषयक रतिभाव का उदाहरण, जैसे—कोई भक्त भगवान् से कहता है कि—हे मुर-रिपो ! क्रोधयुक्त जय-विजय नामधारी द्वारपालों के वण्ड-प्रहारों से जिनके किरीट दृष्टे आ रहे हैं, वे ब्रह्मा और महेन्द्र आदि देवता, आपके दृष्टि-पातकों—एक बार अच्छी तरह देखलेने भर की—उत्कण्ठा से आप के द्वार पर खड़े रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदि वहां कौन होते हैं ! अर्थात् जहां ब्रह्मा और इन्द्र आदि की वह दशा है, वहां यम-कुबेर आदि को कौन पृथक्ता है !

इह वस्तुस्वनिशब्दामभ्युपेत्य भावध्वनिं स्थापयति—

अत्रापमानसहन्-भगवद्द्वारनिपेक्ष-भगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मा-दिगता भगवदालम्बना रतिर्नोभ्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमयाद्भ्युपेत्यमनसोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभावितया कविगतभगवदालम्बन-रत्या ध्यनित्वमस्तमेव ।

अत्र परोऽपमानसहनादिभिर्ब्रह्मैवैवहादिनिष्ठा भगवद्विषया रतिरभ्यज्यते इति भावध्वनिरिति वस्तु न शक्यते, यतो विपुलधनादिलभ्याशयाप्रति तथा सम्भवः, किन्तु भगवद्द्वारि स्वयम्प्रभूणामपि प्रह्लादीनां तथा स्थित्या भगवदैश्वर्यस्यादर्शनीयत्वमचिन्त्यत्वं च वस्तुप्राधान्येन व्यज्यते इति वस्तुध्वनिरेवेति पूर्वपक्षाभिप्रायः, व्यज्यता प्राग् वस्तु प्राधान्येन, तथापि पर्यन्ते भगवत्तत्त्वाविधैश्वर्यस्य वर्णनेनानुभावेन कविनिष्ठाया भगवद्विषया रतेत्यर्जने बाधामावाद् रतिभावध्वनिरस्त्येवेत्युत्तरपक्षाभिप्रायः ।

उक्त पक्ष में जो ब्रह्मादिकों कि—अपमान सहना, भगवान् के द्वार का रोकना करना, और उनके कटाक्षपात की इच्छा रखना इत्यादि बातें वर्णित हुई हैं, उनसे भगवान् के विषय में उनका (ब्रह्मादिकों का) प्रेम नहीं अभिव्यक्त होता, क्योंकि प्रेम के अभाव में भी अत्यधिक धनादि लाभ की जाशा से ब्रह्मादिकों का वैसा आचरण हो सकता है, अतः यह कहना चाहिये कि यहां सर्व-साधन-सम्पन्न ब्रह्मा आदि के उस तरह द्वार पर खड़े रहने से—‘भगवान् का ऐश्वर्य अवर्णनीय तथा अचिन्तनीय है’ यह वस्तु व्यक्त होती है इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि—आरम्भ में उक्त बात ही प्रधानतया ध्वनित होती है, तो, होवे, मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु अन्त में कवि का भगवद्विषयक प्रेम तो अवश्य ध्वनित होता है, क्योंकि उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना उक्त प्रेम का ही फल (अनुभाव) है, सारांश यह कि उक्त पक्ष को देव-विषयक-रति-भाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है ।

अत्र - रतिप्रतीतेः पश्चाद्भक्तत्वेनाप्राधान्याद्भावध्वनित्वव्यपदेशो दुर्वर्त इत्युक्तेरुदाहर-णान्तमाचष्टे—

इदं बोधाहरणम्—

भक्तो भगवन्तं वदति—

‘न धनं न च राज्यसम्पदः, नहि विद्यामिदमेकमर्थये ।

मयि येहि मनागपि प्रभो ! करुणामङ्गितरङ्गितां दशम् ॥’

हे प्रभो ! अहं धनं नार्थये न याचे, राज्यसम्पदं च नार्थये, विद्यामपि नार्थये, किन्तु 'करुणामङ्गितरङ्गिता दयोद्वेकोच्छलिता, दशं, त्वं मयि, घेहि निक्षिप' इतीदं केवलमेकमेव, अर्थय इत्यर्थः । अत्र धनानुपेक्ष्य भगवद्दयार्द्रवपातमात्रार्थनया रतिः प्राधान्येन व्यत्यस्यति इति भावध्वनेरुदाहरणमिदमवसेयम् ।

पूर्वपरी यदि कहे कि यहाँ एक वस्तु की प्रतीति पहले होती है और कविगत रति की पश्चात्, अतः प्रधान, वस्तु कहलायगी और रति तदुपेक्षया गौण, फिर गौण रति को लेकर भाव-ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो छाड़िये उस पद्य को, यह दूसरा उदाहरण लीजिये । भक्त भगवान् से कहता है कि—हे प्रभो ! मैं धन नहीं चाहता, राज्य की सम्पदा नहीं चाहता और न विद्या ही चाहता हूँ । मैं तो एक ही चीज चाहता हूँ, और वह यह कि तू मेरे ऊपर करुणा की शैली से शोभित अपनी दृष्टि ओढ़ी भी डाल दे ।

सदाह—

अत्र धनाद्यपेक्षाशून्यस्य भगवद्दयाहगन्तपातामिलापो हि भगवत्पत्न्यानु-
रक्ति व्यनक्ति ।

अतो रतिभावध्वनिरिति शेषः ।

यहाँ धन आदि की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के करुणामयकटाक्ष-पात की अमिलापा उनके विषय में उसके अनुराग को व्यक्त करती है । अतः इस पद्य को रतिभाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी चाहिये ।

उपसहरति—

एवं सङ्क्षेपेण निरूपिता भावाः ।

एवमुक्तप्रसङ्गेन, संक्षेपेण भेदप्रभेदानिरूपणाद् समासेन, भावाश्चतुर्विंशत् निरु-
पिता इत्यर्थः ।

अथ सचेपतः भावों का निरूपण समाप्त हुआ ।

ननु कतिरिक्तानामपि मात्सर्यादिभावानां लक्ष्येषु निरीक्षणाद् भावानां चतुर्विंशत्-
संख्यानमसङ्गतमित्याशङ्क्य समादधाति—

अथ कथमस्य सङ्ख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-
क्लैब्य-क्षमा-क्रुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशयधाष्ट्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु
परानादिति चेत्, न, उक्तेष्वेवैवामन्तर्भावेण सङ्ख्यानंतरानुपपत्तेः ।

अस्येति सामान्याभिप्रायेणैकवचनम् ।

लक्षातिरिक्तानामपि मात्सर्यादीनां लक्ष्येषूपलम्भात् सङ्ख्यानियमोऽसङ्गत इति शङ्काया-
मात्सर्यादीनामुक्तेष्वेव भावेषु यथावयवमन्तर्भावान् सङ्ख्यानियमो नाप्यङ्गत इति समाधानम् ।

अथ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भावों की संख्या ३४ ही है, वह नियम कैसे
किया जा सकता ? जब कि काव्य आदि में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ
(कपट), ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य (कायरपन), क्षमा, क्रुतुङ्गल, उत्कण्ठा, विनय,
संशय और एष्टता आदि भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं । इसका उत्तर यह है कि ऊपर
गिनाये गये मात्सर्य आदि भावों का भी पूर्वोक्त ३४ भावों में ही समावेश हो जाता है,
अतः पृथक् उनकी गणना करना अयुक्त है ।

कुत्र वस्थान्तर्भाव सम्भवतीति प्रतिपादयति—

असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्याख्याद्वावाम्भस्य, अमर्षा-
दीर्ष्यायाः, मतेर्विवेक-निर्णययोः, दैन्यात् क्लैब्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात्

वस्तुकोत्कण्ठयोः, लज्जाया विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद्वाप्यस्य च वस्तुतः मूढमे भेदेऽपि, नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात् ।

यद्यप्यसूयादितो मात्सर्यादीनामपद्भेदोऽस्त्येव, किन्त्वसूयादीनां मात्सर्यादीनां च मियो नियतसम्बन्धरूपाविनाभावान्भेदारोपः, तथा च मात्सर्यादीनामसूयादिरूपतयाऽवधारणात् भावना सङ्गवाधिक्यस्य सम्भव इत्यभिप्रायः ।

अब किसका अन्तर्भाव कहा होगा इस बात का प्रतिपादन करते हैं—‘मघसातो’ इत्यादि । अर्थात् मात्सर्य असूया में, उद्द्वेग ज्ञास में, दुष्म अवहित्या में, ईर्ष्या भ्रमर्ष में, विवेक और निर्णय सति में, क्लेश्य देव्य में, उमा प्रति में, कौतूहल और उरुकण्ठा और सुख्य में, विनय लज्जा में, संशय तर्क में और छटता चपलता में समाविष्ट हो जाते हैं । यद्यपि यहां जिस भाव का समावेश जिस भाव में किया गया है, दोनों में अर्थात् मात्सर्य आदि और असूया आदि में परस्पर सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भाव एक दूसरे के बिना नहीं रहते, अतः उन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया । तात्पर्य यह है कि जहां असूया रहती है, वहां मात्सर्य अवश्य रहता है, फिर उन दोनों को दो भाव मानना व्यर्थ है, इसी तरह अन्य अन्तर्भूत होनेवाले और अन्तर्भूत करने वाले भावों के विषय में भी समझना चाहिये ।

ननु सूक्ष्मभेदे सत्यपि कथमभेदारोप इत्याशङ्क्यामाह—

मुनियचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनोचित्यात् ।

यदि सूक्ष्मभेदमपि भावना गणयित्वा, सङ्गवाधिक्यमूरीक्रियेत, तर्हि ‘एकपञ्चाशद् भावाः’ इति भरतमुनिहृता ध्यवस्था भज्येत, तद्व्यवस्थोलङ्घनस्यानुचितत्वात् सूक्ष्मभेदो न गणनीय इत्याशयः ।

सूक्ष्म भेद रहने पर भी उक्त भावों को एक मान लेने का कारण यह है कि उस तरह से उन-उन भावों को एक मान लेने से जब कोई चिति नहीं होती और साथ-साथ भरत मुनिके पचन की रक्षा भी हो जाती है, तब उच्छृङ्खलता करना अनुचित है अर्थात् भरत ने भावों की संख्या ३५ ही मानी है, अतः हम को भी उनकी संख्या उतनी ही माननी चाहिये ।

अभिचरिभावत्वेन प्रसिद्धानामप्येषा कुत्रचिद्भावान्तरे विभावता, क्वचिच्चानुभावता च भवतीत्युपोपपादयति—

एषु च सञ्चारिभाषेण मध्ये केचन कोषाश्चन विभाषा अनुभाषाश्च भवन्ति । तथाहि—ईर्ष्याया निर्वेदप्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम् । चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम् ।

ईर्ष्याया निर्वेदजनकत्वात्तद्विभावत्वमसूयाजन्यत्वाच्च तदनुभावत्वम्, चिन्ताया निद्राजनकत्वात्तद्विभावता, औत्सुक्यजन्यत्वाच्च तदनुभावता, यथा भवति, तथैवान्यत्र विभावानुभावभावो भावना स्वयमूढनीय इत्यर्थः ।

पूर्वोक्त सञ्चारीभावों में से कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते हैं । जैसे—ईर्ष्याभाव निर्वेदभाव का विभाव और असूयाभाव का अनुभाव होता है, इसी तरह चिन्ताभाव निद्राभाव के प्रति विभाव और औत्सुक्यभाव के प्रति अनुभाव होता है । इसी प्रकार अन्यभावों के विषय में स्वयं ऊह कर लेना चाहिये । यहां चिन्ता को निद्रा का विभाव मानना अनुभव-विह्व प्रतीत होता है ।

अयं क्रमप्राप्तं रसाभासं निरूपयति—

अथ रसाभासः तत्र—

तत्र रसाभासे निरूपणीये लक्षणमाह—

अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् ।

परिचये प्रमोदे न विद्वसन्मुखी, (ताम्) सुकृती धन्य, (सः) अहह आश्चर्यं निश्वासेन-
सहितं सनिश्वासं यथास्यात् तथा रित्प्यत्यालिङ्गतीत्यर्थः ।

उदाहरण छोटिये । कवि कहता है कि—वह पुण्यशाली पुरुष धन्य है, जो सैकड़ों
उपायों के द्वारा, किसी प्रकार महलों की चोटी पर पहुँचकर, एकान्त में अमृत-पेन के
समान घबल पुष्पसद्व्या पर सोई हुई कृयाङ्गी राजाङ्गना को जगाता है और जगने पर
जब उसकी आँखें एक बार चमक उठती हैं, तथा मुख-कमल खिल उठता है, तब निश्चय
के साथ उसका आलिङ्गन करता है । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि
'रसाभास' के उक्त लक्षण से तीन भेद रसाभास के सिद्ध होते हैं—विभाव के अनौचित्य से
रति में अनौचित्य आ जाने से एक, अनेक नामकों के विषय में होने के कारण रति के
अनुचित हो जाने से द्वितीय और एकनिष्ठ होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से
तृतीय भेद होता है । जिनमें यह प्रथम भेद का उदाहरण है ।

विभावाद्याह—

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजमणी । रहो रजन्याद्युद्दीपनम् । साहसेन
राजान्तःपुरे गमनम्, प्राणोपपेक्षा, निश्वासारलेपादयश्चानुभावाः । शङ्कादयश्च
सञ्चारिणः ।

अनुचित परपुरुषविषयकत्वादयुक्तं प्रणयो यस्या सा ।

यहाँ जिसके साथ प्रेम करना अनुचित है, वह राजाङ्गना आलम्बन-विभाव है ।
एकान्त और रात्रि का समय आदि उद्दीपन-विभाव हैं । साहस करके राजा के अन्तःपुर में
जाना, प्राणों की परवाह न करना, साँस का जोर-जोर से चलना और आलिङ्गन करना
आदि अनुभाव हैं, तथा शङ्का आवि सञ्चारीभाव हैं ।

रसाभासरसमुपपादयति—

निषिद्धानलम्बनकृत्याभास्या रतेराभासत्वं रसस्य ।

अस्या अत्र प्रतीयमानाया रते, निषिद्ध परपुरुषत्वाद्धितमालम्बनं यस्यास्तत्वाद्
रसाभासत्वमित्यर्थः । अनुचितविभावकत्वप्रयुक्तो रसाभासस्य प्रथम प्रकारोऽयमित्याशयः ।

यहाँ रति का आलम्बन-राजाङ्गना-लोक तथा काल से निषिद्ध है, अतः रस आभास-
रूप हो गया है ।

अत्र सूतीयप्रकारोदाहरणत्वमाशङ्कते—

न चात्र 'चकितनयनाम्' इत्यनेन परपुरुषस्पर्शाग्रासाभिव्यक्त्या रतेरनुभय-
निष्ठतेत्याभासताहेतुर्वाच्यः ।

अत्र 'चकितनयनाम्' इति नायिकानिरोधनेन परपुरुषस्पर्शजन्यस्य तस्याभासरस्यैव
व्यज्यमानतया रते राजरमण्यवृत्तित्वः ततेरनुभयनिष्ठतया रसाभासत्वं, न तु रतेरनुचित-
विभावकत्वेनेति पूर्वपक्षाभिप्रायः ।

यहाँ राजाङ्गना का जो 'चकितनयना' विशेषण है, उससे यह प्रतीत होता है कि
राजाङ्गना को पर-पुरुष-स्पर्श से ज्ञास हुआ है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका
को उस नायक से प्रेम नहीं है, अतः रति के एकनिष्ठ (एकाङ्गी) होने से जो रसाभास
का तृतीय भेद कहा गया है, उसका यह उदाहरण है, विभाव के अनौचित्य प्रयुक्त रति के
अनुचित हो जाने से होनेवाले प्रथम भेद का नहीं, यह किसी की शङ्का है ।

उत्तरायति—

अस्याश्च चिरायतस्मिन्नासक्ताया अन्तःपुरे परपुरुषागमनस्यात्यन्तमसम्भा-
वतया, क एष मां बोधयतीत्युचित एव त्रासः । अनन्तरं च परिचयाभिव्यक्त्या,

सोऽयं मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि रुणीकृत्यागत इति ज्ञानादुत्पन्नं हर्षमभिव्य-
ज्यत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणं रतिं वदीयामपि व्यनक्ति, परन्तु प्राधान्यं
नायकनिष्ठायै एव रतेः सकलवाक्यार्थत्वात् ।

तदीयां नायिकानिष्ठामपि । सकलवाक्यार्थत्वात् सम्पूर्णवाक्यव्यङ्ग्यत्वात् । आदौ
परिचयाभावे नायिकायाः सहसा निद्रातो जागरणात् समुचिता चकितेत्यादिविशेषणेन, प्रास-
प्रतीतिरेव, पश्चात् परिचये सति प्रणयमूलकतदीयसाहसानुष्ठानज्ञानजन्यहर्षव्यञ्जकेन 'स्मेर-
वदनाम्' इति विशेषणेन नायिकानिष्ठाऽपि रतिरभिव्यज्यत एवेति रतेर्नानुभयनिष्ठताऽप्रा-
भासत्वप्रयोजिका, किन्त्वनुचितविभावतैवेतिसारम् । यदीह नायिकायाः सर्वथा प्रास एव
स्यात्, तर्हि हर्षव्यञ्जकं वदनस्मेरत्वं कथं स्यात्, अतः स्मेरत्वव्यङ्ग्यद्वयेन व्यज्यमानाया
नायिकानिष्ठरतेर्न प्राधान्यम्, एकदेशव्यङ्ग्यत्वात्, अपि सकलवाक्येन व्यज्यमानाया
नायकनिष्ठरतेरेव प्राधान्यमिति च विभारनीयम् ।

उक्त बाह्या का उत्तर यह है कि नायिका चिरकाल से उस नायक में वरपि आसक्त
थी, तथापि इस क्षुरचित्त भक्त पुर में पर-पुरुष का आगमन अव्यक्त ही असम्भव है,
किर यह कौन मुझे जगा रहा है इस तरह की भावना से नायिका में प्रास का उदय हुआ
है, न कि पर-पुरुष-स्पर्श के दयाल से । अतः एव, बाद में परिचय प्राप्त होने पर 'यह तो
मेरा वही प्रेमी है, प्राण के मोह को भी छोड़ कर यहां तक मेरे लिये आ पहुंचा है'
इस प्रकार के ज्ञान से नायिका को अव्यक्त हर्ष हुआ, इस बात को व्यक्त करने वाला
'स्मेरवदनां' यह विशेषण 'चकितवचनां' के अभ्यवहित आगे नायिका में छगाया गया है,
किर तो उसी विशेषण से 'नायिका का भी प्रेम नायक में है' यह बात भी दृष्ट व्यक्त
हो जाती है, हां इतनी बात अचरय है कि प्रधानता यहां नायकनिष्ठ रति को ही है,
क्योंकि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ वही है । तात्पर्य यह कि जब इस तरह से नायिका
का भी प्रेम नायक में सिद्ध हो जाता है, तब यह एकनिष्ठ रति का उदाहरण नहीं हो
सकता, कलतः यह प्रथम भेद का ही उदाहरण है आ निर्दिष्ट-सिद्ध है ।

द्वितीयप्रकारमुदाहरति—

प्रथा यः—

पुंक्षली चरितं वर्णयति—

'भवन्तं कठणानती विरान्ती, गमनाहातवलाभलालसेषु ।

सरणेषु विलोचनाञ्जमाला-मथ बाला पथि पातयान्मभूव ॥'

कुन्धिदामञ्जली बाला, पथि मार्गे, (स्वकीययौवनसौन्दर्याकृष्टहृदयैस्तदगैरनुगम्य-
माना) भवन्तं निजगृहं, विरान्ती प्रविरान्ती, गमनस्य प्रतिनिवर्तनस्य, आज्ञात्मवस्यदेश-
लेशस्यापि लाभायाधिगमाय, लालसेषु लोलुपेषु, सकलेषु सर्वेष्वनुयायिषु तद्वेषु कठणावती
दूरानुसरणादितद्वानिलोनान्जमालां कृतज्ञतासूचकशोभलकटाक्षपरम्पराम्, अथ पातया-
न्मभूव निविलोपेत्यर्थः ।

इह तादृशप्रतिज्ञेयव्यङ्ग्यमानाया रतेस्तद्वेष्विविध बहुवचनेन बहुविधयत्वावगमाद्
रसाभासद्वितीयप्रकारोदाहरणमिदम् ।

अब रसामास के द्वितीय भेद का उदाहरण देखिये । कवि कहता है कि—गृह में प्रवेश
करती हुई बाला ने जब देखा कि मुझ से जाने की किञ्चिन्मात्र-आज्ञा-प्राप्तिरूप लाभ
के छोटी युवक-मण्डल रास्ते पर सदा है, तब कठणावती उस बाला ने उन पुदकों
पर एक साथ नयन-कमलों की माला गिरा दी—स्नेहभरी चितवन से उनकी ओर देखकर
जाने की अनुमति दे दी ।

तदाह—

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्य-
मानायाः कस्याश्चिद् भवन्प्रवेशसमये, निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय, गमना-
ज्ञापनरूपलामलालसेषु तेषु, परमपरिश्रमस्मरणसञ्ज्ञातकरुणाया गमनाद्वादान-
निवेदकस्य धिलोचनाम्बुजमालापरिक्षेपस्थानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना रति-
र्यद्वचनेन बहुविपया गम्यत इति भक्त्ययमपि रसाभासः ।

रुक्मम् ।

कोई नवयौवन नायिका कहीं से आ रही थी, हास्ते में मनचड़े तरंगों का एक पूरा
दल उसके पीछे हो लिवा, होता भी क्यों नहीं, जब कि उस सुन्दरी ने अपने रूप और
यौवन से उस (दल) का हृदय-हरण कर लिया था । पर उन युवकों को नवनसुल
के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा, एक वाली सुनने के लिये भी वे बेचारे तरसते ही रहे,
आखिर उस सुन्दरी का घर भी आ गया, वह अपने घर में घुसने लगी, अब वे युवक
क्या करते, हास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में यह लालसा उठ रही थी कि 'यदि अब
भी यह सुन्दरी और न कुछ तो न सही—कम से कम अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा
भी दे दे, तो हम अपनी सेवा को सार्थक समझ लें' । भगवान् ने समझा, उस सुन्दरी के
हृदय में उनके अधिक परिश्रमों की वाद कर दिया उमड़ आई, अतः उसने 'मैं आप सबों
को जाने की आज्ञा देती हूँ' इस अर्थ के सूचक-वचन-प्रयोग तो नहीं—मधुर-दृष्टि निक्षेप
उनके ऊपर जरूर किया, (फिर कहा था, वे युवक अपने को कृतार्थ समझते हुये धुंध-
वधर विलहर गये) । यही इति-निक्षेपरूप अनुभाव के वर्णन से नायिका की रति अभि-
व्यक्त होती है और वह भी 'तत्त्वेषु' इस बहुवचन-प्रयोग के द्वारा अनेक नायकों में
प्रतीत होती है, अतः यह पद्य भी रसामास (अनेक नायक विषयक रतिरूप द्वितीय भेद)
का उदाहरण होता है ।

सुतीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

नवोदाहृतं वर्णयति—

‘भुजपञ्जरे गृहीता, भवपरिणीता धरेण बधूः ।

तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपतेः नितराम् ॥’

भवपरिणीता नवोदा (अनुसन्ध्याप्रणय) बधू, धरेण परिणीता (न तु प्रियेण)
भुजपञ्जरे गृहीता बलाद्धृता (ग्राहमात्मिकिता) तत्काल संध, जाले पतिता, बाला, कुरङ्गी
हरिणीव, मुक्तपुपायानुपलम्भात्, रतेरनुद्धयेन आसाध, नितरामत्यन्तं वेपतेः कम्पत इत्यर्थः ।

अच्छा अब तृतीय भेद का भी उदाहरण देना छीजिये। एक सखी दूसरी सखी से कहती
है—नवविवाहित दुखहीन को पति ने बाहु रूप पिजड़े में पकड़ लिया, अब वह बेचारी
तत्काल जाल में फँसी हुई बच्ची हरिणी की तरह कांप रही है ।

उपपादयति—

अत्र रतेर्नययथा मनागप्यस्पर्शादनुभवनिष्ठत्वेनाभासत्वम् ।

नायकमात्रे तिष्ठन्ती रतिरिह नायिकाभीषदपि न तिष्ठतीत्यनुभवनिष्ठा रसामासरूपैव ।

उक्त पद्य से यह प्रतीत होता है कि अभी केवल नायक में ही प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ
है, नायिका में प्रेम का स्पर्श भी नहीं हुआ है, इस स्थिति में यह प्रेम (रति) अनुभव-
निष्ठ (एक तरफा) है, अतः यह पद्य रसामास (अनुभवनिष्ठ रतिरूप तृतीय भेद)
का उदाहरण होता है ।

उक्तप्रकरणत्रये प्रामाणिकता दर्शयति—

तथा चोक्तम्—

‘उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।

बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥’ इति ।

रसभास के उक्त तीनों भेदों में प्राचीनों ने भी सावधानी की है। उन्होंने कहा है कि यदि नायिका की रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसभास कहलाती है। यहाँ एक बात विचारने योग्य यह प्रतीत होती है कि—इस प्राचीनोक्त कारिका में ‘उपनायकनिष्ठायां’ और ‘मुनिगुरुपत्नीगतायां’ ये दोनों ही पद क्यों कहे गये हैं? दोनों पदों की आवश्यकता तो नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि उपनायकनिष्ठ रति से मुनिपत्न्यादिगत रति भी संगृहीत हो जाती है, कारण यह कि मुनिपत्नी आदि में जिसकी रति होगी, वह मुनिपत्नी का उपनायक ही होगा, फिर उन दोनों की रति उपनायक निष्ठ कहलाएगी, यदि कहें कि वहाँ मुनिपत्नी आदि की रति नायक में नहीं रहती, तब मैं कहूँगा कि अनुभयनिष्ठ रति से संग्रह हो जाएगा। एक बात और यह कि उक्त कारिका से रसभास के चार भेद प्रतीत होते हैं, पर ग्रन्थकार ने तो तीन ही भेद दिये-छापे हैं, जो ठीक भी हैं, अतः इस प्राचीन कारिका से कुछ असंगति अवश्य है।

सजायोदाहरणसङ्ग्रहार्थमभियत्ते—

अत्र ‘मुनिगुरु’ शब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम् ।

आदिपदेनागम्यपक्षोक्त्या सिध्दादीना परिग्रहो बोध्यः ।

उक्त प्राचीन कारिका में मुनि और गुरु पद उपलब्ध हैं, अतः उन पदों से राजा सिन्ध आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः ‘सतेनोपायानाम्’ इत्यादि प्रथम उदाहरण का संग्रह हो जाता है।

रस-सदाभासयोरेकत्र संशयात् पृच्छति—

अथात्र किं व्यङ्ग्यम् ?—

‘व्यानप्राप्तिलाश्रयैव, स्फारिताः परमाकुलाः ।

पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः, पतन्ति प्रथमा दृशः ॥’

पाञ्चाल्या द्रौपद्या, प्रथमा परिचयानन्तरमाया, दृशो दृश्य, पाण्डो पुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु क्रमेण युधिष्ठिरे गौरवायनश्च विनता, भीमसेने प्रासाधकिलाश्रयत्वा, अर्जुने प्रभावोत्कर्षात् स्फारिता विकसिता, नकुलसहदेवयोश्च सौन्दर्यातिशयात् परमाकुला असुखकाश, पतन्तीत्यर्थः ।

अत्र पद्ये रतौ रसभासो वा व्यङ्ग्य इति प्रष्टव्यम् ।

अच्छा, अब यह विचार कीजिये कि ‘पाण्डवों के ऊपर, द्रौपदी की प्रथम दृष्टियां अतितप्त चञ्चल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिरती हैं’ पद्यार्थक ‘व्यानप्रा’ ‘’ इत्यादि पद्य में क्या व्यङ्ग्य है? रस? अथवा रसभास?

विशेषणव्यङ्ग्यप्रदर्शनपुरस्तरं नवीनमते रसभासत्वं व्यवस्थापयति—

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे समकित्वम्, चलिततया स्थू-ताकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्त्वम्, स्फारिततयाऽलौकिकशौर्यभ्रमणप्रयोज्य-नर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरोत्सुक्यं

च व्यञ्जयन्तीभिर्दग्भिः पाञ्चाल्या बहुविपयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नव्याः ।

अत्र द्रौपदीदृष्टिविशेषणचतुष्टयेन युधिष्ठिरादिनिष्ठ-धर्मात्मताऽऽदिप्रयोज्यानि भक्ति-प्राप्त-हर्षोत्सुक्यानि व्यञ्जमानानि, द्रौपदीनिष्ठा युधिष्ठिराद्यनेकनायकविषयकत्वादनुचिता रति प्राधान्येन व्यञ्जन्तीति शृङ्गाररसाभासध्वनित्वं नवीना मन्यन्त इति सारम् ।

इह शौर्यस्यादृश्यतया यया यवणपदोपन्यासः, तथा धर्मात्मताया अपीति तत्रापि सतुपन्यास उचितः ।

उक्त विचार के प्रसङ्ग में नवीन विद्वानों का कथन है कि वहाँ रसाभास ही व्यङ्ग्य है, रस नहीं, क्योंकि 'अतिनम्र' इस विशेषण से धर्मात्मा होने के कारण युधिष्ठिर के विषय में भक्ति को, 'चञ्चल' इस विशेषण से स्थूल काय होने के कारण भीमसेन के विषय में प्राप्त को, 'विकसित' इस विशेषण से अलौकिक शूरता की बात श्रुत होने के कारण अर्जुन के विषय में हर्ष को और 'परम व्याकुल' इस विशेषण से अति सुगम्ह होने के कारण मकुल तथा सहदेव के विषय में उत्सुकता को अभिव्यक्त करनेवाली दृष्टियों के वर्णन से द्रौपदी की अनेक नायक विषयक रति ध्वनित होती है ।

प्राचीनमते तत्र रसत्वमेव व्यवस्थापयति—

प्राञ्चस्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे, रतेरसाभासतैस्याहुः ।

अपरिणेतार परिणयकर्तृभिः सहोऽनैके नायका विषया यस्या सैव रतीरसाभासः । प्रकृते द्रौपदीनिष्ठरतेर्बहुनायकविषयकत्वेऽपि, नायकानां परिणेतृत्वाद् विशेषणाभावप्रयोजक-विशिष्टाभावात् रसाभासत्वम्, अपित्वनौचित्यप्रतीत्या रसत्वमेवेति प्राचीनानां मतम् । इह प्राचीनमतस्य गरीयस्त्वं पञ्चाभिर्देश सूचयति । यत्तत्र टीकया तुना सूचितमनघिणीं लक्षणे परिणेतृभेदानिवेशादपरिणेतृबहुनायकविषयकत्वं इवात्रापि रतेरनौचित्यस्य भान-मुक्तम्, तत्र युक्तम्, रतेरनौचित्यावभासे लोकशालग्रहितत्वस्यैव हेतुतया, महाभारत-प्रकृतप्रकरणपर्यालोचनया तदसम्भवात्, विशेषपक्षेन्द्रोपाख्यानदर्शनेन नायकबहुत्वादिति विभावनीयम् ।

प्राचीन विद्वानों के मत से उक्त श्लोक में रस ही व्यङ्ग्य है, रसाभास नहीं, क्योंकि वे विधिवत् पाणिग्रहण न करने वाले अनेक नायक के विषय में होनेवाली रति को ही रसाभास मानते हैं, यहाँ तो पाँचों पाण्डव द्रोपदी के विधिवत् पाणि-ग्रहण करनेवाले ही हैं, अतः उन पाँचों के विषय में होनेवाली द्रौपदी की रति रसाभास नहीं कहला सकती, परन्तु उक्त रस ही कहलायगी । यहाँ 'प्राञ्चस्तु' इस 'तु' शब्द से अस्मि सूचित होती है, और उसका कारण यह है कि एक नायिका का अनेक नायकों से प्रेम करना हरहालत में अनुचित ही है, चाहे वे नायक विधिवत् पाणिग्रहण कारक हों अथवा उदासीन । और लक्ष्य में भी इस तरह का कोई निवेश नहीं किया गया है, जिससे पाणिग्रहण करनेवाले अनेक नायकों के विषय में होनेवाली रति रसाभास-संज्ञा से मुक्त की जा सके । यह है नागेश का अभिप्राय । कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नागेश का यह अस्मिप्रदर्शन समुचित नहीं है कारण यह कि लोक और शास्त्र से निन्दित होने से ही तो रति का अनौचित्य सिद्ध होता है, और महाभारत (जो धर्मग्रन्थ तथा अपने युग का इतिहास ग्रन्थ भी है) के पर्यालोचन से द्रोपदी का पाँच पाण्डवों के साथ प्रेम करना निन्दित नहीं समझा जाता, अतः प्राचीनों का मत ठीक ही है ।

रसाभास विभजते—

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसामासोऽपि द्विविधः—संयोगविप्रलम्भभेदात् ।

तत्र रसामासेषु, यथा शृङ्गाररसो द्विविधः, तथा संयोगशृङ्गाररसामासो विप्रलम्भशृङ्गाररसामासश्चेति तद्वामासोऽपि द्विविधस्तुत्यायात् । एवं धीररसामासभेदा अप्यूहनीया इत्यभिप्रायः ।

जैसे सम्भोग और विप्रलम्भ भेद से शृङ्गार रस दो प्रकार के होते हैं, उसी तरह शृङ्गार रसामास भी दो प्रकार के होते हैं ।

तत्र विप्रलम्भामासोदाहरणमात्रस्य वक्ष्यमाणत्वेन न्यूनता परिहरति—

संयोगाभासस्त्यनुपदमेयोदाहृतः ।

नव्यमते—‘व्यानना’ इत्यादिना, प्राचीनमते तु ‘भुजपञ्चरे’ इत्यादिना, तेन न्यूनता न शङ्कनीयेत्याशयः ।

सम्भोगशृङ्गार रसामास का उदाहरण ‘भुजपञ्चरे’ इत्यादि सभी ही ऊपर कह आये हैं ।

विप्रलम्भामासोदाहरति—

विप्रलम्भामासो यथा—

वैदेहीविरहव्याकुलस्य वशान्नस्य दशां वर्णयति—

‘व्यत्यस्तं लपति क्षणं, क्षणमथो मौनं समालम्बते,

सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।

श्वासं दीर्घमुरीकरोति, न मनागङ्गेषु धत्ते धृति,

वैदेहीकमनीयताकवलितो ॥ हन्त ! लङ्घेश्वरः ॥’

हा हन्त ! वैदेहा जानक्या, कमनीयतया स्पृहणीयसौन्दर्येण, कवलितो पशीकृतचेता, लङ्घेश्वरो रावण, क्षणं व्यत्यस्तमसङ्गतं लपति भावते (प्रलपति) अथो क्षणं मौनं समालम्बते गूढ़ोभवति, किञ्च सर्वस्मिन् प्रियेऽप्रिये च विषये, निरालम्बना शून्या, दृष्टिं विदधाति करोति, तथा दीर्घमावर्तं, श्वासम्, उरीकरोति चहति, धृष्टम्, अङ्गेषु स्वावयवेषु, मनागीयदपि, धृतिं स्थिरतां न धत्ते न धारयतीत्यर्थः ।

विदधातीत्यत्र निरोपार्थो विदधातीति पाठोऽधिकं शोभते ।

अथ विप्रलम्भामास का उदाहरण देखिये—सीता के सौन्दर्य से बशीकृत रावण की दशा आरम्भ शोचनीय है । वह क्षणभर अट-संद कुछ बरकता है, तो क्षणभर चुप्पी साध लेता है । सभी वस्तुओं पर दृष्टि डालता है, पर एक भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती । वह जोर-जोर से सांस खींचता है और उससे अङ्गों में तनिक भी स्थिरता नहीं रहती—कभी हाथ और कभी पैर पटकता है, उससे थोड़ी देर भी शान्त नहीं रहा जाता ।

उपपादयति—

अत्र सीतालम्बनेयं लङ्घेश्वरागता विप्रलम्भरविरनुमयनिष्ठतया जगद्गुरुपत्नी-विषयकतया चामासतां गता, व्यत्यस्तं लपतीत्यादिभिरुक्तिभिर्व्यज्यमानैरुन्माद-ध्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिमिस्त्वयैवामासतां गतैः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

इह सीताविषयिकाया विप्रलम्भशृङ्गारस्यायिन्या रते रावणमात्रनिष्ठतया जगद्गुरु-रामचन्द्रपत्नीविषयकतया ॥ द्विविधानौचित्याद् विप्रलम्भशृङ्गाररसामासत्वम् । सा हि—‘क्षणं व्यत्यस्तं’मित्यादिना व्यज्यमानेनोत्साहेन, ‘क्षणमथो’ इत्यादिना व्यज्यमानेन ध्रमेण, ‘सर्वस्मिन्’ इत्यादिना व्यज्यमानेन मोहेन, ‘श्वासं’मित्यादिना व्यज्यमानया चिन्तया, ‘न मना’मित्यादिना व्यज्यमानेन व्याधिना च आवेकानौचित्यप्रकृततया मावगाहेन परिपोष्यत इति प्रधानीभूता विप्रलम्भशृङ्गाररसामासध्वनिव्यपदेशस्य हेतुर्भवतीति सारम् ।

यहां सीता के विषय में जो रावण का विरहकालिक प्रेम है, वह अनुभयनिष्ठ है— अर्थात् रावणमात्र में है, सीता में नहीं और वह जगद्गुरु रामचन्द्र की पत्नी के विषय में है, अतः उस प्रेम में द्विविध अनौचित्य आ गया, जिससे वह 'आभास' रूप है। उस (प्रेम) को पुष्ट करनेवाले उन्माद, भ्रम, मोह, चिन्ता और व्याधि ये सञ्चारीभाव भी जगद्गुरु— पानी विषयक होने के कारण 'आभास' रूप ही हैं, इन सञ्चारीभावों के व्यञ्जक क्रमशः भंड-संद झोलना, चुप्पी साधलेना, 'आलम्बनरहित' देखना, जोर-जोर से सांग खींचना और अङ्गों में स्थिरता का न होना ये अनुभाव हैं। सारांश यह कि यहाँ रसाभास भी व्यङ्ग्य होता है और भावाभास भी, परन्तु भावाभास योग्य है—अङ्ग है और रसाभास योग्य है—शब्दी है, अतः रसाभास ही इस पद्यको ध्वनि कहे जाने का कारण है, भावाभास नहीं।

शृङ्गारवद् रसान्तरागामप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वे रसाभासता व्यवस्थापयति—

एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्य-कातरादिगत-त्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साही, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यक्षीयपशुवसाऽ-सृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः।

यथा रतेर्मुन्यादिपत्नीनिषयत्वेनानौचित्याच्छृङ्गाराभासता, तथैव कलहशीलो यः कुपुत्र-स्तद्विषयस्य वीतरागपुरुषनिष्ठस्य च शोकस्यानौचित्यात् कलहाभासता, ब्रह्मविद्याया विज्ञानस्यानधिकारिणो ये चाण्डालादिवस्तानिष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य निर्वेदस्यनौचित्याच्छान्ताभासता, कदर्यो नीच कातरो भीरुस्तत्रिष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य क्रोधस्य रौद्राभासता, उत्साहस्य च वीराभासता, इन्द्रजालोपजीवक ऐन्द्रजालिस्तद्विषयकत्वेन विस्मयस्याद्भुताभासता, गुरुजनादिविषयकत्वेन हासस्य हास्याभासता, महावीरनिष्ठत्वेन भयस्य भयानकाभासता, यक्षीया वध्यनया यक्षसम्बन्धिभ्यो ये परावस्तेषां शान्ति वसाद्युत्साहादीनि मन्त्रारुधिरमासप्रवृत्तीनि तद्विषयत्वेन वर्ण्यमानाया जुगुप्सायाश्च वीभत्साभासता च ज्ञेयेत्याशयः।

अब शृङ्गार की तरह अन्य रस भी अनुचित रूप में प्रवृत्त होने पर रसाभास हो जाते हैं इस बात की व्यवस्था करते हैं—'एव कलह' इत्यादि। जैसे शृङ्गार रस का स्थायीभाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृङ्गार रसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायीभाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—कलह रस का स्थायीभाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में भयवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शान्त रस का स्थायीभाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वञ्चित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायीभाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हो, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायीभाव (हास) यदि गुरु आदि पुरुषों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायीभाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और वीभत्स रस का स्थायीभाव (जुगुप्सा) यदि यक्षीय पशु के मन्त्रा, शोणित, तथा मर्म आदि के विषय में वर्णित हो, तो, क्रमशः कलहरसाभास, शान्तरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास, और वीभत्सरसाभास होते हैं।

तदुदाहरणप्रदर्शनकारणमाह—

विसृतिभयाधामी नेहोदाहृताः सुधीमिरुन्नेयाः।

प्रत्येकमेवामुदाहरणप्रदर्शने अन्यविस्तरः स्यादिति शङ्काराभासोदाहरणेनैव सुधीभिस्त-
दुद्दृश्यालोपुल्लकन्यायेन विधेय इत्यर्थः ।

इन सब रसाभासों के अलग-अलग उदाहरण दिखलाने में ग्रन्थ के अतिविस्तृत हो
जाने का भय था, अतः वे नहीं दिखलाये गये, विश्वानों को स्वयं उनका उद्दृष्ट करना चाहिये ।

निशेषवक्ष्यविरहात् समासेनैव भावाभासात् निरूपयति—

एवमेवानुचितविषया भावाभासाः ।

एवमेव रसाभासवदेव, अनुचितविषया अनुचितालम्बनका अनुचिताश्रयनिष्ठ वा
चर्ममाना हर्षादयः पूर्वोक्ता भावा भावाभासा भवन्ति 'तदाभासा-अनौचित्यप्रवर्तिता' इति
प्राचीनाभिवानादित्यर्थः ।

इसी तरह हर्ष आदि पूर्वोक्त भाव भी यदि अनुचित आलम्बन के विषय में भयवा
अनुचित आश्रय में वर्णित हों, तो भावाभास कहलाते हैं ।

समासेनैव भावाभासमुदाहरति—

यथा—

अनुचितरतिः प्रवामी प्रिया स्मरत् पदति—

‘सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता

विद्याऽपि खेदकलिता विमुखीबभूव ।

सा केवलं हरिणशायकलोचना मे,

नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥’

(सम्प्रति प्रियाविरहे) सर्वेऽपि, विषयास्तत्तद्विभिन्नैरनुभवनीया पदार्थाः, विस्मृति-
पथं प्रयाता सुदुरनुसन्धीयमाना अपि विस्मृता एवाभवन्, (विरसेविता) विद्याऽपि,
खेदकलिता पराङ्मनाप्रणयविधारेणैर्ध्याकषायिताश्रयेव, विमुखीबभूव साम्मुख्यं विहाय दूरं
जगाम केवलमेका, सा दृष्टपूर्वा, हरिणशायकलोचना कुरङ्गशिशुनयना, अधिदेवतेव हृदया-
धिष्ठातृदेवतेव, मे मन हृदयात्, नैवापयाति नैव निस्सरतीत्यर्थः ।

जैसे—सभी विषय विस्मृति के मार्ग पर पहुँच गये—मूल से गये और विद्या भी जिसकी
सेवा मैंने बिरकाल तक की थी—लिख होकर मुझे पराङ्मना-प्रणयी समझ कर ईश्या से
कलुषितहृदया होकर-विमुख हो गई, परन्तु केवल वह बाल हरिण के समान नयन वाली
बाछ अधिष्ठा श्री देवी के समान बनी बैठी है, हृदय से कभी निकलती ही नहीं ।

प्रकरणं प्रदर्शयति—

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसरय, अन्यस्य वा
कस्यचिद्व(ति)प्रतिपिद्वगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्तिः ।

गुरुकुलं गुरोर्गृहम् । ‘अप्रतिविद्वगमनाम्’ इति पाठे तु निषिद्धालम्बनकत्वाभावाद्भावा-
भासतैव दुर्घटा स्यादिति प्रबोध्यतकानन्द कल्पितः । इह गुरुकन्या तदन्या वा काचिद-
गम्याऽऽलम्बनम् विषयो यस्याः सा स्मृतिरनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् भावाभासरूपा, व्यङ्ग्याभ्या
व्यतिरेकोपमालङ्काराभ्यामुपस्त्रियमाणा स्मृतिभावाभासव्यतिरेकपदेष्वस्य बीजमवस्यम् ।

विद्याभ्यास करते समय, गुरु-गुधी के लावण्य से मोहित मनवाले गुरुप की अथवा
जिसका सम्मोग अत्यन्त ही निषिद्ध समझा जाता है, ऐसी किसी कामिनी का स्मरण करते
हुए किसी अन्य की उस समय से यह उक्ति है, अब वह उससे दूर हो गया था ।

व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकस्य स्मृत्यङ्गत्वं प्रतिपादयति—

अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां सक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां

विद्यायां च कृतप्रत्यम्, अस्यां च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकत्रयः स्मृतिमेव पुष्पातीति सैव प्रधानम् ।

चिरं सेवितैरपि स्रक्चन्दनादिविषयै, चिरं सेवितया विषया च सेवकस्य स्वात्मन-
स्यागं कृत इति तयोरकृतप्रत्यम्, अस्यां नायिकायान्त्वत्पकालानुध्यातायामपि सतत-
स्मृतिसंस्मृतया त्यागमकृतवत्यामपूर्वं कृतप्रत्यं च व्यज्यमान व्यतिरेकालङ्कारस्वरूपं स्मृति-
भावस्यैवोपकारकमितोद्भावनाभासध्वनिरेव, नत्वलङ्कारध्वनिरित्याशयः ।

यहां चिरसेवित स्रक्, चन्दन आदि विषय और चिर-सेवित विद्या—जो इस पद्य में उप-
मान रूप से आये हैं—में, अपने को छोड़ देने के कारण, कृतप्रत्य तथा अल्पपरिचित
हस मृगाची—जो यहां उपमेय रूप से आई है—में अपने को कभी तक न छोड़ने के कारण,
अलौकिक कृतप्रत्य अभिव्यक्त होती है, अतः उपमान से उपमेय में आधिक्य-वर्णन रूप
'व्यतिरेक' अलङ्कार यहां व्यङ्ग्य है अवश्य, तथापि इस पद्य को अलङ्कार-ध्वनि नहीं कहा
जा सकता, क्योंकि वह व्यङ्ग्य 'व्यतिरेक' यहां उस प्रधान 'स्मृति-भाव' का ही पोषक है,
जो अनुचित प्रवृत्त होने के कारण आभास रूप है । फलतः इस पद्य को 'भावभास-ध्वनि'
ही मानना चाहिये ।

वस्तुव्यङ्ग्योपमाया अपि भावाभासकत्वं दर्शयति—

एवं च त्यागाभावगतं सार्वदिकत्वं व्यङ्ग्यन्त्यधिदेवतोपमाऽपि ।

यमाऽधिष्ठात्री देवता स्वाधिष्ठानं न जानुत्यजति, तथेयमज्ञाऽपि ममहृदयं न त्यजती-
तिवाच्योपमाऽपि, परित्यागाभावस्य सार्वकालिकत्वं व्यङ्ग्य वस्तु बोधयन्ती, चमत्कृतितमयपि
स्मृतेरङ्गमेव, न प्रधानमिति भावः ।

इसी तरह 'अधिदेवतेष' इस पद से वाच्य होनेवाली उपमा चमत्कारजनक होकर
भी 'स्मृति-भाव' का अङ्ग ही है, प्रधान नहीं, क्योंकि इस उपमा से यह वस्तुध्वनित होती
है कि जैसे अधिष्ठात्री देवी अपने अधिष्ठान को कभी नहीं छोड़ती, वैसे यह मृगाची भी
मेरे हृदय को कभी नहीं छोड़ती, अतः यह समझना चाहिए कि यह उपमा त्यागाभाव
(न छोड़ने) में सार्वदिकता-विरथायिता को व्यक्त करने के लिये ही केवल गढ़ी गई है ।

भावभासत्वमुपपादयति—

एषा चानुचितविषयकत्यादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः ।

एषा स्मृति । अनुचितविषयकत्वमालम्बनस्य निषिद्धत्वात्, अनुभयनिष्ठत्वं च नायक-
मात्रवृत्तित्वात् ।

यह स्मृतिभाव नहीं, भावाभास है—इसलिये कि इसका विषय गुरुकन्या अथवा
अन्य कोई भगवदा नायिका अनुचिन है, और यह स्मृति अनुभयनिष्ठ भी है—अर्थात् नायिका
तो स्मरण करती नहीं, अतः एक तरफा है ।

विषयभेदादिहैव भावध्वनित्वमप्याह—

यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः, तदा भावध्वनिरेव ।

नायिकाया पत्युरेवोक्तिरेषा यदि प्रकरणे नावधार्येत, तदा निषिद्धालम्बनकदानुभय-
निष्ठत्वयोरभावात्स्मृतिभावभासध्वनिः, किन्तु स्मृतिभावध्वनिरेवेति भावः ।

यदि माने कि 'सर्वग' इत्यादि पद्य वर्णनीय नायिका के परिणेता (पति) की
ही वृत्ति है, तब इस पद्य को 'भावध्वनि' का ही उदाहरण समझना चाहिये ।

भावशान्तिं निरूपयति—

अथ भावशान्तिः—

निरूप्यत इति शेषः ।

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।

प्रागुक्तं विभावानुभावव्यञ्ज्यमान-इषान्यतमत्वं स्वरूपं यस्येति बहुवीहिः । विभाव-
दिव्यस्रग्दृष्टान्यतमनाश एव भावशान्तिरित्यर्थः ।

अथ 'भावशान्ति' का निरूपण करते हैं । अच्छा, पहले उसका लक्षण देखिये—मिनके
स्वरूप पूर्व में वर्णित हो चुके हैं, उन इषं आदि भावों में से किसी भाव के नाश को 'भाव-
शान्ति' कहते हैं ।

विशेषभाषणे—

सचोत्पत्त्यवच्छिन्न एव प्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात् ।

यत् ॥ भावनाश उत्पद्यमान एव (न तु स्थित्यवच्छिन्न) सहृदयाङ्गादकं, तस्मात्
स एवात्र भाव्य इत्यर्थः ।

यह भाव-नाश उत्पत्त्यवच्छिन्न (उत्पत्ति-काष्ठिक) ही लेना चाहिये—अर्थात् भाव के
उत्पन्न होते हैं । उसके नाश का वर्णन होना चाहिये, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं
क्योंकि उत्पत्तिकालीन भावनाश ही सहृद्यों को चमत्कृत करता है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिन्याः सद्योऽमर्षव्यंसें वर्णयति—

'मुञ्चसि नाद्यापि रूपं, मामिनि ! मुदिरालिरुदियाय ।

इति तन्मयाः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥'

'हे मामिनि । कोपने । अवापोक्षनोमपि, क्वं कोपं मानं न मुञ्चसि न त्यजसि, (परय)
मुदिरालिमैवनाला, उदियायोदिताऽभूत्' इति पतिवचनैः, तन्मयाः कृशाक्षया (मानिन्याः)
नयनाब्जकोणयोर्यौवनकमलप्रान्तयोः, शोणरुचिर्मानोपहिता रक्तच्छविः, अपायि व्यनाशी
इत्यर्थः । मामिनी परमोद्दीपनकादम्बिनीसम्राट्प्रवृत्त्यात् सदाः असंशदेति भावः ।

उदाहरण लीजिये—'अयि ! कोपमयि ॥ अथ भी तू रोप का त्याग नहीं करती, तुझ
तो, घन-घटा धिर भाई' इत्य तरह पति के वचनों ने, कृशाक्षरी के नयन-कमल के कोने में
जो रक्त छवि थी, वही भी यमा-बह उत्पन्न होने के साथ ही समाप्त हो गई ।

विभावानुभावौ दर्शयति—

इह तादृशप्रियवचनप्रवणं विभावः, नयनकोणगत-शोणरुचेर्नाशः, तद-
मिथ्यक्तः प्रसादो वाऽनुभावः ।

तादृशं मुदिरास्तुदयबोधकम् । प्रियवचनप्रवणस्यामर्षभावशान्तिजनकत्वेन विभावत्वम् ।
नयनकोणशोणरुचिनारास्य साक्षादमर्षनाशजन्यत्वाद्विकल्पः ।

यहां प्रियतम की घन-घटा छली चालों का चुनना विभाव है और नेत्र-कोण को रक्त-
छवि का नाश अनुभाव है । यदि कहे कि नेत्र की छली का नाश तो रोप-नाश का साक्षात्
कार्य नहीं हो सकता—अर्थात् रोप-नाश से प्रसन्नता होगी और प्रसन्नता से कोपमूलक
नेत्र-रक्तता का नाश होगा, तो मैं कहूंगा कि ठीक है, तब नेत्ररक्तता के विनाश के अभि-
व्यञ्जक प्रसन्नता को ही अनुभाव समझिये ।

उपपादयति—

उत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोपनाशो व्यङ्ग्यः ।

रोपोऽमर्षस्तेनात्रामर्षभावशान्तिरिति सारम् ।

उक्त विभावऔर अनुभावों से उत्पत्ति के समय में ही रोप का नष्ट हो जाना व्यङ्ग्य है ।

भावोदयं निरूपयति—

तथा—

भावोदयो भावस्योत्पत्तिः ।

पूर्वोक्तलक्षणस्य कस्यचिद्भावस्योदय उत्पत्तिरास्वादपदवीं गतो भावोदयो भवतीत्यर्थः ।

अब 'भावोदय' का निरूपण करते हैं । पहले उसका लक्षण देखिये—पूर्वोक्त हृदय आदि में से किसी भी भाव की उत्पत्ति को 'भावोदय' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रियापराधबोधात् सखी भानिन्या वृत्तं वर्णयति—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।

अंसदेशयस्तयीकृतां क्षणादाचक्षप निजबाहुवक्षरीम् ॥

(आलिङ्गन्ती कश्चित्) दयितस्य वक्षस्य, वक्षसि हृदये, विपक्षकामिन्या प्रागुपभुक्त-प्रतिमायिकाया, हारलक्ष्म गाढालिङ्गनोद्गमसमुक्तामालाचिह्नं, वीक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा, (अपराधनिधयात्) भामिनी रोषवती सती, अंसदेशयोर्दयितस्त्वन्धप्रान्तयो, वलयीकृता मण्डलाकारेण संयोजिता, निजबाहुवक्षरी स्वभुजलताम्, क्षणात् सद्यः आत्यर्क्य-अमर्षोदयादा-कृतवदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—कोई कामिनी एकान्तस्थित प्रियतम के दोनों कंधों पर हाथ रखकर गले मिल रही थी, तब तब अकस्मात् उसकी दृष्टि प्रियतम के वक्षस्थल में उगे हुए सौत के हार-चिह्न पर पड़ी, फिर दया धा, तुरत वह कामिनी से भामिनी (कोपना) बन उठी और कंधे पर से अपनी बाहु-लता को खींच लिया ।

विभावमनुभावं व्यङ्ग्यं च प्रतिपादयति—

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनीहारलक्ष्मदर्शनं विभावः, प्रियासंदेश-यस्तयीकृतनिजबाहुलताऽऽकर्षणमनुभावः, रोषोदयो व्यङ्ग्यं च ।

इहापि रोषपदमर्षबोधकम्, तेनार्ग्यभावोदयव्यनिर्बोध्यः ।

यहां भी प्रियतम के वक्षस्थल पर सौत के हार का चिह्न देखना विभाव और उसके कंधे पर से लिपटी हुई भुजलता का खींच लेना अनुभाव है, जिनसे रोष-भाव का उद्भव व्यङ्ग्य होता है ।

भावशान्ति-भावोदययोर्विषयैकमाशङ्क्य विषयविभाग दर्शयति—

यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरौदयस्य, भावोदये वा पूर्वं भावशान्तेरावश्य-कत्वाज्ञानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकश्च चमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभागः ।

यत्रैकभावस्य शान्ति, तत्रापरभावस्योदय आवश्यक, यत्र पुनरेकभावस्योदय, तत्र पूर्वमपरभावस्य शान्तिरवश्यमपेक्ष्यत इति भावशान्ति-भावोदययोः सर्वत्र सद्बीर्णत्वात् स्वतन्त्रो व्यवहारस्य विषयो न सम्भवतीति शङ्काया — नक्षेत्रैव तत्रभावस्य शान्तेरुदयस्य च चमत्कारिता, नवा चमत्कारिता विना व्यवहारप्रवृत्तिरिति निर्णये, यत्र भावशान्तिचमत्कार, तत्र भावशान्तिव्यवहार, यत्र तु भावोदयचमत्कार, तत्र भावोदयव्यवहारो भवतीति तयोर्व्यवहारस्य विषय परसाद्वयै सत्यपि स्वतन्त्र एवेति समाधानम् ।

यद्यपि यह निश्चित है कि जहां किसी भाव की शान्ति होती है, वहां किसी दूसरे भाव का उदय भी होता ही है, इसी तरह जहां किसी भाव का उदय होता है, वहां उसके पहले

किसी अतिरिक्त भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, फिर तो भावशान्ति और भावोदय के एक दूसरे से अभिन्नित लक्ष्यों का मिलना असम्भव है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अलग-अलग व्यवहार करने योग्य लक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि एक जगह दोनों चमत्कारी नहीं होते अर्थात् भावशान्ति की जगह में भावान्तर का उदय निश्चित रह कर भी चमत्कारी नहीं रहता, इसी तरह भावोदय की जगह में प्राप्तभाव की शान्ति नियमतः रहने पर भी चमत्कार जनक नहीं होती और व्यवहार चमत्कार के अधीन है—अर्थात् जिसमें चमत्कार रहता है, उसी का व्यवहार होता है, अतः इन दोनों के पृथक् पृथक् व्यवहार हो सकते हैं।

भावसन्धि निरूपयति—

एषम्—

भावसन्धि-रन्योन्यानभिभूतयो-रन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम् ।

अन्योन्यं परस्परमनभिभूतयोरबाधितप्रतीतिचमत्कारयोः, अन्योन्याभिभवनयोग्ययो-मियप्रतीतिचमत्काराद्यनसमर्थयोः (अविरतद्वयोस्तुल्यचलयोः) द्वयोर्भावयोः, सामानाधिकरण्यमेकदेशकालावच्छिन्नचमत्कारिप्रतीतिविषयत्वं भावसन्धिपरित्यक्तम् ।

मुन्द्रोपमुन्द्रन्यायेन मियोपाधने प्रतीतिचमत्काराभावात्, तादृश्ये परस्परबाधनाक्षमयोस्तु सन्धिप्रयोज्यविजातीयचमत्कारसमशिरस्कचमत्कारविरहाच्च क्लृप्तेन विरोधद्वयसार्थक्यम् । तदुक्तम्—‘अन्यो सन्धिचमत्कारसामग्र्ययोगेन परस्परविमर्दः’ इति । ‘सन्धिरेककालमेव तुल्यक्षयोऽस्वादः’ इति च ।

अब ‘भाव-सन्धि’ का निरूपण करते हैं । सर्वप्रथम उसका लक्षण देसिये—एक दूसरे से दबे हुये न हों, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरण्य (एक जगह रहने) को ‘भाव-सन्धि’ कहते हैं । सारर्थ्य यह हुआ कि जिन दो भावों में से कोई एक दूसरे की प्रतीति और चमत्कार का बाधित करने की क्षमता रखता हो, परन्तु बाधित करे नहीं, ऐसे—अर्थात् अविरत और तुल्यचल दो भावों की सहस्थिति को भावसन्धि कहते हैं । यहां यदि लक्षण में ‘एक दूसरे से दबे हुये न हों’ यह पूर्व अंश नहीं कहा जाय, तब उन दो भावों की सहस्थिति में अतिग्राप्ति हो जायगी, जो, परस्पर पादक होने के कारण अप्रतीयमान अत एव चमत्कारहीन होकर तदर्थ बने पड़े रहते हैं । इसी तरह यदि ‘एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों’ यह द्वितीय अंश लक्षण में न रखा जाय, तब उन अज्ञातिभावापन्न दो भावों की सह-स्थिति में अतिग्राप्ति हो जायगी, जिनकी सह-स्थिति से कोई पास चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, अतः दोनों अंशों का निवेश सार्थक है ऐसा समझना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

यस्यसन्धिमास्त्रया अनूढया शीताया रामचन्द्रे प्रथम इवपातं वर्णयति—

‘यौवनोद्गमनितान्तराङ्किताः, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः ।

सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः ॥’

यौवनस्योद्गमेनारम्भेन नितान्तं सङ्किता युवदर्शने नवाङ्कुरितयौवनजोनातिस्वभावा-दुत्पत्तशङ्का, (राघवस्य) शीलेन सद्वृत्तेन, शौर्येण विक्रमेण, बलेन शारीरिकसामर्थ्येन, कान्त्या सावर्ण्यप्रभया च (प्रत्यक्षनिपयेण) लोभिता उत्पादितलोभाच्च, जानक्या ‘शीताया’ मयने एव नीरवे कमले, तयोश्श्रियः शोभा, राघवे रामचन्द्रे (पतन्त्ये) सङ्कुचन्ति

लज्जया निमीलन्ति, विकसन्ति-श्रीसुकन्येनोन्मीलन्ति चेत्यर्थः । इह यौवनोद्गमस्योभयान्वयः, तन्मीलननिमीलनयोश्च कालातिलापवेन योगपदम्व्यवहारः ।

उदाहरण देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है—दोनों में (सीता तथा राम में) यौवन लंकुरित हो जाने के कारण अत्यन्त शत्रुयुक्त और राम की सच्चरित्रता, शूरता, शारीरिक बल और कान्ति के कारण लोभयुक्त कुमारी सीता के नेत्र-कमलों की शोभायें, रघुनन्दन रामचन्द्र के विषय में, सकुचित और विकसित हो रही हैं । भावार्थ यह है कि लंकुरित सीताजी ने जब प्रथम प्रथम यौवनोन्मुख, सचरित्र, धीर, बलिष्ठ और सुन्दर रामचन्द्रजी को देखा, तब उनकी आँखें उगईं देखने में कुछ संकुचित हो रही थीं क्योंकि उनके हृदय में उस समय एक तरह की शङ्का भी उपस्थित थी, जो किसी नव युवक को देखते समय किसी भी अकुर्यौवना के लिये स्वाभाविक है । और कुछ विकसित भी हो रही थीं, क्योंकि उस विलक्षण यौवनोन्मुख रामजी के प्रति उनके मन में लोभ भी था । इसी बात का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है ।

विभावाद्याह—

अथ भगवद्दशरथिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तद्विशेषैव शीलशौर्या-
देश्च दर्शनं विभावः, नयनगत-सङ्कोचविवासावनुभावः, प्रौढौसुक्ययोः
सन्धिव्यङ्ग्यः ।

तद्विशेष लोकोत्तरस्य । नयनगते सङ्कोचेन प्रौढा, विकासेन प्रौढसुक्यमिह समकृत्या-
ऽऽस्वाद्येते इति भावसन्धिव्यङ्ग्यः ।

यहाँ भगवान् रामचन्द्रजी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा उसीतरह के लोको-
त्तर चरित्र-वीरता आदि का दर्शन विभाव है और आँखों का संकुचित होना तथा विक-
सित होना अनुभाव है । मिश्रसे लज्जा और औसुक्य इन दो भावों की सन्धि व्यङ्ग्य
होती है—अर्थात् नेत्र-संकोच से लज्जा और नेत्र-विकास से औसुक्य समानरूप से
व्यक्त होते हैं, अतः यह पद्य 'भाव-सन्धि-व्यङ्ग्य' का उदाहरण होना है ।

भावशबलत्वं निरूपयति—

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा
व्यामिश्रणम् ।

विद्वत्त्वान्मियोबाध्यबाधकभावः प्राप्तानाम्, अथवाऽविरुद्धत्वाद् तद्व्याप्तानां भावानां,
व्यामिश्रणं त्वत्त्वम्यङ्गकपृथग्-वाक्यमप्रतीतिविपक्षपूर्वैकमहावाप्यजन्यवमत्कारकवैयञ-
निक-प्रतीतिविपक्षत्वं शबलत्वमित्यर्थः ।

जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक दूसरे का बाधक हों, अथवा जो उदासीन-
अर्थात् न परस्पर बाधक न परस्पर सहायक हों, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भाव-
शबलता' कहते हैं ।

तथा शबलत्वं विवृणोति—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् ।

एकं महावाक्यजन्य चमत्कृतिजनकं यद्वैयञ्जनिवद्भावं, तद्विपक्षत्वमित्यर्थः ।

मिश्रण शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि यद्यपि मिश्र-मिश्र वाक्य से मिश्र-मिश्र भाव
अभिव्यक्त होते हैं, तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण पद्यरूप महा-
वाक्य बने, उससे जो एक व्यञ्जना वृत्ति के सहारे चमत्कारी ज्ञान हो, उसमें उन सब
भावों का भासित हो जाना ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सीतां विवास्थानुशयानः श्रीरामश्चिन्तयति—

‘पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यथापिता,
सा मामिन्दुमुखी विना बब वने किं जीवितं धास्यति ? ।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां, किं ते वदिष्यन्ति मां,
राज्य यातु रसातल पुनरिवं, न प्राणितुं कामये ॥’

(यज्ञभूतिरुत्पन्ना वद्विपरोक्षितशोला) सीताऽपि (क्षुद्रापवादमिया) यत्, यापिता राजधान्या निकास्य बब गमिता, हन्त । हतेन हृतेन दुर्द्वेषोपहतबुद्धिना वा मया, तत् सीतानिर्वासनं पाप कृतमविशेषं विहितम् । सा रातरा सुपरीक्षितप्रणया, इन्दुमुखी सीता, सा विना (एकाकिनी) बने, बत । जीवितं किं धास्यति ? नैव धारयिष्यति । कृततादृश-पापकर्माऽह कृतिना प्राज्ञजनानां मुखानि, कथम्, आलोकेय लज्जया परयेयम् ? । ते कृतिनाः (पापिनः) मां, किं वदिष्यन्ति किं कथयिष्यन्ति ? । यदर्थं मयैतदनुष्ठितं तद्विदं राज्यं, पुनः, रसातलं यातु विनश्यतु । अहं आणितुमत्परं अरितुं, न कामये नेच्छामि दुःख-दुर्यशो दग्धाजीवनान्मरणस्यैव श्रेयस्त्वादित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । सीता जी को बब में निर्वासित कर देने के बाद राम का कथन है कि मैं बड़ा दुर्बुद्धि हूँ, तभी तो सीता को भी (जिसका शील अग्नि में परीक्षित हो चुका था) निकास दिया, यह मुझसे बहुत बड़ा पाप किया गया, हाय ! क्या वह (जिसका मुझ में असौम्य प्रेम है) मेरे बिना जी सकती है ? मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूँगा ? वे मुझे क्या कहेंगे ? यह राज्य (जिसके लिये मैंने यह पाप किया है) रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता ।

उपपादयति—

अत्र मत्स्य सूया-विपाद-स्मृति-वितर्क-ग्रीडा-राज्ञा-निर्वेदानां प्रागुक्तत्वस्यवि-भावजन्यमनां शबलता ।

इह ‘पाप’मित्यादिना व्यज्यमानाया मते, ‘हतेन’त्यादिना व्यज्यमानायाः स्वविषय-काश्रयायाः, ‘सीताऽपि’त्यादिना व्यज्यमानस्य विपादस्य, ‘से’त्यनेन व्यज्यमानायाः स्मृतेः, ‘मामिन्दुमुखी’त्यादिना व्यज्यमानस्य वितर्कस्य, ‘आलोकेये’त्यादिना व्यज्यमानाया ग्रीवायाः, ‘किं’इत्यादिना व्यज्यमानायाः शङ्कायाः, ‘राज्य’मित्यादिना व्यज्यमानस्य निर्वेदस्य च भावस्य शबलत्वमेकाग्रभाष्यमवैयर्थनिकचमत्कारजनकप्रतीतिविपर्ययवस्तुत्यर्थः ।

यहां अपने अपने विभाव से अभिव्यक्त होने वाले मति, असूया, विपाद, स्मृति, वितर्क, ग्रीडा, राज्ञा और निर्वेद इन भावों का मिश्रण । उक्ता है—अर्थात् ‘मैंने पाप किया’ इससे मति, ‘दुर्बुद्धि’ इस आत्मविशेषण से स्वविषयक असूया, ‘सीता को भी’ इससे विपाद, ‘वह चन्द्रमुखी’ इससे स्मृति, ‘मेरे बिना जी सकती है’ इससे वितर्क, ‘मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूँगा’ इससे ग्रीडा, ‘वे मुझे क्या कहेंगे’ इससे शङ्का और ‘यह राज्य रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता’ इससे निर्वेद, ये भाव व्यक्त होते हैं और इन सब भावों का समग्र श्लोकजन्यबोध में भाग होता है, अतः यह ‘भाव-शय-लता-ध्वनि’ हुई ।

काव्यप्रकाशानुसारतुक्ते भावशबलत्वक्षणमुपन्यस्य निरस्यति—

यत्तु काव्यप्रकाशटीकाकारैः—‘उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता’ इत्यभ्यधीयत, तन्न, ‘पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी, हस्तालम्बं

वितर, हहहा ! व्युत्क्रमः क्वसि यासि ।' इत्यत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-
दैन्य-मत्स्यो-स्तुक्यानामुपमर्ददेशान्न्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तुतिगुणत्वेन
पञ्चमोक्तासे मूलकृतैव निरूपणात् ।

‘इत्थं पृथ्वीपरिवृढ । भवद्विदिषोऽरण्यवृत्ते, कन्या कश्चित् फलकिसलयान्याददानाऽभि-
धत्ते ॥’ इति काव्यप्रकाशोद्धृतपद्यस्यान्तिमं चरणद्वयम् । तत्र ‘परयेत् कश्चि’दित्यनेन
शङ्काया, ‘चल चपल रे’ इत्यनेनासूयाया, ‘क्वा स्वरा’ इत्यनेन धृते, ‘अहं कुमारी’ इत्यनेन
स्मृते, ‘हस्तालम्बं वितर’ इत्यनेन श्रमस्य, ‘हहहा’ इत्यनेन दैन्यस्य, ‘व्युत्क्रम’ इत्यनेन
मते, ‘क्वसि यासि’ इत्यनेनोस्तुक्यस्य च भावस्य व्यञ्ज्यमानतया व्यामिश्रणाद् भावशबल-
ताया वर्णनीयराजविषयकरतिभावेऽङ्गतया भावशबलतालङ्कारः ।

तत्र काव्यप्रकाशव्याख्याकारेण भावशबलता लक्ष्यता-‘उत्तरोत्तरेण-उत्तरोत्तरमभिव्य-
क्तिविषयेण भावेन, पूर्वपूर्वमभिव्यक्तस्य भावस्य, उपमर्दोऽभिभव शबलत्वम्’ इति यदुक्तम्,
तदसङ्गतम्, यतस्तन्मते बाध्यवाचकभावापन्नानामेव भावानामुपमर्दस्य सम्भवो शबलताया
स्वीकारे, ‘परयेत् कश्चि’दित्यादाउदात्तानामेव शङ्कादिभाषाया व्यामिश्रणाच्छबलताया
पर्यैराजरतिभाषाङ्गताया भावशबलतालङ्कारोदाहरणत्वेन काव्यप्रकाशपञ्चमोक्तासे गुणीभूत-
व्यङ्ग्योदाहरणप्रसङ्गे नैतत्पर्यं यशुलिखितं, तद्विषयं स्यात्, शङ्कादिभाषाया मियो गम्भिरा-
कत्वाभावात् । तदस्यानामपि भावाना व्यामिश्रणं शबलत्वमिति मन्मते तु न कोऽपि तद्विरोध-
इति मूलऽतिकूला टीकाकृतुर्द्वयैवेत्याकृतम् ।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार ने जो यह लिखा है कि ‘अभिभव-अभिभव भाव से पूर्व पूर्व
भाव के उपमर्द (दबा दिये जाने) का नाम ‘शबलता’ है’, यह ठीक नहीं, क्योंकि ‘परये-
त् कश्चित् ..’ इत्यादि पद्य में यद्यपि ‘परयेत् कश्चित्’, ‘चल चपल रे’, ‘क्वा स्वरा’, ‘अहं
कुमारी’, ‘हस्तालम्बं वितर’, ‘हहहा’, ‘व्युत्क्रम’, और ‘क्वसि यासि’, इन वाक्यांशों से
क्रमशः अभिव्यक्त होने वाले शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औस्तुक्य,
इन भावों के मिश्रणरूप शबलता है, तथापि वह राजविषयक स्तुति-अर्थात् कविनिष्ठ
राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है, प्रधान नहीं, अतः भावशबलता ध्वनि पहर नहीं कहला-
सकती—अर्थात् ध्वनि पहर कविनिष्ठ भाव की ही है भावशबलता तो अलङ्कार है, यह
‘कथा मूलकार-सम्मत ने ही पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपण के प्रसङ्ग पर कही
है । तत्पर्यं यह कि यदि टीकाकारों के अनुसार उत्तरोत्तर भाव से पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्द
को शबलता मानी जाय, तब पूर्वाक्त रीति से ‘भावशबलता यहा राजस्तुति का अङ्ग है’
यह मूलकार का कथन असंगत हो जाय, क्योंकि उक्त भाव एक दूसरे का लेश मात्र भी
उपमर्द नहीं करते, अतः उनके हिसाब से यहा शबलता हुई ही नहीं, फिर उपमा अङ्ग
होना कैसे संभव हो सकता ? फलतः मूलकार के कथन से ही विरुद्ध होने के कारण टीका-
कार का उक्त कथन सर्वथा अमान्य है ।

नन्वात्मविशेषगुणाना स्वोत्तरविशेषगुणानामयत्वस्य वार्तिकैरङ्गीकरणाच्चित्तवृत्तिविशे-
षाणा भावानामिच्छादिवदात्मविशेषगुणत्वादुत्तरोत्तरभावस्य पूर्वपूर्वमात्राभिमानस्त्वेन ‘परये’
दित्यादावपि शङ्कादीना मियस्ताऽस्थस्याभावादेककालिच्चाभिव्यक्त्यसम्भवाच्च कथं शबलत्वं
स्यादिति मूलविरोधस्तुत्य एनेति शङ्का निराकरोति—

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्य, नवोपमर्दपदवाच्यः,
नापि चमत्कारी ।

न तुल्य, शङ्कादीनामात्मविशेषगुणत्वेन स्वोत्तरविशेषगुणजन्यनाशस्य व्यग्रनाशक्य-

बोध्यत्वाद् विलक्षणसंयोगार्थोपमर्दपदवाच्यत्वाभावाच्चमत्कारजनकत्वविरहाच्च भावशबलत्वरूपताऽसम्भवात्, तथा च त्वन्मत एव मूलविरोध इत्याशयः ।

यदि आप कहें कि चित्त-वृत्ति रूप भावों का नैयायिकों के सिद्धान्तके अनुसार इच्छा आदि विशेष गुणों में समावेश होता है और 'आत्मवृत्ती विशेष गुणों का श्रोत्रभाव विशेष गुणों से नाश हो जाया करता है' यह नियम है, अतः पूर्व भाव का नाश हुये बिना उत्तर भाव की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, तो मैं कहूंगा कि उक्त सिद्धान्त अपनी जगह पर ठीक है, परन्तु यहाँ उससे काम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि अग्रिम विशेष गुण से होनेवाला पूर्व गुण का नाश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता अर्थात् व्यङ्ग्यनावृत्ति से उसका बोध होना सम्भव नहीं, यदि उस नाश को व्यङ्ग्य मान भी लिया जाय, तो टीकाकार के 'उपमर्द' पद का वह वाच्य नहीं होता, क्योंकि उपमर्द पद का वाच्य विलक्षण संयोग है, यदि कर्धचित् वृत्त नाश को उपमर्द पद का वाच्य भी मान लें, तो उस नाश में कोई चमत्कार नहीं है, अतः वह भावशबलता रूप नहीं हो सकता ।

निर्गलितमाह—

ससात्—

‘नारिकेलजल-क्षीर-सिता-कदलमिश्रणे ।

विलक्षणो यथाऽऽस्वादो-भावानां संहतौ तथा ॥’

नारिकेलजलस्य, क्षीरस्य दुग्धस्य, सिताया श्वेतशर्कराया, कदलस्य रम्भाफलस्य च मिश्रणे मिश्र संयोजनै, ययैकेन वस्तुना वस्त्वन्तरास्वादस्योपमर्दो न कियतै, किन्त्वास्या-द्वैलक्ष्ण्यमेव विधीयते, तथैव भावानां शबलत्वरूपसंहतावपि नोपमर्द किन्त्वास्वादवैलक्ष्ण्यमेवेत्यर्थः ।

अतः यह मानना चाहिये कि जैसे नारियल के जल, दूध, चीनी और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है । सारांश यह कि—पूर्वोक्त नारियल के जल, दूध आदि मिलने पर एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करता, किन्तु सब मिलकर, अपना अपना स्वाद रखते हुये, एक नया स्वाद भी उत्पन्न कर देते हैं, उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुये एक नया आस्वादन भी उत्पन्न कर देते हैं ।

भावशान्त्यादिष्वनित्यनुष्ठयस्य भावध्वनिता व्यवस्थापयति—

अत्रेदं बोध्यम्—

य एते भावशान्त्युद्दयसन्धिशबलताध्वनय उदाहृता, तेऽपि भावध्वनय एव, विद्यमानतया चर्च्यमाणेष्विव, उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-सन्धीयमान-त्वपरस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्च्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्योचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः ।

एते भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताध्वनयो येऽत्रोदाहृता, ते सर्वेऽपि भावध्वनय एव बोद्धव्याः, यतो विद्यमानावस्थापक्षत्वेनास्वाद्यमानेषु भावेषु यथा भावानामेव धर्मितया प्राधान्यं न तु धर्मस्य विद्यमानावस्थापक्षत्वस्य, तथैव भावोदयध्वनावुत्पत्त्यवस्थापक्षत्वेन, भावशान्तिध्वनौ विनश्यदवस्थापक्षत्वेन, भावसन्धिध्वनौ सन्धीयमानावस्थापक्षत्वेन, भावशबलताध्वनौ परस्परसमानाधिकरणावस्थापक्षत्वेन च विशेषणीभूतधर्मैः प्रकारैरास्वाद्यमानेषु भावेषु, धर्मिणो भावानामेव प्राधान्यं, नव्यतयावस्थापक्षत्वाद्विधर्मोक्तान् प्राधान्यमुचितम्, यत्तद्यमत्कारमूलकमेव प्राधान्यं निर्णीतमिति भावानामेव प्राधान्यमित्याशयः ।

अथ भाव-शान्ति आदि ध्वनियों भी भाव-ध्वनियों ही हैं, अतिरिक्त नहीं, इस स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं—‘अत्रेदं बोध्यम्’ इत्यादि । ये जो ऊपर भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शयलता की ध्वनियाँ उदाहरणों के द्वारा दिखलाई गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियाँ ही हैं । कारण यह—कि जहाँ आप, हम-सभी भावध्वनियाँ मानते हैं अर्थात् भावों का आस्वादन करते हैं, वहाँ भी तो भावों की एक अवस्था-विद्यमानता रहती है, फिर भी जिस तरह वहाँ भावों का ही प्राधान्य माना जाता है, उस विद्यमानता अवस्था का नहीं, उसी तरह जहाँ आप भावशान्ति आदि की ध्वनियाँ मानते हैं, वहाँ भी यही मागना चाहिये कि विनष्ट होते हुये, उत्पन्न होते हुये, एक दूसरे से सटते हुये और एक साथ रहते हुये भावों का ही आस्वादन होता है, अतः वहाँ भी भावों का ही प्राधान्य है, उन विनाश, उत्पत्ति, सन्धि, शयलता (मिश्रण) रूप अवस्थाओं का नहीं, क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव की चर्वणा (आस्वाद) में ही जाकर होता है केवल अवस्था मात्र में नहीं, और साहित्य में प्राधान्य को चमत्कार-मूलक माना गया है ।

धर्मधर्मिप्राधान्ये विनिगमनाविरहमाशङ्क्य समादधाति—

यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शयलतानां तत्सम्बन्धिनां भावानां च समा-
नायां चर्वणाधिपयतायां, न प्राधान्यं विनिगन्तु शक्यते, तथापि स्थितौ भावेऽप्यु-
प्रधानतायाः कल्पत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वादिभि-
र्निरूप्यमानेषु तस्याः कल्पयितुमौचित्यात् ।

विनिगन्तु निर्धारयितुम् । ■ भावशान्त्युदयोपादानक्रमविपर्ययसमूल चिन्त्यम् ।
स्थितौ विद्यमानावस्थापक्षविशिष्टभावध्वनौ । तेषु भावेषु शान्ते प्रतियोगिता सम्यन्धिता
वैशिष्ट्यमिति यावत् । उत्पत्त्याद्यवस्थाविशिष्टानां भावानामेकास्वादो भावानामेव प्राधान्यं,
नतदुपस्थाद्यवस्थानामिति निर्धारणं यद्यपि दुष्करम्, तथापि ‘एकत्र निर्णीतं शास्त्रार्थोऽ-
परत्रापि सञ्चरति’ इति रीत्या भावध्वनौ विद्यमानावस्थायां भावस्य चैकारवादिष्ययत्वेऽपि
चमत्कारानुभवाद्भावात्स्यैव प्राधान्यं यथाऽवधार्यते, तथैवोदयावस्था-प्रशान्त्यवस्था-सन्धीय-
मानावस्था-समानाधिकरणावस्थाभिः सहाप्येकास्वादविषयत्वे भावानामेव प्राधान्यमुचित-
त्वादवधारणीयमिरयमिप्रायः ।

यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शयलता का तथा इन अवस्थाओं से सम्बन्ध
रखनेवाले भावों का-दोनों का-आस्वादन समान रूप में होता है-अर्थात् भाव और इनकी
वे अवस्थाएँ समान रूप से आस्वाद (चर्वणा) के विषय होते हैं, अतः कौन प्रधान है
और कौन अप्रधान-अर्थात् भावप्रधान है या उनकी उक्त अवस्थाएँ यह निर्णय होना
जलसमस्य है, तथापि जब स्थिति (विद्यमानता) की अवस्था में भावों की ही-न कि
अवस्था की-प्रधानता स्वीकृत हो चुकी है, सब भाव-शान्ति आदि में भी शान्तिप्रति-
योगित्व आदि रूप से अर्थात् शान्तिविशिष्टत्वेन, उत्पत्तिविशिष्टत्वेन, सन्धिविशिष्टत्वेन,
और शयलताविशिष्टत्वेन रूपेण अभिव्यक्त होने वाले सप्तधावों की ही प्रधानता मानना
वचित है, क्योंकि ‘एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो याधकामावैऽपरत्रापि सञ्चरति’ अर्थात् ‘एक
जगह निर्णय किया गया विषय, किसी खास बाधक के न रहने पर, दूसरी जगह भी
माना जाता है’ यह सिद्धान्त है ।

अन्यथाऽनुपपत्त्यापि तत्र भावप्राधान्यं निर्धारयति—

किञ्च यदि भावशान्त्यादौ भावो न प्रधानम्, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्या-
दिरेवेत्यभ्युपेयते, तदा व्यज्यमानभावेध्वमिहिततत्प्रशमादिषु काव्येषु भावप्रश-
मादिध्यनित्वं न स्यात् ।

स भाव उपसर्जनमप्रधानं यत्र, स तदुपसर्जनकः । यदिति भावशान्त्यादिष्वनौ शान्त्यादेरेव, ननु भावस्य प्रधान्यं स्वीक्रियते, तर्हि यत्र काव्येषु भावस्य व्यङ्ग्यता, शान्त्यादेस्तु वाच्यता, तत्र भावशान्त्यादिष्वनित्वव्यवहारो भवति भावप्रधान्यात्, सम्प्रति शान्त्यादेरेव प्रधान्याभ्युपगमे ॥ नैव स्यात्, शान्त्यादेर्वाच्यत्वान्, तस्माद्भावप्रधान्य-मेवाभ्युपेयमित्याशयः ।

यदि आप यह मानें कि भावशान्ति आदि में भाव प्रधान नहीं है, अपि तु गौण है— अर्थात् वे शान्ति आदि अवस्थाएँ ही प्रधान हैं, जिनके विशेषण रूप से वहाँ भाव रहते हैं, तब वहाँ भावव्यङ्ग्य रहते हैं और उनकी शान्ति आदि अवस्थाएँ वाच्य रहती हैं, वहाँ आप के हिसाब से भावशान्ति आदि की ध्वनियाँ नहीं हो सकती ।

तदेवोपपादयन्नादौ तादृशं भावध्वनिमुदाहरति—

तथा हि—

खण्डिताङ्गुलं वर्णयति—

‘उपसि प्रतिपत्तनायिका-सदनादन्तिकमञ्ज्वति प्रिये ।

सुदृशो नयनाब्जकोणयो-उदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ॥’

उपसि प्रमते, प्रिये वल्लभे, प्रतिपक्षनायिकासदनात् सपत्नीरुहान्, अन्तिकं समीपम्, अदन्त्यागच्छति सति, सुदृशो नायिकाया, नयनाब्जकोणयोर्नेत्रकमलप्रान्तभागयो, अरुणद्यु-तिरमर्षजन्या रक्तकान्तिः, त्वरया कटिति, उदियाशोत्प्रेद इत्यर्थः ।

देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जब प्रियतम प्रातः काल में बिरो-जिनी नायिका (सपत्नी) के घर से अपने घर आवे, तब सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्रकमल के कोनों में छट अरुणकान्ति उदित हो गई ।

अत्र काव्येऽमर्षभावस्योदयो यद्यप्युत्पूर्वकेणेषात्तुनाऽभिहित, किन्तुमर्षभावो व्यङ्ग्य-एवेति भवत्येवामर्षभावोदयध्वनिव्यपदेशः, भवन्मते तूदयस्यैव प्रधानस्य वाच्यत्वान् स न स्यादित्याह—

अत्रोत्पूर्वकेणैतिना भावोदयस्य वाच्यत्वयैव प्रत्यायनात् ।

यहाँ ‘उदियाय’ इस क्रियापदकक उपपूर्वक इण् धातु से उदय की प्रतीति वाच्य रूप से ही कराई जा रही है, अतः आपके हिसाब से यहाँ भावोदय की ध्वनि नहीं हो सकती ।

अप्रधानप्रयुक्तमेव व्यवहारोपपत्तिमाशङ्क्य निराकरोति—

(ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्यावाच्यत्वाद्ध्वनित्वं मुख्यमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्यानुपपत्तेः ।

औपयिकत्वं प्रयोजकत्वम् ।

ननुदयोऽत्र यद्यपि वाच्यः, किन्तुमर्षो भावस्तु व्यङ्ग्य एवास्तीति समादायैव भावध्वनि-व्यवहार उपपद्येतेति शङ्क्याम्, “प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति” इति सिद्धान्तेन प्रधानस्यो-दयस्य वाच्यत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वेऽप्रधानस्यामर्षभावस्य व्यङ्ग्यत्वापि प्राधान्यामा-वाद्ध्वनित्वप्रयोजकत्वासम्भवादिति समाधानम् ।

यदि आप कहें कि उदय के वाच्य हो जाने पर भी अमर्षभाव ही वाच्य नहीं होता, अतः यहाँ अमर्षभावोदय की ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं, तो यह भी सगत नहीं, क्योंकि आपके हिसाब से तो भावोदय आदि ध्वनिस्थल में उदय आदि ही प्रधान होते हैं, अतः जब प्रधान (उदय) ही वाच्य हो जाने के कारण ध्वनि शब्द से व्यवहृत होने योग्य नहीं रहा, तब अप्रधान (अमर्षभाव) प्रयुक्त ध्वनि का व्यवहार करना समुचित नहीं ।

स्वमतेऽनुपपत्त्यभावं दर्शयति—

अस्मन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नामर्पस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः ।

भावस्यैव तत्र प्राधान्यमभ्युपगच्छतामस्माकं मते त्वक्छेदकतयाऽप्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेऽपि, प्रधानस्य भावस्य व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वमुपपन्नमेवेत्याकृतम् ।

हाँ ! हमारे मत के अनुसार यहाँ कर्मण्य-भाव-ध्वनि का व्यवहार अवश्य हो सकता है, क्योंकि हम भावोदय आदि में भी भाव को ही प्रधान मानते हैं, उदय आदि को नहीं, अतः अप्रधान उदय के वाच्य हो जाने पर भी प्रधान भाव (कर्मण्य) के वाच्य नहीं—व्यङ्ग्य होने के कारण भावोदय-ध्वनि मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है ।

भावप्राधान्यान्भ्युपगमे भावशान्तिध्वनित्वानुपपत्तिरपि दर्शयति—

एवं व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रथमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात् ।

एव भावोदयवत् व्यज्यमानो भाव प्रतियोगी यस्य तादृशस्य प्रथमस्य भावशान्तेः ।

यत्र काव्ये भावो व्यङ्ग्यस्तच्छान्तिस्तु वाच्याऽस्ति, तत्र भावशान्तिध्वनिव्यवहारो भवति, स इदानीं न स्यात्, स्वन्मते प्रधानीभूताया शान्तेर्वाच्यत्वादिति सारम् ।

इसी तरह आपके मत में जहाँ शान्ति (भाव) का प्रतियोगी-अर्थात् जिसकी शान्ति वर्णनीय हो, वह भावव्यङ्ग्य है और शान्ति वाच्य है, वहाँ भावशान्ति की ध्वनि नहीं होगी ।

सदुदाहरति—

यथा—

मानिन्या अमर्षभावशान्तिं वर्णयति—

‘क्षमापणैकपदयोः, पदयोः पतति प्रिये ।

शेमुः सरोजनयना-नयनारुणकान्तयः ॥’

प्रिये इयिते, क्षमापणस्य स्वकृतापराधमर्पणस्य, एकपदयोरसाधारणस्यानयोः, पद-बोद्धरणयोः, पतति सति, सरोजनयनाया पद्मादया, नयनयोरमर्पजनितौ, अरुणकान्तयो रक्तद्युतयः, शेमुर्विनेशुस्त्वर्थः । अत्र नेत्रारुणकान्तिशान्त्याऽमर्पभावो व्यङ्ग्यः, तच्छान्तिरनुवाच्येति भावशान्तिध्वनित्वं सिद्धम्, इदानीं भावप्राधान्यान्भ्युपगमे शान्तेर्वाच्यत्वात् तत्र सिध्येत्, तस्माद्भावस्यैव प्राधान्यमभ्युपेयमित्याशयः । इह क्षमतेरादन्तत्वाभावात् पुनो दौर्लभ्येन क्षमापणपदसाधनं नामधातुप्रक्रियया कथञ्चन विधेयम् ।

जैसे—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—क्षमा करने के एक (सर्व प्रधान) प्रधान चरणों पर पति के गिरते ही सरसिख के समान नयनवाली नायिका के नयनों की अरुण कान्तिर्वा शान्त हो गई । यहाँ शान्ति के वाच्य होने पर भी उस शान्ति का प्रतियोगी कर्मण्यभाव नेत्रगत अरुणकान्ति के कारण रूप में व्यङ्ग्य है, अतः यहाँ भावशान्ति ध्वनि होती है, आप के हिसाब से वह नहीं होगी ।

शान्त्यादिप्राधान्यवादी पुनश्चाहुते—

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैवान्वयादरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्वं पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यङ्ग्यस्य शेषप्रशमादेः, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभेदस्थापयकत्वात् ।

नन्वत्र ‘शेमु’-रिति पदेन वाच्याऽपि शान्तिर्यतोऽरुणकान्त्यैवान्वेति, तस्मादरुणकान्तिरान्तिरेवान् वाच्या, नत्वरुणकान्तिशान्तिव्यङ्ग्या शेषरूपावर्पशान्तिरपि, व्यङ्ग्यस्य

व्यञ्जक (वाच्य) स्य च पुरयकाया आवरणकत्वाद्भावशान्तिष्वनित्वेऽथ किमपि न बाधक-
मिति पूर्वपक्षाराधः ।

यदि आप कहें कि भावशान्त्वादि स्थल में शान्ति आदि की ही प्रधानता मानने पर भी 'उपलि प्रतिपक्ष'..... इत्यादि तथा 'समापनैक'..... इत्यादि पक्षों में भावोदयादि-
पक्षनि मानी जा सकती है, क्योंकि—उक्त दोनों पक्षों में जो उदय और शान्ति वाच्य हैं, उदय, अन्वय अरुण्यति और अरुणकान्ति के साथ है, अतः अरुण्यति का उदय तथा अरुणकान्ति की शान्ति भले ही वाच्य हो जाय, परन्तु प्रथम पक्ष में अरुण्यति के उदय से स्पष्ट होने वाला अमर्षभाव का उदय तथा द्वितीय में अरुणकान्ति की शान्ति से क्षमिरयक्त होने वाली अमर्षभाव की शान्ति वाच्य नहीं होते । कारण, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक (वाच्य) पृथक्-पृथक् होते हैं—यह मानना आवश्यक है । तात्पर्य यह कि अरुण्यति के उदय और अरुण कान्ति की शान्ति के वाच्य होने पर भी अमर्ष का उदय और रोष (अमर्ष) की शान्ति व्यङ्ग्य ही रहे, क्योंकि अरुण्यति का उदय और अरुण-
कान्ति की शान्ति व्यञ्जक हैं और अमर्षोदय तथा अमर्षशान्ति हैं व्यङ्ग्य ।

स्वपूर्वपक्षद्वार्यामवन्तराद्वा विधाय निरस्तयति—

न चारुण्यव्यङ्ग्यरोपस्थैव वाच्यीभूतप्रशमादन्वय इति वाच्यम्, वाच्य-
व्यङ्ग्यप्रतीत्योरातुपूठयेण सिद्धतया, वाच्यान्यवबोधयेत्तायां वाच्यै सह व्यङ्ग्या-
न्वयानुपपत्तेः ।

आनुपूर्व्यं नयः ।

ननु 'रोष' रित्वेतत्पदामिहितायां शान्तेः, वाच्यया नयनारुणकान्ति, व्यङ्ग्यमानेन
रोपेण (अमर्षेण) सहैवान्वय इति भावशान्तेर्वाच्यत्वात् पुनरपि ध्वनित्वमिह दुर्घटनेवेत्या-
क्षेपस्य, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यो कार्यकारणभावात् त्रिमिष्टवत्सावश्यकतया यौगपद्यासम्भवाद्
व्यङ्ग्यस्य रोपस्यात्र वाच्यया शान्त्या सह वाच्यार्थबोधवसरे व्यङ्ग्यपर्यानुपस्थितेरन्वया-
सम्भवाद् व्यङ्ग्यरोपस्य वाच्यशान्त्याऽन्वयाभावाद् भावशान्तिष्वनित्वं स्यादेवेति समाधानम् ।

अबि हम कहें कि—वाच्य नयनारुणकान्ति से स्पष्ट होने वाले अमर्ष का ही वाच्य
उदय तथा शान्ति के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यङ्ग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय
मान लेते हैं, तात्पर्य यह कि इस तरह मान लेने पर भावोदय तथा भावशान्ति में
वाच्यता हो जायगी, तो आप कहेंगे, यह अशुक्त है । क्योंकि यह मानी हुई बात है कि
पहले वाच्य की दक्षिण (जो कारण है) होती है, फिर व्यङ्ग्य की (जो कार्य है), अतः
यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्वय होता है, उस समय व्यङ्ग्य
उपरिष्ठ ही नहीं हो सकता, फिर बताइये वाच्यों के साथ व्यङ्ग्यों का अन्वय कैसा ?

उक्तं समर्थयति—

अन्यथा 'सुदृशो नयनान्नकोणयोः' इत्यस्यान्यथो न स्यात् ।

अन्यथा वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि मिथोऽन्वयाङ्गीकारे, 'सुदृश' इत्यादौ वाच्यस्य नाधिकायां
सुदृष्टत्वस्य नयनारुणकान्त्युदयव्यङ्ग्येन रोषोदयेन सहान्वयो नावितत्वाच्च स्यात्, तस्मान्ननु-
शन्दारन्वाभावप्राधान्यनिरसनशद्वा सुस्पष्टेत्याशयः ।

यदि वाच्य और व्यङ्ग्य का अन्वय मान लिया जाय, तब 'उपनि' इत्यादि
प्रथम पक्ष में 'सुन्दर भवनवाली नायिका के नेत्र कमलों के कोने में' यह जो अधिकरण
कारक है, उसका अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि अधिकरण कारक का कर्ता अथवा कर्म
के द्वारा ही किया में अन्वय होता है और यहाँ उक्त शक्ति से 'उदियाय' इस क्रिया का
कर्ता मान लिया गया व्यङ्ग्य अमर्ष, वाच्य अरुण्यति नहीं, फिर कहिये, कैसे उस अमर्ष
रूप कर्ता में तथा उसके द्वारा उदय क्रिया में उक्त अधिकरण का अन्वय होगा—अर्थात्

अमर्य-चित्त की वृत्ति है, नयन में वह आवेगा कहाँ से ? फलतः उक्त पद्य में अनन्विता-
र्थक-असंगत-हो जायगा, अतः वाच्यशान्ति आदि का अरुणकान्ति आदि के साथ ही
अन्वय मानना ठीक है, सारांश यह कि इन पद्यों में भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो
सकती। और जब यह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि की ध्वनियों में
भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की ही प्रधानता मान लेने पर भी कोई दोष
नहीं होगा।

उत्तरयति—

मैवम् ।

एवं 'क्षमे'—रघुपुदाहरणे वाच्यव्यङ्ग्ययोरन्वयाभावादनुपपत्तिविरहाद् भावस्य भाव-
शान्त्याभावप्राधान्यं, मा नैवेत्यर्थः ।

पर ऐसा नहीं कह सकते—भर्मात् भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भावों की
अप्रधानता और शान्ति आदि की प्रधानता नहीं मान सकते ।

भावप्राधान्यसमर्थनायापत्तिप्रकारकं स्यात्तान्तरमाचष्टे—

एवमपि—

उक्तोदाहरणयोरनुपपत्त्यभावेऽपि ।

क्योंकि उक्त दोनों श्लोकों में उक्त रीति से किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होने
पर भी—

अननुनयेऽपि मानापगमं वर्णयति—

'निर्वासयन्ती धृतिमङ्गनानां, शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः ।

चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि, रोपः क्षणप्रागुणिको बभूव ॥'

अज्ञानता गोपनितम्बिनीनां धृतिं धैर्यं, निर्वासयन्ती दूरे गमयन्ती, हरेर्गोविन्दस्य,
शोभां ध्रियं, धयन्त्या नयनाभ्यां पिवन्त्या, एणदृशो मृगाक्ष्या मानिन्या, चिरापराधस्मृत्या
दीर्घकालकृतापरास्मरणेन, मास्तु पुष्टोऽपि रोपोऽमर्षं क्षणप्रागुणिकोऽविरहस्याप्यतिवि-
धम्भ्येत्यर्थः ।

अनुनयभावेऽपि हरिशोभेक्षणाक्षिप्तचित्ता सा सद्यः प्रसन्नादेति सारम् ।

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—छियों के धैर्य को निर्वासित करती हुई
अर्थात् निकाल फेंकती हुई भगवान् कृष्णचन्द्र की शोभा को जभी मानिनी मृगाक्षी ने
बिधा—सादर देखा, तभी बहुत दिनों तक लगातार किये गये अपराधों के स्मरण से
परिपुष्ट बना हुआ भी रोप (अमर्ष) एक क्षण भर का मेहमान हो गया—नहीं ठहर सका ।

आपत्तिं प्रतिपादयति—

इत्यादावपि भावप्रशमभ्वनित्वापत्तेः, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रश-
मस्य व्यङ्ग्यत्वात् ।

'निर्वासयन्ती'मित्यादिपदेऽपि भावप्राधान्यवादमते भावशान्तिभ्वनित्वमापद्येत,
रोपभावस्याप्रधानस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानीभूतायास्तच्छब्दान्ते क्षणप्रागुणिकीभवन्नव्यङ्ग्यतायाः
सद्भावात् । भावप्राधान्यवादमते तु रोपस्य वाच्यत्वाज्जात्र तत्त्वापत्तिरिति भावः ।

उक्त श्लोक में आप के मत से भावशान्ति की ध्वनि हो जायगी, कारण यह कि आप
के हिसाब से अप्रधानभाव (रोप-अमर्ष) के वाच्य होने पर भी प्रधान शान्ति वाच्य
नहीं, अपितु 'क्षणप्रागुणिक'—अर्थात् 'क्षणभर के मेहमान' पद से व्यङ्ग्य हो है ।

तत्रैव पुनराशङ्क्य समाचते—

उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्तपद्यद्वये शमत्योदयत्वाभ्यां
शमोदययोर्वच्यत्वादनुदाहरणत्वापत्तेः ।

भावस्य तच्छान्त्यादेव वाच्यत्वामाव एव भावशान्त्यादिष्वनित्वमिति स्वीकारे तु 'निर्वास-
यन्ती'मित्यादौ भावस्य वाच्यत्वादापत्तिवारणं स्यादिति न वाच्यम्, यतस्तथा स्वीकारे
'तपती'त्यादौ 'समे'त्यादौ च क्रमेणोदयस्य शान्त्येव वाच्यत्वाद् ध्वनित्वमिष्टमपि नोपपद्यत
इति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि प्रधान और अप्रधान दोनों की अवाच्यता-अर्थात् व्यङ्ग्यता
अपेक्षित है, तात्पर्य यह कि जहाँ भाव और उसके शान्ति आदि दोनों ही व्यङ्ग्य रहे, वहीं
भावशान्ति आदि की ध्वनि गानेंगे, अतः उक्त पक्ष में शान्ति के व्यङ्ग्य रहने पर भी भाव
(शेष) के वाच्य हो जाने से भावशान्ति-ध्वनि की आपत्ति नहीं हो सकती, तब मैं
कहता हूँ कि इस तरह मानने पर यहाँ तो आपत्ति का वारण हो जायगा, परन्तु पूर्वोक्त
दोनों पक्षों (वयसि'....'इत्यादि और उमापणैक'....'इत्यादि) में उदयरूप से उदय
(फिर वह अमर्य का हो चाहे भ्रूणधृति का) और इसी तरह शान्तिरूप से शान्ति
(फिर वह शेष की हो चाहे भ्रूणशान्ति की) वाच्य हो गये हैं, अतः वे पक्ष उन दोनों
ध्वनियों के उदाहरण नहीं हो सकेंगे ।

ननु मा भूत् सदुदाहरणद्वये ध्वनित्वमित्यत आह—

इष्टापत्तिस्तु सदृशानामनुचितैव ।

साहित्ये सदृशानुभवस्यैव प्रधानप्रामाण्याज्ञोक्तत्वात् सदृश्यै ॥ दोषोऽनुभवविरोधात्
सौर्द्धं न शक्यत इत्यभिसन्धिः ।

उक्त आपत्ति को स्वीकार कर लेना—कह देना—कि हम तो इन्हें भावोदय और
भावशान्ति की ध्वनियाँ मानते ही नहीं, सदृशों के लिये अनुचित है—अर्थात् साहित्य
जगत् में अनुभवसिद्ध वस्तु का अपेक्षाप कम से कम सदृशों को नहीं करना चाहिये ।

निगमयति—

तस्माद्भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादे-
स्तूपसर्जनत्वम्, अतो न तस्य वाच्यतादोषः ।

अपिशब्दो भावस्थितिसमुच्चायकः ।

तस्माद् यथा भावस्थितौ भावानामेव प्राधान्यं स्थितेस्त्वप्राधान्यं, तथैव भावशान्त्यादि-
ष्वपि भावानामेव प्राधान्यं, शान्त्यादेस्त्वप्राधान्यं स्वीकार्यम् । तथाचाप्रयानानां शान्त्या-
दीनां वाच्यत्वं ॥ ध्वनित्वस्य विपटकमिति सारम् ।

भावध्वनेर्भावस्थितिध्वनेर्ध्वनिरूपतया पृथगुपादानस्याभातो दोषः ।

अतः यह सिद्ध होता है कि भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भी भाव ही प्रधान
रहते हैं और चमत्कारी भी, शान्ति आदि तो उपसर्जन अर्थात् सौण ही रहते हैं, अतः पक्ष
शान्ति आदि का वाच्य हो जाना भी कोई दोष नहीं, सरांस यह कि शान्ति आदि के
वाच्य हो जाने पर भी यदि भाववाच्य नहीं होंगे—व्यङ्ग्य होते रहेंगे, तब भावशान्त्यादि
की ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं ।

मन्वेरं वैजप्रणामावाह्याने भावध्वनेर्भावशान्त्यादिभ्यः पृथगुपादानस्य निष्प्रयोजन-
कत्वापत्तिरतो वैतर्क्यं प्रदर्शयति—

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्—
यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नममर्पादित्वम्, अमर्पादित्वमेव वा
प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरेपीति ।

निदानं मूलम् । एकत्र शुद्धभावध्वनिषु । स्थित्यवच्छिन्नत्वं स्थितिविशिष्टत्वम् ।
अमर्पस्यैवात्र प्रकृतत्वादुल्लेखः । विशेषणस्याव्यावर्तकतया विशेष्यमात्रस्य चमत्कारकत्वाद्

‘अमर्पादित्वमेव वा’ इति द्वितीयकल्पोपादानम् । अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनिषु । इति निर्दान-
समाप्तिरुक्तम् ।

भावध्वनिषु स्थित्यवस्थापक्षत्वविशिष्टस्यामर्पादित्वस्य, वस्तुतः केवलमर्पादित्वस्य
प्रकारतयाऽमर्पादित्वप्रकारकचर्वणैव चमत्कारिणी, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्था-
पक्षत्वादिविशिष्टमर्पादित्वस्य प्रसरतया प्रशाम्यदवस्थापक्षत्वादिविशिष्टमर्पादित्वप्रकारक-
चर्वणायाश्चमत्कारित्वमिति चमत्कारकचर्वणायां भावध्वनिध्वमर्पत्वादिनाऽमर्पादीनामेव
भानम्, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापक्षत्वादिविशिष्टमर्पत्वादिनाऽमर्पादीनां
भानमित्येव विशेष इत्यभिप्रायः ।

अब यहाँ यह शङ्का उपरिपत होती है कि यदि उच्छेतीति से भावध्वनि और भावशा-
न्त्यादि ध्वनि में समानता सिद्ध कर देते हैं—जहाँ उन दोनों में कोई बेलक्षण्य नहीं
मानते, सब भावध्वनि से धृक् भावशान्त्यादि ध्वनि का उल्लेख व्यर्थ है, इस शङ्का
के उत्तर में ग्रन्थकार उक्त समानता के रहने पर भी उन दोनों में भिन्न तरह के बेलक्षण्य
का प्रतिपादन करते हैं—‘इदं पुनः’ इत्यादि । भावध्वनियों की अपेक्षा भावशान्त्यादिध्वनियों
के चमत्कार (आह्लाद) का विलक्षणता है और उस विलक्षणता का कारण यह है कि
भावध्वनियों में भावों की चर्वणा (आस्वादन) स्थितिरूप एक अवस्थाविशिष्ट अमर्प
आदि के रूप में होती है और भावशान्त्यादि ध्वनियों में स्थलभेद से शान्ति, उदय
आदि अनेक अवस्थाविशिष्ट अमर्प आदि भावों की चर्वणा होती है, वस्तुतः तो
भावध्वनियों में केवल अमर्प आदि के रूप में ही भावों की चर्वणा होती है यही कहना
चाहिये, क्योंकि वहाँ स्थितिरूप अवस्था को ओढ़ना व्यर्थ है, कारण यह कि विशेषण
किसी सजातीय के वारण के लिये लगाया जाता है—जैसे ‘श्वेत अश्व’ यहाँ श्वेत-विशेषण
श्याम अश्व के वारण के लिये आता है—यहाँ तो ‘स्थित्यवस्थापक्ष’ इस विशेषण से किसी
का वारण नहीं होता, क्योंकि भावध्वनियों में सभी भाव स्थित्यवस्थापक्ष रहते हैं ।
अभिप्राय यह हुआ कि भावध्वनियों में होने वाली चर्वणा में केवल भावों (अमर्पादिकों)
का ही भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शुद्ध आस्वादजन्य आह्लादरूप पर्यवसित
हुआ, और भावशान्त्यादिध्वनियों में होनेवाली चर्वणा में शान्ति-उदय आदि अवस्था
सहित अमर्पादि भावों का भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शान्ति-उदय आदि
सहित आस्वादजन्य आह्लाद रूप फलित होता है । स्पष्ट शब्द में यों कह सकते हैं कि
कच्चे आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले और पके आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले
आनन्दों में वस्तु के एक होने पर भी जैसा अन्तर है, ठीक वैसा ही अन्तर शुद्ध
आस्वादजन्य और शान्त्याद्यवस्था सहित भावशान्त्याद्यजन्य चमत्कार में है ।

ननु भावशान्त्यादिवद् रसशान्त्यादीनां निरूपणं कुतो न कृतमिष्यत आह—

रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात् प्रशमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार
इति स न विचार्यते ।

रसानां सत्सूत्रजन्यायेनाधारतया मूलभूतेषु रथायिमावेषु प्रशाम्यदवस्थादिसम्बन्धसत्त्वे
तेषां रथायित्वमैव विलोपप्रसङ्गाच्च तदवस्थासम्बन्ध सम्भवति, यदि त्वमित्येव स्थायित्वात्-
निष्ठप्रशाम्यदायवस्थामेव रतेष्वातेष्व यौगो रसशान्त्यादिव्यवहार सम्भवतीत्युच्यते,
तदा तत्तद्व्यवहारो न स्याद्, आरोपस्य चमत्काराजनकत्वात्, तस्माद्रसशान्त्यादयो न
निरूप्यन्त इत्यर्थः ।

अब भाव के जैसे रसों के भी उदय शान्ति आदि की ध्वनियाँ क्यों नहीं होती इसका
विचार करते हैं—‘रसस्य तु’ इत्यादि । अभिप्राय यह है कि रसों की उदय-शान्ति आदि
अवस्थाएँ नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मूल है स्थायीभाव, और यदि उसकी भी
उत्पत्ति तथा-शान्ति आदि अवस्थाएँ होने छाँई, तब तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो

जाय, आदि से अन्ततः 'अकसूत्र' न्याय से उसका बना रहना ही तो उसमें स्थायित्व है, यदि वही न रहे, तब उसमें और साधारण भावों में भेद ही क्या रहेगा ? यदि कहें कि स्थायीभाव के स्थिर रहने पर भी उसको अनिवार्य तो स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है, अतः उसके उदय-विनाश तो हो सकते हैं, फिर उन्हीं उत्पत्ति-विनाशों को इसमें आरोप करके गौण रस शान्त्यादि का व्यवहार हो सकता है, तब उसका उत्तर यह है कि आरोप चमत्कारजनक नहीं होता, अचमत्कारी होने के कारण ही रसशान्ति आदि की ध्वनियां नहीं मानी जाती हैं ।

अथ 'उपपादयिष्यते च स्यात्पादानीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' इति प्राक् प्रतिज्ञाता रसादीनां संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वमपि व्यवस्थापयति—

सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटं प्रकरणे, क्षणिकप्रतीतिषु विभाषानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते । यत्र तु विचारबेधं प्रकरणम्, उच्चेया वा विभाषादयस्तत्र सामग्री-विलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्यर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येव भवति ।

हेतुहेतुमतोः कारणकार्ययोर्वाच्यविभाषादि-व्यङ्ग्यरसादिप्रतीत्योः । पौर्वापर्यं पूर्वापरी-भावः । अलक्षणमज्ञानम् । मान्यर्यं विलम्बः । निगदितो रसनिरूपणादेतत्पर्यन्तं निरूपितः सर्वोऽप्ययं रसादिलक्षणो रसादिस्वरूपो व्यङ्ग्यप्रपञ्चो व्यङ्ग्यसमुदायः, प्रकरणे प्रसङ्गे, स्फुटं स्पष्टवेद्ये सति, अत एव विभाषानुभावव्यभिचारिभावेषु क्षणिकविलम्बेन प्रतीतिषु ज्ञातेषु सत्सु, सहृदयतमेनातिभावकेन, प्रमात्राऽऽस्वादरूपरूपेण, सूक्ष्मेणातिशयेनैव समयेन, प्रतीयत आस्वाद्यत इति वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतिक्रमस्य शैथिल्येन सम्यक्लक्षणादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति व्यवहारः । यत्र पुनः प्रकरणस्फुटतया विचारेण वेद्यम्, क्वचिन् प्रकरणस्य स्फुटतलेऽपि विभाषादय उच्चेया अनुक्तत्वादुद्गतीया एव सन्ति, तत्र कारणस्य प्रकरणविभाषादिप्रत्ययस्य विलम्बेन, कार्यस्य रसादिप्रत्ययस्य विलम्बे औपचरिक एवेति कथितारण्यस्थले रसादि-प्रतीतिः संलक्ष्यक्रमत्वस्यापि व्यवहार इत्याशयः ।

'उपपादयिष्यते च स्यात्पादानीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' अर्थात् 'स्थायीभाव आदि-रस भाव आदि-भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होते हैं, इस बात का उपपादन आगे करूँगा' इस तरह की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार से पहले की जा चुकी है, तदनुसार रसादिकों की संलक्ष्य क्रमता की व्यवस्था करते हैं—'सोऽयम्' इत्यादि, यह जो पूर्वीक रस-भाव आदि व्यङ्ग्यों का समुदाय है, वह जहाँ प्रकरणस्पष्ट हो, वहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्चारोभाव की प्रतीति शीघ्र हो जाने से अतिसहृदय पुरुषों को बहुत ही योग्य समय में प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्ता सहृदय को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम लक्षित नहीं होता, इसलिये यह (रसभाषादि) अलक्ष्यक्रम कहा जाता है । परन्तु जहाँ प्रकरण विचार करने के बाद समझने योग्य हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट रहने पर भी विभाव आदि का वर्णित न होने के कारण उह करना पड़े, वहाँ सामग्रीसमवधान के विडम्बे मयुक्त चमत्कार में भी कुछ मन्थरता आ जाती है—अतः वैसी जगह में रसभाव आदि उक्त व्यङ्ग्यों का समूह संलक्ष्यक्रम भी होता है ।

तदेव स्थलं दर्शयति—

यथा—

'उत्पगताऽपि च मुक्तुः' इति प्रागुदाहृते (४१ पृष्ठे) पद्ये 'सम्प्रति' इत्येत-
दर्थविगतिर्विलम्बेन ।

एतत्पदपटकस्य सम्प्रतीति पदस्य 'ग्राह्यबोद्धत्वेन तस्याः सङ्कोचोऽन्यविध आसीत्, अधुना प्रियप्रवासपूर्वरज्ज्वा तु सङ्कोचोऽपि सङ्कुचित इवाभू'—दित्यादेरर्थस्यावगमः पूर्वा-परसन्दर्भाभ्यानुसन्धानादेव लभ्य इति व्यङ्ग्यस्य रतिभाषस्य संलक्ष्यक्रमतैवेति भावः ।

जैसे—'तत्पदगतापि च स्रज्ज्वा' इत्यादि पूर्वोदाहृतपद्यमें 'सम्प्रति' पद का अर्थ विलम्ब से ज्ञात होता है—अर्थात् 'पहले नबोदा होने के नाते नायिका में संकोच की मात्रा अधिक थी, परन्तु अब प्रियगमन की पूर्वराशि में भावी विरह के ज्ञान के कारण वह सङ्कोच कुछ शिथिल पड़ गया, इत्यादि अर्थ की प्रतीति प्रकरण के विचार कर लेने के बाद ही होती है, अतः यहाँ शृङ्गार रस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है ।

ननु रसादीनामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायाः सार्वत्रिकी प्रसिद्धिरेतावता विरुध्यतीत्यत आह—

न रज्जु धर्मिग्राहकमानसिद्धं रत्यादिव्यनैरलक्ष्यक्रममव्यङ्ग्यत्वम् ।

येन प्रमाणेन धर्मिणः सिद्धिर्भवति, सद्धर्मिग्राहकं मानमुच्यते, तथात्र रसादौ सङ्क्षय-हृदयानुभव एव ।

रसादिव्यनैरलक्ष्यक्रममव्यङ्ग्यमात्रत्वस्य द्वारकं धर्मिग्राहकं यदि किमपि मानमुपलभ्येत, तर्हि तदवश्यमतिच्छेदाऽप्यभ्युपेयं स्यात्, तस्यानुपलम्भे तु संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वस्यापि स्वीकारे न किमपि बाधकमित्याशयः ।

रति आदि की ध्वनि की अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता धर्मिग्राहक मान से सिद्ध नहीं है—अर्थात् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताका रूप धर्म का धर्मो (आशय) जो रस आदि है, उसका ग्राहक (उसको सिद्ध करनेवाला) मान (प्रमाण) सङ्क्षयो का अनुभव है, उससे उनकी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, तात्पर्य-यह है, कि सङ्क्षयो का अनुभव यह नहीं कहता कि रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हों, कहीं कहीं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में भी रसादिकों का अनुभव सङ्क्षयजन करते हैं ।

उक्तं समर्थयति—

अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

अत एव रसादिव्यनैरलक्ष्यक्रममात्रत्वाभावादेव ।

विवाहवार्ताश्रवणसलक्ष्यपार्वतीवृत्तं वर्णयति—

'एवंवादिनि देवर्षी, पार्वे पितुरघोमुखी ।

लोलामलपत्राणि, गणयामास पार्वती ॥' इति ।

कुमारसम्भवपट्टसर्गपट्टकं पश्यमिदम्, पार्वतीविवाहनिर्णयाय हिमवदन्तिकं शिवेन प्रहि-
तोऽङ्गिरा हिमवन्तं यदा तद्वृत्तमशिश्रवत् तात्कालिकस्थितिर्वर्णनपरम् ।

देवर्षीऽङ्गिरसि, एवंवादिनि प्राबुर्निर्दिष्टशिवसन्देश वदति सति, पितुर्हिमाचलस्य, पार्श्वेपार्श्वमपीति स्थिता पार्वती, अघोमुखी कुमारीजनसुखमस्वविवाहवृत्तश्रवणजलमया नतानना, लोलामलस्य स्नाहस्तस्थितपत्रस्य, पत्राणि हलानि, गणयामातेत्यर्थः ।

जिमलिये रसभाव आदि की ध्वनियाँ भी संलक्ष्यक्रमहोती हैं, अत एव लक्ष्यक्रमों के प्रसङ्ग में 'एवंवादिनि देवर्षी' इत्यादि पद्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है । यह पद्य 'कुमारसम्भव' का है । इसका पूर्व प्रसङ्ग तथा अर्थ यह है—पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वचन दिया । तदन्तर लोहरीति के निर्वाहार्थ शिवजी ने अङ्गिरा ऋषि को पार्वती की मगनी के लिये हिमालय के पास भेजा । जब देवर्षि जी हिमालय से पार्वती के विवाह सम्बन्धी बातें कर रहे थे, तब की बात कवि कह रहा है कि—देवर्षि जब इस

नारद घातें करने लगे, तब पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुझ करके खेठने के लिये रखे हुये कमलों के पत्ते को गिनने लगी ।

उपपादयति—

‘अत्र कुमारीस्वाभावाद्यप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्योप-
पत्त्या मनाविलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं श्रीढायाध्वमत्करणा-
ल्लक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः’ इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः । ‘रसभावादिरयो ध्वन्यमान
यत्, न वाच्यः, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः ।’ इति चामिनवगुप्तपादाचार्याः ।

देवपिरिहाङ्गिरा न ॥ नारद, ‘अथाङ्गिरसमग्रम्यमुदाहरणवस्तुषु । ऋषयो नोदया-
मास्तु’, प्रत्युक्त्वा स भूधरम् ।’ इत्यनेन तत्रत्येन तत् पूर्वेण पद्येन, ‘देवर्षावङ्गिरसि’ इति
महिम्नायकृतैस्तद्विवरणेन च तथैवावधारणम्, विवाहवार्तायै शिवप्रहितेयैष्वपि नारदस्यानु-
स्तेखाच्च । अत्र हि पार्वत्या वदमनममं लीलाकमलगणनं च कुमारीस्वभावादपि सम्भवतीति
न भूदित्येव तत्वापारद्वयं लब्धाया भावगोपनरूपान्दहिरयाया वा व्यञ्जने क्षमम्, किन्तु ‘इदं
व्यापारद्वयमस्या स्वाभाविकम्, नत आन्तरप्रयुक्तम्’ इति जिज्ञासाया विवाहवृत्तान्तवर्णना-
त्मकप्रकरणपर्यालोचनया किञ्चिद्विलम्बेनेति लज्जाऽवहित्वा वा व्यभिचारिभाषोऽत्र संलक्ष्यक-
मव्यङ्ग्य एव, क्रमस्य स्फुटं प्रतीयमानस्तादित्यानन्दवर्धनाचार्योक्तिरपि रसादीना कचित्
संलक्ष्यक्रममन्यतायां प्रमाणम् । तथा ‘रसभावादिरयो रसादिक्य पदार्थ (यद्यपि)
ध्वन्यमानो व्यज्यमान एवास्ति, न तु वाच्यः, तथापि (व्यज्यमानत्वेऽपि) ॥ सर्वोऽ-
संलक्ष्यक्रमस्यैव न विषयः, (किन्त्वस्फुटे प्रकरणादौ) कचित् संलक्ष्यक्रमस्यापि विषयः’
इति लोचनेऽभिनवगुप्ताचार्योक्तिरपीह प्रमाणमिति सारम् ।

उक्त पद्य को उद्धृष्ट करने के बाद आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि—यहाँ भी पार्वती
की नवोन्मुख होकर लीला-कमल-पत्र-गिनने की बात वर्णित है, वह तो बालिकाजन्म-
सुखम-स्वभाव के कारण भी हो सकती है, अतः शुरू शुरू में लज्जा की प्रतीति नहीं होती,
किन्तु जब ‘अङ्गिराऋषि की हिमालय से पार्वती के विवाह की बात हो रही थी’ इस प्रसङ्ग
का ज्ञान कुछ मिलम्ब से होता है, तब लज्जा झलकती है अतः लज्जारूप सञ्चारीभाव यहाँ
संलक्ष्यक्रममन्य है । यद्यपि मूल में ‘देवर्षि’ पद का अर्थ नारद मान कर व्याख्या की गई
है, परन्तु उक्त पद्य के पूर्व आये हुये कुमारसम्भव के पद्य और महिम्नाय की टीका के देखने
से अङ्गिरा ही देवर्षि पद का अर्थ संगत प्रतीत होता है । अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक
की टीका छेचन के निर्माता) का भी यह कथन है कि ‘रसभाव आदि पदार्थ व्यङ्ग्य ही
होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी रस भाव आदि असंलक्ष्यक्रममन्यव्यङ्ग्य के लक्ष्य नहीं होते
अर्थात् वे संलक्ष्यक्रम भी होते हैं ।’

रसादीना संलक्ष्यक्रमत्वाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—

स्यादेतत्—

यद्यप्य रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्,—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे
‘अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः’ इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, ‘तेनाय द्वादशात्मकः’ इति
मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतस्सम्भ-
वित्व कविश्रीदोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिबद्धवस्तुश्रीदोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभि-
स्त्रिविध्यमापन्नेन पडात्मना वस्त्वलङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्जनादष्टादशत्व-
प्रसङ्गात् ।

रसादीनां संलक्ष्यक्रमत्वं यदि स्वीक्रियते, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य वस्तुरूपस्यालङ्कार-
रूपस्य च व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जने यो वाच्यार्थो वस्तुरूपोऽलङ्काररूपश्चेति द्विविधः, तस्य
स्वतन्त्रसम्भवित्वेन कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन कविनिबद्धवक्त्राढोक्तिनिष्पन्नत्वेन च प्रकारेण
प्रत्येकं त्रैविध्यात् षट्प्रकारा वस्तुध्वनयः षट्प्रकाराध्यालङ्कारध्वनय इति मिलिता द्वादश-
प्रकाराः संलक्ष्यक्रमा अर्थशक्त्युद्भवध्वनयो यथा भवन्ति, तथैवेदानीं रसाध्वनयोऽपि
द्विविधवाच्यव्यङ्ग्यतया द्विविधास्ततोऽधिका स्युः, तयान्न सङ्कलनादष्टादशविधत्वे
संलक्ष्यक्रमध्वनेरर्थशक्त्युद्भवस्य, अभिनवगुप्ताचार्यैर्ममटमट्टेश्वोक्तम् द्वादशविधत्वं प्रकारा-
धिक्याद् विरुद्धं स्यात्, तस्माद्रसादीनां संलक्ष्यक्रमता नाङ्गीकरणीयेति भावः ।

अथ यहाँ एक बहुत बड़ी शङ्का यह होती है कि यदि रसभाव आदि को भी संलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्य मानते हैं, तो संलक्ष्यक्रमध्वनियों की गणना करते समय जो 'अर्थशक्त्युद्भव-
ध्वनि के बारह भेद हैं' यह अभिनवगुप्त की और 'इस तरह अर्थशक्त्युद्भवध्वनि बारह
प्रकारके हैं' यह मम्मट की उक्ति कैसे संगत होगी, क्योंकि, व्यञ्जक अर्थ के दो भेद
हैं—एक वस्तुरूप और दूसरा अलङ्काररूप और उन दोनों भेदों में से प्रत्येक के स्वतः
सम्भवी (अर्थात् संसार में मिल सकने वाला) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित
कथनमात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविके द्वारा वर्णित
वक्ता की प्रौढोक्ति मात्रसे सिद्ध) इन तीन तीन, उपाधियों से तीन तीन भेद होते हैं, इस
तरह से व्यञ्जरुवाच्य अर्थ १ प्रकार के हो जाते हैं, उनसे व्यङ्ग्य भी वस्तु अलङ्कार दोनों
होते हैं, अतः पहले बारह भेद होते थे, अब तो वस्तु अलङ्कार के जैसे रस आदि भी छवो
व्यञ्जकों से व्यङ्ग्य होंगे, फिर अर्थशक्तियुक्त ध्वनियों के भेद बारह की जगह आठ रह
हो जायेंगे ।

समाधत्त—

अत्रोच्यते—

प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यञ्ज्यमानो रत्यादिः
स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया । रसीभावो हि नाम ऋगिति जाय-
मानालौकिकवमत्कारविषयस्थायित्वम् । संलक्ष्यक्रमतया व्यञ्ज्यमानस्य रत्यादेस्तु
वस्तुमात्रतैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तीनां विरोधः ।

व्यवच्छेदार्थकेनैव कारणेन संलक्ष्यक्रमतयेति लभ्यते । रसीभवत्यरसो रस सम्पद्यते ।
ऋगिति जायमानस्यालौकिकवमत्कारस्य विषय अरणत्वेन गोचर स्थायी स्थायिभावो यस्य
स तादृशस्तस्य भावस्तत्त्वम् । तेषामभिनवगुप्तादीनामाशयस्य वर्णनेन व्याख्यानेन ।
प्रकटै स्फुटप्रतीयमानैर्विभावादिभिः, अलक्ष्यक्रमतयैव (ननु संलक्ष्यक्रमत्वेन) व्यञ्ज्य-
मानो रत्यादि स्थायिभावो रसीभवत्यरसोऽपि लोकोत्तरवमत्कारजनकत्वेन रस सम्पद्यते,
यतो ऋगिति जायमानालौकिकवमत्कारविषयस्थायित्वमेव रसीभावोऽस्ति, विभावादीनाम-
स्फुटत्वेन संलक्ष्यक्रमतया व्यञ्ज्यमानस्तु रत्यादिर्न रसस्तादृशवमत्कारजनकत्वाभावात्,
किन्तु वस्तुमात्रं केवल व्यङ्ग्यवस्तु भवतीत्ययमेवार्थोऽभिनवगुप्तादीनां तात्पर्यविषयो वर्ण्येत
चेत्, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य रत्यादे रसत्वाभावाद् वस्तुवन्तर्भावाच्च वस्तुध्वनिप्रकारैरेवैतत्प्रका-
रणमपि मतार्थतया न प्रकाराधिक्यप्रयुक्त पूर्वान्वयमतविरोध इत्याशयः ।

रसादीनां संलक्ष्यक्रमतायां रसादित्वस्यैवाभावाच्च रसादिप्रकाराधिक्यप्रयुक्त प्राचीनोक्ति-
विरोधः इति सारम् ।

उक्त दाह्य का उत्तर यह है कि 'जो रति आदि स्थायीभाव स्पष्ट प्रतीत होने वाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा असंलक्ष्यक्रम के रूप में व्यक्त होता है, वही रस रूप होता है और जो रत्यादि संलक्ष्यक्रम के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह रस-रूप नहीं होता। क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि कार्यरूप से होने वाले ध्वनीकिक समरकार का शीघ्र कारणरूप से स्थायीभाव विषय बन जाय—अर्थात् स्थायीभाव के अनुभव से होने वाले शाब्दाद का शीघ्र होना ही स्थायीभाव का रस होना कहलाता है। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि संलक्ष्यक्रम के रूप में प्रवृत्त होने वाला स्थायी-भाव (रति आदि) रस किंवा भाव नहीं होता, किन्तु वस्तुमात्र रहता है। यदि इस तरह से क्षमिन्वगुण आदि के अभिप्राय का वर्णन कर दिया जाय, तब उक्त आपत्ति नहीं होती, तात्पर्य यह कि इस तरह से उनके अभिप्राय का वर्णन कर देने पर 'अर्थशक्तिमूल ध्वनियों के बारह भेद हैं' इत्यादि उक्तियों का विरोध नहीं होता, क्योंकि संलक्ष्यक्रम के रूप में प्रवृत्त होनेवाले रति आदि को वस्तुमात्र मान लेने पर वस्तुस्थिति के जो ६ भेद होते हैं, उन्हीं में से भी आजाते हैं, फिर तत्पर्युक्त १ संख्या और बढ़ जाने से उक्त ध्वनियों की संख्या अठारह तक पहुँच जाने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती।

सर्वत्रासंलक्ष्यक्रमत्वेन प्रसिद्धस्य रत्यादेर्विदोक्तमलक्ष्यक्रमत्व कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्यामाह—

उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन् विचारणीया ।

अत्र रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमत्वस्य स्वीकारेऽप्ये, उपपत्तिः सङ्गतिस्तु विचारणीयाः सहृदयैः क्षिन्तनीयेत्यर्थः ।

तथाचाहुर्नागेशभट्टाः—'विभावादिप्रतीति रसप्रतीतिश्च सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सहृदयेनाकलनेन, तस्य विगलितवेद्यान्तरत्वानुपपत्त्या रसस्तद्भाष्यतिः । विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकलसहृदयानुभवसाक्षिकमिति तत्रापि सन्मतमिति तदुपपत्तिर्बोध्यः । मध्यास्तु—वचवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात् तत्सहितविभावादिज्ञानोत्तरं जायमानरस-प्रतीतिर्विभावादिज्ञानापेक्षया विद्यमानकालभ्रमेण चालक्ष्यक्रमत्वम् । तच्च प्रकरणादिज्ञान-विलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणेऽक्षतमेव, नहि विभावादिज्ञानस्य तत्क्षणकस्य च क्रममदायकत्वमभवत्, अपितु तत्क्षणस्य, एतदेवाभिप्रेत्य 'अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदा' इत्यभिनवगुप्तोक्तिर्यत्किञ्चिद्वाच्यापेक्षया प्रमोऽपि गृह्यत इत्यभिप्रेत्य लक्ष्यक्रमत्वो-क्तिर्याकथयित्वेया, नहि विभावादिप्रतीतिरहितयत्किञ्चिद्वाच्यापेक्षया प्रतीतौ विगलितवेद्या-न्तरता सहृदयानुभवसाक्षिका, येन तत्क्रमग्रहणेऽपि रसत्वहानिः स्यादित्याहुः ।

अलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर ही रत्यादि रस तथा भाव हैं, अन्यथा वस्तुमात्र इस अर्थ में युक्ति क्या हो सकती है यह विचारने की बात है। नागेशभट्ट यहां अपनी टीका में यह युक्ति यतलते हैं कि रस आदि की (जिनको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माना जाता है) सभी आलंकारिक 'विगलितवेद्यान्तर'—अर्थात् 'रस (रसादि) ज्ञान के समय किसी भी अन्य ज्ञातव्य वस्तुओं का सम्पर्क न रहने वाला' मानते हैं, अतः पण्डितराज को भी यह मान्य होगा। सहृदयों का अनुभव भी उसको मानने में सक्षी है। फिर विभाव आदि की प्रतीति और रति आदि की प्रतीति में जो सूक्ष्म काल का अन्तर होता है, जिसे क्रम कहा जाता है, उसकी प्रतीति जहाँ सहृदयों को हो जाती है, वहाँ विभावादिकों के और रति आदि के पृथक् पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय में भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् नहीं रहेगी और जब वह बनी रहेगी तब विगलितवेद्या-न्तरता नहीं रहेगी यह बात स्पष्ट है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उस हालत में वह रत्यादि रसादि रूप नहीं हो सकता, अतः संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रत्यादि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, यह कथन युक्तिसंगत सिद्ध हो जाता है।

ननु रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमताया रसत्वाभावो यद्यभिनवगुप्तदीनामभिमतः स्यात्, तर्हि तेन 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव' इत्यत्र संलक्ष्यक्रमरत्यादितात्पर्येण रसपदस्योपादानं न स्यादित्याशङ्क्यामभिचत्ते—

‘रसभावादिरर्थः’ इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः ।

अभिनवगुप्तोक्तवाक्यघटको रसादिशब्दो लक्षणया रत्यादिनोक्त एव, तन्मतेऽसंलक्ष्यक्रमतायामेव रसत्वस्याङ्गीकारान् । तथाच प्रकृते न कश्चिद् विरोध इत्यभिसन्धिः ।

यहां आप कह सकते हैं कि यदि 'अभिनवगुप्त' का यह अभिमत होता कि संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रति आदि वस्तुभावा है, रसादि नहीं, तब यह कैसे कहते कि 'रसभाव' आदि अर्थ यद्यपि व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही विषय नहीं हैं ।' अर्थात् इस कथन से तो यह सिद्ध हो जाता है कि संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने वाले रत्यादि को भी वे रसादिरूप मानते हैं । इसका उत्तर यह है कि अभिनवगुप्त की उस उक्ति में रस और भाव पद रति और व्यभिचारी भावपरक हैं अर्थात् रस आदि पद का अर्थ वहां रति आदि ही समझना चाहिये । नागेश भट्ट अपनी टीका में इस प्रसङ्ग पर एक और नवीन बात कहते हैं, जो बहुत मार्मिक तथा संगत प्रतीति होती है । उनके कथन का भाव यह है कि कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विलक्षणता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यञ्जक होता है, अतः वह सिद्ध होता है कि तत्सहित विभावादिकों का ज्ञान होने के अनन्तर रस आदि की प्रतीति होती है, और विभाव आदि के ज्ञान तथा रस आदि की प्रतीति के मध्य में होनेवाले क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) के लक्षित न होने के कारण रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है । अतः प्रकरण आदि के ज्ञान में विलम्ब होने से विभाव आदि के ज्ञान में विलम्ब हो भी जाय, तथापि, 'तत्त्वगताऽपि च सुतनुः' इत्यादि उदाहरण में असंलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती । क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करने वाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर असंलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, अपितु विभावादिकों के ज्ञान तथा उससे उत्पन्न होने वाले रस आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है । अब इस विचार के अनुसार—'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के चारह भेद होते हैं' इस मन्मटादि के कथन में कोई विरोध नहीं होता, तब रही अभिनवगुप्त की वह उक्ति, जिसमें कहा गया है कि रसभावादि में सभी असंलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं हैं—अर्थात् कोई कोई संलक्ष्यक्रम का भी विषय होता है । उसका आशय यह समझना चाहिये कि किसी किसी—अर्थात् विभावादि से भिन्न—उदासीन—वाच्यार्थ के ज्ञान और रसादि के ज्ञान का क्रम लक्षित हो भी सकता है । यदि कहें कि किसी भी क्रम के ज्ञान का स्वीकार कर लेने पर विगलितवेद्यान्तरता का अभाव उक्त रीति से क्यों नहीं हो जयगा, तो इसका उत्तर यह है कि विभावादि ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर भी विगलितवेद्यान्तरता होती है इस बात में सहृदयों का अनुभव गवाही नहीं देता,—अर्थात् विगलितवेद्यान्तरता का मूल तन्मयता है और वह तन्मयता रसादि के रूप में परिणत होने वाले विभावादिज्ञान से ही होती है यह बात अनुभवसिद्ध है, अतः विभादि के ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर विगलित वेद्यान्तरता का न होना ही स्वामाविक है, फिर उससे रस आदि के रसावादि की हानि होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता । यही है नागेश भट्ट की नवीन बात, इसकी मार्मिकता पाठक स्वयं समझेंगे । उक्त प्रसङ्ग ऐसा है, जिसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का विचित्र तरह से संमिश्रण हो गया है, अतः मैं जिज्ञासुजनों की आकांक्षा का अनुभव करता हुआ उन मतों का संक्षेप में कुछ विश्लेषण कर रहा हूँ । पण्डितराज जगन्नाथ (प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता) असंलक्ष्यक्रम रहने पर ही रत्यादि रसादि हैं और

संलक्ष्यक्रम हो जाने पर वस्तुमात्र हम सिद्धान्त को युक्ति-विहीन मानकर रसादिध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम दोनों ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि करने के लिये, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण में 'एवं वादिनि' '...' इत्यादि कुमारसंभव के पद्य को उद्धृत करने वाले आनन्दवर्धनाचार्य को और उसी उदाहरण पर लोचन नामक ध्वन्यालोक की टीका में 'सभी ध्वनितमात्र होने वाले रसभावादि अर्थ असंलक्ष्यक्रम ही नहीं होते, पदार्थक वाक्य लिखने वाले अभिनवगुप्ताचार्य को भी साक्षी बनाते हैं और युक्ति यह बतलाते हैं कि प्रकरणादि ज्ञान में किसी भी कारण से विलम्ब हो जाने पर रसादि की प्रतीति में भी विलम्ब होगा, अतः वैसे स्थलों पर रस-प्रतीति का क्रम रुकित हो जायगा। इसके बाद अपने पद्य में-प्रमाणरूप से उक्त अभिनवगुप्त के पूर्वोल्लिखित वाक्य के अर्थ में उन्होंने की 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बावह भेद हैं' इस उक्ति से विशेष दिखला कर उसको हटाने के लिये उनके आशय का वर्णन करते हैं कि वे (अभिनवगुप्त) क्रम के लक्षित हो जाने पर रसादिको वस्तुमात्र मानते हैं—रस नहीं। परन्तु हम-नाप मद्य सौंख्य कि यदि अभिनवगुप्त का उक्त आशय है, तब पण्डितराज के रसादि संलक्ष्यक्रम भी हैं' इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके मत से कैसे हुई? क्योंकि वे तो संलक्ष्यक्रम पद्य में रसादि को रस मानते ही नहीं, रहा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का 'एवं वादिनि' '...' यह उदाहरण, परन्तु विचार करने पर वह भी पण्डितराज के पद्य में साक्षी होने योग्य नहीं लक्ष्यता, क्योंकि उनके नाम से त्रिन पङ्क्तियों ('कुमारीस्वामन्यात्' '...' इत्यादि) को पण्डितराज उद्धृत करते हैं, वे पङ्क्तियाँ ध्वन्यालोक में नहीं मिलती हैं, उनके अभिप्राय का वर्णन करते हैं यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण यह कि मेरे विचार से उनका ऐसा अभिप्राय नहीं है, हो भी कैसे सकता है, जब कि 'रसभावतदाभासभावशास्त्रादिरक्रमः'—अर्थात् 'रसभाव आदि अक्रमव्यवहृत्य हैं' लिखकर, वे अपना अभिप्राय (जो पण्डितराजवर्णित अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है) प्रकट कर चुके हैं। आप कहेंगे—संलक्ष्यक्रम-अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि के प्रसङ्ग में 'एवं वादिनि' '...' यह उदाहरण लेकर इतना तो उन्होंने खबरय लिखा है कि 'अत्र हि लीलाकमलपद्मगगनमुपसर्जनीकृत-स्वरूपं वाक्पदापारं विनैवायान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणे प्रकाशयति'—अर्थात् यहाँ लीलाकमलपद्मगगनरूप अर्थ अपने को गौण बनाकर अभिधा की सहायता के बिना ही वाक्य से मित्र व्यभिचारीभाव (छज्जा) रूप अर्थ को प्रकाशित करता है' क्या यह भावध्वनि को संलक्ष्यक्रम मानने में और समान न्याय से अलक्ष्यक्रम ध्वनिमात्र की स्थिति विधीय में संलक्ष्यक्रम मानने में प्रमाण नहीं होता? मैं कहूँगा नहीं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं लिखा है कि यहाँ भावध्वनि है। मैं तो सतसता हूँ कि लक्ष्यक्रम हो जाने से छज्जा को वस्तुमात्र मानकर उन्होंने भी उसकी ध्वनि कही है, जिसका समर्थन उनके आगे पीछे के ग्रन्थों से भी होता है। देखिये—जिस कारिका के बाद यह उदाहरण दिया गया है, उसमें साफ शब्दों में वे लिखते हैं कि 'वस्तात्पर्येण वसवन्मयं न्यनयुक्तिं विना ह्यतः'—अर्थात् 'जो अर्थ तात्पर्यद्वारा शब्द की उक्ति के बिना भी स्वयं दूसरी (वाक्य से मित्र) वस्तु—न कि रसादि—को व्यक्त करता है। अतः एव अलक्ष्य ध्वनि का निरूपण 'अर्थशक्तेरलक्ष्यो यत्राप्यन्य' प्रतीयते' इत्यादि से आगे अलग किया गया है। यदि कहें कि 'एवं वादिनि' '...' इत्यादि उदाहरण देने के अन्वयवहित वाद में जो 'नचायमलक्ष्य-क्रमन्यद्गद्यैव ध्वनेः विषय' '...' इत्यादि ग्रन्थ आया है, जिसका आशय यह है कि 'एवं वादिनि' '...' इत्यादि पद्य अलक्ष्यक्रमन्यद्गद्य ध्वनि का ही लक्ष्य है यह नहीं कह सकते, क्योंकि अलक्ष्यक्रमन्यद्गद्य ध्वनि का लक्ष्य यहाँ होता है, जहाँ शब्द के द्वारा बोधित विभावादिको से साक्षात् रसादि की प्रतीति होती है, इस ग्रन्थ से तो साफ झलकता है कि 'एवं वादिनि' '...' इत्यादि पद्य को वे संलक्ष्यक्रमव्यवहृत्य भाव की ध्वनि का उदाहरण मानते हैं, तो मैं कहूँगा कि ऐसी बात नहीं है, उस ग्रन्थ का अभिप्राय यह

है कि 'एवं वादिनि'..... इस पद्य में अन्त में महादेव के प्रति पार्वती की रति भी तो प्रतीत होती है, फिर इस पद्य को रस ध्वनि का ही उदाहरण क्यों नहीं मानते इस शङ्का का उत्तर उक्त ग्रन्थ से दिया गया है, अतः एव आगे आनन्दवर्धन लिखते हैं कि 'इह ॥ सामर्थ्यासिद्धमिच्छामिमुत्तेन रमप्रतीति.' अर्थात् यहाँ मध्य में ध्वनिधारीभाव (लज्जामकवस्तु) के व्यङ्ग्य हो जाने से उसके द्वारा अन्त में अभिव्यक्त होने वाले रस की प्रतीति (सलक्ष्यक्रम) है। यदि लज्जामक भावध्वनि के विषय में उक्त शङ्का-समाधान किये गये होते, तब यह (इह तु इत्यादि) पङ्क्ति असंगत हो जाती। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पण्डितराज का मत यहाँ ठीक नहीं है। उसके ठीक न होने के और भी कारण हैं। जैसे—पण्डितराज के हिसाब से जब रसादिध्वनि संलक्ष्यक्रम तथा अलक्ष्यक्रम दोनों हैं, तब 'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के अन्तर्ह भेद हो जायेंगे, फिर बारह ही कैसे कहे' यह जो आपत्ति उन्होंने स्वयं परमत में दी है, वह अपने मत में क्यों नहीं लगेगी? वे भी तो अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के आठ ही भेद माने हैं, उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-रसादि को लेकर चार भेद और मानना चाहिये, यह बात दूसरी है कि कविनिबद्धवस्तुश्रीदोक्तिसिद्ध नामक भेद को नहीं मानने के कारण सन्मूलक चार भेदों को वे नहीं मानते। रसादि को सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होने में उन्होंने ने जो युक्ति दी है, उसका भी सुन्दर और विद्वानों को जंचने योग्य खण्डन नागेश ने कर दिया है, जिसको मैं पूर्व में दिखला चुका हूँ। अब रहे मम्मट, वे अपनी जगह पर ठीक हैं, क्योंकि वे चिर प्रसिद्धि के अनुसार रसादि ध्वनियों को अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मात्र मानते हैं, और ऐसी बात कहीं भी उन्होंने नहीं लिखी, जिससे इस मायता में विरोध पड़ता हो। पण्डितराज जो अपने मत के अनुसार अभिनवगुप्त के साथ उनकी उक्ति में भी विरोध दिखला कर उनके आशय का वर्णन अपने वक्त्र से इस प्रसङ्ग पर किये हैं, वह तो निरर्थक ही माधुम पड़ता है। नागेश भट्ट ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है, वह उनकी अपनी चीज है, जिससे पण्डितराज के मत का तो खण्डन हो ही जाता है साथ-साथ ध्वन्यालोककार के मत में भी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि वे 'एवं वादिनि'..... इत्यादि पद्य में लज्जामक ध्वनिधारी को सलक्ष्यक्रम हो जाने के कारण वस्तु मात्र मानते हैं अथवा पण्डितराज के कथनानुसार लक्ष्यक्रम भाव ही मानते हैं तो कैसे? क्योंकि नागेशोक्त रीति से यहाँ भी सलक्ष्यक्रमता नहीं होती। अभिनवगुप्त का मत भी नागेश की रीति से असंगत हो हो जाता है। वद्यपि नागेश ने उनके मत को सगत बनाने का प्रयास किया है, परन्तु वह प्रयास अभिनवगुप्त की उक्ति के स्वाभाविक स्वरूप के अनुकूल नहीं मालूम पड़ता। मम्मट नागेश की बसौटी पर भी खरे उतरते हैं, हो सकता है कि नागेश ने भी अपने शब्दों में मम्मट के हृदय को ही व्यक्त किया हो।

अथ रसादिध्वनेर्ब्यञ्जकानुपदिशभासौ प्राचीनमतमुपन्यस्यति—

तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य धृद-वर्ण-रचना-पापय-प्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकै रागार्गादभिध्वानिभिरभिव्यक्तिमामनन्ति ।

इत्यमेवं निरूपितस्य लक्षणोदाहरणादिभिर्विवेचितस्य, अस्य, रसादिध्वनेः प्रपञ्चस्य-समूहस्य, पदैः सुप्तिङन्तोरनन्तैश्चर्चबोक्कप्रयोगार्हवर्णरूपैः, वर्णैरकाराद्यक्षरैः, रचनाभिर्वर्ण-पदगुणलक्षणाभिः, वाचयैर्योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसक्तिमत्पदकदम्बैः, प्रबन्धैः महावाक्यस्वरूपैः, पदैकदेशैः प्रकृतिप्रत्ययादिरूपपदावयवैः, अवर्णात्मकैर्ध्वनिरूपैर्गोतवाद्यादिसम्बन्धिभी रागैः आदिपदमाह्वानिधेष्टाभिध्व, अभिव्यक्ति चर्चणाम्, आमनन्ति प्रतिपादयन्ति प्राध इति शेषः ।

अथ उक्त रस आदि की ध्वनियों का व्यञ्जक क्या क्या हो सकता है, इस विचार के

प्रसङ्ग में पहले प्राचीनों का मत दिखलाते हैं—‘अदित्यम्’ इत्यादि। पूर्वोक्त रीति से जिस रसादि-ध्वनि-समूह का निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, शाय्यों, प्रध्वन्यों (अन्व्यों) और पद के अंशों एवं जो अक्षर रूप नहीं हैं, उन रागादिकों से मानते हैं—अर्थात् स्थलभेद से ये सभी रसादि ध्वनियों के व्यञ्जक होते हैं।

ननु सर्वत्र वाक्यादेव रसाद्यभिव्यक्तिदर्शनात् कथमेकस्य तद्वदकारस्य व्यञ्जकतोच्यत-
इत्याशङ्का मनसि निषायाभिदधाति—

तत्र वाक्यगतानां पदानां सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानो-
पायत्वे समानेऽपि, कुर्वद्रूपतया चमत्कारयोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनि-
व्यपदेशहेतुत्वम्।

उपायत्वं कारणत्वं प्रयोजकत्वं वा। कुर्वद्रूपता विलक्षणशक्तिमत्ता। चमत्कारयोगव्यव-
च्छिन्नत्वं नियतचमत्कारसाहित्यम्।

यद्यपि वाक्यार्थबोधे पदार्थोपस्थितेः चरणतया वाक्यघटकानां सर्वेषामेव पदानां स्वस्वार्थोपस्थापनेन तुल्यैव वाक्यार्थबोधोपयोगिता भवतीत्येकस्य कस्यचित् तद्वदकारस्य रसादिव्यञ्जकत्वाद्युद्भव, किन्तु लक्ष्यपर्यवेक्षणात् कविदेकस्यापि पदस्य विलक्षणशक्तिमत्तया नियतचमत्कारसाहित्येन रसादिव्यञ्जकताया दर्शनात् पदानामपि रसादिव्यञ्जकत्वमङ्गीक्रियत इति तत्पर्यम्।

यद्यपि वाक्य के अन्दर जितने पद रहते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण होते हैं, अतः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तर होने वाली ध्वनियों का निमित्त (व्यञ्जक) पदसमूहात्मक वाक्य ही सिद्ध होता है, कोई एक पद नहीं, फिर ‘पदध्वनि’ इस व्यवहार में क्या मुक्ति है? यह है यहाँ शङ्का, और उत्तर यह है कि शङ्का के उपपादन में कही गई बातें सही हैं, तथापि वाक्यघटक पदों में से कोई एक ही पद कुर्वद्रूप-अर्थात् काम कर जाने वाला (विलक्षण शक्तिशाली) जहाँ रहता है, वहाँ वही पद चमत्कारयोगव्यवच्छिन्न-अर्थात् नियतचमत्कारविशिष्ट होता है, तत्पर्य यह कि ओर पद देखे रहते हैं, जिनमें चमत्कार का योग नियमतः नहीं रहता, अतः वैसी जगह में वह पद ही वाक्य के ध्वनिकाव्य कहलाने का कारण होता है।

पदस्य रसव्यञ्जकतामित्यर्थं व्यवस्थाप्योदाहरति—

यथा—

‘मन्दमाक्षिपति’ इत्यत्र ‘मन्द’मित्यस्य।

उत्तमोत्तमकाव्यत्वेन पूर्वमुदाहृते ‘तत्त्वगताऽपि च मुतन्’ इत्यादिपद्ये सर्वेषामेव पदानां व्यञ्जकत्वे तुल्येऽपि, शनैः स्वस्थानप्रापणार्थोपस्थापनद्वारा मन्दमित्यस्य पदस्यैतत्सर्वलक्षणेन रसव्यञ्जकतेति सारम्।

जैसे पूर्वोदाहृत (४१ पृष्ठ में) ‘तत्त्वगताऽपि च मुतन्’ इत्यादिपद्य में ‘मन्द’ पद अर्थात् यद्यपि उक्त पद्य के सभी पद शृङ्गार रस ध्वनि में समान रूप से सहायक हैं, तथापि ‘मन्दम्’ इस पद में अन्य पदों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता है और वह यह है कि ‘धीरे धीरे गिर कर को टूटना’ इस मार्मिक अर्थ की उपस्थिति उसी से होती है, अतः यहाँ पद-ध्वनि का व्यवहार होता है।

रचनाता वर्णानां च स्वातन्त्र्येणार्थबोधविरहेऽपि रसादिव्यञ्जकत्वं प्राचीनमतेनाह—

रचनावर्णानां पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकताऽवच्छेदककोटिप्रविष्टत्वमेव,
न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रचना-

विशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः
कारणत्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः ।

अभ्यर्हितत्वादचनाशब्दस्य पूर्वप्रयोगः ।

रचनानां वर्णानां च स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकत्वं नास्ति, किन्तु पदानां वाक्यानां वा घट-
कत्वेनैवेति पदवाक्यनिष्ठा या रसादिव्यञ्जकता, तदाश्रयघटकत्वेन विशेषणीभावात् तद-
घटछेदकोटौ प्रविष्टत्वं, नतु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुभेन वक्तुं शक्यम्, तथापि यथा घटं
प्रति दण्डविशिष्टचक्रादेः कारणत्वम्, आहोस्त्वित्यत्र दिविशिष्टदण्डस्येत्यमेकतरपक्षपाति-
युक्तेभावाद् दण्डे चक्रादौ च प्रत्येक पर्याप्त्यैव घटनिरूपितकरणता स्वीक्रियते, तथैव
प्रकृते पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रसव्यञ्जकता, उत रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेनेति संशये
विनिगमनाविरहाद् प्रत्येकमेव पदत्वेन वर्णत्वेन रचनात्वादिना च रसादिव्यञ्जकताऽभ्युप-
गम्यत इत्येव वर्णानां रचनादीनां च रसादिव्यञ्जकत्व सिद्धमिति प्राचीनाव इन्तीत्यर्थः ।

रचना और वर्ण, पदों और वाक्यों के अन्तर्गत हो कर ही व्यञ्जक हो सकते हैं, अतः
यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त पद और वाक्य ही व्यञ्जक हैं,
श्चतुष्प्रतया वर्ण और रचना नहीं, ये व्यञ्जकतावच्छेदक-कोटि-प्रविष्ट अर्थात् व्यञ्जक के
विशेषणों की श्रेणी में रहने वाले मात्र हैं, तथापि रचना और वर्ण से युक्त पद-वाक्य
व्यञ्जक हैं अथवा पद और वाक्य से युक्त रचना और वर्ण व्यञ्जक हैं इन दोनों पक्षों में से
किसी एक पक्ष को प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति जब नहीं है, तब रचना, वर्ण, पद और
वाक्य में प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घट का कारण चक्रसहित
दण्ड माना जाय अथवा दण्डसहित चक्र, इनमें एक पक्ष को प्रमाणित करने की जब कोई
युक्ति नहीं है, तब-चक्र और दण्ड दोनों पृथक् पृथक् कारण मान लिये जाते हैं। तदुपर्य
यह कि वर्ण और रचना को भी पृथक् पृथक् स्वतन्त्र व्यञ्जक मानना अनुचित नहीं है,
ऐसा प्राचीन विद्वानों का मत है ।

तत्र नवीनमतमभिधत्ते—

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जक-
त्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च ।

वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च माधुर्यगुणस्त्वैव व्यञ्जकाः, न पुनर्माधुर्यगुणाश्रयाणां, रसादी-
नाम्, मतं नूतनभिररसादिव्यञ्जकत्वोत्प्रेरे व्यञ्जकत्ववशादप्रविवक्षितवन्तः सौख्यम्, वर्ण
रचनानां रसादिव्यञ्जकत्वे प्रमाणवैधुर्यं च, तस्माद् वर्णानां रचनानां च रसादिव्यञ्जकत्वं
नास्तीत्यभिप्रायः ।

नवीन विद्वानों का मत उससे भिन्न है। वे कहते हैं कि वर्णविशेष और रचनाविशेष
(वैदर्भी आदि) माधुर्य आदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के आश्रयीभूत रसों
के नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में एक तो स्वर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों की सख्या बढ़ती है,
दूसरे, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है ।

ननु यदि वर्णोदियु माधुर्यव्यञ्जकताऽस्ति, तर्हि तदाश्रयरसादिव्यञ्जकताऽयस्येव, यतो
गुणिनो व्यञ्जकता विना गुणानां व्यञ्जकत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क निराकरोति—

न हि गुण्यभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रि-
यत्रये व्यभिचारान् ।

गुणाभिव्यञ्जकस्तदाश्रयव्यञ्जका भवेयुरेवेति नास्ति नियमः, यतो घ्राण-रसन-श्रोत्र-
रूप-इन्द्रियत्रये तस्य व्यभिचारो दृश्यते, तथाहि—घ्राणेन्द्रियं गन्धस्य गुणस्य व्यञ्जकं न तु

तदाश्रयस्य पृथिव्याः, रसनेन्द्रियं रसस्य व्यञ्जकं, न तु रसवतो जलस्य, श्रोत्रेन्द्रियं च शब्दस्य व्यञ्जकं, न तु शब्दाधारस्य यजनस्य । इत्थं च माधुर्यव्यञ्जकताऽन्यथाऽनुपपत्त्या वर्णादीना रसामिव्यञ्जकताकल्पनं नैव सम्भवतीति विभावनीयम् ।

यदि कोई कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुण के आश्रय रस आदि के भी व्यञ्जक मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जो गुणी (गुण के आश्रय) का व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक हो ही नहीं सकता—अर्थात् गुणों के आश्रयों की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तो मैं कहूँगा—यह कथन सगत नहीं है, क्योंकि 'गुणों की अभिव्यक्ति के बिना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती' यह नियम नाक, जोम, काम इन तीनों इन्द्रियों में व्यभिचस्ति होते देखा गया है—अर्थात् इन तीनों इन्द्रियों से गुणों की अभिव्यक्ति के बिना भी गुणों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे—नाक से गन्ध (गुण) की अभिव्यक्ति होती है और उसके आश्रय पृथ्वी की नहीं, जोम से रस की अभिव्यक्ति होती है और रसाश्रय जल आदि की नहीं पचम् कान से शब्द की प्रतीति होती है और शब्दाश्रय आकाश की नहीं ।

गुणादिव्यक्तिरवस्थादस्यैव स्वपक्षे दोषं परिहरन् नवीनमनुपसंहारति—

इत्थं च ह्यस्वव्यञ्जकोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परौपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता, तथा रसानां तद्गुणानां चामिव्यक्तिविषयतेति तु नव्याः ।

स्वव्यञ्जकैर्वर्णादिभिः, उपनीताना बोधितानां, गुणिनां पृथिव्यादीनां, गुणानां गन्धादीनाम्, उदासीनानां गुणगुणिभावेन मियोऽसम्बद्धानां पदार्थानां च प्रमितिगोचरता प्रमात्मकप्रत्यक्षविषयता, कदाचित् उपश्लेषेण गुणानां गुणिनां मियस्सम्बद्धत्वेन, कदाचित् पुनरौदासीन्येन मियोऽसम्बद्धत्वेन च यथा भवति, तथा गुणिनां रसानां, गुणानां माधुर्यादीनां चामिव्यक्तिविषयताऽऽस्वादगोचरता, कदाचिन्मिलितत्वेन, कदाचित् पार्यव्ययेन भवतीति व्यवक्षय्या, रसाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि माधुर्यादिव्यञ्जकता वर्णादीनां नासम्भविनीति तु नव्या यदन्तीत्यर्थः ।

अमरकृत्यक्रमध्वने प्रयन्ध-वाक्य-पद-तदर्श-वर्ण-रचनाभ्याम्यस्त्वेन पदविषयं स्वीकृत्यैः प्राचीनैर्वर्णविशिष्टानां रचनाविशिष्टानामिव च पदवाक्यादीनां रसादिव्यञ्जकतायाः सत्त्वादिसादिव्यञ्जकताऽवच्छेदकतया तद्व्यञ्जकतामात्रेऽपि विशिष्टव्यञ्जकभावकल्पने किमिगमनाविरहेण गौरवाद् दण्डादिषु घटादिकारणतेव प्रत्येकं रसादिव्यञ्जकता कल्प्यते ।

नवीनैस्तु हृदिनिरोधिमिः पृथगपि गुणगुणिनां प्रतीतिं गन्धमानैर्वर्णादिषु माधुर्यादि-गुणमात्रव्यञ्जकताऽङ्गीकियते, रसादिव्यञ्जकता तु गौरव-प्रमाणाभावादिरप्रदर्शनेन निराकियत इति सारम् ।

इमं तद्द जैसे अपने अपने व्यञ्जकों—अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से उपस्थित कराये गये गुणी, गुण और तद्विषय तदस्य पदार्थ कभी परस्पर सम्मिलित रूप से, कभी उदासीन रूप से उन उन यथार्थ ज्ञानों के विषय होते हैं, जैसे ही रस (गुणी) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक् पृथक् व्यञ्जकों (वाक्य पद आदि और रचना आदि) से उपस्थित किये जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलितरूप से तथा कभी उदासीन रूप से गृहीत (ज्ञात) होते हैं। तात्पर्य यह कि वर्णों और

रचनाओं को रसों का व्यञ्जक मानना समुचित नहीं, उन्हें केवल माधुर्यादि गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये।

रचनाया रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

उदाहरणन्तु—

‘तान्तमाल—’ इत्यादि प्रागुक्तमेव।

अथ भगवद्विषयकरतिभावद्वारा शान्तरसस्य तन्निष्ठमाधुर्यगुणस्य च व्यञ्जिका रचनेति—
इति रचनाया गुणव्यञ्जकतानिरूपणप्रसङ्गेन प्रागुक्तमनुसन्धेयम्।

यहाँ तथा रचनाओं के द्वारा गुणों की अभिव्यक्ति का उदाहरण ‘तां समालसतदकान्ति-
लंघिनीम्’ ‘’ इत्यादि पहले (पृ० २३१ में) कहा ही चुके हैं।

वाक्यस्य रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि ‘आविर्भूता यदवधि—’ इत्यादि च।

प्रागुक्तेऽस्मिन् पद्ये समस्तमेव वाक्यं विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य व्यञ्जकम्।

वाक्य जहाँ व्यञ्जक हुआ हो, वैसे उदाहरण भी ‘आविर्भूता यदवधि मधुत्यन्दिनी मन्द-
छन्दो ‘’ ‘’ इत्यादि (पृ० १४१ में) कहे ही जा चुके हैं।

प्रबन्धस्य रसन्यञ्जकतामुदाहरति—

प्रबन्धस्य तु ‘योगवाशिष्ठ रामायणे शान्त करुणयोः, रत्नावल्यादीनि च
शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वाभिदर्शनानि प्रसिद्धानि।

योगवाशिष्ठं प्रबन्धं शान्तरसस्य, रामायणं प्रबन्धं करुणरसस्य, रत्नावलीप्रभृतयश्च
प्रबन्धाः शृङ्गाररसस्य व्यञ्जका इति प्रबन्धव्यञ्जकतामुदाहरणानि बोध्यानि।

अथ प्रबन्ध (ग्रन्थ) जहाँ व्यञ्जक होते हैं, वैसे उदाहरण देखिये—सम्पूर्ण योगवाशिष्ठ
ग्रन्थ से शान्तरस और समस्त रामायण ग्रन्थ से करुणरस अभिव्यक्त होते हैं, इसी तरह
रत्नावली भावि ग्रन्थ शृङ्गाररस के व्यञ्जक होने के नाते प्रसिद्ध ही हैं।

प्रबन्धस्य भावव्यञ्जकतामुदाहरति—

मन्निर्मिताश्च पञ्चलहर्यो भावस्य।

गङ्गाकद्वरीप्रभृतयः पद्य लहर्यं प्रबन्धा गङ्गादिविषयकरतिभावस्य व्यञ्जका इत्यर्थः।

पण्डितराज रचित पाँचों लहरियां (करुणालहरी, गङ्गालहरी आदि) भाव—व्यञ्जकता
के उदाहरण होती हैं।

‘ पदावयवस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति

पदैकदेशस्य च ‘निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि’ इति करुणतद्धितो वीर-
रसस्य प्रागेवोदाहृतः।

पलवीररसोदाहरणप्रसङ्गेन प्रागेवोदाहृतेऽत्र पद्ये ‘जगदण्डकमिति पदावयव’ करुण-
स्तद्धितप्रत्ययो मद्भाण्डस्य लोदछिटा द्वारीकृत्योत्साहस्यायिकवलवीररसस्य व्यञ्जक-
इत्यर्थः।

‘निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि’ यहाँ करुण तद्धित (पदैकदेश) वीररसव्यञ्जक है
यह भी पहले (पृ० १६१ में) कहा जा चुका है।

अवर्णात्मकरागादीना व्यञ्जकता सहृदयानुभवसिद्धैवेति प्रतिपादयति—

एवं रागादिभिरपि व्यङ्ग्यत्वे सहृदयहृदयमेव प्रमाणम् ।

व्यङ्ग्यत्वे रसादीनामिति शेषः । रागादिव्यञ्जकता सहृदयानुभवासिद्धैवेति तदुदाहरणं न प्रदर्शितमित्यर्थः ।

इसी तरह अवर्णात्मक राग आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं—इसमें सहृद्यों के हृदय ही प्रमाण हैं ।

उपसंहरति—

एवमेवां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितामुदाहरणानि ।

एवमुक्तरीत्या, एवा रसादीनां प्राधान्येन ध्वनितया प्राद्विनिरूपितानामुदाहरणानि निरूपितानि ज्ञेयानोत्पत्त्यर्थः ।

इस तरह से प्रधान रहने के कारण ध्वनिरूप रसार्थिकों के उदाहरण निरूपित हो चुके पक्ष समझना चाहिये ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे रसादीनामुदाहरणपेक्षायामाह—

गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च ।

रसादीनां गुणीभावेऽप्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामुदाहरणानि रसवत्प्रेषणार्जव्यादीनि नामानि चालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यन्ते प्रतिपादयिष्यन्त इत्यर्थः ।

अब ये रस आदि गौण-अप्रधान-हो जाते हैं, तब उनके क्या क्या नाम पड़ते हैं और उनके उदाहरण क्या हो सकते हैं, ये सब बातें भारी कही जायगी—अर्थात् रस आदि के गौण हो जाने पर 'रसवत्' प्रेष और कर्जरेव इन नामों के अलंकार होते हैं, यह बात तथा उनके उदाहरण अलंकार प्रकरण (द्वितीय भाग) में कहे जायेंगे । (चेह है कि पण्डितराज की यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हो सकी । यह ग्रन्थ अधूर्ण ही उपलब्ध होता है और जितना भाग उपलब्ध है, उसमें यह विचार नहीं आ सका है)

तत्र विशेषमाचष्टे—

तत्र प्राधान्य एवैषां रसादित्यम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

एवा रसादीनां प्राधान्य एव विभक्तिवैयान्तरसच्चिदानन्दस्वरूपतासम्पत्ते रसादित्वं भवति, अन्यथाऽप्राधान्ये तु तादृशपताविरहात् स्वायिमाप्राप्तकृत्वाद् रत्यादित्वं केवलं भवतीत्यर्थः ।

यहां भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि ये रस आदि प्रधान रहने पर ही रसादि हैं और गौण हो जाने पर रत्यादिमात्र अर्थात् वस्तुमात्र होते हैं ।

ननु गुणीभावे यदि रसादित्वाभावो भवेत्, तर्हि गुणीभूतरसस्य रसवदलङ्कारेति नास्ति रसपदं कसमुपात्तमित्याशङ्कयामाह—

नामनि रसपदं तु रत्यादिपरमित्येके । अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनि-व्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ।

इति तैलङ्गपण्डितगुणबीजयन्त्रायविरचिते रसगङ्गाधरे प्रथममाननं सम्पूर्णम् ।

रसवदलङ्कारेति नामघटकरसपदस्य रसत्वयोम्यरस्यादिस्यादिमावेषु लक्षणेति प्रागुक्त-
नियमान्नोक्तृणां केषाञ्चिन्मतम् । अन्येषां तु—रसादीनामप्राधान्ये न रसादित्वस्य विलोपः,
किन्तु प्राधान्यविरहाच्च ध्वनिव्यवहारस्य क्षरणत्वमिति मतम् । तत्र पूर्वमत एव लक्षणा
पेशा, नदूतरमत इति बोध्यम् ।

विद्यानाभिनिवेदन—मिथिलाऽन्तःपातिसरिसवधामे ।

विद्यानाथसुतश्रीवदरीनाथेन निर्मिता कुतुम्भत् ॥ १ ॥

राधाऽच्युतपदनस्रविधु—समर्पिता चन्द्रिका सेयम् ।

लभता रसगङ्गापर—संसृता शाश्वती सुपमाम् ॥ २ ॥

आशानस्रमित (२०१०) विक्रम—समासहःपूर्णमासूर्वे ।

रसगङ्गाधरविभूतिर्वाणीकृपयाऽगमत् पूतिम् ॥ ३ ॥

चिन्ताजरादिपण्डोक्तपण्डस्यापि मे नूनम् ।

साहसमेव विवरण, पण्डितराजास्तिगूढमणितीनाम् ॥ ४ ॥

उपकृतिरितोऽपि तावत्, किन्तु भवेदेव केषाञ्चित् ।

मद्वि न्यूनमतीनामिति प्रतीक्षे समाश्रयिणि ॥ ५ ॥

इति मैथिलभ्रान्तिवपण्डितश्रीवदरीनाथसमर्पितानाम् रसगङ्गाधर-

चन्द्रिकाया प्रथममालन सम्पूर्णम् ।

यदि कहें कि जब गौण हो जाने पर ये रसरूप नहीं होते, तब उस अवस्था के 'रसवत्'
हृद्यादि नामों में रस आदि पदों का प्रयोग कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि उन नामों
में रसादि पद रस्यादिका ही बोधक है। यहां दूसरे विद्वानों का कथन इससे भिन्न है, वे कहते
हैं कि गौण हो जाने पर भी उनमें रसत्व जगवा भावत्व रहते ही हैं, केवल गौण हो जाने
के कारण वे काम्य में ध्वनि व्यवहार के लिए नहीं होते ।

इति वरभट्टामण्डकान्तर्गत नवानी ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतसध्याकरण-

ध्याय-साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्थ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय प्रधान-

साहित्याध्यापक 'प० श्री मदनमोहन झा' द्वारा निर्मित रसगङ्गाधर ।

(प्रथम आनन) की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

(द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः)

व्याख्याकारः—

व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य-

पण्डित श्री मदनमोहन झा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१

संवत् २०१४]

[ई० १९४७]

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्या भवन

घौक, वाराणसी-१

(पुनर्मुद्रणादिका सर्वेऽधिकारा प्रकाशकाधीना)

The Chowkhamba Vidya Bhawan

Varanasi-1

(INDIA)

1957

मुद्रक—

विद्याविलास प्रेस,

वाराणसी-१

॥ श्री- ॥

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

द्वितीयप्रमाणम्

अथ संलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूप्यते—

राङ्गर-मुख-मरसीरुह-मृत्युञ्जयनाम्बुजदन्दा ।
गौरी गौरिष यन्त्रे प्रपत-जने वाससा जयति ॥
जयति जगन्जन-पालन-दक्षी, दक्षाध्वरध्वरी ।
मन्मथ-भयन-प्रयितो गिरिजा-सामाङ्कुर-शम्भु ॥
गुह-करुणामृत-विन्दु पुण्ये प्राप्तशिरं जयति ।
यः पीतो मुग्धानामुक्तिषु पैदग्ध्यमातनुते ॥
पित्रोर्जयत्यद्भुत स्नेहोत्कर्षं सदा मुकुम्भ ।
सिखा सन्तति-ल्लितिका येनोदय-शाखिनं ध्रुवते ॥
सहृदयज्जातिद्वया निरवशा ‘चन्द्रिका’ जगतात् ।
रसगङ्गाधरसगास्तर्षाज्ञावाप्त-लावण्या ॥

अथ प्रथमानने रसादिरूपासंलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणानन्तरं द्वितीयमाननमारम्भात्-
प्रथमं संलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणं प्रतिजानीते—अथेत्यादिना ।

अथ शब्दोऽयमानन्तर्यार्थकः । तस्मात् सारसंलक्ष्यक्रमध्वनिनिरूपणानन्तरमिति तात्प-
र्यार्थः । संलक्ष्य-सम्यक् प्रतीतिपथमवतरन् क्रमः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यम्, यत्र स
ध्वनिः व्यङ्ग्यविशेषः, निरूप्यते शब्दप्रयोगात्मक-व्यापार-प्रयोज्य-ज्ञात-विषयो विधीयत
इति तदर्थः । मया ग्रन्थकारेणेति शेषः ।

अचपल-चपला-सङ्ग से, अङ्ग-अङ्ग छवि-धाम ।

मेरे मानम में बगै, नवल निमल धन-दयाम ॥

प्रथम आनन में रस आदि असंलक्ष्यक्रमध्वनि के निरूपण कर लेने के बाद अब
द्वितीय अगनन के आरम्भ में संलक्ष्यक्रमध्वनि निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादिसे।
अथ शब्द यहाँ आनन्तर्यार्थक है। संलक्ष्यक्रम का तात्पर्य यह है कि जिस ध्वनि में
कार्य (ध्वनि) और कारण (विभाव आदि का ज्ञान) का क्रम-पौर्वापर्य अर्थात्—अप्र-
पञ्चाद्भाव लक्षित होता हो। निरूपण शब्द का अर्थ होता है, वह शब्द प्रयोगात्मक-व्यापार,
नितसे ज्ञातव्यपदार्थ का ज्ञान हो सके। इस प्रकरण में ध्वनिशब्द व्यङ्ग्य अर्थ में

प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार मूल का अनुवाद यह होता है कि असलक्ष्यक्रमध्वनि निरूपण के बाद सलक्ष्यक्रमध्वनि का निरूपण किया जाता है।

सलक्ष्यक्रमध्वनि विभजते—

स च तावद्विविधः शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च । तत्रायो द्विविधः, व्यङ्ग्यस्य वस्तुत्वालकारत्वाभ्यां द्वैविध्यात् । द्वितीयोऽपि वस्त्वलंकारात्मना लोकसिद्धेन, तथामूलेनैव प्रतिभाभात्र-निवर्तितेन च व्यञ्जकेनार्थेन चतुर्विधेन वस्त्वलंकारात्मनो द्विविधस्य व्यङ्ग्यस्य प्रत्येक व्यञ्जनादष्टमूर्तिः ।

तावद् आदौ स्थूलतयेति तात्पर्यार्थः । स सलक्ष्यक्रमध्वनि द्वे विधे प्रकारौ यस्यासौ द्विप्रकारक इत्यर्थः । तत्र प्रथम, 'शब्दशक्ति' शब्दनिष्ठाव्यञ्जना मूलं कारणं यस्य स । द्वितीयोऽर्थशक्ति अर्थनिष्ठा व्यञ्जनामूलं कारणं यस्य स । शब्दव्यञ्जनाद्योप्य आर्यव्यञ्जनाद्योप्येत्यर्थः । तत्र तयोर्मध्ये, आद्य शब्दशक्तिमूल पुनर्द्विप्रकारक, यतो व्यङ्ग्यं वस्तुरूप-मलकाररूपश्चेति द्विविधं भवति । द्वितीय अर्थशक्तिमूल पुनरष्टविध, यतो व्यञ्जकोऽर्थो द्विविध-वस्तुरूप, अलंकाररूपश्च । द्विविधोऽप्यसौ लोकसिद्धत्वेन, प्रतिभामात्रनिवर्तितत्वेन च रूपेण पुनर्द्विविध । अर्थात् वस्तुत्वालंकारत्वभेदेन द्विविधोऽपि व्यञ्जकोऽर्थः क्वचित् लोके संभावना-विषयतया लोकसिद्धो भवति, क्वचिच्च केवल कविकल्पनाप्रसूततया कल्पितो भवति । एवञ्च व्यञ्जकस्यार्थस्य चत्वारो भेदा जायन्ते । चतुर्विधैस्तै पृथक् पृथक् वस्तुरूपो-अलंकाररूपद्वयार्थो व्यञ्ज्यते इति मिदमस्याष्टविधत्वम् ।

सलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद दिखलाते हैं—न च इत्यादि से । सलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रथमतः दो भेद होते हैं—पहला शब्दमूल अर्थात् जिसके मूल में शब्दनिष्ठव्यञ्जनावृत्ति काम करती रहती हो और दूसरा अर्थशक्तिमूल अर्थात् जिसके मूल में अर्थनिष्ठव्यञ्जना काम करती हो । उनमें प्रथम—शब्दशक्तिमूलध्वनि के पुन दो भेद होते हैं । क्योंकि वस्तु और अलंकारभेद से व्यङ्ग्य दो प्रकार के होते हैं । अलंकार—१-शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि और २-शब्दशक्तिमूल अलंकारध्वनि, ये दो प्रकार प्रथम भेद के निम्न हुए । द्वितीय—अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ भेद होते हैं, क्योंकि व्यञ्जक अर्थ प्रथमतः दो प्रकार के हो सकते हैं—पहला वस्तुरूप और दूसरा अलंकाररूप, फिर इन दोनों ही प्रकार के दो दो प्रकार हो सकते हैं—लोकसिद्ध (लोक में हो सकनेवाला) वस्तु और कविकल्पनामात्रप्रसूत (जो लोक में सम्भव विषय नहीं हैं, फिर भी कवियों की कल्पना से सिद्ध किए गए हैं) वस्तु । इसी तरह अलंकार भी उक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं । इस तरह से व्यञ्जक अर्थ के चार भेद हो जाते हैं । इन चारों में प्रत्येक से कहीं वस्तु और कहीं अलंकार व्यञ्जित होते हैं । इन आठों भेदों के नाम पाठकों की सुविधा के लिए नीचे दिए जाते हैं—१-स्वतःसंभवि-वस्तु से वस्तुध्वनि, २-स्वतःसंभवि-वस्तु से अलंकारध्वनि, ३-स्वतःसंभवि-अलंकार से वस्तुध्वनि, ४-स्वतःसंभवि-अलंकार से अलंकारध्वनि, ५-कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि, ६-कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से अलंकारध्वनि, ७-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकार से वस्तुध्वनि, ८-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकार से अलंकारध्वनि ।

ननु अर्थशक्तिमूलध्वनेरष्टविधत्वोक्तिरसंगता, मम्मटादिभिः लोकसिद्धकविप्रतिभाभात्रनिवर्तितत्वाविव कविकल्पितवस्तुप्रतिभात्रनिवर्तितताभिधानसप्येकं व्यञ्जकार्यस्य भेदमङ्गीकृत्य तस्य द्वादशविधत्वप्रतिपादनादित्यत आह—

प्रतिभानिर्वर्तितत्वाविशेषाच्च कवितदुन्मितवस्तुप्रौढोक्तिरिष्यन्नयोरर्थयोर्न पृथग्भावेन गणनोचिता, उन्मितोन्मितादेरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्तेः । न च

तस्यापि कव्युन्मितत्वानपायान्तत्प्रयोज्यभेदान्तर्गतत्वमेवेति ध्याच्यम्, प्रथमो-
न्मितस्यापि लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वलक्षणकवित्वानपायात्पृथग्भेदप्रयोजकता-
नुपपत्तेः ।

प्रतिभानिर्वर्तितेति प्रतिभासम्प्रादित्यर्थः । तदुन्मितेति तन्निबद्धेत्यर्थः । तस्यापि
उन्मितोन्मितादेरपीत्यर्थः । अयंभाव — यथा स्वतः संभविना व्यञ्जकार्थेन भिन्न कविप्रौ-
ढोक्तिसिद्धो व्यञ्जकोऽर्थोऽप्रीकृत्यते, तथा यत्र कवि क्वपि वक्तारं कल्पयित्वा तन्मुखेन
त्रिमपि वर्णयति तत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धोऽप्येको व्यञ्जकोऽर्थः स्वीकार्यः । सोऽपि
वस्त्वलंकारभेदेन द्विविधो भवेत्, तान्वा म्यज्यमानस्यापि वस्तुत्वलंकारत्वाभ्यां द्वैविध्य-
मिति अर्थशक्तिमूलध्वनिध्वन्यारेऽपि भेदा न्यायसिद्धा इति काव्यप्रकाशकारादयो
व्यवस्थापयामासुः । पण्डितराजस्तु कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नेऽर्थे यथाकविप्रतिभानिर्वर्तितत्वम्,
तथैव कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नेऽर्थेऽपीति अविशेषान्, पृथग्भेदत्वेन तद्गणनाया अनौ-
चित्यमेव मनुते । अन्यथा कविनिबद्धवक्तुरिव कविनिबद्धनिबद्धवक्तृपदेरपि पृथग्भेदनियाम-
कत्वं प्रसज्येत । तच्चेति । अवयवमभिप्राय — कवि-निबद्धस्येव कविनिबद्धनिबद्धादेरुपादाननिह
नोचितम्, तस्यापि कविनिबद्धत्वविशेषेण प्रथमनिबद्धान्तर्गतत्वात् । इति शङ्का । समाधानं
तु प्रतिबन्धिरूपमिदं यत्—प्रथमोऽपि कविनिबद्धो वक्ता कविरेव, लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्व-
पस्य कवित्वस्य तस्मिन् सत्त्वात् इति न कविप्रौढोक्तिसिद्धान् भिन्न कथन कविनिबद्धवक्तृ-
प्रौढोक्तिसिद्धः । 'वृद्धोक्तिविषयाच्छिष्टगुणविषय इव कव्युक्तिविषयात् कविनिबद्धोक्तिविषये
चमत्काराधिक्यस्यानुभक्तित्वान् पृथगुक्तिः । ततः परं च प्रणिधानसाध्यप्रतीतिक्रिया
चमत्कारस्यानाप्तोन्मितोन्मितादेः पृथग्गणनेति नञ्चा' इति नागेशः ।

मम्मट भावि प्राचीन आलंकारिकों ने अर्थशक्तिमूलध्वनि के द्वादश भेद माने हैं,
उनका रण्डन करते हैं—प्रतिभा इत्यादि से । मम्मट भावि भाचार्यों ने अर्थशक्तिमूलध्वनि
के ऊपर कहे गए आठ भेदों से भिन्न चार भेद और माने हैं । उन लोगों के कथन का
अभिप्राय यह है कि जिस तरह कवि-कल्पित अर्थ को व्यञ्जक माना जाता है, उसी तरह
कवि के द्वारा काव्य में वर्णित वक्ताओं की कल्पना से सिद्ध अर्थ को भी व्यञ्जक मानना
चाहिये । उस तरह के अर्थों के भी दो भेद हो सकते हैं—यहका वस्तुरूप और दूसरा
अलंकाररूप । उन दोनों व्यञ्जक अर्थों से वस्तु और अलंकार दोनों अभिव्यक्त हो सकते हैं,
अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से वस्तुध्वनि, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तु से
अलंकारध्वनि, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि और कविनिबद्धवक्तृ-
प्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि ये चार भेद और स्वीकरणीय हैं । पर पण्डितराज
जगन्नाथ कहते हैं कि कवि-कल्पित और कवि-वर्णित वक्ताओं से कल्पित—दोनों ही—
अर्थ प्रतिभा-प्रसूत हैं, उन दोनों में परस्पर कोई विशेष अन्तर नहीं है, फिर उन दोनों
को पृथक्-पृथक् व्यञ्जक अर्थों की श्रेणी में गिनना उचित नहीं और तत्प्रयुक्त अन्य
पूर्वोक्त चार भेदों का मानना भी ठीक नहीं, यदि इस तरह से भेद बढ़ाये जायें, तब
कविवर्णित वक्ताओं के द्वारा वर्णित वक्ताओं से कल्पित अर्थ को व्यञ्जक मानकर तत्प्रयुक्त
ध्वनि भेद भी मानने पड़ेंगे । यदि आप यह तर्क उपस्थित करें कि कविवर्णित वक्ताओं
के द्वारा वर्णित वक्ता भी तो कविवर्णित वक्ता ही हुआ, अतः तन्मूलक पृथक् भेद मानना
समुचित नहीं होगा, तो इसका उत्तर यह है कि कविवर्णित प्रथमवक्ता भी लोकोत्तर
वर्णन करने में निपुण होने के कारण कवि ही हुआ, अतः तत्कल्पित अर्थ भी कविकल्पित
व्यञ्जक अर्थों में ही अन्तर्भूत है, फिर जैसे आप द्वितीयवक्ता से कल्पित अर्थ को व्यञ्जक
मानकर तन्मूलक भेद नहीं मानना चाहते, वैसे ही प्रथमवक्ता से कल्पित अर्थ को

व्यञ्जक मानकर तत्प्रयुक्त भेद भी नहीं मानना चाहिये । वस्तुतः कविवर्णित वक्ता कवि से भिन्न कोई रहता नहीं—उमके द्वारा कवि ही अपनी कल्पना को रूप देता है । अतः पण्डितराज का कथन उपयुक्त है । प्राचीन मन के समर्थन में आग्रह रखनेवाले नागेश महोदय ने अपनी टीका में—जैसे वृद्धों की उक्तियों से बच्चों की उक्तियों में अधिक लालित्य होता है, उसी तरह कवि की उक्ति से कविवर्णित वक्ता की उक्ति में अधिक चमत्कार अनुभूत होता है, अतः तन्मूलक पृथक् भेद समुचित ही है । उसके आगे (कविवर्णित चतुर्वर्णित वक्ता की उक्ति) की प्रतीति प्रणिधान द्वारा ही हो सकती है अन्यथा नहीं, अतः उसमें चमत्कार नहीं रह जाता, इसीलिए उन सर्वों की पृथक् गणना नहीं की जा सकती—इत्यादि कहकर प्राचीन मत की पुष्टि की है ।

व्यसंहरति—

एवं साकल्येन दशभेवोऽयम् ।

पूर्वोक्तरीत्या सलक्ष्यक्रमध्वने दशभेदा बोध्या ।

इस प्रकार सलक्ष्यक्रमध्वनि के कुल भेद दस होते हैं । अर्थात् शब्दशक्ति मूलध्वनि के दो और अर्थशक्तिमूलध्वनि के आठ भेद हैं ।

नानार्थकशब्दस्थले संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थेऽभिधायानियन्त्रिताया द्वितीयोऽर्थो व्यञ्जनया बोध्यते, न एव शब्दशक्तिमूलध्वनिसलक्ष्यस्थल इति प्राचीनाभिमत सिद्धान्तं मतभेदेन समालोचयितुमुपक्रमते—

तत्र केचिदाहुः—नानार्थस्य शब्दस्य सर्वेष्वर्थेषु सकेतग्रहस्य तुल्यत्वाच्छ्रुतमात्र एव तस्मिन् सकलानामर्थानामुपस्थितौ, शब्दस्यास्य कस्मिन्नर्थे तात्पर्यमिति संदेहे च सति, प्रकरणादिकं तात्पर्यनिर्णायक पर्यालोचयत, पुरुषस्य सति तन्निर्णये, तदात्मकपदज्ञानजाया एकार्थमात्रविषयायाः पुनः पदार्थोपस्थितेरनन्तरमन्ययबोध इति नये द्वितीयायाः पदार्थोपस्थितेः प्राथमिक्या इव न कुतो नानार्थगोचरतेति प्रकरणादिज्ञानस्य तदधीनतात्पर्यनिर्णयस्य वा पदार्थोपस्थितौ प्रतिबन्धकत्वं याच्यम्, अन्यथा शब्दबुद्धेरपि नानार्थविषयत्वापत्तिः ।

नानार्थकशब्दस्थले केपाचिदभिमतोऽन्यवोधप्रकार प्रदर्श्यते—नानार्थस्येत्यादिना । अयमाशयः—नानार्थकशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमं सर्वेषामर्थानामुपस्थितिः (स्मृतिः) जायते, तत्तन्मूलार्थनिरूपितमकेतस्थ तस्मिन् शब्दे समानरूपेण गृहीतत्वान् । ततः 'अत्र कस्मिन् अर्थे वक्तुस्तत्पर्य'मिति सन्देह उन्पद्यते श्रोतुः । अथ श्रोता सन्देहनिवृत्त्यर्थं तात्पर्यनिर्णायकं प्रकरणादिकं पर्यालोचयति । पर्यालोचनेन च तेन तात्पर्य-निर्णयो जायते । तदनन्तरं पुनरेकार्थमात्रविषयकोपस्थितिद्वारोपस्थितार्थविषयकान्वयबोधो भवतीति अत्र । ननु हेतुभूतस्य पदज्ञानस्य क्षणिकतया विनश्यत्वेन कथमेकार्थविषयिणो पुनः पदार्थोपस्थितिरित्यत आह—तदात्मकेति । तात्पर्यज्ञानात्मकेति तदर्थः । 'पयो रमणीयम्' इत्यादौ सन्देहनिवर्तनाय त्रियमाणे 'अत्रत्यं पयः पदं दुग्धतात्पर्येणोच्चारितम्' इत्याकारके तात्पर्यनिर्णये पय आदिकं पदं भासते इति तत्तात्पर्यज्ञानेन पदज्ञानान्मकं सम्पद्यते इति तात्पर्यम् ।

ननु कथमयं द्वितीयोपस्थितिरैकार्थमात्रविषया ? प्राथमिक्यामिव तत्रापि सर्वेऽर्था कुतो न भासेरन् इत्यत आह—प्रकरणादिज्ञानस्येति । इमत्र रहस्यम्—द्वितीयस्यानुपस्थितौ प्रकरणादिनिर्णीततात्पर्यविषयोभूत एक एवार्थो भासते नान्य, प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वमधीनम् । ननु व्यवहिततयोपस्थितिस्थले नश्यस्य तस्य प्रतिबन्धकत्वमप्य-

वर्तित्यत आह—सदर्थीनेति । प्रकरणज्ञानस्य नष्टत्वेऽपि तत्त्वान्यतात्पर्यनिर्णयोपस्थितिका-
लीनस्य प्रतिबन्धकत्वं सम्भवतीति भावः । नानार्थकपदजन्यस्तदन्यार्थविषयकोपस्थिति
प्रति तदर्थविषयकस्तात्पर्यनिर्णयः प्रतिबन्धक इत्याकारकः प्रतिबन्ध—प्रतिबन्धकभाव आस्थेय
इति सरलार्थः । अन्यथेति । उक्तप्रतिबन्ध—प्रतिबन्धकभावोपस्थितिकारे इत्यर्थः । उपस्थिते-
रप्रतिबन्धे उपस्थितानामर्थानां शब्दबोधे भाननियमेन नानार्थस्यले शब्दबोधोऽपि नानार्थ-
विषयक आपतेत्, अनुभवसिद्धय तत्र तात्पर्यनिर्णयकार्यमात्रविषयकशब्दबोधः, अत उक्त-
प्रतिबन्ध—प्रतिबन्धकभावोपस्थित्यमज्ञीकार्य इति तात्पर्यम् ।

अब शब्दशक्तिमूलध्वनि के विषय में विचार करते हैं—तब केनित हृद्यादि से । मम्मट
आदि प्राचीन आलंकारिकों का मत है कि शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण वहाँ ही
होता है, जहाँ अनेकार्थकशब्दों की अभिधाशक्ति प्रकरण आदि के द्वारा एक अर्थ में
नियन्त्रित हो जाती है—अर्थात् वैसे स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ वाच्य न होकर शब्द-
निष्ठपञ्जावृत्ति से व्यञ्ज्य होता है, उसी को शब्दशक्तिमूलध्वनि कहते हैं । इस
मत का मूलभूत आधार क्या है ? इसी का विचार इस प्रकरण में मतभेद सहित किया
गया है । इस प्रसंग पर सर्वप्रथम नानार्थकशब्दों से होने वाले बोध की रीतिमें दिल-
लाई गई है । नानार्थकशब्दों में समांगरूप से सभी अर्थों की शक्ति ज्ञात रहती है—
ज्यादा हम जानते रहते हैं कि हरिश्चन्द्र विष्णु, सूर्य, अश्व, सिंह आदि सभी अर्थों का
वाचक है । अतः वस तरह के शब्दों के श्रवण होने पर उन सभी अर्थों का स्मरण एक
साथ हो आता है । फिर यह सन्देह उत्पन्न होता है कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में
है । अर्थात् वक्ता ने किस अर्थ का बोध कराने के लिये वहाँ इस नानार्थक शब्द का
प्रयोग किया है । इस सन्देह की निवृत्ति के लिये श्रोता वक्ता के तात्पर्य को निर्णयित
करनेवाले प्रकरण आदि की पर्यालोचना करता है, जिससे उक्त सन्देह की निवृत्ति हो
जाती है । अर्थात् यह निश्चितरूप से ज्ञात हो जाता है कि वक्ता ने वहाँ अमुक
नानार्थक पद का प्रयोग अमुक अर्थ का बोध कराने के लिये ही किया है । इसके बाद
उस एकमात्र अर्थ की—जो प्रकरण पर्यालोचन से वक्तुविवक्षित-ज्ञात हो चुका रहता
है—पुन उपरिपति (स्मृति) होती है । यदि आप यहाँ यह शंका करें कि किसी अर्थ
की स्मृति में उस अर्थ के बोधक पद का ज्ञान कारण होने के नाते अपेक्षित होता है,
और यहाँ जो पद का ज्ञान (श्रवण) हुआ था, वह मध्य में बहुत समय के व्यवधान
हो जाने से नष्ट हो जायगा, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि से अनिरिक्त सभी ज्ञान दो षण मात्र
रहकर नष्ट हो जाते हैं, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त है । ऐसी स्थिति में पुनः अर्थ स्मरण
की बात कैसे कहते हैं ? तो इसका समाधान यह है कि मध्य में जो 'अमुक पद को अमुक
अर्थ का बोध कराने के लिये वक्ता बोला है' इत्याकारक तात्पर्य निर्णय हुआ है, उसमें
वह नानार्थक पद भी भासित होता है, अतः वह निर्णय ही पदज्ञानरूप सिद्ध हो जाता
है, फिर पुनः उस अर्थ के स्मरण होने में कोई बाधा नहीं होगी । इस तरह से पुनः उस
एकमात्र अर्थ के स्मरण होने के अनन्तर उस एक मात्र अर्थ का अन्वयबोध होता है,
यह नानार्थक शब्दस्थल में शब्दबोध की एक रीति है । यद्यपि इस रीति में यह एक
शका की जा सकती है कि जैसे नानार्थक शब्द के श्रवण के अन्वयवहितोत्तरक्षण में होने-
वाले प्रथम पदार्थ स्मरण में उस पद के सभी (प्राकरणिक अप्राकरणिक) अर्थ विषय होते
हैं अर्थात् यह स्मरण सर्वार्थविषयक होता है, वैसे तात्पर्यनिर्णयोत्तरकालिक द्वितीय
पदार्थस्मरण में भी वे सभी अर्थ विषय क्यों नहीं होते ? तो इसका उत्तर यह है कि
प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा (यदि कहें कि दो षणमात्र रहने वाला प्रकरण आदि का
ज्ञान तो नष्ट हो चुका रहेगा, तब) तत्प्राप्त होनेवाला तात्पर्य निर्णय—जो उस द्वितीय
स्मरण की पीठ पर वर्तमान रहेगा—उन अप्राकरणिक अर्थों के स्मरण में प्रतिबन्धक हो

जायगा, अतः द्वितीय स्मरण प्राकरणिक अर्थमात्र विषयक ही होगा, अप्राकरणिकार्थ-विषयक नहीं। यदि ऐसा प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव नहीं माना जाय तो शब्दबोध भी उन सभी (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) अर्थों का मानना पड़ेगा, जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।

उक्तान्वयबोधवसानुसारेण 'संयोगो विप्रयोगश्चे' त्यादिकारिकांश उगमयति—

अत एवोक्तम्—'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति। अनवच्छेदे तात्पर्य-संदेहः। विशेषस्मृतिरेकार्थमात्रविषया स्मृतिः।

अत एवेति। नानार्थस्थले शब्दबोधवसानुसारेण उच्यते—'उक्तमिति'। 'संयोगो विप्रयोगश्चेत्यादिहरिकारिकायामिति शेषः। अनवच्छेदशब्दार्थमाह—तात्पर्य-सन्देह इति। विशेषस्मृतिपदार्थं स्पष्टयति—एकार्थेति। अर्थभाव—उच्यते—नानार्थक-शब्दस्थले संकेतितसकलार्थोपस्थित्यनन्तरं सति तात्पर्यसंदेहः, भ्रमोपादयः स्वज्ञानाधीन-तात्पर्यनिर्णयद्वारा तात्पर्यविषयार्थतिरिक्तनकेतितार्थविषयकोपस्थिते प्रतिबन्धकरणेनैकार्थ-मात्रविषयकोपस्थिते कारणानि भवन्ति।

पूर्वोक्त अन्वय बोध की रीति को प्रमाणित करने के लिये प्राचीनोक्त कारिका की सदनुसार व्याख्या करते हैं—एव इत्यादि से। नानार्थकपदस्थल में उच्यते से शब्दबोध होने के कारण ही कहा गया है कि—वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है, इस तरह के संदेह होने पर संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, प्रयोजन, प्रकरण आदि एक अर्थमात्र विषयक द्वितीय स्मरण के कारण होते हैं—अर्थात् नानार्थक शब्दों के ग्रहण से, सभी संकेतित अर्थों की उपस्थिति होने के बाद, तात्पर्य संदेह होने पर, संयोग आदि, ज्ञात होकर, तात्पर्य निर्णय द्वारा, अप्राकरणिक अर्थों की उपस्थिति को रोक कर, एक प्राकरणिक अर्थमात्र की, पुनः उपस्थिति के कारण होते हैं।

उक्तविचारसरणेः प्रकृतोपयोगित्वं दर्शयति—

इत्थञ्च मुरभिमांसं भक्षयतीत्यादेर्वाक्याज्जायमाना द्वितीया प्रतीतिर्गवाद्युप-स्थितेरभावात् कथं स्यादिति तदुपस्थित्यर्थं व्यञ्जनाभ्यापारोऽभ्युपेयः।

इत्थञ्चेति। उच्यते—नानार्थकशब्दस्थले तात्पर्यविषयीभूतैकार्थमात्रविषयकोपस्थितौ समर्थितायाम्। द्वितीयेति गवादिविषयिकेत्यर्थः। कथं स्यादिति। तात्पर्यज्ञानस्य प्रति-बन्धकस्य सत्त्वादिति भावः। अयमाशयः—यदा मुग्धमिमांसं भक्षयत्यावुत्तादौ शालकादि 'मुरभिमांसं भक्षयती'ति वाक्यं प्रयुङ्क्ते, तदा तत्र तस्य वाक्यस्य 'सौरभमयं मांसम्, मुरभे (गौ) मांसम्' इति द्वावप्यर्थौ वक्तुरभिप्रेतौ तिष्ठतः, बोधोऽपि द्वयोरर्थयोरजायते, अत एव विदग्धस्य श्रोतुरावुत्तादेर्जायमानावुगुप्सा समुपपद्यते, इति वस्तुस्थितिः। परन्तु तत्राश्लेषार्थ-विषयकोपस्थितिः भोजनरूपप्रकरणज्ञानजन्यतात्पर्यनिर्णये न प्रतिबन्धिततः दविषयको बोधोऽभिधया न शक्यते सम्पादयितुमिति तदर्थं व्यञ्जनाभ्यापार-स्वीकार आवश्यकः। एवमादिरेव शब्दशक्तिमूलध्वनेर्लक्ष्यस्थल इति प्रोक्तप्रकरणस्य चरमं विवक्षितमवसेयम्।

उक्त विचार से निकलने वाले प्रकृतोपयोगी निष्कर्ष का निर्देश करते हैं—इत्यादि से। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जब शाले आदि ऐसे—जो गाली देने के अधिकारी रहते हैं, व्यक्ति—वहनोई आदि ऐसे व्यक्ति, जिन्हें गाली दी जा सकती है—के प्रति 'मुरभिमांसं खाता है' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते हैं, तब वक्ता का 'गाय का मांस खाता है' इस अर्थ का बोध कराना भी अभीष्ट रहता है। परन्तु अभिधा-वृत्ति से उस अर्थ का बोध हो नहीं सकता, क्योंकि उक्त रीति से द्वितीय उपस्थिति

सुगन्धित मांसरूप अर्थ की ही होगी, गोमांस की नहीं, और जिस अर्थ की उपस्थिति नहीं होगी, उसका अन्वयबोध हो नहीं सकता, क्योंकि अन्वयबोध के प्रति उपस्थिति को कारण माना गया है। अतः वहाँ उस-स्थिति में गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यञ्जना व्यापार मानना पड़ेगा अर्थात् वहाँ गोमांसरूप अर्थ शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि (व्यङ्ग्य) कहलायागा।

ननु नानार्थकशब्देषु नानार्थनिरूपिता एकैव शक्तिरिति पक्षाद्वैक्यरे भवदुष्करीत्या व्यञ्जनावृत्तेरावरयकत्वमास्ताम्, अथ यदि नानार्थनिरूपिता नानाशक्तिर्नानार्थकेषु स्वीक्रियेत, तर्हि तु सम्भवत्वमिदमेव निर्वाह इति शङ्कते समाधत्ते च—

अथैकया शक्त्या प्राकरणिकार्थोपस्थितेरनन्तरं द्वितीयया शक्त्या द्वितीयार्थोपस्थितिस्तथापि स्यादिति चेत् ? न स्यादेव, प्रकरणादिज्ञानस्यप्रतिबन्धकस्यानुपरमात् । अन्यथा प्राकरणिकार्थोपस्थितावेवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य विषयत्वं स्यात् ।

सथापीति । प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपीत्यर्थः । तस्य पूर्वशक्त्या पुनरुपस्थितौ कृतार्थत्वादिति भावः । प्रकरणादिज्ञानस्येति तात्पर्यनिर्णयस्याप्युपलक्षणम् । अनुपरमादिति । अनाशादित्यर्थः । सत्त्वादिति यावत् । अथ नानार्थकशब्दस्थले नानाशक्तिः स्वीक्रियते, स्यात् न 'सुरभिमास'मित्यादौ तात्पर्यनिर्णयनाप्राकरणिकाश्लोकार्थविषयकोपस्थितेः प्रतिबन्धात् एकया शक्त्या प्राकरणीकसौभमयमासस्वरूपमात्रोपस्थितावपि द्वितीययाऽभिधाराशक्त्यावाप्राकरणिकाश्लोकार्थविषयकस्मृतिर्भवेत् तत्र चोक्तप्रतिबन्धकज्ञानमस्ति त्वमेव, तस्य प्रथम-प्रतिबन्धनेन क्षीणसामर्थ्यात् स्यात् न व्यञ्जनाव्यापारो निष्फल इति शङ्काया समाधानमाह— न स्यादेवेति । अयंभाव—प्रतिबन्धकज्ञानं यावत्तिष्ठति, तावत्प्रतिबन्धं करोत्येव, न तस्य प्रथमप्रवृत्त्या कृतार्थता, क्षीणसामर्थ्यता वा भवतीति द्वितीययाभिधाराशक्त्या विक्षीर्ण्यमाणामपि अप्राकरणिकाश्लोकार्थविषयकस्मृतिः प्रतिबन्धीयादेव तावत्कालपर्यन्तं वर्तमाना प्रतिबन्धकीभूतस्तात्पर्यनिर्णयः । अन्यथा प्रतिबन्धेतरार्थाया प्रथमशक्तिजन्या प्राकरणिकार्थोपस्थितिस्तस्यामेव द्वितीयावृत्तौ प्रथमशक्त्येवाप्राकरणिकोऽश्लोकोऽप्यर्थः किमिति न विषयी भवेत् ? सथात्वे च द्वितीयशक्तिस्वीकार एव किमर्थः ? एवञ्च प्रतिबन्धकज्ञाने विद्यमाने प्रतिबन्धोऽभ्युपेय एवेति द्वितीयशक्त्यापि नैष्ठसिद्धिसम्भावना । तथा च शक्तेर्नात्ममप्रामाणिकम्, प्रामाणिकत्वे वा तस्य, संकुचितस्थलविषयकत्वमेवेति भावः ।

नानार्थक शब्दों में उन सभी अर्थों—जिनका उन शब्दों से बोध होता है—की एकशक्ति है, इस मत के अनुसार ऊपर कही गई व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकतावाली बात ठीक हो सकती है, पर यदि उन अर्थों की ध्रुव-ध्रुव अनेक शक्ति नानार्थक पदों में है, यह मत माना जाय, तब तो अभिधावृत्ति से ही निर्वाह हो जाने से व्यञ्जना की आवश्यकता वहाँ नहीं होगी, इस तरह की सझा और उसका समाधान अब करते हैं—अब इत्यादि से । तात्पर्य यह है कि नानार्थक शब्दों में अनेक अर्थनिरूपित अनेक अभिधा-शक्ति को मान लेने पर 'सुरभि मास' स्यात् है' इत्यादि स्थल में तात्पर्य निर्णय से भ्रमा, करणिक गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण, एक अभिधा-शक्ति से प्राकरणिक सुगन्धित मांसरूप अर्थमात्र की उपस्थिति भले ही हो, पर उसके बाद द्वितीय अभिधाशक्ति से ही उस अप्राकरणिक गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति होगी, उक्त प्रतिबन्धक तो प्रथम उपस्थिति में उसे मासित होने से रोक कर कृतार्थ हो चुका अब उसमें प्रतिबन्ध का सामर्थ्य कहाँ ? यह है शङ्का करनेवालों का अभिप्राय । उत्तर देनेवालों का आशय यह है कि—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इस द्वितीय शक्तिजन्य

उपस्थितिकाल में भी उक्त प्रतिबन्धक जब वर्तमान है, तब यह प्रतिबन्ध भवरय करेगा, द्वितीयशक्ति से भी अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति नहीं होने देगा। यह बात निर्भूलक है कि—एक बार प्रतिबन्ध कर लेने पर प्रतिबन्धक कृतार्थ हो जाता है अथवा उसका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है, अस्तुत्त प्रतिबन्धक जब तक रहता है, तब तक बार-बार प्रतिबन्ध करता ही रहता है। अन्यथा उक्त द्वितीय शक्ति की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी? प्रथम शक्ति से ही जो प्रथम प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी में द्वितीय बार अप्राकरणिक अर्थ भी क्यों नहीं भासित हो जायगा? प्रतिबन्धक तो आप के हिसाब से एक बार प्रतिबन्ध कर चुकने के कारण अपना सामर्थ्य खो चुका रहेगा। अतः प्रतिबन्धक के रहने पर प्रतिबन्ध मानना ही पड़ेगा, जिससे द्वितीय शक्ति से भी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती, फिर यह द्वितीय शक्ति की कल्पना ही अप्रामाणिक है। यदि प्रामाणिक भी हो, तो यही कहना पड़ेगा कि वह कुछ विशेष स्थलों पर ही मान्य है, सर्वत्र नहीं।

ननुत्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावाद्भीकारे वैयञ्जनिकाप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितेरपि कुतो न प्रतिबन्ध इत्याशङ्क्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादिज्ञानस्य तादृशपदजन्यार्थोपस्थितिसामान्य एव प्रतिबन्धकत्वाद्ध्यक्त्याऽपि कथमर्थान्तरोपस्थितिरिति वाच्यम्, धर्मिप्राहकमानेनाप्राकरणिकोपस्थापकतयैव तादृशव्यक्तेरुल्लासात्तदजन्योपस्थितिं प्रत्येव प्रकरणादिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्। व्यक्तिज्ञानस्योत्तेजकत्वकल्पनाद्वा।

तादृशेति प्राकरणिग्राहिभेत्त्यर्थः। अर्थपदार्थान्वय्यर्थकं पदमेतत्। व्यक्तयेति व्यञ्जनयेत्यर्थः। अर्थान्तरेति अभिधातृत्यनुपस्याप्यर्थेत्यर्थः। धर्मिप्राहकमानेनेति। धर्मी व्यञ्जना तदप्राहक मानम् अनुभवसिद्धानानार्थस्यस्त्रीयाप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थिति, तद्रूपेण प्रमाणेनेत्यर्थः। तादृशेति अर्थान्तरोपस्थापकेत्यर्थः। तदजन्येति व्यञ्जनादृत्यजन्येत्यर्थः। विनिगमनभावादाह—व्यक्तिज्ञानस्येत्यादि।

सामान्यतो नानार्थकपदजन्याप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितिं प्रति प्रकरणादिज्ञानस्य तज्जन्यतान्पर्यन्तिर्निर्यस्य वा प्रतिबन्धकत्वे व्यञ्जनयापि अप्राकरणिकार्थविषयकोपस्थितिर्न स्यादिति शङ्काया, धर्मिप्राहकमानेनोक्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावपटकप्रतिबन्धकत्वे व्यञ्जनादृत्यजन्येति निवेशेन न वैयञ्जनिकोपस्थितिप्रतिबन्ध इति समाधान बोध्यम्।

अथवा अस्तु सामान्य एव प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव, मास्तु न व्यञ्जनादृत्यजन्यत्वनिवेश, तथापीष्टसिद्धि सम्भवतोत्याह—व्यक्तिज्ञानस्येत्यादि। अथभाव—नानार्थकपदजन्याप्राकरणिकार्थोपस्थितिं प्रति तदर्थनिरूपितनानार्थकपदनिष्ठ व्यञ्जनाज्ञानस्योत्तेजकत्वमप्रीत्य तादृशोत्तेजकभावविशिष्टोक्तप्रकरणादिज्ञानस्योत्तेजकोपस्थितिं प्रतिप्रतिबन्धकत्व कल्पनोपम इति।

अब उक्त प्रतिबन्धक, व्यञ्जनावृत्ति से होनेवाले अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति का प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता इस शका का समाधान करते हैं—न च इत्यादि से। यदि आप कहें कि प्रकरण आदि का ज्ञान अथवा तज्जन्य तात्पर्यनिर्णय, नानार्थक पद के प्राकरणिक से भिन्न सभी प्रकार के अर्थों की (अभिधाजन्य अथवा व्यञ्जनाजन्य) उपस्थितियों का प्रतिबन्धक है, फिर व्यञ्जना से भी उक्त अप्राकरणिक गोमास आदि अर्थों की उपस्थिति कैसे होगी? तो, इसका उत्तर यह है कि जब वेसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति कराने के लिये ही व्यञ्जनावृत्ति का उद्धान माना गया है, तब भी यदि व्यञ्जना से होनेवाली उपस्थिति को उक्त प्रतिबन्धक रोक ही दे, फिर तो व्यञ्जना का उत्थान ही व्यर्थ हो जाय, अतः व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न वृत्ति (अभिधा

आदि) के द्वारा होनेवाली अप्राकरणिकार्यविषयक उपस्थिति है। प्रति ही प्रकरण आदि के ज्ञान आदि को प्रतिबन्धक मानना चाहिए। अथवा यदि आप सामान्यतः अप्राकरणिकार्यविषयक उपस्थिति मात्र के प्रति प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबन्धक मानना चाहें, तो मानिये, पर व्यञ्जना-ज्ञान को उत्तेजक मान लीजिये अर्थात् जैसे चन्द्रकाशतमनिरूप प्रतिबन्धक के रहने पर भी सूर्यकान्तमणिरूप उत्तेजक के बल से दाहरूप कार्य नहीं रुकता, उसी तरह उक्त प्रतिबन्धक के विद्यमान रहने पर भी व्यञ्जनाज्ञानरूप उत्तेजक की महिमा से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति हो ही आयगी, रुकेगी नहीं। स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि उत्तेजकाभावविनिष्ट प्रकरणादिज्ञान को ही प्रतिबन्धक माना जायगा, जिससे व्यञ्जनाज्ञान के रहने पर उक्त अभाव घटित प्रतिबन्धक का स्वरूप ही उपलब्ध नहीं होगा, फिर उपस्थिति को रोके कौन ?

मम्मटस्योक्तविचारानुसारित्व दर्शयति—

एतदेव सर्वमभिसन्धायोक्तम्—

‘अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

संयोगाद्येवाक्यार्थधीकृद्गुणप्रतिरञ्जनम् ॥’

यन्त्रगमपराधोपस्थापनप्रतिबन्ध इति ।

उक्तमिति । वाच्यप्रकाशे मम्मटभट्टेनैति शेष ।

अनेकार्थकस्य शब्दस्याभिधायी संयोगाद्यैर्नियन्त्रितायामन्वय वाच्यस्याध्यश्रावाच्य-स्याप्राकरणिकार्यस्य धी-बोध तत्कारक व्यापार अञ्जनम् व्यञ्जनेत्यर्थः । अनेकार्थकपद-निष्ठाभिधायी संयोगादिकर्तृरनियन्त्रणघात्रान्याधोपस्थापकप्रतिबन्धरूपमवगन्तव्यम् ।

काम्यप्रकाशकार मम्मट ने जो अभिधायक व्यञ्जना का लक्षण किया है उसका अन्वय भी उक्त विचार ही है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनकी कारिका को उद्धृत करते हैं—एतदेव इत्यादि से । मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिधायक व्यञ्जना का लक्षण किया है कि ‘संयोग आदि से अनेकार्थशब्दों की अभिधा (वाचकता) शक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर, अन्यत्र वाच्य होने पर भी नियन्त्रण स्थल में अवाच्य बने हुए अर्थों की प्रतीति करानेवाले शब्दव्यापार का नाम अञ्जन (व्यञ्जना) है ।’ नियन्त्रण का अर्थ यहाँ अप्राकरणिक अर्थों के उपस्थितिकरण का रूक जाना है। अर्थात् ‘सुरभि मास को खाता है’ इत्यादि स्थल में प्रकरणज्ञान आदि प्रतिबन्धक जब गोमांसरूप अर्थ की उपस्थिति को रोक देता है, तब सुगन्धित मांसरूप अर्थ ही अभिधा से उपस्थित होकर जन्मवबोध का विषय होता है, अतः वही अर्थवाच्य कहलाता है, गोमांसरूप अर्थ तो पीछे व्यञ्जना से उपस्थित होकर बोध-विषय होता है, अतः वह शब्दशक्तिमूल व्यङ्ग्य कहलाता है और उसकी उपस्थित करनेवाली शब्दशक्ति अभिधायक व्यञ्जना कहलाती है। इस तरह स्पष्ट है कि मम्मट ने उक्त सभी बातों का अनुमन्धान करके ही यह लक्षण बनाया है ।

नानार्थस्य लीयपदार्थोपस्थितिशब्दबोधकमसंबन्धितान्तरमाह—

अपरे त्वादुः—नानार्थशब्दजशब्दबुद्धौ तात्पर्यनिर्णयहेतुताया अवरयकल्प-त्वात् प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि प्रकरणादभिस्तात्पर्यनिर्णयहेतु-भिरुत्पादिते तस्मिन् यत्र तात्पर्यनिर्णयस्तस्यैवार्थस्यान्वयबुद्धिर्जायते, नान्यस्येति सरणावाश्रीयमाणायां नैकमात्रगोचरस्मृत्यपेक्षा, नाप्यपरार्थोपस्थानप्रतिबन्ध-कत्वकल्पनम् ।

प्रथममिति । तात्पर्यनिर्णयात्प्राप्तित्यर्थः । तस्मिन् इति । तात्पर्यनिर्णये । अयमत्र विशदार्थः—नानार्थशब्दजन्यबोध प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वमवश्य कल्पनीयम्, अन्यथा

‘हरि’रित्यादौ विष्णुविषयकबोधेच्छयोच्चरितत्वाभावज्ञाने अन्य (सिद्धादि) बोधेच्छयोच्चरितत्वज्ञाने वा विष्णुविषयकबोधोपपत्तिः । न चेष्टोऽसौ बोध इति वाच्यम्, अनुभवविरोधात् । न च तत्र तादृशबोधवारणायोरुक्तज्ञानयोः प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यमिति वाच्यम्, तदपेक्षया हरिपदजन्यविष्णुविषयकबोधं प्रति—‘इदं हरिपदं विष्णुबोधेच्छयोच्चरितम्’ इत्यादिरुक्तात्पर्य-ग्रहस्य हेतुत्वकल्पने एव लाघवात् । एवं सिद्धे तात्पर्यनिर्णयस्य शाब्दबोधहेतुत्वे नानार्थक-शाब्दध्वनानन्तरं संकेतज्ञस्य पुरुषस्य प्रथमं सर्वेऽर्था उपतिष्ठन्ते, तदस्तात्पर्यसंदेहो जायते ततश्च प्रकरणादिभिस्तात्पर्यनिर्णयकारणैस्तात्पर्यनिर्णयं समुत्पाद्यते, तदनन्तरं तात्पर्यविषय-स्यैवार्थस्यान्वयबोधो भवति नान्यस्य, इत्यत्र तात्पर्यविषयीभूतस्यैवार्थस्यान्वयबोधोपपत्त्यर्थं पूर्वकल्पे समाभिताया एकमात्रविषयस्मृत्यनेपिका, नापि द्वितीयोपस्थितौ तात्पर्यविषयेतरार्थ-भानवारणाय तात्पर्यनिर्णयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षा इति ।

अब नानार्थक शब्दों से होनेवाले शाब्दबोध की रीति के सम्बन्ध में द्वितीय मत को उपस्थित करते हैं—अपरे तु इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि कम से कम नानार्थक शब्द से होनेवाले शाब्दबोध के प्रति स्वतन्त्ररूप से तात्पर्य निश्चय को कारण मानना आवश्यक है, अन्यथा जब श्रोता जानता रहता है कि वक्ता ने विष्णु का बोध कराने के लिए हरिपद का प्रयोग नहीं किया है, अथवा यही जानता रहता है कि वक्ता सिंह भादि (विष्णु से भिन्न) का बोध कराने की इच्छा से हरिपद बोला है, तब भी हरिपद ध्वन के बाद उस श्रोता को विष्णु का बोध हो जाना चाहिये, क्योंकि शक्तिज्ञान आदि सभी (शाब्दबोध के) कारण छुटे ही हुए हैं। यदि आप कहें कि कौन कहता है कि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता ?—होता ही है, तो यह तर्क मान्य होने योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में विष्णु का बोध नहीं होता ऐसा ही लोगों का अनुभव है, विष्णुविषयक बोध के प्रति ‘यह हरिपद विष्णु का बोध कराने के लिए वक्ता से बोला गया है’ इत्याकारक तात्पर्यनिश्चय को कारण मानने पर तो उक्त स्थिति में विष्णुविषयक बोध का न होना ठीक बनता है, क्योंकि अन्य कारणों के रहने पर भी उक्त तात्पर्य निर्णयरूप कारण का उपस्थिति में अभाव है। इस तरह तात्पर्यनिश्चय की शाब्दबोध-हेतुता सिद्ध हो जाने पर पूर्व मत में जो प्राकरणीक अर्थमात्र की द्वितीय बार स्मृति मानी गई है, उसकी अपेक्षा नहीं रह जाती और न रहती है आवश्यकता, अप्राकरणीक अर्थों की उपस्थिति में प्रकरणादिज्ञान के प्रतिबन्धकत्व कल्पना की, क्योंकि नानार्थक शब्द-ध्वन के बाद उन सभी प्राकरणीक तथा अप्राकरणीक, अर्थों—जिनकी शक्ति नानार्थक-शाब्द में गुहीत है—की उपस्थिति (स्मृति) होगी, (यहाँ तक पूर्वमत में भी मान्य है) पर अन्वयबोध होगा उन उपस्थित अर्थों में केवल प्राकरणीक का ही, क्योंकि शाब्दबोध के कारणों में अन्यतम तात्पर्यनिर्णय उसीके अनुकूल है और यह अनुकूलता इसलिए है कि प्रकरणज्ञान ही तात्पर्य का निर्णायक होता है और प्रकरणज्ञान ‘सुरमिमास’ इत्यादि स्थान पर सुगन्धित मास के समान किसी एक ही अर्थ के विषय में रहता है यह तो स्पष्ट ही है। इस मत में पूर्वमत की अपेक्षा लाघव है क्योंकि अभिधान्य अप्राकरणीकार्थविषयक बोध-वारण के लिए पूर्व मत में प्रकरणज्ञान में अप्राकरणीकार्थो-पस्थिति की प्रतिबन्धकता माननी पड़ती थी और प्राकरणीकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मृति स्वीकृत करनी पड़ती थी, इस मत में शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिश्चय को कारण मान लेने से उक्त बोध-वारण अन्यथा ही सिद्ध है, अतः उन दोनों में एक भी नहीं माननी पड़ती ।

एतद्वितीया शाब्दबोधोपपादनेऽपि व्यञ्जनावृत्तेरावश्यकत्वं दर्शयति—

एव च प्रागुपदर्शितनानार्थस्थले प्रकरणादिज्ञानाधीनात्तात्पर्यनिर्णयात्प्राकर-

णिकार्थशब्दबुद्धौ जगतायामतात्पर्यविषयाऽपि शब्दबुद्धिस्तस्मादेव शब्दाज्जाय-
माना कस्य व्यापारस्य साध्यत्वमवलम्ब्यताम्, अतः व्यञ्जनात् ।

एवंचेति । प्रमुक्तरोत्या प्रथमं नानार्थशब्दादनेकार्थोपस्थानेऽपि तात्पर्यविषयार्थस्यैव
शब्दबोधविषयतासिद्धौ चेत्यर्थः ।

प्रागुपदर्शितेत्यादि । 'सुरभिमांसं भक्ष्यतीत्यादावित्यर्थः । अतः इति विनेत्यर्थः ।
तात्पर्यनिर्णयस्य शब्दबोधे कारणत्वेन भोजनप्रकरणे शालग्रामपुष्करितात् 'सुरभिमांसं भक्ष-
यतीति' वाक्यात् सौरभमयमांसमक्षणरूपत्वैवार्थस्य शक्त्यान्वयबोधः । निवारयिषितश्च
तत्र वस्तुगोमांसभक्षणरूपार्थविषयको बोधोऽपि । स च शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाङ्गीकारमन्तरा
न साधयितुं शक्य इति भावः ।

इस द्वितीयमत के अनुसार भी व्यञ्जना की आवश्यकता दिसलाते हैं—एव च
इत्यादि से । इस तरह शब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेने पर 'सुरभि-
मांस' को खाता है' इत्यादि नानार्थक शब्दस्थल में भोजनरूप प्रकरण के ज्ञान से 'यहाँ
वक्ता ने सुगन्धित मांस का बोध कराने की इच्छा से सुरभिमांस' पद का प्रयोग किया
है' इत्याकारक वस्तुतात्पर्य के निर्णय हो जाने के बाद उस तात्पर्यविषयीमूल अर्थ का ही
शब्दबोध अभिधावृत्ति से होता है, अप्राकरणिक गोमांस का नहीं, और अनुभव कहता
है कि वहाँ उस सुरभिमांस शब्द से ही अप्राकरणिक गोमांस का भी बोध होता है,
फिर उसके बोध को सिद्ध करने के लिये व्यञ्जना के अतिरिक्त उपाय ही क्या है ? अर्थात्
शब्दबोध की इस द्वितीय शैली में भी नानार्थस्थल का अप्राकरणिक अर्थ शब्दशक्ति-
मूल स्वप्नय का उदाहरण होता है ।

'सुरभिमांस' नित्यादौ गोमांसभक्षणरूपार्थविषयकबोधस्य शक्तिसाप्यत्वमपीतिरस्तमपि
शब्दतो निरस्यति—

न च शक्तित्वाध्या सेति वाच्यम्, तद्धीनबोधं प्रति तात्पर्यनिर्णयस्य
हेतुत्वात् ।

सेति । नानार्थकशब्दजन्यातात्पर्यविषयार्थबुद्धिरित्यर्थः । अन्यदप्रापेक्षितं वषण्यं
पूर्वमुक्तमेव ।

नानार्थस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधावृत्ति से नहीं हो सकता, यह
बात अर्थात् पहले भी कही जा चुकी है, पर अब उसी बात को शब्दतः कहते हैं—न च
इत्यादि से । नानार्थक शब्द से होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधावृत्ति से सिद्ध
नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान
लिया गया है ।

ननु व्यञ्जनयापि कथमतत्पर्यविषयार्थबोधः, वैयञ्जनिकबोध प्रत्यपि तात्पर्यनिर्णयस्य
हेतुताकल्पनादित्यत आह—

व्युत्सयधीनबोधस्तु नावश्यं तात्पर्यज्ञानमपेक्षते ।

नावश्यमिति । नियमेन नेत्यर्थः । यत्रानेकव्यङ्ग्यसंभावना, तत्र तु वैयञ्जनिकबोधेऽपि
तात्पर्यनिर्णय कारणत्वेनापेक्षित एवेति भावः । अतात्पर्यार्थबोधसाधकत्वयैव धर्मिप्रादुक्-
मानसिद्धा व्यञ्जनेति तद्धीनबोधसामान्ये तात्पर्यनिर्णयस्य हेतुत्वकल्पनं बाधपराहृतमिति
भावः । बोधविशेषे तत्सम्भवतीत्यन्यदेतत् ।

यदि आप कहें कि नानार्थक स्थल में जब अप्राकरणिक अर्थ, वक्ता के तात्पर्य का
विषय नहीं रहता, तब व्यञ्जना से उसका बोध कैसे सिद्ध किया जा सकता ? इसका

उत्तर यह है कि हाँ, व्यञ्जना से उसका बोध सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि वैयञ्जनिक बोध के प्रति नियमता तात्पर्यनिर्णय कारण नहीं है। नियमतः से मेरा मतलब यह है कि जहाँ अनेक स्थानों की सम्भावना हो, उनके बोध में भी तात्पर्य निर्णय को कारण माना जा सकता है। आप यहाँ यह भी पूछ सकते हैं कि सभी वैयञ्जनिक बोधों के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण क्यों नहीं माना जा सकता? इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जब उक्त स्थल में अतात्पर्यविषयीभूत अप्राकरणिक अर्थ के बोध कराने के लिये ही व्यञ्जना की कल्पना की गई है, तब उस तरह के बोध में तात्पर्यनिर्णय को कारण कैसे माना जा सकता है?

अनुपबोचन्यास्याने 'सयोगो विप्रयोगचेति हरिकारिकाया, अनेकार्थस्येति मम्मटकारिकायाश्चासंगतिमापाद्य निराकरोति—

नन्वेकमात्रगोचरस्मृतेस्तच्छान्दबुद्धानपेक्षितत्वे 'विशेषस्मृतिहेतवः', इति प्राचा ग्रन्थः कथं संगच्छते? कथं वा प्रकरणादिज्ञानस्यापराधोपस्थानप्रतिबन्धकत्वविरहे संयोगाद्यैरनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकताया नियन्त्रणोक्तिश्चेति चेत्? इत्थम्—स्मृतिशब्दस्य निश्चयपरतया विशेषस्मृतिशब्देन विशेषविषयस्तात्पर्यनिर्णयो गृह्यते। संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रणचैकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयजननद्वारा शब्दबुद्धानुकूलत्वम्। अवाच्यार्थोऽतात्पर्यार्थः। एवं च न ग्रन्थासंगतिरित्यपि वदन्ति।

उक्तिश्चेत्यस्य 'कथं संगच्छते' इत्यप्रत्युक्तम्। यदन्तीति। अन्ये इति भावः। पूर्वस्मिन् कल्पे प्राकरणिकार्थमात्रविषयिणी द्वितीया स्मृति रचिकृतेति तत्र 'विशेषस्मृतिहेतवः' इति हरिकारिकाग्रन्थस्वरसतोऽनुकूलः। एवं तत्र कल्पे प्रकरणादिज्ञानस्यापराधोपस्थिति-प्रतिबन्धकत्वमाशङ्क्यते इति तत्कल्पव्याख्यावसरे प्रदर्शितया रीत्या संयोगादिकर्तृकानेकार्थक-शब्दनिष्ठवाचकतानियन्त्रणपरको मम्मटग्रन्थोऽपि संगतो भवति, परस्मिन् द्वितीयकल्पे एकार्थमात्रविषयकस्मृतेरावश्यकता निरस्ता प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावोऽपि प्रत्याख्यात इति तयोर्ग्रन्थयोरैतद्विन्यासो योजनं सम्भवतीति शङ्काशयः। अस्मिन् कल्पे हरिकारिकास्य स्मृति-शब्दस्य निश्चयपरत्वं व्याख्याय 'तात्पर्यसन्देहे संयोगादयः विशेषविषयकतात्पर्यनिर्णयहेतवो भवन्ति' इति। एव 'संयोगाद्यैर्वाचकताया नियन्त्रण'मित्यस्य एकार्थमात्रविषयकतात्पर्यनिर्णयकरणेन शान्दबोधानुकूलत्वमित्यर्थं विधाय तयोर्ग्रन्थयोर्योजनं सुखेन सम्भवतीति च समाधानाशयो बोध्यः।

अब उक्त द्वितीय मत में 'सयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि हरिकारिका तथा 'अनेकार्थस्य' इत्यादि मम्मटकारिका असंगत हो जायगी, इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि 'सयोगो विप्रयोगश्च' इत्यादि हरिकारिका का वह अंश—जिसमें कहा गया है कि ये सब (संयोग आदि) स्मृति विशेष के कारण होते हैं—प्रथम मत में संगत होता है, क्योंकि उस मत में प्राकरणिकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मृति मानी गई है। इसी तरह 'अनेकार्थस्य शब्दस्य' इत्यादि मम्मटोक्त कारिका में वणित वाचकता नियन्त्रणवाली बात भी उस मत में ठीक जैसी है, क्योंकि उस मत में प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबन्धक मानकर अप्राकरणिक अर्थ स्मरण के रुकने की पद्धति अपनाई गई है। पर इस द्वितीय मत में तो उन दोनों कारिकाओं के वे अंश असंगत ही हो जायगें, क्योंकि इस मत में न एकार्थमात्रविषयक द्वितीय स्मरण माना गया है और न उक्त प्रतिबन्ध प्रतिबन्धकभाव की ही आवश्यकता समझी गई है। इस पूर्व पक्ष के खण्डन

में यह बात कही गई है कि उक्त हरिकारिका में पठित 'स्मृति' शब्द का अर्थ है 'निश्चय', जिससे 'विशेषस्मृतिहेतवः' का अर्थ होता है—विशेषविषयक-तार्पर्यनिर्णय के कारण। अब द्वितीयमत में भी इस अर्थ की असंगति नहीं होती, क्योंकि संयोग आदि के द्वारा तार्पर्यनिर्णय की बात इस मत में भी मानी ही गई है। इसी तरह मम्मट की उक्त कारिका में आई हुई याचकता नियन्त्रणवाली बात का अभिप्राय है कि संयोगादिज्ञान से केवल एक अर्थविषयक तार्पर्यनिर्णय द्वारा अनेकार्थक शब्दनिष्ठवाचकताशक्ति का एकार्थमात्रविषयक शब्दबोध के अनुकूल हो जाना। अब इस अर्थ की भी असंगति द्वितीय मत में नहीं होती, क्योंकि अभिधाजन्य दाब्दबोध को एकार्थमात्रविषयक मान लेने से इस मत में भी उक्त अनुकूलता की रक्षा हो जाती है। द्वितीयमत के अनुसार मम्मटोक्त कारिका उक्त 'अवाच्यार्थधी' में अवाच्यार्थ का अभिप्राय अतार्पर्यार्थ है, जो सर्वथा उपयुक्त है। क्योंकि, नातार्थस्थल में व्यङ्ग्य होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ तार्पर्यविषय रहता ही नहीं है।

ननु वैयञ्जनिकबोधोऽपि पदज्ञानस्य कारणत्वेन शक्तिसाध्यप्राकरणिकार्थबोधानन्तरं तान्-
र्यज्ञानात्मकरूपज्ञानस्य नष्टत्वात् कथं व्यञ्जनयापि अप्राकरणिकार्थबोध इत्याशङ्क्य समाधत्ते—

अथ प्राकरणिकार्थबोधानन्तरं तादृशपदज्ञानस्योपरमात् कथं व्यक्तिवादि-
नाप्यर्थान्तरधीः सूत्रपादेति चेत् ? मैवम्, प्रथमार्थप्रतीतेर्व्यापारस्य सत्त्वाद्-
दोष इत्येके। अर्थप्रतीतौ शक्यतावच्छेदकस्यैव पदस्यापि विशेषणतया भाना-
त्प्राथमिकशक्यार्थबोधस्यैव पदज्ञानत्वादित्यपरे। आवृत्त्या पदज्ञानं सुलभ-
मित्यपि कश्चिन्।

सादृशेति । तत्पर्यज्ञानात्मकेत्यर्थः । तस्यैव सन्निहितत्वादिति भावः । शंकरतत्त्वा-
शयोऽप्यतएव एव स्फुटोक्तम् । तत्तदलाशयस्त्वेवमवगन्तव्यम्—तत्पर्यज्ञानोत्तरं प्रथमं
प्राकरणिकार्थस्य शक्यता बोधस्ततो व्यञ्जनयाऽप्राकरणिकार्थस्येति श्रुते अद्यपि तृतीयक्षणभा-
विवैयञ्जनिकबोधोपसरे ध्वनिकं तत्पर्यज्ञानात्मकं पदज्ञानं विनष्टमिति सत्यम्, तथापि द्वितीय-
क्षणभावो शक्यार्थबोधरूपस्तदीयो व्यापारस्तु तृतीयक्षणे तिष्ठतीति तद्व्यापारात्मकसंबन्धेन तस्य
सत्त्वाच्च दोषावकाशः । इति एकै प्रथमा इत्यर्थः । अथवा 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः
शब्दानुगमादते । अगुविज्ञमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' इति हर्षकद्विरा पदजन्यार्थबोधे
शक्यतावच्छेदकमिव पदमपि विशेषणतया भासते । तथा न व्यङ्ग्यार्थबोधात् पूर्वक्षणे यः
शक्यार्थबोधो भवेत्, तस्मिन् पदमपि भासते इति अयत्नसिद्धं पदज्ञानमिति भावः ।
इति अपरे मतान्तरत्वादिन इत्यर्थः । कश्चिन् नातार्थकं पदमावर्त्य पदज्ञानमुपपादयति ।
परस्मिन् 'कश्चिदि'त्यनेनाहं चि' सूचिता । तदधीज तु कार्यस्यान्यथाप्युपपत्तौ व्यर्थमावृत्त्या-
त्मकं गौरवमिति बोध्यम् ।

पदज्ञान को जिस तरह अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण माना जाता है, उसी तरह
व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति भी, फिर इस द्वितीय मत में व्यञ्जना से अप्राकरणिक
अर्थ का बोध कैसे होगा, क्योंकि पदज्ञानरूप कारण नहीं है ? इसका समाधान
करते हैं—अथ इत्यादि से। इस द्वितीय मत में, सर्वप्रथम पद का अवगात्मकज्ञान,
तदनन्तर पदार्थोपस्थिति, तदुत्तर तार्पर्यनिर्णय, तदुत्तर अभिधाजन्य प्राकरणिक अर्थ का
शब्दबोध, तदनन्तर व्यञ्जनावृत्तिजन्य अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है यही तो क्रम है।
इस क्रम में शङ्का होती है कि प्रथम पदज्ञान दो चरण तक रह कर सूचीय तार्पर्यनिर्णयचरण
में विनष्ट हो जायगा, एवं पदज्ञानरूप भाव लिया गया तार्पर्यनिर्णय भी अभिधा-
जन्यप्राकरणिकार्थबोधोत्तर चरण में विरत हो जायगा, फिर वैयञ्जनिक बोधचरण में

पदज्ञान नहीं रह सकता, अतः व्यञ्जना से भी अप्राकरणिक अर्थ का बोध कैसे होगा ? इसका प्रधानाचार्यों के मत से समाधान यह है कि तात्पर्यनिर्णय के तिस तृतीयवृत्त में वैयञ्जनिक बोध होता है, उस वृत्त में यद्यपि सीधे तरीके से तात्पर्य-निर्णय नहीं हो पाता, यह बात ठीक है, तथापि द्वितीय वृत्त में जो अभिधा जन्मबोध होता है, वह अन्त में तात्पर्यनिर्णय का व्यापार होता है और वह व्यापार तृतीय वैयञ्जनिक बोधवृत्त में भी रहता है, जिस (संबन्ध) के द्वारा उक्त तात्पर्यनिर्णय भी तृतीयवृत्त में रहेगा, अतः उक्त आपत्ति नहीं दी जा सकती है। अन्य विद्वानों का मत है कि शब्दबोध में जिस तरह शक्यतावच्छेदक (अर्थगतधर्म) भासित होता है, उसी तरह शक्यताशेके विशेषणरूप से पद भी भासित होते हैं, अतः एव भर्तृहरि ने कहा है—'न सोऽस्ति' इत्यादि। (पूरी कारिका समुक्त टीका में खेल्हिये) अर्थात्—'देसा कोई अर्थबोध जगत में नहीं है, जिसके पीछे शब्द नहीं हो। प्रायः सभी अर्थबोध शब्दों से मिश्रित ही होते हैं।' अतः वैयञ्जनिक बोध से पूर्ववृत्त में होनेवाला अभिधाजन्म बोध ही पदज्ञानरूप होता है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नानार्थक पद की भावृत्ति द्वारा पदज्ञान को सुकर बना लिया जायगा।

प्राचीनमतमुपसहरति—

तदित्थं नानार्थस्यलेऽनुरणनीयं व्यञ्जनं शब्दशक्तिमूलम्, शब्दस्य परिवृत्त्य-सहत्वादिति ध्वनिकारानुयायिनो वर्णयन्ति ।

तदिति। तत् तस्मात् पूर्वोक्तव्याख्यानादित्यर्थः । इत्थम् पूर्वोक्तप्रकारेण । अनुरणनीयम् सलक्ष्यक्रमम् । व्यञ्जनम् ध्वनिम् । शब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वादिति शब्दशक्तिमूलत्वे हेतुः । पर्यायान्तरेणऽबोधनादिति तदर्थः । ध्वनिकार आनन्दवर्धनी ध्वन्यालोकप्रणेतृता, तदनुयायिनो मम्मठभट्टादयः । शब्दशक्तिमूलस्य सलक्ष्यक्रमभेदस्य ध्वनेर्लक्ष्य नानार्थस्यलीयाप्राकारणिकार्थ इति साराशः ।

अब प्राचीन मत का उपसहार करते हैं—तदित्थम् इत्यादि से। इस तरह नानार्थक-शब्द स्थल में जो अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्ज्य होता है, वह अनुरणनीय और शब्दशक्ति मूलक कहा जाता है। अनुरणनीय उसे हमलिये कहा जाता है कि जिस तरह मन्दिर आदि में एक बार किसी वाद्य के शब्द होने पर बाद में भी उस शब्द की प्रतिध्वनि होती रहती है और उस ध्वनि तथा प्रतिध्वनि के मध्य में रहनेवाला अन्तराल स्पष्ट लक्षित होता है, उसी तरह कारणरूप वाक्यार्थज्ञान के बाद जिस वस्तु एवम् अलंकाररूप व्यञ्ज्य का ज्ञान होता है, उन दोनों के बीच का व्यवधान स्पष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार के व्यञ्ज्य को संलक्ष्यक्रम भी कहा जाता है। शब्दशक्तिमूलक उसे हमलिये कहते हैं कि उसके मूल में काम करने वाली व्यञ्जना शब्दनिष्ठ है। यहाँ शब्दशक्ति से अभिधा का ग्रहण उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि यहाँ शक्ति का अर्थ अभिधा किया जाय तो 'अर्थशक्तिमूल' नहीं कहा जाता है, वहाँ शक्ति का अर्थ क्या करेंगे? अतः मेरे विचार से इन दोनों जगहों पर शक्ति का अर्थ व्यञ्जना ही करना चाहिये। यदि आप कहें कि जहाँ शब्दी व्यञ्जना भावी जाती है, वहाँ अर्थ भी तो रहता ही है, फिर उस व्यञ्जना को अर्थनिष्ठ ही क्यों नहीं माना जाय? इसका उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों पर शब्द ऐसे रहते हैं, जिन्हें बदला नहीं जा सकता अर्थात् 'सुरभिमांस' इत्यादि स्थल में सुरभि आदि शब्दों के स्थान में तत्पर्याय सुगन्धि अथवा 'गो' पद नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वे दोनों पद नानार्थक नहीं हैं, अतः मानना पड़ेगा कि शब्द की महिमा से ही वहाँ व्यञ्ज्य हुआ है। जहाँ ऐसे व्यञ्ज्य रहते हैं, जो व्यञ्जक पद के स्थान में पर्यायान्तर के प्रयोग करने पर भी हो सकें, वहाँ मानना पड़ता है कि अर्थ की महिमा व्यञ्ज्य करने में सहायक है, अतः वैसे स्थलों में व्यञ्जना को अर्थनिष्ठ मानकर अर्थशक्ति-

मूल का व्यवहार होता है। इस प्रकरण में उपर दिखाये गये विचार व्यवहार आनन्द-वर्धन के अनुयायी मम्मद आदि के हैं।

अस्मिन् प्रसङ्गे प्रत्यक्षः स्वमतमुपदर्शयितुं पूर्वोक्त मतद्वयं खण्डयति—

अन्ये त्वत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते। यत्तावदुक्तमेकार्थमात्रविषया पदार्थोपस्थिति-स्तदन्वयबोधोऽपेक्ष्यत इति तदसारम्। नानार्थादर्थद्वयोपस्थितावपि प्रकरणादि-ज्ञानाधीनतात्पर्यमहिम्नैव विवक्षितार्थशब्दबोधोपपत्तेः, एकार्थमात्रोपस्थित्य-पेक्षायां मानाभावात्। अपरार्थोपस्थापकसामग्र्याः पदज्ञानस्य सत्त्वेन तदुप-स्थितेरप्यौचित्याच्च।

अत्रेति। अनुपदोक्तमतद्वये इत्यर्थः। प्रत्यवतिष्ठन्ते इति। विरुद्ध प्रतिपाद्यन्तीति तात्पर्यम्। तत्राद्यमते आह—यत्तावदिति। अयं भाव—नानार्थकपदाच्छक्त्या प्राकरणि-कार्यस्यैवान्वयबोधो भवति नान्यस्येत्यनुभवसिद्धं वस्तु। तत्रान्यस्यान्वयबोधः कुतो न भवतीति जिज्ञासायां 'तत्र केचिबाहुः' इत्यारिणोक्ते प्रथममते तात्पर्यनिर्णयोत्तरमेकार्थमात्रवि-षयिणी द्वितीयोपस्थितिर्भवतीत्युक्तम्। तथा चान्यार्थस्यानुपस्थितत्वाच्च तदन्वयबोध इति तदभिप्रायः। परमेतन्न युक्तम्, 'अनेकार्थोपस्थितावपि शब्दबोधकारणीभूतेन प्रकरणादिज्ञान-जन्यतात्पर्यनिर्णयेनैनामीदृशकार्यमात्रविषयकशब्दबोधोपपत्तौ एकार्थमात्रविषयकद्वितीयोपस्थितै-रनावश्यकत्वात्' इति। ननु द्वितीयोपस्थितावेव तात्पर्यज्ञानस्योपयोग इति द्वितीयोपस्थिति-एकार्थमात्रविषयावरयकीत्यत आह—अपरेति। तदुपस्थितेरेपीति। अपरार्थोपस्थिते-रप्यस्य। द्वितीयोपस्थितिस्तुष्यदुद्बुर्जनन्यायेनास्थितापि संकेतितनानार्थविषयिकैव स्यात्, नैकार्थमात्रविषया सकलार्थोपस्थापकसामग्रीभूतस्य पदज्ञानस्य विद्यमानत्वादिति भावः।

अब प्रत्यक्ष प्रकृतप्रसङ्ग में अपना मत बतलाने के लिये पहले पूर्वोक्त दोनों मतों का खण्डन करते हैं—अन्ये तु इत्यादि से। प्रथम मत में कहा गया है कि नानार्थस्थल में प्राकरणिक अर्थ के बोध को सिद्ध करने के लिये तदर्थमात्र की उपस्थिति अपेक्षित है, अतः प्रथम बार सकल अर्थों की उपस्थिति होने पर भी द्वितीय बार प्रथक प्राकरणिक अर्थमात्र की उपस्थिति माननी चाहिये। परन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि जिस उद्देश्य—प्राकरणिक अर्थमात्र का अन्वय बोध हो, अप्राकरणिक अर्थ का नहीं—की सिद्धि के लिये आपका यह प्रयास है, उसकी पूर्ति नानार्थकशब्दजन्य शब्दबोध के प्रति प्रकरणादि ज्ञानाधीन तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेने से हो जाती है, अर्थात् प्रकरण आदि के ज्ञान से होने वाला तात्पर्यनिर्णय प्राकरणिक अर्थबोध को ही उत्पन्न करेगा, अप्राकरणिक अर्थबोध को नहीं, फिर इसके लिये एक अर्थमात्रविषयक द्वितीय उपस्थिति की अपेक्षा करने में कोई प्रमाण नहीं रह जाता। दूसरी बात यह है कि यदि आपके सन्तोष के लिये द्वितीय उपस्थिति मानली जाय, तब भी वह द्वितीय उपस्थिति एक अर्थ विषयक ही होगी सकल अर्थ विषयक नहीं, किन्तु यह असम्भव है, क्योंकि सकल अर्थ की उपस्थिति करानेवाली पदज्ञान आदिसामग्री वर्तमान है। ऐसी स्थिति में द्वितीय उपस्थिति को स्वीकृत कर लेने पर भी अप्राकरणिक अर्थ का अन्वयबोध तभी रहेगा, जब तात्पर्यनिर्णय को नानार्थक पदजन्यशब्दबोध के प्रति धारण माना जायगा। फिर तो द्वितीय उपस्थितिवाली बात निस्तार ही सिद्ध होती है।

सामग्रीविषयनाराक्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादिज्ञानं तदधीनतात्पर्यज्ञानं वा परार्थोपस्थाने प्रतिबन्धक-मिति शक्यं वक्तुम् ? संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्त्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य काप्यदृष्टत्वात्।

पदज्ञानात्मकसामग्र्या सत्त्वेन द्वितीयोपस्थितिपि नानार्थविपर्ययैव स्यादिति वदुक्तम्, तच्च, सामग्रीपटप्रतिबन्धरूपावस्थासामान्यकारणविरहात्, किमत्र प्रतिबन्धमिति चेत् ? प्रकरणादिज्ञानम्, तदधीनतात्पर्यज्ञान वा वस्तुतस्तत्पर्यज्ञानमेवेति शंकायां समाधानमाह— संस्कारेति । अनुभवजन्य संस्कारस्तदुद्बोधकमेवेतद्द्वये विद्यमाने स्मृतिर्भवत्येव, तादृशस्यैव तत्प्रतिबन्ध सकलतन्त्रविद्ध । एवञ्च प्रकृते प्राकरणिप्रार्यस्येवाप्राकरणिकार्थस्यापि सत्केतव्यसमयेऽनुभवो जात एव, तज्जन्य संस्कारस्य समान एव प्राकरणिकाप्राकरणिक-धोर्ययो सुरक्षित श्रोतुरात्मनि सम्प्रति पदज्ञानमुद्बोधकमपि तुल्यमेवेति प्राकरणिका-प्राकरणिकयोरेवस्थितिर्दुर्वारं वेति भावः ।

यदि आप कहें कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थके अन्वयबोधन होने में तात्पर्यनिर्णय का नानार्थकशब्दजन्य शब्दबोध के प्रति कारण होना हेतु नहीं है, किन्तु एकार्थमात्रविषयक द्वितीय पदार्थस्मरण ही है, अर्थात् द्वितीय पदार्थस्मरण, प्राकरणिकार्थमात्र विषयक ही होता है, अतएव अनुपरिचित अप्राकरणिक अर्थ का अन्वयबोध नहीं होता, और द्वितीय पदार्थस्मरण में पदज्ञान आदि सामग्री के रहने पर भी अप्राकरणिक अर्थों का विषय नहीं होने का रहस्य यह है कि प्रकरण आदि का ज्ञात अथवा तदधीन तात्पर्यनिर्णय, अप्राकरणिक अर्थविषयकस्मरण में प्रतिषेधक है । किन्तु, यह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि अनुभवजन्य संस्कार और उस संस्कार के उद्बोधक सामग्री के रहने पर भी स्मरण एक गया हो, ऐसी बात कहीं देती नहीं गई । अर्थात् जब शक्तिज्ञान के अवसर पर प्राकरणिक अप्राकरणिक सभी अर्थों का अनुभव हो चुका है, तज्जन्यसंस्कार आत्मा में सुरक्षित है, तब पदज्ञानरूप उद्बोधक के जुटने पर उन सभी अर्थों का स्मरण नहीं हो, किन्तु एक ही अर्थ का स्मरण हो यह कैसे संभव है ? कहने का सारांश यह है कि अपेक्षित कारण के समवधान में स्मरण नहीं सकता है, उक्त प्रतिबन्धक की बात आशय है ।

अन्यप्रादृष्टस्यापि स्मृतिप्रतिबन्धस्यात्रैवाहीनारे का बाधेत्याक्षिप्य निरस्यति—

अत्रैव स्मृताद्ययं प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभावः कल्प्यते, न स्मृत्यन्तरे इत्यप्य-हृदयङ्गमम्, तादृशकल्पनाया निष्फलत्वात्, अनुभवविरुद्धत्वाच्च ।

आशयः — सफला चेज्जवीनापि कल्पना संभवति, परमियं स्मृत्यन्तरे अदृष्टा केवल नानार्थकस्मृतौ क्रियमाणा नूतना प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावरूपना तु निष्फलेति न संभवत्येव सा । कुत आस्यां कल्पनाया निष्फलत्वमिति चेत् ? तत्कल्पनाद्वारा माधनीयस्य प्राकरणि-कार्यमात्रविषयकबोधस्य सा विनापि शब्दबोधतात्पर्यनिर्णययोनित्येन कार्यकारणभावेनैव सिद्धत्वादिति बोध्यम् । उपायस्योपायान्तरादूपरुत्वात् सा कल्पनापि नानुचितेत्यत आह— अनुभवेति । इयं कल्पना अनुभवविरुद्धापीति भावः ।

यदि आप कहें कि अन्यथा स्मरण का प्रतिबन्ध नहीं देया गया है, तो भले हो न देया गया हो, हम नानार्थक शब्दस्थलीय स्मरण के विषय में ही उक्त प्रतिबन्धक की कल्पना करते हैं ? परन्तु यह भी मन में प्रतीत होने योग्य बात नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने में कोई खास फल नहीं है, अर्थात् इस कल्पना के द्वारा आप नानार्थक पद से प्राकरणिक अर्थमात्र का बोध हो, यही तो निश्चय करना चाहते हैं, किन्तु वह नानार्थक पदजन्य शब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय का कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अन्यथा निर्वाह ही नहीं यह कह कर पहले उसके विषय में सिद्ध किया जा चुका है । दूसरा कारण यह है कि 'स्मृति-प्रतिबन्धवाली' बात अनुभव से भी विरुद्ध है ।

अनुभवविरोधं दर्शयति—

तथा हि नानार्थशक्तिविषयकदृढसंस्कारशालिनां प्रकरणज्ञानवतामपि पयो-
रमणीयमित्यादेर्याक्यात्मयममर्थद्वयोपस्थितिरनुभवसिद्धा । अत एव पयोरम-
णीयमित्यादिवाक्यमकस्मादाकर्णितवन्निः प्रकरणाद्यभिहैरप्रकरणज्ञाः पांसुर-
पादा वक्तुस्तात्पर्यं बोध्यन्ते, नूनमस्य दुग्धे तात्पर्यं शब्दस्य, न तु जल इति ।
यदि च प्रकरणादिज्ञानं नानार्थशब्दाज्जायमानमप्रकरणिकाथोपस्थितिं प्रति
बध्नीयात्तत्कथमेते तदानीमनुपस्थितजलाः प्रकरणज्ञा जलतात्पर्यं निषेधेयुरित्य-
हृदयङ्गम एवायमप्रकरणिकार्योपस्थापनप्रतिबन्धकभावः प्रकरणादिज्ञानस्य ।

दृढसंस्कार इति । संस्कारे दृढत्वञ्च परिपक्वानुभवजन्यत्वम्, तेनापरिपक्वानुभव-
जन्यादृढसंस्कारवतां पयोरमणीयमित्यादिवाक्यात्तत्स्थितिदेकरयैवार्थस्योपस्थितावपि न
क्षतिः । अत एवेति । नानार्थशब्दात्प्रकरणज्ञानमपि अर्थद्वयोपस्थितेऽनुभवसिद्धत्वादेवे-
त्यर्थः । विपक्षे बाधकमुपदर्शयति—यदि चेति । अनुपस्थितजला इति हेतुगर्भं विरोध-
णम् । तदुपस्थितेऽभावादिति भावः । अहृदयङ्गम इति अमनोरम इत्यर्थः, अनुवित
इति भावः । अयमिह सारांशः—एव आदिनान्यर्थके शब्दे दुग्धजलोभयार्थनिरूपित-
साध्याद् शक्तिग्रहो येषां जातः, तेषामात्मनि तच्छक्तिविषयः संस्कारोऽपि सुदृढः समुत्पन्नः,
अतस्ते पयोरमणीयमिति वाक्यमाकर्ण्य नूनमेव दुग्धजलत्वमस्सुभयं वाच्यार्थं स्मरन्ति-
दुग्धप्रकरणज्ञाने विद्यमानेऽपि । अन्यथा श्रुतोक्तवाक्येन दुग्धप्रकरणज्ञानशालिना कैनापि-
विदग्धेन कृतः, उक्तवाक्यं श्रुत्वा तत्तत्प्रत्यक्षलागतान् अत एवाप्रकरणज्ञानं प्रति 'पय'-
पदस्यात्र दुग्धे तात्पर्यं न तु जले' इति वक्तृतात्पर्यबोधनावसरे, जलवाक्यनिषेधोऽसंगतो
भवेत्, भवन्मतानुसारं दुग्धप्रकरणज्ञानेन जलोपस्थिते प्रतिबन्धे प्रकरणस्य निषेध-
शालिनि जलस्यानुपस्थितत्वात् अप्राप्तस्य च निषेधासंभवात् । मन्मते तु सर्वं समजसम्,
सकलार्थोपस्थिते समर्पितत्वात् ।

उक्त अनुभव विरोध का स्पष्टीकरण करते हैं—ग्राहि इत्यादि से । जिसको नानार्थक
स्थल में विविध अर्थनिरूपित शक्तिज्ञान ही कुछ ऐसा अधूरा हुआ है कि संस्कार इव
वहीं हो सका, उनको यदि नानार्थक पद भवण के बाद सभी अर्थों का स्मरण
नहीं होता, तो यह दूसरी बात हुई, पर जिसको नाना अर्थ (जल दूध रूप)
निरूपित शक्ति का ठोस ज्ञान हुआ है, एव उस शक्ति का संस्कार भी सुदृढ है, उनके
सामने जब कोई 'पय रमणीय है' ऐसा वाक्य बोलता है, तब उन्हें प्रकरणज्ञान रहने
पर भी उक्त वाक्य से दूध और जल दोनों अर्थों का स्मरण होता है, यह एक अनुभव-
सिद्ध विषय है । अतएव अकस्मात् उक्त वाक्य को सुननेवाले नवागत अप्रकरणज्ञ व्यक्तियों
को वे प्रकरणज्ञ स्थायी होता, वक्ता के तात्पर्य को समझते हुए कहते हैं कि 'पय' पद का
प्रयोग करनेवाले वक्ता का तात्पर्य दूध में है, जल में नहीं । यदि आप के कपनानुसार
प्रकरणज्ञान नानार्थक शब्द से होनेवाले अप्राकरणिक कार्यविषयक स्मरण को रोक दे,
तो उक्त स्थायी श्रोता को स्वयं जल का स्मरण नहीं होगा, फिर दूसरे को समझाते
समय वह 'जल में वक्ता का तात्पर्य नहीं है, यह निषेध भी कैसे करेगा ? अर्थात् अप्राप्त
का निषेध नहीं हो सकता है । ऐसी स्थिति में प्रकरणादिज्ञान को अप्राकरणिकार्यो-
पस्थिति का प्रतिबन्धक मानना उचित नहीं ।

तात्पर्यनिर्णयशान्दबोधो कार्यवारणभावस्य समर्थकं द्वितीय मतमनुरूपं स्रजयति—

यदधुच्यते प्रकरणादिज्ञानात्प्रकरणिकेऽर्थे तात्पर्यविषयतया निर्जाते तदो-
शान्दबोधानन्तरमतात्पर्यविषयीभूतार्थबोधी जायमानो व्यञ्जनव्यापारसाध्य

इति । तत्र किमय नानार्थस्थले सर्वत्रैव व्यञ्जनोपपत्तिः, आहोस्वित्कचिदेवेति सम्मतम् ? नाहः । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोः शाब्दबुद्धौ सर्वत्राभ्युपगम्यमानायां तात्पर्यज्ञानकारणतायाः कल्पनस्यै नैरर्थव्यापत्तेः

तदर्थविषयशाब्दबोधं प्रति तदर्थविषयकतात्पर्यनिर्णयस्य हतुत्वं 'सन्धवमानये'त्यादिनानार्थस्थले प्रकरणज्ञानेन सैन्यवपदस्य लवणरूपार्थं तात्पर्यनिर्णयात् तस्यैवार्थस्य शक्त्या शाब्दबोधो नाभवत् । एवञ्च यदि कचित् अश्वबोधोऽप्यभिज्ञेतीदृशमवसिद्धम्, तदा तत्र स बोधोऽप्यस्यानुपपन्न इति तदर्थव्यञ्जनान्यापारस्वीकार इति यदुक्तं प्राक्, तत्र विचार्यते-तत्र किमयमित्यादिना । अयमाह — भवदुक्तेऽस्मिन् प्रकारे द्वौ कल्पौ संभवतः, नानार्थकस्थले सर्वत्र व्यञ्जनावृत्तिस्वीकार इत्येकः, कचिदेव तत्स्वीकार इति द्वितीयः, तयोर्मध्ये प्रथमो न युक्तः, सर्वत्र व्यञ्जनावृत्तिरेव प्राकरणिकस्य शक्त्या, अप्राकरणिकस्य चार्थस्य व्यञ्जनया सर्वत्रैव बोधोऽङ्गीकृतः स्यात्, तथात्वे च शाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयस्य कारणताकल्पनं व्यर्थमेव भवेत्, तदिदं नानार्थकस्थले अप्राकरणिकार्थबोधधारणाय स्वीक्रियते, एवञ्च वैयञ्जनिकाप्राकरणिकार्थबोधस्य सार्वाधिकत्वे यद्वैयर्थ्यं स्यादमेव ।

अब द्वितीय मत को खण्डन करते हैं—इत्यादि से। द्वितीय मत में जो यह कहा गया है कि प्रकरण आदि के ज्ञान से प्राकरणिक अर्थ में वृत्ता के तात्पर्य का निर्णय होता है, तदनन्तर तात्पर्यनिर्णयरूप कारण की सहायता से अभिधाजन्य अन्वयबोध केवल प्राकरणिक अर्थ का होता है, उसके बाद होनेवाला अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जना से होता है। इसमें प्रश्न यह होता है कि नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध कराने के लिए सर्वत्र व्यञ्जना का प्राबुर्भाव मानते हैं, या कतिपय स्थानविशेष में ही ? प्रथम पक्ष सगत नहीं हो सकता, क्योंकि जब व्यञ्जना से सर्वत्र, नानार्थक शब्दस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध आप मान ही लेते हैं, तब तात्पर्यनिर्णय को नानार्थक शब्दजन्य अभिधा द्वारा अन्वयबोध के प्रति कारण मानना व्यर्थ हो जाता है। अर्थात् पहले तात्पर्य निर्णय को कारण मानकर अभिधा से अप्राकरणिक अर्थ के बोध को रोक देते हैं, और पीछे फिर सर्वत्र व्यञ्जना से उसी अप्राकरणिक अर्थ का बोध मान लेते हैं, इसमें कौन सी बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है ? इससे तो कहीं अच्छा है कि तात्पर्यनिर्णय को कारण न माने और अभिधा से ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध मान लें ।

शाब्दबोधे तात्पर्यनिर्णयकारणतायाः सार्थक्यमाशङ्कते—

न च शक्तिजबोधे सा कल्प्यते, व्यक्तिजबोधस्तु तात्पर्यज्ञानं विनापि भवतीति तत्स्थाने शक्तिजबोधधारणाय तत्कल्पनमिति वाच्यम् ;

शक्तिजबोधः अभिधाजन्यशाब्दबोधः । नानार्थस्थले इति शेषः । व्यक्तिजबोधः व्यञ्जनावृत्तिजन्यशाब्दबोधः । तत्स्थाने व्यञ्जनावृत्तिजन्यबोधस्थाने । तत्कल्पनम् तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनम् । शक्तिजन्यबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वकल्प्यते । एवञ्च नानार्थकशब्दस्थले शक्त्या अप्राकरणिकार्थबोधो न जायत इति सफलं तत्कल्पनम्, व्यञ्जनाजन्यबोधे तत्र कल्प्यत इति व्यञ्जनया स जायत एवेत्यन्यदेतत् इति शङ्काशयः ।

शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानने में पूर्वपक्षीय युक्ति का अनुवाद करते हैं—'नच' इत्यादि से । यदि आप कहें कि अभिधाजन्य बोध के प्रति तात्पर्य निर्णय को कारण मानते हैं, और व्यञ्जनाजन्य बोध के प्रति तो नहीं, ऐसी स्थिति में नानार्थक शब्द से अप्राकरणिक अर्थ का अभिधा द्वारा बोध न हो, किन्तु वैयञ्जनिक तो होगा ही, इसलिए तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना चाहिये ।

समाधत्ते—

अतात्पर्यार्थबोधस्य सार्वत्रिकत्वे तस्य शक्तिजतायामपि बाधकाभावात् ।

अप्राकरणीकार्यबोधनिरोध एव तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनावयौददेश्यम् । एवम् यदि कचिदपि प्राकरणीकार्यबोधो नाभविष्यत्, तदैव तत्कल्पनं सार्वकर्मभविष्यत्, व्यञ्जनया सर्वत्र तद्बोधाग्रीकारे तु सुधैव तत् । अर्थात् अप्राकरणीकार्यबोधश्चेत् सर्वत्र जायत एव, तर्हि स शक्त्या जायताम् । व्यञ्जनया वा, न कोऽपि विशेष इति शक्तिजन्यतद्बोध एव सर्वव्याप्ती-क्रियताम्, तदाग्रीकारे च तात्पर्यज्ञानकारणतायाः व्यञ्जनायाधानावस्यकतया तदकल्पन-प्रयुक्तसाधक करतन्नामलकायितमेवेति समाधानस्याभिप्रायो विज्ञेयः ।

अथ उक्तं युक्ति का खण्डन करते हैं—अतात्पर्यं इत्यादि से । उक्त युक्ति भी आप का सहित नहीं है, क्योंकि जब आप तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणीकार्य का भी सर्वत्र बोध मानते हो हैं, तब उसको अभिधाजन्य ही मान लेने में क्या आपत्ति है ? अर्थात् नानार्थक-व्यञ्ज में जब सर्वत्र अप्राकरणीक अर्थ का भी बोध आपको अभिमत हो है, तब वह अभिधा से हो अथवा व्यञ्जना से हो दोनों बराबर है ।

पुनः प्रकारान्तरेण तात्पर्यज्ञानकारणताकल्पनायाः साफल्यमाशङ्कते—

अथ नानार्थशब्दार्थद्वयोपस्थितौ सत्यां प्रकरणाविना सत्येकस्मिन्नर्थे तात्पर्यनिर्णये, तस्यैवार्थस्य प्रथमं शाब्दबुद्धिर्जायते, नापरायस्येति, नियम-रक्षणाय शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ तदर्थतात्पर्यज्ञानं हेतुरिष्यते । अन्यथा तात्पर्य-विषयतयानिर्णयस्यार्थस्येवातथाभूतस्यापरस्याप्यर्थस्य प्रथमं शाब्दबुद्धिः स्यात् । अनन्तरं तु तात्पर्यविषयार्थबोधादतार्थ्यावपयार्थविषयापि शाब्दधीरिष्यत इति तज्जन्यतायच्छेदककोटी शक्तिजत्वं निवेशयत इति चेत् ?

नानार्थशब्दादिति । मुमभि-सैन्यवादिपदादित्यर्थः । अर्थद्वयोपस्थितौ इति । प्राकरणीकाप्राकरणीकबोधयो- स्मृतौ इत्यर्थः । तस्यैवेति । प्राकरणीकस्यैवेत्यर्थः । अपरा-र्थस्येति । अप्राकरणीकार्यस्येति यावत् । शक्तिजतदर्थशाब्दबुद्धौ इति (- अभिधा-वृत्तिजन्यनानार्थकपदार्थविषयकशाब्दबोधे इति भावः । अन्यथेति । कार्यकारणभावा-स्वीकारे इत्यर्थः । अतथाभूतस्येति । अतात्पर्यविषयस्येत्यर्थः । प्रथममिति । प्राकरणी-कार्यबोधशब्दे इत्यर्थः । अनन्तरमित्यस्याभिप्रेत 'बोधादि'ति पञ्चम्यन्तेनान्वयः । इष्यते इत्यत्र व्यञ्जनयेति शेषो बोध्यः । तज्जन्यतेति । तात्पर्यनिश्चयजन्यतेत्यर्थः । अत्रेवमाकृ-तम्—नानार्थस्यते सर्वत्रैव व्यञ्जनोक्ताते नानार्थशब्दजन्यबोध प्रत्यास्थितस्य तात्पर्य-निश्चयहेतुत्वस्य वैयर्थ्यं यदापावितं तत्र समीचीनम्, नानार्थकपदार्थद्वयोपस्थित्यनन्तरं प्राकरणादिना वक्तुस्तात्पर्ये निश्चितं प्राकरणीकस्यैवार्थस्य प्रथमं बोधो भवतीति अनुभवबल-लक्ष्यः सकलजनाग्रीकृतो नियमः, स चोक्तकार्यकारणभावाभावे न संगच्छेत्, अप्राकरणी-कार्यस्यापि बोधप्रसंगात् एवञ्च तादृशनियमरक्षणायैव सार्थकारणभावोऽग्रीकार्यः । ननु क-कार्यकारणभावे स्वीकृते पथादप्यप्राकरणीकार्यबोध कथं स्यादित्यत आह—अनन्तरमि-त्यादि । अनुभवसिद्धपक्षात्कालमान्यप्राकरणीकार्यबोधसिद्धयर्थं तात्पर्यनिर्णयकार्यतावच्छे-दकदुसौ शक्तिजत्वं निवेशनीयम्, अर्थात् 'शक्तिजन्यतदर्थविषयकबोधं प्रति तदर्थविषयक-स्तात्पर्यनिर्णयो हेतु'रित्याकारक कार्यकारणभावोऽग्रीक्रियते, तथा च व्यञ्जनाजन्याप्राकर-णीकार्यबोधे न कोऽपि बाधेतिभावः । एवञ्चोक्तनियमरक्षणमेव तादृशकार्यकारणभावाग्रीकार-फलमिति सारांशः ।

अब फिर प्रकारान्तर से अभिधाद्वारा बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय की कारणता का समर्थन करने का प्रयास करते हैं—अर्थ इत्यादि से। यहाँ पूर्वपक्षवालों का अभिप्राय यह है कि—नानार्थक शब्द से अर्थद्वय (प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक) की उपस्थिति होने के बाद जब प्रकरण आदि के ज्ञान से एक (प्राकरणिक) अर्थ में तात्पर्य का निर्णय हो जाता है, तब उसी (प्राकरणिक) अर्थ का पहले शब्दबोध होता है अन्य (अप्राकरणिक) का नहीं यह एक अनुभवसिद्ध नियम है, उसी की रक्षा करने के लिये नानार्थक शब्दजन्य अभिधाद्वारा बोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा प्राकरणिक तात्पर्यार्थ के समान ही अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का भी पहले ही शब्दबोध हो जायगा। तात्पर्यार्थबोध के बाद तो अतात्पर्यार्थ का भी शब्दबोध अनुभव सिद्ध होने के कारण इष्ट है, अतः तात्पर्यनिर्णयरूप कारण का कार्य अभिधाजन्यबोध को मानते हैं। अर्थात् यदि सामान्यतः नानार्थक शब्दजन्यबोधमात्र के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मान लेंगे, तो व्यञ्जना से जो पीछे अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का बोध होता है वह भी न हो सकेगा और उसका अनुभव सिद्ध होगा तो निश्चित ही है, अतः अभिधाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय को कारण मानना ही उचित है। वहाँ भी उसको कारण न मानें वह तो हो नहीं सकता, क्योंकि अभिधा से अप्राकरणिक अतात्पर्यार्थ का बोध नहीं होता यह भी अनुभव सिद्ध है।

खण्डयति—

सैवम् । 'सोऽव्यादिष्टभुजङ्गहारवल्लयस्त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादौ श्लेषकाव्य इव प्रकृतेऽपि प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोर्बोधस्य स्वीकारे बाधकाभावात् ।

'सैवमि'ति । प्राक्तनमृतमन्येनोत्पापिताया शङ्काया खण्डनार्थकं पदद्वयम् । 'सोऽव्यादि'त्यादिपञ्चम्यन्तो ग्रन्थश्च तत्र हेतुपन्यासपरः । इष्टे = अभिमत, भुजङ्गश्च = सर्पस्य, हारश्च वल्लयश्च, ते = मातृककण्ठे (भूषणविशेष) यस्य, तादृश स = प्रसिद्धः उमाधवः = मृदानीपति शिव त्वां सर्वदा पायादिति शिवपक्षेऽर्थः । कृष्णपक्षे तु—इष्टः भुजङ्गस्य हारः-हरण यस्य तादृश यद्वलम् (वनयोः श्लेषस्थले ऐक्यरवीकारादित्यमर्थः) तेन = गृह्णेतेत्यर्थः, याति = संचरतीति तादृशः सर्वदः-सकलपदार्थप्रदाता माधवः=लक्ष्मीपतिस्त्वा पायादित्यर्थो बोध्यः । एष प्रकृतोपयोगो वक्तव्यार्थः—नानार्थस्थलेऽप्राकरणीकार्यबोधाय व्यञ्जनाङ्गासौ नावश्यकः, 'सोऽव्यादि'त्यादौ श्लेषकाव्यस्थले यथा शिव-विष्णुरूपौ द्वावप्यर्थौ अभिधाशक्यत्वावगम्येते, तथा तत्रापि द्वयोरपि प्राकरणिकाप्राकरणीकयोरर्थयोरभिधयैव बोधस्य सम्भवात् ।

अब उक्त प्रकारान्तर का भी खण्डन करते हैं—सैवम् इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि अभिधा से प्राकरणिक अर्थ का ही बोध होता है अप्राकरणिक का नहीं, इस विषय की सिद्धान्त-सा मानकर जो आपने पूर्वोक्त विविध प्रश्नों की रचना की है वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'सोऽव्यात्' इत्यादि श्लेष काव्यस्थल में जैसे दो अर्थ वाच्य (अभिधा से ज्ञात होनेवाले) होते हैं, वैसे नानार्थक शब्दस्थल में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों अर्थों का अभिधा से ही बोध मान लेने में कोई बाधा नहीं है। सोऽव्यात् 'इत्यादि श्लेषकाव्य के दो अर्थ ये हैं—'जिनको सर्पों से बने हार और कंकड़ प्रिय हैं, वे उमाधव (शिव) सदा तुम्हारी रक्षा करें,' और 'जिसके वल को सर्पों का हरण (सहार) इष्ट है उस (गृह) के द्वारा जाने जानेवाले तथा सब कुछ देनेवाले माधव (लक्ष्मीपति) तुम्हारी रक्षा करें ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं शङ्कते—

न च दृष्टान्तेऽर्थद्वयेऽपि प्रकरणसामान्यतात्पर्यज्ञानमस्तीति युगपद्द्वयोर्बोध

उपपद्यते । दार्ष्टान्तिके त्वेकत्रैव प्रकरणादिवशात्तदिति न युगपदर्थद्वयबोधोप-
पत्तिरिति वाच्यम्,

दृष्टान्ते इति । 'मोक्ष्यादि'त्यादौ श्लेषकाव्ये इत्यर्थः । युगपदिति । एकस्मिन्नेव क्षणे
इत्यर्थः । तदिति । तात्पर्यज्ञानमित्यर्थः । अयं भावः—'मोक्ष्यादि'त्येदृशान्तेन नानार्थक-
स्थले यन् प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयोर्युगपद्वेध उपपाद्यते, स न सम्भवति, यत् दृष्टान्तभूते
तत्र श्लेषकाव्ये उपाधक-साधकयोः समयोरपि प्रकरणप्राप्ततया द्वयोरपि तात्पर्यज्ञानमस्ति,
अतस्तयोर्युगपद्वेधोऽपि (समूहात्मनस्तस्य, ज्ञानयोग्यस्य सिद्धान्तविद्वत्त्वान्) भवितु-
मर्हति, दार्ष्टान्तिके 'सुरभि मामभिन्यादौ' तु भुगन्धिरूपार्थ एव भोजनरूपप्रकरणप्राप्त इति
तत्रैव तात्पर्यज्ञानम्, अतस्तेन तात्पर्यज्ञानविषयीभूतेन 'भुगन्धि'रूपार्थेन सहैकारिणः शब्दे
अतात्पर्यविषयस्य सारूप्यस्य बोधः समूहात्मनस्तस्योऽपि न सम्भवति ।

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में विषमता की संज्ञा करते हैं—न च इत्यादि से । यदि आप
कहें कि—श्लेषस्थल का दृष्टान्त देखकर नानार्थस्थल में प्राकरणिक, अप्राकरणिक दोनों
का अभिधा से ही बोध मान लेनेवाली बात समुचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्तभूत श्लेष-
स्थल में दोनों ही अर्थ प्रकरणप्राप्त रहते हैं, अतः दोनों अर्थों में समानरूप से तात्पर्य-
निर्णय होता है, अतएव साध-साध दोनों अर्थों का अभिधाद्वारा बोध भी समुचित है,
तो दार्ष्टान्तिक नानार्थस्थल में वैसी स्थिति नहीं है अर्थात् वहाँ एक ही अर्थ
प्राकरणिक रहता है और जो अर्थ प्राकरणिक रहता है उसी में तात्पर्य निर्णय होता है
अतः इसी का बोध अभिधा से होना उचित है अप्राकरणिक का नहीं ।

समापत्ते—

तात्पर्यज्ञानकारणतया एवासिद्धत्वेन युगपदर्थद्वयबोधोपपत्तिर्वाच्योक्तैर-
मणीयत्वात् । तादृशज्ञानहेतुतासिद्धौ तु शक्येतापीत्यं वक्तुम् ।

वाच्योक्तैरिति । युगपदर्थद्वयबोधोपपत्तिरूपवननप्रयोगस्येत्यर्थः । पट्टीसमासे कृते
'वाच्यैरूपरयद्वयो युक्तिदण्डद्वये' इति वार्तिकेन पट्टया अलुक् ।

नानार्थस्थलीयव्यक्तनोज्ञासस्य सार्वत्रिकव्ये निष्फलत्वेन तात्पर्यनिर्णयस्य शब्दबोध-
हेतुता प्रागेव निरस्ता, अतस्तद्वलेन नानार्थस्थले युगपत् शक्तिजन्यायद्वयबोधासम्भवत्वा-
भिधानमसन्तोषकरमेव । यदि कश्चित् शब्दबोधमिति तात्पर्यज्ञानस्य हेतुतामाशययिष्यत्
तदैव तया वक्तुमशक्यम्, न चेत् साधयति, तर्हि तयाकथनमशौभनमेवेति समाधाना-
शयो विज्ञेयः ।

उक्त संज्ञा का समाधान करते हैं—तात्पर्य इत्यादि से । ऊपर जो श्लेषस्थल का दृष्टान्त
दिखा गया है, उससे मेरा अभिप्राय केवल यह दिखलाना है कि श्लेषस्थल में दो अर्थों
का एक अभिधा से बोध होता है, ऐसा होना कोई अप्रसिद्ध बात नहीं है । तदनुसार
नानार्थस्थल में भी प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों का एक साथ अभिधा से ही
बोध माना जा सकता है । तब रही बात यह कि श्लेषस्थल में दोनों अर्थ प्राकरणिक
होने के कारण तात्पर्य विषय रहते हैं और नानार्थस्थल में प्राकरणिक एक अर्थ ही
तात्पर्य-विषय रहता है, पर इससे उक्त दोनों स्थलों में अन्तर तब होता, यदि तात्पर्य-
निर्णय का अभिधाजन्य बोध के प्रति कारण होना सिद्ध रहता, किन्तु वही सिद्ध नहीं है
अर्थात् तात्पर्यनिर्णय को उक्त बोध के प्रति कारण मानना मैं आवश्यक नहीं समझता
किर प्राकरणिक-अप्राकरणिक होने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं । दोनों ही एक साथ
पाए जा सकते हैं ।

एवं सति तात्पर्यज्ञानस्यानुपयोगमाशङ्क्य निरस्यति—

तर्हि तात्पर्यज्ञानस्य कुत्रोपयोग इति चेत् ? अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रमाण-
मयमर्थः प्रमाणवेद्य इत्यादिनिर्णये प्रवृत्त्याद्युपयोगिनीति गृहाण ।

ननु कुरीत्या तात्पर्यज्ञानस्य शब्दबोधकारणत्वे निरस्ते तस्य निरुपयोगित्वमेवापततीति
शक्यामाह—अस्मिन्नित्यादि । अयमभिप्रायः—नानार्थस्थले शब्दप्रवचनान्तरं नानाविधमर्थं
शब्दस्य श्रोता करिमात्रेण वक्तुरत्र तात्पर्यमिति सन्दिहीत, सन्दिग्धं कापि कार्यं न
प्रवर्तते, प्रवृत्त्यर्थमेव न कार्यबोधक वाक्यं प्रयुज्यते, अतस्तादृशस्थिता श्रोता तात्पर्यज्ञान-
सहकारेण नानार्थकस्य पदस्यार्थविशेषे प्रमाणत्वं निर्णीयते, अर्थविशेषस्य च प्रमाणवेद्यत्वम्,
तेन वक्तुरभिप्राये कार्ये तस्य प्रवृत्तिर्भवतीति तात्पर्यज्ञानस्योपयोगः सिद्धयति ।

यदि आप कहें कि उक्त रीति से जब तात्पर्यज्ञान को शब्दबोध के प्रति कारण नहीं
माना जायगा, तब उसका उपयोग ही क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि इस अर्थ
में यह शब्द प्रमाणभूत है और इस शब्द का यही अर्थ प्रामाणिक है इत्यादि बातों के
निर्णय—जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में उपयोगी होता है—में तात्पर्यज्ञान का उपयोग
है । अर्थात् नानार्थक शब्दप्रवचन के बाद अनेक अर्थों को समझानेवाला श्रोता यह
सन्देह अवश्य करेगा कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है ? और उस सन्देह की दशा
में उसकी प्रवृत्ति किसी कार्य में नहीं हो सकती, और कार्यबोधक वाक्य का प्रयोग
किया जाता है किसी कार्यविशेष में व्यक्तिविशेष की प्रवृत्ति कराने के लिये ही । अतः
ऐसी स्थिति में श्रोता तात्पर्यज्ञान की सहायता से वह निर्णय करता है कि यहाँ अमुक
नानार्थकशब्द अमुक अर्थ में ही प्रमाण है, अमुक अर्थ ही प्रामाणिक है । इस निर्णय से
श्रोता वक्ता के अभिमत अर्थ में प्रवृत्त होता है ।

नानार्थस्थले सर्वत्र व्यञ्जनेऽपि, क्वचिदेवेति कल्पद्वये प्रथमस्वीय वक्तव्यमुपसंहरति—

इत्थं च नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यधियः कारणतायां शिथिलीभवन्त्याम-
तात्पर्यार्थविषयशब्दबुद्धिसम्पादनाय व्यक्तिस्वीकारोऽनुचित एव शक्त्यैव
बोधद्वयोपपत्तेः ।

नानार्थस्थलेऽपीत्यत्रापि पदेनैकार्थस्थले तात्पर्यज्ञानकारणतायां सुतरां शैथिल्य सूच-
यति । इदमत्र रहस्यम्—शुकादिवाक्यात्, देवताप्रसादेन पूर्वजन्मसंस्कारेण वा मूर्ख-
बालककृतोत्तमकाव्याच्च वक्तृतात्पर्याभावनिरूप्येऽपि बोधोदयेन तस्य शब्दबोधे हेतुत्व ॥
सम्भवति । वक्तृतात्पर्याभावनिरूप्ये वक्तुस्ततस्तदर्थबोधात् । किञ्च अस्यात् पदात् अर्थद्वय-
विषयको बोधो जायते तात्पर्यं तु केति न जानीम, इति शकलजनानुभवविरोधात् न
तस्य हेतुत्वम् । अत एव 'पय आनय' इत्युक्ते अप्रकरणस्य दुग्धं जलं वाऽऽनेयमिति
प्रश्नः सगच्छते । न चैव 'हरि' रित्यादौ विष्णुविषयकबोधेच्छयोचरितत्वाभावज्ञाने तदन्व-
सिंहादिविषयकबोधेच्छयोचरितत्वज्ञाने वा विष्णुविषयकबोधापत्तेः पूर्वोक्ताया का गतिरिति
वाच्यम्, बोधो भवत्येव किन्तु तयो ज्ञानयोस्तत्र बोधेऽप्याभाष्यप्रवृत्तिवक्तव्या प्रवृत्त्यादिर्न-
भवतीतिस्वीकारात् । एतेन तयो ज्ञानयोस्तादृशबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वमिति परास्तम् ।
तात्पर्यधियः इति । तात्पर्यज्ञानस्येत्यर्थः । उक्तरीत्या तात्पर्यज्ञानस्य कारणता यदा
निरस्ता, तदा नानार्थकपदात् शक्यत्वात्तात्पर्यविषयस्यापि अप्राकरणिकार्थस्य बोध
स्यादेवेति तदर्थं तत्र व्यञ्जनावृत्तिस्वीकारो नावरयक इति भावः ।

अब नानार्थकस्थल में भी सर्वत्र व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होता है, इस पर के सन्देह
सबन्धी वक्तव्य का उपसंहार करते हैं—इत्यत्र इत्यादि से । एकार्थकस्थल में तो बात ही

क्या ? उक्त रीति से वह नानार्थकस्थल में भी शब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय की हेतुता समाप्त कर दी गई, तब तात्पर्यार्थ से भिन्न अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना का स्वीकार करना अनुचित ही है। क्योंकि व्यञ्जना से ही प्राकरणिक और अप्रामाणिक दोनों अर्थों का बोध हो जायगा यह बात पहले भी सिद्ध की जा चुकी है। शब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय क्यों नहीं कारण हो सकता इसके विषय में कुछ विशेष युक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—एक आदि कतिपय पक्षियों के वाक्य से शब्दबोध होता है। शब्दबोध के प्रति तात्पर्यनिर्णय कारण होता है। यह कह नहीं सकते क्योंकि जब पक्षियों को अर्थबोध नहीं होता है तब उसका तात्पर्य किसी अर्थ में हो यह कैसे हो सकता है ? दूसरी युक्ति यह है कि नानार्थकस्थल में सब लोगों का ऐसा अनुभव है कि 'इस पद से दो अर्थों का बोध होता है, पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है, यह नहीं ज्ञात होता'। यदि तात्पर्यनिर्णय के बिना शब्दबोध ही नहीं हो, तो उक्त प्रकार का अनुभव कैसे होता है ? तीसरी युक्ति यह है कि अप्राकरणिक किसी व्यक्ति के प्रति जब 'यम लाओ' ऐसा वाक्य कहा जाता है, तब वह वक्ता से पूछता है कि दूध भयवा जल लाऊँ ? अब बतलाइए कि यदि तात्पर्यनिर्णय के बिना शब्दबोध ही नहीं होता है, तो श्रोता का उक्त प्रश्न कैसे सम्भव हो सकता है ? एक बात आप और पूछ सकते हैं कि पहले जो यह कहा गया है कि जहाँ श्रोता को यह निश्चय रहता है कि वक्ता ने विष्णुविषयक बोध की इच्छा से हरिपद का प्रयोग नहीं किया है, भयवा पहले निश्चय रहता है कि सिंह आदि (विष्णु से भिन्न) अर्थ के बोध की इच्छा से हरिपद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ भी विष्णुविषयक बोध न हो जाय इसलिये तात्पर्यनिर्णय को नानार्थकपदजन्यबोध के प्रति कारण मानना चाहिये, इसका क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि मैं वहाँ भी विष्णु का बोध मानता ही हूँ, केवल उक्त दोनों विरुद्धनिश्चय से विष्णुविषयकबोध में अप्रामाण्यज्ञान हो जाता है, अतः विष्णुरूप अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है।

नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोक्तास इति द्वितीयं कल्पमालोचयितुं प्रक्रमते—

नापि द्वितीयः, हेतोरभावात्। व्यङ्ग्यार्थविषयककवितात्पर्यज्ञानं तथेति चेत् ? न, व्यक्तिज्ञबोधे तात्पर्यज्ञानकारणतायास्त्वयानभ्युपगमात्, यत्राश्लीलं दोषस्तत्राप्राकरणिकेऽर्थे सकलानुभवसिद्धे कवितात्पर्यस्य विरहान् दृग्ज्ञानस्य तादृशबुद्धिहेतुताया व्यभिचारदूषितत्वाच्च।

द्वितीय इति। नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोक्तास इति कल्प इत्यर्थः। हेतुमाराद्धते— व्यङ्ग्येति। तथेति। हेतुरित्यर्थः। अयमाराय—नानार्थस्थले क्वचिदेव व्यञ्जनोक्तास इति द्वितीये पक्षे यद्यपि प्रथमपक्षोक्तदोषस्वावकाशो नास्ति, परन्तु स पक्षः सम्भवदुक्तिक एव न वर्तते, व्यञ्जनोक्तास्य क्वाचिन्कल्पनियामकहेतोरभावात्। 'इदं पदं व्यङ्ग्यार्थबोधे-च्छया कविना प्रयुक्तमित्याकारकस्य वक्तृतात्पर्यस्य ज्ञानं तत्र हेतुरिति न शक्यं वक्तुम्, व्यञ्जनाजन्यबोधे त्वया (नानार्थस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधाच्च व्यञ्जनाऽऽवश्यकतावादिना) तात्पर्यज्ञानकारणताया अवज्ञाकारात् इति। नन्वेवमपि फलबलात् स्वोक्तिवदेत आह-यत्रेति। व्यञ्जनाजन्यबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणता न संभवत्येव व्यतिरेकव्यभिचारात्। क्व व्यभिचार इति चेत् ? यत्र प्रससारशूनैर्बाहुविनाशे तन्नि ते तदा' इत्यादौ काव्येऽश्लीलता दोषस्तत्रेति बोध्यम्। कथमिति चेदित्यम्—तत्राश्लीलबोधनिदानभूतनायिकाभरणापा-नपवन-निस्सरणरूपा प्राकरणिकार्थप्रतीतिर्व्यञ्जनाजन्या सर्वा अनुभवसिद्धा, कवितात्पर्यस्य तत्रार्थे कथमपि स्वीकर्तुं नोचितम् इति भावः।

अब नानार्थकस्थल में कहीं-कहीं व्यञ्जना का आविर्भाव होता है सर्वत्र नहीं, इस पूर्वोक्त द्वितीयपक्ष की आलोचना करते हैं—नापि इत्यादि से। 'स्थलविशेष में ही व्यञ्जना

का प्रादुर्भाव होता है सर्वत्र वही, अतः 'सर्वत्र व्यञ्जना के प्रादुर्भाव मानने पर जो अभिधा से उसकी गतार्थता सिद्ध की गई है उसका अवसर वही आयागा' यह कथन भी आपका सगत नहीं हो सकता, क्योंकि स्थलविशेष में ही व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होगा इसका कोई कारण नहीं है। यदि आप कहें कि 'अमुक पद व्यङ्ग्य का बोध कराने के लिये वक्ता से प्रयुक्त हुआ है' इस तरह के वक्तृतात्पर्य का ज्ञान ही व्यञ्जना की क्वाचित्कता का कारण है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि आप व्यञ्जनाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानते ही नहीं फिर उस प्रकार कैसे कह सकते हैं? दूसरी बात यह है कि यदि आप व्यञ्जनाजन्यबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान को कारण मानना भी चाहें तो यह भी नहीं मान सकते, क्योंकि उस तरह का कार्यकारण-भाव व्यतिरेक-व्यभिचार से दूषित होने के कारण असम्भव है। अर्थात् जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य वहीं रहता उसका भी व्यञ्जना से बोध होता है जैसे 'प्रससार शनैर्वायु विनाशे सन्निवृत्ते तदा' (हे कृष्णाङ्गि ! तुम्हारे वियोगकाल में मन्द-मन्द हवा वही) इत्यादि स्थल में अप्राकरणिक अपाव-पवन-निस्सरण और नायिका-भरणरूप अर्थ की प्रतीति सभी सहृदयों को व्यञ्जना से होती है, अतएव ऐसे स्थलों में अश्लीलता नामक काव्य-दोष माना गया है। क्या उस अश्लील अर्थ में कवि का तात्पर्य माना जा सकता है? कभी नहीं। कौन ऐसा कवि होगा, जो जान-बूझकर अपनी कविता को अश्लीलता दोष का लक्ष्य बनावेगा?

व्यञ्जनोक्तासस्य क्वाचित्कत्वनिधामक्रमपर हेतुसारांस्व सङ्गति—

अथ श्रोतुं शक्तिविशेषो व्यक्तेरुक्तासे हेतुः, स च फलबलाद्यमत्कारिण्ये-
कार्ये व्यक्तिसुक्तासयति नाचमत्कारिणीति सिद्ध व्यञ्जनोक्तासस्य क्वाचित्कत्व-
मिति चेत् ? न, हन्तैवं स नियन्त्रितशक्तेरेव घोलासकोऽस्त्विति कृतं नानार्थ-
स्यते व्यक्तिकल्पनाया ।

शक्तिविशेष इति । बुद्धिशक्तिविशेष इत्यर्थः । स शक्तिविशेष । नियन्त्रितेत्यस्य
प्रकरणादिनैत्यादि । अयमभिप्राय — बुद्धिः व्यक्तिभेदेन नानाविधा भवति, कस्यचन बुद्धिः
स्थूलमप्यर्थं न गृह्णाति, कस्यचित् स्थूलं गृह्णाति अपि सूक्ष्मं न गृह्णाति, कस्यचित्पुनः
सूक्ष्ममपि । एवम् यत्र सूक्ष्मार्थग्रहणप्रवणबुद्धिविशिष्ट श्रोता, तत्र तस्य बुद्धिः नानार्थस्थले
व्यञ्जनासुक्तासयति, यत्र न स तादृशस्तत्र तस्य बुद्धिर्नोक्तासयति ताम् । यत्राप्युक्तासयति
तत्रापि चमत्काराधायक एवार्थः, तत्रैव तदुक्तासस्य साफल्यसमवात् । एवम् तस्य क्वाचित्क-
त्वेन हेतुविरह इति शक्यः । समाधानं तु 'तथा सति श्रोतुं सा बुद्धिशक्तिरतत्र तत्र
स्थलविशेषे नानार्थकराय शब्दस्य संयोगादिभिर्नियन्त्रितामभिधाराशिमेषोक्तासयतु,
तावत्तवेष्टसिद्धिरिति' सुधैवाय व्यञ्जनाकल्पनायास इत्याकारकं वेदितव्यम् ।

व्यञ्जना की क्वाचित्कता में एक अन्य कारण की भांशंका करके खण्डन करते हैं—
'अथ श्रोतुं' इत्यादि से । श्रोता का बुद्धिशक्ति-विशेषव्यञ्जना की क्वाचित्कता का कारण है,
अर्थात् बुद्धि व्यक्तिसिद्ध से भिन्न भिन्न प्रकार की होती है । किसी की बुद्धि स्थूल वस्तु
को भी नहीं समझ पाती, किसी की बुद्धि स्थूल वस्तु को समझती हुई भी सूक्ष्म को
नहीं समझ सकती, किसी की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को भी समझ लेती है, यह एक
प्राकृतिक स्थिति है । ऐसी स्थिति में जहाँ सूक्ष्मार्थग्रहण समर्थ बुद्धिवाला श्रोता रहता है,
वहाँ उसकी बुद्धि नानार्थकरय में व्यञ्जना को उद्भूत करती है और जहाँ उस तरह
का श्रोता नहीं रहता, वहाँ उसकी बुद्धि व्यञ्जना को उद्भूत नहीं कर पाती । एवं
जहाँ व्यञ्जना उद्भूत होती है वहाँ भी चमत्कारी अर्थ के विषय में ही, अचमत्कारी
अर्थ के विषय में नहीं, क्योंकि चमत्कारी अर्थ में ही व्यञ्जना की सकलता सम्भव है ।

इस तरह से व्यञ्जनोद्भय की काचितकता सिद्ध हो जाती है। यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जब श्रोता का बुद्धि-विशेष ही स्थलविशेष में व्यञ्जना का उद्भावक होगा, तब उससे कहीं अच्छा हो कि हम उस विशिष्ट प्रकार के श्रोता के उस बुद्धिशक्ति-विशेष को प्रकरण आदि के द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्ति का ही उद्भावक मान लें— अर्थात् हम ऐसा मानें कि प्रकरण आदि का ज्ञान, नानार्थकशब्द की जिस अभिधाशक्ति को नियन्त्रित करके अप्राकरणिक अर्थ के विषय में सफल नहीं होने देता, उस व्यर्थ बनी हुई शक्ति को कहीं-कहीं विशिष्ट श्रोता की विशिष्टबुद्धि उत्तेजित कर देती है अर्थात्—सफल बना देती है, जिससे नानार्थकशब्द की अभिधाशक्ति ही स्थल-विशेष में अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध करा देती है, और जहाँ उद्भावक बुद्धिविशेष नहीं प्राप्त होता, वहाँ वह नियन्त्रित अभिधाशक्ति नियन्त्रित ही रह जाती है। अतः वैसे स्थलों पर अप्राकरणिक अर्थ का बोध नहीं होता। इसी तरह मान लेने से जब काम चल जाता है, तब नानार्थकस्थल में एक अभिनव व्यञ्जनावृत्ति की वदयता व्यर्थ है।

अभ्युपेतोऽपि व्यञ्जनोद्भयस्य काचितकत्वे नानार्थस्थलेऽप्राकरणिकार्थबोधो व्यञ्जनयेति पक्षो न युक्तोऽनिश्चयपक्षेतिस्थाह—

किंच 'उल्लास्यकालकरवालमहान्मुवाहम्' इत्यादिनानार्थव्यञ्जकस्थलेऽ-
प्रतीतद्वितीयार्थशक्तिकस्य गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुनः सर्वथैव
व्यञ्जनया द्वितीयार्थबोधानुदयात्तत्र तथा सदापत्तिस्तत्र दुर्वाप ।

उल्लास्येति । ' ' ' देवेन येन त्रयोर्जितमर्जितेन निर्वापित सकल एव रणे रिपूणा,
धाराजलैः प्रजगति ज्वलित प्रताप ॥' इति चरणत्रयरोषो बोध । अयमस्य वाच्योऽर्थः—
जठरम् = कठोरम्, ऊर्जितम् = बलवत् च गर्जितम् = सिंहवादी यस्य तेन येन देवेन = राजा, काल
= धर्मराजरूपं प्राणहस्तात् रिपूणामिति भावः, करवाल = रात्र एव अभ्युवाह = भेषः तम्,
उल्लास्य = विस्तार्य रणे = युद्धे, धाराजलैः = खड्गधारात्मकसलिले, रिपूणाम् = शत्रूणाम्,
सकल एव = सर्वोऽपि प्रजगति = त्रिलोक्यां, ज्वलित = प्रसिद्ध, प्रताप = प्रभाव, निर्वापित
= शमित, विक्टासिधारया यो रणेऽरीन् जपानेति भावार्थः । व्यञ्ज्योऽर्थस्तु येन देवेन =
देवेन्द्रेण, जठरेण = कठोरेण, ऊर्जितेन बलवता च गर्जितेन शुक्लमिति शेषः, कालकरं =
रयामलकिरणं बालं = नवीनम् अभ्युवाहम् = जलधरम्, उल्लास्य = प्रवृत्त्य, धाराजलैः
धारासारैः सर्वथै, रिपूणाम् = अग्नीनामिति भावः । प्रजगति ज्वलित = त्रिलोकीप्रदीप्तः,
प्रताप = प्रवृत्तिः तापः निर्वापित इति । नानार्थ इत्यादि । नानार्थकः शब्द व्यञ्जकी मन्त्र,
तारो स्थले इत्यर्थः । अगृहीतेति । अगृहीता = न ज्ञाता द्वितीयार्थस्य = अप्राकरणिकार्थस्य
तन्निरूपितेति भावः, शक्तिः अभिधाशक्तित्वार्थः येन तदर्थेत्यर्थः । विनगमकाभावादाह—
गृहीतेति । पूर्व गृहीता, पश्चाद्विस्मृता द्वितीयार्थनिरूपिता शक्तियेनेति भावः । सर्वथा =
सर्वप्रकारेणैव । सिद्धान्ते इत्यादि । द्वितीयेति । अप्राकरणिकेत्यर्थः । तथा = व्यञ्जनया ।
तदापत्तिः = द्वितीयार्थबोधापत्तिः । तवेति । नानार्थस्थले व्यञ्जनयाऽप्राकरणिकार्थबोधनादिन
इत्यर्थः । अयमभिप्रायः—उल्लास्येत्पादौ इन्द्रपञ्चीयाप्राकरणिकार्थनिरूपिताऽभिधाशक्ति-
र्येन न गृहीता, गृहीताऽपि वा पथात् सुखसस्त्ररामाभावेन विस्मृता, तस्य तदर्थबोधो न
भवतीति पशुस्थितिः । परमिदानीं श्रोतृबुद्धिशक्त्या चमत्कारिण्यर्थे व्यञ्जनोद्भासस्वीकारे
प्रकृतोऽपि इन्द्रपञ्चीये चमत्कारेण अर्थे व्यञ्जनोद्भासस्य समुचिततया तव पक्षे व्यञ्जनया
तदर्थबोधो दुर्वापत्तामासादयेत्, मम मते तु नैतद्विशेषात्, अतो मम नानार्थस्थले प्राक्-

शिकार्यबोधोऽपि अभिधाशक्त्यैवामित सा च शक्ति प्रकृते यस्य अग्रहीता विस्मृता वा, न तस्य तदर्थबोधप्रसंग ।

व्यञ्जनोद्भास की काचित्कता को मान लेने पर भी, नानार्थकस्थल में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है, इस मत को असंगत सिद्ध करते हैं—विच इत्यादिसे । 'उल्लास्यकालकरवाल ' इत्यादि पूरा पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । जिसके दो अर्थ होते हैं । एक वाच्य और दूसरा व्यङ्ग्य । वाच्य अर्थ यह है कि कठोर और बलवान् सिंहनादवाले जिस राजा ने शत्रुओं के प्राणहर होने से यमराजस्वरूप खड्ग के धार-रूपी जल के फैलाव को बढ़ाकर, सग्राम में उस धाररूपी जलके द्वारा, तीनों लोक में प्रसिद्ध शत्रुओं का समग्रप्रमाय शान्त कर दिया । और व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि—जिस देव (इन्द्र) ने कठोर और सबल गर्जन से युक्त तथा काली कान्तिवाले मवीन घनघटा को प्रकर करके, धारावाहिक जलवृष्टि से शत्रुभूत भद्रियों का त्रिलोकी विध्वात ताप को सर्वथा शान्त कर दिया । उक्त श्लोक प्राचीनों के मत से अनेक अर्थों का व्यञ्जन-स्थल है । पर यहाँ यह अनुभव सिद्ध वस्तु है कि व्यञ्जना से उसी को अप्राकरणिक अर्थ का बोध होता है, जिसको उक्त श्लोकवाच्य में अप्राकरणिक अर्थ की भी अभिधा ज्ञात रहती है और उस अभिधा का विस्मरण नहीं हुआ रहता है । उसको नहीं होता, जिसको अप्राकरणिक अर्थ के द्वारा शक्तिज्ञान नहीं हुआ है अथवा ज्ञान होने पर भी किसी कारण से शक्ति का विस्मरण हो गया है । परन्तु अब आपके मत से वैसे (अज्ञातशक्ति अथवा विस्मृतशक्ति) व्यक्ति को भी व्यञ्जना से इन्द्र पक्षीय अप्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाना चाहिये, क्यों कि वह अर्थ चमत्कारी है, अत श्रोता की बुद्धिशक्ति उस अर्थ के बोध के लिये व्यञ्जना को उत्पन्न कर देगी । मेरे मत में तो यह दोष नहीं हो सकता, क्यों कि मैं नानार्थस्थल में व्यञ्जना नहीं मानता, अभिधा से ही दोनों अर्थों का बोध हो जाता है ऐसा मानता हूँ, और अभिधा से ही बड़ा बोध नहीं मानता हूँ, जहाँ वह ज्ञात हो, अविरमृत हो । फिर जिसको उक्त श्लोक में इन्द्रपक्षीय अर्थ की अभिधा ज्ञात ही नहीं, अथवा ज्ञान होने पर भी विस्मृत हो चुकी है, उसको उस अर्थ का बोध कैसे प्रसक्त हो सकता है ?

एतदोपोक्षापराशक्ते—

न च येन शब्देन बोध्यो व्यज्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थ-व्यक्तेरुल्लासे हेतुरिति वाच्यम्, 'निःशेषच्युत-' इत्यादौ रमणव्यक्तधनापत्तेः । न ह्यधमपदस्य कस्यचिद्रमणे शक्तिग्रहोऽस्ति । सति वा तस्मिन्तेनैवोपपत्तौ व्यक्तिकल्पनवैयर्थ्यापत्तेश्च ।

रमणेति । नायककर्तृकमभोगेत्यर्थः । तस्मिन्निति । अधमपदे रमणार्थनिरूपितशक्ति-ग्रहे इत्यर्थः । तेनैवोपपत्तौ इति । शक्तिग्रहेणैव रमणस्वार्थस्य बोधोपपत्तौ इत्यर्थः । अत्र, 'येन शब्देन' इत्यादिमूलोक्तकार्यकारणभावाद्वाङ्कारे 'उल्लास्य' इत्यादौ प्रागुक्तदोषो नापत्तेः, अग्रहीतद्वितीयाव्यर्थशक्तिकस्य विस्मृतद्वितीयाव्यर्थशक्तिकस्य वा पुरुषस्य इन्द्रपक्षीयार्थनिरूपित-शक्तिग्रहस्य तच्छ्रुत्योच्चारणेऽप्यस्त्वेन तदर्थनिरूपितव्यञ्जनादृत्तेरतत्रानुल्लासान् इति शका-दलस्याशयः । 'निःशेष' इत्यादौ रमणार्थनिरूपितशक्तिग्रहस्वाधमपदेऽभावेन तत्पदनिवृत्ततदर्थ-निरूपितव्यञ्जनाया उक्तकारणभावाद्बुद्धासेन सर्वानुभूतरमणरूपार्थभिव्यक्तेरतत्रानापत्तिः । रमणार्थनिरूपितशक्तिग्रहोऽधमपदेऽस्तीति दुराग्रहे शक्यैव रमणप्रतीतौ तत्र व्यञ्जनादृति-करणस्य सर्वसम्मतस्य वैयर्थ्यापत्तिस्तत्तादृशकार्यकारणभावाध्वयणमसम्भवमित्युत्तर-दत्ताशयः ।

पूर्वोक्त दोष के उद्धार के लिये पूर्वपक्षियों के द्वारा दी गई एक युक्ति का उल्लेख करके खण्डन करते हैं—न च येन इत्यादि से । यदि 'उद्धारस्य ...' इत्यादि श्लोक में द्रिस्तलायं गण दोष के उद्धारार्थ यह कहें कि जिस शब्द से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उस शब्द की उस अर्थ में शक्ति का ज्ञान ही उस व्यक्तरूपिक अर्थ की व्यञ्जना के आविर्भाव का कारण है—अर्थात् शक्ति ज्ञान होने पर ही व्यञ्जना का उद्भव होता है, अन्यथा नहीं । अतः 'उद्धारस्य ...' इत्यादि नानार्थस्थल में जिस श्रोता को इन्द्रपक्षीय अर्थ में श्लोकवाक्य की अभिप्रायशक्ति गृहीत नहीं हुई है, अथवा गृहीत होकर भी विस्मृत हो गई है, उसको उस अर्थ की व्यञ्जना आविर्भूत न होगी और न उस अर्थ का बोध ही होगा । किन्तु यह कहना भी असंगत होगा, क्योंकि इस तरह मानने पर 'नि शेषन्युत ...' इत्यादि श्लोक में 'अधम' पद से होने वाली सर्वसम्मत 'रमण' अर्थ को अभिव्यक्ति नहीं होगी, क्योंकि 'अधम' पद की रमण अर्थ में अभिप्रायशक्ति का ज्ञान किसी को नहीं है—ससार में अधमपद का रमण अर्थ कोई नहीं समझता । इतने पर भी यदि आप दुरायुध करें कि अधमपद की शक्ति का ज्ञान रमण अर्थ में है—कम से कम नायक को अवश्य है, क्योंकि उससे अधम कहते ही रमणवाली बात झटक जाती है—तब मैं कहूँगा कि ठीक है, बड़े भापकी ही बात, किन्तु ऐसा होने पर उस अभिप्रायशक्ति से ही रमण का बोध हो ही जायगा, फिर वहाँ व्यञ्जना की कल्पना करना ही व्यर्थ है ।

तत्कारणकारणभावस्य सङ्कुचितविषयस्वरूपत्वेन 'नि शेष' इत्यादौ दोषनिराममाशङ्क्यनिरस्यति—

न च नानार्थव्यञ्जनस्थल एवैवंजातीयकः कार्यकारणभावः कल्प्यते, तत्र च शक्तेरनियन्त्रितत्वेन तद्विग्रहस्याप्रयोजकतया व्यक्तिकल्पनीचित्यादिति वाच्यम्, नवीनकार्यकारणभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात् । नियन्त्रणस्य पूर्वमेव दूषितत्वेन तद्वेतोरेवेति न्यायावतारश्च ।

येन शब्देन यौऽर्थो म्पश्यते तस्य शब्दस्य तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तेरज्ञासे हेतु' रित्याकारकस्य कार्यकारणभावस्य नानार्थव्यञ्जनस्थले 'सुरभिमारं' भवत्यतीत्यादायैव कल्पनम्, न तु 'नि शेष' इत्यादावेत्यर्थव्यञ्जनस्थले, तेन तत्र तत्कारणमन्तरापि व्यञ्जनाया उज्ञासे न शक्ति । न च नानार्थस्थले व्यक्त्युज्ञासहेतुभूतरस्य शक्तिग्रहस्य स्वांशारे तेनैव द्वितीयार्थबोधोऽपि वृत्तो नार्हान्निमित्त इत्यत्र आह—सत्र चेति । अयं भाव—तत्र शक्तिग्रहस्य जातव्येऽपि न तस्य कार्यकारित्वम्, संयोगादिभि शक्तेरनियन्त्रितत्वात्, अतएतत्र व्यञ्जनकल्पनस्योपनिषत् । एवबोद्धव्येत्यादौ उक्तकार्यकारणभावषट्कार्पतावच्छेदकाम्ने, तत्कारणविरहान् न व्यक्तेरज्ञास इति तत्र नैकदोषावकाशः । परमेतज युक्तम्, तादृशाभिनवकार्यकारणभावाश्रयो गौरवात् । नन्वन्यथानुपपाया गौरवं सुसहमित्यपि न, व्यक्त्युज्ञानहेतोरतदर्थगतशक्तिज्ञानस्यैव तदर्थबोधजनकत्वाच्छेदकत्वाच्छेदकत्वमन्तरस्य व्यर्थत्वान् । ननु शक्तिनियन्त्रण कथं विस्मर्यते ? न विस्मर्यते, किन्तु तत्पूर्वमेव दूषितम् इति नारसीयते एतदबाध—तद्वेतोरिति, 'तद्वेतोरेव तदस्तु किं तत्त्वमन्या' इति हि न्यायस्वरूपम् । द्वितीयार्थबोधहेतुभूतव्यञ्जनोक्तमकारणत्वेन शक्तिग्रहेणैव द्वितीयार्थबोधो भवतु, व्यक्त्युज्ञानकल्पना वृत्तेति प्रवृत्ते तन्म्यायसंयोजनप्रकारः ।

उक्त कार्यकारणभाव में सङ्कोच करके 'नि शेषन्युत ...' इत्यादि पक्ष में द्रिस्तलायं गण दोष के निराकरणार्थ पूर्वपक्षियों की दाका का समाधान करते हैं—न च इत्यादि से । अभिप्राय यह है कि शक्ति ज्ञान को व्यञ्जनोद्घास का कारण नानार्थक व्यञ्जनस्थल में ही मान्य है, एकार्यव्यञ्जनकस्थल—'नि शेष' ... इत्यादि में नहीं, अतः वहाँ रमण अर्थ में अधमपद का शक्तिज्ञान नहीं रहने पर भी व्यञ्जना का प्रादुर्भाव हो

जायगा । किन्तु नानार्थस्थल में व्यञ्जना के उद्घासक अभिधाशक्ति के ज्ञान से ही अप्राकरणिक अर्थ का बोध क्यों नहीं मान लेते, व्यर्थ व्यञ्जनोद्घास की कल्पनावयों करते हो ? इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि यहाँ इस प्रकार की शका नहीं की जा सकती, क्योंकि नानार्थस्थल में शक्ति का ज्ञान भले ही अप्राकरणिक अर्थ में भी रहे, पर वह उसका बोध नहीं करा सकता, क्योंकि वह शक्ति प्रकरण भादि के ज्ञान से नियन्त्रित हो चुकी है—अप्राकरणिक अर्थ के निषेध में वेकार कर दी गई है, अतः व्यञ्जना की कल्पना यहाँ आवश्यक है, उसके उद्घासक के रूप में नियन्त्रित होने पर भी अप्राकरणिकार्थ निरूपित शक्ति ज्ञान कार्य करेगा यह बात दूसरी है । इस उपपादन के द्वारा पूर्व पक्षियों ने यह सिद्ध किया कि—‘उद्घासः’ इत्यादि पक्ष नानार्थक व्यञ्जक वाक्स्थल है, अतः यहाँ व्यञ्जना का प्रादुर्भाव तब होता यदि अप्राकरणिक अर्थ में शक्ति का ज्ञान रहता, जब वह ज्ञान है ही नहीं तो व्यञ्जना का प्रादुर्भाव नहीं होगा । पर पूर्वपक्षियों का उक्त कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि व्यञ्जनोद्घास में शक्तिज्ञान को कारण मानने पर व्यर्थ का गौरव उठाना पड़ता है । यदि आप यह कहें कि उसके बिना काम ही नहीं चल सकता, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस शक्ति ज्ञान को आप व्यञ्जना का उद्घासक मानते हैं, उसी से अप्राकरणिक अर्थ के बोध को सिद्ध किया जा चुका है । यदि आप कहें कि भियन्त्रणवाली बात को आप क्यों भूलते हैं ? तो मैं कहूँगा कि मैं भूलता नहीं हूँ, किन्तु उसका खण्डन पहले ही कर दिया गया है, अतः उसको मानता नहीं हूँ । यही बात ‘तदेतरेव’ इत्यादि न्याय के द्वारा प्रत्यक्षकार ने व्यक्त की है । न्याय का पूरा स्वरूप ‘तदेतरेव तदस्तु किं सत्कल्पनया’ यह है । अर्थात् यदि कारण के कारणसे ही काम चल सकता है तो बीच में एक और कारण की कल्पना व्यर्थ है । उत्तरपक्ष का सारांश यह हुआ कि ऐसी जगह व्यञ्जना की कल्पना निरर्थक है ।

अथान्यथाशक्तेः—

अथास्त्वप्राकरणिकोऽप्यर्थः शक्तिवेद्य एवान्वयधीर्गोचरः परंतु यत्र न बाधितः स्यात् । यत्र तु बाधितस्तत्र ‘जैमिनीयमलंबोपे रसनाधामयं द्विजः’ इत्यादौ जुगुप्सितोऽर्थो वहिना सिख्खतीत्यादौ वहिकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात् । बाधनिश्चयस्य तद्वत्ताज्ञान प्रति प्रतिबन्धकतायां सर्वजनसिद्धत्वात् । व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वं धर्मिप्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोष इति ।

‘जैमिनीय’/‘मिन्यादिवाक्याय नमश्च अथ द्विज जिह्वायां जैमनीयम् = मीनासा-शास्त्रम् अलम् अत्यर्थं धारयति इति’ ‘ब्राह्मणोऽयं जिह्वायां जैमिनि-विद्वान् धारयतीति’ च वाच्यव्यङ्ग्यार्थावसेयौ । इदमिदं वक्तव्यरहस्यम्—तद्भाषयता निधयामस्य बाध-निश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वं सर्वानुमतम्, अत एव ‘वहिना सिख्खती’ति वाक्यात् ‘सिक वहिकरणकत्वात्’ इति बोधो न भवति केनैव वहिकरणत्वाभावात्’ इत्यादिराकरस्य बाधनिश्चयस्य वर्तमानत्वात् अत एव बाबोधोपहतार्थकं तादृश वाक्यस्य प्रयुज्यते, एवञ्च तादृशबाधनिधयामाशयले गुरुमिमांसा मक्षयतीत्यादौ अभिधाधेयस्य-प्राकरणिगार्थरयान्वयबोधे सम्पन्नेऽपि ‘जैमनीयमल’/‘मिन्यादौ अप्राकरणिगार्थस्य शक्त्य-न्वयबोधो न सम्पन्नमर्हति बाधनिश्चयप्रतिबद्धत्वादिति तदर्थं व्यञ्जनाऽवश्यकी । ननु बाध-निश्चयसत्त्वं व्यञ्जनयापि कथमन्वयबोध इत्यत आह—व्यक्तेस्तु इति । धर्मिप्राहकमानेन व्यञ्जनाया बाधितार्थबोधकत्वं बोधियत एवेति भावः । बाधनिश्चयप्रतिबन्धकतावच्छेदकानुशौचैव व्यञ्जननिश्चयेतरनोक्त्यैव निवेश इति तत्त्वम् ।

अथ नानार्थकस्थल में व्यञ्जना मानने वाले पूर्वपक्षी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए कुछ नयी युक्ति देते हैं—अथास्तु इत्यादि से । पूर्वपक्षवालों का कहना है कि अष्टा

रहे आपके कथनानुसार अप्राकरणिक अर्थ भी अभिधा से बोध्य होकर ही अन्वयबोध का विषय अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का बोध भी अभिधा से ही हो जाय, पर वहाँ ही ऐसा हो जहाँ वह (अप्राकरणिक अर्थ) बाधित नहीं हो। पर जहाँ वह बाधित है, जैसे 'जैमिनीय'... इत्यादि में। मूलोक वाक्य का 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर अत्यधिक जैमिनी-मुनि प्रतिपादित भीमांसाशास्त्र का धारण करता है' इस अर्थ के अतिरिक्त 'यह ब्राह्मण अपनी जिह्वा पर जैमिनी के मल (विष्ठा) का धारण करता है' यह धृतिगत अर्थ, 'अग्नि से सौंचता है' इस वाक्य के सेचन की तरह बाध-पराहत है अर्थात् जैसे अग्नि से सौंचा नहीं जा सकता, वैसे ही ब्राह्मण की जिह्वा पर विष्ठा धारण की बात नहीं हो सकती, अतः जिस तरह अग्निकरणक सेक का बोध अभिधा से नहीं होता, उसी तरह ब्राह्मण की जिह्वा पर विष्ठा धारण का बोध भी अभिधा से नहीं होगा, क्योंकि—सभी विद्वानों के मत से तद्भाववत्त्वरूपवाचनिश्चय, सद्ब्रह्मज्ञान के प्रति प्रतिपन्धक है। व्यञ्जनाधारियों के मत में तो बाधित अर्थ का भी व्यञ्जना से बोध हो सकता है, होता भी है, क्योंकि वैसे स्थलों पर व्यञ्जना की कल्पना ही उसी के लिए होगी, अतः उससे होने वाले बोध को वाचनिश्चय नहीं रोक सकता अर्थात् वैयञ्जतिक बोधातिरिक्त बोध के प्रति ही वाचनिश्चय को प्रतिबन्धक माना जायगा। सारांश यह हुआ कि सुरभि मान लाता है' इत्यादि स्थल में अवधिगत गोमांस का बोध अभिधा से ही भी जाय, पर 'जैमिनीयमलम्'... इत्यादि स्थल में जिह्वा पर विष्ठाधारणरूप बाधित अर्थ का बोध अभिधा से किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। अतः उसके बोध के लिये व्यञ्जना माननी ही पड़ेती।

उत्तराद्वाया समाधानाह—

मैवम्, 'गामयतीर्णसत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिन्वाजात्,' 'सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलय।' इत्यादौ वाच्यार्थान्वयोपपादनायानु-सरणीयेन यत्नेन नानापक्षस्थलेऽपि बाधितार्थबोधस्योपपत्तिः स्यात्, अन्यथा प्रायशः सर्वेऽप्यलंकारेषु वाच्यार्थबोधोपपत्तये व्यञ्जनाङ्गीकरणीया स्यात्।

मैवमिति । पूर्वमुक्त प्रकारो न संभवतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—'गामयतीर्णस्यादिना अत्य यत् इत्यादिबोध्यः गामिति सौधानामिति च भिन्नपदार्थः । तयोः प्रथमतः 'इत्तं, पतञ्जलिमेषं सरस्वती पृथिव्या ममायता' इति, द्वितीयस्य च 'अस्य नगरस्य प्रासादानां शिखराणि सूर्येण सह मिलन्तीति वाच्यार्थो भवत' । अत्र अमरा पतञ्जलेः शारदायद्व-वाताविधारणान्तिचम्, प्रासादानामनुद्धतत्ववाभिन्त्यते । अनयोः पदार्थयोः वाच्यार्था-वैव बाधितौ इति तदन्वयबोधोपपादनायान् यन्त्रोन्मुखियते, यत्—अनाहार्यत्वस्यैव शब्दान्वयस्यापि बाधनिश्चयप्रतिबन्धतावच्छेदककोटी निवेशः, आहार्योक्त्याशान्स्वीकारश्च । अधिकं ह्यक्षन्तिरूपे मूलकार एव शुद्धीकरिष्यति । एवञ्चानया रीत्या यदा बाधितार्थैकार्थस्थलायवाच्यस्यान्वयबोध उपपाद्यते तथा तथैव रीत्या बाधितस्य नानार्थस्थलीयप्राकरणिकार्थस्य वाच्यत्वसंकोचारेऽपि अन्वयबोधः समुपपादयितुं शक्यः । अन्यथेति । उक्तयन्नानुसरणनिरहे इत्यर्थः । गामित्यत्र कैतवापहृतत्वि सौधानामित्यत्र संबन्धातिशयोक्त्यापि सकलैकलंकारेषु वाच्यार्थानां प्रायशो बाधिततया तदन्वयबोधाय व्यञ्जनासमाश्रयणीया भवेत्, न च समाश्रयिते केनापि ।

पूर्वपक्षवालों की उक्त युक्ति का खण्डन करते हैं—वैवम् इत्यादि से । अभिधाय यह है कि नानार्थकस्थल में बाधित अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए भी व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'यह, पतञ्जलि के झूल से सचमुच सरस्वती पृथ्वी पर अपतीर्ण हुई है' और 'इस नगर के प्रासादों के शिखर सूर्य से मिलते हैं।' एतदर्थक

मूल में उद्धृत वाक्यों के 'सरस्वती के पृथ्वी पर अवतीर्ण होना' और 'माताओं के तिलहों का सूर्य से मिलना' रूप अर्थ बाधित हैं, अर्थात् ऐसा हो नहीं सकता। अतः ऐसे स्थलों पर वाच्य अर्थों का अभिधा से बोध सिद्ध करने के लिए जिस उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है, उसी से नानार्थरूपस्थलों में भी बाधित अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा के द्वारा ही सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा उस उपाय का अवलम्बन नहीं करने पर—प्रायः सभी अलंकारों में पाठ्य व्यर्थों का बोध सिद्ध करने के लिये व्यञ्जना का स्वीकार करना पड़ेगा। सारांश यह हुआ कि अलंकारप्रधान काव्यों के अधिकांश अर्थ प्रायः बाधित ही रहते हैं, पर बाधित होने पर भी उन अर्थों का बोध सब छोड़ अभिधा से ही मानते हैं और आप भी मानते हैं, तब फिर नानार्थरूपस्थल में ही बाधित अप्राकरणिक अर्थ के बोध के लिए व्यञ्जना का आश्रयण क्यों किया जाय ? तब रही बात यह कि कहीं बाधित अर्थ का बोध अभिधा से कैसे होता है ? बाधनित्य उसमें प्रतिबन्ध क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर मूलकारने रूपक पर विचार करते हुए, स्वयं लक्षणा प्रकरण में दिया है। जिसका सारांश यह है कि बाधनित्य को शब्दजन्यबोध से अन्य बोध के प्रति ही प्रतिबन्धक मानना चाहिये, और आहार्य बोधताज्ञान मान लेना चाहिये। फिर बाधित अर्थ का भी अभिधा से बोध होने में कोई बाधा नहीं।

उपसंहृति—

तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेऽर्थे व्यञ्जनेति प्राचा सिद्धान्त शिथिल एव ।
'तस्मादि'ति प्रागुक्तश्रुति-कलापोंपसम्प्राप्तम् । 'नानार्थस्येत्यत्र नाना अर्था यस्येति बहुव्रीहिणा नानार्थक पदमुच्यते । पूर्वोक्तश्रुतिमि नानार्थरूपदस्थलेऽप्राकरणिकस्यात एव वक्तुरतात्पर्यविषयस्याप्यर्थस्य शब्दपैधान्वयबोध उपपादिते तदर्थं तत्र व्यञ्जनावश्यमेति तादृश एवाभिधामूलव्यञ्जनीदोषादरणस्थल इति प्राचीनानां मम्मटादीनां सिद्धान्तो निर्युक्तिरुवादमयत इति भावः ।

अब प्राचीन मतों का उपसंहार करते हैं—नरमाव इत्यादि से। उक्त विचारों से यह सिद्ध हुआ कि नानार्थकरथल में अप्राकरणिक अर्थों का बोध व्यञ्जना से होता है—यह प्राचीनों का सिद्धान्त कमजोर ही है। अर्थात् नानार्थक शब्दस्थल का अप्राकरणिक अर्थ ही शब्द-शक्ति मूलध्वनि का लक्ष्य है—इस प्राचीनोक्ति में कोई श्रुति नहीं है, अतः वह असंगत ही है।

प्राचीनमतस्याशिरूपेण श्रुतिमयतत्त्वं कथञ्चिन् एवाकरोति—

प्राकरणिकप्राकरणिकयोरर्थयोरुपमाया तु सा कदाचित्स्यादपीत्यत्रा-
स्ताक प्रतिभाति ।

'उपमाया तु' इत्यत्र 'तुना' अप्राकरणिकार्थे सा व्यवस्थित्यते। सा व्यञ्जना।
अथ भावः—

'दुर्गालघितविग्रहो मन्त्रिज सम्मालयस्तेजसा,

श्रेयद्वान्कलो हृष्टितगरिना विन्वमूर्तो भोविमि ।

न त्रेणकृतेप्रणो विरिगुरौ गाढा रुचि धारयन्,

गामाज्म्य विभूतिभूयिततन् राजनुमावल्लभ ॥'

इत्यादौ 'उपमावल्लभ' पदस्य, उमानामिराया राह्या वल्लभ पति भानुदेवनामा नृपति, उमाया पार्वत्या वल्लभ शिवश्चेति द्वावर्णां, तयो प्रथम प्राकरणिको द्वितीय-
थाप्राकरणिकः । एतत् प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरणेन तत्पदाभिधायी त्रिव्यञ्जितायामप्रा-
करणिक पार्वतीवल्लभरूपोऽर्थो न बाक्योऽपि तु व्याज्य, तथाऽप्राकरणिकार्थवोचनप्रयोज्य-

मस्रवद्वार्याभिवायित्वं पद्यस्य मा प्रमाद्रीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयो नृपशिवयो-
रुपमालंकारोऽपि व्यङ्ग्य इति प्राव आमनन्ति । पण्डितराजस्तु उक्तरीत्याऽप्राकरणिकार्य-
स्यापि वाच्यत्वं व्यवस्थान्योपमालंकारमात्रस्य व्याख्यत्वमङ्गोक्तते । परमत्रापि न पण्डित-
राजस्य मर्यादा निर्भर, 'तत्तत्पुनार्यैवान्न अये 'कदाचिदिति' स्वादपीत्यत्रत्यापिशब्दश्च
मंदिरधार्यः प्रयुक्ते । तद्वोजव तादृशाप्राकरणिकार्यमादाय वाक्यस्यासंबन्धार्थकत्वं
माभूदिति कल्पमानोपमाया अर्थापत्तिवेद्यत्वस्यापि समव इति बोध्यम् । उक्तश्लोके विशेष-
पणपदानां द्वयोः पञ्चयोज्यमाना पृथक् पृथक् चिन्तारभयेनात्र न लिखिता इति
साहित्यदर्पणतो जिज्ञासुभिस्ते विज्ञेया ।

प्राचीन मत के कुछ अंश में युक्तिसंगत होने के नाते पण्डितराज अपनी सम्मति
विक्षेपते हैं—प्राकरणिका इत्यादिसे । आशय यह है कि संस्कृतटीका में उद्धृत 'दुर्गालघित'...
इत्यादि श्लोक में 'उमावह्वम' पद के दो अर्थ हैं, एक—उमा नाम की रानी का बह्वभ
मिपति आनुदेय नाम का राजा, और दूसरा—उमा पार्यती का पञ्चम शिव । उन
दोनों अर्थों में प्रथम प्राकरणिक, दूसरा अप्राकरणिक है । ऐसी स्थिति में प्रकरण से
प्राकरणिक राजाकूप अर्थ में उमावह्वम पद की अभिधा विधन्त्रित हो जायगी, अतः
वाच्य अर्थ वही होगा । अप्राकरणिक शिवरूप अर्थ होगा व्यङ्ग्य और अप्राकरणिक अर्थ
का बोध अप्राप्तिक न समझा जाय, इसलिष्ट 'उमावह्वम-शिव—जैसा उमावह्वम राजा,'
इत्याकारक प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थ का उपमालंकार भी व्यङ्ग्य है—यह
प्राचीनों का मत है । पर पण्डितराज उक्त रीति से अप्राकरणिक अर्थ को भी वाच्य ही
मानते हैं, अतः उनके मत से केवल उक्त उपमा अलङ्कार ही व्यङ्ग्य है ।

स्वाभिमत शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनोदाहरणस्थलं दर्शयितुं गुणन्यमातनोति—

एवमपि योगरूढिस्थले रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य सकलतन्त्रसिद्धतया
रूढ्यनधिकरणस्य योगार्थलिङ्गितस्यार्थान्तरस्य व्यक्तिं विना प्रतीति-
रुहपपादा ।

एवमपीति । नानार्थकस्थले शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनोदाहरणामयवेऽपीत्यर्थः । योगरू-
ढिस्थल इति । योगरूढिर्नामाभिधाराविशेषः, म न शास्त्ररूपितावयवार्थान्वितविशेष्य-
भूतार्थान्वितपित्तसमुदायबोधस्वरूपः, तथा स्थले लक्ष्ये पङ्कजपदादावित्यर्थः । अभिधामे-
रुत्पत्तिपणमभिधानिष्पन्नप्रकरणे स्वयमेव ग्रन्थकारो विरतरतो विधास्यति । योगापहरणस्ये-
त्यनापहरण बाध । रूढ्यनधिकरणेति । निष्पन्नतामन्वायच्छिन्नरटिशक्तिनिष्पत्ता-
धिकरणताग्न्यस्येत्यर्थः, रटिशब्दनिष्पन्नस्येति यावत् । योगार्थेति । योगशक्त्यर्थः,
अन्यार्थान्तरपदेनाग्रिमेण योगार्थस्यैव विवक्षिततया 'योगार्थलिङ्गितस्य योगार्थस्येति'
प्रतान्तमगत्यापत्ते । अग्रमभिधाय—योगरूढिविशिष्टात् पदात् हल्यर्थस्यैव वाच्य-
इत्या बोधो भवति, न योगार्थस्य 'रूढियोगापहारिणी'ति न्यायान् । परन्तु क्वचित् स्थल-
विशेषे (यमनुपपत्तेवाग्रे ग्रन्थकारो दर्शयिष्यति) एकस्मादेव पदात् रूढ्यर्थप्रतीत्युत्तरं
योगार्थस्यापि प्रतीतिर्जायते, सा च व्यञ्जनयवोपपादयितुं शक्येति तादृशस्थल एव
शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनाया लक्ष्यसम्पन्न इति ।

अथ ग्रन्थकार शब्दशक्तिमूलध्वनि के सम्बन्ध में स्वकीय मत उपस्थित करते हैं—
एवमपि इत्यादि से । उक्त रीति से प्राचीन मत के शिथिल हो जाने पर भी अन्यत्र
शब्दशक्तिमूलध्वनि का लक्ष्य मिल सकता है । जैसे—अभिधा का एक भेद है योगरूढि,
जो शास्त्ररूपित अवयवार्थमिश्रित समुदायार्थबोधकतारूप मानी जाती है, जिसका
उदाहरण 'पङ्कज' आदि पद होता है, वहाँ रूढि-शक्तिज्ञान से योगशक्ति का बोध होता है,

यह बात सभी मतों में मान्य है । अतएव 'पङ्कज' पद से पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले शैवाल आदि का बोध न होकर केवल तादृश कमलरूप रूढ्यर्थ का ही बोध होता है । परन्तु कहीं-कहीं एक ही योगरूढ पद से रूढ्यर्थ के बोध हो जाने के बाद योगार्थ की भी प्रतीति देखी जाती है । (जैसे स्थूल सुरत मूल में ही जागे दिखावाये जायेंगे) वह प्रतीति अभिधा से तो हो नहीं सकती, क्योंकि उस प्रतीति में सहायक योगशक्ति का रूढिशक्ति से बाध हो गया रहता है । अतः अवस्था उस प्रतीति को उपपन्न करने के लिये स्थलनाश्रुति का ही अवलम्बन करना पड़ेगा अर्थात् वही शब्दशक्तिमूलकध्वनि का स्थान है ।

उदाहरति—

यथा—

‘अबलानां श्रियं हृत्वा धारिवाहैः सहानिशम् ।

तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः ॥’

अत्राशक्तानां द्रव्यमपहृत्य जलवाहकैः पुरुषैः सह पुंश्चल्यो रमन्त इत्यर्थान्तरं न तापदबला-धारिवाह-चपलाराब्दैर्योगरूढ्या शक्यते बोधयितुम्, मेघत्वविद्युत्वाद्यघटितस्यैव तस्यायस्य प्रतीतेः । अन्यथा चमत्कारो न स्यात् । अतएव न योगशक्त्यापि केवलया । रूढ्यर्थोसंवलितार्थबोधकत्वस्य तस्या रूढिसमानाधिकरणाया असंगतेः । पुंश्चलीत्वादेः सर्वथैव तदविषयत्वात् ।

अबलेति । चपला = विद्युतौ धारिवाहै = मेघै सह अबलानां = नायिकानां श्रियं = शोभा हृत्वा = अपहृत्य यत्र = यस्मिन्, काले इति यावन् अनिशम् = सततम् तिष्ठन्ति = वर्तन्ते, स कालः = वर्षासमय, समुपस्थितः = समागत इति वाच्योऽर्थः । अत्र ‘अशक्तानां’मित्यादिमूलोक्तार्थोऽपि प्रतीयते, तस्याथ प्रतीति अबला-धारिवाहचपला-पदेभ्यो योगरूढिशक्त्या न सम्य, अशक्तत्वमेतत्त्वविद्युत्त्वघटितस्य अशक्तमेघविद्युद्रूप-स्यैवेति यावन्, अयस्य तत्पदनिष्ठयोगरूढिशक्तिविषयत्वात्, प्रतीयमानस्य मूलोक्तार्थस्य च अशक्तत्वमेतत्त्वविद्युत्वाद्यघटितत्वात् । अन्यथेति । मूलोक्तार्थस्याप्रतीति, अशक्तत्वमेतत्त्व-विद्युत्वादिघटितस्यैव तस्य प्रतीतिः इत्यर्थः । अयमाशयः—अत्र मूलोक्तार्थप्रतीतिरपलापे वाच्यार्थमात्रस्याचमत्कारित्वेन प्रकृतपदस्य काव्यत्वमेव न स्यात्, काव्यत्वस्य चमत्कारा-धीनत्वात् । तदर्थप्रतीतिरधीकारेऽपि तत्र मेघत्वादिवाच्यधर्मभानममाने पुन स एव चमत्कारमात्रनिबन्धनो दोष इति मूलोकरूपेणैव तदर्थप्रतीति रधीकर्तव्या भवेदगात्या साहित्यरसिकानाम् । ननु योगरूढिशक्त्या मूलोक्तार्थप्रतीत्यसम्भवेऽपि केवलयोगशक्त्या धारिवाहादिपदनिष्ठया, तत्प्रतीति सम्भतीत्यपि न शुक्रमित्याह—अत एवेति । वक्ष्य-माण्युक्तेरित्यर्थः । तामेव शुक्तिमाह—रूढ्यर्थोसवलिति । रूढ्यर्थेन असंवलित अघटित अमिश्रित इति यावन् योऽर्थः, तद्विषयकत्वेति भावः । तस्या योगशक्तेः । रूढिसमाना-धिकरणाया इति, रूढ्या शब्दमेति यावन् समानम् एवम् अधिहरणम् पदरूप रिषति-प्रदेशो यस्या तस्या रूढिशक्तिमकीर्णया इति यावन् । एतत्पदार्थस्य ‘तस्या’ इति पठ्यन्ताथेऽन्वयः । असंगतेरिति पूर्वोक्त ‘बोधरूपस्य’त्यनेनान्वितम् । अयमाशयः—योग-रूढ्या अथवाधारिवाहनपलाप्रस्तव शब्दा वाच्यत्वात् न केवल योगार्थं बोधयितुं क्षमन्ते इति ।

ननु पदचपला तथा कल्पित इत्यत आह—पुंश्चलीति । आदिना पुरुषत्व-रतित्व-परिग्रहः । तदविषयत्वादिति । योगशक्त्यविषयत्वादित्यर्थः । योगरूढपदेभ्यो धारिवाहा-

हिंस्य' केवलयोगार्थबोधकीकारेऽपि न प्रकृते इष्टसिद्धिः, योगवलेनापि पुंशस्त्रीत्यादेरलम्भ-
दिति भावः । एवमेतत्तद्विशेषेषु स्थलेषु शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनार्थोच्चारण-आवश्यकः, अन्यथा अनि-
स्तान्तरादिति ग्रन्थकारस्य हृदयम् ।

अथ ग्रन्थकार अपने मत के अनुसार शब्दशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण दिसलाते
हैं—मवलानाम् इत्यादि से । इस पद्य का प्राकरणिक अर्थात् 'योगरूढि' द्वारा होने वाला-
वाच्य अर्थ यह है—जिस समय मैं विखुलतायें रमणियों की कान्ति का अपहरण करके
रात दिन मेघों के साथ रहा करती हूँ, वह वर्षा समय उपस्थित हो गया । परन्तु यहाँ
एक अन्य अर्थ भी अवगत होता है । वह यह है कि—जिस समय मैं कुलटायें निबल
पुरुषों का घन अपहरण करके जल डोनेवाले अर्थात् नीच पुरुषों के साथ रमण किया
करती हूँ, वह समय (घेर कलियुग) आगया । इस द्वितीय अर्थ का बोध 'अबला',
'वारिवाह', और 'अपला' शब्दों की योगरूढिशक्ति से नहीं हो सकता, क्योंकि 'मेघाव',
और 'विशुभ' आदि धर्मों से युक्त अर्थ ही उक्त पदों की योगरूढिशक्ति के विषय हुए हैं
और उक्त द्वितीय अर्थ उन धर्मों से कतई संबन्ध नहीं रखता । यदि कोई यह बुराग्रह
करे कि उक्त द्वितीय अर्थ में भी उन धर्मों का संबन्ध है, अथवा उक्त द्वितीय अर्थ का
यहाँ बोध नहीं होता, तो यह वन नहीं सकता, क्योंकि इन दोनों स्थितियों में प्रकृत
पद्य में कोई चमत्कार ही नहीं रहेगा, फिर तो इस पद्य को काव्य कहना भी कठिन
हो जायगा, क्योंकि काव्यावकाशबहार चमत्कार के ही अधीन है । यदि आप कहें कि
योगरूढिशक्ति से उक्त द्वितीय अर्थ का बोध नहीं हो सकता है तो न हो, केवल
योगशक्ति से हो सकता है, किन्तु यह भी सगत नहीं होगा, क्योंकि 'अबला', 'वारिवाह'
'अपला' प्रकृति शब्द जब योगरूढ हैं, तब वे केवल योगशक्ति से किसी अर्थ का बोधक
हो ही नहीं सकते । यदि आप हतने पर भी यह हठ करें कि जब यहाँ उक्त द्वितीय अर्थ
की भी प्रतीति अनुभवसिद्ध है, तब हम अगत्या योगरूढ होने पर भी इन शब्दों से केवल
योगार्थ का भी बोध मान लेंगे, दूसरा उपाय ही क्या है ? ऐसा कहना भी न्यायसंगत
नहीं होगा, क्योंकि उन पदों की योगशक्ति के अन्दर भी तो कुलटा, पुरुष और रमणरूप
अर्थ नहीं आते । अतः ऐसे स्थलों में अगत्या उस द्वितीय अर्थ के बोध के लिये शाब्दी
व्यञ्जनारूप अन्य उपाय का आश्रय करना ही पड़ेगा । इस तरह से यह सिद्ध हो
जाता है कि प्रकृत पद्य का उक्त द्वितीय अर्थ शब्दशक्तिमूलक व्यङ्ग्य है ।

योगरूढेरन्यत्राप्येकत्रैषा स्थितिरिति दर्शयति—

एवं यौगिकरूढिस्थलेऽपि बोध्यम् ।

अभिधाया यौगिकरूढिनामकौऽप्येको भेदः कैश्चिदङ्गीकृतः यच्चार्चा ग्रन्थकृताऽप्रे विधा-
स्यते । मण्डपादिपदानि तस्य शक्तिभेदस्याभयोभूतानि । तत्परिपठितकान्तेष्वपि वाच्य-
भित्तार्थबोधाय व्यञ्जनाया अपेक्षेति साराशः ।

इसी तरह यौगिकरूढिस्थल में भी समक्षिप् । अर्थात् अभिधा का यौगिकरूढिनामक
एक भेद—जिसकी चर्चा ग्रन्थकार ने आगे की है—कुछ लोगों ने माना है, जिसके
उदाहरण मण्डप आदि पद होते हैं, उन पदों से रचित काव्य में भी वाच्य से भिन्न अर्थ
का बोध व्यञ्जना से ही होगा, अतः वैसा स्थल भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण
हो सकता है ।

योगरूढिस्थलीयमेवोदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—

'वाञ्छन्त्ययोगिनयनं तव जलजानां शिखं हरतु ।

विधिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं हरति ॥'

अत्र नैयाश्रयकारी चाञ्चल्यगुणरहितानां कमलानां चाञ्चल्यगुणाधिकेन तत्र लोचनेन शोभायास्तिरस्कारः, आश्रयकृत्तु हरिणानां तद्गुणयुक्तानां तस्याः स इति याच्यार्थे पर्यवसनेऽपि रुदिनिर्मुक्तकेवलयोगमर्यादया मूर्ध्वपुत्राणामतएव प्रमत्तानां नेतृभिश्चोरादौ, श्रियो धनस्य हरणं सुशकम्, न तु गवेपकाणामत एवाप्रमत्तानामिति जलजनयनमृगशब्देभ्यः प्रतीयमानोऽर्थः कथं नाम व्यञ्जनाव्यापार विनोपपादयितुं शक्यते ।

जलजनयनमृगेति । काव्ये उल्लेखेन मूर्ध्वपरमं नयतीति नयनमिति ध्रुवपत्त्या नेतृत्वेन चौररूपस्य, मृगयन्तीति मृगा इति ध्रुवपत्त्या गवेपकरूपस्य चार्थस्य लाभः । 'मृग-अन्वेषणे' इत्यदन्ताचुरादिधातोः पचागच् । तथा च योगहृदिशक्त्याऽयं पदसंज्ञा-मर्थः—कमलेषु चञ्चलतागुणेनास्तीति तदपेक्षया समाधिकतद्गुणशालिना तत्र नेत्रेण तेषां कमलानां शोभायास्तिरस्कारः समुचित इति भाव्यकारी । परन्तु सामान्यतश्चल तत्र नेत्रं वनवासिनामिति चञ्चलान् मृगाणाम् शोभायास्तिरस्कारं यकतेति तदाश्रयकारी इति ।

एतद्वाच्यार्थविगत्यनन्तरमपि जलजनयनमृगाणां पक्षे रुदिरहितकेवलयोगशक्त्या-योऽयमर्थः प्रतीयते—नेतृभिश्चोराद्यैर्मूर्ध्वतन्मयानामतएव प्रमादकारिणः धनापहरणं भविष्यतीति, परन्तु ये गवेपका अतएव तावधनां गुप्तरथानवासिनश्च तेषां धनापहरणं चौरैर्न शक्यते विधातुमिति, तस्यार्थस्य प्रतीतिरपि न व्यञ्जनावृत्तिमह्वारमन्तरा कर्तुं शक्या 'हृदियोगार्णहारिणो'तिव्यायमूलोक्त्युत्प्रेरिति साधयः ।

अथ 'यथा वा' कहकर योगहृदि स्थल का ही एक और उदाहरण विशेषताया जाता है—राश्रय इत्यादि से । योगहृदिशक्ति से इस पक्ष का अर्थ होता है कि साधारण चञ्चलतारूपगुण से युक्त तैरा नेत्र, सर्वथा उस (चञ्चलता) गुण से हीन कमलों की शोभा का तिरस्कार करे, यह कोई आश्रय की बात नहीं । पर अत्यधिक अर्थात् गुम्हारी आँखों से भी अधिक, चञ्चलता गुणशाली मृगों की शोभा का भी जो तैरा नेत्र तिरस्कार करता है, वह अत्यन्त आश्रय की बात है । इस वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर रुदिरहित केवल योगशक्ति के बल से एक और अर्थ यहाँ प्रतीत होता है । वह यह है—मृगों के पुत्र अतएव असामान्य रहनेवालों के धन का अपहरण, (चोरी) आदि कर सकते हैं, पर गवेपक अर्थात् हर बात की गोज रखनेवाले अतएव पूर्ण सावधानता वास्तववालों के धन का नहीं । साधारण यह है कि—काव्य में 'ह' और 'ल' पक्षों का माना गया है, अतः 'जलदपद' का अङ्ग-मूर्ध्वपुत्र, 'नयति-से जो आय' इस ध्रुवपत्ति से 'नयन' पद का नेता-चौर और 'मृगयन्ति-ओ रोज करे' इस ध्रुवपत्ति से 'मृग' पद का गवेपक-सदा सावधान, अर्थ भी केवल योगशक्ति की रीति से होता है, जिनके अन्वय से उक्त द्वितीय वाक्यार्थ तैयार होता है । इस द्वितीय अर्थ का बोध व्यञ्जनावृत्ति के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि योगहृदपद रुदिरशक्ति से अभिविध केवल योगशक्ति से अर्थ के बोध कराने में सर्वथा अक्षम होते हैं । अतः यह भी शब्दशक्तिमूढध्वनि का लक्ष्य है ।

योगहृदिस्थले केवलयोगशक्त्या नान्यन्तरप्रतीतिरिति स्वामिमं सिद्धान्तम् अन्त्या-चार्थमते नवादयति—

अतएव पङ्कजादिपदेभ्यः पङ्कजनिमूर्ध्वेन कुमुदाद्युपस्थितिर्लक्षणवैवेति नैयायिका मन्यन्ते । अतएव च 'ईशानो भूतभण्डस्य स एषाद्य स च ॥' इति वेदान्तवाक्ये किमिष्यविशिष्टः कश्चिज्जीवोऽत्र प्रतिपादने उतेश्वर इति सशये,

जीव एवेति पूर्वपक्षे च 'शब्दादेव प्रमितः' इति सूत्रितसुत्तरमीमांसाकारैर्बोदराय-
णचरणैः (ब्रह्मसूत्रे १।३।२४) ।

अतएवेति । योगार्थमात्रस्ययोगरूपदादत्ताभादेवेत्यर्थः । अर्थमात्र —यत योगरूढि-
शक्तिनिशिष्टं पङ्कजपदं पङ्कजनिर्गुणविशिष्टं कमलमेव वाच्यवृत्त्या समुपस्थापयितुं क्षमते,
न केवलयोगमर्यादया पङ्कजनिर्गुणमुदादि, अतस्तदुपस्थितिं चिकीर्षिता चेत्तत्रार्थं पङ्कज-
पदस्य लक्षणा समाश्रयणीयेति नैयायिकानां मन्तव्यम् । न केवल नैयायिकैरेव समर्थितोऽयं
सिद्धान्तः, अपि तु वेदान्तिभिर्णीयते दर्शयितुमाह—अतएव चेति । उक्त एवार्थः । ईशान
इत्यत्र 'अहुष्टमात्रं पुण्यो ज्योतिरिवाभूमकः' इत्यादिप्रत्ययः । कठवल्लीस्यमिदम् (वतुर्थ-
वल्ली । १९) । अथ वर्तमानकाले स एव अहुष्टमात्र इत्यादिनिक्षेपणविशिष्टं भूतभग्नस्य
ईशान अस्ति । सो भविष्यकाले स एव भवितेत्यर्थः । अस्मिन् वेदान्तवाक्ये ऐश्वर्य-
विशिष्टस्य कल्याणन जीवस्य प्रतिपादनमुक्त ईश्वरस्येति सराय । ज्ञां एव, अहुष्टपरिमाणस्य
लिङ्गस्य ब्रह्मस्यसंभवान् इति पूर्वं पक्षः । ततः सिद्धान्तार्थं भगवान् भाररायणः 'शब्दा-
देवे'ति सूत्रमवच्छेदयत्, तस्यावधारण —परमान्वैवात्र प्रतिपाद्य इति प्रमितम्, कुतः,
शब्दादेव, ईशानशब्दादिति तदर्थः । ईशानशब्द परमान्वनि योगरूढः, अतः केवलयोग-
मर्यादया ऐश्वर्यविशिष्टजीवस्य ततो बोधो न स्यात्, रुडेयोंगापहारित्वान् । ननु अहुष्ट-
मात्र इति लिङ्गस्य परमान्वनि विरोध इति चेत् ? मन्यम्, जीवे ईशान इति श्रुतिरेव
विहता । लिङ्गश्रुत्योर्विरोधे च श्रुतेरेव प्रावत्यम्, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणास्थानसमाख्यानां
पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादिति' जैमिनिमुद्रात् । अहुष्टमात्रजीवानुवादं ब्रह्मभेदप्रतिपादन-
परतया अहुष्टमात्रवलिङ्गराजानुपपत्तिरपि परिहर्तुं सुराभा इति ।

अप प्रत्यकार 'योगरूढपद', केवल योगशक्ति से किसी अर्थ का बोध नहीं कराता
है' इस स्वसम्मत सिद्धान्त में अन्य भाषाओं की सम्मति दिखलाते हैं—अतएव
इत्यादि से। योगरूढिशक्तिवाला 'पङ्कज' पद, जिस लिये पङ्क से जन्म ग्रहण करनेवाले कमल
का ही अभिधा द्वारा बोधक होता है, केवल योगशक्ति द्वारा पङ्क से जन्म ग्रहण
करनेवाले कुमुद आदि का नहीं, अतएव यदि कहीं पङ्कजपद से कुमुद आदि का बोध
कराना अभीष्ट रहता है, तो उसके लिये पङ्कजपद में कुमुद आदि अर्थ की लक्षणा
नैयायिक लोग मानते हैं। इसी तरह वेदान्ती विद्वान् भी योगरूढपद से केवल
योगार्थ का बोध नहीं मानते हैं। देखिए—कठवल्ली नामक शास्त्र में 'अहुष्टमात्रं पुण्यो-
ज्योतिरिवाभूमकः' अर्थात् निर्धनं अग्निज्योति के समान अहुष्टप्रमाण एक पुरुष है'
इत्यादिरूप से आरम्भ करके 'ईशां भूतभग्नस्य ...' इत्यादि मूलोक्त वाक्य कहा
गया है। जिसका अर्थ यह है कि आज—वर्तमानकाल में अहुष्टमात्र प्रमाणवाला वह
पुरुष ही भूत और भावी का ईशान अर्थात् मालिक है और भविष्यकाल में भी वही
मालिक रहेगा। यहाँ यह सन्देह होता है कि यह ऐश्वर्यशाली किसी जीव का वर्णन है
अथवा परब्रह्म परमेश्वर का ? इसके उत्तर में पहले यह कहा गया कि जीव का, क्योंकि
अहुष्ट प्रमाणरूपचिह्न परब्रह्म में नहीं हो सकता। तदनन्तर उक्त सन्देह का निराकरण
करने के लिये उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) कार भगवान् वेदव्यास ने सिद्धान्तभूत
'शब्दादेव प्रमितः' यह सूत्र बनाया। जिसका अर्थ यह है—कि उक्त उपनिषद् वाक्य में
परब्रह्म का ही वर्णन किया गया है जीव का नहीं, यह बात 'ईशान'शब्द से ही
प्रमित—यथार्थरूप में निश्चित है। सूत्रकार का आशय है कि ईशानशब्द परब्रह्मरूप
अर्थ में योगरूढ है, अतः केवल योगमर्यादा से ऐश्वर्यशाली जीव का बोधक यह नहीं
हो सकता है। यहाँ यदि कोई यह आशय करे कि भगवान् वेदव्यास का उक्त फैसला
कैसे संगत हुआ, क्योंकि ईशानपद का परब्रह्म अर्थ करने पर 'अहुष्टमात्र प्रमाण' यह

लिङ्ग विरुद्ध हो जाता है ? इसका समाधान यह है कि परमस्य अर्थ करने पर लिङ्ग विरोध होता है, पर जीव अर्थ करने पर तो 'ईशान' यह श्रुति ही विरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्रुति का अनुरोध करना ही उचित है लिङ्ग का नहीं, क्योंकि—सूत्रकार जैमिनि ने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण आदि में उत्तरोत्तर को दुर्बल माना है।

उपसहरति—

तस्मादर्थान्तरमिह न शक्तिवेद्यम् अपि तु व्यक्तिवेद्यमेव ।

तस्मादिति । रूढयोगापरिहारादेवेत्यर्थः । अर्थान्तरम् केवलयोगमर्यादाप्राप्तम् ।

इह अवलानामित्यादौ । शक्तिवेद्यमिति । शक्त्या योगरूढिशक्त्या वेद्य ज्ञेयमित्यर्थः । शक्तिवेद्यमिति । व्यक्त्या शब्दशक्तिमूलव्यजनया ज्ञातव्यमिति भावः ।

प्रकृत प्रसङ्ग पर स्वमत का उपसहार करते हैं—तस्मात् इत्यादि से । उक्त विवरणों से यह सिद्ध होता है कि 'अवलानाम्' ' ' और 'वाच्यम्' ' ' इत्यादि, योगरूढ-पदरचित पद्यों में जो दूसरे—अप्राकरगिक अर्थ प्रतीत होते हैं, वे अभिधा के द्वारा नहीं, अपि तु व्यजना के द्वारा ज्ञात होते हैं ।

ननु शक्तिवेद्यत्वेऽपि लक्षणावेद्यत्वमेवास्तु किं व्यजनवेद्यत्वम् आह—

यथाश्रुतार्थस्यैवोपपत्तेर्बाधाभावेन लक्ष्यमित्यपि न शक्यं वक्तुम् । तात्पर्यार्थबोधस्तु तदर्थबोधोत्तरं बोध्यः । स एव तु कथं स्यादित्युपायोऽयं विचिन्त्यते । नह्यपहर्तृव्यवहारो यत्रा विवक्षित इति श्रोतुमर्थं कश्चिदुपायोऽस्ति श्रुते सहृदयहृदयोन्मिषितादस्माद्व्यापारात् ।

यथाश्रुतार्थस्येति । श्रुत शब्दमिति यावत् अनतिक्रम्य प्रवर्तते इति तादृशो योऽर्थ तस्येत्यर्थः । श्रुतशब्दस्वरूपवसिष्ठार्थस्येति यावत् । वाच्यार्थस्येति परमार्थः । उपपत्तेरिति । अन्यव्यवहारविरहितेति भावः । बाधाभावेनेति । अन्यव्यायोग्यत्वविरहेत्यर्थः । अयं भावः— 'अवलाना धियम्' इत्यादौ 'नायिकाना शोभा इत्यादि विद्युतो मेघं सह रमन्ते' इति रीत्या तत्तत्पदार्थस्यान्यवसम्भवे, मुख्यार्थबाधतद्बोधोक्तप्रयोजनान्वतरूपलक्षणाकारणघटक-मुख्यार्थबाधात्मककारणविरहेण तत्र 'अशक्ताना धनमपहृत्य वारिवाहकं पुरुषं सह पुथल्यो रमन्ते' इति प्रतीयमानार्थादौ तद्वाक्यस्य तद्वाक्यपदकपदानां बाल लक्षणा न सम्भवतीति ।

ननु अन्ययानुपपत्तिर्न लक्षणाबीजम् 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' नक्षत्रं हृद्वा पाच विस्मृजेत्' इत्यादौ लक्षणानुपपत्तेरिति तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमकामेनाऽप्यङ्गीकार्यम् । तथा च प्रकृतेऽपि वक्तुं द्वितीयार्थविषयकतात्पर्यस्यानुपपत्तिरस्तीति सम्भवति तत्र लक्षणेत्यत आह— तात्पर्यार्थेति । द्वितीयार्थेति तदर्थः । तदर्थेति । योगरूढिलक्ष्यार्थेत्यर्थः । स इति । द्वितीयार्थ-बोध इत्यर्थः । अयमिति । व्यजनाद्वीकाररूप इत्यर्थः । अपहर्तृव्यवहार 'वाच्ययोगि' इति पद्ये चौरव्यवहारः । श्रुते विना । सहृदयेति । सहृदयानां काव्यार्थमावनापरिष्क-शुद्धीनां सचेतसहृदयेभ्यः उन्मिषितान् उन्मिषितात् इत्यर्थः । सहृदयगृहीतादिति यावत् । अस्माद् व्यजनारूपात् । वाच्ययोगीत्यादौ प्रथमार्थप्रतीतिवेलायां यदि 'अपहर्तृव्यवहारोऽत्र यत्रा विवक्षित' इति तात्पर्यं श्रोतुं विदितमविविष्यत्, तदा तदनुपपत्तिमूलिना लक्षणा तत्रार्थं कर्तुं श्रोताऽपारमिष्यत्, परन्तु तत्तात्पर्यार्थज्ञानार्थमेव व्यजनाद्व्यापारस्वीकार इति सिद्धमिह व्यजनाया आवस्यक्यम् । अत्रास्तु तद्ज्ञानसाधक उपायो नास्त्येवेति भावः ।

अथ लक्षणा से भी उक्त स्थलों में अप्राकरगिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता, यह दिखलाते हैं—यथाश्रुत इत्यादि से । अगमिष्य यह है कि नैयायिकों की तरह लक्षणा से ही

योगरूढि स्थल में अत्राकरणिक-अर्थ का बोध मान लेने की बात भी संगत नहीं हो सकती, क्योंकि मुख्य अर्थ का बाध रहने पर ही लक्षणा होती है और वहाँ मुख्य अर्थ का बाध नहीं रहता, अर्थात् 'अवलानां श्रियम्...' इत्यादि पूर्वोक्त पदों में 'नायिकाओं की शोभा का अपहरण करके बिजलियाँ मेघों के साथ रहती हैं' इत्यादि रीति से जब वाच्य अर्थ का अन्वय हो ही जाता है, तब लक्षणा का प्रसंग ही वहाँ कैसे उठ सकता है ? क्योंकि लक्षणा के कारणों में एक मुख्य अर्थ का अन्वय न हो सकना (बाध) भी है। यदि आप कहें कि 'काकों से दूरी की रक्षा कीनिए' इत्यादि स्थलों पर अन्वय की अनुपपत्ति न रहने पर भी लक्षणा होती है अतः तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है अन्वय की अनुपपत्ति नहीं, फिर तो उक्त योगरूढिस्थलों में लक्षणा हो ही सकती है, क्योंकि 'दुर्बल पुरुषों के धन का अपहरण करके कुलटायें जल होनेवालों के साथ रमण करती हैं' इस अत्राकरणिक अर्थ में—जिसमें वक्ता का तात्पर्य है—अनुपपत्ति स्पष्ट है। इस प्रकार यह फलन भी आपका अज्ञानमूलक ही कहा जा सकता है, क्योंकि वक्ता का तात्पर्य उक्त अत्राकरणिक अर्थ में है, इसका ज्ञान ही श्रोता को पहले कैसे होगा ? उसी ज्ञान के लिये तो मैं व्यञ्जना मानने की सम्मति दे रहा हूँ और आप उसी व्यञ्जना का खण्डन करने के लिये लक्षणा की बात चला रहे हैं यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् 'वाङ्मययोगि...' इत्यादि स्थलों में प्रथम अर्थ की प्रतीति के समय में 'बौरवाली बात भी वक्ता का विदधित है' इस तरह का तात्पर्य श्रोता को यदि ज्ञात रहता, तो वह उस अर्थ की अनुपपत्ति से उस अर्थ में उक्त पदवचक एक या अनेक पदों की लक्षणा कर भी सकता था, पर वह तात्पर्य ही श्रोता को प्रथमार्थ ज्ञानकाल में ज्ञात नहीं रहता। यदि उक्त तात्पर्यज्ञान के लिये उपाय का अन्वेषण करना चाहते, तो व्यञ्जना की शरण लेनी पड़ेगी दूसरा कोई उपाय मिलेगा ही नहीं। और जब व्यञ्जना मान लेंगे तब लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी व्यञ्जना से ही उस अर्थ का बोध मित्र हो जायगा।

पूर्वोक्तरीतिरेवान्यत्रापि तादृशस्वलेषु समाधायणीयेत्याह—

एवमन्यत्राप्युद्धाम् ।

प्रागुपदर्शिता सरणिमाश्रित्य अन्यत्रापि योगरूढिस्थले कान्वचटनं रक्षयन्नेवोहो विधेयः काव्यमर्मैरिति भावः ।

इस तरह योगरूढ पदों के द्वारा शब्दित अन्य काव्यस्थलों में भी चाहिए ।

योगरूढपदनिबद्धेषु 'अवलानाम्' इत्यादिषु द्वितीयार्थप्रतीत्यपत्तापं दूरीकरोति—

तादृशार्थप्रतिपत्तिरेव नास्तीति न तादृशशब्दार्थव्युत्पत्तिमसृणीकृतान्तःकरणैर्न शक्यते वक्तुम् ।

तादृशेति । द्वितीयेत्यर्थः । तादृशेति । तादृशत्वा अन्वयसाधारणया तत्परिचयित्येति यावत् शब्दार्थयो व्युत्पत्त्या ज्ञानेन असृणीकृतानि विक्रणीकृतानि व्यङ्ग्यार्थबोधक्षमतामापादितानीति यावत् अन्तःकरणानि हृदयानि हृदयान्विष्टात्मान इति परमार्थ, येषां तैरित्यर्थः । 'अवलानां'मिन्यादौ द्वितीयार्थप्रतीतिरेव नेति त एव वक्तुं प्रभवन्ति ये अल्पज्ञा वाच्यार्थमात्रबोधनिपुणा, ये तु काव्यमर्मज्ञा बहुज्ञा व्यङ्ग्यार्थबोधकुशलास्ते न तथा कथयेयुरिति भावः ।

उक्त पदों से उक्त अत्राकरणिक अर्थों की प्रतीति होती ही नहीं है, ऐसा तो वे ही सनन कह सकते हैं जो अल्पज्ञ होंगे—वाच्यार्थमात्र को समझने की शक्ति रखते होंगे, अर्थात् जिन लोगों के हृदय शब्द और अर्थों की गहरी व्युत्पत्ति से मँने होंगे, वे कभी भी उक्त व्यङ्ग्य अर्थों का अपलाप नहीं कर सकते ।

‘इदानीम्’ अनेकार्थस्य ‘शब्दस्य’ इत्यादि मम्मटोक्तशब्दशक्तिमूलव्यञ्जनासंग्राहकारिका-
स्थाने भिन्नविधैव संग्रहकारिका कर्तव्येत्याह—

तथा चेत्थं समग्रं—

‘योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते । --

धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥’

‘योगरूढिशक्तिविशिष्टस्य पदस्य योगशक्तौ रूढिशक्त्या’ नियन्त्रिताया या रूढियोग-
शक्तिव्यञ्ज्यस्यार्थस्य बोध जनयति, सैव शब्दशक्तिमूला व्यञ्जनैत्यर्थः । योगशक्तनियन्त्रण-
वाच्य ‘रूढिर्योगापहारिणी’ तिन्यायेन कार्याक्षमत्वविधानमिति बोध्यम् ।

अब स्वमतानुसार शास्त्री (अभिधामूल) व्यञ्जना का लक्षण करते हैं— तथा च
इत्यादि से । योगरूढ पद की योगशक्ति जब रूढिशक्ति से ‘रूढिर्योगापहारिणी’ के
अनुसार नियन्त्रित कर दी जाती है— कार्याक्षम बना दी जाती है, तब योगशक्ति के
द्वारा लाभ करने योग्य अर्थ का बोध जिस वृत्ति से होता है, उसी का नाम है ‘व्यञ्जना’
अर्थात् वाच्यशक्तिमूलव्यञ्जना वही कहलाती है । अब ऐसा ही समग्र करना चाहिए,
म कि ‘अनेकार्थस्य शब्दस्य’ इत्यादि मम्मटोक्त जैसा ।

मम्मटादिप्राचीनार्थाणां हृदय स्फोरयति—

एवं स्थिते नानार्थस्थलेऽप्युपमाया प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थगतायाः प्रति-
पत्तयेऽप्यर्थं वाच्यया व्यञ्जनयैवाप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य प्रतिपत्तायत्नं क्लिष्टफलप-
नयेत्याशयेन प्राचीनैरुक्तं नानार्थव्यञ्जकत्वमपि न दुष्यति ।

अक्षर्य वाच्ययेति । अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वस्य गिद्वान्तेऽस्वीकारादिति भावः ।
क्लिष्टेति । आन्वयस्थलीनाप्राकरणिकार्थबोधाय प्राक् प्रतिपादितवैयर्थ्यं । यद्यप्युक्तरीत्या
नानार्थस्थले व्यञ्जना विनाप्यप्राकरणिकार्थबोधनिर्वाहः सम्भवति, तथापि नानार्थस्थलेऽपि
प्राकरणिकाप्राकरणिकार्थवर्तिन्या उपमाया बोधाय साऽवश्यमज्ञोक्तव्या स्यादप्राकरणिका-
र्थस्य वाच्यत्वं व्यवस्थापयद्विरुपति तयैवाप्राकरणिकार्थबोधाऽपि स्वीक्रियताम्, तदर्थं पूर्वोक्त
क्लेशबहुला कल्पना दृश्येति प्राचामभिप्रायो वर्णनीयः ।

अब मम्मट आदि प्राचीन भाष्यार्थों के प्रकृत प्रसंग पर प्रतिपादित मतों का जो
मूलभूत सत्य रहस्य है उसका विश्लेषण करते हैं— एवं स्थिते इत्यादि से । नानार्थक स्थल
में अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यञ्जना से होता है यह प्राचीनों का मत है । उसकी जो
स्थिति विश्लेषण करने पर होती है वह पूर्व सन्दर्भों में स्पष्ट हो चुकी है । अर्थात् युक्तिरूपी
कसौटी पर परीक्षित होने से वह मत उज्ज्वल नहीं सिद्ध हो सका । तथापि एक बात
उसमें सचचा सत्य है जो सबको मान्य होने योग्य है । वह यह है कि नानार्थक-
स्थल में अर्थद्वय का बोध अभिधा से सिद्ध हो जाने पर भी उन दोनों (प्राकरणिक
तथा अप्राकरणिक) अर्थों की उपमा अभिधा से ज्ञात नहीं होती, किन्तु व्यञ्जना
से ही । ऐसी स्थिति में जब कि वहाँ व्यञ्जना की कल्पना किसी न किसी तरह करनी
ही पड़ी, तब उस व्यञ्जना से ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध हो ही जायगा इस
प्रकार व्यर्थ बलेशप्रद अनेक कल्पनायें नहीं करनी पड़तीं, यह प्राचीनों का अभिप्राय नानार्थ-
व्यञ्जनास्थल में भी दोषाबह नहीं कहा जा सकता ।

प्राचीनोक्तनानार्थशक्तिनियमकान् संयोगादीन् निरूपयितुमुपक्रमते—

तत्र नानार्थशक्तिनियमनाय तैः संयोगादयो निरूपिताः—

‘संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥’

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

सन्नेति । निरूपिताया व्यञ्जनायामित्यर्थः । तैः प्राचीनैः । भर्तृहरिनिर्मितवाक्यपदीय-
प्रन्यस्येयं कारिका । एते संयोगादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदुच्छेदद्वारेण विशेष-
स्मृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः । तपस्थितानामनेकेषामेकतरमात्रार्थतात्पर्यनिर्णयद्वारा
तन्मात्रार्थविषयकान्वयबोधजनका इति भावः ।

अथ ग्रन्थकार नानार्थक शब्दों की शक्तियों के नियमब करनेवाले प्राचीनाभिमत
संयोग आदि के निरूपण करने का उपक्रम करते हैं—न इत्यादि से । अप्राकरणिक अर्थ
की अभिव्यक्ति स्थलों में अनेक अर्थों की अभिधाशक्ति को रोकने के लिये—अर्थात्
अभिधाशक्ति को केवल समाकरणिक अर्थ का बोधक सिद्ध करने के लिये—प्राचीन
भाषाओं ने जिन 'संयोग' आदि (१५ प्रतिबन्धकों) का निरूपण किया है वे इस प्रकार हैं—
१. संयोग, २. वियोग, ३. सादृश्य, ४. विरोध, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिङ्ग, ८. अन्य
शब्दसन्निधि, ९. सामर्थ्य, १०. औचित्य, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति, १४. स्वर,
और १५. आदिपदप्राप्त्य चेष्टा । ये सब 'इस शब्द का यहाँ क्या अर्थ है' इस तरह के
सन्देह होने पर निर्णय के कारण होते हैं । अर्थात् इन सबों के द्वारा होता 'वक्ता का
कौन सा अर्थ अभिमत है' इस बात का निर्णय करने में समर्थ होता है ।

हरिकारिकान् संयोगादीनेकैक्यो व्याचिख्यामुपदौ प्रपमोक्तं संयोगं व्याचष्टे—

तत्र—

संयोगो नानार्थशब्दशक्यान्तरवृत्तिवया अप्रसिद्धत्वे सति तच्छक्यवृत्ति-
तया प्रसिद्धः संबन्धः ।

यथा—'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र शङ्खचक्रयोः संयोगो भगवन्मात्रनिष्ठतया
प्रसिद्धो भगवति हरिशब्दस्याभिधायी नियमेनावस्थापकः, न त्वायुधत्वेनायुध-
सामान्यसंयोगः पाशाङ्गुशादिसंयोगो च । दलद्वयाभावात् । न चासौ लिङ्गा-
न्तर्गत इति मन्तव्यम्, शक्यान्तरे नियमेनावृत्तेरेव प्रकृते लिङ्गत्वात् । शङ्खचक्र-
योस्त्विन्द्रादिनापि कदापिद्वारणसंभवात् ।

तत्र संयोगादीनां मध्ये । नानार्थस्य शब्दस्य ह्यर्थाः शक्याः तेषु विष्णुमिश्रशक्येषु
इन्द्रादिषु वृत्तितया वर्तमानतया पदप्रसिद्धत्वं, तद्विशिष्टं अथ च तस्मिन् विष्णुमिश्र-
रूपे शक्ये वर्तमानतया प्रसिद्धः संबन्धः संबन्धमामान्यं सर्वोक्त इति लक्षणार्थः ।
मक्तिधिवर्धप्रतियोगिनी यः कश्चित् संबन्धो नानार्थपदवाच्यवर्धनिरूपिताभिधा नियन्त्रणाया
तस्मिन् वर्तमानतया न लोकविख्यातो विख्यातध्यानियन्त्रणायाभिधा निरूपकार्यवृत्तितया,
न संबन्धोऽत्र संयोगपदवाच्य इति परमार्थः । स च स्थलभेदेन अयमजनकभाषादि-
रूपः सर्वोऽपि ।

उदाहरति—यथेति । 'सशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र हरिशब्दो नानार्थकः, परमिह शङ्ख-
चक्रयोः संयोगः हरिपदशक्येन्द्रादिनिष्ठतया अप्रसिद्धः प्रसिद्धः भगवत्तिष्ठतयेति स
तत्पदाभिधा भगवति नियन्त्रयति तेनात्र वाच्यवृत्त्या हरिपदात् भगवत एव बोधो नेन्द्रादेः ।
लक्षणपदस्य विशेषणदलस्य व्यावर्त्यमाह—न त्वायुधेति । आयुधो हरिरित्यत्रायुधसंयोगेन
न हरिपदाभिधाया नियमनम्, शक्यान्तरे इन्द्रादौ आयुधसंयोगस्याप्रसिद्धिर्नास्ति, तस्य
तत्र वर्तमानत्वादिति विरोधपदस्मृतिहेतवेन तस्य व्यावृत्तिः । विशेष्यदलस्य व्यावर्त्यमाह—
पाशाङ्गुशादीति । स पाशाङ्गुशो हरिरित्युक्तौ पाशाङ्गुशसंयोगेन न हरिपदाभिधानियन्त्रणम्

तस्य नययोगस्य भगवति प्रसिद्धत्वविरहेण विरोध्यदलेन व्याहृते । दलद्वयाभावादिति । पूर्वोक्ते स्थलद्वये पूर्वस्मिन् प्रथमदलस्य द्वितीयस्मिन् द्वितीयदलस्याभावादित्यर्थः । नन्वेवं लिङ्गरूपनियामकान्तर्भाव एवास्य संयोगस्य, नेत्याह—नचासाविति । असौ संयोगः । नियमेनावृत्तेरिति । कालत्रयावच्छिन्नवृत्तिरन्यत्वस्येत्यर्थः । प्रकृते अभिधानियाम-कोक्तकारिकायाम् । लिङ्गत्वादिति । तत्त्वेन ग्रहणादित्यर्थः । शक्यान्तरे शस्य स्थिति कदापि न संभाविता तदेवात्र लिङ्गं विवक्षितम्, शङ्खचक्रसंयोगस्तु न तथा तस्य इन्द्रादावप्रसिद्धत्वेऽपि कदाचित्कर्मभावनाविषयत्वात् ।

अब उक्त शक्तिनियामक संयोग आदि की व्याख्या करने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम संयोग की व्याख्या करते हैं—उस संयोगो इत्यादि से । संयोग उस सङ्गविशेष की कहते हैं जो नानार्थक पद के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध हो, और उसी पद के अन्य अर्थों में अप्रसिद्ध हो । अर्थात् नानार्थक पद के जिस अर्थ के बोध की रोकना हो, उस अर्थ में जिसकी स्थिति लोकविप्लवात् नहीं हो और नानार्थक शब्द के जिस अर्थ के बोध की रोकना नहीं हो उस अर्थ में जिसकी स्थिति लोकप्रसिद्ध हो, ऐसे सभी (संयोग, जन्मजनकभाव आदि) संबन्धों को यहाँ संयोग कहा जाता है, केवल कालादर्शन-प्रसिद्ध संयोग को ही नहीं । उदाहरण देखिए—‘शङ्ख चक्र सहित हरि’ इस वाक्य में ‘हरि’ शब्द नानार्थक है—अर्थात् उसके विष्णु, इन्द्र, सूर्य आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं । परन्तु यहाँ हरि पद का अर्थ विष्णु ही होता है इन्द्र आदि नहीं, क्योंकि शङ्ख चक्र का संबन्ध (संयोग)—जिसकी स्थिति केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है, इन्द्र आदि में नहीं—हरिपद की अभिप्रायिकी को नियमित विष्णुरूप अर्थ में ही केन्द्रित कर देता है । ‘आयुध-सहित हरि’ इस वाक्य में हरिपद की अभिधा विष्णुरूप अर्थ में नियमित नहीं होगी क्योंकि, आयुध का संयोग विष्णु से भिन्न इन्द्र आदि अर्थ में भी अप्रसिद्ध नहीं है—अर्थात् इन्द्र आदि भी किसी न किसी आयुध (अस्त्र) का धारण करते ही हैं । इसी तरह ‘पाशा-अश्रुता सहित हरि’ इस वाक्य में भी विष्णु-अर्थ में हरि पद की अभिधा नियमित नहीं होगी, क्योंकि पाशाश्रुता का संयोग विष्णु में प्रसिद्ध नहीं है । अर्थात् इन दोनों वाक्यों में हरि पद से इन्द्र आदि का भी बोध होता है । यहाँ यदि कोई यह शका करे कि लिङ्ग नामक जो एक नियामक गिनाया गया है उसी में यह संयोग भी अन्तर्भूत हो जायगा यत् शङ्ख-चक्र भी एक तरह से भगवान् विष्णु का चिह्न ही है ? तो यह सुक्त नहीं होगा, क्योंकि यहाँ लिङ्ग से ऐसा चिह्न विशेष लिया जाता है जो—जिसका चिह्न अनाश हो—उससे अन्य में कभी (कालत्रय में) संभावित नहीं हो । शङ्खचक्र-संयोग तो ऐसी चीज नहीं है, जो कभी विष्णु से भिन्न इन्द्र आदि में संभावित नहीं हो—अर्थात् शङ्ख चक्र का संयोग इन्द्र आदि में प्रसिद्ध भले ही न हो, पर इन्द्र आदि यदि उनका धारण कर लें तो उन्हें उससे कोई रोकना तो नहीं, अतः उन दोनों चीजों के संयोग की संभावना तो इन्द्र आदि में की ही जा सकती है ।

विप्रयोग व्याख्ये—

विप्रयोगो विश्लेषः ।

यथा—‘अशङ्खचक्रो हरिः’ इत्यत्र तयोरेव विश्लेषस्तथा । अत्र हि विश्लेषनियत-पूर्ववर्तिनः सरलेपस्य प्रागुक्तदलद्वयाकान्तत्वमपेक्ष्यते । तेनायुधसामान्यविभागः, पाशाश्रुतादिविभागो वा न तथा । यद्यप्यत्र गुणतया वर्तमानस्तादृशसंयोग एवाभिधानियमनायासम्, तथापि गुणप्रधानयोः संनिपाते प्रधानानुरोध एव

न्याय्य इत्याशयेन विप्रयोगस्य नियामकत्वमुक्तम् । यद्वा संयोगस्यैव केवलत्वेन विरलेपगुणीभूतत्वेन च द्वैविध्यप्रदर्शनाय तथोक्तम् ।

विश्लेष इति । विभाग इत्यर्थः । उदाहरति—यथेति । तथोरेवेति । शङ्खचक्रयो-
रित्यर्थः । तथेति । हरिपदाभिधानियामक इत्यर्थः । विभागस्य संयोगपूर्वकत्वात् शङ्खचक्रयो-
संयोगस्य विणो प्रसिद्धौ तद्विभागस्यापि तत्रैव प्रसिद्ध्या 'अशङ्खचक्रो हरि'रित्यत्र तयो-
र्विभाग भवति विणो हरिपदस्याभिधा नियमवतीति भावः ।

अतिप्रसन्ननिवृत्त्यै कथयति—अत्र इति । विरलेपमान विप्रयोगलक्षणम्, विरलेप-
नियमतः सरलेपपूर्वक एव भवति । सरलेपश्च न प्रकृते न नैयायिकनयप्रसिद्धः संयोग,
अपि तु प्राक्परिभाषित एव विवक्षितः । तेन नानायेत्यादिपरिभाषितसंबन्धात्मकसंयोग-
नाशकस्य विभागस्य विप्रयोगलक्षणत्व फलितम् । अत एव अनायुधो हरिः अपाशाङ्कुरो
हरिरित्यादौ आयुधमामान्यविभाग, पाराङ्कुरादिविभागो वा न हरिपदाभिधानियमनाम
प्रभवति, पूर्वोक्तरीत्या तयो संयोगयोरेव संयोगलक्षणषट्कद्वयेन निरासे तत्राशकवि-
भागस्यापि विप्रयोगलक्षणानाकान्तत्वादिति भावः । विप्रयोगस्य पृथक् नियामकत्वाभावा-
त्पाराङ्कुर निरस्यति—यद्यपीति । अत्र विप्रयोगशरीरे । गुणतया प्रकारतया । तादृश
इति । दलद्वयाक्रान्तीत्यर्थः । अलं समर्थः । अयंभाव—संयोगनाशकगुणान्तरविभागपदार्थं
सर्वत्र प्रकारतया संयोगो वर्ततेवेति 'अशङ्खचक्रो हरि'रित्यादौ संयोग एवाभिधा नियमयेत्,
किं पृथक् विभागस्य नियामकत्वेन इति । उत्तरयति—तथापीति । अयमाशयः—विभाग-
ङ्कुरौ वर्तमानौऽपि संयोगौ गौण, विभागश्च प्रधान । इत्यत्र गुणीभूतस्य संयोगस्य नियाम-
कत्वरीकारापेक्षया प्रधानोभूतस्य विभागस्यैव तत्परीकारो न्यायमंगत इति । विभागस्य
नियामकत्वकल्पनप्रयुक्तगौरवात् कृपान्तरनाह—यद्वेति । अस्तु अशङ्खचक्रो हरिरित्या-
दावपि संयोगस्यैवाभिधानियामकत्वम्, तथापि अभिधानियामकेषु विभागस्य पृथगुपादानं
नार्थगतम्, क्वचिद् केवलस्य संयोगस्याभिधानियामकत्वं क्वचिच्च विभागगुणीभूतत्वेनेति
द्वैविध्यप्रदर्शनाय तस्य सार्थक्यादिर्यमिप्रायः ।

अत्र 'विप्रयोग' कींशस्था करते हैं—विप्र इत्यादि से । विभाग अर्थात् एक से दूसरे का
पृथक् को 'विप्रयोग' कहते हैं । जैसे 'शङ्ख चक्र से रहित हरि' इस वाक्य में शङ्ख-चक्र का
विभाग हरि शब्द की अभिधाशक्ति को विष्णु अर्थ में निषन्धित करता है—अर्थात् यहाँ भी
हरि पद से केवल विष्णु का ही बोध होता है, इन्द्र आदि का नहीं । यहाँ एक बात
समझने की यह है कि विभाग से पूर्व संयोग का रहना निश्चित है—अर्थात् जिसका
जिसके साथ कभी संयोग रहता है, उसी का उसी से कभी विभाग भी हो सकता है,
अतः इस 'विप्रयोग' के लक्षण में भी संयोग का समावेश हो ही जायगा और वह
संयोग भी सामान्य संयोग नहीं, अपि तु वही संबन्धविशेष है जिसकी स्थिति जानार्थक
शब्दों के किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध रहेगी और अन्य अर्थ में अप्रसिद्ध । इस विचारण से
छाम यह होता है कि 'आयुधरहित हरि' वाक्य 'पाश-अङ्कुर से रहित हरि' इन
वाक्यों में आयुध का पार्थक्य तथा पाशाङ्कुर का पार्थक्य हरिपद की अभिधा को विष्णु
में निषन्धित नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक सवन्धारमक पारिभाषिक संयोग ही आयुध
का अथवा पाशाङ्कुर का नहीं बन पाता, तब तादृश-संयोग पूर्वक यह पारिभाषिक
विभाग भी यहाँ नहीं बन सकेगा । यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब इस
'विप्रयोग' के पीछे, गौणरूप से बैसा—जिसको प्रथम नियामक माना जा चुका है—
संयोग लगा ही रहेगा, तब 'शङ्ख-चक्ररहित हरि' इस वाक्य में भी उस गौण संयोग
को ही अभिधानियामक माना जा सकता है, तथापि गौण और प्रधान दोनों की

उपस्थिति में प्रधान का अनुरोध करना ही न्यायतः संगत है, अतएव विभाग को पृथक् नियामक माना गया। अर्थात् विभाग पदार्थ के पेट में संयोग घटविधा जाता है, तथापि प्रधान वहाँ विभाग ही रहेगा अतः विभाग को नियामक मानना ही उचित है।
 भवत्वा—मानिए 'सह्य चक्र-रहिन हरि' इस वाक्य में भी संयोग को ही अभिधा नियामक, तथापि अभिधानियामकों को श्रेणी में पृथक् विभाग का महण यह दिखलाने के लिये किया गया है कि संयोग दो प्रकार से अभिधा का नियामक होता है—एक केवल संयोग के रूप में और दूसरा 'विप्रयोग' का विशेषण बनकर। वस्तुतः विप्रयोग पृथक् नियामक नहीं है।

साहचर्यं व्याकरोति—

साहचर्यमेकस्मिन् कार्ये परस्परापेक्षितम् ।

यथा—'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यं रामशब्दस्य ।

अक्षिदेकल कमपि कार्यविशेष सम्पादयितु न प्रभवति, किन्तु कमप्यपरमपेक्ष्यैवेत्या-
 कारिका तयोर्द्वयो परस्परापेक्षैव साहचर्यमित्त्वर्थः ।

उदाहरति—अथेति । रामशब्दस्येत्यस्यामभिधानियामकमिति शेषो बोध्यः ।
 किमपि युक्तादि कार्यं रामो लक्ष्मणो वा मियोऽपेक्षयैव कर्तुं शक्नोतीति तयो परस्परापेक्षा-
 त्मक साहचर्यं यद्यप्युभयत्र किञ्चान्मयति तथापि रामशब्द एव नाकार्यको न लक्ष्मणशब्द
 इति 'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र लक्ष्मणसाहचर्यं रामपदस्याभिधा वशरथापत्ये नियमयति, तेन
 तत्र रामपदात्त परशुरामादेर्बोध इति भावः ।

अथ 'साहचर्य' की व्याख्या करते हैं—साहचर्यं इत्यादि से । किसी एक कार्य में दो
 व्यक्तियों की परस्पर अपेक्षा का नाम 'साहचर्य' है। जैसे—'राम और लक्ष्मण' इस
 वाक्य में 'राम' पद के—रघुनाथ, परशुराम, बलराम आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं।
 परन्तु लक्ष्मण का साहचर्य (साध-माध युद्ध आदि करण) राम पद की अभिधा को
 रघुनाथ (दशरथ पुत्र) रूप अर्थ में नियमित कर देता है, अतः वहाँ 'राम' पद का
 अर्थ रघुनाथ ही होता है, परशुराम आदि नहीं। यद्यपि साहचर्य दोनों ओर से ही
 होता है—अर्थात् जैसे लक्ष्मण का साहचर्य राम में है, वैसे राम का साहचर्य भी लक्ष्मण
 में तथापि लक्ष्मण का साहचर्य ही नियामक हुआ क्योंकि राम शब्द ही यहाँ नाकार्यक
 है, लक्ष्मण शब्द का अर्थ निश्चित ही है।

शङ्कते—

अथ किमिदं परस्परापेक्षितं यत्किञ्चित्कार्ये, सर्वेषु कार्येषु वा ? नाद्यः,
 घटाद्यन्वावर्तनाद्दृष्टसाहचर्यस्यापि रामपदशक्तिनियामकतापत्तेः । न द्वितीयः,
 लक्ष्मणसाहचर्यस्यापि निवारणापत्तेः । पक्षद्वयेऽपि रामाद्योच्ये रघुनामावित्यत्र—
 नियमापत्तेश्च ।

परस्परापेक्षित्वनाम द्विचिन्तं सम्भवति, यत्किञ्चित्कार्याधिकरणकं सकलकार्याधिकरणकम् ।
 तयो कौटरामिह तदभिप्रेतमिति अथेत्यादिप्रत्येकारांश्च समापत्ते—नाद्य इति । यत्कि-
 ञ्चित्कार्याधिकरणकं परस्परापेक्षित्वमत्र नाभिप्रेतुं शक्यमित्यर्थः । कुत इति चेत्त्राह—
 घटादीति । रामेण सह अत्रिचित्कार्याधिकरणकं साहचर्यं घटस्यापि सम्भवतीति तस्यापि
 रामपदौ इत्यत्र रामपदाभिधानियामकत्वं सर्वजनानभिप्रेतं प्रसज्येत इत्यर्थः । सकलकार्या-
 धिकरणकमपि परस्परापेक्षितं न विवक्षितुमर्हमित्याह—न द्वितीय इति । तस्यानर्हत्वे
 हेतुमाह—लक्ष्मणेति । सकलकार्याधिकरणकं तल्लक्ष्मणस्यापि रामेण सह नीरित, एकले-

नापि रामेण कियतां कार्याणां करणादिति लक्ष्मणसाहचर्यस्याप्यसंघे रामलक्ष्मणौ इत्यथ लक्ष्मणसाहचर्यस्यापि रामपदमिधानियामकतान्तापत्तेरित्यर्थः ।

पशद्वयसाधारणं दोषमाह—पशद्वयेऽपीति । अयोध्याया निर्जीवतया रघोश्च रामजीवन-कालेऽवर्तमानतया तयो रामेण सहैककार्यस्त्वर्गभरपरस्परपेक्षित्वस्यासंभवेन 'रामायोध्ये' 'रघुरामौ' इत्यादौ रामपदस्याभिधाया अनियमनापत्तेरित्यर्थः ।

साहचर्यके संबन्ध में कुछ शंकायें उठाते हैं—यह इत्यादि से । साहचर्य के स्वरूप-निर्णय में जो परस्पर अपेक्षा की बात कही गई है उसका अभिप्राय—किसी एक कार्य में दो व्यक्ति परस्पर अपेक्षा रखते हों, अथवा सभी कार्यों में दो व्यक्ति परस्पर अपेक्षा रखते हों इन दोनों में क्या है? अर्थात् जो दो व्यक्ति किसी एक कार्य को साथ-साथ करते हों, उन दोनों में साहचर्य समझा जायगा अथवा जो दो व्यक्ति सभी कार्यों को साथ ही करते हों—कभी अलग होकर किसी कार्य को नहीं करते हों, उनमें साहचर्य कहा जायगा? उत्तर—यहां एक भी पक्ष ठीक नहीं जंचता, क्योंकि प्रथमपक्ष मानने पर घट आदि के साहचर्य को भी रामपद की अभिधा के नियमन से रोका नहीं जा सकेगा—अर्थात् 'राम और घट' ऐसे वाक्य में भी घट का साहचर्य राम पद की अभिधा को नियन्त्रित करने लगेगा—राम पद से किसी एक ही राम का बोध होने लगेगा, क्योंकि किसी एक कार्य—जल भरने आदि—में राम और घट की भी परस्पर अपेक्षा रहती ही है । द्वितीय पक्ष को स्वीकृत करने पर लक्ष्मण का साहचर्य भी राम पद की अभिधा का नियामक नहीं हो सकेगा—अर्थात् 'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य से जो दशरथपुत्र राम का ही बोध होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि राम और लक्ष्मण के भी सभी कार्य साथ-साथ नहीं होते, पृथक्-पृथक् भी वे दोनों कुछ कार्यों को करते ही हैं अतः उन दोनों में भी साहचर्य सिद्ध नहीं हो सकेगा और दोनों ही पक्षों में 'राम और अयोध्या' एवम् 'रघु और राम' इन वाक्यों में राम पद की अभिधा नियन्त्रित नहीं हो सकेगी अर्थात् इन वाक्यों में भी रामपद से जो दशरथतनय का ही बोध होता है वह नहीं बन सकेगा, क्योंकि अयोध्या तथा रघु का राम के साथ उक्त प्रकार का साहचर्य असंभव है, अर्थात् साहचर्य जब साथ-साथ किसी एक कार्य को अथवा सभी कार्यों को करने से माना गया है, तब निर्जीव अयोध्या और विवात रघु के साथ वह राम का हो नहीं सकता है । इस तरह से सारांश यह निकला कि साहचर्य का यह लक्षण असंगत ही है ।

साहचर्यस्य स्थलान्तरमाशंक्य निरस्यति—

नच नानार्थपदसमभिव्याहृतपदान्तरार्थस्य प्रसिद्धं संबन्धस्तत् । स चैकजन्यत्व-दांपत्य-जन्यजनकभाव-स्वामिसूत्यभाव-स्वस्वामिभावादिरनेकविधः, तेन रामलक्ष्मणौ, सीतारामौ, रामदशरथौ, रामहनूमन्तौ, रामायोध्ये, इत्यादौ साहचर्यं नियामकमिति वाच्यम् ; लक्ष्मणादिसंबन्धापेक्षया चक्रादिसंबन्धस्या-विशिष्टतया सराह्यचक्र इत्यत्रापि साहचर्यस्यैव नियामकतापत्तेः ।

प्रसिद्ध इति । नानार्थपदार्थे इति शेषः । तत्र साहचर्यम् । नानार्थेन पदेन समभिव्याहृतम् (तस्य पूर्वं परतो वा स्थितम्) यत्पदान्तरं तदर्थस्य नानार्थपदार्थे प्रसिद्धः संबन्धः साहचर्यमित्यर्थः । स संबन्धः एकजन्यत्वेति । सौंदर्य इत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् । उक्तसंबन्धानां क्रमेणोदाहरणान्याह—तेनेति । रामलक्ष्मणौ इत्यत्र एकजन्यत्वम्, सीता-रामौ इत्यत्र दाम्पत्यम्, रामदशरथौ इत्यत्र जन्यजनकभावः, रामहनूमन्तौ इत्यत्र स्वामि-भृत्यभावः, रामायोध्ये इत्यत्र स्वस्वामिभावः सम्बन्धो बोध्यः । ते च संबन्धाः नानार्थेन रामपदेन समभिव्याहृतानां क्रमशो लक्ष्मण-सीता-दशरथ-हनूमत्-अयोध्यारूपाणां पदान्त-

राणां राज्य तत्स्यार्थस्य रागे प्रसिद्धा साहचर्यात्मका रामपदस्य दशरथापत्येऽभिधा निय मन्तीति भाव । उत्तरमाह—लक्ष्मणादीति । रामलक्ष्मणौ इत्यत्र रामपदसमभिव्याहृत लक्ष्मणपदार्थस्यैकजन्यत्वरूप संबन्धो यथा रामे प्रसिद्धस्तथैव सराङ्गचक्रो हरिरित्यत्रापि नानार्थहरिपदसमभिव्याहृतराङ्गचक्रपदार्थयोः संयोगरूप संबन्धो दृष्टौ प्रसिद्ध इति तयोः सम्बन्धयोर्न किमपि वैलक्षण्यम्, एवञ्च सराङ्गचक्रो हरिरित्यत्रापि साहचर्यस्यैव नियामकत्वे सम्भवति पृथक् संयोगस्योपादानं व्यर्थमित्यभिप्रायः ।

अत्र साहचर्यं का दूसरा लक्षण करके उसका भी खण्डन करते हैं—न च—इत्यादि से । यदि यह कहा जाय कि 'साहचर्य' का यह लक्षण नहीं बन पाता तो न सही, यह लक्षण हो सकेगा—नानार्थक पद के आगे या पीछे उद्धरित पद के अर्थ का नानार्थक पद के किसी एक अर्थ के साथ जो प्रसिद्ध संबन्ध वही 'साहचर्य' है । और यह सम्बन्ध—एक माता-पिता से जन्म ग्रहण करना, पति-पत्नी होना, पिता-पुत्र होना, स्वामी सेवक होना, तथा माल-मालिक होना, प्रभृति स्थान-भेद से अनेक प्रकार का होता है । अतः राम और लक्ष्मण, सीता और राम, राम और दशरथ, राम और हनुमान्, एवम् राम और अयोध्या इत्यादि सभी स्थानों में 'साहचर्य' राम पद का अभिधा नियामक हो सकता है (इन स्थानों में क्रमशः एक सम्बन्ध 'साहचर्य' रूप होते हैं, यह समझना चाहिए) । परन्तु यह लक्षण भी सगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस तरह (नानार्थक पद और उसके निकटस्थित पद दोनों के अर्थों के प्रसिद्ध) सम्बन्ध को आप 'साहचर्य' मानते हैं, उसके अनुसार लक्ष्मण आदि का जो राम के साथ सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा शङ्ख-चक्र का जो राम के साथ संयोग-सम्बन्ध है उसमें कोई भेद नहीं है, अतः यह संयोग-सम्बन्ध भी इसके अनुसार साहचर्य कहला सकता है फिर 'शङ्ख-चक्र-सहित राम' इत्यादि स्थल में भी साहचर्य से ही रामपद की अभिधा का विद्यमान हो जाने के कारण 'संयोग' को पृथक् नियामक मानने से अण्यवस्था हो जायगी ।

अत्र साहचर्यवत्परस्परारेऽपि साहचर्यसंयोगयोर्विषय-विभाग सम्भतीत्याशय निराकरोते—

न च सराङ्गचक्र इत्यादौ यत्र सम्बन्धः संयोगरूपस्तत्राद्यस्य यत्र च संबन्धान्तरं तत्र तृतीयस्यावकाश इति याच्यम्, संयोगस्यैव पृथक्कारे षीजाभावान् ।

आद्यस्य संयोगस्य । यत्र च रामलक्ष्मणौ इत्यादौ । सम्बन्धान्तरमेकजन्यत्वादिकम् । तृतीयस्य साहचर्यस्य । उक्तरीत्या सर्वेषु सम्बन्धेषु साहचर्यपदार्थतया वर्णितेषु, तत्र संयोगोऽप्यन्तर्मुक्त इति यद्यपि सत्यम्, तथापि संयोगस्थले सराङ्गचक्र इत्यादौ संयोगो नियामक, सम्बन्धान्तरस्थले रामलक्ष्मणौ इत्यादौ च साहचर्यं तथैत्येवं विभजने संयोगसाहचर्ययोरभयो कृतार्थता सम्भवतीति शङ्खदशरथाद्य । सर्वेषां संबन्धानां समान्तया साहचर्यपदार्थान्तराभिः प्रसक्ते किमिति संयोग एव पृथक् नियामकतया परिगण्यते ? सम्बन्धान्तरमेव कुतो न पृथक् विद्यते इत्यत्र कारण नारतीत्युक्तमेव विभजनमित्युत्तरपक्षमभिप्रायो बोध्यः ।

यदि आप कहें कि जहाँ नानार्थक पद के अर्थ के समीपवर्ती पद के अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध रहेगा वहाँ—'शङ्खचक्रसहित राम' इत्यादि स्थल में प्रथम नियामक (संयोग) का लक्ष्य मानेंगे और जहाँ उस तरह का सम्बन्ध संयोग से भिन्न होगा वहाँ—'राम और लक्ष्मण' इत्यादि स्थल में तृतीय नियामक (साहचर्य) का उदाहरण करेंगे, तो यह भी समुचित नहीं क्योंकि जब सभी सम्बन्ध समान हैं, तब 'संयोग' सम्बन्ध को ही पृथक् नियामक मानने में कोई हेतु नहीं दृष्टिगोचर होता अर्थात् निहंतुक्त पृथक्करण की रीति से किसी भी सम्बन्ध का पृथक्करण किया ही जा सकता है ।

गंयोगस्यैव पृथक्कारे बीजमुद्गाव्य उण्डयति—

नच यत्र संयोगः शब्दोपात्तस्तत्र स एव नियामकः, यत्र तु सम्बन्धिमात्रं न तु सम्बन्धस्तत्र साहचर्यम्, अत एव सशङ्खचक्र इति संयोगस्य, रामलक्ष्मणाविति च साहचर्यस्योदाहरणमिति वाच्यम्; सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यत्र संयोगविभागयोर्गुणयोरप्रतीत्या साहचर्योदाहरणतायां प्रसक्त्यां सशङ्खचक्र इत्यादेरपि तदुदाहरणताया एवोचित्यात् ।

संबन्धिमात्रमित्यस्याग्रे शब्दोपात्तमित्यनुपपद्यते । मात्रपदव्यावर्त्यमाह—न त्विति । अत एवेति । तथा विभागकरणदेवेत्यर्थः । संयोगात्मकस्य संबन्धस्य शब्दोपात्तये तस्य नियामकत्वम्, तस्य शब्दानुपात्तये सम्बन्धिमात्रस्य तयात्वे च साहचर्यस्य नियामकत्वम्, अथा सशङ्खचक्र इत्यत्र सहाय्यकेन 'स' इति पदेन संयोग उपात्तः । रामलक्ष्मणावित्यत्रैकजन्यत्वात्मक सम्बन्धो न केनापि पदेनोपात्तः । एवञ्च शब्दोपात्तत्वं संयोगस्यैव पृथक्कारे बीजमिति भावः । उत्तरयति—सलक्ष्मण इत्यादि । अयं भावः—संयोगविभागौ न्यायनयप्रमिदौ गुणौ, तयोश्च सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यत्र न प्रतीतिः, परस्परसंलक्षितयोरपि एकदेशस्थितयोः रामलक्ष्मणयोः लक्ष्मणो राम इति प्रयोगवर्तनेन लक्ष्मणप्रतियोगिकसंयोगवान् राम इति प्रतीतिरसम्भवान्, एवं तत्र संयोगप्रतीतिरविलक्ष्मणो राम इत्यतः लक्ष्मणावधिकविभागवान् राम इति प्रतीतिरपि तयात्वाच्च, विभागस्य संयोगपूर्वकत्वात् । साहित्यतदभावमात्रस्यैव ताभ्यां प्रयोगाभ्यां प्रतीतिरिति तत्त्वम् । एवञ्च तदुदाहरणद्वय साहचर्यस्य न संयोगस्येति सर्वैः स्वीकरणीयमेव । तथा च सशङ्खचक्र इत्यादेरपि साहचर्योदाहरणत्वस्वीकार एव समुचितः । अत्रापि संयोगप्रतीतिर्न भवतीति साराः । इति । अत्र 'संयोगविभागयोर्गुणयोरप्रतीत्या' इति मूलं विवृण्वती 'सरला' पण्डितराज नागेशयोर्मूलकारटीकाकारयोः स्वरस्वेन विरुद्धा न वेति सरलामालोक्य निरचेयं विज्ञैः ।

अब 'संयोग' को ही पृथक् करने में बीजका उच्चारण करके ध्वनन करते हैं—नच यत्र इत्यादि से । यदि आप कहें कि जहाँ शब्द से संयोग सम्बन्ध कहा गया हो वहाँ संयोग को नियामक मानना चाहिए और जहाँ केवल संबन्धी ही शब्द से कहा गया हो वहाँ साहचर्य को नियामक समझना चाहिए । अत एव 'सशङ्खचक्र इति' इस संस्कृत वाक्य में सहायक 'स' पद से और 'शङ्खचक्रसहित इति' इस हिन्दी वाक्य में सहित पद से संयोग संबन्ध के कहे जाने का कारण 'संयोग' नियामक होगा और 'राम और लक्ष्मण' इस वाक्य में केवल संबन्धी (राम-लक्ष्मण) के शब्दतः कहे जाने के कारण—अर्थात् 'एकजन्यत्व' संबन्ध के शब्दतः नहीं कहे जाने के कारण—'साहचर्य' नियामक होगा—तो यह भी अयुक्त ही है, क्योंकि संयोग और विभागन्यायशास्त्र-प्रसिद्ध एक प्रकार के गुण हैं । जिनकी प्रतीति 'सलक्ष्मणो रामः'—'विलक्ष्मणो रामः'—अर्थात् 'लक्ष्मण-सहित राम' 'लक्ष्मण-रहित राम' इन वाक्यों में नहीं होती, क्योंकि परस्पर सटे नहीं रहने पर भी एकदेशस्थित राम-लक्ष्मण में 'लक्ष्मणसहित राम' ऐसा व्यवहार होता है और इस तरह से जब संयोग की प्रतीति यहाँ नहीं होती, यह बात सिद्ध हो गई, तब 'लक्ष्मणरहित राम' यहाँ विभाग की भी प्रतीति नहीं होती यह बात माननी पड़ेगी, क्योंकि संयोग नाशक गुण का ही नाम विभाग है । ऐसी स्थिति में इन दोनों स्थानों में साहचर्य को नियामक मानना पड़ेगा फिर 'शङ्खचक्रसहित राम' यहाँ भी साहचर्य को ही नियामक मानना उचित होगा—अर्थात् ऐसे व्यवहार के लिये शङ्ख और चक्र का राम के अङ्गों से संयुक्त रहना आवश्यक नहीं है खल्ला रहने पर भी वेंसा व्यवहार किया जा सकता

है, अतः यहाँ भी संयोगगुण की प्रतीति नहीं ही होती है यही कहना पड़ेगा, क्योंकि संयोग की प्रतीति वहाँ मानी जाती है जहाँ दो चीजें परस्पर संयुक्त रहती हैं।

शङ्कापक्षमुपसदरति

— इति चेत्—?

इतीति पूर्वोक्तसंग्राहकं । साहचर्यस्य कोऽपि व्याख्या सामर्थ्यस्य कृता गतिरित्याशयः ।

इस तरह से जब साहचर्य का एक भी लक्षण ठीक नहीं हो सका, त

सिद्धान्तयति—

उच्यते—संयोगशब्दस्य सम्बन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तं प्रसिद्ध सम्बन्धसामान्य शक्तिनियामकं नृदासस्य, यत्र तु द्वन्द्वादिगतं सम्बन्धेष्वेव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयान् । इत्थं च सगण्डीवोऽर्जुनः इति संयोगस्य, गण्डीवार्जुनचित्ति साहचर्यस्योदाहरणम् ।

उच्यते इत्यस्य वक्तव्यमाणवाक्यार्थं कर्म । आशयस्य संयोगस्य । द्वन्द्वादिगत इति । द्वन्द्वादिसमासपठक इत्यर्थः । केवल इति । शब्दोपात्त इति शेषः । अयमभिप्रायः—शक्तिनियामकेषु कश्चित् संयोगशब्द सम्बन्धसामान्यपरः । एवम् कोऽपि सम्बन्धो यत्र शब्दतो बोधितः प्रसिद्ध सन् शक्तिं नियमयति तत् संयोगस्योदाहरणम्, यथा सगण्डीवोऽर्जुन इति । अत्र गण्डीवरूप संयोगस्य सम्बन्धः स शब्देन बोधितः सन् सदस-बाहु-श्वेतगुण-सहचर्येषु युधिष्ठिरार्जुनगणेशस्यार्जुनशब्दस्याभिधा युधिष्ठिरप्रातरिति नियमयति । यत्र तु द्वन्द्वादिममासपठकं प्रसिद्धः सम्बन्धेष्वेव शब्दोपात्तः, न सम्बन्धः सत्साहचर्यस्योदाहरणम्, यथा गण्डीवार्जुनौ इति । अत्र द्वन्द्वपठकतया प्रसिद्ध गण्डीवार्जुनरूपः सम्बन्धो एव, अतो गण्डीवसाहचर्यम् अर्जुनपदराकिनियामकमिति । अत्र 'प्राचामाशय' इत्युक्त्या स्वाशयं निषेधति अन्यतरम् । अयं सलक्ष्मणो रामो विलक्ष्मणो राम इत्यादौ किं नियामकमिति चेत् ? साहचर्यमेव बोद्धव्यम् । प्रथमस्थले कस्यापि सम्बन्धस्य शब्दातुपात्तयेन द्वितीयस्थले च विभागस्य प्रतीत्या संयोगविशेषोदाहरणतया असम्भवात् । 'रामलक्ष्मणौ इत्यत्र सार्वभौमभयोर्युगपदेव नियमनमिति नाभ्योन्याश्रयः । साहचर्यसादस्य सदरामोरेव सहप्रयोगनियमाद्' इति वैयाकरणसिद्धांतमञ्जुशया नागेशः ।

अब 'साहचर्य' के विषय में सिद्धान्तभूत बातों का प्रतिपादन करते हैं—उच्यते इत्यादि से। अभिप्राय यह है कि नियामकों की परिगणनवाली कारिका में संयोग का अर्थ व्यापकप्रसिद्ध गुण नहीं है किन्तु सम्बन्ध सामान्य अर्थात् सभी सम्बन्ध । ऐसी स्थिति में यदि आप कहें कि तब तो और विचित्र बात हो गई, क्योंकि साहचर्य का भी अर्थ आपने सम्बन्धसामान्य ही किया है, अब संयोग का अर्थ भी सम्बन्धसामान्य कर रहे हैं फिर संयोग और साहचर्य के एकाग्रण में कौन सा कारण होगा ? तो मैं कहूँगा—हाँ, है तो संयोग तथा साहचर्य दोनों का अर्थ सम्बन्धसामान्य ही, तथापि विभाग में भेद है और वह यह है कि—जहाँ कोई भी सम्बन्ध शब्द द्वारा प्रतिपादित होकर शक्ति का नियामक होता है वहाँ प्रथम अर्थात् संयोग का उदाहरण समस्तता आदिप और जहाँ द्वन्द्व आदि समास के द्वारा केवल सम्बन्धी कहा गया रहता है वहाँ साहचर्य का उदाहरण समस्तता आदिप यही प्राचीनों का आशय है। इस तरह से 'गण्डीव-सहित अर्जुन' ऐसा कहने पर संयोग और 'गण्डीव और अर्जुन' ऐसा कहने पर साहचर्य, अर्जुन पद की अभिधा का नियामक होगा क्योंकि इन दोनों स्थलों में क्रमशः संयोग और साहचर्य के सहयोग से अर्जुन पद का अर्थ पाण्डुपुत्र ही होगा कार्तवीर्य अर्जुन आदि नहीं ।

विरोधितां निरुक्ति—

विरोधिता प्रसिद्धे वैरम्, सहानवस्थानञ्च । तत्राद्यस्य 'रामार्जुनौ' इत्युदाहरणं प्राञ्चो वदन्ति ।

विरोधिता नाम विरोध एव 'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारभूतो यमो भाव प्रत्ययार्थ' इति मिदान्तात् । स च प्रकृते द्विविध—प्रसिद्धो वैरभाव, सहानवस्थानरूपश्च 'अप्रसिद्धस्य वैरस्य शक्तिनियामस्त्वेति प्रमत्त इत्यत उक्तं प्रसिद्धमिति । सहानवस्थानञ्च एककालावच्छेदेनैकत्र देशे शृङ्खलसम्भव इति बोध्यम् । प्राञ्चः काव्यप्रकाशकृतादयः । वस्तुतस्तु 'रामार्जुनगतिस्तयो' इत्याकारक प्राञ्चमुदाहरणं न तु 'रामार्जुनौ' इत्याकारकम्, उपलब्धकाव्यप्रकाशपुराणेषु तथैव वर्णनात्, अनुपदममे प्रत्यङ्गताऽपि तथैवोद्हरणाच्च । ननु न कोऽपि भेदस्तयोराकारयोर्वैलक्षण्याधायक इति चेन्न, वैलक्षण्यस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् ।

अथ 'विरोधिता' की व्याख्या करते हैं—विरोधिता इत्यादि से । 'ता' प्रत्यय जित प्रकृति के भागे जुड़ा रहता है उस प्रकृति से होनेवाले बोध में विशेषणीभूत 'धर्म' ही उस भावबोधक 'ता' प्रत्यय का अर्थ होता है अतः 'विरोधिता' का अन्वयार्थ विरोध होता है, और विरोध यहाँ दो प्रकार के विवक्षित हैं—एक प्रसिद्ध वैरभाव, दूसरा एक भाषा न रहना । उन दोनों में प्रथम अर्थात् 'प्रसिद्ध वैर' का उदाहरण 'राम और अर्जुन' यह वाक्य है ऐसा प्राचीन आचार्यगण कहते हैं । वस्तुतः प्राचीन मम्मट आदि के ग्रन्थों में 'विरोधिता' के उदाहरण का आकार 'रामार्जुनगतिस्तयो' अर्थात् 'उन दोनों की गति (दशा) राम-अर्जुन की सी है' ऐसा ही उपलब्ध होता है । प्रत्यकार ने भी भागे स्वयम् प्रेता ॥ आकार उद्धृत किया है । इन दोनों आकारों में जो आर्थिक अन्तर पड़ता है उसका स्पष्टीकरण भागे किया जायगा ।

अथ दीक्षितोक्तं स्रष्टव्यं प्रथमं तदनुवदति—

वक्ष्यपप्यदीक्षितो वृत्तिवार्तिके प्राञ्चमुदाहरणं निराकुर्वन्नाह—'रामार्जुनपदयोर्वध्यपातकभावविरोधाद्धार्यकार्तवीर्ययोरभिधा नियम्यत इति तदयुक्तम् । रामपदस्याभिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसंधानेनार्जुनपदस्य कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिन् सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन रामपदस्येत्यन्योन्याश्रयापत्तेः, तस्मादन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्वं एव स्मृततद्विरोधप्रतिसंधानान्नानार्थपदस्याभिधानियमनमिति रामरावणयोरित्युदाहरणं 'अवितुमर्हति' इति ।

'आहेति क्रियाया 'अवितुमर्हति' इत्येतावन्वयन्तवाक्यार्थं कर्म । भावेति । भावरूप-विरोधादित्यर्थः । तद्विरोधेति । परशुरामविरोधेत्यर्थः । तस्मिन् सतीति । कार्तवीर्येऽभिधानियमनेसतीत्यर्थः । रामपदस्येति । परशुरामेऽभिधानियमनमिति शेषः । तस्मादिति । अन्योन्याश्रयप्राप्तेन प्राचीनोक्तोदाहरणस्यासंगतत्वादित्यर्थः । अन्यतरपदस्येति । नियम्याभिधाभिधानियामरूपदयोर्मध्ये एकतरस्य शब्दरश्मेत्यर्थः । व्यवस्थिते निश्चितेत्यर्थः । अयं भावः—दशरथापत्यपरशुरामादिबहुविधार्थाभिधायित्वेन रामपदमनेकार्थकम्, एवं कौन्तेयकार्तवीर्यादिबहुतरार्थाभिधायित्वाऽर्जुनपदमपि तयाभूतमिति 'रामार्जुनगतिस्तयोरित्यत्र—

रामार्जुनपदे दशरथापत्यकौन्तेयतात्पर्येणैवचरिते, उताहो परशुरामकार्तवीर्यतात्पर्येणेति सन्देहे वक्ष्यपातकभावान्मकं प्रसिद्धं वैरं तयो पदयोरभिधा परशुरामकार्तवीर्यरूपयोरर्थयोर्नियमयतीति मम्मटादयः प्राञ्चः । दीक्षितस्तु—'तदुदाहरणं न अवितुमर्हति, अन्योन्याश्रयापत्तेः । तथाहि—'अन्योन्याश्रयो द्विविधो ज्ञानाश्रयः उत्पत्त्याश्रयश्च, प्रकृतेऽर्जुनपदा-

मिथानियमने भाग्वत्परामर्शान्वितम्, समपेक्षितं, एव रामपदमिथानियमने कर्तव्यं—योर्यस्यार्जुनपदार्थ-निश्चय आचरयक, अन्यथा निरोधप्रतिसन्धानविरहान्, तौ निश्चयो च तयो पदयोरभिधानियमाधीनाविति ज्ञानाश्रयोऽन्योन्याश्रयोऽत्र दुर्वार, अतो यत्रैकं पद निश्चितार्थकमपरञ्च नानार्थकतया सन्दिग्धार्थकं तत्रैव विरोधिताप्रथमप्रभेदस्योदाहरणत्व युक्तम्, यथा 'रामरावणौ' इत्यत्र रावणपदस्यार्थो निश्चित इति स्मृततद्विरोधप्रतिसन्धानेन नानार्थकस्य रामपदस्याभिधाया दशरथपुत्रे नियमनमेत्याचष्टे ।

अथ इस प्रसङ्ग पर खण्डन करने के लिये अप्यदीक्षित के मत का अनुवाद करते हैं—पक्ष इत्यादि से । दीक्षितजी अपने वृत्तिवार्तिक नामक ग्रन्थमें प्राचीनोक्त उदाहरण का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—'राम (परशुराम) और अर्जुन (सहस्रबाहु) में वध्य-घातकभाव (मारनेवाला और मरनेवाला होना) रूप विरोध है, अतः राम-अर्जुन का सहप्रयोग रहने पर एक दूसरे की अभिधा का नियामक होता है अर्थात् राम से परशुराम का ही बोध होता है वृत्तरथपुत्र आदि का नहीं, इसी तरह अर्जुन से सहस्रबाहु का ही बोध होता है बाण्डुपुत्र आदि का नहीं यह जो प्राचीनों का कथन है वह ठीक नहीं, क्योंकि जब रामपद की अभिधा परशुराम में नियन्त्रित हो जायगी, तब उसके विरोध का अनुसन्धान होने पर अर्जुनपद की अभिधा का नियमन सहस्रबाहु में होगा, और अर्जुनपद की अभिधा का सहस्रबाहु में नियमन हो जाने पर उसके विरोध के अनुसन्धान से रामपद की अभिधा का नियमन परशुराम में हो सकेगा, इस तरह से एक पद की अभिधा के नियमन में द्वितीय पद की अभिधा नियमन की अपेक्षा होने के कारण 'अन्योन्याश्रय' दोष का प्रसङ्ग आ जाता है, अतः विरोधिता का वह प्राचीनोक्त उदाहरण असंगत है । अतः ऐसा समझना चाहिए कि जहाँ एकपद निश्चित अर्थवाला हो अर्थात् अनेकार्थक नहीं हो और दूसरा पद अनेकार्थक होने से अनिश्चित अर्थवाला हो, वहाँ निश्चितार्थक पद के अर्थज्ञान होने पर उसके विरोध में स्मरण से नानार्थक पद की अभिधा का जो नियमन होगा वही विरोधिता का उदाहरण है, जैसे—'राम और रावण' । अर्थात् यहाँ रावण पद का अर्थ निश्चित है, उसके विरोध के अनुसन्धान से राम पद की अभिधा दशरथ-पुत्ररूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

दोषितोक्त निराचष्टे—

इत्र तावद्दामरावणयोरिति व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमुदाहरण विरोधिताया नियामकत्वस्य न युक्तम् । रामलक्ष्मणयोरत्यत्रेवात्रापि साहचर्यस्यैव नियामकत्वात् ।

तत्रेति । दोषितोक्तवित्पर्य । तावत् आदौ । अनुपदमग्रे दोषान्तरमपि प्रदीयत इति भावः । व्यवस्थितार्थान्यतरपदकमिति । व्यवस्थितो निश्चित अर्थो यस्य तादृश-अन्यतरत् द्वयोरेक पद यत्र तथामुक्तमित्यर्थः । नियामकत्वस्येत्यस्योदाहरणमित्यत्रा-न्यो बोध्यः, 'रामरावणौ' इति विरोधिताया नियामकत्वस्योदाहरणमसंगतम्, 'रामलक्ष्मणा-वित्यत्र यथा साहचर्यं नियामकं तथैव प्रकृतेऽपि तदेव नियामकं संभवतीति पृथक् प्रसिद्ध-वैरात्म्यविरोधिताया नियामकैषु गणनाया वैयर्थ्यात् इत्याशयः ।

अथ दीक्षितमत का खण्डन करते हैं—तत्र इत्यादि से । दीक्षित का उक्त मत अयुक्त है, क्योंकि पहले उन्होंने प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता का जो 'राम और रावण' यह उदाहरण दिहनाया है वही ठीक नहीं होता क्योंकि 'राम और लक्ष्मण' यहाँ जैसे साहचर्य नियामक होता है वैसे वहाँ भी साहचर्य ही नियामक हो सकता है ।

दृष्टान्ते दाष्टान्तिकापेक्षया वैषम्यमाशंक्य निरुत्सति—

न च लक्ष्मणसाहचर्यं रामस्य प्रसिद्धम्, न तु रावणसाहचर्यमिति वाच्यम्, प्रसिद्धतत्त्वमन्वयकृत्यस्यैव तत्साहचर्यपदार्थकत्वात् । पितृ-भ्रातृ-जायापत्य-भृत्य-भगरीणां संबन्धस्यैव रिपोः संबन्धस्यापि लोकप्रसिद्धत्वात् ।

रामलक्ष्मणौ सहचरत इति रामनिष्ठे लक्ष्मणसाहचर्यं प्रसिद्धम्, रामरावणौ तु तन्नापि-सहचरत इति रावणसाहचर्यं रामे न तथा । तथा च कथं तदुदृष्टान्तेन प्रकृते साहचर्योदाहरणत्वस्याशङ्केति शङ्कायामाह—प्रसिद्धेति ।

प्रसिद्धं तत्संबन्ध (तेन सह संबन्ध) यस्य तत्त्वस्यैत्यर्थः । अन्येन सहापरस्य प्रसिद्धं यं कथं संबन्ध एव प्रकृत्यनिवामकमभ्यप्रविष्टसाहचर्यपदार्थ इति प्रागुपदर्शितमेव । एष्वयं यथा जन्यजनकभावसौदरत्वदाम्पत्यस्वस्वामिभावादि पितृभ्रातृपत्नीभृत्यादेः संबन्धं प्रसिद्ध इति साहचर्यान्तर्भूतस्तथैव वक्ष्यपातकभावात्मकं शत्रो संबन्धोऽपि प्रसिद्ध इति तस्यापि साहचर्यान्तर्भाव समुचित एवेति भावः ।

दृष्टान्त और दाष्टान्तिक में विषमता की जाह्नका करके उसका निरास करते हैं—न च ह्यादि । यदि आप कहें कि राम और लक्ष्मण साथ-साथ चलते फिरते थे, अतः राम में लक्ष्मण का साहचर्य (साथ-साथ चलना) प्रसिद्ध है, पर राम और रावण तो कभी कहीं भी साथ साथ विचरण किए नहीं, अतः उन दोनों का साहचर्य सर्वथा अप्रसिद्ध है । ऐसी स्थिति में राम-लक्ष्मण के दृष्टान्त से राम-रावण में साहचर्य को नियामक बतलाना उचित नहीं, तो मैं कहूँगा कि यहाँ साहचर्य का अर्थ सहचरण आप गलत समझ रहे हैं, क्योंकि यहाँ साहचर्य का अर्थ दो व्यक्तियों का प्रसिद्ध जिस किसी तरह का सम्बन्ध ही है, न कि सहचरण यह पहले बतलाया जा चुका है, तदनुसार जैसे, पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, सेवक और नगर का संबन्ध प्रसिद्ध होने के कारण साहचर्य कहलाता है, उसी तरह शत्रु का भी सम्बन्ध (वक्ष्यपातक भाव) प्रसिद्ध होने से, साहचर्य कहला सकता है ।

साहचर्यान्तर्भावयोग्याया अपि प्रसिद्धवैरात्मकनिरोधिताया साहचर्यान्तरापेक्षया यत्किञ्चिद् वैलक्षण्यमादाय पृथग्गणने का क्षतिरित्यत आह—

एवं स्थितेऽपि विरोधितायाः पृथग्गणने मिश्रत्वादेरपि तथा गणनापत्तेः ।

एवं स्थितेऽपीति । साहचर्यस्य नियामकत्वमभवेऽपीत्यर्थः । मिश्रत्वादेरित्यत्र गुरु-शिष्यभावादिरादिपदब्रह्मणः । तथेति । पृथगित्यर्थः । साहचर्येणैव सप्रहृतमभवेऽपि विरोधितायाः पृथग्निवामकत्वाङ्गीकारे मिश्रत्वादेरपि पृथगेव नियामकताऽङ्गीकरणीया स्यात्, न चाङ्गीक्रियते, इति तदद् विरोधिताया अपि पृथग्गणनं व्यर्थमेव भवेत्त्वद्रीन्येति भावः ।

उक्त स्थिति में भी यदि प्रसिद्ध वैररूप विरोध की साहचर्य से पृथक् गणना की जाय, तब मिश्रत्व आदि की भी पृथक् अभिधानियामकों में गणना करनी पड़ेगी ।

उपसहरति—

तस्मात्प्राचीनोदाहरणमिव त्वदुक्तमुदाहरणमप्यशुद्धमेव ।

तस्मादिति उक्तहेतोरित्यर्थः । त्वदुक्तमपीति अप्यशुद्धोद्देशेत्तुक्तमित्यर्थः । 'रामार्जुनगतिस्तयो'रिति प्राचीनोक्तमुदाहरणं यथाऽऽसंगतम्, तथा त्वदुक्तं 'रामरावणौ' इत्युदाहरणमप्यसमीचीनमेवेत्याशयः ।

अतः यही कहना पड़ता है कि जैसे प्राचीनों के द्वारा दिया गया विरोधिता का उदाहरण (राम-अर्जुन सी उन दोनों की गति है) असंगत है, वैसे आपके द्वारा दिखलाया गया विरोधिता का उदाहरण (राम और रावण) भी असंगत ही है ।

५, ६ २० ग० द्वि०

दीक्षितोक्तमुदाहरणं निरस्यसम्प्रति तत्सिद्धान्तमपि खण्डयति—

‘अन्यतरपदस्य व्यवस्थितार्थत्व एव’ इत्याद्यप्यसंगतमेव । हरिनागस्येत्यादावुभयोरव्ययस्थितार्थत्वेऽप्येकपदभावामिच्छन्नेन विरोधेन धर्मिविशेषाविशेषितेनापि युगपद्विधिविशेषद्वयेऽभिधाय नियन्तुं शक्यत्वात् ।

हरोति । हस्ति नागश्चेति समाहारद्वन्द्वे ‘येषां च विरोधः शाश्वतिकः’ इत्येवञ्चाव । अत एवाह—एकवद्भावेति । धर्मिविशेषाविशेषितेनेति । धर्मिविशेषणं= (विरोधस्य) आश्रयभूतेन केनापि प्राणिना अविशेषितेन अवशिष्टोद्देशेनेत्यर्थः, अविशेषित इत्यत्र स्वार्थणिजन्तात् क इति भावः । अथवा धर्मिविशेषेण सजातो विरोधो यस्य तेनेत्यर्थः, तारकादित्वादित्यति भावः । उभयथाऽपि यस्य विरोधस्य धर्मा विरोधरूपेण नोक्तत्वाद्भेदेन विरोधेनेति तात्पर्यम् । युगपत् एवैव, न तु क्रमशः । अयमभिप्रायः—यत्रैक पद मेकार्थकतया निधितार्थरूपपरञ्च नानार्थरूपतया सन्दिग्धार्थकम् (यथा रामरावणा इत्यत्र) तत्रैव विरोधनामप्रथमभेदस्योदाहणं सम्बन्धीति यदुक्तं शङ्कितेन, तत्र विचारतस्तु, हरिनागस्य (यत्र पदद्वयमपि नानार्थकम्) इत्यत्र विरोधितया हरिनागपदयोरभिधाद्वयस्य क्रमशः सिद्धान्तरूपार्थयोरेकदैव नियमनदर्शनात् । नन्वेवमन्योन्याध्यायात्—कुतो नेति चेन्न, तृतीयस्य विरोधव्यञ्जनरूपैकवद्भावस्य वर्तमानतया अन्योन्याध्यायविरहात् । एतदेवाह—एकवद्भावाभिध्यक्तत्वादिना । एकवद्भावाच्च द्वयोः समानतयैव विरोधः प्रत्याययति, न तु ‘अयं विरोधस्तर्ता अयमविरोधश्च’ इति विशेषरूपेण । तदेव सूचयति—धर्मिविशेषेत्यादिना । इति ।

दीक्षितोक्तमुदाहरणं का खण्डन करके अब उसके सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं—अन्यतर इत्यादि । दूसरे, आपने जो यह कहा है कि ‘दो पदों में कोई एक पद जब निश्चित अर्थवाला अर्थात् एकार्थक रहेगा, तभी प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता से अभिधा का नियमन होगा’ यह भी अयुक्त ही है, क्योंकि ‘हरिनागस्य’ इत्यादि स्थल—जहाँ, दोनों पद अभिधितार्थक हैं—अर्थात् हरिपद के भी सिंह, विष्णु अथवा त्रि अनेक अर्थ समाहित हैं, और नागपद के भी गज, सर्प आदि विविध अर्थ हो सकते हैं—मैं, प्रसिद्ध वैररूप विरोधिता से हरि और नाग पद की अभिधा क्रमशः सिंह तथा गजरूप अर्थों में एक ही बार नियन्त्रित होती है । यदि आप कहें कि अन्योन्याध्याय क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह है कि क्रमशः दोनों पदों की अभिधा का नियन्त्रण करने पर अन्योन्याध्याय का अवसर ही सकता था, पर यहाँ एक ही बार दोनों पदों की अभिधा नियन्त्रित होती है, फिर अन्योन्याध्याय का अवसर ही कहाँ है ? दूसरी बात यह है कि दो के रहने पर ही अन्योन्याध्याय होता है, यहाँ तो विरोध की अभिव्यक्ति करनेवाला तीसरा एक वचन (‘हरिनागस्य’ में पक्षी विभक्ति का एकवचन) भी है अर्थात् ‘येषां च विरोधः शाश्वतिकः’ इस पाणिनि सूत्र से उक्त प्रयोग में द्वन्द्वसमासोत्तर एकवच्चाव हुआ है, जिससे हरि और नाग पद के अर्थों में शाश्वतिक विरोध अभिव्यक्त होता है और यह विरोध भी एकवच्चाव से दोनों में समानरूप से ही व्यक्त होता है, ‘यह विरोध करनेवाला है और इसका विरोध किया जाता है’ इस विशेषरूप से नहीं । यही बात ब्रूल की ‘धर्मिविशेषाविशेषिता’ इस पदिक के द्वारा प्रतिपादित हुई है ।

दीक्षितोक्तमेवाग्रान्तरं दूषयति—

यदपि ‘रामार्जुनगतस्तयोरिति’ शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणम्, इति स एवाह । तदप्यस्तु । त्वया निरूपिते शब्दान्तरसन्निधेरुदाहरणे ‘निपद्यं पर्य भूयुतम्’, ‘नागो दानेन राजते’, इत्यत्र चाभिधायानियमविषयतां विनान्वय-

स्यैवानुपपत्त्या प्रकृते च 'रामार्जुनगतिस्तयो' रित्यत्रार्थान्तरविषयत्वेऽप्यन्वयानुपपत्तेरभाधान्महति बेलक्ष्ये शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणत्वायोगात् ।

स एवेति । अप्यप्यदोक्षित एवेत्यर्थः । असत् असमीचीनम्, असमीचीनत्वे हेतु दर्शयति—त्वयेत्यादिना । निषधमिति । अत्र जनपदविशेषसाधारणस्य निषधपदस्याभिधा पर्वतवाचिभूतपदसन्निधानात्पर्वतविशेषे नियम्यते । राजसाधारणस्य भूतपदस्याभिधा च पर्वतविशेषनानिषधपदसन्निधाना पर्वते । नाग इति । अत्र सर्पसाधारणस्य नागपदस्याभिधा मदवाचिदानपदसन्निधानेन मदजले । सामानाधिकरण्यवधिकरण्याभ्यां स्वलभेदप्रदर्शनायोदाहरणद्वयम् । अधिक वृत्तिवार्तिके दृष्टव्यम् । नियतविषयेति । नियमनमिति यावत् । अर्थान्तरविषयत्वेऽपीति । रामार्जुनवत्पराम्पराशालिषमित्याद्यर्थान्तरमितिमात्रम् ।

'रामार्जुनगतिस्तयो' रिति विरोधिताया उदाहरणं प्राञ्ज क्तु । दीक्षितस्तत्रान्योन्याश्रयदोषमापाद्यतस्य शब्दान्तरसन्निधेस्तदाहरणत्वं प्रतिपादयति । तत्पण्डितप्रसङ्गे पण्डितराजो वृत्तिवार्तिकोक्तदीक्षिताभिमतशब्दान्तरसन्निधुदाहरणापेक्षया रामार्जुनेत्युदाहरणे बेलक्ष्यं प्रदर्शयति—'निषध', 'नागो', इत्युदाहरणद्वयं वृत्तिवार्तिकोक्तं शब्दान्तरसन्निधे दधितम् । तत्र निषध-भूत-नाग-दानपदानां पर्वतविशेष-पर्वतसामान्य-गज-मदजलरूपै-ष्वभिधानियमनाम्नाक् येषां पदानां क्रमशो देशविशेष-राज-सर्पत्यागरूपार्थेषु शक्तिसंचारेणान्वयानुपपत्तेः, तेषामर्थानां मिथोऽन्वयायोग्यत्वात् । रामार्जुनेत्युदाहरणे तु 'सयोः रामार्जुनवद् गतिः' = पराम्पराशालिषमित्यर्थान्तरकरणेऽपि नान्वयानुपपत्तिः, तयान्वयस्य संभवविषयत्वात् । एवञ्चशब्दान्तरसन्निधेस्तादृशमुदाहरणं ब्रुवतो दीक्षितस्य तदपेक्षयाति-बलशालिना रामार्जुनेत्यत्र शब्दान्तरसन्निधुदाहरणत्वस्वीकारोऽयुक्त इति भावः ।

दीक्षित की ही एक दूसरी उक्ति का स्पष्टन करते हैं—यद्यपि इत्यादि । भनिप्राय यह है कि प्राचीनों ने विरोधिता के प्रथम भेद-असिद्ध वैर-का-उदाहरण 'राम-अर्जुन की भी उन दोनों की गति' एतदर्थक 'रामार्जुनगतिस्तयो.' इस वाक्य को माना है । पर दीक्षित ने अयोग्याश्रय दोष दतला कर उस वाक्य को विरोधिता का उदाहरण होने में आपत्ति की है, और उस वाक्य को 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण माना है । अब पण्डितराज दीक्षित के कथन का स्पष्टन करते हुए कहते हैं कि—आपने (दीक्षित ने) 'निषध परम भूतम्' अर्थात् 'निषध नामक पर्वत को देखो' इस सामानाधिकरण (समान विभक्तिक) वाक्य को, एवम् 'नागो दानेन राजते' अर्थात् 'मदवारि से मतवाला हाथी शोभित होता है' इस व्यधिकरण (विभिन्न विभक्तिक) वाक्य को भी 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण माना है अर्थात् पर्वतवाचक 'भूतम्' पद के सन्निधान से देशविशेष तथा पर्वतविशेष इन दोनों अर्थों के वाचक 'निषध' पद की अभिधा पर्वतविशेषरूप अर्थ में और पर्वतविशेषवाचक 'निषध' पद के सन्निधान से राजा तथा पर्वतसामान्य इन दोनों अर्थों के वाचक 'भूतम्' पद की अभिधा पर्वतसामान्यरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है, इसी तरह मदवाचक 'दान' पद के सन्निधान से सर्प तथा गज इन दोनों अर्थों के वाचक 'नाग' पद की अभिधा, गजरूप अर्थ में और राजवाचक 'नाग' पद के सन्निधान से—स्थाय तथा दानवारि इन दोनों अर्थों के वाचक 'दान' पद की अभिधा मदजरूप अर्थ में नियन्त्रित होती है, यह बात स्वीकृत की है—जो ठीक भी है, क्योंकि उक्त नियन्त्रण के बिना उक्त वाक्यगत पदार्थों का परस्पर अन्वय ही नहीं बन सकता है अर्थात् उक्त वाक्यों में 'निषध' का राजा और 'भूतम्' का पर्वत, अथवा 'निषध' का ही पर्वतविशेष और 'भूतम्' का राजा, इसी तरह 'नाग' का सर्प

और दान का त्याग, अर्थात् समस्त लिया जाय, तब उन अर्थों की परस्पर सगति ही नहीं बैठेगी। परन्तु 'रामार्जुनगतिस्तयो' इस वाक्य का यदि 'उन दोनों वर्णनीय व्यक्तियों की राम और अर्जुन जैसी धीरता है' यह अन्य अर्थ भी कर लिया जाय, तथापि अन्वय हो ही जाता है, फिर इस वाक्य को शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण आपने कैसे कह दिया? अर्थात् परशुरामवाचक 'राम' पद के सन्निधान से 'अर्जुन' पद की सहस्रबाहु में और सहस्रबाहुवाचक 'अर्जुन' पद के सन्निधान से 'राम' पद की अभिधा परशुराम में निश्चिन्ता होती है यह आपका तात्पर्य तब संगत होता, यदि आपके निजसम्मत शब्दान्तरसन्निधि के उक्त उदाहरणों से मिलती-जुलती स्थिति यहाँ भी होती, ऐसी स्थिति तो है नहीं, एक जगह नियन्त्रण के बिना अन्वय अनुपपन्न है, और दूसरी जगह उसके बिना भी वह उपपन्न है, इस विलक्षणता के रहते दोनों जगह समानरूप से शब्दान्तर सन्निधि को ही दिव्यमक मानना सर्वथा अनुचित है।

अथापि प्रतीयमाना 'रामार्जुनगतिस्तयो' रिति विरोधितोदाहरणस्यामगतिमुद्भाव्य निरस्यति—

एवमपि काव्यप्रकाशगतस्य 'रामार्जुनगतिस्तयो'रिति विरोधितोदाहरण-स्यासगति स्थितैवेति चेत् ? न, तयोः कयोश्चित्प्रसिद्धविरोधयो रामार्जुनगती रामार्जुनसदृशी गतिराचरणमिति तदर्थवर्णने विरोधेन प्रस्तावकशास्त्रप्रतीतेन युगपद्भार्गवकार्तवीर्ययो रामार्जुनशब्दाभिधाया नियमनस्योपपत्तेः ।

एवमपीति । दीक्षितोक्तैरसगताक्षणीयर्थ । स्थितैवेति । अन्योन्याश्रयदोषस्य दीक्षितोक्तस्यानिरासादिति भावः । तदर्थेति । उदाहरणार्थेत्यर्थः । प्रस्ताव प्रकरणम् । युगपदिति । तथा च नान्योन्याश्रय इति भावः ।

'रामार्जुनगतिस्तयो' रित्यत्र दीक्षितोक्तान्योन्याश्रयदोषस्तदा सम्भवति, यदि विरोधोपस्थापक नमपि तृतीय वस्तु न भवेत्, अपि च रामपदस्यार्थे भार्गवरूपे निर्णीते स्मृतपद-विरोधप्रतिसधानेनार्जुनपदस्य, एवम् अर्जुनपदस्य कार्तवीर्यरूपार्थे निश्चिते तद्विरोधप्रतिसधानेन रामपदस्य अभिधाया क्रमशो नियमनमभिप्रेत स्यात् । इह तु तन्नास्ति, किन्तु मूलोक्तार्थानुसारेण 'तयो'रितिपदद्वारा प्रकरण तृतीयमेव वस्तु विरोधमुपस्थापयति, तेन च युगपदेव भार्गवकार्तवीर्यरूपयो रस्ययो रामार्जुनपदाभिधानियमनमिति नान्योन्याश्रयापातप्रयुक्ताऽऽमगतिरित्याशयः ।

उक्त एण्डन मण्डन के बाद भी विरोधिता के 'रामार्जुनगतिस्तयो' इस उदाहरण में असगति रहती ही है, इस धाका का उद्भावन करके उत्तर देते हैं—एवमित्यादि । यदि कोई कहे कि उत्तरीति से दीक्षित के मत का एण्डन हो जाने पर भी काव्य-प्रकाश में उक्त विरोधिता का 'रामार्जुनगतिस्तयो' यह उदाहरण तो संगत नहीं होगा अर्थात् दीक्षित ने जो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष लगाया था, वह अभी भी वर्तमान ही है ? तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि यहाँ अन्योन्याश्रय दोष तब होता यदि विरोध को उपस्थित करनेवाली कोई तृतीय वस्तु नहीं होती, और राम पद का परशुरामरूप अर्थ निर्णित हो जाने पर उसके विरोध की स्मृति से अर्जुन पद की, एवम् सहस्रबाहुरूप अर्थ निर्णित हो जाने पर उसके विरोध की स्मृति से रामपद की अभिधा का क्रमशः नियन्त्रण अभिमत होता, परन्तु यहाँ ऐसी बात है नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ यहाँ यह है कि 'तयो' अर्थात् उन दोनों प्रसिद्ध-वैरभाव वाले व्यक्तियों का रामार्जुनगति' अर्थात् राम-अर्जुन के समान आचरण है।' इस तरह से 'तयोः' पद से शात होनेवाला प्रकरण (तृतीय वस्तु) यहाँ विरोध को उपस्थित करता है, जिससे

एक बार ही राम तथा अर्जुन पद की अभिधा परशुराम एवम् सहस्रबाहु रूप धर्म में नियन्त्रित हो जाती है । अतः अन्योन्याश्रय का कोई प्रसङ्ग नहीं रह जाता ।

इत्थं व्याख्याने प्रकरणरूपनियामक एवान्तर्भावसम्भवात् पुनः पृथग्विरोधिता प्रथमप्रकरणस्य परिगणनं श्रुत्येत्यारभ्य समाधत्ते—

न च प्रकरणादविरोधः ? विरोधस्य प्रकान्तत्वेऽपि भार्गवकार्तवीर्ययोः शक्ति-
नियमाधिकरणयोरप्रकान्तत्वात् ।

प्रकरणादिति । शक्तिनियामकसंघाटककारिकोक्तप्रकरणरूपनियामकादित्यर्थः । अवि-
रोध इति । विरोधो भेदस्तद्विषय इत्यर्थः, अभेद इति यावत् । प्रसिद्धवैरूपविरोधिताया
इति रोप । रामार्जुन इत्यत्र प्रकरणस्य विरोधप्रत्यायकत्वाद्भावात् शक्तिनियामकस्यमपि
तत्स्यैवाङ्गीक्रियताम्, कृतमत्र नियामकान्तरान्वेषणेनेति न शक्यम् । शक्तिनियामकस्य
विरोधस्य प्रकरणप्रसङ्गत्वेऽपि शक्तिनियमाध्ययौर्भार्गवकार्तवीर्ययोः प्रकरणाप्राप्तत्वात् । एवम्
शक्तिनियमाध्ययस्य प्रकान्तत्वं एव प्रकरणं नियामकमिति भावः ।

इदमत्र निचारणीयम्—भूले पण्डितराजेनोद्धृत 'रामार्जुनौ' इति प्राचीनोक्तमुदाहरणं
कथं संगच्छेत ? तत्र विरोधप्रत्यायकस्य तृतीयस्य कस्यचिदभावेनान्योन्याश्रयस्य दुर्वार-
त्वात् । वस्तुतस्तु प्राचीनरतदुदाहरणं नैव दत्तमिति पूर्वं मयोजमेव । पण्डितराजस्य
तथोद्धारणं चिन्त्यमेव । तत्तु पण्डितराजोक्तरीत्या साहचर्यस्यैव कस्यचिदुदाहरणं संभवतीति
मम प्रतिभाति । रामार्जुनाविषयस्य रामार्जुनगतिस्तयोरित्येतदुपलक्षणस्वरवीकारे तु सर्वं
सुस्पष्टमेवेत्यपि बोध्यम् ।

उक्त व्याख्या के अनुसार 'प्रकरण' में ही 'विरोधिता प्रथम भेद' का अन्तर्भाव
क्यों नहीं मान लिया जाय ? इस शंका का अथ समाधान करते हैं—नच इत्यादि । 'रामा-
र्जुनगतिस्तयो' इस स्थल में उच्यतेति से जब प्रकरण को ही आप विरोधोपस्थापक
मानते हैं, तब उक्त 'प्रकरण' को ही अभिधानियामक भी क्यों नहीं मान लेते ? स्वयं
नियामकान्तर (विरोधिता) के अन्वेषण से क्या लाभ ? ऐसी आशंका नहीं करनी
चाहिए—क्योंकि, उस तरह से विरोध भले ही प्रकरण प्राप्त हो जाय, परन्तु जिन दोनों
अर्थों में शक्ति यहाँ नियामित होती है वे परशुराम और सहस्रबाहु प्रकरणप्राप्त नहीं हैं ।
तात्पर्य यह हुआ कि 'प्रकरण' यहाँ अभिधानियामक होता है, जहाँ नियमतः अर्थ
प्राकरणिक हों, यहाँ वह नहीं है अतः 'प्रकरण' नियामक नहीं हो सकता । जगत्का
प्रसिद्धवैरूप 'विरोधिता' ही यहाँ अभिधानियामक होती है, यह बात सर्वसम्मत्या
माननी ही पड़ेगी । यहाँ एक बात विचारणीय यह है कि मूलग्रन्थ में प्राचीनोक्त
उदाहरण को उद्धृत करते हुए पण्डितराज ने जो 'रामार्जुनौ' यह विरोधितोदाहरण
का आकार लिखा, वह कैसे संग्रह हो सकता है ? क्योंकि उस आकार में विरोध को
उपस्थित करनेवाली कोई तृतीय वस्तु जब नहीं है, तब अन्योन्याश्रय दोष दुर्वार ही
होगा । वस्तुतः प्राचीनोक्त उदाहरण का आकार वैसा नहीं है यह बात पहले लिखी
जा चुकी है । पण्डितराज का वैसा उदाहरण गलत ही है । पण्डितराज की रीति से
वह किसी तरह से साहचर्य का ही उदाहरण हो सकता है । 'रामार्जुनौ' इस वाक्य को
यदि 'रामार्जुनगतिस्तयो' इस वाक्य का उपलक्षण मान लिया जाय तो सबका
सामञ्जस्य है ही ।

विरोधिताया द्वितीयं प्रकारमुदाहरति—

सहानवस्थानल्लणाविरोधिता तु छायातपावित्यादौ बोध्या ।

'छायातपौ' इत्यत्र छायाशब्दस्य सूर्यपत्नीचान्तिप्रतिबिम्बतत्वाभावरूपा अनेके

अर्थो सम्भवति । परन्तु आतपपदार्थेन सह सहान्वस्यानस्या विरोधिता आतपभावरूप-
छायापदार्थस्यैवेति तथा विरोधितया छायापदस्याभिधा आतपाभावरूपेऽर्थे नियम्यते
इति भावः ।

अथ 'विरोधिता' के द्वितीय भेद का उदाहरण दिखलाने हैं—सहान इत्यादि 'छाया'
और आतप' इस वाक्य में छायाशब्द के सूर्य-पत्नी, कान्ति, मनिर्विद और आतप का
अभाव आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु 'आतप' पद का जो निश्चित अर्थ भूष है,
उसके साथ 'सहान्वस्यान' (साथ साथ नहीं रह सकना) रूप विरोध, आतपाभावरूप-
छाया पदार्थ को ही है, अतः उस विरोध से 'छाया' पद की अभिधा आतपाभावरूप-
अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है ।

अर्थ निरूपयति—

अर्थः प्रयोजनं चतुर्थ्यावभिधेयम् ।

चतुर्थ्यापि । अत्र तुमभादि आदिपदप्राप्तम् । चतुर्थ्यादिप्रतिपाद्यं प्रयोजनमर्थ-
पदार्थ इत्यर्थः ।

'अर्थ' की व्याख्या करते हैं—अर्थ इत्यादि । चतुर्थी विभक्ति आदि के द्वारा अभि-
हित होनेवाले 'प्रयोजन' को 'अर्थ' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इत्यादौ भवच्छेदनादि स्थाणुपदस्य भवे ।

संसारत्यागामिरुत्थय शिवमुपास्वेत्युदाहरणार्थः । छेदनादित्यस्य प्रयोजनमिति
शेषः । भवे । अभिधानिवामकमिति शेषः ।

स्थाणुं भजेत्युदाहरणे 'भवच्छिदे' इत्यस्य चतुर्थीप्रतिपाद्य भवच्छेदनरूप प्रयोजन
निरशास्तत्तद्विवर्तिमानार्थकस्य स्थाणुपदस्याभिधा शिवे नियमयति, निरशास्तत्तद्विवर्तिमानेन
भवच्छेदरूपप्रयोजनासिद्धिरिति भावः ।

उदाहरण देखिए—जैसे 'स्थाणुं भज भवच्छिदे'—अर्थात् संसार से छुटकारा पाने के
लिए स्थाणु का भजन करो' इस वाक्य में 'स्थाणु' पद के शिव तथा शुष्क तत्त्व दोनों
अर्थ हो सकते हैं, परन्तु वक्ता का अभिलषित 'भवच्छेद' रूप प्रयोजन की मिश्र शिव से
ही समझ है शुष्कतत्त्व से नहीं, अतः उक्त प्रयोजन से 'स्थाणु' पद की अभिधा शिव-
रूप अर्थ में नियन्त्रित होती है ।

शङ्कते—

नन्वर्थस्य लिङ्गात्को भेदः ? न च लिङ्गसत्त्वसाधारणस्तद्धर्मः, अर्थस्तु
तद्भजनादेः कार्यम्, न तु तद्गतो धर्म इति स्फुट एव भेद इति वाच्यम्,
भवच्छेदजनकभजनकत्वस्य काष्ठप्रतिभवाधर्मत्वादिति चेत् ?

अनन्यसाधारण इति । अन्यस्मिन् निवृत्तादेरमादितिरिक्ते साधारणो यो न
भवति—एतन्मानवविधिरिति यावत् ।

'अर्थ'निरूपणप्रसङ्गोक्ता शब्देऽपि तच्छब्दा शिवबोधना । कार्यमिति फलमित्यर्थः ।
भवच्छेदजनक इति । भवच्छेदजनकत्वाया भजनक्रिया, तत्पर्यन्तस्य तज्जन्यफलभवावर-
त्यर्थः । काष्ठप्रतिभिति । अनेकानन्यसाधारणत्व सूचितम् ।

भवच्छेदस्य शिववृत्तसाधारणधर्मत्वाभावेऽपि भवच्छेदजनकभजनकत्वसाधारण-
त्तया शिवासाधारणधर्मत्वेन 'अनन्यसाधारण' शिवधर्म शिवस्य लिङ्गम्, भवच्छेदरूप-
प्रयोजनम् ॥ निवृत्तजनस्य फल न तु शिववृत्तिधर्म इति प्रवृत्तोदाहरणे लिङ्गार्थयोर्भेद इत्यस्य
सकृन्मन्त्राभावेन बोद्धव्यं लिङ्गार्थयोर्भेद इति शङ्काशयो बोध्यः ।

शंका कहते हैं—नन्वर्थ इत्यादि । यहाँ शंका होती है कि 'लिंग' रूप नियामक से इस 'अर्थ' रूप नियामक में भेद क्या है ? 'शिव' से भिन्न किसी व्यक्ति में जो नहीं रहता हो, ऐसे धर्म विशेष को शिव का लिंग कह सकते हैं, और यह 'भवच्छेद' रूप अर्थ (प्रयोजन) भी शिव के भजन का कार्य (फल) है, न कि शिव में रहनेवाला धर्म । यह भेद मानने योग्य है नहीं, क्योंकि भवच्छेद भले ही शिव भजन का फल हो, पर उस फल को उपपन्न करनेवाली सजन क्रिया का कर्म होना—जो शुष्कतरु में नहीं रह सकता है—तो शिव का लिंग अवश्य है । अभिप्राय यह हुआ कि भवच्छेद-साधक-भजनक्रिया-कर्मत्व, जब, शिव साध में, रहनेवाला धर्म है, काष्ठ आदि में वह नहीं रह सकता है, तब उस धर्म को शिव का लिंग माना जा सकता है, और जब उसको लिंग मान लेंगे, तब उसी से प्रकृत वाक्य में स्थाणु पद की अभिधा नियन्त्रित हो ही जायगी, फिर 'अर्थ' को प्रत्यक् नियामक मानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तरयति—

अथाहुः—उक्तस्य विशिष्टधर्मस्य शाब्दबोधोत्तरभाविमानसबोधविषयत्वेन प्रकृतशाब्दबोधादिषयत्वात्प्रतिज्ञातो वैलक्षण्योपपत्तिरिति ।

उक्त्येति । भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वस्येत्यर्थः । प्रकृतशाब्दबोधादिषयत्वादिति भवच्छेदफलक चैत्राद्यभिजनकर्मक स्थाणुनर्मक भजनमित्यादिपरकत्वं प्रकृतशाब्दबोधस्य विषयत्वविरहादित्यर्थः ।

अयं भावः—'स्थाणु भज भवच्छेद' इति वाक्यात् 'भवच्छेदफलकेत्याद्यनुपदोक्त एव बोधो जायते, व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्यैव शाब्दिकसिद्धान्तसिद्धत्वात् । स्थाणुनिष्ठभवच्छेदजनकभजनकर्मत्वहृपो विशिष्टो धर्मस्तु पश्चात्कालमाविनि मानसबोधे भासते । तथा च प्रकृतोदाहरणे भवच्छेदरूपं प्रयोजनम् (अर्थात्मक नियामकम्) शाब्दजन्यबोधस्य विषयः, भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वहृपं लिङ्गं मानसबोधस्य विषय इति तयोर्भेद इति । अयं भेद भेदे मिद्वेति लिङ्गस्य वर्तमानत्वे तस्यैव नियामकता प्रज्ञतो बुद्धो गेति चेन्न, प्रयमीपक्षितत्वेनात्तरहस्यार्थस्य नियामकत्वमभवे पश्चादुपस्थितत्वेन बहिरङ्गस्य लिङ्गस्य नियामकताया अयुक्तत्वात् ।

अथ उक्त शंका का उत्तर देते हैं—अथाहुः इत्यादि । आशय यह है कि ब्रह्माकरण शाब्दबोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं, तबनुसार 'स्थाणु भज भवच्छेद' इस वाक्य से 'भवच्छेदरूप-फलवाली, चैत्रादिरूप कर्तावाली, स्थाणुरूप कर्मवाली, प्रेरणा का विषय भजन क्रिया' यह बोध होगा । नैयायिक शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य मानते हैं, तदनुसार उक्त वाक्य से 'भवच्छेदरूप फलवाली, स्थाणुरूप कर्मवाली प्रेरणा-विषयीभूत भजन-क्रिया का कर्ता चैत्र आदि' यह बोध होगा । दोनों ही मतों में 'भवच्छेदजनकभजनकर्मत्व' रूप धर्म शाब्दबोध में नहीं आता, अर्थात् शाब्द से वह धर्म अवगत नहीं होता । हाँ, उस बोध के बाद जो एक मानस बोध होता है, उसमें वह धर्म विषय हो सकता है, अर्थात् उक्त शाब्दिक बोध के अनन्तर मन से उस धर्म का ज्ञान किया जा सकता है । इस स्थिति में लिंग से अर्थ में विलक्षणता सिद्ध हो जाती है—अर्थात् यह प्रकृत अभिधा-नियमनवाची वाच शाब्दबोध के उपायरूप में ही कही जा रही है, अतः यह नियमन शाब्दिकबोध से पूर्व ही करना चाहिये, अतः उक्त वाक्य में स्थाणुपद की अभिधा को नियमित करने के लिए शाब्दबोध से पूर्व ज्ञात होनेवाला कोई नियामक चाहिए, जो उक्त धर्मरूप 'लिंग' कथमपि नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका ज्ञान शाब्दिकबोध के बाद में हो सकेगा अतः 'अर्थ' को प्रत्यक् नियामक मानना आवश्यक है ।

प्राचीनाभिमत लिङ्गार्थयोर्वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

लिङ्गं त्वेकपदार्थः कोपादिः, अनन्वित एव यः पदार्थान्तरेण प्रकृतशक्य-
धर्मतां शक्यान्तरव्यावृत्ततां च भजते, उक्तधर्मस्तु न तथेत्यपि केचित् ।

एकपदार्थ इत्यस्यैव विवरणं पदार्थान्तरेणानन्वित इत्यादि । कोपादिरिति । कुपितो
मकरध्वज इत्यादाविति भावः । उक्त इति । भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वरूप इत्यर्थः । न
तथेति । पदार्थान्तरेणानन्वित प्रकृतशक्यधर्मो नैवत्यर्थः । नानार्थस्यत्वे येन केनापि पदा-
र्थान्तरेणानन्वित सन् अभिमतशक्यवृत्तिरभिमतोत्तरशक्यवृत्तिश्च-अर्थात् एकस्यैव पद-
स्यार्थभूत असमस्ताखण्डैकपदार्थ इति यावत् यो धर्मः स लिङ्गम्, यया कुपितो मकरध्वज
इत्यत्र कोपः । भवच्छेदजनकभजनकर्मत्वरूपो धर्मस्तु असमस्ताखण्डैकपदार्थो न परस्पर-
रान्वयवशेनैव तस्य सादृशाकारसम्पत्तेरिति न तल्लिङ्गमिति तयोर्भेदं केचिदाचक्षत इति
भावः । अत्र 'केचिदि'त्यनेनास्मिन् सूच्यते, सा च तयाङ्गीकारे 'देवस्य त्रिपुराराते'रित्यश-
्वेषपद्माभिधानिमनानापत्तिप्रसङ्गरूपा बोध्या, त्रिपुरारातित्वस्याखण्डैकपदार्थत्वविरहेण लिङ्ग-
त्वाभावात् । न च शब्दान्तरसन्निधेर्दाहरणमेतद्भवतीति वाच्यम्, पदद्वयस्य तात्पर्यक-
त्वाभावेन 'नानार्थपदैकार्यमात्रसमर्थान्तरवाचकपदमभिध्याहार'रूपाया अन्यशब्द-
सन्निधेरिहाप्रसगात् । न च 'नियतार्थकशब्दसामानाधिकरण्यं' शब्दान्तरसन्निधिरिति
प्राचीनमतानुसारेण निरस्तार, 'करणे राजते माग' इत्यादावव्याप्या 'कुपितो मकरध्वज'
इत्यादावतिव्याप्या च सादृशान्वयशब्दसन्निधेर्निर्वकुमशस्यत्वात् । पण्डितराजमते तु
लिङ्गोदाहरणं तद्भवतीति तल्लक्षणाधुनान्धानेन विज्ञेयम् ।

अब लिङ्ग और अर्थ में प्राचीनाभिमत वैलक्षण्य का उल्लेख करते हैं—लिङ्ग तु इत्यादि ।
प्राचीन विद्वान् उक्त आशंका का समाधान इस प्रकार देते हैं—लिङ्ग उसको कहते
हैं जो एक पद का अर्थ हो,—अर्थात् जो किसी अन्य पद के अर्थ से अन्वित न होकर
ही मानार्थक शब्द के अभिमत अर्थ में रहता हो और अनभिमत अर्थ में नहीं रहता
हो । जैसे—'कुपितो मकरध्वज' इत्यादि स्थल में कोप आदि, क्योंकि 'कोप' कुपितरूप
एक पद का अर्थ है, और मकरध्वजपद के अभिप्रेत कामदेवरूप अर्थ में रहता है,
तथा उस पद के अनभिप्रेत अर्थ मकराकारध्वजारूप अर्थ में नहीं रहता है । पूर्वोक्त
भवच्छेदजनक भजन कर्मत्वरूपधर्म तो किसी एक पद का अर्थ नहीं है अपि तु अनेक
पदों के अर्थों का मिलितरूप है, अतः वह लिङ्ग नहीं कहा जा सकता ।

प्रकरणं निरूपयति—

प्रकरणं वक्तृधोतुबुद्धिस्थता ।

बना च धोता चेतिद्वन्द्वं, तयो बुद्धयो तिष्ठति यत्, तदभाव इत्यर्थः, वक्तृधोतृगान-
विषयतेति यावत् । प्रकरणं प्रस्ताव इत्यनर्थान्तरम् ।

अब 'प्रकरण' की व्याख्या करते हैं—प्रकरण इत्यादि । वक्ता और धोता दोनों की
बुद्धि में किसी वस्तु का रहना प्रकरण कहलाता है । प्रकरण का दूसरा पर्यायवाची
शब्द प्रस्ताव है ।

उदाहरति—

यथा—राजानं संबोध्य केनचिद्भूत्येनोक्ते 'सर्वं जानाति देव' इति यावन्ने
देवपदस्य युग्मदर्थः ।

युग्मदर्थ इति । संबोध्य राजनि इत्यर्थः, संबोध्यस्यैव युग्मदर्थत्वान् । इतः अग्रे
अभिधानियममिति शेषः । प्रकरणं देवपदस्याभिधा युग्मदर्थं नियमयतीति भावः ।

उदाहरण देते हैं—यथा इत्यादि । कोई सेवक जब राजा को संवोधन करके 'सर्व जानाति देवः—अर्थात् आप सब कुछ जानते हैं' ऐसा वाक्य कहता है, तब उस वाक्य में 'देव' पद के 'देवता' और 'आप' आदि विविध अर्थ होने पर भी 'आप' अर्थ में ही अभिधा का नियमन हो जाता है, क्योंकि वहाँ 'आप' का ही प्रकरण है 'देवता' का नहीं ।

लिङ्गं निरूपयति—

लिङ्गं नानार्थपः शक्यान्तरावृत्तिरेकशक्यगतः साक्षाच्छब्दवेद्यो धर्मः ।

नानार्थपदस्य प्रकृतशक्यादन्यस्मिन् शक्येऽवर्तमान प्रकृतिशक्ये न वर्तमान शब्देन साक्षात् बोध्यो न त्वर्याल्लब्धो धर्मविशेषो लिङ्गमित्यर्थः ।

अब 'लिङ्ग' को व्याख्या करते हैं—लिङ्गम् इत्यादि । उस धर्म विशेष को 'लिङ्ग' कहते हैं जो नानार्थक पद के अभिप्रेत अर्थ में रहता हो और अनभिप्रेत अर्थों में नहीं रहता हो । एवं जो साक्षात् शब्द से ही बोधित होता है—अर्थात् पूर्वोक्त 'मजनऊर्मत्वं' की तरह मन आदि से ज्ञात न होता हो ।

उदाहरति—

यथा—'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र कोपो मकरध्वजपदस्य ।

मकरध्वजपदस्य । अभिधा नियमयतीति शेषः । अत्र कामरामुद्रद्वयार्थकरय मकरध्वजपदस्य कामरूपात् प्रकृतशक्यादन्यस्मिन् शक्ये समुद्रेऽवर्तमान प्रकृतशक्ये कामे वर्तमानश्च कुपितपदेन साक्षात् बोध्यः कोप (लिङ्गम्) मकरध्वजपदस्य शक्ति कामरूपायै नियमयतीति भावः ।

उदाहरण दिसाते हैं—यथा इत्यादि । यद्यपि 'मकरध्वज' पद की शक्ति कामदेव, समुद्र आदि अनेक अर्थों में है तथापि 'कुपितो मकरध्वज'—अर्थात् मकरध्वज कुपित हो गया' इस वाक्य में 'कोपरूप लिङ्ग' से मकरध्वज पद की शक्ति कामदेवरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, क्योंकि मकरध्वज पद के समुद्र आदि अन्वेषण अर्थों में नहीं रहने वाला, कामदेव में रहनेवाला और 'कुपित' इस एक पद से ज्ञात होनेवाला 'कोप' कामदेव का 'लिङ्ग (बिह्विशेष)' हो जाता है । अतः उक्त वाक्य में मकरध्वज पद से कामदेव का ही बोध होता है, अन्य का नहीं ।

अन्यशब्दसन्निधिं निर्वक्ति—

शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नानार्थपदैकार्यमात्रसंसर्ग्यर्थान्तरवाचकपदसमभिव्याहारः ।

नानार्थपदस्यानेकार्थानां मध्ये एकार्यमात्रप्रतियोगिकसम्बन्धविशिष्टेन अर्थान्तरवाचकेन नानार्थकेनेति यावत् पदेन समभिव्याहारः पूर्वत्वपरत्वान्यतरसम्बन्धेन तद्विशिष्टता नानार्थकपदगता शब्दस्यान्यस्य सन्निधिरित्यर्थः । अत्रैकार्यमात्रप्रतियोगिकसम्बन्धविशिष्टत्वमर्थान्तरवाचकं पदे पदद्वारम्भवगन्तव्यम् ।

अब 'अन्यशब्द की सन्निधि' की व्याख्या करते हैं—शब्दस्य इत्यादि । नानार्थक पद के केवल एक अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के भी वाचक पद का निकट स्थित होना—अर्थात् ऐसे दो अनेकार्थक पदों का पास-पास रहना जिनका कोई एक अर्थ हो । परस्पर सम्बन्ध रखता हो—'अन्यशब्द-सन्निधि' कहलाता है ।

उदाहरति—

यथा—'करेण राजते नागाः' इत्यत्र करपदस्य नागपदमादाय नागपदस्य च करपदमादाय शुण्डायां गजे च ।

गजे चेत्यस्याप्यभिधानियमनमिति शेषो बोध्यः । करपदस्य पाणिशुण्डादण्डकिरणा

अर्थाः । नागपदस्य गजसर्पौ वाच्यौ । अतस्तत्पदद्वयमपि जानार्थकम् । अत्र करपदस्य शुण्डातिरिक्ते नागपदस्य च गजातिरिक्तेऽप्ये स्वीकृते परस्परमन्वयासम्भवेन वाक्यार्था-
सप्ततिरिति उक्तरूपो नागपदसमभिव्याहार करपदस्य षाडशकरपदसमभिव्याहारश्च
नागपदस्य ध्रमश्च शुण्डादण्डे गले चाभिधा निवमयतीति साराशः ।

उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि । पाणि, हाथी का सँद और किरण इन तीनों
अर्थों में समानरूप से 'कर' पद की अभिधा ज्ञात होती है । इसी तरह 'नाग' पद की
अभिधा भी हाथी और सर्प इन दोनों ही अर्थों में एक ही तरह विदित होती है, अतः
'करणे राजते नाग' अर्थात् नाग कर से शोभित होता है' इस वाक्य में 'कर' और 'नाग'
दोनों ही पद अनेकार्थक हैं । अब यहाँ यदि 'कर' पद के 'सँद' से अन्य हाथ या किरण
आदि अर्थ किये जायें, इसी तरह 'नाग' पद का हाथी से अन्य सर्प अर्थ लिया जाय, तब
इन अर्थों में परस्पर अन्वय नहीं बन सकेगा, जिससे वाक्य का कुछ अर्थ ही सम्पन्न
नहीं होगा, अतः 'नाग' पद की सन्निधि से 'कर' पद की 'सँद' में और 'कर' पद की
सन्निधि से 'नाग' पद की 'हाथी' में अभिधा निवमित हो जाती है । इसी से उक्त वाक्य
का यहाँ 'सँद' से हाथी शोभित होता है' ऐसा ही अर्थ अवगत होता है ।

अत्रापाततो जायमानामन्योन्याभयभ्रान्ति निराकरोति—

नष्पात्रैकशब्दशक्तिनियमनमपरशब्दशक्तिनियमोऽपेक्षते येनान्योन्याभयः
स्यात्, किंतु करनागशब्दयोरर्थान्तरग्रहणेऽन्वयानुपपत्त्या युगपदेव शक्ति-
नियम्यते ।

नचेति । नष्टोऽर्थः । अर्थान्तरेति । इस्तत्तर्पेत्यर्थः । 'करणे राजते नाग' इत्यत्र
'रामार्जुना'वित्यत्रेव करशब्दशक्तिनियमो नागशब्दशक्तिनियमन नागशब्दशक्ति-
नियमो वा करशब्दशक्तिनियमन नापेक्षते अपि तु करनागशब्दयोर्द्वैस्तत्तर्पादित्वेऽप्ये
गृह्यमाणे प्रसज्यमानयोःऽन्वयानुपपत्त्या युगपदेवोभयो पदयो शक्तिनियम्यत इति
नान्योन्याभयावसर इति भावः । वृत्तिवार्तिकेऽप्यवदीक्षितस्तु "न ह्यत्र समभिव्याहृत-
शब्देन तदर्थप्रतिपादनमभिधानियमनापेक्ष्यते, किंतु स्वार्थेन गृहीतसत्तर्पेऽप्ये व्युत्पद्यो
य शब्द सासमभिव्याहारमात्रम् । तथा च यथा सबन्धिदर्शनात् सबन्ध्यन्तरस्मृति-
रूपले गृहीतमबन्धस्य सबन्धिनो दर्शनमात्र सबन्ध्यन्तरस्मरणायपेक्ष्यते, न तु तद्दर्शना-
न्तर तत्सबन्धस्मरणमतीति नान्योन्याभयः, तथेहापी" स्वादिरमणीयमाप्त्यत् ।

अब, यहाँ आपातत प्रतीत होनेवाली अन्योन्याभय-दोष भ्रान्ति का निराकरण करते
हैं—न च इत्यादि । 'अन्यशब्द-सन्निधि' का जो उदाहरण पूर्व में दिखलाया गया है,
जिसमें 'कर' शब्द की अभिधा के नियमन में 'नाग' शब्द की अभिधा का नियमन अपेक्षित
नहीं है और न 'नाग' शब्द की अभिधा के नियमन में 'कर' शब्द की अभिधा का
नियमन अपेक्षित है, क्योंकि 'कर' और 'नाग' पद के क्रमशः 'सँद' और 'हाथी' से अन्य
अर्थ (किरण तथा सर्प आदि) ज्ञात हो जाने पर परस्पर अन्वय के ही असम्भव हो जाने
से एक साथ ही दोनों शब्दों की अभिधा निवमित होती है, अतः एव यहाँ अन्योन्याभय
दोष का कोई प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता है ।

प्राचीनोक्त सङ्गद्यति—

देवस्य पुरातनैरिति प्राचामुदाहरणे सुरत्वभूषत्वाभ्या देवपशुभग-
रित्वासुरविशेषारित्वाभ्यां पुराततिपदाद्योपस्थितेरुभयोरपि नानार्थत्वादर्थ-
न्तरस्वीकारेऽप्यन्वयोपपत्तेश्च कथं शर्केनियम स्यात् ?

अर्थान्तरेति । भूयन्तातिरूपेत्यर्थः । अयं भावः—प्राचीना वाक्यप्रकाराकारादय

‘देवस्य पुराराते’ इत्यन्यशब्दसन्निधेरुदाहरणमाचार्य, तदसंगतम् विचारात्तत्वात् । तथाहि—अत्र देवपदान् सुरत्वेन भूषत्वेन च रूपेण सुरस्य भूपस्य चोपस्थितिः, पुराराति-पदान् नगरारातिन्वेन, अनुरविरोधारित्वेन च रूपेण यन्नेदिनगरराशत्रुभूतस्य कस्यापि राशे, त्रिपुरासुरवैरिणो महादेवस्य चोपस्थितिरिति पदद्वयस्य नानार्थत्व सिद्धयति, परन्तु तयोः पदयोः वचसा भूपनगरारिरूपार्थस्वीकारेऽपि अन्वयः उपपद्यत एव । तथा च नात्र शक्तिनियमनन्यादेका संभवो वा इति ।

अथ प्राचीनोक्त उदाहरणों पर विचार करते हैं—देवस्य इत्यादि । अभिप्राय यह है कि भ्रमट आदि प्राचीन आचार्यों ने ‘देवस्य पुराराते’—अर्थात् पुर के शत्रुभूत देव का यह ‘अन्यशब्द-सन्निधि’ का उदाहरण दिखाया है । उनका भाव यह है कि शिव वाचक ‘पुरारातिपद’ के साक्षिण्य से ‘देव’ पद की अभिधा देवतारूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः ‘देव’ पद का यहाँ राजा अर्थ नहीं होता । परन्तु प्राचीनों का यह उदाहरण सगत नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य में केवल ‘देव’ पद ही अनेकार्थक नहीं है, अपि तु ‘पुराराति’ पद भी अनेकार्थक ही है, जैसे ‘देव’ से देवता और राजा इन दो अर्थों की उपस्थिति हो सकती है, वैसे ‘पुराराति’ पद से भी किसी साधारण नगर शत्रु की और त्रिपुरासुर-शत्रु शिव की (दोनों की) उपस्थिति हो सकती है । परन्तु ‘देव और पुराराति’ पद से क्रमशः यदि राजा और साधारण नगरशत्रु का भी बोध हो, तथापि अन्वय बन सकता है अर्थात् किसी नगरशत्रु राजा के लिये भी उक्त वाक्य प्रयुक्त हो सकता है, फिर यहाँ अभिधानियमन की आवश्यकता ही क्या है ? अथवा वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से आवश्यकता होने पर भी यह (अभिधानियमन) हो कैसे सकता है ? क्योंकि ‘अन्यशब्दसन्निधि’ से अभिधा का नियमन नहीं होता है जहाँ उस (अभिधानियमन) के बिना अन्वय अनुपपन्न होता रहता है, जैसा पहले ‘करेण राजते नागा’ यहाँ दिखाया जा चुका है ।

सदुदाहरणसंगतिसाधकं प्राच्यमाशयमुपपाशावयति—

न च पुरारातिपदं योगरूढम्, तथा च रुदर्योगापहारितया शिवत्वेनैव तस्य बोधकत्वाद्देवपदशक्तिनियामकतेति पाठ्यम्; पुरारातिपदस्य रूढौ मानमाभावात् ।

तत्प्रेति । पुरारातिपदस्त्वेत्यर्थः । पुरारातिपदं शिवे योगरूढम्, तथा च तत्पद शिवत्वेनैव रूपेण बोधं जन्येत नगरारित्वेन रूपेण ‘रुदर्योगापहारिणी’ति न्यायान् । एतच्च पुरारातिपदं न नानार्थकमिति तत्सन्निधिः देवपदस्य सुरे शक्तिं नियन्तुं शक्नोति अन्यथाऽऽन्वयानुपपत्तेरिति शकादलस्याभिप्रायः । उत्तरदलाभिप्रायस्तु ‘नैतद्युक्तम्’ पुरारातिपदस्य शिवे योगरूढत्वप्रमाणकस्य बीजादेरभावात् इति बोद्धव्यम् ।

अथ उक्त उदाहरण को सगत बनानेवाले प्राचीनशाय का उपपादन करके स्पष्टन करते हैं—न च इत्यादि । यदि कहा जाय कि प्राचीन आचार्य, ‘पुराराति’ पद को शिव में योगरूढ मानते हैं अतः उस पद से केवल शिव की ही उपस्थिति होती है किसी साधारण नगर शत्रु की नहीं, क्योंकि ‘रुदर्योगापहारिणी’ अर्थात् रुद्रशक्ति योगशक्ति का अपहरण कर लेती है । इस तरह से जब ‘पुराराति’ पद का अर्थ (शिव) निश्चित है, तब उसके साक्षिण्य से ‘देव’ पद की अभिधा देवतारूप अर्थ में नियन्त्रित की जायगी, अन्यथा अन्वय अनुपपन्न हो जाता है—अर्थात् राजा और शिव का परस्पर अन्वय नहीं हो सकता है । तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ‘पुराराति’ पद को योगरूढ मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् कोश आदि में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि ‘पुराराति’ पद शिवरूप अर्थ में योगरूढ है ।

पाठान्तरमाधित्योदाहरणसंगतिं कुर्वत प्रदीपकारादेर्मतमवतार्य निरस्यति—

अथ 'देवस्य त्रिपुरारातेः' इति पाठस्तथापि पदान्तरोपस्थापितस्य त्रिपुरा-
सुरवैरित्वस्य लिङ्गतया लिङ्गोदाहरणत्वमेवास्य स्यात्, न तु शब्दान्तरसन्निध्यु-
दाहरणत्वमिति वदन्ति ।

पदान्तरेति । त्रिपुरारातेरित्यर्थः । अस्येति । देवस्य त्रिपुरारातेरिति वाक्यस्येत्यर्थः ।
वदन्तीति । श्रुतिर्वातिकादौ दीक्षितादय इति भावः । अयमाशयः—यद्यपि मूलकाव्य-
प्रकाशग्रन्थे 'देवस्य पुराराते' रित्येव पाठः तथापि गोविन्दठकुर स्वश्रौये प्रदीपाभिधाने
काव्यप्रकाशाध्यायान्ने 'देवस्य त्रिपुरारातेरिति पाठमेव प्रतीकृतया धृतवान् । तथापाठे
त्रिपुरारातिपदस्य शिवे कृते सर्वसम्मततया कोशादिसमर्थिततया च पूर्वोक्तिखितमूल-
ग्रन्थप्रतिपादितरोस्या तद्व्याक्यस्य शब्दान्तरसन्निध्युदाहरणत्वं सम्भवतीति तत्प्राप्त्यर्थम् ।
दिक्षितादन्यस्तादृशपाठविशिष्टस्यापि तद्व्याक्यस्य तदुदाहरणत्वं खण्ड्यन्तीत्यनुवदति ग्रन्थ-
कारः तथापीत्यादिना । तत्र निगदव्याख्यातमेवेति नेह प्रतन्यते ।

अथ पाठान्तर मानकर उक्त उदाहरण को संगत बनानेवाले 'प्रदीपकार' आदि के
मत का खण्डन करते हैं—अथ इत्यादि । आशय यह है कि यद्यपि काव्यप्रकाश के मूल
में 'देवस्य पुराराते' ऐसा ही पाठ है, परन्तु 'गोविन्द ठकुर' ने स्पष्ट 'प्रदीप' नामक
'प्रकाश' की टीका में 'देवस्य त्रिपुराराते' ऐसा ही पाठ माना है, तदनुसार उक्त उदाहरण
हो सकता है, क्योंकि 'त्रिपुराराति' पद, सबके मत से शिवरूप अर्थ में योग्य है,
कोश आदि से भी उस पद की योग्यता समर्थित है अतः पूर्वोक्त रीति से उस पद
का साक्षिण्य 'देव' पद की अभिधा का नियमन 'देवता' में कर सकता है, यह है प्रदीप-
कार का तात्पर्य । परन्तु अप्यथ दीक्षित आदि उसका भी खण्डन करते हैं । उनका कथन
है कि यदि 'त्रिपुराराते' ऐसा पाठ मानते हैं तब तो 'त्रिपुराराति' पद से उपस्थित होने
वाला त्रिपुरासुरवैरित्वरूप धर्म अनन्यसाधारण होने से शिव का लिङ्ग ही हो जाता है,
अतः उक्त वाक्य 'लिङ्ग'रूपमिदममक का उदाहरण होगा, 'शब्दान्तरसन्निधि' का नहीं ।

पूर्वग्रन्थे वदन्तीत्यनेन सूचितामहंति स्मोरयति—

तत्रैकपदार्थः कोपादिः पदार्थान्तरेणान्वित एव यः प्रकृतशक्यधर्मेतां
शक्यान्तरव्यावृत्तता च भजते स लिङ्गपदेनात्रोक्त इति प्राचाभाराये तु
नोक्तदोषः ।

तत्रैति । 'देवस्य त्रिपुराराते' इति पाठे इत्यर्थः । कोपादिरिति दृष्टान्तोक्तिः । नोक्तदोष
इति । उक्तवाक्ये लिङ्गोदाहरणत्वप्रसरूपो दोषो नेत्यर्थः । तथा च सम्भवति तस्य
शक्यान्तरसन्निध्युदाहरणत्वमिति भावः । अर्थनिरूपणप्रस्तावे व्याख्यातोऽयं प्राचा-
माशयः । तदनुसारमिह वैरित्वं न लिङ्गं त्रिपुरासुररूपपदार्थान्तरान्विततमैव तस्य
शक्यान्तरव्यावृत्तत्वात् । स्वमिदानीं समर्थितमपि प्राचासुदाहरण ग्रन्थकारानभिमत-
मेवेति अर्थनिरूपण एव 'केचित्तु' इत्यनेन सूचिताया श्रुचेरुपपादनावसरे प्रपथितम् ।

अथ दीक्षितद्वेपी पण्डितराज दीक्षितमत का खण्डन करने के लिये वस्तुतः अनभि-
मत रहने पर भी प्राचीन मत का मण्डन करते हैं—तत्रैक इत्यादि । यदि प्राचीनों का
अभिप्राय इस प्रकार से वर्णित हो कि लिङ्ग उस धर्मविशेष का नाम है, जो अखण्ड एक
पद का अर्थ होकर—अर्थात् अन्य पद के अर्थ से अभिधितरूप से ही—नानार्थक पद के
अभिप्रेत अर्थ में रहता हो और अनभिप्रेत अर्थ में नहीं रहता हो जैसे 'कुपितः मकरध्वज'
इस वाक्य में कोप आदि, तब तो दीक्षित के द्वारा 'देवस्य त्रिपुराराते' इस वाक्य का
लिङ्गोदाहरणत्वकथन ठीक नहीं ही है, क्योंकि उक्त अभिप्रायवर्णन के अनुसार 'वैरित्व'

धर्म शिष्य का लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि, त्रिपुरासुर पदार्थ के अन्वय करने पर ही, वह, 'देव' पद के अनभिप्रेत राजारूप अर्थ से व्यावृत्त होता है अर्थात् केवल वैरिख तो राजा में भी रह ही सकता है, त्रिपुरासुरवैरिख राजा में नहीं रहता, पर उस धर्म का रूप अन्वय से तैयार होता है, और लिङ्ग का यहाँ अर्थ है अनन्विष्ट धर्म, अतः प्राचीनों का 'देवस्य त्रिपुरारातेः' इस वाक्य को शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण मानना उचित ही है।

काव्यप्रकाशटीकाकारैर्गोविन्दकुण्डादिभिर्दत्तं शब्दान्तरसन्निधे स्वरूपमनूय दूषयति—
यत्तु शब्दस्याव्यभिचरितस्य सन्निधिः सामानाधिकरणम् इति काव्य-
प्रकाशटीकाकारैरुक्तम्, तत्तु 'करेण राजते नागः' इत्यादावव्यापनात्तन्नियाम-
कान्तरस्य गवेषणे गौरवात् 'कुपितो मकरध्वजः' इति सम्भ्रूलोके लिङ्गोदा-
हरणोऽतिव्यापनाशोपेक्ष्यम्।

अव्यभिचरितस्येति । अर्थान्तरा प्रत्यायकस्येत्यर्थः । नियतार्थकस्येति यावत् ।
प्रदीपकारादिभिः नियतार्थकशब्दसामानाधिकरण्यं शब्दान्तरसन्निधिरित्युक्तम् । तत्तु
युक्तम् । 'करेण राजते नागः' इति शब्दान्तरसन्निध्यादाहरणोऽव्याप्यापत्तेः, तत्र करनागपदयो-
रेकतरस्यापि नियतार्थकत्वविरहान् । न च तत्र नियामकान्तरमन्वेष्टव्यमिति वाच्यम्,
गौरवात् । अथचित् गोत्याज्ञीकारेऽपि 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र लिङ्गोदाहरणतया काव्य-
प्रकाशकारेणौक्तेऽतिव्याप्या तद्वर्णनस्य दूषितत्वाच्चेति भावः ।

काव्यप्रकाश के टीकाकारों के द्वारा की गई 'अन्यशब्दसन्निधि' की व्याख्या का खण्डन करते हैं—यत्तु इत्यादि । 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार 'गोविन्दकुण्ड' आदि ने जो यह कहा कि निश्चितार्थक शब्द के सामानाधिकरण्य (समान विभक्तिक होने) का नाम 'अन्यशब्द सन्निधि' है, वह ठीक नहीं, क्योंकि यह लक्षण 'शब्दान्तरसन्निधि' के 'करेण राजते नागः' इस पूर्वोक्त उदाहरण में संघटित नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ एक भी पद निश्चितार्थक नहीं है—अर्थात् कर और नाग दोनों ही पद नावार्थक होने से अनिश्चित भर्भवाले ही हैं। यदि कहें कि वहाँ दूसरे नियामक का अव्येषण कर लिया जायगा—अर्थात् 'करेण राजते नागः' यह किसी अन्य नियामक का ही लक्ष्य माना जायगा, अन्यशब्दसन्निधि का नहीं, तो वह भी समुचित नहीं होगा, क्योंकि जब मेरी रीति से वह 'शब्दान्तरसन्निधि' का ही उदाहरण हो सकता है, तब व्यर्थ उसके लिये अन्य नियामक के अव्येषण का गौरव क्यों बढ़ाया जाय । दूसरी बात यह कि उक्त लक्षण अतिव्याप्तिदोषग्रस्त भी है अर्थात् 'कुपितो मकरध्वजः' इस वाक्य—जो आप के हिसाब से लिङ्ग का उदाहरण है—में भी उक्त लक्षण संघटित हो जायगा, क्योंकि यहाँ भी 'कुपित' पद निश्चितार्थक है और उसका सामानाधिकरण्य भी मकरध्वज पद के साथ है ही । अतः टीकाकारों की उक्त व्याख्या अपेक्षा के ही योग्य है ।

सामर्थ्यं निरूपयति—

सामर्थ्यं कारणता ।

कारणता च कार्याव्यवहितप्राक्प्रवृत्तिवच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिरिति बोध्यम् ।

अथ 'सामर्थ्य' की व्याख्या करते हैं—सामर्थ्यं इत्यादि । कारण होने का नाम 'सामर्थ्य' है । कारण उसको कहते हैं, जो कार्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में कार्यदेस में नियमन रहता है ।

उदाहरति—

यथा—'मधुना मत्तः कोकिलः' इत्यत्र कोकिलमदजनकता मधुरानन्दस्य वसन्ते ।

वसन्ते इति । अभिधा नियमयतीति शेष । अर्थान्तरेभ्यस्तमाना कोक्तिमदकारणता 'मधु सौत्रे जले सौर मधो गुणरते मधु । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे' इति विश्वकोशादनेकार्यकस्य मधुशब्दस्य शक्ति वसन्तरूपार्थे नियमयतीति भावः ।

उदाहरण दिग्गते हैं—यथा इत्यादि । मधुशब्द के मध, वसन्त आदि अनेक अर्थ होते हैं । परन्तु 'मधुना मत्त कोक्ति' अर्थात् कोयल मधु से मत्त हो रही है' इस वाक्य में 'मधु' पद की अभिधा, कोक्तिमद-कारणता से वसन्तरूप अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है—अर्थात् कोक्तियों में मधोत्पत्ति का कारण वसन्त ही हो सकता है, मध आदि नहीं । अतः यहाँ 'मधु' पद से वसन्त का ही बोध होता है, मध आदि का नहीं ।

खण्डनाय परणोयोक्तिमनुवदति—

'अत्र कोक्तिमदादने मधोरेष शक्तिर्न तु मधुनः । मादकरं मधुन्यपीति न लिङ्गम्' इति वदन्ति ।

मधो वसन्तस्य । मधुनो मयस्य । मादकत्वं सामान्यतो मदकारणत्वम् । मधुन्यपीति मधोऽपीत्यर्थः । वदन्तीत्यस्य कान्यप्रकाशव्याख्यातार इति शेषः । अनेनाग्राह्य-स्थिता । अस्याभिप्रायं स्वयमग्रे विरादयेत् प्रत्यकृदिति नेह व्याख्यापेता ।

खण्डन करने के लिये अन्य आधाय की उक्ति का अनुवाद करते हैं—अथ इत्यादि । 'मधुना मत्त कोक्ति' इसको 'लिङ्ग' का ही उदाहरण क्यों नहीं माना जाय ? इस शका के उत्तर में कुछ लोग कहते हैं कि साधारणतया मद का कारण मध भी है, पर कोक्ति के मद का कारण वसन्त ही है, अतः मादकत्व वसन्त का लिङ्ग नहीं हो सकता ।

पूर्वसूचितामहविमाह—

सर्व सामर्थ्यं लिङ्गान्तर्गतमेव कुतो न दद्यात्, इति शङ्कायाः कथमेतदुत्तर-संगच्छते ?

तत्रेति । मधुनेत्युदाहरणविषयोभूतमित्यर्थः । अस्या शङ्कायास्तदुत्तर न भवितु-मर्हतीति भावः ।

पूर्वोक्त उत्तर में 'वदन्ति' पद से सूचित अहंवि का स्पर्शिकरण करते हैं—तत्र इत्यादि । 'सामर्थ्यं' 'लिङ्ग' के अन्तर्गत क्यों नहीं हो जाता—इसको उससे भिन्न क्यों माना जाता है ? इस शका का उक्त उत्तर कैसे हो सकता है ?

परामिततुत्तरसंगतिप्रवाचुषाव गच्छयति—

न च मादनसामर्थ्यस्य सुरावृत्तितया नासाधारणधर्मस्वरूपं लिङ्गत्वमिति वाच्यम्, मादनसामर्थ्यस्य सुरावृत्तित्वेऽपि कोक्तिमदादनसामर्थ्यस्य वसन्ता-साधारणतया लिङ्गत्वस्य दुर्घोरतात् ।

मादनेतिकरणव्युत्पन्नम् । लिङ्गशामासाधारणो वस्तुधर्मः । मादनसामर्थ्यं तु सुरा-वसन्तयो साधारणम्, यतो न तद्व्यगन्तस्य लिङ्गम् । एनबोत्तराद्वाया तदुत्तर संगत-मेवेति उदाहरणः । सामान्यस्य मादनसामर्थ्यस्य मधोऽपि वर्तमानतया वसन्तासाधारण-धर्मभावमनेऽपि कोक्तिमदव्ययमादनसामर्थ्यस्य वगन्तमात्रवृत्तितया तदसाधारणधर्मत्वेन लिङ्गत्वे स्थितेन तत्स्योत्तरस्य संगतिरिति तु समाधानायावो वेदितव्यः ।

उक्त उत्तर को संगत बनाने के लिये प्रतिपक्षियों के द्वारा दी गई युक्ति का उपपादन करके खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'लिङ्ग' उस वस्तु-धर्म को कहा जाता है, जो असाधारण हो—अर्थात् उसी वस्तु में रहता हो, अन्य में नहीं । मादकत्व तो मध और वसन्त दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म है, अतः न व वसन्त का लिङ्ग नहीं

हो सकता, यही मेरे उत्तर का आशय है, फिर वह संगत क्यों नहीं होगा ? तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि केवल मादकत्व मद्य ही साधारण धर्म हो, पर कोकिलमादकाय तो साधारण नहीं है—वह केवल वसन्त में हो रहनेवाला धर्म है, अतः उसको वसन्त का 'लिङ्ग' मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, फिर उक्त उत्तर असंगत ही ठहरता है।

कमचित् कोकिलमादनसामर्थ्यस्य साधारणत्वस्थिरीकरणेऽपि न तयोक्तः संगति-
रित्याह—

तत्र च प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यस्य मधुनः कोकिलमादनसामर्थ्यमप्यस्तीति
वाच्यम्, एवं सति सामर्थ्यस्य वाचकता नियामकत्वमसंगतं स्यात्, न तु
मधुन इति स्ये क्विविरोधश्च भवेत् ।

प्राणिमात्रमादनसामर्थ्यस्यैव्यत्र प्राणिमात्रमादनस्य सामर्थ्यं यस्मिन् तस्येति
व्यधिकरणपक्षो बहुबोद्धिः । प्राणिमात्रमादनममर्थस्येति तु पाठः साधोयान्, मधुनः
मद्यस्य । एवं सतीति । मद्यस्यापि कोकिलमादनसामर्थ्यसमर्थने इत्यर्थः । वाचकतेति ।
अभिधा शक्तौच्यम् । असाधारणत्वाभावादिति भावः । स्वोक्तिविरोध इति । 'अत्र
कोकिलमादने' इत्यादिप्रागनुदितप्रत्ययटकरवक्यनविरोध इत्यर्थः । मद्यस्य प्राणिमात्र-
मादनसामर्थ्योक्तितया कोकिलमादनसामर्थ्यस्यापि तत्राङ्गीकारे 'मधुना मत' कोकिल'
इत्यत्र मधुपदस्य मद्यरूपार्थग्रहणेऽपि अन्वयौपपत्तौ शक्तिनियमनमनावश्यकमेव ।
तत्रेष्टापत्तावपि 'कोकिलमादने मधोरेव शक्तिर्न मधुन' इति स्वोक्तिविरोधो दुस्तर
एवेति भावः ।

यदि आप कहें कि कोकिल-मादकाय भी वसन्त का लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि
वह भी असाधारण धर्म नहीं है—अर्थात् मद्य एक ऐसी वस्तु है, जिसमें प्राणिमात्र को
मत्त बना देने की शक्ति है—वह (मद्य) कोकिल को भी मत्त कर दे सकता है, अतः
कोकिल-मादकाय भी मद्य और वसन्त दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म ही है, तो
यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में 'सामर्थ्य' को अभिधानियामक
मानना ही असंगत हो जायगा—अर्थात् जब कोकिल के मद्य का कारण मद्य और वसन्त
दोनों हैं, तब 'मधुना मतः कोकिलः' इस वाक्य में मधुपद का मद्य अर्थ करते पर भी
अवश्य बैठ ही जायगा, फिर अभिधानियमन की अपेक्षा ही नहीं रहेगी अतः सामर्थ्य
को अभिधानियामक मानना व्यर्थ होगा । दूसरी बात यह है कि—जब आप पूर्व में
'न तु मधुन' ऐसा लिखकर मद्य में कोकिलमादन-सामर्थ्य का निरास कर चुके हैं, तब
अब उसी मद्य में कोकिलमादन-सामर्थ्य का स्वीकार कैसे करते हैं ? यह तो आपकी
परस्पर-विरोध बात हो रही है ।

अथ सामर्थ्यस्य निरामकत्वे प्रसिद्धमुरोध इत्यपि न युक्तमित्यावहे—

प्रसिद्धयात्रये पुनर्लिङ्गत्वमप्रच्युतम् ।

सामान्यतः कोकिलमादनसामर्थ्यमपि मद्ये तिष्ठतु, प्रसिद्धं तु तत् वसन्त एवेति
प्रसिद्धसामर्थ्यस्य प्रकृतोदाहरणपदसमपुराणशक्तिनियामकता युक्तेति कथनेऽपि न
निस्तारः प्रसिद्धकोकिलमादनसामर्थ्यस्यासाधारणत्वेन वसन्तलिङ्गत्व प्रसक्तमेवेति 'साम-
र्थ्यस्य लिङ्गान्तर्भाव' कुतो नेति शङ्कायास्तदवरयत्वादित्याशयः ।

प्रसिद्धि के मुरोध करने पर भी निस्तार नहीं हो सकता, इस बात का उल्लेख
करते हैं—प्रसिद्ध्या इत्यादि । यदि आप कहें कि सामान्यतः कोकिल-मादन सामर्थ्य
भी मद्य में रहता है, तो रहे, पर प्रसिद्धि तो वह वसन्त में ही है—अर्थात् लोक में

यही प्रसिद्ध है कि कोयल वसन्त से मत्त हुआ करती है, अतः प्रसिद्ध भादनसामर्थ्य को उक्त वाक्य में मधुपद को अभिधा का नियामक माना जा सकता है, तो यह भी अनुचित ही है, क्योंकि प्रसिद्ध भादन-सामर्थ्य, वसन्त का असाधारण धर्म ही हो जाता है, फिर तो वह लिंग के अन्तर्गत ही आ जायगा।

स्वसम्मत लिङ्गसामर्थ्यबोधेदमाह—

शब्दत्वाशब्दत्वाभ्यामेकानेकपदार्थत्वाभ्यां वा विशेषस्तु स्यात् ।

विशेषो भेद । लिङ्ग शब्दजन्यबोधस्य विषयो भवति । यथा कुपितो मकरध्वज इत्यत्र कोषाश्रयाभिध काम इति बोधस्य कोपो विषयो भवति । सामर्थ्यं तु न शब्दबोधविषय, अपि तु शब्दबोधानन्तरं मानभबोधस्य विषय । यथा—‘मधुना मत्त कोकिल’ इत्यत्र मधुकरणकमदाश्रय पिक इति शब्दजन्यबोधे कोकिलभादनकारणतारूपं सामर्थ्यं न विषय । पश्चात् मानसबोधे तद्भासते इत्यन्यदेतत् । एवञ्च सिद्धो लिङ्गसामर्थ्यबोधेदमाह । ईदृशभेदस्य पूर्वमनुकृत्वान् कोपसाधनस्य तत्राप्युल्लेखसमवाच भेदान्तरमाह—एकानेकेति । लिङ्गमेकपदार्थरूपम् । यथा-कोप कुपितपदार्थः । कोकिलमदकारणतात्मक सामर्थ्यं तु कोकिलमत्तवृत्तीयाविभक्तिरूपानेकपदार्थ इति द्वयोर्भेद इति तात्पर्यम् ।

अब लिंग और सामर्थ्य में स्व-सम्मत भेद का उल्लेख करते हैं—शब्द इत्यादि । ‘लिंग’ शब्दजन्य-बोध का विषय होता है । जैसे—‘कुपितो मकरध्वज’ इस वाक्य से होनेवाले ‘कोषाश्रय से अभिध काम’ इस बोध में ‘कोप’ (लिंग) विषय होता है । ‘सामर्थ्य’ तो शब्द जन्य-बोध का विषय नहीं होता है, जैसे ‘मधुना मत्त कोकिल’ इस वाक्य से होनेवाले ‘मधुकरणकमद का आश्रय पिक’ इस बोध में कोकिल-मद-कारणता, विषय नहीं होती । पीछे मानस बोध का विषय वह भी होता है, यह बात दूसरी है । इस तरह से लिंग और सामर्थ्य में भेद किया जा सकता है । अथवा ‘लिंग’ एक पद का अर्थ रहता है, जैसे—कुपितपद का कोप और ‘सामर्थ्य’ अनेक पदों का मिश्रित अर्थ होता है, जैसे—कोकिल-मद-कारणता उक्त वाक्य में कोकिल, मत्त और वृत्तीया-विभक्ति इन सबों का सम्मिलित अर्थ है । इस तरह से भी उन दोनों नियामकों में परस्पर भेद सिद्ध किया जा सकता है ।

श्रीचिन्ती निर्वक्ति—

श्रीचिन्ती योग्यता ।

योग्यता च सबन्धविशेषाश्रयत्वसमावहेति मन्तव्यम् ।

अब ‘श्रीचिन्ती’ की व्याख्या करते हैं—श्रीचिन्ती इत्यादि । योग्यता को ‘श्रीचिन्ती’ कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—‘पातु वो दयितामुखम्’ इत्यत्र दयितामुखकर्तृकरणकर्मत्वाक्षिप्त-कामार्तानां सबोधयपुरुषाणां त्राण हि तस्या सांमुख्येनैव भवति, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तेन त्राणायोगात् । अतस्त्राणार्हत्वं यदन-सांमुख्योभयप्रत्या-यकस्य मुखशब्दस्य ।

मुखशब्दस्येत्यस्याग्रे साम्मुख्ये शक्तिं नियमयतीति शेषः । पातु वो दयितेति वाक्ये दयितामुखकर्तृकरणक्रियाकर्मत्वेन कामार्तां सबोधयपुरुषा आक्षिप्यन्ते । एवञ्च तेषां रक्षणं दयितायां साम्मुख्येनैव भवति तथासत्येव कामार्तिरामनन्दानभूतानिधुवनविनोदादिप्रयुक्ते, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तस्याविधित्तरत्वात् । तथा च रक्षणसम्बन्धाश्रयत्व-

संभावनारूपा योग्यता मुख्यपदामिहां सामुख्ये नियमयतीति साधारणः । अत्र 'कर्मत्वाक्षित-
कामार्तानां संबोध्यपुरुषाणामिति पाठो न समीचीन' प्रतिभाति, तथा पाठे संबोध्यपुरुष-
राहाक्षिप्तपदार्थस्यानन्वयेन विवक्षितार्थावर्तते । अतः कर्मत्वाक्षितकामार्तसंबोध्य-
पुरुषाणामिति सर्वत्र समस्त, कर्मत्वाक्षितानां कामार्तानां संबोध्यपुरुषाणामिति सर्वत्र
व्यस्त एव वा पाठः कल्पनीयः ।

उदाहरणं देखिए—जैसे—“पलु वो दयिता-मुखम् अर्थात् प्रियतमा का ‘मुख’ आपकी
रक्षा करे” इस वाक्य में रक्षण-क्रिया के कर्मरूप से ‘व.’ पद बोध्य कामार्तपुरुषों का
आवेप होता है । ऐसी स्थिति में उन कामार्त पुरुषों की रक्षा, प्रियतमा के सामुख्य
(अनुकूलता) से ही सम्भव है, क्योंकि उसकी अनुकूलता-द्वारा में ही कामार्त को
शान्त करनेवाले संयोग आदि की प्रवृत्ति हो सकेगी, मुख्यमात्र से कामार्त की रक्षा
सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतिकूल रहने पर प्रियतमा का मुख अकिञ्चिद्वर ही सिद्ध होता
है । अतः सामुख्य और मुख इन दोनों अर्थों के वाचक ‘मुख’ पद की अभिधा, उक्त
रक्षणयोग्यतारूप ‘औचित्य’ से सामुख्य अर्थ में नियन्त्रित की जाती है ।

देशं निरूपयति—

देशो नगरादिः ।

अत्रादिपदेन ग्राम-ग्रहोद्यानादिपरिग्रहः ।

अब ‘देश’ की व्याख्या करते हैं—देश इत्यादि । नगर, ग्राम, पुष्पवाटिका आदि को
‘देश’ कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—‘भात्यत्र परमेश्वरः’ इत्यादी परमेश्वरादिशब्दस्य राजादौ । तस्य
नगरादिसंबन्धतद्भावयोः सम्भवेनाभावव्यावृत्त्यर्थमधिकरणकीर्तनस्य सार्थ-
क्यात् । परमात्मनस्तु सर्वगतस्य व्यावर्त्याभावात्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः ।

राजादौ अभिधानियमनमिति शेषः । तथेति । राजादेरित्यर्थः । अधिकरणकीर्तन-
स्येति । अत्रेत्यनेनेति भावः । सर्वगतस्येति । व्यापकस्येत्यर्थः । अकस्मदेशरिपतस्येति
यावत् । व्यावर्त्याभावादिति । तदनधिकरणाभूतदेशाश्रितिरिति भावः । तदुक्तीति ।
अत्रेत्यधिकरणोक्तवित्यर्थः । परमेश्वरपदं यद्यपि राजपरमात्मोभयवाचकम्, तथापि ‘भात्यत्र
परमेश्वरः’ इति वाक्ये परमेश्वरपदस्य राजादिरेवायं न तु परमात्मा, अत्रेत्यव्यववाच्येन
नगरादिरूपाधिकरणेन तत्पदराजे राजादौ नियमनात् । न्तु परमात्मपक्षेऽधिकरणकीर्तन
किं न संभवति, यत्तत्सार्थान्तरेऽभिधानिगकत्वमास्थीयते इति चेन्न, अत्र पदवाच्ये
नगरादाधिकरणे राजादिः कदाचित्तिष्ठति, कदाचिज्ज्ञेति नगरादौ तदीयस्थित्यभाववारणाय
राजपक्षेऽधिकरणोक्तिसार्थक्येऽपि सदा सर्वत्र तिष्ठतः परमात्मनः कापि स्थितिविरहो न प्राप्त
इति तद्वारणायधिकरणोक्तैरनर्थकत्वात् ।

अब उदाहरण दिखलाते हैं—यथा इत्यादि । ‘परमेश्वर’ पद के यद्यपि राजा और
परमात्मा दोनों अर्थ होते हैं, तथापि ‘भात्यत्र परमेश्वरः’ अर्थात् परमेश्वर यहाँ सुशोभित
हो रहा है’ इस वाक्य में ‘परमेश्वर’ पद का राजा ही अर्थ होता है, परमात्मा नहीं,
क्योंकि ‘अत्र’ पद से कहा जाता हुआ नगर आदि देश, उक्त पद की अभिधा को राजा
रूप अर्थ में नियन्त्रित कर देता है । अग्रिमार्थ यह है कि उक्त पद का राजा अर्थ करने
पर ही देश विशेष वाचक ‘अत्र’ पद सार्थक होता है, क्योंकि राजा का नगर आदि देश के
साथ सम्बन्ध रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता अतः नगर आदि के साथ
संभावित, राजा-सदृशमात्र के धारणार्थ अर्थात् ‘राजा, नगर आदि विवक्षित देश में है’

ही' इस धातु की सूचना के लिए उसको सार्थकता होती है। परमात्मा अर्थ करने पर तो वह व्यर्थ ही हो जायगा, क्योंकि परमात्मा तो सदा सर्वत्र रहता ही है—व्यापक है, फिर उसके लिए 'यहाँ है' ऐसा कहना व्यर्थ है—अर्थात् उसका कहीं भी न रहना अव्यक्तभावित ही नहीं है, सब देशविशेष की चर्चा किसका कारण करेगी ?

उदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—

एव 'वैकुण्ठे हरिर्वसति' इत्यापि बोध्यम् ।

। वैकुण्ठरूपो देशो नानार्थकस्य हरिपदस्य शक्तिं विष्णौ नियमयतीति भावः ।

। 'देश' का एक दूसरा भी उदाहरण दिसलाया जाता है—एवम् इत्यादि । 'वैकुण्ठ में हरि वास करते हैं' इस वाक्य में 'वैकुण्ठ रूप देश' से विष्णु, अथ, सिंह आदि अनेक अर्थों के वाचक 'हरि' पद की अभिधा, विष्णुरूप अर्थ में निवर्तित होती है ।

समयोद्दाहरणयोः प्रदर्शने हेतुभूतं विशेषमाह—

एकत्रायान्तरोपग्रहेऽधिकरणोक्तिरैवार्थ्यम्, अपरत्र तु सदधिकरणत्वाप्रसिद्धिरिति विशेषः ।

एकत्र आये । अर्थान्तरेति । परमात्मवानरादावित्यर्थः, अपरत्र अस्तिमे । भात्यनेति वाक्ये परमेश्वरपदस्य परमात्मरूपार्थग्रहणे अनेन्यधिकरणकोर्तनैवैतत्पर्यम्, वैकुण्ठे हरिरिति वाक्ये तु हरिपदस्य वानरादिरूपार्थ-बोधं तत्कार्यस्य वैकुण्ठरूपाधिकरणप्रसिद्धाऽस्यतिरिति भेदप्रकटनार्थमेवोदाहरणद्वयदानमिति भावः ।

अब दोनों उदाहरणों में जो भेद है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—एकत्र इत्यादि । 'यहाँ परमेश्वर' सुबोधित हो रहा है। इस वाक्य में परमेश्वर पद का परमात्मा अर्थ समझ लेने पर 'यहाँ' इस अधिकरण का उल्लेख व्यर्थ हो जाता है और 'हरि वैकुण्ठ में निवास करते हैं' इस वाक्य में हरि पद का अथ, सिंह आदि अर्थ समझ लेने पर वाक्य ही असंगत हो जायगा, क्योंकि, 'उन अर्थों (अथ, सिंह आदि) का वैकुण्ठ में रहना अप्रसिद्ध है। यही दोनों उदाहरणों में भेद है ।

कालं निरूपयति—

कास्तो दिवसादि ।

आदिपदेन रात्र्यादिपरिग्रहः । दिनरात्र्याद्यात्मकं खण्डकालं सूर्यादिक्रियारूपं, तावत्कालस्याप्यो वस्तुविशेषरूपो वेति सिद्धान्तितः ।

अथ 'काल' की व्याख्या करते हैं—काष्ठो इत्यादि । दिन, रात्रि आदि को 'काल' कहा जाता है ।

उदाहरति—

'चित्रभातुर्दिने भाति' इत्यादौ चित्रभान्वादिपदानां सूर्यादिषु, एवं 'चातुर्मास्ये हरिः रोते' इत्यस्य ।

इत्यादावित्यत्रादिपद 'चित्रभान्' रात्रौ भातीत्यादिवाक्यसमाहकम् । 'सूर्यादिषु' इत्यत्रत्यमादिपद बहुधादिपरम् । सूर्यादिषु अभिधानियमनर्गमिति शेषः । दिनरूपकालं चित्रभानुपदस्य सूर्येऽभिधा नियमति, दिने चित्रभानुपदार्थान्तरस्य बहुधाऽभिधान्, उदाहरणान्तरमाह—एवमिति । चातुर्मास्यात्मकं काल-हरिपदस्य शक्तिं विष्णौ नियमयति चातुर्मास्यव्यापकशायनस्य विष्णुर्गर्भकार्येव प्रसिद्धत्वादिति भावः ।

उदाहरण दिसलाया जाता है—चित्र इत्यादि । 'दिन में चित्रभानु रोधित होता है' इस वाक्य में 'दिनरूप काल' से, सूर्य और अग्नि दोनों अर्थों के वाचक 'चित्रभानु' पद की

अभिधा, सूर्यं मात्र में नियमित होती है अर्थात् दिन में सूर्य का प्रदीप्त होना ही प्रसिद्ध है, अग्नि का नहीं। इसी तरह 'हरि चौरासे में सोते हैं' इस वाक्य में, 'चौरासे रूप काल' से मानार्थक हरि पद की अभिधा विष्णुमात्र में नियमित होती है अर्थात् लगातार चौरासे में सोते ही रहना विष्णु के विषय में ही प्रसिद्ध है, हरिपद के अन्य अर्थ के विषय में नहीं।

व्यक्ति निरूपयति—

व्यक्ति स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि ।

स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि व्यक्तिपदार्थतया बोध्यानीति भावः ।

अथ 'व्यक्ति' की व्याख्या करते हैं—व्यक्ति इत्यादि। पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गों का नाम 'व्यक्ति' है।

उदाहरति—

यथा—'मित्रो भाति'-'मित्रं भाति' इत्यत्र मित्रशब्दस्य पुंनपुंसके सुहृत्सूर्ययोः । एवं 'नमो भाति' 'नमा-भाति' इत्यत्रापि ।

पुंनपुंसके इति । पुंस्त्वन्पुंनकत्वे इत्यर्थः । सुहृत्सूर्ययोरिति क्रमो बोध्यः । अथवा तादृश एव पाठोऽङ्गीकार्यः । शक्ति नियमयतः इति शेषः । एवमग्रेऽपि । मित्रो भातीत्यत्र पुंस्त्वव्यक्त्या मित्रपदस्य सूर्ये, मित्रं भातीत्यत्र नपुंसकत्वव्यक्त्या नमपदस्य विद्यति नमा भातीत्यत्र च पुंस्त्वव्यक्त्या प्राचष्टे नमपदस्य शक्तिनियम इति स्पष्टार्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—यथा इत्यादि । जैसे—'मित्रो भाति' और 'मित्रं भाति' इन दोनों स्थानों पर एक ही 'मित्र' पद की अभिधा, एक अथवा पुलिङ्ग के कारण 'सूर्य' रूप अर्थ में और दूसरी जगह नपुंसक व्यक्ति के कारण 'सुहृत्' रूप अर्थ में नियमित हो जाती है । इसी तरह 'नमो भाति' इस वाक्य में नपुंसकलिङ्ग के कारण, 'नम' पद की अभिधा, भाकाश-रूप अर्थ में और 'नमा भाति' इस वाक्य में पुलिङ्ग के कारण 'नम' पद की अभिधा अक्षयमास-रूप अर्थ में नियमित हो जाती है ।

स्वरं विवृणोति—

स्वर उदात्तादिः ।

अत्रादिपदेन नानुदात्तस्वरितयोः संग्रहः । स्वरो वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्तं काव्य इत्यन्वियुक्तम् । ननु भरासुनिगाठानुसारेण ॥ स्वरोऽपि रसविशेषं प्रत्यापयतीति कथं तस्य काव्ये विशेषप्रत्यायकत्वमिहस्यत इति चेन्न, तत्रैवा व्याप्तविशेषप्रत्यायकत्वेऽपि प्रकान्तानेकार्थक पदशक्तिनिवमनरूपविशेषाप्रत्यायकत्वादिति साहित्यदर्पणे विश्वनाथः ।

अथ 'स्वर' की व्याख्या करते हैं—स्वर इत्यादि । उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को 'स्वर' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—'इन्द्रशत्रुः' इत्यत्र समासान्तोदात्तत्वमिन्द्रशत्रुशब्दस्येन्द्रस्य शत्रौ । पूर्वपद-प्रकृति-स्वर-प्राप्तमाद्युदात्तत्वं त्विन्द्रशत्रुके ।

इन्द्रस्य शत्रौ इति । अभिधानियामकमिति शेषः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । इन्द्रशत्रु-इत्यत्रान्तोदात्तत्वग्रह इन्द्रस्य शत्रुपिति षष्ठीतत्पुरुषसमासं ग्राहयति तत्रैवान्तोदात्तत्वविधानम् । एवमान्तोदात्तत्वस्येन्द्रकर्मक्यातनकर्तारि इन्द्रशत्रुपदशक्तिनियामकत्वम् ।

आयुदात्तत्वग्रह इन्द्रशत्रु शातयिता यस्येति बहुव्रीहिसमासं ग्राहयति तत्रैव तदनुशा-
मनात् । तथाचायुदात्तत्वमिन्द्रशत्रुपदस्य इन्द्रशत्रुके इन्द्रकर्तृकशातनकर्मणि शक्तिं
नियमयतीति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तथा इत्यादि । 'इन्द्रशत्रु' इस वैदिक शब्द को यदि
अन्तोदात्त के रूप में पढ़ा जाय, तब उस पद में षष्ठीतत्पुरुषसमास समझा जायगा,
क्योंकि षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर ही अन्तोदात्तत्व का विधान व्याकरण में किया
गया है, अतः ऐसी स्थिति में उस स्वर के बल से उक्त पद का अर्थ होगा—इन्द्र को
सतानेवाला । और—यदि उक्त शब्द को आदिउदात्त के रूप में पढ़ा जाय, तब वहाँ
बहुव्रीहिसमास माना जायगा, क्योंकि बहुव्रीहिसमास में ही पूर्वपद में प्रकृति-स्वर-
विधान के द्वारा आयुदात्तत्व होता है, ऐसी स्थिति में उस आयुदात्त स्वर के बल से
'इन्द्रशत्रु' पद का अर्थ होगा—इन्द्र से सताया गया कोई शत्रुस आदि ।

सयोगो विप्रयोगश्चेति कारिकायां 'कालो व्यक्तिस्वरादयः' इत्यत्रत्यादिपदसमास
स्फोरयति—

आदिनाभिनयादिपरिग्रहः ।

अभिनयादिरपि विशेषप्रतीतिकृद् भवतीति भावः ।

अब 'सयोगक विप्रयोगश्च' इत्यादि कारिका के 'स्वरादयः' इस अक्ष में जो आदि
पद है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—आदिना इत्यादि । अभिनयानिपासकों की गणना
करनेवाली 'सयोगो' '...' इत्यादि कारिका में जो आदि पद आया है, उससे अभिनय
(चेष्टा आदि) का संग्रह किया गया है, अर्थात् अभिनय आदि से भी विशिष्ट अर्थ में
शक्तिग्रह में सहायता मिलती है ।

उदाहरण—

यथा—'एहमेतत्तथगिआ' इत्यादी ।

एहेदिति । 'एहमेतत्तथगिआ एहमेतेहिं अच्छिवतेहिं । एहमेतावत्या एहमेतेहिं
दिअएहिं ॥' इति संपूर्ण गाय । 'एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्रैरक्षिपत्रै । एतावन्मा-
त्रावत्या एतावन्मात्रैर्दिवसै ॥' [इतिच्छाया] अत्रैतावदित्यादिपदाभिष्यक्तेन हस्तचेष्टा-
विशेषरूपेणात्रिकेनाभिनयेन स्तनादीना कमलकोरकायाकारत्वप्रतिरिति भावः ।

जैसे—'एहमेतत्तथगिआ' '...' इत्यादि—जो संस्कृत टीका में उद्धृत है—अर्थात्—
'इतने बड़े स्तनोंवाली इत्यादि' गाय में 'इतने बड़े' इस शब्द के अर्थ 'सुपारी से लेकर
घट तक' सब आकार हो सकते हैं—उस पद का कोई एक अर्थ नहीं । उनमें से वक्ता
के हाथ का अभिनय जैसा होगा—जैसी मुद्रा उसने दिखाई होगी—उसी के अनुसार
उस शब्द की अभिधा, कमलकली आदि के आकार में नियन्त्रित हो जाती है ।

प्रकरणमेनदुपमहरन् सयोगादीना नियामकाना परस्परभेदः पर्यालोचयति—

इहार्थसामर्थ्योचितीनामुदाहरणेषु चतुर्ध्यायेस्तृतीयाद्यैरर्थसामर्थ्येन च
बोधमानकार्यकारणभाव एव नियामकः, न तु वस्त्वन्तरम् । बोधकवैचित्र्याच्च
नियामकस्य वैचित्र्येणोक्तिः शाचाम् । वस्तुतस्तु संयोगादीनामर्थान्तरसाधा-
रणत्वे नानार्थशब्दस्यार्थविशेषे शक्तेः संकोच एव न संभवति, नियामकानाम-
समुचितत्वात् । अथ प्रसिद्धत्वादिना तेषामसाधारणताबुद्धिर्यथाकथंचि-
दुपपाद्यते, तदा प्रायशो लिङ्गभेदा एवैते, न तु सर्वथैव ततः स्यतन्वा इति
बोध्यम् ।

उदाहरणेष्विति । 'स्याणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्त कोकिल', 'पातु वो दायितामुसम्' इत्येतेष्वित्यर्थः । चतुर्ष्यादिरिति । चतुर्ष्यादिविभक्तिभिरित्यर्थः । तृतीयादौरिति । तृतीयादिविभक्तिभिरित्यर्थः । अर्थसामर्थ्येनेति । अर्थयोग्यतयेत्यर्थः । बोधस्वैचित्र्यादिति । कार्यकारणभावबोधकानां चतुर्ष्यादिविभक्तियोग्यत्वादीनां भेदादित्यर्थः । वैचित्र्येण भेदेन । प्राचामित्यनेनाहचि सृच्यते । अहचिवौ च दर्शयति—वस्तुतस्तु इत्यादिना । साधारणत्वे सतीति शेषः । स्यारसिन्ध्याभावादाह—अथाक्यविदिति । प्रागुक्तरीत्याद्यादीनाममंग्रहादाह—प्रायश इति । तेषामपि कर्णचिदन्तर्भावसंभवादाह—सर्वयैवेति । तत् लिङ्गात् । अयं भावः—उक्तेषु अर्थसामर्थ्याच्चित्तोनामुदाहरणेषु ऋगश्रुतुर्षी, तृतीया, योग्यता च कार्यकारणभावमेव बोधयन्ति, ततश्च तैः प्रतीयमान कार्यकारणभाव एवैकस्तेषु नियामकत्वीकृतमुचितः, तथापि कार्यकारणभावबोधकानां तेषां मियो भेदेन नियामकेष्वपि मियो भेदः सिद्ध इति पृथक् पृथक् तेषां नियामकयोक्तिः हरिकारिकायामिति प्राचीना प्रतिपादयन्ति । परमार्थतः संयोगादयो लिङ्गान्तर्गता एव तस्यैव ते प्रपञ्चा । कथमिति चेदित्यम्—संयोगादयो ये शक्तिनियामका हरिणीकास्ते नानार्थपदप्रतिपाद्यमर्थेषु साधारणतया वर्तमाना भविष्यन्ति, तथा च तैः शक्तिमन्त्रैव एवामभवतुक्तिकनियामकानामसङ्गुचितत्वात् (अतिव्याप्तत्वात्) । यदि संयोगादीनां सामान्यतः साधारणत्वेऽपि यत्र ते यस्य प्रसिद्धास्तत्र ते असाधारणा एव यथा शङ्खचक्रसंयोग विष्णौ प्रसिद्धः, इति रीत्याऽसाधारणत्वं संपाद्येत, तर्हि तेषां सर्वेषामपि लिङ्गपदार्थ एवान्तर्भावो भवेत्, असाधारणधर्मस्यैव लिङ्गपदार्थत्वात् इति पण्डितराजः । नागेशस्तु लघुमञ्जूषाभिधाने गङ्गास्त्रशिरोमणिभूते श्वकीये ग्रन्थे 'अत्र नामर्थ्येनैकं सुखं नियामक संयोगादयस्तद् व्यञ्जकप्रपञ्चः तैः सामर्थ्यस्यैवाभिव्यक्तेरिति परे' इत्यप्याहेति बोध्यम् ।

अब इस अभिधा नियामक-वरिगणन-प्रकरण के उपसंहार में उक्त नियामकों में जो परस्पर भेद हो सकता है उसकी पर्यालोचना करते हैं—इह इत्यादि । अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण में 'अर्थ, सामर्थ्य और औचित्य' के क्रमशः 'स्याणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्त कोकिल', 'पातु वो दायितामुसम्' ये जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें चतुर्षी विभक्ति, तृतीया विभक्ति और योग्यता से एक प्रकार का कार्यकारणभाव ही ज्ञात कराया जाता है, अतः उन स्थलों में उन सबों के द्वारा ज्ञात होने वाले एक कार्यकारणभाव की ही अभिधानियामक मानना उचित था, पर उस कार्यकारणभाव के बोधक उन चतुर्षी विभक्ति आदि के परस्पर भिन्न होने से, नियामकों की श्रेणी में भी, पृथक्-पृथक् नियामकों के रूप में, प्राचीनों ने गणना की है । वस्तुतः जो उक्त सभी नियामक 'लिङ्ग' के अन्तर्गत ही आ जाते हैं—अर्थात् सर्वत्र 'लिङ्ग' ही अभिधा का नियमन करता है, क्योंकि संयोग आदि जितने नियामक, हरिकारिका में, गिनाए गये हैं, वे सभी मानार्थक शब्द के स्थलों में सर्वत्र रहते ही हैं, अतः उन असङ्गुचित (सर्वसाधारण) नियामकों से शक्ति का सर्वोप असंग्रह ही है । यदि प्रसिद्धि के आधार पर उक्त नियामकों (संयोग आदि) को सङ्गुचित बनाया जाय अर्थात् वह कहा जाय कि वे नियामक सामान्यतः नानार्थकस्थल में सर्वत्र भले ही रहते हों पर प्रसिद्ध कहीं कोई एक ही रहेगा, जैसे—'शङ्खचक्र-संयोग' की समावना विष्णु से सिद्ध—इन्द्र आदि में भी की जा सकती है, किन्तु प्रसिद्ध है वह विष्णु में ही, अतः प्रसिद्धि के आधार पर वे पृथक्-पृथक् नियामक हो सकते हैं, तो, वैसी स्थिति में वे सब मानार्थक शब्द के अभिप्रेत ज्यों के 'लिङ्ग' ही हो जाते हैं अर्थात् असाधारण धर्म को ही जब 'लिङ्ग' कहा जाता है, तब प्रसिद्धि के आधार पर असाधारण बनाए गये वे संयोग आदि भी 'लिङ्ग' ही सिद्ध हो जाते हैं, यह है पण्डितराज का मत । महावैयाकरण जगन्नाथ ने तो अपने लघुमञ्जूषा

नायक प्रसिद्धतम व्याकरणग्रन्थ में कहा है कि 'सामर्थ्य' अर्थात् कार्यकारणभाव ही एक मुख्य भविष्य-नियामक है, 'सबोग आदि' उसी के अभिव्यञ्जक होते हैं ।

अथ रासचन्द्रमध्वनुदाहरणप्रदर्शनप्रसंगे प्रथम शब्दशक्तिमूलालंकारध्वनिमुदाहरणम्—

यत्र शब्दशक्तिमूलालंकारस्य ध्वनिर्यथा—

‘करतलनिर्गलदविरलदानजलोह्लासितावनीवलयः ।

धनदाप्रमदितमूर्तिर्जयतितरा सार्वभौमोऽयम् ॥’

तत्रेति । दशविधसलक्ष्यकध्वनिमध्य इत्यर्थः । अलंकारस्येवस्योपमेत्यादि प्राचां मतेन । ग्रन्थकारमते ॥ रूपकेत्यादिस्तस्य बोध्यः । कथितं कवि कमपि राजान स्तौति-करतलेत्यादि । करतलात् पाणिपुटकात्, निर्गलता स्यन्दमानेन, अविरलसततम्, दानस्य हीनोद्देश्यक्यागस्य, जलेन वारिणा, उल्लासित आनन्दित, अवनीवलय भूमण्डलो, येन स, तथा धनदाना धनदानपराणाम्, अग्रं आदौ, महिता पूजिता स्तुतेति भावतः, मूर्तिं स्वरूप यस्य स, अयं षण्णोय, सार्वभौम चक्रवर्ती राजा, जयतितराम् अतिशयेन सर्वोत्कृष्ट इति वाच्योऽर्थः । ध्वनिर्यस्तु करतलात् शुण्डादण्डात्, निर्गलता, अविरलं, दानजलेन मदवारिणा उल्लासित अवनीवलयी येन स तथा धनदस्य कुबेरस्य, अग्रे पुर, महिता प्रशसिता, मूर्तिर्यस्य, स अयं सार्वभौम दिग्गजो, जयतितरामिति बोध्यः । नागेशस्तु ध्वनिर्यमिन्द्रपरकमाह । तत्र पठे करतलेति विरोधवाक्यस्य करतलनिर्गलदविरलदानजलेन ऐरावतेन, इति क्रमेणार्थः । सार्वभौम इन्द्र । ध्वन्यत् सर्वं समानोद्य ।

अथ शब्दशक्तिमूलक ध्वनियोंके उदाहरण त्रिललापे जाते हैं—तत्र इत्यादि । पूर्वोक्त दशविध सलक्ष्यकध्वनियोंमें शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनिजैसे—‘करतल’ इत्यादि । कोई कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हाथ से गिरवे हुए सतत ‘दान’-समूह-के जल से समस्त भूमण्डल को आनन्दमग्न कर देनेवाला तथा धन दायकों में सर्वप्रथम पूजितस्तुतिवाला, यह चक्रवर्ती राजा सबसे उत्कृष्ट है, यह वाक्य अर्थ है । इसके अतिरिक्त यहाँ एक व्यङ्ग्य अर्थ भी है, जैसे—सूँह से निरन्तर चूते हुए मद-जल से पृथ्वीमण्डल को आनन्दित कर देनेवाला तथा धन-कुबेर के भागे प्रशमितस्वरूप वाला यह सार्वभौम (दिग्गज) सर्वोत्कृष्ट है । नागेश ने व्यङ्ग्यार्थ पद में सार्वभौम पद का अर्थ इन्द्र किया है, तदनुसार ‘करतल’ इत्यादि विरोधवाक्य का अर्थ ऐरावत किया है, यह भी समझ लेना चाहिये ।

व्यपारयति—

अत्र राजप्रकरणे कर दान-धनद-सार्वभौमशब्दानां शक्तौ सकोचितायामपि तन्मूलकेन ध्वनेन प्रतीयमानस्यार्थान्तरस्याप्रस्तुतस्याभिधानं सा भूदिति प्रकृता-प्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः प्रधानवास्यार्थतया कथ्यत इत्युपमालंकारध्वनिः ।

अत्र उक्तपदे । घटकचं गम्यर्थः । तस्य च शब्दानामिति पक्षी प्रकृत्यर्थेऽन्वयः । राजप्रकरणे विद्यमाने इति शेषः । सकोचितायामिति । प्रकरणरूपनियामकेन हस्तवितरण-दातृजनभूषणार्थेति भावः । अर्थान्तरेति । गजवृत्तान्तेत्यर्थः । इन्द्रवृत्तान्तेत्यर्थो वा । प्रकृताप्रकृतयोरिति । नृपदिग्गजयोः नृपमहेन्द्रयोर्वा इत्यर्थः । उपमानोपमेयभाव इति । अयं सार्वभौम (चक्रवर्ती) सार्वभौम (दिग्गज इन्द्रो वा) इवेत्याकारः इत्यर्थः । प्रधानवास्यार्थमेति । वाच्यावपेक्षया प्राधान्येनेत्यर्थः । अयमेव ध्वनिव्यपदेशहेतुः । राजप्रकरणोक्तेऽस्मिन् पदे वर्तमानान्य द्वर्षकानां करवानादिपदानां शक्तिं हस्त वितरणार्थेषु प्रकरणेन नियम्यते, तथा च गजादिवृत्तान्तरूपोऽप्रमानोऽप्योऽभिधामूल-

व्यञ्जनया प्रतीयते । ननु कथमिहाप्रामान्त्यप्रतीतिरङ्गीनियत इति चेत्, द्वयपर्यायानि पदानि प्रयुज्जानरय कवेरतदर्थप्रतीतिरप्यभिमतत्वात् । अथाप्रसन्नतस्य तस्यार्थस्य प्रत्यायन-मनुचितमसत्त्वद्वयप्रतिपादनस्यो-मनप्रत्यातुरत्यन्वादित्यपि न, प्रामान्ताप्रकान्तयोर्पर्यायो रुपमानोपमेयभावस्य कविविवक्षाविषयत्वेन तस्यापि सुमंषद्वत्त्वात् । इत्यत्र स उपमा-लंकार एव चमत्कारितया कवेर्विवक्षित इति तन्मूलमो ध्वनिव्यवहारोऽत्र भवतीति भावः ।

उक्त श्लोक में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अथ हरादि । उक्त पद्य राजा के प्रकरण से कहा गया है, अतः उसमें उक्त कर, दान, धनद और सार्वभौम पदों की अभिधा, क्रमशः हाथ, वितरण, दाता और चक्रवर्ती राजारूप अर्थों में, प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित हो जानी है, जिससे राजपक्षीय अर्थ ही वाच्य होता है । परन्तु वाच्यार्थयोध के बाद वाच्यवृत्तिमूलक व्यञ्जना से पूर्वोक्त दिग्गज अथवा इन्द्र-पक्ष का अर्थ भी ज्ञात होता है । अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अप्रासंगिक राजपक्षीय अर्थ की प्रतीति (व्यञ्जना से ही सही) क्यों मानी जाय ? इसका समाधान यह है कि 'चक्रवर्ती राजा, दिग्गज अथवा इन्द्र जैसा' इस तरह से प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक अर्थों में उपमानोपमेयभाव की प्रतीति कराने के लिए । अतएव कवि ने जानबूझकर दो दो अर्थ वाले पदों का प्रयोग किया है । हम प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि उक्त उपमालंकार की प्रतीति कराना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है, अतएव चमत्कार भी इसकी प्रतीति में ही है । इन सब कारणों से यह पद्य उपमालंकारध्वनि का उदाहरण होता है ।

मतान्तरमवतारयति—

अथ श्लिष्टविशेषणायामां समासोक्तौ व्यङ्ग्यस्याप्रकृतव्यवहारस्य प्रकृत-धर्मिण्यारोप्यमाणस्य प्रकृतोपस्कारकतया यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवमिहा-ऽप्युचितम् ।

श्लिष्टेति । 'अयमैन्द्रमुखं परय रक्तशुभ्रवति चन्द्रमा' इत्यादौ । अप्रकृतव्यवहार-त्वेति । मुखशुभ्रवतिरूपस्यैतत्पर्यं । आरोप्यमाणेति । अन्यथा अर्थावधानिधानं स्यादिति भावः । इहापीति । कतलेख्यायुक्तपदोक्ते पद्येऽपीत्यर्थः । 'अयमैन्द्र' इत्यादौ रक्तमुखादि-विशेषणानि श्लिष्टानि अनुरागयुक्तप्रकान्तिविशिष्टादिवाचकानि, तन्मूलव्यञ्जनया कामिनीमुखशुभ्रवतिरुक्त्वाप्रकृतव्यवहारो व्यङ्ग्यः । स चासद्यो मा भूदिति प्रकृतधर्मिणि चन्द्रादौ समारोप्यते, तेन 'आरोपितनायकव्यवहारश्चन्द्र आरोपितनायिकाव्यवहाराया ऐन्द्रया दिशो मुखम् (प्राग्भागमाननम्) शुभ्रवति' इति वाक्यार्थः सम्पद्यते । अत इवं पद्यं 'समासोक्तिः समैर्वत्र कार्यलिङ्गविशेषणैर्व्यवहारसमारोपः' प्रस्तुतेऽप्यस्य वस्तुनः । इत्यादिलक्षणलक्षिताया समासोक्तेरुदाहरणं भवति । प्रकृते पुनरिव वक्तव्यम्—यथा तत्र व्यङ्ग्योऽपि मुखशुभ्रवतिरव्यवहारो वाच्यार्थोपपत्तयाऽत्यचमत्कार-वत्तया च गुणीभूत इति ध्वनिकाव्यव्यवहारस्यादेतुः हेतुश्च गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाव्यव्यवहारस्य तथैव 'कतलेख्यादिपद्येऽपि व्यङ्ग्यो दिग्गजवृत्तान्तरतन्मूलविद्येरमा या वाच्य-वृत्तान्त-शौभाननकतया गुणीभूत एवेति तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाव्यव्यवहारप्रयोक्तव्यमेव युक्तम्, न तु ध्वनिकाव्यव्यवहारप्रयोक्तव्यमिति भावः ।

अब उक्त श्लोक पर ध्वनिके नियम में मतान्तर की अवतारण करते हैं—अथ हरादि । 'अयमैन्द्रमुख परय रक्तशुभ्रवति चन्द्रमा—अर्थात् यह देखो-रक्त चन्द्र ऐन्द्र (पूर्व) दिशा का मुख चम रहा है' इस काव्याज्ञ वाक्य में रक्त, मुख और चम रहा है, ये तीनों विशेषणवाचक पद श्लिष्ट हैं, अतः उनसे अनुरागयुक्त तथा काल कान्तिवाला, आनन तथा अग्रभाग, मुख शुभ्रवति तथा स्पर्श ये दो दो अर्थ वाच्य होते हैं । उस क्षेत्र के आधार

पर ही कामिनी मुखचुम्बनरूप अग्रस्तुत व्यवहार व्यङ्ग्य होमा है। वह व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनिबद्ध न होवे इसलिये प्रस्तुत चन्द्र और दिशा के व्यवहार में नायक तथा नायिका का व्यवहार आरोपित होता है, जिससे 'आरोपित नायक व्यवहारवाला चन्द्र आरोपित नायिका व्यवहारवाली पूर्वदिशा का मुख (पूर्वभाग तथा अग्र) को सूचित है' ऐसा वाच्यार्थ सम्पन्न होता है। अतः उक्त पद्यांश, संस्कृतटीका में उद्धृत लक्षण के अनुसार समासोक्ति अलंकार का उदाहरण कहलाता है। प्रकृत में अब कहना यह है कि जैसे उक्त स्थल पर कामिनीमुखचुम्बनादि व्यवहार व्यङ्ग्य होकर भी, वाच्य अर्थ के पोषक तथा अल्प चमत्कार युक्त होने के कारण, गौण हो जाने से ध्वनिकाव्यव्यवहार का हेतु नहीं होता, अपितु गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्यव्यवहार का ही हेतु होता है, उसी तरह 'करतल'... इत्यादि प्रकृत पद्य में भी, दिग्गज भुक्तान्त अथवा सम्मूलक उपमा अलंकार, व्यङ्ग्य होकर भी, वाच्य रसगङ्गाधर के पोषक होने के कारण गौण ही रहेगा, अतः उस व्यङ्ग्य को लेकर उक्त पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण बतलाना ठीक नहीं है, हाँ-गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य का उदाहरण वह हो सकता है।

पूर्वग्रन्थप्रतिकूलमाराध्य निरस्यति—

न चोपमा प्रकृतार्थोपस्कारिका न भवतीति शक्यं वदिसुम्, 'उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्', 'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोः' इत्यादौ प्राचीनानां पद्ये 'करतल'—इत्यादि प्रागुदाहृतपद्ये च व्यङ्ग्य-चोपमया प्रकृतस्य राज्ञः प्रकर्षस्य सकलानुभवसिद्धत्वात् । अनुभवापलापे तु समासोक्तावप्यप्रकृतव्यवहारस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं नैसि सुवचत्वात् ।

प्रकृतार्थोपस्कारकेति । वाच्यार्थोभासपादिकेत्यर्थः । वाच्यार्थोपस्कार्यैव सति भावः । उल्लासेति । इदं पद्यं प्राक्... टीकायामुद्धृतं व्याख्यातम् । भद्रात्मनोरिति । 'विशालवशोजते कृतशिलीमुखसमग्रहस्य । यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य दानाम्बुमेकमुभयं सततं करोऽभूत् ॥' इत्यवशिष्टं पदाराजः । भद्रात्मनः कल्याणमूर्तेः, दुरधिरोहतनोः तु त्वेन अधिरोह आक्रमणं यस्मिन्, तादृशां सत् शरीरस्य तस्य विशालवशोजते विशाला बहती, वशस्य कुलस्य, उन्नतिं सञ्चिद्विषयं तस्य, कृतशिलीमुखसमग्रहस्य कृतं शिलीमुखगता बाणानां समग्रं सञ्चयो येन तस्य, अनुपप्लुतगते अबाधितवैभवं प्रसरस्य, तथापरवारणस्य रिपुरोपसमर्पस्य, यस्य राज्ञः, करं बाणि, सततं सर्वदा दानाम्बुमेकमुभयं त्यागीदृश्यकसलिलस्यन्दमुन्दरं, अभूत् इति प्रस्तुतीर्ष्य । दुरधिरोहतनोः कथारोहणीयशरीरस्य कृतशिलीमुखसमग्रहस्य कृतमदलोभिप्रमरनिकरसञ्चयस्य, विशालवशोजते महामेरुदण्डस्य, अनुपप्लुतगते मन्दगमनस्य, यस्य भद्रजातीयस्य परवारणस्य उत्कृष्टप्रजस्य, करं शुण्ढादण्डं सततं, दानाम्बुन मदजलस्य सेकेन सुभगं अभूत् इति चाग्रस्तुतार्थो बोध्यः । उल्लास्य, भद्रात्मनः, कस्तुर्यादिपद्येषु व्यवहार-समासोपाभावात् समासोक्तिः, अपि तु अग्रस्तुतार्थस्याभवाविधानतावारणाय प्रस्तुता-प्रस्तुतयोरुपमा व्यङ्ग्याऽऽस्वीयते, तथाच व्यङ्ग्यभूतोपमया प्रस्तुतस्य राज्ञः प्रकर्षं सकलानुभवसिद्धः । तथा च व्यङ्ग्यभूतोपमा प्रस्तुतवाच्यार्थोपस्कारिका न भवतीति वक्तुमयोग्यम्, अनुभवसिद्धस्यापि व्यङ्ग्योपमानिष्ठस्य प्रकृतोपस्कारकत्वस्यापलापे वादिसम्मतस्य समासोक्तित्वात्प्रागुदाहृतप्रस्तुतार्थोपस्कारकत्वस्याप्यपलापे कृतो भवेदीति भावः ।

पूर्व ग्रन्थ के प्रतिकूल आक्षेप करके उसका समाधान करते हैं—च च इत्यादि । यदि आप कहें कि 'करतल'... इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्य होनेवाला उपमा अलंकार वाच्यार्थ का

पोषक नहीं है—अर्थात् गौण नहीं है—प्रधान है, तो यह असंगत होगा, क्योंकि 'उष्मा-
रयः', 'भद्राग्रतो' और 'करतल' इत्यादि प्रकृत पद्य में व्यङ्ग्य उपमा से वाच्य राजा
का प्रकर्ष सिद्ध होता है, यह बात सर्वानुभव-सिद्ध है। उक्त तीनों पद्यों में प्रथम पद्य पूर्व में
उद्घटन और व्याख्यात हो चुका है। द्वितीय पद्य इस प्रकार के प्रारम्भ में मूलकार ने ही
लिखा है, जिसकी व्याख्या भी की जा चुकी है। द्वितीय पद्य इस स्थल की संस्कृत टीका
में उद्धृत है। इसका अर्थ इस प्रकार है—कष्ट से आक्रमण करने योग्य शरीरवाले,
महान् कुल में उन्नति प्राप्त करनेवाले, अच्छे-अच्छे वाणों का संग्रह करनेवाले, अयाधित
ज्ञानशक्तियाँ और शत्रुओं को रोकनेवाले, जिस कल्याणमूर्ति राजा का हाथ सदा
दान-जल के सेक से सुन्दर रहता था। यह है प्रस्तुत अर्थ। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ
यह है कि—कष्ट से चढ़नेयोग्य विशाल शरीरवाले, मदल्योमी धमरों के समूह को झकड़ा
करनेवाले, जैसे मेरुदण्डवाले और मन्द-मन्द चलनेवाले जिस भद्रजातीय गजराज की
सँद सदा मन्द-जल के सेक से सुभग-सुन्दर रहता था। यदि आप अनुभवसिद्ध वस्तु
का भी अलप्य करेंगे—अर्थात् कहेंगे कि उक्त पद्यों में व्यङ्ग्य होनेवाली उपमाओं से
वर्णनीय राजा का प्रकर्ष सिद्ध नहीं होता, तब तो समासोक्ति अलकार के स्थान में भी
व्यङ्ग्य अप्रस्तुतवृत्तान्त से प्रस्तुत वाच्य अर्थ का पोषण नहीं होता है, ऐसा भी कहा
जा सकेगा।

समासोक्तावप्रकृतस्य प्रकृतोपस्कारकत्वं सम्भवति, व्यङ्ग्योपमाया तु नेति मिथो
विरोधप्रदर्शनेनाराक्य समाधत्ते—

मनु समासोक्तावयव चास्ति विरोधः—यत्तत्र व्यवहारिणो नानार्थशब्दानु-
पस्थाप्यत्वम्, इह तु तदुपस्थाप्यत्वमिति चेत् ? किं चातो न हि व्यवहारिणो
नानार्थशब्दोपस्थाप्यतामात्रेणाप्रकृतधर्मिनिरूपिताया उपमायाः प्रकृतधर्म्युप-
स्कारकत्वं धार्यते, येन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यात्।

व्यवहारिण इति । प्रकृतव्यवहारनिर्वाहकस्य धर्मिण इत्यर्थः । राजादेरिति तु
स्पष्टोऽर्थः । समासोक्तौ-अयमेन्द्रोत्पादी व्यवहारी चन्द्रो न नानार्थशब्दोपस्थाप्य, अपि ॥
एकार्थरूपचन्द्रमसूपदोपस्थाप्य एव । करतलेत्यादिव्यङ्ग्योपमास्थले च व्यवहारी वृष-
सार्वभौमरूपनानार्थोपस्थाप्य एव—अर्थात् समासोक्तिस्थले विशेष्यवाचक शब्दो
नानार्थको न भवति, इह च स सादृश एव भवतीति द्वयोः स्थलयोः भेद स्पष्ट परिलक्ष्यते,
तत्कथं समानरूपेण द्वयोः स्थलयोर्विचारो विधीयत इति शङ्का समाधानमाह—किं चात
इत्यादिना । अयं भावः—समासोक्तिस्थले व्यङ्ग्यस्य गुणीभूत न भवतोऽप्यभिमतमेव, व्यङ्ग्यो-
पमास्थले पुनरतस्य तत्प्रे भवतो विरोधः, तत्र च व्यवहारिणो नानार्थरूपोपस्थाप्यता
हेतुत्वेनोपस्थाप्यते भवता, परमेतच्च समीचीनम्, गजरूपाप्रकृतधर्मिनिरूपिताया उपमाया
नृपरूपप्रकृतधर्मिणोपस्थाप्यत्वस्य, नृपरूपव्यवहारिण सार्वभौमस्वरूपनानार्थरूपोपस्थाप्यता-
मात्रेणापारणाय, अवहिते च तस्मिन् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वानामप्यसमाधत्ताप्रसङ्गो
दुर्वार एवेति ।

समासोक्ति और व्यङ्ग्य उपमा में परस्पर वैलक्षण्य दिखलाकर, प्रतियादी जो यह
सिद्ध करना चाहते हैं कि समासोक्ति स्थल में अप्रस्तुत अर्थ प्रस्तुत का उपकारक होने से
गौण हो जाता है, पर व्यङ्ग्य उपमा वाच्यार्थ की उपकारिका नहीं होती, अतः गौण भी
नहीं होती, उसका खण्डन करते हैं—मनु इत्यादि । 'अयमेन्द्रो' इत्यादि समासोक्ति
स्थल में व्यवहारी अर्थात् जिसमें अप्रस्तुत नायक का व्यवहार आरोपित होता है, वह—
चन्द्र अनेकार्थक शब्द से उपस्थित नहीं कराया गया है, अपितु एकार्थक 'चन्द्रमस्' शब्द
से ही और 'करतल' इत्यादि व्यङ्ग्योपमास्थल में व्यवहारी (प्राकरगिक) राजा,

अनेकार्थक सार्वभौम पद से उपस्थित कहाया गया है । तात्पर्य कहने का यह कि समा सोक्तिस्थल में विशेष्य वाचक शब्द अनेकार्थक नहीं रहता है और व्यङ्ग्योपमा-स्थल में विशेष्य-वाचक शब्द अनेकार्थक रहता है, इस तरह से दोनों स्थलों में स्पष्ट अन्तर वे रहने पर भी आप एक ही प्रकारका विचार क्यों करते हैं ? इस शका के उत्तर में ग्रन्थका का कथन है कि उक्त अन्तर के रहने में विवेच्य विषय में तो कोई अन्तर होता नहीं फिर उसके रहने या न रहने से क्या ? अर्थात्—व्यङ्ग्योपमा स्थल में व्यवहारी (प्राक रणिक राजा आदि) अनेकार्थक शब्द से बोधित हुआ रहता है, इससे अप्राकरणीय दिग्गज आदि की उपमा में जो प्राकरणीक रूप आदि अर्थ के प्रति उपकारभाव है; वह क्या रुद्ध हो जायगा ? कथमपि नहीं, उसको रोकनेवाला वह कौन होता है ? और जब उपमा की उपकारकता नहीं स्केमी, सब उसकी गौणता निश्चित है, तथा सप्तयुक्त गुणी मूलव्यङ्ग्यता भी उस पक्ष की अनिवार्य ही है ।

व्यङ्ग्योपमा येन गुणभूता न भवति, तादृश युक्त्यन्तरमुद्रान्य दण्डयति—

नचाग्रोपमावीनामलंकाराणां स्वभावतः सुन्दरत्वात्काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया च वस्तुमात्रे गुणभवा न संभवति, यथा वस्तुमात्रेणाभिव्यक्तानामलंकाराणाम् तुल्यन्यायत्वात् । अप्रकृतव्यवहारस्य तु समासोक्त्यवयवस्य निरलंकारितया वस्तुमुपस्कारकत्वं समासोक्ताविरुद्धमिति याच्यम्, एवमपि 'वाघेऽदृढेऽन्यसाम्यात्किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्' इति न्यायेनाप्युक्तेः शिथिलत्वात्, अपराङ्गताया वुरपहृतत्वात् ।

सुन्दरत्वादिस्वस्य वस्त्वपेक्षयेत्यादिर्बोध्य । स्वभावतः सुन्दरत्वापि शृंगारादेः कचिद् गौणतादर्शनादाह—काव्यप्रवृत्त्युद्देश्यतया चेति । अन्यथा नानार्थकपदकदम्बकरम्वित-पयानिर्मितिरूपविप्रयासवैफल्योपपत्तिरिति भावः । वस्तुमात्र इति । प्रवृत्तार्थ इत्यर्थः । यथा वस्तुमात्रेति । 'निश्चितशरधिधार्यत्यनदो, दृशि मुदृश स्वबलवयस्यराले । दिशि निपतति सा च यत्र तत्र व्यतिकरमेतत् समुन्मिषन्त्यवस्था ॥' इत्यादाविति भावः । तुल्येति । उक्त-हेतोस्तुल्यत्वादिति भावः । समासोक्त्यवयवस्येति । अवयव निरलंकारत्वे हेतुरिति भावः । उक्तयुक्तेरिति । दृष्टान्तप्रदर्शनरूपयुक्तेरित्यर्थः । वाच्या व्यङ्ग्या वा उपमाचलद्वारा स्वभावतो रमणीया अन्यथा तैयामलद्वारत्वमेव भवेत् । अपि च करतलेत्यादिविविधकाव्य-निर्माणे विप्रवृत्तेर्दृढदेश्यमपि व्यङ्ग्यचालद्वारप्रत्यायनमेव, अन्यथा तादृशार्थरूपदधदित-काव्यनिर्माणवैयर्थ्यम् । एवञ्च यथा निश्चितशरत्वादिप्रागुक्तपक्षे वस्तुमात्रव्यङ्ग्यविरोधालङ्कार-स्य वस्त्वपेक्षया न गुणत्वम्, तथाऽपि नोपमाया व्यङ्ग्याया गुणत्वम् । अत एव 'व्यङ्ग्यन्ते-वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा । ध्रुव ध्वन्यद्वता तामा काव्यप्रवृत्तेस्तदाभवात् ॥' इत्युक्त-व्यङ्ग्यनिवृत्ता प्रशङ्काकृता च समुद्रुतम् । नन्वेव समासोक्तौ कथमप्रकृतव्यवहारस्य गौणत्व-मद्रोक्ष्यते इति चेत्तत्राह—अप्रकृतव्यवहारस्य तु इत्यादि । तत्राप्रकृतव्यवहार समासोक्त्य-वयव इति नालङ्कारता तस्य, अलङ्कारस्यैव च स्वतः सुन्दरत्व मयाऽऽदिष्टम् । तथा च समासोक्तावप्रकृतव्यवहारस्य व्यङ्ग्यस्यापि प्रवृत्तोपकारत्वं तन्मूलक गुणत्वञ्च युक्तमिति शङ्कादलस्याजयः । शङ्कादलोक्तमलंकाराणां स्वभावसुन्दरत्वादिक सत्यम्, पर तु करतले-त्यादी तादृशेऽन्यकाव्ये वा अप्रवृत्तार्थनिरूपितोपमाया व्यङ्ग्यानामप्याया प्रवृत्तार्थोपकार-वयवयुक्तमभिधानं वाऽपलापनार्हम्, तर्हि तस्या व्यङ्ग्योपमाया अपराङ्गता तत्प्रयुक्तगुणता च केन वार्यते ? यथा वस्तुमात्राभिव्यक्त्यादिना प्रदर्शितो दृष्टान्तस्तु अविशिष्ट एव, तत्राप्युक्त-युक्त्या व्यङ्ग्यचालद्वाराणां गुणत्वमेव न ध्वन्यद्वतमिति मदभिप्रायात् । एतादर्थबोधक एव प्रवृत्ते

‘वाधेऽहं’ इति न्यायः । वाधे बाधकयुक्तौ, अहं अग्रवले खण्डनाहं इति यावत्, अन्य-
साम्यात् किम् ? बाधनीयार्थसमर्थनाय वादिना दृष्टान्तप्रदर्शनमनुचितमेव, खण्डनार्हबाधक-
युक्तेरेव सम्प्रयुक्तमुचितत्वात् । इदं प्रबलाया खण्डनानर्थायां बाधकयुक्तौ, पुनस्तथैव दृष्टान्त-
प्रदर्शनममगतम्, दृष्टतरबाधकयुक्त्या दृष्टान्तभूतार्थस्यापि बाधादिति न्यायार्थः ।

व्यङ्ग्य उपमा, जिससे गौण नहीं कहो जाय, ऐसे व्युत्पत्त्यन्तर की उद्भावना करके
उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि । वाच्य हो अथवा व्यङ्ग्य, अलंकार स्वभावतः
सुन्दर होते हैं, अन्यथा उन्हें अलंकार कहा ही नहीं जा सकता और ‘करतल’ इत्यादि
काव्य में कवि का मुख्य उद्देश्य भी व्यङ्ग्य अलंकार का बोध कराना ही रहता है, अन्यथा
अनेकार्थक पदों के द्वारा काव्य की रचना करना ही व्यर्थ हो जाय । ऐसी स्थिति में जैसे
‘निश्चितशरथिया’ इस संस्कृत टीका में उद्धृत पद्य आदि—जहाँ वस्तु से विरोधा-
भास आदि अलंकार व्यङ्ग्य होते हैं—में व्यङ्ग्य अलंकार, वाच्य वस्तु की अपेक्षा गौण
नहीं होता—प्रधान ही रहता है, वैसे यहाँ (‘करतल’ इत्यादि में) भी व्यङ्ग्य उपमा,
वाच्य प्रस्तुत अर्थ की अपेक्षा गौण नहीं होगी—प्रधान ही मानी जायगी । अतएव अनि-
कार ने भी कहा है—‘वस्तुमात्र से जब अलंकार अभिव्यक्त किये जाते हैं, तब वे निश्चित
रूप से ध्वनि के अग्र होते हैं अर्थात् ध्वनि नामक उत्तम काव्य-व्यवहार के कारण होते
हैं ।’ (मूल पङ्क्ति सस्कृत टीका में देखिये) रही बात समासोक्ति की तो वहाँ व्यङ्ग्य
अप्रस्तुत व्यवहार समासोक्ति का अग्रभूत रहता है, अर्थात् व्यङ्ग्य अप्रस्तुत व्यवहार और
वाच्य प्रस्तुत व्यवहार के मिश्रित रूप का ही नाम समासोक्ति अलंकार होता है, अतः
अप्रस्तुत व्यवहार स्वतः कोई अलंकाररूप नहीं रहता और स्वभावतः सुन्दर होने की
बात कही गई है अलंकार के लिये, अतः वह बात यहाँ सखटि नहीं होगी, फिर वहाँ
(समासोक्ति में) उसका (अप्रस्तुत व्यवहार का) प्रस्तुत प्रति उपकारक होना तथा
तत्प्राप्त तदपेक्षया गौण होना समुचित ही है । परन्तु ग्रन्थकार का कथन है कि उक्त
युक्ति भी आप की ठीक नहीं है, क्योंकि एक न्याय है—‘वाधेऽहं’ इत्यादि, अर्थात्
किसी सिद्धान्त की बाधक युक्ति, यदि अहं हो-शिथिल हो (प्रबल नहीं हो), तब
दुसरे की समानता से-केवल दृष्टान्त से-क्या हो सकता है ? अभिप्राय यह कि शिथिल
युक्ति का खण्डन करना ही उचित है, बाधनीय सिद्धान्त के मुख्य दृष्टान्त का प्रदर्शन
नहीं और यदि बाधक युक्ति प्रबल है, आप से खण्डन करने योग्य नहीं है, तब
भी दृष्टान्त-प्रदर्शन व्यर्थ है, क्योंकि उस स्थिति में वह प्रबल बाधक युक्ति उस दृष्टान्त
भूत अर्थ की भी बाधित कर देगी । कहने का सारांश यह कि ‘जिस तरह वस्तुमात्र से
अभिव्यक्त होने वाले अलंकार वस्तु की अपेक्षा गौण नहीं होते, उसी तरह यहाँ भी व्यङ्ग्य
उपमा अलंकार राजा के वर्णन की अपेक्षा गौण नहीं हो सकता’ यह आप का कथन ठीक
नहीं है, क्योंकि मैंने जिम्मा बाधक युक्ति को उपस्थित किया, उसका खण्डन आपने
किया नहीं—आप यह नहीं समझ सके कि उपकारक होने पर भी अलंकारों को उपस्कार्य
की अपेक्षा गौण क्यों नहीं माना जाय ? अतः यह सिद्ध होता है कि मेरी बाधक युक्ति
प्रबल है । यदि ऐसा है, तब दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों उससे बाधित हो जायेंगे—
अर्थात् वस्तुमात्र से व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानतावाच्य सिद्धान्त भी खण्डित हो जायगा,
इस प्रकार से आप की युक्ति शिथिल है, अतः ‘करतल’ इत्यादि पद्य में व्यङ्ग्य होने
वाली उपमा अवश्य अपराध व्यङ्ग्य ही सिद्ध होगी ।

करतलेत्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसाधिकाया युक्तेरपराधताया असिद्धिमापाद्य निरस्यति—

अथोच्येत—उपमानमुपमेयं साधारणो धर्म इति रूपमाशरीरघटकम्, न
तु ततः पृथग्भूतम्, तैर्विना तस्या अनिष्पत्तेः । इत्थं चोपमेयस्य सादर्याशेनो-
पस्कारोऽप्युपमाया नापराधत्वम्, उपमेयस्यापस्तत्वाभावात् । यथा समासोक्ता-

यप्रकृतव्यवहारेण प्रकृतस्योपस्कारेऽपि न समासोत्तेरपराङ्गत्वम्, प्रकृतप्रकृत-
घटितत्वात्, एवमिहापि स्यादिति । तथापि समासोत्तेरिवास्यापि प्रभेदस्य गुणी-
भूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः, अस्यैव वा समासोत्तेरपि ध्वनिव्यपदेश्यत्वापत्तेः ।

उपमाशरीरपट्टकमिति । उपमाशरीरसम्पादकमामयपन्तर्गतमित्यर्थः । तत उपमात ।
तौ उपमानोपमेयसाधारणधर्मौ । तस्या उपमाया । इत्यत्रेति । उपमानोपमेयसाधारण-
धर्माणा मिलितानामेवोपमापदार्थत्वे चेत्यर्थः । उपस्यारे इति । परिवारे इत्यर्थः । पोरतो
इति यावत् । अपरत्वाभावादिति । उपमापदार्थभिन्नपदार्थविरहादित्यर्थः । गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वापत्तेरिति । विशिष्टस्योपमाशरीरत्वेऽपि उपमेयाशस्य राजादेर्न व्यङ्ग्यत्वम्,
राजत्वेन तद्भावात् । एवोपमाशरीरपट्टकव्यङ्ग्यशस्य दिग्भावेऽप्युपमाशरीर-
घटकवाच्याशस्योपमेयस्यापेक्षयाऽऽधिकचमन्कारित्वविरहेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य दुर्वारत्वा-
दिति भावः । अस्यैव उपमाप्रभेदस्येव । प्रकृत वाच्यम् अप्रकृत व्यङ्ग्यमिन्द्रियमविषयमङ्ग-
मादाय समासोक्तिः सम्पद्यते । तत्र व्यङ्ग्यमप्रकृतम् वाच्यस्य प्रकृतस्य यद्यप्युपस्कारक-
नियमतरितादिति, तथापि यथा समासोक्तिरपराङ्गमिति न व्यपदिश्यते, अपरपदेन विव-
क्षितस्य प्रकृतस्य समासोक्तिशरीरान्तर्गततया वस्तुतोऽपरत्वाभावात्, तथैव करतलेत्यादौ
दिग्भावादिरूप व्यङ्ग्यमुपमानम्, राजादिरूप वाच्यमुपमेयम्, करतलेत्यादिसमानविरोध-
विशिष्टत्वरूप साधारणधर्म च त्रिविधमङ्गमादायोपमा सम्पद्यते । तत्र साधारणधर्मोक्तौ
(सादृश्याद्येन) वाच्यस्य राजादेरुपमेयस्योपरकारेऽपि नोपमाया अपराङ्गत्वम् अपरत्वे-
नामिततस्योपमेयस्योपमाशरीरपट्टकतया वस्तुतोऽपरत्वाभावादिति शक्यादलाराय । एव-
मपराङ्गत्वासिद्धावपि समासोक्तिसाम्यनिश्चये तत्रैवात्रापि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमुचितम्, समासो-
क्तिस्थलीयव्यङ्ग्यस्य वाच्यानतिशयित्ववत् प्रकृतोपमास्यसौम्यव्यङ्ग्यस्यपि वाच्यानतिशयादि-
त्वात् । भवदुक्तरास्या प्रकृतोपमाया इव समासोक्तेरपि ध्वनित्यवहारविषयत्व वा समुचित-
मिति च समाधानदत्ताशयो बोध्यः । 'अलकाराणामुरीषन्विधया रसाद्युपभोगित्वेनालम्बना-
पेक्षयोर्दोषनेऽधिकचमन्कारित्वस्य सर्वानुभवसिद्धतया करतलेतिपदवाच्यालम्बनविभावापेक्षया-
तिशयिवाचिवाद्भन्विम्व्याहृतमेव । रसाद्यपेक्षया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्विध्यमेव । समासोक्ती तु
'आगत्य सन्प्रति वियोगवर्तिपुलाद्रोम्' इति सखीशिक्षावाक्येऽप्रकृतनायकवृत्तान्ताप्यारोपं
विना तदनुपपत्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व स्पष्टमेव । अत्र तु तस्यापि रसाद्युपकारकतया वाच्या-
दतिशयित्वम्, प्रागुक्तरीत्या तत्रास्तु नाम ध्वनिव तस्या । न चैवमप्युमाकृतोत्कर्षमादा-
यास्तु ध्वनिवम्, अलकाराण्यनिरिति तु कथमिति वाच्यम्, 'अलकारकृतोत्कर्षध्वनावेवा-
ल्लारण्यनिरिति व्यवहारात्' इति नवगेशोऽयं रुचिरमालोचयदित्युक्तमन्त्यम् ।

अथ 'करतल' - 'इत्यादि पद को गुणीभूतव्यङ्ग्य सिद्ध करने में जो त्वरय उपमा की
अपराङ्गत्वरूप गुणि दी जाती है, उसकी प्रमिति की वास्तव्य करके स्पष्टन करते हैं—
अथ इत्यादि । प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत ध्वन्य इन दोनों अर्थों को लेकर समासोक्ति
अलकार सम्पन्न होता है । उसमें अप्रस्तुत ध्वन्य यद्यपि निबन्धन वाच्य प्रस्तुत का पोषक
रहता है, तथापि समासोक्ति अपरांग नहीं मानी जाती है । क्योंकि अपराङ्ग शब्दगत
अपर पद से विविक्षित प्रस्तुत, समासोक्ति-शरीर प्रविष्ट होने के कारण वस्तुतः अपर-
ध्वन्य-नहीं होता । उसी तरह 'करतल' - 'इत्यादि पद में दिग्भाज आदि ध्याय उपमान,
राजादिरूप वाच्य उपमेय और 'करतल' इत्यादि समानविरोध—विशिष्टत्वरूप साधा-
रण धर्म इन तीनों अर्थों को लेकर उपमा अलंकार सम्पन्न होता है, उसमें सादृश्य (साधा-
रण धर्म) अलंकार से वाच्य राजारूप उपमेय के पोषण होने पर भी 'उपमा अपराङ्ग नहीं

कहला सकती। क्योंकि अपर रूप में आपका अभिमत-उपमेय उपमाशरीरघटक होने के कारण वस्तुतः अपर नहीं होगा। ऐसा यदि आप कहें, तो वह भी आपके मनोरथ को सिद्ध करने वाला नहीं हो सकता। क्योंकि इस तरह समासोक्ति की समता सिद्ध करने पर यह कहा जा सकता है कि जैसे समासोक्तिवाला स्थल गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है, वैसे यह व्यंग्य उपमावाला (करतल "इत्यादि) स्थल भी गुणीभूतव्यंग्य ही कहलायगा। अथवा आपके अनुसार जैसे यह व्यंग्य उपमावाला स्थल ध्वनि कहलाता है, वैसे समासोक्तिवाला स्थल भी ध्वनि ही कहलायगा—अर्थात् दोनों स्थलों की स्थिति जत्र एक सी है, तब एक को ध्वनि और दूसरे को गुणीभूतव्यंग्य कहना उचित नहीं प्रतीत होता है। पण्डितप्रकाण्ड नायक का यहाँ कुछ भिन्न ही विचार है और वह बहुत ही हृदयप्राही है, अतः उसका उच्चेय किया जाता है। उनका कहना है कि अलंकार उद्दीपनरूप से इस आदि के उपकारक होते हैं और आलम्बन की अपेक्षा उद्दीपन में अधिक चमत्कार का होना सर्वानुभवसिद्ध है। अतः 'करतल ' इत्यादि पद में वाच्य आलम्बन विभाव की अपेक्षा अधिक चमत्कारी, उद्दीपन, व्यंग्य उपमा अलंकार को लेकर ध्वनि का व्यवहार समुचित ही है। रस आदि की अपेक्षा गुणीभूतव्यंग्यता तो हृद्य ही है। समासोक्ति में तो अपस्तुत के व्यवहार का आरोप जब तक प्रस्तुत में नहीं किया जाता है तब तक वाक्यार्थ ही नहीं बन सकता है, अतः वहाँ व्यंग्य प्रस्तुत व्यवहार का गुणीभूत हो जाना और तत्प्रयुक्त गुणीभूत-व्यंग्य नामक मध्यम काव्य का व्यवहार होना अभंगत नहीं है। यदि कहीं रसादि के उपकारक होने से समासोक्ति स्थल का व्यंग्य भी वाक्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी रहेगा, तो वहाँ भी उसकी ध्वनि नामा जा सकता है। यदि आप कहें कि इस तरह से उपमाकृत उत्कर्ष को लेकर 'करतल ' इत्यादि पद को ध्वनि कहते हैं, तो कहिये, परन्तु अलंकार ध्वनि का व्यवहार वहाँ कैसे करते हैं? क्योंकि उपमा (उक्त दोनों अंगों से युक्त) व्यंग्य नहीं है—वाच्य है। तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ अलंकार से ध्वनि में उत्कर्ष सिद्ध हुआ रहना है, वहाँ अलंकार ध्वनि का व्यवहार होता है।

'उल्लास्य', 'भद्रात्मनो', 'करतल' इत्येतेषु उपमालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वं न, अपि तु रूपकालङ्कारस्वैवैवम्—

अन्यच्च—श्लेषे हि श्लेषभित्तिकमभेदाध्यवसानं द्वयोरर्थयोरिति सकलालंकारिकनिबद्धम्, अनुभवसिद्धञ्च। तत्र मूलान्वेषणे विधीयमाने एकपदोपात्तत्वात् शक्यते मूलमन्येभिर्वक्तुम्। एकपदोपात्तो ह्यनेकोऽप्यर्थोऽभिन्नतयैव भासते। इत्थञ्च—'उल्लास्य कालकरवाल'—इत्यादावप्येकपदोपात्ततया द्वयोरर्थयोरभेदाध्यवसानस्य युक्तत्वेनाभेदस्यैव व्यङ्ग्यत्वमुचितम्, नोपमायाः।

अन्यच्चेति। किं चेत्पर्यं। श्लेषभित्तिकमिति। श्लेषमूलकमित्यर्थः। विधीयमाने इति। क्रियमाणे इत्यर्थः। एकपदोपात्तत्वादिति पदमन्यन्तस्य अन्यदित्यन्तान्वयः। एकपदोपात्त इति। एकपदबोधित इत्यर्थः। 'हि' इति यत् इति हेत्वर्थकः। उल्लास्य" इत्यादानिति। भद्रात्मनो' करतलित्यादिपद्यमात्रादिपदब्रह्मम्। अभेदस्येवेति। तन्मूलकरूपकालङ्कारस्येति भावः। 'विद्वन्मानमहम्' इत्यादी रितृष्टमानसपदाहुपस्थितयोधित्तरारौरूपयोरर्थयोरभेदारोपः सर्वानुभवसिद्धः, गत्तैरालङ्कारिकैर्निबद्धः। तत्र तयोस्त्यन्तविमर्शयोरर्थयोरभेदारोपे किं मूलमिति विज्ञासाया मानस्येकपदबोधितत्वमेव मूल विज्ञातं भवति, नान्यत्। समुचितश्चेत्तर, यत् 'एकपदोपात्तोऽनेकोऽप्यर्थः अभिन्नतयैव भासते' इति सिद्धान्तः। एवञ्च 'उल्लास्य', 'भद्रात्मनो', करतलेत्येतेषु, एवविषेयव्यङ्ग्येषु च पदेषु प्रकृताप्रकृतयोर्व्यङ्ग्यद्वयोरैकपदबोधिततया अभेदारोपो युक्ततया च तन्मूलकरूपकालङ्कारस्य व्यङ्ग्यता

समर्थयितुमुचिता नोपमालङ्कारस्य । रूपकालङ्कार एवेत्येषु स्थलेषु व्यङ्ग्यो नोपमालङ्कार इति भावः ।

‘उल्लास्य ...’, ‘मद्गात्रमनो ...’, और ‘करुण ...’ इत्यादि पदों में ‘रूपक’ अलङ्कार ही व्यङ्ग्य होता है, ‘उपमा’ अलङ्कार नहीं, इस स्व-सिद्धान्त का अब प्रतिपादन करते हैं—अन्यथा इत्यादि । अभिप्राय यह है कि ‘विद्वन्मानसहस्र ...’ इत्यादि श्लेष-काव्य-स्थल में स्निग्ध मानसपद से बोधित चित्र और सरोवर रूप अर्थ द्वय में अमेद का आरोप होता है, यह बात सर्वों के अनुभव से सिद्ध है, तथा सभी अलङ्कारिक विद्वानों को मान्य भी है । यहाँ जब यह विचार करते हैं कि अत्यन्त भिन्न प्रकार के उन दोनों अर्थों में अमेद का आरोप क्यों होता है—उसका मूल क्या है ? तब मानस रूप एक पद से बोधित होने के अतिरिक्त कोई मूल नहीं मिलता है अर्थात् एक पद से उपस्थित होने के कारण ही सर्वथा भिन्न होने पर भी वे दोनों अर्थ एक जैसे (अभिन्न जैसे) प्रतीत होते हैं । यह अभिन्न जैसा प्रतीत होना अनुचित है । कारण, ‘एक पद से उपस्थापित अनेक अर्थ भी एक जैसे ही भासित होते हैं’ यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है । इस स्थिति में ‘उल्लास ...’, ‘मद्गात्रमनो ...’, और ‘करुण ...’ इत्यादि पदों में तथा इसी तरह के अन्य पदों में भी जब प्रस्तुत वाच्य और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य अर्थों की उपस्थिति एक ही पदों से होती है, तब उन अर्थों में अमेद का आरोप अनुचित है, तथा अमेद-आरोप भूङ्कत रूपक अलङ्कार का व्यवहृत होना ही भागने योग्य है । उन सब पदों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों में उपमानोपमेय भाव को अवगमनना असंभव है । तात्पर्य यह हुआ कि ये पद्य रूपकालङ्कार-स्थिति के उदाहरण कहे जा सकते हैं, उपमा अलङ्कार स्थिति के नहीं ।

‘उल्लास्य ...’ इत्यादिपु अमेदाध्यवसाननिरसनसमीहया श्लेषस्थलाद् वैलक्षण्य प्राचा-समिमतमुपपाद्य तस्याभिव्यक्तिरतामाह—

श्लेषे द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वम् एककालत्वं च । इह त्वेकस्य वाच्यत्वम् , अप-रस्य व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं चेति । एतावन्मात्रेणैवैकपदोपात्तत्वं प्रयुक्तमभे-दाध्यवसानं न शक्य त्यक्तुम् , व्यङ्ग्य-वताया भिन्नकालत्वस्य चाभेदप्रतिपात्ताव-धापकत्वात् ।

इह तु ‘उल्लास्य’-इत्यादी । इति पूर्वग्रन्थसमाप्तिः । प्रतिपत्तौ ज्ञाने । यत्र द्वयर्थक-पदयुक्तिकाव्यस्थले प्रकरणादयोऽभिधानियामका न तिष्ठन्ति, अत एव द्वयर्थकौ वाच्यद्वयैव प्रतीते, तत्रैव श्लेषः । एवम् श्लेषस्थले द्वयोरर्थयोर्वाच्यत्वं समकालीनज्ञानविषयत्वं च निश्चितम् । ‘उल्लास्य’-इत्यादी तु अभिधानियामकस्य प्रकरणस्य सत्त्वेन राजरूपार्थेऽभिधायानिरसनान् प्रकृतार्थस्यैव वाच्यत्वम्, अप्रकृतस्येन्द्रादिस्वार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमेव । अत एव तयो-र्भिन्नकालज्ञानविषयत्वमपि निर्णीतम् , तथा च कथं श्लेषस्थलदृष्टान्तेनात्र प्रकृताप्रकृतयोर-भेदाध्यवसानमनित्याक्षेपः । प्रकृताप्रकृतयोरभेदज्ञाने एककालीनत्वं वाच्यत्वं वा न निवा-मकम् , न वा व्यङ्ग्यत्वं भिन्नकालत्वं वा प्रतिबन्धकम् इति श्लेषस्थलान् तादृशवैलक्षण्यं वर्तमानमपि न किञ्चिद्भ्रमम् , एकपदबोधितत्वप्रयुक्तमभेदाध्यवसानमपि भवेदेवेति च समाधानम् ।

श्लेष स्थल से व्यङ्ग्योपमा-स्थल में वैलक्षण्य दिसलाका उसकी अभिव्यक्तिरता का वर्णन करते हैं—श्लेषे इत्यादि । अनेकार्थक पदों से निर्मित जिस काव्य के स्थल में अभिधा को निपन्त्रित काने वाले प्रकरणादि नहीं रहते हैं, अत एव दो अर्थ वाच्य वृत्ति (अभिधा) से ही प्रतीत होते हैं, यहाँ श्लेष होता है । इस स्थिति में पद निश्चित है

कि श्लेष-काव्य-स्थल में दोनों अर्थ वाच्य रहेंगे और एक काल में प्रतीयमान । और 'उल्लास्य'..... इत्यादि स्थल—जहाँ अभिधा को नियन्त्रित करने वाला प्रकरण ज्ञान होता रहता है—में प्रकरण ज्ञान से अभिधा के नियमन हो जाने के कारण, राजारूप प्राकरणिक अर्थ ही वाच्य होता है, और अप्राकरणिक इन्द्रादिरूपकार्य होता है व्यंग्य अतएव उन दोनों अर्थों का भिन्न-काल में ज्ञात होना भी निश्चित है । अब सोचिये कि श्लेषस्थल के दृष्टान्त से व्यंग्योपमा-स्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में अभेदारोप का स्वीकार करना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् नहीं उचित है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्शनिक में नितान्त भिन्नता है । पर पूर्वपक्षियों का यह तर्क भी शिथिल ही है, क्योंकि दो पक्षों को अभिन्न समझने में उन दोनों का वाच्य ही होना अथवा एककालिक होना, कोई नियामक नहीं है, और न है एक का व्यंग्य होना किंवा भिन्न-कालिक होना प्रतिबन्धक, अर्थात् एक के वाच्य और दूसरे के व्यंग्य होने पर भी तथा भिन्नकालिक होने पर भी एकसन्दर्भोप्य अर्थ-द्वय में अभेदारोप हो सकता है ।

काव्यप्रकाशटीकाकारोक्तं सण्डयति—

एतेन—'रूपकस्थोपमाज्ञानाधीनज्ञानत्वेन प्रथमोपस्थिततया तस्या एव संबन्धत्वं कल्प्यम्' इति काव्यप्रकाशटीकाकारैरुक्तं नातीव श्रद्धेयमिति ।

एतेनेति । पूर्वोक्तयुक्तयेति भावः । उल्लास्येत्यादौ प्रकृताप्रकृतयोरर्थयोः प्रतीतिर्भवतीति सर्वगम्मतम् । तत्रासंबन्धस्याप्रकृतार्थस्य ज्ञान किमर्थमिति प्रश्ने तयोरर्थयोः संबन्धः कल्प्यः । स च अभेदाध्यवमानमूलकहपकात्मक सादर्यमात्रमूलकोपमात्मको वेति सन्देहे केचन प्रकाशान्याख्यातारः 'उपमाया एव संबन्धव्यञ्जयन युक्तम्, सादर्यमात्रमूलिकायास्तस्याः प्रथमोपस्थितत्वात् । रूपकस्य ज्ञान तु उपमाज्ञानाधीनम्, सादर्यप्रतीत्यनन्तरमेव तन्मूलकाभेदाध्यवमानरूपरूपकज्ञानसंभवात्' इति व्याचक्षते, तन्न युक्तम्, प्रागुपस्थितरीत्या एकशब्दोपात्तत्त्वप्रयुक्तमाभेदाध्यवमानस्य सादर्यज्ञानमन्तरापि संभवेन रूपकस्यैव प्रथमोपस्थितत्वादिति भावः ।

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों की उक्ति का खण्डन करते हैं—एतेन इत्यादि । 'उल्लास्य'..... इत्यादि पक्षों में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों तरह के अर्थों की प्रतीति किमी न किमी तरह होती है, यह सर्वसम्मत है । वहाँ अप्राकरणिक अतएव असंबन्ध अर्थों की प्रतीति क्यों सार्नी जाय ? इस शका के समाधान के लिये उन दोनों अर्थों में परस्पर किमी तरह के संबन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी । वह संबन्ध अभेदारोपमूलक रूपक ही अथवा सादर्य-मात्र-मूलक उपमा ही, इस विकल्प में, काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने कहा कि उपमा को सम्बन्ध मानना उचित होगा, क्योंकि उसकी सिद्धि में केवल सादर्यज्ञान की अपेक्षा होती है, अतः उसकी उपस्थिति पहले होगी, रूपक का ज्ञान तो उपमा-ज्ञान के अधीन है, क्योंकि सादर्य-प्रतीति के बाद ही तन्मूलक अभेदारोप-रूप रूपक का ज्ञान होना सम्भव है, अतः उसकी उपस्थिति पश्चात् होगी । परन्तु टीकाकारों का उक्त कथन असंगत है । क्योंकि पूर्वोक्त रीति से सादर्य-ज्ञान के बिना भी एक शब्दोपात्तत्त्व-रूप युक्ति से प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में अभेदारोप संभव है, अतः रूपक ही पहले उपस्थित होगा । सारांश यह कि रूपक को ही सम्बन्ध रूप में मानना समुचित है ।

विच्छिन्नप्रायं प्रसङ्गं पुनर्वतारयति—

प्रकृतमनुसरामः ।

अन्युदाहरणप्रदर्शनात्मकं प्रकृतमनुसरेणैवापि विचारं प्रवर्तयाम इत्यर्थः ।

विच्छिन्नप्रायं प्रसङ्ग की पुनः अवतारणा करते हैं—प्रकृत इत्यादि । अब पुनः प्रकृत प्रसङ्ग पर हम आते हैं ।

अलङ्कारान्तरस्यापि शब्दशक्त्युद्भवसलङ्घ्यकमध्वनित्वं प्रतिजानीते—

एवमलङ्कारान्तरमपि शब्द शक्तिमूलानुरणनस्य विषयः ।

उपमावतिरिक्ता अपि अलङ्कार मलङ्घ्यजननामकाशब्दशक्त्युद्भवध्वनेर्लङ्घ्यभाव जन्ते इत्यर्थः ।

इसी तरह अन्य अलङ्कार भी शब्द-शक्ति-मूलक सलङ्घ्यकमध्वनि में लङ्घ्य हो सकते हैं ।

विरोधाभासालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—‘रविकुलप्रीतिमावहन्ती नरविकुलप्रीतिमावहति । अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा ।’

एवे सूर्यस्य, कुले चरो प्रीतिं प्रेषाणमावहन्ती भजयानां, नराणां मनुष्याणां, बीनां पद्मिणा च कुले समूहे प्रीतिं भजते । यमुनेति प्रवान्त कर्तृपद बोध्यम् । अवारित अप्रतिबद्ध, प्रवाहो यस्याः सा, शोभन चार्जल, तत्सन्नात यस्यांति सुवारितम्, तादृश प्रवाहो यस्या सा इति पारमार्थिको विवक्षितोऽर्थः ।

अब ‘विरोधाभास’-अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण दित्तया जाता है—यथा इत्यादि । ‘रविकुल ...’ इत्यादि मूलोद्धित गद्यांश ‘यमुनावर्णन’ के प्रसङ्ग में लिखा गया है, जिसका वास्तविक अर्थ यह है कि ‘सूर्यनन्दिनी-यमुना’ सूर्य कुल में प्रेम रखती हुई मनुष्यों और पद्मियों के समुदाय में प्रेम रखती है, और अप्रतिबद्ध-धारावाही तथा सुस्वाहु सलील से युक्त प्रवाहवाही है ।

उपमावतिरिति—

इह नराणां बीनां च कुलस्य प्रीतिमावहतीति प्रकृतेऽर्थे सिद्धे रविकुलप्रीति नावहतीति द्वितीयोऽप्रकृतोऽर्थः विरोधश्च । एवमन्यत्रापि ।

विरोधेति । अलङ्कारो ध्वन्यते इति शेषः अन्यत्रापीति । ‘अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा’ इत्यनेत्यर्थः । अभिधावृत्त्या पूर्वोद्धितप्रकृतार्थबोधानन्तरम्, अभिधा-मूलम्यजनया ‘न रविकुलप्रीतिमावहति’, ‘सुवारितप्रवारा’ इत्येताभ्यां विरोधभागाभ्यां क्रमशः ‘सूर्यकुलप्रीतिं नावहति’, ‘साधुप्रतिबद्धप्रवाहा’ इति प्रथमविरोधपक्षार्थविरुद्धोऽप्रकृतोऽर्थः प्रतीयत इति भवतीति विरोधाभासालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

उक्त गद्यांश में प्रकृतोपयोगी वक्तव्यों का उपपादव करते हैं—इह इत्यादि । उक्त गद्यांश में अभिधावृत्ति से जब पूर्वोक्त प्रस्तुत अर्थ का बोध हो जाता है, तब शब्दशक्ति-मूल म्यजनना से, ‘न रविकुलप्रीतिमावहन्ती’ और ‘सुवारितप्रवाहा’ ये दोनों विरोध, अपने पूर्वोक्त अर्थ से भिन्न और ‘रविकुलप्रीतिमावहन्ती’ तथा ‘अवारितप्रवाहा’ इन दोनों विरोधों के उक्त अर्थ के विरुद्ध अर्थों (सूर्यकुल में प्रेम नहीं रखती तथा सुन्दर दृग् से अवस्द धारावाही) को अभिव्यक्त करते हैं । उन विरुद्ध अर्थों में विरोध अलङ्कार भी अभिव्यक्त होता है । इस तरह यह गद्यांश, विरोधाभासालङ्कार-ध्वनि का उदाहरण सम्पन्न होता है ।

अपिपदाभाव एव विरोधाभासस्य म्यङ्गयत्वम्, तत्पदसत्त्वे तु तस्य वाच्यत्वमेवेत्याह—

यदि तु रविकुलप्रीतिमावहन्त्यपि न रविकुलप्रीतिमावहति । अवारितप्रवाहापि सुवारितप्रवाहा इत्यपिरन्तर्भान्यते तदा विरोधाभासस्यापिनोक्तत्वाद्द्वितीयार्थस्य च तदाक्षिप्तत्वान् ध्वनित्वम् ।

अपिपदं विरोधवाचकमिति नवे रविउत्पत्त्यादियमुनावर्णनपरे गद्ये मूलोक्तरीत्याऽऽपि-

पदप्रत्यये विरोधो वाच्यः । स च विरोधः पूर्वोक्तमप्रकृतं विरुद्धार्थं विनाऽऽनुपपन्न इति तेन विरोधेन ॥ अप्रकृतोऽर्थः आक्षिप्यते । एवम् विरोधो विरोधाकारभूतोऽप्रकृतोऽर्थ-
व्यङ्ग्यो न भवितुमर्हति, अनन्यलभ्यस्यैवार्थस्य व्यञ्जनाबोध्यत्वमिति सिद्धान्तात् । तयात्वे
च नेद ध्वनिवेषय इति साराशः ।

उक्त नाक्य-कदम्ब के मध्य में यदि दो जगह दो 'अपि' पद रख दिये जायें, तब यह गद्यांश ध्वनिकाव्य नहीं कहला सकता है, क्यों ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—यदि तु ह्यादि । जैसे हर एक अर्थ का अपना अपना वाचक सम्बद्ध होता है उसी तरह 'विरोध' रूप अर्थ का वाचक है 'अपि' । और जब साक्षात् 'अपि' से विरोध उक्त होगा (अभिधाकृति से ज्ञात हो जायगा) तब जिन दो अर्थों का यह 'विरोध' वाच्य हुआ रहेगा, वे विरुद्ध दोनों अर्थ, 'आवेष्ट' द्वारा ही समझ में आ जायेंगे, फिर तो व्यञ्जना से किसी अर्थ ज्ञान नहीं हुआ ही नहीं, यह मध्यध्वनि कहलावे तो कैसे ?

ननु 'निपाता द्योतका न तु वाचका' इति नवे तन्नाशिव्याख्ये विरोधस्य आदिपदवाच्यता-
विरहेण पूर्वोक्तमतसंगतम्, नैत्याह—

निपातानां द्योतकतानयेऽपि स्फुटद्योतितस्य वदाक्षिप्तस्य च वाच्यकल्पत्वात्
तथात्वम् ।

तथात्वम् ध्वनित्वम् । निपाताद्योतका इति सिद्धान्ते स्वीकृतेऽपि निपातेनापि विरोध-
स्तया स्फुटं द्योत्यते, यथा सविरोधो वाच्यायमान एव सपद्यते, विरोधाक्षिप्तोऽप्रकृतार्थोऽपि
वाच्यायमान एवेति न तत्प्रतीतिर्ध्वनित्वपदेराहेतुः गूढव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनित्वपदेशहेतु-
त्वात् । अत एव 'अगूढपरस्याह'मिन्यादिना अगूढव्यङ्ग्यस्य गुणभूतव्यङ्ग्यधनानकमध्व-
नकाव्यत्वप्रयोजकत्वमन्यत्रोक्तं संगच्छत इति भावः ।

यदि कहें कि 'निपात' तो सभी द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं । 'अपि' भी एक निपात ही है, अतः उससे 'विरोध' द्योत हो सकता है, वाच्य नहीं, फिर तो आप की उक्त क्या असंगत है ? नहीं, क्यों ? इसका कारण कहते हैं—निपातना इत्यादि । द्योतकों की भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है । कुछ द्योतक ऐसे होते हैं, जो अपने अर्थों को निरन्तर स्पष्ट रूप में द्योतित करते हैं, अतः वे अर्थ-वाच्य से हो जाते हैं । और कुछ द्योतक ऐसे होते हैं, जो अपने अर्थों को कुछ गूढ़ रूप में द्योतित करते हैं, अतः वे अर्थ वाच्य जैसे स्पष्ट नहीं होते, कुछ द्विपे से रहते हैं । इस द्वितीय कोटि के गूढ़द्योतक अर्थ स्पष्ट कहे जा सकते हैं, पूर्वकोटि के वाच्यायमान द्योतक नहीं । 'अपि' द्योतक होकर भी प्रथम कोटि का ही द्योतक हो सकता है, अतः उससे होनेवाला स्फुट द्योतक, 'विरोध' वाच्यायमान हो जाने से व्यङ्ग्य पद को नहीं पा सकता फिर वह किसी काव्यको 'ध्वनि' पद देने में भी समर्थ नहीं हो सकता ।

प्राचीनोदाहरणे शङ्कते—

ननु 'मृणालवलयमिदिवदहनराशिः' इत्यत्र विरोधाभासस्य कथं वाच्या-
लंकारत्वम्, विरोधांशस्य शब्दवाच्यताविरहेण व्यङ्ग्यव्यञ्जनाया एवाभ्युपगन्तव्यत्वात् ।

'अभिनवनलिनोऽसि सख्यमृणालवलयमिदिवदहनराशिः ।

सुमग । कुण्डलशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपथिपाते ॥'

इति गम्भीरं नाव्यप्रकाशोक्तं पद्य कान्चिद्दृष्टी नायकं वक्ति—हे सुमग ! (सुमगत्वश्चात्र नायिकानुरागातिशयपात्रत्वमूलक बोध्यम्) विधिवशतः दैनयोगात्, त्वद्वियोगरूपस्य, पदे-
र्वाञ्जस्य (वियोगे प्राणहरणसामर्थ्यात्प्राप्त्यात् नञाभेदारोप-), पाते सति, अस्या भर्गनीय-
नायिकायाः, कुण्डलशोः मृगनयनायाः (कृते इति शेषः) अभिनवाः नवीनः, नखिन्याः

कमलिन्या, किसल्या देलानि, शृणालनिमित्तकृष्णादि च दवदहनस्य वनाग्ने, राशि समूह भवतीति शेषः अत्र नलिनीत्वादिजातीनां दहनत्वजात्या विरोधस्य विरोधीपक्षतया दहननोपचारेण परिहारात्तदामासालङ्कारः । इदं पद्य वाच्यविरोधाभासालङ्कारोदाहरणतया काव्यप्रकाशकृता लिखितम् । तत्र शक्ये-ननु इत्यादि । अयं भावः—अत्रापिशब्दो विरोधो पस्यापको नारित, अतो विरोधाधीन्युक्तयोर्नलनोत्वदवदहनत्वयोर्वाच्यत्वेऽपि विरोधाशस्य व्यङ्ग्यत्वमेव रसोक्तव्य भवेत्, तथा च कथमिह वाच्यविरोधाभासोऽलङ्कार इति ।

विरोध के प्रसङ्ग में प्राचीनों के द्वारा उद्धृत एक उदाहरण में कुछ शंका उपस्थित करते हैं—ननु इत्यादि । 'शृणालवल्यादि' इत्यादि वाक्याश, जिस पद्य का है, वह सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । नायिका के पक्ष की एक दूती, नायक से कहती है—हे सुभग ! (जो कभी सुधि न ले, पर नायिका उसके विरह में मरने पर उद्यत होवे, उसको भाग्यशाली क्यों नहीं कहा जाय ?) (यद्यपि जानबूझकर अपनी हृष्टता से, तुम विमुक्त नहीं हुए थे, तथापि) दैव-योग से होनेवाले सेरे 'वियोग दग्ध' के आपतन के बाद से (समाप्त रूप से प्राणहर होने के कारण वियोग को वस्त्र कहा गया है) इस शृणाली के लिये कमलिनी के कोमल किसलय और शृणाल के बने कङ्कण, रत्न के घडि-पुञ्ज हो गए थे । यहाँ, विरोधीपक्ष होने के कारण घडि-भाव के आरोप से पश्चात् विरोध की शान्ति होने पर भी पहले आपाततः कमलजाति और घडिजाति में विरोध सा प्रतीत होता है, अतः यहाँ 'विरोधाभास' नाम का अलंकार माना जाता है । इस पद्य को वाच्य अलंकार के प्रकरण में प्राचीनों ने उदाहरित किया है । अब शंका होती है कि जब यहाँ 'अपि शब्द' नहीं है, तब 'विरोध' वाच्य तो होगा, नहीं, आखिर उसे व्यङ्ग्य ही मानना पड़ेगा, फिर यह पद्य वाच्य-विरोधाभास का उदाहरण होगा, तो कैसे ? (एक बात यहाँ समझने की है—जिन दो अर्थों में यहाँ विरोध प्रतीत होते हैं, वे शृणालवलय और वनवह्नि यद्यपि वाच्य हैं, पर उन दोनों का विरोध वाच्य नहीं है, व्यङ्ग्य है, अतः ऐसी शंका की गई है) ।

• शब्दितस्यार्थस्यापातमुभयं समाधानमुक्तं च सङ्ख्यति—

न च विरोधविशिष्टाभेदस्य संसर्गत्वाद्वाच्यार्थबोधविषयतया विरोधस्य वाच्यत्वमिति वाच्यम्, विरोधाभेदयोः परस्परविरुद्धत्वेनैककालावच्छेदेनैक-संसर्गत्वस्यानुपपत्तेः । नामार्थयोरभेदस्यैव संसर्गतया विरोधस्यापि संसर्गत्वे मानाभावाच्च, पर्यन्ते दवदहनराशिपदस्य सदृशालाक्षणिकतया विरोधांशस्य विरोधाभासः ।

विरोधविशिष्टाभेदस्येति । अभेदे विरोधवैशिष्ट्य सामानाधिकरण्यसम्बन्धेनेति भावः । वाच्यार्थबोधविषयतयेति । अन्विताभिधानवादिमतेनेदम् । तन्मतेऽन्वयार्थेऽपि शक्तिस्वी-कारादिति भावः । यद्यप्यभिहितान्वयवादेऽपि तात्पर्यवृत्त्युपस्थापितस्यान्वयागस्य वाच्यार्थ-बोधविषयत्वम् समकृति, तथापि तावता तस्य वाच्यत्व न सभवति, अपितु तात्पर्यार्थत्व-मिति बोध्यम् । शृणालवल्यादिपदार्थस्य दवदहनराशिपदार्थस्य च मियोऽभेदसङ्गो-न्यय, निपातातिरिक्तसमानाधिकरणनामार्थ्यभेदातिरिक्तसम्बन्धोऽप्युपपन्न इति मिद-ान्तात् । स चाभेद प्रकृते च केवल संसर्गतया विशिष्टोऽपि तु विरोधविशिष्टः । तथावोक्त-पदार्थद्वयविषयकबोधे स सम्बन्धोऽपि भासेत इति विरोधो वाच्यो जात इति शङ्का । उत्तरयति—विरोधाभेदयोरिति । विरोधोऽभेदयेति परस्परविरोधिपदार्थद्वयम्, अतः एकरिम्ब काले तयोर्द्वयोर्मिश्रणेनैकमन्वयश्च न युक्तमित्यर्थः । ननु भेदाभेदपटिततादा-त्म्यवदुपपत्ति रवादिन्यत आह—नामार्थयोरिति । नामार्थद्वयस्य संसर्गत्वेन शुद्धोऽभेद एव

प्रसिद्ध इति विरोधविशिष्टस्य तस्य संसर्गत्वमप्रामाणिकमिति भावः । तादात्म्यस्य संसर्गत्वं तन्ग्रान्तरे प्रसिद्धमिति तात्पर्यम् । ननु प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरेव मानमिष्यत आह—पर्यन्ते इति । पर्यपत्तान् इत्यर्थः । कान्यन्तोपयोगिवाक्यार्थबोधानन्तरं मृणालवल्यादि न दग्धहनराशिरिति बन्धप्रतिसन्धाने दग्धहनराशिपदस्य तत्सदृशो लक्षणाऽवश्यमेपेतव्या तथा च दग्धहनराशिरित्वा मृणालवल्यादिति पार्श्विकनोपे जाते विरोधोऽत्र भासेतापि न, तथा च कस्य तस्य संबन्धपदकन्मिति भावः । इत्यत्र मध्योक्तं रामाधानमगगतमिति नन्विन्यादिना समुत्पापिता शंका स्थिरेति बोद्धव्यम् ।

पूर्व शङ्कित अर्थ का एक जसिद्वाग्वीय समाधान कहकर उसका खण्डन करते हैं—न च हृत्पादि । 'मृणाल वलयादिवन-दहनराशिः' यहाँ मृणाल-वलया पदार्थ का दग्धहनराशि पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है । क्योंकि निपाठ से अतिरिक्त दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद से अन्य सम्बन्ध अयुक्त माना जाता है । वह यहाँ केवल अभेद के रूप में नहीं, किन्तु विरोध से युक्त होकर उक्त पदार्थ-द्वय का सम्बन्ध बनता है । और अश्विनाभिधानघादियों के मतानुसार, वाक्य से होनेवाले वाच्यार्थ-बोध में, सम्बन्ध भी भासित होता है अथवा अवयव अर्थों का अन्वय ही नहीं बन सकेगा । अतः विरोध की वाच्य माना गया है—अर्थात् वाच्य अर्थ के बोध में जो भासित होता है, उसी को तो वाच्य कहा जाता है, और यहाँ उक्त रीति से विरोध भी सम्बन्धगत होकर वाच्यार्थ-बोध में भासित हुआ है, अतः वह भी वाच्य कहा जायगा । परन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि विरोध और अभेद वे दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, अतः वे दोनों एक ही काल में मग्नमिहित रूप से एकसम्बन्ध रूप नहीं हो सकते—अर्थात् विरोधयुक्त अभेद को एक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता । मारांश यह कि—जिन दो पदार्थों में विरोध होता है उनमें अभेद नहीं हो सकता और जिन दो पदार्थों में अभेद होता है उनमें विरोध नहीं हो सकता, अतः किसी भी हालत में साथ नहीं रह सकनेवाले विरोध और अभेद को मिलाकर एक सम्बन्ध मानना असङ्गत है । यदि आप कहें कि भेद और अभेद को मिलाकर जैसे तादात्म्य नाम का एक सम्बन्ध माना जाता है, वैसी ही विरोध और अभेद को मिलाकर एक सम्बन्ध क्यों नहीं माना जा सकता ? हाँ, माना जा सकता था, यदि तादात्म्य के समान यह 'विरोधयुक्त अभेद' भी वही सम्बन्ध रूप से प्रसिद्ध होता, वह तो है नहीं, भर्षप्रदो प्रातिपदिकार्थों के सम्बन्धरूप में शुद्ध अभेद ही प्रसिद्ध है, अतः 'विरोधयुक्त अभेद' का सम्बन्धरूप होना अप्रामाणिक है । यदि आप कहें कि विरोध की प्रतीति होती है और वह प्रतीति सबतक नहीं बन सकती, जबतक 'विरोधयुक्त अभेद' को सम्बन्ध न माना जाय, अतः (इस अनुपपत्तिरूप प्रमाण से) वैसा माना जायगा । तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अन्त में 'दग्ध-हन-राशि' पद को स्वसदृश अर्थ में लाक्षणिक ही मानना पड़ता है, अतः विरोध अत्र तिरोहित हो जाता है—अर्थात् लक्षणा के बाद सादृश्य सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है, विरोध की प्रतीति होती ही नहीं । फिर उसकी अनुपपत्ति के बल पर 'विरोधयुक्त अभेद' को आप सम्बन्ध कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? तात्पर्य है कि यद्यपि 'मृणाल वलयादि' के 'दावानलसमूह' होने में विरोध है, तथापि विरहिणी के लिये तापकर होने से उनको उसके समान मानने में कोई विरोध नहीं है । इस तरह से यह चीज का समाधान बन नहीं सकता, अतः यह शंका बनी रही कि 'उक्त पद्य वाच्य विरोधाभास' का उदाहरण कैसे होगा ?

नन्विन्यादिना कृतमाशङ्क्य समाधत्ते—

मैवम् ।

उक्तशंका न युक्तेति मानः ।

अथ उक्त शंका का खण्डन करते हैं—'मैवम्' इति । अर्थात् उक्त शंका उचित नहीं ।

शक्या अयुक्तत्वे हेतुमाह—

उक्तपक्षस्य विरोधोदाहरणसामान्ये तात्पर्यात्, व्यङ्ग्यत्वेऽपि तथात्वस्थान-
पायात् । वाच्यविरोधोदाहरणतायां त्वपिरन्वयान्वयः ।

उक्तपक्षस्येति । अभिनव-नलिनोन्वादिपक्षस्येत्यर्थः । उदाहरणतामात्रेति । मात्रपदेन
वाच्यत्वनिर्वाहः । तथात्वस्य विरोधत्वस्य । अन्वयादिति । अन्वयादित्यर्थः । अभिनव-
नलिनीति पक्षेऽपि पदभावेन विरोधो वाच्यो न भवति चेत्, न भवति, तावता न किञ्चिद-
सामग्र्यस्य, व्यङ्ग्यविरोधमादायापि प्रकाशकारस्याभिमतसिद्धेः । तस्य विरोधोदाहरण-
प्रदर्शन एव तात्पर्यम्, न तु विरोधस्य वाच्यत्वे इति भावः । यदि तु वाच्यविरोधोदाहरण-
मेव तात्पर्यमन्यास्येत, तदा मृणालवलयवादि एवदहनराशिरेति रक्षित्वा अपि नान्तर्भावो
विधेय एव ।

उक्त वाक्य कथं उचित नहीं, इसका हेतु अब कहते हैं—‘उक्त’ इत्यादि । काव्यप्रकाश-
कार का उद्देश्य केवल विरोध का उदाहरण दिखलाना है, वह विरोध वाच्य हो अथवा
व्यङ्ग्य इससे उन्हें प्रयोजन नहीं । अतः यदि उक्त पक्ष में ‘अपि पद’ के न रहने से विरोध
वाच्य न भी होता—व्यङ्ग्य ही होता है, तथापि प्रकाशकार की अभीष्ट सिद्धि हो ही
जाती है । फिर वहाँ किमी तरह की असङ्गति की भासना निर्मूल है । वाच्य विरोधाभास-
लकार का उदाहरण दिखलाना यदि अभीष्ट होगा, तब ‘अपि’ पद का पाठ करना ही
पदंगा अर्थात् वैयास ही उदाहरण सोजन होगा, जहाँ अपि पद से विरोध वाच्य होता ही ।

उक्तकाव्यप्रकाशप्रत्ययसमसिद्धात् मतान्तरमाह—

‘केचित्तु—‘विरोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि विरोधिद्वयस्य वाच्यतामात्रेण विरोधा-
भासस्य वाच्यतालङ्कारव्यपदेशोपपत्तिः । इत्यमेव चांशान्वरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽप्ये-
कांशान्वादाय समासोक्त्यादीनामपि वाच्यतालङ्कारव्यपदेशः’ इत्याहुः ।

‘मृणालवल्यादिदवदहनराशि’ इति प्रकाशग्रन्थे अपि पदस्यामरत्वेन विरोधाशय
व्यङ्ग्यत्वेऽपि मृणालवल्यादिदवदहनराशिरपि विरोधिद्वय वाच्यमेव, तावतैव ‘अथ
विरोधाभासालङ्कारो वाच्य’ इति व्यवहारो भवति, यतो विरोधारो विरोधिद्वयाराध मिलि-
तैव विरोधाभासरारोम् । तत्रैकस्याशयस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अन्वयवारास्य वाच्यत्वेन विरोधा-
भासस्य वाच्यत्व मुत्सर्गम् । यथा समासोक्त्यालङ्कारस्य प्रकृतप्रकृतपठितस्य, अप्रकृता-
शस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि वाच्यत्वव्यवहार इति भावः । अथ ‘केचित्तु’ इत्यनेनाश्वि सूच्यते ।
सद्वीज न समासोक्त्यादिषु गत्यन्तराभावेन तथा स्वाकारेऽपि विरोधाभासरयते पूर्वोक्त-
रीया वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोः स्फुटमेवे अभवति तादृशस्मिन्ग्रन्थे कृतेत्यादि योज्यम् ।

उक्त ‘प्रकाश-ग्रन्थ’ को सगत सिद्ध करने के लिये अन्य विद्वानों के द्वारा कहे गये एक
भिन्न प्रकार का उल्लेख करते हैं—‘केचित्तु’ इत्यादि । कुछ लोगों का ध्यान है कि
‘मृणाल वल्यादिदव दहन-राशि,’ इत्यादि स्थल में ‘अपि पद’ के न रहने से ‘विरोध’ व्यङ्ग्य
है, वाच्य नहीं, यह बात बलवित्त्व है, तथापि जिनका विरोध व्यङ्ग्य होता है, वे विरोधी
द्वय-अर्थात् मृणालवलय आदि और दवदहनराशि तो वाच्य हैं,—तावतेव यहाँ विरोधा-
भास अलङ्कार वाच्य कहलायगा । तात्पर्य यह कि विरोध अथ और विरोधी द्वय अथ दो
दोनों अथ मिलकर ही तो विरोधाभास अलङ्कार का शरीर बनने हैं, उनमें एक अथ
(विरोध) के व्यङ्ग्य होने पर भी और अथ के वाच्य होने से विरोधाभास अलङ्कार में
वाच्यत्व का व्यवहार होगा, जैसे—अस्तु वाच्य और अस्तुत व्यङ्ग्य हन दोनों अर्थों को
मिलकर बनने वाले समासोक्ति अलङ्कार में एक अंश के व्यङ्ग्य रहने पर भी वाच्यत्व
व्यवहार होता है । यहाँ ‘केचित्तु’ से कुछ जरूरि सूचित होती है, जिसका ध्यान यह है

किं समाप्ति आदि में निरूपण होकर वैसा मान लेने हैं, पर यहाँ तो ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ 'अपि' पद के रहने पर विरोधाभास वाच्य और उसके नहीं रहने पर वह व्यङ्ग्य, इस तरह से जब स्पष्ट भेद संभव है, तब क्यों उस तरह की कष्ट-कल्पना की जाय ?

चन्द्रशक्तिमूलव्यतिरेकालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

यथा वा—

‘कृष्णपक्षाधिकर्त्ताच. सदासम्पूर्णमण्डलः ।

भूपोऽयं निष्कलङ्कात्मा मोदते वसुधातले ॥’

कृष्णस्य भगवत्, पक्षे अथो (न तु सासारिकविषयायो इति भावः) अधिक रश्मिः प्रतीत्यस्य स, सङ्घः समन्त्रे, आपूर्णं व्याप्त, मण्डलं राष्ट्रं यस्य स, निष्कलङ्कं पवित्रं, आत्मा यस्य स, अयं कथनं वर्णनं य, भूपः राजा वसुधातले, मोदते, प्रसीदतीति प्रकृतोऽर्थः । कृष्णपक्षेऽस्तिपक्षे, अपि रश्मिः विशदकान्तिः, सदा सर्वदा, सम्पूर्णमण्डलः पूर्णविश्वः, (न तु कदापि चन्द्रवत् साण्डित्यविश्व इति भावः) निष्कलङ्कात्मा कलङ्काल्प-स्वरूपः इति रात्रिविशेषोभूत एव चन्द्रवैधर्म्यबोधकोऽप्रकृतोऽर्थः ।

अब शब्दशक्ति-मूलक ‘व्यतिरेक अलङ्कार’ ध्वनि का उदाहरण देते हैं—यथा वा इत्यादि । जिसकी कृष्ण भगवान् के पक्ष (अर्थ) में (न किंसासारिक विषय के अर्थ में) अधिक रश्मि है, जिसका राष्ट्र मण्डल समन्त्रों से परिपूर्ण है, जिसकी आत्मा निष्कलङ्क है, ऐसा यह राजा, भूतल पर मोद पा रहा है । यह है प्राकरणिक अर्थ, और इसके अतिरिक्त अप्राकरणिक अर्थ भी है, जिसके द्वारा राजा में चन्द्र से वैधर्म्य दिखलाकर आधिस्य सिद्ध किया जाता है, जैसे चन्द्र कृष्णपक्ष में कान्तिहीन हो जाता है, पर यह राजा कृष्णपक्ष में भी अधिक कान्तिशाली है, चन्द्रमण्डल सदा पूर्ण नहीं रहता और यह राजा सदा पूर्णमण्डल रहता है, चन्द्र कलङ्की है, यह निष्कलङ्क है ।

उपपादयति—

अत्र भगवत्पक्षाधिकप्रीत्यादिलक्षणो प्रकृतभूपोपयोगित्वात्प्रकृतोऽर्थे शक्त्या प्रतीतिपथमवतीर्णे द्वितीयोऽर्थोऽप्रकृतो वैधर्म्यात्मा तत्रयुक्तो व्यतिरेकश्च ।

भगवत्पक्षाधिकप्रीत्यादिलक्षणो योऽर्थोऽनुपदमुक्तः, स एव कृतः प्रकृतः इत्यतः अत्र— प्रकृतभूपोपयोगित्वादिति । प्रतीतिपथमवतीर्णे इति । बोधविषये जात इत्यर्थः । द्वितीय इति । पूर्वोक्तिलक्षणचन्द्रवैधर्म्यबोधक इत्यर्थः । वैधर्म्यात्मा इति । वैधर्म्यरूप इत्यर्थः । व्यतिरेकश्च इति । अन्यत इति शेषः । भूपोऽत्र प्रकृतः, तदुपयोगित्वात् भगवत्पक्षाधिक-रश्मिलक्षण उक्तार्थोऽपि प्रकृतः इति तस्मिन्चर्ये प्रकरणेनाभिधा नियम्यते, अतः स एवार्थो वाच्यः । अस्तिपक्षेऽधिककान्तिरित्यादिचन्द्रवैधर्म्यात्मा अर्थस्तु अप्रकृतत्वात् न वाच्यः, अपि तु व्यङ्ग्यं, तत्रयुक्तो व्यतिरेकालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्यः । तथा च शब्दानां परिवृत्यसह-त्वेन भवतीदं पद्य शब्दशक्तिमूलव्यतिरेकालङ्कारध्वनेर्लक्ष्यमिति भावः ।

उक्त श्लोक में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—‘अत्र’ इत्यादि । उक्त पद्य, राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः राजा प्राकरणिक अर्थ है, और तदुपयोगी होने से ‘भगवत् पक्ष में अधिक रश्मि रहने वाला’ इत्यादि पूर्वोक्त अर्थ भी प्राकरणिक है, अतः प्रकरण से, उक्त प्राकरणिक अर्थों में पदवाच्य के अन्तर्गत पदों की अभिधातक नियन्त्रित हो जाती है—वे ही अर्थ वाच्य कोटि में आते हैं और ‘कृष्णपक्ष में अधिककान्तिशाली’ इत्यादि चन्द्र वैधर्म्य अप्राकरणिक अर्थ तो उक्त वाच्य अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद व्यञ्जना से ज्ञात होते हैं—व्यङ्ग्य कोटि में आते हैं, इसी व्यङ्ग्य अर्थ के आधार पर उपमान

चन्द्र से उपमेय राजा में आधियय प्रतिपादनरूप 'व्यतिरेकाङ्कार' भी व्यङ्ग्य होता है। यहाँ के शब्द बड़े नहीं जा सकते हैं अतः यह पद्य शब्द-शक्ति मूलक व्यातिरेकाङ्कार-ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

अत्र व्यज्यमानस्य व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वमार्श्वस्य निरस्यति—

न चात्र व्यतिरेकस्य काव्यगतरा जावपयकरतिभावोत्कर्षकतया गुणीभूतस्य कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं, प्रधानस्यैव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वादिति वाच्यम्, उदासीने वक्तरि तत्त्वाथकथनपरस्यास्य पद्यस्य वक्तृगततत्त्वव्यञ्जकत्वासंगतेः, गुणीभूतस्याप्यर्थस्य वाच्यार्थोपेक्षया प्रधानतया ध्वनिव्यपदेशहेतुतायाः प्राचीनैः स्वीकाराच्च । अन्यथा—

‘निरुपादानसंभारमभित्तावेधं तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलारत्नाध्याय शूलिने ॥’

इत्यत्र व्यतिरेकध्वनित्यैवैकमसंगत स्यात् । व्यातिरेकस्य भगवद्विषयकरतिमानाङ्गताया अनुभवसिद्धत्वात् ।

कविगतेति । कविगत ध्वनिहृदयवर्ती, यो राजविषयक धर्षणीयनृपोद्देश्यक, इति भावः । भक्त्यपरपर्याय प्रेमभाव, तस्य उत्कर्षकतया पोषकत्वमेवार्थः । अथ व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वे हेतुः । उदासीन इति । रसिरोषोभयानाविष्ट इत्यर्थः । अत्र सतीति शेषः । तत्त्वावेति । यथास्थितावेत्यर्थः । वस्तु रतिभावाविष्टत्वे पदारथाय राजरतुतिपरमेव व्यतिरेकस्य गुणीभूतत्वेऽपि ध्वनिव्यपदेशाद्यति—गुणीभूतस्यापेक्षयादिना । अन्येति । तथाप्युदासीन इत्यर्थः । निरुपादानेति । उपादानसंभारः सामग्रीसमूहः । शूलिकादिकं तद्रहितं यथा श्यातयेति क्रियाविशेषणम् । अभित्तावेधं शून्य एव, चित्रं जगत् नामाविधं विधम्, तन्वते विस्तारयते, सूजते इति यावत्, तस्मै अनिर्वचनीयस्वरूपाय, कलया चन्द्र-योदशमागेन, रत्नाध्यायः स्पृष्टणीयाय शूलिने शिष्याय नमः इत्यर्थः । पद्ये चित्रमालेख्यम् । कला आलेख्यक्रियाकौशलम् । तै प्राचीनैः रतिभावाङ्गताया इति । रतिभावपोषकत्वेनाङ्गत्वम् इति भावः । कृष्णपक्षेतिपत्रं राज्ञः स्तुती केनापि रविना प्रयुक्तम् । तथा च कविनिष्प्राजविषयकरतिभाव एवात्र प्रधानव्यङ्ग्यः । व्यतिरेकस्तु व्यज्यमानोऽपि तस्योपकृतया गुणीभूतो न ध्वनिव्यवहारहेतुः प्रधानव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनिव्यप्रयोजकतारक्षीकारात् इति गङ्गा । नेद पद्यं राज्ञः स्तुती प्रयुक्तम्, वक्तु उदासीनत्वात् । अपि तु वारतविकार्यवर्णनपरमेव पद्यमेतत् । तथा च नाराम्परात् कविनिष्प्राजविषयकरतेरभिधायि । तदनभिधायी च न व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकयोत्कर्षकत्वं गुणत्वं नैति चोत्तरम् । अथवा आस्तामिदं पद्यं राजरतुतिपरमेव, भवतु च प्रविगतराजविषयकरतिभावपोषकतया व्यतिरेकस्य गुणीभावः, तथापि व्यतिरेकध्वनिव्यमिह मुख्यमेव, पार्श्वान्तिकव्यङ्ग्यरतिभावापेक्षया गुणत्वेऽपि वाच्यापेक्षया व्यतिरेकस्य प्राधान्यसत्त्वात्, ‘इदमुत्तममनिरायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिचुने कथित’ इति ध्वनिलक्षणं पुर्वता प्राचीनेन वाच्यामात्रप्रेक्षया प्रधानस्यैव व्यङ्ग्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुता मूल्यात् । अतएव—‘निरुपादानसंभारः’ इति पद्ये भगवद्विषयकरतिभावपोषकतयाऽनुभवसिद्धस्यापि व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकाङ्कारस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं प्राचीनैः प्रदर्शितं संगच्छते इति भावः ।

उक्त पद्य में ‘व्यतिरेक’ व्यङ्ग्य होने पर भी गौण है, अतः वह ध्वनि-व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता, इस तरह की भासों का और उमका कण्ठन भव करते हैं—न चाय इत्यादि ।

‘कृष्णपद्माधिक रश्मिः’—इत्यादि पद्य में कविने किसी राजा की स्तुति की है, अतः इस पद्य से वर्णनीय राजा के प्रति कवि-हृदय गत प्रेमभाव ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यद्यपि उक्त रंति से व्यतिरेक अलंकार भी यहाँ व्यङ्ग्य होता है, पर वह प्रधान-व्यङ्ग्य कविगत रतिभाव का पोषक होने के कारण गुणीकृत है, अतः वह ध्वनि-व्यवहार के हेतु होने योग्य नहीं है फिर कैसे इस पद्य को व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण मानते हैं? इस तरह की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि एक तो यह कि उक्त पद्य का पक्का, राजा की चापल्यी करने वाला नहीं है, वह एक उदासीन व्यक्ति है, अतः उसने इस पद्य में जो कुछ कहा है, वह वास्तविक स्थिति का वर्णन है—क्षुब्ध प्रशंसा नहीं, फिर इस पद्य से राजा के प्रति पक्का का प्रेमभाव कैसे व्यक्त हो सकता है? वह तो वहीं होता है, जहाँ बका झुम्कूट की प्रशंसा करता हो। और जब यहाँ उक्त प्रेमभाव व्यक्त नहीं होगा, तब उक्त व्यतिरेकरूप व्यङ्ग्य की प्रधानता मानी ही जायगी। दूसरा कारण यह भी है कि—जो व्यङ्ग्य किसी दूसरे व्यङ्ग्य की अपेक्षा गौण भी हो, पर वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो, तो उस व्यङ्ग्य को भी ध्वनिव्यवहार का नियामक प्राचीनों ने माना है, अतः एव ‘चनिशाल्य का लक्षण, ‘इदमुत्तममतिविविधम्यङ्ग्ये वाच्यत्वं ध्वनिर्बुधैः कथितः’ अर्थात् वाच्य अर्थ की अपेक्षा लघिक् कमकारी व्यङ्ग्य अर्थ के रहने पर ‘ध्वनि’ नामक उत्तम काव्य कहा जाता है’ ऐसा उन्होंने बताया है। यदि ऐसी बात नहीं होती, तब ‘निरपादान’—इत्यादि अर्थात् विना सामग्री के अभिति—तिराधार—में ही सत्ताह चित्र को बनाने वाले अतएव प्रशंसनीय कला-कौशलवाले शिव जी को मेरा मनस्कार है’ इस पद्य को व्यतिरेकालंकार ध्वनि का उदाहरण, प्राचीन आचार्य कैसे मानते? तत्पर्य यह कि इस पद्य से भी सर्वप्रधानरूप में कविगत अगवद्विषयक प्रेमभाव ही व्यक्त होता है और व्यतिरेक उस प्रेमभाव के अङ्ग (पोषक) रूप में ही व्यङ्ग्य होता है, ऐसा यद्यपि सत्रों का अनुभव है, तथापि जैसे भावध्वनि की अपेक्षा गौण होने पर भी वाच्य अर्थ की अपेक्षा प्रधान होने के कारण, यहाँ व्यतिरेक को ध्वनिव्यवहार का नियामक मानते हैं, उसी तरह पूर्वोक्त प्रकृत पद्य में व्यतिरेक ध्वनि का व्यवहार करने में कोई बाधा नहीं है।

शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिसुदाहरति—

शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिर्यथा—

‘राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद्भयमुपस्थितम् ।

बाले ! वारय पान्थस्य यासदानविधानतः ॥’

पान्थ कामपि न्वर्षावन् वक्ति—

हे बाले ! त्वम्, मत्प्रतिकूलान् महद्विरुद्धव्यापारप्रवृत्त्यात् राह नृभात्, उपस्थितं प्राप्तं पान्थस्य पथिकस्य, मे मम, महद् प्राणोपधातकं भय वासस्य निवामस्थानस्य दानस्य, विधानतः करणान्, वारय इत्यापाततो वाच्योऽर्थः प्रतीयते । मत्प्रतिकूलात् विरोधिनीने ममैवोद्वेजकतया क्रेशप्रदात् (अभ्येषा ॥ सुखकर एव स इति भावः) राश्वन्द्रात् उपस्थितं, पान्थस्य विरोधिनि (एतेनेकछातिशयं व्यज्यते) मम मत्त प्राणहरम्, भयम् कामार्तिरूपम्, वासस्य निवामस्थानस्य दानस्य संभोगान्मस्य, विधानतः वास्य दूरीकृत, अर्थात्—विराट्फान्ता विरहकातरतया परमोत्कृष्टतः सामयमुदीरमान-ध्वन्द्रो नितरामुद्वेजयति अतः उपभोग देहि इति च व्यङ्ग्योऽर्थः ।

अथ शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि का उदाहरण दिएलाते हैं—शब्द इत्यादि । शब्द-शक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण ‘राज्ञो मत्प्रतिकूला’—इत्यादि पद्य होता है । यह पद्य, पथिक के द्वारा किसी युवती के प्रति कहा गया है । इस पद्य से पहले आपन-

ततः चाप्य रूप में यह अर्थ प्रतीत होता है कि बाले—युवावरणा के प्रथम सोपान पर पग रखने वाली सुन्दरि । राजा मुझ से सर्वथा विरुद्ध है, अतः उससे महान् (प्राण-हानि कर) मय उपस्थित हो गया है, मैं एक पयिक हूँ, यहाँ मेरा कोई रक्षक नहीं, अतः तुम अपने यहाँ जगह देकर उसे मय से मुझे बचाओ । पर, अभिधामूलाव्यञ्जना से यहाँ यह अर्थ विदित होता है कि मैं पयिक हूँ—चिरकाल से बाहर बाहर ही घूमता रहा हूँ, अतः प्रेयसी-समागम-मुख से वञ्चित हूँ । विष उरकण्ठित हो रहा है, अब तक तो किसी किसी तरह उस संकण्ठा का दमन करता रहा, पर अब दमन समय नहीं । यह आकाश में घमकने वाला राता (चन्द्र) मेरे विरुद्ध खल्लहस्त होकर खड़ा हो गया है, यह मेरे प्राण लेकर ही छोड़ेगा, अतः हे सुन्दरि ! वाम और दान (स्थान और समोग) के विधान से अर्थात् अपने पास रखकर समोग की सुविधा से मेरे प्राणों की रक्षा कर । संक्षेप में व्यङ्ग्यार्थ का अधिप्राय यह हुआ कि यह चन्द्र, बिरबिरही अतः एव नितान्त उरकण्ठित मुझको उद्दिग्ध कर रहा है, अतः समोग को अवसर दो । यह व्यङ्ग्य अर्थ उक्त वाक्य अर्थ से अधिक चमत्कारी है अतः प्रधान है, अतः एव इस व्यङ्ग्य के आधार पर यह पद्य 'अग्नि' कहलाने योग्य है ।

उपपादयति—

अत्रोपभोग देहीति वस्तु राजपदराशिमूलानुरणनविषय । राजपदाचन्द्रो-
पस्थितावेव चन्द्रजनितमय गरणकारणत्वेनोपभोगस्याभिव्यक्तैः ।

राजपदेति । राजपदनिष्ठा या शक्तिरभिधात्मिका-तन्मूलक यदनुरणन व्यञ्जना, तस्य सज्जनमयोक्तयं विषय इत्यर्थः । उत्र हेतुमाह—राजपदाच्चेत्यादिना । चन्द्रेति । चन्द्रजनितं चन्द्रोदयप्रयोज्यमित्यर्थः, यत् अर्थं 'कामपीडाधिक्यसंभावनात्मकम्, तस्य कारण शक्तिः, तत्कारणत्वेनेत्यर्थः । अत्र पूर्वोक्तो द्वितीयोऽर्थः राजपदनिष्ठाभिधामूल-व्यञ्जनैव बोध्यते, राजपदजन्यचन्द्ररूपोदीपस्थतीरयनन्तरमेव चन्द्रजन्योद्देशगमनहेतु-तया उपनोगत्प्रायःप्रतीतिः । एषाभिव्यञ्जकस्य राजपदस्य परिश्रुत्यमहतया शब्दशक्ति-मूलवस्तुष्वनेकदाहरणमेतत् पद्य भवतीति भावः ।

पूर्वोक्त उदाहरण में अपेक्षित विषयों का प्रतिपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ उपभोग प्रदान की याचनारूप वस्तु (बात), राजपद की शक्ति सिमका मूल है, उस अनुरणन (व्यञ्जना) का विषय है अर्थात् राजपदनिष्ठ अभिधामूलक व्यञ्जनावृत्ति से वह वस्तु उत्पन्न होती है, क्योंकि राजपद में 'चन्द्ररूप' अर्थ की उपस्थिति होने पर ही चन्द्रोदय से उत्पन्न कामपीडात्मक मय की निवृत्ति के कारणरूप में, उपभोग की अभिव्यक्ति होती है—यदि 'राज' पद का अर्थ 'चन्द्र' न हो तो इस श्लोक से सभं गवाही बात निकल ही न सके । अतः इस व्यञ्जना का मूल 'राज' पद की अभिधा ही है ।

अलङ्कारध्वनिरवमय पदराशिन्य निराकरोति—

त चात्र नृपचन्द्रयोरुपमानोपमेयभावः भेदापोहरूप रूपक वा तथा-
स्तिरिति वाच्यम्, इह नृपरूपस्याध्वर्य चन्द्ररूपार्थगोपनमात्रार्थमुपात्तत्वेन युगपदुल्लसितोपमानोपमेयकयोरुपमाकारयोस्तात्पर्यविषयताया अयोगान् ।

भेदापोहेति । अमेदेत्यर्थः । तथास्तिरिति । अनुरणनविषयोऽस्तिव्यर्थः । युगप-
दिति । युगपर एककालवच्छेदेन, उल्लसिते प्रतपतिपयमवर्तमाने, उपमानोपमेयं ययोस्तयो-
रित्यर्थः । अयोगात् अयुक्तत्वात् । फलतर्निर्गलदित्यादाविव प्रकृतोऽपि वर्णनीयो नृप-
चन्द्र इवेत्युपमाकार नृपचन्द्र इति रूपकालंकारी वा प्रयेतु शक्यते, तथा चालङ्कारध्वने-
रवेदमुदाहरण न वस्तुष्वनेरिति शङ्का । अर्थः राजपद प्रयुज्य चन्द्ररूपविशितार्थ-

गोपनायैव वक्ता नृपरुषोऽर्थ इहोपात्तः । तथा चात्रोपमा रूपकं वा वक्तुरतात्पर्यविषयो न भवितुमर्हति यत उपमारूपकयोः स्थले एवस्मिन् क्षण एव द्वयोः उपमानोपमेययोः प्रतीतिर्जायते, इह तु गोपनकारणस्य नृपरुषार्थस्य प्रथमं प्रतीतिः, गोपनीयस्य चन्द्ररूपा-
र्थस्य च पश्चात् । अतो नात्रालंकारध्वनिमभावनेति च समाधानम् ।

उक्त पद्य को अलंकारध्वनि का उदाहरण क्यों नहीं माना जाय, यह शंका तथा उसका उत्तर भद कहते हैं—न चात्र इत्यादि । 'करतल'—... इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में जिस-
तरह 'सार्वभौमः सार्वभौम इव' अर्थात् राजा दिग्गज के समान' यह उपमा अलंकार व्यवहृत
माना जाना है, उसी तरह 'राज्ञोमत्'—... इत्यादि प्रकृत पद्य में भी 'राजा (नृप)
राजा (चन्द्र) के समान' यह उपमा व्यवहृत मानी जा सकती है अथवा उपमान तथा
उपमेय का अभेदरूप रूपक व्यवहृत माना जा सकता है, अतः इस पद्य को अलंकारध्वनि
का उदाहरण मानना उचित है, वस्तु-ध्वनि का नहीं, यह शंका यहाँ नहीं करनी चाहिए
क्योंकि यहाँ 'राज' शब्द का 'राजा'—अर्थ केवल 'चन्द्र' रूप अर्थ का गोपन करने के
लिये गृहीत हुआ है, अर्थात् यदि वे अपने अभिप्राय को गुप्त रखने के लिये ही जो अर्थ
वाले पद का प्रयोग किया है—उसका अन्य कोई उद्देश्य नहीं । अतः 'चन्द्र' रूप
अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद 'राजा' रूप अर्थ की प्रतीति रहेगी नहीं और अपना
अर्थवा रूपक तब होते हैं, जब उपमान और उपमेय की प्रतीति एक साथ हो अन्यथा
सादृश्य अथवा अभेद होगा किन दोनों का ? सारपर्यं यह है कि—जब तक 'राज' पद का
'राजा' अर्थ प्रतीत होता रहेगा, तब तक 'चन्द्र'—अर्थ नहीं ज्ञात होगा और जब 'चन्द्र'
अर्थ ज्ञात हो जायगा, तब 'राजा' रूप अर्थ का मूलपूर्व ज्ञान ध्रुम (क्षर) सिद्ध
हो जायगा । अतः उपमा अथवा रूपक यहाँ वक्ता के सारपर्यं का विषय नहीं है—वक्ता
को यह अभीष्ट नहीं है कि यहाँ अलंकार व्यवहृत हो ।

'अपैवं वाक्यभेदापत्तिर्नेत्याह—

न चासंस्तृष्टार्थद्वयबोधने वाक्यभेद इति वाच्यम्, तुल्यकक्षतया द्वयोरसं-
स्तृष्टयोरर्थयोः प्रतिविपादयिषित्व एव तस्याभ्युपगमनम् । इह स्वाच्छादकप्रती-
तिसमये आच्छाद्याऽप्रतीतिः, आच्छाद्यप्रतीती आच्छादकन्यग्भावे एवेति
नास्ति तुल्यकक्षता ।

असंस्तृष्टेति । असंबन्धेत्यर्थः । वाक्यभेद इति । वाक्यद्वयकल्पनावसृष्ट इति भावः ।
तुल्यकक्षतयेति । समानावस्थकतयेत्यर्थः । प्रतिविपादयिषित्व इति । प्रतिपादयितुमिष्ट
इत्यर्थे प्रत्युपसर्गकान् प्यन्तपदावोरिच्छार्थे सनि तदन्तात् कप्रत्यये प्रतिविपादयिषितेति
तस्य भाव इत्यर्थः । तस्य वाक्यभेदस्य । आच्छादयेति । नृपरुषार्थेत्यर्थः । आच्छादयेति
चन्द्ररूपार्थेत्यर्थः । न्यग्मावस्थितोपमानम् । राज्ञो मरप्रतिकृतेति पद्ये प्रतीयमानयोर्नृपचन्द्र-
रूपयोरर्थयोर्मित्यः उपमानोपमेयमात्रात्मकस्य अभेदात्मकस्य वा संबन्धस्यावधारणे तयो-
र्थयोर्बोधाय वाक्यद्वयं कल्पनीयं स्यात्, सकृदुचरितं, शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति
रीत्या एकरमान् वाक्यादर्थद्वयविषयबोधस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वान् इति शङ्कापक्षीयमि-
प्रायः । यत्र शब्दस्तेपादिस्यले समकक्षौ परस्परमनन्यौ द्वार्थौ वक्तुः प्रतिपादयितु-
मिष्टौ, तत्रैव वाक्यद्वयरूपनावश्यकता । इह तु आच्छादकस्य (गोपनहेतोः) नृपरु-
षार्थस्य प्रतीतिकाले आच्छाद्यस्य (गोप्यस्य) चन्द्ररूपार्थस्य प्रतीतिरेव न, एवम् आच्छा-
द्यस्य चन्द्ररूपार्थस्य प्रतीतिप्रथमे आच्छादकस्य नृपरुषार्थस्य न प्रतीतिः । अर्थात्—
नृपरुषार्थस्याभिधेया पूर्वम् प्रतीतिः, चन्द्ररूपार्थस्य च व्यवधान्या पश्चात्प्रत्यय इति न
तयोस्तुल्यकक्षता, अतो न वाक्यद्वयकल्पनावसरः, अन्यथा व्यवहृत्यस्थले सर्वत्रैव तथा

रूपना प्रमज्येतेति समाधानपक्षाभिप्रायो बोध्यः । नागेशस्तु बाले इति संबोधनेनात्र व्यङ्ग्यस्य वाच्यत्वमानताकरणाच्च ध्वनिक्यपदेशहेतुत्वमिन्वाच्ये ।

यदि आप कहें कि इस लाश से जब आप प्रकृत पदमें शृणु और चन्द्र इन दोनों अर्थों में सादृश्य अथवा अभेद—उपमा कथवा रूपक—सम्बन्ध नहीं मानते और दोनों ही अर्थों की प्रतीति मानते हैं, तब तो इन दो अर्थों के बोधार्थ दो वाक्य भी मानने पड़ेंगे, क्योंकि 'एक बार उच्चारित पद एक ही अर्थ का बोधक हो सकता है' इस नियम के अनुसार अक्षरवद् दो अर्थों का बोध एक वाक्य में नहीं किया जा सकता । तो यह तर्क भी आपका संगत नहीं है, क्योंकि 'वाक्यभेद' यहाँ होता है जहाँ शब्दरूपेण आदि के स्थल में—समान कक्षा (अवस्था) वाले दो अर्थों का प्रतिपादन करना, वस्तु का अभीष्ट रहता है । पर यहाँ तो दोनों अर्थ समकक्ष नहीं हैं । एक (शृणुरूप) है, गोपन करने वाला और दूसरा (चन्द्ररूप) है, गुप्त होने वाला । अतः गोपक अर्थ की प्रतीति के समय में गोप्य अर्थ की प्रतीति नहीं रहती और गोप्य अर्थ की प्रतीति हो जाने पर गोपक अर्थ निरोहित हो जाता है । यहाँ नागेश मद्गोप्य का कहना है कि 'बाले' इस संबोधन पद से गोपनीय (व्यङ्ग्य) अर्थ स्पष्ट झलकता है—वाच्य अर्थ के समान हो जाता है अतः उसके आधार पर इस पदको 'ध्वनिकाम्य' नहीं कहा जा सकता ।

काव्यप्रकाशक शब्दराशिमूल्यस्तुल्यनेरुदाहरण परीक्षते—

काव्यप्रकाशे तु—'शनिरशनिश्च तमुच्ये' इत्यादिकमुदाहरण्य 'अत्र विरुद्धो द्वापि स्वदन्तुवर्तनार्थमेक कार्यं कुरुत इति ध्वन्यत' इत्युक्तम् । तच्च 'द्वौ शन्य-शनी उदारानुदारी चैव कार्यं हननं भानं च' इति व्याख्यातुमिच्छ्योक्त्यात्मः, तत्र शन्यशन्योर्हननक्रियाकर्तृत्वान्वयेऽप्युदारानुदारयोर्भानकर्तृत्वपदार्थविशेष-णयोस्तरङ्गकारविशेषणयोश्च माध्यान्वयान्वयभावात् अथमेककार्यकारित्य संगत इत्यन् ।

शनिरिति । 'शनिरशनिश्च तमुच्ये' निमित्तं कुप्यसि नरेन्द्र । यस्मै त्वम् । अत्र प्रसी-
दसि पुनः त्वं भान्युदारोऽनुदारस्य ।' इति पूर्णम् पदम् । हे नरेन्द्र । यस्मै त्वं कुप्यसि,
तम्—शनिरशनिर्विशेष अशनि शनिकिरोषी वस्तुतो ब्रह्मम्, उच्चैरतिशयेन, निहितम् । अत्र
पुनः—तुम् शन्यशन्ये, नस्तम्ययो विषयत्वम्, तथा च यन्तुस्वविषये तु इत्यर्थः । प्रसी-
दसि प्रसन्नो भवसि, स पुरुषो देवदत्तादि उदारो दाता महान् वा, अनुदार उदारविरोधी
वस्तुतोऽनुगतदार शृणुदत्तैश्वर्येणाप्रवासात्, सन् भातीत्यर्थः । हननं भान्त्वसि ।
उदतः शन्युपपन्नः । कर्तृत्वान्वये इति । कर्तृत्वस्य अन्वये तन्वये इत्यर्थः । उदारानुदार-
योरिति । तरपदार्थयोरिति भावः । भानकर्तृप्रति । भानक्रियाया कर्ता च पदपरतर-
स्य अर्थं बुद्धिर्यः, तस्य विशेषणयोरित्यर्थः । तत्प्रकारेति । तस्य भानकर्तृत्वपदार्थ-
स्योद्देश्यतया विशेष्यभूतत्वं, प्रकार विशेषणीभूतो य विधेयस्यो देवदत्तादि, तस्य विशेष-
णयोरित्यर्थः । वा शन्यशन्योत्तरपक्षशब्दस्यैवतत्वाऽऽयमेव पदो युक्त इति बोध्यम् ।
कर्तृत्वावशमावाधिति । कर्तृत्वमन्वयभावादिभ्यः । एवञ्च 'उदारानुदारयोरिति नस्त-
म्यन्तम् न तु पश्यन्तमिति भावः । पूर्वत्र शन्यशन्योरित्यपि तथैवेति बोध्यम् । मूलोद्धृत
प्रमाणधन्यव्याख्यान न युक्तम्, यवस्तनो ध्यायानान्न । 'उदारानुदारी मानरूपमेक कार्यं
उदत' इत्यादिषु वस्तुव्यङ्ग्यमप्यन्ता सिद्धयति, तच्च न गमयति, विचारामद्वयान् ।
तथाहि—शनिरशनिरित्यादिपदे भातीति क्रियाया कर्ता स इति उक्तं, तस्य विशेषणम्
उदारोऽनुदारस्येति, अथवा स शन्युद्देश्यस्य माध्यान्वय विशेषण देवदत्तादिविधेय, तस्य

विरोपणमुदाहरादि, उभयथापि मानकिकाकर्तृत्वस्य उदाहरणानुदाहरणयोरन साक्षात् संबन्धः । शन्यशान्योस्तु हननक्रियाकर्तृत्वस्य सन्त्योऽस्तीति तद्वशमादाय विरुद्धां द्वा-
वर्तीत्यादि प्रकाशप्रत्ययस्य समतावपि व्याख्याप्रत्ययोऽसंगत एवेति भावः ।

अथ काव्यप्रकाशोक्त, शब्दशक्तिमूलध्वनि के उदाहरण पर विचार करते हैं—काव्य
हत्यादि । काव्यप्रकाश में 'शनिरशनिय' इत्यादि—जो संस्कृत टीका में उद्धृत
है—एव शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण कहा गया है । कवि का कथन है—
हे राजन् ! आप जिसके ऊपर क्रुद्ध होते हैं, उसको शनि (ग्रहविशेष) और 'अशनि'
(शनि का विरोधी वस्तुतः वज्र) दोनों मारते हैं । और आप जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं
वह उदार (दानशील) तथा अनुदार (उदार से भिन्न, वस्तुतः अनु=अनुगत,
दारा=पानी वाला) शोभित होता है अर्थात् आपके दान से घनी होकर प्रवासी नहीं
होता भक्त उसे विद्योमज्ज्य कष्ट कभी नहीं सहना पड़ता । इस उदाहरण का उल्लेख
करके काव्यप्रकाश में कहा गया है कि—“इस श्लोक में विरोधी भी दोनों तुम्हारी
अनुवृत्ति के लिये एक कार्य करते हैं” यह बात व्यक्त होती है ।” और व्याख्याकारों ने
इसकी यह व्याख्या की है—“दोनों शनि और अशनि एवम् उदार और अनुदार । एक-
कार्य=मारना और सुशोभित होना ।” अब यहाँ पण्डितराज का कथन है कि उक्त
व्याख्या प्रामाण्यसंगत नहीं प्रतीत होती, कारण, उससे जो यह अभिप्राय निरलता है कि
'उदार तथा अनुदार शोभाकर एक कार्य को करते हैं' यह वस्तु भी यहाँ व्यङ्ग्य होती
है, वह अनुचित है, क्योंकि शनि और अशनि में मारना क्रिया के कर्ता का संबन्ध है,
अतः इन दोनों का 'मारना' रूप एक कार्य यद्यपि हो सकता है, तथापि दूसरी क्रिया
'सुशोभित होना' का कर्ता 'वह' है, उदार और अनुदार नहीं, उदार और अनुदार तो
'वह' पद के अर्थ (वृद्धिस्थ) के, अथवा उसके अर्थ के विशेषण (देवदत्त भादि सत्यदार्थ
के विशेष) के विशेषण हैं । अतः उनका 'सुशोभित होना' रूप क्रिया के साथ साक्षात्
संबन्ध न हो सकने के कारण 'एक कार्य करने वाला होना' नहीं बन सकता अर्थात् 'उदार'
और 'अनुदार' अब 'सुशोभित होना' क्रिया के कर्ता ही नहीं हैं, किन्तु कर्ता के विशेषण
अथवा उसके विशेषण के विशेषण हैं, तब 'शोभित होना' उनका कार्य नहीं हो सकता ।

प्रकाशप्रत्ययस्यार्थ स्पष्टीकरोति—

अतो विरुद्धौ द्वामित्यादि प्रथमार्थविषयम् । द्वितीयार्थे तु विरोधाभास एव ।

अयं भाव—उक्तपक्षे 'शनिरशनिरित्यंशे विरोधाभासालङ्कारो न संभवति, एकध-
मिगतत्वेन विरुद्धनिर्देश एव तद्वशादीनाम् । अशब्दः समुच्चयार्थक एव । एवञ्च पद-
प्रथमार्थानुगुणम् 'विरुद्धौ द्वौ (शन्यशनी) त्वदनुवर्तनार्थम् हननरूपमेकं कार्यं कुर्वतः'
इति वस्तुव्यञ्जनं संभवति । उत्तरार्थभागे तु न वस्तुध्वनिभावना, तत्र पूर्वोक्तरी-
त्याकार्यकरणप्रतीतिः । किं तु तद्वशा अनुशास्तरिभिरन्यथैव विरोधाभासालङ्कारनिर्देशः ।
तद्वशास्य समुच्चयार्थकत्वात् । अप्यर्थक्ये ॥ विरोधस्य वाच्यतैव । विरोधपरिहारस्तु
अनुगतद्वारा अन्यर्थकरणेन इति ।

प्रकाशप्रत्यय के आदाय को स्पष्ट करते हैं—अनं इत्यादि । उक्त अनुपपत्ति से यह
मानना पड़ता है कि प्रकाशकार ने जो उक्त पद्य में 'विरोधी भी दो पदार्थ आपके अनु-
सरण के लिये एक कार्य करते हैं' इस तरह के व्यङ्ग्य की बात कही है, वह पद्य के
पूर्वार्थ के विषय में ही, उत्तरार्थ के विषय में नहीं अर्थात् उक्त पद्य के 'शनिरशनि' ...
इत्यादि पूर्वार्थ में विरोधाभास अलङ्कार व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता । क्योंकि एक
धर्म में दो विरुद्ध पदार्थों के निर्देश करने पर ही वह होता है—जो यहाँ नहीं है ।
'व' शब्द यहाँ समुच्चयार्थक है, विरोधार्थक नहीं । इस स्थिति में उस अंश से उक्त वस्तु

का व्यङ्ग्य होना मानने योग्य होता है। पर पद के उत्तरार्ध भाग में वस्तुध्वनि की संभावना ही नहीं है, क्योंकि उस अन्ध में 'उदार तथा अनुदार' का एककार्यकारित्व प्रतीत नहीं हो सकता, यह पहले कहा जा चुका है। अतः उत्तरार्ध में 'विरोधाभास अलंकार' ही व्यक्त होता है, ऐसा मानना चादिपू अर्थात् 'उदार अनुदार है' यह विरोध—जिसका पूर्वार्ध 'अनुगतदारावाटा' अर्थ से परिहार हो जाता है—पहले प्रतीत होता है, अतः विरोधाभास अलंकार की अभिव्यक्ति मानी जायगी। पर यह बात भी 'ध' पद को 'समुच्चयार्थक' मानने पर ही उचित होगी, यदि 'च' को 'अपि' के तुल्य मानकर विरोध को वाच्य बना दिया जाय, तब विरोधाभास व्यङ्ग्य नहीं, वाच्य होगा। सारांश यह हुआ कि उक्त व्याख्याग्रन्थ असंगत ही है।

उक्तव्याख्याग्रन्थस्यापि तर्गतिं पुर्वं तैरनुक्तं तत्रत्य विरोध प्रदर्शयति—

। अर्थभेदेनान्वयमात्रेण कुरुत इत्यस्योपपत्तिश्चेत् ? अस्तु द्वितीयाधेऽपि विरुद्धी द्वाविस्थादि वस्तु व्यङ्ग्यम्। पर त्वर्धद्वयेऽपि विरोधाभासात्तत्कार-
शबलितमेव। शत्रुविरुद्धस्य शत्रुत्वासम्भवादेकस्य शन्यशक्तिर्कृद्गहननकर्म-
त्यायोगेनाद्यार्ध उदारत्वानुदारत्वयोरेकाधिकरणवृत्तित्वायोगाद्द्वितीयाधे च
विरोधस्य स्फुटत्वात्।

कर्तरीति। तत्पदार्थे इत्यर्थः। अन्वयेति। उदारानुदारपदार्थयोरिति भावः, उपपत्ति-
सगति। अर्धद्वयेति। पूर्वार्धे उत्तरार्धे चेत्यर्थः। शबलितम् मिलितम्। उत्पन्नतुल्यव्य-
भिन्न्युपपत्तिः। शत्रुविरुद्धत्वादि। शत्रुविरोधी शत्रुर्न भवति, अपितु मित्रमेवेति भावः।
भानवियाकर्तरे तत्पदार्थेऽभेदसंबन्धेनावितयोरुदारानुदारपदार्थयोरपि भानवियायाम-
न्वयलाभे उत्पन्नचर्योत्तरार्धेऽपि वस्तुध्वनिः सम्भवति। एवञ्च आशुक्तप्रकाशग्रन्थो न
पूर्वार्धमात्रविषयकोऽपि उत्तरार्धविषयकोऽपि। एवं तद्व्याख्याग्रन्थोऽपि पूर्वोद्धृत संगत
एवेति चेत् ? सत्यम्। परन्तु अर्धद्वयेऽपि विरोधाभासात्तत्कारमिश्रितवस्तुध्वनिरेव न
केवलवस्तुध्वनिः। एवञ्च वस्तुध्वनिमात्रमुल्लिखन् प्रकाशकारः, विरोधाभासात्तत्कारमिध-
मव्याचक्षणं, पूर्वार्धे विरोधाभासात्तत्कारसम्भावनाविरह प्रतिपादयन् वा व्याख्याता स्पष्ट
दृष्टिरेव। अथ कथं पूर्वार्धे विरोधाभासः, अलंकारत्वमूलमुक्तिरवैक्यमिदं विरुद्धनिर्देशा-
भावशयोक्तत्वादिति चेत्, शन्यशन्योविरोधस्यालंकारत्वात्तत्तद्विरोधविरोधविरोध-
मिश्रत्वादेकस्य विरोधिद्वयकर्तृकहननकर्मत्वायोगेन तमिति पदवाच्ये एकरिम्भः शनिरर्तुकहनन-
कर्मत्वस्य, शनिविरोध्यशनिकर्तृकहननकर्मत्वात् न च विरोधस्य तयाभूततयाऽऽलंकारत्वात्।
शन्यशन्योविरोध एव कथं प्रतीयतेति न वाच्यम्, अशनिरित्यत्र ननो विरुद्धार्थकत्वात्।
न च विरोधस्य वाच्यमेवेति शक्यम्, शन्यशन्योविरोधस्य वाच्यत्वेऽपि च मूलकहननकर्म-
त्वयोविरोधस्य व्यङ्ग्यत्वात्। व्यङ्ग्यविरोधपरिहारस्तु राशः अप्रतिहताज्ञत्वज्ञानप्रयुक्त इति
वीध्यम्। केचित्तु विरोधिनीरपि एकशत्रुसमवाच्य तादृशहननकर्मत्वयोविरोध इत्याहुः।
उदारत्वानुदारत्वयोविरोध तत्परिहारव्यानुपपद पूर्वप्रकरणे दक्षित एवेति तत्त एव नैयम्।

अब उक्त व्याख्याग्रन्थ को भी संगत सिद्ध करते हुए हम प्रसंग पर प्राचीनों से
अश्रयित कुछ विविध बातों को कहते हैं—कतं इत्यादि। 'शोभित होना' रूप क्रिया का
कर्ता है तत्पद वा अर्थ और उसमें अभेद सबन्ध से ध्वनित होते हैं 'उदार तथा अनु-
दार' पद के अर्थ, इस तरह से 'उदार' और 'अनुदार' पद के अर्थों का भी शोभित होना
रूप एक क्रिया का करना बन सकता है अतः उक्त व्याख्याग्रन्थ भी ठीक है तथा
'विरोधी भी दोनों' ... इत्यादि मूलग्रन्थ भी पूर्वार्धमात्रविषयक न होकर उत्तरार्ध-

विषयक भी हो सकता है अर्थात् उत्तरार्ध में भी विरोधी दो पदार्थों आपके अनुवर्तनाय एक कार्य करते हैं। यह वस्तु स्पष्ट होना चाहिए, ऐसा यदि कहा जाय, तो प्रत्यक्ष उसको स्वीकृत करते हैं। उनका कथन है कि पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों भागों से एक वस्तु स्पष्ट होती है अवश्य, परन्तु विरोधाभास अलंकार से मिश्रित वस्तु स्पष्ट होती है, शुद्ध वस्तु स्पष्ट नहीं। अतः केवल वस्तुचिन्ता की बात लिखनेवाले प्रकाशकार तथा विरोधाभास के मिश्रण वाली बात की व्याख्या नहीं करने वाले अर्थात् पूर्वांश में विरोधाभास की समाधान नहीं है ऐसा कहनेवाले व्याख्याकार दोनों ही स्थूल दृष्टि वाले हैं। यदि कहा जाय कि पूर्वार्ध में विरोधाभास अलंकार की बात भार कौने करते हैं? क्योंकि एक धर्मों में दो विरुद्ध बातों का भिद्देश रहने पर यह होता है यह पहले कहा जा चुका है, तो में कहूँगा, ठीक है, इस निबन्ध के अनुसार शक्ति और अशक्ति का विरोध अलंकाररूप नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति और अशक्ति का भिद्देश एक धर्मों में नहीं किया गया है। परन्तु शत्रु का विरोधी शत्रु नहीं हो सकता अर्थात् शत्रु दो व्यक्तियों में विरोध रहता है, जब दोनों में से किसी एक का जो दुतीय विरोधी होगा, वह अन्य का मित्र ही हो सकता है शत्रु नहीं। इस स्थिति में परस्पर विरोधी दो का एक कोई वष्य नहीं हो सकता, अतः 'तम्' पद के अर्थ में जो शक्तिरुद्धहननकर्मता और शक्तिभिन (अशक्ति) रूद्धहननकर्मता यहाँ वर्णित है, यह विरुद्ध है, साथ साथ यह विरोध एकवर्त्मिक भी है अतः उस विरोध के आधार पर पूर्वार्ध में भी विरोधाभास अलंकार मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि यह विरोध (जिसको अलंकाररूप मानते हैं) तब सिद्ध हो सकता है, यदि पहले शक्ति और अशक्ति में विरोध सिद्ध हो जाय, पर वह प्रथम विरोध ही कैसे सिद्ध होगा? तो इसका उत्तर है कि अवश्य सिद्ध होगा, क्योंकि 'न शक्ति = अशक्ति' यहाँ तम् विरोधार्थक है। यदि आप कहें कि तब तो विरोध वाच्य ही हो गया, आप उसको स्पष्ट वतला रहे हैं, वह कैसे? तो मैं कहूँगा यहाँ जी, उस विरोध को मैं स्पष्ट नहीं वतलाता, यह तो वाच्य है ही, परन्तु तन्मूलक उक्त हनन कर्मता के विरोध को मैं स्पष्ट वतला रहा हूँ, जो सर्वथा वययुक्त है। राजा अग्रतिष्ठत आशा वाछा है अतः उसके अर्थ से दो परस्पर विरोधी व्यक्ति भी एक कृतीय का हनन कर सकते हैं, इस बात के ज्ञान से उक्त स्पष्टविरोध का परिहार होता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'दो परस्पर विरोधी का भी एक तीसरा शत्रु हो सकता है अतः उक्त हनन-कर्मता-द्वय में कोई विरोध नहीं है'। उदाहरण और अनुदाहरण में जो विरोध है तथा उसका निम तरह से परिहार होता है, वे सब बातें पूर्वप्रतीक की व्याख्या में लिखी जा चुकी हैं।

अयं शक्तिमूलकानुदाहरणप्रसङ्गे प्रथम स्वतन्त्रप्रतिपाद्यवस्तुना वस्तुचिन्तामुदाहरति—

अयं शक्तिमूलकानुदाहरणप्रसङ्गे प्रथम स्वतन्त्रप्रतिपाद्यवस्तुना वस्तुचिन्तामुदाहरति—

‘गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धार्यन्ति संमुखम् ।

अवर्तन्ते विवर्तन्ते मरसीषु मधुव्रताः ॥’

कथन नामक काव्यभाषिका कथयति—मधुव्रता मधु एव कथयन्ति स्वभोज्यत्वेन प्रति-
जानन्तीति ते भ्रमरा इत्यर्थः, एतेन प्रमराणां वर्तमानमव्यवस्थितमव्यवस्थित-
वाचनमन्यद्वर्णनं कथ्य चान्यते । परितः चतुर्विधं, ध्वनेन मधुव्रतानां मधुभाषणव्यवस्था
‘व्यन्यते । मञ्जु मनीषा । गुञ्जन्ति, गत्वा दूरमुपैवेति भावः, प्रमरस्तमावोक्षिरियम् ।
संमुखं सरस्या इति गानः, धारयन्ति वेद्येनापतन्तीति भावः । (एवंतेत्या) सरसीषु सरोवरेषु
भाववर्तन्ते आगच्छन्ति, विवर्तन्ते प्रवर्तन्ते कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

अयं अयं शक्तिमूलक चिन्ता के उदाहरण प्रदर्शन के - प्रसङ्ग में पहले स्वतन्त्रप्रतिपाद्य

वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण दिखलाया जा रहा है—अर्थ इत्यादि। कोई नायक किसी नायिका से कहता है—मधुमत्त- जिन्होंने केवल मधु-पान करने का मत ले रखा है—अर्थात् भ्रमर, (यहाँ मधुमत्त पद से कवि को यह व्यक्त करना है कि—सम्प्रति मधु के लाभ नहीं होने से वे विकल हैं, और मावी मधुलाम की आशा से प्रसन्न भी हैं) चारों तरफ (इससे मधुमत्तों की मधुगवेष्टणाजन्य व्यग्रता सूचित होती है) मनोहर पुञ्ज कर रहे हैं, दूर जाकर फिर उसी तरफ दीढ़ रहें हैं, इस तरह बार बार सरोवरों में आते और जाते हैं।

उपपादयति—

अत्र मधुमत्तकर्तृकमल्लगुञ्जनाद्यैर्वस्तुभिः कविकल्पितत्वरिरेण स्वतःसम्भविभिरासन्नसरसिजोत्पत्तिभिरननद्वारा शरदागमनैकव्यरूप वस्तु व्यज्यते ।

गुञ्जन्तीति पश्ये वाच्यवृत्त्या वर्णितानि मधुमत्तवर्तुष्वमल्लगुञ्जनादीनि वस्तूनि स्वतःसम्भविनि न तु कविरल्पितानि, तैश्च प्रथम सरसि सरोजान्मसुत्पत्तिरासन्नैति व्यज्यते तद्द्वारा च शरद्वतोरागमो निश्चित इति ध्वन्यते, तथा च भवतां पश्य स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुभवेत्तदाहरणमिति भावः ।

उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का प्रतिपादन करते हैं—अत्र इत्यादि। उक्त पद्य में वाच्यवृत्ति (अभिप्रा) के द्वारा जो अमरों के गुञ्जन आदि वर्णित हुए हैं, वे सबके सर स्वतःसम्भवी—ससार में स्वभाविक रूप से होने वाले—हैं अर्थात् कवि कल्पित नहीं हैं। उन वस्तुओं से पहले यह व्यक्त होता है कि 'अब सरोवरों में कमलों की उत्पत्ति होने ही वाली है—निकट है, और इस व्यङ्ग्य के द्वारा बाद में यह वर्णित होता है कि शरद्वस्तु का आगमन अब सन्निहित (नजदीक) है।

काव्यप्रकाशोक्त स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुभवेत्तदाहरणमालोचयति—

काव्यप्रकाशे तु—'अरसशिरोमणिधुत्ताण अगिम—' इत्याद्याहृत्य 'ममैवोपभोगयोग्य इति वस्तु व्यज्यते' इत्युक्तम् । तत्र केन वस्तुनेद वस्तु व्यज्यते ? न तावदलसशिरोमणिनादिकान्तविशेषणै, तेषा धाव्यादिवृद्धस्त्रीनिहपितत्वेन तत्रैवोपभोगयोग्य इत्यादिरूपेणैव व्यङ्ग्यस्य वक्तव्यतापत्ते । विशेषणानां कामिनीनिरूपितत्वे तु ममवैत्यादिव्यङ्ग्यवाकारः स्यात् । नापि परिपुल्लविलोचनत्वेन, तस्य हर्षभाषानुभावेन हर्षव्यङ्ग्यताया एव वक्तव्यतात् । मधुपभोगयोग्यत्वं हि हर्षभावस्य विभावः । न ह्यनुभावेविभावो व्यज्यत इति तद्विभावव्यञ्जनस्यैव वक्तव्यः । केवलस्य परिपुल्लविलोचनस्य ममैवैत्यादिव्यङ्ग्यव्यञ्जने सामर्थ्याभावात् । पुत्रागमनधनप्राप्त्यादिविभावकेऽपि हर्षभावे परिपुल्लविलोचनताया अनैकान्तिकत्वादिति ।

अस्तेनशिरोमणिधुत्ताणमगिमो पुति धनसमिद्धिमथो ।

इअ मणिण्ण मयह्मी पप्फुल्लविलोचणा ज्ञात्ता ॥ इति पूर्णा गाथा ।

अलमशिरोमणिधुत्ताणामप्रणी पुत्रे धनमृद्धिमय ।

इति भणितेन नताही परिपुल्लविलोचना जाता ॥ इति तच्छाया ।

अलसशिरोमणिरिति । पतिवरा प्रति धाव्या प्ररोदनोक्ति पूर्वार्धम्, उत्तरार्धं तु कवे । प्रकरणायायमियथाहार । हे पुत्रि ! अनेन स्वस्य तदीयाहितचित्तकत्वं ध्वन्यते । अयं करोड-रुपाना निरव्योगाना, शिरोमणि धेष्ट, धूर्ताना शठानाम्, अप्रणी प्रधान, धनमृद्धिमय धनमृद्धिप्रचुर, इति भणितेन भाषणेन, नताही वाचन कुमारी, परिपुल्ल हर्षविरसिते,

विशिष्टे लोचने यस्या, तादृशी जाता अभूदित्यर्थः । अत्रालसत्वेनान्यत्र गमनाभावः, धूर्तत्वेन संभोगे गुणानादरः, अतृप्तत्वं वा, घनसमृद्धिमयत्वेन कृपणतया परामै अदातृत्वम्, स्वस्य दातृत्वं वा धनोपार्जनहेतुकप्रवृत्तिभावो वा, व्यज्यते । एतद्व्यङ्ग्यज्ञानेन नायिकाया हर्षोऽभूत्, तत्सूचनायैव परिपुष्टविलोचनोत्ति नायिकाविरोधणम् । अत्र 'समंभोगभोगयोग्य इति वस्तु व्यज्यते' इति यदुक्तं कामप्रकाशकृता तत्र विचार्यते—तत्र केनेत्यादिना । तत्पक्ष-प्रतिपादितेन केन वस्तुनेत्यर्थः । धात्र्यादीति । पुत्रीत्यामन्त्रणेन तेषां तन्निष्पित्तत्वमिति भावः । कामिनीनिष्पित्तत्वे इति । पुत्रिप्रणितेनेत्यनयोः पदयोः पक्षेऽप्येवं तथा सम्भवः । तत्स्येति । परिपुष्टविलोचनान्वस्येत्यर्थः । हर्षमापानुभावत्वेनेति । हर्षाद्व्यभिचारिभावकार्य-त्वेनेत्यर्थः । विभाव कारणम् । तत्सन्धेयहर्षोदयार् । नहीत्यस्य षण् शुभ्यमित्यत्रान्वयः । तद्विभावेति । हर्षादिभाषविभावेत्यर्थः । द्विपदसूचितमराक्यत्वे हेतुमाह—केवलस्येति । विशिष्टस्य तत्त्वं तु सिद्धान्तसिद्धमिति भावः । विलोचनताया इति । सत्त्वेन तरदा इति शेषः । अनैकान्तिकत्वादव्यभिचारित्वात् । यदि प्रकृतपक्षे पुत्रीत्यामन्त्रणं मणितेनेति कव्यु-क्तिप्रसाधकम् पदद्वयसामविचयः, तदा कामिन्या स्वगतोक्तिरेव पद्यनेतृत्वमविव्यत् । तदात्वे चालनशिरोमणिस्थित्वादिद्वान्तविरोधणानि कामिनीनिष्पित्तानि स्युः । तदैव च तेभ्यो विरोधयोग्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य समंभोगाविप्रकाशोक्त आकारो भवेत् । तथैव पदयोः सत्त्वे तु प्रकृतपक्षपदकान्तविरोधणानि धार्मिकनिष्पित्तानि, एवञ्च तेभ्यः ज्ञायमानस्य व्यङ्ग्यस्य तदंभोगभोगयोग्य इत्येवाकारो भवेत् नु समंभवेति । अथ कामिनी-निष्ठेन प्रपुष्टविलोचनत्वेन व्यङ्ग्यभावगतौ र्वाक्यमाणाया व्यङ्ग्यस्य तदाकारता संभवेति, नैत्याह—नापीति । प्रकुललोचनत्वनाम हर्षस्य कार्यम्, मनुष्यभोगयोग्यत्वञ्च हर्षस्य कारणम् । एवञ्च प्रकुलविलोचनत्वेन कार्येण स्वकारणस्य हर्षस्याभिप्रायसंभवेऽपि स्वकारणकारणस्य मनुष्यभोगयोग्यत्वस्याभिप्रायसंभवति । क्वमिति चेत् ? धृत्याम्—हर्षं विनाऽऽनुपपद्यमाने प्रपुष्टविलोचनत्वं हर्षं व्यङ्ग्यं भवतीति । न तु मनुष्यभोगयोग्यत्वं वस्तु, व्यङ्ग्यव्यङ्ग्ययोर्भूतस्य हर्षस्य मनुष्यभोगयोग्यत्वातिरिक्तपुत्रागमनादिनापि संभवेन प्रकुललोचनतायाः मनुष्यभोगयोग्यत्ववस्तुव्यङ्ग्येऽसामान्यादिति भावः ।

अब 'काव्यप्रकाश' में कथित, अर्थशक्तिमूलक स्वतन्त्रमवि वस्तु से वस्तुध्वनि उदाहरण की पर्यालोचना करते हैं—काव्यप्रकाशे तु हृषादि । काव्यप्रकाश में 'अलक्ष शिरोमणि' 'हृषादि पद्य—ओ सकल टीका में उद्धृत है—को स्वतन्त्रमवि वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण कहा गया है । यह पद्य, स्वयंवर में समय में, विवाह के श्रुतुक उत्तरिभक्त पुत्रों का परिचय करानेवाली धाय (उपमाता) के द्वारा, धरण करनेवाली कन्या के प्रति, कहा गया है । धाय, कन्या से कहती है कि—'हे पुत्रि ! (इस संशोधन से कन्या के प्रति धाय की हितेच्छुता अभिप्रेक्ष्य होती है) वह (यह) आल-सिर्मों का शिरोमणि, धूर्तों में प्रधान और घन-समृद्धि से परिपूर्ण है ।' इस धाय का इतना कहना था कि उस नताद्री की ओर सिल उठी । (यह उत्तरार्थ कवि का कथन है) यहाँ 'अलक्षशिरोमणि' इस विशेषण से नायक का अन्वय गमनाभाव, 'धूर्तप्रसाध' से संभोग में गुणों का प्वाङ्ग न रचना अथवा संशोधन से नृपति का अनुभव न करना, 'घन-समृद्धिमय' से कृपणता तथा नदृष्टा हमरे को कुछ न देना अथवा अपने को पथेष्टु चीजों का देना किंवा घन-उपाजन के लिये विशेष-वास की आशयकता का न होना व्यक्त होते हैं । इन व्यङ्ग्यों का ज्ञान होने से कन्या की हर्ष हुआ, शिवकी सूचना नायिका के नयन विकास के वर्णन से मिलती है । इस उदाहरण पर प्रकाशकार कहते

है—‘इस पद्य से ‘यह वर’ मेरा ही उपभोग्य है’ यह ‘वस्तु’ ध्वनित होती है।’ यहाँ काव्य-प्रकाशकार से यह प्रष्टव्य है कि उक्त वस्तु किस वस्तु से ध्वनित होती है?—‘आलसियों के गिरोमणि’ इत्यादि नायक के विशेषणों से तो यह वस्तु ध्वनित हो नहीं सकती। क्योंकि वे विशेषण भाव आदि किसी वृद्धा स्त्री के द्वारा कहे गए हैं, अतः यदि उन विशेषणों से ध्वनित होता तो व्यङ्ग्य का आकार ‘मेरा ही उपभोग्य-योग्य है’ ऐसा होता, ‘मेरा इत्यादि’ नहीं। यह आकार तो व्यङ्ग्य का तय होता, यदि वे विशेषण नायिका के द्वारा कहे गए होते अर्थात् इस पद्य में यदि ‘पुत्रि’ और ‘मणितेन’ ये दोनों पद न होते, तब यह पद्य नायिका की स्वगत उक्ति के रूप में समझा जाता और उस स्थिति में ‘अलसशिरोमणि’ इत्यादि विशेषण नायिका के द्वारा कहे गए समझे जाते। पर जब वे दोनों पद हैं, तब तो वे विशेषण नायिका से अन्य किसी के द्वारा कहे गए ही समझे जा सकते हैं। यदि आप कहें कि नायिका का जो ‘परिपुष्कविलोचना’ यह विशेषण दिया गया है, उससे अर्थात् नायिका के नयन-विकास के वर्णन से अभिव्यक्ति मानने पर व्यङ्ग्य का वह आकार हो सकता है, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि नयन-विकास, हर्ष का कारण है अतः नयन-विकास-रूप कार्य से हर्ष-रूप-कारण का ही ध्वनित होना निश्चित है, अन्य वस्तु का नहीं। यदि आप यह कहना चाहें कि नयन-विकास का कारण हर्ष है, और हर्ष का कारण ‘मदुपभोग्योग्यत्व’ है, फिर तब तरह नयन-विकास से उसके कारण हर्ष की अभिव्यक्ति मानते हैं, उसी तरह उस कारण के कारण ‘मदुपभोग्योग्यत्व’ की भी अभिव्यक्ति मान लेने में क्या आपत्ति है? तो मैं कहूँगा कि और कोई आपत्ति तो नहीं है, परन्तु नयन-विकास में, अपने कारण (हर्ष) के कारण (उपभोग) की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य नहीं है, अतः यह हो नहीं सकती, यही आपत्ति है। सामर्थ्य क्यों नहीं है इस शका का उत्तर तो स्पष्ट है कि नयन-विकास उपभोग का व्यवहारी है अर्थात् नयन-विकास हर्ष से होता है यह निश्चित है, पर यह निश्चित नहीं है कि वह हर्ष उपभोग्य-योग्यता के ज्ञान में ही हुआ हो—पुत्र के आगमन, घन की प्राप्ति आदि अनेक कारण हैं, जिनसे उत्पन्न हर्ष की अवस्था में नयन-विकास हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि नयन-विकास हर्ष के बिना नहीं होता, अतः उससे हर्ष की अभिव्यक्ति होती है, पर उस हर्ष के कारण—अतः कि वे सबेक हो सकते हैं—की निश्चित रूप में, अभिव्यक्ति, नयन-विकास से, नहीं हो सकती है।

उक्तशक्या मुचितामाह—

सत्यम् ।

दृष्टा शका समुचितेति भावः ।

उक्त भाषाका सर्वथा समुचित है ।

उक्तशक्या समुचितवेऽपि प्रकाशप्रत्यक्ष भुक्तगतमभिप्राय प्रकटयति—

‘इदं मणिमणि’ इत्याद्यर्थवशात्प्रापितालसशिरोमणित्वादिविशेषणप्रविशिष्टप्रफुल्लविलोचनत्वेन मदुपभोग्योग्यत्वलक्षणविभागाभिन्न्यक्तिद्वारा हर्षमायौऽभिव्यक्त्यर्थः । तत्र द्वारीभूतावसावाभिन्न्यक्तिमादाय कान्यप्रकाशप्रत्यक्षसंगतिः ।

इह मणीति । इति मणितेनेत्यादिपद्योत्तरार्धगतपदान् योऽर्थस्तदर्थेन तद्वचनेन प्रापितं साधितं यत् अलसशिरोमणित्वादिकान्तविशेषणानां नताहोक्तं अर्थवत्, तद्विशिष्ट-प्रफुल्लविलोचनत्वभंगेति भावः । विशिष्टयत्र सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन बोध्यम् । विभावेति । हर्षस्यभावकारणत्वेन । द्वारीभूत इति । मध्यगत इत्यर्थः । अयमाशयः—वेचनेन प्रफुल्लविलोचनत्वेन हर्षत्वेनाभिव्यक्तिः समवति, न तु मदुपभोग्योग्यत्वरय, परमत्र न केवलं प्रफुल्लविलोचनत्वं अर्थवत्, यपि तु अलसशिरोमणित्वादिकान्तविशेषणप्रवणसद-

कृतमेव । ननु किमिह पद्ये तादृशश्रवणसहकारप्रापकमिति चेन्न, इति भणितेनेत्युक्त्या तादृशश्रवणश्रवणानन्तरमेव नायिकाया विलोचने प्रफुल्ले इत्ययमप्रतीतिः । तथा च तादृशेन विशिष्टेन धर्मेण प्रथमं हर्षस्य कारणीभूतं मनुष्यभोगयोग्यत्वमेव व्यज्येत, तद्व्यञ्जनद्वारा च पश्चात् हर्षभावोऽप्यभिव्यज्येत । नैनलस्य प्रफुल्लविलोचनत्वस्य पुत्रायमनादिविभावके हर्षभावेऽपि मत्त्वेन मनुष्यभोगयोग्यत्वापेक्षया व्यभिचारित्वेऽपि विशिष्टस्य तस्य ॥ तदपेक्षया व्यभिचारित्वमिति सारांशः । इत्यत्र हर्षभावस्य चरमव्यञ्जनत्वेऽपि मध्यगतस्य द्वारभूतस्य मनुष्यभोगयोग्यत्वरूपस्य व्यञ्जनस्याश्रयण विधाय प्रकाशप्रत्ययसंगतिर्विधेयति ।

अथ प्रकाशग्रन्थ के सुसंगत अभिप्राय का वर्णन करते हैं—हृष हृषादि । अभिप्राय यह है कि केवल नयन-विकास से 'हर्ष' की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, मनुष्यभोग-योग्यता की नहीं, यह सर्वथा सत्य है । परन्तु यहाँ केवल नयन-विकास व्यञ्जक नहीं है अपि तु 'अलसशिरोमणि' इत्यादि जो कान्त के विशेषण हैं, उनके श्रवण से सहकृत नयन-विकास व्यञ्जक है और उस श्रवण को सहकारी रूप में उपस्थित करता है, पद्य में भाषा हुआ 'इति भणितेन-पद्य का इतना कहना था कि'—यह पद । इस तरह श्रवण से विशिष्ट नयन-विकास से पहले हर्ष का विभाव (कारण) 'मनुष्यभोगयोग्यत्व' (मेरा उपभोग्य है) व्यक्त होता है, तदुत्तर उस कारण की अभिव्यक्ति के द्वारा उसका अनुभाव (कार्य) 'हर्ष' अभिव्यक्त होता है । उनमें से हर्षरूप व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति में द्वारभूत विभाव (हर्षभाव का कारण मनुष्यभोगयोग्यत्व) की अभिव्यक्ति को लेकर काव्यप्रकाशग्रन्थ संगत हो जाता है । अर्थात् काव्यप्रकाशकार का भाव यह है कि पद्य के कहे हुए 'अलसशिरोमणि' इत्यादि नायक के विशेषणों के सुनने के साथ नेत्र के मिल उठने से प्रथमतः नायिका का यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि 'यह मेरे ही उपभोग के योग्य है' और उसके बाद हर्षभाव । काव्यप्रकाशकार के इस भाषाय को समझ लेने के बाद कोई आपत्ति नहीं रह जाती अर्थात् व्यञ्जक में व्यभिचार-दोष जो दिया जाता था, वह अब नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध नयन-विकास, पुत्र आदि के आगम प्रभृति कारणों से उत्पन्न हर्ष की दशा में भी होता है, अतः वह मनुष्यभोग-योग्यता का व्यभिचारी भले ही हो, पर उन नायक-विशेषणों के सुनने में माघ होने वाला नयन-विकास तो अन्य कारणजन्य हर्ष की दशा में नहीं होता—अपि तु 'यह मेरा उपभोग्य है' इस तरह के ज्ञान से उत्पन्न हर्ष की स्थिति में ही होता है, अतः वह विशिष्ट-नयन-विकास उसका व्यभिचारी नहीं—समन्वित है ।

पूर्वोक्तरीत्याऽभिव्यक्त्याश्रयणे गभवन्ती भावचनेः सलक्ष्यकमत्वापरिमितापत्त्या परिहरति—

न च भावचनेः संलक्ष्यकमत्वापत्तिः, द्वारस्य संलक्ष्यकमत्वादिति वाच्यम्; इष्टापत्तेः । न चापसिद्धान्तः, तस्य प्रागेवोद्धारात् ।

भावचनेति । हर्षभावचनेतिवर्थः । द्वारस्येति । हर्षनारणमनुष्यभोगयोग्यत्वाभिव्यक्ति-रूपस्येत्यर्थः । अपसिद्धान्तः सिद्धान्तविरोधः । तस्येति । अपसिद्धान्तत्वस्येत्यर्थः । तथा च सिद्धान्त एवायमिति भावः । मनुष्यभोगयोग्यत्वलक्षणविभावाभिव्यक्तिद्वारा प्रफुल्लविलोचनत्वेन हर्षभावाभिव्यक्तौ रवीकृतायाम् 'भावशान्त्यादिरक्तम्' इति सिद्धान्तविरोधः, क्रमस्य लक्ष्यत्वादिति यद्यपि सन्त्यम्, तथापि कनित् सलक्ष्यनमोऽपि रमादिर्भवतीति प्रथमानानन्तभागोक्तसिद्धान्तेन तस्य सिद्धान्तस्य संतुचितविषयत्वबोधनेन किञ्चिद-समप्रममिति भावः । एतद्विषयको विशदो विचारो गुरुतत्प्रथमानन्तहिन्दोर्दोकाया द्रष्टव्यः ।

उक्त रीति से अभिव्यक्ति मानने पर 'भावध्वनि' भी सलक्ष्यक्रम हो जायगी, इस आपत्ति को आपत्ति नहीं मानकर इष्ट मान लेने की बात कहते हैं—न च इत्यादि। उक्त विशिष्ट प्रकार के नयन-विकास से मधुरभोगयोग्यत्वरूप विभाव की अभिव्यक्ति के द्वारा हर्षभाव की अभिव्यक्ति मानने पर 'भाव आदि की ध्वनि अलक्ष्यक्रम ही होती है' इस प्राचीनसिद्धान्त का विरोध होता है, यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि स्थितिविशेष—जिसका विरलेषण प्रथम ध्यान के अन्त भाग में किया गया है—में रस-भाव आदि की ध्वनि भी सलक्ष्यक्रम होती है, यह जो पण्डितराज का सिद्धान्त है, उसके अनुसार कोई विरोध नहीं होता। इस प्रसंग का विशद विचार, प्रयत्नमान की मेरी हिन्दी टीका में देखना चाहिये।

स्वतः समविना वस्तुनालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

‘मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीत निपीतं पथ’,
स्वर्गातेन सुधाऽऽयधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डित’ ।
तत्त्वं ब्रूहि मदीयजीव ! मयता भूयो भवे भ्राम्यता
कृण्वेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः कचिल्लक्षित’ ॥

अत्र भक्त स्वात्मान पृच्छति—हे मदीयजीव आत्मन् ! भूय पुन पुन, भवे मसारे, भ्राम्यता भ्रमणशीलेन, (अत्र कृतेन पुण्यविशेषेण स्वर्गं प्राप, पुन शीघ्रे पुण्ये मर्त्यलोकमुपाश्रित, एवरीत्या पुन पुन स्वर्गादागमनमंत्र भूयो भवभ्रमगम्) (अत्र लोके) नृद्वीका द्राक्षा, रसिता आस्वादिता, मिता राण्डशर्करा, समशिता सम्यक्ममिता, स्फीत विगुद, पथ दुग्धम्, निपीत विशेषेण पानरुमीकृतम्, स्वर्गातेन न्वर्गं गतेन (कर्तृ-विशेषणमेतद्) सुधा पीयूषम्, अधायि (धेत् पाने इत्यस्य कर्मणि वाच्ये लुकि रूपम्) अपायीत्यर्थः । कतिधा कतिभि प्रकारै रम्भाया तन्नामकागरम अवर, खण्डित दष्ट भ्राम्वादित इति भावः । एवञ्च नानाविधमधुरपदार्थरागास्वादोऽनुभूतस्त्वया, इदानीञ्च कृष्ण-नाममाधुरी अपि आस्वादते, अतस्त्वामहं पृच्छामि, यत् कृण्वेति द्वयोरक्षरयोर्यादौ मधुरिमोद्गार माधुर्योद्देशोऽस्ति, तादृशास्तेषु पदार्थेषु कचिल्ल एकापि लक्षितं अनुभूतं । एतदुत्तरप्रसंगे सत्यमेव त्वया वक्तव्यम्, अन्यथा निर्धारणायस्य निर्धारण न संभवेत्, कृष्णनाममाधुर्यसदृश माधुर्यं कापि नानुभूतं भवेदिति वक्तव्यस्तान्पर्यम् ।

अथ स्वतः समन्वी वस्तु से अलङ्कारध्वनि का उदाहरण देते हैं—मृद्वीका इत्यादि। कोई भक्त अपनी आत्मा से पृच्छता है—हे मेरे जीव ! तू ने आर-यार स्वर्ग से इहलोक तक का चक्र लगाया है—अर्थात् इस लोक में पुण्य-विशेष का उपार्जन कर मरणोत्तर स्वर्ग गया और पुण्य के क्षीण हो जाने पर ‘धीरे धीरे मर्त्यलोक विनान्ति’ के अनुसार पुनः समार में जन्म प्रदण किया, तेरा यह गमनागमन अनेकों बार हो चुका है। इस भ्रमण के प्रसङ्ग में तू ने अनेक आस्वाद्य पदार्थों के आस्वादन किए—इस लोक में दारु को चखा, चीनी की चागनी ली, दूध वा यथेच्छ पान किया, और स्वर्ग जाकर पीयूष का पान भी किया एवम् अनेक प्रकार से रम्भा (एक जप्सरा) के अक्षरों को भी काटा। अथ कृष्णनाम की माधुरी का भी तू आस्वादन कर रहा है, इसलिये मैं तुझ से पूछता हूँ, सब सब घटलाना—‘कृष्ण’ इन दो अक्षरों में जैसा माधुर्योद्गार है, जैसा माधुर्योद्गार कहीं अन्यत्र प्राप्त हुआ ?—मेरा विश्वास है कि वह माधुरी तुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिली होगी।

उपपादयति—

अत्र निष्कृष्टजीवसबोध्यक—परिदृश्यमानस्थूलदेहेन्द्रियादिचेतनाचेतनसंघा-
तात्मकास्मत्पदबोध्यकर्तृकप्रश्नविषयेणार्थेन चस्तुना तथाभूतेन भगवन्मान्तोऽ-
नेकजन्मवृत्तान्ताध्यक्षीकरणकारणयोगसिद्धिविशेषतादात्म्याध्यवसायरूपातिशयो-
क्तिर्यज्यते ।

निष्कृष्टति । निष्कृष्ट परिदृश्यमानैतच्छरीरपृथग्भूत, जीव आत्मा, संबोध्यो यस्मिन्,
परिदृश्यमान, स्थूलदेहेन्द्रियादिचेतनाचेतनसंघातात्मक आत्मपदबोध्य कर्ता यस्मिन्,
तादृशेन, प्रश्नविषयेण वृत्तान्तिपदजिज्ञामितेन, अर्थेन मधुरिमोद्गारेभ्यादिरूपेणेत्यर्थः । तथा-
भूतेनेति । एवमभवितेत्यर्थः । नाम्न इति पठ्यन्तस्य तादात्म्याध्यवसायित्यत्रागव्य ।
अनेकेति । नानाजन्मसंबन्धिनिसमाचारप्रत्यक्षीकरणे कारणभूतो यो योगाभ्यासजन्य-
सिद्धिबिरोध परिमणित्यर्थः । भगवन्नाम्न उपमानस्य योगसिद्धिबिरोधे उपमेये तादात्म्या-
ध्यवसाय इति भावः । एतेन भगवन्नाम उपमेयतया विषयस्तेन उपमानतया विषयिणः योग-
सिद्धिबिरोधस्य निगारणे कथमिति शयोक्तिः, विषयनिगारणे तत्प्रसंगमिति पठास्तम् । अयं
भावः—आत्मा द्विविध, एक शरीरादित पृथग्भूतो निरवच्छिन्न, द्वितीयश्च शरीराद्यव-
च्छिन्नः, अस्मच्छब्दबोध्यः । तयोः प्रथम संबोध्यत्वेन, द्वितीयश्च, प्रश्नकर्तृत्वेनात्र वर्णितः ।
प्रश्नविषयीभूतश्च मधुरिमोद्गारादिरूप एवत संभविस्तुल्यजनम् । व्यञ्जयन्तातिशयोक्त्य-
लंकारः । भगवन्नामरूपेणोपमानेनानेकजन्मवृत्तान्तप्रत्यक्षीकरणकारणयोगसिद्धिविशेषोपमे-
यस्य नितीयं कथनमत्रातिशयोक्त्यस्वरूपम् । अतीतजन्मवृत्तान्तज्ञानमाधक्योपजसिद्धिलब्ध-
सर्वज्ञत्वविहोने प्रति अतीतजन्मवृत्तान्तज्ञानविषयकप्रश्नस्यान्यपानुपपत्तिश्च तदलंकाराभि-
व्यक्तौ बीजमिति ।

भव उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी विषयों का उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । शास्त्रों
में आत्मा दो प्रकार की मानी गई है—एक शरीर आदि से पृथग्भूत-निरवच्छिन्न और
दूसरी देह-इन्द्रिय आदि से मिश्रित-शरीराद्यवच्छिन्न जो 'मैं' पद से समझा जाता है ।
जब दोनों में प्रथम अर्थात् निरवच्छिन्न आत्मा का संबोध्य रूप में और द्वितीय अर्थात्
शरीराद्यवच्छिन्न आत्मा का प्रश्नकर्ता के रूप में वर्णन किया गया है । प्रश्न का
जो विषय है—वैसी माधुरी कहीं देखी ? आदि—वही यहाँ एवत-सम्बन्धी-सत्य-कविकल्पित
नहीं व्यञ्जक अर्थ है और व्यञ्जक है अतिशयोक्ति अलंकार । भगवन्नामरूप उपमान के
द्वारा, अनेक जन्म की बातों के प्रत्यक्षीकरण में कारणरूप योग-सिद्धि-विरोधात्मक उप-
मेय का निगारण करके वर्णन करना ही यहाँ अतिशयोक्ति का स्वरूप है । इस अति-
शयोक्ति की अभिव्यक्ति में मूलभूत रहस्य यह है कि जो सर्वज्ञ नहीं है उससे अनेक
जन्म की बातों का पूछना वनता नहीं है और सर्वज्ञता प्राप्त होती है योग-सिद्धि से, जो
यहाँ साक्षात् वर्णित नहीं है, अतः यह कहना करना पड़ती है कि प्रश्नकर्ता ने भगव-
न्नाम को योगसिद्धि से अभिन्न समझकर योगसिद्धि के स्थान में भगवन्नाम का वर्णन
किया है । हिन्दी रसगंगाधरकार चतुर्वेदीजी का यहाँ एक आक्षेप यह है कि उपमान से
उपमेय के निगारण होने पर अतिशयोक्ति होती है और यहाँ उपमेय से ही उपमान का
निगारण हुआ है—अर्थात् भगवन्नाम उपमेय है नया योगसिद्धि-विशेष उपमान, अतः
अतिशयोक्ति की अभिव्यक्ति यहाँ नहीं होती । परन्तु मुझे 'पण्डितराज से इस तरह की
मोटी गलती होगी' यह बात सगत नहीं जैवती । अतः मैं कहता हूँ कि उपमानोपमेय
भाव तो विवक्षाधीन ही होता है, फिर भगवन्नाम को ही उपमान और योगसिद्धि-
विशेष को ही उपमेय क्यों नहीं मान लिया जाय ? योगसिद्धिविशेष के प्रसंग पर
भी ऐसा पद्य कहा जा सकता है । मेरी समझ से यही पण्डितराज का आशय है ।

शक्ते—

अथ प्रश्नविषयस्यात्र नानाजन्मगतवृत्तान्तरूपतया तज्ज्ञ प्रत्येव प्रष्टु-
मौचित्येनानभिज्ञ स्वजीवं प्रति प्रष्टुमयोग्यत्वात्प्रश्नान्यथानुपपत्त्या आक्षिप्ता,
वाच्यसिद्धयङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपा वा, प्रागुच्यतिशयोक्तिरिह कथं
ध्वनिव्यपदेशहेतु स्यात् ?

तज्ज्ञमिति । नानाजन्मवृत्तान्तज्ञमि-त्यर्थः । प्रश्नान्यथानुपपत्त्येति । अतिशयोक्ति-
कल्पनमन्तरा तादृशप्रश्नस्यासम्भवदुक्तितयेत्यर्थः । अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वविरहादाह—
वाच्येति । यो यज्जानाति त प्रत्येव तद्विषयः प्रश्नः क्रियते इति साधारणे नियमे वर्तमाने,
'शृद्धीके'तिपद्ये अतीतानागतज्ञानसाधकयोगजसिद्धिहीनतया नानाजन्मवृत्ता-तानभिज्ञ
स्वजीवं प्रति, हृत 'शृद्धीकादिपदार्थेषु कृष्णनाम्नीव मधुरताऽनुभूता किमि'त्यादिनाना-
जन्मवृत्तान्तविषयक प्रश्नोऽनुपपन्न सन् स्वोपपादिना कृष्णनाम योगजसिद्धिविशेषयो-
स्तादात्म्याभ्यवसायरूपाम् अतिशयोक्तिमवश्यमाश्लिषेत् । एवकार्यापत्तिप्रमाणवेष एवाति-
शयोक्त्यलङ्कारोऽत्र न व्यञ्जनाबोध्य, 'अन-यत्नो हि शब्दार्थ' इति सिद्धान्तात् । अर्था-
पत्तिर्न मानान्तरमपि तु व्यञ्जनाफलीभूतमेवेति स्वीकारे यद्यपि प्रकृते उक्तातिशयोक्त्यलङ्कार-
स्य व्यङ्ग्यत्वं समर्थयितुं शक्यम्, तथापि तद्व्यङ्ग्यं गुणीभूतमेव वाच्योक्तप्रश्नविषयीभूता-
र्थोपपादकतया वाच्यसिद्धयङ्गत्वात् । तथा च तस्मालङ्कारस्य व्यङ्ग्यत्वे ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं
न युक्तमिति भावः ।

अथ उक्त विषय के सम्बन्ध में एक शक्य करते हैं—अथ इत्यादि । 'जो जिस विषय
को जानता रहता है, उसीसे उस विषय का प्रश्न किया जाता है' यह एक साधारण
नियम है । तदनुसार यहाँ योगसिद्धि से रहित अतएव अनेक जन्म की बातों को नहीं
समझ सकनेवाले अपने जीव से उक्त अनेक जन्मविषयक बातों का पूछना तब तक
नहीं बन सकता, जब तक कृष्ण नाम और योगसिद्धि में परस्पर अभेद (जो
अतिशयोक्ति अलङ्कार कहा जाता है) न समझ लिया जाय । इस तरह से यह सिद्ध
हुआ कि प्रश्न के अन्वया न बन सकने के कारण यहाँ अतिशयोक्ति का आशेष होगा
और इस तरह के आशेष को ही अर्थापत्ति (प्रमाण) कहते हैं, अतः यहाँ अतिशयोक्ति
अलङ्कार अर्थापत्तिप्रमाण से समझने योग्य माना जायगा, व्यञ्जना से समझने योग्य
नहीं । क्योंकि 'अनयत्नो हि शब्दार्थ'—अर्थात् जो अर्थ अन्व किसी प्रमाण से ज्ञात न
हो सके, उसी को शब्दशक्ति से ज्ञात होने योग्य समझना चाहिये । यदि कहा जाय
कि 'अर्थापत्ति' कोई नवीन प्रमाण नहीं है, व्यञ्जना फलीभूत ही है अतः यहाँ अति-
शयोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य माना जा सकता है, तो मैं कहूँगा, ठीक है, इस दृष्टिकोण से
देखने पर अतिशयोक्ति का यहाँ व्यङ्ग्य होना सिद्ध हो सकता है, परन्तु व्यङ्ग्य होकर
भी वह अलङ्कार यहाँ गौण ही होगा, क्योंकि उक्त प्रष्टव्य विषय—जो वाच्य है—की
संगति उस व्यङ्ग्य के द्वारा ही होती है, अतः वह वाच्यसिद्धि का अन्त है और वाच्यसिद्धि
के अन्तभूत व्यङ्ग्य, 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य के व्यवहार का साधक होता है,
'ध्वनि' नामक उच्चम काव्य-व्यवहार का नहीं ।

प्राचीनरक्ते रत्नत सम्भविना वस्तुनाऽलङ्कारध्वनेरुदाहरणोऽस्तीति शब्दा समानंवेति
दर्शयति—

इत्यमेव च 'तदप्राप्तिमहादुर'—इत्यत्राप्यतिशयोक्तेरर्थापत्तिविषयत्वं गुणी-
भूतव्यङ्ग्यत्वं वा युक्तम् । अनेकजन्मोपभोग्यदुरसुखराशिभ्यां तदप्राप्ति-

महादुःखतश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणेऽशेषपापपुण्यपुञ्जनाशकताया अनुप-
पत्तेः । तद्दुःखसुखानां स्वस्वफलोपहितपापपुण्यनाशकताया एवान्यत्र कृत-
त्वात् । निगरणे तु तयोस्त्वन्नाशकत्वाबुद्ध्युपपत्तिः ।

तादिति । 'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनारोपपातकम् । तच्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणप्रत्यक्षमा
तथा ॥ चिन्तयन्तो जगत्प्राप्तिं परमहृद्वरुणिणम् । निरुच्छासतवा मुक्तिं गताऽन्या गोप-
कन्धवा ॥' इति श्लोकद्वयं विष्णुपुराणे पञ्चमांशे त्रयोदशाध्याये (२१।२२) वर्तते, उदा-
हृतं वाच्यप्रकाशे चतुर्थोऽध्याये । भगवतो ब्रजवल्लभस्य रासलीलाया सर्वा गोपालवालिङ्गा
सम्मिलिता परन्तु काचनैका गोपकन्या पत्यादिभिः संरक्षकैर्निरुद्धा तत्र संगन्तुं नापारयत् ।
सा च भगवत्संगमालाभेन महादुःखमापत्, तेन दुःखेन तस्या सर्वाणि पातकानि विनष्टानि,
अपि च कृष्णचन्द्रचिन्तनजन्यधाषिक्तरानन्देन तस्या सकलपुण्यश्रयोऽपि जातः । एवं-
रोच्या जगदुत्पत्तिकारणं परमप्रणवरूपं कृष्ण चिन्तयन्तो सा निरुच्छासावस्थामाभाम
मौक्षमलमत इति प्रसगरागतिपुरस्सरस्तदर्थं बोध्यः । मुक्तिसमये निरुच्छासिता च 'नास्य
प्राणा समुत्थानमिति आश्रय समवलोकयन्ते' इति मुतिसिद्धाऽस्ति । हृदयकक्षोपहितेति ।
तत्तद्दुःखमुखरूपफलजनकैत्यर्थः । अत्र कृष्णाप्राप्तिजन्यमहादुःखस्याशेषपापनाशकत्वमेव
कृष्णचिन्तनजन्यमानन्दरानन्दोत्थं पुण्यपुञ्जनाशकत्वं यद्वाच्यवृत्त्या वर्णितम्, तद्विरयमने-
कजन्मोपभोग्यदुःखमुखसमूहान्वयम् तदप्राप्तिमहादुःखतश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणे सूच-
यति — अर्थात् कृष्णाप्राप्तिमहादुःखेन सह नानाजन्मभोग्यदुःखस्य तथा कृष्णचिन्ता-
प्रयोजनान्देन न नानाजन्मभोग्यमुखस्य तादृश्यमाश्रयति, अन्यथा तदप्राप्तिमहादुःख-
तश्चिन्ताविपुलाद्वाद्योरनिगरणेऽशेषपापपुण्यनाशकत्वं वाच्यवृत्त्या वर्ण्यमानमसंगतं स्यात्, यत्पापपुण्य-
जन्यं ये तु जगत्सं तद्दुःखमुखयोरेव तत्पापपुण्यनाशकताया अन्यत्र निश्चितत्वेन प्रकृतकृष्णा-
प्राप्तिजन्यदुःखतश्चिन्तनजन्यमुखयोरेकजन्ममकृतपापपुण्यनाशकताया असम्भवात् । पूर्वोक्त-
तादृश्याक्षेपे तु तन्सम्भवति एवञ्च 'मृद्रीके'त्यादाविव 'तदप्राप्ती'त्यत्रापि कृष्णाप्राप्ति-
जन्यदुःखतश्चिन्ताजन्यमानन्दान्वा सहानैकजन्मभोग्यदुःखमुखयोस्तादात्म्यारोपहृत्पाति-
शयोक्तिर्यापसिविद्यतया व्यङ्ग्यतामेव न भजते, अर्थापत्तेर्मानान्तरत्वास्वीकारे च
व्यङ्ग्यता भजमानपि वाच्यसिद्धयद्वातया गुणीभूता न ध्वनिम्वहाराहेतुरिति भावः ।

प्राचीनों ने स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु-ध्वनि का जो उदाहरण दिया है, उसमें भी उक्त
भाषाङ्का समानरूप से उपस्थित होती है यही बात अब बही जा रही है—इत्यमेव ॥
इत्यादि । 'तदप्राप्ति'... 'इत्यादि दोनों पद्य-जो संस्कृत टीका में उद्धृत है—विष्णुपुराण
(पञ्चम अंश, त्रयोदश अध्याय २१।२२) के हैं, काव्यप्रकाश के चतुर्थे उल्लास में—उदा-
हृत हुए हैं । भगवान् ब्रज-वल्लभ की रासलीला में सभी गोप-कन्यायें सम्मिलित होती
थीं, परन्तु कोई एक गोप-बाला, पति आदि सरस्वकों द्वारा रोक दिये जाने के कारण
उस (रासलीला में) सम्मिलित नहीं हो सकी, जिससे उसको गितान्त दुःख हुआ,
पर उसी दुःख में उसके सभी पाप नष्ट हो गए (पाप के फल दुःख की भोग लेने से
पाप नष्ट होते हैं) और अनश्याम के निरन्तर चिन्तन से उसे असीम आनन्द भी हुआ,
जिससे उसके सम्पूर्ण पुण्य भी क्षीण हो गए (पुण्य का फल सुख है अतः उसके भोग
से पुण्य समाप्त हो जाता है) । इस तरह ससार-कारण-परमहृद-स्वरूप-कृष्णचन्द्र की
चिन्ता करती हुई वह, निरुच्छास अवस्था को पाकर मुक्त हो गई । प्रकरण के अनुसार
यही उन दोनों पद्यों का अर्थ है । यहाँ 'भगवान् के न मिलने के कारण उसका महादुःख'
से सकल पापों के नष्ट हो जाने की बात तथा 'भगवान् के स्मरण से उसके आनन्द' से
पुण्य-समूह के नष्ट होने की बात जो वाच्यरूप में वर्णित है, वह तब तक संगत नहीं

हो सकती, जब तक उन दोनों (दुःख और आनन्द) का क्रमशः अनेक जन्मों में भोगे जानेवाले, तु त्यों और सुखों के साथ तादात्म्य न समझा जाय। क्योंकि शास्त्रों में जो दुःख त्रिन पापों के फल हैं और जो सुख त्रिन पुण्यों के फल हैं उन्हें ही उन पापों और उन पुण्यों का नाशक माना जाता है और ये कृष्ण-वियोग-दुःख और कृष्ण-स्माज-सुख तो उन लौकिक पाप पुण्यों के फल हैं नहीं। अतः 'उन पाप पुण्यों के फल-रूप सुख-दुःखों के साथ इन वियोग-दुःख और स्मरण-सुख का तादात्म्य'—जो अतिशयोक्तिरूप है—मानना पड़ेगा—तभी वे सुख-दुःख उन पुण्य पापों के नाशक हो सकेंगे। इस स्थिति में यहाँ भी अतिशयोक्ति, पूर्वोक्त युक्ति से अर्थावधि—वेद्य होकर व्यङ्ग्य ही नहीं होगी, अथवा वाच्यमिदं का अंग बन कर, मध्यम-काव्य-व्यवहार के हेतु होगी—ध्वनिकाव्यता का नियामक नहीं हो सकती।

आशङ्क्य समाप्यते—

न च वस्तुमात्राभिव्यक्तस्यालंकारस्य न शुभीभूतव्यङ्ग्यत्वम्—

‘व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।

ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥’

इति सिद्धान्तादिति वाच्यम्, बाचे दृढे सिद्धान्तमात्रेणात्र ध्वनित्वस्य स्थापयितुमशक्यत्वादिति चेत् ?

व्यज्यन्ते इति । ध्वन्यालोकस्यैव कारिका । वाच्येन वस्तुमात्रेण न तु सालंकारेणापि, अलंकारयौऽलंकारा, यदा व्यज्यन्ते, तदा व्यङ्ग्यत्वकाल सामानसंस्कृतीना ध्रुव नियमेन, ध्वन्यङ्गता ध्वनिरूपता वाच्यवस्तुपेक्षयाऽलंकारत्वेनैवातिशायितया ध्वनित्वनिर्वाहकतेति यावत्, भवतीति शेष । उक्त इति चेत् ?—काव्यस्य कविव्यापारस्य शृङ्गे प्रवृत्ते सव्यङ्ग्योऽर्थ आश्रय उद्देश्यतयाऽऽलम्बन यस्या सा तदाश्रया तस्या भावस्तदाश्रयत्वम्, तदुद्देश्यत्वम्, तस्मादित्यर्थः । इह तदाश्रयादिति भावप्रधानो निर्देश । व्यज्यन्ते इति ध्वनिकारोक्तसिद्धान्तानुसारेण ‘मृद्रीका’ ‘तदप्राप्ती’त्यादी वस्तुना व्यज्यमानाया अतिशयोक्तेर्ध्वनित्ववद्व्यङ्ग्यप्रयोजकता समुचितेति शङ्का । वाच्यसिद्धवङ्गत्वहेतुवर्गौणतात्मिकाया ध्वनित्वबाधक्युक्तौ विद्यमानाया ध्वनिकुतसिद्धान्तमात्रेण ध्वनित्वस्थापनं नोचितमिति समाधानम् ।

उक्त आशङ्क्य के उत्तर के रूप में एक आशङ्क्य करके उसका समाधान करते हैं—
■ च इत्यादि । यदि भाव कहें कि अलंकार शून्य-केवल, वस्तु से ध्वनित होने वाले अलंकार गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं हो सकते, कारण, यह सिद्धान्त है कि—‘व्यज्यन्ते ... इत्यादि अर्थात् जब केवल (अलंकार शून्य) वस्तु से अलंकार ध्वनित होते हैं तब वे निश्चिन्त रूप से काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम) बनाते हैं, क्योंकि ऐसे पद्यों में काव्य का व्यवहार उन्हीं अलंकारों के आधार पर होता है—उनमें वे अलंकार ही ध्वनित-विशेष के जनक होते हैं।’ तो यह ठीक नहीं। कारण, जब एक सुदृढ बाधक युक्ति उपस्थित की जा चुकी है—अतिशयोक्ति की वाच्य-सिद्धि का अङ्ग बतलाया जा चुका है, तब केवल सिद्धान्त के बल पर—ध्वन्यालोक की कारिका के आधार पर—इन पद्यों की ध्वनि नहीं सिद्ध किया जा सकता।

अथ प्ररतविपर्यय्यादिना समुन्यापितामाशङ्कामुपमहरति—

सत्यम्,

‘मृद्रीका’, ‘तदप्राप्ती’त्यादी व्यज्यमानाया अतिशयोक्तेर्गुणीभूततया ध्वनित्वप्रयोजकता न संभवतीति शङ्का युक्तेति भावः ।

अब उक्त आशंका-ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—‘सायम्’ इति । आपका कथन सत्य है—‘गृहीका’ ‘वदयासि’ इत्यादि पद्यों में अतिशयोक्ति जब वाच्यसिद्धि का अङ्ग हो जाती है, तब वह उन पद्यों को ‘ध्वनि’ नहीं बना सकती । परन्तु—

समापत्ते—

यादृशव्यङ्ग्यप्रतिपत्तिं विना यत्र वाच्यस्य सवयाप्यनुपपत्तिस्तत्र तद् वाच्यसिद्धयङ्गम् । यत्र प्रकारान्तरेणापि तस्योपपत्तिः शक्या कर्तुम् न तत्र तथा ।

प्रतिपत्तिमिति । आनमित्यर्थः । अनुपपत्तिरिति । असंगतिरित्यर्थः । तदिति । व्यङ्ग्यमित्यर्थः । प्रकारान्तरेणेति । व्यङ्ग्यज्ञानातिरिक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । तथा वाच्यमिदयङ्गम् । यत्र व्यङ्ग्यमेव केवलं न तु वाच्यादिङ्गं, वाच्यार्थं सोपपत्तिकं कर्तुं प्रभवति, तत्रैव तद्व्यङ्ग्यं वाच्यमिदयङ्गं स्वीकर्तुं योग्यम् । यथा—‘अभिमतमिदमलङ्कारप्रत्ययं मूर्च्छां तम’ शरीरमादम् । मरणञ्च जलदभुजयजं प्रमथ्य दृढते विषं वियोगिनीनाम् ॥ इत्यादौ विपद-व्यङ्ग्यं हालाहलमेव केवलं जलदभुजगेति वाच्यस्य रूपकस्य सिद्धिर्हन् । अन्यथा जलदस्य भुजगत्वायोगेन, भुजग इव जलद इति पूर्वपदार्थप्रयानौषमितममासाप्रयणैर्नौपमालङ्कारपत्तेः । व्यङ्ग्यमिदमेवाभ्यवसिते तु जले गुजगन्वोपपत्तेरुत्तरपदार्थप्रधानरूपकमिदि । यत्र पुनः व्यङ्ग्यार्थेन साधयितुं योग्यस्य वाच्यस्य तदतिरिक्तम् (व्यङ्ग्यवातिरिक्तम्) अपि साधकं संभवति, तत्र व्यङ्ग्यं न गुणीभूतमङ्गव्ययित इति भावः ।

अब सिद्धान्तभूत समाधान उपरिधत्त करते हैं—यादृश इत्यादि । उत्तर का अभिप्राय यह है कि उक्त पद्यों में अनिश्चयोक्त्यदि वाच्यमिद्वि का अङ्ग हो तब न वह गुणीभूत होगी, वस्तुतः वाच्य-सिद्धि का अङ्ग वह नहीं है । कारण, वह व्यङ्ग्य वहाँ वाच्यसिद्धि का अङ्ग होता है, जिसके ज्ञान के बिना, जहाँ वाच्य की सिद्धि सवधा नहीं होती, अर्थात् व्यङ्ग्य-ज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय जहाँ वाच्यार्थ का साधक नहीं रहता वहाँ व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग कहलाता है और जहाँ वाच्य, किसी दूसरी तरह से भी सिद्ध किया जा सके, वहाँ व्यङ्ग्य वाच्य मिद्वि का अङ्ग नहीं होता ।

पूर्वोक्तसिद्धान्तास्वीकारेऽनुपपत्तिं दर्शयति—

अन्यथा हि ‘निःशेषव्युत्पन्नं स्तनतटम्’ इत्यत्राप्यमत्वासिद्धयङ्गत्वाद्दूतीरमणस्य वाच्यसिद्धयङ्गगुणोभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः ।

वाच्यमिति । वाच्यसिद्धयङ्गस्य वदगुणीभूतव्यङ्ग्यं तत्त्वापत्तेरित्यर्थः । व्यङ्ग्येन वाच्य-मिद्वेः संबन्धमात्रेण तस्य गुणीभावादीकारे ‘निःशेषे’त्यादौ दूतीमभोगरूपस्य व्यङ्ग्यस्याधमत्व-रूपवाच्यनाधक्यतासंबन्धेन गुणोभूतत्वम्, तत्प्रयुक्तं प्रकृतपदस्य मध्यमकाव्यत्वं च प्रस-ज्येतेति भावः । उक्तसिद्धान्तस्वीकारे तु नानुपपत्तिः, परन्तु दानाभिमतया दुःखदातृत्वेना-प्यर्थेनाधमत्वस्य मिद्वेः सम्भवन्त्या दूतीमभोगस्य व्यङ्ग्यस्यान्यसाधारणवाच्यमाधक्य-विरहात् ।

पूर्वोक्त नियम को न मानने पर होने वाली अनुपपत्ति का उल्लेख करते हैं—अन्यथा इत्यादि । यदि उक्त नियम न माना जाय, तब तो प्रथमानन में उदाहृत ‘निःशेषव्युत्पन्नं स्तनतटम्’ इत्यादि ध्वनि के उदाहरण में भी ‘दूतीरमण’-रूप व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग हो जायगा, क्योंकि वाच्य-नायक की अधमता को वह सिद्ध करता है । उक्त नियम के मानने पर वह आपत्ति नहीं होती । कारण, वाच्य-अधमता की सिद्धि प्रकारान्तर से भी वहाँ हो जाती है अर्थात् नायिका के दुःख-दर्द को न समझ कर बराबर उसे दुःख-दान से भी नायक की अधमता सिद्ध हो जाती है ।

उक्तसिद्धान्तानुसारेण 'मृद्वीके'ति पद्ये व्यज्यमानातिशयोक्तिर्न वाच्यसिद्धयङ्गमित्यु-
पपादयति—

प्रकृते च भगवन्नाम्नि योगसिद्धितादात्म्याध्यवसायरूपामतिशयोक्तिं विनापि
भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यप्राप्तसार्वज्ञ्यबुद्ध्याऽपि प्रश्लोषपत्तेर्न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

प्रकृते मृद्वीकेति पद्ये । भगवन्नामेति । भगवन्नाम्न उच्चारणस्य माहात्म्येन प्राप्त यत्
सार्वर्यम् तस्य बुद्ध्या ज्ञानेनेत्यर्थः । अयमभिप्रायः—मृद्वीकेति पद्ये वक्ता स्वकीय जीव
भगवन्नामोच्चारणबललब्धसर्वज्ञताक बुद्ध्याऽपि 'मधुरिमोद्गार कविश्लक्षित' इत्यादिना-
नाजन्ममृतान्तविषयक प्रश्नं कर्तुं शक्नोतीति तादृशप्रश्नात्मकस्य वाच्यस्य सिद्धिर्न
नियमतो भगवन्नामयोगसिद्धिविषययोस्तादात्म्याध्यवसायरूप व्यज्यमानामतिशयो-
क्तिमपेक्षते । एवञ्च न तदतिशयोक्तिरूप व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धेरङ्गमिति । 'तदग्राही'ति
प्रकारोदाहरणे सा व्यापसरस्तौत्यन्वदेतत् ।

उक्त नियम के अनुसार 'मृद्वीका' ' ' इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाली अति-
शयोक्ति वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं होती, इस बात का अब उपपादन करते हैं—प्रकृते
इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'मृद्वीका' ' ' इत्यादि पद्य में वक्ता अपनी आत्मा को
भगवन्नाम की महिमा से सर्वज्ञ बनी हुई जान कर भी उससे जन्मान्तर-वृत्तान्त-विषयक
प्रश्न कर सकता है अर्थात् जन्मान्तर-वृत्तान्त-विषयक प्रश्न—जो वाच्य है—उसकी सिद्धि
आत्मा के विषय में भगवन्नाम-माहात्म्य-मूलक सर्वज्ञता-ज्ञान से भी हो जाती है, अतः
उस प्रश्न की सिद्ध करने के लिये भगवन्नाम में योगसिद्धि के तादात्म्य का आरोप—
जिसको अतिशयोक्ति के रूप में अभिव्यक्त करते हैं—अपेक्षित नहीं है । अतः यहाँ व्यङ्ग्य
होनेवाली अतिशयोक्ति गुणीभूत नहीं है । तात्पर्य यह कि वह व्यङ्ग्य उस पद्य को अति-
वाच्य की श्रेणी में अवश्य ला सकता है ।

भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्येत्याद्यनुपदीकरीतेरनुमरणेऽपि उक्तापभिसजातीयामेषापत्ति-
माशङ्क्य निरस्यति—

एतेनासम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्नामोच्चारणमाहात्म्यप्रभवसार्वज्ञ्या-
ध्यवसायेऽपि स्थितेति स दोषस्तदवस्थ इति परास्तम् । भगवन्नामोच्चारणस्या-
चिन्त्यमाहात्म्यतायाः पुराणप्रसिद्धत्वात् ।

एतेनेति । बह्व्यमाणहेतुनेत्यर्थः । स्वामनि भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यप्राप्तसार्वज्ञ्यबुद्ध्या
तथा प्रश्न इति कथनेऽपि असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्विद्यत एव, भगवन्नामोच्चारणे
सर्वज्ञतासम्बन्धविरहिणि तादृशसम्बन्धकल्पनात्, तथा नातिशयोक्तिद्वयमपि वाच्यसिद्धय-
ज्ञतया गुणीभूतमेवेति कथनं न सम्यक्, वेदपुराणादौ भगवन्नामोच्चारणमाहात्म्यस्य
मकलाभीर्धार्यसाधकतायाः प्रसिद्धत्वात् । तथा च धर्तुत एव भगवन्नामोच्चारणे सर्वज्ञ-
तायाः सम्बन्ध न तु कल्पित स इत्यङ्गकथे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर्नामिति बोध्यम् ।
एवञ्च मृद्वीकेति पद्य रक्त समविना जगन्नामोच्चारणनेरुदाहरणं सम्भवतीति भावः ।

उक्त रीति के अनुसारण करने पर भी उसी प्रकार की अपत्ति दितलाकर पुनः खण्डन
करते हैं—एतेन इत्यादि । यदि आप कहें कि भगवन्नाम की महिमा से जीव को सर्वज्ञ
समझना भी एक प्रकार की (असम्बन्ध में सम्बन्धरूप) अतिशयोक्ति ही है अर्थात्
भगवन्नामोच्चारण का सर्वज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध वस्तुतः है नहीं, फिर जो सम्बन्ध
माना जायगा वह अतिशयोक्ति का ही एक प्रकार होगा और इस स्थिति में उक्त दोष
उग उसी तरह वर्तमान रहेगा अर्थात् दोनों ही अतिशयोक्तियाँ वाच्य-सिद्धि के लिए
' ' भूत हो जाएंगी, तो यह तर्क आप का समुचित नहीं, कारण, भगवन्नामोच्चारण का

माहात्म्य अचिन्त्य है अर्थात् उससे सब कुछ हो सकता है, यह बात पुराणों में जब प्रसिद्ध है, तब भगवान्मोक्षारण का सर्वज्ञता से संबन्ध विद है, अतः यहाँ असंबन्ध में संबन्ध-रूप अतिशयोक्ति का कोई प्रसा ही नहीं आता ।

मृद्रीक्रेतिपद्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युपेत्योदाहरणान्तरमनन्तरयति—

अथवा मास्तु प्रागुक्तमुदाहरण वस्तुनोऽलङ्कारव्यञ्जकतायाः, इदं तु भविष्यति—

‘न मनागपि राहुरोधशंका न कलङ्काधिगमो न पाण्डुभावः ।

उपनीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि । ते मुखस्य नित्यम् ॥’

सखी नायिका फययति—अयि भामिनि भामिनि ! ते तव, मुखस्य आननस्य, कापि अन्निर्वचनीया शोभा, परितः सर्वतोभावेन, उपनीयते वर्धत एव । (अथ) मनागपि ईषदपि राहुरोधशङ्का राहो रोधस्य आक्रमणस्य, शङ्का भयं, नास्ति, न वा कलङ्काधिगमः कलङ्गमन्धो वर्धते, पाण्डुभाव पाण्डुताऽपि नास्म्येव । राहुप्रासप्रासमुक्तस्य, निकलंकस्य, सुवर्णवर्णस्य तवाननस्य मयमा सर्वतोभावेन मद्रा वर्धमानैव विद्यते न तु कदापि चन्द्रवत् क्षीयत इति भावः ।

‘मृद्रीका “... इत्यादि पद्य को गुणीभूत व्यङ्ग्य मान कर स्वतःसंभवी वस्तु से भलंकार-ध्वनि का दूसरा उदाहरण उपनिषत् करते हैं—अथवा इत्यादि । स्वतःसंभवी वस्तु जहाँ भलंकार की व्यञ्जिका होती है, वैसे उदाहरण यदि पूर्वोक्त पद्य (मृद्रीका “... इत्यादि) नहीं हो सकता है, तो न होवे ‘न मनागपि “... इत्यादि पद्य तो होगा । यह पद्य सखी के द्वारा नायिका के प्रति कहा गया है । सखी कहती है कि हे सुन्दरि ! तेरे मुख की कोई (अन्निर्वचनीय) शोभा सब तरह से सदा चढ़ती ही रहती है । इस मुख में, न तो राहु के आक्रमण का भोका भी भय है, न कलङ्क का संबन्ध है और न पाण्डुरता (सफेदी) है ।

उपपादयति—

अत्र राहुरोधशङ्काभावादभिनिरपेक्षैर्वस्तुभिर्न्यतिरेकालंकारो व्यज्यते ।

अत्रेति । न मनागपीत्यादिपद्य इत्यर्थः । राहुरोधेति । कलङ्काधिगमाभावपाण्डुत्वाभावादपिपदप्राप्तौ । निरपेक्षैरिति । व्यङ्ग्यव्यतिरेकोदात्तो नैरित्यर्थः । अत्र राहुरोधशङ्काभावादिति वस्तुनि वाच्यरस्या वर्त्यमानानि तात्पर्यानि सन्ति, येषा माधनाय व्यङ्ग्यपद्यापेक्षा नास्ति अतस्तादृशैर्वस्तुभिः स्वतः समविधि उपमाभाविन्हीरपेक्षया उपमेयस्य मुखस्याविश्वरूपो व्यतिरेकालंकारो ध्वन्यत इति पद्यमेतद्व्यङ्ग्येकदाहरणं सम्पद्यत इति भावः ।

मृदुतोपयोगी विषयों का उपपादन करने हैं—अथ इत्यादि । उक्त पद्य में ‘राहु के आक्रमण का भय न होना’ आदि ऐसी ऐसी उदात्तों वस्तुएँ हैं जिनकी निद्रि में व्यङ्ग्य (व्यतिरेकालंकार) की अपेक्षा नहीं होती, अतः उन वस्तुओं के द्वारा जो व्यतिरेकालंकार (उपमान चन्द्र से उपमेय मुख में आधिक्य) ध्वनित होता है, वह इस पद्य में ध्वनि-काव्य-व्यवहार—का कारण होता है ।

स्वतः समविनाऽऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिमुदाहरति—

‘नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजिब्रजाः,

पठन्ति विरुदावलीमदितमन्दिरे वन्दिनः ।

इदं तदवधि प्रभो ! यदवधि प्रवृद्धा न ते,

युगान्तदहन्तोपमा नयनकोणशोणयुतिः ॥’

कवि कमपि नृपविशेषं वक्ति—हे प्रभो सर्वसमर्थ ! अहितमन्दिरे त्वदीयशत्रु-
भवने, मददन्तिन मदशालिने वज्र, मदपदे अर्श आशयजित भाव । नदन्ति चोत्तुर्बन्ति,
वाजिज्वा तुरगततय, परिलसन्ति शोभन्ते, वन्दिन स्तुतिपाठका, विहदावली स्तुति-
परम्परा, पठन्ति गायन्ति । परमिदं सर्वं मदमत्तदन्तिनादादिक तदवधि तावत्कालपर्यन्त
भवतीति शेष, यदवधि शत्रुमालपर्यन्तम्, युगान्तदहनोपमा प्रलयकालिकाभितुरया, ते
तव, नयनशोणशोणयुति नेत्रकोणारुणकाति, न प्रयुद्धा भगुणचितेत्यर्थ ।

अथ स्वतःसमवी अलङ्कार से वस्तुत्पत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—नदन्तीत्यादि ।
कोई कवि राजा से कहता है—हे प्रभो ! आपके शत्रुओं के भवन में मदमत्त राज अधिकार
करते हैं, अर्शों की श्रेणियाँ शोभित होती हैं, और वजीजन विहदावली (स्तुति) पढ़ते हैं ।
परन्तु ये सब तब तक हैं, जब तक प्रलयकालिक अग्नि-शिखा के समान, आपके नेत्र कोण
की अरुण आभा नहीं जाती है ।

उपपादयति—

अत्र युगान्तदहनोपमया यदैव सव कोपोदयस्त्वदैव रिपूणां सम्पदो भस्म-
साक्षिष्यन्तीति वस्तु व्यज्यमानं राजविषयकरतिभावेऽङ्गमपि बाध्यापेक्षया
सुन्दरवाद् ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

नदन्तीतिपद्ये युगान्तदहन उपमानम्, नयनकान्तिरूपमेवभूता, तदीरुपमा न्व,
बाध्यानि, तथा चोपमया तव कोपोदवाव्यवहितोत्तरक्षण एव शत्रुसम्पत्तयो भस्मसात् नवि-
ष्यन्तीति वस्तु व्यज्यते, तच्च व्यङ्ग्य यद्यपि प्रधानव्यङ्ग्ये कविनिष्ठराजविषयकरतिभावे
पोषकत्वादङ्गम्, तथापि बाध्यापेक्षयाऽऽधिकवमत्कारशान्तिव्याग्रधानमिति ध्वनिव्यवहार-
भिधान सपद्यत इति भावः । 'बाध्यातिशयमिन्व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्' इति प्राचीना-
मित्तवध्वनिलक्षणानुरोधिवचनमिदं पण्डितराजस्य । 'शब्दायौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कम-
प्यर्थमभिव्यङ्ग्यस्तदायम्' इति स्वकृतध्वनिलत्रये तु 'गुणीभावितात्मानौ' इति विशेषणो-
नापराङ्म्यङ्ग्यस्य निरास एव । 'कृष्णपक्षाधिकृति इति शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वन्युदाहर-
णोपपादवाचकस्य स्फुटमेतत् ।

उक्त पद्य में अपेक्षित विषयों का उपपादन करते हैं—अथ इत्यादि । इस पद्य में
'प्रलयकालिक अग्नि शिखा के समान नेत्रकोण की अरुण आभा' यह जो वाच्य उपमा
अलङ्कार है, उससे यह वस्तु व्यङ्ग्य होती है कि 'जमी आपके हृदय में क्रोध का उदय
होगा, तभी शत्रुओं की सारी सम्पत्तियाँ भस्म हो जायेंगी ।' यद्यपि यह व्यङ्ग्य कविगत
राज-विषयक प्रेमभाव—जो इस पद्य से प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता है—का अङ्ग-पोषक
है, अतः उसकी अपेक्षा गौण है, तथापि वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होने के
कारण प्रधान है, अत एव इस पद्य में ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य के व्यवहार करने का
कारण होता है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यपदमस्यासङ्ग्य निरस्यति—

न च भस्मीकरणपटुत्वरूपस्य माधारणधर्मव्योपमानिष्पादकत्वाद् व्यङ्ग्यस्य
वाच्यसिद्धयङ्ग्यत्व शङ्क्यम्, उपात्तरोपत्वरूपसाधारणधर्मणापि तन्निष्पत्ते
सम्भवात् । उपमेयीभूतशोणयुतिगतस्य भस्मीकरणपटुत्वरूपसाधारणधर्मस्यो
पमानिष्पादकत्वेऽप्युपमेयव्यङ्ग्यकोपात्तभस्मीकरणपटुत्वरस्यानवगावाच ।

व्यङ्ग्यस्येति । व्यङ्ग्यशरीरघटकतया तस्य व्यङ्ग्यत्व बोध्यम् । तन्निष्पत्तेरिति ।
उपमानिपत्तेरित्यर्थ । विनिगमनाविरहेऽप्याह—उपमेयीभूतेति । उपमेयव्यङ्ग्यकोपेति ।

उपमेयेन नयनकोणद्युत्या, व्यङ्ग्यो य कोपरतदुगत्यर्थ, अतथात्वादिति । उपमाया अन्वि-
 त्वाद्भूत्वादित्यर्थः । उपमानोपमेययो युधान्तदहननयनकोणद्युत्यो साधारणो धर्मो
 भस्मोकरणपटुत्वम्, तच्च न वाच्यम्, अपि तु 'रिपुसपदो भस्मसाद्भविष्यन्तीति व्यङ्ग्यवस्तु-
 शरीरप्रविष्टतया व्यङ्ग्यं सदेव वाच्यामुपमा निपादयति, तथा च वाच्यसिद्धेरङ्गभूतं
 तद्व्यङ्ग्यं कथं ध्वनिव्यपदेशहेतुरिति शङ्कलायय । भस्मीकरणपटुत्वमिह न तयोः
 साधारणो धर्मः, अपि तु वाच्य शोणत्वमेव, यथा युधान्तदहनः शोणस्तथा नयनकोणद्युति-
 रित्यभिप्रायान् । तथा च तद्व्यङ्ग्यं भस्मोकरणपटुत्व न वाच्यमिदिक्रममिति ध्वनिव्यपदेश-
 हेतुर्भवितुमर्हतीति च समाधानाय । ननु भस्मीकरणपटुत्वशोणत्वयोरुभयो साधारण-
 धर्मत्वसम्भवे विनिगमनाविहेण भस्मीकरणपटुत्वस्यैव साधारणधर्मता कुतो न ? तथा च
 पुनर्गुणीभूतत्वांका तदवस्थैवेति चेन्न । भस्मीकरणपटुत्वं ययोपमेयभूताया नयनकोणद्युते-
 र्धर्मस्तत्त्वं तेनोपमेयेन व्यङ्ग्यो य कोपरतत्त्वापि स साधारणधर्मः । एवञ्च नयनकोणद्युति-
 निष्ठं भस्मोकरणपटुत्वमेनोपमानिर्वर्तकम्, न तु तद्व्यङ्ग्यधर्मेतिष्ठम्, तस्य तस्मिन् शृणु-
 पस्थिते । तथा च कोपगतभस्मीकरणपटुत्वान्मरुं व्यङ्ग्यमादाय ध्वनित्वेन बाधित्याश-
 नादिति द्वितीयस्योत्तरस्याभिप्रायः ।

यदि आप कहें कि यहाँ प्रलयकालिक अग्निरूप उपमान और नयन-कोण की अरुण-
 कान्ति रूप उपमेय में साधारण धर्म (उपमालंकार का एक अंश) 'भस्म करने की क्षमता'
 है, जो वाच्य नहीं है, अपि तु व्यङ्ग्य है और व्यङ्ग्य होकर ही उपमा अलंकार का संपादक
 होता है । ऐसी स्थिति में वाच्य (उपमा) की सिद्धि में अङ्गभूत-अत एव शोण वह
 व्यङ्ग्यध्वनि कहे जाने का कारण कैसे होगा ? ता यह उचित नहीं । कारण, 'भस्म करने
 की क्षमता' को यहाँ मैं साधारण मानता ही नहीं । मैं वाच्य अरुणता को ही साधारण
 धर्म मानता हूँ । अर्थात् 'जिम तरह प्रलयकालिक अग्नि अरुण होती है, उसी तरह नयन-
 कोण की कान्ति अरुण है' यही कवि का अभिप्राय है । ऐसी स्थिति में 'भस्म करने की
 क्षमता' रूप व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का अङ्ग नहीं होता अतः ध्वनि कहे जाने का हेतु होगा ।
 हूतने पर भी यदि आप कहें कि जब दोनों (भस्म करने की क्षमता और अरुणता) धर्म
 साधारण हो सकते हैं, तब 'भस्म करने की क्षमता' को ही क्यों न साधारण धर्म माना
 जाय ? तो मैं कहूँगा-मानिए उसी को साधारण धर्म, तथापि कोई छति नहीं । कारण,
 यहाँ दो तरह की 'भस्म करने की क्षमता' है—एक उपमेय नयन-कोण-कान्तिगत और
 दूसरी, उस उपमेय से व्यङ्ग्य कोपगत । उन दोनों में उपमेयगत उक्त धर्म भले ही
 उपमासंपादक होने के कारण वाच्य-मित्र का अङ्ग होवे पर व्यङ्ग्यकोपगत वह धर्म
 किसी का अङ्ग नहीं है, क्योंकि उपमासंपादनक्षण में उसकी उपस्थिति ही नहीं रहती,
 अतः उस कोपगत-भस्मीकरणपटुत्वरूप प्रघात व्यङ्ग्य के आधार पर इस पद्य को
 ध्वनिकान्य कहने में कोई बाधा नहीं होती ।

उदाहरणान्तरमाह—

'निर्मिय द्मारुहाणामतिघनमुदरं येपु गोत्रांगतेपु
 द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त धित्सन्ति पादाभ् ।
 यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणौ दाहिमीबीजचुद्धया
 चञ्चूचाञ्चन्यमञ्चन्ति च शुक्रशिशवस्तैऽशवः पान्तु भानोः ॥'

कवि सूर्यकिरणान् स्तौति—द्मारुहाणा तट्टणाम्, अतिघनम् निमिडतरम्, उदरं
 मन्यभागं, निर्मिय विदग्ध, गोत्रा भूमि, गतेषु प्राप्तेषु, येपु किरणेषु, द्राघिष्ठस्य अतिदीर्घस्य,
 स्वर्णदण्डस्य सुवर्णरश्मितदण्डस्य, प्रमेण भ्रान्त्या गतं पूर्णं मनोऽन्तःकरणं येषा तादृशा-

सन्त शुक्लशिशवः शुक्लशिवः, हन्त आर्यम्, पादान् स्वचरणान् धिन्सन्ति स्थापयितु-
मिच्छन्ति । सधनपल्लवशालितरुविवरमाणेषु भुवमवतोरिषु सूर्यकिरणेषु तिर्यक् प्रसृतरवर्ण-
दण्डभ्रान्त्या तिर्यक्प्रसृतशालाम् स्विन्त्यभ्यासिनः शुक्लशिशवचरणान् स्थापयितुमिच्छन्तीति
भावः । किञ्च (ते एव शुक्लशिशवः) यैः किरणैः समिधे मिश्रिते (अत एवाद्यवर्णैः)
दलानां पत्राणाम्, अत्र पुरोभागे, यः प्रचलध्वलो, हिमकणः सरिम्न्, दादिमीवीजदुग्धा
दादिमफलबीजभ्रमेण, चञ्चूचाख्यम् चञ्चुचपल्लवम्, अद्यन्ति कुर्वन्ति, ते भानो सूर्यस्य,
अश्वः किरणाः, पान्तु रक्षन्तु । अस्मान् युष्मान् वेति शेषः । नागैस्तु द्राधिष्ठेयस्य
जनविरोपणत्वमास्थाय 'पादान् धिन्सन्ती'त्यस्य सूर्यकिरणान् ग्रहीतुमिच्छन्तीति
व्याचक्ष्यौ । अत्र वाच्यो भ्रान्तिमदलङ्कारः ।

स्वतःसमवी अलङ्कारः से वस्तुध्वनि का एक दूसरा भी उदाहरण देते हैं—निर्मिथ
इत्यादि । कवि सूर्य-किरणों की स्तुति करता है—सूर्यों के अति धने मध्य-भाग को भेद
कर जिनके भूतल पर आ जाने के बाद, शुक्रों के बड़े विशाल-सुवर्ण-दण्ड के भ्रम से
परिपूर्ण मनवाले होकर-अर्थात् 'वे सुवर्ण के दण्ड हैं' इस तरह के मानसिक भ्रम के
कारण-पैर रखने लगते हैं, और (वे शुक्र के बच्चे ही) जिनसे मिश्रित पत्तों के अधःभाग
में स्थित चञ्चल हिमविन्दुओं पर अमार के दाने समझ कर खोंख खटाने लगते हैं वे
सूर्य-किरणें (हमारी जयवा तुम्हारी) रक्षा करें ।

उपपादयति—

अत्र भ्रान्तिभूतां तिरश्चामप्येवमानन्दं जनयतीति जगदानन्दहेतुर्भगवानिति
व्यज्यते । एषरूपाया भ्रान्तेर्लोकैऽपि संभवात्स्वतःसंभवित्यम् ।

भ्रान्तिभूतामिति । भ्रान्तानामित्यर्थः । तिरश्चामपीति । अपिपदेन 'वा कथा मनुष्या-
णाम्' इत्यर्थो द्योत्यते । अत्र वाच्येन भ्रान्तिमदलङ्कारेण 'तिरश्चामपीत्यादि मूलोक्त वस्तु
व्यज्यते, एतादृशी भ्रान्तिर्लोकैऽपि संभवतीति तस्या स्वतःसंभवित्वं विशेषम् । एवञ्च
स्वतःसंभाविनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणमेतदिति भावः ।

अब उक्त पद्य में प्रकृतोपयोगी त्रिपत्तियों का उपपादन करते हैं—अथ इत्यादि । यहाँ
यह स्पष्ट होना है कि जब भगवान् सूर्य आन्तः पक्षियों को भी इसना आनन्द देते हैं,
तब वे (सूर्य) अवश्य ही सत्तार के सुखों के निदान हैं । इस तरह का भ्रम लोक में भी
सम्भावित है—अर्थात् काश्चनिक नहीं है—अतः यह वाच्य 'भ्रान्तिमत्' अलङ्कार स्वतः
समवी है । सारांश यह कि भ्रान्तिमत् अलङ्कार से उक्त वस्तु की अभिव्यक्ति होने के
कारण यह पद्य स्वतः समवी अलङ्कार से वस्तुध्वनि का उदाहरण होता है ।

स्वतःसंभाविनाऽलङ्कारेणालङ्कारध्वनिमुदाहरति—

‘उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिभर्तृण ।

मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन ॥’

कविचन्द्रोदय वर्णयति—इन्दोद्यन्मत्तो मण्डलम् गोलवम्, उदितम्—नभसि दृष्टि-
गोचरमभवत् । उदितमित्यत्र कर्तारि च । वियोगिनाम् वियोगिनश्च वियोगिनश्चरेति 'पुमान्
द्वियेत्येत्थोप, तोषा, वर्गेण समूहेन, सद्यः उदयसमकालमेवेति यावत्, रुदितम्, न्युक्ते
भावे क्त । च पुनः सख्येन सखाया, ललनानां स्त्रीणाम्, चूडामणि शिरोधार्यमिति
यावत्, शासनं यस्य तेन, मदनेन वामदेवेन, मुदितम् मोदोऽनुभूत इत्यर्थः ।

अथ स्वतःसमवी अलङ्कार से अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण उपस्थित करते हैं—
उदित इत्यादि । कवि चन्द्रोदय का वर्णन करता है—ज्यों ही चन्द्रमण्डल का उदय हुआ,

ह्योही विरही और विरहिणियों का दल रो उठा तथा सभी कामिनियों पर शासन करने वाला कामदेव लिख उठा—उमने प्रसन्नता का अनुभव किया ।

उपपादयति—

अत्र समुच्चयेन क्रियायौगपद्यात्मना कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययात्मिकातिशयोक्तिः ।

अत्र 'उदितम्' इति पद्ये । कार्यकारणेति । कार्यकारणयोर्गौर्वापर्यम्-पूर्वपश्चाद्भावस्तस्य विपर्ययो नै परीन्यम् प्रकृते समकालीनत्वमिति यावत्, आत्मा स्वल्पं यस्या' सेव्यर्थ । अतिशयोक्तिरित्यस्य व्यज्यते इति शेषः । अत्र 'उदितम्', 'वदितम्', 'मुदितम्' इति क्रियाप्रत्ययस्य वाच्यं यौगपद्यम् (समकालीनत्वम्) समुच्चयालङ्कारः, स्वन संभवी, तेनेन्दु-मण्डलोदयस्य कारणतया पूर्वभाविन, रोदनमोदयोश्च कार्यतया पश्चाद्भाविनो समकालिकत्वकथनान्मसोऽतिशयोक्त्यलङ्कारो ध्वन्यत इति स्वन संभवित्वालङ्कारेणालङ्कारध्वनिरत्र सम्पद्यते इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में 'उदित होना, रोना और मुदित होना' इन तीन क्रियाओं का एक साथ होना समुच्चयालङ्कार कहलाता है । जो स्वतन्त्र-सम्भवी वाच्य है, उससे कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलङ्कार व्यवहृत होता है—अर्थात् यहाँ जो पदार्थ वर्णित हैं, उनमें चन्द्रोदय कारण है और रोना आदि कार्य, अतः चन्द्रोदय की प्रथमता और रोदन आदि की पश्चाद्भाविता निश्चित है, परन्तु यहाँ उन सबों के साथ-साथ होने का वर्णन किया गया है—यह एक प्रकार की अतिशयोक्ति है ।

एषु मृतःसंभवी व्यञ्जकः ।

व्यञ्जक इत्यत्र जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । पूर्वोक्तेषुदाहरणेषु व्यञ्जका अर्था बहिरपि सम्भाष्यमानत्वात्स्वतन्त्रमविन सन्तीति भावः ।

पूर्वोक्त उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ ऐसे हैं, जो वाद्य जगत् में भी हो सकते हैं अतः वे स्वतन्त्र-संभवी (व्यञ्जक) कहे जाते हैं ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—

‘तद्वयधि कुशली पुराणराक्षस्मृतिरावचारविचारजो विवेकः ।

यद्वयधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः ॥’

कविर्विमृशति—पुराणानां शास्त्राणां स्मृत्यान्वयं यत्तस्य यथायं रमणीयो विचारस्तन्नन्यो विवेकः संसारपरमात्मनोर्भेदज्ञानम्, तद्वयधि तात्कालपर्यन्तम्, कुशली अनुशुण-स्तिष्ठतीति यावत् । यद्वयधि यावत्कालपर्यन्तम्, हरिणकिशोरस्य भृगुरावकम्, रगिव हन् यस्यान्तस्या मृगनदनाया इति यावत्, दृशो नयनशै, विलासः कटाक्षः, चित्ते हृदये, पदं चरणं, न दधाति स्थापयतीत्यर्थः । रमणीकट्याक्षपहतचेतसं भुक्तो विवेको नश्यतीति भावः ।

अथ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण दिखलाते हैं—‘तद्वयधि’ इत्यादि । कवि कहता है—संस्कृतों पुराणों, शास्त्रों तथा स्मृतियों के सुन्दर विचारों से उपपन्न विवेक (सत्तार और परब्रह्म में भेद-ज्ञान) तभी तक सकुशल-अनुशुण रहता है, जब तक मृग-शावक-नयना नायिका के नयनों का विलास (कटाक्ष आदि) हृदय में स्थान ग्रहण नहीं करता ।

उपपादयति—

अत्र कामिनीदृग्विलासे चेतसि पदमर्पितवती विवेकस्य नास्ति कुशल-

मिति वस्तुना दृग्बिलासकर्तृकपदार्पणस्य लोकसिद्धत्वाभावात्कविप्रौढोक्ति-
निष्पन्नेन मुनिपण्ये तस्मिन् का कुशलचर्चा विवेकस्येति वस्तु व्यज्यते ।

मुनिपण्ये मुस्यते । अत्र कामिनीदृग्बिलासो यदा हृदये पद निधत्ते तदा विवेकस्य
कुशलम् (निग्रह्यहा स्थिति) नास्तीति वस्तु वाच्यम्, तच्च कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धम्,
अचेतनदृग्बिलासे पदार्पणमूर्तत्वस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । तथा च तादृशेन तेन वस्तुना
'नायिकानयनविलासस्य हृदये पदार्पणमात्रं यदि विवेकनाशस्तर्हि मुस्यते तस्मिन् विवेक-
सत्तायाश्चैव के'ति वस्तु व्यज्यमान सन् भवत्यस्य पश्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुरिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'कामिनी का नयन-विलास जब हृदय में पैर
रखता है, तब विवेक का कुशल नहीं', यह जो वस्तु यहाँ वाच्य है, वह कवि-कल्पना-
मात्र-भूत है वास्तविक नहीं, क्योंकि अचेतन-नयन-विलास का हृदय में पैर रखना
लोकरीति से असम्भव है । इस तरह कविप्रौढोक्तिसिद्ध उस भयं से यह वस्तु व्यक्त
होती है कि—'जब नायिका-नयन-विलास के हृदय में पदार्पणमात्र से विवेक का
अकुशल होने लगता है, तब उसके वहाँ मुसियर हो जाने पर विवेक की कुशल-चर्चा ही
चपा की जा सकती है ।'

शिष्यबुद्धिवैराग्योदाहरणाभासस्य प्रदर्श्य निरस्यति—

‘कस्मै हन्त फलाय सज्जन ! गुणप्रामाज्जने सज्जसि,
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम यच्च पथ्यं समाकर्णय ।
ये भावा हृदय हरन्ति नितरां शोभाभरैः सम्भृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुपो दैनदिनं वर्तनम् ॥’

कवि कमपि पृच्छति—हे सज्जन ! कस्मै फलाय गुणप्रामाज्जने गुणसमूहोपाज्जने,
सज्जसि तत्परोऽसि । हन्त इति खेदसूचकम् । स्वात्मोपस्करणाय स्वात्मानं भूययितुं, चेत्
यदि, गुणप्रामाज्जने सज्जमीति शेषः, तथा पथ्यं रितिकम्, मम मदीयं, यच्च वचनम्,
समाकर्णय शृणु । किं तत् श्रोतव्यमित्याह—ये भावा इति । शोभाभरैः सौन्दर्यानुद्भूतैः,
सम्भृता परिपूर्णा, ये भावा पदार्था, नितरामन्यन्तम्, हृदय मनः, हरन्ति वशीकुर्वन्ति,
तैरेव, गुणपदव्यपदेश्यै पदार्थै न तु कुरुपेगुणैरित्यर्थः, कलेवरपुपः देहपोषकस्य,
उदरभरेरिति यावत्, अस्य वर्तमानस्य, कले कलियुगस्य, दैनंदिनम् प्रात्यहिकम्, वर्तनम्
श्रुतिः, भवतीति शेषः । हे मज्जन ! निजालोक्यतासम्पादनाय गुणगणवरणे तव प्रबला
श्रुतिर्न केवल विपला, अपितु अनिष्टकरी, यतः दुःशिक्षिरोमणिरयं कलिः हृदयहारिणो गुणा-
नेव जग्न्वा स्वकीयं वपुः पुण्यति, अर्थात् कलियुगावताराणां दुर्जनानामात्ममणं गुणिनामेवै-
परि प्रथमं भवति अतोऽकाल एव प्रायो गुणिना मरणं जायते इति भावः । नागेशस्त्वत्र
'सज्जनगुणप्रामाज्जने' इति समस्त पदं मत्वा सज्जनानां गुणप्रामस्य अर्जने इति व्याख्या-
मकार्षीत् ।

अब यहाँ एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जाता है, जिसमें आपाततः कवि
प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह है नहीं—कस्मै
इत्यादि । कवि किसी से पूछता है—हे सज्जन ! तू किस फल के लिये गुण-गण के उपाज्जन
में सहन हो रहा है—अर्थात् अन्य आवश्यक कार्यों से भी विमुख होकर रात-दिन गुण
प्राप्ति के लिये ही जो तू तपसर रहा करता है, यह किसलिये ? क्या इसलिये कि गुणों
से आत्मा शोभित होती है अर्थात् अपनी आत्मा को अलंकृत करने के लिये गुणों का
उपाज्जन करता है ? यदि यही बात हो तो मैं तेरे ही हित के लिये एक बात कहता हूँ,

उसे सुन । यह यह है कि जो वस्तुएँ शोभा-समूह से परिपूर्ण होने के कारण हृदय-हारिणी होती हैं—जिन वस्तुओं के दर्शन से मानव-मन मुग्ध हो जाता करता है, उन्हीं वस्तुओं से शरीर-रोषक—पेट—इस कलियुग का दैनिक आहार सम्पन्न हुआ करता है । तात्पर्य यह हुआ कि आभ-शोभा-वर्धक गुणों के उपार्जन में किसी की प्रवृत्ति केवल धर्म ही नहीं होती, अपितु अनिष्टकारिणी भी होती है, क्योंकि यह दुष्टराज-कलियुग मनोरम गुणों को ही रमा खाकर जीता है अर्थात् कलियुगावतार दुर्जनो का आक्रमण पहले गुणियों के ऊपर ही होता है, अतएव गुणियों का मरण प्रायः असमय में ही हुआ करता है, अतः हे सज्जन ! इस गुण ग्रहण प्रवृत्ति को छोड़ दो । नागेश यहाँ 'सज्जन पद' को सम्योधान नहीं मानते । वे 'सज्जन गुण-प्राप्ताजने' इस पद को समस्त मानकर 'सज्जनों के गुण-गणों के उपार्जन में' ऐसा अर्थ करते हैं । वह अर्थ भी असत्य नहीं है ।

उपपादयति—

इह यद्यपि रमणीयाः पदार्थाः कलेर्नित्यमदनीया इति वस्तुना प्रौढोक्तिसिद्धेन मर्तु कामयसे चेद् गुणप्राप्ती यतस्त्वेति वस्तु व्यज्यते, तथापि तस्य पर्यायोक्तात्मनो वाच्यपेक्षया सुन्दरताविरहाद् गुणीभूतत्वमेव । अलंकारा हि वाच्य-सौन्दर्यसाराः प्रायशः स्वान्तर्गतं प्रतीयमानं पृष्ठतः कुर्वन्ति ।

'कस्मै हन्त' इति पद्ये रमणीया पदार्थाः गुणपदव्यपदेशिनः कलेर्भोज्या इति कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु वाच्यम्, तदेव च 'मर्तु कामयसे चेद् गुणप्राप्ती यतस्व' इत्याकारेण मङ्गलान्तरेण व्यङ्ग्यम्, अतस्तद्व्यङ्ग्य पर्यायोक्तालंकाररूपम्, 'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वच' इति तल्लक्षणात् । एवञ्च वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वोभयपदशब्दत एकस्यैव वस्तुन केन रूपेणाधिकवमत्कारित्वम् इति विचारे क्रियमाणे वाच्यत्वेनैवेति निर्णयोऽनुभवसाक्षिणी जायते । यतो वाच्यार्थसौन्दर्यप्रधाना अलंकारा रसमभ्यपतित व्यङ्ग्यं वमत्कारार्थे पञ्चापदं कुर्वन्ति । तथा चात्र वर्तमानमपि व्यङ्ग्य गुणीभूतमेवेति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनैव व्यवहारो युक्तो न तु अतिविवेकेति भावः ।

उपपादन करते हैं—इह इत्यादि । एक पद्य में 'गुण कहे जानेवाले रम्य पदार्थ कलियुग के खाद्य हैं' यह कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु वाच्य है और वही वस्तु 'भारना चाहते हो तो गुणों की प्राप्ति के लिये यत्न करो' इस तरह की निष्ठ भंगी से व्यङ्ग्य भी है । अतः यह व्यङ्ग्य 'पर्यायोक्त अलंकार' रूप हो जाता है, क्योंकि 'वाच्य-वाचकभाव से अभ्य भंगी के द्वारा किम् गद् वस्तुवर्णन' को ही 'पर्यायोक्त अलंकार' कहते हैं । ऐसी स्थिति में जब एक ही अर्थ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों रूपों में अवगत हो तब—उन दोनों में से किस रूप में वह अर्थ अधिक वमत्कारी है, यह विचार जब प्रस्तुत होगा, तब यही कहा जायगा कि वाच्यरूप में कारण, अलंकारों में वाच्यार्थवृत्त वमत्कार ही प्रधान रहता है, अतः वे (अलंकार) अपने मध्य में उनके हुए व्यङ्ग्य के वमत्कार को प्रायः दबा देते हैं । सारांश यह है कि यहाँ का व्यङ्ग्य गुणीभूत है, अतः उसके बल पर इस पद्य को गुणीभूत-व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य ही कहा जा सकता है, अति नामक उत्तम काव्य नहीं ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धेनालंकारेण वस्तुव्यनेरुदाहरणमाह—

'देवाः के पूर्वदेवाः समिति सम नरः सन्ति के वा पुरस्ता—

देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिमटपृथनावर्तिनः क्षत्रवीराः ।

यावज्जायति राजन्नयननिपयतामन्तकत्रासिमूर्ते !

मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणुचिस्त्वत्कृपाणो मुजद्गः ॥'

कवि क्वापि राजानं स्तौति—हे अन्तकत्रासिमूर्ते ! अन्तकनत् यमवत्, त्रासिनी

वियते, भ्रमात्मकज्ञाने विशेष्यभूता या कीर्ति तत्राविद्यमानं यदुग्धत्वम्, तत्प्रकारकज्ञानत्व-
रूपभ्रमत्वेन रूपेण चाक्षुषज्ञानविशेषस्य व्यङ्ग्यत्वात् स्नानन्दावलोकनत्वेन रूपेण च तस्य
व्यङ्ग्यकत्वात् । वाच्यव्यङ्ग्ययोरेक्येऽपि वाच्यतावच्छेदकव्यङ्ग्यतावच्छेदकयोर्भेदेन उक्तप्र-
मस्य व्यङ्ग्यत्वमप्युपपन्नमेव । कीर्तिरूपविशेषाश्रितदुग्धत्वप्रकारकप्राप्तित्वस्नानन्दावलोकन-
त्वयो भ्रमशो व्यङ्ग्यतावच्छेदकवाच्यतावच्छेदकयोर्भेद स्पष्ट एव । एकस्यापि वस्तुनो भिन्न-
रूपेण वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वयोर्न विरोध इति भावः ।

उक्त शका का उत्तर दिया जाता है—वस्तुन इत्यादि । यद्यपि उक्त रीति से व्यङ्ग्य
तथा व्यञ्जक दोनों ही चाक्षुषज्ञानरूप एक वस्तु सिद्ध होते हैं, तथापि उन दोनों
(व्यङ्ग्य तथा व्यञ्जक) में भेद है—कीर्ति को दूध समझना ही तो भ्रम है, अतः उस
भ्रम में विशेष्य है कीर्ति और प्रकार है दुग्धत्व । इस तरह से व्यङ्ग्य चाक्षुषभ्रम का
आकार होता है 'कीर्ति को दूध समझना' । और व्यञ्जक चाक्षुषज्ञान का आकार होता है
'कीर्ति को सहर्ष देखना' । अब देखिए कि इन दोनों में भेद है अथवा नहीं ? आपको भी
कहना पड़ेगा कि 'है' । अब रही दूसरी बात वह यह कि वाच्य, व्यङ्ग्य कैसे हो सकता है ?
उसका उत्तर यह है कि एक भी पदार्थ अवच्छेदक-भेद से वाच्य और व्यङ्ग्य हो सकता
है अर्थात् जिस रूप में वाच्य होता हो, उससे भिन्नरूप में वही पदार्थ व्यङ्ग्य भी हो
सकता है, अतः यहाँ चाक्षुषज्ञानरूप एक पदार्थ भी रूपभेद से वाच्य तथा व्यङ्ग्य होता
है अर्थात् वाच्य होता है 'सहर्ष अवलोकन' के रूप में और व्यङ्ग्य होता है 'दूध समझने'
के रूप में ।

उक्तार्थे प्राचा सम्मतिं दर्शयति—

तथा चाहु—'यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते' इति ।

आहुरिति । मम्मटमहा इति शेषः । यदेवेति । यद्वस्तु उच्यते वाच्यतया वर्ण्यते,
तदेव वस्तु व्यङ्ग्यमपि, परन्तु यथा येन प्रकारेण, व्यञ्जनावृत्तिसम्पत्त्वम्, तथा तेन
प्रकारेण न उच्यते अभिप्रायसिद्ध्यवशेत्पर्यं । पर्यायोक्तकारनिरूपणे मम्मटमहोदय
वाच्यप्रकाशप्रयोगतेयं पक्तिः । रूपभेदे एकस्यापि वस्तुनो वाच्यता व्यङ्ग्यता च सम्भव-
तीति तदर्थः ।

उक्त अर्थ में प्राचीनों की सम्मति दिखाई जाती है—तथा चाहु इत्यादि । मम्मट ने
कार्यप्रकाश के अलंकार प्रकरण में पर्यायोक्त-अलंकार-निरूपण के प्रसङ्ग पर 'यदेवोच्यते .'
इत्यादि पक्ति लिखी है, जिसका अभिप्राय यह है कि—'जो कहा जाता है—जो वाच्य है—
वही व्यङ्ग्य है—वस्तुतः दोनों एक हैं, तथापि जिस रूप में व्यङ्ग्य है उस रूप में वाच्य
नहीं है ।' तात्पर्य यह कि कहने की औली जब बंद हो जाती है, तब एक भी वस्तु
दूसरी हो जाती है, अतः रूपभेद हो जाने पर एक ही वस्तु वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों हो
सकती है, इस सिद्धान्त का समर्थन मम्मट ने भी किया है ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धालशारेणान्वारध्वन्मुदाहरति—

'दयिते रदनत्विषां मियादयि, तेऽमी बिलसन्ति केसराः ।

अपि चालकवेपधारिणो मकरन्दस्पृह्यालबोऽलयः ॥'

नायको नायिका वक्ति—अयि दयिते प्रिये ! ते तव, रदनत्विषा दन्तकान्तीनाम्,
मियात् व्याजात्, अमी अत्यञ्जस्त्रयमाना, केसरा किञ्चत्का, बिलसन्ति विशेषेण शोभन्ते ।
अपि च अलङ्कारवेपधारिणो केशस्वरूपतामापन्ना, इमे, मकरन्दस्पृह्यालव परामलोभिन,
अलय भ्रमरा, बिलम्बन्तीत्यर्थः । नैता रदनकान्तय किन्तु केसरा, एव नैते अलङ्कार-
परन्तु भ्रमरा इति भावः ।

अथ कविप्रौढोक्तिमिदं अलंकारं से अलंकारध्वनि का उदाहरण देते हैं—दयिते इत्यादि । नायक भायिका से कहता है—हे प्रिये ! तेरे दशन-किरण-व्याज से ये केसर शोभित हो रहे हैं और कच-कलाप का वेप धारण किए हुए ये पराम के छोटी भ्रमर हैं ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वोत्तरार्धवतिनीभ्यामपह्नुतिभ्यां न त्वं नारी किं तु नलिनीति तृतीया-पह्नुतिर्व्यज्यते ।

‘दयिते’ इति श्लोके द्वावपह्नुत्यलंकारौ वाच्यौ, तयोरेकं रदनविद्वरूपमुपमेयं निषिध्य केसररूपोपमानस्थापनरूपः । द्वितीयधातुकरूपमुपमेयं निषिध्यातिरूपोपमानस्थापनरूपः । ताम्बा नारीरूपोपमेयनिषेधेन कमलिनीरूपोपमानस्थापनरूपायास्तृतीयापह्नुतेर्ध्वननात् अलंकारेणालंकारध्वनेरुदाहरणमिदं भवतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में दशन-किरणरूप उपमेय का निषेध करके केसररूप उपमान का स्थापनस्वरूप एक और कच-कलापरूप उपमेय का निषेध करके भ्रमररूप उपमान का स्थापनस्वरूप द्वितीय अपह्नुति अलंकार वाच्य है । उन दोनों अपह्नुति अलंकारों से नारीरूप उपमेय का निषेध करके कमलिनीरूप उपमान का स्थापनस्वरूप तृतीय अपह्नुति अलंकार ध्वनित होता है अर्थात् ‘ये एतौ’ की ‘निरणौ’ नहीं अपि तु केसर हैं, और ये केश नहीं अपि तु भ्रमर हैं’ इन वर्णनों से यह अभिव्यक्त होता है कि यह नारी नहीं, अपि तु नलिनी है ।

एषु प्रौढोक्तिनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

पूर्वोक्तेषु उदाहरणेषु व्यञ्जकत्वेनाभिप्रेतो वाच्यार्थः यदि सभाव्यमानताविरहेण कवि-फलित इति भावः ।

उक्त उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ प्रौढोक्तिमिदं है अर्थात् उक्त उदाहरण पद्यों के वाच्य अर्थ ऐसे हैं, जो वाद्यजगत् में सभावित नहीं हैं, अतः कवि-रूपित हैं ।

स्थूलभेदेन ध्वने शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशायोर्ग्रन्थमुपन्यस्यति—

यद्यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चेत्युभयमपि सकलव्यङ्ग्य-साधारणम्, शब्दार्थयोरनुसन्धानं विना व्यङ्ग्य-व्यस्येवानुज्ञासात्, तथापि परि-वृत्त्यसहिष्णूनां शब्दानां प्राचुर्यं तत्प्रयुक्ताप्राधान्यात्सत्या अप्यर्थशक्तेरप्राधान्याच्च व्यङ्ग्य-व्यस्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यपदेशः । परिवृत्तिसहिष्णूनां तु प्राचुर्येऽर्थ-शक्तेरेव प्राधान्यात्सत्या अपि शब्दशक्तेः प्रधानानुगुण्यार्थतया गल्लामादिवप्रधानेनैव व्यपदेशः ।

अनुसन्धानं ज्ञानम् । अनुज्ञासादिति । अनभिव्यक्तेरित्यर्थः । सत्या इति वर्तमानाया इत्यर्थः । एवमप्येऽपि । प्रधानानुगुण्यार्थतयेति । प्रधानस्य यदानुगुण्यमानुरूप्यं तदर्थतया तत्प्रत्यादकतयेत्यर्थः, प्रधानोपकारकतयेति यावत् । सर्वत्र ध्वनिकत्वस्थले व्यङ्ग्यप्रतिपत्त्यर्थं शब्दस्वार्थस्य च ज्ञानमावश्यकम्, अन्यथा व्यङ्ग्यप्रतिपत्तिरेव न स्यात्, शब्दार्थयो-रेकस्यापि व्यञ्जकत्वेऽपरस्य नियमतः सहायकत्वात्, अतः शब्दराकिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलक-त्वमप्युपेयं व्यङ्ग्येषु तिष्ठत्येव, एवञ्च कश्चित् व्यङ्ग्ये शब्दराकिमूलकत्वव्यवहारः कनिष्ठार्थ-शक्तिमूलकत्वव्यवहारः कथमिति चेदित्यत्र बोद्धव्यम्—व्यङ्ग्यार्थप्रधानेषु काव्येषु द्विविधाः शब्दा-स्तिष्ठन्ति, केचन परिश्रुत्यसहा येषां परिवर्तने व्यङ्ग्यप्रतीतिर्न भवति, केचन पुनः परिश्रुतिरहा येषां परिवर्तनेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिर्भवत्येव । तयोः परिश्रुत्यरहिणूनां शब्दानामाधिक्यं यत्र तिष्ठति, तत्र शब्दशक्तेः प्राधान्यम् अर्थशक्तेरवर्तमानत्वा अपि सहायकत्वमात्रम्,

एवं यत्र परिवृत्तिरहितानुनेव शब्दानामधिक्यम्, तत्रार्थशब्देरेव प्रधानता शब्दशब्दे विद्यमानानां अपि प्रधानोपकारकैव । तथा च 'प्रधानेन व्यन्देशो भवति मन्त्रानामारिव' इति रत्ना प्रथमस्थले च नौ शब्दशक्तिमूलकव्यन्देशः, द्वितीयास्थले च नौ वार्थशक्तिमूलकव्यन्देशः इति भावः ।

ध्वनि कहीं शब्द-शक्तिमूलक कही जाती है और कहीं अर्थशक्तिमूलक, क्यों? इसका बीज अब दिखलाया जाता है—यद्यपि इत्यादि। ध्वनिकाव्य के स्थल में सर्वत्र व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति के लिये पहले शब्द तथा वाच्य अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ इन दोनों में से एक के व्यञ्जक होने पर भी दूसरा नियमन सहायकरूप में अपेक्षित रहता है, अतः शब्द-शक्तिमूलकता और अर्थशक्तिमूलकता ये दोनों ही सब व्यङ्ग्यों में यद्यपि साधारण रूप से रहती हैं, तथापि जहाँ ऐसे शब्दों की बहुलता हो जिनका परिवर्तन न किया जा सके अर्थात् जिन्हें बदल देने पर व्यङ्ग्य की प्रतीति न हो सके, वहाँ शब्द-शक्ति की प्रधानता समझी जाती है और अर्थशक्ति (रहने पर भी) की गौणता मानी जाती है, अतः वैसे स्थल के व्यङ्ग्यों को शब्दशक्तिमूलक ही कहा जाता है। परन्तु जहाँ ऐसे शब्दों की अधिकता हो जिनका परिवर्तन किया जा सके अर्थात् जिनके बदले में पर्यापवाची अन्य शब्दों का निवेश करने पर भी व्यङ्ग्य की प्रतीति हो सके, वहाँ अर्थशक्ति की मुख्यता मानी जाती है और शब्दशक्ति रह कर भी अर्थ-शक्ति की सहायिका ही रहती है, अतः वैसे स्थल के व्यङ्ग्यों को अर्थशक्तिमूलक ही कहा जाता है। जैसे किसी ग्राम में नहों (पहलवानों) की अधिकता रहने पर उस ग्राम को मन्त्रग्राम कहा जाता है, पर उसका यह अर्थ नहीं होता कि उस ग्राम में पहलवान के अनिरुद्ध लोग रहते ही नहीं। बस वही रीति यहाँ भी समझनी चाहिए। सारांश यह निकलता है कि परिवर्तित न होने योग्य शब्दों की अधिकता में शब्दशक्तिमूलक और परिवर्तित होने योग्य शब्दों की अधिकता में अर्थशक्तिमूलक, व्यङ्ग्य का व्यवहार होता है ।

ध्वनेः शब्दार्थोभयशक्तिमूलकव्यङ्ग्यवशात् नारप प्रवर्णयति—

यत्र तु काव्ये परिवृत्तिं सहमानानामसहमानानां च शब्दानां नैकजातीय-प्राचुर्यम्, अपि तु साम्बन्धेन, तत्र शब्दार्थोभयशक्तिमूलकस्य व्यङ्ग्यस्य स्थितिरिति द्वयुध्यो ध्वनिः ।

शब्दानामिति । निर्धारणे पटी । तादाशब्दानां नव्ये इति तात्पर्यम् । दत्तित्वात् काव्ये परिहृत्सहा परिशोभनहाश्च शब्दाः सननक्या एव, नैकजातीनां अधिकास्तारिभ्यः काव्ये व्यङ्ग्यस्य गन्धार्थोभयशक्तिमूलकत्वेन द्वयुध्यध्वनिव्यङ्ग्यवशात् प्रवर्णयति इति भावः ।

अब जो कहीं-कहीं शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है, वह क्यों? इसका कारण बतलाते हैं—यत्र तु इत्यादि। जिस काव्य में परिवर्तित होने योग्य और परिवर्तित न होने योग्य दोनों प्रकार के शब्द समान मात्रा में ही हों—किसी एक ताह के शब्दों की अधिकता न हो, तो वैसे काव्य में होने वाले व्यङ्ग्यों का मूल, शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति पर होता है, अतः उन व्यङ्ग्यों को द्वयुध्य अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूलक कहा जाता है ।

द्वयुध्यध्वनेरन्यत्रगतार्थतामागम्य निरस्यति—

न चायं शब्दशक्तिमूलकतयैवार्थशक्तिमूलकतयैव वा व्यपदेष्टुं शक्यः, विनिगमकामावान् । नापि शब्दशक्तिमूलकार्थशक्तिमूलकयोः सकरेण गतार्थपितुम्, व्यङ्ग्यभेद एव सकरस्येष्टः । इह तु व्यङ्ग्यस्यैक्येन तस्यानुत्थानान् ।

अयं शब्दार्थोभयशक्तिमूलकताया व्यपदिष्टो ध्वनिः शब्दशक्तिमूलकताया अर्थशक्तिमूल-

कतया वा कुतो न व्यपदिश्यते इत्युक्तिर्न सम्भवति, तयोरेकतरव्यपदेशनियामिकाया गुत्ते-
रभावात् । ननु विनिगमकभावे द्वयो संकर एवाधीयता किं नवीनभेदकल्पनयेत्यपि न
समांर्चानम्, शब्दशक्त्या एकोऽर्थशक्त्या च कथिदपरो व्यङ्ग्यो यत्र प्रतीयते, तत्रैव ध्वनि-
संकरस्येष्टत्वात् । अत्र व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयशक्तिमूलस्यैवमेव तस्याप्रसंगादिति भावः ।

एक शंका—न च हस्याद । पूर्वोक्त प्रकार का अर्थात् उभय-शक्तिमूलक व्यङ्ग्य न
केवल शब्दशक्तिमूलक कहा जा सकता है और न केवल अर्थशक्ति-मूलक, क्योंकि जहाँ
दोनों (शब्द और अर्थ) की शक्ति समानरूप से काम करती हो, वहाँ किसी एक ही
शक्ति को मूल मान कर तदनुगुण व्यवहार करने में युक्ति नहीं है । यह भी भाव नहीं
कह सकते कि ऐसे व्यङ्ग्यों को शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक व्यङ्ग्यों का संकर-
स्वरूप मान लिया जाय, क्योंकि जहाँ दोनों शक्तियों से भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्य अभिव्यक्त
होते हों वहाँ संकर माना जाता है । वहाँ तो दोनों शक्तियों से एक ही व्यङ्ग्य ज्ञात होता
है, अतः संकर का यहाँ प्रसंग नहीं है ।

उदाहरणम्—

द्वयुत्पन्नैरिति भावः ।

अथ उभयशक्त्युद्भव—ध्वनि का उदाहरण देतिम् ।

कवि परामृशति—

‘रम्यहासा रसोल्लासारसिकालिनिपेविता

सर्वाङ्गशोभासंभारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥’

रम्य’ सुन्दर, हास- हास्य विकासो वा वस्या- सा, रसस्य शृङ्गारस्य मकरन्दस्य
वा उल्लास अभिवृद्धिरस्या सा, रसिकानां रसज्ञानं जनानाम्, आल्लिनि समूहः रसिकै-
रलिभिर्मनरेषां निपेविता समाधिता, तथा सर्वेषु अङ्गेषु शोभायां संभारो समूहो वस्या सा
पद्मिनी विशिष्टलक्षणलक्षिता नायिका कमलिनी वा, कस्य सहृदयस्य, प्रिया प्रीतिपात्र न
भवतीति शेषः । तादृशी कामिनी कमलिनी च सर्वजनप्रियेति भावः । अत्र कमलिनीकामि-
न्योदयमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः, स च शब्दार्थोभयशक्तिमूलः, हास-रसाक्षिपद्मिनीशब्दानां
परिहृत्यसहत्वात्, शब्दान्तराणां तत्सहत्वाच्च ।

कवि अपने मन में सोचता है—जिसका ‘हास’ (हँसो, अन्यत्र विकास) सुन्दर है,
जिसमें ‘रस’ (शृङ्गार, अन्यत्र पराग) भरा है, जो ‘रसिकालि’ (रसिक मनो की पक्षि,
अन्यत्र रसिक अमर) से सेवित है और जिसके सब अङ्ग शोभामय हैं, वह ‘पद्मिनी’
(एक विशिष्ट लक्षणवाली नायिका, अन्यत्र कमलिनी) किसे प्रिय नहीं अर्थात् सर्व-
प्रिय होती है ।

द्वयुत्पन्नैरिति संनिधिविशेषमाह—

अथ च वाक्यमात्रे । पदसमूहश्च वाक्यम् । तेनास्य नानार्थानानार्थघटित-
समासविषयत्वेऽपि न विरोधः । न तु शुद्धैकपदे, तस्मिन्नानार्थानानार्थयो-
रसमावेशात् ।

तेनेति । पदसमूहात्मकवाक्यजिह्वत्वेनेत्यर्थः । अस्य द्वयुत्पन्ने । न विरोध इति ।
तस्याप्यवान्तरपदान्यादाय पदसमूहत्वादिति भावः । मात्रपदव्यावर्त्यमाह—न त्विति ।
अयं शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवो ध्वनि वाक्य एव भवति, अनेकार्थकैकार्यबोभयविधशब्दघटित-
त्वस्य द्वयुत्पन्नैरिति प्रयोजकस्य तत्रैव सम्भवात् । नन्वेवं समस्ते पदे द्वयुत्पन्ने संभवो न
गवेदिति चेन्न, तस्य समस्तपदस्यानेकार्थकैकार्यकपदघटितत्वे तत्र तत्संभवे विरोधाभा-

वात । न च पदस्य वाक्यत्व कथमिति वाच्यम्, पदसमूहस्यैव वाक्यत्वेनावान्तरपदान्या-
दाय समस्तपदस्य वाक्यत्वात् । एवञ्चासमस्ते एकस्मिन् पदे द्वयुत्थो ध्वनिर्न सम्भवीति
फलितम्, तत्रानेकार्थकैकार्थकद्विविधशब्दयो समावेशासम्भवादित्यभिप्रायः ।

उभयशक्त्युद्भव-ध्वनि के संबन्ध में कुछ विनिष्ट बातें कही जा रही हैं—अथ च
इत्यादि । यह शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है, क्योंकि एकार्थक
और अनेकार्थक दोनों तरह के शब्दों का रहना—जो उभयशक्तिमूलक ध्वनि का हेतु है—
वाक्य में ही सम्भव है । ऐसी स्थिति में यह ध्वनि समस्त पद में नहीं हो सकेगी यह तर्क
नहीं उपस्थित किया जा सकता, क्योंकि पदसमूह का ही नाम वाक्य होता है अतः
अवान्तर पदों को छेकर समस्त एक पद भी वाक्य कहा जा सकता है अर्थात् समस्त एक
पद भी यदि एकार्थक और अनेकार्थक पदों से युक्त हो, तो उसमें भी यह ध्वनि हो सकती
है—इससे उभयशक्तिमूलक ध्वनि को वाक्यमात्रगत मानने में कोई विरोध नहीं होता ।
हाँ, शुद्ध (असमस्त) एक पद में यह ध्वनि नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें एकार्थक
और अनेकार्थक दोनों तरह के शब्दों का समावेश असम्भव है ।

द्वयुत्थध्वनिर्नयन्धिमत्तान्तरमाह—

अन्ये तु—'अर्थशक्तिमूलकत्वव्यपदेशो नानार्थप्रकाशकशब्दशक्त्युक्तास्यत्व-
सामान्यशून्यत्वं तन्त्रम्, विषयप्राचुर्यात् । शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशो तु नार्थ-
शक्त्युक्तास्यत्वसामान्यशून्यत्वं तथा, विषयदौर्लभ्यापत्तेः । न हि नानार्थशब्दमा-
प्रघटितं पद्यं प्रचुरविषयम्, अतः शब्दशक्तिमूलकत्वेनैवायं शक्यव्यपदेशो ध्वनिः
इत्यप्याहुः ।

उक्तास्यवेति । जन्यरवेत्यर्थः । सामान्यशून्यत्वमिति । सामान्याभाव इत्यर्थः ।
तन्त्र नियामकम्, कारणमिति वाच्यम् । अत इति । शब्दशक्तिमूलकत्वव्यपदेशोऽर्थगक्यु-
क्तास्यत्वसामान्यशून्यत्वत्वात्तन्त्रत्वादेनेत्यर्थः । अयमिति । द्वयुत्थो ध्वनिरित्यर्थः । यत्र
व्यङ्ग्यार्थोपस्थापका अनेकार्थका शब्दा सर्वथा न स्युस्तत्रैवार्थशक्तिमूलकध्वनिव्यवहार-
स्तथावार्थशक्तिमूलकध्वनिव्यवहारे नानार्थकशब्दशक्त्युक्तास्यत्वसामान्याभावो हेतुः ।
ईदृशानि बहूनि अर्थशक्त्युद्भवव्यङ्ग्यप्रधानानि काव्यानि मिलेयुर्ग्रन्थस्यापि नानार्थकशब्दस्य
प्रयोगो न भवेत् । शब्दशक्तिमूलकध्वनिव्यवहारं तु अर्थशक्त्युक्तास्यत्वसामान्याभावो न
हेतुः । अर्थात् तत्रैव शब्दशक्तिमूलकध्वनिव्यव्यपदेशो भवेत् यत्र काव्ये सर्वाणि पदानि
नानार्थोपस्थापकान्येव स्युः, एकस्मिन् पदमेकार्थकं न भवेदिति नादोक्तं शक्यम्—
व्यङ्ग्यार्थोपस्थापकत्वेनैवलाभेनैवार्थशब्दप्रदितकान्यस्यात्यल्पमुपलब्धे । तथा च शब्दशक्ति-
मूलकध्वनिकाव्ये अनेकार्थका एकार्थकाभोभयविधा शब्दा भवैयुरिति सिद्धम् । एवञ्च
'रम्यहासा' इत्यादि शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वेनाभिमत काव्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यव-
हृतं शक्यमिति पृथक् तस्य गणना भवेति सारांशः । 'अन्ये तु' इत्यनेनाप्राप्तिं सूचिता,
तद्बीजवर्तन-यन् प्राचीनोक्तरीत्या तृतीयभेदसमये तत्प्रागे वारणाभावः । कुत्रापि भेदे
लक्ष्याल्पता तद्भेदपरित्यागाय नालम्, अपि तु लक्ष्यागमव इति तत्त्वम् ।

अथ उभयशक्तिमूलकध्वनि के विषय में मतान्तर का उल्लेख करते हैं—अन्ये इत्यादि ।
जहाँ व्यङ्ग्य लक्ष्य को उपस्थित करने वाले शब्दों में एक भी अनेकार्थक न हो, वहीं अर्थ-
शक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थशक्तिमूलक
ध्वनि के व्यवहार में व्यङ्ग्य का अनेकार्थक शब्द की शक्ति से सर्वथा आविर्भूत न हुआ
रहना कारण है । और हम तरह का कार्य-कारण-भाव हमलिये मान्य हो सकता है कि
ऐसे बहुतेरे अर्थशक्तिमूलक ध्वनिहाण्य मिल सकते हैं, जहाँ एक भी शब्द अनेकार्थक

न हो । परन्तु शब्दशक्तिमूलकध्वनि के व्यवहार में व्यङ्ग्य का अर्थशक्ति से सर्वथा आकिर्णित न हुआ रहना नियामक नहीं माना जा सकता अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ सब पद अनेकार्थक हो हों, एक भी पद एकार्थक नहीं हो वही शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि ऐसा काव्य बहुत ही कम उपलब्ध होगा, जहाँ एक भी शब्द एकार्थक न हो अर्थात् केवल अनेकार्थक शब्दों के द्वारा ही बना हुआ काव्य दुर्लभ है । इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ अनेकार्थक शब्द अधिक हों और एकार्थक शब्द कम, वही शब्द शक्तिमूलकध्वनि का व्यवहार किया जायगा । ऐसी स्थिति में 'रूपवहासा' * इत्यादि पद्यों में भी—जहाँ आप उभयशक्तिमूलक ध्वनिका व्यवहार करते हैं—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का व्यवहार किया जा सकता है । तत्पर्यं यह है कि 'उभय-शक्तिमूलक' एक पृथक् भेद मानना व्यर्थ है । यह कुछ अन्य विद्वानों का मत है । इस मत के मानने में अरुचि यह है कि जय प्राचीन भाचार्यों के कथनानुसार उक्त तृतीय भेद संभव है, तब उसका त्याग क्यों किया जाय ? अल्प लक्ष्य होने में किसी भेद का त्याग करना उचित नहीं है । हाँ, यदि एक भी लक्ष्य न मिले, तब किसी भेद का त्याग किया जा सकता है, पर यहाँ ऐसी बात नहीं है । केवल अनेकार्थक शब्दों से रचा गया काव्य—अल्प मात्रा में ही सही—मिल सकता है ।

प्रकृतप्रकरणसुपमहरति—

इत्यभिधामूलस्त्रिविधोऽपि सत्त्वेपेन निरूपिता ध्वनिः । निरूपयिष्यते चांशतो यथावसरम् ।

पूर्वापदशितरीत्या शब्दशक्तिमूलोऽर्पशक्तिमूल उभयशक्तिमूलभेति त्रिप्रकारोऽभिधामूलध्वनिप्रभेदो निरूपितः । अत्रैऽपि अवतारमागाद्याशिकरूपेण तस्य निरूपण विधास्यत इति भावः ।

प्रकृत प्रवरण का उपसंहार करते हैं—इत्यभित्यादि । इस प्रकार अभिधा-मूलक तीनों प्रकार की ध्वनियों (शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक) का निरूपण संक्षेप से किया जा चुका, और आगे भी यथावसर निरूपण किया जायगा ।

लक्षणामूलध्वनिरूपणं प्रतिजानीते—

लक्षणामूलस्तु निरूप्यते—

लक्षणामूलध्वनिविषयज्ञानानुसृतशब्दप्रयोगः स्मृत इत्यर्थः ।

अब लक्षणामूलध्वनि-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—लक्षणा इत्यादि । अब लक्षणा-मूल-ध्वनि का निरूपण किया जाता है ।

पूर्वोक्तं निरूपण प्रारभते—

तत्र यद्यप्यलक्षणायां लक्षणायां प्रयोजनवत्याः षड्विधायाः सारोपसाध्यवसानाभ्यां गौणीशुद्धाभ्यां च विमलानां भेदानां चतुर्णामलंकारात्मना परिणतत्वाद्द्वौ भेदौ ध्वन्याश्रयतया स्थितौ, जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति । तन्मूलौ च द्वौ ध्वनेः प्रभेदौ ।

तत्रेति । निरूपणमि लक्षणामूलध्वनान्वित्यर्थः । यद्यप्यलक्षणायां यस्यास्तस्याभिव्यर्थः । मत्यामिति शेषः । अलंकारात्मनेति । रूपकवित्शयोकिद्वैत्यलंकारात्मनेत्यर्थः । जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था चेति । अनयोरेवोपादानलक्षणावलक्षणलक्षणाशब्देन प्राचीनैर्व्यवहारः कृतः । यस्या लक्षणाया लक्षणमत्र विधास्यते, तस्या द्वौ भेदौ, रुढिमूला प्रयोजनमूला च । तत्र रुढिमूलस्या व्यङ्ग्यस्य सद्भावं एव वेति प्रयोजनमूलमेव वर्त्तते । प्रयोजनमूला च पुनः षड्विधा, गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा, शुद्धा

साध्यवसाना, तथा जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था च। तामु आयाधन्वासे भेदा' नमश्चो ह'प्रा-
तिशयोक्तिहेत्वलक्षारूपे परिणमन्ते । फलतो जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्थेति द्वौ भेदौ
ध्वन्याधारात् प्रतिपद्येते इति लक्षणाभूतौ द्वौ ध्वनिकाव्यस्य प्रभेदौ सम्पद्येते इति भावः ।

अथ लक्षणाभूतध्वनि के विरूपण का प्रारम्भ किया जाता है—तत्र इत्यादि । लक्षणा
(जिसका लक्षण आगे कहा जायगा) के दो भेद होते हैं—एक रुद्धिमूलक और दूसरा प्रयोजन-
मूलक । उन दोनों में रुद्धिमूलक लक्षणा का व्यङ्ग्य से कोई संबंध ही नहीं रहता, अतः
यहाँ ध्वनि के प्रसङ्ग में प्रयोजनमूलक लक्षणा की ही चर्चा की जाती है । प्रयोजनमूलक
लक्षणा छ' प्रकार की होती है—गौरी सारोपा, गौरी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा, शुद्धा
साध्यवसाना तथा जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था । इन छहों प्रकारों में आदि के चार
प्रकार रूपक, असिद्ध्योक्ति, हेतु आदि अलंकारों के रूप में परिणत हो जाते हैं—अर्थात्
उन सब भेदों में व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं रहती है । फलतः जहत्स्वार्था और अजहत्स्व-
स्वार्था ये दोनों भेद ध्वनि के आधार होते हैं—अर्थात् इन दोनों भेदों में व्यङ्ग्य अर्थ की
प्रधानता रहती है, अतः लक्षणाभूतक ध्वनिकाव्य के दो भेद सम्पन्न होते हैं ।

जहत्स्वार्थामूलं ध्वनिलुदाहृतं प्रतिजानीते—

तयोजहत्स्वार्थामूलो यथा—

लक्षणाभूतयोर्द्वयोर्धर्मयोर्मध्ये जहत्स्वार्थामूलध्वनेरुदाहरणं नीचेर्निर्दिष्ट बोध्यमिति भावः ।
उन दोनों में जहत्स्वार्थामूलक ध्वनि का उदाहरण भीष्टे दिखलाया जाता है—

‘कृतं त्वयोन्नतं कृत्यमजितं चामलं यशः ।

यावज्जीवं सखे ! शुभ्य दास्यामि विपुलाशिषः ॥’

हे सखे ! त्वया उन्नतं महत् प्रशंसनीयमिति यावत् कृत्यं कार्यम्, कृतं विहितम् । च
पुनः अमलं निर्मलम्, यशः कीर्तिः, अजितं प्राप्तम् । (च) यावज्जीवं जीवनपर्यन्तम्,
विपुलाशिषः बहुत आशीर्वादान्, तुभ्यं दास्यामि विनिरिप्यामि श्रयः ।

हे सखे ! तूने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है और बिमल यश प्राप्त किया है । हम
जब तक जीते रहेंगे तब तक तुझे भूरि-भूरि आशीर्वाद देंगे ।

उपपादयति—

इयं कस्यचिदपकारिण प्रत्युक्तिः । त्वया कृतेऽप्यपकारे परमखेदहेतुं मधुर-
मेव यो भाषेय, न परुष तस्मिन्नेवं जातीयके मयि पापमाचरतस्तव पापिष्ठत्वं
कथं शक्यते वक्तुमिति व्यङ्ग्यम् ।

प्रत्युक्तिरिति । प्रकृते लक्षणाधयणनिदानक्यन्मेतत् । व्यङ्ग्यकारमाह—त्वयेत्या-
दिना । कृतमित्यादिपदं कथिन् कमप्यपकारकं जनं प्रति ब्रूते, अतः उन्नतारिपराणां
मुत्सार्था बाधितास्तेन तेषां वदानं हीनादौ लक्षणा । तथा च ‘त्वया हीनं कृत्यं वृत्तम्,
मर्त्तिनं दुर्ग्रहोऽजितम् अतो न च तुभ्यं यावज्जीवं शापान् दास्यामि’ इति वाक्यार्थो निप-
द्यते । अस्मिन्मयि उन्नतारिपदवाभ्यार्थानामतवन्धान् लक्षणाया जहत्स्वार्थान्यम् । तेन
वाक्यार्थेन ‘तया कृते’ इत्यादि मूलोपाकार वस्तु व्यङ्ग्ये । तदेव व्यङ्ग्यं लक्षणाया प्रयो-
जनमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—इयमित्यादि । उक्त पद्य, किसी अपकार करने वाले मित्र के प्रति,
अपर मित्र के द्वारा कहा गया है, अतः उन्नत आदि पद के मुख्य (वाच्य) अर्थ बाधित
हैं—अर्थात् अपकारक के प्रति कोई यह नहीं कहता कि ‘तूने क्या अच्छा काम किया है’ ।
अतः उन पदों की ‘हीन’ आदि अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है । ऐसी स्थिति में उक्त पद्य-
वाक्य का अर्थ यह हो जाता है कि ‘तूने परम हीन काम किया है और गन्दा अयश

कमाया है, अतः हम यावन्जीवन तुझे क्षापते रहेंगे।' इस अर्थ में उन्नत भादि, पद्योक्त पदों के वाच्य अर्थों का सबन्ध बिलकुल नहीं है, अतः यह लक्षणा जहत्स्वार्था कहलाती है। इस लक्षणामूलक वाक्यार्थ से यहाँ यह ध्वनित होता है कि 'तेरे द्वारा अत्यन्त खेद-कर अपकार किए जाने पर भी जो मधुर वाणी का ही प्रयोग करता है—परम कथा नहीं कहना चाहता, ऐसे सुप्त मित्र के ऊपर पापाचरण करने वाले तेरे पापों का वर्णन कैसे किया जा सकता है? अर्थात् तेरे पाप अवर्णनीय हैं—तू संसार में सबसे नीच है।' वही व्यङ्ग्य यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है, यह भी समझना चाहिए।

अजहत्स्वार्थामूलं ध्वन्मुदाहरति—

अपरामूलो यथा—

‘बधान द्रागेव द्रुढिमरमणीयं परिकरम्
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पक्षगणैः ।
न कुर्यास्त्वं हेतामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ॥’

जगन्नाथो गंगा स्तौति—अयि सुरधुनि ! देवन्दि । एतेन ‘एतावत्कालपर्यन्तं देवैरेव सह तव संबन्ध आसीत्, न मादृशेन पापिना सह’ति श्र्यज्यते । जगन्नाथस्य एतन्नामकस्य मम, अय, समुद्धारसमय समुद्धारणकाल, अस्तीति शेष । निषिद्धस्याप्यात्मनानोच्चारणस्य करणेन वक्तुरातुरतातिशयो व्यज्यते । ननु अस्तु तबोद्धारकाल मया किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह-बधानेति । त्वं द्रुढिम्ना दृढत्वेन रमणीय सुन्दरम्, दृढमत एव रमणीय-गिति यावत् । परिकर कटि, द्राक् शीघ्र, बधान । गमोद्धाराय शीघ्र कटिबन्धं कुर्विति भावः । पुनस्त्वं किरीटे मुकुटे, बालेन्दु कलात्मकं चन्द्र, पक्षगणैः सर्पसमूहैः, नियमय बधान । अन्यथा संप्रभे बालेन्दुः किरीट्यच्छयेत । लोकेऽपि कश्चन समयो जने व्याघ्रादिपृहीतं जन-मुद्धर्तुं प्रवर्तमानः कटिबन्धशिरोभूषणादिकं दृढं विधत्ते । पुनस्त्वम् इतरजनसाधारणी या धी-बुद्धिस्तया, हेताम् अवहेलनाम्, न कुर्यां या कुरु । तद्भक्तिभरपूर्णहृदये अयि ‘अन्यज-न्तुत्प्योऽयम्’ इति बुद्ध्या उदासीनता न मनस्वेति भावः ।

यह पद्य जगन्नाथकृत ‘गंगालहरी’ नामक स्तोत्र-ग्रन्थ का है। पण्डितराज गंगा की स्तुति करते हैं—हे सुरन्दि ! (ऐसा कह कर कवि यह अभिव्यक्त करना चाहते हैं—कि ‘अब तक तुम्हारा सबन्ध पुण्यात्मा देवताओं से ही था, मुझ जैसे पापियों से नहीं’।) अन्य साधारण मनुष्यों के समान समझ कर मेरी अवहेलना न करना, यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है, अतः दृढता के कारण सुन्दर अर्थात् दृढतर तथा रम्य परिकर शीघ्र बाँध लो-मेरे उद्धार के लिये कमर कस लो और किरीट वाली बालचन्द्र को सर्पसमूहों से पुनः स्थिर कर लो, अन्यथा कदाचित् वह हृदयदी में किरीट से दूर न जा पड़े। लोक में भी कोई सामर्थ्य-शाली मनुष्य व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं से अस्त प्राणी का उद्धार करते समय, पहले कटिबन्ध और पगड़ी आदि शिरभूषण को दृढ कर लेता है।

उपपादयति—

अत्र जगन्नाथस्येत्यनेन शक्य एवानेकपापविशिष्टत्वेन लक्ष्यते । पापानां पदान्तरेणानिर्वाच्यत्वं व्यङ्ग्यम् ।

जगन्नाथपदस्य शक्यार्थो यो व्यक्तिविशेषरतन्मात्रज्ञापनेन न तदीयोद्धारस्यावश्यकता कावित्तिद्वयति, अतस्तदर्थवाधे नानाविधपापकारिणि जगन्नाथे जगन्नाथपदस्य लक्षणा । लक्ष्यार्थे च विविधपापविशिष्टजगन्नाथात्मकव्यक्तिविशेषे मुख्यार्थस्याप्युपादानादजहत्स्वार्थात्मम् । लक्षणाप्रयोजनभूतम् पदान्तरप्रतिपाद्यपापकत्वम् व्यङ्ग्यम् ।

उपादान करते हैं—अत्र इत्यादि । 'जगन्नाथ' पद का वाच्य अर्थ जो एक व्यक्ति-विशेष होता है, उसका बोध यदि केवल व्यक्तिविशेष के रूप में ही जगन्नाथ पद से हो, तो उसके उद्धार की कोई अवश्यकर्तव्यता सिद्ध नहीं हो सकती—अर्थात् यदि एक व्यक्ति मात्र की हैसियत से किसी का उद्धार आवश्यक समझा जाय, तब जगन्नाथ का ही क्यों ? किसी अन्य का भी समझा जा सकता है । अतः मानना पड़ता है कि यहाँ जगन्नाथ पद का वाच्य अर्थ शुद्ध रूप में बाधित है, जिससे विविध-पापकारी जगन्नाथामक व्यक्ति विशेषरूप अर्थ में जगन्नाथ पद की लक्षणा होती है और वह लक्षणा भजहस्त्वार्था कहलाती है, क्योंकि उक्त लक्ष्य अर्थ में जगन्नाथरूप मुख्य अर्थ का र्याग नहीं हुआ है । इस तरह की लक्षणा को प्राचीन विद्वान् 'उपादानलक्षणा' कहते हैं । पापों का अन्य किसी पद से प्रतिपादन न किया जा सकता—अर्थात् जगन्नाथ के पाप ऐसे हैं जिनका प्रतिपादन शब्दान्तर से हो ही नहीं सकता, इस अर्थ का बोध करमा उक्त लक्षणा का प्रयोजन है, और इस प्रयोजन का बोध होता है व्यञ्जना से, अतः यह पद्य भजहस्त्वार्था लक्षणामूलध्वनि का उदाहरण होता है ।

प्राचीनोक्तमनहस्त्वार्थादाहरण समीक्षते—

कुन्ता प्रविशन्तीत्यादौ तु वाच्यगततैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम् ।

कुन्ता प्रविशन्तीति भजहस्त्वार्थलक्षणाया प्रसिद्धमुदाहरणम्, अचेतनताया प्रवेश-त्रियान्वयासंभवेन बाधितार्थस्य कुन्तपदस्य उपात्तमुख्यार्थे कुन्तधारिपुरे लक्षणाया आश्रयणीयत्वात् । कुन्तधारिषु कुन्तपदवाच्यार्थगततीक्ष्णताप्रतीति प्रयोजनम् । तच्च व्यञ्जनावच्यम् 'वाच्यगततैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम्' इति मूलपङ्क्तिलापन त्वेवविधयम्—तैक्ष्ण्यादि लक्ष्यम् प्रत्येयमित्यर्थ । अथवा लक्ष्यपद लक्ष्यश्रुतितया व्यञ्जयमित्यर्थे लाक्षणिकम् । पूर्वोदाहरणे पापानामनिर्वाण्यत्वात्मक व्यञ्जय न वाच्यार्थश्रुति, अत्रोदाहरणे ॥ तैक्ष्ण्यादि तणाभूतमिति भेदप्रदर्शनाय ग्रन्थः ।

भजहस्त्वार्था लक्षणा के प्राचीनोक्त उदाहरण की समीक्षा करते हैं—कुन्ता इत्यादि । प्राचीनों ने भजहस्त्वार्था लक्षणा का उदाहरण दिया है 'कुन्ता' प्रविशन्ति—अर्थात् भाले घुस रहे हैं' । यहाँ अचेतन भालों का स्वतः प्रवेशक्रिया में अन्वय बाधित है, अतः कुन्त पद की स्वायंयुक्तपुरष अर्थात् कुन्तधारी में लक्षणा होती है । कुन्तगततीक्ष्णता की कुन्तधारी में प्रतीति करना लक्षणा का प्रयोजन है, जिसकी सिद्धि व्यञ्जना से होनी है । 'वाच्यगततैक्ष्ण्यादिलक्ष्यम्' इस मूलपङ्क्ति में 'लक्ष्यम्' का अर्थ है 'प्रत्येयम्' अर्थात् प्रतीयमान । इस ग्रन्थ के द्वारा उक्त स्वाभिमत उदाहरण से प्राचीनोक्त उदाहरण में भेद दिलाया गया है अर्थात् उक्त उदाहरण में पापों की अनिर्वाण्यत्वरूप व्यञ्जय जगन्नाथ पद के वाच्य अर्थ में रहनेवाला धर्म नहीं है, और प्राचीनों के उदाहरण में तीक्ष्णत्वरूप व्यञ्जय कुन्त पद के वाच्य अर्थ—भालों—में रहनेवाला धर्म है—इस भेद का दिसलाना ही प्रकृत ग्रन्थ का उद्देश्य है ।

पदध्वनिवाक्यध्वन्योर्विभाजक विशेष वर्णयति—

तदेवमेते प्रागुक्ता द्व्युत्थातिरिक्ताः सर्वेऽपि ध्वनय एकस्मिन् वाच्ये यथेकपदमात्रगतास्तदा पदध्वनितया व्यपदिश्यन्ते । नानापदगततायां तु वाक्यध्वनितयेति ।

एकस्मिन् वाच्ये यथेकपदमात्रगता इति । एकपदार्थगता इति पिण्डार्थः । नानापदगततायामिति । ध्वनीनामिति शेषः । पूर्वोक्तो द्व्युत्थो ध्वनि वाक्य एव भवति न पदे इति प्रागप्युक्तमेव । तदितरे प्रागुक्ता सर्वे ध्वनय पदे वाक्ये च भवन्ति । तत्र यदा कस्य-

चिदेकस्यैव पदस्य वाच्यात् व्यङ्ग्यम् प्रतीयते तदा तस्मिन् काव्ये पदगतध्वनिव्यवहारः ।
यदा तु अनेकपदानां वाच्येभ्यो व्यङ्ग्यप्रतीतिस्तदा तत्र वाक्यध्वनिव्यवहार इति भावः ।

अब पद ध्वनि और वाक्य-ध्वनि की पहचान के लिये दोनों में रहनेवाले अन्तर का उल्लेख किया जाता है—तदेव इत्यादि । शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि केवल वाक्य में होती है, पद में नहीं और तदनिरिक्त सभी ध्वनियाँ पदगत तथा वाक्यगत दोनों तरह की होती हैं । जहाँ एक ही पद के वाच्यार्थ से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ पदगत और जहाँ अनेक पदों के वाच्यार्थों से उसकी प्रतीति हो, वहाँ वाक्यगतध्वनि का व्यवहार होता है ।

अभिधानिरूपणमवतारयति—

अथ केयमभिधा नाम यन्मूलं प्रथमं निरूपितोऽयं ध्वनिप्रपञ्चः ।

यन्मूलो ध्वनिभेदः प्रथमं निरूपितस्तदभिधापदार्थः क इति जिज्ञासितमिति भावः ।

अब अभिधा-निरूपण की अवतारणा की जाती है—अथ इत्यादि । यहाँ शब्द यह जिज्ञासा उठती है कि जिसको मूल मानकर, सर्वप्रथम, ध्वनि के अनेक भेदों का निरूपण किया गया है, वह 'अभिधा' क्या चीज है ? अर्थात् 'अभिधामूलकध्वनि' इस सज्ञा के अन्तर्गत 'अभिधा' की क्या परिभाषा है वह वहाँ की एक स्वाभाविक जिज्ञासा है ।

जिज्ञासाशान्तिं प्रतिजानीते—

लक्षयते—

अभिधापदार्थः लक्ष्यते इति भावः ।

उक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिये प्रतिज्ञा करते हैं कि अब 'अभिधा' पदार्थ कहा जा रहा है ।

अभिधा लक्षयति—

शक्त्याल्लोऽर्थस्य शब्दगतः, शब्दस्मार्थगतो वा संबन्धविशेषोऽभिधा ।

शक्त्याल्लो इति । शक्ति आख्या पर्यायान्तरं यस्य स इत्यर्थः । विनिगमनाविरहादाह—शब्दस्येति । शब्दार्थयोः संबन्धविशेषो बोध्यबोधकभावहृषोऽभिधापदार्थः । स च संबन्धविशेषोऽर्थप्रतियोगिकः शब्दानुयोगिकः, शब्दप्रतियोगिकोऽर्थानुयोगिको नैत्यत्रैकतर-पक्षपातियुक्तिरूपविनिगमना नास्तीत्युभयविधोऽपि तादृशः संबन्धः अभिधापदार्थतयाऽभिमतः । तमैव संबन्धविशेषं शक्तिपदेनापि प्रतिपादयन्ति मुषिय इति भावः ।

अभिधा का लक्षण करते हैं—शब्दस्मार्थ इत्यादि । शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को 'अभिधा' कहते हैं । उस संबन्ध को, शब्द का मानकर अर्थ में रहनेवाला और अर्थ का मानकर शब्द में रहनेवाला भी कहा जा सकता है—इस दोनों में से किसी एक पक्ष को मान लेने के लिये कोई प्रबल युक्ति नहीं है । उस संबन्ध विशेष को विद्वज्जन 'शक्ति' नाम से भी पुकारते हैं ।

अभिधाविपयकाणि मतान्तराणि प्रदर्शयति—

सा च पदार्थान्तरमिति केचित् । 'अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्य इत्याकारेऽश्चोच्छ्रैवाभिधा । तस्याश्च विपयतया सर्वत्र सत्त्वात्पटादीनामपि घटादिपद-वाच्यता स्यात् । अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यम्' इत्य-परे । 'एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथममतमेव न्यायः' इत्यपि वदन्ति ।

केचिदिति, वैयकरणमीमांसकादयः । अपर इति, नैयायिका । एवमपीति । उक्तरीत्याऽ-तिप्रसङ्गवारोऽर्थान्वयः । सा चाभिधा संकेतापरपर्याया ईश्वरेच्छारूपा न अपितु तदतिरिक्ता

एव बोध्य-बोधकभावरूपा, बोधकतारूपा, बोध्यतारूपा, (शब्दार्थयो) तादात्म्यरूपा चेति वैयाकरणमीमांसकादय आननन्ति । नैयायिकास्तु—‘अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य’ इत्याकारिका शब्दप्रकारिकाऽर्थविरोधिका, ‘इदं पदममुमर्थं बोधयतु’ इत्याकारिकाऽर्थ-प्रकारिका शब्दविशेषिका वा या ईश्वरेच्छा, तद्रूपं सकेत एवामिधापदार्थः, न पदार्थान्तर-मिति स्वीकुर्वन्ति । ईश्वरायेच्छाया एकवानित्यत्वाच्च घटपदामिधात्वेन विवक्षिता सा (ईश्वरेच्छा) घट इव पटोऽपि विषयतामबन्धेन तिष्ठतीति पटस्यापि घटपदवाच्यताप्रसङ्गः, अतः ‘घटपदजन्यबोधविषयतावान् पटो भवतु’, ‘पटपदजन्यबोधविषयतावान् पटो भवतु’ इत्यादीरित्या घटादिरूपं वस्तुविशेषमुपाधीकृत्येश्वरेच्छायास्तत्पदामिधात्व स्वीकर्तव्यम्, अर्थात् एकाऽपीश्वरेच्छा उपाधिभेदेन भिन्नत इति घटोपहिता ईश्वरेच्छा घटमात्रे पटोपहिता न पट एव विषयतया तिष्ठेत् तथा च पटादीन् पटादिपदवाच्यताप्रसङ्गो नेति स्वमत-स्याल्लोच्यं पुनश्च । अन्ये पुन ‘यथा ईश्वरेच्छा सर्वविषयिणी नित्या, एका च, तथैव ईश्वरज्ञानमपि सर्वविषयकं नित्यमेकैकैति तथैवामिधात्वम् कुतो नेति विप्रतिपत्तौ जागरिताया विनिममनाविरहादुभयोरपि (ईश्वरायेच्छेश्वरीयज्ञानयो) अमिधात्वमकामे-नापि स्वीकरणीयं स्यात् तथा च गौरवापत्तिः, अतः ‘पदार्थान्तरमेवामिधा’ इति वैयाक-रणमीमांसकाना मतमेव सम्यक् इति व्यावक्षते । ‘सरेतात् शक्तिग्रह’ इति वदन्ती वैयाकरणादयोऽपि उक्तेश्वरेच्छा शक्तिग्रहप्रयोजिका मन्यन्त इत्यन्यदेतत् ।

अथ ‘अमिधा’ के विषय में भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों के भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख करते हैं—सा च इवादि । उक्त ‘अमिधा’ सकेत अर्थात् ईश्वरीय इच्छा-रूप नहीं है, अपितु उससे भिन्न—बोध्य-बोधकभावरूप, बोधकतारूप, बोध्यतारूप अथवा (शब्दार्थ के) तादात्म्यरूप—ही है । यह है वैयाकरण, मीमांसक आदि का कथन । नैयायिकों का कथन है कि ‘अमिधा’ कोई भित्तिक वस्तु नहीं, अपितु ईश्वरीय-इच्छा-स्वरूप ही है । और ‘अमिधा’ के रूप में स्वीकृत ईश्वरीय इच्छा के दो आकार हो सकते हैं—एक ‘अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिए’ और दूसरा—‘अमुक पद अमुक अर्थ का बोध करावे’ । यद्यपि उक्त दोनों आकारों से तात्पर्य एक ही निकलता है, तथापि परिष्ठतगण, विशेषण-विशेष्य भाव के भेद से उक्त दोनों आकारों में अन्तर मानते हैं अर्थात् प्रथम आकार में ‘पद’ होता है विशेषण और अर्थ होता है विशेष्य, अतः वह अर्थविशेष्यक इच्छा कही जाती है । और द्वितीय आकार में अर्थ ही हो जाता है विशेषण और पद हो जाता है विशेष्य, अतः वह पदविशेष्यक इच्छा कही जाती है । इस तरह की ईश्वरीय इच्छा को ही ‘सकेत’ भी कहते हैं । परन्तु नैयायिकों के इस मत में एक दोष उपस्थित होता है कि ईश्वरीय इच्छा एक होती है तथा निरूप्य होती है अतः ईश्वर की एक इच्छा भी सर्वविषयक होती है अर्थात् घट पद के लिये जो इच्छा उनकी होगी उसका विषय जैसे वृक्षा होया, वैसे कपडा भी । सारांश यह कि ईश्वरीय इच्छा विषयतासबन्ध से घट और पट दोनों में रह जायगी । इस स्थिति में गृह्यर्था यह हो सकती है कि घट पद का वाच्य अर्थ पट भी कहलाने लगेगा । इस दोष के निराकरणार्थ उन्हें यह कहना पड़ेगा कि घट-पट आदि वस्तु विशेष को उपाधि बनाकर भिन्न भिन्न पदों को भिन्न भिन्न तरह की ही अमिधा माननी चाहिए अर्थात् ईश्वरीय इच्छा के एक होने पर भी उपाधिभेद से वह भिन्न हो जायगी—विषयतासबन्ध से घटोपहित ईश्वरेच्छा केवल घट में और पटोपहित ईश्वरेच्छा केवल पट में रहेगी, अतः घट आदि घटादि पद के वाच्य नहीं हो सकेंगे । तात्पर्य यह कि ‘यदा घट-पद-जन्य-बोध का विषय होवे’, ‘कपडा पट-पद-जन्य बोध का विषय होवे’ इत्यादि रीति से घट आदि वस्तु-विशेषरूप उपाधि से उपहित ईश्वरीय इच्छा को उन-उन पदों की अमिधा कहेंगे । किन्तु इतने पर भी अन्य

विद्वानों का इस मत पर यह आरोप होता है कि यदि ईश्वरीय इच्छा को अभिधा माना जाय, तब ईश्वरीय ज्ञान अथवा यत्न को अभिधा क्यों नहीं माना जाय ? अर्थात् ईश्वरीय इच्छा से तदीय ज्ञान अथवा यत्न में कोई अन्तर नहीं है—जैसे इच्छा एक है, नित्य है और सर्वविषयक है उसी तरह ज्ञान और यत्न भी । उनकी इच्छा का जो विषय होगा, वह उनके ज्ञान तथा यत्न का भी विषय होगा ही । फलतः किसी विशिष्ट युक्ति के अभाव में उन तीनों को ही अभिधा मानना पड़ेगा । अतः प्रथम मत अर्थात् अभिधा को मित्र पदार्थ मानना ही उत्तम है ।

दीक्षितोक्तं खण्डयति—

यत्तु वृत्तिवातिके 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' इत्यप्ययदीक्षितैरुक्तम् तत्सु-
च्छम्, उपपत्तिविरोधात् । तथा हि—इह शब्दाज्जायमानायामर्थोपस्थितौ कार-
णीभूतं यदीयज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या लक्ष्यतया प्रस्तुता । प्रतिपादकत्वस्य
च प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दगतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ कारणम् । अतः कथं
नाम प्रतिपादकत्वमभिधेस्युच्यते ? अथ प्रतिपादकत्वं प्रतिपत्त्यनुकूलव्यापाररूपं
ज्ञानं सन्नेषोपयुज्यते प्रतिपत्ताविष्युच्येत, एवमपि शक्त्येत्यनेन शब्दगतार्थगता
वा काचिच्छक्तिः प्रतिपत्तिहेतुतया विवक्षिता, सैवाभिधेति 'अभिधया प्रति-
पादकत्वमभिधा इति लक्षणं पर्यवसन्नम्' । तथा च स्फुटैवासंगतिरात्माश्रयश्च ।
न चाभिधातः शक्तिरतिरिक्ता शब्दजन्यप्रतिपत्तिप्रयोजिका काचिदस्तीत्यत्र
प्रमाणमस्ति ।

उपपत्तिविरोधादिति । युक्तिविरोधादित्यर्थः । युक्तिविरोधमेव प्रकटयति—तथाहीति ।
विवक्षितेति । शक्त्येति तृतीयाश्रयणादिति भावः । स्वज्ञाने स्वज्ञानस्यापेक्षिततयाऽस्माभ-
यस्य स्पष्टत्वादसंगतिमुपपादयति न चेति । न हीत्यर्थः । वृत्तिवार्तिके स्वकीयप्रत्येऽप्यय-
दीक्षितेन 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधेति' लक्षणं कृतम्, परन्तु तत्र युक्तम्, यज्ज्ञानं शब्द-
जन्यार्थोपस्थितौ कारणम्, तस्या अभिधानामिकायाः शब्दनिष्ठायाः कृतेर्लक्षणकरणप्रसङ्गे 'एतत्प-
दनिष्ठं प्रतिपादकत्वमस्तीत्येतज्ज्ञानमात्रेणार्थज्ञानानुदयात् अर्थज्ञाननिष्पत्तिकारणताविहि-
ज्ञानविषयस्य, शब्दनिष्ठस्य प्रतिपत्तिः (ज्ञान) हेतुत्वरूपस्य प्रतिपादकत्वस्याभिधात्वासम्भवेन'
तस्या लक्षणत्वात् । प्रतिपादकत्वज्ञान प्रतिपत्त्यनुकूलो व्यापारः, स च ज्ञात सत्त्व प्रतिप-
त्ताद्युपयुक्तो भवति, तथा च प्रतिपत्तिकारणीभूतज्ञानविषयः शब्दनिष्ठो व्यापारविरोधः अभि-
धेत्वर्यकमुक्तलक्षणं समीचीनमिति यदि कथ्यते, तथापि न निस्तारः यत् शक्त्येतिलक्षण-
पदकृतोपान्तपदेन शब्दगताया अर्थगताया वा कस्याश्चिच्छक्तेः प्रतिपत्तिहेतुता दीक्षितस्य
विवक्षितेति प्रतीयते, प्रतिपत्तिहेतुभूताशक्तिरेव चाभिधा, तथा च 'अभिधया प्रतिपादकत्व-
मभिधेति पर्यवसन्ने लक्षणे आत्माश्रयापातः, अभिधाज्ञानेऽभिधाज्ञानापेक्षत्वात्, शब्दजन्य-
बोधप्रयोजिकाया अभिधातो भिन्नायाः कस्याश्चन शक्तेः प्रमाणसिद्धत्वेन असंगतिश्चेति भावः ।
नागेशस्तु धान्येन धनवान् इत्यत्रैव शक्त्येत्यत्रामेदार्थिका तृतीयामास्याव दीक्षितमतं सम-
र्थयति कर्वादिदित्यपि बोध्यम् ।

अब अभिधा के संबंध में अप्ययदीक्षित के द्वारा स्वीकृत मत का खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि । 'वृत्तिवार्तिक' नामक अपने ग्रन्थ में 'अभिधा' का लक्षण करते हुए दीक्षितजी ने लिखा कि—'शब्द में रहनेवाली शक्तिद्वाराकप्रतिपादकता का नाम 'अभिधा' है ।' परन्तु युक्तिविरुद्ध होने के कारण उनका उक्त लक्षण असंगत है । युक्ति-
विरोध देखिए—जिसका ज्ञान, शब्द से होनेवाली अर्थोपस्थिति में कारण होता है, उस

शब्द निष्ठ 'अभिधा' नामक वृत्ति का लक्षण यहाँ पताना है। अब हम विचार करें कि उस 'अभिधा' का लक्षण 'दीक्षित' से बन सका ? 'प्रतिपादकता' शब्द का अर्थ होता है प्रतिपत्ति (ज्ञान) के कारण में रहनेवाला धर्म अर्थात् अर्थप्रतिपादक शब्द में रहनेवाला विशेष, परन्तु उस धर्म का ज्ञान शब्दजन्य अर्थोपस्थिति में कारण होता नहीं अर्थात् 'अमुक शब्द प्रतिपादक है' इस तरह के ज्ञान से किसी अर्थ का स्मरण नहीं होता, अतः 'प्रतिपादकत्व' को 'अभिधा' का लक्षण कैसे कहा जा सकता है ? यदि आप कहें कि 'प्रतिपादकता' का अर्थ उक्त धर्म नहीं है, अपितु ज्ञानजनक व्यापार अर्थात् शब्द में रहने वाली वह क्रिया, जिससे अर्थ का ज्ञान होता हो। अब उक्त लक्षण बन सकता है, क्योंकि उक्त क्रिया स्वयं ज्ञात होकर ही अर्थोपस्थिति का कारण होती है, अतः उक्त दीक्षित-वाक्य का सार यह होगा कि अर्थोपस्थिति का कारण जो ज्ञान उसका विषय जो शब्द गत व्यापार (क्रिया) विशेष, वह अभिधा है। तो उस रीति से भी उक्त लक्षण सगत नहीं होता, कारण, आपने जो लक्षण में 'शक्त्या अर्थात् शक्तिद्वारक' यह विशेषण जोड़ा है उससे अर्थोपस्थिति में कारणीभूत शब्दगत अथवा अर्थगत कोई शक्ति ही आप की विवक्षित ज्ञान पक्षी है और वही शक्ति 'अभिधा' है, अतः आपके कथनानुसार उक्त लक्षण वाक्य का पर्यवसित रूप यह होता है कि 'अभिधा के द्वारा प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है' और इस पर्यवसित रूप में दो-दोष स्पष्ट दीख पड़ते हैं, एक असंगति और दूसरा आत्माश्रय। अर्थात् शब्दजन्य अर्थ-बोध में जो कारण हो, ऐसी अभिधा से भिन्न कोई शक्ति जब प्रमाण-मिद है नहीं, तब उक्त लक्षण नहीं बन सकता है और उस शक्ति को अभिधा से अभिन्न मान लेने पर अभिधा के लक्षण में अभिधा का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय स्पष्ट ही है अर्थात् अभिधा के ज्ञान करने में अभिधा ज्ञान का अपेक्षित हो जाना ही यहाँ 'आत्माश्रय' दोष है। मागेश यहाँ 'याम्येन धनवान्' की तरह 'शक्त्या' इस तृतीया विभक्ति का अभेद अर्थ मानकर दीक्षितमत का समर्थन करते हैं। हिन्दी रस-गङ्गाधरकार पतुर्वेदीजी मागेशकृत समाधान को असंगत बतलाते हुए कहते हैं कि धान्य और धन में सामान्य विशेषभाव होने से अभेदाश्रय हो सकता है, पर शक्ति और अभिधा दोनों विशेष ही हैं, अतः यहाँ अभेदाश्रय नहीं बन सकता। बात उनकी ठीक है। परन्तु मुझे वृत्तिवार्तिक के स्वार्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षित ने यहाँ शक्ति पद का प्रयोग वृत्ति अर्थ में ही किया है। अतः मागेश का समाधान हो सकता है।

अभिधा विभक्ते—

सैयमभिधा त्रिविधा—केवलसमुदायशक्ति, केवलव्यवशक्तिः, समुदाय-व्यवशक्तिसंकरश्चेति ।

अवयवार्था प्रतिभासिका शक्तिः केवलसमुदायशक्ति, अवयवार्थमात्रप्रतिभासिका शक्तिः केवलव्यवशक्ति, अवयवार्थप्रतिभासिका समुदायार्थप्रतिभासिका शक्तिः समुदायव्यव-शक्तिमंकर इति भावः ।

अब अभिधा का विभाग करते हैं—सैय इत्यादि। पूर्वोक्त अभिधा तीन प्रकार की होती है—केवल समुदायशक्ति अर्थात् जो अवयवार्थ को भासित न करे, केवल अवयव-शक्ति अर्थात् जो समुदायार्थ को भासित न करे, और समुदाय तथा अवयवों की शक्ति का मिश्रण अर्थात् जो अवयवार्थ के भावद्वारा समुदायार्थ को भासित करे।

उपपादनपूर्वमभिधाभेदानुदाहरति—

आधाया डित्यादिकमुदाहरणम्, सत्रावयवशक्तेरभावात्। द्वितीयायास्तु पाच-कपाठकादि, सत्र धातुप्रत्ययशक्तिबोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोपसृतात्पाककर्तृरूपा-दर्पादन्तेऽर्थान्तरस्यानवभासेन समुदायशक्तेरभावान्। तृतीयायाः पट्टजादिः। इह धातूपपदप्रत्ययरूपावयवशक्तिवेद्यानां पट्टजाननकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादन्यथे

प्रकाशमानात् पङ्कजनिकर्तृरूपादर्थोदतिरिक्तस्य पञ्चत्वविशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तिरपि कल्पनादुभयोः संकरः ।

आद्याया इति । केवल समुदायशक्तिरित्यर्थः । तत्र द्वित्यादिशब्दे । द्वितीयाया इति । केवलावयवशक्तिरित्यर्थः । तत्र पाचरूपाठकपदादौ । ऋते विना । तृतीयाया इति, समुदायावयवमिश्रितशक्तिरित्यर्थः । उभयोः समुदायावयवशक्तयोः । द्वित्यादिरव्युत्पन्नप्रातिपदिकम् केवलसमुदायशक्तिरुदाहरणम्, तत्र प्रकृतिप्रत्ययादिरावयववस्तुभावेन तद्व्युत्पन्नभावात् । पाचरूपाठकादिपदानि केवलावयवशक्तिरुदाहरणभूतानि, यतस्तत्र पञ्च आदि भातो षुक्प्रत्ययस्य चावयवभूतस्य शक्त्याऽवगम्यमानयोः पाचकर्तृरूपचोरर्थयोः परस्परमन्वये सति प्रतीयमानो यः विभक्तिजनकस्यापाराश्रयरूपोऽर्थस्तदितरो न कोऽप्यर्थः प्रतिभासत इति समुदायशक्तिर्न कल्प्यते । पङ्कजादिपदम् समुदायावयवशक्तिसंकरस्योदाहरणम्, यतस्तत्र जन्धातु-पङ्कुरूपपद-उपन्यासात्मकावयवशक्तिलभ्यात्, पङ्कावधिक-जन्मकर्तृरपादर्थोऽपि निर्वाहस्तेनानमितस्य शैवालादेरपि श्रोडीकरणात्, अतः पङ्कपविशिष्टरूपार्थभासिना समुदायशक्तिरपि कल्प्यत इति भावः ।

अथ पूर्वोक्त अभिधा-प्रकारों के उदाहरण उपपादनपूर्वक दिखलाते हैं—आद्याया इत्यादि । केवल समुदायशक्ति के उदाहरण 'द्वितीय' आदि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक होते हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव रहते ही नहीं, अतः अवयवशक्ति का वहाँ प्रसङ्ग ही नहीं आता । केवल अवयवशक्ति के उदाहरण होते हैं 'पाचक', 'पाठक' आदि पद । क्योंकि उनमें धातु 'पच्' आदि और प्रत्यय ष्यक्=भक आदि की शक्ति से अवगत होने वाले दो अर्थों (धातु के अर्थ 'पाक' और प्रत्ययार्थ 'करनेवाला') के मन्वय से प्रकाशित होनेवाले 'पाक करने वाला'—इस अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः यहाँ समुदाय-शक्ति का अभाव है । समुदाय तथा अवयवों की शक्ति के मिश्रण के उदाहरण होते हैं 'पङ्कज' आदि पद । उपपद पङ्क, धातु जन्, प्रत्यय ड, इन तीन अवयवों के योग से पङ्कज पद बना है । उनमें से उपपद का अर्थ 'कीचड़' धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' और प्रत्यय का अर्थ 'वाला' है । परस्पर साकाङ्क्ष रहने के कारण उक्त उक्त अर्थों का मन्वय होता है, तब 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह अर्थ प्रकाशित होता है । किन्तु 'पङ्कज' पद से केवल इतना ही अर्थ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में कीचड़ से उत्पन्न होने वाले शैवाल आदि सभी पदार्थ पङ्कज कहलाने लगेंगे । अतः यह मानना बढ़ता है कि उक्त अवयवों की शक्ति से भिन्न एक समुदायशक्ति भी यहाँ है, जिसके द्वारा 'कमलत्व' जाति से युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है । वह कमलत्वजाति-युक्त पदार्थ भी पङ्क से उत्पन्न होनेवाला ही है अतः अवयव और समुदाय दोनों की शक्तियों का मिश्रण यहाँ समझा जाता है ।

अमीपामभिधाप्रमेदानां प्राचीनैः प्रयुक्तानि पर्यायान्तराणि दर्शयति—

एता यव विधा रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते ।

विधा प्रकाराः । अभिधायाः प्रागुक्तानां केवलसमुदायशक्ति-केवलावयवशक्ति-समुदायावयवशक्तिसकरात्मक-प्रमेदानामेव षडशो रूढि-योग-योगरूढिशब्दैर्व्यवहारः प्राचीनैः क्रियत इति भावः ।

प्राचीन भाषाओं के द्वारा उक्त अभिधा-प्रमेदों का व्यवहार भिन्न नाम से किया है, इसी बात का उल्लेख करते हैं—एता इत्यादि । प्राचीन आलङ्कारिक केवल समुदायशक्ति का रूढि शब्द से, केवल अवयवशक्ति का योग शब्द से और समुदायावयवशक्तिसकर का योगरूढि शब्द से व्यवहार करते हैं ।

दीक्षितोक्तौ पूर्वोक्तदूषणान्यतिदिशति—

यत्तु—‘अथयद्वशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रुद्धिः । अथयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः । उभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरुद्धिः ।’ इति वृत्तिवार्तिकेऽप्ययदीक्षितैरुक्तम्, तत्र । अभिघालक्षणोक्तदूषणानामिहापि दुर्वारत्वात् ।

दूषणानामिति । प्रतिपादकत्वनिष्ठतत्त्वासम्बाधगत्यात्माश्रयणामित्यर्थः । अथगङ्गा-अथयवविभागरहितकेवलसमुदायनिष्ठा या शक्तिः, तथा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा रुद्धिः, केवलवाचयवशक्तिसापेक्षा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा योगः, एवम् समुदायावयवोभयशक्तिसापेक्षा या पदनिष्ठैकार्थप्रतिपादकता सा योगरुद्धिरित्यर्थकानि त्रयानि मूलोक्तानि रुद्धि-योग-योगरुद्धिना लक्षणानि वृत्तिवार्तिकमभिधाने निबन्धे दीक्षितमहाभागेन कृतानि, तानि न सम्मन्त्रि, प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपशब्दगतप्रतिपादकज्ञानस्यार्थ-प्रतिपत्तिं प्रत्यहेतुत्वादसम्बन्ध, अभिघात शक्तेरन्यत्वाभावादसंगतिः, स्वज्ञाने स्वज्ञानापेक्षणादात्माश्रय इत्येवमभिघालक्षणोक्तदूषणानामत्रापि दुर्वारत्वादिति भावः ।

अथ इत्थं प्रसङ्ग पर भी दीक्षित के मत का खण्डन करते हैं—यत्तु इत्यादि । ‘अथयद्व-अर्थात् अथयव विभाग-रहित केवल समुदायनिष्ठ-शक्ति से पद में रहनेवाली एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम ‘रुद्धि’ है । केवल अथयवशक्ति की अपेक्षा करनेवाली-पदनिष्ठ प्रतिपादकता का नाम ‘योग’ है और समुदायशक्ति तथा अथयव शक्ति दोनों की अपेक्षा करनेवाली प्रतिपादकता का नाम ‘योगरुद्धि’ है ।’ ये लक्षण क्रमशः रुद्धि, योग और योगरुद्धि के अप्ययदीक्षित ने अपने वृत्तिवार्तिक नामक निबन्ध में किये हैं, परन्तु वे लक्षण ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनके अभिधा लक्षण में जो सब दोष दिखाये गए हैं, वे सभी दोष यहाँ भी हो सकते हैं और उन दोनों का कारण भी नहीं किया जा सकता—अर्थात् शब्दगत प्रतिपादकता का अर्थ, प्रतीति का हेतु होना ही होता है और उस प्रतिपादकता का ज्ञान अर्थ की प्रतीति में कारण नहीं होता, अतः उक्त लक्षणों में असम्बन्ध दोष हो जायगा, शक्ति से भिन्न रुद्धि आदि कोई वस्तु होती नहीं अतः असंगति दोष भी होगा, एवम् शक्ति के ज्ञान में शक्ति-ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रय दोष का अवसर भी आ जायगा ।

अवेदानीमश्वगन्धादिकतिपयविशिष्टशब्दानां शक्तिरूपेषु अभिगमभेदेषु कुत्रान्तर्भवतीति विचारयितुमुपक्रमते—

अथ अश्वगन्धा अश्वकर्ण-मण्डप-निशान्त-कुवलयवादिशब्देषु का शक्तिरिति ।

मूलोक्ता अश्वगन्धादयः शब्दा सर्वे धर्मका, तत्रैकस्यार्थस्य समुदायराश्या (हव्या) द्वितीयस्वावयवराश्या (योगेन) सर्वेभ्यः शब्देभ्यः प्रतीतिर्भवति, यतस्तेषु शब्देषु का शक्तिः ? केवलसमुदायशक्ति केवलवाचयवशक्ति समुदायावयवशक्तिसकरो वेति विचारणीयमिति भावः ।

अथ अश्वगन्धा आदि कतिपय शब्दों की शक्ति, उक्त अभिधा प्रभेदों में अन्तर्भूत हो सकती है अथवा नहीं इत्यादि विचार का आरम्भ करते हैं—अथ इत्यादि । यहाँ अथ विचारणीय यह है कि अश्वगन्धा, अश्वकर्ण, मण्डप, निशान्त और कुवलय आदि पदों में एक तीनों भेदों में से कौन-सी शक्ति है ? इस तरह का विचार यहाँ इसलिये उठता है कि पूर्वोक्त सभी शब्दों के दो-दो अर्थ हैं अर्थात् अश्वगन्धा शब्द के एक प्रकार का औपच, असगन्ध और घोड़ों के गन्धवाली, अश्वकर्ण शब्द के एक औपच और घोड़े का दान, मण्डप शब्द के मँडवा (गृह विशेष) और भात का मँडू पीनेवाला, निशान्त

पद के गृह और शक्ति का अन्त (प्रभात) तथा कुशल पद के राष्ट्र में विकसित होनेवाला कमल और पृथ्वीमण्डल अर्थ होते हैं । इन लक्षों में प्रथम-प्रथम अर्थसमुदाय शक्ति (रुद्रि) द्वारा और द्वितीय द्वितीय अर्थ अवयवशक्ति (योग) द्वारा प्रतीत होते हैं । अतः यहाँ किसी एक शक्ति से कार्य नहीं बन सकता ।

पूर्वजिज्ञासिता शक्ति मतभेदेन ह्यप्यप्यन्त तावत्प्रथममतमाह—

अत्र केचित्—‘अश्वगन्धारसं पिबेत्’ इत्यादिषु विषयविशेषे केवलसमुदाय-शक्तिः । अश्वगन्धा वाजिशाला, इत्यादिषु तु केवलयोगशक्तिः । समुदायावयव-शक्त्योरुभयोरैकशब्दाश्रयत्वे कथं केवलत्वविशेषितयोरशद्वितीयभेदयोः प्रस-क्तिरिति तु न शङ्क्यम् । समुदायावयवशक्तिवेद्ययोरर्थयोरन्वयेन तादृशशक्तयोः केवलत्वस्य साम्राज्यात् । इदमेव हि केवलत्वमिह विवक्षितम्, यदन्वया योगार्थ-बोधकत्वम् । सकरस्त्वन्वययोग्यार्थबोधकयोरैवेति न तस्यात्र प्रसक्तिः’ इत्याहुः ।

अश्वगन्धाविशब्दे क्वचित् केवलसमुदायशक्तिः, क्वचित् केवलयोगशक्तिः, यथा—‘अश्वगन्धारसं पिबेत्’ इत्यादौ औपधतात्पर्येण प्रयुक्ते प्रथमा, ‘अश्वगन्धा वाजिशाला’ इत्यादौ अश्वस्य गन्धो यस्यामिन्वयतात्पर्येण प्रयुक्ते द्वितीया । यद्यपीह कथं तादृशशक्ति-द्वयमानेन एकस्मिन् शब्दे, अवयवशक्त्येव सद्भावेन केवलसमुदायशक्त्ये, समुदायशक्ते-रपि सत्त्वेन केवलावयवशक्त्येवासत्त्वादिति शङ्का आप्तातत् समुदेति, तथापि अवयवशक्ति-बोध्यार्थान्वयायोग्यार्थबोधकत्वरूपस्य केवलत्वस्य समुदायशक्तौ, समुदायशक्तिबोध्यार्थ-ान्वययोग्यार्थबोधकत्वरूपस्य केवलत्वस्यावयवशक्तौ विवक्षणेन सामञ्जस्ये तादृशशङ्काया नोत्पा-न्नम् । योगहृत्परपर्याय-संकरस्तु नैतादृशस्यते सम्भवति, परस्परान्वययोग्यार्थद्वयबोधक-भेदयोरपि तत्त्वधीकारात् । प्रकृते चाश्वसंबन्धगन्धविशिष्टोपधिरूपयोरपर्यायो नियोऽन्वययोग्य-त्वनिर्वाह इति भावः ।

अब पूर्व जिज्ञासा की ज्ञान्ति के लिये मतभेद से उत्तर करते हैं—अत्र इत्यादि । वक्त प्रश्न के उत्तर में कुछ लोगों का कथन है कि—‘अश्वगन्धारसं पिबेत्—अर्थात् अश्वगन्ध का रस पीवे’ इत्यादि स्थल-विशेष—जहाँ औपधरूप अर्थ में अश्वगन्धा पद प्रयुक्त हुआ हो—में केवल समुदायशक्ति (रुद्रि) माननी चाहिए । और ‘अश्वगन्धा वाजिशाला—अर्थात् दोनों के गन्ध वाली सुदृशाल’ इत्यादि स्थलविशेष—जहाँ वाजि-शालारूप अर्थ में अश्वगन्धा पद प्रयुक्त हुआ हो—में केवल अवयवशक्ति (योग) माननी चाहिए । यद्यपि यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि जब समुदायशक्ति (रुद्रि) और अवयवशक्ति (योग) दोनों के लक्षणों में ‘केवल’ विशेषण लगाया गया है, अर्थात् जब समुदायार्थमात्र बोधक पद में रुद्रिशक्ति और अवयवार्थ मात्र-बोधक पद में योगशक्ति मानी गई है, तब अश्वगन्धा इस एक पद में ही दोनों शक्तियाँ कैसे मानी जा सकती हैं अर्थात् यहाँ रुद्रि शक्ति मानी नहीं जा सकती, क्योंकि यह पद अवयवार्थ का भी बोधक, स्थान-विशेष में होता है, योगशक्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि स्थानविशेष में यह पद समुदायार्थ का भी बोधक होता है; तथापि यह कहा जा सकता है कि ‘केवल’ विशेषण का अभिप्राय यहाँ अन्य अर्थ का बोधक नहीं होना नहीं है, अपितु अन्य अर्थ के साथ अन्वित न हो सकनेवाले अर्थ का बोधक होना है अर्थात् जहाँ समुदायार्थ ऐसा रहेगा, जिसका अन्वय अवयवार्थ के साथ नहीं बन सकेगा, यहाँ केवल समुदायशक्ति मानी जायगी और जहाँ अवयवार्थ ऐसा होगा, जिसका अन्वय समुदायार्थ के साथ नहीं बन सकेगा, वहाँ केवल अवयवशक्ति मानी जायगी । अब आप सोचिए कि अश्वगन्धा पद में ये दोनों केवल विशेषणविशिष्ट शक्तियाँ रह सकती हैं या नहीं ? मैं कहूँगा कि अवश्य रह सकती हैं, क्योंकि अश्वगन्धा पद का औपधरूप

समुदायार्थ ऐसा है ही. जिसका बाजिशालारूप अवयवार्थ के साथ अन्वय नहीं होता, इसी तरह घांटे के गन्धवाली घुडमालरूप अवयवार्थ भी ऐसा ही है, जिसका उक्त समुदायार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। आप कहेंगे—इस स्थिति में दोनों शक्तियों के मिश्रण-रूप अभिधा के तृतीय भेद (योगरूढि) से इसमें क्या अन्तर रहा ? तो इसका उत्तर यह है कि मिश्रण वहाँ माना जाता है, जहाँ ऐसे दो अर्थों का बोध होता हो, जो परस्पर अन्वित हो सकें, जैसे पङ्कज पद के स्थल में कमलरूप समुदायार्थ और कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला रूप अवयवार्थ परस्पर अन्वित होने योग्य हैं अर्थात् कमल भी कीचड़ से ही उत्पन्न होता है अतः 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला कमल' ऐसा अन्वित अर्थ ज्ञात होता है। अश्वगन्धा पद के दोनों अर्थ ऐसे नहीं हैं जो परस्पर अन्वित हो सकें, अतः यहाँ शक्ति रूप मिश्रण का प्रसङ्ग ही नहीं आता।

तादृशचैतन्यविशेषाया माताभावान् मतान्तरमाह—

अन्ये तु—'अश्वकर्णादिशब्देषु नाभिधाया. प्रथमद्वितीययोर्विधयोः प्रसक्तिः, कैवल्यविरहात्। परन्तु सकरस्य द्वौ भेदौ—योगरूढियौगिकरूढिश्चेति। तत्राद्यस्योदाहरण पङ्कजादिशब्दाः। द्वितीयस्य त्वश्वकर्णादयः' इत्याहुः।

अश्वगन्धा-अश्वकर्णादिशब्देषु कैवल्यविशेषितयोः प्रथमद्वितीयभेदयोरप्रमत्तत्वात् तत्प्रमादस्य सकरस्य यौगिकरूढिनामकोऽप्येको भेदः स्वीकार्य इति भावः।

'कैवल्य' विशेषण का जो अर्थ पूर्व मत में किया गया है, उसमें कोई प्रमाण नहीं, अतः मतान्तर का उल्लेख करते हैं—अन्ये तु इत्यादि। अन्य विद्वानों का कथन है कि अश्वगन्धा, अश्वकर्ण आदि पदों में अभिधा के प्रथम अथवा द्वितीय अर्थात् रूढि किंवा योगभेद की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ एक ही पद में दोनों तरह की शक्तियों के रहने के कारण कैवल्य नहीं होता। अतः संकरात्मक तृतीय अभिधा भेद के पुनः दो भेद मानने चाहिये, एक योगरूढि और दूसरा यौगिकरूढि। उसमें से प्रथम भेद का उदाहरण है पङ्कज आदि पद और द्वितीय भेद का अश्वगन्धा, अश्वकर्ण आदि पद।

सकरस्य योगरूढिगर्भदेर्नव प्रसिद्धमतान्तरमाह—

'चतुर्थं एवायमभिधाया भेदः' इत्यप्यन्ये।

अभिधापदमयदेर्नवकारेण सकरभेदनिरासः। यौगिकरूढिनामक भेदान्तरं न सकरस्य, अपि तु अभिधाया एव। तथा नाभिधायाद्यन्वारी भेदा इति भावः।

योगरूढि से निम्न सकर का भेद कहीं प्रसिद्ध नहीं, अतः तृतीय मत दिलालते हैं—चतुर्थं इति। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि यह यौगिकरूढि नामक संकरात्मक तृतीय अभिधा भेद का उपभेद नहीं है, अतः स्वतन्त्ररूप से अभिधा का ही एक भेद है अर्थात् अभिधा के चार (रूढि, योग, योगरूढि और यौगिकरूढि) भेद हैं, तीन ही नहीं।

सिद्धान्तमाह—

विद्यते ॥' इत्यादि । एवञ्च योगशक्तैरवसर एव नास्ति । विशिष्टपदवाक्यादेर्विशिष्टार्थे रुदिरैवेति भावः । अभिधाया रुद्धाख्य एक एव भेद इति तात्पर्यम् ।

अब अभिधा के सबन्ध में मिदान्तमूल मत का उल्लेख करते हैं—अखण्डा इति । पद दो प्रकार के होते हैं, एक समास कारके बनाए गए और दूसरे समासरहित । दोनों ही प्रकार के पद अखण्ड हैं—निरवयव हैं । केवल लघु उपाय से शब्द ज्ञान कराने के लिये वैयाकरणों ने अपने शास्त्र की प्रक्रिया के निर्वाहार्थे समास में भिन्न-भिन्न पदों का और कृदन्त, तद्धितान्त तथा तिङन्त पदों में प्रकृति प्रथयों का काल्पनिक विभाग मान लिया है अर्थात् वस्तुतः ये सब विभाग हैं नहीं । अतः एव उन्होंने कहा है—'वदेन वर्णा विद्यन्ते' इत्यादि अर्थात् पदों में वर्ण नहीं, वर्णों में अवयव नहीं और वाक्यों में पदों का विभाग भी नहीं है ।' इस युक्ति के अनुसार योगशक्ति का कहीं प्रसङ्ग भा ही नहीं सकता । अतः यह मानना चाहिए कि अखण्ड पद की अखण्ड पदार्थ में और अखण्ड वाक्य की अखण्ड वाक्यार्थ में केवल रुढ़ि ही থাকि है । तात्पर्य यह हुआ कि अभिधा का रुढ़ि नामक पद ही भेद है, तीन भयचा चार नहीं ।

शङ्कते—

अथ—

‘गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न ।

इन्द्रः सहस्रनयनोऽप्युत्तरूपं परिच्छेत्तुम् ॥

इत्यादौ रुढ्यर्थमादाय पुनरुक्तिपापतिः ।

अपेति । अभिधाया उक्तस्य भेदग्रवरूपभेदचतुष्टयस्य वा स्वीकृतेरुत्तरमित्यर्थः । गीष्पतिरिति । राजवर्णनमिदम्—हे राजन् । गीष्पति वाच' स्वामां अपि, आतिरस' दृष्टरूपति', ते तव, गुणगणान् परावर्मादार्थादिगुणसमूहान्, गदितुं वक्तुम्, सगर्वः साहकारो न भवतीति शेषः । तथा सहस्रनयनोऽपि नेत्रमहस्रसहितोऽपि, इन्द्र', ते, अद्वैतरूपम् आश्चर्यकरं स्वरूपं, परिच्छेत्तुम् अर्थात् इत्यस्या निधेतुम्, सगर्वो नेत्यर्थः । राजन्' त्वयि इत्यन्तो गुणा नन्ति, यान् अपरिमितवानशक्तिर्दृष्टरूपतिरपि वर्णयितुं न प्रभु, एवम् तव रूपे वर्णमानाया आश्चर्यकरिताया इयत्ता निधेतु नमनमहत्तराली इन्द्रोऽपि न समर्थः, अस्माकं स्वप्नवाक्शक्तीना नेत्रद्वयराशिना तु कथं का ? सर्वथा अवर्णनीया तव गुणा, इत्यतारहितव रूपमिति भावः । अत्राङ्गिरसेन्द्रराष्ट्री रुद्रिशक्त्या दृष्टरूपति-द्वेपराजो बोधयत । गीष्पतिमहस्रनयनराष्ट्री च योगरुद्रिशक्त्या तावेवाभिपत्त । एवञ्च गीष्पतिसहस्रनयनपदयोर्हृदयर्थमादाय पुनरुक्तिदोषापात स्पष्ट एवेति भावः ।

इस प्रसङ्ग पर एक शका का उल्लेख करते हैं—अथ इत्यादि । आप कहेंगे कि इतना सब होने पर भी—‘गीष्पतिरपि’ अर्थात् (हे राजन् !) ‘गीष्पति’—बाणी के अधिपति भो—आङ्गिरस—दृष्टरूपति आपके पराक्रम, औदार्य आदि गुण गणों का यथावत् वर्णन करने का गर्व नहीं कर सकते और सहस्रनयन—हजार चक्षुवाले भी इन्द्र आपके आश्चर्यजनक रूप की दृष्टता को बतलाने का धर्मद नहीं कर सकते ।' तात्पर्य यह कि 'आप में इतने गुण हैं, जिनको वाचरूपति भी नहीं कह सकते, एवम्—आपका रूप आश्चर्यजनक है, जिसका माप कर सकना हजार नेत्रवाले इन्द्र के लिये भी संभव नहीं है, फिर हम अल्प वाचशक्ति-वालों तथा दो नयनवालों की बात ही क्या ? सारांश यह कि आपके गुण सर्वथा अवर्णनीय हैं और रूप इत्यत्ता रहित है ।' इत्यादि पद में रुद्धार्थ को लेकर पुनरुक्ति दोष होने लगेगा अर्थात्—‘गीष्पति’ और ‘सहस्रनयन’ पद योगरुद्ध हैं, अतः उन दोनों पदों से ही योग तथा रुढ़ि दोनों शक्तियों के मिश्रण से क्रमशः 'बाणी का अधिपति आङ्गिरस'

और 'हजार नेत्रकला इन्द्र' इन अर्थों का बोध हो ही जाता है, फिर 'आह्निरस' और 'इन्द्र' पदों का प्रयोग पुनरुक्तिदोष प्रस्त है ।

उक्तापत्ते समाधानामासमुपपाद्य खण्डयति—

न चैवंविधपदद्वयसमभिध्याहारस्थले योगरूढपदस्यावयवार्थमात्रबोध-
कत्वम्, तावन्मात्रस्यैव प्रकृतोपयोग्यातिशयविशेषसमर्पकत्वात् इति वाच्यम् ।
एवमपि योगरूढपदस्य रूढिशक्तेरनियन्त्रणेन योगार्थमात्रप्रतिपादकताया अनु-
पादानादुक्तदोषस्यानुवृत्तेः । एकेनैव पदेन योगार्थरूढ्यर्थयोरुभयोरप्यावश्यक-
योरर्थयोरुपस्थितिसंभवेन द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापत्तेश्च, इति चेत् ।

अतिशयेति । राजनिष्ठगुणाद्यतिशयेत्यर्थः । अनियन्त्रणेन असंकोचेन । शक्तिसंकोच-
कामा प्रकरणादीनामभावादिति भावः । अनुपादानादिति । अग्रहणादित्यर्थः । अज्ञाना-
दिति यावत् । शक्तिनियामकप्रकरणादिमत्त्वेऽप्याह—एकेनवेति । आवश्यकयोरिति ।
पदद्वयोल्लेखबलेनोक्तातिशयव्यञ्जनार्थमिति भावः । उक्तपुनरुक्त्यापत्तिः तद्वैव संभवति,
यदि गोप्यतिसहस्रनयनपदे योगार्थेन सह रूढ्यर्थमपि बोधयेताम् परन्तु तदेव नास्ति, ईदृ-
शरूढयोगरूढोभयविधशब्दप्रयोगस्थले योगरूढपदस्य योगार्थमात्रबोधकत्वस्वीकारेण तयो-
पदयोर्वागधिपति-नैग्रसहस्रविशिष्टमात्रबोधकत्वान् । कुत ईदृशस्थले योगरूढपदस्य योगा-
र्थमात्रबोधकत्वमिति चेन् तावन्मात्रस्यैव राजादिगतगुणरूपयोर्वर्णनीयत्वलक्षणातिशय-
व्यञ्जकत्वेनावश्यकत्वान्, रूढ्यर्थस्य पदान्तरेण बोधनाच्चेति समाधानमापाततः संमा-
ध्यमानमपि न युक्तम्, शक्तिनियामकस्य प्रकरणादेरसत्त्वेन गोप्यतिसहस्रनयनरूपयोर्वा-
गरूढपदयो रूढिशक्तेरनियमनेन योगार्थमात्रबोधकताया अज्ञानात् रूढ्यर्थबोधे अपारिते
पुनरुक्त्यापत्तेरतदवस्थान् । प्रकरणादिनियामकमत्त्वास्वीकारे पुनस्तथा संभवेऽपि आह्निर-
सेन्द्रादिरूपद्वितीयपदप्रयोगनिरर्थक्यापातदोषस्य दुर्बारत्वाच्च । कथं तच्चैरर्थक्यमिति च
दित्यम्—योगरूढ रूढ पद प्रयुज्य पुनरुक्तिमिया प्रकरणादिना योगरूढपदस्य रूढशक्ते-
रनियमनं व्यर्थम् । यत् तथाकारे एकेन पदेन रूढ्यर्थस्य द्वितयेन योगार्थस्य च बोध एव
गु वृद्धेरयम् । तत्स्यौद्देशस्य पूर्ति एकेन योगरूढपदेनापि संभवति । न च प्रकरणा-
दिना संकोचे कथं द्वयोरर्थयोर्नाम एकरमान् पदादिति वाच्यम्, अनिधानिनामकप्रकर-
णोक्तबलविद्वान्तानुसारेण सत्यावश्यकत्वे द्वयोरर्थयोर्बोधस्थोत्पत्तौ बाधकाभावादिति भावः ।

उक्तं तांका के आपातत एक समाधान का उल्लेख कर उसका खण्डन करते हैं—न
चैव इत्यादि । यदि कोई कहे कि इस तरह जहाँ रूढ और योगरूढ दोनों प्रकार के
शब्दों का प्रयोग हुआ हो, वहाँ गोप्यति आदि योगरूढ पद केवल अवयवार्थ (योगार्थ)
के बोधक होते हैं, समुदायार्थ (रूढ्यर्थ) के नहीं, क्योंकि ऐसे स्थानों में अवयवार्थ
ही प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशिष्ट प्रकार के अतिशय को उपस्थित करनेवाला रहता
है अर्थात् वर्णनीय राजा के गुण रूपों को अवर्णनीय मित्र करने में गोप्यति तथा 'सहस्र-
नयन पद के योगार्थ ही सहायक होते हैं रूढ्यर्थ नहीं । तात्पर्य यह कि इस तरह से
योगरूढ पद को केवल योगार्थोपस्थापक मान लेने पर पुनरुक्ति नहीं होगी, परन्तु यह
कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह तो यह कि जब प्रकरण आदि कोई नियामक है
नहीं, तब योगरूढ (गोप्यति आदि) पद को रूढिशक्ति नियन्त्रित नहीं हो सकती
और अनियन्त्रण की स्थिति में वह पद योगार्थमात्र का प्रतिपादक है, ऐसा निश्चय ही
नहीं हो सकता, अर्थात् योगरूढ पद रूढ्यर्थ का भी बोध करावृत्ता ही, किमी के कथन
मात्र से यह शङ्का नहीं, अतः उक्त दोष (पुनरुक्ति) बना ही रहा, हट्य नहीं । दूसरा
पक्ष कि यदि किसी तरह नियामक (प्रकरणादि) को योजकर उक्त योगरूढ पदों को

ईदृश स्थल में योगार्थमात्र के बोधक बना भी देंगे, तब भी यह आपत्ति तो बनी ही रहेगी कि जब शोषरूढ (गीष्पति सहस्रनयन) पद से ही योगार्थ और रूढार्थ दोनों के बोध हो सकते हैं, तब पृथक् रूढपद (आहिरस और इन्द्र) के प्रयोग क्यों किये जायें, अर्थात् वे पद व्यर्थ हो जाते हैं । सारांश यह कि प्रकरण आदि को नियामक मानकर द्वितीय पद प्रयोग को सार्थक बनाना समुचित नहीं । अभिधानिया-मक-प्रकरणोक्त स्व-सिद्धान्त के अनुसार आचरण-रूढता होने पर दो अर्थों का बोध एक पद से माना जा सकता है । अतः पुनरुक्ति दोषवाली शंका पूर्ववत् बनी रह जाती है ।

सिद्धान्तभूत समाधानम्—

अत्राहुः—एकपदोपात्तत्वादन्तरङ्गाकाङ्क्षावशेन प्रथमं योगार्थरूढ्यर्थयोर-
न्वये सति समुल्लसितस्य विशिष्टार्थस्यैव पदान्तरार्थेनान्वयः, न तु तयोरेव विश-
कलितयोरिति यद्यपि न्यायसिद्धोऽर्थः तथापि शास्त्राऽर्थस्य प्रतिपादने स्यादेवम् ।
लक्षणायां तु योगरूढेन योगार्थमात्रप्रतिपादनेन न किञ्चिद्वाधकमस्ति । नापि
द्वितीयपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यम् । तथा सति रूढ्यर्थबोधनेन गतार्थेन योगरूढ-
शब्देन प्रतिपाद्यमानस्य योगार्थस्य पङ्कजाक्षीत्यादाविव नान्तरीयकत्वशङ्का कुर्व-
द् पताया अपहतौ प्रकृतोपयोग्यातिशयोक्त्यपेक्षानस्य पाक्षिकत्वापत्तेः । द्वितीय-
पदयोगे तु तेनैव रूढ्यर्थप्रतिपादने सिद्धे योगरूढपदप्रतिपाद्यस्य योगार्थस्य
नान्तरीयकत्वशङ्काया अयोगात्कुर्यद्रूपत्वेन व्यङ्ग्यविशेषव्यञ्जकत्वं नियमेन
सिद्ध्यति ।

एकपदोपात्तेति । अन्तरङ्गत्वे हेतुरयम् । समुल्लसितस्य सम्पन्नस्य । विशिष्टार्थ-
स्येति । वाक्स्वाम्यभिजाहिरसस्य, सहस्रनयनाभिधेन्द्रस्य चेत्यर्थः । पदान्तरेति । आहि-
रसेन्द्रपदार्थाभ्यामिति भावः । तयो योगार्थरूढ्यर्थयोः । विशकलितेति । पदान्तरार्थ-
नान्वय इत्यस्यानुपपन्नः । गोपति-सहस्रनयनपदस्य योगार्थरूढ्यर्थयोः परस्परमन्वितयोः
आहिरसेन्द्रपदार्थाभ्यां सहान्वयो नेति भावः । योगार्थमात्रबोधकत्वात्तुपादानप्रयुक्तपु-
नरुक्तिरूपमाद्यदोषमुद्घातय रूढपदप्रयोगनैरर्थक्यरूप द्वितीयं दोषमुद्धरति—नापीति ।
तथा सति रूढ्यर्थमात्रबोधकद्वितीयपदानुपादाने सति । नान्तरीयकत्वेति । मुख्यतात्पर्या-
विषयत्वेत्यर्थः । पाक्षिकेति । नान्तरीयकत्वशङ्काया अभावे इष्टसिद्धिः सम्भवत्यपीत्यर्थः ।
अत एवापे नियमेनेति गद्यति । कुर्वद्रूपत्वेनेति । कार्यजननोन्मुखत्वेनेत्यर्थः । योगशक्ति-
हृदिशक्तिभ्यां गीष्पतिपदेनाभिहितयो वाक्यस्याहिरसपदयोरेवं सहस्रनयनपदेनाभिहितयो-
नैवसहस्रविन्दरूपयोरर्थयोः प्रथममभेदान्वयः, श्रोतृसमवेततद्विषयकान्वयनिज्ञातात्म-
काकाश्या एकपदोपात्तत्वज्ञानमूलकान्तरङ्गत्वेन प्रागुदयात् ततस्तथाऽन्वितस्य गोपतिपदा-
र्थस्याहिरसपदार्थेन, एवमन्वितस्य सहस्रनयनपदार्थरेन्द्रपदार्थेन सहभेदान्वयः, न तु
अनन्वितस्य गोपतिपदवाच्ययोगार्थरूढ्यर्थसमुदायस्याहिरसपदार्थेन, एवं सहस्रनयनपद-
वाच्ययोगार्थरूढ्यर्थसमुदायस्येन्द्रपदार्थेन, तदन्वयजिज्ञासात्मिकाया आकाश्या भिन्नपदो-
पात्तत्वज्ञानमूलकबहिरङ्गत्वेन पश्चादुदयात् । तथा च 'आहिरस वाक्यस्यभिन्न आहिरस,
इन्द्र सहस्रनयनाभिधेन्द्र' इत्याकारकान्वयबोधः सम्पद्यते, स च नासगतः, घटो
नीलघटो न वा दण्डवान् रक्तदण्डवान् वा' इत्यादिसंशयनिवर्तकस्य तत्समानाकारस्य 'घटो
नीलघट दण्डवान् रक्तदण्डवान्' इत्याकारकस्य विधेयकोट्यवधिकारवादिनोऽन्वयबोधस्य
नवीनैः स्वीकारात् । परमिय रीति- गोपति-सहस्रनयनादिपदस्य वाचकत्वं स्वीकृत्य शक्त्या-
र्थप्रतिपादने बोध्या । तादृशस्य योगरूढपदस्य आशक्तिरन्वयव्यञ्जकत्वात् योगार्थमात्र-

प्रतिपादने गीष्पत्यादियोगरूपद्वययोगार्थस्याङ्गिरसादिस्टपदार्थनान्वये तु काऽपि वाधा नास्तीति युगमोऽयं पन्था । इत्यत्र पूर्वोक्त पुनरुक्तिदोष परिहृतोऽभूत् । आङ्गिरसेन्द्रादिस्टपदाप्रयोगे गीष्पतिसहस्रनयनादियोगरूपद्वयस्य रसार्थबोधनेन गतार्थमिति तादृश-पदेन प्रतिपाद्यमानोऽपि योगार्थं पट्ट्याक्षीत्यादौ पट्टजनिवृत्त्यर्थान्न सत्पर्याविषय इति शङ्कया तस्य योगार्थस्य कुर्वद्रूपता (कार्यकारिता) नश्येत्, तथा चाङ्गिरसो वाक्पतित्वे वर्तमानोऽपि तत्र गुणान् वक्तुमसमर्थ, इन्द्र महस्रनयनत्वेऽपि तत्र रूपं परिच्छेत्तुमशम इत्यर्थबोधनद्वारा राजगतावर्षनीत्युपलक्षणरूपराक्षितात्मकातिशयव्यञ्जन न स्यात्, उक्त-शंकाया धनुर्यानेऽहोऽहोते व तदतिशयव्यञ्जन स्यादपीति वैकल्पिक तदतिशयव्यञ्जनं भवेत् । गीष्पतिसहस्रनयनादियोगरूपद्वयप्रयोगे सत्यपि आङ्गिरसेन्द्रादिरूपरूपद्वयस्य प्रयोगे पुन आङ्गिरसादिपदेनैव स्वयं प्रतिपादने जाते गीष्पत्यादिपदप्रतिपाद्यत्व योगार्थस्य तात्पर्या-विषयत्वाका न भवितुमर्हति, तज्ज्ञाभार्यमेव पृथक् योगरूपद्वयप्रयोगात् । तथा च तस्य योगार्थस्य कुर्वद्रूपताऽगुणा तिष्ठति, तेनोकातिशयव्यञ्जन नियमतो जायते, नवैकल्पिकम् । एवम द्वितीयपदप्रयोगनैरर्थव्यापत्तिरपि प्रायुक्ता समाहितेति भावः ।

अब उक्त शङ्का का सिद्धान्तभूत समाधान करते हैं—अत्राहुः इत्यादि । 'गीष्पति' आङ्गिरस' वहाँ योगरूपद्वय के द्वारा 'गीष्पति' का अर्थ होता है वाणी का पति बृहस्पति और रूपद्वय के द्वारा 'आङ्गिरस' पद का अर्थ होता है केवल बृहस्पति । इस स्थिति में इन दोनों पदों के अर्थों का अन्वय किस तरह से हो, इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जायगा कि 'गीष्पति' पद से जो दो (योगार्थ तथा रूपार्थ—वाणी का पति एवं बृहस्पति) अर्थ उपस्थित हैं, उन्हीं दोनों में परस्पर अन्वय होगा, क्योंकि 'वे दोनों अर्थ एक पद से उपस्थित हुए हैं' इस ज्ञान से श्रोता की अन्वयप्रियवक जिज्ञासरूप आकाङ्क्षा उन्हीं दोनों अर्थों के विषय में पहले उदित होगी, अतः वही आकाङ्क्षा अन्तर्गत होगी । उन एकपदोपस्थापित दो अर्थों का परस्पर अन्वय जब तक नहीं हो जायगा, तब तक उन दोनों अर्थों का अन्वय आङ्गिरस पद के रूपार्थ (बृहस्पति) के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि 'दो पदों से वे अर्थ उपस्थित हुए हैं' इस ज्ञान के कारण उन दोनों अर्थों के विषय में अन्वय जिज्ञासरूप आकाङ्क्षा पश्चात् उदित होगी, अतः एव बहिरङ्ग होगी । इस निर्णय के अनुसार पहले 'वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस प्रकार से 'गीष्पति' पदोपस्थापित अर्थों का अन्वय हो चुकने के बाद उस अन्वित अर्थ का 'आङ्गिरस' पदोपस्थापित रूपार्थ (बृहस्पति) के साथ 'बृहस्पति, वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति' इस प्रकार से अन्वय होगा और इस तरह से अन्वय करने में कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि 'घट नील घट है कि नहीं, दण्डवाला रक्त दण्डवाला है कि नहीं' इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'घटो नीलघट, अर्थात् घट नील घट है' और 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् अर्थात् दण्डवाला रक्त दण्डवाला है' इस तरह के विशेष अंश में अधिक (उद्देश्य अंश से कुछ अधिक) अर्थ को विषय बनानेवाले व्याख्यान को नवीन विद्वानों ने स्वीकृत किया है । उक्त सन्देह की निवृत्ति 'नीलो घट अर्थात् घट नील है' इस बोध (निश्चय) से नहीं हो सकता, क्योंकि समान आकारवाले निश्चय को ही समान आकारवाले सन्देह का निवर्तक माना जाता है । इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि जैसे 'घटो घट, अर्थात् घट घट है' 'दण्डवान् दण्डवान् अर्थात् दण्डवाला दण्डवाला है' इत्यादि बोध के न हो सकने पर भी 'घटो नीलघट अर्थात् घट नीलघट' 'दण्डवान् रक्तदण्डवान् अर्थात् दण्डवाला रक्तदण्डवाला है' इत्यादि बोध होते हैं, उसी तरह 'बृहस्पति बृहस्पति' इस तरह के बोध के न हो सकने पर भी बृहस्पति वाणीपति से अभिन्न बृहस्पति है इस तरह का बोध हो ही सकता है । यही रीति 'इन्द्रः सहस्रनयन' इत्यादि में भी समझ लेनी

चादिपू। अथ उक्त स्थल पर पुनरुक्ति दोष की शंका चारित हो गई अर्थात् 'बृहस्पति
 वृहस्पति' इस तरह के बोध में ही पुनरुक्ति लगती है, 'बृहस्पति वाणीपति से अभिन्न
 वृहस्पति' इस तरह के बोध में नहीं। परन्तु इस तरह से पुनरुक्ति दोष का उद्धार तब
 किया जाना चाहिए, जब गीष्पति और आद्विरस दोनों पदों को वाचक ही माना जाय
 और दोनों पदों के शब्द अर्थ का ही अन्वय करना अभीष्ट हो। यदि गीष्पति आदि
 योगरूढ पद को लाक्षणिक मान लिया जाय अर्थात् उस पद से लक्षणा वाणीपतिरूप
 योगार्थमात्र की लक्षण्यति मानी जाय, तब तो उस योगार्थ का आद्विरस के रूढार्थ
 वृहस्पति के साथ अन्वय होने में कोई बाधा ही नहीं रह जानी अर्थात् गीष्पति—वाणी
 का पति, आद्विरस—वृहस्पति इस तरह का अन्वयबोध सर्वसम्मत ही है। तात्पर्य यह
 हुआ कि हम रीति से भी यहाँ पुनरुक्ति का उद्धार किया जा सकता है और यह रीति
 उक्त रीति से बरत भी सकती है। अथ रह जाती है जायकी वह शंका, जिसमें कहा गया
 है कि गीष्पति आदि योगरूढ पद से हो योगार्थ (वाणीपति) और रूढार्थ (वृहस्पति)
 दोनों अर्थों का बोध हो ही जायगा, फिर पृथक् रूढ पद (आद्विरस आदि) का प्रयोग
 व्यर्थ है। परन्तु वह शंका भी उचित नहीं, क्योंकि योगरूढ पद से पृथक् यदि रूढ पद
 का प्रयोग नहीं किया जायगा, तब योगरूढ (गीष्पति आदि) वह रूढार्थ का बोध
 कराकर कृतार्थ हो जायगा, अतः उससे योगार्थ का प्रतिपादन होने पर भी, वह
 (योगार्थ) नान्तरीयक समझा जायगा अर्थात् वह समझा जायगा कि वक्ता का
 प्रतिपाद्य अर्थ है रूढार्थ ही, परन्तु उसके लिये उसने प्रयोग कर दिया है योगरूढ पद का,
 अतः अनिवार्य होने के कारण उस पद से योगार्थ का भी बोध हो जाता है, किन्तु वह
 (योगार्थ) वक्ता का अभिप्रेत नहीं है। आप कहेंगे ऐसे नान्तरीयक अर्थ का बोध कहीं
 दिग्लाप्य जा सकता है? तो ग्रन्थकार कहते हैं—हाँ, वेलिपु—पङ्कजाक्षी पद का प्रयोग
 करनेवाले वक्ता का 'कमलसदृशनेत्रवाली' यही अर्थ अभिप्रेत रहता है, 'कीचड से उत्पन्न
 होनेवाले कमल के समान नेत्रवाली' यह अर्थ नहीं, और पङ्कजाक्षी पद के अन्तर्गत जो
 पङ्कज शब्द है उससे उस अर्थ की भी प्रतीति तो अवश्य होती है क्योंकि वह पद योगरूढ
 है। अतः जैसे यहाँ प्रतीयमान होने पर भी 'कीचड से उत्पन्न' पद अंतः नान्तरीयक
 समझा जाता है—वक्ता का तात्पर्य विषय नहीं समझा जाता, वैसे ही उक्त स्थल में
 भी समझा जायगा। आप पूछेंगे कि इससे क्या हुआ? अर्थात् गीष्पति आदि योगरूढ
 पद से नान्तरीयकरूप में ही सही, योगार्थ का भी बोध होगा तो? तब दिग्लाप्य क्या?
 किसी रूप में उसका बोध कराना ही तो अभीष्ट है। इस पर ग्रन्थकार का कथन है कि
 नान्तरीयकरूप में योगार्थ का बोध यहाँ हुआ है ऐसी शंका यदि श्रोताओं को हो जायगी
 तब उस योगार्थ (वाणीपति आदि) में कुर्वंदरूपता भट हो जायगी अर्थात् वह अर्थ
 कार्यकारी (कारण) नहीं समझा जायगा और जब वह अर्थ कार्यकारी नहीं समझा
 जायगा, तब प्रकृतोपयोगी जो एक प्रकार का विशिष्ट अतिशय उच्च अर्थ के द्वारा व्यक्त
 होता था, वह नहीं होगा अर्थात् उस अर्थ से जो राज्ञा की अवर्णनीय गुणशालिता
 आदि व्यक्त होती थी वह नहीं होगी। यदि किसी कारण से किसी को उक्त स्थिति में
 भी उक्त योगार्थ में नान्तरीयकत्व की शंका नहीं होगी, तब उसको उस अर्थ से उक्त
 अतिशय की अभिव्यक्ति यद्यपि होगी, तथापि इस तरह से वह अभिव्यक्ति वांछित हो
 जायगी अर्थात् एक पक्ष (नान्तरीयकत्वशंका के अभाव) में होगी और एक पक्ष (नान्त-
 रीयकत्व शंका के हो जाने पर) में नहीं होगी। और जब योगरूढ (गीष्पति आदि)
 से पृथक् रूढ (आद्विरस आदि) का भी प्रयोग किया जाता है, तब योगरूढ पद से
 प्रतिपादित होनेवाला योगार्थ नान्तरीयक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि रूढ पद का
 पृथक् प्रयोग कर लेने के बाद भी जो वक्ता ने पृथक् योगरूढ पद का भी प्रयोग किया है,
 उससे उसका यही अभिप्राय समझा जायगा कि योगार्थ का बोध कराना वक्ता का परम
 अभिप्रेत है और जब ऐसा समझा जायगा तब उस योगार्थ में कुर्वंदरूपता (कार्यकारिता)

होगी, जिससे उक्त विशिष्ट अतिशय की अभिव्यक्ति नियमित होगी, पूर्वोक्तरीति से पार्श्विक नहीं।

उपसहरति—

एषा पदद्वयोपादानस्थले गतिरुक्ता।

मत्र रूढ-योगरूढोभयविधपदप्रयोगस्तत्र प्रागुपदिशता निर्नाटरीति कथितेति भावः।

‘गीष्पतिरघाङ्गिरसः’ - इत्यादि प्रकरण का उपसहार करते हैं—एषा इत्यादि। ऊपर जो रीति दिखलाई गई है, वह वहाँ के लिये, जहाँ एक ही अर्थ के बोधक योगरूढ और रूढ दोनों प्रकार के पद प्रयुक्त हों।

नन्वेव यत्र केवल योगरूढ पद प्रयुज्य रूढार्थस्य योगार्थप्रतीतिद्वारकविशेषस्य च प्रत्यायन मिश्रते, तत्र कुर्वद्रूपताया अपरति कुतो भेत्याह—

यत्र ॥ ‘पुष्पधन्वा विजयते जगत्त्वत्करुणावशात्’ इत्यादावेकेनैव पदेन रूढार्थोपस्थितिर्योगार्थः। रा निःसारत्वाद्यवगमश्च भवति, तत्र कविकृतमन्मथ-रूढपदान्तरानुपादानपूर्वकपुष्पधन्वपदोपादानप्रतिसधानेन तदीययोगार्थं कुर्वद्रूपताधानं बोध्यम्।

‘कामदेव, त्वत्करुणावशात् त्वदीयस्याकारणात्, जगत् ससारम्, विजयते’ इत्यर्थके मूलोक्तवाक्ये यद्यपि पुष्पधन्वैति योगरूढमेव पद केवलम् प्रयुक्तम्, तथा च तत्र कामदेव-रूपरूढार्थमात्रबोधनेन गतार्थेन तेन पदेन प्रतिपादयमानस्य पुष्पात्मकधनुर्धारिरूपस्य योगार्थस्य नान्तरीयकत्वरक्त्या कुर्वद्रूपताया अपरतौ योगार्थद्वारकनि सारत्वव्यञ्जन कथं भवेदिति शका सम्भवति तथापि वर्तमानेषु कामदेवार्थकेषु बहुषु रूढपदेषु किमिति कवि पुष्पधन्वरूप योगरूढमेव पद प्रायुह्य, तद्वरयमत्र कवे योगार्थप्रत्यायनद्वारा कस्यचनान्ति-शयस्याभिव्यक्तिरभिलषितेति प्रतिसधानेन रूढार्थबोधनगतार्थेनापि पुष्पधन्वरूपयोगरूढ-पदेन प्रतिपादयमाने योगार्थं नान्तरीयकत्वशक्यानुत्पन्नपूर्वककुर्वद्रूपताज्ञान भवतीति नोक्तश-ङ्काया सम्भव इति भावः।

जब आपने यह सिद्धान्त-सा मान लिया कि जहाँ केवल योगरूढ पद का प्रयोग रहता है, वहाँ उस पद से प्रतिपादित होनेवाला योगार्थनान्तरीयक कुर्वद्रूपतारहित (कार्यात्म) हो जाता है, अतः उससे किसी विशिष्ट अतिशय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तब जहाँ केवल योगरूढ पद का प्रयोग है और उसी से रूढार्थ तथा योगार्थ की प्रतीति के द्वारा किसी अतिशय की भी प्रतीति होती है, वह कैसे? अर्थात् वहाँ कुर्वद्रूपता की हानि क्यों नहीं होती? इस शका का समाधान अब करते हैं—यत्र तु इत्यादि। ‘पुष्पधन्वा’ इत्यादि अर्थात् हे भगवन्! पुष्पधन्वा (कामदेव) तेरी दया से ही संसार का विजय करता है’ इत्यादि स्थानों में जहाँ ‘पुष्पधन्वा’ आदि एक योगरूढ पद से ही कामदेवरूप रूढार्थ और ‘फूलों के धनुषवाला’ इस योगार्थके द्वारा कामदेव की निरसारता (दुर्बलता) दोनों अर्थ ज्ञान होते हैं—वहाँ यद्यपि उक्त रीति से योगार्थ में कुर्वद्रूपता (कार्यकारिता) का विनाश हो जाना चाहिए परन्तु होता नहीं है, क्यों? इसलिये कि श्रोता जब यह सोचते हैं कि कामदेव के वाचक बहुतेरे रूढ पदों के उपस्थित रहने पर भी उन सबों को छोड़कर ‘पुष्पधन्वा’ इस योगरूढ पद का ही प्रयोग वक्ता (कवि) ने क्यों किया है? अवश्य कवि को योगार्थ के द्वारा किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति करनी है, तब केवल ‘पुष्पधन्वा’ इस योगरूढ पद से भी प्रतिपादित योगार्थ में नान्तरी-यकाव की शका नहीं होती, अतः कुर्वद्रूपता का विनाश नहीं होता।

उपसहरति—

तदित्य द्वितीयपदस्योपादानेऽनुपादाने वा न क्षतिः।

पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र सामग्र्यसम्भवेन योगरूपप्रयोगे सति पृथक्पदस्य प्रयोगेऽप्रयोग वा न कोप्यनुपपत्तिरिति भावः ।

उपसंहार करते हैं—तद्वियम् इत्यादि । उक्त विवरणों से यह सिद्ध हुआ कि योगरूप और रूप दोनों तरह के पदों का प्रयोग किया जाय अथवा केवल योगरूप पद का ही—दोनों स्थितियों में कोई आपत्ति नहीं, अर्थात् दोनों रीतियाँ चल सकती हैं ।

स्यत्तान्तरेऽपि पूर्वोक्तम् रोतिमतिदिशति—

एवं जात्यन्तरविशिष्टवाचकपदसमभिव्याहारेऽपि ।

कल्पचित् प्रयुक्तस्य योगरूपस्य शब्दस्य समीपे यदि तदीयस्वरूपगतजातिभिन्नजाति-विशिष्टार्थवाचकं पदान्तरं प्रयुज्यते, तदा तद्योगरूपं पदं तत्र लक्षणा योगार्थमात्रप्रतिपादकं भवतीति भावः ।

कतिपय भिन्न स्थानों में भी उक्त रीति का ही अनुसरण करना पड़ता है इसका उल्लेख करते हैं—एवम् इत्यादि । जहाँ किसी ऐसे योगरूप पद का प्रयोग हो जिसके समीप ही उक्त योगरूप पद के स्वरूप से भिन्न जातीय अर्थ का वाचक दूसरा पद भी प्रयुक्त हो, वहाँ भी उक्त रीति से योगरूप पद को लक्षणा केवल योगार्थ का बोधक मानना पड़ेगा ।

तादृशं वाच्यमुदाहरति—

‘दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि’ इत्यादिपि जलजादिपदानां लक्षणा योगार्थमात्रबोधकम्, योगशक्त्युल्लासितस्य तु तादृशार्थस्य रुद्धयर्थोप-श्लिष्टत्वेन स्वातन्त्र्येण कुमुदवाच्यव्यायोगात् ।

‘प्रतिदिशं जलोपमानि कुमुदानि वर्तन्ते’ इत्यर्थके मूलोक्तवाच्ये जलजेति योगरूपं पदं लक्षणा जलावधिकोपतिशालिरूपयोगार्थमात्रप्रतिपादकम्, तत्पदवाच्यस्वरूपकमलगत-कमलत्वजातिभिन्नकुमुदत्वजातिविशिष्टार्थवाचककुमुदपदमभिव्याहारात् । ननु किमर्थ-मिदं लक्षणायात्, जलजपयनिष्ठयोगशक्त्यैव लक्षणात्वव्याप्यस्य साभावित्वात् ब्राह्म—योगश-क्त्युल्लासितस्येत्यादि । अयं भावः—यद्यपि जलपदनिष्ठयोगशक्त्यापि जलावधिकोपतिशालि-रूपोऽर्थो बोध्यते, परन्तु स योगार्थः तत्पदनिष्ठरूपशक्तिबोधकमलत्वजातिविशिष्टार्थमिलित एव प्रतीतिविपयस्ताया च भिन्नजातिविशिष्टमिलितस्य तस्य योगार्थस्य भिन्नजातिविशि-ष्टार्थं कुमुदपदवाच्येऽन्वयो न भवितुमर्हतीति लक्षणा योगार्थमात्रबोधकत्वं जलजादि-पदानामावश्यकमिति ।

उक्त प्रकार के वाक्यों का निर्देश करते हैं—दिशि दिशि इत्यादि । ‘समी, दिशाओं में जल से उत्पन्न होनेवाले कुमुद हैं’ एतदर्थक मूल वाक्य में ‘जलज’ पद यद्यपि कमलरूप अर्थ में योगरूप है, तथापि यहाँ कमलत्व जाति से भिन्न कुमुदत्व जाति से विशिष्ट (कुमुद) अर्थ के वाचक कुमुद पद के साथ प्रयुक्त होने पर उस (जलज) पद की ‘जल से उत्पन्न होनेवाला’ इव योगार्थ में लक्षणा समझनी चाहिए, अन्यथा जलज पदार्थ का कुमुदपदार्थ के साथ भेदेन अन्वय नहीं हो सकेगा । यदि कोई कहे कि ‘जल से उत्पन्न होनेवाला’ इस अर्थ में जलज पद की लक्षणा करने की क्या आवश्यकता है, वह अर्थ तो उस पद की योगशक्ति से अभिहित होता ही है ? तो ग्रन्थकार कहते हैं—हाँ, होता तो ठीक है, पर कमलरूप स्वरूप से मिथितरूप में, अतः कमल से मिथित उस योगार्थ का कमल से भिन्नजातीय कुमुद अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, अतः जलज पद को ऐसे स्थलों पर व्यावहिक मानना ही पड़ेगा, जिससे वह पद योगार्थ का ही प्रतिपादन करे, कुमुद से विरुद्ध कमल का नहीं ।

उपसरति—

इत्थमभिधा निरूपिता ।

उक्तप्रकाररूपमभिधाया निरूपणभवसितमिति भाव ।

उपसहार—उक्तं रीति से आरव्य अभिधा-निरूपण अथ वहाँ समाप्त हुआ ।

वाचकवाच्ययो परिचय कारयति—

अनया यः शब्दो यमर्थं बोधयति स तस्य वाचकः । इयं च यस्य शब्दस्य यस्मिन्नर्थेऽस्ति तस्य सोऽर्थोऽभिधेय ।

पञ्चोक्तप्रकारकाभिधावृत्त्यन्यतमद्वारा यः शब्दो यस्यार्थस्य बोधकः स शब्दस्त-
स्यार्थस्य वाचकः कथ्यते । एवम् यस्य पदस्य अभिधा निरूपकतासंबन्धेन यस्मिन्नर्थे
तिष्ठति, सोऽर्थस्तस्य पदस्य अभिधेयो वाच्यो वा व्यवहियत इति भावः ।

अथ वाचक तथा वाच्य का परिचय कराते हैं—अनया इत्यादि । पूर्व में जो अभिधा
के भेद विखलाये गये हैं, उनमें से किसी एक के द्वारा जो शब्द जिस अर्थ का बोधक
होता है, वह उसका वाचक कहलाता है और जिस शब्द की वह अभिधाशक्ति जिस
अर्थ में रहती है, वह अर्थ उस शब्द का अभिधेय-वाच्य समझा जाता है । शब्द की
शक्ति अर्थ में 'निरूपकता' संबंध से रहती है यह भी समझना चाहिए ।

इदानीमुपाधीनामेवाभिधेयत्व न व्यक्तीनामित्युपपादयति—

स च जातिगुणक्रियावाद्यच्छिक्कात्मकः । तत्र जातिगोत्वादिः संस्थानविशेषा-
भिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसिद्धा गवादिपदानामभिधेया । अनुमानसिद्धा च घ्राणरसन-
त्वादिघ्राणरसनादिपदानाम्, आनन्त्यात्, व्यभिचारश्च व्यक्तीनामभिधेयताया
अकल्पनात् ।

स इति । अभिधेय इत्यर्थः । जातिगुणेति । जातिगोत्वादिर्जातिवाचकशब्दानाम्,
गुण शुक्लवर्णगुणवाचकपदानाम्, क्रिया पाकादि क्रियावाचकशब्दानाम्, तथा गच्छच्छि-
यच्छिष्टा निपज देवदत्तादि मन्त्राशब्द सज्ञाशब्दानामभिधेय इत्यर्थः । जातेर्द्विवचनेन
विशेषतस्तत्रा विवृणोति—तत्रेति । चतुर्विधेषु अभिधेयेषु इत्यर्थः । संस्थानविशेषेण आकृति-
विशेषेण अवयवसप्तनेनेति यावत्, अभिव्यङ्ग्या, आश्रयस्थ गवादे प्रत्यक्षतया प्रत्यक्ष-
सिद्धा गोत्वादजाति । घ्राणादीनामतीन्द्रियत्वेन तज्जिज्ञा जातिरपि तथेति घ्राणत्वरसनत्वा-
दिजातिरनुमानेन सिद्धा न प्रत्यक्षप्रमाणेनेति भावः । ननु व्यक्तीनामेवाभिधेयता कुतो नाङ्गी-
रियत इत्यत आह—आनन्त्यादिति । व्यक्तिषु शक्तिस्वीकारे व्यक्तीनामानन्त्येन शक्त्या-
नन्त्यम् तत्प्रयुक्त गौरवम्, वस्तुतस्तु सकलव्यक्तीना शक्तिग्रहकालेनोपस्थितिसम्भव उप-
स्थापनाभावात्, तथा चोपस्थितासु कियतीषु व्यक्तिष्वेव शक्तिग्रहो भवेत्, न सर्वासु
व्यक्तिषु । तथात्वे च अग्रहीतराक्षीनामपि व्यक्तीनां तस्मात् पदात्त्वोपस्थानाभिव्यक्त्येन
व्यभिचार एवेति न व्यक्तिषु शक्तिरिति भावः । उपाधिशक्तिवादपक्षे तु न शक्यतानन्त्यम्,
गोत्वादिजातेरेकत्वात्, न च व्यभिचार तस्या जात्यादेरुपाधे सकलव्यक्तिषु सत्त्वात् ।

अथ जानि आदि उपाधि ही शब्द का वाच्य है, व्यक्ति नहीं, इसी बात का उपपादन
युक्तिपूर्वक करते हैं—स च इत्यादि । वाच्य अथवा अभिधेय अर्थ चार प्रकार के हैं—
जाति, गुण, क्रिया और वाद्यच्छिक्का । उनमें गोत्व सब शीर्षो = गाय बेलों में रहने वाला
सामान्य धर्म जिसके कारण उन्हें 'गौ' कहा जाता है—आदि धर्म जाति कहा जाता
है । वह जाति अवयवों के विशिष्ट प्रकारक गठन से अभिव्यक्त होती है (क्योंकि गाय
घंटों के अवयव गठन जिस तरह के होते हैं, वैसे अन्य प्राणियों के नहीं—सभी प्राणियों
के अवयव गठन [अङ्गरचना] भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं) और आश्रय (गाय बेल)

के प्रत्यक्षसिद्ध होने से प्रत्यक्षसिद्ध है। वही जाति 'गौ' आदि शब्दों का वाच्य-अर्थ है। जो आश्रय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं रहता, उसमें रहनेवाली जाति भी प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होती, अतः उस तरह की जाति अनुमान से सिद्ध होती है, जैसे घ्राण (नासिकेन्द्रियवाची) रसन (जिह्वेन्द्रियवाची) शब्दों का वाच्य अर्थ 'घ्राणत्व', 'रसनत्व' आदि जातियाँ। ये जातियाँ अनुमान से सिद्ध हैं, प्रत्यक्ष से नहीं क्योंकि इन जातियों के आश्रय जो घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय हैं उनका प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रिय से नहीं होता—ये इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं, अतः तद्वन्त जातियाँ भी अतीन्द्रिय हैं। एक बात यहाँ ध्यान में रख लेनी चाहिये कि प्रत्यक्ष दीक्ष पढ़ने वाले हट्टी या चमड़े इन्द्रिय नहीं हैं, अगिस्त उनके भीतर बस करने वाला तत्त्व जिसका प्रत्यक्ष हमको किसी तरह नहीं होता है। यहाँ, प्रवृत्ति निवृत्ति के योग्य होने के कारण गौ आदि व्यक्तियों को ही गौ आदि शब्दों का अभिधेय अर्थ क्यों नहीं माना जाय, इस तरह की आशंका नहीं करनी चाहिये, कारण, भानन्त्य और व्यभिचार दोष के प्रसङ्ग से व्यक्तियों को पदवाच्य नहीं माना जा सकता है। अभिधाय यह है कि गाय-बैलों की संख्या संसार में अनन्त है, अतः यदि उन व्यक्तियों में गोपद की शक्ति मानी जाय, तब वह शक्ति भी अनन्त होती तबसे व्यर्थ का गौरव होगा। वस्तुतः तो गोपद का शक्तिग्रह जिस षष्ठ्य में किसी को होगा, उस षष्ठ्य में उसके सामने सभी गाय-बैल उपस्थित रहेंगे नहीं, अतः जो उपस्थित रहेंगे उन्हीं में गोपद की शक्ति ज्ञात होगी, फिर अनुपस्थित गाय-बैलों का भी बोध जो होता है—अनुभवसिद्ध है—वह तो शक्तिज्ञानरूप कारण के बिना ही होगा। अतः व्यभिचार दोष लगता है।

उक्त व्यभिचारदोष वारयितुमाराइते—

न च ज्ञातगोत्वादिरूपया गोत्वादिज्ञानरूपया वा प्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षेण परिकलितासु सकलतदीयव्यक्तिष्वभिधाय कल्पने नास्ति दोष इति वाच्यम्।

ज्ञातमानं नामान्यं प्रत्यासत्तिरिति मतेनाह—ज्ञातगोत्वादीति। सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति मतेनाह—गोत्वादिज्ञानेति। प्रत्यक्षेणेति। अलौकिकेनेति भावः। अयमभिधान-प्रत्यक्षो विधिषो लौकिकोऽलौकिकश्च। तत्र लौकिकप्रत्यक्षदेतुभूतो लौकिकः सत्तिर्कर्मः पञ्चविधः, अलौकिकप्रत्यक्षकारणभूतोऽलौकिकः सत्तिर्कर्मविधिष्वन्तेषु सामान्यलक्षणानामक एकः, तस्य लक्षणपदस्य स्वरूपपरतया सामान्यं लक्षणं स्वरूपं यस्येति व्युत्पत्त्या सामान्यरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थः, तथा च बहुरादीन्द्रियमनुको गवादिस्तद्विशेषकं गौरिति ज्ञानं यत्र जातं, तत्र ज्ञाने गोर्वं प्रकारस्तत्र तेन गोत्वरूपेण सत्तिर्कर्मण गाव इति सकलगोविषयकं ज्ञानं जायते। परन्तु सामान्यपदेनात्र न गोत्वादिजातिरेव विचक्षिता अपि तु—सामान्यं भाव इति योगार्थानुसारेण गवाद्यपि सामान्यम्। तेन च गोत्वरेण सामान्येन सत्तिर्कर्मण संयोगेन ऋचिद्रुभूतले गवादिज्ञाने जाते सकलगोमद्भूतलविषयकं गोमन्ति भूतलानांवाधारकं ज्ञानं जायते। एवञ्च यत्र तद्वत्वादिज्ञानान्तरं तद्वत्वादिबतों भूतलस्य स्मरणं जातं, तत्र गवाद्यात्मकनामान्यलक्षणया सर्वेषां तद्वत्वादिबतों भूतलानां ज्ञानं न स्यात्, सामान्यस्य तद्वत्वादेस्तत्र तदानेमभावान्, अतः सामान्यज्ञानं प्रत्यासत्तिः, लक्षणशब्दस्य च विषयोऽर्थः, तेन सामान्यं लक्षणं विषयो यस्य तादृशस्य ज्ञानस्य प्रत्यासत्तिरिति न्यायन्यसिद्धं निदान्तः। प्रकृते च पशुद्वयानुसारमपि सामान्यलक्षणान्मकारलौकिकसत्तिर्कर्मण नृक्षगोश्वर्चानामनुपस्थितत्वात् तत्र गोपदशक्तिग्रहणस्य मुख्यतया व्यभिचारिकावादेऽपि व्यभिचारदोषावकाशो नास्तीति।

उक्त व्यभिचारदोष को हटाने के लिये एक आशंका करते हैं—न च इत्यादि। अन्तिम भाग यह है कि प्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं, एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। उनमें

लौकिकप्रत्यक्ष के कारणीभूत लौकिक सन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं, अलौकिक प्रत्यक्ष के कारणीभूत अलौकिक सन्निकर्ष ३ प्रकार के होते हैं। उनमें एक है सामान्य लक्षणा। 'सामान्य (धर्मविशेष) है लक्षणा (स्वरूप) जिसका' इस श्रुति के अनुसार सामान्यरूप-प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष=सम्बन्ध) उसका अर्थ होता है। इस अलौकिक सन्निकर्ष के घट से अर्थात् चक्षुःसंयुक्त गोविशेष्यक 'गौ' इत्याकारक ज्ञान होने के बाद उस ज्ञान में जो प्रकार हुआ है—गोत्व, उस गोस्वरूप अलौकिक सम्बन्ध से सकल गोविषयक 'गाव' इत्याकारक ज्ञान होता है। परन्तु सामान्य पद से इस सन्निकर्ष में गोत्व आदि जाति ही विवक्षित नहीं है, अपितु 'समानानां भाव' इस योग के अनुसार गो आदि व्यक्ति भी सामान्य कहलाता है, अतः सयोग सम्बन्ध से किसी भूतल में 'गोमद् भूतलम्' इत्याकारक ज्ञान के बाद गौरूप सामान्य (सन्निकर्ष) से सकलभूतलविषयक 'गोमन्ति भूतलानि' इत्याकारक ज्ञान होता है। इस स्थिति में जहाँ चक्षुःसंयुक्त गो का नाश हो गया है, वहाँ जब उस गो से संयुक्त भूतल का 'गोमद् भूतलम्' इस तरह का स्मरण होगा, तब भी जो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से सकल भूतलविषयक 'गोमन्ति भूतलानि' इत्याकारक स्मरण होता है, वह अब नहीं हो सकेगा, क्योंकि सामान्यरूप से ग्रहण करने योग्य चक्षुःसंयुक्त गो का विनाश हो चुका है, अतः वह सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः ज्ञातसामान्य को प्रत्यासत्ति न मानकर सामान्य-ज्ञान को प्रत्यासत्ति मानना चाहिये। अब उक्त स्थल में भी दोष नहीं होगा, क्योंकि सामान्य (गो) के विनिष्ट हो जाने पर भी उसका ज्ञान रहता है और वही सम्बन्धरूप होता है। इस पक्ष के अनुसार सामान्य लक्षणा शब्द में लक्षणा पद का अर्थ विषय मानकर सामान्य है लक्षणा = विषय जिसका, ऐसा ज्ञान प्रत्यासत्ति है वह अर्थ समझना चाहिये। (इस विषय में अधिक जिज्ञासा रखने वालों को सिद्धान्त-मुक्तावली आदि पदार्थशास्त्र-ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये।) प्रकृत में व्यक्तिशक्तिवादी नैयायिकों का कथन है कि उक्त सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति से सभी गो व्यक्ति प्राक्प्रह काल में उपस्थित रहेंगे, अतः उन सभी व्यक्तियों में गो पद की अभिधा गृहीत होगी, फिर उक्त व्यभिचार दोष होगा ही नहीं, अतः व्यक्ति में ही शक्ति माननी चाहिये, उपाधि में नहीं।

समाधत्ते—

सामान्यप्रत्यासत्तेर्निरोकरणात् ।

अयं भावः—सामान्यलक्षणारोकारी व्यर्थ, तदस्वोक्तरेऽपि एकत्र गोत्वाद्याधये चक्षुःमयोगान् देशान्तरस्थगवादेरपि बोधसंभवात्, एवं व्यतीतगवादेरपि बुद्ध्या विषयीकृत्य गोत्वाद्याधयेन ज्ञानसत्त्वान्, व्यक्तिशक्तिवादेऽपि व्यवहारेण प्रथमतः समुपस्थितव्यक्तौ शक्तिप्रहे पश्चात् अवागोद्वापन्यायेन पुनरान्तरात् गामानयेत्येतच्छ्रवणानन्तरमेव व्यक्त्यन्तराण्यनयतो मध्यमद्वन्द्वान् दृष्ट्वा व्यक्तिशक्तिरोधे गृहीताया अपि शक्तेस्तत्त्वात्वाधयमात्रे बान्धवधारणात् । यत्तु पर्वतीयधूमे सामान्यलक्षणामन्तरा व्याप्तिप्रदो न स्यादिति, तत्र, धूमन्वेन रूपेण महानस्तीधूमे व्याप्तिप्रदान् । ननु प्रमिदधूमे व्याप्तिरेव गृहीता अप्रमिदस्य नानुपस्थित्या 'धूमो वहिर्व्याप्यो न वा' इति शरायो न स्यादिति चेत्, प्रमिदधूमे तत्तद्धूमन्वेन व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमन्वेन तत्तत्तत्संभवात् । एवम् सामान्यलक्षणाया अनुपयोगमिदम् । निश्च सामान्यस्य सबन्धत्वम् असंभवदुक्तमेव, तत्तदनुयोगिताप्रतियोगिताऽविशिष्टगन्धस्य कदाप्यनुभवात्, सबन्धस्य विशिष्टबुद्धिनियामकत्वप्रौढेण तदनियामकस्य सामान्यस्य

संबन्धवत्तयाच्च । इत्यपि सामान्यलक्षणा नास्त्येवेति तद्वत्तेनोक्त्यभिप्रायारणं न
सम्भवतीति ।

अथ उक्त आशङ्कका समाधान करते हैं—सामान्य इत्यादि। उक्त रीति से व्यभिचार-
धारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के पक्ष पर ही तो उक्त
धारण किया जाता है पर सामान्यलक्षणा नामक अलौकिक सत्तिकर्ष का वर्णन कर दिया
गया है । अभिप्राय यह कि सामान्य लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।
यस्यो न मानने पर भी गौरव के आश्रय एक गो में चतुःसंयोग होने पर 'स्वमनुष्य-
समवेत समवाय'रूप लौकिक सत्तिकर्ष से ही देशान्तरस्थ भाषों का ज्ञान किया
जा सकता है । इसी तरह अतीत भूतगत भाषों को भी सुदि-विषय बनाकर उक्त संबंध
से प्रत्यक्ष किया जा सकता है । सामान्य लक्षणा के बिना भी महानसीय धूम में धूमत्वरूप
से ही व्याप्तिनिमित्त मानकर पर्यतीय धूम में भी उसी व्याप्तिनिमित्त की विषयता मानी
जा सकती है । दूसरी बात यह कि सभी संबंध ध्वक्किप्रतिप्रतियोगिक और ध्वक्किप्रतिप्र-
योगिक होते हैं और इस सामान्यरूप आपके संबंध में अनुयोगिताप्रतियोगिता की
प्रतीति होती नहीं, अतः यह संबंधरूप नहीं माना जा सकता । तीसरी बात यह कि
सभी संबंध विविध बुद्धि के नियामक होते हैं और यह सामान्य विविध सुदिनियामक
है नहीं, अतः उसको संबंध कहना असम्भव है ।

तुल्यदुर्जनन्यायेन सामान्यलक्षणास्योक्तरेऽप्याह—

गौरवदोषस्यानुद्वारात् ।

सामान्यलक्षणाया सकलगोव्यक्तिषु शक्तिप्रहस्य संभवं व्याख्याय व्यभिचारधारणोऽपि
व्यत्ययानन्तरप्रयुक्तानन्तरशक्तिकर्षनजगौरव व्यक्तिशक्तिवादे दुर्धारणेवेति भावः ।

यदि 'तुल्यदुर्जन' न्याय से सामान्यलक्षणा मान ली जाय, तथापि व्यक्तिशक्ति-
वाद पक्षसंगत नहीं वही बात अथ वतलाते हैं—गौरव इत्यादि । सामान्यलक्षणा के पक्ष
से सकल गो व्यक्ति में गोवद-क्षति-प्रह को संभव बनाने पर भी व्यक्ति की अनन्तता
के कारण शक्ति की अनन्तता से होनेवाला 'गौरवदोष व्यक्तिशक्तियाश्च पक्ष में बना ही
रह जाता है ।

प्रकारान्तरेणोक्तव्यभिचारवाचस्पत्यं गृहीतमत गौरवदोषानुवृत्तिप्रतिपादनेन दुप्यति—

एतेन शक्तिप्रहपदार्थोपस्थितिशब्दबोधानां समानप्रकारकतयैव हेतुहेतु-
मद्भाषादगृहीतसंकेतानामपि व्यक्तिविशेषाणामन्वयबोधविषयताया उपपाद-
नेऽपि न निस्तारः ।

एतेनेति । गौरवदोषानुद्वारेणेत्यर्थः । समानप्रकारकतयैवेत्यत्रैवकारेण समानविशेष्य-
कत्वादिव्यवच्छेदः । शक्तिप्रहपदार्थोपस्थितिशब्दबोधेषु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति हेतुता ।
सा च समानप्रकारकतया न तु समानविशेष्यकतया । अर्थात् तत्प्रकारकोपस्थितिं प्रति
तत्प्रकारक शक्तिप्रह, एवम् तत्प्रकारकशब्दबोधं प्रति तत्प्रकारकोपस्थितिर्हेतुरिति
रीत्यैव कार्यकारणभावः, न तु तत्प्रकारकतद्विशेष्यकोपस्थितिं प्रति तत्प्रकारकतद्विशेष्यक-
शक्तिप्रहः, एव तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशब्दबोधं प्रति तत्प्रकारकतद्विशेष्यकोपस्थितिर्हेतु-
रिति रीत्या । एवम् गोव्यक्तिविशेष्ये जातस्यापि शक्तिप्रहस्य गौतमप्रकारकतया तेन शक्ति-
प्रहेनैव गोत्वप्रकारकगृहीत व्यतिविशेष्यकानुपस्थितिः स्यात्, एवम् गौतमप्रकारकतया
तयोपस्थित्यैव गौतमप्रकारकगृहीतव्यतिविशेष्यकानुपस्थितिः स्यात् । इत्ययं तत्रल-
ध्वक्तिषु शक्तिप्रहभावेऽप्युक्तव्यभिचारो न प्रयजतीति यद्यपि नष्टं मुक्तम्, तथापि
व्यतिरहितत्वादो नाङ्गीकृतं योग्य, उक्तगौरवदोषस्य तादवस्थादिति भावः । वस्तुतस्तु

समानप्रकारकतयैव कार्यकारणभाव शक्तिप्रहपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधाना न सगत, तथा सति गोत्वप्रकारकशक्तिप्रहेणाश्वविशेष्योपस्थितेरेव गोत्वप्रकारकोपस्थित्या गोत्वप्रकारकाश्वविशेष्यकशाब्दबोधस्य च प्रसगादिति विमाननीयम् ।

अन्य ग्रन्थस्य व्याख्याया भट्टमहोदयैरल्लिखिता—“— अर्थात् यत्प्रकारको यदि विशेष्यरूप शक्तिप्रह सत्प्रकारकतद्विशेष्यकपदार्थोपस्थिति प्रति हेतु, एव यत्प्रकारिका यद्विशेष्यिका च पदार्थोपस्थिति सा तत्प्रकारकतद्विशेष्यकशाब्दबोध प्रति हेतु । तथा न व्यक्तीनामनन्ततया येषु व्यक्तिविशेषेषु शक्तिप्रहो न जातस्तद्विषयकशाब्दबोधस्य पूर्वोक्त-रीत्या (गोत्वेन प्रकारेण) भिन्नि स्यात् । इत्येव समर्थनेऽपि न दोषमुक्ति, व्यभिचार-धारणोऽपि अनन्तशक्तिकल्पनगौरवस्य असमाहितत्वात्’ इति सरला (टीका) मर्मचीना न वेति निधिग्वन्त विद्वांस ।

अथ उक्त व्यभिचार दोष के वारणार्थ अन्य विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित होनेवाली एक भिन्न रीति का भी ग्रन्थन उक्त गौरव दोष के अवधारित रह जाने के कारण से ही करते हैं—एमेन इत्यादि । शक्तिप्रह, पदार्थोपस्थिति और शाब्दबोध इन तीनों में अभिन्न-अभिन्न के प्रति पूर्व पूर्व कारण है और वह कार्यकारणभाव समानप्रकारकतया माना जाता है, समानविशेष्यकतया नहीं, अर्थात् तत्प्रकारक उपस्थिति के प्रति तत्प्रकारक शक्तिप्रह और तत्प्रकारक शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक उपस्थिति को कारण कहा जाता है, न कि सत्प्रकारक तद्विशेष्यक उपस्थिति के प्रति तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शक्तिप्रह और तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोध के प्रति तत्प्रकारक तद्विशेष्यक उपस्थिति को । इस तरह से कार्यकारणभाव मान लेने पर यदि गो आदि पदों की शक्ति सकल गो व्यक्ति में गृहीत न भी हो अर्थात् उपस्थित कतिपय व्यक्ति में ही गो पद की शक्ति ज्ञात हो, तथापि उक्त व्यभिचार दोष नहीं लग सकता, क्योंकि उपरिष्ठा गोव्यक्ति में जो शक्ति-ज्ञान होगा, उसमें भी प्रकार गोत्व ही रहेगा, अतः वह शक्तिज्ञान गोत्वप्रकारक कहलायगा, और उससे गोत्वप्रकारक उपस्थिति होगी, एवम् उस उपस्थिति से उन गो व्यक्तियों का अवगाहन करनेवाला बोध भी होगा, जिन व्यक्तियों में शक्ति ज्ञात नहीं हुई थी, कारण, वे बोध भी गोत्वप्रकारक ही होंगे । तात्पर्य यह कि जब कार्यकारणभाव में विशेष्यरूप से व्यक्ति को नहीं रक्खा गया, तब विशेष्य कोई हो, उससे कोई प्रयोजन रहता नहीं, केवल गोत्वप्रकारक हो जाने से सभी व्यक्तियों का बोध हो जा सकता है । परन्तु यह रीति भी इसलिये असंगत मानी जाती है कि शक्ति की अनन्तता इस रीति के अवलम्बन करने से भी बनी रह जाती है अर्थात् शक्तिप्रहकाल में उपस्थित होनेवाली गोव्यक्तियों की भी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, अत अनन्त गोव्यक्ति ॥ शक्ति माननी ही पड़ेगी और तब अवस्थानस्य दोष हो ही जायगा । चातुत तो ऊपर लिखी गई समानप्रकारकतया कार्यकारणभाव स्वीकार करनेवाली बात वन भी नहीं सकती, कारण उस तरह से कार्यकारणभाव स्वीकृत करने पर गोत्व-प्रकारक शक्तिप्रह में अवशिष्टविशेष्यक उपस्थिति एवम् गोत्वप्रकारक उपस्थिति से अश्व-विशेष्यक बोध भी होने लगेंगे ।

पूर्वोक्तरीत्या व्यक्तिशक्तिवादपक्ष निरस्य आन्याधुपाधिशक्तिवादपक्ष स्थापित, परमादिमन् पक्षे व्यस्तरेखाच्यतया बोधो ॥ स्यात्, तथात्वे च लौकिकव्यवहारो न भिन्नो-दिति शक्तं मनसि कृत्वा उपाधिशक्तिवादपक्षे व्यक्तिबोधोपायमाह—

व्यक्तीनां प्रत्ययस्त्वाद्योपाधिरूपतया वेत्यन्यदेतत् ।

व्यक्ति बिना आत्मादि अनुपपन्नमिति अनुपपन्नेन आत्मादिना व्यक्तेराद्योप । आद्योपध्यापत्तिप्रमाणमेव । न्यायनये चानुमानमेव तत् । अथवा जातेरन्वयानुपपन्न्या

जातिवाचकस्य पदस्य व्यक्तौ लक्षणा । एवमोपाधिशक्तिवादपक्षेऽपि व्यक्तेर्वोधो न दुष्कर इति भावः । तदर्थविषयकशब्दबोधोऽपि तदर्थविषयकशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितेहेतुत्वेना-
क्षेपलक्षणास्य शब्दबोधविषयता न स्यादिति लक्षणापक्ष एव श्रेयान् इति परे ।

उक्तं रीति से व्यक्तिशक्तिवाद का खण्डन करके उपाधिशक्तिवाद का स्थापन किया गया परन्तु इस वाद में भी एक नई शका यह उपस्थित हो जाती है कि जब जाति, गुण आदि उपाधियाँ ही पद-वाच्य हुईं तब व्यक्ति का बोध पद से कैसे होगा ? और यदि व्यक्ति का बोध नहीं होगा, तब सांसारिक व्यवहार कैसे चलेंगे ? क्योंकि व्यवहार में व्यक्तियों का ही उपयोग हो सकता है, उपाधियों का नहीं, इसी शका को मन में लाकर उपाधिशक्तिपक्ष में व्यक्ति के बोध का उपाय अव दिखलाते हैं—‘यस्मीनाम् ह्येषादि । जाति, गुण, क्रिया आदि उपाधियाँ व्यक्ति के बिना रह नहीं सकतीं, अतः पद से अवगत होने पर भी ये उपाधियाँ तब तक अनुपपन्न ही रहेंगी, जब तक व्यक्ति का आक्षेप न होगा, अतः आक्षेप से व्यक्ति का भी बोध हो जायगा, जैसे—‘पीमोऽयं देवदत्त’ विधा न भुङ्क्ते’ अर्थात् मोटा राजा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता, इस वाक्य का ‘रात्रि-भोजन’ अर्थ शक्ति से यद्यपि ज्ञात नहीं होता, तथापि भोजन के बिना ‘मोटा-राजा रहना’ असम्भव है, अतः उससे रात्रिभोजन का आक्षेप हो जाता है । यह आक्षेप वेदान्तियों के मत से अपरिपक्वि और नैवायिकों के मत से अनुमान-प्रमाण के अन्तर्गत है यह भी समझ लेना चाहिए । अथवा जाति आदि उपाधियों का अन्वय पारपक्षटक अपर पदार्थ के साथ बाधित है, अतः जाति आदि उपाधिशक्तिपक्ष पदों की सर्वत्र व्यक्ति में लक्षणा होगी, अभिप्राय यह कि उपाधिशक्तिवादपक्ष में व्यक्ति का बोध लक्षणा से होगा । यहाँ दूसरा (लक्षणाबाला) पक्ष ही छिड़ है, प्रथम (आक्षेपबाला) नहीं, ऐसा अन्य विद्वानों का कथन है, क्योंकि किसी अर्थ के शब्दबोध में जब वृत्ति ज्ञान के द्वारा उस अर्थ की उपरिपक्वि को कारण माना गया है, तब आक्षेप से उपरिपक्वि अर्थ शब्दबोध के विषय नहीं हो सकते । कुछ लोग व्यक्ति का बोध सर्वत्र व्यञ्जना से ही मानते हैं ।

जातेर्महत्त्वमुपपादयन् वक्रगत्या जानिशक्तिवादपक्ष पुण्याति—

अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणद इत्युच्यते । प्राणं व्यवहारयोग्यतां ददाति सम्पादयतीति व्युत्पत्तेः ।

अयं जातिरूपोपाधि पदार्थस्य प्राणप्रद । ननु किं नाम जाते प्राणप्रदन्वमित्याह—
प्राणमिन्यादि । प्राणपदार्थमेव विवृणोति—व्यवहारयोग्यतामिति । दायात्वर्थम् स्फोरयति—
नन्पादयतीति । व्यवहारयोग्यतासम्पादनमेव जाते प्राणदत्वमिति भावः ।

अथ जातिरूप उपाधि को महत्त्व दिखलाते हुए उपाधिशक्तिवाद पक्ष की पुष्टि करते हैं—अयं च ह्येषादि । यह जातिरूप अर्थ शब्द को प्राण देनेवाला कहा जाता है, क्योंकि शब्द में व्यवहारयोग्यता का सम्पादन यह जाति ही करती है । तत्पर्यं यह कि यहाँ व्यवहारयोग्यता-सम्पादन ही प्राण-प्रदान के समान महत्त्व रखता है ।

जाते व्यवहारयोग्यतासम्पादकत्वे युक्तियुक्तमाप्तबनसम्पत्तिं दर्शयति—

तदुक्तम्—‘गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसंबन्धाद्वारैः’ इति ।

तदुक्तमिति । प्रकाशकृतेति शेषः । वाक्यपदीयनामकस्य प्रसिद्धनिबन्धस्येदं वाक्यम्,
प्रकाराकृता च तत्कान्यप्रकाशे उद्धृताम् ।

जाति की प्राणप्रज्ञता में जातजन की सम्पत्ति दिखलाते हैं—तदुक्तम् ह्येषादि । ‘गौः स्वरूपेण न गौः’ इत्यादि पंडित वाक्यपदीय की हैं, जिसको सम्प्रतमह ने अपने काव्य-प्रकाश नामक निबन्ध में उद्धृत किया है ।

‘उक्तवाक्यस्य व्याख्या कुरुते—

- अस्यार्थः—गौः सास्नादिमान् धर्मीस्वरूपेण अज्ञातगोत्वकेन धर्मिस्वरूप-
मात्रेण न गौः न गोव्यवहारनिर्वाहकः । नाप्यगौः नापि गोभिन्न इति व्यवहारस्य
निर्वाहकः । तथा सति दूरदन्निव्यक्तसंस्थानतया गोत्वाग्रहदशार्था गवि
गौरिति गोभिन्न इति वा व्यवहारः स्यात् । स्वरूपस्याविशेषादूधटे गौरिति गवि
आगौरिति वा व्यवहारः स्यादिति भावः । गोत्वाभिसम्बन्धाद्वैतव्यवृत्तया ज्ञानात्
गौर्गोशब्दव्यवहार्य इति ।

गौरिति मूलवाक्यस्थपदस्य व्याख्यामाह—सास्नादिति । स्वरूपेणेति मूलस्थपदव्या-
ख्या—अज्ञातगोत्वेनेत्यादि । न गौरिति मूलवाक्यारास्य तात्पर्यमाह—न गोव्यवहारेति । नाप्य-
गौरिति तदस्यास्यारसमाह—गोभिन्न इतीति । तथा सतीति । धर्मिस्वरूपमात्रेण व्यवहारनिर्वा-
हकत्वाद्गीकारे सतीत्यर्थः । गौरिति व्यवहारे इष्टापत्त्या आह—गोभिन्न इतीति । अविशेषा-
दिति । व्यक्तिस्वरूपाणां स्वतोऽव्यावृत्तत्वादिति भावः । सास्नादिमन्त्रधर्मिमात्रज्ञानेन गौ
गोभिन्न इति वा व्यवहारो न भवितुमर्हति, दूरत्वदोषेण जातिव्यञ्जिकाया आकृतेरन्वि-
ष्टया गोत्वाज्ञाने सास्नादिमति धर्मिणि गौ गोभिन्न इति वा व्यवहारस्यानुभवात् । अपि
च धर्मिस्वरूपज्ञानमात्रस्य व्यवहारप्रयोजकत्वे व्यक्तिस्वरूपस्य स्वतोऽव्यावृत्ततया गोभिन्ने
षदादावपि गौरिति गवि चागौरिति व्यवहारः प्रवर्तते । अतः गोत्वादिजातिमत्ताज्ञानमेव
गौरित्यादिव्यवहारप्रवर्तकमिति साराशः । ननु ‘गौ स्वरूपेण न गौ’ इत्येतावतैव विशिष्ट-
ज्ञाने विशेषणज्ञान कारणमिति सिद्धान्तानुसारम् गौरिति विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानविषया
गोत्वज्ञानस्योपयोगे सिद्धे पुनः ‘नाप्यगौ’ इत्यस्य किमर्थः इति चेत्, व्यवहारमात्रस्य धर्म-
ज्ञानसाध्यतासूचनाय तदुल्लेखात् । तथा चाभावज्ञानेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकज्ञानस्य
हेतुत्वेन गोत्वज्ञानमन्तरा गोभिन्न इति ज्ञानमपि न सम्भवति ।

अब उक्त वाक्यपदीय-वाक्य की व्याख्या करते हैं—अस्यार्थ इत्यादि । उक्त वाक्य-
पदीय-वाक्य का अर्थ यह है कि गाय अर्थात् सास्नादिमान्-गाले में चमड़ी छटकनेवाला—
प्राणी, स्वरूपतः ज्ञात होने पर भी तब तक गोनामक प्राणी के व्यवहार का निर्वाहक
नहीं हो सकता, जब तक उस प्राणी में रहनेवाली ‘गोत्व’ जाति ज्ञात न हो जाय । इसी
तरह उक्त जाति के ज्ञात होने से पूर्व एव तब स्वरूपतः ज्ञात होकर भी उक्त प्राणी
‘यह गोभिन्न है’ इस व्यवहार का भी निर्वाहक नहीं हो सकता । १९९ अर्थ यह हुआ
कि स्वरूप किसी का स्वतः व्यावर्तक नहीं होता अर्थात् कोई न कोई स्वरूप सभी
चीजों में रहता ही है, अतः एक चीज से दूसरी चीजों को पृथक् करनेवाला उनका
स्वरूप नहीं, अपितु उन चीजों में रहनेवाला आस खास धर्म (जाति आदि) होता है ।
ऐसी स्थिति में स्वरूपतः ज्ञात होकर भी कोई वस्तु उस व्यावर्तक धर्म ज्ञान से पूर्व न
‘यह अमुक वस्तु है’ इस व्यवहार का और न ‘यह अमुक वस्तु से भिन्न है’ इसी व्यवहार
का निर्वाहक हो सकती है । यदि उक्त व्यावर्तक धर्म के ज्ञान से पूर्व भी कोई पदार्थ
व्यवहारनिर्वाहक हो, तब तो उस अवस्था में भी गाय में ‘यह गाय है’ अथवा ‘यह
गाय से भिन्न है’ ऐसा व्यवहार होने लगे, जिस अवस्था में दूर से दिखाई पड़ने पर गाय
की वह आकृति जो जाति को अभिव्यक्त करती है—ज्ञात नहीं होती, केवल इतना
ज्ञात होता है कि यह कोई एक चीज है । एवं जाति-ज्ञान के बिना पदार्थ को विशिष्ट
व्यवहारनिर्वाहक मानने पर गो से भिन्न पदार्थ-घट आदि में भी गाय का, और गाय में
भी गोभिन्न का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि वह पहले भी कहा जा चुका है कि केवल
स्वरूप भेदक नहीं होता । इस तरह से सिद्ध हुआ कि ‘इसमें गोत्व जाति है’ इस

प्रकार से जातिविशिष्टरूप में ज्ञात होने पर ही गाय, गो शब्द से व्यवहार करने योग्य होती है ।

गुणक्रियादिरूपाभिधेयसंबन्धं विचारमुत्थापयति—

गुणः शुद्धादिः शुद्धादिपदानामभिधेयः । क्रिया चलनादिशब्दानाम् ।

शुद्धानीलपीतादिपदानां शुद्धनीलपीतादियुक्ते शक्तिरतस्ते गुणास्तेषां पदानां वाच्या । चलनपाकादिपदानाम् उत्तरदेशसयोगानुक्तव्यापारादित्पक्रियासु शक्तिरतस्तेषां शब्दानां तां क्रियां वाच्या इत्यर्थः ।

अब गुण और क्रियारूप वाच्य उपाधि के सम्बन्ध में विचार करते हैं—गुणः इत्यादि । शुद्ध, नील, पीत आदि पदों की शक्ति उजला, हरा, पीला आदि गुणों में है, अतः वे गुण उन पदों के वाच्यार्थ कहलाते हैं । इसी तरह चलन, पचन आदि पदों की शक्ति उत्तरदेशसयोगानुक्त, एवम् विक्रियमुक्त व्यापारों में है, अतः वे व्यापार (क्रियाएँ) उन पदों के वाच्यार्थ होते हैं ।

अत्राशङ्क्य समापत्ते—

शुद्धादीनां चलनादीनां च प्रतिव्यक्तिभेददर्शनादानन्त्यव्यभिचाराभ्यां व्यक्तिशक्तिवाददोषाभ्यामिहापि क्लृप्तीकरणमिति चेत्, तेषां लाघवात्प्रत्यभिज्ञाबलाच्चैकताया अभ्युपगमात् ।

इहापीति । गुणक्रिययोरभिधेयत्वेऽपीत्यर्थः । चेदित्वस्याग्रे तत्रेति शेषो बोध्यः । वक्रादितिर्यग्गतपदादिगतयोश्च शुद्धगुणयोर्भेदोऽनुभूयते, एवं शुद्धतण्डुलगतयो पाकक्रिययोरपि भेदो दृश्यते, तेन गुणक्रिययोरनेकत्वं सिद्धयति, तथा च व्यक्तिशक्तिवादे यावानन्त्यव्यभिचारदोषौ समगताम्, तावत्रापि समापत्तेतामिति शंका न युक्ता, नानाये यौरवादः, लाघवात् गुणक्रिययोरैकताया एव स्वीकारात् । ननु लाघवं नानुभवविरुद्धमङ्गीकारयितुं प्रभवतीति चेन्न, सर्वेषु शुक्लादिगुणेषु सर्वासु चलनादिक्रियासु च 'स एवायं शुक्लो गुणः, सैवेयं चलनक्रिया' इत्याकारिक्रियाः प्रत्यभिज्ञायां लाघवसहकृताया गुणक्रियायैकतानियामकत्वात् ।

अब यहाँ एक शंका और उसका समाधान करते हैं—शुद्धादीनाम् इत्यादि । 'वक्र आदि पदियों की तथा वक्र आदि पदार्थों की शुद्धता में भेद का अनुभव होता है । इसी तरह शुद्ध की तथा चावल की पाक-क्रियाओं में भी भेद दिखाई पड़ता है । इससे यह सिद्ध होता है कि शुद्ध गुण अनेक है और पाक-क्रिया भी अनेक है । इस स्थिति में व्यक्तिशक्तिवाद पक्ष में जो आपत्तय और व्यभिचार दोष उपस्थित होते थे, वे दोनों दोष यहाँ (उपाधिशक्तिवाद पक्ष में) भी लगेंगे' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओं को अनेक मानने में गौरव है, अतः उनको एक ही मानते हैं । यदि आप कहेंगे कि लाघव के बल पर अनुभव-विरुद्ध वस्तु नहीं मानी जा सकती तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सभी शुद्ध गुणों में 'यह वही शुद्ध गुण है' और सभी पाक-क्रियाओं में 'यह वही पाक क्रिया है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा लाघवमूलक होती है, वे प्रत्यभिज्ञायें ही उक्त गुणों और क्रियाओं को एक सिद्ध करती हैं ।

अत्रार्थे प्राचीनोक्तिं प्रमाणयति—

तदुक्तम्—'गुणक्रियायद्व्यञ्जानां वस्तुत एकरूपाणामाश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते' इति ।

उक्तमिति । प्रकाशकृता मम्मटेनेति शेषः । यथा प्रतिबिम्बाधाराणाम् कृपाणसुकुर-तैलादीनां भेदादेकमप्यान्नं नानारूपतया मासते, तथैव गुणक्रियायपि आश्रयभेदेनैव भिन्न-तया प्रतीयते, न तु वस्तुतस्तेषु भेद इति भावः ।

प्राचीनों की उक्ति को उद्धृत करके उक्त बात को प्रमाणित करते हैं—तदुक्तम् इत्यादि । मूलोक्त वाक्य काव्यप्रकाशकार मम्मट का है, जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे—प्रतिबिम्ब के आधार तलवार, दर्पण, तैल आदि के भेद से एक भी मुख अनेक प्रकार के ज्ञात होते हैं, उसी तरह एकजातीय गुण और क्रियाओं में भी आश्रय के भेद से ही भेद सा लक्षित होता है, वस्तुन उनमें भेद रहता नहीं ।

मम्मटोक्तिप्रलितमाह—

तथा च भेदप्रतीतिर्भ्रम एवेति भावः । इदमुपलक्षणम् । उत्पत्तिविनाश-प्रतीतिरपि तथैव, वर्णनित्यतावादे गकाराद्युत्पत्तिविनाशप्रतीतिर्भ्रमत्वस्य स्वीकारात् ।

तथा चेति । गुणानां क्रियाणाञ्च मियोभिन्नत्वेन भ्रमस्वाश्रयभेदप्रयुक्तस्वीकारेण वस्तु-तोऽभेदाङ्गीकारे चेत्यर्थः । भ्रम इति । वक्तृशैलीकथात् पटशैल्यभिन्नमित्यादयः प्रतीतयः भ्रान्तिरूपा एव न प्रमारूपा इत्यर्थः । प्रमाशैल्यस्या यद्यपि भेदप्रतीतेरेव भ्रमत्व सिद्ध्यति, तथापि तस्या उपलक्षणत्वेन गुणक्रियादिषु उत्पत्तिविनाशप्रतीतीनामपि भ्रमत्वं बोध्य-मित्याह—इदमुपलक्षणमित्यादिना । एतेन गुणानां क्रियाणां च नित्यता एकता च साधिता । तन्वैतादृशभ्रमत्वस्वीकारोऽभिनव एव न प्राचीनसम्मतो नेत्याह—वर्णंति । वर्णनित्यता-यादिनो वैयाकरणगकारादिषु वर्णेषु जायमानामुत्पत्तिविनाशप्रतीतिं भ्रमरूपा स्वीकुर्वन्ति, तद्वदिहापीति न कानन नवीकरोति भावः ।

अब उक्त मम्मटोक्ति का फलितार्थ दिखलाया जाता है—तथा च इत्यादि । एकजातीय गुण और क्रियाओं में परिलक्षित होनेवाला परस्पर का भेद जब आश्रय भेद-मूलक सिद्ध कर दिया गया, तब 'वक्त्र के उज्जलेपन से वस्त्र का उज्जलापन भिन्न है' इत्यादि तरह की भेद प्रतीतियाँ भ्रान्तिरूप ही हैं, प्रमारूप नहीं, ऐसा समझना चाहिए । इतना ही नहीं, गुण और क्रियाओं में उत्पत्ति तथा विनाश की जो प्रतीति होती है वह भी भ्रम है । तात्पर्य यह कि एकजातीय गुण तथा एकजातीय क्रियाएँ एक हैं और भिन्न । इस तरह की प्रतीतियों की भ्रमरूपता वैयाकरणों को भी अभिमत है, क्योंकि वे वर्ण-नित्यतावाद पक्ष में 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि प्रतीतियों को भ्रम रूप मानते हैं ।

यादृच्छिकात्मकमभिधेय स्फुटयति—

यादृच्छिकस्तु वक्ता स्वेच्छया इत्यादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे संनिवेशितो धर्मः ।

इत्यादिपदानां प्रवृत्तिनिमित्तभूत वक्त्रा स्वेच्छया कल्पित धर्मविशेषो यादृच्छिका-त्मको वाच्य इति भावः ।

अब यादृच्छिक उपाधि के विषय में स्पष्टीकरण करते हैं—यादृच्छिकस्तु इत्यादि । वक्त्र के द्वारा अपने इच्छानुसार 'इत्थं' आदि पदों के प्रवृत्ति-निमित्त रूप में मान लिया गया धर्म 'यादृच्छिक' कहलाता है ।

कोऽसौ धर्म इति मतभेदेनाह—

स च 'परम्परया व्यक्तिगतश्चरमवर्णोभिव्यङ्ग्योऽस्फोटः स्फोटः' इत्येके 'आनुपूर्व्यवच्छिन्नो वर्णसमुदायः' इत्यपरे । 'केवला व्यक्तिरेव' इतीतरे ।

इत्यादिमंशाशब्दानां वाच्यो यादृच्छिको धर्मः अस्फोटस्फोट एव, व पूर्व-पूर्ववर्णान् भवजन्यगस्फारसहकृतेन चरमवर्णेनाभिव्यज्यते । वर्णसमुदायेन तदभिव्यक्तिस्तु असम्भवेन, आगुविनाशिनो वर्णानां समुदायस्य सिद्धे । ननु स स्फोटोऽर्थनिष्ठः कथमिति चेत्तत्राह—

परम्परयेति । साक्षात्सम्बन्धेन यद्यपि स स्फोट आकाशे तिष्ठति, शब्दानामाकाशदेश-
त्वात्, तथापि मातृपित्रादिसंकेतसम्बन्धेन स अर्थव्यक्तौ तिष्ठेदिति केषाचिन्मतस्य
भावः । अतिरिक्तस्फोटाक्षीकारे फलमावादाह—आनुपूर्व्येति । ङकारोत्तरत्वविशिष्टकारोत्तर-
त्वविशिष्टकारोत्तरत्वविशिष्टकारोत्तरत्वविशिष्टकारत्वरूपानुपूर्व्या अवच्छिन्नः परिमितः
वर्णसमुदाय एव स धर्म इत्यपरेषा मतम् । वर्णानां जन्यत्वेन समुदायासंभवादाह—
केवलेति । तत्तन्नामकव्यक्तिरेव द्वित्यादिपदानामर्थ इत्योत्तरेषा मतम् ।

वह धर्म कौन-सा है, इसका निर्णय मतभेद से करते हैं—स च इत्यादि । आवण्ड
स्फोट (शब्दयन्त्र) ही दिव्य आदि सज्ञा शब्दों का वाच्य यादृच्छिक धर्म है । वह स्फोटरूप
धर्म, पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न सत्कार की सहायता से अन्तिम वर्ण के द्वारा
अभिगद्यत होता है । वर्णसमुदाय से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि केवल
एक वर्ण रहकर विनष्ट हो जानेवाले वर्णों का समुदाय बन ही नहीं सकता । वह
स्फोट यद्यपि साक्षात् (समवाय) सम्बन्ध से आकाश में ही रहता है क्योंकि शब्दों
का देश आकाश ही माना जाता है, तथापि परम्परा अर्थात् माता-पिता के संकेतरूप
सम्बन्ध से सञ्जी में रहता है । यह एक (प्रधान वैयाकरण) विद्वान् कहते हैं । अति-
रिक्त स्फोट मानने में कोई फल नहीं, अतः इ, ह, ए, य्, आब (छिपाव) रूप आनुपूर्वी
से अवशिष्ट—परिमित—(मया-मुला) वर्णसमुदाय ही यादृच्छिक धर्म है, यह अपर
विद्वानों का मत है । आद्यविनाशी वर्णों का समुदाय बन ही नहीं सकता, अतः संज्ञी
(वह व्यक्तिविशेष जिसकी यह सज्ञा मानो गई है) ही यह धर्म है और संज्ञा शब्दों
का वाच्य है, यह अन्य पण्डितों का कथम है ।

वक्तव्यतन्त्रे वैलक्षण्यं दर्शयति—

तत्राद्यमतद्वये विशेषणज्ञानाद् विशिष्टप्रत्ययः । तृतीयमते च निर्विकल्प-
कात्मकः प्रत्ययः ।

उक्त मतत्रये प्रथमोद्देश्योर्मतयो-स्फोटः, वर्णसमुदायो वा धर्मः द्वित्यादिपदानाम-
निधेयः साधितः, एवम् द्वित्यादिपदाप्रथमं तदर्थज्ञानं जायते, ततस्तदाक्षितव्यक्तिज्ञानम्,
ततश्च विशेषणविशेष्यभावभावनादि तदर्थविशिष्टव्यक्तिज्ञानं सविकल्पकात्मकं समुत्पद्यते ।
तृतीयमते तु व्यक्तिरेव केवला द्वित्यादिपदाभिधेया सिद्धेति तन्मते द्वित्यादिपदात् व्यक्ति-
मात्रस्य प्रकारताविरोधतारण्यं निर्विकल्पकात्मकमेव ज्ञानं जायत इति भावः ।

उक्त तीनों मतों में जो वैलक्षण्य है, उसका निर्देश करते हैं—तत्र इत्यादि । उक्त
तीनों मतों में प्रथम तथा द्वितीय मत के अनुसार क्रमशः स्फोट और वर्ण-समुदायरूप
यादृच्छिक धर्म दिव्य आदि संज्ञाशब्दों के वाच्य सिद्ध किए गए, अतः उन दोनों मतों में
पहले दिव्य आदि पदों से उस धर्म (स्फोट अथवा वर्णसमुदाय) का ज्ञान होता है,
उसके बाद उस धर्म से आवेप के द्वारा व्यक्ति (संज्ञी) का ज्ञान होता है, तदनन्तर
विशेषण-विशेष्यभाववापन्न, उस धर्म से विनिष्ट व्यक्ति का सविकल्पक ज्ञान होता है ।
तृतीय मत में तो केवल व्यक्तिविशेष दिव्य आदि पद का वाच्य सिद्ध हुआ, अतः इस मत
में दिव्य आदि पद से व्यक्तिमात्र का प्रकारता-विशेष्यता से शून्य-निर्विकल्पात्मक—
ज्ञान होता है ।

उपाधिशक्तिवादफलितार्थमाह—

तदित्यं चतुष्टयो शब्दानां प्रवृत्तिरिति दर्शयति व्यवस्थितम् ।

उक्तोपाधिशक्तिवादप्रपञ्चकेनेदं फलितम्, यत्-चतुर्विधं शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तम्,
जातिरूपं, गुणरूपम्, क्रियारूपम्, यादृच्छिकरूपम् । अत्रार्थे व्याकरणसहामाव्यकारस्य

भगवत् पतञ्जलेरपि सम्मति—‘चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था’ इति तदुल्लेखात् । दर्शनम् मतम् ।

अब उपसंहार के रूप में उपाधिशक्तिवादपक्ष का फलितार्थ बतलाते हैं—तद्विषयम् इत्यादि । उक्त उपाधिशक्तिवादपरक प्रकरण से यह फलित हुआ कि—शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त चार प्रकार के होते हैं—जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक । इस पक्ष को व्याकरण महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि भी प्रमाणित करते हैं, क्योंकि ‘चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था’ ऐसा उन्होंने लिखा है ।

उपाधिशक्तिवादे मतान्तरमाह—

सर्वेषां शब्दानां जातिरेवार्थः । गुणक्रियाशब्दानां गुणक्रियागतायाः, यदृच्छाशब्दानां च बालवृद्धशुकाद्युदीरिततत्त्ववृत्तेस्तत्सम्यग्भिन्नार्थवृत्तेषां जातिरेषाभिधेयता संभवान् । इति जातिशक्तिदर्शनम् ।

सर्वेषामिति । जातिगुणक्रियायदृच्छाशब्दानामित्यर्थः । शब्दनिष्ठजाते परम्परयाऽर्थवृत्तिवत्त्वेन गौरवादाह—तत्सममेति । बालवृद्धवत्पदवृत्तत्वेत्यर्थः । उपाधिचतुष्टये शक्तिकल्पनारभ्या जातिरूपोपाधावेव सर्वत्र शक्तिः । सर्वेषु शुक्लादिगुणेषु शुक्लं शुक्ल इत्यभिन्नाकारानुगतप्रतीत्या गुणत्वव्याप्यशुक्लत्वाद्विजाते, एवम् शुद्धतण्डुलादिगतासु भिन्नासु पात्रादिविषयासु यद्द्रव्यात्पाक पाक इत्यनुगतप्रतीति तस्या क्रियात्वव्याप्यपाकत्वाद्विजाते स्वीकारात् । नन्वेव शुक्लत्वपाकत्वाद्विजातिमिदौ तत्र गुणवाचकानां क्रियावाचकानाञ्च शब्दानां शक्तिर्भवन्, यदृच्छाशब्दानां क्व जातौ शक्तिः, तेषामेकव्यक्तिवाचकत्वेन जातिवाचकत्वासम्भवात् इति चेन्न, बालवृद्धशुकाद्युदीरितानां टिप्प्यादिपदानां मिथो भिन्नतया तेषु ‘आनुपूर्वीव्याप्यायां टिप्पत्वाद्विजातेरज्ञाकारात्, न च शब्दनिष्ठायास्तस्या जातेरर्थे परम्परसम्बन्धेनैव स्थिते कल्पनीयतया गौरवेण नैव रीतिरुचितेति वाच्यम्, ‘वात्ये दृष्टेऽयं देवदत्तो यौवनेऽन्य’ मवृत्त’ इत्याद्यनुभवबलात् वात्य-यौवन-वार्धक्यवत्पावस्याभेदेन टिप्प्यादिव्यक्तेरपि भिन्नतया तासु व्यक्तिषु टिप्पत्वाद्विजातिसिद्ध्या तत्रैव यदृच्छाशब्दानां शक्तिरित्याशयादिति भावः ।

अब उपाधिशक्तिवाद के ही दूसरे मत का उल्लेख करते हैं—सर्वेषाम् इत्यादि । जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छिक इन चार उपाधियों में शक्ति मानने की अपेक्षा केवल जातिरूप उपाधि में सर्वत्र शक्ति मानने में लाघव है, अतः ऐसा मानना ही समुचित है । तात्पर्य यह कि सभी शुद्ध आवि गुणों में ‘शुद्ध शुद्ध’ इस तरह की एकाकार अनुगत प्रतीति से गुणावस्थाप्य अर्थात् गुणाव से अल्पदेशवृत्ति शुद्धत्व आदि जाति मान ली जायगी, और गुण तण्डुल आदि में रहनेवाली भिन्न भिन्न क्रियाओं में त्रिमके चलते ‘पाक-पाक’ ऐसा एक प्रकार का ज्ञान होता है, उस क्रियात्वव्याप्य पाकाव आदि जाति का स्वीकार कर लिया जायगा । यदि आप कहें कि हाँ, हम तरह से गुणवाचक तथा क्रियावाचक शब्दों को जातिवाचक माना जा सकता है, परन्तु यदृच्छा शब्दों को कैसे जातिवाचक माना जा सकता है, क्योंकि उन शब्दों का वाच्य एक एक व्यक्ति होता है और एक व्यक्तिमात्र में रहनेवाला धर्म जातिरूप हो नहीं सकता, तो हमका उत्तर यह है कि बाल, वृद्ध, शुक्ल आदि से उच्चरित होकर एक भी द्विष्य आदि पद अनेक हो जाते हैं, अतः उन सभी द्विष्य शब्दों में रहनेवाली आनुपूर्वीव्याप्य द्विष्याव जाति मानी जा सकती है, अथवा बचपन, यौवन तथा वार्धक्यरूप अवस्थाभेद से एक भी व्यक्ति अनेक हो जाता है, अतएव ‘बचपन में देखा गया देवदत्त युवावस्था में दूसरा हो गया’ ऐसी प्रतीति हुआ करती है । इस स्थिति में अभिवृत्ति द्विष्याव जाति भी

सिद्ध की जा सकती है । अतः सर्वत्र जातिरूप उपाधि में ही शक्ति की कल्पना करनी चाहिये ।

लक्षणा मूलध्वनिनिरूपणानन्तर लक्षणानिरूपणो सगतिं दर्शयितुमाह—

अथ केयं लक्षणा, यन्मूलध्वरम निरूपितो ध्वनिः ।

जहत्स्वार्पाऽजहत्स्वार्पाभिर्देन द्विविध, अभिधामूलध्वन्यपेक्षयाऽन्तिमो यन्मूलो ध्वनि-
प्राङ्निरूपित, सा लक्षणा केति जिज्ञासितमिति भावः । एतेन चरमध्वनिनिरूपणलक्षणा-
निरूपणयोः प्रकृतोपपादकत्वरूपोपोद्घातसंगतिर्दर्शिता ।

लक्षणा मूलक ध्वनियों के निरूपण के बाद लक्षणा-निरूपण करने में सगति दिखलाने के लिये कहते हैं—अथ इत्यादि । जिसको मूल मानकर आपने अन्तिम (अभिधामूलक-ध्वनियों के बादवाली) जहत्स्वार्पा तथा अजहत्स्वार्पा-भेद से द्विविध ध्वनियों का निरूपण किया है, वह लक्षणा क्या पस्तु है ? अर्थात् अब लक्षणा पदार्थ की जिज्ञासा है । इस कथन से लक्षणा मूलक ध्वनिनिरूपण तथा लक्षणानिरूपण में प्रकृतोपपादकत्वरूप उपोद्घात नामक सङ्गति दिखलाई गई ।

उक्तजिज्ञासाशमनं प्रतिजानोते—

उच्यते—

लक्षणापदार्थ इति शेषः ।

उक्त जिज्ञासा-शान्ति की प्रतिज्ञा करते हैं—उच्यते इति । अब लक्षणापदार्थ कहा जाता है ।

लक्षणाया लक्षणमाह—

शक्यसम्बन्धो लक्षणा ।

यत्किञ्चित्शक्यार्थप्रतियोगिको यत्किञ्चिदर्थानुयोगिक संबंधविशेषो लक्षणापदार्थ इति भावः । स च संबंधविशेष-स्थलभेदेन नानाविध इति स्वयं भूतकृतैवानुपदं स्फुटी-
करिष्यते । शब्दवृत्तिरूपस्यास्य लक्षणापदार्थस्य स्वप्रतियोगिवाचकत्वसंबन्धेन पदनिष्ठत्वं
वैयर्थ्यम् तार्किकमतानुसार्येतल्लक्षणा लक्षणम् । मीमांसकास्तु 'शक्यादशक्योपहितैर्लक्ष्यो'-
स्याह । 'शक्यतावच्छेदकारोपो लक्षणा' इत्यादि केचित् । अन्वयाद्यनुपपत्तिहानपूर्वकशक्य-
त्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञानेनौदबुद्धशक्तिसत्कारबोधे लक्षणेति व्यवहारः । वस्तुतो भग-
वदिच्छाया सन्मात्रविषयत्वात्तीरादावपि गंगादिपदस्य शक्तिरेवेति तु वैयाकरणाः ।

अब लक्षणा का लक्षण करते हैं—शक्य इत्यादि । जिस किसी पद के शक्यार्थ (अभिधावृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ) का जिस किसी पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध, उसको लक्षणा कहते हैं । वह सम्बन्ध भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है यह यात ग्रन्थकार स्वयं स्पष्ट रूप से मूल में ही कहेंगे । यद्यपि वह सम्बन्ध अर्थ में रहेगा, तथापि स्व- (सम्बन्ध) प्रतियोगी- (शक्य अर्थ) वाचकत्व सम्बन्ध से पद में रहने के कारण उक्त सम्बन्धरूप लक्षणा पदनिष्ठवृत्ति समझनी चाहिये । यह लक्षणा का लक्षण तार्किक मत के अनुसार किया गया है । मीमांसक लोग शक्य अर्थ से अशक्य अर्थ की उपस्थिति को लक्षणा मानते हैं । कुछ लोग शक्यतावच्छेदक धर्म (प्रवाहाव आदि) के आरोप को लक्षणा कहते हैं । वैयाकरण लोग लक्षणा को अतिरिक्त वृत्ति मानते ही नहीं, वे शक्ति के ही दो भेद करते हैं—एक प्रधान और दूसरा गौण और उस गौणशक्ति में लक्षणा का व्यवहार होता है, ऐसा कहते हैं ।

लक्षणाबीज निश्चेतु रचिर विचारं प्रचारयति—

तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छे-

दकताया अभावो न तन्त्रम् । शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानस्य स्वीकारात् । किं तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्य तन्त्रम् । मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात् ।

तस्या इति । लक्षणाया इत्यर्थः । अर्थोपस्थापकत्वं इति । लक्ष्यार्थविषयकस्मरण-जनने इत्यर्थः । मुख्यार्थतावच्छेदक इति । शक्यतावच्छेदक इत्यर्थः । प्रवाहत्वादामिति यावत् । तात्पर्येति । तात्पर्यविषयोभूतो योऽन्वयः सबन्ध—तद्विशिष्टतावच्छेदकताया इत्यर्थः । तन्त्रमिति । कारणमित्यर्थः । शक्यतेति । प्रवाहत्वेन ह्येषोत्थम् । लक्ष्येति । तदादीत्यर्थः । तात्पर्यविषयान्वय इति । तात्पर्यविषयोभूते सबन्धविशेषे इत्यर्थः । 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ तात्पर्यविषये अवश्यवधिभङ्गावादौ सबन्धे दध्युपपातकत्वेन रूपेण काकादिरूपमुख्यार्थप्रतियोगिकताया सत्त्वादाह—मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणेति । तथा चोक्त-सबन्धे काकत्वेन रूपेण काकप्रतियोगिकताया अभावोऽस्तु इति भावः । लक्षणोत्थानं न स्यादिति । 'काकावधिकदधिरक्षणम्' इत्याकारकस्यान्वयस्योपपन्नत्वेन मुख्यार्थान्वयानुपपत्ति-रूपकारणस्य विरुद्धादिति भावः । अयमत्र निर्गलितार्थः—अन्वयानुपपत्तिस्तत्तात्पर्यानुपपत्ति-र्वा लक्षणाबीजमिति मतद्वये प्राप्ते प्रथमं मतम् न युक्तं, तथा सति 'काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्', 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाच विवृजेत्' इत्यादौ लक्षणानापत्तेः, 'काकावधिकदधिरक्षणम्', 'नक्षत्रदर्श-नोत्तरकालिकयाग्विसर्जनम्' इत्यादिरीत्याऽन्वयस्योपपन्नत्वात् । तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वे स्वीकृतेऽपि 'मुख्यार्थतावच्छेदकाधिकरणकतात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावः', 'तात्पर्यविषयान्वयताधिकरणको मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया—अभावो वा तात्पर्यानुपपत्तिपदार्थः' इति मतद्वये संभाविते प्रथममतमसंगतमेव, 'गंगाया द्यौः' इत्यादौ प्रसिद्धे लक्षणोदाहरणे शैत्यत्वपावनत्वादिकलम्यजनसौविध्याय गंगात्वेनैव रूपेण तदवयवस्यालङ्कारिके स्वीकारेण लक्षणाविरहप्रसगात् । तत्र तात्पर्यविषयोभूत सबन्ध तदवयवयो आधाराधेयभावः, तन्निगामक संयोगो वा, तद्विशिष्टता तटे। एषश्च तद्विशिष्टता-स्तादृशान्वयिताया अवच्छेदकता मुख्यार्थतावच्छेदके गंगात्वे एवेति ॥ तदभावा कारण-त्वेनाभिमत स्यादिति भावः । असौ द्वितीय मतमेव सत्यम्, तथा च तत्र गंगात्वेन रूपेण तदभावेऽपि तात्पर्यविषयोभूतस्य उक्ताधाराधेयमावाप्तकस्यान्वयस्य गंगात्वेन रूपेण तदप्रतियोगिकताया तस्मिन्नन्वये गंगारूपमुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावस्य वर्तमानतया रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्य शैत्यत्वपावनत्वादेव सत्त्वेन लक्षणा भवतांति । इदमत्र विचारणी-यम्—शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानस्वीकारकया ग्रन्थोक्ता कथं संगतेति । मत 'कचतलस्यति वदनं, वदनात् कुचकुड्मलं विभेति । मध्याद्विभेति नयनं नयनादधरं समु-द्विजति' ॥ इत्यत्र वमरा कचवदनकुचमध्यनयनाधरपदाना राहुचन्द्रकमलसिद्धमृगपक्षव-रूपार्थेषु लक्षणायां कचत्वादिरूपशक्यतावच्छेदकरूपेण राहुदिलक्ष्यमानस्वीकारे प्राप्ता-देरनुपपत्तिः । विषय 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र काकपदस्य दध्युपपातके लक्षणायां वाक्यरूपशक्यतावच्छेदकरूपेण दध्युपपातकालमकलक्ष्यमानास्वीकारे तत्रत्यतात्पर्यविषयान्व-येऽवश्यवधिभङ्गात्वे काकवरूपमुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणैव वाक्यात्मकमुख्यार्थप्रतियोगिक-ताया भवेत् तदभावात्पस्य ग्रन्थकृदभिमतस्य लक्षणाकारणस्यासङ्गतमेवापद्येत । पर्याप्ति-निरेणे मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थमात्रप्रतियोगिकताया अभावस्तन्त्रम्' इत्या-द्ययोरवगमेन यद्यपि नैव दोष उक्तावश्यवधिभङ्गात्वे काकत्वेन रूपेण विद्यादालिङ्गकलदध्युप-

घातकप्रतियोगिकत्वस्यैव सत्येन काकस्वमुद्धार्यमात्रप्रतियोगिकताया अभावस्य सामा-
ज्यात्, तथापि प्रथमदोषो दुर्बल एव ।

अब लक्षणा का कारण क्या है, इस विषय में कुछ विलक्षण विचार उपस्थित किया जाता है—तस्याश्च इत्यादि । इस प्रतीक का स्पष्ट अर्थ यह है कि—लक्षणा के कारण के संबन्ध में दो मत हैं, एक मत के अनुसार अन्वय की अनुपपत्ति लक्षणा का कारण है—अर्थात् उस पद की लक्षणा किसी अर्थ में होती है, जिसके शक्य अर्थ का अन्वय, वाक्य-घटक अन्य पदार्थ के साथ नहीं हो सकता हो । परन्तु यह मत संगत नहीं है क्योंकि 'काकेभ्यो वधि रचयताम्', 'नचत्रं हृष्टा वाचं विभ्रजेत्' अर्थात् 'कौवों से दही की रचा करें', 'तारे देखकर बोलना चाहिये' इत्यादि जो लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण हैं (इन दोनों वाक्यों में क्रमशः काक तथा नचत्र पद की द्रव्युपघातकमात्र और रात्रि में लक्षणा होती है, क्योंकि वक्ता का यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि कौवों से दही की रचा की जाय और कुत्ते आदि से नहीं, इसी तरह द्वितीय वाक्य का यह अभिप्राय नहीं हो सकता कि यदि आकाश के मेघाच्छन्न रहने से तारे नहीं दीख पड़े, तब बोला ही न जाय, अतः 'दही पर जिन-जिन प्राणियों से उपद्रव होने की संभावना हो, उन सबों से दही की रचा की जाय, एवम् रात में बोलें, इन वचनभिप्रेत अर्थों की सिद्धि के लिए उक्त लक्षणा आव-
श्यक होती है) वहाँ अब लक्षणा नहीं हो सकेगी, क्योंकि उक्त कारण (अन्वय की अनुपपत्ति) का वहाँ अभाव है अर्थात् 'कौवों से दही की रचा करें', 'जब तारे दीख पड़ें तब बोलें' इस तरह से काक और नचत्र पद के वाक्यार्थों का भी रचा करने और बोलने के साथ अन्वय हो ही सकता है । द्वितीय मत के अनुसार तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का कारण कहा जाता है, जो ठीक है, क्योंकि इस मत के अनुसार उक्त उदाहरणों में तथा अन्य उदाहरणों में भी काम बन जाता है । परन्तु इस मत में भी यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है कि तात्पर्यानुपपत्ति का क्या आशय ? क्या मुख्यार्थतावच्छेदक—अर्थात् मुख्य अर्थ में रहनेवाले और अन्य किसी में न रहनेवाले धर्म (जैसे गंगा में गंगात्व) में तात्पर्य विषयान्वयितावच्छेदकता अर्थात्—जिस अन्वय में वक्ता का तात्पर्य हो, उस अन्वय में अन्वयी—उस अन्वय से विशेषित वस्तु में रहनेवाला जो धर्म तथा का अभाव रहे, तब लक्षणा हो, यह आशय है ? कहने का अभिप्राय कि तात्पर्यानुपपत्ति से क्या आशय है यह आशय है कि मुख्यार्थता-वच्छेदक और तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदक धर्म यदि दो रहें, एक नहीं, सभी लक्षणा हो ? भ्रमण—क्या वक्ता के अभिमत अन्वय में मुख्यार्थतावच्छेदक (उक्त गंगात्व आदि जैसे धर्म) रूप से मुख्यार्थप्रतियोगिकता अर्थात्—मुख्यार्थी होने का अभाव रहे, तब लक्षणा हो, यह आशय है ? सारोक्त यह कि तात्पर्यानुपपत्ति से क्या यह कहना है कि वक्ता का जिस अन्वय में तात्पर्य हो, वह अन्वय अपने रूप में मुख्य अर्थ का न रहे ? इन दोनों में प्रथम आशय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस आशय के मान्य होने पर 'गंगायाम् घोषः अर्थात् गंगा में गोष्ठ' इस प्रसिद्ध लक्षणा के उदाहरण में लक्षणा नहीं की जा सकेगी क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष-पावनत्व की अभिव्यक्ति के अनुरोध से आलंकारिक विद्वान् शक्यतावच्छेदक (गंगात्व) रूप से ही लक्ष्य (तट) का मान मानते हैं, अतः वहाँ गंगारूप मुख्यार्थतावच्छेदक में तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकता का अभाव नहीं रहेगा अर्थात् वहाँ तात्पर्य विषयीभूत अन्वय है—तट और घोष का संयोग-मूलक आधारारोपभाव, उस अन्वय का अन्वयी होगा तट, अन्वयिता रहेगी तट में और उस अन्वयिता का अवच्छेदक होगा वही गंगात्व, क्योंकि उसी रूप से तट का अन्वय अभीष्ट है, अन्यथा शैत्यत्व-पावनत्व व्युत्पन्न नहीं हो सकेगा । इस तरह से मुख्यार्थतावच्छे-दक गंगात्व में तात्पर्य विषयान्वयितावच्छेदकता ही रह गई फिर उसका अभाव वहाँ नहीं रहेगा । अब परिशेषात् द्वितीय आशय ठीक समझना चाहिये क्योंकि उस आशय

के अनुसार "गंगायां घोष" में लक्षणा हो सकती है क्योंकि गंगास्वरूपेण आखिर भान तो तट का ही होता है, अतः उक्त आधारार्थेयभावसम्बन्ध का प्रतियोगी तट होगा न कि गंगा, इसलिये उस अन्वय (सम्बन्ध) में मुख्यार्थ-(गंगा) प्रतियोगिकता का अभाव अलक्षणा है। रुढ़ि और प्रयोजन इन दोनों में से किसी एक का रहना भी पृथक् लक्षणा का कारण है। उक्त उदाहरण में शैत्यत्वपावनत्व प्रतीतिरूप प्रयोजन है ही।

लक्षणापदार्थतयाभिमतस्य शक्यसम्बन्धस्य स्थलभेदेन भेदं दर्शयति—

"गङ्गायां घोष" इत्यत्र सामीप्यम्, 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेकलक्षणायां विरोधः 'आयुर्धृतम्' इत्यादौ कारणत्वादयश्च संबन्धा यथायोगः, लक्षणाशरीरानि।

व्यतिरेकलक्षणेति। 'उपकृतं बहुनाम—' इत्यादौ। यथायोगम् यथासम्भवम्। लक्षणाशरीरानीति। लक्षणाया स्वरूपानीत्यर्थः। अत्र नागेश—'लक्षणाज्ञानकार्यतावच्छेदकं च तादृशशक्यसम्बन्धप्रकारकलक्ष्यविरोधकशब्दबुद्धित्वमिति प्राचीनालंकारिक-मतम्। तदनन्तरं व्यञ्जनया तादृशशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोध इति च।' एतेन शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमानं मूलोक्तम् कटाक्षितम्।

अथ शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का स्वरूप स्थलभेद से भिन्न भिन्न होता है इस स्पष्टीकरण के लिये तादृश स्थलों का उल्लेख करते हैं—गङ्गायाम् इत्यादि—'गङ्गायां घोष' में गंगा और घोष का सम्बन्ध सामीप्य, 'मुखचन्द्रः' में मुख और चन्द्र का सम्बन्ध—सादृश्य, अपकारी के प्रति कथित 'आप ने क्या उपकार किया' इत्यादि विपरीत लक्षणा में अपकारी और अपकार्य का सम्बन्ध-विरोध, 'आयुर्धृतम्' में आयु और धृति का सम्बन्ध कार्यकारणभाव आदि यथायथ लक्षणारूप होते हैं।

लक्षणाया भेदान् दर्शयति—

इयं तावद्द्विविधा, निरुद्धा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा, गौणी शुद्धा च। तत्राद्या सारोपा, साध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्त्या चतुर्विधा—जहस्त्वार्था, अजहस्त्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते।

इयमिति। लक्षणेत्यर्थः। तावत् आदौ। अन्यन् स्पष्टम्।

अथ लक्षणा के भेद लिखे जाते हैं—इयमित्यादि। प्रथमतः लक्षणा के दो प्रकार होते हैं—एक निरुद्धा और दूसरा प्रयोजनवती। उनमें से भी द्वितीया (प्रयोजनवती) के दो प्रभेद होते हैं—गौणी और शुद्धा। इन दो प्रभेदों में से गौणी के पुनः दो उपभेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना और शुद्धा के चार उपभेद—जहस्त्वार्था, अजहस्त्वार्था, सारोपा तथा साध्यवसाना। इस तरह से प्रयोजनवती लक्षणा के छ. भेद बनते हैं (दो गौणी के, चार शुद्धा के)।

निरुद्धलक्षणाया उदाहरणानि प्रदर्शयति—

तत्र निरुद्धलक्षणाया अनुकृतप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलाभयादय उदाहरणम् नीलादयश्च।

लाभ्यादय इत्यादिपदेनालोमगतगजादिबोधकगजादिपदानां सप्रहो बोध्यः। नीलादय इत्यादिपदेन सर्वेऽपि गुणिपरा गुणवाचसा कृष्णपितादय शब्दाः सगृह्यन्ते।

अथ निरुद्ध लक्षणा के उदाहरण दिए जाते हैं—तत्र इत्यादि। उक्त लक्षणा-प्रभेदों में से निरुद्ध लक्षणा के उदाहरण होते हैं—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम

और लावण्य आदि तथा नील आदि । यहाँ मूल के प्रथम आदि पद से चित्रगत राज आदि के बोधक राज प्रवृत्ति पद संगृहीत होने हैं, एवम् द्वितीय आदि पद से सभी (नील, पीत, कृष्ण आदि) गुणवाचक ये पद लिख जाते हैं, जो गुणी के बोध कराने के उद्देश्य से बोले जाते हैं ।

उपपादयति—

‘धर्मस्यायमनुकूलः’ इत्यादौ मुख्यार्थस्य कूलानुगतत्वादेर्वाधात् अनादि-प्रयोगप्रवाह्यशादेकवस्तुप्रवणत्वात्मना कूलानुगतादिरूपशक्यस्य सादृश्येन संबन्धेनानुकूलादिशब्दैरनुगुणादयो लक्ष्यन्ते । एवं नीलादिपदानां लाघवाद्-गुणगतजातेरेव शक्यतावच्छेदकतया गुणद्रव्ययोः ‘नीलो घटः’ इत्यादौ सामानाधिकरण्यानान्वयस्यानुपपत्तेः समवायात्मना गुणरूपशक्यस्य सम्बन्धेन नीलादिशब्दैर्गुणिनो लक्ष्यन्ते ।

अनुकूलपदस्य ‘कूलमनुगत’ इति व्युत्पत्तिर्बोधात् कूलानुगतत्वविशिष्टो मुख्य (वाच्य) अर्थ । तस्य चार्थस्य ‘धर्मस्यायमनुकूल’ इत्यादौ बाध, एवम् तत्र एकवस्तुप्रवणत्व- (तदेकसत्तत्त्व) रूपेण कूलानुगतात्मनानुकूलपदशक्यस्य सम्बन्धेनानुकूलपदमनुगुणरूपमर्थं लक्षयति, अस्याच्च लक्षणायाम् तादृशार्थे तस्य पदस्यानादिप्रयोगप्रवाहस्या दृढिः कारणम् । एवं प्रतिकूलपदस्य ‘कूलप्रतिगतः’ इति व्युत्पत्त्या कूलविद्वद्भवोऽर्थ शक्यः, स च ‘धर्मस्यायं प्रतिकूल’ इत्यादौ बाधित इति तस्य पदस्य विद्वत्त्वात्मकेन सादृश्यसंबन्धेन विमुखद्वयार्थे दृढिमूला लक्षणा । अनुलोमशब्दस्य ‘लोम अनुगतम्’ इति व्युत्पत्त्या आनुपूर्व्येण स्थित कनो वाच्यः । तस्य चार्थस्य ‘अनुलोमजातिसंकर’ इत्यादौ बाध इति आनुपूर्व्यात्मकेन सादृश्यसंबन्धेन तादृशव्यक्तिविशेषे लक्षणा । एवं प्रतिलोम-पदस्य विद्वत्त्वमजातिविरोधवति व्यक्तिविशेषे लक्षणा बोध्या । लक्षणभाववाचकस्य लावण्य-पदस्य च हृदयंगमत्वरूपनादृश्यसम्बन्धेन सुपमाविशेषे लक्षणा ज्ञेया । एवं नीलादिपदानामिति । अयं भाव-‘नीलो घटः’, ‘नीलं रूपम्’, इत्युभयविधव्यवहारस्यानुभविस्तया नीलादिपदानां गुणे गुणिनि वा शक्तिरिति विप्रतिपत्तौ गुण एव शक्तिरङ्गीकार्या, व्याथचभेदेन भिन्नानां नीलादिगुणानां शक्यतावच्छेदककारणाकारापेक्षया गुणगतनीलत्वादिजाते शक्यतावच्छेदकवाङ्मिवारे लाघवात् । एवञ्च गुणवाचकानां नीलादिपदानां द्रव्यवाचकानां घटादिपदानाञ्च ‘नीलो घटः’ इत्यादौ सहप्रयोगे गुणद्रव्ययो सामानाधिकरण्यानियामकाभेदेनान्वयस्यानुपपत्तेः समवायस्यैव गुणरूपशक्यस्य सम्बन्धेन नीलादिपदानां तद्वगुणविशिष्टेषु दृढिमूला लक्षणा भवतीति ।

उक्त उदाहरणों में प्रकृतोपयोगी बातों का उपादान करते हैं—धर्मस्य इत्यादि । ‘अनुकूल’ पद का मुख्य अर्थ है ‘कूल—नदी तट का अनुगत—अनुगामी’ । परन्तु यह धर्म का अनुकूल है इस तरह के वाक्यों में जब हम अनुकूल पद का प्रयोग करते हैं, तब उस पद का उक्त मुख्य अर्थ बाधित प्रतीत होता है क्योंकि नदी-तट का कोई प्रसंग ही यहाँ नहीं है, अतः ‘एकवस्तुप्रवणत्व—एक वस्तु की तरफ झुकना’ रूप (अनुकूल पद के वाक्यार्थ के) सादृश्य सम्बन्ध से अनुकूल पद की अनुगुण अर्थ में लक्षणा होती है । प्रतिकूल पद का मुख्य अर्थ है कूलविरुद्ध । परन्तु ‘धर्म का प्रतिकूल’ इस वाक्य में यह अर्थ बाधित है, अतः विद्वत्त्वरूप सादृश्यसम्बन्ध से उक्त पद की विमुख अर्थ में लक्षणा समझी जाती है । अनुलोम पद का मुख्य अर्थ है आनुपूर्व्येण (क्रम से) स्थितकेश । परन्तु ‘अनुलोम जाति संकर’ इत्यादि स्थल में उक्त अर्थ के बाधित होने से उक्त पद की

आनुपूर्व्यात्मक सादर्यसम्बन्धमूलक सकरजातीय व्यक्तिविशेष में लक्षणा होती है। प्रतिकूल पद की विरुद्धक्रमजातीय व्यक्ति विशेष में लक्षणा होती है। इसी तरह लवण-भाव (नमकीन) अर्थात् घाचक लावण्य पद की हृदयगमत्व सादर्यसम्बन्ध से सौन्दर्य विशेष में लक्षणा होती है। ये सभी उदाहरण सादर्यसम्बन्ध-मूलक हैं। अन्यसम्बन्ध-मूलक लक्षणा के उदाहरण नील, पीत दिखलाये गये हैं। अभिप्राय यह है कि 'नील घरे' और 'नील रूप' दोनों तरह के व्यवहार होते हैं। इस स्थिति में उन पदों की शक्ति गुणी (धर्मो-द्रव्य) में मानी जाय अथवा गुण (धर्म) में, यह विचार जब उठता है, तब निष्कर्ष यही निकलता है कि गुण में ही शक्ति मानी जानी चाहिए, क्योंकि गुण को शक्य मानने पर गुणशक्त-नीलत्व आदि अनुगत जाति को शक्यतावच्छेदक होने से छाद्यव होता है। गुणी में शक्ति मानने पर सो अननुगत गुणों को शक्यतावच्छेदक हो जाने से गौरव होगा। अब जहाँ—'नील घरे' इत्यादि स्थानों पर गुणवाचक (नील भादि) तथा द्रव्यवाचक (घरे आदि) शब्दों का साथ-साथ प्रयोग पाया जाता है, वहाँ सामानाधिकरण्य नियामक भेद सम्बन्ध से गुण द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः गुणरूप शब्ध के समवायात्मक सम्बन्ध से नील भादि पदों की उन गुणों से युक्त घट भादि द्रव्यों में लक्षणा होती है। उक्त सभी उदाहरणों में लक्षणा का कारण रुचि (अनादि परम्परा) है—अतः ये लक्षणाएँ रुचिमूला कहलाती हैं।

उक्तेषु निरुद्धलक्षणासादरणेषु विरोपमाह—

तत्राद्यर्थो सादर्यसम्बन्धेन द्वितीयर्थो च तदितरसम्बन्धेन लक्षणायाः प्रवृत्तेर्निरुद्धावामपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्ति ।

आशयार्थ-अनुकूलप्रतिकूलदिषु । द्वितीयर्थे इति । नीलादिव्यतिर्यक् । सादर्यसम्बन्धमूलिका गौणी, तदितरमूलिका च शुद्धा, लक्षणेति सिद्धान्तः । तथा च अनुकूलप्रतिकूलानुलोमप्रतिलोमलावण्यादिषु पदेषु स्वीकृताया निरुद्धलक्षणायाः सादर्यसम्बन्धमूलकत्वेन गौणीत्वम्, नीलपीतादिषु शब्देषु स्वीकृताया लक्षणायाः समवायसम्बन्धमूलकत्वेन शुद्धात्वञ्च प्रसक्तमिति निरुद्धलक्षणाया अपि गौणीत्वशुद्धात्वभेदेन भेदद्वयं भवतीति भावः । यद्यपि सगौणे सति, 'दण्डी देवदत्त' इतिवत् सत्यपि सादर्ये 'सिंहवान् देवदत्त' इति विशिष्टबुद्धेरदर्शनात् सादर्यं न सम्बन्धः, विशिष्टधीयोग्यत्वेन सम्बन्धत्वात्, तथा च गौणी न लक्षणाप्रभेद इति केचिदाक्षिपन्ति तथापि चक्षुरादर्शनेत्यादिषु सयुक्तसमवायादिषु विशिष्टबुद्धयोक्त्यापि तत्तद्व्यतिरिक्तस्य तन्निर्दिष्टसादर्याधिकरणत्वरूपपरम्परासम्बन्धस्य सम्बन्धत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात्, 'उपकृतं बहु तत्रे'त्यादिव्यतिरेकलक्षणास्यत्वे तन्निर्दिष्टविरोधाधिकरणत्वरूपपरम्परासम्बन्धमात्रेण लक्षणावस्तुप्राया 'साक्षात्सम्बन्धे विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धेनासत्येव लक्षणा' इति नियमाभावाच्च, नासावाचेपः समुचित इति बोध्यम् । इदं त्वत्रावधारणीयम्-प्राक् सामान्येन निरुद्धलक्षणासुक्त्वा पश्चात् 'गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्तीत्युल्लिखन् मूलकारः पण्डितराज निरुद्धलक्षणाया गौणीत्वे स्वकीयामसम्प्रतिमिव प्रकटयति, तत्र किं बीजमिति ।

रुचिमूलक लक्षणा के उक्त दो श्रेणी के उदाहरणों में विशेष दिखलाकर मतभेद का उद्घाटन करते हैं—तत्राद्यर्थो इत्यादि । सादर्यसम्बन्ध मूलक लक्षणा गौणी और सादर्य से अन्यसम्बन्ध मूलक लक्षणा शुद्धा कही जाती है, यही जब सिद्धान्त है, तब रुचि-मूलक लक्षणा के भी दो भेद होने चाहिये, क्योंकि रुचि-मूलक लक्षणा के जो उदाहरण ऊपर दिखलाये गये हैं, उनमें भी दो श्रेणी के उदाहरण हैं, एक श्रेणी (अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम और लावण्य आदि) में लक्षणा का मूल सादर्य सम्बन्ध है और दूसरी

श्रेणी (गौणी, पीत आदि) में सादरय से अन्य समवायसंबन्ध लक्षणा के मूल हैं। अतः रूढि-मूलक लक्षणा के भी दो भेद (गौणी और शुद्धा) कुछ विद्वान् मानते हैं। यहाँ एक विचाराणीय प्रश्न यह है कि पहले सामान्य रूप से निरूढ लक्षणा का उल्लेख करके पीछे 'कुछ लोग गौणी शुद्धा भेद से निरूढ लक्षणा के भी दो प्रकार मानते हैं' इस तरह लिखते हुए मूलकार ने निरूढ लक्षणा के गौणी भेद में अपनी असम्मति सूचित की है, यह क्यों ? सारोपसाध्यवसानपदयोरर्थ विग्रहोति—

विषयविषयिणोः पृथक्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः। अपृथक्निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम्। तत्राद्येन सहिता सारोपा। द्वितीयेन तु साध्यवसाना।

विषयविषयिणोरिति। यत्रारोप्यते स विषय-यथा मुखादि*। यं आरोप्यते त विषयी यथा चन्द्रादि*। पृथक्निर्दिष्टयोरिति। पृथक्पृथक्प्रतिथोक्तिर्यत्र, अपृथक्निर्दिष्टे इति। विषयिणा मित्राणो इत्यर्थ*। आद्येन आरोपेण। द्वितीयेन अध्यवसानेन।

प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पूर्व में प्रतिपादित हो चुके हैं। उनमें से 'शुद्धा प्रयोजनवती' के दो भेदों—नहरस्वार्था और भ्रष्टस्वार्था—के उदाहरण तो प्वनि प्रकरण में दिए जा चुके हैं। रहे चार भेद—गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना। इनके विषय में इतनी बात तो ऊपर के ग्रन्थ से विहित हो ही जाती है कि—लक्षणा जब सादरय संबन्ध के रूप में प्रवृत्त होती है, तब गौणी कहलाती है और जब अग्न्य किसी संबन्ध के रूप में प्रवृत्त होती है तब शुद्धा। अतः अवशिष्ट सारोपा और साध्यवसाना पदों का अर्थ अब बनता है—विषयविषयिणो इति। विषय—जिसमें आरोप किया जाता है वह, जैसे मुख आदि—और विषयी—जिसका आरोप किया जाता है वह, जैसे चन्द्र आदि—दोनों का अलग अलग निर्देश करके किया जानेवाला अभेद 'आरोप' कहलाता है और विषय का अलग निर्देश न करके उसके साथ न किया जाने वाला विषयी का अभेद 'अध्यवसान' कहलाता है। उन दोनों में आरोपसहित लक्षणा सारोपा और अध्यवसान से युक्त लक्षणा साध्यवसाना कही जाती है।

गौणी सारोपसाध्यवसानलक्षणायाः उदाहरणे दर्शयति—

उदाहरणानि च 'मुखं चन्द्रः' इत्यादीनि गौण्याः सारोपायाः। 'पुरेऽस्मिन् सौमशिश्वरे चन्द्रराजि विराजते' इत्यादीनि च तस्याः साध्यवसानायाः।

'मुखं चन्द्रः' इत्यादी चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लक्षणा, तत्पदशब्दार्थस्येन्दोर्मुखे न सद्भवेदान्वयस्य बाधितत्वात्। सा च लक्षणा गौणी, सादरयसम्बन्धमूलकत्वात्, सारोपा च, विषयविषयिणोर्मुखचन्द्रयोर्भयोर्निर्देशात्। इयमेव लक्षणा रूपकालंकारस्य बीजम्। पुरेऽस्मिन्निति। अस्मिन् कर्मिभ्योर्निर्देशात्, पुरे नगरे, सौमशिश्वरे प्रासादोपरिभागे, चन्द्रराजि इन्दुधेनी, चन्द्रराजित्वेनाध्यवसिता कमनीयकामिनीगुणपङ्क्तिरिति यावत्, विराजते विशेषेण शोभते इत्यर्थः। तस्या इति गौण्या इत्यर्थः। अत्रापि चन्द्रशब्दस्य स्वसदृशे (मुखे) लक्षणा, सौमशिश्वरे चन्द्रस्थितेर्बाधितत्वात्। सा च लक्षणा सादरयसम्बन्धमूलकतया गौणी, विषयस्य मुखस्यानिर्देशेन साध्यवसानेति भावः। इयमेव लक्षणा अतिरायोक्त्यलंकारविशेषस्य हेतुः।

अब गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण दिखलाते हैं—उदाहरणानि च इत्यादि। 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्रपद की स्वसदृश में लक्षणा होती है, क्योंकि चन्द्रपद के मुख्य अर्थ—इन्दु—का मुख के साथ अभेदान्वय बाधित है। यह लक्षणा सादरयसंबन्धमूलक होने से गौणी और विषय मुख तथा विषयी चन्द्र दोनों के पृथक् निर्दिष्ट रहने से सारोपा कही जाती है। यही लक्षणा रूपक अलंकार का बीज है। 'पुरेऽस्मिन्' इत्यादि अर्थात् इस नगर में अष्टालिकाओं के शिखरों

पर चन्द्रमा की श्रेणी वस्तुतः कामिनी की सुन्दर चमचमाती हुई मुख पङ्क्ति शोभित होती है' यहाँ भी चन्द्र पद की मुख में माहुर्यमवन्धरूप लक्षणा है क्योंकि कोंटों पर चन्द्रपङ्क्ति की स्थिति वाधित है। परन्तु यहाँ विषय मुख का वृषक् निर्देश नहीं किया गया है—'चन्द्रराजों' पद से ही उसका भी बोध कराया गया है, अतः यह साध्यवसाना कही जाती है। यही लक्षणा अतिशयोक्ति का एक प्रकार का बीज है।

उत्तसारोपास्यलक्षणप्रकारमुपदर्शयति—

अत्राद्यानां विषयिप्रतिपादकैश्चन्द्रादिशब्दैर्लक्षणयोपस्थापितानां चन्द्रादि-सदृशानामभेदेन- संसर्गेण मुख्यादिशब्दोपस्थापितैर्मुखत्वानिविशिष्टैर्मुखादि-भिरन्वयः।

आशयानिति । 'मुख चन्द्र' इत्यादिस्थलांशसारोपलक्षणायामित्यर्थः । विषयिप्रतिपादकगतिः । उपमानबोधैरेत्यर्थः । 'मुख चन्द्र' इत्यादी उपमानबोधकैश्चन्द्रादि-पदैर्लक्षणया चन्द्रसदृशा उपस्थाप्यन्ते । उपमेयबोधकैर्मुखादिशब्दैर्लक्षणाभिधया मुखत्वादि-विशिष्टा मुखादयः उपस्थाप्यन्ते । तत्तद्योपमानोपमेयबोधकप्रदेशोपस्थापितलक्ष्यार्थवाच्यार्थ-योरभेदान्वयः सम्पद्यते । तेन 'चन्द्रसदृशानिभं मुखम्' इति शब्दबोधः फलितः ।

गौरी सारोपा लक्षणा के स्थल में शब्द-बोध—प्रकार का वर्णन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'मुखं चन्द्र' इत्यादि स्थल में विषयिप्रतिपादक—उपमान बोधक—चन्द्र आदि पदों से लक्षणा के द्वारा चन्द्र सदृश की उपस्थिति होती है और विषय-प्रतिपादक—उप मेयबोधक—मुख आदि पदों से अनिषा के द्वारा मुख आदि की उपस्थिति होती है। उपस्थिति के बाद उन लक्ष्य और वाच्य अर्थों में परस्पर अभेद संबन्ध से अन्वय होता है, अतः 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' ऐसा बोध फलित होता है।

ननु सदृशरूपमिलताया गौरवान् सादृश्यरूपमर्मलक्षणैव कुतो नाद्वैतव्यत इत्यत आह—

सादृश्यरूपमर्मलक्षणायां तु तेन सह मुख्यादीनामन्वयो न स्यात्, नामार्थ-योरभेदानिरीक्षितसंसर्गेण विशेष्यविशेषणभावस्यानुपपत्तेः ।

तेनेति । सादृश्यान्मलक्षणार्थेनेत्यर्थः । अयमाशयः—'मुखचन्द्र' इत्यादि गौरी-सारोपलक्षणोदाहरणे विशेष्यवाचकस्य चन्द्राविशेषस्य स्वमहत्त्वमार्थलक्षणध्वनौ गौर-वान्निरीति सादृश्ये धर्म एव लक्षणाऽऽध्वनयितेति कथनं न युक्तम्, तथापि चन्द्रपदोप-स्थाप्य चन्द्रसादृश्य रूपलक्षणार्थस्य मुखान्दोषस्थाप्यमुखत्वविशिष्टरूपवाच्यार्थेन सहाङ्गना-भावप्रसङ्गान् । न च स्वरूपसम्बन्धेनान्वयः सम्भवतीति वाच्याम्, 'नामार्थयोरभेदानिरीक्षित-सम्बन्धोऽप्युपज्ञ' इति नियमस्य जगत्कृत्वान् । अभेदान्वय एव भवन्निति तु न पशुं शक्यम्, सादृश्यमुपज्ञोरभेदस्य वाधितत्वान् । अतः धर्मिलक्षणैव स्वोक्तव्यमिति ।

सदृशरूप धर्मों में लक्षणा मानने की अपेक्षा सादृश्यरूप धर्म में लक्षणा मानने पर आघर है अतः यही क्यों नहीं माना जाय इस शङ्का का समाधान अव करते हैं—सादृश्य इत्यादि । 'मुखचन्द्र' इत्यादि स्थल में चन्द्र आदि पद की लक्षणा सदृश-धर्मों में न मानकर सादृश्यरूप धर्ममात्र में मान ली जाय यदि, चन्द्र पद के लक्ष्य अर्थ चन्द्र सादृश्य का मुख पदार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा। यदि आप कहे कि स्वरूप सम्बन्ध से अन्वय हो सकता है, तो वह ठीक नहीं, कारण, दोनामाथों (यातिपदिकाथों) में परस्पर अभेद सम्बन्ध से ही अन्वय होता है अन्य सम्बन्ध से नहीं, ऐसा नियम सर्व समस्त है। अभेदान्वय ही हो यह तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि सादृश्य और मुख अभिन्न हो नहीं सकता। अतः, सदृशरूप धर्मों में ही चन्द्र आदि उपमान वाचक पदों की लक्षणा माननी चाहिए।

शङ्कते—

नन्वेवं सति बोधवैलक्षण्यबन्धमदृशं मुखमित्युपमानो मुखं चन्द्र इति रूपकस्य कथं भेदः । न च सदृशविरोपणचन्द्रसंबन्धासंबन्धाभ्यामिति वाच्यम् । बोधस्य वैलक्षण्यमात्रेण पृथगलङ्कारताया असिद्धेः । अन्यथा मुखं चन्द्र इवेत्यत्र चन्द्रसदृशमित्येतद्गतात्पृथगलङ्कारतापत्तिरिति चेत् ?

एवं सतीति । धर्मिलक्षणयाऽभेदेनान्वयाङ्गीकारे सतीत्यर्थः । धर्मलक्षणया 'नामार्य-यो'रिति व्युत्पन्नौ लक्ष्यायातिरिक्तनामार्थविषयकत्वेन संज्ञैवमङ्गीकृत्य भेदान्वये तु बोध-वैलक्षण्यं संभवतीति भावः । बोधवैलक्षण्येति । उपमायामपि अभेदेनैव बोधादिति भावः । उपमारूपक्योभेदमिद्वयं बोधवैलक्षण्यं दर्शयति—न चेति । सदृशविरोपणेत्यादि । सदृशो विरोपणीभूतो यच्चन्द्रस्तत्संबन्धादसंबन्धाभ्याम् संमर्गतया भाममानाभ्यामित्यर्थः । बोधवैलक्षण्यमिति शेषः । बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदं खण्डयति—बोधस्य वैलक्षण्य-मात्रेणेति । अन्यथेति । बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदाङ्गीकारे इत्यर्थः । अयं भावः—गौणमार्योपलक्षणास्थले धर्मिलक्षणयाऽभेदान्वयाङ्गीकारे 'मुखं चन्द्र' इति तादृशलक्ष-णामूलके रूपके, 'चन्द्रसदृशम् मुख'मित्युपमायाच 'चन्द्रसदृशमिन्नं मुखम्' इति समानाकारकमैव बोधस्य जायमानतया रूपकोपमयो की भेद इति शङ्का जायति । 'भिन्नपदोपस्थाप्ययोरेवार्थयोः संसर्गं संसर्गमर्यादया भासते इति नियमेन 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमास्थले चन्द्रपदात् चन्द्ररूपार्थस्योपस्थितौ, सदृशपदाच्च लक्षणया चन्द्र-प्रतियोगिकमादृशयाध्वरूपार्थस्योपस्थितौ तयोरभेदः संसर्गमर्यादया भासेत भिन्नपदोप-स्थाप्यत्वात्, तथा च 'चन्द्राभिन्नं ममदृशं तदभिन्नम् मुखम्' इति बोधः । 'मुखं चन्द्रः' इति रूपकस्थले च चन्द्रपदस्य तत्सदृशो व्याप्यकृतया तत्स्यैकपदार्थत्वात् संसर्गस्यापि लक्ष्यपदकृतया चन्द्रमदृशयोः संबन्धस्य संमर्गविवक्षा ॥ भावमिति तत्र 'चन्द्रसदृशमिन्नं मुखम्' इति बोधः । एवञ्च रूपकोपमयोर्बोधावैलक्षण्यसिद्धया भेदः सिद्धयेदिति तु न समी-चीनम्, बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदे 'मुखं चन्द्र इव' 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमा-लक्ष्यत्वेन सर्वसम्मतयोरपि स्थलयोर्लङ्कारभेदस्याङ्गीकरणीयतापत्तेः, यत—इवेति निपा-तस्य घातकत्वेन 'चन्द्र इवे'त्यत्र रूपकरीत्या चन्द्रसदृशयोः संबन्धस्य संसर्गमर्यादया न भावमिति प्रागुक्तरूपकस्थलीय एव बोधाकारः । 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र च पूर्वोपदर्शितो भिन्नाकारो बोध इति तयोः स्थलयोरपि बोधवैलक्षण्यमिदं । 'निपाता वाचकाः' इति पक्षेऽपि इवशब्द सादरयवाचक सदृशवाचको वेति पक्षद्वयं संभवति परन्तु पक्षद्वयेऽपि 'चन्द्रमदृशम्' इत्यतो बोधवैलक्षण्यं तत्र दुष्परिहरमेव यत इवपदस्य सादृश्यवाचकत्वपक्षे प्रतियोगित्वस्य संसर्गविवक्षा भावेन 'चन्द्रप्रतियोगिकं सादृश्यम्' इत्यादिबोधाकारः, 'चन्द्रमदृशम्' इत्यत्र तु पूर्वोक्त एव । तस्य सदृशवाचकत्वपक्षे 'चन्द्र इव' इत्यत्र स्वप्रतियोगिकाश्रयत्वस्य समर्गत्वेन भावे 'चन्द्रप्रतियोगिकसादृशयाश्रयाभिन्नं मुखम्' इति बोधाकारः । 'चन्द्रसदृशम्' इत्यत्र पुनः स एव । इत्यत्र बोधवैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारभेदाङ्गी-करणरूपे शिथिलीभूते पूर्वोक्तो 'रूपकोपमयो कथं भेदः' इति पूर्व पक्षो यथास्थित इति ।

अब एक आनेका उपस्थित की जाती है—नन्वेवम् इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—जब आप गौण-सारीपा-लक्षणा के स्थल में चन्द्र आदि पद की धर्मा में लक्षणा मानकर मुख के साथ अभेदान्वय ही मानते हैं, तब 'मुखचन्द्र' इस रूपक तथा 'चन्द्र के समान मुख' इस उपमा—दोनों में 'चन्द्रसदृश से अभिन्न मुख' यह एक

प्रकार का ही बोध होगा, फिर इन दोनों अलंकारों में भेद क्या रहा ? अर्थात् इन दोनों स्थलों पर दो भिन्न अलंकार क्यों और कैसे मानते हैं ? एक ही क्यों नहीं मान लेते ? यदि कोई कहे कि उक्त दोनों स्थलों के बोध में विलक्षणता हो सकती है । कारण, 'भिन्न-भिन्न पदों से उपस्थित होनेवाले दो अर्थों का संबन्ध ही ससर्ग-सर्पादा-संबन्ध-रूप से भासित होता है' इस नियम के अनुसार 'चन्द्रसदृशमुख' इस उपमा-स्थल में चन्द्र तथा सदृशरूप अर्थों की क्रमशः चन्द्र तथा सदृश पद से उपस्थिति होने से उन दोनों का अभेद, संबन्धरूप से भासित होता है—अर्थात् वहाँ 'चन्द्र से अभिन्न जो सदृश उससे अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है । परन्तु 'मुखचन्द्र' इस रूपकस्थल में चन्द्र पद से ही लक्षणावृत्ति के द्वारा चन्द्र तथा सदृश पदार्थ की उपस्थिति होती है, अतः उन दोनों अर्थों का संबन्ध संबन्धरूप से भासित नहीं होता अर्थात् वहाँ 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख' यही बोध होता है । इस तरह बोध में विलक्षण सिद्ध हो जाने पर उन अलंकारों में भी भेद सिद्ध होगा । परन्तु यह कथन संगत नहीं है क्योंकि यदि बोध में विलक्षणता होने से अलंकार में भेद सिद्ध किया जाय, तब 'चन्द्र इव मुखम्—वर्द्ध सा मुख और चन्द्रसदृश मुखम्—चन्द्रतुल्य मुख' इन दोनों स्थानों—जो सर्वसम्मति से उपमा के ही लक्ष्य हैं—में भी दो अलंकार मानने पड़ेंगे, क्योंकि इन दोनों स्थानों पर भी बोध में विलक्षणता हो जाती है । देखिए—'इव' यह निपात है, अतः द्योतक है, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर उक्त रूपक स्थलीय रीति से 'चन्द्र इव मुखम्' में—चन्द्र और सदृश पदार्थ का संसर्ग भासित नहीं होगा, फिर तो वैसे ही बोध होगा, जैसा ऊपर रूपकस्थल में दिखलाया गया है और 'चन्द्रसदृशम् मुखम्' में चन्द्र तथा सदृश पदार्थ का संबन्ध (अभेद) भासित होगा, अतः वहाँ का बोध भिन्न तरह का होगा । 'निपात वाचक है' अतः 'इव भी वाचक है' इस दृष्टिकोण से भी विचार करने पर बोध में विलक्षणता बनी ही रहती है, जैसे—'इव' सादर्यवाचक है अथवा सदृशवाचक, यह विकल्प उठता है परन्तु दोनों पक्षों में वहाँ कोई खास लाभदायक अन्तर नहीं होता क्योंकि इव का अर्थ सादर्य मानने पर उसके साथ चन्द्र का संबन्ध होगा प्रतियोगित्व, जिससे 'चन्द्र इव' में 'चन्द्रप्रतियोगिक सादर्य' इत्यादि रीति से बोध होगा और 'चन्द्र सदृश' इत्यादि में वही बोध रहेगा, जो पहले कहा जा चुका है । 'इव' का अर्थ सदृश करने पर 'चन्द्र इव' में 'स्वप्रतियोगिकाश्रयत्व' का संबन्धरूप से भान होगा, जिससे बोध होगा 'चन्द्रप्रतियोगिक सादर्यश्रय से अभिन्न मुख' और 'चन्द्रसदृश' में तो कोई परिवर्तन होगा नहीं । इस तरह बोधवैलक्षण्य से अलंकारभेदवादा सिद्धान्त जब शिथिल है तब वह शंका बनी रही कि रूपक और उपमा में क्या भेद है ?

उज्जलशब्दाया प्राधान्यमितं मतभेदेन समाधानत्रय प्रतिपादयिष्यम् तावत् प्रथम-मतमाह—

अथ केचित्—'रूपकस्योपमातः स्वरूपसंवेदनांशमादायवैलक्षण्येऽपि लक्षणाफलीभूतताद्रूप्यसंवेदनमादाय वैलक्षण्य निर्वाचम् । ताद्रूप्यसंवेदनं च विषये मुखादौ विषयितावच्छेदकस्य चन्द्रत्वादेः सप्रत्ययः । ननु लक्षणाप्रयो-ज्यादपि तत्सदृशबोधोक्त्यं नाम ताद्रूप्यप्रत्ययः स्यात्, उपायस्याभावाद्भेद-ज्ञानेन प्रतिबन्धाच्च । अन्यथा चन्द्रसदृशं मुखमित्यत्रापि ताद्रूप्यप्रत्ययप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम् । ह्येवस्थल इषात्राप्येकशब्दोपादानोक्त्यस्य व्यञ्जनस्योपाय-त्वाद्वैयञ्जनिकबोधस्य बाधबुद्धयप्रतिबन्धत्वाच्च । अथ चन्द्रतत्सदृशयोरेकपदो-पातत्वाच्चन्द्रसदृशे चन्द्रताद्रूप्यस्य प्रत्ययो यथाकथञ्चिदस्तु, न तु मुखत्ववि-शिष्टे मुखे । अनुभवसिद्धश्च सर्वेषां 'वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते किमपरः शीतांशु-

रज्जुन्मते' इत्यादौ विषये विषयिताद्रूप्यस्य प्रत्यय इति सत्यम् । स्वताद्रूप्यवद-
भेदबुद्ध्या स्वताद्रूप्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नपि तस्य सिद्धे' इत्याहुः ।

अत्रेति । उपाशङ्कायामित्यर्थः । 'केचित्' इत्यस्य अप्रमेण 'आहुः' इत्यनेन
संबन्धः । स्वरूपगवेदनेति । शब्दबोधेत्यर्थः । ताद्रूप्यवेदनम् ताद्रूप्यप्रतीतिः ।
अत्र 'ताद्रूप्यमात्रसंवेदनमित्यर्थः । एतेन भेदाभेदोन्मयप्रधानोपमा असाधारणरूपेणोप-
मानोपमेययोर्भेदः, साधारणरूपेण त्वभेद इत्यलङ्कारसर्वस्वकृद्ब्रह्मविरोध इत्यास्ताम्
इति नागोरा । ताद्रूप्यसंवेदनयत्ताद्रूप्यपदार्थं स्फोरयितुमाह—ताद्रूप्यमवेदनं चेति ।
शङ्कते—नन्वित्यादि । उपायस्येति । शक्तिवशणान्वतरूपस्येत्यर्थः । तत्रापि लक्ष-
णास्वीकारे का बाधेत्यत आह—भेदेति । अन्यथेति । भेदज्ञानस्याप्रतिबन्धकत्वे इत्यर्थः ।
इत्यत्रापीति । उपमायामपीत्यर्थः । ताद्रूप्येति । ताद्रूप्यमात्रेत्यर्थः । उपायं दर्श-
यति—रत्नेष्वस्थित इवेत्यादि । प्रतिबन्धकं निरस्यति—वैयक्तिकेत्यादि । तदसदृश-
योरेवेति । अप्रेवपदेन मुखनिविशितमुखव्यवच्छेदः । तवेवाह—न त्विति । सदृशत्वेन
रूपेण मुखोपस्थिते सत्त्वादाह—मुखत्वेति । इष्टापत्तिं परिहरति—अनुभवेति । स्वताद्रूप्यव-
दिति । चन्द्रताद्रूप्यधानं य सदृशस्तदभेदबुद्धयेत्यर्थः । तस्मिन् विषये । तस्य ताद्रूप्यप्रत्य-
यस्य । अयमभिसन्धिः—'मुखं चन्द्र' इति रूपके, 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्युपमायाच्च यद्यपि
क्रमशो लक्षणाप्रयोज्यः, अभिप्रायप्रयोज्यबोधाकारकः समान एव प्राथमिको बोध इति
तदंशमादाय तयोर्न किञ्चिद् वैलक्षण्यम्, तथापि रूपके लक्षणायाः प्रयोजनमूलकतया
उक्तप्रथमबोधानन्तरं प्रयोजनभूतः उपमेये मुखे उपमानतावच्छेदकस्य चन्द्रत्वस्य प्रत्ययो
व्यञ्जनया जायते, उपमाया तु न तथेति वैलक्षण्यं सिद्धयति । रूपकस्थले लक्षणाया
चन्द्रसदृशत्वेव बोधात् उक्तः प्रयोजनभूतः प्रत्ययो न भवितुं शक्नोति, तथा प्रत्यये कारण-
त्वेन संभावितयोः शक्तिवशणयोरेकतरस्याप्यभावात्, 'मुखं न चन्द्र' इति बाधनिधयस्य
मुखाधिकरणकचन्द्रत्वप्रतीतौ प्रतिबन्धकत्वाच्च । कारणविरहेऽपि प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि न
यदि तत्र तथाप्रतीतिरनुमन्यते, तर्हि उच्योपमायामपि सा स्वीकरणीया स्यात्, तुल्यत्वात्,
इति तु न वक्तुं योग्यम्, रत्नेष्वस्थले यथा एकरात्रोपादानोत्पा न्यञ्जना रत्नेष्वुपाधारभूत-
योरर्धयोस्ताद्रूप्यबोधे हेतुः, तथा रूपकेऽपि चन्द्रतत्सदृशयोरेकैर्न च चन्द्रपदेन लक्षणाया
उपस्थापनादुत्पिताया व्यञ्जनायाः शक्तिवशणयोः समकक्षया ब्रूते. तयोरेकपदोपस्थित-
योरर्धयोस्ताद्रूप्यप्रतीतौ कारणत्वात्, बाधनिधयप्रतिबन्धतावच्छेदकस्यैव वैयक्तिकबोधाति-
रिक्तत्विनिवेशेन तादृशप्रतीतिरप्रतिबन्धाच्च । उपमाया तु उत्थापकविरहेण व्यञ्जनाया अनु-
त्थानात् । ननु एकपदोपादान-शुक्ति-समुत्था व्यञ्जना वदर्थद्वयबोधकैकपदप्रयुक्ता तदर्थयोरैव
ताद्रूप्यं गमयेत्, तथा च प्रकृते चन्द्रसदृशे एव चन्द्रताद्रूप्यस्य प्रतीतिव्यञ्जनता, न मुख-
त्वविशिष्टे मुखे । न च तावत्तैव सामर्थ्येनेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, 'मुखरूपे चन्द्रे वर्त-
माने द्वितीयोऽयं चन्द्रः किमर्थमुदयते' इत्यर्थके 'चक्रे चन्द्रमसो'त्यादौ आरोपविषये उप-
मेये मुखे आरोपविषयिणः उपमानस्य चन्द्रस्य ताद्रूप्यस्य प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादिति चेन्न,
चन्द्रताद्रूप्यवान् यः सदृशस्तदभेदस्य मुखे बोधे चन्द्रताद्रूप्यस्यापि तत्र सुबोधत्वात् तद-
भिप्रायस्य तदभिन्नत्वमित्यमाह इति । अत्र केचिदित्यनेनाह—सूचिता । तदर्थं तु
स्वरूपसंवेदनकृतवैलक्षण्यसंभवेन फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमिति ।

उक्त आशङ्का के समाधान प्राचीनों ने तीन प्रकार से किये हैं । उनमें प्रथम
प्रकार पहले दिखलाते हैं—अत्र केचित् इत्यादि । उक्त शङ्का के विषय में कुछ

लोगों का कथन है—यद्यपि 'मुखचन्द्र' इस रूपक से 'चन्द्रसदृश मुख' इस उपमा में स्वरूप-सवेदन-प्राथमिक बोध—भिन्न तरह का नहीं होता—अर्थात् रूपकस्थल में लक्षणा मानने पर जैसा बोध होता है, उपमास्थल में लक्षणा नहीं मानने पर भी जैसा ही बोध होता है, अतः उस (प्राथमिक सान्दबोध) अंश को लेकर उन दोनों स्थानों (रूपक तथा उपमा) में कोई विलक्षणता नहीं होती, तथापि रूपकस्थल में लक्षणा प्रयोजनमूला ही हुई रहती है, अतः प्राथमिक बोध के बाद लक्षणा का प्रयोजन-रूप जो तादृष्य संवेदन होता है, उस अंश को लेकर होनेवाली विलक्षणता में किसी प्रकार की बाधा नहीं। और 'तादृष्य संवेदन' से यहाँ अभिप्राय है कि मुख आदि के विषय में विषयितावच्छेदक अर्थात् चन्द्रत्व आदि की सम्पत्क प्रतीति। (सारांश यह कि रूपक और उपमा दोनों स्थानों पर यद्यपि पहले 'चन्द्र सदृश मुख' यह एक प्रकार का ही बोध होता है, तथापि रूपक में सादृश्य की उपस्थिति लाक्षणिक चन्द्र आदि पद के द्वारा होती है और उपमा में इव आदि वाचक पद के द्वारा। और रूपकस्थलीय लक्षणा, रुढ़ि के न रहने के कारण प्रयोजनमूलक ही सिद्ध होती है, तदनुसार रूपक में लक्षणा का प्रयोजन होता है चन्द्र तथा मुख में 'अभेद का बोध' और उपमा में लक्षणा नहीं होती, अतः वहाँ प्रयोजन का प्रसङ्ग ही नहीं आता फिर 'अभेद का बोध' भी नहीं होता। फलतः उपमा में केवल सादृश्य का ही बोध होता है और रूपक में लक्षणा के प्रयोजन (अभेद) का भी व्यञ्जना से बोध होता है। यही उक्त दोनों स्थानों में रूपक और उपमा नाम से भिन्न-भिन्न दो अलंकार मानने में युक्ति है।) रूपकस्थल में लक्षणा के द्वारा चन्द्र आदि पद से चन्द्र सदृश आदि का बोध होता है, तो होवे, परन्तु—उस (चन्द्र सदृश बोध) से तादृष्य (मुख आदि में चन्द्र आदि के अभेद) की प्रतीति कैसे होगी? क्योंकि एक तो उक्त अभेद-बोध की सिद्ध करनेवाला कोई उपाय नहीं है अर्थात् किसी अर्थ के बोध में शक्ति अथवा लक्षणा ही तो कारण होती है, और यहाँ अभेद अंश में न किसी पद की शक्ति है न लक्षणा, अतः अभेद का बोध नहीं होगा। दूसरा यह कि 'चन्द्रसदृश मुख' यह जो ज्ञान होता है, उसके साथ ही 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के भेद का ज्ञान भी होता ही क्योंकि भेद ज्ञान, सादृश्यज्ञान का व्यापक है—अर्थात् सादृश्यज्ञान-स्थल में भेदज्ञान रहता ही है और जिन दो पदार्थों में भेद का ज्ञान रहता है, उनमें अभेद का ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि वाचनिश्चय को सभी लोग प्रतिबन्धक मानते हैं। यदि उपाय के अभाव और प्रतिबन्धक की सत्ता में भी उस तरह का अभेद बोध हो, तब उपमास्थल में भी 'चन्द्रसदृश मुख' इस बोध के बाद उक्त अभेदबोध का प्रसङ्ग होने लगेगा। यह आशङ्का यहाँ नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे श्लेष-स्थल में अनेक अर्थों के बोध के लिये एक पद का ग्रहण रहने के कारण उठी हुई व्यञ्जना उन दो अर्थों के अभेदज्ञान का उपाय मानी जाती है, उसी तरह यहाँ भी चन्द्र तथा तत्सदृश रूप दो अर्थों के बोध के लिये एक लाक्षणिक चन्द्र पद के ग्रहण द्वारा उचित व्यञ्जना (जो अभिधा और लक्षणा के समान ही बोधनिवाहक वृत्ति है) को उन दोनों अर्थों में अभेदज्ञान का उपाय माना जा सकता है। अब बात रही वाचनिश्चय से प्रतिबन्ध होने की, तो वैयञ्जनिक बोध में वाचनिश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता क्योंकि वैयञ्जनिक बोधातिरिक्त बोध के प्रति ही उसको प्रतिबन्धक माना जाता है। उपमा-स्थल में एक पद का ग्रहण नहीं रहता अपितु दो पदों का, अतः वहाँ व्यञ्जना का उद्धान नहीं होता, यह ध्यान रखना चाहिये। यदि आप कहें कि एकपदोपादानरूप युक्ति से उचित व्यञ्जना उस एक पद से अवगत होनेवाले दो अर्थों में ही अभेदबोध करा सकती है, तदनुसार चन्द्ररूप एक पद से अवगत होनेवाले चन्द्रमा तथा तत्सदृश में व्यञ्जना के द्वारा अभेद दो, परन्तु मुखत्व से युक्त मुख में चन्द्र का अभेद कैसे प्रतीत होगा, क्योंकि मुख की उपस्थिति तो उस चन्द्र पद से नहीं होती, और अनुभव स सिद्ध है 'यस्ये चन्द्र-

मसि'.....इत्यादि अर्थात् मुख्यरूप चन्द्र की वर्तमानता में यह दूसरा चन्द्र विसर्जित हो उदित होता है' में विषय-उपमेय-मुख में विषयी-उपमान-चन्द्र के अभेद की प्रतीति । तात्पर्य यह कि व्यञ्जना के बल पर चन्द्र तथा चन्द्रसदृश का अभेद ज्ञात होने पर भी चन्द्र तथा मुख का अभेद ज्ञात नहीं हो सकता । तो इसका समाधान यह है कि—कहना जायगा यद्यपि सच है, तथापि व्यञ्जना से जब चन्द्र-सदृश में चन्द्र का अभेद ज्ञात हो जायगा, तब जिस मुख को चन्द्रसदृश से अभिन्न समझा जा चुका है, उस मुख में भी चन्द्र का अभेद ज्ञात हो ही जायगा, क्योंकि 'जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है वह उससे भी अभिन्न होता है' यह एक न्याय-सम्मत बात है । अतः रूपक स्थल में विषयी का अभेद विषय में अवश्य प्रतीत होता है ।

उक्ताश्चेद्वितीयं मतमुपदर्शयति—

अन्ये तु—'चन्द्रादिपदेभ्यो लक्षणया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थितानां मुख्यादीनां चन्द्रत्वेन रूपेणैव मुख्यादिपदोपस्थापितैः सहाभेदाद्व्यपदेशो जायते । तत्तत्पदलक्षणाज्ञानस्य तत्तत्पदशक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यान्यबोधत्वावच्छिन्नं प्रति हेतुतायाः, पदार्थोपस्थितिशान्दबोधयोः समानाकारत्वेनानुभवसाक्षिकवैलक्षण्यकलाक्षणिकबोधोपातिरिक्विषयतायाश्च कल्पनात् । अत एव गङ्गायां घोष इत्यत्र तद्वत्त्वेनाप्युपस्थितस्य तदस्य गङ्गात्वेनान्यबोधस्तत्प्रयोज्यः शैत्यपावनत्वादिसत्ययश्च सगच्छते । प्रकृते तु विषयिचन्द्रादिनिष्ठासाधारणगुणवत्त्वप्रत्ययः फलम् । न हि चन्द्रत्वप्रतीतिं बिना मुखे चन्द्रत्वनियतगुणवत्त्वधीः शक्योपपादयितुम् । तादृश्यपदेन तदसाधारणगुणवत्त्वमेव प्राचीनैरुक्तम् । इत्थं च स्वरूपसंवित्तिकृतः फलीभूतसंवित्तिकृतबोधोपमातो रूपकस्य भेदः स्फुट एव' इति वदन्ति ।

'अन्ये' इत्यस्मादिमेन 'वदन्ति' इत्यनेनान्वयः । चन्द्रादिपदेभ्यः इति । उपमान-वाचकेभ्य इति भावः । लक्षणया इति । गौण्या सादोपया इति भावः, चन्द्रसदृशत्वेनेति । लक्ष्यतावच्छेदकेनेति भावः । चन्द्रत्वेनेति । शक्यतावच्छेदकेनेति भावः । उपस्थापितै-रिति । मुख्यादिभिरुपदेवैरिति शेषः । ननु प्राचीन-शक्यसंबन्धप्रकारकलक्ष्यविशेषक-शाब्दबुद्धि-लक्षणज्ञान-प्रतावच्छेदकमज्ञोदुर्वन्तीति कमित्य बोध इत्यत आह—तत्तत्पदेति । 'तत्तत्तद्वाना—चन्द्रादीनाम्—या लक्षणा—चन्द्रादिपदनिष्ठा या शक्य-संबन्धरूपा लक्षणा कृतिरित्यर्थः, तस्या तदज्ञानम् चन्द्रादिपद तत्तद्वत्तो लाक्षणिकमित्या-कारकम्, तत्, तत्तत्पदशक्यतावच्छेदक—चन्द्रादिपदशक्यतावच्छेदक चन्द्रत्वादि-रित्यर्थः । प्रकारो यस्मिन् तादृशो यः लक्ष्यान्यबोधत्वावच्छिन्न—मुखादिनिशेष्यकाः सर्वे बोधा—तम् प्रति कारणम्' इत्यादि कार्यकारणभावस्येत्यर्थः । एतद् विवृण्वती 'सत्ता' न समीचीनेति द्रष्टव्यं विज्ञे । ननुमपि उपस्थितिशान्दबोधयोः समानाकार-त्वनियमो भज्येत इत्यत आह—पदार्थेति । अनुभवसाक्षिकं वैलक्षण्यं यत्र तादृशो यो लाक्षणिकबोधः तदतिरिक्विषयताया इत्यर्थः । उक्तकल्पनाया आवश्यकतामाह—अत एवेति । शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यबोधोपादेवेत्यर्थः । तद्वत्त्वेनान्यप्रापिना समीपत्व-समुच्चयः । ननु प्रकृते फलीभाव इत्यत आह—प्रकृते स्थिति । असाधारणगुणवत्त्वेति । विजातीयाह्लादकत्वादीन्यर्थः । चन्द्रत्वनियतेति । चन्द्रत्वसमनियतेत्यर्थः । चन्द्रत्वनाधि-करणावृत्तीति यावत् । नन्वेवं प्राचीनाभिमतसिद्धान्तविरोधः, तादृश्यपदेनस्य तैः फलत्वे-नोक्तत्वादित्यत आह—तादृश्यपदेनेति । इत्यत चेति । रूपकस्थले तादृशे बोधे तथाविधे फले

चाज्ञोक्तिरामाद्ये चेत्यर्थः । उपमातो रूपकस्येति । उपमाया तथाबोधभावात् साधारणस्यैव गुणस्य प्रतीतेरचेति भावः । अत्रायं विशदोऽर्थः—चन्द्रादिपदनिष्ठलक्षणाज्ञानस्य चन्द्रादिपद-
शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यविशेषकबोधप्रति कारणत्वकल्प्यते एवम् यत्प्रकारिका यदि-
शेष्यिकोपस्थितिर्यत्र तत्र तत्प्रकारक तद्विशेष्यक एव बोध इति नियमस्य लक्षणाजन्यबोधाति-
रिक्तविषयकत्वस्य स्वीक्रियते, लक्षणाजन्योपस्थिति-तत्त्वजन्यबोधयोर्भिन्नाकारत्वस्यानुभवसिद्ध-
त्वात् । तेन मुखचन्द्र इति रूपकस्थले गौणसारोपलक्षणया चन्द्रपदात् चन्द्रसदृशत्वेन
रूपेण मुखस्योपस्थितावपि तस्य मुखपदोपस्थापितमुखेन सहान्वयबोधः, चन्द्राभिन्नं
मुखमित्याकारकभेदत्वेनैव रूपेण भवति । लक्षणास्थले च तादृश कार्यकारणभावः
उपस्थितिशाब्दबोधयोर्भिन्नाकारत्वव्याकमेनापि स्वीकरणीयमेव, अन्यथा गङ्गाया घोष
इत्यत्र शैत्यपावनत्वप्रतीतिर्न स्यात् । तत्स्वीकारे तु तद्वत्वेनाप्युपस्थितस्य तदस्य गङ्गा-
त्वेन रूपेणान्वयबोधे तत्प्रयुक्ता तथाविधप्रतीतिरुपपद्येत । ननु तत्र तथाविधप्रतीतिरूप-
फलसिद्धयर्थं तथाज्ञोक्तिरस्य युक्तैवपि मुखचन्द्र इत्यादौ तत्स्वीकारे किं फलमिति चेन्न,
प्राचीनैस्तादृश्यपदेन विधत्तस्य विजातीयोद्भादकत्वरूपचन्द्रनिष्ठासाधारणगुणवत्त्वस्य मुखे
प्रतीतिः फलत्वात् । न च मुखे चन्द्रनिष्ठा साधारणगुणवत्त्वप्रतीतिसंपादने तत्र चन्द्राभेद-
प्रतीतिः कथमपेक्षेति वाच्यम्, चन्द्रत्वसमनियतगुणवत्त्वप्रतीतेश्चन्द्रत्वप्रतीतिमन्तरोपपाद-
यितुमशक्यत्वात् । समनियतवस्तुद्वयमप्यगतमेक नापरव्यतिरेकेण स्यात् प्रभवति । एव-
मोपमापेक्षया रूपके न केवल फलरूपप्रतीतिकृत एव भेद अपि तु प्राथमिकस्वरूपप्रती-
तिकृतोऽपीति । अत्रापि भवे प्रत्यक्तुतोऽरुचिः प्रतीयते । तद्वज्जं तु प्रसिद्धिविरुद्धस्योक्त-
कार्यकारणभावस्य उपस्थितिशाब्दबोधयोर्भिन्नाकारत्वस्य चास्वीकारेऽपि सामञ्जस्यं सम्भव-
तीति बोध्यम् ।

पूर्वमत में लक्षणा के फलरूप से प्रतीत होनेवाले विशेष के आधार पर उपमा
से रूपक में बिलक्षणता दिखलाई गई है, परन्तु शाब्दबोध में भी जब बिलक्षण्य
हो सकता है, तब फलकृत बिलक्षण्यपर्यन्त अनुधावन व्यर्थ है, इस अरुचि को
प्यान में रखकर द्वितीय मत का उल्लेख करते हैं—अन्ये तु ह्यथादि । अन्य
विद्वान् उपमा से रूपक में भेद दिखलाने के लिये निम्नलिखित बातें कहते हैं ।
रूपकरस्थल (मुखचन्द्र) में चन्द्र आदि पद की चन्द्रसदृशरूप अर्थ में गौणी
सत्त्वोपलक्षणा, दुर्द्दृष्टी है, अतः चन्द्र पद से मुख अर्थ की ही सही परन्तु 'चन्द्र-
सदृशत्व' रूप से प्रतीति होती है अर्थात् लक्षणा के द्वारा। चन्द्रसदृश का ही ज्ञान होता
है, केवल चन्द्र किंवा मुख का नहीं, यह बात वद्यपि सत्य है, तथापि उक्त रूपकरस्थल
में मुख आदि पदों से मुख्यविशिष्ट रूप में उपस्थित मुख आदि अर्थों के साथ चन्द्र
पदार्थ का चन्द्रत्वरूप से ॥ अभेदान्वय होता है, चन्द्रसदृशस्वरूप से नहीं । तात्पर्य
यह कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि वाक्य से अर्थ की उपस्थिति 'चन्द्र सदृश मुख' इस रूप में
होती है, परन्तु अन्वयज्ञान 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इसी रूप में होता है अर्थात् ऐसे
स्थानों पर अर्थ की उपस्थिति अन्य रूप से और अन्वयबोध अन्य रूप से होते हैं ।
यदि कोई कहे कि यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् मुखचन्द्र इत्यादि रूपकस्थल में
उपस्थिति 'चन्द्रसदृश मुख' की और अन्वयबोध 'चन्द्राभिन्न मुख' का कैसे बन सकते
हैं ? क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने लक्षणाज्ञान को शक्यसम्बन्धप्रकारक लक्ष्यविशेष्यक
बोध के प्रति ही कारण माना है, तदनुसार उक्त स्थान पर 'चन्द्र सदृश से अभिन्न मुख'
इस एक रूप में ही अर्थ की उपस्थिति तथा अन्वयबोध दोनों होने चाहियें । साथ-
साथ प्राचीनों ने उपस्थिति और शाब्दबोध में समानरूपता का सिद्धान्त माना है अर्थात्
किसी पद से जिस रूप में जिस अर्थ की उपस्थिति होती है, उसी रूप में उस अर्थ का

अन्वयबोध भी होता है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया है। सद्नुसार भी उक्तस्थल में पदार्थोपस्थिति तथा शब्दबोध में एकरूपता ही होनी चाहिए, आपके कथनानुसार विभिन्न रूपता नहीं। तो इसका समाधान यह है कि हम लक्षणा ज्ञान को लाक्षणिक पद-शब्द-तावच्छेदक अर्थात् चन्द्रस्व आदिप्रकारक और लक्ष्य अर्थात् मुख-आदिविशेष्यक बोध के प्रति कारण मानते हैं और उपस्थितिशब्दबोध की समानरूपतावाले सिद्धान्त को लाक्षणिक पदजन्य बोध से अतिरिक्त विषय में ही स्वीकार करते हैं अर्थात् सामान्य नियम यद्यपि ऐसा है कि उपस्थिति और शब्दबोध एकरूप हो, तथापि लक्षणा के स्थान पर उन दोनों में भिन्नरूपता भी हो सकती है, ऐसा हम मानते हैं और ऐसा इसलिये मानते हैं, कि लक्षणास्थल पर उपस्थिति तथा शब्दबोध में भिन्नरूपता अनुभव से सिद्ध है। इस तरह की हमारी मान्यता के आधार पर ही 'गङ्गा में घोष (वयान-गर्ज) इस प्रसिद्ध लक्षणा के उदाहरण में लाक्षणिक गङ्गा पद से उपस्थिति तटारूप से अथवा सामीप्यरूप से तट की होती है और घोष पदार्थ के साथ अन्वयबोध गङ्गावरूप से होता है, जिससे शीतलता तथा पावनाता की अभिव्यक्ति होती है' यह विरलेपण संगत होता है। अन्यथा (लक्षणाज्ञान को शब्दसंबन्धप्रकारक अन्वय-बोध के प्रति कारण तथा उपस्थिति-शब्द-बोध में एकरूपतावाले सिद्धान्त को मान लेने पर) उक्त विरलेपण की असंगति स्पष्ट है। यदि आप कहें कि वहाँ तो शीतलता आदि की अभिव्यक्ति एक फल है, अतः वैसा माना जा सकता है, परन्तु प्रकृत में तो कुछ फल है नहीं, फिर वैसा क्यों माना जाय ? तो इसके उत्तर में प्रकृत पक्षवालों का विनम्र कथन है कि यहाँ भी विषयी अर्थात् उपमान-चन्द्र आदि में रहनेवाले असाधारण गुण (विजातीय आह्लादकरव आदि) की झुल में प्रतीति होना फल है। यदि आप कहें कि इस फल के लिये मुख में चन्द्रत्व की प्रतीति कराने का क्या प्रयोजन है ? चन्द्रसादृश्य की प्रतीति होने पर भी उक्त फल की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि जो गुण चन्द्रत्व के समनियत हैं अर्थात् चन्द्रत्व के साथ ही जो गुण रह सकते हैं, उसके बिना नहीं, उन गुणों की प्रतीति मुख में तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसमें चन्द्रत्व की प्रतीति न हो जाय। तात्पर्य यह कि मुख में चन्द्र-गत आह्लादकरव आदि गुणों की प्रतीति सिद्ध करने के लिये पहले उसमें चन्द्रत्व की प्रतीति को सिद्ध करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। पूर्वमत में ताद्रूप्यप्रतीति की जो प्रयोजन कहा गया है, उसमें ताद्रूप्य पद से असाधारण गुण ही विवक्षित हैं। इस तरह उपमा से रूपक में स्वरूपसंविधि (प्राथमिक शब्दबोध) और कटीभूत संविधि (लक्षणाप्रयोजन की प्रतीति) दोनों ही विरलक्षण होते हैं, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है।

उक्तमामञ्जस्यसाधकं तृतीयं मतमाह—

अपरे तु—'भेदकरम्बितं सादृश्यमुपमाजीवानुभूतम्, भेदकरम्बितं च गौणसारोपलक्षणाया इति स्फुटे भेदे कृतं फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनेन। पक्षेऽस्मिन्भेदगर्भसादृश्यप्रतिपक्षेस्ताद्रूप्यप्रतीतिः कथं न्याय फलं भवितुमीष्टे इत्यनुपपत्तिं परिहर्तुमायासोऽपि नापततीत्यपरमनुकूलम्' इत्यप्याहुः।

करम्बितं विशिष्टम्। सादृश्यस्य धर्मरूपत्वेऽतिरिक्तत्वे च भेदागर्भत्वादिति भावः, जीवा-तुर्जीवनौपपन्नम्। उपमाप्रयोजकमिति पिण्डार्थः। स्फुटे भेदे इति। उपमाया चन्द्राभिन्नं चन्द्रसदृशमिति बोधः। रूपके तु चन्द्रसदृशमित्येवेति भावः। पक्षेऽस्मिन्निति। अस्य अपरमनुकूलमित्यत्र संबन्धः। तदभिन्नत्वे सति तद्वतगुणोपपन्नत्वम् सादृश्यमित्येक पक्षः। तन्मतानुसारेणोपमाया प्रयोजक सादृश्यं भेदाभेदघटितमिति तत्रत्यबोधे भेदो भासते। सादृश्यं नोक्ताकारम् अपि तु धर्मान्तरमेवाखण्डमिति द्वितीयः पक्षः। तद्वतीत्या रूपकस्य प्रयो-

जक सादृश्य न भेदघटितमिति तत्रत्यबोधे भेदो न भासते । एवबोधोपमात्पक्षयो स्वरूप एव भेदः सिद्धयतीति पश्चात्कालिकवैयञ्जनिकबोधविषयीभूतफलवैलक्षण्यमादाय तयो भेदसाधनान्यामो विफल एव । एतद्वीत्यनुसरणोऽयमपि लाभो यत् मुखचन्द्र इत्यादिरूपके लक्षणाया प्रयोजनमूलरुतया, व्यञ्जनया मुखे चन्द्रतादृश्यप्रतीतिरिति प्रयोजन यदुक्तम्, तत्र द्विमे पूर्वमतयो 'व्यञ्जनयाऽपि मुखे चन्द्रतादृश्यप्रतीति कथं स्यात् ? लक्षणाया भेदघटितसादृश्यमानेन तस्या बाधितत्वात्' इति शकाया जागरिताया तत्समाधानाय बाधनिश्चयप्रतिबन्धतावच्छेदकृशौ वैयञ्जनिकबोधातिरिक्तविषयत्वनिवेश कर्तव्यो भवति यया, तथा नास्मिन्, मते भेदाघटितस्यैव सादृश्यस्यात्र रूपे स्वीकारेणोक्तनिवेश विनापि तादृश्यप्रतीति सम्भवात् इति भावः ।

अनुपरोक्त द्वितीयमत में भी ग्रन्थकार की अस्मिन्सी प्रतीति होती है जिसका कारण यह ज्ञात होता है कि अप्रसिद्ध कार्यकारणभाव तथा उपस्थिति-सादृश्य बोध की भिन्नरूपता को अस्वीकृत करने पर भी जब निर्वाह हो सकता है, तब व्यर्थ उन दोनों बातों का स्वीकार क्यों किया जाय ? अत एव अब तृतीय मत का उल्लेख करते हैं-अपरे तु इत्यादि । कतिपय विद्वानों का कथन है कि जब सादृश्य पदार्थ के स्वरूप के विषय में दो मत मान्य हैं जिनमें एक के अनुसार 'उससे भिन्न होकर उसमें रहनेवाले अधिकतर धर्मों से युक्त होना' ही सादृश्य पदार्थ है और दूसरे के अनुसार सादृश्य एक अलग भिन्न धर्म ही है । तब क्यों नहीं इन दोनों मतों के अनुसार उपमा और रूपक को विभक्त कर दिया जाय ? अर्थात् प्रथम मत-सिद्ध भेद तथा अभेद दोनों में सम्मिलित सादृश्य पदार्थ को उपमा का प्रयोजक मान लिया जाय और द्वितीय मत सिद्ध भेदांतरहित सादृश्य पदार्थ को रूपक का नियामक समझा जाय । तदनुसार 'चन्द्रसदृश मुख' इत्यादि उपमास्थल में 'चन्द्र' से भिन्न होकर भी चन्द्रवृत्तिगुणयुक्त मुख' और 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपकस्थल में केवल 'चन्द्रवृत्तिगुणयुक्त मुख' ये दो प्रकार के बोध होंगे । इस तरह से जब स्वरूप सवेदन-प्रयुक्त भेद हो दोनों स्थलों पर स्पष्ट हो जाता है, तब फल-प्रयुक्त भेद का अनुसरण निरर्थक है । 'लक्षणा' से जब भेदघटित सादृश्य की प्रतीति पहले हो जाती है, तब पीछे व्यञ्जना से भी तादृश्य (अभेद) की प्रतीति कैसे होगी ? इस आशका के उत्तर में पूर्व के दोनों मत वालों को जो यह कहना पड़ता था कि 'वैयञ्जनिक बोध में बाध-निश्चय प्रतिबन्धक नहीं होता' वह भी इस मत में नहीं कहना पड़ता, क्योंकि इसके अनुसार भेद से अमिश्रित सादृश्य का ही बोध रूपकस्थल में लक्षणा से माना जाता है ।

प्राचीनमतवर्णनमार्ति सूचयन्नाह—

तदित्थं प्राचामाशयो मतभेदेन वर्णितः ।

इयं पूर्वोक्तप्रकारेण । आशयः अभिप्रायः । मतभेदेनेति । 'केचित्', 'अन्ये', 'अपरे' इति त्रिभिः प्रतीकैः प्रतिपादितेन मतत्रयेणेत्यर्थः ।

अब प्राचीन तीन मत की व्याख्या को समाप्त करने की सूचना देते हैं-तदित्थमित्यादि । 'केचित्', 'अन्ये' और 'अपरे' इन तीनों प्रतीकों के द्वारा प्राचीन आचार्यों के अभिप्रायों का वर्णन किया जा चुका ।

सख्यमितु नर्वात्सत प्रपञ्चयति—

नव्यास्तु—'मुख चन्द्र, बाहीको गौ' इत्यादी चन्द्रादीनां मुख्यादिभिः सह सम्भवति लक्षणा विन्यासाभेदेन ससर्गेणान्यबोधः । बाधनिश्चयप्रतिबन्ध-तावच्छेदककोटायनाहार्यत्वस्येव शब्दान्यत्वस्यापि निवेश्यत्वान् । अत एव

‘अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थं ज्ञानं शब्दः करोति हि’ इति प्राचां प्रवादोऽपि संगच्छते । न च ‘बहिना सिद्ध्यति’ इत्यत्रो वाक्यादपि शाब्दबोधोपपत्तिः । योग्यताज्ञान-
विरहात् । मुखं चन्द्रः, गौर्वाहीकः, इत्यादौ त्विष्टचमत्कारप्रयोजकताज्ञानाधी-
नाया इच्छायाः सत्त्वादाहार्ययोग्यताज्ञानसाम्राज्यम् । अत एव शाब्दबोधे योग्य-
ताज्ञानस्य कारणत्वोक्तिः प्राचां संगच्छते ।

नव्या इति । व्यप्यबोधिदायक इत्यर्थः । अस्य दूरस्थेन ‘आहु’ इति क्रियापदे-
मान्वयः । ननु मुखं न चन्द्र इत्यादिबाधज्ञानसत्त्वेन कथं तत्राबोध इत्यत आह—
‘बाधेति । अनाहार्येति । बाधज्ञानसत्त्वेऽपि इच्छारूपोत्तेजकवशादाहार्यस्य जायमानस्या-
‘दिति भावः’ । इदमिन्द्रियसन्निर्घाजन्मत्वदोषविशेषाजन्यत्वबोध्युपलक्षणम् । अत एवेति ।
तयानिवेशादेर्न्यर्थः । अत्यन्तासत्यपीति । पदार्थं सर्वथाऽऽवर्तमानेऽपि शब्दात्तदर्थ-
विषयस्य बोधो भवत्येवेति तदर्थः । अत एव ‘शशभृज्जं परय’ इत्यादिवाक्यभयान्नोत्तर-
त्वेनाना दर्शनोन्मुखी प्रवृत्तिः संगच्छते । प्रसिद्धे शब्दपदार्थं शशीपत्यभ्रमेण तादृशी
प्रवृत्तिरिति कैचित् । बाधार्थं बाधितेऽपि बाधार्थस्याबाधितस्य सत्त्वात्तथैत्यपि यद्वै ।
न चेत्यस्यैवमिति शेषः । शाब्दान्यत्वनिवेशे इति तदर्थः । योग्यताज्ञानविरहादिति ।
योग्यता च परस्परसंबन्धे बाधाभावः । ‘पदार्थं तत्र तादृता योग्यता परिकीर्तिता ।’
इत्यर्थः । एकरूपत्वेऽपरपदार्थसंबन्धो योग्यतेति तदर्थः । नन्वेव प्रवृत्तेऽपि योग्यताज्ञाना-
भावात्कथं बोधोऽत आह—मुखमिति । इत्येति । इष्ट अभिलषितं च चमत्कारः
लोकोत्तरादाह इत्यर्थः । ज्ञानेति । ‘चन्द्राभिन्नं मुखमित्यादिबोधप्रत्ययप्रयोजक’
इत्याद्याकारोत्तरार्थः । इच्छामा इति । ‘चन्द्रप्रतियोगिभाभेदसंबन्धवन्मुखमिति बोधो मे
‘जायताम्’ इत्याकारिकाया इत्यर्थः । आहार्येति । बाधकारानेच्छाजन्येत्यर्थः । योग्यता-
ज्ञानेति । ‘चन्द्रप्रतियोगिभाभेदसम्बन्धवन्मुखम्’ इत्याद्याकारकेत्यर्थः । अत एवेति ।
बाधनिधयप्रतिषेधतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्वनिवेशादेवेत्यर्थः । शाब्दबोधे शाब्द-
बोधन्यायच्छिन्ने । अयमभिप्रायः—‘मुखं चन्द्रः’ इत्यादीनि यानि धौणमारोपाकृष्टाणी-
दाहरणत्वेन प्राचामभिमतानि तेषु लक्षणा नावरयन्ती, ननु लक्षणां विना ‘मुखं न चन्द्रः’
इत्यादिबाधनिधये वर्तमाने चन्द्रमुखादिपदवाच्यार्थयोः परमभेदान्वयबोधः, तद्व्यक्ता-
मुक्तिं प्रति तदभावावच्छात्मरूपाधिधयस्य प्रतिषेधकत्वादिति चेन्न, बाधनिधयप्रतिषे-
धतावच्छेदकपक्षे यथा अनाहार्यत्वादिकं निवेदयते, तथा शाब्दान्यत्वस्यापि निवेशानी-
यत्वात्—अर्थात्, ‘लौकिकसामान्यजन्यदोषविशेषाजन्यतादाहार्यशाब्दान्यदुद्दिष्टावच्छिन्नं
प्रति बाधनिधय प्रतिषेधक’ इत्याकारकस्यैव प्रतिषेधप्रतिबन्धकभावस्य स्वीकारात् ।
तथा च बाधितार्थविषयस्योऽपि शाब्दबोध उत्पादकः स्यादेव । ‘अत्यन्ता सत्यपि’
इति प्राचीनोक्तिरपि अत एव सगता भवति । शाब्दबोधस्यापि बोधनिधयेन प्रतिबन्धे
तदसंगति स्पष्टैव । न चैव रीत्या ‘बहिना सिद्ध्यति’ इति वाक्यादपि ‘चन्द्रिकरणकं मेरु’
इत्याकारको बाधितार्थविषयक शाब्दबोध आप्नोत इति वाच्यम्, शाब्दबोधसत्त्वेन-
न्यतमस्य योग्यताज्ञानस्य विरहेण तत्राबोधोपपत्तेरभावात् । ‘करणक्रियाभाववन्धनेन
यदिमान् मेरु’ इत्याकारकं योग्यताज्ञानं नास्तीति तात्पर्यम्, अथ मुखं चन्द्र इत्या-
दावपि योग्यताज्ञानं नास्त्येवेति कथं तत्र तादृशो बोध उपपाद्यते इति तु नाश-
द्वयम् । स्वाभाविकयोग्यताज्ञानसत्त्वेऽपि आहार्ययोग्यताज्ञानस्य सत्त्वात् बहिना सिद्ध्य-
तीत्यनं तु नाहार्ययोग्यताज्ञानस्यापि सम्बन्धः, तज्जनकैच्छाया विरहात् निधयोज-

नेच्छया अदर्शनात् । मुखं चन्द्र इत्यादौ तु जायते योग्यता ज्ञानेच्छा, इष्ट-
चमत्कारप्रयोजकज्ञानप्रयोज्यत्वेन तस्यास्तत्र सप्रयोजनत्वात् । 'शब्दमुदित्वावच्छिन्ने
योग्यताज्ञानं कारणम्' इति कार्यकारणभाव प्राचीनाभिमत, बाधनिश्चयप्रतिबन्धताव-
च्छेदककोटौ शब्दान्यत्वनिवेशस्वीकारादेव संगन्तुमीदृ । अन्यथा तु तादृशकार्यकारणभा-
ववारणीयस्य शब्दबोधस्य बाधनिश्चयरूपप्रतिबन्धकेनैव चारणौ तदसमतिरेवापत्तेरिति ।

अप्ययदीक्षित आदि नवीन विद्वान्, उक्त उपमा और रूपक में भेद सिद्ध करने के
लिये कुछ नवीन ही युक्ति बतलाते हैं जिसका सङ्ग्रह यद्यपि आगे ग्रन्थकार को करना
है तथापि सङ्ग्रह करने के लिये ही पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—नष्पास्तु
इत्यादि । नवीन विद्वानों का कथन है कि 'मुख चन्द्र है' 'बाहीक (बैल का चरवाहा)
गो (बैल) है' इत्यादि जो गौण सारोपलक्षणा के प्राचीनाभिमत उदाहरण हैं,
उनमें लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि आप कहें कि 'बह है' इत्यादि बोध
के प्रति 'नह नहीं है' इत्यादि बाधनिश्चय प्रतिबन्धक होता है, इस नियम के अनुसार
'मुख चन्द्र नहीं है', 'बाहीक गो नहीं है' इत्यादि बाध-निश्चय-दशा में लक्षणा के बिना
(लक्षणा के द्वारा चन्द्र आदि पदों का तात्पर्यार्थ नहीं करने पर) 'मुख चन्द्र से अभिन्न
है', 'बाहीक गो से अभिन्न है' इत्यादि तरह के अमेदात्म्यबोध कैसे हो सकते हैं ? तो
इसका उत्तर यह है कि बाध-निश्चय से प्रतिबन्ध होनेवाले ज्ञान के पीछे जिस तरह
अनाहार्य आदि विशेषण जोड़े जाते हैं, उसी तरह शब्दबोध से अन्य यह एक और
विशेषण जोड़ना चाहिए । तात्पर्य यह है कि 'शुक्ति रजत नहीं है' इस बाधनिश्चय के
रहने पर भी 'मुझे इस शुक्ति में रजत की बुद्धि होवे' इस इच्छा केवल से जो
शुक्ति के विषय में 'बह रजत है' इस तरह का ज्ञान होता है, उसी की आहार्य ज्ञान
कहते हैं, वह बाध निश्चय से नहीं रहता, अतः बाधनिश्चय-प्रतिबन्धतावच्छेदक-
कोटि में अनाहार्यत्व का निवेश किया जाता है । उसी तरह जब उक्त कोटि में शब्दा-
न्यत्व का भी निवेश कर दिया जायगा, तब बाधितार्थविषयक भी शब्दज्ञान होगा ।
अतएव प्राचीनों ने जो यह कहा है कि 'अर्थ की अध्यस्त अवर्तमानता अवस्था में भी
शब्द अपना कार्य करता ही है—अपने अर्थ का ज्ञान कराता ही है'—वह भी सगत
होता है । यदि बाध-निश्चय से शब्दज्ञान भी रहता, तब तो उक्त कथन असंगत ही
होता, क्योंकि जो अर्थ (जैसे वन्या का पुत्र) ससार में है ही नहीं, वह तो सर्वथा
बाधित है, फिर शब्द से उसके ज्ञान की बात कैसे कही जा सकती है ? यदि कहा
जाय कि बाधित अर्थ का भी शब्दबोध मानने पर 'आय से सींचता है' इस
वाक्य से भी 'अग्निवरणक लेखन' वह शब्दबोध होने लगेगा । तो इसका समाधान
यह है कि शब्द-बोध के अनेक कारणों में से एक जो बाधाभावरूप योग्यता
का ज्ञान है, उसके नहीं रहने से उक्त शब्दबोध नहीं होता—अर्थात् लेखन किसी तरह
वस्तु से ही हो सकता है, आय से नहीं । इस तरह का बाध-निश्चय रहने पर बाधाभाव-
रूप योग्यता का ज्ञान—जो शब्दबोध के कारणों में से एक है—हो नहीं सकता, अतः
उक्त बोध की आपत्ति नहीं दी जा सकती । इस पर आप कह सकते हैं कि 'मुख चन्द्र है'
इत्यादि स्थल में भी तो बाधनिश्चय है अतः बाधाभावरूप योग्यता का ज्ञान होगा नहीं,
फिर कैसे वहाँ लक्षणा के बिना अमेदात्म्य बोध की बात करते हैं ? तो मैं कहूँगा कि कहना
आपका सत्य है, परन्तु यहाँ आहार्य (बाधकालिक इच्छाजन्य) योग्यता-ज्ञान हो जाता
है । यदि आप कहें कि यह तो आपने ऐसी बात कही, जिसके अनुसार पुनः 'भाग से
सींचता है' यहाँ भी बाधित अर्थ का बोध प्राप्त हो जायगा अर्थात् आहार्य योग्यता-
ज्ञान यहाँ भी मान लिया जा सकता है । तो इसका उत्तर यह है कि नहीं भाई, यहाँ
आहार्य योग्यता-ज्ञान भी नहीं हो सकता । कारण, बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञान को

ही तो आहार्य कहते हैं, और किसी वस्तु की इच्छा निष्प्रयोजन होती नहीं, अतः वहाँ जननी इच्छा का अभाव रहता है। आप कहेंगे कि—'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थल में कौन सा प्रयोजन है, जो वाचकालिक ज्ञान की जननी इच्छा को उत्पन्न करता है? तो मैं कहूँगा—'हाँ, वहाँ यह ज्ञान है कि 'मुख चन्द्र से अभिन्न है' इत्याकारक ज्ञान, चमत्कार (अलौकिक आनन्द) का प्रयोजक (परम्परया कारण) है।' अतः 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इस तरह का ज्ञान मुझे होवे यह इच्छा होती है। बाधनिश्चय से रकनेवाले ज्ञान के पीछे शाब्दान्वय विशेषण जोड़ने की बात मान लेने पर ही 'योग्यताज्ञान, शाब्दबोध में कारण है' यह प्राचीनों की उक्ति संगत होती है। अभिप्राय यह है कि बाधनिश्चय रहने पर शाब्दबोध न होवे हमलिये वाधाभाव-रूपयोग्यता-ज्ञान को शाब्द-बोध के प्रति कारण माना जाता है। अथ आप सोचिये कि यदि बाध-निश्चय-प्रतिषेधतावच्छेदक कोटि में शाब्दान्वयत्व निवेश नहीं किया जाता अर्थात् शाब्दज्ञान भी बाधनिश्चय से रोका जाता, तब तो उसीसे यह एक ही जाता फिर उसको रोकने के लिये योग्यताज्ञान को कारण मानना व्यर्थ हो जाता।

मुखं चन्द्र इत्यादौ लक्षणा विनैवाभेदान्वयबोधोपपादकं प्रकारान्तरमाह—

आहार्य एव वाऽभेदान्वयबोधोऽस्तु । मास्तु बाध युक्ति-प्रतिषेधताव-च्छेदककोटी शाब्दान्वयत्वम् । मा चास्तु शाब्दबुद्धौ योग्यताज्ञानस्य कारणत्वम् । आहार्यं प्रात्यक्षिकमेवेति नियमश्च ।

नियमरचेति । अस्य 'मा चास्तु' इति पूर्वतनेन क्रियापदेशान्वयः । अयं भावः—आहार्ययोग्यताज्ञानरूपनेन मुखं चन्द्र इत्यादौ वाच्यार्यबोरभेदान्वयबोधोपपादने गौर-वन्नेदुद्भास्यते, तर्हि तत्र वाच्यार्यबोरभेदान्वयबोध एवाहार्योऽज्ञीकार्यः । अर्थात् मुखं न चन्द्र इति बाधनिश्चयदशावामपि 'चन्द्राभिन्नं मुखम्' इति बोधो जायताम् इतीच्छया सादरा शाब्दबोधो भवतु । बाधनिश्चयस्तु न त बोधं प्रतिषेधनीयान्, तदीयप्रतिषेधता-वच्छेदककुक्षौ अनाहार्यत्वस्य निविष्टत्वात् । एवञ्च बाधनिश्चयप्रतिषेधतावच्छेदककोटी शाब्दान्वयत्वनिवेशोऽपि न कर्तव्यो भवतीति द्वितीयम् लाघवम् । अथ न अनाहार्यस्य बाधितार्थविषमरूपस्य शाब्दबोधस्य बाधनिश्चयेनैव प्रतिषेधने, आहार्यस्य च तस्येष्टत्वे, योग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे कारणत्वमपि नाश्रयणीयं भवतीति तृतीयम् लाघवम् । ननु प्रात्यक्षजन्यमेव ज्ञानमाहार्यं भवतीति नियमव्याकौपोऽत्र बाधक इति चेन्न, तस्य नियमस्य स्वीकारात्, अतिशयोक्त्यादिषु बहुषु अलंकारेषु आहार्यशाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् इति ।

सातोषा लक्षणा के स्थल में अर्थात् 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक में लक्षणा के बिना भी अभेदान्वय हो सकता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये नवीन विद्वानों के द्वारा दी गई एक दूसरी युक्ति का उल्लेख करते हैं—आहार्य एव इत्यदि । आहार्य योग्यता-ज्ञान मान कर रूपक स्थल में लक्षणा के बिना वाच्य दो अर्थों के ही अभेदान्वय को उपपन्न करने में यदि आप गौरव की उदाहरण करें, तो छोड़िये उस बात को । वहाँ दो बाधित वाच्य अर्थों के अभेदान्वय-बोध को ही आहार्य मान लीजिये । अर्थात् 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के बाधनिश्चय की दशा में भी 'चन्द्र से अभिन्न मुख' इत्याकारक बोध मुझे होवे, इस इच्छा से बस शाब्दबोध हो जाय । बाधनिश्चय तो उस बोध को रोक नहीं सकता, क्योंकि बाधनिश्चय से रकने वाले ज्ञान के पीछे 'अनाहार्य' विशेषण जुड़ा हुआ है । इस रीति को अङ्गीकृत करने पर बाध-निश्चय से रकनेवाले ज्ञान के पीछे 'शाब्दज्ञान से अन्य' यह विशेषण भी नहीं जोड़ना पड़ता यह दूसरा लाघव है । और बाधित अर्थविषयक अनाहार्य शाब्दबोध, अब बाध-निश्चय की प्रतिबन्धकता से ही रुक जायगा, तथा बाधित अर्थविषयक भी आहार्य

शाब्दबोध इष्ट हो गया, अतः शाब्दबोध के प्रति योम्यताज्ञान को कारण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यह तृतीय लक्षण है। यदि कोई कहे कि 'प्रत्यक्ष-ज्ञान ही आहार्य होता है, शाब्दबोध आदि परोक्ष ज्ञान नहीं' यह जो एक नियम है शाब्दबोध को आहार्य मानने पर उसका विरोध होगा, तो इसके उत्तर में कहना है कि उस नियम को मैं नहीं मानता अर्थात् परोक्ष ज्ञान को भी मैं आहार्य मानता हूँ, अतिशयोक्ति आदि कतिपय अलंकारों में आहार्य शाब्दबोध अनुमन-सिद्ध है।

उक्तार्थं ददयितुमाह—

अवश्यं मुखचन्द्र इत्यादौ पराभिमतसारोपलक्षणोदाहरणे वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयोऽभ्युपगन्तव्यः, न तु वाच्य-लक्ष्ययोः। अन्यथा 'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्यामालिङ्गति निर्भरम्' 'पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीर-शिञ्जितमनोहरमभिकाया' इत्यादौ क्रमेणोपमारूपकयोरुपमितविशेषणसमासाधीनयोर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्वयोरनुपपत्तिर्निर्णायिकारूपकोपमयोः प्राचीनैस्तत्र तत्र निबद्धा विरुद्धा स्यात्। आद्यपदे उपमाया इव रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकस्य तुल्यतया तन्निर्णायकताया असंगते। द्वितीयपदे रूपकस्यापि स्वीकारे बाधकाभावेन तन्निवर्तकताया अयोगात्।

पराभिमतैति। एतेन लक्षणाया स्वाभिमतत्वं निरस्त्विति, वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयाङ्गीकारात्। अभेदान्वय इति। आहार्यभेदान्वय इति भावः। एकारण्यकण्ठेयमाह—न त्विति। अन्यथेति। वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वयाङ्गीकारे इत्यर्थः। अस्य विस्मृत्यग्रान्वयः उपमितविशेषणसमासेति। वमश 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे', 'मयूरव्यसकादयधे'ति मयूरद्वयविहितेत्यर्थः। तत्र तयोरङ्गोकारं या अनुपपत्तिं सा वैपरीत्यं निर्णायिकेत्यलङ्कार्यः। बाधकमेति। सत्कर्तृकालिङ्गनासम्भवस्येत्यर्थः। बाधकाभावेनेति। तादृशमनोहरत्वमभवामावेनेत्यर्थः। 'राजनारायणम्' इत्यत्र यदि राजा नारायण इवेति विरुद्ध 'उपमित व्याघ्रादिभिः'रित्यनेन समासे उपमालकारं स्वीक्रियेत, तदा नारायणसदृशो राजेति बोधे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्य पञ्चोक्तस्यानुपपत्तिं सत्त्वलोन्पचामि साध्वीभि रमणीभि पतिसदृश-शुद्धया कस्यापि पुन आलिङ्गनासम्भवात्, अतस्तत्र राज्ञ बासौ नारायण इति विरुद्ध मयूरव्यसकादयश्चेति समासे रूपकालकारोऽङ्गीकार्यः, तथा च राजाभिन्नो नारायण इति बोधे लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमुपपद्यते। एवम् 'पादाम्बुजम्' इति पदे यदि पादरूपमम्बुजमिति विरुद्ध मयूरव्यसकादित्वात्समासे रूपकालकार इर्वाङ्गियेत, तदा पादाभिन्नमम्बुजमिति बोधेऽम्बुजस्य प्रधान्येन तत्र मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्वस्य रत्नोक्तप्रतिपादितस्यानुपपत्तिः, अम्बुजे तन्म्यामभवात्, अतस्तत्र पाद अम्बुजमिव इति विरुद्ध 'उपमित व्याघ्रादिभिः'रिति समासे उपमालकारोऽङ्गीकर्तव्यः, तथा च अम्बुजसदृशपाद इति बोधे प्रधानभूते पादे लक्ष्मनोहरत्वमुपपद्यते। इति प्राचीनैरुक्तम्, तच्च तदैव संगतं भवेत्, यदि रूपकस्यो लक्षणाभेदान्वयः वाच्यार्थयोरेवाहार्यभेदान्वयमनुमन्यते लक्षणा कृत्वा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्वये तु राजनारायण इत्यत्र उपमारूपकयोर्मयोरपि नारायणसदृशो राजा इत्याकारके एव बोधे उपमायामिव रूपकेऽपि लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्यानुपपत्त्या उपमाया तदनुपपत्ते रूपकसाधकत्वं प्राचोक्तमवगतमेव। एवम् पादाम्बुजम् इत्यादि उपमारूपकयोर्मयोरपि वाच्यलक्ष्ययोर्बोधि आसियते अम्बुजमदृशपादः इत्येव बोधे उपमायामिव रूपकेऽपि मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरत्वस्य सम्भवतया तदनुपपत्ते। रूपक-

बाधकत्वं प्राचीनोक्तसंगतं स्यात् । अतः मुखचन्द्र इत्यादौ सर्वत्र वाच्यार्थयोरेवाह्वार्या-
भेदान्वयः स्वीकृत्यते इति भावः ।

उक्त नवीन मत को हट करने के लिये कहा जाता है—अवश्यम् इत्यादि । ऊपर नवीनों के मत में जो यह कहा गया है कि 'मुखचन्द्र' इत्यादि प्राचीनाभिमत सारोप लक्षणा के उदाहरणों में—अर्थात् रूपकस्थल में—दो वाच्यार्थों (मुख और चन्द्र) का ही अभेदान्वय होता है, वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चन्द्रसदृश) का नहीं, वह विचारदृष्टि से अवश्य मानने योग्य है । अव्यथा प्राचीनों की ही निम्नोद्धृत उक्ति असंगत हो जायगी । प्राचीनों ने कहा है कि—'राजनारायणम्'—'अर्थात् लक्ष्मी आप (राजनारायण) का रत्न आलिङ्गन कर रही है—वह आपका त्याग कभी नहीं करती' यहाँ यदि 'राजा नारायण इव' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'उपमित श्यामादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनिसूत्र से समास हुआ माना जाय और तदनुसार अलंकार उपमा स्वीकृत किया जाय, तब 'नारायणसदृश राजा' ऐसा बोध होगा, जिससे पद्य में वर्णित लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन की अनुपपत्ति हो जायगी, क्योंकि मरकुलोत्पन्न साध्वी रमणियों के द्वारा पति के समान समझ कर किमी पुरुष का आलिङ्गन असम्भव है । अतः वहाँ 'राजा चासौ नारायण' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'संपूरयसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्र से समास हुआ है, ऐसा समझना चाहिए और तदनुसार अलंकार रूपक मानना चाहिए । ऐसा मानने पर 'राजा मे अभिन्न नारायण' यह बोध होगा, जिसमें लक्ष्मी का आलिङ्गन उपपन्न होता है । इसी तरह 'पादाम्बुजम्'—'अर्थात् नूपुरों के सुन्दर शब्द से चित्त को चुरा लेनेवाले अभिनय के चरण-युग्म, आप लोगों के विजय के लिये हों—आप सब को विजय प्रदान करें' इस पद्य में यदि 'पादरूपम् अम्बुजम्' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर 'मयूरव्यसकादयश्च' इस सूत्र से समास करके रूपकालंकार स्वीकृत हो, तब 'चरण से अभिन्न कमल' ऐसा बोध होगा, जिसमें प्रधानता रहेगी कमल की, अतः रत्नोक्त में प्रतिपादित 'मन्त्रमञ्जीरशिशितमनोहरत्वं' अनुपपन्न हो जायगा, क्योंकि कमल में उसकी संभावना नहीं है, इसलिये वहाँ 'पाद, अम्बुजमिव' ऐसा विग्रहवाक्य मानकर उपमित समास तथा तन्मूलक उपमा अलंकार स्वीकृत करना चाहिए । इस रीति से होनेवाले 'कमलसदृश चरण' इस बोध में प्रधानी-भूत चरण में उक्त विशेषण उपपन्न होता है (यही है प्राचीनों की उक्ति) । अथ सोचिए कि रूपकस्थल में यदि वाच्य और लक्ष्य का अभेदान्वय हो, तब उक्त कथन संगत होगा ? नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर तो 'राजनारायणम्'—'मे उपमा मानें या रूपक, दोनों ही स्थितियों में बोध होगा 'नारायणसदृश राजा' एक यही, अतः उपमा के समान रूपक में भी लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन उक्त युक्ति से अनुपपन्न ही रहेगा । इसी तरह 'पादाम्बुजम्'—'मे भी रूपक मानें अथवा उपमा, दोनों ही अवस्थाओं में बोध होगा 'अम्बुजसदृश पाद' एक यही । अतः पाद की प्रधानता दोनों ही अलंकारों में समान रूप से बनी रहेगी, फिर रूपक में मन्त्रमञ्जीरशिशितमनोहरत्वं की अनुपपत्ति नहीं होगी । रूपकस्थल में दो वाच्यार्थों में ही अभेदान्वय मानने पर उक्त कथन संगत हो सकता है, क्योंकि उस मान्यता के अनुसार दोनों अलंकारों में बोध निम्न तरह का हो जाता है । सारांश यह कि 'मुखचन्द्र' आदि जितने सारोप लक्षणा के उदाहरण प्राचीनों ने माने हैं, उन सभी स्थानों पर लक्षणा वस्तुतः नहीं होती, वाच्य वाचक का ही आहार्य अभेदान्वयबोध होता है ।

अस्तरूपकस्थले लक्षणाया निर्वाचनमाशङ्क्य गृह्यति—

न च मुखचन्द्रादी समासे कचिदस्तु नाम श्रागुक्तीत्या लक्षणां विनापि बोधोपपत्तिः, न्यासे तु लक्षणाया नास्ति बाधकमिति वाच्यम् । 'कृपया

सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम्' इत्यादौ व्यासेऽप्यनुपपत्तेः ।

प्रागुक्तरीत्येति । नर्वाणोक्ताहार्यशाब्दबोधोपपादनन्यायेनेत्यर्थः । अस्य प्रतीकस्य 'प्राचीनोक्तेत्यर्थः' इति नागेशदावा भ्रामिकैव । नास्ति बाधकमिति । प्राचीनोक्तानुपपत्तिरूप बाधक नास्ति, तस्य राजनारायण इत्यादिसमासस्थल एव दर्शितत्वादिति भावः । कृपयेति । हे हरे भवतापेन मूर्च्छामापन्न मा स्वकृपास्पर्शायुपधारया मित्र येन भवतापजनिता मूर्च्छा मे निवर्तेत इत्यर्थः । अनुपपत्तेरिति । व्यस्तरूपकस्थलेऽपि बाध्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्बन्धसमर्थने बाक्यार्थान्वयानुपपत्तेरिति भावः । उदमाकृतम्—'रूपकस्थले लक्षणा न भवति, किन्तु बाक्ययोरैवोपमानोपमेययो बाधितोऽपि अभेदान्बन्धबोध स्वीकार्य आहार्यरूप' इत्यस्य सिद्धान्तस्य उदाहरणे या प्राचीनोक्तस्य अनुपपत्त्युक्तिर्वेन पुरस्कृता नवानै, मा राजनारायण इत्यादि समामस्थल एव, ततश्च तद्दृष्टान्तेन समामस्थले रूपके त्यज्यता लक्षणा, स्वात्मियताश्च बाक्यार्थयोरैवाहार्यार्थभेदबोध, व्यासस्थले लक्षणा बाक्यार्थलक्ष्यार्थयोरभेदान्बन्धबोधाङ्गत्वादेन न क्षतिरिति पूर्वपक्षे, 'कृपया सुधया' इत्यादौ उपमानवाचकस्य सुधापदस्य स्वमदर्थे लक्षणाया सुधामदस्या कृपया इति बोधे बाक्यार्थो नोपपद्येत, सुधातुल्याया कृपाया मेचनकरणताया अमनवित्वात्, अतौ व्यस्तरूपकस्थलेऽपि सुधाऽभिज्ञया कृपया इत्यादि रीत्या बाक्यार्थयोरैवाहार्यार्थभेदान्बन्धबोध व्यास्येयः । तथा च न बाक्यार्थानुपपत्तिः सुधया अभिज्ञाया कृपाया संकटव्याकरणत्वस्य समवित्वात् इति समाधानं नर्वाणस्येति ।

व्यस्तरूपकस्थल में लक्षणा मानी जा सकती है, इस आशङ्का का समाधान अब करते हैं—न च इत्यादि । यदि कोई कहे कि रूपकस्थल में लक्षणा नहीं होती—दो बाक्यार्थों का आहार्य अभेदान्बन्ध बोध होता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये मनीनों ने जो दृष्टान्त दिया है वह समाम स्थल में ही, अतः उस (राजनारायण तथा पादाम्बुज) दृष्टान्त से समास के स्थल में कहीं लक्षणा के बिना भी भले ही अभेदान्बन्ध-बोध सिद्ध हो जाय, परन्तु व्यासस्थल में (जहाँ समास के न रहने पर भी रूपक होता है) लक्षणा मानने में कोई बाधा नहीं है । तो इसका उत्तर है कि 'कृपया सुधया' 'अर्थात् हे हरे ! ताप (सामारिक पीडा) से मूर्च्छित मुझको कृपारूप सुधा से सींचिए ।' इत्यादि व्यस्तरूपकस्थल में भी लक्षणा मानने पर बाक्यार्थ की अनुपपत्ति हो जाती है अर्थात् 'कृपया सुधया' में जो रूपक है, वहाँ यदि विपरीत—उपमानवाचक (सुधा) पद की स्वमदर्थ में लक्षणा मानी जाय, तब 'सुधासदृश कृपा' ऐसा बोध होगा, जो अनुपपन्न है, क्योंकि कृपा से संचन नहीं हो सकता, अतः मानना पड़ेगा कि यहाँ भी लक्षणा नहीं होती, अपि तु सुधा और कृपा पदों के बाक्य अर्थों का ही आहार्य अभेदान्बन्ध बोध होता है, तदनुसार सिद्ध होनेवाले 'सुधा से अभिन्न कृपा' इस बोध में कोई अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि सुधा से कृपा को अभिन्न समझ लेने पर सुधागत मेचन योग्यता, कृपा में भी प्राप्त हो जाती है ।

व्यासेऽनुपपत्तिपरिहारमाशङ्क्य समाधत्ते—

न च सिञ्चतेरपि विपरीकरणे लक्षणाया नानुपपत्तिः । उत्प्रेक्षाद्यतिरिक्तातिशयोक्त्यपह्नमादिप्याहार्यज्ञानेनैवोपपत्तौ लक्षणाया चीजाभावाद्नुभवविरोधाच्च ।

मित्रतेरपीति । अत्रापि न सुधापदस्य लक्षणाविषयत्वं समुन्वीयते । अत्र 'अतिरेकार्यः' इति विरुद्धतो नागेशस्याभिप्रायो दुर्ज्ञेय एव । विपरीकरणे । लक्ष्यीकरणे । लक्षणयेति । अस्य पदस्य 'विपरीकरणे' इति पूर्वतनेन पदेन मबन्धः । नानुपपत्तिरिति । बाक्यार्थान्वयानुपप-

तिर्नित्यर्थः । उत्प्रेक्षादीति । अत्रादिपदेन भेदप्रधानानां दृष्टान्तादीनां ग्रहणं बोध्यम् । अप-
 द्वादीति । अत्रादिपदेनाभेदप्रधानानां परिणामादीनां संग्रहः । बोधाभावादिति । समर्थ-
 युक्तिविरहादित्यर्थः । अतिशयोक्त्यादिरोतिरेवानुमर्तव्या नोत्रेणादिरोतिरित्यत्र विनिगमका-
 भावाद्वाह—अनुभवैति । अभेदप्रधानैवलंकारेषु वाच्यगोपहास्यभेदबोधस्यैवानुभवमिदत्वा-
 दिति मानः । इदमत्र तत्त्वम्—‘कृपया सुधया’ इत्यादिकाव्यवाक्ये श्रुततया कृपोपमेवभूता
 सुधा आश्रुततयोपमानरूपा, तथा चोपमानवाचकस्य सुधापदस्य स्वमहरो लक्षणेति प्राचीन-
 निदान्तस्वाङ्कारे सुधामहशकृपाकरणकं सैक इति बोधस्य ज्ञायमानस्यानुपपत्तिरिति सुधा-
 पदवाच्यार्थस्यैव कृपापदार्थेन सहाहार्यभेदान्वयबोध इति यदुपपादितं नवोनैस्तद् व्यर्थम् ।
 मिथेति त्रिषापदस्यापि योजनरूपार्थे लक्षणाग्रहीकृत्य सुधामहशकृपाकरणिकायोजनकि-
 र्हेति वाक्यार्थ-निपत्तौ अनुपपत्तिविरहेण व्यस्तरूपकस्यले लक्षणायां बाधकं नास्तीति
 प्राचीनमतममर्थिका शकाः । उत्प्रेक्षादौ भेदप्रधानेऽलंकारे भेदबोधपुस्तमरस्यैव वैयक्तिका-
 भेदबोधस्य चमत्कारित्वमिति तत्राहार्योऽप्यभेदबोधोऽचमत्कारितया कान्यमर्मगुः सह-
 यैनाङ्गीकर्तुं योग्य, किं तत्र ‘मन्ये’ ‘शङ्के’ ‘इवा’दिपदानां भेदमूचकानां सत्त्वेन
 अभेदबोधो विरुद्ध एव भवेत् अत एवोत्प्रेक्षायां संभावनाया अपि आहार्यत्व स्वीक्रियते
 अभेदबोधस्तु दूरापास्त इति तदर्थः । एवञ्च तत्र भवतु उपमानवाचकानां पदानां स्व-
 महरो लक्षणाः । किन्तु अतिशयोक्त्यादावभेदप्रधानेऽलंकारेऽभेदबोध एव चमत्कारक
 भेदबोधस्तत्र भवत्येव नैति तत्र यथा वाच्यार्थबोरेवाहाराभेदान्वयबोध स्वीक्रियते, न तु
 लक्षणायां लक्ष्यार्थवाच्यार्थयोस्तथैव रूपकेऽपि (समस्ते व्यस्ते च) अभेदप्रधाने वाच्य-
 योरेवाहाराभेदान्वयबोधस्वीकारेण सामञ्जस्ये तत्त्वैवोचित्ये च लक्षणाप्रयोगे युक्तिविरहः,
 अनुभवविरोधरचेति समाधानमिति । अत्र ‘न च सिधतेरपि विपयीकरणे’ इति प्रतीकमुपा-
 दाय ‘अतिशयोक्तौ विपयिणः (उपमानस्य) एव यथा विपयीकरणम् (उपमेयतया
 स्थापनम्) तथाऽत्रापि ‘कुह’ इत्यस्य (विपयस्य) स्थाने सिधेति विपयिणः प्रयोगः ।
 अतिशयोक्तिमवलने चायमर्थः—‘तापमूर्च्छितस्य ममोपरि सुधानेवनसहसा कृपा कुह’
 इतीत्यादि, ‘यस्मात्’ इत्यान्तरसंग्रहेनैव, कृप्येतिद्वितीयान्त-आप्रतिद्वितीयान्त-पदपत्तिरौक-
 वाक्यात्तादृशार्थप्रतिपत्तेरमम्भवात् ।

अब व्यासस्थल में पूर्वोक्त अनुपपत्ति के परिहार की आवश्यकता करके समाधान करते
 हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि ‘कृपया सुधया’ इत्यादि तरह के स्थानों में केवल
 उपमानवाचक सुधा पद ही लाक्षणिक नहीं है, अपि तु ‘सिद्ध’ यह क्रियापद भी योजन
 रूप अर्थ में लाक्षणिक है, अतः यहाँ बोध होता है कि ‘सुधासदृश कृपा से मुझे युक्त
 बनाओ ।’ इस बोध में कोई खास अनुपपत्ति नहीं है अतः प्राचीनों के कथनानुसार
 व्यासस्थल में लक्षणा मानी जा सकती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशयोक्ति,
 अपह्नव, परिणाम आदि अलंकारों—जो अभेद-प्रधान हैं, अतः अभेद का बोध ही चमत्कारी
 होता है, अर्थात् जहाँ भेद का बोध होता ही नहीं—में जैसे लक्षणा के बिना ही आहार्य
 अभेदान्वय बोध सामकर सब कार्य सिद्ध कर लेने हैं, वैसे ही अभेदबोध के चमत्कारी होने
 के कारण रूपक (चाहे वह समस्त हो अथवा व्यस्त) में भी आहार्य अभेदान्वय बोध
 मानकर जब सब ठीक हो जाते हैं, तब लक्षणा मानने में कोई बीज नहीं दीखता । हाँ,
 उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि जिन अलंकारों में भेद की ही प्रधानता रहती है, अतः पीछे भी
 व्यञ्जना के द्वारा भेदज्ञानपूर्वक अभेदबोध ही होता है, चमत्कार भी उसी तरह के बोध
 में अनुभूत होता है, वहाँ आहार्य-अभेद-बोध भी सहृदय-जन-मनोविरुद्ध है, दूसरी बात
 यह कि उत्प्रेक्षा में ‘मन्ये, शङ्के, इव’ आदि पद भेदसूचक रहते हैं, अतः अभेद का बोध

विरुद्ध भी पड़ता है, इसीलिये उत्प्रेक्षा में समावना को भी आहार्य माना गया है, अभेद बोध तो दूर की बात रहती। वहाँ उपमानवाचक पदों को स्वसदृश अर्थ में लाक्षणिक मानना युक्तिसंगत हो सकता है। यदि आप कहें कि जब दोनों प्रकार के अलंकार होते हैं—अतिशयोक्ति आदि अभेदप्रधान और उत्प्रेक्षा आदि भेदप्रधान, तब रूपक को द्वितीय कोटि के अलंकारों की श्रेणी में ही क्यों न रक्खा जाय अर्थात् रूपक को भी भेदप्रधान मानकर लक्षणावाली बात को संगत क्यों नहीं माना जाय ? तो इसका उत्तर यह है कि आखिर अनुभव के आधार पर ही तो काव्यशास्त्र की यह विशाल भित्ति खड़ी है, अतः उस अनुभव का अपवाद किसी भी स्थिति में नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह कि रूपक में अभेदबोध का ही चमत्कार अनुभव से सिद्ध है, अतः उसको भेदप्रधान अलंकारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

उक्तानुभवविरोपस्य विमवादाप्रस्तत्त्वान् रूपकस्थले वाच्यार्थयोराहार्माभेदान्प्रत्यवोधना-
धक युक्त्यन्तरमाह—

अपि उपमानवाचकस्य चन्द्रादिपदस्य रूपके उपमानसदृशे लक्षणा इति हि प्राचा समयः । तत्र च लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्यम् । तच्च समानधर्म-
रूपम् । स च लक्ष्याशे सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीयते, उताहो सामान्य-
रूपेण ? नाथ । सुन्दर मुख चन्द्र इत्यादौ पौनरुक्त्यापत्ते । न चैवमादावु-
पात्तधर्मके रूपके तद्धर्मातिरिक्तो धर्म एव लक्ष्यतावच्छेदकीभूतसादृश्यरूप इति
वाच्यम् । अनुभवविरोधात् ।

‘अङ्कितान्यक्षसंपातैः सरोगाणि सर्वैव हि ।

शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः ॥’

इत्यादौ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसितधर्म बिना धर्मान्तरस्य सर्वयैवास्फूर्तेश्च ।

समय सिद्धान्तः । तत्र रूपकस्थले । समानधर्मरूपमिति । तद्विज्ञत्वे सति तद्गत-
भूयोधर्मवत्त्वस्यैव सादृश्यपदार्पत्वादिति भावः । स च समानधर्मश्च । सामान्यरूपेणेति ।
सादृश्यत्वेन रूपेणेत्यर्थः । सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेणेति प्रथमकल्प दूषयति—नाथ
इति । तत्र हेतुमाह—सुन्दर मुखमित्यादि । पौनरुक्त्यापत्तिं निराकर्तुमाशङ्कते—न
चेति । एवमादौ इति । इत्यादावित्यर्थः । अत्रादिपदस्य प्रकारार्थत्वात्प्रयोजकधर्ममाह—
उपात्तेति । तद्धर्मेति । उपात्तधर्मान्याहादकत्वादित्यर्थः । समाधत्ते—अनुभवविरोधा-
दिति । तादृशस्थले उपात्तस्य सुन्दरत्वादिधर्मस्यैव लक्ष्यतावच्छेदकतयाऽनुभवादिति
भावः । तमात्रुभवे मतभेदस्यापि ममवादाह—अङ्कितानांति । अक्षणाणाम् इन्द्रियाणाम्,
पद्माक्षणाञ्च, संपातैः समूहैः, अङ्कितानि ध्यातानि, सरोगाणि रोमैः सहितानि सरोवर-
गतानि च, शरीरिणां प्राणिनां, शरीराणि देहाः, कमलानि कमलरूपा सन्तीत्यत्र भन्देहे
नास्त्यन्त्यर्थः । श्लेषेति—शब्दश्लेषनिमित्तो यो विशेषणार्थयोरभेदाध्यवसायस्तद्विषया-
भूतो योऽक्षसंपातव्याप्तमरोगत्वरूपो धर्मस्तमित्यर्थः । धर्मान्तरस्येति । शरीरकमलो-
पमयाधारणस्येति भावः । अस्फूर्तेरिति । ध्यानयानाहटत्वादित्यर्थः । रूपकस्थले उप-
मानवाचकपदस्य स्वग्रहणे लक्षणेति प्राचा सिद्धान्ते लक्ष्यतावच्छेदकसादृश्यस्य समान-
धर्मरूपस्य लक्ष्याशे = उपमये, सुन्दरत्वादिना विशेषरूपेण प्रतीतिर्न सम्भवति, तथा
सति ‘सुन्दर मुख चन्द्र’ इत्यादिरूपकस्थले ‘मुखं चन्द्र’ इत्येतावनो वाक्यादेव चन्द्र-
ग्रहण सुन्दर मुखमित्यर्थप्रतीत्या सुन्दरपदस्य पुनरुक्त्यापातात् । तादृशोक्तधर्मरूपर-
स्येव सुन्दरपदस्य एवाहादवत्त्वादिधर्म सादृश्यरूपो विवक्ष्यते इति तु न शक्यं स्वीक-

तुम्, तत्र तस्यानुभवत् । तादृशानुभवमर्थकदुराग्रहे च तत्र कथञ्चित्तिर्बाहेऽपि 'अद्वि-
तानि' इत्यादिपक्षे पुनरुक्त्यापत्तिर्दुर्द्धरैव, तत्रोक्ता अक्षसंघातादितन्व-सरोगवे-
त्येतदित्यस्यात् स्लेषभित्तिकामेदाध्यवसितधर्मात् अपरस्य उपमानोपमेयसाधारणस्य
धर्मस्य मुद्रिपयानरोहत्वात् तस्यैव धर्मद्वयस्य लक्ष्यतावच्छेदकतयोपमेयाद्ये प्रतीतिसमर्थने
च पुनरुक्त्यापत्ते स्पष्टत्वादिति भावः ।

उपर जो अनुभवविरोध की बात कही गई है, उसमें मतभेद हो सकता है अर्थात् कुछ लोग ऐसा भी दुराग्रह दिसला सकते हैं कि रूपरस्यल में भेद का अनुभव होता है, अतः अथ रूपरस्यल में वाक्यार्थद्वय के ही आहार्यामेदान्वय की सिद्ध करनेवाली दूसरी युक्ति देते हैं—अपि च इत्यादि । रूपरस्यल में उपमानवाचक चन्द्रादि पदों की रससदृश अर्थ में लक्षणा होती है, यह प्राचीनों का सिद्धान्त है तदनुसार लक्ष्यतावच्छेदक (लक्ष्य-सदृश अर्थ में रहने वाला धर्म) होगा सादर्य और सादर्य का विशिष्ट रूप होता है समान धर्म । दोनों (उपमान तथा उपमेय) में रहनेवाला कोई एक धर्म, वह एक धर्म भी दो प्रकार का हो सकता है—एक विशेष और दूसरा सामान्य । अब हम और आप विचार करें कि वह समानधर्म रूपरस्यल में लक्ष्य-उपमेय (मुख आदि)—अज्ञ में विशेष रूप से अन्विष्ट होता है अथवा सामान्यरूप से ? यदि आप कहेंगे—वितोरूप से, तो बात ठीक नहीं होगी, क्योंकि उस स्थिति में 'सुन्दर मुखचन्द्र' इत्यादि व्यवहार में आनेवाला लक्षक नहीं बन सकेगा । कारण, जब चन्द्र का सादर्य मुखरूप लक्ष्य अज्ञ में सुन्दरत्वात्मक विशेषरूप में अन्विष्ट होगा, तब तो 'मुखचन्द्र' इतने से ही 'चन्द्र के समान सुन्दर मुख' यह अर्थ हो ही जायगा, फिर 'सुन्दर' पद की धोना पुनरुक्तिदोषप्रसूत हो जायगी । यदि आप कहना चाहेंगे कि ऐसे स्थलों—जहाँ कोई एक साधारण धर्म उक्त हो—में उस उक्त धर्म से अन्य धर्म-विशेष को ही लक्ष्य में रहनेवाले धर्म-सादर्य का रूप दिया जायगा, अर्थात् 'सुन्दर मुखचन्द्र' इत्यादि स्थानों में चन्द्रसादर्य का अन्वय मुख में सुन्दरत्वरूप से न मान कर अन्य गौरव आदि रूप से ही माना जायगा, फिर तो पुनरुक्ति नहीं होगी, तो यह कथन भी आपका समुचित नहीं हो सकेगा, क्योंकि सुन्दरत्व आदि पूर्वोक्त रूप से अन्य गौरव आदिरूप से सादर्य का अन्वय अनुभव में नहीं आता । यदि आप ऐसा दुराग्रह करेंगे कि वह अनुभव में आता है, तो उस दुराग्रह के बल पर कर लीजिए किसी तरह वहाँ निवार्त । परन्तु 'अद्वितीयवसपातै' ' ' ' अर्थात् इस में कुछ सन्देह नहीं कि देहधारियों की देह कमल है, क्योंकि ये दोनों (देह और कमल) ही 'अक्षों' (देह में इन्द्रियों और कमल में कमलज्यों) के समूह से चिह्नित हैं और दोनों ही 'सरोज' (एक जगह रोगयुक्त, दूसरी जगह सरोवर में रहनेवाले) हैं' इत्यादि श्लेषमूलक रूपरस्यल में पुनरुक्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ देह और कमल दोनों में रहनेवाला 'अक्षसपात' से चिह्नित होने और सरोज होने से अन्य किसी धर्म की स्मृति होती नहीं अतः लक्ष्यतावच्छेदक सादर्य का अन्वय विरोधरूप से मानने पर उन्हीं दोनों रूपों से कमल का सादर्य देह में अन्विष्ट होगा, फिर तो 'अद्वितीयवसपातै' और 'सरोजानि' ये दोनों विशेषण पुनरुक्त हो ही जायेंगे । यद्यपि वस्तुतः कमल और देह में रहनेवाला कोई एक धर्म नहीं है क्योंकि उक्त दोनों विशेषणों के दोनों पक्षों में भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं, तथापि श्लेष के बल से उन दोनों अर्थों में अभेद का अभ्यवसाय (आरोप) कर लिया जाया है, अतः 'सरोजत्व' आदि रूप से उसको एक धर्म मान लिया जाता है ।

उपमानपदलक्ष्यतावच्छेदकस्य समानधर्मात्मकस्य सादर्यस्य लक्ष्याद्ये सामान्य-
रूपेण प्रतीतिरिति द्वितीयकल्पं दूषयितुमाह—

नान्यः । सादर्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमात्वापत्तेः । न च सादर्यस्य वा-

च्यतायामेवोपमाव्यपदेशः । 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ तदभावापत्तेः ।

नान्य इति । सामान्यरूपेणोपमानपदलक्ष्यतावच्छेदक लक्ष्याशे प्रतीयते इति पक्षो न युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुं दर्शयति—सादृश्यस्येति । शब्दोपात्तेति । लक्षणयेति भावः । उपमात्वापत्तिपरिहारायाशङ्कते—न चेति । अत्र तु सादृश्यस्य लक्ष्यतेति भावः । उक्तमाशङ्क्य निरस्यति—नल्लिनेति । आनन मुखम्, नलिनप्रतिपक्षम् कमलाऽमित्रम् इत्यर्थः । तदभावेति । उपमात्वाभावेत्यर्थः । प्रतिपक्षपदस्य सादृश्ये न शक्तिरपि तु लक्षणेति तात्पर्यम् । मुखचन्द्र इत्यादिरूपकस्थले चन्द्रपदस्य स्वसदृशे लक्षणाया लक्ष्यतावच्छेदकस्य सादृश्यस्य मुखरूपलक्ष्याशे सादृश्यत्वात्मकसामान्यरूपेण प्रतीतौ चन्द्रसदृश मुखमित्रमेव सादृश्यस्य लक्षणया शब्दोपात्तनया तथापि उपमालङ्कारप्रसक्तौ रूपकौच्छेदापत्तिः । सादृश्यस्याभिधात्रोप्यवे एवोपमा, रूपके तु तस्य लक्षणाबोध्यत्वमिति न तत्रोपमाप्रसक्तिरिति तु युक्तम्, नलिनप्रतिपक्षमाननमित्यादौ सादृश्यस्य प्रतिपक्षपदलक्ष्यत्वेऽपि उपमादर्शनम् । तथा च रूपकस्थले लक्षणेति प्राचा पक्षो नोचितः, किन्तु वाच्ययोरेव तत्राहार्यभेदान्धवबोध इति नवीनाभिमतकल्प एव ग्रह्यानिमिति भावः ।

अथ द्वितीय प्रकार—उपमानवाचक पद के लक्ष्यतावच्छेदक समानधर्मात्मक सादृश्य का सामान्य (सादृश्यत्व) रूप से लक्ष्य (उपमेय) अस्तु ॥ भाव पक्ष का खण्डन करते हैं—नाम्य इत्यादि । 'मुखचन्द्र' इत्यादि रूपक स्थल में चन्द्र पद की स्वसदृशरूप अर्थ में लक्षणा है इस प्राचीनाभिमत पक्ष में यदि आप कहें कि लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य का मुख रूप लक्ष्य अस्तु सामान्य (सादृश्य) रूप से अन्यत्र होता है तो यह भी सगत नहीं । कारण, उस स्थिति में जैसे 'चन्द्रसदृश मुखम्' इस स्थल पर सादृश्य शब्द से उक्त रहता है, उसी तरह 'मुखचन्द्र' इस स्थल पर भी सादृश्य चन्द्र शब्द से लक्षणा के द्वारा उक्त हो गया, अतः प्रथम स्थल के समान द्वितीय स्थल में भी उपमा अलङ्कार ही होने लगेगा । सादृश्य के वाच्य होने पर ही उपमा होती है यह बुराग्रह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि 'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' अर्थात् मुख कमल का प्रतिहन्दी (शत्रु) है' इत्यादि स्थानों पर भी उपमा नहीं हो सकेगी । कारण, यहाँ भी 'प्रतिपक्ष' पद का सादृश्य वाच्य नहीं—अपितु लक्ष्य ही है । यदि सादृश्य के लक्ष्य होने पर भी यहाँ उपमा मान्य होती है, तब सभी रूपक स्थलों में सादृश्य की लक्ष्यता दृष्टा में उपमा ही हो जायगी, फिर तो रूपक का उच्छेद ही हो जायगा, अतः रूपकस्थल में लक्षणा होती ही नहीं, दो वाच्याओं का ही आहार्य अभेदान्वय बोध होता है यह नवीनों की रीति ही ठीक है ।

'नलिनप्रतिपक्षमाननम्' इत्यादौ उपमात्वाभावेच्छेदेऽपि नवीनमतसमर्थक मुक्त्यन्तरमुपदर्शयति—

किं च 'विद्वन्मानसहंस—' इत्यादौ श्लिष्टपरस्परितरूपके श्लेषनिष्पत्तौ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानेन मानसवासित्वरूपे भूषहंसयोः सादृश्ये सिद्धे सदृशलक्षणाभूतस्य भूषे ह्मरूपकस्य सिद्धिः । तस्यां च सत्यां सरोमनोरूपार्थद्वयाभिधानलक्षणस्य श्लेषस्य निष्पत्तिरिति परस्पराश्रयः । न हि रूपकास्फूर्तौ सरोरूपेऽर्थे मानसशब्दस्य तात्पर्यं वेदयितुं किञ्चित्प्रमाणमवतरति । स्फुरिते तु रूपके सदृष्टकसादृश्यान्यथानुपपत्तिरूपेण प्रमाणेनार्थद्वयाभेदबोधफलकस्य तदुभयप्रतिपादनात्मनः श्लेषस्य निष्पत्तिः ।

विद्वदिति । विदुषा मानस इत्यमेव मानसादृत्य सरः इति श्लिष्टरूपकम्, तत्र ह्मः ।

जलवरपक्षिविशेषस्वरूप ! तत्र विहारकारकेति तात्पर्यम्, वैरिणाम् शत्रूणां, वमलाया लक्ष्म्या, सकोच विनाश एवं कमलानां पञ्चनाम्, असंकोच विकाशः, तत्र दीप्तशुते ! सूर्य ! दुर्गाणाम् युद्धकालिकशत्रुक्षयसमर्थस्थानविशेषाणाम्, अमार्गणम् अगवेषणम् अग्रप्रति-
मपराक्रमितया सम्मुखयुद्धप्रियत्वादिति भावः, एवं दुर्गायां पार्वत्याः, मार्गणम् गवेष-
णम्, तत्र नीललोहित शिवरूप ! समितः युद्धस्य, स्वीकार एवं समिधा काष्ठानां स्वीकारः
तत्र वैश्वानर अग्ने !, सन्त्ये तथ्ये, अग्ने प्रणयस्य, निधानमेव, सत्या शिवप्रथमपत्न्या,
अग्नेति रोषस्य, विधानम्, तत्र दक्षप्रजापते !, विजयस्य शत्रुपराजयस्य, प्राग्भाव-
प्रथमसत्ता एव विजयस्य अर्जुनस्य, प्राग्भाव पूर्वोत्पत्ति, तत्र भीम भीमसेनस्वरूप !,
प्रभो वरवीर वीरश्रेष्ठ राजन् ! त्वम् वैरघम् ब्रह्मण सचान्धि, वत्सरशतम् शतं वर्षाणि
यावत् स्वकीय साम्राज्यम्, उच्चैः उच्चतः, म्रिया विद्या इत्यर्थके 'विद्वन्मानसहस',
वैरिणाम् सकोचदीप्तशुते, दुर्गामार्गणनीललोहित, समित्स्वीकारवैश्वानर । तात्पर्यप्रतिनि-
धानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो, साम्राज्य वरवीर, वत्सरशत वैरघमुच्चैः म्रिया ॥'
इत्यादिनिष्पत्तिः । श्लेषेति । श्लेषमूलकम् यत् अभेदारोपणम् तेनेत्यर्थः । तस्याम्
रूपसिद्धौ । तदुपपत्तेरिति । लक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः । अर्थद्वयेति । सरोमनोरूपेत्यादि ।
अभेदबोधेति । अभेदबोध एव फल यस्य तस्येत्यर्थः । उभयार्थप्रतिपादनरूपस्य श्लेषस्या-
भेदबोध एव फलमिति भावः । अयं तात्पर्यार्थः—रूपकस्थले लक्षणाङ्गोकारे विद्वन्मानस-
हसेत्यादिपदेष्वन्योन्याश्रयपत्त्या परम्परितरूपकमिद्विर्न स्यात्, ननु कथं तन्नाम्नोऽन्य-
श्रय इति चेत् । तथा हि—प्राच्यमानुसारेण सहस्रलक्षणांमूलक रूपक सादृश्यप्रतीतिमन्तरा
न भवितुमर्हति, सादृश्यप्रतीतिश्च प्रकृते श्लेषनिष्पत्त्यनन्तरम्, यतः श्लेषनिष्पत्त्युत्तरमेव
श्लेषमूलकभेदाध्यवसानेन भूषणस्यो मानसवासित्वरूपस्य सादृश्यस्य स्फुरणं भवति ।
एवञ्च रूपकस्योत्पत्तौ श्लेषस्यापेक्षा सिद्धा श्लेषस्योत्पत्तौ रूपकापेक्षाऽपि वर्तते, यतः
रूपकसिद्धयनन्तरमेव सरोमनोरुपार्थद्वयाभिधानात्मनः श्लेषस्य स्फुरणं भवति । ननु
श्लेषस्फुरणे रूपकापेक्षायां किं बीजमिति चेदित्यम्—रूपकसिद्धिरसायाम् मानसपदस्य
सरोमनोरुपार्थे सात्पर्यरूपक प्रमाणं नास्ति । रूपकस्फुरणोत्तरम् तु रूपकहारीप्रविष्ट-
सादृश्यस्य श्लेषं विना अनुपपत्तिरिति तदनुपपत्तिरूपेण प्रमाणेन श्लेषस्य स्फुरणम्
जायते, येन सरोमनोरुपार्थद्वयस्याभेदबोधः फलति । इति ।

'नलिनप्रतिपद्माननम्' इत्यादि में उपमा है ही नहीं, ऐसा मान लेने पर भी
नवीन विद्वान् अपने मत के समर्थन में अन्य युक्ति बतलाते हैं—किं च इत्यादि ।
'विद्वन्मानसहस' इत्यादि सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में उद्धृत है । अर्थ है—हि
विद्वानों के हृदयरूप मानसरोवर के हसरूप अर्थात् सर्वदा उसमें विहार करनेवाले,
हे शत्रुओं की लक्ष्मी के सकोच (न्यूनता) रूप कमल विकास के लिये सूर्यरूप, हे
(युद्ध के लिये) किला न हूँ इनेरूप पार्वती के हूँ इने में शिवरूप, हे युद्धरूप समिधा
(लकड़ी) के स्वीकार करने में अग्निरूप, हे सत्य-प्रेमरूप सती (महारदेव की प्रथम
पत्नी) की अग्नीति करने के लिये दक्षरूप, हे शत्रुओं के पराजयरूप अर्जुन से पूर्व
उत्पन्न होने में भीमरूप, वीरश्रेष्ठ राजन् ! आप ब्रह्मानी के सौ वर्षों तक साम्राज्य को
उन्नत करते रहें ! प्रकृत में कहना यह है कि यदि रूपकस्थल में लक्षणा मानी जाय, तब
उक्त (विद्वन्मानस 'इत्यादि) पद्य में अन्योन्याश्रय दोष आने लगेगा, जिससे परम्परित
रूपक की सिद्धि नहीं होगी । अन्योन्याश्रय दोष कैसे होने लगेगा इसका उत्तर
मुनिये—प्राचीनों के अनुसार सारोप लक्षणांमूलक रूपकालंकार सादृश्य की प्रतीति

के बिना हो नहीं सकता और प्रकृत पद में सादर्य की प्रतीति श्लेष की प्रतीति के बाद में हो सकती है, क्योंकि मानस आदि पद में श्लेष की प्रतीति हो जाने के बाद ही श्लेषमूलक अभेदारोप से उपमान इस और उपमेय भूष दोनों में रहनेवाले मानसवासित्वरूप साधारणधर्मात्मक सादर्य की प्रतीति होती है। इस तरह रूपक की उत्पत्ति में श्लेष की अपेक्षा सिद्ध हो गई। इसी तरह श्लेष की उत्पत्ति में रूपक की अपेक्षा भी है, क्योंकि राजा को इस समझनेरूप रूपक की प्रतीति हो जाने के बाद ही सरोवर और मन इन दो अर्थों के प्रतिपादनरूप श्लेष की ओर ध्यान जाता है। यदि कोई कहे कि श्लेष की प्रतीति में रूपक की अपेक्षा होने का कारण क्या है? तो समझिए—जब तक रूपक की प्रतीति नहीं हो जाती—राजा को इस नहीं समझ लिया जाता—तब तक मानस पद कहने से वक्ता का सरोवर में भी तात्पर्य है, इस बात का ज्ञान करानेवाला कोई प्रमाण ही नहीं है। हाँ, रूपक की प्रतीति हो जाने के अनन्तर रूपक के पेट में प्रविष्ट सादर्य की अन्वया अनुपपत्ति रूप प्रमाण से श्लेष की प्रतीति होने लगती है अर्थात् जब राजा को इस समझ लिया जाता है तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उठती है कि राजा और इस में कौन-सा ऐसा साधारण धर्म है—सादर्य है, जिसके आधार पर राजा को इस से अभिन्न समझा गया है? तब विचार करने पर पता चलता है कि और तो कोई साधारण धर्म इन दोनों में नहीं, अतः अवश्यमेव मानस पद में श्लेष है, अर्थात् इस एक पद से वक्ता मन और सरोवर दोनों का बोध कराना चाहता है। जब वक्ता का उक्त तात्पर्य अवगत हो जाता है, तब अनायास ही 'मानसवासित्व'रूप साधारण धर्म का ज्ञान हो जाता है और उस श्लेष (एक पद से दो अर्थों के प्रतिपादन) से उन दोनों (मन तथा सर) अर्थों में अभेद की प्रतीति फलित होती है।

उपसंहारित—

अतो नामार्थयोरभेदान्वयसरणिरेष रूपकस्थले रमणीया ।

उक्तानेकविधानुपपत्तिवारणानुरोधेन रूपकस्थले वाच्यार्थयोरेवाहार्थभेदान्वयबोधः न तु लक्ष्यवाच्ययोरिति नवीनाभिमतमार्ग एव ज्यायान् इति भावः । वाच्यार्थयोरभेदे स्वीकृते विद्वन्मानसहस श्रयादावपि न कानिदनुपपत्तिरिति बोध्यम् ।

अब नवीनमत का उपसंहार करते हैं—अतो इत्यादि। उक्त सभी युक्तियों के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि रूपकस्थल में नवीनों की बात (दो वाच्य अर्थों का ही आहार्य अभेदान्वय बोध होता है) ही उत्तम है—उनका मार्ग ही सुन्दर है, प्राचीनों का नहीं अर्थात् रूपकस्थल में लक्षणा रहती है यह प्राचीनों का कथन उचित नहीं है।

प्राचीनाभिमतमन्यदपि दूषयति—

‘सदृशलक्षणाया’ फल रूपकै तादृष्यप्रत्यय इत्यपि न हृदयङ्गमम् । तस्स-दृश इति शब्दात्सादर्यप्रत्यये सत्यपि तादृष्यप्रत्ययापत्तेः’ इत्याहुः ।

रूपकस्थले उपमानवाचकमदस्य स्वसदृशे गच्छलक्षणा मग्राधीयते, तस्य फलम् उपमेये उपमानतादृष्यप्रतीतिरिति यत्तुं प्राचीनैस्तदपि न हृदयपादकम्, ययो सादर्य प्रतीयते तयोस्तादृष्य पद्यान् प्रतीयते इति प्राचीनोक्तिनिष्कर्षे निर्गलिते चन्द्रमदृश इत्यादि-पदान् सादर्यप्रतीतिस्थलेऽपि चन्द्रतादृष्यप्रतीतिप्रमणात् । अतो नितान्तमयुक्त प्राचां पक्ष इति भावः ।

प्राचीनों के द्वारा प्रतिपादित एक अन्य युक्ति का भी नवीन विद्वान् खण्डन करते

है—सदृश इत्यादि । प्राचीनों ने जो यह कहा कि रूपकस्थल में विषयिवाचक पद की स्वसदृश में लक्षणा होती है और उसका फल होता है विषय में विषयी के ताद्रूप्य की प्रतीति, वह भी हृदयग्राही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो, तब 'तत्सदृश' (उसके सदृश) इस शब्द से सादृश्य का बोध होने पर भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने लगेगी । अतः प्राचीनों का मत असंगत ही है ।

नवीनमतखण्डनोपक्रमं कुरुते—

अत्रेदं विचार्यते—यत्तावदुच्यते नामार्थयोरभेदान्वयबोधेनैवोपपत्तौ रूपके नास्ति लक्षणेति, तत्र चमत्कारिसाधारणधर्मानुपस्थितिदशायां उपमालङ्कार-स्येय रूपकालङ्कारस्यापि नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारो वेति सकलहृदयसिद्धम् । कथमन्यथा 'भारतं नाकमण्डलम्', 'नगरं विजुमण्डलम्' इत्यादिवाक्यप्रवणानन्तत्समुत्पत्त्या रूपकप्रतिपत्तेः सुपर्वालङ्कृत-सकलकलादिशब्दध्वजोत्तरमेव समुन्मेषः सर्वेषाम् । इत्थमेव च मुखं चन्द्र इत्यादिप्रसिद्धोवाहरणोऽपि, इयांस्तु विशेषः—यदेकत्र साधारणो धर्मः प्रसिद्धतया नियमतः स्त्रबोधक-श्रुतिं नापेक्षते । इतरत्र त्वप्रसिद्धतया तथा । एवं स्थिते साधारणधर्मवत्त्वरूपं सादृश्यं यदि रूपकमध्यं न प्रविशेत्तदा कथमिव धर्मविशेषानुपस्थितिदशायां रूपकं न पर्यवस्येत् । चमत्कारं वा न जनयेत् । उपमानोपमेययोराहार्याभेद-बुद्धेरनन्यापेक्षपर्यवसानायाः साम्राज्यात् ।

नारित लक्षणेति । अत्र नागेरा—'मास्तु लक्षणा । नामार्थयोर्भावेदान्वय एवास्तु, न च बाधज्ञानं प्रतिबन्धकम् । सादृश्यज्ञानरूपवोपस्योत्तेजकत्वात् । एतज्ज्ञानं च प्रसिद्ध-सादृश्यकस्थले साधारणधर्मानुपादाने एकराबन्धिज्ञानादपरसंबन्धिस्मरणन्यायेन । साधारणधर्मस्मृतौ दोषविशेषसहकारेण शब्दादभेदप्रत्ययः । शब्दे पीतत्वाभाव-निश्चये कान्चकाम-लादिदोषेण तत्पीतत्वप्रत्यक्षवत् । रूपके आहार्यबुद्धिरिति प्राचीनव्याख्याद्वारे बाधबुद्धिकालि-कत्वमात्रे आहार्यपदं लाक्षणिकम् । श्वराब्दादिसमन्विताहारे तु तेन भेदगर्भसादृश्य-स्यैवोपस्थापनाभावेदप्रतीतिरिति मय प्रतिभाति ।' इति । शास्त्रार्थकुशलो नागेरास्तादृशीं शयिरा शास्त्रार्थपदं प्रादुरभाष्यत् यत्र पण्डितराजस्य नवीनमतखण्डनयुक्तिः फवली-कृतैव प्रतिभातीत्यत्र न मनागपि सन्देहः, परन्तु तस्मात्सादृश्यज्ञानेनैव, यतः सादृश्य-ज्ञानस्य दोषता न कापि प्रसिद्धा । किञ्च अत्रेदोषे सादृश्यज्ञानस्योत्तेजकत्वमपि अस-मञ्जमभिप्रतीयते, भेदगर्भत्वे सादृश्यस्याभेदविरोधित्वात् तदगर्भत्वे पुनस्तेनैव कृतार्थ-तायामभेदबोधस्य सुधात्वापत्तेः । सदृशलक्षणाकृत्पनापेक्षया सादृश्यज्ञानस्योत्तेजकत्व-कृपने लाघवमपि नास्त्येवेति मदीयो दृष्टिकोणः । नास्ति लक्षणेत्यन्तेन नवीनमतमनूय तत्र दोषं दर्शयितुमाह—तत्रेत्यादिना । चमत्कारी च साधारणधर्मस्तदनुपस्थित्यर्थः । नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारो वेति । यतो न चमत्कारस्ततो न निष्पत्तिः, अलङ्कारस्य चम-त्कारप्राणत्वादित्यर्थः । भारतमिति । भारतम् महामारनाभिधो अन्धः, नाकमण्डलम् स्वर्गमण्डलरूप इत्यर्थः । नगरमिति । नगरं वर्णनीयं कञ्चन स्थानविशेषः, विजुमण्डलम् चन्द्रमण्डलरूप इत्यर्थः । अनुत्पत्त्या रूपकप्रतिपत्तेरिति । अनुदोष्यमानस्य रूपकज्ञान-स्येत्यर्थः । सुपर्वालङ्कृत इति । 'सुपर्वालङ्कृतं भारतं नाकमण्डलम् ।' इति पूर्णवाक्यप्रवणो-त्तरमिति भावः । 'स्यान् सुपर्वा देवगभा' इति कोशेन देवसमाराधोभितं स्वर्गमण्डलम्, आदिर्ष्व-विराट्-वैत्यदिरीत्या कृतैः मागविशेषैः शोभितम् भारतमिति च तदर्थः ।

सकलकलतेति 'सकलकल नगर विधुमण्डलम्' इति पूर्णवाक्यम् । सकला कला चन्द्रिधा यस्मिन् इति विधुपक्षे, कलकलै सहितमिति च नगरपक्षेऽर्थः । समुन्मेष इति । अस्य रूपकप्रतिपत्तेरिति प्राक्नेन संबन्धः । सर्वेषाम् सहृदयविदुषाम् । मुखं चन्द्र इत्यादि प्रसिद्धरूपके न तथेति आन्तिनिरासायाह—इत्येवेति । ननु कथमयमित्यकारः प्रसिद्धोदाहरणे साधारणधर्मबोधकप्रदर्शितेऽपि रूपकप्रतिपत्तेर्जायमानत्वादित्यत आह—इयानिति । एकत्र मुखं चन्द्र इत्यादि प्रसिद्धरूपबोदाहरणे । इतरत्र 'भारतं नाकमण्डलम्' इत्याद्यप्रसिद्धतदुदाहरणे । तथेति । स्वबोधकश्रुतिमपेक्षत इत्यर्थः । कथमिवेति । केन कारणेनेति तात्पर्यम् । कथमिवेत्यस्य कथमपीति नागेशदीवा तु वाक्यार्थविदुर्भव । अनन्यायेचेति । अन्यत् साधारणधर्मादिक नापेक्षत इत्यनन्यापेक्षम्, तादृशं पर्यवमानम् चरमं स्वरूप यस्यास्तस्या इत्यर्थः । सदृशलक्षणायास्तु साधारणधर्मापेक्षं पर्यवमानमिति भावः । अत्रापि 'रूपकस्य तु' इति नागेशाविवरणममममममेव, आहार्याभेदबोधकस्यस्यापि रूपकप्रत्ययबोधोपस्थापिततया पूर्वसंबन्धविच्छेदकस्य 'तु'पदस्यासंगतिः । अयमत्र पिण्डार्थः—'नगर विधुमण्डलम्', 'भारतं नाकमण्डलम्' इत्येतावदुक्त्यापि आहार्याभेदबोधो नवीनमतप्रदर्शितरीत्या सम्भवतीति तावद् वाक्यश्रवणानन्तरम् तत्र रूपकालंकारबुद्ध्या स्फुरणीयम्, स्फुर्यते तु न, तावता सिद्धयति, यत्—साधारणधर्मानुपस्थितिदशायाम् उपमालंकार इव रूपकालंकारोऽपि न भवति, चमत्कारकारणस्य साधारणधर्मस्याप्रतीतिः अत एव सकलकलमुपमालंकारेति शब्दश्रवणोत्तरं पूर्वोक्तवाक्ययो रूपकालंकारबुद्धिः स्फुरति । न चाप्रसिद्धोदाहरण एवैषा स्थितिः मुखं चन्द्र इत्यादिप्रसिद्धोदाहरणे तु साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामपि रूपकबुद्धिः स्फुरत्येवेति अमितव्यम्, तत्रापि साधारणधर्मापस्थितिदशायामेव रूपकोन्मेषात् । तत्र साधारणधर्मस्य सुन्दरत्वादेः प्रसिद्धतया तद्वोधकादश्रवणस्य नापेक्षा, अप्रसिद्धसाधारणधर्मस्थले तु तस्यापेक्षेत्यन्यदेतत् । एवञ्च रूपकस्यैव साधारणधर्मात्मकस्य सादृश्यस्य गर्भीकरणाव्यपमानवान्वक्तस्य स्वमदशो लक्षणेति प्राचा पक्षः निम्नप्रतिपक्ष एवेति ।

अथ ग्रन्थकार नवीनों के मत का स्पष्टन आरम्भ करते हैं—अत्रेव विचार्यते इत्यादि । उक्त नवीन विद्वानों के मत के विषय में यह विचार किया जाता है—उन्होंने जो सर्वप्रथम यह कहा कि 'दो नामाधों (दो पदों के वाक्यार्थों) के आहार्य अभेदान्बध बोध से ही निर्वाह हो जाता है, अतः रूपक के स्थल में लक्षणा नहीं होती' यह दावा तिकों की दृष्टि से भले ही ठीक जैने, पर सहृदय साहित्यिकों की दृष्टि से समुचित नहीं प्रतीत होता । कारण, अलंकारों की कल्पना चमत्कार के आधार पर की गई है । जब तक चमत्कार का अनुभव न हो तब तक कोई अलंकार नहीं माना जा सकता, अतएव 'गौरिव गवयः अर्थात् गाय के सदृश गवयः' इस वाक्य में उपमा नहीं मानी जाती और 'चन्द्र इव मुखम् अर्थात् चाँद सा मुख' इसमें चन्द्र मानी जाता है । इस स्थिति में यह बात सभी सहृदयों के हृदय में आने योग्य होगी कि जिस तरह चमत्कारजनक किसी साधारण (उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाले आह्लादकता आदि) धर्म की अनुपस्थिति अवस्था में उपमा अलंकार नहीं माना जाता, उसी तरह चमत्कारक साधारण धर्म के अभाव में रूपक अलंकार भी नहीं बन सकता, क्योंकि चमत्कार का कारण उस साधारण धर्म का ज्ञान ही होता है और जब वही नहीं रहेगा, तब चमत्कारप्राण अलंकार हो तो कैसे ? यदि ऐसी बात न होती, तो जो 'भारतं नाकमण्डलम् अर्थात् भारत (महाभारत ग्रन्थ अथवा भारतवर्ष) स्वर्गप्रदेश है' और 'नगर विधुमण्डलम् अर्थात् नगर चन्द्र विम्ब है' केवल इन वाक्यांशों को सुन लेने

के बाद मद्दयों के हृदय में रूपक अलंकार का अनुभव नहीं होता और उन्हीं वाक्यों के साथ क्रमशः 'सुषर्वालङ्कृतं अर्थात् स्वर्गपञ्च में वैकुण्ठमा-सुसौमित्र और ग्रन्थपञ्च में सुन्दर पर्व-समा, वन, विराट् आदि से और भारतवर्षपञ्च में सुन्दर पर्वोत्सवाहारों से सुसौमित्र' और 'सकलकल अर्थात् चन्द्रपञ्च में सब कलाओं चन्द्रिकाओं से, नगरपञ्च में कलकल शब्दों से युक्त' इन दोनों विशेषणों को सुन लेने पर सब के मन में रूपक की प्रतीति उदित हो जाती है, वह क्यों ? दोनों अवस्थाओं में अन्तर तो केवल यही होता है कि पहले साधारण धर्म का ज्ञान नहीं होता और पीछे उक्त दोनों विशेषणों के सुन लेने पर वह हो जाता है। यह स्थिति रूपक के अप्रसिद्ध उदाहरणों में ही होती है, यह बात नहीं, 'सुखचन्द्र' इत्यादि प्रसिद्ध रूपकोदाहरणों में भी साधारण धर्मज्ञान ही के पर ही रूपक की वृद्धि आती है। हाँ, अप्रसिद्ध और प्रसिद्ध उदाहरणों में इतना अन्तर अवश्य है कि अप्रसिद्ध स्थल में साधारण धर्म का ज्ञान होने के लिये नियमतः साधारण धर्म बोधक पद के अर्थ की अपेक्षा होती है और प्रसिद्ध स्थल में उसके लिये नियमतः बोधक-पद-अर्थ की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् 'सुख और चन्द्र' का साधारण धर्म आह्लादकत्व आदि इतना प्रसिद्ध है कि बोधकपद के अभाव में भी 'सुखचन्द्र' कहने पर आप से आप ज्ञात हो जाता है, परन्तु 'नगरं विदुमण्डलम्' इत्यादि अप्रसिद्ध स्थल में वह साधारण धर्म (सकलकलाय आदि) तब तक ज्ञात नहीं होता, जब तक उसके बोधक पदों का अर्थ न हो जाय। सारांश यह कि साधारण धर्म का ज्ञान (चाहे वह प्रसिद्धि के कारण आप से आप हो अथवा बोधक पद के द्वारा हो) हो जाने पर ही रूपकालंकार का भी बोध होता है, यह निर्विवाद सत्य है। इस प्रसंग में यह भी सोचने योग्य है कि यदि रूपक के मध्य में सादृश्य (जिसका निष्कृष्ट-स्वरूप साधारण धर्म होता है) का प्रवेश नहीं हुआ रहता, तब 'भारतम्', 'नगरम्' 'इत्यादि उक्त स्थानों पर साधारण धर्म की अनुपस्थितिदशा में भी रूपक क्यों नहीं पर्यवसित होता ? तथा चमत्कार की ही उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? तदीय मत के अनुसार तो उन दोनों बातों को होना ही चाहिए, क्योंकि उनके हिसाब से रूपक का निषामक जो आहार्य अर्थ वृद्धि है, वह उस दशा में भी हो ही सकती है। कारण, आहार्याभेद-वृद्धि के होने में सादृश्य आदि किसी अन्य बात की अपेक्षा नहीं है—वह अनन्यापेक्षपर्यवसान है।

साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामाहार्याभेदबुद्धेरप्यभाव इत्येतदुपपत्तिश्च युक्तिमार्शस्य निरूप्यते—

न चाहार्यापदार्थद्वयाभेदबुद्धौ तच्चमत्कारे वा साधारणधर्मविशेषज्ञान प्रयोजकमिति शक्यं यत्तुम् ।

'यद्यनुष्णो भवेद्बहिर्विशरीलं भवेज्जलम् ।

अन्ये हृदयतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक् ॥'

इत्यादौ साधारणधर्मस्याप्रत्ययेऽपि बह्व्यनुष्णत्वादीनामभेदप्रत्ययोपगतेः । न चोपमानोपमेयस्यैव एवायं नवीनो विशेष इति वाच्यम् । ईदृशविशेषकल्पने मानाभावात् । साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामपि 'सुख यदि चन्द्रः स्यात् तदा भूम्यवस्थितं न स्यात्' इत्यादौ वादशप्रतीत्युपगमाच्च ।

विशेषज्ञानमिति । तथा च तदभावादभेदबुद्धिरपि न स्यादिति भावः । यद्यनुष्ण इति । बहिर्विदं अनुष्णो भवेत्, जलम् यदि सत्यहीनं स्यात्, तदा हृदयतः स्थिर-मत्यवादित्वप्रतिज्ञा, राम, असत्यवागपि मिथ्यावक्ताऽपि स्यात्—अर्थात्—यथाऽनल-सलिलयोरनुष्णत्वाशीतत्वे असंभविनी, तथा हृदयतः रामस्यासत्यवादिन्यसंभवी-

त्यर्थः । साधारणधर्मोति । बह्वनुष्णत्वाद्यगत्यवाक्ययोरित्यादि । बह्वनुष्णोति । बह्वनुष्णत्वादिनामसम्यक्वाक्येन सहभेदप्रत्ययोपगतेरिति भावः । अत्र 'बह्वनुष्णत्वादिनामभेदप्रतीतिरित्यर्थः' इति नागेशटीका तु 'बह्वनुष्णत्वादिनामभेदप्रत्ययोपगते' इति मूलशस्त्रास्त्रप्रतिच्छलैव । नागेशानुयायिनी सरलापि तथैव । मदुक्तीत्या प्रत्यलापनसमवेतादृशप्रतिकूलव्याख्याकरणस्य प्रयोजनमपि नास्त्येव । न चोपमेति । बह्वनुष्णत्वादमत्यवाक्ययोस्तु उपमानोपमेयत्वविवक्षितम् । अत एव तत्र रूपकादिकं न । अभेदबुद्धिस्तु तत्रास्तीति भावः । नन्वन्यथानुपपत्तिरेव मानमिति चेत् तत्राह—साधारणेति । मुखं यदीति । मुखं यदि चन्द्राभिन्नं भवेत्, तदा धरास्थितं न भवेत्, चन्द्रस्य धरागतत्वात्मादित्यर्थः । तादृशेति । अत्र नवीनमते चन्द्रमुखयोः उपमानोपमेयभावविषयाधीनरूपकमत्वेनाभेदप्रतीत्युपगमादित्यर्थः । प्राचीनमतेऽभेदबुद्धावपि सादृश्याप्रतीतिर्न रूपकमिति भावः । आहार्याभेदबोधे साधारणधर्मज्ञानस्य प्रयोजकतया तदभावे तादृशभेदबोधस्याप्यभावेन साधारणधर्मानुपस्थितिदशाया रूपकानुन्मेषस्य रूपकयत्नीयमदृशालक्षणापक्षसाधकत्वं न युक्तमिति कथनं नोचितम्—यद्यनुष्ण इत्यादिपक्षे साधारणधर्मानुपस्थितावपि अभेदबुद्धेर्द्वयत्वात् तत्र पक्ष उपमानोपमेयभावो नास्ति, उपमानोपमेयभावरथत्वे एव च साधारणधर्मस्याभेदबुद्धिप्रयोजकता कल्प्यत इत्यपि न सम्यक् 'मुखं यदि चन्द्र इत्यात्' इत्यादावुपमानोपमेयभावस्थलेऽपि साधारणधर्मानुपस्थितौ अभेदप्रतीतिर्नास्तीति मानत्वात् । तस्मादभेदबुद्धौ साधारणधर्मज्ञानस्य प्रयोजकतया दुर्बलतया साधारणधर्मानुपस्थितिदशायामप्यभेदबुद्धेर्निर्वाधतया तादृशदशायामापततो रूपकानुन्मेषस्य रूपकस्थले मदृशालक्षणापक्षकतया प्राचा पक्ष एव सर्वाचीनो न नवीनानामिति भावः ।

साधारण धर्म की अनुपस्थिति में आहार्य अभेद बुद्धि भी नहीं होगी इस बात को सिद्ध करने के लिये शका करके स्पष्टन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहें कि दो पदार्थों के आहार्य अभेद ज्ञान का अथवा उसके समकार का प्रयोजक है साधारण धर्म का ज्ञान, अतः साधारण धर्म का ज्ञान नहीं रहने पर वे दोनों बातें नहीं होती, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि—'यद्यनुष्णो' अर्थात् यदि आग अनुष्ण हो जाय और जल अशीतल हो जाय, तब यह भी संभावना की जा सकती है कि दृढवत (सत्य-प्रतिष्ठ) राम मिथ्याभाषी भी हो जायें' इत्यादि स्थानों में वहि की अनुष्णता आदि तथा असत्यवादिता इन दोनों पदार्थों में किसी प्रकार के साधारण धर्म का ज्ञान नहीं रहने पर भी अभेद-प्रतीति मानी गई है । यदि आप कहेंगे कि उपमानोपमेय भाव जहाँ रहता है, वहीं इस तरह के जघीन विशेष (साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेद बोध भी नहीं होता) की कल्पना करेंगे अर्थात् उक्त पक्ष में वहि की अनुष्णता आदि तथा असत्य वाक्य में उपमानोपमेय भाव की विवक्षा नहीं है, अतएव रूपक आदि भी यहाँ नहीं माना जाता, और साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेदबोध नहीं होने की बात हम उपमानोपमेयभावस्थल में ही कहते हैं, अतः वह बात यहाँ लागू नहीं होगी—साधारण धर्म की अनुपस्थिति में भी अभेदबोध होगा, तो यह कथन भी आपका समस्त नहीं होगा क्योंकि एक तो 'उपमानोपमेयभावरथल' में ही उक्त कल्पना की स्वीकृति में कोई प्रमाण नहीं है । दूसरे मुख यदि' अर्थात् मुख यदि चन्द्र होता तो भूमि पर स्थित नहीं होता इत्यादि में उपमानोपमेय भाव के रहने पर भी साधारण धर्म की अनुपस्थिति में अभेदबोध माना जाता है ।

सदृशलक्षणापक्षेऽप्यगतिमाशङ्क्य समाधत्त—

ननु रूपकप्रतीतिरुपमानाभेदविषयत्वविरहे 'सिंहेन सदृशो नाय किन्तु सिंहे

नराधिपः' इत्यादौ निषेधविधेययोरसद्विवरिति चेत्, न । अनुपदमेव प्राचीन-
मतद्वयेऽपि रूपके साद्रूप्यप्रतिपत्तेः स्वीकारस्य प्रतिपादनात् ।

रूपकप्रतीतिरिति । रूपकालङ्कारयुद्धौ उपमानस्याभेदो विन्यो न भवतीति स्वीकारे
इत्यर्थः । रूपकस्थले वाच्ययोराहार्यभेदबोधो न भवति किन्तु सदृशलक्षणा भवतीति
प्राचीनपञ्चाध्याये इति यावत् । मिहेन सदृशः 'सिंहेन सदृशः' इति । अथ वर्णनीयः कश्चन नराधिपः
राजा, सिंहेन सदृशः सिंहतुल्यो न, अपितु सिंह एवेत्यर्थः । निषेधेति । सिंहमदृशा-
भेदेत्यर्थः । विधेयेति । सिंहभेदेत्यर्थः । मतद्वय इति । 'अन्ये तु, अपरे तु' इति प्रती-
वान्यानुपवर्शितयोर्द्वयोर्मतनोरित्यर्थः । रूपकस्थले वाच्ययोरुपमानोपमेययोराहार्यभेदबोधो
न भवति अपि तु उपमानवाचकस्य सदृशलक्षणयोपमानसदृशाभेदस्यैव बोधो भवति
चेत् ? तर्हि सिंहेन इति वाच्यवाक्ये सिंहसदृशाभेदस्य निषेधः सिंहभेदस्य विधानश्च
यत्कियते तत्र सगन्धेत् भवतीत्या 'सिंहो नराधिपः' इत्योऽपि सिंहादस्य सदृशालक्षणि-
कतया सिंहसदृशाभेदस्यैव विधेयताऽवगमात् तद्विधेयताऽवगमे च सिंहेन सदृशो न
इत्यंशेन तस्यैव निषेधानुपपत्तेः इति राका नोचिता, सदृशलक्षणोपपादकप्राचीनमतद्वयेऽपि
रूपकस्थले उपमानोपमेययोरभेदबोधस्योपपादितत्वात् । एकस्मिन् मते चन्द्रादिपदेभ्यो
लक्षणया चन्द्रसदृशात्वेनापि रूपेणोपस्थिताना मुक्तादीनां चन्द्रत्वेनैव रूपेण मुक्तादिपदो-
पस्थापितं सहाभेदान्वयबोधः समर्थितः । तद्युक्तिस्तत्रैव दृष्टव्या । अपरत्र मते भेदा-
करम्बितं सादृश्यं रूपकजीवातुभूतमङ्गोक्तस्य सादृश्यबोधोपपादितः । इति ।

अथ 'रूपक-स्थलं मे विषयिवाचक पदं की रचसदृशं मे लक्षणा होती है' इस प्राचीन-
पक्ष में असंगति की आत्ता करके खण्डन करते हैं—ननु इत्यादि । 'सिंहेन सदृशः'.....
इत्यादि अर्थात् यह (कोई वर्णनीय) राजा सिंह के समान नहीं, परन्तु सिंह है'
इत्यादि स्थानों पर सिंहसदृशाभेद का निषेध और सिंहभेद का विधान किया गया
है । अब सोचिये कि यदि रूपक की प्रतीति में उपमान का अभेदविषय नहीं होता
रहता अर्थात् उपमेय में उपमान के अभेदज्ञान के बिना भी रूपक सिद्ध हो जाता,
तो उक्त निषेध और विधान दोनों ही असंगत हो जाते, क्योंकि प्राचीनों के मतानुसार
'सिंहो नराधिपः' इस रूपक में भी सिंह पद सदृशलक्षणिक ही माना जायगा और
तदनुसार उसका अर्थ होगा 'सिंहसदृश से अलग राजा' । इस स्थिति में सिंहसदृशाभेद
की विधेयता प्रतीत होगी, और जब उत्तर अंश से उसकी विधेयता विदित होगी, तब
पूर्व (सिंहेन सदृशो मायम्) अंश से उसी का निषेध बन नहीं सकता । यह है दांढा ।
उत्तर है कि—जबो थोडा पहले प्राचीनों के भी अन्तिम ('अन्ये तु' 'अपरे तु' इन दो
प्रतीकों के द्वारा वर्णित) दो मतों में इस बात का प्रतिपादन किया जा चुका है कि
रूपक में सदृशलक्षणा के बाव भी ताद्रूप्य (अभेद) का बोध होता है (देखिये—उक्त
दोनों मतों की व्याख्या) ।

प्राचीनमते पुनरपरामसगतिमाशङ्क्य निरस्त्यति—

अथ विधेयकोटी प्राचां मते सादृश्यापि प्रविष्टतया तन्निषेधानुपपत्तिस्तथापि
स्थितैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यरूपाया उपमाया एव निषेध्यत्वान् तिरोभूत-
भेदसादृश्यलक्षणस्य रूपकस्य विधेयत्वाच्च नानुपपत्तिः ।

विधेयकोटीविति । 'सिंहो नराधिपः' इत्यंश इत्यर्थः । प्रविष्टयेति । उपमानवाचकस्य
सदृशलक्षणिकत्वादिति भावः । तथापीति । ताद्रूप्यप्रतिपत्त्यज्ञोत्प्रेरकस्येत्यर्थः । उपमाया
एवेति । अत्रैवपदेन सादृश्यस्य विधिनियमबोधादिति । तिरोभूतभेदेति । तिरोभूतो भेदो

यस्मिन् सादृश्ये इति बहुव्रीहि । भेदाघटितेति तदर्थ । पूर्वोक्ते प्राचीनमतद्वये उपमा-
नोपमेययोस्तादृश्यप्रतीतिरूपपादनेऽपि सदृशलक्षणाबललब्धस्योपमानसादृश्यस्यापि प्रतीति-
रूपमेवे स्यादेव तथा च 'सिंहेन सदृशो ' इत्यादौ सादृश्यनिषेधासंगतिर्भवेदेवेति शका,
नात्र सादृश्य निषेध्य विधेय वा, अपि तु भेदाघटितसादृश्यात्मिकोपमा निषेध्या भेदाघटित
सादृश्यात्मक रूपकञ्च विधेयम् इति तात्पर्यवर्णनम् समाधानमिति भावः ।

प्राचीनों के मत में एक अन्य तरह की असंगति की आशंका करके खण्डन करते
हैं—अथ इत्यादि । यदि भाष कहे कि प्राचीनों के उक्त दोनों मतों में उपमान तथा
उपमेय के अभेद का प्रतिपादन भले ही किया गया हो, तथापि सदृश लक्षणा के बल
से उपमान के सादृश्य की भी प्रतीति उपमेय में होगी ही और जब उसकी प्रतीति
होगी, तब फिर 'सिंहेन सदृशो नायय' इस भाग के द्वारा उसी का निषेध तो अनुपपन्न
होता ही रहेगा, तो यह कहना उचित नहीं, कारण, सादृश्य जब दो प्रकार के माने
जाते हैं—एक भेदाघटित—जो उपमा का मूल होता है और दूसरा भेदाघटित अर्थात्
जिसमें भेद अशतिरोहित-छिपा हुआ हो—जो रूपक का मूल होता है, तब सादृश्य का
ही निषेध और उसी का विधान दोनों एक साथ बन सकते हैं । सारांश यह कि भेद
घटित-सादृश्यमूलक उपमा का निषेध और भेदरहित-सादृश्य मूलक रूपक का विधान ही
यहाँ विवक्षित है ।

प्राचीनमते दर्शितामनुपपत्तिं परिहर्तुमाह—

यदप्युक्त रूपके लक्षणास्वीकारे 'राजनारायणम्' इत्यत्र 'पादाम्बुजम्' इत्यत्र
उपमारूपकयोर्बाधकतया रूपकोपमयोर्निर्णायकतया च लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गन-
मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितत्वयोरनुपपत्तिः प्राचीनैरुक्ता विकल्पा स्यादित्यादि, तदपि न ।
रूपके उपमानतावच्छेदकरूपेण तत्सदृशप्रत्ययस्योपपादितत्वेन 'राजनाराय-
णम्' इत्यादौ विशेषणसमासायत्तस्य रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदार्थस्य
नारायणसदृशस्यापि नारायणत्वेनैव प्रतीतेर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनकर्मताया अनु-
पपत्तेरभावात् । उपमाया उपमितिसमासायत्तायाः स्वीकारे तु प्रधानीभूतपूर्व-
पदार्थस्य राज्ञो राजत्वेनैव प्रत्ययात्तादृशकर्मताया अनुपपत्तेः । 'पादाम्बुजम्'
इत्यादावपि रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदस्यास्याम्बुजसदृशस्याम्बुज-
त्वेनैव प्रतीतेर्मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया अनुपपत्तेः । उपमितिसमासा-
यत्तोपमायां तु प्रधानस्य पादस्य पादत्वेनैव प्रतीतस्य नास्ति तस्या अनुपपत्ति-
रिति न कोऽपि दोषः ।

उपमारूपकयोर्बाधकतया इत्यादि । राजनारायणमित्युपमाया बाधकतया रूपकस्य
निर्णायकतया च लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्यानुपपत्तिः, पादाम्बुजमित्यत्र रूपकस्य बाधकतया
उपमाया निर्णायकतया च मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितत्वस्यानुपपत्तिरित्यर्थः । उपमानतावच्छेद-
केति । चन्द्रतादिनेत्यर्थः । विशेषणसमासेति । मयूरव्यसक इति समासेत्यर्थः । उपमिति
समासेति । 'उपमित व्याघ्रादिभि -' इति समासेत्यर्थः । तादृशेति । लक्ष्मीकर्तृकालिङ्ग-
नेत्यर्थः । तस्या इति । मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरताया इत्यर्थः । अन्यत् निगदव्याख्यात-
मिति नेह प्रतन्यते ।

अथ प्राचीनों के मत में जो दोष नवीनों ने उगाया था, उसका उद्धार करते हैं—
यदप्युक्तम् इत्यादि । नवीनों ने सर्वप्रथम यह दोष उगाया है कि रूपक में लक्षणा
मानने पर प्राचीनों का 'राजनारायणम्' में 'लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गन' को उपमा का बाधक

और रूपक का निर्णायक मानना, तथा 'पादाम्बुजम्' में 'मन्हुमभीरशिञ्जितमनोहरत्वं' को रूपक का वाचक और उपमा का साधक मानना, विरुद्ध हो जायगा। परन्तु वस्तुतः वह प्राचीनों के मत में भी विरुद्ध होता नहीं। कारण, वह विरुद्ध तब होता यदि 'राजनारायणम्' में रूपक मानने पर भी 'लक्ष्मीकर्तृक आलिङ्गन' अनुपपन्न होता, इसी तरह 'पादाम्बुजम्' में उपमा मानने पर भी 'मन्हुमभीरशिञ्जितमनोहरत्वं' उपपन्न नहीं हो सकता परन्तु वह होता नहीं, क्योंकि प्राचीनों के द्वितीय मत में यह कहा जा चुका है कि रूपकरपठ में चन्द्र आदि उपमानवाचक पद से लक्षणा के द्वारा तात्पर्य अर्थ की उपस्थिति होने पर भी अन्वयबोध उस उपस्थित अर्थ का उपमानतावच्छेदक-चन्द्रत्व आदि-रूप से ही होता है। अतः 'राजनारायणम्' में 'मपूरम्यंसकादपश्च' इति पाणिनि सूत्र से विशेषणसमास मान कर रूपक स्वीकार करने पर प्रधान माने जाने वाले नारायणसरसरूप उत्तरपदार्थ की भी प्रतीति अन्वयबोध में नारायणरूप से ही होगी और जब नारायण से अभिन्न राजा को समझ लिया जायगा, तब उसका लक्ष्मी के द्वारा किये जानेवाले आलिङ्गन का कर्म होना अनुपपन्न नहीं होगा-वर्चित ही होगा। और 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इम पाणिनि सूत्र से उपमित समास मानकर उपमा मानने पर तो प्रधान माने जानेवाले राजारूप पूर्वपदार्थ का राजारूप में ही बोध होगा-नारायणसरसरूप उत्तरपदार्थ विशेषणरूप में यथावत् पड़ा रहेगा और जब राजा राजा मात्र समझा जायगा-नारायण से अभिन्न नहीं, तब उक्त आलिङ्गन अनुपपन्न होगा। इसी तरह 'पादाम्बुजम्' में रूपक मानने पर प्रधान माने जानेवाले 'अम्बुजसरसरूप' उत्तरपदार्थ की प्रतीति अन्वयबोध में अम्बुजारूप से ही होगी और जब अम्बुज प्रधान तथा चरण अभेदेन उसका विशेषण समझ लिया जायगा तब उक्त 'मनोहरत्वं' उपपन्न-उचित नहीं होगा। उपमित समास मानकर उपमा मानने पर तो प्रधान होनेवाले 'चरण' रूप पूर्वपदार्थ की प्रतीति अन्वयबोध में चरणरूप से ही होगी-अम्बुज सरसरूप उत्तरपदार्थ अभेदेन विशेषण बन कर गौण रूप में पड़ा रहेगा, और जब पाद की प्रधानता समझी जायगी, तब उक्त मनोहरत्वं उपपन्न होगा। सारांश यह है कि प्राचीन मत के अनुसार भी उक्त स्थलों पर किसी तरह की गड़बड़ी नहीं होती, अतः उनका मत ठीक है।

'पादाम्बुजम्' इत्यत्रोक्तौरेकसम्भवमात्रादय समावृत्ते—

न चोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकत्वमैव प्रतीतिरिति न युक्तम्। 'यक्त्रे चन्द्रमसि' इति प्रागुक्तरूपक इवोपमानताद्रूप्यवदभेद-बुद्ध्यातत्ताद्रूप्यस्यापि प्रतिपत्तुं शक्यत्वाल्लक्षणायास्तुल्यत्वादिति वाच्यम्। उपमितिसमासे भेदघटितसादृश्यस्य लक्ष्यकोटिप्रविष्टतया वैलक्षण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

उपमानताद्रूप्येति । उपमानसदृशयोरैकपदोपात्तत्वेनोपमानताद्रूप्यवत्सादृश्याभेदबुद्ध्या उपमेये उपमानताद्रूप्यस्योपमायामपि ज्ञातुं शक्यत्वादित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—लक्ष्येति । रूपक इवोपमितसमासेऽपि सादृश्यवाचकैवचन्द्राभावेन लक्षणायां सत्त्वेन तस्यास्तुल्यत्वादिति भावः । वक्ष्यमाणत्वादिति अयोपमितसमासे 'इत्यादिनाऽस्मिन्नेव प्रकरणे' इति भावः । 'पादाम्बुजम्' इत्यत्रोपमितसमासे पूर्वपदार्थस्य पादरूपस्योपमेयस्योपमेयतावच्छेदकत्वादत्वेनैव प्रतीतिरिति वक्तुं तन्न युक्तम् 'यक्त्रे चन्द्रमसि' इति पूर्वोक्तरूपस्यले यथा लक्षणायां चन्द्रसदृशस्य चन्द्रस्य चैकपदोपस्वाप्यत्वप्रयुक्तभेदाध्यवसानेन ताद्रूप्ये चन्द्रताद्रूप्यवता सदृशपदार्थेनभेदात् सुखेऽपि चन्द्रत्व प्रतीयते, तथैव प्रवृत्ते उपमाया-मपि इवचन्द्राभावात् उपमानवाचकस्याम्बुजपदस्य स्वसदृशे लक्षणायां अकामेनाप्योक्त-

व्यतया श्रम्युज्जताद्व्यवस्तुसादृशपदार्थभेदात् पादेऽभ्युज्जत्वप्रतीतिरिति शक्ता, उपमितसमासे भेदघटितं सादृश्यं लक्ष्यकोटिप्रविष्टं, विशेषणसमासे तु तदघटितं सादृश्यं तथेति लक्षणायास्तुल्यत्वेऽपि, उपमारूपकोर्वैलक्षण्यस्याग्रे प्रतिपादनात् उपमितसमासे पादाम्बुजमित्यत्र भेदघटितसादृश्यस्य प्रतीत्या पादेऽभ्युज्जताद्व्यवस्तुप्रतीतिरभाव इति समाधानमिति भावः ।

‘पादाम्बुजम्’ में उक्त रीति की अमभावना की शङ्का करके खण्डन करते हैं—न चेत्यादि । ‘उपमित समास’ में पूर्वपद के अर्थ पाद आदि उपमेय की प्रतीति उपमेयतावच्छेदक-पादत्व-आदि के रूप में नहीं हो सकती । कारण, ‘पादाम्बुजम्’ में इव आदि सादृश्यवाचक पद तो हैं नहीं, अतः उपमित समास मानने पर भी ‘अभ्युज्ज’ रूप उत्तरपद की अब सादृश-अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी, तब जैसे ‘वनग्रे चन्द्र-जमि स्थिते हिमपर-शीतारुणजृम्भते’ पूर्वोक्त रूपक में, ‘चन्द्रसरसा’ में ‘चन्द्र’ का तादृश्य मान लेने पर, ‘चन्द्रसरसा’ के साथ मुख का अभेदान्वय होने के कारण, मुख में भी चन्द्र का तादृश्य आप मान चुके हैं, उसी तरह यहाँ भी ‘अभ्युज्जसरसा’ में ‘पाद’ का अभेदान्वय होने के कारण ‘पाद’ में भी ‘अभ्युज्जताद्व्य’ की प्रतीति हो जानी चाहिए । और ऐसी स्थिति में उक्त अनुपपत्ति वहाँ यनी रहेगी । यह है यहाँ शङ्का । उत्तर यह है कि उपमितसमास में भेद-घटित सादृश्य, लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट रहता है और विशेषणसमास में भेद-रहित सादृश्य लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट रहता है, अतः दोनों स्थलों पर समान रूप से लक्षणा के रहने पर भी उपमा तथा रूपक में विलक्षण-विलक्षण बोध होता है (यह बात आगे कही जानेवाली है) । साबित यह है कि ‘पादाम्बुजम्’ में उपमित समास मानने पर लक्षणा द्वारा भी भेदघटित सादृश्य की ही प्रतीति होगी, अतः ‘पाद’ में ‘अभ्युज्ज’-वाच्य की प्रतीति नहीं होगी ।

प्राचीनमते नवीनैरारोपितमनुपपत्त्यन्तरमनूय समाधत्ते—

यद्यप्युक्तं सादृश्यस्य शब्देनोपादानादुपमात्वापत्तिरिति तदपि न । भेदा-
कारम्भितसादृश्यविशिष्टस्य रूपके लक्ष्यत्यादुपमान्यपदेशस्याप्रसक्तः ‘सादृश्य-
मुपमाभेदे’ इति तत्सिद्धान्तात् ।

भेदाकारम्भितेति भेदाघटितेत्यर्थः । प्राचीनमते रूपकस्थले उपमानवाचकस्य स्वमदृशे लक्षणायां लक्ष्यतावच्छेदकस्य सादृश्यस्य लक्ष्याशौ सादृश्यत्वात्मकमान्यरूपेण प्रतीतौ सादृश्यस्य लक्षणिकोपमानवाचकशब्देनोपादानात् उपमान्वापत्तिरिति दोषो यदुक्तो नवीनैः, तत्प्राचीनाशयाज्ञानविलम्वितम्, ‘भेदे सति सादृश्यम् उपमा’ इत्युपमालक्षण दुर्बला प्राचा मने रूपके उपमात्वाप्राप्ते, तत्र भेदाघटितस्यैव सादृश्यस्य लक्ष्यतावच्छेदकतया तैव-
पादनात् इति भावः ।

प्राचीन मत में नवीनों के द्वारा आरोपित एक दूसरी अनुपपत्ति का अनुवाद करके समाधान करते हैं—यद्यप्युक्तम् इत्यादि । रूपक-स्थल में उपमान वाचक पद की स्वसरसा में लक्षणा होती है इस प्राचीन मत में, लक्ष्यतावच्छेदक-सादृश्य की लक्ष्य (उपमेय) अंश में सामान्य (सादृश्य) रूप से प्रतीति मानने पर सादृश्य का शब्द द्वारा ग्रहण होने के कारण ऐसे स्थानों में उपमा अलंकार होने लगेगा, रूपक नहीं हो सकेगा, यह जो दोष नवीनों ने दिया है, वह भी समुचित नहीं है । कारण, रूपक स्थल में भेदरहित सादृश्य लक्ष्यमध्य में प्रविष्ट है, अतः उपमा का कोई प्रयोजन ही वहाँ नहीं उठ सकता, क्योंकि ‘सादृश्यमुपमाभेदे’—अर्थात् भेदविशिष्ट सादृश्य को उपमा कहते हैं इस लक्षण के अनुसार उपमाव्यवहार के लिये भेद का प्रतीयमान होना आवश्यक माना गया है ।

पुनरन्यथा नवीनाभिमतं शंस्यन्त्याप्य खण्डयति—

ननु यत्र भेदघटितसादृश्यवति वक्त्रा लक्षणया मुखं चन्द्र इति प्रयुक्तम् तत्र तथाप्युपमालङ्कारापत्तिः स्थितैवेति चेत्, भेदघटितसादृश्यप्रतिपिपादयिषाकाले लक्षणया तद्वति शब्दप्रयोगस्य विरुद्धत्वात्। लक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतिपिपादयिषाधीनत्वान्। न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य रुढिव्यतिरिक्तया लक्षणयाऽर्थप्रतिपादयन्त्यार्याः। भेदताद्रूप्ययोर्विप्रतिपिद्धत्वेन युगपत्प्रतिपत्तुबुद्धधुपारोहासंभवाच्च।

तद्वति भेदघटितसादृश्यवति मुखादाविष्यत् । शब्दप्रयोगस्येति । साक्षणिकचन्द्रादिपदप्रयोगस्येत्यर्थः । समासगतोपमास्थले भेदघटित रूपरस्यले तदघटितसादृश्य लक्षणया बोध्यत इति भवदभिमतम्, तथा च सादृश्यप्रयोगस्य वक्त्रुरिच्छाधीनत्वान् भेदघटित सादृश्य मनसि कृत्वा वक्त्रा यत्र 'मुखं चन्द्र' इति प्रयुज्यते, तत्र भेदघटितसादृश्यस्य शब्दोपात्ततया पूर्वोक्तोपमात्वापत्तिः स्थितैवेति शङ्का, प्रयोजनमूलायाः लक्षणायास्तादृशस्थले ताद्रूप्यप्रतिपादनेच्छाधीनतया भेदघटितसादृश्यप्रतिपादनेच्छाकाले साक्षणिकशब्दप्रयोगस्यानुचितत्वम्, भेदताद्रूप्ययोः परस्परविरुद्धतया एककालावच्छेदेन बुद्धिविपर्ययसंभवात् । रुढिमूला लक्षणा तु तत्र समवन्त्येव न सादृशप्रयोगस्य परम्परागतत्वविरहादिति समाधानमिति भावः ।

अब पुनः नवीनों के द्वारा प्राचीनों के मत में उठाई गई एक आशंका का समाधान करते हैं—ननु इत्यादि। नवीन विद्वान् यदि कहें कि समासगत उपमा के स्थल में भेदयुक्त और रूपक के स्थल में भेद से अयुक्त सादृश्यलक्षणा द्वारा बोधित होता है, यही तो प्राचीनों का अभिमत है अर्थात् सादृश्य के दोनों प्रकार (भेदयुक्त तथा तदयुक्त) उन्हें इष्ट हैं, फिर तो उन दोनों प्रकारों में से किसका प्रयोग कहाँ किया जाय, यह बात वक्ता के ही अधीन रही, अतः जहाँ वक्ता 'मुखचन्द्र' इस वाक्य में 'चन्द्र' शब्द का प्रयोग 'भेदयुक्त सादृश्यविशिष्ट' अर्थ में करे, वहाँ 'मुखचन्द्र' में उपमा की आपत्ति हो ही जायगी, तो इसका उत्तर यह है कि वक्ता जिस समय में भेदघटित सादृश्य के प्रतिपादन की इच्छा करेगा, उस समय में वह सदृशसाक्षणिक पद का प्रयोग कर ही नहीं सकता, क्योंकि लक्षणा ताद्रूप्य के प्रतिपादन की इच्छा के अधीन है—अर्थात् ताद्रूप्य का जब प्रतिपादन करना हो, सभी लक्षणा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कारण, निष्ठजन रुढिव्यतिरिक्त लक्षणा के द्वारा निष्प्रयोजन अर्थप्रतिपादन नहीं करते। अर्थात् रुढिमूलक लक्षणा से अन्य लक्षणाओं में प्रयोजन का होना आवश्यक है और यहाँ ताद्रूप्य के अनिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन हो नहीं सकता, अतः भेदप्रतिपिपादयिषाकाल में सदृशसाक्षणिक पद का प्रयोग विरुद्ध है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि भेद और अभेद दोनों की प्रतीति हो, क्योंकि भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, वे एक साथ ज्ञाता की बुद्धि में आरुढ़ नहीं हो सकते, अतः ऐसा कथन असंगत है।

प्राचीनमते दोषदानाय पुनरन्यथा शङ्कते—

अयोपमितसमासे पुरुषव्याघ्र इत्यादावुत्तरपदस्य स्वार्थसदृशे लक्षणैवोपगन्तव्या। अन्यथा बोधकामावेन समासे सादृश्यप्रत्ययो न स्यात्। न च व्याघ्र इवेतीवशब्दस्तद्वोधक इति वाच्यम्, तस्य समासे संबन्धाभावात्। सति च संबन्धे तन्निवृत्तियोगान्, निवर्तकशब्दस्याभावात्। विप्रह्वाक्यगतद्वित्वशब्दः स्पष्टितवाक्यस्योपमाप्रतिपादकत्वं सम्पादयितुमीष्टे, न वाक्या-

न्तरस्य । तस्य विवरणत्वानुपपत्तेः । न हि विवरणीयवाक्यगतशब्दाप्रतिपाद्य-
स्यार्थस्य विवरणं युज्यते । इत्यञ्च लक्षणाया एवाभ्युपगम्यतया सत्यां च तत्प्र-
योजनीभूतताद्रूप्यप्रतिपत्तौ कथमुपमा द्विलुभा तत्र प्राचीनैरुक्तेति चेत् ।

स्वार्थसदृशे इति । व्याघ्रसदृशे इत्यर्थः । अन्ययेति । लक्षणानभ्युपगमे इत्यर्थः ।
बोधकमत्तामाशङ्कते—न चेति । तस्य इवशब्दस्य । तन्निवृत्तेरिति । इवशब्दनिवृत्तेरि-
त्यर्थः । तत्र हेतुमाह—निवर्तयेति । शाल्लेति । सूत्रेत्यर्थः । ननु विग्रहवाक्यगत इवशब्द-
समासे सादृश्य बोधयेदिति चेत्तत्राह—विग्रहवाक्यगतस्त्विति । वाक्यान्तरस्य समास-
वाक्यस्य । समासे मास्तु सादृश्यप्रतीतिरित्यत आह—तस्येति । विग्रहवाक्यस्येत्यर्थः ।
तामेवानुपपत्तिं स्फुटीकरोति—न हीत्यादिना । इत्यवेति । उक्तानुपपत्तौ चेत्यर्थः । तदिति ।
लक्षणेत्यर्थः । कथमुपमेति । ताद्रूप्यप्रतीत्या रूपकस्यैव प्रसन्नादिति भावः । द्विलुप्तेति ।
चतुस्त्रितिकथनमेतत्, न तु तत्र शङ्काविषयता । उपमाया एव शङ्काविषयत्वे तद्गत-
द्विलुप्तत्वादेः एव शङ्काविषयतेति तु अन्यत् । अत्र 'उक्तरीत्या धर्मवाचक्यो सत्त्वेन
कथं धर्मवाचकलुप्तोक्त्यर्थः' इति नागेशव्याख्याऽशोभनैव, यतरतस्त्रीत्या उपमाया न
शङ्कनीयता, किन्तु तस्या द्विलुप्तत्वे इति प्रतिभाति, तच्च न, साधारणधर्मवाचकस्य 'शूर'
इत्यादेर्लोपस्य स्पष्टत्वात्, सादृश्यवाचकलोपस्योक्त्युक्ताकान्तत्वसम्भवेऽपि न ग्रन्थकृद-
मिमत्तत्त्वम्, 'अश्रोच्यते' इत्यादिना द्रीयमानस्योत्तरस्य तदनुपपुक्तत्वात् । अत एव
'वाचकलोपस्तु' इत्यादिना पृथगुपपादनं सगच्छते । अतः 'उपमा कथम्' इत्येव ग्रन्था-
शयः । तुल्यदुर्जनन्यायेनोपमाभ्युपगमेऽपि तस्या साधारणधर्मलुप्तात्वमेव सम्भवति,
न वाचकलुप्तात्वम्, एवञ्च द्विलुप्ता कथम् इति वा ग्रन्थामिप्रायः । साधारणधर्मलोपाशौ न
काऽपि शक्येति सारांशः । नागेशस्तु तस्यापि शङ्कनीयतामभिप्रैति । स प्रायः ताद्रूप्यमेव
साधारणधर्मम् युज्यते, अत एवाप्येऽपि 'नन्वेवमपि ताद्रूप्यप्रतीत्या कथं धर्मलुप्तम्' इति
विरुद्धेति । (कश्चिद्दीकाकारस्तत्र सर्वत्र नागेशच्छिद्रगवेपणपरोऽप्राप्तुक्तामपि नागेशोक्तिमनु-
षद् शोच्य एव ।) अन्यत् सुगमम् ।

प्राचीन मत में एक गचीन दोष की भाषाका करते हैं—अधोपमित इत्यादि ।
'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि उपमितसमास में व्याघ्र आदि उत्तरपद की स्वार्थसदृश (अर्थात्
व्याघ्रसदृश आदि) अर्थ में लक्षणा ही माननी पड़ेगी, अन्यथा समास में सादृश्य बोधक
शब्द न रहने के कारण सादृश्य का बोध नहीं हो सकेगा । 'व्याघ्र पुरुष' इस
विग्रहवाक्य में आए हुए 'इव' शब्द को तो सादृश्य का बोधक कहा नहीं जा सकता,
क्योंकि समास में (पुरुषव्याघ्र इत्य पद में) उस 'इव' शब्द का सवन्ध नहीं है । यदि
समास में उसका सवन्ध रहता, तो उसकी निवृत्ति नहीं होती—अर्थात् उसका ध्रुवण
अवरय होता, क्योंकि उसकी निवृत्ति करनेवाला कोई सूत्र व्याकरण में नहीं है । समास
में 'इव' शब्द का सवन्ध रहे अथवा न रहे, विग्रहवाक्य में तो अवरय है, वही
समास में भी सादृश्य का बोधक होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता । कारण, जिस
वाक्य में 'इव' रहेगा, उसीके अर्थबोध में वह सादृश्य का भाव करा सकता है अतः वह
'इव' शब्द उसी वाक्य को उपमाप्रतिपादक बना सकता है, दूसरे वाक्य को नहीं—
अर्थात् 'व्याघ्र इव पुरुष' इस विग्रहवाक्य में आए हुए 'इव' शब्द के चल पर इसी
वाक्य में उपमा मानी जा सकती है, 'पुरुषव्याघ्र' इस समास वाक्य में नहीं । यह भी
नहीं कहा जा सकता कि समास में सादृश्य का बोध होता ही नहीं, क्योंकि यदि
'पुरुषव्याघ्र' इस समासवाक्य से सादृश्य का बोध नहीं होवे, तब 'पुरुष व्याघ्र इव'
इस वाक्य के द्वारा उस समासवाक्य का विवरण करना असंगत हो जाय । कारण,

जिस वाक्य का विवरण किया जाता है, उसमें आए हुए शब्दों से जो अर्थ प्रतिपादित नहीं होते, उन अर्थों का विवरण करना उचित नहीं अर्थात् मूल में जो अर्थ है ही नहीं वह व्याख्या में आ नहीं सकता है। अतः 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि स्थान में उत्तरपद की स्वार्थसदृश में लक्षणा माननी ही पड़ेगी। अब यदि कहा जाय कि जब लक्षणा मानी जायगी, तब तो उक्त युक्ति से लक्षणा का प्रयोजन तादृश्य (अभेद) भी मानना ही पड़ेगा। फिर प्राचीनों ने 'पुरुषव्याघ्र' आदि में रूपक मान कर द्विलुप्त—(धर्मवाचक लुप्त) उपमा कैसे मान ली ?

समाधत्ते—

अत्रोच्यते—उपमितसमासस्य भेदघटितोपमानसादृश्यविशिष्टोपमेयै शक्तैस्तदघटकीभूतोपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरुद्धलक्षणाया वा स्वीकारावदोषः ।

शक्तेरिति । 'समासे कलु भिन्नैव शक्तिः पट्टजशब्दवत्' इति शाब्दिका । विशिष्ट-शक्तौ गौरवमागूरयतो नैयायिकस्य शिष्या आह—तदघटकीभूतेति । समासगतेति तदर्थः । अयं भावः—पुरुषव्याघ्र इत्यादि समासगोपमास्यले उपमानवाचकस्य व्याघ्रादिपदस्य स्वार्थसदृशे लक्षणा, पुरुषव्याघ्र इति समस्तसमुदायस्य भेदघटितव्याघ्रसादृश्यविशिष्ट-पुरुषरूपार्थे भिन्ना शक्तिरेव, अथवा पुरुषव्याघ्र इति समुदायघटकव्याघ्रपदस्य भेदघटित-स्वार्थसादृश्यविशिष्टे निरुद्धे लक्षणा, उभयप्रापि तादृशप्रवृत्तौ रूपकाप्रसंगेणोपमानत्वं सुस्पष्टम् । वाचकलुप्तात्समर्थनं परमवशिष्यते, तदग्रे विधास्यतेऽनुपदम् इति ।

अब उक्त भाषाका का समाधान करते हैं—अत्रोच्यत इत्यादि । उक्त भाषाका का उत्तर यह है कि 'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि समासगत उपमा-स्थल में उपमानवाचक व्याघ्र आदि पदों की स्वार्थसदृश में प्रयोजनमूल्या लक्षणा है ही नहीं, अपि तु 'पुरुषव्याघ्र' इस समस्त समुदाय की भेदघटित व्याघ्रसादृश्यविशिष्ट पुरुषरूप अर्थ में एक भिन्न शक्ति ही है। इसी तरह की शक्ति को वैयाकरण लोग 'समासशक्ति' कहते हैं। उन्होंने कहा भी है—'समासे कलु भिन्नैव शक्तिः पट्टजशब्दवत् अर्थात् 'पट्टज' पद की शीतशक्ति ने यद्यपि कीचड़ से उत्पन्न होनेवाले शैवाल आदि अनेक वस्तुओं का बोध प्राप्त था, तथापि समुदायशक्ति से केवल कमल का ही बोध होता है, उसी तरह सभी सामासिक पदों में एक भिन्न शक्ति रहती है।' अथवा उक्त-समुदाय-घटक 'व्याघ्र' पद की भेदघटित स्वार्थ-सादृश्य विशिष्ट में निरुद्ध लक्षणा भी मान लेनी चाहिए। दोनों ही प्रकारों से यहाँ तादृश्य की प्रतीति नहीं होगी, अतः रूपक का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहेगा, फिर उपमा अपनी जगह पर सुस्थिर रहेगी। यद्यपि इतना कहने पर भी यह शंका बनी ही रही कि—द्विलुप्त उपमा कैसे हुई, क्योंकि साधारण धर्म का अभाव रहने पर भी सादृश्यवाचक का अभाव नहीं है। कारण, उक्त रीति से समासशक्ति द्वारा 'पुरुषव्याघ्र' यह समुदाय अथवा निरुद्ध लक्षणा द्वारा 'व्याघ्र' पद, सादृश्य का बोधक हो ही जाता है। तथापि इसका उत्तर अन्यकार सुरत आगे देंगे, ऐसा समझना चाहिए।

स्पर्शान्तरेऽपि उच्यते: स्वीकृतोपमानातिदिशति—

इधमेव निपातानामिवादीनां द्योतकत्वानवे मुखं चन्द्र इवेत्यादौ, वाचक-लुप्तयामुपमायां च गतिरनुसरणीया ।

इयमेवेति । अस्य 'गतिरित्यत्रान्वयः' । उपमानशब्दस्य भेदघटितसादृश्यविशिष्टे निरुद्धलक्षणारूपेति तदर्थः । निपातानामिति । एतच्चेवादीनां द्योतकत्वे युक्तिप्रदर्शनम् ।

‘निपाता द्योतक’ इति कियता शान्दिध्वना सिद्धान्तः । द्योतकत्वान्ये इति । एतेन सिद्धान्तसिद्धनिपातवाचकत्वान्ये न तादृशगत्यनुसरणस्यानेनेति सूच्यते । वाचकलुप्तता-मिति । तद्विद्गौरीत्यादावित्यर्थः । पुरुषव्याघ्र इत्यत्र यथा व्याघ्रस्पोषमानवाचकपदस्य भेदप्रदित्वात्सादर्यविशिष्टे निरुद्ध लक्षणा स्वीक्रियते, तथैवेवादीनां निपातानां द्योतकत्वमिति नीतावाध्रीपमापाया ‘सुख चन्द्र इव’ इत्यादावपि चन्द्रपदस्य सादर्यविशिष्टे लक्षणा स्वीकृत्या अन्यथा वाचकविरहेण द्योतकत्वेष्वप्यस्य वाचकसत्त्वं एव कार्यकारित्वेन न सादर्यप्रत्ययो न स्यात्, तदभावे उपमानत्वमपि नैव भवेत् । तद्विद्गौरीत्यादौ वाचकलुप्तोपमालंकारस्यलेऽपि पुरुषव्याघ्र इत्यत्र दर्शितार रीतिरेवाश्रयणोऽत्र विशेषाभावादिति भावः ।

कतिपय अन्य स्थानों में भी उक्त रीति का अनुसरण करना पड़ता है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—इयमेव इत्यादि । ‘पुरुष-व्याघ्र’ में जैसे व्याघ्ररूप उत्तरपद की भेदप्रदित्वात् सादर्यविशिष्ट अर्थ में निरुद्ध लक्षणा माननी पड़ी है, उसी तरह, जिनके मत में निपात (इव आदि) द्योतक है वाचक नहीं, उनके हिसाब से ‘सुख चन्द्र इव’ इत्यादि स्थानों में भी ‘चन्द्र’ आदि पद की सादर्य-विशिष्ट अर्थ में निरुद्ध लक्षणा माननी पड़ेगी । अन्यथा वाचक के अभाव में सादर्य की प्रतीति ही नहीं होगी, भल पुर उपमा भी नहीं होगी । द्योतक (इव आदि) तो रह कर भी कार्यकारी नहीं होगा, क्योंकि द्योतक वाचक की सत्ता में ही अपने अर्थ को द्योतित कर सकता है । ‘तद्विद्गौरी’ इत्यादि वाचकलुप्तोपमा स्थल में भी उसी रीति का आश्रयण करना चाहिए, जिस का आश्रयण ‘पुरुषव्याघ्र’ में किया गया है । अन्तर केवल इतना होगा कि ‘तद्विद्गौरी’ में पूर्वपद की लक्षणा होगी, और ‘पुरुषव्याघ्र’ में उत्तरपद की लक्षणा होती है । ‘तद्विद्गौरी’ में उपमेय नायिका आश्रित है, साधारण धर्म गौरत्व उक्त है और ‘पुरुषव्याघ्र’ में उपमेय पुरुष कहा हुआ है, तथा साधारण धर्म नहीं कहा हुआ है । वाचक का अभाव दोनों स्थानों पर समान है ।

ननु ‘पुरुषव्याघ्र’, ‘तद्विद्गौरी’त्यादौ कथं वाचकलुप्तता, उपमानवाचकपदानामेव लक्षणाया सादर्यप्रतिपादकत्वादित्यत आह—

वाचकलोपस्तूपमानाद्यकरम्बितसादर्यतद्विशिष्टान्यतरप्रतिपादकशब्दशून्यत्वादुपपादनीयः ।

उपमानाद्यकरम्बित इति । उपमानादिवाचकपदानुपस्थाप्य इति तात्पर्यार्थः । वाक्ये इवातुपादाने वाचकलुप्तत्वायाह—सादर्येति । समससाधप्रयोगे तत्त्वायाह—तद्विशिष्टेति । सादर्यमिति तदर्थः । तद्विद्गौरीत्यादौ यद्यपि सादर्यस्य लक्षकं तद्विषयं विद्यते, तथापि न तावता वाचकलुप्ततात्वहानिः, तदर्थम् पृथक् इव-सम-सदसाविषयानां प्रयोगोऽपेक्षितः । तद्विषयानां सादर्यलक्षकीपमानवाचकपदसत्त्वेऽपि वाचकलुप्तमान्वयमभूतमेवेति भावः ।

‘पुरुषव्याघ्र’ ‘तद्विद्गौरी’ इत्यादि स्थानों में जब उपमानवाचक ‘व्याघ्र’ ‘तद्विद्गौरी’ आदि पद की स्वार्थ सट्टा में निरुद्ध लक्षणा मान ली गई, तब वे ही पद सादर्य के प्रतिपादक समझे जायेंगे, अतः उन स्थलों में ‘वाचकलुप्तता’ उपमा का व्यवहार कैसे किया जाता है, इसका उत्तर अब देते हैं—वाचकलोपस्तु इत्यादि । उक्त शब्द का उत्तर यह है कि उपमान आदि में विशिष्ट सादर्य के प्रतिपादक पदों के रहने पर भी शुद्ध सादर्य अथवा सादर्यविशिष्ट-अर्थात् सट्टा अर्थ के प्रतिपादक पदों के नहीं रहने के कारण वाचकलोप का व्यवहार किया जा सकता है—अर्थात् पृथक् ‘इव’ ‘सम’ ‘सदृश’ आदि पदों के रहने पर ही वाचक की सत्ता समझी जाती है, और पृथक् उनके नहीं रहने पर उपमानवाचक पद से लक्षणा के द्वारा अथवा समासशक्ति के द्वारा सादर्य का प्रतिपादन होने पर भी सादर्य-वाचक का लोप ही माना जाता है ।

प्राचीनमतद्रूपकं नव्यमतोक्तं युक्त्यन्तरं निराकुरुमाह—

यच्च 'विद्वन्मानस' इत्यत्र दूषणमभिहितं तद्रूपकप्रकरणे परिहरिष्यते ।

दूषणमिति । रूपकस्थले गृहशलक्षणापक्षे प्राचीनाभिमतं विद्वन्मानस इत्यादौ परस्पराभय, स्तोषरूपकयोः सिद्धयोः परस्परसिद्धयपेक्षत्वात् । इति परिहरिष्यते इति । तत्रायं परिहारः—परम्परितोऽन्योन्याभयोः नाराद्वितीयः, सकलसिद्धेः कल्पनामयत्वेन कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधोऽनन्वात् । शिल्पिभिः परस्परावष्टम्भमाधाधोनिरूपितवाभिः शिलेष्टकाभिर्हृदविशेषनिर्माणाय । इति ।

प्राचीनों के मत को दूषित सिद्ध करने के लिये नवीनों के द्वारा प्रदर्शित एक अन्य युक्ति का निराकरण करते हैं—यच्च इत्यादि । 'विद्वन्मानस' इत्यादि में अन्योन्याभय दोष की बात जो कही गई है, उसका परिहार ग्रन्थकार रूपक भङ्गकार के प्रकरण में करेंगे । रूपकप्रकरणोक्त परिहार का स्वरूप निम्नलिखित समझना चाहिए—'परम्परित रूपक में अन्योन्याभय की भांशका नहीं करनी चाहिए । कारण, काव्यजगत् की सभी बातें कल्पनामय होती हैं और कल्पना, कल्पक—कवि की प्रतिभा के अधीन की वस्तु है । कहने का अभिप्राय यह है कि अन्योन्याभय भादि दोष ठोस जगत् में ही बाधक हो सकते हैं, काल्पनिक जगत् में नहीं । अथवा ठोस जगत् में भी अन्योन्याभयप्रसक्त भी कतिपय कार्य होवे ही हैं । जैसे—शिल्पीजन, केवल एक दूसरे के आधार पर स्थिर रहने वाले ईंटों तथा सिलारण्डों से विशिष्ट भवनों का निर्माण कर ही लेते हैं । वृक्ष तथा बीज के अन्योन्याभय का बाधक न होना प्रसिद्ध ही है ।'

दूषणान्तरमपि परिहरति—

यदप्युक्तम् रूपके सदृशलक्षणायाः फलं ताद्रूप्यप्रत्ययो न युज्यते । तत्सदृश इति शब्दजबोधानन्तरमपि तथा प्रत्ययापत्तेरिति, तन्न । तत्सदृश इत्यत्र लक्षणाया अभावेन ताद्रूप्यप्रत्ययस्यापादनायोगात् । ताद्रूप्यप्रत्ययो लक्षणायाः फलमिति प्राचां समयः । महाभाष्यादिग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वाच्च । नव्यनये तु तेषामाकुलीभावः स्यादिति दिक् ।

तत्रेति । ताद्रूप्येत्यर्थः । तत्सदृश इत्याकारश्च शब्दजन्यबोधादपि ताद्रूप्यप्रतीत्यापत्त्या रूपके सदृशलक्षणायास्ताद्रूप्यप्रतीतिफलरूपकयनं प्राचा न युक्तमिति नव्यमतोक्तं आक्षेप अक्षिप्तिकर एव, लक्षणाफलत्वेनैव ताद्रूप्यप्रतीति प्राचीनैः सिद्धान्तिततया तन्मदृश इत्यत्र लक्षणाचिरद्वेण तदापत्तेरयोगात् । एष्य रूपके लक्षणाऽपरस्परभेदोक्तिरिति भावः । रूपके लक्षणा भवनीत्यात्र युक्त्यन्तरमाह—महाभाष्यादीति । तथा च 'पुयोगादाख्यायाम्' इति सूत्रे भाष्यम्—'भिन्नानामभेदाभावात्, कथं पुनरतस्मिन् स इत्येतद्भवति । चतुर्भिः प्रकारैस्ताद्रूप्यमारोप्यते, न तु मुख्यम् । तात्स्थानात्, तादृम्यात्, तत्सामोप्यात्, तत्साहचर्यात्, इति । तात्स्थानाया 'यथा हसन्ति' । तादृम्याया—'जटी ब्रह्मदत्त' । तत्सामोप्याया—'गङ्गाया घोष' । तत्साहचर्याया—'कुन्तान्प्रवेशय' इति । भाष्येणानेन नव्यने यद्रूपके सदृशलक्षणा भवतीति । नव्यमते तु वाच्यथोरेषाहायाभेदे 'चतुर्भिः प्रकारैस्ताद्रूप्यमारोप्यते न तु मुख्यम्' । इत्यादेरसंगति स्पष्टैवेति साराशः ।

नवीनों के द्वारा प्राचीन मत में लगाए गए अन्य दोष का परिहार करते हैं—यदप्युक्तम् इत्यादि । नवीनों ने जो यह दोष दिया है कि—रूपकस्थल में सदृशलक्षणा का फल ताद्रूप्यप्रतीति को मानना समुचित नहीं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तब 'तत्सदृश' इस शब्द से उत्पन्न बोध के बाद भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने

के स्थल में मुख्यस्वरूप से उपस्थिति होने पर भी चन्द्रस्वरूप से शाब्दबोध का होना अनुभवसिद्ध है, अतः उपस्थिति-शाब्दबोध में समानरूपता सिद्ध करनेवाले नियम में लक्षणिक बोध से अन्य बोधविषयकत्व का निवेश कर दिया जायगा। यह बात प्रसङ्गवशा पहले भी कही जा चुकी है। यह कुछ प्रधान विद्वानों का मत है।

उपस्थितिशब्दबोधयोः समानाकारत्वनियमे उक्तसंकोचात्स्वीकृतमतेनाह—

‘लक्षणाया मुखत्वेन मुखादेः शाब्दबोधे वृत्ते व्यञ्जनयैकराब्दोपात्तत्वाद्बु-
भूतया चन्द्रत्वेन बोधः’ इत्यपरे।

चन्द्रपदस्य पाठ्योऽर्थचन्द्रः, लक्ष्योऽर्थस्तु मुखम्। तथा च चन्द्रपदनिष्ठलक्षणावृत्त्या मुञ्जत्वं मुञ्जत्वेनैव रूपेणोपस्थितिः शाब्दबोधस्य तेनोपस्थितिशब्दबोधयोः समानाकार-
त्वनियमो रक्षितः। एवात् चन्द्रपदनिष्ठया व्यञ्जनावृत्त्या मुखस्य चन्द्रत्वेन बोधः प्रकृतौ-
पयोगी सम्पद्यते ननु कुतोऽयं व्यञ्जनाप्रादुर्भाष इत्याह—एकराब्दोपात्तत्वेति। चन्द्रतुल्य-
मुञ्जबोधनाय चन्द्रमुतेतिपदद्वयप्रयोगमकृत्वा कैवल्यचन्द्रपदं यन्प्रयुक्तं, तेन सा व्यञ्जना
प्रादुर्भाव्यते इति भावः।

उपस्थिति और शाब्दबोध में समानाकारत्ववाले नियम को सार्वत्रिक माननेवाले अन्य विद्वानों के मतानुसार साध्यवसाना स्थल में बोध का विचार करते हैं—लक्षणाया इत्यादि। अन्य विद्वानों का मत है कि ‘चन्द्रराजो विराजते’ इत्यादि स्थलों में चन्द्रपद में रहनेवाली लक्षणावृत्ति से मुख की मुखस्वरूप से उपस्थिति होती है और शाब्दबोध भी उसी रूप से होता है अर्थात् लक्षणा के ज्ञान से भी चन्द्र पद द्वारा मुख-
रूप में ही मुख पहले समझा जाता है। अनन्तर व्यञ्जना के द्वारा मुख का चन्द्रत्व रूप से बोध होता है, और यहाँ व्यञ्जना के उत्पन्न का कारण है एकराब्दोपात्तत्वं अर्थात् ‘चन्द्र’ इस एक ही पद के द्वारा चन्द्र और मुख दोनों का बोध कराना। सारांश यह कि चन्द्रतुल्य मुख का बोध कराने के लिये वक्ता को चन्द्र और मुख इन दोनों पदों का प्रयोग करना चाहिये था, परन्तु ऐसा न करके केवल चन्द्र पद का जो प्रयोग वक्ता ने किया है, उसी से यहाँ व्यञ्जना का प्रादुर्भाव होता है, जिसके चल से पहले मुखरूप समझ लिये गये पदार्थ को भी धीरे चन्द्ररूप समझ लिया जाता है।

उक्तमतद्वये शाब्दबोधे पदार्थमानरीति मतभेदेन दर्शयति—

मत्तद्वयेऽप्यस्मिन् मुखादौ चन्द्रत्वमानसामप्रथा मुखत्वादेः स्वधर्मस्य भानं न निवार्यते। इत्थं चैकस्मिन्धर्मिणि चन्द्रत्वादीनां मुखत्वादीनां च साक्षाद् भानमेव सारोपातोऽस्या विच्छेदकम्। अपरे तु ‘निवार्यते एव विरुद्धमानसा-
मप्रथा स्वधर्मस्य भानम्। रजतत्वमानसामप्रथा शुक्तित्वस्याभानात्’ इति वदन्ति। मतेऽस्मिन् विषयतावच्छेदकास्फूर्तिस्तथा।

न निवार्यते इति। अनुभवसिद्धविरुद्धधर्मद्वयमानानुरोधेन विरुद्धमानसामप्रथाः प्रति-
बन्धकतावच्छेदककृत् लक्षणावृत्त्यनुपस्थाप्यन्निवेशादिति भावः। मुञ्जत्वादीनां चेति। एकपदोपस्थाप्यानामिति बोध्यम्। साक्षादिति। सारोपायां तु चन्द्रत्वस्य चन्द्रसदृशे भानद्वारा तत्र भानमिति परस्परया तद्भानमिति भावः। अस्या विच्छेदकमिति। साध्य-
वसानाया भेदकमिन्पर्यः। एकधर्मधिकरणकमेवमानं तु समागममिति भावः। लक्षणा-
ज्ञानमाहात्म्यात् मुखादेः प्राथमिकः शाब्दबोध एव चन्द्रत्वादिना मवतु, व्यञ्जनया वा द्वितीयस्तादृशो बोधो भवतु, उभयथापि प्रतिबन्धप्रतिबन्धकत्वाने उक्तसंकोचेन मुखादौ मुखत्वादेः स्वधर्मस्य भाने चन्द्रत्वमानसामप्रो प्रतिबन्धक न भवति। तथा च चन्द्रराजो-

त्याद्युक्तसाध्यवसानलक्षणास्थले 'चन्द्रत्ववान् मुखवर्धनि मुखपदार्थ' इत्याकारो बोधो जायत इति फलितम् । एतद्वीन्यनुसरणे च साध्यवसानलक्षणाया पूर्वोक्तरीत्या मुखपदार्थं चन्द्रत्वस्य मुखत्वस्य च साक्षादेव भानम्, सारोपलक्षणाया मुख चन्द्र इत्यादौ तु चन्द्रपदस्य स्वसदृशो लाक्षणिकतया चन्द्रत्वस्य प्रथमम् सदृशपदार्थं भानम् सदृशपदार्थस्य मुखे भावमिति परम्परया चन्द्रत्वस्य मुखे भावमित्येवोभयोरलक्षणेभेद इति भावः । साध्यवसानलक्षणास्थले विरुद्धधर्मद्वयभानं नानुभवसिद्धम्, तथा च विरुद्धभानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वे नोक्तविधं सक्रोचं प्रामाणिक इति येषां मतं, तदनुसारेणाह—अपरो भिन्नादि । (वधर्मस्येति । मुखत्वादेरित्यर्थः । दृष्टान्तविधयाऽऽह—रक्तत्वेति, दूरत्वचाकचिश्चादिदोषविशेषसहजतचक्षुःसन्निकर्षादिभामग्रया शुक्लो रजतत्वभानस्थले यथा शुक्ति-त्वस्य भानं न भवति, विरुद्धरजतत्वभानसामग्र्या प्रतिबन्धकत्वात्, तथैव चन्द्रराजीत्याद्युक्तसाध्यवसानलक्षणास्थले मुखे चन्द्रत्वभानसामग्र्या प्रतिबन्धेन चन्द्रत्वविरुद्ध-मुखत्वस्य भानं नैव भवति । तथा चेतद्वीन्या तत्र चन्द्रत्ववान् मुखपदार्थ इत्येव बोधाकार इति भावः । नन्वस्मिन् मते सारोपात् साध्यवसानाया हिम् भेदकमित्यत आह—मतेऽस्मिन्निति । विषयतावच्छेदकेति । लक्ष्यतावच्छेदकेत्यर्थः । मुखत्वे यावत् । तथेति । सारोपातोऽस्या विच्छेदकमित्यर्थः । सारोपाया मुखे मुखत्वस्य भानं भवति, साध्यवसानाया तु उक्तरीत्या तस्य भानं न भवतीत्येव द्वयोर्विशेष इति भावः । सारोपाया मुखादिषु लक्ष्यतावच्छेदकस्य—आहादकत्वादे साधारणधर्मस्य भानं भवति । साध्यवसानाया तु मुखे चन्द्रत्वस्यैव भानं न तु आहादकत्वादेरिति ग्रन्थास्य नर्णयन् नागेशरतदनुयायी सरलाकार्थस्थूलशेष, चन्द्रत्वभाने तत्राहादकत्वभानस्य निधितरत्वात्, यत्र यत्र चन्द्रत्व तत्र तत्राहादकत्वमिति ध्याते ।

उक्त दोनों मतों के अनुसार उक्तस्थलीय शाब्दबोध में पदार्थों का भान जिस तरह से होता है—इस बात का वर्णन मतभेद से यहाँ करते हैं—मतद्वये इत्यादि । सारांश यह है कि—विरुद्ध धर्म के भान के प्रति विरुद्ध धर्म के भान की सामग्री प्रतिबन्धक होती है यह यद्यपि सामान्य नियम है, तथापि अनुभव के आधार पर उस नियम में 'लक्षणा वृत्ति के द्वारा जो उपस्थित नहीं होता हो, उस विरुद्ध धर्म के भान के प्रति' ऐसा सक्रोच कर दिया जाता है । अतः प्रकृत में प्रथम मत के अनुसार लक्षणा-ज्ञान की मदति से मुख का वहल ही चन्द्रत्वस्य बोध चन्द्रत्वरूप से होवे, अथवा द्वितीय मत के अनुसार स्वज्ञान से द्वितीय बोध उस रूप से होवे, दोनों ही मतों में चन्द्रत्वरूप विरुद्ध धर्म के भान की सामग्री से मुख में मुखत्वरूप निजी धर्म का भान रोका नहीं जाता । अर्थात्—'चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों से युक्त मुख पदार्थ' इस रूप में दोनों धर्मों का मुख में साक्षात् ही भान होता है और इन (चन्द्रत्व और मुखत्व) दो धर्मों का साक्षात् भान होना ही सारोपा लक्षणा से साध्यवसाना लक्षणा को भिन्न बनाता है, क्योंकि सारोपा (मुखचन्द्र) में भी यद्यपि उक्त दोनों धर्मों का मुख में भान होता है, तथापि साक्षात् नहीं, परम्परा से । अर्थात्—वहाँ चन्द्र पद की लक्षणा स्वार्थसरदा में होती है, अतः पददे चन्द्रत्व का भान सरदा अतः में होता है, पीछे जब सरदा का भान मुख में हो जाता है, तब परम्परया चन्द्रत्व का भी मुख में भान सिद्ध होता है । यह है कुछ लोगों का मत । परन्तु अन्य लोगों का मत इससे भिन्न है । उनका कहना है कि साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में दो विरुद्ध धर्मों का एक पदार्थ में मासित होना अनुभव से सिद्ध नहीं, अतः उक्त सामान्य नियम में उक्त प्रकार का संशोधन नहीं किया जा सकता और जब उक्त सक्रोच नहीं किया जायगा, तब जहाँ दूरत्व, चक्रवर्ती आदि दोषों से सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, वहाँ जैसे

सीपी को भासित करनेवाली सामग्री चाँदी के भान को रोक देती है, वैसे ही यहाँ भी मुख में चन्द्रत्व को भासित करनेवाली सामग्री (कारण) उसमें सुखाव के भान को अवश्य रोक देगी। अर्थात् साध्यवसाना लक्षणा के स्थल में 'चन्द्रत्व से युक्त मुख पदार्थ' इस रूप से एक ही धर्म (चन्द्रत्व) भासित होगा, सुखत्व नहीं। इस मत के अनुसार केवल चन्द्रत्व का भान होना ही साध्यवसाना को सारोपा से पृथक् करता है अर्थात् साध्यवसाना स्थल में केवल चन्द्रत्व का ही मुख में भान होता है और सारोपा में चन्द्रत्व का भान तो होता ही है, साथ साथ सुखत्व का भी भान होता है।

उक्ताशयमेव विराज्यति—

वस्तुतस्तु साध्यवसानायां विषयतावच्छेदकधर्मभानं यदि सहृदय-
हृदयप्रमाणकम्, तदा तद्वारणाय कारणकल्पनाऽनुचितैव। शुक्तिरजतभान-
स्थले तु शुक्तिरत्नेन भाने पुरोषतिनि रजतत्वभान सर्वथैव विरुद्धत्वाद्वज्रतत्व-
भानसमये शुक्तित्वभाननिवारणमावश्यकम्। न चेहापि तथा, अनुभवाविरुद्ध-
त्वात्। यच्च तु तत्र प्रामाणिकं तदा सोचितैव।

विषयतावच्छेदकधर्मोति। मुखत्वादित्यर्थः। सहृदयेति। सहृदयानुभवसिद्धमित्यर्थः।
कारणेति। विरुद्धभानं प्रति विरुद्धभानसामग्रया प्रतिबन्धकत्वहेत्यर्थः। अनुचितेति।
अनुभवसिद्धस्यापलापे सर्वत्र तथा प्रसङ्ग इति हानौचित्यमिति भावः। सर्वथैव विरुद्ध-
त्वाविति। तथानुभववदिति भावः। 'चन्द्रराजी विराजते' इत्यादि साध्यवसानालक्षणा-
स्थले सहृदया यदि चन्द्रत्वमुक्तबोधधर्मवान् मुखपदार्थ इत्याकारकमनुभवं कुर्वन्ति,
तर्हि मुखे सुखत्वभाननिरामाय विरुद्धभानसामग्रया प्रतिबन्धकत्वकल्पन व्यर्थम्। कार्या-
नुरोधेन कारणत्व कल्पना, कार्य चेदनुभवसिद्धं, तदा तत्प्रतिबन्धकनिर्वचनमनुचितमेवेति
सात्पर्यम्। यदि तु तादृशमनुभव सहृदया न कुर्वन्ति, अपि तु चन्द्रत्ववान् मुखपदार्थ,
इत्याकारकमेवानुभवं कुर्वन्ति, तर्हि मुखे सुखत्वभानवारणायोक्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभाव-
कल्पनीय एव। शुक्ता रजतभानस्थले तु रजतत्वभानदशाया शुक्तित्वभानं न भवतीति,
सर्वानुभवसिद्धतया निर्णीतम् अतस्तत्र रजतत्वभानसामग्रया शुक्तित्वभानं प्रति प्रतिबन्ध-
कत्वं सर्वसम्मतया कल्पनीयमेवेति भावः।

उक्त ग्रन्थ के भाष्य का ही स्पष्टीकरण करते हैं—वस्तुतस्तु इत्यादि। वास्तविक
मान तो यह है कि कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है, अतः किसी कारण
की कल्पना करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि वह कार्य अनुभवरूप प्रमाण से सिद्ध
है अथवा नहीं, यदि कार्य अनुभवसिद्ध होवे, तब तदनुसार उसके कारण की कल्पना
करनी चाहिए, अन्यथा नहीं। ऐसी स्थिति में 'चन्द्रराजी विराजते' इत्यादि साध्यवसाना
लक्षणा के स्थल में विषयतावच्छेदक अर्थात् सुखत्व के भान का अभावरूप कार्य
यदि सहृदयजनों के अनुभव से सिद्ध हो, तब तो उसके लिये चन्द्रत्व के भान की
सामग्री को प्रतिबन्धक कारण के रूप में कल्पित करना ही चाहिए, जैसे उक्त भ्रमस्थल
में रजतत्व-भासक सामग्री में शुक्तित्व-भान प्रतिबन्धकता की कल्पना की जाती है।
और यदि उक्त अभावरूप कार्य सहृदय-हृदय प्रमाण से सिद्ध नहीं हो अर्थात् यदि
सहृदयजन उक्त साध्यवसाना-स्थल में चन्द्रत्व तथा सुखत्व दोनों का मुख में अनुभव
करते हों, तब तो उक्त प्रतिबन्धक कारण की कल्पना नहीं ही करनी चाहिए, ऐसी
निराधार कल्पना की भी नहीं जा सकती है। ग्रन्थकार का स्वरस यहाँ ऐसा प्रतीत
होता है कि वे साध्यवसाना स्थल में चन्द्रत्व तथा सुखत्व दोनों के भान को अनुभव-
सिद्ध मानते हैं, अतः वे उक्त प्रतिबन्धक की कल्पना के पक्ष में नहीं हैं। ठीक भी है।

सामूहिक रूप से एक कार्यकारणभाव अथवा प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव तो बन नहीं सकता। कारण, उस स्थिति में व्यभिचारादि अनेक दोषों के प्रसङ्ग उठ खड़े होंगे, अतः लक्ष्यभेद से भिन्न भिन्न ही वे वक्षित होंगे। इस स्थिति में जब उत्तरस्थल पर चन्द्रत्व और मुखत्व दोनों के भान का अनुमोदन सहृदय हृदय करते हैं, तब मुखत्व के भान को रोकने के लिये प्रतिबन्धक की कल्पना होगी ही नहीं, क्योंकि प्रतिबन्ध ही अप्रसिद्ध है। शुक्ति रजत-भान-स्थल की बात भिन्न है, अर्थात् वहाँ दूर में चकचक करता हुआ सीपी का टुकड़ा पड़ा रहता है, द्रष्टा को दूरत्व तथा चाकचिक्कादि दोषों से युक्त चक्षुःसन्निकर्परूप सामग्री से उस सीपी के टुकड़े में रजत का भ्रम हो जाता है अर्थात् द्रष्टा उस आगे में पड़े हुए टुकड़े को चाँदी समझ लेता है और जब वह उसको चाँदी समझ लेता है तब फिर उसको सीपी कैसे समझ सकता है अर्थात् उस स्थिति में वास्तविक होने पर भी शुक्तित्व का भाव सर्वथा बिरुद्ध पड़ता है, अतः वहाँ रजतत्वभान-सामग्री को शुक्तिस्वभान के प्रति प्रतिबन्धक मानना आवश्यक हो जाता है। एक बात और रसगङ्गाधर के आधुनिक टीकाकारों ने यहाँ नागेशकृत संस्कृत टिप्पणी को आधार बनाकर कहा है कि 'आह्लादकत्व' आदि साधारण धर्म का भान मुख में साध्यवसाना के स्थल पर नहीं होता, यही 'विषयतावच्छेदकार्पूतिस्तथा' इस ग्रन्थ का आशय है, अग्रिम ग्रन्थ की व्याख्या भी इसी आशय के अनुसार उन्होंने की है। परन्तु लाल विचार करने पर भी मेरे मन में यह बात जँचती नहीं, क्योंकि आह्लादकत्व आदि साधारण धर्म विषयता वच्छेदक अथवा लक्ष्यतावच्छेदक नहीं हो सकता। देखिए—मुख में चन्द्रत्व का आरोप होता है, उस आरोप का विषयी होता है चन्द्र और विषय मुख, अथवा यों समझिए—चन्द्र पद की मुख में लक्षणा होती है, अतः मुख लक्ष्य होता है, और मुख में रहनेवाला धर्म होगा विषयता अथवा लक्ष्यता का अवच्छेदक, फिर वह मुखत्व न होकर आह्लादकत्व आदि साधारण धर्म कैसे हो जायगा? अवच्छेदक होता है—अभ्युन और अन्ति प्रसक्त धर्म, और आह्लादकत्व को आप स्वयं साधारण धर्म वसलाते हैं—मानते हैं। दूसरी बात चन्द्रत्व का भान मुख में होता है यह आपका, मेरा और सब का सिद्धान्त है और जहाँ चन्द्रत्व भासित होगा, यहाँ आह्लादकत्व अवश्य भासित होगा, क्योंकि चन्द्रत्व का व्यापक धर्म आह्लादकत्व है और व्याप्य की सत्ता में व्यापक की सत्ता निश्चित रहती है, यदि चन्द्रत्व का भान होने पर भी आह्लादकत्व का भान नहीं हो, तब चन्द्रत्व-भान का अर्थ ही क्या हुआ? अतः मेरे विचार से नागेश की टिप्पणी (यहाँ की) असंगत है।

लक्षणानिरूपणानन्तरमिदानीमलकारनिरूपण प्रतिजानीते—

अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलङ्कारा निरूप्यन्ते—

अपेति । लक्षणानिरूपणानन्तरमित्यर्थः । अभिहितलक्षणस्येति । उक्तस्वरूपस्येत्यर्थः । काव्यात्मन इति । काव्यप्राणभूतस्येत्यर्थः । काव्यजगति सर्वतो मुख्यस्येति यावत् । अत्र 'भेदे पठ्यम् । काव्यात्मनो यद् व्यङ्ग्य तस्येत्यर्थः । यद्वा काव्यात्मन इत्यलङ्कारा इत्यनेनान्वेति ।' इति नागेशविवरण संगतं न वेति सुषोभिराकलनीयम् । व्यङ्ग्यस्येति । रतादेरित्यर्थः । रमणीयताप्रयोजका इति । शोभासम्पादका इत्यर्थः । अलङ्कारा निरूप्यन्त इति । अलङ्कारविशयज्ञानानुपूर्वा शब्दा प्रयुज्यन्त इत्यर्थः ।

अब अलङ्कारनिरूपण का उपक्रम करते हैं—अथेत्यादि । लक्षणा के निरूपण के बाद अब जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है, और जो काव्य की भाषा है, उस रतादिरूप ग्रन्थ की शोभा के सम्पादक अलङ्कारों का निरूपण किया जाता है ।

अलङ्कारेषु सर्वतः प्रथममुपमालङ्कारविचारः संयुक्तिवचनार्थे—

तत्रापि विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिन्युपमा तावद्विचार्यते—

तत्रापीति । तेष्वलङ्कारेष्वपीत्यर्थः । विपुलेत्यादि । वङ्गलङ्कारमध्यप्रविष्टेत्यर्थः । एत-
द्युपमाविचारस्य प्राथम्ये हेतुशून्यात्परं विशेषणम् । तावत् आदौ । सादृश्यमूलकेषु
वहुष्वलङ्कारेषु उपमोपजीव्यभूतेति प्राक् तद्विचारः प्रवृत्त इति भावः ।

उपमा अलङ्कार का विचार सर्वप्रथमः प्रस्तुतः किया जाता है—तत्रापीत्यादि । उपमा
अलङ्कार बहुतेरे अलङ्कारों के अन्तर्गत वर्तमान रहता है—अर्थात् सादृश्यमूलक जितने
अलङ्कार हैं, उन सभी अलङ्कारों का उपजीव्य उपमा ही है, अतः अलङ्कारों में भी सर्व-
प्रथम उपमा का विचार किया जाता है ।

उपमालङ्कारस्य लक्षणं लिख्यते—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारमुपमालङ्कृतिः ।

वाक्यार्थोपस्कारकमिति । वाक्यार्थशोभावर्धकमित्यर्थः । अरिमन् रमणीये सादृश्येऽ-
भिहिते सति वाक्यार्थः स्फुटतया कामप्युज्ज्वलतायायते, सादृश्यं सादृश्यमेवोपमानलङ्कारतया
व्यपदिश्यत इति भावः ।

उपमा अलङ्कार का लक्षण करते हैं—सादृश्यमिषादि । वाक्यार्थ को शोभित करने
वाले सुन्दर सादृश्य का नाम 'उपमालङ्कार' है ।

लक्षणपटकं 'सुन्दर'पदं स्वयं व्याचष्टे—

**सौन्दर्यं च चमत्कृत्याधायकत्वम् । चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदय-
प्रमाणकः ।**

चमत्कृत्येत्यादि । चमत्कृते आधायकत्वम्, सम्पादकत्वमित्यर्थः । चमत्कृतिपदार्थम्
स्फोरयति—चमत्कृतिरित्यादि । आनन्दविशेष इति । विलक्षणानन्द इत्यर्थः । अलौकि-
काङ्क्षा इति यावत् । सोऽपि न साधारणजनानुभवसिद्ध इत्याह—सहृदयेत्यादि । सचेत-
सामनुभवैर्न सिद्ध इति भावः । इदं 'येन सादृश्येन प्रतिपादितेन सहृदयहृदयेषु
कोऽप्यतिर्वचनीय आनन्दः पदं निदध्यात्, तादृश सादृश्यं यदि वाक्यार्थस्योज्ज्वलता-
सम्पादकं स्यात्, तदा तत् सादृश्यमुपमालङ्कार कथ्यते' इति लक्षणतात्पर्यं वेदितव्यम् ।

लक्षणवाच्य में आए हुए 'सुन्दर' पद की व्याख्या करते हैं—सौन्दर्यमिषादि ।
लक्षण में 'सुन्दर' पद का अर्थ है सौन्दर्यविशिष्ट और सौन्दर्य का अभिप्राय यहाँ 'चम-
त्कारजनक होता है । 'चमत्कार' का अर्थ है वह विलक्षण आनन्द, जिसको सहृद्यों को
हृदय प्रमाणित करता है । इस तरह लक्षणवाच्य का फलित अर्थ यह होता है कि—
'वाक्यार्थ को शोभित करनेवाले जिस सादृश्य से सहृद्यों के हृदय में एक विलक्षण
आनन्द उत्पन्न हो, उस (सादृश्य) को उपमालङ्कार कहते हैं ।'

पदकृत्यं दर्शयति—

अनन्वये च 'गगन गगनाकारम्' इत्यादौ सादृश्यस्य द्वितीयसद्वद्वा-
चारिनिवर्तनमात्रार्थमुपात्तत्वेन स्वयमप्रतिष्ठानादचमत्कारितैव । अत एव
तस्यानन्वयाभावादनन्वयः समाप्तः । व्यतिरेके 'तवाननस्य तुलनां दधातुं जलजं
कथम्' इत्यादौ चमत्कारिणो निषेधस्य निरूपणाच्च प्रतियोगिनः सादृश्यस्य
निरूपणमचमत्कारकमेव । एवमभेदप्रधानेष्वपि रूपकापह्नुतिपरिणामभ्रान्ति-
मदुल्लेखादिषु, भेदप्रधानेषु दृष्टान्तप्रतिवस्तूपमादीपकतुल्ययोगितादिषु चम-

त्कारिषु तत्तन्निष्पादकतयावस्थितस्यापि सादृश्यस्य चमत्कारिताविरहेण नास्त्युपमालङ्कृतित्वम् ।

सब्रह्मचारीति । सदृशेत्यर्थः । स्वयमिति स्वस्यापत्यवसानादित्यर्थः । अत एवेति । सादृश्यस्य तात्पर्यविषयताविरहादेवेत्यर्थः । तस्येति । सादृश्यस्येत्यर्थः । 'आहु' इति निष्पादस्याकाशाश्रयम् 'आलङ्कारिका' इति कर्तृपदमप्याहार्यम् । लक्षणे 'सुन्दर'-सिन्यस्य निवेद्येन 'मगनम्' इत्यायनन्वयालङ्कारोदाहरणे नातिव्याप्तिः, तत्र सादृश्यस्याचमत्कारित्वान् । ननु कथं तस्यानमरत्कारित्वमिति चेत् १ इत्यम्—अनन्वयालङ्कारे वर्णनीयस्य सदृशान्तर नास्तीति बोधनार्थमेव केवल स्वसादृश्यमुपादीयते, अतो वर्णितमपि सादृश्यं तत्र तात्पर्यविषयता नालम्बते । अनन्वय इति नामकरणमपि सात्पर्यविषयतया तस्य सादृश्यस्यानन्वयाभावादेव संगच्छते । एवञ्च तस्याचमत्कारित्व स्पष्टमेव । स्थलान्तरेऽपि सुन्दरेति विशेषणबलेनातिव्याप्तिवारणं दर्शयति—व्यतिरेके इत्यादिना । 'तवाननस्य' इत्यादिव्यतिरेकालङ्कारोदाहरणे यद्यपि सादृश्यस्य वर्णनं तिष्ठति, तथापि सचमत्कारकं न भवति, यतो निषेधोऽत्र प्रधानचमत्कारी । सादृश्यं तु तत्त्वविषयप्रतियोगितयोपात्तमपि अप्रधान सदृशचमत्कार्येवेति भावः । अन्यत्रापि रसासैनं तद्विरोधव्यावर्त्यतामुद्घृष्यति—एवमभेद इत्यादिना । अभेदप्रधानेषु इति । चमत्कारितया प्रतीयमानाभेदेऽप्यित्यर्थः । भेदप्रधानेषु इति । भेदविषयप्रयुक्तचमत्कारशालिष्वित्यर्थः । तत्तन्निष्पादकतयेति । रूपकादीनां दृष्टान्तादीनाञ्चालङ्काराणां सम्पादकतयेति भावः । अयं भावः—उपजीव्यतया वर्तमान सादृश्यमेव रूपकादीन् दृष्टान्तादीञ्चालङ्कारान् निष्पादयति, तत्र प्रथमयोगेऽभेदगर्भं सादृश्यं नियामकम्, द्वितीयवर्गे च भेदगर्भं तन् तथा, अत उभयत्र वर्गे 'वाक्यावोपस्कारकमादृश्यात्मकं' सामान्यमुपमालक्षणं प्रसक्तम् । परन्तु सादृश्य-विशेषणतया लक्षणे प्रविष्टं चमत्कारार्थकं सौन्दर्यम् तत्प्रसक्तिं धारयति, तत्र रूपण-दृष्टान्तीकरणादीनां विभिन्नजातीयचमत्कारविधायित्वेऽपि सादृश्यस्याचमत्कारित्वात् इति ।

लक्षणं मे 'सुन्दर सादृश्य' इति विशेषणविशिष्टं कथनं का फलं दिखलाते हैं—अग्नये च इत्यादि । 'मगनम्' "अर्थात् आकाश आकाश ही जैसा है" इत्यादि अनन्वयालङ्कार में भी यद्यपि सादृश्य वर्णित रहता है, तथापि वह सुन्दर-चमत्कारी नहीं होता, क्योंकि उसका वर्णन 'वर्णनीय आकाश आदि' अन्वय कोई पदार्थ सदृश नहीं है' इस बात को सिद्ध करने मात्र के लिये किया गया रहता है, अतः वर्णित होकर भी वह सादृश्य वक्ता का सात्पर्यविषयीभूत नहीं रहता, सात्पर्यविषय नहीं होने के कारण ही उसका वाक्यार्थ में अन्यय भी नहीं होता, इसी आधार पर 'अनन्वय' यह नामकरण भी हुआ है । तात्पर्य यह कि विवक्षित पदार्थ ही चमत्कारी होता है, और अनन्वयस्थल में सादृश्य विवक्षित नहीं रहता, अतः चमत्कारी भी नहीं होता । 'तवाननस्य' "अर्थात् जलज—(दल्लो साम्यात् जडजात, फलस्य स्वयं भी जड)—कमल, तुम्हारे मुख की तुलना का धारण कैसे करे ?" इत्यादि अथवा रिकालङ्कार में सादृश्य का निषेध चमत्कारजनक होता है, अतः उस निषेध के प्रतियोगी (निषेध का निषेध किया जा रहा है उस) सादृश्य का वर्णन मान्तरायक होने से किये जाने पर भी चमत्कारशून्य ही होता है । इसी तरह अभेदप्रधान रूपक, अपह्नुति, परिणाम, आग्निसाम् तथा उद्वेग आदि अलङ्कारों में और भेदप्रधान दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, दीपक एवं तुल्ययोगिता आदि चमत्कारी अलङ्कारों में यद्यपि उन अलङ्कारों को सिद्ध करने के लिये सादृश्य रहता है, तथापि वह चमत्कारी नहीं होता । अभिप्राय यह है कि रूपक आदि (दो मार्गों में विभक्त कर कथित) सभी अलङ्कार

सादृश्यमूलक है—सादृश्य के बिना उन अलङ्कारों की सिद्धि नहीं हो सकती और सादृश्य भी दोनों भागों में दो प्रकार के रहते हैं । प्रथम (रूपक आदि) भाग में भेद-घटित और द्वितीय (दृष्टान्त आदि) भाग में भेदघटित, अतएव प्रथम भाग के अलङ्कारों में प्रधानतया भेद की प्रतीति होती है और द्वितीय भाग के अलङ्कारों में प्रधानतया भेद की प्रतीति होती है । परन्तु किसी तरह का सादृश्य वर्णित रहने पर 'वाक्यार्थपरकारकसादृश्य' यह सामान्य उपमालक्षण यद्यपि उन अलङ्कारों में प्रसक्त हो सकता था क्योंकि 'सादृश्यमुपमामेदे' इस भ्रमटवृत्त लक्षण में जिस तरह से 'भेद' का निवेश किया गया है, उस तरह से पण्डितराज के उक्तलक्षण में नहीं, तथापि पण्डितराज के अनुसार सादृश्य में 'सुन्दर' विशेषण लगाने से इन अलङ्कारों की व्याप्ति हो जाती है । कारण, इन अलङ्कारों में रूपण आदि ही, भिन्न भिन्न तरह के चमत्कारों के जनक होते हैं, अतएव भिन्न भिन्न अलङ्कार भी माने जाते हैं । सादृश्य, मूलरूप में रहकर भी इन सब जगहों पर चमत्कारशून्य ही रहता है । सारांश यह कि 'सुन्दर' इस विशेषण के निवेश से अपद्धति, व्यतिरेक और रूपक आदि अलङ्कारों में उपमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती ।

प्रतीति उपमेयोपमाव्याप्तिव्याप्तिमाशङ्क्येष्टापत्त्या परिहरति—

मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपे, चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्र इत्युपमेयोप-
मायां च सादृश्यस्य चमत्कारित्वान्नाविप्रसङ्गः शङ्कनीयः तयोः सङ्गमाहृतत्वात् ।

तयोस्तादृशप्रतीपोपमेयोपमयो । संग्राह्यत्वादिति । निष्प्रमीमासौकोपमालक्षणदूष-
णावसरे इति भावः । अयमाशयः—प्रतीपे (मूलोक्तप्रकारके) उपमेयोपमायां च यद्यपि सादृश्य चमत्कारकं तिष्ठति, अतस्तथोक्तोपमालक्षणस्यातिव्याप्ति स्थादिति शङ्का-
नीयता, पण्डितराजमतानुसारं तयोपमात्वसर्वेष्टत्वात् इति । प्रतीपेत्यादिनामकरणं
प्राचीनमतानुसारेण । पस्तुतस्तु तत्रोपमवेति सारांशः । अथ "नव्यास्तु 'यत्र चन्द्रा-
द्युपमानप्रतियोगिकसादृश्यानुयोजित्वबुद्धिकृतचमत्कारस्तत्रोपमात्कारत्वम् । अनन्वये तु न
स्वसादृश्यबुद्धिकृतं स", किंतु निरूपमात्वबुद्धिकृत इति नोपमात्वम् । उपमेयोपमायामपि
न परस्परसादृश्यबुद्धिकृतः स किन्त्वनवीरेष साम्यं न तृतीय एतत्त्वदृश इति बुद्धिकृत
इति तस्यामपि न तत्त्वम् । मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपेऽपि मुखस्य बुद्धिकृत एव
स, तदनुयोजित्वबुद्धिकृत इति तथापि न तत्त्वम् । 'अहमेव गुरु' इति प्रतीपेऽपि उपमान-
तिरस्कृतत्वकृत एव स न सादृश्यबुद्धिकृत इति न तथापि तत्त्वम् । अलङ्कारभेदे च
चमत्कारनिदानभेद एव निदानम् । रूपकोत्प्रेक्षावो तथा क्लृप्तत्वात्, सङ्गदयानुभवसाक्षि-
कत्वाच्च । एतेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानं यदि सादरयाप्रतीतिस्त्वनुभवविरोधः । यदि भेदगमै
तदप्रतीतिस्तदा भेदरानिवेरोन तद्विराणे किं फलम् । उपमेयोपमावतस्याव्यस्तुपमात्व-
मित्यपास्तम्' इत्याहुः" इति नागेशः ।

अथ प्रतीप तथा उपमेयोपमा अलङ्कार में अतिव्याप्ति की आशङ्का करके दृष्टापत्ति
द्वारा उसका निराकरण करते हैं—मुखमिव इत्यादि । 'मुख सा चँद' इस प्रतीपालङ्कार
में तथा 'चँद सा मुख और मुख सा चँद' इस उपमेयोपमा अलङ्कार में सादृश्य
चमत्कारी रहता है, अतः उन दोनों में उपमा का लक्षण अतिव्याप्त होगा, ऐसी आशङ्का
नहीं करनी चाहिए । कारण, उन दोनों स्थलों में उपमालक्षण का प्रसङ्ग ही मुझे इष्ट
है अर्थात् मैं उन दोनों को उपमा से भिन्न अलङ्कार मानता ही नहीं हूँ, अपि तु उपमा
के अवान्तरभेद के रूप में ही उन दोनों को संगृहीत करना चाहता हूँ ।

उत्तोपमालक्षणस्याव्याप्तिमाशङ्क्य निरस्यति—

ननु 'त्वयि कोपो समाभाति सुधांशविष पावकः' इत्यादावुपमानस्या-

त्यन्तमसम्भावितत्वात्सादृश्यमेव न तावत्प्रतिपत्तुं शक्यम्, चमत्कारस्तु पुनः केन स्यादिति चेत्, कविना हि खण्डशः पदार्थोपस्थापितमता स्वेच्छया सम्भावितत्वेनाकारेण चन्द्राधिकरणकमनलं प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पते बाधकाभावात्। कल्पितमसत्सादृश्यं कथं चमत्कारजनकमिति तु न वाच्यम्, परमसुकुमारीभवत्कनकनिर्मिताङ्गया मणिमयदशनकान्तिनिर्वासित-ध्वान्तायाः कान्ताया भावनया पुरोऽवस्थापिताया आलिङ्गनस्याह्लादजनकत्वं दर्शनात्। उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्तत्र दापलेशोऽपि।

त्वयि कोप इति। त्वयि = वर्णनीयाया कस्याचन सुन्दर्याम्, वर्तमान, कोप चन्द्रे विद्यमानो बहिरिब मम प्रतिभाति = मया प्रतीयत इत्यर्थः। उपमानस्येति। चन्द्राधिकरणरुबहेरित्यर्थः। प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम्। उत्तरयनि-कविना द्वीप्यादिना। खण्डश इति। प्रतिपद पृथक् पृथक् इत्यर्थः। स्वेच्छया संभावितत्वेनेति। स्वेच्छानुसारम् 'यद्येव स्यात्' इति सम्भाजनविषयीभूतेनेत्यर्थः। अत्र 'स्वेच्छया असम्भावितत्वेन न तु सत्येन रूपेण' इति नागेशो विवृणुते, तन्मातीवशोभनं प्रतिभाति। अथ भाव—'त्वयि कोप' इत्यादौ उपमानतया वर्णितचन्द्राधिकरणकोऽनलो नितान्तमसम्भव, चन्द्रेऽनलस्य कदाप्युपलंभाभावात्। एवञ्च तत्प्रतियोगिक सादृश्यं ज्ञातुमयोग्यम्, अप्रसिद्ध-पदार्थप्रतियोगिकसादृश्यस्याप्यसम्भवात्। अज्ञाते च सादृश्ये चमत्कार एव न भवितुमर्हति, चमत्कारस्य सादृश्यज्ञानाधीनत्वात्। तथा च कथमनूपमेते शङ्कायाम् इदमुत्तरयत्—चन्द्र प्रसिद्ध, अनलोऽपि प्रसिद्ध, एवञ्च तयो पृथक् पृथक् रमरण कषेराम्नि भवेत्। तयोपस्थिते पर पुन कवि स्वेच्छानुसारं यद्येव स्यादिति संभावनाविषयीभूतेन रूपेण चन्द्रवर्तिनो बहे कल्पना कुर्यात्, तथा कल्पनावसरञ्च करिपतेन तेन चन्द्राधिकरणकेन बहिना सह नायिग्निरिष्टकोपस्य सादृश्यकल्पना सम्भवति बाधकाभावात् इति। अथापि शङ्कते—करिपतमित्यादिना। यत् करिपतमत एवासदित्यर्थः। समाधत्ते—परमेत्यादि। परमसुकुमारीभवता अतिक्रमलोकतेन, कनकेन-सुवर्णेन, निर्मितानि अङ्गानि यस्यास्तस्या इत्यर्थः। सुवर्णमर्णाया इति यावत्, मणिमयेति। मणिमयाना मणिरचिता-नाम् दशनानाम्, कान्तिभिः किरणैः, निर्वासित दूरीकृतम्, ध्वान्तमन्वन्तरो मया तस्या इत्यर्थः। कात्पनिकतया वस्तुतोऽवर्तमानस्य सादृश्यस्य चमत्कारित्वमनुपपन्नम्? नानुपपन्नम्, दृश्यते हि कनकमयाद्रीं विकिरन्मणिदन्तमिति कामिनीं पुरो विद्यमाना भावयतो भावुकस्य तदास्तिन्नभावने आनन्दः। कात्पनिकमपि वस्तु भावुकानानन्दयतीति भावः। नन्वेव भवतु कल्पितस्यापि सादृश्यस्य चमत्कारजनकता, तथापि लक्षणे उपमानोपमेययोर्निवेशेन तयो सन्वयस्यापेक्षिततया कथमुक्तस्थले निर्वाहोऽत आह—उपमानोपमेयेत। लक्षणे उपमानोपमेययोर्निवेशेऽपि तयो सन्वय न निविष्टमिति न कश्चि-रीप। कात्पनिकतयाऽप्यस्येऽपि उपमानोपमेयेसमादाय सम्बन्धुपयालद्वार इति परमार्थः।

स्थलविशेष में उक्त उपमालक्षण की अग्राप्ति की आवश्यकता करके समाधान करते हैं—अनु द्रव्यादि। 'त्वयि कोप' अर्थात् तेरे अन्दर का क्रोध मुझे चन्द्रवर्ती आर के समान प्रतीत होता है इत्यादि स्थल में जो उपमान है 'चन्द्रवर्ती आर' आदि, वह सर्वथा असम्भव वस्तु है। ऐसी स्थिति में उस वस्तु का सादृश्य समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि जब कोई वस्तु हो, तब तो उसका सादृश्य समझ में आये—जो वस्तु है ही नहीं, उसका सादृश्य कैसा? और जब सादृश्य ही समझ में नहीं आया, तब चमत्कार होगा किससे? कारण, उपमा में चमत्कार, सादृश्यज्ञान के अधीन है यह

सर्वसम्मत बात है, अतः ऐसे स्थलों पर उपमा का उक्त लक्षण संघटित नहीं हो सकता। यह शङ्का नहीं करनी चाहिए। कारण, ऐसे स्थलों पर 'चन्द्र में आग' इस सम्मिलित पदार्थ की अप्रतिदि होने से उपस्थिति की संभावना नहीं रहने पर भी कवि को खण्डशः चन्द्र और आग की उपस्थिति हो सकती है, क्योंकि पृथक् पृथक् वे दोनों ही पदार्थ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार खण्डशः पदार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद, कवि अपनी इच्छा के अनुसार समावित रूप से—अर्थात् 'यदि चन्द्र में आग हो' इस रूप से चन्द्र में आग की कल्पना करता है और जब कल्पना के आधार पर 'चन्द्रवर्ती आग' यह सम्मिलित पदार्थ तैयार हो चुकेगा, तब उसके सादृश्य की भी कल्पना कर लेने में कोई बाधक नहीं। यदि कोई कहे कि—कल्पित सादृश्य तो असत् (मिथ्या) हुआ फिर उससे चमत्कार की उत्पत्तिकैसे होगी—मिथ्या वर्णन के भ्रमणसे क्या आनन्द प्राप्त होगा? तो इसका उत्तर यह है कि आनन्द सावधस्तु से ही प्राप्त हो ऐसा निश्चय नहीं है, क्योंकि जब आलोक जन भावना के द्वारा, किसी ऐसी कामिनी, जिसके अङ्ग, कोमल बने कमल से बने हों तथा जिसने मणिमय वृन्तकिरणों से अन्धकार को दूर कर दिया हो—को अपने पुरोभाग में उपस्थित कर उसका आलिङ्गन करते हैं, तब उस मिथ्या आलिङ्गन से भी भगवद् आनन्द की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है। बात रही लक्षण की, तो उसमें उपमान-उपमेय के साथ होने का निवेश किया नहीं गया है। अतः उपमान के कल्पित होने पर भी 'उपमा' मानने में दोष का लेश भी नहीं है।

कल्पितोपमानोपमेयभावविशिष्टं स्थलान्तरमपि दर्शयति—

अत एव

‘स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलत्कुटितोऽलकः ।

शशाङ्कविम्बतो मेरी लम्बमान इवोरगः ॥’

इत्यादावपि नानुपपत्तिः ।

अत एवेति । उपमानोपमेययोः सत्यत्वस्य लक्षणैऽनिवेशादेवेत्यर्थः । स्तनाभोगे इति । चन्द्रविम्बवन्मण्डलवर्तुलदीप्तिशालिनो नायिकायाः कपोलवैशाख तदीये मेख-त्तलोरोक्ते रूपप्रदेशे पतन्, कुटिल, केश, चन्द्रविम्बात्, मेखशिखरे लम्बमानः कृष्णसर्प इव शोभत इत्यर्थः । नानुपपत्तिरिति । उपमालक्षणाव्याप्तिरूपा अनुपपत्तिर्नैत्यर्थः । अत्रापि यद्यपि चन्द्रविम्बावधिकमेखशिखराधिरुणकलम्बमानोरगरूपमुपमान, तस्य सादृश्यत्वं स्वतोऽसम्भवितात्कारपानिकमेव, तथापि पूर्वप्रतिपादितदिशोपमास्वीकारे बाधकं नास्तीति भावः ।

कल्पित उपमान वाला एक अन्य उदाहरण भी दिखलाया जाता है—अत एव इत्यादि । लक्षण में उपमानोपमेय की सत्यता का निवेश नहीं करने के कारण ही—‘स्तनाभोगे’ ‘‘अर्थात् मेरे पूरे, ऊँचे स्तनों पर कपोलखट से गिरता हुआ कुटिल केश, चन्द्रमण्डल से सुमेरु पर्वत के शिखर पर लटकते हुए काले नाग सा प्रतीत होता है’ इत्यादि में भी उपमा अलङ्कार स्वीकार करने में किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होती । अर्थात् यहाँ भी ‘चन्द्रमण्डल से मेरु पर लटकता हुआ साँप’ यह जो उपमान है वह भी स्वतः असम्भव होने से कल्पित, अतएव असत्य ही होगा, अतः ‘उपमा’ कैसे होगी, यह शङ्का हो सकती थी, परन्तु जिन युक्तियों से ‘त्वयि कोपः’ इत्यादि में ‘उपमा’ मान ली गई है, उन्हीं युक्तियों से यहाँ भी उपमा मानी जा सकती है ।

एतादृशस्थलेऽन्यत्र वर्णित मतान्तरमुल्लिख्य सगृह्यति—

परे तु अस्याः कल्पितोपमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालङ्कारान्त-

स्तामाहुः । तत्र । सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्, सन्निरूपितत्वस्य लक्षण्ये प्रवेशाभावात् । उपमानान्तराभावफलकत्वं ह्युपमा-विशेषत्वे साधकम्, न नूपमाबहिर्भावे ।

उपमानान्तराभावफलकत्वेनेति । उपमानान्तरम् अन्यदुपमानम्, तस्य, अभाव-अथोप्यता, फल यस्यास्तादृशत्वेनेत्यर्थः । अलङ्कारान्तरताम् अन्यालङ्कारत्वम् । सन्निरूपितत्वेति । सता सन्धेन, उपमानेन, निरूपित सादृश्य स्यात् इत्यस्येत्यर्थः । उपमा-विशेषत्वे उपमाया विलक्षणभेदत्वे । उपमाबहिर्भावे उपमान्यालङ्कारत्वस्वीकारे । अत्र-नैतादृश वस्त्वन्तर संसारे समुपलभ्यते, यत् कपोलत् स्तनपरिसरे पतत कुक्षित-कचरयोऽमेयस्योपमानभाव भजेतेति कवेस्तापयेण उपमाया पर्यवसानाभावात् अलङ्कारान्तरमेवेति शकाया, चमत्कृतिकरस्य सादृश्यस्य स्पष्टं प्रतीते 'सुन्दरं (चमत्कार-जनकम्) सादृश्यमुपमा' इति लक्षणांनुसारम् उपमाया स्वीकारे बाधकप्रारित । सत्ये-नोपमानेन निरूपित सादृश्य भवेदिति तु प्रकृतलक्षणे न निविष्टम् । उपमानान्तरं नास्तीति प्रतीतिरिह फलभूतेत्येतावताऽपि उपमात्वनिरासो न भवति, प्रस्युत विशिष्टोपमात्वमेव सिद्धयतीति च समाधानस्याशयो बोध्यः ।

ईदृश स्थलों में कुछ विद्वानों के द्वारा माने गए मतान्तर का उत्कलन करके खण्डन करते हैं—परे तु इत्यादि । अन्य विद्वानों का कथन है कि—“स्तनाभोगे” इत्यादि काव्यों में कल्पित उपमा का फल है ‘अन्य किसी उपमान का न होना’—अर्थात् कवि ऐसी उपमा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि संसार में ऐसी वस्तु है ही नहीं, जिसके साथ, कपोल से स्तन पर गिरते हुए केशरूप उपमेय की समानता कही जाय, अतः यहाँ ‘उपमा’ न मानकर कोई दूसरा ही अलङ्कार माना जाना चाहिए । परन्तु उनका यह कथन समुचित नहीं है । कारण, ऐसे काव्यों में चमत्कारी सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण इसका उपमा अलङ्कार में ही अन्तर्भाव करना उचित है, क्योंकि सादृश्य का ‘सदृशपदार्थ से निरूपित होना’ प्रकृत उपमालक्षण में विविष्ट नहीं है—अर्थात् उपमान साथ रहे ऐसी बात लक्षण में नहीं कही गई है । रही आपकी यह बात कि—‘इस कल्पित उपमा का फल अन्य उपमान का न होना है’, सो यह बात तो इसको एक विलक्षण प्रकार की उपमा सिद्ध करती है, इससे, इसका उपमा से बहिष्कार नहीं निश्च होता ।

शङ्कते—

अथ

‘विलसत्यानन तस्या नासाप्रस्थितमौक्तिकम् ।

आलक्षितबुधारेण राकेन्दोरिव मण्डलम् ॥’

इत्यादौ साधारणधर्मस्याभावात् कथमुपमानिष्पत्तिः ? बुधमौक्तिकयोरेकैक-मात्रवृत्तित्वात् ।

अपेक्षितप्र-प्रमान्तविषयभिन्नविषयारम्भसूचकम् । विलसतीति । नासां, स्थित, मौक्तिकम् मुक्ताभूषणम्, यस्मिन्, तत्, तस्या वर्णनीयनायिकाया, आननम् मुक्तम्, आलक्षित दृष्टिगोचरभूत, बुधस्य तन्नामकस्य नक्षत्रविशेषस्य, आरलेप सम्बन्ध (संयोग) यस्मिन्, तादृशम्, आश्लिष्टबुधमिति नावत्, तथा पाठस्तु साधीयान् उपमौक्तिकयोरेत्यभिप्रेत्यनुरोधात्, राकेन्दो पूर्णिमाचन्द्रस्य, मण्डलम्, इव, विलसति शशोमत इत्यर्थः । अत्र बुध तदास्तेषो वा राकेन्दुमण्डलमात्रात्तोषमं, आनने तद-

सम्भवात् । एवम् मौक्तिकम् आननमापवृत्तीधर्मः, चन्द्रमण्डले तस्यावर्तमानत्वात् । तथा च नैकोऽपि धर्मस्तथाविधो यः उपमानोपमेययोः चन्द्रमण्डलाननयोऽभयोः साधारणः स्यात् । साधारणधर्माभावे च क्यमुपमालङ्कारत्वम् साधारणधर्मोपस्थितेरुपमाकरणत्वस्य लक्षणातिरूपे स्थिरकृतत्वात् इति शङ्का ।

अथ एकं भिन्नं तरह की भावना करते हैं—यथ इत्यादि । 'विलसत्याननम्'—हर्यादि अर्थात् नासिका के अग्रभाग में वर्तमान है मुक्तागुण जिसमें, ऐसा, उस-पुर्णनीय नायिका—का मुख, बुध-तारा—के संयोग से मुक्त पूर्णिमा-चन्द्र के मण्डल सा सुशोभित हो रहा है ।' इत्यादिक में साधारण धर्म के न होने के कारण उपमा अलङ्कार किस तरह सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि साधारण धर्म की उपस्थिति की ही उपमा का कारण माना गया है, उसके बिना उपमा हो ही नहीं सकती । 'बुध'—अथवा 'मोती' तो साधारण धर्म हो नहीं सकता । कारण, ये दोनों एक-एक में ही रहनेवाले धर्म हैं—अर्थात् 'बुध' केवल उपमान (चन्द्रमण्डल) में रहनेवाला है, उपमेय (मुख) में उसकी संभावना ही नहीं । इसी तरह 'मोती' केवल उपमेय (मुख) में रहनेवाला है, उपमान (चन्द्रमण्डल) में नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ उपमा का न होना ही उचित होगा यह है शङ्का ।

उक्ताशङ्काया असत्समाधानद्वय तावत् प्रतिपाद्य सङ्ख्यति—

न चात्र यदि नासाप्रस्थितमौक्तिकं तस्या आननमालक्षितमुधारलेप-राकेन्दोर्मण्डलमिव विलसतीति तादृशराकेन्दुमण्डलनिहृपितसादृश्यप्रयोजक-विलासाभ्रयस्तादृशमाननमिति तात्पर्यम् तदा विपूर्वकलसत्यर्थशोभाविशेष एव समानो धर्मः । यदि च तादृशमिन्दुमण्डलमिव यत्तादृशमाननं तद् विलसतीति तादृशसादृश्यापच्छिन्नमाननमुद्दिश्य विलासाभ्रयस्य विधेयतया विवक्ष्यते तदा-स्या लुप्तोपमात्वात्पद्ममिव मुक्तमित्यादाविवाहादकत्वादिधर्म उन्नेय इति याच्यम् । उपमानोपमेयशोभयोरपि वस्तुतोऽसाधारणत्वात् ।

‘कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।

कपायवसनो याति कुङ्कुमालेपनो यतिः ॥’

इत्यादी धर्मान्तरस्याप्रतिमानादसुन्दरत्वाच्च कोमलातपादीनामसाधारणत्वात्क-थमुपमेति चेत्,

तादृशराकेन्दुमण्डलेति । मुधारलेपविशिष्टराकेन्द्रित्यर्थः । एवमप्येऽपि । प्रथमोत्तरे वृत्तमाह—उपमानोपमेयेति । द्वितीयोत्तररीत्योक्तप्रसिद्धोदाहरणे निर्वाहेऽप्यप्रसिद्धोदा-हरणे दीपमाद्यसाधारणमाह—कोमलेति । कोमलातपत्वम् शोणाभ्रत्व च सन्ध्याकाल-विशेषणम्, बहुनीहे । अत एव कोमलातपादीनामिति वक्ष्यति । एवम् कोमलं अनुद-वेगकर, आतपी यस्मिन्, तथा शोणम् रक्तवर्णम् अश्रुं मेघो, यस्मिन्, तादृशो यः सन्ध्याकालः, तस्य, सहोदरः गृह्यते, कपायम् कपायद्वयद्वयवर्णितम्, वसनं यस्य तादृशं तथा कुङ्कुमालेपनं कृतकुङ्कुमलेपो यति यातोऽन्यर्थः । 'विलसत्याननम्' इत्यत्र साधारणधर्माभावात् क्यमुपमेति शङ्काया 'नामामौक्तिकशोभितं तथायिकाननं, मुधारले-पविशिष्टेन्दुमण्डलमिव विलसतीति रीत्यान्वयोपपादने मुधारलेपविशिष्टं यन् राकेन्दु-मण्डलम्, तन्निहृपितं यत् सादृश्यं, तत्प्रयोजको यो चित्राङ्गः, तस्याभ्रयो नासाप्रमौक्ति-विविशिष्टं मुखमिति कवेस्तात्पर्यावगमेन निर्वृत्तलक्षणात्पर्यशोभाविशेष एव साधारणधर्मः

इत्युत्तर न संभवति, उपमानेन्दुमण्डलगतशोभाया, उपमेयानननिष्ठशोभायाश्च मियो भिन्नत्वेन साधारणधर्मत्वात्सम्भवात् । बुधारत्नेष्विषिष्टचन्द्रमण्डलसदृश यन्नासामौक्तिक-
गोभित मुख, तत् विलसतीति रीत्यान्वयस्वरूपेण तादृशसादृश्यानुयोग्याननमुद्दिश्य
विलासाश्रयत्व विधीयत इति कवेस्तात्पर्यवर्णने 'पद्ममिव मुखम्' इत्यादिवत् साधारण-
धर्मलोपोपमैव-अर्थात् आह्लादकत्वादिरूप साधारणधर्म ऊहनीय इत्यपि न तस्या
शङ्काया समुचित समाधानम्, तेन उपमानेन प्रसिद्धसाधारणधर्मके चन्द्रसुखादौ
निर्वाहेऽपि 'कोमलातप' इत्यादिलक्ष्येषु निर्वाहासम्भवात् । तथाहि—अथ कोमलातपत्वं
शोभाश्रय च सध्याकालात्मकोपमानमात्रगतधर्मद्वयम् । कथायवसनत्वम् कुङ्कुमालेपनत्व
च वतिरूपोपमेयमात्रवर्तिधर्मयुगलम् । अतस्तेषु नैकोऽपि धर्म उपमानोपमेयोभयसाधारण ।
यातीति क्रियाया पूर्वरोत्या विधेयत्वेन पूर्वगिद्धत्वाभावे न साधारणधर्मता संभविनी ।
लुप्तोपमात्वमङ्गीकृत्य साधारणधर्मोच्चयनरोतिरपि न भवितुमर्हति पूर्वोक्तोभ्यो धर्मोभ्योऽ-
न्यस्य कस्यचन धर्मस्य ध्यानपद्यानागमनात्, बलात्तादागमने कारिते तस्याचमत्का-
रित्वात् । एषञ्च 'विलसती'त्यादौ साधारणधर्माभावे कस्यमुपमेति शङ्का यथास्थितेति भावः ।

तब तक उक्त आशङ्का का एक असिद्धान्ती समाधान कहकर खण्डन करते हैं— न
थ इत्यादि । स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—'विलसति' इत्यादिक में साधारण धर्म के
अभाव में उपमा कैसे होगी, इस आशङ्का के दो समाधान हो सकते हैं—(१) 'नासिका के
अग्रभाग में मुक्ताभूषण धारण करनेवाला उसका मुख बुधालिखित चन्द्रमण्डल
समान सुशोभित हो रहा है' इसका तात्पर्य यदि यह हो कि 'पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट मुख,
पूर्वोक्त विशेषणयुक्त चन्द्रमण्डल द्वारा निरूपित सादृश्य को सिद्ध करनेवाली शोभा का
आश्रय है' तब तो वह शोभा विशेष ही साधारण धर्म हो जाता है । और—(२) यदि
यह अभिप्राय हो कि 'उक्त विशेषणविशिष्ट, पूर्णिमाचन्द्र के सदृश वस्तु विशेषण
युक्त मुख, सुशोभित हो रहा है (विलास का आश्रय बन रहा है)' और इस रीति
से इस श्लोक में उस तरह के चन्द्रमण्डल से निरूपित सादृश्य के अनुयोगी मुख को
उद्देश्य मानकर विलासाश्रयत्व (शोभा के आश्रय होने) को विधेय बनाना स्पष्ट
हो, तब यह लुप्तोपमा (साधारणधर्मलोपोपमा) होगी, अतः जिस तरह 'कमल
सदृश मुख' इत्यादि में 'आह्लादकत्व' आदि साधारण धर्म का ऊह कर लिया जाता है,
उसी तरह किसी साधारण धर्म का ऊह कर लेना चाहिए । अतः यहाँ किसी तरह की
गड़बड़ी नहीं । सारांश यह कि पूर्वोक्त श्लोक में यदि 'विलसति' इस क्रियापद के
अर्थ शोभा विशेष को सादृश्य का प्रयोजक (कारण) माना जाय तब तो वह शोभा
विशेष ही साधारणधर्मरूप हो जाता है और यदि वैसा न मानकर उस शोभा विशेष
को केवल विधेय माना जाय तब विधेय के अपूर्व (पूर्व सिद्ध नहीं) होने के कारण
वह साधारण धर्म नहीं हो सकता, अतः यहाँ लुप्तोपमा हो जाने से चन्द्र और मुख
के किसी अन्य साधारण धर्म (सुन्दरत्व आदि) की कल्पना बर ली जानी चाहिए ।
ऐसा यदि आप कहें—तो यह खटत नहीं हो सकता । कारण, परमार्थतः उपमेय और
उपमान की शोभा भी अपने अपने में रहनेवाली असाधारण ही होती है । अर्थात् सूक्ष्म
दृष्टि से विचार करने पर मुख की और चन्द्र की शोभा भी भिन्न भिन्न सिद्ध होती है
एक नहीं, अतः उसको साधारण धर्म उद्धारनेवाला प्रथम उत्तर नहीं बनता और द्वितीय
उत्तर से 'चन्द्र सा मुख' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरणों में काम चल जाने पर भी—
'कोमलातप' इत्यादि अर्थात् कोमल (अनुद्देश्यकर) धूप और लाल लाल बादल वाले
सायंकाल का सद्देश (तमान), कपायवस्त्रधारी तथा केसर के लेप वाला संन्यासी जा
रहा है' इत्यादि स्थलों में काम नहीं चल सकता, क्योंकि, यहाँ लुप्तोपमा मानकर

साधारण धर्म का उह कर लेनेवाली युक्ति बन नहीं सकती । कारण, यहाँ कोई ऐसा धर्म ध्यान में आता ही नहीं, जो साधारण हो सके, यदि खींच-खींचकर किसी वैसे धर्म को लाया भी जाय, तो वह असुन्दर होगा—जमझार (आह्लाद) से शुन्य होगा । अर्थात् चन्द्र और मुख का साधारण धर्म आह्लादकर आदि प्रसिद्ध है, अतः वाचक पद के अभाव में भी वह ध्यान में आ जाता है, परन्तु प्रकृत में सायंकाल और यति का कोई ऐसा धर्म प्रसिद्ध नहीं है, अतः बिना कहे वह ध्यान में नहीं आता, बल्कि किसी धर्म को ध्यान में लाने पर भी वह आनन्ददायक नहीं होता । रहे पद में कथित कोमलातपस्य, शोणाभ्रत्व, कपायवसनत्व और केसरलेख धर्म, तो वे साधारण नहीं असाधारण हैं अर्थात्—इन चारों में प्रथम दो केवल उपमान-सायंकाल-में रहनेवाले धर्म हैं और अग्रिम दो केवल उपमेय-सन्ध्यासी में रहनेवाले । फलतः ऐसे स्थानों—जहाँ कोई साधारण धर्म नहीं रहता—में उपमा कैसे होती है यह भाशङ्का जैसी की तैसी घनी रही ।

इदानीं सिद्धान्तभूत समाधान लिखते—

अत्राहुः—उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलोत्पत्तिरभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः ।

अभेदाध्यवसायेनेति । अभेदारोपेणेति भावः । अत्र नगौश —“न चैकधर्मवत्त्वमिदोपमानद्वितीधर्मसदृशधर्मवन्मप्युपमाप्रयोज्यमस्तु किममुनाऽभेदाध्यवसायेनेति वाच्यम् । साधारणधर्मेणोपमानोपमेययोरभेदप्रतीतिकृतचमत्कारस्त्योपमायामिष्टस्य धर्मयोरभेदाध्यवसानं विनानुपपत्तेः । तथा चोक्तमलङ्कारसर्वरवकृता—‘भेदाभेदप्रधानीपणे’ति बौध्यम्” इत्याचष्टे । अयं भावः—उक्तोदाहरणेषु केचन उपमेयमात्रगताः केचन उपमानमात्रगता एव धर्मा ‘बुध-भौक्तिक-कोमलातपादयः’, अत एव ते न साधारणा इति यद्यपि सत्यम् । तथापि असाधारणानामपि तेषां धर्माणां मिथः सादृश्यमस्तीति नापलापार्हम् । एवञ्च तत्सारस्यमेव मूल भूत्वा तेषु असाधारणेष्वपि धर्मेषु अभेदम्-ऐक्यम्-आरोपयति अर्थात् तेषु धर्मेषु सादृश्यं विदन्ती जनास्तन्मूलकं तेष्वभेदमपि विदन्ति । तथा न भवन्ति ते असाधारणा अपि धर्मा साधारणाः । अत एव तेषु स्थलेषु उपमा-सिद्धौ काचित् बाधाऽवतिष्ठति इति ।

अब उक्त भाशङ्का का सिद्धान्ती समाधान करते हैं—अत्राहुः इत्यादि । उक्त भाशङ्का का सिद्धान्तभूत समाधान यहाँ यह कहा जाता है कि—ऐसे स्थानों पर केवल उपमान और उपमेय में रहनेवाले धर्मों के असाधारण होने पर भी, उन धर्मों में रहनेवाले परस्पर सादृश्य के कारण, उन धर्मों में अभेद का आरोप करके उनको साधारण मान लिया जाता है । अर्थात्—‘बुध’ तथा ‘भौक्तिक’ और ‘कोमल धूप’ तथा ‘केसर के लेख’ आदि के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें जो क्रमशः श्रुतता तथा अरुणता आदि गुणमूलक समानता है, उसके द्वारा उन्हें अभिन्न मानकर ‘बुध से अभिन्न भोती’ और ‘कपायवस्त्र से अभिन्न केसरलेख’ आदि को साधारण धर्म मान लिया जाता है । अतः उन स्थलों में असाधारण धर्म के भी साधारण हो जाने से उपमा सिद्ध हो जाती है ।

पुनश्चैतत्स्थलेषु उपमाया असिद्धिमन्यप्रकारेणाशक्य समाधत्ते—

न च भ्रमात्मकेनाहार्याभेदोच्चेन कथं नाम कुङ्कुमात्तेपकोमलातपादीनां यस्तुतो भिन्नानां साधारणत्वसिद्धयेऽत्यन्तमसन्नभेदः सेद्धं शक्नुयात्, भ्रमेणार्थसिद्धेरभावादिति वाच्यम् । प्रागुक्तेऽपि ‘त्वयि कोपो ममाभाति सुधा-

शाविव पावकः' इत्यादावुपमानोपमेयोरत्यन्तासत्त्वेऽपि कल्पनामात्रतो यथा निष्पत्तिस्तथैव प्रकृते साधारणधर्मस्यापीति व्यक्तमुपपादयिष्यामः ।

अमात्मकेनाहार्याभेदबोधेनेति । आहार्याभेदबोधस्य तदभाववति तद्वत्तावगाहित्वाद् भ्रमन्व बोध्यम् । अत्यन्तमसङ्घिेति । सर्वथा मिथ्याभूत इत्यर्थः । सिद्धम् सिद्धो भवितुम् । अमेणार्थसिद्धेरिति । न हि रज्जौ सर्पभ्रमेऽपि सर्पस्तत्रोपलभ्यत इति भावः । प्रागुक्त इति । यत इत्यादि । 'त्वयि' 'इत्यादावुपमानोपमेयोरिति । यद्यपि चन्द्राधिकरणकान्तरूपोपमानयत् नायिकाधिकरणकोपेरूपमेय न सर्वथा मिथ्याभूतम्, तथापि उपमान-सादृश्ययोऽभयोर्मिथ्यात्वे तस्योपमेयत्वमपि मिथ्यैव, उपमानोपमेयत्वयोर्मिथः सापेक्षत्वादिति बोध्यम् । बुधमौक्तिक्यो कुङ्कुमलेपकोमलातपयोश्च वस्तुतो भेद एवानुभवसिद्ध-इति तयोर्द्वयोर्द्वयो एव साधारणत्व न भवितुं योग्यम्, अतस्तयो साधारणत्वसिद्धये सादृश्यमूलकोऽभेद आरोप्यते । एवञ्च तत्रन्याभेदबोधस्य आहार्यत्वम् फलितम्, आहार्यञ्च ज्ञान सर्वत्र अमात्मकमेव भवति । तथा च 'भङ्गितेऽपि लघुने न शान्तो व्याधि'रिति न्यायस्यैवावतारो जातः । अर्थात् भ्रमेण भ्रमविषयीभूतोऽयं न सिद्धयति । एवञ्चाहार्याभेदज्ञानेनापि पूर्वोक्तयोर्वस्तुतो भिन्नयोर्भेद सिद्धवेदित्यत्र शङ्का । 'त्वयि कोपो' 'इत्यादिपूर्वोक्तपक्षे उपमानोपमेये एव सर्वथाऽसती यद्यपि, तथापि यथा कल्पनामात्रतस्तत्रोपमानोपमेयभावो भवति, तथैव प्रकृते उक्तधर्मयोरसतोऽपि साधारण-त्वस्य कल्पनया सत्त्वं भवेदिति च समाधानम् । एतत्समाधानगतपदार्थस्य स्पष्टमुप-पादनं ग्रन्थकृता स्वयमग्रे विधास्यते ।

फिर उक्त स्थलों में अन्य पुंक्ति से उपमा की अस्तित्व की आशङ्का करके स्पष्टन करते हैं—न च इत्यादि । यदि आप कहेंगे कि—'यह जो आहार्य (अपनी इच्छा से कल्पित) भेद का ज्ञान है, वह भ्रमरूप है—सर्वथा मिथ्या है, अतः उसके द्वारा 'बुधमौक्तिक' तथा 'कुङ्कुमलेपकोमलातप' आदि वस्तुतः सर्वथा भिन्न धर्मों का, उन्हें साधारण बनाने के लिये किया जानेवाला सर्वथा अवर्तमान भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि भ्रम से किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती—रज्जु को भ्रम से साँप समझ लेने पर भी वह साँप नहीं हो जाता', तो इसका समाधान यह है कि 'त्वयि कोपो ममाभाति' इत्यादि में जैसे उपमान तथा उपमेय के सर्वथा मिथ्या होने पर भी केवल कल्पना के आधार पर उपमा की सिद्धि की जाती है, वैसे ही प्रकृत उदाहरण में साधारण धर्मों की भी कल्पना से सिद्धि की जा सकती है—इस विषय का स्पष्टतया उपपादन हम आगे करेंगे । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि 'त्वयि कोपो' इस पद में 'चन्द्र मे आग' जिस तरह से अप्रसिद्ध अतएव मिथ्या है, उस तरह से यद्यपि 'नायिका में कोप' अप्रसिद्ध अतएव मिथ्या नहीं है, तथापि उपमान-चन्द्र में आग तथा उसका सादृश्य ये दोनों जय मिथ्या हैं, तब 'नायिका में कोप' इसका उपमेय होना भी मिथ्या हो ही जायगा, क्योंकि उपमान उप-मेय में परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं—एक के सिद्ध होने पर ही दूसरा सिद्ध हो सकता है, अतः यहाँ 'उपमानोपमेयोरत्यन्तासत्त्वऽपि' ऐसा लिखा गया है ।

विशेषमाह—

अयमेव बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति प्राचीनैरभिधीयते ।

अयमेवेति । सादृश्यमूलभेदाध्यवसाय एवेत्यर्थः । वस्तुतो भिन्नयोरपि वस्तुनोर्यः सादृश्यमूलक आहार्याभेदबोधः स एव प्राचीनैरालङ्कारिकैः 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव'पदेन अभिप्रायत इति भावः ।

एक विशिष्ट बात कहते हैं—अयमेव इत्यादि । वस्तुतः भिन्न होने पर भी दो वस्तुओं में जो सादृश्यमूलक अभेदारोप होता है, उसीको प्राचीन आलङ्कारिक लोग 'विम्बप्रतिविम्बभाव' कहते हैं ।

प्रायुक्तरीत्योदाहरणान्तरेऽप्युपमासिद्धिं दर्शयति—

एवम्

‘भुजो भगवतो भाति चञ्चलानुरचूर्णने ।

जगन्मण्डलसंहारे वेगवानिव धूर्जटिः ॥’

अत्र धूर्जटिभगवद्भुजयोराकारेण सादृश्याभावात्प्रकारनिर्मुक्तस्य केवलमान-
स्याप्रयोजकतया चाणुरचूर्णननिमित्तकचाञ्चल्यवत्त्वजगन्मण्डलसंहारनिमित्तक-
वेगवत्त्वयोरभेदाध्यवसानेनाभिन्नधर्मप्रकारकमानविशेष्यत्वस्य साधारणधर्मस्य
सिद्धेरुपमासिद्धिः ।

एवमिति । उक्तोदाहरणे उपमासिद्धिवदित्यर्थः । ‘भुजो’ इत्यादि । भगवतः
कृष्णस्य, चाणुरस्य तन्नामकस्य दैत्यविशेषस्य, चूर्णने दलने, चञ्चल धातुनामनेकार्थत्वा-
च्चाञ्चल्ययुक्त, भुजो बाहु, जगन्मण्डलस्य वायान्तर्य, संहारे विनाशने, वेगवान् रय-
शास्त्री, धूर्जटि शिव, इव, भाति शोभते इत्यर्थः । अत्र प्रकृतपद्ये । वृत्तित्वं सप्तम्यर्थः,
तस्य च दूरस्थोपमासिद्धिपदावैकदेशे उपमायामन्वयः । अगवा प्रतिपाद्यत्वं तदर्थः ।
तथा च प्रकृतपद्यप्रतिपाद्ययोर्धूर्जटिभगवद्भुजोरित्यर्थः । प्रकारनिर्मुक्तयेति । निप्रकार-
कस्येत्यर्थः । निर्विषयस्येति यावत् । तदर्थस्यैव स्पष्टीकरणायाह—केवलेति । अप्रयोजक-
तयेति । सादृश्याभ्यामकृतयेति भावः । चाणुरचूर्णनेत्यादि । चाणुरचूर्णनं निमित्त
यस्य, तादृशं यत् चावस्थम्, तद्वत्त्वं च, जगन्मण्डलस्य संहारो विमित्त यस्य, तादृशी
यो वेगस्तद्वत्त्वं चेद्द्वन्द्वः, तयोरित्यर्थः । अभेदाध्यवसानेनेति । आहार्याभेदज्ञानेनेत्यर्थः ।
अभिन्नधर्मप्रकारकेति । अभिन्नः एकः, धर्म उक्तविशेषणविशिष्टचाञ्चल्यवत्त्ववेगवत्त्वरूपो
विषय, प्रकारो विरोधपणं यस्मिन्, तादृशं यन् मानम्, तद्विशेष्यत्वस्येत्यर्थः । प्रथमा-
न्तार्थमुख्यविरोध्यकबोधवादिना नैयायिकानां मतेनेदरोक्तिः । ननु ‘भुजो भगवतो भाती’ति
पद्ये क्यमुपमायां सिद्धिः ? तत्सिद्धौ समपेक्षितस्य साधारणधर्मप्रत्ययस्याभावात्, न
च शिवकृष्णभुजयोरुपमानोपमेयतया विभक्तिबोधाकार एव तथेति बाध्यम्, तयोराका-
रसाम्यस्य विरहात् । न च भातीति क्रियापदबोधं मानमेव साधारणधर्मोऽस्त्विति
शङ्क्यम्, प्रकारतया विषयाविशेषितस्य मानमात्रस्य सादृश्याप्रयोजकतया तत्त्वात्तन्मा-
दिति चेन्न, अभिन्नधर्मप्रकारकमानविशेष्यत्वस्य साधारणधर्मत्वात् । कथमेतदिति चेत् ?
इत्यम्—‘चाणुरचूर्णने’ ‘जगन्मण्डलसंहारे’ इत्यनयोः सप्तम्योर्निमित्तत्वमर्थः, तस्य च
चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोरन्वयः । तथा च चाणुरचूर्णननिमित्तकचाञ्चल्यवत्त्वम्, जगन्मण्डल-
संहारनिमित्तकवेगवत्त्वं चेति धर्मद्वय फलितम् । तयोश्च सादृश्यमूलकाभेद आरोप्यते ।
एवमभिन्नतामापन्नं वस्तुतो भिन्नमपि तद्धर्मद्वयमेक सम्पद्यते, तथा सम्पद्यत ए धर्म
प्रकारतया मानेऽन्वेति, तादृशमानविशेष्यत्वं च धूर्जटिभगवद्भुजयोरुपमानोपमेययो
वर्तमानं सत् साधारणधर्मतां भजत इति भावः ।

उक्त रीति से ही अन्य लक्ष्य में भी उपमा की सिद्धि दिखलाते हैं—एवम् इत्यादि ।
इसी तरह ‘भुजो भगवतो भाति’ अर्थात् चाणुर नामक दैत्य को चूर्ण करने में चञ्चलता-
युक्त भगवान्—श्रीकृष्ण—की भुजा, संसार के संहार करने में वेगयुक्त शिव जी के समान

प्रतीत होती है' इत्यादि पक्षों में भी समझना चाहिए। जमिनाय यह है कि—यहाँ 'शिवजी' और 'भगवान् की भुजा' में आकार की समता है ही नहीं और केवल-अर्थात् विषय-रूप विशेषण से शून्य भान (क्रिया) सादर्य का प्रयोजक हो नहीं सकता—अर्थात् 'प्रतीत होते हैं' केवल इतना कहने से किन्हीं दो पदार्थों में सादर्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः 'चाणूर की चूर्ण करना' जिसका निमित्त है उस चाञ्चल्ययुक्तरूप और 'ससार का सहार' जिसका निमित्त है उस 'वेगयुक्तता'रूप भानक्रिया के विशेषणों में अभेद मान लेने से यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ उक्त अभिन्न धर्म जिसके विषयरूप से विशेषण है उस 'भान'क्रिया का विशेष्य होना (जो कि शिव और भुजा दोनों में रहता है) साधारण धर्म हुआ और तब उपमा की सिद्धि हुई। यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि—शब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को मुख्य विशेष्य माननेवाले नैयायिकों के मतानुसार उक्त साधारण धर्म की सिद्धि होती है, बोधाकरणों के मतानुसार नहीं। कारण, उनके मत से शब्दबोध में क्रिया, मुख्य विशेष्य होती है, अतः उनके मतानुसार 'भानक्रिया' ही मुख्य विशेष्य होगी, फिर तो 'भान-विशेष्यत्व' का आश्रय शिव और भगवद्भुज' इस तरह का अन्वय ही नहीं बन सकेगा।

अत्र विशेषमाह—

तत्र चाणूरजगन्मण्डलयोर्यस्तुतो भिन्नयोर्महाकाव्यत्वादिना सादर्याद्-बिम्बप्रतिबिम्बभावः। चूर्णनसहारयोश्चाञ्चल्यवेगवस्त्वयोरुत्थाश्रयभेदाद्भिन्नयो-रपि वस्तुत एकरूपतैवेति वस्तुप्रतिवस्तुभावः।

तत्रेति। धर्मयोर्मध्ये इत्यर्थः। तौ धर्माविव क्रमशो निर्दिशति—चाणूरत्वादिना। अयं भाव—अत्र शब्दतः प्रतीयमानस्य धूर्जटिभगवद्भुजयोः सादर्यस्योदरे चाणूरजगन्मण्डलयोः, चूर्णनसहारयोः, चाञ्चल्यवेगवत्त्वयोश्च सादर्यानि शब्दमन्तरापि प्रतीयन्त एव। तत्र चाणूरो जगन्मण्डलव वस्तुतो भिन्नौ पदार्थौ, परन्तु तावुभावपि महाकाव्यौ विनालौ अतस्तयोर्महाकाव्यत्वादिना समानधर्मेण सादर्यमस्तीति प्राक् परिभाषितौ बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तयोः। चूर्णनसहारौ चाञ्चल्यवेगवत्त्वे च वस्तुत एकौ एव पदार्थौ, भेदमान तु तयोराश्रयभेदमूलकम् शब्दभेदमूलकम्, अतस्तयोर्न बिम्बप्रतिबिम्बभाव अपि तु वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति। एवञ्च 'वस्तुतो भिन्नयोरपि ययोर्द्वयोः' पदार्थयोः समानधर्मप्रयुक्तसादर्यमूलकमभेदाप्यवमान, तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव, एव यौ द्वौ पदार्थौ वस्तुतो न भिन्नौ, किन्तु आश्रयभेदेन शब्दभेदेन च भिन्नाविव प्रतीयते, तयोर्महाभेदाप्यवसानम्, तत्र तयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभाव इति तयोर्भावयोर्भेदो बोध्यः।

अब यहाँ का विशेष बतलाया जाता है—तत्र इत्यादि। तात्पर्य यह है कि—यहाँ शिव और भगवद्भुज में साक्षात् तथा परम्परा से रहनेवाले छै धर्म हैं, चाणूर और जगन्मण्डल (जो पदार्थ, किसी भी सम्बन्ध से किसी पदार्थ में रहनेवाला होता है, उसको धर्म माना जाता है), चूर्णन और सहार एव चाञ्चल्य और वेग। इन धर्मों में चाणूर और जगन्मण्डल, वस्तुतः भिन्न पदार्थ हैं परन्तु उन दोनों में महाकाव्य—विशाक होने से समानता है, अतः उन दोनों धर्मों में पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' है और 'चूर्णन तथा सहार' एव 'चाञ्चल्य तथा वेग' वस्तुतः भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अपितु एक हैं, भेद तो इन सब में केवल आश्रय (आधार) के भेदप्रयुक्त भावित होते हैं, अतः इन दोनों में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है। सारांश यह हुआ कि—यहाँ वस्तुतः भिन्न दो पदार्थों में समानधर्मप्रयुक्त सादर्य की प्रतीति होने के कारण अभेद माना जाय यहाँ 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' होता है और जो दो पदार्थ वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, पर भिन्न भिन्न आश्रय में रहने के कारण तथा भिन्न भिन्न शब्दों से प्रतिपादित

होने के कारण भिन्न से लक्षित हों, उन दो पदार्थों का जहाँ (भिन्न से प्रतीत होने के समय में भी) अभेद माना जाय, वहाँ उनका 'वस्तु प्रतिवस्तुभाव' होता है।

लक्षणनिरूपणमुपसंहरति—

इत्येवं निरूपितमुपमालक्षणम् ।

उक्तप्रकारेण क्रियमाणमुपमालङ्कारस्य निरूपणमवसितमिति भावः ।

लक्षणनिरूपण का उपसंहार करते हैं—इत्येवम् इत्यादि । उक्त रीति से क्रिय जाने-वाला उपमा का निरूपण समाप्त हुआ ।

उदाहरणनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथेवमुदाह्रियते—

अपेति । लक्षणनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । इयम् उपमा । लक्षणनिरूपणात्परमिदानीमुपमाया उदाहरणं दीयत इति भावः ।

उदाहरणनिरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथेत्यादि । लक्षणनिरूपण के बाद अब उपमा का उदाहरण दिया जाता है ।

उदाहरणं प्रदर्शयति—

‘गुरुजनभयमद्विलोकनान्तःसमुदयदाकुलभावभावहन्त्याः ।

दलदरविन्दसुन्दरं हा हरिणदृशो नयनं न विस्मरामि ॥’

नायक स्वसंवाय प्रति कथयति—‘हा’ इति खेदसूचकम् । वर्ण्यमानेयं स्थितिर्नि-
तान्तं जेदावहा ममेति भावः । गुरुजनानाम् वयोवृद्धानां श्रद्धादीनाम् भयम् तत्समचे-
र्निर्लज्जतावणप्रयुक्ता भूतिः, मद्विलोकनम् चेति द्वन्द्वः । तयोः, अन्तर्मध्ये, समुदयन्तम्
प्रादुर्भवन्तम्, आकुलभावम् क्षणिकनयनविकासक्षणिकानुदण्डात्मिका व्यमताम्, आव-
हन्त्या धारयन्त्याः हरिणदृशः मृगनयनाया दलत् विकसत्, अरविन्दम् कमलम् इव,
सुन्दरं रमणीयम् नयनं नेत्रम्, एकपक्षेनेत्रैकनयनकरणकक्ष्याक्षवीक्षणं व्यज्यते । न विस्म-
रामि पुनः पुनः स्मरामीनि भावः ।

अब उपमा का उदाहरण दिखलाया जाता है—गुरुजन इत्यादि । नायक अपने सप्ता से कहता है—आह ! एक तरफ, सास आदि गुरुजनों का भय और दूसरी-तरफ-मेरा अवलोकन, इन दोनों के बीच उत्पन्न होनेवाली घबराहट को धारण करनेवाली मृगाक्षी की ईषत्विक्षित होते कमल सी सुन्दर आँखों को मैं नहीं भूल पाता—आज भी उस आँख की याद बराबर आती ही रहती है ।

उपपादयति—

अथ दलदरविन्दशब्दस्योपमानवाचकस्य सुन्दरशब्देन सामान्यवचनेन समासे प्रतीयमानोपमा सकलवाक्यार्थस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य स्मृत्युपस्कर-
णद्वारोपस्कारकतयालङ्कारः ।

अत्रेति । उक्तपक्षे इत्यर्थः । घटस्त्व सप्तम्यर्थः, तस्य च शब्दस्येति पठ्यन्तार्थेन सहान्वयः । तथा च एतत्पक्षघटकदलदरविन्दशब्दस्येत्यर्थः पठितः । सामान्यवचने-
नेति । साधारणधर्मवाचकेनेत्यर्थः । समासे इति । ‘उपमानानि’ इत्यादि सूत्रेणेति भावः । अत एव न श्रौतीत्याह-प्रतीयमानेति । आधीनि भावः । सकलवाक्यार्थस्येति । सकल-
वाक्यतात्पर्यविषयीभूतस्येत्यर्थः । संपूर्णवचन्यज्ञस्येति यावत् । शृङ्गारस्येत्यस्योपस्कार-

कृतयेत्यत्रान्वयः । उपस्कारकतया शोभाषायकतया । एतच्च 'अन्वयिते मुख्यवाक्याणो रसादिरनेने'ति व्युत्पत्तिरूपस्यालङ्कारस्वगोच्यत्वस्य सम्पत्तेः सूचकम् । अथ नाव — अत्र पद्ये 'दलदरविन्द'पदबोधोपपन्नम्, 'सुन्दर'पदबोधोपपन्नम् साधारणधर्म, 'नयन'पदबोधोपपन्नमेवं समासशक्त्या उपमानवाचकस्य लक्षणया वा बोध्यम् माह्वयम् च मिलित्वा उपमाऽलङ्कार सम्पद्यते, वाच्यस्य स्मरणस्य शोभाजननद्वारा व्यङ्ग्यस्य मुख्यवाक्यार्थस्य विप्रलम्भश्चद्वाररमस्य शोभाकरणात् । सा चोपमा न श्रौती, द्वादेरमावान्, अपि तु सामान्यता आर्या इति ।

प्रकृतोपश्रोमी ज्ञातों का उपपादन करते हैं—अत्रेत्यादि । यहाँ उपमानवाचक 'दलदरविन्द' पद का साधारणधर्मवाचक सुन्दर पद के साथ 'उपमानानि सामान्य-वचनै' इति पाणिनिसूत्र से समास होने पर जिस उपमा (साधारण) की प्रतीति होती है, वह इसलिये उपमाअलङ्काररूप होती है कि उससे वाच्य स्मृति के शोभा-सम्पादन द्वारा सम्पूर्ण पद्य से मुख्यतया अभिव्यक्त होनेवाले विप्रलम्भश्चद्वार का शोभा-सम्पादन होता है ।

आराक्य समाधत्ते—

न चात्र स्मृतिः प्रधानतया ध्वन्यत इति वक्तुं शक्यम्, न विस्मरामीति स्मृत्यभावनिषेधमुखेन स्फुटमावेदनात् । नापि पूर्वार्धगतग्रासौत्सुक्ययोः परस्परामिषयकामयोः संधिः प्रधानम्, तस्य नायिकागतत्वेनानुवाद्यत्वात्, उत्तरार्धगतस्मृत्यङ्गत्वाच्च ।

स्मृति स्मृतिभाव, तथा च भावध्वनेरिदमुदाहरण न रसध्वनेरिति भावः । पुनरन्यदाशङ्क्यते—नापीति । प्राप्तेति । गृहजनभयमद्विलोकनपदबोधोपपन्नं गृहजनभयमद्विलोकनयोर्मध्ये व्याकुलत्वोदयेन द्वयोरपि तुल्यकक्षत्वम्, अत आह—परम्परेति । परस्परम् अन्योन्यम्, अभिभवे दलने, काम इच्छा ययोस्तयोरित्यर्थः । तस्य सन्धेः स्मृत्यङ्गत्वादिति । परम्परया भयग्रामसंधेरपि स्मृतिविषयत्वाविति भावः । इदमाकृतम्—'गृहजने'तिपद्ये 'न विस्मरामी'त्यनेन विस्मरणस्व-स्मृत्यभावस्य निषेधोऽभिधीयते, तेन च स्मृतिरभिधाय्यते इति स्मृतिभावध्वनिरेवात्र कुतो नाङ्गनियत इति शङ्काया इत्युत्तर यत्, सत्यमत्र स्मृतिरभिधाय्यते, परन्तु सा अभिव्यक्तिरतिस्फुटेति वाच्यायमाना स्मृतिर्वनिकाप्यताप्रयोजिका न भविनुमर्हतीति । एवम् पूर्वार्धगताभ्याम् भयविलोकनाभ्यामभिव्यज्यमानाऽपि ग्रासौत्सुक्ययोर्भावयो मधि प्रकृतपद्यस्य भावसंधिध्वनिलक्ष्यता संपादयितुं न शक्नते, तस्य नायिकागततयाऽनुवाद्यत्वेन उत्तरार्धगतस्मृत्यङ्गत्वेन चाप्राधान्यात् अत्रप्रधानानुमारिकाव्यव्यवहारस्यानुचितत्वात् । इति ।

आशङ्का करके समाधान करते हैं—न चेत्यादि । आप कहेंगे कि—'स्मृतिभाव' ही यहाँ प्रधान ध्वन्यत क्यों नहीं माना जाय अर्थात् जब यहाँ विप्रलम्भश्चद्वार भी अभिव्यक्त होता है और स्मृतिभाव भी, तब जो विप्रलम्भध्वनि ही यहाँ मानते हैं, स्मृतिभावध्वनि नहीं, ऐसा क्यों ? हमें इस समाधान यह है कि स्मृति यहाँ 'न विस्मरामि' (मुझे विस्मृत नहीं होता) इस पद से स्मृति के अभाव के निषेधरूप में रस्य ह्रास सूचित कर दी गई है—वाच्य जैसी बना दी गई है, अतः उसके चल पर इस पद्य को ध्वनि नहीं कहा जा सकता । इसी तरह पूर्वार्ध के 'भय और विलोकन' से अभिव्यक्त होनेवाले समकक्ष अतएव पुरुषदूसरे को इशाने की कामना करनेवाले ग्रास और औत्सुक्य भावों की मधि, प्रधान ध्वन्यत नहीं हो सकती क्योंकि यह भाव संधिवाच्यार्थ

में उद्देश्यभूत नायिका के विशेषणों से अभिव्यक्त होती है, अतः वह भी अनुवाच ही होगी और उत्तरार्ध में वर्णित स्मरण का अङ्ग भी है, इन दोनों ही कारणों से भावसंधि प्रधान नहीं हो सकती ।

निरूपणार्थमाह—

तस्माद् भावसन्ध्युपमालङ्काराभ्यामुपस्कृता स्मृतिर्हापदगम्यः सन्तापोऽनु-
भावश्च विप्रलम्भमेवोपस्कुरुव इति तस्यैवात्र प्राधान्यम् ।

तस्मादिति । स्मृति-प्रासौत्सुक्यसन्ध्योः प्रधानव्यङ्ग्यत्वचिरहादित्यर्थः । विप्रलम्भ-
शृङ्गारोऽत्र प्रधानव्यङ्ग्य, स्मृतिभाव हापदयोन्वयः सन्तापरूपोऽनुभावश्च तस्य पौषकौ ।
स्मृतिभावस्य च प्रासौत्सुक्ययोः संधि उपमालङ्कारश्च पौषकौ इति भावः ।

उक्त शङ्कासमाधान के बाद निकलने वाले सारांश का अर्थ निर्देश करते हैं—तस्मात्
इत्यादि । तस्मात् यह सिद्ध हुआ कि हम पद्य में विप्रलम्भशृङ्गार ही प्रधान व्यङ्ग्य है और
स्मृतिभाव तथा 'हा'पद से अवगत होने वाला सन्तापरूप अनुभाव, उस (विप्रलम्भ-
शृङ्गार) के पौषक हैं । एवं 'प्रास तथा उत्सुकता' इन दोनों भावों की संधि और
'उपमा' 'स्मृतिभाव' को पुष्ट करते हैं ।

प्राचीनालङ्कारिकौकौपमालक्षणाभ्यामलोचयितुमुपक्रममाणस्तान्दोषितकृतलक्षणमासौ-
चयति—

अप्ययदीक्षिताः पुनश्चित्रमीमांसायाम्—'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्ण-
नमदुष्टमन्यङ्ग्यमुपमालङ्कारः । स्थानियेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनं वा तथा-
भूतम् तथा' इति लक्षणद्वयमाहुः । तच्चिन्त्यम् । वर्णनस्य विलक्षणशब्दात्मकस्य
विलक्षणज्ञानात्मकस्य वा शब्दवाच्यताविरहेणार्थालङ्कारतायाः भावात् । तस्य
सर्वथैवाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्वविशेषणवैयर्थ्याच्च ।

'दोषिता' इत्यत्र, 'आहुः' इत्यत्र सम्बन्धः । 'चित्रमीमांसा' तत्कालालङ्कारनिरूपणपरी-
प्रण्यः । सख्यति—तच्चिन्त्यमिति । चिन्त्यत्वे हेतुमाह—वर्णनस्येत्यादिना, शब्दोऽपि
शब्दवाच्य इति मते नायं दोषोऽत आह—विलक्षणज्ञानेति । अव्यङ्ग्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वा-
भावात् । 'येन सादृश्येन उपमितिक्रियायां—तुलनायां शिद्धिर्भवेत्, सादरां, वीपरीहितं,
व्यङ्ग्यताविहीनज, सादृश्यमुपमा' इति दोषितकृतप्रथमलक्षणस्य स्वस्य (उपमायां)
निषेधे यस्य पर्यवसानं न भवेत्, सादरामदोषत्वाव्यङ्ग्यत्वविरोधविशिष्टं सादृश्यत्व
वर्णनम् उपमेति च द्वितीयलक्षणस्य—स्वरूपं पर्यवस्यति । परन्तु तत्र मुक्तम्, विचारा-
सहत्वात् । तथाहि—वर्णनन्नाम विलक्षणं शब्दराशि विलक्षणं ज्ञानमन्दोहो वा, उभय-
थापि न तस्य शब्दवाच्यता सम्भवति, तत्र शब्दशक्तेरभिधाया अप्रवृत्तात् । एवं
स्थितौ, तस्य (वर्णनस्य) अर्थालङ्कारिता बाधितैव । शब्दोऽपि शब्दानां शक्य इति
मते वर्णनस्य शब्दात्मकचक्रण्ये कथंचिददोषेऽपि ज्ञानात्मकत्वे तस्यैव दोषो दुर्धार एव ।
किञ्च सादरा वर्णनं न कदापि व्यङ्ग्यं स्यादिति लक्षणेऽप्यङ्ग्यत्वविशेषणस्य व्यावर्त्याला-
भाद् वैयर्थ्यम् स्पष्टम् इति भावः ।

प्राचीन भाषाओं के द्वारा किम् गये लक्षणों की आलोचना के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम
अप्ययदीक्षितकृत लक्षण की आलोचना करते हैं—अप्ययदीक्षिता इत्यादि । अप्यय-
दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ में दो प्रकार के
'उपमा लक्षण' बनाए हैं । जिनमें एक का अभिप्राय है कि—'उस सादृश्यवर्णन को

उपमा अलङ्कार कहते हैं, जिसमें कोई दोष न हो, जो व्यङ्ग्य न हो अर्थात् वाच्य हो, और जिससे उपमिति क्रिया-तुलना-की सिद्धि होती हो ।" तथा द्वितीय का भाष्य यह है कि 'उपमा के निषेध में जिसका पर्यवसान न होता हो—अर्थात् जिससे अन्ततोगत्वा उपमा का निषेध सिद्ध न होता हो—ऐसे दोषहीन अथवा अव्यङ्ग्य सादर्य-वर्णन को उपमा कहते हैं ।' परन्तु ये दोनों ही लक्षण असङ्गत हैं । कारण, इन दोनों लक्षणों में 'सादर्यवर्णन' को उपमालङ्कार माना गया है, और वर्णन होता है शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक—अर्थात् वर्णन की ये दो शीतियाँ हो सकती हैं, एक वाच्य और दूसरी मानस, उन दोनों में वाच्यवर्णन शब्द के रूप में होता है और मानस वर्णन ज्ञान के रूप में । ऐसी स्थिति में शब्दों के शब्दवाच्य न होने के कारण, और यदि किसी तरह शब्दों को शब्द-वाच्य मान भी लिया जाय, तथापि ज्ञान के तो संबंधा शब्दवाच्य न होने के कारण, वर्णन का अर्थालङ्कार होना बाधित हो जाता है । सारांश यह कि जिस वस्तु में शब्द की अभिधासक्ति रहती है, वह वस्तु वाच्य होती है, उसे ही अर्थ कहा जाता है, और वही वाच्य वस्तु जब साक्षात् अथवा परस्पर से रस आदि को सुशोभित करती है, तब वह अर्थालङ्कार कहलाती है । ऐसी परिस्थिति में जिसमें शब्द की अभिधा नहीं—जो शब्दवाच्य नहीं—उत्ते (अर्थात् वर्णन को) अर्थालङ्कार मानना नितान्त अनुचित है । दूसरे, शब्दात्मक अथवा ज्ञानात्मक वर्णन, किसी भी दशा में व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकता, अतः 'सादर्यवर्णन' में 'अव्यङ्ग्य' विशेषण भी व्यर्थ है ।

दीक्षितलक्षणस्य सङ्गतिमाश्रय निराचष्टे—

अथ यदि वर्णनविषयीभूतं सादृशसादर्यमुपमेत्युच्यते, तदा यथा गीस्त-
था गवय इत्यत्रोपमालङ्कारापत्तेः । एवं 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादावपि ।
अशिष्यत्वादिना प्रधानप्रत्ययार्थवचनसादर्यस्यात्रापि प्रतिपादनात् ।

सादृशमिति । अङ्गुष्ठव्याघ्रभेदादिविशेषणविरहितमित्यर्थः । कालोपसर्जन इति । पा-
णिने सिद्धान्तकौमुदीस्थम् सूत्रमेतत् । इत्यादावपीति । उपमालङ्काराणिरित्यस्यानुपपत्तिः ।
अत्रापिदमत्राद्य किमिति चिन्तनीयम् । अत्रापीति । कालोपसर्जनयोरपीत्यर्थः । अय-
भाव —सादर्यवर्णनस्योपमालङ्कारत्वे नौ दोषो उक्तौ, तौ, यद्यपि 'वर्णनविषयीभूतस्य
सादृशसादर्यस्य कस्यै तात्पर्यविषयतया विवक्षितं न प्रसज्यत, तथापि दोषान्तरापातो
दुर्धार एव । तथाहि—'यथा गीस्तथा गवय' इत्यस्मिन् वाक्येऽपि गो-गवययो तुलना-
साधक दोषहीन वाच्यं सादर्यमस्तीति उपमालङ्कार प्रसज्यत । एवम् 'कालोपसर्जने च
तुल्यम्' इति पाणिनीयसूत्रवाक्येऽपि तदापत्तिरपत्तेः । कथमिति चेदित्यम्—'प्रधानप्रत्य-
यार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' इति सूत्रम्, 'प्रत्ययार्थं प्रधानं भवतीत्येव रूपं वचन-
मशिष्यम् (शास्त्रद्वारा नानुशासनीयम्) । अस्यार्थस्य अन्यप्रमाणत्वात्—'प्रत्ययार्थप्रा-
धान्यस्य लोपसिद्धत्वात्—'इत्यर्थम् उक्त्वा 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इति सूत्रमुक्तम् ।
तस्यायमाशयः—'अतीताया रात्रे' पद्याधेन आगामिन्या पूर्वाधेन च सहितं काल
(दिवस) अश्नतः । 'विशेषणमुपसर्जनम्' इत्यादि यत् प्राक्तनेताचार्यैरनुबिहितम्,
तत्रापि अशिष्यत्वम् तुल्यम्, लोप एव मिदं । अर्थात् प्रत्ययार्थं प्रधानम् इत्यादि
वचनम् यथा अशिष्यम्, तथा अश्नतोऽयं काल, विशेषण हि उपसर्जनं भवतीत्यादि-
कमपि अशिष्यम् । अत्र प्रधानप्रत्ययार्थवचनस्य कालोपसर्जनयोश्च अशिष्यत्वरूपवामान्य-
धर्मेण सादर्य प्रतिपाद्यते, तत्रात्रापि उपमा स्यात् इति ।

दीक्षितदृष्ट लक्षण को सङ्गत सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करके स्पष्टन करते हैं—

अथ ह्यादि। यदि आप कहें कि-वर्णन के विषय-अर्थात् वर्णन में आनेवाले उक्त विशेषणों से युक्त सादृश्य उपमा है (यही दीर्घित का वाक्य है) अतः उक्त दोष नहीं हो सकते, तब मैं कहूँगा कि-ठीक है, वे दोष नहीं हो सकते, परन्तु दूसरे दोष तब भी होंगे। जैसे-उक्त लक्षण के अनुसार 'जैसा बेल होता है वैसा ही गवय (नील गाय) होता है' इस वाक्य में उपमालङ्कार हो जायगा, क्योंकि दोषरहित वाक्यसादृश्य यहाँ है। इसी तरह 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' (पाणिनि सूत्र ३।३।७) ह्यादि में भी उपमालङ्कार की आपत्ति हो जायगी। कारण, यहाँ भी 'अशिष्यत्व-अनुशासन न करने योग्य होने' रूप सामान्य धर्म से काल और उपसर्जन का 'प्रधान प्रत्ययार्थवचन' रूप उपमान के साथ सादृश्य का प्रतिपादन है। इस द्वितीय दोष का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' यह है प्रथम सूत्र, जिसका आशय है कि 'प्रत्यय का अर्थ प्रधान हो', इस तरह का वचन बनाना श्रेय है—नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि यह बात लोक से ही सिद्ध है। इसके बाद मैं—'कालोपसर्जने च तुल्यम्' यह सूत्र है, जिसका अभिप्राय है कि जैसे प्रत्ययार्थ की प्रधानता का नियामक वचन, लोकसिद्ध होने के कारण, नहीं बनाना चाहिए, वैसे ही 'विगत रात्रि के उत्तरार्ध से लेकर आगामिनी रात्रि के पूर्वार्ध तक का काल व्यतन है' इस तरह का कालविधायक वचन तथा 'विशेषण उपसर्जन है' इस प्रकार का उपसर्जनविधायक वचन भी नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि वे सब बातें भी लोक से ही सिद्ध हैं। अब आप प्रधानप्रत्ययार्थ वचन का सादृश्य काल तथा उपसर्जन में देख सकते हैं।

द्वितीयदोषवारणमार्थं च निराकरोति—

न चात्र वचनभेदस्य दोषस्य सत्त्वाददुष्टत्वविशेषणैश्च वारणं भविष्यतीति वाच्यम्। एतद्वाक्योपप्लुतवाक्यान्तरप्रतिपादितैकोपमेयके सादृश्ये तथाप्यति-प्रसङ्गात्।

अत्रेति। 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यत्रेत्यर्थः। उपप्लुतेति। कल्पितेत्यर्थः। वाक्यान्तरेति। 'काल प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः', 'उपसर्जनस्य प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इत्याकारकेत्यर्थः। 'कालोपसर्जने' इत्यस्य द्विवचनान्ततया 'तुल्यम्' इत्यस्यैकवचनान्ततया वचनभेदरूपदोषस्य विद्यमानत्वेन तत्रोपमालङ्कारापत्तिः, बध्नेदुष्टत्वविशेषणस्य तद्वारकस्य प्रपञ्चादिति शङ्का, संग्राहकमेतदेकं वाक्यं भङ्क्त्वाकल्पितयोरैकोपमेयघटितयोः पूर्वोक्तयोर्वाक्ययोः प्रत्येकस्मिन् तदापत्तिस्तथापि, तदोपस्थाभावादिति च समाधानं बोध्यम्।

द्वितीय दोष नहीं हो सकता इस तरह की आशङ्का करके पुनः उस दोष को स्थिर करते हैं—न चात्र इत्यादि। यदि कोई कहे कि लक्षण में 'अदुष्टत्व' विशेषण जुड़ा हुआ है और यहाँ 'कालोपसर्जने' इस उद्देश्य अंश के द्विवचनान्त तथा 'तुल्यम्' इस विधेय अंश के एकवचनान्त होने से 'वचनभेद' रूप दोष वर्तमान है, अतः यहाँ उपमा की आपत्ति नहीं हो सकती, तो यह कथन आपका सत्य है, परन्तु 'कालोपसर्जने' यह एक संग्राहक वाक्य है, अतः जब इस वाक्य को छोड़कर 'कालः प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यः', 'उपसर्जनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनेन तुल्यम्' इस तरह के दो वाक्यों की कल्पना कर ली जायगी, जिसमें क्रमशः 'काल' और 'उपसर्जन' रूप एक-एक उपमेय रहेगा, तब उन दोनों वाक्यों से प्रतिपादित होनेवाले 'सादृश्य' में उक्त दोष तथापि लग ही जायगा, क्योंकि उस तरह के वाक्यों में 'वचनभेद' रूप दोष नहीं रह जाता।

दीक्षितोक्तलक्षणमज्ञातिसम्पादनाय, प्रोक्तसकलदोषनिरासमुपपाद्य पुनरन्यदोषं ह्यो-
चरोति—

न चात्रोपमतिक्रियाया निष्पत्तावपि न सादृश्यवर्णनम्, विषयस्याचम-
त्कारित्वात्, चमत्कारविषयककविज्यापारस्यैव वर्णनपदार्थत्वादिति वाच्यम् ।
एवं हि चमत्कारित्वस्य लक्षणोऽवश्यं निवेश्यत्वेनोपमतिक्रियानिष्पत्तिविशेष-
णस्य वैयर्थ्यात् । न ह्यनिष्पन्नभापाततः प्रतीयमान सादृश्य चमत्कृतिमाधत्ते ।
एवं द्वितीयलक्षणेऽपि निषेधापर्यवसायित्वं निरर्थकम् । व्यतिरेके कमलादि-
सादृश्यनिषेधस्यानन्वये च सर्वथा सादृश्यनिषेधस्य चमत्कारितया तदर्थं
सादृश्यस्य निरूपणमिति प्रागेवाभिधानात् ।

अत्रेति । यथा गौरित्यादिपूर्वोक्तनिष्ठलक्षणेऽप्यन्यथेति । व्यतिरेके इति । 'तवा-
नस्य तुलनाम्' इत्यादावित्यर्थः । कमलादिनिष्ठसादृश्येति । कमलादिनिष्ठसादृश्येति ।
चमत्कारी यथा भवेत्तादृश कविकर्मैव वर्णनपदार्थः, एवञ्च 'यथा गौरस्तथा गवयः', 'कालो-
पसर्जने च तुल्यम्' इत्यादौ व्यवहारमात्रोपयोगिबस्तुव्यापारसिद्धे सादृश्ये चमत्कारी न
भवतीति यद्यनुभवसिद्धं तर्हि तत्र केवलतुलनासिद्धावपि सादृश्यवर्णनं नारतीति मन्तव्य-
मेव, तथा च न तेषु स्थलेषु उपमाप्रसङ्गः, सादृश्यवर्णनस्योपमालक्षणत्वोक्तोरिति चेत् ।
सत्यम्, परन्तु, तथा सति वर्णनपदार्थघटकतया चमत्कारित्वस्य लक्षणवृद्धिप्रविष्टताया-
मभिमताया तावत्तव सामञ्जस्येन प्रथमलक्षणे उपमतिक्रियानिष्पत्तिविशेषणवैयर्थ्यापातः,
अनिष्पन्नस्य आपाततः प्रतीयमानस्य सादृश्यस्य चमत्कृतिजनकसाविगमात् । एवमेव
द्वितीयलक्षणे निषेधापर्यवसायित्वविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गः, तद्व्यावर्त्यतयाभिमतयौ व्यतिरे-
कानन्वयस्यलक्षणीयसादृश्ययोश्चमत्कारित्वनिवेशेनैव व्यावर्तनात्, तयो रथल्यौ ('तवाननस्य
तुलना दधातु जलनं कथम्', 'मुक्तं मुक्तमिवाभाति' इत्यादियौ) अमश 'तव मुक्तस्य
सादृश्य कमले नारित' इत्याकारकस्य कमलादिनिष्ठसादृश्याभावर्य 'सुप्तसदृश निमपि
वस्तु जगति नारित' इत्याकारकस्य निरवच्छिन्नानुयोगितारसादृश्याभावस्य चमत्कृति-
जनकता, न प्रतियोगिविधया निरूप्यमाणस्यापि सादृश्यस्येति पूर्वमुपपादितत्वादिति भावः ।

दीक्षितकृत लक्षण को सङ्गत सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त सभी दोषों के निरास की
आवश्यकता करके पुनः अन्य दोष दिखलाकर उनके लक्षण में असङ्गति दिखलाते हैं—न चा-
त्रेयादि । 'जिससे चमत्कार उत्पन्न हो—जो सदृश्यों के दृश्य में आनन्द पैदा कर सके-
ऐसी कविक्रिया को 'वर्णन' कहा जाता है । ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि उक्त-
दोष स्थलों ('यथा गौरस्तथा गवयः' 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' इत्यादि) में केवल
लौकिक व्यवहार को सिद्ध करने के लिये वक्ता के द्वारा कथित सादृश्य से उपमिति
क्रिया की निष्पत्ति (तुलनामात्र की सिद्धि) मले ही हो जाय, पर उस सादृश्य कथन
को 'सादृश्य वर्णन' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे चमत्कार की रूढ़ि नहीं होती,
और जब उन स्थलों में 'सादृश्य वर्णन' है ही नहीं, तब उपमा का आपत्ति उन स्थलों
पर नहीं दी जा सकती' ऐसा यदि आप कहें, तो मैं कहूँगा कि—यह युक्ति आप की
सर्वथा ठीक है, परन्तु इस युक्ति का अवलम्बन करने पर लक्षण में चमत्कारित्व (चम-
त्कारी सादृश्य) का प्रवेश 'वर्णन' पदार्थ के रूप में जब मानना पड़ा, तब प्रथम
लक्षण में 'उपमतिक्रियानिष्पत्ति'—विशेषण का लगाया व्यर्थ हो जाता है । कारण,
अनिष्पन्न—ऊपर ही ऊपर प्रतीत होनेवाला—सादृश्य चमत्कारजनक हो ही नहीं सकता,
धिर हो अनिष्पन्न सादृश्य को उपमा की श्रेणी से बाहर कर देने के लिये 'सादृश्य'
में 'चमत्कारी' विशेषण ही पूर्ण समर्थ है । इसी तरह अब द्वितीय लक्षण में 'निषेधा

पर्यवसायित्व अर्थात् जो सादृश्य आक्षिप्त में अपने निषेध के रूप में परिणत नहीं होता हो' यह विशेषण भी जोड़ना निरर्थक हो जाता है, क्योंकि 'तवाननस्य तुलनां दधातु जडजं कथम् अर्थात् कमल तेरे मुख की तुलना कैसे प्राप्त करे' इत्यादि व्यतिरेक में, तथा 'मुखं मुखमिवाभाति अर्थात् मुख, मुख जैसा ही शोभित होता है' इत्यादि अनन्वय में, अन्ततः अपने निषेध के रूप में पर्यवसित हो जाने वाले सादृश्य में उपमात्व का निराकरण करना जो उस विशेषण का फल था, वह 'चमत्कारी सादृश्य' कह देने से ही सिद्ध हो जाता है। कारण, उन दोनों अलङ्कारों में क्रमशः 'कमल में मुख का सादृश्य नहीं है' इस तरह का कमलमिष्ट सादृश्य का अभाव और 'मुख का सादृश्य कहीं नहीं है' इस तरह का सर्वथा सादृश्य का अभाव ही चमत्कार-जनक होता है, अभाव के प्रतियोगीरूप में शान्तरीचक होने के कारण कथित सादृश्य नहीं यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

ननु 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्' 'स्वनिषेधापर्यवसायी'ति विशेषणद्वय न लक्षणद्वयो-
रपदकम्, अपि तु 'अप्रत्यवर्णनपदस्य 'चमत्कारजनकज्ञानविषयीभूतानुयोगिकं सादृश्यं
लक्षणप्रविष्ट'मित्यर्थे' तात्पर्यग्राहकम्, तथा च न तद्बैधर्म्यमापाद्यतामर्हतीत्यतो दोषा-
न्तरमाह—

किञ्च

‘स्तनाभोगे पतन्माति कपोलात् कुटिकोऽलकः ।

शशाङ्कविम्बतो मेरो लम्बमान इवोरगः ॥’

इत्यादौ मुख्यवाक्यार्थत्वेनानलङ्कारभूतायामुपमायामविवक्षातिः । उपमिति-
क्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनस्यादुष्टाव्यङ्ग्यत्वस्य चात्रापि सत्त्वात् । न चेय-
मप्युपमा लक्ष्येति वाच्यम् । ध्वन्यमानोपमानिवारणप्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।
न ह्यत्राभेदप्रधानोत्प्रेक्षा शक्या यत्तुम् । कल्पितोपमाया निर्बिषयत्वप्रसङ्गात् ।

‘व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षितः ।

क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा ॥’

इति स्वकृतसूत्रेऽलङ्कारभूतोपमाया एव लक्ष्यत्वेनाभिधानात् । अलङ्कारभूतो-
पमालक्षणत्वे तदेवादुष्टाव्यङ्ग्यत्वविरोधितमिति तत्रैव पुनरभिधानाच्च । न ह्यत्रो-
पमानोपमेयसादृश्यादुपमास्वरूपावस्ति कश्चिदतिरिक्तो वाक्यार्थः, येनोपमा
तमलङ्कुर्यात् ।

स्तनाभोगे इति । व्याख्यातमिदं पुरस्तात् । मुख्यवाक्यार्थत्वेनेति । तथा च न
वाक्यार्थोपस्कारकत्वमिति भावः । एतच्च ‘अलङ्करोती’ति योगलब्धम् । तत्फलितमाह—
अलङ्कारेति । अतिव्याप्तौ हेतूपन्यासमुखेन लक्षणार्थं संघटयति—उपमितिक्रियेति ।
सम्प्राप्तत्वासादृश्यते—न चेति । प्रतिबन्धा तदुत्तरमाह—ध्वन्यमानेति । अलङ्कारा-
न्तरमुद्भाव्य सादृश्याप्रतीतियुक्तिकं लक्षणाप्रसङ्गमाशङ्क्यते—न ह्यत्रेति । रामापानमाह—
चलितेति । अनलङ्कारभूतोपमाया अपि लक्षणमिदमिति मनसि कृत्वा तद्विरुद्धं दीक्षित-
वचनमुद्धरति—व्यापार इति । उपमानाख्य तुलनात्मक, व्यापार क्रिया, उपमिति-
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तम् तुलनासिद्धिं यावत्, यदि विवक्षितः वक्षुरभिप्रेत, तर्हि, सा,
उपमालङ्कृतिरिति तदर्थः । यत्तुल्यम् स्फुटोक्तुम् दीक्षितोक्तमन्यदप्युद्धरति—अलङ्कार-
भूतोपमालक्षणत्वे इति । अत्रत्योपमाया अनलङ्कारत्वं स्फुटयितुमाह—न ह्यत्रोपमेति ।
अयं भावः—उपमितिक्रियानिष्पत्तीत्यादिविशेषणस्योक्त्या तात्पर्यग्राहकत्वस्वीकारे यद्यपि

प्रागभिहितो विशेषणवैयर्थ्यरूपो दोषो नापतेत्, तथापि 'स्तनाभोगे' इत्यादौ अतिव्याप्तिरूपो लक्षणस्य दोष आपतेदेव, उपमितिक्वियानिपत्तीत्यादिविशेषणविशिष्टप्रकृत-लक्षणार्थस्याप्रापि सहटथमानत्वात् । ननु नेयमतिव्याप्ति, अलक्ष्ये लक्षणगमनस्य तात्वे-नाङ्गीकारात्, प्रकृते च सादृश्यरूपोपमाया प्रतीत्या लक्ष्यत्वस्यैव निर्णयात् इति चेत् ? तस्यम्, परन्तु अलङ्करोतीति योगार्थस्वारस्यानुसारं मुख्यवाक्यार्थोपस्कारक स्वयणुणी-भूतो वाच्यार्थ एव वस्तुतो निखिलालङ्कारलक्षणलक्ष्यभूत, इह च वाच्यतामवगाहमाना-प्युपमा मुख्यार्थरूपेण, उपमानोपमेयसादृश्यात्मकत्वात् तत्स्वरूपादन्यस्य कस्यचन वाक्यार्थस्य विरहात् । एवमेवमुपमा अनलङ्कारभूता न लक्ष्यतामालम्बते । लक्षणे वाक्यार्थो-पस्कारकत्वस्याप्रवेशादथ तत्प्रसक्तिरतिव्याप्तिरेवेति ग्रन्थस्थाराय । अनलङ्कारभूताऽप्यु-पमा प्रकृतलक्षणस्य लक्ष्यत्वेनाभिमतैति तु न वक्तुं योग्यम्, लक्षणे 'अव्यङ्ग्यम्' इति विशेषणनिवेशेन अव्यङ्ग्यमात्रोपमानिराकरणप्रयासो व्यर्थ इति प्रतिबन्धा आपतनात् । अनलङ्कारत्वस्य तस्यैव तस्या अपि संग्राह्यतैव तत्तात्वे समुचितैति सारांश । उरगाल-कयो' सादृश्य मात्र प्राधान्येन निवक्षितम्, अमेद एव तयोश्च तत्तात्वेनाभिमत, अतोऽ-त्रोपप्रेक्ष्यालङ्कार । एवञ्च प्रकृतलक्षणस्य सादृश्यषट्चितस्य प्रसङ्गो नास्त्येवेत्यपि न वक्तुं शक्यम्, एव सति करिपतोपमायाधिरमामीसादौ स्वनिबन्धे दीक्षितेनापि स्वीकृताया विषयविलोपापातात् । अलङ्कारभूतोपमेव दीक्षितस्य लक्ष्यत्वेनाभिमतैति कुतोऽवगम्यत इति चेत् ? 'व्यापार उपमानाक्यो' इत्यादि तदीयसूत्रस्य 'अलङ्कारभूतोपमालक्ष-णत्वे' ' इत्यादि तदुक्तं स्वरसादिति मन्तव्यम् इति ।

'उपमितिक्वियानिपत्ति' इत्यादि जिन विशेषणों का वैयर्थ्यापाठदोष आपने पूर्व में दिखलाया है, उनको 'वर्णनपदसादृश्य में समरकारित्वविशेषण का बोधक है' इस अर्थ में तात्पर्यग्राहक मान लेने पर उक्त वैयर्थ्य दोष नहीं होगा, क्योंकि अब वे विशेषण, लक्षण में एक तरह से रहे ही नहीं, अतः अन्य दोष दिखलाते हैं—किञ्च इत्यादि । उक्त दोष के न होने पर भी 'स्तनाभोगे' ' इत्यादि पद्य—जिसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है—में दीक्षितकृत उपमालक्षण की अतिव्याप्ति (दोष) हो ही जायगी । अभिप्राय है कि इस पद्य में उपमा (सादृश्य) यद्यपि है, तथापि वह वस्तुतः अलङ्काररूप नहीं हो सकती । कारण, वह स्वयं मुख्य वाक्यार्थ है, और 'अलङ्करोति' अर्थात् 'किसी को सुशोभित जो करे' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अलङ्कार सामान्य (सभी अलङ्कारों) का लक्षण नहीं हो सकता है, जो स्वयं गौण होकर किसी दूसरे मुख्य अर्थ को सुशोभित करे । परन्तु यहाँ उपमान, उपमेय और सादृश्य इन तीनों का मिश्रणरूप उपमा से भिन्न कोई अर्थ है ही नहीं फिर यह उपमा शोभित करे तो किसको ? इस तरह से यह सिद्ध है कि यह उपमा अलङ्कार का लक्षण नहीं है, अतः इसका वातन करने के लिये लक्षण में 'वाक्यार्थोपस्कारक' आदि कोई विशेषण अवश्य जोड़ना चाहिये था, किन्तु दीक्षितजी ने ऐसा कोई विशेषण जोड़ा नहीं और 'उपमितिक्वियानिपत्तिमन्, अदुष्ट तथा अव्यङ्ग्यसादृश्य का वर्णन' इत्यादि जो कुछ उन्होंने लक्षण में कहा, वे सभी बातें यहाँ भी वर्तमान हैं, अतः यह लक्षण इस अलक्ष्य में घट जाने से अतिव्याप्तिदोषग्रस्त है । यह तो आप कह नहीं सकते कि मुझे अलङ्कारभूत (जो अलङ्काररूप नहीं होती उस) उपमा का भी इस लक्षण से समझ करना इष्ट है—अर्थात् यह उपमा भी इस लक्षण का लक्षण ही है, क्योंकि ऐसा कहने पर अव्यङ्ग्य उपमा के निराकरण करने के लिये जो 'अव्यङ्ग्य' विशेषण लक्षण में जोड़ा गया है, वह व्यर्थ हो जायगा—अर्थात् अव्यङ्ग्य उपमा भी तो उपमा है ही, विलक्षणता तो उसमें बँबल इतनी रहती है कि वह आप के मत से अलङ्काररूप नहीं है, ऐसी स्थिति

में जब आप की अनलङ्काररूप किसी उपमा का संग्रह करना अभीष्ट हो गया, तब स्वयंभू अतएव अलङ्काररूप न होनेवाली उपमा का भी संग्रह करना ही उचित था, फिर स्वयं उसके चारण का प्रयास क्यों? आप कहेंगे—यहाँ किसी तरह की उपमा है ही कहाँ? क्योंकि उपमा में सादृश्य की प्रधानता होती है और यहाँ प्रधानता है तौप तथा केशों के अमेद की, अतः यहाँ उल्लेख है, फिर उक्त आपत्ति कैसे आपने दे डाली? किन्तु यह कथन आपका सङ्गत नहीं, ऐसा मानने से कल्पितोपमा, निर्विषय हो जायगी—उसका कहीं लक्ष्य ही नहीं रह जायगा। यह तो आप कह नहीं सकते कि मैं 'कल्पितोपमा' नहीं मानता, कारण, 'चित्रमीमांसा' नामक निबन्ध में आपने इसे स्वीकृत किया है। अलङ्काररूप होनेवाली—अर्थात् किसी अपने से भिन्न मुख्य अर्थ को सुशोभित करने वाली उपमा का ही आपने यह लक्षण बनाया है अनलङ्कार रूप उपमा का नहीं, यह बात आपकी अन्य उक्तियों से भी सिद्ध होती है, क्योंकि आपने, 'ध्यापार उपमानात्पो' अर्थात् जब उपमान नामक क्रिया (तुलना) का क्रिया की सिद्धि पर्यन्त कहना अभीष्ट हो, तब उपमा अलङ्कार होता है' इस सूत्र में अलङ्काररूप उपमा को ही लक्ष्य कहा है। इतना ही नहीं, यहाँ पर आपने पुनः कहा है कि 'अलङ्काररूप उपमा के लक्षण में 'अनुष्टु और अन्वय' ये दो विशेषण और जोड़ देने चाहिए।' एक बात पर ध्यान दीजिए—'स्तनामोगे' इस पद्य के विषय में जो पण्डितराज ने यह कहा है कि यहाँ उपमा के स्वरूप (उपमान, उपमेय और सादृश्य) से भिन्न कोई वाक्यार्थ ही नहीं, फिर यहाँ की उपमा अलङ्कृत करे तो किसको? अतः यह उपमा अलङ्काररूप नहीं होती, वह कैसे सङ्गत होगा, क्योंकि वस्तुतः यदि बात है अर्थात् उपमास्वरूप से अन्य वाक्यार्थ नहीं है, अब पण्डितराज ने स्वयं जो इस पद्य में उपमालङ्कार माना है, वह कैसे? कारण, उनके लक्षण में सात सात सादृश्य का वाक्यार्थोपस्कारक होना अपेक्षित माना गया है, अतः उनके लक्षण के अनुसार यहाँ उपमालङ्कार नहीं होता चाहिए। यदि उक्त श्लोकवाक्य से अङ्गार को अभिप्रेक्ष्य मान कर उसको मुख्य वाक्यार्थ माना जाय, और उसको उपरकृत करने के कारण यहाँ की उपमा को अर्थात् अलङ्कार कहा जाय, तब दीक्षित के मत में भी मेरे विचार से कोई दोष नहीं होता।

ननु अलङ्करीतीति योगबोधितोपस्कारकत्वस्यालङ्कारसामान्यस्यलक्षणत्वेन विशेषलक्षणेषु सदनिवेशोऽपि क्षत्त्यभावः—अर्थात् अलङ्कारपदयोगार्थशून्ये लक्ष्ये पूर्वोक्तविषयाभिर्न संभवदुक्तिकेत्यत आह—

अपि च लक्षणे सादृश्यविशेषणं निरर्थकम् । 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमद्वर्णनमुपमा' इत्येतावतैव स्वाभीष्टार्थलाभात् ।

सादृश्यस्यैव वर्णनम्, उपमितिक्रियानिष्पत्तिकरम्—अर्थात् सादृश्यादन्यस्य कस्यचिद्वर्णने तुलनायां सिद्धिर्नैव भवितुमर्हति, तथा च 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिवर्णनमुपमा' इत्येतद्वच एव लक्षणत्वे दीक्षिताभिप्रेतप्राप्तौ 'सादृश्योक्तिः' लक्षण्यो निरर्थिकैव । एवञ्च दीक्षितकृतमुपमालक्षणं न समीचीनमिति भावः ।

अलङ्कार पद का योगार्थ ही दूसरे को सुशोभित करनेवाला होता है—शोभाजनक हुए बिना कोई पदार्थ, अलङ्कार, हो ही नहीं सकता, फिर यदि अलङ्कारों के विशेष लक्षण हैं उस तरह का वाक्यार्थोपस्कार आदि विशेषण नहीं भी जोड़ा जाय, तथापि हानि नहीं हो सकती अर्थात् पूर्व में जो आपने लक्षण की अतिव्याप्ति दिखलाई है, वह वस्तुतः होती नहीं, क्योंकि अलङ्कार इस नामपद से ही उसके चारण, हो जायगा, अतः अन्य दोष दिखलाया जाता है—अपि च इत्यादि। उक्त दोनों लक्षणों में वर्णन के साथ जो 'सादृश्य का' वह विशेषण जोड़ा गया है, वह निरर्थक है, क्योंकि 'उपमिति

क्रिया (तुलना) को सिद्ध करनेवाला वर्णन उपमा मलङ्कार कहलाता है' इतना कहने से ही आपकी इष्ट-सिद्धि हो जाती है। कारण, सादृश्य से सिद्ध किसी अर्थ के वर्णन से 'उपमिति क्रिया की सिद्धि' हो ही नहीं सकती, अतः 'सादृश्य' शब्द के न रहने पर भी 'वर्णन' से 'सादृश्य का ही वर्णन' लिया जायगा। सारांश यह कि दीक्षितजी का उपमालक्षण ठीक नहीं है।

विद्यानाथोक्तमुपमालक्षणमालोचयति—

एवम्—

‘स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः।

साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोषमा ॥’

इति विद्यानाथोक्तं लक्षणमपास्तम्। व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादृश्येऽतिव्याप्तेः।

एवमिति। दोषितोक्तलक्षणवदित्यर्थः। अस्य च ‘अपास्तम्’ इति दूरस्थेनान्वयः। स्वतः सिद्धेनेति। स्वतः सिद्धेन भ्रमस्मितेनेति भावः, भिन्नेन उपमेयावतिरिक्तेन, च पुनः सम्मतेन कविसमयप्रसिद्धेन, लिङ्गभेदादिदोषरहितेनेति यावत्, अन्येन अप्रस्तुतेन, वस्तुना, वर्ण्यस्य वर्णनीयस्य प्रस्तुतस्य वस्तुनः, धर्मतः समानधर्मप्रयुक्तमिति भावः, एकदा बारम्बारं साम्यं सादृश्यं, चेद् वाच्यम् अभिधाव्यापारबोध्यम्, अव्यङ्ग्यमिति यावत् तथा तदुपमालङ्कार इत्यर्थः अपास्तम् खण्डितम्। सत्र हेतुमाह—व्यतिरेकेति। ‘तवाननस्य’ ‘इत्यादावित्यर्थः। निषेधप्रतियोगिनीति। यस्य निषेधः फलति तस्मिन्निमित्त्यर्थः। ‘उपमिति क्रियानिष्पत्तिमत्’ ‘इत्यादिदाक्षितोक्तलक्षणं यथा न सङ्गतम्, तथैव ‘स्वतः सिद्धेन’ इत्यादि, विद्यानाथाभिधेन केनचिदालङ्कारिकेण ‘प्रतापरुद्रीये’ निबन्धे कथितं लक्षणमपि असङ्गतमेव, ‘तवाननस्य तुलना’ दधातु जलज कणम्’ इत्यादौ व्यतिरेकालङ्कारोदाहरणेऽतिव्याप्तत्वात्, निषेधप्रतियोगितया तत्रापि सादृश्यस्य प्रतीयमावत्त्वात्। पण्डितराजकृत लक्षणं तु यमत्कारहीनतया तस्मिन् सादृश्यं न प्रसजतीति भावः।

अथ ‘विद्यानाथ’ नामक प्राचीन आलङ्कारिक के द्वारा ‘प्रतापरुद्रीय’ नामक निबन्ध में कहे गये उपमालक्षण का खण्डन करते हैं—एवम् स्वतःसिद्धेन इत्यादि। ‘स्वतः सिद्धेन’ ‘अर्थात् स्वतः सिद्ध-कवि के द्वारा कल्पित नहीं-तथा उपमेय से भिन्न और सम्मत-कविसमयप्रसिद्ध-अर्थात् लिङ्गभेद, वचनभेद आदि दोनों से मुक्त, अन्य-अप्रस्तुत वस्तु से, वर्णनीय-प्रस्तुत वस्तु का समान धर्म के कारण एक बार, सादृश्य, यदि वाच्य हो, तो वह उपमालङ्कार कहलाता है।’ यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘कमल तेरे मुख की तुलना का भावण कैसे करे’ इत्यादि व्यतिरेकालङ्कार में अन्ततः होने वाले निषेध के प्रतियोगीरूप से प्रतीत होनेवाले सादृश्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

अन्यदपि प्राचीनोक्त लक्षण परालोचयति—

एवम्—

‘उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः।

ह्य साधर्म्यमुपमेयस्यैवैवमिति ॥’

इति प्राचामपि लक्षणं प्रत्युक्तम्। ह्यतामात्रेण निर्वोदे विशेषणान्तरथैवर्थात्।

उपमानोपमेयत्वेति। उपमानोपमेयभावयोग्ययोर्द्वयोः पदार्थयोः वर्ण्यमान सुन्दर यमत्कृतिसमिति यावत्, साधर्म्यम् सादृश्यम्, काव्यार्जनैरुपमा इति कथ्यते इत्यर्थः।

इदमेव लक्षणं न सम्यक्, 'इदं साधर्म्यम्' इत्येतावत् एव लक्षणत्वे संभवति अन्य-
विशेषणानां लक्षणोक्तानां निरर्थकत्वादिति भावः ।

प्राचीनों के एक अन्य लक्षण की भी आलोचना करते हैं—एवम् उपमानोपमेय
इत्यादि । जिस तरह पूर्वोक्त लक्षण सब असङ्गत सिद्ध हुए हैं, उसी तरह प्राचीनों का
'उपमानोपमेयत्व' इत्यादि अर्थात् उपमानोपमेयभाव के योग्य दो वस्तुओं के सुन्दर
सादर्य को काव्यज्ञ अतः उपमा कहते हैं। लक्षण भी असङ्गत ही है, क्योंकि यह
लक्षण स्वयं विशेषणों से युक्त अर्थात्-साधर्म्य के साथ केवल दृष्ट-सुन्दर-विशेषण
का जोड़ना ही उपमालक्षण में काफी है, फिर जो इस लक्षण में अन्य विशेषण जोड़े गये
हैं, वे सब के सब व्यर्थ ही हैं ।

मम्मटों के लक्षण परीक्षते—

एवं काव्यप्रकाशोक्तमपि 'साधर्म्यमुपमाभेदे' इति लक्षणं नातीव रमणी-
यम् । व्यतिरेके निषेधप्रतियोगिनि सादर्येऽतिव्यापनात् । न च पर्यवसितत्वेन
साधर्म्यं विशेषणीयमिति वाच्यम् । अनन्वयस्थसादर्यस्यापर्यवसायित्वेनैव
वारणो भेदविशेषणवैयर्थ्योपपत्तेः । काव्यालङ्कारप्रस्तावे लौकिकालौकिकप्रधान-
वाच्यव्यङ्ग्योपमासामान्यलक्षणकरणानौचित्याच्च ।

अरमणीयत्वे हेतुमाह—व्यतिरेक इति । यदकच सप्तमर्थः । तथा च व्यतिरेक-
घटकसादर्ये इति तात्पर्यार्थः । अतिव्याप्तिनिरासार्थं शङ्कते—न चेति । उत्तरयति—अन-
न्वयेति । भेदपदस्य पर्यवसितत्वात् तात्पर्यग्राहकत्वाद्वास्त्रे तदोपाभावाद्दोषान्तरमाह—
काव्यालङ्कारेति । काव्यप्रकाशमिधाने परमप्रसिद्धे निबन्धे मम्मटेन 'सादर्यमुपमाभेदे'
इति उपमायाः सत्तया कृतम् । उपमानोपमेयो भेदे सति, निषेधद्वार्ययोः उपमानोपमे-
यमादे सतीति यावत् सादर्यमुपमेति तदर्थः । परमिदमपि लक्षणं न समीचीनम्, पूर्वोक्त
निषेधप्रतियोगिनि व्यतिरेकालङ्कारघटके सादर्ये तस्याप्यतिव्याप्तेः । पर्यवसितत्वेन साधर्म्यं
विशेषिते—अर्थात् अस्य निषेधे पर्यवसानं न भवेत् सादर्ये—स्वरूपेऽतिव्याप्त्येति यावत्—
सादर्ये लक्षणघटकतया विवक्षितेऽपि न निस्तारः, तथा सति तेनैव विशेषणं निषेध-
पर्यवसायिनोऽनन्वयालङ्कारस्थस्यापि सादर्यस्य वारणो सिद्धे तद्वारकस्य 'भेदे' इति
विशेषणस्य वैयर्थ्योपपत्तेः । न च भेदपदस्य सादर्यार्थ एव तात्पर्यग्राहकतया लक्षणं निर्गुण-
मिति वाच्यम्, काव्यशास्त्रप्रसिद्धानालङ्कारलक्षणनिर्माणप्रकरणे लौकिकालौकिकी प्रधानाम्,
वाच्याम् व्यङ्ग्या च—सर्वविधमिति यावत्—उपमा समृद्ध-लक्षणस्य निर्माणमनौचित्यात्
इति भावः ।

अब मम्मट मट्ट के लक्षण की पर्यालोचना करते हैं—एवं काव्य इत्यादि । अन्य लक्षणों
के समान ही 'काव्यप्रकाश' में मम्मट के द्वारा लिखा गया 'साधर्म्यमुपमाभेदे' अर्थात्
भेद रहने पर अर्थात् उपमान उपमेय के दो रहने पर सादर्य का नाम उपमा है । यह
लक्षण भी अधिक सुन्दर नहीं है । कारण, इसकी भी पूर्वोक्त, व्यतिरेकालङ्कारस्य
निषेधप्रतियोगी सादर्य में अतिव्याप्ति हो जाती है । 'साधर्म्य' में पर्यवसित—अर्थात्
जो सादर्य अपने रूप में ही पर्यवसित होता हो—अन्त तक अपने रूप में रहे, तात्पर्य यह
कि निषेधरूप में जो परिणत न होता हो ऐसा, यह विशेषण लगाने से भी लक्षण को
निर्गुण नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि उस विशेषण के लगाने पर जिस तरह व्यति-
रेकस्थलीय निषेध में पर्यवसित होनेवाले सादर्य का वारण होगा, उसी तरह उसी
विशेषण से अनन्वयस्थलीय निषेधरूप में परिणत होनेवाले सादर्य का भी वारण हो
ही जायगा, फिर 'भेदे' अर्थात् भेद रहने पर यह विशेषण निवर्त्यक हो जायगा—अर्थात्

अनन्वय में एक ही वस्तु उपमान तथा उपमेय दोनों रहती है, अतः उपमान-उपमेय दो रहे पतदर्शक 'भेदे' विशेषण उपमा-लक्षण में समाते थे, जिससे अनन्वय में उसकी प्राप्ति न हो, परन्तु अब-अब कि आप सादृश्य में पर्यवसित विशेषण लगा देते हैं—वह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, कारण, व्यतिरेक की तरह अनन्वय में भी उसी विशेषण से काम चलनेवाला है। यदि आप कहें कि—'भेदे' विशेषण की व्यर्थता नहीं हो सकती, मैं लक्षणा आदि के द्वारा उसी का अर्थ 'पर्यवसित' मान लूँगा। पर इतने पर भी निस्तार नहीं। कारण, इस तरह विशेषणवैयर्थ्यदोष से मुक्ति मिल जाने पर भी लक्षण में दूसरा दोष आ ही जाता है और वह, यह कि काव्योपयोगी अलङ्कारों के लक्षण बनाते समय लौकिक, अलौकिक, प्रधान, वाच्य और अव्यय सभी तरह की उपमाओं को सगृहीत कर लेनेवाले साधारण उपमा लक्षण का बनाना अनुचित है। तात्पर्य यह कि 'व्यतिरेक' विशेषण जब सादृश्य में नहीं लगाया जाता, तब यह (साधर्म्यमुपमाभेद) ऐसा सामान्य लक्षण हो जाता है, जिससे 'जैसी गाय, वैसा गवय' इत्यादि सभी तरह की उपमार्ये एककी जा सकती हैं परन्तु यह बात उचित नहीं होती, क्योंकि काव्यालङ्कार का लक्षण निर्माण करने चले हैं, अतः उचित होता कि उसी तरह का लक्षण बनाते, जिससे केवल काव्य में उपयुक्त होनेवाली वचनकारिणी उपमाओं का समग्र होना, गोगवय आदि की अवचनकारिणी उपमाओं का नहीं।

उक्तयुक्त्यलङ्कारसर्वस्वोक्तं लक्षणं सङ्गच्छति—

अत एव 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमा' इत्यलङ्कारसर्वस्वोक्तमपि लक्षणं सधैव।

अत एवेति । प्रकारालक्षणीकदीपसमूहादेवेत्यर्थः । तथैवेति नातीव रमणीयमित्यर्थः । भेदस्य अभेदस्य च समानरूपेण भासमानत्वे सति सादृश्यम् उपमा इत्यर्थकं 'भेदाभेदतुल्यत्वे साधर्म्यमुपमे'ति अलङ्कारसर्वस्वग्रन्थोक्तं लक्षणमपि न भव्यम्, काव्य-प्रकारालक्षणीकदूषणानामत्रापि वर्तमानत्वादिति भावः ।

अलङ्कारसर्वस्वकारकृत लक्षण की पर्यालोचना करते हैं—अतएव इत्यादि। 'भेद तथा अभेद दोनों के समानरूप से भासित होते रहने पर जो सादृश्य हो, उसे उपमा कहते हैं' यह अलङ्कारसर्वस्व में लिखित लक्षण भी वैसा ही है—अर्थात् काव्य-प्रकाश-लक्षण के समान अधिक सुन्दर नहीं है, क्योंकि उनके लक्षणों में जो दोष दिये गये हैं, वे इस लक्षण में भी हो जाते हैं।

अपरमपि लक्षणं पर्यालोचयति—

एव 'प्रसिद्धगुणोपोपमानेनाप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यमुपमा' इत्यलङ्काररत्नाकरोक्तमपि न भव्यम् । श्लेषमूलकोपमायां तादृशशब्दात्मकस्य धर्मस्य कविनैव कल्पनात् तेन रूपेणोपमानस्याप्रसिद्धेश्च ।

एवमिति । व्यतिरेकेतिव्यापनादित्यर्थः । प्रसिद्धगुणेनेति । प्रसिद्धा ख्याता — वक्ष्यता नेति यावत्—गुणा गुणव्याप्यधर्मा, यस्य तादृशेन, उपमानेन, सह, अप्रसिद्ध-गुणस्य तादृशधर्मवत्तया न प्रसिद्धस्य, उपमेयस्य, सादृश्यमुपमा कथ्यते इत्यर्थः । ननु पर्यवसितत्वेन विशेषणाच्च दोष इत्यत आह—श्लेषमूलकेति । दोषान्तरमाह—तेन रूपेणेति । अलङ्काररत्नाकरोल्लिखितमिदं लक्षणमपि न युक्तम्, व्यतिरेकस्थलीयसादृश्ये पर्यवसाने निषेधरूपेण परिणश्यमानेतिव्याप्तम् । न च पर्यवसितेतिविशेषणदानेन तदोप-निषेधे लक्षणं सम्यगिति वाच्यम्, श्लेषमूलकोपमास्यते श्लेषशब्दस्य साधारणधर्मतया

विवक्षितस्य कविकल्पिततया उपमानगुणत्वेन प्रसिद्धेस्तत्राभ्यासे, प्रसिद्धगुणत्वेन रूपेणोपमानस्य क्वापि प्रसिद्धिविरहेण लक्षणेऽप्रसिद्धदोषावताराचेति भावः ।

एक दूसरे लक्षण का भी खण्डन करते हैं—एवम् इत्यादि । 'प्रसिद्धगुणेन' अर्थात् गुणधर्म (गुण द्विधा आदि) जिनके प्रसिद्ध हों अर्थात् कविकल्पित न हों, ऐसे उपमान के साथ, जिनके धर्म प्रसिद्ध न हों, ऐसे उपमेय का जो सादृश्य उसको उपमा कहते हैं' यह अलङ्काररत्नाकर का लक्षण भी ठीक नहीं है । कारण, अन्ततः निषेधरूप में परिणत हो जानेवाले व्यतिरेकस्थलीय सादृश्य में इसकी भी अतिभ्यासि हो जाती है । यदि आप 'अपने रूप में पर्यावसित होनेवाले' ऐसा विशेषण सादृश्य में लगाकर लक्षण को ठीक बनाना चाहेंगे, तो भी वह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में शेषमूलक उपमा के स्थल में लक्षण की अभ्यासि ही हो जायगी अर्थात् शिष्ट शब्द जो उपमान का धर्म माना जाता है, प्रसिद्ध नहीं होता अतः वहाँ यह लक्षण सङ्घटित नहीं हो सकेगा । इसना ही नहीं, वस्तुतः यह लक्षण अप्रसिद्ध ही है अर्थात् कहीं भी सङ्घटित नहीं हो सकता कारण, ऐसा उपमान कहीं मिल ही नहीं सकता, जो प्रसिद्ध गुण वाले के रूप में प्रसिद्ध हो । सारांश यह कि चन्द्र भादि उपमान भी चन्द्ररूप ही प्रसिद्ध रहता है, 'आद्वादकश्च बाढा चन्द्र' इस रूप में नहीं ।

परकीयलक्षणपर्यालोचनसमाप्ति सूचयति—

इत्यतः परकीयदूषणान्वेषणया ।

परेषा दूषणान्वेषणं व्यर्थमिति तत्परिहीयत इति भावः ।

अब परकीयलक्षणसमाप्ति की सूचना देते हैं—इत्यलम् इत्यादि । दूसरों का दोषान्वेषण करना निरर्थक है, अतः अब उसको समाप्त करते हैं ।

पुनः प्रकृतानुसरणं सूचयति—

प्रकृतमनुसरामः ।

पुनः प्रकान्तमुपमाविचारं प्रवर्तयाम इति भावः ।

अब पुनः प्रस्तुत विषय पर आने की सूचना देते हैं—प्रकृतेत्यादि । अब अन्य बातों को छोड़कर पुनः प्रसङ्गात् उपमा के सम्बन्ध में विचार करते हैं ।

प्राचीनाभिमतौपमाभेदानामुदाहरणप्रदर्शनं प्रतिजानीते—

अस्याश्चोपमायाः प्राचामनुसारेण केचिद् भेदा उदाह्रियन्ते ।

प्राचा प्रकाशकारादीनाम् । अन्यत् स्पष्टम् ।

इस उपमा के प्राचीनमतसिद्ध कुछ भेदों के उदाहरण दिसलाए जाते हैं ।

उपमाभेदान् प्राचीनाभिमतान् प्रदर्शयति—

तथा हि—उपमा द्विविधा, पूर्णा लुप्रा च । पूर्णा तत्र—श्रीती आर्थी चेति द्विधा भवन्ती वाक्य समास तद्धितगामितया षोढा । लुप्रा च—उपमानलुप्रा, धर्मलुप्रा, वाचकलुप्रा, धर्मोपमानलुप्रा, वाचकधर्मलुप्रा, वाचकोपमेयलुप्रा, धर्मोपमानवाचकलुप्रेति तावत्सप्तविधा, तत्रोपमानलुप्रा—वाक्यगता समासगता चेति द्विविधा । धर्मलुप्रा—समासगता-श्रीती, आर्थी । वाक्यगता-श्रीती, आर्थी । तद्धितगता च-आर्थ्येव, न श्रीती । इति पञ्चविधा । वाचकलुप्रा—समासगता, कर्मकयगता, आधारक्यगता, क्यङ्गता, कर्मणमुलङ्गता, कर्तृणमुलङ्गता चेति षड्विधा । धर्मोपमानलुप्रा—वाक्यगता, समासगता चेति

द्विविधा । वाचकधर्मलुप्ता किम्बुता समासगता चेति द्विविधैव । वाचकोपमे-
यलुप्ता त्वेकविधा । धर्मोपमानवाचकलुप्ता तु समासगतैकविधा । इति ।

तत्र पूर्णलुप्तयोर्मध्ये । तत्र तासां सप्तानां मध्ये । इतरन्निन्दव्याख्यातमिति नैह
प्रतन्यते ।

उपमाभेदों का निर्देश करते हैं—तथा हि इत्यादि । उपमा दो प्रकार की है—पूर्णा
तथा लुप्ता । उनमें से पूर्णा उपमा श्रौती एवं आर्षभेद से दो तरह की होती है, और
उन दोनों भेदों में से प्रत्येक भेद वाक्यगामी, समासगामी और तद्धितगामी—इस तरह
तीन प्रकार के होते हैं, अतः पूर्णोपमा छः प्रकार की होती है । सारांश यह, कि पूर्णो-
पमा छः प्रकार की है—श्रौती वाक्यगता, आर्षी वाक्यगता, श्रौती समासगता, आर्षी
समासगता, श्रौती तद्धितगता और आर्षी तद्धितगता । रही अब लुप्ता । उसके पहले
सात भेद होते हैं—उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता,
वाचकोपमेयलुप्ता और धर्मोपमानवाचकलुप्ता । उन सातों भेदों में से पुनः, उपमानलुप्ता
के दो भेद—वाक्यगत और समासगत । धर्मलुप्ता के पाँच भेद—श्रौती समासगत, आर्षी
समासगत, श्रौती वाक्यगत, आर्षी वाक्यगत और तद्धितगत केवल आर्षी । तद्धितगत
का श्रौतीभेद नहीं होता । वाचकलुप्ता के छः भेद—समासगत, कर्माधिक्यगता,
आधाराधिक्यगता, व्यङ्ग्य, कर्माधिक्यमुल्लङ्घ्य और कार्यधिक्यमुल्लङ्घ्य । धर्मोपमान
लुप्ता के दो भेद—वाक्यगत और समासगत । वाचकधर्मलुप्ता के भी दो भेद—किंप्रत्यय-
गत और समासगत । वाचकोपमेयलुप्ता का एक भेद—व्यङ्ग्यप्रत्ययगत । धर्मोपमान
वाचकलुप्ता का भी एक भेद—समासगत । उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और साह-
चर्यवाचक ये चार उपमा के अङ्ग हैं । ये चारों अङ्ग जहाँ शब्दद्वारा स्पष्ट कथित रहते
हैं, वहाँ पूर्णोपमा और इन अङ्गों में से कहीं एक का, कहीं दो का और कहीं तीन का
अभाव जहाँ रहता है, वहाँ लुप्तोपमा होती है । श्रौती तथा आर्षी भेद का रहस्य
यह है कि—शब्दशक्तिसम्भावैच्छिक्य के कारण जहाँ 'यथा', 'इव' इवार्थक 'वा' तथा
इवार्थक 'वति प्रत्यय' सादृश्य के वाचक रहते हैं, वहाँ शब्दअवगानन्तर तुरत उपमा-
नोपमेय का परस्पर सादृश्य ज्ञात हो जाता है, अतः वहाँ श्रौती, उपमा कहलाती है
और 'तुल्य', 'सदृश', 'सम' और 'तुल्यार्थक वतिप्रत्यय' आदि जहाँ सादृश्य के वाचक
रहते हैं, वहाँ शब्दश्रवणोत्तर उपमानोपमेय में से किसी एक का ही दूसरे में सादृश्य
ज्ञात होता है, यथात् अर्थात् परस्पर सादृश्य की प्रतीति होती है, अतः वहाँ आर्षी उपमा
कही जाती है ।

प्राचीनाभिमतभेदसंख्यासङ्कलनं कुरुते—

एवं साकल्येनैकोनविंशतिर्लुप्ताभेदाः पूर्णाभेदैः सह पञ्चविंशतिः क्रमेणोदा-
ह्रियन्ते ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण । स्फुटमन्यत् ।

पूर्वोक्त प्रकार से सब मिलाकर लुप्ता के उन्नीस भेद होते हैं । पूर्णा के छः भेदों को
इनमें जोड़ देने से सब पच्चीस भेद सिद्ध हुए । अब क्रमशः इन भेदों के उदाहरण दिलाए
जाते हैं ।

वाक्यगता श्रौती पूर्णोपमासुदाहरति—

तत्र पूर्णा श्रौती वाक्यगता यथा—

‘श्रीमच्चण्डकरमण्डलमीप्सज्वालससरणतापितमूर्तेः ।

प्रापृपेक्ष्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु कृष्णिबरेण्यः ॥’

तत्रेति । पञ्चविंशतीनां मध्ये । अत्र 'पञ्चविंशतीनां मध्ये' इति ध्याचक्षणो
 रैयाकरणशिरोमणिर्निर्देशः 'विंशत्याशा' सदैवन्वे' इति नियमं कुतो नारमरदिति न
 विभावयन्नपि निर्णेतुं शक्नोमि । ग्रीमेति । मक्तं प्रार्थयते—प्रावृषेभ्यः वर्पुर्नुसमुद्भवः,
 वारिधर' जलधर', यथा, ग्रीष्मस्य निदाघस्य चण्डकरमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य, भीष्मा
 भयङ्करी, ज्वाला तापो, यत्र, तादृशे देशे ससरण्येन गमनेन, तापिता, मूर्तिः शरीरं, यस्य,
 तादृशस्य मनुष्यस्य, वेदना सतापपीडा, हरति, तथा वृष्णिचरेण्य' नवनीरदाभो मुरारि'
 ग्रीष्मचण्डकरमण्डलवन् निदाघशालीनसूर्यमण्डलवन्, भीष्मा ज्वाला यस्य, तादृशेन,
 संसारणेन संतारेण, जन्ममरणभ्यामिति यावत् तापिता मूर्तिर्यस्य तादृशस्य, मे मम,
 वेदना भवतापपीडा, हरतु दूरीकरोन्वित्यर्थः ।

उवाहरण विश्लेषणे का उपक्रम करते हैं—तत्र इत्यादि । पूर्वोक्त पक्षीस उपमानभेदों
 में से पूर्ण श्रौती वाक्यगता जैसे—'ग्रीष्म च'—' ।' मक्त भगवान् से वाचना करता है—
 वर्षा ऋतु का जलधर (मेघ), जिसतरह, ग्रीष्म ऋतु के सूर्यमण्डल की भयङ्कर ज्वालावाले
 प्रवेश में संस्मरण करने से सतप्त-शरीरवाले मनुष्य की वेदना को दूर कर देता है, उसी
 तरह यादवश्रेष्ठ-घनरथाम भगवान् धीकृष्णचन्द्र-ग्रीष्मकालीन सूर्यमण्डल की भयङ्कर
 ज्वाला के समान ज्वाला वाले संसार (जन्म-मरण) से सतप्त शरीरवाले मेरी वेदना का
 हरण करें ।

उपपादयति—

अत्र प्रावृषेभ्य इत्यनेन वारिधरविशेषणेन नैराकाङ्क्षयात्, इवेन समास
 इत्येष पाठाभित्यक्त्वाभावाद् वारिधरेणापि नेवस्य समासः । एषा चोपमानोप-
 मेययोर्वारिधरभगवतोर्वेदनाहरणकर्तृत्वस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यबोधकस्येव-
 शब्दस्य चाभिधानात्पूर्णा सादृश्यस्य श्रुत्या बोधनाच्छ्रौती ।

वाक्यगतत्वं स्फुटयति—अत्रेति । उक्तपक्षे प्रावृषेभ्य इति वारिधरस्य विशेषणम्
 इति तस्मिन्नेव साकाङ्क्षम्, न इवार्थे, अतः प्रावृषेभ्यशब्दस्य इवशब्देन सह समासो
 न प्राप्तः । वारिधरस्य विशेष्यस्य इवार्थे साकाङ्क्षत्वेऽपि 'सुप्सुपे'त्यनित्यशास्त्रप्रपञ्चभूतस्य
 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इत्यस्वाप्पन्नित्यन्वेन वैचलिकं स न भवतीति वाक्यगतत्व-
 मस्या उपमाया बोध्यम् । पूर्णात् विविनक्ति—एषा चेति । उपमानोपमेयसाधारणधर्म-
 सादृश्यानामुपमाज्ञाना यतुर्णा शब्देदृशादानात् पूर्णात्वमुपमाया इति भावः । श्रौतीत्वमाह—
 सादृश्यस्येति । परस्परनिरूपितस्येति शेषः । श्रुत्या भवणोत्तरमेवैवार्थः । इवशब्दराक्षि-
 द्वाभावात् स्वभवणानन्तरमविलम्बेनैवोपमानोपमेययो परस्पर सादृश्यं प्रतीयते, न
 तत्र वाक्यार्थज्ञानापेक्षा भवतीति श्रौतीय भवति, इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ 'प्रावृषेभ्य' पद के साथ 'इव' शब्द का
 समास प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि प्रावृषेभ्य पदार्थ, वारिधर पदार्थ का विशेषण है, अतः
 वह उसी अर्थ में साकाक्ष है इवार्थज्ञान में नहीं और समास होता है परस्परसाकाक्षार्थ
 वाचक पदों में । वारिधर यह विशेष्यभूत पदार्थ यद्यपि इवार्थ में साकाक्ष है, अतः
 वारिधर पद के साथ इव पद का समास प्राप्त है, तथापि वह नहीं किया जायगा ।
 कारण,—इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' यह समासविधायक वचन, 'सुप्सुपा' इस
 वैकल्पिकशास्त्र के प्रपञ्चभूत होने से वैकल्पिक है और वैकल्पिकशास्त्रों की प्रवृत्ति वृद्धा
 के अधीन हुआ करती है । अतः यह उपमा वाक्यगत कहलाती है । पूर्णोपमा यह इस
 लिये कहलाती है कि उपमा के चारों अङ्ग (उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और
 सादृश्य) यहाँ शब्दतः उक्त हैं—अर्थात् मेघरूप उपमान, कृष्णरूप उपमेय, वेदना का

हरण करना रूप साधारण धर्म तथा इवार्य-सादृश्य-इन चारों उपमाओं के शब्दतः उक्त रहने के कारण यह उपमा पूर्णा कहलाती है। इसी तरह पूर्वोक्त विचार के अनुसार 'हव' पद से सादृश्य के बोध होने के कारण यह उपमा श्रौती समझी जाती है।

वाक्यगतार्थी पूर्णोपमामुदाहर्तुमाह—

पूर्णा आर्था वाक्यगता यथा—

यत्प्रकारिकोपमा वाक्यगता आर्था पूर्णा च भवति, स प्रकारो निम्ननिर्दिष्टो द्रष्टव्य इति भावः ।

वाक्यगत आर्था पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरति—

‘प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे ।

शशाङ्क केन मुग्धेन सुधांशुरिति आपितः ॥’

काचन विरहिणो चन्द्र प्रति चकि-अयि शशाङ्क ! मृगाङ्क ! कलङ्कि ! चन्द्र इति यावत्, त्व, प्राणस्व, अपहरणेन, हेतुना, मे मङ्कते, हालाहलेन उभेण विधिण, तुल्य सदृश, अग्नि भवसि : केन अज्ञातनामबोधेण, मुग्धेन मोहाच्छब्देन जरेनेति यावत्, सुधांशु पीयूषकिरण, इति पदेनेति शेष, भागित त्व कथित इत्यर्थः । प्राणहरणकारित्वेन विषयत्वस्य तव सुधांशुपदेन व्यावहारो मोहग्रस्तस्यैव कार्यम् न विवेकिन इति भावः । अत्र हालाहलस्योपमानस्य, शशाङ्कस्योपमेयस्य, प्राणहरणकारित्वस्य साधारण-धर्मस्य सादृश्यस्य च शब्दतः उपादानात् पूर्णात्वम्, तुल्यपदेन सादृश्यस्य प्रतिपादना-दार्थात्वम् ‘हालाहलेन तुल्य’ इति व्यस्तप्रयोगात् वाक्यगतत्वम् च बोध्यम् ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—प्राणापहरणेन इत्यादि । चन्द्रमा के प्रति किसी विरहिणी नायिका की चकि है—हे शशाङ्क-कलङ्कमय चन्द्र प्राणापहारी होने के कारण, तू, मेरे लिये, गरल के समान हो । न जाने, किस मूढ़ ने तुम्हें ‘सुधांशु’ कह दिया । सारांश यह कि जो प्राणहरण करनेवाला है, उसे, विष नहीं, तो विषतुल्य, अवश्य कहना चाहिए, सो न कहकर उसे अमृतकिरण कह देना मुग्धता के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? यहाँ हालाहलरूप उपमान, शशाङ्करूप उपमेय, प्राणहरणरूप साधारण धर्म और सादृश्य—इन चारों अर्थों का शब्द द्वारा प्रतिपादन होने के कारण उपमा पूर्णा कहलाती है । ‘तुल्य’ पद से सादृश्य का बोध होने के कारण वह आर्था कही जाती है । ‘हालाहलेन तुल्य’ यहाँ समास न करने के कारण वाक्यगत उपमा समझनी चाहिए ।

समासगता श्रौती पूर्णोपमामुदाहर्तुमाह—

पूर्णा श्रौती समासगता यथा—

यत्प्रकारिकोपमा समासगता पूर्णा श्रौती व्यपदिश्यते, स प्रकारोऽधो निर्दिश्यते इति भावः ।

समासगत श्रौती पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिशति—

‘हरिचरणकमलनयगणकिरणश्रेणीय निर्मला नितराम् ।

शिशिरयतु लोचनं मे देवघृतपुत्रिणी देवी ॥’

भक्त गङ्गा प्रार्थयते—हरे विष्णो, चरणौ कमलौ इवेयुपमितगमास, न तु रूपक-

समास', तत्र 'नखगण'प्रतिपादनस्योपमायाः साधकत्वात् रूपकस्य साधकत्वाच्च, तेन कमलपुत्स्यो चरणविति पर्ववसितार्य', तत्र यो नखगणः नखसमूहः, तस्य किरणधेनो प्रभापुञ्जमिव, नितरामत्यन्तं निर्मला स्वच्छा, देवव्रतेन भीष्मेण, पुत्रिणी पुत्रवती भीष्म-जननीति यावत्, देवी ऐश्वर्यमयी, गङ्गा, मे गङ्गा, लोचनं नयनं, शिशिरयुत शीतलयुत इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—हरिचरण इत्यादि । मत्त कामना करता है—भगवान् विष्णु के चरणकमलों के नखसमूह की किरणों की पङ्क्ति के समान अत्यन्त निर्मल, भीष्म की माता, गङ्गादेवी मेरे नयनों को शीतल करे—गङ्गाजी के दर्शन से मेरी अँखिँ आनन्द प्राप्त करें ।

उपपादयति—

अत्रेवेन समासः ।

'किरणधेनोव' इत्यत्र किरणधेनोशब्दस्य इषशब्देन सह समास आधीयते, तेनोपमाया' समासगतत्वम्, हरिपादनस्यप्रभारूपस्योपमानस्य, गङ्गास्वरूपस्योपमेयस्य, निर्मल-स्वरूपस्य साधारणधर्मस्य सादृश्यस्य चोपादानात्पूर्णात्वम्, 'इव'पदेन सादृश्यप्रति-पादानात् श्रौतीन्वयावगन्तव्यम् ।

उपपादन देखिये—अत्रेत्यादि । 'हरिचरण' इस पद्य में 'हृव' शब्द के साथ 'किरण-धेनी' शब्द का समास हुआ है, अतः यह उपमा समासगत होती है । पूर्णा और श्रौती होने की युक्ति पूर्ववत् समझनी चाहिये ।

समासगामार्थी पूर्णोपमासुदाहर्तुमाह—

पूर्णा आर्या समासगा यथा—

ज्वाह्या पूर्वपत् ।

समासगत आर्या पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'आनन्दनेन लोकानामातापहरणेन च ।

कलाघरतया चापि राजभिन्दूपमो भवान् ॥'

कवि राजानं स्तांति—राज्ञः । भवान्, लोकानां जननानाम्, आनन्दनेन सुखविशेष-विधाधित्वेन, आतापस्य सन्तापस्य, अपहरणेन दूरीकरणेन, कलाघरतया कलान्ध चतु-पष्टिकलाताम्, ज्योत्स्नायाश्च धारकत्वेन च हेतुना इन्दूपमः चन्द्रतुल्यः वर्तते इत्यर्थः । उक्तान् चतुर्णामङ्गानां शब्दतः प्रतिपादनात्पूर्णात्वम्, 'इन्दूपम' इति समस्तप्रयोगात् समासगतत्वम्, तुल्यार्थकेनोपमापदेन सादृश्याख्यानात् आर्यात्वयावोपमाया वेदितव्यम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आनन्दनेन इत्यादि । कवि राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! आप मनुष्यों को खानन्दित करने से तथा उनका सन्ताप हरण करने से और कलाओं के धारण करने से चन्द्र के समान हैं । यहाँ की उपमा, उक्त चारों अङ्गों के शब्दतः उपात्त रहने से पूर्णा, सादृश्यवाचक तुल्यार्थक उपमा शब्द के रहने से आर्या और 'इन्दूपम' पद में समास होने से समासगत होती है ।

श्रौतीमार्थी तद्विगतता पूर्णोपमासुदाहर्तुमाह—

पूर्णा श्रौती आर्या च तद्विगता यथा—

ज्वाह्यात्रापि प्राग्बदवगन्तव्या ।

धौती स्या आर्या—दोनों प्रकार की तद्विगतता पूर्णोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘निखिलजगन्महनीया यस्याभा नवपयोधरवत् ।

अम्बुजवद्विपुलतरे नयने तद्वन्नङ्ग संप्रये सगुणम् ॥’

भक्तो बक्ति—निखिलेन समग्रेण, जगता ससारेण, महनीया पूज्या, यस्य सगुणस्य ब्रह्मण, आभा कान्ति नवपयोधरवत् नूतनजलधारेणैव, वियत इति शेष । एवम् यस्य ब्रह्मणो, नयने नेत्रे, अम्बुजवत् कमलनुत्ये, विपुलतरे सुविशाले, वर्तते इति शेष, तत्तु सगुण सरस्वत्यम् मायाविग्रहधारीति यावत्, ब्रह्म भगवन्त कृष्णम्, संप्रये आश्रये तस्य शरणगतो भवामीत्यर्थ ।

उदाहरण का निदेश करते हैं—निखिलेति । किसी भक्त का कथन है—जिसकी प्रभा, नूतन घनघटा के समान सम्पूर्ण ससार से पूज्य है तथा जिसके नेत्र, वारिज की तरह बहुत बड़े-बड़े हैं, उस सगुण-भग्नो माया से शरीर धारण करने वाले-ब्रह्म-भगवान् कृष्ण—का आश्रयण करता हूँ, उसके शरणागत होता हूँ ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे वक्तेः ‘तत्र तस्यैव’ इति सादृश्ये विधानाच्छ्रौती उत्तरार्धे ‘तेन तुल्यम्’ इति विधानात्सादृश्यवदर्थकतया आर्या ।

‘निखिल ’ इति पद्ये ‘नवपयोधरवत्’ इत्यत्र ‘तत्र तस्यैव’ इति पाणिनिसूत्रेण इयार्थे सादृश्ये वक्तिप्रत्ययो विहित इति तदस्य धौत्युपमा । ‘अम्बुजवत्’ इत्यत्र ‘तेन तुल्य मित्या चेत् वक्ति’ इति पाणिनिसूत्रेण तुल्यार्थे सादृश्यविशिष्टार्थे सप्रत्यय कृत् इति तदस्य आर्या सेति भावः । पूर्णात्वं पूर्ववत् स्वयमनुसन्धेयम् । तद्विगमामित्व तु स्पष्टमेव ।

उपपाद्वन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘नवपयोधरवत्’ इस पद में ‘वक्तिप्रत्यय’ का विधान, ‘तत्र तस्यैव’ इस पाणिनीसूत्र से ‘इव’ के अर्थ (सादृश्य) में हुआ है, अतः उस अंश में श्रौती और ‘अम्बुजवत्’ इस पद में उसका विधान ‘तेन तुल्य मित्या चेद्वक्ति’ इस पाणिनीसूत्र से ‘तुल्य’ के अर्थ—‘सादृश्यशुक्त’ में हुआ है, अतः उस अंश में आर्या उपमा मानी जाती है । पूर्णात्वं का अनुसन्धान पूर्वोक्त रीति से स्वयं कर लेना चाहिये ।

पूर्णोपमोदाहरणप्रदर्शनानन्तरमिदानीं लुप्तोपमोदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथम वाक्यगतानुपमानलुप्तोपमानुदाहर्तृमाह—

उपमानलुप्ता वाक्यगा यथा—

यत्प्रकारिकोपमा उपमानलुप्ता भवति, स प्रकरो निर्दिश्यत इति भावः ।

वाक्यगत उपमानलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरवर्णपरिमलोद्गारैः ।

कुसुमकुलतिलक चम्पक न वयं त जातु जानीमः ॥’

कवि कथयति—अयि, कुसुमकुलतिलक पुष्पमण्डलप्रेष्ठ, चम्पक लोकोत्तरस्य अलौकिकस्य, वर्णस्य रूपस्य, तादृशस्य परिमलस्य गन्धस्य, च उद्गारै उद्गिरणै प्रकागर्नैरिति यावत्, यस्य पदार्थस्य, तुलाम् समताम्, अधिरोहसि प्राप्नोमि, त्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । तं त्वनिष्ठतुलाप्रतियोगिभूत पदार्थम्, वयं, जातु कदाचिदपि, न जानीमः नानुसन्दय्य इत्यर्थः । चम्पकस्योपमेयस्योपमानमिह न प्रतिपादितमिति लुप्तोपमानत्वम्, ‘यस्य तुला’ इत्यत्र समासाभावाद् वाक्यगतत्वश्चात्र बोध्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यस्य तुला इत्यादि । कवि का कथन है—हे पुष्पों के सिरताज चम्पक ! अलौकिक रूप और सुगन्ध के प्रकाशन से तुम, जिस चीज की समता को पाते हो, उसको हम कभी नहीं जान पाते । शायंश यह कि तुम्हारा सारथ्य किसी पुष्प में नहीं है—पुष्पों में तुम बेजोद हो । चम्पक का उपमान, यहाँ लुप्त है—मही प्रतिपादित है, अतः यह उपमानलुप्त हुआ । 'यस्य तुला' यहाँ पर समास नहीं किया गया है, अतः वाक्यगत उपमा होती है ।

अन्यद्वयत्वात्तेन इदमेव पद्य समासगताया अपि तस्या उदाहरणं सम्भवतीति प्रतिपादयति—

यत्तुलनामधिरोहसीत्याद्यचरणनिर्भाषे इयमेव समासगा ।

'यस्य तुलामधिरोहसि' इति प्रथमचरणस्थाने 'यत्तुलनामधिरोहसि' इति समासपठितपाठकल्पने इदमेव पद्य समासगाया उपमानलुप्ताया उदाहरणं भवेदिति भावः ।

इसी श्लोक के प्रथम चरण को यदि 'यत्तुलनामधिरोहसि' के रूप में बदल दिया जाय, अर्थात् 'यस्य' को पृथक् न रखकर उसका 'तुलना' शब्द के साथ समास कर दिया जाय, तब यही श्लोक समासगत उपमानलुप्तोपमा का उदाहरण होगा ।

अत्रालङ्कारान्तरत्वात्तत्त्वमात्रस्य निरूपयति—

उपमानाभावेन सादर्यभाषणस्य पर्यवसानात्सादर्यपर्यवसानस्य योपमाजीवितत्वादलङ्कारान्तरमेवात्र नोपमानलुप्तेति नाशङ्कनीयम् । यस्य तुलामारोहसि न तं ध्वं जानीम इत्युक्त्या अस्माकमसर्वज्ञत्वादस्मद्गौचरः कौऽपि तवोपमानं भविष्यतीति सादर्यपर्यवसानमस्तीत्युपमानलुप्तेवेयमुपमा नालङ्कारान्तरम् ।

उपमानाभावेनेति सादर्यभाषणपर्यवसाने हेतुः किं । उपमानस्य सादर्यनिरूपकतया, निरूपकाभावे निरूप्यस्याभावः पर्यवस्यतीति भावः । वस्येति । यत् इत्यादि । इत्युच्येति । अन्यथा न नास्तीत्युक्तिः स्यादिति भावः । 'यस्य तुला' 'इत्युपमानं नास्तीति तद्विधुपितं सादर्यमपि नास्तीति पर्यवसाने सादरोपमा सम्भवति, तस्या सादर्यपर्यवसानप्रागत्वादिति शङ्का नीचिता । यत् 'यस्यदृश्यत्वमसि, तं न जानीम' इति कथनेन 'तवोपमानभूत कथन पदार्थो विद्यतेऽवश्यम्, परन्तु सर्वज्ञताविज्ञादस्माकमतो न प्रत्यक्ष' इति प्रतीयते । एवञ्च सादर्यपर्यवसानं नास्तीति वक्तुं न शक्यम्, अत्र उपमानलुप्तोपमाऽत्र निराकाशेति भावः ।

'यस्य तुला' इस पद्य में उपमा नहीं हो सकती, कोई दूसरा ही । अलङ्कार मानता पड़ेगा, इस तरह की आशङ्का करके उसका खण्डन करते हैं—उपमानाभावेन इत्यादि । 'यस्य तुला' इस पद्य में उपमान का अभाव है—उपमेयभूत चम्पक के उपमान का निषेध किया गया है । ऐसा करने से अन्ततः सादर्य का भी अभाव सिद्ध हो जाता है । अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि चम्पक का किसी पदार्थ के साथ सादर्य नहीं है और ऐसी स्थिति में यहाँ उपमानलुप्तोपमालङ्कार नहीं हो सकता । कारण, उपमा का जीवन है अन्त तक सादर्य का प्रतीत होने रहना, जो यहाँ नहीं है अर्थात् यहाँ वाक्यार्थ की समाप्ति सादर्य के निषेध में होती है सादर्य में नहीं, अतः यहाँ कोई दूसरा ही अलङ्कार है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए । कारण, यहाँ जो यह कहा गया है कि—'तुम जिसकी समता को पाते हो, उसको हम नहीं जानते', उससे चम्पक का कहीं सादर्य नहीं—यह सिद्ध नहीं होता, अपितु यह सिद्ध होता है कि 'सर्वज्ञ नहीं होने के कारण हम जिस पदार्थ को नहीं जान पाते, ऐसा कोई पदार्थ चम्पक का उपमान

है' इस तरह सादृश्य में ही पर्यवसान होता है। अतः यहाँ अलङ्कारान्तर नहीं, उपमान तुला उपमा ही है।

प्राचीनोक्ति खण्डयति—

एतेन

‘दुंदुणंतो हि मरीहसि कंटककलिकां केअइयणाइं।

मालइकुसुमसरिच्छ भमर भमतो न पावहिसि ॥’

इत्यत्रासमालङ्कारोऽयमुपमातिरिक्त इति वदन्तोऽलङ्काररत्नाकरादयः परास्ताः।

एतेनेति। उक्तरीत्या सादृश्यपर्यवसानेनेत्यर्थः। अत्रापि तत्प्राप्तिस्तत्र दुर्लभेत्युक्तं न तु नास्तीति भावः। दुंदुणतो इति। ‘दु दुं कृत्वा हि मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि। मालतीकुसुमसदृश भ्रमर भ्रमन्न प्राप्स्यसि’ इति छाया। हे भ्रमर! केतकीवनानि, कण्टककलितानि कण्टकमयानि, अतस्तत्र, त्व, दु दु कृत्वा एतच्च कैवल्यकालिकभ्रमरवातुकरणम्, मरिष्यसि मरणमेव लप्स्यसे नानन्दम्। सत्यं जानीहि, भ्रमरपि रसमय परिमलप्रचुर पुष्पान्तरं गवेषयितुमिच्छतत सर्वत्र सद्यन्मपि, मालतीकुसुमसदृश मालतीपुष्पसमानं पुष्पान्तरं, न प्राप्स्यसि नासादयिष्यसीति तदर्थः। एषा च स्वसौभाग्य सूचयन्त्या कस्याधन नायिकाया स्वप्रियतमसमीपे भ्रमरं प्रत्युक्तिः। तेन— सुपैव त्व नायिकान्तरमन्विष्यन् कष्टमनुभवसि, मादृशी नापरा प्राप्तुं शक्येति प्रियतम प्रति नायिका व्यज्यते। अत्रापि ‘मालतीकुसुमसदृश न प्राप्स्यसी’त्युक्त्या न मालतीकुसुमस्योपमानाभाव पर्यवस्यति, अपि तु ‘भ्रमरमदगोचर’ क्वचन पदार्थस्तदोपमानभूत इत्येव। तथा च पर्यवसितसादृश्यमुपमाजीवातुभूतमस्तीति उपमास्वीकारेऽत्र न काचिद् बाधा। एवमात्रासमनामकुसुममातिरिक्तमलङ्कारं समर्थयन्तोऽलङ्काररत्नाकरादयो न मुक्ताभिधायिन इति भावः।

प्राचीनोक्ति का खण्डन करते हैं—एतेन इत्यादि। ‘दुंदुणतो’ अर्थात् हे भ्रमर! तुम, कांटों से भरे हुए केतकी (केवड़ा) के वनों में दूँ दूँ करते हुए मरोगे, पर फिरते-फिरते भी मालती के फूल के समान दूसरे फूल को नहीं पा सकोगे। यह अपने सौभाग्यविशेष की सूचना देती हुई किसी नायिका की प्रियतम के समीप भ्रमर के प्रति उक्ति है। अतः प्रियतम के प्रति नायिका का यह अभिप्राय इस पक्ष से व्यक्त होता है कि हे मेरे छालची प्रियतम! व्यर्थ, तुम, विलक्षण सुन्दरी की खोज में इधर उधर क्या भटक रहे हो—कष्ट उठा रहे हो, विश्वास रक्खो, लाख धूमने पर भी मुझ जैसी सुन्दरी रमणी तुम्हें नहीं मिल सकेगी। इस पक्ष में ‘असम’ नाम का एक दूसरा ही अलङ्कार है, उपमा नहीं ऐसा ‘अलङ्काररत्नाकर’ आदि का कथन है। परन्तु पूर्वोक्त विचार के अनुसार उनका यह कथन खण्डित हो जाता है—अर्थात् ‘यस्य तुला’ इस पक्ष के समान यहाँ भी यह कहा गया है कि ‘मालतीफूल के तुल्य दूसरे फूल का मिलना कठिन है’ न कि ‘मालती फूल के समान कोई नहीं है’ यह, अतः इस उक्ति से उपमान का निषेध पर्यवसित नहीं होता, अपितु हम लोगों से अज्ञात कोई तेरा उपमान होगा यही फलित होता है। इस स्थिति में पर्यवसान में सादृश्य के वर्तमान रहने के कारण यहाँ उपमा निर्बाध रूप से मानी जा सकती है, फिर ‘असम’ नामक अलङ्कारान्तर की वरूपना व्यर्थ एवं निराधार है।

श्रीती वाक्यगता धर्मलुप्तोपमाया मुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता श्रीती वाक्यगता यथा—

‘वाक्यगताया’ श्रौत्या धर्मलुप्तोपमाया य प्रकार स प्रदर्शयति इति भावः।

वाक्यगत धौती धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कलाधरस्येय कलावशिष्टं विल्वलता लवलीलतेव ।

अशोकमूलं परिपूर्णशोका सा रामयोषा चिरमध्युवास ॥’

लवलीलता ‘हरफारेवली’ इति मापया प्रसिद्धा । अशोकमूलमिति । ‘उपान्व-’ इति सूत्रेणाधारस्य कर्मसंज्ञा । कवि- रावणापहृता लङ्गागता सीता वर्णयति—कलाधरस्य चन्द्र-
मसः, अवशिष्टा लयानन्तरमपि शेषभूता, कला ज्योत्स्ना, इव, विल्वं शिखरं, मूलं यस्या-
स्तादृशी, लवलीलता लताविशेष, इव, परिपूर्णं यथावधिविरुद्ध, शोको यस्या तादृशी,
सा धैर्यपातिव्रत्यादिगुणवत्तया प्रसिद्धा, रामस्य, यौषा पत्नी, सीता, चिर निरकाल-
पर्यन्तम्, अशोकमूलम् अशोकतरोर्मूले, अयुवास निवासं चक्रे इत्यर्थः । अत्राशोकमूले
निपनन्ती परिपूर्णशोकेति विरोधो व्यज्यते । एवम् सांतेन्यनुकृत्वा ‘रामयोषे’तिरूपनेन
‘निप्रदातुप्रदत्तमर्पस्य भगवतो रामचन्द्रस्यापि प्रियतमा चेदीदृशी निपत्तिमापद्, तर्हि
बलवद्बुधिविर्लसितम्’ इत्याद्ययोऽभिव्यज्यते । उपमाद्वयेन सीतायाः क्षीणता पाण्डुता
तथापि कान्तिमत्ता च प्रतीयन्ते । अत्र सीतानिष्ठस्य कलाधरकलालवलीलतयो सादर्यस्य
नियामकं साधारणधर्मं क्षीणत्वपाण्डुत्वादिर्नोक्तं इति धर्मलुप्तता बोध्या ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कलाधर इत्यादि । कवि का कथन है कि—सीण होने
पर भी वही हुई चन्द्र की कला-सी और जब कड़ी हुई हरफारेवली-सी, शोक से भरी
हुई, वह रामचन्द्र की धर्मपत्नी-भगवती सीता, चिरकाल तक, अशोकतट की जड़ में
निवास करती रही । यहाँ ‘अशोकमूल में वसती हुई शोक से भरी’ इस उक्ति से विरोधा-
भास अलङ्कार व्यक्त होता है । सीता ने कहकर ‘रामयोषा’ कहने से यह अभिव्यक्त
होता है ॥ ‘जब सब कुछ कर सकने में समर्थ भगवान् रामचन्द्र की प्रेयसी भी इस
तरह की विपत्ति में भा पड़ी, तब दुर्दैव का दुर्विकास ही बलवान् है ।’ जिस धर्म के
कारण सीता में कलाधरकला और लवलीलता का सादर्य कहा गया है, वह साधारण
धर्म यहाँ उक्त नहीं है, अतः धर्मलुप्ता होती है ।

धर्मलुप्तामधिकृत्य विचारभेदं प्रस्तौति—

‘ग्रीष्मचण्डकर्मण्डल’ इति प्रागुदाहृते पूर्णोपा उदाहरणे प्रावृषेण्यो चारि-
धर इय यो घृष्णिगरेण्यः स मे वेदना हरित्विति घृष्णिगरेण्यमात्रगतत्वेन वेद-
नाहरणकर्तृत्वं विवक्षितम्, चारिधरसादर्यं च श्यामत्वादिना यदि, उदा तत्रा-
प्येषा बोध्या ।

श्यामत्वादिनेति । विवक्षितमित्यनुपपन्नं । तत्रापि ‘ग्रीष्मचण्ड-’ इति पद्येऽपि । एषा
धर्मलुप्तोपमा । ग्रीष्मचण्डेति पद्ये ‘मिथो यथा सन्तप्तस्य वेदना हरति, तथा यादवभ्रेष्ठो
हरिः मे वेदना हरतु’ इति वस्तुतात्पर्यविचारणेन वेदनाहरणकर्तृत्वात्मकसुक्त साधारण-
धर्मनादाय प्राक् पूर्णात्पमुक्तम्, इदानीं च ‘मिथ इव यो हरिः स मे वेदना हरतु’ इति
तात्पर्यविचारणे वेदनाहरणकर्तृत्वं हरिमानान्वये न साधारणधर्मं, एवम् मेघहयीं राहस्यं
श्यामत्वादिनाऽनुकेनैव धर्मेण चकष्य स्यात्, अतस्तथात्वे तत्रापि धर्मलुप्तोपमैव न पूर्णो-
पमेत्युच्यते इति भावः ।

धर्मलुप्ता के आधार पर एक विचार किया जाता है—ग्रीष्म इत्यादि । ‘ग्रीष्मचण्ड-’
यह पद्य पहले पूर्णोपमा के उदाहरणरूप में लिखा जा चुका है अर्थात् ‘जैसे वर्षाकालिक
मेघ संतप्त जन की वेदना का हरण करता है, वैसे यादवों में भ्रेष्ठ-हरि, मेरी वेदना का

हरण करें' ऐसा अभिप्राय वक्ता का माना गया है। तदनुसार, वेदनाहरणकर्तृत्वरूप साधारण (मेघ और हरि दोनों में रहने वाले) धर्म के उक्त रहने से पूर्णोपमा ठीक थी। परन्तु 'मेघ के समान जो हरि, वह, सुप्त सन्तप्त की वेदना का हरण करें' ऐसा अभिप्राय यदि वक्ता का माना जाय, तब तो 'वेदनाहरणकर्तृत्व' साधारण धर्म हो नहीं सकता, क्योंकि इस अभिप्राय के अनुसार, वह केवल हरि में अन्वित होता है—मेघ में उसका सम्बन्ध रह नहीं जाता, अतः अगत्या मेघ और हरि का सादृश्य 'श्यामत्व आदि' धर्म—जो उक्त नहीं है—से ही कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में वह पद्य भी धर्मलुप्तोपमा का ही उदाहरण होगा, पूर्णोपमा का नहीं।

तत्र पूर्णोपमास्वीकारे लुप्तोपमास्वीकारे च यो विशेषस्त दर्शयति—

इयांस्तु विशेष—यत्पूर्वायां वृष्णिवरेण्यमात्रमुद्दिश्य प्रावृषेण्यवारिधर-सादृश्यप्रयोजक सादृशवारिधरसादृश्याभिन्नं वा वेदनाहरणकर्तृत्वं विधेयमित्युपमाविधेयिका धीः। धर्मलुप्तायां तु वारिधरसादृश्यावच्छिन्नवृष्णिवरेण्यमुद्दिश्य वेदनाहरणकर्तृत्वमात्रं विधेयमित्युपमोद्देश्यतावच्छेदिका।

सादृश्यमतिरिक्त पदार्थ इति मतमनुसृत्याह—प्रावृषेण्य इति। सादृश्य धर्मरूपमेव नातिरिक्त पदार्थ इति मतमनुसृत्याह—तादृशेति। प्रावृषेण्येत्यर्थः। अवच्छेदिकेत्यस्येति शेषो बोधः। अत्र भाष—'प्रीत्यवच्छेदः' इति पद्ये पूर्णोपमायामप्रीत्यमाणाया 'मेघसादृश्यप्रयोजकं मेघसादृश्याभिन्नं वा यत् वेदनाहरणकर्तृत्वम्, तद्वान्, हरि' इति नैयायिकरीत्या, प्रथमान्तार्थसुख्यविशेष्यको बोधो भवति। तत्र च बोधे केवलो न तु विरोधव्यतिरिक्त हरिरुद्देश्यतया, भासते, 'सादृश्यमतिरिक्त पदार्थ' इति मते मेघसादृश्य-प्रयोजकम्, 'सादृश्य भाव सादृश्य धर्मरूपम् नातिरिक्त पदार्थ' इति मते च मेघसादृश्याभिन्न वेदनाहरणकर्तृत्वम् (वेदनाहरणम्) च लोड्यविधेयतया भासते। सादृश्यमेव चोपमा अत एव उपमा विधेया यस्मिन् तादृशः स शब्दबोधो व्यपदिश्यते। तत्र पुनः लुप्तोपमायां स्वांक्रियमाणाया 'मेघसदृशो हरि', वेदनाहरणकर्तृतावान् इति नैयायिकाभिमतो बोधः। तत्र च बोधे हरिरुद्देश्यभूत इति तद्विशेषणभूतम् उपमापदवसायि सादृश्य-मुद्देश्यतावच्छेदकतया भासते, अतः उपमा उद्देश्यतावच्छेदिका कथ्यते इति।

उक्त पद्य में पूर्णोपमा मानने पर तथा लुप्तोपमा मानने पर जो अन्तर होता है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—इयांस्तु विशेष इत्यादि। उक्त रीति से उक्त पद्य में पूर्णोपमा मानने पर, पद्यवाक्य से 'हरि, मेघ के समान वेदनाहरणकर्ता होवे' ऐसा बोध होता है। इस बोध में केवल निर्विशेषण हरि होता है उद्देश्य और वेदनाहरणकर्तृत्व (वेदना हरण) विधेय। यह विधेयभूत वेदनाहरणकर्तृत्व, एक (सादृश्य एक अतिरिक्त पदार्थ है, इस) मत के अनुसार मेघ के सादृश्य का प्रयोजक-सम्पादक-है, और दूसरे (सदृश का भाव-धर्म-है सादृश्य, अतिरिक्त पदार्थ नहीं, इस) मत के अनुसार सादृश्यरूप ही है। उभयथा-उक्त बोध में सादृश्य, विधेय होता है। और सादृश्य ही उपमा है। अतः यह बोध उपमाविधेयक कहा जायगा। लुप्तोपमा मानने पर तो उक्त श्लोकावयव से होनेवाला बोध उपमाविधेयक नहीं कहा जा सकेगा। कारण, उस दशा में जो 'मेघसदृश हरि, मेरी वेदना का हरणकर्ता होवे' यह बोध होगा, उसमें मेघ के सादृश्य से विशिष्ट हरि होगा उद्देश्य और केवल वेदनाहरणकर्तृत्व विधेय, अतः सादृश्य-अर्थात् उपमा, उद्देश्यता का अवच्छेदक होगी विधेय नहीं। तात्पर्य यह कि लुप्तोपमा की रीति से होनेवाले वाक्यार्थबोध में उपमा उद्देश्यभाग में आ जायगी, विधेयभाग में नहीं।

‘वाक्यगतामार्थो धर्मलुप्तोपमासुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता आर्थी वाक्यगता यथा—

व्याख्या प्राग्वत् ।

वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कोपेऽपि वदनं तन्वि तुल्यं कोकनदेन ते ।

उत्तमानां विकारेऽपि नापैति रमणीयता ॥’

भाष्यको मानिनी ब्रूते—तन्वि । दुर्बलाङ्गि । ते तन, वदनं मुखम्, कोपेऽपि क्षोधावस्थावामपि, स्वस्यावस्थायां तु वक्तव्यमेव किमिति भावः, कोकनदेन रक्तमलेन, तुल्यम् समानं, वर्तत इति शेषः । सामान्येनोक्तमर्थविशेषं समर्थयति—उत्तमानाम् इति । विकारेऽपि कुतश्चन कारणात् विकृतिप्राप्तावपि, उत्तमाना इवभावतः सुन्दराणां पदार्थानां, रमणीयता सौन्दर्यं, नापैति न दूर गच्छतीत्यर्थः । अत्र वदनकोकनदयो सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मस्यानुकत्वादधर्मलुप्तात्वम्, तुल्यपदेन सादृश्याभिधानादार्थीत्वम्, समासाभावाद् वाक्यगतत्वोपमाया बोद्धव्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कोपेऽपि इत्यादि । भाष्यक, मानिनी नादिका से कहता है—हे दुर्बल अङ्गोवाली ! तेरा मुख क्षोधावस्था में भी रक्तकमल के समान है । ऐसा होना समुचित भी है । कारण, बिहृत होने पर भी उत्तम पदार्थों का सहज सौन्दर्य नष्ट नहीं होता । यहाँ उपमा तथा अर्थान्तरन्यास इन दोनों अलंकारों की सद्दृष्टि है । रक्त कमल तथा मुख को तुल्य सिद्ध करनेवाले रक्तताकोमलता आदि धर्म उक्त नहीं हैं, बल्कि यहाँ की उपमा धर्मलुप्ता कही जाती है । इसी तरह ‘तुल्य’ पद से सादृश्य का प्रतिपादन होने से वह आर्थी तथा असमस्त वाक्य में रहने से वाक्यगत भी मानी जाती है ।

एकस्मिन्नेव पदे समासगता श्रौतीम् आर्थीम्, तद्वितगतामार्थीव धर्मलुप्तोपमासुदाहर्तुमाह—

धर्मलुप्ता समासगा श्रौत्यार्थी तद्वितगार्थी च यथा—

श्रौत्या आर्थ्याः समासगताया आर्थ्यास्तद्वितगतायाश्च धर्मलुप्तोपमायाः प्रकारोऽभिधीयत इति भावः ।

समासगत श्रौती-जार्थी और तद्वितगत आर्थी धर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्तिः ।

पयोधिकल्पया मक्षिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये ॥’

कविः कथयति—सुधा असृतम्, इव, वाणी वाक्, वसुधा पृथ्वी, इव, मूर्ति रवरूपम्, सुधाकरस्य चन्द्रस्य, श्रिया वान्त्या, सदृशी समाना, कीर्ति यशः, पयोधिकल्पया समुद्र-तुल्या, भवि बुद्धिश्च महीतले यदि कस्यनिवसितं तर्हि, आसफेन्दोः आसफलाननाम्ना प्रसिद्धस्य नव्यावर्त्येव, अन्यस्य, न, इति मन्ये सम्भावयामोत्यर्थः । अस्मिन् पदे सुधेव वसुधेवेत्युभयत्र समासगता श्रौती धर्मलुप्तोपमा, ‘इवेन समासो विनकल्पलोपश्च’ इति समासाभ्रयणात्, ‘इव’पदेन सादृश्याभिधानात्, माधुर्यगाम्भीर्यादि साधारणधर्मस्यानुकत्वाच्च । ‘सुधाकरश्रीसदृशी’त्यत्र च समासगता आर्थी धर्मलुप्तोपमा, श्रिया सदृशीति

तृतीयात्मनात्, सादृशपदेन सादृश्यप्रतिपादनात्, निर्मलत्वादे समानधर्मस्यानभिधानाच्च ।
'पयोधिकल्पे'त्यत्र तद्विमतता आर्या धर्मस्तु उपमा, तुल्यार्थकत्वरूपतद्विप्रत्ययेन साद-
श्यस्य बोधान् धोरत्वादे समानधर्मस्याकथनाच्चेति भावः ।

उदाहरणका निर्देश करते हैं—सुधेव इत्यादि । कवि का कथन है कि इस घरातल पर, अमृत-सी वाणी, पृथिवी-सी मूर्ति, चन्द्रकान्ति सी कीर्ति और समुद्र-सी बुद्धि यदि किसी की है, तो नचाव आसफसान की ही, दूसरे की नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ । इस पद्य में 'सुधा इव तथा वसुधा इव' इन दोनों अंशों में 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक से समास होने के कारण, समासगत, 'इव' पद से सादृश्य का प्रतिपादन रहने से श्रुती और माधुर्य, गाम्भीर्य आदि साधारण धर्म की उक्ति न रहने से धर्म-लुप्ता उपमा होती है । 'सुधाकरश्रीसरशी' इस अंश में 'श्री' पद का 'सरशी' पद के साथ तृतीयात्मना होने से समासगत, 'सरश' पद से सादृश्य-कथन के कारण आर्यो और निर्मलत्व आदि धर्म के अकथन से धर्मलुप्ता उपमा मानी जाती है । 'पयोधि-कल्पा' इस अंश में कल्पकल्प तद्विप्रत्यय से सादृश्य के बोध होने से तद्विमतता तथा आर्यो और धैर्य आदि धर्म की अनुक्ति से धर्मलुप्ता उपमा कही जाती है ।

ननु कल्पप्रत्ययस्येपदसमान्यर्थे विधानात् कथं 'पयोधिकल्पे'त्यशे उपमा, साद-
श्यस्य तत्त्वरूपत्वादित्यत आह—

ईषदसमाप्तिरपि भङ्गयन्तरेण सादृश्यमेव ।

भङ्गयन्तरेणेति । शैलीमेदेनेत्यर्थः । पयोधिकल्पेत्वाच्च कल्पप्रत्यय- ईषदसमाप्तये विहितस्तथा च 'अति पयोपेरीपन्त्यूने'ति शब्दार्थो नुप्यत इति यद्यपि साधम्, तथापि ईषदग्यूनत्वं सादृश्य एव पर्यवस्यतीति भावः ।

कल्पप्रत्यय का विधान, 'ईषत् असमाप्ति अर्थात् थोड़ा कम होना' अर्थ में होता है, अतः उससे सादृश्य का बोध होगा नहीं फिर 'पयोधिकल्पा' इस अंश में उपमा कैसे मानी जा सकती है ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—ईषदसमाप्ति इत्यादि । उक्त शङ्का भाष्यकी ठीक नहीं है । कारण, 'थोड़ा कम होना' भी दूसरे ढङ्ग से सादृश्य ही है । तात्पर्य यह कि जहाँ लोग 'कमल के समान सुख' ऐसा बोलते हैं, वहाँ ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'सुख, कमल से थोड़ा ही कम है ।' अर्थात् दोनों वाक्यों से समानता का ही बोध होता है, केवल कहने की शैली भिन्न है ।

समासगता वाचकस्तु उपमा दर्शयति—

वाचकलुप्ता समासगा—'दलदरविन्दसुन्दरम्' इति श्रागुदाहृते पद्ये ।

सामान्यतः उपमालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनावसरे 'गुरुजनमय' इति पद्यमुल्लिखितम्, तत्र भेदविशेषविचारे समासगतवाचकलुप्तोपमाया एवोदाहरण भवितुमर्हति, 'दलदरविन्द-सुन्दर'मित्यत्र सादृश्यप्रतीतावपि तत्राचकनिरहात् ।

समासगत वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है पूर्व में उल्लिखित 'गुरुजनमय' इत्यादि पद्य का 'दलदरविन्दसुन्दरम्' अर्थात् कुछ विकसित होनेवाले कमल के समान सुन्दर' यह अर्थ । तात्पर्य यह कि यहाँ वाचक—'इव तुल्य' आदि के बिना ही समास की महिमा से सादृश्य की प्रतीति होती है, अतः यहाँ की उपमा वाचकलुप्ता मानी जायगी ।

वाचकलुप्ताया भेदान्तराण्युदाहर्तुमाह—

कर्मापारक्यजगता क्यङ्गता च यथा—

कर्मार्थक्यजगताया आचारार्थक्यजगताया क्यङ्गताया च वाचकलुप्तोपमाया मन्त्रा प्रदर्यते इति भावः ।

कर्माधिक्य तथा आधारार्थक क्यच्प्रत्यय और क्यङ्प्रत्यय के द्वारा सम्पन्न होनेवाली वाचकलुप्तोपमा का प्रकार दिखलाया जाता है—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘मलयानिलमनलीयति मणिभवने काननीयति क्षणतः ।

विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥’

दूती नायकनिष्ठे विरहिण्या दशा वर्णयति—(सा) महिला नायिका, मलयानिलम् मलयचलपवनम् दक्षिणानिलमिति यावत्, अनलीयति अनलम् = अग्निम् इव आचरति, अग्निसदृशं तस्मिन् चेत्येते इति भावः, मणिभवने मणिमयप्रासादे, काननीयति कानने = वने इव आचरति, वनमध्यगतेषु तत्र व्यवहरतीति भावः (फलतः) क्षणतः विरहेण क्षणिकप्रियवियोगेन, विकलहृदया = व्याकुलचित्ता, सा, निर्जलमीनायते निर्जले = जलशून्यप्रदेशे स्थितो यः मीनः = मत्स्यः स इवाचरतीत्यर्थः । अथवा कविकृतं सामान्य-विरहिणीवर्णनमिदम् । अत्र वन्दे ‘मा’ इति नाय्याहार्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मलयानिल इत्यादि । दूती, नायक से, विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन करती है—क्षणिक प्रियविरह से व्याकुलहृदयवाली (वह) नायिका, मलयपवन के साथ अग्नि का सा आचरण करती है—दक्षिण दिशा से आने वाली हवा की अग्नितुल्य समझती है और मणिनिर्मित प्रासाद में वैसा ही आचरण करती है जैसा वन में किया जाता है—मणिभवन में रहना वन में रहने के समान उसे प्रतीत होता है । फलतः यही कहना पड़ता है कि वह जलरहित स्थान में पड़ी हुई मछली के समान, सभी आचरण करती है—वैतरह छुटपटा रही है । अथवा सामान्य विरहिणी के विरहदशावर्णन-प्रसङ्ग में कवि की यह उक्ति है । इस पद्य में ‘वह’ इस, किसी खास नायिका के बोधक पद का अप्याहार नहीं करना पड़ेगा । पद्य का स्वरस्य ऐसा ही प्रतीत होता है, अतएव कवि ने पद्य में कहीं ‘सा’ नहीं कहा है ।

उपपादयति—

अत्रानलमिवाचरतीत्यर्थेऽनलशब्दात् ‘उपमानादाचारे’ इति सूत्रेण, कानन इवाचरतीत्यर्थे काननशब्दाच्च तत्सूत्रस्थेन ‘अधिकरणाच्च’ इति वार्तिकेन क्यच् । निर्जलमीनशब्दाच्च ‘कर्तुः क्यङ् सलोपश्च’ इति क्यङ् ।

अत्रेति । ‘मलयानिल’ इत्यादिपदे इत्यर्थः । अन्यत् निगदैश्चाल्प्यतेमेव । एष च ‘अनलीयती’ति कर्मव्यञ्जिताया, ‘काननीयती’त्याधारव्यञ्जिताया, ‘निर्जलमीनायती’ इति च वयञ्जिताया वाचकलुप्तोपमाया उदाहरणानि भवन्तीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रानल इत्यादि । यहाँ ‘अग्नि के समान आचरण करती है’ इस अर्थ में अनल शब्द से और ‘वन में जैसा आचरण किया जाता है वैसा व्यवहार करती है’ इस अर्थ में, ससम्बन्ध होने के कारण अधिकरणार्थक कानन शब्द से ‘क्यच्’ प्रत्यय होता है । दोनों जगहों पर क्यच्प्रत्ययविधायक क्रमशः ‘उपमानादाचारे’ यह सूत्र और उसी सूत्र का ‘अधिकरणाच्च’ यह वार्तिक है । निर्जलमीन शब्द से ‘निर्जल स्थान में रहनेवाले मत्स्य का सा आचरण करती है’ इस अर्थ में ‘क्यङ्’ प्रत्यय होता है । प्रत्ययविधायक सूत्र है ‘कर्तुः क्यङ् सलोपश्च’ । सारांश यह कि ‘अनलीयति’ यह कर्मव्यञ्जित, ‘काननीयति’ यह आधारव्यञ्जित और ‘निर्जलमीनायते’ यह वयञ्जित, वाचक लुप्तोपमा के उदाहरण होते हैं ।

ननु कथमेह वाचकलुप्तात्वम्, क्यच्क्यङ्प्रत्यययोर्वाचक्योर्वर्तमानत्वादित्यत आह—

आचारमात्रार्थकतया क्यच्क्यङोः प्रकृत्यैव लक्षणया स्वस्वार्थसादृश्य-

प्रतिपत्तिरिति नये सादृश्यवाचकाभावाद् वाचकलुप्ता । अनलीयतीत्यादिस-
मुदायस्यैवानलादिसादृश्यप्रयोजकाचरणकर्तृशक्तत्वमिति नयेऽपि सादृश्यसाद-
र्यविशिष्टमात्रवाचकाभावाद्वाचकलुप्ता ।

क्यच्क्वयद्प्रत्ययावाचारमात्रस्य वाचको न सादृश्यस्य । न चेन्न कथं तत्प्रत्ययस्थले
सदृशाचारप्रतीतिरिति वाच्यम्, तदन्यत्रप्रकृतीनां स्वार्थमदृश्ये न्याश्रयिकत्वान् । अर्थात्
'अनलीयतीत्यादौ' प्रत्ययभागत केवलाचारस्यैव बोधः, प्रकृतिभागतश्च अनलसदृशादेर्य-
स्य । तथा चात्र सादृश्यलक्षकस्य स्थितावपि सादृश्यवाचकस्य स्थितिर्नास्त्येवेति वाचक-
लुप्तता मुस्येति भावः । ननु नेद युक्तम्, अत्र मते इवादीनां द्योतकतानये सर्वत्रैव वाच-
काभावाद्वाचकलुप्तात्वापत्तेः, 'बन्धप्रतिपक्षमाननम्' इत्यत्रापि तदापत्तेः, प्रतिपक्षपदेन
सादृश्यस्य लक्ष्यत्वादित्यत्र ममाधानान्तरमाह—अनलीयतीत्यादीति । अयं भावः
उपमाभूत'वाचक'पदेन यथाकथञ्चित् सादृश्यप्रतिपादका एव पृथग्नै, अत एव
द्योतकानामिवादीनां लक्षकानां प्रतिपक्षादिपदानां च तात्वेन वाचकलोपव्यवहारः तथा
च प्रकृते क्यच्क्वयद्प्रकृतिभ्यां लक्षणयाऽपि सादृश्यप्रतिपत्तौ वाचकलोपव्यवहारः कथमिति
शङ्का यद्यपि युक्ता, तथापि 'वाचक' इति शब्देन सादृश्य-सादृश्यविशिष्टान्तरमात्र-
बोधका एव विवक्षिता । क्यच्क्वयद्प्रकृतयस्तु स्वार्थसादृश्यविशिष्टलक्षका इति न ताव-
न्मात्रबोधका, अतस्तत्सत्त्वेऽपि वाचकलोपव्यवहारः । एवञ्च उक्तान्तरमात्रबोधका-
भाव एव वाचकलोप इति तत्त्वम्, अत एव च 'अनलीयति' इत्यादौ न प्रकृतिप्रत्यययो-
रुभयं प्रत्ययार्थे शक्तिर्लक्षणा वा, अपि तु प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यैव अनलादिमदृशाचरण-
कर्तृरुपायं शक्तिरिति मतेऽपि न दोषः, आचारादिरूपाधिरस्वाप्यर्थस्य बोधकतया उक्त-
ान्तरमात्रबोधकाभावरूपवाचकलोपस्य साम्राज्यात् इति ।

वाचकलुप्ता यहाँ कैसे हुई इस आशङ्का का समाधान करते हैं—आचार इत्यादि ।
तात्पर्य यह है कि 'अनलीयति' इत्यादिकों में जब 'अनल के समान आचरण करनेवाला'
इस अर्थ में क्यच्प्रत्यय होता है, तब तो सादृश्य का वाचक वह क्यच्प्रत्यय ही हो गया
किर वहाँ 'वाचकलुप्ता' कैसे इस आशङ्का के दो उत्तर हो सकते हैं । एक यह कि
'क्यच्' अथवा 'क्यद्' प्रत्यय, केवल आचार अर्थ के वाचक है, सादृश्य की प्रतीति, उन
प्रत्ययों के प्रकृतियों (अनल आदि शब्दों) की स्वार्थ- (अनल आदि)-सदृश अर्थ
में लक्षणा होने के कारण होती है' इस नैयायिकों के मत में सादृश्य का वाचक कोई
नहीं हुआ अर्थात् प्रकृतिभाग भी सादृश्य का लक्षक ही हुआ, वाचक (अभिप्रायति के
द्वारा बोधक) नहीं, अतः इन प्रत्ययों के रहने पर वाचकलुप्ता का व्यवहार समुचित ही
है । दूसरा यह कि केवल सादृश्य अथवा केवल सादृश्यविशिष्ट अर्थ के बोधक पद का न
रहना ही यहाँ 'वाचकलोप' कहा जाता है अर्थात् सादृश्य अथवा सादृश्यविशिष्ट (सदृश)
का बोधक पद यदि साथ साथ किसी अन्य अर्थ का भी बोधक हो, तब उसके रहने पर
भी सादृश्यवाचक का अभाव ही समझा जायगा, तदनुसार उक्त मत में प्रकृतिभाग के
लक्षणा द्वारा सादृश्यबोधक होने पर भी उसके साथ साथ अनल आदि स्वार्थ का
भी बोधक हो जाने से वाचकलुप्ता हो जाती है । वस्तुतः यही उत्तर ठीक है, पहला
नहीं, क्योंकि यदि वाचक का अर्थ अभिप्रायति द्वारा सादृश्यप्रतिपादक किया जाय
और तदनुसार सादृश्यलक्षक पद के रहने पर वाचकलोप माना जाय, तब तो 'नलिन-
प्रतिपक्षमाननम्' अर्थात् कमल के प्रतिद्वन्द्वी मुख' इत्यादि में भी वाचकलुप्ता उपमा
माने वाली चाहिये, क्योंकि 'प्रतिपक्ष पद सादृश्य का वाचक नहीं लक्षक है और
निपातपोतक है' इस मत में इव आदि के रहने पर भी वाचकलुप्ता का व्यवहार
दोने लगेगा । अतः 'वाचक' का अर्थ किसी भी तरह सादृश्य का प्रतिपादक होता है,

केवल अभिधा द्वारा प्रतिपादक नहीं, अतः उक्त स्थानों में वाचकलुप्ता नहीं हो सकती ।
हैं, इतनी बात भवरय है कि तभी कोई पद सादृश्य का वाचक माना जायगा, जब वह केवल सादृश्य अथवा सदृश का बोधक रहेगा । अतः पृथ 'अनलीयति' इत्यादि श्रवणों में 'प्रकृति प्रत्ययसमुदाय की ही 'अनल आदि के सदृश आचरण कर्ता' रूप अर्थ में अभिधाशक्ति है, प्रकृतिप्रत्यय, पृथक् पृथक् अर्थ के वाचक अथवा लक्षक नहीं हैं । इस वैधाकरणमिमत पक्ष में भी आपत्ति नहीं होती अर्थात् इस मत के अनुसार भी यहाँ वाचकलुप्ता ठीक हो जाती है । कारण, इस मत के अनुसार उक्त प्रकृतिप्रत्यय-समुदाय, केवल सादृश्य किंवा सदृश का बोधक नहीं होता, अपितु उससे अधिक आचार आदि का भी बोधक होता है ।

वाचकलुप्तोपमाया एव भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

कर्तृकर्मणमुत्पाता यथा—

कर्तृकर्मणमुत्प्राप्यप्रतिपाद्याया कर्तृकर्मणमुत्प्राप्यप्रतिपाद्यायाश्च वाचकलुप्तोपमाया प्रकाश प्रदर्शयति इति भावः ।

कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य णमुल्प्रत्ययों के द्वारा सिद्ध होनेवाली वाचकलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिशते—

‘निरपायं सुधापायं पयस्तव पिबन्ति ये ।

जहुजे निर्जरावासं वसन्ति भुवि ते नराः ॥’

जहुजे ! गङ्गे ! ये नरा, निरपायं निःप्रसूहं निरन्तरमिति यावत्, त्रियाविशेषण-मेतत्, तव गङ्गायाः, पयः जलम्, सुधापायम् सुधामिव, पिबन्ति, ते, नरा, भुवि भूलोक एव, निर्जरावासम् निर्जरा देवास्ते इव, वसन्ति सुप्तेन निवासं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

किसी भक्त की उक्ति है—हे गङ्गे ! जो मनुष्य अमृत के समान तेरे जल का निर्विघ्न पान करते हैं, वे चराचल पर, देवताओं की तरह, वास करते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुधापायमिति सुधामिव, निर्जरावासमिति निर्जरा इवेति ‘उपमानात् कर्मणि च’ इति कर्मणि चकारात्कर्तृयुपमाने उपपदे णमुल् ।

अत्र ‘निरपायम् ’ इति पये । सुधापायमिति । अन्यत्रेत्यर्थः । सुधामिवेति अस्य ‘कर्मणि उपपदे’ इत्यत्रान्वयः । अत्रेऽन्वयेनैव । सुधामिवेति कर्मणि उपमाने उपपदे सुधापायमिच्छ, निर्जरा इवेति कर्तार उपमाने उपपदे निर्जरावासमिच्छ च क्रमशः पाधातो वसधातोश्च ‘उपमानात् कर्मणि च’ इति पाणिनिगुणेण णमुल्प्रत्ययो भवति । तथा च पूर्वत् णमुल् सादृश्यतद्विशिष्टान्यतरवाचकचविरहात् नानङ्गुप्तेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ ‘सुधापायम्’ में सुधारूप कर्म उपमान के उपपद (समीपवर्ती पद) रहने और ‘निर्जरावासम्’ में निर्जरूप कर्ता उपमान के उपपद रहने ‘उपमानात् कर्मणि च’ इस पाणिनि सूत्र से णमुल् प्रत्यय हुआ है । यद्यपि उक्त सूत्र में ‘कर्ता’ का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि ‘च’ से उसका समग्र होता है । अतः ‘सुधापायम्’ का सुधा की तरह और ‘निर्जरावासम्’ का निर्जर-देवता की तरह अर्थ होता है । इस तरह सादृश्य अथवा सदृश मात्र का वाचक णमुल् हुआ नहीं, अतः इस उपमा को वाचकलुप्ता कहते हैं ।

एवमेकलुप्तमुदाहृत्य 'द्विलुप्तमुदाहृत्यमाह—

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता समासगा च यथा—

धर्म उपमानस्य यत्र लुप्तो तिष्ठत, तादृशवा वाक्यगतया समासगतायाधोपमायाः प्रकार प्रदर्श्यते इति भावः ।

धर्मोपमानलुप्ता—अर्थात् जिसमें साधारण धर्म तथा उपमान दोनों लुप्त रहते हैं ऐसी—वाक्यगत और समासगत उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाच्च विटपिनः सर्वे ।

सहकारं न प्रपेदे मधुपेन यथापि ते समं जगति ॥’

कविराजः—हे सहकारं सुगन्धितभ्रम ! मधुपेन भ्रमरेण, यद्यपीत्यध्याहारलब्धम्, अखिलम् सम्पूर्णम्, विपिनम् वनम्, गाहितमालोदितम्, परितः चतुर्दिक्षु, सर्वे विटपिनस्तरु, दृष्टा अवलोकित्वा, तथापि, जगति ससारं, ते तव, राम समान वस्तु, न प्रपेदे नोपलब्धम् इत्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशस्यम्, अप्रस्तुतात् भ्रमराभ्रवृत्तान्तात् प्रस्तुतस्य गुणितश्रवणकयो वृत्तान्तस्य प्रतीतिः । अप्र ‘ते समं न प्रपेदे’ इत्युक्त्या ‘तव सदृशः कश्चित्परायं भ्रमरागौचरे स्थलेऽस्यवर्यम्’ इत्यर्थप्रतीत्या उपमा, सा च धर्मलुप्ता, ‘अगोचरोपमानप्रतियोगिकोपमेयसहकारानुबोधिकसादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मस्यानुपादानात् उपमानलुप्ता च, उपमानस्य स्पष्टमनुल्लेखान् । तथा चाप्रस्तुतप्रशस्योपमनो सहकार इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—गाहित इत्यादि । कवि का कथन है—हे सहकार-सुगन्धित भ्रम ! भ्रमरों ने सम्पूर्ण वन वृक्ष डाला और चारों तरफ सभी तरु देखे, तथापि, ससार में, तेरे जैसा एक पदार्थ भी नहीं पाया । यह है ‘अप्रस्तुत प्रशसा’ क्योंकि अप्रस्तुत भ्रमर तथा भ्रम के वृत्तान्त से, प्रस्तुत गुणी तथा उसके अन्वेषक का वृत्तान्त ज्ञात होता है । और उस अप्रस्तुतप्रशसा का पोषक है ‘समम्’ पद से वाक्य उपमा, जिसमें उपमान और उसका वह धर्म—जो उपमेय-भ्रम में भी रहनेवाला हो—लुप्त है, अतः यह धर्मोपमानलुप्ता हुई ।

उक्तान्तके ‘गाहितम्’ इत्यादिपदे उपमाया वाक्यगतत्वमेव । तथा च अवतरणे ‘समासगा चे’ति कथनं विद्वद्भिः, अतः पाठान्तरेण समासगतत्वमुपपादयति—

‘तथापि ते समम्’ इति हित्वा ‘भवत्समम्’ इति यथार्थां शुद्धैव विधीयते तदेदमेवोदाहरणं समासगायाः ।

शुद्धैवेति । प्रथमपाठे गीति, ‘आर्याविकृतिरूपा परिवर्तितपाठे च शुद्धा आर्या इति भावः । ‘तथापि ते समम्’ इत्यस्य स्थाने ‘भवत्समम्’ इति पाठाश्रये समासगतधर्मोपमानलुप्तोपमाया उदाहरणं बोध्यमिति भावः ।

‘गाहितम्’ इत्यादि पद्य को ही पाठभेद के द्वारा समासगत धर्मोपमानलुप्तोपमा का उदाहरण बनाते हैं—तथापि इत्यादि । उक्त पद्य में ‘तथापि ते समम्’ की जगह पर यदि ‘भवत्समम्’ पाठ कर दिया जाय, तब यह पद्य ही समासगत धर्मोपमानलुप्तोपमा का उदाहरण हो जायगा । छन्दःशास्त्र की दृष्टि से दोनों पाठ श्रेष्ठ होंगे, क्योंकि प्रथम पाठ के अनुसार ‘गीति’ छन्द होता है जो आर्या का विकृतरूप है और द्वितीय पाठ के अनुसार छन्द ‘आर्या छन्द’ हो जाता है ।

वाचकधर्मलुप्तोपमासुदाहृतमाह—

वाचकधर्मलुप्ता किञ्चिता यथा—

वाचक—सादृश्यप्रतिपादक इत्यादि, साधारणधर्मश्च लुप्तौ यत्र, तादृशोपमायाः किञ्चित्तायाः प्रसार उच्यते इति भावः ।

किप्प्रत्ययगत वाचकधर्मलुप्तोपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कुचकलरोष्वबलानामलकायामय पयोनिधेः पुलिने ।

क्षितिपाल कीर्तयस्ते हारन्ति हरन्ति हीरन्ति ॥’

कवि राजानं स्तौति—हे क्षितिपाल राजन् ! ते तव, कीर्तय यशसि, ध्वजलानां कामिनीनां, कुचकलरोषु कलशाकारेषु कुचेषु, हारन्ति हारवदाचरन्ति, अलकायाम् अल-
कानगर्याम्, हरन्ति हरवदाचरन्ति, एवम्, पयोनिधेः समुद्रस्य, पुलिने तटे, हीरन्ति
होरवदाचरन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कुच इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे घराधीश ! आप की कीर्तियां कामिनीयों के कलशाकार कुचों पर हार (मोती की माला) के समान आचरण करती हैं, अलकापुरी में शिवजी के संरक्ष आचरण करती हैं और समुद्र के तट पर हीरों के तुल्य आचरण करती हैं ।

उपपादयति—

अत्र हारहरहीरशब्दा आचारार्थके किपि लुप्ते धातवः । तत्र हारादिशब्दा लक्षणया हारादिसादृश्यं बोधयन्ति । लुप्तोऽपि स्मृतः किञ्चाचारमिति पक्षे वाचकधर्मलोपः स्पष्ट एव । हारादिशब्दा एव लक्षणया तादृशसादृश्याभिन्न-
माचारमिति पक्षे सादृश्यस्यैव धर्मस्यापि तन्मात्रबोधकामावाक्षोप एव ।

अत्र ‘कुच ’ इत्यादि पक्षे । किपीति । ‘सर्वप्रतिपदिकेभ्यः किञ्च्वा वक्तव्यः इति । नामधानुत्पत्तिविहिते इत्यादि’ । धातव इति । तथा च हारन्तीत्यादिप्रयोगसिद्धिरिति भावः । तत्र उक्तप्रयोगेषु । आचारमिति । बोधयतीति शेषः । तादृशेति । हारादौत्यर्थः । तदित्युचितम् । अभिन्नमिति । सादृश्यस्य धर्मरूपत्वादिति भावः । हारहरहीरशब्देभ्यः आचारार्थेषु किप्प्रत्ययेषु विहितेषु तेषां सर्वापहारलोपे ‘तनाद्यन्ता धातवः’ इति धातुत्वे हारहरहीरधातुभ्यः लडादी हारन्ति, हरन्ति, हीरन्तीति न प्रयोगाः सिद्ध्यन्ति । तेषु प्रयोगेषु किप्प्रत्ययप्रकृतिभूता हारादिशब्दा स्वार्थसादृश्ये लाक्षणिका, अतः हारा-
दिसदृशमाचरणं कुर्वन्तीति तेषामर्था भवन्ति । एवमात्र सादृश्यप्रतिपादकानां हारादि-
शब्दानां स्वार्थरूपसादृश्येतर्यर्थावाचकत्वेन केवलसादृश्यप्रतिपादकत्वाभावात् वाचकलोपः, आचाररूपसाधारणधर्मरूपान्वक्तृत्वोपस्तु स्पष्ट एवेति उपमायाः वाचकधर्मोभयलुप्तता सिद्धा । ननु लुप्तोऽपि पुन स्मृतः किप्प्रत्यय एव आचाररूपमर्थं बोधयतीति पक्षे तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि ‘यः शिष्यते स बुध्यमानार्याभिधात्री’ति रीत्या हारादिपदान्मेव लक्ष-
णया स्थाप्यसादृश्यस्य प्रयोजकम् अभिन्न वा आचारमपि बोधयन्तीति पक्षे न तथा वक्तुं शक्यम्, एतदनुसार साधारणधर्मरूपान्वक्तृत्वबोधकानां हारादिपदानां वर्तमानतया धर्मलोपाभावादिति चेन्न, सादृश्यमात्रबोधका एव यथा प्रकृतशास्त्रे ‘वाचका’ कथ्यन्ते, तथैव धर्ममात्रबोधका एव धर्मवाचका विवक्षितास्तथा च हारादिशब्दा ‘अधिकस्यापि

प्रतिपादकतया न सादृश्यवाचका न वा धर्मवाचका अतो धर्मवाचकबोलेप इति विवक्षणीयत्वादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ हार, हर और हीर शब्द से पहले आचार अर्थ में 'सर्वप्रतिपदिकेभ्यः किंवा वक्तव्य' इस वार्तिक से किप् प्रत्यय होता है, जिसका पीछे लोप हो जाता है । इस तरह से वे शब्द 'सनाद्यन्ता धातवः' इस पाणिनि-सूत्र से धातु संज्ञा हो जाने के कारण धातु बन जाते हैं । उन्हीं धातुओं से छट्-सिप् या तिङ्प्रक्रिया करके 'हारन्ति' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । अब यहाँ दो पक्ष हो सकते हैं जिनमें एक के अनुसार हार आदि शब्द 'लक्षणा के द्वारा हार आदि के सादृश्य के केवल बोधक होते हैं अर्थात् हार आदि शब्द से हारादिसादृश्य का बोध होता है, और 'आचार' का बोध तुस किप्प्रत्यय से ही स्मरण द्वारा होता है—अर्थात् लोप हो जाने के बाद भी स्मृत होकर विष्प्रत्यय ही 'आचार' का बोधक होता है । इस पक्ष में धर्म (आचार) का लोप स्पष्ट ही है—अर्थात् आचार का बोधक किप् का लोप हो चुका है । रहा वाचक-सादृश्यप्रतिपादक-का लोप, सो वह भी है ही क्योंकि केवल उसी (सादृश्य) का बोधक पद कोई नहीं है अर्थात् हार आदि शब्द लक्षणा के द्वारा केवल सादृश्य का बोध नहीं कराते अपितु हार आदि का भी । दूसरे पक्ष के अनुसार 'किप्' जब छला गया, तब उससे किसी अर्थ का बोध कैसा ? फलतः हार आदि शब्द ही लक्षणा के बल से सादृश्य और आचार दोनों के अर्थात् हार आदि के सादृश्य से अभिन्न आचार के बोधक होते हैं । इस पक्ष में यद्यपि सामान्यतः आचार के बोधक हार आदि शब्द वर्तमान हैं, तथापि उनका लोप ही समझा जाता है । इस पक्ष में हम यह कहेंगे कि जिस तरह अन्य किसी अर्थ के साथ साथ सादृश्य का भी बोधक पद के रहने पर भी केवल सादृश्य-बोधक पद के नहीं रहने से 'सादृश्य' का लोप समझा जाता है, उसी तरह अन्य अर्थ के साथ साधारण धर्म के बोधक पद के रहने पर भी केवल साधारणधर्मबोधक पद के नहीं रहने पर साधारण धर्म का लोप ही समझना चाहिए । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में हार आदि शब्द केवल आचार के बोधक नहीं हैं, अतः उनका लोप समझा जा सकता है ।

वाचकधर्मलुप्तोपमाया भेदान्तरमुदाहरणमाह—

वाचकधर्मलुप्ता समासगा यथा—

समासगताया वाचकधर्मलुप्तोपमाया प्रकारः प्रदर्शयत इति भावः ।

समासगत वाचकधर्म (उभय) लुप्ता यथा—

उदाहरणं निर्विरयते—

‘शोणाधरांशुसंभिन्नास्तन्वि ते वदनाम्बुजे ।

केसरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तय ॥’

नायिका प्रति नायकस्योक्ति —हे तन्वि ! ते, वदनाम्बुजे कमलतुल्ये मुखे शोणस्य रक्षणस्य, अधरस्य निम्नरदनच्छदस्य, अशुभिः किरणैः, सम्भिन्ना मिथ्या, कान्तानाम् कमनीयानां, दन्तानां दशनानाम्, आले पङ्के, नान्तय प्रभा, केसरा, इव काशन्ते ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शोणा इत्यादि । नायक का कथन है—हे तन्वि ! कमलसदृश तेरे मुख में अरणवर्ण अधर (निम्नोष्ठ) की कान्ति से मिश्रित कमनीय दन्तपङ्क्ति की कान्तिर्षा केसरों की तरह प्रकाशित हो रही है ।

उपपादयति—

अत्र वदनाम्बुजयोरभेदविवक्षया विशेषणसमासे दन्तालिकान्तीनां केसर-सादृश्योक्तिरसङ्गता स्यात् । यतो ह्यम्बुजतादात्म्यसाधकं दन्तालिकान्तीनां

केसरतादात्म्यं न तु केसरसादृश्यम् । उपमितसमासे तु वदनाम्बुजयोर्धर्मि-
णोरीपम्ये केसरदन्तालिकान्तीनामपि तद्वर्माणागौपम्योक्तिरुचितैव । अतोऽ-
धिकरणतावच्छेदकोपमामादाय वाचकधर्मलुप्तोदाहृता । विधेयतावच्छेदिका तु
पूर्णाव ।

विशेषणसमास इति । मयूरव्यंसकेत्यादिस्त्रेणेति भावः । अधिकरणेति । वद-
नाम्बुजेत्यत्रस्यामित्यर्थः । अवच्छेदिका त्विति । उपमेति शेषः, कान्तयः केसरा इव
कारान्ते इत्यत्रत्येति भावः । अयं भावः—‘वदनाम्बुजं’ रूपरूपमा चेत्यलङ्कारद्वयं
संभवति, वदनाम्बुजयोरेदप्रतिपादनेच्छया ‘मयूरव्यंसकादयश्चे’ति विशेषणसमासकर-
णेन रूपकस्य, तयो सादृश्यप्रतिपादनेच्छायां ‘मुपमितं व्याप्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’
इत्युपमितसमासविधानेन उपमायाश्च प्राप्तत्वात् । परन्तु उपमितसमासेनैपमैव स्वीकर्तु-
मुचिता, दन्तकान्तिकेसरयोदयमायाः पद्योत्तरार्थोक्त्या— तत्रैव सहते, रूपकाध्याये तु
सा असद्वैतैव भवेत् । यत रूपके मुखकमलयोस्तादात्म्यं प्रतीयेत, तथा चाप्रंऽपि दन्त-
कान्तिकेमरयोस्तादात्म्यरूपस्य मुखकमलतादात्म्यसाधकस्य रूपकस्यैवोक्तिरुचिता न चैतन्न
रूपरूपकं भविता, तर्हि तत्रापि रूपक नाभयणीयम् । फलतः वदनाम्बुजयोर्धर्मिणोरुपमित-
समामाधानोपमैव स्वीकरणीया, तथात्वे च तद्वर्माणा केसरदन्तालिकान्तीनाम् उपमानि-
बन्ध समुचित एव । एष्वत्रोपमाद्वयं सम्पद्यते, तत्र दन्तकान्त्यादेरधिकरणत्वेन उक्तं
वदनाम्बुजपदार्थे विशेषणतया भासमाना (अधिकरणतावच्छेदिका) वा उपमा, तामा-
दाय पथमिदं वाचकधर्मलुप्तोपमाया उदाहरणम्, तत्र वाचकस्य इवादेः धर्मस्य पुनरु-
त्पादेधातुपादानात् । विधेयकोटौ भासमाना दन्तकान्तिकेमरयोदयमा तु पूर्णाव, उपमान-
भूतस्य केसरपदार्थस्य उपमेयभूतस्य दन्तकान्तिपदार्थस्य, सादृश्यस्य कारणरूपसाधारण-
धर्मस्य बोधोः । इति ।

उपपादनं करते हैं—अत्र इत्यादि । स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—इस पद्य में दो
उपमाएँ हैं, एक वदनाम्बुज पद में, जो अधिकरणतावच्छेदक होती है, क्योंकि दन्त-
कान्ति और केसररूप धर्मों का आधार है वदना और अम्बुजरूप धर्मों, और उस
धर्मियों की विशेषणकोटि में ही पक जाती है वह सादृश्यरूपा उपमा । दूसरी उपमा
है ‘दन्तकान्तियों केसर के समान प्रकाशित होती है’ इस भंश में, जो विधेयतावच्छेदक
होती है । कारण, उक्त धर्मरूप उद्देश्य में विहित होनेवाले (विधीयमान) उक्त
धर्म के विशेषणभाग में इस उपमा की स्थिति है । इन दोनों उपमाओं में द्वितीय तो
पूर्णा ही है अर्थात्—उपमान केसर, उपमेय दन्तावलीकान्ति, इवार्थ सादृश्य और
प्रकाशित होना रूप साधारण धर्म इन चारों अर्थों की उक्ति इस उपमा में है । फलतः
यह उपमा, प्रकृत में (लुप्तोपमा का) उदाहरण नहीं हो सकती । अतः प्रथम-अधि-
करणतावच्छेदकीभूत उपमा को लेकर यहाँ वाचकधर्मलुप्ता का उदाहरण दिया गया है
ऐसा समझना चाहिये । यदि आप कहें कि वदनाम्बुज में निहितरूप से उपमा मानी
ही कैसे जा सकती है ? कारण, वहाँ यदि मुख और कमल का तादात्म्य (अभेद) वक्ता
का विवक्षित माना जाय, तब तो विशेषण अर्थात् ‘मयूरव्यंसकादयश्चे’ से समास मान
कर मुख्यरूप कमल ऐसा रूपक भी माना जा सकता है, तो इसका समाधान है कि—
नहीं, रूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तब दन्तकान्तियों
में जो केसरसादृश्य का कथन है अर्थात् पद्य के उत्तरार्ध द्वारा जो केसर और दन्तकान्ति
का सादृश्यमूलक उपमानोपमेयभाव वर्णित हुआ है, वह असद्वैत हो जायगा, क्योंकि
मुख में अम्बुजतादात्म्य की अर्थात् तन्मूलक रूपक अलङ्कार को सिद्ध करनेवाला हो

सकता है, दन्तकान्ति में केसर का तादात्म्य अर्थात् तादात्म्यमूलक केसरदन्तकान्ति का रूपकात्मक वर्णन, न कि दन्तकान्ति में केसर का सादृश्य अर्थात् सादृश्यमूलक उन दोनों की उपमा, और है यहाँ उन दोनों की उपमा ही 'केसरा इव कान्तयः काशन्ते' इन शब्दों में वर्णित। अतः यह सिद्ध होता है कि वदनाम्बुज में भी 'अम्बुज सा मुख' इस विग्रह में उपमित समास (उपमितं ज्वाप्रादिभिः मूल से समास) मानकर उपमा ही माननी चाहिये अर्थात् वदन में अम्बुज का सादृश्य ही कविविदित वस्तु स्वीकृत होनी चाहिये, अम्बुजतादात्म्य नहीं और इस मान्यता के अनुसार कोई भ्रष्टावृत्ति भी नहीं होती, क्योंकि वदनाम्बुजरूप धर्मों अंश में जब उपमा मान लेते हैं, तब उनके धर्म केसर तथा दन्तकान्ति में भी उपमा का वर्णन समुचित ही है। सारांश यह कि जब तक धर्म में तादात्म्य ज्ञात नहीं होता, तब तक धर्मों में वह ज्ञात नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में धर्मरूप केसर और दन्तकान्ति में जब स्पष्ट कथित रहने के कारण सादृश्य ही ज्ञात होता है तादात्म्य नहीं, तब उन धर्मों के धर्मों वदन और अम्बुज में भी सादृश्य ही समझना पड़ेगा, तादात्म्य नहीं।

शेवान्तराण्युदाहृतमाह—

वाचकोपमेयलुप्ता क्यस्यता धर्मोपमानवाचकलुप्ता समासगा च यथा—

वाचकमुपमेवद्य यत्र लुप्ते तिष्ठत तादरवा क्यचप्रत्ययगताया एव धर्म उपमानम् वाचकश्च यत्र लुप्तास्तिष्ठन्ति, तादरवा समासगतायावोपमाया प्रकार प्रदर्शयते इति भावः ।

वाचक तथा उपमेय इन दो के छोपवाली वदनात्म उपमा का और धर्म, उपमान एवं वाचक इन तीनों के छोपवाली समासगत उपमा का प्रकार दिखलाया जाता है।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘तथा तिलोत्तमीयन्या मृगशावकचक्षुषा ।

। नमायं मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥’

नायक स्वसखाय प्रति वक्ति—तिलोत्तमीयन्या तिलोत्तमाभिधाना काचित्स्वर्गीया रमणी तमेवाभ्यन्तवा, मृगशावकस्य हरिणशिशो चक्षुषी इव चक्षुषी यस्यास्तथा, वक्षुर्मनोगतया कदाचन कामिन्या, हेतुना (हेतावत्र तृतायेति भावः) अयः, मम, मानुषी, लोकः, नाकलोकः स्वर्गलोकः इव, अगवत्—मनुष्यलोक एव मया स्वर्गोपमायमुपलब्धमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—तथा इत्यादि। नायक अपने सखा से कहता है—तिलोत्तमा (स्वर्गीय अप्सरा) के समान आचरण करती हुई इस मृगाधी के कारण मेरा यह मनुष्यलोक स्वर्गलोक या हो गया—इस लोक में ही स्वर्गीय सुख भोगने का सौभाग्य मुझे मिल गया।

उपपादयति—

तिलोत्तमीयन्येति तिलोत्तमाभिवात्मानमाचरन्त्येत्याचारार्थके क्यचि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासादृश्ये लाक्षणिकतया वाचकस्य, स्फुटत्वेन प्रतीयमानतया आत्मन उपमेयस्य चानुपादानाल्लोपः। स्वयं तु सा नोपमेया। आचारकर्मण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य तत्कथ्यमुपमेयायानुपमानत्वासङ्गतेः। अत आर्षेवात्रोपमेयतथोन्नेयः। मृगशावकचक्षुषेति मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी अस्या इति ‘सप्तम्युपमानपूर्वस्य’ इति समासोत्तरपदलोपी।

मृगशावकचक्षुःसदृशलाक्षणिकत्वपक्षे वृत्तेर्धिशिष्टार्थवाचकता-
पक्षेऽपि स्वस्वमात्रबोधकपदामावात्त्रयाणां लोपः ।

वाचकस्येति । इवशब्दस्येत्यर्थः । उपमेयानुपादाने हेतुमाह स्फुटत्वेनेति । स्वयं तितिति,
तिलोत्तमोयन्तीति पदेनोप्यनायिकेत्यर्थः । तन्मन्त्र्यामिति । आचारकर्म्यामित्यर्थः । उप-
मानवासंगतेरिति । उपमानोपमेययोः समानरूपत्वस्योपमाया नियामकत्वादिति भावः ।
तिलोत्तमामिवात्मानमाचरतीति विप्रदे तिलोत्तमाशब्दात् 'उपमानादाचारे' इति सूत्रेणा-
चारार्थकस्यन्प्रत्यये आसन्नस्येत्वे दीर्घं धातुत्वे तिलोत्तमोयधातोः शतृप्रत्यये तत्प्रयुक्त-
कार्येषु च कृतेषु 'तिलोत्तमीयन्तो'ति सिद्धयति, तस्य तृतीयाश्रय रूपमत्र निर्दिष्टम् । अत्र
बाहसादृश्यप्रतीतिरूपमा, सा च वाचकोपमेयमुक्ता, उपमानोपमेयसादृश्यमाधारणधर्माणां
अनुर्णामुपमाज्ञाना मध्ये तिलोत्तमारूपोपमानाचाररूपसाधारणधर्मयोः तिलोत्तमापदक्यप्रत्य-
याभ्यानुत्तंखेऽपि सादृश्यवर्णनीयनायिकात्वरूपोपमेययोरनुल्लेखात् । नन्वेवं सादृश्योपमे-
ययोः प्रतीतिरेवात्र कथम् ? तदप्रतीती न कथमगोपमा इति न वाच्यम् तिलोत्तमापदस्य
स्वमप्ये लाक्षणिकता सादृश्यस्य, स्फुटतया आक्षेपेणात्मरूपोपमेयस्य च प्रतीतेः । न
चैवम् तिलोत्तमापदस्यैव सादृश्यवाचकत्वेन वाचकलोपो मास्त्विति शङ्क्यम्, तिलोत्तमाप-
दस्य सादृश्यमात्रवाचकत्वाभावेन पूर्वोक्तदिशा वाचकलोपव्यवहारस्याशङ्कत्वात्, न च कथ-
मत्र वर्णनीयनायिकाया-आत्मा उपमेयतया स्वीक्रियते नायिकाया एवोपमेयत्वं श्रुतो न ?
स्वीकृते च तषात्वे कथमुपमेयलोपः तद्वाचकस्य 'तया' इत्यस्य सत्त्वारिति वक्तव्यम्,
उपमानोपमेययोः समानरूपताया उपमाया तन्मन्त्र्या नायिकाया उपमेयत्वासम्भवात्, उपमा-
नतयाऽभिमतायास्तिलोत्तमाया आचारकर्मत्वेन उपमेयतया शङ्क्यमानाया नायिकाया आ-
चारकर्तृत्वेन समानरूपताया विरहात् । आचारकर्तृत्वशालिभ्यां वर्णनीयनायिकायामुपमेयतया
स्वीकृतायाम् आचारकर्मभूतायास्तिलोत्तमाया उपमानता अतस्तत्ता स्यात् उपमानता च
तस्या न त्यक्तं शक्या उपमानान्तराप्रतीतिरेव च तदुपमानान्तरोधेन तत्समानरूपस्य
आचारकर्मणो वर्णनीयनायिकाया आत्मन एवोपमेयतोन्नेयेति भावः । मृगशावकच-
क्षुर्वैजं मृगशावकस्य चक्षुर्वै इव चक्षुर्वै अस्या इति विप्रदे तन्मासोत्तररूपलोपयोः
कृतयोः मृगशावकचक्षुरिति प्रयोगो निष्पद्यते, तस्य तृतीयाश्रय रूपमत्रोत्तररूपितम् मृग-
शावकचक्षुषेति । अत्रापि रमणीयसादृश्यप्रतीतिः समासोपमालङ्कारः, स च धर्मोपमान-
वाचकमुक्तः, उक्तान् अनुर्णामुपमाज्ञाना मध्ये वर्णनीयनायिकाचक्षुरूपोपमेयस्य चक्षु-
पदेनोपादानेऽपि मृगशावकचक्षुरूपस्योपमानस्य, विशालत्वादे साधारणधर्मस्य साद-
ृश्यस्य च प्रतिपादकविरहेऽनुपादानात् । न च प्रतिपादकान्तत्वे तेषां सुतत्वेनाभिमत्य-
मानानां त्रयाणामप्युक्तानां प्रतीतिरेव न स्यात्, तदप्रतीती चोपमालङ्कारो न भवेदिति
सर्वं विवक्षितं व्याजुल स्यादिति वाच्यम्, नैयायिकोक्त्या मृगशावकचक्षुःसदृश्यस्य मृगशावक-
चक्षुःसदृशो लाक्षणिकतया उपमानसादृश्ययोरक्षेपेण विशालत्वादे साधारणधर्मस्य च
प्रतीतेः । अतिरिक्तमामशक्तिमद्भूतता शब्दिघनं रीत्या मृगशावकचक्षुरिति समुदाय-
स्यैव मृगशावकचक्षुःसदृशचक्षुर्विशिष्टरूपार्थं शक्तत्वेन उपमानसादृश्ययोः प्रतीतेः । अया-
नयोर्लोप एव कथमित्य स्थितौ व्यक्तुं योग्य इति नापादयितुं शक्यम्, तन्मात्रवाचक-
त्वविरहेण तया सन्नव इति पूर्वमुक्तत्वादिति भावः ।

उपपादनं करते हैं—तिलोत्तम इत्यादि । यहाँ 'तिलोत्तमामिवात्मानमाचरति
धर्मात् अपने मैं तिलोत्तमा (एक स्वर्णाय अप्सरा) के समान आचरण करती है' इस

अर्थ में तिलोत्तमा पद से 'आचारार्थक वयच् प्रत्यय' करने से 'तिलोत्तमीय' धातु बन जाती है, उससे 'शतृ' प्रत्यय करने से 'तिलोत्तमीयन्ती' यह रूप खीलिङ्ग में तैयार होता है, उसीका तृतीयान्त रूप तिलोत्तमीयन्त्या यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इस पद में उपमालङ्कार है, क्योंकि तिलोत्तमारूप उपमान का सुन्दर सादर्य आत्मरूप उपमेय में प्रतीत होता है। साधारण धर्म है आचार। आप कहेंगे—'तिलोत्तमीयन्त्या' में न 'इव' लादि है, न 'आत्मा' शब्द है फिर 'सादर्य' और उपमेय (आत्मा) की प्रतीति कैसे होगी और जब इन दोनों उपमाओं की प्रतीति नहीं होगी, तब उपमा होगी कैसे? इसका उत्तर यह है कि 'तिलोत्तमा पद' स्वार्थसदृश में लाघणिक है अतः सादर्य की प्रतीति तो अवश्य होगी, परन्तु वह (सादर्य) लुप्त समझा जायगा, क्योंकि उसका बोधक तिलोत्तमा पद केवल उसीका बोधक नहीं है। आत्मारूप उपमेय आत्मन्त रूप है, अतः वाचक पद के अभाव में भी आशेष से उसका बोध हो जायगा। इस तरह से अब यह समझने में कठिनाता नहीं होनी चाहिए कि यहाँ उपमाओं में से तिलोत्तमा पद से एक स्वर्णीय नायिकारूप उपमान और वयच् प्रत्यय से आचरण रूप धर्म उक्त हैं, और सादर्य तथा उपमेय (वर्णनीय नायिका की आत्मा) लुप्त हैं, अतः यह उपमा वाचकोपमेयलुप्ता का उदाहरण होती है। यदि आप कहें कि—वर्णनीय नायिका की आत्मा यहाँ उपमेय है यह बात जैयसी नहीं, क्योंकि तिलोत्तमारूप उपमान का उसके समान आचरण करनेवाली वर्णनीय नायिका ही उपमेय मालूम पड़ती है और उसको उपमेय मान लेने पर उपमेय का लोप यहाँ नहीं कहा जा सकता। कारण, उस नायिकारूप उपमेय का बोधक पद इस पद्य में वर्तमान है 'तथा', तो इसके समाधान में मेरा कथन है कि—हाँ जी, ऊपर ऊपर से देखने पर वर्णनीय नायिका उपमेय प्रतीत होती है, परन्तु वह उपमेय हो नहीं सकती, क्योंकि उसको उपमेय मान लेने पर तिलोत्तमा का उपमान होना ही असङ्गत हो जायगा और उसका उपमान होना तो यहाँ इतना अकट सत्य है कि उसका परिस्थान किया ही नहीं जा सकता। सात्यक यह कि तिलोत्तमा से अतिरिक्त उपमान होने योग्य कोई पदार्थ यहाँ है ही नहीं, यहाँ विच्छिन्न के लिये कवि का प्रमुख प्रयास, तिलोत्तमा को उपमानरूप में चुनना ही है। आप घबड़ाते होंगे कि यह कौन सी पहेली बतलाई जा रही है—वर्णनीय नायिका के उपमेय होने पर तिलोत्तमा उपमान नहीं हो सकती और उसीकी आत्मा को उपमेय मानने पर तिलोत्तमा का उपमान होना बन जाता है? समझिए—ऐसा क्यों होता है, किन्हीं दो पदार्थों का उपमानोपमेय होना उब दोनों के अधिक से अधिक समानरूप होने पर निर्भर है—किसी तरह की विरूपता रहने पर उपमानोपमेय-भाव बनता ही नहीं, ऐसी स्थिति में वर्णनीय नायिका—जो 'आचरण क्रिया' की कर्त्री है—यदि, उपमेय हो जाती है, तब तिलोत्तमा जो आचरणक्रिया का कर्म है—उपमान कैसे हो सकेगी? एक कर्ता और दूसरा कर्म इन दोनों में समानरूपता कैसे? अतः 'तिलोत्तमीयन्त्या' इस सिद्ध रूप में वाचक पद के न रहने पर भी उपमेयरूप में वर्णनीय नायिका की 'आत्मा' का तर्क आवश्यक है क्योंकि वह (आत्मा) भी आचरण क्रिया का कर्म है। हम बात को स्पष्ट समझने के लिए उस पद के विग्रहवाक्य पर ध्यान दीजिए—'तिलोत्तमामिव आत्मानम् आचरन्त्या' इसमें 'आत्मान' कर्म है न? और 'तिलोत्तमाम्' भी? अतः वह आत्मा ही उपमेय है, पर उसका बोधक पद, पद्य में है नहीं, अतः उपमेय का लोपपक्ष नितान्त अनवयव है—दृष्ट है। इसी पद्य का 'मृगशावनचक्षुषा' यह अन्त धर्मोपमानवाचकलुप्ता का उदाहरण होता है। कारण, इस पद का अर्थ है—मृगशूने की आँखों के समान आँखें हों जिसकी ऐसी नायिका। यहाँ उक्त अर्थ वाले 'मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषो यस्याः' इस विग्रह में 'सततगुप-मानपूर्वर्य' इस 'अनेकमन्यपदार्थ' सूत्र के माध्यवार्तिक से समाप्त हुआ है और उत्तर पद (उपमानवाचक चक्षुष् पद) का लोप हुआ है। इस समस्त पद से उक्त अर्थ

निकालने के दो तरीके हो सकते हैं । एक नैयायिकों का यह तरीका है कि 'मृगशावक-चक्षुषा' पद के 'मृगशावक' शब्द की 'मृगशिशु के नेत्रों के सदृश' इतने अर्थ में लक्षणा मान ली जाय और तदुत्तर उपमेयवाचक चक्षुष्पद जो श्रयमाण है, के साथ समास किया जाय । दूसरा तरीका वैयाकरणों का यह है कि पदों की शक्ति से भिन्न एक समासशक्ति माननी चाहिए अर्थात् जिन पदों की शक्ति से जो अर्थ निकलता है, उन्हीं पदों में समास कर देने के बाद समासशक्ति के द्वारा, उससे कुछ अधिक अर्थ निकाल लेना चाहिए । लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं । इस रीति के अनुसार 'मृगशावक-चक्षुषा' इस समस्त पदसमुदाय का ही उक्त अर्थ हो जाता है, दोनों ही पदों में यहाँ धर्म, उपमान और वाचक ये तीनों उपमाद्गुण समझे जाते हैं क्योंकि यहाँ जो उपमान—मृगशावकचक्षु, धर्म—विशालता, चपलता आदि तथा वाचक—सादरपरोक्षक इव आदि होते हैं, उसमें से केवल एक-एक का बोधक पद यहाँ नहीं है अर्थात् समिश्रित रूप से इतने अर्थों के साथ अन्य अर्थों का भी बोधक समस्त पद अथवा लक्षणा द्वारा पूर्वपद अवश्य होता है परन्तु एक-एक अर्थ का बोधक एक-एक पद नहीं है । ध्यान रहे कि उपमा के अङ्ग सभी उक्त अर्थात् अनुसृत समझे जाते हैं, जब पृथक् पृथक् उनके वाचक पद हों, अन्य अर्थ के वाचक पदों से किसी तरह इन अर्थों के बोध होने पर भी वे लक्ष्ण ही समझे जाते हैं ।

प्राचीनाभिमतोपमाभेदानां सङ्कलनं कुरुते—

इति पञ्चविंशतिरुपमाभेदाः ।

इति इत्यम् पूर्वोक्तप्रकारेण उपमाया पञ्चविंशतिभेदाः प्राचीनैरुक्ता इति भावः ।

इस तरह उपमा के पचोस भेद प्राचीनों के द्वारा कहे गए, समाप्त हुए ।

उक्तपञ्चविंशतिभेदेभ्योऽन्यानापि भेदान् अन्यैरुक्तान् प्रदर्शयति—

इहान्यानापि भेदानान्ये निगदन्ति—वाचकलुप्रा पद्विधोपवर्णिता । 'कर्तृ-र्युपमाने' इति णिनी सप्तम्यपि दृश्यते । कोकिल इवालपति कोकिलालापि-नीति । तथाष्टम्यपि—'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि 'लुम्भनुष्ये' इति लुपि चञ्चे-वेत्यर्थे 'चञ्चा पुरुषः सोऽयं यः स्पृहितं नैव जानीते' इत्यत्र । नवम्यपि—आचारकिपि पदान्तरेण प्रतिपादिते समाने भर्मे दृश्यते । 'आहादि वदनं तस्याः शरद्राकामृगाङ्कति' इत्यादी ।

अन्यैरालङ्कारिकैरन्येऽपि उपमाया भेदाः कथ्यन्ते, तेषु तावन् वाचकलुप्रा भेदा-न्तरमभिधातुं शक्ति वाचकेत्यादि । समासकर्मक्यन्-आधारक्यन्-व्यङ्-वर्मणमुत् कर्तृ-णमुल्गता वाचकलुप्रा उपमाया पदभेदाः प्राक् प्रतिपादिताः, परन्तु तस्या सप्तमोऽष्टमो नवमश्च भेदाः भवितुमर्हन्ति । कोकिल इवालपतीत्यर्थे 'कर्तृर्युपमाने (१।२।७९)' इति पाणिनिमुत्रेण 'णिनिप्रत्यये' कृते निष्पद्यमाने 'कोकिलालापितो'त्यत्र सप्तमो भेदः । अत्रोपमा वर्तते, परन्तु वाचक 'इवादि'लुप् इति भावः । 'चञ्चा पुरुषः अर्थात् य-पुरुषः स्वकीयं हितं कल्याणं न वेत्ति, स चञ्चा तृणनिर्मितपुष्पप्रतिकृतिरिव' इत्यादिष्टमो भेदः । 'इवे प्रतिकृतौ (१।२।९)' इति सूत्रेण तृणार्थकात् चञ्चाशब्दात् इवार्थयुक्ते प्रतिकृतावर्षे कन्प्रत्यये 'लुम्भनुष्ये (१।३।९८)' इति सूत्रेण कनो लोपे चञ्चा इति रूपं निष्पद्यते । चञ्चा तृणनिर्मितप्रतिकृतिरिवेति तस्यार्थः । एवं चात्राप्युपमालङ्कारो भवति । किन्तु इवादिवाचको लुप् इति भावः । एवम् 'आहादि' इत्यादि अर्थात् आहादि आनन्ददायकम्, तस्या नायिकाविशेषस्य, वदनम् मुखम्, शरदः शरत्काल्योः, या राका

पूर्णिमा, तस्या, मृगाङ्क चन्द्र, इव, आचरति' इत्यत्र नवमो भेद । शरद्वाकामृगाङ्क-
शब्दात् आचारार्थे क्तिप्प्रत्यये तस्य लोपे, वातुत्वे तत्प्रयुक्तिवादि कार्येषु सत्सु 'शर-
द्वाकामृगाङ्कती'ति प्रयोगः सिद्धवति । शरद्वाकामृगाङ्क इवाचरतीति तदर्थः, अतोऽत्रोपमा
स्पष्टा, परन्तु वाचको लुप्त एव । नन्वय भेद धर्मवाचकोभयलोपे उक्त इति चेन्न, यत्र
भूमौ नीकरतत्र तदभेदप्रसङ्गः, इह तु 'आङ्गादि' इति भिन्नविशेषणद्वारा स उक्त एवेति
तस्य भेदस्याप्रमङ्गादिति भावः ।

प्राचीनों ने जो पचीस भेद कहे हैं, उनसे अन्य भी कुछ उपमा के भेद अन्य लोग
कहते हैं । उन्हीं भेदों का विवरण किया जाता है—इहान्यानपि इत्यादि । समासगत,
कर्मव्यग्रहगत, आधारव्यग्रहगत, स्वग्रहगत, कर्मणमुल्लगत और कर्तृणमुल्लगत ये छ भेद
वाचकलुप्तोपमा के प्राचीनों के द्वारा कहे गए हैं, परन्तु 'कोकिल इवालपति' अर्थात्
कोयल के समान आलाप करती है' इस अर्थ में 'कर्तृणुपमाने (३।२।७९)' इस
पाणिनि सूत्र से 'गिनि प्रत्यय' करके बनाए जाने वाले 'कोकिलापिनी' इस पद
में उसका सातवाँ भेद भी देखा जाता है—अर्थात् यहाँ भी सुन्दर सादरयरूप
उपमा है और इवादि के न रहने के कारण यह वाचकलुप्ता है । 'इवे प्रतिकृती
(५।३।९)' इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय करके 'लुग्मनुप्ये (५।३।९८)' इस सूत्र से उसका
लुप् (लोप) कर देने पर चञ्चा शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है तृण (घास)
से बनी हुई प्रतिकृति के समान, क्योंकि शुद्ध चञ्चा शब्द का अर्थ है 'घास' और
तद्धितप्रत्यय (लुप्त कन्) का अर्थ है 'बनी हुई प्रतिकृति के समान' । अब, इस
तरह से बने हुए इस 'चञ्चा' शब्द का प्रयोग जब 'चञ्चापुरुषः' अर्थात् वह पुरुष घास
से बनी प्रतिकृति के समान है जो अपने हित को नहीं समझता' इत्यादि काव्य में
किया जाता है, तब वहाँ उपमा होती है और यह भी वाचकलुप्ता । कारण, वाचक
इवादि का यहाँ लोप है, अतः यह वाचकलुप्तोपमा का आठवाँ भेद भी देखा जाता है ।
इसी तरह वाचकलुप्ता का नयाँ भेद भी दृष्टिगोचर होता है । जैसे—'आङ्गादि'
अर्थात् उस (नाविकाविशेष) का आनन्ददायक मुख शरदपूर्णिमा के चन्द्र के तुल्य
आचरण करता है' इत्यादि वाक्य में, क्योंकि 'शरदपूर्णिमा चन्द्र के समान आचरण
करता है' इस अर्थ में 'शरद्वाकामृगाङ्क' पद से आचारार्थक क्तिप्प्रत्यय करने पर
'शरद्वाकामृगाङ्कति' प्रयोग बनता है, जिसमें उपमा स्पष्ट है और सादरयरवाचक 'इव'
भावि नहीं है । आचारार्थक क्तिप्प्रगत धर्मवाचकलुप्ता नामक जो एक भेद माना गया
है उसमें तो यह भा नहीं सकता । कारण, यहाँ दूसरे पद (आङ्गादि अथवा आनन्द-
दायक) से धर्म उक्त है ।

उपमानलुप्तोपमाया भेदास्तर दर्शयति—

उपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधोपवर्णिता, तृतीयापि दृश्यते—

'यश्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्य कृतः ।

उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम् ॥'

इत्यत्र काकतालशब्दयोर्लक्षणया काकागमनतालपतनबोधकयोरिवार्थे 'समासाद्य
तद्विषयान्' इति ज्ञापकात्समासे काक इव ताल इव काकतालमिति काकताल-
समागमसदृशश्चोराणामस्य च समागम इत्यर्थः । ततः काकतालमिवेति
द्वितीय इवार्थः पूर्वोक्तेनैव सूत्रेण छप्रत्यये तालपतनजन्यकाकवधसदृशश्चोर-
कर्तृको देवदत्तवध इत्येव स्थिते प्रत्ययार्थोपमायामुपमानस्य तालपतनजन्य-
काकवधस्यानुपादानादुपमानलुप्ता ।

वाक्य-समासगतत्वेन उपमानलुप्तोपमाया द्वावेव भेदौ प्रागुपपादितौ, परन्तु 'चोरा-

णाम् लुण्ठकानाम्, अस्य देवदत्तादिव्यक्तिविशेषस्य, च, समागमः सम्मिलनम् यत्, अभूत्, ते चौरौ, अस्य पूर्वोक्तव्यक्तिविशेषस्य, वधश्च, यत्, कृतं, एतत्, अथस्मात् उपनतम्—इयं दुर्घटना आकरिमकी सम्पत्ता, अतः, तत् तस्या घटनाया आकरिमकाभिगमनम्, काक्तालीयम्, आसीत् अभूत् इत्यर्थके पथिकजनदुर्दशावर्णनपरे 'यद्योराणाम्' इत्यादिपद्ये तृतीयोऽपि तस्या भेदो दृश्यते । अस्य पदस्य कस्मिन्नशे उपमेति चेत् ? काक्तालीयम् इत्यशे सा बोध्या । क्वमिति चेत् ? इत्यम्—काक्तालशब्दावत्र लक्षणाया काकागमनतालपतनयोर्बोधकौ । तयोश्च 'काक इव ताल इव' इत्यर्थे 'समासाच्च तद्विपयात्' इति ज्ञापकेन समासे कृते 'काक्तालम्' इति रूपं सम्पद्यते । 'काकागमनतालपतनयो राक्षसम्' इति तस्य सार्वत्रिकोऽर्थः । प्राकरणिकश्च 'काक्तालस्तनागमराक्षसघोटाणामस्य देवदत्तादेर्व्यक्तिविशेषस्य च समागमः' इत्यर्थः । तदनन्तरम् 'काक्तालमिव' इति विग्रहे द्वितीय इकार्ये तेनैव सूत्रेण उपलब्धये तस्येवादेशे 'काक्तालीयम्' इति प्रयोगः सिद्धयति, ततश्च 'तालपतनजन्यो यादृशः काकस्य वधस्तादृश एव चौरौ कृतो देवदत्तादेर्व्यक्तिविशेषस्य वधः' इत्यर्थः प्रकरणसहकारेण बुध्यते । अतोऽत्र द्वे उपमे भवतः । एका समासार्थरूपा, द्वितीया च प्रत्ययार्थरूपा । तत्र द्वितीया प्रत्ययार्थरूपा उपमा प्रकृते उदाहरणभूता । यतस्तस्यानुपमाया तालपतनजन्यकाकवधरूपं यदुपमानम् तस्य 'काक्तालीय'मित्यत्र लोपोऽस्ति तदर्थबोधकं पदं तत्र नास्तीति भावः ।

उपमानलुप्तोपमा के अन्य भेद दिखलाये जाते हैं—उपमान इत्यादि । उपमानलुप्तोपमा के दो भेद—वाचकगत और समासगत—पहले वर्णित हो चुके हैं, परन्तु उसका तीसरा भेद भी देखा जाता है । जैसे—'यद्योराणाम्' अर्थात् चोरों का और इस (देवदत्त आदि व्यक्तिविशेष) का जो समागम हुआ और उन चोरों ने इसका वध भी किया—यह दुर्घटना अचानक हो गई, अतः वह 'काक्तालीय' हुई । यह किसी पथिक की दुर्दशा का वर्णन है । यहाँ 'काक्तालीय' पद के 'काक' और 'ताल' शब्द से, लक्षणाद्वारा, काक (कौए) के आगमन और ताल (ताड़) के पतन का बोध होता है । इन दोनों लक्षणागत पदों का 'इव (= सा)' के अर्थ में 'समासाच्च तद्विपयात्' (पाणि १०६) इस शब्द से समास हो जाता है, जिससे 'काक्तालम्' रूप बनता है । इस समय इस शब्द का अर्थ होता है 'कौए के आने के समान और ताड़ के गिरने के समान ।' 'काक इव ताल इव काक्तालम्' इस विग्रहवाचक के अनुसार ऐसा ही अर्थ उचित भी है । परन्तु प्रकृत में पद के अन्य पदों के सहयोग से 'काक्तालम्' का अर्थ किया जाता है—'कौए और ताड़ के समागम (एक के आगमन के साथ दूसरे का पतन) के समान चोरों का और इस (व्यक्तिविशेष) का समागम । इस काक्ताल शब्द से दूसरे इव के अर्थ में—अर्थात् 'काक्तालमिव' इस अर्थ में—उसी (समासाच्च तद्विपयात्) सूत्र से 'छ=ईय' प्राप्य करने से 'काक्तालीय' पद सिद्ध होता है । उक्त प्रक्रिया के अनुसार 'काक्तालीय' पद का अर्थ हुआ—चोरों के द्वारा किया गया उस (देवदत्त आदि व्यक्तिविशेष) का वध, तालपतन से होने वाले काकवध के समान है । अथ यहाँ दो उपमायें होती हैं । एक समासार्थरूप—अर्थात्—काक्तालशब्दगत और दूसरी प्राप्यार्थरूप—अर्थात्—काक्तालीय पद के अन्वय (ईय) अंतर्गत । इन दोनों उपमाओं में से द्वितीय अर्थात् प्रत्ययार्थरूप उपमा 'उपमानलुप्त' का उदाहरण होती है, क्योंकि इस उपमा में तालपतन से होने वाला काकवधरूप उपमान लुप्त है—अर्थात्—'काक्तालीय' पद में उसका बोधक अक्ष नहीं है । वाचकलुप्त इसको नहीं कह सकते हैं । कारण, 'ईय' प्रत्यय ही यहाँ सादृश्य का वाचक है । यह भेद तद्विगत हुआ, अतः पूर्वोक्त वाचकगत और समासगत भेदों से भिन्न हुआ ।

प्राचीनैरुक्तमेक भेद प्रदर्शयति—

वाचकोपमानलुप्ता तु नाम्नैव न निर्दिष्टा । साप्यत्र प्रकृत्यर्थे दृश्यते—

वाचकोपमानलुप्तात्मको भेद प्राचीनैर्नामतोऽपि नोक्तः, उदाहरणात्कुरणमेव तत्र प्रायो हेतुः । परन्तु 'काकतालीयम्' इत्यत्रैव छप्रत्ययप्रकृतिभाष्यस्य 'काकतालम्' इति समासस्यार्थभूतोपमा, तद्भेदोदाहरणतया पुर स्थापयितुं शक्या, 'काकतालसमागमसमानधोराणामस्य च समागमः' इति तत्रतोपमाशरीरघटककाकतालसमागमरूपोपमानसादृश्ययो 'काकतालम्' इत्यत्र लुप्तत्वम्, तन्मात्रवाचकविरहादिति भावः ।

प्राचीनों से अनुक्त एक नवीन उपमाभेद की चर्चा करते हैं—वाचक इत्यादि । वाचकोपमानलुप्ता नामक भेद का तो प्राचीनों ने नाम भी नहीं लिया । क्यों नहीं लिया इसका कारण प्रायः उन लोगों के सामने उदाहरण की अनुपलब्धि ही रही होगी, परन्तु 'काकतालीयम्' में जो छ प्रत्यय हुआ है उसकी प्रकृति अर्थात् 'काकतालम्' के अर्थ में उसका उदाहरण मिल सकता है । क्योंकि यहाँ जो 'समासार्थोपमा' शब्द से उपमा दिखाई गई है, उसमें उपमान है 'काकतालसमागम' जिसका वाचक यहाँ कोई शब्द नहीं और न सादृश्य का ही प्रतिपादक कोई शब्द है ।

भेदान्तरं प्रकटयति—

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यसमासयोर्द्विविधैवोक्ता । सा चात्रापि तृतीयचरणोक्तधर्मनिरासे प्रत्ययार्थे दृष्टा ।

तृतीयचरणौक्तेति । 'उपलभ्यतेतदकरमात्' इत्यस्य स्थाने चरणान्तरनिर्माण इत्यर्थः । वाक्यसमासगमितया द्वौ भेदौ धर्मोपमानलुप्तोपमायाः प्राप्नुतौ । किन्तु तद्विषयगमितया तृतीयोऽपि तस्या भेदः सम्भवति । स यथा—'यक्षोराणाम्' इत्यस्मिन्नेव पद्ये तृतीयचरणप्रकारान्तरेण परिवर्त्य विरच्येत, तदा काकतालीयशब्दघटकप्रत्ययार्थोपमायाम् । तत्रोपमानलोपः प्राशुपपादित एव । धर्मलोपश्च धर्मबोधकतृतीयचरणपरिवर्तनवार्तायाः स्पष्टीकृतः ।

धर्मोपमानलुप्तोपमा के दो भेद—वाक्यगत तथा समासगत—पहले कहे जा चुके हैं, पर उसका 'तद्विषयगत' एक तीसरा भेद भी हो सकता है । जैसे—यदि 'यक्षोराणाम्' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य के तृतीय चरण (उपलभ्यतेतदकरमात्) जो धर्मबोधक है—को हिन्दी अनुवादकर चतुर्वेदीयों के शब्दों में यों बदल दिया जाय कि—'किमिति प्रभो वयं निदमासीद्वत् काकतालीयम्' तब श्रवणार्थ (छ=ईय से बोध्य) उपमा धर्मोपमानलुप्ता हो जाती है ।

भेदान्तरं प्रतिपादयति—

वाचकधर्मलुप्ता किम्पमासयोर्द्वयोरेव कथिता । सापि 'यश्चापुरुषः सोऽयं योऽत्यन्तं विषयवासनाधीनः' इत्यत्र स्वहिताकरणरूपस्य धर्मस्यानुपादाने कनो लोपे विलोक्यते ।

किम्पमासगतत्वेन द्वौ भेदौ वाचकधर्मलुप्ताया उपमायाः पूर्वं प्रतिपादितौ । परन्तु 'यो नितरा सभारजालकबलीकृतस्वान्तः परलोकिनिमित्तं न चेष्टते, स, पुरुष, यश्चापुरुषचितप्रतिवृत्तिसमानः' इत्यर्थकः 'यश्चापुरुषः सोऽयम्' इति मूलोक्तवाक्यघटकयथाशब्दार्थं तद्विषयगम्यपि तृतीयो भेदो भविष्यति शक्नोति । 'यश्चा'शब्दे यथोपमा भवति, तथा प्राक् प्रतिपादितमेव । किन्तु तत्र 'स्वहितं नैव जानीते' इत्यर्थेन 'स्वहिताकारणरूपधर्म' आसीत् । इदानीं तदनुपादाने धर्मलुप्ताऽपि तत्र सञ्जायत इति भावः ।

क्रिप् और समास में होनेवाले दो भेद वाचकधर्मलुप्तोपमा के प्राचीनों ने कहे हैं, पान्त्तु तद्वित में भी एक तृतीय भेद उसका देखा जाता है। जैसे पूर्वोक्त पद्य के 'चन्द्रापुरः सोऽयम्' इस अंश के आगे, 'बपना हित नहीं करना' रूप बोधकधर्म 'य' स्वहितं नैव जानीते' इय भाग को 'योऽत्यन्त विषयवासनाधीन. अर्थात् जो अत्यन्त ही मांसारिक घनपुत्रदिविषयविषयक संस्कार का बशीभूत है' इस रूप में बदल देने पर 'कन्' प्रत्यय के लोप की जगह में।

उपमंहरति—

एवं च द्वाविंशद् भेदाः ।

निगदव्याख्यातमिदम् ।

इस तरह से अब उपमा के बत्तीस भेद हो गये अर्थात् प्राचीनों ने पहले पचीस भेद कहे और पीछे अन्य विद्वानों के मतानुसार सात भेद और अधिक अभी बतलाये गये, दोनों का योग बत्तीस हुआ।

प्राचीनोक्तभेदानालोचयति—

अत्रेदमवधेयम्—कर्माधारक्यचि क्यञि च वाचकलुप्तोदाहरणं प्राचाम-सद्गतमिव प्रतीयते धर्मलोपस्यापि तत्र संभवात् । न च क्यजाद्यर्थ आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्तव्यम् । धर्ममात्ररूपस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वाभावात् । 'नारीयते सपन्नसेना' इत्यादी वृत्त्यन्तरनिवेदितैः कातरत्वादिभिरभिन्न-तयाध्यवसितस्याचारस्योपमानिष्पादकत्वात् । यदि च क्यङ्गर्थ आचारमात्र-सुपमानिष्पादकं स्यात्तदा 'त्रिविष्टपं तस्मैलु भारतायते' इत्यादी सुप्रसिद्धत्वा-दिरुपाचारोपस्थितावप्युपमालङ्कृतेरनिष्पत्तेः, तस्यैव च 'सुपर्वभिः शोभित-मन्तराप्रितैः' इति चरणान्तरनिर्माणे तस्या निष्पत्तेः क्यङ्गार्थः साधारणोऽपि नोपमां प्रयोजयति । उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण साधारणधर्मवाचक-शून्यत्वस्यैव धर्मलोपशब्देनाभिधानात् । अन्यथा 'मुखरूपमिदं धस्तु प्रकुल-मिव पङ्कजम्' इत्यादी पूर्णोपमापत्तेरिति दिक् ।

धर्मलोपस्यापीति । अत्र ज्ञेयम् — 'उपमानादाचारे' इत्युपमानमाचारानिरूपि-तमेव गृह्यते । उदाहरणे च पुत्रपदस्य पुत्रकर्मकाचारसदृशे लक्षणेति ब्रूयाकरणमते च सुतरा धर्मलोपः । न चैतन्मते 'त्रिविष्टपं तस्मैलु भारतायते' इत्यत्र क्यचोऽनुपपत्तिः । भारताचारसदृशाचारस्य त्रिविष्टपकृतेरपि । 'सुपर्वभिः शोभितम्' इत्यस्य श्लेषेणा-भेदाध्यवसाय एव, न सादृश्याध्यवसाय इति वाच्यम् । एकशब्दोपात्तत्वेनाभेदपुद्गेरिव शब्दरूपसाधर्म्येण सादृश्यपुद्गेरप्युपपत्तेः इत्याहुरिति । ननु नारीयते इत्यादी आचा-रस्य साधारणधर्मत्वमस्तीत्यत आह—नारीति । वृत्त्यन्तरेति । व्यञ्जनेत्यर्थः । आचार-मात्रमिति । मात्रपदेन किञ्चिदभिन्नतयाध्यवसितत्वव्यवच्छेदः । तस्यैव पदस्य । तस्याः उपमालङ्कृते । साधारणोऽपि । लभयनिष्ठोऽपि । ननु कथं ताजर्थाचारमात्रस्योपमाप्रयोज-कत्वाभावेऽपि साधारणत्वेनोभयधर्मत्वात्तन्मत्वाच्च क्य तल्लोपसम्भवोऽत आह—उपमेति । 'अनलीयति, काननीयति, निर्जलमीनायते' इत्यादी क्रमशः कर्मार्थकस्य जाधारार्थकस्य च-कर्त्तर्यकस्य प्रत्ययान्ते प्रयोगे यथा सादृश्यस्य वाचक पदजास्ति, तथा साधारणधर्म-स्यापि वाचकं पदं नास्त्येवेति तदप्रयोगघटितम् 'मलयानिलमनलीयति' इत्यादि प्रागु-क्तपद्यम् वाचकधर्मलुप्तोपमाया एवोदाहरणं भवितुमर्हति, न केवलवाचकलुप्तोपमाया ।

तथा च कर्माधारवन्वयवृत्तत्वेन वाचकतुल्या मेदत्रयं प्राचीनैर्लङ्कितमद्यतमेव । उपमानोपमेयोमयवृत्तितयाऽऽचार एव साधारणो धर्मस्तद्वाचकश्च कथञ्चक्यञ्चादिरत्रास्तीति न वक्तुं योग्यम्, अन्यसाधारणपदार्थभिदाध्यवसायरहितस्वाचारस्योपमाप्रयोजकत्व-
विरहात् । अत एव 'सुप्रसिद्ध स्वर्गो महाभारतग्रन्थ इवाचरती'त्यर्थके 'त्रिविष्टप तत्तलु भारतायते' इत्यादौ सुप्रसिद्धत्वरूपाचारप्रतीतिवधि तत्त्वदुपमालङ्कारो न तिष्ठयते, यावत् 'मध्यभागस्थितै देवै पक्षे तयाविधे' आदिसमाप्रयुतिगन्थाध्यायै शोभितम्' इत्यर्थक 'सुपर्वभि शोभितमन्तराश्रितै' इति श्लिष्ट चरणान्तरं तत्र न योज्यते । ननु 'नारीयते सपरननेना' इत्यादौ शत्रुसेना नारीवाचरतीत्यर्थके धाक्ये केवलाचारमेव साधारणधर्ममा-
धित्योपमानिष्पत्तिरिति कथं भवतीति चेन्न, व्यञ्जनावृत्तिबोध्यकातरत्वादिपदार्थाभिन्नतयाऽध्य-
वसितमाचार साधारणधर्मतया विदित्वैव तत्रोपमानिष्पत्तेः । केवलाचारमादाय तत्रापि नोपमानिष्पत्तिरिति साराशः । एवमोभयनिष्ठोऽपि कथञ्चक्यञ्च आचार उपमाप्रयोजकी नेति समुदितार्थः । अथ मास्ताम् केवलस्याचारस्योपमाप्रयोजकत्वम्, किन्तु तावता तस्योभयनिष्ठत्वेन प्राप्ता साधारणधर्मपदव्यवहारता तु न निवारिता स्यात् । अनिवारितायां च तस्याम्, कथमिह धर्मलोपव्यवहारस्तद्वाचकस्य कथञ्चादे सत्त्वादित्यपि न मनोरमम्, न्याहसो धर्म उपमा प्रयोजयति तादृशधर्मवाचकपदशून्यतायामेव धर्मलोपव्यवदेशात् । अत एव 'सुखरूपमिदं वस्तु प्रपञ्चमिष पञ्चजम्' इत्यादौ वस्तुत्वरूपसाधारणधर्मस्य सत्त्वेऽपि धर्मलुप्तोपमेव व्यवहियते न पूर्णोपमा । इत्थं च प्रकृते उपमाप्रयोजकरूपरहितस्य केवला-
चारस्य कथञ्चादिव्यवृत्तेऽपि धर्मलोपव्यवहार एव न्याय्य इति भावः ।

* प्राचीनोक्त मेदों की आलोचना करते हैं—अत्रेदमवधेयम् इत्यादि । प्राचीनों ने जो उपमा के पक्षील मेद दिएलाये हैं, उनमें एक बात ध्यान देने योग्य है । वह यह है कि—'मलयानिलमल्लीयति' इस पूर्वोक्त पक्ष में 'अनलीयति, काननीयति और निर्गलमीमायते' इन अर्थों की क्रमशः कर्मार्थक कथञ्, साधारणार्थक कथञ् तथा कथञ्चत वाचकतुल्या का उदाहरण बतलाना उनका सङ्गत-त्वा नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ धर्मलोपव्यवहार भी सम्भावित है । सारांश यह कि वे भेद, वाचक और धर्म दोनों के लोप में आ सकते हैं, केवल वाचक के लोप में नहीं । यदि आप कहना चाहें कि उप-
मान और उपमेय दोनों में रहनेवाला 'आचार' ही साधारण धर्म है और उसका वाचक कथञ् आदि पक्षों परमाण ही है, छिद्र धर्मलोप की सम्भावना कैसे की जा सकती है, तो यह भी ठीक नहीं । कारण, केवल आचार अर्थात् जिसका कोई निश्चित रूप नहीं है, वह उभयनिष्ठ होकर भी उपमा का प्रयोजक नहीं होता अर्थात् वैसे आचार को साधा-
रण धर्म मानकर उपमा जलझर नहीं बन पाता । अतएव 'त्रिविष्टप तत्तलु भारता-
यते—अर्थात् सुप्रसिद्ध स्वर्ग, भारत (महाभारत) सा आचरण करता है' इत्यादि स्थानों में सुप्रसिद्धत्वरूप उभय (स्वर्ग और महाभारत ग्रन्थ) निष्ठ आचार की उपस्थिति रहने पर भी तब तक उपमालङ्कार नहीं निष्पन्न होना, जब तक 'सुपर्वभि, शोभित मन्तराश्रितै' अर्थात् मध्य में रहनेवाले सुपर्वों (एकत्र देवताओं, अन्यत्र आदि, सभा प्रवृत्ति पर्वों) से शोभित' यह श्लिष्ट विशेषण, उसमें नहीं जोड़ा जाता है । तात्पर्य यह है कि 'एक विशेषण से युक्त होना' यह सर्वद्वारमक साधारण धर्म की प्रतीति होने पर ही उपमा बन पाती है, उससे पहले आचार की प्रतीति होने पर भी नहीं, इससे सिद्ध होता है कि केवल आचार उपमाप्रयोजक नहीं होता । आप कहेंगे—यदि ऐसी बात होती, तब 'नारीयते सपरननेना' अर्थात् शत्रुओं की सेना नारी-सी ता आचरण करती है' इत्यादि स्थानों में उपमा कैसे होती है ? अर्थात् वहाँ 'आचार' से भिन्न

कोई साधारण धर्म है नहीं, फिर उपमा कैसे मानी जाती है? तो, इसका उत्तर है कि केवल 'आचार' को साधारण धर्म मानकर यहाँ उपमा नहीं मानी जाती, अपितु व्यञ्जना से जब कातरता आदि की प्रतीति होती है और उस कातरता आदि के साथ क्यङ्प्रत्यय के अर्थ आचार का अमेद समझ लिया जाता है, तब उपमा बन पाती है अर्थात्—जब यह समझ में आता है कि जैसे नारियाँ कातर होती हैं वैसे शत्रुओं की सेना कातर है, तब उपमा का बोध होता है। सरांस यह कि इस दृष्टान्त से भी आप केवल आचार को उपमाप्रयोजक नहीं मित्र कर सकते। यदि आप कहें कि अच्छा, आप ही की बात रहे—केवल 'आचार' उपमा का साधक नहीं होवे, पर उपमान तथा उपमेय दोनों में रहने के कारण वह साधारण धर्म तो जरूर है, फिर उसके वाचक क्यङ् आदि के रहने पर धर्मलोप का व्यवहार कैसे किया जा सकता है? तो, मैं कहूँगा—अनर्थ किया जा सकता है, क्योंकि किसी तरह के साधारण धर्म के रहने पर साधारण धर्म की सत्ता नहीं समझी जाती, अपितु जो धर्म, उपमाप्रयोजकतावच्छेदकरूप से युक्त हो अर्थात् जिस तरह के धर्म के रहने पर उपमा ही सिद्धि हो, उस तरह के धर्म की उपस्थिति कराने वाले पद की सत्ता में हो साधारण धर्म की सत्ता समझी जाती है। अतएव 'मुखरूपमिदम् वस्तु' इत्यादि अर्थात् मुखरूप यह वस्तु विकसित कमल की है' इत्यादि स्थानों में पूर्णोपमा नहीं होती, आप के हिसाब से तो पूर्णोपमा ही नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुत्व—जो मुख और कमल दोनों में रहता है—रूप धर्म यहाँ उक्त ही है। मेरे हिसाब से यह भी धर्मरूपोपमा होगी, कारण, वस्तुत्व एक ऐसा सामान्य धर्म है जो सभी चीजों में रहता ही है, अतः यह उपमाप्रयोजक हो ही नहीं सकता और दूसरा कोई साधारण धर्म उक्त नहीं है। अन्ततः यह सिद्ध हुआ कि उपमाप्रयोजक साधारण धर्म के न रहने पर धर्मलोप का ही व्यवहार होना समुचित है, चाहे उपमा का अप्रयोजक कोई उभयविध धर्म उक्त ही क्यों न हो। इस स्थिति में उक्त स्थल पर केवल आचार अर्थात्—उपमा के अप्रयोजक आचार—के क्यङादि के द्वारा उक्त होने पर भी 'धर्मलोप' का व्यवहार होया।

दीक्षितोक्तं खण्डयति—

यथाप्यदीक्षितैरस्मिन्नेव प्रस्तावे 'धर्मलुप्ता वाक्यसमासतद्धितेषु दर्शिता द्विर्भावेऽपि दृश्यते। 'पटुपटुर्देवदत्तः' इत्यत्र 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सादृश्ये द्विर्भावविधानात्' इति निगदितं तत्तुल्यम्। अत्र च वाचकस्याप्यनुदानाद्याचकधर्मलुप्तायामेतदाधिक्यमुद्भावयितुमुचितम्, न धर्मलुप्तायाम्। धर्मनात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्ताशब्देन तैर्विवक्षणात्। अन्यथा एकलुप्तास्त्वेव द्विलुप्तानां त्रिलुप्तायाश्च प्रह्णात्पृथगुपादानमसम्बद्धमेव स्यात्। न चात्र वाचकस्य द्विर्भावस्यैव सत्त्वान्नास्ति लोपः, अपि तु धर्ममात्रस्येति वक्तुं शक्यम्। द्विर्भावस्य सादृश्यवाचकत्वोक्तैर्भाष्यकैयटादिविरुद्धत्वात्। तदुक्तं कैयटेन 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रे सिद्धं त्विति प्रतीकमुपादाय—'द्विर्वचनस्य प्रकृतिः स्यानीति तदर्थो विशेष्यते न प्रकारः। तत्र सर्वस्य गुणवचनत्वाद् व्यभिचारभावात्। तदप्रह्णाद्गुणवचनो यः शब्दो निर्ज्ञातस्तस्य सादृश्ये चोत्पे द्वे भवत इति सूत्रार्थः' इति।

'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रेण सादृश्यायें द्वित्वस्य विधीयमानतया 'पटुसदृशो देवदत्त' इत्येके 'पटुपटुर्देवदत्त' इत्यत्रापि वाक्यसमासतद्धितगामितया प्राचीनैरुप-दशिताया धर्मलुप्तेरपमाया एक प्रकारो रश्मिगोनरोभवतीति यदुक्तं दीक्षितैस्तत्र समीचीनम्, सादृश्यवाचकस्याप्यत्रानुक्ततया, वाचकधर्मोभयलुप्तेरुपमाप्रमेदेषु प्रकारस्यास्य

गणयितुमौचित्यात् । ननु उभयलुप्तात्वेऽपि धर्मलुप्तात्स्यानप्यादाईक्षितोक्तिर्नासर्माचोनेति चेन्न, धर्ममात्रलुप्ताया एव धर्मलुप्तापदेन दीक्षितैर्विवक्षितत्वात् । यदि द्विलुप्तादावपि एकलुप्तापदप्रयोगोऽभिमतोऽभविष्यत्, तर्हि एकलुप्ताप्रभेदेष्वेव द्विलुप्तत्रिलुप्तादीनामपि ग्रन्थे पृथक् तेषां भेदानां प्रवृत्तमस्मन्मतेष्वभविष्यत् । द्विर्भावोऽयं सादृश्यवाचको वर्तते एवेति न तत्तलोप इति तु न वक्तुमर्हम्, द्विर्भावस्य सादृश्यवाचकतायां भाष्यकैयटादितोऽसिद्धत्वात् । मूलोद्धृतायां कैयटीजोरस्य सार—‘प्रकारे गुणवचनस्येति सूत्रे गुणवचनत्वं प्रकारस्य विशेषणं द्विर्भावस्थानिनं पठुशब्दादेवेति वक्तव्ये, प्रकारस्य सादृश्यस्य सर्वत्र गुणवाचित्वनियमात् अभिचारवारकस्य तद्विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्त्या तद् विशेषणबलात् ‘गुणवाचकात् शब्दात् सादृश्ये’द्योत्ये द्वित्वं भवतीति सूत्रस्यार्थः सम्पद्यते इति । अस्मिन् कैयटग्रन्थे द्विर्भावस्य सादृश्यद्योतकत्वमेव कण्ठरवैणोक्तम् न तद्वचनत्वम् । एष्वपि सादृश्यवाचकविरहात् धर्मवाचकलुप्तोदाहरणमेवेदं द्वित्वम् न धर्ममात्रलुप्ताया इति भावः । अत्र—‘द्विर्भावस्य सादृश्यद्योतकत्वेऽपि शक्तत्वस्मवाचकत्वाभावाद् वाचकत्वोप इति तत्र (पण्डितराजस्य) हृदयम् । तत्तु इवादेशोक्तस्तान्ये चन्द्र इव मुपमित्यत्र, चन्द्रसुहृदमुपमित्यत्र वाचकलुप्तान्येवहाराभावात् सादृश्यतद्विशिष्टान्यतन्मोक्षकभावस्यैष भाष्यरुत्तान्येवहाराप्रयोजकत्वस्य वाच्यत्वेन द्योतकस्यापि बोधकत्वान्नयनेन नास्ति वाचकत्वोप इति तद्वशात् अत्रोपमूलकमिति चिन्त्यमिवम् ।’ इति नागेशो दक्षिरमाख्यम् ।

वीक्षितोक्ति का स्पष्टन करते हैं—यच्च इत्यादि । ‘धर्मलुप्तोपमा के वाच्यगत, समासगत और सङ्गितगत ये तीन प्रकार, प्राचीनों के द्वारा दिखलाये गये हैं, परन्तु उसका चौथा प्रकार भी ‘पटुपटुदेवदत्त’ इत्यादि द्विर्भावस्थल में दीख पड़ता है, क्योंकि यहाँ ‘प्रकारे गुणवचनस्य (८१११२)’ इस सूत्र से सादृश्य अर्थ में पटुशब्द को द्वित्व हुआ है, जिसके अनुसार उसका अर्थ होता है—‘पटु (चतुर) सदरा देवदत्त’ अर्थात् यहाँ सादृश्य की प्रतीति, ‘पटुपटु’ इस द्विर्भाव से, होती है, अतः यहाँ उपमा है इसमें किसी को आपत्ति नहीं, साथ साथ सादृश्यनियामक धर्म के ग्रहण न होने से इस उपमा के धर्मलुप्ता होने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये, अतः धर्मलुप्ता का यह चौथा प्रकार भी होता है’ यह कथा, इसी प्रसङ्ग पर भण्ण्य दीक्षित ने कही है जो समुचित नहीं, कारण यहाँ जैसे धर्मवाचक पद का उपादान नहीं है, उसी तरह सादृश्यवाचक पद का भी उपादान नहीं है, ऐसी स्थिति में धर्म और वाचक दोनों के छोड़ द्वाले भेद अर्थात् धर्मवाचकलुप्तोपमा के भेद में इस उपमा का उल्लेख करना उचित था, न कि केवल धर्मलुप्ता के प्रभेद में । धर्मवाचकोभयलुप्ता होने पर भी धर्मलुप्ता तो यह उपमा हुई ही, अतः उन्होंने ऐसा कहा, यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि धर्मलुप्ता शब्द से केवल धर्मलुप्ता का ही ग्रहण करना उनका अभीष्ट मालूम पड़ता है । यदि ऐसा न होता—अर्थात् धर्मलुप्ता शब्द से धर्मवाचकोभयलुप्ता का भी ग्रहण करना उनका अभिमत होता, तब तो एकलुप्ता के प्रभेदों में ही द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता के भेद भी सगृहीत हो ही जाते, फिर पृथक् द्विलुप्ता और त्रिलुप्ता के भेदों को गिनाना व्यर्थ ही होता । द्विर्भाव ही यहाँ सादृश्य का वाचक है, अतः वाचकत्वोप का व्यवहार यहाँ नहीं किया जा सकता, यह कहना भी सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि द्विर्भाव, सादृश्य का वाचक है, यह कथा भाष्य और कैयट आदि ग्रंथों से विरुद्ध पड़ती है । अर्थात् भाष्यकैयटादि ग्रंथों से द्विर्भाव का सादृश्यद्योतक होना ही सिद्ध होता है सादृश्यवाचक होना नहीं । देखिए, ‘प्रकारे गुणवचनस्य’ इस सूत्र में ‘सिद्धं तु’ इस प्रतीक को लेकर कैयटकार क्या कहते हैं । उनके कथन का भाव है कि ‘प्रकार’ अर्थात् सादृश्य, सदा सर्वत्र गुणवाचक ही होता है, जाति अधवा क्रिया

का वाचक नहीं, ऐसी स्थिति में 'गुणवचन' वह विशेषण, 'प्रकार' में लगाया नहीं जा सकता अर्थात् 'गुणवाची सादृश्य में' ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' अर्थात् कोई विशेषण किसी भी विशेष्य में तभी सार्थक होता है, जब उस विशेषण के अर्थ की, उस विशेष्य में कहीं समावसा हो और कहीं उस विशेषणार्थ का व्यभिचार भी हो' ऐसा सिद्धान्त है। तात्पर्य यह कि गुणवाचकत्व का कहीं भी व्यभिचार (अभाव) न रहने के कारण 'प्रकार' में 'गुण-वचन विशेषण' नहीं जोड़ा जा सकता। परिशेषात् वह स्थानी (जिसको द्वित्व करना अभीष्ट हो उस पट्ट आदि शब्द) का विशेषण होता है। अतः तदनुसार उक्त सूत्र का यह अर्थ होता है कि 'सादृश्य धोतित करना हो, तो उस शब्द को द्वित्व कर देना चाहिए, जो निश्चितरूप से गुणवाची ज्ञात हो।' इससे सारांश यह सिद्ध हुआ कि द्विर्भाव सादृश्य का धोतक है वाचक नहीं, अतः 'पटुपटुदेवदत्त' वह वाचकधर्मलुता का उदाहरण है केवल धर्मलुता का नहीं। नागेश यहाँ दीक्षितमत के समर्थन में कहते हैं कि 'इस प्रकरण में 'वाचक' शब्द का अर्थ 'अभिधानुक्ति के द्वारा सादृश्य का बोधक' नहीं है, अपितु 'किसी भी युक्ति से सादृश्य अथवा सादृश्ययुक्त अर्थ का बोधक है, और ऐसे किसी शब्द के न होने पर वाचक का लोप माना जाता है। अन्यथा 'हृद' आदि को धोतक मानने वालों के मत में 'चन्द्र इव सुखम्' इस स्थल पर और उसको वाचक माननेवालों के मत में भी 'चन्द्रसुखसुखम्' इस स्थल पर वाचकलुताका व्यवहार होने लगेगा जो होता नहीं, अतः धोतक द्विर्भाव को भी सादृश्यबोधक होने से वाचक कहलाने में बाधा नहीं रहने के कारण दीक्षित ने यहाँ धर्मलुता मानी है। नागेश की यह मोर्मांसा सुन्दर है—युक्तियुक्त है, अतः दीक्षितमत के खण्डन में ग्रन्थकार का यहाँ दुरामङ्ग ही सकलता है।

दीक्षितोक्तमन्यदपि निरस्यति—

इदं चान्यत्तस्मिन्नेव प्रस्तावे चित्रमीमांसाकृद्भिरभ्यधीयत—

'नृणां यं सेवमानानां संसारोऽप्यपवर्गति ।

तं जगत्प्रभजन्मर्त्यश्चञ्चा चन्द्रकलाधरम् ॥'

अत्र किंप्रकनोर्लोपे प्रत्येकं वाचकधर्मलोप उभयत्रापि सदरमणीयमेव । कनो वाचकस्य लोपेऽपि तं चन्द्रकलाधरममजन्निति चन्द्रकलाधरमजनराहित्य-रूपस्य धर्मस्य चञ्चामर्त्यसाधारणस्योक्तत्वात्कथं तावद्धर्मस्य लोपः ।

इदं चान्यदिति । वक्ष्यमाणमन्यत्वेत्यर्थः । किन्तोपे तयोर्केयुक्तत्वेऽपि कन्तोपे न युक्तत्वमित्याह—कन इति । 'य शिवं, सेवमानानाम् भजताम्, नृणाम् मनुष्याणाम्, संसारोऽपि जगदपि, अपवर्गति अपवर्गो मोक्षः ॥ इवावर्ति-मोक्षतुल्यो भवति, तं, चन्द्रकलाधरम् शिवम्, अमजन् असेवमानो, मर्त्य-संसारो पुरुषः, जगति, यथा तृणर-वितपुल्लिकेव' इत्यर्थके 'नृणाम्' इत्यादि मूलोक्तपदे कियताम् कल्पतां वाचकधर्म-लुलोपमा यदुदाजहार चित्रमीमांसाकारो दीक्षितः, तच्च मनोरमम्, 'अपवर्गति' इत्यत्र वाचकस्य किंप्र-साधारणधर्मस्य सुखमयत्वादेव वस्तुतो लुप्ततया किञ्चरो तदुक्तोक्तत्वेऽपि 'यथा' इत्यत्र वाचकस्य कनो लुप्तत्वेऽपि शिवमजनराहित्यात्मकस्य चञ्चामर्त्योभयवृत्तेः साधारणधर्मस्य 'तं चन्द्रकलाधरममजन्' इत्यनेनोक्ततया धर्मलोपाभावे कनो तदुक्ते-रयुक्तत्वात् । कनो केवलत्वावच्छ्रयैव न धर्मलुप्तेति भावः ।

दीक्षित की दूसरी ठिकी का भी खण्डन करते हैं—इदं चान्य इत्यादि। इसी प्रसङ्ग पर चित्रमीमांसाकार अप्यदीक्षित ने एक दूसरी बात भी कही है और वह यह कि 'नृणाम्' अर्थात् जिसे सेवते हुए मनुष्यों का संसार भी मोक्ष सा आचरण करने

लगता है—मोक्षतुल्य हो जाता है, उस चन्द्रकलाधर (शिव) को न भजने वाला ससारी पुरुष, ससार में चञ्चा है—तृणनिर्मित पुतले के समान है' इस श्लोक में 'अपवर्गति' पद में 'किप्' प्रत्यय का और 'चञ्चा' पद में 'क्ञ्' प्रत्यय का लोप है, अतः इन दोनों पदों में प्रत्येक से वाच्य होने वाली उपमा वाचकलुप्ता तो हुई है, क्योंकि सादृश्य-वाचक किप् और कञ् प्रत्यय लुप्त है, साथ साथ धर्मलुप्ता भी है परन्तु सर्वांश में उनका यह कथन ठीक नहीं है। कारण, किप्भाग में संसार तथा मोक्ष दोनों को समान बनाने वाले 'सुखमयत्व' आदि साधारणधर्म के लोप की बात साप होने पर भी कञ् भाग में तृणरचित पुतले तथा मनुष्यों को तुल्य सिद्ध करने वाला 'शिव के भजन से रहित होना' रूप साधारण धर्म, 'त चन्द्रकलाधरमभजन्' पद से उक्त ही है, अतः उसके लोप की बात असत्य हो जाती है।

दीक्षितमतसमर्थकमवान्तरपूर्वपक्ष कृत्वा खण्डयति—

न चोपमेयसर्त्यविशेषणतयोपात्तस्य चन्द्रकलाधरभजनराहित्यस्य सादृश्यो-
पसर्जने चञ्चायामनन्वयात् साधारण्यमिति वाच्यम्।

‘यद् भक्तानां सुखमयः संसारोऽप्यपवर्गति।

तं शम्भुमभजन् मर्त्यश्चैवात्महिताकृतेः॥

इति पाठे धर्मश्रवणमप्युभयत्रापि संभवति' इति स्वोक्तेरसङ्गतत्वापत्तेः। इहा-
प्युपमेयससारविशेषणतयोपात्तस्य सुखमयत्वस्य सादृश्योपसर्जनेऽपवर्गेऽन्वया-
भावात्कथङ्कार धर्मस्य साधारण्यम्।

यद्भक्तानामिति। यस्य शम्भो, भक्तानाम् सेवकानाम्, ससारोऽपि जगदपि सुखमय-
स्तु, अपवर्गति मोक्षतुल्यो भवति, त शम्भुम्, अभजन्, मर्त्यं संसारी, आत्मन स्नेह्य,
हितस्य काम्याणस्य, अकृते अकरणादेतो अथैव तृणरचितपुतलिकातुल्य एवेत्यर्थः।
असंगतिसुपपादयति इहापीति। कथङ्कारमिति, कथं कृत्वेत्यर्थः 'नृणाम्' इत्यादि
प्रागुक्तपक्षे 'अभजन्' इति उपमेयभूतस्य मर्त्यस्य विशेषणरूपेण कथितम् अतस्तदर्थस्य
मर्त्यपदार्थ एवान्वयो भवेत्, नोपमानभूतचञ्चापदार्थे, तस्य स्वार्थसादृश्यविशेषणतया
पदार्थैकदेशत्वात्। तथा च शिवभजनराहित्यं न साधारणो धर्मः, यत्र साधारणो धर्मः
स्मृतिताकरणादि स अनुक्त एवेति तत्र धर्मवाचकभयलुप्तात्वकथन दीक्षितस्य सम्मतेति
शङ्काया तत्र तद्वाहीकारे 'यद्भक्तानाम्' इत्यत्रापि उपमेयभूतस्य ससारस्य विशेषण-
रूपेण कथितस्य सुखमयत्वधर्मस्य, अपवर्गपदलक्ष्यार्थसादृश्यविशेषणत्वेन शुणीभूते पदा-
र्थैकदेशे च अपवर्गपदार्थेऽन्वयासम्भवेन साधारणत्वाभाव एव प्रसक्ते 'यद्भक्तानाम्' इत्यत्र
तदेव सुखमयत्वमादाय उभयत्रापि (किप्कञ्भागयो) साधारणधर्मश्रवणकथन तदीपमेव
विरुद्धमेत इति च समाधानस्याभिप्रायो बोध्यः।

दीक्षितमत को सङ्गत सिद्ध करने के लिये मध्य में एक पूर्वपक्ष करके उसका खण्डन
करते हैं—न च इत्यादि। अभिप्राय है कि—“आप-जो 'शिवजी के भजन से रहित
होने' को साधारण धर्म बतलाकर दीक्षितोक्ति का खण्डन करते हैं, वह तो ठीक नहीं
है, क्योंकि 'शिवजी के भजन से रहित होना' साधारण (उपमान तथा उपमेय दोनों
में रहने वाला) धर्म हो ही नहीं सकता, हो भी कैसे, जब कि 'अभजन्' यह विशेषण,
उपमेय-ससारी पुरुष-के लिये पक्ष में आया है अर्थात्-उस अभजन् पदार्थ-भजनराहित्य-
का अन्वय उपमेय-मर्त्य-में ही हो सकता है, उपमान चञ्चा-तृणरचित पुतला-का
नहीं, क्योंकि चञ्चा पदार्थ स्वयं सादृश्य का विशेषण है-गौण है-पदार्थ का एक देश है,
पदार्थ नहीं” यह एक पूर्वपक्ष मात्र है, सिद्धान्त नहीं, क्योंकि इसका समाधान यों
दिपा जा सकता है कि—यदि इस तरह से 'शिवभजनराहित्य' को आप साधारण

धर्म नहीं बनने देते हैं, तब 'पूर्वोक्त 'नृणाम्' इत्यादि पद्य को ही कुछ काट छेड़ कर 'यज्ञक्षानाम्'... अर्थात् जिसके भक्तों का संसार भी सुखमय होकर मोक्षतुल्य हो जाता है, उस धर्म का भजन नहीं करनेवाला अनुष्य, अपना हित न करने के कारण तृणरचित पुतले के समान ही है।' ऐसे पाठ में दोनों तरफ (अपवर्गाति और चञ्चा) साधारण धर्म के ध्वज की भी संभावना हो सकती है अर्थात् इस परिपक्वित पद्य में दोनों स्थल पर केवल वाचकतुला ही होगी धर्मतुला नहीं, क्योंकि धर्म श्रुत ही है सुख नहीं। इन वाक्यों में जो दीक्षितजी ने स्वयं 'सुखमयत्व' को साधारण धर्म सिद्ध करने की चेष्टा की है, यह असम्भव हो जायगी क्योंकि 'सुखमयत्व भी, सुखमय, समार' रूप में उपमेय-संसार-का विशेषण है उपमान-अपवर्ग-का नहीं। कारण अपवर्ग स्वयम् सादृश्य का विशेषण है-गौण है-पदार्थ का एक देश है, उसी तरह जिस तरह उक्त 'शिव-भजनराहित्य' है।

पुन दीक्षितमतसमर्थक पूर्वपक्षमुल्लिख्य निराकरोति—

उपमेयगतत्वेनोपमानगतत्वेन योपात्तस्य धर्मस्य शाब्द उभयान्वयेऽसत्यपि वस्तुतः उभयवृत्तित्वज्ञानमेव साधारणताया नियामकमिति चेत्, चन्द्रकलाधर भजनराहित्येऽपि दीयतामेवमेव दृष्टिः।

यदन्वयितया यः पदार्थ उच्यते, तस्य तत्रैव शाब्द अन्वयो भवतीति सिद्धान्तः। तथा चोपमेयान्वयितयोक्तस्य धर्मस्योपमेय एव, उपमानान्वयितयोक्तस्य च धर्मस्योपमान एव शाब्द अन्वयो भवेत् नोभयत्रैत्यपि सत्यम्, तथापि यस्मिन् धर्मे वस्तुगत्योपमेयौपमानौभयवृत्तित्वज्ञानं भवति, स धर्म साधारण इति चेत् 'यज्ञक्षानामित्यादिपद्ये' शाब्द-सत्त्वोपमेये संसारमात्रेऽन्वीयमानस्यापि वस्तुगत्यापि संसारमौलोभयवृत्तित्वेन ज्ञायमानस्य सुखमयत्वस्य साधारणत्वसम्पत्तये निरूप्येत, तदा 'नृणाम्' इत्यादि पूर्वोक्तपद्ये चन्द्रकलाधरभजनराहित्यस्यापि साधारणत्व स्वीकरणीयमेव तुल्यन्यायात्, यथा सुखमयत्वम् उपमेयान्वयितयोक्तमपि वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्तिः, तथा चन्द्रकलाधरभजनराहित्यमपि उपमेयमात्रान्वयितया कथितमपि वस्तुगत्योपमेयोपमानोभयवृत्तीति भावः।

पुनः प्रकारान्तर से दीक्षितमतसमर्थनप्रयास का विराकरण करते हैं—उपमेय इत्यादि। यदि आप कहें कि केवल उपमेय के विशेषणरूप में भयवा केवल उपमान के विशेषणरूप में कहे गये धर्मों का अन्वय शाब्दबोध में उसी पदार्थ के साथ होगा, जिसके विशेषणरूप में वह कहा गया रहेगा वह बात सत्य है, तथापि यज्ञक्षानाम्... इस पद्य में 'सुखमयत्व' साधारण धर्म माना जा सकता है, क्योंकि किसी धर्म को साधारण बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका शाब्द अन्वय दोनों (उपमेय तथा उपमान) के साथ होता हो, अर्थात् यह आवश्यक है कि वस्तुतः वह धर्म दोनों में रहता हो-रहनेवाला समझा जाता हो, सुखमयत्व ऐसा है अर्थात् उपमेय संसार तथा उपमान अपवर्ग दोनों में वस्तुतः रहता है, तो मैं कहूँगा कि आपका कथन सर्वथा सत्य है, परन्तु इसी दृष्टिकोण से 'नृणाम्...' इत्यादि पद्य के चन्द्रकलाधरभजनराहित्य को भी क्यों नहीं देखते? अर्थात् इस दृष्टि से विचार करने पर यह भी साधारण धर्म माना जा सकता है, क्योंकि सुखमयत्व के समान वह भी वस्तुगत्योपमेय मार्य पुरा और उपमान चञ्चा दोनों में रहता ही है। तात्पर्य यह कि इस तरह की समान स्थिति में एक को साधारण धर्म आप मानियेगा और दूसरे को नहीं, यह हो नहीं सकता, फलतः दोनों को साधारण धर्म मानना पड़ेगा।

दीक्षितमतसमर्थका युक्तियेका कथंचिदङ्गीकुरुते—

यदि चोपमेयतावच्छेदकतयैव चन्द्रकलाधरभजनराहित्यं मम विवक्षितम्,

साधारणधर्मश्च स्वात्महिताकरणरूपः स चात्र लुप्त एवेति शपथेन स्याभिप्रायः प्रकाशयते तदा निवारितोऽयं दोषः । तुल्यतु भवान् ।

उपमेयतावच्छेदकतयेति । उपमेयान्वयिविशेषणतयेति भावः । शपथेनेत्यादि । मौखिकशपथेन हृदयनिहितसत्यस्यापलापोऽयम्, वाचता भवत एव नुष्टिर्न मम तथापि शपथमर्यादारक्षणाय प्रसङ्गेऽस्मिन् मौनमेवावलम्बेऽहमिति भावः । यदि भवान् शपथपूर्वकमिदं वक्तुं पारयेयत् 'मृणाम्' इति प्रथमपद्ये चन्द्रकलाधरभजनराहित्य मर्त्यजनरूपोपमेयमित्येव वक्तुरभिप्रेतम्, अतः स साधारणधर्मो न भवितुमर्हति, यत्र स्वहिताकरणरूपो धर्मः साधारणतया वक्तुरभिप्रेतः स लुप्त एवेति तत्र वाचकधर्मलुप्तावक्येन सुसङ्गतमेव । 'यद्भक्तानाम्' इति द्वितीयपद्ये च सुखमयत्वं साधारणतया विवक्षितं वक्तुरतस्तत्र तस्योपादाने न धर्मलुप्तात्वमिति, तदा न कश्चिदत्र दोष इति साराशः ।

दीक्षितमत के समर्थन में ही गई एक दूसरी युक्ति को (अनिच्छा से ही सही परन्तु) स्वीकार करते हैं—यदि इत्यादि । यदि आप शपथ खाकर अपना अभिप्राय इस रूप में प्रकट करें कि—'मृणां' इत्यादि पद्य में जो धर्म—महादेवभजनराहित्य उक्त है, वह उपमेय संसारी जीव के विशेषणरूप में ही वक्ता का विवक्षित है, अतः साधारण नहीं कहा जा सकता और आत्महिताकरण (अपना हित न करना) जो वक्ता का साधारण धर्म के रूप में अभिप्रेत है, वह लुप्त है ही, इसलिए 'वहाँ वाचक धर्मलुप्त है' इस तरह का दीक्षितजी का कथन सङ्गत है, और 'यद्भक्तानाम्' इत्यादि द्वितीय पद्य में 'सुखमयत्वं' उक्त है, उसकी विवक्षा वक्ता ने साधारण धर्म के रूप में ही की है, अतः 'वहाँ साधारण धर्म का अवयव है' यह कथन भी दीक्षितजी का अनुचित नहीं । तो मैं भी आपकी शपथ मर्यादा की रक्षा की भावना से इस स्थल को निर्दोष मान लेता हूँ । परन्तु है यह मौखिक शपथ के द्वारा हृदयस्थित सत्य का अपछाप ही । इससे मादस जन की मनस्तुष्टि नहीं हो सकती, आप मझे ही सन्तोष का अनुभव कर लें ।

अन्यदपि दीक्षितोक्तमालोचयन् तत्र व्याकरणाशुद्धिं प्रकाशयति—

इदमप्यन्यत्तैरेव वाचकोपमेयलुप्तायामुदाहरणं निरसीयत—

'रूपयौवनलावण्यस्पृहणीयतराकृतिः ।

पुरतो हरिणाक्षीणामेव पुष्पायुधीयति ॥'

इदं च पद्यमपशब्ददुष्टमवैयाकरणतां कर्तुं प्रकाशयति । तथाहि पुरत इति नगरवाचिनः, पुरशब्दात्तसिलि हरिणाक्षीणां नगरादित्यर्थस्यासङ्गते । नहि पूर्ववाचकं पुरशब्दः कापि श्रूयते । पूर्वशब्दात्तु 'पूर्वाधरावराणामसिपुरधवश्चै-
पाम्' इत्यसौ पुरादेशो च पुर इति भाव्यम्, न तु पुरत इति । अत एव 'अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्' इति प्रायुङ्क्त महाकविः । एवमेव 'सुखस्य पुरतश्चन्द्रो निप्रभः—इत्यप्रस्तुतप्रशसा' इति द्वितीयप्रकरणारम्भेऽप्यपशब्दितं वै । तथा चाहुर्वैयाकरणाः—'पत्या पुरतः परतः', 'आत्मीयं चरणं दधाति पुरतो निम्नोन्न-
तायां भुवि', 'पुरतः सुदती समागत माम्' इत्यादयः सर्वेऽपि व्याकरणाज्ञान-
मूला अपशब्दाः" इति ।

रूपयौवनेति । रूपेण गौरवादिना, यौवनेन युवावस्थया, लावण्येन 'मुक्ताफलेपुच्छा-
याया' इत्यादिपरिमापिताभ्यन्तरधर्मविशेषेण, च, स्पृहणीयतरा अतिशयेन कामना-
विशेषभूता, आकृति आकारो यस्य तादृश एव वर्णनीय पुरुषविशेष, हरिणाक्षीणाम्

मृगनयनानाम्, पुरतः अग्रे, पुष्पायुधोयति पुष्पायुधः कामः स इवाचरतीत्यर्थः । कर्तुं दीक्षितस्य । तसिलीति । अथ 'इदं चिन्त्यम् । तदप्राप्तं । आगादित्वात्तत्तावन्निवृत्तम् ।' इति नागेशः । महाकवि कालिदासः । तं अप्यवदीक्षितः । पुनरत्र नागेश - "इदं चिन्त्यम् । 'पुरतः इति निपाताद्भीक्ष्णत्वात् । अत एव 'इयं च तेऽन्या पुरतो विदम्बना' इति कालिदासः, 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' इति मन्वभूतिय सप्तच्छते' इति केचित् । अन्ये तु 'दक्षिणोत्तराम्यामतसुब्' इत्यत्रातसुब्बेवं पुंवद्भावेन सिद्धेऽतमुज्ज्वलमानमन्दस्मादपोति प्राप्ताय । तेन पञ्चाद्यन्तात्पुराब्दात्तस्मिन्निर्गच्छति । इत्याहुः । वस्तुतस्तु—'पुर अभ्रगमने' इति चौरादिकाणिजभावे इगुपध्लशणे के 'सार्वविभक्तिकस्तसि' इति बोध्यम्' इति समुचितः दीक्षितमतेन सह कविभ्रमप्रदायमपि समर्थितवान् । वैयाकरणा इति । प्राय इत्यादिः । रूप्यौघेति पद्ये 'पुरतः' इति प्रयोगो व्याकरणदिशाऽशुद्धः, अविवक्षितार्थं 'पुर' इति प्रयोगस्यैव शब्दानुशासनविद्वत्त्वादिति साराशः । अन्यत् सुगमम् ।

दीक्षितजी की एक अन्य उक्ति में आलोचना द्वारा व्याकरणाशुद्धि दिखलाते हैं—
 ब्रह्मण्य इत्यादि । दीक्षितजी ने ही वाचकोपमेयमुपोपमा के उदाहरण में यह दूसरा पद्य भी बनाया है—'रूप्यौघम् इत्यादि अर्थात् जिसका आकार रूप (वर्ण), पुष्पायुध और छावण्य से स्पृहणीय है, ऐसा यह नायक, मृगाचियों के आगे कामदेव का सा आचरण करता है ।' यह पद्य वपशब्द (अशुद्ध शब्द) रूप दोष से मुक्त है, अतः रचयिता का वैयाकरण न होना इससे सूचित होता है । देखिए—'पुरतः' शब्द की सिद्धि, यदि नगरवाची पुर शब्द से, तसिल् (वस्तुतः 'तसि' कहना चाहिए, क्योंकि 'तसिल्' की प्राप्ति यहाँ नहीं होती) प्रत्यय करके, की जायगी, तब उसका अर्थ यहाँ होगा 'मृगाची के नगर से' जो प्रकृत में सङ्गत नहीं होगा । पूर्व (आगे) अर्थ का वाचक 'पुर' शब्द कहीं (कोश आदि में) सुना नहीं जाता—देखा नहीं जाता, अतः पूर्ववाची पुर शब्द से 'तसि' प्रत्यय करके उस प्रयोग को सिद्ध करने की बात चलायी ही नहीं जा सकती । रहा पूर्व शब्द, तो उससे 'पूर्वपरा'... इत्यादि मूलोक्त सूत्र से 'असि' प्रत्यय करने पर 'पुर' आदेश द्वारा 'पुरः' प्रयोग बनता है, 'पुरतः' नहीं । अतः एव महाकवि कालिदास ने 'अमुं पुरः पश्यति देवदारुम्' यह प्रयोग किया है । एक जगह की बात नहीं, इसी तरह दूसरी जगह—चित्रमीमांसा के द्वितीय प्रकरण के आरम्भ में भी दीक्षितजी ने 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्पन्नः' इत्यादि लिखकर बड़ी गलती की है । 'पुरतः' शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही तो वैयाकरण लोग कहते हैं—'पत्या पुरतः पठः', 'भास्मीय चरणं दधाति पुरतः', 'पुरतः सुदती समागतम्' इत्यादि सभी शब्द अशुद्ध हैं और इन अशुद्धियों के होने में मूल है निर्माताओं का व्याकरणविषयक अज्ञान । नागेश का यहाँ कथन है कि 'पुरतः' शब्द अशुद्ध नहीं है, तीन तरह से उस पद की सिद्धि की जा सकती है । एक निपात मानकर, दूसरा पचादित्वात् अच्प्रत्ययान्त पुर शब्द से प्रापक द्वारा 'अतसुच्' प्रत्यय करके और तीसरा 'पुर अभ्रगमने' धातु से चौरादिक णिच् नहीं करने पर 'इगुपध्लशः क' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय करके बनाए गए 'पुर' शब्द से सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय करके । इन तीनों प्रकारों में सुतीप प्रकार सर्वोत्तम है । इस तरह से यह प्रयोग केवल शुद्ध है इतना ही नहीं, महाकवि लोगों ने इसका प्रयोग भी बहुत जगह किया है । जैसे कुमारसम्भव में कालिदास ने 'इयं च तेऽन्या पुरतो विदम्बना' कहा है । मन्वभूति ने उत्तररामचरित में 'पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात्' लिखा है । इस तरह के महाकविप्रयुक्त पदों को लेकर जो पण्डितराज, दीक्षितजी पर कटाघ करते हैं, उससे दीक्षितजी के प्रति पण्डितराज का हार्दिक विद्वेष ही अधिक व्यक्त होता है ।

पूर्वोक्तभेदाया उपमाया पुन प्रकारान्तरेण भेदान् कर्हि—

इयं चैव भेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणां प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कार-
योर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा ।

पूर्वोक्तभेदाया उपमाया अलङ्कार्यभेदेन पुन पञ्च प्रकारा भवन्ति, वस्त्वलङ्काररसभेदेन
त्रिविधाना प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारभेदेन द्विविधयोर्वाच्ययोश्च स्थलभेदेनालङ्कार्यत्वात् ।
एवञ्च प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतवस्तूपकारिका एका, प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतालङ्कारोपकारिका
द्वितीया, प्राधान्येन व्यङ्ग्यभूतरसाथलक्ष्यमोपकारिका तृतीया, प्राधान्येन वाच्यवस्तूप-
कारिका चतुर्थी, प्राधान्येन वाच्यालङ्कारोपकारिका च पञ्चमी उपमा भवतीति भावः ।

अथ पुन प्रकारान्तर से उपमा के भेद करते हैं—इयं चैव इत्यादि । अभी अभी जो
उपमा के भेद दिखलाये जा चुके हैं, उन सभी भेदों के पुन पाँच पाँच भेद होते हैं,
क्योंकि किसी दूसरे अर्थ को अलङ्कृत करने के कारण ही तो उपमा अलङ्काररूप होती है
और अलङ्कृत होने वाले अर्थ पाँच प्रकार के होते हैं । जैसे—१-वस्तुरूप प्रधान व्यङ्ग्य,
२-अलङ्काररूप प्रधान व्यङ्ग्य, ३-रसादिरूप प्रधान व्यङ्ग्य, ४-वस्तुरूप प्रधान वाच्य,
और ५-अलङ्काररूप प्रधान वाच्य । उपमा, स्थलभेद से इन पाँचों अर्थों की उपस्का-
रिका-उपकारिका अर्थात्-शोभिका होती है ।

एषु पञ्चसु प्रकारेषु प्रथम प्रकारमुदाहरतुमाह—

तत्र व्यङ्ग्ययनस्तूपस्कारिका यथा—

तत्रेति । उक्तपञ्चभेदमध्य इत्यर्थः । उपमाया येन प्रकारेण व्यङ्ग्यवस्तूपस्करण
भवति, स प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

उक्त पाँच भेदों में से व्यङ्ग्य वस्तु को शोभित करने वाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘अधिरतपरोपकरणव्यग्रीभवदमलचेतसां महताम् ।

आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव ॥’

अधिरतम् निर्बिरामम् सततमिति यावत्, परोपकरणेषु परकीयोपकारमम्पादनेषु,
व्यग्रीभवन्ति अन्यप्राणि व्यप्राणि भवन्तीत्यभूततद्भावे चि विषयान्तरे कदापि व्यग्रता
नानुभवन्त्यपि परोपकारविषये व्यग्रामनुभवन्तीति भावः, अमलानि विशुद्धानि रागद्वेषा
विशुद्धानीति यावत्, चेतासि हृदयानि, वेपा, तेषाम्, महताम् महापुरुषाणाम्
आपातकाटवानि प्रागनुभूयमानकटुत्वकानि, वचनानि, भेषजानि औषधानीव, स्फुरन्ति
प्रकटीभवन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अधिरत इत्यादि । कवि का कथन है—जिनके
विशुद्ध-रागद्वेषादिशून्य-हृदय, सतत परोपकार में व्यग्र रहते हैं अर्थात् जिनके मन
में अन्य प्रकार की व्यग्रता न रहने पर भी परोपकार करने की व्यग्रता सदा घनी रहती
है, उन महापुरुषों के, पहले कटु प्रतीत होवेवाले वचन औषधों के समान स्फुरित-
प्रकट-होते हैं ।

उपपादयति—

अत्र तादृशि वचनान्यर्थद्वारा सेवमानस्य मनागप्यधुभ्यत परिणामे परमं
सुखं भवतीति प्राधान्येन व्यङ्ग्यस्य वस्तुन उपस्कारिका भेषजोपमा ।

तादृशीति । आपातकाटवानीत्यर्थः । अर्थद्वारा सेवमानस्येति । अर्थज्ञानपुरस्सरं तथा
चरत इत्यर्थः । मनागपि ईपदपि । अधुभ्यत इति । प्रारम्भिककटुत्वमयेन रागाव्यमानं

वैमुख्यं नासादयत इत्यर्थः । अत्र 'तादृश' इत्यादिगुलोकं वस्तु 'आपातकाटवानि' इति पदेन, प्रधानतया व्यज्यते । इदमेव वस्तुव्यङ्ग्यमत्र काव्यजीवातुभूतम्, न रसादिरिति तात्पर्यम् । व्यङ्ग्यमेवमर्थम् भेषजानांवेति पूर्णा भेषजोपमा, भूषयति-प्रतिपाद्यमानेन प्रारम्भकटोरवि परिणाममुखस्य भेषजस्य सादृश्येन परिपुष्टोऽगौ व्यङ्ग्योऽर्थः समल्लति-मधिका जनपतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ 'जो मानव ऐसे बच्चों का सेवन अर्थतः करता है अर्थात् अर्थ समझकर इन बच्चों के अनुसार व्यवहार करता है और कटुता के भय से जरा भी विवृण्व नहीं होता—बचनसेवन से पराङ्मुख नहीं होता, उसे परिणाम में परम सुख प्राप्त होता है' यह अर्थ, 'आपातकाटवानि' पद से व्यङ्ग्य होता है । यही व्यङ्ग्य, इस पद्य में, प्रधान है—काव्यव्यवहार का कारण है और इस व्यङ्ग्य को शोभित करती है 'भेषजानीय' पद से वाच्य होने वाली औषध की पूर्णोपमा । सारांश यह कि औषध सादृश्य से परिपुष्ट होकर वह बच्चा और अधिक समझकार की उत्पन्न करता है ।

द्वितीय प्रकारमुदाहरणम्—

व्यङ्ग्य-भालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्बन्ध्याख्या ।

व्यङ्ग्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अङ्गायमानमलिके भृगनाभिपङ्कम्,

पङ्केरुहाक्षिवदनं तव वीक्ष्य विभ्रत् ।

उज्जासपल्लवितकोमलपक्षमूला-

अञ्चूपुटं चपलयन्ति चकोरपोताः ॥’

नायको नायिकानिकटे चाटुकारिता करते—हे पङ्केरुहाक्षि कमललोचने ! अलिके भालदेशे, अङ्गायमानम् चिहायमानम् चन्द्रगतस्यामचिदसदृशमिति यावत्, भृगनाभिपङ्कम् कस्तूरीकादयम्, विभ्रत् दधानम्, तव, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, उज्जासेन आहावेन, पल्लवितानि विकसितानि, कोमलानि, पक्षाणां, मूलानि आरम्भभागा येषां तादृशा, चकोरपोता चकोरणां शिशवः चम्बूपुटम्, चपलयन्ति चञ्चलं कुर्वन्तीत्यर्थः । कलङ्कमुख्यकस्तूरीद्वयविन्दुवन्दितललललतटे तथावने चन्द्रभ्रमेण चकोरकिशोरका, आनन्देन कोमलानि पक्षमूलानि पल्लववन्तश्चन्द्रिकापानकामनया चम्बूपुटं चपलं विदधतीति तद्भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अङ्गायमान इत्यादि । नायिका के प्रति नायक की चाटुक्ति है—हे कमललोचने ! भालदेश में कलङ्क (चन्द्रगत चिह्नविशेष) के समान कस्तूरीद्वय को धारण करते हुए तुम्हारे मुख को देखकर, आनन्दान्तरेक से जिनकी आँखों की जड़ें विकसित हो गई हैं ऐसे चकोरों के बच्चे, अपने चोंच को चपल बना रहे हैं—अर्थात् चन्द्रभ्रम से तेरे मुख की चाँदनी को चञ्चल के लिये आतुर हो रहे हैं ।

उपपादयति—

अत्र प्राधान्येन व्यङ्ग्ये आरोप्यमाणचन्द्रके भ्रान्तिमत्पलङ्कुरे उपपादकस्य भालस्थभृगमदपङ्कविषयकस्याङ्गाभेदारोपस्याङ्कसादृश्यरूपदोषमूलकत्वाद्दुपमात्रालङ्कारः ।

नन्वत्रोपमालङ्कारो नैवात आह—अत्र प्राधान्येनेत्यादि । व्यङ्ग्ये इति वाक्यव्यङ्ग्ये

इत्यर्थः । अलङ्कारे इति । सतीति शेषः । उपपादकस्येत्यस्य तस्येत्यादि । अत्रालङ्कार इति । तथा च तदुपस्कारकत्वमस्या स्पष्टमिति भावः । अद्यायमानमिति पदे समग्र वाक्यतः स भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते, यत्र चकोरकिशोरकर्तृकचञ्चुपुटचपलनान्यथानुपपत्त्या मुखे चन्द्राभेदारोपो भवति । स चारोपो न तावन् संदुः शक्नोति, यावन् ललाट-देशस्य कस्तूरीद्रवे, कलद्वाभेदारोपो न भवेत्, अतः सोऽप्यारोपो विधीयते । नन्वेवमङ्गाय मानमिन्यनेनाङ्गाभेद एव बोध्येत, तथा चात्रोपमाया अवसर एव नास्तीति चेन्न, अङ्गाभेदारोपस्याङ्गासादृश्यरूपदोषाऽमूलकतयाऽऽवश्यकस्य तत्सादृश्यस्यैवाङ्गायमान इत्यनेन बोधनात् सादृश्यस्यैव चोपमात्वात् । कस्तूरीद्रवेऽङ्गसादृश्यबोधः शब्दः, तस्मिन् तदभेद-बोधस्तु आर्य इति रहस्यम् । एवञ्च व्यङ्ग्यभ्रान्तिमदलङ्कारोपरकारकवमुपमाया स्पष्टमिति भावः ।

उपपादनं कराते है—अत्र प्राधान्येन इत्यादि । 'अङ्गायमान-' इत्यादि पद्य में सम्पूर्ण वाक्य से प्रधानरूप में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार अभिव्यक्त होता है अर्थात् मायिका के मुख को चकोर के चक्के चन्द्र समझते हैं, अत एव चन्द्रिकापान की कामना से वे बार बार अपने चाँचों को चञ्चल करते हैं, फलतः यह सिद्ध हुआ कि यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में चन्द्र का आरोप मुख में किया जाता है और इस आरोप का साधक है ललाटदेश में लगे कस्तूरीद्रव में कलङ्क के अभेद का आरोप और इस द्वितीय आरोप का मूल है कस्तूरीद्रव में रहने वाले अङ्ग (कलङ्क) के सादृश्यरूप दोष का ज्ञान । सादृश्य ही उपमा है, जो यहाँ 'अङ्गायमान' पद में 'क्यङ्' प्रारम्भ का धारण अर्थ है । तात्पर्य यह कि 'अङ्गायमान' पद से अङ्ग का अभेद बोधित नहीं होता, अपितु अङ्ग का सादृश्य ही, वीक्षे इस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अङ्ग का अभेद अर्थात् विदित होता है । यहाँ उपमा (सादृश्य), व्यङ्ग्य भ्रान्तिमान् अलङ्कार का उपस्कारक है—पोषक है, क्योंकि उस सादृश्य के ज्ञान से कस्तूरीद्रव में अङ्गाभेद का ज्ञान और इस अभेदज्ञान से मुख में चन्द्राभेदरूप भ्रान्तिमान् का ज्ञान होता है ।

तृतीयप्रकारोदाहरणं पूर्वालिखित स्मारयति—

रसोपस्कारिका तु 'दलदरविन्द—' इत्यत्र प्रागेवोदाहृता ।

उपमासामान्योदाहरणत्वेन प्रागुल्लिखितस्य 'गुरुजन' इत्यादिपद्यस्य 'दलदर-विन्दमुन्दरम्' इत्यंशे वर्तमाना समासगतोपमा सकलवाक्यार्थभूतस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य शोभिकेति भावः ।

तृतीय प्रकार के उदाहरण का—जो पहले ही लिखा जा चुका है—स्मरण कराते हैं—रसोपस्कारिका इत्यादि । 'गुरुजन' इत्यादि पद्य, पहले (सामान्य उपमा का उदाहरण दिखलाने के समय में) लिखा जा चुका है । उस पद्य के 'दलदरविन्दमुन्दरम्' अंश में जो उपमा है, वह रसोपस्कारिका कही जा सकती है, क्योंकि उस उपमा से उस पद्य का प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भशृङ्गार (रस) शोभित होता है ।

भेदपरिगणने न्यूनताग्रमं निराकुदते—

रसपदेनासलक्ष्यक्रमस्योपलक्षणाद्वाद्युपस्कारिकाप्यत्रैवान्तर्भाव्या ।

रस्यते = आस्थायते इति व्युत्पत्तियोगाच्च सास्त्रे प्रायोऽसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यपदमात्रे रस-पदप्रयोगे निगते, अत एव 'नाक्य रसात्मक काव्यमिति' विश्वनाथ, एवञ्च प्रहृते वस्त्व-लङ्काररमरूपाणाम्' इति परिगणनपरे वाक्याशे रसपदेन भावादीनां समूहोऽभ्योद । तेन भावाद्युपस्कारिका अपि उपमा सगृहीता एवेति न कापि न्यूनतेति भावः ।

यहाँ अलङ्कार्यमेद से जो उपमा के मेद किये गये हैं, उनमें रस की चर्चा है, पर भाव आदि की नहीं, अतः जो न्यूनता का भ्रम उत्पन्न हो सकता था, उसकी निवृत्ति के लिये लिखते हैं—रसपदेन इत्यादि । इस साहित्यशास्त्र में प्रायः सभी अलङ्कार्यक्रम व्यङ्ग्यों के लिये 'रस' पद प्रयुक्त होता है, क्योंकि 'रस्यसेवास्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जो आस्वादित हो उसे रस कहा जाता है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव आदि सभी अलङ्कार्यक्रम व्यङ्ग्य रस पद के अर्थ हो सकते हैं । इस स्थिति में यहाँ कोई न्यूनता नहीं दीख पड़नी अर्थात् भाव आदि को उपस्कृत करनेवाली उपमाओं का भी समावेश रसोपरकारिकाओं में हो जाता है ।

'भावाद्युपस्कारिका' इत्यत्रादिपदग्राह्यो- रसाभासभावाभासयोरुपस्कारिकाया उप-
भाया उदाहरणभूतं पूर्वोक्तपद्यङ्गं स्मारयति—

यथा—'नैवापयाति हृदयादधिदेवतेषु', 'वन्यकुरङ्गीव वेपते नितराम्' इत्या-
दिषु प्रागुदाहृतेषु ।

'नैवापयाति' इति पद्यम् भावाभासोदाहरणप्रदर्शनादसरे, 'वन्यकुरङ्गीव' इति च रसाभासोदाहरणप्रदर्शनकाले अद्यमानने संसृजितम् तर्जय इष्टव्यम् । तत्र प्रथम-
पद्यस्याधिदेवतोपमाऽनुवित्तया भावाभासरूपा गुरुकन्याविशेषिणी स्मृतिमुपस्करोति, एवं द्वितीयपद्यस्य बालकुरङ्गीव उपमा, रतेन वषष्वा मन्नागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासरूपं शृङ्गार-
रसमुपस्करोतीति भावः ।

'भावाद्युपस्कारिका' इस मूलोक्त पङ्क्ति के आदि पद से समहीत होनेवाले रसा-
भास तथा भावाभास का शोभित करनेवाली उपमाओं के उदाहरणभूत पूर्वोक्तित्व
हो पद्यखण्डों का स्मरण दिलाते हैं—यथा इत्यादि । 'नैवापयाति' इत्यादि पद्य
भावाभास के उदाहरण लिखते समय और 'वन्यकुरङ्गीव' इत्यादि पद्य रसाभास के
उदाहरण लिखते समय प्रथम आनन में विलताये गये हैं, अतः सम्पूर्ण पद्य वहीं देखे जा
सकते हैं । उन दोनों में से प्रथम पद्य की 'अधिदेवतेषु' यह उपमा, अनुचित होने के
कारण भावाभासरूप गुरुकन्याविषयक प्रधान स्मृतिभाव को सुशोभित करती है ।
इसी तरह द्वितीय पद्य की 'बालकुरङ्गीव' यह उपमा, नयवधू में रति की संख्या अत्यन्त-
मानता से अनुसमनिष्ठ (केवल नायकनिष्ठ) होने के कारण भावाभासरूप शृङ्गाररस को
सुशोभित करती है ।

चतुर्थं शृङ्गारमुदाहर्तुमाह—

वाच्यवस्तूपस्कारिका यथा—

व्याख्या तु प्राग्वत् ।

वाच्य पद्य को सुशोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिशते—

'अमृतद्रवमाधुरीमृतः सुखयन्ति श्वस्यी सखे गिरः ।

नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुखं तव ॥'

कथन रससत्ताय ब्रूते—हे सखे मित्र ! अमृतद्रवस्य पीयूषरसस्य, या माधुरी मधु-
रता, तत्तमाना या माधुरी, ता, विप्रति धारयन्तीति तादृशा, तव, गिरः बचनानि, मे,
ध्वसी श्रोत्रे, सुखयन्ति आनन्दयन्ति । सम्प्रति, शरदिन्दुप्रतिमं शरबन्धुवृत्तं, तव, मुखम्,
मे, नयने मेत्रे, अपि, शिशिरीकरोतु शीतलपत्र । सुखोपमत्वदीयबचनश्रवणेन कर्णो मम
तृप्तो, परन्तु शरबन्धुनिमम् तवाननं न पर्यदत्त एवातृप्तं मम नेत्रद्वयं तन्मुखविलोकनेन
दृष्टिभिलष्यतीति तदपि त्वया पूरणीयमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अमृतद्रव इत्यादि । एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है—हे सखे ! अमृतरस की मधुरता के समान मधुरता को धारण करनेवाले तेरे बदन मेरे कानों को सुखी कर रहे हैं, पर तेरे मुखदर्शन की व्यासी मेरी आँखें तरस ही रही हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि अरधन्द्र के तुल्य तेरा मुख मेरी आँखों को शीतल करे ।

उपपादयति—

अत्र नयनशिशिरीकरणरूपे वस्तुनि वाच्ये मुखस्य शरदिन्द्रूपमोपस्कारिका ।

अमृतद्रवेति पदे यद्यपि रसादिर्ध्वज्यो नास्ति, तथापि वाच्यार्थस्य चमत्कारित्वेन पण्डितराजकृतलक्षणानुसारेण काव्यत्वम् । तत्र चमत्कारजनक नयनशिशिरीकरणरूप वाच्यं वस्तु मुखोपमेयस्य शरच्चन्द्रोपमानिकोपमा शोभयतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में 'आँखों को शीतल करना' जो वाच्य वस्तु है, उसको मुख में दी गई अरधन्द्र की उपमा शोभित करती है—उप करता है ।

पद्यमभेदमुदाहर्तुमाह—

वाच्यालङ्कारोपस्कारिका यथा—

प्राग्वत् न्याय्येयम् ।

वाच्य अलङ्कार को शोभित करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘शिशिरेण यथा सरोरुहं दिवसेनामृतरश्मिमण्डलम् ।

न मनागपि तन्वि शोभते तव रोषेण तथेदमाननम् ॥’

नायकस्य नायकदूत्या वा नायिका प्रत्युक्तिः—सरोरुह कमलम्, यथा, शिशिरेण शिशिरर्तुना तदागमेनेति लक्ष्यार्थः, शैत्येन वा, ‘हेतोः स्तुतीया तथाप्रेऽपि’ अमृतरश्मि मण्डलम् चन्द्रमण्डलम्, यथा, दिवसेन दिनेन, मनागपि ईपदपि न, शोभते, तथा, हे तन्वि । इदम्, तव, आननम् सुखम् (आभि) रोषेण क्रोधेन, ईपदपि न शोभते । रोपाकुल तव सुखम्, शैत्यगलितम् कमलमिव, दिवसम्लानम् चन्द्रमण्डलमिव च, शोभा-विहीन भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शिशिरेण इत्यादि । नायक की अपवा उसकी दूती की नायिका के प्रति उक्ति है कि—जैसे शिशिर शत्रु के आगमन से कमल और दिन से चन्द्रमण्डल धोवा भी शोभित नहीं हो पाता, उसी प्रकार, तेरा यह मुख, रोष से धोवा भी शोभित नहीं होगा—ऐसा सुन्दर मुख क्रोध के कारण कीका-कीका सा दृष्टि-शीघ्र होता है ।

उपपादयति—

अत्र वाच्यस्य दीपकस्योपमोपस्कारिका ।

‘शिशिरेण’ इति पदेऽप्रस्तुतयो कमलचन्द्रमण्डलयो प्रस्तुतस्य मुखस्य च शोभागवरूपे एकस्मिन् धर्मोऽभिराम्यन्पादीपकालङ्कारो वाच्यः । स एव च प्रधान प्रकृत-पक्षस्य काव्यत्वनियामकः । यथातथापदनोप उपमालङ्कारस्य वाच्योऽपि तस्य दीपकस्य पोषक एवेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘शिशिरेण’ इत्यादि पद्य में अत्राकरणिज-कमल तथा चन्द्रमण्डल का और शारङ्गिक नायिकामुख का शोभित न होने रूप एक धर्म के साथ सारबन्ध वर्णित होने के कारण दीपकालङ्कार वाच्य है, अधिक चमत्कारी

होने के कारण वही प्रधान है—प्रकृत पद को काव्य सिद्ध करनेवाला है और 'यथा-तथा' पद से अवगत होनेवाला उपमालङ्कार वाच्य होकर भी न्यून चमत्कारी होने के कारण गौण है—उस दीपक का ही शोभाधातक है—पोषक है ।

ननु वस्तुलङ्कारगोरिव रसस्यापि वाच्यत्वेन षोढा वक्षुमुचितेयमत आह—

रसादिस्तु न वाच्य इति प्रागेवाभिहितम् ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनाभिगता रसरसागासभानभानाभासादयो व्यङ्ग्या एव भवन्ति न वाच्या इति पूर्वमुक्तम्, अतः पदार्थैव न षोढा इति भावः ।

रस आदि जो अलक्ष्यक्रम कहे जाते हैं—व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है, अतः अलङ्कार्यभेद से उपमा के पाँच ही भेद कहे गये, 'वाच्यरसोपस्कारिका' नामक छठा भेद नहीं ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

अथ कथमलङ्कारस्यालङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वमुच्यते । प्रधानस्यैवालङ्कार्यत्वादिति चेत् मैथम्, अलङ्कारस्योपमादेर्ध्वन्यमानतायां प्राधान्याद्रसादिवदलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे न कोऽपि तावदस्ति विरोधः । एवमेव मुख्यतया वाच्यतायामपि । यथा ह्यापणादौ विक्रीयमाणतायां कनकताटङ्कस्य रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वे तस्यैव च कामिनोर्कर्णालङ्कारतायां पुनः प्रधानान्तरसांनिध्यात्ताटङ्कस्य तद्वतरत्नानां च साक्षात्परम्परया च कर्णादिशोभोपस्कारकतया यथा तदलङ्कारत्वम्, एवमेव रसादिसान्निध्ये रूपकादेस्तदुपस्कारकस्यालङ्कारान्तरस्य च रसाद्यलङ्कारतेति ।

प्रधानस्यैवेति । अलङ्कारस्यप्रधानमेवेति भावः । वाच्यतायामपीन्यत्र न विरोध इत्युपपन्नः । दृष्टान्तविधयाऽऽह—यथा इत्यादि । प्रधानान्तरेति । प्रथमप्रधानतादृशान्वेषणाऽन्यस्य कामिनोर्कर्णरूपप्रधानस्येवार्थः । तदलङ्कारत्वम् कर्णालङ्कारत्वम् । रसाद्यलङ्कारतेति । रसादिरूपालङ्कार्यनिरूपितालङ्कारतेत्यर्थः । य प्रधान स अलङ्कार्यो भवति, यश्च गौणः स अलङ्कार इति वस्तुस्थितिः । तथा चोपमाया वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वमूलको भेदो न सम्भवति, उक्तयुक्तया वाच्यालङ्कारस्योपस्कार्यत्वासम्भवादिति शङ्का, यत्रोपमादिरलङ्कारो व्यङ्ग्यः, अत एव प्रधानरतत्र सोऽपि रसादिवन् अन्येनालङ्कारेणोपस्क्रियत इत्यत्र न कस्यापि विमतिः । एवञ्च यत्र वाच्योऽपि कश्चिदलङ्कार रसादिराहित्येन स्वयं काव्य जीवानुभूती सुख्यो भवेत् (यथा 'शिशिरेण ' इत्यादिपद्ये दीपकालङ्कार) तत्र, तस्य, मिलेन तदपेक्षयाऽप्यवमकारित्वाद् गुणीभूतेनालङ्कारेण, उपस्करणं सम्भवत्येव, विरोधाभावात् । रसव्यञ्जकत्वाच्च तु साक्षात् रसोपस्कारका ये अलङ्कारा ये वा रसोपस्कारकालङ्कारोपस्कारका अलङ्कारा ते सर्वेऽपि साक्षात्परम्परया वा रसोपस्कारका एव व्यवहियेरत् । रीतिरियं लौकिकालङ्कारदृष्टान्तसिद्धैव, विषयिणस्तकनक्षनिमित्तादलङ्कारे कर्णाद्यसन्निधानेन स्वयं प्रधानीभूते रत्नाद्यलङ्कारान्तरोपस्कार्यत्वव्यवहारस्य, कर्णगते पुनस्तस्मिन् सर्वप्रधानस्य कर्णस्येवोपस्कार्यत्वेन तयोर्द्वयोरप्यलङ्कारयोर्दोषस्कारकवमात्रव्यवहारस्य च दर्शनादिति भावः ।

यथा अलङ्कार भी अलङ्कार को शोभित करता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं—अथ इत्यादि । यदि कोई कहे कि यह पाँचवा भेद तो ठीक नहीं हुआ अर्थात् एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार से उपस्कृत—शोभित—नहीं हो सकता, क्योंकि उपस्कार्य—अलङ्कार्य—कोई प्रधान होता है और अलङ्कार तो स्वयं गौण होता है अतएव अलङ्कार कहलाता

है—दूसरे को शोभित करने वाला समझा जाता है, फिर वह अलङ्कार्य कैसे होगा ? तो इसका समाधान यह है कि जहाँ अलङ्कार—उपमा आदि—प्रधानरूप में ध्वनित होता रहता है, वहाँ वह उसी तरह दूसरे वाच्य अलङ्कारों से शोभित होने वाला माना जाता है, जिस तरह कोई रस आदि, यह सिद्धान्त सर्वमतसिद्ध है। फिर जहाँ—‘शिशिरेण’—इत्यादि तरह के वाक्यों में—अलङ्कार वाच्य होकर भी रस आदि प्रधानान्तर के न रहने के कारण स्वयं प्रधान है—चमत्कारी है अतएव वाच्य का प्राणभूत है, वहाँ वह भी रस आदि के समान अथवा ध्वनिभूत अलङ्कार के समान, अन्य अल्पचमत्कारी अतएव शौण अलङ्कार से शोभित होने का सौभाग्य क्यों नहीं प्राप्त कर सकता ? अवश्य कर सकता है। तात्पर्य यह कि प्रधानता ही तो अलङ्कार्यता का मूल है, फिर जहाँ रस आदि न हों और कोई वाच्य अलङ्कार ही अपने उज्ज्वल चमत्कार से पदावली को वाच्य कहलाने का सौभाग्य प्रदान करे, वहाँ तो उस अलङ्कार को ही मुख्यता की पगड़ी मिलेगी, अतः वैसी स्थिति में पोषकरूप में वर्णित यदि कोई दूसरा अलङ्कार रहेगा, तब उससे वह (प्रधान अलङ्कार) अलङ्कृत हो सकता है। हाँ, जहाँ रस आदि सर्वप्रधान की सत्ता रहेगी, वहाँ सभी अलङ्कार उसी को अलङ्कृत करेंगे—आपस में उन अलङ्कारों का अलङ्कारालङ्कारकभाव नहीं होगा। यह रीति लौकिक अलङ्कारों में भी देखी जाती है—जब सोने का बना ताटङ्क (कर्णाभरण) दुकान में बिकता रहता है, तब वही प्रधान रहता है, अतः उस काल में रत्न आदि दूसरे अलङ्कारों से वह शोभित होता है अर्थात् ताटङ्क अलङ्कार्य और रत्न आदि अलङ्कृत करने वाला समझा जाता है, पर जब वही ताटङ्क कामिनी के कानों में झूलता हुआ रहता है, तब वह प्रधान नहीं रह जाता—उस स्थिति में कामिनी के कान ही प्रधान हो जाते हैं, अतः ताटङ्क अलङ्कार्य नहीं कहलाता, ताटङ्क तथा रत्न आदि सभी कान के अलङ्कार कहे जाते हैं।

भेदाः सङ्ख्यन्ते—

एवं च प्राचां मते पञ्चविंशतिभेदायाः पुनः पञ्चविधतायां सप्तादशत्वं भेदाः। द्वात्रिंशद्भेदवादिनां तु षष्ठ्युत्तर शतम्।

एवं वेति। अलङ्कार्यभेदेनालङ्कारभेदस्वीकारे चेत्पर्यं। पूर्णाया पदं लुप्तामाधैरी-नविंशतिरिति ये पञ्चविंशतिभेदा उपमाया प्राचीनतमैरुपास्तेषां प्रत्येकस्य पुनरलङ्कार्य-भेदेनानुपदं पञ्चविधप्रतिपादने जाते साकल्येन पञ्चविंशत्यधिकशत भेदा उपमाया निष्प-द्यन्ते। मध्यकालिकैश्च कैश्चिदाचार्यैर्लुप्ताया एकोनविंशत्यधिका सप्त अन्येऽपि भेदा कथिताः। तन्मतानुसारं द्वात्रिंशद्भेदानां पुनः पञ्चविधत्वे षष्ठ्याधिकशतभेदा उपमाया जायन्त इति भावः।

भेदों का सङ्कलन किया जाता है—एवं च इत्यादि। इस प्रकार से जिन प्राचीनों के मत में पहले उपमा के पचीस भेद हुए थे, उनके मत में अब एक सौ पचीस भेद हो गये, क्योंकि पूर्वांक्त पचीस भेदों में से प्रत्येक के और पाँच पाँच भेद अब दिखाये गये हैं और जिन प्राचीनों के मत में पहले बत्तीस भेद हुए थे, उनके मत में अब प्रत्येक के पाँच पाँच हो जाने के कारण एक सौ साठ भेद हुए।

उपमाभेदान्तराणामपि समावना सूचयति—

इतश्चान्येऽपि प्रभेदाः कुराप्रोयधिपणै स्वयमुद्भावनीयाः।

इतः इति। उक्तेभ्यो भेदेभ्य उत्पद्यते। प्रभेदा इति। उपमाया इति भावः। कुरा-प्रोयधिपणैरिति। कुराप्रोया कुराप्रसवधिनी कुराप्रनुस्येति यावत् धिपणा बुद्धियेणा तैः त्रीक्ष्णबुद्धिभिरिति भावः। स्वयमिति। प्राचीनोक्तिसाहाय्यविरहेऽपि इति तात्पर्यम्, उद्भावनीया उक्ताः।

उपमा के जितने प्रमेय ऊपर विखलाये जा चुके हैं, उन सबों से भिन्न और और भेद भी हो सकते हैं, जिनका उक्त तीक्ष्णबुद्धियों को स्वयं कर लेना चाहिए।

स्वयमुद्भावनीयमेवेनोक्तान् उपमाया प्रमेदानं निर्दिदिषुः प्रथमम् समानधर्मवैलक्षण्य-मूलान् तान् निर्दिशति—

तत्र कचिदनुगाम्येव धर्मः । कचिच्च केवलं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्नः । कचिदुभयम् । कचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन कस्मिन्तं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावम् । कचिदसन्नप्युपचरितः । कचिच्च केवलशब्दात्मकः ।

तत्रेति । उद्भावनीयेषु भेदेष्वित्यर्थः । कचिदिति । कस्याननौपमायामित्यर्थः । एष-मन्नेऽपि । अनुगामोति । सकृन्निर्दिष्टोऽपि एकेन रूपेणोपमानोपमेययोर्द्वयोरेकानुगमनकर्ता इत्यर्थः । अत्रैवकारेण धर्मस्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वं व्यवस्थित्यते । धर्म-उपमानो-पमेयोभयमाधारणो गुणवित्यादिः । केवलमिति । अनुगामित्वरहितमित्यर्थः । बिम्ब-प्रति-बिम्बभावमिति । पृथग्निर्दिष्टत्वे सति वस्तुतो भिन्नत्वे च सति सादृश्यमूलकमभेद-मित्यर्थः । आपन्न इति । प्राप्त इत्यर्थः । अत्र 'धर्म' इत्यनुपज्यते । उभयमिति अनुगा-मित्यं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावं चेत्यर्थः । अत्र 'आपन्न' धर्म' इत्यस्यानुपज्ञो बोध्यः । अयं य नातिरिक्तो भेदः, अत एवामिमा 'तृतीयोऽपि त्रिविधः' इति 'पञ्चो धर्मः' इति बौद्धिः सहचछते । तस्यातिरिक्तभेदत्वे तु 'चतुर्थः' 'सप्तमः' इति बौद्धिः स्यात् । वस्तुप्रतिवस्तु-भावेनेति । एकावेऽपि आश्रयभेदप्रयुक्तभेदेनेत्यर्थः । कस्मिन्तम् मिश्रितम् । बिम्ब-प्रति-बिम्बभावमित्यस्यामे 'आपन्नो धर्म' इति पूर्वोक्तस्यानुपज्ञो वैद्यः । असन्नपीति । मिथ्या-भूतोऽपीत्यर्थः उपचरित आशेषितः । अत्रापि 'धर्म' इत्यस्यानुपज्ञः । केवलशब्दात्मक इति । गुणक्रियादिरूपो न किन्तु समानशब्दरूपः धर्म इत्यर्थः । एतेन पुनः पञ्चधोपमा विभज्येति बोद्धव्यम् ।

उद्भावनीय भेदों में से तब तक समानधर्म की विलक्षणता से होनेवाले भेदों का उपलेश स्वयं ग्रन्थकार करते हैं—तत्र इत्यादि । १—किसी किसी उपमा में समानधर्म केवल अनुगामी अर्थात् एक बार निर्दिष्ट होकर एक ही रूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में सहजित होनेवाला रहता है । २—किसी किसी उपमा में समान धर्म केवल बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होता है अर्थात् उपमान तथा उपमेय के धर्म वस्तुतः दो रहते हैं, अतः पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट भी रहते हैं, पर सादृश्यमूलक, उन दोनों धर्मों में अभेद माना गया रहता है अथवा बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न और अनुगामी दोनों एक साथ होते हैं । ३—किसी किसी उपमा में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से मिश्रित रहता है अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म के विशेषणरूप में एक ऐसा धर्म कहा रहता है जो वस्तुतः एक ही होता है पर उसका निर्देश भिन्न शब्दों के द्वारा दो आधार में दो बार किया गया होता है । ४—किसी उपमा में समानधर्म मिथ्या होकर भी आशेषित रहता है । ५—और किसी उपमा में समानधर्म केवल शब्दरूप होता है गुणक्रियादिरूप नहीं ।

तत्रानुगामिधर्मयुक्तानुपमागुदाहर्तुमाह—

तत्रागो यथा—

स्पष्टम् ।

उपमा के उन धर्ममूलक भेदों में पहला—अर्थात् अनुगामि धर्मवाला भेद जैसे—
उदाहरणं निर्दिश्यते—

'शरदिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दनः ।

वनस्रजा विभक्ति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः ॥'

शरदिन्दु शरत्कालीनधन्व (अत्र शर द्वयोपमेयं धुलिधूसरतादिदोषमुक्ताश-
सूचनद्वारा चन्द्रमसश्चन्द्रिकातिशयशालिन्वमावेवते तैर्न चाहादजननेऽप्याधिक्यं प्रतीयते,
तदुपमानत्ववर्णनेनोपमेये रघुनन्दनेऽपि तत्सूच्यते) इव, आहादस्य आनन्दविशेषस्य,
जनक सम्पादक, रघुनन्दन राघवो राम, वनसजा वनमालया आषादतललम्बिमालयेति
यावत् । इन्द्रचापेन विद्युता, सहित, अम्बुदो मेघ इव, विभाति रम विशेषेणाशोभत
इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शरदिन्दु इत्यादि । कवि का कथन है कि—शरत्काल
के चन्द्रमा के समान आनन्ददायक भगवान् रामचन्द्र वनमाला से इन्द्रधनुष (विद्युत)
से युक्त मेघ के समान शोभित हो रहे थे ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे सङ्गतिर्देशाल्लभोऽनुगामी ।

‘शरदिन्दु’ इति पद्यस्य पूर्वार्धभागे आहादजनकवरूपो धर्म ‘आहादजनक’
इति पदेनैकवारमेव निर्दिष्ट एकेनैव रूपेण उपमानोपमेययोश्चन्द्ररामचन्द्रयोरन्येतीति तस्या-
नुगामित्वम् बोध्यम् ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘शरदिन्दु’ इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध भाग में
‘आनन्दजनक’ इस शब्द के द्वारा ‘आनन्ददायकता’ धर्म एक ही बार उक्त होकर एक
रूप से ही उपमान और उपमेय-चन्द्र तथा रामचन्द्र-दोनों में अभिव्यक्त हो जाता है,
अतः यह धर्म अनुगामी कहा जाता है ।

द्वितीयभेदस्योदाहरणभूत पूर्वोक्तपद्य स्मारयति—

‘केवलविम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नः ‘कीमलातपशोणाभ-’ इत्यत्र बोध्यः ।

‘कीमलातप-’ इत्यादि पद्य पूर्वमुपमाप्रकरणप्रारम्भे समुल्लिखितम् । तत्र कीमला-
तपकुड्मालेपनयो रमशः सन्ध्याकालरूपमानयतिरूपोपमेयमात्रनिष्ठयो सादरयमूल-
‘कीमेदाध्यवसाय इति तस्य धर्मस्य विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नत्वम् इति भावः । अधिक
तत्रैव विवेचितं जिज्ञासुभिरवलोकनीयम् ।

‘केवल विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्म’ वाली उपमा का उदाहरण होता है ‘कीमलातप-’
इत्यादि(पूर्वोक्त) पद्य । यहाँ ‘कीमलातप’ केवल उपमान सन्ध्याकाल में रहने
वाला है और ‘कुड्मालेपन’ केवल उपमेय यति में रहने वाला, अतः उन दोनों में से,
एक भी उपमानोपमेय का साधारण धर्म होने योग्य यद्यपि नहीं है, तथापि समान होने
के कारण उन दोनों धर्मों में अभेद का आरोप कर लिया जाता है, जिससे उन दोनों
धर्मों को एक समझ कर उपमा की सिद्धि होती है । यह जिस धर्मों का आरोपित अभेद
ही विम्बप्रतिविम्बभाव है, वह बात पहले लिखी जा चुकी है ।

उपमेयविधर्मयुक्तानुपमा प्रकृत्यति—

द्वितीयार्धे तूभयम् ।

‘शरदिन्दु—’ इति पद्यस्योत्तरार्धभागेऽनुदोषगानिका रघुनन्दनोपमेयिका या उपमा
वर्तते, तत्र द्वौ धर्मौ साधारणौ—एक ‘विभाति स्म’ इति पदबोध्यो भानक्रियारूप, स
चानुगामी, सङ्गतिर्दिष्टत्वात् एकलुप्तोपमानोपमेययोरन्वितात्वाच्च, द्वितीय वनसजागिन्द्रचाप-
रूप, स च विम्ब प्रतिविम्बभावापन्न, वस्तुतो भिन्नत्वात् सादरयमूलरूपभेदाध्यवसाया-
च्चेति भावः । अत्र ‘द्वितीयार्धे’ इत्यस्य ‘कथावसन्नो याति इत्यादी’ इति टीका कुर्वाणो
नागेशो बोधितभाषी, तत्र द्वितीयोपमाया एवामावात् । या चैकोपमा तत्रास्ति, तस्या

धर्मस्य केवलविम्बप्रतिविम्बभावापन्नत्वस्य व्यपस्यापनात् अनुगामिधर्मस्य विरहात् इत्याकलनीयम् ।

जिस उपमा में साधारण धर्म अनुगामी तथा विम्बप्रतिविम्बभावापन्न दोनों तरह के होते हैं, उसका उदाहरण 'शरदिन्दु-' इत्यादि पद्य का ही उत्तरार्ध—'वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचाप इवाम्बुदः' होता है, क्योंकि यहाँ 'विभाति स्म' पदबोध्य शोभनक्रियारूप धर्म उक्त युक्ति से अनुगामी है और वनमाला तथा इन्द्रचापरूप धर्म उक्त रीति से है विम्बप्रतिविम्बभावापन्न ।

तृतीयो भेद पुनस्त्रिधा विभज्यते—

तृतीयोऽपि त्रिविधः—विशेषणमात्रयोग्यविशेष्यमात्रयोस्तद्युगलयोर्वा वस्तुप्रति-
वस्तुभावेन कारम्बितः ।

वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितविम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलको यो भेद उक्तस्तस्य पुनः
छयो भेदा सम्भवन्ति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणस्य त्रिधा सम्भवात् । तत्राहि—विशेषण-
मात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन कारम्बणम्, विशेष्यमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन कारम्बणम्,
विशेषणविशेष्योभयगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन कारम्बणम् । वस्तुप्रतिवस्तुभावपरिचयः प्रागेव
दत्तः, अग्रेऽप्युदाहरणेषु दीयतेति भावः ।

तृतीय भेद के पुनः तीन अवान्तर भेद करते हैं—तृतीयोऽपि इत्यादि । वस्तुप्रति-
वस्तुभाव से मिश्रित विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समान धर्म के भी तीन प्रकार हो सकते
हैं—एक केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, द्वितीय केवल विशेष्यों के
वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित और तृतीय विशेषण विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव
से मिश्रित ।

तेषु विशेषणमात्रगतवस्तुप्रतिवस्तुभावेन कारम्बणमुदाहर्तुमाह—

तत्राद्या यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरणं निरुच्यते—

'चलद्भृङ्गमिवाम्मोजमधीरनयनं' सुरम् ।

तदीयं यदि दृश्येत कामः कुद्वोऽस्तु किं ततः ॥'

चलन्तः सवरन्तो, भृङ्गा भ्रमरा, यव, तादृशम्, अम्मोजम् कमलम्, इव, अधीरे
चपले, नयने नेत्रे, यस्मिन्, तादृशं, तदीयं वर्णीयतायिकासम्बन्धि, सुरम्, यदि,
दृश्येत अवलोक्येत, (सम्भावनेयम्), तदा, कामः कामदेवः, कुद्वः कुपितः, अस्तु भवतु,
तात् तस्मात्तद्विषयः, किम् ? न किमपीति यावत् । अमद्भ्रमराम्मोजवतुल्यप्रेयसीमुल-
विलोकनौषधे वर्तमाने कामकोरोगो न दुस्त्याप्य इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—चलद्भृङ्ग इत्यादि । जिसके मध्यमार्ग में भ्रमर
सञ्चरण कर रहे हों, उस कमल के तुल्य चपल नेत्रों वाला उसका मुख यदि दृष्टिगोचर
होवे, तब कामदेव, क्रुद्ध होता रहे, उससे क्या ?

उपपादयति—

अत्र चलनाधीरत्वयोर्विशेषणयोर्वस्तुत एकरूपयोरपि शब्दद्वयेनोपादाना
द्वस्तुप्रतिवस्तुभावः । तद्विशेषणकयोश्च भृङ्गनयनयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । इति
तत्कारम्बितोऽयमुच्यते ।

‘चलदृष्ट-’ इति पद्येऽप्योज्यमुपमानम् मुखवोपमेयम्, तयोः साधारणधर्म पूर्वोक्त-
दिशा विम्बप्रतिविम्बभावापन्न चलदृष्टज्ञाधीरनयनत्वरूप, तत्र विशेषणीभूतयोश्चलना-
धीरत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः, वस्तुत एकरूपत्वेऽपि शब्दद्वयेनोत्प्रेक्षादिति विशेषणमात्र-
गतवस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बितविम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलकत्वमस्या उपमाया उपपद्यत
इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । यहाँ ‘चलन’ और ‘अधीरत्व’ ये दोनों विशेषण
वस्तुतः एकरूप हैं—अर्थात् इन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, तथापि उस एक ही
अर्थ का प्रतिपादन दो भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा किया गया है, अतः उनका वस्तुप्रति-
वस्तुभाव है और वे जिनके विशेषण हैं उन विशेषणों ‘अमर’ तथा ‘नेत्र’ का विम्बप्रति-
विम्बभाव है, क्योंकि वस्तुतः भिन्न होने पर भी समान होने के कारण उन्हें अभिन्न माना
गया है, अतः यह विम्बप्रतिविम्बभाव वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित कहलाता है ।

केवलविरोध्यगतवस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्बणमुदाहरणमाह—

तत्र द्वितीयो यथा—

स्पष्टम् ।

केवल विशेष्यों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलीलः,

लग्नः प्रियङ्गुलतयेव तत्स्तमालः ।

देहावसानसमये हृदये मदीये,

देवकास्तु भगवानरविन्दनामः ॥’

भक्त कामयते—प्रियङ्गुलतया तन्नामकमुवर्णवर्णलताविशेषेण लग्नः ससक्त तमालस्तद-
तमालानिधिरयामच्छबिबिडविशेषः, इव, जलधिकन्यकया लक्ष्म्या, सलीलम् सविलासम्,
आलिङ्गित आदिलष्टः, भगवान् अणिमाद्येश्वर्यशाली, अरविन्दनामो देव विष्णुदेवः, देहा-
वसानसमये मृत्युकाले, मदीये हृदये च वास्तु भासतामित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्वृत्त करते हैं—आलिङ्गित इति । किसी भक्त की अभिलाषा है—
प्रियङ्गुलता से सटे हुए तमालवृक्ष के समान, लक्ष्मी से लीलापूर्वक आलिङ्गित भगवान्
पद्मनाभ देव (विष्णु) भक्तसमय में मेरे हृदय में भासित हों ।

उपपादयति—

अत्रालिङ्गितत्वलाभत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावः । तद्विशेष्यकयोश्च जलधिकन्या-
प्रियङ्गुलतयोर्विम्ब प्रतिविम्बभावः । इत्ययमपि तत्करम्बित एव ।

‘आलिङ्गित—’ इति श्लोके प्रियङ्गुलतालग्नतमालस्तद- जलधिकन्यालिङ्गितविशुद्ध-
स्वोपमेयस्योपमानम्, तत्रालिङ्गितलग्नपदार्थयोर्विशेषणविधया वर्णितो जलधिकन्याप्रियङ्गुल-
तापदार्थो सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायशालितया विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नो साधारणधर्मतया
व्यवस्थितो विशेष्यभूतालिङ्गितत्वलाभत्वे च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने एकस्यैव वस्तुन शब्द-
भेदेनाश्रयभेदेन च प्रतिपादनादिति सिद्ध विम्बप्रतिविम्बभावस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावेन
करम्बणम् इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रालिङ्गितत्व इत्यादि । ‘आलिङ्गित —’ इस पद्य में ‘आलिङ्गित
होना’ और ‘सटना’ ये जो विशेष्यभूत पदार्थ हैं, वे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि
वास्तविकरूप में वे दोनों एक ही चीज हैं, केवल भिन्न-भिन्न आश्रय में रहने के कारण

और भिन्न-भिन्न शब्दों से उक्त होने के कारण भिन्न से प्रतीत होते हैं। और उन विशेष्यों के विशेषणरूप में वर्णित जलधिक्यत्वा (लघुमी) तथा प्रियद्गुलता में विम्बप्रतिविम्बभाव है, क्योंकि ये दो वस्तुतः दो हैं किन्तु समानता के कारण आरोपित अभेद को स्केर एक समझे जाते हैं। अतः यहाँ का विम्बप्रतिविम्बभाव भी वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित है।

तृतीयभेदस्य तृतीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

तत्र तृतीयो यथा—

स्पष्टम् ।

विशेषण-विशेष्य दोनों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘दशाननेन दृष्टेन नीयमाना बभौ सती ।

द्विरदेन मदन्धेन कृष्यमाणेय पद्मिनी ॥’

कविर्दिष्टि—इतेन गर्विणा, दशाननेन रावणेन, नीयमाना अपहियमाणा, सती पतिप्रता सीता, मदन्धेन मदमत्तेन, द्विरदेन गजेन, कृष्यमाणा नीयमाना, पद्मिनी कमलिनी इव बभौ शुशुभे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—दशाननेन इत्यादि। कवि की उक्ति है—दृष्ट—गर्वीले दशानन—रावण से अपहृत की जाती हुई सती सीता, मदमत्त हाथी से खींची जाती हुई कमलिनी सी, शोभित हुई।

उपपादयति—

अत्र विशेषणयोर्हस्तत्वमदान्धत्वयोर्विशेष्ययोश्च नीयमानत्वकृष्यमाणत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तुभावेनोभयतः सम्पुटितो दशाननद्विरदयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । इत्ययमपि तत्करन्वितः ।

‘दशाननेने’ति पद्ये मदन्धद्विरदकर्तृकर्मणकर्मभूता कमलिनी उपमानम्, दशदशाननकर्तृकतयनकर्मभूता सीता चोपमेया । तत्र सादरयमूलकाभेदाभावसावनिशिष्टौ द्विरददशाननौ विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नौ साधारणधर्मता गाह्य, तयोर्विशेषणभूते हस्तत्वमदान्धत्वे, विशेष्यभूते नीयमानत्वकृष्यमाणत्वे च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नानि, एकत्वेऽपि पृथग्निर्दिष्टत्वादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘दशाननेन—’ इस पद्य में ‘दशाना’ और ‘मद-मत्तता’ ये दोनों विशेषण, वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि ये दोनों पदार्थ वस्तुतः दो नहीं हैं एक हैं, पर भिन्न भिन्न आशय में रहने के कारण और भिन्न-भिन्न शब्दों से अभिविह होने के कारण भिन्न जैसे प्रतीत होते हैं। इसी तरह ‘नीयमाना’ अर्थात् अपहृत की जाती हुई और ‘कृष्यमाणा’ अर्थात् खींची जाती हुई ये दोनों विशेष्य भी वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, क्योंकि ये दोनों भी आशय तथा शब्दभेद के कारण ही भिन्न हैं अन्यथा एक ही हैं। और इन दोनों वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न पदार्थ के मध्य में है विम्बप्रतिविम्बभावापन्न ‘दशानन तथा द्विरद’, ये विम्बप्रतिविम्बभावापन्न इसलिये हैं कि वस्तुतः दो पदार्थ हैं, पर सादरयमूलक अभेद का आरोप हो जाने से एक समझे जाते हैं, अतः यह विम्बप्रतिविम्बभाव, दोनों तरफ से वस्तुप्रतिवस्तुभाव द्वारा सम्पुटित कहा जाता है ।

साधारणधर्मवैविध्यमूलका उपमायाः पद्य भेदा परिगणिता, इदानीं तस्यास्तन्मूलक एवावधिप्रस्तः पद्यो भेद उच्यते—

‘विमल वेदन तस्या निष्कलङ्कमुगाङ्कति’ इत्यत्र वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तुतः

एकरूपयोर्विम्बप्रतिविम्बभावनिर्मुक्तं वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नयोरुपमानिष्पाद-
कत्वं यद्यस्ति तदा शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभावमापन्नोऽप्येष पटो धर्मः ।

निर्मल तच्चायिकाननम् निर्मलचन्द्रचदानरतीत्यर्थके 'विमलम्—' इत्यादिमूलोक्त-
काव्यवाक्ये उपमालङ्कारोऽस्ति, तत्र च वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयो साधारणधर्मता स्वीकार्या,
तयोश्च धर्मयोर्न विम्बप्रतिविम्बभावः, वस्तुतो भिन्नत्वाभावात्, अपि तु वस्तुप्रतिवस्तुभाव-
एव, वस्तुत एतत्पि शब्दाप्रययोरभेदेन भेदात् पुन सादृश्यमूलकभेदाच्च । तथा च विम्ब-
प्रतिविम्बभावग्रन्थशुद्धवस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नोऽपि साधारणधर्मो भवतीति सिद्धम् । तादृशश्च
धर्म उक्तपञ्चविधभेदेभ्यो भिन्न इति पटो भेदस्तन्मूलकधर्मोपमाया अप्येकोऽधिको भेदो
भवेदिति भावः । परमेश्वरधर्मस्योपमाप्रयोजक्य युक्तं न वेति मतभेदप्रस्तावतो मूले
'यद्यस्ति' इति यदिपद प्रयुक्तं ग्रन्थकृता तेनेत्यधर्मस्योपमाप्रयोजक्येऽपि सूच्यते,
तद्विज्ञाह नागेश स्वष्टीकायाम्— "एकोऽप्यर्थो भिन्नशब्देनोपातो भिन्न इव प्रतीयते ।
अत एव 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च' इत्यादौ 'रक्त एवास्तमेति च' इति
पाठे दुष्टमेति प्राञ्च । प्रकृते सबन्धिभेदादपि भेदप्रत्ययस्तयो । भिन्नरूपेण प्रतीयमानस्य
च न साधारणता । साधारणीकरणस्य च न कश्चिदुपायः विना विम्बप्रतिविम्बभावापन्नैकधर्म-
सम्बन्धित्वम् । तथा च शब्दाङ्गेदेन प्रत्यये, सम्बन्धिभेदाच्च भेदप्रत्यये, विम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्नैकधर्मसम्बन्धित्वेन तयोर्भेदाध्यवसाये साधारणत्वमस्येति कथं शुद्धस्योपमानिष्पा-
दकत्वम् । अत एव प्राञ्च विम्बप्रतिविम्बभावकरमिव एवायमित्याहुरिति" इति ।

साधारण धर्म की विविधरूपता के कारण अभी-अभी उपमा के पाँच भेद गिनाये गए
हैं, अब पुन साधारण धर्म की ही एक सास विलक्षणता के कारण छठा भेद भी उपमा
का दिखलाते हैं—विमलम् इत्यादि । 'विमलम्—इत्यादि अर्थात् उस नाविका का
निर्मल मुख कलङ्कारहित चन्द्रमा के समान आचरण करता है ।' यहाँ 'निर्मलता और
निष्कलङ्कता' में वस्तुत कोई भेद नहीं है—एक है, पर शब्दभेद तथा आश्रयभेद के
कारण भिन्न सा मानकर पीछे उन दोनों में सादृश्यमूलक अभेद मानते हैं, अतः यह
वस्तुप्रतिवस्तुभाव हुआ, विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं, क्योंकि वह वस्तुत भिन्न पदार्थों में
सादृश्यमूलक अभेद मानने पर होता है । ऐसी स्थिति में यदि इस तरह के विम्बप्रति-
विम्बभाव से रहित शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म को भी उपमा का साधक माना
जाय, तब यह साधारण धर्म का छठा प्रकार होगा । परन्तु यहाँ 'यदि माना जाए' ऐसा
कहकर ग्रन्थकार इस तरह के धर्म को उपमासाधक मानने में अपनी अरुचि सूचित
करते हैं । इसका कारण, नागेशचन्द्र ने अपनी टीका में स्पष्ट किया है, जिसका आशय
यह है कि—भिन्न भिन्न शब्दों से कहा गया एक अर्थ भी भिन्न सा प्रतीत होता
है । अतएव 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च—अर्थात् सूर्य ताम्रवर्ण (लाल)
उदित होता है और ताम्रवर्ण ही अस्त होता है' यहाँ द्वितीय वाक्य यदि 'रक्त एवास्त-
मेति च' ऐसा फट दिया जाय, तब दोष हो जाने की बात प्राचीनों ने लिखी है । और
प्रस्तुत स्थल में तो निर्मलत्व तथा निष्कलङ्कत्व धर्म के सम्बन्धी मुख तथा चन्द्र भी
भिन्न हैं, इस कारण भी उन दोनों में भेद माना जाना चाहिये । अतः इस तरह से भिन्न
रूप में प्रतीत होने वाले धर्म को तब तक साधारण नहीं माना जा सकता, जब तक
किसी विम्बप्रतिविम्बभावापन्न एक धर्म से उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जायगा । अतः
यह सिद्ध हुआ कि—वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म, शब्दभेद और सम्बन्धी—आश्रय—भेद
के कारण भिन्न ही प्रतीत होते हैं । ऐसी दशा में केवल वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न धर्म को
उपमा का साधक कैसे माना जा सकता है ? अतएव प्राचीनों का कथन है कि वस्तुप्रति-
वस्तुभाव, विम्बप्रतिविम्बभाव से मिश्रित ही रहता है ।

‘विमलं वदनम्—’ इत्यादौ वस्तुप्रतिवस्तुभाववाङ्मीकारस्यावश्यकता न आसीत्याशङ्क्य समाधत्ते—

न च ‘कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः’ इत्यादौ यतिसन्ध्याकालयो-
रुपमायां धर्मान्तरस्थानवगमात् कुङ्कुमालेपकपायवसनयोः कोमलातपशोणाभ्र-
योश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथावश्यकमभ्युपेयः, प्रकृते तु न तथा वस्तुप्रतिवस्तु-
भावः । वदनमृगाङ्गयोः सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मस्य प्रतीयमानत्वेन धर्मान्तरान-
पेक्षणादिति वाच्यम् । एवं तर्हि ‘यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तदाश्रुतवृन्तशत-
पञ्चनिभ वहन्त्या’ इति भवभूतिपद्येऽपि प्रतीयमानेन सौन्दर्येणैव सामान्येन
निर्वाहे कन्धरावृन्तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य बलितत्वावृत्तत्वयोर्धस्तुप्रतिवस्तु-
भावस्य च सकसैरालङ्कारिकैः स्वीकारो विरुद्धः स्यात् । अतो यथास्थित-
मेव साधु ।

उपमाभिद्धौ समपेक्षितस्यान्यथाऽसम्पन्नमानस्य साधारणधर्मस्य सिद्धयर्थम् द्वयोर्धर्म-
योर्बिम्बप्रतिबिम्बभावो वस्तुप्रतिवस्तुभावो वा कल्प्यत इति वस्तुस्थितिः । एषञ्च ‘कोम-
लातप—’ इत्यादि प्रागुदाहृतो पद्ये निबध्यमानाया यन्त्रुपमेयिकाया सन्ध्याकालोरुमानिका-
यानुपमायाम् कौऽप्यपरः साधारणधर्मो न स्फुरतीत्यगत्वोपमेयवृत्तिङ्कुमालेपादेरुपमान-
सिद्धौ कोमलातपादेव बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमाधित्य साधारणत्व कल्प्यते । ‘विमलं वदनम्—’
इत्यादि प्रकृतकाव्ये तु वदनचन्द्रयोरुपमायाः साधकः सौन्दर्यरूपः साधारणधर्मः श्रुत्वाऽपि
प्रसिद्धतया प्रतीतिपद्यमवतरतीति धर्मान्तरस्यापेक्षैव नास्ति । सौन्दर्यस्य साधारणधर्मत्वेना
ह्रीकारे लुप्तोपमात्वं स्यात् परन्तु तावता काऽपि हानिर्नास्तीति वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तु-
प्रतिवस्तुभावकल्पना आवश्यकी, तथा च तन्मूलको भेदोऽसंगत इति शङ्काया इदं समाधानं
यत् ‘भुग्नवृन्तविशिष्टातदलवमलुत्य वार वार भुग्नशिरोध्रिं मुखं धारयन्त्या वारं
वारं परावृत्य पश्यन्त्येति यावत्, वरुणन्त्या पद्ममलयकया मालत्या, मम हृदये, पीयूष-
गरलाभ्या व्याप्तः कटाक्षः गाढ निस्त्रात इव’ इत्यर्थके मालतीप्रथमदर्शनानन्तरं माधवेन
इवमुद्ददं मकरन्दं प्रति कथिते ‘यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तदाश्रुतवृन्तशतपञ्चनिभ
वहन्त्या । दिग्धोऽमृतेन च विप्रेन च पद्ममलाक्ष्या, गाढ निस्त्रात इव मे हृदये कटाक्षः’
इति भवभूतिपद्ये इतः प्रतीतिपद्यमुपेयुया सौन्दर्यरूपसाधारणधर्मणोपमाया निद्विसम्भ-
वेऽपि कन्धरावृत्तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः बलितत्वावृत्तत्वयोः वस्तुप्रतिवस्तुभावश्च कल्प्यते,
‘तथा प्रकृतेऽपि सौन्दर्यस्य साधारणधर्मतासम्भवेऽपि वैमल्यनिष्कलङ्कत्वयोर्वस्तुप्रतिवस्तु-
भावः कल्पनीय एव । इदमत्र रहस्यम्—यदि सौन्दर्यादेः साधारणत्वं कविबिचशितमभवि-
ष्यत्, तदा वैमल्यादेरुपादानं विष्ययोजनमापत्स्यत्, अतो वस्तुप्रतिवस्तुभावो बिम्बप्रति-
बिम्बभावो वा यथासम्भवमेतादृशस्थले कवेरभिमतो भूष्यते, अत एव चमत्कारोऽप्यति-
शयितो भवति, अन्यथा तु स मन्यर एव स्यादिति भावः ।

‘विमलम्—’ इत्यादि पद्य में वस्तुप्रतिवस्तुभाव की आवश्यकता ही नहीं है इस
आशंका का उपपादन तथा समाधान करते हैं—न च इत्यादि । आप कहेंगे—उपमा
की सिद्धि के लिये किसी साधारण धर्म का प्रतीयमान होना आवश्यक है, अतः जहाँ
किसी साधारण धर्म की स्वभावता प्रतीति नहीं होती, वहाँ उपमान और उपमेय में
रहने वाले भिन्न भिन्न धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव अथवा वस्तुप्रतिवस्तुभाव कल्पित
होता है, जिससे वह साधारण बन जाता है यही तो वस्तुस्थिति है, अतः ‘कोमलातप—’
इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में यति और सन्ध्याकाल की उपमा को सिद्ध करने के लिये

कुङ्कुमलेप आदि और कोमल भातप आदि के विम्बप्रतिविम्बभाव की कल्पना भले ही आवश्यक समझी जाय, क्योंकि वहाँ किसी साधारण धर्म की स्वभावतः प्रतीति नहीं होती, परन्तु 'विमलं वदनम्—' इत्यादि स्थल में विमलता तथा निष्कलङ्कता के वस्तुप्रतिवस्तुभाव की कल्पना आवश्यक नहीं समझी जानी चाहिए, क्योंकि यहाँ उपमान चन्द्र और उपमेय मुख दोनों में रहने वाले परमप्रसिद्ध सौन्दर्यरूप स्वाभाविक साधारण धर्म की प्रतीति कहे बिना भी हो रही है, उसीको लेकर उपमा सिद्ध हो जायगी। किन्तु यह कथन आपका समुचित नहीं, कारण, यदि ऐसी बात हो, तब 'यान्वा मुहुः—इत्यादि (सम्पूर्ण पद्य सस्कृत टीका में देखना चाहिए)—अर्थात् मुझे डंठल वाले कमल के तुल्य बार बार तिरछी गरदन वाले मुख को धारण करती हुई—बार बार लौटकर देखती हुई—उस सघन पद्मवाले नयनों से युक्त नायिका (मालती) ने, जाते हुए, अमृत और विष दोनों से सना हुआ एक कटाव, कसकर, मेरे हृदय में मार-झा दिया' इस, मालती के प्रथम दर्शन के बाद भावव्यक्त के द्वारा अपने मित्र सकरन्ध के प्रति कहे गए भवभूतिरचित पद्य में कमलमुख के साधारण सौन्दर्य से ही उपमा की सिद्धि हो सकती थी, फिर जो सभी आलङ्कारिकों ने वहाँ 'गरदन' और 'वृन्त' में विम्बप्रतिविम्बभाव तथा 'मुकुने' और 'तिरछे होने' में वस्तुप्रतिवस्तुभाव माना है—यह विशुद्ध हो जायगा, क्योंकि आपके हिसाब से वहाँ भी देसा मानने की आवश्यकता नहीं थी। अतः जैसा मैंने माना है, वही ठीक है—अर्थात् 'विमल वदनम्—' में विमलता और निष्कलङ्कता के शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव अथवा विम्ब-प्रतिविम्बभाव से मिश्रित वस्तु-प्रतिवस्तुभाव की कल्पना करनी ही चाहिए। तात्पर्य यह कि—देसे स्थलों में सौन्दर्य भावि प्रसिद्ध धर्म की साधारण मानकर उपमा बँधने पर कोई खास धमस्कार नहीं हो सकता—पुरानी कल्पना को दुहराने में कोई आनन्द नहीं आता, इसलिये ही कवि ने विमल और निष्कलङ्क तथा तिरछी गरदन और डंठल का पद्य में धर्णन किया है, अन्यथा उसकी आवश्यकता ही क्या थी ?

चतुर्थ मेदसुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

यस्यामुपमाया साधारणधर्म उपचरित (आरोपित) भवति, सोपमा प्रदर्श्यते इति भावः ।

उपचरित—अर्थात्—आरोपित समान धर्म वाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहं तस्याः सुधैकमयमूर्तेः ।

येनाकारिणि मित्रं स विकलहृदयो विधिर्वाच्यः ॥'

यैन विधाता, शतकोटिवत् वज्रवत्, कठिन कटोर, चित्त मन, तस्य तादृश' म सीतानिर्वासनादिविविधानर्त्यकारी, अहं रामचन्द्र, सुधैकमयमूर्ते केवलामृतनिर्मिताऽयथा, तस्या सीताया, मित्र पतिरिति यावत्, अकारिणि (कृधातो कर्मणि लुटि उत्तम-पुरुषैवचने रूपम्) कृत इति तदर्थः, स, विकलहृदयः, हृदयहीन, सति हृदये नैतादृश कुत्रादिति भावः, विधि विधाता, वाच्य निन्दनीय । सीतानिर्वासनकर्मणा मम निन्दा नोचिता, अपि तु सर्वज्ञताभासकतयाऽपि मादुर्येन कटोरचेतसा सह ता योजयते । विधेरेव ता योग्येत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—शतकोटि इत्यादि । जिस विधाता ने, वज्र के समान कटोर चित्तवाले उस मुक्तको केवल अमृत से बनी हुई मूर्ति वाली उस (सीता) का मित्र (पति) बना दिया, उस हृदयहीन विधाता की निन्दा होनी चाहिए । अर्थात्

सीतापरित्याग से छोग जो मुझे कलङ्कित करते हैं, वह उचित नहीं, निन्दा तो होनी चाहिए उस विधाता की, जिसने जान बूझकर इस तरह का अनभेद सम्बन्ध कराया ।

प्रकरण बोध्यते—

एषा सीतां विवासितवतः स्वात्मगता रामस्योक्तिः ।

शतकोटीति गार्ग्यः जनापनादभयेन प्राणेष्वोऽपि त्रिधां सीतां निवासितवतो राम-
चन्द्रस्य मनोवाक्यरूप इति भावः ।

प्रसङ्ग वतलाया जाता है—एषा इत्यादि । ‘शतकोटि-’ यह पद्य उन रामचन्द्र की स्वगत उक्ति है, जो सीता को वन में निकाल चुके थे ।

उपपादयति—

अत्र काठिन्यं पार्थिवो धर्मश्रिते उपचरितः ।

शतकोटीति रत्नोके शतकोटिचित्तोत्पन्नाया साधारणधर्मतया निविष्टं काठिन्यम् वस्तुतो न साधारणम्, पृथिवीवर्तिनस्तस्य धर्मस्य पृथिवीविकारभूते शतकोटी सत्त्वसम्भवेऽपि भ्रमूर्ते चित्ते सत्त्वासम्भवात्, तथापि आरोपेण तस्य चित्तश्रुतिता स्वीक्रियत इति तथैव उपचरितं बध्यते ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘शतकोटि-’ इस पद्य में ब्रह्म और चित्त की जो उपमा है, उसमें साधारण धर्म होता है ‘कठिन्ता’, पर वह वस्तुतः चित्त में है नहीं, क्योंकि ‘कठिन्ता’ एक प्रकार का पृथिवीधर्म है, अतः पृथिवी के विकारभूत ब्रह्म में रह सकता है, असूत चित्त में नहीं, अतएव चित्त में वह आरोपित होकर ही रहेगा ।

पञ्चमं प्रमेदमुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

उपमाया यस्मिन् प्रकारे साधारणधर्म केवलशब्दात्मको भवति, त प्रकार, प्रकाशयत इति भावः ।

केवल शब्दरूप समान धर्म को लेकर होनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरणं विद्विष्यते—

‘यत्र वसन्ति सुमनसि मनुजपशौ च शीलवन्तः सर्वत्र समाना मन्त्रिणो मुनय इव ।’

यत्र राज्ये, शीलवन्तः सदाचारिणो, मन्त्रिण सचिवा, सुमनसि पण्डिते, मनुज-पशौ महामूर्खे, च सर्वत्र, समाना एकत्र समानादरकारिण, अपरत्र समदृष्टे, अन एव मुनय, इव, वसन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यत्र इत्यादि । किसी राज्य का वर्णन है कि—जहाँ सदाचारी सचिव लोग मुनियों के समान रहते हैं क्योंकि वे विद्वान् और महामूर्खों में समान हैं अर्थात् मुनि सब में समदृष्टि हैं और मन्त्री सब में समान आदर करने वाले हैं ।

उपपादयति—

अत्रोपमानोपमेयगतस्यार्थस्यैकस्याभावाच्छब्द एव धर्मः ।

‘यत्र वसन्ति-’ इत्यादि काव्ये मुनिमन्त्रिणोरुपमाया न कश्चिदार्थिक साधारणधर्म, धर्मवाचकतयोपात्तस्य ‘समान’पदस्य उपमानोपमेययोर्मित्यर्थत्वात्, तथा च स शब्द एवोभयत्र स्वनिर्वाचकान्निर्दिष्टताव्यतासम्बन्धेन विशेषणीयत्वं समानधर्मरूपता प्रति-पद्यत इति भावः ।

‘उपपादन करते हैं—अत्रोपमानोप इत्यादि । ‘यत्र वसन्ति—’ इस काव्य में मुनि और मन्त्री की जो उपमा है, उसमें कोई ऐसा अर्थरूप साधारण धर्म नहीं, जो उपमान तथा उपमेय दोनों में रहनेवाला हो । तात्पर्य यह कि साधारणधर्म का बोधक पद है यहाँ ‘समाना’, पर इस पद का मुनि और मन्त्री पक्ष में एक अर्थ नहीं होता, अतः यह मानना चाहिए कि—वह शब्द ही यहाँ साधारणधर्मरूप है । इसी उपमा को अन्यत्र शान्दी उपमा कहा गया है ।

धर्मवैचित्र्यमूलकभेदान्तराणामपि सम्भावना प्रकटयति—

एवमेतेषां धर्माणां व्यामिश्रणं च सम्भवति ।

पूर्वोक्तानां पक्षविधानां साधारणधर्माणां परस्परमङ्गुरोऽपि भवितुमर्हति । तथा च तत्प्रयुक्तोपमाप्रभेदसंख्याऽपि भूयो वर्धतेति भावः ।

धर्म की विविधरूपता के कारण होनेवाले उपमाप्रभेदों में और अधिक भेदों की संभावना करते हैं—एवमेतेषामित्यादि । जिस तरह शुद्धरूप से साधारण धर्म के पाँच भेद किए गये हैं, उसी तरह परस्पर मिश्रण से उनके और अधिक भेद किए जा सकते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि उक्त पक्षविध धर्मों के मिश्रण से उपमा के धर्ममूलक भेद और अधिक बढ़ सकते हैं ।

धर्ममिश्रणप्रयुक्तसम्भावितोपमाप्रभेदोदाहरणं प्रतिज्ञापुरस्सर निर्दिश्यते—

यथा—

‘श्यामलेनाङ्कितं भाले बाले केनापि लक्ष्मणा ।

सुरां तवान्तरा सुप्रभृद्गुल्लाम्बुजायते ॥’

नायक कथयति—अयि बाले ! केनापि, श्यामलेन श्यामवर्णेन, लक्ष्मणा चिह्नेन कस्तूरीतिलकादिनेति यावत्, भाले ललाटे अङ्कित चिह्नित, तव, सुखम्, अन्तरा मध्ये, सुरा निश्चकताया स्थिता, शृङ्गा भ्रमरा, यत्र, तादृशं, यत्, कुल्ल विकसितम्, अम्बुजं कमल, तदिव, आचरतीत्यर्थः ।

धर्ममिश्रण का उदाहरण दिएलाते हैं—यथा इत्यादि । जैसे—श्यामलेन इत्यादि अर्थात्—हे बालिके ! किसी काले चिह्न (कस्तूरी-तिलक आदि) से कपाल पर चिह्नित तेरा मुख, जिसके मध्य में अमर सोए हुए हों ऐसे विकसित कमल के समान आचरण करता है ।

उपपादयति—

अत्र भालगाताङ्कप्रसुप्रभृद्वी विम्बप्रतिविम्बभावमापन्नो क्यङ्कर्षे आचारेऽनुगामिन्यभेदमापद्य स्थितौ ।

‘श्यामलेन—’ इति पक्षेऽम्बुजमुत्सयोरुपमोपनिषदा, तव ‘अम्बुजायते’ इति प्रयोग-षट्कवयङ्प्रत्ययार्थ आचार उपमाने अम्बुजे उपमेये मुखे चैकरूपेणाधीयमानोऽनुगामी साधारणधर्मः । मुखस्याम्बुजवदाचरणं च विम्बप्रतिविम्बभावापन्नयो—सादृश्यबलारोपिता-भेदयो—भालगाताङ्गान्तरासुप्रभृद्वयो सम्बन्धित्वासादनमेव । एवञ्चात्र विम्बप्रतिविम्ब-भावापन्नस्यानुगामिनश्च धर्मस्य मिश्रणं जातमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘श्यामलेन—’ इस पक्ष में कमल तथा सुरा की उपमा वर्णित हुई है, उसमें ‘ललाटे तव काला चिह्न’ और ‘मध्ये में सोए हुए अमर’ ये दोनों विम्बप्रतिविम्बभावापन्न हैं, और वे ‘अम्बुजायते’ पद में जो ‘वयङ्’ प्रत्यय है उसके अर्थ आचाररूप अनुगामी धर्म से अभिन्न होकर स्थित हैं । अभिप्राय यह कि कमल और सुरा की उपमा में आचरण एकरूप से उपमानोपमेय में अन्वित होने के

कारण अनुगामी धर्म है और मुख का कमल के समान आचरण, यहाँ, बिम्बप्रतिबिम्ब-
भावापन्न (सादर्यमूलक अभेद से युक्त) ललाटगत, चिह्न और मण्यसुप्त मृत्त से सम्बन्ध
रखना ही है अतः यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न तथा अनुगामी धर्मों का मिश्रण है ।

तथाविधमुदाहरणान्तरमपि दर्शयति—

यथा या—

‘सिन्दूरारुणवपुषो देवस्य रदाङ्कुरो गणाधिपतेः ।

सन्ध्याशोणाम्बरगतनवेन्दुलोसादितः पातु ॥’

सिन्दूरेण रक्तद्रव्यविशेषेण, अरुणं रक्तं, वपुः शरीरं, यस्य, तस्य, गणाधिपतेः गणै-
शस्य, देवस्य, सन्ध्यायां सायंकालस्य, शोणे रक्ते, चम्बरे आकाशे, गता स्थिता, या,
नवस्य नूतनरय, इन्दो चन्द्रस्य, लेखा कला, सा इव आचरितः, रदाङ्कुरः दन्ताङ्कुरः,
पातु रक्षतु, युष्मान् अस्मान् वेति शेष इत्यर्थः ।

अथवा जैसे—सिन्दूर से अर्थात् सिन्दूर के लेप से अरुण वर्ण शरीर वाले गणेश देव
का, सार्वकाल के लाल आकाश में स्थित चन्द्रकला के समान आचरण करनेवाला,
दन्ताङ्कुर, आपकी अथवा मेरी रक्षा करे ।

उपपादयति—

अत्र सिन्दूरसन्ध्याभ्यां गणाधिपगगनाभ्यां च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ना-
पन्नाभ्यां [धर्माभ्यां] सम्पादिताभेदेन विशिष्टधर्मेणाभेदेनावस्थितः क्यङ्क-
र्धोऽनुगामी ।

अयमाशय —‘सिन्दूरारुण—’ इति पद्येऽरुणत्वशोणत्वे शब्दाभ्ययोर्भेदेन भिन्ने
अपि परमार्थत एकरूप इति वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने तदन्विते सिन्दूरसन्ध्ये वस्तुतो भिन्ने
अपि सादर्यमूलकाभेदादोपविशिष्ट इति बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ने तदन्विते गणपतिगगने
अपि पुन तथाविधतया बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न एव । एवञ्च वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ना-
तन्मत्त्वशोणत्वविशिष्टबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नसिन्दूरसन्ध्याऽभेदपुद्विषयव्याकृतगणपतिगगन-
रूपः । बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नो विशिष्ट एकी धर्म सम्पद्यते, तदभिप्रेत्य लेखायितपद-
गतक्यङ्कप्रत्ययार्थरूप आकाशोऽनुगामी धर्म बद्धकलात् दन्ताङ्कुरचन्द्रलेखयोदपमा सि-
ध्यति । यद्यपि प्रसिद्धौ अस्पृशोभाविशेषरूपतामाश्रित्यापि आचारस्यानुगामित्वं सम्भवति,
तथापि तादृशगणपतिगगनरूपतामादायैवाचारस्यानुगामित्वम् कवितात्पर्यविश्वीभूतम्,
अन्यथा तदुल्लेख एव निष्फल स्यादिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘सिन्दूरारुण—’ इस पद्य में ‘सायंकाल के लाल
आकाश की चन्द्रकला’ के साथ ‘सिन्दूर से अरुण वर्ण शरीर वाले गणेशजी के दन्ताङ्कुर’
की तुलना की गई है—इन दोनों पदार्थों की उपमा चाँची गयी है, और इस उपमा का
साधक है ‘लेखायित’ पद में आए हुए क्यङ्क प्रत्यय का अर्थ ‘आचार’रूप समान धर्म,
जो अनुगामी है, परन्तु केवल विषयोक्तेसरहित आचार उपमा का प्रयोजक होता नहीं,
अतः ‘गणपति तथा आकाश’ के साथ उस आचार का अभेद कल्पित होता है—अर्थात्
‘दन्ताङ्कुर’ और ‘चन्द्रकला’ का समान आचार यही माना जाता है कि एक गणेश का
है और दूसरा आकाश का । आपके मन में शङ्का होगी कि जब गणेश और आकाश ही
एक वस्तु नहीं, तब उन दोनों का सम्बन्धी आचार कैसे एक होगा ? शङ्का ठीक है, पर
वाप को समझना चाहिये कि कल्पना के द्वारा गणेशजी और आकाश को भी एक कर
लिया जाता है अर्थात् इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव भिन्न होने पर भी सादर्यमूलक
अभेद—माना जाता है । आप पुनः शङ्का करेंगे कि—इन दोनों में सादर्य ही कौन सा

है, यन्मूलक अभेद माना जायगा। इसके उत्तर में कहा जाता है कि एक (गणेशजी) सिन्दूर से अरुणवर्ण शरीर वाले हैं और दूसरा (गगन) सन्ध्या से छाल है यही सादृश्य है। यदि इस पर भी आप पूछेंगे कि यह कौन सादृश्य हुआ? एक का सम्बन्ध सिन्दूर से है और दूसरे का सन्ध्या से, फिर सादृश्य कैसा? यह प्रश्न भी आपका असङ्गत नहीं, परन्तु उत्तर भी बहुत उपयुक्त है जिसे इन दोनों में भी-अर्थात् सिन्दूर और सन्ध्या में भी-विम्बप्रतिविम्बभाव माना जाता है-भिन्न होने पर भी सादर्यमूलक अभेद स्वीकृत होता है। और इन दोनों के सादृश्य का मूल है अरुणत्व और शोणत्व। आप कहेंगे कि ये दोनों भी तो एक जैसे नहीं ज्ञात होते, तो मैं कहूँगा कि-हैं तो ये दोनों एक ही वस्तु, परन्तु शब्द तथा आशय (जिनमें ये रहते हैं इन पदार्थ) के भेद से भिन्न जैसे भासित होते हैं। आप कहेंगे कि-हुआ न-किसी तरह जब भेद भासित हो गया, तब अभेद कैसे भासित होगा? उत्तर है कि-भेद भासित होने के बाद पुनः अभेद की कल्पना की जाती है। वस्तुतः अपिभ्रम में किसी कारण से भेद भासित होने के बाद जो अभेद कल्पित होता है उसीको तो 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव' कहते हैं। कलतः यहाँ 'अरुणत्व और शोणत्व' वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न हैं, 'सिन्दूर-सन्ध्या' और 'गणेश-आकाश' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न हैं और 'आचार' अनुगामी है। अतः यहाँ धर्मों का मिश्रण समझा जाता है।

धर्ममिश्रणस्य प्रकारान्तरं दर्शयति—

कचचिद्वेतुहेतुमद्भावेन ।

हेतुहेतुमद्भावेनेत्यत्रापि धर्मस्य व्यामिश्रणमिति शेषो बोध्यः । 'रयामलेन—' 'सिन्दूरारुण—' इत्यनयोरेषा विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्माणाम् अभेदेनानुगामिन्याचारे व्यामिश्रणम्, तथा कचिद्वेतुहेतुमद्भावेन तथाविधधर्मस्यानुगामिनि व्यामिश्रणमिति भावः ।

धर्ममिश्रण का दूसरा प्रकार दिखलाया जाता है—कचिद्वेतु इत्यादि। अर्थात्-जैसे उक्त उदाहरणों में अभेद सम्बन्ध से विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मों का अनुगामी धर्मों में मिश्रण हुआ है, उसी तरह यहाँ हेतुहेतुमद्भावसम्बन्ध से भी उक्त धर्मों का मिश्रण हो सकता है।

उदाहरण निर्देशमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विस्तृज्यते ।

अपायशङ्किभिलोकैर्विषेणारीविषो यथा ॥’

कवि कथयति—अपाय विनाश, शङ्कन्ते, ये, तथाविधैः निजविनाशशङ्काकुलैरिति यावत्, लोकैः, विषेण विषरूपदोषेण, आशीनिगं सर्पः, यथा, दूरेण दूरतः, एव, विस्तृज्यते त्यज्यते, तमेव, खलः नीचाशयो जनः, कापट्यदोषेण कपटतास्वरूपेण, दूरतः परिहृत्य तत्पर्यः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—खलः इत्यादि। कवि का कथन है—जिस तरह, विषरूप दोष के कारण, सर्प, दूरतः परिहृत होता है-लोग उसके पास फटकते तक नहीं, उसी तरह, कपटरूप दोष के कारण अपने विनाश की आशङ्का करनेवाले लोगों से खल-नीचाशाय मनुष्य-दूर ही डोढ़ दिया जाता है।

उपपादयति—

अत्र कापट्यं विपं च बिम्बप्रतिबिम्बतां गतं दूरतो विसर्जनेऽनुगामिनि हेतुः ।

‘खल’ कापट्य— इति पद्ये सर्पखलयोदयमात्रा ‘दूरतो विसर्जनम्’ अनुगामी—
एकरूपेण द्वयोरन्वयी—साधारणो धर्मः, तत्र च ‘विपकपट्य’रूपो बिम्बप्रतिबिम्बभावा-
पन्न—भेदेऽपि सादृश्यमूलकाभेदविशिष्ट—धर्मो हेतुरिति—अनुगामिबिम्बप्रतिबिम्ब-
भावापन्नयोर्धर्मयोः कार्यकारणभावेन मिश्रण जातम् । तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावं विना
मिश्रप्रकरणत्वेन दूरविसर्जने भेदप्रतीत्याऽनुगामित्वमेव न स्यादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘खल’— इस श्लोक में ‘खल’ की उपमा ‘सर्प’
के साथ ही गई है, जिसमें ‘दूर से छोट देना’ अनुगामी साधारण धर्म है और उससे
कारण है ‘विप’ और ‘कपट्य’रूप बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म । अर्थात् जब तक विप और
कपट में बिम्बप्रतिबिम्बभाव—सादृश्यमूलक भेद—नहीं मान लिया जायगा, तब तक
भिन्न प्रकरण के होने से ‘दूर से छोट देने’ में भी भेद प्रतीत होता रहेगा, फिर वह
अनुगामी—एकरूपेण सन्वित होने वाला—धर्म हो ही नहीं सकता । अतः यहाँ अनुगामी
और बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्मों का मिश्रण कार्य कारणरूप होने से हुआ है ।

हेतुहेतुमद्भावेन धर्मयोर्मिश्रणस्योदाहरणान्तरं ददायितुमाह—

यथा वा—

रूपवत् ।

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘रूपवत्यपि च क्रूरा कामिनी दुःखदायिनी ।

अन्तःकाटवत्सम्पूर्णो सुपक्ववेनेत्रवारुणी ॥’

रूपवती बाह्यसौन्दर्यशालिनी, अपि, अन्तःकाटवेन अन्तर्गतकटुत्वेन, सम्पूर्णं सर्वतो-
भावेन युक्ता, सुपक्वा अतिपरिपाक्ववस्था गता (एतच्च बाह्यसौन्दर्यसम्पत्तिरुच्यताम्)
इन्द्रवारुणी फलविरौप्य (नाशन इति भाषाया प्रसिद्धः) इव, रूपवत्यपि, क्रूरा कठोरहृदया,
कामिनी नायिका, दुःखदायिनी क्लेशप्रदा, भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—रूपवत्यपि इत्यादि । रूपवती (बाह्य सौन्दर्य से
युक्त) होकर भी क्रूरहृदय वाली नायिका, अन्दर कटुएवम से भरी हुई परिपक्व इन्द्र-
वारुणी (नाशन) की तरह, दुःख देने वाली होती है ।

उपपादयति—

अत्र रूपवत्त्वदुःखदायित्वयोर्द्वयोरनुगामिनोर्मध्ये कौर्यकाटवे बिम्बप्रति-
बिम्बभावापन्ने दुःखदायित्वेन सह हेतुहेतुमद्भावेन मिश्रिते, अपरेण तु
शुद्धसामानाधिकरण्येन ।

अपरेण रूपवत्त्वेन शुद्धसामानाधिकरण्येनेति । एतेन दुःखदायित्वेनापि कौर्यकाटवयोः
सामानाधिकरण्यमस्येव, परन्तु न शुद्धम्, अपि तु हेतुहेतुमद्भावविशिष्टमित्यर्थः फलितः ।
अयं भावः—इन्द्रवारुणीकामिन्योरुपमाया ‘रूपवत्यपि—’ इति पद्योपनिबद्धानाम्,
रूपवत्त्वदुःखदायित्वरूपो द्वावनुगामिसाधारणधर्मो कौर्यकटुत्वात्मकौ च द्वौ बिम्बप्रतिबिम्ब-
भावापन्नौ तयाविधौ धर्मौ तत्र दुःखदायित्वप्रति कौर्यकाटवे कारणे—अर्थात् नायिका-
निष्ठदुःखदायित्वं प्रति कौर्य कारणम् तथा इन्द्रवारुणीनिष्ठदुःखदायित्वं प्रति काटवं
कारणम् । एवम् बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोः कौर्यकाटवयोः दुःखदायित्वस्य चानुगामिन-

हेतुहेतुमद्भावविशिष्टसामानाधिकरण्येन मिश्रणम्, तथाविधयोस्तयोरनुगामीनी रूपवत्त्वस्य च शुद्धसामानाधिकरण्येन मिश्रणमिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'रूपवत्त्वपि—' इस उदाहरण में इन्द्रवारुणी और कामिनी की उपमा के साथ, दो—'रूपवती होना' और 'दुःख देने वाली होना'—अनुगामी साधारण धर्म हैं । उन दोनों धर्मों में से एक—'दुःखदायित्व'रूप अनुगामी धर्म के साथ 'क्रूरता' और 'कटुता'रूप विषमप्रतिविम्बभावापन्न धर्म कार्यकारणभाव विशिष्ट सामानाधिकरण्यसंबन्ध से मिश्रित है, क्योंकि कामिनी में 'क्रूरता' दुःख देने का कारण है और इन्द्रवारुणी में 'कटुता', इसी तरह दुःखदायित्व और 'क्रूरता—कटुता' एक आधार (कामिनी—इन्द्रवारुणी) में रहते भी हैं । 'रूपवत्त्व' के साथ 'क्रूरता' और 'कटुता' का मिश्रण शुद्ध हेतुहेतुमद्भावहित सामानाधिकरण्यसंबन्ध से होता है ।

उपसहरति—

एवमन्यैरपि व्यामिश्रणं बोध्यम् ।

एवम् उच्यते । अन्य = अनुगामिधर्मातिरिक्त, पूर्वोक्तपञ्चविधमाधारणधर्मान्तर्गतधर्म ।

उपसहार करते हैं—एवम् इत्यादि । इसी तरह (पूर्वोक्त रीति से ही) अन्य धर्मों से भी मिश्रण समझ लेना चाहिये ।

उपमाया उक्तेभ्यो भेदेभ्योऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्तीति सूचयितुमाह—

प्रकारान्तरं च लक्ष्यानुसारेण सुधीभिः स्वयमुन्नेतुं शक्यम् ।

लक्ष्यदर्शनेन सुधय उपमाया प्रकारान्तराणि स्वयमुद्दिष्ट पारवन्तीति भावः ।

विद्वज्जन, उदाहरणों के आधार पर, उपमा के अन्य भेदों का भी ऊह, स्वयं कर ले सकते हैं ।

स्वयमुन्नेयवेनोक्त प्रकारान्तरमुपमाया दर्शयितुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

सि—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘यथा लतायाः स्तम्बकानतायाः स्तम्बानन्तरे नितरां समाऽसि ।

तथा लता पल्लविनी सगर्वे शोणाधरायाः सदृशी सद्यापि ॥’

नायकी नायिका कथयति—स्तम्बानन्तरं कुम्भधारयिते । (एतच्च स्तम्बानन्तलता-साम्यसिद्धयर्थम्) त्वम्, स्तम्बके पुष्पगुच्छं, आनताया नम्रोभूताया, लताया बह्वर्था, यथा येन प्रकारेण, नितराम् आत्यन्तम्, समा सदृशी, अस्मि वर्तसे, तथैव हे सगर्वे लतोपमानत्वलाभजन्यगौरवयुक्ते । पल्लविनी रक्तवर्णनवकिमलयवती (एतच्च शोणाधरनायिका-सादृश्यसिद्धिरस्मै), लता, अपि, शोणाधराया अरुणरदनच्छदाया, तच्च सदृशी तु तया वर्तते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—यथा लताया इत्यादि । नायक की नायिका के प्रति उक्ति है—हे स्तम्बों से झुकी हुई ! जिस तरह तू फूलों के गुच्छों से नमो हुई लता के अत्यन्त समान है, उसी तरह, हे सगर्वे—अपने को लता का उपमान समझकर गर्व करने वाली !—पल्लवों से युक्त लता भी लता अधर वाली तेरे समान है ।

उपपादयति—

अत्र स्तम्बानन्तराह स्तम्बकानताया लताया उपमानमस्मीति गर्वं मा विदध्या ।

यतः शोणाधराया उपमेयायास्तवापि पल्लविनी लतोपमानं भवतीति वाक्यार्थे यथातथापदप्रतिपाद्या कान्तोपमानिका लतोपमेयिकोपमा निष्पादिका । अस्यां चोपमायां निरूपकतासम्बन्धेनोपमानोपमेयगते द्वे उपमे समसदृशशब्दाभ्यां प्रतिपादिते बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमापन्ने साधारणधर्मतया स्थिते । तत्र निरूपकतासम्बन्धेन प्रधानीभूतोपमोपमानकान्तागतायामुपमायां प्रतिबिम्बभूतायां गुच्छस्तनयोर्वस्तुप्रतिबस्तुभावापन्नतमननग्रीभवनविशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नयोः साधारणधर्मत्वम् । एवं तेनैव सम्बन्धेन लतारूपोपमेयगतार्था बिम्बभूतायामुपमायामधरपल्लवयोः ।

उपमानिगादिकेन । एव च वाक्यार्थोपस्कारिकेयमुपमेति भावः । बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्ने इति । अत्र 'यद्यपि समसदृशशब्दाभ्यां प्रतिप्रादितोपमयोर्वस्तुप्रतिबस्तुभाव एव, तथापि तद्विशेषणयोः शोणाधरनायिकास्तवकावनम्रलनयौर्बिम्बप्रतिबिम्बभाव आदरयक इति भावः' इति नागेशः । उपमानोपमेयसाधारणधर्मभादृश्यानि समदृश्यैर्गौपमा, न सादृश्यमात्रमिति उपमाया बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नचोक्तिवितर्कवेति तु मम प्रतिभाति । तत्रेति । तथोपमयोर्मध्य इत्यर्थः । निरूपकनेति । प्रतियोगितेत्यर्थः इति नागेशः । प्रधानीभूतोपमेति । यथातथापदप्रतिपाद्येत्यर्थः । उपमानेति । कान्तेत्यर्थः । उपमाया प्रतिबिम्बभूतायामिति । समशब्दप्रतिपाद्यामिन्द्र्यः । तेनैव सम्बन्धेनेति । निरूपकतासम्बन्धेनेत्यर्थः । बिम्बभूतायामुपमायामिति । सदृशशब्दप्रतिपाद्यायामिन्द्र्यः । अधरपल्लवयोरिति । कान्तालताविशेषणयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नयोः साधारणधर्मत्वमिति शेषः । अयं भावः—'यथा लताया—' इति पदे स्थित उपमा संज्ञित तानु 'यथा त्वं लतासदृशी, तथा, लता तव सदृशी' इत्याकारिका यथा-तथापदप्रतिपाद्या उपमा प्रधानम्, 'स्तनमारावनताऽहं पुष्पगुच्छमारावनम्राया लताया उपमानभूतास्मि—तथाविधा बह्वरी-मकलोक्यङ्गिः सहृदयः' इत्यनारावनह्वरा कामिनी वेष बह्वरी'त्येवं रूपेण तस्यास्तुलना मया सह विधीयत—इति गर्वा न करणीयः । अरुणाधरालिन्या उपमेयभूतावास्तवापि नवकिमलवक्रोमलाया लताया उपमानवान्—रक्तदन्च्छदा स्वामनुपश्यङ्गिः सचेतोभिः 'नूतनारुणवलकोमलवज्रारविं लल्ला इत्येवरीत्या लनया सहापि तव तुलनात्' इति व्यङ्ग्यभूतप्रधानवाक्यार्थस्य निष्पादकत्वात् अलङ्काराच्च । अस्या प्रधानभूतायामुपमाया कान्ता उपमानभूता लता उपमेयभूता यथा-तथापदप्रतिपाद्यं सादृश्यं चेति ग्रीष्मज्ञानि स्पष्टानि । साधारणधर्मश्च विचारवेद्यः । विचारे च । 'स्तनाव-नना त्वं, स्तवकानतलताया ममा, पल्लविनी लता, शोणाधरायास्तव सदृशी' इति द्वे उपमे एव साधारणधर्मस्य अवपन्नेते । ननु उपमानोपमेयवृत्तिवे एव कस्यापि पदार्थस्य साधारणधर्मता भवति, इमे उपमे तु नोपमानोपमेयवर्तिनां वृत्तितानिध्यामकमन्व-न्धस्याम्फुरणादिति चेन्न, निरूपकताया तद्विगमप्रतियोगिताया वा संबन्धरूपायाः स्फुरणात् । उक्तधर्मरूपोपमाद्रव्यस्य प्रथमासमशब्दप्रतिपाद्या उपमा, निरूपकतासम्बन्धेन स्वीपमाने प्रधानीभूतोपमोपमाने च कान्तायाम्, द्वितीया—सदृशपदप्रतिपाद्या—उपमा च, तेनैव सम्बन्धेन स्वीपमाने प्रधानीभूतोपमोपमेये च लताया वर्तते इति साराशः । न चैवमपि तयोपमयोरैकैकमात्रवृत्तिन्वेन साधारणत्व कथमिति वाच्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावापल्लवेनैक्यात् । तत्र, प्रथमोपमा, अचिरस्थायिसौन्दर्यशालिपुष्पगुच्छस्तनामकसाधारणधर्ममूलकत्वात्प्रतिबिम्बरूपा, द्वितीयोपमा च तदपेक्षया विरस्थायिशोभाधराधरपल्लवात्मक-

साधारणधर्ममूलकत्वाद्विम्बरूपेति विवेकः । अयानयो प्रधानोपमाया साधारणधर्मरूपयो-
रुपमयो कः कीदृशः साधारणधर्म इति चेत्^१ प्रधानाया उपमाया रूपमानभूताया कान्ताया
निरूपकतासम्बन्धेन वर्तमाना या 'सम'-शब्दप्रतिपाद्योपमा प्रतिविम्बभूता तत्र विम्ब-
प्रतिविम्बभावापन्नतयैकीभूतौ गुच्छस्तनौ साधारणो धर्मः । तौ च गुच्छस्तनौ, 'स्तव-
कान्ताया', 'स्तनावनघे' इति पदद्वयबोध्ययोर्नमनमोमवनयो वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नयो-
र्विशेषणभूताविति वस्तुप्रतिवस्तुभावकरम्वितविम्बप्रतिविम्बभावापन्नोऽत्र साधारणधर्मः ।
प्रधानाया उपमाया उपमेयभूताया क्ताया निरूपकतासम्बन्धेन तिष्ठन्ती या 'सदृश'पद-
प्रतिपाद्या विम्बभूता द्वितीयोपमा, तत्र विम्बप्रतिविम्बभावापन्नतयैकीभूतावधरपल्लवौ तथा ।
वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नतया शुद्धविम्बप्रतिविम्बभावापन्न इह सधर्म इति बोध्यम् । पूर्व-
मुदाहरतात्पमासु अन्यविधा साधारणधर्मा उक्ता, अत्र तु उपमाद्वयमेवोपमाया
साधारणो धर्म इति वैचित्र्यमिति ।

उपपादन करते हैं—अन्न हृषादि । 'यथा लताया—' हृषादि पक्ष से तात्पर्यार्थ
निकलता है कि—'हे सुन्दरि ! 'स्तन-भार से झुकी हुई मैं, पुष्प के गुच्छों से लड़ी हुई
अतएव नमी हुई लता, का उपमान है—किसी पुष्पगुच्छावनत लता को देखकर कविपण,
'यह लता, स्तनभार से झुकी हुई कामिनी के समान है' इस रूप में मुहत्तसे लता की
गुलना करते हैं, मेरी गुलना लता से नहीं' यह अभिमान न करो, क्योंकि जय लाल
अधर घाली तू उपमेय होती है—अर्थात् लाल अधर को लेकर तेरी गुलना करनी होती
है, तब पल्लवयुक्त लता तेरा उपमान होती है—अर्थात् लाल अधरवाली तुझ तन्वी को
देख कर कवि लोगों के द्वारा 'यह कामिनी पल्लवशोभित लता के समान है' इस रूप में,
तेरी भी गुलना लता से की जाती है ।" इस तात्पर्यार्थ (वाक्यार्थ) को सिद्ध करती है
'यथा और तथा' पदों से प्रतिपादित होनेवाली यह उपमा, जिसमें सुन्दरी नायिका (तू)
उपमान है और लता उपमेय । अतः यह (यथा-तथा पद प्रतिपाद्य) उपमा प्रधान
है । इस प्रधान उपमा के तीन आवरणक अङ्ग-उपमान सुन्दरी (तू), उपमेय लता
और यथा-तथा पदों से अवगत होनेवाला सादरय-स्पष्ट हैं, पर चौथा अङ्ग—साधारण
धर्म—उतना स्पष्ट नहीं है, यह गम्भीर विचार से विदित होता है और विदित यह
होता है कि—इस प्रधान उपमा का साधारण धर्म भी दो उपमायें ही हैं—एक 'तू लता
के समान है' यह पूर्वाधगत 'सम' शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने वाली और दूसरी
'लता तेरे सदृश है' यह उत्तरार्धगत 'सदृश' शब्द के द्वारा प्रतिपादित होने वाली ।
आप शका कर सकते हैं कि-उपमायें कैसे उपमा के साधारण धर्म होंगी, क्योंकि साधारण
धर्म वह पदार्थ होता है जो उपमान और उपमेय में रहे और ये उपमायें तो उस (प्रधा-
न) उपमा के उपमान अथवा उपमेय में रहने वाले पदार्थ हैं नहीं, तो, इसका समा-
धान यह है कि—'निरूपकता' सम्बन्ध से ये दोनों उपमायें क्रमशः प्रधान उपमा के
उपमान और उपमेय में रहने वाले धर्म होते हैं—अर्थात् उपमा का निरूपक होता है उप-
मान और आध्रय उपमेय, अतः पूर्वाधगत, समशब्दप्रतिपाद्य (तू लता के समान है यह)
उपमा अपने उपमान 'तू' में निरूपकता सम्बन्ध से रहती है और वही 'तू' प्रधान
(यथातथापदयोष्य) उपमा में भी उपमान है, फलतः यह उपमा, प्रधान उपमा के
उपमान में रहने वाली वस्तु सिद्ध हुई, इसी तरह, उत्तरार्धगत, 'सदृश पदप्रतिपाद्य
(लता तेरी समान है, यह) उपमा अपने उपमान लता में उक्त सम्बन्ध से रहती है
और वही लता प्रधान उपमा में उपमेय है, फलतः यह उपमा प्रधान उपमा के उपमेय
में रहने वाली वस्तु सिद्ध हो गई । आप कहेंगे—इस विवरण के बाद भी यह समझ में
नहीं आता कि—ये उपमायें साधारण कैसे होंगी, क्योंकि ये दोनों उपमायें दोनों (उपमान
तथा उपमेय) में रहने वाली नहीं हैं—एक केवल उपमान में और दूसरी केवल उपमेय

में रहती है, तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि—इन दोनों उपमाओं को विम्बप्रति-
विम्बभावापन्न होने के कारण एक मानकर दोनों में रहनेवाली समझ लिया जाता है।
तात्पर्य यह कि विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर ये दोनों उपमार्ये प्रधान उपमा में साधारण-
रूप होती हैं। धर्मरूप इन दोनों उपमाओं में से प्रधान उपमा के उपमान 'कान्ता' में
निरूपकता-सम्बन्ध से रहनेवाली—अर्थात् 'लला के समान है'—यह उपमा प्रतिविम्ब-
रूप है। कारण, इस उपमा को सिद्ध करनेवाला साधारण धर्म—'स्तन और गुच्छ'—
अपेक्षाकृत अचिरस्थायी है अतः यह उपमा भी अचिरस्थायिनी होगी। और प्रधान उपमा
के उपमेय 'लला' में उक्त सम्बन्ध से रहनेवाली—अर्थात् 'लला तेरे सदृश है' यह—उपमा
है विम्बरूप। कारण, इस उपमा को सिद्ध करनेवाला साधारण धर्म—'लाल अघर और
लाल पल्लव' अपेक्षाकृत चिरस्थायी है, अतः यह उपमा भी चिरस्थायिनी मानी जायगी।
दृष्ट तात्पर्य यह कि विम्ब चिरस्थायी होता है जैसे—मुख और प्रतिविम्ब अचिरस्थायी
जैसे दर्पण में पड़ी मुख की छाया। इनमें से प्रतिविम्बरूप उपमा में, वे 'स्तन' और
'फूलों के गुच्छे' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर साधारणधर्मरूप हैं, जो वस्तुप्रतिवस्तु
भावापन्न 'वसन' और 'नग्रीभवन' (सुकमा और नमना) के विरोधरूप में स्थित हैं
और इसी तरह विम्बरूप उपमा में 'अघर' और 'पल्लव' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न होकर
साधारणधर्मरूप हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रतिविम्बरूप उपमा में साधारण धर्म, वस्तु-
प्रतिवस्तुभाव से मिश्रित विम्बप्रतिविम्बभावापन्नरूप है, और विम्बरूप उपमा में केवल
विम्बप्रतिविम्बभावापन्नरूप—यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव का मिश्रण नहीं है। इन सबका
सारांश यह हुआ कि प्रकृत पद्य में तीन उपमार्ये हैं जिनमें एक प्रधान है और दो विम्ब-
प्रतिविम्बभावापन्न होकर उस प्रधान उपमा को सिद्ध करनेवाली साधारणधर्मरूप।
और साधारणधर्मरूप होनेवाली दो उपमाओं में से प्रथम उपमा का साधारणधर्म है
वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित विम्बप्रतिविम्बभावापन्न तथा द्वितीय उपमा का है केवल
विम्बप्रतिविम्बभावापन्न। दो उपमाओं का ही तृतीय उपमा में समानधर्म होना इस
उद्घाटन की विचित्रता है, अतएव इस तरह की उपमा को एक नवीन उपमाप्रभेद के
रूप में गिना जाना समुचित ही है।

आशङ्क्य समाधत्त—

न च तेन सदृश इत्यादी तन्निरूपितसादृश्याश्रयस्योपमेयस्य, तस्य सदृश
इत्यादी च तत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयस्योपमानस्य प्रतीतेः सिद्धत्वात्प्रकृते च सदृ-
शीतिशब्दान्निवेद्यमानेऽप्युपमानभावे कथं नाम लताया उपमेयतेति वाच्यम्।
सदृशशब्दप्रतिपाद्यधर्मभूतोपमायामुपमानत्वेऽपि यथातथाशङ्क्येद्योपमायां
लताया उपमेयभावे बाधकाभावान्।

तन्निरूपितेति । तन्प्रतियोगिकेत्यर्थः । सादृश्याश्रयस्येति । सादृश्यानुयोगिन इत्यर्थः ।
तत्सम्बन्धिसादृश्याश्रयस्येति । तदनुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिन इत्यर्थः । 'चन्द्रेण सदृशम्'
इत्युक्तौ चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगिनिष्ठे सुखादेरुपमेयस्य प्रतीतिः, 'सुखस्य सदृशः'
इत्युक्तौ पुनः सुखानुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिनधन्वादेरुपमानस्य प्रतीतिर्भवतीति मिदं वस्तु ।
एवञ्च प्रकृते 'लता तव सदृशी' इत्युत्तरार्थगतोक्त्या त्वदनुयोगिकसादृश्यप्रतियोगिलता-
यामुपमानत्वस्य प्रतीतिः तस्या (लताया) उपमेयत्व मूलोक्तसहितमिति शङ्काया समा-
धानं यत्—तदुक्त्या लतायामुपमानता प्रतीयत इति नास्त्या कया, परन्तु सा उपमानता
सदृशपदप्रतिपाद्यधर्मभूतोपमाकृता । मूलोक्त लताया उपमेयत्वं पुनर्यथातथापदप्रतिपाद्य-
प्रधानोपमाकृतमिति न कोऽपि विरोध इति । एकस्मिन् पद्ये सतीष्वनेकाद्युपमासु एक एव
पदार्थः कस्यान्योपमायामुपमानरूपं कस्याचित् पुनरुपमेयरूपो भवितुमर्हति विरोधाभा-

वादिति भाव । अत्र 'चन्द्रस्य सदृशम्' अर्थात् चन्द्रस्य सादृश्यं वहति इत्युक्तौ सादृश्यं चन्द्रस्य सम्बन्धि भवति तदाधारोपमान भवति [चन्द्रसम्बन्धि सादृश्यं गृह्यते तस्याधार चन्द्र एव स्यात्] सादृश्यस्य (उपमाया) निरूपकं च उपमेय भवति' इति सरलाकारकृतं विवरण युक्तमयुक्तं वेति साहित्यमर्मज्ञैरेव निश्चयेयम् ।

एक शब्दा और उसका समाधान लिखते हैं—न च इत्यादि । 'उससे सदृश है' ऐसा कहने पर 'उससे' का अर्थ चन्द्र आदि का उपमान होना और 'सदृश' पद का अर्थ मुख आदि का उपमेय होना प्रतीत होता है, क्योंकि 'उससे' इस वृत्तीयान्त से उपमा के निरूपक का बोध होता है और उपमा का निरूपक होता है उपमान । इसी तरह 'उसका सदृश' ऐसा कहने पर 'उसका' का अर्थ सादृश्य का सम्बन्धी—आश्रय—मुख आदि का उपमेय होना और 'सदृश' पद का अर्थ—उपमानिरूपक—चन्द्र आदि का उपमान होना विहित होता है । इस स्थिति में 'लता सब सदृशी, अर्थात् लता तेरे सदृश है' इस शब्द से साफ 'तेरे' का अर्थ नायिका का उपमेय होना और लता का उपमान होना ज्ञात होगा फिर मूल में लता को उपमेय बतलाकर असंगत है इस शब्दा का उत्तर यह है कि—हाँ, वक्त धर्मभूत उपमा में लता की उपमानता जो प्रतीत होती है वह सर्वथा ठीक है, किन्तु साथ ही 'यथा तथा' पद से प्रतिपादित होने वाली प्रधान उपमा में उसकी (लता की) उपमेयता भी ठीक ही है । सारांश यह कि मूल में प्रधान उपमा के हिसाब से लता को उपमेय कहा गया है, अतः वह ठीक है और आपने जो लता के उपमेय होने की बात कही है, वह धर्मभूत गौण उपमा के हिसाब से, अतः वह भी ठीक ही है । तात्पर्य यह कि एक भी वस्तु, एक ही जगह अनेक उपमाओं के रहने पर किसी उपमा का उपमान और किसी उपमा का उपमेय हो सकती है, इसमें कोई विरोध नहीं होता ।

पुनः प्रकारान्तरं सूचयति—

एवमन्येऽपि प्रकाराः ।

पूर्वोक्तप्रकारवत् प्रकारान्तरमपि सम्भवतीति भावः ।

जिस तरह पूर्व के अभिनव प्रकार सब उपमा के हुए हैं, उसी तरह और भी नवीन प्रकार उसके हो सकते हैं ।

तत्प्रकारान्तरमेवोदाहरणप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

‘यथा त्वयाननं चन्द्रस्तथा हासोऽपि चन्द्रिका ।

यथा चन्द्रसमश्चन्द्रस्तथा त्व सदृशी त्व ॥’

यथा त्व मुखं चन्द्राभिजन्, तथा त्व हासोऽपि ज्योत्स्नाऽभिज एव । अपि च यथा चन्द्रतुल्यश्चन्द्र एव नापरस्तथा त्वत्सदृशी त्वमेव नान्येत्यर्थः । अत्र पूर्वार्थे द्वयो-रुपकयोस्तत्तार्थे च द्वयोरनन्वययोरुपमा । एवञ्च विलक्षण एवायमलङ्कारेणालङ्कारस्योप-माया प्रभेद इति साधः ।

पूर्वसमावित उपमा के प्रकारान्तर को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—यथा इत्यादि । कोई नायक नायिका से कहता है—(हे मित्रे) जैसे तेरा मुख चन्द्रमा है वैसे तेरी हँसी भी चाँदनी है, और जैसे चन्द्रमा चन्द्रमा के समान है—अर्थात् उसका कोई दूसरा उपमान नहीं है, वैसे तू तेरे सदृश है—अपने जैसी आप ही है—अर्थात् तेरी भी तुलना किसी अन्य वस्तु से नहीं हो सकती । यहाँ पूर्वार्थ में दो रूपकों की उपमा है और उत्तरार्थ में दो अवन्वयों की । अतः अलङ्कारों में परस्पर उपमानोपमेय भाव वाला यह एक विलक्षण ही उपमा का प्रभेद सिद्ध होता है ।

उपसंहारति—

एभिर्भेदैः प्रागुक्तानां सधर्माणां भेदानां यथासम्भव गुणने बहुतरा भेदा भवन्ति ।

अनुपदं ये भेदा उक्ता ये च धर्मवैलक्षण्यमूलका प्रागुक्ता ये च प्राचीनाभिमतता पूर्णा-
लुप्तादयः प्रभेदा दक्षिणास्तेषां सर्वेषां परस्पर गुणनेऽतिप्रभूता उपमाभेदा जायन्ते
इति भावः ।

जमी जो कुछ भेद दिखलाये गये हैं, तथा धर्मवैलक्षण्यमूलक कुछ भेद पहले जो
कहे गए हैं और पूर्णा-लुप्ताभेद से प्राचीनों के अभिमत जितने भेद गिनाए गये हैं, उन
सबों को गुणित करने पर उपमा के बहुतेरे भेद हो जाते हैं ।

पुनः प्रकारान्तरेण उपमाया भेद उच्यते—

तथा धर्माणां वाच्यतायां वाच्यधर्मा बहुधोक्ता । व्यङ्ग्यत्वे व्यङ्ग्यधर्मा
धर्मलोपे गवितैव । लक्ष्यतायां यथा—

अयं भावः—उपमायामपेक्षिता साधारणधर्मा क्वचिद् वाच्याः, कुत्रचित् लक्ष्याः,
कुत्रचिच्च व्यङ्ग्याः सविनुमरन्ति, तदनुसारमुपमा वाच्यधर्मा, लक्ष्यधर्मा, व्यङ्ग्यधर्मा चेति
त्रिविधा भवति, तत्र वाच्यधर्माया उपमाया अनेकान्युदाहरणानि प्रागुक्तलिखितानि, व्यङ्ग्य-
धर्माया अपि धर्मलोपोदाहरणप्रदर्शनावसरे अथितान्येवोदाहरणानि, लक्ष्यधर्माया उदा-
हरणानि परमवशिष्यन्ते, अतस्तदुपक्रममारभ्यतीति ।

पुनः प्रकारान्तर से उपमा के भेद दिखलाने के लिये लिखते हैं—तथा इत्यादि ।
उपमा का एक भाष्ययुक्त अथ साधारणधर्म तीन प्रकार का हो सकता है—एक वाच्य,
दूसरा लक्ष्य और तीसरा व्यङ्ग्य । तदनुसार उपमा भी तीन प्रकार की कही जा सकती
है—एक वाच्यधर्मा—जहाँ धर्म वाच्य अर्थात् अभिधावृत्तिबोध्य हो, दूसरी लक्ष्यधर्मा—
जहाँ धर्म लक्षणा से विदित होता हो और तीसरी व्यङ्ग्यधर्मा—जहाँ धर्म की प्रतीति
व्यञ्जना से होती हो । उनमें प्रथम (वाच्यधर्मा) के बहुतेरे उदाहरण पहले ही दिए
जा चुके हैं और तृतीय (व्यङ्ग्यधर्मा) के उदाहरण भी धर्मलोपोपमा के प्रकरण में कह
दिये गये हैं, अतः द्वितीय (लक्ष्यधर्मा) का उदाहरण दिखलाना अवशिष्ट है, वह जैसे—

उदाहरणं निर्दिशते—

‘सर्प इव शान्तमूर्तिः श्वेद्यायं मानपरिपूर्णः ।

क्षीर इव सावधानो मर्कट इव निष्क्रियो नितराम् ॥’

कश्चिदाक्षिपन् वक्ति—अयम् आलोभ्य वधिन् पुरुषविशेष, सर्प इव शान्तमूर्तिः
शान्तिमयस्याय, श्वा वृक्कुरः, इव, मानेन संमानेन, परिपूर्णः सर्वतोभावेन संयुक्तः, क्षीर-
उन्मत्तः, इव, सावधानः सतर्कः, मर्कटः वानरः, इव, नितराम् सर्वथा, निष्क्रियः निषेष्टः
वर्तत इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—सर्प इत्यादि । कोई किसी पर आक्षेप करता हुआ
कहता है—यह सर्प की तरह शान्तमूर्ति है, कुत्ते की तरह सम्मानपूर्ण है, पागल की
तरह सावधान है, और चन्दर की तरह जायन्त निषेष्ट है—लुपचाप बैठा रहता है ।

उपसदयति—

इत्यत्रोपमानमहिम्ना शान्तमूर्त्यादिशब्दैर्विरुद्धा धर्मा लक्ष्यन्ते ।

उपमानमहिम्नेति । उपमानेषु सर्पादियु शान्तमूर्तिन्वादेरभावादिति भावः । धर्मा
लक्ष्यन्ते इति । लक्ष्यतावच्छेदकेऽपि लक्षणेति मतेनेदम् । सर्पादयोऽत्रोपमानभूताः

पदार्थास्तादृशा सन्ति, यत्र शान्तमूर्तित्वादिक नास्ति, प्रत्युत तद्विरुद्धमशान्तमूर्तित्वादिकमेवास्ति, अतस्तादृशोपमानप्रभावेण उपमेयेऽपि इदपदार्थं लक्षणया शान्तमूर्तित्वादि-विरुद्धा एव धर्मा प्रतीयन्ते, तथा च अशान्तमूर्तित्व-तिरस्कारपात्रत्व-प्रमत्तत्व-चपल-त्वानि, क्रमशः शान्तमूर्तिमानपरिपूर्णसावधाननिष्क्रियपदानां लक्ष्यार्थभूतानि, अत्र सर्पा-देरिदं पदार्थस्य चोपमाया साधारणधर्मभूतानीति भावः ।

उपपादन करते हैं—इत्यत्र इत्यादि । 'सर्प इव—' इस पद्य में सर्प आदि ऐसे उपमान कहे गये हैं, जिनमें शान्तमूर्तित्व आदि वर्णित धर्म तो नहीं ही रहते, प्रत्युत उसके विरुद्ध अशान्तमूर्तित्व आदि ही रहते हैं, अतः ऐसे उपमानों के बल से शान्त-मूर्ति, मानपरिपूर्ण, सावधान और निष्क्रिय पदों की क्रमशः अपने विरुद्ध धर्म—अशान्त-मूर्ति, तिरस्कृतत्व, असावधानत्व और चञ्चलत्व में लक्षणा करनी पड़ती है, जिससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि यह सर्प के समान अशान्त, कुत्ते के समान तिरस्कृत, पागल के समान असावधान और बन्दर के समान चपल है । इस तरह यहाँ सर्प आदि के साथ एक पुरुषविशेष की जो उपमा दी गई है उसमें अशान्तमूर्तित्व आदि लक्ष्य धर्म साधारण होते हैं ।

उपमाया उपस्कारकत्वं पर्यालोचयितुमाह—

इयं चोपमा मुख्यार्थस्य क्वचित्साक्षादुपस्कारिणी क्वचिद्योपस्कारकान्तरो-पस्करणद्वारा । तत्र साक्षादुपस्कारिणी प्राग् बहुधोदीरिता ।

'सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकं सादृश्यमुपमा' इति प्रकृतोपमालक्षणम् । तथा चोपमाया उपस्कारकत्वं नियतम् । तद्योपस्कारकत्वं द्विधा सम्भवति साक्षात् परम्परया च । तत्र साक्षादुपस्कारकत्वं प्रागुदाहृतेषु पद्येषु विदितपूर्वमेवेति न पुनरिह तदुदाहरणप्रदर्शनम-पेक्षितमिति भावः ।

उपमा की उपस्कारकता की पर्यालोचना करने के लिये कहते हैं—इयं च इत्यादि । प्रकृत उपमालक्षण में खास कर उपमा का उपस्कारक होना बतलाया गया है—अर्थात् उपमा मुख्य अर्थ को उपस्कृत (शोभित) करती है यह बात निश्चित है, अतः इसके विषय में यह एक समझ लेने की बात है कि उपमा कहीं साक्षात् मुख्य अर्थ को उप-स्कृत करती है और कहीं परम्परा से अर्थात् मुख्य अर्थ को उपस्कृत करनेवाले किन्हीं दूसरे पदार्थ (वस्तु अथवा अलङ्कार) को उपस्कृत करने के द्वारा । उनमें साक्षात् उप-स्कारक उपमा के अनेक उदाहरण पहले दिखलाये जा चुके हैं ।

परम्परयोपस्कारिकामुपमामुदाहर्तुमाह—

परम्परया यथा—

मुख्यार्थोपस्कारकान्यपदार्थोपस्करणद्वारा मुख्यार्थोपस्कारकोपमाया प्रकारोऽभिधीयत इति भावः ।

परम्परया मुख्य अर्थ को उपस्कृत करनेवाली उपमा जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'नदन्ति मददन्तिनः परिलसन्ति वाजित्रजा

पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः ।

इदं तदवधि प्रमो यदवधि प्रवृद्धा न ते

युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणयुतिः ॥'

वर्तिनरपति स्तौति—हे प्रमो ! अद्विष्टानां तव शत्रूणां, मन्दिरे भवने, मददन्तिन-मदमत्ता गजा नदन्ति चीत्कारं कुर्वन्ति, वाजित्रजा अश्वगणा, परिलसन्ति शोभन्ते,

एवम्, नदिनं स्तुतिपाठकां पुरुषा, विरुदावलीम् कीर्तिगाथाम्, पठन्ति उच्चारयन्ति । परमिदं सर्वम्, तदवधि तावत्कालपर्यन्तम्, यदवधि गावत्कालपर्यन्तम्, युगान्तदहनोपमा प्रलयकालिकान्तनुल्या, ते तव, नयनयोः नेत्रयोः, कोणयोः कोणभागयोः, शोणा अशना, द्युति कान्ति, न, प्रवृद्धा अधिका, अभूत् इत्यर्थः ।

तदाहरण का निर्देश करते हैं—नदन्ति इत्यादि । किसी राजा की स्तुति कवि करता है—हे प्रभो ! आपके मन्दिर (घर) मदमत्त हाथी सुमुख नाद करते हैं, अशों के समूह शोभित होते हैं और बन्दीजन विरुदावली (यशोगाथा) पढ़ते हैं । परन्तु ये सब तब तक हैं, जब तक कि प्रलयकालिक अग्नि के समान आपके नेत्रकोण की अन्त आभा बड़ी नहीं है ।

उपपादयति—

अत्र मुख्यार्थस्य राजविषयायाः कविरतेरुपस्कारकस्य यदैव तत्र कोपोदय-स्तदैव रिपूणां सम्पदो भस्मसाद् भविष्यन्तीति वस्तुन उपस्कारिका नयन-कोणशोणयुतेर्युगान्तदहनोपमा ।

नदन्तीति पद्ये कविनिष्ठा राजविषयिणी रति (भाव) प्रधानतयाऽभिष्यज्यते इति स एव मुख्यार्थः, तस्य च 'शत्रुसम्पदो नयनकोणशोणयुतिप्रवृद्धपवधिकत्वकृप्यनैन' व्यज्यमानम् 'तव कोपोदये क्षणेनैव शत्रूणां सम्पत्तयो भस्मीभूता भवेयुः' इति वस्तुपस्कारकम्, तस्य 'उपस्कारिका नयनकोणशोणयुत्पुलपमेयिका प्रलयकालिकाग्न्युपमानिकोपमा एवोपमाया अस्या' परम्परया मुख्यार्थभूतभावोपस्कारकस्य सिद्धमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नदन्ति—' इस पद्य से प्रधानतया भाव (कवि का राजा के विषय में प्रेम) अभिव्यक्त होता है, अतः वही (भाव ही) यहाँ मुख्य वाच्यार्थ समझा जायगा । इस मुख्य वाच्यार्थ को शोभित करता है 'जभी तेरा कोप उदित होगा, तभी शत्रुओं की सभी सम्पत्तियाँ भस्मीभूत हो जायँगी' यह वस्तुपद्म, जो 'हाथी आदि शत्रुसमूह तब तक है जब तक आपकी आँखों की लाल कान्ति नहीं बड़ी' इस वर्णन से विदित होता है और इस वस्तुपद्म को शोभित करनेवाली है नयनकान्ति में दी गई प्रलयकालिक अग्नि की उपमा । अन्ततः इस उपमा का परम्परया मुख्य अर्थ (उक्तभाव) का उपस्कारक होना सिद्ध हो गया ।

भेदान्तरप्रतिपादनाय स्पष्टीकुरुते—

इयं चेवयथावादिशब्दैर्वाचकैः प्रतिपादिता वाक्यालङ्कारः । लक्ष्यापि चालङ्कुर्वाणा द्रश्यते ।

इयमुपमा यदा सादरयवानर्क इव-यथा-वाप्रभृतिभिः शब्दैः प्रतिपाद्यते, तदा वाक्यालङ्कारः कथ्यते । यदा पुनः लक्षण्या प्रतिपाद्यते—साक्षणिकशब्दैर्बद्धा सादरयप्रतीतिर्भवति, तदापि अलङ्काररूपा स्वीक्रियत इति भावः ।

भेदान्तर सिद्ध करने के लिये एक स्पष्टीकरण करते हैं—इयं चेव इत्यादि । यह उपमा, जब सादरयवाचक शब्द इव, यथा, वा आदि के द्वारा वर्णित होती है, तब वाक्य अलङ्कार कहलाती है । परन्तु यह उपमा लक्ष्य होकर भी अलङ्काररूप होती हुई दोष पड़ती है—अर्थात् साक्षणिक शब्दों के द्वारा सादरय की लक्ष्यरूप में उपस्थिति होने पर भी उपमा, अलङ्कार होती है ।

वाच्योपमाया उदाहरणानि पूर्वोद्दिष्टानि सर्वाणि पद्यानि । लक्ष्योपमाया उदाहरण-प्रदर्शनायाह—

यथा—

लक्ष्योपमा—प्रकारोऽभिधायत इति भावः ।

वाच्य उपमा के उदाहरण वे सभी पद्य होते हैं, जो पहले उदाहरत हो चुके हैं, लक्ष्य उपमा का उदाहरण जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘नीची नियम्य शिथिलामुपसि प्रकाश—

मालोक्य वारिजदृशः शयनं जिहासोः ।

नैवावरोहति कदापि च मानसान्मे

नाभेनिभा सरसिजोदरसोदरायाः ॥’

नायकी निजमुहूर्तं प्रति प्रतिपादयति—उपसि प्रभातसमये, प्रकाशम् सूर्यागमसूचि-
कामुज्ज्वलताम्, मालोक्य दृष्ट्वा, रात्रिसमाप्तिसूचकप्रकाशदर्शनानन्तरमिति यावत् नीचीम्
कटिप्रदेशस्थिताधोवस्त्रप्रस्थिम्, नियम्य बद्ध्वा, शयनं शय्या, जिहासो हातुमिच्छो
वारिजदृश कमलक्यनाया, नायिकाया, सरसिजोदरसोदराया कमलार्भसमानाया,
नाभे उदरगतविशेषस्य, निभा शोभा, कदापि कस्मिंश्चिदपि क्षणे, मे मग, मानसात्
हृदयात्, नैव अवरोहति अपयाति इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—नीचीम् इत्यादि । नायक अपने मित्र से कहता है—
रात बीत चुकी थी । प्रभातकालिक प्रकाश फैलता आ रहा था । कमलतुल्य लोचन
वाली वह कामिनी, रात के रतिसम्पर्क से, शिथिलित नीची (वस्त्रप्रस्थि) को नियमित
(बाँध) कर शय्या छोड़ना चाहती थी । उस काल में, कमलार्भ की सगी बहन, उस
की नाभि की जो शोभा देख पड़ी, वह मेरे हृदय से, कभी उतरती ही नहीं ।

उपपादयति—

अत्रैकोदरप्रभवत्वरूपस्य मुख्यार्थस्य बाधितदीयशोभालक्षणसमानांशहर
त्वस्य प्रयोजनस्य सत्त्वासोदरपदेन सदृशो लक्ष्यते । आर्थो च तत्रोपमा
प्रतीयमाना । अवरोहतिलक्ष्यस्य विषयतया स्मृतिशून्यीभवनस्य निषेधेन
प्रतीयमानायाः स्मृतेरुपस्कारिका ।

अत्रेति । ‘नीचीम्—’ इति पद्य इत्यर्थः । मुख्यार्थस्येति । सोदरपदेत्यादि । शोभा-
लक्षणेति । शोभारूपो य समान अश = भाग तद्वत्त्वस्येत्यर्थः । तत्र नामौ । प्रती-
यमानेति । अस्तीति शेषः । अवरोहतिलक्ष्यस्येति । तत्पदलक्ष्यार्थस्येत्यर्थः । विषयतया
स्मृतिशून्यीभवनस्येति । विषयतासबन्धावच्छिन्नप्रतियोगितास्मृत्युभावस्येत्यर्थः । ‘नीची
नियम्य—’ इति पद्ये सोदरपदस्यैकोदरजन्यत्ववान्योऽर्थः, स च प्रकृते बाधित, नाभौ
तत्त्वस्यासम्भवात्, अतस्तत् (सोदर) पद सहशरूपार्थे साक्षणिकमङ्गोदित्येति । लक्षणा
चेय प्रयोजनमूला । प्रयोजनस्य सरसिजोदरशोभात्मकसमानभागहारित्वम् । यथा सोदर-
विधानु समीपात् अपरस्य सोदरस्य समानभागहारी भूत्वा समागच्छति, तथैवेय वर्ण-
नायनायिनानाभि कमलोदरशोभासमानभाग् भूत्वा समागतेति लक्षणाया प्रयोजनरूपेण
प्रतीयत इति तात्पर्यम् । एवञ्च—लक्षणाया सोदरपदात्तादृश्योपस्थितौ—कमलोदरान्धो-
रुपमाऽवगता भवति । तत्र समानशोभाशालिचमर्यभूत साधारणो धर्मः, अत एवेयमुपमा
आर्या । उपस्कारिका च सा पद्यप्रधानव्यङ्ग्यस्य स्मृतिभावस्य । ननु स्मृतिरत्र कथं प्रती-
येतेति चेन्न, बाधितावतरणान्तरमुख्यार्थस्य ‘अवरोहति’ इति क्रियापदस्य विषयतया
स्मृतिशून्यीभवनरूपार्थे लक्षणाऽनामेनाप्यङ्गीकरणीयैव । तथा च तत्पदबोधस्य स्मृति-
विषयभावरूपतात्पर्यार्थस्य ‘न’ इति निषेधेन स्मृते सुप्रतीयमानत्वादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नीर्वी नियम्य—' इस पद्य में नाभि का विशेषण दिया गया है—सासिजोदरसोदर—कमलगर्भ की सगी बहन, जिसका मुख्य (अभिधावृत्ति-बोध्य-वाच्य) अर्थ होता है—'एक पेट से उत्पन्न होनेवाली ।' परन्तु यह मुख्य अर्थ यहाँ बाधित-अनन्वित-है, अतः इस पद की 'समान' अर्थ में प्रयोजनमूला लक्षणा करनी पड़ेगी और प्रयोजन है—शोभा में समान भाग ग्रहण करना—अर्थात् विधाता के यहाँ से शोभा के वितरणकाल में दोनों को उसका बराबर हिस्सा मिलना । इस तरह जब सोदर पद की लक्षणा से 'सादरय' की उपस्थिति होती है, तब यहाँ आर्थी—अर्थमूलक उपमा की सिद्धि होती है । यह लक्ष्य उपमा सम्पूर्ण पद्य से प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले स्मृति-भाव की उपस्कारिका-योधिका-है । स्मृति यहाँ कैसे अवगत होगी ? यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि 'उत्तरना' रूप मुख्य अर्थ बाधित होने के कारण 'अवरोहति' पद की लक्षणा करनी पड़ती है 'विषयतया स्मृतिशून्यत्वमवन-नाभिकान्ति के विषय में विस्मरण होने-में, और उसके साथ 'न' के बोध से अर्थात् 'विस्मृत होने' के निषेध से स्मृति अभिव्यक्त होती है ।

लक्ष्योपमाबोधकशब्दान्तराणि निर्दिश्यन्ते—

पद्यं प्रतिभटप्रतिमह्लादिशब्दानां लक्ष्योपमाबोधनतदीयशोभारूपसर्वस्वापहरणादेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्सादरयवृत्ति लक्षणैव, न व्यञ्जना । मुख्यार्थस्य बाधात् । प्रयोजने पुनर्व्यञ्जनैवेति ।

यपोकस्यले सोदरपदस्य सदृशे लक्षणा, तथैव 'चन्द्रप्रतिभट मुखम्', 'चन्द्रप्रतिमस्त मुखम्' इत्यादी प्रतिभटप्रतिमह्लादिशब्दानामपि सादरयविशिष्टे लक्षणा प्रथमस्यले चन्द्रा-ध करणप्रतीति द्वितीयस्यले चन्द्रशोभासर्वस्वापहरणप्रतीति प्रयोजनत्वात्, केचित् एता-दृशस्यले प्रतिभटप्रतिमह्लादिपदेभ्यो व्यञ्जनया सादरयविशिष्टाप्रतीति प्रतिपादयन्ति, तत्र युक्तम्, तेषां शब्दानां मुख्यार्थेषु बाधितेषु समुल्लसति सादरयविशिष्टार्थे लक्षणायाः प्रसङ्गेन व्यञ्जनाया अयोगात् । प्रयोजने व्यञ्जनाऽस्तीत्यत्र न केपामपि विमतिः । तथा चैतादृशपदयुक्तकाव्येष्वपि लक्ष्यभूतौपमा भवतीति भावः ।

सौदर पद की तरह अन्य उपमालक्षक शब्दों का निर्देश करते हैं—एवम् इत्यादि । सौदर पद की तरह 'प्रतिभट' 'प्रतिमह्ला' आदि पदों की भी स्थलविशेष में 'उसे नीचा कर देना' 'उसकी शोभारूप सम्पत्ति का हरण कर लेना' आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिए 'सदृश' अर्थ में लक्षणा की जाती है । तात्पर्य यह कि—'चन्द्र का प्रतिभट मुख', 'चन्द्र का प्रतिमह्ला मुख' इत्यादि स्थान में भी लक्षणा के द्वारा ही प्रतिभट, प्रतिमह्ला आदि पदों से (चन्द्र) सदृश का बोध होता है । अतः किसी का यह कथन कि ऐसे स्थलों में उक्त पदों से व्यञ्जना के द्वारा सदृश का बोध होता है सर्वथा असंगत है, क्योंकि ऐसे स्थल पर उक्त पदों का मुख्य अर्थ बाधित रहता है और बाधित अर्थ में पद की लक्षणा ही होती है व्यञ्जना नहीं, व्यञ्जना तो अन्य सभी वृत्तियों से अवगत नहीं हो सकने वाले अर्थ में ही माना जातो है । हाँ, उक्त प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है इसमें किसी का भी मतभेद नहीं हो सकता । सारांश यह हुआ कि उक्त (चन्द्रप्रतिभट मुख आदि) स्थल में भी लक्ष्य उपमा होती है ।

व्यङ्ग्यार्थेऽपुपमाया अलङ्कारत्वं समर्थयति—

क्वचिद् व्यङ्ग्यापि चैयमुपमालङ्कारः ।

स्थलविशेषे व्यञ्जनावृत्तिबोधाऽपि इयमुपमा मुख्यार्थोपस्कारकत्वादलङ्काररूपा भवतीति भावः ।

व्यङ्ग्य होने पर भी उपमा अलङ्काररूप होती है, इस बात का समर्थन करते हैं—
कचित् इत्यादि। कहीं स्थलविशेष में (जहाँ मुख्य अर्थ कोई दूसरा रहता है वहाँ)
व्यङ्ग्य होकर भी उपमा, दूसरे को अलङ्कृत करने के कारण, अलङ्काररूप होती है।

उदाहरण निर्देष्टुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्रं हृष्यसि ।

भूमण्डलमिदं मूढं केन वा विनिभालितम् ॥’

अथि चन्द्र ! त्व, रुचा कान्त्या, आत्मानम् स्वम्, अद्वितीयम् अनुपमम्, मत्वा
स्वीकृत्य, किं, हृष्यसि हर्षमनुभवसि ? अनुवितोऽयं तव हर्षानुभव इत्यर्थः । तत्र हेतु-
माह—मूढं वस्तुतत्त्वानभिज्ञ ! केन जनेन, इदं निश्चित, भूमण्डलम् जगत्, विनिभालितम्
विशेषेण दृष्टम् ? न केनापीति भावः । अज्ञातोऽत्र भूमण्डलस्य क्वापि प्रदेशे ततोपमानमूढ-
पर्यायं सम्भवतीति तदर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अद्वितीयमिति । हे चन्द्र ! तू अपने को कान्ति से
अद्वितीय समझ कर क्या हड़ हो रहा है—क्यों इतना इतरा रहा है ? ओरे मूर्ख ! इस
विस्तृत जगत् को किसने खोज देता है—न जाने कहाँ क्या मिल जाय !

प्रसङ्गमवगमयति—

कस्यचिद्विदेशस्थितस्य किरणैरात्मानं सन्तापयन्तं चन्द्रं प्रत्येपोक्तिः ।

विदेशस्थितो (निरही) नायकः सन्तापकत्वेनानुभूयमानं चन्द्रमुद्दिश्य ‘अद्वितीयम्-’
इति पद्यं वक्षतीति भावः ।

प्रसङ्ग का ज्ञान कराते है—कस्यचित् इत्यादि । ‘अद्वितीयम्-’ यह पद्य, किसी
विदेशवासी—अर्थात् निरही नायक का, किरणों से अपने को सतप्त करते हुए चन्द्रमा के
प्रति कथन है ।

उपपादयति—

अत्र च अस्ति मम प्रियायाः कदापि बहिरनिर्गतायाः, अत एव त्वयाप्य-
दृष्टाया आननं त्वत्सदृशमिति प्रतीयमाना उपमा मूढपदेन ध्वन्यमानायां चन्द्र-
विषयायां वक्तृगततायामसूयायामलङ्कारः ।

अत्र चेति । प्रतीयमानेत्यग्रास्यान्वयः । प्रतीयमाना उपमेति । अत्र ‘अग्रोपमान-
स्योपमेयत्वव्यपनात्मकप्रतीपक्यैव व्यङ्ग्यत्वम् मूढपदस्वारस्यात्, चमत्कारातिशयान,
‘किं हृष्यसि’ इत्येतत्स्वारस्याच्चेति चेष्टित’ इति भावः । ‘अद्वितीयम्—’ इति पद्ये
उत्तरार्धेनोपमा ध्वज्यते । या मम प्रियया दूरस्थिता कदापि भवनाद् बहिः पदं न दधाना
त्वया न दृष्टा, तस्या मुखं तव समानमिति तस्या उपमाया आननम् । एव रीत्या व्यङ्ग्यता-
पीयुषोपमा अलङ्काररूपा, मूढपदाभिव्यज्यमानचन्द्रविषयस्वक्तृपुरुषनिष्ठासूयाभावस्य मुख्य-
वाक्यार्थस्योपस्करणादिति ।

उपपादन करते हैं—अत्र च इत्यादि । ‘अद्वितीयम्—’ इस पद्य में उत्तरार्ध से उपमा
अभिव्यक्त होती है—अर्थात् यह अभिव्यक्त होता है । मेरी प्रियतमा, जो कभी घर से
बाहर नहीं निकळी अतएव जिते तू भी देख नहीं पाया, उसका मुख तेरे समान है ।

इस तरह व्यङ्ग्य होकर भी यह उपमा हस्तलिखे अलङ्काररूप होती है कि—वह, मूढ़ पद से ध्वनित होने वाली चन्द्रमा के विषय में वृत्ता की 'असूया' (भाव)—जो इस पद्य का मुख्य वाक्यार्थ है—को उपलब्ध-अलङ्कृत-करती है।

दीक्षितमतं समीक्षते—

एतेनाप्यदीक्षितैरुपमालक्षणे दत्तमव्यङ्ग्यत्वविशेषणमयुक्तमेव । नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोरस्ति कश्चिद्विरोधः । प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायां तु प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादलङ्कारलक्षणं तत्र मातिप्रसाहोदित्युपस्कारकत्वेन पुनर्विशेषणीयम्, न त्वव्यङ्ग्यत्वेन, प्रागुक्तयामसूयालङ्कारोपमायामव्याप्यापत्तेः । विशिष्टोपमादिस्थले विशेषणायुपमानां वाच्यसिद्धयङ्गत्वया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, सिद्धार्थस्योपस्करणाभावात् नालङ्कारत्वमिव न काव्यसङ्गतिः ।

एतेनेति । एतेनापीत्यर्थः । अपिना प्रागुक्तदूषणसमुच्चयः । प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायामिति । अलङ्कारस्यैव प्राधान्येन व्यङ्ग्यतायामित्यर्थः । मातिप्रसाहोदिति । मातिप्रसक्तं स्यादित्यर्थः । ययव्यङ्ग्यस्यैव सादर्यस्योपमात्वं स्वीकृतं स्यात्तदा 'अद्वितीयम्—' इति पद्यविशेषतासूयापोषिकाया व्यङ्ग्योपमाया संग्रहो न स्यात्, अतः उपमालक्षणघटकसादर्य-निरूपणतया दीक्षितैः कृतोऽव्यङ्ग्यपन्निवेशोऽनुचितः । युक्तं चैतत्, यतो व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधो नास्ति, तयोर्विरोधे वाच्यत्वालङ्कारत्वयोरपि विरोधः कुतो न भवेत् विशेषाभावात् ! सत्यं त्वेतत्, यत् प्रधानत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधोऽस्ति, प्रधानस्यालङ्कार्यत्वेनालङ्कारत्वासम्भवात्, अतो यत्र प्रधानत्वाऽलङ्कार एवाभिव्यज्यते, तत्र तादृशोपमादाह लङ्कारलक्षणप्रसक्तिनिरासाय सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेभ्यः वाक्यार्थोपस्कारकत्वं निवेशनीयम् । ननु विभ्यप्रतिविम्बभाषणसंसारणपमादिमूलिका या उपमा प्रागुक्तास्तत्र विम्बप्रतिविम्बभूतयोर्विशेषणयोरपि उपमा भवत्येव, परन्तु सा व्यङ्ग्या, एवञ्च तद्वारणाय सङ्गोऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणं दीक्षितोक्तं युज्यमिति चेत्, एवंविधोपमाया वाच्यप्रधानीभूतोपमासाधकतया वाच्यसिद्धयङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति पूर्वसिद्धार्थोपमाभामकत्वविरहेण तत्रालङ्कारत्वस्यैवास्तत्त्वात् । सिद्धार्थालङ्कारणदेवालङ्कारत्वं भवति, तादृशवान्तरोपमा तु साध्यमानप्रधानीपमापौर्षेका न सिद्धापीपेस्कारकंति भावः ।

अप्यदीक्षित के मत की समीक्षा करते हैं—एतेन इत्यादि । 'अद्वितीयम्—' इत्यादि, व्यङ्ग्य उपमा के लक्षण प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि—अप्यदीक्षित ने अलङ्काररूप उपमा के लक्षण में 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण जो लगाया है अर्थात् उन्होंने जो यह सिद्ध किया है कि व्यङ्ग्य न होने पर ही 'सादर्य' 'उपमा' है, वह सर्वथा अनुचित है क्योंकि व्यङ्ग्यता अलङ्कारता में कोई विरोध नहीं है । विरोध यदि है तो प्रधानता और अलङ्कारता में—अर्थात् प्रधान अर्थ अलङ्कार नहीं हो सकता । फलतः प्रधान व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं हो सकता यही वास्तविक बात हुई, अतः प्रधान व्यङ्ग्य में अलङ्कार का लक्षण सहजित नहीं हो इसके लिए उपाय करना आवश्यक है, सो, उसके लिए क्या उपमा क्या अन्य अलङ्कार सभी अलङ्कारों के लक्षणों में 'वाक्यार्थोपस्कारक'—अर्थात् 'मुख्य वाक्यार्थ को रोमित करने वाला—विशेषण जोड़ना चाहिए, 'अव्यङ्ग्य' 'व्यङ्ग्य न रहना' यह विशेषण नहीं, क्योंकि यदि 'वाक्यार्थोपस्कारक' की जगह 'अव्यङ्ग्य' यह विशेषण जोड़ा जायगा, तब उक्त 'असूया' को अलङ्कृत करने वाली व्यङ्ग्य उपमा में उपमालक्षण की अव्याप्ति हो जायगी—अर्थात् 'अद्वितीयम्' इस पद्य में जो व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नहीं है और प्रधाव 'असूया' को अलङ्कृत भी करती है, उस उपमा का अलङ्काररूप में संग्रह नहीं हो सकेगा । 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण से तो दोनों

घाते घन जाती है—अर्थात् जो उपमा प्रधान रूप में व्यक्त होगी, उसका निराकरण भी होगा क्योंकि उस तरह की उपमा वाक्यार्थोपस्कारक नहीं होगी—स्वयं वाच्यार्थ रूप रहेगी, और उक्त लक्ष्योपस्कारक उपमा का समग्र भी होगा, क्योंकि यहाँ 'असूया' प्रधान वाच्यार्थ है और उसको अलङ्कृत करने वाली उपमा व्यङ्ग्य लेकर भी अधधान ही है। आप कहेंगे—यदि 'अव्यङ्ग्य' के बदले 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण उपमालक्षण में जोड़ा जायगा, तब विशिष्टोपमा—अर्थात् विम्बप्रतिविम्बभावापन्न साधारण धर्म से बनने वाली उपमा आदि अलङ्कारों के स्थल पर विम्बप्रतिविम्बभावापन्न विशेषणों की परस्पर होते वाली व्यङ्ग्य उपमा के धारण के लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण लगाना ही उचित है, क्योंकि प्रधान उपमा के उपस्कारक होने के कारण 'वाक्यार्थोपस्कारक' विशेषण से उसका धारण नहीं हो सकता, तो यह कथन अकिञ्चिक है, क्योंकि वैसे स्थलों पर वह विशेषणों की उपमा, चाप्य प्रधान उपमा के साक्षर होने से वाच्यसिद्धि का अङ्ग होती है, अतएव उसको गुणीभूत व्यङ्ग्य मानना पड़ेगा और इस रिमिति में वह अलङ्कारक हो ही नहीं सकती, क्योंकि किसी पूर्वसिद्ध अर्थ को अलङ्कृत करने के कारण ही कोई अर्थ अलङ्काररूप होता है और यह विशेषणों की उपमा (सारथ्य) किसी पूर्वसिद्ध अर्थ को अलङ्कृत करती नहीं, अर्थात् वह जिस प्रधान उपमा को अलङ्कृत करती है, वह पूर्व सिद्ध अर्थ नहीं है, अपितु स्वयं साध्यरूप है। फलतः 'अलङ्कार' इस नामकरण से ही उस उपमा का धारण हो ही जायगा, उसके लिये 'अव्यङ्ग्य' विशेषण की लक्षण में साक्षरपकता नहीं है।

पुनरन्यासप्रयत्नीक्षितोक्ति समीक्षते—

यद्यपि "सत्यमुपमा सत्तेष्वतिविधा—कचित्स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता। यथा 'सच्छिन्नमूल' क्षतजेन रेणुः' इत्यादी। कचिदुच्चर्योपपादनपरा। यथा 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यादी। कचिद् व्यङ्ग्यवधाना सा" इति तैरेव त्रिविध-रिरोमणिभिरभ्यधीयत। तदप्यहममेव। 'नयने शिरिरीकरोतु मे शरदिन्दु-प्रतिमं मुख तव' इति वाच्यवस्तूपस्कारिकाया शरदिन्दूपमाया अश्रोहीकरणात्। अलङ्कारभूतोपमासु स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ताया उपमायाः सङ्ग्रहे को नाम ध्वन्य-मानायास्तस्या निरासावाव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानदुराग्रहः? अहो महदेवेदमन्या-प्यम्—यदाक्षणीयायाः सङ्ग्रहः, लक्षणीयायाः सङ्ग्रह इति। प्राचीनानां तूपमा-सामान्य लक्ष्यता ध्वन्यमानाया इवास्या अपि सङ्ग्रहो नानुचितः। न तु स्वस्य यत्नेन ध्वन्यमानोपमां निरस्य कण्ठरवेणालङ्कारभूतोपमालक्षकस्य। यदि च प्रबन्धव्यङ्ग्योपस्कारकत्वेनैयं सङ्ग्रहात् इत्युच्यते, तदा 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता' इति स्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात्। 'अनन्तरत्नप्रभवस्य' इत्यत्र गुणसमूहसमा-नाधिकरण एको दोषो दोषत्वेन न स्फुरतीत्यस्यार्थस्य पूर्वार्धप्रतिपादितार्थ-समर्थनात्मकस्य सामान्यरूपस्य विशेषरूपोदाहरणप्रदर्शनमन्तरेण सम्यगाना-कलनादिन्दुकिरणसमानाधिकरणोऽङ्ग उदाहृतः, न तूपमानतया निर्दिष्टः, सा-मान्याद्विशेषस्य भेदामावेनोपमिति क्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालङ्कारोत्तरानवता-रादुदाहरणालङ्कारोऽयमतिरिक्तः। यथा 'इको यणचि' इति वाक्यार्थस्य सामा-न्यस्य विज्ञानापोदकोकारे दधोकारस्य च इति वाक्यान्तरेण तद्विशेष उदाह्रियते तद्वदत्रापीति तत्प्रसङ्गे विवेचनियमागः।

सच्छिन्नमूल इति। 'सच्छिन्नमूल क्षतजेन रेणुस्तस्कोपरिष्ठात्पवनावभूत'। श्रुतारशे-पस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽवमासे'। इति सङ्ग्रहम् पद्यम्। { श्रुतरो रात्म-

सर्गे) अत्रस्थ रणवर्णनमिदं बहिः कथयति—क्षतजेन रुधिरं, छिन्नगूलं कृतमूलदेश-
विच्छेदं, तस्य रुधिरस्य, उपरिष्ठात् उपरिभागे, पवनावबूतं, वायुपेरित- स अश्वत्थुरपुटो-
त्पित, रेणुं घृति, अद्भ्यशेषस्य अद्भ्यमात्रावस्थया स्थितस्य, हुताशनस्य अग्नेः,
पूर्वोत्थित- अद्भ्यारावस्थया प्राक् धूमावस्थया प्रसृतः, धूमः, इव, अवभाते शुशुभे ।
इति तदर्थः । अनन्तरत्वेति । 'अनन्तरत्नप्रभवस्य तस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको द्वि दोषो गुणत्रिपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः ॥' इति सम्पूर्णः श्लोकः ।
(कुमारसंग्रहे हिमाक्षवर्णनमिदम्—हिमं प्राप्तेयम्, अनन्तरत्नप्रभवस्य अगणनीयत्नो-
त्पत्तिस्थानभूतस्य, यस्य हिमालयस्य, सौभाग्यविलोपि सौन्दर्यनाशकं, न, जातम् अभूत्,
द्वि यत्, गुणसन्निपाते गुणसमूहे, एको, दोषः, इन्द्रो- यन्त्रमस, किरणेषु ज्योत्स्नासु,
अङ्कः कलङ्कः, इव, निमज्जति विसोयत इति तदर्थः) । तैरेवेति । अप्यदीक्षितैरेवेत्यर्थः ।
द्विविधशिरोमणिमिरिति । द्विविधदेशीयजनमुद्गिरित्यर्थः । एतेन तस्य रुद्धदेशीयत्वं प्रती-
यते । स्वरयेति । तपेत्यर्थः । नातुचित इत्यर्थानुपपन्नः । तथा च नातुचितो न—अनुचित
एवेति भावः । इयमिति । स्ववैचित्र्यमात्रविधानेत्यर्थः । विख्या स्यादिति । अत्र 'वस्तु-
तस्तु उपमासामान्यलक्षणस्यापि प्रकृतत्वेनोपमासामान्यस्यैवायं विभागः । उपमानोप-
मेयतावच्छेदकयोर्भेदाच्चास्त्येवोपमितिनिष्पत्तिः । अत एव सेयमुपमेत्येवोक्तम्, न त्वल-
ङ्कार इति । 'नयने शिशिरोकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिमं मुग्धं तव' इत्यत्र तु उक्तायोपपादन-
परैव मुखकर्तृजनयनकर्मकशिशिरीकरणस्य व्युत्पत्त्येनोपमयैवोपपत्तेः । उक्तायोपपादनेत्यस्य
चोक्तार्थस्योपपादनमुक्तायैवोपपादनमित्यर्थद्वयम् विनिगमनाविरहात् इति न दोष इति
चिन्त्यमिदमिति बोध्यम् ।' इति नागेशः । उक्तायोपपादनपरोपमायास्तदुक्तमुदाहरणं
दूषयति—अनन्तेति । स्फुरन्त्यस्येत्यर्थेति । तृतीयचरणप्रतिपादकस्येत्यर्थः । उपमान-
रूपेणानिर्दिष्टत्वे हेतुमाह—सामान्येति । अन्वयतारदिति । अस्याप्रे तथा चेति शेषः ।
अलङ्कारोऽयमतिरिक्त इति । अत्र 'अदत्त्वा मादशो माभूर्दत्त्वा त्वं त्वादशो भव' इत्यभिज्ञ-
धर्मिकोपमायाः उपमानतावच्छेदकोपमेयतावच्छेदकभेदेनोपमिति क्रियानिष्पत्तेरुपमालङ्कारव्यव-
हारस्य न सर्वसम्मतत्वेन तद्वदिहापि सामान्यधर्मविरोधधर्मयोस्तयोर्भेदेन तक्षिपत्ते-
संभवानुदाहरणालङ्कारो मास्त्वतिरिक्त इति तदाशयात्पि न्यस्येतत् । इति नागेशः । उक्-
तकोटारे दधीकारस्य य इति । अत्र ययपि मूले 'उकारे दध्युदकेकारस्येवे'ति पाठो दृश्यते,
तथापि छान्दोग्यतया नागेशाभिमत एव पाठो मया मूले समावेशितः । तत्प्रसङ्गे इति ।
उदाहरणालङ्कारप्रसंग इत्यर्थः । स्ववैचित्र्यमात्रविधान्तत्वेन, उक्तायोपपादनपरत्वेन,
व्यङ्ग्यप्रधानत्वेन चोपाधिना यदुपमाया संक्षेपतत्त्वविध्यमुक्तं दीक्षितेन, तत्र युक्तम्,
'नयने शिशिरोकरोतु—' इति प्रागुक्तवाच्यवस्तुपस्कारकशरचन्द्रोपमाया असंप्राप्तात् ।
रूपमा न स्ववैचित्र्यमात्रविधान्ता, वाच्यवस्तुपस्कारणात्, नोक्तायोपपादनपरं, उक्तार्थ-
स्यान्यथाऽप्युपपत्तेः, न वा व्यङ्ग्यप्रधाना नमत्कारिणो व्यङ्ग्यार्थस्य तत्राभावादिति
तात्पर्यम् । अपरवैतद्युक्तत्वं तदुक्तं यत् अन्यशोभासम्पादकत्वविरोधानालङ्कारभूता या
स्ववैचित्र्यमात्रविधान्ता 'सच्छब्दमूल—' इत्यादिस्वलोपा उपमा (राक्षसमात्रम् न
तु अलङ्कारः) तस्या अलङ्कारभूतोपमामेदकवनावसरे संप्रहं कियते, या तु अन्यशोभा-
करत्वेनालङ्कारभूता अत एव रुधिरितु योग्या व्यङ्ग्यभूतोपमा, तस्या, रुधरोऽव्यङ्ग्यत्व-
निवेशेन निराकरणं विधीयते इति । ननु प्राचीनैरपि स्ववैचित्र्यमात्रविधानोपमायाः
संप्रहो विहित इति नैतन्ममापि दोषायेति चेत्, उपमासामान्यलक्षणं कुर्वताम् प्राञ्ज-

तत्तद्ब्रह्मस्य दोषानाधायकत्वेऽपि अलङ्कारभूतोपमा लक्षणं रचयतस्तत्र कृते तत्सत्ब्रह्मस्य दोषाधायकत्वधौग्यात् । न च प्रबन्धव्यङ्ग्यस्य रसादेरुपस्कारकतया 'सच्छिन्नमूल—' इत्यत्रत्याया तथाविधाया अन्यस्या अपि उपमाया सग्रह उचित एवेति वाच्यम्, तथा सति तथाविधोपमाया स्ववैचित्र्यमात्रविधान्तत्वकथनस्य विरुद्धत्वापत्ते । अन्या-र्थोपस्कारिकोपमा स्ववैचित्र्यमात्रविधान्ता न भवितुमर्हतीति तत्त्वम् । मयापि सामान्यो-पमाया एव लक्षणं कृतं चालङ्कारभूतोपमाया इति तु भवता वक्तुमयोग्यम्, तथा सति व्यङ्ग्योपमानिरसनायासस्य वैयर्थ्यापातात् । 'अनन्तरत्न—' इति परे उक्तार्योपपादन-परोपमा इति यदुक्तं तेनैव, तदपि नीचितम्, तत्रोपमाया एवासत्त्वात् । तथा हि— 'विविधरत्नोत्पादकस्य हिमालयस्य सौन्दर्यं दूरीकर्तुं प्राज्ञेयं न प्रभवतीति तत्पदपूर्वार्धा-र्थस्य' समर्थनाय, 'गुणसमूहप्रमानाधिकरण (गुणगणयुक्ते वस्तुनि विद्यमान) एको वोप लोच्यष्टौ दोषरूपेण न प्रतिभासते' इत्यर्थो वर्णित कविना, स च तावत् स्पष्टो न भवति, यावत् तादृशमुदाहरणं दृष्टिपथं नावतरति, अतस्तादृशोदाहरणप्रदर्शनाय कविना गुण-गणगरिष्टेन्नुक्तिरणगतं अहं उपन्यस्त, ननु उपमानभावेन । अनूपमानभावेनैव तद्विदेश-स्वीकारे का क्षति ? क्षतिस्तु कापि न, परन्तु तत्र तस्योपमानत्व सम्भवत्येव नैत्यसमञ्ज-सम् । कुतो न तत्र तस्योपमानत्व सम्भवतीति चेद् ? जातन्तु—भिन्नवोरेव पदार्थयो-रुपमानोपमेयभावो भवतीति सर्वसम्मतता प्रसिद्धिः, इह तु गुणसमूहगतैकदोषस्य चन्द्र-किरणगतकलङ्कस्य च सामान्यविशेषमाश्रमापन्नस्य 'नहि निर्विशेषं सामान्यं भवति' इति सिद्धान्तेन विशेषोद्देशभावात् उपमानोपमेयभावो न भवितुमर्हति । एवञ्चात्रोपमालङ्कारो नास्ति, अपि तु उदाहरणालङ्कार एवोपमानो मित्र । स चालङ्कारस्तत्र भवति, अत्र सामान्यरूपं किञ्चिदुक्त्वा तद्विशेषं वाक्यान्तरद्वारा प्रतिपाद्यते, यथा 'इहो यणचि' (इह स्थाने यण् स्यादचि) इति सामान्यकथनानन्तरं स्फुटं तत्प्रतिपत्तये (दध्युदकम् इत्यत्र) 'उकारे परे दधिशब्दघटकेकारस्य य' इति विशेषं प्रतिपाद्यते स च विशेष उदाहरणशब्देन शाब्दिकैर्व्यवहियते । अस्यालङ्कारस्य विषये विशदमन्त्रे ग्रन्थकृता विवेचनं विधीयते, अतोऽत्र नाधिकं तद्विषये कथ्यते इति भावः ।

तुन अप्यपदीक्षित की ही एक अन्य उक्ति की समीक्षा करते हैं—यद्यपि इत्यादि । अप्यपदीक्षित ने ही जो यह कहा कि—संक्षेप में यह उपमा तीन प्रकार की है—1-कहीं अपकी विधिप्रता में ही पूर्ण हो जानेवाली अर्थात् दूसरे किसी को अलङ्कृत नहीं करने वाली, जैसे—'सच्छिन्नमूलः—' (सम्पूर्ण पद्म सस्कृतटीका में देखिये) (रघुवश ७ सर्ग) (अज का युद्धवर्णन है । कवि की उक्ति है—घोड़े-हाथी आदि के पैरों से उठी हुई जिस धूलि की जड़ रुधिर ने काट दी अर्थात् रुधिर से आद्र हो जाने के कारण जिस धूलि का सवन्ध धरातल से विच्छिन्न हो गया, वायु के द्वारा रुधिर से ऊपर उड़ा दी गई यह धूलि, अङ्गारे-मात्र-बची हुई आग के पहले से ऊपर उठे, धूर्त के समान शोभित हो रही थी ।) इत्यादि में । (यहाँ सम्पूर्ण पद्म का अर्थ उपमारूप है, उससे अन्य अर्थ की पुष्टि नहीं होती, अतः यह उपमा अपने आप में पूर्ण है ।) 2—कहीं उक्त अर्थ को सिद्ध करने वाली, जैसे—'अनन्तरत्नप्रभवस्थ—' (सम्पूर्ण रत्नोक्त सस्कृतटीका में देखिये) (कुमारसम्प में हिमालय का वर्णन है—अगणित रत्नों के उत्पत्ति स्थान हिमालय के सौभाग्य को, हिम (पाला) नष्ट नहीं कर पाया—हिम के कारण हिमालय की सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं हुआ । कारण, एक दोष, गुणों के समूह में विलीन हो जाता है—उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क ।) इत्यादि में । (यहाँ कलङ्क की उपमा, हिम से हिमालय के सौभाग्य नष्ट न हो सकनेरूप

उक्त अर्थ को सिद्ध करती है।) और ३—कहीं ऐसी उपमा होती है, जिससे व्यङ्ग्य (रस आदि) प्रधान अर्थ उपस्कृत होता रहता है। वह भी सुन्दर नहीं, क्योंकि 'नयने शिथिलीकरोगु—अर्थात् शारकालिक चन्द्र के तुल्य तेरा मुख, मेरी आँखों को शीतल करे' यहाँ जो वाच्य अर्थ को सुशोभित करनेवाली शारचन्द्र की उपमा है, उसका उक्त तीनों प्रकारों में से किसी में भी समावेश नहीं हो सका। इस वर्गीकरण को देखकर पुनः उपमा के लक्षण में आप के द्वारा निवेदित 'अव्यङ्ग्यत्व' विशेषण, स्मृतिपथ में, आ जाता है। अर्थात्—जब आपने अलङ्कारभूत उपमा का वर्गीकरण करते समय, 'अपनी ही विचित्रता में पूर्ण हो जाने वाली उपमा' का भी संग्रह किया है,—तब व्यङ्ग्य उपमा को उपमा की श्रेणी से हटाने के लिये लक्षण में 'व्यङ्ग्य न हो' यह विशेषण देने का दुराग्रह आपको क्यों है यह समझ में नहीं आता। ओह! यह सबे अव्याय की घात है कि—त्रिमका लक्षण नहीं बनाया है (जो अलङ्काररूप है ही नहीं) उसका संग्रह किया गया है और त्रिमका लक्षण बनाना उचित है (जो अलङ्काररूप है) उसका संग्रह नहीं किया है—उसको छोड़ दिया गया है। तात्पर्य यह कि स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त उपमा—जो वस्तुतः उपमा नहीं है—को आपने उपमा की श्रेणी में गिना है और व्यङ्ग्य उपमा—जो वस्तुतः उपमा है—को उपमा की श्रेणी से निकाल बाहर किया है, यह बात सर्वथा न्याय-विरुद्ध है। प्राचीनों ने भी, 'अपनी विचित्रता में ही पूर्ण हो जाने वाली उपमा' को उपमा की श्रेणी से बहिष्कृत करने का कोई प्रयास नहीं किया है—अर्थात् उन्होंने भी उपमा का ऐसा ही लक्षण बनाया है, जिससे उक्तविध उपमा का भी संग्रह होना है, अतः यह अनौचित्य—यदि वस्तुतः अनौचित्य है—तो उनमें भी है, यह आप नहीं कह सकते, क्योंकि प्राचीनों ने व्यङ्ग्य उपमा के चारण के लिये भी कोई पक्ष नहीं किया है, अतः यह सिद्ध है कि उन्होंने सामान्यतः उपमापदार्थ का लक्षण बनाया है—अलङ्कारभूत उपमा का नहीं। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त उपमा' का भी संग्रह करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, पर आपने तो उपमालक्षण में 'अव्यङ्ग्य'—विशेषण के द्वारा व्यङ्ग्य उपमा—जो आपके हिसाब से अलङ्कारभूत नहीं होती—को बहिष्कृत करके स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर दिया है कि मैंने (आपने) अलङ्कारभूत उपमा का ही लक्षण किया है, ऐसी स्थिति में आपको 'अपने आप में परिपूर्ण होने वाली' वस्तुतः अलङ्कारभूत उपमा की गणना उपमा की श्रेणी में नहीं करनी चाहिए थी, किन्तु आपने गणना की है, अतः आप अपने को 'अनुचितकारिता' दोष से मुक्त नहीं कर सकते। यह भी आप नहीं कह सकते हैं कि 'संघिन्नमूल—आदि पद्यों में जिस तरह की उपमा है उसका संग्रह इसलिये किया गया है कि वह समग्र ग्रन्थ से अभिव्यक्त होने वाले वीर रस आदि की उपस्कारिका रहती है', क्योंकि यदि वह उपमा किसी व्यङ्ग्य को उपस्कृत करती है, तब वह 'स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्त' नहीं कही जा सकती और आपने उसको बैठा ही कहा है अतः आपकी उक्ति अपनी ही उक्ति से विरुद्ध हो जायगी। इसी तरह आपने जो 'अनन्तरत्नप्रभवस्य—' इस पद्य की चर्चा उक्तार्थोपपादक उपमा के उदाहरणरूप में की है, वह भी गलत है। काण, वस्तुतः उस पद्य में उपमा अलङ्कार है ही नहीं, क्योंकि 'कलङ्क' का निर्देश वहाँ उपमान के रूप में नहीं हुआ है, हो भी कैसे, जब कि वह (चन्द्रकिरण का कलङ्क) एक विशेषरूप है और 'गुणसमूहगत एक दोष' उमीका सामान्यरूप, जिनमें कोई भेद नहीं होता और उपमा ही जाता है किसी भिन्न पदार्थ से ही। तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य-विशेषभाव वाले दो पदार्थों में वस्तुतः भेद नहीं होता, अतएव 'न हि निर्विशेष सामान्य भवति—अर्थात् विशेष से भिन्न सामान्य कोई चीज नहीं होती' ऐसा सिद्धान्त माना गया है, ऐसी स्थिति में विशेषरूप चन्द्रकिरणगत कलङ्क के साथ सामान्यरूप गुणसमूहगत एक दोष की तुलना नहीं की जा सकती है। अतः ऐसा मानना चाहिए कि उक्त पद्य के पूर्वार्थ में कथित बात

के समर्थन में उत्तरार्थ के द्वारा यह एक सामान्य बात कही गई है कि—‘गुणसमूह के साथ रहने वाला एक दोष दोषरूप से ध्यान में नहीं आता।’ यह सामान्य बात, जब तक कोई विशेष उदाहरण नहीं दिया जाय, तब तक अच्छी तरह समझ में नहीं आती, इसलिए, ‘चन्द्रमा की किरणों के साथ रहने वाले कलङ्क’ का उदाहरण दिया गया है, अतएव यह ‘उदाहरण’ नाम का उपमा से एक अन्य ही अलङ्कार है। वह (उदाहरणालङ्कार) वहाँ होता है, जहाँ एक वाक्य के द्वारा किसी सामान्य बात के कथन के बाद, दूसरे वाक्य द्वारा विशेष बात कहकर उक्त सामान्य बात का स्पष्ट ज्ञान कराया जाय। जैसे ‘इको यणचि (अर्थात् किसी स्वर के आगे रहने पर पीछे रहने वाले इ, उ, ऋ, ए इन वर्णों के स्थान में क्रमशः य, घ, र, ल ये चार वर्ण हो जाते हैं)’ इस सामान्य बात को समझाने के लिए यह कहा जाता है कि “जैसे—‘दध्नुकम्’ इस प्रयोग में उदक पद के उकार के परे इधि पद के इकार को यकार हो गया।” व्याकरणशास्त्र में यह उदाहरण नाम से प्रसिद्ध भी है, उसी तरह काव्य में चमत्कारजनक ऐसी स्थिति में उदाहरणालङ्कार होता है, जैसे ‘अनन्तरत्न—’ इस पद्य में हुआ है। आगे जब उदाहरणालङ्कार का प्रकरण आवेगा, तब और अधिक इसके विषय में विचार किया जायगा।

पुन दीक्षितोक्तिमेवालोचयति—

यथाप्यदीक्षितैः ‘लुप्तायां तु नैवं भेदाः । तस्यां साधारणधर्मस्यानुगामिता-
नियमात्’ इत्युक्तम्, तन्न । ‘मलय इव जगति पाण्डुर्यल्मीक इवाधिधरणि
धृतराष्ट्र’ इत्यनुगामिधर्मस्याप्रत्ययाच्चन्दनानां पाण्डवानाम्, सर्पाणां दुर्यो-
धनादीनां च बिम्बप्रतिबिम्बभाषस्यैव प्रतिपत्तेः ।

मलय इवेति । जगति ससारे, पाण्डु तन्नामको महाभारतख्यातो राजा, पाण्डवाना-
जनक इति यावत्, मलय मलयाचल, इव, (येन चन्दनकल्पा सुखदायका पाण्डवा जनिता)
धृतराष्ट्र इत्यनामप्रसिद्धो नृप, कौरवाणां पितेति यावत्, च अधिधरणि (अधीन्यव्ययेन
धरणिशब्दस्याव्ययीभावसमासः) तेन धरण्यामित्यर्थः, वरमीक वामलूरविवरम्, इव,
(येन सर्पवद्गुह्यदायका कौरवा उत्पादिता) इत्यर्थः । लुप्तोपमायां साधारणधर्मो निय-
मतोऽनुगाम्येव भवतीति तत्र धर्मवैविध्यमूला प्रायुक्ता प्रभेदा न जायन्त इति यरमयित
दीक्षितमहाभागेन, तदपि ॥ समीचीनम्, ‘मलय इव’ इति काव्ये मलयपाण्डवो वल्मीक-
धृतराष्ट्रयोश्चोपमाइव लुप्तसाधारणधर्मे, अनुगामिसाधारणधर्मस्याप्रतीत्या प्रथमोपमाया
बिम्बप्रतिबिम्बभाषाप्रत्ययौ चन्दनपाण्डवयो, द्वितीयोपमाया तथाविधयो सर्पकौरवयोश्च
साधारणधर्मतया स्वीकरणीयत्वात् । तथा न लुप्तोपमायामपि वशात्सम्भव धर्मवैविध्यप्रदुक्ता
भेदा भवन्त्येवेति भावः ।

पुन दीक्षित के कथन की आलोचना करते हैं—यच्च इत्यादि । अप्यदीक्षित ने
जो यह कहा है कि—‘लुप्तोपमा में तो इस तरह के (साधारणधर्म की विचित्रता के
कारण होने वाले) भेद नहीं होते, क्योंकि उसमें साधारणधर्म का अनुगामी होना
निश्चित है अर्थात् लुप्तोपमा में साधारणधर्म अनुगामी ही होता है, अन्य किसी प्रकार
का नहीं’ वह भी सङ्गत नहीं । कारण, ‘मलय इव—अर्थात् जगत् में पाण्डु—पाण्डवों
का पिता, मलयाचल के तुल्य है (जिसने चन्दन के समान सुखदायक पाण्डवों को
उत्पन्न किया) और धृतराष्ट्र—कौरवों का पिता, इस पृथ्वी पर, वरमीक (दीवदे का
भिण्डा) के समान है (जिसने सर्पों के समान दुखदायी कौरवों को उत्पन्न किया)।’
इस धर्मलुप्ता में कोई अनुगामी समान धर्म विदित नहीं होता, अतः समान धर्म की
वृत्ति के लिये चन्दनों और पाण्डवों का तथा सर्पों और दुर्योधन आदि कौरवों का बिम्ब
प्रतिबिम्बभाव ही मानना पड़ेगा ।

अत्र विम्बप्रतिविम्बभावस्यासम्भवमाशंस्य समाधत्ते—

न च शब्देनोपात्तत्वं विम्बप्रतिविम्बभावे तन्त्रमित्याग्रहो विदुषामुचितः ।
श्रौतत्वार्थत्वाभ्यां विम्बप्रतिविम्बभावस्य द्वैविध्योचित्यात् । अत एवाप्रस्तुतप्र-
शंसादौ प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरौपम्यमवयव-विम्बप्रतिविम्बभावमूलं सङ्गच्छते ।

शब्देनोपात्तत्वमिति । विम्बप्रतिविम्बभावाधारतया विवक्षितयोः पदार्थयोरिति भावः ।
तन्त्रम् नियामम् । विम्बप्रतिविम्बभावस्य द्वैविध्ये प्रमाणमुपन्यस्यति—अत एवेति ।
तस्य द्वैविभ्यादेवेति तदर्थः । तयोरेव पदार्थयो विम्बप्रतिविम्बभावो भवति यौ शब्दे-
नोपात्तौ तिष्ठतः । एषय पूर्वोक्तस्थले चन्दनपाण्डवानाम्, सर्पदुर्योधनादीनाम् विम्ब-
प्रतिविम्बभावो न भवेत्, तेषां शब्देनात्रानुपादानादिति शङ्काशयः । सादृशनियमे माना-
भावः, अतः शब्देनोपादानस्थले श्रौतं तेनानुपादानस्थलेऽपि श्रव्यं, प्रतीतौ पुन आर्यं
इति द्विविधो विम्बप्रतिविम्बभावः । आर्यस्यापि तस्यस्त्रीशरादेवाप्रस्तुतप्रसादायलङ्कारे
प्रस्तुतवाक्यार्थसौभर्यादविरटेऽपि विम्बप्रतिविम्बभावापन्नावान्तरार्थद्वयरूपसाधारणधर्मव-
त्त्वेन प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोरौपम्याप्रतीयमानं सङ्गतिमासादयति अतो 'मलय—'इति पद्ये
उपमासिद्धयर्थं शब्देनानुपात्तानामपि चन्दनादीनां विम्बप्रतिविम्बभावो भविष्यतीति
य समाधानाशयः ।

एक शका और उसका समाधान करते हैं—न च इत्यादि । 'विम्बप्रतिविम्बभाव के
लिये उन पदार्थों का—जिनका विम्बप्रतिविम्बभाव अभीष्ट हो—शब्द के द्वारा उपात्त होना
अपेक्षित है' यह आग्रह कम से कम विद्वानों के लिये उचित नहीं, कारण, भीक्षित
हृत्सीमें है कि शब्द से उपादानस्थल में श्रौत और शब्दतः उपादान नहीं रहने पर भी
अर्थतः प्रतीत होने पर आर्य—इस तरह से दो प्रकार का विम्बप्रतिविम्बभाव माना
जाय अत एव तो अप्रस्तुतप्रसादा आदि अलङ्कारों में अप्रस्तुत और प्रस्तुत वाक्यार्थों
में सादर्य सङ्गत होता है, जिसका मूल रहता है उन वाक्यार्थों के अवयवों का विम्ब-
प्रतिविम्बभाव । यदि आर्य विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं माना जाय, तब प्रस्तुत वाक्यार्थ के
साथ अप्रस्तुत वाक्यार्थ का सादर्य कैसे बन सकता है ? क्योंकि वहाँ प्रस्तुत वाक्यार्थ
का प्रतिपादक एक भी शब्द उल्लिखित नहीं रहता । यहाँ चतुर्वेदीकी कृत हिन्दी
अनुवाद में लिखा गया है कि—'वहाँ (अप्रस्तुतप्रसादा में) अप्रस्तुत वाक्यार्थ का
प्रतिपादन करने के लिये कोई शब्द नहीं होता ।' पर वहाँ मुझे अनुवादक का प्रमाद
प्रतीत होता है, क्योंकि अप्रस्तुत अर्थ ही शब्दतः कहा गया रहता है, जिससे प्रस्तुत
अर्थ गम्यमान होता रहता है ।

पुन प्रकारान्तरेणोपमाया अष्टौ भेदाः प्रदर्शयति—

इयमपि रूपकयत्केयलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषय-
सावयवा, एकदेशविवर्तितावयवा, केवलरिल्लपरम्परिता, मालारूपरिल्लपरम्प-
रिता, केवलशुद्धपरम्परिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेत्याष्टधा ।

इयमपि उपमापि । यथा रूपके केवलनिरवयवादयोऽष्टौ भेदा भवन्ति, तथोपमाया-
यपि ते भेदाः सम्भवन्तीति भावः । अन्यन् मुगमम् ।

उपमा के अन्य आठ भेद दिखलते हैं—इयमपि इत्यादि । यह उपमा भी रूपक की
तरह केवल निरवयवा, मालारूप निरवयवा, समस्तवस्तुविषया सावयवा, एकदेश-
विवर्तितावयवा, केवल रिल्लपरम्परिता, मालारूप रिल्लपरम्परिता, केवल शुद्धपरम्परिता
और मालारूप शुद्धपरम्परिता—इस तरह आठ प्रकार की होती है ।

एतद्भेदाष्टकगत केवलत्वं निरवयवत्वञ्च विवृणुते—

तत्रोपमायां केवलत्वं मालानन्तर्गतत्वं निरवयवत्वं चोपमान्तरनिरपेक्षत्वम्
तत्रेति तासां मध्य इत्यर्थः । एकस्योपमेयस्य यत्रानेकान्युपमानानि निर्दिष्टानि भवन्ति
तत्रोपमाया मालरूपत्वम्, तादृशमालारूपता यत्र न भवति, तत्र तस्या केवलत्वम्, एव
यत्र कस्याधिदुपमाया अन्योपमानैरपेक्ष्येण सम्पत्तिस्तत्र तथाविधायास्तस्या उपमाया
निरवयवत्व भवतीति भावः ।

इन भेदों में प्रयुक्त 'केवल' तथा 'निरवयव' पदों का अर्थ करते हैं—तत्र इत्यादि ।
जहाँ एक ही उपमेय के अनेक उपमान कहे जाते हैं, वहाँ उपमा मालारूप मानी जाती
है और जहाँ एक उपमा दूसरी उपमा की अपेक्षा करती हो वहाँ उपमा सावयवा कही
जाती है, अतः केवल निरवयवा में 'केवल होने' का अर्थ है—किसी मालारूपा उपमा
के अन्तर्गत न होना और 'निरवयव होने' का अर्थ है—किसी अन्य उपमा की अपेक्षा
न करना ।

अन्यभेदोदाहरणप्रदर्शनायास्य भेदस्योदाहृतत्वं प्रकटयति—

इयं च शतशः प्रागेवोदाहृता ।

इयं च केवलनिरवयवा च । केवलनिरवयवाया उपमाया उदाहरणानि प्राग् बहुश
प्रदर्शितानीति न पुनस्तदुदाहरणप्रदर्शनमावश्यकमिति भावः ।

इस-केवल निरवयवा-के सैकड़ों उदाहरण पहले दिखाये जा चुके हैं, अतः पुनः इस
भेद का उदाहरण दिखलाना आवश्यक नहीं है ।

द्वितीयभेदमुदाहर्तुमाह—

मालारूपनिरवयवा यथा—

स्पष्टम् ।

मालारूप निरवयवा उपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘आह्लादिनी नयनयो रुचिरैन्दवीव

कण्ठे कृतातिशिशिराम्बुजमालिकेव ।

आनन्दिनी हृदि गता रसभावनेव

सा नैव विस्मृतिपथ मम जातु याति ॥’

नायकस्य सुहृद् प्रत्युक्तिः—नयनयो नेत्रशुगलाबच्छेदेन, आह्लादिनी मुक्तविशेषवि-
धायिनी, ऐन्दवी चान्द्री, रुचि कान्ति, इव, कण्ठे ग्रीवाया, कृता धृता अतिशिशिरा
अन्यधिरूरीतिला, अम्बुजमालिका कमलसूत्र, इव, हृदि हृदये, गता प्रादुर्भूता, आन-
न्दिनी, आनन्ददायिका, रसमत्तना रसास्वाद, इव, सा तत्र पूर्वपरिचिता, प्रेयसी, जातु
कदाचिदपि, मम, विस्मृतिपथम् विस्मरणमार्गम्, नैव याति गच्छति । सदैव सा मम
स्मृतिविषय एव तिष्ठतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आह्लादिनी इत्यादि । प्रेमी नायक अपने मित्र से
कहता है—मेरी नयनों में आह्लाद मरने वाली चन्द्रकला की तरह, कण्ठ में पहनी गई अति-
शीतल कमल माला की तरह और हृदयस्थ आनन्ददायक रसास्वाद की तरह, वह प्रेयसी
कभी भी मेरे विस्मृति के मार्ग में नहीं जाती—उसको मैं कभी भूल नहीं पाता ।

द्वितीयभेदस्योदाहरणान्तर निर्दिष्टुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कलेव सूर्यादमला नवेन्दोः कृशानुपुञ्जात्प्रतिमेव हैमी ।

विनिर्गता यातुनिवासमध्याद्ध्याबभौ राघवधर्मपत्नी ॥’

कवेरिति —(अमाया अनन्तरम्) सूर्यात् रविबिम्बात् विनिर्गता बहिरागता (अमाया सूर्यबिम्बे चन्द्रमसस्तिरोधानादेवमुक्ति) इन्दो चन्द्रस्य, नवा नूतना, अमला निर्मला, कला उद्योत्तना, ज्व, कृशानुपुञ्जात् अग्निसमूहात्, विनिर्गता, हैमी सुवर्णमयी, प्रतिमा प्रतिकृति, इव च, यातुनिवासमध्यात् राक्षरावासगर्भात्, विनिर्गता, राघवस्य राम-चन्द्रस्य, धर्मपत्नी सीता, अध्याबभौ अधिक शुशुभे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करदे है—कलेव इत्यादि । कवि का कथन है—(अमायास्या तिथि के बाद) सूर्य से निकली हुई (अमायास्यातिथि में चन्द्रमा सूर्यदिग्ब में समा जाता है—इस शास्त्रीय असिद्धि के अनुसार ऐसा कथन है) निर्मल नवीन कला की तरह और अग्निसमूह से निकली हुई सोने की प्रतिमा की तरह, राघवों के आवास (कक्षा) के मध्य से निकली हुई रामचन्द्र की धर्मपत्नी-भगवती सीता-अधिक सुशोभित होने लगी ।

उभयो पद्ययोर्वक्ष्यसुपपादयति—

पूर्वमनुगामिना धर्मेण भिन्नदेशकालावच्छेदेन, अत्र तु बिम्बप्रतिबिम्ब-भावमापन्नेनैकदेशकालावच्छेदेनेति विशेषः । अत्राधिकदीप्तिरूपे वाक्यार्थे उपमे उपस्कारिके । आत्यन्तिकविनाशहेतुत्वेन वेदीप्यमानत्वेन च साधारण्येन सूर्यमण्डलस्य, निष्कलकृताभिव्यञ्जकत्वेन भस्मीभवनहेतुत्वेन कृशानुपुञ्जस्य च लङ्काप्रतिबिम्बता । भालारूपत्वं चात्रैकोपमेयकानेकोपमासामानाधिकरण्यात् ।

पूर्वमिति । ‘आहादिनी—’ इति पत्ने इत्यर्थः । धर्मेणेति । आहादित्वादिनैत्यर्थः । हेतौ तृतीया । अवच्छेदेनेति । कर्तमानेनेति शेषः, तस्य च ‘धर्मेण’ इत्यशान्वयः, भिन्नदेशकालावच्छिन्नेन अनुगामिना धर्मेणेति सात्पर्यम् । उपमेति शेषः । तथा च पूर्वत्र पद्ये तादृशार्थहेतु-कोपमेति पर्यवसितार्थः । एवमग्रेऽपि । अत्रेति । ‘कलेव—’ इति द्वितीयपदे इत्यर्थः । विशेषो भेदः । सूर्यमण्डलस्येति । अस्य लङ्काप्रतिबिम्बतेत्यशान्वयः । तान्नावाधिकरण्यावेति । उप-मान्तनिरपेक्षत्वान्निरवयवत्वमित्यपि बोध्यम् । अयं भावः—‘आहादिनी—’ ‘कलेव—’ इति पद्यद्वयमपि भालाहयनिरवयवोपमोदाहरणम्, उभयत्रोपमेयस्यैकत्वेनोपमानानां बहु-त्वेन भालात्वात् उपमान्तरापेक्षाराहित्येन निरवयवत्वाच्च । परन्तु प्रथमपद्ये उपमासम्पादक-साधारणो धर्मः आहादित्वादि अनुगामी, एकरूपेणोपमानेपरमेययोरान्वितत्वात्, भिन्-देशकालावच्छिन्नेन, उपमानोपमेययो-चन्द्रकलादिनायिकयोर्भिन्नदेशकालस्थायित्वेन तद-मौलमपि तत्प्रात् । द्वितीयपद्ये चोपमासाधक साधारणो धर्मः सूर्यवानुधानावासमध्ये-त्युभयावधिकविनिर्गतत्वम् एवम् अग्निपुञ्जनातुधानावासेत्युभयावधिकविनिर्गतत्वञ्च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न, सूर्यावधिकविनिर्गतत्वञ्च-यातुनिवासावधिकविनिर्गतत्वयोरेव बहिपुञ्जावधि-कविनिर्गतत्वयानुधानावासावधिकविनिर्गतत्वयोर्वस्तुतो मिश्रत्वेऽपि आत्यन्तिकविनाशहेतु-त्ववेदीप्यमानत्वाभ्याम् सूर्य-लङ्कारूपयातुनिवासायोः सादृश्येनाभेदोपात्त एवम् निष्कल-कृताभिव्यञ्जकत्वभस्मीभवनहेतुत्वाभ्याम् अग्निपुञ्जलङ्कात्मकयातुनिवासयोश्च सादृश्येन तत्त्वा-

रोपात्, यथा चन्द्रकलाविनाशहेतुर्देदीप्यमानस्य सूर्य तथा लङ्कारूपधातुनिवासोऽपि सीता-
सम्भावितविनाशहेतु सुवर्णमयतया देदीप्यमानस्य, एवम् यथा अग्निपुञ्जम् सुवर्णप्रतिमाया
निष्कलङ्कताभिन्त्यञ्जकम् भस्मीभावकारणवत्, तथैव लङ्काऽवासोऽपि सीताया निष्कलङ्कता-
भिन्त्यञ्जक सम्भावितभस्मीभावहेतुश्चेति तात्पर्यम्, अग्निदेशकालावच्छिन्नश्च स धर्मः,
प्रतिपदि सूर्यान्न्दस्य, अमाया रावणवधे प्रतिपदेव लङ्कातः सोतायाश्च विनिर्माण-
कालैक्यात्, देशैक्यं तु आकाशरूपव्यापकदेशमादाय, नान्या गतिः, अग्निपुञ्जावधिकसुवर्ण-
प्रतिमाविनिर्गम लङ्कावधिकसीताविनिर्गमबोद्धेराकालैक्यं तु अग्निपुञ्जरूपद्वयोर्विम्बप्रतिविम्ब-
भावे तन्मन्थन्धिसकलपदार्थानाम् एकत्वेन भानाद् बोध्यम्, एवम् धर्मबैलक्षण्यकृत एव
द्रव्योद्देशाद्वरणयोर्विरोधः । प्रथमपक्षगता तिस्रः उपमा व्यङ्ग्यस्मृतिभावोपस्करणादलङ्कार-
रूपा, द्वितीयपक्षे द्वे उपमे वाच्याधिकशोभारूपमुख्यार्वोपस्करणात्तयाभूते, इति ।

उक्त दोनों पक्षों में मासद्विक वक्तव्य का उपपादन करते हैं—पूर्वम् इत्यादि ।
'आहुतादिनी—' और 'कलैव—' ये दोनों ही श्लोक, मालारूप निरवयवोपमा के उदाहरण
होते हैं, क्योंकि इन दोनों श्लोकों में एक-एक उपमेय की तुलना अनेक अनेक उपमानों
से कर के उपमा की माला (समूह) तैयार कर दी गई है, और दोनों पक्षों की उपमायें
देखी हैं जो अपने अवयवभूत किसी पदार्थ की उपमा की अपेक्षा नहीं करती हैं ।
किर भी दोनों पक्षों की उपमाओं में पूर्ण अन्तर है और वह अन्तर यह है कि प्रथम
पक्ष की उपमा को सम्पन्न करने वाला साधारण धर्म 'आहुतादिकाव आदि' अनुगामी है—
अर्थात् एकरूप से उपमान तथा उपमेय दोनों में अन्विष्ट हो जाने वाला है और है भिन्न
देशकालावच्छिन्न-जगत् उपमान चन्द्रमरोचि आदि और उपमेय नायिका के देश
और काल भिन्न हैं—एक आकाश की चीज और दूसरी धरा की वस्तु, इसी तरह एक
सदा की चीज एवं दूसरी वर्तमानमात्र की वस्तु, ऐसी स्थिति में उन भिन्नकालिक
भिन्नदेशिक पदार्थों के धर्म भी भिन्नकालिक और भिन्नदेशिक ही हो सकते हैं ।
द्वितीय पक्ष की उपमा का साधक साधारणधर्म 'सूर्य से और राक्षसों के आवास-लङ्का-से
निकला हुआ होना' एवम् 'अग्निपुञ्ज से और लङ्का से निकला हुआ होना' रूप दिग्ब-
प्रतिविम्बमात्रापन्न—अर्थात् सूर्य और राक्षसनिवास-लङ्का एवम् अग्निपुञ्ज और लङ्का
यद्यपि वस्तुता दो पदार्थ हैं तथापि सादृश्यमूलक इन दोनों में अभेद का आरोप कर
लिया जाता है जिससे ये दोनों पदार्थ एक से होकर साधारण धर्म बन जाते हैं, इन
दोनों में से सूर्य और लङ्का में सादृश्य यह है कि एक चन्द्रकला के विनाश का कारण है
और दीप्तिशाली, और दूसरा भी सीता के विनाश का कारण है (क्योंकि यदि सीता
और कुछ दिनों तक लङ्का में रहती, तो, उसका विनाश अवश्य हो जाता) और सुवर्ण-
मय होने से दीप्तिशाली है, इसी तरह अग्निपुञ्ज और लङ्का में यह सादृश्य है कि एक
सुवर्णप्रतिमा की विशुद्धता का हेतु है और दूसरा सीता की विशुद्धता का कारण
(क्योंकि सीता वैसी विशुद्धचरिता है इसका परिचय ससार की उसके लङ्कानिवास से
ही प्राप्त हुआ) और दोनों दोनों के सरम हो जाने के निमित्त भी है (तात्पर्य यह कि अपा
सुवर्ण को जलानी है और लङ्का सीता को जला सकती थी) इस तरह से विम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्न होने के कारण ही यह धर्म एकदेशकालावच्छिन्न भी है—अर्थात् उक्त धर्मों में
विम्बप्रतिविम्बभाव-सादृश्यमूलक अभेद-जब भान लिखा गया, तब इसके सम्बन्धी
सभी पदार्थ-देश काल आदि-एक ही माने जायेंगे, चन्द्रकला और सीता का सामान
धर्म तो इसलिये भी एक देश और एक काल का समझा जा सकता है कि चन्द्रकला
अमावस के बाद प्रतिपत् तिथि को सूर्य से निकलनी है और सीता भी अमावस में
रावण वध के बाद शुक्लप्रतिपत् में लङ्का से निकली थी, देश दोनों का व्यापक आकाश
माना जा सकता है । उक्त दोनों श्लोकों में प्रथम श्लोक तीन उपमायें स्मृतिभाव

को अलङ्कृत करने के कारण और द्वितीय श्लोक की दो उपमायें वाच्य अधिक शोभा को अलङ्कृत करने के कारण अलङ्काररूप होती हैं ।

तृतीयभेदमुदाहरणमाह—

समस्तवस्तुविषया सावयवा यथा—

स्पष्टम् ।

समस्तवस्तुविषया सावयवा उपमा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कमलति घटनं यस्यामलयन्त्यलका मृणालतो बाहू ।

शैबालति रोमावलिर्द्भुतसरसीय सा बाला ॥’

कवेरिति — यस्याम् बालायाम्, घटनं सुत्तम्, कमलति कमलमेवाचरति, अलकाः केशा, अलयन्ति अलय-भ्रमरा—इवाचरन्ति, बाहू भुजौ, मृणालत मृणाले इवाचरतः, रोमावलि रोमराजि, शैबालति शैबाल इवाचरति, सा बाला, अद्भुतसरसी कौतुकावहस-रोवरम्, इव, प्रतीयत इति शेषः । अत्र अनुपु उपमानादाचारेऽर्थे ‘सर्वप्रातिपदिकेभ्य किञ्चा वक्तव्य’ इति कृिप् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—कमलति इत्यादि । कवि का कथन है—जिसमें मुख कमल के तुल्य, अलक भ्रमरों के तुल्य, भुजाएँ मृणालों के तुल्य और रोमावली सेबाल के तुल्य आचरण करती है, वह बाला एक अद्भुत सरसी सी प्रतीत होती है । यहाँ किसी किसी ने ‘यस्याम् अलयन्ति’ ऐसा विभाग न मानकर ‘यस्याः मलयन्ति’ ऐसा विभाग माना है और तदनुसार ‘केशा अल-सर्प’ के समान आचरण करते हैं’ ऐसा अर्थ किया है, परन्तु ‘मल’ पद का ‘सर्प’ अर्थ यदि कोश में किया भी गया हो तो प्रसिद्ध नहीं है । दूसरी बात यह कि जब इस मिलटकरूपना के दिवा भी संगत अर्थ जो मैंने लिखा है—किया जा सकता है, तब यह विदग्धना व्यर्थ ही है ।

तस्यैव प्रभेदस्योदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा या—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरणान्तर निर्दिश्यते—

‘ज्योत्स्नाभमञ्जुहसिता सकलकलाकान्तकान्तघटनश्रीः ।

राकेव रम्यरूपा राघवरमणी विराजते नितराम् ॥’

कवि कथयति—ज्योत्स्नागम् चन्द्रिकासदृशम्, मञ्जु भनोदर, हसितम् हासो, यस्या, सा, तथा, सकल पूर्णकल, कलाकान्त चन्द्रः, इव, कान्ता कमनीया, घटनश्रीः मुखच्छविर्यस्या ता, राघवस्य रामस्य, रमणी सीता, रम्य रूप यस्यास्तादृशी, राका पूर्णिमा, इव, नितराम् अत्यन्तम्, राजते शोभत इत्यर्थः ।

उदाहरण (द्वितीय) का निर्देश करते हैं—ज्योत्स्ना इत्यादि । कवि कहता है—जिसका हास चाँदनी के समान सुन्दर है, जिसकी मुखकान्ति पूर्णचन्द्र के समान कमनीय है, वह राघव (रामचन्द्र) की रमणी—सीता—रमणीयरूपवाली राका—पूर्णिमा के समान, अत्यन्त शोभित हो रही है ।

पदद्वयेऽपि समासेन वक्तव्यं विज्ञोति—

अत्र सर्वेषामुपमानानां शब्दैरेवाभिधानात् समस्तवस्तुविषया, अङ्गोपमा-भिनिष्पाद्यमानत्वाच्च साक्षा भवति ।

उक्तोदाहरणद्वये सर्वेषामवयवरूपाणाम् अवयविरूपाणाञ्च उपमानानाम् (प्रथमपद्ये कमलध्रमरमृणालशैवालसरसीनाम्, द्वितीयपद्ये ज्योत्स्नाचन्द्रराकानाम् इति यावत्) (अत्र सरसीरागे अवयविरूपे उपमाने अन्यान्यवयवरूपाण्युपमानानीति विवेक) शब्दतः प्रतिपादनात् उपमायां समस्तवस्तुविषयत्व बोध्यम् । तथा च सकलौपमानानां शब्दाभिधेयत्वमेव समस्तवस्तुविषयत्वमिति भावः । अङ्गभूताभिः—कमलवदनयो, अत्यलकयो, मृणालबाह्वो, शैवालरोमावत्योश्च प्रथमपद्ये ज्योत्स्नारासयो, चन्द्रवदनभ्रियोश्च द्वितीयपद्ये उपमाभिः प्रधानयो—सरसीवात्यो राक्षराधरमण्योश्चोपमयो सम्पाद्यमानतया उपमाया अत्र रावयवत्वमवगन्तव्यमिति भावः ।

इतः दोनों उदाहरणों में प्रकृतोपयोगी बातों का विश्लेषण करते हैं—अथ इत्यादि । उक्त दोनों पद्यों में से प्रथम में चार उपमायें—मुख की कमल के साथ, अलकों की भ्रमरों के साथ, भुजाओं की मृणालों के साथ और रोमावली की शैवाल के साथ—अङ्गभूत हैं, ये अङ्गभूत उपमायें, प्रधान—अङ्गीभूत—उपमा—बाछ की सरसी के साथ—को सम्पन्न करती हैं—अर्थात् उन अङ्गभूत उपमाओं के बिना यह पाँचवीं उपमा हो ही नहीं सकती थी, अतः यह मुख्य उपमा 'सावयवा' कही जाती है, इसी तरह द्वितीय पद्य में दो उपमायें—एक हास की ज्योत्स्ना के साथ और दूसरी वदनश्री की पूर्णचन्द्र के साथ वाली—अङ्गभूत हैं और तीसरी राक्षरमणी की राक्षा के साथ वाली उपमा अङ्गीभूत है और यहाँ भी अङ्गभूत उपमायें अङ्गीभूत उपमा की साधिकायें हैं, अतः यहाँ की भी मुख्य उपमा सावयवा है । दोनों ही श्लोकों में जितनी उपमाएँ हैं, उन सभी के उपमान शब्दतः वक्षित हैं, उनमें एक भी उपमान ऐसा नहीं है जिसका अर्थतः आलोचन करना पड़ता हो अतः इन दोनों पद्यों की उपमायें 'समस्तवस्तुविषया' कही जाती हैं । फलतः सिद्ध हुआ कि सभी उपमानों का शब्द धर्णन ही 'समस्तवस्तुविषय' पद का अर्थ है ।

चतुर्थं भेदमुदाहरणमाह—

एकदेशविवर्तिनी सावयवा यथा—

स्पष्टम् ।

एकदेशविवर्तिनी सावयवा उपमा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘मकरप्रतिमैर्महाभटैः कविभी रत्नसमैः समन्वितः ।

कविताऽमृतकीर्तिचन्द्रयोस्त्वमिहोर्ध्वरमणासि कारणम् ॥’

कवि कमपि नृप स्तोति—हे उर्वारमण राजन् !, मकरप्रतिमैः प्राहृतुल्यै, महाभटै रणशूरैः सैनिकै, रत्नसमै रत्नतुल्यै, कविभिः कवित्वकलासमन्वितैर्विद्वद्भिः, समन्वित-युक्त, त्वम्, इह ससारे, कवितामृतकीर्तिचन्द्रयो अमृतकल्पकवितायाः चन्द्रसदृशकीर्तेश्च, कारणम् हेतु उत्थादक इति यावत् । असि वर्तसे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मकर इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! मकरों—प्राहों—के समान घड़े घड़े घोड़ाओं से तथा रत्नों के तुल्य कवियों से युक्त तू, इस ससार में, अमृततुल्य कविता और चन्द्रतुल्य कीर्ति के कारण हो—अर्थात् अमृत जैसी कविता और चन्द्रमा के समान वश को उत्पन्न करते हो ।

उपपादयति—

अत्रोत्तरार्थे उपमितसमास एव, विशेषणसमासवेद्यस्य तादात्म्यस्य प्रकृतेऽनुपयोगात् । राहो जलधेरुपमाशब्देनानभिहिताऽप्यङ्गोपमाभिराक्षिता प्रतीयते, इत्येकदेशविवर्तनादेकदेशविवर्तिनी ।

उपमितसमास इति । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रकृत समास इत्यर्थः । विशेषणसमास इति । 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति सूत्रविहित समास इत्यर्थः । एकदेशविवर्तनादिति । एकदेशे (अवयवे) विवर्तनात्-स्वरूपगोपनेन अन्यथात्वेन वर्तनात्, अथवा एकदेशे विशेषण-स्फुटतया वर्तनादित्यर्थः । अधिक रूपके स्फुटोपविष्यति । 'मकर—' इति पञ्चोत्तरार्धघटकयोः 'कवितामृत-कीर्तिचन्द्रपदयोः' 'कविता एव अमृतं', 'कीर्तिरेव चन्द्रः' इति विग्रहा विशेषणसमासोऽपि गम्यन्ति, परन्तु तथासमासे कविता-मृतयोः कीर्तिचन्द्रयोश्च यत्तादात्म्यम् (अभेदः) प्रतीयेत, तस्य प्रकृते उपयोगो नास्ति, राजानं समुद्रतादात्म्यस्याविवक्षितत्वात्, अतः 'कविता अमृतमिव', 'कीर्ति चन्द्र इव' इत्येवं विग्रहोपमितसमास एव तत्राश्रयणीयः । तथा च तयोस्तयोः पदार्थमोरुपमाया प्रतीताया प्रथमार्धे स्पष्टयोश्च द्वयोरुपमयो, तद्वत्त्वात् राजममुद्रयोरशान्दोऽप्युपमालङ्कार आश्रितः सन् अवगम्यत इत्युपयोगसिद्धिः । अत एव—अंशविशेषे शब्दतः कथितत्वात् अंशविशेषे च अर्थतः प्रतीयमानत्वादेकदेशविवर्तनीयमुपमा, अङ्गाङ्गिनोरुभयोरुपमाविधानात् सावयवा चेति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रोत्तरार्धे इत्यादि । 'मकर—' इस पद के उत्तरार्धगत 'कविता-मृत' और 'कीर्तिचन्द्र' यहाँ में विशेषणसमास ('मयूरव्यंसकादयश्च' इस पाणिनिसूत्र-कृत समास को विशेषणसमास कहते हैं) भी हो सकता था, परन्तु कविता और अमृत में तथा कीर्ति और चन्द्र में तादात्म्य (अभेद)—अर्थात् रूपकालङ्कार-प्रतीत होता, परन्तु उन पदार्थों के तादात्म्य का प्रस्तुत प्रसङ्ग में—अर्थात् कवि विवक्षित राज-समदोषमासिद्धि में—कोई उपयोग नहीं, प्रायुक्त बाधकर ही सम्भव है, अतः उपमित-समास ('उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस पाणिनिसूत्र से होने वाले समास को उपमितसमास कहते हैं) ही मानना चाहिये—जिसका उक्त कविउद्देश्य की सिद्धि में उपयोग है । यहाँ राजा और समुद्र की उपमा, यद्यपि शब्दतः उक्त नहीं है, तथापि महाभटों को मकरों के साथ, कवियों की रत्नों के साथ, कविता की सुधा के साथ और कीर्ति की चन्द्र के साथ दो गई अङ्गभूत उपमाओं से आश्रित होकर वह प्रतीत होती है, अतः एक देश (एक भाग) में अभ्यधारूप से—अर्थात् गुप्तरूप से—प्रतीत होने के कारण यह एकदेशविवर्तनीय उपमा कही जाती है । साथ साथ सावयवा भी यह उपमा कही जाती है, क्योंकि अवयव और अवयवी अर्थात्-अङ्ग और अङ्गी-दोनों की उपमा यहाँ की गई है ।

पथम भेदमुदाहर्तुमाह—

केवलस्त्रिष्टुपरम्परिता यथा—

स्पष्टम् ।

केवल स्त्रिष्टुपरम्परित उपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'नगरान्तर्महीन्द्रस्य महेन्द्रमहितश्रियः ।

सुरालये खलु क्षीवा देवा इव विरेजिरे ॥'

कवि कथयति—महेन्द्रवर इन्द्रवर, महिता पूजिता, श्री सम्पत्तिर्यस्य, तस्य, महीन्द्रस्य राज्ञः, नगरान्तः नगरमध्ये, सुरालये सुराया मयस्य, आलये गृहे, सुराणाम् देवानाम्, आलये कुमारी च, क्षीवा मत्ताः, देवा, इव, खलु निश्चयेन, विरेजिरे शुशु-भिरे इत्यर्थः ।

वदाहरण का निर्देश करते हैं—नगरा इत्यादि । कवि का कथन है—जिसकी सम्पत्ति इन्द्रसम्पत्ति की तरह सुश्रूषित है, उस महीपति के नगर के अन्तर्गत, 'सुरालय' (मदिरालय तथा देवों के आलय-सुमेरु) में, नरोवाज डोग, देवताओं की तरह शोभित होते थे ।

उपमाद्वयति—

अत्र श्लेषोपस्थापितेन सुमेरुणा मदिरागारस्योपमा श्लोचानां देवोपमाया उपाय इति त्रिष्टुपरम्परिता, अन्योन्योपायतारूपस्यैव परम्परित्वस्येह परिभाषणात् । मालारूपताविरहाच्च केवला ।

मदिरागारस्योपमेति । सुरालये इति भाव । नन्वेवं शिल्पश्चेऽपि कथं परम्परित्वमन आह—अन्योन्योपायतारूपस्यैवेति । परस्परोपायभावत्येति तदर्थ । अत्र 'सावयवानां परम्परममर्थक्येऽपि नोपायता । ज्योन्माया हसितवारोप विनापि श्रौज्ज्वत्यादिना संताया राक्षामान्यसिद्धे । इह तु मदिरागारेषु सुमेरुपमा विना श्लेषेण देवोपमाया न किञ्चिन्साध्यम्यम् । तस्मिन् च तादृशसादृश्यप्रतीतिमूल्यभेदमापन्न सुरालयवृत्तित्वमेव । तथा मदिरागारेषु सुमेरुपमाया च श्लेषेण देवोपमा विना न साधारणधर्म ज्योन्योन्योपायता । अन्योन्याश्रयपरिहारस्तु रूपकप्रकरणे वक्ष्यते' इति भागेश । 'सकलसिद्धे कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात् शिल्पिभिः परस्परवदन्ममाश्रयित्विकाभिः शिल्पेष्टकमिष्टविशेषोपनिर्माणञ्च नान्योन्याश्रयद्वये' इति रूपकप्रकरणोक्त समाधानं बोध्यम् । 'नगरान्तर्मही—' इति श्लोके निबद्धाया उपमाया शिल्पपरम्परित्वं नागेश्वरविदोपेनैव स्पष्टम्, केवलत्वं च एकन्योपमेवस्यानेकोपमानिर्देशात्मकमालारूपत्वाभावात् अशङ्क्यम् ।

उपमाद्वय करते हैं—अत्र इत्यादि । 'नगरान्तर्मही' इस पद्य में भावे हुए 'सुरालय' पद का प्रासङ्गिक अर्थ है 'मद्यगृह' । परन्तु श्लेष के द्वारा उसी पद से 'सुरों का आलय-सुमेरु' अर्थ की भी उपस्थिति हो जाती है, अतः 'सुमेरु के समान मद्यगृह' इस तरह की श्लेषमूलक उपमा यहाँ भी निम्न होती है और यह उपमा ही प्रधान-नरोवाजों में देवताओं की उपमा का उपाय है—अर्थात् बिना उस उपमा के नरोवाजों के साथ देवताओं की उपमा बन ही नहीं सकती । अतः इस उपमा को शिल्पपरम्परिता कहते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि—'यहाँ शिल्पकल्पप्रतिपाद्य अर्थों की उपमा मुख्य उपमा की साधिका हो, वहाँ 'शिल्पपरम्परिता उपमा' होती है । यहाँ 'परम्परित' शब्द का परिभाषित अर्थ है 'एक दूसरे की उपमा का उपाय होना'—एक उपमा के बिना दूसरी उपमा का न बन सकता । यहाँ नागेश्वरी ने अपनी ओर से कुछ सुन्दर विचार किया है, जिसका संग्राह यह है—'यद्यपि 'सावयवा' उपमा में भी समर्थ समर्थकभाव रहता है—अर्थात् अङ्गभूत उपमायें मुख्य उपमा की ओर मुख्य उपमा अङ्गभूत उपमाओं की समर्थिका होती हैं, पर वहाँ उपायोपेयभाव नहीं होता—अर्थात् एक के बिना भी दूसरी उपमा हो सकती है । जैसे—पूर्वोक्त 'ज्योत्स्नाममज्जुहसिता'—पद्य में हाम की तुलना चन्द्रिका से न करने पर भी 'उज्ज्वलता' आदि प्रसिद्ध यमान धर्म को लेकर सीता में पूर्णिमा की उपमा निम्न हो सकती है । परन्तु परम्परित उपमा में ऐसा नहीं हो सकता—वहाँ एक उपमा के बिना दूसरी उपमा नहीं बन सकती । जैसे प्रकृत पद्य—'नगरान्तर्मही—' में मद्यगृह की तुलना सुमेरु से न करने पर नरोवाजों ॥ देवताओं की उपमा नहीं दो जा सकती, क्योंकि नरोवाजों और देवताओं में कोई समान धर्म इष्टिय में नहीं आता, और जब श्लेष के चल से मद्यगृह तथा सुमेरु में उपमा मान ली जाती है, तब उम एक में रहना ही देवताओं और

भगवान् का समानधर्म हो जाता है, इसी तरह मधुगृह और सुमेरु का साधारण धर्म होता है देवताओं और भगवान् की उपमा। इस तरह से ये दोनों उपमाएँ परस्पर-प्रेरक हैं। यद्यपि इस स्थिति में अन्योन्याध्यक्ष दोष की शङ्का हो जाती है, पर उसका परिहार रूपकालङ्कार के प्रकरण में स्वयं अन्यकार करेंगे।" रूपकप्रकरण में अन्योन्याध्यक्षपरिहार के लिये कहा गया है कि—काव्यजगत् की सभी बातें काव्यनिक हुआ करती हैं और कल्पना कवि के अधीन है। तात्पर्य यह कि जोस जगत् में भी अन्योन्याध्यक्ष दोष है काव्यनिक जगत् में नहीं। दूसरी बात यह कि—जोस जगत् में भी कहीं कहीं अन्योन्याध्यक्ष कुछ बियाह नहीं पाता—जैसे अन्योन्याध्यक्ष—केवल एक दूसरे पर अवलम्बित—होकर भी इंदे और परधर के टुकड़े बड़े बड़े भवन तैयार कर देते हैं।

पञ्च भेदमुवाहृतमाह—

मालारूपरिलटपरम्परिता यथा—

रूपम् ।

मालारूप रिलटपरम्परित उपमा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘महीभृतां खलु गणे रत्नसानुरिध स्थितः ।

त्वं काव्ये वसुधाधीरा वृषपर्वेव राजसे ॥’

कवि कथयति—हे वसुधाधीरा राजन् ! महीभृता पर्वततुल्याना राजा, गणे समूह, राजकुमित्रेण, रत्नसानु सुमेरु, इव, स्थित वर्तमान, त्वं, काव्ये शुक्राचार्यरूपकवित्व-विषये, वृषपर्वी दैत्यराज, इव, राजसे शोभते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—महीभृताम् इत्यादि । कवि की उक्ति है—हे राजन् ! ‘महीभृतां’—पर्वत के मुख्य राजाओं—के समुदाय में सुमेरु की तरह स्थित आप, ‘काव्य’—शुक्राचार्य के मुख्य कवि—के विषय में वृषपर्वी—दानवों का एक प्रतिज्ञ राजा—के समान शोभित होते हैं ।

उपपादयति—

अत्र श्लेषोपस्थिताभ्यां पर्वतशुक्राभ्यां राजकाव्ययोरुपमे मेरुवृषपर्वभ्यां राज उपमयोरुपायः ।

महीभृताम्—इति पद्ये ‘राजान पर्वता इव’, ‘त्वं सुमेरुविव’, ‘कवित्वं शुक्राचार्य इव’ पुनः ‘त्वं दैत्यराज इव’ इति चतुर्मुणामुपमाना माला, तत्र वृषकवित्ववाचकमहीभृत्-काव्य-पदगतामराशान्दरलेखीपरपातितपर्वतशुक्ररूपार्थभ्या सह राजकवित्वयोः ये द्वे उपमे प्रती-येते, ते सुमेरुदैत्यराजाभ्या सह वर्णनीयस्य राज उपमयोः स्पष्टमुपवर्णितयोरुपायभूते, श्लेषमूलकोपमाम्या निना साधारणधर्मास्फुरणेन सुमेरुदैत्यराजोपमयोऽत्मलाभासम्भवात् । एवमात्रलोपमाया मालारूपरिलटपरम्परितत्त्व स्पष्टमिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अथ इत्यादि । ‘महीभृताम्’— इस पद्य में ‘महीभृत्’ और ‘काव्य’ पद रिलट हैं, श्लेष के द्वारा अप्रकान्त पर्वत और शुक्राचार्य की उपस्थिति होती है, ऐसी स्थिति में श्लेषोपस्थापित ये अप्रकान्त अर्थ असम्बद्ध न हो जायें, इसलिये ‘राजा पर्वत के समान’ और ‘कवित्व शुक्राचार्य के समान’ इस तरह की दो उपमाएँ मानी जाती हैं, ये दोनों उपमाएँ, सुमेरु और दैत्यराज के साथ दो राई राजा की दो उपमाओं को सिद्ध करने वाला उपाय है, क्योंकि उन दोनों उपमाओं के बिना साधारण धर्म की अनुपस्थिति में ये दोनों उपमाएँ बन नहीं सकतीं । अतः यह उपमा ‘रिलट-परम्परिता’ कही जाती है, और एक से अधिक (दो) होने से ‘मालारूप’ ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

नन्वत्र पर्वतानामिव राज्ञां शुक्र इव कवित्वे इत्येवंरूपा उपमा कथं प्रत्येतुं शक्या । उपमानोपमेयशब्दयोः पार्थक्यभावादिति चेत्, श्लेषे होकशब्दोपात्तत्वेन रूपेणाभेदाध्यवसानस्यैव तेनैव साधर्म्येण सादृश्याध्यवसानस्यापि सुवचत्वात्, तस्यैव च प्रकृते प्रयोग्योपमानुकूलत्वात् ।

अप्रत्यये हेतुमाह—उपमानोपमेयशब्दयोरिति । उत्तरयति—श्लेषे इति । तेनैवेति । एकशब्दोपात्तत्वेनेत्यर्थः । अभेदाध्यवसानमेव कुतो नाङ्गीक्रियत इत्यत आह—तस्मैव च इति उपमानोपमेययो धृक्पृथक्शब्दाभ्यामुपस्थितावेवोपमा प्रतीयते । 'महीभृताम्—' इत्यत्र तु 'महीभृताम्' 'काव्ये' इति च श्लेष एक एक एव शब्द ध्रुवते, तथा च पर्वतराज्ञो शुक्रकवित्वयोश्चोपमा प्रत्येतुमशक्या, रूपकञ्च प्रत्येतुं शक्यम्, इति शङ्कादलस्याशयः । श्लेषस्थले एकशब्दोपात्तत्वयुक्त्या यथा श्लेषयोरर्थयोरभेदोऽध्यवसीयते, तथैव एकशब्दोपात्तत्वेनैव साधर्म्येण श्लेषविषयीभूतयोरर्थयो सादृश्यमपि अभ्यवसितुं योग्यम् । ततश्चैकशब्दोपात्तत्वात्मकसमानधर्मेण महीभृताम् (पर्वतानां राज्ञां च) काव्यस्य (शुक्रस्य कवितायाश्च) परस्परमुपमा प्रत्येतुं शक्या । प्रसिद्धधनुरोधेन श्लेषयोरर्थयोरभेदमध्यवसायरूपकमेव कुतो नाङ्गीक्रियत इति तु न शक्यं वक्तुम्, रूपकस्य 'रत्नसागुरिव' 'वृषपर्वेष' इति प्रधानोपमाप्रतिकूलत्वात्, उपमायाश्च तदनुकूलत्वात् । इत्यत्र यत्र रूपकमङ्गीभूतम् तत्राङ्गीभूतेषु श्लेषार्थेषु अभेदाध्यवसायः, यत्र पुनरुपमाङ्गीभूता तत्राङ्गीभूतेषु श्लेषार्थेषु सादृश्याध्यवसाय एवेति च समाधानाशयः ।

एक शङ्का और उसका समाधान करते हैं—नन्वत्र इत्यादि । आप कहेंगे कि—'महीभृताम्—' इस पद में 'पर्वतों के समान राजे' और 'शुक्र के समान कविव' ये दोनों उपमाएँ नहीं बन सकतीं, क्योंकि वही उपमा बनती है, जहाँ उपमान और उपमेय के बोधक पद पृथक् पृथक् उपात्त हों, यहाँ तो 'महीभृत्' और 'काव्य' ये एक एक शब्द ही क्रमशः पर्वत और राजा तथा शुक्र और कविव के बोधक हैं, अतः यहाँ इन श्लेष अर्थों में परस्पर अभेद ही समझा जायगा और तदनुसार अलङ्कार बनेगा रूपक, न कि उपमा । तो इस आशङ्का का समाधान यह है कि जैसे एकशब्दोपात्तत्व (एक शब्द से ज्ञात होने) रूप युक्ति से श्लेष अर्थों में अभेद आरोपित होता है, वैसे ही एकशब्दोपात्तत्वरूप समान धर्म के बल से उन (श्लेष) अर्थों में परस्पर सादृश्य भी समझा जा सकता है, अतः 'महीभृत्' इस एक पद से उपात्त पर्वत और राजा में तथा 'काव्य' इस एक पद से अवगत शुक्र और कविव में सादृश्य (उपमा) मानने में कोई आपत्ति नहीं है, उन अर्थों में अभेद भी जब समझा जा सकता है, तब वही अर्थों नहीं समझा जाय—अर्थात् रूपक ही क्यों नहीं माना जाय यह तर्क तो उपस्थित किया नहीं जा सकता, क्योंकि आगे जो 'राजा (वर्णनीय नृपति), सुमेरु और वृषपर्वा (देवराज) के समान' ये दो मुख्य उपमाएँ स्पष्ट शब्दों में वर्णित हैं, उनके अनुकूल 'राजे पर्वतों के समान और कविव शुक्र के समान' ये उपमाएँ ही होती हैं 'राजारूप पर्वत और कविवरूप शुक्र' ये रूपक नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ अङ्गी (प्रधान) अलङ्कार भी रूपक ही हो, वही, अङ्गीभूत श्लेष अर्थों में भा अभेदारोप करके रूपक माना जाना चाहिये और जहाँ अङ्गी अलङ्कार उपमा हो, वहाँ अङ्गीभूत श्लेष अर्थों में एकशब्दोपात्तत्वरूप साधारण धर्म के कारण उपमा ही मानी जाय यहाँ उचित है ।

सप्तम भेदमुदाहर्तुमाह—

केवलशुद्धपरम्परिता यथा—

केवला न तु मालारूपा, शुद्धा न ॥ रिच्छा, परम्परिता-उपायोपेयभावयुक्ता उपमा ययेति भावः ।

केवलशुद्धपरम्परित उपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘राजा युधिष्ठिरो नाम्ना सर्वधर्मसमाश्रयः ।

द्रुमाणामिव लोकानां मधुमास इवामवत् ॥’

कवि कथयति—सर्वेषाम्, धर्माणाम्, समाश्रय-रक्षक इति यावत्, नाम्ना युधिष्ठिरः युधिष्ठिरनामक इति भावः, राजा प्रजारक्षको महामारतप्रसिद्धो भूयति, द्रुमाणाम् तरुणाम्, इव, तरुतद्वयानामिति यावत्, लोकानाम् जनानाम्, कृते इति शेषः, मधुमासः चैत्रमासः, इव, अभवत् । यथा चैत्रे तारव पुष्पिता फलिताश्च भवन्ति, तथा तद्राज्ये जनता सदा सन्तुष्टिमयी अतिष्ठति इत्यर्थः । अत्र मालारूपताविरहात् केवलत्वम्, श्लेषाभावाच्छुद्धत्वम्, अन्योन्योपायतारूपत्वात्परम्परितत्वमिति बोध्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—राजा इत्यादि । कवि का कथन है—सब धर्मों का आश्रय (रक्षक) युधिष्ठिर नामधारी राजा, लोगों के लिये ऐसा था, जैसा तरुओं के लिये चैत्रमास—अर्थात् चैत्रमास के वृक्षों के समान उसके राज्य में सब लोग लक्ष फूलते-फलते (सुखसन्तुष्टिमय) थे । यहाँ ‘चैत्रमास’ और ‘युधिष्ठिर’ की उपमा के बिना ‘तरुओं’ और ‘लोगों’ की उपमा सिद्ध नहीं हो सकती, और न ‘तरुओं’ और ‘लोगों’ की उपमा के बिना ‘चैत्र’ और ‘युधिष्ठिर’ की उपमा सिद्ध हो सकती है, अतः यह उपमा परम्परिता है, श्लेषरहित है, अतः शुद्धा है और उपमानों की माला नहीं है—एक ही उपमान है, अतः केवल है ।

अष्टमं भेदमुदाहरणमाह—

मालारूपशुद्धपरम्परिता यथा—

स्पष्टम् ।

मालारूप शुद्धपरम्परित उपमा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘मृगतां हरयन्मध्ये वृक्षतां च पटीरयन् ।

शृङ्खलां सर्वभूतानां त्वमिन्दवसि भूतले ॥’

कवि कथयति—हे राजन् ! मृगता मृगवदाचरता, सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां मध्ये, हरयन् हरि सिंह वददाचरन्, वृक्षता वृक्षवदाचरता, सर्वभूतानां मध्ये, पटीरयन् पटीरं चन्दन वददाचरन्, त्वम्, शृङ्खलाम् शृङ्गाणितारा वददाचरता, सर्वभूतानां मध्ये, भूतले इन्दवसि इन्दुरिवाचरसि इत्यर्थः । सर्वत्राचारे क्षिप् । अत्रैकस्य राजरूपस्योपमेयस्य कृते बहुपमाननिर्देशान्मालात्वम्, श्लेषाभावाच्छुद्धत्वम्, परस्परोपायोपेयभावाच्च परम्परितत्वमित्यवगन्तव्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—मृगताम् इत्यादि । कवि कहता है—हे राजन् ! इस सत्तार में यदि सब प्राणी मृगसदृश आचरण करते हैं तो आप उनमें सिंह के समान आचरण करते हैं, यदि वे वृक्ष के तुल्य आचरण करते हैं तो आप उनमें चन्दन के समान आचरण करते हैं, और यदि वे तारों के समान आचरण करते हैं तो आप उनमें शृङ्खला के समान आचरण करते हैं । यहाँ राजारूप उपमेय के लिये अनेक उपमानों का निर्देश किया गया है, अतः यह उपमा मालारूपा है, श्लेष न रहने के कारण शुद्धा है और परस्पर एक दूसरे की उपायभूत होने के कारण परम्परिता है ।

विरोपमाह—

उपमानयोः परस्परमुपमेययोश्चानुकूल्ये उपमयोरेपोपायता निरूपिता ।

पूर्वोक्तासु यासु परम्परितोपमासु परस्परोपायता प्रदर्शिता, तत्रोपमाद्वयाद्भूतमुपमानद्वयमुपमेयद्वयाविरोधि, परन्तु तयोर्विद्वत्वेऽपि उपमाद्वयस्योपायता मिथः संभवतीति भावः ।

एक विशेष की चर्चा करते हैं—उपमानयोः इत्यादि । पूर्वोक्त जिन परम्परित उपमाओं में दो उपमाओं के परस्पर उपायभूत होने की बात कही गई है उनमें दोनों उपमाओं के उपमान उपमेय अनुरूप थे—अविरोधी थे, पर उनके परस्परविरोधी रहने पर भी उपमाओं में एक दूसरे का उपाय होना बन सकता है, अतः वैसी स्थिति में भी परम्परित उपमा हो सकती है ।

तथाविधमुदाहरण प्रदर्शयितुमाह—

प्रातिकूल्ये उपायता यथा—

उपमानोपमेययोः परस्पर विद्वत्वेऽपि उपमाद्वयस्य मिथः उपायता यत्र भवति तादृशमुदाहरण प्रदर्शयति इति भावः ।

उपमान और उपमेय में परस्पर विरोध होने पर दो उपमाओं में जहाँ उपायोपेयमाव होता है, वैसा उदाहरण दिखलाया जाता है ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘राजा दुर्योधनो नाम्ना सर्वसत्त्वभयङ्करः ।

दीपानामिव साधूनां कञ्जभावात् इवाभवन् ॥’

नाम्ना दुर्योधन दुर्योधननामा, सर्वसत्त्वभयङ्कर सकलप्राणिभयजनक राजा, साधूनाम् सज्जनानां, कृते तथा अभवत्, यथा दीपानां, कृते, कञ्जभावात् वृष्टिविकटो महाबायु, भवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—राजा इत्यादि । कवि कहता है—सब प्राणियों के लिये भयङ्कर दुर्योधन नामक राजा, सज्जनों के लिये वैसा ही था, जैसा प्रदीपों के लिये वृष्टि-मिश्रित विशकल वायु ।

उपपादयति—

अत्रोपमानयोर्दीपकञ्जभावात्तयोरन्योन्यमुपमेययोश्च साधुदुर्योधनयोः प्रातिकूल्येऽप्युपमयोः परस्परमानुकूल्यादुपायतैव ।

‘राजा दुर्योधनो—’इत्यस्मिन् पद्ये द्वे उपमे—दीपसाध्वोरेका, कञ्जभावात्तदुर्योधनयोश्च द्वितीया, तत्र द्वितीया मुख्य, प्रथमाऽद्भुता यद्यपि अनयोपमयोपमानभूतौ, दीपकञ्जभावातौ एवम् उपमेयभूतौ साधुदुर्योधनौ परस्पर विद्वदौ, तथापि तत्तादुपमानोपमेयकोपमाद्वयस्य परस्परमुपायता भवति, विरोधिद्वयवर्गद्वयस्य सादृश्ययो विरोधाभावादिति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्रोपमान इत्यादि । ‘राजा दुर्योधनो—’ इस पद्य में दो उपमायें हैं—एक साधुओं की दीपों के साथ और दूसरी दुर्योधन की शब्जभावात् के साथ । इन दोनों उपमाओं के उपमान—दीप और शब्जभावात्, एवम् उपमेय—साधु और दुर्योधन यद्यपि परस्पर प्रतिकूल हैं—विरोधी हैं, तथापि इन विरोधी तत्त्वों को लेकर बनाई गई उक्त दोनों उपमाओं में अद्भुतभाव और उपायोपेयमाव—अर्थात् एक दूसरे का उपाय होना—हो सकता है—होता भी है, क्योंकि उपमाओं में परस्पर विरोध नहीं है, प्रयुक्त

अनुकूलता ही है। तात्पर्य यह कि 'जैसे मोहन, सोहन का विरोधी है, वैसे राघव, माधव का विरोधी है' ऐसा कहने पर उन सादृश्य वाले पदार्थों में भले ही विरोध प्रतीत हो, पर उन दोनों सादृश्यों में तो कोई विरोध दीख पड़ता नहीं, प्रत्युत आधार की समानता के कारण अनुकूलता ही झलकती है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये।

प्रागुदाहृता प्रातिकूल्ये केवलपरम्परितोपमा इदानीं मालारूपा वा प्रातिकूल्ये उदाह्रियते—

एवम्—

‘सरोजतामय सतां शिशिरर्तयतापुना ।
दर्भतां सर्वधर्माणां राजानेन विदर्भितम् ॥’

इत्यादौ मालारूपतायामपि ।

एवमिति । पूर्वोक्तरीत्यैवैत्यर्थः । अद्य च ‘मालारूपतायामपि’ इत्यस्यामे शेषभूते ‘प्रातिकूल्ये उपायता’ इत्यन्वान्वयः । सरोजतामिति । कमलवदाचरता सता मध्ये शिशिर-
तुल्यदाचरतानेन राज्ञा दर्भपदाचरतां सर्वधर्माणां मध्ये विदर्भदेशवदाचरितमित्यर्थः । विदर्भे यथा दर्भा न प्ररोहन्ति तथास्मिन् राज्ञि धर्मा न प्ररोहन्तीति भावः । अर्द्रकस्य राज्ञः उपमेयस्य स्वभावस्पर्ष्टीकरणाद्योपमानन्दयनिर्देशात् मालारूपत्वमुपमाया, सरोजशिशिरयो सज्जनद्रूपयोश्च प्रातिकूल्येऽपि उपायतासत्त्वात् परम्परितत्वम्, श्लेषान्नाच्चात् शुद्धत्ववेति बोध्यम् ।

प्रातिकूल्य में भी परस्पर उपायोपेयभाव वाली मालारूप शुद्धपरम्परितोपमा का उदाहरण दिखला रहे हैं—एवम् इति । ‘राजा दुर्धर्षणे—’ इस पद्य में जैसे उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता रहने पर भी परम्परित उपमा मानी गई है, उसी तरह ‘सरोजतामू—’ अर्थात् कमलों के समान आचरण करनेवाले सज्जनों के मध्य में शिशिरवस्तु के तुल्य आचरण करनेवाले इस राजा ने, इस समय, बुर्भ (कुरा) के समान आचरण करने वाले सब धर्मों के मध्य में, विदर्भ देश (जहाँ दर्भ नहीं अङ्कुरित होते) के समान आचरण किया है। इत्यादिक मालारूप उपमाओं में भी वही बात—उपमान से उपमान की और उपमेय से उपमेय की प्रतिकूलता है। तात्पर्य यह कि प्रतिकूलता में पहला उदाहरण शुद्ध केवल परम्परिता का है और दूसरा मालारूप शुद्धपरम्परिता का ।

उपमाया सेदान्तरं विवृणोति—

उपमेयानां स्वस्वोपमानानुपमानानामुपमानतायां रशानोपमा ।

स्वस्वोपमानानुपमानानामिति । एतन्नोपमेयोपमायामतिव्याप्तिनिरासार्थः । तत्रोपमेयं स्वोपमानस्यैवोपमानं भवतीति स्वोपमानानुपमानत्वपटितस्यास्य लक्षणवाक्यस्य नातिव्याप्तिः । यत्र किंचिदुपमेयं स्वोपमानमिदस्य कस्यचित् पदार्थस्वोपमानं भवति, तत्र रशानोपमा । नायं भिन्नोऽलङ्कारः, सामान्यलक्षणाशान्ततयोपमाया एव प्रभेद इति भावः ।

उपमा का ही एक अमिनत्र प्रभेद दिखलाने के लिये पहले उस प्रभेद के योग्य स्थिति का स्पर्ष्टीकरण करते हैं—उपमेयानाम् इत्यादि । जब कोई उपमेय अपने उपमान से भिन्न किसी पदार्थ का उपमान बन जाय, सब उस उपमा को ‘रशानोपमा’ कहते हैं। यहाँ ‘अपने उपमान से भिन्न किसी पदार्थ का’ ऐसा कथन ‘उपमेयोपमा’ में अतिव्याप्ति शेष के निराकरणार्थ है, क्योंकि उपमेयोपमा में भी उपमेय, उपमान बनता है, पर अपने उपमान का ही, यह समझना चाहिये ।

रशनोपमामुदाहर्तुमाह—

यथा—

स्पष्टम् ।

रशनोपमा जैसै ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘वागिव मधुरा मूर्तिर्मूर्तिरिवात्यन्तनिर्मला कीर्तिः ।

कीर्तिरिव जगति सर्वस्तवनीया मतिरमुष्य विभोः ॥’

कवि कसपि राजानं स्तौति—अमुष्य अस्य, विभो राज्ञ, मूर्ति शरीरं, वागिव वाणीवत्, मधुरा, वाचि माधुर्यं सरसत्वम्, मूर्तो च तन् सौन्दर्यमिति विवेकः, कीर्ति-यशः, मूर्तिरिव, अत्यन्तनिर्मला नितान्तविमला, जगति ससारे, सर्वे स्तवनीया स्तुत्या प्रशसनीयेति यावत्, मति बुद्धिः, कीर्तिरिव, वर्तत इति शेषः । अस्य राज्ञो वाग्मूर्ति-कीर्तिमतिषु उत्तमोत्तरं प्रति पूर्वं पूर्णगुणमानभूतमिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—वागिव इत्यादि । किसी राजा की प्रशंसा में कवि का कथन है—इस राजा की जैसी मधुर वाणी है वैसी ही मधुर मूर्ति (शरीर), और जैसी निर्मल मूर्ति है वैसी ही निर्मल कीर्ति, एवं जैसी संसार में सर्वस्तुत्य इसकी कीर्ति है वैसी ही इसकी बुद्धि भी सर्वस्तुत्य है ।

पूर्वोदाहरणगत विशेषमाह—

इयं धर्मभेदे ।

उक्तरशनोपमोदाहरणे माधुर्यनिर्मलत्वादयः साधारणधर्मा मियो भिन्ना इति भावः ।

भिन्न-भिन्न साधारण धर्म के रहने पर उक्त उदाहरण में रशनोपमा हुई है ।

धर्मक्ये रशनोपमामुदाहर्तुमाह—

धर्मक्ये तु—

सप्तम्यर्थस्याग्रिमपद्येन सम्बन्धः । तुना पूर्वव्यवच्छेदः ।

साधारण धर्म के एक रहने पर तो ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘भूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनवः ।

सुता इव भट्टास्तस्य परमोन्नतविप्रहाः ॥’

कवि स्वाभिमत कमपि नरपतिं स्तौति—तस्य राज्ञ, भूधरा पर्वता इव, मत्तेभा भद्रमत्ता गजा, मत्तेभा, इव, सूनवः पुत्रा, सुता पुत्रा, इव, भट्टा योद्धार, परमोन्नत-विप्रहा अतिविशालदेहाः सन्तीत्यर्थः । अत्र परमोन्नतविप्रहृत्वमेक एव तिसृषु उपमासु साधारणो धर्मः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—भूधरा इव इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—उस राजा के पर्वतों के समान भद्रमत्त हाथी, भद्रमत्त हाथियों के समान पुत्र और पुत्रों के समान योद्धागण, अति विशाल काय वाले हैं । यहाँ एक ‘विशाल काय होना’ ही तीनों उपमाओं में साधारण धर्म है ।

रशनोपमा धर्मलुप्तमामुदाहर्तुमाह—

धर्मलोपे तु तस्येत्यस्यानन्तरम् ‘भट्टा इव युधि प्रजाः’ इति बोध्यम् ।

‘भूधरा इव—’ इति पद्ये ‘तस्य’ इत्यस्याग्रे ‘योद्धार इव युद्धे प्रजा-जनता-मन्ती-

त्यर्थके 'भटा इव युधि प्रजा-' इति पाठे समाश्रिते तदेव पद्य धर्मलुप्ताया रशनोपमाया उदाहरणं सम्मद्यत इति भावः ।

धर्मलुप्ता रशनोपमा के उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं—धर्मलोपे इत्यादि । 'भूधरा इव—' इसी पद्य में 'तस्य' के भागे यदि 'भटा इव युधि प्रजा—' अर्थात् योद्धाओं के ही समान युद्ध में प्रजापति हैं' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वही पद्य धर्मलुप्ता रशनोपमा का उदाहरण समझा जायगा ।

उपसंहारः—

इयमेवंभेदा प्राचीनैर्भेदैर्गुणने बागगोचरं भूमानं भजमाना नेयतामह-
तीति दिक् ।

इयमिति । उपमेत्यर्थः । बागगोचरं बावा प्रतिपादयितुमनर्हम् । भूमानम् अति-
शयम् भजमाना आसादयन्ती । मनुक्तानामभिनवान् भेदानां प्रायोगिकैर्मदैः सह गुणने
उपमाया ह्यन्तो भेदा भवेयुर्गोपामिवत्तया परिच्छेदः कर्तुमशक्य इति भावः ।

उपसंहार करते हैं—इयम् इत्यादि । इस तरह इन अभिनव भेदों का प्राचीन भेदों
के साथ गुणा करने पर उपमा के इतने अधिक भेद हो जाते हैं कि—उमको कहा नहीं जा
सकता, अतः अब उनकी ह्यत्ता—निश्चितसंख्या—असंभव है ।

उपमाया ध्वनित्वमाह—

एषैव च यदा सकलो न वाक्येन प्राधान्येन ध्वन्यते तदा परिहृतालङ्कार-
भावा ध्वनित्यपदेशाद्देतुः ।

एषैव उपमैव । प्राधान्येनेति । एतेन गौणतया ध्वनते न ध्वनित्यपदेशाद्देतुर्गोपि तु
अलङ्काराद्वा एवेति सूचितम् । यदेयमुपमा सम्पूर्णवाक्यस्य प्रधानभूतो व्यङ्ग्यार्थो भवति,
तदाऽलङ्कारत्वं तत्र न तिष्ठति, प्रधानत्वेन तस्य स्वयमलङ्कार्यत्वात् । अपि च प्रधानतया
परिमित्वाक्ये ध्वन्यते सा, तत्काव्यं तामेव ध्वन्यमानासुपमायादाय ध्वनितान्नकोत्तमोत्त-
मकाव्यत्वेन व्यपदिश्यत इति भावः ।

अब उपमा-ध्वनि का विचार करते हैं—एषैव च इत्यादि । यही उपमा जब सम्पूर्ण
वाक्य से प्रधानरूप में ध्वनित होती है तब उसको 'अलङ्कारका' न कहें जायगी है—अर्थात्
वह अलङ्कार नहीं रह जाता है और वाक्य के 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहे जाने का
कारण हो जाती है । तात्पर्य यह हुआ कि उपमा जब वाक्य रहती है तब वह वाक्या-
लङ्कार कहलाती है और जब उपमा गौणरूप में व्यङ्ग्य होती है तब व्यङ्ग्य अलङ्कार
कहलाती है, साथ-साथ वह काव्य—जिसमें इन दोनों प्रकारों में से किसी एक प्रकार
की उपमा रहती है—'चित्र-काव्य' कहलाता है । परन्तु जब प्रधानरूप में सम्पूर्ण वाक्य
से उपमा ध्वनित होती है, तब उसको अलङ्कार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अलङ्कार
का मतलब होता है दूसरे (प्रधान) को अलङ्कृत करने वाला स्वयं गौण, और इस
तरह की उपमा से युक्त काव्य 'चित्र' न कहलाकर 'ध्वनि' कहलाता है, इसी उपमा के
बल पर, चाहे वाक्य कोई वस्तु या रस आदि न भी ध्वनित होता हो ।

ननु ध्वन्यमानायामपि उपमायाम् 'अलङ्कारध्वनि' इति रीत्याऽलङ्कारध्वन्यवहारो भवति
सोऽधुना कथं सङ्गच्छतामित्यत आह—

अस्यां चालङ्कारव्यपदेशः कदाप्यलङ्कारभावमप्राप्तेषु मञ्जूषादिगतेषु कट-
कादिष्विवालङ्काराणां गसधर्ममात्रसंस्पर्शनिबन्धनः ।

धर्ममात्रेति । उपमात्वेत्यर्थः । मात्रपदेतालङ्कारत्वव्यवच्छेदः । यानि कटकादीनि
कदापि कामिनीकायस्तेषां भाग्यं नापु—विशेषतया वणिज्मञ्जूषायामेव मुद्रितानि,

तेष्वलङ्कारणक्रियाशून्येष्वपि कटकादिषु यथा कामिनीकायवतालङ्कारणक्रियाविशिष्टरुक्मादि-
वर्तिकटकत्वधर्मस्य सत्त्वेनालङ्कारव्यवहारस्तथैव या उपमा प्राधान्येन ध्वन्यमानैव,
अत एवालङ्कृतिकरणताशून्या, तस्यामपि, अलङ्कृतिकरणताविशिष्टवाच्योपमागतोप-
माध्वधर्मविशिष्टत्वेन स्वरूपयोग्यतया कचचिदलङ्कारव्यवहार इति भावः । प्राचीनास्त्वत्र
'ब्राह्मणधमन्यायेनालङ्कारव्यपदेशं' साधयामासु परन्तु तदुचितं न प्रतिभाति, स्थल-
भेदेनोपमादेर्मिथ्यतया प्राधान्येन ध्वन्यमानस्योपमादे प्रागप्यलङ्कारत्वाभावात् तन्म्याय-
स्याप्रसक्तेः ।

प्रधानरूप में ध्वनिन होनेवाले उपमा आदि में 'अलङ्कार' शब्द से व्यवहार होने
का कारण यतलाते हैं—अस्या च इत्यादि । प्रधानरूप में ध्वनित होनेवाले उपमादिक,
किसी को अलङ्कृत नहीं करते, अतः जैसे उपमादिकों को अलङ्कार कहना—'अलङ्कार-
ध्वनि' शब्द से उनका व्यवहार करना—यद्यपि उचित नहीं है, तथापि जैसे कभी आभूषण
के काम में नहीं लाये गये—केवल सम्पत्ति के रूप में अथवा बेचने के लिये तिजोरी में
घन्ट करके रखे गये 'कड़े' आदि में—वस्तुता आभूषण के रूप में धारण किये गये
'कड़े' आदि के धर्म (कड़ा का आकार-प्रकार) से युक्त होने के कारण—'कड़ा' का
व्यवहार होता है, उसी तरह कभी किसी को अलङ्कृत नहीं करने वाले उपमादिकों में
भी, वस्तुतः अलङ्कृत करनेवाले उपमादिकों के धर्म (उपमात्व) से युक्त होने के
कारण अलङ्कार का व्यवहार होता है । प्राचीनों ने तो ऐसी स्थिति में 'ब्राह्मणधमन-
न्याय' से अलङ्कारव्यवहार को सिद्ध किया है जिसका अभिप्राय यह है कि—जैसे भ्रमण
(सन्ध्यामी) की कोई जाति नहीं होती, फिर भी माहणकुल से सन्ध्यास ग्रहण करने के
कारण, पूर्वकालिक ब्राह्मणत्व को लेकर उसको 'ब्राह्मणधमन' कहा जाता है, वसी तरह
प्राधान्येन ध्वन्यमानसादृशा में अलङ्कार न होने पर भी पूर्वकालिक अलङ्कारभाव को
लेकर उस दृशा में भी उपमा आदि को अलङ्कार कहा जाता है, परन्तु यह बात सङ्गत
नहीं प्रतीति होती, क्योंकि कभी (पूर्व में) ब्राह्मण रहने पर ही सम्पासावस्था में भी
उसको ब्राह्मण कहा जाता है, वहाँ तो वैसी बात नहीं है—अर्थात् अथ स्थल के भेद से
उपमा (सादृश्य) आदि भिन्न भिन्न माना जाता है—तब जो उपमा आदि प्रधानरूप में
ध्वनित होता है, वह कभी अलङ्कार नहीं रहा—पहले भी किसी को अलङ्कृत नहीं विधा-
फिर वहाँ 'ब्राह्मणधमन' नामा न्याय प्राप्त ही कहाँ होता है ?

उपमाध्वनि विभज्यते—

कचिदसौ शब्दराक्षिमूलानुध्वननविषयः । कचिद्व्यशक्तिमूलानुध्वनन-
विषयः ।

उपमाध्वनिर्द्विविधः—शब्दराक्षिमूलानुध्वननरूप एक, अर्थराक्षिमूलानुध्वननरूप द्वितीय ।
अनुध्वननरूपत्वक्यनेनास्य ध्वने सख्यव्यवस्था प्रतिपाद्यते । शब्दराक्षिमूलवच्च शब्दराक्ष्य
परिहृत्यसहचार्त्त, अर्थराक्षिमूलवच्च तथा तत्सहचार्त्तादिति भावः ।

उपमाध्वनि का विभाग करते हैं—कचित् इत्यादि । उपमा की ध्वनि दो प्रकार की
होती है—एक शब्दराक्षिमूलक और दूसरी अर्थराक्षिमूलक—अर्थात् जहाँ शब्द ऐसे हों,
जहाँ शब्दों के ध्वनि न
से परिवर्तित
होती है । ये
दोनों ही ध्वनियाँ अनुध्वनन-अनुध्वननरूप कही जाती हैं, क्योंकि इन ध्वनियों में
व्यङ्ग्यव्यञ्जक का क्रम उसी तरह लक्षित होता रहता है जिस तरह ध्वनि प्रतिध्वनि का
अथवा इस तरह की ध्वनियों को संलक्ष्यक्रम भी कहते हैं ।

प्रथमं प्रकारमुदाहरणमाह—

आद्यो यथा—

शब्दशक्तिमूलोपमाध्वनिर्व्येति भाव ।

पद्वली—शब्दशक्तिमूलक—उपमाध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अविरलविगलदानोदकधारासारसिक्कधरणितलः ।

घनदाममहितमूर्तिर्जयतिरां सार्वभौमोऽयम् ॥’

कवि कमपि राजानं स्तौति—अविरलं सततम्, विगलता पतता, दानोदकस्य दानो-
द्देश्यस्सङ्कल्पजलस्य, धारायां, आसारेण वर्षणेन, (‘धारासम्पात आसारः’ इति कोशा-
नुसारमासारपदनैव गतार्थतया ‘धारा’पदमनर्थकमिति केचित्, ‘सति विशेषणवाचक-
पदसमकक्षाने विशिष्टवाच्यकषदानां विशेष्यमात्रपरत्वम्’ इति न्यायेन ‘सकोचकै—’ इति
कालिदासप्रयोगयन् धारापद सार्यरहित्यन्ये) सिक्कमार्शिकृतं, धरणितलम् धरातलं, येन
तादृशः, तथा घनदानां घनदायकानां धनिकजनानाम्, अग्रे, महिता पूजिता—सर्वाधिकदातृ-
त्वेन प्रशंसिता—मूर्ति स्वरूपं यस्य, तथाविधत्वं, अयं द्रविमनोगतः, सार्वभौमः सार्वभौमध्व-
चक्रवर्तिरिति यावत्, जयतितराम् नितान्तं सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति प्राकरणिकोऽर्थः । अविरलं
गलता, दानोदकधारामारेण मदजलवृष्टया, सिक्क धरणितलं येन, तादृशः तथा घनदस्य
कुवेरस्य, अग्रे महिता मूर्तिर्व्यस्य, तादृशश्च, अयं सार्वभौमः उदग्विगमनः, जयतितराम्,
इति चाप्राकरणिकोऽर्थः । अत्रानेकार्थकानां दान घनद सार्वभौमाविषदानामभिधा यद्यपि
प्रकरणेन राजपक्षीयार्थेषु निवन्त्रिता, अतो दिग्गजपक्षीयोऽर्थो न वाच्यः, तथापि व्यञ्जना
सोऽर्थो भवत्येवावकाशः । एवंप्राकृतोऽर्थोऽसम्बद्धो मा भूदिति राजदिग्गजयोरेवमा
कल्प्यत इति शब्दशक्तिमूलोपमाध्वनिरत्र सिध्यतीति भावः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अविरल इत्यादि । कवि का कथन है—जिसने
निरन्तर गिरते हुए दानजल (सङ्कल्प के जल) की धारावाहिक छूटि से धरातल को
सिक्क कर दिया है और जिसका स्वरूप घनदायकों के आगे पूजित है—प्रशस्त है—ऐसा
यह सार्वभौम (समग्र पृथ्वी का अधिपति) सर्वोत्कृष्ट है और—जिसने सतत गिरते
हुए मदजल (दानधारि) की धारावाहिक छूटि से पृथ्वीतल को आर्द्र कर दिया है
तथा जिसकी मूर्ति (स्वरूप) कुवेर के आगे पूजा-प्रणसा-पाठी है, ऐसा यह सार्व-
भौम (उत्तर दिशा का दिग्गज) सब से परमोत्कृष्ट है । यहाँ ‘प्रकरण’ (एक
अभिधानियात्मक) से ‘दान घनद-सार्वभौम’—आदि पदों की शक्ति राजपक्षीय अर्थों में
नियन्त्रित हो गई है, अतः प्रथम (राजपक्षीय) अर्थ ही वाच्य होता है परन्तु दूसरा
(दिग्गजपक्षीय) अर्थ भी शान्दी व्यञ्जना से ज्ञात होता है । इस स्थिति में द्वितीय
असद्वद् अर्थ का बोधक पद्य नहीं समझा जाय, इसलिये ‘दिग्गज के समान राजा’ यह
उपमा अलङ्कार भी व्यञ्जना से अवगत होने वाला माना जाता है । इस तरह से
शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का यह पद्य उदाहरण होता है ।

उपमाध्वनेरुदाहरणान्तरं निर्दिष्टुमाह—

यथा वा—

उपमाध्वनेरुदाहरणान्तरं यथेत्यर्थः ।

अथवा जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘विमलतरमतिगभीरं सुपवित्रं सतत्त्ववत्सुरसम् ।
हंसावासस्थानं मानसमिह शोभते नितराम् ॥’

कवि कथयति—विमलतरम् कामक्रोपादिराहित्येनातिस्वच्छम्, अतिगभीरम् प्रबल-
धैर्यसयुक्तम्, सुपवित्रम् कुवासनाहीनम्, सतत्त्ववत् बलवत्, सुरसम् शृङ्गारादिनवविध-
रसपेशलम्, हंसावासस्थानम् परमात्मस्थितिस्थानम्, मानसम् मन, इह जगति,
नितरा सर्वथा, शोभते शोभाप्रधानमिह च्छतीति प्राकरणिकोऽर्थः । विमलतरम् पद्मादिरहितम्,
अतिगभीरम् पातालतलजम्बि, सुपवित्रम् बाह्याविभारहीनम्, सतत्त्ववत् जलजन्तुभि-
रहितम्, सुरसम् शोभनसलिलम्, हंसावासस्थानम् नानाविवराजहंसाश्रयीभूतम्, मान-
सम् तन्नामकं सर, इह जगति, नितरामत्यन्तम्, शोभत इति व्याप्राकरणीकोऽर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—विमल इत्यादि । कवि का कथन है—अत्यन्त निर्मल
(क्रोध आदि से शुद्ध), अत्यन्त गभीर (धैर्ययुक्त) अतिपवित्र, बलशाली, रसिक
और परमात्मा का निवासस्थान मन, इस संसार में अत्यन्त शोभित होता है—यह
प्राकरणीक अर्थ और—अत्यन्त निर्मल (पद्म आदि से रहित) अत्यन्त गहरे, अत्यन्त
पवित्र, प्राणियों (जलजन्तुओं) से युक्त, सुन्दर मल वाले और राजहंसों का निवासस्थान
मानससरोवर इस संसार में अत्यन्त शोभित होता है—यह है अप्राकरणीक अर्थ ।

उपपादयति—

अत्रानेकार्थानामपि शब्दानां प्रकरणेन कृतेऽपि शक्तिसङ्कोचे तन्मूलकेन
ध्वननेन प्रतीयमानस्य, सरोवररूपस्यार्थान्तरस्याप्रस्तुतस्याभिधानं सा भूदिति
प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः प्रधानवाक्यार्थसया कल्प्यते ।

अत्रेति । विमलतरमित्यादिपदे इत्यर्थः । अत्र ‘उदाहरणद्वये’ इति नागेशटीका न
सङ्गता, अत्र ‘सरोवररूपस्यार्थान्तरस्य’ इति स्पष्टमभिधानम् । ‘विमलतरम्—’ इति पदे
क्रियापदमपहाय सर्वे शब्दा द्व्यर्थका । परन्तु मनोवर्णनप्रकरणे पदभिदमुक्तम्, अतस्त-
दनुकलेष्वर्थेषु तेषां शब्दानां वाचकताशक्तिः प्रकरणबलाभियम्येत । तथा च तत्पक्षीय
एवायों वाच्यः सरोवरपक्षीयवार्थः शब्दशक्तिमूलकव्यञ्जनया बोध्यः । असम्बद्धतया
तद्वैधोऽसङ्गतो न भवतु इति सरोवरमनसोरुपमा व्यज्यत इति शब्दशक्तिमूलकोपमाश्वनि-
रत्रेति भावः ।

उपपाद्वन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘विमलतरम्—’ इस पद्य के सभी पद प्रायः
अनेकार्थक हैं, पर प्रकरण है यहाँ मन का, अतः मन पक्षीय अर्थ में, उन पदों की शक्ति,
प्रकरण के द्वारा, नियन्त्रित हो जाती है, जिससे वाच्यवृत्ति के द्वारा मन-पक्षीय अर्थ
ही अवगत होता है, किन्तु शब्दों व्यञ्जना से सरोवरपक्षीय अर्थ का ज्ञान भी होता
है—वद भी रोक नहीं जा सकता । इस स्थिति में सरोवरपक्षीय अर्थ के बोधक होने के
कारण यह पद्य असम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादक नहीं समझा जाय इस भय से उन दोनों
(सरोवर और मन) अर्थों में उपमान-उपमेय-भाव की कल्पना की जाती है, अतः यह
भी पद्य शब्दशक्तिमूलक उपमाश्वनि का उदाहरण होता है ।

द्वितीय प्रकारमुदाहरणमाह—

द्वितीयो यथा—

अर्थशक्तिमूलकोपमाश्वनिर्यवेत्यर्थः ।

अर्थशक्तिमूलक उपमाश्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अद्वितीयं कचात्मानं दृष्ट्वा किं चन्द्रं दृष्यसि ।

भूमण्डलमिदं सर्वं केन वा परिशोधितम् ॥’

अन्तःपुरमात्राधारिण्या सुपमाशक्तिन्या निजप्रेमस्या मुक्तमालोक्य बहिरागतस्य कस्यचिन् पुंसः चन्द्रमस प्रत्युक्ति—चन्द्र ! कचा कान्त्या, अद्वितीयं निरूपमम्, आत्मानं, दृष्ट्वा ज्ञात्वा (ज्ञानसामान्यार्थकोऽत्र दृष्टिः), किं, दृष्यसि गर्वमनुभवसि ? नाम तव गर्वानुभवः समुचित इति भावः । तत्र हेतुमाह—भूमण्डलमित्यादिना । केन जनेन, (वाराण्डो हेतुपरः) इदं, सर्वम्, भूमण्डलम्, परिशोधितम् यवेयितम् ? न केनापीति भावः । तथा च सकलप्राण्यपरिशोधितोऽत्र ससारे तथाविधमपि वस्तु लब्धुं शक्यम्, यत्तवोपमानता भजेतेति भावः । अर्धवान्तःपुरे वर्तमानायाः मम प्रियतमायाः आननं तव तुला बिभतीति तात्पर्यम् ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—अद्वितीयम् इत्यादि । सदा अन्तःपुर में ही रहने वाली अपनी परमसुन्दरी प्रेयसी के मुख को देखकर बाहर निकले हुए किसी पुरुष की चन्द्रमा के प्रति उक्ति है कि—हे चन्द्र ! तुम कान्ति के कारण अपने को अद्वितीय समझ कर क्या गर्व कर रहे हो ? किसने इस समग्र पृथ्वीमण्डल को छूँटा है ?—इस अनन्त पृथ्वीमण्डल में एक से एक सुन्दर वस्तु हैं, कहीं तुम से सुन्दर वस्तु मिल सकती है । तात्पर्य यह कि यहीं अन्तःपुर में रहने वाली मेरी प्रियतमा का मुख तुम से कहीं बढ़कर सुन्दर है ।

उपपादयति—

अत्र मूढादिपदाप्रयोगादसूयादेरप्रत्ययान्मुख्यतयोपमैव व्यङ्ग्यम् ।

अत्रेति । ‘अद्वितीयम्—’ इति मूढादिपदापठिते पद्ये इत्यर्थः । असूयादेरप्रत्ययादिति । असूयादिभाषानभिव्यक्षेरित्यर्थः । अत्र ‘अत्र मूढादिपदाप्रयोगेऽपि किं चन्द्रं दृष्यसीत्यादिपेणामूया व्यङ्ग्यम् न वेति सहृदयैर्यिभाष्यम्’ इति नागेशः । विरहिण उक्तौ मूढादिपदाप्रयोगेऽपि असूयाऽभिव्यक्तुम् शक्या, उद्दीपकं चन्द्रं प्रति विरहिणोऽगूमाराम्भवात् । परमिदं पद्यं न विरहिण उक्तिरपि तु कान्तासङ्गतस्येति कथमिहासूयाभिव्यक्तिसम्भावना ? तस्मात् नापिज्ञाने चन्द्रोपमानभाव एवात्र वक्तुरभिप्रेतः तथा चोपमैवात्र प्रधानव्यङ्ग्येति युक्तमुत्तरयामि । प्रागपि पद्यमिदमस्मिन्नेव प्रकरणे उदाहृतम्, परन्तु तत्र मूढपदं प्रयुक्तम् । विरहिण्योक्तिरुपपादिता, अतस्तत्रास्या प्रधानव्यङ्ग्या, उपमा चाभिव्यज्यमानाभिः असूयोपस्कारिका अलङ्काररूपा । अत्र तु मूढपदं न प्रयुक्तम् सयोगिन्योक्तिः स्वीकृता, अतो नात्रास्याऽभिव्यक्तिः, किन्तु उपमैव प्रधानव्यङ्ग्या । तेन पद्यमिदमर्थशक्तिमूलोपमाचनेरुदाहरणं सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । इसी प्रकरण में यह पद्य पहले भी उदाहृत हो चुका है, पर वहाँ ‘मूढ’ पद का प्रयोग हुआ है और विरही की उक्ति मानी गई है, अतः वहाँ ‘असूया’ मुख्य व्यङ्ग्य होती है जिसको व्यङ्ग्य उपमा अलङ्कृत करती है, अतएव वह पद्य व्यङ्ग्य उपमा अलङ्कार का उदाहरण कहा गया है । किन्तु यहाँ इस पद्य में ‘मूढ’ पद का प्रयोग नहीं किया गया है, जिससे यह विरही की उक्ति नहीं कही जा सकती, प्रयुक्त सयोगी की उक्ति है, अतः असूया यहाँ अभिव्यक्त नहीं होती अपितु मुख्यरूप में उपमा ही अभिव्यक्त होती है, अतएव यह पद्य अर्थशक्तिमूलक उपमाध्वनि का उदाहरण होता है । यहाँ नागेश का कथन है कि “इस पद्य में ‘मूढ’ पद का प्रयोग न होने पर भी हे चन्द्र ! तू गर्व क्यों करता है” इस उक्ति से आशेष के द्वारा

‘असूया’ अभिव्यक्त होती है अथवा नहीं, इसका विचार सहृदयों को करना चाहिए।” इस कथन से, ‘नागेश यहाँ भी असूया की अभिव्यक्ति मानते हैं’ ऐसा भासित होता है, पर मुझे नागेश का दृष्टिकोण उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उद्दीपक चन्द्र के प्रति विरही के हृदय में असूया होती है, अतः पूर्व पद्य-जो विरही की उक्ति है—में असूया की अभिव्यक्ति ठीक है, पर यहाँ तो यह पद्य विरही की उक्ति है नहीं—एक पत्नी के साथ रहनेवाले की उक्ति है, फिर उसके लिये चन्द्रमा सुखद ही है कष्टदायक नहीं, ऐसी स्थिति में यहाँ भी असूया की अभिव्यक्ति मानना कहाँ तक मङ्गल है इस बात का भी विचार सहृदय जब ही करेंगे।

इदानीमुपमास्थलीयशाब्दबोधविचारमारभवे—

अथात्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे बोधो विचार्यते—अरविन्दसुन्दरमित्यत्र अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजक लक्ष्यते । तच्च सुन्दरपदार्थैकदेशेन सौन्दर्यणाभेदसंसर्गेणान्वेति । तेनारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमिति धी । निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदान्वयस्याक्युत्पन्नत्वादभेदानुसरणम् । एकदेशान्वयस्तु देवदत्तरूप नप्तेर्यादाविवात्राप्यभ्युपेय । ‘समासस्यैव विशिष्टार्थशक्ति’ इत्येके-1- ‘अरविन्दपदमेव लक्षणया सर्वार्थबोधक सुन्दरपद तु तात्पर्यमाहकम्’ इत्यपरे ।

अत्रेति । उपमाप्रकरणे इत्यर्थः । सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे इति । ‘चन्द्र इव सुन्दरं सुखम्’ इत्यादौ चन्द्रमुखोभयवृत्तिसौन्दर्यात्मकममानधर्म एव सादृश्यम् नातिरिक्तमिति नैयायिका, मीमांसकास्तु स धर्मः सादृश्यस्य साधकः सादृश्यं तु पदार्थान्तरमेवेति मन्यन्ते तयोरन्तिमे पक्षे इति भाषः । लक्ष्यत इति । अरविन्दपदेनेति शेषः । अभेदानुसरणमिति । प्रयोजकसौन्दर्ययोरिति भावः । ‘पदार्थः पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन’ इति न्यायविरोधे प्राप्ते आह—एकदेशान्वयस्तु इति । ननु नित्यसाक्षात्स्थले तथा-हीकारेऽपि अत्र न तथेति चेदत एव मतान्तरमाह—समासेति । अत्र मते गौरवान्मतान्तरमाह—अरविन्दपदमेवेति । सादृश्यमतिरिक्त पदार्थः न समानधर्मरूप इति मीमांसकाभिमतो पक्षे तत्तत्तुपमाप्रतिपादकवाक्येभ्यः कीदृशः कीदृशो बोधो जायते ? कथं च तादृशो बोधो जायते इति विचारः सम्प्रति प्रकान्तस्तत्र प्रथमं ‘अरविन्दसुन्दरम्’ इति सामानगतोपमाप्रतिपादकवाक्यान्वायमानस्य बोधस्य विषये विचारः क्रियते, तत्रापि पूर्वम् पदार्थनिरूपणमपेक्षितम्, पदार्थज्ञानमन्तरा वाक्यार्थज्ञानासम्भवेति पदार्थो निरूप्यते—निपातातिरिक्तनामार्थयोरभेदान्वय एवेति अरविन्दपदार्थसुन्दरपदार्थयोरभेदान्वयः करणीयः, स चारविन्दपदवाक्यार्थपूरस्कारे न सम्भवति, तादृशवाक्यस्थले अरविन्दाभिन्नसुन्दरमिति बोधस्य तादृशबोधेच्छाकालिङ्गमुन्दरपदपूर्वप्रयोगनियमज्ञानाधीन-वाधप्रस्तवत्वात्, अतोऽरविन्दपदस्य स्वनिरूपितसादृश्यप्रयोजके लक्षणा, तथा चारविन्दपदस्यारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजक लक्ष्योऽर्थः । सुन्दरपदस्य च सौन्दर्यवदित्यर्थः । एवञ्चारविन्दपदलक्ष्यार्थस्याभेदसंसर्गेण सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्योऽन्वयः । ननु कथं प्रयोजकपर्यन्तमरविन्दपदस्य लक्षणा क्रियते ? स्वनिरूपितसादृश्ये एव मियता लक्षणा, तस्य च लक्ष्यार्थस्य प्रयोजकतासम्भवेन सौन्दर्योऽन्वयो विधीयताम् इति चेन्न तथा सति पुनः नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्न इति नियमव्याकोपप्रसङ्गात् । प्रयोजकान्ते तादृशोऽर्थः लक्षणाया तु लक्ष्यार्थस्य प्रयोजकान्तस्याभेदेनैवान्वय इति न तद्व्याकोपः । २ चेव तन्नियमरक्षणेऽपि ‘पदार्थः पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेन’ इति नियमव्याकोपः

प्रसक्त एव । मुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्येऽन्वयकरणादिति वाच्यम्, 'देवदत्तस्य नमः' इत्यत्र देवदत्तपदार्थस्य पुत्रपुत्रकन्यापुत्रान्यतरात्मकनृपदार्थैकदेशीभूतप्रथमपुत्रकन्यान्यतरयो-
र्गत्याऽन्वयः क्रियमाणः सङ्गो भवति, तथाऽत्रापि स सङ्ग इत्याशयात् । इत्यत्राविन्दमुन्दर-
मिति वाक्यात् अविन्दनिष्पितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नं यत् सौन्दर्यम्, तद्वदभित्तम्
(मुद्रादि) इति बोधः सम्भवति । यैवाकरणास्तु 'रामासे सल्लु भिन्नैव शक्ति पङ्कज-
शब्दवत्' इत्युक्त्या समासे शक्तिविशेषं स्वीकृति, तथा च तन्मतानुसारं न 'अविन्द-
सुन्दरम्' इति पदान्तरसङ्गः पदार्थोपस्थितिः, अपि तु समस्तात् तस्मात् सम्पूर्णात्
पदान् पूर्वोक्तपर्यवधितव्योपविषयत्वेनेको विशिष्ट एवार्थ उपस्थितो भवति शाब्दबोध-
विषयश्च भवति । अस्मिन् मते न लक्षणा, न वा वक्ष्यापि निदमस्य व्याकोपः, तद्वक्षणा-
यातो वा एकदेशान्वयप्रसङ्गो वा भवतीति मुगमोऽयं पन्थाः । केचित्तु अविन्दपदस्यैव
स्वनिरूपितसादृश्यप्रयोजकाभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमित्येतादृश्यं लक्षणा, मुन्दरपदं पुनः 'अ-
विन्दपदमत्र एतादृशे (उक्ताकारे) अर्थे लाक्षणिकम्' इत्यर्थे तात्पर्यमाहकम्, यथा
'गर्भात्तया नष्टा घोषः' इत्यादौ तौरपदस्य गमोरनदीतटलघुत्वे गमोरपदं तात्पर्यमाहक-
मङ्गीक्रियते । तात्पर्यमाहकबन्नाम एवसमभिध्याहृतपदशक्तिबोधकम् । अस्मिन्नपि पक्षे
अन्वयादिहेतोः नास्ति इति भावः ।

अब उपमाप्रतिपादक वाक्यों से होने वाले शाब्दबोध के विषय में विचार करते
हैं—अर्थात् इत्यादि । इस प्रकरण को समझने के लिये आवश्यक है कि पहले 'शाब्दबोध'
क्या वस्तु है यह समझ लिया जाय अतः संक्षेप में शाब्दबोधपदार्थ का विरलेपण कर
दिया जाता है । [शाब्दबोधपद का सीधा सा अर्थ होता है शब्द से होनेवाला (अर्थ
का) ज्ञान । इसके दो विभाग किये जा सकते हैं, एक-किसी एक शब्द से होने वाला
(अर्थ-) ज्ञान और दूसरा अनेक शब्दों के समूह (वाक्य) से होने वाला (अर्थ-)
ज्ञान । इन दोनों में प्रथम-अर्थात् एकशब्दजन्य अर्थ-ज्ञान सरल है, उसमें अधिक
बखेड़ा नहीं होता । मान लीजिए कि-आपने किसी के मुख से 'चन्द्र,' ऐसा शब्द सुना,
सुन लेने के बाद—यदि आपको चन्द्र पद की शक्ति ज्ञात है तो आपको उस पद से
चन्द्रत्व धर्म से युक्त चन्द्रमा का ज्ञान होगा, आपका वह (चन्द्रवविशिष्ट चन्द्र इस
तरह का) ज्ञान ही चन्द्र पद से होने वाला शाब्दबोध कहलायगा । पर द्वितीय अर्थात्
पदसमूहात्मक वाक्य से होने वाला ज्ञान अपेक्षया उससे कुछ कठिन है—उसमें बहुतेरे
बखेड़े खड़े होते हैं । कारण, एक वाक्य में अनेक पद होते हैं और जिस वाक्य में जितने
पद होते हैं, उनमें से प्रत्येक पद के पृथक् पृथक् अर्थ ज्ञात हो जाने के बाद उन अर्थों
के अन्वयों-पारस्परिक सम्बन्धों—का ज्ञान करना पड़ता है, सम्बन्धज्ञान हो जाने पर
पारस्परिकसम्बन्धरूप में उन पदों का सामूहिक अर्थ—वाक्यार्थविषयक—ज्ञान जो होता है
उसी को द्वितीय विभागीय शाब्दबोध कहा जाता है, इस प्रकार के शाब्दबोध को
'वाक्यार्थज्ञान', 'अन्वयबोध' आदि नामों से भी जिह्मजन अभिहित करते हैं । कल्पना
कीजिए कि-आपने 'रामो ग्राम गच्छति' ऐसा वाक्य किसी से सुना, सुन लेने के बाद
यदि आप, उक्त वाक्य के अन्तर्गत 'रामः', 'ग्रामम्' और 'गच्छति' इन तीनों पदों के
अर्थ जानते रहेंगे, और साथ साथ उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से भी परिचित
रहेंगे, तो उस वाक्य से 'रामाभिन्नप्रयच्छति, ग्रामरूपोत्तरदेशनिष्ठसंयोगानुवृत्त, वर्त-
मानकालिक, व्यापारः अर्थात्-राम से अभिन्न-ग्रामरूप-आश्रय में रहने वाला, ग्रामरूप
अग्रिम प्रदेश के साथ होने वाले संयोग का उत्पादक और वर्तमान काल में होने वाला
व्यापार (क्रिया-चरणसंचालन)' ऐसा वाक्यार्थबोध आप को होगा । क्योंकि—उक्त
वाक्य में 'रामः' और 'ग्रामम्' इन संज्ञावाचक पदों का अर्थ व्यक्तिविशेष और स्थान-

विशेष समस्त लेना कठिन नहीं, रहा 'गच्छति' यह क्रियापद, उसमें दो अक्ष हैं एक- 'गम्' (जिसको गच्छ् आदेश-विकार-हो जाता है) धातुरूप प्रकृति और दूसरा-'ति' प्रत्यय, उनमें प्रकृति-धातु-का अर्थ है [(उच्चारण-) सयोगानुबल्लघ्यापार-अर्थात् आगे के प्रदेश से संयुक्त करा देने वाली कर्ता की क्रिया जो बादविशेष (पैर का उठाना बैठाना) रूप है और ति प्रत्यय के अर्थ होते हैं आश्रय, वर्तमान काल, एवम् एकाव सख्या । अब इन अर्थों के अन्वयसम्बन्ध को समझिये-राम का प्रत्ययार्थ आश्रय के साथ अभेदसम्बन्ध है, एवम् उस आश्रय का और काल का क्रिया के साथ घृत्तिव-सम्बन्ध है और सख्या का तिष्ठर्थ आश्रय (कर्ता) के साथ समवायसम्बन्ध है । इसी तरह ग्राम का उक्त धात्वर्थ के एक अक्ष-सयोग-के साथ निष्ठत्वसम्बन्ध है । स्पष्ट अभि-प्राय हुआ कि-धात्वर्थ में दो अक्ष रहते हैं, एक फलअक्ष और दूसरा क्रियाअक्ष, उन दोनों में से प्रथम अक्ष में कर्म का अन्वय होता है और द्वितीय अक्ष में तिष्ठर्थ का । एवम् कर्म से अन्वित प्रथम धात्वर्थाक्ष का भी अन्त में द्वितीय धात्वर्थाक्ष में ही अन्वय हो जाता है, फलतः धात्वर्थ क्रिया, शाब्दबाध में मुख्य विशेष्य होती है । (ऊपर लिखे गये शाब्दबोध में इन सब बातों को मिलाकर देखिये ।) शाब्दबोध की यह शैली (जिसके हिसाब से क्रिया मुख्य विशेष्य होती है) वैवाकरणों की है । नैयायिकों की शाब्दबोधशैली इससे भिन्न है । वे प्रथमान्त पद के अर्थ को ही शाब्दबोध में मुख्य विशेष्य बनाते हैं । विस्तार के अर्थ से उस शैली की विशद चर्चा यहाँ नहीं की जाती है । जिज्ञासुओं को इसके लिये मुक्तावली के शाब्दलब्ध आदि देखने चाहिए । वाक्य के अर्थ को स्पष्टरूप में समझने और समझाने के लिये शाब्दबोध की उक्त शैली से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है, अतः इस प्रकरण में यह समझाया गया है कि-उपमा, कितने प्रकार के वाक्यों से घणित हो सकती है और उन वाक्यों से कैसा-कैसा शाब्द-बोध होता है ।] उपमावाक्यों के शाब्दबोध समझने से पूर्व एक बात और समझ लेने योग्य है । उपमा के लक्षण से यह बात विदित हो चुकी है कि-'सादृश्य' का ही नाम उपमा है । परन्तु वह सादृश्य क्या वस्तु है इस विषय में दो मत हैं । मीमांसक आदि का मत है कि-'सादृश्य' एक अतिरिक्त पदार्थ है-उसे किसी अन्य पदार्थ में अन्तर्गत नहीं माना जा सकता परन्तु नैयायिकों का मत इससे भिन्न है । वे कहते हैं कि-सादृश्य कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, दो वस्तुओं में परस्पर जो एक से धर्म रहते हैं उन्हें ही सादृश्य कहा जाता है । उदाहरण के द्वारा इस मतभेद को स्पष्ट समझ लीजिए-किसी ने कहा-'उसका मुख चन्द्र-सदृश है, क्योंकि वे दोनों सुन्दर हैं' यहाँ मीमांसकों के मतानुसार 'सुन्दरता' और 'सादृश्य' भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, सुन्दरता सादृश्य को सिद्ध करने वाली है, किन्तु स्वयं सादृश्यरूप नहीं है । नैयायिकों के मतानुसार तो सुन्दरता ही सादृश्य है, उसमें भिन्न सादृश्य कोई वस्तु नहीं । तात्पर्य यह निकला कि मीमांसक आदि के कथनानुसार सादृश्य एक स्वतन्त्र पदार्थ है और नैयायिकों के कथनानुसार समानधर्मरूप । अब यहाँ पहले सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानकर शाब्दबोध का विचार किया जा रहा है-पहले 'अरविन्दसुन्दरम्-अर्थात् कमल-सुन्दर' इस समासगत उपमाप्रतिपादक समस्त वाक्य को लीजिए । इस वाक्य में दो पद हैं-एक अरविन्द, दूसरा सुन्दर । इन दोनों पदों में से 'अरविन्द' पद का धात्व्य अर्थ यद्यपि कमल है, तथापि वह अर्थ यहाँ बाधित है-अर्थात् सुन्दर पदार्थ के साथ शुद्ध कमलरूप धात्व्य अर्थ का अन्वय नहीं हो सकता, अतः लक्षणा के द्वारा, उस (अरविन्द) पद का अर्थ यहाँ 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक' इतना बढ़ा करना पड़ता है । तात्पर्य यह कि 'सादृश्य' ही मध्य में आकर अरविन्द पदार्थ और सुन्दर पदार्थ को जोड़ता है, उसके बिना वे दोनों पदार्थ जुट ही नहीं सकते-अन्वित नहीं हो सकते । फलतः अब 'अरविन्द-सुन्दरम्' का अर्थ हो जाता है 'अरविन्दमिव सुन्दरम्'-अर्थात् कमल-सा सुन्दर । 'इय (सा)' का अर्थ सादृश्य है, और उस सादृश्य का निरूपक होता है उपमान-

अरविन्द, अतः 'सादर्य' 'अरविन्द' से निरूपित कहलाता है। अभिप्राय यह कि-अरविन्द और सादर्य के सम्बन्धरूप से अन्य में 'निरूपित' शब्द जोड़ना पड़ता है। अब इस 'अरविन्दनिरूपित सादर्य' का अन्वय 'सुन्दर' पद के अर्थ-'सौन्दर्ययुक्त' के साथ करना है। 'सुन्दर' पद के इस समग्र अर्थ के साथ उक्त सादर्य का कोई सम्बन्ध बन नहीं पाता, अतः उसके एक देश-एक भाग-सौन्दर्य के साथ 'सादर्य' का अन्वय करना पड़ता है। सादर्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के हिसाब से 'सौन्दर्य' सादर्य का प्रयोजक-साधक-होता है, अतः अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ में 'प्रयोजक' को भी समेट लेना पड़ता है। इस तरह से 'अरविन्दनिरूपित सादर्यप्रयोजक' इस अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ का 'सुन्दर' पद के अर्थ-'सौन्दर्ययुक्त'-के एक भाग 'सौन्दर्य' के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है अतः इन दोनों अर्थों के मध्य में 'अभिन्न' शब्द जोड़ना पड़ता है। इस प्रकार से अब 'अरविन्दसुन्दर' का अर्थ होता है 'अरविन्द से निरूपित सादर्य के प्रयोजक से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त'। इस अर्थ का भी मुख आदि विशेष के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय होता है, अतः 'अरविन्दसुन्दर' पद का शाब्दबोध होता है 'अरविन्द से निरूपित सादर्य के प्रयोजक से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न'। आप कह सकते हैं कि-अरविन्द पद की लक्षणा, 'प्रयोजक'पर्यन्त में करना व्यर्थ है, सादर्यपर्यन्त में ही लक्षणा करनी चाहिये-अर्थात् 'अरविन्दनिरूपित सादर्य' इतना ही अरविन्द पद का लक्ष्य अर्थ मानना चाहिए और उसका अन्वय, 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता' सम्बन्ध से कर लेना चाहिए। इस तरह करने पर शाब्दबोध में 'प्रयोजक' के आगे जो 'अभिन्न' शब्द (सम्बन्धसूचक) जोड़ना पड़ता था वह नहीं जोड़ना पड़ेगा, क्योंकि अब 'प्रयोजक' यह शब्द ही सम्बन्धबोधक के रूप में जोड़ा गया है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'निपातों' (च, वे, तु, हि आदि) से अन्य दो प्रातिपदिकों के अर्थों का भेद से-अर्थात् अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से परस्पर अन्वय उस स्थिति में नहीं होता, यदि वे दोनों प्रातिपदिक समान विभक्ति वाले हों। ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार 'सादर्य' का 'सौन्दर्य' के साथ 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकता। कारण, 'सादर्य और सौन्दर्य' दोनों ही, क्रमशः 'अरविन्द और सुन्दर' इन दो प्रातिपदिकों के ही अर्थ हैं। अतः लक्षणा के द्वारा अरविन्द पद का प्रयोजकपर्यन्त अर्थ मानकर उसका सौन्दर्य के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करना पड़ता है। अब रही आशङ्का एक यह कि अरविन्द पद के लक्ष्य अर्थ-प्रयोजकपर्यन्त का अन्वय जो आपने सुन्दर पदार्थ के एकदेश सौन्दर्य के साथ किया है, वह कैसे? क्योंकि 'पदार्थः पदार्थेनाम्बेति न ॥ पदार्थैकदेशेन-अर्थात् पदार्थ दूसरे किसी पूरे पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है, पदार्थ के एक भाग के साथ नहीं' ऐसा नियम है, इस नियम के अनुसार अरविन्दपदार्थ (प्रयोजकता) का अन्वय पूरे सुन्दर पदार्थ (सौन्दर्ययुक्त) के साथ होना चाहिए, पदार्थ के एक भाग (सौन्दर्य) के साथ नहीं। इसके समाधान में यह कहा जाता है कि-यान् आपने सर्वथा ठीक कही है, पर कहीं-कहीं, अर्थात् एक देश (एक भाग) के साथ भी अन्वय करना पड़ता है। जैसे—'देवदत्तस्य नत्ता अर्थात् देवदत्त का नाती' यहाँ पर 'देवदत्त पदार्थ' का अन्वय, 'नाती पदार्थ' के एक हिस्से के साथ किया जाता है। तात्पर्य यह है कि—'नत्ता-नाती' पद का अर्थ होता है 'पुत्र का पुत्र' अथवा 'कन्या का पुत्र'। दोनों ही अर्थों में देवदत्त का सम्बन्ध, प्रथम पुत्र अथवा कन्या के साथ हो सकता है, पुत्र पुत्र अथवा कन्या-पुत्र के साथ नहीं। उसी तरह यहाँ भी अरविन्द पद के लक्ष्यार्थ का अन्वय, सुन्दरपदार्थ के एक हिस्से-सौन्दर्य के साथ कर लिया जाता है। कुछ लोग (वैष्ठाकरण), 'अरविन्दसुन्दर' इस समस्त पद में पद-शक्ति के अतिरिक्त एक समास-शक्ति मानते हैं, अतः वे उस समासशक्ति के द्वारा ही 'अरविन्दसुन्दर'

पद का 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यप्रयोजक सौन्दर्ययुक्त' इतना बड़ा अखण्ड अर्थ कर लेते हैं। इस मत में 'अरविन्द और सुन्दर' इन दो पदों का खण्ड खण्ड अर्थ कुछ होता ही नहीं है, फिर अन्वय आदि का झमेला उठे तो कैसे? और जब अन्वय का झमेला ही समाप्त, तब एकदेशान्वय का कोई प्रयत्न ही नहीं आता। अन्य लोग (नैयायिक-मतानुयायी) अतिरिक्त समास-शक्ति मानने में गौरवदोष बतलाकर लक्षणापक्ष को ही ठीक मानते हैं, पर अरविन्द पद की लक्षणा मानते हैं 'अरविन्दनिरूपित सादृश्य-प्रयोजक सौन्दर्ययुक्त' इतने अर्थ में। अब यात रही यह कि—यदि 'अरविन्द' पद की लक्षणा ही उतने अर्थों में मान ली जाती है, तब 'सुन्दर' पद किस रोग की औषध है? अर्थात् वक्त वाक्य में उसका प्रयोग व्यर्थ हो जाता है, तो इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि—'सुन्दर' पद तात्पर्यग्राहक है—अर्थात् उतने अर्थों के बोध कराने के लिये वक्ता ने यहाँ 'अरविन्द' पद का प्रयोग किया है, इस बात का ज्ञान श्रोताओं को कराने के लिये 'सुन्दर' पद का प्रयोग किया गया है। ऐसी लक्षणा कहीं-कहीं अविचार्यन-नरवी पक्षी है। जैसे—'गभीरता सदा घोषः' अर्थात् गहिरा नदी के तट में वधान' यहाँ पर नदी पद की लक्षणा 'गभीरनदी तट' में की जाती है और 'गभीर' पद को तात्पर्यग्राहक माना जाता है, अन्यथा (अर्थात् यदि नदी पद की लक्षणा केवल नदीतट में की जाय-गभीर नदीतट में नहीं, तब) गभीर पदार्थ का अन्वय, नदी पदार्थ के साथ न बन सके, क्योंकि नदी पद का लक्षणया जो नदीतट अर्थ हुआ है उसमें गभीरता सम्भव नहीं है। इस पक्ष में भी एक पक्ष का ही उतना बड़ा अर्थ हो जाने के कारण न अन्वय करने का झमेला उठता है, न एकदेश के साथ अन्वय-करणरूप दोष का प्रसंग ही आता है।

शाब्दबोधप्रदर्शनपुरस्तर द्वितीयमुपमाप्रतिपादक वाक्यमुल्लिखति—

तथा अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेवार्थे सादृश्येऽरविन्दस्य निरूपितत्व-संसर्गेणान्वयः। अस्य च प्रयोजकतासंसर्गेण सौन्दर्ये। एव चारविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिन्नमिति।

वदभिन्नमिति। बोध इति शेषः। एवमग्रेऽपि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इति व्यस्त वाक्यम्, तेनात्र वाक्यगतोपमा। सादृश्यमन्वेवपदेन वाच्यम्, तत्रोपमानभूतसारविन्द-पदार्थस्य निरूपिताप्रसम्बन्धेनान्वयो भवति। सादृश्यस्य च सुन्दरपदार्थैकदेशे सौन्दर्ये प्रयोजकतासम्बन्धेनान्वयो जायते। सुन्दरपदार्थस्य सौन्दर्यवतो मुखादावभेदसम्बन्धेन स। तथा च अरविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तत्प्रयोजकं यत्सौन्दर्यं, तद्वत्ता अभिन्नमुखादीति वाक्यार्थबोध सम्पद्यत इति भावः।

शाब्दबोध का विचार करने के लिये अब उपमाप्रतिपादक द्वितीय वाक्य का उल्लेख करते हैं—तथा इत्यादि। 'अरविन्दमिव सुन्दरम् (कमल सा सुन्दर)' यह समासरहित उपमाप्रतिपादक वाक्य है, यहाँ 'इव' शब्द उक्त हुआ है, अतः इस वाक्य से अवगत होनेवाली उपमा वाक्यगता कहलायगी। 'इव' का वाच्य अर्थ है 'सादृश्य' उसमें अरविन्द-कमल-इस उपमान का अन्वय 'निरूपितत्व'सम्बन्ध से होता है और सादृश्य का अन्वय सुन्दर पदार्थ-सौन्दर्ययुक्त-के एकदेश-सौन्दर्य के साथ 'प्रयोजकता'-सम्बन्ध से किया जाता है। सुन्दर पद के अर्थ का मुख आदि अनुज विशेष्य के साथ भेदसम्बन्ध से अन्वय होता है यह निश्चित ही है, अतः शाब्दबोध में 'अरविन्द' और 'सादृश्य' शब्द के बीच 'निरूपित' शब्द 'सादृश्य' और 'सौन्दर्य' के बीच 'प्रयोजक'-शब्द एवम् 'सौन्दर्ययुक्त' के जाने 'अभिन्न'पद जोड़ दिये जाते हैं जिनसे उक्त वाक्य का शाब्दबोध होता है 'कमल से निरूपित सादृश्य के प्रयोजक सौन्दर्य से युक्त अभिन्न (मुख आदि)।

तदसं तथाविध तृतीयं वाक्यमुल्लिखति—

अरविन्दमिवेत्यत्र त्वरविन्दनिरूपितसादृश्यमिति ।

‘अरविन्दमिव’ इति तृतीये उपमाप्रतिपादकवाक्ये साधारणधर्मबोधकं सुन्दरादिपदं नेफम्, अतोऽत्र वाक्यगता धर्मलुप्तोपमा । अत्रोपमान्वयारविन्दपदार्थस्य ‘निरूपितत्व’-सम्बन्धेन इवायं सादृश्येऽन्वयः, सादृश्यस्य च स्वरूपसम्बन्धेनोपमेये मुखादौ तथा चारविन्दनिरूपितं यत्सादृश्यं, तद्वन्मुखादिति बोधो भवतीति भावः ।

अथ उपमा-प्रतिपादक तृतीय वाक्य का उल्लेख शब्दबोध दिखलाने के लिये करते हैं—अरविन्दमिव इत्यादि । ‘अरविन्दमिव (कमल सा)’ इस तृतीय वाक्य में समान धर्मबोधक ‘सुन्दर’ आदि पद उक्त नहीं है, अतः यहाँ वाक्यगत धर्मलुप्तोपमा कही जाती है । यहाँ भी अरविन्द (उपमान), ‘इव’ पद के अर्थ—सादृश्य—में ‘निरूपितत्व’-संबन्ध से अश्वित होता है और ‘सादृश्य’ मुख आदि अमुक्त उपमेय में ‘स्वरूप’-संबन्ध से, अतएव इस वाक्य से ‘अरविन्द’ से निरूपित सादृश्यवाला (मुख) इस तरह का शब्दबोध होता है ।

आयं कानेक मनमि कृत्य समाधत्ते—

निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता । निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यतान्यतरभिन्नविशेष्यतासंसर्गेण नामार्थप्रकारकबोध एव विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेहेतुत्वादिवार्यस्य नान्वयस्येव भेदसंसर्गेण नामार्थविशेष्यत्वे विशेषणत्वे च न दोषः ।

निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतेति । निपातार्थनिष्ठप्रकारतेति भावः । निरूपितविशेष्यतेति । निपातार्थातिरिक्तनिष्ठविशेष्यतेति भावः । निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यविशेष्यतेति । निपातार्थनिष्ठविशेष्यतेति भावः । इवार्थस्येति । सादृश्यस्येति । नान्वयस्येति । भेदादेरित्यर्थः । भेदसंसर्गेणेति । भेदसंसर्गशब्द अभेदेतरसम्बन्धेषु परिभाषित, तथा चाभेदातिरिक्तसंसर्गेणेति तदर्थः । नामार्थविशेष्यत्व इति । नामार्थनिरूपितविशेष्यत्वे इत्यर्थः । नामार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतायामिति यावत् । ‘इवार्थस्य’ इति प्राक्तनेनास्य सम्बन्धः । विशेषणत्व इति । नामार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतायामित्यर्थः । न दोष इति । कार्यकारणभावविरोधरूपो दोषो नैत्यर्थः । अयमत्र विशदोऽर्थः—सादृश्यबोधस्य विपक्षे द्वे मते प्रतिष्ठिते । आत्मनिष्ठप्रणामस्या बोध इत्येक मतम्, विषयनिष्ठप्रणामस्या बोध इति च द्वितीयम् । तत्र द्वितीयमते आकाङ्क्षायोग्यताज्ञानादिरूपेतरसाम्योपमवधानेऽपि ‘राजा पुरुष’ इत्यादौ स्वस्यादिमन्त्रधावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन राजादिप्रकारकपुरुषबोधस्यानुभवविरुद्धस्य कारणाय भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन नामार्थप्रकारकबोधे विशेष्यतया विभक्तिजन्योपस्थितेहेतुत्वम् वाच्यम् । तथा च पूर्वोक्तयोः स्थलयोः प्रथमस्थलेऽरविन्दस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनैवायं सादृश्ये, सादृश्यस्य च प्रयोजकत्वसम्बन्धेन सुन्दरपदार्थकदेशे सौन्दर्ये एवम् द्वितीयस्थलेऽरविन्दस्य तेनैव सम्बन्धेन तत्रैव सादृश्ये सादृश्यस्य च स्वरूपसम्बन्धेन मुखादौ कृता अन्यथा कथमुपपद्यन्ताम्, तेषामन्वयबोधानां निरूपितत्व-प्रयोजकत्व-स्वरूपान्मकभेदसम्यावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन अरविन्देव रूपनामार्थप्रकारकतया तत्कार्यकारणमायच्छेदकार्यतावच्छेदकदलान्तरत्वेऽपि सादृश्य-सौन्दर्य-मुखपदार्थानाम् विशेष्यतयोपस्थितेः क्रमशः इव-सुन्दर-मुखरूपनामन्यतया कारणतावच्छेदकदलानाकान्तत्वादिति चेदत्राहुः—पूर्वोक्तकार्यकारणभावशरीरे

कार्यतावच्छेदसम्बन्धविधया न भेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासामान्यं निवेश्यते, अपि तु निपातार्थनिष्ठोपस्थितप्रकारतानिरूपितवत्किञ्चिदर्थनिष्ठविशेष्यता—निपातार्थनिष्ठोपस्थितविशेष्यतान्यतरभिन्नत्वेन सङ्गुचितैव विशेष्यता तयात्वेन प्रवेश्यते । एवञ्च प्रकृते निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेनारविन्दप्रकारकसादृश्यबोध, प्रयोजकत्वसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन सादृशसादृश्यप्रकारकमौन्दर्यबोध, एव स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नविशेष्यतासम्बन्धेन सादृश्यप्रकारकमुल्लादिबोधश्च नोक्तकार्यकारणभावपट्टकार्यतावच्छेदकतुष्टिपतिता भवन्ति, एषु त्रिषु बोधेषु प्रविष्टया प्रथमविशेष्यतायाः स्वरूप-निपातार्थनिष्ठतया द्वितीय-तृतीययोश्च विशेष्यतयोः स्वरूपनिपातार्थनिष्ठोपस्थितप्रकार-तानिरूपिततया कार्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टविशेष्यतान्यतरभिन्नत्वाभावात् । अत एव 'पटो न पट' इत्यादौ पटस्य प्रतियोगितासम्बन्धेन ननयं भेदे भेदस्य च स्वरूपसम्बन्धेन घटेऽन्वयेन 'पटप्रतियोगिकभेदवान् पट' इत्याकारको बोधः सर्वसम्मतः समुपपद्यते । कार्यकारणभावस्य सङ्गुचितविषयतया ननयो यथा प्रातिपदिकार्थं प्रति विशेष्यो विशेषणश्च भवति तथा इवायौऽपि सारांश इति ।

अथ हृदयस्थित एक वाक्य का समाधान करते हैं—निपात इत्यादि । अभिप्राय यह है कि शाब्दबोध के दो तरीके हैं, एक के अनुसार कार्य (बोध) और कारण (पदार्थोपस्थिति आदि) को धोता की भाँसा में इकट्ठा किया जाता है । इस तरीके को शास्त्रीय भाषा में 'आत्मनिष्ठप्रत्यासत्ति से बोध' कहा जाता है । दूसरे तरीके के अनुसार कार्य-कारण को विषय (प्रकार, विशेष्य आदि) पर लुटाया जाता है, शास्त्रीय भाषा में इसको 'विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध' कहते हैं । सारांश यह कि—बोध आदि सम्बन्धविशेष के द्वारा भाँसा में छाया जा सकता है और सम्बन्धविशेष के द्वारा विषय में भी छाया जा सकता है । वे सम्बन्धविशेष क्रमशः समवाय और विशेष्यता आदि होते हैं । विषयनिष्ठप्रत्यासत्त्या बोध-पक्ष में यह नियम माना जाता है कि 'भेदसम्बन्धावच्छिन्न-विशेष्यता (भेद से सम्बन्धसम्बन्धमूलक विशेष्यभाव) सम्बन्ध से शाब्दबोध (किसी प्रातिपदिक के अर्थ का अन्वयबोध) उसी विशेष्य पर होगा जिस (विशेष्यभूत अर्थ) की उपस्थिति, विभक्ति (सु-औ-जस् आदि) के द्वारा हुई होगी—अर्थात् भेदेन किसी प्रातिपदिकार्थ का अन्वय विभक्त्यर्थ में ही होगा प्रातिपदिकार्थ में नहीं । तात्पर्य यह हुआ कि प्रातिपदिकार्थ में जब अन्वय होगा तब भेदसम्बन्ध से ही । ऐसा नियम इसलिये माना जाता है कि 'राजा पुरयः' इत्यादि वाक्यों से स्वत्वानिभावसमर्थावच्छिन्न विशेष्यतासम्बन्ध से राजप्रकारक पुरुषबोध—अर्थात् 'राजा का पुरयः' ऐसा बोध—अनुभवविरुद्ध है । तात्पर्य यह कि यदि ऐसा नियम न माना जाय, तब यहाँ ऐसा बोध भी होने लगेगा । अब आइये प्रकृत में—उपर्युक्त दो वाक्यों से जो आपने क्रमशः 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रयोजकमौन्दर्ययुक्त से अमिन्न मुख' और 'अरविन्दनिरूपित सादृश्यवाला मुख' ये दो शाब्दबोध किये हैं, वे कैसे ? क्योंकि उक्त नियम के अनुसार ये शाब्दबोध नहीं हो सकते हैं । कारण प्रथम वाक्य में अरविन्द, हृव और सुन्दर तथा द्वितीय वाक्य में अरविन्द, हृव और मुख आदि सभी प्रातिपदिक हैं, अतः इन सबों के अर्थों का परस्परअन्वय भेदसम्बन्ध से ही होना चाहिए, फिर जो 'निरूपितत्व'सम्बन्ध से 'अरविन्द' का इवार्थ-सादृश्य में, 'प्रयोजकत्व'सम्बन्ध से 'सादृश्य' का 'मौन्दर्य' में एवम् द्वितीय वाक्य में 'सादृश्य' का 'स्वरूप' (वाला) सम्बन्ध से मुख आदि में अन्वय किया गया है, वह अनुचित है । यह है हृदयस्थित वाक्य । इसके समाधान में ग्रन्थकार कहते हैं कि—उक्त नियम में 'भेदसम्बन्धावच्छिन्न विशेष्यता-सम्बन्ध से' यहाँ जो विशेष्यता प्रविष्ट की जाती है वह सामान्यतः-तय विशेष्यतायें—नहीं, अतः निपातजन्योपस्थितिप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्यता—अर्थात् निपात

(इव, नञ् आदि) के अर्थों को प्रकार (विशेषण) बनाकर विशेष्यीभूत किसी अन्य (प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ आदि) में रहनेवाली विशेष्यता और निपातजन्योपस्थिति-प्रयोज्य विशेष्यता-अर्थात् किसी अन्य अर्थ को प्रकार बनाकर निपातार्थ में रहनेवाली विशेष्यता-इन दोनों में से किसी एक विशेष्यता से भिन्न विशेष्यता ही। तात्पर्य यह कि 'भेदेन किसी प्रातिपदिकार्थ का अन्वय, विभक्त्यर्थ में ही होगा, प्रातिपदिकार्थ में नहीं' यह नियम निपात से भिन्न प्रातिपदिक के अर्थ में ही लागू होता है—अर्थात् निपातरूप प्रातिपदिक का अर्थ, प्रातिपदिक के अर्थों के साथ और किसी भी प्रातिपदिक का अर्थ, निपातरूपप्रातिपदिकार्थ के साथ भेदसम्बन्ध से भी अन्वित हो सकता है। सारांश यह निकला कि निपातार्थ, अभेदातिरिक्तसम्बन्ध में भी प्रातिपदिकार्थ में और अन्यप्रातिपदिकार्थ भी, अभेदातिरिक्तसम्बन्ध से निपातार्थ में विशेषण हो सकते हैं। अब इस सङ्गृहित कार्यकारण-भाव के अनुसार प्रकृत में कोई अनौचित्य नहीं रहा, क्योंकि 'इव' निपात है, अतः उसके अर्थ-सादृश्य में अरविन्दपदार्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से विशेषण होना और उसी निपातार्थ का 'प्रयोज्यत्व'सम्बन्ध से सौन्दर्य में विशेषण होना बन सकता है। इसी तरह द्वितीय वाक्य में भी समझना चाहिये। मञ् निपात के स्थल में भी यही बात होती है—अर्थात् 'घटो न पटः (घटा कपडा नहीं है)' यहाँ उक्त सामान्य नियम के अनुसार पट का भेदसम्बन्ध (प्रतियोगिता) से नञर्थ में और मञर्थ (भेद) का स्वरूपसम्बन्ध से घट में अन्वय नहीं होना चाहिये था, परन्तु सङ्गृहित नियम के अनुसार वैसा होता है, अतः इस वाक्य से 'पटप्रतियोगिक-भेदवान् घटः अर्थात् पट के भेद से युक्त घट' ऐसा शाब्दबोध बनता है। मञ् निपात का स्थल शाब्दबोध के विचार में प्रसिद्ध है, अतः प्रकृत में दृष्टान्तकृप से 'नञर्थस्यैव' वैसा मूल में कहा गया है।

तथाविधं चतुर्थं वाक्य समुल्लिखति—

अरविन्दमिव भातीत्यत्रारविन्दनिरूपितसादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थेऽन्वयादरविन्दसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य इति ।

इतीति बोध इति शेष । धात्वर्थमाह—धीति । 'अरविन्दमिव भाति' इति वाक्ये भातीति क्रियापदादतिरिक्तोऽश- प्राग्बोध, अतस्तावतोऽशस्य 'अरविन्दनिर्दिष्ट सादृश्यम्' इति बोधोऽपि पूर्वबोधः । अवशिष्टं भातीति क्रियापदम् । तत्र भातातोः ज्ञानमर्थः, तत्रैवा- र्थस्य सादृश्यस्य 'प्रकारता'सम्बन्धेनान्वयः, तस्य (ज्ञानस्य) च विशेष्यतासम्बन्धेन कर्तरि मुलादावन्वयः । तिङ्गोऽविवक्षितः । अथवा कृतिवाचकस्य तस्य विशेष्ये लक्षणा, अस्मिन् कर्त्ते न विशेष्यतासम्बन्धः । तथा च अरविन्दनिरूपित सादृश्यं प्रकारो भूत्वा, सादृशी या भी' (ज्ञानम्) तद्विशेष्यभूतम् मुलादीति बोधः पर्ववत्स्यति । इयं नैयायि- काता शैली, वैयाकरणशैलीसमाधायणे तु 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकं मुलादिविशे- ष्यक ज्ञानमिति बोधो भवेदिति भावः ।

उपमा-प्रतिपादक चतुर्थं वाक्य का उल्लेख करते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्द-मिव भाति (कमल सा ज्ञान होता है)' इस वाक्य में 'अरविन्दमिव' इतना अंश तो पहले जैसा ही है, अतः उससे होनेवाला बोध—'अरविन्द से निरूपित सादृश्य'—भी परिचित ही है । रहा 'भाति' यह क्रियापद, उसमें प्रकृतिभाग-भाषातु-का अर्थ 'ज्ञान' है, उस (ज्ञान) के साथ उक्त सादृश्य का 'प्रकारता' सम्बन्ध से अन्वय होता है और ज्ञान का मुख आदि के साथ 'विशेष्यतासम्बन्ध' से, अतः इस वाक्य का शाब्द-बोध—'अरविन्दनिरूपित सादृश्य जिसका प्रकार है ऐसे ज्ञान का विशेष्य (मुख आदि)' वैसा होता है । इस शाब्दबोध में धात्वर्थज्ञान के अगो जो 'विशेष्य' जोड़ा गया है,

यह नैयायिकों की शाब्दबोधझैली के अनुसार, क्योंकि वे शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को मुख्य (विशेष्य) बनाते हैं। पर वैयाकरण यैसा नहीं करते, वे धातु के अर्थ को ही शाब्दबोध में सब से मुख्य बनाते हैं। उनके अनुसार यहाँ 'अरविन्द से निरूपित सादृश्य जिसमें प्रकार है तथा मुख जिसमें विशेष्य है ऐसा ज्ञान' यह बोध होगा।

पञ्चम तथाविध वाक्यमुपदर्शयति—

तत्रैव सौन्दर्येणेति धर्मोपादाने तृतीयार्थः प्रयोज्यत्व धात्वर्थे भाने इवार्थे सादृश्ये घान्वेति । तेन सौन्दर्यप्रयोज्यरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकधीविशेष्य इति ।

तत्रैवेति । अरविन्दमिव भातीति वाक्य एवेत्यर्थः । तृतीयार्थाभिन्नं प्रयोज्यत्वम् अन्वये कर्तुं । भानस्य सौन्दर्यप्रयोज्यत्वे विसवादादाह—इवार्थे इति । इतीति बोध इति शेषः । 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति' इति वाक्ये साधारणवर्मवाचकसौन्दर्यपदोत्तरतृतीयाविभक्ते प्रयोज्यत्वम् वाच्यम्, तस्य भाषान्वयज्ञाने इवार्थसादृश्ये घाऽभेदेनागम्य । वाशब्दस्वोत्तरपक्षबाधार्थसूचकतया सादृश्य एवान्वयो प्रत्यगाराभिमत इति बोध्यम् । तथा च तस्माद् वाक्यात् 'सौन्दर्यप्रयोज्य यदरविन्दनिरूपितसादृश्य, तत्प्रकारिका या धी तद्विशेष्यभूतं मुपादी'ति बोधो निष्पद्यत इति भावः ।

उपमा-प्रतिपादक पञ्चम वाक्य का उल्लेख करते हैं—तत्रैव इत्यादि । यदि पूर्वोक्त वाक्य (अरविन्दमिव भाति) में ही 'सौन्दर्येण' यह साधारणधर्मबोधक अक्ष भी जोड़ दिया जाय, तब उपमा-प्रतिपादक पाँचवाँ वाक्य होया 'सौन्दर्येणारविन्दमिव भाति (सुन्दरता के कारण कमल सा ज्ञात होता है)' यह । यहाँ 'सौन्दर्येण' पद में जो तृतीया विभक्ति है उसका अर्थ है 'प्रयोज्यत्व (साध्यता)' और उसका अन्वय होता है 'भा'धातु के अर्थज्ञान में अथवा इव के अर्थसादृश्य में वस्तुतः सादृश्य में ही समझना चाहिये । अन्य अर्थों के अन्वय कहाँ तथा कैसे होते हैं यह पूर्ववाक्य के विवरण में बतलाया जा चुका है, अतः तदनुसार अब इस वाक्य का शाब्दबोध होता है कि—'सौन्दर्य-प्रयोज्य—अर्थात् सौन्दर्य से सिद्ध करने योग्य—जो अरविन्दनिरूपित सादृश्य, वह जिसमें प्रकार है ऐसे ज्ञान का विशेष्य मुख आदि' ।

तथाविध षष्ठ वाक्यमुपदर्शयति—

तथा गज इव गच्छति, पिक इव रीतीत्याद्युपमानपदानां तत्कर्तृक-क्रियायां लक्षणया गजादिगमनादिसदृशगमनाद्यनुकूलकृतिमानिति ।

'गज इव गच्छति' इति वाक्ये गजपदस्य स्वकर्तृकक्रियाया लक्षणा, तेन गजपदस्य गजगमन लक्ष्योऽर्थः, इवार्थे सादृश्यम्, गम्धात्वर्थो गमनम् (सवोगानुकूलो व्यापार) तिङर्थो नैयायिकरीत्या कृति (वस्तु), एवम् 'पिक इव रीति' इति वाक्ये पिक-पदस्योपमानबोधकस्य स्वकर्तृकरवणक्रियायां लक्षणा, तेन, तस्य पदस्य 'पिकरवणमर्थः', इवार्थे सादृश्यम्, रुधात्वर्थो रवणक्रिया, तिङर्थे कृति, एवमर्थानां परस्परमन्वये कृतेषु प्रथमान्तपदार्थेऽनुक्ते देवदत्तादौ स्वरूपेणान्वये वमश 'गजगमनसदृशगमनाद्यनुकूलकृतिमान्, एवम् पिकरवणसदृशरवणानुकूलकृतिमान् देवदत्तादि' इति बोधो पर्यवस्यत इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक छठे वाक्य का उल्लेख करते हैं—तथा इत्यादि । 'गज इव गच्छति (हाथी सा चलता है)' और 'पिक इव रीति (कोयल सा बोलता है)' इत्यादि वाक्यों में 'गज-पिक' आदि उपमानबोधक पदों की स्वस्वकर्तृक क्रिया में लक्षणा होती है—अर्थात् ऐसे स्थलों में गज तथा पिक पद का अर्थ लक्षणा के द्वारा क्रमशः

गज का गमन और पिक का रवण (घोलना) होता है, 'इव' का अर्थ सादृश्य है यह अनेक बार कहा जा चुका है, 'गम् (गच्छ्)' और 'रू' धातु के अर्थ हैं—कमलाः गमन (आगे के देश से संयुक्त करा देने वाला क्रियाविशेष) और रवण (घोलना), 'ति'—प्रत्यय का अर्थ होता है नैयायिकों के हिसाब से 'कृति' (यत्न), इसका अन्वय प्रथमान्त पद के अर्थ—देवदत्त आदि के साथ होता है। इस तरह के इन अर्थों का परस्पर अन्वय करने पर वाक्यार्थ बोध होता है—'हथौ के गमन के समान गमन के अनुकूल यत्न करने वाला' और 'कोयल की बोली के समान बोली के अनुकूल यत्न करने वाला'।

आशङ्कते—

ननु घटो न पर्यतीत्यत्र घटान्विताभावस्य दर्शने कर्मतासंसर्गेणान्वय-
धारणाय धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शब्दबोधं प्रति
विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितेहेतुत्वम् । एवं च गज इव गच्छति, पिक इव
रौढीत्यादौ नेवाद्यर्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थेऽन्वयः सम्भवति । तस्माद्गजादि-
सादृश्यस्य गमनादिकर्तृत्वान्वयः स्वगमनादिसदृशगमनादिकर्तृत्वेन समान-
धर्मेण । इत्थमेव चाख्यातवाक्यशिरोमणिव्याख्यातृभिरपि सिद्धान्तितमिति चेत् ।

कर्तृवेति । एवेन लक्षणादिव्यवच्छेदः । समानधर्मेणेति । अस्य पूर्वान्वयः ।
आख्यातवाक्यशिरोमणिः । आख्यातवाक्यनामको न्यायग्रन्थः, तस्य व्याख्यानभूतो मूल-
ग्रन्थः शिरोमणिग्रन्थः, तस्य व्याख्यातृभिरित्यर्थः । 'घटो न पर्यति' इति वाक्यात्
'घटप्रतियोगिकाभावकर्मकदर्शाननुकूलकृतिमात्र' इत्याकारकाऽन्वयबोधोऽनुभवविरहोऽपि
प्रसक्त इति तदुच्चारणार्थम् 'धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासम्बन्धेन शब्दबुद्धि-
वाञ्छितं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन विभक्त्यर्थोपस्थितिः' कारणम्' इत्याकारककार्यकारण-
भावोऽवश्यमात्मेयः । एतादृशकार्यकारणभावाद्वाक्ये तदसादृश्यबोधप्रसक्तिर्न भवति,
अभावस्य विशेष्यतया ननुपस्थाप्यत्वेन दर्शननिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणाभाव-
बोधं प्रति कारणत्वेन सम्प्रेक्षिताया विभक्त्यर्थोपस्थितेरभावात् । एवञ्च गज इव गच्छ-
तीत्यादौ इवार्थसादृश्यस्य धात्वर्थगमनादावन्वयोऽसम्भवः, पूर्ववत् अप्रापि सादृश्यस्य
विशेष्यतया इवरूपनिपातादुपस्थितत्वेन गमनादिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण
सादृश्यबोधं प्रति सम्प्रेक्षिताया विभक्त्यर्थोपस्थितेरभावात् । अतो गज इव गच्छतीत्यादि-
वाक्यात् गमनकर्ता देवदत्तादिः, गजसदृशः (गजकर्तृकगमनसदृशगमनकर्ता) इत्याद्या-
कारक एव बोधः समुचितः ।

एक आशङ्क्या की जाती है—ननु इत्यादि । 'घटो न पर्यति (घट नहीं देखता)'
इस वाक्य में 'न' का अर्थ अभाव है, उसमें घट का प्रतियोगितासम्बन्ध से अन्वय
करने पर अर्थ होता है घटप्रतियोगिक (घट का) अभाव । अब उस अभाव का कर्मता-
सम्बन्ध से 'पर्य' धातु के अर्थ-दर्शन में अन्वय नहीं होता—अर्थात् उक्त वाक्य का 'घटा-
भाव पर्यति (घटाभाव को देखता है)' ऐसा अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि धातु के अर्थ को
विशेष्य बनाकर विशेष्यतासम्बन्ध से होने वाले शब्दबोध के प्रति, विशेष्यरूप से,
विभक्ति के अर्थ का स्मरण, कारण माना जाता है, तात्पर्य यह कि धात्वर्थ का विशेषण,
किसी विभक्ति का ही अर्थ हो सकता है प्रातिपदिक का अर्थ नहीं । इस कार्यकारणभाव
के अनुसार उक्त वाक्य में, घटाभाव का दर्शन में 'कार्यता' सम्बन्ध से, अन्वय, वारित
हो जाता है । कारण, अभाव का स्मरण (उपस्थिति), 'न' इस निपात से होता है,
किसी विभक्ति से नहीं । अब प्रकृत में आशङ्क्या उपस्थित हो जाती है कि उक्त नियम
(कार्यकारणभाव) के अनुसार 'गज इव गच्छति' इत्यादि पूर्वोक्त स्थल में भी 'इव'

के अर्थ—'सादृश्य' का अन्वय जो घातव्य-गमन-के साथ किया गया है वह नहीं बन सकता, क्योंकि सादृश्य की भी उपस्थिति विभक्ति से नहीं अपितु 'इव निपात' से हुई है। अतः गज आदि के सादृश्य का अन्वय, गमन आदि क्रियाओं के कर्ता के साथ होना चाहिए, क्रिया के साथ नहीं और सादृश्य को सिद्ध करने वाला समानधर्म मानना चाहिए 'गज आदि के गमन के समान गमन आदि का कर्ता होने' को। अभिप्राय यह कि—'गज इव गच्छति' और 'पिक इव रौति' इन वाक्यों से मन्मत 'गमनकर्ता (देवदत्त आदि) हाथी के समान हैं' और 'बोलने वाला कोयल के समान है' ऐसे ही शान्दबोध होने चाहिये, न कि पूर्वोक्त आकार के। 'आख्यातवाद' की 'शिरोमणि' के व्याख्याकारों ने भी ऐसा ही सिद्धान्त किया है।

समाप्यते—

नैवम्, गज इव गच्छतीत्यत्र सादृश्यस्य विधेयतया प्रतीतेरपलापपत्तेः । गज इव यः पुरुषः स गच्छति, पुरुषो यः स गज इव गच्छतीति वाक्याभ्यां भिन्नप्रतीत्योरानुभविक्तत्वात् । एवं घनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छतीत्यादौ वनादेः सर्वधैवान्वयापत्तेः । एवं बिम्बप्रतिबिम्बभूतस्य कारकमात्रस्यानन्वयो बोध्यः । तस्माद्गजनिरूपितसादृश्यप्रयोजकगमनाश्रय इत्येव गज इव गच्छतीत्यत्र धीः । कारकोपादाने तूपमानपदानां सत्कर्तृकक्रियायां लक्षणेत्येव साधु ।

पूर्वोक्तशङ्काप्रत्याशयं निषेधति—नैवम् इति । एवम्—पूर्वोक्तोऽयं न युक्त इति भावः । तत्र हेतुमाह—गज इव गच्छतीत्यत्रेत्यादिना । अनन्वयो बोध्य इति । अत्र नागेश—'वस्तुतस्तु वनं गज इव रणभूमिं शूरो गच्छतीत्यादौ वनधर्मकर्मनानुकूलकृति-मद्गजसदृशं समरभूमिधर्मकर्मनानुकूलकृतिमाङ्गूर इत्यादि बोधः । इवशब्देन च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नवनसमरभूमिविशेषणकर्मनमेव धर्मत्वेन बोध्यते । इवादयश्च धर्मत्वेनैव बोधका इति सर्वसम्मतम् । गज इव यः पुरुषः स गच्छतीत्यत्र चैवेन गमनान्वित एव शूरत्वादियमन्वेन बोध्यते । पुरुषो यः स गच्छतीत्यत्र तु गमनमेव तमेति तयोर्विशेषोऽप्युपपद्यत एव । उपमाया विधेयत्वं नैतदेव यद्विधेयस्यैव धर्मत्वेनोपमाबोधव्यवस्थितत्वम् इति चिन्त्यमिदम् । वैयाकरणनये तु क्रिययोरेवोपमानोपमेयभावः । गच्छतीत्यस्य चाकृत्यो-भयत्रान्वयः । गजादिपदानां स्वकर्तृकक्रियायां लक्षणा वेति दिक्' इति । कारकोपादाने इति । बिम्बप्रतिबिम्बभावेन कर्मादिकारकग्रहो इत्यर्थः । अयं भावः—'गज इव गच्छति' इत्यादिवाक्यस्य शिरोमणिव्याख्यातृसिद्धान्तितो बोधो नोचितः, विचारासहत्वात् । तथाहि—सादृशवाक्यात् सादृश्यस्य विधेयगमनविशेषणरूपेण प्रतीतिर्भवतीत्यनुभवसिद्धम् । शिरोमणिव्याख्यातसिद्धान्तितबोधे तु तस्योद्देशगमनकर्तृदेवदत्तादिविशेषणरूपेण भानं भवतीति अनुभवापलापप्रसङ्गः । ननु कथं सादृश्यस्य विधेयतया प्रतीतेरनुभवमिदन्वम् इति चेन्न, गज इव यः पुरुषः स गच्छति, पुरुषो यः स गज इव गच्छतीति वाक्यद्वयात् भिन्नविधप्रतीत्योरनुभवस्य मूलान्वेष्टे सादृश्यस्याविधेयत्व-विधेयत्वयोरन्यस्यानुपलब्धत्वात् । किञ्च शिरोमणिव्याख्यातृसिद्धान्तितबोधाङ्गीकारे 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इति बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नवन-गृहरूपकर्मबोधकपदघटितवाक्यस्यत्वे वनादिरूपस्य कर्मणः सर्वथाऽनन्वयात्, तदीत्याऽत्रापि 'गमनकर्ता देवदत्तो गजमदृशः' इत्येव बोधान् । तदीयानुसरणेन कर्मकारकस्यैवैषां श्रियति, अपि तु बिम्बप्रतिबिम्बभूतस्य कारकमात्रस्य गृहान् अपि च ग्रामादान्यनुभूत्योऽवनरतीत्यादौ वृक्षप्रासादादेरप्यनन्वयापत्तिरिति तात्पर्यम् । अतो गज इव गच्छतीत्यादौ गजनिरूपितं यस्यादृश्यं तद्विधेयक यद् गमनम्,

तदाभ्य' तदनुकूलकृतिमान् इत्याकारक एव बोधोऽङ्गीकार्य' । यद्यप्यस्य बोधः प्रागुक्त-
लक्षणाभूतस्वाभिमितयोषाद् भिन्नाकार एव, तथापि सादृश्यस्य विधेयतेति स्वाभिमित-
मत्रापि रक्षितम्, लक्षणा न गौरवावहा नाश्रितेति प्रत्यकर्तुरभिप्रायः । परमार्थतस्तु
लक्षणाप्याश्रयणीयैव स्यात्, तत्र तथा निर्वाहेऽपि कारकोपादानस्यले (वनं गज इव
गृहं देवदत्तो गच्छतीत्यादौ) लक्षणा विना निर्वाहामवात् । 'वनं गज इव'... इत्यादौ
गजपदस्य स्वकृत्यक्रमेण लक्षणां कृत्वा 'वनकर्मकागजकर्तृक्रममनरादृशगृहकर्मक्रमनानु-
कूलकृतिमान् देवदत्त' इत्याकारक एव बोधोऽभ्युपेयः, अन्यथा सादृश्यस्य विधेयतया
प्रतीतिर्न स्यात् कर्मणोऽनन्वयस्य असंज्येत इति ।

उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं—नेत्रम् इत्यादि । 'गज इव गच्छति' इत्यादि
स्पष्ट में आशयात्तत्वाद्-शिरोमणि के व्याख्याकारों ने जो बोध दितलाया है, वह ठीक
नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य से सादृश्य की प्रतीति, विधेय (विधेय-गमन के विशेषण)
के रूप में होती है—अर्थात् उस वाक्य के सुनने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि—ब्रह्मा, हाथी
और किसी व्यक्तिविशेष की गति में समानता बतलाना चाहता है । पर आपके वाक्य-
बोध में इस अनुभव का अपलाप हो जाता है—अर्थात् उस बोध में सादृश्य विधेय
कोटि में नहीं आकर उद्देश्य कोटि में आ जाता है । आप पूर्वमें कि—उक्त वाक्य से
सादृश्य की प्रतीति विधेयरूप में होती है इसमें क्या प्रमाण ? तो इसका उत्तर यह
है कि—'हाथी के समान जो पुरुष है वह जा रहा है' और 'जो पुरुष है वह हाथी के समान
जा रहा है' इन दोनों वाक्यों से दो तरह की प्रतीति होती है इस बात को प्रायः सभी
स्वीकार करेंगे—आप भी स्वीकार करेंगे, अब आप बतलाइये कि—इन दोनों वाक्यों से
दो तरह की प्रतीति क्यों होती है ? इन प्रतीतियों को दो तरह की मानने में क्या मूल
है ? आगत्या आपको कहना पड़ेगा कि प्रथम वाक्य के बोध में सादृश्य उद्देश्यरूप में
आसित होता है और द्वितीय वाक्य के बोध में वह विधेयरूप में ज्ञात होता है यही
अन्तर है ऐसी स्थिति में यहाँ ('गज इव गच्छति' में) उक्त द्वितीय वाक्य के
समान बोध होना चाहिए परन्तु आपके हिसाब से प्रथम वाक्य का सा बोध हो जाता
है । अतः प्रकृत में मेरे कथनानुसार ही बोध उचित है, आपके कथनानुसार नहीं ।
दूसरी बात यह है कि आपके कथनानुसार बोध मानने पर 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो
गच्छति—अर्थात् जैसे हाथी वन की जाता है वैसे देवदत्त घर की जाता है' इत्यादि
वाक्यों में 'वन' और 'गृह' इन कर्मकारकों का सर्वथा अन्वय वहीं हो सकेगा । तत्पर्य
यह कि आपके कथनानुसार यहाँ भी हाथी और देवदत्त का ही सादृश्य समझा जायगा
और उसको समझने में वन अथवा गृह का कोई उपयोग है नहीं, अतः वे अलग पदे रह
जायेंगे—वाक्यार्थबोध में नहीं आ सकेंगे । कर्मकारक की ही ऐसी स्थिति होगी, सो नहीं,
विश्वप्रतिविम्बभावापन्न सभी करकों की वही दशा होगी—अर्थात् 'वृषात् कपिशि
प्रासादांभुष्योऽवतरति—अर्थात् जैसे वन्दर वृष से उतरता है वैसे मनुष्य कोठे से
उतरता है' इत्यादि वाक्यों में वृष और प्रासाद इन उपादानकारकों के भी वाक्यार्थ
में अन्वय नहीं हो सकेगा । इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि—यहाँ केवल 'गज इव
गच्छति' और 'पिक इव रैति' ऐसे वाक्य हों, यहाँ क्रमशः 'गज से निरूपित सादृश्य
का प्रयोजक (साधक) जो गमन उसका आश्रय' और 'पिक से निरूपित सादृश्य का
प्रयोजक जो रक्षण (बोली) उसका आश्रय' ऐसे आन्वयबोध होते हैं । (यद्यपि पहले ग्रन्थ-
कार ने इन वाक्यों के भी बोध, लक्षणा के द्वारा, भिन्न तरह के दितलाये हैं, अतः
ग्रन्थकार के अपने मत में भी विरोध सा दीख पड़ता है, तथापि लक्षणा न मानकर भी
यहाँ सादृश्य की विधेयता की रक्षा की जा सकती है और अन्य कारकों का ग्रहण नहीं
रहने से अन्वय का प्ररव भी यहाँ नहीं उठता, ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय समझना

वाहिए ।) जहाँ इन वाक्यों में विम्बप्रतिविम्बभावापन्न अन्य कारक भी जुड़े हों, वहाँ उपमानवाचक गज जादि पर्वों की स्वकर्तृक क्रिया में लक्षणा करनी ही पड़ेगी-अर्थात् 'वन गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इत्यादि वाक्यों में लक्षणा के बिना गुजारा नहीं है। यहाँ नागेश का कुछ अपना विचार है जो बहुत ही सुन्दर-युक्तिपूर्ण है अतः विज्ञ पाठकों के मनोविनोदार्थ उस विचार का सार यहाँ उद्धृत किया जाता है। नागेश कहते हैं कि आख्यातवाद-शिरोमणि व्याख्याकार का कथन अनुचित नहीं है। कारण, 'वन गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इत्यादि विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समानधर्म वाले वाक्यों से 'वन जिसका कर्म है उस गमनक्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त हाथी के सदृश है वह वीर जो, रणभूमि जिसका कर्म है उस गमनक्रिया के अनुकूल यत्न से युक्त है' ऐसा ही बोध होता है। तात्पर्य यह कि ऐसे वाक्यों में वर्तमान 'इव शब्द' विम्बप्रतिविम्बभावापन्न वन और रणभूमिरूप विशेषणों से युक्त गमनक्रिया को ही समानधर्मरूप बतलाता है। 'इव' आदि शब्द, धर्म के रूप में किसी वस्तु का बोध कराने के लिये ही लाये जाते हैं यह बात सर्वसम्मत है। इस तरह से अन्वय करने पर कारकों का अन्वय वाला बोध नहीं आता, बात रही 'गज इव यः पुरुषः स गच्छति' और 'यः पुरुषः स गज इव गच्छति' इन वाक्यों से भिन्न तरह की प्रतीतियों के होने की, जो वह भी ठीक बन जाती है, क्योंकि इन दोनों वाक्यों में से प्रथम में, 'इव' शब्द, 'शूरता आदि' का समानधर्म होना बतलाता है और द्वितीय में 'गमन' का ही समानधर्म होना। तात्पर्य यह कि समानधर्म के भिन्न-भिन्न होने के कारण ही इन दोनों वाक्यों की प्रतीतियों में अन्तर होता है, सादृश्य के भविष्य और विधेय होने के कारण नहीं। रही सादृश्य के विधेय होने की बात, सो उसका अभिप्राय यही है कि-जहाँ 'इव' आदि उपमाबोधक पर्वों के द्वारा वाक्य का 'विधेय' अर्थात् समानधर्म के रूप में बताया जाय वहाँ उपमा (सादृश्य) विधेय होती है, इस अभिप्राय के अनुसार शिरोमणि-व्याख्याता के मत में 'गज इव गच्छति' 'विक इव रौति' और 'वनं गज इव गृहं देवदत्तो गच्छति' इन सभी वाक्यों से यदि गज आदि और देवदत्त आदि के सादृश्य का भी बोध माना जाय, तथापि 'सादृश्य' विधेय है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि इन वाक्यों के इव शब्दों से समानधर्म के रूप में विधेय (गमन-रवण) का ही बोध होता है। सारांश यह हुआ कि नैयायिक लोग, क्रियाओं की तुलना, उक्त वाक्यों में नहीं मानते, पण्डितराज, निरर्थक, उनके मतानुसार होने वाले शब्दबोधों में क्रिया की तुलना वाली बात कहते हैं। हाँ, वैयाकरणों के मतानुसार अबश्य ही ऐसे वाक्यों में क्रियाओं की तुलना होती है-अर्थात् क्रियायें ही उपमाय और उपमेय होती हैं। तात्पर्य यह कि-वन गज इव रणभूमिं शूरो गच्छति' इस वाक्य से वैयाकरणों के मतानुसार 'जिसका हाथी कर्ता और वन कर्म है उस गमनक्रिया के तुल्य वह गमन-क्रिया है जिसका शूर कर्ता और रणभूमि कर्म है' ऐसा शब्दबोध होगा। इस बोध में दो गमन-क्रियाओं का उपमानोपमेयभाव स्पष्ट है। यदि कोई इस मत में यह शङ्का उठावे कि 'गच्छति' पद जब एक ही है तब उस (गमनक्रिया) के साथ उपमान-गज और उपमेय-शूर दोनों का अन्वय कैसे होगा, क्योंकि 'सकृदुचरित' शब्द सकृदेवार्थ गमयति-अर्थात् एक बार उक्त पद एक ही बार अर्थबोध कराता है' ऐसा सिद्धान्त है, तो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि-'गच्छति' पद की आवृत्ति मान ली जायगी-अर्थात् दो 'गच्छति' पद मान लिये जायेंगे, अथवा पण्डितराज के कथनानुसार ऐसे वाक्यों में उपमानबोधक (गज आदि) पदों की स्वकर्तृक गमन-क्रिया में लक्षणा मान ली जायगी। सारमात्र यह हुआ कि पण्डितराज का मत, वैयाकरणों के हिसाब से ठीक हो सकता है, पर उन्होंने नैयायिकों का मत मानकर जो वैसी बात लिखी है, वह ठीक नहीं है। यदि पण्डितराज को उक्त वाक्यों में क्रिया के साथ क्रिया की तुलना ही

अभीष्ट यो, तो उन्हें उसके लिये वैयाकरणों के मत का अनुसरण करना चाहिये था—
अर्थात् वैयाकरणों के मत के अनुसार ही शाब्दबोध लिखना उचित था ।

पुनः पूर्वोक्तशङ्कासमाधानान्तरशङ्कासमाधाने आह—

न च प्रागुक्तकार्यकारणभावस्य धात्वर्थनिष्ठेत्यादेर्व्यभिचारः, तस्यानङ्गी-
कारात् । अङ्गीकारे च तूष्णीभावात्पृथगित्याद्यर्थानां धात्वर्थान्वयोऽनुभवसिद्धोऽ-
पलपनीयः स्यात् ।

तस्य कार्यकारणभावस्य । अङ्गीकारे इति । तस्य कार्यकारणभावस्य स्वीकारे इत्यर्थः ।
इत्याद्यर्थानामिति । एषा पदानां येऽर्थास्तेषामित्यर्थः । धात्वर्थान्वय इति । धात्वर्थे
अन्वय इत्यर्थः । अपलपनीयः स्यादिति । तथान्वयो न भवतीति वक्तव्यं स्यादित्यर्थः ।
यदि 'गज इव गच्छति' इत्यादौ इवार्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थे गमनादावन्वयो ग्रन्थकारा-
भिमतः स्वीक्रियते, तदा 'धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेण शाब्दबोध प्रति
विशेष्यतया विभक्त्यर्थोपस्थितिर्हेतुः' इति पूर्वोक्तस्य कार्यकारणभावस्य का गतिरिति
चेन्न, तस्य कार्यकारणभावस्यास्वीकारात्, अत एव 'तूष्णीं मुञ्चे', 'आराधुपविशति',
'पृथक् शेते' इत्यादौ तूष्णीभावात्पृथक्पदार्थानाम् तत्र तत्र धात्वर्थेऽन्वयो भवति । तेषां
धात्वर्थेऽन्वयो नैव भवतीति तु न शक्यं वक्तुं, तथान्वयानामनुभवरित्वादावनुभवसिद्धस्य
न वस्तुनोऽपलापानर्हत्वादिति भावः ।

उक्त शङ्का और समाधान के अन्तर्गत एक दूसरा शङ्का-समाधान करते हैं—न च
इत्यादि । यदि आप कहें कि—ग्रन्थकार की रीति से 'गज इव गच्छति' इत्यादि वाक्यों
में 'इव' के अर्थ—सादृश्य—का अन्वय धात्वर्थ के साथ मानने पर, पूर्वोक्त 'धातु के अर्थ
को विशेष्य घटाकर प्रकारतासंबन्ध से होनेवाले शाब्दबोध के प्रति विशेष्यरूप में
विभक्ति के अर्थ की उपस्थिति कारण है' यह कार्यकारणभाव व्यभिचारित हो जायगा—
अर्थात् 'धात्वर्थ में विभक्ति का अर्थ ही विशेषण हो सकता है अन्य नहीं' यह नियम
टूट जायगा, क्योंकि यहाँ विभक्ति से भिन्न-इव-प्रातिपदिक—का अर्थ, धात्वर्थ का
विशेषण बनाया गया है । तो इसका समाधान यह है कि—हम उस कार्यकारणभाव
को—उक्त नियम को—नहीं मानते । कारण, यदि उसको माना जाय तब 'तूष्णीम्
(चुप)' 'भारत (दूर अथवा समीप)' और 'पृथक्' इत्यादि निपातों के अर्थों का
अन्वय धातु के अर्थ में अनुभवसिद्ध है, उसका अपलाप करना पड़ेगा—अर्थात् अनुभव
करते रहने पर भी यद्यत् 'उस अन्वय के विषय में नकारात्मक उत्तर देना पड़ेगा ।
अभिप्राय यह कि—'चुपचाप खाता है', 'नजदीक अथवा दूर बैठता है' और 'अलग
सोता है' इत्यादि स्थानों में क्रमशः उक्त निपातों के अर्थों के अन्वय 'साक्षात् धातु के
अर्थों के साथ अनुभूत होते हैं, अतः उक्त नियम को न मानना ही अच्छा है ।

पुनस्तान्तरशङ्कासमाधान एव तन्यते—

कथं तर्हि घटो न पश्यतीत्यादौ घटाभावं पश्यतीति चान्वयबोधः । धात्वर्थ-
निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधं प्रति नञ्न्योपस्थितिमात्रस्य
प्रतिग्रन्थकत्वकल्पनात् । धात्वर्थस्य नामार्थभिन्नत्वेन विशेषण तु द्वयोस्तुल्यम् ।
तेन पाको न याग इत्यादौ न व्यभिचारः । इत्यलमप्रसक्तविचारेण ।

ननु नञ्न्योपस्थितेस्तादृशबोध प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पने 'पाको न याग' इत्यादौ
यागप्रतियोगिकभेदवान् पाक (यागमिच्छा पाक) इति बोधो न स्यादित्यत आह—
धात्वर्थस्येति । इति उक्तहरेण । अप्रसक्तविचारेणेत्यत्रान्वयः । अप्रसक्त इति अप्रातर्हित-
त्यर्थः । धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासंसर्गेणान्वयबोधे विभक्तिजन्योपस्थिते कार-

णत्वानङ्गीकारे 'घटो न परयति' इत्यादौ प्रतियोगितासम्बन्धेन घटान्वितस्य नजर्यस्या-
भावस्य कर्मताससर्गेण दर्शनेऽन्वय विधाय 'घटप्रतियोगिकाभावकर्मकदर्शनानुकूलकृति-
मान्' इत्याकारकौऽन्वयबोध कथं चारित' स्वदिति चेत्, ननुपदजन्योपस्थिते तादृशा-
न्वयबोध प्रति प्रतिबन्धकत्वकल्पनेन तद्धारणात् । तादृशकार्यकारणभावमन्वीकृत्यैतादृश-
प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पनस्य, नजर्यातिरिफनिपातार्थस्य धात्वर्थे प्रकारतासिद्धि फल-
मित्यवगन्तव्यम् । न चैवविधप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावानङ्गीकारे 'पाको न याग' इत्यादावपि
नजर्य-भेद-प्रकारकपाकबोधो न स्यादिति शङ्क्यम्, उक्तप्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावघटक-
धात्वर्थे नामार्थभिन्नत्वेन सङ्गोच्चात् । तथा च प्रकृते पाकादे, पाकादिरूपनामार्थतया न
प्रतिबन्ध । न चायं नामार्थभिन्नत्वनिवेश प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पेऽधिक इति
वाच्यम्, कार्यकारणभावकल्पेऽपि तत्त्विवेशस्यावश्य कर्तव्यत्वात्, अन्यथा तत्कल्पेऽपि
'पाको न याग' इत्यादौ व्यभिचार प्रसज्येतैवेति भावः ।

पुन एक अवान्तर शका-समाधान करते हैं—कथम् इत्यादि । उक्त प्रसंग में अब
केवल एक शका यह रह जाती है कि—यदि धात्वर्थ को विशेष्य बनाकर प्रकारतासबन्ध
से होने वाले शाब्दशेषों में विशेष्यरूप से विभक्ति के अर्थ की उपस्थिति को कारण नहीं
मानते, तब फिर 'घटो न परयति' इत्यादि वाक्यों से 'घटाभाव को देखता है' ऐसा बोध
क्यों नहीं होता ? अर्थात् कर्मतासबन्ध से 'नज्' के अर्थ—उस बभाव-जिसमें प्रतियोगिता
सबन्ध से घट अन्वित हो चुका है—का धात्वर्थ-दर्शन में अन्वय हो जायगा, तो इसका
उत्तर यह है कि—इस तरह के अन्वय-बोध को रोकने के लिये केवल नज् के अर्थ
के स्मरण को धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित-प्रकारतासबन्ध से होने वाले शाब्दबोध
के प्रति प्रतिबन्धक मान लीजिए । तात्पर्य यह ॥ इस तरह की गड़बड़ी केवल 'नज्' का
प्रयोग होने पर ही उपस्थित होती है, अतः उक्त प्रतिबन्धक मान लेने से ही निर्वाह
जब हो जाता है तब सब निपातों को समेट कर पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव मानने की
आवश्यकता नहीं रह जाती और उल्टे उस तरह का कार्य-कारणभाव मानने पर दोष
भी हो जाते हैं जो पूर्व में दिखावे जा चुके हैं । नजर्य भी उस धात्वर्थ में प्रकार होता ही
है जो नाम (प्रातिपदिक) के अर्थरूप में उपस्थित होता है, अतः आपको उक्त कार्य-कारण-
भाव में और मुझको उक्त प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धकभाव में 'धात्वर्थ' के विशेषणरूप से नामार्थ
से भिन्न इतना और जोड़ना पड़ेगा, जिससे 'पाको न याग —अर्थात् पकाना पश नहीं है'
इत्यादि स्थानों में दोष नहीं होगा । अभिप्राय यह कि—यहाँ 'यागप्रतियोगिकभेदवान्
पाक' इस अन्वयबोध में याग नजर्य भेद का और भेद पाक का विशेषण होता है, क्योंकि
पाकक्रिया (जो अन्वय धातु का अर्थ होता है) यहाँ पाक प्रातिपदिक के अर्थ के रूप
में उपस्थित हुआ है । फलतः इस अंश में हम और आप दोनों बराबर हैं—किसी के
मत से दूसरे मत की अपेक्षा गौरव नहीं है । इस तरह अप्रासंगिक विचार अब यहाँ
समाप्त किया जाता है ।

तथाविध सप्तम बाक्य निर्दिशति—

अथारविन्दतुल्यो मातीत्यत्र कथं घीः । तुल्यपदार्थस्य निपातभिन्ननामार्थ-
त्वेन धात्वर्थे भेदेनान्वयायोगात् । तादृशतुल्यत्वादेर्मानोद्देश्यतावच्छेदकत्वे
मानमात्रविधेयतायां विवक्षितार्थाप्रतीतिः । न च तुल्यपदेन तुल्यत्वप्रकारको
लक्षणयोपस्थापितो ह्यभेदेन धात्वर्थेऽन्वेद्यतीति वाच्यम् । क्रियाविशेषणत्वेना-
रविन्दतुल्यशब्दस्य नपुंसकत्वापत्तेरिति चेत्, व्याकरणस्य सिद्धानुवादकत्वेन
स्तोक पचतीत्यादिमात्रविषयत्वेन क्रियाव्ययविशेषणानां क्रीचतेष्यते इत्यस्यो-

पपत्तेः । धातोरेव लक्षणया सकलार्थबोधकत्वमितरस्य तात्पर्यग्राहकतेत्यपि केचित् ।

कथमिति । अभेदेन भेदेन चैवार्थः । तत्र नाद्य इत्याह—तुल्येति । एतेन 'धात्वर्थ-
निश्वस्येयता निरूपित-निपाठार्थातिरिक्तवृत्ति-भेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासंसर्गणाभ्यवोध-
प्रति विरोधतया विभक्त्यर्थोपस्थितिर्हेतुः' इत्याकारक कार्यकारणभाव सूचितः । अत्र
'उक्तव्युत्पत्तेः' इति नागेशकृतविवरणं तु नोप्युक्तं, मनुक्तकारकव्युत्पत्तेः पूर्वमनुक्तत्वात् ।
या व्युत्पत्तिः प्राशुका सा न प्रकृतोक्त्यनुकूला तत्र प्रकारतावच्छेदकसम्बन्धविधया भेदा-
भेदयोरनिवेशात्, निपाठार्थातिरिक्तवृत्तिन्वेन प्रकारसाधामसङ्कोचात्, नञ्जन्योपस्थिति-
मात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य तस्या व्युत्पत्तेरनङ्गीकरणोक्तं, मनुक्तकारायाः व्युत्पत्तेरा-
द्यवकता ग्रन्थकृता कथमनुमतेति तु अन्यत् विवृण्विचारणायम् । नाप्यभेदेनेत्याह—न
चेति । धात्वर्थे मानस्ये । उपपत्तेरिति । तथा नभेदेनैव पूर्वोक्तरीत्याऽन्वय इति भावः ।
मतान्तरमाह—धातोरेवेति । इत्यपि केचिदिति । अत्र भाग्यं 'वस्तुतस्तु उपमाविशे-
षकबोधे तात्पर्ये अरविन्दतुल्यमित्येव साधु, न तुल्य इति । यदि तु विधेयस्य धर्मत्वेनोप-
माबोधकबोधत्वमेव विधेयत्वमुपमाया इति विनाव्यते तर्हि अरविन्दतुल्यविषयक मानम्
मानविषयोऽरविन्दतुल्य इति वा बोधेऽपि मानस्य धर्मत्वेन मानादुपमाया अविधेयत्वमेव ।
यमान्तरस्य तथा गाने तु अरविन्दतुल्य इत्येव प्रयोगः सर्वसम्मतः । उपमाया उद्देश्य-
तावच्छेदकत्वं चेति ध्येयम् ।' इति । अयं भावः—'अरविन्दतुल्यो भाति' इत्यप्रारविन्द-
पदार्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन तुल्यपदार्थे सादृश्ये तस्य च प्रकारतासम्बन्धेन धात्वर्थे
ज्ञानेऽन्वयं विधाय 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविशेष्यः' इत्याकारको बोधो न
भवितुमर्हति, निपाठार्थस्य भेदेन धात्वर्थेऽन्वयेऽपि तदतिरिक्तस्य नामार्थस्य भेदेन
तन्मानवस्यानुपबोक्तकार्यकारणभावविरुद्धत्वेन तुल्यपदार्थस्य सादृश्यस्य प्रकारतासम्बन्धेन
धात्वर्थज्ञानेऽन्वयस्यासम्भवात् । तुल्यपदोत्तरप्रथमाभिक्तिजन्योपस्थिते सत्त्वाभोक्तकार्य-
कारणभावविरोध इति तु न षणु योग्यम्, प्रथमाविमर्शे प्रातिपदिकार्थेऽनुशिष्टत्वेनानुवाद-
कत्वा ततः पृथगर्थोपस्थितेरभावात् । न च भास्तु तुल्यपदार्थस्य सादृश्यस्य धात्वर्थे
ज्ञानेऽन्वयः, तस्यावरयकताऽपि नास्ति, 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यविशिष्टं विशेष्यतामन्वन्धेन
ज्ञानम्' इति बोधमात्राया सादृश्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वं ज्ञानमात्रस्य च विधेयत्वं
स्वीक्रियताम्, इति वक्तव्यम् तथाबोधस्य विवक्षितार्थाविषयकत्वात् । सादृश्यस्य विधेय-
षट्कतया भानमिह वक्तुरभिप्रेतम्, न च तत्त्वाविधे बोधे सिद्धयतीति तात्पर्यम् । एवं
स्थितौ सिद्धान्तः—तुल्यपदस्य तुल्यत्वप्रकारके लक्षणा लक्ष्यार्थस्य च तुल्यत्वप्रकार-
कस्य धात्वर्थे ज्ञानेऽभेदेनैवान्वयः, तथा च 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकज्ञान-
विरोधः' इति बोधे न कश्चिदोषः । न च सति 'क्रियाऽन्वयविशेषणानां क्रीयतेष्यते' इति
नियमविरोधो दोषः, नियमालोचने च क्रियाविशेषणत्वेनारविन्दतुल्यपदस्य नपुमाव्ययपत्ति-
रिति वाच्यम्, सिद्धानुवादकस्य 'क्रियाऽन्वयविशेषणानां क्रीयतेष्यते' इति व्याकरणा-
नुशासनस्य 'स्तोत्रं पठति' इत्यादिमात्रविषयकवक्तव्येन सामञ्जस्यम् । भाषातोरेव लक्ष-
णया 'अरविन्दनिरूपितसादृश्यप्रकारकज्ञानविशेष्यः' इति सम्पूर्णोऽर्थः, 'अरविन्दतुल्यः'
इत्यंशस्तात्पर्यग्राहकः इति पश्चान्तरमपि कियन्तोऽङ्गीकुर्वन्ति । अस्मिन् पक्षे एकपदार्थ-
तयाऽन्वयादेरपेक्षैव नास्तीति न व्युत्पत्तिविरोधादेः प्रसङ्ग इति ।

अथ उपमाप्रतिपादक-सप्तमं वाक्यं का उल्लेखं करोते—अथारविन्द इत्यादि ।

अब 'अरविन्दतुल्यो भाति (अरविन्द क समान प्रतीत होता है)' इस वाक्य में यह विचार करना है कि—यहाँ तुल्यपद के अर्थ—सादृश्य—का धात्वर्थ—ज्ञान—में भेदसम्बन्ध से अन्वय होगा अथवा अभेदसम्बन्ध से? भेदसम्बन्ध से अन्वय नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'निपात से अन्य प्रातिपदिक के अर्थ का भेदसम्बन्ध से धात्वर्थ में अन्वय नहीं होता' ऐसा नियम है। तात्पर्य यह कि अरविन्द पदार्थ का तुल्यपदार्थ—सादृश्य—के साथ निरूपितत्वसम्बन्ध से और उस सादृश्य का प्रकारतासम्बन्ध से धात्वर्थ—ज्ञान—के साथ अन्वय मानकर 'अरविन्द-निरूपित-सादृश्य-प्रकारकज्ञान विशेष्य' ऐसा शाब्दबोध नहीं किया जा सकता। कारण, 'तुल्य' यह निपात से अन्य प्रातिपदिक है, अतः उसके अर्थ का प्रकाररूप भेदसम्बन्ध से धात्वर्थ—ज्ञान—में अन्वय हो ही नहीं सकता। आप कहेंगे कि—यहाँ तुल्य पदार्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय किया ही क्यों जाय? उसकी कोई खास आवश्यकता तो है नहीं। रहा शाब्दबोध, तो यह तो तुल्य पदार्थ—सादृश्य—को उद्देश्य का विशेषण और शुद्ध धात्वर्थ—ज्ञान—को विधेय मान कर भी किया जा सकता है—अर्थात् उक्त वाक्य से 'अरविन्दसदृश-वस्तु (सुख आदि), विशेष्यतासम्बन्ध से ज्ञानवाला है—ज्ञान में वह विशेष्य होता है' इसी तरह का शाब्दबोध होगा। (इस बोध में अरविन्दसदृश वस्तु उद्देश्य है और सादृश्य उद्देश्यता का अवच्छेदक अर्थात् विशेषण)। परन्तु यह कथन आपका सगत नहीं हो सकता, क्योंकि इस रीति से और सब बातें तो ठीक हो जाती हैं, लेकिन वक्ता को उक्त वाक्य द्वारा जिस अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है उस अर्थ का बोध ही नहीं हो पाता—अर्थात् सादृश्य का बोध, वक्ता विधेय (विधेय विशेषण) के रूप में कराना चाहता है और उक्त बोध में वह हो जाता है उद्देश्य (उद्देश्य-विशेषण) यही गड़बड़ हो जाती है। अब रही अभेदसम्बन्ध से तुल्यपदार्थ सादृश्य का धात्वर्थ के साथ अन्वय होने की बात, तो वह वैसे दम नहीं सकती, अतः 'तुल्य' पद की 'तुल्यस्वप्रकारक' इतने अर्थ में लक्षणा माननी चाहिए और तब उस लक्ष्य अर्थ का 'भा' धातु के अर्थ—ज्ञान—के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके 'अरविन्द से निरूपित जो गुणस्वर (सादृश्य) तत्प्रकारक से अभिन्न—ज्ञान का विशेष्य' इस तरह का शाब्दबोध स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि इस लक्षणवाली रीति में भी यह आशंका होती है कि इस तरह से 'अरविन्दतुल्य' पद का अर्थ, क्रिया का विशेषण हो जाता है, अतः 'क्रिया-व्ययविशेषणाना बलीयतेष्यते—अर्थात् क्रिया और अव्यय के विशेषणरूप में आये हुए शब्दों का नपुसकलिङ्ग होना इष्ट है' इस नियम के अनुसार उस पद से नपुसकलिङ्ग आना चाहिए, पुलिङ्ग नहीं—अर्थात् 'अरविन्दतुल्य भाति' ऐसा वाक्य होना उचित है न कि 'अरविन्दतुल्यो भाति' ऐसा। परन्तु यह आशंका कुछ है नहीं। कारण, उक्त नियम ध्याकरणशास्त्र का है और ध्याकरण, केवल सिद्ध प्रयोगों का अनुवादक है विधायक नहीं—अर्थात् परम्परा से लोग जिस तरह के प्रयोग करते आते हैं उनको सिद्ध करने की प्रक्रिया केवल व्याकरण में बतला दी गई है, लोकप्रयोग के विरुद्ध किसी प्रकार का नियम बनाने का स्वतन्त्र अधिकार उसे नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त नियम 'स्तोक पचति (थोड़ा पकाता है)' इत्यादि स्थलों पर ही लागू होगा, क्योंकि परम्परा से ऐसा प्रयोग होता आ रहा है, न कि 'अरविन्दतुल्यो भाति' इत्यादि स्थलों पर, क्योंकि परम्परा से ऐसी जगहों पर पुलिङ्ग का ही प्रयोग होता आया है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्वोक्त समग्र अर्थ, लक्षणा द्वारा, धातु (भा) से ही उपस्थित हो जाता है 'अरविन्दतुल्य' यह अश, तो वक्ता के उच्छलक्षणवाले तात्पर्य का बोधकमात्र है, उसका अपना कुछ खास अर्थ नहीं है। इस मत के हिसाब से उक्त पूरा अर्थ जब एकही पद का हो गया, तब अन्वय और उसके साथ उठने वाले व्युत्पत्तिविरोध आदि के बखेड़े नहीं होते। यहाँ प्रथम पक्ष के सम्बन्ध में नाशोभ का कथन है कि यदि शाब्दबोध में उपमा को विधेय

यनानां भ्रमिष्ट हो, तब 'अरविन्दतुल्य भाति' ऐसा ही वाक्य शुद्ध है 'अरविन्दतुल्यः' यह नहीं। कारण, क्रियाविशेषणों का नपुसकलिङ्ग होना आपके उक्त दलीलों से एक नहीं सकता। यदि 'विधेय का उपमाबोधक (हव आदि) के द्वारा समान धर्म के रूप में उपस्थित किया जाना ही उपमा का विधेय होना है' यह मेरी युक्ति अपनाई जाय, तब भी मूलकार की अभीष्टसिद्धि होती नहीं दीख पड़ती, क्योंकि 'अरविन्दतुल्यो भाति' इस वाक्य का शाब्दबोध, वैयाकरणों के हिसाब से 'अरविन्दसदृश (मुख, कर, चरण आदि) जिसका विषय है वह ज्ञान' और भवाविकों के हिसाब से 'ज्ञान का विषय अरविन्दसदृश' इन्हीं दो प्रकारों से हो सकता है, पर इन दोनों ही प्रकारों में 'ज्ञान' ही समानधर्म के रूप में उपस्थित होता है और वह उपमाबोधक-तुल्य-पद से बोधित होता नहीं, क्योंकि 'तुल्य' पद उक्त शाब्दबोध के अनुसार 'ज्ञान के विषय' का बोधक होता है, 'ज्ञान' का नहीं। अतः उपमा को विधेय बनाने की ह्दसा करने पर 'अरविन्दतुल्य भाति' ऐसा ही वाक्य बोलना पड़ेगा, दूसरा बपाव नहीं। हाँ यदि ज्ञान को साधारण धर्म न मानकर 'सौन्दर्य आदि' अनुक्त वस्तु को मान लिया जाय, तब 'अरविन्दतुल्यः' ऐसा वाक्य हो सकता है, किन्तु उस हालत में भी उपमा उद्देश्यता-बल्लेदक (उद्देश्यविशेषण) ही रहेगी, विधेय नहीं। इसी बात को सर्वसम्मत समझना चाहिए। यहाँ चतुर्वेदीजीकृत हिन्दी रसगाथा की टिप्पणी पर टिप्पणी करते हुए सगपादक लिखते हैं कि—“‘निर्मितिमाधत्ती’ इस काव्यप्रकाशके पद्य में ‘निर्मिति’ पद क्रिया-विशेषण होने पर भी क्लीबलिङ्ग है। अतः ‘क्रियाविशेषण नपुसकलिङ्ग ही होता है’ यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। इत्यादि।” पर वह टिप्पणी उगकी असन्नत सी-प्रतीत होती है। कारण, उक्त काव्यप्रकाश के पद्य में ‘निर्मिति’ पद क्रियाविशेषण है ही नहीं, उस पद को क्रियाविशेषण मानने की आवश्यकता भी नहीं है। वह तो शुद्ध कर्मपद है, उसका ‘निर्मियते’ इस कर्मव्युत्पत्ति से ‘जगत्’ अर्थ है और ‘माधत्ती’ का अर्थ ‘प्रकाशयन्ती’। यही बात काव्यप्रकाश के सभी मान्य व्याख्याकारों ने लिखी है। यदि किसी टीका में ‘निर्मिति’ को क्रियाविशेषण मान कर व्याख्या लिखी भी गई हो, तो वह स्वतन्त्र विचार रखनेवाले विद्वज्जनों से आहत नहीं हो सकती।

तथाविधमष्टम वाक्यं निर्दिशति—

अरविन्दवत्सुन्दरमित्यत्र वतेः 'तेन तुल्यम्—' इति विहितस्य सादृश्य-वदर्थकस्य सादृश्ये लक्षणा। तस्य च सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दरत्वेनान्वया-दरविन्दमित्य सुन्दरमित्यत्रेव बोधः। एकत्र शक्त्याऽपरत्र लक्षणया च सादृश्य-प्रतिपादनाच्छ्रोत्रार्थो च।

अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रेवेति। अत्र “वस्तुतस्तु क्रियायास्तुल्यत्वे एव 'तेन तुल्यम्—' इति वतिविधानादरविन्दमिव सुन्दरमित्यादिवक्तव्य बोध इति चिन्त्यमिदम्। अत एव ब्राह्मणवदधीति इत्यत्र ब्राह्मणकर्तृकाध्ययने ब्राह्मणपदस्य लक्षणेति महामाध्य-कारादयः। 'अरविन्दवत्सुन्दरम् सुखम्' इत्यत्र च भवतिक्रियाध्याहार्याः। अरविन्दपदेन च सुन्दरारविन्दभवनं लक्ष्यते। तथा च सुन्दरारविन्दभवनसदृशं सुन्दरसुखभवनमिति शब्दे बोधे वृत्ते अरविन्दसुखगो सौन्दर्यधर्मकृतसादृश्यं व्यञ्जनया नुष्यते। एवमारविन्द-चन्द्रसुखमित्यत्रापि अरविन्दभवनसदृशं सुखभवनमित्येव बोधो युक्त इति बोध्यम्।” इति नागेशः। एकत्र अरविन्दमिवेत्यत्र। अपरत्र अरविन्दवदित्यत्र। अरविन्दवत्सुन्दरमित्यत्र 'तत्र तस्येव' इति सूत्रेण वतिप्रत्ययो न प्राप्तः, तस्य ध्वनयं विधानात्, पदध्वनयस्य च (अरविन्दस्येव) सुन्दरमित्यत्रान्वयानुगमनात्, अतः 'तेन तुल्यम्—' इति सूत्रेण वतिप्रत्ययो विधेयः। स च सादृश्यवदर्थकः। सादृश्यवद्वपस्य च मुख्यार्थस्य प्रकृते बाधः,

अतस्तस्य-वते-प्रकृते सादृश्यमात्रे लक्षणा । लक्ष्यार्थस्य च सादृश्यस्य सुन्दरपदार्थक-
देशेन सुन्दरत्वेन सह प्रयोजकत्वसम्बन्धेनान्वयः । तेन अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रैव
'अरविन्दमिदमितसादृश्यप्रयोजकसौन्दर्यवदभिन्नम्' इति शाब्दबोधो भवति । नन्वेव
परतयोर्वाक्ययोर्भेद इति चेन्न, अरविन्दमित्यत्र इवशब्दनिष्ठयाऽभिधया सादृश्योपस्थितौ
परस्परसादृश्यान्मिसाया उपमाया शब्दश्रवणमात्रादवगमेन तस्य वाक्यस्य शाब्दोपमा-
बोधकत्वम्, अरविन्दवदित्यत्र च चन्द्रत्ययनिष्ठया लक्षणया सादृश्योपस्थितौ परस्पर-
सादृश्यात्मिकाया उपमाया आर्यसमाजप्रतत्वात् पश्चादवगमेन तस्य वाक्यस्यापि उपमा-
बोधकत्वमिति भेदादिति भावः ।

उपमाप्रतिपादक अष्टम वाक्य का उल्लेख करते हैं-अरविन्दवत् हयादि । 'अरविन्द-
वत्सुन्दरम्' (अरविन्द के समान सुन्दर) इस वाक्य में 'तत्र तस्यैव' इस सूत्र से वति
प्राप्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह पष्ठवर्थ में होता है और यहाँ 'अरविन्द का सुन्दर'
यह पष्ठवर्थ वाला अन्वय बैठता नहीं, वह तब बैठता यदि 'सौन्दर्यम्' यह धर्मप्रधान
शब्द कहा रहता, अतः उक्त वाक्य में वति प्राप्य का विधान 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति
(५।१।१५)' इस पाणिनिसूत्र से मानना पड़ता है । और उस 'वति' प्राप्य का
वाक्य अर्थ होता है 'सादृश्यवान्-अर्थात् सादृश्य से युक्त', जो यहाँ बाधित है-अर्थात्
'सादृश्ययुक्त' अर्थ का अन्वय 'सुन्दर पदार्थ' के साथ बनता नहीं, अतः उसकी (वत्
प्राप्य की) केवल सादृश्य में यहाँ लक्षणा की जाती है और उस (लक्ष्यार्थ) सादृश्य
का 'प्रयोजकता'सम्बन्ध से सुन्दर पदार्थ के एक भाग-सौन्दर्य-के साथ अन्वय होता
है, अतः इस वाक्य का शाब्दबोध उसी तरह का होता है, जिस तरह का 'अरविन्दमिव
सुन्दरम्' इसका होता है-अर्थात् यहाँ भी 'अरविन्द से निरूपित जो सादृश्य उसका
प्रयोजक (साधक) जो सौन्दर्य, उससे युक्त से अभिन्न सुख भादि' ऐसा ही बोध होता
है । इस तरह शाब्दबोध समान होने पर भी दोनों वाक्यों में अन्तर यह है कि एक
जगह (अरविन्दमिव, यहाँ) सादृश्य की उपस्थिति 'इव' पद की शक्ति (अभिधा)
से होती है, अतः शब्द या शक्ति के स्वभाव से यहाँ परस्पर सादृश्यरूप उपमा की
प्रतीति शब्दश्रवण के बाद तुरन्त हो जाती है, अतः एव यहाँ की उपमा भीती कहलाती
है और दूसरी जगह (अरविन्दवत्, यहाँ) सादृश्य की उपस्थिति 'वत्' की लक्षणा
से होती है, अतः शब्दस्वभाव से उपमा की प्रतीति अर्थशानोत्तर होने के कारण
यहाँ की उपमा आर्य समझी जाती है । नामेश का कथन इस प्रसङ्ग पर भी कुछ
विलक्षण तथा तथ्य-सा है जिसका सारांश यह कि-"तेन तुल्यम्"-इस सूत्र से वत्
प्राप्य वही होता है जहाँ क्रिया की समानता बतलानी रहती है, अतः 'अरविन्दवत्सुन्द-
रम्' और 'अरविन्दमिव सुन्दरम्' इन दोनों वाक्यों का शाब्दबोध समान कैसे हो सकता
है ?-अर्थात् 'वत्' वाले वाक्य से क्रियाओं की तुल्यता प्रतीत होती है और 'इव' वाले
वाक्य से वस्तुओं की । अतः पण्डितराज का कथन विचारणीय है । अतएव तो 'महा-
माय्यकार' आदि ने 'ब्राह्मणवदधीते' इत्यादि में ब्राह्मण पद की उसके द्वारा की जाने
वाली अध्ययन क्रिया में लक्षणा मानी है । अतः 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' इस वाक्य में
'भवति (होता है)' इस क्रिया का अप्माहार करना चाहिए और 'अरविन्द' पद का
अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'सुन्दर अरविन्दका होना' इतना करना चाहिए । तब उक्त वाक्य
से 'सुन्दर अरविन्द के होने के समान सुन्दर सुख आदि का होना' ऐसा शाब्दबोध
होगा । इस तरह से बोध हो जाने के बाद व्यञ्जना के द्वारा, सौन्दर्यरूप धर्ममूलक,
अरविन्द और सुख में सादृश्य की प्रतीति होगी । इसी तरह 'अरविन्दवत्सुखम्' इस
वाक्य का भी 'अरविन्द के होने के समान सुख का होना' यही शाब्दबोध उचित है । यहाँ
हिन्दी रसगङ्गाधर में टिप्पणी करते हुए सम्पादक कहते हैं कि-"अरविन्दवत् सुन्दरम्"
में जो मूलकार ने आर्य उपमा कही है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि आर्य उपमा यहाँ

होती है, जहाँ सादश्य-विशिष्ट अर्थ हो, अर्थात् सादश्य की प्रतीति वितोषणरूप से होती हो । यहाँ तो वति प्रत्यय की सादश्य में लक्षणा होने से वह विशेष्यरूप से प्रतीत हो रहा है । यह बात 'वित्तिलज्जगन्महनीया' इस उदाहरण में स्पष्ट है ।" यहाँ मेरा कथन यह है कि-जिन्होंने 'वित्तिलज्जगन्महनीया' इस उदाहरण में 'वति' का सादश्ययुक्त अर्थ होने के कारण उपमा को आर्थी कहा है, वे ही पण्डितराज, यहाँ 'वति' का सादश्य-मात्र अर्थ होने पर भी उपमा को आर्थी कह रहे हैं । ऐसी स्थिति में इन परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले लेखों का रहस्य क्या है ? मैं इसका रहस्य यह समझता हूँ कि-इव, यथा आदि पदों का कुछ ऐसा स्वभाव है, जिससे उनके रहने पर पट्टीविभक्ति के समान शब्दध्वन्यमात्र से परस्पर का सम्बन्ध (सादश्य) ज्ञात होता है, अतः उन शब्दों के रहने पर तथा इवार्थक वति प्रत्यय के रहने पर प्रतीति उपमा होती है और सुवय आदि पदों का स्वभाव ऐसा है, जिससे उनके रहने पर एक तरफा सम्बन्ध का बोध होता है, जैसे 'उत्तरे तुल्य' ऐसा करने पर उपमेय में ही तुल्यता की प्रतीति होती है उपमेय की तुल्यता उपमान में नहीं, अतः अर्थज्ञानोत्तर विचार करने पर परस्पर सादश्य का बोध होता है और परस्पर का सादश्य ही तो उपमा है एक तरफा सादश्य नहीं, अतः इन शब्दों के तथा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय के रहने पर आर्थी उपमा होती है । इस विवेचन के अनुसार 'अरविन्दवत्सुन्दरम्' में तुल्यार्थक वति प्रत्यय के रहने के कारण उपमा का आर्थी होमा समुचित ही है । लक्षणा से यहाँ 'तुल्य' नहीं 'तुल्यत्व' उसका अर्थ हो गया है, पर उससे क्या ? शब्दस्वभाव को कौन रोक सकता है ? पण्डितराज के कथन का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय हो सकता है ।

तथाविधं नवमं वाक्यं निर्दिशति—

अरविन्दवत्सुखमित्यत्र त्वरविन्दनिरूपितसादश्यवदभिन्नमिति ।

सादश्यवदभिन्नमिति । बोध इत्यस्यानुपज्ञः । लक्षणा नैति भावः । अत एव तु प्रयुक्तः । अरविन्दवत्सुखमित्यत्र वतिप्रत्ययस्तुल्यार्थे, तदेकदेशे तुल्यत्वे (सादश्ये) अरविन्दपदार्थस्य निरूपितत्वेनान्वयः, वत्प्रत्ययार्थस्य तुल्यत्वे (सादश्यवत्) अभेदेन सुखेऽन्वयः । तथा च अरविन्दनिरूपितं यत्सादश्यं, तद्वदभिन्नं सुखमिति शान्दबोध इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक नवम वाक्य का उल्लेख करते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्द-वत्सुखम् (अरविन्द के समान सुख)' इस वाक्य में पूर्ववत् 'वति' प्रत्यय की सादश्य में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं होती । उसका वाक्य अर्थ सादश्यवाक् (सादश्य से युक्त) ही टीका रह जाता है । वाक्य यह कि-अरविन्द पदार्थ का निरूपितवत्सम्बन्ध से 'वति' प्रत्ययार्थ के एक भाग सादश्य के साथ और सङ्पूर्ण 'वति' प्रत्ययार्थ सादश्य-युक्त का सुख के साथ अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके, उक्त वाक्य का 'अरविन्द से निरूपित सादश्य से युक्त से अभिन्न सुख' ऐसा शान्दबोध होता है ।

तथाविधं दशम वाक्यं समुल्लिखति—

अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्येत्यत्र अरविन्दशब्दस्यारविन्दसौन्दर्यलाक्षणिकतयाऽरविन्दसौन्दर्यनिरूपितसादस्याधिकरणमेतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति मुखारविन्द-सौन्दर्ययोः सादश्यबोधे शान्दे, तयोरभेदाप्यवसायादभिन्नधर्ममूला पञ्चान्मुलारविन्दयोरपि सादश्यधीः ।

सौन्दर्यलाक्षणिकतयेति । अत्र 'तत्र तस्येवेति बतेरिवार्थे विहितत्वेन सादर्यार्थकस्य प्रयोजके लक्षणयाऽरविन्दसादश्यप्रयोजकमेतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति बोधे उपपन्ने अरविन्द-

पदस्यारविन्दसौन्दर्यलक्षणा किंफला किंप्रमाणा चेति चिन्त्यमिदम्' इति नागेश । भट्ट-
महोदयस्तु नागेशोक्तिं कटाक्षयन् 'अस्मिन् (मूलोक्ते) शाब्दबोधे सौन्दर्यरूपसाधारण-
धर्मस्य अस्य इत्युपमेये अरविन्दे इत्युपमाने च सम्बन्ध गुस्पष्ट प्रतीयते । अरविन्द-
सादृश्यप्रयोजकम् एतत्सम्बन्धि सौन्दर्यमिति नागेशोपपादिते शाब्दबोधे तु उपमेयमात्रे
सौन्दर्यस्यान्वय प्रतीयते । अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्येत्युक्तौ स्वारसिकश्च सौन्दर्यस्योभयत्रा-
न्वय । एव सत्यपि 'अरविन्दसौन्दर्यलक्षणा किंफला' इत्यादिना मुधैव खण्डयन् नागेश
'महोदयस्तु स्थूलदरबैव' इत्याह । परमत्र कटाक्षो न समाचीन, नागेशोपपादितेऽपि
बोधे सौन्दर्यस्योभयत्र प्रतीयमानत्वान्, अन्यथा तस्य साधारणधर्मतैव न स्यात् । एता-
दृशबोधे सौन्दर्यस्योभयत्राप्रतीतो स्वीक्रियमाणाया 'अरविन्दसुन्दरम्' इत्यादौ 'अरविन्द-
निर्हृतिसादृश्यप्रयोजकभिन्नसौन्दर्यपदमिदम्' इत्यादयो बोधा मूलकृता प्राणुका सर्व
एवात्मजस्तां स्युः । यस्तुतस्तु-उभाभ्यां (मूलकारनागेशाभ्याम्) लक्षणा स्वीक्रियत
एव किन्तु मूलकार अरविन्दमुखादिगतयो सौन्दर्यबो सादृश्य शब्दत प्राक् प्रतिपाद्य
पश्चात् व्यञ्जनया अरविन्दमुखादिकयो सादृश्य प्रतिपादयति, नागेशस्तु प्रथममेवारविन्द-
मुखादिकयोरेव तदुपपादयति इत्येव तयोर्विरोध । तत्र मूलकाराश्रिता सरणिरेव धेष्टा,
परमार्थत अरविन्दमुखादिगतयो सौन्दर्ययोरपि भिन्नतया तयो सादृश्यसिद्धिं विना
तदाधारयो सादृश्यस्यासिद्धेः । किञ्च 'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इत्युक्तौ उपमानोपमेय-
गतसौन्दर्ययोरेव सादृश्य स्वरत' प्रतीयते । अरविन्दमुखादिकयोरुपमा व्यङ्ग्या न वाच्ये-
त्येतावता क्षतिर्नास्तीति हिक् । शाब्दे इति । जाते इति शेष । तयो रिति । मुखारविन्द-
सौन्दर्ययोरित्यर्थ । अग्नेदेत्यस्य सादृश्यमूलेत्यादि । अभिन्नधर्ममिति । सौन्दर्यरूपेत्यर्थ ।
'अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य' इति वाक्ये 'तत्र तस्यैव' इति विहितस्य वते सादृश्यमर्थ,
अरविन्दपदस्य च लक्षणया अरविन्दसमवेतसौन्दर्यम्, अस्यैवस्य मुखादिवपमेयभूतो
वाच्य । तथा च 'अरविन्दसमवेत यत् सौन्दर्यम्, तन्निरूपित यत् सादृश्यम्, तदधि-
करणम् (तदाधाय) एतत्सम्बन्धि सौन्दर्यम्' इत्यन्वयबोध । अरविन्दपदलक्ष्यार्थस्य
निर्हृतिवत्सम्बन्धेन वतिप्रत्ययार्थे, तस्य च इदं पदार्थोपमेयसम्बद्धसौन्दर्येऽधिकरणता-
सम्बन्धेनान्वय इति तात्पर्यम् । नन्वेव बोधे सत्यपि उपमानोपमेययो अरविन्दमुखादि-
कयो सादृश्यात्मिका विवक्षितोपमा न सिद्धेति चेन्नैवम्, तत्र बोधे सौन्दर्ययो सादृश्ये
प्रतीते द्वयो सादृश्यमूलकाभेदाध्यवसायेन पश्चात् अरविन्दमुखादिकयो अभिन्नधर्ममूल-
कस्य सादृश्यस्य विवक्षितोपमारूपस्य व्यञ्जनया प्रतीतेरिति भावः ।

उपमाप्रतिपादक दशम वाक्य का निर्देश करते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्दवत्
सौन्दर्यमस्य (इसकी सुन्दरता अरविन्द की सुन्दरता के समान है)' इस वाक्य में
'अरविन्द' पद की 'अरविन्द की सुन्दरता' में लक्षणा है, अतः उस पद का लक्ष्य अर्थ
होता है 'अरविन्दसमवेत सौन्दर्य' और 'वति' का अर्थ यहाँ सादृश्य है, क्योंकि 'इव'
के अर्थ में यह 'वति' प्रत्यय 'तत्र तस्यैव' इस पाणिनिभूष से हुआ है । इन दोनों अर्थों
में 'निरूप्य-निरूपकमात्र'सम्बन्ध है—अर्थात् अरविन्द पद के उक्त लक्ष्य अर्थ का उक्त
'वति'प्रत्ययार्थ के साथ 'निरूपितत्व'सम्बन्ध से अन्वय किया जाता है । इसी तरह
अरविन्द पदार्थ से अन्वित वतिप्रत्ययार्थ का उस सौन्दर्य के साथ 'अधिकरणता-
आश्रयता' सम्बन्ध से अन्वय किया जाता है, जिसमें 'अस्य' पद का अर्थ अन्वित
होता है । इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द की सुन्दरता से निरूपित
सादृश्य का अधिकरण (आश्रय) है इस (मुख आदि) की सुन्दरता' ऐसा होता है ।

आप कहेंगे—इस प्रकार से तो सौन्दर्य सौन्दर्य में सादर्य सिद्ध हुआ, अरविन्द और मुख आदि में नहीं, फिर इन दोनों की उपमा (जो कवि की विवक्षित है) कैसे सिद्ध हुई ? तो इसका उत्तर यह है कि—उक्त प्रकार से जब दोनों सौन्दर्यों में सादर्य सिद्ध हो जायगा, तब सादर्यमूलक अमेद का आरोप होगा उन दोनों सौन्दर्यों में । इस तरह से जब ये दोनों सौन्दर्य एक-अभिन्न-समस्त लिये जायेंगे, तब उस एक धर्म को निमित्त मानकर अरविन्द और मुख आदि में भी सादर्य, व्यञ्जना से, समस्त में आ जायगा । यहाँ नागेश कहते हैं कि—“अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य” इस वाक्य में ‘द्वय’ के अर्थ में ‘तत्र तस्येव’ इस सूत्र से किये गये ‘वति’ प्रत्यय का अर्थ ‘सादर्य’ है—तुल्यार्थक ‘वति’ के समान ‘सादर्यवत्’ नहीं, अतः उस सादर्यार्थक ‘वति’ प्रत्यय की ‘सादर्य प्रयोजक’ में लक्षणा करके ‘अरविन्द’ से निरूपित जो सादर्य उसका प्रयोजक, इसका (मुख आदि का) सौन्दर्य’ यह शाब्दबोध ज्ञप्त हो सकता है, तब ‘अरविन्द’ पद की ‘अरविन्द की सुन्दरता’ में जो मूलकार ने लक्षणा मानी है, उसका क्या फल उन्होंने देखा तथा इस तरह की लक्षणा करने में प्रमाण ही कौन-सा उनको प्राप्त हुआ यह विचारणीय प्रश्न है ।” नागेश का अभिप्राय यह हुआ कि शब्दतः पहले सौन्दर्य-सौन्दर्य में सादर्य समस्तकर पीछे व्यञ्जना से अरविन्द और मुख आदि में सादर्य को समस्तता व्यर्थ है, सीधे अरविन्द और मुख आदि में ही, मेरी रीति से, सौन्दर्यरूप साधारणधर्ममूलक सादर्य समस्त लेना चाहिये । मेरी समस्त से मूलकार की रीति ही अच्छी है, क्योंकि लक्षणा तो दोनों (मूलकार और नागेश) को माननी ही पड़ती है, तब यदि मूलकार (पण्डितराज जगन्नाथ) अरविन्द और मुख आदि की सुन्दरता की समानता समस्त कर उद्गारा उनमें (अरविन्द और मुख आदि में) समानता समझते हैं तो कोई चिन्त नहीं, प्रत्युत सीधे अरविन्द और मुख आदि में समानता समस्त लेने की अपेक्षा उचित है । कारण, यस्तुतः उन दोनों के सौन्दर्य भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, अतः उन दोनों में सादर्य और तन्मूलक अभिन्नता समस्त विना वह साधारण धर्म हो भी नहीं सकता । और ‘अरविन्दवत्सौन्दर्यमस्य’ इस वाक्य से स्वाभाविकरूप में सौन्दर्य-सौन्दर्य की ही समानता प्रतीत भी होती है ।

तथाविषमेकादशवाक्यं विवेचयति—

अरविन्देन तुल्यमित्यत्र तृतीयार्थो निरूपितत्वम् । तस्य च सादर्येऽन्वया-
दरविन्दनिरूपितसादर्याश्रयाभिन्नमिति ।

सादर्ये इति । तुल्यपदार्थकदेशे इत्यर्थः । अभिन्नमितीत्यस्य बोध इति शेषः । ‘अर-
विन्देन तुल्यम्’ इति वाक्ये अरविन्दपदोत्तरतृतीयानिभक्तोनिरूपितत्वमर्थः । तुल्यपदस्य
च सादर्यवान्वयः । तत्र विभक्त्यर्थस्य निरूपितत्वस्य तुल्यपदार्थकदेशे सादर्येऽन्वयः ।
तथा च ‘अरविन्दनिरूपितं अत् सादर्यम् तदाश्रयाभिन्नम् सुखादिकं’मिति बोध इति भावः ।

उपमाप्रतिपादक ग्यारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—अरविन्देन इत्यादि । ‘अरविन्देन
तुल्यम् (अरविन्द के समान)’ इस वाक्य में ‘अरविन्द’ पद के आगे आई हुई तृतीया
विभक्ति का अर्थ है ‘निरूपितत्व’, उसका अन्वय, तुल्यपदार्थ-सादर्य-युक्त के एक भाग
‘सादर्य’ में किया जातः है और तुल्यपदार्थ का ‘अमेद’सम्बन्ध से मुख आदि में, अतः
इस वाक्य का शाब्दबोध ‘अरविन्द से निरूपित सादर्य के आश्रय (सादर्ययुक्त) से
अभिन्न मुख आदि’ यह होता है ।

तादृश द्वादशवाक्यं विवेचयितुमवतारयति—

तत्रैव सौन्दर्येणेति धर्मनिर्देशो तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम् । तेनारविन्दनिरूपित-
सौन्दर्यप्रयोज्यसादर्यबद्धभिन्नमिति ।

तत्रैवेति । 'अरविन्देन तुल्यम्' इति वाक्य एवेत्यर्थः । धर्मनिर्देशे इति । 'सौन्दर्येण-रविन्देन तुल्यम्' इति वाक्ये इति यावत् । अरविन्दनिरूपितेत्यादि । अरविन्दनिरूपित सौन्दर्यप्रयोज्यञ्च यत् सादृश्यं तद्वदभिन्नमित्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ।

उपमाप्रतिपादक चारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—तत्रैव इत्यादि । उक्त वाक्य में यदि 'सौन्दर्येण' इस धर्मबोधक पद का भी निर्देश कर दिया जाय—अर्थात् 'सौन्दर्येण-रविन्देन तुल्यम्' (सुन्दरता से कमल के समान) ऐसा वाक्य माना जाय, तब इस वाक्य में सौन्दर्य पद के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ 'प्रयोज्यता'—अर्थात् 'साध्यता' होता है । अरविन्द पद के आगेवाली तृतीया का अर्थ 'निरूपिता' पहले ही कहा जा चुका है । अतः इस वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द से निरूपित तथा सौन्दर्य से सिद्ध होने योग्य सादृश्य से युक्त से अभिन्न' यह होता है ।

तथाविधं प्रयोदशवाक्य विवेचयति—

अरविन्दमाननं च सममित्यत्र प्रथमं शब्दादसादृश्यवदभिन्नमिति बोधे पञ्चान्मानसी वैयञ्जनिकी वा परस्परनिरूपितसादृश्यस्य प्रतीतिः प्रसिद्धनिरूपितसादृश्यस्य वा ।

अभिन्नमिति । अरविन्दमाननञ्चेति शेषः । परस्परेति । मुखसादृश्यस्य कमले, कमलसादृश्यस्य मुखे इत्यर्थः । निगमनाभावादिति भावः । प्रसिद्धेर्विनिगमकत्वादाह—प्रसिद्धेति । अरविन्देत्यर्थः । सादृश्यस्य चेति । प्रतीतिरित्यस्यानुपपत्तिः । 'अरविन्दमाननं च समम्' इति वाक्ये 'सम'शब्दार्थस्य अरविन्दपदार्थेन आननपदार्थेन च सहभेदा-न्वयः, 'निपातातिरिक्तजामार्थयोरभेदस्तिरिक्तसम्बन्धोऽप्युत्पन्नः' इति पूर्वमेवोक्तत्वात् । अतो-ऽस्माद् वाक्यात् प्रथमम् 'सादृश्यवदभिन्नमरविन्दमाननञ्च' इति शाब्दबोधो जायते । पश्चात् व्यञ्जनयाऽरविन्दनिरूपितसादृश्यस्य मुखे, मुखनिरूपितसादृश्यसारविन्दे च प्रतीति-र्भवति । व्यञ्जनामाननश्रीकुर्वाणा नैयायिकादयस्तु मानसमेव परस्परनिरूपितसादृश्यबोधे पञ्चान्मन्यन्ते । एकतरनिरूपितसादृश्यबोधस्तु न सम्भवति, विनिगमकत्वादाह । तथा चैव-विधवाक्यस्थले कमलो द्वयोःपमानतोपमेयता चेति तात्पर्यम् । प्रसिद्धेर्विनिगमकत्वाङ्गीकारे पुनः अरविन्दनिरूपितसादृश्यस्यैव मुखे पश्चाद् वैयञ्जनिकी मानसी वा प्रतीतिः । तथा चारविन्दमुपमानमाननञ्चोपमेयमिति भावः ।

अब उपमाप्रतिपादक चारहवें वाक्य का विवेचन करते हैं—अरविन्दमाननञ्च इत्यादि । 'अरविन्दमाननञ्च समम्' (कमल और मुख समान है) इस वाक्य में 'सम' शब्द के अर्थ का 'अरविन्द' और 'आनन' दोनों पदों के अर्थों के साथ 'अभेद'संघन्ध से अन्वय होता है, क्योंकि 'दो प्रातिपदिकों—यदि निपात से अन्य हों—के अर्थों में परस्पर 'अभेद' के अतिरिक्त कोई संघन्ध नहीं होता' यह नियम पहले लिखा जा चुका है । अतः प्रथमतः इस वाक्य का शाब्दबोध 'सादृश्य युक्त से अभिन्न मुख और कमल' ऐसा होता है । और तदनन्तर, सादृश्यिकों के हिसाब से व्यञ्जना द्वारा, तथा नैयायिकों के हिसाब से मन द्वारा, परस्परनिरूपित सादृश्य—अर्थात् अरविन्दनिरूपित सादृश्य की मुख में और मुखनिरूपित सादृश्य की अरविन्द में—प्रतीति होती है । तात्पर्य यह कि ऐसे स्थलों पर पर्यायक्रम से दोनों को उपमान और दोनों को उपमेय माना जा सक्ता है, क्योंकि निश्चितरूप में किसी एक से निरूपित सादृश्य दूसरे में मानने का कोई प्रमाण नहीं है । परन्तु यदि प्रसिद्धि को प्रमाण माना जाय—अर्थात् यह कहा जाय कि सादृश्य का प्रसिद्ध पदार्थ के द्वारा निरूपित होना अनुभवसिद्ध है, तब उक्त वाक्य में सुन्दरता आदि धर्म के लिये जो प्रसिद्ध हो, उससे निरूपित सादृश्य दूसरे में

समझना चाहिए—अर्थात् पीछे होनेवाले वैयक्तिक अथवा मानसबोध में, सुन्दरता आदि के लिये चित्रप्रसिद्ध अरविन्द से निरूपित सादृश्य का मान सुख में होगा ऐसा मानना चाहिए । इस स्थिति में निश्चितरूप से अरविन्द उपमान और सुख उपमेय समझा जायगा ।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्मकं चतुर्दशवाक्यं विवेचयितुमाह—

विम्बप्रतिविम्बभावापन्ने तु—

पन्नेत्विति तदापन्नधर्मकेन्यर्थः । विम्बप्रतिविम्बभावपदार्थः प्रागुक्तः ।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मवाले वाक्य में तो—

तादृशं वाक्यं निर्दिश्य विवेचयति—

‘कोमलातपरोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदरः ।

कुङ्कुमालेपनो यतिः काषायवसनो यतिः ॥’

इत्यादौ कुङ्कुमालेपनादिविशिष्टो यतिः कोमलातपादिविशिष्टसन्ध्याकालसदृशा-
भिन्न इति शक्त्या बोधे पञ्चात्सादृश्यप्रयोजकधर्माकाङ्क्षायां भ्रूतानां कोमला-
तपादीनामुपमानोपमेयविरोपणानां सादृश्यमूले तदात्म्याभ्यवसाने साधारण-
त्वनिष्पत्तिः ।

सहोदराब्धार्थमाह—सदृशेति । तादात्म्येति । अभेदेत्यर्थः । अयं भाव—
‘कोमलेन आतपेन रक्तवर्णेन मेघेन च विशिष्टस्य सार्यसमयस्य सहोदरः (लक्षणाया
तत्सदृश इत्यर्थः) कुङ्कुमलेपकाषायद्रवरञ्जितवस्त्राभ्या युक्तः संन्यासी गच्छतीत्यर्थके
‘कोमलातपः’ इत्यादिवाक्ये सहोदरपदं सदृशे लाक्षणिकम् । तथा च प्रथमम् ‘कुङ्कुमा-
लेप काषायवसनविशिष्टो यतिः’, कोमलातपरोणाभ्रविशिष्टसन्ध्याकालसदृशाभिन्न’ इत्य-
गिद्याजन्यो बोधः सम्पद्यते । ततः सन्ध्याकालसंन्यासिनोः कथं सादृश्यं ?—कः सादृश्य-
प्रयोजको धर्मः ?—इति जिज्ञासायाः समुत्पितायाः कोमलातपरोणाभ्रपदार्थो उपमानविरो-
पणतयोक्तौ, कुङ्कुमालेपकाषायवसने उपमेयविरोपणतयोक्ते, भिन्ना अपि सादृश्यमूलका-
भेदाभ्यवसानरूपविम्बप्रतिविम्बभावविशिष्टाः सन्तः सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मता भजन्ते
इति ज्ञानं जायत इति ।

सादृश वाक्य का निर्देश करके अभेक्षित विवेचन करते हैं—कोमलातप इत्यादि ।
‘घुड़ पूँच और लाल मेघ वाले सन्ध्यासमय का सगा भाई, केसर के लेप और कषाय वर्ण के
वस्त्र से युक्त संन्यासी आ रहा है’ इत्यादि अर्थ वाले ‘कोमलातपः’ इत्यादि वाक्यों के
स्थल में, अमिथा के द्वारा यह शब्दबोध होता है कि—‘केसर के लेप आदि विशेषणों से
युक्त संन्यासी, कोमल पूँच आदि विशेषणों से युक्त सन्ध्यासमय के सदृश से अमिथ
है (अर्थात् सदृश है) ।’ उक्त शब्दबोध के हो जाने पर श्रोताओं के हृदयों में यह
आकांक्षा उठती है कि इस—सन्ध्याकाल और संन्यासी की—उपमा में सादृश्य को
सिद्ध करने वाला समान धर्म क्या है ? और तब धर्म के अभिन्न होने के लिये उक्त वाक्य
में सुने गए ‘कोमल आतप’ और ‘कुङ्कुमलेप’ आदि उपमान तथा उपमेय के विशेषणों
का, परस्पर सादृश्य के कारण, तादात्म्य (अभेद) मान लिया जाता है, और इस
प्रकार से एक रूप माने हुए वे विशेषण समानधर्मरूप बन जाते हैं । अभिप्राय यह
कि—यहाँ विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलक उपमा होती है, यहाँ शब्दबोध तो उक्त
रीति से हो जाता है—अर्थात् ‘इव’ आदि शब्दों के रहने पर उनके अर्थ ‘सादृश्य’ का
‘आश्रयता’संबन्ध से और ‘सहोदर’ आदि लक्षणा से ‘सदृश’ अर्थ वाले पदों के रहने पर
उनके अर्थों का ‘अभेद’संबन्ध से उपमेय में अव्यय हो जाता है । पर समान धर्म का

ज्ञान बाद में होता है, जो उपमान और उपमेय के विशेषणरूप में यद्यपि कहा रहता है, तथापि साधारणधर्मरूप वह तब तक नहीं हो पाता, जब तक सादरयमूलक अभेद का आरोप उनमें नहीं किया जाता।

पाठभेदेन बोधवैविध्यं दर्शयितुमाह—

कुङ्कुमालेपकापायवसनाभ्यामयं यतिरित्यत्र कुङ्कुमालेपवसनयोरसाधारणयो-
रपि साधारणत्वज्ञानजननद्वारा कल्पनीयसादृश्यनिष्पत्तिप्रयोजकत्वात्प्रयोज्यत्वेन
सादृश्येऽन्वयः । एकदेशान्वयः पुनरेषु पक्षेष्वगतिकृतयाश्रीयत इत्युक्तमेव ।

‘कुङ्कुमालेप-’ ‘यति-’ इति पूर्वोक्तपयोत्तरार्थस्थाने परिवर्तित- पाठः । साधारणत्वेति ।
सादृश्यमूलकाभेदाभ्यवसानेनेत्यादि । अथ भावः—यदि मूलोक्तपयोत्तरार्थस्थाने ‘कुङ्कुमा-
लेपकापायवसनाभ्यामयं यति-’ इति पाठो भवेत्, तदा ‘प्रयोज्यत्वं’ तृतीयाविभक्तेरपि
त्वोक्तत्वे ‘कुङ्कुमालेपकापायवसनप्रयोज्यम् यत् कोमलातपरोणाश्रसभ्याकाल्प्रतिपोगिकं
सादृश्यम् तद्वदभिज्ञौ यति-’ इत्याकारक- शब्दबोध- करणीयः । ननु असाधारणे
कुङ्कुमालेपवसने कथं सादृश्यस्य प्रयोजके भवेतामिति चेत्, कोमलातपरोणाश्रसभ्याम्
सह सादृश्यमूलकाभेदाभ्यवसाने साधारणत्वेन श्रव्यमान्योस्तयो सादृश्यप्रयोजकताया
विवादाभावादः । यद्यपीत्यं बोधे सहोदरपदलक्ष्यार्थैकदेशे सादृश्ये तृतीयापार्श्वान्वयेन ‘एक-
देशान्वयबोधो जातस्तथापि स दोषः सद्य एवैति प्रागुक्तम् । इति ।

‘कोमलातप-’ इस पद्य में ही पाठभेद कर देने पर बोध में कुछ बिचित्रता हो जाती
है, इस बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—कुङ्कुमा इत्यादि । ‘कोमलातप-’ इस पद्य
के उत्तरार्थ को बदल कर यदि ‘कुङ्कुमालेपकापायवसनाभ्यामयं यतिः’ अर्थात्—यह
संन्यासी, केसर के लेप और गेरुआ वस्त्र के कारण—” ऐसा कर दें, तब ‘कुङ्कुमालेप-
कापायवसन’ पद के आगे जो तृतीया का द्विवचन- (ग्याम्) विभक्ति है, उसका अर्थ
‘प्रयोज्यता’ होगा उसका अन्वय ‘सहोदर’ पद के लक्ष्य अर्थ ‘सदृश’ के एकदेश-‘सादृश्य’
के साथ किया जायगा । तदनुसार उक्त परिवर्तित पाठ वाले वाक्य का शब्दबोध
होगा ‘केसर और गेरुआ वस्त्र से प्रयोज्य-अर्थात् सिद्ध किया जाता हुना—जो कोमल
भातप तथा लाल मेघ से युक्त सप्ता-समय का सादृश्य, उससे युक्त से भिन्न यह
संन्यासी है ।’ आप कहेंगे—केसर और गैरिक वस्त्र तो असाधारण पदार्थ हैं—अर्थात्
केवल संन्यासी में रहने वाले धर्म हैं, फिर उनसे प्रयोज्य (साध्य) सप्ता का सादृश्य
कैसे होगा ? ऐसा तो तब होता यदि वे धर्म साधारण होते—अर्थात् संन्यासी और
सप्तासमय दोनों में रहने वाले होते, पर ऐसा नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि—
अपमान होने के कारण कोमल भातप और लाल मेघ का अभेद, केसरलेप तथा
गैरिक वस्त्र में आरोपित हो जाता है, तब तो केसरलेप तथा गैरिक वस्त्र साधारण समझे
जाते हैं, अतः उस दृष्टि में उनसे उक्त सादृश्य का प्रयोज्य होना भी अयुक्त नहीं
समझा जा सकता । अब बात रही एक यह कि उक्त तृतीयाविभक्त्यर्थ का अन्वय
सहोदर पद के लक्ष्यार्थ-सदृश-के एकदेश-सादृश्य-के साथ करना पड़ता है, सो यह एक-
देशान्वय बोध तो इन पक्षों में अगत्या सहना पड़ता है यह बात पहले ही कही
जा चुकी है ।

सादृश्यस्यातिरिक्त्यने दिग्दर्शनविधया चतुर्दशोपमाप्रतिपादकवाक्यान् बोधा आलो-
चिताः सम्प्रति तस्य समानधर्मरूपत्वे विद्यता वाक्यानां बोधानां लोचयितुमुपक्रमते—

सादृश्यस्य समानधर्मरूपत्वे तु अरविन्दसुन्दरं वदनमित्यत्र लक्षणयाऽ-
रविन्दवृत्तिसमानधर्मः प्रतीयते । तस्य चाभेदेन सुन्दरपदार्थैकदेशेन सुन्दर-
त्वेनान्वयः ।

लक्षणेति । अस्यारविन्दपदस्येत्यादि । अन्वय इति । तथा च 'अरविन्दश्रुति समानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्न वदनमि'ति बोध इति भावः ।

पहले सादर्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने वालों के हिसाब से दिग्दर्शन कराने के लिये भिन्न तरह के चौदह उपमाबोधक वाक्यों के शाब्दबोध बतलाये गये हैं, अब, सादर्य को समानधर्मरूप मानने वालों के हिसाब से कुछ वाक्यों के अन्वयबोध बतलाये जाते हैं—सादर्य इत्यादि । सादर्य को जब समानधर्मरूप माना जाता है, तब, 'अरविन्दसुन्दर वदनम् (कमलसुन्दर मुख)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद का लक्षणा द्वारा, 'अरविन्द में रहनेवाला समान धर्म' अर्थ होता है और उस लक्ष्य अर्थ का अन्वय 'अभेद'सम्बन्ध से सुन्दर पद के अर्थ सौन्दर्यविविष्टि के एक भाग-सौन्दर्य के साथ होता है । सुन्दर पदार्थ का मुख आदि के साथ अभेदान्वय होना प्रसिद्ध ही है, अतः उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द में रहनेवाले समान धर्म से अभिन्न सौन्दर्य से युक्त से अभिन्न मुख' ऐसा होगा ।

तथाविध द्वितीयवाक्यं प्रदर्शयति—

अरविन्दमिव सुन्दरमित्यत्रारविन्दपदार्थं आधेयतया संसर्गेण इवपदार्थेन समानधर्मेणान्वेति । शेष प्राग्बत् ।

आधेयतयेति । निष्पत्तेरन्वयः । शेषमिति । तस्य चाभेदेनेत्यादीत्यर्थः । तथा च 'अरविन्दनिष्ठसमानधर्माभिन्नसौन्दर्यवदभिन्नमि'ति बोध इति भावः ।

द्वितीय वाक्य दिखलाते हैं—अरविन्द इत्यादि । 'अरविन्दमिव सुन्दरम् (अरविन्द सा सुन्दर)' इस वाक्य में 'अरविन्द' पद के अर्थ का अन्वय, 'इव' पद के अर्थ—समान धर्म—के साथ, आधेयता-निष्ठत्व-अर्थात् 'रहने रूप'सम्बन्ध से होता है और अवशिष्ट बातें पहले की तरह—अर्थात् 'इव' के अर्थ समान धर्म का अन्वय, सुन्दर पदार्थ के एक-देश-सुन्दरत्व—के साथ, 'अभेद'सम्बन्ध से होता है इत्यादि । इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—'अरविन्द में रहनेवाला जो समान धर्म, उससे अभिन्न जो सुन्दरता, समुक्त से अभिन्न मुख आदि' यह होता है ।

तृतीयं तादृश वाक्यं समुल्लिखति—

सौन्दर्येणारविन्देन सममित्यत्र सौन्दर्योत्तरतृतीयाया धान्येन धनीत्यत्रेव अभेदार्थिकया अन्यया च निरूपितत्वार्थिकया सौन्दर्याभिन्नमरविन्दनिरूपितं यत्सादर्यं तद्वदभिन्नमिति धीः ।

'सौन्दर्येणारविन्देन समम्' इति वाक्ये सौन्दर्योत्तरतृतीयाविभक्तिभेदार्थिका 'धान्येन धनी' इतिवत् । अरविन्दपदोत्तरतृतीयाविभक्तिश्च निरूपितत्वार्थिका । तयोश्च तृतीयायर्थयोः समपदार्थैकदेशो सादर्येऽन्वयः । तथा च मूलोक्तकारः शाब्दबोध-स्तत्माद् वाक्याद् भवतीति भावः ।

तृतीय वाक्य का उल्लेख करते हैं—सौन्दर्येण इत्यादि । 'सौन्दर्येणारविन्देन समम् (सौन्दर्य के कारण अरविन्द के समान)' इस वाक्य में 'सौन्दर्य' पद के आगेवाली तृतीया विभक्ति का अर्थ 'अभेद' उसी तरह से होता है जैसे 'धान्येन धनी' इस वाक्य में 'धान्य' पद के आगेवाली तृतीया का । तात्पर्य यह कि 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से जहाँ तृतीया विभक्ति होती है, वहाँ उसका अर्थ अभेद होता है, अतएव 'धान्येन धनी' का अर्थ 'धान्य से अभिन्न धनवाला' होता है, उसी तरह यहाँ भी हुआ है । 'अरविन्द' पद के आगेवाली तृतीया का अर्थ 'निरूपितत्व' है, और इन दोनों तृतीयायों का अन्वय 'अभेद'सम्बन्ध से 'सम' शब्द के अर्थ-सदृश-के एकदेश—सादर्य—के

साथ होता है। इस तरह से उक्त वाक्य का शाब्दबोध—‘सौन्दर्य’ से अभिन्न—अर्थात् सौन्दर्यरूप, और भरविन्द से निरूपित जो सादृश्य, नदाथय से अभिन्न मुख आदि’ यह होता है।

लुप्तोपमास्थले बोध विचारयति—

क्यङ्कर्थाचारो धर्ममात्रम् । तस्य चोपमानपदेन लक्षणययोपस्थितं तन्नि-
रूपितसादृश्य प्रयोजकतासमर्गेणाभेदेन वा विशेषणम् । विशेष्य चाश्रयतयोप-
मेयम् ।

धर्ममात्रमिति । समानधर्मरूप एव क्यङ्कर्थाचारो न । नित्यादिरूप इति भावः । सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे आह—प्रयोजकतेति । धर्मरूपत्वे आह—अभेदेति । विशेष्यमिति आह्य चेत्यादि । अथ आह—लुप्तोपमा समासगता, तद्धितगता, नामधातुगता, कृदन्तगता च भवन्ति, तत्र समासगतलुप्तोपमाप्रतिपादकस्य ‘शरविन्दसुन्दरम्’ इत्यस्य बोध प्रागुक्तः । तद्धितकृदन्तगतलुप्तोपमाप्रतिपादकवाक्यजबोधे न किञ्चिद् वैचित्र्यमिति नामधातुगतलुप्तोपमाप्रतिपादकवाक्यस्थले बोधोऽधुना विचारणीयः तत्रापि क्यङ्प्रत्ययस्थले प्रथममत्राह । ‘कर्तुं क्यङ् सलोपश्च’ इति सूत्रानुशङ्कस्य क्यङ्प्रत्ययस्याचारो वाच्यः स च समानधर्मरूप, तत्र च उपमानपदलक्ष्यार्थस्य स्वनिरूपितसादृश्यस्यान्वयो भवति, अन्वयश्च स सादृश्यस्यातिरिक्तपदार्थत्वे ‘प्रयोजकता’सम्बन्धेन तस्य समानधर्मरूपत्वे पुन ‘अभेद’सम्बन्धेन । प्रत्ययार्थस्य चाश्रयतासम्बन्धेनोपमेयेऽन्वयो जायते । तथा च ‘निर्जलमीनायते महिला’ इत्यादौ ‘निर्जलमीननिरूपितसादृश्यप्रयोजकसमानधर्माश्रयोभूता नायिका’ इति बोध सादृश्यस्यातिरिक्तत्वे भवति, तस्य समानधर्मरूपत्वे पुन ‘निर्जलमीननिरूपितसादृश्यभिन्नसमानधर्माश्रयोभूता कायिनी’ इति । अन्योर्बोधयोः प्रत्ययार्थो विशेषणम् उपमेयपदार्थश्च विशेष्य इति ।

लुप्तोपमास्थल में बोध का विचार करते हैं—क्यङ्कर्था इत्यादि । समास, तद्धित, नामधातु और कृदन्त इन चार स्थलों में लुप्तोपमा का अवसर आता है। उनमें से समासस्थलीय लुप्तोपमा का शाब्दबोध ‘शरविन्दसुन्दरम्’ में दिखलाया जा चुका है। तद्धित और कृदन्तगत लुप्तोपमा के बोधों में कोई खास विचित्रता नहीं होती, अतः नामधातुगत लुप्तोपमा के बोध का ही विचार किया जाता है। नामधातु में भी उपमाबोधक दो प्रत्यय होते हैं एक ‘क्यङ्’ और दूसरा ‘क्यच्’, उनमें से पहले ‘क्यङ्’ को लीजिए—‘क्यङ्’ प्रत्यय का अर्थ होता है ‘आचार’ जो समानधर्मरूप माना जाता है, क्यङ्कर्त्तृ—आचार—के समान अनुरूप क्रिया आदि रूप नहीं। उसका विशेषण होता है उसके प्रकृतिभूत उपमानबोधक पद से, लक्षणाद्वारा, उपस्थित उपमाननिरूपित सादृश्य—अर्थात् ‘क्यङ् प्रत्यय’ जिससे होता है, वह उपमानबोधक दाढ़ रहता है, क्योंकि ‘कर्तुं क्यङ् सलोपश्च’ इस पाणिनिसूत्र से उपमानबोधक शब्द के आगे ही ‘क्यङ्’ प्रत्यय आता है और वह उपमानबोधक पद वहीं नियमित, ‘स्वनिरूपित सादृश्य’ रूप अर्थ में लाक्षणिक रहता है। इस प्रकृत्यर्थ का उक्त प्रत्ययार्थ में अन्वय होता है। यह अन्वय, अतिरिक्तसादृश्यपदार्थवादी के मत में ‘प्रयोजकता’सम्बन्ध से और समानधर्मरूपसादृश्यपदार्थवादी के मत में ‘अभेद’सम्बन्ध से होता है। प्रायधान्य—समानधर्म—उपमेय का विशेषण होता है अर्थात् ‘क्यङ्’ प्रत्यय वाले वाक्य के बोध में उपमेय सबसे विशेष्य होता है। तात्पर्य यह कि प्रत्ययार्थ का ‘आश्रयता’सम्बन्ध से उपमेय में अन्वय किया जाता है। इस तरह से ‘निर्जलमीनायते महिला (नायिका जलरहित प्रदेश की मछली के समान आचरण करती है)’ इत्यादि ‘क्यङ्’ प्रत्यय वाले वाक्य से शाब्दबोध होता है कि—‘जलशून्य देश की मछली से निरूपित सादृश्य के

प्रयोजक (अतिरिक्त सादृश्यमत में) अथवा उक्त सादृश्य से अभिन्न (समानधर्म-रूप सादृश्यमत में) समानधर्म का आशय नायिका ।

क्यच्प्रत्ययविषये विचारयति—

क्यजर्थाचारश्चानुरूपक्रियादिः ।

अनुरूपक्रियादिरिति । अत्रानुरूपत्वं सदृशत्वं तन्वोपलक्षणम्, न तु वाच्यवृत्तिप्रविष्टम् । क्यजर्थाचारस्य क्रियात्वेन विशेषरूपेण भावमिति भावः । अन्वयः पूर्ववत् । तथा च 'मलयानिलमनलीयति मदित्वा' इत्यादिवाक्येभ्यः 'अनलनिरूपितसादृश्यप्रयोजिका तादृशसादृश्यामिच्छा वा या मलयानिलकर्मिका क्रिया तदनुकूलकृतिमती नायिका' इत्यादि-रन्त्या बोधो भवति । 'तिलोत्तमोयन्ती' इत्यादितस्तु 'तिलोत्तमानिरूपितसादृश्यप्रयोजिका तादृशसादृश्यामिच्छा वा या आत्मकर्मिका क्रिया तदनुकूलकृतिमती' इत्यादिरीत्या बोधः । शब्दशक्तिप्रकाशिकाकारो जगदीशस्तु "आचारसदृश आचारः क्यजर्थः तद्विशेषगर्भाभूते आचारे प्रकृत्यर्थस्य विशेष्यभूते च भागवत्कादे' कर्मत्वेनान्वयस्तथा च 'पुत्रीयति भागवत्कं देवदत्त' इत्यादौ 'पुत्रकर्मकाचरणसदृशं यन्भागवत्कर्मकाचरणं तदनुकूलकृतिमान् देव-दत्त' इत्यादिबोधः" इत्यव्यष्टे ।

'क्यच्' प्रत्यय के विषय में विचार करते हैं—क्यजर्था इत्यादि । 'क्यच्' प्रत्यय का भी अर्थ 'आचार' है, पर यहाँ यह आचार 'क्रिया' के रूप में भासित होता है, उस क्रिया के उपमेय का क्रिया के समान होना आवश्यक है । अतः—'मदिलामलयानिलमन-लीयति (विरहिणी नायिका मलयपवन में अग्नि के तुल्य आचरण करती है)' इत्यादि वाक्य का शाब्दबोध, उक्त रीति से यह होता है कि 'अग्नि से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक अथवा अग्निनिरूपितसादृश्य से अभिन्न जो मलयपवनकर्मक क्रिया, तदनुकूल कृति (यस्य) वाली नायिका ।' 'तिलोत्तमोयन्ती—तिलोत्तमाविव आत्मानम् आचरन्ती—अर्थात् अपने में तिलोत्तमा सा आचरण करती हुई' इस वाक्य में भी वही 'क्यच्' प्रत्यय होता है पर यहाँ कर्म है 'आत्मा', अतः इस वाक्य का बोध 'तिलोत्तमा से निरूपित सादृश्य का प्रयोजक अथवा उससे निरूपित सादृश्य से अभिन्न जो आत्मकर्मक क्रिया, तदनुकूल कृतिवाली कोई नायिका' यह होता है । शब्दशक्तिप्रका-शिकाकार जगदीश भट्टाचार्य ने तो 'क्यच्' प्रत्यय का अर्थ 'आचारसदृश आचार' माना है और उन दोनों में से प्रथम 'आचार' में क्यच् प्रत्यय की प्रकृति के अर्थ का तथा दूसरे 'आचार' में वाक्योक्त कर्मपदार्थ का अन्वय स्वीकार किया है । तदनुसार 'मलया-निलमनलीयति' का शाब्दबोध—'अग्निकर्मक आचारसदृश जो मलयपवनकर्मक आचार तदनुकूल पान वाला' ऐसा होगा यह भी समझ लेना चाहिए ।

उपसंहारति—

इति दिक् ।

पूर्वोक्तविचारो दिग्दर्शनम्, अन्यथैव दिशाऽन्यत्राप्यवयवन्तव्यमिति भावः ।

उपसंहार करते हैं—इति इत्यादि । इति—अर्थात् पूर्वोक्त विचारसमूह, दिक्—अर्थात् दिशाप्रदर्शनमात्र है । तात्पर्य यह कि—पूर्वोक्त से अन्य उपमाप्रतिपादक वाक्यों के शाब्दबोध भी इसी रीति से समझ लेने चाहिए ।

इवादिरव्ययः सादृश्यस्य द्योतको वाचको वेति विमृशति—

तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपसर्गवत् । द्योतकत्वं च स्वसमभिव्याहृतपदान्तरेण शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्य-ग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः । उपसर्गाणां द्योतकत्वमावश्यकम् ।

अन्यथा उपास्यते गुरु, अनुभूयते सुखम्, गुर्वोर्देशेनाभिधानं न स्यात् ।
धात्वर्थकर्मताविरहात् । इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात् । प्रागुक्तहेतु-
स्त्वप्रयोजकत्वान्न साधकः । अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्यैव
द्योतकतापत्तिरिति नैयायिकाः ।

तत्रेति । सादृश्ये इत्यर्थः । निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः, तस्य द्योतकत्वे वाचकत्वे वाऽन्वयः,
तथा च सादृश्यरूपार्थनिरूपितद्योतकत्वमेवैवादीनां न वाचकत्वमिति भावः । तत्र हेतु-
माह—निपात इति । दृष्टान्तमाह—उपसर्ग इति । अत्र द्योतकत्व न साध्यम् निपातत्व-
त्वात् अनर्थकनिपातेषु द्योतकत्वाभावेन व्यभिचारात्, किन्तु वाचकत्वाभाव एव साध्यः,
अत एव 'न वाचकत्वम्' इत्यंशोक्तिः सप्रच्छते । तथा च 'इवादयो वाचकत्वाभाववन्तः'
निपातत्वात्, उपसर्गवन्' इत्यनुमितेराकारः सिद्धयतीति बोध्यम् । नानार्थभिन्नस्थले
शक्त्या बोधने तात्पर्यग्राहकानपेक्षणादाह—उपप्रेषयेति । लेनेति । लकारेणेत्यर्थः । अप्र-
योजकत्वादिति । अत्र "—'साक्षात्किन्त्यते दयिता' इत्यादौ लेन दयितादेरभिधानसिद्धये
निपातत्वे द्योतकतापच्छेदकता कल्प्यते इति चिन्त्यमेतत् ।" इति नागेशः । द्योतकता-
पत्तिरिति । न चेष्टापत्तिः, स्वरादीनां स्वातन्त्र्येण प्रयोगानापत्तेरिति भावः । उपसर्गाणां
द्योतकत्वं सर्वैरास्थीयते, तद्दृष्टान्तेन वैयाकरणा निपातानाम् इवादीनामपि द्योतकत्वमेव
स्वीकुर्वन्ति, स्व(द्योतक)ममभिव्याहृतेन (पूर्वं पश्चाद् वा स्थितेन) अन्येन पदेन
शक्तिप्रयोज्ये लक्षणाप्रयोज्ये वा विलक्षणे बोधे जनयितव्ये तात्पर्यग्राहकतयोपयोगित्वञ्च
द्योतकत्वमभिवाञ्छन्ति । तथा च पूर्वोक्तेषु सर्वेषु निपातपटितेषु उपमालङ्कारोदाहरणेषु
उपमानबोधका शब्दा एव सादृश्यस्यापि वाचकाः । इवादयस्तु ते शब्दैः सादृश्यबोधने
तात्पर्यग्राहकतया समुपयुज्यन्ते । नैयायिकास्तु 'उपास्यते गुरु, अनुभूयते सुखम्' इत्यादौ
उपास्यलुपानामुपसर्गानामुपासनानुभवार्थपर्यन्तावन्त्ये तेषामर्थानां धातुवाच्यताविरहेण गुरु-
सुखयोर्धात्वर्थव्यापारप्रयोज्यफलश्रयत्वहपकर्मत्वाभावे कर्मवाचकेन लकारेण तयोऽनुचतया
प्रथमाद्यनापत्तिरिति तत्र धातूनामेवोपासनादर्थवाचकत्वमङ्गीकार्यम्, तथा बोपसर्गाणां-
मगत्या द्योतकत्वेऽङ्गीकृतेऽपि निपातानामिवादीनां वाचकत्वमेव स्वीकार्यम्, तावतापि
निपातपटितप्रयोगस्थले तादृशानुपपत्तेरप्रसङ्गात् । न च निपातत्वरूपेण हेतुना इवादीनां
द्योतकत्वमनुमितं भवतीति वाच्यम्, तस्य हेतोरप्रयोजनकृतयोजकानुमितेरेवासिद्धेः । अन्यथा
अव्ययत्वेन हेतुना सर्वेषामेवान्ययानां द्योतकत्व किमिति नानुमीयेत इति कथयन्ति । तथा
च नैयायिकरीत्या पूर्वोक्तेषुदाहरणेषु उपमानबोधकानि पदानि केवलमुपमानवाचकान्येव,
सादृश्यवाचकास्तु इवादयो निपाता एवेति भावः ।

'हव' आदि अत्यय, सादृश्य के द्योतक हैं अथवा वाचक इस बात का विचार अब
करते हैं—तत्र इत्यादि । उपसर्ग—प्र, परा, अनु, अव आदि—अर्थविशेष के द्योतक होते
हैं वाचक नहीं, वह बात सभी (वैयाकरण तथा नैयायिक आदि) को मान्य है, पर
निपात—हव, यथा आदि—के विषय में मतभेद है । वैयाकरणों का कथन है कि—निपात
भी उपसर्ग के समान अर्थविशेष के द्योतक ही हैं वाचक नहीं, और द्योतक उनको कहा
जाता है जो अपने अगल-बगल के अन्य पदों से शक्ति द्वारा अवयवा लक्षणा द्वारा होने
वाले अर्थ-विशेष के बोध में तात्पर्यग्राहकरूप से उपयोगी होते हों । वैयाकरणों के इस
सिद्धान्त के अनुसार 'हव' आदि निपात सादृश्य के द्योतकमात्र हैं, वाचक तो उसके
भी उपमानबोधक पद ही होते हैं । नैयायिकों का कथन इससे भिन्न है । वे कहते हैं
कि—'उपास्यते गुरु (गुरु सेवित होते हैं)' और 'अनुभूयते सुखम् (सुख अनुभूत होता

है) इत्यादि वाक्यों में यदि 'सेवन' और 'अनुभव' क्रमशः 'उप' और 'अनु'रूप उपसर्गों के अर्थ माने जायें—अर्थात् उन अर्थों का वाचक इन उपसर्गों को कहा जाय, तब 'गुरु' और 'सुख' आदि कर्म नहीं होंगे, क्योंकि कर्म वे ही कहलाते हैं जो धातु के अर्थ—व्यापार से होनेवाले फल के आश्रय हों और अब उक्त रीति से 'सेवन' तथा 'अनुभव' धातु के अर्थ हुए नहीं, इस तरह जब वे कर्म नहीं हो सकेंगे, तब लकार—अर्थात् कर्म-वाच्य—'ते' प्रत्यय से वे उक्त भी नहीं होंगे और उस हालत में उन (गुरु तथा सुख पद) से प्रथमाविभक्ति नहीं हो सकेगी, अतः अगत्या उपसर्गों को भले ही चोत्क माना जाय, (उपसर्ग के चोत्क होने पर 'आस्' और 'भू' धातु ही, 'सेवन' एवं 'अनुभव' के वाचक होते हैं और तब उक्त सभी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं)। पर निपात—इव भावि—को वाचक मानना ही समुचित है, क्योंकि उन्हें वाचक मानने पर भी कोई उस तरह की आपत्ति नहीं होती। सब रही बात उनके निपात होने की, सो वह कुछ नहीं—अर्थात् निपात होना रूप हेतु उनको चोत्क सिद्ध करने में अप्रयोजक—असमर्थ—है। यदि ऐसा हेतु लिया जाय, तब 'अव्ययव'रूप हेतु से—अर्थात् अव्यय होने के कारण सभी अव्ययों को चोत्क क्यों नहीं मान लिया जाय? यह तो आप कह नहीं सकते कि—हम सभी अव्ययों को चोत्क मानते हैं, क्योंकि यदि सभी अव्यय अपने-अपने अर्थ के केवल चोत्क ही हों, वाचक नहीं, तब स्वयं के अर्थ में जो केवल 'स्वः' इस अव्यय का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग किया जाता है, वह नहीं हो सकेगा। फलतः नैयायिक लोग निपात को वाचक ही मानते हैं। तदनुसार 'इव' आदि निपात, सादर्यरूप अर्थ के स्वतन्त्र वाचक हैं, उपमानवाचक पद केवल उपमान के बोधक होते हैं। वैयाकरणशिरोमणि नागेश, यहाँ वैयाकरणों के मत के समर्थन में लिखते हैं कि—जिस तरह 'उपास्यते गुरुः', 'अनुभूयते सुखम्' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से उपसर्गों को चोत्क माना जाता है उसी तरह 'साक्षात्किपते इयित' इत्यादि प्रयोगों के अनुरोध से निपातों को भी चोत्क मानना ही चाहिए। तत्पर्य यह कि—यदि निपात को चोत्क न मानकर वाचक माना जायगा, तब उक्त प्रयोग में 'साक्षात्कार' अर्थ 'साक्षात्' इस निपात का ही किया जायगा, 'हू' धातु का नहीं, फिर तो वे सब आपत्तियाँ यहाँ भी दृढ़ पड़ेंगी, जो उपसर्गों को चोत्क न मानने पर 'उपास्यते गुरु' इत्यादिक में हुई थीं। अतः उपसर्ग तथा निपात चोत्क हैं और इन दोनों से अन्य अव्ययवाचक हैं ऐसा ही मानना उचित है।

उपमादोषानाख्यातु प्रथमते—

अथास्याश्चमत्कारस्यापकर्षकं यावत्तत्सर्वमपि दोषः। क्विसमयप्रसिद्धिराहित्यम्, उपमानोपमेययोर्जात्य प्रमाणेन लिङ्गसंख्याभ्यां घाननुरूप्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावे धर्माणामुपमानोपमेयगतानां न्यूनाधिकत्वम्, अनुगामितायामनुपपद्यमानकालपुरुषविध्याद्यर्थकत्वम्, एवमादि ।

अथेति अनन्तरमित्यर्थः। सामान्यत आह—अस्याथमत्कारस्येति। एतेन 'उपमाचमत्कारापकर्षकम्' इति उपमादोषसामान्यलक्षणं फलितम्। विशेषत आह—क्विसमयेत्यादिना। समयः सङ्केतः। आननुरूप्यमिति। न्याय्यासोत्तरं यावत्प्रत्ययः। कालो भूतादिः। पुरुषः प्रथमादिः। चमत्कारापकर्षकत्वं दोषसामान्यलक्षणम्। एवदोषमाचमत्काराप्रकर्षकाणि यावन्ति वस्तूनि तानि सर्वानुपमादोषत्वेन निमित्तानि। तादृशानि च वस्तून् यनेकानि सम्भवन्ति, यथा क्विसङ्केतविरहितत्वं प्रथमं तादृशं वस्तु, उपमानस्थोपमेयस्य च मिथोऽननुरूपता द्वितीयं तथापि च तत्तु, अननुरूपता चेयं पुनरेकैवा सम्भवति, क्वचित्तोर्जातिभेदेन, कुत्रचित् प्रमाणभेदेन, कुत्रचित् लिङ्गभेदेन, कुत्रचित् संख्याभेदेन च, बिम्बप्रतिबि-

स्वभावापन्नधर्मकोपमास्थले उपमानगततादृशधर्मापेक्षया उपमेयगततादृशधर्माणां न्यून-
ताऽधिकता च तथाविधे वस्तुनी, अनुगामिधर्मकोपमास्थले अनुगामिधर्म (त्रिया) गताः काल-
पुरुषविधयस्तादृशा समपेक्षिता येषामुपमानोपमेयोभयाशौ उपपत्तिर्भवेत्, तद्विरुद्धत्व
तेषां पुनस्तथाविधम् (चमत्कारापकर्षकम्) एव वर्त्तिवति भावः ।

अब उपमादोष का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि । चमत्कार (मानन्द-
जनकता) का अपकर्षक (घटानेवाला) होना सामान्यतः दोष माना जाता है, अतः
जितनी वस्तुएँ उपमा के चमत्कार को अपकृष्ट करनेवाली होंगी, वे सभी उपमा के दोष
हैं । उस तरह की अनेक वस्तुएँ हो सकती हैं, जैसे—सर्वप्रथम—कवियों के सिद्धान्तों में जो
वस्तु जिस रूप में प्रसिद्ध नहीं है उसका उस रूप में उल्टेख, दूसरी—उपमान तथा
उपमेय का जाति, प्रमाण, लिङ्ग और सख्या (वचन) द्वारा परस्पर अनुरूप न होना,
विश्वप्रतिविम्बभावापन्न धर्मों में उपमान तथा उपमेय के धर्मों का न्यूनाधिक होना,
और साधारण धर्म के अनुगामी होने पर काल, पुरुष और विधि आदि अर्थों का उपपन्न
न होना—अर्थात् ऐसी क्रिया का अनुगामी धर्म होना, जिसके काल-पुरुष आदि उपमान
अथवा उपमेय अंश में सङ्गत न हो सकें । ये सभी चमत्कारापकर्षक होने से उपमा
के दोष हैं ।

उपमादौ शानुदाहर्तुमाह—

क्रमेण यथा—

स्पष्टम् ।

क्रमशः जैसे ।

कविमयप्रसिद्धिराहित्यस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

‘प्रफुल्लकङ्कारनिभा मुखश्री रदच्छदः कुङ्कुमरम्यरागः ।

नितान्तशुद्धा तव तन्वि बाणी विभाति कर्पूरपरम्परेव ॥’

नायकस्य नायिका प्रत्युक्ति—हे तन्वि कृपाञ्जि ! तव, मुखश्री मुखकान्ति, प्रफुल्ल-
कङ्कारनिभा विकसितरक्तकमलनुस्मा, रदच्छद अचरोष्ठयुगलम्, कुङ्कुमरागस्य केसरवत्
रागेण रचिन्ना रमणीय, नितान्तशुद्धा परमपवित्रा, बाणी वाक् च कर्पूरस्य वनसारस्य
परम्परा समूह, इव, विभाति मासत इत्यर्थः । अथ कङ्कारमुखयो कुङ्कुमाधरयो, कर्पूरा-
ण्योक्षोपमानोपमेयभावः कविमया प्रसिद्ध इति भावः ।

कविमयप्रसिद्धिराहित्यदोष का उदाहरण दिखलाया जाता है—प्रफुल्ल इत्यादि ।
किसी नायिका के प्रति किसी नायक की उक्ति है—हे कृताञ्जि ! तेरे मुख की कान्ति
विकसित कङ्कारपुष्प (रक्तकमल) के समान, तेरे अधरोष्ठ केसर की सी लाली से रमणीय
और तेरी अतिपवित्र बाणी कर्पूर की अंजी के मुख्य आसित होती है । यहाँ मुख और
कङ्कार, केसर और अधरोष्ठ एव कर्पूर और बाणी के उपमानोपमेयभाव, कवियों के
व्यवहार में प्रसिद्ध नहीं है ।

उपमानोपमेययोरजात्याऽनुरूपत्वस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

‘मुनिः श्वदयं भाति सततं पर्यटन् महीम् ।

विनिवृत्तक्रियाजातः श्वापि लोके शुभायते ॥’

श्वः कथयति—सतत निरन्तरम्, महीम् पृथ्वीम्, पर्यटन् भ्रमन्, अथ कवि-
हृदयस्य, मुनिः श्ववत् शुक्लवत्, भाति मासते । विशेषेण निवृत्तं दूरीभूतम्, क्रिया-
जातम् व्यापारसमूहो यस्य तादृशः, श्वा शुक्लवत्, अपि, लोके संतारे, शुभायते शुक्लदेव-
सुनिवृत्तचरतोत्यर्थः । अथ श्वमुन्योः शुक्लदेवशुनोश्च जात्यानुरूपत्वम् इति भावः ।

उपमान और उपमेय में जाति द्वारा अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—मुनिः इत्यादि । कवि का कथन है—निरन्तर पृथ्वी में चट्टन लगाने वाला यह मुनि कुत्ते के समान प्रतीत होता है । सभी कामों से मुख मोड़ लेने वाला कुत्ता भी शुकदेव मुनि के समान भासित होता है । यहाँ पूर्वार्ध में कुत्ते के साथ मुनि की और उत्तरार्ध में शुकदेव के साथ कुत्ते की जो उपमा दी गई है, वह जात्या अनुरूप नहीं है, अर्थात् कुत्ते की जाति, सहज उपाय से भी मुनि के सदृश नहीं हो सकती ।

उपमानोपमेययो प्रमाणाननुरूपत्वस्योदाहरणं निर्दिश्यते—

‘सरसि प्लवदाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् ।

आदिकारणतोयौघ इव ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥’

कवेरिक्ति—सरसि सरोवरे यवत् तरत्, सुपचेलिमम् सुपकम् एतच्च प्लवनयोग्यता-सम्पन्नार्थम्, आनफलस्य तदयोगात् जम्बीरम्, आदिकारणस्य ‘अप एव एतानाँहौ ताञ्च बीजमवाप्तवत्’ इति भूते’ दृष्टिप्रयमस्त्ररणस्य तोयस्य जलतत्त्वस्य, औषे रामूहे, प्लवत्, ब्रह्माण्डस्य ससारस्य, मण्डलम् चक्रम्, इव, आभाति भासत इत्यर्थः । अत्र सरोवरादिकारणीभूतजलसमूहयो तथा जम्बीरब्रह्माण्डमण्डलयौघ प्रमाणाननुरूप्यम्, प्रथमयोर्भूतपरिमाणत्वात् द्वितीययोश्च महापरिमाणत्वात् इति भावः ।

उपमान तथा उपमेय में प्रमाण (परिमाण) के द्वारा रहनेवाली अननुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—सरसि इत्यादि । कवि का कथन है—सरोवर में तैरता हुआ अत्यन्त पका नीबू, ‘अप एव ससर्गादौ’ इत्यादि भूति के अनुसार आदिकारण-रूप जलसमूह में तैरता हुआ ब्रह्माण्डमण्डल-सा प्रतीत होता है । यहाँ उपमान और उपमेय का प्रमाण (लम्बाई चौड़ाई आदि) अनुरूप नहीं है । कहीं छोटा-सा नीबू और कहीं महाविशाल ब्रह्माण्डमण्डल ! एवम् कहीं थोड़ी दूरी में फैला सरोवर और कहीं समग्र भुवन को आत्मसात् कर लेनेवाला वह जलसमूह ।

उक्तपक्षे ब्रह्माण्डमण्डलमुपमानं जम्बीरमुपमेयम्, किन्तु तयोः परिवर्तनेऽपि स दोषस्तदवस्थ एवेति प्रतिपादयति—

एतस्यैव फिञ्जितपदव्यत्यासे ब्रह्माण्डस्योपमेयतायां चायमेव दोषः ।

‘सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् । आदिकारणतोयौघे ‘प्लवद् ब्रह्माण्डमण्डलम्’ इतीत्यं परिवर्त्य यदि पूर्वपक्षं पश्यते, तदा ब्रह्माण्डमुपमेयं जायते । परन्तु प्रमाण-तोऽननुरूपताद्वयो दोषस्तदवस्थ एव तथापीति सुबोधमेव ।

उक्त पक्ष में कुछ पदों को हटकर से उधर करके यदि ब्रह्माण्डमण्डल को उपमेय बना दिया जाय—अर्थात् पक्ष का वाक्य ‘सरसीव समाभाति जम्बीरं सुपचेलिमम् । आदि-कारणतोयौघे प्लवद् ब्रह्माण्डमण्डलम् ।’ ऐसा कर दिया जाय, तब भी यही (प्रमाणत-अननुरूपता) दोष होगा ।

उपमानोपमेययो लिङ्गसङ्ख्याभ्यामननुरूपताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘ब्राह्मेव मधुर वाक्य चरितं कौमुदी यथा ।

सदैवार्द्राणि चेतांसि सुखेव सुमहात्मनाम् ॥’

कवेरिक्ति—सुमहात्मनाम् महामाहात्म्यशालिनाम्, वाक्यं द्राक्षा, इव, मधुरम्, चरितम् चरित्रम्, कौमुदी चन्द्रिका, यथा इव, चेतांसि हृदयाणि, सुखा पीयूषम्, इव आर्द्राणि भवन्तीत्यर्थः । अत्र द्राक्षावाक्ययो तथा कौमुदीचरितयो पूर्वार्धोक्तयो लिङ्ग-तोऽननुरूपता, उपमानयो लीङ्गित्वात् उपमेययोश्च नृपसङ्ख्यात् । उत्तरार्धोक्तयो सुखा-

चेतनो लिङ्गसङ्गोभयतोऽनुरूपता, उपमानस्य स्त्रीलिङ्गत्वादेकसंख्याविशिष्टत्वाच्च उपमेयस्य नपुंसकत्वाच्च बहुत्वसङ्ख्याविशिष्टत्वाच्चेति नाप ।

उपमान सदा उपमेय में लिङ्ग पुंस्व संख्या के भेद से होनेवाली अनुरूपता का उदाहरण दिखलाया जाता है—द्राक्षेव इत्यादि । कवि का कथन है—अच्छे महात्माओं का वाक्य दाख-सा मीठा, चरित्र चाँदनी सा (निर्मल) और चित्त सुधा की तरह सर्वदा आर्द्र (पिघला) रहता है । यहाँ उपमान—दाख, चाँदनी और सुधा—स्त्रीलिङ्ग हैं और उपमेय—वाक्य, चरित्र और चित्त—नपुंसकलिङ्ग, अतः लिङ्ग के द्वारा, और—‘चेतांसि (चित्त)’ बहुवचन है और ‘सुधा’ एकवचन, अतः संख्या के द्वारा इस उपमा में अनुरूपता दोष होता है ।

विम्बप्रतिविम्बभाषाधर्मस्य न्यूनताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘वामाकल्पितवामाज्ञो भासते भाललोचनः ।

राम्पया सम्परिष्वस्य जीमूत इव शारदः ॥’

कवि शिव वर्णयति—वामया पत्न्या-पर्वत्या कल्पित रचित, वाम दक्षिणेतारम्, अङ्गं येन, तादृश (अपत्न्यरीश्वर इति यावत्) भाललोचन त्रिवेण शिव, राम्पया विगुह्यतया, सम्परिष्वक्त परिच्छिन्न, शारद शारदाजीन (एतद् विरोधेण गौरवर्णशिव-साहचर्यसिद्धयर्थमिति धोषम्) जीमूतो मेघ, इव, भासते प्रतीयत इत्यर्थः ।

विम्बप्रतिविम्बभाषाधर्म की न्यूनता का उदाहरण दिखलाया जाता है—वामा कल्पति । कवि शिवजी का वर्णन करता है—वामा-नारी (पार्वती) से वाम अङ्ग बनाए हुए (अर्थात् अर्धनारीश्वर) छछाट पर लोचन वाले भगवान् शिव, बिजली से आलङ्घित शारद अतु के भेद के समान प्रतीत होते हैं ।

उपमादयति—

अत्र जीमूतगतो भालस्यलोचनप्रतिविम्बो नोपान इति न्यूनत्वम् ।

उक्तपदे उपमेयशिवपदवामाकल्पितवामाङ्गप्रतिविम्बभूतमुपमाने मेघे शम्पासम्परिष्वक्त्यवधोपात्तम् । तथोपमानशिवगतभालवर्तिलोचनप्रतिविम्बभूत किमपि नस्तु उपमाने मेघे नोपात्तम् इति उपमाने धर्मस्य न्यूनतेति भावः ।

उपमादान करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में विम्ब तरह उपमेय-शिव-में कोई नए पार्वतीश्वरलेख के प्रतिविम्बभूत वस्तु—बिजली का संश्लेष, उपमान-मेघ-में कहा गया है, उस तरह, उपमेय-शिव-में कोई नए आलस्यित नेत्र का प्रतिविम्बभूत कोई पदार्थ उपमान-मेघ-में नहीं कहा गया है, अतः यहाँ उपमान में धर्म की न्यूनता हो जाती है ।

दोषपरिहारोपायमाह—

‘मगवान् भवः’ इति कृते तु विम्बस्यैवाभावाच्च प्रतिविम्बापेक्षेति साधु ।

उक्तपदस्यस्य ‘भाललोचन’ इत्यस्य न्याये ‘मगवान् भवः’ इति पाठो यदि नियते ततोपमेये शिवे विम्बभूत भाललोचनत्वमेव न विद्यतेति उपमाने मेघे तदप्रतिविम्बापेक्षा न आगतीति तादृशो पाठो निर्दोषपमा स्यादिति भावः ।

दोषपरिहार का उपाय दिखलाया जाता है—मगवान् इत्यादि । उक्त पद्य में जो ‘भाललोचन’ पद है, उसके स्थान में यदि ‘मगवान् भवः’ ऐसा पाठ मान लिया जाय, तब उक्त दोष दूर हो जाता है, क्योंकि इस पाठ के अनुसार उपमेय-शिव-में ही विम्बभूत पदार्थ (भाललोचनत्व) नहीं रहता, अतः उपमान-मेघ-में उसके प्रतिविम्ब की अपेक्षा ही नहीं होती । तादृश्य यह कि इस परिवर्तित पाठ में मेघ और शिव की उपमा निर्दोष होती है ।

विम्बप्रतिविम्बभावावयवयोग्यस्य धर्मस्याधिक्यताया उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘विष्णुवक्षःस्थितो भाति नितरां कौस्तुभो मणिः ।

अक्षरक इवानेकतारके गगनाङ्गणे ॥’

कवि. हरिहृदयस्थलस्थितं कौस्तुभमणिं वर्णयति—विष्णो हरे, वक्षसि तर प्रदेशे, स्थितो वर्तमान, कौस्तुभाख्यो मणि, अनेकतारके मानाविधनशुभ्रभूषिते, गगनाङ्गणे नभोरूपे प्राङ्गणे, वर्तमान इति शेष, अक्षरकः मङ्गलाख्यगङ्गाविशेष, इव. नितरा-मत्यन्तम्, भाति भासत इत्यर्थः ।

विम्बप्रतिविम्बभावावयवयोग्य धर्म की अधिकता का उदाहरण दिखलाया जाता है—विष्णु इत्यादि । कवि भगवान् के वक्ष पर झूलते हुए कौस्तुभमणि का वर्णन करता है—विष्णु भगवान् के उरस्थल पर वर्तमान कौस्तुभमणि, अनेक तारों से युक्त आकाश-मण्डल में स्थित मङ्गल नामक तारे की तरह अत्यन्त शोभित होता है ।

उपपादयति—

अत्र तारकाणां विम्बाभावादाधिक्यम् ।

उक्तपद्ये उपमेयवाक्यार्थे तादृश किमपि वस्तु नोपात्तम्, यदुपमानवाक्यार्थोपात्तत्वा-रक्षिन्विभावं भजेत्, अतः उपमानवाक्यार्थेऽनेकतारकरूपस्य धर्मस्याधिक्यमित्ययमुपमादोष इति भावः ।

उपपादन करने हैं—अत्र इत्यादि । ‘विष्णुवक्षः—’ इस पद्य में उपमेय—कौस्तुभ मणि के विशेषणरूप से कोई ऐसी चीज नहीं कही गई है जो उपमात—मङ्गल के विशेषण-रूप से कहे गये तारों का विम्बभूत हो, अतः उपमान अंश में ‘अनेकतारक’ यह धर्म अधिक है ।

द्वेयोद्धारप्रकारमाह—

‘विष्णोर्वक्षसि मुक्तालभासुरे भाति कौस्तुभः’ इत्यर्थे तु न दोषः ।

उपमेयवाक्यार्थे ‘भौतिकपङ्क्तिरामुज्ज्वले’ इत्यर्थकस्य ‘मुक्तालभासुरे’ इति विशेषण-स्योपादाने उपमानवाक्यार्थगतानेकतारकविम्बलभावाधिक्यमिति न दोष इति भावः ।

द्वेयोद्धार का प्रकार दिखलाया जाता है—विष्णो इत्यादि । ‘भौतियों की पङ्क्ति में ज्वलते हुए विष्णु के वक्ष स्थल में कौस्तुभमणि शोभित हो रहा है’ इस अर्थ का बोधक मूलोक्त पाठ मानने पर उपमानवाक्यगत ‘अनेक तारों से युक्त’ इस प्रतिविम्बभूत धर्म का विम्बभूत धर्म ‘भौतियों की पङ्क्ति से ज्वलते हुए’ यह उपमेयवाक्य में आ जाता है, अतः उपमान-अंश में धर्म की अधिकतारूप दोष नहीं होता ।

परिवर्तितपाठे उपमासिद्धिरीति स्फोरयति—

अत्र विशेषणविशेषणयोर्मुक्तालितारकागणयोर्विम्बप्रतिविम्बभावेन वक्षो-गगनाङ्गणयार्विशेषणयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः, तन्मूला चोपमा ।

परिवर्तितपाठविशिष्टोक्तपद्ये प्रधानविरोध्यकौस्तुभाक्षरकविशेषणभूतवशोगगनाङ्गणविशे-षणयोर्मुक्तालितारकागणयोः प्रथम विम्बप्रतिविम्बभाव, ततस्तन्मात्रसादृश्येन मुख्यविरो-ध्यसाध्यादिशेषणयोर्विशोगगनाङ्गणयोः स ततस्तदात्मकसादृश्यमुख्य अक्षरककौस्तुभयोदुपमा सिद्धयतीति भावः ।

उक्त परिवर्तित पाठ में उपमासिद्धि की रीति बतलायी जाती है—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में जब मूलोक्त रीति से पाठ बदल दिया जाता है तब पहले मुख्य विशेष्य (कौस्तुभ और मङ्गल) के विशेषण (वक्ष तथा आकाश) के विशेषण-भौतियों की

पङ्क्ति और तारकायण में चमकतीरूप सादृश्यमूलक विम्बप्रतिविम्बभाव होता है और पीछे उक्त विम्बप्रतिविम्बभावापन्न समानधर्म के बल से उक्त मुख्य विशेष्य के साक्षात् विशेषण—वत् स्थल और आकाश—में विम्बप्रतिविम्बभाव होता है, तदनन्तर तद्वामक सादृश्यमूलक अङ्गल और कौस्तुभ की उपमा सिद्ध होती है।

अनुगामिधर्मस्थले कालानुपपत्तेरुदाहरण प्रदर्शयति—

‘रराज राजराजस्य राजहंस’ करस्थितः ।

हस्तनक्षत्रससक्त इव पूर्णो निशाकरः ॥’

कवेरियमुक्ति—राजराजस्य कस्यचिद् वर्णनीयस्य महाराजस्य कुवेरस्य वा करे हस्ते, स्थितो वर्तमान राजहंस पक्षिविशेष, हस्ताभ्यां नक्षत्रेण, संसक्त सम्मिश्रित, पूर्ण पूर्णिमातिथिगत, निशाकर चन्द्र, इव, राज शुशुभे इत्यर्थः ।

अनुगामिधर्मस्थल में काल की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—रराज इत्यादि । कवि का कथन है—राजाधिराज (कुवेर अथवा किसी विशिष्ट राजा) के हाथ पर बैठा हुआ राजहंस, हस्तनक्षत्र से मिलित पूर्णचन्द्र के समान शोभित हुआ ।

उपपादयति—

अत्र रराजेति प्रतिपाद्ये भूतकालावच्छिन्नक्रियाविशेषे राजहंसस्यान्वय इव न निशाकरस्येत्यनुपपद्यमानकालघटितत्वं धर्मस्य ।

‘रराज—’ इति पद्ये ‘रराज’ इति पद भूतकालेन अवच्छिन्नं विशिष्टं भूतकालिकमिति यावत् क्रियाविशेषम् शोभनरूपं बोधयति, तद्विषये च तादृशे सरिन् क्रियाविशेषे राजहंसस्योपमेयस्यान्वयो घटते, चन्द्रस्य तु न, तस्याकल्पस्थायित्वेन तदीयक्रियाविशेषस्थ वर्तमानकालावच्छिन्नतया भूतकालानवच्छिन्नत्वान् एववानुगामिसाधारणधर्मतयोपात्त शोभनात्मक क्रियाविशेषोऽनुपपद्यमानकालविशिष्टतया दोषावह इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में ‘रराज’ इस पद से भूतकालिक क्रिया कही जाती है, अतः उसके साथ जिस तरह उपमेय ‘राजहंस’ का अन्वय सङ्घटित होता है, उस तरह उपमान—चन्द्र का नहीं, क्योंकि चन्द्र, कल्पान्तपर्यन्त स्थायी पदार्थ है, अतः उसकी क्रिया वर्तमानकालिक होगी भूतकालिक नहीं । सात्वर्थ्यं पद्य कि राजहंस के विषय में ‘शोभित होता था’ ऐसा कहना ठीक हो सकता है, पर चन्द्र के विषय में नहीं, उसके विषय में तो यह कहना ठीक हो सकता है कि ‘शोभित होता है’ । ऐसी स्थिति में यहाँ का ‘रराजपद’बोध्य क्रियाविशेषरूप अनुगामी साधारणधर्म भूतकालरूप उपपन्न न हो सकनेवाली वस्तु से युक्त है ।

अनुगामिन क्रियारूपस्य साधारणधर्मस्यानुपपद्यमानकालघटितत्वमेव पुनरुदाहरति—

‘रणाङ्गणे रावणवैरिणो विमो- शरा समन्ताद् बलिता विरेजिरे ।

निदाघमध्य दिनवर्तिनोऽम्बरे सहस्रमानो- प्रखराः करा इव ॥’

कवि कथयति—रावणवैरिणो रावणशत्रो, विमो व्यापकस्य रामचन्द्रस्य, रणाङ्गणे युद्धभूमिरूपे प्राङ्गणे, (अनेन रूपकेण प्रभो समरभूमौ निर्मयधमनमावेद्यते) समन्ताद् चतुर्दिक्षु, बलिता प्रसृता, शरा बाणा, अम्बरे आकाशे, प्रसृता, निदाघमध्यदिनवर्तिनं शीघ्रगतिमध्याह्निकस्थ, सहस्रमानो महस्रभिरणस्य सूर्यस्य, प्रखरा सुतीक्ष्णा, करा किरणा, इव, विरेजिरे शुशुभिरे इत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववत् भूतकालावच्छिन्नस्य विराजनक्रियारूपसाधारणधर्मस्य उपमेयान्वितत्वमिव नोपमानान्वितत्वम्, तदीयविराजनस्य वर्तमानत्वादिति भावः ।

पुनः अनुगामी धर्म में काल की अनुपपत्ति का ही दूसरा उदाहरण दिया जाता है—
रणान्धो ह्ययादि । कवि का कथन है—रावण के बैरी विभु-व्यापक-रामचन्द्रजी के,
रणभूमि में चारों तरफ फैले हुए, बाण, आकाश में फैले हुए ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न-
कालिक सूर्य की तीव्र किरणों के समान, सुशोभित हुए । यहाँ भी 'बिरोजि' यह भूत-
कालिक क्रियारूप समानधर्म, उपमेय-बाण-अज्ञ में सहित होने पर भी, उपमान—
सूर्यकिरण—अज्ञ में सहित नहीं हो सकता क्योंकि सूर्यकिरणों की क्रिया (शोभित
होना) वर्तमानकालिक है ।

पुनस्तदेवोदाहर्तुमाह—

यथा वा—

स्पष्टम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरण निर्देयते—

‘आगतः पतिरितोरितं जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम् ।

कौमुदीय शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा ॥’

प्रवासागतौ नायकश्चिन्तयति—(तव) पति रक्षक प्रिय, आगत समायात’ इति
जनैः स्वजनैः, ईरितम् कथितं, वच इति शेष शृण्वती आकर्षयन्ती, चकितम् चकितेक्षणं
यथा स्वासथा (चकितमिन्त्यस्य चकितेक्षणमित्यवर्णनमभिप्रेत्यस्वारस्यात् समुचित-
त्वाच्चेति बोध्यम्) देहलीम् गृहद्वारम्, एव आगत्य, (सा) मृगेक्षणा हरिणलोचना,
कौमुदी चान्द्रमसी ज्योत्स्ना, इव, मम, लोचने वयते, कदा कस्मिन् क्षणे, शिशिरी-
करिष्यते शीतलयिष्यति इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश करते हैं—आगतः इत्यादि । प्रवासी नायक अपने मन में
सोचता है—(तेरे) पति आ गए’ इस सखीजनोक्त वचन को सुनती हुई, चकित-
बिजोक्त-पूर्वक देहली पर आकर (वह) मृगनयना प्रेयसी, मेरी भाँखों को, चन्द्र-
ज्योत्स्ना की तरह रूप नीतल करेगी ।

तपसादयति—

अत्र शृण्वतीति शत्रा प्रत्यायितेन श्रवणसमकालमेव प्रियाया देहल्यागमन-
मित्यर्थेनातिशयोक्त्यात्मना गमितस्त्वरतिशयस्तद्वचनौत्सुक्यातिशयं पुष्पाति ।
कौमुद्युपमा तु तत्परिपोषितं प्रधानीभूतं प्रियगतमौत्सुक्यम् । चकितमित्या-
गमनविशेषणमपि वस्तुतो विचार्यमाणमीक्षणविशेषणीभवत्तस्यैवानुकूलम् । इति
स्थिते भविष्यत्कालावच्छिन्नशिशिरीकरणस्य साधारणधर्मस्योपमेयान्वितत्व-
मिव नोपमानान्वितत्वम् ।

अत्र उक्तपक्षे । शत्रेति । ‘उट्’ शत्रुगानवावप्रथमासमानाधिकरणे’ इति वर्तमान-
कालविहितेनेति भावः । प्रत्यायितेन अभिव्यञ्जितेन । इत्यर्थेनेति । अन्यथा ‘श्रुत्वा’ इत्यु-
क्तिर्भवेदिति भावः । अनिशयोच्चीति । श्रवणस्यागमनकारणतया पूर्वकालिकत्वधोष्येऽपि
समकालीनत्वप्रतीत्या ‘कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिः’ इति भावः । गमितः
व्यञ्जितः । वदतम् नायिकागतम् । कौमुद्युपमा तु इति । तुना पूर्वव्यवच्छेदः । उपमेयं
नायिकागतमौत्सुक्यं न पुष्पातीति तात्पर्यम् । तत्परिपोषितमिति । नायिकागतौत्सुक्याति-
शयपोषितमित्यर्थः । औत्सुक्यमिति । पुष्पातीत्यस्यानुपपन्नः । तथा च प्रियगतौत्सुक्यस्य
नायिकागतौत्सुक्यातिशयः कौमुद्युपमा चेति द्वयं पोषकमिति भावः । ननु कथं कौमुद्युप-

माया नायकगतौत्सुक्यमात्रपोषकत्वम् ? 'कौमुदीव चकितमेव' इत्यन्वये तस्या नायिका-
गतौत्सुक्यपोषकत्वस्यापि सम्भवात्, तथात्वे च भविष्यत्कालिक्या एव कौमुद्या उपमानत्व-
प्रतीत्या वक्ष्यमाणदोषान्वकारा इत्यत आह—चकितमित्यागमनेति । आगमनविशेषणम-
पीति । ध्रुव्याऽऽपाततः तद्विशेषणत्वेन ज्ञायमानमिति भावः । वस्तुतो विचार्यमाणमिति ।
इतस्ततो विज्ञेयपरूपो नेत्रधर्मश्चकितत्वम्, किञ्च प्रियतमागमनश्रवणकालिकनायिकाकर्तृक-
देहत्यागमने चकितनयनपूर्वकचविशेषणमेव सहृदयहृदयमवादि, इत्यादयोऽत्र वस्तुतो
विचारा विज्ञेया । ईक्षणविशेषणमवदिति । ईक्षण नयन तस्य विशेषणभाव भजमानमित्यर्थः ।
चकितमित्यस्य लक्षणया चकितेक्षणमित्यर्थः करणीय इति भावः । नयनधर्मस्य चकितत्व-
स्यागमने वाचितत्वाल्लक्षणाऽत्र नाहेतुकान्यपि बोध्यम् । अत्र 'मृगेक्षणाघटितस्येक्षणस्य
विशेषणम्, अर्थात् मृगवत् चकितगीक्षणं यस्या इत्यर्थः' इति सरलाकारो टिप्पणीमकरोत् ।
तत्र 'मृगेक्षणाघटकम्येक्षणस्य' इति वक्तव्ये 'घटित'पद तैश्चकम् । किञ्च मृगेक्षणाघटकेक्षणे
चकितत्वस्यान्वयो न कथमपि सम्भवतीति पण्डितरात्रीशमिश्रायविषयत्वं तस्योपवर्णनं स
शौच्य एव । तस्यैवेति । 'कौमुद्युपमा प्रियगतमेवौत्सुक्यं पु'णाति न प्रेयसीगतम्' इत्यर्थस्यै-
वेत्यर्थः । उक्तरीत्या चकितमित्यस्य चकितेक्षणमित्यर्थे निश्चिते नयनविहीनाया कौमुद्या आग-
मनान्वयासम्भवेन न तदुपमाया प्रियगतौत्सुक्य-पोषकता-सम्भवो न वा भविष्यत्कालिक्या
कौमुद्या उपमानत्वप्रतीतिरिति भावः । इति स्थिते इति । अस्या स्थितौ 'भविष्यत्कालिक-
यैव कौमुदी उपमानमत्र' इत्यर्थस्य वक्तव्यशक्त्यतया वक्ष्यमाणदोषान्वकारात्पूचनाय स्थिति-
वर्णनमिदमिति भावः । तस्यैवेत्यस्य 'ईक्षणस्यैव' इति व्याख्या नागेशकृता तु नैव शोभना,
तथात्वे तदुक्तैरकिञ्चित्करतापत्तेः, न च पण्डितरात्रीशमुल्लाहकिञ्चित्करोति कथमपि सम्भव-
तीति नै मतिः । उपमेयान्वितत्वमिदं नोपमानान्वितत्वमिति । उपमेया नायिका, भवि-
ष्यत्काले एव लोचने शिशिरीकरिष्यतीति भविष्यत्कालावच्छिन्नशिशिरीकरणक्रियारूपस्य
समानधर्मस्य तन्नाम्न्य उपपद्यते, उपमानभूता कौमुदी तु सर्वदैव शिशिरीकरोति नयने
न तु भविष्यत्काल एव तथा करिष्यतीति न तत्र तादृशस्य तस्य धर्मस्यान्वय उपपद्यते
इत्यर्थः । शरच्चन्द्रमरीचिमये निरायसमये प्रवासी समाशसते यद्यथाऽधुनेय चन्द्रिका
नयने नै शीतलयति तथा प्राणवह्नुभा मम लोचने कदा शीतलीकरिष्यतीति वस्तुस्थितौ
न भविष्यत्कालवर्तिन्या कौमुद्या उपमानत्वमपि तु वर्तमानकालवर्तिन्या एवेति परमार्थः ।
अत्र "एषु सर्वेषु भूतभविष्यत्तत्पदार्थानामेवोपमानोकरणेनान्वयस्य सम्भवोऽऽन्येवेति
चिन्तयान्वेतान्युदाहरणानि । 'त्यक्ष्यामि वैदेहमुता पुरस्तात् समुद्रनेमि पितुराज्ञयेव' इत्यादि
तूदाहर्तुमुचितम्" इति नागेशः । निशाकर-सूर्यकरकौमुद्यादयः सर्वकालस्थायिनः तथा च
यथायथ भूतमनिष्यत्कालिकानां तेषामुपमानत्वेन विवक्ष्ये उक्तदोषा न सम्भवन्ति तेषु
पदेषु त्यक्ष्यामीति पदे तु पृथिव्या पूर्णं त्यक्तत्वात् भविष्यत्कालान्वयो दुर्घटस्तत्र इति
तदेव पद्यमनुपपन्नमानकालघटितसाधारणधर्मत्वस्योदाहरणं भवितुमर्हतीति तदाशयः ।
वस्तुतस्तु अन्यत्र तथा सम्भवेऽपि 'आगत—' इति श्लोके तथा न सम्भवतीति
प्रागुक्तमेव । तथा च तस्य श्लोकस्य प्रकृतदोषोदाहरणता समञ्जसेति दिक् ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । 'आगत—' इस पद्य में 'शृण्वती (सुनती हुई)'
इस पद के 'शृ'प्रत्यय (ती हुई इस अश) से (क्योंकि इस प्रत्यय से वर्तमानकालिक
असमाप्त क्रिया का बोध होता है) श्रवणकाल में ही प्रिया का देहली पर आना यह
अर्थ अभिप्रेक्ष्य होता है जो अतिशयोक्ति अलङ्काररूप सिद्ध होता है—अर्थात् श्रवण

कारण है और देहली पर आना उसका कार्य, अतः इन दोनों का पूर्वपक्षान्नाय अवश्य-
भावी है, पर उक्त रीति से उन दोनों का एक काल में होना जो प्रतीत होता है—यह
'कारणकार्य का पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति' है, इस अतिशयोक्तिरूप अर्थ से
नायिका का त्वरातिशय (अत्यन्त जल्दवाजी) व्यक्त होता है और यह त्वरातिशय,
नायिका की उत्कट उत्सुकता को पुष्ट करता है। कौमुदी की उपमा तो नायिका की
उत्कट उत्सुकता से पोषित नायक की उत्सुकता को पुष्ट करती है। तात्पर्य यह कि
नायक की उत्सुकता के पोषक यहाँ दो पदार्थ होते हैं—एक नायिका की उत्कट उत्सुकता
और दूसरी कौमुदी की उपमा। सारांश यह कि कौमुदी की उपमा नायिका की उत्सु-
कता का पोषण नहीं करती। आप पूछेंगे कि—ऐसा क्यों? क्योंकि यदि 'कौमुदी इव
चकितमेव (कौमुदी के समान चकित आकर)' इस तरह अन्वय किया जाय,
तब कौमुदी की उपमा से नायिकागत औत्सुक्य का भी पोषण हो सकता है और इस
रीति का आश्रय करने पर भी भविष्यत्कालिक कौमुदी (चन्द्रज्योत्स्ना) का ही उपमान
होना सिद्ध होगा, फिर तो आगे जो भविष्यत्काल की अनुपपत्तिरूप दोष दिखलाना है
उसका अवसर ही नहीं रहेगा, तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृत पद्य में शब्दतः
'चकित' यह, आगमनक्रिया का विशेषण ज्ञात होता है, तथापि वास्तविक विचार
करने पर यह ('चकित' ईक्षण (नेत्र) का ही विशेषण हो जाता है, तात्पर्य यह कि—
'चकितान् वस्तुतः' इधर-उधर सञ्चालनरूप नेत्र का ही धर्म है—'चकितमेव (चकित
आकर)' इसका भी मतलब यही होता है कि 'इधर-उधर ताकती हुई आकर' ऐसी
स्थिति में 'चकित' पद का अर्थ लक्षणा द्वारा 'चकितेक्षण (चकित हैं आँखें जिस क्रिया
में)' ही करना पड़ेगा और जब ऐसा अर्थ, उक्त पद का, करवा पड़ेगा, तब आपने जो
'कौमुदी इव चकितमेव' ऐसा अन्वय किया है, वह नहीं बन सकता, क्योंकि कौमुदी
को आँखें नहीं होतीं, अतः नेत्रप्रति अर्थ वाले चकित पद के साथ उसकी सन्नति नहीं
हो सकती। तात्पर्य यह कि उक्त रीति से चकित पदार्थ के नेत्र विशेषण हो जाने पर
'चकित' यह उक्ति भी, कौमुदी की उपमा का नायकगत औत्सुक्य-पोषक होनेवाली बात
के ही अनुकूल होती है। इस स्थिति में अर्थात् 'भविष्यत्कालिक कौमुदी उपमान नहीं
है' इसका निश्चय हो जाने पर, भविष्यत्कालिक शिष्टीकरणक्रियारूप साधारणधर्म
का अन्वय, जिस तरह, उपमेय नायिका के साथ सुसङ्गत होता है उस तरह उपमान-
कौमुदी के साथ नहीं। अभिप्राय यह कि—कौमुदी तो नवन को शीतल कर रही है
न कि करेगी अतः भविष्यत्कालिक क्रिया का अन्वय कौमुदी के साथ नहीं हो सकता
यह उपमा का दोष यहाँ है। नागेश का यहाँ कथन है कि—"कालानुपपत्तिरूप उपमा-
दोष के जो 'रराज—' 'रणाङ्गणे—' और 'आगतः—' ये तीन उदाहरण दिये गये हैं वे
ठीक नहीं हैं, क्योंकि चन्द्र, सूर्यकिरण और चन्द्रज्योत्स्ना ये ऐसे पदार्थ हैं जो सदा
रहते हैं, ऐसी दशा में उपमेयान्वित अलुगामी धर्मों में जहाँ जो काल सङ्गत होगा उस
काल से युक्त तत्क्रिया को ही उपमानान्वयी धर्म माना जायगा अर्थात् 'रराज—' में
भूतकालिक निशाकर, 'रणाङ्गणे—' में भूतकालिक सूर्यकिरण और 'आगतः—' में भवि-
त्कालिक कौमुदी को ही उपमान स्वीकार कर लिया जायगा, अतः इन उदाहरणों में
उक्त दोष नहीं हो सकते। अतएव कालानुपपत्ति का उदाहरण 'त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां
पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराश्रयेव अर्थात् पिता की आज्ञा से पृथ्वी की तरह जनकसुता-
सीता का परित्याग करेंगा' इस रामचन्द्रोक्त पद्य को मानना चाहिए।" इसमें सन्देह
नहीं कि नागेशोक्त उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि रामचन्द्र पृथ्वी का त्याग बहुत
पहले कर चुके हैं और सीता का त्याग भविष्य में करेंगे, ऐसी स्थिति में 'त्यक्ष्यामि' पद
से अवगत होनेवाली भविष्यत्कालिक त्यागक्रिया का अन्वय उपमान पृथ्वी के साथ
नहीं बैठता। साथ ही यह भी निस्सन्देह बात है कि—उक्त उदाहरणों में दोषोद्धार की

वात जो उन्होंने कही है वह आदि के दो उदाहरणों के लिये ठीक है—वहाँ मूलकालिक चन्द्र और सूर्यकिरणों को उपमान माना जा सकता है, पर तृतीय उदाहरण—‘आगत’—के लिये वह उत्तर समीचीन नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ भविष्यकालिक कौमुदी को उपमान नहीं माना जा सकता यह बात मैं पहले युक्तिपूर्वक कह चुका हूँ।

अनुपपद्यमानपुरुषार्थकत्वमुदाहरति—

‘एतावति महीपालमण्डलेऽवनिमण्डन।

तारकापरिपन्मध्ये राजन् राजेव राजसे ॥’

कवि कमपि राजानं स्तोति—हे अवनिमण्डन घरालुहार ! राजन्, एतावति हस्तनिर्देशोऽयम्, महति इत्यर्थः, महीपालमण्डले नृपसमूहे, तारकापरिपन्मध्ये नक्षत्र-सभायाम्, राजा चन्द्र, इव, राजसे शोभसे, स्वमिति शेषः ।

पुरुष की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—एतावति इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे पृथ्वीमूषग राजन् ! तुम इतने बड़े राजाओं के समूह में उसी तरह शोभित होते हो जिस तरह तारों की सभा में चन्द्र शोभित होता है ।

उपपादयति—

अत्र क्रियायां सम्बोध्योपमेयान्वय इव नोपमानान्वयः ।

‘एतावति—’ इति पद्योक्तमध्यमपुरुषविशिष्टराजनक्रियाया, सम्बोध्यस्य युष्मदर्थभूत-स्थोपमेयस्यान्वये सिद्धयत्यपि उपमानस्य चन्द्रस्य युष्मदर्थरूपत्वविरहान् न तत्रान्वयः सिद्धयतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘एतावति—’ इस पद्य में जो ‘राजमे’ यह क्रिया-पद है उसके अर्थ में संबोधित किए जाने वाले उपमेय—राजा—का अन्वय हो सकता है, क्योंकि संबोधन के बाद ‘त्वम् (तू)—कर्ता का ही आचेष होता है, अतः उसके लिये सभ्यतपुरुष की उक्त क्रिया उपयुक्त है, पर उपमान चन्द्र का अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि उसके लिये अन्यपुरुष की क्रिया (राजते) ही उपयुक्त हो सकती थी, अतः यहाँ पुरुषानुपपत्तिरूप उपमा का दोष दृग्न जाता है ।

विध्यादीभ्यादिपदमाह्वयप्रार्थनानुपपत्तिमुदाहरति—

‘राजेव सम्भृतं कोप केदारमिव कर्षकः ।

भवन्तं त्रायतां नित्यं भवेभ्यो भगवान् भवः ॥’

कविराशीर्वचनमाह—राजा नृपति, सम्भृतम् परिपूर्णम्, कोपमाकरम्, इव, कर्षकं कृषिकारं, केदारम् चैत्रम्, इव, भगवान् श्रणिमाद्यैश्वर्यशाली, भवः शिव, भवन्तम्, भवेभ्यो, नित्यम् सदा, त्रायताम् रक्षित्वयर्थः ।

‘विष्पादि’ इस पद के ‘आदि’ पद से सप्रहणीय प्रार्थना की अनुपपत्ति का उदाहरण दिखलाते हैं—राजं इत्यादि । कवि आशीर्वाद दे रहा है—राजा जिस तरह खजाने की और किमान जिस तरह खेत की रक्षा करता है, उस तरह भगवान् शिव, भयों से सदा तेरी रक्षा करें ।

उपपादयति—

अत्र प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वमुपमेये भव इवोपमानयो राजकर्षकयोर्नास्ति, तयोश्चाणकर्तृत्वस्य सिद्धत्वात् ।

नास्तीति । प्रार्थ्यमानत्वरूपविशेषणामावप्रयुक्तं विशिष्टस्य-प्रार्थ्यमानत्राणकर्तृत्वस्या-श्रमावो बोध्यः । तदेव स्पृष्टयति—तथोरिति । अथ भावः—‘त्रायताम्’ इत्यत्र लोहर्षः

प्रार्थना तथा च प्रार्थ्यमानप्राणकर्तृत्वम् तस्य तिङन्तपदस्यार्थः, स एवात्रोपमानयो राज-
कर्षकरोपमेयस्य भवस्य च साधारणधर्मतया विवक्षितः । परन्तु स साधारणो भवितुं
नार्हति, प्रकृते भवतिप्राणकर्तृत्वस्यासिद्धतया प्रार्थ्यमानत्वसम्भवेऽपि राजकर्षकृत्प्राण-
कर्तृत्वयो पूर्वसिद्धतया प्रार्थ्यमानत्वायोगात्, असिद्धस्यैव वस्तुतः प्रार्थनीयत्वात् । अतः
एतादृशप्रार्थनापरिहितविरूपसाधारणधर्मकस्युपमाया दोष इति ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—‘लोट्’ लकार का अर्थ
प्रार्थना है, अतः ‘राजेव—’ इस पद्य के ‘त्रायताम्’ पद का अर्थ होता है ‘प्रार्थनीय रक्षण-
क्रिया का कर्ता होना ।’ यही यहाँ साधारणधर्मरूप में विवक्षित है । परन्तु यह यहाँ
साधारणधर्म हो नहीं सकता । कारण, प्रार्थना उस वस्तु की की जाती है जो भसिद्ध—
पहले से प्राप्त नहीं—हो, ऐसी स्थिति में उपमेय शिव में ‘प्रार्थ्यमानप्राणकर्तृत्व’ रह
सकता है अर्थात् पहले से भ्रम्रात ‘जापके’ प्राण को प्रार्थना ‘शिव’ से की जा सकती है,
न कि उपमान-राजा और किसान-से अर्थात् ‘खजाना और खेत’ के प्राण की प्रार्थना
‘राजा और किसान’ से नहीं की जा सकती । कारण, उन दोनों के द्वारा उन दोनों
वस्तुओं का प्राण करना पहले से ही सिद्ध है । तात्पर्य यह हुआ कि राजा अपने खजाने
की और किसान-अपने खेत की रक्षा करते ही हैं—ये प्रार्थनीय वस्तुएँ नहीं हैं, अतः इस
तरह के साधारणधर्मों का ग्रहण उपमा का दोष है ।

दोषोद्धारप्रकाशपददर्शयति—

यदि तु त्रायते इति प्रार्थनानिर्मुक्तं प्राणकर्तृत्वमुच्यते तदा धर्मस्य साधा-
रणत्वान्न दोषः ।

प्रायते इतीति । लङन्तमिति मान । उक्तपक्षे ‘त्रायताम्’ इत्यस्य स्थाने ‘त्रायते’
इति पाठे कृते लोटोऽप्राप्यात् प्रार्थना नोपतिष्ठते, तथा च ‘प्राणकर्तृत्वम्’ तत्पर्यं, स चोक्तो-
पमानोपमेयोभयद्वयसिन्वासाधारणो धर्मो भवतीति दोषानवकाश इति भावः ।

दोषोद्धार की रीति दिखलाते है—यदि तु इत्यादि । उक्त पद्य में ‘त्रायताम्’ (रक्षा
करें) के स्थान पर यदि ‘त्रायते’ (रक्षा करते हैं) ऐसा पाठ माना जाय, तब ‘लोट्
लकार’ के स्थान पर ‘लङ् लकार’ के आ जाने से प्रार्थनारहित ‘प्राणकर्तृत्व’ (रक्षक रक्षण-
क्रिया का कर्ता होना) ही धर्मरूप में उक्त होगा जो उपमान और उपमेय दोनों में
रहने के कारण साधारण है, अतः उस पाठ में कोई दोष नहीं ।

लङन्तपाठेऽपि धर्मस्य साधारण्यहानिमाशङ्क्य समाधत्ते—

अथ त्रायत इति प्रार्थ्यमानतानिर्मुक्तेऽपि प्राणकर्तृत्वेन साधारणत्वम् ।
प्रार्थ्यमानताया इव विधेयतानुवाद्यत्वयोर्भेदकत्वादिति चेत् । सत्यम् । इह
हि धर्मलोपरहितायामुपमायां धर्मवाचकशब्दप्रतिपाद्यैः प्रार्थनाभूतभविष्यद्वर्त-
मानत्वादिभिर्विशेषणैर्विशिष्टधर्मस्योपमानोपमेयसाधारण्याभावे प्रयोजकाभावा-
न्नापमानिष्पत्तिरिति निर्विवादम् । तत्र विधेयत्वानुवाद्यत्वाभ्यां शब्देनानिवेदिता-
भ्याम् विषयताभ्यां विशिष्टस्य धर्मस्य यदि नास्ति साधारण्यम् मास्तु नाम ।
न ह्युदासीनैर्विशेषणैर्विशिष्टस्य धर्मस्य साधारण्यमपेक्षितम् । अपि तु धर्म-
वाचकशब्दनिवेदितैः । एवं चन्द्रवत्सुन्दरं मुखमित्यत्रापि सुन्दरत्वस्योपमानेऽ-
नुवाद्यत्वे उपमेये च विधेयत्वेऽपि न साधारण्यहानिः ।

प्रार्थ्यमानताया इवेति । प्रार्थ्यमानत्वात्तदभावयोरिवेति मान । विधेयतानुवाद्यत्वयो-
रिति । उपमाननिष्ठे प्राणकर्तृत्वेऽनुवाद्यत्वमुपमेयनिष्ठे, तत्र विधेयत्वमिति भावः । उत्तर-

यति—इह हि इति । साधारण्यभावे इति । सतीति शेष । प्रयोजकेति । सादृश्यप्रयोजक-
साधारण्यधर्माभावादित्यर्थः । तत्रेति । प्रकृतोपमायामित्यर्थः । उदासीनै शब्दाप्रतिपाद्यै ।
प्रसिद्धोदाहरणेऽप्येवमेवेत्याह—एवमिति । भेदसाधकं यद्यद्वस्तु, तत्तद्धर्मस्य साधारण्य-
विषयत्वम्, तथा च त्रायतामिति लोडन्तपाठपक्षे यथा प्रार्थ्यमानत्वतदभावौ, उपमेयोप-
माननिष्ठयोस्त्राणकर्तृत्वयोर्भेदकौ भूत्वा, साधारण्यविषयकौ समभूताम् तथा लडन्तपाठ-
पक्षेऽपि विधेयत्वानुवाद्यत्वे तयोर्भेदके सति साधारण्य विषयताम् अर्थात् उपमेयविशिष्ट-
त्राणकर्तृत्वं विधेयम् उपमानराजकर्षकगतं च तदनुवाद्यम् इति कथम् त्राणकर्तृत्वस्य
साधारण्यधर्मतां शङ्का, धर्मलुप्ततिरिक्तोपमास्थले धर्मवाचकशब्दप्रतिपाद्यविशेषणविशिष्ट-
धर्मस्य साधारण्यविरहे नोपमा, उपमात्वेन परिणस्यमानस्य सादृश्यस्य प्रयोजकानुपलब्धे-
रिति सर्वबाधिसिद्धान्तः, तथा च यत्र धर्मवाचकै शब्दै प्रार्थ्यमानत्वभूतत्वभविष्यत्व-
वर्तमानत्वादिविशिष्टा क्रियारूपा धर्मा बोध्यन्ते, तत्र यदि विशिष्टास्ते धर्मा उपमानो-
पमेयसाधारणा न भवन्ति, तर्हि तत्र ते उपमाया अनिष्पादका अत एव दोषभूता ।
यथा प्रकृतोदाहरणे लोडन्तपाठपक्षे 'त्रायताम्' इति धर्मवाचकेन शब्देन प्रार्थ्यमानत्व-
विशिष्टं त्राणकर्तृत्वं बोध्यते, तच्च पूर्वोक्तरीत्या न साधारण्यमिति दोषावहम् । लडन्तपाठ-
पक्षे ॥ त्राणकर्तृत्वमेव केवलम् 'त्रायते' इति धर्मवाचकेन पदेन बोध्यते न ॥ विधेयत्वेन
अनुवाद्यत्वेन वा विशिष्टं तत्, अत विधेयत्वानुवाद्यत्वाभ्या विशिष्टयो त्राणकर्तृत्वयो-
रसाधारण्येऽपि न क्षतिः, शब्दानुपस्थाप्यविशेषणविशिष्टधर्मगतसाधारण्यस्यानपेक्षितत्वाद् ।
अत शुद्धं शब्दबोध्य त्राणकर्तृत्वरूपं साधारण्यधर्ममादाय तत्र पाठे सिध्यत्येवोपमा ।
विधेयत्वानुवाद्यत्वे न साधारण्यविषयके धर्मवाचकपदानुपस्थाप्यत्वादिति चाराशः, अत
एव चन्द्रवन्सुन्दरं सुश्रुमिष्यादिप्रसिद्धोपमोदाहरणेषु सुन्दरत्वस्य उपमानाशेऽनुवाद्यत्वे
विधेयाशे विधेयत्वे च न साधारण्यहानिरिति च समाधानमिति भावः ।

प्रापते इस परिवर्तित पाठपक्ष में एक शङ्का और उसका समाधान करते हैं—अथ
इत्यादि । आप कहेंगे—प्रापते इस पाठ के द्वारा जिस प्रार्थ्यमानतारहित—शुद्ध—त्राण-
कर्तृत्व को आप साधारण्यधर्म बनाना चाहते हैं, वह भी साधारण नहीं हो सकता,
क्योंकि जिस तरह 'त्रायताम्' इस पाठपक्ष में प्रार्थना और उसका अभाव, उपमेय
तथा उपमानवृत्ति 'त्राणकर्तृत्व' को भिन्न बनाकर साधारण नहीं होने देते उसी तरह
'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' परिवर्तित पाठपक्ष में भी उसको भिन्न बनाकर साधारण
नहीं होने देगी अर्थात् जिस तरह प्रथम पाठ में उपमेय-भगवत्त्राणकर्तृत्व, प्रार्थनीय
है और उपमान—राजा तथा कर्षकगत त्राणकर्तृत्व सिद्ध है प्रार्थनीय नहीं अतः वे दोनों
कर्तृत्व एक नहीं होने पाते उसी तरह द्वितीय पाठ में उपमेय-गत उक्तधर्म असिद्ध
होने के कारण विधेय है और उपमानगत उक्तधर्म सिद्ध होने के कारण अनुवाद्य है अतः
वे दोनों एक (साधारण) नहीं हो सकेंगे, फलतः पाठपरिवर्तन करने पर भी दोष ज्यों
का त्यों बना ही रहा । हम कहते हैं—यह बात आप की सत्य है । परन्तु समझने योग्य
बात यह है कि—जिस उपमा में समानधर्म छुप्त नहीं रहता—अर्थात् धर्मवाचक शब्द
उक्त रहता है—वहाँ धात्वर्थ, जिस तरह, उस धर्मवाचक पद से प्रतिपादित होता है
उसी तरह धात्वर्थ के विशेषण—प्रार्थना, भूतकालिकत्व, भविष्यत्कालीनत्व और वर्तमान-
कालवृत्तित्व आदि भी उस पद से प्रतिपादित होते हैं । ऐसी स्थिति में यदि उन विशेषणों
से युक्त उक्त धात्वर्थ—क्रिया-रूप धर्म की उपमान तथा उपमेय में साधारणता नहीं
होगी—अर्थात् उन विशेषणों से विशिष्ट होकर यदि वह धर्म उपमान और उपमेय दोनों
में नहीं रहेगा—तब वह धर्म उपमा का साधक नहीं हो सकेगा क्योंकि धर्मवाचक शब्द

का समग्र प्रतिपाद्य अर्थ ही साधारण होकर उपमा का साधक होता है, उसका एक अंश नहीं, यह एक निर्विवाद बात है। अतः 'त्रायताम्' पाठ रचने पर लकारार्थप्रार्थना-विशिष्ट त्राणकर्तृत्व ही यदि उपमानोपमेय दोनों में रहता तो साधारण होता, पर वैसा है नहीं—अर्थात् एक अंश में प्रार्थना की कमी उसको साधारण नहीं होने देती—अतः उस पाठ में दोष होता है। पर 'त्रायते' पाठ कर देने पर ऐसी स्थिति नहीं होती, क्योंकि 'विधेयता' और 'अनुवाद्यता' केवल विषयतारूप हैं, उनका धर्मवाचक शब्द से प्रतिपादन नहीं होता, वे शब्दार्थ न होकर भी ऊपर से समझे जाते हैं। अतः यदि उन विषयताओं से सहित धर्म की साधारणता नहीं होती तो न होवे। उपमा की सिद्धि के लिये शब्द द्वारा प्रतिपादित नहीं होनेवाले विशेषणों से युक्त धर्म की साधारणता अपेक्षित भी नहीं है। अपेक्षित है धर्मवाचक पद के द्वारा प्रतिपादित होनेवाले विशेषणों से युक्त धर्म की साधारणता, वह यहाँ है हो—अर्थात् 'त्रायते' पद से प्रतिपादित होनेवाला वर्तमानकालिक त्राणकर्तृत्व साधारण है ही अतः इस पक्ष में कोई दोष नहीं। सारांश यह हुआ कि जो वस्तु साधारणधर्मवाचक पद से बोधित होती है, उसी की कमी वैसे ही उन धर्म को साधारण होने से रोक सकती है, जैसे प्रार्थना 'त्रायता' पद से बोधित होती है, अतः उपमान अंश में उसको कमी त्राणकर्तृत्व को साधारण नहीं बनने देती। अनुवाद्यता, विधेयता आदि तो साधारणधर्मवाचक पद से अवगत होनेवाली वस्तु नहीं हैं, अतः उसकी कमी वैसे 'त्राणकर्तृत्व' को साधारण होने से नहीं रोक सकेगी। अतएव 'चन्द्र' के समान सुन्दर मुख' इत्यादि प्रसिद्ध उदाहरणों में 'सुन्दरता' के उपमान अंश में अनुवाद्य और उपमेय अंश में विधेय होने पर भी साधारण होने में कोई बाधा नहीं होती।

आशङ्क्य समाधत्ते—

ननु—

'नीलाञ्जलेन संपृतमाननमाभाति हरिणनयनायाः।

प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः॥'

इत्युपमाने चन्द्रे योगमर्यादया भासमान एणरूपोऽङ्क आननरूपोपमेय-विशेषणस्वबिम्बाभावात्कस्य प्रतिबिम्बः स्यात्। अत आधिक्यापादकतया दोषः। न च हरिणनयनसदृशस्य नयनस्योपादानात्स्यैव बिम्बस्य प्रतिबिम्बः स्यादिति वाच्यम्। तादृशनयनस्य बहुव्रीह्यर्थकान्ताविशेषणतया आननाविशेषणत्वेन बिम्बत्वाभावादिति चेत्, मयम्। शब्दानाननविशेषणत्वेन तादृशनयनस्याप्रतिपादनेऽपि कान्ताविशेषणत्वेनैवाननवृत्तित्वस्यापि प्रतिपत्तेः। न ह्याननमविषयीकृत्य कान्तां विशेष्युमीष्टे नयनम्, अनुभवविरोधात्।

नालाञ्जलेनेति। नीलाञ्जलेन नीलाशयप्रान्तभागेन, संपृतम् आच्छादितम्, हरिणनयनायाः हरिणस्य नयने इव नयने वस्यास्तस्या मृगाक्ष्या इति यावत्, आननम् मुखम् यमुनाया कालिन्दा गभीरस्य गम्भीरस्य पातालतलमुम्बिन इति यावत् नीरस्य जलस्य अन्तः अन्तः प्रदेशे, प्रतिबिम्बितः प्रतिच्छायाभूतः, एणाङ्कः चन्द्रः, इव, आभाति प्रतीयत इत्यर्थः। योगति। बहुव्रीहिन्यर्थः। स्नेति अङ्गुल्यर्थः। तस्यैव बिम्बस्येति। तदात्मकस्य बिम्बस्येत्यर्थः। तादृशेति। हरिणनयनसदृशेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। अविषयीकृत्येति। प्रकारतासंसर्गतान्यतरस्म्येत्यर्थः। ईष्टे इति। नयनस्याननमात्रसम्बन्धित्वादिति भावः। तदाह—अनुभवविरोधादिति। आननद्वारेण नयनं कान्ताविशेषणं भवतीत्येवातुभवसिद्धमिति भावः। अत्र 'विषयतासम्बन्धेन आनने वर्तमानमेव नयनम्' इति 'सरला' वक्षीकरोति विज्ञानवक्त्रम्। 'नीलाञ्जलेन—' इति पक्षे चन्द्र उपमानम् तस्य

च निर्देश 'एणाङ्'—पदेन, तच्च पदम् । एणस्य हरिणस्य, अङ्' चिह्नम् यस्मिन्निति बहु-
व्रीहिसमाससामर्थ्येन चन्द्रं बोधयत् तद्वत्तमङ्गमपि बोधयति । एवञ्च तच्चिह्नविशिष्टचन्द्र-
उपमानरूप पर्यवस्यति, अतो मुखरूपोपमेयाशेषे तत्समवर्त्तनं किमपि विम्बभूतं वस्तु
समपेक्षितम्, अन्यथा सादृश्यस्य पूर्णता न प्रतीयेत । परन्तु तादृशं किमपि वस्तु मुख-
रूपोपमेयविशेषणतयोपात्तं नास्तीति उपमानारागतोऽङ्ग अधिकृतया दोषरूपतामासादयति ।
उपमेयवाक्यार्थघटकतया 'हरिणनयना' पदेनोपात्तम् हरिणनयनसमानं नयनमेव विम्बभूतम्
तत्रप्रतिविम्बभूतधोपमानगतोऽङ्ग इति तु न वक्तुं शोभ्यम् । उपमेयमुखविशेषणीभूतस्यैव
पदार्थस्योपमानचन्द्रविशेषणमात्रापाङ्गस्यप्रतिविम्बविम्बत्वं युक्तम्, हरिणनयनसमान
नयनं तु हरिणनयनावदबोध्य, सत्यदीयबहुव्रीहिसमासार्थनायिकाविशेषणम्, अतो न
तस्य विम्बत्वमिति विचारसहत्वादित्याशङ्क्या, तादृशं नयनं यद्यपि शब्दतो न मुख-
विशेषणमपि तु नायिकाविशेषणमेव, तथापि नायिकाविशेषणस्य नयनस्य मुखवृत्तित्वेन
ज्ञानसवरचं भवति, मुखवर्तिनो नयनस्य मुखमद्वारोक्तस्य नायिकाविशेषणत्वात्सम्भवात्,
अनुभवोऽपि तथैव । तथा च मुखगतत्वेन ज्ञातं नयनं विम्बं भवितुमर्हस्येव, यतो मुख-
विशेषणतया यथा कथञ्चिद् ज्ञानमेव तस्य विम्बभावाद्यालम् न तु शब्दतस्तद्विशेषणतयो-
पादनमित्युत्तरमिति भावः ।

एक शब्दा और उसका समाधान किया जाता है—ननु इत्यादि । आप कहेंगे—'भीष्मा-
ञ्जलि—अर्थात् नीलवर्ण साही के अङ्गल से आरुद्रादित मृगाची का मुख, यमुना के
शमीर जल में प्रतिबिम्बित मृगाङ्ग (चन्द्र) का प्रतीत होता है' इस पद्य में उपमान
चन्द्र का बांध जिस एणाङ्ग पद से होता है उसी पद से बोधशक्ति द्वारा उपमानभूत
चन्द्र में एण—मृग—रूप चिह्न का भी बोध होता है, अतः उस चिह्न से युक्त चन्द्र ही उप-
मान सिद्ध होगा, परन्तु उपमेय—मुख—के विशेषणरूप में कोई ऐसी विम्बभूत वस्तु नहीं
कही गई है जिसका प्रतिक्रिय उक्त मृगरूप चिह्न को माना जाय । ऐसी दशा में उपमान-
अंश में वह चिह्नरूप विशेषण अधिक है यही कहा जायगा, अतः वह उपमा दुष्ट है ।
यदि इसका समाधान यह दिया जाय कि—उपमेय वाक्य में जो 'हरिणनयना' पद भाषा
है उसका अर्थ होता है—'हरिण के नयन के समान नयनवाली' अतः यह कहा
जा सकता है कि—उपमेय अंश में वह हरिण के नयन के समान वचन ही विम्बरूप है
जिसका प्रतिविम्ब है उपमान अंश में मृग-चिह्न, तो यह ठीक नहीं । कारण, वह हरिण-
नयनसमानवचन, बहुव्रीहि समास के वाक्य नायिका का विशेषण है, उपमेय-मुख को
महीं, अतः वह (नयन) उपमेयविशेषण नहीं होने के कारण विम्बभूत नहीं माना जा
सकता । इस तरह से उक्त आशङ्का पुनः स्थिर रह गयी, अतः उसका सिद्धान्तभूत
समाधान यह है कि—यद्यपि उक्त वचन शब्दतः मुख के विशेषणरूप में प्रतिपादित नहीं
होता तथापि वह (नयन) नायिका का विशेषण होने के कारण ही मुख में रहनेवाला
समझा जा सकता है, क्योंकि नयन वस्तुतः मुख में ही रहने वाला पदार्थ है, अतः
उसका मुख-विशेषण होना ही न्याय-प्राप्त या, पर यहाँ उसको शब्दतः नायिका का
विशेषण बनाया गया है तो वह सभी ठीक हो सकता है, जब यीच में मुख को द्वार
बनाया जाय अर्थात् नयन, मुख के द्वारा ही नायिका का विशेषण हो सकता है, अनुभव
सिद्ध भी यही है । तात्पर्य यह हुआ कि—नयन, मुख—विशेषण के रूप में उक्त नहीं होने
पर भी, मुखवृत्तित्वेन ज्ञात होकर मृगाङ्ग का विम्ब माना जा सकता है ।

पुनरन्यथा शङ्कते—

तथापि समभिध्याहारविशेषमापन्नेन शब्देनाप्रतिपादनाच्छाब्दे बोधे नान-
यस्य नयनविशिष्टत्वेन विषयत्वमिति चेत् ।

ननु नोकं समाधानं सङ्गतम्, उपायामावेन नयनपदार्थे मुखवृत्तित्वज्ञानासम्भवात्, न च मुखवृत्तित्वज्ञानं विना तस्य कान्ताविशेषणत्वात्तुपपत्तिप्रतिसन्धानं तदुपायतया प्रोक्तमेवेति वाच्यम्, शब्दप्रमाणवैयर्थ्यैव बिम्बत्वादिकं समुचितमिति तेनोपायेन मुख-वृत्तितया ज्ञातस्यापि नयनस्य बिम्बत्वायोगात्, न च कुतो न नयनस्य मुखवृत्तित्वेन शब्दवैयर्थ्येति शङ्क्यम्, समभिब्याहारस्यापि अन्यथबुद्धिप्रयोजकत्वेनात्र पक्षे नयनानन-पदयो समभिब्याहारविरहे नयनविशिष्टत्वेनाननस्य शब्दबोधविषयत्वासम्भवात्, हरिण-नयनापदघटक नयनपदं तु नाननमभिब्याहृतमिति तदार्थ इति चेन्मैवम् ।

किर दूसरे ढङ्ग से उक्त शब्द को उज्जीवित करते हैं—तथापि इत्यादि । आप कहेंगे—यह सब होते हुए भी, उक्त पद्य में नयन तथा आनन पद समभिब्याहृत नहीं है—पास पास उच्चरित नहीं हैं और अन्वयबोध में वहाँ का समभिब्याहार भी प्रयोजक है, अतः शब्दबोध में यह (नयन) मुख का विशेषण नहीं हो सकता—अर्थात् यहाँ 'नयन वाला मुख' ऐसा शब्दबोध नहीं बन सकता । 'हरिणनयना' में जो नयन पद है वह तो कान्ता समभिब्याहृत है, अतः उससे शब्दबोध में यह कान्ता का विशेषण होगा मुख का नहीं ।

समाधत्ते—

संसर्गत्वे साधकाभावात् स्वविशिष्टाननसंसर्गेण तादृशनयनस्य कान्ता-विशेषणत्वात् । यथाकथञ्चित्तुपमेयवृत्तितान्नस्य बिम्बताप्रयोजकत्वात् ।

उक्तरीत्या यद्यपि नयनपदार्थे मुखनिष्ठविशेष्यतानिरूपिता प्रकारताख्या, मुखनिष्ठ-प्रकारतानिरूपिता विशेष्यताख्या वा विषयताशब्दबोधीया न भासेतेति सत्यम्, तथापि त्व-(नयन)-विशिष्टमुखत्वमेव नयनपदार्थस्य नायिकाविशेषणीभावे सम्बन्ध इति शब्दबोधीया संसर्गताख्या विषयता नयनविशिष्टे मुखे भासेतैव—अर्थात् प्रकारतया विशेष्यतया भावे शब्दजन्यपदार्थोपस्थितरूपेक्षणेऽपि संसर्गतया भावे न सदपेक्षा । तथा च सम्बन्धपदकृतया नयनविशिष्टार्थं मुखे शब्दबोधविषयो जात इति नयनस्य मुखरूपो-पमेयायो बिम्बत्व भवितुमर्हति, यथाकथञ्चित्तुपमेयवृत्तित्वज्ञानस्य बिम्बताप्रयोजकत्वादित्या-शयारिति भावः ।

समाधान करते हैं—संसर्गत्वे इत्यादि । आपका उक्त कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि पद घात यद्यपि सत्य है कि वहाँ शब्दबोध में मुख को विशेष्य बनाकर प्रकारतया नयन का भाव नहीं होगा, कारण, मुखसमभिब्याहृत नयनपद से नयन की उपस्थिति नहीं हुई है, तथापि कान्तासमभिब्याहृत नयनपद से नयन की उपस्थिति तो हुई है अतः कान्ता को विशेष्य बनाकर नयन का प्रकारतया भाव शब्दबोध में होगा और कान्ता के प्रकाररूप से मुख के भासित होने में 'नयनविशिष्टमुख' ही सम्बन्ध होगा, इस तरह से 'नयनविशिष्टमुख' में शब्दबोध की संसर्गतानामक विषयता अवश्य रहेगी, इसमें कोई बाधा नहीं है—अर्थात् प्रकार अथवा विशेष्य होने के लिये ही शब्दजन्य उपस्थिति अपेक्षित होती है, सम्बन्ध होने के लिये नहीं । फलतः संसर्ग के रूप से 'नयन-विशिष्टमुख' शब्दबोध में आ गया, वर, इतने से ही काम चल जायगा—अर्थात् उपमेय मुख के विशेषणरूप में जब किसी तरह, नयन, शब्द-ज्ञात हुआ तब यह (नयन) विषय हो सकेगा, क्योंकि किसी तरह 'उपमेय में रहनेवाला यह है' इतना ज्ञान शब्दतः हो जाना ही बिम्ब होने के लिये पर्याप्त है ।

बिम्बत्वसाधकस्य मुखवृत्तितया नयनविषयकशब्दप्रयोज्यज्ञानस्य प्रकारान्तरमाह—

यद्वा कान्ताविशेषणतया तादृशनयनयोः शब्दे बोधे वृत्ते पश्चादाननस्य

तद्विशेष्यतया वैयञ्जनिके मानसे वा बोधे बाधकाभावात् । एवं च तादृशवाक्य-
प्रयोज्ये ज्ञाने उपमेयविशेषणतया भानस्य तादृशनयनस्य बिम्बस्य सत्त्वा-
त्तदर्थं च चन्द्रगतस्यैणरूपस्याङ्गस्य प्रतिबिम्बतयोपादानमावश्यकमेवेति नाधि-
क्यं दोषः ।

यदेति । अतिप्रसङ्गापत्त्या समर्गतया भासमानस्य पदार्थस्य न शब्दत्वमितीह पञ्चा-
न्तरोद्भावनवीजमवसेयम् । तादृशनयनयोरिति । हरणीयत्वनायकीयत्वविशिष्टनयनयोरि-
त्यर्थः । तद्विशेष्येति । नयनविशेष्येत्यर्थः । तादृशवाक्येति । कान्ताविशेषणतया नयन-
बोधकवाक्येत्यर्थः । भानसंबोधपक्षे तज्जन्यत्वाभावात् वैयञ्जनिकबोधपक्षेऽपि साक्षात्तज्जन्य-
त्वाभावादाह—प्रयोज्येति । ज्ञाने इति । वैयञ्जनिके मानसे वा इत्यर्थः । तदर्थम् तद्विप्रति-
बिम्बाकाङ्क्षाशान्त्यर्थम् । अयं भावः—यदि उक्तरीत्या नयननिष्ठप्रकारतानिर्दिष्टविशेष्य-
सावतो मुत्तस्य ससर्गविधया भानेऽपि न शब्दबोधविषयत्वम्, शब्दजन्योपस्थितिविषय-
स्यैव शब्दबोधविषयत्वस्वीकारादिति विभाव्यते, तदा रीतिरियमास्त्येया—‘हरिणनेत्र-
समाननेत्रवती काष्ठा’ इत्याकारक कान्ताविशेषणतापन्नमनविषयक शब्द (अभि-
धिक इति यावत्) बोधः प्रथम ‘हरिणनयना’ पदाज्जायते, ततः मुख्यविशेषणत्वानापन्ननयन-
निष्ठकान्ताविशेषणत्वानुपपत्तिप्रतिसम्बन्धोत्थितया व्यञ्जनवा मनसा वा तत्सद्वृत्तेन नयन-
प्रकारकमुखविशेष्यको बोधो बाधकबिरहादुत्पद्यते । तथा च कान्ताविशेषणत्वेन मृगनयन-
सदृशनयनबोधकवाक्यप्रयोज्ये उक्ताकारके वैयञ्जनिके मानसे वा बोधे मुख्यरूपोपमेयविशेषण-
तया हरिणनयनसमानस्य नयनस्य भान जातम् इति तन्नयन बिम्बरूपं सम्पद्यते, अतः
तद्विप्रतिबिम्बाकाङ्क्षानिवृत्तये उपमानचन्द्रादी मृगरूपस्य बिम्बस्य प्रतिबिम्बरूपेण ग्रहण-
मावश्यकमेवेति न प्रागुक्त प्रतिबिम्बाधिक्यदोषः प्रकृतेऽन्तरितुमीष्टे इति भावः ।

यदि कहा जाय कि—उक्त उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि सम्बन्ध के अन्तर्गत विशेषणरूप
से हरिण के नेत्र से सदृश नेत्र का और विशेष्यरूप से मुख का शब्दबोध में भान
होने पर भी वह शब्दबोध का विषय नहीं माना जा सकता, कारण, वही पदार्थ
शब्दबोध का विषय माना जाता है जिसकी उपस्थिति दाढ़ से हुई रहती है, अतः
दूसरा उत्तर करते हैं—यद्वा इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—हरिणनयना शब्द की
अभिप्रायशक्ति से पहले कान्ता के विशेषणरूप में हरिण की आँखों के समान आँखों का
बोध होगा, उसके बाद, व्यञ्जनाश्रुति से अथवा मन से मुख्यरूप विशेष्य के विशेषणरूप
में भी उक्त आँखों का बोध होगा, क्योंकि इस तरह के बोध में कोई बाधक नहीं है ।
और जब ऐसा बोध—जिसका साक्षात् नहीं तो कम से कम परम्परया अवश्य, ‘हरिण-
नयना’ पदयुक्त वाक्य ही कारण है, अतः जो एक तरह से शब्द ही कहा आया—
हो चुकेगा, सब शब्दतः उपमेय—मुख के विशेषणरूप में ज्ञात होनेवाला हरिणनयनसदृश
नयन बिम्ब कहलायगा और जब वह बिम्ब कहलायगा, तब उस बिम्ब की आकांक्षा के
शान्त्यर्थ उपमान चन्द्र अक्ष में धूष-भृग-रूप अङ्ग चिह्न का प्रतिबिम्बरूप में ग्रहण
करना आवश्यक ही था, अतः उक्त प्रतिबिम्ब की अधिकतारूप दोष का कोई प्रसङ्ग
नहीं रह जाता ।

उक्तपक्षे सम्भावितपरदोषाभावं समुपपादयति—

कविसमयसिद्धतया चमत्कारापकर्षकत्वाभावेन लिङ्गभेदोऽपि नात्र दोषः ।

यद्यपि सामान्यतः लिङ्गभेदोऽप्युपमादोष इत्युक्तम्, तथापि यत्र यत्र लिङ्गभेद कवि-
सिद्धान्तप्रसिद्धस्तत्र तत्र स न दोषायेति ‘नीलाचलेन—’ इति प्रकृतपक्षे उपमानस्य

एणादस्य पुंलिङ्गत्वम्, उपमेयस्य ध्यानस्य च नपुंसकलिङ्गत्वमिति लिङ्गभेदे सत्यपि दोषो न भवति, कविसमयसिद्धत्यैतदस्य लिङ्गभेदस्य चमत्कारापकर्षकत्वविरहादिति भावः ।

प्रकृत पद्य में सम्भावित एक अन्य दोष का वस्तुतः अभाव दृष्टलाभे है—कवि इत्यादि । 'नीलाञ्जलेन—' इस श्लोक में उपमेयबोधक 'आनन' यद् के नपुंसकलिङ्ग और उपमानबोधक 'एणाद' पद 'के' पुंलिङ्ग होने से 'लिङ्गभेद' दोष यद्यपि भाषावतः प्रतीत होता है, पर वस्तुतः यह (लिङ्गभेद) यहाँ दोषरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा लिङ्गभेद, कवि-सम्प्रदाय-सिद्ध होने के कारण, चमत्कार को न्यून नहीं करता ।

एवमन्यग्राप्यपवादमाह—

एवं च कविसमयसिद्धतया प्रकारान्तरेण वा प्रागुक्तानां दोषाणां चमत्कारात्पकर्षकत्वे नास्त्येव दोषत्वम् ।

पूर्वत्र लिङ्गभेदस्य कविसमयसिद्धतया दोषाभावबोधनेनैतत् सिद्धं यत् ये उपमादोषाः प्रागुक्तास्ते सर्वेऽपि तदैव दोषा यदा चमत्कारापकर्षकाः स्युः कविसिद्धतसिद्धत्वेन अन्येन वा केचित् कारणेन यदा ते चमत्कारापकर्षका न भवेयुस्तदा दोषा अपि नैव स्युरिति भावः ।

दोष भी स्थितिविशेष में दोष नहीं होते इसी बात का अब उपपादन करते हैं— एवं च इत्यादि । जब जब पद्य में कविमनस्य प्रविष्ट होने के कारण लिङ्गभेद को दोष नहीं माना गया, तब उस रीति से जब सभी उपमादोषों के विषय में यह साराह्य समस्त होना चाहिये कि कविइत्यादि अथवा इसी तरह के अन्य कारणों से चमत्कारापकर्षक नहीं होने पर कोई दोष नहीं होता ।

कविसमयसिद्धत्वप्रयुक्तदोषाभावत्वस्य उच्यते इति—

यथा—

'नषाङ्गनेषाङ्गयोऽपि गन्तुमेव प्रकम्पते ।

इयं सौराष्ट्रजा नारी महामत इवोद्भटा ॥'

कवेठकि—एष कथन वर्णनीयो मानव', नषाङ्गना नषपरिणीता यद्वा एष, अङ्गयो प्राङ्गणे, गन्तुम्, अपि प्रकम्पते चेष्टयुक्तो भवति । तथा इयं कश्चिद् वर्णनीया, सौराष्ट्रजा सौराष्ट्रदेशोद्भवा, नारी स्त्री, महामत' महान् यौद्धा, इव, उद्भटा उद्भटा, अस्ति, न कुतोऽपि विभेतोन्मयः' । अत्र पुष्टस्य नायिकाया, नायिकायाश्च पुरुषेण, सहोपमानोपमेयभावे वर्णितेऽपि न श्रौतुंमुख्यं चमत्कारादानेति न दोषः ।

दोष भी जहाँ दोष नहीं होते, वैसा उदाहरण दिखलाया जाता है यथा इत्यादि । कवि कहता है—यह मनुष्य, नववधू के समान, अँगन में पैर रखते काँपता है और यह काठियावाड़ी स्त्री बड़े योद्धा की तरह उद्भट है—किसी से डरती ही नहीं । यहाँ पुरुष की स्त्री से और स्त्री की पुरुष से दी गई उपमा उद्भेजक नहीं होने के कारण दोषावह नहीं है ।

एषरीत्या सर्वत्र दोषाभाव समर्थनीय इत्याह—

एवमन्यग्रापि क्षेयम् ।

स्पष्टम् ।

उच्यते से अन्य स्थानों में भी दोष का अभाव होता है ऐसा समझना चाहिये ।

पूर्वोक्त दोषत्वदूरीकरणनिपुणं प्रकारान्तरं यदुक्तं तत्किमिति विज्ञासाप्रशमनायाह—

शेषं स्मरणालङ्कारप्रकरणे विकल्पप्रकरणे च बह्यामः ।

नायकेन नायिका प्रत्युक्तं 'भवती त्वम्, यथा, तडित् निवृत्ता, इव, तन्वी कृशाङ्गी, तथा, इयं तडित्वता, अपि, भवती त्वम्, इव गौरी गौरवर्णा', इत्यर्थके 'तडिदिवे'त्यादिमूलोक्तवाक्ये परस्परपमालङ्कार सिद्धान्तसिद्ध, तत्र प्रकृतोपमेयोपमालक्षणं मा प्रमादंशदिति 'भूतान्तम्' उपमानोपमेयभावविशेषणत्वेन लक्षणे निवेशितमिति भावः ।

लक्षण में जो अनेक विशेषण जोड़े गये हैं उनका क्या फल है इस बात का विचार करने के प्रसङ्ग में, सर्वप्रथम, "'वर्णन में आने वाला" यहाँ तक के अर्थों का बोधक जो एक विशेषण है उसका फल, दिसलाया जाता है—तडिदिव इत्यादि । 'तडिदिव—अर्थात् हे प्रिये ! तू बिजली की तरह दुबली-पतली है और यह बिजली (उसकी रेखा) तेरे समान गोरी है।' इस वाक्य में परस्पर की उपमा है 'उपमेयोपमा' नहीं । परन्तु प्रकृत उपमेयोपमालक्षण में यदि 'तीसरे-सदृश पदार्थ की निवृत्ति का ज्ञान जिसका फल है उस वर्णन में आनेवाला' इतना अंश नहीं कहा जाता, तब उक्त वाक्य में भी यह लक्षण प्राप्त हो जाता, सो नहीं हो इसलिए उतना अंश लक्षण में जोड़ा गया है ।

उक्तवाक्येऽतिव्याप्तिमुपपादयितुमाह—

अत्र तानवगौरिमभ्यामनुगामिधर्माभ्याम् प्रयोजितमुपमाद्वयं न तृतीयं सदृश व्यवच्छिन्नमिति । एकेन धर्मेणैकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपितेऽपरप्रतियोगिकस्यैकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्यार्थतः सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति । प्रकृते चैकेन तानवरूपेण धर्मेण तडित्प्रतियोगिके कामिन्यनुयोगिके सादृश्ये निरूपिते तेनैव धर्मेण कामिनीप्रतियोगिकस्य तडिदनुयोगिकस्य सादृश्यस्यार्थतः सिद्धापि न गौरत्वेन धर्मेण सिद्धिरिति तदर्थमुपात्तस्य द्वितीयसादृश्यवचनस्य न तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वम् ।

उपमाद्वयमिति । यतोऽतः पुनर्वर्ण्यमानमिति शेषः । तृतीयसदृशव्यवच्छेदे हेतुमुपन्यस्यति—एकेनेत्यादिना । अत्र वत इत्यादिबोध्यः । तदर्थम् तेन धर्मेण सादृश्यमिद्वर्णनम् । 'तडिदिव तन्वी—' इति पदे 'तन्वी'—पद—बोध्यस्तनुत्वरूपो धर्मस्तडिदुपमानिकां नायिकेननेयिकामुपमा प्रयोजयति, एवं 'गौरी'—पद—बोध्यो गौरत्वरूपो धर्मो नायिकेनपमानिका तडिदुपमेयिकामुपमा प्रयोजयति । धर्मो च तावनुगामिनौ, एकत्रेणोपमानोपमेययोरभयोरन्वितत्वात् । एवञ्च भिन्नधर्मप्रयोज्यमिदमुपमाद्वयं तृतीयं संमानं वस्तु व्यवच्छेत्तुं न प्रभवति । कुत इति चेदित्यम्—यत्रैकधर्मप्रयुक्तमेव परस्परप्रतियोगिकं परस्परानुयोगिकं च सादृश्यद्वयं शब्दतः प्रतिपादितं तिष्ठति तत्रैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकैकसादृश्यनिरूपणेनैव एकानुयोगिकापरप्रतियोगिकमपि सादृश्यमर्थतः सिद्धमिति, सादृश्यस्य परस्परानिरूपितत्वात् । तथा च शब्दतः प्रतिपादितं तादृश परस्परसादृश्यद्वयं स्ववैयर्थ्याभावात् तृतीयं सदृश व्यवच्छिन्नमिति, प्रकृतपदे तु धर्मद्वयं सादृश्यद्वयप्रयोजकम् । तथा चैकधर्मप्रयुक्तैकप्रतियोगिकापरानुयोगिकसादृश्यनिरूपणेन तदर्थप्रयोज्यैकानुयोगिकापरप्रतियोगिकसादृश्यस्यैवार्थतः सिद्धिः स्यात्, अतो भिन्नधर्मप्रयुक्तैकानुयोगिकापरप्रतियोगिकस्य सादृश्यस्य निरूपणं स्वतः सार्थकम् इति न तत् सदृशान्तरव्यवच्छेदरूपं फलं जनयतीति परमार्थतो नेदं पञ्चमुपमेयोपमाया लक्ष्यम् । उक्तविशेषणानिवेशे तु प्रकृतमुपमेयोपमालक्षणमत्रापि प्रसज्येतेति अतिव्याप्तिरिति भावः ।

अतिव्याप्ति दोष का उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'तडिदिव तन्वी—'

इस पद्यखण्ड में दो समानधर्म हैं—एक 'तनुव' पद से अवगत होनेवाला 'तनुव (हुबली पतली होना)' और दूसरा 'गौरी' पद से ज्ञात होनेवाला 'गौरव (गोरी होना)'। इन दो साधारणधर्मों से यहाँ पृथक्-पृथक् दो उपमायें सिद्ध होती हैं। ऐसी भिन्न-भिन्न साधारणधर्मों से सिद्ध होनेवाली-उपमायें तीसरे समान पदार्थ की निवृत्ति नहीं कर सकती। कारण यह है कि-एकधर्ममूलक एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ का सादृश्य सिद्ध हो जाने पर तद्वर्त्ममूलक उस पदार्थ का भी दूसरे पदार्थ के साथ सादृश्य अर्थात् सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुनः दूसरे पदार्थ के साथ उसके सादृश्य का शब्दतः कथन, अपने वैयर्थ्य को मिटाने के लिये, उन दोनों के तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति का आशेष कर देता है। तात्पर्यवद्दुम्मा कि उपमान का तद्वर्त्ममूलक सादृश्य उपमेय में एक बार कह दिया जाता है, तद्वर्त्ममूलक सादृश्य ही यदि पुनः उपमेय का उपमान में शब्दतः कहा जाता है, तब उसका अभिप्राय यह निकल जाता है कि 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है,' क्योंकि अकारण, विशुद्ध अर्थात् सिद्ध बात को शब्दतः नहीं पुहराते। इस तरह एक धर्मवाली परस्पर उपमा में तृतीय सदृश की निवृत्ति फलित होती है। परन्तु प्रकृत पद्य-खण्ड में यह बात नहीं हो सकती। कारण, 'तनुव (हुबली पतली होने)' रूप साधारणधर्ममूलक बिजली के साथ कामिनी का सादृश्य वर्णित हो जाने पर यद्यपि तद्वर्त्ममूलक (तनुवधर्मद्वाराक) कामिनी के साथ बिजली का सादृश्य अर्थात् सिद्ध हो जाता है, तथापि 'गौरव-(गोरी होने)' रूप साधारणधर्ममूलक कामिनी के साथ बिजली का सादृश्य सिद्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रकृत पद्य के दोहरे सादृश्यकथन का फल उन्हीं उपमान उपमेयों (कामिनी और बिजली) के भिन्न-भिन्न समानधर्ममूलक सादृश्यों का ज्ञान होता है, न कि तृतीय समानधर्म का व्यवच्छेदज्ञान। अतः यदि छण में उक्त भाग का निवेश नहीं किया जाता, तब इस पद्य भाग—ओ उक्त विचार के अनुसार वस्तुतः उपमेयोपमा का छव्य नहीं है—में भी उपमेयोपमा का छव्य खला जाता-अतिव्याप्ति दोष लग जाता।

परस्परपदकृत्यमाह—

‘सदृशी तव तन्वि निर्मिता विधिना नेति समस्तसम्मतम् ।

अथ चेन्निपुणं विभाव्यते मतिमारोहति कौमुदी मनाक् ॥’

इति तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषये सादृश्येऽतिव्याप्तिवारणाय परस्परमिति ।

‘हे तन्वि कृशाग्रि ! विधिना ब्रह्मणा, तव, सदृशी समाना, व्यतिरिति यावत्, न, निर्मिता रचिता, इति, समस्तसम्मत सर्वजनस्वीकृतम् वस्तु । अथ अनन्तरम्, निपुण सूक्ष्मम्, विभाव्यते विचार्यते, चेत्, तदा, कौमुदी चन्द्रज्योत्स्ना, मनाक् ईपत्, मतिम् बुद्धिम्, आरोहति’ इत्यर्थके ‘सदृशी—’ इति पदे कौमुदीशिक्षे कान्तासादृश्यनिवेदय शब्दतः कथनात् ईपमादृश्यस्य चन्द्रिकाया कथनात्तृतीयसदृशव्यवच्छेद फलित इति सादृशवर्णनविषयीभूते सादृश्येऽतिव्याप्तिर्मा भूदत परस्परमिति उपमानोपमेयभारवशेषणं लक्षणे निवेशितम् । निवेशिते च तस्मिन् नातिव्याप्ति, कौमुदीसादृश्योक्तेरभावेन परस्परोपमानोपमेयभावस्याभावादिति भावः ।

‘परस्पर पद’ का फल दिखलाया जाता है—सदृशी इत्यादि। छण में ‘परस्पर उपमान-उपमेय बने पदार्थों का’ यह अर्थ निम्नलिखित अर्थवाले काव्यवाक्य में अतिव्याप्ति न होने के लिये कहा गया है—‘हे तन्वि ! विधाता ने तेरे समान कोई दूसरी नायिका व्यक्ति नहीं बनाई, यह सर्वसम्मत बात है। परन्तु यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तब चन्द्रज्योत्स्ना कुङ्कु-कुङ्कु बुद्धि में आरुह होती है—अर्थात् इतना ज्ञात

होता है कि चन्द्रज्योत्स्ना कुछ तेरी समता रखती है।' इस श्लोक में जो चन्द्रज्योत्स्ना के कुछ-कुछ नायिका के समान होने की बात कही गई है उससे 'इन दोनों के समान तीसरा कोई नहीं है' यह बात सिद्ध होती है। फलतः इस सादृश्य-वर्णन का फल तीसरे सदृश की निवृत्ति है ऐसा कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि उपर्युक्त अंश लक्षण में नहीं कहा जाता तब यह पद्य भी उपमेयोपमा का उदाहरण हो जाता।

सुन्दरपदनिवेशफलमाह—

लिङ्गवचनभेदादिदुष्टसादृश्यवारणाय सुन्दरमिति—

लिङ्गभेदवचनभेदप्रवृत्तिभिर्दोषैः दुष्टे वर्णनविषयीभूते सादृश्येऽतिव्याप्तिनिरासाय लक्षणे 'सुन्दरम्' इति सादृश्य-विशेषणमुपात्तम्। उपात्ते च तस्मिन् विशेषणे न तत्र दोषः, तादृशदोषप्रस्तस्य सादृश्यस्यासुन्दरत्वान् इति भावः।

सुन्दर पद का फल कहा जाता है—लिङ्ग इत्यादि। लिङ्गभेद, वचन-भेद आदि दोषों से युक्त सादृश्य में अतिव्याप्ति न हो—इसलिये लक्षण में सादृश्य का विशेषण 'सुन्दर' कहा गया है। दुष्टसादृश्य सुन्दर नहीं माना जाता, अतः 'सुन्दर' विशेषण कह देने पर अतिव्याप्ति नहीं होती।

उदाहरणप्रदर्शनं प्रतिजानोते—

अथेदमुदाह्रियते—

अथ अर्थात् पदकृत्यप्रदर्शनान्तर इयम् उपमेयोपमा, उदाह्रियते लक्ष्यगततया प्रदर्श्यते इति भावः।

पदकृत्य विललाप्ते के बाद अब उपमेयोपमा का उदाहरण विललाप्य जाता है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'कौमुदीव भवती विभाति मे कातराक्षि भवतीव कौमुदी।

अम्बुजेन तुलित विलोचनं लोचनेन च त्वाम्बुजं समम्॥'

नायकस्य नायिका ग्रन्थुकि—अयि कातराक्षि भयचकितलोचने। भवती, मे कौमुदी चन्द्रकला, इव, विभाति, कौमुदी च भवतीव विभाति। तव, विलोचनं नयनं जातिविवक्षयैक्यवन्नमिति चोध्यम्। 'अम्बुजेन कमलेन, तुलितं सदृशम्, 'अम्बुजं च तव लोचनेन सम इत्यर्थः। अत्र कौमुदीनायिकयोः नयनाम्बुजयोश्च परस्परं सादृश्यवर्णनेन तृतीयसदृश-व्यवच्छेदादुपमेयोपमा इति भावः। अत्र 'अत्र तुलित सममित्युपमावाचकवैलक्षण्यं वक्ष्य-माणक्रिय्यादिष्वैलक्षण्यमिव दुष्टमिति चिन्त्यमिदम्' इति नागेशः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कौमुदीव इत्यादि। नायक का कथन है—हे कातराक्षि! तू मुझे चन्द्रकला सी प्रतीत होती है, और चन्द्रकला तुझ जैसी। तेरे नयन कमल के तुल्य है और कमल तेरे नेत्र के समान है। यहाँ कौमुदी और नायिका एवं कमल और नेत्र की परस्पर उपमा से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति ज्ञात होती है, अतः यहाँ उपमेयोपमालङ्कार होता है। यहाँ नागेश का कथन है कि—'तुलितम्' और 'समम्' इन उपमावाचकों की विलक्षणता, भागे स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा कही जानेवाली 'रिप्' 'व्यङ्' आदि की विलक्षणता के समान, दुष्ट है, अतः यह उदाहरण चिन्तनीय है। बात ठीक है 'सुन्दर' विशेषण से इस तरह के दुष्ट सादृश्य का निराकरण पण्डित-राज को अभिमत है। अतः 'अम्बुजेन सत्तु लोचनं समं लोचनेन च त्वाम्बुजं तथा' अथवा 'अम्बुजेन तुलित विलोचनं लोचनेन तुलितं च त्वाम्बुजम्' ऐसा पाठ मानना उचित है।

उपमेयोपमाया भेदो विचार्यते—

इयं च तथद्विविधा—उक्तधर्मा व्यक्तधर्मा च । उक्तधर्मा तावदनुगाम्या-
दिभिः प्रागुक्तैर्धर्मैरनेकधा ।

उपमेयोपमाया प्रथमं द्वौ भेदौ—एकं स यत्र साधारणो धर्मः स्पष्टतया शब्दैरुक्त-
रित्युक्तिः, अपरश्च स यत्र स धर्मो व्यञ्जनावृत्त्या विज्ञातो भवति शब्दैरुक्तो न भवति ।
प्रथमभेदस्य पुनर्वद्बो भेदा भवन्ति, अनुगामित्वबिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नत्वोपचरितत्वा-
दिभिर्गुणैर्धर्मैः साधारणधर्मम्यानेकविधत्वादिति भावः ।

उपमेयोपमा का भेद किया जाता है—इयम् इत्यादि । यह उपमेयोपमा प्रथमतः
दो प्रकार की होती है—एक उक्तधर्मा—अर्थात् जिसमें साधारणधर्म स्पष्ट शब्दों में कथित
रहता है और दूसरी व्यक्तधर्मा—अर्थात् जिसमें साधारणधर्म साम्प्रतः उक्त नहीं रहता,
पर व्यञ्जना से ज्ञात होता है । उन दोनों प्रकारों में से प्रथम प्रकार—अर्थात् उक्तधर्मा—के
दुम. अनेक प्रकार होते हैं, क्योंकि अनुगामी आदि भेदों से धर्म के अनेक रूप होते हैं ।

उक्तधर्माया प्रथमं प्रकारं निर्देष्टुमाह—

अनुगामी धर्मो यथा—

स्पष्टम् ।

अनुगामी धर्मवाली उपमेयोपमा जैने ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘निखिले निगमकदम्बे लोकेष्वप्येव निर्विवादोऽयः ।

शिव इव गुरुर्गरीयान् गुरुर्नि मोऽयं सदाशिवोऽपि त्रया ॥’

निखिले सम्पूर्णं, निगमकदम्बे वेदग्रन्थे, अपि च, लोकेषु, एषः, अर्थ (इयं वार्ता)
निर्विवादः ऐकमन्येन सिद्धः, यन्, गुरुः, शिवः, इव, गरीयान् अतिश्रेष्ठः, एषम्, सोऽयम्
(प्रथमनिर्देशम्) सदाशिवोऽपि, गुरुः, इव, तथा गरीयानित्यर्थः । अत्र गरीयस्त्वनुपमानो-
पमेययोरेकरूपेणान्वययोग्यत्वादनुगामी साधारणो धर्म इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—निखिले इत्यादि । सभी वेदों में तथा लोक में
भी यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध है कि—गुरु शिव के समान अतिश्रेष्ठ हैं और वे
परमप्रसिद्ध सदाशिव भी गुरु के तुल्य महत्त्वम हैं । यहाँ ‘अतिश्रेष्ठ होना’ रूप साधारण-
धर्म, एकरूप से उपमान-उपमेय दोनों में अन्वययोग्य होने के कारण, अनुगामी हैं ।

उक्तधर्माया द्वितीयं प्रकारं निर्देष्टुमाह—

बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नो यथा—

स्पष्टम् ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्मवाली उपमेयोपमा जैने ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘रमणीयस्तवश्रुता विलसितवश्रोजमुगलशालिन्यः ।

ललितका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे ललितकाः ॥’

कवि काविकायां विहरन्तीः कामिनीर्वर्णयति—ता, वनिता कामिन्यः, रमणीयैः
सुन्दरैः, स्तवकैः पुष्पशृङ्गे, सुतां युतां, ललितकां लता, इव, एवं ललितकां, विलसितैः
शोभिनैः, वश्रोज्जुगलैः रत्नद्वयैः, शालन्ते = शोभन्ते वाग्महादर्यः, वनिता कामिन्यः,
इव, रेजिरे शृङ्गानिरे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—रमणीय इत्यादि । नाटिका में विहर करती हुई नायिकाओं का वर्णन कवि करता है—वे वनितायें-नायिकायें, सुन्दर पुष्प-गुच्छों से युक्त लताओं की तरह, और लताएँ, सुन्दर स्तनयुगलों से शोभित नायिकाओं की तरह, शोभित हुईं ।

उपपादयति—

अत्र रमणीयत्वविलसितत्वाभ्यां विशेषणाभ्यां युतत्वशालित्वाभ्यां च विशेष्याभ्यां परस्परं वस्तुप्रतिवस्तुभावभाषणाभ्यां पुटितः स्तब्धकस्तनरूपः परस्परं बिम्बप्रतिबिम्बभाषणो धर्मः ।

विशेषणाभ्यामिति । स्तब्धकवशोजयुगलपदार्थयोरिति भावः । विशेष्याभ्यामिति । स्तब्धकवशोजयुगलपदार्थनिष्ठविशेषणतानिर्दिष्टविशेष्यतानिर्दिष्टाभ्यामित्यर्थः । वस्तित्वेति । वस्तुतस्तयोरेकत्वादिति भावः । पुटितः सम्पुटितः । अयं भावः—‘रमणीयस्तब्धकयुता—’ इति पदो विशेषणतयोके रमणीयत्वविलसितत्वे, एवम् विशेष्यतया कथिते युतत्वशालित्वे वस्तुप्रतिवस्तुभाषणमे, शब्दाध्ययभेदेन भिन्नत्वेऽपि परमार्थत एकपदार्पत्वात् । तयोर्मध्यगतश्च स्तम्भकस्तनरूपो धर्मः सादृश्यमूलकभेदाध्यवसानेन बिम्बप्रतिबिम्बभाषणं सन् साधारणवशात्साधोपमागर्भाश्रयमेवोपमा प्रयोजयतीति ।

उपपादित किया जाता है—अत्र इत्यादि । उक्त पद्य में विशेषणरूप में वर्णित ‘रमणीयता’ और ‘विलसितता’ (सुन्दरता) एवं विशेष्यरूप में वर्णित ‘युक्तता’ और ‘शालिता’ (शोभितता) परस्पर वस्तुप्रतिवस्तुभाषण हैं, क्योंकि वस्तुतः ये (दो दो) एक ही पदार्थ हैं, केवल शब्द और आश्रय के भेद से भिन्न से दीखते हैं । इन दोनों (विशेषण और विशेष्य) के मध्य में कथित ‘पुष्पगुच्छ तथा स्तन’ सादृश्यमूलक भेदादरोप के कारण, बिम्बप्रतिबिम्बभाषण होकर साधारणधर्मरूप हो जाते हैं ।

तृतीयं प्रकाशुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

आरोपितो धर्मो यथेत्यर्थः ।

उपचरित (आरोपित) धर्मवाही उपमेयोपमा, जैसा—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कुलिशमिव कठिनमसतां हृदयं जानीहि हृदयमिव कुलिशम् ।

प्रकृतिः सतां सुमधुरा सुखेव हि प्रकृतिरिव च सुधा ॥’

त्वम्, अणताम् अराजजनानां दुर्जनानामिति यावत् हृदयम् मनः, कुलिशं पन्नम् इव, एवम् कुलिशम्, असता, हृदयमिव, कठिनं जानीहि विद्धि । सतां सज्जनानाम् प्रकृतिः स्वभावः, सुधा अमृतम्, इव, सुमधुरा अतिमाधुर्यशालिनी, एवम् सुधा, सता, प्रकृतिः, इव, सुमधुरा भवतीत्यर्थः । अत्र पृथिवीनिष्ठकठिनत्वस्य मनसि, युषानिष्ठमाधुर्यस्य च प्रकृत्याश्रयः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कुलिशमिव इत्यादि । हम दुर्जनों के हृदय को वज्र की तरह और वज्र को दुर्जनों के हृदय की तरह कठोर समझो । सज्जनों का स्वभाव, अमृत के समान, और अमृत, सज्जनों के स्वभाव के समान, अत्यन्त मधुर होता है । यहाँ पृथ्वीरूप वज्र का धर्म—‘कठिनता’ हृदय में और अमृत का धर्म ‘अत्यन्त मधुरता’ स्वभाव में उपचरित (आरोपित) हैं ।

चतुर्थ प्रकारमुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

रितशब्दरूपधर्मो यथेत्यर्थः ।

केवल शब्द(रितशब्द)रूप धर्मवाली उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘अविरतचिन्तो लोके वृक इव पिशुनोऽत्र पिशुन इव च वृकः

भारतमिव सच्चित्तं सच्चित्तमिवाथ भारतं सकृपम्॥’

अत्र, लोके ससारे, पिशुन द्विविद्ध, वृक द्विसको जन्तुविशेष (भेडिया इति प्रसिद्धः) इव, अविरतचिन्त (पिशुनपक्षे—परपकारविषयकमार्चदिकचिन्ताशील, वृकपक्षे—अविषु भेषु रता सलग्ना चिन्ता यस्य तादृशः) वृकश्च, पिशुनः, इव, अविरतचिन्तः तिष्ठतीति शेषः । सच्चित्तं सत्ता चेतः, भारतं महामारतास्वग्रन्थविशेषः, इव, सकृप (सच्चित्तपक्षे—सदयम्, ग्रन्थपक्षे—कृपेण कृपाचार्येण, महितम्, प्रतिपादकताससर्गेण कृपाचार्यमादित्यं ग्रन्थे बोध्यम्), भारतम्, च, सच्चित्तम्, इव, सकृप, भवतीत्यर्थः । अत्र निरन्तरचिन्तत्वन्य पिशुनवृत्तिवैशिष्ट्ये वृकावृत्तित्वासकृपत्वस्य सज्जनचित्तवृत्तिवैशिष्ट्ये भारतग्रन्थावृत्तित्वान् ‘अविरतचित्त सकृप’-रूपौ रितशब्दत्वादेव साधारणधर्माविति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अविरत इत्यादि । इस ससार में पिशुन (जुगल-खोर), वृक (भेडिया) की तरह ‘अविरतचिन्त’ (निरन्तर चिन्तावाला—बूत्तरे की बुराई सोचनेवाला) होता है और पिशुन की तरह भेडिया ‘अविरतचिन्त’ (अवि = भेड़ों में, रत = सलग्न, चिन्तावाला—भेड़ों पर ताक लगाए हुए) रहता है । एवं सज्जनों का चित्त, भारत-महामारत की तरह, ‘सकृप’ (कृपायुक्त) होता है और सज्जनों के चित्त की तरह, भारत-महामारतग्रन्थ ‘सकृप’ (कृपानामधारी आचार्य से युक्त) है । यहाँ ‘निरन्तर चिन्तायुक्त होना’ धर्म, ‘वृक’ में नहीं सङ्गत होता और ‘भेड़ों पर ताक लगाये रहना’ धर्म, ‘पिशुन’ में नहीं बन पाता । इसी तरह ‘कृपायुक्त होना’ धर्म, महामारत ग्रन्थ में नहीं रहता और ‘कृपाचार्य से युक्त होना’ धर्म, सज्जनों के चित्त में नहीं ठीक बैठता, अतः यहाँ ‘अविरतचिन्त’ और ‘सकृप’ ये दोनों रितशब्द ही दोनों (पिशुन और वृक तथा सज्जन-चित्त और महामारत) के विशेषण होने के कारण साधारण-धर्मरूप माने जाते हैं । यहाँ उक्तधर्मा उपमेयोपमा के उदाहरण समाप्त हुए ।

द्विविधरूपमेशोपमयोक्तधर्माख्यस्य प्रथमभेदस्यावान्तरभेदान् चतुर्णामुदाहरणानि प्रदर्शयः, सम्प्रति तृतीयभेदस्य व्यक्तधर्माख्यस्योदाहरण प्रदर्शयितुमाह—

व्यक्तधर्मो यथा—

व्यजनावृत्तिबोधसाधारणधर्मयुक्तोपमेयोपमा यथेत्यर्थः ।

व्यजनावृत्ति के द्वारा अवगत होनेवाली साधारणधर्म से युक्त उपमेयोपमा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘वारिधिराकाशसमो वारिधिसदृशस्त्वयाऽकाशः ।

सेतुरिव स्वर्गज्ञा स्वर्गज्ञेवान्तरा सेतुः॥’

वारिधि समुद्र, आकाशसम, नियन्तुल्य, तथा, आकाश विद्यत्, वारिधिसदृश-समुद्रतुल्य, अस्तीति शेषः, इत इति चेत् ? यत अन्तर आकाशमध्ये, सेतु शिखरा-कलमूलिनो मार्गविशेषः, इव, स्वर्गज्ञा छायापयः, चकास्ति, तथा अन्तर समुद्रमध्ये, स्वर्गज्ञा, इव, सेतुर्विशोतते इत्यर्थः ।

उदाहरण का प्रदर्शन किया जाता है—वारिधर इत्यादि। एक वर्णन है कि—समुद्र आकाश के समान है और आकाश समुद्र के समान, क्योंकि आकाश में सेतु की तरह स्वर्गज्ञा (द्वायापय) है और समुद्र में स्वर्गज्ञा की तरह, सेतु (बाँध) है।

उपपादयति—

—अत्रापारत्वादिर्व्यज्यमानो धर्मः ।

दुर्घटत्वमादिपदमाहम् । व्यक्तपदार्थं सूचयितुमाह—व्यज्यमानेति 'वारिधि—' इति श्लोके समुद्राकाशयो अपारत्वं (निस्सीमत्वं) साधारणो धर्म सेतुस्वर्गज्ञयोश्च दुर्घटत्वम् । तो च धर्मौ नात्र बाच्यौ, वाचकविरहात्, अपि तु व्यङ्ग्यौ, अतः व्यक्तपदमेवमुपमेयोपमेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। उक्त पद में वर्णित आकाश और समुद्र में 'अपारता' समान धर्म है एवं सेतु और स्वर्गज्ञा में 'दुर्घटता' समानधर्म है, परन्तु इन धर्मों के प्रतिपादक पद पदवाक्य में हैं नहीं, अतः ये धर्मवाच्य नहीं, व्यङ्ग्य माने जाते हैं।

विशेषमाह—

एषा सर्वाऽपि स्फुटे वाक्यभेदे प्रपञ्चिता ।

अत्र वाक्यभेद स्फुटः अर्थात्—द्वयोर्वाक्ययोः सादरवद्वयं स्पष्टं निर्विष्टम्—तादृश-स्थलीयः पूर्वोक्तोपमेयोपमाप्रपञ्चो बोध्यः । एतेनास्फुटवाक्यभेदस्थलेऽपि उपमेयोपमा-सम्भवः सूच्यते ।

अनुपबोक्त उपमेयोपमा का विस्तार उन स्थलों पर किया गया है जहाँ वाक्यभेद स्पष्ट है—अर्थात् शब्दतः दो वाक्यों में दो सादरय पृथक्-पृथक् वर्णित रहे हैं। एतावता यह सूचित हुआ कि अस्फुट—अर्थात् अर्थतः बोध्य वाक्यभेद के स्थल में भी यह अलङ्कार हो सकता है।

पूर्वसम्भावितमुपमेयोपमाप्रकारसुदाहर्तुमाह—

आर्थे तु वाक्यभेदे—

वाक्यभेद इति । उदाह्रियत इति शेष

अर्थतः अवगत होने वाले वाक्यभेद के स्थल में तो अब उदाहरण दिया जाता है।

उदाहरणं निर्विश्यते—

'अभिरामतासदनमम्बुजानने नयनद्वयं जनमनोहरं तव ।

इयति प्रपञ्चविषयेऽपि वैधसे तुलनामुदञ्चति परस्परात्मना ॥'

कवि 'कस्याधिकामिन्या' कमनीयं चञ्चलद्वयं नायकमुखेन वर्णयति—अपि अम्बुजानने कमलमुखि । अभिरामतायाः परितो रमणीयतायाः, सदनं मन्दिरम् आवासस्थानमिति यावत्, तथा जनमनोहरं दर्शकलोकहृदयार्क्यम्, च, तव, नयनद्वयं लोचनयुगलम्, इयति निश्चितपरिमाणतयाऽज्ञायमाने, नैवसे नैरचे, प्रपञ्चविषये संसारे, परस्परात्मना अन्योन्यरूपेण, तुलनां समताम्, उदञ्चति प्रकाशयतीत्यर्थः ।

नायक, नायिका से कहता है—हे कमलमुखि ! सौन्दर्य का मन्दिर और दर्शकजनों के मन हर्षने वाला तेरा नेत्रयुगल, इतनी बड़ी विचित्र-सृष्टि में, केवल परस्पर रूप से ही समता प्रकाशित करता है—अर्थात् इन दोनों (अँसों) की समता इन्हीं दोनों में है, तीसरे किसी पदार्थ में नहीं ।

रेषामभियानात् । एकवर्माभयेति विशेषणात् 'रजोमिभूरिव दौर्धनसन्निर्गैर्जैश्च द्यौरिव मूः' इति कस्यचित्पदस्यार्थे परस्परोपमायां नातिव्याप्तिः, तत्रोपमा-
प्रयोजकधर्मक्यामायात् । मूलोपमानिकायां प्रयोजकस्य रजसामनुगामियर्म-
स्य, नमस्तलोपमानिकायां प्रयोजकस्य धनसदृशगजानां बिम्बप्रतिबिम्बमावा-
पन्नवर्मस्य च भेदात् । व्यक्त्येति च विशेषणं व्यङ्ग्योपमेशोपमासङ्गप्रदाय-
मिवोदमुपमेशोपमात्वप्रयोजकं लक्षणमिति ।

प्राचीनं लक्षणमिति । 'उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि । उपमेशोपमा सा
स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्तिता ।' इतीत्यर्थः । अव्याप्तेति । 'तद्वत्पुना युगपदुन्मिषितेन तावद्'
इत्यव्याप्तिः । 'रजोमि' स्वन्दनोद्भूतैः' इत्यत्रातिव्याप्तिरिति भावः । (अन्योऽपयोः
सन्तुर्णं स्वरूपं स्वयं मूलकृतैवानुपदं वक्ष्यते ।) अन्योन्येनैत्यत्र तृतीयायां प्रतियोगित्वार्थ-
कतया तदर्थमाह—अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविरहितेति । व्यक्त्या इत्यन्यार्थमाह—व्यञ्जना-
व्यापारेणेति । लक्षणाया असम्भवात् इत्यन्तरेणेत्यन्य व्याख्या करोति—शक्या इति ।
इवादिसत्त्वे इति भावः । बोध्या इत्यस्य व्याख्या—वेदा इति । एकवर्माभया इत्यस्य
टीका—एकवर्मप्रयोजका इति । एक साधारणधर्ममूलकेति तदर्थः । अन्ययमुक्त्वा पदकृत्य-
माह—अन्योन्येति विशेषणादित्यादिना । उभयविधान्तेति । उभयत्र पदव्यभिक्ता न प्रती-
त्यर्थः । तस्मा निरासे हेतुमाह—अन्योन्यादिना । शक्नोति । समपदेत्यादि । ननु शक्तिविषये
परस्परनिरपेक्षत्वनिर्देशो लक्षण्ये कुतोऽवगम्यते इति चेत्तत्राह—परस्परनिरपेक्षस्येति ।
'व्यक्त्या इत्यन्तरेण वा' इत्यत्र 'वा'पदं प्रयुञ्जानैर्दोषितैर्हृत्त्वोः परस्परनिरपेक्षत्वं सूचि-
तम्, अन्यथा पक्षान्तरकथनानामङ्गतेरिति भावः । अर्थ इति । अर्थस्मादामित्यर्थः । रज-
सामिति । प्रयोजकभूतरजोमिभूतानुगामियर्मन्येत्यर्थः । समानविभक्तिकत्वस्येव नमान-
वचनत्वस्याभेदान्वये न तन्मूलमित्यभिप्रायेणोदहराप्रयोगः । एवमप्येति । धनगजयोर्मैदेन
कार्यं साधारणत्वमत आह—बिम्बेति । अयं भावः—अप्ययदीक्षिते चित्रमीमांसालये
स्वनिबन्धे प्राचीनकृतं लक्षणं निरस्य 'अन्योन्येने'ति उपमेशोपमाया लक्षणं कृतं । तत्रा-
'न्योन्यप्रतियोगिकत्वविरहितं वा उपमा' इत्यर्थकस्य 'अन्योन्येन वा उपमा' इत्यस्य
निवेशेन 'इदं तच्च समम्' इत्युभयपदव्यभिक्तोपमाया व्याप्तिः कृता, यतस्तत्रोपमा सम-
शब्दशक्तिगम्भा, 'इदं तेन समम्, तद्वत्त्वेन समम्' इत्याक्षरकपरस्परोपमानभावान्म-
परस्परप्रतियोगिकत्वं पुनर्व्यञ्जनागम्यम् । तथा चास्यानुपमाया शक्तिव्यञ्जनयोदमयो-
रपेक्षणेन एकशक्तिबोध्यवशास्ति । एकवर्मप्रयोज्यैत्यर्थकैकधर्माध्या इति कथनेन
'रजोमि'—'इति मूलोपचारस्परोपमानिरामो विहित', यतस्तत्र भूतलोपमानकनमस्तलो-
पमेशोपमाप्रयोजकः साधारणधर्मोऽनुगामो रजोरूपः तथा नमस्तलोपमानकभूतलोपमे-
यकोपमाप्रयोजकश्च साधारणधर्मो बिम्बप्रतिबिम्बमावापन्नो धनमदृशगज इति तयोस्त-
मयोरेकधर्मप्रयोज्यत्वाभाव इति ।

खण्डन करने के लिये अप्ययदीक्षित के मत का उपपादन किया जाता है—चित्र
इत्यादि । अप्ययदीक्षितजी ने अपनी चित्रमीमांसा नामक पुस्तक में 'तद्वत्पुना युगपदु-
न्मिषितेन तावद्' इस पद्य में अव्याप्ति और 'रजोमिः स्वन्दनोद्भूतैः' इस पद्य में
अतिव्याप्ति दोष दिखलाकर पहले 'उपमानोपमेयत्व द्वयोः पर्यायतो यत्रि । उपमेशोपमा
सा स्याद् द्विविधैषा प्रकीर्तिता । अर्थात् यदि दोनों पदार्थ क्रमशः उपमान तथा उपमेय
हों, तब वह उपमेशोपमा होती है । इसके दो भेद हैं ।' इस प्राचीनोक्त लक्षण का खण्डन
किया और तदुत्तर स्वयं 'अन्योन्येनोपमा—' यह मूलोक्त लक्षण किया है । सहृदयो

की सुगमता के ध्यान से उक्त लक्षण का अर्थ पदकृत्यसहित संक्षेप में प्रत्यकार, चित्र-मीमांसाकार की रीति से बतलाते हैं—अन्योन्येन=परस्पर दोनों पदार्थ जिसके प्रति-योगी होते हों ऐसी, तथा एकधर्माश्रया=एक ही साधारण धर्म से सिद्ध होनेवाली, जो उपमा (सादृश्य) शक्त्या=व्यञ्जनावृत्तिद्वारा, अथवा, वृत्त्यन्तरेण=अभिधावृत्तिद्वारा बोध्या=ज्ञात होती हो, उसको उपमेयोपमा माना जाता है—यह तो हुआ इस लक्षण वाक्य का अन्वयानुसारी अर्थ। अब पदकृत्य देखिये—इस लक्षण में उक्त अर्थवाला 'अन्योन्येन' विशेषण इसलिये जोड़ा गया है कि—'इदं तच्च समम्—अर्थात् यह और वह समान है' इस उभयनिष्ठ उपमा में अतिव्याप्ति न हो। इस उपमा में यद्यपि अन्योन्यप्रतियोगिकत्व है—अर्थात् इस वाक्य से 'इसका सादृश्य उसमें' और 'उसका सादृश्य इसमें' इस तरह दोनों का सादृश्य दोनों में सिद्ध होता है, तथापि यह अन्योन्यप्रतियोगिकत्व-दोनों का सादृश्यप्रतियोगी होना—व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ज्ञात होता है—अर्थात् 'इसका सादृश्य उसमें' और 'उसका सादृश्य इसमें' ऐसा ज्ञान शब्दतः नहीं होता और उपमा ज्ञात होती है 'सम' शब्द की अभिधावृत्ति से, अतः अन्य वृत्ति की अपेक्षा किये बिना किसी एक वृत्ति से 'अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा' यहाँ ज्ञात नहीं होती। तात्पर्य यह कि—उक्त विशिष्ट उपमा का बोध कराने के लिये अभिधा को व्यञ्जनावृत्ति की अपेक्षा करनी पड़ती है। और लक्षण के अनुसार होना चाहिए 'अन्य वृत्ति की अपेक्षारहित एक वृत्ति द्वारा अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्ट उपमा का बोध।' आप पूछ सकते हैं कि—लक्षण में तो 'अन्य वृत्ति की अपेक्षा से रहित' यह बात लिखी हुई है नहीं, फिर आप यह बात कहाँ से ले आए, तो इसका उत्तर यह है कि—लक्षण में जो 'वा (अथवा)' पद है—उसका अर्थ यही होता है—अर्थात् 'वा' पद पश्चात्तर का बोधक है, अतः यह सिद्ध होता है कि—व्यञ्जनाश्रयां अभिधा—इन दोनों में से किसी एक के द्वारा उक्त विशिष्ट उपमा का बोध होता हो। 'एकधर्माश्रया—एक-धर्ममूलक (उपमा)' इस अर्थ का फल यह है कि 'रज (धूलि) से आकाश पृथ्वी के समान और मेघों के सदृश गर्जों से पृथ्वी आकाश के समान' इस किसी पद के अर्थ रूप में आई हुई परस्पर उपमा में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण, यहाँ दोनों उपमानों को सिद्ध करनेवाला धर्म एक नहीं है, 'मूलक' को उपमान मानकर बाँधी गई उपमा का साधक साधारण धर्म 'रज' यह अनुगामी पदार्थ है और 'आकाश-तल' को उपमान मानकर बाँधी गई उपमा का साधक है विम्बप्रतिबिम्बभावापन्न मेघ-सदृशगजपदार्थरूप धर्म। 'व्यक्त्या (व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा)' यह निवेष्टा लक्षण में इसलिये किया गया है कि—इस लक्षण से व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का भी समग्र हो सके। यह लक्षण उपमेयोपमात्व का प्रयोजक—साधक है अर्थात् यह लक्षण जहाँ सचदित होगा, वह उपमा उपमेयोपमा समझी जायगी।

खण्डयति—

तत्र ।

'अहं लतायाः सदृशीत्यसर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि यायाः ।

गवेपणेनलमिहापरेणमेवापि तुल्या तव तावदस्ति ॥'

अत्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टाया उपमायास्तनुत्वादिरूपैकधर्माश्रयाया वृत्त्यन्तरेण शक्त्या बोधनादुपमेयोपमात्वापत्तेः ।

तन् पूर्वोक्तदीक्षितकथनम् । न युक्तमिति शेषः । अयुक्तत्वे हेतुमाह—'अहं—' इत्यादिना । हे गौराङ्गि ! लताया सदृशी लतानुयोगिकमादृश्याश्रया, अहम्, इति, अलखर्वं महान्तम्, गर्वं, कदापि न याया प्राप्नुहि, यतः, इह त्वत्तुल्यविषये, अपरेण अन्येण सम्प्रति लतानुगोचराणां पदार्थानाम्, गवेपणेन अन्येपणेन, अलं व्यर्थम्, तावन् प्रथमम्, एवापि नवनगोचरीभूता लतापि, तव तुल्या त्वदनुयोगिकमादृश्याश्रया अस्ति इत्यर्थः ।

अन्वेपये कृतेऽन्येऽपि तव तुल्यां पदार्था लब्धुं शक्या इति भावः । अत्रेति । अस्य 'इति' इत्यादिः । तनुत्वेति । अस्य 'अनुपात्त' इत्यादि । शक्त्वेति । इत्यन्तरेणेत्यस्य व्याख्येयम् । अयमाशयः—दोषितोक्तलक्षणानुसारं 'अहं लतायाः—' इति पद्येऽपि उपमेयोपमालंकारत्वात्प्रसक्तिः, अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टायाः परस्पररोपमानोपमेयभाव-युक्ताया इति यावत् लतानायिकयोरुपमायाः अनुक्ततनुत्वादिरूपैकधर्मप्रयोज्यायाः, शक्त्या ज्ञायमानत्वात् तथा चातिव्याप्तिदोषप्रस्तमिदं लक्षणमिति ।

सूत्रहन किया जाता है—सद्य इत्यादि । सब कुछ होने पर भी दीक्षितजी का उपमेयोपमालक्षण ठीक नहीं है । कारण, तदनुसार, "अहं लतायाः—अर्थात् हे गौराङ्गी ! 'मैं लता के सदृश हूँ (हम दोनों की तुलना में मैं ही उपमान होती हूँ, मेरे उपमान होने योग्य वह क्या ? कोई नहीं है)' इस तरह का मद्भाग्य लू कभी मत करना । इस विषय में दूसरों को हूँ देने की आवश्यकता नहीं, प्रथमतः वह लता भी तो तेरे सदृश है अर्थात् तुलना में तेरा उपमान बनती है । अभिप्राय है कि—वह (लता) तो दिना हूँ तेरे समान मिल गई, हूँ देने पर तो न जाने कितनी चीजें ऐसी मिल जायें ।" इस पद्य में भी उपमेयोपमा हो जायगी, क्योंकि यहाँ भी दोनों क्रम-क्रम से जिसके प्रतिधोयी होते हैं, ऐसी और तनु'व (दुर्बलता) भाङ्गी अनुक्त एक धर्म से सिद्ध होने वाली उपमा का वृत्त्यन्तर (अभिप्राय) से बोध होता है । सारांश यह हुआ कि दीक्षितजी का लक्षण यहाँ अतिव्याप्त हो जाता है ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चात्रान्योन्यप्रतियोगिकत्वरूपमायां न प्रतीयते, लतादिसम्बन्धिसादृश्या अयत्त्वस्यैवास्मत्पदार्थेऽन्वयादिति वाच्यम् । 'मुखस्य सदृशमन्त्रश्चन्द्रस्य सदृशं मुखम्' इत्युपमेयोपमायामव्याप्तेः ।

सदृशतुल्यादिपदानां धर्मिवाचकतया 'अहं लतायाः—' इति पद्ये 'लतायाः सदृशी' 'तव तुल्या' इत्यंशाभ्यां लतासम्बन्धिसादृश्याभ्यन्तस्यास्मत्पदार्थे त्वलम्बन्धिभादृश्या-अयत्त्वस्यैवास्मत्पदार्थे चान्वयावयवेन अन्योन्यप्रतियोगिकत्वस्य प्रतीतिरूपमाया न भवतीति कथमतिव्याप्तिरिति शङ्का नोचिता, यतस्तथाङ्गीकारे 'मुखस्य सदृशः—' इति मूलोक्तपद्यखण्डे उपमेयोपमोदाहरणतया सर्वसम्मतं तल्लक्षणस्याव्याप्त्यापत्तिः, अत्रापि धर्मिवाचकसादृश-पदसत्त्वेन तत्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । यथा 'अहं लतायाः—' इत्यत्र सदृशतुल्यादिपदात् सादृश्याभ्यन्वत्येव प्रतीतिः न सादृश्यप्रतियोगित्वस्य, तथा 'मुखस्य सदृशः—' इत्यत्रापि उपमेयोपमात्वानापत्तिः, अतः सदृशादिपदसत्त्वे शब्दतः प्रतियोगिताया अप्रतीता-वपि अर्थतः प्रतीतिर्भवतीति स्वीकार्यमेव तथा चालक्ष्ये 'अहं लतायाः—' इति पद्ये लक्षणप्रसङ्गादतिव्याप्तिः प्रत्यक्षरोचा समुचितैवेति भावः ।

एक आशङ्का और उसका समाधान अब किया जाता है—न च इत्यादि । सद्यः, दुष्य आदि पदों से सादृश्यका आश्रय होना विदित होता है सादृश्य का प्रतिधोयी होना नहीं । ऐसी दृशा में 'अहं लतायाः—' इस पद्य की उपमा में परस्परप्रतियोगिकत्व की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि पद्य के 'लतायाः सदृशी (लता के सदृश)' और 'तव तुल्या (तेरे तुल्य)' इन अंशों से गौराङ्गी आदि में लता आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सादृश्य का आश्रय होना ही ज्ञात होगा, फिर आपके द्वारा प्रतिपादित अतिव्याप्ति नहीं होगी ऐसी आशङ्का यदि आप करें तो इसका उत्तर यह है कि—ऐसे स्थलों पर (सदृश आदि पदों के रहने पर) यदि प्रतियोगि अनुयोगिभाव का भाव नहीं माना जाय तब 'मुख के सदृश चन्द्र है और चन्द्र के सदृश मुख है' इस सर्वसम्मत उपमेयोपमा में अव्याप्ति

हो जायगी—यहाँ उपमेयोपमा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ भी वही बात है—अर्थात् आपके हिसाब से सदृश पद के रहने पर 'अन्योन्यप्रतियोगिकत्व' की प्रतीति उपमा में नहीं होगी। अतः अगत्या मानना पड़ेगा कि—सदृश आदि धर्मिवाचक पदों के रहने पर शब्दतः प्रतियोग्यनुपयोगिभाव की प्रतीति भले ही न हो, पर अर्थतः उसकी प्रतीति अवश्य होती है। ऐसा मानने पर ही 'मुख के सदृश चन्द्र—' इस पूर्वोक्त वाक्य में उपमेयोपमा हो सकेगी और जब ऐसा मान लिया जायगा तब 'अह लतायाः—' इस पद्य में जो अतिव्याप्ति की बात कही गई है वह उचित ही सिद्ध होगी।

ननु 'मुखस्य सदृश —' इतिवत् 'अह लताया —' इति पद्यमपि लक्ष्यमेवोपमेयोप-
मायास्तथा च नातिव्याप्तिः, अलक्ष्ये लक्षणगमनस्यातिव्याप्तिपदार्थत्वादित्यत्राह—

न ह्यह लताया इत्युपमेयोपमा भवितुमर्हति । गर्वमात्रनिरासपरस्वेनोत्तरा-
धोपमायास्तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतिपत्तेः । अत एव अन्योन्यमपि तत्र सदृशानि
सन्त्येव तेषां गवेषणेन किं फलमित्येतद्व्यकं गवेषणेनेत्युत्तरार्थं सङ्गच्छते ।
तृतीयसदृशचारिव्यवच्छेदो ह्युपमेयोपमाजीवितमित्यालङ्कारिकसिद्धान्तः ।
अन्यथा 'भुवस्तलमिष ष्योम कुर्वन्त्योमेव भूतलम्' इत्यत्राप्युपमेयोपमात्वनि-
धारणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः ।

उपमेयोपमाभवनानर्हत्वे हेतुमाह—गर्वेति । ननु तन्मात्रपरत्वं एव किं बीजमत
आह—अत एवेति । तत्परत्वेन तस्या साफल्यदेवेत्यर्थः । उत्तरार्थं तदेकदेशः ।
नन्वेवमपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीतावेवोपमेयोपमा इत्यत्र किं विनिगमकमत आह—
तृतीयेति । सदृशचारीति महेश्वर्यथ । नन्वन्येषा तथा सिद्धान्तेऽपि न मम सिद्धान्त-
स्तथेत्युक्तेवसर निवारयति—अन्येति । तस्य तज्जीवित्वानुशीकारे इति तदर्थः । भुव-
स्तलमिवेति । रघुवंशाख्यमहाकाव्यपदकपद्याशोऽयम् । अर्थस्तु स्पष्ट एव । यदि तृतीय-
सदृशानिवृत्तिप्रतीतिरूप्येऽपि स्थले उपमेयोपमा दीक्षतस्याभिमतोऽभिव्यक्तत्वा 'भुव-
स्तलमिव—' इत्यत्रान्यसाधनसमुक्तेऽपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदमात्ररहिते पद्ये तद्वारणायात्
मासावकीर्यन्तु, अकरोचेतृतीयसदृशव्यवच्छेदस्योपमेयोपमाजीवित्वं अन्यालङ्कारिकाङ्गी-
कृतं स्वीकर्तव्यमेव तेनापि । तथा च 'अह लताया —' इति पद्ये नोपमेयोपमाया लक्ष्यं
भवितुं शक्नोति, तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्यात्राप्रतीतिः । न चोत्तरार्थोक्त्या उपमायास्तृतीय-
सदृशव्यवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, तस्या गर्वमात्रनिरासपरत्वात् । न चास्तु तस्या
गर्वनिरासपरत्वं, परन्तु तेन सह तृतीयसदृशव्यवच्छेदकत्वमप्यस्तु, तन्निरासमात्रपरत्वं
कुतोऽवगम्यते इति वाच्यम्, 'गवेषणेनालमिहापरेषाम्' इत्युत्तरार्धभागेन 'अन्यानि तत्र
सदृशानि सन्ति' इत्यर्थस्य स्फुट प्रतिपत्तौ तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीतेरङ्गीकर्तुमयोग्यतया
गर्वमात्रनिरासपरत्वावगमादिति भावः ।

यदि आप कहें कि—'अह लतायाः—' इस पद्य को भी मैं उपमेयोपमा का लक्ष्य ही
मानता हूँ, तब तो अतिव्याप्ति की बात नहीं उठेगी, क्योंकि अलक्ष्य में लक्षण का
सघटित होना अतिव्याप्ति कहलाता है ।" इसके उत्तर में कहते हैं—न हि इत्यादि । अभि-
प्राय यह है कि—'अह लताया —' इस पद्य को उपमेयोपमा का लक्ष्य नहीं माना जा
सकता । कारण, यहाँ तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती । आप कहेंगे—
यदि तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति प्रतीत नहीं होती तब पद्य के उत्तरार्ध भाग में
जो दूसरी उपमा वर्णित हुई है उसका क्या फल है ? तो मैं कहूँगा कि—उसका फल
केवल पूर्वार्ध में वर्णित शब्द का निरास करना है । बात भी यही ठीक है, अन्यथा उत्तरार्ध
का 'गवेषणेनालमिहापरेषाम्' यह शब्द असद्रव हो जायगा, क्योंकि 'तेरे सदृश बहुतेरे

पदार्थ संसार में खोज करने पर मिल सकते हैं" यही उस अंश का अर्थ होता है। तात्पर्य यह कि—उक्त अंश से जब तेरे समान अनेक पदार्थों की सम्भावना व्यक्त की गई है तब तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति कथमपि यहाँ विदित नहीं हो सकती है। आप कहेंगे—तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति अभिव्यक्त होने पर ही उपमेयोपमा मानी जाए इसमें क्या प्रमाण है, तो इसके समाधान में मेरा कथन यह है कि—तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति ही उपमेयोपमा का जीवन है ऐसा सभी आलङ्कारिकों का सिद्धान्त है। आप इस सिद्धान्त को स्वीकार न करें ऐसी बात तो हो नहीं सकती। कारण, आपने केवल तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति की प्रतीति न होने के कारण, 'भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्—अर्थात् पृथ्वी को आकाश के समान और आकाश को पृथ्वी के समान करते हुए' इस रघुवश के पद्यांश में उपमेयोपमा के धारण करने का प्रयास किया है। यदि आप उक्त सिद्धान्त को न स्वीकार करते होते, तब यहाँ उपमेयोपमा के धारण का प्रयास नहीं करते।

दीक्षितमतसमर्थिता युक्तिमाशङ्क्य समाधत्ते—

न च तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकत्वमुपमाविशेषणं वाच्यम्, विशेषणान्तर-वैयर्थ्यापत्तेः। विशेषणव्यावर्त्यानामाधुनिकविशेषणोर्नैव धारणात्।

वाच्यमिति। 'अहं कृताया—' इत्यत्रातिव्याप्तिपाणावेदानी वक्तव्यमित्यर्थः। विशेषणान्तरेति। अन्योन्येनेत्यादौत्यर्थः। नन्वेवं रूपमुक्तदोषम्यावृत्तिरत आह—विशेषणेति। विशेषणान्तरेत्यर्थः। 'अहं कृताया—' इत्यत्र दोषनिरासाय लक्षणे तृतीयसदृशव्यवच्छेद-फलकत्वमुपमाविशेषणं योज्येत चेत्, तर्हि तेन विशेषणोर्नैव 'इदं तच्च समम्', 'रजोभिर्भूरिव द्यौर्धनसमिर्गन्धं द्यौरिव भू' इत्यादावतिव्याप्तौ धारिताया तद्वारकविशेषणान्तराणां योजनं निरर्थकं स्यादिति भावः।

दीक्षितमत के समर्थन में एक युक्ति दिखलाकर उसका खण्डन करते हैं—न च इत्यादि। अब यदि आप कहें कि—'अहं कृताया—' इस पद्य में अतिव्याप्ति का धारण करने के लिये 'तृतीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति जिससे कलित हो ऐसी उपमा' यह विशेषण भी लक्षण में जोड़ देंगे, तो यह भी समुचित नहीं। कारण, ऐसा करने पर आपके द्वारा लक्षण में लगाये गए अन्य सभी विशेषण (अन्योन्येत इत्यादि) व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि उन विशेषणों के द्वारा 'इदं तच्च समम्', 'रजोभिर्भूरिव द्यौर्धनसमिर्गन्धं द्यौरिव भू' इत्यादि स्थानों में जिस अतिव्याप्तिदोष का धारण आपको करना था, उसका धारण अब इसी नवीन विशेषण से हो जायगा।

दीक्षितोक्तसम्यदपि दूषयितुमाह—

अन्योन्यप्रतियोगिकत्वविशिष्टा उपमा एकवृत्तिमात्रवेद्येत्यप्युक्तमेव। 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादौ खजलयोः सादृश्यान्वये प्रतियोगित्वस्य संसर्गत्वेन पृथग्विपर्यत्वात्। वृत्तिवेद्यानां पदार्थानां संसर्गो धृत्यवेद्य इत्यभ्युपगमात्। अन्यथा प्रकारतापत्तेः।

प्रतियोगित्वस्येति। अनुयोगिविशिष्टेत्यादिः। ननु कुतो न तस्य वृत्तिविपर्यत्वं-मित्याह—वृत्तातिः। अत्र "उक्तप्रत्यक्षैकवृत्तिमात्रवेद्यत्वे न तात्पर्यं किं तु वृत्तिद्वयवेद्य-त्वाभावे। यदा तद्वन्यप्रतीतौ यथाकथंचिन्नासमानत्वमेव तन्मात्रवेद्यत्वम्। अस्ति च 'खमिव जलम्' इत्यादौ। नास्ति च तत्रेति तच्चिरस इत्याशयेनादोषाच्चिन्त्यमिदम्" इति चचिरमाह नगेशः। तत्तत्पदार्थमात्रे पदानां वृत्तिः, वृत्त्युपस्थापितानामर्थानां पारस्परिकाः सम्यग्या आकांक्षामास्याः, न तेषु पदानां वृत्तिः 'अनन्यत्वम्यो हि शब्दार्थः' इति

न्यायात्, अत एव सम्बन्धान् प्रकरतया शब्दबोधे मोहं न भवति, अन्यथा तदपरि-
हार्यं स्यादिति सिद्धान्तः । तथा च 'खमिव जलम्—' इत्यादौ 'खजलपदनिष्ठाभिधावृत्ति-
वेद्ययो आकाशजलपदार्थयो इवपदनिर्गतदृष्टिवेद्येन सादृश्यपदार्थेन सह जायमानेऽ-
न्यबोधे प्रतियोगित्वाद्युपमेयत्वयो ससर्गविषयैव भानम् न तु तत्र कस्यापि पदस्य काऽपि
(शक्तिरक्षणं व्यञ्जना वा) वृत्तिः । एवञ्च प्रागुक्तदीक्षितकृतोपमेयोपमालक्षणे 'अन्यो-
न्यप्रतियोगित्वविशिष्टा उपमा एकवृत्तिवेद्या यदि भवेत्, तदा सोपमेयोपमा' इति कथन-
मसन्नतमेव. प्रतियोगित्वस्य वृत्त्यवेद्यत्वे तदुपदिष्टविशिष्टोपमायामपि 'विशेषणभावे विशि-
ष्टभावा' इति रीत्या वृत्तिवेद्यत्वभावेन प्रागुक्तलक्ष्ये उपमेयोपमात्वानुपपत्तेरिति भावः ।

दीक्षितकृत उक्त लक्षण के एक अन्य अक्षर का भी खण्डन करते हैं—अन्योन्य इत्यादि ।
अन्य किसी तरीके से जो अर्थ ज्ञात न हो सके उसी को सम्यक् का अर्थ मानना चाहिये
अर्थात् वाद्यों की वृत्ति (शक्ति लक्षणा आदि) उसी अर्थ में मानी जाती है जो वृत्ति
के माने बिना ज्ञात न हो सके । तदनुसार पदार्थों के सम्बन्धों (प्रतियोगित्व अनु-
योगित्व आदि) में पदों की वृत्ति नहीं मानी जाती, क्योंकि उसके बिना भी आकाश
के द्वारा जलका भान शब्दबोध में हो जाता है, अतएव शब्दबोध में सम्बन्धों का
विशेषणरूप से भान नहीं होता है, यदि वे (सम्बन्ध) भी पदनिष्ठवृत्ति से उपरिधत्त
होते रहते, तब अन्यवृत्तिवेद्य पदार्थों के समान विशेषण ही होते । ऐसी स्थिति में
दीक्षितजी ने जो उक्त लक्षण में यह कहा है कि—'परस्परप्रतियोगिकत्वविशिष्ट
उपमा यदि एक वृत्ति से ज्ञात हो तब वह उपमेयोपमा है' वह सर्वथा असंगत है क्योंकि
इस कथन के हिसाब से 'खमिव जलम् जलमिव खम्—अर्थात् जल आकाश के समान
और आकाश जल के समान' इस वाक्य में उपमेयोपमा नहीं हो सकेगी । कारण, यहाँ
आकाश और जल के सादृश्य के साथ होनेवाले अन्य-बोध में जो प्रतियोगिता-
अनुयोगिता भासित होती है, वह सम्बन्धरूप है, अतः उक्त सिद्धान्त के अनुसार उसमें
किसी पद की वृत्ति नहीं है—अर्थात् वह आकाश भास्य है और 'प्रतियोगित्व' जब
वृत्तिवेद्य नहीं हुआ, तब लक्ष्य होकर उपमा भी वृत्तिवेद्य नहीं कही जायगी । सावधान्य
यह कि यद्यपि कुछ उपमा सादृश्य इव पद की वृत्ति से वेद्य है पर अन्योन्यप्रति-
योगिकत्वविशिष्ट उपमा तो वृत्तिवेद्य नहीं है, अतः यहाँ उक्त लक्षण का सघटन नहीं
हो सकेगा । यहाँ नागेश का कथन है कि 'अन्योन्यप्रतियोगित्वविशिष्ट उपमा एकवृत्ति-
वेद्य हो' इस उक्ति का अभिप्राय एकवृत्ति से प्रतियोगिता और उपमा दोनों का अवगत
होना नहीं है, अपितु यह है कि—इस विशिष्ट में के दोनों अक्षर यदि वृत्तिवेद्य हों तो
उन्हें एकवृत्तिवेद्य होना चाहिये और यदि इव दोनों में से कोई अक्षर बिना वृत्ति के ही
अवगत होता हो तो ऐसा हो सकता है—इससे कोई हानि नहीं । अथवा एकवृत्तिजन्य
बोध में भासित होना ही यहाँ एकमात्रवृत्ति से वेद्य होना विवक्षित है, अतः यहाँ जो
दीक्षित का खण्डन किया गया है वह ठीक नहीं है ।

अलङ्कारसर्वस्वकारमतमालोचयितुमुपक्रमते—

यदप्यलङ्कारसर्वस्वकृतोक्तम् 'द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा । तच्छब्द-
न्वेनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्शः । पर्यायो योगपद्याभावः । अत एवात्र वाक्य-
भेदः' इति तन्न । अत्र द्वयोरिति व्यर्थम् । एकस्योपमानोपमेयात्मकत्वे 'गगनं
गगनाकारम्' इत्यादौ वाक्यभेदाभावेन पर्यायाभावादेवाप्रसक्तेः ।

'द्वयो पर्यायेण—' इति लक्षणम् । लक्षणघटकतच्छब्दबोधं स्मरेत्यति—तच्छब्द-
मेति । पर्यायपदार्थमाह—पर्यायो योग इति । फलितमाह—अत एवेति । खण्डने हेतुमाह—
अत्र इत्यादिना । अलङ्कारसर्वस्वकारकृतम् 'द्वयो—' इत्युपमेयोपमालक्षण न सम्यक्

वाक्यभेदरूपपर्यवसितार्थके पर्यायपदे लक्षणप्रविशिते तद्वत्त्वादेव यत्र, एक एव पदार्थः उपमानभूत उपमेयभूतश्च भवति तादृशे 'गगनं गगनाकारम्' इत्याद्यन्वयस्थले लक्षणा-
तिव्याप्तिर्न भवितुमर्हति, वाक्यभेदराहित्येन पर्यायभावात्, तथा च 'द्वयो.' इति विशेष-
णं व्यर्थम्, व्यावर्त्याभावात् व्यावर्त्यत्वेनाभिमतस्य विशेषणान्तरेणैव चारणादिति भावः ।

अथ 'अलङ्कारसर्वस्वकार' के मत की आलोचना की जाती है—यदपि इत्यादि । अल-
ङ्कारसर्वस्वकार ने "—'द्वयोः—इत्यादि अर्थात् दोनों में पर्यायेण यदि वह बात हो, तब
उपमेयोपमा होती है' यह उपमेयोपमा का लक्षण धाकर स्वयं उसकी व्याख्या
में लिखा है कि—इस लक्षण में 'तस्मिन्' का अर्थ है 'उपमानता और उपमेयता होने पर'
और 'पर्याय' शब्द का अर्थ है 'एक साथ न होना—अर्थात् भिन्न भिन्न वाक्य से उपमानता
और उपमेयता का वर्णित होना', अतएव उपमेयोपमा में वाक्यभेद हुआ करता है ।"
सारं यह कि—अलङ्कारसर्वस्वकार के हिसाब से 'यदि प्रथम वाक्य का उपमान दूसरे
वाक्य में उपमेय और प्रथम वाक्य का उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान हो तब उप-
मेयोपमा होती है' । परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं । कारण, इस लक्षण में 'द्वयो.' पद
व्यर्थ है । आप कहेंगे—व्यर्थ नहीं है—'गगनं गगनाकारम्' अर्थात् आकाश आकाश के से
आकारवाला है' इत्यादि अमन्वयालङ्कार—जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय
दोनों होता है—में अतिव्याप्तिचारण के लिये उसकी ('द्वयो.' पद की) सार्थकता है,
तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि इसका चारण तो 'पर्याय' पद से ही हो जाता है । सारपर्यं
यह कि अमन्वयस्थल में वाक्यभेद नहीं रहता है, अतः वहीं नियमतः 'पर्याय' पदार्थ
का अभाव रहेगा ही, ऐसी स्थिति में जिस दोष को 'द्वयो.' कहकर आप हटाना चाहते
हैं, वह 'पर्यायेण' पद से ही दूर जाता है, फिर 'द्वयो.' की आवश्यकता नहीं रह जाती ।

आशयविशेषवर्णनेन 'द्वयो.' इत्यस्य सार्थक्ये साधितेऽपि दोषान्तरेण दुष्टमेवैतल्ल-
क्षणमित्याख्यातुं प्रवर्तते—

यदि च स्फुटत्वार्थमुपमानोपमेययोर्गुण्यतासम्पादकलिङ्गवचनभेदराहित्य-
प्रतिपत्त्यर्थं कविसमयसिद्धिस्फोरणार्थं वा द्वयोरिति ग्रहण स्यात्, अद्यापि
प्रागुदीरिते 'अहं ज्ञातायाः सदृशीत्यसर्वम्' इति पद्ये प्रतिपाद्यामुपमायामति-
व्याप्तेः ।

'तद्वत्पुना युगपददुन्मिपितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्त्वथ प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥'

इति काशिदासपद्ये प्रतिपाद्यामुपमानोपमेययोर्युगपदुपमेयोपमानभावायामुप-
मेयोपमायां वाक्यभेदाभावादव्याप्तेः ।

स्फुटत्वार्थमिति । एतेन वर्णनीयाशयविशेषस्यापि लाभस्तद्विवेकैव सम्भवति, परन्तु
सयालब्धोऽप्यसौ न स्फुट इति ध्वनितम् । तयोर्देऽपि तयोर्गुण्यतायां सत्त्वादाह—एवमिति ।
इष्टापत्या नातिव्याप्तिस्त आह—तद्वत्पुनेति । प्रकरणसामेक्षोऽयं श्लोकः । अवसिताया-
मपि निशाया निशाशय्यामत्यजन्त रघोस्ततयश्च स्वयंवरायात्राभुङ्क्तानुरोधेन जागरयता
वन्दिजनबालकानां समवयस्कानाम्, तस्यपि प्रभातवेलावर्णनपर्येयमुक्तिः—तत् तस्मात्
सम्प्रत्येव इन्दुमत्या आत्मानं वरयितुं त्वया स्वयम्बरतमायां गन्ताथ्यमस्ति । सूर्य समा-
सतादोदयाचलप्रान्तम्, अस्मात् कारणादित्यर्थः । (इदानीम्) युगपद् एकक्षणा-
वच्छेदेन, वलुना रमणीयेन, उन्मिपितेन प्रकाशेन, अन्तः अन्त्यन्तरे इत्यर्थः, प्रस्पन्द-
माना स्थानान्तरस्पर्शरहिताऽपि विन्यासोला चपत्य इति स्पृष्टार्थः, पश्येतरा कोमल्य,

तारा कनीनिका यस्य, तादृशम्, तव राजकुमारस्य अजस्यैत्यर्थः, चभुर्नयनम्, एकवचन जातिविवक्षयेति बोध्यम्, प्रचलिताः सस्पन्दा इत्यर्थः, भ्रमरा यरिमन्, तादृशम्, पद्म कमलम्, च, इति द्वे, तावत् प्रथम एतेनाग्नेऽन्वेषां तवाज्ञानामस्यापि (चक्षुष) वा अङ्गस्य वस्त्वन्तरेणापि परस्परानुलप्रसङ्गः समागन्तेति ध्वन्यते । सद्यः तन्कालमिति यावत्, परस्परानुलाम् अन्योन्यसाम्यम्, अधिरोहताम् प्राप्नुतामिति (स्वयं वाञ्छाम्) । कालिदासपद्ये इति कालिदामरनितरपुर्वशाख्यमहाकाव्यषट्कपद्ये इत्यर्थः । भावायामिति । उपमेयोपमानान्मिद्वानामित्यर्थः । ननु पर्यायपरनिवेशवारितव्यावर्त्यस्यापि द्वयोरित्यस्य न वैयर्थ्यम्, यद्विनोपमानोपमेययोर्म्यता न भवति तादृशस्य लिङ्गवचनभेदादित्यस्य ज्ञानार्थम् तस्य चार्थक्यात्, न च लिङ्गवचनभेदादित्यं नोपमानोपमेयभावयोग्यतासम्भारकम् तद्विभाषापि कविप्रसिद्धानुरोधेन स्पष्टविशेषे उपमानोपमेयभावस्वीकारारिति वाच्यम्, सम्येव कविप्रसिद्धिस्फोरणार्थमेव तन्सार्वक्यसम्पत्तेः, न च कविप्रसिद्धिविरुद्धमुपमानोपमेयत्वं चेन्न भवति, तर्हि 'तस्मिन्' इत्यनेन बोधितादुपमानोपमेयभावादेव कविप्रसिद्धेरपि नाम सिद्ध एवेति न तत्स्फोरणार्थं तन्सार्वक्यमिति शङ्क्यम्, तथा लब्धस्यापि कविप्रसिद्धिरूपस्य वस्तुनः स्फुटज्ञानार्थं तन्सार्वक्यसम्भवात्, तथा चाळङ्कारसर्वस्वकारकृतं प्रागुक्तमुपमेयोपमालक्षणं न दुष्टमिति चेन्न, 'अहं स्मृताया —' इति प्रागुक्तपद्यप्रतिपाद्योपमायामतिव्याप्ति-दोषस्य मत्त्वान्, तत्रापि पर्यायेण कविसमयसिद्धोरुपमानोपमेयभावस्य वर्णनेन तदीयलक्षण-प्रमत्तेः । न च तत्र लक्षणप्रसक्तिरिष्टेवेति आतिव्याप्तिरन्यतिव्याप्त्यैव पुनः सम्यगेष लक्ष-णमिति वक्तव्यम्, 'तद्वस्तुना —' इति कालिदासपद्यै वर्णितायाम् एककालावच्छेदेनैव उपमानोपमेययोः उपमेयोपमानरूपायामपि तृतीयसदृशव्यवच्छेदफलकतया वस्तुतः उपमेयोप-माया वाक्यभेदाभावादव्याप्तेर्दुर्द्वारात् इति भावः ।

किमी तरह 'द्वयो' पद की सार्वकता सिद्ध कर देने पर भी 'सर्वस्वकार' का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, इस तथ्य का उल्लेख अब किया जाता है—यदि यह हुआ। यदि आप कहें कि 'द्वयो' पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उस पद के द्वारा धारणीय अतिव्याप्त्यादि दोषों का कारण 'पर्याय' पद से हो जाने पर भी 'लिङ्गभेद' वचनभेद आदि के न रहने पर ही किमी पदार्थ में उपमानोपमेयभाव की योग्यता आती है' इस बात के ज्ञान के लिये उस पद की सार्वकता है । इस पर यदि प्रत्यकार की ओर से यह कहा जाय कि—लिङ्गभेदाभाव आदि उपमानोपमेयभाव की योग्यता का संपादक हो नहीं सकते, क्योंकि उनके न रहने पर भी कविप्रसिद्धि के अनुरोध से 'तवाज्ञानेनाग्नेयि गन्तुमेव प्रक्रमते'—इत्यादि स्थलों में उपमानोपमेयभाव माना गया है तो सर्वस्वकार की ओर से यह कहा जा सकता है कि—तब कविसमयप्रसिद्धि की स्मृति के लिये ही 'द्वयो' पद का सार्वक्य माना जा सकता है । इतने पर भी यदि प्रत्यकार की ओर से यह तर्क उपस्थित किया जाय कि कविसमयप्रसिद्धि की स्मृति के लिये किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके बिना जब उपमानोपमेयभाव कहीं हो ही नहीं सकता, तब 'उपमानोपमेयभाव होने पर' इस अर्थ के बोधक 'तस्मिन्' पद से ही उसकी भी स्मृति हो जायगी, तो इसके उत्तर में सर्वस्वकार के समर्थक यह कहेंगे—कि—हाँ, स्मृति तो उसकी उससे हो जायगी, पर स्पष्ट नहीं—धूमिलरूप में, अतः स्पष्टतया उसकी स्मृति के लिये 'द्वयो' पद की सार्वकता सिद्ध की जा सकती है । तार्थ्य यह हुआ कि अब किमी तरह 'द्वयो' पद सार्वक हो गया और अन्य कोई दोष आने अभी तक दिखलाया नहीं तब सर्वस्वकार का उक्त लक्षण समुचित क्यों नहीं माना जाय, तो इस पर प्रत्यकार का कथन है कि—नहीं, उस लक्षण को समुचित नहीं माना जा सकता । कारण, पढ़ता तो यह कि उक्त लक्षण की, पूर्वोक्त 'अहं स्मृतायाः'

पद्य से प्रतिपादित होनेवाली उपमा में अतिव्याप्ति होगी, और दूसरा यह कि—‘तद्व-
त्पुना—’ इस रघुवद्ध में कालिदास द्वारा रचित-पद्य में प्रतिपादित उपमेयोपमा में,
जिसमें एक साथ उपमान की उपमेयता और उपमेय की उपमानता अवगत होती है,
अव्याप्ति होगी, क्योंकि इस उपमेयोपमा में वाक्य-भेद नहीं है—अर्थात् उपमान की
उपमेयता और उपमेय की उपमानता भिन्न-भिन्न दो वाक्यों से वर्णित नहीं हुई है।
और आपके उद्योग के अनुसार वैयाकरण होना चाहिए। ‘तद्वत्पुना—’ इस पद्य का
अर्थ यों है—महाराज रघु के राजकुमार बज की इन्दुमती-स्वयंवर यात्रा का प्रसङ्ग है।
राजकुमार रात में सुकोमल शय्या पर सोये हुए हैं। उनको जगाने के लिये बन्दीजनों
के बालक (जो उनके समवयस्क हैं) प्रभात-वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं—हे राज-
कुमार ! सूर्य अब उदयाचल के भिन्नर को घूम रहा है, अतः हम चाहते हैं कि इस
समय साथ ही साथ सुन्दरतम विकास के कारण ये दोनों पदार्थ परस्पर की तुलना की
प्राप्त करें—एक दूसरे के सहज बनें। कौन ? एक तो वह आपका नेत्र जिसके अन्दर कोमल
पुतली चपल हो उठी है और दूसरा वह कमल जिसके भीतर अमर विचलित हो उठा
है—बाहर निकलने के लिए सचेष्ट हो रहा है।

पुरोदीरितान्याप्तौ कथञ्चित्समाहितायामपि दोषान्तर सम्भवतीत्याह—

न चाप्रापाततः शब्दैक्येऽपि पर्यवसितो वाक्यभेदोऽस्तीति वाच्यम् ।
तथापि—

‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति दिनन्ति यामिन्यः ।

यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥’

इति फस्यचित्कवेः पद्ये परस्परपमायामतिव्याप्तेः । न चेयमुपमेयोपमेति
शक्यते वक्तुम्, सुखसमये दुःखदोऽपि सुखवति दुःखसमये च सुखदोऽपि
दुःखवति इत्येतावन्मात्रस्यार्थस्य विवक्षितत्वात्तृतीयसदृशव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेः ।

आपाततः संचेषत इति वाक्य । पर्यवसितः आर्य इति वाक्य । तथापीति तथात्वेन
तत्र दोषाभावेऽपीत्यर्थः । सवितेति । सुखदुःखाभ्यां, वशीकृते कबलीकृते, सुखदुःखावस्थयो-
र्वर्तमाने इति वाक्य, मनसि हृदये, सतीति भावः, सविता सूर्यः, विधवति विधुश्चन्द्रः च
इवाचरतीति भावः, विधुः, अपि, सवितरति सूर्य इवाचरति, यामिन्यः रजन्यः, दिनन्ति
दिनातीवाचरन्ति, दिनानि च, यामिनयन्ति यामिन्य इवाचरन्ति । सुखसमये मनसि स्वर-
निकरतापकोऽपि सूर्यश्चन्द्र इव शीतलः प्रतीयते, तमोमध्यः कार्यान्तरानासक्तप्राणिप्रसुप्ता-
खिलयल्लेखविधिश्च अपि यामिन्यः दिवसा इव प्रकाशमया उत्साहवर्धका अनुभूयन्ते,
दुःखसमये च मानसे शीतलग्नमहिरणोऽपि चन्द्रः सूर्य इव तापकः प्रतीयते, प्रकाशमया अपि
दिवसा रजन्य इव तमोमया अनुभूयन्ते इति भावः । न चेति । न होम्यर्थः । तथावक्तुम-
शक्यत्वे हेतुमाह—सुखसमये इति । मात्रपदव्यवच्छेदं स्फुटत्वायाह—तृतीयेति । ‘अभि-
रामतासदन—’ इत्यत्र शब्दतः वाक्यैक्येऽपि अर्थतो जायमान वाक्यभेदमादायोपमेयो-
पमाया भेदान्तरं साधितं ग्रन्थकृता, तथा च ‘तद्वत्पुना—’ इति कालिदासपद्येऽपि आर्यो
वाक्यभेदः अर्थात् ‘हे परस्परतुल्यमविरोद्धताम्’ इत्युक्त्या ‘वक्षुः पद्यस्य तुल्यमधिरोहन्’,
‘पद्यं च वक्षुषो तुल्यमधिरोहन्’ इत्याकारक वाक्यद्वयम्—अकामेनाप्यहोर्नर्तव्यमेव तेन,
एवमाव्याप्तेरभावे लक्षणं निर्दुष्टमिति चेन्मैवम्, ‘सविता विधवति—’ इत्यज्ञातनामकविर-
चितपद्यवर्णितपरस्परपमायामतिव्याप्तिग्रन्थस्यानुवृत्तेः । नात्र परस्परपमा, किंतु उपमे-
योपमेवेतिष्टापत्तिस्तु न शक्या कर्तुम्, सुखावस्थाया दुःखावस्थान्यपि वस्तुनि सुजातवन्ति

दुःसावस्थाया च मुलकपण्यपि वस्तूनि दुःखमुत्पादयन्तीत्येताक्तोऽर्थस्य बहिविवक्षाविषय-
तया उपमेयोपमाजीवातुभूतस्य तृतीयसदृशव्यवच्छेदस्याप्रतीतिरिति भावः ।

किसी तरह उक्त अभ्यासि का समाधान यदि कर दिया जाय, तथापि दूसरे दोष
यने ही रहेंगे इस बात का उल्लेख अब किया जाता है—न चापाततः इत्यादि । 'अभि-
रामतासदन—' इस श्लोक में जैसे आर्य वाक्यभेद मानकर उपमेयोपमा सिद्ध की गई है
उसी तरह उक्त कालिदासीय पद्य में भी आर्य वाक्यभेद मानकर वह सिद्ध की जा
सकती है—अर्थात् यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि—'परस्परतुलामधिरोहता द्वे' इस
आपातत एक प्रतीत होनेवाले वाक्य से 'चक्षु पद्म की तुला को प्राप्त करे' और 'पद्म
चक्षु की तुला को प्राप्त करे' ये दो वाक्य पर्यवसित होते हैं—अतः अभ्यासि नहीं होगी
ऐसा कहकर उक्त अभ्यासिव्योप का समाधान यदि कर भी दिया जाय, तथापि 'सविता
विधवति—अर्थात् जब मन सुख की अवस्था में रहता है, तब सूर्य चन्द्र की तरह
हीनल हो जाता है और रातों भी दिन की तरह प्रकाशमय प्रतीत होने लगती हैं,
और जब मन दुःख की अवस्था में रहता है, तब चन्द्र भी सूर्य की तरह प्रचण्ड
तापक प्रतीत होता है और दिन भी रात की तरह अन्धकारमय ज्ञान होते
हैं।' इस किसी कवि के पद्य में जो परस्पर की—सूर्य आदि की चन्द्र आदि के
साथ और चन्द्र आदि की सूर्य आदि के साथ—उपमा वर्णित हुई है, उसमें अतिव्याप्ति
हो ही जायगी । और आप यह तो कह नहीं सकते कि यहाँ परस्परोपमा नहीं उपमेयो-
पमा ही है, क्योंकि यहाँ 'सुख के समय दुःखदायी भी सुखदायी और दुःख के समय
सुखदायी भी दुःखदायी प्रतीत होते हैं' केवल इतना सा अर्थ कहना ब्रह्मा का अभीष्ट
है अतः इस कथन से तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति, जो उपमेयोपमा का प्राण है—
प्रतीत नहीं होती । यहाँ एक बात पर पाठकों का ध्यान में दिलाना चाहता हूँ—
हिन्दिरसगङ्गाधरकार प० श्री चतुर्वेदीजी ने 'सविता विधवति—' पद्य के अर्थ में लिखा
है कि—'जब मन सुख के वश में होता है तब दिन रात्रि की तरह शान्तिप्रद हो जाते
हैं और जब मन दुःख के वश में रहता है तब रात्रियाँ दिन की तरह अशान्त और
व्यग्रतामय हो जाती हैं ।' परन्तु मुझे यह व्याख्या समुचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि
एक तो इस तरह की व्याख्या करने पर क्रमभङ्ग होता है अर्थात् 'सुखदुःखवशीकृत
मनसि' यहाँ जो पहले सुख और पीछे दुःख की चर्याक्रम क्रम है, तदनुसार सुखवशीकृत
मन के लिये पहले 'सविता विधवति' फिर दुःखवशीकृत मन के लिये 'विधुरपि सवि-
तरति' ये दोनों उपमायें कहकर पुनः उसी तरह सुखवशीकृत मन के लिये 'विनन्ति
शान्तिम्' और दुःखवशीकृत मन के लिये 'यामिनयन्ति दिशानि च' ये दोनों उपमायें
धी गई हैं—इस तरह उक्तक्रम की रक्षा होती है, पर चतुर्वेदीजी की व्याख्या में यह
क्रम नष्ट हो जाता है । दूसरे, दिन में मन चन्द्र कायों की ओर लगा रहता है, अतएव
दुःख का उतना अनुभव नहीं होता, पर रात में मन सर्वथा एकाग्र होता है, अतः
दुःख का अनुभव अधिक होता है, इसीलिये तो दुःखियों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'दिन
तो झिमी तरह बट जाते पर रातें काटने पर भी नहीं बटती ।' कहने का तात्पर्य यह कि
रातें दुःखद्वि के लिये प्रसिद्ध हैं, अतः दुःखी के लिये 'दिन भी रात्रि के समान दुःखद
हो जाते हैं' यह कथन ही उपयुक्त होगा । इसी तरह सुखी के लिये यह कथन समुचित
होगा कि 'रात्रियाँ भी दिन की तरह उल्लासमय हो जाती हैं ।' कविसम्प्रदाय भी कुछ
इसी तरह का है, क्योंकि 'दिन स्वप्नि मे सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छायापि यामिनी' ऐसी उक्ति
काव्यजगत् में उपलब्ध होती है ।

सर्वस्वकारहतलक्षणस्यापरत्रापि अतिव्याप्तिमुद्भावयति—

एवम्—

'रजोमि स्यन्दनोद्धतैर्गजैश्च धनसन्निभैः ।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥'

इत्यत्र परस्पररोपमायामतिव्याप्तिः ।

रजोभिरिति । रघुदिग्विजयायात्राप्रसङ्गे रघुवराख्य पद्यमिदम्—स्यन्दनेन रघेन, उद्धूतं ऊर्ध्वं नीतं, रजोभिः धूर्त्विभिः, व्योम आकाशम्, भुवस्तलं धरातलम्, इव, तथा घनसन्निभं मेघसदृशं, गजैः हस्तिभिः, च, भूतलम्, व्योम इव, कुर्वन्, रघुः दिग्विजयायागच्छत् इत्यर्थः । अत्र विभिन्नधर्मिभ्यः परस्पररोपमा । 'द्वयोः पर्यायिण तस्मिन्नुपमेयोपमा' इति सर्वस्वकारलक्षणमत्रातिव्याप्तमिति भावः ।

सर्वस्वकारकृत उपमेयोपमालक्षण की अग्यत्र भी अतिव्याप्ति दिखलाई जाती है—एवम् इत्यादि । सर्वस्वकारकृत उपमेयोपमा का लक्षण जिस तरह 'सविता विधवति—' में अतिव्याप्त होता है, उसी तरह 'रजोभिः—अर्थात् रथ से उड़ी हुई धूलि से आकाश को भूतल के समान और मेघतुल्य हाथियों से भूतल की आकाश के समान बनाते हुये (राजा रघु दिग्विजय के लिये गये)' इस परस्पररोपमा में भी अतिव्याप्त है ।

विरोपमाह—

सदृशान्तरव्यवच्छेदफलकरत्वेन विशिष्यमाणौ तु तस्मिन्नस्मदुक्त एव पर्य-
वसानम् ।

'तस्मिन्' इति तत्पदप्रत्ययमृश्यमाने उपमानोपमेयत्वे तृतीयसदृशनिवृत्तिफलकत्वमपि विशेषणं यदि दीयेत तदा सर्वेषां प्रागुक्तानां दोषाणां परिहारो यद्यपि भवेत्, किंतु तदा मनुक्तलक्षणमेव पर्यवसितं इति फलस्तत्तलक्षणमसमीचीनमेवेति भावः ।

यदि लक्षण में 'तृतीय सदृश पदार्थ की निवृत्ति जिससे फलित हो' ऐसे उपमानोपमेयमात्र का निवेश करें, तब बात वही आ गई जो हमने कही है । अतः आप का (सर्वस्वकार का) लक्षण अपूर्ण ही है ।

मूलालङ्कारसर्वस्वस्य खण्डनं विधाय सम्प्रति तद्विवरणरूपाया विमर्शिन्या अपि खण्डनं विधातुमाह—

यश्च विमर्शिनीकारेणोक्तम् "स च वाक्यभेदः शाब्द आर्थश्च । तत्र शाब्दो यथा—'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यादिः । अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम् । अत एवोपमेयेनोपमेयत्ववर्थाभिधत्स्वम्" इति, तत्तुच्छम् । न हि 'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः' इत्यत्रोपमानान्तरतिरस्कारः प्रतीयते । द्वयोः उपमेयोरैकधर्मकत्वाभावात्, आद्याया उपमाया अनुगामिधर्मप्रयोज्यत्वात्, द्वितीयायाश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नधर्मप्रयोज्यत्वात् ।

विमर्शिनीकारेणेति । अलङ्कारसर्वस्वस्याख्याकारेणेत्यर्थः । स चेति । मूलोक्तत्वेन प्रागुक्त इत्यर्थः । अस्या इति । उपमेयोपमाया इत्यर्थः । उपमानान्तरतिरस्कार इति । तृतीयसदृशनिवृत्तिरित्यर्थः । खण्डयति—तत्तुच्छम् इति । तत्र हेतुमाह—नेति । हि यतः । अनुगामीति । रजोरूपेत्यर्थः । बिम्बेति । घनमेत्यर्थः । विमर्शिनीकृता मूलोक्तस्य वाक्यभेदस्य शाब्दत्वार्थताभ्यां द्वैविध्यमुक्त्वा 'रजोभिः—' इति पदस्य प्रथम-प्रभेदोदाहरणत्वमुक्तम्, तदुपपादने च तदुदाहरणघटकोपमेयोपमायास्तृतीयसदृशनिवृत्तिफलकत्वमुपवर्ण्य 'उपमेयेन उपमा—उपमेयोपमा' इत्यन्वयसंज्ञा साधिता, तदखिलं कल्पितमेव, 'रजोभिः—' इत्यत्र वर्णितयोः उपमेयोः प्रथमस्या अनुगामिधर्ममूलकतया

द्वितीयस्याथ विम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्ममूलकतया तृतीयसदृशनिवृत्तेरप्रतिपत्तेः, समानधर्ममूलकोपमाद्वयवर्णनस्थल एव तत्प्रतिपत्तेः पूर्वं सयुक्तिकमुपपादितत्वादिति भावः ।

मूल 'अलङ्कारसर्वस्व' का खण्डन करके अब उसकी व्याख्या—'विमर्शिनी'—का भी खण्डन करते हैं—यच्च इत्यादि । अलङ्कारसर्वस्व पर विमर्शिनी नामक व्याख्या लिखने वाले ने अपनी व्याख्या में लिखा है कि—“यह नाक्यभेद दो प्रकार का होता है—एक शब्द और दूसरा आर्थ । उनमें से शब्द वाक्यभेद का उदाहरण 'रजोभि—' इत्यादि पद्य है । यहाँ की उपमेयोपमा का फल होता है तृतीय सदृश का तिरस्कार (निवृत्ति) । अतएव उपमेयेनोपमा (उपमेय के साथ—अर्थात् उपमेय को उपमान मानकर जो उपमा हो उसे उपमेयेनोपमा कहा जाता है । इस तरह) इस मामले की सार्थकता होती है ।” पर यह व्याख्या भी असंगत ही है । क्योंकि—उनके दिए उदाहरण—'रजोभि—' इस पद्य में अन्य उपमान की निवृत्ति फलित नहीं होती । कारण, यहाँ दोनों उपमाओं में एक धर्म नहीं है, प्रथम उपमा का साधक है भूलिरूप अनुगामी धर्म और द्वितीय उपमा का साधक है मेघ तथा गज रूप विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्म । और तृतीय उपमान की निवृत्ति तब प्रतीत होती है, जब दोनों उपमाओं को सिद्ध करने वाला साधारणधर्म एक हो, यह बात पहले युक्तिपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है । अतः विमर्शिनीकार का कथन अपने उदाहरण में ही सङ्घटित नहीं होता ।

रत्नाकरोक्त निरसितुमाह—

यदपि 'परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा' इति लक्षणं विधाय 'सविता विधवति—' इत्यादि प्रागुक्तपद्य रत्नाकरोपाहादि, तच्च तदीयेनैव 'स चोपमानान्तरनिषेधार्थः' इति ग्रन्थेन विरुद्धम् । न ह्यस्मिन्पद्ये उपमानान्तरनिषेधः प्रतीयत इति प्रागेवावेदनात् । प्रतीयत एवेति चेत्, पुनरपि पृच्छ हृदयमेव स्वकीयम् ।

स चेति । मिय उपमानोपमेयभावश्चेत्यर्थः । हि पूर्वहेतुपरामर्शक । प्रतीयत एवेति । उपमानान्तरनिषेधरूप कर्मपदमत्राप्याहार्यम् । हृदयमेव स्वकीयमिति पुनः (पृष्ट निजहृदयमेव परमार्थं सूचयिष्यतीति भावः । अन्यत् सुगमम् ।

अब अलङ्काररत्नाकर का खण्डन करते हैं—यदपि इत्यादि । 'अलङ्काररत्नाकर' के निर्माता ने 'परस्पर उपमान-उपमेय होने को उपमेयोपमा कहते हैं' यह लक्षण बनाकर 'सविता विधवति—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य उदाहरणरूप में उपस्थित किया है । किन्तु यह उदाहरण 'यद् (अर्थात् परस्पर उपमान-उपमेय होता) अन्य उपमान के निषेध के लिये है' इस अपने ही कथन के विरुद्ध है । कारण, इस पद्य में अन्य उपमान के निषेध की प्रतीति नहीं होती—यह बात पहले ही समझाई जा चुकी है । इतने पर भी यदि हुराम्रह दिखलाते हुए आप कहें कि—उपमानान्तर का निषेध यहाँ प्रतीत होता ही है, तो मैं आप से और कुछ नहीं कहकर केवल इतना ही कहूँगा कि—आप अपने ही हृदय से पुनः पूछिये । वही (आपका अपना हृदय ही) सही-सही उत्तर दे देगा । तात्पर्य यह कि पुनः तटस्थभाव से विचार करने पर आपका भी हृदय इस बात को स्वीकार करेगा कि 'सविता विधवति—' में वस्तुतः अन्य उपमान का निषेध प्रतीत नहीं होता ।

परमतखण्डनप्रसङ्गमुपसहर्तुमाह—

इत्यल विवादेन ।

पूर्वोक्त शास्त्रार्थो व्यर्थं वस्तुतत्त्वस्य विज्ञै स्वयमाकलनात् इति भावः ।

अच्छा तो दोबारे इस विवाद को ।

‘उपमेयोपमा’ अलङ्कारपदवाच्या कहा भवतीति स्पष्टयति—

इयं चोपमेयोपमा यदि कस्याप्यर्थस्योत्कर्षाधिक्यं तदालङ्कारः । अन्यथा तु स्ववैचित्र्यमात्रपर्यवसितेति ।

इतीति । अस्य बोध्यमिति शेषः । कस्यापि—चाच्यास्य व्यङ्ग्यस्य वा धर्मस्य उपस्कारिका चेदियमुपमेयोपमा, तदा अलङ्कारमान भवते । अन्यायोपस्करणरून्या तु उपमेयोपमासंज्ञां मज्जमानाऽपि अलङ्कारभावं न भवत इति भावः ।

‘उपमेयोपमा’ अलङ्कार कव कहलाती है इस बात का स्पष्टीकरण अब किया जाता है—इयं च इत्यादि । यह उपमेयोपमा जब किसी—वाच्य अथवा व्यङ्ग्य—धर्म को उत्कृष्ट बनाती है—उसे उपस्कृत करती है—अर्थात् शोभासम्पन्न बनाती है तब अलङ्कार कहलाती है, अन्यथा इसकी समाप्ति अपनी विचित्रता में ही हो जाती है । सापेक्ष यह कि ऐसी दशा में वह केवल उपमेयोपमा कही जा सकती है, उपमेयोपमा अलङ्कार नहीं ।

अलङ्कारान्तरेष्वपि सुषेरेस्यास्तुल्यत्वमाह—

एवमलङ्कारान्तरेऽपि ज्ञेयम् ।

अन्यायोपस्करणदशावयवानान्यान्वापि रूपकादीनि अलङ्कारपदवाच्यानि अन्यथा स्ववैचित्र्यमात्रविधान्तान्येवेति भावः ।

यही बात अन्य अलङ्कारों में भी समझी जा सकती है—अर्थात् वे भी जब किसी अन्य धर्म को उपस्कृत करें सभी उन्हें अलङ्कार कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

व्यङ्ग्योपमेयोपमामुदाहर्तुमाह—

अथ ध्वन्यमानेयमुदाह्रियते—

अथ अन्तरम् । अन्यमाना व्यङ्ग्येति भावः । इयं उपमेयोपमा ।

अथ स्पष्ट उपमेयोपमा का उदाहरण दिया जाता है ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘गाम्भीर्येणातिमात्रेण महिम्ना परमेण च ।

राघवस्य द्वितीयोऽब्धिरभ्युषेऽपि राघवः ॥’

कवि. कथयति—अतिमात्रेण अतिशयितेन, गाम्भीर्येण गम्भीरत्वेन, परमेण उत्कृष्टेन, महिम्ना महत्त्वेन, च, राघवस्य रामचन्द्रस्य, अग्निः समुद्रो, द्वितीयः अभ्युषे समुद्रस्य, च, राघवो द्वितीयः अन्वोऽस्तुतीयस्तुल्यो नास्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गाम्भीर्येण इत्यादि । कवि का कथन है कि—आश्चर्यपूर्ण गम्भीरता और परम महत्त्व इन दोनों के कारण, रामचन्द्र के लिये समुद्र और समुद्र के लिये रामचन्द्र दूसरा है ।

उपपादयति—

द्वितीयशब्दस्य सादर्यविशिष्टे शक्त्यभावाद् व्यक्तित्वेन ।

‘गाम्भीर्येण—’ इति पद्ये द्वितीयपदं सादर्यविशिष्टं बोधयति, परं तु न शक्त्वा, तदर्थनिरूपितशक्तिरत्राभावात्, अपि ■ व्यञ्जना, अतो व्यङ्ग्योपमेयोपमोदाहरणं पशमिदं भवतीति भावः ।

उपपादन करते हैं—द्वितीय इत्यादि । ‘गाम्भीर्येण—’ इस पद्य में द्वितीय पद सादर्यविशिष्ट धर्म का बोधक होता है इसमें कोई सन्देह नहीं, पर सादर्यविशिष्ट धर्म की वाचकता (अभिधा) शक्ति द्वितीय पद में है नहीं अतः व्यञ्जना माननी पड़ती है । अतः यह पद्य व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का उदाहरण होता है ।

उक्तोदाहरणेऽव्यभिचारीमुद्राव्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यदि तु लक्षणा तदेवमुदाहरणम् ।

‘गाम्भीर्येण—’ इति पद्ये द्वितीयपदस्य बाधितमुक्त्यार्थकस्य, सादृश्ये लक्षणाया लक्ष्यैवोपमेयोपमा न व्यङ्ग्या इति चेत्, तदा निम्नलिखितमुदाहरणं बोध्यमिति भावः ।

उक्त पद्य में द्वितीय पद का मुख्य (अपने से अन्य) अर्थ बाधित है, अतः उसकी सदृश अर्थ में लक्षणा होगी, फिर तो यहाँ की उपमेयोपमा लक्ष्य कही जायगी व्यङ्ग्य नहीं, यदि ऐसी बात आप कहें, तब निम्नलिखित उदाहरण व्यङ्ग्य उपमेयोपमा का समझना चाहिये ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘सुधासमुद्रं तव रम्यवाणी वाच क्षमाचन्द्र सुधासमुद्रः ।

माधुर्यमध्यापयितुं दधाते खर्वतरामान्तरगर्वमुद्राम् ॥’

कवि- कमपि कृपं स्तौति—हे क्षमाचन्द्र पराधुपाकर ! तब भवत, रम्यवाणी रमणीया वाक्, सुधासमुद्रम् पीयूषसमुद्रम्, तथा सुधासमुद्रं, तव, वाचम्, माधुर्यं माधुरीम्, अध्यापयितुं पाठयितुम्, खर्वतराम् असर्बाम् महतीमिति यावत्, आन्तरगर्वमुद्राम् मानसिद्धगर्वसूचकाकारव्यक्तिम्, दधाते धत्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सुधा इत्यादि । कवि किसी राजा से कहता है—हे पृथ्वी के चन्द्र ! तेरी रमणीय वाणी अमृतसमुद्र को और अमृत का समुद्र तेरी वाणी को, माधुर्य का पाठ पढ़ाने के लिये, आन्तरिक गर्व को प्रकट करनेवाली बहुत बड़ी बाढ़ मुद्रा को धारण करते हैं ।

उपपादयति—

अत्र बागादिकर्तृकस्य परस्परार्थापनस्य बाधान्माधुर्यसंक्रान्तिविरोपस्य लक्षणया लुप्यमानस्य प्रयोजनं स्वप्रयोज्यान्योन्योपमानोपमेयभावः ।

बाधादिति । अचेतने बागादौ स्वातन्त्र्यघटितकर्तृत्वस्यासम्भवादित्यर्थः । लक्षणयेति । ‘अध्यापयितुम्’ इत्येतत्पदनिष्ठयेति भावः । एवं मुख्यार्थबाधतद्योगरूपं कारणद्वयमुक्त्वा तृतीय कारणं प्रयोजनमाह—प्रयोजनमिति । रमिति । लक्षणेत्यर्थः । अयं भाग — ‘सुधासमुद्रं—’ इति पद्ये ‘अध्यापयितुम्’ इति पदस्य मुख्योऽर्थः अध्यापनत्रियाकर्तृत्वरूपः, अचेतने बागादौ बाधितः, अतस्तस्य पदस्य सम्प्रसारणार्थे लक्षणा, सा च लक्षणा प्रयोजनमूला, रुढेरभावात्, प्रयोजनस्य वाक्सुधासमुद्रयोर्मिथ उपमानोपमेयभावावगमः, सा च व्यञ्जनयेति सिद्धमुपमेयोपमाया व्यङ्ग्यत्वमिहेति ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘सुधासमुद्रम्—’ इस पद्य में वाणी आदि के द्वारा जो एक दूसरे को पाठ पढ़ानेवाली बात वर्णित हुई है, वह बाधित है, अतः लक्षणा द्वारा उसका अर्थ यहाँ यह किया जायगा कि—वे एक दूसरे में अपनी मजुरता पहुँचाते हैं । इस लक्षणा का प्रयोजन होगा उस लक्षणा में ही सिद्ध होनेवाला ‘परस्पर का उपमान-उपमेय होना’ । उसी का नाम ‘उपमेयोपमा’ है, अतः यहाँ वह व्यङ्ग्य है ।

दोषनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ दोषाः—

दोषा इति । अस्या इत्यादि । उच्यन्ते इति शेषः । तथा उपमेयोपमायाः स्वरूपोदाहरणादिनिरूपणानन्तरमिदानीं दोषा कथयन्त इति भावः ।

अब उपमेयोपमा के दोष कहे जाते हैं ।

दोषानाह—

तत्र तावत्प्राशस्त्यं यावन्त उपमाया दोषाः अनुक्ताश्च विस्तृतिभयात्, ते सर्वेऽप्युमात्वाकान्तत्वादस्यामपि बोध्याः। अयं पुनरन्योऽपि दोषः—यदेकोपमावैलक्षण्यमपरस्यामुपमायाम्। यथा—‘कमलमिव वदनमस्या वदनेन समं तथा कमलम्’ अत्र श्रोत्यार्थीकृतं वैलक्षण्यम्। ‘कमलति वदनं तस्याः कमलं वदनायते जगति’ किप्चयङ्कृतमत्र वैलक्षण्यम्। एवमत्रैव ‘पद्मं वदनायते’ इति निर्माणे ‘वक्त्रायते’ इति वा उपमानोपमेयवाचकवैलक्षण्यम्। एवंप्रकारैरनेकैर्वैलक्षण्यं यदि सहृदयोद्वेजकं वदा दोषः।

तत्रेति। वक्तव्यानां तेषां मध्य इत्यर्थः। न तत्परिगणनमित्याह—अनुक्ताद्येति। ननूपमादोषा अत्र कथमत आह—उपमात्वेति। अत एवास्या एव भेद इति प्रतिहावाक्ये उक्तम्। तद्वृत्त्यन्यदोषमाह—अयं पुनरिति। इति चेति। कमलमित्यादिः। निर्माणे इत्यस्यानुपपत्तिः। उपमंहर्षति—एवमिति। यदीत्यनेन तदभावेऽदुष्टत्वमेवेति सूचितम्। अयमुपमेयोपमालङ्कार उपमात्वाकान्त, अतः उपमाया ये दोषा उक्ता अनुक्ता अपि ये सम्भवन्ति तेऽस्मिन्ना उपमेयोपमाया अपि दोषा अवगन्तव्याः। अत्रोपमेयोपमायां द्वयोपमयोः स्थितिः निश्चिता, ते च द्वे उपमे तुला इव यदा सर्वथाविलक्षणे तिष्ठतस्तदैव चमत्कारो भिन्नालङ्कारव्यपदेशबोधयता चेति स्थितौ एकोपमातः अपरोपमायां वैलक्षण्यं पुनः स्वतन्त्र उपमेयोपमादोषः। तच्च वैलक्षण्यं विवर्धयै कारणैः सम्भवति, तत्र कतिपयकारणसम्भूतं वैलक्षण्यमुदाहरणप्रदर्शनद्वारा स्फोरयति यथेत्यादिना। ‘कमलम् इव’ इति प्रथमोदाहरणे इवपदघटिता एकोपमा भ्रूती, समपदघटिताऽपरोपमा पुनरार्थी। ‘कमलति—’ इति द्वितीयोदाहरणे प्रथमोपमा किप्प्रत्ययवता, द्वितीया पुनः ध्यङ्प्रत्ययवता। अस्मिन् द्वितीयोदाहरणे एव ‘कमलम्’ इत्यस्य स्थाने ‘पद्मम्’ इति ‘वदनायते’ इत्यस्य स्थाने ‘वक्त्रायते’ इति वा पाठे उपमानोपमेयवाचकभेद इति सर्वत्र वैलक्षण्यं दोषरूपं सम्पद्यते। अन्यकारणमूलकमपि वैलक्षण्यं सम्भवति, तच्च स्वयमूहनीयं सहैवैतन्न विस्मरणीयं यत् सहृदयजनोद्वेगकरत्वं एवेति दोषा अन्यथा नेति भावः।

दोषस्वरूप का परिचय कराया जाता है—तत्र इत्यादि। यह उपमेयोपमा अलङ्कार उपमा अलङ्कार से निश्चित ही हुका करता है, अतएव इसको उपमा का ही प्रभेद ग्रन्थकार ने माना है। ऐसी स्थिति में वे सभी दोष हस्तके भी दोष कहे जायेंगे जो उपमा के दोष कहे गए हैं तथा विस्तार के अर्थ से न कहे जाने पर भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उपमेयोपमा का एक स्वतन्त्र दोष भी होता है, वह यह कि एक उपमा से दूसरी उपमा में किसी तरह की विलक्षणता का होना, तात्पर्य यह कि—उपमेयोपमा के दो उपमायें रहती हैं उन दोनों में विलक्षणता नहीं रहनी चाहिए, अर्थात् उन दोनों उपमाओं को एक ही तरह की होनी चाहिए, तभी चमत्कार आता है—यद्यक् अलङ्कार माना जा सकता है, अतः यदि उन दोनों उपमाओं में किसी तरह की विलक्षणता या तापनी, तब वह दोष समझा जायगा, जैसे—‘कमलमिव—’ अर्थात् इस स्त्री का मुख कमल-सा है और कमल इसके मुख के तुल्य है। यहाँ ‘इव (सा)’ शब्द से बोधित होने के कारण प्रथम उपमा भ्रूती है और ‘सम (तुल्य)’ शब्द से बोधित होने के कारण द्वितीय है अर्थात्। यह इन दोनों उपमाओं में विलक्षणता है। ‘कमलति—’ अर्थात् उस चापिका का वदन कमल-सा आचरण करता है और कमल मुख-सा। यहाँ एक उपमा ‘किप्’ प्रत्यय के द्वारा अवगत होती है और दूसरी ‘वयङ्’ प्रायय के द्वारा। यह विलक्षणता है। इसी तरह यदि इस पद्य में एक तरफ ‘पद्म वदनायते’ अथवा ‘कमल वक्त्रायते’ पना दिया

जाय, तब उपमान-वाचक और उपमेय वाचक शब्दों की विलक्षणता हो जायगी। इस तरह अनेक तरह से होनेवाली विलक्षणता, यदि सहृदयहृदयों में उद्देग-एक प्रकार का वैमुख्य-को उत्पन्न करनेवाली हो, तब उसे दोष समझना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि सहृदयजनोद्देजक न होने पर कोई दोष नहीं होता।

प्रकरणसमाप्ति सूचयति—

इति रसगङ्गाधरे उपमेयोपमाप्रकरणम् ।

रसगङ्गाधरग्रन्थघटकोपमेयोपमाप्रकरणं समाप्तमिति भावः ।

रसगङ्गाधर में उपमेयोपमा का प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुपमेयोपमाप्रकरणम् ॥

अनन्वयालङ्कारनिरूपण प्रतिजानीते—

अथानन्वयः—

अनन्वय इति । अनन्वयालङ्कारनिरूपणमित्यर्थः । अवेत्यस्यारभ्यते इत्यर्थः ।

अब अनन्वयालङ्कार का निरूपण आरम्भ होता है।

लक्षणं लिख्यते—

द्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकवर्णनविषयोभूतं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः ।

विशिष्ट सादृश्यम् अनन्वयः, वैशिष्ट्यं च द्विधा, तत्रैक समानपदार्थप्रतियोग्यजु-योगिकस्वरूपम्, द्वितीयश्च यस्य वर्णनेन द्वितीयसदृशपदार्थनिवृत्तिः कलिता भवति, तादृशत्वमिति भावः ।

लक्षण विखलाया जाता है—द्वितीय इत्यादि। उस सादृश्य का नाम 'अनन्वय' है जिसके वर्णन से दूसरे सदृश का निवारण कलित होता है और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही पदार्थ होता है।

लक्षणेऽनुपमपि अलङ्कारेति संज्ञासामर्थ्यावगम्यमानं अर्थ स्फुटत्वायाह—

स च कस्याप्युपस्कारकत्वेऽलङ्कारः । अन्यथा ॥ शुद्धः ।

शुद्ध इति । स्ववैचित्र्यमात्रविधान्त इत्यर्थः । उक्तलक्षणलक्षितोऽनन्वयस्तदैव अलङ्कारपदव्यपदेश्यो भवेत्, यदा वाच्यव्यङ्ग्यान्तरस्वार्थस्य शोभा जनयेत् । यत्र तत्र जनयेत् तत्र पुनः केवलोऽनन्वय एव स, नालङ्कार इति भावः ।

वह अनन्वय (जिसका लक्षण ऊपर लिखा गया है) तभी अलङ्कार कहलाता है—जब उसके द्वारा किसी अन्य (वाच्य अथवा व्यङ्ग्य) अर्थ की शोभा बढ़ती हो अन्यथा वह शुद्ध अनन्वय कहलायगा, अलङ्कार नहीं।

पदकृत्य प्रदर्शयितुं प्रत्युदाहरणं निर्दिश्यते—

'लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभाति भूमतः शिखरम् ।

दावज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव समये ॥'

गिरिशिखरवर्णनम्—लोहितपीतैः अरुणपीतवर्णविशिष्टैः, कुसुमैः पुष्पैः, आवृतम् आच्छादितम्, भूमतः पर्वतविशेषस्य, शिखरं शानु, कदाचित् कस्मिंश्चित्, समये काले, दावस्य वनीयस्य, ज्वलनस्य बड़े, ज्वालैः ज्वालाभिः, वनाग्नितापैरिति यावत्, आकीर्णम् ध्यातम्, (रम्) इव, आभाति प्रतीयत इत्यर्थः ।

लक्षण में जोड़े गए विशेषणों के फल दिखलाने के लिये प्रत्युदाहरण का निर्देश किया जाता है—लोहित इत्यादि । लाल-पीले फूलों से आच्छादित पर्वत का शिखर, किसी समय बनामि की ज्वालाओं से व्याप्त सा प्रतीत होता है । तात्पर्य यह कि किसी समय वनवह्नि के ताप से व्याप्त रहने पर पर्वत-शिखर जैसा दीखता रहा होगा, आज वैसा ही लाल-पीले फूलों से आच्छादित रहने पर दिखाई पड़ता है ।

उपपादयति—

अत्र लोहितपीतकुसुमावृवं भूमृतः शिखरं स्वनैव कस्मिंश्चित् समये दाव-
ज्वालाकीर्णो नोपमीयते, इति तत्सादृश्यवारणाय भूतान्तम् ।

‘लोहितपीतैः—’ इति पद्ये पर्वतशिखररूपैकपदार्थोपमानोपमेयकं सादृश्यं यद्यपि प्रतीयते, तथापि नायमनन्वयः, तस्य सादृश्यस्य द्वितीयसदृशान्यवच्छेदफलकवर्णनविषयी-
भूतत्वाभावात् । तथा चैतादृशसादृश्येऽनन्वयत्वापत्तिपरिहाराय लक्षणे भूतान्तविशेषण-
प्रवेश इति भावः ।

उपपादन करते हैं—अत्र इत्यादि । ‘लोहितपीतैः—’ इस पद्य में ‘लाल-पीले फूलों से आच्छादित पर्वतशिखर’ की तुलना ‘किसी समय बनामि की ज्वालाओं से व्याप्त’ अपने आपके साथ की गई है । देखा सादृश्य भी अनन्वय न कहलावे इसलिये लक्षण में ‘द्वितीयसदृशान्यवच्छेदफलकवर्णनविषयीभूत’ यह सादृश्य का विशेषण जोड़ा गया है ।

स्फुटत्वाय प्रत्युदाहरणान्तरमाह—

इदं वा प्रत्युदाहरणम्—

‘नखकिरणपरम्परामिरामं किमपि पदाम्बुरुहद्वयं मुरारेः ।

अभिनवसुरदीर्घिकाप्रवाहप्रकरपरीतमिव स्फुटं चकासे ॥’

कविः हरिचरणद्वयं पर्णयति—नखकिरणानां नखकान्तिनाम्, परम्परया श्रेण्या, अभि-
रामं मनोहरम्, किमपि अनिर्वचनीयम्, मुरारे’ हरे’, पदाम्बुरुहद्वयं चरणकमलयुग-
लम्, अभिनवस्य उत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य, सुरदीर्घिकायां गङ्गायां, प्रवाहस्य, प्रकारेण
समूहेन, परीतम् व्याप्तम् (स्वम्) इव, स्फुटं स्पष्टम्, चकासे शुशुभे इत्यर्थः ।

स्पष्ट बोध के लिये दूसरे प्रत्युदाहरण का निर्देश किया जाता है—इव वा इत्यादि ।
अथवा उक्त भूतान्त विशेषण का फल इस पद्य में समझना चाहिये—‘अगवान् का
अनिर्वचनीय चरणकमलयुगल, नखकिरणों की श्रेणी से मनोहर होकर उसी प्रकार
शोभित हुआ, जैसे (जब गङ्गा उन चरणों से निकल रही थी उस समय में) नदीन गङ्गा
प्रवाहसमूह से व्याप्त होकर वह शोभित होता था ।’

उपपादयति—

अत्रापि नखकिरणपरम्परामिरामं हरेः पदाम्बुजं स्वात्मनैव सुरदीर्घिका-
प्रवाहप्रकरपरीतेनोपमीयते ।

‘नखकिरण—’ इति श्लोकेऽपि हरिपदाम्बुजयुगलमेव नखकान्तिपङ्क्तिमनोहरताविशि-
ष्टत्वेनोपमेयम्, गङ्गाप्रवाहसमूहव्याप्तत्वेनोपमानव्याप्ति तथा चैकोपमानोपमेयकसादृश्यस्य
स्थितिरत्र स्फुटा । परन्तु पूर्वोक्तभूतान्तविशेषणार्थानुगात्रानन्वयसत्त्वात्तन्मिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । ‘नखकिरण—’ इस पद्य में भी ‘नख-
कान्तिर्यों की पङ्क्ति से मनोहर हरिचरणकमलों’ की तुलना ‘गङ्गा के नदीन प्रवाह समूह
से व्याप्त’ अपने आपके साथ की गई है, अब एक उपमान-उपमेय वाला सादृश्य-
यद्यपि यहाँ है, तथापि यह अनन्वय नहीं कहला सकता, क्योंकि उक्त ‘भूतान्त’ विशेषण
का अर्थ यहाँ नहीं पड़ता ।

ननु वर्णनकाले भगवच्चरणयोर्गङ्गाप्रवाहपरीतत्वाभावे तद्विशिष्टत्वेनासत् एव तस्योप-
मानत्वरूपेण सदुपमानं नास्तीति द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः प्रतीयत एवेत्यत आह—

सम्प्रति सूरदीर्घिकाप्रवाहेण भगवत्पादाम्बुरुहस्य सम्बन्धाभावात्सुरनिम्न-
गोत्पत्तिकालावच्छिन्नस्य तस्योपमानतावगमायाभिन्वेति प्रवाहविशेषणम् ।

वर्णनसमये भगवच्चरणयोर्गङ्गाप्रवाहसम्बन्धो नास्तीति यद्यपि सत्यम् तथापि यस्मिन्
काले भगवच्चरणाभ्यां गङ्गा निःसृता, तस्मिन् काले तत्र तत्सम्बन्ध आसीत्, एवम्
गङ्गानिःसरणकालीनभगवच्चरणयुगलस्यैवोपमानता विवक्षिता, अत एव प्रवाहेऽभिन्वेति
विशेषणं योजितम् । तथा च नासत् उपमानता न वा द्वितीयसदृशव्यवच्छेद इति भावः ।

वर्णन के समय में हरिचरणों में वस्तुतः गङ्गाप्रवाह का सम्बन्ध है नहीं, ऐसी स्थिति
में उसके सम्बन्ध से कुछ हरिचरण असत् अतएव कल्पित उपमान होगा, फिर तो यहाँ
'सत् उपमान नहीं है' इस रूप में द्वितीय सदृश का निवारण ज्ञात होगा ही, इस गङ्गा
का समाधान किया जाता है—सम्प्रति इत्यादि । अभिप्राय है कि—वर्णनकाल में भले
ही हरिचरणों में गङ्गाप्रवाह का सम्बन्ध न हो पर जब उन चरणों से गङ्गा उत्पन्न हुई
थी, तब तो वह था, ऐसी स्थिति में गङ्गोत्पत्तिकालिक हरिचरण को ही यहाँ उपमान
कहा गया है यह समझना चाहिए, अतएव गङ्गाप्रवाह में 'अभिन्व' विशेषण दिया
गया है । इस उत्तर से उक्त गङ्गा समाप्त हो जाती है क्योंकि अब असत् उपमानवाली
बात नहीं रही ।

ननु पूर्वोक्तपदयुगलेऽनन्वयालङ्कार कुतो नाहोपक्रियते इत्यत आह—

न ह्यत्र सादृश्यवर्णनस्य फलं द्वितीयसम्राज्ञाचारिभ्यवच्छेदः तस्याप्रतिपक्षेः ।

सम्राज्ञाचारीति । सादृश्यार्थः । अत्र 'अनन्वयार्थनिबन्धनवशादि द्वितीयसदृशव्यव-
च्छेदः फलति । न हि धर्मान्तरावच्छिन्नस्य धर्मान्तरावच्छिन्नेन साधर्म्यमनन्वयि । अत
एवोपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्भेदः एव साधर्म्यपक्षो ॥ तु धर्मिणो ह्युक्त
प्राक् । एव चानन्वयार्थनिबन्धनप्रयोज्यद्वितीयसदृशव्यवच्छेदफलकसादृश्यवर्णनमनन्वयः ।
एकोपमानोपमेयकत्वविशेषणं चाप्रैश्वर्यं तात्पर्यमाहकम् । अन्यथा धर्मिभेदादेव तत्र साद-
र्येण तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति भावः ।' इति भागेशः । 'लोहितपार्ति —' 'नलकिरण—' इति
च पदद्वये उपमानोपमेयभूतयोर्धर्मिणोरेकत्वेऽपि उपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्भेदेन
परस्परसादृश्यस्यान्वयो नासन्नतः, तथा च न द्वितीयसदृशव्यवच्छेदस्तादृशसादृश्यवर्णनफल-
भूतः प्रत्येतु योग्य इति भावः ।

प्रयुदाहरणरूप ॥ ऊपर कहे गए दोनों पदों में अनन्वय माना ही क्यों न जाए
इसका उत्तर अब स्पष्ट रूप में कहा जाता है—न ह्यत्र इत्यादि । तात्पर्य यह है कि—ऊपर
के दोनों श्लोकों में से किसी में भी अनन्वय नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ द्वितीय
सदृश की निवृत्ति फलित नहीं होती और अनन्वय वहीं माना जाता है जहाँ सादृश्य-
वर्णन से द्वितीय सदृश की निवृत्ति फलित होती है । आप कहेंगे—कहाँ द्वितीयसदृश-
निवृत्ति की प्रतीति फलरूप में क्यों होती है और यहाँ क्यों नहीं होती ? द्वितीयसदृश-
निवृत्ति की इस प्रतीति में क्या रहस्य है ? तो मैं कहूँगा कि—जहाँ दो पदार्थों का
सादृश्य वर्णित होता है वहाँ उस सादृश्य का वस्तुतः अन्वय होता है और जहाँ एक
ही पदार्थ का सादृश्य—अर्थात् अपना सादृश्य अपने में ही वर्णित होता है वहाँ उस
सादृश्य का अन्वय वस्तुतः नहीं होता—हो भी नहीं सकता, क्योंकि सादृश्य पदार्थ भेद-
पठित है । हाँ, अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित हो सकता है—होता भी है, यदि
उस अपने आप का वर्णन दो रूपों से किया गया हो—अर्थात् उपमान और उपमेय के
एक रहने पर भी यदि उपमानतावच्छेदक तथा उपमेयतावच्छेदक (वही रूप) दो हों

तो सादृश्य का अन्वय होता है, उपमान-उपमेय भी यदि दो रहें तब तो और अच्छा । इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि जहाँ उपमान उपमेय अथवा उपमानतावच्छेदक उपमेयतावच्छेदक भिन्न-भिन्न रहेंगे, वहाँ सादृश्य का अन्वय होने में किसी तरह की बाधा नहीं होगी, अतएव वैसे स्थलों में द्वितीय सदृश की निवृत्ति अवगत नहीं होगी, पर जहाँ उन दोनों में से एक भी भिन्न-भिन्न नहीं होगा, वहाँ का (अपने में अपना ही) सादृश्य अन्वित नहीं हो सकता, फिर भी जो उस तरह का सादृश्य वर्णित होता है, उसका फल यह ज्ञात हो जाता है कि इसका सादृश्य किसी दूसरे पदार्थ में नहीं है । यह तो हुआ वस्तुस्थिति का विश्लेषण । अब आप इस विश्लेषण के आधार पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि ऊपर के दोनों पद्यों ('लोहितपीतै —' और 'नखकिरण—') में द्वितीय सदृश की निवृत्ति क्यों नहीं ज्ञात होती और कहीं क्यों यह ज्ञात होती है— अर्थात् उन दोनों पद्यों में क्रमशः पर्वतशिखर और हरिचरण ये एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों हैं अथर्व, पर उपमानतावच्छेदक और उपमेयतावच्छेदक एक नहीं भिन्न हैं, तात्पर्य यह है कि—प्रथम पद्य में पर्वतशिखर, पुष्पाच्छादितरूप में उपमेय है, और वनाग्निग्यासरूप में उपमान, इसी तरह द्वितीय पद्य में हरिचरण, नखकान्ति मनोहाररूप में उपमेय है और गङ्गाप्रवाह ग्यासरूप में उपमान भवतः इन दोनों स्थलों में अपने आप का भी अपने आप में सादृश्य अन्वयी नहीं होगा, ऐसी दशा में द्वितीय सदृश की निवृत्ति ज्ञात नहीं होगी ।

एकोपमानोपमेयकेति विशेषणव्याख्यमाह—

‘स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात्कुटिलोऽलकः ।

सुधांशुभिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः ॥’

‘अस्यार्थः प्रागुक्लिखितः ।

‘एक उपमान उपमेयवाला’ इस विशेषण का फल दिखलाया जाता है—स्तनाभोग इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले की जा चुकी है ।

उपपादयति—

इति कल्पितोपमानिकायामुपमायामतिप्रसङ्गवारणायैकोपमानोपमेयकमिति । अत्रासत् उपमानस्य कल्पनया सदुपमानं नास्तीति द्वितीयसदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीतिः ।

‘इति पूर्वपद्यपरामर्शकः । असत् इति । तथा च धर्मिभेदोऽत्र स्पष्टः । नास्तीति । अन्यथा तात्पर्यन्तानुपाचनं व्यर्थं स्यादिति भावः । ‘स्तनाभोगे—’ इति पद्ये उपमानतया वर्णित सुधांशुभिम्बावधिकमेरुपर्वताधिकरणकलम्बनकर्तृत्वविशिष्ट उरगो न सन् अप्रसिद्धत्वात् । तथा चासत् एव तादृशस्य तत्स्योपमानता कल्प्या । एव चोपमेयतयात्र वर्णितस्य कपोलावधिकस्तनाभोगाधिकरणकपतनकर्तृत्वविशिष्टस्य सतोऽलकरूपस्योपमेयस्य सदुपमानं नास्तीति प्रतीतिर्दुर्बलत्वात्, अन्यथा सदुपमानं परिहायासदुपमानस्य कल्पना प्रसङ्गमेव न लभेत । तथा च द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः प्रतीयमान लक्षणपदकान्तरं तुल्यत्वेन, परन्तु एकोपमानोपमेयकेति सादृश्यविशेषणेनास्य व्यावृत्तिः उरगालक्योरुपमानोपमेययोर्भिन्नत्वादिति भावः ।

उपपादयति किया जाता है—इति इत्यादि । ‘स्तनाभोगे—’ इस पद्य की कल्पित उपमानवाली उपमा में अतिव्याप्तिवारण करने के लिये लक्षण में ‘एक उपमान उपमेय वाला’ यह सादृश्य का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि—इस पद्य में असत् (अवास्तविक) उपमान की कल्पना की गई है—अर्थात् चन्द्रमण्डल से मेरुपर्वत पर लटकता हुआ सौं प वस्तुतः संसार में प्रसिद्ध नहीं है, फिर जो उसका उपमानरूप में

वर्णन किया गया है वह केवल कल्पना के आधार पर, अतः इस तरह के उपमान की कल्पना से यह बात सिद्ध हो जाती है कि—कपोलतट से स्तनतट पर लटकते हुए कुटिल केशरूप उपमेय का वास्तविक उपमान ससार में नहीं है, और जब यह बात सिद्ध हो जायगी, तब यह समझने में कोई बाधा नहीं रहेगी कि इस सादर्य वर्णन से द्वितीय सदृशपदार्थ की निवृत्ति फलित होती है। इस तरह से अद्यपि लक्षण का अन्य भाग यहाँ सद्वर्णित होता था पर सादर्य के विशेषणरूप में जो लक्षण का 'एक उपमान उपमेयवाला' यह भाग है उससे इसका वारण हो जाता है, कारण, यहाँ उपमान-उपमेय एक नहीं अपितु दो हैं—अर्थात् उपमान है साँप और उपमेय अलक।

उदाहरणं दर्शयितुमाह—

उदाहरणममृतं (पीयूष) लहर्याख्ये मदीये गङ्गास्तवे—

गङ्गास्तुतिमये पण्डितराजरचिते अमृतलहरीनामके निबन्धेऽनन्वयालङ्कारोदाहरणभूत पद्यमिदमिति भावः ।

उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—उदाहरण इत्यादि। पण्डितराजरचित अमृतलहरी नामक गङ्गास्तोत्र का निम्नलिखित पद्य 'अनन्वय' अलङ्कार का उदाहरण है।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कृतधुद्राघौघानय सपदि सन्तप्तमनसः,
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिषङ्गाः ।
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान् ,
नरानूरीकर्तुं त्वमिव जननि त्वं विजयसे ॥’

हे जननि मातर्गङ्गे ! कृत धुद्राणां क्यूनाम्, अघाना पापानाम्, औघः समूहो यैस्तान्, अयं अरूपपापकरणानन्तरम्, सपदि तत्कालमेव, न तु कालान्तरे, प्राक्तन-पुण्योदयादिति भावः, सतप्तमनसः पापतापाकुलचेतसः, नरान्, समुद्धर्तुम् पापेभ्यो मोचयितुम्, त्रिभुवनतले त्रिलोक्याः, तीर्थनिषङ्गाः तीर्थस्थानानि काशीप्रयागादीनि, सन्ति । किन्तु प्रायश्चित्तानां पापनाशकानुष्ठानानाम्, प्रसरणानि प्रसङ्गाः, यत्र तादृशा ये पन्थान मार्गाः, ततः अतीतानि दूरगतानि, चरितानि चरित्राणि, येषाम् तान् प्रायश्चित्त-प्रातिविपसत्ताफ्रान्ताचरणकान् इति यावत्, अपि, नरान् अनुप्यान्, करीकर्तुं निष्पापत्वेन स्वीकर्तुम्, त्वम् इव त्वं, विजयसे सर्वोत्कृष्टासि इत्यर्थः । नराणां स्वरूपानि पापानि तीर्थान्तरसेवनेनापि शाम्यन्ति किन्तु महापापानि तु तव (गङ्गाया) सेवनेनैव नश्यन्तीति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कृत इत्यादि। हे मातः गङ्गे ! छोटे छोटे पाप-समूह को कर लेने के बाद मुरत मन में एक प्रकार के ताप का अनुभव करने वाले मनुष्यों का उद्धार करने के लिये त्रिभुवन में तीर्थों का एक विशाल समुदाय तैयार है। पर प्रायश्चित्तों की पहुँच से बाहर—अर्थात् जिनके प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकते ऐसे—चरित्रवालों को भी—महापापियों को भी—निष्पाप बनाकर अपनाने वाली तेरी जैसी तू ही है। तात्पर्य यह कि महापापियों को भी अपनाने के विषय में तेरी तुलना दूसरों से हो नहीं सकती—इस विषय में तू ही सर्वोत्कृष्ट है।

उदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘इयति प्रपञ्चविषये तीर्थानि कियन्ति सन्ति पुण्यानि ।

परमार्थतो विचारे देवी गङ्गा तु गङ्गेव ॥’

इयति एतावति, निरवधविति भावः, प्रपञ्चविषये विषयरूपे संसारे, पुण्यानि पवित्राणि, कियन्ति अगणितानिति यावत्, तीर्थानि, सन्ति, तेषां पवित्रताया काऽपि विप्रतिपत्तिर्नास्ति, किन्तु परमार्थतः वस्तुतः, विचारे विवेके, त्रिचमारे इति शेषः, गङ्गा देवी इव दिव्या मुरनिम्नगा, इव, तु पुनः, गङ्गा एवैत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इयति इत्यादि । इतने बड़े संसार में पवित्र तीर्थ कितने हैं—उनकी इयत्ता नहीं, उसकी पवित्रता में किसी तरह का सम्यक् नहीं । पर वास्तविक विचार करने पर गङ्गा देवी जैसी तो गङ्गा देवी ही हैं—उनकी तुलना दूसरे से नहीं ।

उदाहरणान्तरदाने बीजमाह—

पूर्वपद्ये वाच्योऽनुगामी धर्मः । इह तु व्यङ्ग्य इति विशेषः ।

‘कृतधुदा—’ इति प्रथमोदाहरणे ‘इयति—’ इति द्वितीयोदाहरणे च सर्वोत्कर्षरूप एव अनुगामी साधारणधर्मः परन्तु प्रथमस्थले स ‘विजयसे’ इति तिङन्तपदवाच्य, द्वितीयस्थले पुन वाचकविरहाद् व्यङ्ग्य इति भावः । एतद्वैलक्षण्यस्फोरणादेवोदाहरणान्तरदानमिति सारांशः ।

द्वितीय उदाहरण विलक्षणता में बीजभूत विलक्षणता का स्पष्टीकरण करते हैं—पूर्व इत्यादि । उक्त दोनों उदाहरणों में यद्यपि साधारणधर्म एक ही है अनुगामी ‘सर्वोत्कर्ष’, परन्तु प्रथम में वह धर्म ‘विजयसे’ पद से वाच्यरूप में उपस्थित हुआ है और द्वितीय में वाचक का अभाव होने से वह व्यङ्ग्यरूप में ज्ञात होता है । इसी विलक्षणता को विलक्षणता के लिये द्वितीय उदाहरण दिया गया है ।

द्वितीयोदाहरणयत्कृतुपदप्रतीयमानं विशेषं स्फुटीकर्तुमाह—

तुशब्दोऽयम् तीर्थान्तरेभ्यो वैलक्षण्य प्रतिपादयस्वरप्रयोजकं भगवद्वागुद्देशात्मकत्वं धर्मं श्रीगङ्गायां व्यनक्ति ।

‘त्वन्तायादि न पूर्वभाक्’ इति क्षेत्रानुशासनानुसार ‘तु’शब्दो वाच्यवृत्त्याऽन्येभ्यः स्तोत्रेभ्यो गङ्गाया भेद बोधयति । तद्भेदनिदानभूत विष्णुरूपत्वं पुनस्तत्र व्यङ्ग्यवृत्त्याऽवगमयतीति भावः ।

द्वितीय उदाहरण में पठित ‘तु’ शब्द से अभिव्यक्त होनेवाले विशेष का उल्लेख किया जाता है—तुशब्दोऽयम् इत्यादि । ‘त्वन्तायादि न पूर्वभाक्—अर्थात् ‘तु’ ‘शब्द’ और ‘अथ’ पद पूर्व का भजन नहीं करते—पूर्व से भेद चलता है’ इस कोश के अनुसार द्वितीय पद्य में पठित ‘तु’ शब्द अन्य तीर्थों की अपेक्षा गङ्गा में विलक्षणता (भेद) का बोध अभिधावृत्ति के द्वारा करता है पर साथ ही उस भेद को सिद्ध करनेवाला विष्णुरूपत्वरूप धर्म का बोध भी उसमें व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा विदित करता है ।

उपरितनवोदाहरणयोर्वर्णितस्यानन्वयस्यालङ्कारत्वं निगमयति—

उभयत्रापि श्रीगङ्गाविषयकरस्युपस्कारकत्वादलङ्कारोऽयम् ।

रतीति । वविनिष्ठेत्यादि । उपस्कारकत्वात् पोषकत्वात् । अयं अनन्वयः उपरितने द्वे अपि पद्ये कविना गङ्गास्तुतौ प्रयुक्ते, यत् उभयत्र गङ्गाविषयिणी कविरिति प्रधानतया व्यङ्ग्या । वाच्यदानन्वयं ता रति पुष्पजलधारभाव भवति इति भावः । एतेन ‘वाक्यायोपस्कारकत्वम्’ अलङ्कारसामान्यलक्षणं सङ्गमितम् ।

ऊपर के दोनों उदाहरणों में वर्णित 'अनन्वय' अलङ्काररूप कैसे होता है इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—उभयत्रापि इत्यादि । ऊपर के दोनों ही पद्य गद्या की स्तुति में रचे गये हैं, अतः उन दोनों पद्यों से गद्या के विषय में कवि का प्रेम (भाव) प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है, वही यहाँ काव्यजीवातुमूल अर्थ है और उस अर्थ को (कविनिष्ठगद्याविषयक रति को) पुष्ट करनेवाले के रूप में वाच्य होने के कारण 'अनन्वय' होता है अलङ्काररूप, क्योंकि 'अलङ्करोति इति अलङ्कारः' दूसरे को अलङ्कृत करता है इसलिये 'अलङ्कार' कहा जाता है ।

अनन्वये विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नसाधारणधर्मस्यासम्भावना सूचयति—

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो धर्मस्त्वत्र नास्ति । तस्मिंश्च सति किञ्चिद्वर्माव-
च्छिन्नेन स्वेन सादृश्यस्य धर्मान्तरावच्छिन्ने स्वस्मिन्नन्वये बाधकाभावात्स-
दृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतिपत्तेरानन्वय एव न स्यात् ।

अत्रेति । अनन्वयालङ्कार इत्यर्थः । बाधकाभावादिति । अवच्छेदकभेद एव सादृश्य-
शरीरप्रविष्टो न तु धर्मभेद इति भावः । यो बाधकालङ्कारे हेतुः वा । अन्वये बाधका-
भावो हि सदृशान्तरव्यवच्छेदाप्रतिपत्तौ हेतुः । अयं भावः—उपमानोपमेयवद्विषयान-
न्वयेऽपि साधारणधर्मस्तिप्रति परन्तु सोऽत्र विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो न भवितुमर्हति, यत्
उपमानविशेषणीभूत उपमेयविशेषणीभूतश्च पृथक् पृथक् धर्म एव तु मिलित्वा विम्बप्रति-
विम्बभावापन्नो भवति, एवञ्च भिन्नधर्मावच्छिन्नत्वात्मकोपमाननिरूपितसादृश्यस्य भिन्नध-
र्मावच्छिन्नत्वात्मकोपमेयेऽन्वयोऽबाधितः, 'स्वस्य स्वस्मिन् सादृश्यम् न भवति' इत्यस्य
स्वावच्छेदकयोरैक्ये तत्र भवतीत्यर्थस्य प्रागुपपादितत्वात् । अबाधिते च तथान्वयेन सदृ-
शान्तरव्यावृत्तिः फलेत्, अफलितायां च तस्या नानन्वय प्रतीतिपक्षमकारेत् इति विम्ब-
प्रतिविम्बभावापन्नधर्मस्थलेऽनन्वयो न भवतीति सिद्धम्, तथा चानन्वयालङ्कारे साधारण-
धर्मो विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो न भवतीति ।

'अनन्वय' में साधारणधर्म विम्बप्रतिविम्बभावापन्नरूप नहीं हो सकता इस बात का उपपादन अब करते हैं—विम्ब इत्यादि । उपमानोपमेयभाव से युक्त होने के कारण अनन्वयालङ्कार में भी साधारणधर्म रहता अवश्य है, पर वह अनुगामी, आरोपित आदि प्रकार का ही हो सकता है विम्बप्रतिविम्बभावापन्न नहीं । कारण, विम्बप्रतिविम्बभावा-
पन्न धर्मवाले स्थलों में अनन्वय ही नहीं हो सकेगा । अभिप्राय यह है कि—जहाँ उपमान और उपमेय एक ही पदार्थ हो और उपमानताकाल में तथा उपमेयता काल में उस एक पदार्थ का ही विशेषण भिन्न-भिन्न, पर समानधर्म हो, वहाँ तो विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्मवाले अनन्वय की सम्भावना हो सकती थी, पर वैसे स्थलों में अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित होता ही है, क्योंकि वैसे अन्वय में बाधा तो यही उपस्थित की जाती है कि 'सादृश्य' भेदवर्तित पदार्थ है फिर अपने में अपने सादृश्य का अन्वय कैसे होगा ? पर यह बात बृद्ध है नहीं, क्योंकि सादृश्य में धस्तु का नहीं अपितु वस्तु के विशेषणीभूत धर्म का भेद रहना चाहिए यह पहले कहा चुका है, और विशेषणीभूत धर्म का भेद वैसे स्थलों में नियमन रहेगा ही । ऐसी स्थिति में—जब कि अपना सादृश्य भी अपने में अन्वित हो जायगा तब—द्वितीय सदृश की निवृत्ति उस सादृश्यवर्णन से फलित होगी नहीं क्योंकि यह सादृश्य के अन्वय न हो सकने के कारण ही फलित होती है और जब यह फलित नहीं होगी तब 'अनन्वय' माना नहीं जा सकेगा । कारण, वही उसका जीवन है । फलतः यह सिद्ध हुआ कि अनन्वयस्थल में साधारण धर्मविम्बप्रतिविम्ब-
भावापन्न नहीं हो सकता ।

अनन्वयभेदानाह—

स च पूर्णो लुप्तश्चेति तावद्विविधः । पूर्णस्तूपमावत् षड्विधोऽपि सम्भवति ।

स च अनन्वयः । तानन् आदौ । षड्विधोऽपीति । औत्तार्ययोस्तयोः प्रत्येकं वाक्य-
समासतद्वितगामिन्वेनेति भावः ।

अब 'अनन्वय' के भेद कहे जाते हैं—स च इत्यादि । अनन्वय प्रथमतः दो प्रकार का होता है—एक 'पूर्ण' और दूसरा 'लुप्त' । पूर्ण अनन्वय उपमा की तरह जहाँ प्रकार का हो सकता है ।

पूर्णानन्वयस्य भेदानुदाहरणमाह—

यथा—

पूर्णानन्वयस्य भेदाः प्रदर्शयन्ति इति भावः ।

पूर्ण अनन्वय के भेद । जैसे—

उदाहरणानि सार्धपरणे निरूपयन्ते—

‘गङ्गा इत्या यथा गङ्गा, गङ्गा गङ्गेव पावनी ।

हरिणा सदृशो बन्धुर्हरितुन्यः परो हरिः ॥

गुरुवद् गुरुराराध्यो गुरुवद् गौरवम् गुरोः ।’

निगदव्याख्यातम् । अत्रायपरणे ओतो वाक्यगतः पूर्णः । द्वितीयपरणे समासगतः श्रौतः पूर्णः । तृतीयपरणे आर्यो वाक्यगतः पूर्णः । तुर्यपरणे समासगतः आर्यः पूर्णः । पञ्चमपरणे ‘तेन तुल्यम्’ इति वृत्तेः सत्त्वाचार्यः स तद्वितगतः पूर्णः । षष्ठपादे ‘तत्र तस्यैव’ इति वृत्तेः सत्त्वाच्छ्रौतस्तद्वितगतः पूर्णः इति बोध्यम् ।

उदाहरणों का निवेदन किया जाता है—गङ्गा इत्यादि । गङ्गा गङ्गा-सी तुल्य है । गङ्गा गङ्गा-सी पवित्र है । हरि के समान बन्धु हरि है । हरि के समान उत्कृष्ट हरि है । गुरु गुरु की तरह सेव्य है । गुरु का गौरव गुरु का-सा है । यहाँ प्रथम चरण में श्रौत वाक्यगत, द्वितीय चरण में श्रौत समासगत, तृतीय चरण में आर्य वाक्यगत, चतुर्थ चरण में आर्य समासगत, पञ्चम चरण में ‘तेन तुल्यम्’ सूत्र से ‘वति’ प्रत्यय होने के कारण आर्य तद्वितगत और षष्ठ चरण में ‘तत्र तस्यैव’ सूत्र से ‘वति’ प्रत्यय होने के कारण श्रौत तद्वितगत पूर्ण अनन्वयावकाश है ।

लुप्तानन्वयभेदानाह—

लुप्तश्चेति धर्मलुप्तः षड्विधोऽपि सम्भवति, प्रागुक्ते सार्धपर्ये धर्मवाचक-
पदमपहाय पदान्तरदाने ।

धर्मलुप्तानन्वयस्य पूर्ववत् पञ्च प्रकार भवितुमर्हति । तेषामुदाहरणानि च पूर्वोक्त-
सार्धपर्ये त्रयो धर्मवाचकानां द्वय-पावन-बन्धु-पर आराध्य गौरवपदानां स्थानेषु अन्येषां
पदानां निवेशे स्वयमूहनीयानीति भावः ।

अब लुप्त अनन्वय के भेद दिखलाये जाते हैं—लुप्तेष्वपि इत्यादि । लुप्तभेदों में भी धर्मलुप्त अनन्वय पाँचों प्रकार का—अर्थात् श्रौत वाक्यगत, आर्य वाक्यगत, श्रौत समासगत, आर्य समासगत, और आर्य तद्वितगत—हो सकता है । इन भेदों के उदाहरण ऊपर लिखे गए उदाहरणों में ही धर्मवाचक—द्वय, बन्धु, पर, आराध्य और गौरव-पदों के स्थान में अन्य पदों का समावेश कर देने पर समझे जा सकते हैं ।

वाचकलुप्तमनन्वयमुदाहरति—

वाचकलुप्तः—

‘रामायमाणः श्रीरामः सीता सीतामनोहरा ।

ममान्तःकरणे नित्यं विहरेतां जगद्गुरु ॥'

इत्यत्र क्यङ्समासयोः ।

'रामसदृशाचरणकर्ता श्रीरामचन्द्र' तथा सीतासमा सुन्दरी सीता इतीनौ द्वावपि जगतो गुरु (मातापितरौ) सदा मम हृदये विहारं कुस्ताम्' इत्यर्थकस्य 'रामाय-माण —' इति पश्य रागाद्यो क्यङ्प्रत्ययगतस्य सीताद्यो च समासगतस्य अनन्वया-लङ्कारस्योदाहरणे द्रष्टव्ये इति भावः ।

वाचकलुप्त अनन्वय का उदाहरण दिखलाया जाता है—वाचकलुप्त इत्यादि । 'रामायमाण'—अर्थात् राम के सदृश आचरण करने वाले श्रीरामचन्द्र जी और सीता के समान सुन्दरी श्रीसीताजी—दोनों जगत् के गुरु (माता-पिता), मेरे अन्तःकरण में, सदा, विहार करते रहें ।' इस पद्य के राम अश में 'क्यङ्'प्रत्ययगत और सीता अश में 'समास-' गत वाचकलुप्त अनन्वयालङ्कार के उदाहरण मिलते हैं । तात्पर्य यह कि—सादृश्यवाचक 'क्यङ्' प्रत्यय का तथा इबादि का क्रमशः यहाँ लोप (अदर्शन) हुआ है ।

वाचकलुप्तमेव पुनरन्योदाहरति—

'लङ्कापुरादतितरां कुपित' फणीष

निर्गत्य जातु घृतनापतिभिः परीतः ।

क्रुद्ध रणे सपदि दाशरथि दशास्यः

संरब्धदाशरथिदर्शमहो ददर्श ॥'

कविलङ्कारणं वर्णयति—जातु कदाचित्, घृतनापतिभिः सेनापतिभिः, परीतो व्याप्त, दशास्यो रावणः, अतितराम् अत्यन्तम्, कुपित क्रुद्ध, फणी सर्प, इव, लङ्कापुरात् लङ्काभिधाङ्गरात्, निर्गत्य निरसृत्य, सपदि तत्कालमेव, रणे युद्धे, दाशरथि रामचन्द्रम्, संरब्धदाशरथिदर्शम् क्रुद्धरामचन्द्रमिव, ददर्श दृष्टवान् इत्यर्थः । अत्र 'संरब्धदाशरथि-दर्शम्' इत्यत्र संरब्धदाशरथिरिव दृश्यते इत्यर्थे कर्मणि णमुन्प्रत्ययो भवति, अतः कर्मार्थ-कणमुल्प्रत्ययगतवाचकलुप्तानन्वयोदाहरणं पश्यमिदं सम्पद्यत इति भावः ।

कर्मार्थकणमुल्प्रत्ययगत वाचकलुप्त अनन्वय का उदाहरण दिखलाते है—लङ्का-पुरात्—इत्यादि । कवि लङ्का में होनेवाले युद्ध का वर्णन करता है—किसी समय, सेनापतियों से परिवेष्टित रावण ने, अत्यन्त कुपित सर्प की तरह, लङ्कापुरी से निकल कर, तत्काल, क्रुद्ध रामचन्द्र के समान क्रुद्ध रामचन्द्र को रण में, आश्रय से देखा ।—यहाँ 'संरब्धदाशरथिदर्शम्' में कर्म अर्थ में णमुल्प्रत्यय हुआ है, अतः णमुल्गत वाचकलुप्त अनन्वय का यह पद्य उदाहरण होता है ।

अन्यत्रापि वाचकलुप्तानन्वयलक्ष्यसम्भावनामाह—

एव कर्तृणमुत्तादात्रप्यूहम् ।

पूर्वोक्तकर्मार्थकणमुल्प्रत्यय इव कर्त्रर्थकणमुल्प्रत्यये ततोऽन्यत्र च वाचकलुप्तानन्व-यालङ्कार सम्भवतीति भावः ।

इसी तरह 'नर्तु-णमुल्' आदि में भी वाचकलुप्त अनन्वयालङ्कार का उद्घ कर लेना चाहिये ।

एकलुप्तमुदाहृत्य सम्प्रत्यनेकलुप्तानन्वयोदाहरणप्रसंगे प्रथम धर्मवानकोभयलुप्त-मुदाहरति—

'अम्बरतन्म्वरं यद्वत्समुद्रोऽपि समुद्रति ।

विक्रमार्कमहीपाल तथा त्वं विक्रमार्कसि ॥'

यद्वत् यथा, अम्बरं आकाशः, अम्बरति आकाशति, समुद्रोऽपि वारिधिरपि, समुद्रति वारिधिरिवाचरति, तथैव, हे विक्रमार्कमहीपाल विक्रमार्कनाम राजन् ! त्वम्, विक्रमार्कसि विक्रमार्क इव आचरसि । आकाशसमुद्रमदृशौ यथा तावेव तथा त्वत्सदृशस्त्वनेवेत्यर्थः ।

धर्मवाचक लुप्त अनन्वय जैसे—अम्बर इत्यादि । जैसे आकाश आकाशका-सा आचरण करता है और समुद्र समुद्रका-सा (क्योंकि उनके समान दूसरे नहीं हैं), वैसे ही हे विक्रमार्क राजन् ! तू भी विक्रमार्क के समान ही आचरण करता है (तेरी तुलना करने वाला भी कोई नहीं है) ।

उपपादयति—

अत्र वाक्यार्थावयवेध्वनन्वयेषु धर्मवाचकयोर्लोपः । मुख्यवाक्यार्थस्त्वनन्वयफलेन निरुपमत्वेन समानधर्मेण प्रयोजितो मालोपमैव । एषा च ज्ञानसौकर्यायात्रैव निरूपिता ।

ननु कोऽसौ वाक्यार्थो यदवयवाख्योऽनन्वया अत आह—मुख्य इत्यर्थः । ननु मालोपमाया इहो भेदो नैवास्ति पूर्वमनुक्तत्वात् आह—एषा चेति । मालोपमा चेत्यर्थः । अत्रैवेति । अनन्वयप्रकरण एवेत्यर्थः । 'अम्बरत्यम्बरम्—' इति श्लोके 'अम्बरम् अम्बरति', 'समुद्रः समुद्रति' तथा 'विक्रमार्कः विक्रमार्कति' इति मुख्यवाक्यार्थावयवभूताख्योऽनन्वया । तेषु सर्वेषु सादरववाचकस्य किप्रत्ययस्य साधारणधर्मस्य च लोपः । एतदनन्वयप्रयोजितनिरुपमत्वरूपसमानधर्मप्रयोजित 'यद्वत्-तथा' पदबोध्यार्थपठित प्रधानवाक्यार्थस्तु मालोपमारूप एव । यद्यपि अनन्वयफलीभूतानुपमत्वरूपसमानधर्मप्रयोज्यमालोपमायाध्वया उपमाप्रवरण एव कर्तुमुचिता, तथापि अनन्वयज्ञानमन्तरा तदज्ञानासम्भवेन तच्चर्चात्र कुतेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । यहाँ मुख्य वाक्यार्थ के अङ्गरूप में तीन अनन्वय भलङ्कार हैं—पहला 'आकाश आकाश के समान' दूसरा 'समुद्र समुद्र के समान' और तीसरा 'विक्रमार्क राजा विक्रमार्क राजा के समान' । इन तीनों अनन्वयों में विशालता आदि समानधर्म और सादरववाचक 'किं इत्यर्थ' का लोप है । मुख्य वाक्यार्थ तो मालोपमारूप है जिसका प्रयोजक होता है उक्त तीनों अनन्वयों से फलित होनेवाला निरुपमत्वरूप समानधर्म । यह मालोपमा 'यद्वत्' और 'तथा' पद से भ्रमगत होती है । आप कहेंगे—आपने उपमा के प्रकरण में, जिसमें अनन्वयफलित अनुपमता समानधर्मरूप हो ऐसी मालोपमा की चर्चा क्यों नहीं की ? हम कहते हैं—यह प्रश्न आपका ठीक है पर बिना अनन्वय के समझे ऐसी मालोपमा का समझना कठिन पड़ता और अब सहज में ही समझी जा सकती है, अतः इस मालोपमा का निरूपण यहीं किया गया है । अब आप मालोपमा के प्रभेदों में यह एक भेद और समझ लीजिए ।

त्रिलुप्तमनन्वयमुदाहरति—

‘एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् सदेवासुरमानुषे ।

केनोपमीयतां तज्ज्ञै रामो रामपराक्रमः ॥’

देवाश्च श्रमुराश्च मानुषाश्चेति इन्द्र , तैः सहिते, एतावति इत्यद्विशाले, अस्मिन् , प्रपञ्चे संसारे, तज्ज्ञै रामपराक्रमैर्जनैः, रामपराक्रम रामवत् पराक्रमो यस्येति बहुव्रीहि , स तथाविधो राम, केन उपमानेनेत्यर्थः, उपमीयताम् सोपमानो विधीयताम् ? न तादृश-पराक्रमशालो बहिदपरो येन तस्य तुलना दीयेतेत्यर्थः ।

धर्मोपमान वाचकतुल्य अनन्वय ज्ञेये—एतावति इत्यादि । देवता, क्षत्र और मनुष्यों से महित इस इतने बड़े समार में राम के स्वरूप की समझनेवाले लोग, राम के पराक्रम के समान पराक्रमवाले राम की, उपमा किमये दें ? जब उनके समान पराक्रमवाली कोई है ही नहीं तब फिर उनकी उपमा किमये देने कैसे ?

उपमादयति—

अत्र वाचकधर्मोपमानानां लोपः ।

‘एतावति—’ इति श्लोके सादृश्यवाचकस्य इवादेः साधारणधर्मस्य सम्यग्निष्ठत्वा प्रतीयमानस्य पराक्रमदेः उपमानवाचकस्य कस्यचित् व्यतिविशेषस्य च लोपः । ननु ‘उपपराक्रम’पदनेषोपमानवाचकमिति चेन्न, तस्य उपमेयविशेषणतरोपमानबोधकत्वविर-
हान्ति माव ।

उपमादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘एतावति—’ इस पद्य में सादृश्यवाचक इव आदि पराक्रमरूप समानधर्म तथा राम के समान पराक्रमवाली कोई पुरुषविशेष इन तीनों का लोप है । ‘रामपराक्रम’ यह पद तो उपमानबोधक हो नहीं सकता, क्योंकि यह पद उपमेय-राम-के विशेषणरूप में प्रयुक्त है और जब उपमान का ही पता नहीं तब सम्यग्निष्ठ होने के कारण साधारण कहलानेवाला धर्म आवे तो कैसे ?

न्यूनता निपचये—

अत्र चोपमानलुप्तादपोऽन्त्रे भेदा असम्भवाद्ब्रह्मत्वाच्च नोदाहृताः ।

अस्मिन् असम्भवालङ्कारे शुद्ध उपमानलुप्त एवमन्येऽपि उपमोक्ता लुप्तभेदा न सम्भ-
वन्ति सम्भवन्तोऽपि वा चमत्कारहीना अतस्तेषु भेदानालुप्तहरणानि न लिखित-
नीति माव ।

न्यूनता का निराकरण किया जाता है—अत्र इत्यादि । लुप्त भेद के मिलने उपमेय उपमा में उदाहरण हुए हैं उन सभी उपमेयों के उदाहरण अनन्वय में भी दिव्यापु जाने चाहिये, पर दिव्यापु गए नहीं, अतः यहाँ यह न्यूनता भा जाती है, ऐसी आभाशा नहीं की जा सकती क्योंकि लुप्तभेद के मिलन उपमेयों के उदाहरण अनन्वय में दिव्यापु दिव्य गए हैं उनसे अधिक उपमेय-शुद्ध उपमानलुप्त आदि-अनन्वय में हो ही नहीं सकते, मोक्ष-मार्ग पर यदि उन भेदों के उदाहरण उपस्थित भी किये जायें, तो वे वस्तुतः उदाहरण-कोटि में ग्राह्य नहीं हो सकते, कारण, उन तरह के उदाहरणों में चमत्कार का अभाव ही रहता और जब चमत्कार ही नहीं तब उनको अलङ्कार माना ही कैसे जायगा ?

सङ्गनाय रसाकरमतनुष्ठापयति—

यत्तु—‘तेन तदेकदेशेनावसितभेदेन चोपमानतया कल्पितेन सादृश्यम-
नन्वयः । उपमेयेनैवोपमानतया कल्पितेनोपमेयस्यामुखावभासमानसाधर्म्यापा-
दनभेकोऽनन्वयः । उपमेयैकदेशस्य तथैवोपमानताकल्पनमपरः । उपमेयस्यैव
अतिविम्बत्वादिना भेदेनावसितस्य तत्त्वकल्पनं तृतीयः ।

आद्यो यथा—

‘युद्धेऽजुनोऽजुन इव प्रथितप्रतापः’ इत्यादि ।

द्वितीयो यथा—

‘एतावति प्रपञ्चे सुन्दरमहिलासदृशमरितेऽपि ।

अनुहरति सुमग तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥’

सृतीयो यथा—

‘गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्रमैत्री-

मैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते ।

तत्त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्रभित्ति-

स्थीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेपि ॥’

एतूपमानान्तरविरहस्त्रिविधः । इत्यनन्वयस्त्रिविधः ।’ इति रत्ना-
करणाक्षम् ।

त्रिविधानन्वयसंज्ञाद्वक्त्रमेकं लक्षणं प्रथमत आह—‘तेनैत्यादि । अवसितभेदेनेति ।
निश्चितभेदेनेत्यर्थः । अस्मात् लक्षणात् ‘उपमानतया कल्पितेन तेन सादरयमनन्वयः’
‘उपमानतया कल्पितेन तदेकदेशेन सादरयमनन्वयः’ एवम् ‘अवसितभेदेन तेन उपमान-
तया कल्पितेन सादरयमनन्वयः’ इति त्रिविध लक्षणं पल्लवीति स्मैरपि तुम् प्रथमलक्षण-
व्याख्यारूपं त्रिविधं लक्षणं कनरा आह—उपमेयेनैवेत्यादिना । प्रथमलक्षणपदस्य ‘तेन’
इत्यस्य विवरणम्—उपमेयेनैवेति । अनुजेति । अनुत्प्रेत्यर्थः । तथा च ‘अनुत्पादभासमान-
साधन्यापादनम्’ इत्यस्य ‘अनुत्प्रेत्यर्थेण अवभासमानम् = प्रतीदमानं यद् साधन्यम् =
सादरयम् तस्य आपादनम्—ग्रहणम्’ इत्यर्थः । ‘तदेकदेशेन’ इत्यस्य प्रथमलक्षणपदस्य
विवरणम्—उपमेयेनैवेति । तथैव उपमेयकम् । प्रथमलक्षणपदस्य ‘अवसितभेदेन’
इत्यस्य विवरणम्—उपमेयस्यैव प्रतिबिम्ब इति । प्रतिबिम्बोऽत्र लौकिकः । अवसितस्य
निश्चितम् । तत्त्वेति । उपमाननैत्यर्थः । प्रथमभेदस्योदाहरणं निर्देष्टुमाह—आयो यथेति ।
उदाहरणमाह—‘गुदे’ इति । ‘गुदे ररो, अर्जुनः महाभारतनायकः पान्डुपुत्रः, इव
प्रथितप्रभावः विख्यातमाहात्म्यः, अर्जुन एवेत्यर्थः । द्वितीयभेदस्योदाहरणं निर्देष्टुमाह—
‘त्रितीयो यथेति । उदाहरणं निर्दिश्यते—एतावति इति । हे सुभग सुन्दर ! सुन्दरेण मनोहरेण,
महिलासहस्रेण स्त्रीसहस्रेण, भरिते परिपूर्णं, अपि, एतावति निरवधौ, प्रपद्ये संसारे, तस्याः
कल्याणार्थं यन्मनीषनायिकाया, वामार्थम् वामार्थभाष्यं, दक्षिणार्थस्य दक्षिणार्थभागस्य
(कर्मणः) शेषविवक्षया पठौ), अनुहरति अनुकरोतीत्यर्थः । तन्नादिकारामाहस्य समया
यदि कचिदस्ति तर्हि तन्नादिकारामाहस्येव, नान्यत्रापि दक्षिणेति भावः । अत्र सनु-
दिता नायिका उपमेयभूता । तृतीयभेदमुदाहर्तुमाह—‘तृतीयो यथेति । उदाहरणं
निर्दिश्यते—गन्धेन—इति । हे सिन्धुरधुरन्धरवक्त्र गजश्रेष्ठस्य गणपते ! ते प्रसिद्धा,
ऐरावणप्रभृतयः ऐरावतादयः, गन्धेनापि लेखतोऽपि, मैत्रीम् स्वसादरमिति लक्ष्योऽर्थः,
न, शिक्षिता अप्यापिताः प्रपिता इति यावत्, त्वयेति शेषः, तव तस्मात् कारणात्,
त्वम्, त्रिनयनाचलस्य शिवशिलारिणः कैलासपर्वतस्येति यावत्, रत्नाभित्तितु रत्नाचित-
भित्तिधारणेषु, याः स्वीयप्रतिच्छवयः स्वप्रतिबिम्बाः, तेषु, यूथपतित्वं दद्यापित्वम्, कथं
केन प्रकारेण, एषि प्राप्नोति—प्रसिद्धा ऐरावतादयोऽपि यदि तव सदृशा न भवन्ति तर्हि
निष्प्रागाः प्रतिच्छवयः कथं तव सदृशा भवेयुः, न चेत् प्रतिच्छवयः सदृशा तर्हि न ता
आदाय यूथत्वसम्पत्तिः, यूथत्वाभावे च कथं यूथपतिचिन्त्यर्थः । उपमानान्तरविरह
इति । तत्राद्ये रङ्ग एव सः । द्वितीये तदवयवस्य यदवयवान्तरोपमया तस्यां निह्नमन्व
सिद्धयति । अन्यथा तत्सदृशपदार्थावयवेनैवैतदवयवस्योपमा इच्छात् । तृतीयेऽपि प्रति-
बिम्बस्योपमानत्वकल्पनयाऽन्यस्योपमानस्याभावो गम्यते ।

सपठन करने के लिये पहले ‘रत्नाकर’ के मत का उपपादन किया जाता है—यत्तु

इत्यादि। 'अलङ्काररत्नाकर' में कहा गया है कि—उस (उपमेय), उसके एकदेश (हिस्से) अथवा किसी तरह निश्चित रूप से भिन्न समझे गए उसी (उपमेय) को जब उपमानरूप में कल्पित करके उसका सादृश्य उसी में वर्णित हो तब उस सादृश्य को अनन्वय कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि—अनन्वय तीन प्रकार का होता है—

१—उपमानरूप में कल्पित उपमेय के साथ उसी उपमेय का भवास्तविक-सादृश्य-ग्रहण। २—उसी तरह उपमेय के एकदेश को उपमानरूप में कल्पित कर लेना, और ३—उपमेय को ही प्रतिबिम्ब के रूप में भिन्न मानकर उपमानरूप में कल्पित कर लेना। इनमें से प्रथम, जैसे—'युद्धे'... इत्यादि अर्थात् युद्ध में अर्जुन सा प्रसिद्ध पराक्रमशाली अर्जुन ही है, कोई दूसरा नहीं। द्वितीय, जैसे—'एतावति'... इत्यादि अर्थात् हे सुन्दर ! यह हयला-रहित मसार यद्यपि हजारों सुन्दरियों से भरा पड़ा है, तथापि उस नायिका का वामार्ध (अङ्गों का बायाँ हिस्सा) दक्षिणार्ध (अङ्गों के दाहिने हिस्से) का ही अनुकरण करता है—उसके बायें अङ्गों की तुलना उसके दाहिने अङ्गों से ही की जा सकती है, अन्य नायिका के अङ्गों से नहीं, क्योंकि उसके समान सुघट अङ्गों वाली कोई दूसरी नायिका दुनिया में है ही नहीं। यह नायक का मित्र के प्रति कथन है। तृतीय जैसे—'गणेशे'... इत्यादि अर्थात् हे गणेश्वरवदन (गणेश) ! वे परम प्रसिद्ध देरावत आदि हाथी आपकी मित्रता (समानता) को लेश मात्र भी नहीं सीख पाए—आपने अपनी समानता उन्हें दी ही नहीं—वे आपकी तुलना कर नहीं सकते। अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि—आप, कंलास पर्वत की रत्नमय भित्तियों में पड़नेवाले अपने प्रतिबिम्बों के यूपपति कैसे बन जाते हैं ? जब समाग, विरविष्पात, देरावत आदि दिग्गजों में आपकी समता नहीं, तब ये निष्पाण प्रतिबिम्ब आपके यूप में कैसे आ सकते हैं ? कदापि नहीं आ सकते, और जब उनको लेकर आपका यूप नहीं बन सकता, तब आप यूपपति बन कैसे सकते हैं ? इसका रहस्य कुछ समझ में आता नहीं। इन तीनों भेदों में अन्य उपमान का अभाव प्रतीत होता है—अर्थात् प्रथम में 'अर्जुन जैसा अर्जुन ही है' इस कथन से अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट ही है। द्वितीय में जो वर्णनीय नायिका के अङ्गों की तुलना उसी के अङ्गों से की गई है उससे उस नायिका की निरूपमता सिद्ध होती है, यदि उसके जोड़ की कोई अन्य नायिका उपलब्ध होती, तो उसी के अङ्गों से वर्णनीय नायिका के अङ्गों की तुलना की जाती, अपने अङ्गों से नहीं। तृतीय में—गणेश जी के प्रतिबिम्बों को गणेश जी का उपमान माना गया है जिससे अन्य उपमान का अभाव स्पष्ट व्यक्त होता है। अतः अनन्वय तीन प्रकार का है।"

खण्डयति—

तत्रोपमानान्तरविरहप्रतीतिमात्रादेवानन्वयत्वे 'स्तनाभोगे पतन्भाति' इत्युपपदशीलायाः कल्पितोपमाया अपि तथात्वापत्तेः। यद्यर्थातिशयोक्तावति-प्रसक्तेश्च। तादृशप्रतीतिफलकैकोपमानोपमेयकसादृश्यस्य तत्त्वे पुनः कथं नाम वामार्धदक्षिणार्धयोर्मित्रयोः सादृश्ये तद्वेदत्वोपन्यासः। न च स तदेकदेशस्तत्प्रतिबिम्बश्चेत्येतदन्यतमप्रतियोगिकसादृश्यमनन्वयः इति काव्यातिरिक्तव्याप्तिर्वेति वाच्यम्। नास्त्यन्ययोऽस्येति योगार्थविरहेण तदेकदेशसादृश्यस्यानन्वयपदार्थत्वाम्भवात्। अपि चानन्वये 'गगन गगनाकारम्' इत्यादावुपमेयस्यैवोपमानत्वेनोपन्यासादुपमेयातिरिक्तोपमानविरहप्रतीतिद्वारा निरुपमत्वमुपमेयगतं सिद्धयति। अत्र च वामार्धस्योपमेयस्य दक्षिणार्धरूपोपमानकथनेन निरुपमत्वं विरुद्धमेव। कान्तागतनिरुपमत्वप्रत्ययस्तु नानन्वयस्य फलं भवितुमर्हति, तस्या अनुपमेयत्वात्।

पद पूर्वोपरलाकरमतम्। न शुक्त नेत्यर्थः। अशुक्तत्वे हेतुमाह—उपमानान्तरे-

त्यादिना । तथात्वेति । अनन्वयत्वेत्यर्थः । इष्टापत्तावाह—यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इति कव्यप्रकाशोक्ततृतीयातिशयोक्त्युदाहरणे 'राक्षायामकलकं चेदमृताशोर्भवेद् वपुः । तस्या मुखं तदा साम्यपरामर्शमवाप्नुयात् ॥' इत्यादाविति तदर्थः । आशयविशेष-
वर्णनेऽपि न निर्दुष्टत्वमिग्याह—तादृशेति । उपमानान्तरविरहेति तदर्थः । तत्त्वे अनन्वय-
त्वे । पुनः शब्दस्त्वर्थे । भिन्नयोरिति । तथा च द्वितीयविशेषणमात्र इति भावः । तदुद्दे-
ह्येति । अनन्वयविशेषणेत्यर्थः । रत्नाकरमतस्य निर्दुष्टत्वमाशङ्कते—न चेत्यादिना । स
इति । उपमेय इत्यर्थः । इदानीमात्रविशेषण न देयम् । तद्विरहस्य भान्तरीयकत्वादिति
भावः । समाधत्ते—वास्तव्यन्वय इत्यादिना । विरहेणेति । अबाधितत्वादिति भावः । ननु
रुढमेवानन्वयपरमत आह—अपि चेति । अत्र चेति । द्वितीयभेदे चेत्यर्थः । निरूपमत्व-
मिति । एवमुपमानान्तरेत्यादिना प्रतिगदितमित्यर्थः । ननु तेन प्रत्येन कान्ताया निरूप-
मत्वं प्रतिपादितं न तप्रेत्यत आह—कान्तोति । प्रागुक्त रत्नाकरमतं न समीचीनम्,
'स्वनामोमे—' इति पूर्वोक्तद्वितीयोपमोदाहरणेऽतिग्यासे, उपमानान्तरराहित्यस्य तत्रापि
प्रतीतिः । न चैष्ट्यापत्त्यादोष इति वाच्यम्, तत्र दोषामावेऽपि अनुपद टीकोद्भूतेऽतिश-
योक्त्युदाहरणेऽतिप्रसङ्गस्य दुर्बारत्वात् । उपमानान्तरविरहप्रतीतिफलकम् एकोपमानोपमेयक
यस्माद्वर्यं तदन्वय इति विवक्षणेऽपि न निस्तारः तदनुसारं द्वितीयभेदकयनस्यासङ्गते,
तत्र वामार्धस्थोपमेयत्वेन दक्षिणार्धस्थोपमानत्वेन एकोपमानोपमेयकताद्वयस्याभावात् ।
न च नोपमानान्तरविरहप्रतीतावाग्रहे न वा एकोपमानोपमेयकत्वे, अपितु उपमेय-तदेक-
देश-तत्प्रतिबिम्बान्यतमप्रतियोगिकसादृश्यस्यानन्वयत्व एवोक्तप्रत्यक्ष्य तात्पर्यम्, तथा
च पूर्वोक्तदोषाणामनवतर इति वाच्यम्, 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इत्यत्र भिन्नपदार्थयो-
साद्वयस्यान्वये बाधकाभावात् अनन्वयपदयोगार्थासङ्गमात् । अनन्वयपद न यौगिकमपितु
रुढम् तथा च न तदर्थान्वयप्रसङ्ग इति चेदस्तु तथा, तथापि निरूपमत्वग्रहणं विद्वद्
प्रसज्येत, वामार्धस्थोपमेयस्य दक्षिणार्धस्थोपमानमस्ति इति स्वयमुक्तत्वात् । 'गतान गग-
नाकारम्' इत्यादौ तु भवत्यनुपमत्वप्रतीतिः, उपमेयस्थोपमानत्वकल्पने अन्यदुपमानं
भास्तीत्यस्य फलितत्वात् । कान्ताया निरूपमत्वप्रतीतिरत्रापि भवत्येवेति चेत् ? सत्यम्
भवति, परं तु न सा प्रतीतिरनन्वयस्य फलम्, उपमेयस्यानुपमेयत्वप्रतीतिरन्वय-
फलम् । न चात्र नायिका उपमेया, वामार्धदक्षिणार्धयोरेवोपमानोपमेयभावस्य विवक्षणा-
दिति भावः ।

खण्डन किया जाता है—तत्त इत्यादि । ऊपर जिसका विस्तारपूर्वक उपपादन
किया गया है वह रत्नाकरमत वस्तुतः ठीक नहीं है । कारण, यदि केवल अन्य उपमान
के अभाव की प्रतीति होने से अनन्वय माना जाय तब 'स्वनामोमे - ' यह कविपदोपमा
का उदाहरण जो पहले दिखलाया गया है उसको भी अनन्वय का उदाहरण मानना
पड़ेगा, क्योंकि वहाँ भी अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होती है । यदि इष्टापत्ति
के द्वारा जाय इस दोष से बचना चाहेंगे तो बच सकते हैं, पर 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'
इस लक्षण के अनुसार मम्मद आदि आलङ्कारिकों के द्वारा स्वीकृत अतिशयोक्ति के
तृतीय भेद के उदाहरण—'राक्षायामकलङ्क चेत् - ' (सम्पूर्ण पद्य सङ्कृतटीका में
देखिये)—अर्थात् 'पूनों की रात में यदि निष्कलङ्क चन्द्र उपलब्ध हो तब उसका
(वर्णीय नायिका का) मुख 'इसकी भी किसी से समता हो सकती है' इस पराभव
को प्राप्त करेगा ।' में होनेवाली अतिशयोक्ति (दोष) से नहीं बच सकते, क्योंकि
सर्वसम्मत इस अतिशयोक्ति में इष्टापत्ति की सुविधा सम्भव नहीं है । यदि आप उक्त

लक्षण का यह अभिप्राय प्रकाशित करें कि—‘अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति जिसका फल हो और जिसका उपमान तथा उपमेय एक ही पदार्थ हो ऐसे सादृश्य को अनन्वय कहा जाता है’ तब उक्त अतिशयोक्तिसंख्यीय दोष से भी मुक्ति मिल सकती है, क्योंकि वहाँ सम्भावना-रूप में ही सहो, पर दो पदार्थ उपमान-उपमेयरूप से विवक्षित हैं, एक नहीं। पर तब नायिका के बायें अङ्ग और दाहिने अङ्ग इन वस्तुतः दो पदार्थों के सादृश्य को जो आपने अनन्वय का द्वितीय भेद माना है वही असङ्गत हो जायगा, क्योंकि वहाँ भी सादृश्य के उपमान और उपमेय दो पदार्थ—दाहिने अङ्ग तथा बायें अङ्ग—स्पष्ट हैं। यदि आप कहें कि—‘यह सब कुछ नहीं। उपमेय, उसका एक हिस्सा तथा उसका प्रतिशिष्य इन तीनों में से किसी एक का सादृश्य यदि वर्णित हो, तब उस सादृश्य को अनन्वय माना जाय’ वस, केवल इतना मैं कहता हूँ, कि आप पसलाइये वहाँ अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति होगी? अर्थात् नहीं होगी, क्योंकि, द्वितीय भेद में उपमेय, नायिका के एकदेश का सादृश्य वर्णित है ही अतः वहाँ अव्याप्ति नहीं होगी और उक्त कल्पितोपमा तथा अतिशयोक्ति में भी इन तीनों में से किसी एक का सादृश्य वर्णित है नहीं, अतः अतिव्याप्ति भी नहीं होगी।’ तब मैं कहूँगा कि—आपका यह कथन ठीक है—अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं होगी, पर उपमेय के एक हिस्से के सादृश्य को जो आपने अनन्वय माना है, उसमें वस्तुतः अनन्वय पद का अर्थ घटता नहीं क्योंकि ‘अनन्वय’ पद का अर्थ होता है ‘जिसका अन्य न हो सके वह सादृश्य’ और ‘वामार्धं दक्षिणार्धस्य अनुहरति’ में जो सादृश्य प्रतीत होता है उसके अन्वित होने में किसी तरह की बाधा है नहीं—अर्थात् अपने में अपना सादृश्य वाचिन होता है, वहाँ तो दाहिने का सादृश्य बायें में कहा गया है, कि उसमें बाधा कैसी? यदि आप कहें कि अनन्वय पद में योगार्थ विवक्षित नहीं, वह केवल एक सूत्रसाधारक शब्द है, तो मैं कहूँगा—रहे कुछ काल के लिये आपकी यह अयुक्त पुक्ति भी मान्य, पर इतने पर भी तो निस्तार नहीं आपका होता, क्योंकि ‘एषु उपमानान्तरविरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते’ इस ग्रन्थ के द्वारा जो आपने उपमेय में निरुपमता की प्रतीति को अनन्वय का फल कहा है वह विरुद्ध है—अर्थात् ‘गगन गगन-सा है’ इत्यादि स्थलों में उपमेय का ही उपमान-रूप में वर्णन किया गया रहता है, अतः उससे पहले अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होती है और बाद में लक्ष्यद्वारा उपमेय की निरुपमता कल्पित होती है, पर आपके ‘बायें अङ्ग दाहिने अङ्गों की समता करते हैं’ इस द्वितीय भेदोद्देशहरण में तो उपमेय का उपमानरूप में वर्णन हुआ नहीं है—उपमेय—बायें अङ्गों—से भिन्न—दाहिने—अङ्गों को उपमान माना गया है, अतः यहाँ न अन्य उपमान के अभाव की प्रतीति होगी और न उपमेय की निरुपमता की। सचेष्ट में तात्पर्य यह निकलता है कि—उपमान के रहते निरुपमता की यात करना सर्वथा विरुद्ध है। आप कहेंगे—नायिका की निरुपमता तो उससे अवश्य प्रतीत होती है, तो मैं भी उसको स्वीकार करूँगा, पर नायिका में जो निरुपमता की प्रतीति होती है वह अनन्वय का फल नहीं है, क्योंकि नायिका वहाँ उपमेय ही नहीं है—उपमेय है उसका वामार्ध जिसकी निरुपमता सिद्ध नहीं होती और उपमेय की निरुपमता ही अनन्वय का फल कहलाती है।

अलङ्कारसर्वस्वकारोक्त्युपपाद्य निरस्यति—

यदपि चालङ्कारसर्वस्वरूपा ‘अनन्वयध्वनित्वमत्र भविष्यति । अन्यथाऽलङ्कारध्वनेर्विषयापहारः स्यात्’ इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम् । अस्य हापमान-निषेधफलकमभिन्नोपमानोपमेयक सादृश्यं स्वरूपमित्युक्तम् । प्रकृते च वामार्ध-दक्षिणार्धयोस्तद्वाधितमित्युक्तमेव । कान्तायाः पुनरुपमाननिषेधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यस्य स्वरूपस्याप्रत्ययात् । नहि निरुपमत्व-

प्रतीतिषु सर्वास्वभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यप्रतीतिपूर्वकत्वमिति नियमोऽस्ति । कल्पितोपमातिशयोक्त्योरसमालङ्कारध्वनौ च व्यभिचारात् । तस्मान्नास्त्येवात्रानन्वयगन्धोऽपि ।

अनन्वयध्वनित्वमिति । अत्र 'तद्वामार्धं दक्षिणार्धमनुहरतीत्युच्यताम् सोऽनुहरतीति व्युत्पमिति भावः । एवं चास्य होत्यादिना किमुच्यते तद्विवार्यं सहृदये । ईदृशव्यङ्ग्यव्यञ्जने उपायाभाव इत्यपि कश्चिन्' इति नागेश आह । अत्र द्वितीयलक्षणे । हि यतः । अस्यानन्वयस्येद स्वरूपमित्युक्तमतस्तत्तुच्छमित्यर्थः । तदुपपादयति—प्रकृते चेति । तदिति । अभिन्नोपमानोपमेयक सादृश्यमित्यर्थः । तयोर्मेदादिति भावः । उपसंहरति—तस्मादिति । रत्नाकरीके 'अनुहरति सुभय तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इति अनन्वयद्वितीयमेदोदाहरणे चाच्यानन्वयालङ्कारत्वस्यासम्भवेऽपि अनन्वयध्वनित्वम् स्वीकरणीयमेव, ईदृशश्लेषे तस्यानाङ्गीकारे अलङ्कारध्वनेर्लक्ष्यमेवापहृत भवेदित्यलङ्कारसर्वस्वकार आख्यत्, परनिबन्धशोभनमेव, पूर्वोक्तस्य उपमाननिषेधश्लेषकाभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यात्मकस्य अनन्वयस्वरूपस्य प्रकृते वामार्धदक्षिणार्धयोः रूपमेयोपमानयोर्भिन्नयोः पदार्थयोर्बाधितत्वात् । ननु कान्तागतनिरुपमत्वस्य व्याङ्ग्यत्वेन तस्या एवोपमेयाया उपमानत्वस्त्पनेन तादृशसादृश्यप्रतीतिर्षामार्धदक्षिणार्धमेतत्स्य बाधितत्वेऽपि अस्त्येवेति चेन्न, तस्यास्त्वित्वेऽपि उक्तस्यानन्वयस्वरूपस्याप्रतीतिः । यदि अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्यप्रतीतिपूर्विका एव सत्ता अनुपमत्वप्रतीतयो भवन्तीति नियमोऽभिमन्यतदा कान्तागतनिरुपमत्वप्रतीतिपूर्वक्षणेऽपि तादृशसादृश्यप्रतीतिः स्वीकृताऽभविष्यत्, परं तु 'स्तनाभोगे' इति कल्पितोपमायाम्, 'राकायामकलङ्क चेत्' इति पदार्थकल्पितातिशयोक्तौ, 'मयि त्वदुपमाविधौ' इति असमालङ्कारध्वनौ च निरुपमत्वप्रतीतिः सत्त्वेऽपि तत्पूर्वक्षणे तादृशसादृश्यप्रतीतिरभावेन व्यभिचारात् स नियमो नाङ्गीकर्तुं योग्यः । अतः 'वामार्धम् दक्षिणार्धस्य' इत्यत्रानन्वयालङ्कारो नास्त्येवेति भावः ।

अलङ्कारसर्वस्वकार की उक्ति का उपपादन करके स्पष्टन करते हैं—पदविज्ञायादि । 'वामार्धं दक्षिणार्धस्य' इस श्लोक के सम्बन्ध में अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो यह कहा कि—'यहाँ चाप्य अनन्वय भले ही न हो पर अनन्वयध्वनि यहाँ अवश्य पड़ी जायगी—अर्थात् यहाँ अनन्वय अलङ्कार व्याङ्ग्य होता है ऐसा सातना उचित है, यदि यहाँ अनन्वयध्वनि नहीं भागी जाय तब काव्यजगत् से अलङ्कारध्वनि का लक्ष्य ही बढ जायगा ।' पर उनका भी कथन निस्सार ही है । कारण, यह कहा जा चुका है कि—उपमान का निषेध जिसका फल हो और जिसके उपमान-उपमेय अभिन्न हों—एक ही पदार्थ हों—बहु सादृश्य अनन्वय का स्वरूप है । और वैसा सादृश्य 'प्रापति प्रपञ्चे' इस पद्य में वर्णित 'वामार्ध' तथा 'दक्षिणार्ध' में दो बन पाता नहीं—यह बात पहले मित्र की जा चुकी है । तब यात रही नाविक्र के उपमान के निषेध (निरुपमाव) की, सो उसकी प्रतीति यहाँ अवश्य होती है—उसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु यहाँ भी अनन्वय का स्वरूप—'अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्य'—प्रतीत नहीं होता और उस स्वरूप की प्रतीति के बिना इस व्यङ्ग्य को अनन्वयरूप माना कैसे जा सकता है ? यह तो कोई नियम है नहीं कि—मयी अनुपमत्वप्रतीति के पूर्वचरण में 'अभिन्नोपमानोपमेयकसादृश्य' की प्रतीति हो ही, क्योंकि—'स्तनाभोगे'—इस कल्पितोपमा, 'राकायामकलङ्क चेत्' इस अतिशयोक्ति और 'मयि त्वदुपमाविधौ' इस व्यङ्ग्यमय असमालङ्कारध्वनि में अनुपमता की प्रतीति होती है, पर यहाँ कैसे सादृश्य की प्रतीति नहीं होती । फलतः व्यभिचरित हो जाने के कारण वह नियम नहीं माना जा सकता । अतः 'प्रापति' इस पद्य में अनन्वयालङ्कार का लेश भी नहीं है ।

अप्यदीक्षितमतमुपपाद्य निरस्यति—

यच्च 'अयमनन्वयो व्यङ्ग्योऽप्यस्ति ।

यथा—

‘अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।

कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्त्वैवागमनात्पुनः ॥’

अत्र गृहागतं श्रीकृष्णं प्रति विदुरवाक्ये इय त्वदागमनप्रभवप्रीतिर्बहुकाल-
व्यवहितेन पुनरपि त्वदागमनेनैव भवेत् नान्येन, इत्युक्तिभङ्ग्या त्वदागमन-
प्रभवप्रीतेः सैव सदृशी न चितरप्रभवा इति व्यज्यते’ इत्यप्यदीक्षितैरभिहितम्
तदपि न । अमुष्यास्त्वदागमनप्रभवायाः प्रीतेर्वारान्तरत्वदागमनप्रभवा प्रीतिः
सदृशीति प्रत्ययस्य सर्वजनसिद्धतया श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यावयव-
योर्द्वयोः प्रीतिव्यक्तयोः सादृश्यस्याबाधितत्वाद्योगार्थाभावेनानन्वय एव नायं
भविष्यतीति । ‘स्वस्मिन् सादृश्यस्यान्वयाभावादनन्वय’ इत्युपमाप्रकरणे स्थय
मेवाभिधानात् । उपमेयस्य प्रीतिव्यक्तिविशेषस्य सदृशान्तरव्यवच्छेद बाधात्,
तादृशप्रीतिसामान्यस्य चावयविनो निरुपमत्वात् प्रतीयमानस्यानुपमेयत्वात्
पूर्वोदाहरणतुल्यमेवैतत् । कचिदवयवयोरुपमाप्यवयवविगतनिरुपमत्वव्यलिङ्गेति
स्थिते सामान्यस्य श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतेः सैव सदृशीति मध्ये स्वसादृश्य-
प्रत्ययकल्पन पुनर्न सहृदयहृदयमारो दुमीष्टे । रत्नाकरोक्तस्यैवानन्वयप्रकारस्यात्र
व्यङ्ग्यतेत्यपि न युक्तम्, तस्य प्रागेव दूषितत्वात् प्रकृतेऽवाच्यत्वात्, स्वयम-
नन्वयप्रकरणे तस्य प्रतिपादनविरहाच्च ।

यच्चेति । अस्य दूरस्थेन ‘अभिहितम्’ इति क्रियापदेन सम्बन्धः । ‘अद्य या मम—’
इति । हे गोविन्द श्रीकृष्ण । अद्य अस्मिन्नहनि, त्वयि भवति, गृहागते भवनमुपेतं सती-
त्यर्थः, मम मात्सम्यग्निधनी, मम हृदये इति भावः, या प्रीतिः प्रसन्नता, जाता उत्पन्ना,
एषा एतादृशीति यावत्, प्रीतिः, पुनः, कालेन चिरकालान्तरम्, तत्रैव न तु अन्यस्य
कस्यचित्, आगमनात्, भवेत् नान्यथेत्यर्थः । संवेति । त्वदागमनप्रभवप्रीतिरेवेत्यर्थः ।
निरस्यति—तदपि नेति । तत्र हेतुमाह—अमुष्या इति । यत इत्यादि । यौगार्थेति ।
अमन्वयपदयोगार्थेत्यर्थः । ननु इदमेवानन्वयपदमभिमतमत आह—स्वस्मिन्निति । व्यवच्छेदे
बाधादिति । तस्य व्यवच्छेदकरणेऽसामर्थ्यादित्यर्थः । कालान्तरस्य प्रीतिव्यक्तिविशेषस्य
सादृश्यस्य सत्त्वादिति भावः । तादृशेति । श्रीकृष्णागमनजन्येत्यर्थः । पूर्वोदाहरणेति । अनु-
हत्तौत्युदाहरणेत्यर्थः । नन्वयविनो निरुपमत्वप्रतीतिवन्मध्ये सादृश्यप्रतीतिरप्यस्तु अतः
आह—कचिदिति । स्थलविशेषे इत्यर्थः । सैव श्रीकृष्णागमनजन्यप्रीतिरेव । मध्य इति ।
वाच्यव्यङ्ग्यार्थयोर्मध्य इत्यर्थः । रत्नाकरोक्तस्येति । अनन्वयद्वितीयभेदतया रत्नाकरेण
कथितस्येत्यर्थः । अनन्वयप्रकारस्य ‘तदेकदेशेन’ इत्यादेः । अवाच्यत्वे हेतुः प्रागेव दूषित-
त्वादिति । ननु त्वया दूषितोऽपि न मया दूषितस्तत्राह—स्वयमिति । कालानवच्छिन्नं
कृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यम् अवयविभूतम्, इदानींतनकालवच्छिन्नं भविष्यत्काल-
वच्छिन्नं च कृष्णागमनजन्यप्रीतिद्वयं तदवयवभूतम्, तत्रावयवभूतयोः प्रीत्योः सादृश्यम्
‘अद्य या मम—’ इति पदेऽवाच्यमपि दीक्षितप्रदर्शितोक्तिमद्वितीयविशेषवशात् प्रतीयत इति
सत्यम्, परन्तु तत्सादृश्यमनन्वयरूपं न भविष्यतीति, भिन्नकालवच्छिन्नप्रीत्योरपि भिन्न-
तया तयोः सादृश्यस्यान्वये बाधकाभावात्, बाधितान्वयकसादृश्यस्यैवानन्वयपदार्थत्व-

स्थोक्तात् बाधितान्वयकं नाभिन्नपदार्थप्रतियोगिकानुयोगिकमास्तरमेव भवतीति सिद्धान्तान् । कालानवच्छिन्नस्यावयविभूतस्य कृष्णागमनजन्यप्रीतिसामान्यस्योपमेयत्वं 'यदि विवक्षितमथास्यत्, तदा तत्सादृश्यं वर्ण्यमानत्वादिरेऽपि व्यञ्जनया प्रतीयमानं स तदनवयरूपमभविष्यत्, परन्तु तस्योपमेयत्वं विवक्षितमेव नास्ति, विवक्षितमस्ति कालविरोधानवच्छिन्नस्य कृष्णागमनजन्यप्रीतिविशेषस्यावयवभूतस्य तत्, तस्य चान्यसदृशानिपेधे सान्दर्भ्यमेव नेति पूर्वोक्ते 'वामार्थं दक्षिणार्थस्य' इत्यत्रैव नात्राप्यनन्वयः । वाच्यवृत्त्या लिङ्गिताभ्यामवयवभूताभ्यां काव्यवच्छिन्नतादृशप्रीतिविशेषाभ्यां सामान्यरूपाया अवयविन्यास्तादृशप्रीतेरुपमेयत्वं व्यज्यत इत्यत्र तु न कस्यापि निगतिः, तथा च तयोर्वाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये 'सामान्यकृष्णागमनजन्यप्रीतेः सैव सदृशी' इत्याकारक सादृश्यबोधः कल्पनीय एव, एवञ्च तद्बोधविषयीभूतां सादृश्यं यथोक्तानन्वयरूपमिति दीक्षिताशये न काप्यनुपपत्तिरिति चेन्न, विवारासहत्वाद् । तथाहि मध्ये यत्सामान्यप्रीत्योः सादृश्यं कल्प्यते तत्किमर्थम् ? सामान्यप्रीतिगतनिरूपमत्वव्यक्तिसिद्धयर्थम् इति चेत्तुच्छम्, स्थूलविशेषे अवयवयोः सादृश्यमपि अवयवगतनिरूपमत्वव्यङ्ग्यकं भवति, तथा च अवयवभूतकृष्णागमनप्रभवप्रीत्योः सादृश्येनापि अवयविभूतसामान्यकृष्णागमनजन्यप्रीतिगतनिरूपमत्वव्यज्जने सिद्धे तदर्थम् उच्चाकारकतादृशान्तरकल्पनकषायां सादृश्यजनानुभवविद्वन्वात् । 'उपमेयैकदेशेन उपमानतया कल्पितेन सादृश्यमनन्वयः' इति स्वरूपकथितानन्वयस्यात्र व्यङ्ग्यता इति तु नोक्तिसम्भावः, तादृशोक्तेः प्रागेव युक्तिभिर्विराट्कृतत्वात्, तादृशानन्वय-अकारस्य दीक्षिते स्वप्नोऽप्रतिपादनाच्चेति भावः ।

अप्यपदीक्षित के मत का उपपादन करके निराकरण किया जाता है—यद्य इत्यादि । 'यह अन्वयवाल्गुन व्यवहृत भी होता है । जैसे—'अथ वा मम'—अर्थात् 'हे गोविन्द । आज आपके मेरे घर में पदार्पण करने से मुझे जो प्रसन्नता हुई है, वह प्रसन्नता कालान्तर में पुनः आपके पदार्पण से हो हो सकती है।' घर पर आए हुए श्रीकृष्ण के प्रति, बिदुर के इस वाक्य में 'यह आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता, बहुत काल के बाद, फिर भी आपके आगमन से ही हो सकेगी अन्य किसी कारण से नहीं' इस कहने की विलक्षण सीढ़ी से यह व्यक्त होता है कि—'आपके आगमन से होनेवाली प्रसन्नता के समान वही प्रसन्नता है, अन्य किसी पदार्थ से उत्पन्न प्रसन्नता वैसी नहीं हो सकती।' यह जो अप्यपदीक्षित ने कहा है, वह भी ठीक नहीं है । कारण यह कि—'आपके आगमन से उत्पन्न हम प्रसन्नता के समान ही दूसरी बार आपके आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता है' यह प्रतीति सकलजनसिद्ध है—हममें किसी की किसी तरह की याथा मतीत नहीं होती । अभिप्राय है कि—कालविशेष से अनवच्छिन्न—अविशेषित—श्रीकृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता एक सामान्य अङ्गीभूत वस्तु है और कालविशेष से अवच्छिन्न अर्थात् समय समय पर हुए श्रीकृष्ण के आगमन से उत्पन्न होनेवाली दो प्रसन्नताएँ उसके अङ्ग हैं । इन दो प्रसन्नताओं को भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न मानने में कोई बाधा नहीं, ऐसी स्थिति में इन अङ्गभूत प्रसन्नताओं का सादृश्य बाधित नहीं कहा जा सकता, और सादृश्य के बाधित हुए बिना 'अनन्वय' पद का योगार्थ यहाँ नहीं घटित होगा, फिर यहाँ अनन्वय कैसे हो सकता है ? आपने स्वयं ही उपमा-प्रकरण में कहा है कि—'अपने सादृश्य का अनन्वय अपने आप में नहीं हो सकने के कारण, यह अनन्वय कहलाता है।' अब आप ही कहिये कि—अब प्रकृत पद्य में उक्त रीति से सादृश्य अन्वित हो गया तब यहाँ अनन्वय कैसे हुआ ? यहाँ वर्तमानकालिक अङ्गभूत कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता उपमेय है, उसकी तुलना जब दूसरी अर्थात्-भविष्यत्कालिक कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता से की जा रही है, तब अन्य सदृश की

निवृत्ति तो बाधित हो ही गई, अर्थात् इस प्रसन्नता के समान अन्य प्रसन्नता नहीं है ऐसी बात नहीं रही, अतः यहाँ इस तरह से तो अनन्वय का लेश भी नहीं आता। अब यदि अङ्गभूत सामान्य-कालविशेष से जन्यच्छिन्न कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता को लेकर यहाँ अनन्वय की अभिव्यक्ति मानी जाय तो यह भी सन्नत नहीं, क्योंकि उस तरह की सामान्य प्रसन्नता यहाँ उपमेय नहीं है और उपमेय की अनुपमता ही प्रतीत होकर अनन्वय का मूल बनती है। जो अङ्गभूत प्रसन्नता यहाँ उपमेय है उसकी अनुपमता सिद्ध ही नहीं होती, यह बात ऊपर के विचार से स्पष्ट है। अन्ततः यह सिद्ध हो गया कि यह उदाहरण भी पूर्वोक्त 'अनुहरति सुभग तस्याः' इस उदाहरण के समान ही है—जैसे यहाँ अनन्वय, विचार करने पर सिद्ध नहीं होता, वैसे यहाँ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि—इन अङ्गभूत प्रसन्नताओं के प्रतीत होनेवाले सादर्य से अङ्गभूत सामान्य कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता तो अवश्य अभिव्यक्त होती है—उसके होने में किसी का वैमत्य हो नहीं सकता, फिर इन दोनों व्यङ्ग्य-व्यञ्जकों के मध्य में 'सामान्य-कालानवच्छिन्न कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता के समान यही प्रसन्नता है दूसरी नहीं' इस तरह के सादर्य की कल्पना अवश्य ही करनी पड़ेगी और जब इस तरह का सादर्य कल्पित होगा तब फिर उस सादर्य की अनन्वयरूप मानने में आपको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उसमें अनन्वय पद का योगार्थ स्पष्टित होता है। तो मैं कहूँगा कि नहीं—यह रीति भी मानने योग्य नहीं है। कारण, आपने जो मध्य में सामान्य प्रसन्नता के सादर्य की कल्पना की है वह किसलिये? क्या सामान्य प्रसन्नता की सर्वसम्मत अभिव्यक्ति को सिद्ध करने के लिये? तो मैं कहूँगा कि उसके लिए आपका यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि स्थलविशेष में अङ्गों के सादर्य से भी अङ्गी की अनुपमता सिद्ध होती है, ऐसी दशा में 'आज की कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता, कालान्तर में होनेवाले उनके आगमन से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता के समान है' इस अङ्गभूत प्रसन्नता के सादर्य से भी सामान्य कृष्णागमनप्रयुक्त प्रसन्नता की अनुपमता सिद्ध हो ही जायगी, फिर मध्य में एक अन्य सादर्य की कल्पनावाली बात सहृदयों के हृदयों में ठीक ठीक बैठती नहीं है। अब यदि आप कहें कि—रत्नाकर ने जो 'उपमावरूप में कल्पित उपमेय के एकदेश का सादर्य अनन्वय है' यह अनन्वय का भेद बताया है उसी को हम व्यङ्ग्य बता रहे हैं तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि एक तो उस भेद की निरस्यता पहले सिद्ध की जा चुकी है, दूसरे उस तरह के भेद की चर्चा आपने अपने ग्रन्थों में की भी नहीं है। यदि आपको उस तरह का भेद अनन्वय में साम्य होता तो आप उसका उल्लेख अपने अनन्वयप्रकरण में अवश्य करते।

'अन्ययालङ्कारश्चनेर्विषयापहार स्यात्' इति सर्वस्वकारोक्तिं मनसि निधाय तन्मुखमुद्रणाय स्वाभिमतमनन्वयध्वनिसुदाहर्तुमाह—

इदं पुनरनन्वयध्वन्युदाहरणम्—

अनन्वयालङ्कारश्चनेर्निम्ननिर्दिष्टमुदाहरणं वेदितव्यमिति भावः ।

अनन्वयध्वनि का उदाहरण दिखलाने के लिये कहते हैं—हृदय इत्यादि। अनन्वयालङ्कारश्चनि का यह (निम्नलिखित) उदाहरण समझना चाहिये।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'पृष्ठाः खलु परपृष्ठाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।

भेदेन मुखे न पेदे साधर्म्यं ते रसाल मधुपेन ॥'

हे रसाल आग्रस्त ! मधुपेन अमरेण, खलु निश्चयेन परपृष्ठाः कोकिला, पृष्ठा त्वाद्यन्तरं विज्ञातिता, अत्र रसज्ञानान्न कोकिलानामन्तिके रसमयतश्चिन्तासाया औचि-

त्वमिति बोध्यम् । परकीयोक्तिसु प्रामाण्यस्य सन्दिग्धत्वादाह—सर्वे न तु कतिपये, (एतेन तत्त्वजिज्ञासाया बलवत्तरत्वमावेद्यते) विदपिन तरच, दृष्टाश्च स्वयमवलोकितार्थ, तथापि, भेदेन त्वद्विज्ञे इति यावत्, शुचि समस्तो जगति, तव त्वदीयम्, साधर्म्यम् सादर्यम्, न, पेदे प्राप्तमित्यर्थः । अप्रस्तुतप्रशस्यम् अप्रस्तुताद् अमररसाल्लुत्तान्तात् प्रस्तुतयो कवी-
शित् तत्त्वगवेषकानुपमनरपुंगवयोर्दृष्टान्तस्य प्रतीतिः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पृष्टाः इत्यादि । हे आश्रय ! अमरों मे रसज्ञ होने के नाते कौकिलों से पूछा और दूसरों के कथन से सम्पुष्ट न होकर खुद भी एक एक कर सभी वृक्षों को देख डाल्य, पर ससार भर में तेरी समता को उन्होंने भेद सम्बन्ध से—
अर्थात् तुम से अन्य में नहीं पाया ।

उपपादयति—

अत्र भेदेनेत्युक्त्याऽभेदे सादर्यमनन्वयात्मकं तु पेदे इति ध्वन्यते ।

‘पृष्टाः ’ इति श्लोके ‘त्वद्विज्ञे तव समता न पेदे’ इत्यर्थकेन ‘भेदेन तव साधर्म्यं न पेदे’ इति कथनेन ‘त्वयि तु तव सादर्यं पेदे’ इति व्यज्यते, तच्च व्यञ्ज्यं सादर्यमनन्वय-
रूपमिति सिद्धमस्य श्लोकस्यानन्वयध्वन्युदाहरणत्वमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘पृष्टाः ’ इस पद्य में जो ‘भेद से नहीं पाया’ यह कहा गया है, उससे यह ध्वनित होता है कि—अभेद सम्बन्ध से तुम्हारे सादर्य को उन्होंने पाया—अर्थात् तुमसे अन्य में तुम्हारी समता उन्होंने नहीं पाई । इस कथन से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि तुममें ही तुम्हारी समता प्राप्त की । ध्वनित होने वाला यह सादर्य अनन्वयरूप है, अतः यह पद्य अनन्वयालङ्कारध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवाऽनन्वयालङ्कारध्वनेरिदमुदाहरणं बोध्यम् ।

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘नगोभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया

पुराणां सहर्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिकरुहे ।

कथा वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै-

स्तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः ॥’

पण्डितराजवचितम्नास्तोत्रगतं पद्यमेतत्—हे सुरधुनि अमरनदि ! जननि मातः । मातृवत्सलतिकल्याणकारिणीति यावत्, कविभिः वर्णननिपुणैः पण्डितैः, तव, तुलालेशः उपमालवः, यस्याः, दीयेत, तादृशी का कर्तते अपि तु न कापीत्यर्थः । इत्थं बहुवचो विख्याता नद्यः सन्तीति चेतनाह—नगोभ्य इति । नगोभ्यः पर्वतेभ्यः, ‘नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्’ इति पाश्चिक्त्वाभनो नकारस्य लोपाभावः । यान्तीनाम् निस्सरन्तीनाम्, मध्ये, ‘यतश्च निर्धारणम्’ इति पठ्यते । कतमया तटिन्याः, पुराणा नगराणाम्, सहर्तुर्दाहकस्य शिवस्य, कपर्दः जटानृट्, अधिरुहे अध्यास्तः । नगोभ्यो यान्तीनां तटिनीनां मध्ये, कथा वा सटिन्याः, श्रीभर्तुः विष्णोः, पदकमलम् चरणपद्मं, सलिलैः जलैः, अक्षालि शीतम्, इति त्वं, कथय अस्मान् प्रति वद एवम् उत्कार्यकारित्वविरहात् काऽपि लक्षोपमेया नास्ति किमुतोपमानमिति भावः । अक्षालीत्यत्र ‘विष् मातृकर्मणो’ इति कर्मणि विभादेशः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नगेभ्य इति । हे भातर्गङ्गे । कविगण जिसमें लेशतोऽपि तुम्हारी तुलना दे सकें ऐसी नदी कौन-सी है? कोई नहीं । कहेंगे—हे क्यों नहीं—घटुत सी प्रविद्ध नदियाँ हैं, तो इसका उत्तर कवि के शब्दों में सुनिष्ठ—पर्वतों से निकलने वाली नदियों में कौन सी नदी ऐसी है जिसने त्रिपुरदाहक शिवजी के अटाजूट पर आरोहण किया हो और कौन सी ऐसी है जिसने भगवान् श्रीपति के चरणकमलों को अपने जल से धोया हो, हे गङ्गे ! यह तुम ही कहो । तात्पर्य यह कि—इन दोनों कामों को करनेवाली दूसरी कोई नदी नहीं है, अतः हे गङ्गे ! तुम्हारी तुलना किसी नदी से नहीं की जा सकती है ।

उपपादयति—

अत्र कथा वा त्यदितरया श्रीभर्तुः पदं सलिलैरक्षालि यस्यामितरस्यां कविभिस्तव तुलालेशोऽपि दीयेतेत्यर्थेन त्वयि पुनः सलिलक्षालितश्रीरमणचरणाय तव तुला दीयेतैवेत्यर्थोऽनन्वयात्मा श्रीगङ्गागतनिरूपमत्त्वपर्यवसायी इतरपदमहिम्ना व्यज्यते ।

अत्र पूर्वार्धे तादृशव्यञ्जकमानावाह—कथा वेति । पूर्वोदाहरणे भेदेनेत्युक्त्या तादृशव्यञ्जकस्य स्फुट प्रतीति । अत्र त्वस्फुटम् । अत एवोदाहरणागतरदानमिति ध्वनयन्नाह—इतरपदमहिम्नेति । 'नगेभ्यो यान्तीनाम्' इति पद्यस्योत्तरार्धेन 'कथा वा ' इत्यादि' मूलोक्तार्थ उच्यते, तेन चार्थेन मूलोक्ताकारोऽनन्वयस्वरूपोऽर्थो ध्वन्यते, ध्वन्यमानश्रव्या गङ्गागतनिरूपमत्त्वे पर्यवस्यतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'नगेभ्य'—इस पद्य के उत्तरार्ध भाग का जो 'तुमसे अन्य किस नदी ने अपने जल से श्रीपति के चरण कमलों को धोया है? जिसमें कविगण तुम्हारा तुलालेश भी दे सकें' यह अर्थ वाच्य है, उससे 'तुमने तो अपने जल से श्रीरमण के चरणकमलों को धोया ही है, अतः तुम्हारे साथ तुम्हारी तुलना की जा सकती है'—यह अर्थ ध्वनित होता है, जो कि अनन्वयरूप है और जिसका पर्यवसान गङ्गा की निरूपमता में होता है । यहाँ यह अर्थ 'यस्याम्' पद के अर्थरूप 'इतर (अन्य)' पद के प्रभाव से ध्वनित होता है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामनन्वयप्रकरणम् ।

अनन्वयालङ्कार निरूप्य सम्प्रति असमालङ्कारनिरूपणमारम्भमाणस्तावत्तत्त्वज्ञानमाह—

सर्वधैवोपमानिपेक्षोऽसमाख्योऽलङ्कारः ।

उपमाननिपेक्ष इति । साक्षात्परम्परया वेत्यादि । तथा च साक्षात्परम्परया या उपमाया आत्यन्तिकभावो वर्णनविषयोभूतोऽपमनामालङ्कारलक्षणमिति भावः ।

अनन्वयालङ्कार का निरूपण कर लेने के बाद अब 'असम' अलङ्कार के निरूपण का आरम्भ करते हुए पहले उसका लक्षण करते हैं—सर्वधैव इत्यादि । साक्षात् अथवा परम्परया उपमा के आत्यन्तिक निपेक्ष को 'असम' अलङ्कार कहते हैं ।

विवेचयति—

अयं चानन्वये व्यङ्ग्योऽपि तच्चमत्कारानुगुणतया रूपरुदीपकादावुपमेयं न पृथगलङ्कारव्यपदेशं भजते । वाच्यतायां तु स्वातन्त्र्येण चमत्कारितया पृथक् व्यपदेशभाक् ।

तच्चमत्कारानुगुणतयेति । अनन्वयकृतचमत्कारपरिपोषकतयेत्यर्थः । पृथगिति, पृथगलङ्कारेत्यर्थः । यद्यप्ययमसमपदार्थः अनन्वयस्थले नियमतो व्यङ्ग्यो भव्येव, तथापि यथा

रूपकदीपकायलद्वारेषु नियमतो व्यज्यमानाऽप्युपमा रूपणदीपनादिकृतविलक्षणचमत्कारोप-
कृतया गुणीभूता पृथक् अलङ्कारव्यवहारविषयता नावगाहते, तथैव तत्र व्यज्यमानोऽप्यसम-
अनन्वयवृत्तचमत्कारविशेषोपपन्न इति गुणीभूतं पृथक् अलङ्कारव्यवहारविषयो न भवति ।
यत्र पुनर्नान्योऽप्यसमस्तत्र स्वतन्त्रं चमत्कारं जनयन् भवत्येव पृथगलङ्कारव्यवहारविषय-
इति भावः ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—अयं च इत्यादि । यद्यपि यह 'असमपदार्थ'
'अनन्वय' में नियमतः स्पष्ट होना ही है, तथापि वहाँ अनन्वयप्रयुक्त विलक्षण
चमत्कार का पोषक होकर रहता है, स्वतन्त्र नहीं, अतः, जिस तरह रूपक, दीपक आदि
में नियमतः स्पष्ट होने पर भी उपमा को पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जाता उसी तरह,
हस्तको भी वहाँ पृथक् अलङ्कार नहीं कहा जा सकता । पर जहाँ यह असम (सादृश्य
का निषेध) वाच्य रहता है वहाँ स्वतन्त्र चमत्कार को उत्पन्न करता है, अतः वहाँ,
पृथक् अलङ्कार का व्यवहार उसमें किया जाता है ।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

असमालङ्कारत्वप्रयोजको यः प्रकारः स निर्दिश्यते इति भावः ।

जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

'भूमीनाथ शहाबदीन भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-

रेतद्रूपभयमपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे ।

धाता नूतनकारणैर्यदि पुनः सृष्टिं नवां भाषये-

न्न स्यादेव तथापि तावक्तुलालेशं वधानो नरः ॥'

कवि शहाबुद्दीननामानमितिहासप्रसिद्धं यवनजातीयं नृपं स्तौति—हे शहाबुद्दीननामक
भूमीनाथ राजन् ! एतेभ्यो भूतेभ्यः वर्तमानेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यः क्षित्यादिभ्यः, भयं उत्प-
त्तिर्यस्य तादृशे प्रपञ्चविषये ससारं, गुणानां गणैः शौर्योदार्पादिसमुद्भूतं, भवतस्तव, तुल्यः
समानो, नास्ति, इति, किं ब्रूमहे कथयामः, अकथनेऽपि सर्वैरेतद् ज्ञायते एवेति भावः ।
धाता ब्रह्मा, यदि, नूतनकारणैः प्रसिद्धपञ्चभूतातिरिक्तस्वनिर्मितकारणैरित्यर्थः, पुनः, नवां
नूतनाम्, सृष्टिं संसारम्, भाषयेत् रचयेत्, तथापि नूतनसत्तारनिर्माणेऽपि तावक्तुलालेशं
त्वहीयस्यतां नैव, वधानः दधन्, नरो मनुष्यः, नैव, स्यात् भवेत् इत्यर्थः ।

उदाहरणं देखिये—कवि यवनराजा शहाबुद्दीन की स्तुति करता है कि—हे शहा-
बुद्दीन नृपते ! गुणसमूह के कारण, तेरे समान इन वर्तमान पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी आदि
उपादानकारणों) से बने ससार में (कोई) नहीं है, यह क्या कहें, क्योंकि बिना कहे भी
यह सर्वविदित है । कहना तो यह है कि ब्रह्मा यदि नवीन (इन पञ्चमहाभूतों से भिन्न)
कारणों से नवीन ससार को उत्पन्न करें, तब भी तेरी समान तुला की तो बात ही क्या ?
तेरी तुलना के कण को भी धारण करनेवाला मनुष्य नहीं ही हो सकेगा ।

उदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'भुवनत्रितयेऽपि मानवैः परिपूर्णं विबुधैश्च दानवैः ।

न भविष्यति नास्ति नाभवन्नृप यस्ते भजते तुलापदम् ॥'

कवि कमपि नृपं स्तौति—हे नृप राजन् । मानवैः मनुजैः, विबुधैः देवैः, दानवैः राक्षसैश्च, परिपूर्णं सर्वतोभावेन व्याप्तेऽपि, भुवनत्रितये त्रिलोक्याम्, यः पुरुषविशेषः, ते तव, तुलापदम् तुलनास्थानं, भजते प्राप्नोति, तादृशं कश्चिदपि, न अस्मत्तु, न वा अस्ति, न वा भविष्यति कालत्रयेऽपि तव तुल्यो नेत्यर्थः । कालत्रयासत्त्वमेवोद्योदाहरणाद् विशेषः । उदाहरणद्वयेऽपि सर्वयोपमानिषेधावगतेरसमालङ्कार स्पष्टः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भुवन इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! देव, मानव और दानवों से व्याप्त इस त्रिलोकी में वह जो तेरी समानता का स्थान प्राप्त कर सके, न था, न है और न होगा । इन दोनों उदाहरणों में सर्वथा उपमा का निषेध वर्णित है, अतः असमालङ्कार स्पष्ट है । द्वितीय उदाहरण में कालत्रय की उपमा का निषेध है, यही पूर्व उदाहरण से विलक्षणता है ।

ननु उदाहरणद्वयेऽपि निषेधस्य प्राधान्यात्कथमलङ्कारत्वम्, परपोषकत्वेनाप्रधानत्वैव सात्त्वादित्यत आह—

राजस्तुत्युत्कर्षकत्वाद्वासमालङ्कारः ।

अत्र उदाहरणद्वये । 'भूमौनाथ—' 'भुवन—' इति पदद्वयम् राजस्तुतौ प्रयुक्तम्, अतः कविनिष्ठराजविषयकरतिभावोऽत्र प्रधानव्यङ्ग्यः, वाच्यश्च 'असम' तत्पोषकत्वाद्-लङ्काररूपः । असमो नात्र प्रधानमिति भावः ।

यदि कोई कहे कि उक्त दोनों उदाहरणों में असम (उपमा का निषेध) ही प्रधान है—उसी का वर्णन प्रधान रूप में किया गया है, फिर वह अलङ्काररूप कैसे हो सकता है, क्योंकि अलङ्कार तो वह होता है जो स्वयम् अप्रधान होकर किसी प्रधान को उपरकृत करे, तो इसका उत्तर दिया जाता है कि—हाँ, अप्रधान ही अलङ्कार होता है, यहाँ भी असम अप्रधान ही है क्योंकि प्रधान तो राजा की स्तुति है । सापेक्ष यह कि ऊपर के दोनों ही पद राजा की स्तुति में रचे गए हैं अतः इन दोनों से प्रधान रूप में कविगत राजविषयक रतिभाव अभिव्यक्त होता है और उसका पोषक होने के कारण असम (वाच्य उपमानिषेध) अलङ्काररूप बनता है ।

ननुपमानलुप्तोपमयैव गतार्थोऽयमसम इत्याशङ्का मनसि निधायाह—

आत्यन्तिकः काचित्कश्च सदृशनिषेधोऽसमोपमानलुप्तप्रयोर्विषयः । सर्वथैवोपमाननिषेधेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानाप्रोपमागन्धोऽपि ।

आत्यन्तिक इति । यथाराख्यमन्वयः । तथा च आत्यन्तिक सदृशनिषेधोऽसमालङ्कारस्य विषयः काचित्कश्च सदृशनिषेधोपमानलुप्तोपमाया विषय इति फलितम् । ननु आत्यन्तिकसदृशनिषेधेऽपि कुतो नोपमानलुप्तोपमेत्यत आह—सर्वथैवेति । असमालङ्कारोदाहरणेषु, उपमानस्य सर्वथा निषेधो वर्णितस्तिष्ठति, अतस्तत्र निरूपकं विना सादृश्यं प्रतिष्ठातुमेव न पारयति, अप्रतिष्ठिते च सादृश्ये कथमुपमाप्रसरः ? नासम उपमानलुप्ताया गतार्थयितुं शक्य इति भावः ।

'असम' और 'उपमानलुप्ता उपमा' में भेद दिखलाने के लिये कहा जाता है—आत्यन्तिक इत्यादि । सदृश पदार्थ का जहाँ आत्यन्तिक अभाव वर्णित होता है वह है 'असम' का लक्ष्य और जहाँ किसी स्थानविशेष में अथवा किसी कालविशेष में सदृश पदार्थ का निषेध (अभाव) वर्णित रहता है वह है उपमानलुप्तोपमा का लक्ष्य, अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता कि—यह 'असम' अलङ्कार उपमानलुप्ता उपमा में ही गतार्थ है । आप कहेंगे—यह भेद तो आपने अपने मन से कर लिया है । आत्यन्तिक सदृशनिषेध-स्थल में भी उपमानलुप्तोपमा ही क्यों नहीं मान ली जाय ? तो इसका उत्तर यह है

कि—जहाँ (असम के उदाहरण में) उपमान का सर्वथा निषेध वर्णित रहेगा—अर्थात् यह वर्णित रहेगा कि 'अमुक पदार्थ का उपमान कहीं कोई है ही नहीं' यहाँ सादृश्य सदा ही कैसे हो सकता है ? अर्थात् बिना उपमान के किसका सादृश्य कहा जायगा ? और जब सादृश्य ही प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा सब वहाँ उपमा की गन्ध भी कैसे आवेगी ? क्योंकि सादृश्य का ही नाम उपमा है ।

रत्नाकरमतमुपपाद निरस्यति—

यत्तु—

‘दुण्डुलन्तो मरीहसि कण्टक कलिआई केअइवणाईं ।

मालइकुसुमसरिच्छं भयर भमंतो न पावहिसि ॥’ इति ।

नैयमुपमानलुप्तोपमा, तस्याः सम्भवदुपमानलुत्पादानविषयत्वात् । अपि त्वसमालङ्कारः’ इति रत्नाकरेणोक्तम्, तदसत् । मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रम-
अपि न प्राप्स्यसीत्युक्त्या वर्ततां नाम तत्सदृशं कापि, त्वया तु दुष्प्रापमेवेति प्रत्ययादात्यन्तिकोपमाननिषेधाभावादुपमानलुप्तोपमैवेयं भविष्यतीति, नासमा-
लङ्कारः । अन्यथा मालतीकुसुमसदृश नास्तीत्येव ज्ञेयात्, न तु प्राप्स्यसीति ।

दुण्डुलन्तो इति । व्याख्यातेयं गायोपमाप्रकरणे । खण्डयति—तदसत् इति । तस्या-
सत्त्वे हेतुमुपन्यस्यति—मालतीत्यादिना । निषेधाभावादिति । सम्भवदुपमानलुत्पादनेत्यपि
चोप्यम् । अन्यथेति । असमस्येष्टत्वे इत्यर्थः । यत्र सम्भवतोऽप्युपमानलुत्पादान न क्रियते
तत्रोपमानलुप्तोपमा भवति ‘दुण्डुलन्तो—’ इति गायया तु उपमानसम्भावनेव निरासितेति
नात्र सा किन्तु असमालङ्कार इति रत्नाकरस्याभिप्रायः । परमसौ न सहत ‘मालतीकुसुम-
सदृशं न प्राप्स्यसि’ इति कथनेन ‘तत्सदृशं वस्तु दिश्यते जगत्पथवरवम् परन्तु त्वया
सङ्गच्छं न शक्यम्’ इत्यर्थस्यैव प्रतीतिः, तथा च नात्रात्यन्तिकोपमाननिषेध इति असम-
लङ्काराप्रति, अपि च सम्भवतोऽप्युपमानलुत्पादानेनोपमानलुप्तोपमायाः प्राप्तिरिति
विचारासहत्वात् । यद्यप्यसमालङ्कारनिबन्धनं कवितुरभिप्रेतं स्यात्, तर्हि ‘मालतीकुसुम-
सदृशं नास्ती’त्येव कथयेत् । ‘न प्राप्स्यसि’ इति कथयत कवेः उपमानलुप्तोपमाननिबन्धने
एव स्वार्थस्य प्रतीयत इति भावः ।

रत्नाकर के मत का उपपादन करके खण्डन किया जाता है—यत्तु इत्यादि । ‘दुण्डु-
लन्तो—’ इस पद्य—त्रिसूची व्याख्या उपमाप्रकरण में की जा चुकी है—में उपमान-
लुप्तोपमा अलङ्कार नहीं है, क्योंकि वह वहाँ होती है, जहाँ सम्भावित उपमान का
उल्लेख नहीं किया गया रहता । यहाँ तो ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ उपमान
की सम्भावना का ही सङ्केत किया गया है, अतः वहाँ असमालङ्कार है । ऐसा जो
रत्नाकर ने कहा, वह भी असत् है—असङ्गत है । कारण, यहाँ जो यह वर्णित है कि—‘हे
भ्रमर ! तू समारभर में घूमता हुआ भी मालतीफूल के समान दूसरे को नहीं पा सकेगा ।’
उससे यह अर्थ प्रतीत होता है कि—‘उसके समान दूसरा भी कोई फूल दुनिया में कहीं
हो भले ही पर तू उसको नहीं पा सकता ।’ अब आप बतलाइये कि—यहाँ उपमान
का आत्यन्तिक निषेध हुआ ? उत्तर देना पड़ेगा ‘नहीं’ । फिर असम यहाँ कैसे ?
उपमानलुप्तोपमा तो हो ही सकती है, क्योंकि सम्भावित उपमान का अनुज्ञेय है । यहाँ
यदि कवि को असमालङ्कार का निबन्धन करना अभीष्ट होता तो ‘मालतीकुसुम सा
दूसरा कोई कुसुम नहीं है’ यही कहता, नकि ‘मालतीकुसुम-सदृश दूसरे को नहीं
पावेगा’ यह । ऐसा कहने का कारण स्पष्ट है कि कवि को उपमानलुप्तोपमालङ्कार का
निबन्धन अभीष्ट है ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

अथासमालङ्कारध्वननेनैव चमत्कारोपपत्तेरनन्वयस्य पृथगलङ्कारता कथमिति चेत्, सत्यम् । दीपकादेरप्युपमाभिव्यक्त्यैव चमत्कारोपपत्तौ कथं नाम पृथगलङ्कारत्वमिति तुल्यम् । न च दीपकादावुपमाया व्यङ्ग्यत्वेऽपि गुणीभावत्प्रकृते स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन्नवितर्कानां तिरस्कारेणासमालङ्कारस्यैव मुख्यतया ध्वननाद्वैपम्यमिति वाच्यम् । यथाहि दीपकसमासोक्त्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यसत्त्वेऽप्यलङ्कारत्वं न हीयते एवमनन्वये प्रधानव्यङ्ग्यसत्त्वेऽपीत न किञ्चिद्विच्छेदम् । अनन्वयशरीरस्य स्वसादृश्यमात्रस्य वाच्यत्वेन वाच्यालङ्कारव्यपदेशोऽपि सुस्थ एव । दीपकाश्लङ्कारकाव्ये गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्य सत्त्वादस्तु नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यचञ्च । ध्वनिस्य पुनर्न काव्यलङ्कृतिकाव्ये दृष्टमिति चेत्, पर्यायोक्तसादृश्यमूलाप्रस्तुतप्रशसादिकाव्ये ध्वनित्वस्य स्फुटत्वात् ।

आशङ्कते—अयेति । प्रतिबन्धा समाधत्ते—सत्यमिति । अत एवारम्भे 'हृषिकदीपकादावुपमैव' इति दृष्टान्तोक्तिः । दीपकादेरित्यस्य पृथगलङ्कारत्वमिन्पञ्चान्वयः । पुनरान्तरशङ्कामाह—न चेति । अवान्तरशङ्काया समाधानमाह यथा हि इति । हि यत प्रधानव्यङ्ग्यसत्त्वेऽपीति । अलङ्कारव न हीयते इत्यस्यानुषङ्गः । एषलङ्कारव्यवहारे साधिते वाच्यालङ्कारव्यवहारस्य साधयति—अनन्वयेति । शङ्कते—दीपकाश्लङ्कारेति । बहुप्रीहिरत्र बोध्यः । अलङ्कृतिकाव्ये इति तद्युक्तकाव्ये इत्यर्थः । तथा चैवमित्याद्युक्तिर्युक्तेति भावः । समाधत्ते—पर्यायोक्तेति । अप्रस्तुतप्रशसाया अनेकविधत्वादाह—सादृश्येति । अनन्वये स्वसादृश्यस्य स्वस्मिन् वाच्यत्वरूपे चमत्कारो नियतव्यङ्ग्यसादृश्यनिषेधकृत एवेति सर्वसम्मतम्, सादृश्यनिषेध एव च वाच्योऽसमाख्योऽलङ्कारः, तथा चैतत्सिद्धयति यत् अनन्वयेऽसमालङ्कारस्य यमतो व्यङ्ग्यत्वम् । अथ इचिद् वाच्यासमालङ्कारकृतं कश्चित् व्यङ्ग्यसत्त्वालङ्कारकृतध्वनित्वकार इत्यद्वीकारेणैव सामञ्जस्ये पृथगलङ्कारध्वन्या कथमनन्वयस्य गणनेति शङ्काया दीपकादानपि नियमतो व्यङ्ग्यमानोपमाकृत एव चमत्कारस्तथा च तेनैव निर्वहि दीपकादेरपि किमर्थम् पृथगलङ्कारत्वमिति शङ्कायास्तुल्यत्वमिति प्रतिबन्धात्मकं समाधानम् । यथा सत्त्वेऽपि दीपकादे पृथगलङ्कारत्वम् तथा अनन्वयस्यापीति भावः । दीपकादौ व्यङ्ग्यमानाऽप्युपमा वाच्यार्थस्य (दीपकवादिनाऽभिमतस्य) अपेक्षया गुणीभूता इति प्रधानवाच्यार्थमूलकदीपकादिव्यवहारो युक्तः, अनन्वये तु वाच्य स्वस्मिन् स्वसादृश्यम् बाधितत्वेन गितान्ततिरस्कारपात्रमेवेति किं तस्य प्राधान्यम् ? फलत व्यङ्ग्यमानस्य सादृश्यनिषेधात्मकासमालङ्कारस्यैव प्राधान्यम् इति नात्राप्रधानवाच्यार्थमूलकानन्वयव्यवहारो युक्त इति तु बोधित वैपम्योपदर्शनम्, अस्य वैपम्यस्याविधित्वात् । तथाहि—यद्युपमान्यगुणीभूतव्यङ्ग्यसद्भावेऽपि दीपकादेरलङ्कारत्व न नश्यति तर्हि असमात्मकप्रधानव्यङ्ग्यसद्भावेऽनन्वयस्यालङ्कारत्व कथं नश्येत् ? न नश्येदेव । न च न नश्यतु तस्यापि तत्, किं तु यत्र कोऽप्यर्थः प्रधानतयाऽभिव्यज्यते, तत्कृत एव च चमत्कारोऽनुभूयते तत्र ध्वनिमन्यव्यवहार एव भवति नालङ्कारव्यव्यवहार इति भवतोऽपि प्रादोऽभिमतमेव तथा च प्रधानतोऽभिव्यज्यमानचमत्कारैककारणासमालङ्कारके काव्येऽनन्वयकाव्यव्यवहारः कथं स्यात् ? न च गुणीभूतव्यङ्ग्यसद्भावे दीपकादिव्यवहारस्तु सोऽपि व्यवहारः स्यादिति शक्यम्, अलङ्कृतिप्रधानकाव्येऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यव्यवहारस्यालङ्कारिकैकज्ञी-इततया तत्र तथा व्यवहारस्य सम्भवेऽपि तद्दृष्टान्तेन प्रकृते तथाव्यवहारस्यासम्भवादिति

वक्तव्यम्, पर्यायोक्तसादृश्यमूलकाप्रस्तुतप्रशंसादिकाव्ये ध्वनिव्यत्यालङ्कारकाव्यत्वस्य च स्फुटतया ध्वनिव्यालङ्कारयोः सामानाधिकरण्येऽविरोधात् । अथास्त्वेतत्सर्वम्, परन्तु चमत्कार्यस्यास्य व्यङ्ग्यत्वेन कमंशमादाय अनन्वये वाच्यालङ्कारत्वव्यपदेश इति चेत् ? स्वस्मिन् स्वसादृश्यरूपमनन्वयशरीरमादायेति भावः ।

खण्डन-मण्डनपूर्वक 'अनन्वय' को पृथक् अलङ्कार मानने में युक्ति दिखलाई जाती है—अथ इत्यादि । अब यहाँ पाड़ा यह उपस्थित होती है कि—'अनन्वय' में वाच्य अश—अपने में अपना सादृश्य—सो बाधित ही रहता है, अतः उससे कोई चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, फलतः यही मानना पड़ता है कि व्यञ्जना के द्वारा प्रतीत होनेवाले 'उपमाननिषेध (अनुपमता)' अश से ही वहाँ चमत्कार उत्पन्न होता है, और उपमान के निषेध द्वारा सादृश्य (उपमा) का निषेध अथवा सादृश्य के निषेध द्वारा उपमान का निषेध ही असमालङ्कार का स्वरूप है । अतः यह कहना अशुभ ही सङ्गत है कि 'असमालङ्कार' को ध्वनित करने से ही 'अनन्वय' में चमत्कार आता है । ऐसी दशा में अनन्वयात्मक वर्णन को 'असमालङ्कार' व्यञ्जकमात्र मान लेने से निर्वाह हो जाता है; फिर पृथक् 'अनन्वय' को अलङ्कार क्यों माना जाय ? उत्तर में कहा जाना है कि दीपक आदि अलङ्कारों में भी उपमा की अभिव्यक्ति से ही चमत्कार बन पाता है—यदि सादृश्य की व्यञ्जनता प्रतीति न हो तो दीपक आदि में और चमत्कार ही क्या रह जाता है ? फिर उनको (दीपक आदि को) क्यों पृथक् अलङ्कार माना जाता है ? चातुर्दशों ही स्थलों पर प्रकृति है । तात्पर्य यह हुआ कि जैसे प्रतीयमान उपमाश को लेकर ही चमत्कारी होनेवाले दीपकादि को पृथक् अलङ्कार माना जाता है, वैसे ही व्यञ्जमान उपमाननिषेध (असम) अश को लेकर ही चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अनन्वय को भी पृथक् अलङ्कार माना जायगा । यदि आप कहें कि—दीपक आदि का दृष्टान्त देकर जो अनन्वय को पृथक् अलङ्कार सिद्ध करने का प्रयास आपने किया है वह नहीं सफल हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में बड़ी विपत्ति है और वह विपत्ति यह है कि दीपक आदि में व्यङ्ग्य होकर भी उपमा गौण ही रहती है, प्रधान रहता है दीपकात्मक वाच्यार्थ ही, अतः प्रधान के अनुसार पृथक् अलङ्कार का व्यवहार सङ्गत हो जाता है, पर प्रकृत में तो अपने में अपना सादृश्य ही वाच्य रहता है जो अत्यन्त ही बाधित अतएव तिरस्कृत होने योग्य है, अतः असमालङ्कार ही ध्वनित होकर सुगम हो जाता है, ऐसी स्थिति में यहाँ मुख्य असमध्वनिकाव्य का ही व्यवहार होना उचित प्राप्त है न कि अमुख्य अनन्वयालङ्कार काव्य का, तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे 'दीपक' 'समासोक्ति' आदि अलङ्कारों में गुणीभूत (अप्रधान) व्यङ्ग्य के रहने पर भी उनकी अलङ्कारता नहीं नष्ट होती—अर्थात् वे अलङ्कार कहलाते ही हैं, उसी तरह 'अनन्वय' में प्रधान व्यङ्ग्य के रहने पर भी उसकी (अनन्वय की) अलङ्कारता नष्ट नहीं होगी, वह भी अलङ्कार कहलायगा । तात्पर्य यह कि—जब अप्रधान व्यङ्ग्य के रहने से किसी पदार्थ का अलङ्कार होना नहीं रुकता तब प्रधान व्यङ्ग्य के रहने से वह एक आद पद व्याप्यसङ्गत नहीं है । और 'अपने में अपना सादृश्य' यह जो 'अनन्वय' का शरीरस्वरूप है वह तो वाच्य ही है, व्यङ्ग्य नहीं, अतः अनन्वय को वाच्य अलङ्कार कहना भी उचित ही है । यदि आप कहें कि दीपक आदि अलङ्कारों से युक्त काव्यों में सादृश्यरूप व्यङ्ग्य के गुणीभूत (अप्रधान) होने से उन्हें 'गुणीभूत व्यङ्ग्य (उत्तम काव्य)' कहा जाता है तो यह ठीक है, पर किसी अलङ्कार-प्रधानकाव्य का ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य होना कहीं नहीं देखा गया । अभिप्राय यह है कि—बहुतेरे अलङ्कारों में कुछ व्यङ्ग्य गुणीभूत होकर रहते हैं और उन व्यङ्ग्यों में चमत्कार भी रहता है, अतः उन्हें चित्रकाव्य (मध्यम) न कहकर गुणीभूतव्यङ्ग्य (उत्तम) कहा जा सकता है, वा अलङ्कारप्रधान ऐसा कोई काव्य नहीं जो अलङ्कारप्रधान होकर भी ध्वनि (उत्तमोत्तम)

कहला सके। किन्तु अनन्वयालङ्कार में असमालङ्कार प्रधानतया ध्वनित अतएव नाच्या पेक्षया अधिक चमत्कारी भी होता है। ऐसी स्थिति में जब अनन्वयालङ्कारयुक्त काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम)' काव्य कहना पड़ेगा, जो एक अदृष्टपूर्व बात है। इसका समाधान यह है कि-जिस बात को आप अदृष्टपूर्व समझ रहे हैं, वह वस्तुतः अदृष्टपूर्व है नहीं, जरा सी तिरछी नजर करके देखने पर वह बात 'पर्यायोक्त' और सादृश्यमूलक 'अप्रस्तुतप्रशसा' आदि अलङ्कारप्रधान काव्यों में स्पष्ट देखी जा सकती है-अर्थात् उन अलङ्कारों से युक्त काव्य अलङ्कारप्रधान ही कहलाते हैं और साथ साथ वहाँ प्रधानतया ध्वनित होनेवाले अर्थ भी रहते हैं।

मतान्तरमाह—

प्राञ्चस्तु नेदमलङ्कारान्तरमित्यप्याहुः।

'असमो' नालङ्कार ध्वनि, तदुदाहरणतयाऽभिमतेषु काव्येषु उपमालङ्कारवृत्तिरूप-मात्रस्यैव रसाद्यनुगुणतया रमणीयत्वात् इति प्राच्यो मन्यन्ते। रसाद्यनुकूलतया कृतत्रिपदा-नूपणापसारण यथा शोभाविशेषाय भवति, तथा स्थलविशेषेऽलङ्कारविशेषस्य दूरीकरणमात्र-मपि रसाद्यनुगुणतया रमणीय भवतीति न तत्रालङ्कारान्तरकल्पनावश्यकतेति तदाराय ॥ एतच्च व्यतिरेकालङ्कारप्रकरणे ग्रन्थकृतैर्वोक्तम्।

प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—प्राञ्चस्तु इत्यादि। प्राचीन आचार्य 'असम' नामक अलङ्कार नहीं मानते। नहीं मानने में उनकी युक्ति यह है कि-जैसे सम्मोह आदि में अनुकूल होने के कारण नायिका के किसी-किसी अङ्ग से भूषण का तदा देना ही शोभाविशेष के लिए होता है उसी तरह कहीं-कहीं अलङ्कार को दूर कर देना ही रस आदि के लिये उपकारक हो जाता है, अतः जिन काव्यों में 'असम' अलङ्कार माना जाता है, उनमें उपमा अलङ्कार का निरास कर देने मात्र से चमत्कार पैदा होता है, किसी खास अलङ्कार के होने से नहीं, यही मानना चाहिये। 'प्राचीन नहीं मानते' इस कथन से नवीन (जिनमें ग्रन्थकार भी प्रायः सम्मिलित हैं) 'असमालङ्कार' मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, उसमें तर्क यह है कि नये-नये चमत्कारों की उपलब्धि ही तो नवीन-नवीन अलङ्कारों को रवीकार करने में युक्ति है, फिर जैसे सादृश्य वर्णित रहने पर एक तरह का चमत्कार उपलब्ध होने से 'उपमा' नाम का अलङ्कार माना जाता है वैसे ही सादृश्यनिषेध वर्णित रहने पर भिन्न तरह का चमत्कार उपलब्ध होने से एक भिन्न अलङ्कार क्यों नहीं माना जाय?

व्यङ्ग्यममालङ्कार दर्शयितुमाह—

अथ चासमालङ्कारो व्यङ्ग्यमानो यथा—

व्यङ्ग्यनृत्तिबोध्य यह असमालङ्कार, जैसे।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘मयि त्वदुपमाविधौ वसुमतीरा वार्चयमे

न वर्णयति मामय कविरिति कथं मा कृथाः।

चराचरमिदं जगज्जनयतो विवेर्मानसे

पदं नहि दधेतरा तव मलु द्वितीयो नरः॥’

कवि वर्यापि राजानं स्तौति—हे वसुमतीरा राजन् । त्वदुपमाविधौ प्रसिद्धेन इन्द्रा-दिनोपमानेन सह तव तुलनाकरछे (विषयसप्तमीयम्), मयि, वार्चयमे मौनावलम्बिनि, सति, अयं कवि, मा, न वर्णयति, इति हेतो, कथं कोपम्, मा कृथा न कुट, त्वमिति शेष । 'मा कृथा' इत्यत्र 'माहि लुट्' इति सूत्रेण सर्वलकारापवादभूतो लुट् । साह्योगा-दप्रागभावात् । अवर्णनहेतुकवोधाकरछे कारणमाह—चराचरमिति । हि यत, चराचरम्

स्थावरजगत्मात्मकम्, इदं परिहरयमानं, जगत् संसारम्, जन्यत उत्पादयत, विधेः ब्रह्मण, मानसे चेतसि, तव द्वितीयः त्वाष्टोऽपरः, नत् मनुष्यः, खलु निश्चयेन, पदं स्थानम्, न दधेतराम् प्रापेत्यर्थः ।

५. उदाहरण का निर्देश किया जाता है—मयि इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! मैं आपकी किसी के साथ तुलना करने के विषय में लुप हूँ, इसलिये आप यह समझकर हि 'यह कवि मेरा वर्णन नहीं करता' क्रोध न कीजिएगा । असली बात यह है कि—इस स्थावर-जगत्मात्मक संसार को रचनेवाले विधाता के मन में आपके जैसा कोई दूसरा मनुष्य स्थान ही न प्राप्त कर सका । आप जैसे दूसरे मनुष्य की रचना करना तो दूर रहे, विधाता यह सोच भी नहीं सके कि आप जैसा कोई दूसरा हो सकता है ।

उपपादयति—

अत्र य एतावन्तं समयं विधातुर्मानसं नाधिरुद्धः सोऽप्येऽपि मानाभावाभा-
धिरोद्धेत्, अतः सर्वयैव नास्तीति गम्यते ।

ननु निषेधस्य वाच्यत्वेन कथमसमस्यान्न व्यङ्ग्यत्वम्, किंच 'दधे' इति भूतकालिकक्रि-
यापदेन भूतनिषेधप्रतिपादनेनात्यन्तिकनिषेधाप्रतीत्या कथमसम इत्यत आह—अत्रेति ।
अस्मिन् पद्ये इत्यर्थः । मानाभावात् प्रमाणविरहात् । गम्यत इति । गम्यधाधर्म्यं 'अस-
मालङ्कार'रूपः । एवञ्च पदधारणनिषेधस्य शान्दत्वेऽपि भूतकालिकत्वेऽपि च उपमाननिषे-
धस्य व्यङ्ग्यत्वमात्यन्तिकपक्षाद्गुणमेवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'मयि खदुपमाविधौ—' इस पद्य में 'आपके
समान कोई दूसरा मनुष्य विधाता के मन में नहीं आया' इवचा तो साफ दर्शित है
और इसीसे यह भी अनायास ज्ञात हो जाता है कि—आगे भी आप जैसा कोई उनके
मन में नहीं आयागा, क्योंकि आगे उनके मन में आप जैसा कोई आ ही जायगा इसका
कोई प्रमाण नहीं है । फलतः इस पद्य से यही अभिव्यक्त होता है कि—आप जैसा कोई
सर्वथा ही नहीं है और यह प्रतीपमान अर्थ 'असम' रूप है, अतः इस पद्य को व्यङ्ग्य
असमालङ्कार का उदाहरण समझा जाता है ।

व्यङ्ग्यत्वेऽपि कथमत्रासमस्यालङ्काररूपतेत्याह—

एवं च कथ्यमानोऽप्यसमोऽत्र प्रधानीभूतराजस्तुत्युत्कर्षकतयालङ्कार एव ।

'मयि—' इति श्लोके राजस्तुतिः सर्वतः प्रधाना (कविनिष्ठराजविषयकरतिभावाः
सर्वतः प्रधान इति भावः) अतः व्यङ्ग्योऽप्यसम अप्रधानः सन् प्रधानप्रकर्षकारणतया
अलङ्काररूप एव तिष्ठति बालङ्कार्यरूप इति सारांशः ।

व्यङ्ग्य होने पर भी यह अप्रधान अलङ्काररूप कैसे होता है इसकी उपपत्ति सुनिये—
एवं च इत्यादि । 'मयि—' इस पद्य के द्वारा राजा की स्तुति की गई है, अतः इस पद्य से
राजा के विषय में कवि का प्रेम (भाव) सर्वतः प्रधानरूप से अभिव्यक्त होता है, अतः
व्यङ्ग्य होकर भी 'असम' उसकी अपेक्षा अप्रधान ही रहता है और अप्रधान प्रधान का
पोषक होता ही है । इसीलिये व्यङ्ग्य होने पर भी यहाँ का 'असम' अलङ्काररूप ही है,
अलङ्कार्यरूप नहीं ।

यत्रासम एव मुख्यतयाऽभिब्यज्यते न रसादिस्तादृशमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

मुख्यतया ध्वन्यमानोऽयं यथा—

अवम् असम । अन्यत् स्पष्टम् ।

जहाँ 'असम' ही प्रधान रूप से ध्वनित होता है, वैसा उदाहरण, जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘सदसद्विवेकरसिकैरालोक्य समस्तलोकमथ कविभिः ।

गणिता गगनलतादेर्गणनाया तन्वि ! तव सदृशी ॥’

हे तन्वि कृशाङ्गि ! सताम् सत्यभूतानाम्, असताम् असत्यभूतानाञ्च, पदार्थानाम्, विवेके विवेचने, रसिकै र्नेहवद्भिः कविभिः, समस्तलोकम् समग्रं जगत्, आलोक्य निभात्य, अथ अनन्तरम् तव सदृशी त्वत्तुल्या, गगनलतादेः आभाशल्पाद्यम्भवद्भस्त्रुन-गणनायाम् षोडशैः, गणिता सख्याता इत्यर्थः । अत्र ‘असत्पदार्थगणनाया तव तुल्या गणिता इत्युक्त्या त्वत्तुल्या जयति नास्तीति प्राधान्येन व्यज्यते, अतः अलङ्कारध्वनिरिति भावः । नालङ्कार इति तदारायः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सदसद् इत्यादि । हे कृशाङ्गि ! साथ और मिथ्या पदार्थों का विवेक करने में रस लेने वाले कवियों ने समस्त ससार की देख-भाळ कर चुकने के बाद तेरी जैसी को ‘आकाशलता’ आदि की गणना में गिना है—अर्थात् ‘आकाशलता’ जैसे ससार में नहीं है वैसे ही तेरे समान भी कोई नहीं हो सकती । यहाँ ‘तेरी बराबरी की कोई दूसरी नायिका नहीं है’ यह असम पदार्थ प्रधान रूप से ही अभिव्यक्त होता है—अर्थात् यहाँ कोई दूसरा प्रधान अर्थ है ही नहीं जिसका पोषण यह असमपदार्थ करे, अतः अलङ्कार (अलङ्कार कहलाने योग्य पदार्थ) की ध्वनि यहाँ मानी जायगी, व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं ।

असमालङ्कारस्य भेदानुपपादनम्—

अथ कचिदुपमानस्य निषेधात्कचिच्च साक्षादुपमाया एव । आद्यस्तूपदर्शितः ।

उपमानिषेध एव यद्यप्यसमालङ्कारलक्षणे प्रविष्टः, तथापि उपमाननिषेधेऽपि निरूपकाभावादुपमानिषेधः पर्यवस्यतीति उपमाननिषेधमूलकम् साक्षादुपमानिषेधमूलकञ्च भेदद्वयमसमस्य तावदोध्यम् । तत्रोपमाननिषेधमूलकं प्रथमो भेदः प्रागुदाहृत इति भावः ।

असमालङ्कार के भेद किये जाते हैं—अथम् इत्यादि । यह ‘असमालङ्कार’ कहीं उपमान के निषेध से होता है और कहीं साक्षात् उपमा के ही निषेध से । तात्पर्य यह है कि-यद्यपि लक्षण में उपमा के निषेध को ही ‘असम’ कहा गया है, तथापि उपमाननिषेधमूलक भी एक भेद इसका होता है, क्योंकि उपमान के निषेध से उपमा का निषेध ही फलतः सिद्ध होता है । कारण, उपमान ही उपमा (सादृश्य) का निरूपक होता है, फिर निरूपक के अभाव में उपमा कैसे हो सकती है ? इस तरह उपमाननिषेधमूलक और साक्षात् उपमानिषेधमूलक दो भेद असम के सिद्ध हुए । उनमें प्रथम अर्थात् उपमाननिषेधमूलक भेद का उदाहरण पहले दिखलाया जा चुका है ।

द्वितीयभेदमुदाहर्तुमाह—

द्वितीयो यथा—

द्वितीय अर्थात् साक्षात् उपमानिषेधमूलक असमालङ्कार, जैसे ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘पूर्णमसुरै रसातलममरैः स्वर्गो वसुन्धरा च नरैः ।

रघुरावीरबलुना तथापि खलु जगति निरवकाशं ॥’

यद्यपि असुरै रसातलम् पातालम्, पूर्णम्, अमरैर्देवैः, स्वर्गं, पूर्णं, नरैः मनुष्यैः, वसुन्धरा पृथ्वी, च, पूर्णा अस्तीति शेषः । अत्र ‘पूर्णम्’ इत्यस्य लिङ्गव्यत्यासेनान्यत्रान्वयः । तथापि रसातलस्वर्गवसुन्धराणाम् अमुंरामरनरपरिपूर्णत्वेऽपि, जगति ससारं,

खलु निश्चयेन, रघुवंशवीरस्य रामचन्द्रस्य, तुलना उपमा, निरवकाश निम्नसरा निराधारेति यावत्, एवेत्यर्थः । अत्र साक्षादुपमानिषेधादसमः सम्पद्यते इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पूर्णम् इत्यादि । पाताल असुरों से, स्वर्ग देव-ताओं से और पृथ्वी मनुष्यों से यद्यपि पूर्ण है—इन सभी जातियों में एक से एक वीर वर्तमान है, तथापि रघुवंशवीर-रामचन्द्रजी की तुलना-उपमा-निरवकाश ही रह जाती है—अर्थात् उसकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती, यह अनुपम है । यहाँ 'तुलना निरवकाशैव' इस उक्ति के द्वारा साक्षात् उपमा का निषेध किया गया है अतः यह पद्य असमालङ्कार के द्वितीय भेद का उदाहरण होता है ।

अन्यभेदानां स्वयमूहनीयतामाह—

एव पूर्णतया लुप्ततया चास्यापि यथासम्भवं भेदा उभेयाः ।

यद्योन्माया पूर्णालुप्तादयो भेदा भवन्ति तथाऽऽस्यैऽपि कियन्तो भेदा भवितुमर्हन्ति, तेषामूह स्वयं सुधीर्भिन्विधातव्य इति भावः ।

जैसे 'उपमा' के पूर्ण-लुप्ता आदि भेद होते हैं, वैसे 'असम' के भी उनमें से कितने ही भेद हो सकते हैं, जिनका वर्णन विस्तार के भय से छोड़ दिया गया है । पर विद्वानों को स्वयं उनका ऊह कर लेना चाहिये ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामसमालङ्कारप्रकरणम् ।

अयोदाहरणालङ्कारनिरूपणमारभमाणस्तावत्तल्लक्षणमाह—

सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम् ।

सुखप्रतिपत्तये इति । हुततरं बुद्ध्यावृत्तायेत्यर्थः । तयोरिति । सामान्यैकदेशयो-रित्यर्थः । सामान्यरूपं कमपि पदार्थं प्रागुपवर्ण्य पश्चात् तस्योपवर्णितस्य सामान्यरूपस्य पदार्थस्य स्पष्टज्ञानाय तद्विरोध उपवर्ण्यते, तयोश्च सामान्यविशेषभूतयोः पदार्थयोः स्वाभा-विकोऽवयवावयविभावो यत्र शब्देनाभिधीयते, तत्र तादृशः च अवयवावयविभावा एयोदा-हरणालङ्कार इति भावः ।

असमालङ्कारनिरूपणोत्तर 'अब उदाहरणालङ्कार-निरूपण-ग्रन्थ में सर्वप्रथम उसका (उदाहरणालङ्कार का) लक्षण किया जाता है—सामान्येन इत्यादि । सामान्यरूप से वर्णित अर्थ के शीघ्र बोध के लिये, उसके एकदेश का वर्णन करके, सामान्य-पदार्थ और उसके एकदेश का, शब्द से उक्त अत्रादिभाव 'उदाहरण' कहलाता है ।

लक्षण विवेचयितुमाह—

अयान्तरन्यन्वाराण्योच्यमान इति । वचनं च इव-यथा-निर्दर्शन-दृष्टा-न्तादिशब्दैः काव्येषु स्फुटम् । न च इवयथाशब्दयोः सादृश्यवचनयोरवयवाव-यविभावे विशेषसामान्यात्मके नास्ति वृत्तिरिति वाच्यम् । लक्षणायाः साम्ना-ज्यात् । अन्यथा ह्यप्रेक्षाबोधकतापि दुर्घटा स्यात् ।

लक्षणषट्कोच्यमानपदस्य दर्शयितुमाह—अर्थान्तरेति । ननु केन केन शब्देनावय-वावयविभाव उच्येतेति जिज्ञासायामाह—वचनं चेति । शङ्कते—न चेति । समाधत्ते-लक्ष-णेति । लक्षणाया अवयवस्वीकरीयतामाह—अन्यथेति । लक्षणाङ्गीकारे इति तदर्थः ।

अर्थान्तरन्यासेऽपि अलक्ष्यवाच्यविभावः प्रतीयते, तथापि तत्र स शब्देनोच्यमानो न तिष्ठति । एवञ्चार्थान्तरन्यासे उदाहरणालङ्कारलक्षणं न प्रसज्जत्विति 'उच्यमान'पद लक्षणे प्रवेशितम् । तथा च यत्र सामान्यविशेषयोरवयवावयविभावनस्य बोधकः शब्द उपात्तस्तत्रोदाहरणम् । यत्र च तादृशः शब्दो नोपात्तस्तत्रार्थान्तरन्यास इति विवेकः । तयोरवयवावयविभावस्य बोधकाश्च शब्दा इव-यथा-निदर्शनं दृष्टान्तादयो भवन्तीति काव्या-वलोकनेन स्फुटमवगम्यते । विशेषसामान्यमावात्मकेऽवयवावयविभावे इव यथापदयोरभिधा नास्ति, तयोरभिधायाः सादृश्यरूपार्थ एव बोधादिभिर्बोधितत्वादिति चेत् ? सत्यम्, तयोः पदयोस्तत्रार्थं लक्षणाङ्गीकरणीयेति लक्षणकारस्याभिप्रायः । तथा च 'उच्यमान' इत्यस्य नाभिधाबोध्यमान इत्यर्थः, अपितु शब्देन बोध्यमान इत्येव । तच्च लक्षणायामपि न विहङ्गम् इति साराशः । अत एव इव-यथापदयोरेकप्रेक्षाबोधकता सकलालङ्कारिकाभिमतता सङ्गच्छते । सादृश्यवाचकौ तौ शब्दौ सम्भावनात्मिकमुत्प्रेक्षामपि लक्षणयैव बोधयितुं प्रभवत इति भावः ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—अर्थान्तर इत्यादि । अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में अतिप्रसङ्ग न हो इसलिये 'उदाहरण' के लक्षण में 'शब्द से उक्त' यह अवयवावयविभाव का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि—अर्थान्तरन्यास के उदाहरणों में भी सामान्य-विशेषभाव प्रतीत अवश्य होता है, पर उस भाव का बोधक कोई पद वहाँ नहीं रहता, अतः उससे पृथक् करने के लिये उदाहरणालङ्कार में उक्त भाव का शब्द द्वारा अवगत होना आवश्यक माना जाता है । कान्यों में उक्त अवयवावयविभाव के बोधक 'इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त' पद स्पष्ट उपलब्ध होते हैं । 'इव' और 'यथा' पद 'सादृश्य' के वाचक हैं, अतः वे दोनों पद सामान्य विशेषरूप अवयवि-अवयवभाव के बोधक किस वृत्ति के बल पर हो सकते हैं ? अर्थात् अभिधापृत्ति के बल पर नहीं हो सकते, तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हाँ, अभिधा के बल पर नहीं हो सकते यह बात सत्य है, पर लक्षणा के बल पर तो हो ही सकते हैं—अर्थात् जहाँ जिस पद की अभिधा बाधित रहती है वहाँ भी उस पद की लक्षणा का साक्षात्त्व रहता है ऐसी स्थिति में इव यथा आदि पदों की अभिधा भले ही 'अवयवावयविभाव'रूप अर्थ में न हो पर लक्षणा हो सकती है । इसीलिये तो वे पद सम्भावनारूप उत्प्रेक्षा के भी बोधक होते हैं, यदि अभिधा के बल पर ही उन पदों का बोधक होना निश्चित रहता, तब तो सादृश्य के अतिरिक्त किसी भी अर्थ के बोधक नहीं हो पाते और उनको उत्प्रेक्षा-बोधक सभी आलङ्कारिक मानते हैं । ऐसी दशा में लक्षणा द्वारा इव यथा आदि पद उत्प्रेक्षा की तरह अवयवावयविभाव के भी बोधक हैं यह मानने में किसी को किसी तरह की आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

लक्षणं दर्शयितुं वयमिति—

उदाहरणम्—

अपोनिर्दिष्टं बोध्यमिति भावः ।

उदाहरणं देखिए ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति ।

निखिलरसायनराजो गन्वेनोप्रेण लघुन इव ॥'

अमितगुण अपरिमितगुणशाली, अपि, पदार्थ वस्तु, एकेन, दोषेण, निन्दित, निन्दा-रिपय, भवति जायते । यथा निखिलरसायनराज सकलपु रसायनेषु श्रेष्ठ, लघुन स्व-

नामग्यात्. मूलविशेष, उभेण उक्तदेन, गन्धेन निन्दितो भवतीत्यर्थः । अत्रामितगुणपदार्थसामान्यं प्रागुपवर्णितम्, ततस्तदेकदेशो विशेषभूतो लघुनो निरूपितस्तयोश्चावयव्यवभावः 'इव'शब्देन बोधित इत्युदाहरणालङ्कारोदाहरणं पश्यमेतत्सम्पद्यत इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अमित इत्यादि । अमित-अगणित-गुणों से युक्त भी पदार्थ एक दोष के कारण निन्दित हो जाता है जैसे सकल रसायनों (आयु आदि को बढ़ाने वाले औषधों) में श्रेष्ठ लहसुन उग्र गन्ध के कारण निन्दित हो गया है । यहाँ पहले अगणितगुणगणशाली पदार्थ-सामान्य का वर्णन किया गया है, तदुत्तर उसके एक देश-विशेषभूत पदार्थ-लहसुन का । और इन दोनों सामान्य-विशेषभूत पदार्थों में अवयवी-अवयवभाव है—अर्थात् सामान्य अगणितगुणयुक्त पदार्थ अवयवी-अङ्गी है और विशेषभूत लहसुन है अवयव-अङ्ग । यह अद्वयद्वयभाव यहाँ इव शब्द से साफ कह दिया गया है, अतः यह पद्य उदाहरणालङ्कार का उदाहरण माना जाता है ।

आशङ्क्य समाधारे—

न चात्र पदार्थलघुनयोरुपमा शक्या वक्तुम् । तयोः सामान्यविशेषभावेन सादृश्यस्यानुज्ञात् । तथात्वे तु इवशब्दादीनामिव सदृशादिशब्दानामप्यलङ्कारेऽस्मिन् प्रयोगः स्यात् ।

अनुज्ञावादिति । मियो भेदाभावेन स्फुटमप्रतीतेरित्यर्थः । तथात्वे न्विति । सादृश्य-स्योपपत्तेरित्यर्थः । अस्त्योपपत्तिरत्रैवाग्रे स्फुटीभवित्यति । 'अमितगुण—' इति श्लोके पूर्णवर्णितस्य पदार्थसामान्यस्योत्तरार्धवर्णितस्य लघुनस्य चोपमैव कविना निबद्धा तथा चात्रोपमालङ्कार एवेति नातिरिक्तोदाहरणालङ्कारकल्पबाधरयक्तेति वक्तुं न शक्यम्, सामान्यविशेषभावापन्नयोस्तयो 'विशेष सामान्याभातिरिच्यते' इति सिद्धान्तारोप्या परस्परं भेदविरहेण भेदघटितस्य सादृश्यपदार्थस्य प्रत्येतुमशक्यतयोपमाया अप्रसज्ये- । यद्येवंविधे स्थले सादृश्यं प्रतीतं भवेत्, तर्हि तत्र इव-व्यापद-प्रयोगवन् सदृशतुल्यादिपदप्रयोगोऽपि भवेत्, न च भवति अन्यथात्, तथा चैवंविधस्थले सादृश्यस्याप्रतीतिरकामेनापि स्वीकरणीयैवेति भावः ।

एक आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि । 'अमित-गुणोऽपि—' इस पद्य में 'पदार्थ' और 'लहसुन' की उपमा नहीं कही जा सकती, क्योंकि उपमा सादृश्य का नाम है और सादृश्य की प्रतीति यहाँ हो नहीं सकती । कारण, सादृश्य भेदघटित पदार्थ है, अतः दो भिन्न वस्तुओं में ही वह हो सकता है और सामान्य 'पदार्थ' तथा विशेष 'लहसुन' में भेद है नहीं अर्थात् 'लहसुन' भी 'पदार्थ' के अन्तर्गत ही है उसमें भिन्न नहीं । यदि इस तरह के सामान्यविशेष भाववाले स्थल—जो उदाहरणालङ्कार का लक्ष्य है—में सादृश्य की स्पष्ट प्रतीति होती, तो जिस तरह 'इव' 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उस तरह सदृश, तुल्य आदि पदों का भी प्रयोग हो सकता । पर ऐसा होता नहीं । प्रकृत उदाहरण में ही देखिए—'जैसे लहसुन' इस वाक्य के ध्यान पर 'लहसुन के सदृश' नहीं कहा जा सकता ।

इवपदघटितमुदाहरणमुक्त्वा यथापदघटितं तद्दर्शयितुमाह—

यथा वा—

'इव'पदयुक्त उदाहरण तो दिखलाया जा चुका । अब 'यथा'पदयुक्त उदाहरण देखिए ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

'अतिमात्रबलेषु चापलं विदधानः कुमतिर्विनश्यति ।

त्रिपुराक्षिषि वीरतां बहन्नवलितः कुसुमायुधो यथा ॥'

अतिमात्रबलेषु स्वापेक्षयाऽत्यधिकबलशालिषु चापल चञ्चलताम् द्वेषभावमिति यावत् विदधान कुर्वाण, कुमति दुर्बुद्धिं जन इति शेष, विनश्यति विरोधेन नाशमुपलभते, यथा त्रिपुरद्विषि त्रिपुरासुरद्वेषिणि शिवे वीरताम् शौर्यम्, बह्व दधान, अवलित गर्वी, कुसुमायुव प्रसूनशर काम इति यावत्, विनष्ट इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अतिमात्र इत्यादि । अत्यधिक बलवालों के विषय में—अर्थात् उनके साथ—चञ्चलता करनेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य नष्ट हो जाता है, जैसे त्रिपुरारि (शिव) के विषय में वीरता रखनेवाला—उनके साथ वीरता दिखलाने वाला—घमही कुसुमायुध (कामदेव) नष्ट हो गया ।

उपपादयति—

अत्र त्रिपुरद्विषीरस्ते अतिमात्रबलचापलयोर्विशेषौ । अवलेपकुसुमायुधौ च कुमतिरित्यत्र गुणप्रधानयोः ।

गुणप्रधानयोरिति । कुम्भितमत्तितद्विशेषयोरित्यर्थः । विशेषाविव्यक्त्यानुपपन्नः । ‘अतिमात्र—’ इति श्लोकेऽतिमात्रबलचापलपदार्थौ सामान्यभूतावत एवावयविनौ त्रिपुरद्विषीरतापदार्थौ च तद्विरोधभूतावत एव तौ तदवयवौ । एवम् कुमतिपदार्थौ कुम्भितमत्तितद्विशिष्टौ सामान्यभूतावयविनौ अवलेपकुसुमायुधपदार्थौ च तद्विरोधभूतावत एवावयवौ । एतस्यावयवावयविद्वयस्य सवन्ध (अवयवावयविभाव) यथापदेनोक्त इति इदमपि उदाहरणालङ्कारोदाहरणम् भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘अतिमात्र’—इस पद्य में ‘अत्यधिक बलवाले’ और ‘चञ्चलता’ ये दोनों पदार्थ सामान्यरूप अतएव अङ्गी हैं और ‘शिव’ तथा ‘कामदेव’ ये दोनों पदार्थ हैं उन दोनों के विशेषरूप अतएव उनके अङ्ग, इसी तरह ‘दुर्बुद्धि’ पद के अर्थ में गीणरूप से आई हुई ‘पुरी बुद्धि’ और प्रधान रूप से आया हुआ ‘पुरी बुद्धिवाला’ ये दोनों पदार्थ सामान्यरूप अतएव अङ्गी हैं और इन दोनों के विशेष अतएव अङ्गरूप हैं ‘घमही’ तथा ‘कामदेव’ । तात्पर्य यह कि उक्त पदार्थों का अङ्गाङ्गिभाव यहाँ ‘यथा’ पद से उक्त है, अतः यह पद्य ‘उदाहरण’ का उदाहरण होता है ।

निदर्शनपदघटितमुदाहरण दर्शयितुमाह—

यथा वा—

निदर्शनपदयुक्त उदाहरण अद्य देखिए ।

उदाहरण निरिखते—

‘उपकारमेव कुरुते विपद्रुतः सद्गुणो नितराम् ।

मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ॥’

विपद्रुतोऽपि विपत्तिग्रस्तोऽपि सद्गुण समीचीनगुणयुक्त, पदार्थ, नितराम्, अत्यन्तम्, उपकारम्, एव, कुरुते । अत्र विपद्रुतस्यापि सद्गुणपदार्थस्योपकारित्वे, मूर्च्छाम् संस्कारविशेषम् मोहश्च, गत प्राप्त, वा अशवा, मृत सस्कारविशेषापन्न निःप्राणश्च, पारदः रसविशेष, निदर्शनम् दृष्टान्त इत्यर्थः । अत्र विपद्रुतमद्गुणात्मकमामान्यस्य मूर्च्छितपारदान्मकविशेषस्य चावयवावयविभावो निदर्शनपदेनोक्त इत्युदाहरणोदाहरणतां प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—उपकार इत्यादि । विपत्तिग्रस्त होकर भी अच्छे गुणों से युक्त पदार्थ अत्यन्त उपकार ही करता है । इस बात का दृष्टान्त है मूर्च्छित अथवा मृत पारा । मूर्च्छित, मृत, बुभुक्षित आदि अवस्था तब पारे की मानी जाती है जब रासायनिक प्रक्रिया से उसका सस्कार किया जाता है । यह पद्य भी उदाहरण-

लंकार का उदाहरण होता है, क्योंकि यहाँ भी विपक्षिप्रस्त वच्छे गुणों से युक्त पदार्थ—
जो एक सामान्यरूप है और मूर्च्छित वयया मृत परन्तु उपकारक पारा—जो वही का
एक विशेष रूप है इन दोनों का अन्तर्भाव 'निदर्शन' पद से उक्त है ।

दृष्टान्तपदघटितस्याप्युदाहरणालंकारस्योदाहरणमिदमेव पद भवितुमर्हतीति बोधयितुम्
पाठान्तरमाह—

दृष्टान्तो वा—

उक्तपद्यपठकस्य 'निदर्शनम्' इत्यस्य स्थाने 'दृष्टान्त' इति वा पाठो बोध्यः । तथा-
त्वे च दृष्टान्तपदघटितमिदमुदाहरणं सम्पद्येतेति भावः ।

'दृष्टान्त' पद वाक्य उदाहरण भी उक्त पद्य ही हो सकता है यह समझने के लिये
पाठान्तर दिखलाया जाता है—दृष्टान्तो वा इति । अर्थात् उक्त पद्य के 'निदर्शनम्' के
स्थान में 'दृष्टान्त' ऐसा पाठ मानने पर यही पद्य 'दृष्टान्त' शब्दघटित उदाहरणालंकार
का उदाहरण होता है ।

विशेषमाह—

द्वाविंशद्विप्रयोगे सामान्यार्थप्राधान्यं वाक्यैक्यम्, निदर्शनादिशब्दप्रयोगे
तु विशेषप्राधान्यं वाक्यभेदश्चेति विशेषः ।

इवशब्देत्यस्य तत्रेत्यादिबोध्यः । वाक्यैक्यमिति । पदैक्यवाक्यतापक्षत्वमित्यर्थः,
वाक्यभेद इति । पदैक्यवाक्यत्वं नेत्यर्थः । वाक्यैक्यवाक्यत्वं तु भवत्येव । इव-यथा-
निदर्शन-दृष्टान्तेति चतुर्णामपि शब्दानां सत्त्वे भवत्युदाहरणालंकारः, परंतु इवयपेतिपद-
द्वयान्यतरघटितोदाहरणे सामान्यार्थः प्रधानो विशेष्यः, विशेषार्थश्च गौणः—विशेषणं
भवति । एवम् तत्र सामान्यविशेषयोरर्थयोः प्रतिपादकम् वाक्यम् एकम् भवति । निदर्शन-
दृष्टान्तेति पदद्वयान्यतरघटितोदाहरणे पुनः विशेषभूत एवार्थः प्रधानम् सामान्यार्थश्च गौणः
तत्प्रतिपादकश्च वाक्यद्वयम् इति विशेषो बोध्यः ।

एक विशेष समझाया जाता है—इवादि इत्यादि । इव, यथा, निदर्शन और दृष्टान्त
इन चारों शब्दों के रहने पर यद्यपि समानरूप से 'उदाहरणालंकार' होता है, तथापि
इव और यथा पदों के रहने पर 'सामान्यपदार्थ' प्रधान होता है और 'विशेषपदार्थ'
गौण, एवम् इन दोनों शब्दों के रहने पर एक वाक्य होता है और निदर्शन तथा दृष्टान्त
शब्द के रहने पर 'विशेषपदार्थ' ही प्रधान होता है तथा 'सामान्यपदार्थ' गौण, एवम् इन
दोनों पदों के रहने पर दो वाक्य होते हैं, यह विलक्षणता होती है, ऐसा समझना चाहिए ।

तत्रैव विशेषं शान्दबोधप्रदर्शनेन स्फुटीकरोति—

तत्र तावद् 'अमितगुणः—' इति पद्ये क्रियाप्रधानमाख्यातमिति नयेऽमित-
गुणपदार्थकर्तृकमेकदोषहेतुकं निन्दाविषयीभवना निखिलरसायनराजलशुनकर्तृ-
कोऽग्रगण्यहेतुकनिन्दाविषयीभवनावयवकमिति धीः । प्रथमान्तविशेष्यबोध-
वादिनां तूष्णगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रयतादृशलशुनावयवकस्तादृशपदार्थ
एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रय इति । तत्रापि विशेषवाक्यार्थे क्रियान्वयो
सम्यक्ते हेत्वन्तरान्वयार्थम् । अन्यथा तादृशलशुनावयवके तादृशपदार्थ एव
क्रियान्वयेनोपपत्तिः स्यात् । एवं यथाशब्दस्थलेऽपि । वषकारमेवेत्यत्र तु
विपद्गताभिन्नः सद्गुण वषकारानुकूलकृतिमानिति पूर्ववाक्यार्थः, अत्रास्मिन्नर्थं
मूर्च्छाद्गतो मृतो वा पारदो निदर्शनमेकदेश इत्युत्तरवाक्यार्थे गुण इति केपाञ्चितम् ।
इतरेषां तु तादृशकर्तृका तादृशक्रियेति पूर्ववाक्यार्थे तादृशः पारद एकदेश

इति । प्रधानावयवस्येव गुणावयवस्यापि विशिष्टार्थावयवत्वात्, घटमानयेत्यत्र नीलघटवत् ।

तत्रेति । तेषां मध्य इत्यर्थः । बोधवादिनामिति । नैयायिकानामित्यर्थः — तादृशेति । निखिलरसायनराजेत्यर्थः । तादृशेति । अमितगुणेत्यर्थः । इतीति । धीरित्यस्यानुप्रासः । ननु निन्दितो भवतीत्यादेरेकत्रैवोपादानात्कथमुभयत्र बोध इत्यत आह—तत्रापीति । हेत्वन्तरान्वयेति । उभयगन्धदिरूपहेत्वन्तरेत्यर्थः । अन्ययेति । तदनन्वये इत्यर्थः । नोपपत्तिरिति । उपपत्तिर्न स्यादित्यर्थः । पद्यस्यात्रेत्यस्यार्थमाह—अस्मिन्निति । गुण इति । गुणीभूत इत्यर्थः । कैवाचित् नैयायिकानाम् । इतरेषाम् चैवाकरणानाम् । तादृश-कर्तृका इति । विषद्गताभिन्नसद्गुणकर्तृकोपकारक्रियेत्यर्थः । पद्यस्यात्रेत्यस्यार्थमाह—पूर्ववाक्यार्थे इति । तादृश इति । मूर्च्छां गतादिरूप इत्यर्थः । ननु त्रियारूपस्य पूर्ववाक्यार्थस्य कथं ब्रह्मरूपं पारदोऽवयव इत्यत आह—प्रधानेति । 'क्रिया प्रधानमाख्यातम्' इति सिद्धान्तस्वीकुर्वाणा शाब्दिका क्रियामुल्लेखविरोध्यैव शब्दबोधं मन्यन्ते । तदनुसारम् । 'अमितगुण —' इत्यादीष्वप्यपदघटितोदाहरणालंकारकाव्यवाक्यात् । 'निखिलरसायनराजो लशुन कर्ता यस्य तादृश तथा उग्रो गन्धो हेतुर्यस्य तादृश च यत् निन्दाविषयीभवनम् तत् अवयवभूत यस्य तादृश तत् निन्दाविषयीभवनम् यस्य अमितगुणपदार्थकर्ता एको दोषश्च हेतु' इत्यर्थको मूलोक्ताकारो बोधो भवति । आख्यात नाम तिङ् न तिङन्तम्, तथा च 'क्रियाप्रधानम्—' इति वचनेन तिङ्शेषु क्रियायां प्राधान्यं बोध्यते न तिङन्तवाक्यस्यार्थे, अतो वाक्यार्थबोधे प्रथमान्तपदार्थ एव मुख्यो विरोध्य इति नैयायिका तदनुसारं पुन उक्तवाक्यात् 'उभयगन्धहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रय सकलरसायनराजो लशुनोऽवयवो यस्य तादृशो योऽमितगुणपदार्थः स एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रय' इत्यर्थको मूलोक्ताकारो बोधो जायते । उभयत्र बोधे सामान्यार्थप्राधान्यं पदैववाक्यत्वम् च स्पष्टम् । ननु एकत्रैव पदे 'भवति' क्रियाया उपदानमस्ति बोधे चोभयत्र सद्गानं प्रदर्शयते कथमेतदिति चेन्न, विशेषवाक्योक्तोभयगन्धरूपहेतोरन्वयसिद्ध्यर्थं तदा वृत्ते स्वीकरणीयत्वात् तदस्वीकारे 'सकलरसायनराजलशुनावयवकोऽमितगुणपदार्थ एकदोषहेतुकनिन्दाविषयीभवनाश्रय' इत्याकारक एव बोधो भवेत्, तथा च विशेषवाक्योक्तोभयगन्धरूपहेतोरन्वय एव प्रसज्येत । एकस्यामेव क्रियाया हेतुद्वयान्वयस्तु बाधित एवेति तात्पर्यम् । 'उपकारमेव—' इत्यादि । निदर्शनादिपदघटितोदाहरणालंकारकाव्यवाक्यास्तु नैयायिकमते 'अनेदसबन्धेन विषद्गतपदार्थविशेषणक सद्गुणपदार्थ उपकारानुकूलकृतिमाह इत्याकारक पूर्ववाक्यार्थ अस्मिन्नर्थे (पूर्ववाक्यार्थे) मूर्च्छां गतो मृतो वा पारद एकदेश इत्युत्तरवाक्यार्थे विशेषणीभूत (गुणीभूत)' इत्यर्थको मूलोक्ताकारको बोध अस्मिन् बोधे विशेषप्राधान्यं वाक्यभेदश्च स्पष्टः । नैयाकरणमते पुनरस्माद् वाक्यात् 'विषद्गताभिन्नसद्गुणकर्तृकोपकारक्रिया इति पूर्ववाक्यार्थे मूर्च्छां गतादिरूपं पारदोऽवयव' इति बोधः । अत्रान्तिमबोधे सर्वत्र प्रधानभूतोपकारक्रिया, तदवयव (तद्विशेषणीभूत) च सद्गुणपदार्थ तदवयवश्च तादृश पारद इति रित्यौ सद्गुणकर्तृकोपकारक्रियारूपस्य विशिष्टार्थस्य तादृशपारदोऽवयवो भवतीति कथ्यते । एवमेव 'घटमानय' इति वाक्याज्जायमाने बोधे प्रधानीभूताया आनयनक्रियाया विशेषणीभूते घटाशे विशेषणीभूतं नीलादिरूपम् आनयनक्रियाया घटविशिष्टाया विशेषणं स्वीक्रियत, अत एव नीलघट्यादेरेवानयनं भवति । अत्र 'नीलघटवत्' इति पाठ्यपेक्षया 'नीलरूपवत्' इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति । एतेन क्रिया-

स्वस्य पूर्ववाक्यार्थस्य कस्य द्रव्यरूपं पारदोऽवयव इति शङ्क निरस्ता । इत्येवादिपठित-
वाक्यस्थले सामान्यविशेषवाक्ययोः पदैकवाक्यता भवतीत्येव वाक्यैक्यम् । निदर्शनादि-
पदपठितस्थले तु सामान्यविशेषवाक्ययोर्वाक्यैक्यवाक्यता भवतीत्येव वाक्यभेद इति भावः ।

उक्त विशेष का स्पष्टीकरण शब्दबोध दिखला कर किया जाता है—तत्र इत्यादि ।
'क्रियाप्रधानमाख्यातम्—अर्थात् आख्याततिङन्त (तिङन्तपदघटितवाक्य) के बोध
में क्रिया की प्रधानता होती है ।' इस वचन की इस व्याख्या को मानने वाले वैया-
करणों के मत में सभी वाक्यों के बोधों में क्रिया ही मुख्य विशेष्य होती है, अतः उनके
हिस्सा से 'अमितगुणः—' इत्यादि उदाहरणालंकारयुक्त काव्यवाक्यों—जिनमें 'हव'
अथवा 'यथा' पद का प्रयोग किया गया हो—से "अमित गुण वाला पदार्थ जिसका कर्ता
है और एक दोष जिसका कारण है वह निन्दित होना ऐसा सामान्य पदार्थ है, जिसका
'सकल रसायनों में श्रेष्ठ छहसुत्र जिसका कर्ता है और उग्र गन्ध जिसका कारण है वह
निन्दित होना' अर्थात् एक विशेष पदार्थ—है ।" ऐसा शब्दबोध होता है । वैयायिक लोग
'क्रियाप्रधानम्—' इस वचन की कुछ भिन्न व्याख्या करते हैं—वे कहते हैं कि—
'आख्यात' शब्द का अर्थ तिङन्त नहीं, तिङ्प्रत्यय होता है, अतः तिङ्प्रत्यय के अर्थों
में क्रिया की प्रधानता उक्त वचन से बोधित होती है (याद रहे कि ये क्रिया को भी
तिङ्प्रत्यय का ही अर्थ मानते हैं) इस व्याख्या के अनुसार तिङन्तपदघटित वाक्य के
अर्थबोध में क्रिया की प्रधानता सिद्ध हुई नहीं, फलतः वे सभी वाक्यों के अर्थबोधों में
प्रथमान्तपद के अर्थ को ही मुख्य विशेष्य मानते हैं । तदनुसार, उक्तवाक्य से—'उग्र
गन्ध जिसका कारण है ऐसे निन्दित होने (क्रिया) का आश्रय (आधार) सकल
रसायनों में श्रेष्ठ छहसुत्र जिसका अवयव (अङ्ग) है वह अमितगुणवाला पदार्थ, उस
निन्दित होने (क्रिया) का आश्रय है जिसका कारण एक दोष है ।' इस तरह का शब्द-
बोध होता है । उक्त पद्य में 'निन्दितो भवति—निन्दित होना रूप क्रिया' केवल एक
बार—(सामान्यपदार्थ के साथ) प्रयुक्त हुई है और शब्दबोध में उस क्रिया का भान
दो बार (सामान्यपदार्थ के साथ और विशेषपदार्थ के साथ) दिखलाया गया है, यह
क्यों ? ऐसी आशंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे स्थलों पर सामान्यपदार्थ-अंश में
जो हेतु रहता है उससे भिन्न हेतु विशेषपदार्थ-अंश में रहता है, जैसे उक्त स्थल पर
सामान्यपदार्थांश में हेतु है 'एक दोष' और विशेषपदार्थांश में हेतु है 'उग्र गन्ध' । इन
दोनों भिन्न भिन्न हेतुओं का किसी भी एक क्रिया में अन्वय असम्भव है और यदि केवल
विशेषपदार्थ का सामान्यपदार्थ के साथ अन्वय करके उस सामान्यपदार्थ का ही
क्रिया के साथ अन्वय किया जाय तो बात बनती नहीं—अर्थात् विशेषपदार्थ-अंश में
कथित हेतु अनन्वित ही रह जायगा । ऐसीदृशा में पद्योक्त एक ही 'निन्दित होनेरूप
क्रिया' की आश्रुति कर ली जाती है, अतः दो बार उसका शब्दबोध में भान होता है । अब
रही 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदोंवाले वाक्यों के शब्दबोध की बात । उसको भी
समझिए । 'उपकारमेव—' इस निदर्शन अथवा दृष्टान्तपद-घटित वाक्य से नैयायिकों
के अनुसार 'आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणवाला पदार्थ उपकार के अनुकूल
कृति (यत्न) से युक्त होता है, इस सामान्य अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पाता अङ्ग-
रूप—एक उदाहरण है' ऐसा शब्दबोध होता है । वैयाकरणों के अनुसार तो उक्त
वाक्य से 'आपत्ति में पड़े हुए से अभिन्न अच्छे गुणों वाला पदार्थ जिसका कर्ता है उस
उपकारक्रियारूप सामान्य अर्थ का मूर्च्छित अथवा मृत पाता अङ्ग रूप है ।' ऐसा
शब्दबोध होता है । यहाँ यह शंका की जा सकती है कि—वैयाकरणानुसारी इस पिछले
शब्दबोध में जो क्रियारूप पूर्ववाक्यांश का अङ्ग द्रव्य (याता) रूप उत्तर वाक्यांश को
माना गया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि क्रिया का अङ्ग द्रव्य नहीं हो सकता तो इसका
उत्तर यह है कि—यद्यपि 'याता' 'अच्छे गुणोंवाले पदार्थ' का अङ्ग है क्रिया का नहीं,

तथापि 'पारा' जिसका अर्थ है वह 'अच्छे' गुणोंवाला पदार्थ' यहाँ 'उपकार' क्रिया का विशेषण होकर भासित हुआ है, अतः क्रिया के विशेषण का अवयव होने के कारण 'पारा' को भी क्रिया का अवयव कहा जा सकता है। कारण, जैसे प्रधान (विशेष्य) का अवयव विशिष्ट (विशेषणों के सहित पूरे वाक्यार्थ) का अवयव होता है, वैसे ही विशेषणों का अवयव भी विशिष्ट का अवयव हो सकता है—अर्थात् यद्यपि यहाँ 'पारा'रूप विशेष पदार्थ 'क्रिया'रूप विशेष्य का अङ्ग नहीं हो सकता, तथापि विपदृत सद्गुणपदार्थरूप विशेषण से सहित विशेष्य क्रिया (विशिष्ट) का अङ्ग होने में तो किसी तरह की बाधा है नहीं। जैसे कि 'घटा लाओ' इस वाक्य से होनेवाले बोध में अनयनक्रियारूप विशेष्य के अङ्ग घड़े का विशेषण नील आदि रूप उक्त क्रिया का भी विशेषण (अङ्ग) समझा जाता है, अन्यथा 'बड़ा लाओ' इस वाक्य से श्रोता 'नीले घड़े' के साथ 'लाना' क्रिया का सम्बन्ध न समझ पायेंगे और उस स्थिति में वैसे घड़े को लाना भी नहीं। तात्पर्य यह कि आप बलविशेष्य का अङ्ग समझ कर दोष दे रहे हैं, पर हम 'पारा' को विशेष्य का अङ्ग नहीं, अपितु विशिष्ट का अङ्ग बना रहे हैं, और वैसा हो सकता है। अतः कोई दोष नहीं। सारांश यह हुआ कि— 'इव' 'यथा' आदि पदों वाले वाक्यों में सामान्य अर्थ की प्रधानता और 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदोंवाले वाक्यों में विशेष अर्थ की प्रधानता रहती है, यह बात जो पहले ग्रन्थकार ने कही है, वह नैयायिकानुसारी शाब्दबोध के अनुरोध से, क्योंकि सबसे अन्तिम वैयाकरणानुसारी शाब्दबोध से उस बात की रक्षा नहीं होती। इसी तरह— "इव, यथा आदि पदों के प्रयोग रहने पर एक-वाक्यता होती है और 'निदर्शन' 'दृष्टान्त' आदि पदों के प्रयोग रहने पर दो वाक्य होते हैं।" यह बात जो पहले ग्रन्थकार ने कही है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि— प्रथम स्थल में एकैकवाक्यता होती है—अर्थात् पद के सभी पद मिलकर एक वाक्य की सृष्टि करते हैं और द्वितीय स्थल में वाक्यैकवाक्यता होती है—अर्थात् एक-एक गिरौह के पद मिलकर पहले अलग-अलग दो वाक्यों की सृष्टि करते हैं, पर पीछे वे दोनों वाक्य मिलकर एक वाक्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि एकैकवाक्यता दोनों स्थलों पर होती ही है।

चन्द्रालोकोक्त 'विकल्परालङ्कार' गतार्थमितुमाह—

'अधिभिरिच्छमानोऽपि स मुनिर्न व्यकम्पत ।

विनाशोऽप्युन्नतः स्थैर्यं न जहाति दुमो यथा ॥'

कविर्दधीचेदानवीरता वर्णयति—अधिभिः याचकैर्देवैरिति यावत्, छिद्यमानः भिद्यमानः, अपि, स दधीचि मुनि, न, व्यकम्पत व्यम्प नापत्। युक्तं च तत्, उन्नत महामना, विनाशोऽपि जायमाने इति भावः, स्थैर्यम् स्थिरताम्, न जहाति त्यजति, यथा दुमः तद्व-रिच्छमानोऽपि अविचल एव तिष्ठतीत्यर्थः।

'चन्द्रालोक' तथा उसकी टीका 'कुवलयानन्द' में माने गए 'विकल्परालङ्कार' के खण्डन के लिये नवीन उदाहरण उपस्थित किया जाता है—अधिभिः इत्यादि। कवि दधीचि मुनि की दान-वीरता का वर्णन करता है—याचकों (याचकरूप में उपस्थित देवताओं) द्वारा काटा जाता हुआ भी वह मुनि (दधीचि) कम्पित नहीं हुआ। उचित ही है, उन्नत (महामना) जब विनाश होते रहने पर भी स्थिरता को नहीं त्यागते, जैसे घृष्ट, उसे काटते जाहूये पर निषेध में एक शब्द नहीं बोलेगा।

उपपादयति—

अत्र दधीच्यालम्बनायां तदीयलोकोत्तरचरितस्मरणोदीपितायामेतत्पद-प्रयोगानुभावितायामेतत्त्वार्थान्मोहगताया रती प्रधानीमूलायामध्यात्मस्वप्नस्तत्कृ-तयाच्चाश्रयणोदीपितो गात्रच्छेदाभ्यनुष्ठानानुभावितो धृत्या सञ्चारिभावेन

पोपितो मुनिगत उत्साहो गुणः । तत्र चाध्यर्धतृतीयचरणगतस्यार्थान्तरन्यास-
स्योत्कर्षकतया स्थितस्य चित्रेचनद्वारात्तद्वरणं चतुर्थचरणशक्यतममुदाहरणम् ।

‘अर्थिभिः—’ इति श्लोके कविगता दधीचिनिष्पिणी सा रतिः (भाव) प्रधान-
तयाऽभिगम्यते, यस्या आलम्बनविभावो दधीनिः, उद्दीपनविभावो दधीचित्संवन्धिलोको-
त्तरचरित्राकर्णनम्, अनुभावश्च प्रकृतपद्यप्रयोगः । यद्यपि अत्र मुनिगतं च उत्साहोऽपि
प्रतीयते यस्य याचका आलम्बनविभावानां, तत्कृत्यान्नावचनप्रवर्गमुद्दीपनविभावः, अङ्ग-
च्छेदनानुमतिदानमनुभावः, धैर्यं संचारिभावः, तथापि सः (उत्साहः) प्रधानीभूतरतिभाव-
पोषकतया गौण इति न वीररसरूपः । सस्योत्साहस्योत्कर्षकतया ‘विनाशोऽप्युन्नतं स्वैर्यं
न जहाति’ इत्यध्यर्धतृतीयचरणगत सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः,
तस्यार्थान्तरन्यासस्योत्कर्षकरणान् ‘दुमो यथा’ इति चतुर्थचरणस्य उद्यमसामान्यविशेषयो-
रव्यवाच्यविभावरूप उदाहरणालंकार एवेति न विरुद्धराह्य कथिदपरालंकार इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘अर्थिभिः—’ इम पद्य से कविनिष्ठ मुनि-
विषयक वह इति (भाव) प्रधानरूप में अभिगम्यक होती है, जिसके आलम्बनविभाव—
मुनि दधीचि, उद्दीपनविभाव—दधीचित्संवन्धी लोकोत्तरचरित्रों का अवयव, और अनुभाव-
प्रकृत पद्य की रचना है । यद्यपि इम पद्य से मुनि(दधीचि)निष्ठ वह उत्साह भी
अभिगम्यक होता है जिसके आलम्बनविभाव—याचक—देवगण, उद्दीपनविभाव—याचक-
जनोक्त याचनापक्षों का अवयव, अनुभाव—अङ्गच्छेदन के लिये अनुमतिदान और
धैर्य संचारिभाव हैं, तथापि वह (उत्साह) प्रधानरूप में अभिगम्यक होनेवाले रतिभाव
का पोषक-गौण ही है, अतएव वह दान वीररसरूप नहीं हो सकता । इस उत्साह को
उत्कृष्ट बनाने के कारण इम पद्य के तृतीय तथा भावे चतुर्थ (३१) चरण (‘विनाशोऽ-
प्युन्नतं स्वैर्यं न जहाति’) द्वारा प्रतिपादित सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तर-
न्यास, वाच्य अलंकार है और इस अर्थान्तरन्यास का विशेषक होने के नाते उत्कर्षक,
चतुर्थ चरण के एक भाग में अर्थात् दुआ (दुमो यथा) यह सामान्य और विशेष का
अव्यवाच्यविभावरूप ‘उदाहरणालंकार’ होता है । तात्पर्य यह कि उक्त रीति से इस
पद्य में भी जब उदाहरणालंकार माना जा सकता है तब एक पृथक् ‘विरुद्धालंकार’
मानने की आवश्यकता नहीं है ।

अलंकारदृष्ट्या पूर्वोक्तपद्यत्वं आचीनं पद्यान्तरमुदाहरति—

एवमेव—

‘अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः ॥’

इति कालिदासपद्येऽपि बोध्यम् ।

श्विकुलगुरुः कालिदासः कुमारसम्बन्धे स्वनिबन्धे हिमालयं वर्णयन्नाह—अनन्तेति ।

हिमं प्रालेयम्, अनन्तरत्नप्रभवस्य अणितरत्नोत्पत्तिस्थानस्य यस्य हिमालयस्य, सौभाग्य-
विलोपि सौन्दर्यस्य श्रेष्ठताया वा नाशकम्, न जातम् नाभूत् । कुत इति चेत् ? यतः
एको, दोषः, गुणसन्निपाते गुणसमूहे, इन्द्रो- चन्द्रमसः, किरणेषु ज्योत्स्नासु, अङ्कः कन्दुकः,
इव निमज्जति निक्षीनो भवतोऽन्यथं । अत्रापि पूर्वार्धोपवर्णितस्य विशेषपदार्थस्य ‘एको
दोषो गुणसन्निपाते निमज्जति’ इत्यंशेन सामान्यपदार्थवर्णनरूपेण समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽ-
लंकारः, तदुत्कर्षकतया च—‘इन्द्रो- किरणेषु अङ्क इव’ इत्यंशे उदाहरणालंकारः । इदं
पद्यं कुललयानन्दे ‘विरुद्धालंकारोदाहरणतया प्रदर्शितम्’ तच्चेदानीं पूर्वपद्यसाम्यक्यनेन
निराकृतं पण्डितराजेन वेदितव्यमिति भावः ।

अलंकार की दृष्टि से पूर्वोदाहृत पद्य के समान एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया जाता है—एवमेव इत्यादि । ‘अधिमि,—’ इस पद्य में जो बात कही गई है वही बात ‘अनन्त रत्न—’ अर्थात् अनन्त रत्नों को उत्पन्न करनेवाले हिमालय के सौभाग्य (सौन्दर्य भग्ना श्रेष्ठता) को हिम (बरफ) नष्ट नहीं कर सका । कारण एक दोष गुणों के समूह में हूब जाता है—क्षिप जाता है, जैसे चन्द्र की किरणों में कलङ्क ।’ इस हिमालयवर्णनपरक कुमारसंभवस्थ कालिदास के पद्य में भी समक्षनी चाहिए । तात्पर्य यह कि—इस पद्य को कुवलयानन्दकार ने जो ‘विकस्वरालंकार’ का उदाहरण माना है वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस तरह पूर्व पद्य में उदाहरणालंकार होता है, उस तरह यहाँ भी पूर्वाध के द्वारा वर्णित विशेष अर्थ का समर्थन करने के कारण ‘एक दोष गुणों के समूह में हूब जाता है’ यह सामान्य अर्थ ‘अर्थान्तरन्यास अलंकार’ रूप है और इस अर्थान्तरन्यासभूत पदार्थ को पुष्ट करने के कारण ‘जैसे चन्द्र की किरणों में कलङ्क’ यह अर्थ ‘उदाहरणालंकार’ का ही विषय है, फिर स्वर्थ एक नवीन अलंकार की कल्पना करना उचित नहीं ।

नन्वेवं साङ्ख्येऽर्थान्तरन्यासविशेषत्वमेवास्तु उदाहरणत्वेनाभिमतस्थलविशेषस्येत्या-
शङ्क्यामाह—

अस्मिन्नालङ्कारेऽवयवावयविभावबोधकस्यैवशब्दादेः प्रयोगः, सामान्य-
विशेषयोरैकरूपविधेयान्वयश्चार्थान्तरन्यासभेदाद् वैलक्षण्याधायक इति तत्प्र-
करणे निपुणतरमुपपादयिष्यामः ।

भेदादिति । विशेषादित्यर्थः । अर्थान्तरन्यासविशेषापेक्षया वैलक्षण्याधायक इति समु-
दितार्थः । अयं भावः—प्रमान्ते उदाहरणालङ्कारे सामान्यविशेषयोरैकरूपविभाव-
बोधक शब्दशब्दादि प्रयुक्तस्तिष्ठति, सामान्यविशेषात्मकयोर्द्वयोरपि पदार्थयोर्विधेयभूताया-
मेकस्यामेव क्रियायाम् अन्यथ भवति, एतद्वैचित्र्यद्वयविपरीतमर्थान्तरन्याससामान्येऽवय-
वावयविभावबोधक कोऽपि शब्द प्रयुक्तो न तिष्ठति, तथा विधेयभूतविभिन्नक्रिययोः
‘सामान्यविशेषयोरन्वयो भवतीत्येवविधे वैलक्षण्ये विद्यमाने नोदाहरणालङ्कारस्यार्थान्तर-
न्यासविशेषरूपत्वाकाप्रसर इति । एष प्रसङ्गोऽर्थान्तरन्यासनिरूपणप्रकरणे निपुणतरमुप-
पादनीय इत्यत्र ग्रन्थकृता सूच्यते । पाठकजनसौविध्याय तत्रत्यो ग्रन्थाशोऽविकलमधस्ता-
दुल्लिख्यते—“न चैवमपि विशेषस्य सामान्यसमर्थनं नार्थान्तरन्यासभेदो भवितुमीष्टे,
प्रागुक्तोदाहरणालङ्कारेणैव गतार्थत्वादिति वाच्यम् । इवादिप्रयोगाभावस्यैवात्र ततो वैलक्ष-
ण्यात् । एवमपि वाचकभावादायोऽयमुदाहरणालङ्कारोऽस्तु, नार्थान्तरन्यासभेद इति चेत्,
इहमस्ति वैलक्षण्यम्—सामान्यार्थसमर्थकस्य विशेषवाच्यार्थस्य द्वयो गति । अनुवाचाशमात्रे
विशेषत्वम्, विधेयांशस्तु सामान्यगत एवेत्येका । अनुवाचविधेयोभयाशोऽपि विशेषत्वमित्य-
परा । तत्राद्या उदाहरणालङ्कारस्य विषय, द्वितीया त्वर्थान्तरन्यासभेदस्य । एवं च
‘मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रस’ इत्युदाहरणालङ्कारगते विशेषे उपकारमेव दृष्टं
इति प्राचीनसामान्यार्थगतैव यथोक्तरूपेण क्रिया विधेया । ‘शोगानपद्रति पारद सकलात्’
इत्यर्थान्तरन्यासगते तु पृथगुपास्त विशेषरूपेणेति ।”

यह ‘उदाहरणालंकार’ जब ‘अर्थान्तरन्यास’ से मिश्रित हो पाया जाता है, तब क्यों न इसे ‘अर्थान्तरन्यास’ का ही एक भेद मान लिया जाय ? अतिरिक्त अलंकार मानने की आवश्यकता क्या है ? इस आशंका का समाधान करने के लिये दोनों में रहनेवाले वैलक्षण्य का उल्लेख किया जाता है—अरिमश्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—इस उदाहरणालंकार में सामान्य विषयभूत पदार्थों के अवयवावयविभाव के बोधक ‘हूब’ आदि शब्द प्रयुक्त रहते हैं—और सामान्य (जैसे ‘गुणसमूह में एक दोष’) और विशेष

(जैसे 'चन्द्र की किरणों में कलङ्क') दोनों पदार्थों का एक ही विषय (जैसे 'दूबना' किया) से भन्वय होता है पर अर्थान्तरन्यास में ऐसा नहीं होता—अर्थात् वहाँ अवयवावयवि-भावबोधक इव आदि शब्द प्रयुक्त नहीं होते और सामान्यविशेषभूत दो अर्थों का भन्वय भिन्न-भिन्न विषय (किया) में होता है। इन्हीं घेलचण्यों के वर्तमान रहने के कारण 'उदाहरणालंकार' को 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' का भेद नहीं माना जा सकता। फलतः 'उदाहरण' को एक पृथक् ही अलंकार मानना आवश्यक है। इस प्रसंग का विशद उपपादन ग्रन्थकार अर्थान्तरन्यास के प्रकरण में करेंगे।

प्राचीनतममाह—

प्राञ्चस्तु "नायमलङ्कारोऽतिरिक्तः। उपमयैव गतार्थत्वात्। न च सामान्य-विशेषयोः सादृश्यानुल्लासात्कथमुपमेति वाच्यम्। "निर्विशेषं न सामान्यम्—" इति सामान्यस्य चार्त्तकश्चिद्विशेषं विना प्रकृतस्वायोगात्तादृशविशेषमादाय विशेषान्तरस्य सादृश्याल्लासे बाधकभावादिसादिभिरामुखे प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य परिणामे सादृश्य एव विश्रान्तेः॥" इत्यप्याहुः॥

अयमिति। उदाहरणस्य इत्यर्थः। प्रकृतत्वानोगादिति। प्रस्तुतत्वासमवादिइत्यर्थः। आमुखे आदौ। उपमालंकार एषान्तर्भूतत्वादुदाहरणस्य कश्चिदपरोऽलंकारो नास्ति। अमेदेन विशेषोऽन्यीयमानयोः सामान्यविशेषपदार्थबोधेदन्निरहात् भेदगर्मस्य सादृश्यस्या-स्फुरणेन नोपमा भवितुमर्हतीति तु न वक्तुं योग्यम्, 'न निर्विशेषं सामान्यं भवति' इति सिद्धान्तेन 'अमितगुणोऽपि पदार्थः—' इत्यादौ अमितगुणपदार्थतया दोषपदार्थतया च भावकावयवि विशेषौ (विमलविद्याकामुकत्वादिकौ) न पृच्छेताम्, तावत् तयोः प्रस्तुतत्वं न संभवेत्, तयोः प्रस्तुतत्वानवगमे च तत्समर्थकतया लघुनादिरूपविरोधोपन्यासो न सगच्छेत्, अतः सामान्यस्यापि प्रकरणप्राप्तविशेषरूपता स्वीकर्तव्यैव, तथात्वे च तमेव विशेषमादायोक्तस्यापरस्य विशेषस्य सादृश्यस्फुरणे बाधकविरहेणोपमाया सामान्य-मिथ्याशयात्। नन्यैवमपि उदाहरणालंकारे इवादीनां सामान्यविशेषभावारमकावयवा-वयविभावबोधकत्वेन कथं सादृश्याल्लास इति चेत्, आदौ इवादिशब्दैः प्रतीयमानस्यापि सामान्यविशेषभावस्य पर्यवसाने सादृश्य एव विभ्रमादिति भावः।

प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—प्राञ्चस्तु इत्यादि। प्राचीन आलंकारिक लोग तो यह भी कहते हैं कि—'यह उदाहरणनामक अलंकार अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि यह उपमा से ही गतार्थ हो जाता है—अर्थात् जहाँ आप उदाहरणनामक अलंकार मानते हैं वहाँ उपमा अलंकार ही माना जा सकता है। यदि आप कहें कि—सामान्य-विशेषभावस्थल में ही तो उदाहरणालंकार माना जाता है और सामान्य विशेष में अमेद माना जाता है फिर भेदविशिष्ट सादृश्य की प्रतीति हो नहीं सकती और जब सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होगी तब उपमा कैसे हो सकती है? तो इसका समाधान यह है कि—'सामान्य विशेषरहित नहीं होता' इस सिद्धान्त के अनुसार 'अमितगुणोऽपि पदार्थः—' इत्यादि उदाहरणालंकार के लक्ष्यों में 'अमित गुण' और 'दोष' इन दोनों सामान्य पदार्थों को भी किसी न किसी विशेष (जैसे विमल विद्या तथा कामुकता आदि) के रूप में ही समझना पड़ेगा, अन्यथा वे सामान्य प्रस्तुत वस्तु समझे नहीं जा सकेंगे और जब वे प्रस्तुत नहीं समझे जायेंगे तब उनके समर्थन में जो आगे लहसुन उपग्रन्थ आदि विशेषों का विशेषरूप में उल्लेख किया गया रहता है वही असङ्गत हो जायगा और इस युक्ति से जब सामान्य को भी किसी प्रकरणप्राप्त विशेष के रूप में समझ लिया जायगा, तब उन्हीं विशेषों को लेकर उक्त अन्य विशेष के साथ सादृश्य उल्लसित होगा—हसमें किसी तरह की बाधा नहीं और सादृश्य के उल्लसित हो जाने पर सुखेन उपमा

मानी जा सकेगी। यदि इतने पर भी आप कहेंगे कि—यहाँ तो सामान्यविशेषात्मक अवयवावयविभाव के बोधक 'इव' आदि शब्द प्रयुक्त रहते हैं, अतः अवयवावयविभाव का ही बोध होगा सादृश्य का नहीं, तो इसके उत्तर में मेरा कथन है कि—हाँ, आरम्भ में 'इव' आदि शब्दों से सामान्य विशेषभाव का बोध अवश्य होगा पर अन्त में उस सामान्य विशेषभाव का उक्त रीति से सादृश्य में ही विश्राम मानना पड़ेगा अन्यथा गुजारा नहीं।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुदाहरणप्रकरणं समाप्तम् ।

अथ स्मरणालंकारनिरूपणमारम्भापरतावत्तल्लक्षणमाह—

सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः ।

'इदमेतस्य सदृशम्' इत्याकारकेण सादृश्यज्ञानेन उद्बुद्धं जागरितं, य, संस्कारा-
वासना, तत्प्रयोज्यं तन्मूलकम् यत् स्मरणम् (वस्तुविशेषस्य) तत् सहृदयहृदयाहाद-
जनकं चेत् तदा स्मरणालंकारोऽलंकारः कथ्यत इत्यर्थः । किमपि वस्तु दृष्ट्वा यत्तत्सदृश वस्तु-
न्तरं स्मर्यते तत् स्मरणालंकारपदेन व्यवहियत इति भावः ।

अब स्मरणालंकारनिरूपण प्रसङ्ग में सर्वप्रथम स्मरणालंकार का लक्षण किया जाता है—सादृश्य ज्ञायादि। सादृश्य के ज्ञान से उद्बुद्ध (जगा हुआ) जो संस्कार उससे साक्षात् अथवा परस्परया होनेवाला जो स्मरण उसको 'स्मरणालंकार' कहते हैं। तत्पर्य यह हुआ कि—किसी वस्तु को देखने अथवा सुनने से जो तत्सदृश अन्य वस्तु की स्मृति हो आती है वह जब काव्य में चमत्कारीरूप से वर्णित होती है तब उसे स्मरणालंकार कहते हैं।

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

यथा—

स्मरणालंकारप्रबोधक प्रकारः प्रदर्श्यते इति भावः ।

जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसरकोदण्डचण्डध्वनि—

ध्वस्तोदण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम् ।

यत्नाद्वाग्निहवमुक्ताण्डवल्लयज्वालावलीताण्डव—

अश्रयस्त्राण्डववस्त्रपाण्डवमहो को न क्षिणीश स्मरेत् ॥'

कवि कमपि राजानं स्तौति—हे क्षिणीश राजन् मध्येरणम् रणस्य = युद्धस्य मध्ये ('पारे मध्ये पष्ठया वा' इति-अव्ययीभावसमास) दोर्दौ = बट्ट दण्डौ इव इति दोर्दण्डौ (उपमितसमास) तयोर्द्वयेन बाहुयुगलेनेति यावत् कुण्डलीकृतम् (अकुण्डल कुण्डलं इतिमित्यभूततद्भावे चिच) कुण्डलाकारतया परिणमितम् इति यावत्, अत एव, लसत् शोभमानं यत् कोदण्ड धनुः, तस्य, ये चण्डा भयकरा, ध्वनय- शब्दविशेषाः, तैः, ध्वस्त नाशितम्, उदण्डानाम् उद्धतानाम्, विपक्षानाम् शत्रूणाम् मण्डल समूहो येन तादृशं, त्वाम् वर्णनीयं नृपतिविशेषम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, व जन, यत्नात् वाचालान्, गाण्डि-
वान् तज्जनामनात् धनुषः, (गाण्डिवशब्दो हस्तेसारविशिष्टो दीर्घेसारविशिष्टश्चास्ति । यथा महाभारते—'धनुर्गाह्यार्जुनं सव्यसाची धनुश्च तद्गाण्डिवं भीमवेगम्' । इति । तथा—
य पूर्वमिरापृच्छ शत्रुसेनानिबर्हणम् । गाण्डीवमेतत्पार्थस्य लोकेषु विदितं धनुः ॥'

इति । व्युत्पत्तिश्च-गाण्डिर्मेन्यिरस्यास्तीति विप्रदे । 'गाण्डयजगात् संज्ञायाम्' इति वप्रत्ययः । अथवा प्रत्ययवाचकान् गाण्डिरान्दान् 'कृदिक्रान्तान्' इति ऋषि 'गाण्डी'ति ततो वः ।) मुक्त प्रक्षिप्तम्, यन् काण्डवल्ग्वं वाणसमूहः, तस्य या ज्वालावली तापपुञ्जम्, तस्याः, ताण्डवेन उदतनृत्येन, अथवा नश्यन् यन् खाण्डव वनविशेषः, तत्र स्थितम्, दृष्टं क्लृप्तम्, पाण्डवम् अर्जुनम्, न स्मरेत् न ध्यायेत्, सर्वेऽपि स्मरेयुरित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दोदण्ड इत्यादि । कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे राजन् ! दोनों बाहुदण्डों से पुण्डल के समान गोल किये सुन्दर धनुष की प्रचण्ड ध्वनि से उदण्ड अशुसमूह को नष्ट कर देनेवाले तूहें युद्ध के मध्य में देखकर, कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो, बाचाळ गाण्डीव धनुष से निकले वाण-समूह की ज्वालावली के ताण्डव-नृत्य से भ्रष्ट होते हुए खाण्डव (एक वनविशेष) में स्थित क्लृप्त पाण्डव (अर्जुन) का स्मरण न करे । रणभूमि में आपको देखकर दर्पकों की वैसे अर्जुन की स्मृति हो ही भाती है ।

उदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा या—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘भुजभ्रमितपट्टिशोदलितदण्डदन्तावलं

भयन्तमरिमण्डलकथन पश्यतः सङ्करे ।

अमन्दकृतिशाहविस्फुटविभिन्नविन्ध्याचलो

न कस्य हृदयं मगिरिचिकुरोद् देवेश्वरः ॥’

कवि कमपि नृपं वर्णयति—हे अरिमण्डलकथन शत्रुसमूहनाशक ! भुजाभ्याम् बाहुभ्याम्, भ्रमितेन घूर्णितेन, पट्टिशेन अल्लविशेषेण, उदलिता नाशिता, दन्ताः मदमत्ताः, दन्तावला गजा येन तम् भवन्तम् प्रकृतं कमपि राजानम्, सगरे युद्धे, पश्यतः अवलोकयतः, कस्य पुत्रपत्न्यः, हृदयम् चेतर्साति यावत्, अमन्दाभिः प्रबलाभिः, कुम्भिनाम् वज्रस्य आदितिभिः प्रहारैः, स्फुटं स्पष्टम्, विभिन्नं छिन्नं, विन्ध्याचलं विन्ध्यानामकर्षवर्तो येन शाहः, देवेश्वरः इन्द्रः, मगिति शीघ्रम्, न, अचिकुरोद् आस्वदवात्, अपि ॥ सर्वेषामेव सप्तदन्तावलदलनकारिणं भवन्तमनुपश्यता मानसे प्रबलवज्रप्रहारच्छिन्नविन्ध्वो देवराजः पदं निदधे इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भुजभ्रमित इत्यादि । कवि किसी राजा का वर्णन करता है—हे शत्रुसमूहविध्वंसक ! भुजाओं से घुमाए गये पट्टिश (एक भस्त्र) के द्वारा मदमत्त हाथियों का दलन कर चुकनेवाले आपको, युद्ध में देखते हुए किसके हृदय में, वज्र के प्रबल प्रहारों से स्फुरूप में विन्ध्याचल को तोड़नेवाला देवराज इन्द्र तत्काल आरुढ़ नहीं हुआ ।

उपपादयति—

सनयोः पश्ययोः प्रधानीभूताया राजविषयककविनिष्ठरतेरुत्कर्षकतया स्मरण-मलङ्कारः ।

पूर्वोक्तावुभावपि श्लोकी राजस्तुतिपरावतस्तयोः कविगतौ राजविषयकः रतिभावः प्रधानतयाऽभिब्यज्यते, अभिब्यज्यमानं च त प्रधानभावमुपस्फूर्ज्य वाच्यं तद्वयं च स्मरणम् अलंकाररूपता प्रतिपद्यत इति भावः ।

न हि सादृश्ये स्मर्यमाणसम्बन्धित्वं विवक्षितम् । एवं वाच्ययोस्तत्पनिद्रास्मरणयोः एतत्कारणतया आक्षिप्तस्य पयोधिस्मरणस्य चाविशेषेण सङ्गहाय लक्षणे जन्यत्वमपहाय प्रयोज्यत्वमुपात्तम् ।

कविमहाभारतयुद्धं वर्णयति—एकीभवदिति । भगवान् मुकुन्दः श्रीकृष्णः, एकीभवन्तो मिथो मिलन्तो, ये, प्रलयकालस्य पयोधयः समुद्राः, तत्कल्पम् तत् ईषद्वत् तत्तद्वत् इति यावत् (‘ईषदसमाप्तौ कल्पदेश्यदेशीयर-’ इति कल्पस्थत्य-), संगरगतं युद्धमध्यस्थितम्, कुस्वीरसैन्यम् दुर्योधनपत्नीयसैनिकम्, आलोक्य दृष्ट्वा, अद्विपुंगवस्य सर्पराजस्य शेषस्येति यावत्, कायेन शरीरेण, कान्तं रमणीयम्, तत्त्वं शय्याम्, योगकलिता समाधिमयीमिति भावः, निद्रा स्वापम्, च, सस्मार स्मृतचातित्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति एकीभवदिति पथ इत्यर्थः । तत्पनिद्रेति । तत्पनिद्रयोः सादृश्यस्य दर्शनेन तत्पनिद्रातुल्यवस्त्वन्तरदर्शनेन, उद्बुद्धो जागरितो यः संस्कारः, तत्प्रयोज्यं तन्मूलकमित्यर्थः । सैन्यगतेति । सैन्यगतं यद् पयोधिसादृश्यं तस्य दर्शनेन उद्बुद्धो यः पयोधिविषयकः संस्कारस्तज्जन्यं साक्षात्तन्मूलकम् तदुत्पाद्यमिति यावत्, यद् पयोधे स्मरणं तदधीनत्वादित्यर्थः । यत्किञ्चित्सादृश्येति सैन्यगतपयोधिसादृश्येत्यर्थः । प्रयोज्यमिति । परम्परया तरकलीभूतमित्यर्थः । एतच्च पूर्वोक्तस्य तत्पनिद्रयोः ‘स्मरणम्’ इत्यस्य विशेषणम् । स्मर्यमाणसम्बन्धित्वमिति । स्मर्यमाणपदार्थप्रतियोगिकत्वमित्यर्थः । विवक्षितमिति । लक्षणे इति शेषः । एवमिति । वैषम्ये दृष्टान्तः । एतदिति । तत्पनिद्रास्मरणकारणतयेत्यर्थः । सप्रहायेति स्मरणालंकारलक्षणलक्ष्यत्वायेत्यर्थः । अयं भावः—‘एकीभवत्’ इति रत्नोक्ते मुकुन्दकर्तृकं तत्पनिद्राविषयकं स्मरणं यद्वाच्यवृत्त्या वर्णितमस्ति तत्तत्पनिद्रासादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं नास्ति, भगवता तत्पनिद्रासदृशपदार्थस्यादर्शनात् इति यद्यपि सत्यम्, तथापि कुस्वीरसैन्ये भगवता यत्पयोधिसादृश्यं दृष्टम् तेन पयोधिविषयकः संस्कारो भगवदात्मन्युद्बुद्धस्तेन भगवति पयोधिस्मरणं जातम्, तत्स्मरणवशादेव च भगवति तत्पनिद्रास्मरणमपि जातमित्यपि सत्यमेव । तथा च सैन्यगतपयोधिसादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वं पयोधिस्मरणस्यास्तु किन्तु तादृशसंस्कारप्रयोज्यत्वं तु तत्पनिद्रास्मरणयोरप्युक्तमेव, तच्चैन्यजन्यस्य तत्प्रयोज्यत्वनिश्चयः । ननु अलंकारत्वेनाभिमतस्य स्मरणस्य प्रयोजको यः संस्कारस्तदुद्बोधको योऽनुभवस्तद्विषयीभूते सादृश्ये स्मर्यमाणपदार्थसंबन्धित्वमपेक्षितम्, न च तदिहास्ति, स्मर्यमाणतत्पनिद्रासंबन्धित्वस्य तत्पनिद्रास्मरणप्रयोजकसंस्कारोद्बोधकानुभवविषयसैन्यगतपयोधिसादृश्येऽसंभवात्, पयोधिसंबन्धित्वस्यैव तत्र समवादिति चेन्न, लक्षणघटकसादृश्ये स्मर्यमाणसंबन्धित्वस्याविवक्षितत्वात् । एवमप्रकृतपथे स्मरणालंकारग्रहं सुस्पष्टम् । तत्रैकं स्मरणालंकारो व्यञ्जय (प्रतीयमानपयोधिविषयकस्मरणालंकारोऽलंकारो व्यञ्जयः) । अपरञ्च वाच्यः (तत्पनिद्राविषयकस्मरणरूपोऽलंकारो वाच्यः) । अत एव लक्षणे जन्यत्वं विहाय प्रयोज्यत्वं निवेशितम्, निवेशिते च तस्मिन् प्रकृते वाच्ययोस्तत्पनिद्रास्मरणयोस्तत्कारणत्वेन प्रतीयमानस्य पयोधिस्मरणस्य च संग्रहः समुचित एवेति ।

उपम में ‘सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार से साक्षात् होने वाला’ इतना ही न कह कर ‘साक्षात् अथवा परम्परया होनेवाला’ ऐसा जो कहा गया है उसका फल दिखलाया जाता है—‘एकीभवत्’ इत्यादि । कवि महाभारतयुद्ध का वर्णन करता है—एक होते हुए प्रलयकालिक समुद्र के समान, युद्ध में डूटी हुई कुस्वीर—दुर्योधन—की सेना को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्पराज—शेष—के शरीर से बनी सुन्दर अथवा योगनिद्रा

का स्मरण दिया। यहाँ 'शय्या' और 'निद्रा' का स्मरण जो वाच्यरूप में वर्णित है वह 'शय्या' और 'निद्रा' का सादृश्य देखने से उद्बुद्ध सस्कार का प्रयोज्य (उससे साक्षात् अथवा परस्परया होने वाला फल) यद्यपि नहीं है क्योंकि भगवान् ने यहाँ किसी ऐसे पदार्थ को नहीं देखा जो शय्या अथवा निद्रा के सदृश हो। तथापि यह सत्य है कि भगवान् ने सैनिकों में समुद्र का सादृश्य देखा, उससे भगवान् की आत्मा में समुद्र का संस्कार जगा, जिससे समुद्र का स्मरण हुआ और उस स्मरण से ही शय्या और निद्रा का स्मरण भी हुआ। इस स्थिति में शय्या और निद्रा का स्मरण समुद्र का सादृश्य देखने से उद्बुद्ध सस्कारजन्य (साक्षात् फल) मले ही न कहलावे, पर प्रयोज्य (परम्परित फल) तो अवश्य कहलायगा। भाव कहेंगे—उक्त बात ठीक है, पर यह शय्या और निद्रा का स्मरण स्मर्यमाण (जिसका स्मरण होता है उस शय्या और निद्रा) के सादृश्यदर्शन से उद्बुद्ध सस्कार का प्रयोज्य तो हुआ नहीं फिर वह अलंकाररूप कैसे होगा? तो, इसका उत्तर यह है कि—लक्षण में यह तो कहा हुआ है नहीं कि सादृश्य स्मर्यमाण पदार्थ का ही लिया जाय, फलतः किसी भिन्न पदार्थ के सादृश्यदर्शन से उद्बुद्ध सस्कार का साक्षात् परस्परया वा कलीभूत किसी भिन्न पदार्थ का स्मरण भी लक्षण से संगृहीत होता ही है। प्रकृत श्लोक के वाच्य शय्या और निद्रा का स्मरण और उसके कारणरूप में प्रतीत होने वाला समुद्र का स्मरण दोनों का एक तरह से समग्र करने के लिये ही लक्षण में 'साक्षात्परम्परासाधारणप्रयोज्यत्व' का निवेश किया गया है। सारांश यह हुआ कि प्रकृत पद्य में दो स्मरणालंकार हैं जिनमें एक (समुद्रस्मरण) व्यय्य और दूसरा (शय्या और निद्रा का स्मरण) वाच्य है।

मतान्तरमाह—

केचित्तु सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारजन्य सदृशविषयकमेव स्मरणमलङ्कारः।
भुजगेन्द्रनिद्रास्मृतिस्तु नालङ्कार इत्याहुः।

केचित्तु इति। अत्र मते जन्यत्वनिवेशः सादृश्यस्मर्यमाणसंबन्धित्वनिवेशश्चेति पूर्वतो भेदः भुजगेन्द्रेति। 'एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिन स्मारयति' इति न्यायेन तत्पादिस्मरणस्य पयोधिस्मरणजन्यत्वेऽपि तादृशसंस्कारजन्यत्वादसदृशविषयकत्वाच्चेति भावः। पयोधिस्मरणं तु तादृशसंस्कारजन्य सदृशविषयकश्चेति भवत्यलङ्काररूपमिति सारांशः। अत्र 'केचित्तु' इत्युक्त्याऽऽहविर्धन्यते तद्बीजमाह नागेशः—'सादृश्ये स्मर्यमाणसंबन्धित्वनिवेशास्यैव सति फलमाह, १. व. हि तादृशसंस्कारजन्य स्मरणं, विस्मृत्यविषयकं, सम्भवति। किञ्च पयोधिस्मरणस्यापि सदृशज्ञानात्मकतया तेन तत्पादिस्मरणानुपूर्वमस्कारस्थोद्बोधनसमयेन तज्जन्यत्वसत्त्वाद्द्वारास्त्वमेव तस्ये'ति।

अन्य मत का उल्लेख किया जाता है—केचित्तु इत्यादि। कुछ विद्वानों का कथन है कि—'सदृश पदार्थ के ज्ञान से उद्बुद्ध सस्कार द्वारा उत्पन्न (उस सस्कार का साक्षात् फल) और सदृश के विषय में होनेवाला ही स्मरण अलंकाररूप होता है। अतः 'एकी-भवत्—' इस पद्य में शोणनाय से बनी शय्या और योगनिद्रा का स्मरण अलंकाररूप नहीं है, क्योंकि वह स्मरण पयोधिस्मरण से उत्पन्न हुआ है उक्त सस्कार द्वारा नहीं और स्मरण का सदृश पदार्थ उसका विषय भी नहीं है। यहाँ नागेश कहते हैं कि—पूर्वमत से इस मत में दो विलक्षणताएँ हैं—एक तो 'साक्षात्परम्परासाधारणफल' के स्थान पर 'साक्षात्फलबोधकजन्यत्व' का निवेश, दूसरे 'सदृश के विषय में होने' का निवेश, जिससे शय्या और निद्रा के स्मरण का अलंकाररूप नहीं होना सिद्ध होता है। पर यह मत अद्विप्रत है और अरुचि का हेतु यह है कि—एक तो ऐसी स्थिति में इस लक्षण में 'सादृश के विषय में होने वाला' यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'सदृश के ज्ञान

से उद्बुद्ध संस्कार द्वारा उत्पन्न (उसका साक्षात्कीमूत) स्मरण' असदृश के विषय में होता नहीं और दूसरे, 'समुद्र का स्मरण' सदृश ज्ञानरूप हुआ ही, क्योंकि स्मरण भी ज्ञानरूप है और समुद्र सेना के सदृश है। और जब 'समुद्रस्मरण' भी सदृशज्ञानरूप हो गया तब उससे 'शेषज्ञान्या स्या योगनिद्रा' के स्मरण को उत्पन्न करने वाले संस्कार का उद्बोधन हो ही सकता है, फलतः उन दोनों का स्मरण भी 'सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कार-जन्य' हो ही गया, अतः इस नवीन लक्षण के अनुसार भी उस स्मरण को अलंकाररूप होने से रोका नहीं जा सकता, फिर ये सब प्रयास किसलिये ?"

सादर्यज्ञाननियेशफलमाह—

‘इत एव निजालयं गताया वनिताया गुरुभिः समावृतायाः ।

परिवर्तितकन्धरं नतभ्रुस्मयमान वदनाम्बुजं स्मरामि ॥’

नायकः कथयति—इत एव मत्सकारादेव, निजालय निजभवन, गतायाः प्रयातायाः, तथा प्रयाणकाले गुरुभिः श्वध्वदिदृक्षीभिः, समावृतायाः परिवेष्टितायाः, वनिताया नायिकायाः, परिवर्तितकन्धरम् परिवर्तिता कन्धरा=ग्रीवा यस्मिन् कर्मणि तत्रया स्यात्तथा, एवम् नतभ्रु नतौ = नतौ भ्रुवौ यस्मिन् कर्मणि तत्रया स्यात्तथा, स्मयमान ईषदास्ययुक्तम्, वदनाम्बुजं मुखकमलम्, स्मरामि, आहमिति टिप्. ।

लक्षण में जो 'सादर्यज्ञानप्रयुक्त' यह विशेषण 'स्मरण' का लगाया है, उसका फल विस्मयादा जाता है—इत एव इत्यादि। नायक की उक्ति है—यहीं से (मेरे ही निकट से) अपने घर गई और जाने के समय सास आदि वृद्ध स्त्रियों से परिवेष्टित नायिका के, गरदन को घुमाकर और भौंहों को नीचे कर मुसकारते मुख-कमल का स्मरण कर रहा हूँ।

अपराधयति—

अत्र स्मरणं चिन्तोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यत्वाभालङ्कारः व्यङ्ग्यत्वविरहाच्च न भावः ।

‘इत एव—’ इति श्लोके यत्स्मरणं वर्णितम् तच्चिन्तया ध्यावेन उद्बुद्धस्य संस्कारस्य फलम् न तु सदृशपदार्थदर्शनोद्बुद्धसंस्कारस्य, अतो नैवं स्मरणं अलंकाररूपम् भवति सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यस्मरणस्यैव लक्षणः अन्तर्वात् । भावरूपमपि नैतत्स्मरणं भवति व्यङ्ग्यस्यैव स्यात्प्रादेर्मानत्वज्ञोक्त्यादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘इत एव—’ इस पद्य में वर्णित स्मरण अलंकाररूप नहीं होता क्योंकि यह स्मरण चिन्ता (ध्यान) से उद्बुद्ध संस्कार का फल है, सदृश ज्ञान से उद्बुद्ध संस्कार का नहीं और लक्षण में ‘सादर्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कार-फलीमूतस्मरण’ को ही अलंकार कहा गया है। और यह स्मरण भावरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यङ्ग्य स्मरण आदि को ही ‘भाव’ कहा गया है और यह स्मरण व्यङ्ग्य नहीं वाच्य है।

उक्तस्थलसमान स्थलान्तरमपि दर्शयति—

एवम्—

‘दरानमत्कन्धरबन्धगीपन्निमीलितस्निग्धविलोचनाञ्जम् ।

अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्गथाः स्मरामि सङ्गं धिरमङ्गनायाः ॥’

इहोपि स्मृतिर्न भावो नाप्यलङ्कारः । व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणो भावत्वात् । यथा—‘सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः ।’ अयं चालङ्कारिकाणां सम्प्रदायो यत्सादर्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलङ्कारः । तस्य भावे व्यङ्ग्यत्वायां भावः । तयोरभावे तु वस्तुमात्रम् ।

एवमिति । 'एकीभवत्—' इति पद द्वैत्यर्थः । नायक स्वमित्रं प्रत्याह—दरानम-
दिति । अनल्पानां प्रभूतानाम्, निश्चासना भरेण समूहेन, अलसानि आलस्ययुक्तानि,
अज्ञानि यस्यास्तस्याः, अज्ञानाया नायिकाया, दरं अल्पम्, आनमन् नम्रीभवन्, कन्धर-
बन्धः प्रीवासन्धिस्यलविशेषः, यस्मिन् तादृशम्, तथा ईप्सन् निमोलिते मुद्रिते, निगमे
स्नेहपूर्णं, विलोचनान्त्रे कमलतुल्यनयने यस्मिन् तथाविधम् च सङ्ग सम्भोगम्, चिरं
चहूनि दिनानि यावत्, स्मरामि अहमिति शेषः । इहापि दरानमदिति श्लोकेऽपि । सा वै
इति । एतत्पथ प्रथमानने लिखितं व्याख्यातम् । सम्प्रदाय इति । परम्परेत्यर्थः । तस्येति
सादृश्यमूलकत्वस्येत्यर्थः । व्यङ्ग्यतायामिति । सत्यामिति शेषः । तयोरिति व्यङ्ग्यत्वसादृश्य-
मूलकत्वयोरित्यर्थः । अयं भावः—यथा 'एकीभवत्—' इत्यत्र वर्णितं स्मरणं नालङ्कारो
न वा भावस्तथैव 'दरानमत्—' इति श्लोके वर्णितं स्मरणमपि नालङ्कारः चिन्तामूलक-
तया सादृश्यमूलकत्वाभावात्, नापि भावः, 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति लक्षणाजुसारं
व्यङ्ग्यस्यैव । व्यभिचारिणः स्मृत्यादेर्भावत्वोपगमात् । आलङ्कारिकाणां विवृणामयं सम्प्र-
दायोऽस्ति यत् यत्र स्मरणं सादृश्यमूलकं तत्रालङ्कारः । यथा 'दोर्दण्ड—' इत्यादौ ।
यत्र च न सादृश्यमूलकम्, किञ्च व्यङ्ग्यम् तत् तत्र भावः । यथा 'सा वै कलङ्क—' इत्यादौ ।
यत्र तु न सादृश्यमूलकं न वा व्यङ्ग्यं अपि तु चिन्ताविमूलकं वाच्यं तत् तत्र वस्तु-
मात्रम् । यथा 'इत एव—' 'दरानमत्—' इत्यादौ इति ।

स्पष्टज्ञानार्थं पूर्वोक्त स्थल के समान ही दूसरा भी स्थल दिखलाया जाता है—पञ्च
इत्यादि । इसी तरह—'दरानमत्—'अर्थात् भावमत् आससमूह से आलस्ययुक्त भङ्गोवाली
सङ्गना के उस सङ्ग (समोग) का स्मरण करता हूँ जिसमें गरदन का सन्धि-स्थल
किंचित् झुका हुआ और स्नेहभरे जयन कमल थोड़े से मुँदे हुए थे ।' इस मित्र के प्रति
नायकोक्त पद्य में जो स्मरण वर्णित है वह भी अलङ्काररूप नहीं है, क्योंकि उसके मूल
में सादृश्य का ज्ञान नहीं है, वरन् चिन्ता है और भाव भी वह नहीं है क्योंकि—'व्यभि-
चार्यञ्जितो भावः' के अनुसार व्यङ्ग्यव स्मृत्यादि व्यभिचारिभाव ही भावरूप माने गए हैं ।
आलङ्कारिक विद्वानों की यह एक परम्परागत मान्यता है कि—सादृश्यमूलक स्मरण
'अलङ्काररूप' होता है, जैसे—'दोर्दण्ड—' इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों में, सादृश्यमूलक न होकर
व्यङ्ग्य होने पर 'भावरूप' होता है, जैसे—'सा वै कलङ्क—' इत्यादि प्रथमानने में उद्धृत
पद्य में, और इन दोनों से मित्र—अर्थात् चिन्ताविमूलक और वाच्य रहने पर स्मरण
वस्तुमात्र कहलाता है, जैसे—'इत एव—' 'दरानमत्—' इत्यादि पद्यों में ।

आलोचयितुमप्यदीक्षितमतमुत्थापयति—

अप्यदीक्षितारुतु—

“स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालङ्कृतिः सा स्यादव्यङ्ग्यत्वविशेषिता ॥”

यथा—

‘अपि तुरगसमीपाद्दुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलार्पं बाणलक्ष्मीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णं
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥’

यथा वा—

‘दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादस्मस्तः स्फुरदरविन्दचाहस्ताम् ।

उद्दीच्य त्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीयस्मार्पीजलनिविमन्यनस्य शौरिः ॥’

एकत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशकर्मिका स्मृतिः । इतरत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृश-
लक्ष्मीसम्बन्धिनो जलनिविमन्यनस्य स्मृतिः । तत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तर-
स्मृतित्वमविशिष्टम् । अत एव सदृशासदृशासाधारण्यार्थतया लक्षणे वस्त्वन्तर-
ग्रहणमयम् ।

‘सौमित्रे ननु सेव्यतां तद्वत्वं चण्डांशुरुज्ज्वलते

चण्डांशोनिशि का कया रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।

वसैतद्विदितं कय’ नु भवता घृते कुरङ्गं यतः

कासि प्रेयसि हा कुरङ्गनयने चन्द्रानने जानकि ॥’

अत्र श्रुतकुरङ्गसम्बन्धिनस्तत्रयनस्य स्मरणोत्तत्सदृशसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्ब-
न्धिसीतास्मृतिश्चेति । किं त्वेषा व्यङ्ग्या अलङ्कार्यभूता च । तद्व्यावृत्त्यर्थस-
क्यत्वं तत्रविशेषणम् ।

‘अत्युवाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तयाऽन्मोघय-

स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न श्रान्तासि तुभ्यं नमः ।

आश्रयेण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् मुव-

स्तावद् बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥’

अत्र स्तूयमानमूतन्धन्यनो भूयुतः स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणा-
लङ्कारः । किं तु स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूयुद्विषयकएतिभावान्नत्वात्वेयोऽलङ्कारः ।
एतद्व्यावृत्तये सादृश्यमूलेति विशेषणम् ।’ इत्याहुः ।’

अप्यवदीहितास्तु इति शब्द ‘आहुः’ इति वृत्त्येन कियापदेनान्वयः । उद्गणमाहु—
स्तुतिरिति वस्त्वन्तरसमाश्रया अन्यवस्तुविषयिणो अभ्यव्यवविशेषिता अभ्यङ्ग्या वाच्येति
यावत्, वा, भादस्यमूलं सदृशपदार्थानुभवप्रयोज्या स्मृतिः, सा स्मरणालङ्कारितिरित्यर्थः ।

सदाहरणं दर्शयति—अपि तुरगेति । रघुवंशे दशरथमृगवार्णनम् । कविः कथयति—
चित्रमात्वालुकीर्णे विविधवर्णकुसुमदमम्याते, रतिविगलितवन्द्ये सम्मोहकालिकमर्षवशो-
न्मुक्तवन्द्ये (अनेन विशेषणद्वयेन केशपादो मयूरसाम्यमागूरितम्) प्रियायाः प्रेयस्या,
केशपादो कवचिद्वये, सपदि शीघ्रम्, गतमगस्तः संश्लेषता, स्मृततादृशप्रियाकेश-
कलान इति यावत्, स दशरथ’ तुरगसमीपात् अपि अश्वनिकृदापि (एतेन तद्वैद्ये
सौकर्यं व्यक्तम्) उत्पतन्ताम् उन्नीयमानम्, रुचिरकलाप एषणीयवर्द्धम् मयूरम्, न
बाणशङ्कापिकार तस्मिन् बाणचोर्षं नाकरोदित्वर्थः ।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—दिव्यानामिति । माघकाव्ये वलकैलिवर्णनम् । कविर्वक्ति-
शौरिः भगवान् श्रीकृष्णः, दिव्यानामपि स्वर्गीयानामपि, कृतविस्मयाम् उत्पादिताश्चर्यमानाम्
(एतेन सौन्दर्यातिशयो बोध्यते) स्फुरदरविन्दचाहस्ताम् स्फुरता विकसता, अर-
विन्देन कमलेन, चारु शुन्दरौ, हस्तौ करौ, वस्यास्ताम्, अत एव, त्रियं लक्ष्मीम्, इव,
‘अस्मस्त’ जलत, उत्तरन्ती विस्तरन्तीम्, काञ्चिन् नायिकाम्, पुरस्तात् अग्रे, एव,
उद्दीच्य दृष्ट्वा, जलनिविमन्यनस्य समुद्रमन्यनस्य अस्मार्पीन् स्मृतवानित्यर्थः ।

उपपादयति—एकत्रेति । श्रमगोदाहरण इत्यर्थः । सदृशदर्शनादिति । रुचिरकलाप-

मयूरदर्शनादित्यर्थः । सदृशकर्मिकेति । मयूरफलापसदृशप्रियाकेशपाशविपयिणीति भावः । इतरत्रेति । द्वितीयोदाहरण इत्यर्थः । सदृशदर्शनादिति । वारिजभूषितकरवारिनिस्सरदिव्यनारीदर्शनादित्यर्थः । तत्सदृशेति । तन्मारीसदृशेत्यर्थः । उभयत्र द्वयोः उदाहरणयोः । अविशिष्टमिति । समानमित्यर्थः । अत एवेति उभयविषयस्मरणस्यालंकारत्वेनेष्टत्वादेवेत्यर्थः । 'अपि तुरग—' इत्यत्र रमणीयवर्द्धमयूरदर्शनेन पुष्पपुञ्जभूषितोन्मुक्तप्रियाकेशविपयकः सस्कार उद्बुद्धः, तेन तादृशकेशविपयक स्मरण जातमिति सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनावेव स्मृतिकारणस्मृतिविषयस्यैव अत इय स्मृति सादृश्यमूलं सदृशविषया च । 'दिव्यानामपि' इत्यत्र तु श्रीसदृशजलनिस्सरदिव्यरूपनारीदर्शनेन समुद्रमन्यनस्मरण वर्णितम्, अतोऽत्र स्मरणकारणस्मरणविषयौ न सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनौ, फलतः इय स्मृति सादृश्यमूलापि सदृशविषया नास्ति । परन्तु उभयपथागतसमयविषयस्मरणमूलकारणरूपम्, लक्षणाक्रान्तत्वात् । लक्षणे हि सादृश्यमूलकसदृशसदृशान्यतरविषयकस्मरणसमग्रद्वय 'वस्त्वन्तरसमाश्रया' इत्यस्य स्थान, 'तुल्यान्तरसमाश्रया' इति न कृतम् । तथात्वे हि सादृश्यमूलकसदृशविषयकस्मृतेरेव प्रथमस्थलगतानाकारायां संप्रदाः स्यात्, प्रकृतपाठे तु सदृशासदृशवस्त्वन्तरमात्राविपयिकायां द्वितीयस्थलगताकारायां अपि संप्रदाः भवतीति भावः ।

लक्षणघटकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणव्यावर्त्यमाह—सौमित्रे इति । हनुमच्छाटकगत सीतावियोगकालिकरामलक्ष्मणौक्तिप्रत्युक्तिमयं पद्यमेतत्, राम कथयति—सौमित्रे लक्ष्मण ! ननु निश्चयेन, तत्तुल्य इलमूलदेश, सैव्यताम् आधीयताम्, कुत ? यतः चण्डाशु प्रखरकरः सूर्यः, उज्ज्वलभते वर्धते । लक्ष्मण कथयति—हे रघुपते रामचन्द्र ! चण्डाशो सूर्यस्य, निशि राजौ, का कथा ? विषाकरस्य निशास्थिति-चर्चाऽपि नोचिता । तथा न सूर्योऽभ्युपगमविषयक भवतीति ज्ञान भ्रम एवेति भावः । अथ न चेदसौ सूर्यः तर्हि कोऽयं व्योम्नि प्रकाशते ? इति चेत् तत्राह लक्ष्मण—अयं प्रत्यक्षदृश्यमान चन्द्र उज्ज्वलति उदयते । राम आह—वत्स लक्ष्मण ! भवता, एतत् नाम सूर्योऽपि तु चन्द्र इत्याकारक वस्तु, कथं केन प्रमाणेन विदितम् ज्ञातम् ? लक्ष्मण आह—यतः यस्मात् कुरङ्ग हरिण कुम्भित रत्नम् = कालिमान् वा धत्ते अथ प्रकाशाधारभूतो वस्तुविशेष इति शेषः । मृगाङ्कोऽथ चन्द्र एव न सूर्य इति भावः । कुरङ्गदध्रवणस्मृत-सीतातत्त्वयनश्च रामो विह्वल ह्रवोन्मत्त इव च भूत्वा प्राह—हे कुरङ्गनयने हरिणनेत्रे ! चन्द्रानने ! प्रेयसि अतिप्रेये, जानकि सीते, कः कुत्र, असि वर्तसे ? 'हा' इति खेदसूचकमव्ययम् ।

उपपादयति—अत्रेति । 'सौमित्रे' इति पद्य इत्यर्थः । श्रुतकुरङ्गेति । श्रुत कुरङ्गरूप सम्बन्धी यस्य तस्येत्यर्थः, तत्त्वयनस्येति । कुरङ्गनयनस्येत्यर्थः । तत्सदृशेति । कुरङ्गनयनसदृशेत्यर्थः । तत्सम्बन्धीति, सीतानयनसम्बन्धीत्यर्थः । एषा स्मृति अलंकार्यभूतेति । प्रधानेत्यर्थः । तथा च नालङ्कारत्वमस्या स्मृतेर्न चितमिति भावः, तद्व्यावृत्त्यर्थमिति । व्यङ्ग्यस्मृतिव्यावृत्त्यर्थमित्यर्थः, विशेषणमिति । 'अव्यङ्ग्यत्वविशेषिता' इति रूपेण लक्षणे इति भावः । 'सौमित्रे ननु' इत्यत्र रामस्य कुरङ्गपदप्रचण्डेन मृगज्ञाने जाते 'एकसम्बन्धितानमपरसम्बन्धिन स्मारयति' इति न्यायेन तस्य मृगनयनस्य स्मरणं भवति । यत् सीतानयनस्य सदृशम् अतः सीतानयनसदृशमृगनयनस्मरणेन सीतानयनस्मरणम् ततश्च तदात्मकैकमन्धिज्ञानेन सीतास्मरणम् इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि प्रतीयमानस्य सादृश्यमूलकस्यापि च सीतानयनस्मरणस्यालंकाररूपत्वं न लक्षणघटकाव्यङ्ग्यत्वविशेषणेन चारणात् । किञ्च सा स्मृति प्राधान्यादलंकार्यभूता कथमलङ्कारत्वमुपगच्छत्वित्यपि बोध्यम् ।

अन्यत्स्मृतिद्वयं तु—अन्यद्वाच्यत्वविशेषणेन सादृश्यमूलकत्वविशेषणेन च व्यावृत्तम् इति भावः ।

सादृश्यमूलकत्वान्नकस्मृतिविशेषणासाधारणफलमाह—अत्युच्चा इति । कविकृतराज-विशेषणतुतिरियम् । कविः राजानं प्रति कथयति—अत्युच्चा परमोन्नता, गिरयः पर्वता, परितः यतुर्दिक्षु, स्फुरन्ति दृश्यमाना भवन्ति, तथा, स्फुरा- विशाला, अम्भोधयः समुद्राः, अपि, परितः स्फुरन्ति, परमेतान् सर्वानपि विप्रती त्वं पृथिवी न श्रान्ता इत्युक्ता रिज्जिति यावत्, अक्षि वर्तते, अतः, तुभ्यम् भगवन्मै वतुन्यरायै नमः, इति इत्य प्रकारेण आधारेण आश्चर्ययुक्तं भवति भावः, सुदुर्मुक्तं चारम्भारम् यावत्, भुवः पृथिव्याः, स्तुतिः, प्रस्तौमि प्रारम्भे, तावत्, इमा पृथिवी, विभ्रत घारयन्, तव भवतो, भुजो बाहु, स्मृतः, ततो वाचः पृथिवीन्तुतिप्रवृत्ता इति भावः, मुद्रिता कृता इति भावः । हे राजन् । धराधारकमवद्वज-स्मरणे सति पर्वतसमुद्रधारणज्ञानमज्ञातं पृथिव्यामुत्कर्षज्ञानं भवतिमिति तदीयस्तुतिप्रवृत्त-बाहुसुदणमेव धारणमकृत्यमित्यर्थः ।

उपपादयति—अत्रेति । 'अत्युच्चा' इति पदे इत्यर्थः । वर्तमाने इति शेषः, स्मृतिरित्यत्र च तदन्वयः । स्तुयमानेति । स्तुयमाना या भूः तस्या सवन्धिना भूतं राज । सादृश्यमूलेति । अपि तु 'एकसवन्धिविज्ञानम्—' इति न्यायमूलेति भावः । इतीति । अतः इत्यर्थः । अत्र प्रकृतपदे । न स्मरणालङ्कार इत्यन्वयः, सादृश्यमूलेति लक्षणपटकस्मृतिविशेषणेन न्यावर्तनादिति भावः । अथ किं कोऽप्यलङ्कारोऽत्र नास्तीति चेन्नत्याह—किञ्चेति । स्मृतेरिति । 'स्मृता' इति पदघटकरूपबोधिताया इति भावः । सञ्चारीति । वस्तुतः अस्या स्मृते सञ्चारीभावत्वं न सम्भवति वाच्यत्वात्, व्यञ्जयत्वं एव स्मृत्यादेस्तथात्वादिति बोध्यम् । एतदनुपदमेव लण्डनग्रन्थे स्फुटीमविनयति भूभूद्विष-येति । राजस्तुतिपरे प्रकृतपदे कविगती राजविषयकस्मृतिभाव एव प्रपादय्यज्ञः काव्यत्व-प्रयोजकः, स्मृतिश्च सदङ्गभूतेति भावः । प्रेयोऽलङ्कार इति 'गुणीभूतो भावः प्रेयो नामाऽ-लङ्कारः' इति तल्लक्षणार्थकोटीश्वरपदिति तान्पर्यम् । आहुरिति । अस्य क्रियापदस्य प्रागुक्तेन 'दीक्षिता' इति कर्तृपदेन सम्बन्धः ।

सङ्गठन करने के लिये अन्तर्गत का प्रतिपादन किया जाता है—अप्यपदीक्षितास्तु ह्युपादि । अप्यपदीक्षित कहते हैं कि—“किसी (समान अथवा असमान) वस्तु के विषय में होने वाली उस स्मृति को स्मरणालङ्कार कहते हैं जो व्यङ्ग्य न हो—अर्थात् वाच्य अथवा लक्ष्य हो और जिसका मूल सादृश्य हो । जैसे—

'अवि तुरगसमीपात् अर्थात् अश्व के समीपवर्षा से भी उड़ते हुए सुन्दर पँख वाले मयूर को दशरथ ने खवने बाण का लक्ष्य नहीं बनाया क्योंकि विविध चमकौली पँख वाले मयूर को देखते ही उसका मन, समीप-समर्प के कारण उन्मुक्त-वन्धन और विविध वर्ण के पुष्पों से बनी मालाओं से व्याप्त, प्रिया के केशपात्र में चला गया—मन ही जय पाश में आवद्ध हो गया तब हाथ बाण धरने तो कैसे ? आखिर मन ही तो बाणोद्भिदों का सञ्चारक है । तात्पर्य यह कि उस तरह के प्रियाकेशों का स्मारक मयूर-पुच्छ भी उसे प्रीतिस्वान प्रतीत हुआ, अतः बाण खला कर उसे वह घरवाद् नहीं कर सका ।' कविवर कालिदास ने रघुवंश में दशरथमृगया-वर्णन के प्रसंग पर इस पद्य की रचना की है । अथवा जैसे—

'दिव्यानामपि—अर्थात् स्वर्गीय जनों को भी विस्मित कर देनेवाली किसी नायिका को, सुन्दर कर में अर्धविकसित कमल लिपु, लक्ष्मी की तरह अपने सामने, जल से निकलते देखकर, भगवान् कृष्णचन्द्र ने समुद्रमन्यन का स्मरण किया—उत्तमी-शत्रुभावं

का समय उनके ध्यानपथ में आ गया। जलकेलिवर्णन-प्रसङ्ग पर माघकाव्य में कवि की यह उक्ति है।

इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण (अपि तुरग—) में सदृश वस्तु (मयूर-पुच्छ) के दर्शन से उसके सदृश (प्रिया के केश पाश) का स्मरण हुआ है और द्वितीय उदाहरण में सदृश वस्तु (हाथ में कमल लिये जल से निकलती परमरमणीय रमणी) के दर्शन से उसके (रमणी के) सदृश लक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन का स्मरण हुआ है। दोनों ही उदाहरणों में सादृश्यमूलक और अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली स्मृति की सत्ता समान है। तात्पर्य यह कि—जिस तरह प्रथम उदाहरण में सदृश-मयूरपुच्छ के देखने से तत्सदृश-प्रियाकेशपाश का स्मरण वर्णित है उस तरह यद्यपि द्वितीय उदाहरण में नहीं है—अर्थात् वहाँ सदृश (जल से निकलती नायिका) के देखने से तत्सदृश लक्ष्मी का स्मरण वर्णित नहीं हुआ है अपितु लक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले समुद्र-मन्थन—जो जल से निकलती नायिका के सदृश नहीं है—का स्मरण वर्णित है, तथापि दोनों स्थानों में वर्णित स्मरणों के मूल में सादृश्य समानरूप से है। वस्तुतः इतने से ही दोनों स्मरण समानरूप से अलंकाररूप हैं। अभिप्राय यह हुआ कि—लक्षण में यह नहीं कहा गया है कि—सदृश वस्तु के देखने से होनेवाला तत्सदृशवस्तुविषयक स्मरण ही अलंकार हो। यदि ऐसा कहना लक्षणकार का अभीष्ट होता, तो, 'वसवन्तर-समाभया (अन्य वस्तु के विषय में होने वाली)' यह विशेषण इस रूप में नहीं कहा जाता अपितु 'तुल्यान्तरसमाभया—अर्थात् सदृश अन्य वस्तु के विषय में होने वाली' इस रूप में कहा जाता। फलतः स्मरण सदृश का हो अथवा विसदृश का, पर उसका मूल यदि सादृश्य हो तो यह अलंकाररूप अवश्य होगा।

'हे लक्ष्मण! प्रचण्ड किरणों वाला सूर्य उदित है, अतः तुरुन्त ही सेवा करो—वृष्ट के नीचे चलो। रघुपते! रात के समय सूर्य की क्या बात, वह तो चन्द्र उदित हो रहा है। वस्तु! तुमने कैसे जाना कि यह चन्द्र है? क्यों न जानेंगा, यह मृग का धारण हो कर रहा है। (इतनी उक्ति-प्रत्युक्ति राम और लक्ष्मण में हुई कि राम कराह उठे—) हाय! मृगनयने! चन्द्रमुखी! म्रियतमे! जानकी! तुम कहाँ हो?' (हनुमन्नाटक)

यहाँ भी यद्यपि लक्ष्मण के मुख से सुने 'मृग' पद से मृग के बोध द्वारा 'एक सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिन स्मारयति' के अनुसार उसके (मृग के) नेत्रों का स्मरण हुआ और उस स्मरण के कारण उन नेत्रों (मृगनेत्रों) के सदृश सीता के नेत्रों का तथा उन नेत्रों (सीता नेत्रों) से सम्बन्ध रखने वाली सीता का स्मरण हुआ है, तथापि यह स्मरण व्यङ्ग्य है और अलंकार्य है। ऐसे स्मरण में ठीक स्मरणालंकार का लक्षण अति-व्याप्त न हो इसलिये 'अभ्यङ्ग्य' यह स्मृति का विशेषण लक्षण में दिया गया है।

'अर्युद्धा—अर्थात् 'चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पर्वत और समुद्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं, हे वसुन्धरे! इन सब की धारण करती हुई भी तू कुछ भी श्रान्त नहीं हुई, तुझे प्रणाम है'—इस तरह, आश्चर्यपूर्वक, जब तक पृथिवी की बार-बार स्तुति का प्रस्ताव करता है, तब तक उस पृथिवी की भी धारण करने वाले आपके बाहु का स्मरण हो आया, फिर क्या था! वाणी रुक गई—पर्वत-समुद्र आदि से युक्त समस्त पृथिवी के धारण करने के कारण सर्वश्रेष्ठ आपके बाहु का स्मरण होते ही पृथिवी के प्रति बनी मेरी श्रेष्ठत्व की धारणा समाप्त हो गयी, फिर उसकी स्तुति करते नहीं बनी।' यह पद्य कवि के द्वारा किसी राजा की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ जिसकी स्तुति जा रही है उस पृथ्वी के सम्बन्धी (उसके स्वामी) राजा का स्मरण यद्यपि वाच्यमृच्छा वर्णित हुआ है, पर उस (स्मरण) के मूल में सादृश्य नहीं है—अर्थात् सदृशवस्तुदर्शन से यह स्मरण नहीं हुआ है, अपितु 'एकसम्बन्धिज्ञानम्—' इस न्याय के अनुसार पृथ्वी का ज्ञान होने से तत्सम्बन्धी

राजा का स्मरण हुआ है, अतः यहाँ स्मरणालङ्कार नहीं है, किन्तु सञ्चारिभाव-
रूप यह स्मरण कविगत राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है अतः 'प्रियान्' अलङ्कार
है । इसी तरह के (सादृश्य जिनके मूल में न हों उन) स्मरणों का वर्णन करने के लिये
लक्षण में 'सादृश्यमूला' यह विशेषण लगाया गया है ।"

उक्तदीक्षितमतस्य खण्डनात्मिकमालोचना निवर्ते—

तदेतत् सर्वभरमणीयम् । यत्तावदुच्यते सदृशासदृशयोः केशपाशजल-
निधिमन्यनयोः सङ्ग्रहाय लक्षणो नस्त्वन्तरग्रहणमर्थवदिति । तत्र सादृश्यमूला
स्मृतिः स्मरणालङ्कार इत्येतावतैव केशपाशस्मरणस्येव जलनिधिमन्यन-
स्मरणस्यापि सङ्ग्रहाद्व्यस्त्यन्तरसमाश्रयत्वविशेषणमतर्थकम् । एकत्र सादृश्य-
दर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वेन, अपरत्र च सादृश्यदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजलक्ष्मी-
स्मरणोद्बुद्धसंस्कारजन्यत्वेन च सादृश्यमूलत्वाविशेषात् । नहि सादृश्यमूले-
त्युक्ते सदृशविषयेति लभ्यते, येन जलनिधिमन्यनस्मृतेरसङ्ग्रहः स्यात् । यदपि
'सौमित्रे ननु सेव्यताम्—' इत्यत्र स्मृतिर्व्यङ्ग्या अलङ्कार्यभूता च तद्व्यावृत्तयेऽ-
व्यङ्ग्यत्वविशेषणमित्युक्तम् । तत्र नेयं स्मृतिरलङ्कार्यभूता, किन्तु जानक्या-
लम्बनो निशासमयोद्दीपितः सन्तापादिनानुभावित उन्मादेन सञ्चारिणा परि-
पोषितो विपलम्भः प्रधानत्वेनालङ्कार्यः । तस्य च—स्मृतिरुत्कर्षहेतुत्वादलङ्कार
एव । अतो नितरां तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यङ्ग्यत्वविशेषणदानमनुचितम् । नहि व्यङ्ग्य-
त्वालङ्कारत्वयोर्विरोध इति वक्तुं शक्यम् । नित्यव्यङ्ग्यानां रसभावादीनामपि
पराङ्गतायामलङ्काराभाभ्युपगमात् । प्रधानव्यङ्ग्यव्यावृत्त्यर्थं पुनरुपस्कारकत्वं
सर्वेष्वलङ्कारलक्षणेषु देयमिति प्रागेवावेदितम् । यदप्युक्तम् 'अत्युक्ताः परितः
स्फुरन्ति गिरयः—' इत्यत्र स्मृतेः सञ्चारिभावस्य भूदृष्टिपरतिभावा-
द्भत्यात्प्रेयोऽलङ्कार इति, तत्र । भावस्य हि भावाद्यङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम् ।
न ह्यत्र स्मृतिर्भावः । तस्याः स्मरतिना वाचकेनाभिधानात् । नहि वाच्यस्य
व्यभिचारिणो भावत्व वक्तुं युक्तम् । 'व्यभिचार्येक्षितो भावः' इति सिद्धान्त-
विरोधात् । तथा चोक्तं सर्वस्वकृता—'प्रेयोऽलङ्कारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्त-
निमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः । तत्रापि विभावायाम्भरितत्वे, यथा 'अहो कोपेऽपि
कार्त्तं मुखम्' इति । न तु स्वशब्दनिवेद्यत्वे ।

यथा—

'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतलेदः ।

रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णभूर्भा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्रम् ॥'

इत्युदाविति ।" ननु भावाद्यङ्गीभूतभावत्वं न प्रेयोऽलङ्कारलक्षणम् । अपि
तु भावाद्यङ्गीभूतसञ्चारित्वमात्रम् । तथा च प्रकृते स्मरणस्य स्वशब्दनिवेद्य-
त्वेन भावत्वविरहेऽपि सञ्चारित्वानपायात्प्रेयोऽलङ्कारत्वमविरुद्धमेवेति चेत्,
एवं तर्हीतराङ्गीभूतस्थायित्वमात्रं रसालङ्कारत्वम्, न तु व्यन्यमानत्वविशिष्टम्,
इत्यस्यापि सुवचत्वात् ।

एवं च—

'चराचरोमयाक्षरजगत्कारणविमहम् ।

कल्पान्तकालसङ्कुदं हरं सर्वहरं नुमः ॥'

इत्यत्र क्रोधस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेऽपि देवताविषयकरतिभावाद्भीभूतस्थायित्वानपायाद्रसालङ्कारत्वा स्यात् । न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तात् । तस्माद् व्यञ्ज्यमानस्यैव स्थायिनः पराङ्गत्वे यथा रसालङ्कारत्वमेव व्यञ्ज्यमानस्यैव सञ्चारिणो भावाद्यङ्गताया प्रेयोऽलङ्कारत्वमिति नात्र स्मृतिमादाय प्रेयोऽलङ्कारतावाच्या, किं तु भूविषयकरतेः पूर्वार्धव्यङ्ग्याया उत्तरार्धव्यङ्ग्यभूभृद्विषयरतिभावाद्गत्वाद्युक्ता प्रेयोऽलङ्कारता वक्तुम् । उक्तं च मम्मटभट्टैः—‘अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयरतिभावस्य’ इति । अपि च महदिदमाश्चर्यं यत् स्वेनैव निर्मितः कुशलयानन्दाख्यः सन्दर्भो विस्मृतः । उक्तं च तत्र—‘विभावानुभावाभ्यामभिव्यञ्जितो निर्वेदादिभावः, स यत्रापरस्याङ्गं स प्रेयोऽलङ्कारः’ इति ।

एतत्सर्वमिति । दोक्षितोक्तमलिलमित्यर्थ । स्मरमणीयमिति । अमुन्दरमित्यर्थ । अमुक्तमिति यावत् । वक्ष्यमाणदोषादिति भावः । तमेव दाढ्यायानुशाह—यत्तावदिति । तत्रेति । उच्यमाने तस्मिन्नित्यर्थ । ब्रूम इति शेषः । तदाह—सादृश्येति । एवमप्येऽपि । केशपाशस्मरणस्येवेति । तस्य सदृशविषयकत्वेन दृष्टान्तत्वमिति भावः । एकत्रेति । प्रथमोदाहरणवर्णितस्मरण इत्यर्थः । अपरत्रेति । द्वितीयोदाहरणवर्णितस्मरण इत्यर्थः । सादृश्येति । सादृश्यस्य दर्शनेन = ज्ञानेन, उद्बुद्धो यः सस्कारः (जलनिधिमन्थनविषयकः) तज्जम् = तत्तन्मयम्, यत् लक्ष्म्या स्मरणम्, तेन उद्बुद्धो यः सस्कारस्तत्तन्मयस्त्वेनेत्यर्थः । स्यादिति । इतीति शेषः । अत्र ‘सादृश्यपदस्य नियतसम्बन्धिकतया सम्बन्ध्याकाशायामुपस्थितस्मर्यमाणस्यैवाङ्गव्यापत्तिः । नहि जनकत्वमूला पूज्यते इत्युक्ते पुत्रजनकत्वेन भार्या पूज्यते । अतो वस्त्वन्तरसमाश्रयेत्यावश्यकमिति चिन्त्यमिदम्’ इति नागेशः । ‘सादृश्यमूला’ इति कथनेन साक्षात्परम्परया वा सादृश्यज्ञानेनोत्थापिता सर्वाऽपि (सदृशविषया विसदृशविषया च) स्मृतिः सगृह्यते न तु सदृशविषयेव स्मृतिः । तथा च ‘अपि तुरग’ इत्यत्र चित्रमयूरपिच्छरूपसदृशपदार्थज्ञानोद्बुद्धसस्कारजन्यकेशपाशस्मृतिः (सादृश्यज्ञानेन साक्षात्प्राप्त्यापिता सदृशविषया स्मृतिः) यया स्मरणालङ्कारकोटौ संयुहोता भवति तथा ‘दिव्यानामपि—’ इत्यत्र जलनिस्सरत्सुन्दरीरूपसदृशवस्तुज्ञानोद्बुद्धसस्कारजन्यलक्ष्मीस्मरणोद्बुद्धसस्कारजन्यसमुद्रमयनरस्मरणमपि (सादृश्यज्ञानेन परम्परयोत्थापित विसदृशविषयक स्मरणम्) सगृहीतं स्वादेव स्मरणालङ्कारश्रेण्यामिति तदर्थं दोक्षितेन उक्तम् ‘वस्त्वन्तरसमाश्रयत्वविशेषण लक्षणौ व्यर्थमेवेति भावः’ । अव्यङ्ग्यत्वविशेषणसार्थक्यप्रदर्शनाय दोक्षितेनोक्तं प्रत्युदाहरणं निरस्यति—यदपि इत्यादि । अस्य ‘उक्तम्’ इत्यत्रान्वयः । नेय स्मृतिरलङ्कार्यभूता इति । अत्र ‘अत्र स्मृते हा क्वासि इत्यादिपदसम्यत्वेन विवहृतप्रवृत्तराजानुगम्यमानभूत्यवत्, ‘शठेन विधिना निद्रादिरिदीकृत’ इत्यादौ शठादिपदगम्यासूयावद्वा तस्या एव प्राधान्यादलङ्कार्यत्वम् । अनुपस्थायेत्याद्य विप्रलम्भस्यैव तत्त्वाचेति चिन्त्यम्’ इति नागेशः । यस्मिन् प्रकरणे पलमिदमुक्तं कविना, तेन प्रकरणेन विप्रलम्भो व्यज्यते, अतः प्रकृतपद्यव्यङ्ग्या स्मृतिः प्रकरणव्यङ्ग्यविप्रलम्भरसपौषिकं भवेदित्येव समुचितम् । प्रकरणव्यङ्ग्यविप्रलम्भशृङ्गाररसपुष्पवर्धमेव कविना प्रकृतपद्यस्य रचना च कृतेति गुणीभूतव्यङ्ग्याया अस्या स्मृते प्रधानरसोपस्कारकत्वादलङ्कारत्वं युक्तमेवेत्यपि केचित् । विप्रलम्भ इति । रामनिष्ठ इति भावः । नितरामित्यस्यानौचित्येऽन्वयः । तदाशयं खण्डयति—नहोति । नित्येति । सर्वथेत्यर्थः । कदाप्यवाच्यलक्ष्येति यावत् । नन्वेवं प्राधान्येऽप्यलङ्कारत्वापत्तिरत आह—प्रधानेति । सर्वेषु न तत्रैव । तथा चालङ्कारसामान्य-

लक्षणप्राप्तत्वात्तस्य नातिप्रसंग इति भावः । 'सौमित्रे ननु सेव्यताम्—' इत्यत्र स विप्र-
लम्भश्चकाररस एव प्रधानव्यङ्ग्य यस्य सीताऽऽलम्बनविभावः, निशासमय उद्दीपनविभावः,
सन्तापदिरनुभावः, उन्मादश्च सञ्चारिभावः । एवञ्च प्रधानं स रसोऽलङ्कार्य एवेत्यत्र प्रायो
न कस्यापि विप्रतिपत्तिः । सीताविपयिणी स्मृतिश्च व्यङ्ग्यापि गुणीभूता प्रधानरसोपस्कारिणी
अलङ्काररूपैव । तथा च तद्धारणाय लक्षणेऽव्यङ्ग्यत्वविशेषपनिवेशो दोषितकृतोऽयुक्त
एव । व्यङ्ग्या स्मृतिः कथमलङ्काररूपा भवेत्, व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधादिति तु नोद्भाव-
नयोग्यम्, व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोर्विरोधानङ्गीकारात्, तथात्वे स्वोक्ते पराङ्गतादरापन्नानां
रसभावादीनामलङ्काररूपत्वं सकलालङ्कारिकाङ्गीकृतं भज्येत । नन्वेवं प्रधानव्यङ्ग्यस्यापि
अलङ्कारत्वमापद्येतेति चेन्न, तद्धारणायालङ्कारसामान्यलक्षणे उपस्कारकत्वं हेममित्यस्य
प्रागुक्तत्वात् इति सारांशः । लक्षणषट्कसाधयमूलेति विशेषणव्याख्यार्थप्रदर्शनप्रसंगे 'अनुज्ञा'
इति पद्यमुल्लिख्य तत्र दोषितोक्त विरोपं खण्डयितुमाह—यदप्युक्तमिति । सिद्धान्तेति ।
मम्मटमहादेशमिति शेषः । तदुपन्यसाह—प्रेयोऽलङ्कारस्येत्यादि । इतीत्यन्तेन । तत्रापीति ।
तदुत्थापितस्मृतिश्चरोति भावः । आगूरितत्वे इति । आविष्कृतत्वे इत्यर्थः ।

अत्रानुगोदमिति । पुष्पकेण लङ्घितोऽयोध्या गच्छतः श्रीरामस्त्व सीतां प्रप्नुक्ति
रियं रघुवरो । अत्र पञ्चम्याम्, अनुगोदम् गोदाचरीनदीसमीपे, मृगयानिष्ठः
आकेटं कृत्वा पराङ्गत, तरङ्गनातेन तरङ्गस्पृष्टवायुना (एतेन वायोः शैल्यातिशयो व्यज्यते)
विनीतखेदः अपगतङ्गमः, तथा, रहः एकान्ते, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, त्वदुत्सर्गनिपण्ण-
मूर्धा त्वदीयवोऽपि न्यस्तमस्तकः सन्, अहम्, बानीरगृहेषु चैतसलक्ष्मणपङ्केषु, यत् सुप्तं
स्वापम्, अकार्षम् तत् स्मरामि इत्यर्थः । सुप्त इति मल्लिनाथसम्मतः प्रथमाऽन्तापठः सुन्दरः ।
तस्मिन् पाठे अहं सुप्त इति स्मरामि इत्यर्थः, सुप्त इत्येवावन्पर्यन्तं वाक्यार्थः कर्म ।
स्यानमिदमालोक्यतो मम मानसे पलादिषु तादृशराशयनस्मृतिर्नामर्हति भावः ।

शङ्कते—नन्विति । प्रतिबन्धा समापत्ते—एवं तर्हीति । इष्टापत्तिं परिहरति—एष चेति ।

चराचरोमयाकारेति । चराः जंगमाः, अचराः स्थावराः, उभये द्विविधाः, आकाराः
स्वरूपाणि, यस्य, सादृशं यज्जगत् संसारः, तस्य, कारणं निदानभूतो, विप्रह-
शरीरं यस्य तम्, कल्पान्तकाले प्रलयकाले, संकुदम् अतिकुसम्, अत एव, सर्वहरम्
सकलचराचरसंहारकारकम्, हरं महाकालम्, तुम नमस्कुर्मः, वयमित्यर्थः ।

स्वशब्देति । नृद्धमितीत्यर्थः । रतिभावेति । कविनिष्ठेत्यादि । अपसिद्धान्तात् इति ।
सिद्धान्तविरुद्धत्वादिति भावः । स्मृतिमादायैत्युक्तिप्रसंगाह—किं त्विति । एवं च प्रयोऽलङ्कार-
रसत्वेऽपि त्वत्कृतम् तदुपपादनं चित्रार्थमासास्ययुक्तमिति भावः । स्वोक्तौ मम्मटोक्तिं
प्रमाणतयोपन्यस्यति—उक्तं चेत्यादिना । भावत्येति । अत्रमिति शेषः । स्वेनैवेति ।
अप्ययदोषितेनैवेत्यर्थः । तत्र कुबलयानन्दे । निवेदादिस्त्रयस्त्रिरात् । अपरस्य भावादेः ।
'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति सिद्धान्तानुसारेण व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणी भावत्यम् ।
भावस्य च भावाग्रतायां प्रयोऽलङ्कारत्वम् । तथा च 'अत्युक्ता —' इति पद्ये स्मृतपदवाच्यं
स्मरणम् न भावः, भावत्वमप्राप्तस्य च स्मरणस्य कविनिष्ठराजविषयकरतिभावाद्भावाद्भावेऽपि न
प्रेयोऽलङ्कारत्वसम्भवः । अत एव "सादस्येतरमूलिञ्च वाच्यविभवादिब्यङ्ग्या स्मृतिः प्रयोऽ-
लङ्कारलक्ष्यभूता यथा 'कोपेऽपि कान्तं मुच्यते' इत्यादौ । वाच्या स्मृतिस्तु न तल्लक्ष्यभूता
यथा 'अत्रानुगोदम्—इत्यादौ" इति सर्वस्वकारायुक्तिः सगच्छते । संचारी यदि भावाग्र-
भूतस्तदा स प्रयोऽलङ्कारः, तस्य संचारिणः भावरूपत्वम् (व्यङ्ग्यत्वम्) प्रयोऽलङ्कारलक्ष्य-

त्वाय नापेक्षितम्, तथा च प्रकृते स्मृतेर्वाच्यत्वेन भावरूपत्वामावेऽपि संचारित्वसत्त्वेन प्रेयोऽलङ्कारत्वं स्यादिति तु न वक्तुं शक्यम्, तथा सति अव्यञ्ज्योऽपि (वाच्योऽपीति यावत्) स्थायी यदि इतराज्ञीभावमापन्नो भवेत्, तदा स रसाऽलङ्कार इत्यस्यापि सुबचतया 'चराचर—' इति इत्येके वाच्यस्यापि श्रोत्रस्य कविगतदेवताविषयकरतिभावाज्ञीभूतस्यावित्वसत्त्वेन रसालङ्कारतापत्तेः। सिद्धान्तविरोधपरिहारानुरोधेनापि कर्तुमशक्यैव। फलतो व्यङ्ग्यस्याधिभाव एव यथा पराज्ञतादशाया रसालङ्कारो भवति तथैव व्यङ्ग्य एव संचारिभावाद्यज्ञतावस्थाया प्रेयोऽलङ्कार इत्यक्रमेणापि स्वीकार्यमेव। इत्थं च 'अत्युक्ता—' इति पदे स्मृतिमादाय प्रेयोऽलङ्कारप्रतिपादनं बोधितवृत्तमयुक्तम्। पूर्वार्थव्यङ्ग्यकविगत-पृष्ठीविषयकरतिभावस्य उत्तरार्थव्यङ्ग्यकविगतराजविषयकरतिभावाज्ञतया प्रेयोऽलङ्कारता सम्भवतीति तु अन्यत्। यम्मदमद्य अपि रतिभावमादायैवात्र प्रेयोऽलङ्कारतां साधयामास। कुचलपानन्दे 'वाच्यविभावादिब्यङ्ग्यपदधारिणा भावत्वम् तस्य च भावस्यापराज्ञतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्' इति स्फुटं श्रुवाणो बोधितमहोदय कथं तद्विरुद्धमिहाहस्मेति परमाश्चर्यविषय इति भावः।

उक्त दीक्षितोक्ति का सङ्गठन किया जाता है—उद्देशसर्वमरमणीयम् इत्यादि। अन्वय-दीक्षित की उक्त सभी बातें असुन्दर हैं—असंगत हैं। देखिए, सर्वप्रथम उन्होंने जो यह कहा है कि—“सदृश अर्थात् स्मरण में मूलभूत मयूरपुच्छ के समान केशपाश और असदृश—अर्थात् स्मृतिमूलभूतपदार्थ जल से निकलती नापिका की समानता नहीं रखने वाला समुद्रमयन दोनों का समग्र करने के लिये लक्षण में 'अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली' इस अंश का ग्रहण सार्थक है।” वह ठीक नहीं। कारण, 'सादृश्यमूलक स्मरण को स्मरणालङ्कार कहते हैं' इतने कथन से ही केशपाश के स्मरण की तरह समुद्रमन्यन-स्मरण भी संपृहीत हो ही जाता, फिर उसके समग्र के लिये जो 'अन्य वस्तु के विषय में होनेवाली' यह अंश कहा गया है वह निरर्थक है। एक जगह (प्रथम पद्य में) स्मरण, सादृश्य-दर्शन द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न होता है और दूसरी जगह (द्वितीय पद्य में) सादृश्यदर्शन द्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न लक्ष्मी के स्मरण से उद्बुद्ध संस्कार से उत्पन्न हुआ है, फलतः दोनों जगहों पर स्मरण का मूल सादृश्य है ही। अर्थात् एक जगह सादृश्य स्मरण का साक्षात् मूल है, दूसरी जगह परम्परया, पर दोनों ही स्मरणसादृश्यमूलक कहे जा सकते हैं, क्योंकि 'सादृश्यमूलक' इस कथन से 'सदृशपदार्थके विषय में होनेवाली' यह अर्थ तो निकलता नहीं कि जिससे 'समुद्रमन्यन के स्मरण' का समग्र नहीं होगा। यहाँ नागेश दीक्षितोक्ति का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि—“सादृश्य एक ऐमा पदार्थ है जिसका सम्बन्धी निश्चित निश्चित-होता है, अतः प्रकृत में सम्बन्धी की आकांक्षा होने पर नियमतः उपस्थित स्मर्यमाण (स्मरण किये जाने वाले सदृशपदार्थों) का ही अन्वय होगा, न कि असदृशपदार्थों का। अर्थात् 'सादृश्यमूलक स्मरण' ऐसा कहने पर स्मरणक और स्मर्यमाण पदार्थों का सादृश्य ही अवगत होता है। ठीक भी है 'जनकरव-मूला पुत्रित होती है' ऐमा कहने पर कहने वाले की जननी की ही पूजा समझी जाती है, पुत्र-जनक होने के कारण पत्नी की पूजा नहीं। ऐसी स्थिति में 'सादृश्यमूलक स्मृति' इस कथन से सदृश के स्मरण का ही समग्र होगा, सदृश के सम्बन्धी के स्मरण का नहीं, अतः 'अन्य वस्तु के विषय में होने वाली' यह अंश सार्थक ही है, क्योंकि इस अंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि सदृश तथा असदृश दोनों के स्मरण यहाँ संप्रहणीय हैं, अन्यथा 'सदृश के विषय में होने वाली' ऐसा ही विशेषण जोड़ा जाता।” अब उनकी दूसरी बात को लीजिए। उन्होंने कहा है कि—“सौमित्रे ननु सेव्यताम् तरतलम्—” इस पद्य में स्मरण व्यङ्ग्य है और अलङ्कार्य है—अर्थात् प्रधान है, अतः उस स्मरण में स्मरणालङ्कार

का लक्षण अतिव्याप्त न हो इसलिये लक्षण में 'अव्यङ्ग्य' यह विशेषण जोड़ा गया है ।" पर यह कथन भी उनका उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ 'स्मृति' व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कार्य—प्रधान—नहीं है, अपितु रामचन्द्रदास यह विप्रलम्भश्रृङ्गार प्रधान होने के कारण अलङ्कार्य है जिसका आलम्बन विभाव है जानकी, उद्दीपन विभाव है निशासमय, अनुभाव है सन्ताप आदि और संचारीभाव है उन्माद । तात्पर्य यह हुआ कि उक्त पद्य में स्मृति और विप्रलम्भश्रृङ्गाररस दोनों ही व्यङ्ग्य होते हैं, पर उन दोनों में प्रधानता विप्रलम्भ की ही रहती है अतः उसी को अलङ्कार्य मानना युक्तिसंगत है । स्मरण तो व्यङ्ग्य होकर भी गौण है और प्रधान रस को उत्कृष्ट बनाने वाला है, अतः उसको अलङ्काररूप मानना ही समुचित है । फिर इस स्मृति को अलङ्कारश्रेणी से निष्कासित करने के लिये लक्षण में 'अव्यङ्ग्य' विशेषण जोड़ना निवृत्त अनुचित है । और आप यह तो कह नहीं सकते कि—'व्यङ्ग्यता' और 'अलङ्कारता' में परस्पर विरोध है—अर्थात् जो वस्तु व्यङ्ग्य हो वह उस अवस्था में अलङ्कार हो ही न सके, क्योंकि निरव्यङ्ग्य—अर्थात् जो कभी वाक्य अथवा लक्ष्य होते ही नहीं उन—रस, भाव आदि को भी दूसरे के भद्र हो जाने पर अलङ्कार माना जाता है । बात रही प्रधान व्यङ्ग्य के अलङ्कार न होने की, सो यह टीक ही है और उसके (प्रधान व्यङ्ग्य के) चारण करने के लिये सभी अलङ्कारों के लक्षणों में 'उपस्कारक' विशेषण लगाना चाहिए यह बात पहले ही कही जा चुकी है । अभिप्राय यह कि यह सामान्य नियन्त्रण सभी अलंकारों के विषय में लागू किया जाना चाहिए कि—कोई भी अलंकार तभी अलंकार हो सकता है जब वह किसी अपने से निम्न प्रधान काव्यार्थ को उपस्कृत—अलंकृत—करता हो । इस नियन्त्रण से प्रधान काव्यव्यङ्ग्य अर्थ कभी भी अलंकार नहीं हो सकता और जो व्यङ्ग्य प्रधान नहीं और अन्य प्रधान को उपस्कृत भी करता हो उसको सो अलंकारकोटि में गिना ही जाना चाहिए । यहाँ भी लाघेस मूलकार का सम्बन्ध और दीक्षित का समर्थन करते हैं । उनके कथन का अभिप्राय है कि—“सौमित्रे ! ननु—” इस पद्य में 'हाय ! कहाँ है' इन पदों से अभिव्यक्त होने वाली स्मृति ही प्रधान है और वह उसी तरह प्रधान है जिस तरह बराती के रूप में चढ़नेवाले राजा के भागे-भागे विवाह के लिये जाता हुआ मौंकर भयवा जिस तरह 'गठेन विधिना निद्राश्रिद्धीकृत-' ह्वाविक में 'बाठ' आदि पदों से ज्वलित होनेवाली 'भस्त्रवा' । और जब स्मृति की प्रधानता सिद्ध है तब उसका अलंकार्य होना भी निश्चित रूप से मान्य होना ही चाहिए—अर्थात् वह (स्मरण) किसी का उपस्कारक नहीं है स्वयम् उपस्कार्य है, विप्रलम्भश्रृङ्गाररस ही उसका उपस्कारक होने से अलंकाररूप है । फलतः दीक्षित का कथन ठीक ही है ।" कुछ लोग यहाँ यह भी कहते हैं कि—“उक्त पद्य जिस प्रकरण का है उस समूचे प्रकरण से विप्रलम्भश्रृङ्गाररस ही प्रधानरूप में ज्वलित होता है, इस पद्य की रचना भी कवि ने प्रकरणव्यङ्ग्य विप्रलम्भ की परिपूर्ण के लिये ही की है, अतः इस पद्य का भी प्रधान व्यङ्ग्य विप्रलम्भ की ही मानना चाहिये, स्मरणव्यङ्ग्य होकर भी उसका पोषक ही है, अतः वह अलंकाररूप ही माना जा सकता है ।” तीसरी बात दीक्षितजी ने यह कही कि—“अत्युक्ता—” इस पद्य में स्मृतिरूप संचारीभाव कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का भद्र होने के कारण 'प्रेयान्' अलंकार है ।” पर यह बात भी उनकी ठीक नहीं । कारण, भाव जब भाव आदि का भद्र होता है तब वह 'प्रेयान्' अलंकार कहलाता है । पर प्रकृत पद्य में 'स्मरण' भावरूप है ही नहीं, क्योंकि यहाँ वह 'स्मृतः' पद का वाच्यार्थ है और वाच्य संचारीभावरूप कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर भी 'न्यभिचार्यञ्जितो भाव—अर्थात् व्यङ्ग्य न्यभिचारीभाव कहलाता है' इस (काव्यप्रकाश के) सिद्धान्त का विरोध होता है । काव्यप्रकाश का ही नहीं, अपितु 'अलंकारसर्वस्वकार' का भी ऐसा ही सिद्धान्त है । वे कहते हैं कि—“प्रेयान्' अलंकार का लक्ष्य तो वह स्मरण होता है

जो सादृश्य से अन्य किसी निमित्त से उद्बोधित हुआ करता है और वह भी वाच्य-विभावादि से अभिव्यक्त होने पर, जैसे 'अहो ! कोपेऽपि कान्त मुखम्—अर्थात् आश्चर्य है कि उसका मुख क्रोधावस्था में भी कमनीय था' इत्यादिक में। वाच्य होने पर 'स्मरण' भावरूप नहीं होता अतएव 'प्रेयान्' अलंकाररूप भी नहीं होता, जैसे—'अत्रानुयोदम्—अर्थात् यहाँ, गोदावरी नदी के तट पर शिकार खेलकर लौटा हुआ और जलतरंगों की शीतल हवा से अमरहित किया गया मैं, जो, एकान्त में तेरी गोदी में सिर रखकर बेतस के मण्डपों में शयन करता था उस शयन का स्मरण कर रहा हूँ—इस स्थल को देखते ही उस शयन का स्मरण हो आया।' इस—विमान द्वारा लंका से लौटते समय पञ्चवटी के किसी स्थल को दिखाते हुए रामचन्द्र की सीता के प्रति उक्ति—मे। यदि आप कहें कि—मेरे विचार से 'भाव' आदि के अङ्ग बने हुए भाव ही 'प्रेयान्' अलंकार नहीं होते, अपितु भाव आदि के अङ्ग बने हुए सञ्चारीमात्र—अर्थात् उन संचारियों का भावरूप होना आवश्यक नहीं, अतएव प्रकृत में स्मरण यदि वाच्य होने के कारण भावरूप नहीं होता, तो न हो, सञ्चारी तो है ही, वस, इतने से ही पराङ्गतावशा में उसकी प्रेयोऽलंकारता सिद्ध हो जाती है—किसी तरह का विरोध नहीं होता, सो यह भी उचित नहीं क्योंकि आपके कथनानुसार यदि प्रेयोऽलंकार कहलाने के लिये सञ्चारियों का भावरूप (व्यङ्ग्य) होना आवश्यक न माना जाय, तब 'रसवत्' अलंकार कहलाने के लिये स्थायीभावों का व्यङ्ग्य होना भी आवश्यक न मानिये—अर्थात् जिस तरह आप वाच्य सञ्चारी को भी भाव आदि के अंग होने पर प्रेयान् मान लेने के लिये उद्यत हैं उसी तरह वाच्य स्थायी को भी अपराङ्गतावस्था में आप रसवत् मानेंगे, और यदि ऐसा मानेंगे, तब 'वराचरोभया—अर्थात् हम, स्थावर-जंगम दोनों रूप वाले सत्तार के कारणस्वरूप और प्रलय काल में हवित अतएव समके सहार करने वाले शिव को प्रणाम करते हैं।' इस पद्य में वाच्यरूप से वर्णित क्रोध (रौद्ररस का स्थायी) भी रसवत् अलंकार हो जायगा, क्योंकि वाच्य हो जाने से भावरूप वह (क्रोध) भले ही न हो पर स्थायी मात्र तो है ही और देवताविषयक कविगत रतिभाव का अंग भी है। हृदापत्ति तो की नहीं जा सकती, क्योंकि यह बात वस्तुतः सिद्धांतविरुद्ध है। अन्ततः इन सब आपत्तियों से बचने के लिये यह मानना ही पड़ेगा कि—जैसे व्यङ्ग्य स्थायी ही अन्य प्रधान वाक्यार्थ का अंग होकर रसवत् अलंकार होता है उसी तरह व्यङ्ग्य सञ्चारी ही भाव आदि का अंग होकर प्रेयान् अलंकार कहलाता है। अतः 'अप्युच्चा—' इस पद्य में स्मरण को लेकर प्रेयोऽलंकार नहीं कहा जा सकता, किन्तु पद्य के प्रथमार्ध भाग से अभिव्यक्त होनेवाले कविगत पृथ्वीविषयक रतिभाव—जो पद्य के अन्तिम आधे भाग से अभिव्यक्त होनेवाले कविगत रागविषयक रतिभाव का अङ्ग है—को लेकर ही कहा जा सकता है। मम्मटमट्ट ने भी इस पद्य में प्रेयोऽलंकार सिद्ध करते समय कहा है कि—'यहाँ पृथ्वी के विषय में होने वाला रतिरूप भाव राजा के विषय में होने वाले रति-भाव का अङ्ग है।' मम्मटमट्ट को भी धोड़िये। स्वयं दीक्षितजी ने भी कुवलयानन्द नामक स्वरचित निबन्ध में कहा है कि—"निर्वेद आदि संचारी जब विभाव और अनुभाव से ध्वनित होते हैं तब वे 'भाव' कहलाते हैं और वे भाव जब दूसरों के अङ्ग हो जाते हैं तब प्रेयान् अलंकार माने जाते हैं।" अब आप हम सोच सकते हैं कि—यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है, दीक्षितजी अपने निबन्ध को भी भूल गए—एक निबन्ध में जैसी बात लिखते हैं दूसरे निबन्ध में शीक उसकी उलटी बात। इस तरह यह सत्य प्रकट है कि दीक्षितजी की बातें यहाँ सुन्दर नहीं हैं—विद्वानों को सन्तुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

अलंकारसर्वस्वरभाकरयोर्मतमनुवावयति—

• यदपि 'सदृशानुमवाद्स्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्' इत्यलङ्कारसर्वस्वरभाकरयोः

स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्, तदपि न । सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन संस्कारेण जनिते स्मरणोऽव्याप्ते ।

यथा—

‘सन्त्येवास्मिन्नगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-

स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।

वैरघ्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः

स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णामिधानम् ॥’

अत्र च चातकदर्शनादेकसम्बन्धिज्ञानादुत्पन्नेनापरसम्बन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनितं भगवत् । स्मरणं भगवद्विषयरतिभावाद्भम् । यदि च ‘सदृशालुभवात्’ इत्यपहाय ‘सदृशज्ञानात्’ इति लक्षणे निवेशयते तदा भवत्यस्यापि सङ्ग्रह इति दिक् ।

अलङ्कारसर्वस्वरूपोर्ध्वन्यो । सदृशेति । स्मर्यमाणसदृशेत्यर्थः । सन्त्येवेति । अस्मिन् परिहर्यमाने, जगति संसारे, रम्यरूपा सुन्दराकारा, बहवः, पक्षिणः, (यद्यपि) सन्ति, (तथापि) तेषां पक्षिणाम्, मध्ये, चातकेषु स्ववामखण्डतपक्षिविशेषेषु, मम, वासना रास्कार, धारयति यावत्, महती युक्तरा, विद्यते, इति शेषः । निजसखम् स्वमित्रम्, नीरदं मेघम्, स्मारयद्भिः, यै चातके, अघ्यक्षैः प्रत्यक्षभूतैः, सद्भिः हेतुभिः, किमपि साधारणदुःखयाऽज्ञायमानम्, कृष्णामिधानं कृष्णनामक्यात्मम्, ब्रह्म परमात्मा, स्मृत्यारूढं स्मरणगोचरं, भवति जायत इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । दर्शनादिति । अस्य ‘ज्ञानात्’ इत्यत्राभेदेनान्वयः । चातकदर्शनात्मनैकसम्बन्धिज्ञानादिति यावत् । उत्पन्नेनेति । अस्य ‘स्मरणेन’ इत्यत्रान्वयः । ‘सदृशपदार्थानुभवोद्बुद्धसंस्कारजन्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः’ इत्यर्थकम् सर्वस्वरूपरसकारोक्तं मूलोद्भूतं लक्षणम् न सम्यक्, तस्य ‘सन्त्येवास्मिन्’— इति लक्ष्योऽव्याप्तत्वात् । अयं भागः ‘सन्त्येव’ इत्यत्र प्रथमं चातकानुभवः, ततः ‘एक-सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति’ इति न्यायेन मेघस्मरणम्, तेन स्मरणेन मेघसदृश-कृष्णविषयकसंस्कारोद्बोधः, उद्बुद्धेन तेन संस्कारेण कृष्णस्मरणम्, तच्च स्मरणं कवि-गतस्य पद्यप्रधानव्यञ्जकस्य भगवद्विषयकवृत्तिभावस्वोपस्कारकत्वावद्भूतमिति समुचितं तस्यालङ्काररूपत्वम् । किंतु पूर्वोक्तलक्षणेन वास्य संग्रहः सम्भवति, अस्य स्मरणस्य मेघरूप-सदृशस्मरणप्रयोज्यत्वेन सदृशालुभवप्रयोज्यत्वनिरहात् । अतः लक्षणघटकस्य ‘सदृशालु-भवात्’ इत्यस्य रूपाने ‘सदृशज्ञानात्’ इति कथमं युक्तम्, यत् सदृशज्ञानपदेन सदृशस्मरण-स्यापि बोधे तस्य तद्व्यस्य संग्रहः सम्भवेदिति साक्षात् ।

अब ‘अलङ्कार सर्वस्व’ और ‘अलङ्कारसर्वस्व’ के लक्षण का अनुवाद करके स्पष्टन किया जाता है—यद्यपि इत्यादि । ‘सदृशपदार्थ’ के अनुभव—प्रत्यक्ष ज्ञान—से होनेवाले अन्य वस्तु के स्मरण का नाम स्मरणालङ्कार है । यह जो ‘अलङ्कारसर्वस्व’ तथा ‘रसकार’ नामक निबन्ध में लिखा गया है, वह भी ठीक नहीं है । कारण, यह लक्षण उस स्मरण में अव्याप्त है—अर्थात् इस लक्षण से उस स्मरण का संग्रह नहीं होता, जो सदृश पदार्थ के अनुभव से नहीं अपितु सदृश पदार्थ के स्मरण से संस्कारोद्बोध द्वारा उत्पन्न होता है । जैसे—‘सन्त्येवास्मिन्’—अर्थात् इस संसार में यद्यपि बहुतेरे पक्षी रमणीय रूप वाले हैं, पर मेरी वासना-धातना-सबसे अधिक उन चातकपक्षियों के विषय में ही रहती है अपने मित्र-संबन्धी-मेघ का स्मरण करानेवाले जिन चातकों के जलधरोपर होने से

कृष्णनामक भगोच्चर ब्रह्म स्मृति पथ में आरुढ़ हो जाता है।' यहाँ चातकरूप एक सबन्धी के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से 'एक सबन्धी का ज्ञान ऊपर सबन्धी का स्मरण कराता है' इस न्याय के अनुसार उस मेघ का स्मरण होता है जो कृष्ण भगवान् के सदृश है और उस मेघस्मरण से तत्सदृश भगवान् कृष्ण का वह स्मरण होता है, जो पथ के प्रधान व्यङ्ग्य कविगत भगवद्विषयक रतिभाव का व्यङ्ग्य है—परोपक है। तापर्य यह कि यहाँ कृष्णस्मरण सर्वसम्प्रति से स्मरणालंकार होने योग्य है, किन्तु उक्त लक्षण के अनुसार इसका सप्रह नहीं हो पाता, क्योंकि यह स्मरण संदेश पदार्थ—मेघ—के अनुभव (प्रत्यक्ष) से उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु उसके स्मरण से उत्पन्न हुआ है। यदि लक्षण में 'सदृशानुभवात्—सदृश पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान से' इसके स्थान पर 'सदृशज्ञानात्—सदृशपदार्थ के किसी तरह के (प्रत्यक्षात्मक जगत्वा स्मरणारम्भक) ज्ञान से' ऐसा निवेश किया जाय, सब उक्त भगवत्स्मरण का भी सप्रह हो सकता है।

स्मरणालङ्कारध्वनि निरूपयितुमाह—

अथास्य ध्वनिः ।

अथेति । परमतनिरसनान्तरमित्यर्थः । अस्य स्मरणालङ्कारस्य । ध्वनिरिति । उत्तमोत्तमकान्यताप्रयोजको वैयञ्जनिकबोध इति भावः ।

स्मरणालङ्कारध्वनि का निरूपण करने की बात कही जाती है—अथ इत्यादि । अथ यहाँ स्मरणालङ्कारध्वनि का आरम्भ समझना चाहिए ।

स्मरणालङ्कारध्वनिमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘इदं लताभिः स्तवकानताभिर्मनोहरं हन्त वनान्तरालम् ।

सदैव सेव्यं स्तनभारयत्यो न चेद्युवत्यो हृदयं हरेयुः ॥’

कमनीयकाननमभ्यगत कश्चिन् परामृशति—हन्त अहो ! स्तवकानताभिः पुष्पगुच्छा-
‘वनत्राभिः, लताभिः वल्लीभिः, मनोहरम् रमणीयम्, इदं प्रत्यक्षदृश्यमानम्, वनान्तरालम्
‘वनमध्यभाग’, सदैव नैरन्तर्येण, सेव्यम् आधरणीयम्, कदा ? यदि स्तनभारयत्य-
‘स्तनभारयुता’ (एतेन नम्रीभाष आवेक्षते), युवत्यं तरुण्यं, हृदयं मनः, न, हरेयु-
‘चरीकुर्वन्तित्यर्थः’ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदम् इत्यादि । सुन्दरतम कानन के मध्य में अवस्थित कोई पुरुष अपने मन में सोच रहा है—आह ! पुष्प गुच्छों से नम्री हुई लताओं से ललित यह वन-मध्य सदा ही सेवन करने योग्य है, यदि स्तन-भार से युक्त (भवमत) युवतियाँ हृदय हरण न कर लें ।

उपपादयति—

अत्र स्तवकानताभिर्लताभिः स्तनभारवतीनां युवतीनां स्मरणमलङ्कार्यस्या-
न्यस्याभावादनुपसर्जनम्, स्तनस्तवकरूपस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नस्य
साधारण्यमस्य वाच्यत्वेऽपि तत्प्रयोजितसादृश्यमूलकस्य स्वस्य शब्दवाच्यत्व-
विरहाद् व्यङ्ग्यं च ।

अत्रेति । ‘इदं लताभिः—’ इति पद इत्यर्थः । लताभिरिति । प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थः ।
‘तस्य च स्मरणमित्यत्रान्वयः । अनुपसर्जनमिति । अगौणमित्यर्थः । प्रधानमिति यावत् ।

एवमलङ्कारत्वं निरस्य ध्वनित्वागुपादयितुमाह—स्तनेति । तदिति । साधारणधर्मत्वार्थः । स्वस्य स्मरणस्य । व्यङ्ग्यं च स्मरणमिति पूर्वग्रान्धयः । 'इदं लताभि—' इति पद्यप्रयुक्तः पवित्रलिपितस्य पुष्पस्य स्तवकान्तलताज्ञानात् सत्कारोद्बोधक्रमेण स्तनभारयुतयुवतीजन-स्मरण जातमिति विप्रतिपत्तिहोने वचः, तच्च स्मरणं सादृश्यमूलम्, सादृश्यं च विम्बप्रति-विम्बभावापन्नस्तनस्तवकरूपसाधारणधर्मप्रयोज्यम् अतः सर्वथा स्मरणालङ्कारसम्पत्ति-योग्यमिदं स्मरणम्, परन्तु पद्यस्यास्य आव्यताया प्रयोजक-चमत्कारवत्तया प्रधानोऽर्थः । स्मरणमेवैतत्, एवञ्च 'उपस्कारवत्' रूपसकलालङ्कारलक्षणप्रतिष्ठविशेषणेन व्यावर्त्यतेऽ-स्यालङ्कारत्वम्, अतोऽयं व्याख्यालङ्कारव्यवहारो न, अलङ्कारत्वमाप्तस्यैव पदार्थस्य व्यङ्ग्यत्वे तथा व्यवहारप्रवृत्तेरिष्टत्वात्, विम्बप्रतिविम्बभावापन्नस्तनस्तवकरमकवाच्यसाधारणधर्म-प्रयोज्यसादृश्यमूलकोऽयं स्मरणपदार्थो न वाच्यो व्यङ्ग्य एवेत्यत्र यद्यपि न कश्चित् सन्देहः, तथापि नालङ्कारत्वमाप्त इति पूर्वमुक्तम् । एवञ्च स्मरणालङ्कारध्वनिरसमिति कलितम् । अलङ्कारभावानापन्नपदार्थध्वननेऽलङ्कारध्वनिव्यवहार एव कथमिति तु न संशयः, अलङ्कार-स्वयोरप्यपदार्थध्वनन एवालङ्कारध्वनिव्यवहारस्य प्रारूपपादितत्वात्, अलङ्कारत्वमप्राप्तेऽप्यत्र स्मरणे तद्योग्यस्य विद्यत एवेति भावः ।

उपवादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'इदं लताभि—' इस पद्य में पुष्प-गुच्छों से बनी हुई लताओं द्वारा स्तनभार से युक्त युवतियों का स्मरण हुआ है और यह स्मरण ही इस वाक्य का प्रधान अर्थ है—इस वाक्य को काव्य-कोटि में लाने वाला चमत्कारी अर्थ है, इस वाक्य का प्रतिपाद्य कोई ऐसा दूसरा अर्थ नहीं है जो सर्वाधिक चमत्कारी होने के कारण प्रधान हो, फलतः यह स्मरण किसी दूसरे का उपस्कारक नहीं है, साथ-साथ यह स्मरण व्यङ्ग्य भी है, क्योंकि 'स्तनों' और 'पुष्प-गुच्छों' रूप विम्बप्रति-विम्बभावापन्न साधारणधर्म के वाच्य होने पर भी उसके द्वारा सिद्ध सादृश्य मूलक स्मरण किसी वाक्य से वाच्य नहीं है । अतः इस पद्य को स्मरणालङ्कार-ध्वनि का उदाहरण माना जाता है । स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि—यद्यपि पण्डितराज व्यङ्ग्य अलङ्कार भी मानते हैं तथापि यहाँ व्यङ्ग्य स्मरणालङ्कार नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ किसी अन्य अलङ्कार्य—प्रधान—अर्थ के न रहने से यह स्मरण उपस्कारक नहीं है और व्यङ्ग्य अलङ्कार का व्यवहार यहाँ होता है यहाँ कोई शोचरकारक पदार्थ व्यङ्ग्य होता है । आप पूछ सकते हैं कि—जब ऐसी स्थिति है तब स्मरणालङ्कारध्वनि का ही व्यवहार यहाँ कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह होगा कि—अलङ्काररूप नहीं अपितु अलङ्कार होने योग्य पदार्थ के ध्वनित होने पर ही अलङ्कारध्वनि का व्यवहार होता है यह बात पहले युक्ति-पूर्वक प्रतिपादित हो चुकी है और यहाँ का स्मरण उपस्कारक न होने के कारण अलङ्काररूप भले ही न हो, पर सादृश्यमूलक होने से अलङ्कार होने की सामान्य योग्यता तो रहता ही है ।

पद्यपटकस्य 'युवत्य' इति पदस्यासधुतां मनसि कृत्वा समाधत्ते—

युवत्य इति च 'सर्वतोऽकिन्नर्यात्' इति ङीप् साधुः ।

यद्यपि हस्वेकारान्तयुवतिपदमेव प्रचुरप्रयोगतया प्रसिद्धं तत्त्वं च प्रथमाबहुवचने 'युवताय' इति रूपमेव समुचितम्, तथापि 'सर्वतो—' इत्यनेन ङीप् दीर्घकार-विशिष्टस्य 'युवती'पदस्य प्रथमाबहुवचने 'युवत्व' इत्यपि साध्वेदेति भावः । अत्र 'यौतेः शत्रन्तात् ङीप्वापि साधुत्वं भवति । 'सर्वतः—' इत्येतत्पर्यन्तालुभावनं व्यर्थम् दुष्टं चेति' नागेशः ।

‘युवत्यः’ इस पद की साधुता दिखलाई जाती है—युवत्य इत्यादि । इस्व इकारान्त ‘युवति’ शब्द—जो अधिक प्रसिद्ध है—का रूप प्रथमावहुवचन में यद्यपि—‘युवतयः’ ही होता है, तथापि ‘सर्वतः—’ इस धार्तिक से ङीप् प्रत्यय कर देने पर वह दीर्घ ईकारान्त ‘युवती’ शब्द भी निष्पन्न होता है, जिसका ‘युवत्यः’ ऐसा रूप हो सकता है । शतृप्रत्ययान्त यु धातु से ङीप् प्रत्यय करके भी दीर्घ ईकारान्त युवती शब्द बन सकता है यह भी समझना चाहिए ।

उदाहरणान्तर दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘इदमप्रतिमं पश्य सरः सरसिजैर्वृतम् ।

सखे मा जल्प नारीणां नयनानि दहन्ति माम् ॥’

द्वयोर्मित्रयोरपि प्रयुक्तौ । एक कथयति—सरसिजे कमलैः, वृतं परिपूर्णम्, अत एव अप्रतिमं अनुपमम्, इदं प्रत्यक्षभूतम्, सरः सरोवरम्, पश्य अवलोक्य । अपर आह—सखे मित्र । मा जरप ईदृशीं बातान् कथय, कुत ? यत नारीणां कामिनीनाम्, नयनानि नेत्राणि, मा दहन्ति दग्धं कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इदमित्यादि । यह दो मित्रों की उक्ति-प्रायुक्ति है । एक मित्र कहता है—कमलों से परिपूर्ण इस अनुपम सरोवर को देखो । दूसरा मित्र उत्तर देता है—मित्र ! ऐसी बात न करो, मुझे नायिकाओं के नेत्र दग्ध किए छालते हैं ।

उपपादयति—

अत्रापि सरसिजज्ञानाधीनतत्सदृशस्मृतिः प्राधान्येन ध्वन्यते ।

‘इदमप्रतिमम्—’ इत्यत्र कमलानां शाब्दबोधोपात्मकेन ज्ञानेन सस्कारोद्बोधोपहारा जन्यमानं कमलसदृशनावीनयनस्मरणं प्रधानतयाऽभिव्यज्यत इति स्मरणालङ्कारध्वने-उदाहरणमेतदपि पद्य सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । ‘इदम्—’ इस पद्य में भी कमलों के ज्ञान (शाब्दबोधोपात्मक) से होने वाला कमल-सदृश नारी-नयनों का स्मरण प्रधानरूप से ध्वनित होता है, अतः यह पद्य भी स्मरणालङ्कारध्वनि का उदाहरण समझा जा सकता है ।

अपाङ्गालङ्कारस्य बोधान् निरूपयति—

अथास्मिन् स्मरणालङ्कारे उपमादोषाः प्रायशः सर्वे एव दोषाः । विशेषतश्च नियमेनास्मिन् व्यव्यमानसादृश्यके सादृश्यस्य शब्दवाच्यतायां दोषः ।

यथा—

‘उपकारमस्य साधोर्नैवाहं विस्मरामि जलदस्य ।

दृष्टेन येन सहसा निवेशते नवघनश्यामः ॥’

अत्र स्मृत्यैव घनसादृश्यं भगवतः प्रतीयमानं वाच्यवृत्त्या कदर्थितं निवेशते । देवकीतनय इति तु साधु ।

ये उपमादोषाः प्राणुपपादिताः ते सर्वे प्रायः स्मरणालङ्कारस्यापि चमत्काराकर्षकत्वा-दोषाः । तदतिरिक्तश्च सादृश्यस्य शब्दवाच्यत्वमस्य विशिष्टो दोषः । अथ कथमस्य दोषत्व-

मिति चेत्, अत्रालङ्कारे सादृश्यस्य व्यञ्जनया प्रतीयमानत्वनियमेनानवश्यकस्य शब्दद्वारा तदभिधानस्य पुनरुक्तिरूपत्वेन श्रोतुवैयर्थ्यापायकत्वादिति बोध्यम् । सादृशादोषोदाहरणं दर्शयति—उपकार इति । अयं प्रत्यक्षभूतस्य, साधोः परोपन्नपरस्य, जलस्य बारिदस्य, उपकारम्, अहं, नैव, विस्मरामि, येन जलदेन दृष्टेन प्रत्यक्षभूतेन सता, सहसा हठात्, नवधनश्यामः श्रीकृष्ण, निवेद्यते स्मार्गते इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । अयं भावः—‘उपकारमस्य’ इत्यत्र ‘निवेद्यते’पदबोधेन स्मरणेनैव श्रीकृष्णस्य मेघसादृश्यं प्रतीयत इति पुनः नवधन इव श्यामः इत्येवं विप्रदर्शयितुं ‘नवधनश्यामः’ इति समस्तपदेन तदभिधानं दोष इति । दोषपरिहरप्रकरमाह—दैवको इति । ‘नवधनश्यामः’ इत्यस्य स्थाने ‘देवकीतनयः’ इति पाठे कृते निर्दुष्टमिदं पद्य स्यादित्यर्थः ।

अथ स्मरणालङ्कार में होनेवाले दोषों का निरूपण किया जाता है—अथ इत्यादि । इस स्मरणालङ्कार में प्रायः वे सभी दोष होते हैं जो उपमा के दोष माने गए हैं, तद्वतिरिक्त इस अलङ्कार का खास दोष यह है कि—सादृश्य का शब्दवाच्य बना देना और सादृश्य की वाच्य वाच्यता इसलिये यहाँ दोषरूप हो जाती हैं कि जब इस अलङ्कार में सादृश्य की प्रतीति नियमित. व्यञ्जना द्वारा होती ही रहती है तब वह एक तरह से पुनरुक्तिरूप हो जाती है । जैसे—‘उपकारमस्य’ अर्थात् मैं इस परोपकारी जल के उपकार भूलता ही नहीं, जो दृष्टिगोचर होते ही नवधनश्याम (नवीन मेघ के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण) का स्मरण करा देता है । यहाँ ‘निवेद्यते’ पद से जगगत होनेवाले स्मरण से ही अवधान श्रीकृष्ण का मेघके साथ सादृश्य प्रतीत होता है फिर जो ‘धनश्यामः’ पद—जिसका अर्थ समाप्तमर्यादा से घन के समान श्याम होता है—से उस सादृश्य को वाच्य बनाया गया है वह कदर्यना है—दोष है । हाँ, यदि ‘नवधनश्यामः’ शब्द के स्थान पर ‘देवकीतनयः’ शब्द रक्खा जाय, तब पद्य निर्दोष हो सकता है ।

साधारणधर्ममूलकं विरोधं निरूपयितुमुपक्रमते—

अत्र सादृश्यप्रयोजकस्य साधारणधर्मस्य साक्षादुपादानानुपादानयोरुपमा-यामिवात्रापि व्यवस्था । यथा हि उपमायां तात्त्विकविधर्मो नियमेन प्रतीयमानः साक्षान्नोपादेय एव । यथा ‘शङ्खवत्पाण्डुरच्छविः’ इत्यत्र पाण्डुरत्वम् । ‘शङ्खवत्पाण्डुरोऽयम्’ इत्यादौ तु नानाविधेषु धर्मेष्वनेनैव धर्मेण सादृश्यमित्यस्य दुरवगमत्वात्, सर्वत्रोपमानोपमेयसाधारणस्य त्रिदशशब्दात्मकस्यान्यस्य वा स्वाभिप्रेतस्य साधारणधर्मस्योपमाप्रयोजकत्वसम्भवात्तद्वारणाय पाण्डुरत्वादिधर्मो वाच्यतां नीयते । यथा वा ‘अरविन्दमिव सुन्दरं मुखम्’ इत्यादौ सुन्दरत्वादिः । न नीयते न कश्चित्, वक्तुरन्यस्यानुपस्थानात्प्रसिद्धेः प्राबल्यात् । यथा ‘अरविन्दमिव मुखम्’ इत्यादौ स एव । अप्रसिद्धस्य धर्मोऽवश्यं साक्षादुपादेयः । अन्यथा तस्याप्रतिपत्तौ कवेस्तदुपमानिर्माणप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । यथा ‘नीरदा इव ते भान्ति बलाकारजिता भटाः’ इत्यादौ रिलिष्टशब्दात्मकः । इत्थं च कश्चित्साधारणो धर्मः साक्षादनुपादेय एव । कश्चिदुपादेयानुपादेयश्च । कश्चिदुपादेय एवेति सद्वदयसम्मतः समयः । एवमेवोपमाजीवानुकेऽस्मिन् स्मरणालङ्कारेऽपि बोध्यम् ।

अत्रेति । स्मरणालङ्कारे इत्यर्थः । अस्योपादानादानेवान्वयः । दानयोरिति । सत्तोरिति शेषः । अत्रापिेति । स्मरणालङ्कारेऽपीत्यर्थः । स्फुटत्वाय पुनरुक्तिः । प्रतीयमान इति ।

शब्दाभावेऽपि गम्यमान इत्यर्थः । साक्षादिति । उपमानोपमेयविशेषणत्वेनेत्यर्थः । यथेति । उपमेयविशेषणच्छविविशेषणतयोपस्थितपाण्डुरत्वस्यैव प्रत्यासत्त्या तत्र गम्यमानत्वादिति भावः । ननु धर्मान्तरस्योपमाप्रयोजकत्वाभावादेव नैव सादृश्यं दुरवगममत आह—सर्वत्रेति । स्वानभि-
प्रेतरय साधारणधर्मस्येति । अत्र साधारणपदमधिकं प्रतिभाति, 'उपमानोपमेयसाधारणस्य'
इति प्रागुक्तविशेषणपदकसाधारणपदेनैव तदर्थत्वाभात् । वाच्यता नीयत इति । वाच्यो
विधीयत इति भावः । विशेष वक्तुमस्य द्वितीयमुदाहरणमाह—यथा चेति । न नीयते चेति ।
वाच्यतामित्यस्यानुपज्ञ । अनुपस्थितौ हेतुमाह—प्रसिद्धेरिति । स एवेति । सुन्दरत्वादि-
रित्यर्थः । अन्यथा साक्षादनुपादाने । तस्य साधारणधर्मस्य । अप्रतिपत्तौ अप्रतीतौ ।
'नीरदा इव.....'इति । बलाकाराजिता बलाकाराभ्याम् अजिता, ते भटा योद्धार,
बलाकाभि बकपङ्क्तिभिः, राजिता शोमिता, नीरदा मेघा, इव, भान्ति प्रतीयन्त इत्यर्थः ।
उपसंहरति—इत्थं चेति । यथोपमायामिति शेषः । समयः सिद्धान्तः । एवम् उपमावत् ।
जीवानुर्जीवनौपमम् । सादृश्यप्रयोजकस्य साधारणधर्मस्य साक्षादुपादानेऽनुपादाने वा सति
यथोपमाया व्यवस्था भवति, तथैवात्र स्मरणात्कारेऽपि सा भवति । कोदरी व्यवस्थोपमा-
यामिति चेदित्यम्—यत्र यो धर्मो नियमेन वाचकमन्तरापि प्रतीयमानः तत्र स धर्मः
साक्षादुपादेयः । यथा—'शङ्खवत्पाण्डुरच्छवि' इत्यत्र पाण्डुरत्वरूपो धर्मो नोपादेयः,
'शङ्खवच्छवि' इत्येतावदुक्तावपि पाण्डुरत्वस्योक्तीत्या प्रतीते । यत्र च यो धर्मो न वाचक-
मन्तरेण नियमतः प्रतीयमानस्तत्र पुनः स धर्मः साक्षादुपादेय एव । यथा—'शङ्खवत्पा-
ण्डुरोऽयम्' इत्यत्र पाण्डुरत्वरूपो धर्मो उपादेय एव, उपादानं विना तस्य प्रतीतेरनियमात्,
वक्तुरनभिप्रेतस्यापि छिष्टशब्दात्मकस्यान्यस्य धर्मोपमाप्रयोजकस्य धर्मस्य सम्भाव्य-
मानत्वात् । यत्र च यो धर्मः प्रसिद्धेरनुरोधे नियमतः प्रतीयमानः प्रसिद्धेरनुरोधे पुनर्न
नियमतः प्रतीयमानस्तत्र स धर्मः साक्षादुपादेयोऽपि नापि नोपादेयः । यथा—'अरविन्द्-
मिव सुन्दर मुखम्' 'अरविन्दवन्मुखम्' इत्यनयो स्थलयो ऋमश सुन्दरत्वोपादानं
तदभावश्च । अप्रसिद्धो धर्मः साक्षादुपादेय एव । यथा—'नीरदा इव'इत्यादौ
'बलाकाराजित्वादिः', अन्यथा तदप्रतीतौ उपमेव न सम्पद्येत, कथञ्चित् तत्सम्पत्तौ वा कवि
विवक्षितार्थाप्रतीतिरेवेति भावः । अन्यत् सुगमम् ।

साधारणधर्ममूलक कुछ विशिष्ट बातों का विचार किया जाता है—अत्र इत्यादि ।
इस स्मरणालंकार में भी सादृश्य-साधक-साधारणधर्म के साक्षात् ग्रहण करने और
न करने की व्यवस्था उपमालंकार की ही तरह होती है । अभिप्राय यह कि जिस
तरह, उपमा में, कहीं, नियमतः—वाचक के बिना भी—प्रतीत होनेवाले धर्म का साक्षात्
ग्रहण करना उचित नहीं होता, जैसे—'शंख को तरह श्वेत कान्ति घाला', यहाँ श्वेतत्व-
रूप धर्म का उपादान उचित नहीं । कारण, साक्षात् ग्रहण न करने पर भी उसकी
प्रतीति हो ही जाती है, क्योंकि कान्ति में शंख के समान श्वेतत्व धर्म की ही सम्भावना
है, अन्य की नहीं । 'शंख के समान श्वेत यह' इत्यादिक में तो श्वेतत्व धर्म का साक्षात्
ग्रहण करना उचित ही है, क्योंकि यदि 'शंख के समान यह' इतना ही कहा जाय, तब
ऐसे अनेक धर्मों की सम्भावना की जा सकती है यन्मूलक शंख की समता 'यह' पदार्थ में
दी जा सके, जैसे घण्टुलत्व आदि, यह बात दूसरी है कि वे धर्म वक्ता के अभिमत हों
अथवा नहीं, ऐसी स्थिति में पाण्डुरत्व धर्ममूलक ही शंख की समता—जो वक्ता का
अभिमत है—नहीं समझी जा सकती । स्पष्ट अभिप्राय है कि—सब जगह उपमान तथा
उपमेय दोनों में रहने वाला 'छिष्टशब्दरूप' कथवा अन्य कोई कवि का अनभिमत धर्म

भी उपमा का प्रयोजक हो सकता है, अतः अभिमत धर्म को प्रकृत उपमा का प्रयोजक न समझ लिया जाय इसलिये कवि के अभिमत धर्म का ग्रहण ऐसे स्थलों पर आवश्यक हो जाता है। अथवा जैसे—‘कमल-सा सुन्दर मुख’ इत्यादि में सुन्दरता आदि धर्म का ग्रहण केवल इसलिये किया जाता है कि इससे भिन्न किसी धर्म को उपमा का प्रयोजक न मान लिया जाय। कहीं ऐसे प्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण नहीं भी किया जाता, जैसे—‘कमल सा मुख’ इत्यादि में ‘सुन्दरता’ आदि का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि प्रसिद्धि की प्रवृत्ति से अन्य धर्मों की उपस्थिति वक्ता अथवा श्रोता किसी को होती ही नहीं। हाँ, अप्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण करना अत्यावश्यक होता है, अन्यथा श्रोताओं को उस धर्म का ज्ञान नहीं होने से कवि का उपमाचूटिप्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। जैसे—‘नीरदा इव—अर्थात् वे थोड़ा मेघों के समान प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे मेघ ‘बलाकाराजित’ (बगुलों की पट्टि से शोभित) हैं वैसे ही वे भी ‘बलाकाराजित’ (बल और आकार के कारण अजित—किसी से न जीते गए) हैं।’ इत्यादि में ‘बलाकाराजित’ आदि स्पष्ट वाच्यधर्म। तात्पर्य यह हुआ कि यदि ऐसे धर्मों को स्पष्ट शब्दों में न लिखा जाय तब श्रोतागण समझ ही नहीं पायेंगे कि मेघों और थोड़ाओं में क्या समान धर्म है। अतः ऐसे अप्रसिद्ध धर्मों का साक्षात् ग्रहण अत्यावश्यक है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—उपमा में कुछ साधारणधर्म ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण नहीं होना चाहिए, कुछ ऐसे होते हैं जिनका साक्षात् ग्रहण हो भी सकता है और वहीं भी, और कुछ ऐसे होते हैं जिनका ग्रहण करना ही चाहिए, यह है सहृदयों का सम्मत सिद्धान्त। यही स्पष्टता स्मरणालङ्कार के विषय में भी समझनी चाहिए। कारण, इस स्मरणालङ्कार में प्राण झलने वाली उपमा ही है, सारांश यह कि स्मरणालङ्कार में भी साधारणधर्म उक्त तीनों प्रकार का हो सकता है।

उक्तविधधर्ममूलकस्मरणालङ्कारोदाहरणप्रदर्शनायाह—

तत्रानुगामिनि धर्मे ‘स्मृत्यालुब्ध भवति किमपि’ इत्यादौ पद्ये निवेदितमेव स्मरणम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नेऽपि धर्मे ‘भुजभ्रमितपट्टिश—’ इत्यादि पद्ये निरूपितम्। कुलिशपट्टिशयोर्भूधरदन्तावल्लयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावात्।

तत्रेति। प्रागुक्तानुपादेयादिधर्माणां मध्यम इत्यर्थः। स्मृत्यालुब्धमिति। एतदन्तिम-
स्मरणकं सम्पूर्णं पद्यमस्मिन्नेव प्रकारेण प्रागुक्तम्। अत्र श्यामस्वरूपोऽनुगामी धर्मोऽनु-
पात्। निवेदितं कथितम्। स्मरणमिति। स्मरणालङ्कार इति भावः, भुजभ्रमित
इति। इदमपि पद्यं प्रकरणस्यास्य प्रारम्भे उदाहृतं दृष्टव्यम्। निरूपितं स्मरणमिन्वस्यानु-
पत्तम्। उपपादयति— कुलिशोत्यादिना। बिम्बप्रतिबिम्बभावादिति। पट्टिशदन्तावल्लयो-
र्बिम्बत्वं कुलिशभूधरयोश्च प्रतिबिम्बत्वमिति बोध्यम्। एवञ्चात्रावश्यकतया साधारणधर्म
उक्त इति भावः।

उक्त तीनों प्रकार के साधारणधर्म उपमा की तरह स्मरणालङ्कार में भी अनुगामी
आदि रूप से भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं यह दिखलाने के लिये तादृश उदाहरण
दिये जाते हैं—तत्र इत्यादि। उन धर्मों में से अनुगामी साधारणधर्म जहाँ लुप्त है ऐसे
स्मरणालङ्कार का उदाहरण ‘स्मृत्यालुब्ध—’ इस पद्य के रूप में पहले दिखलाया जा चुका
है। यह पद्य सर्वस्वकार आदि के मत का संप्रदान करते समय इसी प्रकरण में लिखा
गया है। यहाँ श्यामस्वरूप अनुगामी साधारणधर्म का अग्रहण है। उक्त विचार के
अनुसार आवश्यक होने के कारण बिम्बप्रतिबिम्बभावात् साधारणधर्म जहाँ उक्त
है ऐसा स्मरणालङ्कारोदाहरण भी ‘भुज—’ इस पद्य के रूप में कहा जा चुका है। यह

पद्य हस्ती प्रकरण के आदि में ग्रन्थकार ने स्वसम्मत उदाहरण देते समय लिखा है। यहाँ 'वज्र' और 'पट्टिश' एवं पर्वत और गज में विष्वप्रतिविम्बभाव है। अर्थात् पट्टिश और गज विम्ब हैं तथा वज्र और पर्वत प्रतिविम्ब। और ऐसा यह साधारणधर्म यहाँ उपात्त है।

एव श्रुतगामिबिम्बप्रतिबिम्बभावापत्तेरिति द्विविधधर्ममूलकस्मरणालङ्कारोदाहरणभूतपद्युगलं स्मारयित्वोपनरितधर्ममूलकतदुदाहरण दर्शयितुमाह—

उपचरिते यथा—

उपचरिते धर्मे स्मरणं ययेत्यनुपाह ।

उक्त द्विविधधर्ममूलक स्मरणालङ्कार के उदाहरणभूत पूर्वोक्त दो पद्यों का स्मरण कराकर अन्यविधधर्ममूलक स्मरण का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—उप ह्रयादि। जहाँ साधारणधर्म उपचरित (आरोपित) रहता है वैसे उदाहरण, जैसे।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘कचिदपि कार्ये मृदुलं कापि च कठिनं विलोक्य हृदयं ते ।

को न स्मरति नराधिप नवनीतं किं च शतकोटिम् ॥’

कवि राजानं स्तौति—हे नराधिप राजन् ! कचिदपि कस्मिंश्चिदपि कार्ये कर्तव्ये विषये, मृदुल कोमलम्, कापि च पुत्रचिच्च कार्ये, कठिन कठोरम्, ते तव, हृदय मन, विलोक्य ज्ञात्वा, औचित्यात् ज्ञानविशेषार्थकस्यापि लोक्यतेरत्र ज्ञानसामान्यार्थकत्वात्, क मनुष्य, नवनीतम्, किं च तथा शतकोटिं वज्रम् न स्मरति ? सर्वोऽपि स्मरतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कचिदपि ह्रयादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! किसी कार्य में कोमल और किसी कार्य में कठोर तेरे हृदय को समझ कर कौन मनुष्य मक्खन तथा वज्र का स्मरण नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ।

उदाहरणान्तर दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अगाध परितः पूर्णमालोक्य स महार्णवम् ।

हृदयं रामभद्रस्य सस्मार पवनात्मजः ॥’

स प्रसिद्ध, पवनात्मज हनुमान्, अगाध अतिगभीरम्, परितः सर्वतः, पूर्णम् अरिफम्, महार्णव समुद्रम्, आलोक्य दृष्ट्वा, रामभद्रस्य रामचन्द्रस्य, हृदयं चेतः, सस्मार स्मृतावानित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अगाधम् इत्यादि । उस सुप्रसिद्ध हनुमान् ने अतलरूपशी तथा चारों तरफ से भरे-पूरे समुद्र को देखकर अगवान् रामचन्द्र के हृदय का स्मरण किया ।

उपपादयति—

अत्र मृदुलत्याद्यो धर्मो ह्युपचरिताः ।

प्रथमे पद्ये मूर्तधर्मयोर्मुद्रुत्स्वस्तेरत्ययोः अमूर्तं हृदये समारोप, एवं द्वितीयपद्ये समुद्रधर्मस्यागाधत्वस्य हृदये स इति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि । प्रथम उदाहरण में कोमलता तथा कठोरता—जो मूर्त (दृष्टियोचर होने योग्य) पदार्थों के धर्म हैं—का अमूर्त हृदय में आरोप हुआ है । इसी तरह द्वितीय उदाहरण में अगाधता—जो समुद्र का धर्म है—का हृदय में आरोप हुआ है ।

उदाहरणद्वयदाननिदानभूतं विशेषमाह—

इयांस्तु विशेष—यदेकत्रानुभूयमाने हृदये स्मर्यमाणनवनीतादेः सादृश्यस्य सिद्धिः, अपरत्र ॥ स्मर्यमाणे हृदयेऽनुभूयमानसमुद्रस्येति, सादृश्यस्योभयाश्रयत्वात् ।

एकत्र प्रथमपद्ये । अपरत्र द्वितीयपद्ये । समुद्रस्येति । सादृश्यस्य । सिद्धिरित्यस्यानुपपत्तिः, उभयाभ्यन्वादिति । उभयनिरूप्यत्वादिति भावः । 'कचिदपि—' इत्यत्र रात्रौ हृदयमनुभूयमानं वस्तु तत्र स्मर्यमाणस्य नवनीतशतकोटियुगलस्य सादृश्यं सिद्धयति । 'अगाधम्—' इत्यत्र तु अनुभूयमानस्य, समुद्रात्मकस्य वस्तुन सादृश्यं स्मर्यमाणे हृदये सिद्धयतीति द्वयोर्उदाहरणयोर्विशेषः । एतद्विशेषप्रदर्शनार्थे उदाहरणद्वयदानम् । अमूर्ततोऽयं विशेष इति चेन्न, उभयत्रोपमानोपमेययोः सादृश्यं विवक्षितम् । तच्चोभयथापि वर्णयितुं शक्यम्, उपमानप्रतियोगिचोपमेयानुयोगिकतया उपमेयप्रतियोगिकोपमानानुयोगिकतया वा सादृश्यस्योभयनिरूप्यत्वान्, एवञ्च प्रथमपद्ये स्मर्यमाणोपमानप्रतियोगिकानुभूयमानोपमेयानुयोगिकस्य, द्वितीयपद्ये आनुभूयमानोपमानप्रतियोगिकस्मर्यमाणोपमेयानुयोगिकस्य सादृश्यस्य सिद्धौ बाधकविरह इति भावः ।

दोनों उदाहरणों में परस्पर बैठवण्य विलसता जाता है—इयांस्तु इत्यादि । प्रथम पद्य में अनुभव किये जाते हृदय में स्मरण किये जाते 'मनोरम' आदि के सादृश्य की सिद्धि हुई है और द्वितीय पद्य में स्मरण किये जाने वाले हृदय में अनुभव किये जाने वाले समुद्र के सादृश्य की, क्योंकि सादृश्य अनुभूत होने वाले और स्मृत होने वाले दोनों प्रकार के पदार्थों से सम्बन्ध रहता है । स्पष्ट तत्पर्य यह कि एक जगह उपमेय के अनुभव से उपमान का और दूसरी जगह उपमान के अनुभव से उपमेय का स्मरण हुआ है ।

धर्मान्तरमूलकमुदाहरणं दर्शयितुमाह—

केवलशब्दात्मके यथा—

श्लिष्टशब्दनाश्रयके धर्मे स्मरणं कथेत्यनुपपत्तिः ।

जहाँ केवल श्लिष्टशब्दरूप साधारणधर्ममूलक सादृश्य की प्रतीति होती है ऐसे स्मरण-हंकार का उदाहरण । जैसे—

उदाहरणं निर्दिशते—

'ऋतुराजं भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि नियमेन ।

आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्न्यासः ॥'

कवेरकि—ऋतुम्, यदा यस्मिन् क्षणे, भ्रमरहितं नानाविधपुष्पविकसद्भारा मधुप्रापकत्वात् भ्रमराणां हितम्, ऋतुराजं वसन्तम्, आकर्षयामि गृणोमि, तदैव तस्मिन्नेव क्षणे, भगवान् व्यासो मुनिः, स्मृतिपथम् आरोहति स्मृतिविषयो भवति, यत् सोऽपि भ्रमरहितः अमेघं होतु—प्रमाता इत्यर्थः ।

रेम २० गं० द्वि०

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—ऋतुराजम् इत्यादि । कवि का कथन है—मैं जब 'भ्रमर-हित'-भ्रमरों के हितकारी—ऋतुराज-वसन्त—को सुनता हूँ, तभी भगवान् व्यास मुनि मेरे स्मृति-पथ में नियमित आरुढ़ हो जाते हैं, क्योंकि वे भी भ्रमर-हित—भ्रमरीन—(यथार्थज्ञानकर्ता) हैं ।

उपपादयति—

अत्र भ्रमरहितशब्दो व्यासवसन्तयोः साधारणः ।

'ऋतुराजम्—' इति पद्ये वर्ण्यमानयोर्व्यासवसन्तयोः सादृश्यस्य साधको न कश्चित् अर्थार्थक साधारणो धर्म, अपि तु 'भ्रमरहित' शब्द एव केवलोऽर्थभेदेनोभयत्र विशेषणी-भवन् साधारणधर्मता प्रतिपद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'ऋतुराजम्—' इस पद्य में वर्णनीय व्यास और वसन्त के सादृश्य को सिद्ध करने वाला कोई अर्थार्थक साधारणधर्म नहीं है, अपितु 'भ्रमरहित' शब्द ही अर्थभेद से दोनों (व्यास और वसन्त) का विशेषण होने से साधारणधर्मरूप होता है ।

उपसहस्रज्ञाह—

एवमन्येऽपि प्रभेदाः सुधीभिरुन्नेयाः । इह पुनर्विज्ञात्रमुपवर्शितम् ।

उपमायत् स्मरणालङ्कारस्यापि निरूपिततरा कियन्तो भेदाः सम्भवन्ति, ते विज्ञे स्वयमनुसन्धेयाः । स्वयमनुसन्धाने सहायकतया केवल दिग्दर्शनमत्र फारित ग्रन्थ-कृतेति भावः ।

उपसहार किया जाता है—एवमिति । उपमा की तरह स्मरणालङ्कार के भी साधारण-धर्मवैशिष्ट्यमूलक और अनेक भेद हो सकते हैं जिनका उद् स्वयं सुधी जनों को कर लेना चाहिये । ग्रन्थकार ने तो यहाँ केवल दिग्दर्शन कराया है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकाया स्मरणालङ्कारनिरूपण समाप्तम् ।

स्मरणालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं रूपकालङ्कारनिरूपण प्रतिजानीते—

अथाभेदप्रधानेषु रूपक तावन्निरूप्यते ।

अथेति । स्मरणालङ्कारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । अभेदप्रधानेति । अलङ्कारेष्विति शेषः । तावत् आदौ । एव च पूर्वं भेदाभेदोभयप्रधाना अलङ्कारा निरूपिता, सम्प्रति बहुलङ्कारव्यापित्वेन प्रसिद्धतया प्राधान्येन च रूपकनिरूपणमिति भावः ।

स्मरणालङ्कारनिरूपण के बाद अब रूपकालङ्कार का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं—अथेत्यादि । जिनमें भेद तथा अभेद दोनों की प्रधानता समानरूप से रहती है उन अलङ्कारों का निरूपण पहले किया जा चुका है, अब, जिनमें अभेद की ही प्रधानता होती है उन अलङ्कारों में भी सर्वप्रधान तथा बहुतेरे अभेद प्रधान अलङ्कारों के मूलभूत रूपकालङ्कार का निरूपण सबसे पहले किया जाता है ।

लक्षण तावन्निरूप्यते—

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानता-
दात्म्यं रूपकम् । तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलङ्कारः ।

उपमेयतावच्छेदकेति । उपमेयतावच्छेदकं मुखत्वादिकं पुरस्कृत्य न तु तत्तिरोधायेत्यर्थः । उपमेयतावच्छेदकप्रकारकवोधविरोधे उपमेये इति यावत् । अत्र 'उपमेयतावच्छे-

इवमात्रप्रकारकप्रतीतिजनकश्चन्दबोधे विषये इत्यर्थः । तेनातिशयोक्तौ चन्द्रादिपदानुस-
त्वादिना मुखोपस्थितिरिति मतेऽपि नातिव्याप्तिरिति बोध्यमिति' नामेशः । शब्दान्विधीय-
मानमिति । शब्दात्मकप्रमाणजन्यनित्यमौचरम्, न तु प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरजन्यनित्य-
विषयीभूतमित्यर्थः । उपमानतादात्म्यमिति । उपमानाभेद इत्यर्थः । रूपकम् रूपक-
पदार्थः । तदेव रूपकपदार्थ एव । उपस्कारकत्वेति । प्रधानोत्कर्षकत्वेति भावः । विशिष्टेति ।
मुक्तेत्यर्थः ।

सर्वप्रथमं लक्षणं किया जाता है—उपमेयता इत्यादि । उपमेयतावच्छेदक (उपमेय
में रहने वाले असाधारण धर्म—मुखत्व आदि) को भाव्य रखकर—अर्थात् उस धर्म के साथ
समझे जाते हुए, उपमेय (मुख आदि) में शब्द-प्रमाण (न कि प्रात्यक्ष-वस्तु आदि-
प्रमाण) के द्वारा मिश्रित की जाने वाली उपमान (चन्द्र आदि) की एकरूपता (अभेद)
को 'रूपक' कहते हैं । यह तो हुआ लोकप्रसिद्ध रूपक पदार्थ का लक्षण, इसीमें यदि
'उपस्कारक अर्थात् प्रधानवाचनार्थोत्कर्षक' यह विशेषण भी जोड़ दिया जाए, तब यह
साहित्यशास्त्रप्रसिद्ध रूपकालंकार का लक्षण समझा जायगा ।

पदकृत्यं दर्शयति—

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति विशेषणादपद्रुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्श-
नानां निरासः । अपद्रुतौ स्वेच्छया निषिध्यमानत्वात्, भ्रान्तिमति च तज्जनक-
दोषेणैव प्रतिबध्यमानत्वादतिशयोक्तिनिदर्शनयोश्च साध्यवसानलक्षणामूलक-
त्वात्उपमेयतावच्छेदकस्य नास्ति पुरस्कारः । शब्दादिति विशेषणात् 'मुखमिदं
चन्द्रः' इति प्रात्यक्षिकाहार्यनिश्चयगोचरचन्द्रतादात्म्यव्यवच्छेदः । निश्चीय-
मानमिति विशेषणात्सम्भावनात्मनो 'नूनं मुखं चन्द्रः' इत्याद्युत्प्रेक्षाया व्यावृत्तिः ।
उपमानोपमेयविशेषणाभ्यां सादृश्यलाभात् 'मुखं मनोरमा रामा' इत्यादिशुद्धा-
रोपविषयतादात्म्यनिरासः । सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्यं रूपकमात्मनस्ति ।

उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति प्रथमविशेषणकृत्यमाह—उपमेयतेति । निरासे हेतु-
माह—अपद्रुतावित्यादिना । तज्जनकेति । भ्रान्तिजनक इत्यर्थः । उपमेयतावच्छेदकस्येति ।
अस्य मध्यमगिन्यायेनोभयत्रान्वयः । शब्दादिति द्वितीयविशेषणकृत्यमाह—शब्दादिति ।
प्रात्यक्षिकेति । प्रात्यक्षिकं चक्षुरादिजन्यं, य आहार्यं बाधकात्मनैच्छाजन्यं, निश्चय-
निश्चयान्तरं ज्ञानम् तद्गोचरं तद्विषयीभूतम् यत् चन्द्रतादात्म्यम् चन्द्राभेद तस्य व्यवच्छेदो
व्यावृत्तिरित्यर्थः । तृतीयविशेषणकृत्यमाह—निश्चीयमानम् इति । उपमानोपमेयेति । एत-
द्व्यपदेशोपमाभ्यामित्यर्थः । उपमानत्वोपमेयत्वयोः सादृश्यनियतत्वाविति भावः । अपद्रुतौ—
'नेवं मुखम् अपि तु चन्द्रः' इत्यादौ उपमेयतावच्छेदकस्य मुखत्वस्य भिन्न एव, भ्रान्ति-
मति—'पद्ममिति भ्रमरा मुसमभिधावन्ति' इत्यादौ भ्रमजनकेन दोषेण तस्य प्रतिबन्ध
एव अतिशयोक्तौ निदर्शनायान् क्रमशः 'चन्द्रोऽयम्' 'अमाया तन्मुखं परमं चन्द्रदर्शन-
कौतुकी' इत्यादौ साध्यवसानलक्षणया साम्राज्येन तस्याप्रतीतिरिति उपमेयतावच्छे-
दकत्वापुरस्कारेण चतुर्णामेषामलङ्काराणाम् 'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण' इति विशेषणाद्
व्यावृत्तिः । 'मुखमिदं न चन्द्रः' इति बाधज्ञाने जायते 'मुखेऽस्मिन् चन्द्रत्वप्रकारकं
चाधुप्यं ज्ञानं मे जायताम्' इतीच्छाजन्यम् यत् 'मुखमिदं चन्द्रः' इत्याकारकं निश्चयात्मक-
चाधुप्यं ज्ञानम् तदाहार्यम्, एतदाहार्यनिश्चयविषयीभूतयोश्च मुखचन्द्रयोरपि यद्यपि तादा-
त्म्यम् प्रतीयते, तथापि नास्त्य रूपकत्वम्, तस्याहार्यनिश्चयस्य चाधुपत्वेन शब्दत्वाभावात्

लक्षणे 'सादृश्यादिति' निवेष्टात् । 'नूनं मुखं चन्द्र' इति वस्तुप्रेक्षायाः सम्भावनारूपाया लक्षणघटकनिश्चीयमानविशेषणाद्वारणम् । 'यत्रयत्रोपमानोपमेयत्वं तत्र तत्र सादृश्यम्' इति व्याप्त्या लक्षणे उपमानोपमेयनिवेष्टात् सादृश्यं लभ्यते, लब्धेन च तेन सादृश्येन 'मुखं मनोरमा रामा' इत्यत्रत्यम् शुद्धारोपविषयीभूतम् (सादृश्यमूलकत्वेन गौणारोपविषयीभूतं नेति यावत्) रामासुखयौस्तादात्म्यं निरस्यते । ननु कथं शुद्धारोपविषयस्तादात्म्यं निरस्यते । स्वीक्रियता तस्यापि रूपकत्वम् इति चेन्न, सादृश्यमूलकतादात्म्यस्यैव रूपकत्वेनाङ्गीकारात् इति भावः ।

लक्षणघटक विशेषणों के फल दिखलाये जाते हैं—उपमेयता इत्यादि । अपहृति, आश्रितमत्, अतिशयोक्ति और निदर्शना इन चारों अलंकारों में भी यद्यपि उपमान तथा उपमेय का तादात्म्य रहता है, पर उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर उस तादात्म्य का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि अपहृति—'मुख नहीं, चन्द्र है'—में अपनी इच्छा से यक्षा उपमेय (मुख) के साथ साथ उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व-का निषेध ही कर देता है, आश्रितमत्—'कमल समझकर और मुख की ओर घूँसे हैं'—में जिस दोष के कारण भ्रमरों को मुख में कमलकी आश्रित होती है उस दोष से ही उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व-प्रतियोग्य हो जाता है अर्थात् जब मुख को मुख समझा ही नहीं गया तब मुखत्व आश्रित हो ही नहीं सकता, अतिशयोक्ति—(मुख को देखकर) 'नह चन्द्र है'—में और निदर्शना—'यदि तू अमावस की रात में चन्द्र दर्शनार्थ उत्सुक हो तो उसके मुख को देखो' में—साध्य-वसाना लक्षणा हुई रहती है, फलतः उपमेय मुख का भी दोष चन्द्रावरूप से ही होता है अतः उपमेयतावच्छेदक-मुखत्व-की प्रतीति असंभव ही है, इन्हीं चारों अलंकारों में रूपकालंकार के लक्षण की अतिप्रसक्ति को रोकने के लिए लक्षण में 'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर' यह विशेषण जोड़ा गया है । 'मुख चन्द्र नहीं है' इस तरह के वाच्य का ज्ञान रहने पर भी 'मुझे मुख में चन्द्र का ज्ञान हो' इस तरह की इच्छा से जो 'यह मुखचन्द्र है' इस तरह का चक्षुरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष निश्चय होता है वह आहार्य कहलाता है, इसी आहार्य-निश्चय के विषयीभूत मुखचन्द्र के तादात्म्य (एकरूपता) को रूपकालंकार की श्रेणी से वहिष्कृत करने के लिये लक्षण में 'शब्दात्' यह निश्चय का विशेषण लगाया गया है, इस विशेषण के द्वारा उक्त आहार्य निश्चय का वारण हो जाता है, क्योंकि यह निश्चय शब्द से नहीं अपितु चक्षु से हुआ है । 'मुख मानो चन्द्र है' यह वस्तुप्रेक्षा-सम्भावनारूप है निश्चयरूप नहीं, इसी का वारण करने के लिये लक्षण में 'निश्चीयमान-निश्चित की जाने वाली' यह विशेषण कहा गया है । उपमानोपमेयभाव सादृश्यव्याप्य पदार्थ है—अर्थात् जहाँ उपमानोपमेयभाव रहता है वहाँ सादृश्य अवश्य रहता है—ऐसी दशा में 'उपमान' और 'उपमेय' ये दोनों पद जो लक्षण में आए हैं उनसे सादृश्य का लाभ होता है अर्थात् सादृश्यमूलक 'एकरूपता'—'तादात्म्य'—को ही रूपक समझा जाता है,—अतः इस विशेषण से 'मनोरम रमणी मुख है' इस निश्चय में आने वाले रमणी और मुख के तादात्म्य का वारण होता है—यह तादात्म्य रूपक नहीं कहलाता, क्योंकि यह तादात्म्य सादृश्यमूलक नहीं है अपितु शुद्ध आरोपमूलक है । यदि कोई कहे कि शुद्ध आरोपमूलक तादात्म्य का वारण क्यों किया जाता है ? उसको भी रूपक क्यों नहीं मान लिया जाता ? तो इसका समाधान यह है कि सादृश्यमूलक एकरूपता (तादात्म्य) को ही सब लोग रूपक मानते हैं अन्यमूलक एकरूपता को नहीं ।

सादृश्यमूलकतादात्म्यस्यैव रूपकत्वे प्रमाण दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमुदाति—
तथा चाहुः—

'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।'

'उपमेयं तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते ।' इति ।

आहुरिति । मम्मटमहादय इत्यर्थः । अपार्थ मम्मटीयम् । अर्थं च दृष्टिम् । तथा च भिन्नं लक्षणद्वयमिदम् । उपमानोपमेययोर्भेदः (भेदादतिदोऽभेदस्तादात्म्यमिति यावत्) तत् (उद्देश्यविवेचयोरैक्यमापादयत्सर्वनामपर्यायिणान्तरलिङ्गभाग् भवतीति नियमेन विधेयरूपकगतनपुसकलिङ्गनिर्देशः) रूपकम् इति मम्मटीयलक्षणात् । तिरोभूतः अविवक्षितः इति यावत्, भेदो भेदाश्च, यस्यास्तादृशी उपमेव रूपकं कथ्यत इति दृष्टिकृतलक्षणार्थः । उपमाया भेदाभेदपटितं सादृश्यं ग्रासते, रूपके तु शुद्धभेदपटितमेव सादृश्यं भासत इति परमार्थः । आभ्या लक्षणाभ्या सादृश्यमूलकस्यैव तादात्म्यस्य रूपकत्वं प्रमाणितं भवतीति भावः ।

सादृश्यमूलक एकरूपता ही रूपक कहलाता है इस बात को प्रमाणित करने के लिये प्राचीनोक्तियों का उद्धरण देते हैं—तथा च इत्यादि । 'उपमान तथा उपमेय का जो अभेद (तादात्म्य-एकरूपता) वही रूपक है ।' यह रूपक का लक्षण मम्मटमह ने किया है । और 'भेद अंश को तिरोहित कर देने पर—छिपा देने पर—उपमा ही रूपक कहलाता है ।' यह रूपक का लक्षण दण्डी ने किया है जिसका अभिप्राय यह है कि उपमा में भेद तथा अभेद दोनों से मिश्रित सादृश्य भासित होता है और उनमें से यदि भेद अंश को तिरोहित कर दिया जाय—अर्थात् केवल शुद्ध तादात्म्य की ही भासित किया जाय तब वही रूपक हो जाता है । इन दोनों ही लक्षणों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि सादृश्यमूलक तादात्म्य को ही रूपक मानने की परम्परा आलङ्कारिकों में बहुत पुरानी है ।

रूपके तादात्म्यस्य भानं केन रूपेण भवतीति विवेचयितुमाह—

तच्च यत्र विषयविषयिणोरैकविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र संसर्गः, अन्यत्र तु शब्दार्थतया फलिद्वयं विशेषणं विशेष्यं चेति विवेचयिष्यते ।

तच्चेति । लक्षणरूपतादात्म्यं चेत्यर्थः । संसर्ग इति । अपदार्थत्वादिति भावः । अन्यत्रेति । भिन्नविभक्त्यन्तत्वेन विषयविषयिणोर्निर्देशस्तत् इत्यर्थः । निमिगमकाभावाद्वाह—कचिदिति । विवेचयिष्यत इति । उदाहरणनिरूपणप्रसङ्ग इति भावः । यद्यारोपः स-उपमेय इति यावत्-विषय, यस्यारोपः स-उपमानपदार्थ इति यावत्-विषयी । एवञ्चोप-मेयोपमानयोर्वचनं समानविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र ('मुखं चन्द्र' इत्यादौ) तादात्म्यं न कस्यापि पदस्यार्थ इति संसर्गतया भासते, विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा पदार्थस्यैव भानं भवतीति नियमात् । यत्र पुनस्तयोर्भिन्नविभक्त्यन्तत्वेन निर्देशस्तत्र कुत्रचित् ('मुखं चन्द्रत्वं प्राप्नोति' इत्यादौ) लक्षणया चन्द्रत्वपदस्यैवार्थत्वादात्म्यम् इति तत् द्वितीयायै कर्मणि विशेषणतया भासते, कुत्रचित् ('मुखे चन्द्रत्वम्' इत्यादौ) चन्द्रत्वपदस्य लक्ष्योर्ध्वान्तरतादात्म्यं विशेष्यतया भासत इति भावः ।

उक्त 'रूपक-तादात्म्य' का भान किस रूप से होता है इस बात का 'विवेचन करने के लिये कहा जाता है—तच्च इत्यादि । अभिप्राय है कि—काव्यों में रूपक (अभेद अथवा तादात्म्य) का भान तीन प्रकार से होता है—कहीं सम्बन्धरूपसे, कहीं विशेषणरूप से और कहीं विशेष्यरूप से । जहाँ विषय और विषयी (जिसमें आरोप किया जाता है वह उपमेय मुखादि विषय कहलाता है और जिसका आरोप किया जाता है वह उपमान-चन्द्र आदि विषयी कहलाता है, अतः विषय-विषयी का अर्थ उपमेय-उपमान समझना चाहिये) का निर्देश एक विभक्ति के साथ किया गया हो, वहाँ तादात्म्य का भान सम्बन्धरूप से होता है, क्योंकि वैसे स्थलों पर वह तादात्म्य

किसी पद का अर्थ नहीं होता और विशेषण वयवा विशेष्यरूप से उसी का भाग होता है जो किसी पद का अर्थ होता है ऐसा नियम है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि 'मुख चन्द्र है' इत्यादि स्थलों पर मुख-चन्द्र का तादात्म्य-रूपक-सम्बन्धरूप से आश्रित होता है, और जहाँ उपमेय उपमान का निर्देश भिन्न भिन्न विभक्ति के साथ किया गया हो वहाँ उसके पदार्थरूप हो जाने से दो बाते होती हैं—अर्थात् वैसी स्थिति में कहीं तो तादात्म्य विशेषणरूप से आश्रित होता है और कहीं विशेष्यरूप से। फलतः 'मुख चन्द्रभाव को प्राप्त करता है' यहाँ लक्षणा के कारण चन्द्रभाव पद का अर्थ बना हुआ 'तादात्म्य' विशेषण होता है और 'मुख में चन्द्रवा है' यहाँ 'चन्द्रता' पद का लक्ष्यार्थ चन्द्रतादात्म्य विशेष्यरूप से आश्रित होता है। इस बात का विशद विवेचन ग्रन्थकार इसी प्रकरण में आगे करेंगे।

रक्षाकरमतममूय निरस्यति—

यत्तु 'सादृश्यप्रयुक्त' सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान्भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशः स सर्वोऽपि रूपकम्। सारोपलक्षणामूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्म्यस्येव सम्बन्धान्तरप्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य संप्रतीतिमौचित्यात्, तस्मात् दुराग्रह एवाय प्राचाम्—उपमानोपमेययोरभेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयोः' इति रक्षाकरेणोक्तम्, तत्र। अपहृत्यादौ भिन्नयोः सामानाधिकरण्यस्य सत्त्वात्तत्रातिव्याप्तेः। किञ्च 'सादृश्यमूलक स्मरण स्मरणालङ्कारः, न तु चिन्तादिमूलकम्' इति भवतैव पूर्वमुदितम्। तत्र यदि 'सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य सादृश्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिन्तादिमूलकस्य स्मरणस्याप्यलङ्कारत्वमभ्युपेयताम्। न च स्मरणस्य भावत्वमुच्यमानं निर्दिष्टं स्यादिति वाच्यम्, तस्य व्यञ्ज्यमानविषयत्वेनोपपत्तेः।

भिन्नयोरिति। नूपमानोपमेययोरित्यर्थः। रक्षाकरमतमेतत् रूपके उपमानोपमेययोरप्रवेशोऽपहृतौ सुतरां तदप्रवेशस्येष्टत्वात्। स्वमते तु तत्रापि तत्प्रवेश एवेत्यन्यदेतत्, निर्दिष्टमिति राक्षस्यैवालङ्कारत्वेन तदन्यत्वाभावादिति भावः। व्यञ्ज्यमानेति। व्यञ्ज्यमानस्मरणविषयत्वेनैत्यर्थः। 'सारोपलक्षणास्थले रूपकं भवतीति वस्तुस्थितिः। तथा च सारोपलक्षणागौणी भवतु शुद्धा वा सर्वप्राविशेण रूपमेयितन्वम्, अतः भिन्नयोः (सादृशयो कार्यकारणयोर्वा) पदार्थयोः सादृश्यमूलक सम्बन्धान्तरमूलको वा-नवोऽपि-सामानाधिकरण्यनिर्देश रूपकालंकार, उपमानोपमेययोरैव स तमेति प्राचा दुराग्रहमाश्रम्' इति रक्षाकरमतम् न युक्तम्, तन्मतेऽपहृत्यादावपि उपमानोपमेययोरप्रवेशास्थौचित्येन। 'न पदेषु स्मरस्तस्य सहेतुः पत्रिणा यतः। चन्दन चन्द्रिका गन्धो गन्धवाद्वा दक्षिणः।' इत्यादौ तन्मतसिद्धापहृतौ अतिव्याप्ते, भिन्नयोः सामानाधिकरण्यस्यात्र सत्त्वात्। अपि च सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणयोस्तादात्म्यस्य रूपकत्वेऽद्वीकृते 'सादृश्यमूलक स्मरण स्मरणालङ्कार' इति स्वोक्तिर्विशुद्धा स्यात्, रूपकस्येव स्मरणस्यापि सादृश्यामूलकस्य स्मरणालङ्कारत्वेन स्वीकर्तुमौचित्यात्। स्मरणस्य भावत्व स्वीक्रियमाणं निर्लक्ष्य भवेत्, मम तु मते न निर्लक्ष्य भवति सादृश्यमूलकस्य स्मरणस्यालङ्कारत्वेऽपि चिन्तादिमूलकस्य तस्य भावत्वादिति तु न वक्तुं शक्यम्, वाच्यस्य सर्वस्यापि (सादृश्यमूलकस्य चिन्तादिमूलकस्य वा) स्मरणस्यालङ्कारत्वेऽपि व्यञ्ज्यस्मरणस्य भावत्वस्यतासीत्यादिति भावः।

'रक्षाकर' के मत का अनुवाद करके स्पष्टन किया जाता है—यत्तु इत्यादि। 'रक्षाकर' ने कहा है कि—'सादृश्य के कारण अथवा अन्य किसी सम्बन्ध के कारण अर्थात् सभी

तरह के भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के सामानाधिकरन्धनिर्देश (एकविभक्तियुक्तरूप में कथन) को रूक कहना चाहिए। कारण, सादृश्य लक्षणा जब दोनों (सादृश्यमूलक सामानाधिकरन्धनिर्देश अथवा अन्यसम्बन्धमूलक सामानाधिकरन्धनिर्देश) स्थानों पर समानरूप से रहती है, तब सादृश्यमूलक एकरूपता के समान अन्य (कार्यकारणभाव आदि) सम्बन्धमूलक एकरूपता का भी रूपककोटि में समग्र करना उचित है। अतः प्राचीनों का यह कथन दुराग्रहमात्र है कि उपमान उपमेय का भेद (एकरूपता) रूपक है, कार्यकारण का भेद नहीं। परन्तु 'रत्नाकर' का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि एक तो आप के हिसाब से जब रूपक में उपमानोपमेय का निवेश नहीं किया जाना चाहिए तब अपहृति आदि में भी उसका निवेश न करना ही उचित होगा, अतः यहाँ (अपहृति आदि में) इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह कि दो भिन्न पदार्थों का सामानाधिकरन्ध यहाँ भी रहेगा। दूसरे, आपने ही पहले कहा है कि—'सादृश्यमूलक स्मरण स्मरणालंकार कहलाता है, चिन्तादिमूलक नहीं।' अब सोचने की बात यह है कि—जब आप सादृश्य से भिन्न कार्यकारण आदि सम्बन्धमूलक सादृश्य को भी रूपक मानते हैं, तब चिन्तादिमूलक स्मरण की भी स्मरणालंकारता आप को मान्य होनी चाहिए अर्थात् जब सादृश्यामूलक सादृश्य को आप रूपक मान ही लेते हैं, तब सादृश्यमूलक स्मरण को ही स्मरणालंकार मानने का आपमें क्यों ? फलतः आप की उक्ति परस्पर विरुद्ध हो जाती है। आप कहेंगे—सादृश्यमूलक स्मरण को ही स्मरणालंकार हम इसलिये मानते हैं—कि चिन्तादिमूलक स्मरण भाव कहलावे, यदि सभी (सादृश्यमूलक तथा चिन्तादिमूलक दोनों प्रकार के) स्मरणों को अलंकार ही मान लेंगे तब जो सभी आलंकारिक स्मरण को भाव भी मानते हैं वह असंगत हो जायगा, किन्तु यह युक्ति भी आप की समीचीन नहीं, क्योंकि सभी (सादृश्यमूलक तथा चिन्तादिमूलक दोनों तरह के) स्मरणों को वाच्यतादृशा में अलंकार मान लेने पर भी व्यङ्ग्यतादृशा में स्मरण का भाव कहलाना चरितार्थ है।

खण्डनार्थं बोधितमसमनुवर्तते—

अप्यपरीक्षितास्तु—

“—विन्याविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिवृत्ते ।

उपरस्त्रकतामेति विषयी रूपकं तदा ॥”

अत्र विन्याविशिष्ट इति विषयविशेषणात् ।

‘त्वत्पादनस्वरत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ।

इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः ॥”

इति निदर्शनाया निरासः । तत्र विषयस्य मार्जनस्थालक्तकादिरूपविन्ब-
विशिष्टत्वात् । निर्दिष्ट इति विशेषणान्निगीर्णविषयायाम् ‘कमलमनम्भसि
कमले च कुवलये तानि फनकलतिकायाम्’ इत्याद्यतिशयोक्तौ नातिव्याप्तिः ।
अनिवृत्ते निषेधास्पृष्ट इति विशेषणादपहृतौ नातिव्याप्तिः । उपरस्त्रकतामाहार्य-
ताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्यनेन सन्देहोत्प्रेक्षसमासोक्तिपरिणामभ्रान्तिमत्स्य-
तिव्याप्तिनिरासः । ससन्देहोत्प्रेक्षयोर्निश्चयस्यैवाभावात् । समासोक्तिपरिणाम-
योर्विषयिताद्रूप्यगोचरत्वात्, समासोक्ती व्यवहारमात्रसमारोपात् । परि-
णामे चारोप्यमाणस्यैव विषयताद्रूप्यगोचरत्वात् । भ्रान्तिमति च सतः कल्पि-
तस्य वा प्रवृत्तादिपर्यन्तिकस्वारसिकभ्रमस्यैव निबन्धनेन वस्यानाहार्यत्वात् ।”
इत्याहुः ।

दीक्षितास्तु इति । अस्य दूरस्थेन 'आहु' इत्यनेनान्वयः । विम्बाविशिष्टे इति ।
 निग्रमीमांसास्यम् । अप्ययदीक्षितकृतम् रूपकलक्षणमिदम् । विम्बाविशिष्टे । विम्बप्रतिविम्ब-
 भावापन्नविशेषणरहिते, अनिहुते अतिरोहिते, निषेधास्पृष्टे इति यावत्, निर्दिष्टे शब्दिते
 शब्देनाभिरहिते इति यावत्, विषये उपमेये, विषयी उपमानम्, यदि, उपरजकताम्
 आहार्यताद्रूपनिश्चयगोचरताम्, एति प्राप्नोति, तदा रूपकम् इत्यर्थः । प्रथमविशेषण-
 फलमाह—अत्रेति त्वत्पादेति । त्वत्पादनपरज्ञानाम् त्वचरणगतनखरूपाणां रत्नानाम्
 (अत्र रूपकालङ्कारः) यत् अलककमार्जनम् अलकककरणकरजनम्, इदम् उक्ताकारं
 मार्जनम्, धोषण्डलेपेन मलयजरससपरेण, विधो चन्द्रमस, पाण्डुरीकरणम् धावत्य-
 प्रापणम् इत्यर्थः । अत्र 'त्वत्पादनज्ञानामलककमार्जनम् धोषण्डलेपेन विधो पाण्डुरी-
 करणवत्' इति वाक्यार्थप्रतीतिर्वाक्यार्थनिदर्शनेति भावः । उपपादयति—तत्रेति । इदमत्र
 विशदीकरणम्—यथा चन्द्र स्वतः शुभ्रत्वाद्नासज्जनीयधावल्यस्तथा नपा स्वतोऽव-
 गत्वाद्नासज्जनीयारूप्या इति सादृश्येन नज्ञाना चन्द्रस्य च विम्बप्रतिविम्बभावः अलकक-
 चन्दनयोरन्यत्र एषवर्णासज्जकत्वेन विम्बप्रतिविम्बभावः । तथा च विम्बभावापन्नलाल-
 कविशिष्ट एव मार्जनरूप उपमेये तत्प्रतिविम्बभूतचन्द्रचन्दनविशिष्ट पाण्डुरीकरणरूपमुप-
 मानमुपरजकमिति भवत्यस्या निदर्शनाया विम्बानिर्दिष्ट इति विषयविशेषणाजिरासः ।
 द्वितीयविशेषणफलमाह—निर्दिष्ट इति । कमलमिति । अनम्भसि जलभिन्नप्रदेशे नायिकाया-
 मिति भावः, कमलम् कमलत्वेनाभ्यवसितम् सुखम् च पुनः, कमले सुखे इति परमार्थः,
 कुवलये नीलकमल्युगलम्, नयनद्वयीति साराशः, तानि कमलकुवलयानि, कनकलतिकायाम्
 कनकलतावेनाभ्यवसिताया गौरवर्णतनुकायनायिकायामित्यर्थः । सर्वत्र यथायोग्यं क्रिया-
 पदमस्त्यादिरुमप्याहार्यम् । अत्र विषयिणि उपमाने (कमलकुवलयकनकलतारूपे)
 विषयाणाम् उपमेयानाम् (सुखनयननायिकाकायवशीनाम्) निगमणात् अतिशयोक्तिः,
 तस्याश्च प्रकृतलक्षणघटकेन 'निर्दिष्टे' इति विषयविशेषण्येन व्यावृत्तिः, विषयस्यानिर्दिष्ट-
 त्वादिति भावः । तृतीयविशेषणफलमाह—अनिहुते इति । निषेधास्पृष्ट इति तद्वधाख्या
 'नेव सुख चन्द्र' इत्यादावपहुतो निषेधस्पृष्टमेवोपमेयमिति तजिरासस्तद्विशेषणा-
 दिति भावः । उपरजकतामिन्यस्य व्याख्यापुरस्सरः फलमाह—उपरजकेति । उपमेये
 उपमानतादात्म्यं यद्याहार्यनिश्चयविषयीभूत स्यादिति समुदितार्थः । निरासे हेतुमाह—
 ससन्देह इत्यादिना । अगौरवरत्ने क्रमेण हेतु आह—समासोक्तावित्यादिना । तस्य
 तादात्म्यनिश्चयस्य । अयमाशयः—ससन्देहे सन्देहस्यैव उत्प्रेक्षाया सम्भावनाया
 एव च प्रतीतेर्निश्चयो नास्त्येव प्रतीतिगोचरः । समासोक्ती व्यवहारमात्रारोपेण
 ताद्रूपस्याप्रतीतिरेव । परिणामे उपमेयताद्रूप्यमेवोपमाने प्रतीयते नोपमानताद्रूप्यमुपमेये ।
 आन्तिममिति च आदितोऽन्तपर्यन्तम् अमात्मकनिश्चयोऽवाधित एव तिष्ठति अत एव
 प्रवृत्त्यादिरुपपद्यते, एवञ्च स निश्चयोऽनाहार्य एवावाधितत्वात् । तथा चैषु सर्वेष्वलङ्कारेषु
 आहार्यनिश्चयगोचरमुपमेये उपमानतादात्म्यं नास्तीति तदर्थकेन 'उपरजकतामेति' इति
 विशेषण्येन तेषामलङ्काराणां निरासः कृतो भवतीति ।

रचन करने के लिये पहले अप्यय दीक्षित के मत का अनुवाद किया जाता है—
 अप्ययदीक्षितास्तु इत्यादि । अप्यय दीक्षित कहते हैं कि—“विम्ब अर्थात् ऐसे विशेषण-
 जिनके प्रतिविम्बरूप विशेषण आगे कहे गये हों—से रहित, अनपहृत अर्थात् न छिपाए
 गए—अनिविद्ध, और निर्दिष्ट (अर्थात् विषयबोधक पद से बिना पद द्वारा बोधित)

विषय (उपमेय) में निषयी (उपमान) यदि तपरञ्जकता को प्राप्त करे अर्थात् अपना आहार्य (ताद्रूप्य) निश्चय करावे, तब उस आहार्य को 'रूपक' कहते हैं। यहाँ विषय से रहित यह जो उपमेय का विशेषण दिया गया है उससे 'व्यापाद—अर्थात् रत्नरूप आपके चरणनखों का जो महावर से साफ करना (रंगना) है यह चन्द्रन के छेप से चन्द्र का स्वच्छ बनाना है।' इस निदर्शना में रूपक-लक्षण की अतिव्याप्ति का कारण होता है क्योंकि यहाँ 'साफ करना' रूप उपमेय 'महावर' आदि विषय से युक्त है। स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—'जैसे चन्द्र स्वतः प्रकट होने के कारण किसी अन्य वस्तु से प्रकट बनाने योग्य नहीं होता वैसे आपके चरणनख भी स्वतः प्रकट होने के कारण किसी दूसरे से प्रकट बनाने योग्य नहीं हैं' इस तरह के साधर्य के कारण नख और चन्द्र में विषयप्रतिविम्बभाव है—अर्थात् नख विम्बरूप हैं और चन्द्र प्रतिविम्बरूप। इसी तरह 'जैसे महावर दूसरे में अपने वर्ण (लाली) को पहुँचाने वाला है वैसे चन्द्र भी दूसरे में अपने वर्ण (तज्जलप्रक) को पहुँचाने वाला है' इस तरह के साधर्य के कारण महावर और चन्द्रन में भी विषयप्रतिविम्बभाव है—अर्थात् महावर विम्ब और चन्द्रन प्रतिविम्बरूप है। अतः यहाँ का उपमेय (साफ करना) नख तथा महावररूप विम्बभूत विशेषणों से युक्त है अतएव इसका 'विम्बरहित' विशेषण से कारण हो जाता है। 'मिथ्य शब्द के द्वारा बोधित' विशेषण से जिसमें उपमान के द्वारा ही उपमेय का प्रहृष्ट होता है, दृष्ट नहीं, उस 'कमलमन्मसि'... अर्थात् जलमिथ्य देश में कमल (चतुत) मुख) है, कमल में दो नीलकमल (चतुतः दो नयन) हैं और वे सब (एक कमल और दो नीलकमल) एक सुवर्णलता (चतुतः गौरवर्गा पतली झरहरी सुन्दरी) में हैं।' इत्यादि अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती। साधर्य यह है। इस अतिशयोक्ति में कमल, नीलकमल और सुवर्ण लतारूप उपमानों से क्रमशः बुद्धि, नयनयुक्त और सुन्दरीरूप उपमेयों का निगारण हो गया है—उनसे दृष्ट इन्का निर्देश नहीं है अतः उक्त विशेषण से इसकी व्यावृत्ति सिद्ध होती है। 'नहीं विषय गये' का अर्थ है जिसमें निषेध का स्पर्श नहीं हो, इस विशेषण से 'अपद्धति' में अतिव्याप्ति नहीं होती—अर्थात् अपद्धति में 'यह मुख नहीं चन्द्र है' इस प्रकार से उपमेय का निषेध किया गया रहता है, अतः इसका कारण उक्त विशेषण से हो जाता है। 'उपरञ्जकता को प्राप्त करे' इसका अभिप्राय है आहार्य (आपकालिक इच्छान्वय) स्वकीय ताद्रूप्य निश्चय का विषय होना। इस विशेषण से ससन्देह, वरमेवा, समासोक्ति, परिणाम और आन्तिमान् इन अलंकारों में रूपकलक्षण की अतिव्याप्ति वारित होती है। कारण, ससन्देह संशयरूप होता है और उपमेय संभावनारूप होता है, अतः इन दोनों में किसी तरह का मिश्रण होता ही नहीं, समासोक्ति में केवल उपमान के व्यवहार का आरोप होता है उपमान का नहीं, परिणाम में उपमेय के ताद्रूप्य का ही निश्चय उपमान में होता है, उपमान के ताद्रूप्य का निश्चय उपमेय में नहीं, और आन्तिमान् में आदि से अन्त तक अन्तर्भाव, पर अनाहार्य—अवाधित—ही निश्चय रहता है, अतएव प्रवृत्ति आदि बन पड़ते हैं, फलतः इन सभी अलंकारों में उपमान के ताद्रूप्य का उपमेय में आहार्य निश्चय नहीं हो रहा, अतः उक्त विशेषण से इनकी निवृत्ति होती है। कर्तः यह लक्षण सर्वथा निरुद्ध है।"

प्रागुक्तरीतिमतस्तद्व्यञ्जकतावत् प्रथमविशेषणव्यावर्त्य खण्डयति—

तत्र । 'त्वत्पादनखरवानाम्' इत्यादि निदर्शनाद्व्यावृत्त्यर्थं चिन्वाविशिष्टत्वं विषयविशेषणं तावद्व्युक्तमेव । यद्यत्र 'सुख चन्द्रः' इत्यादि रूपकान्तर इव सत्यपि धीतारोपे नेदं रूपकम्, अपि तु निदर्शनेत्युच्यते, तदा 'मुखं चन्द्रः' इत्यपि निदर्शनेत्युच्यताम् । निरस्यतां च रूपकदाक्षिण्यक्रीपीनम् । किं च 'त्वत्पाद'—इत्यत्र—किं पदार्थनिदर्शना, आहोस्त्वदाक्यार्थनिदर्शना ? नाद्यः ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नपदार्थघटितविशिष्टार्थयोरेवान्नाभेदप्रतीतेः । इवलयानन्दगतनिदर्शनाप्रकरणे त्वयोक्तमार्गेण धर्म्यन्तरे पदार्थं तदवृत्तिधर्मस्य पदार्थस्य भेदेनारोपस्याभावाच्च । न द्वितीयः । वाक्यार्थरूपकोच्छ्रित्यापत्तेः । इष्टापत्तौ वैपरीत्यस्य सुवचत्वाच्च । अस्माभिर्निदर्शनाप्रकरणे वक्ष्यमाणया सरण्या अभेदस्य श्रौतत्वार्थत्वाभ्यामुद्देश्यविधेयमावालिङ्गनानालिङ्गनाभ्यां च रूपकनिदर्शनयोर्वैलक्षण्येन सकलव्यवस्थोपपत्तेः । तस्मादत्र वाक्यार्थरूपकमेव, न वाक्यार्थनिदर्शना । तस्याश्चैवमुदाहरणं निर्मातव्यम्—

‘त्वत्पादनखरजानि यो रक्षयति यावकैः ।

इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः ॥’

अत्र कर्त्रोरभेदस्य शाब्दत्वेऽपि क्रिययोरभेदस्याशाब्दत्वान्तस्यैव च समप्रभरसहिष्णुत्वान्निदर्शनैव । ननु यदीदमुदाहरणं निदर्शनायां न स्यात्तदा कथमलङ्कारसर्वस्वकृता सत्प्रकरणं उदाहृतमिति चेत्, भ्रान्तेनैव प्रतारितोऽसि । नहि प्रामाणिकेन भवता कदापि परेणानुक्त किञ्चिदुच्यते । यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभायो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव । तथा च सर्वस्वटीकायां विमर्शिन्यामुदाहृत बिम्बप्रतिबिम्बभावेन रूपकम्—

‘कन्दर्पद्विपकर्णकम्पुमलिनैर्दानाम्बुभिलांछित

संलमाञ्जनपुञ्जकालिमकल गण्डोपधानं रतेः ।

व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः सञ्ज्ञायमानोदर

परयैतच्छशिः सुधासहचरं बिम्ब कलङ्काङ्कितम् ॥’

अत्र कलङ्कस्य दानाम्बादिभिः प्रतिबिम्बनम्, लाञ्छितत्वाङ्कितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वमित्युक्तं चेत्यास्ताम् तावत् ।

तच्चेति । प्रागुक्तं दीक्षितमतं युक्तं नेत्यर्थः । अयुक्तत्वे हेतुगर्भम् तन्मतानुवादपूर्वकं रवाभिप्रायं प्रकटयति—त्वत्पाद इत्यादिना । रूपकान्तरे अन्यरिमन् रूपके । रूपकमध्ये इति भट्टमहोदयकृता टिप्पणिस्तु शोच्यैव । रूपकदाक्षिण्यकौपीनमिति । एतच्च ‘रूपकमुखसंक्षेपरूपकौपीनम् इत्यर्थः । निर्लज्जत्वाविति भावः ।’ इत्येवं वाच्ये नागेश । ‘रूपकमुखसङ्क्षेचेत्यादि नागेशाश्वरस्वधारस्य ॥ नागेश एव विज्ञानीवात्’ इतीत्य नागेशाभ्याप्या निराचक्षणा भट्टमहोदय ‘रूपकालङ्कारेऽपि परिज्ञानदाक्षिण्यमस्ति इति विद्वत्सु स्वस्य निर्लज्जतानिवास्वमवगुण्डम सम्प्रति निरस्यताम्, एवविषयस्थले रूपकमङ्गलीकृत्य प्रसङ्ग निर्लज्जताप्रकटनादित्याशयः’ इत्येव विवृणोति । ‘रूपकमर्यादारक्षणार्थं घृत कौपीनमधोवस्त्रविशेषम् (लघोटीति प्रसिद्धम्) त्यज्यताम्’ इति हिन्दीरसगङ्गाधरकारचतुर्वेदमहोदयोऽनुवदति । गुह्य पुरुषलिङ्ग, कौपीनम् तदावरकत्वाद्वस्त्रखण्डमपि कौपीनम् । तथा च रूपके यदाक्षिण्यम् = रूपकालङ्कारविषयकनैपुण्यं तदात्मकं यत् कौपीनम् = रूपकविषयकाज्ञानावरकम् तत् निरस्यताम् त्यज्यताम्, ‘त्वत्पाद—’ इत्यत्र रूपकमवधत्तव रूपकविषयकाज्ञानप्रकटने जाते तदावरकधारणस्य वृथात्वादित्याशयः इति त्वह मन्ये । उपमेये शाब्दोपमानताद्वयारोपे रूपकम् इति वस्तुस्थितिः । तथा च ‘त्वत्पाद—’ इत्यत्र मार्जनरूपे-उपमेये पाण्डुरीकरणरूपोपमानताद्वयस्य शब्दत आलोप्यमाणतया रूपकमेवोचितं न निदर्शनेति भावः । पुनरन्यथा तत्र निदर्शनात्वं खण्डयति—किञ्चेति । बिम्बप्रतिबिम्बेति । बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्ना ये पदार्थाः नसालोककचन्द्रचन्दनरूपाः, तद्वद्विषयो = तद्द्वारा निर्मितयो

विशिष्टार्थयो = न स कर्मकालकककरणकमार्जन-धीक्षण्डलेपकरणकविभुक्तकपाण्डुरीकरणयो-
रित्यर्थः । अभेदप्रतातेरिति । तथा च 'विशिष्टयो (विम्बप्रतिविम्बभावापन्नविशेषण-
विशिष्टयो) धर्मयोरैक्यारोपो वाक्यार्थनिदर्शना' इति त्वदुक्तलक्षणसङ्गत्या वाक्यार्थ-
निदर्शनात्स्वचितमिति भावः । त्वदुक्तपदार्थनिदर्शनालक्षणमपि नात्र सङ्गच्छत इत्याह
कुनल्येति । धर्म्यन्तरे इति । पदस्य न तु वाक्यस्य अर्थभूते अन्यस्मिन् धर्मिणि = उप-
माने उपमेये वा पदार्थभूतस्य तदवर्तिनो धर्मस्य = उपमानगतस्य उपमेयगतस्य वा
इत्यर्थः । भेदेनेति । भिन्नवाक्यगतत्वेनेत्यर्थः । अभावाच्चेति । 'उपमानोपमेययोरन्यतर-
स्मिन् अन्यधर्मारोपः पदार्थनिदर्शना' इति त्वदुक्तलक्षणार्थस्य विरहादिति भावः ।
वाक्यार्थनिदर्शनात्स्वमेव तर्हि अस्तु, नेत्याह—न द्वितीय इति । तत्र हेतुमाह—वाक्यार्थ-
रूपेति । वाक्यार्थरूपकं तर्हि उच्छिन्नं स्यादिति भावः । इष्टावतिरपि न शाब्दा कर्तु-
मित्याह—इष्टापत्ताविति । वैपरीत्यस्येति । वाक्यार्थनिदर्शनौच्छित्तेरित्यर्थः । सुवच-
त्वादिति । वाक्यार्थनिदर्शनौच्छिन्ना भवत्वित्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वादिति भावः । स्वमते
तु न कस्याप्युच्छेद इत्याह—अस्मान्निरिति । व्यवस्थापपत्तेरिति । "श्रौत—शाब्द,
अभेद", उद्देश्यविधेयभावाल्लिङ्गं च यत्र भवेत् तत्र रूपकम् । यथा—'मुक्तं चन्द्र' इत्यादौ
मुख्यचन्द्रयो शाब्दोऽभेद उद्देश्यविधेयभावश्च स्फुटः । यत्र पुनरर्थः—अर्थबलगत्य-
अगोदः, उद्देश्यविधेयभावानाल्लिङ्गं च तत्र निदर्शना । यथा—'यो यावकैर्नरान् रज-
यति स चन्दनेनैन्दु पाण्डुरोऽकुरुते' इत्यादौ रजनपाण्डुरीकरणयोरारोपोऽभेदः शब्दस्य
भिन्नत्वात्, उद्देश्यविधेयभावाभावाच्च ।" इति व्यवस्थापपत्तेरिति भावः । पर्यव-
सितमाह—तस्मादिति । अत्रेति । 'त्यत्वाद—' इति त्वदुक्ते प्रत्युदाहरण इत्यर्थः ।
ननु तर्हि निदर्शनाया किमुदाहरणमत आह—तस्या इति । वाक्यार्थनिदर्शनाया इति
तदर्थः । यावकै अलङ्कारसै । अर्पस्तु प्राग्वदेव, केवल तात्पर्ये भेदः, स चोपपादने स्फुट
एव । उपपादयति—अत्रेति । कर्त्रोरिति । 'य' 'सः' इति निर्दिष्टयोरित्यर्थः । क्रिययो-
रिति रजयतिपाण्डुरीकरोत्योरित्यर्थः । ननु कर्त्रोरभेदमादाय वाक्यार्थरूपकमेवास्त्वित्यत
आह—तत्स्यैव चेति । क्रिययोरभेदस्यैव चेत्यर्थः । समप्रति । मुख्यवत्काराभावात्कत्वादिति
भावः । दीक्षितमतपुष्ट्यर्थमाशङ्कते—नन्विति । इदं दीक्षितौकम् । भ्रान्तेनैवेति । असङ्ख्या
सर्वस्वकारोऽपि भगानिब भ्रान्त एवेति भावः । अत्र 'भ्रान्त्यैवेति मुख्यपाठ' इति नागेशः ।
'आ तैनेव' इति काशीमुद्रितपुस्तकपाठः । किंविदुच्यते इति । तथा च परकीयकथानुवादको
नवान् स्वयमत एवेति कटुतरोऽमत्यथ दीक्षिते पण्डितराजस्याक्षेपोऽयमिति भावः ।
'यिम्बाविशिष्टे' इति विरोधणञ्छ्रितम् रूपके विम्बप्रतिविम्बभावास्वीकारं दीक्षितहृतं खण्ड-
यितुमाह—यदपीति । कन्दर्पेति । चन्द्रोदयवर्णनमिवम् । नायको नायिका प्रत्यापद्ये—
मलिनं, दानाम्बुमि मदनलै, लाञ्छितं चिह्नितम्, कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुकामदेवराहनोभूत-
गजश्रवणभरणान्मकरह्वरूपम्, सलमनस्य सप्तकस्य, अञ्जनपुञ्जस्य, कालिम्ना श्यामलत्वेन,
कलं रमणीयम् नयनागतकञ्जमलिनमिति यावत्, रते अमपत्त्या, यण्डोपधान कमोल-
सलविन्यसनीयलरूपवर्हः (गलसङ्क्रिया इति प्रसिद्ध) तद्रूपम्, तथा, अलिभिः भ्रमरैः,
सच्छाद्यमानं आदियमाणम्, उदरम् मध्यभागो यस्य तत्, भ्रमराच्छजमव्यमिति यावत्,
म्योम्न आकाशस्य, ये अनोक्तान् वृक्षा, तेषां पुष्पाणाम्, शुच्छं स्तनकम्, भ्रमरभर-
मलिनमध्यवियत्तरकुमुभस्तवक्रस्वरूपमिति यावत्, मुधासहनरं मुधासहशम् धवलतममिति
यावत्, पुन, कलझादितं मध्यभागस्थितकालिमेति यावत्, एतत् प्रत्यक्षभूतम्, शशिनः

चन्द्रस्य, विम्बं मण्डलम्, परय अवलोक्य इत्यर्थः । विम्बप्रतिविम्बभावविशिष्टरूपक-
मुपपादयति—अत्रेति । कन्दर्पेति पद्ये शशिविम्बरूपोपमेये क्रमशः कम्बुगण्डोपधानपुष्प-
गुच्छरूपोपमानानां तादृश्यस्य शब्दत आरोपादृष्टकम्, तच्च विम्बप्रतिविम्बभावापन्नविशेषण-
विशिष्टोपमानोपमेयनिर्दिष्टम्, उपमेयवर्णकलङ्कस्योपमानधर्मे दानाम्बुजजलप्रभरे सह
विम्बप्रतिविम्बभावात् । तथा च 'रूपके विम्बप्रतिविम्बभावो न भवति' इति दीक्षिताशयो
निरस्त इति भावः । शुद्धसामान्येति । लाञ्छितत्वाद्विस्तृतत्वयोर्विम्बप्रतिविम्बभावो नास्तीति
भावः । अत्र 'अन्त्योर्वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नत्वादिदं चिन्त्यम् ।' इति नागेशः । वस्तुतस्तु
नात्र किमपि चिन्ताबीजम्, भवन्तत्र वस्तुप्रतिवस्तुभावः, विम्बप्रतिविम्बभावो नास्तीत्ये-
वावन्मात्रे प्रत्यकर्तुंस्तान्पर्यात् । केचित्तु 'शुद्धसामान्यरूपत्वम्' इत्यस्यैव शुद्धवस्तुप्रति-
वस्तुभावोऽर्थः इत्याहुः ।

उक्त दीक्षित मत का खण्डन करने के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उद्भिन्नत प्रथम विशेषणफल
का खण्डन करते हैं—उक्त इत्यादि । पूर्वप्रतिपादित दीक्षित का मत ठीक नहीं है । कारण,
सर्वप्रथम उन्होंने 'स्वत्वाद-' इत्यादि निदर्शना के वारणार्थ उपमेय में 'विम्बरहित' विशेष-
ण जोड़ने की जो बात कही है वह अशुद्ध है, क्योंकि जैसे 'मुख चन्द्र है' इत्यादि अन्य
रूपकों में शब्दत, अनेकारोप (उपमान उपमेय का आरोपित तादृश्य) रहता है वैसे
यहाँ ('स्वत्वाद-' इस पद्य में) भी है—अर्थात् यहाँ भी 'साफ करना' रूप उपमेय
और 'पाण्डुरीकरण' रूप उपमान का तादृश्य शब्दत प्रतीत होता है, अतः यहाँ रूपक
ही है निदर्शना नहीं । यदि ऐसी स्थिति में भी यहाँ रूपक न मानकर निदर्शना मानी
जाय तब 'मुख चन्द्र है' यहाँ भी निदर्शना ही मान लीजिए, रूपकामिश्रता का आवरण
जो ओढ़े हुए है उसको हटा दीजिए । तात्पर्य यह कि 'स्वत्वाद-' इस पद्य में 'रूपक'
न कहकर 'निदर्शना' कह देने के कारण जब आपका रूपकविषयक अज्ञान लोगों के
समक्ष प्रकट हो ही गया तब स्वार्थ रूपकशता की जादू ओढ़े रहने से क्या लाभ ?
यदि आपके कथनानुसार 'स्वत्वाद-' इस पद्य में निदर्शना ही है, तो कौन-सी निदर्शना
है—पदार्थनिदर्शना अथवा वाक्यार्थनिदर्शना ? यदि आप पदार्थनिदर्शना कहें तो
यह सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ विम्बप्रतिविम्बभावापन्न पदार्थों से बने दो पूरे वाक्यार्थों
का ही परस्पर अनेक प्रतीति होता है, अतः 'विशिष्टोपमयोर्वैक्यारोपो वाक्यार्थनिदर्शना
अर्थात् विम्बप्रतिविम्बभावापन्न विशेषणों से युक्त दो घर्मों में जो एकरूपता का आरोप
किया जाता है वह वाक्यार्थनिदर्शना है' इस कुवलयानन्दोक्त आपके लक्षण के अनुसार
वाक्यार्थनिदर्शना होनी चाहिए, 'उपमान का धर्म उपमेय में अथवा उपमेय का धर्म उप-
मान में यदि आरोपित हो तब उसे पदार्थनिदर्शना कहते हैं' (उपमानोपमेययोरन्यतर-
स्मिन् अन्यतरधर्मारोपः पदार्थनिदर्शना) यह कुवलयानन्दोक्त आपका पदार्थनिदर्शना-
लक्षण यहाँ सहजित भी नहीं होता, क्योंकि यहाँ एक का धर्म दूसरे में आरोपित नहीं
है अपितु दो धर्मियों का ही अनेक आरोपित है और वे धर्मों भी पदार्थरूप नहीं हैं अपितु
वाक्यार्थरूप हैं । यदि आप कहें कि पदार्थनिदर्शना न सही, वाक्यार्थनिदर्शना तो हो
सकती है—उसका लक्षण तो सहजित होता है, वस, वही मेरा भी अभिप्राय है अर्थात्
मैं यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना ही मानता हूँ, तो यह भी मानने योग्य बात नहीं, क्योंकि
यदि यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना मान ली जायगी तब वाक्यार्थरूपक का उच्छेद हो
जायगा—उसका लक्ष्य कहीं मिलेगा ही नहीं । अभिप्राय यह कि ऐसे ही स्थलों पर
वाक्यार्थरूपक होता है और आप यहाँ वाक्यार्थनिदर्शना मानते हैं फिर उसका लक्ष्य
मिलना असम्भव ही हो जायगा । एतावत् तो की नहीं जा सकती—अर्थात् आप यह
कह नहीं सकते कि वाक्यार्थरूपक का उच्छेद होता है तो हो जाने दीजिए, क्योंकि
इसके बदले मैं हम भी ऐसा कह सकते हैं कि—वाक्यार्थरूपक ही मानिए और वाक्यार्थ-

निदर्शना का ही उत्प्रेद हो जाने दीजिए । इस पर आप पूछ सकते हैं कि-मेरे मत में तो आप एक (वाक्यार्थरूपक अथवा वाक्यार्थनिदर्शना) का उत्प्रेद हो जाने का दोष बतलाते हैं पर आप स्वयं कैसे इन दोनों को पृथक् करने की व्यवस्था बनाते हैं, तो इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि-देखिए मेरा निदर्शना प्रकरण-अर्थात् जहाँ शब्दतः अभेद की प्रतीति होती हो और उद्देश्य विधेयभाव हो वहाँ रूपक तथा जहाँ अर्थतः अभेद की प्रतीति होती हो और उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो वहाँ निदर्शना इस तरह से वहाँ मैंने दोनों के पृथग्भाव को व्यवस्था की है । इन सब युक्तियों के कारण उपसंहार में मेरा कथन है कि-‘स्वत्पाद-’ इस पद्य में (इस पद्य का जैसा स्वरूप आपने लिखा है उस स्वरूप में) वाक्यार्थरूपक हो है, वाक्यार्थनिदर्शना नहीं । यदि आपको वाक्यार्थ-निदर्शना का उदाहरण देखना हो तो उक्त पद्य का पाठ यों मानिये—‘त्वत्पादनस्यारानाति अर्थात् जो आपके चरण-नख-रत्नों को महावर से रँगता है’ वह चन्दनलेप से चन्दमा को घबल बनाता है ।’ यहाँ पद्यवि ‘जो’ और ‘वह’ पदों से निर्दिष्ट कर्ताओं का अभेद शब्दतः प्रतीत होता है तथापि ‘रँगता है’ और ‘घबल बनाता है’ इन क्रियाओं का अभेद शब्दतः प्रतीत नहीं होता-अर्थात् अर्थतः प्रतीत होता है और चमत्कार का सारा वाच्यत्व क्रियाओं के उस आर्थ अभेद पर ही है-वाक्यार्थ का पर्यवसान वहीं जाकर होता है, अतः यहाँ निदर्शना ही है । कारण यह कि-कर्ताओं के शब्द अभेद को लेकर यहाँ वाक्यार्थरूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह गौण है, मुख्य क्रियाओं का अभेद तो आर्थ ही है, अतः निदर्शना ही यहाँ मानी जायगी । अब कदाचित् आप कहें कि-परि ‘त्वत्पादनस्यारानाति-’ यह पद्य निदर्शना का उदाहरण होने योग्य न होता, तो अलङ्कारसर्वस्वकार इस पद्य को निदर्शनोदाहरण-प्रकरण में क्यों लिखते ? तो मैं कहूँगा कि-बहुत ठीक, उन्होंने ही आपको जोखा दिया है, वे स्वयं तो भ्रम में थे ही, आपकी भी भ्रम में डाल दिया । आप तो प्रामाणिक व्यक्ति हैं, अतः आप दूसरों से कहीं हुई बात को ही दुहराते हैं । (इस कथन का अभिप्राय यह है कि-आप स्वयं कुछ सोचते विचारते नहीं दूसरों की लिखी हुई बात को अपनी पुस्तक में दुहरा डालते हैं, फलतः आप ‘अर्थम् चौरा’ के अनुसार चौर लेसक हैं ।) (पर यह आपसे बहुत कुछ असत्य है, कटुतर तो है ही, वस्तुतः दीक्षितजी का पाण्डित्य ईदृश आपेययोग्य है नहीं ।) इसके अतिरिक्त दीक्षितजी ने जो ‘विम्बप्रतिविम्बे’ इस विशेषण द्वारा तथा भग्यग्र दृष्ट दार्ढ्यों से भी यह कहा है कि-रूपक में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं होता है वह भी भ्रममूलक ही है, क्योंकि अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी नामक टीका में विम्बप्रतिविम्बभावस्थल में भी रूपक दिखलाया गया है । सुनिवे—‘कन्दर्प-’ यह चन्द्रोदय का वर्णन है । नायिका से नायक कहता है—मलिन मद-जल से चिह्नित कामदेव के हाथी का कर्गाभरगोभूत शङ्खरूप संहतनकजलपुञ्ज की कालिमा से सुन्दर रति (काम-पत्नी) के गण्डोपधान (गलतकिया) रूप और अमरों से आच्छादित मण्यभागवाले आकाशतरु के उजले पुष्पस्तम्बरूप सुधासरोर- (उजले) कलङ्कयुक्त इस चन्द्रविम्ब को देखो । यहाँ मदजल, कजलपुञ्ज और अमर से कलङ्क का प्रतिविम्बन हुआ है और चिह्नित होना तथा (कलङ्क से) ध्वस्त होना शुद्ध सामान्यरूप है-अर्थात् इस अंश में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं है, वस्तुप्रतिवस्तुभाव है यह बात दूसरी है । अभिप्राय यह है कि-‘कन्दर्प-’ इस पद्य में उपमेय चन्द्रमण्डल और उपमानो-—बाहु, गलतकिया तथा पुष्पस्तम्बरु-में परस्पर तादृश्य शब्दतः प्रतीत होता है, अतः यहाँ रूपक है और विम्बप्रतिविम्बभाव भी है, क्योंकि कलङ्क विग्रहरूप है और मदजल, कजल तथा अमर प्रतिविम्बरूप हैं—ये विम्बप्रतिविम्ब-भावापन्न धर्म ही यहाँ के उपमानोपमेय में सादृश्य को सिद्ध करते हैं और इस सादृश्य के कारण ही उपमान-उपमेय में तादृश्य का आरोप होता है—रूपक बन पाता है । फलतः दीक्षितजी का ‘रूपक में विम्बप्रतिविम्बभाव नहीं होता’ यह कथन भ्रममूलक ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

द्वितीयविशेषणमेव निरस्यति—

तथा निर्दिष्टे शब्देनाभिहिते इत्यस्य येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहित इत्यर्थः, उताहो उपमेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते ? आद्ये 'सुन्दरं कमलं भाति लतायामिदमद्भुतम्' इत्यत्रातिप्रसङ्गः । सुन्दरपदेन सुन्दरत्वेन रूपेण इदंपदेन च विषयस्याननस्य प्रतिपादनात् । न चात्र सुन्दरपदार्थस्यारोप्यमाण-कमलान्वय एव, न तु वदनरूपविषयान्वय इति वाच्यम् । कमलपदेन कमल-ताद्रूपेणाननस्यैव लक्षणयोपस्थानात्तत्रैव सुन्दरादिपदार्थान्वयो युक्तः, न तु विशेषणीभूते कमले । अथ तादृश विषयमुद्दिश्य विपयिताद्रूपं यत्र विधीयते इत्यपि लक्षणवाक्यार्थः । प्रकृते च सुन्दरत्वावच्छिन्नमुद्दिश्य कमलताद्रूप-स्थाविधानात्तातिप्रसङ्ग इति चेत् । न । 'मुखचन्द्रस्तु सुन्दरः' इत्यादिरूपके समासगतयोर्विषयविषयिणोः पृथग्विभक्तिमन्तरेणोद्देश्यविधेयभावाभावादन्या-पयापत्तेः । द्वितीये त्वनिर्हृत इति विशेषणवैयर्थ्यम् । अपहुतावुपमेयतावच्छेदकस्य निषिध्यमानतया तेन रूपेण विषयस्यानिर्विष्टत्वादेव लक्षणस्याप्रसङ्गे । निश्चय-गताहार्यत्वविशेषणवैयर्थ्यं च । भ्रान्तिमति दोषविशेषेण प्रतिषध्यमानतया नास्त्युपमेयतावच्छेदकसंस्पर्श इति तावतैव वारणात् । अपि च 'नाय सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इति कुबलयानन्दे त्वयोक्तायामपहुतावति-प्रसङ्गः । अत्र सुधांशौ सुधांशुत्वनिहुवेऽप्यारोपविषयस्यानिहवात् । न चेद् रूपकमेवेति वाच्यम् । त्वदुक्तिविरोधापत्तेः ।

येन केनचिद्रूपेणेति । उपमेयतावच्छेदकमित्ररूपेणेत्यर्थः । उताहो अपवा । 'सुन्दरं कमलम्—' इति । लतायां लतात्वेनाभ्यवसिताया नायिकायाम्, अद्भुतं आश्चर्यकरम्, सुन्दरं मनोरमम्, इदं सुखम्, कमलम्, भाति शोभत इत्यर्थः । इत्यत्रेति । रूपकातिश-योक्तिरूप इत्यर्थः । अतिप्रसङ्गे हेतुमाह—सुन्दरपदेनेति । 'निर्दिष्टे' इत्यस्य 'येन केनचिद्रू-पेण शब्दप्रतिपादिते' इत्यर्थस्वीकारे 'सुन्दरं कमलम्—' इति रूपकातिशयोक्तौ इदंपदबोध-स्योपमेयस्य मुखस्य सुन्दरत्वस्येण सुन्दरपदप्रतिपाद्यत्वादतिव्याप्तिरिति भावः । अतिव्या-प्तिनिरासाय शङ्कते—न चात्रेति । कमलान्वय एवेति । तत्र एव चमत्कारात्तात्प्राप्तिश्चाच्चेति भावः । समापत्तेः—कमलपदेनेति । एतेन रूपकातिशयोक्तिरत्रेति ध्वनितम् । तत्रैवेति । मुख एवेत्यर्थः । न स्तिति । 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति—' इति न्यायादिति भावः । आरोप्य-माद्ये—उपमाने कमलपदार्थ एव सुन्दरपदार्थस्यान्वय साक्षिभावात्, न तु विषये उपमेये मुखे तथा च केनापि रूपेणोपमेयस्य मुखस्यानिर्देशानातिप्रसङ्ग इति न वक्तुं शक्यम्, मुखे स्थापिकात् कमलपदादत्र कमलताद्रूपेण मुखस्यैवोपस्थितिर्विशेष्यतया कमलस्योपस्थि-तिर्विशेषणतयैवेति स्थितौ पदार्थः पदार्थेनेति न्यायानुरोधेन सुन्दरपदार्थस्येदं पदबोधे उपमेये—मुखे—एवान्वयस्य युक्ततयाऽतिप्रसङ्गस्य दुरुद्धत्वादिति भावः । अतिप्रसङ्गाभावाय पुनरन्यथा शङ्कते—अत्रेति । तादृशमिति । येन केनचिद्रूपेण शब्देनाभिहितमित्यर्थः । इत्यपीति उद्देश्यविधेयभावघटितोऽपीत्यर्थः । तथा वाक्यार्थे दोषाभावमुपपादयति—प्रकृते चेति । 'सुन्दरं कमलम्—' इत्यत्र चेति तदर्थः । अविधानादिति । तादृशमाननमुद्दिश्य मानक्रियाया एव विधेयत्वादिति भावः । (अत्र 'यदा सुन्दरत्वादे कमलत्वादिविशिष्टे विशेषणत्वमेवोद्देश्यतावच्छेदकम् । इयास्तु विशेष-यदतिशयोक्तावुपमेयधर्मस्योद्दे-श्यतावच्छेदकत्वाभाव एव रूपके त्वनियम इतीति भावः १' इति विशेषमाह तादृशः ।

समाधत्ते नेति । तत्र हेतुमाह—मुखचन्द्रस्त्विति । मुखरूपचन्द्रः सुन्दर इत्यर्थः । विषय-
विषयिणोऽपमेयोपमानयोः । वृथयिति । उद्देश्यविधेयभावेन बोधेऽभिन्नविभक्तिजन्यो-
पस्थिते कारणत्वात् । तथा न व्यस्यते तथा प्रतीतिः, न समाप्त इति भावः । केनापि रूपेण
शब्दप्रतिपादमुपमेयमुद्दिश्य यत्रोपमानतादृश्य विधीयते तत्रैव रूपकमिति विवक्षणे 'सुन्दरं
कमलम्—' इत्यत्र अतिप्रसङ्गः, अत्र मुखमुद्दिश्य मानस्य विधेयतया सुन्दरत्वावच्छिन्नो-
द्देश्येन । कमलतादृश्यस्याविधानादित्यपि न शुक्लम्, पुनर्यं विभक्तिविरहेणोद्देश्यविधेयभा-
वाद्योपमेयोपमानसम्पन्ने 'मुखचन्द्रः—' इत्यादि समस्तरूपकेऽन्यस्यापत्या तथा विवक्षण-
स्यासम्भवादिति साराशः । द्वितीयकल्पं दूषयति—द्वितीये ॥ इति । 'निर्दिष्टे' इत्याद्योप-
मेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते इत्यर्थः इति द्वितीयकल्पे तु इति तदर्थः । दोषमाह—
विशेषणवैयर्थ्यमिति । वैयर्थ्यं हेतुमाह—अपहृता इति । उपमेयतावच्छेदकस्येति । उपमे-
यतावच्छेदकविशिष्टस्येति भावः । उपमेयस्येति गायत् । अनिर्दिष्टत्वादिति । अत्र 'अत्र
निषेधप्रतियोगिविधया निर्दिष्टत्वादित् चिन्त्यम् । न च तथा निर्दिष्टत्वेऽपि पुरस्काराभावः ।
तर्हि तावत्पर्यन्तविषयापेक्षार्थमेकानिहुते इति विशेषणसाधनत्वाविति बोध्यम् ।' इति
नागेशः । उक्तद्वितीयकल्पे दोषान्तरप्रत्याह—निश्चयेति । अपरजकतापदार्थभूतेति भावः ।
वैयर्थ्यहेतुगममुपपादनमाह—आन्तीति । तावत्तैवेति । उक्तार्थनिर्दिष्टे इति विशेषणैवे-
त्यर्थः । अत्र 'इदं चिन्त्यम् । आहार्यत्वविशेषणस्य निर्दिष्टे इति विशेषणलभ्यार्थकपनतात्प-
र्यक्त्वात् । अतिरायीकौ लभ्यणामाहात्म्याद्यमानशान्तत्वानादायस्यैव जायमानत्वेन ताव-
त्तैव धारणात् । शक्यतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोर्मानमिति त्वल्लिखितमतान्तरेऽपि
मुपपदेयोमयोर्भावेन बाधस्यैवानुपस्थितत्वात् तदुद्देशाहार्यत्वम् । किञ्च चन्द्रवृत्तिगुणवत्वस्य
लक्ष्यतावच्छेदकस्य चन्द्रत्वस्य न मिथो विरोधभावेन न बाधप्रतिमन्धानम् । मुख-
त्वेन मुप लक्ष्यत इति तत्रादेयमेव । रूपके तु बाधस्य स्फुटमुपस्थितत्वेन साक्षादपजनया
वा जायमाना तादृश्यप्रतिपत्तिराहवैवेति दीक्षिताशय इति दिक् ।' इति नागेशः । निर्दिष्टे
इत्यस्य उपमेयतावच्छेदकरूपेण शब्देनाभिहिते इत्यर्थकरणेऽपि न निस्तारः, 'निर्दिष्टं मुक्तं
मुधाशुखम्' इत्यापहृतावुपमेयस्यैव निषेधे उपमेयतावच्छेदकरूपेणोपमेयस्य सुतरामन-
भिहिततया निर्दिष्टे इति विशेषणैवेन तद्वारणे सिद्धे तद्वारणार्थकस्य अनिहुते इति विशे-
षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, 'चन्द्र इति चक्षुरास्त्वन्मुखमभिधावन्ति' इत्यादि भ्रान्तिमतिः,
भ्रान्तिजनकदोषविशेषेण उपमेयतावच्छेदकस्य मुखत्वादेः प्रतिवच्यमानतया तेन रूपेणोप-
मेयस्य मुक्तादेरभिधानस्य सर्ववैवाचन्यतया तस्यापि (भ्रान्तिततोऽपि) तेनैव विशेष-
णेन व्यावृत्तौ तद्वारणाय प्रदत्तस्य निश्चये आहार्यत्वविशेषणस्यापि तथात्वाच्चेति भावः ।
श्रुतीयविशेषणव्यावृत्तिं दूषयति—अपि चेति । 'नायं सुधाशु—' इति । अयं प्रत्यक्ष-
दृश्यमानः, सुधाशुचन्द्रो, न । तर्हि तदा अस्यासुधाशुत्वे इति यावत्, किं वस्तु सुधाशुः ?
प्रेयसीमुखं प्रियतमानन्म्, सुधाशु इत्यर्थः । त्वयोक्तव्यमिति । एतेन स्वमते नास्या-
पहृतित्वमिति भावः । अपहृतौ पर्यस्तापहृतौ । अतिप्रसङ्ग इति । त्वदुक्तरूपकलक्षणाति-
व्याप्तिरित्यर्थः । अतिप्रसङ्गे हेतुमुपपादयति—अत्रेति । निष्पत्त्यस्य मुखस्य । विषयस्य सुधाशोः
इति नागेशोक्तिचिन्त्या । 'नायं सुधाशु—' इत्यत्र 'नायं सुधाशु' इत्यर्थे सुधाशुत्वस्य
निषेधसृष्टत्वेऽपि 'सुधाशु' प्रेयसीमुखम् इत्यर्थे उपमेयतावच्छेदकमुखत्वेन रूपेण शब्दा-
भिहिते निषेधासृष्टे च मुखरूपे उपमेये उपमानसुधाशुतादृश्यप्रतीत्या रूपकापत्तिः प्रवर्जन्ती
'अनिहुते' इति विशेषणेन नैव धारयितुं शक्येति भावः । रूपकत्वस्वीकारस्तु तव नौप-

पदेत, कुलयातन्दास्त्रे निजनिबन्धेऽपहुतितस्य स्पष्टशब्दैस्त्वया स्वीकृतत्वात् । नागेशस्तु
अत्रापि 'इदमपि चिन्त्यम् । उपमेयोपमादीना नैविन्यविशेषेणालङ्कारान्तरत्वविहायु-
पपत्ते । मतान्तरेऽप्यभेदादिकृतेन चमत्कारे रूपकम्, निहवादिकृते तस्मिन्नु सेति विषय-
विभागसम्भवात् । चमत्कारित्वस्यालङ्कारसामान्यलक्षणप्राप्तत्वात्समुदितस्यालङ्कारत्वेनाशे-
रूपकत्वे इष्टापत्तये' इत्येभिरसरेर्दीक्षितोक्तिं समर्थयन् दृश्यते ।

द्वितीय विशेषण को दूषित किया जाता है—तथा इत्यादि । प्रथम विशेषण की
दशा तो आपने देस ली । अब आप द्वितीय विशेषण की दशा को देखें—दीक्षितजी ने
आपने रूपकलक्षण में 'निदिष्टे' यह दूसरा विशेषण जोड़ा है और उसका अर्थ किया है
शब्द से प्रतिपादित । अब इसमें प्रष्टव्य यह है कि—'शब्द से प्रतिपादित' इसका क्या
अर्थ ? जिस किसी रूप से शब्द द्वारा कथित यह, अथवा उपमेयतावच्छेदक—मुख्य
आदि रूप से शब्द द्वारा कथित यह ? इन दोनों में यदि प्रथम अर्थ दीक्षितजी को
स्वीकृत हो, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि तब 'सुन्दर कमलम्—अर्थात् लता में (लता-
त्वेन अभ्यवसित नाविकाकायपट्टि में) अञ्जुत और सुन्दर यह कमल (कमलत्वेन
अभ्यवसित मुख) सुशोभित हो रहा है ।' इस रूपकातिशयोक्ति के लक्षण में
उत्पाद्यक उक्त विशेषणयुक्त रूपकलक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । कारण यह कि—
यहाँ भी 'सुन्दर यह' इन शब्दों के द्वारा सुन्दरत्वरूप से उपमेय—मुख—का प्रतिपादन है ।
यदि आप कहें कि यहाँ सुन्दर पद के अर्थ का अन्वय आरोपित होनेवाले अर्थात् विषयी
(उपमान) कमल में ही है, जिसमें आरोपित होता है उस विषय (उपमेय मुख) में
नहीं (अतः सुन्दरत्वरूप से उपमेय—मुख—का प्रतिपादन नहीं हुआ, अतिव्याप्ति नहीं
होगी), तो यह भी सङ्गत नहीं, क्योंकि यहाँ लक्षणा द्वारा, 'कमल' पद से, कमल के
रूप में प्रधानरूप से मुख की ही उपस्थिति होती है—अर्थात् यहाँ 'कमल' पद का अर्थ
केवल कमल नहीं अपितु कमलरूप मुख है, अतः 'सुन्दर' आदि पदार्थों का अन्वय
मुख में ही होना उचित है, विशेषणरूप घने हुए कमल में नहीं अर्थात् अन्वय के विषय
में 'पदार्थ' प्रदार्थनात्वेति न पदार्थकदेशेन—किसी पद का अर्थ किसी पद के प्रधान अर्थ के
साथ ही अङ्गित होता है, पदार्थ के एकभाग विशेषणीभूत पदार्थ के साथ नहीं ।' इस
संबन्धमत नियम की रक्षा सभी को करनी है । अब यदि आप कहें कि—'जिस किसी
रूप से शब्द द्वारा अभिहित उपमेय की उद्देश्य बनाकर जहाँ उपमान का ताद्रूप्य
(एकरूपता) विहित होता हो' यह भी लक्षणवाक्य का अर्थ है—अर्थात् उपमेय का
उद्देश्य होना और उपमान का विधेय होना भी इस रूपकलक्षण का तात्पर्यार्थ है
और प्रकृत उदाहरण में 'सुन्दरता' से अवच्छिन्न (युक्त) मुख को उद्देश्य बनाकर
कमल के ताद्रूप्य का विधान नहीं होता—अर्थात् यहाँ मुख और कमल का उद्देश्य विधेय-
भाव है ही नहीं, यदि उद्देश्य विधेयभाव है तो मुख और शोभित होना—क्रिया में, अतः
अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर 'मुखचन्द्र
सुन्दर है' इत्यादि रूपक में लक्षण की अव्याप्ति ही हो जायगी—यह रूपक कहला ही
नहीं सकेगा । कारण, यहाँ उपमान तथा उपमेय के लिये पृथक् पृथक् विभक्ति नहीं
आई है और उद्देश्य विधेयभाव के लिये पृथक् पृथक् विभक्ति का आना आवश्यक है,
अतः असमस्त पापय स्थल में ही उद्देश्य-विधेयभाव होता है, यहाँ समस्त वाक्य में वह
नहीं हो सकता । अब यदि द्वितीय रूप को दीक्षितजी का अभिमत मानें—अर्थात्
'निदिष्टे' पद का अर्थ 'उपमेयतावच्छेदकरूप से शब्द द्वारा उक्त' करें तो यह भी असङ्गत
ही होगा, क्योंकि यद्यपि इस रूप में पूर्वकल्पीय दोष नहीं होगा, तथापि—दूसरा
दोष हो ही जायगा—अर्थात् इस कल्प (पक्ष) में 'अनिहुते' यह विशेषण व्यर्थ हो
जायगा, क्योंकि उस विशेषण का फल जो 'अपहृति' का वारण माना जाता था, वह
अब इस 'निदिष्टे' विशेषण से ही सिद्ध हो जायगा । कारण, 'यह मुख नहीं चन्द है'

इत्यादि अपहृतियों में 'उपमेयतावच्छेद'—अर्थात् उपमेय—मुख आदि—का निषेध किया गया रहता है, अतः उपमेयतावच्छेदक रूप से उपमेय का प्रतिपादन न होने से ही लक्षण की भ्रांति हो जायगी। इतना ही नहीं, इस द्वितीय पक्ष में 'उपरञ्जिता' की व्याख्या में दीक्षितजी के द्वारा कहा गया 'आहार्य' यह विश्रय-विशेषण भी व्यर्थ हो जायगा। यह विशेषण 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लगाया गया है, पर वहाँ भ्रमजनक दोष से उपमेयतावच्छेदक की प्रतीति रोक दी जाती है, अतः वहाँ उपमेयतावच्छेदक का स्पर्श भी नहीं रहता, इस स्थिति में उसका भी वारण 'निर्दिष्ट' विशेषण से ही हो जा सकता है। और इन विशेषणों का निवेश कर देने पर भी 'नायं सुधांशुः'—अर्थात् यह (प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाला चन्द्रमा) चन्द्रमा नहीं है। तो चन्द्रमा क्या है? प्रियतमा का मुख। इस दीक्षिताभिमतकुबलयानन्दगत पर्यस्तापहृति में अतिव्याप्ति हो ही जायगी, क्योंकि यहाँ उपमेयतावच्छेदक—मुखत्वरूप से प्रतिपादित उपमेय—मुख में उपमान-चन्द्र-का सादृश्य आरोपित होकर निश्चित होता है। आप कदाचित् कहें कि—'अनिहृते' विशेषण से इसका वारण होगा, तो वह कथन वन नहीं सकता, क्योंकि यहाँ चन्द्र में चन्द्रत्व का निषेध रहने पर भी उपमेय—मुख—सर्वथा निषेध से अछूता ही है। फलतः 'अनिहृते' विशेषण व्यर्थ ही सा हो जाता है—जिस कल की सिद्धि के लिये जो विशेषण जोड़ा जाता है, वह कल यदि उससे सिद्ध नहीं होता—तब उसकी सार्थकता ही क्या? दीक्षितजी इसको ('नायं सुधांशुः'—को) रूपक तो मान नहीं, सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर उन्होंने कुबलयानन्द में स्वयं जो उसको पर्यस्तापहृति माना है—उससे विरोध पड़ जायगा।

चित्रमीमांसायामप्यवदीक्षितेनोक्तमन्यदपि लब्धयति—

यच्चाप्युक्तमव्यङ्ग्यत्वविशेषणाच्चेदमेवालङ्कारभूतस्य रूपकस्य लक्षणमिति, सदपि न। नहि व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोविरोधोऽस्ति। प्रधानव्यङ्ग्यरूपकधारणाय पुनरुपस्कारकत्वं विशेषणमुचितमित्यसकृदावेदनात्। अनङ्कधारणस्य तुल्यतया प्रधानव्यङ्ग्यरूपकत्वेष्वेव प्रधानवाच्यरूपकस्यापि वारणीयत्वेन तद्वारकविशेषणाभावेन तत्रातिप्रसङ्गाच्च।

इदमेवेति। प्राशुक्तं रूपकलक्षणमेवेत्यर्थः। नन्वेवं कथमतिप्रसङ्गनिरासोऽत आह—
प्रधानेति। नन्वेवमपि विनिगमनाविरहात्तयोकिरत आह—अनलमिति। मन्मते तु तेनैवो-
भयोर्वारणमिति भावः। अलङ्कारभूतरूपकलक्षणोऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणप्रचक्षेपो दीक्षितस्य नोचितः,
नित्यव्यङ्ग्यपत्त्य रसादेरपि स्थितिविशेषोऽलङ्कारत्वस्य स्वीकृततया व्यङ्ग्यत्वालङ्कारत्वयोरविरो-
धसिद्धौ संप्रहणीयस्य व्यङ्ग्यरूपकालङ्कारस्यासंप्रहप्रसङ्गात्। ननु अप्राधान्येन व्यङ्ग्यमानस्य
रूपकस्य संप्रहणीयत्वेऽपि असंप्रहणीयस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यमानस्य रूपकस्य व्यावृत्त्यर्थं
लक्षणोऽव्यङ्ग्यत्वविशेषणयोगो युक्त इति चेन्न, तदर्थं 'उपस्कारकत्व'—विशेषणस्य योजयि-
त्तुमौचित्यात्। न चोभाष्याम् (अव्यङ्ग्यत्वोपस्कारकत्वाम्याम्) विशेषणाम्नां समानतया
प्रधानव्यङ्ग्यधारणसम्भवे 'उपस्कारकत्व'विशेषणस्यैव योजने किमौचित्यमिति वाच्यम्,
यथा प्रधानतया व्यङ्ग्यमानं रूपकं नालङ्कारः अपि तु अलङ्कार्यम् इति तद्वारणप्रयास आव-
श्यकः, तथैव प्राधान्येन वाच्यमपि रूपकमलङ्कार्यमेव नालङ्कार इति तद्वारणप्रयासोऽप्यवारयक
एव, एवञ्च यदि केनप्येकेन विरोधोऽन्योक्तमभ्योर्वारणं भवेत्, तर्हि तद्विशेषणयोजने
औचित्यं निर्विवादम्, अत उभयोर्वारकस्य उपस्कारकत्वविशेषणस्य योजने औचित्य-
मस्ति, प्रधानव्यङ्ग्यरूपकमात्रवारकस्य 'अव्यङ्ग्य'—विशेषणस्य योजने च तन्नास्तीत्याशयात्
इति भावः।

अप्यदीक्षित द्वारा चित्रभीमासा में कही गई एक अन्य बात का भी खण्डन किया जाता है—यद्यपि इत्यादि। और जो दीक्षितजी ने यह कहा है कि—“इसी (पूर्वोक्त सामान्य रूपकलक्षण) में यदि ‘अव्यङ्ग्य’ यह एक और विशेषण जोड़ दिया जाय, तब यह लक्षण अलङ्कारभूत रूपक का हो जायगा,” वह भी समुचित नहीं, क्योंकि व्यङ्ग्यता तथा अलङ्कारता में कोई विरोध नहीं है, नित्यव्यङ्ग्य रस आदि भी स्थितिविशेष में अलङ्काररूप होते ही हैं, फिर व्यङ्ग्यरूपकालङ्कार भी मानना ही पड़ेगा और इस विशेषण से उसका वारण ही हो जायगा—अर्थात् इस विशेषण के कारण लक्षण की व्यङ्ग्यरूपकालङ्कारस्थल में अस्थापि ही हो जायगी। यदि आप कहें कि—प्रधानीभूत अन्य वारणार्थ के पोषक व्यङ्ग्य रूपक भले ही अलङ्कारश्रेणी में सम्प्रहणीय हों, पर प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाला रूपक तो आपके मत से भी अलङ्कारश्रेणी में सम्प्रहणीय नहीं होगा—उसको तो आप भी अलङ्कार्य ही मानियेगा अलङ्कार नहीं, फिर उस प्रधान व्यङ्ग्यरूपक का वारण करने के लिये ‘अव्यङ्ग्य’ विशेषण क्यों नहीं समुचित समझा जायगा, तो यह भी मानने योग्य आपका तर्क नहीं, क्योंकि प्रधान व्यङ्ग्यों का वारण करने के लिये सभी अलङ्कारों के लक्षण में ‘उपस्कारक’ विशेषण जोड़ने की बात बार-बार कही जा चुकी है। यदि आप कहें कि—प्रधान व्यङ्ग्य के वारणार्थ ‘उपस्कारक’ विशेषण ही जोड़ा जाय ‘अव्यङ्ग्य’ विशेषण नहीं, यह कौन-सी बात है? तो मैं कहूँगा कि—हाँ, है ऐसी कुछ बात जिसके अनुरोध से ‘उपस्कारक’ विशेषण का जोड़ना ही उचित है और वह बात यह है कि—जिस तरह प्रधानरूप में अभिव्यक्त होने वाला रूपक अलङ्कार नहीं अलङ्कार्य होता है, अतः उसका अलङ्कारश्रेणी से निष्कासन आवश्यक है, उसी तरह प्रधानरूप में वाच्य होने वाला रूपक भी अलङ्कार नहीं, अलङ्कार्य ही होता है, अतः उसका भी अलङ्कारश्रेणी से बाहिर्भाव आवश्यक है। अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि—‘उपस्कारक’ और ‘अव्यङ्ग्य’ इन दोनों में से कौन सा विशेषण उचित है? ‘उपस्कारक’-विशेषण से प्रधान व्यङ्ग्य तथा प्रधान वाच्य दोनों का ही वारण होता है और ‘अव्यङ्ग्य’-विशेषण से केवल प्रधान व्यङ्ग्य का, फलतः इस विशेषण को जोड़ देने के बाद भी प्रधानवाच्य-रूपकस्थल में लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी। अतः दीक्षितजी का लक्षण गड़बड़ ही है।

मम्मटमहर्ष्यप्रकाशोक्त लक्षण निरस्त्यति—

यच्च ‘तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः’ इत्यादि प्राचीनैरुक्तम्, तच्चिन्त्यम्, अपहुत्यादावुपमानोपमेययोरभेदस्य प्रतीतिसिद्धयया तत्रातिप्रसङ्गात्। अथोपमानोपमेययोरित्युक्त्या उपमेयतावच्छेदक पुरस्कृत्योपमानतावच्छेदकावच्छिन्नाभेद इत्यर्थलामादपहुतौ चोपमेयतावच्छेदकस्य पुरस्कारमावाप्तातिप्रसङ्ग इति चेत्। न। ‘नूनं मुखं चन्द्रः’ इत्याद्युत्प्रेक्षाया तथाप्यतिप्रसङ्गेः।

प्राचीनैः मम्मटमहादिभिः। अपहुत्यादाविति। आन्तिमदतिशयोक्त्यादय आदिपद-प्राप्ता। उपमेयतावच्छेदक पुरस्कृत्येति। आसमानोपमेयतावच्छेदके उपमेये इति भावः। उपमानतावच्छेदकेति। आसमानोपमानतावच्छेदकस्योपमानस्याभेद इत्यर्थः। पुरस्कार-मावादिति। उपमेयस्य निषिध्यमानवादिति भावः। ‘उपमानोपमेययोर्भेदस्तद्रूपकम्’ इत्यर्थकं मम्मटमहर्ष्यं रूपकलक्षणं न सम्यक्, अपहुत्यादाविति व्याप्ते, तत्रावुपमानोपमेय-योरभेदस्य प्रतीयमानत्वात्। ‘उपमानोपमेययोः’ इति लक्षणे कथनेन ‘मुखं चाद्युपमेय-तावच्छेदकविशिष्टे मुख्यादावुपमेये चन्द्रत्वाद्युपमानतावच्छेदकविशिष्टचन्द्राद्युपमानाभेदो रूपकम्’ इत्यर्थलाभेऽपहुत्यादौ नातिव्याप्तिः, तत्र निषेधादिनोपमेयतावच्छेदकवैशिष्ट्यस्य विरहात् इति यद्यपि सत्यम्, तथापि निस्तारो नास्ति, ‘नूनं मुखं चन्द्रः’ इत्युत्प्रेक्षायामति-

व्याप्तेः सत्त्वात्, - अत्र मुख्यविशिष्टमुखानुयोगिकचन्द्रत्वविशिष्टचन्द्रप्रतियोगिकभेदस्य प्रतीतेरिति भावः ।

मम्मटमद्वैत काल्यप्रकाशग्रन्थ में वक्त रूपकलक्षण का क्षण्डन किया जाता है—
यच्च इत्यादि । 'उपमान और उपमेय का जो भेद उसको रूपक कहते हैं' यह जो रूपकलक्षणकरणप्रसङ्ग नि मम्मटमद्वै ने कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान तथा उपमेय के भेद की स्पष्ट प्रतीति होने के कारण अपहृति आदि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है अर्थात् इस लक्षण के अनुसार 'यह मुख नहीं चन्द्र है' इत्यादि तरह के अपहृति आदि अलङ्कार के उदाहरण भी रूपकधेमी में सगृहीत होने लगेंगे । यदि आप कहेंगे—लक्षण में 'उपमान और उपमेय का' इस तरह के कथन से यह लब्ध होता है कि—'उपमेयतावच्छेदक को आगे रखकर—अर्थात् उपमेय—भाव का परिचायक—मुखत्व आदि से युक्त मुख आदि में—उपमानतावच्छेदकावच्छिन्न का—अर्थात् चन्द्रत्व आदि से परिचित चन्द्र (एक वस्तुविशेष) का भेद रूपक है' और इस जय के अनुसार अपहृति में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि यहाँ, 'मुख नहीं है' इत्यादि प्रकार से उपमेय का निवेद्य किया गया रहता है, अतः उपमेयतावच्छेदक—मुखत्व आदि—का आगे रहना समझ नहीं, तो मैं कहूँगा कि—हाँ, यह तर्क सत्य है, अब अपहृति आदि में अतिप्रसङ्ग नहीं रहा, पर इससे क्या लक्षण निर्दुष्ट सिद्ध हो गया ? कथमपि नहीं, क्योंकि—अपहृति आदि में व सही, उत्प्रेषा में तो अब भी अतिव्याप्ति घनी है—'मानो मुख चन्द्र है' यही तो उत्प्रेषा का उदाहरण है, यहाँ मुखत्व—उपमेयतावच्छेदक—को आगे रखकर मुख में चन्द्रत्वविशिष्ट चन्द्र का भेद साफ झलकता है, फिर वक्त लक्षण की यहाँ प्राप्ति हो जाने में बाधा क्या ? कुछ नहीं, वह हो ही जायगी ।

पूर्वापादिताना उत्प्रेक्षायां मम्मटलक्षणातिव्याप्तेरभावमाशङ्क्य पुनस्ता दृढयति—

न च—

‘प्रकृतं यन्निविध्यान्यत्साध्यते सा त्वपहृतिः ।’

‘सम्भावनामयोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ॥’

इत्याद्यपहृत्युत्प्रेक्षादीनां बाधकत्वात्तत्परिशुद्धीतविषयातिरिक्तो रूपकस्य 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिविषयः स्यात् । यथा 'शरमयं बहिः' इत्येतद्विषयातिरिक्तः 'क्षुरामयं बहिः' इत्यस्य । यथा वा वसादेशविषयातिरिक्तो विषयः सिधः । लोकेऽपि यथा 'ब्राह्मणेभ्यो दधि देयम्', 'सक्रं कौण्डिन्याय' इत्यत्र तत्प्रसम्प्रदानातिरिक्तं दध्नः सम्प्रदानमिति वाच्यम् । वैषम्यात् । विशेषशास्त्रं हि स्वविषयातिरिक्तं विषयं माहयत्सामान्यशास्त्रस्य बाधकमित्युच्यते । प्रकृते च रूपकस्य लक्षणं धर्मः । स यद्युत्प्रेक्षादिवृत्तिः स्यात् कस्तस्माद्विषयान्निरस्य विषयान्तरं माहयेत् । नहि घटत्वं स्वाधिकरणात् पृथिवीत्वं द्रव्यत्वं वा निरस्य विषयान्तरं प्राहयितुमीष्टे । तस्मादतिप्रसक्तिर्लक्ष्योऽस्मिन्दोषः । ननु सम्भावनात्तिकोत्प्रेक्षा, कथं तस्यामभेदत्वात्मकरूपकलक्षणातिप्रसक्तिरिति चेत् । न । विनिगमकामावेन सम्मान्यमानाभेदस्याप्युत्प्रेक्षास्वरूपत्वात् । विषयसम्भावनाऽभेदाभ्यामुत्प्रेक्षायामलङ्कारद्वयव्यवहारोपपत्तेश्च । निश्चीयमानत्वेनाभेदो विशेषणीय इति चेदस्मादुक्त एव तर्हि पर्यवसतिरिति दिक् ।

प्रकृतमिति । मम्मटकृतमपहृतिवृत्तिमिदम् । प्रकृतं उपमेयं, निविध्य तिरोधाय, अन्यत् उपमानम्, यत् साध्यते स्थाप्यते, सा अपहृतिः अलङ्कार इत्यर्थः । सम्भावनामिति ।

‘तत्कृतमेवोत्प्रेक्षालक्षणमेतत् । प्रकृतस्य उपभेदस्य, समेन सदृशेन उपमानेनेति यावत्,
यत्, सम्भावनम्, सा उत्प्रेक्षा इति तदर्थः । बाधकत्वादिति । विशेषविहितत्वेनापवाद-
त्वादिति भावः । तत्परिग्रहीत इति । ताम्यामपहृत्युत्प्रेक्षाभ्याम्, परिग्रहीता आक्रान्ता,
ये, विषया लक्ष्याणि, तद्विषय इत्यर्थः । सुखं चन्द्र इति । अत्र गमकाभावात्तदुभयं न ।
तत्र जैमिनीयं दृष्टान्तमाह—यथा शरेति । आभिवारिके कर्माणि विशेषविहितमिदम्, यज्ञ-
सामान्ये विहितस्य ‘कुशमयं बहिः’ इत्यस्य बाधकमित्यर्थः । व्याकरणोक्तं तमाह—यथा
‘वा करोति । ‘शल इग्—’ इति विहितेत्यादि । सिच् इति । ‘च्ले’ सिच्’ इति विहित-
स्येति भावः । लौकिकं तमाह—लोकेऽपीति । कौण्डिन्यायेति । प्राज्ञविशेषस्य संशे-
यम् । लौकिकन्यायेऽयं ‘तत्कौण्डिन्यान्याय’शब्देन व्याकरणे प्रसिद्धः । विशेषविहितेन
तत्कृतानेन सामान्यविहितस्य दधिदानस्य बाध इति भावः । सम्प्रदानेति । दानपात्रे-
त्यर्थः । सामान्यशास्त्रे विशेषशास्त्रेण स्वसार्थस्याथ स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन सङ्कोचो
विधीयते । यथा ‘शरमयं बहिः’ इति विशेषशास्त्रेण ‘कुशमयं बहिः’ इति सामान्यशास्त्रे
स्वप्रवृत्तियोग्याभिवारिकर्मातिरिक्तत्वेन, यथा वा ‘शल इग्—’ इति विशेषशास्त्रेण ‘च्ले’
‘सिच्’ इति सामान्यशास्त्रे स्वप्रवृत्तियोग्येणुपपन्नशक्त्यन्तधात्वन्वविहितोत्तरलिङ्गितत्वेन, यथा
वा ‘तत् कौण्डिन्याय’ इति विशेषविधानेन ‘प्राज्ञेभ्यो दधि देयम्’ इति सामान्यविधाने
स्वप्रवृत्तियोग्यकौण्डिन्यान्यत्वेन सङ्कोचो विधीयते, तथैव विशेषविहिताभ्याम् ‘प्रकृतम्—’
‘सम्भावनम्—’ इत्येताभ्यां सामान्यविहिते ‘तद्रूपम्—’ इत्यस्मिन् प्रकृतनिषेधोत्तर-
कालिकान्यसाधनान्यत्वेन, प्रकृतविषयकसदृशकरणकसम्भावनान्यत्वेन च सङ्कोचो विधीयते,
तथा चापहृत्युत्प्रेक्षालक्ष्यातिरिक्ते ‘सुखं चन्द्र’ इत्यादावेव रूपकलक्षणस्य प्रवृत्तिरिति नाति-
न्यातिरिति शङ्कादलस्याभिप्रायः । समाधत्ते—वैषम्येति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैलक्षण्य-
दिति भावः । तदेव वैलक्षण्यं स्फोरयति—विशेषशास्त्रम् इति । ग्राह्यत् इति । न त्वग्राह्य-
दिति भावः । तस्यैव तद्दीजत्वात् । धर्म इति । अभेदस्वरूप इत्यर्थः । अयं भावः—दृष्टान्त-
भूतानि वस्तूनि, शास्त्ररूपाणि धवनानि, न धर्मरूपाणि, अतस्तत्रैतत्सम्भवति यदेक शास्त्र-
मुपरस्य शास्त्रस्य विषय स्वविषयातिरिक्तत्वेन सङ्घटितं कुर्यादिति, प्रकृते ॥ तत्तदलङ्कारस्य
धर्मरूपं तत्तद्वक्षणम् इति नैतत्सम्भवति यद्यसंज्यमानं तदधर्मात्मक लक्षण स्थानविशेषाभि-
रस्य स्थानविशेष एव केन्द्रितं कृतं स्यादिति, यथा घटत्वं पृथिवीत्वद्रव्यत्वादिरहितेऽधि-
करणे स्थापयितुं न शक्यम् इति । उपसदृशति—तस्मादिति । बाधाधसम्भवादिति तदर्थः ।
‘अस्मिन् लक्षणे इति । मम्मटकृतरूपकलक्षणे इत्यर्थः । तथा च दुष्टमेव मम्मटीयमेतद्रूपकल-
क्षणमिति भावः । पुनर्मम्मटलक्षणसमर्थनाद्यान्यदार्ष्टान्तिक्यं समाधत्ते—न चेति । अयमत्र निर्ग-
लितार्थः—उत्तलक्षणानुसारम् उत्प्रेक्षायां सम्भावनं स्वरूपम्, रूपकस्य चाभेदः, तथा च
नानयोः सङ्कीर्णताप्रसङ्गः कथमपि सम्भवति, सर्वथा विभिन्नविषयकत्वात्तयोरित्यपि न सम्भ-
वदुक्तिकम्, विनयमनाविरहेण विषयसम्भावनवत् सम्भाव्यमानविषयाभेदस्यापि उत्प्रेक्षा-
स्वरूपत्वेनाङ्गीकरणीयत्वात्, तथा च सङ्कीर्णताप्रसङ्गः इत्याशयात् । ‘अभेदो रूपकम्’
इत्युक्तौ सम्भाव्यमानोऽप्यभेदो प्रदीतः शक्येतेति परमार्थः । ननु भवद्वात्या सम्भाव्य-
मानोऽभेद उत्प्रेक्षा । ये तु विषयसम्भावनामेवोत्प्रेक्षां मन्यन्ते, तन्मते न रूपकलक्षणस्यो-
त्प्रेक्षायामतिप्रसङ्गः इति चेत् १ सत्यम्, परन्तु तथा सति लक्षणविषये मतभेदात् उत्प्रेक्षा-
यामेव । उत्प्रेक्षा-रूपकमित्यलङ्कारद्वयव्यवहारः आपतेत् । उत्प्रेक्षायां विषयाभेदस्य सम्भा-
व्यमानतया न निश्चय इति अतिव्याप्तिरित्यायं रूपकलक्षणे निश्चयगोचरत्वेनाभेदो विशेष-

णीय इति, चेत् ? समानतो मदीयः पन्थाः । कथंचिद्रूपकलक्षणे निश्चयः प्रवेष्टव्योऽन्यथाऽ-
नुगतं लक्षणं न स्यादित्येव ममाभिप्राय इति ।

पूर्वोक्त अतिव्याप्तिवारक कुछ बुक्तियाँ बतलाकर पुनः उनके खण्डन किये जाते हैं—
न च इत्यादि । 'प्रकृतं यत्—अर्थात् उपमेय का निषेध करके उसे उपमान सिद्ध करना
अपह्नुति कहलाता है ।' और 'सम्भावनाम्—अर्थात् उपमेय की उपमान के रूप में
सम्भावना उल्लेख कहलाती है ।' तात्पर्य यह है कि—अभेद के रहने पर भी जहाँ निषेध
हो वहाँ अपह्नुति होती है और जहाँ सम्भावना हो वहाँ उल्लेख होती है । ये दोनों
क्रमशः सम्प्रदत्त अपह्नुति और उल्लेख के लक्षण हैं, जो विशेषरूप हैं और उक्त रूपक-
लक्षण है सामान्यरूप, अतः इन विशेष लक्षणों से उस सामान्य लक्षण का बाध होगा—
अर्थात् ये दोनों विशेष लक्षण, 'मेरी प्रवृत्ति होने योग्य निषेध तथा सम्भावना स्थिति
से भिन्न शब्द अभेद में ही तुम प्रवृत्त होगे' इस प्रकार से उक्त सामान्य रूपकलक्षण
में सङ्कोच कर देंगे, फलतः 'यह सुख नहीं, चन्द्र है' इत्यादि अपह्नुति और 'मानो सुख
चन्द्र है' इत्यादि उल्लेख के लक्ष्यों से भिन्न 'सुख चन्द्र है' इत्यादि ही रूपक के लक्ष्य
होंगे । इस तरह का बाध्य-बाधकभाव भिन्न-भिन्न शास्त्रों तथा लोक में भी देखा जाता
है । जैसे—सामान्य वस्त्र के प्रकरण में 'कुर्तों का वहि होना चाहिये' ऐसा विधान
किया गया है और आभिचारिक (भारणात्मक) वस्त्रप्रकरण में 'सरकण्डे का वहि होना
चाहिये' ऐसा विधान किया गया है । अब ये दोनों ही विधान कैसे सार्थक हों, इसलिये
इन दोनों विधानों में बाध्य-बाधकभाव माना जाता है अर्थात् विशेषविहित द्वितीय
वाक्य होता है बाधक और सामान्यविहित प्रथम वचन होता है बाध्य, फलतः उक्त
विध सङ्कोचप्रक्रिया के द्वारा बाधक वचन के विषयों—आभिचारिक वस्त्रों—से अन्य
स्वर्गादिप्रापक वस्त्र ही बाध्यवचन के विषय होते हैं । यह तो हुआ मीमांसाशास्त्र का
दृष्टान्त । अब व्याकरणशास्त्र का दृष्टान्त देखिये—व्याकरणशास्त्र में सामान्यतः 'च्लेः
तिच्' इस सूत्र से 'च्लि प्रत्यय' के स्थान में 'तिच्' आदेश विहित है और उसी 'च्लि
प्रत्यय' के स्थान में 'शल इग्—' इस सूत्र से 'क्त्' आदेश भी विशेषतः विहित है ।
अब वहाँ भी दोनों सूत्रों की सार्थकता के लिये बाध्य-बाधकभाव मानना पड़ता है—
अर्थात् विशेषविहित 'क्त्' से सामान्यविहित 'तिच्' का बाध होता है, फलतः उक्त
सङ्कोचात्मक प्रक्रिया के अनुसार 'क्त्' के लक्ष्य से भिन्न ही 'तिच्' का लक्ष्य होता है ।
लोक में भी इस तरह के दृष्टान्त का अभाव नहीं है । देखिये—जय किसी के द्वारा
ऐसा कहा जाता है कि—'सभी माझणों को वही दिया जाय' और 'कौण्डिन्य को तक्र'
तब माझण होने के नाते यद्यपि 'कौण्डिन्य' को भी वधिदान प्राप्त है, तथापि विशेष-
विहित तक्रदानवचन से सामान्यविहित वधिदानवचन का बाध हो जाने से उस
(कौण्डिन्य) को तक्र ही दिया जाता है वधि नहीं, फलतः तक्रदान का जो सम्प्रदान—
दानपात्र—होता है, उससे भिन्न ही वधिदान का सम्प्रदान—दानपात्र—होता है । ठीक यही
वात प्रकृत में भी है अर्थात् जहाँ निषेध तथा सम्भावना वाला अभेद हो वहाँ क्रमशः
अपह्नुति और उल्लेख होगी और जहाँ केवल अभेद होगा वहाँ रूपक । अतः रूपक-
लक्षण की अतिव्याप्ति उल्लेख में हो जायगी ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, यह
यदि सम्प्रदत्त अथवा उनके समर्थक जन कहें, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि
आपने जो-जो दृष्टान्त उपस्थित किये हैं वे विषम हैं—प्रकृत में ठीक ठीक बैठते नहीं । अभि-
प्राय यह कि ये सब (दृष्टान्त में आये हुये) शास्त्रीय किंवा लौकिक विधायक वचन
हैं, उनमें ऐसी बात हो सकती है कि—जो वचन 'अपने लक्ष्यों से भिन्न लक्ष्यों में ही
तुम लोग' इस तरह का बोध करावे, वह बाधक कहलावे और जिस वचन के विषय
में उक्त प्रकार का बोध कराया जाय वह कहलावे बाध्य, पर वहाँ तो ऐसी बात संभव
नहीं, क्योंकि रूपक का लक्षण क्या है ? रूपक में रहनेवाला असाधारण धर्म (सभी

लक्षण लक्षणीय के असाधारण धर्म ही होते हैं)। वह धर्म यदि उत्प्रेक्षा में भी पाया जाय, तब कौन उसको वहाँ से हटाकर अन्यत्र केन्द्रित कर सकेगा। अर्थात् रूपक का असाधारण धर्म जब उत्प्रेक्षा में रहेगा, तब 'यह उत्प्रेक्षा है, रूपक नहीं' यह बात कोई कैसे समझा सकेगा। रूपक का लक्षण हुआ सामान्य धर्म और उत्प्रेक्षा का लक्षण हुआ विशेष धर्म यही न, पर इससे क्या? विशेष धर्म सामान्य धर्म को हटाकर रहे ऐसी बात तो है नहीं, घड़ों में 'घटत्व'रूप विशेष धर्म के साथ साथ पृथ्वीत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य धर्म भी रहते हैं, अब यदि कोई पृथ्वीत्व तथा द्रव्यत्व को हटाकर केवल घटत्व को किसी अधिकरण में रखना चाहे तो क्या रख सकता है? कभी नहीं। उसी तरह अपहृति और उत्प्रेक्षा में निषेध और समाधनारूप विशेषधर्मों के साथ रहनेवाले अभेद-रूप सामान्य धर्म को कोई हटा नहीं सकता। और अभेद जब है, तब रूपक भी वहाँ आपको मानना ही पड़ेगा, क्योंकि आपके लक्षणानुसार उपमान-उपमेय का अभेद रहने पर रूपक होगा ही। अतः इस सम्मटभट्ट रूपकलक्षण में अतिव्याप्ति दोष है, आप कहेंगे—उत्प्रेक्षा का स्वरूप है सम्भावना और रूपक का अभेद, फिर 'अभेद होना' जो रूपक का लक्षण है उसकी उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति कैसे होगी? दोनों दोषातुष्ट हैं। इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि—जब उत्प्रेक्षा में सम्भावना तथा अभेद दोनों की उपलब्धि होती है, तब अभेद से युक्त सम्भावना के समान सम्भावना से युक्त अभेद को भी उत्प्रेक्षा कहा जा सकता है—अर्थात् सम्भावना को ही प्रधान और अभेद को गौण मानने में कोई हानि प्रमाण नहीं है। और जब अभेद की प्रधानता मान ली जायगी, तब उसको रूपक न मानने में आपका कोई भी तर्क सफल नहीं हो सकता। दूसरे, रूपक का ऐसा लक्षण करने पर उत्प्रेक्षा में उपमेय के अभेद के हिसाब से रूपक का और सम्भावना के हिसाब से उत्प्रेक्षा का इस तरह दो अलङ्कारों का व्यवहार होने लगेगा। कारण, आप किसी भी व्यवहार को हटा नहीं सकते। अब यदि आप कहें कि—रूपकलक्षण में अभेद के साथ 'निश्चीयमान—अर्थात् निश्चित किया जानेवाला' यह एक विशेषण और लगा देंगे, अतः उत्प्रेक्षास्थलीय सम्भाव्यमान अभेद रूपक नहीं कहला सकेगा, तो मैं भी इसका स्वागत करूँगा—स्वागत न कैसे करूँ, क्योंकि यह तो मेरा ही बताया रास्ता है—अर्थात् जिस तरह मैंने रूपकलक्षण में 'निश्चय' का प्रवेश कराया है उस तरह यदि आप भी उसका प्रवेश अपने लक्षण में करा दें तब तो कोई विवाद ही हम और आप में नहीं रहा।

सम्प्रति प्राचीनाभिमतान् रूपकभेदानाञ्चे—

• तदिदं रूपकं सावयवं निरवयवं परम्परितं चेति तावत्त्रिविधम्। तत्रार्थं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति द्विविधम्। द्वितीयमपि केषलं मालारूपकं चेति द्विविधम्। तृतीयं च रिलष्टपरम्परितं शुद्धपरम्परितं चेति द्विविधं सत्प्रत्येक केवलमालारूपत्वाभ्यां चतुर्विधमित्यष्टविधमाहुः।

इदं पूर्वोक्तम्। तावत् आदौ। आहुरिति। प्रकाशकप्रकाशय इति भावः। एतत्सूचिता-
श्चिस्तत्त्वो स्फुटीभविष्यति। अन्यत् सुगमम्।

अब रूपक के प्राचीनाभिमत भेद किये जाते हैं—तदिदमित्यादि। पूर्वोक्त रूपक के प्रथमतः तीन भेद हैं—सावयव, निरवयव और परम्परित। उनमें से सावयव रूपक के दो प्रकार होते हैं—एक समस्तवस्तुविषय और दूसरा एकदेशविवर्ति। निरवयव रूपक के भी दो उपभेद होते हैं—एक केवलरूपक तथा दूसरा मालारूपक। परम्परित रूपक के चार उपभेद होते हैं—रिलष्टपरम्परित केवलरूप और मालारूप, इसी तरह शुद्धपरम्परित केवलरूप और मालारूप। इस प्रकार से रूपक के कुल आठ भेद होते हैं—ऐसा सम्मटभट्ट आदि कहते हैं। 'सम्मटभट्ट आदि कहते हैं' इस कथन के कुछ अरुचि सूचित होती है, इस अरुचि का बीज आगे स्पष्ट किया जायगा।

उक्तेषु प्रधानभेदेषु लिखितेषु तावत्प्रथमभेदं लक्षयति—

तत्र—

परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम् ।

तत्रेति । उक्तभेदान्ना मध्य इत्यर्थः । परस्परं इति । परस्परं भिन्नं, सापेक्षा आश्रिता, निष्पत्तिः सिद्धिर्येषां तेषामित्यर्थः । संघातः समूहः । अन्योन्यापेक्षया सिद्धयतां रूपकाणां समूहः सावयवरूपकं कथ्यते इति भावः ।

रूपक के पूर्वोक्त भेदों के लक्षणकरणप्रसङ्ग में सर्वप्रथम प्रथम भेद का लक्षण किया जाता है—तत्र इत्यादि । उक्त भेदों के मध्य में—एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होने वाले रूपकों के समूह को सावयव रूपक कहते हैं ।

सावयवरूपकोपभेदौ लिखयितुस्तावत् प्रथमोपभेदं लक्षयति—

तत्रापि—

समस्तानि वस्तून्यारोप्यमाणानि शब्दोपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।

तत्रापीति । सावयवरूपकेऽपीत्यर्थः । आरोप्यमाणानीति । आरोपस्य विषयिण इत्यर्थः । उपमानानीति यावत् । यत्र सावयवे रूपके सर्वाण्युपमानानि शब्दतः प्रतिपादितानि तिष्ठन्ति तत्समस्तवस्तुविषयनामक रूपकं कथ्यते इति भावः ।

सावयव रूपक के प्रथम उपभेद का लक्षण किया जाता है—तत्रापि इत्यादि । सावयव रूपक में भी, उसको 'समस्तवस्तुविषय' नामक रूपक कहा जाता है, जिसमें सभी आरोपणीय-उपमानभूत-पदार्थों का ग्रहण शब्दतः किया गया रहता है ।

द्वितीयसावयवरूपकोपभेदं लक्षयति—

यत्र च कचिद्वयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं कचिच्चार्यसामर्थ्याक्षिप्तं सदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिके अवयवरूपके विवर्तनात्स्वस्वरूपगोपनेनान्यधात्वेन वर्तनादेकदेशविवर्ति ।

यत्र चेति । यत्र तु संघातात्मकसावयवरूपके इत्यर्थः । अत्र सामर्थ्याक्षिप्तं तत् एकदेशविवर्ति इत्यसौ लक्षणम्, अपराशब्दो नामकरणव्याख्येति विवेकः । अवयवरूपके इति । रूपकसंघातस्यावयवविनोऽवयवे कस्मिंश्चिद्रूपके इत्यर्थः । विवर्तनादिति । विरुद्धतया वर्तनादित्यर्थः । विरुद्धत्वमेवाह—स्वेति । यस्मिन् रूपकसंघातात्मकतयाऽवयवविभूते सावयवरूपके एकावयवभूतरूपकपटकमुपमानं शब्दतो गृहीतं तथा अपरावयवभूतरूपकपटकमुपमानं न शब्दतो गृहीतमपि तु अर्थबललब्धं भवति तत् एकदेशविवर्तिरूपकं कथ्यते इति लक्षणार्थः । ननु कथमेतन्नामकरणम् इति चेत् ? एकदेशे—उपमानवाचकपदशून्ये अवयवभूते रूपके—विवर्तनात्—विरुद्धतया वर्तनात्—शब्दोपात्तोपमानकावयवरूपकापेक्षयाभिन्नतया, रूपकस्वरूपगोपनपूर्वमित्यर्थः, स्थितेरिति बोध्यम् ।

सावयव रूपक के द्वितीय उपभेद का लक्षण किया जाता है—यत्र च इत्यादि । जिस सावयव रूपक में, किसी अवयव में उपमान शब्दतः कथित हो और किसी अवयव में वह (उपमान) अर्थतः आक्षिप्त होता हो, वह 'एकदेशविवर्ति रूपक' कहलाता है । यह रूपक, एकदेश-अर्थात् जहाँ उपमान का ग्रहण शब्दतः नहीं किया हो उस अवयवभूत रूपक—में अपने स्वरूप को द्विपाद्य रहता है, अतः उसकी स्थिति अन्यथा—अर्थात् जिनमें उपमान का शब्दतः ग्रहण किया गया हो उनसे भिन्न—होती है, अतः इसे 'एकदेशविवर्ति' कहा जाता है ।

नामकरणबीजविषयकमतभेदमाह—

यद्वा—

एकदेशे उपात्तविषयिके अत्रयवे विशेषेण स्फुटतया वर्तनादेकदेशविषयि ।।

निनिगमनाभावादाह यद्वेति । अत्रयवेति तदर्थः । अत्रयव इति अत्रयवरूपक इत्यर्थः ।

एतच्च 'एकदेशे' इत्यस्य व्याख्या । विवर्तनपदघटकव्युपसर्गस्यार्थमाह—विशेषेणैति । तद्व्याख्यामाह—स्फुटतयेति । अन्यत् स्फुटम् ।

'एकदेशविवर्ति' इस नामकरण में मतभेद से दूसरी युक्ति दिखलाई जाती है—यद्वेत्यादि । अथवा, यह रूपक एकदेश में—अर्थात् नहीं शब्दतः उपमान गृहीत हो यहाँ विशेषरूप से—अर्थात् स्पष्टतया—वर्तमान रहता है । तात्पर्य यह कि अन्य अक्ष में स्पष्टतया वर्तमान नहीं रहता है अतः इसे 'एकदेशविवर्ति' कहा जाता है ।

उदाहरण निर्देशमाह—

समस्तवस्तुविषयं सावयवं यथा—

समस्तवस्तुविषयाख्यसावयवरूपकोदाहरण निम्ननिर्दिष्टमवगन्तव्यमिति भावः ।

समस्तवस्तुविषयं नामक सावयव रूपक, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

'सुविमलमौक्तिकतारे घबलाशुकचन्द्रिकाचमत्कारे ।

वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः ॥'

नायिका नायिकामाह—सुविमलानि अतिस्वच्छानि, मौक्तिकानि मुक्ताभरणानि, तारा नक्षत्राणि यत्र तत्तद्युद्धौ रूपम्, अशुकशुभ्रम्, अशुक वसनम्, चन्द्रिकाया चन्द्रज्योत्स्नाया चमत्कारो क्लिप्तौ यत्र सादृश्ये, वदन मुखम्, परिपूर्णं सम्पूर्णमण्डलं, चन्द्री यत्र सादृश्ये, हे सुन्दरी ! त्वम्, राका पूर्णिमा, असि वर्तसे, अत्र विषये, सन्देहः सशयो नास्तीत्यर्थः । अत्र पद्ये चत्वारि रूपकाणि—मुक्तानक्षत्रयोरपम्, वसनज्योत्स्नयोर्द्वितीयम्, मुखचन्द्रयोस्तृतीयम्, नायिकापूर्णमयोध चतुर्थम् । एषा च रूपकाणां सिद्धिः परस्परसापेक्षा एकं रूपं विनाऽपरस्य रूपस्यायुक्तत्वेनानुत्पानात्, अतः सावयवरूपकोदाहरणस्वमत्र सुस्थम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सुविमल इत्यादि । हे सुन्दरी ! तू प्यारी की रजती हो—इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि—तुम में, तेरे आभूषण में विशेषे मोती के दाने विमलतर तारे हैं, तेरा घबल वसन चाँदनी की चमचमाहट है, तेरा मुख पूरा चाँद है—इन सभी अक्षों के जुटे रहनेपर भला तू पूर्णिमा होने में कोई सन्देह कर सकता है ? यहाँ, मोती के दाने और तारों में, वसन और चाँदनी की चमचमाहट में, मुख और चन्द्र में तथा सुन्दरी और पूनी की रबनी में रूपक हुए हैं, ये सभी रूपक परस्पर सापेक्ष हैं—एक के बिना दूसरे की सिद्धि हो ही नहीं सकती, अतः 'सावयव रूपक' का उदाहरण यह पद्य कहा जा सकता है ।

एतदुदाहरणगतं विशेषमाह—

अत्र समुदायात्मकस्य सावयवरूपकस्यावयवानां सर्वेषामपि वस्तुतः समर्थसमर्थकभावस्य परस्पर तुल्यत्वेऽपि कवे राकारूपस्यैव समर्थत्वेनाभिप्रेतत्वात्समर्थकतयोपादानमितरेषामिति गम्यते । एवं स्थिते समर्थकरूपकाणां विषयविषयिणोः पृथग्विभक्तोरवयवाद्गुणाद्यत्वेऽपि समर्थरूपकस्य तयोः पृथग्विभक्तिश्रवणाद्विधेयतया उदादाय सङ्घातात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि विधे-

यत्त्वमत्र व्यपदिश्यते । यथा भटसङ्घातान्तर्गतस्य मुख्यस्य कस्यापि भटस्य जय-पराजयाभ्यां भटसङ्घातो जितः पराजितश्चेत्युच्यते ।

अवयवानामिति । मुक्तानक्षत्र वसनज्योत्स्नो-मुखचन्द्र-नायिकापूर्णिमारूपाणामवयव-रूपकाणामित्यर्थः । अभिप्रेतत्वादिति । विधेयतया वर्णनीयत्वादिति भावः । तयोर्विषय-विषयिणोः । तदादावेति । तदीयविधेयत्वमादायेत्यर्थः । अत्रेति । प्रकृतपक्ष इत्यर्थः । अन्यधर्मेणान्यत्र व्यवहारे दृष्टान्तमाह—यथेति । अथ भावः—‘सुविमलः’ इति पद्यगतं समस्तवस्तुविषयसावयवरूपक विधेयमिति आलङ्कारिकसम्मतो व्यवहारः । ननु मुक्तान-क्षत्रयोः, वसनज्योत्स्नयोः मुखचन्द्रयोश्च रूपकाणां समस्तपदगतानां न विधेयत्वव्यवहार-धोम्यत्वम्, तेषु उपमेयोपमानयोः पृथग्विभक्त्यन्तपदानुपस्थाप्यत्वात्, उद्देश्य-विधेय-भावबोधे च पृथग्विभक्त्यन्तपदजन्योपस्थितेस्तन्मत्त्वात्, एवमाविधेयानि तानि रूपकाणि चरम राकारूपकं च समादाय समुदायात्मके सावयवरूपके कथं विधेयत्वव्यवहारः सङ्गच्छे-दिति चेत् ? सैनिकसमूहगतप्रधानसैनिकस्य जये पराजये वा यथा सैनिकसमूहस्य जयः पराजयश्च व्यवहियते, तथैव पृथग्विभक्त्यन्तपदोपस्थाप्यतया विधेयीभूतस्य प्रधानस्य नायिकाराकारूपकस्य समुदायात्मकतावयवरूपकपटकस्य विधेयत्वमादाय समुदायात्मक-सावयवरूपकेऽपि विधेयत्वव्यवहारः सङ्गत इत्याशयात् । न च किमत्र राकारूपके प्राधान्यम् इति वाच्यम्, समर्थ्यत्वस्यैव तत्र तत्त्वात् । न च कुतस्तस्यैव समर्थ्यत्वम्, समूहा-त्मकसावयवरूपकपटवत्सकलरूपकाणां समर्थ्य-समर्थकभावस्य वस्तुतस्तुन्यत्वादिति वक्त-व्यम्, तुल्येऽपि सर्वेषां वस्तुतः समर्थ्य-समर्थकभावे चरमस्य राकारूपकस्यैव समर्थ्यत्वेन कविविशेषाविषयत्वात् । तथा च तदङ्गानि रूपकाणि समर्थकान्यनुवाचानि चेति ।

‘सुविमलः’ इस उदाहरण में माने जाने वाले सावयव रूपक की विधेयता सिद्ध करने की युक्ति दिखलाई जाती है—अन्न इत्यादि । यह सावयव रूपक अनेक रूपकों का समूह-रूप होता है यह बात लक्षण से ही स्पष्ट है । इस समूह के अन्तर्गत जितने अवयवभूत रूपक होते हैं उन सबों में समानरूप से समर्थ्य समर्थकभाव होता है—अर्थात् सभी को समर्थ्य और समर्थक दोनों कह सकते हैं, क्योंकि सबको सब की अपेक्षा बराबर है, फिर भी यहाँ नायिका और पूर्णिमा का जो रूपक है उसी को समर्थ्य माना जायगा और सबको समर्थक, क्योंकि कवि ने नायिका-पूर्णिमा-रूपक का समर्थन करने के लिये ही अन्य रूपकों का सर्जन किया है । फलतः यहाँ समर्थ्य होने के कारण नायिका पूर्णिमा-रूपक प्रधान है और अन्य रूपक—अर्थात् मुक्तानक्षत्ररूपक, वसनज्योत्स्नारूपक तथा मुख-चन्द्ररूपक, समर्थक होने के कारण, अन्नभूत हैं । ऐसी स्थिति में समर्थक सभी रूपक यद्यपि अनुवाद्य कहे जायेंगे, क्योंकि उन रूपकों में आए हुए उपमान-उपमेयों की उपस्थिति पृथक्-पृथक् विभक्ति वाले पदों से बनी हुई है—अर्थात् वे रूपक समस्त पदों के वाच्य हैं, अतः समुदाय-समस्त पदसमूह-से एक ही विभक्ति आई है और उद्देश्य-विधेयभाव के बोध में पृथक् विभक्ति वाले पदों से अर्थ का उपस्थित होना कारण माना जाता है, तथापि समर्थ्य (प्रधान)रूपक विधेय कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें आए हुए उपमान-उपमेय की उपस्थिति पृथक्-पृथक् विभक्ति वाले पदों से हुई है—अर्थात् वहाँ समास नहीं किया गया है और उस एक अक्ष की विधेयता को लेकर ही समूहारामक सावयव रूपक में विधेय होने का व्यवहार किया जाता है । जैसे—योद्धाओं के समूह के अन्तर्गत किसी मुख्य योद्धा के जय अथवा पराजय से योद्धाओं के समूह का जय अथवा पराजय व्यवहृत होता है । सारांश यह हुआ कि—यदि समर्थ्यरूपक विधेय हो तो समग्र सावयवरूपक विधेय माना जाता है, और उसके अक्षररूप समर्थकरूपकों के अनुवाद्य होने का अनुरोध नहीं किया जाता ।

उदाहरणान्तरमाह—

‘ज्योमाद्गणे सरसि नीलिमदिज्यतोये
तारावलीमुकुलमण्डलमण्डितेऽस्मिन् ।
आभाति षोडशकलादलमङ्कुमृद्ग
सुराभिमुख्यविकचं शशिपुण्डरीकम् ॥’

कवि पूर्णेन्दु वर्णयति—नीलिमा नैल्यम्, दिव्य प्रसन्नतमम्, तौर्यं जलम्, यस्मिन्, तस्मिन्, तथा, तारावली नक्षत्रपङ्क्ति, मुकुलमण्डल कमलदलिकासमुदाय (कर्मधारय), तेन, मण्डितेऽलकृते, अस्मिन् प्रत्यये, ज्योमाद्गणे सरसि गगनसरोवरे, षोडश-कलाः [ज्योति शास्त्रस्यातत्तावत्सङ्ख्यायां ज्योत्स्ना, पञ्चानि पत्राणि यस्मिन् तत्, अङ्ग कलङ्क, अङ्ग भ्रमर, यस्मिन् तत्, तथा, सुरस्य सूर्यस्य, आभिमुख्येन सम्मुखागमनेन, विकचं विकसितम्, शशिपुण्डरीक चन्द्ररूप कमलम्, आभाति शोभत इत्यर्थः । परस्परसापेक्ष निष्पत्तिरूपकसङ्घातस्यात्र सत्त्वादिरनपि पर्यं समस्तवस्तुविषयसावयवरूपकोदाहरण-मिति भाव ।

दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—ज्योम इत्यादि । कवि पूर्णचन्द्र का वर्णन करता है—आकाश पंक सरोवर है । नीलिमा उसका दिव्य (प्रसन्न) जल । यह सरोवर नक्षत्रराशिरूप कमलकोरकों से विभूषित है । इस सरोवर में कलङ्क-रूप भ्रमर से युक्त षोडशकलारूप षोडश पत्तों वाला यह विकसित चन्द्र-रूप कमल, शोभित हो रहा है, यह कमल विकसित क्यों नहीं होता ? सूर्य के सामने जो है—सूर्य के सामने पक्ष और कमल खिले नहीं यह असंभव है । यहाँ भी परस्पर-सापेक्ष अनेक रूपों का समूह वर्णित है, अतः यह पद्य भी ‘समस्तवस्तुविषयक सावयवरूपक’ का उदाहरण समझा जाता है ।

उदाहरणान्तर-दान-निदानभूत निरोपमाह—

अस्य तु सावयवरूपकस्यानुवाद्यत्वमेव ।

पूर्वोदाहरणगत सावयवरूपक विधेयमासीत्, ‘ज्योमेति—’ पद्यगत तत्तु न विधेयम्, अपि तु अनुवाद्यमेव, कतिपयमर्थरूपकै सह समर्थस्य शशिपुण्डरीकरूपकस्यापि पृथग्-विभक्तिक्रमद्वयन्योपस्थितोपमानोपमेयकृताविरहेणोद्देशविधेयभावात्तद्विधात्, सर्वसु-क्ष्मस्य भानक्रियाया एव विधानाच्चेति भाव ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने का चीज बतलाया जाता है—अत्र तु इत्यादि । ‘सुवि-मल—’ इस प्रथम उदाहरण में सावयवरूपक विधेय था, पर ‘ज्योम—’ इस द्वितीय उदाहरण में वह विधेय नहीं है, अपि तु अनुवाद्य है, क्योंकि-समर्थक रूपों के साथ समर्थ अतएव प्रधानरूपक (चन्द्र-कमल) अंश में भी पृथक् विभक्तिर्वा नहीं है, अतः उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो सकता, फलतः यहाँ सभी रूपकाकान्त पदार्थों को उद्देश्य बनाकर भान क्रिया का ही विधान किया गया है ।

ननु सर्वमेतत्सत्यम्, परन्तु द्वितीयोदाहरणे सूर्याभिमुख्यविकचत्वं चन्द्रमसि वर्णितं कथं सङ्गतम्, सूर्याभिमुख्यकाले दिवसे चन्द्रविकासस्यागिद्वन्वादित्यत आह—

अत्र वर्ण्यस्य पूर्णचन्द्रस्य सूर्याभिमुख्य ज्योति शास्त्रसिद्धम् । तेन सूर्याभि-मुख्ये चन्द्रस्य कथं विकास इति न शङ्कनीयम् ।

‘ज्योमाद्गणे—’ द्वितीयोदाहरणे पूर्णचन्द्रो वर्णनीय, स च पूर्णिमागत एव तन्मव-तीति निर्वादात्, पूर्णिमान्द्रय सूर्याभिमुखो भवतीति ज्योति सिद्धान्तसिद्धं वस्तु । अयं

भाव—सूर्यतेजसैव चन्द्रस्तेजसो भवतीति नाविदितं रास्त्रज्ञानाम्, एवञ्च पूर्णिमायां पूर्णं सूर्यतेजधन्द्रे प्रतिफलति, अत एव तस्यां तिथौ चन्द्रमसः पूर्णत्वम्—अर्थात् तरया तिथौ पञ्चादयन्तरितौ सूर्याचन्द्रयसौ समानान्तरतया मिथोऽभिमुखौ विद्यत इति ।

द्वितीय उदाहरण में चन्द्रमा का सूर्याभिमुख होने के कारण विकसित होने की बात कैसे सङ्गत होगी ? क्योंकि 'दिनमें-सूर्य की अभिमुखावस्था में-चन्द्र का तिरोहित होना ही देखा जाता है' इस आशङ्का का उत्तर दिया जाता है—अत्र इत्यादि । 'व्योमाद्वगे—' इस द्वितीय उदाहरण में जिस पूर्णचन्द्र का वर्णन करना कवि को अभीष्ट है, वह पूर्ण चन्द्र पूर्णिमा तिथि में ही होता है और उस तिथि में चन्द्र, सूर्य के आगने सामने रहता है, यह बात व्योति-शास्त्र के सिद्धान्त भाग में प्रसिद्ध है—अर्थात् सूर्य के तेज से ही चन्द्र में तेज आता है और जिस समय सूर्य के सामने चन्द्र पड़ता है उस समय चन्द्र का पूर्ण प्रकाश दिखाई पड़ता है और वह समय है पूर्णिमा, क्योंकि उस तिथि में सूर्य तथा चन्द्र में व शक्तियों का अन्तर पड़ता है, अतः समानान्तर रेखा पर स्थित सूर्य-चन्द्र परस्पर अभिमुख रहते हैं, अतएव सूर्य की अभिमुखता में चन्द्र का विकास कैसे होगा यह शङ्का नहीं करनी चाहिए ।

सावयवरूपकस्य द्वितीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

एकदेशविधतिं सावयव यथा—

सावयवरूपकस्यैकदेशविधतिनामको द्वितीयो भेदो येन प्रकारेण सम्पद्यते स प्रकारो लक्ष्यगततया प्रदर्श्यते इति भावः ।

सावयव रूपक के द्वितीय भेद का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है— एक इत्यादि । एकदेशविधतिं सावयव रूपक जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘भव-प्रोक्ष-प्रौढातप-निवह-सन्तप्त वपुषो

बलाकुन्मूल्य द्राक्षनिगडमविशेक व्यतिकरम् ।

विशुद्धेऽस्मिन्मात्मासृत्सरोसि नैराशये-शिशिरे

विगाहन्ते दूरीकृतफलपञ्जालाः सुकृत्विनः ॥’

भवरूपं संसारालम्बो, व, प्रोक्षः तापमयः समय-विशेषः, तस्य, प्रौढेन बलवत्तरेण, आतप-नियजेन आतपरूपस्य ताप विशेषस्य समूहेन, सन्तप्तानि व्याकुलीकृतानीति यावत्, नरूपि शरीराणि वेपा ताहताः, सुकृतिनः पुण्यवन्तो जनाः, अविवेकाः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योर्भेदज्ञानराहित्यम्, तस्य व्यतिकरम् सम्बन्धम्, निपटं पाशम्, अज्ञानाशयस्वरूपबन्धन-साधनमिति समुदितार्थः, द्राक् शीघ्रम्, बलात् बलात्कारेण, कुन्मूल्य मूल्यतो निरस्य, दूरीकृतं नाशितम्, फलपञ्जालं पापपुञ्जम्, नैराहताः सन्तः, नैराशयेन सासारिकविषयवैमुह्येन, शिशिरे शीतले, अथ च विशुद्धे निर्मले, अस्मिन् अतिनिष्ठस्थे आत्मासृत्-सरोसि आत्मरूपे पीयूषसरोवरे, विगाहन्ते निगच्छन्ति-मग्नपूर्वकं स्नानतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भव इत्यादि । संसार वह प्रोक्ष ऋतु है जिसके प्रबल धूप-समूह (बलेश विशेष) से मनुष्यों के शरीर झुलसते रहते हैं, पर जय कोई सद्गुरु मिल जाता है, तब उनके सद्गुणों से धर्माचरण में प्रवृत्ति बन जाती है तभी उनके पाप-जाल दूर चले जाते हैं और जब मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं, तब वे अतिशीघ्र जोर जयर्दस्ती, अपने में वर्तमान अज्ञान-सम्बन्धरूप पाश को जड़मूल से तोड़कर विशुद्ध तथा विषयवैमुह्य के कारण शीतल इस आत्मरूप अमृत-सरोवर में अवगाहन करने लगते हैं—डुबकियाँ लगाने लगते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सहचरैर्निगडादिरूपकैः सुकृतिषु गजरूपकमाक्षिप्यते ।

सहचरैरिति । सहवर्णितैरित्यर्थः । अनेनाद्येपकत्वयोग्यता, गजरूपकस्य प्राधान्यं च सूचितम् । निगडादीति । आदिपदेन ग्रीष्मसरोवरादिरूपकाणां संप्रहो बोध्यः । अयं भावः—‘भवग्रीष्म—’ इति श्लोके मिथ सापेक्षसिद्धिकानि बहूनि रूपकाणि सन्तीति तत्सङ्घातस्य सावयवरूपरूपम् तत्रापि समर्थकरूपकाणाम् उपमानानि शब्दोपात्तानि, समर्थरूपकोपमानं न शब्दोपात्तम् अपि त्वार्यमिति एकदेशविधित्वञ्चात्र सिद्धयतीति ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘भवग्रीष्म—’ इस पद्य में ससार ग्रीष्म का, अज्ञान सबन्ध-पाश का, आत्मा सरोवर का और गज पुण्यवानों का रूपक वर्णित है जो परस्पर सापेक्ष हैं, अतः इन रूपकों का समूह सावयव रूपक कहलाता है और वह सावयव रूपक भी इसलिये एकदेशविधित्व कहलाता है कि—समर्थकरूपक शब्दतः कथित है और उन सहचारी समर्थकरूपकों से स्वासकर पाशरूपक से समर्थ-प्रधान ‘गज-पुण्यवानों’ का रूपक शब्दतः उक्त नहीं रहनेपर भी आक्षिप्त हो जाता है । स्पष्ट अभिप्राय यह कि—जब शरीरताप के कारण बेबी-तोड़कर सरोवर में मगजन करने की बात मनुष्य में घणित हुई है, तब उस वर्णन से मगजन करनेवाले मानवों की गजरूपता स्वयं विदित हो ही जाती है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे ।

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘रूपजला चलनयना नाभ्यावर्तो कचावलीभुजगा ।

मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयं तरुणीतरङ्गिणी विपमा ॥’

कवि कथयति—रूप सौन्दर्य, जल यस्या सा, चले चञ्चले, नयने यस्या सा, अत्र नयनयोर्मनिरूपताऽक्षिप्यते, नाभि आवर्तो यस्या सा, तथा कचावली केशसमूह भुजगा सर्पो यस्या सा इयं प्रपञ्चभूता, सा तादृशी, विपमा भयङ्करी, तरुणीतरङ्गिणी युवतीरूपा नदी, यत्र यस्या नद्या, सन्तं रावणां, मज्जन्ति भ्रमयाहन्ति ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—रूपजला इत्यादि । यह युवती वह भयङ्कर नदी है, जिस में सगजन डूब जाते हैं । युवती नदी कैसे है ? क्यों नहीं है, जब कि एक नदी में रहने वाली सभी स्त्रियों उस में भी वर्तमान हैं—इस में रूप ही जल है, चञ्चल नेत्र मङ्गलियां हैं, नाभि आवर्त है और केशों की पट्टि सर्प है ।

उदाहरणान्तरदाने बीजमुद्गावयति—

पूर्वं तु कवेः समर्थत्वेनाभिमतस्य रूपकस्याद्येपः, इह तु समर्थकत्वेनाभिमतस्य नयनयोर्मनिरूपकस्येति विशेषः ।

‘भवग्रीष्म—’ इति प्रथमोदाहरणे समर्थत्वेन कविविवक्षाविषयस्य शब्दतोऽनुक्तस्य ‘गजसुकृतिरूपकस्य’ अर्थोदाद्येपो भवति, ‘रूपजला—’ इति द्वितीयोदाहरणे पुनः समर्थकत्वेन कविविवक्षाविषयस्य शब्दतोऽनुपात्तस्य नयनयोर्मनिरूपकस्यार्थोदाद्येप इति द्वयोऽुदाहरणयोर्विशेषः । एतद्विशेषप्रदर्शनार्थोदाहरणद्वयदानमिति भावः ।

द्वितीय उदाहरण दिखलाने में बीज कहा जाता है—एवं तु इत्यादि । प्रथम उदाहरण—‘भवग्रीष्म—’ में उस गज रूपक का अर्थतः आद्येप होता है, जिसे कवि समर्थ

रूप में उपस्थित करना चाहता है, और द्वितीय उदाहरण—‘रूपजला’—में उस मीन रूपक का अर्थतः आशेष होता है, जिसे कवि समर्थक रूप में वर्णित करना चाहता है। सारांश यह कि समर्थ्य अथवा समर्थक दोनों रूपकों में से किसी भी प्रकार के रूपक का अर्थतः आशेष होने पर एकदेशविवर्ति रूपक होता है—उन में से समर्थ्य के आशेष वाले रूपक का उदाहरण है प्रथम पद्य और समर्थक के आशेष का उदाहरण है दूसरा पद्य।

ननु रूपकसंघातात्मकस्यास्य सावयवरूपकस्य कथं रूपकभेदेषु पृथग्गणनेति शङ्का समाधातुमाह—

अत्र च चमत्कारविशेषजनकतया रूपकसंघातात्मकमपि सावयवरूपकं रूपकालंकृतिभेदगणनायां गण्यते । यथा मौक्तिकालंकृतिभेदगणनायामेकं नासामौक्तिकमिव सङ्घातात्मकमौक्तिकमध्वर्षादयोऽपि गण्यन्ते । अन्यथा माला-रूपस्योपमादेस्तद्वेदगणनेऽगणनप्रसङ्गात् । एतेन ‘यथा सङ्घातो गोभेदानां कपिलादीनां गणनायां यथा न गण्यते तथा रूपकभेदगणनाप्रस्तुतौ न तत्सङ्घातात्मकं सावयवं गणनीयम्’ इति परास्तम् ।

जनकतयेति । गणनायां हेतुरयम् । गण्यते इति । पृथगिति शेषः । सौक्यदृष्टान्तेन शिष्टमर्थं प्रतिपाद्यतिरेकसुखेन द्रव्यति—अन्ययेति । सङ्घातस्य प्रत्येकादवयवात्पृथग्गणने इति तदर्थः । तद्भेदेति । उपमालङ्कारभेदेत्यर्थः । साहित्यशास्त्रे चमत्कारवैलक्षण्येनैव भेदवैलक्षण्ये निदानम् । तथा च यथा मुक्तालङ्कारभेदगणनप्रसङ्गे एकं नासाभरण-भूतमौक्तिकमिव भिन्नविधौमासम्पादकतया मुकासमूहात्मका मुकामध्वर्षादयोऽपि पृथग्गण्यन्ते, तथैव एकस्य रूपकस्यापेक्षया चमत्कारविशेषोत्पादकतया रूपकसमूहात्मकं सावयवरूपकमपि रूपकालङ्कारभेदगणनप्रसङ्गे पृथक् परिगण्यते । यदि रूपकसङ्घातात्मकस्य सावयवरूपकस्य रूपकालङ्कारभेदेषु पृथग्गणनं न नियतं, तर्हि उपमासमूहात्मकस्य मालोपमादेरपि उपमादिभेदेषु पृथग्गणनं न करणीयं स्यात्, कियते सद्गणनं सर्वैरित्यतस्तद्वदस्यापि पृथग्गणनं कर्तव्यमेव । अन्यदृष्टान्तेन सावयवरूपकस्य पृथग्गणनभेदगणनेऽगणनं वैधिरुपेक्षितं निरसितुमाह—एतेनेति । उक्त्युक्त्युपन्यासेनेत्यर्थः । अस्य ‘परास्तम्’ इत्यत्रान्वयः । प्रस्तुतौ प्रस्तावे । मौक्तिक-कपिलादि तथैवावसरे शोसमूहो यथा पृथग् गोभेदत्वेन न परिगण्यते, तथैव रूपकभेदगणनावसरे रूपकसमूहात्मकस्य सावयवरूपकस्यापि पृथक् परिगणनं नोचितमिति केचिदान्वयते, किंतु तत्र मुक्तम्, प्रति-गोव्यक्तिवत् शोसमूहो नापरं किञ्चित् कार्यं करोतीति तस्य गोभेदगणनेऽगणनेऽपि एक-नासामौक्तिकापेक्षया भिन्नविधौकार्यकारित्वेन मौक्तिकसमूहात्मकमुकामध्वर्षादिवत् भिन्न-विधचमत्कारकारित्वेन रूपकसंघातात्मकस्य सावयवरूपकस्य पृथग्गणने बाधकभावादिति भावः ।

सावयवरूपकं जब रूपकों का समूह ही होता है तब उसकी गणना रूपकालङ्कार के पृथग् भेदों में यों की जाती है इस आशङ्का का समाधान करने के लिए कहा जाता है—अत्र च इत्यादि । साहित्यशास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के ‘चमत्कारों’ को उत्पन्न करने के कारण ही भिन्न-भिन्न भेद माने जाते हैं, ऐसी स्थिति में रूपकों का समूहरूप होने पर भी ‘सावयवरूपक’ की गणना रूपकालङ्कार के भिन्न भेद में होती है—अर्थात् ‘सावयवरूपक’ रूपकालङ्कार का एक पृथक् प्रकार माना जाता है, क्योंकि किसी एक रूपक में जैसा चमत्कार उत्पन्न होता है उससे सर्वथा भिन्न तरह का चमत्कार रूपक समूहात्मक ‘सावयवरूपक’ में होता है । इस बात की पुष्टि छैकिक दृष्टान्त से भी होती है । देखिए—मुक्ताभरणों की गणना करते समय जैसे एक मोतीयाला नासामौक्तिक

(नकुवेसर) एक पृथक् मुक्ताभरण के रूप में गिना जाता है वैसे ही अनेक दानोवाली (मुक्तासमूह रूप) मोती की माला भी एक पृथक् मुक्ताभरण के रूप में गिनी जाती है। ठीक भी है, एक मोती से बने आभूषण की अपेक्षा अनेक मोतियों से बने आभूषण में कुछ भिन्न ही शोभा होती है। इसी प्रकार 'सावयवरूपक' के विषय में भी समझना चाहिए। यदि रूपकसमूहात्मक 'सावयवरूपक' की गणना एक स्वतन्त्र रूपकप्रभेद के रूप में नहीं की जाय, तब जो सभी आलङ्कारिक छोग मालोपमा आदि को उपमा आदि के स्वतन्त्र प्रभेद के रूप में गिनते हैं, वह भी न बने, क्योंकि माला पमा भी अनेक उपमाओं का समूह ही होना है। यद्यपि कुछ लोग कहते हैं कि—जैसे गायों का वर्गीकरण करते समय कपिला आदि की तरह गायों को छुण्ड एक पृथक् वर्ग नहीं माना जाता, वैसे ही रूपकालङ्कार का वर्गीकरण करते समय रूपक समूहात्मक 'सावयवरूपक' को भी पृथक् वर्ग में नहीं गिनना चाहिये, परन्तु ऐसा कहनेवाले उक्त मुक्ताभरण वाले इष्टान्त से परास्त हो जाते हैं—सावयव यह कि गायों का वर्गीकरण उसके वर्ग को आधार बनाकर किया जाता है, अतः भिन्न-भिन्न वर्णवाली गायों को भिन्न-भिन्न वर्ग में गिनते हैं और नाना तरह के वर्णों वाले उसके छुण्ड को किसी खास वर्ग में नहीं गिनते, पर यहाँ तो वैसी बात नहीं है, यद्यपि अलङ्कारों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न तरह की शोभा को उत्पन्न करने के कारण किया जाता है—वर्गीकरण का आधार कार्य होता है, ऐसी स्थिति में भिन्न तरह के चमत्कार को उत्पन्न करने वाले समूह को भी प्रत्येक से भिन्न अलङ्कार के रूप में गिना जाता है।

सावयवरूपक मालारूपकयोरेकतरेणापरस्य गतार्यत्वमाशङ्क्य तद्वारकं तयोर्वैलक्षण्यमाह—

एवमस्मात्सङ्घातात्मकात्सावयवान्मालारूपकस्य सङ्घातारमकरवेनाविशेषेऽप्येकविषयकत्वं परस्परनिरपेक्षत्वाभ्यामस्ति महान् विशेषः ।

एवमिति । सावयवस्य पृथग्गणनवदित्यर्थः । अविशेषेऽपीति । अभेदेऽपीत्यर्थः । एकविषयकत्वेति । मालारूपकनिष्ठावेतौ धर्मौ । सावयव चानेकविषयकं परस्परसापेक्षत्वेति बोध्यम् । 'सावयव' 'माला' चेति द्वावपि रूपकप्रभेदौ रूपकसमूहात्मकौ, तथा च समूहात्मकत्वरूपेण दावप्यभिज्ञौ, यद्यपि, तथापि सावयवेऽनेके विषया (उपमेयीभूतपदार्थाः), मालायाश्च एक एव विषयः । एवम् सावयवावयवभूतानि रूपकाणि परस्परसापेक्षाणि, मालावयवभूतानि च तानि मिथो निरपेक्षाणि, इति वैलक्षण्यद्वयमेतत्तथोभेदकमिति भावः ।

'सावयवरूपक' और 'मालारूपक' में भेद बताया जाता है—एवम् इत्यादि । ये दोनों अलङ्कार (सावयवरूपक तथा मालारूपक) अनेक रूपकों के समूह रूप हैं अतः यद्यपि दो पृथक् अलङ्कार कहे जाने योग्य नहीं दिखाई पड़ते, तथापि 'रूपक' के दो भिन्नविध प्रभेद के रूप में ये दो अलङ्कार माने जाते हैं और बहुत ठीक माने जाते हैं, क्योंकि समूहात्मक होने से दोनों की एकता सिद्ध नहीं हो जाती—एक (सावयव) में उपमेय अनेक रहते हैं और 'समूह' की एक-एक इकाई (अवयवभूत एक एक रूप में) परस्पर सापेक्ष रहती है, इसके विपरीत, दूसरे (माला) में उपमेय एक रहता है और 'समूह' की एक-एक इकाई परस्पर निरपेक्ष रहती है। सारांश यह कि—किसी एक अक्ष में समानता रहने पर भी 'सावयवरूपक' तथा 'मालारूपक', अनेक अक्षों में भिन्नता रखने के कारण, दो भिन्न भेद रूपक के होते हैं ।

त्रिधा विभक्तेषु रूपकेषु प्रथम सावयवात्मको भेद सोऽभेदो निरूपितः, इदानीं द्वितीयं निरवयवात्मक भेदं निरूपयितुमाह—

निरवयवं फेवल यथा—

निरवयवस्य यद्यपि लक्षण न कृतम्, तथापि सावयव भिन्नरूपकत्वम् निरवयवरूपक-

त्वम्' इति नामाश्रयस्वरस्यभिद्धं लक्षणं स्फुटमेवावगम्यते, तस्य च तल्लक्षणोद्भव भेद-
स्य केवलमालारूपो द्वावुपभेदौ, तयोः प्रथमोपभेदस्य प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

सावयव, निरवयव तथा परस्परित ये तीन प्रधान भेद जो पहले रूपक के किण्व
गए थे, उनमें प्रथम भेद (उपभेद-सहित) का निरूपण किया जा चुका, अब द्वितीय
भेद का निरूपण किया जाता है—निरवयवम् इत्यादि । 'निरवयव' रूपक का लक्षण
यद्यपि पहले करना चाहिये था, पर ऐसा इसलिये नहीं किया गया कि—'निरवयव' इस
नाम से ही 'सावयव' से भिन्न जो रूपक वह 'निरवयव' कहलाता है—अर्थात् परस्पर
अपेक्षा न रखनेवाले रूपकों का समूह 'निरवयवरूपक' है" यह लक्षण ज्ञात हो जाता
है, इसके भी दो उपभेद होते हैं—एक केवल और दूसरा माला, उनमें से प्रथम जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते ।

अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते ॥’

बुद्धिर्ज्ञानम्, दीपकला प्रदीपज्वाला, अस्तीति शेष, यया दीपकलया, लोके संसारे,
सर्वम् वस्तुजातम्, प्रकाशते ज्ञातं भवति । अपि च, अबुद्धिरज्ञानम्, तामसी अन्धकार-
मयी, रात्रि रजनिरूपा, विद्यते इति शेष, यया तमोमयरात्रिरुपयाऽबुद्ध्या, किञ्चित् वस्तु,
न भासते अज्ञातं तिष्ठतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बुद्धिः इत्यादि । ज्ञान दीपक की ज्वाला है,
जिससे ससार में सभी चीजें प्रकाशित होती हैं—ज्ञात होती हैं और अज्ञान अन्धकारमय
रात्रि रूप है, जिससे कुछ नहीं भासित होता—सभी चीजें अज्ञात रह जाती हैं ।

उपपादयति—

अत्र रूपकद्वयमपि सापेक्षरूपकसङ्घातात्मकत्वविरहान्निरवयवम् । मालात्म-
कत्वविरहाच्च केवलम् ।

‘बुद्धिर्दीपकला—’ इति श्लोके बुद्धि-दीपकलयायोरैकमबुद्धितामसरात्र्योश्च द्वितीयं रूपकं
वर्णितम्, एवम् रूपकसङ्घातोऽप्राप्यस्ति, परन्तु तत्सङ्घातघटकयोर्द्वयो रूपकयोः परस्पर-
सापेक्षता न अस्तीति सापेक्षरूपकसङ्घातकत्वस्य विरहाच्च उपपन्नरूपकत्वस्याप्रकाशो निरवयव-
रूपकत्वं सिद्धयति । एकस्मिन्नुपमेयेऽनेनोपमानतादात्म्यत्वम् । मालात्मकत्वमपि,
सदभावोच्च केवलरूपत्वमस्य रूपकस्य सिद्धयति । बुद्धयबुद्धयोर्द्वयोरुपमेययोर्दीपकला तामस-
रात्रिरुपोपमानद्वयतादात्म्यमेवात्र सम्पादितं कविनेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘बुद्धिर्दीपकला—’ इस पद्य में दो रूपक
वर्णित हैं—एक ‘बुद्धि दीपकला’ का और दूसरा ‘अबुद्धि-अन्धकारमयरात्रि’ का । इस
तरह यहाँ भी यद्यपि रूपकों का समूह है, पर उस समूह के अन्तर्गत दोनों रूपक
परस्पर सापेक्ष नहीं हैं, फलतः परस्पर सापेक्ष रूपकों का समूह यहाँ तैयार नहीं होता,
अतः यह ‘निरवयव’ रूपक का उदाहरण सिद्ध होता है । और वह ‘निरवयवरूपक’
भी ‘केवल’ है, क्योंकि यहाँ ‘माला’ रूपता का अभाव है—अर्थात् यहाँ एक उपमेय में
अनेक उपमानों का तादात्म्य नहीं दिखलाया गया है—बुद्धिरूप उपमेय में दीपकलारूप
उपमान का और अबुद्धिरूप उपमेय में अन्धकारमयरात्रिरूप उपमान का तादात्म्य
दिखलाया गया है ।

निरवयवरूपकस्य द्वितीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

निरवयवं मालारूपकं यथा—

निरवयवरूपकोपभेदभूतमालारूपकस्य प्रकारो निर्दिश्यत इति भावः ।

उपपादयति—

अत्र द्वयोरप्यारोपयोः समर्थसमर्थकभावस्य वस्तुतस्तुल्यत्वेऽप्यहितानामपकरणमेवाहीनां तापकरणमिति श्लेषमूलकेनारोपेण राजनि भेषजतादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतया कवेरभिप्रायः । अत एव भङ्गरलेपनिवेदितोऽहिभयाभावोऽपि सङ्गच्छते ।

द्वयोरिति । अहिसम्बन्धितापकरणभेषजारोपयोरित्यर्थः । कवेरिति । प्राधान्यादिति भावः । अत एवेति । भेषजतादात्म्यारोपस्य समर्थनीयतया कवितात्पर्यविषयत्वादेवेत्यर्थः । भङ्गेति । पदच्छेदेत्यर्थः । ('कुतो हि मयम्' इत्यत्र 'कुतः अहिभयम्-हि = निश्चितम् भयम्' इत्याकारकेति यावत्) 'अहिताप—' इत्यत्र 'शब्दपकरणे सर्पतापकरणस्य' 'राशि औषधस्य' इति द्वावारोपौ (द्वे रूपके) तयोः समर्थसमर्थकभावस्तुल्य-—अर्थात् शब्दपकरणे सर्पतापकरणस्यारोपे प्राङ्कृते यथा राशि भेषजस्यारोप- सौपपत्तिको भवति, तथैव राशि भेषजारोपे एव प्राङ्कृते शब्दपकरणे सर्पतापकरणस्यारोप- सौपपत्तिको जायते इति यद्यपि सत्यम्, तथापि राशि भेषजारोप एव श्लेषमूलकेन शब्दपकरणे सर्पतापकरणारोपेण समर्थयितुं कवेरभिमतः, अत एव 'कुतो हि मयं स्यात्' इत्यर्थे 'अहिभयं कुतः स्यात्' इत्याकारकेण सभङ्गरलेपेण बोधितः सर्पभयविहङ्ग- सङ्गतौ भवति । यदि राशि कृतेन भेषजारोपेण शब्दपकरणे विद्यमानस्य सर्पतापकरणारोपस्य समर्थनं कवेरभिमतमनविष्यत्, तदा प्रोक्तसभङ्गरलेपबोधितः सर्पभयाभासो निरनकाश एव प्राप्त-जिष्यत् । एवञ्च श्लिष्टपरम्परितर्क-मालारूपताविरहात् केवलत्ववात्र सिद्धमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अहिताप—' इस पद्य में दो आरोप हुए हैं—एक " 'शत्रुओं के अपकार' में 'सर्पों के ताप उत्पन्न करने का' और दूसरा 'राजा' में 'औषध' का" । यद्यपि इन दोनों आरोपों में समर्थ-समर्थकभाव समान है—अर्थात् दोनों ही दोनों के समर्थक और दोनों ही दोनों से समर्थित माने जा सकते हैं, तात्पर्य यह कि जिस तरह 'शत्रुओं के अपकार में सर्पतापकरण' के आरोप करने से 'राजा में औषध का आरोप' करते वन पड़ता है उसी तरह 'राजा में औषध के आरोप करने से शत्रुओं के अपकार में सर्पतापकरण' का आरोप सयुक्तिक होता है, अतः इन दोनों आरोपों में से किसी एक को समर्थ अथवा समर्थक नहीं कह सकते, तथापि 'शत्रुओं के अपकार करने' में 'सर्पों को ताप उत्पन्न करने' के श्लेषमूलक आरोपद्वारा 'राजा में औषध' का आरोप कवि को अभिमत है, न कि राजा में औषध के आरोपद्वारा पूर्वोक्त श्लेष-मूलक आरोप का समर्थन । अतएव सभङ्गरलेप (कुतः अहिभयम्, हि = निश्चित कुतः भयम्) द्वारा बोधित सर्प-भय का अभाव सङ्गत होता है । अन्यथा—यदि पूर्वोक्त श्लेषमूलक आरोप (शत्रु अपकरण में सर्पतापकरणारोप) का समर्थन करना ही कवि को अभिमत होता तो—आगे सभङ्गरलेपद्वारा बोधित सर्पभय का अभाव अमासङ्गिक हो जाता । इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि—यहाँ एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण है, अतः परम्परित और उन दोनों आरोपों में भी समर्थक आरोप का श्लेषमूलक होने से श्लिष्ट परम्परित रूपक का यह उदाहरण अवश्य है । साथ ही मालारूपता के अभाव रहने के कारण यह श्लिष्ट केवल परम्परित रूपक कहा जाता है ।

श्लिष्टपरम्परितं मालारूपमुदाहर्तुमाह—

इदमेव मालारूपं यथा—

इदमेवेति । श्लिष्टपरम्परितमेवेत्यर्थः ।

श्लिष्ट परम्परित मालारूप, जैसे—

उदाहरणं निर्देष्टुमाह—

‘कमलावासकासारः क्षमाघृतिफणीश्वरः ।

अयं कुवलयस्येन्दुरानन्दयति मानवान् ॥’

कवि. कमपि राजानं स्तौति—रमलायाः लक्ष्म्याः, यास एव कमलानाम् वारिजानाम्, आवासः, तत्र विषये, कामार-सरोवररूपः, क्षमायास्त्रितिक्षायाः, घृतिः घारणमेव, क्षमायाः पृथिव्याः घृतिः, तत्र विषये, फणीश्वरः शेषनागरूपः, तथा क्रौः पृथिव्याः, वलयम् मण्डलमेव, कुवलयम् रात्रिविकासिकमलविशेषः, तस्य, इन्दुचन्द्रः, अयं वर्णनीयो राजा, मानवान् लोकान् आनन्दयति सुखयतीत्यर्थः । अत्र समर्थकमलवासाधारोपस्य क्लृप्तमूलकस्य चन्द्रारोपे निमित्तत्वाद्वाञ्छा स्यादायनेकपदार्थारोपत्वाच्च भालाक्षिष्टपरम्परित-कपद्वैति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कमला इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—यह (वर्णनीय कोई राजा) ‘कमलावास’ (कमला = लक्ष्मी के वास रूप कमलों के आवास) के विषय में कासार-सरोवर है, ‘क्षमा’ (सहनशीलता रूप पृथिवी) के घारण करने के विषय में फणीश्वर-शेषनाग है और ‘कुवलय’ (भूमण्डलरूप रात्रि विकासी कमलों) का चन्द्रमा है, अतः मनुष्यों को आनन्दित कर रहा है । यहाँ समर्थक कमलावासादि का आरोप चन्द्र के आरोप में निमित्त होता है तथा एक राजारूप उपमेय में कासार आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है अतः यह श्लिष्ट परम्परित भाला रूपक का उदाहरण होता है ।

परम्परितद्वितीयभेदस्य प्रथममुपभेदमुदाहर्तुमाह—

शुद्धपरम्परित केवल यथा—

केवलस्य शुद्धपरम्परितरूपकस्य सम्पत्तेः प्रकार उदाहरणमुत्तेन प्रदर्श्यत इति भावः ।

यस्य परम्परित केवल रूपक, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता

देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभट-प्रवना वर्णिनः क्षत्र धीराः ।

यादन्नायाति राजन्नयनविषयतामन्तकत्राभिर्मूर्ते

मुग्धारिप्राणदुग्धारानमसृणक्षचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः ॥’

अर्थशक्तिमूलकच्युदाहरणप्रकरणे (१११ पृष्ठे) अणुवातोऽयं श्लोकः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—देवाः इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले (अर्थशक्तिमूलकचरितियों के उदाहरण देते समय, पृ० ११२ में) की जा चुकी है ।

उपपादयति—

अत्रापि भुजङ्गारोपो दुग्धारोपसमर्थत्वेनाभिमतः ।

‘देवा के—’ इति श्लोके दो रूपके वर्णिते, तत्रैकस्मिन् रूपकेऽरिप्राये दुग्धारोपः, द्वितीये न कृपाये भुजङ्गारोपः । अन्यथैव प्रथम आरोपः समर्थकत्वेन द्वितीय समर्थ-त्वेन कवेरभिप्रेतः । एवञ्च परम्परितत्वं सिद्धयति । श्लेषाभावात् शुद्धत्वं भालात्मक-ताविरदाच्च देवलत्वमित्यपि बोध्यम् ।

उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । ‘देवा के—’ इस पद्य में मी, स्रग्म में सर्प के आरोप का, प्राणों में दुग्ध के आरोप द्वारा समर्थन करना कवि को अभीष्ट है । अभिप्राय यह कि—उक्त पद्य में दो रूपक वर्णित हुए हैं—एक ‘प्राण-दुग्ध’ का और

दूसरा 'खद्वग-सर्प' का । इन दोनों रूपों में से, प्रथम में दुग्ध का आरोप प्राण में किया गया है और द्वितीय में सर्प का खद्वग में । इन दोनों आरोपों में प्रथम को समर्थक और द्वितीय को सम्पूर्णरूप से कवि ने उपस्थित किया है अतः यह परम्परित, और श्लेष के नहीं रहने से शुद्ध, तथा मालारूप न होने से केवल रूपक कहा जाता है ।

परम्परितद्वितीयभेदस्य द्वितीयमुपभेदमुदाहर्तुमाह—

तदेव मालारूप यथा—

तदेवेति । शुद्धपरम्परितमेवेत्यर्थः ।

शुद्ध परम्परित मालारूपक, अस्ते—

उदाहरणं निदिश्यते—

‘प्राचीसन्ध्या समुद्यन्महिमदिननयैर्मनमाणिक्यकान्ति-

ज्वालामाला कराला कवलितजगतः क्रोधकालानलस्य ।

आज्ञा-कान्ता-पदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसामा

क्षोणीन्दो सङ्गरे ते लसति नयनयोरुद्धटा शोणिमश्रीः ॥’

हे क्षोणीन्दो धराचन्द्र ! समुपत उदयं गच्छन्, महिमरूपस्य प्रतापरूपस्यैव यावत् 'दिनमयो' सूर्यस्य, प्राचीसन्ध्या प्रभातवेला, मानरूपस्य आत्माभिमानात्मकस्य माणिक्यस्य सुकावियेषस्य, कान्ति, प्रभा, कवलितं भक्षित इत्यमिति यावत्, जगतः, येन तस्य क्रोधरूपस्य, कालानलस्य प्रलयान्ने, कराला भयङ्करी, ज्वालामाला ज्वालापङ्क्तिः, तथा आज्ञापिण्या, कान्ताया, पदाम्भोरुहत्वात् चरणकमलतत्वात्, विगलत पततः मञ्जी रमणीयस्य, लाक्षारसस्य यावत्कवस्य, आभा कान्तिः, इव कान्तिर्वस्यास्तादृशी, उद्धटा उल्लङ्घिता, शोणिमश्री आरुण्यशोभा, सङ्गरे युद्धे, ते तव, नयनयोरुद्धृतौ, लसति चकास्तीत्यर्थः । अत्र, तृतीयं चरणं निर्णयसागरमुद्रितप्राचीनसंस्करणगतपाठानुसारि अयमेव पाठः हिन्दीरसगङ्गाधरकारेणापि स्वीकृतो मयाऽनुमोदितः । अस्मिन्मुद्रितपुस्तके तु 'आज्ञा, कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानाम्' इति पाठो दृश्यते । महमपुरानायोऽपि स्वसम्पादितेऽधुना प्रचुरप्रचारे संस्करणे कारीमुद्रितपुस्तकपाठमेव समावेशयत्, 'कान्ता-पादलाक्षारसानाम् आज्ञा, तव नयनयो शोणता, लाक्षारसानामादेव शोणतासम्पादयित्री' इति च तदाशयमाख्यत् । अत्र नमपेक्षाना दिनमप्याधारोणा श्लेषामूलकान् सन्ध्या-चारोवेषु निमित्तत्वात् शोणिमश्रिया सन्ध्यायनेकपदार्थारोपाच्च शुद्धपरम्परितमालारूपक-मिदमिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—प्राची इत्यादि । हे धराचन्द्र ! जो उदीयमान भवदीय-प्रताप-सूर्य की पूर्व सन्ध्या (उपकाळ) है, जो आत्माभिमानरूप मोती की कान्ति है, जो सप्ताह को कवलित (दग्ध) करनेवाले क्रोधरूप प्रलयानि की भयङ्कर ज्वालापरम्परा है और जिसकी आभा आक्षाररूप कामिनी के चरणकमलतल से गिरते लाक्षा रस की आभा के तुल्य है, वह अरुणता की उल्लङ्घिता शोभा, युद्ध में आपकी आँखों में शोभित होती है । इस पद्य के तृतीय चरण में जैसा पाठ मैंने रखा है वह निर्णय सागर से मुद्रित सर्व प्राचीन संस्करण का है । हिन्दी रसगङ्गाधरकार ने भी अपनी पुस्तक में इसी पाठ को स्वीकृत किया है । काशीमुद्रित संस्करण तथा महमपुरानाय की सम्पादित संस्करण में तो 'आज्ञा कान्तापदाम्भोरुहतलविगलन्मञ्जुलाक्षारसानाम्' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है । पर उस पाठ के अनुसार अर्थ ठीक-ठीक बैठता नहीं, वह समझ लेना चाहिए । यहाँ प्रताप आदि में सूर्य आदि के आरोप करने के कारण अरुणता की

शोभा में सन्ध्या आदि अनेक पदार्थों का आरोप हुआ है और श्लेष कहीं नहीं है, अतः शुद्ध परम्परित माला रूपक का उदाहरण यह पद्य होता है ।

अधेदानां सावयवरूपकपरम्परितरूपकयोर्भेदं दर्शयितुमाह—

यद्यपि सावयवेऽप्यारोप आरापान्तरस्योपायस्तथापि तत्रारोपतिरिक्तेन कवि समय सिद्ध-सादृश्येनाप्यारोपान्तरसिद्धिः सम्भवति । यथा प्रागुक्ते 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' इत्यत्र मौक्तिकादीनां तारात्वाद्यारोपं विनाप्यौज्ज्वल्यमात्रेणापि सुन्दर्या राकारोपसिद्धेः, इह तु नयनशोणिम्नि ब्यालाद्यारोपोऽनलसमारोपं नियमेनापेक्षते । एष 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः' इत्यत्राकाराखलयोः सादृश्यस्याप्रसिद्धतयाऽऽरोपसिद्धयर्थमारोप एवोपाय इति वैलक्षण्यम् । कश्चित्तु बह्वारोपात्मकास् सावयवादारोपद्वयात्मकमेवास्य वैलक्षण्ये बीजमित्याह ।

आरोप इति । अत्र आरोपे इति सप्तम्यन्तपाठमङ्गीकृत्य क्लृप्ता न्यास्या सरलाकारस्योचिता न प्रतिभाति, प्रथमान्तपाठमङ्गीकृत्य सरलस्यास्याया सम्भवात् । अनलसमारोपमिति । यत्र 'राक्षसि शेषः' इति नागेश आह तद् भ्रममूलकमेव । 'मोघे इति शेषः' इति कपन साधोयः, अतान्तरमाह—कश्चित्तिवति । अत्राक्षिबीजं प्रागुक्तरीत्या निर्वाह इति । ननु सावयवै रूपकै आरोपाणाम् परस्पर समर्थ्यसमर्थकभावात्मकं कार्यकारणभावस्तिष्ठति, अस्मिन् परम्परितेऽपि च, तथा च कोऽनयोर्भेद इति चेन्न, 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' इत्यादौ सावयवे मौक्तिकादिषु तारात्वाद्यारोपमन्तरापि औज्ज्वल्यमात्रेण सादृश्येन सुन्दर्या राकारोपस्य सिद्धिः, 'प्राचीसन्ध्या—' इत्यादौ परम्परिते तु मोघादावनलाद्यारोपं विना नेत्रशोणतादौ उबलाद्यारोपो न सम्भवतीत्येको भेदः, एवम् 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् कारुण्यरूपस्य पुष्पस्य कृते खलु आकाशरूप—आकाशे यथा पुष्पमसम्भवं तथा खले कारुण्यम् इति यावत्' इत्यादौ परम्परिते कारुण्ये कुटुमारोपं विना खले आकाशारोपः सम्भवत्येव न आकाशखलयोः सादृश्यस्याप्रसिद्धत्वात्, सावयवै तु नाप्रसिद्धसादृश्यरूपदार्ढ्ययोः क्षणमिति द्वितीयोऽपि भेद इत्याशयात् । सावयवै बह्वारोपाः परम्परिते तु द्वावेवारोपौ इत्येव तयोर्भेद इत्यपि कश्चिदिति भावः ।

अतः सावयव रूपक तथा परम्परित रूपक में भेद दिखलाया जाता है—यद्यपि इत्यादि । सावयव रूपक में एक आरोप अन्य आरोप का उपायमूल (समर्थक) होता है और इस परम्परित रूपक में भी, अतः इन दोनों में क्या भेद है यह आश्चर्य पद्यपि चलती है, पर यह कुछ है नहीं, क्योंकि दोनों में उक्त एक प्रकार की समस्त रहने पर भी बहुत बड़ा अन्तर है और वह अन्तर यह है कि—सावयव रूपक में आरोप के बिना (केवल) कवि-समय-सिद्ध सादृश्य द्वारा भी अन्य आरोप की सिद्धि हो सकती है—अर्थात् यदि एक आरोप का उपायमूल दूसरा आरोप रहे तब भी ठीक और न रहे तब भी काम चल सकता है । जैसे पूर्वोक्त 'सुन्दरि राकासि नात्र सन्देहः' यहाँ मोती आदि में यदि-सारा आदि का आरोप न किया जाय तथापि उज्ज्वलता-मात्र के कारण सुन्दरी में पूर्णिमा का आरोप सिद्ध हो सकता है । 'किन्तु 'प्राची—' इत्यादि परम्परित रूपक में ऐसी बात नहीं है, यहाँ तो नेत्रों की अरुणता में ज्वाला आदि का आरोप श्लेष आदि में अग्नि आदि के आरोप की अपेक्षा निश्चितः रखता है—अर्थात् अग्नि के आरोप के बिना ज्वाला का आरोप हो ही नहीं सकता । इसी तरह 'कारुण्यकुसुमाकाशः खलः—अर्थात् हृत् जन दयारूप पुष्प का आकाश है, जैसे आकाश में पुष्प असम्भव है वैसे दुष्ट-जन में दया असम्भव है ।' इस परम्परित में एक आरोप ही दूसरे आरोप का उपाय है—अर्थात् दुष्ट जन में आकाशारोप करने के लिये दया में पुष्प का आरोप करना ही पड़ेगा,

अन्यथा यह रूपक धन ही नहीं संकृता, क्योंकि आकाश और दुष्टजन में सादृश्य अप्रतिष्ठ है—कोई नहीं जानता कि उनमें क्या समता है। वस्तु, इतने से सावयवरूपक तथा परम्परित रूपक में भेद सिद्ध हो गया—दोनों की विलक्षणता ज्ञात हो गई। वृष्ण लोग कहते हैं कि—‘सावयव रूपक में अनेक आरोप रहते हैं—अर्थात् एक समर्थ के अनेक समर्थक होते हैं, पर परम्परित में दो ही आरोप होते हैं—अर्थात् एक समर्थ का एक ही समर्थक होता है’ यही दोनों में विलक्षणता है। पर यह मत उतना मनोऽनुकूल नहीं है। कारण, उक्त रीति से जब दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है तब एक और अनेक आरोप की कल्पना व्यर्थ है।

रूपकप्रभेदगणने न्यूनत्व परिहरति—

‘काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा ।

धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा ॥’

अत्र विषयमालाकृतो न चमत्कारविशेष इति न पृथग्भेदगणनायां गण्यते । आरोप्यमाणमाला तु चमत्कारविशेषशालित्वाद्गण्यत एव ।

काव्यमिति । रसज्ञानाम् काव्य-रस-रहस्य-अभेदज्ञानाम्, काव्यम् कविप्रति-विशेष, सुधा अमृतरूपम्, कामिनाम् कामज्वालाभालाकुलचेतसा जनान्, कामिनी कामभाववती रमणी, सुधा अमृतरूपा, सलोभानाम् धनलोभुषाणां जनान्, धनं वित्तं, सुधा अमृतरूपम्, तथा, संन्यासिनाम् विषयविमुक्तानाम् जनानाम्, शान्तिः शमः, सुधा अमृतरूपे-त्पर्यं । यस्य यद् वस्तु प्रियं भवति तस्य कृते तदेव वस्तु सुधारूपं जायत इति भावः । अत्रेति । ‘काव्यं सुधा—’ इति रत्नेके इत्यर्थः । विषयमालाकृत इति । सत्येकरिम् उपमाने उपमेयसमूहकृत इत्यर्थः । ‘एकस्योपमेयस्य नानोपमानकृत’ इति मर्मप्रकाशस्तु भ्रममूलक-एव । स च भ्रमो नागेरास्य प्रकाशकत्वं अन्यस्य चेति तु अन्यत् । न चमत्कार-विशेष इति । अत्र सचेतसामनुभव एव प्रमाणम् बोध्यम् । आरोप्यमाणमालेति । एकस्मिन्नुप-मेयेऽनेकोपमानारोपसमूह इत्यर्थः । चमत्कारविशेष इति । अत्रापि प्रमाणं सङ्गद्यानुभव-रूपमेवावगन्तव्यम् । अयं भावः—‘काव्यं सुधा—’ इत्यादौ यत्रोपमानं सुधादिरूपमेकम् उपमेयानि च काव्यादीन्धनेकानि, तत्र—तथा रूपकस्य कोऽपि भेदः कृतो नास्तीक्रियते यथा ‘धर्मस्यात्मा—’ इत्यादौ प्रागुक्ते—यत्र उपमेयं राजादिरूपमेकम् उपमानानि च धर्माद्यादीनि धनेकानि सन्—’ इति शङ्का न कर्तव्या, अलङ्कारप्रभेदस्यास्तीत्यस्य चमत्कार-विशेष-प्रतीतिमूलकतया चमत्कारविशेष शाल्यारोप्यमाणमालास्यले—‘धर्मस्यात्मा—’ इत्यादौ रूपकप्रभेदराशौकारेऽपि चमत्कार विशेषश्च न विषयमालास्यले—‘काव्यं सुधा—’ इत्यादौ तदस्तीकारे युक्तिरिहादिति ।

उपमान एक हो और उपमेय अनेक तो मालारूपक क्यों नहीं माना जाता, इसका उत्तर दिया जाता है—काव्यम् इत्यादि । (रसज्ञानों के लिये काव्य अमृत है, कामियों के लिये कामिनी अमृत है, लोभियों के लिये धन अमृत है और संन्यासियों के लिये शान्ति अमृत है ।) यहाँ उपमान-अमृत-एक है और उपमेयों (काव्य आदि) की माला है, किन्तु इस माला के कारण कोई खास तरह का चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः ऐसी माला, रूपक के भेदों की गणना में पृथक् नहीं गिनी जाती । उपमानों की माला—‘धर्मस्यात्मा—’ इत्यादि पूर्वोक्त स्थल—में तो एक खास तरह का चमत्कार उत्पन्न होता है, अतः उसकी गणना पृथक् रूपक-प्रभेद के रूप में करनी ही पड़ती है ।

सम्प्रति शिष्य-भुद्धि-वैशद्यार्थम् परम्परितरूपकसम्बन्धिविशेषे विचारणीये प्रथमं शिष्टपरम्परितरूपकसम्बन्धिविशेषं विचारयति—

अथ कथं नाम शिष्टपरम्परिते ‘कमलावासकासारः’ इत्यादावेकस्यारोप-

स्वारोपान्तरोपायत्वम् । यतः श्लेषेण कमलानामावासस्य कमलाया वासस्य
 चाभेदमात्रमत्र प्रतीयते, नैकत्रान्यारोपः । तस्य स्वतन्त्रविषयनिर्देशापेक्षत्वात् ।
 न च शुद्धाभेदप्रत्यय एवारोपः । विषयनिगारणात्मिकायामतिशयोक्तावपि तत्प्र-
 सङ्गात् । न च शुद्धाभेदप्रत्ययेनात्रार्थः यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तस्मिन्-
 स्तदभेद इति 'कमलावासकासारः' इत्यादौ राजनि कासारारोपो राजसम्बन्धि-
 नि लक्ष्म्याश्रयत्वे कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वाभेदारोपेण समर्थयितुं शक्यः
 श्लेषेण तु पुनर्लक्ष्म्याश्रयत्वसरोजाश्रयत्वयोरभिन्नत्वेन प्रत्ययादभिन्नधर्मनि-
 बन्धनो राजकासारयोरप्यभेदप्रत्ययः स्यात्, न तु राजनि विषये कासारविषयि-
 कस्वारोपस्य प्रकृतस्य सिद्धिः । इमावभिन्नावित्याद्याकारस्य शुद्धाभेदप्रत्ययस्या-
 प्रकृतत्वात्प्रागुक्त आरोपो मृग्यः । स च न श्लेषसाध्य इति । सत्यम् । श्लेषेण
 शुद्धाभेदप्रतीती सत्यां प्रकृतारोपसमर्थनायान्तरा मानसस्य राजसम्बन्धिनि
 कासारसम्बन्ध्यभेदारोपस्य कल्पनाभानुपपत्तिः ।

तस्येति । एकत्रान्यारोपस्येत्यर्थः । मृग्य इति । अन्वेषणीयः इत्यर्थः । साधनीय
 एव नाधुनापि सिद्ध इति तद्भावः । शङ्काया युक्तत्वमत्रोक्तिर्यत्—सत्यमिति । समाधत्ते—
 श्लेषेणेत्यादिना । तानुपपत्तिरिति । अत्र 'अत्रेदं चिन्त्यम्—कमलावासेनायं राजा कासार-
 इत्यादौ यया श्लेषमूलकाभेदाध्यवसानेनैवं साधारणधर्ममादाय राजकासारयो रूपकस्य
 गाम्भीर्येण समुद्देश्यमित्यादाविव, सम्भवस्तद्वत्कमलावासकासार इत्यादावपि सम्भवात्
 किमर्षोऽयं क्लेशः । साधारणधर्मज्ञानस्य चाभेदारोपप्रयोजकत्वात् । इदमेव चास्योपाय-
 त्वमारोपे एतन्मूलीभूतसाधारणधर्मसम्पत्तिः । साधारणधर्मसम्पत्तिः आरोपेणैवेत्यत्र न
 किञ्चिन्मानम् । समर्पके रूपकत्वव्यवहारस्तु भाक्तः । तदापि श्लिष्टेषु सादृश्यमूलकत्वा-
 भावादावश्यकः । एवञ्च 'कारुण्यकुमुदाकारः खलः' इत्यादौ वक्ष्यमाणान्योन्याश्रयोऽपि
 न । खलाकाररूपकोऽवबुद्धकारुण्यकुमुदयोरभेदस्येच्छाधीनाहार्यस्य सम्भवेन तावत्तैवोपपत्तेः ।
 न तु समर्पकारोपे सादृश्यमूलकव्यवहारकमित्यनुपदमेवोक्तम् । एतेन स्यादेतदित्यादिना
 सौजन्यवन्धिकाचन्द्र इत्यत्रत्य पूर्वपक्षसमाधाने परास्ते । अस्मदुक्तरीत्या पूर्वपक्षस्यैवाभावा-
 दिति । इति शरिरमाह नागेशः । अयं भावः—'कमलावासकासारः' इत्यादौ श्लिष्टपर-
 म्परितोदाहरणतयाऽभिमतो स्थले 'कमलावास' इति समर्पकाशे स्वतन्त्रतया विषयस्य
 (उपमेयस्य) लक्ष्मीवासात्मकस्य निर्देशाभावे स्वतन्त्रविषयनिर्देशापेक्षस्य एकत्र
 (उपमेयं = लक्ष्मीवासे) अन्या- (उपमान-सरोजावासा) रोपस्य न प्रतीतिः, श्लेषस्तु
 उपमानोपमेययोः (कमलानामावासस्य कमलाया वासस्य च) अभेदमात्रं प्रत्याममति,
 तथा च श्लिष्टपरम्परितो एक आरोप आरोपान्तरस्योपायो भवतीति कया कथं सङ्गता ?
 शुद्धाभेदप्रतीतेरेवारोपपदार्थत्वं तु स्वीकर्तुमशक्यमेव, उपमेयनिगारणरूपायामतिशयोक्तावपि
 शुद्धाभेदप्रतीत्या रूपरनियतस्वारोपस्य असक्तथापत्तेः । किमात्रं शुद्धाभेदप्रतीत्या सिताश्र-
 यिवित प्रयोजनं चेद्भूमिपि नार्हति, यतः 'यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदस्तस्मिन्स्तदभेदः'
 इतिन्यायानुशारेण प्रकृते प्रथमतस्तदप्राज्ञराजसम्बन्धिनि कमलाया वासत्वे (लक्ष्म्या-
 श्रयत्वे) द्वितीयतस्तदप्राज्ञकासारसम्बन्धिनि कमलानामावासत्वस्य (सरोजाश्रयत्वस्य)
 श्लेषमूलकेऽभेदे प्रतीते तद्वत्तेन प्रथमतस्तदप्राज्ञो राज्ञि द्वितीयतस्तदप्राज्ञस्य कासारस्याभेद-
 प्रतीयेत, न तु राजरूपे उपमेये कासाररूपस्योपमानस्य रूपकालङ्कारतामियामक आरोप-
 'इमां अभिन्नौ' इत्यासारकेण शुद्धाभेदश्रयरेवारोपस्याविश्वोकरणात् । परम्परितरूपका-

लङ्कारतानियामको राशि कासारारोपसुराजसम्बन्धितलक्ष्म्याश्रयत्वे (कमलाया भावत्वे) कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वा (कमलपुष्पावासत्वा) भेदारोपेण समर्थयितुं शक्य, स च न श्लेषसाध्य इति शङ्काया समाधानमिदं यत् श्लेषेण लक्ष्मीवास-कमलपुष्पा-वासयोः शुद्धाभेदप्रतीति जातायां परम्परितरूपकालङ्कारतानियामकस्य राशि कासारारोप-स्य समर्थनाय मध्ये राजसम्बन्धिनि लक्ष्म्याश्रयत्वे कासारसम्बन्धिसरोजाश्रयत्वाभेदारोपो मानसः कल्प्यत इति न किञ्चिदसमञ्जसमिति ।

परम्परितरूपक-सम्बन्धि कुछ विशिष्ट बातों पर विचार करने के प्रसङ्ग में पहले रिलेट परम्परित रूपक सम्बन्धि विशेषों का विचार किया जाता है—अथ इत्यादि । विचार यहाँ यह करना है कि—‘कमलावासकासार’ इत्यादि रिलेट परम्परित रूपक में एक अर्थात् कमला (लक्ष्मी) के निवास में कमलों के निवास का—आरोप, अन्य अर्थात् राजा में सरोवर के—आरोप का उपाय (समर्थक) कहा जाता है, वह कैसे सङ्गत होता है ? कारण, यहाँ श्लेष से ‘कमला के वास’ और ‘कमलों के आवास’ का केवल अभेद ही ज्ञात होता है, एक का दूसरे में आरोप नहीं । क्योंकि आरोप के लिये उपमेय का स्वतन्त्र रूप से निर्देश अपेक्षित है—अर्थात् अहाँ उपमेय तथा उपमान के बोधक दो पृथक् पृथक् पद उच्चरित रहते हैं वहीं उपमेय में उपमान का आरोप अवगत होता है, अन्यथा नहीं । तात्पर्य यह कि—‘कमलावासकासार’ आदि में एक पद से श्लेष द्वारा दो अर्थों का एक साथ ज्ञान होने से उन दोनों अर्थों का अभेद ज्ञात होने पर भी उनमें से एक अर्थ का दूसरे अर्थ पर आरोप विहित नहीं होता । यदि कोई शुद्ध-अभेद-प्रतीति को ही आरोप कहना चाहे, तो वह बन नहीं सकता, क्योंकि इस कथन के अनुसार अतिशयोक्ति में भी जहाँ उपमेय निर्णीत रहता है (उपमेय का भी बोध उपमानवाचक पद से ही होता है)—उस आरोप का व्यवहार होने लगेगा, जिसका व्यवहार रूपक ही आलङ्कारिक लोग करते आए हैं । दूसरे, शुद्ध-अभेद प्रतीति से यहाँ का अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध भी नहीं हो सकता । कारण, ‘जिसके सम्बन्धी में जिसके सम्बन्धी का अभेद हो उसमें उसका अभेद होता है’ इस न्याय के अनुसार कमला-वास और कमल-निवास के अभेद से तदात्मक साधारणधर्ममूलक अभेद ही राजा और सरोवर का सिद्ध हो सकेगा, न कि राजारूप उपमेय में सरोवररूप उपमान का वह आरोप जो यहाँ प्रस्तुत है—रूपक की सिद्धि में जिसकी अपेक्षा है, उस आरोप का समर्थन तो तब हो सकता था यदि राजा से सम्बन्ध रखनेवाले कमला-वासत्व (लक्ष्म्याश्रयत्व) में सरोवर से सम्बन्ध रखनेवाले कमल-निवासत्व (सरोजाश्रयत्व) का अभेदारोप सिद्ध होता, पर श्लेष से वह (अभेद का आरोप) सिद्ध होता नहीं, उससे तो केवल अभेद की ही सिद्धि होती है और जहाँ शुद्ध अभेद ही प्रतीत होता है वहाँ आरोप की बात ही असङ्गत है, जैसे—‘ये दोनों अभिन्न हैं’ इस कथन से दोनों में अभेद की प्रतीति होने पर भी आरोप की प्रतीति नहीं होती, अतः ‘कमलावासकासार’ में परम्परित रूपक को सिद्ध करनेवाला ‘यह पुनर्दुप है’ इस व्यवहार का नियामक आरोप अन्वेषणीय ही है । यह हुआ एक प्रश्न, और इसका उत्तर यह है कि आपका कथन सत्य है, पर शब्द से श्लेष द्वारा जब लक्ष्मीवासत्व और सरोजावासत्व का अभेद सिद्ध हो जायगा, तब बीच में मगध्वारा उन दोनों में से प्रथम का दूसरे में आरोप हो जाने की कल्पना कर ली जायगी और ऐसी कल्पना इसलिये कर ली जायगी कि राजा में सरोवर का आरोप जो सम्बद्ध सिद्ध है उसका समर्थन हो सके । और उसका समर्थन आरोप से ही हो सकता है केवल अभेद से नहीं, यह बात पहले लिखी जा चुकी है । तात्पर्य यह कि—कवि ने यहाँ राजा में सरोवर के सम्बद्ध कथित आरोप का समर्थन करने के लिये ही ‘कमलावास’ पद में श्लेष किया है और उस श्लेष से आरोप की

प्रतीति न होने के कारण बर्मीष्ट समर्थन हो नहीं पाता, अतः अगत्या तद्वत्तः केवल अभेद की प्रतीति होने पर भी समर्थक भाग में मानस आरोप की कल्पना करनी पड़ती है। ऐसी कल्पना करने पर सब बातें वन भी जाती हैं। नागेश का कथन यहाँ यह है कि—‘यद्यपि समुद्र की गम्भीरता और किसी मानव की गम्भीरता दो वस्तु हैं, तथापि एक शब्दोपात्त होने के कारण उन दोनों गम्भीरताओं को एक मानकर ‘गम्भीरता से यह मनुष्य समुद्र है’ इत्यादि स्थल में शिष्ट गम्भीरतात्मक साधारणधर्ममूलक समुद्ररूप के जैसे सिद्ध होता है वैसे ही ‘कमलावास के कारण यह राजा सरोवर है’ इत्यादि स्थलों पर भी शिष्ट एक शब्दोपात्त कमला लक्ष्मी के वास और कमलों के आवास को एक धर्म मानकर सरोवररूपक सिद्ध होता है, फिर इसी तरह ‘कमलावासकासार.’ इस प्रकृत परम्परित रूपकस्थल में भी कार्य चल ही सकता है, अतः पण्डितराज की मानस आरोप वाली कल्पना व्यर्थ है। साधारणधर्म ज्ञान को अभेदारोप का साधक सभी मानते ही हैं। शिष्ट परम्परितरूपक में ‘एक आरोप दूसरे आरोप का उपायभूत रहता है’ इस कथन का भी अग्रिप्राय बड़ी है कि द्वितीय आरोप के मूलभूत साधारण धर्म की सिद्धि श्लेष से हो जाती है। साधारणधर्म की सिद्धि आरोप करने पर ही हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। तब रही बात यह कि शिष्ट परम्परितरूपक पर समर्थकांश में रूपक का व्यवहार कैसे वनेगा? क्योंकि यहाँ आरोप आप नहीं मानते और रूपक आरोप के बिना होता नहीं। बात यह सत्य है। पर उत्तर भी इसका यह सत्य ही है कि—समर्थकांश में जो वहाँ रूपक व्यवहार होता है वह गौण है, वास्तविक नहीं और यह बात आपको मानस आरोप की कल्पना करने पर भी माननी ही पड़ेगी, क्योंकि उस तरह से आरोप के सिद्ध हो जाने पर भी वह आरोप सादृश्यमूलक नहीं ही होगा और सादृश्यमूलक आरोप को आप हम सभी रूपक मानते हैं। इस मेरी रीति के अनुसार करने पर ‘काण्यकुसुमाकाशः खलः’ इत्यादि स्थलों पर जो आपने आगे अग्न्याश्रय दिखलाया है उसका भी अवसर नहीं आता। कारण, खल में आकाश-रूपक की सिद्धि के लिये अपेक्षित साधारणधर्म का ज्ञान काण्य और कुसुम में इच्छाधीन आहार्य अभेद मान लेने पर हो ही जाता है। समर्थक अंश में सादृश्यमूलकता आवश्यक नहीं है यह बात तुरत कही आ चुकी है। इस रीति के अनुसार वे शास्त्रसमाधान भी समाप्त हो जाते हैं जिनका उद्धान पण्डितराज ने ‘स्यादेतत्’ से आरम्भ कर ‘सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रः’ में किया है। कारण इस रीति के अनुसार यहाँ पूर्वपक्ष ही—जो, दिखलाया गया है—नहीं उठता।

शुद्धपरम्परिते विशेष विचारयति—

कथं तर्हि परम्परितरूपके ‘सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रो राजा’ इत्यादौ रूपक-त्थम्, अभेदारोपस्य सत्येऽपि तस्य सादृश्यमूलकत्वाभावादिति चेत्, न। समर्थकारोपेण धर्मैक्यसम्पादने सादृश्यस्य निष्पत्त्युहत्वात्।

तर्हि तदा। समर्थारोपस्य समर्थारोपहेतुकत्वात्तद्वारे इति यावत्। सौजन्येति। सौजन्यम् गुणनता, तद्वत्ता या चन्द्रिका चन्द्रज्योत्स्ना, तस्या कृते, चन्द्रं चन्द्ररूपो राजा नृप इत्यर्थः। तस्येति। अभेदारोपस्येत्यर्थः। गावादिति। समर्थकारोपमूलक-त्वादिति भावः। खण्डयति—नेति। तत्र हेतुबाह्य—समर्थकारोपेणेति। चन्द्रिकाया सौजन्याभेदारोपेणेति तदर्थः। ‘सौजन्य—’ इत्यत्र राक्षि चन्द्राभेदारोप इति सत्यम्, किन्तु तस्यारोपस्य मूलम् न सादृश्यम्, अपि तु चन्द्रिकाया सौजन्याभेदारोपः, तथा च कथमिदम् रूपकम्? सादृश्यमूलकारोपस्यैव रूपकत्वस्वीकारात् इति शङ्कादलक्षणम्, चन्द्रिकाया सौजन्यस्याभेदे समारोपिते चन्द्रिकासौजन्ययोरैक्यं सिद्धयति, तथा चेत्ता-

पक्षसौजन्य-चन्द्रिकात्मकसाधारणधर्मप्रयोज्यसादृश्यं चन्द्रराशौर्निप्रत्युद्गमिति सिद्धं तयो-
रभेदारोपस्य सादृश्यमूलकवन्निति समानानन्दलाशय इति भावः ।

शुद्ध परम्परित रूपक सम्बन्धी विशिष्ट विचार किया जाता है—कथमिच्छाति । आप कहेंगे—जब आप परम्परितमूल में समर्थ आरोप का मूल समर्थक आरोप को मानते हैं तब 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र-अर्थात् राजा सुजननारूप चाँदनी के लिये चन्द्रमा है' इत्यादि शुद्ध परम्परित रूपक में सामान्य रूपक का लक्षण ही कैसे सङ्गठित होगा, क्योंकि आप के हिमाच से, राजा में जो चन्द्र का अभेद आरोपित हुआ है उसका मूल सादृश्य न हो कर चाँदनी में सुजनता का अभेदारोप है और रूपक के सामान्य लक्षण में सादृश्यमूलक आरोप का ही रूपक होना कहा गया है । पर वह कथन बहू महत्व नहीं रखता । कारण, समर्थक आरोप—अर्थात् चाँदनी में सुजनता का अभेदारोप—जब कर दिया जायगा तब चाँदनी और सुजनता एक धर्म रूप हो जायेंगी और इसतरह एक बने इस साधारण धर्म के कारण राजा और चन्द्र में सादृश्य निर्विभक्त रूप से सिद्ध हो जायगा, फलतः इस स्थिति में राजा में चन्द्राभेदारोप का मूल सादृश्य को मानने में कोई बाधा नहीं रह जाती है ।

पुनरपरविषय रूपकसम्बन्धि-विचार-विशेष विधातुं शङ्कते—

स्यादेतत् । सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्र इत्यत्र तत्पुरुषावयवे समानाधिकरण-
तत्पुरुषे चन्द्रिकायामभेदसंसर्गेण सौजन्यस्य विशेषणत्वात्प्रतीयमानश्चन्द्रिका-
गतः सौजन्याभेदो न राजानि चन्द्राभेदात्मकं रूपक समर्थयितुं प्रभवति,
यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेद-इत्यादिप्रागुक्तन्यायाम् । अपि तु सौजन्ये विषये
'चन्द्रिकाभेदः । यथा—'सौजन्यं ते धराधीश ! चन्द्रिका त्वं सुयानाधि ।' स च
दुरुपपाद एव । न चानयोः समानवित्तिवेद्यत्वाज्ज्ञानुपपत्तिर्गितं शक्यं यत्कम्,
प्रात्यक्षिके हि सामप्रधास्तुल्यत्वात्तत् । न तु शाब्दबोधे व्युत्पत्तिवैचित्र्य-
नियन्त्रिते । एवमन्यत्रापि कथं समासगत-शुद्ध-परम्परिते द्वयोरारोपयोर्निर्वा-
ह-निर्वाहकभावः ? कथं च शशिपुण्डरीकमित्यादौ पुण्डरीकरूपकमुच्यते ?
पुण्डरीकाभेदात्मकस्य पुण्डरीकताद्रव्यस्याभानात् । शरयभेदप्रत्ययाश्च पुण्डरीकं
शशीत्यत्रैव शशिरूपकमुच्यताम् । एवं नीलिमविद्यनोये तारावलीमुकुलमण्डल-
मण्डिते पोडशकलादलमङ्गुलमितिवाप्युत्तरपदार्थे पूर्वपदार्थाभेदस्यैव भाना-
त्पूर्वपदार्थरूपकापत्तिः ।

तथा—

'सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे ।

वदन-परिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि ! राकासि नात्र सन्देहः ॥'

इत्यत्र सुन्दर्या विषयभूताया राकातादात्म्यावगमात्स्फुटमेव तावद्राकारूपकम् ।
तत्र चरणत्रयगतानि रूपकाणि राकारूपकानुगुणतयोपात्तान्यपि नानुगुण्यमा-
चरन्ति । ताराचन्द्रिका-पूर्णचन्द्राणां मौक्तिक-धवलांशुक वदनामित्रत्वे सिद्धेऽपि
न सुन्दर्या राकातादात्म्यं सेद्वधीष्टे प्रत्युत विपरीतं राकायां सुन्दरीतादृश्यं,
तेषां राकासम्बन्धित्वात् सर्वमेव व्याकुलमिति ।

तत्पुरुषावयवे इति । तत्पुरुषसङ्केते इति यावत् । समानाधिकरणतत्पुरुषे इति । धर्म-
धारे इति भावः । सौजन्यचन्द्रिकापदयोरिति शेषः । चन्द्रिकाभेद इति । चन्द्रा-
भेदात्मक रूपकं समर्थयितुं प्रभवतीत्यस्यानुपपत्तिः । 'सौजन्यं ते—' इति । हे धराधीश

पृथिवीपते । ते तव, सौजन्यम्, चन्द्रिकाज्योत्स्नाप्यम्, अतः, त्वम्, स्यादधिः
 चन्द्ररूप इत्यर्थः । स चेति । स तु इत्यर्थः । दुरुपपाद इति । सौजन्यवन्निवेत्यनेति
 भावः । अन्ययोरिति । अभेदयोरित्यर्थः । चन्द्रिकागतसौजन्यभेदः सौजन्यगतचन्द्रिका-
 भेदयोरिति स्पष्टार्थः । समानवृत्तीति । समाना तुभ्या एवेति यावत्, या निनि
 ज्ञानसाधनभूता सामग्री, तद्वैयत्यादिति भावः । प्रात्यक्षिके ऽति । चक्षुरादिज दृष्टाने
 इत्यर्थः । तदिति । तुल्यवित्तिवेद्यत्वमित्यर्थः । व्युत्पत्ति इति । कार्यकारणभावेत्यर्थः । निम्न-
 त्रित इति । नियमित इत्यर्थः । अन्यत्रापि इति । उदाहृतातिरिचस्थलेऽपीत्यर्थः । उदा-
 हृतस्पल एव शङ्के—कथं चेति । नस्तथैव । 'सुविमल—' इति । व्याख्यातमिदं प्रां ४ ।
 चरणप्रवगतानेति । इतोऽग्रे यद्यपि 'राक्षारूपकाप्यनुगुणतया' इत्येव पाठः प्राप्तस्तथा चोप-
 पन्नमते, तथापि नास्तौ पाठः सन्नतो मम प्रतिभात इति मूलेणः पाठः कल्पित इति
 बोध्यम् । सेदुगोष्ठे इति । सम्पत्तुं प्रभवतीत्यर्थः । सुन्दरीतादृशमिति । ऐदुर्माष्टि इत्याद्या-
 नुपपन्नम् । तत्र सेदुपाह—तेषामिति । सर्वमेवेति । रूपकप्रकरणौघमिति भावः । इतः प्राक्
 'इति' पदमप्याहार्यम् । इति पूर्वपक्षसमाप्तिस्वकः । अयं भावः—'सौजन्य-चन्द्रिका-
 चन्द्रो राजा' इत्यत्र राजरूपोन्मेषे चन्द्ररूपोपमानाभेदात्मकस्य रूपकस्य सौजन्यरूपोप-
 मेयगतेन चन्द्रिकारूपोपमानाभेदेन समर्थनात् परम्परितरपकं समर्थनीयम्, तच्च तदेव
 सम्भवति यदि 'सौजन्यं ते घराधीश चन्द्रिका—' इत्यादिव्यतरस्थल इव सौजन्ये चन्द्रि-
 काभेदः प्रतीयते । परन्तु प्रागुक्ते सम्स्तस्थले तस्मिन् तदभेदः । प्रत्येतुमराक्य, यतः
 तत्र 'सौजन्यं चन्द्रिका' इति विग्रहा जायमाने कर्मधारयसमासे चन्द्रिकायामभेदेन सम्ब-
 न्धेन सौजन्यस्य विशेषणत्वात् चन्द्रिकागतः सौजन्याभेद एव प्रतीयते, न तु सौजन्य-
 गतचन्द्रिकाभेदः । चन्द्रिकागतसौजन्याभेदेन च प्रतीयमानेन चन्द्रे राजाभेदस्य समर्थनं
 स्यात् न तु राज्ञि चन्द्राभेदस्य, 'यत्सम्बन्धिनि यत्सम्बन्ध्यभेदः—' इति प्रागुक्त्यायात्
 अर्थात् चन्द्रसम्बन्धिचन्द्रिकार्या प्रतीयमानः राजसम्बन्धिसौजन्याभेदः चन्द्रे राजाभेदस्य
 निमित्तं भवेत् । एव च कथमिह चन्द्ररूपकम् ? ननु चन्द्रिकार्या सौजन्याभेदः सौजन्ये
 चन्द्रिकाभेदश्च तुल्यवित्तिवेद्यो-अर्थात् तयोरेकस्मिन्भेदे ज्ञातेऽपरोऽप्यभेदो विज्ञात एव,
 यथा—'रक्तो घटः' इत्यत्र घटे दृष्टे तदीयं रूपमपि रक्तं भवत्येव, अतो न किञ्चिदसमञ्जस-
 मिति चेन्न, प्रात्यक्षिके ज्ञाने तथा सम्भवेऽपि शब्दबोधे तदसम्भवात् । रक्तो घट
 इत्यादि-प्रत्यक्षस्थले रूपघटयोः प्रत्यक्षस्य कारणीभूता सामग्री चक्षुरादिहपा एकैवेति
 तत्र सम्भवति घटतदीयरूपयोस्तुल्यवित्तिवेद्यत्वम्, 'सौजन्याभिज्ञा चन्द्रिका' 'चन्द्रिका-
 भिन्नम् सौजन्यम्' इत्याकारकयोः शब्दबोधयोस्तु सम्पादिका सामग्री नैरा, सामग्री-
 घटकयोः । 'सौजन्यपदोत्तरचन्द्रिकापदत्व'—'चन्द्रिकापदोत्तरसौजन्यपदत्व'रूपदोराकाङ्क्षा-
 ज्ञानभोर्भित्तत्वादिति तत्र तुल्यवित्तिवेद्यत्वं न सम्भवतीति तात्पर्यम् । फलतो न केवल
 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इत्यत्रैव, अपि तु सर्वेषु समासगतशुद्धपरम्परितरपक-
 लक्ष्येषु समपेक्षितो द्वयोःशरोपयोर्निर्वाण-निर्वाहकभावो दुरुपपादः । एवम्, 'शशिपुष्क-
 रीकम्' 'नीलिमदिश्वतोषे' 'तारावलोमुकलमण्डलमण्डिते' 'शोडशकलादलम्' 'अदृष्टम्'
 इत्यादिषु रूपकलक्ष्येषु पुण्डरीक-दिव्यतोय-मुकुलमण्डल-टल-गृहात्मकोत्तरपदार्थरूपक-
 व्यवहारासन्नतिः, शशि-नीलिम-तारावलो-षोडशकलाऽदृष्ट-पूर्वपदार्थरूपकव्यवहारापत्तिश्च,
 पूर्वोक्तरीत्या सर्वत्र पूर्वपदार्थेषु शरयादिषु उत्तरपदार्थानाम् पुण्डरीकादीनामभेदस्या-
 प्रत्ययात्, उत्तरपदार्थेषु पुण्डरीकादिषु पूर्वपदार्थानाम् शरयादीनामभेदस्य प्रत्ययाच्च ।

इत्यमेव सुविमल—' इत्यादिपि प्रागुक्तयुक्त्यैव तारा (चन्द्रिका) पूर्णचन्द्रात्मवैपुल्यरपदा र्थेषु मौक्तिक (धवलाशुक्) वदनरूपपूर्वपदार्थाभेद एव प्रतीयेत, तथा च तानि पूर्वपदार्थ- रूपकाणि स्युः, तादृशानि च तानि रूपकाणि चरम सुन्दर्या राकारूपक न समर्थयितुं समर्थानि, अपि तु राकाया सुन्दरीरूपकमेव समर्थयितुं समर्थानि, प्रागुक्तन्यायात् । न चास्तु तथैव, वा हानिस्तावतेति वाच्यम्, 'सुन्दरि राकासि' इत्युक्त्योपमेयया सुन्दर्या राकातादात्म्यावगमे राकारूपकस्यैव कविविवक्षितत्वावगमात्, तदनुगुणतयोक्तत्वाद् अन्या शेषपि उत्तरपदार्थरूपकाणामेवेष्टत्वात् । इत्यत्र रूपकप्रकरणोक्त सकलोऽपि सिद्धान्तः कल्पित इति ।

रूपक के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट सिद्धान्त स्थिर करने के लिये शंका की जाती है—स्वादेतत् इत्यादि । इतने पर भी यह शंका की जा सकती है कि—पूर्वोक्त 'सौजन्य-चन्द्रिकाचन्द्रो राजा' इस छन्द परम्परितरूपक के उदाहरण में ही समास है—एक 'सौजन्य-चन्द्रिका' शब्द में और दूसरा इस शब्द को 'चन्द्र' शब्द के साथ जोड़ने में । ये दोनों ही समास यद्यपि तत्पुरुषसंज्ञक हैं, पर प्रथम समास तत्पुरुष का अवयव होने पर भी समानाधिकरण-समानविभक्तिकपद-युक्त होने के कारण एक भिन्न सज्ञा (कर्मधारय) का भाजन हो जाता है और दूसरा तत्पुरुष (वृद्धितत्पुरुष) ही कहा जाता है । इस कर्मधारय में 'अर्थात् 'सौजन्य-चन्द्रिका'पदार्थ में 'सौजन्य'पदार्थ अभेदसम्बन्ध से 'चन्द्रिका'पदार्थ का विशेषण होता है । सात्पर्य यह कि—'सौजन्य' विशेषण है और 'चन्द्रिका' विशेष्य । अतः 'सौजन्य-चन्द्रिका' पद के द्वारा 'चन्द्रिका' में 'सौजन्य' का अभेद प्रतीत होता है, न कि 'सौजन्य' में 'चन्द्रिका' का । वह अभेद ('चन्द्रिका में सौजन्य का अभेद) 'राजा' में 'चन्द्र' के अभेदरूप रूपक का समर्थन नहीं कर सकता, अपि तु 'चन्द्र' में 'राजा' के अभेद का समर्थन कर सकता है । अभिप्राय यह कि—जब समर्थकरूपकभाग में उपमेय ('सौजन्य') का उपमान ('चन्द्रिका') में अभेद ही समासमर्यादा से अवगत होता है, तब समर्थ रूपक (राजा और चन्द्र) भाग में भी वैसा ही होना उचित है—अर्थात् समर्थकरूपक अपने से विपरीत रूपक का समर्थन नहीं करेगा । और 'जिसके सम्बन्धी में जिसके सम्बन्धी का अभेद हो, उसमें उसका अभेद होता है' इस पूर्वोक्त म्याय के अनुसार भी उक्त रीति की ही दृष्टि होती है—अर्थात् 'सौजन्य' राजा का सम्बन्धी है और 'चन्द्रिका' चन्द्र की सम्बन्धिनी, उन दोनों में जिसका जिसमें आरोप (अभेद) प्रतीत होगा, उसके सम्बन्धियों में वह आरोप उसी क्रम से प्रतीत होगा । यहाँ कर्मधारय समास के अनुसार सौजन्य के विशेषण और चन्द्रिका के विशेष्य होने के कारण, सौजन्य का चन्द्रिका में अभेद प्रतीत होता है—सौजन्य का उपमान होना और चन्द्रिका का उपमेय होना विदित होता है । इस हिसाब से समर्थ भाग में भी राजा का अभेद चन्द्र में प्रतीत होगा—राजा का उपमान होना और चन्द्र का उपमेय होना समर्थित होने लगेगा, जो कविसिद्धान्तपरम्परा से सर्वथा विपरीत है । वह अनुकूल तब हो सकता है, जब कि चन्द्रिका का सौजन्य में अभेद प्रतीत हो, जैसे कि—'सौजन्य ते' अर्थात् हे राजन् । आप का 'सौजन्य चन्द्रिका है और आप चन्द्रमा है ।' इस अन्तरगत वाक्य में प्रतीत होता है । सात्पर्य यह कि जिस तरह समासस्थल में चन्द्रिका का विशेष्य (विशेषण) होना और सौजन्य का विशेष्य होना स्पष्ट ज्ञात होता है, उस तरह यदि समासस्थल में भी होता तो यथा का अभीष्ट सिद्ध हो सकता पर समासस्थल में ऐसा होता नहीं, क्योंकि वहाँ पूर्व पदार्थ का विशेषण होना और उत्तर पदार्थ का विशेष्य होना ही विदित होता है । यदि कहा जाय कि—सौजन्य का चन्द्रिका में अथवा चन्द्रिका का सौजन्य में अभेद—दोनों ही अभेद—एक ही उपाय से समझे जा सकते हैं—ये दोनों स्वल्प-विक्षेप-वेष्ट हैं (एक उपाय से समझे जानेवाले दो पदार्थ हैं),

सतः कोई अनुपपत्ति नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—यह बात प्रात्यक्षिक (प्रत्यक्ष-जन्म) ज्ञान के विषय में कही जा सकती है, क्योंकि वहाँ दोनों तरह के बोधों की सामग्री एक रहती है। परन्तु शाब्दबोध में ऐसा नहीं होता—वह तो व्युत्पत्ति की विचित्रता से जन्मा हुआ है। सारांश यह कि—‘शुभ्य-वित्ति वेद्यत्व’ एक न्याय है जिसका अभिप्राय यह है कि एक साधन से दो तरह की बातें समझ ली जा सकती हैं। पर इस न्याय का उपयोग चक्षुरादि इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान में ही किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ साधन एक रहता है, जैसे, कपना कीजिए कि—किसी एक जगह पर घड़ा और कपड़ा दोनों ही चीजें रखी हैं, वहाँ यदि हम दृष्टिपात करें तो यह नहीं हो सकता कि घड़े का दर्शन (ज्ञान) हो और कपड़े का नहीं, क्योंकि जिस साधन (आँखों) का संयोग होने से हम घड़े को जान सके हैं उस साधन (आँखों) का संयोग इसी तरह कपड़े के साथ भी होगा जिस तरह घड़े के साथ हुआ है। शब्द से होनेवाले ज्ञान में तो इस न्याय का उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञान के भेद से साधन (कारण) भी भिन्न हो जाता है, जैसे—समासस्थल में सौजन्य का अभेद चन्द्रिका में समस्तने का एक कारण सौजन्यपदोत्तर चन्द्रिकापद (‘सौजन्यचन्द्रिका’ इस तरह के पद) का ज्ञान है और चन्द्रिका का अभेदसौजन्य में समस्तने का कारण चन्द्रिकापदोत्तर-सौजन्यपद (‘चन्द्रिकासौजन्य’ इस तरह के पद) का ज्ञान हो जाता है। फलतः शाब्दबोध में शब्द के आकार-प्रकार बदल जाने पर बोध का आकार-प्रकार भी बदल जाता है, अतः उक्त न्याय आप के पक्ष में काम नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में ‘सौजन्यचन्द्रिका-चन्द्रो राजा’ यहाँ नहीं अपितु सभी समासगत-शुद्ध परस्परित-रूपक-स्थलों पर यह शोका समान रूप से उपस्थित है कि दो आरोपों (रूपों) का परस्पर निर्याद निर्वोदकभाव (समर्थ-समर्थक होना) कैसे बन सकता है? परस्परित रूपक स्थल में ही नहीं, अपितु अन्य समासगत रूपकों में भी उक्त अभेद प्रतीतिविषयक गड़बड़ी के कारण शंका उपस्थित हो जाती है। जैसे—‘अशिषुण्डरीक’ इत्यादि में कमल का रूपक (ताद्रूप्य) कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि कमल के ताद्रूप्य का अर्थ है कमल का शशि (चन्द्र) में अभेद, पर वह ‘अशिषुण्डरीक’ इस कर्मधारयसमास में प्रतीत होता नहीं, प्रतीत होता है कमल में शशिका अभेद। अतः जैसे ‘कमलचन्द्र’ है। इस स्थान में चन्द्र का रूपक कहा जाता है वैसे ही ‘अशिषुण्डरीक’ में भी चन्द्र का रूपक कहना उचित है, कमल का नहीं। इसी तरह ‘नीलिमदिष्यतोय’, ‘तारावलीमुकुल’, ‘पोडरा-कला-दल’, ‘अङ्गमुङ्ग’ इन सभी स्थलों में पूर्व पदार्थ (नीलिमा, तारावली, पोडरा कलायें और अङ्ग) के रूपक जो इष्ट नहीं हैं वे ही कहे जा सकेंगे, किन्तु उत्तर पदार्थ (दिष्यतल, मुकुल, दल और मुङ्ग) के रूपक जो अभिष्ट हैं वे नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि उक्त युक्ति से इन सभी जगहों में उत्तर पदार्थ (दिष्यतोय आदि) में पूर्वपदार्थ (नीलिमा आदि) का हो अभेद प्रतीत होगा, पूर्व पदार्थ में उत्तर पदार्थ का अभेद नहीं। एवम्—‘सुविमलमौक्तिक’—इस पूर्वोक्त पक्ष में उपमेयरूप ‘सुन्दरी’ में उपमानरूप ‘पूर्णमा’ का अभेद प्रतीत होता है, अतः पूर्णमा का रूपक यद्यपि स्पष्ट है, तथापि पक्ष के प्रथम तीन चरणों के रूपक, पूर्णमारूपक की अनुश्रुता के लिये निर्दिष्ट होने पर भी, उसकी अनुश्रुता नहीं करते। कारण, ‘तारा’, ‘चाँदनी’ और ‘पूर्णचन्द्र’ का क्रमशः मोती, घण्ट बसन और मुख के साथ अभेद सिद्ध होने पर भी सुन्दरी में पूर्णमा का ताद्रूप्य (अभेदारोप) सिद्ध नहीं हो सकता, प्रयुक्त उसके विपरीत पूर्णमा में सुन्दरी का ताद्रूप्य सिद्ध हो सकता है, क्योंकि वे—अभेद के बाध्यरूप में प्रतीत होने वाले ‘तारा’ आदि—पूर्णमा के सम्बन्धी हैं, सुन्दरी के नहीं। अतः सब गड़बड़ है।

समाधत्ते—

अत्र वदन्ति—अभेदस्तावद्विशेषणस्य संसर्गो भवति। ॥ च यथा मुखं चन्द्र

इत्यादौ वाक्यगते रूपके स्वप्रतियोगिनश्चन्द्रस्य स्वानुयोगिनि मुखे विशेषणताया निर्वाहकस्तथैव समासगते मुखचन्द्र इत्यादौ रूपके स्वानुयोगिनो मुखस्य प्रति-योगिनि चन्द्रे विशेषणतायाः । एवं चोभयत्रापि वस्तुतश्चन्द्राभेद एव संसर्गः । कचिदनुयोगित्वमुखः, कचिच्च प्रतियोगित्वमुखः, विशेषण-विशेष्यभाववैचित्र्यात् । न तु मुखचन्द्र इत्यत्र मुखभावेदः संसर्गः । तथा सति चन्द्ररूपकनापत्तेः, मुख-रूपकनापत्तेश्च । स्वप्रतियोगिकाभेद एव विशेषणसंसर्गो न तु स्वानुयोगिकाभेद इति तु दुरामहः । एवं च सौजन्यचन्द्रिकेत्यादौ वस्तुतः सौजन्याभेदो न सौजन्यस्य चन्द्रिकाविशेषणस्य संसर्गः, अपि तु चन्द्रिकाभेद एव । तथा च सौजन्यनिष्ठाभेदप्रतियोगिनी चन्द्रिकेति पर्यवसितेऽर्थे, भङ्गयन्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकाऽभेदसिद्धौ जातायां राजनि चन्द्राभेदोऽपि निष्पद्यते इति परम्परिते नानुपपत्तिः । शशिपुण्डरीकमित्यादावपि शशिनिष्ठाभेदप्रतियोगिपुण्डरीकमिति पर्यवसितेऽर्थे पुण्डरीकाभेदस्य भानात्पुण्डरीकरूपकमव्याहतम् । एवमन्येष्वप्य-वयवरूपकेषु बोध्यम्, एवं सुषिमलमौक्तिकतारे इत्यादावपि ताराचभेदा एव मौक्तिकादिगतो मौक्तिकादीना तारादिविशेषणानां संसर्गाभवन् राकारूपकस्य समर्थको भवतीति सर्वं सुस्थम् । सोऽयमभेदो यत्रानुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकस्य विधेयता । यत्र च प्रतियोगित्वमुखस्तत्रानुवाद्यत्वमिति दिक् ।

चन्द्रे विशेषणताया इति । निर्वाहक इत्यस्यानुपपत्तिः । कचिदिति । वाक्यगते इत्यर्थः । कचिच्चेति, समासगते इत्यर्थः । एवकारव्यावर्त्यमाह—न त्विति । इत्यत्र समासगतेः मुखभावेद इति । मुखप्रतियोगिकाभेद इत्यर्थः । नानुपपत्तिरिति । अत्र ‘रूपकत्वर्येत्यादि’ इति नागेशः । परन्तु तत्र शुक्त प्रतिभाति, मुखरूपकत्वस्य तयाप्यक्षते । मुखरूपकं तद्वेष्टं नास्तीति स्वन्यन् । अतः चन्द्ररूपकत्वस्येति विवरणमुचितम् । अन्येष्वप्यवयव-रूपकेष्विति । ‘नीलिमदिव्यतोये’ इत्यादावित्यर्थः । सर्वं सुस्थमिति । अत्र “अन्ये तु ‘तुल्य-विति वैद्यतया चन्द्राभेदस्यापि मुष्टे प्रतीतिरार्थं चन्द्ररूपकम् । शब्द व्यस्ते । एवं मुखभावेदस्य समासराजप्रवृत्त्युपयोगितयात्रीकारेऽप्यतात्पर्यविषयत्वाच्च तमादाय मुखरूपक-व्यवहारः । किं चात्र पूर्वपदार्थप्रधानमयूरव्यसकादिममासेन । चन्द्रपुण्डरीकाद्यभेदस्यैव मुखशरयादौ भानाच्च दोषः । अत एव विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थमिदम्’ इति भाष्यकृत । एव च वाच्यतापि चन्द्ररूपकस्य’ इत्याहुः । अपरे तु “चन्द्रनिष्ठाभेदश्चन्द्रप्रतियोगिकाभेदश्च रूपकम् । अत एव ‘तद्रूपकमभेदोपमानोपमेययो’ इत्युक्तं प्रकाशे । यद्वा विपयनिष्ठाभेद-प्रतियोगितया यत्र विषयस्य रजनमित्येव लक्षणार्थः । एव च मुखप्रतियोगिकाभेदश्चन्द्र इत्येवं बोधेऽपि न क्षतिः’ इत्याहुः” इति नागेशः । एवं रूपकत्वसाध्येऽपि समासगत-वाक्यगतरूपकयोर्भेदस्तमाह—सोऽयमित्यादिना । अयभाव-रव(विशेषण)प्रतियोगिका-भेद एव विशेषणस्य सम्बन्धस्तथा च मुखचन्द्र इत्यादिसमासगतरूपकस्थले मुखप्रति-योगिकाभेद एव चन्द्रे भासेत, यत्र चाभेदो भासते तदेवोपमेयम्, यस्य चाभेद-स्तदुपमानम् इति मुखरूपकापत्तिरित्यभिप्रायेण शक्त्वा सर्वा अनुपपत्तयो दर्शिता, पर तु तद् भ्रान्तिमूलकम्, यत स्वप्रतियोगिकाभेदो यथा विशेषणस्य सम्बन्धस्तथा स्वानुयो-गिकाभेदोऽपि । एवञ्च मुखं चन्द्र इत्यादि वाक्यगतरूपकस्थले चन्द्रप्रतियोगिकाभेदव-न्मुखम् इति जायमाने बोधे चन्द्रो विशेषण मुखच विशेष्यं भवति । मुखचन्द्र इत्यादि समासगतरूपकस्थले तु मुखानुयोगिकाभेदप्रतियोगी चन्द्र इति बोधे मुक्तमेव विशेष्यम्

चन्द्रश्च विशेष्यो भवति । उभयत्रापि चन्द्रस्यैवाभेदप्रतियोगितया अन्येनोपमानत्वं सुस्पष्टम्, अतोऽस्त्रिधा-पूर्वोक्ता अनुपपत्तयो वारिता, सौजन्यचन्द्रिका इत्यत्र चन्द्रिकाप्रतियोगिकामेदस्यैव सौजन्यात्मकविशेषणसम्बन्धत्वेन सौजन्यानुयोगिकामेदप्रतियोगिनीचन्द्रिकेति बोधे प्रकारान्तरेण सौजन्ये चन्द्रिकामेदमिदौ राशि चन्द्रामेदस्य समर्थनसम्भवात्, राशिपुण्डरीकम् इत्यत्र राश्यनुयोगिकामेदप्रतियोगिपुण्डरीकम् इति बोधे राशिति पुण्डरीकामेदस्य भावेन पुण्डरीकरूपरूपाभावात्, नीलिमदिव्यतोये, तारावली-मुकुलमण्डलमण्डिते, षोडशकलादलम्, अद्भुतम् इत्येतेष्वपि उक्तान्ता उत्तरपदार्थप्रतियोगिकामेदस्य पूर्वपदार्थे मानेनोत्तरपदार्थरूपकत्वस्याश्रितत्वात् 'मुक्तिमल्लमौक्तिकान्तरे—' इत्यादि सारादिप्रतियोगिकामेदस्यैव मौक्तिकस्यात्मकविशेषणसम्बन्धतया तत्र-समर्थकारो-ताराद्युत्तरपदार्थरूपकत्वसिद्धौ तै रूपकैः राशिरूपकस्य समर्थतासम्भवाच्च । अभेदो विशेषणस्य सम्बन्ध इति सत्यम्, परन्तु विशेषणविशेष्यभाववैविध्येन व्यासस्थले तस्य (अभेदस्य) मुखे (अप्रभागे) अनुयोगित्वं, तिष्ठति 'मुखं चन्द्रः' इत्यादित चन्द्रप्रतियोगिकामेदानुयोगि मुखम् इत्यादिबोधात्, समासस्थले च तस्य मुखे प्रतियोगित्वं तिष्ठति, 'मुखचन्द्रः' इत्यादितः 'मुखानुयोगिकामेदप्रतियोगी चन्द्रः' इत्यादिबोधात् इति तात्पर्यम् । यद्यपि गुह्यमर्मप्रकाशकारस्तदनुसारी सरलाकारस्य 'अनुयोगित्वमुख-प्रतियोगित्वमुख'शब्दयोः 'अनुयोगित्व मुखे = आदौ यस्य' इत्यादि विवरणं विधाय समासस्थलेऽनुयोगित्वमुखत्वं व्यासस्थले च प्रतियोगित्वमुखत्वं निर्णीत-यन्ती, तत्राप्यहम् 'सौख्यमभेदो यत्रानुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकस्य विधेयता' इत्यादिप्रस-ङ्ग्यस्वारस्यातुरोधेन 'अनुयोगित्व मुखे = अप्रभागे यस्य, इत्यादि विवृत्य तद्विपरीतम् निरचिन्वन् । यदि समासेऽनुयोगिमुखत्वमभेदस्याभिमतमभिव्यक्तत्वाऽनुयोगित्वमुक्तामभेद-स्थले रूपकस्य विधेयत्वकथनमसंगतमेवाप्रविज्वन्, समासे-मुखचन्द्रः इत्यादौ रूपकस्य विधेयताया मुक्ति-सिद्धान्तोभयविरुद्धत्वादिति ध्यानीय विद्मः । एतावत् पुनरवगन्तव्यम् यद्यत्राभेदोऽनुयोगित्वमुखस्तत्र रूपकं विधेयं भवति—अर्थात् व्यासस्थले 'मुख चन्द्रः' इत्यादौ अभेद उक्तयुक्त्याऽनुयोगित्वमुखस्तिष्ठति तत्र औपमानोपमैययोः पृथक्-पृथक् विभक्तिप्रवणानुद्देश्यविधेयभावमभवेन रूपकस्य विधेयत्वेन व्यवहारो भवति । यत्र चाभेदः प्रतियोगित्वमुखस्तत्र रूपकमनुवाच्यं भवति—अर्थात् समासस्थले 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ—अभेद उक्तयुक्त्या प्रतियोगित्वमुखस्तिष्ठति, तत्र औपमानोपमैययोः पृथग्विभक्तेरश्रवणा-नुद्देश्यविधेयभावासम्भवेन रूपकस्यानुवाच्यत्वेनैव व्यपदेशो जायत इति ।

उक्त आशका का उक्ति दिया जाता है—अत्र वदन्मि इत्यादि । उक्त आशका के उत्तर में कहते हैं कि—अभेद विशेषण का संबन्ध होता है विशेष्यका नहीं, यह सर्व-सम्मत बात है—अर्थात् अभेदसंबन्ध से विशेषण ही विशेष्य में रहनेवाला समझा जाता है, विशेष्य विशेषण में रहनेवाला नहीं । यह सत्य है पर वह अभेद जैसे 'मुख चन्द्रमा है' इत्यादि वाक्यगत रूपक में अपने प्रतियोगी चन्द्र का अपने अनुयोगी रूप में, विशेषण होना निमा देता है वैसे ही 'मुखचन्द्र' आदि समासगत रूपक में अपने अनुयोगी मुख का, अपने प्रतियोगी चन्द्र में, विशेषण होना निमा देता है । तात्पर्य यह कि वाक्य तथा समास में विशेषण-विशेष्य होना बदलता है, अनुयोगी प्रतियोगी होना नहीं, अतः वाक्य तथा समास दोनों ही जगहों पर वस्तुतः 'चन्द्रका अभेद' अर्थात् 'चन्द्रप्रतियोगि॥ अभेद' ही संबन्धरूप होता है, 'मुख का-मुखप्रतियोगिक-अभेद' नहीं । यह बात दूसरी है कि कहीं (व्यासस्थल में) अभेद के आगे अनुयोगित्व आता है

और कहीं (समासस्थल में) प्रतियोगित्व उसके आगे आता है। इस तरह के अप्रागमन का कारण है विशेषण विशेष्य होने की विचित्रता—अर्थात् यह निश्चित नहीं कि अनुयोगी ही विशेषण हो अथवा प्रतियोगी ही, दोनों में से कोई भी विशेषण अथवा विशेष्य हो सकता है। इस विचित्रता के कारण कभी (समास कर देने पर) अनुयोगी—मुख आदि विशेषण हो जाता है और कभी (समास न करने पर) प्रतियोगी—चन्द्र आदि। और जब अनुयोगी विशेषण होता है तब प्रतियोगित्व अभेद के आगे आ जाता है—अर्थात् 'मुखचन्द्र' इस समस्त पद से 'मुख जिसका अनुयोगी है उस अभेद का प्रतियोगी चन्द्र' ऐसा बोध होता है और जब प्रतियोगी विशेषण होता है तब अनुयोगित्व अभेद के आगे आ जाता है—अर्थात् 'मुख चन्द्र है' इस वाक्य—जिसमें अभेद का प्रतियोगी चन्द्र विधेय होने के कारण विशेषण और उसका अनुयोगी मुख उद्देश्य होने के कारण विशेष्य हुआ है—से 'चन्द्र जिसका प्रतियोगी है उस अभेद का अनुयोगी—आशय—मुख' ऐसा बोध होता है। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि—'मुखचन्द्र' इत्यादि समासगत-रूपकस्थल में मुख का (मुख प्रतियोगिक-अभेद संबन्धरूप से आया है, चन्द्र का नहीं। कारण, यदि—ऐसा हो अर्थात् 'मुखचन्द्र' आदि में मुख के अभेद को संबन्ध रूप से भाषा हुआ माने—तो ऐसी जगह चन्द्र-रूपक न कहला कर मुख-रूपक कहलाने लगेगा—अर्थात् मुख में चन्द्र का आरोप न मानकर चन्द्र में मुख का आरोप मान्य होने लगेगा। स्वप्रतियोगिक अभेद ही—अर्थात् जिसका विशेषण प्रतियोगी हो वही अभेद संबन्धरूप में आ सकता है, न कि स्वानुयोगिक अभेद—अर्थात् जिसका विशेषण अनुयोगी हो वह अभेद संबन्धरूप में नहीं आ सकता—तत्पर्य यह कि विशेषण सर्वदा अभेद का प्रतियोगी ही हो सकता है, अनुयोगी नहीं, यह किसी का कथन तो केवल भ्रामक है, क्योंकि इस तरह के कथन में कोई प्रमाण नहीं। इस स्थिति में 'सौजन्य-चन्द्रिका' आदि रूपक में 'चन्द्रिका के विशेषणरूप सौजन्य' का संबन्ध 'सौजन्य का अभेद' नहीं, अपितु 'चन्द्रिका का अभेद' है—अर्थात् उस अभेद का प्रतियोगी सौजन्य नहीं, चन्द्रिका है। अतः उक्त सामासिक पद से पर्यवसित होने वाले 'चन्द्रिका सौजन्य' में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी है' इस अर्थ में विग्रह के वज्र से न सही, किन्तु दूसरे वज्र से सौजन्य में चन्द्रिका का अभेद सिद्ध हो जाता है और उसके सिद्ध हो जाने पर चन्द्र का अभेद राजा में भी सिद्ध हो जाता है। अतः परस्परित रूपक में कोई गड़बड़ी नहीं। 'शशिपुण्डरीक' आदि में भी 'चन्द्र में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी कमल' यह अर्थ सिद्ध हो जाने पर कमल का अभेद ही चन्द्र में प्रतीत होता है, अतः कमल का रूपक मानने में कोई बाधा नहीं। इसी तरह अन्य अवयव-रूपकों में भी समझना चाहिए—अर्थात् 'नीलिमतोय, तारावलीमुकुट, घोडश कला-दल, तथा अङ्ग-भृङ्ग' इन सब जगहों में भी उक्त रीतिसे अन्त में उत्तरपदार्थ तोय आदि का अभेद ही पूर्वपदार्थ नीलिमा आदि में समझा जायगा, अतः—यहाँ भी उत्तरपदार्थरूपक मानने में कोई अड़चन नहीं रह जाते। इसी तरह 'सुविमलभौक्तिकतारे' इत्यादि में भी मोती आदि में रहनेवाला तारा आदि का अभेद ही तारा आदि के विशेषणीभूत मोती आदि का संबन्ध होकर राका रूपक का समर्थक होता है। अतः सब ठीक है। हाँ, इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि—यह अभेद जहाँ अनुयोगित्व मुख हो—अर्थात् जहाँ शाब्दबोध में अभेद के आगे अनुयोगित्व शब्द जोड़ा जाता हो वहाँ फलतः व्यास-स्थल में रूपक विधेय कहलाता है, क्योंकि वहाँ 'मुख चन्द्र' इत्यादि रीति से उपमान उपमेय में अलग-अलग विभक्ति के ध्वनि होने से उद्देश्य-विधेयभाव हो सकता है और यह अभेद जहाँ प्रतियोगित्वमुख हो अर्थात् जहाँ शाब्दबोध में अभेद के आगे प्रतियोगित्व शब्द जोड़ा जाता हो वहाँ फलतः समासस्थल में रूपक-अनुवाचक कहलाता है, क्योंकि वहाँ 'मुख चन्द्र' इत्यादि रीति से उपमान-उपमेय में पृथक् विभक्ति के ध्वनि न होने से उद्देश्य-विधेयभाव नहीं हो सकता है।

यहाँ 'सर्वं सुखम्' इस प्रतीक पर भागेश कतिपय भिन्न मतों का उल्लेख करते हैं, जो निम्नलिखित हैं—“‘मुखचन्द्र’ इत्यादि समासगत रूपकस्थल में यद्यपि शब्दतः मुख का अभेद ही चन्द्र में भासित होता है, तथापि तुल्य-वित्ति-वेद्य होने के कारण, अर्थात् चन्द्र का अभेद मुख में भी गृहीत हो ही जाता है, अतः ऐसे-समास-स्थलों में आर्य चन्द्र-रूपक होता है। शब्द चन्द्र-रूपक तो ‘मुखचन्द्र’ है इत्यादि व्यास-वाक्य-स्थल में होता है। यदि कोई कहे कि मुख का अभेद सब शब्दतः चन्द्र में गृहीत हुआ तब मुख-रूपक व्यवहार ही यहाँ क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर यह होगा कि समासशास्त्र की प्रवृत्ति में उपयोगी होने के कारण मुख का अभेद चन्द्र में मले ही माना जाय पर वह वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है—वक्ता के तात्पर्य का विषय तो मुख में चन्द्र का अभेद ही है, अतः मुख रूपक व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती। अथवा ‘मुखचन्द्र’ इत्यादि पदों में ‘मयूरव्यसकादृश’ इस पाणिनिसूत्र से ही समास किया जायगा जिस समास में पूर्व पदार्थ की ही प्रधानता रहती है, अतः ‘मुखचन्द्र’, ‘शशिपुण्डरीकम्’ इत्यादि में चन्द्र पुण्डरीक आदि का ही अभेद मुख-शशि आदि में भासित होगा, अतः कोई दोष नहीं। अतएव भाष्यकार ने भी कहा है कि ‘मयूर-इत्यादि सूत्र विशेष्य के पूर्व प्रयोगार्थ है।’ इस रीति को मानने पर उक्त स्थल में चन्द्र रूपक वाक्य भी कहलाता है, अन्यथा वैसा नहीं कहला सकता।” यह अन्य लोगों का मत है। कुछ लोगों का यह भी मत है कि—“चन्द्र का अभेद और चन्द्र में रहने वाला अभेद—दोनों ही अभेद रूपक कहलाते हैं। अतएव कायमकाश में ‘उपमान-उपमेय का अभेद रूपक है’ ऐसा ही लक्षण किया गया, ‘उपमान का उपमेय में अभेद रूपक है’ ऐसा नहीं। अथवा ‘विषयी उपमान में रहने वाला जो अभेद उसकी प्रतियोगिता से जहाँ विषय उपमेय का रक्षण हुआ हो वहाँ रूपक होता है’ यही लक्षणवाच्य का अर्थ है। अतः ‘मुखचन्द्र’ इत्यादि से ‘मुखप्रतियोगिकमुख का अभेद वाला चन्द्र’ इस तरह का बोध होने पर भी कोई चूति नहीं।”

परम्परितरूपकस्य प्रमेहान्तरमवतारयति—

सत्र ‘प्राची सन्ध्या समुद्यन्महिमदिनमणैः’ इत्यत्रारोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्चानुकूल्ये रूपकयोरनुप्राधानुप्राहकभावो दर्शितः।

तत्रेति। पदार्थव्यपकाया मध्ये इत्यर्थः। आरोप्यमाणयोः उपमानयोः। परस्परमित्यस्य मध्यमगिन्यायैर्नोभयत्रान्वयः। आरोपविषययो उपमेययोः। आनुकूल्ये अविद्वत्त्वे। अनुप्राधानुप्राहकभावः समर्थसमर्थकभावः। ‘प्राचीसन्ध्या—’ इत्यत्रारोप्यमाणौ पूर्व-सन्ध्यासूर्यौ आरोपविषयौ महिमनयनगतशोणिमन्त्रियौ च मित्रोऽनुकूलौ, पूर्वसन्ध्याया सूर्यस्य महिम्नि नयनगतशोणिमरशोभायाश्च सम्मान्यमानत्वादिति भावः।

परम्परितरूपक के अन्य भेदों की अवतारणा की जाती है—तत्र इत्यादि। परम्परितरूपक के प्रमेयों में समर्थरूपक और समर्थकरूपक के उपमानों तथा उपमेयों के परस्पर अनुकूल होने पर समर्थ-समर्थक होना ‘प्राचीसन्ध्या—’ इस पद्य में दिखाया जा चुका है अर्थात् उक्त पद्य में, उपमान-पूर्वसन्ध्या—और सूर्य आदि परस्पर अनुकूल हैं—पूर्व-सन्ध्या (प्रभात) में सूर्य रहता ही है, इसी तरह उपमेय-प्रताप और नयन-शोणता आदि भी परस्पर अनुकूल हैं—प्रतापीजन की साँखें लाल हुआ ही करती हैं।

पूर्वावतारणावचितमेदान्तरं दर्शयितुमाह—

प्रातिकूल्ये यथा—

आरोप्यमाणयोः परस्परमारोपविषययोश्च विद्वत्त्वे रूपकयोरनुप्राधानुप्राहकभावो ज्ञेय इति भावः।

समर्प्यरूपक और समर्पक-रूपक के उपमानों और उपमेयों के परस्पर प्रतिकूल होने पर भी समर्प्यसमर्पक होने का उदाहरण जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘आनन्दमृगदावामिः शीलशाखिमदद्विपः ।

ज्ञानदीपमहाबायुरयं खलसमागमः ॥’

अयम् अन्यग्रहस्थमान, खलसमागमः नीचाशयजनसन्नेहनम्, आनन्दरसस्य मृगस्य कृते दावामि वनवहिरूपोऽस्ति, शीलम् सदाचारः, तद्रूपो यः शाखी तस्य तस्य कृते मदद्विपः मत्तगजरूपोऽस्ति, तथा ज्ञानरूपो यो दीपः तस्य कृते महाबायुः मङ्गलवातरूपोऽस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आनन्द इत्यादि । यह खलों-नीच धारमावाले जनों—का समागम आनन्दरूप हरिण के लिये वनवह्नि है, सदाचाररूप वृद्ध के लिये मद-मत्त हाथी है और ज्ञानरूप दीपक के लिये महाबायु है ।

उदाहरणान्तरं निर्दिष्टं कथयति—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिरौत्वहुताशनः ।

यशःसौरभ्यलघुनः पिशुनः केन वर्ण्यते ॥’

कारुण्यकुसुमस्य दयारूपपुष्पस्य, कृते आकाशः विशदूपः, शान्तिरौत्वस्य शान्तिरूप-शीतलत्वस्य कृते हुताशनः अग्निरूपः, तथा यशःसौरभ्यस्य यशोरूपस्य सुगन्धस्य कृते लघुनः स्त्रुणरूपः, पिशुनः कर्जणः, केन जनेन, वर्ण्यते न केनापीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कारुण्य इत्यादि । उस सुगन्धलक्ष्मी का वर्णन किससे सम्भव है जो दयारूप पुष्प के लिये आकाशरूप, शान्तिरूप शीतलता के लिये धनलरूप और यशोरूप सुगन्ध के लिये लहसुनरूप है ।

उपपादयति—

एकत्र नाशयनाशकभावरूपमपरत्र चान्तिकसंसर्गशून्यत्वरूपं प्रातिकूल्य-मुपमानयोस्तथैवोपनेययोश्च । अनुमाद्यानुमाहकभावः पुनरारोपयोरधिशिष्ट एव ।

तत्त्वान्तरदाने बीजमाह—एकत्रेति । आये इत्यर्थः । अपरत्रेति । द्वितीये इत्यर्थः । दावामिना यथा मृगस्तथा खलसमागमेन आनन्दो नास्मते, एवं च दावामिर्धमा मृगार्थम् प्रतिकूलस्तथा आनन्दस्य कृते खलसमागम इत्यादिरूपे प्रातिकूल्ये ‘आनन्दमृग—’ इति परस्परविरुद्धरूपदोषाहरणम् । एकम्—आद्यशे यथा कुसुमस्य तथा खले कारुण्यस्य संसर्गो नेत्यादिरूपे प्रातिकूल्ये ‘कारुण्य—’ इति ‘परस्परविरुद्धरूपदोषाहरणमिति भावः । एवं प्राति-कूल्यमुपपाद्य तत्त्वत्वेऽपि समर्प्यनमर्पकभावोऽस्त्येवेत्युपपादयति—अनुमाह इत्यादि । आनन्दे मृगारोपेण शीले शास्त्रारोपेण ज्ञाने दीनारोपेण च खलसमागमे दावामिना मदद्विप-महाबायुनामारोपः समर्प्यते प्रथमरत्ने, एवं कारुण्ये कुसुमारोपेण, शान्ती रौत्वारोपेण, यशसि सौरभ्यारोपेण च पिशुने आकाशहुताशनलघुनानामारोपः समर्प्यते द्वितीयरत्ने इति साराशः ।

उपपादन किया जाता है—एकत्र इत्यादि । उक्त दोनों उदाहरणों में ते प्रथम उदाहरण में नाशयनाशकभावरूप और द्वितीय उदाहरण में सर्वथा सम्बन्धताहित्यरूप प्रतिकूलता

उपमानों तथा उपमेयों में है। सात्पर्य यह कि प्रथम पद्य में, समर्थकरूपकगत—
गृग, घृष और वीष—एवं समर्थरूपकगत—दावानल, अक्षयज और महायायु—
जो उपमान हैं वे परस्पर प्रतिकूल हैं। प्रतिकूलता इनमें यह है कि क्रमशः प्रथमपद्य
के पदार्थों के नाशक हैं क्रमशः द्वितीय पद्य के पदार्थ, इसी तरह समर्थकरूपकगत
आतन्द, शील और ज्ञान—एवं समर्थरूपकगत—छलसमागम—जो उपमेय हैं उनमें
भी परस्पर प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता भी वही है—अर्थात् छल-समागम
प्रथम पद्य में गिराए गये पदार्थों का नाशक है। द्वितीय पद्य में, जो समर्थक-
रूपकगत—कुसुम, सौम्य और सुगन्ध—एवं समर्थरूपकगत—भाकार, अग्नि और
लहसुन—जो उपमान हैं उनमें भी परस्पर प्रतिकूलता है—और प्रतिकूलता यह
है कि—क्रमशः प्रथम पद्य के पदार्थों के साथ क्रमशः द्वितीय पद्य के पदार्थों का
कभी किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहता, इसी तरह समर्थकरूपकगत उपमेयों—
दया, क्षान्ति तथा वस—के साथ समर्थरूपकगत उपमेय—सुगलसोर—का किसी प्रकार
का सम्बन्ध न हो सकनारूप प्रतिकूलता है। पर उक्त प्रतिकूलताओं के रहने पर भी
दोनों ही पद्यों में समर्थ-समर्थकभाव उसी तरह होता है जिस तरह अनुकूलता वाले
उदाहरणों में।

परम्परितरूपस्य भिन्नविष वैचित्र्यं निम्नयितुमुदाहरणान्तरमाह—

तथा—

‘अयं सज्जनकार्पासरक्षणैकदुताशनः ।

परदुःखामिशमनमारुतः केन वर्ण्यते ॥’

दुर्जनं स्वभावा परापकारनिरत कम्युरिशय कविराट्—राज्यनरूपस्य, कार्पासस्य
सूक्ष्मविशेषस्य, रक्षणे लक्षणया नाशने, एकं अद्वितयः, दुताशनः अमिरूपः, तथा पर-
दुसरूपस्य, शमने, शमने लक्षणया वर्धने, मारुतः वायुरूपः, अयं दुर्जन, केन व्यक्ति-
विशेषेण वर्ण्यते ? वर्णयितुं शक्यते ? न केनापीत्यर्थः ।

भिन्न तरह की विचित्रता का चित्रण करने के लिये परम्परित का एक और उदाहरण
उपस्थित किया जाता है—अयम् इत्यादि। किसी दुर्जन को उद्देश्य कर कवि ने कहा है—
यह सज्जनरूप कपास की रक्षा करने में (लक्षणा द्वारा नाश करने में) एक अद्वितीय
अग्नि है और दूसरों के दुःसरूप अग्नि का शमन (लक्षणया वर्धन) करने में वायुरूप
है। इसका वर्णन कौन कर सकता है ? कोई नहीं।

उपपादयति—

अत्र रक्षणशमनपदे विरोधिलक्षणया विपरीतार्थयोधये ।

‘अयम्’ इति लोके दुताशनकर्तृक कार्पासकर्त्रे रक्षण यथा बाधितम् तथा दुर्जन-
कर्तृकं राज्यनरूपरूप रक्षणं बाधितमिति रक्षणपदस्य वैपरीत्यसाधनमूलिका नाराणेऽर्थे लक्षणा ।
एवं मारुतकर्तृकं वह्निर्मयं शमनं यथा बाधितं तथा दुर्जनकर्तृक परकीयदुःसरूपकं शमन-
मपि बाधितमिति शमनपदस्य वैपरीत्यसंसर्गमूलिका वर्धनेऽर्थे लक्षणा । तथा च समर्थ-
समर्थकभावापन्नरूपकद्वयसंगृह्यात्मकेऽत्र परम्परिते । लक्षणप्रवेश एक वैचित्र्यमिति भावः ।
इदंशपरं वैचित्र्यमिह विभावनीयम्—पूर्वार्धगतयोः समर्थसमर्थकरूपकयोः । उपमानोपमेये
मिथः प्रतिकूलते कार्पास दुताशनयोः सज्जनदुर्जनयोश्च नाश-नाशकभावापन्नपदार्थत्वात् ।
उत्तरार्धगतयोः समर्थसमर्थकरूपकयोरुपमानोपमेये तु मिथः प्रतिकूलते, अग्नि-मारु-
तयोः परदुःखदुर्जनयोश्च परस्परसावर्ण्यसंवर्धकभावापन्नत्वेनानुकूलत्वात् ।

ध्यातृया द्वारा सूचित की गई लक्षणा का उपपादन किया जाता है—अत्रेति । 'अयम्' इस पद में 'रक्षण' तथा 'शमन' पद विपरीत लक्षणा द्वारा वाच्य से विरुद्ध अर्थ—नाशन और वर्धन के बोधक हैं । अभिप्राय यह कि—जिस तरह आग से कपास की रचा बाधित है एवं वायु से आग का प्रशमन बाधित है उसी तरह दुर्जन से सज्जन की रचा एवं दुर्जन से परकीय दुःख का प्रशमन भी बाधित है, अतः रक्षण तथा शमन पद की लक्षणा क्रमशः नाशन तथा वर्धन अर्थ में करनी पड़ेगी और 'लक्षणा शस्यसंबन्ध' का रसक संबन्ध यहाँ होगा 'विरोध'वैपरीत्य । इस तरह से परस्पर समर्थ्यसमर्थकभावापन्न अनेक रूपकों के समूहरूप इस परम्परित रूपक में लक्षणा का प्रवेश कराना एक प्रकार की विचित्रता दिखलाई गई । यहाँ दूसरी विचित्रता भी यह है कि—पूर्वार्ध में, समर्थक रूपक का उपमान—कपास और समर्थ्य रूपक का उपमान—अग्नि परस्पर प्रतिकूल हैं—एक का दूसरा नाशक है, इसी तरह उक्त दोनों रूपकों के उपमेय सज्जन और दुर्जन भी परस्पर प्रतिकूल हैं—एक का दूसरा नाशक ही है । ठीक इसके विपरीत, उत्तरार्ध में समर्थक रूपक का उपमान—अग्नि और समर्थ्य रूपक का उपमान—वायु प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु अनुकूल ही हैं—एक का दूसरा सहायक ही है । इसी तरह इन दोनों रूपकों के उपमेय क्रमशः परकीय ॥ ३ ॥ और दुर्जन भी प्रतिकूल नहीं, अनुकूल हैं—एक का दूसरा वर्धक है । इस तरह यहाँ प्रातिकूल्य तथा आनुकूल्य का विचित्र मिश्रण है ।

अवान्तरप्रकरणसमाप्ति सूचयति—

एवं पदार्थरूपक लेशतो निरूपितमेव ।

एव प्रागुक्तरीत्या । पदार्थरूपकमिति । यत्रैकस्मिन् उपमेयभूते पदार्थेऽपरस्य पदार्थ-भूतस्योपमानस्यारोपस्तादृश रूपकमित्यर्थः । लेशत आशत ।

अवान्तर प्रकरण की समाप्ति सूचित की जाती है—एव इत्यादि । इस तरह (पूर्वोक्त रीति से) पदार्थ रूपक (उस रूपक, जिसमें एक पदके अर्थ का आरोप दूसरे पद के अर्थ में होता है) का अंशत निरूपण किया जा चुका ।

वाक्यार्थरूपक निरूपयिष्यन् तावत्तल्लक्षणमाह—

वाक्यार्थे विषये वाक्यार्थान्तरस्यारोपे वाक्यार्थरूपकम् ।

उपमेयभूते एवस्मिन् वाक्यार्थे (न तु पदार्थे) उपमानभूतस्यान्यवाक्यार्थस्य (न तु पदार्थस्य) आरोपे-तादृशे-वाक्यार्थरूपक भवतीति भावः ।

वाक्यार्थरूपक का निरूपण करने के प्रसङ्ग में पहले उसका लक्षण किया जाता है—वाक्यार्थे इत्यादि । जब किसी एक पद का अर्थ नहीं, अपितु किसी पूरे वाक्य का अर्थ उपमेय हो और उसमें उपमानभूत पूरे वाक्य के अर्थ का आरोप हो, तब वह आरोप वाक्यार्थरूपक कहलाता है ।

दृष्टान्तद्वारा वाक्यार्थरूपकगत विशेषं स्फोरयितुमाह—

यथाहि विशिष्टोपमायां विशेषणानामुपमानोपमेयभाव आर्थस्तथानापि वाक्यार्थघटकानां पदार्थानां रूपकमर्थविसेयम् ।

विशिष्टोपमयामिति । 'आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं भवेत् । हलान भास्कर-स्येव तारसं सलिलोत्करं ।' इत्यादिप्रकारिकायामित्यर्थः । विशेषणानामिति । आत्म-भास्करयो तपोदानसलिलोत्करयोपमेयोपमानविशेषणयोरित्यर्थः । आर्थ इति तदर्थे द्वायप्रयोगादिति भावः । अत्रापि नात्मार्थरूपके । वाक्यार्थघटकानामिति । वाक्यार्थान्तर्गतानामित्यर्थः । अर्थविसेयमिति । आर्थमित्यर्थः । न शब्दमिति तदारायः ।

दृष्टान्त द्वारा वाक्यार्थरूपक में होनेवाले विशेष का स्पष्टीकरण किया जाता है—

यथा हि इत्यादि । जैसे विशिष्ट-विशेषणयुक्त—उपमा में विशेषणों का उपमानोपमेयभाव अर्थातः अवगत होता है शब्दतः नहीं, क्योंकि वहाँ उपमा सादृश्य का बोधक पद 'इव' आदि नहीं रहता, वैसे ही वाक्यार्थ-रूपक में भी वाक्यार्थ घटक—अर्थात् जिनके समूह से वाक्यार्थ बनता है उन पदार्थों का रूपक अर्थातः समझने योग्य होता है, शब्दतः नहीं । अभिप्राय यह कि—यदि 'तप-दान' आदि के द्वारा आत्मा को निर्मल करना वैसा ही है जैसा सरोवर के जल से सूर्य का प्रकाशन करना' ऐसा कहा जाय तब सभी आचार्य इसको विशिष्ट—अर्थात् वाक्यार्थ की—उपमा मानेंगे और इस उपमा में आत्मा की सूर्य के साथ और तप-दान की जल के साथ होने वाली उपमा अर्थातः ज्ञात होने वाली मानी जायगी, वही तरह वदयमान वाक्यार्थ रूपक के उदाहरण में भी विशेषणांश का तादृश्य तो शब्दतः ज्ञात होगा पर विशेषणांश का तादृश्य शब्दतः नहीं, अर्थातः ज्ञात होगा ।

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरणं हि यत् ।

क्षालनं भास्करस्येवं सारसैः सलिलोत्करैः ॥’

अस्य स्वतो निर्मलस्य, आत्मनो जीवाद्यस्य प्रद्वान्, तपोदानै तपस्याभिः परोहे-
र्येनार्थत्यागैश्च, यत् निर्मलीकरणं निर्मलताप्राप्तादनम्, एवं तद्, सारसैः सरोवरीयैः,
सलिलोत्करैः जलपृष्ठैः, भास्करस्य सूर्यस्य, क्षालनं निर्मलीकरणमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आत्म इत्यादि । स्वतः निर्मल इस आत्मा को तप और दानों से निर्मल करना सरोवर के जल-समूह से सूर्य को धोना है ।

उपपादयति—

अत्रात्मनि तपोदानेषु चारोपविषयविशेषणतया बिम्बभूतेषु, भास्करस्य सलिलोत्करादीनां च विषयि-विशेषणत्वेन प्रतिबिम्बानां रूपकं गम्यमानं प्रधानीभूतविशिष्टरूपकाङ्गम् ।

सलिलोत्करादीनामिति । यद्यप्यत्रौपलब्ध्युक्तके ‘सलिलक्षालनादीनाम्’ इत्येव पाठः, परन्तु स न संगत इति नागेशेन स्वटीकायामुद्धृतो मूलोक्त पाठ एव मया दत्तः । ‘आत्मनोऽस्य—’ इति श्लोके तपोदानकरणकात्मकर्मकर्मलीकरणात्मके उपमेयभूते वाक्यार्थे सारससलिलसमूहकरणकभास्करकर्मकक्षालनात्मकस्योपमानभूतस्य वाक्यार्थस्थाभेदारोपहर्षं वाक्यार्थरूपकं प्रधानं शान्दध । उपमेयविशेषणतया बिम्बभूते आत्मनि तपादौ चोपमानविशेषणतया प्रतिबिम्बभूतस्य भास्करस्य सलिलोत्करस्य आभेदारोपरूपं रूपक-द्वयमशान्दमपि अर्थात् प्रतीयमानमङ्गमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘आत्मनोऽस्य—’ इस पद्य में ‘तप दानों से आत्मा को निर्मल करना’ यह वाक्यार्थ उपमेय है, जिसमें ‘सरोवर के जल से सूर्य का धोना’ इस उपमानभूत वाक्यार्थ का शब्दतः आरोप होता है, अतः यह आरोप शान्दवाक्यार्थरूपक कहलाता है और यह वाक्यार्थरूपक ही यहाँ प्रधान है । यद्यपि यहाँ, उपमेय के विशेषण होने से बिम्बरूप आत्मा में उपमान-विशेषण होने से प्रतिबिम्बरूप सूर्य का तथा इसी तरह, बिम्बरूप तप-दानों में प्रतिबिम्बरूप जल का आरोप भी अर्थातः प्रतीय होता है, अतः ये दो आर्यपदार्थरूपक भी हैं, पर वे दोनों उक्त प्रधान रूपक के अङ्ग-भूत हैं ऐसा समझना चाहिये ।

दीक्षितमतमुत्पाद्य निरस्यति—

‘नेदं रूपकम् । रूपके बिम्ब-प्रतिबिम्बभावो नास्ति’ इति केनाप्यालङ्कारिक-
म्मन्येन प्रतातितस्य दीर्घश्रवसो द्रविडस्योक्तिरश्रद्धेयैव । ययोरिवादिशब्दप्रयोगे

उपमा तयोरेकत्रान्यारोपे रूपकमिति नियमात् । अत्र यदि रूपकं नाद्वीकुरुपे मैवाद्वीकुरु, तर्हि तत्रैव यथादिशब्दप्रयोगे उपमामपि । एवं 'त्वयि कोपो महीपाल सुधांशाविष पावक' इत्यादौ स्वकल्पितेन विशिष्टेन धर्मिणा सादृश्यस्य प्रत्यया-
दुपमां ब्रूये, ब्रूहि तर्हि तत्रैवेवस्य निरासे 'त्वयि कोपो महीपाल सुधांशी हृद्यवाहनः' इत्यादौ रूपकमपि ।

दीर्घश्रवण इति । यशस्विन, लम्बकर्णस्येति चार्थः । खरस्येति व्यङ्ग्योऽर्थः । अस्याग्रे 'द्रविडस्य' इति पाठो यद्यपि मूले नोपलभ्यते, तथापि नागेशविवरणानुसारं समुचितः स पाठः कल्पित इति बोध्यम् । त्वयि कोप इति । हे महीपाल राजन् । त्वयि कोप त्वद्वगतः क्रोधः, सुधांशी पावक चन्द्रगतामि, इव, प्रतीयत इत्यर्थः । स्वकल्पितेन कविकल्पितेन । विशिष्टेन धर्मिणेति । आधेयतासम्बन्धेन सुधांशुरूपविशेषणविशिष्टपावकेनैत्यर्थः । सादृश्यस्येति । राजगणकोपानुयोगिकसादृश्यस्येति भावः । 'त्वयि हृद्यवाहन' इति । हे महीपाल । त्वद्वत् कोप सुधांशुगतपावकस्य इत्यर्थः । रूपके बिम्ब-प्रतिबिम्बभावो न भवति, अतः 'आत्मनोऽस्य—' इति प्रागुक्तं रत्नेको रूपकोदाहरणं नास्ति—फलतो वाक्यगत रूपकं न भवतीति दीक्षितेनोक्तं न युक्तम्, ययोरुपमानोपमेयभावापन्नपदार्थयो-
रिवादिप्रयोगदशायामुपमा भवति सादृश्यस्य वाच्यत्वात्, तयोरिवाद्यप्रयोगदशायाम् समानविभक्तिकतया एकत्र—उपमेये अन्यस्य—उपमानस्य आरोपे प्रतीयमाने रूपकं भवतीति नियमे सर्वमन्मते वर्तमाने 'आत्मनोऽस्य—' इत्यत्रेवाद्यप्रयोगे रूपकमनङ्गीकृत्यता दीक्षितेन तत्रैवेवादिप्रयोगे कृते उपमाया अपि अनङ्गीकरणीयत्वात् । ननु उपमामपि नैवा-
ङ्गीकरोम्यह तत्रेति यदि दीक्षितः कथयेत्, तर्हि किमुत्तरं भवत इति चेत् ? इदमुत्तरं बोध्यम्—'त्वयि कोपो—' इत्यत्र 'इव पावक' इति पाठविशिष्टे वाक्ये भवता कण्ठरवेणो-
पमा स्वीकृता, अतः तत्रैव 'सुधांशी हृद्यवाहन' इति पाठविशिष्टे वाक्येऽकामेनापि रूपकमपि स्वीकृत्यमेव भवता । एवञ्च 'आत्मनोऽस्य—' इत्यत्रेवादिप्रयोगे तदप्रयोगे च क्रमशः उपमारूपके स्वीकरणीये एव भवेता भवता, तुल्यन्यायादिति । तथा च रूपकेऽपि बिम्ब-प्रतिबिम्बभावसिद्धौ वाक्यार्थरूपक प्रागुक्तपद्यस्य तदुदाहरणत्वञ्च युक्तमेवेति भावः ।

अप्यपदीक्षित के मत का पण्डन किया जाता है—नेदम् इत्यादि । किसी आलङ्कारिकमन्त्र (अपने को अलङ्कारिताद्य का वेत्ता समझने वाले) के धोखे में आये हुए दीर्घश्रवा (यशस्वी, अथवा लम्बकर्ण—गदहा) द्रविड (अप्यपदीक्षित) का यह कथन कि—'यह ('आत्मनोऽस्य—' यह पद्य) रूपक (रूपक का उदाहरण) नहीं है, क्योंकि रूपक में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव नहीं होता और यहाँ आत्मा तथा सूर्य आदि में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है' श्रद्धा करने योग्य नहीं है । कारण उपमानोपमेयभावापन्न जिन दो पदार्थों में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा होती है, उनमें 'इव' आदि का प्रयोग न करने पर और साथ-साथ एक (उपमान) के दूसरे (उपमेय) में आरोप की प्रतीति होने पर रूपक होता है—यह नियम है । अतः यदि आप उक्त पद्य में रूपक नहीं मानते तो फिर इसी पद्य में 'इव' अथवा 'यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर उपमा भी आप को नहीं माननी चाहिये । यदि आप कहें कि—'मैं यहाँ 'इव' आदि का प्रयोग करने पर उपमा भी नहीं मानूँगा, तो छोटिये इस पद्य को, 'त्वयि कोपो—अर्थात् हे राजन् ! आप में कोप चन्द्र में आग की तरह है ।' इस पद्य वाक्य में कवि-कल्पित विशिष्ट—अर्थात् चन्द्र-रूप विशेषण से युक्त धर्म—अर्थात् अग्नि के साथ राजगण कोप का सादृश्य प्रतीयमान होने के कारण आपने कण्ठरव से उपमा मायी है, अब आप कहिये कि यदि इसी पद्य के

‘इय पापकः’ की जगह ‘कुम्भवाहनः’ ऐसा पाठ कर दिया जाय—अर्थात् ‘हे रानन् ! आप में कोप धन्द् में आगरूप है ।’ ऐसा अर्थ कर दिया जाय—तब आप उसमें रूपक मानियेगा या नहीं ? अगरथा आपको ‘हाँ’ कहना ही पड़ेगा। बस, मेरा अभीष्ट सिद्ध हो गया—अर्थात् इस स्थिति में जब आप यहाँ रूपक मान लेते हैं, तब ‘आत्मनः—’ इस पद्य में रूपक क्यों नहीं मानियेगा ? युक्ति तो दोनों ही जगहों में समान है। तत्पर्य यह कि रूपक में भी विम्ब-प्रतिविम्बभाव होता है, अतः पदार्थरूपक से भिन्न वाक्यार्थरूपक अवश्य मान्य होना चाहिये और उसका उदाहरण भी ‘आत्मनः—’ यह पद्य माना जाना चाहिये।

वाक्यार्थरूपकस्योदाहरणान्तरमाह—

तथा—

‘कुङ्कुमद्रवलिप्ताङ्ग’ कापायवसनो यतिः।

कौमलातपशालाभ्रः सन्ध्याकालो न संशयः॥’

इत्यादावपि विशिष्टरूपकं बोध्यम्।

कुङ्कुमेति । कुङ्कुमस्य केसरस्य, द्रव्येण रमेण, लिप्तानि, अग्नानि, यस्य स, तथा—
कापायं कापायरत्नरक्षितम्, चैरिक्वर्णमिति यावन्, वसनं वस्त्र यस्य तादृशं, यतिः
संन्यासी, कौमलं अतीव, आतपं, यत्र स, एवं बालं अनिविडमिष्यर्थं, अर्धं
मेघो यत्र स, अनयोर्विशेषणयोरपि सामान्यविरोधभावविवक्षया कथंचिन् कर्मधारयं,
अथवा कौमलातपमिति अभ्रविरोधम् तथा च कौमलातपम् इति बहुव्रीहिः कौमलेनातपेन
युक्तमिति यावन् बालमभ्रं यत्रेति विग्रहो बोध्यः। तादृशं, सन्ध्याकालस्तद्रूप
इति यावन् अस्ति, अर्धं विषये संशयः न भविष्यतीत्यर्थः। विशिष्टरूपकम्
इति । विम्ब-प्रतिविम्बभावयुक्तरूपकमिष्यर्थः। वाक्यार्थरूपकमिति भावः। यतिरूप
उपमेये सन्ध्याकालरूपस्योपमानस्य शाब्दोद्भेदारोप इति तद्विरूपकम्, तस्य च
उपमेयविशेषणतया विम्बभूते कुङ्कुमद्रव-लेपे उपमानविशेषणतया प्रतिविम्बभूतस्य कौम-
लातपस्यार्य आरोप इति तत् तथा तथैव युक्त्या विम्बभूते कापायवसने तथैव युक्त्या प्रति-
विम्बभूतस्य बालाभ्रस्यार्य आरोप इति तच्च—रूपकद्वयम्—अतःभूतम्। एतदतःभूतरूपक-
विशिष्टमुक्तारूपकम् वाक्यार्थरूपकम्—विशिष्टरूपकमिति भावः।

वाक्यार्थरूपक का ही दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—तथा इत्यादि। उसी
तरह, ‘कुङ्कुमद्रव—’अर्थात् केसर-रस से अनुलिप्त अङ्गोवाला तथा कापाय-वस्त्रधारी
संन्यासी, हल्की धूप और छोटे-छोटे बाल-सफेद मेघोंवाला सायंकाल है इसमें कोई शक्येह
नहीं। इत्यादि में भी विशिष्टरूपक समझना चाहिये। अभिप्राय यह है कि—यहाँ
यतिरूप उपमेय में सायंकालरूप उपमान का शाब्दतः आरोप प्रधान रूपक है और
उपमेय—विशेषण—होने के कारण विम्बभूत केसर-रस-लेप तथा मेरुपे वस्त्र में उपमान—
विशेषण—होने के कारण प्रतिविम्बभूत हल्की धूप तथा छोटे-छोटे बाल-सफेद मेघों का
क्रमशः अर्थतः आरोप अङ्गरूपक है अर्थात् अङ्गभूत शाब्द एक रूपक के अर्थ दो रूपक
अङ्ग हैं, अतः यह पद्य विशिष्ट-रूपक (वाक्यार्थ रूपक) का उदाहरण होता है।

‘त्वयि कोप’ इत्यतः ‘कुङ्कुम’ इत्यत्र यो भेदस्तमाह—

त्वयि कोप इत्यत्र विषयिणः स्वबुद्धिकल्पितत्वात्कल्पितं विशिष्टरूपकम्।
इह तु न तथैव विशेषः।

विषयिण उपमानस्य, चन्द्राधिकरणकाम्नेरिति यावत्। स्वबुद्धिकल्पितत्वादिति।
वास्तविके जगति तदसंभवेन कविकल्पितत्वादिति भावः। इह तिति। ‘कुङ्कुमद्रव—’ इत्यत्र

त्वित्यर्थः । न तथेति । विषयी न स्वयुद्धिकल्पित अपि तु स्वतः संभवी, अतो न कल्पितं विशिष्टरूपकमिति भावः ।

‘रवि कोप’ और ‘कुङ्कुम’ इन दोनों उदाहरणों में परस्पर भेद दिखलाया जाता है— रवि द्वारादि । ‘रवि कोप’ इस उदाहरण में उपमान (चन्द्र में अग्नि) कविकल्पित है, अतः वहाँ का विशिष्टरूपक भी कल्पित कहा जायगा और ‘कुङ्कुम’ इस उदाहरण में उपमान (सन्ध्याकाल) कविकल्पित नहीं, अपितु स्वतः संभवी है, अतः वहाँ का रूपक कल्पित नहीं कहा जायगा वही दोनों उदाहरणों में भेद है ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चैवमादी प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वक्तुं शक्या, अभेदस्य निश्चीयमानत्वात् । उत्प्रेक्षार्थं च सत्या सम्भाव्यमानतर स्यात् । अन्यथा मुख्यं चन्द्र इत्यादावपि प्रतीयमानोत्प्रेक्षापत्त्या रूपकविलोपापत्तेः ।

एवमादाविति । आत्मनोऽस्येत्यादावित्यर्थः । इवाद्यप्रयोगात् आह—प्रतीयेति । अन्यथेति । तस्य समाव्यमानत्वे इष्टापत्तौ इत्यर्थः । ‘सम्भाव्यमानम्योत्प्रेक्षा’ इति लक्षणा-दुसारमुत्प्रेक्षास्यलेऽभेदः सम्भाव्यमानस्तिष्ठतीति निश्चितम्, एवञ्चात्मनोऽस्येत्यादौ ध्वजपो-त्प्रेक्षेति कथं नोचितम्, तत्राभेदस्य निश्चीयमानत्वात् । न च सम्भाव्यमान एवाभेदस्तत्रेति दुराग्रहः, तथा सति ‘मुख चन्द्र’ इत्यादिषु सर्वेषु रूपकोदाहरणेषु तादृशदुराग्रहसम्भवेन प्रतीयमानोत्प्रेक्षापत्तौ रूपकोच्छेदपत्तेरिति भावः ।

एक हाका और उसका समाधान करते हैं—न चैवम् इत्यादि । ‘आत्मनोऽस्य—’ इत्यादि पदों में ध्वजध्वज उत्प्रेक्षा ही मान ली जाय, रूपक नहीं, ऐसी आशङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ अभेद का निश्चय है, उत्प्रेक्षा यदि होती तो अभेद का निश्चय नहीं, सम्भावना रहती है । यहाँ भी अभेद की सम्भावना ही है ऐसा दुराग्रह तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि इस तरह ‘मुख चन्द्र’ है’ इत्यादि सभी रूपकोदाहरणों में ‘अभेद सम्भावना’ का दुराग्रह किया जा सकता है जिससे सर्वत्र प्रतीयमान उत्प्रेक्षा ही हो जायगी, फिर रूपक का तो कविजगत् से उच्छेद ही हो जायगा ।

अथ रूपकालङ्कारविशिष्टापदाद् वाक्याद्वा जायमान बोध विचारयितुं प्रतिजानीते—

अथ बोधो विचार्यते—

रूपकालङ्कारलक्षणादाहरणादीना निरूपणानन्तर रूपकविशिष्टपदजन्यबोधविषयकी विचार आरम्भ्यत इति भावः ।

अथ रूपकस्थलीय शाब्दबोध का विचार किया जाता है ।

तत्र प्राचीनमतमाह—

तत्र प्राञ्चः—“विषयिवाचकपदेन विषयिवृत्तिगुणवतो लक्षणया सारोपयो-पस्थितौ, विषये तस्याऽभेदेन ससर्गेण विशेषणतयाऽन्वयः । एवं च मुख चन्द्र इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणवदमित्र मुख्यमिति धीः । अत एवालङ्कारभाष्यकारः ‘लक्षणापरमार्थ यावता रूपकम्’ इत्याह । न च चन्द्रसदृश मुख्यमित्युपमातोऽस्य को भेदः । बोधवैलक्षण्याभावेन विच्छित्तिवैलक्षण्याभावात् । वृत्तिमात्रवैल-क्षण्यस्याप्रयोजकत्वादिति वाच्यम् । लाक्षणिकबोधोत्तर जायमानेन प्रयोजनी-भूतेनाभेदबोधेनैव वैलक्षण्यात् । निरुद्धलक्षणातिरिक्तया लक्षणायाः प्रयोजन-यत्नानियमात् । अभेदबुद्धेश्च पृथन्तरवृत्तिभाव्यत्वेन न बाधयुद्धिप्रतिबध्य-त्वम्” इत्याहुः ।

तत्रेति । बोधविषय इत्यर्थः । विषयोति । उपमानेत्यर्थः । आरोपस्य विषयि-विषययो-
र्द्वयोरुपादानादाह—सारोपेति । उपस्थितौ सत्यामिति शेषः । विषय इति । उपमेय
इत्यर्थः । उपमेयतावच्छेदकविशिष्टे उपमेये इति स्पष्टार्थः । तस्येति । पूर्वोपस्थितस्योपमान-
वृत्तिगुणवत् इत्यर्थः । 'लक्षणापरमार्थम्' इति । यावता वास्तवेन लक्षणा एव परम—
साराशभूतः अर्थो यत्र तादृश तद् वस्तु तावता—तेन कारणेन, रूपकम् = रूपकपदेन तस्य
वस्तुनो व्यवहार इत्यर्थः । रूप्यते = आरोप्यते इति व्युत्पत्तियोगादिति भावः । वृत्तीति ।
शक्तिलक्षणान्यतरेत्यर्थः । इत्यन्तरवृत्तीति । व्यञ्जनाज्ञानेत्यर्थः । आहुरिति । अत्र नागेशः—
'एतन्मते ह्येवं रूपकलक्षणम्—अनिर्दुतविषयकं पुरस्कृतविषयतान्च्छेदकं वा आहार्यभिद-
प्रतीतिफलश्रोपमानबोधरूपदजन्मप्रतीतिविषयीभूतम् साधर्म्यमिति' इत्याद्यष्टे । रूपकस्थले
सर्वश्रोपमानवाचकस्य पदस्य स्ववृत्तिगुणवति सारोपा लक्षणा भवत्येव, अभेदेन वाच्यार्यान्वयस्य
बाधितत्वात् । तथा चोपमानबोधरूपदादुपस्थितस्य स्ववृत्तिगुणवत्पदस्यार्यस्याभेदसम्बन्धे-
नोपमेये विशेषणविधवाऽन्वयो भवति । तेन 'मुखं चन्द्र' इत्यत्र चन्द्रवृत्तिगुणा आह्लाद-
कत्वादयस्तद्वदभिन्नं मुखमिति बोधः प्रसिद्धः । 'लक्षणापरमार्थम्—' इति वदताऽ-
लङ्कारभाष्यकृतापि रूपके लक्षणास्थितिः समर्थिता भवति नन्वेव 'चन्द्रसदृशं मुखम्'
इत्युपमापेक्षया रूपकैऽहिम्नः को भेदः ? सादृश्यस्वयं तद्विज्ञत्वे सति तद्वत्तुभूयोधर्मवत्त्व-
रूपतयोपमास्थलेऽपि रूपकस्थलगमानाकारबोधस्यैव जायमानत्वेनोभयोः स्थलयोर्बोधवै-
लक्षण्यविहेष चमत्कारवैलक्षण्यविहेदे एकत्वस्यैव पर्यवसानात्, न च वृत्तिवैलक्षण्यकृत-
मुपमारूपकयोर्वैलक्षण्यम्—अर्थात् उपमास्थले चन्द्रवृत्तिगुणवतोऽभिषयोपस्थिति रूपके
तु तस्मैपस्थितिलक्षणमेति वाच्यम्, चमत्कारे भेदाभावेन तस्य वैलक्षण्यस्याकिञ्चित्कर-
त्वात् इति चेन्मैवम्, अभिधालक्षणाव्यतरजन्मप्रायमिक्त्वौषेऽविलक्षणोऽपि रूपकस्थले
निवृत्त्वस्यासम्भवेन प्रयोजनमूल्यया एव लक्षणाया अङ्गीकर्तव्यतया उक्तप्रायमिक्त्वोपा-
नन्तरं नियमतो जायमानेन प्रयोजनात्मकेनोपमानोपमेययोरभेदस्य प्रत्ययेन उपमापेक्षया-
धिक्यमन्कारकरणेन वैलक्षण्यस्य मिदं । उपमास्थले उपमानोपमेययोः समानगुणवत्त्वस्यैव
प्रतीतिः, रूपकस्थले तु तयोरभेदस्यापि प्रतीतिरिति तयोर्भेद इति साराशः । न च 'मुखं
न चन्द्र' इति बाधबुद्धौ विद्यमानाया कथं तयोरभेदः प्रत्येव शक्यः, तदभेदबुद्धिं प्रति
तद्भेदविषयकबाधबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वादिति वाच्यम्, बाधबुद्धिप्रतिबन्धतावच्छेदकदले
व्यञ्जनाज्ञानजन्यत्वस्य निवेशेन व्यञ्जनाजन्यस्य तयोरभेदप्रत्ययस्य मुक्त्यन्वादिति
प्राचामालङ्कारिकाणामभिप्रायः ।

रूपकस्थलीय शाब्दबोध के विषय में प्राचीनों का मत दिखलाया जाता है—तत्र
प्राज्ञः इत्यादि । सभी रूपकों में उपमानवाचक पद की 'स्ववृत्तिगुणवत्' (अपने में रहने
वाले गुणों से युक्त) अर्थ में सारोपा लक्षणा हुई ही रहती है, अतः सर्वत्र उपमानवाचक
पद से लक्षणा द्वारा 'स्ववृत्तिगुणवत्' अर्थ की उपस्थिति होती है और उस उपस्थित
अर्थ का उपमेय में अभेदसम्बन्ध द्वारा विशेषण रूप से अन्वय होता है । इस तरह से
'मुख चन्द्र' है' इस रूपकस्थल में लक्षणा द्वारा चन्द्ररूप उपमानवाचक पद से उपस्थित
हुए 'चन्द्रवृत्तिगुणवत्'—(चन्द्र में रहने वाले आह्लादकता आदि गुणों से युक्त) रूप
अर्थ का अभेदसम्बन्ध द्वारा मुख-रूप उपमेय में विशेषणरूप से अन्वय होगा, अतः
उक्त रूपकवाक्य का शाब्दबोध—'चन्द्र में रहने वाले गुणों से युक्त से अभिन्न मुख'
यह होता है । अतएव अलङ्कारभाष्यकार ने कहा है कि—'जिस लिये लक्षणा ही परम
अर्थ—सारभूत तथैव—रहता है, इसीलिये रूपक कहलाता है ।' वाक्य यह कि—'रूप्यते=

आरोप्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'रूपक' पद का भी अर्थ 'आरोप-लक्षणा' ही होता है। यदि कोई कहे कि—इस तरह का बोध मानने पर 'चन्द्रसदृश मुख' इस उपमा से उक्त रूप का क्या भेद हुआ ? क्योंकि बोध में विलक्षणता न होने से चमत्कार में विलक्षणता न होगी, अमित्राय यह कि—सादृश्य का अर्थ भी 'उससे भिन्नता रखते हुए उसमें रहने वाले गुणों से युक्त होना ही होता है इस स्थिति में उक्त रीति से रूपकस्थल में जैसा बोध होता है वैसा ही उपमास्थल में भी होगा और जब बोध एक तरह का होगा तब चमत्कार भी दोनों जगहों पर एक ही तरह का मानना पड़ेगा। और 'जब तक चमत्कार में विलक्षणता न हो तब तक भिन्न अलंकार माना नहीं जा सकता। यदि कहा जाय कि बोध के एक होने पर भी, उपमा में वह बोध अमिथा द्वारा सिद्ध होता है और रूपक में लक्षणा द्वारा, अतः वृत्ति के भेद के कारण उपमा तथा रूपक में भेद हो जायगा। तो यह कथन कुछ मूल्य नहीं रखता। कारण, केवल वृत्ति के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध नहीं होता। सारांश यह कि चमत्कार के भेद से अलंकार का भेद सिद्ध होता है और वृत्ति-भेद होने पर भी चमत्कार में कोई अन्तर पड़ता नहीं। उक्त 'उपमा और रूपक में क्या भेद हुआ ?' इस आशंका का उत्तर यह है—लक्षणा द्वारा बोध हो जाने के बाद रूपकस्थल में लक्षणा के कल—अभेद (उपमान का उपमेय में अभेद) का भी व्यञ्जना से बोध होता है, और उपमास्थल में यह वैयञ्जनिक अभेद-बोध नहीं होता, वस्तु, इसी वैयञ्जनिक बोध के होने तथा न होने से चमत्कार में अन्तर पड़ जाता है और यही अन्तर उपमा तथा रूपक को भिन्न-भिन्न अलंकार सिद्ध कर देता है। आप कहेंगे—रूपक-स्थल में लक्षणा होने से फलीभूत अभेद की प्रतीति क्यों मानी जाय ? तो इसका समाधान यह है कि—रुद्रिगूला से अविरक्त सभी लक्षणाओं में प्रयोजन—फल—होना ही चाहिए ऐसा नियम है और रूपक में रुद्रिगूला नहीं, अपितु उससे अन्य (सारोपा) लक्षणा ही होती है, अतः फलीभूत अभेद-बोध अवश्य मानना पड़ेगा। जब शका रह जाती है एक यह कि जब 'मुख चन्द्र नहीं है' ऐसा बाधनिश्चय (मुख में चन्द्र से भिन्नता का निश्चय) है, तब अभेदबोध होगा कैसे—चन्द्र से अभिन्न मुख को समझ कैसे सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि रूपकस्थल में अभेद का बोध व्यञ्जना के ज्ञान से होता है और वैयञ्जनिक बोध में बाध का अभाव अपेक्षित नहीं होता अर्थात् बाध रहने पर भी वैयञ्जनिक बोध होता ही है। स्पष्टार्थ यह है कि—बाध निश्चय की प्रतिषेधता के अवच्छेदक भाग में वैयञ्जनिक बोधभिन्नत्व का निवेश किया जाता है अर्थात् वैयञ्जनिक बोध से भिन्न बोध के प्रति ही बाधनिश्चय की प्रतिषेधक माना जाता है, अतः बाध-निश्चय के रहने पर भी वैयञ्जनिक बोध होता है। यह है प्राचीन आलंकारिकों का मत।

तत्रैव नवीनमतमाह—

नव्यास्तु—“नामार्थरोरभेदमसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाच्चन्द्राभिन्न मुखमिति लक्षणा विनैव बोधः। फलस्यान्यथैवोपपत्तेर्लक्षणाकल्पनस्यान्याद्व्यत्वात्। किञ्च यदि च रूपके लक्षणा स्यान्मुखचन्द्र इत्यत्रोपमितविशेषणसमासयोरुत्तरपदस्य लाक्षणिकत्वाविशेषादेकस्योपमात्वमन्यस्य रूपकत्वमिति व्याहृतं स्यात्। अपि च मुखं न चन्द्रसदृशमपि तु चन्द्र इत्यादौ सादृश्यव्यतिरेक-मिश्रिते सादृश्यबुद्धेरयोगात्। एव देवदत्तमुख चन्द्र एव यज्ञदत्तमुखं तु न तथा, अपि तु चन्द्रसदृशमित्यादौ नवार्थस्य लक्ष्यमाणचन्द्रसदृशान्वयित्वात् 'न चन्द्रसदृशश्चन्द्रसदृशम्' इति बोधकदर्थनापत्तेश्च। नहि नवः फलीभूतज्ञानविषयेणाभेदेनान्यथो युक्तः, एतदन्वयवैलायां तस्यानुपस्थितेः। सादृशाभेदबोधस्य पादार्थत्वात् बाधबुद्धिप्रतिषेधकत्वम्। यदा आहार्यान्मुखस्येव शान्दान्यत्वस्यापि

बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ निवेशः । सति च बाधनिश्चये तद्वत्ताशाब्द-
बुद्धेरनुत्पादः, योग्यताज्ञानविहात् । सति च कचिदाहार्ये योग्यताज्ञाने तद्वबुद्धे-
रिष्टत्वात् । अत एव योग्यताज्ञानस्य बाधनिश्चयपराहृतस्यापि शाब्दधीहेतुत्वम् ।
तस्मादन्यतरप्रकारेण काव्ये सर्वत्र बोधोपपत्तिः । अपि च सद्गतधर्मवत्त्वबुद्धेः
कथं तदभेदबुद्धिः फलं स्यात् । नहि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य
तत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं काव्यवगतम् । घटपटयोर्द्रव्यत्वेना-
भेदप्रदेऽपि घटत्वादिना भेदप्रहात् । तदभिन्नत्वेन ज्ञानस्य पुनस्तद्धर्मप्रतिपत्तिः
फलं स्यात् । प्रवाहाभिन्नज्ञानस्यैव शैत्यपावनत्वादिप्रतिपत्तिः ।

अत एव—

‘कृपया सुधया सिञ्च हरे मां तापमूर्च्छितम् ।

जगज्जीवन तेनाहं जीविष्यामि न संशयः ॥’

इत्यादावमुक्ताभिन्नत्वबोधे सत्येव कृपायाः सेके कारणत्वेनान्वयः । तादृशसेकस्य
जीवने हेतुत्वेन इति दिक् ।

फलस्येति । अभेदबुद्धेरित्यर्थः । अन्ययैवेति । उक्तप्रकारेणेत्यर्थः । उपमितविशेषण-
समासयोरिति । ‘उपमितं व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे’ ‘विशेषणं विशेष्येण बहुलम्’
इत्याभ्यां पाणिनिसूत्राभ्यां कृतयो समासयोरित्यर्थः । साधुपि कृत्वाविरोधाविति । समास-
शास्त्राणां लक्षणाप्राहकत्वम् इति वदता नैयायिकानां मतमनुसृत्येदम् । अतिरिक्तसमास-
शक्तिमत्तीकुर्वता वैयाकरणानां मते तु स्वकृत्वनियामकविशेषणसमासे लक्षणासत्त्वेऽपि उप-
मितसमासे समासशक्त्यैव तादृशार्थबोधे लक्षणा नेति बोध्यम् । एकस्योपमितसमासस्य ।
‘अन्यस्य विशेषणसमासस्य । सादृश्यव्यतिरेकेति । सादृश्यभेदेत्यर्थः । न तथेति । न चन्द्र
इत्यर्थः । सदृश इति । सुखपदार्थ इति शेषः । बोधकदर्शनेति । बोधोपहास इति भावः ।
जनः जनार्थस्य । फलीभूतज्ञानविषयेणेति । वैयाकृतिकनोपविषयेणेत्यर्थः । एतदिति ।
जनार्थेत्यर्थः । तस्य अभेदस्य । ननु बाधमत्त्वेन कथमीदृशाभेदबोध इत्यत आह—तादृशेति ।
इदं च शाब्दबोधे बाधज्ञास्य प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य । वस्तुतस्तदेव नेत्याह—यद्वेति ।
नन्वेवं बाधनिश्चयमदशाया शाब्दनोपविरहोऽनुभवसिद्धो गोपपद्यत इत्यत आह—सति
येति । बुद्धेरनुत्पाद इति । अत्र नागेश —‘इदं तु चिन्त्यम् । शाब्दबोधो हि भवत्येव ।
अत एव बहिना सिञ्चतीति वाक्यप्रयोगुराद्वेण बहिना कथं सेकं प्रवीपीत्युपहासः संग-
च्छते । अयमेवेति एतदर्थमद्रविडभाषाध्वणोत्तर पायात्यस्येव गुरुतेव स्यात् । ननु
पदार्थस्मरणमेव न शाब्दबोध इति चेत्, किमेव श्रद्धापादयेत् । बाधज्ञानादीनां च तद्वी-
धेऽप्यामोषज्ञानजननद्वारा प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वम्, योग्यताज्ञानादीनां च तत्त्वनकत्वमेव नेति
रमणीयं पन्थाः ।’ इति रमणीयतममावष्टे । अत एवेति । बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छे-
दककुक्षौ शाब्दान्यन्वनिवेशादेवेत्यर्थः । एतदन्यतरप्रकारेणेति । शाब्दबोध एवाहार्यः,
अथवा बन्धनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यन्वनिवेश्य योग्यताज्ञानमाहार्यम् इत्य-
न्योरेकतरेण प्रकारेणेत्यर्थः । अभेदप्रदेऽपीति । अत्र नागेश —‘अन्ये तु चमत्कारिसाधा-
रणधर्मरूपसादृश्यज्ञान एव फलवत्त्वतया शक्तिरूपेण नाय दोष इत्याहुः ।’ इति कथञ्चित्
प्राचीनमतं समर्थयन् दृश्यते । प्रतिपत्तिरिति । फलवित्यस्यानुपपन्नः । अत एवेति । रूपक-
स्थले वाच्ययोरेवाभेदादेवेत्यर्थः । ‘कृपया—’ इति । हे जगज्जीवन ससारप्राणप्रद, हरे विष्णो!

तापमूर्च्छितं क्लेशपीडितम्, माम्, कृपया मुधया दयारूपपीयूषेण, सिद्ध आर्द्राङ्कुर ।
 तेन कृपासुधाकरणेन सेकेन, ग्रहम्, जीविष्यामि क्लेशरहितो भविष्यामि, अत्र, संशयो
 नास्तीत्यर्थः । रूपकस्थले—‘मुखं चन्द्र-’ इत्यादौ—उपमानोपमेययो—चन्द्रमुखादिकथोरभेदो
 दुबोधयिषितः, स च प्रथमं लक्षणया ‘चन्द्रसदृशामिन्न मुख’मिति बोधेऽपि पश्चात् व्यञ्जनया
 बोध्यते—इति प्राचीना मन्यन्ते । नवीनास्तु ‘नामार्थयोरभेदातिरिक्त सम्बन्धोऽव्युपपन्न’ इति
 सिद्धान्ते जायते ‘चन्द्रामिन्न मुखम्’ इति प्रथममेवामिधयेव च बोधे सम्भवति लक्षणा-
 ध्वयणं व्यर्थं मन्यन्ते । ननु ‘मुखं न चन्द्र’ इति बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात् कथं
 तादृशाभेदबोध इति चेन्न, तादृशाभेदबोधस्याहार्यत्वस्वीकारेण बाधनिश्चयाप्रतिबध्यत्वात्,
 बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ अनाहार्यत्वस्य निवेशात् । न चाहार्यं प्रात्यक्षिकमेवेति
 नियमः, तस्यास्वीकारात् । अथवाऽस्तु स नियमः । बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदकदलेऽ-
 नाहार्यत्वस्यैव शाब्दान्यत्वस्यापि निवेशः, तेनैवोक्ताकारको बाधपरद्वन्द्वोऽपि शाब्दाभेद-
 बोधो जायते । न चैव सति बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधस्यापि अनुत्पत्तिरिति यदनुभव-
 मिदं तद् विरुद्धमेवेति वाच्यम्, बाधनिश्चयदशायां न सर्वविधशाब्दबोधानुत्पत्तिः, अपि
 तु तद्वत्ताशाब्दबोधमात्रानुत्पत्तिः, सापि न बाधनिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वेन, अपि तु—
 ‘पदार्थे तत्र तद्वत्ता यौग्यता परिकीर्तिता’ इति लक्षणलक्षितायां यौग्यतायां ज्ञानस्य
 तद्वत्ताशाब्दबुद्धौ कारणत्वे तद्विरुद्धेत्याशयात् । अत एव यौग्यताज्ञानस्य शाब्दबोधे
 कारणत्वोक्तिः सगच्छते । बाधनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदकदले शाब्दान्यत्वानिवेशे तु तत्र-
 प्रतिबन्धकत्वेनैव बाधनिश्चयदशायां शाब्दबोधे वारिते तदुक्तिरसंगतैव स्यात् । न चैवमपि
 नोक्तस्थले शाब्दाभेदबोधः सम्भवति यौग्यताज्ञानविरहादिति शक्यम्, आहार्ययौग्यता-
 ज्ञानसाम्राज्यात् । एवञ्च शाब्दबोधस्त्वैवाहार्यत्वस्वीकारेण, तदस्वीकारे वा बाधनिश्चयप्रति-
 बध्यतावच्छेदककोटौ शाब्दान्यत्व निवेशमाहार्ययौग्यताज्ञानस्वीकारेण काव्ये सर्वत्र
 बाधितार्थविषयकोऽपि शाब्दबोध उपपद्यत एव । इत्यत्र नवीनमतमेव सम्यक् न प्राचीन-
 मतम्, तन्मते मुखचन्द्र इत्यत्रोपमितविशेषणसमासयुक्ततरपदस्य स्वसदृशे लाक्षणिकत्वा-
 विशेषेण प्रथमत्योपमात्व द्वितीयस्य च रूपकत्वमिति प्रवादस्य व्याहतत्वात्, ‘मुखं न
 चन्द्रसदृशम् अपि तु चन्द्र’ इति सादृश्यभेदविशिष्टे रूपके प्राचीनैः चिकीर्षितस्य चन्द्र-
 पदजन्यतत्सादृश्यबोधस्यायुक्तत्वात् तत्सादृश्यस्य प्रथममेव शब्दतो निषेधात्, ‘देवदत्तमुर्ज
 चन्द्र एव यत्तदत्तमुखं तु न तथा अपि तु चन्द्रसदृशम्’ इत्यादौ नवर्यस्य चन्द्रपदलक्ष्य-
 चन्द्रसदृशरूपार्थे एवान्वये ‘न चन्द्रसदृशं चन्द्रसदृशम्’ इत्युपहासास्पदबोधप्रसङ्गाच्च ।
 किञ्च ‘मुखं चन्द्र’ इत्यादौ लक्षणया प्रथमं चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्त्वं मुखे प्रतीयते पश्चाच्च
 लक्षणाफलीभूतचन्द्राभेदो मुखे व्यञ्जनया प्रतीयते इत्यभिप्रायोऽपि प्राचाम् न सेद्भु-
 मर्हति । व्याप्यसत्तायां विद्यमानायां व्यापकसत्ता नियमतस्तिष्ठति, न ॥ व्यापक-
 सत्तायां सत्त्वामपि व्याप्यसत्ता तथा । तथा न कथं चन्द्रगतधर्मतुल्यमुखविशेषिकाया-
 फलम् मुखविशेषिका चन्द्राभेदबुद्धिः स्यात् ? साधारणधर्मावच्छिन्नचन्द्राभेदज्ञानस्य
 व्यापकत्वेन असाधारणधर्मावच्छिन्नचन्द्राभेदज्ञानस्य च व्याप्यत्वेन प्रथमज्ञानसत्त्वेऽपि
 द्वितीयज्ञानसत्तायां अनियमान् । अत एव घटपटयोः साधारणात्मकेन द्रव्यत्वेना-
 भेदज्ञानेऽपि असाधारणात्मकेन घटत्वादिना जायमानो भेदग्रहः सगतो भवति ।
 अत एवमास्थेयं यत् प्रायुक्तनवीनमतानुसारेण प्रथमं चन्द्राभेदज्ञानं मुपे भवति
 तस्य ॥ फलरूपेण पश्चात् व्यञ्जनया चन्द्रगतसाधारणधर्मवत्त्वज्ञानं मुपे जायते इति ।

एतच्च संभवत्यपि व्याख्ये चन्द्रामेदज्ञाने जाते व्यापकस्य चन्द्रगतसाधारणभ्रमवन्वज्ञानस्य नियतत्वात् । नवीनमतस्वीकारादेव च 'कृपया सुखम्' इत्यत्र कृपागुणधोरमेदे बान्धव-
शुभैवावगते कृपायाः सेके करणत्वेन कृपाकरणकर्मकस्य च जीवने हेतुत्वेनान्वय उपपद्यते ।
प्राचीनमतार्होकारं तु गुणादयो कुर्यात् बोधे कृपायाः करणत्वेन सेके तादृशसेकस्य च
हेतुत्वेन जीवनेऽन्वयो नैवोपपद्येत तत्सदृशज्ञानात् तत्कार्योन्पत्तेरनुभवविद्वत्त्वादिति भावः ।

अब रूपरसशब्दों के विषय में नवीनों का मत दिनछाया जाता है—
नवयाम्नु इत्यादि । दो शास्त्रियों के अर्थों का अभेद सम्बन्ध से अन्वय ग्युपपत्तिसिद्ध है—
इसको सिद्ध करने के लिये किसी अन्य युक्ति की आवश्यकता नहीं । अतः 'सुख चन्द्र है'
इस वाक्य का तादृशबोध—'चन्द्र से अभिन्न सुख' यह होता है । यहाँ लक्षणा मानने की
कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस अभेद की आप लक्षणा का प्रयोजन मांगते हैं वह
अब अमकार—अभांसा आदि—में स्वतः सिद्ध हो जाता है तब उसके लिये लक्षणा की
व्यवस्था करना न्यायासुबूल नहीं माना जा सकता । दूसरे, लक्षणा मानने में कई एक दोष
भी हैं । यदि रूपरसशब्द में लक्षणा हो तो १—'सुखचन्द्र' इस स्थल में 'उपमित-
समास' करने पर अथवा 'विशेषण समास' करने पर आपके हिसाब से उत्तरपद लक्ष-
णिक ही रहेगा फिर जो एक (उपमित-समास) को उपमा और दूसरे (विशेषण-
समास) को रूपक माना जाता है वह व्यावृत्त—भ्रमगत—हो जायगा । अभिप्राय यह है
कि—'सुखं चन्द्र इव' इस विग्रह में जब 'उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस
पाणिनि-सूत्र में समास करके 'सुख-चन्द्र' पद को सिद्ध करते हैं तब उपमा अलंकार यहाँ
माना जाता है और 'सुखचन्द्र' इस विग्रह में जब 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' इस
पाणिनि सूत्र में समास करके उक्त पद को घनाते हैं तब यहाँ रूपकालंकार माना जाता
है । यह है वस्तुस्थिति । अब यदि प्राचीनों के कथनानुसार रूपरसशब्दों में लक्षणा मानी
जाय तब तो उक्त उपमित-समास तथा विशेषण-समास में कोई अन्तर नहीं रह जायगा,
क्योंकि उपमित समास में जिस तरह उत्तर—चन्द्र—पद की स्वमदश में लक्षणा होने के
कारण 'चन्द्रमदश सुख' यह अर्थ होता है उसी तरह आपके हिसाब से विशेषण-समास
में भी उक्त पद की उक्त अर्थ में लक्षणा होने के कारण वैसा ही अर्थ होगा । फिर प्रथम को
उपमा और द्वितीय को रूपक कहने में कोई युक्ति नहीं रह जायगी । और २—'सुख
चन्द्र सदृश नहीं है, किन्तु चन्द्र है' इत्यादि—जहाँ सादृश्य का निषेध भी मिश्रित रहता
है—रूपकों में लक्षणा वाली प्राचीनों की बात घन नहीं सकती, क्योंकि 'किन्तु चन्द्र है'
इस अंश में 'चन्द्र' पद की चन्द्रमदश में ही लक्षणा माँगे पर वह ठीक होगी नहीं ।
कारण जिस सुख में चन्द्रतः पहले चन्द्रसादृश्य का निषेध किया गया हो उन्ही सुख में
लक्षणा द्वारा चन्द्रसादृश्य की बुद्धि हो नहीं सकती । इसी तरह, ३—'देवदत्त का सुख
चन्द्र ही है, यमदत्त का सुख तो वैसा नहीं है, किन्तु चन्द्र के सदृश है' इत्यादि स्थानों में
आपके हिसाब से प्रथमवाक्यांशगत चन्द्रपद का अर्थ लक्षणा द्वारा चन्द्रसदृश होगा,
अतः द्वितीय-वाक्यांशगत 'वैसा नहीं है' का अर्थ होगा 'चन्द्रसदृश नहीं है'—अर्थात्
नअर्थ का अन्वय चन्द्र पद के लक्षणा—चन्द्रसदृश—के साथ ही होगा, अब यदि तृतीय
वाक्यांश के साथ मिलाकर अर्थ करें तो 'जो चन्द्रसदृश नहीं वह चन्द्रसदृश' ऐसा ही
अर्थबोध होगा, पर यह तो कोई बोध हुआ नहीं, अपितु बोध का केवल उपहास हुआ ।
यदि आप कहें कि—नअर्थ का अन्वय चन्द्रसदृशरूप लक्ष्य अर्थ के साथ न करके लक्षणा
के प्रयोजनीभूत ज्ञान में विषय होने वाले 'अभेद' के साथ करेंगे—अर्थात् नअर्थ का
अन्वय व्यङ्ग्य 'अभेद' के साथ करके 'वैसा नहीं है' का अर्थ हम यह करेंगे कि 'चन्द्रा-
भिन्न नहीं है', अतः कोई यडबड़ी नहीं होगी, तो यह युक्ति भी आपकी कार्यकर नहीं
हो सकती, क्योंकि इस वाक्य नअर्थ का अन्वय करते समय उस व्यङ्ग्य 'अभेद' की उप-
स्थिति ही नहीं हुई रहेगी, फिर उसके साथ इसका अन्वय हो नहीं सकेगा । तात्पर्य

यह हुआ कि—पूर्वकालोपस्थित वाक्य अर्थ का अन्वय पीछे उद्घटित होने वाले व्युत्पन्न अर्थ के साथ किया ही नहीं जा सकता। आप कहेंगे—‘मुख चन्द्र है’ इस जगह जो नवीन विद्वान् सीधे अभेदसम्बन्ध से अन्वय करके ‘चन्द्र से अभिन्न मुख’ ऐसा अर्थ कर लेते हैं वह होगा कैसे? क्योंकि ‘मुख चन्द्र से भिन्न है’ इस प्रकार का बाध-ज्ञान पहले से स्वरूप में बना रहता है और बाधित अर्थ का बोध होता नहीं। कारण, उस तरह के अर्थ-बोध के प्रति बाधज्ञान को प्रतिबन्धक माना गया है तो इसका उत्तर यह है कि—यहाँ का ‘चन्द्राभिन्न मुख’ यह बोध आहार्य (बाधकालिकवृत्ता-जन्य) है और आहार्य बोध बाधज्ञान से स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि आहार्य से भिन्न बोध के प्रति ही बाध-ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जाता है। इस पर यदि आप कहें कि—प्रात्यक्षिक ज्ञान ही आहार्य होता है, शाब्द ज्ञान नहीं, फिर उक्त बोध को आहार्य कैसे माना जा सकता है? क्योंकि उक्त बोध प्रात्यक्षिक नहीं, शाब्द है, तो मैं कहूँगा कि—रहे आपकी ही बात—उक्त बोध को आहार्य मत मानिए, तथापि उक्त बोध बाध-ज्ञान से प्रतिबद्ध नहीं होगा—क्योंकि जिस तरह बाध-ज्ञानीय-प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में अनाहार्यत्व का निवेश है उसी तरह शब्दान्वयत्व का भी निवेश कर दिया जायगा—अर्थात् शाब्दबोधोपाति-रिक्त बोध के प्रति ही बाध-ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जायगा, अतः बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध होने में कोई रुकावट पैदा नहीं हो सकेगी। इस पर यदि आप कहें कि बाध-ज्ञानीय-प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में अगर शब्दान्वयत्व का निवेश कर दिया जायगा तब बाधनिश्चय के रहने पर शाब्दबोध का न होना जो अनुभव-सिद्ध है उसका क्या होगा? तो इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि बाध-निश्चय के रहने पर सभी तरह के शाब्दबोधों का न होना अनुभव-सिद्ध नहीं है, अवि-स्तु तद्वत्ता-शाब्दबोध—अर्थात् ‘घर में घट नहीं है’ इस प्रकार का बाध रहने पर ‘घट वाला घर’ ऐसे शाब्दबोध का न होना ही केवल अनुभव-सिद्ध है और वह भी बाध-ज्ञान के प्रतिबन्धक होने के कारण नहीं, अपितु ‘पदार्थ तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता’ इस योग्यता के ज्ञान का अभाव रहने के कारण। इस स्थिति में यदि कहीं आहार्ययोग्यता-ज्ञान हो जाता है तब वहाँ तद्वत्ता शाब्दबोध भी होता ही है—यही इष्ट है। अतएव (बाधनिश्चय प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में शब्दान्वयत्व निवेश करने से ही) शाब्दबोध के प्रति योग्यता ज्ञान को कारण मानना भी शास्त्रिकों का सगत होता है। अभिप्राय यह कि यदि बाधनिश्चय प्रतिबन्धतावच्छेदककोटि में शब्दान्वयत्व का निवेश नहीं किया जाय तब तो बाधनिश्चय से ही वह शाब्दबोध—जिसको योग्यताज्ञान की कारणता से रोकना चाहेंगे—रुक जायगा, फिर योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानना असंगत ही होगा। अतः वह सिद्ध हुआ कि शाब्द अभेदबोध को आहार्य मान कर अथवा योग्यताज्ञान को आहार्य मान कर—दोनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से, काव्य में, सर्वत्रबाधित अर्थ का भी बोध बन सकता है। यहाँ नागेशभट्ट ने एक भिन्न ही सिद्धान्त स्थिर किया है और वह सिद्धान्त तर्कसंगत भी प्रतीत होता है। उनका कथन है कि—‘बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध होता ही है। अतएव तो ‘भाग से सींचता है’ इस उक्ति को सुन कर श्रोता के द्वारा यक्षा का उपहास—‘ओ महाशयजी! भाग क्या कोई तरह पदार्थ है जो आप उमसे सींचने की बात करते हैं’—सगत होता है। यदि उक्त वाक्य से बोध ही न होता तब तो जेम्मे इसी अर्थ वाला द्विविध भाषा का वाक्य सुनकर कोई भी पश्चिममासीय खुप हो जाता है वैसे श्रोता खुप हो जाता—उक्त उपहास नहीं करता। ‘उक्त वाक्य के श्रवण से उन पदार्थों का केवल स्मरण होता है, अतएव उक्त उपहास सगत ही है—अर्थात् उस तरह के वाक्यों के श्रवण से वाक्यार्थबोध नहीं ही होता। यह कथन तो केवल प्राचीनों के प्रति अन्धश्रद्धा है—जड़ता है। तात्पर्य यह कि पदार्थ स्मरण होता है पर वाक्यार्थबोध नहीं होता यह अयुक्तिक सिद्धान्त है। अतः यह मानना चाहिए कि—बाधित अर्थ का भी शाब्दबोध होता ही है। बाध निश्चय

उस बोध में अप्रामाण्य-ज्ञान करा कर वाचित अर्थ वाले वाक्य से ज्ञात अर्थ में प्रवृत्ति को रोकते हैं, अर्थात् बाधनिश्चय प्रवृत्तिप्रतिषेधक होते हैं, बाधबोध-प्रतिषेधक नहीं, और योग्यताज्ञान बाधबोध के प्रति कारण ही नहीं है। यही भाग सुन्दर है।
 ४—उत्पत्ता मानने में एक यह भी दोष है कि—तत्सादृश्य का अर्थ है 'उस वस्तु में रहने वाले धर्म से युक्त होता' इस बोध का फल 'उसके अमेद का बोध' कैसे हो सकता है? कहीं भी ऐसा नहीं देखा जाता कि—साधारणधर्मों से युक्त पदार्थों के अमेद का ज्ञान उन-उन वस्तुओं के असाधारणधर्म से युक्त पदार्थों के अमेद ज्ञान का कारण होता हो। देखा तो यही जाता है कि—बड़े और कपड़े में द्रव्यस्वरूप साधारणधर्ममूलक अमेद ज्ञान होने पर भी 'घटत्व' और 'पटत्व' रूप असाधारणधर्ममूलक अमेद ज्ञान होता ही है। हाँ, कहता यह हो सकता है कि—उससे अभिन्न समझने का फल उसके धर्मों का वहाँ रहना समझा जाय, जैसे 'गंगायां पोष'—अर्थात् गंगा पर प्राप्त है' इस वाक्य से कच्छणा द्वारा जब प्रवाह और तट को अभिन्न समझ लिया जाता है तब प्रवाह के धर्म-शीतलता तथा पवित्रता आदि—का प्राप्त में भी ज्ञान होता है। सारांश यह है कि—किसी व्याप्यधर्म से युक्त होने का ज्ञान जहाँ होता है वहाँ उस व्याप्यधर्मपिचया व्यापक-धर्मों से युक्त होने का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि व्याप्य की सत्ता में व्यापक की सत्ता मिश्रित है, जैसे प्रवाहाभेदज्ञान है व्याप्य, और शीतलता आदि का ज्ञान है व्यापक, अतः जब तट में प्रवाहाभेदज्ञान हो जाता है तब शीतलता आदि का ज्ञान भी वहाँ होता है। इस युक्ति से मुख में व्याप्य (चन्द्राभेद) ज्ञान होने पर व्यापक (चन्द्रगत आहा-दकता आदि) का ज्ञान हो सकता है, पर व्यापक (आहादकता) आदि का ज्ञान होने पर भी व्याप्य (चन्द्राभेद) का ज्ञान नहीं हो सकता। सारपर्यं यह निकलता है कि—अमेद-ज्ञान का फल सादृश्य-ज्ञान हो सकता है, सादृश्य-ज्ञान का फल अमेद-ज्ञान नहीं हो सकता। रूपक में अमेदज्ञान ही होता है, सादृश्य ज्ञान नहीं, अतएव—'कृपाया सुधया—अर्थात् हे हरि ! मैं तप से मूर्खित हूँ। मुझे कृपारूप सुधा से सींचो। हे भगवत् के जीवन ! उससे मैं भी उठूँगा— इसमें सन्देह नहीं।' इत्यादि में, कृपा और अमृत में अभिन्नता का बोध होने पर ही उसका कारणरूप से 'सींचने' में अन्वय होता है—अर्थात् कृपा की अमृत से अभिन्न न मानकर अमृत-सदृश मानने पर वह सींचने का कारण कैसे हो सकती है? और अभिन्न मानने पर ही ऐसा 'सींचना' जीवन का हेतु हो सकता है—अर्थात् कृपा जब तक अमृतरूप न हो तब तक उसका 'सींचना' जीवन का हेतु नहीं हो सकता। यह नवीन आलंकारिकों के मत का दिग्दर्शन-साध है।

तृतीयान्तपदबोध्यसाधारणधर्मकल्पकत्वले बोधं विचारयति—

अथ कथं 'गाम्भीर्येण समुद्रोऽयं सौन्दर्येण च मनसः' इत्यत्र बोधः।
 शृणु—प्राचां तावज्जयमाणेकदेशे सादृश्ये प्रयोज्यताया अमेदस्य वा तृतीया-
 र्थस्यान्वयाद्राम्भीर्यप्रयोज्यसमुद्रसादृश्यवदभिन्नोऽयम्, गाम्भीर्याभिन्नसमुद्र-
 वृत्तिधर्मवदभिन्नोऽयमिति वा घीः। लक्षणां विनैव अमेदसंसर्गेणान्वयवादिनां
 पुनरित्यम्—कविता स्वेच्छामात्रादुपकल्पिता असन्तोऽप्यन्तःकरणपरिणामा-
 त्माका अर्था सपनिबध्यन्ते मुखचन्द्रादयः। तेषु च साधारणधर्माणामस्त्येव
 प्रयोजकत्वम्, तद्दर्शनाधीनत्वात्तन्निमित्तैः। एवं च गाम्भीर्यादिप्रयोज्यसमुद्रा-
 यमिन्न इति युक्तिरप्रत्यूहेति। यद्वा ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वं तृतीयार्थः, वहिमान्
 धूमादित्यादी पञ्चान्यर्थतया तस्य कल्पनात्। एवं च गाम्भीर्यज्ञानजन्यज्ञान-
 प्रकारसमुद्राभिन्न इत्यादिबोधः।

प्रयोज्यताया अमेदस्य चेति। अतमेदान् सम्भवदुक्ति-वाचोभयोरन्यतस्तस्य तृतीया-

श्रुत्वमिति भावः, 'प्रकृत्यादिगणाख्याता तृतीया तु तदात्मताम् । अवच्छेदकतावुद्धि प्रकार-
त्वादि शंसति' इति प्राचीनोक्ति, 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्' इति वार्तिकविहिततृतीयाया
नानार्थकत्व सूचयतीति स्पष्टार्थः । अन्त करणपरिणामात्मका इति । अन्त करणवृत्तिरूपा
इत्यर्थः । मुखनन्दादय इति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपा अर्था इति भावः । तेषु । चन्द्रा-
भिन्नमुखादिरूपेष्वर्थेष्विति भावः । तदर्थेनेति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपार्थवाधुपेति, चन्द्राभिन्न-
मुखादिरूपार्थज्ञानेति वा अर्थः, दृशेधाधुपार्थकत्वात् ज्ञानसामान्यार्थकत्वाच्चेति भावः ।
तद्धिमित्तेरिति । चन्द्राभिन्नमुखादिरूपसृष्टेरित्यर्थः । नन्वेवमन्धकवेस्ताभिर्मितिर्न स्यादत
आह—यद्वेति । अथवा । साधारणधर्मज्ञानस्य तद्धिमितिप्रयोजकत्वेऽपि साधारणधर्माणा
न तत्प्रयोजकत्वमित्यत आह—यद्वेति । तस्येति । ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वस्येत्यर्थः । 'सादृश
गाम्भीर्यं समुद्रे सादृशं त्वयि, अतस्त्वम् समुद्ररूप, एवं यादृश सौन्दर्यं मन्मथे
(कामदेवे) सादृशं त्वयि, अतस्त्वम् मन्मथरूप' इत्यर्थकात् 'गाम्भीर्येण—' इति
वाक्यात् प्राचीनमते 'गाम्भीर्यप्रयोज्य यत् समुद्रसादृश्यं तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति,
बोधम्—'सौन्दर्यप्रयोज्य मन्मन्मथसादृश्यं तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति बोधः, समुद्र-
मन्मथ-पद-लक्ष्यस्वसादृश्यकार्यैकदेशसादृश्यान्वयिप्रयोज्यतार्थकत्वात् गाम्भीर्यसौन्दर्य-
पदोत्तरतृतीयाविभक्त्योः । अथवा तद्वाक्यात् तन्मते 'गाम्भीर्याभिन्नो यः समुद्रवृत्ति-
धर्म एव सौन्दर्याभिन्नो यो मन्मथवृत्तिधर्मस्तद्वता अभिन्नोऽयम्' इति बोधः, गाम्भीर्य-
सौन्दर्य-पदोत्तर-तृतीयाविभक्त्यो लक्ष्यमाणैकदेश-सादृश्यान्वयभेदार्थकत्वात् । रूपके
न लक्षणा, अपि तु अभेदेनोपमानोपमेययोर्वाच्यार्थयोरेवान्वय इति वदता
नवीनाना मते तु 'गाम्भीर्य-प्रयोज्य-समुद्राभिन्न, एवं सौन्दर्यप्रयोज्य-मन्मथाभिन्नोऽयम्'
इति बोधः, तृतीयाविभक्त्यो क्रमशः समुद्र-मन्मथपदार्थान्वयिप्रयोज्यतार्थकत्वात् । ननु
कथं समुद्रमन्मथस्य पदार्था गाम्भीर्यादिप्रयोज्या इति चेत् ? इत्यम्—उपमेयराजा-
दिनिष्ठभेदप्रतियोगिन समुद्रादय पदार्था न वास्तविका अपि तु अन्त करणवृत्तिरूपा
कविकल्पिता, सादृशकल्पनाया औपमेये उपमानवृत्तिधर्मदर्शनमेव मूलम्, तथा च भव-
न्त्येव ते पदार्था साधारणधर्मप्रयोज्या । अथवा ज्ञानजन्यज्ञानप्रकारत्वमिदं तृतीयावि-
भक्त्यर्थः । ननु नैदृशविभक्त्यर्थं क्वचिद् दृष्ट इति चेत्, 'वद्विमान् धूमात्' इत्यादौ पञ्चमी-
विभक्तेस्तादृशार्थकत्वस्य परै स्वीकृतात्वात्, अत एव 'धूमज्ञानजन्यज्ञानप्रकारीभूतवद्वि-
विशिष्ट' पर्वतादिरिति बोधस्तन्मते समुपपद्यते । तथा च प्रवृत्ते 'गाम्भीर्यज्ञानजन्यं
यत् ज्ञान 'अयं समुद्र' इत्याकारक तत्र प्रकारीभूतो यः समुद्रस्तदभिन्नोऽयम्' इति
एव 'सौन्दर्यज्ञानजन्यं यत् ज्ञान 'अयं मन्मथ' इत्याकारक तत्र प्रकारीभूतो यो
मन्मथस्तदभिन्नोऽयम्' इति बोध इति भावः ।

अब उस रूपकसमूह का बोध दिखलाया जाता है जहाँ तृतीयाविभक्त्यन्त पद के
द्वारा साधारणधर्म की उपस्थिति होती है—अथ इत्यादि । अब 'गाम्भीर्येण—अर्थात्
यह राजा गाम्भीर्य से समुद्र और सुन्दरता से कामदेव है ।' इस वाक्य से कैसा शब्द-
बोध होगा इस प्रश्न का उत्तर सुनिष्ट । १—प्राचीनों के मतानुसार ऐसे स्थलों पर साधा-
रणधर्म बोधक पद—गाम्भीर्य-सौन्दर्य आदि—के आगे जुड़ी हुई तृतीया विभक्ति का अर्थ
'प्रयोज्यता' अथवा 'अभेद' होता है, क्योंकि ऐसे स्थानों में 'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्'
इस वार्तिक से तृतीया विभक्ति होती है और उस तृतीया के 'प्रयोज्यता', 'अभेद' आदि
अनेक अर्थ होते हैं । उस तृतीयाविभक्त्यय का यहाँ समुद्र और मन्मथ पद से लक्षणा
द्वारा बोधित सदृश (सादृश्यवश) के एकदेश (सादृश्य) में अन्वय होगा, अतः उक्त

वाक्य का शब्दबोध—‘गम्भीरता द्वारा सिद्ध किए जाने वाले समुद्र के सादृश्य से युक्त से अभिन्न, एवं सुन्दरता द्वारा सिद्ध किए जाने वाले कामदेव के सादृश्य से युक्त से अभिन्न यह राजा’ ऐसा अथवा ‘गम्भीरता से अभिन्न समुद्र के घर्म (सादृश्य) से युक्त से अभिन्न, एवं सुन्दरता से अभिन्न कामदेव के घर्म (सादृश्य) से युक्त से अभिन्न यह राजा’ ऐसा होगा। और जो लोग दिना लक्षणा के ही अभेदसम्बन्ध द्वारा अन्वय मानते हैं उन नवीनों के मतानुसार यह बात है कि जो ‘सुखचन्द्र’ (चन्द्राभिन्न मुख) आदि पदार्थ वास्तविक नहीं होते, केवल अन्तःकरण के परिणामरूप (चित्तवृत्तिविशेष रूप—मानस) होते हैं उनकी सृष्टि कवि कल्पना द्वारा करता है और इस तरह की काल्पनिक सृष्टि में साधारणधर्म ही प्रयोजक (मूल) होते हैं—अर्थात् चन्द्रगत आह्लादकता आदि धर्मों को मूल आदि में देखकर अथवा समझ कर ही ऐसी कल्पना की जाती है। अतः—उक्त वाक्य का बोध—‘गम्भीरता आदि के द्वारा सिद्ध किए जाने वाले (प्रयोज्य) समुद्र आदि से अभिन्न यह राजा’ ऐसा होता है। सारांश यह हुआ कि ये उपमेय रामारूप काल्पनिक समुद्र आदि गम्भीरता आदि के प्रयुक्त ही समुद्र आदि होते हैं, अतः उक्त बोध मानने में किसी तरह की बिन्न बाधा नहीं हो सकती। यदि आप कहें कि ऐसी स्थिति में वह अन्वय कवि—जो न चन्द्र को कभी देख सका है न मुख को ही—कैसे इस तरह की कल्पना करेगा? जयवा आपकी युक्ति के अनुसार भी साधारणधर्मों का ज्ञान ही उक्तविध कल्पना का प्रयोजक ठहरता है, साधारणधर्म नहीं, फिर उक्त बोध—जिसमें समुद्र आदि को साधारणधर्म-प्रयोज्य बताया गया है—कैसे होगा? तो इसके उत्तर में मेरा कथन है कि छोड़िए उस बोध को। ‘ज्ञान-जन्य-ज्ञान प्रकाशत्व’-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान का प्रकार होना—को तृतीया विभक्ति का अर्थ मान लीजिये। विभक्त्यर्थ के रूप में इसको नई मान्यता नहीं देनी पड़ेगी, ‘बह्निमान् भूमाश्च’ इत्यादि स्थलों पर पञ्चमी विभक्ति के अर्थरूप में इसे नैयायिक लोग मान्यता प्रदान कर चुके हैं। तात्पर्य यह कि ‘बह्निमान् भूमाश्च’ का शब्दबोध नैयायिक लोग ‘भूम-ज्ञान-जन्य ज्ञान में प्रकाशीभूत बह्नि वाया पर्वत’ करते हैं जिससे सिद्ध होता है कि—ये ‘ज्ञान-जन्य ज्ञानप्रकाशत्व’ को ‘भूमाश्च’ इस पञ्चमी विभक्ति का अर्थ मानते हैं, फिर हम उसी वस्तु को यहाँ तृतीया विभक्ति का अर्थ क्यों नहीं मान सकते? अचरम मान सकते हैं। तदनुसार, उक्त वाक्य का शब्दबोध होगा—‘गम्भीरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में विशेषणीभूत समुद्र के अभिन्न’ एवं ‘सुन्दरता के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान में विशेषणीभूत कामदेव से अभिन्न यह’ ऐसा। स्पष्ट अर्थ यह कि वर्णनीय राजा-रूप उपमेय में रहने वाली गम्भीरता का ज्ञान पहले होता है उस गम्भीरता-ज्ञान से उसी राजा में ‘यह समुद्र है’ ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, इस द्वितीय ज्ञान में विधेयभूत समुद्र विशेषण और यह (राजा) विशेष्य है, वस्तु, इन्हीं बातों को जोड़ कर उक्त शब्दबोध सम्भव हो जाता है।

अभेदात्मकस्यास्य रूपकस्य वाक्यार्थे त्रिधा भानं भवतीति लक्ष्यप्रदर्शनमुत्तेन स्फोर-यितुमाह—

तदिदं रूपकं विषयविपरिणोः सामानाधिकरण्ये अपदार्थतया संसर्गः। यथा ‘बुद्धिर्दीपकता—’ इत्यादौ।

रूपकमिति। उपमानोपमेययोरभेद इति यावत्। विषयविपरिणोरिति। यत्राभेदारोप-स विषय, उपमेय इति यावत्, यस्याभेदस्यारोप, च विषयी, उपमानमिति यावत् इति बोध्यम्। सामानाधिकरण्य इति। समानविभक्तिकपदबोधोक्त्यत् इत्यर्थः। अपदार्थतयेति। पदनिष्ठवृत्त्येवोपपत्तयेत्यर्थः। लक्ष्य-प्रदर्शनायाह—अथेति। ‘बुद्धि—’ इति। पदमिदमस्मिन्नेव प्रकारे प्रागुक्तं व्याख्यातम्। विशेषणविधया विशेष्यविधया वा भानं तत्त्वैवार्थस्य भवति

यस्योपस्थितिर्गुतिज्ञानाधीना, यस्य तु अर्थस्योपस्थितिर्न वृत्तिज्ञानाधीना, अपि तु आकाशा-
दिवशात् तस्य भान ससर्गविधया भवतीति यन्तुस्थितिः । तथा च 'मुख चन्द्र' इत्यादिव
'बुद्धिर्दीपकला'— इत्यत्र विषयविपयिणोर्बुद्धि-दीपकलयो सामानाधिकरण्यमिति तत्र तयो-
रभेद संबंधविधया भासेत, आकाशादिवशात्तस्योपस्थिते । इत्यत्र 'मुख चन्द्र' इत्यादौ
चन्द्रप्रतियोगिकभेदबन्धमुत्पत्तित्यादिर्न बोधः, अपि तु अभेदसंबन्धेन चन्द्रबन्धमुत्पत्तित्यादि-
रेवेति भावः ।

यह रूपक (उपमान उपमेय का अभेद) वाच्यार्थ में तीस तरह से भिन्न भिन्न स्थल
में भासित होता है, इसी वैचित्र्य को चित्रित करने के लिये कहा जाता है—सदिदमि-
त्यादि । जहाँ विषय (उपमेय) और विपयी (उपमान) समानाधिकरण रहते हैं—
दोनों के बोधक-पक्षों से एक ही तरह की विभक्ति आई रहती है, वहाँ उसका (अभेद का)
भान संबन्धरूप में होता है, विशेषण अथवा विशेष्यरूप में नहीं, क्योंकि विशेषण
अथवा विशेष्यरूप में उसी अर्थ का भान होता है जो किसी पद का वाच्य अथवा लप्य
हो, आकाशादि के द्वारा जिस अर्थ की उपस्थिति होती है—उसका भान संबन्ध
रूप में ही होता है । सामानाधिकरण्यस्थल में अभेद (रूपक) किसी भी पद का वाच्य
किंवा लप्य नहीं रहता, अतः उसका भान ससर्गरूप में ही होता है । जैसे—'बुद्धिर्दीप'
इस पूर्वोक्त पद्य में बुद्धि रूप विषय और दीपकलारूप विपयी सामानाधिकरण हैं, फलतः
दोनों का अभेद किसी पद का अर्थ नहीं होने के कारण संबन्धरूप में भासित
होता है । अभिप्राय यह कि—'बुद्धिर्दीपकला' इसका शब्दबोध, 'दीपकला के अभेद से
युक्त बुद्धि' इस तरह नहीं, अपि तु 'अभेद संबन्ध से दीपकला वाली बुद्धि' इस
तरह से लिया जा सकता है । यह हुआ रूपक के भान का प्रथम 'प्रकार' ।

वाक्यार्थेऽभेदात्मकरूपकभानस्य प्रथमा विधा स्थैर्यित्वा सम्प्रति द्वितीया विधा
स्फोरयितुमाह—

• वैयधिकरण्ये च शब्दार्थतया कचिद् विशेष्यम् ।

यथा—

'कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-

यागामिन्यखिलेश्वरे रतिपती तत्कालमस्याक्षया ।

आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमभोरुहां

किं चासीदमृतस्य भेदविगमः सार्चिस्मते सार्चिकः ॥'

अत्र शशाङ्कता-सादात्म्य-भेदविगमशब्दैरभिधीयमान रूपक प्रथमान्त-विशेष्यता-
वादिनां मते विशेष्यम् । क्रियाविशेष्यतावादिनां तु तत्रैव किञ्चिद् व्यत्यासेन
निष्ठान्तक्रियादाने ।

• वैयधिकरण्य' इति । भिन्नविभक्तिकपदबोध्यत्व इत्यर्थः । अस्यादौ 'विषयविपयिणौ'
इत्यस्यानुपपत्तिर्योष्य । शब्दार्थतयेति । शब्दनिष्ठवृत्तिबोध्यतयेत्यर्थः । कचिद् अधोनिर्दिष्ट-
लक्ष्ये तादृशेऽन्यस्मिन् लक्ष्ये च । विशेष्यमिति । वाक्यार्थगुरुत्वविशेष्यमित्यर्थः । लक्ष्य-
प्रदर्शनायाह—यदेति । लक्ष्यमाह—'कैशोरे—' इति । क्वि वय सन्निधगतायाः
कामिन्या सौन्दर्यं वर्णयति । अत्र 'तन्व्यास्तनौ' इति मध्यमभिन्न्यायेनोभयत्रान्वेति ।
तथा च—तन्व्या कृशाक्षया, तनौ शरीरे, क्रमेण क्रमशः, कैशोरे वयसि किशोरावस्थायाम्,
'तनुता क्षीणताम् आयाति आगच्छति सति, तथा तत्रैव तनौ, रतिपती कामदेवे, अखि-
लेश्वरे सर्वेश्वरे—राज्ञि, आगामिनि आगन्तुकामे सति, तत्काल तस्मिन्नेव क्षणे, अस्म-
न्कामदेवस्य, आश्रमा आदेशेन, तस्या, आस्ये मुखे, पूर्णशशाङ्कता पूर्णचन्द्रत्वम्, आसीत्

अभूत्, नयनयौघक्षुण्णैः अममोदहा नारिजानाम्, तादात्म्यम् अभेदः, आसीत् किञ्च साचि-
स्मिते वक्षेयदास्ये, अमृतस्य पीयूषस्य, तात्त्विकं वास्तविकं, भेदविभक्तं अभेदः, आसीत्
इत्यर्थः, वयं गन्धिकात्वे कामदेवनिरोधेनैव कामिन्या अत्रेषु सौन्दर्यं स्वयमेव प्रादुरासीदिति
भावः । उपपादयति—अत्रेत्यादिना । अभिधीयमानमिति । बोध्यमानमित्यर्थः । शक्त्या लक्ष-
णया वेति भावः । प्रथमान्तविशेष्यतावादिनामिति । नैयायिकानामित्यर्थः । क्रियाविशेष्यता-
वादिनामिति । शाब्दिकानामित्यर्थः । तत्रैव तत्त्वपक्ष एव । किञ्चिद्व्यवस्थासेनेति । 'किञ्चासीत्'
इत्यस्य स्थाने इति भावः । निम्नान्तेति । 'सम्पन्नो हि' इति पाठे इत्यर्थः । विषयविषयिणो-
र्वैयधिकरणस्य लेऽभेदः पदनिष्ठवृत्तिबोध्यो भवति, अतस्तत्र द्वयी गतिः क्वचित्तस्य विरोध्य-
विधया भानं कश्चिच्च विशेषणविधया । तत्र 'केशोरे—' इति पदं विरोध्यविधया तद्भान-
स्थानम्, यतः तत्र शरादृतादिप्रथमान्तपदबोध्योऽभावभेद इति 'आस्याधिकरणकभूत-
कालिकसत्तावती पूर्णशरादृता' इत्यादिरोत्या जायमाने बोधेऽभेदात्मकस्य रूपकस्य
विशेष्यत्वं सिद्धयति । ननु प्रथमान्तार्थमुख्यविरोध्यकबोधवादिना नैयायिकानामेव मते एतत्
सिद्धयति, न क्रियामुख्यविरोध्यकबोधवादिना वैयकरणानां मते, तथा च नाय विरोध्य-
विधया रूपकभानसिद्धान्तं सर्वसम्मत इति चेत् ? सत्यम्, न निम्नतत्रियापदविशिष्ट-
पाठे वैयकरणे, प्रथमान्तपदबोध्याभेदविरोध्यकं बोधं कर्तुं, किन्तु कृदन्तत्रियापदविशिष्ट-
पाठे अपात्—'सम्पन्नो हि' इति निष्ठासङ्गकप्रत्यायान्तत्रियापददाने तेषां प्रथमान्तार्थ-
विरोध्यकमेव बोध्यं स्वीकृत्य, तथैव तैः सिद्धान्तितत्वादिति भावः ।

अत्र वाक्यार्थं मे रूपक (अभेद) के भासित होने का दूसरा प्रकार दिखलाया
जाता है—वैयकरण्ये इत्यादि । जहाँ विषय-विषयी भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पदों से
निर्दिष्ट होते हैं वहाँ कहीं रूपक विशेष्यरूप में भासित होता है । जैसे—'केशोरे—
वर्षात् कुशाग्री कामिनी के करीर में केशोरावस्था के चिह्न क्रमशः पीण होते जा रहे
थे—वह कामिनी धौवन की देहली पर पदार्पण कर चुकी थी । अखिलेश्वर (सर्वभूमीन)
कामदेव का आगमन होनेवाला था । अतः उस आगामी राजा की आज्ञा से, तत्काल
कुशाग्री के मुख में पूर्णचन्द्र का भाव, बगनों में कमलों का तादृश्य और वन ईपद्
हास्य में अमृत का वास्तविक अभेद हो गया ।' जहाँ 'चन्द्र का भाव' 'तादृश्य'
और 'अभेद' इन प्रथमान्त पदों से रूपक—अभेद—का वर्णन किया गया है । तात्पर्य यह
कि यहाँ उपमेय—मुख, नयन और ईपद्हास्य—का 'आस्ये', 'बयनयोः' तथा 'साचि-
स्मिते' इन सप्रत्यय पदों से एवम् उपमान—चन्द्र, कमल तथा अमृत—का उक्त भाव-
वाचक संज्ञाओं से बोध कराया गया है, जिससे यह वैचित्र्य यहाँ उत्पन्न हो गया है कि
रूपक शब्दबोध हो गए हैं । अतः जो लोग शाब्दबोध में प्रथमान्तपद के अर्थ को
मुख्य विशेष्य बनाते हैं उन नैयायिकों के मतानुसार, यहाँ—'मुख में रहनेवाली भूत-
कालिक सत्ता (आसीत् वदचाश्च क्रिया) से युक्त पूर्णचन्द्र का भाव' इत्यादि रीति से
शाब्दबोध होता है । इस बोध में रूपक (पूर्णचन्द्र का भाव—अभेद) विशेष्यरूप में
भासित हुआ है । यद्यपि जो लोग शाब्दबोध में क्रिया को मुख्य विशेष्य बनाते हैं उन
वैयाकरणों के मतानुसार उक्त रीति से बोध नहीं होगा, फलतः रूपक की विशेष्यता
भी सिद्ध नहीं होगी, तथापि उसी पक्ष में जब 'किं आसीत्' के स्थान में 'सम्पन्नो हि'
यह निष्ठान्तकप्रत्ययान्त—कृदन्त—क्रियापद रख दिया जायगा तब उनके मतानुसार भी
प्रथमान्त पद का अर्थ ही शाब्दबोध में विशेष्य होगा, क्योंकि कृदन्त (तिष्ठन्त से भिन्न)
क्रिया पदवाले स्थलों में उनको भी क्रिया का विशेष्य होना ही आसीत है, फलतः वैसी
स्थिति में उनके मत से भी रूपक का विशेष्य होना सिद्ध होता है । यह अभेदात्मक
रूपकभान का दूसरा प्रकार हुआ ।

वाचयार्थेऽभेदात्मकरूपकमानस्य तृतीया विधा स्फोरयितुमाह—

कचिच्च विशेषणम् ।

यथा—

‘अविचिन्त्यशक्तिविभवेन सुन्दरि प्रथितस्य शम्भररिपोः प्रभावतः ।

विधुभावमञ्चरितमां तवाननं नयनं सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥’

इह द्वितीयार्थे विशेषणीभूतं विधुत्वादिविध्वभेदात्मकतया रूपकम् ।

‘अविचिन्त्य—’ इति । अविचिन्त्या अचिन्तनीया, या, शक्य सामर्थ्यविशेषा, तद्रूपेण विभवेन सम्पत्त्या, प्रथितस्य प्रख्यातस्य, शम्भररिपो कामदेवस्य, प्रभावतः प्रभावान्, हे सुन्दरि, तव, आननं मुखम्, विधुभाव चन्द्रत्वम्, अञ्चरितमा नियमतः प्राप्नोति, तथा, तव, नयनं जातावेकवचनम्, नेत्रयुगलमिति यावन्, सरोजदलनिर्विशेषता कमलपत्रसारूप्यम्, अञ्चरितमामित्यर्थः । उपपादयति—इहत्यादिना । द्वितीयार्थ इति । विधुभावपदोत्तरद्वितीयाविभक्त्यर्थ इत्यर्थः । विधुत्वादिति । अत्रादिपदेन सरोजदलसारूप्यं सगृह्यते । विध्वभेदेति । लक्षणयेति भावः । विषयविषयिणोर्बन्धभिरूपे रूपकं क्वचित् विशेषणतया भासते । यथा—‘अविचिन्त्य—’ इति पद्ये । अत्र विधुभाव-सरोजदलनिर्विशेषतापदान्या रूपके बोध्यन्ते, ते च रूपके विशेषणीभूते, ‘विधुभावनिष्ठा एवं सरोजदलनिर्विशेषतानिष्ठा या कर्मता तन्निरूपकं यदञ्चन तदनुकूलवृत्तिमत् आननं नयनञ्च’ इति बोधात् । ननु कथमिह रूपकम्, अभेदात्मकस्य तस्यात्राप्रत्ययादिति चेन्न, लक्षणया विधुभावादपदस्य स्वार्थप्रतियोगिकभेदपरत्वादिति भावः । इत्यत्राभेदात्मनमिदं रूपकं क्वचित् सम्बन्धविषया, क्वचित् विशेष्यविधया, क्वचिच्च विशेषणविधया वाक्यार्थे भासत इति परमार्थः ।

अब अभेदात्मक रूपक के भान का तीसरा प्रकार दिखलाया जाता है—कचिच्च इत्यादि । उपमान उपमेय के अभेदरूप रूपक का बोध भिन्नविभक्तिक पदों द्वारा होने पर कहीं वह अभेदात्मक रूपक विशेषणरूप में भासित होता है । जैसे—‘अविचिन्त्य—’ अर्थात् अचिन्तनीय शक्तियों के कारण विख्यात कामदेव के प्रभाव से हे सुन्दरि ! तेरा मुख चन्द्रता की और नेत्र कमलपत्र की पृक्कृपता की प्राप्ति कर रहे हैं ।’ यहाँ मूलपदगत ‘विधुभाव’ पद और ‘सरोजदलनिर्विशेषता’ पद लक्षणा-द्वारा विध्वभेद (चन्द्राभेद) और सरोजदलाभेद (कमलपत्राभेद) के बोधक हैं, अतः यहाँ दो रूपक होते हैं और वे दोनों ही रूपक (अभेद) द्वितीया विभक्ति के अर्थ—कर्मता—में ‘निष्ठव’ सम्बन्ध से विशेषण हो जाते हैं । तत्पर्यं यह कि इस वाक्य से होने वाले ‘विधुभावनिष्ठ कर्मता की निरूपक अञ्जन प्राप्ति-क्रिया के अनुकूल यत्न वाला मुख’ इत्यादि शाब्दबोध में विधुभाव (चन्द्राभेद) द्वितीया ॥ अर्थ (कर्मता) के विशेषणरूप से भासित होता है । फलतः पर्यवसित अर्थ इस प्रकरण का यह हुआ कि अभेदात्मक रूपक का भान तीन प्रकारों से होता है—कहीं सम्बन्धरूप से, कहीं विशेष्यरूप से और कहीं विशेषणरूप से ।

समासगतलक्षणकस्थले बोधप्रसन्न सूचयितुमाह—

एवं मुखचन्द्र इत्यादातुपमितसमासे तावदुपमैव । विशेषणसमासे तु रूपकम् । बोधश्च शशिपुण्डरीकमित्यादाविव प्राकृतिपादितदिशा बोध्यः ।

उपमितसमासे ‘उपमित व्याघ्रादिभि—’ इति सूत्रविहितसमासे । विशेषणसमासे न्विति । ‘विशेषण विशेष्येण—’ इति सूत्रविहितसमास इत्यर्थः । अत्र ‘चिन्त्यमिदम्’ । चन्द्रमुखमित्यस्यापत्ते । परिणामालङ्कारोदाहरणे तु विशेषणसमास उचितः । अत्र तु

मयूरव्यंसकेति समासे त्वित्युचितम् ।' इति युक्तमाह नागेशः । शशिपुण्डरीकमिति । 'शशिनिष्ठाभेदप्रतियोगि पुण्डरीकम्' इति बोधवदित्यर्थः । बोध्य इति । तथा च मुखनिष्ठाभेदप्रतियोगि मुक्तमिति बोध इति भावः ।

समासगत रूपकस्थलः शब्दबोध का प्रकार घटलाने के लिये कहा जाता है—एवं इत्यादि । 'मुखचन्द्र' इत्यादि समास पदों में उपमितसमास—अर्थात् 'उपमितं व्याघ्रादिभिः—' इस पाणिनिसूत्र से समास होने पर उपमा ही होती है अतः उसका यहाँ प्रसङ्ग नहीं । हाँ, विशेषणसमास—अर्थात् 'विशेषण विशेष्येण—' इस पाणिनिसूत्र से समास—होने पर रूपक हो सकता है और तब बोध भी पूर्वोक्त 'शशिपुण्डरीक' पद के प्रसंग पर कथित रीति से हो जायगा । तात्पर्य यह कि—मिश्र तरह 'शशिपुण्डरीक' पद का बोध 'शशि' में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी पुण्डरीक' इत्याकारक पहले किया गया है उसी तरह 'मुखचन्द्र' पद का बोध भी 'मुख' में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी चन्द्र' यह होगा । यहाँ विशेषणसमास वाली मूलोक बात पर नागेश लिखते हैं कि "यह गलत है क्योंकि विशेषणसमास करने पर 'मुखचन्द्र' ऐसा नहीं अपितु 'चन्द्रमुख' ऐसा प्रयोग हो जायगा, अतः 'मयूरव्यंसकादयश्च इस सूत्र से समास होने पर' ऐसा यहाँ लिखना चाहिए । विशेषणसमास तो परिणामाकारक के उदाहरणों—'मुखचन्द्र' से अन्धकार दूर हुआ' इत्यादिकों—में होना उचित है ।"

व्यधिकरणरूपकविशेषस्थले शब्दबोध दर्शयितुमाह—

'मीनवती नयनाभ्यां करचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती ।

शैवालजिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी ॥'

इत्यादौ तृतीयाया अभेदार्थकत्वात्तस्य च प्रागुक्तविश्रा प्रतियोगित्वमुख-
स्यार्थवशादन्वये, नयननिष्ठाभेदप्रतियोगिमीनवतीति बोधः । मीनवत्त्वं च
स्याभिन्नधारकम् । घटत्स्फोरणायैव नयनाभ्यामित्युक्तम् । मीनाभिन्ननयनवतीति
तु पर्यवसितम् । नयनाभेदे तु मीनेषु गृह्यमाणे सरसीरूपकापोषणादित्युक्तमेव ।

मीनवतीति । सुरसा सुन्दरः रसः प्रेमा जलत्रयस्या सा, इयं सुन्दरी, नयनाभ्याम्
मीनवती मीनरूपनयनयुक्ता, करचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती विरसितकमलरूपकरचरणयुक्ता,
तथा केशैः शैवालजिनी शैवालरूपकेशयुक्ता सती, सरसी सरोवररूपा सम्पद्यत इत्यर्थः ।
तृतीयाया इति । 'प्रकृत्यादिभ्यः—' इति विहितमा इत्यर्थः । तस्येति । तृतीयार्थस्याभेद-
स्येत्यर्थः प्रागुक्तदिशेति । 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्यत्रौत्तरोत्थेत्यर्थः । प्रतियोगित्वमुख-
स्येति । स्वनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वस्येति समुदितार्थ इति भावः । अर्थवशादिति । सरसीरूप-
कानुरोधेनेति भावः । स्वाभिज्ञेति । मीनाभिन्ननयनस्येत्यर्थः । नयनाभेदे इति । नयनप्रति-
योगिकाभेदे इत्यर्थः । उक्तमेवेति 'सौजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इत्येतद्विनारप्रसङ्गे इति भावः ।
प्रकृत्यादिस्वान्ताया नयनादिपदोत्तरतृतीयाया स्नोवियमाणस्याभेदरूपार्थस्य प्रतियोगित्वं
अथपि स्वप्रकृत्यर्थे नयनादावेव साधारणतया प्राप्तम्, तथापि पूर्वोक्तरीत्या मीनादौ तत्
व्यवस्थाप्यते । तथा च 'नयनादिनिष्ठ तदनुयोगिक इति यावत् योज्येद' तस्य प्रतियोगी
यो मीनादिस्तद्युक्ता' इति बोधो भवति । ननु मीनादियुक्तताम् सुन्दर्या न सम्भवतीति
चेत् ? उत्तरम्, मीनाद्यभिन्ननयनादियुक्तत्वेन मीनादियुक्तत्वे तात्पर्यात् । अत एव 'नयना-
भ्याम्' इत्यादि तृतीयान्तपदप्रयोगः । मीनाद्यभिन्ननयनादियुक्तेति पर्यवसितार्थः । न च
हुतोऽयं द्विविधप्राणायामः १ मीनादिषु नयनादिप्रतियोगिकाभेद एव गृह्यताम् इति वाच्यम्,
तथा सति 'सुन्दरी सरसी' इत्यंशो निर्विवादस्य सरसीरूपकस्य समर्थनं न स्यात्, तत्समर्थन-

मेव च वक्तुरभिप्रेतमित्याशयात् । मीनवतीति पक्षे परम्परितं रूपक कवेर्निबन्धनीयम्, तत्रोपमानभूताया सरस्या उपमेयभूताया सुन्दर्याय तादात्म्यात्मक रूपकं प्रधानं समर्थम्, उपमानभूतानां मीनमलखीवाक्यानाम् उपमेयभूतानां नयन-करचरण-केशा-नाम् तादात्म्यात्मकानि च रूपकाणि समर्थकानि, इति स्थितौ समर्थकाद्ये मीनाद्युपमानाभेदो नयनाद्युपमेये साधयितुमुचितः, तदैव तानि मीनादिरूपकाणि कथ्येरन्, मीनादिरूपकैरेव च सरसीरूपकस्य समर्थनं क्त्वात् । तदप्येव न सरसी रूपकम् अपि ॥ सुन्दरीरूपकमेवेति तु न शक्यं वक्तुम्, सुन्दर्या एव प्रकृतत्वेनोपमेयत्वादिति स्पष्टार्थः ।

एकं खास स्थिकरणरूपकस्थलं का शब्दबोधप्रकारं दितव्या जाता है—मीन-वती इत्यादि । 'मीनवती—अर्थात् यह सुन्दरी अच्छे रस (प्रेम तथा लाल) वाली सरसी है जो नेत्रों के कारण मछलीवाली, हाथ पैरों के कारण कमलवाली तथा केशों के कारण सेशरवाली है ।' इत्यादिक में जवन आदि पदों से 'प्रकृत्यादिवात्' तृतीया विभक्ति हुई है जिसका अर्थ 'अभेद' है, उसका प्रतियोगी यद्यपि नयन आदि को ही होना चाहिये, पर 'मीजन्यचन्द्रिकाचन्द्रः' इस वाक्य के विषय में विचार करते समय कही गई रीति से मीन आदि को ही अभेद का प्रतियोगी माना जाता है और ऐसा इसलिये माना जाता है कि समग्र वाक्य का अर्थ—अर्थात् अग्नि सरसी-रूपक—सभी सगत होता है, अतः उक्त श्लोकवाक्य से 'नेत्र' में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी जो मीन उससे युक्त' इत्यादि बोध होता है । और सुन्दरी का 'मछलीवाली होना' है मछलियों से अभिन्न नेत्रों द्वारा—अर्थात् नेत्रों को मछलियों से अभिन्न समझ लेने पर ही सुन्दरी मछलीवाली समझी जा सकती है । इस 'द्वारा' को स्पष्ट करने के लिये ही 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीयागत पदों का प्रयोग किया गया है । अतः अन्ततः 'नेत्रों के कारण मछलीवाली' का अर्थ होता है 'मछलियों से अभिन्न अर्थात् मछलीरूप नेत्रोंवाली ।' यह उलटफेर इसलिये करना पड़ता है कि—यदि नेत्रों का अभेद मछलियों में समझा जाय तो सुन्दरी में सरसी का रूपक समर्थित नहीं होता, प्रत्युत सरसी में सुन्दरी का रूपक समर्थित होने लगता जो कवि का अभीष्ट नहीं है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है । सारांश यह हुआ कि यहाँ प्रस्तुत होने के कारण उपमेयरूप सुन्दरी में सरसीरूप उपमान का साक्षात्कार जो वर्णित है वह सरसीरूपक ही कहलायगा सुन्दरीरूपक नहीं, यह निर्विवाद सत्य है, अब इस प्रधान रूपक के समर्थन में अन्य जो रूपक वर्णित हुए हैं उनमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि—उपमेय सुन्दरी—से सर्वत्र रखने वाले पदार्थों को उपमेय और उपमान—सरसी—से सर्वत्र रखनेवाले पदार्थों को उपमान माना जाय, इस हिसाब से नयन आदि को उपमेय और मीन आदि को उपमान माना जाता है और इस मान्यता के अनुसार उक्त तृतीयार्थ-अभेद का प्रतियोगी मीन आदि को मानना जरूरी है, क्योंकि उपमान ॥ प्रतियोगी हो, ऐसा सिद्धांत है ।

रूपके साधारणधर्मस्थिति विचारयति—

साधारणधर्मश्चात्राप्युपमायामिव कचिदनुगामी कचिद्विम्बप्रतिविम्बमावा-
पन्नं कचिदुपचरितः कचिच्च केवलशब्दात्मा । सोऽपि कचिच्छब्देनोपात्तः,
कचित्प्रतीयमानतया नोपात्तः ।

अनुगामी, विम्बप्रतिविम्बमावापन्न, उपचरित (आरोपित) केवलशब्दरूपश्रेति चतुर्विधा साधारणधर्मा यद्योपमायां भवन्ति तथा रूपकेषु ते भवन्ति । अथच तथाविधास्ते चत्वारः साधारणधर्मा कचित् अप्रसिद्धत्वात् शब्दतः कथितास्तिष्ठन्ति, कचिच्च प्रसिद्ध-
तया शब्दमन्तरापि प्रतीतिपथमवतरन्त शब्दतः उपात्ता न भवन्तीति भावः । केवल-
शब्दरूपरूपात् एव भवतीत्यपि बोध्यम् ।

रूपक में साधारणधर्म किस-किस तरह का हो सकता है इसका विचार अब किया जाता है—साधारण इत्यादि । रूपक में भी साधारणधर्म, उपमा की तरह, कहीं अनुगामी, कहीं विभक्त प्रतिविम्बमावापक, कहीं उपचरित (आरोपित) और कहीं केवल शब्दरूप होता है । और ये सभी धर्म भी कहीं शब्द द्वारा उक्त होते हैं और कहीं अर्थात् प्रतीत होने के कारण, शब्द द्वारा उक्त नहीं होते । अभिप्राय यह कि—इन चारों तरह के धर्मों में से कोई एक तरह का धर्म एक जगह रहेगा और वह भी यदि प्रचुर प्रसिद्ध रहेगा तब उसके बोधक पद की अपेक्षा नहीं होगी—अर्थात् बोधक पद के बिना भी प्रतीत हो जायगा और यदि वह अप्रसिद्ध रहेगा तब उसके बोधक पद की अपेक्षा होगी—अर्थात् बोधक पद के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होगी । यह ध्यान रहे कि इनमें से कोई-कोई धर्म मियमतः बोधक की अपेक्षा रखता है । जैसे—केवल शब्दरूपधर्म, वह बोधक के अभाव में प्रतीति पथ में आ ही नहीं सकता है ।

उपात्तमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

उपात्तोऽनुगामी यथा—

— शब्दतः उक्त अनुगामी धर्म वाला रूपक जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘जडान्धान्पङ्गून्प्रकृतिवधिरानुक्तिविकल्पा-
महमस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपततो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परम भेषजमसि ॥’

कविर्गङ्गा स्तौति—हे अम्ब मात । जडान् कर्तव्यविमुखान्, अन्धान् नष्टनेत्रप्रका-
शान्, पङ्गून् गमनशक्तिविहीनान् प्रकृतिवधिरान् प्रकृत्या स्वभावेन, जन्मत इति यावत्,
श्रवणशक्तिरहितान्, उक्तिविकल्पां नवनशक्तिहीनान्, फलतः, महमस्तान् ‘महैः प्रस्ता-
भमे’ इत्येवं व्यवहियमाणान्, अत एव, अस्ता-दूरोभूता अखिला सर्वेऽपि दुरित-निस्ता-
रस्य पापोदारस्य सरण्य’ मार्गं येषां तत्राविधान्, अत एव च, निलिम्पैः देवैरपि
किमुन मनुजैः, निर्मुक्तान् त्यक्तान्, अन्ततः, निरयस्य नरकस्य, अन्तर्मध्ये, निपतत-
पतनौन्मुक्तान्, नरान् मनुष्यान् त्रातुं रक्षितुम् इह ससारे, त्वं, परमम् उत्कृष्टं भेषजम्
श्रीपदम्, अस्ति विद्यते इत्यर्थः । त्वत्प्राया अभावे येषां नरकगमनं निश्चितं तथाविधा
अपि अत्रविकला पापिनः त्वदीयजल-स्पर्शेन स्वर्गं व्रजन्तीति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—जडा इत्यादि । कवि गङ्गा की स्तुति करता है—
हे मातः गङ्गे ! जो जड़, अन्धे, लूले, जन्म से बहरे, गँगे और ग्रहों से जकड़े हैं, जिनके
लिये पापों से उदार पाने के सभी रास्ते समाप्त हैं, जिन्हें देवगण भी त्याग चुके हैं, अत-
एव जो नरक के अन्दर गिरने ही वाले हैं उन निरस्त मानव रोगियों की रक्षा करने के
लिये तू इस संसार में महान् औषध है ।

उपपादयति—

अत्र भातुमिति तुमुजन्तेन शब्देनोपात्तम् जडान्धादित्राणं भेषजभागीरध्यो
भेषज-भागीरध्योरिति । अनुगामी धर्म इति शेषः । ‘जडान्धान्’ इति श्लोके गङ्गे
मेयभूता, श्रीपदश्रीपदान्भूतम्, तयो साधारणधर्मश्च जडान्धादित्राणकर्तृत्वम् तच्चैकस्

णोपमानोपमेयोभयान्वयित्वादनुगामि 'त्रातुम्' इति तुमुन्प्रत्ययान्तेन शब्देन वर्णितम् । एवञ्चेदृशाधारणधर्ममूलकामेदारोपात्तयो रूपकम् सम्पाद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्रेत्यादि । 'जडान्' इस पद्य में 'त्रातुम्' इस 'तुमुन्' प्रत्ययान्त पद द्वारा उक्त 'जड-अन्ध आदि लोगों की रक्षा' औपद्य तथा गङ्गा का साधारण धर्म है । अभिप्राय यह कि—उक्त पद्य में औपधरूप उपमान का गङ्गारूप उपमेय में तादात्म्य, रूपक है और इस तादात्म्य का मूल है उन दोनों में रहने वाला 'जडान्धादि-त्राण'रूप समानधर्म जो यहाँ शब्द उक्त है तथा एक रूप से दोनों में भवित होने के कारण अनुगामी है ।

अनुपात्तमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

अयमेवानुक्तो यथा—

अयमेवेति । अनुगामी साधारणधर्म एवेत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् ।

अनुपात्त अनुगामी साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'समृद्ध सौभाग्य सकलवसुधायाः किमपि त-

न्महेश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।

श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमय मूर्तं सुमनसां

सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिर्यं नः शमयतु ॥'

इयमपि गङ्गास्तुतिरेव । भक्त कथयति—हे गङ्गे ! सकलवसुधाया सम्पूर्णसृष्टिव्या-
किमपि अनिर्वचनीयम्, अथ च समृद्धम् अभ्युन्नतम्, सौन्दर्यम् सुन्दरभाग्यवत्त्वं वा
तद्रूपमिति यावन् एवम्, लीलाया अनायासेन अनितानि उत्पादितानि जगन्ति येन तस्य,
खण्डपरशो शिवस्य, महेश्वर्यम् महाविभूतिरूपम्, इत्येव, श्रुतीनां वेदानां, सर्वस्वम्
सारभूतं प्रतिपाद्यम्, अथ च, सुमनसाम्, देवानाम् मूर्तम् रूपवन्, प्रत्यक्षयोग्यमिति
यावन्, सुकृतम् पुण्यरूपम्, एवम्, सुभाया अमृतस्य, साम्राज्यम् विस्तृताशरूपम्, तत्
परमप्रसिद्धम्, ते तव, सलिलम् जलम्, न अरमावम्, अशिवम् अकल्याणम्, शमयतु
शान्त करोतित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—समृद्धम् इत्यादि । भक्त गंगा से प्रार्थना करता है—हे गङ्गे ! वह तेरा जल हमारे अकल्याण को शान्त करे, जो समग्र पृथ्वी का परमोन्नत और अनिर्वचनीय सौभाग्य सौन्दर्य अथवा भाग्यशालित्व है, जो अनायास ससार की सृष्टि करने वाले शिवजी की महती विभूति है और जो वेदों का सर्वस्व, देवताओं का मूर्तिमान पुण्य एवम् अमृत का साम्राज्य है ।

उपपादयति—

अत्र सौभाग्यभागीरथ्योः स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्व-परमोत्कर्षापायक-
त्वादिरनुपात्तः—प्रतीयमानो धर्मः । एवमीश्वरासाधारणधर्मत्व-परमगोप्यत्व-
निरतिशयसुखजनकत्वान्यापामरसकलजनजरामृत्युहरणक्षमत्वं चोत्तरोत्तरारो-
पेष्वनुगामीति ।

सौभाग्यभागीरथ्योरिति । सौभाग्यभागीरथीजलयोरिति भावः । स्वाभावव्यापकदौर्भा-
ग्यत्वेति । इनामानस्य सौभाग्याभावस्य भागीरथीजलाभावस्य वा व्यापकम् समानाधिकर-
णम्, दौर्भाग्यम् यस्य तद्भावेत्यर्थः । यत्र यत्र सौभाग्यस्याभावस्तत्र तत्र यथा दौर्भाग्यं

तिष्ठति तथैव यत्र-यत्र भागीरथीजलस्याभावस्तत्र तत्रापि दौर्भाग्यम् तिष्ठतीति स्वाभाव-
व्यापकदौर्भाग्यत्वं सौभाग्यभागीरथीजलयो समानो धर्म इति परमार्थः । एवम् समुद्र-
मिति पक्षे सौभाग्यगङ्गाजलयो 'स्वाभावव्यापकदौर्भाग्यत्वपरमोन्मत्त्यकारित्वरूपौ' द्वावनु-
गामिनौ साधारणधर्मौ बोधकमन्तरापि प्रतीयते । एवम् ऐश्वर्यगङ्गाजलयो 'ईश्वरमात्रवृत्ति-
त्वं' साधारणधर्मः अनुक्तोऽपि अनुगमिताया प्रतीयते । इत्यमेव श्रुतिसर्वव्यापकजलयोः
'अतिगोपनीयत्वम्' अनुगामी साधारणो धर्मः उक्तिं विनापि गम्यते । एवम् मुकुतगङ्गा-
जलयोः 'सर्वाधिकमुखजनकत्वम्' अनुगामी साधारणो धर्मः शब्दतः अनुक्तोऽपि ज्ञायते ।
एवम् अमृत-सावित्री-गङ्गाजलयो 'सर्वलक्षणजगत्समरणहरणसमर्थत्वम्' अनुगामी धर्मः
अनुपात्तोऽपि प्रतीयत इति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अन्न इत्यादि । 'समुद्रम्—' इस पद में गङ्गाजल ही एक
उपमेय है और उपमान—सुधा सीमाग्य, शिवैश्वर्य, वेद-सर्वस्व, देव सुकृत और अमृत-
साम्राज्य ये—अनेक हैं । अब यह समझिए कि इस एक उपमेय और उन भिन्न भिन्न उप-
मानों में समानधर्म क्या है ? सौभाग्य और गङ्गाजल के दो समानधर्म हैं—एक 'स्वाभाव-
व्यापक दौर्भाग्यत्व'—अर्थात् जैसे जहाँ-जहाँ सौभाग्य नहीं रहता वहाँ-वहाँ दौर्भाग्य
(भाग्यहीनता) रहता है वैसे ही जहाँ-जहाँ गङ्गाजल नहीं रहता वहाँ-वहाँ भी दौर्भाग्य
रहता है और दूसरा 'परम उत्कर्ष उत्पन्न करना', इसी तरह ऐश्वर्य और गङ्गाजल का
समानधर्म है 'ईश्वर का असाधारणधर्म होना', वेद-सर्वस्व और गङ्गाजल का समान
धर्म है 'परमगोपनीय होना', सुकृत और गङ्गाजल का समानधर्म है 'सर्वाधिक सुख
उत्पन्न करना' और अमृत तथा गङ्गाजल का समानधर्म है 'नीच से लेकर उत्कृष्ट प्राणी
तक के जल-मृत्यु का हरण कर सकना' । ये सभी समानधर्म अनुगामी हैं और शब्दतः
अनुक्त होने पर भी प्रतीयमान हैं ।

विम्ब-प्रतिविम्बभावापन्नं साधारणधर्मम् पूर्वमुदाहरति स्मारयति—

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नो विशिष्टरूपकप्रसङ्गे निरूपितः ।

आपन्न इति । साधारणधर्म इति शेषः । निरूपित इति । 'उद्धमप्रचलितान्' द्वावाच-
वसतो यतिः । 'चोमलातपशोणात्र' सन्ध्याकालो न सशयः ।' इत्यादाविति भावः ।

पूर्वोदाहृत विम्ब प्रतिविम्बभावापन्न साधारणधर्म का स्मरण दिष्टाया जाता है—
विम्ब इत्यादि । विम्ब प्रतिविम्बभावापन्न साधारणधर्म का निरूपण पहले—विशिष्ट रूपक के
प्रसङ्ग में—किया जा चुका है । अभिप्राय यह कि—'उद्धमप्रचलितान्' इस संस्कृत श्लोक में
उद्धृत श्लोक में साधारणधर्म विम्ब प्रतिविम्बभावापन्न है ।

उपचरितं साधारणधर्ममुदाहर्तुमाह—

उपचरितो यथा—

आरोपितः साधारणधर्मो यथेति भावः ।

उपचरित आरोपित साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

'अविरतं पर-कार्यकृतां सतां मधुरिमातिशयेन यचोऽमृतम् ।

अपि च मानसमम्बुनिधिर्गोशो विमलशारदचन्द्रिरचन्द्रिका ॥'

अविरतं सततम्, परकार्यकृतां परोपकारिणाम्, सताम्, सञ्जनानाम्, यचः
वचनम्, मधुरिमातिशयेन माधुर्याधिक्येन, अमृतम् पीयूषरूपम्, अपि च, मानसम् मनः,
अम्बुनिधिः समुद्ररूपम्, यशः शोभि, विमला स्वच्छ या शारदस्य शरत्कालीनस्य,
चन्द्रिरस्य चन्द्रमसः, चन्द्रिका ज्योत्स्ना तद्रूपमित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अविरतम् इत्यादि। जो निरन्तर परोपकार करने वाले होते हैं उन सज्जनों का वचन माधुर्य की अधिकता के कारण अमृत, मन समुद्र और यश शरद् के चन्द्रमा की निर्मल ज्योत्स्ना सा होता है।

उपपादयति—

अत्रामृतरूपके विषये वचस्युपचरितो मधुरिमातिशयः शब्देनोपात्तः।
अम्युनिध्यादिरूपके च गाम्भीर्याद्यनुपात्तम्।

‘अविरतम्—’ इति श्लोके त्रीणि रूपकाणि सन्ति वचसि अमृततादात्म्यरूपमेकम्, मानसेऽम्बुवितादात्म्यरूपम् द्वितीयम्, यशसि चन्द्रिचन्द्रिकातादात्म्यरूपं च तृतीयम्, तत्र प्रथमरूपके मधुरिमातिशयः साधारणो धर्मः स च विषयिणि अमृते स्वभावसिद्धो विषये वचसि आरोपितो, मधुरिमातिशयस्य वस्तुतस्तत्रासत्त्वात्, द्वितीये रूपके गाम्भीर्यम् साधारणो धर्मः स च विषयिणि अम्युनिधौ स्वभाविको विषये मानसे आरोपितस्तत्र तस्य वस्तुतोऽसत्त्वान्, एवम् तृतीये रूपके निर्मलत्वम् साधारणो धर्मः स च विषयिणि चन्द्रे वास्तविको विषये यशसि आरोपितोऽमूर्तत्वेन वस्तुतस्तत्र तस्यासत्त्वान्। एवञ्चात्र त्रिष्वपि रूपकेषु साधारणो धर्मः उपचरित इति सिद्धम्। परन्तु तत्र प्रथमरूपकगत आरोपितोऽपि मधुरिमातिशयरूपः साधारणधर्मः शब्दोपात्तः, अन्यरूपकगतौ च पूर्वोक्तावारोपितौ धर्मौ न शब्दोपात्ताविति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘अविरतम्—’ इस पद्य में अमृत रूपक के विषय (उपमेय) वचन में मधुरिमातिशयरूप आरोपित साधारणधर्म शब्दुत, उक्त है और समुद्र भादि के रूपकों में गम्भीरता आदि आरोपित धर्म शब्दुतः उक्त नहीं हैं। अभिप्राय यह कि उक्त पद्य में तीन रूपक हैं—वचन में अमृत का तादात्म्य एक, मन में समुद्र का तादात्म्य दूसरा और यश में चन्द्र-ज्योत्स्ना का तादात्म्य तीसरा। इन तीनों में से प्रथम में साधारणधर्म माधुर्य की अधिकता है जो उपमान (अमृत) में वास्तविक है और उपमेय (वचन) में आरोपित, द्वितीय में साधारणधर्म गम्भीरता है जो उपमान (समुद्र) में वास्तविक और उपमेय (मन) में आरोपित है। इसी तरह तृतीय में साधारणधर्म निर्मलता है जो उपमान (चन्द्र) में वास्तविक और उपमेय (यश) में आरोपित है। उपमेय में ये धर्म आरोपित इसलिए कहे जाते हैं कि उनमें वे धर्म वस्तुतः रहते नहीं। इस तरह यह सिद्ध है कि यहाँ के तीनों ही रूपकों में साधारणधर्म उपचरित हैं, पर उनमें भी विलक्षणता यह है कि प्रथम रूपक का आरोपित साधारणधर्म (माधुर्य की अधिकता) शब्दुत उपात्त है और अन्य दो रूपकों के साधारणधर्म (गम्भीरता और निर्मलता) शब्दुत उपात्त नहीं हैं। फलतः यह पद्य उपात्त उपचरित धर्म और अनुपात्त उपचरित धर्म दोनों का उदाहरण होता है।

केवलशब्दात्मकं साधारणधर्ममुदाहर्तुमाह—

केवलशब्दात्मको यथा—

कविन्-कविन् केवल शब्द- साधारणधर्मरूपस्तिष्ठति नार्थस्तदुदाहरणं यथेति भावः।

केवल शब्दात्मक साधारणधर्म, जैसे—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘अद्वितान्यश्चसङ्गातैः सरोगाणि सदैव हि।

शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥’

प्याख्यातोऽयं श्लोको लक्षणानिरूपण इति नेह पुनर्व्याख्यायते।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अङ्कितानि इत्यादि । इस पद्य की व्याख्या पहले लक्षणाभिरूपण में की जा चुकी है, अतः पुनरावृत्ति उसकी यहाँ नहीं की जाती ।

उपपादयति—

अत्र सरोगशब्दादिरूपात् एव प्रतीयते न लुप्तः । आद्यो ह्यभङ्गो द्वितीयस्तु भङ्गः ।

‘अङ्कितानि—’ इत्यत्र शरीररूपोपमेये कमलरूपोपमानतादात्म्यम् रूपकम्, तत्र च न कश्चित् आर्यं साधारणधर्मः, अपि तु अशसंघातकरणकाङ्क्षारूपः, सरोगत्वरूपश्च शिल्पः शब्द एव तथा श्लेषश्च प्रथमः (अशसपदगतः) अभङ्गः, द्वितीय (सरोगपदगतः) तु सभङ्गः । एव च धर्म उपात्त एव भवति नानुपात्तस्तथा चात्रैक एव भेद इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—भङ्ग इत्यादि । ‘अङ्कितानि—’ इस पद्य में शरीररूप उपमेय में कमलरूप उपमान का तादात्म्यरूपक है जिसमें साधारणधर्म ‘अशसंघात से अङ्कित’ और ‘सरोग’ ये शब्द ही होते हैं । तात्पर्य यह कि ऐसा कोई धर्म उपलब्ध नहीं होता जो शरीर और कमल दोनों में रहता हो, पर उक्त दोनों सिद्ध विशेषण ऐसे हैं जिसका भिन्न-भिन्न भर्तृ शरीर तथा कमल दोनों में संचित होता है, अतः ये शब्द ही यहाँ उपमान-उपमेय दोनों में रहने वाले समानधर्म माने जाते हैं । श्लेष भी यहाँ दो तरह का है—प्रथम अर्थात् ‘अश’ शब्द में अभङ्ग और द्वितीय—अर्थात् ‘सरोग’ शब्द में सभङ्ग । सभङ्ग का अर्थ है बिना टुकड़ा किये दोनों अर्थों का निकल जाना और सभङ्ग का अर्थ है टुकड़ा करने पर दो अर्थों का निकलना । यह शब्दरूप साधारणधर्म बोधक पद के बिना प्रतीत नहीं होता, अतः इसका एक ही भेद (उपात्त) हो सकता है, दूसरा भेद (अनुपात्त-लुप्त) नहीं ।

अस्य भेदान्तरमाह—

अयमेव साधारणो यत्र युक्तिरूपेणोपन्यस्यते तद्धेतुरूपकम् ।

अयमेवेति । केवलशब्दात्मक इत्यर्थः । साधारण इति । धर्म इति शेषः । युक्तिरूपे-
रोति । आरोपोपपादकतयैत्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ।

रूपक का एक भिन्न भेद दिखलाया जाता है—अयमेव इत्यादि । यही—केवल शब्दा-
त्मक—साधारणधर्म जहाँ युक्ति रूप से (आरोप के उपपादकरूप से) उपन्यस्यते (वर्णित)
रहता है वहाँ ‘हेतुरूपक’ होता है ।

उदाहरणं निर्दिष्टमाह—

यथा—

जते—

उदाहरणं निर्दिश्यते—

‘पञ्चशाखः प्रभो यस्ते शाखा सुरतरोरसौ ।

अन्यथाऽनेन पूर्यन्ते कथं सर्वगनोरयाः ॥’

कवि कमपि राजानं स्तौति—हे प्रभो राजन् ! ते तव, यः, पञ्चशाखः पञ्चाङ्गुलिः करः, अस्मै पञ्चाङ्गुलिः करः, सुरतरोः कल्पवृक्षस्य, शाखा तद्रूपः, अस्तौति शेषः । अन्यथा—तव करस्य सुरतकशाखाविविधे, अनेन नव पञ्चशाखेन, सर्वगनोरया सकलजनाभिलाषाः, कथं केन प्रकारेण, पूर्यन्ते सफला विन्यन्ते ? इत्यर्थः । अत्रोत्तरार्धगतशब्दरूपः समानो धर्म करे सुरतकशाखातादात्म्यारोपस्योपपादक इति हेतुरूपकमिदमिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पञ्च इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति

करता है—हे प्रभो ! आपका जो पञ्चशास्त्र—अर्थात् पाँच अङ्गुलियों वाला हाथ है वह कल्प-
वृक्ष की शाखा है। अन्यथा इसके द्वारा सबके मनोरथ कैसे पूर्ण किए जाते हैं ! यहाँ
उत्तरार्धगत (अन्यथा—इत्यादि) शब्दरूप साधारणधर्म हाथरूप उपमेय में कल्प-
वृक्षशास्त्ररूप उपमान के आरोप को उपपन्न करता है, अतः यह 'हेतुरूपक' है।

हेतुरूपकस्तोदाहरणान्तर निर्देशमाह—

एवम्—

इसी तरह—

उदाहरणमाह—

‘प्राणेशविरहश्रान्तः कपोलस्तथ सुन्दरि।

मनोभवव्याधिमत्त्वान्मृगाङ्गु खलु निर्मलः॥’

हे सुन्दरि ! प्राणेशस्य पत्यु, विरहेण वियोगेन, श्रान्तः म्लानः, तत्र, कपोलः,
मनोभवव्याधिमत्त्वान् कपोलपक्षे कामजन्यविशिष्टमनोव्याधयुक्तत्वात् मृगाङ्गरसपक्षे मनसि
समुत्पन्नस्य क्षयरोगस्य मन्थनकारित्वात्, चन्द्रपक्षे कामभावनाधिक्यप्रयुक्तराजयक्ष्मास्य-
रोगवत्त्वाच्च, खलु निश्चयेन, निर्मलः विमलः, मृगाङ्गु चन्द्र मृगाङ्गरसश्च तद्रूप इत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—प्राणेश इत्यादि । हे सुन्दरि ! प्राणेश के विरह से
म्लान तेरा कपोल 'मनोभवव्याधिमत्त्व' (कपोल के पक्ष में कामजन्यविशिष्ट आधि-
मनोव्याध्या—से युक्त होने, मृगाङ्गरस के पक्ष में—मन में उत्पन्न होनेवाले रोग—क्षय—का
मन्थन करने, और चन्द्र के पक्ष में कामदेव के रोग—राजयक्ष्मा—से युक्त होने) के कारण
निर्मल 'मृगाङ्गु' (एक तरह का औषध और चन्द्रमा) है ।

उपपादयति—

इह श्लेषेण रसचन्द्रयोः कपोले ताद्रूप्यप्रत्ययाद्विरूपकं निरवयवम् । हेतुस्तु
त्रिषु श्लिष्ट एव ।

निरवयवमिति । परस्परमवयवानवयविभावाभावादिति भावः । हेतुरिति । मनोभवेत्यादि
शब्द इत्यर्थः । त्रिविधिति । उपमानद्वये उपमेये चेत्यर्थः । श्लिष्ट इति । श्लेषप्रयुक्ताख्योऽर्था
पदव्याख्यायामुच्चारितत एवावगन्तव्या । 'प्राणेश—' इत्यत्र मृगाङ्गुपदस्य श्लिष्टतया
मृगाङ्गनामा रसविरोधचन्द्रार्थः । तथा च तयो —रसविरोधचन्द्ररूपयो —द्वयोरुपमानयो
कपोलरूपे एकस्मिन्नुपमेये तादात्म्यं प्रतीयते, अतो निरवयव द्विरूपकमेतत् । एतदेवोदाहर-
णान्तरदाननिदानभूत पूर्वोदाहरणतो वैलक्षण्यम् इति बोध्यम् । अस्मिन् द्विरूपके साधारणी
धर्मः 'मनोभवव्याधिमत्त्वात्' इति वैलक्षण्यशब्दात्मकः, स चारोपोपपादकतयाऽत्र वर्णित इति
हेतुरूपकत्वमस्य द्विरूपकस्य सिद्धयतीतं भावः ।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि । 'प्राणेश—' इस पद्य में श्लेष द्वारा मृगाङ्ग-
रस और चन्द्र दोनों का तादात्म्य कपोल में प्रतीत होता है, अतः निरवयव (परस्पर
अङ्गाङ्गिभावरहित) 'द्विरूपक' है । अर्थात्—सुन्दरी के कपोल में साथ ही साथ दो
रूपक—दो वस्तुओं के अभेद—यथाए गण हैं । 'मनोभवव्याधिमत्त्व' रूप केवल शब्दरामक
साधारणधर्म (जिसका वर्णन यहाँ आरोप के हेतुरूप में हुआ है और जिसके कारण यह
हेतुरूपक कहलाता है) तो तीनों (कपोल, मृगाङ्गरस और चन्द्रमा) में श्लिष्ट है—उसके
तीन अर्थ तीनों पक्षों में लग जाते हैं । फलतः पहला पक्ष एकहेतुरूपक का उदाहरण था
और यह पद्य हेतु द्विरूपक का उदाहरण है ।

भेदप्रदर्शनसमर्थां सूचयन्नाह—

एवमन्येऽपि प्रकारा ज्ञेयाः ।

पूर्वोक्तप्रकारका अनुक्ता अपि रूपरूपकारा स्वयमूहनीया इति भावः ।

पहले कहे गए प्रकारों के समाव रूपक के अन्य (अनुक्त) प्रकार भी स्वयं समझ लेने चाहियें ।

विशेषमाह—

‘उल्लासः फुल्लपङ्केतहृदपटलपतन्मत्तपुष्पंभयानां

निस्तारः शोकदायानलविकलहृदं कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः

सहातः कोऽपि धात्रामयमुदयगिरिश्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥’

अत्रोपमेय उपमानस्य नारोपः, अपि तु कारणे कार्यस्येति रूपकं न भवतीति प्राञ्चः । पतन्मत्तानुसारेणैवास्माभिरपि लक्षितम् । उच्छृङ्खलाः पुनरारोपमात्रं रूपकं वदन्त इहापि रूपकमेवाचक्षत इति प्रागेव निरूपितम् ।

उल्लास इति । सूर्योदयवर्णनमिदम् । फुल्लानां विकसितानां, पङ्केतहृणां कमलानाम् पटले समूहे, पतता पातुकानाम् मत्तानां पीतकुसुममधुमदयुक्तानाम्, पुष्पंभयानाम् भ्रमराणाम्, उल्लास इति तदेतुरिति यावत्, शोकरूपेण दाशानलेन वनशक्तिना विकलानि हृदयानि यासां तासाम्, कोकसीमन्तिनीनां चम्पकाकीनाम्, निस्तारः दुःखोद्धारस्तदेतुरिति यावत्, उपहतं नारित महस्तेजो यैस्तेषाम्, तामसानां तमपुञ्जानाम्, उत्पात विनाराः सहेतुरिति यावत्, चक्षुषा नेत्राणाम्, पक्षपात पक्षपातहेतुः सहायक इति यावत्, कोऽपि विलक्षणः, अयं दृश्यमानः । धात्रा तेजसां संघातः समूहः, उदयगिरिश्रान्ततः उदयाचल-शिखरात्, प्रादुरासीत् प्रादुर्यभूक्त्यर्थः । अत्रत्यं वक्तव्यम् आह—अत्रेत्यादिना । अयं भावः—उपमेये उपमानारोप एव रूपकम्, अत्र तु उल्लासादिधातुसंघातपदार्थयोः उपमानोपमेयभावो नास्ति, अपि तु कार्यकारणभावः—अतः कारणे कार्यस्यात्राभेदोप इति नेदम् रूपकम्, किन्तु हेतुलङ्घारोऽप्यन्तरिक इति ज्ञानीनां । रसगद्गाभरकरो भट्ट-जगन्नाथोऽपि अस्मिन्नेव प्राचीनमतमेव स्वीकुरुते, अत एव ‘उपमेये निधीयमानमुपमान-दादात्म्यम्’ इति उपमानोपमेयचरितं रूपकलक्षणं निर्दिशति । उद्धतस्वभावाः केचनापुनिकाः आरोपमात्रं रूपकं स्वीकुर्वन्त प्रकृते कारणे कार्यारोपमपि रूपकं मन्यन्ते । एष विचारः प्रागपि कृतो ग्रन्थकृता इति ।

एक विचारविशेष देखिये—उल्लासः इत्यादि । सूर्योदय का वर्णन है—‘विकसित कमलों के समूह पर गिरते हुये मधुपान से मच बने भ्रमरों का उल्लास (हर्ष) भयान्क दृष्यकारक, शोकरूप दाशानल से विकल हृदयवाली चम्पकाकियों का निस्तार (दुःखोद्धार) अर्थात् दुःखोद्धारक, प्रकाश को नष्ट कर चुके अन्धकारों के समूह का उत्पात (विनारा) अर्थात् विनाश करने वाला, और नेत्रों का पक्षपात अर्थात् पक्षपात करने वाला कोई तेजपुञ्ज उदयाचल के प्राग से प्रकट हुआ है ।’ यहाँ उपमेय में उपमान का आरोप नहीं है, किन्तु कारण में कार्य का आरोप है, अतः यह रूपक नहीं होता—अर्थात् ‘हेतु’ नामक एक दूसरा ही अलङ्कार होता है यह प्राचीनों का मत है । पिंडतराज ने भी प्रकृत ग्रन्थ में उक्त प्राचीन मत के अनुसार ही लक्षण किया है—अर्थात् इन्होंने भी रूपक में उपमानोपमेयभाव का रहना आवश्यक माना है अतः उनके मत से भी यहाँ रूपक नहीं हो सकता । पर उद्धतस्वभाववाले कुछ नवीन विद्वान् सभी

आरोपों को—फिर वह उपमेय में उपमान का हो, कारण में कार्य का हो अथवा अन्य कोई—रूपक कहते हैं, अतः उनके मत से उक्त पद्य में भी रूपक ही भ्रमंकार है यह बात पहले भी कही जा चुकी है।

स्थलविशेषे साधारणधर्मस्वरूप स्थोरयितुं शङ्कासमाधाने विधत्ते—

ननु—

‘यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।

कारुण्यकुसुमाकाशः पिशुनः केन वर्यते ॥’

इत्यत्र लशुनहुताशनाकाशैः पिशुनस्य किं साधर्म्यम्, येन तेषामस्मिन् रूपक-मुच्यत इति चेत्, यशःसौरभ्ययोः शान्तिशैत्ययोः कारुण्यकुसुमयोश्च तादृश्ये शब्दादुपस्थापितेऽनन्तरमुपस्थितं यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वेनेतत्।

‘यशःसौरभ्य—’ इति। पद्यमेतत् प्रागस्मिन्नेव प्रकारेण व्याख्यातम्। तेषाम् लशुनादीनाम्। अस्मिन् पिशुने अभावेति। अत्र यद्यर्थं समवायादिरभावाद्यप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धो विज्ञेयः। एतदिति। एतत् यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वम् साधारणधर्म इति भावः। अयमत्र विशदोऽर्थः—‘यशःसौरभ्य—’ इत्यत्र पिशुनरूपे उपमेये लशुनहुताशनाकारानामुपमानानां तादृश्यं प्रधानरूपकम्, तच्च साधारणधर्मोपस्थितिमन्तरान्न मैदुं शक्नोति, रूपकेऽपि साधारणधर्मप्रयोज्यत्वस्य प्रागुपपादितत्वात्, एवञ्च लशुनपिशुनयोः हुताशनपिशुनयोरकाशपिशुनयोश्च कं समानो धर्म इति समुचितान्या जिज्ञासाम् एतद् बोध्यम् यत् नात्र पूर्वोक्त प्रधानत्वेन विवक्षितम् एकमेव रूपकम्, अपि तु सत्त्वमर्थकानि अपराण्यपि श्रोणि रूपकानि सन्ति तत्र यशस्युपमेये सौरभ्यस्थोपमानस्य तादृश्यम् एकम्, शान्तिरूपोपमेये शैत्यरूपोपमानस्य तादृश्यम् द्वितीयम्, कारुण्यरूपोपमेये कुसुमरूपोपमानस्य तादृश्यम् तृतीयम्, एवञ्चैतानि रूपकानि प्राक् शब्दतः उपतिष्ठेरन्, येन तयोस्तयोः पदार्थयोरेक्यं विज्ञातमिति पर्यवसितम्, तथा पर्यवसानानन्तरञ्च यशोरूपसौरभ्याभाववत्त्वं लशुनेन, शान्तिरूपशैत्यभाववत्त्वं हुताशनेन, कारुण्यरूपकुसुमाभाववत्त्वं च आकाशेन पिशुनस्य साधर्म्यमिति। अर्थात् लशुनो यथा सौरभ्याभाववान् तथा पिशुनयशोऽभाववान्, इत्यर्थैकत्वेन विज्ञातयोर्वशः सौरभ्ययोरभावो लशुन-पिशुनयोरुक्तः। एवमन्याशोऽपीति।

स्थल विशेष में साधारणधर्म क्या है इस बात का स्पष्टीकरण शङ्का समाधान द्वारा किया जाता है—ननु इत्यादि। ‘यशःसौरभ्य—’ इस पद्य—त्रिसकी व्याख्या इसी प्रकार में पहले की जा चुकी है—में लशुन, अग्नि और आकाश के साथ चुगलखोर का क्या समानधर्म है जिसे लेकर यहाँ रूपक कहा जाता है? तो इसका समाधान यह है कि यश और सुगन्ध, शान्ति और शीतलता तथा दया और पुष्प का तादृश्य (अभेद) शब्द द्वारा उपस्थित कर दिये जाने पर बाद में, ‘यशरूप सुगन्ध के अभाव से युक्त होना’ (अर्थात् जैसे लशुन सुगन्ध के अभाव वाला होता है—अपने में तो सुगन्ध होता ही नहीं दूसरे का सुगन्ध भी उसके पास नहीं आ सकता—वैसे ही चुगलखोर यश के अभाव वाला है—किसी यशस्कर कार्य को स्वयं तो करता नहीं, दूसरे का भी यश उस तक नहीं पहुँच पाता, निन्दा ही पहुँच पाती है) यही समानधर्म है। इसी तरह अग्न्य-अग्नि आदि—के साथ भी समझना चाहिए।

एव स्थितौ अन्योन्याप्रयमाशुक्त्य समाधत्ते—

एवमपि लशुनसलयोस्तादृष्यसिद्धौ सत्त्वां लशुनरूपसलावृत्तित्वेन यशः-सौरभ्ययोस्तादृष्यं सिद्धयेत्, यशःसौरभ्ययोस्तादृष्यसिद्धौ च यशोरूपसौरभ्य-

शून्यत्वेन लघुनखलयोस्ताद्रूप्यम्, इत्यन्योन्याश्रयो नाशङ्कनीयः । सकलसिद्धेः कल्पनामयत्वेन, कल्पनायाश्च स्वप्रतिभाधीनत्वात् । शिल्पिभिः परस्परानुष्टम्-मात्राधीनस्थितिकामिः शिलेष्टकामिर्गृहविशेषनिर्माणाच्च ।

ननु यथा प्रधानरूपकषट्कोपमानोपमेययोर्लघुनादिपिशुनयोः साधारणधर्मः यशोरूप-सौरभ्यादिभाववत्त्वम्, तथा समर्थरूपकषट्कोपमानोपमेययोः यच्च सौरभ्ययोः शान्ति-शैत्ययोः कश्चिदुत्तमयोश्च साधारणधर्मः लघुनादिरूपसत्त्वात् (पिशुना) वृत्तित्वम् एषित्वम्, एवञ्चान्योन्याध्यापात्, लघुनादिरूपसत्त्वावृत्तित्वमूलकस्य यच्च सौरभ्यादीनां ताद्रूप्यस्य सिद्धौ यशोरूपसौरभ्याद्यभाववत्त्वमूलकस्य लघुनादिरूपसत्त्वावृत्तित्वमूलकस्य यच्च सौरभ्यादीनां ताद्रूप्यस्य समपेक्षित-त्वात्, अन्योन्याश्रितानि च कस्यापि न प्रकल्पन्ते, यथा जीर्नावि बद्धा नेतरप्राणाय भवति इत्येकमपि रूपकं न सिद्धपेदिति चेन्नैषम्, क्वचित्तु सक्लपदार्थसिद्धेः कल्पनामयतया कल्पनायाश्च कविप्रतिभाधीनत्वेन तत्रान्योन्याश्रयस्यादृष्टत्वात् (त्रौटिकपठनास्वेवान्यो-न्याश्रयः प्रतिबन्धकः, कविप्रतिभेत्येतदकल्पनामु नेत्याशयात्) न चोपस्थापि ज्ञानेऽपि अन्योन्याश्रयस्य प्रतिबन्धकतया कथं तथा कविप्रतिभेति वाच्यम्, स्थापत्यकलाकौदि-हर्मिषोऽनुष्टम्भमात्राधीनस्थितिकशिलेष्टकादिद्वारा गृहविशेषनिर्माणदर्शनेनोत्पत्तावपि नान्यो-न्याश्रयस्याप्रतिबन्धकत्वं स्वीकर्तुं योग्यम्, किमुत ज्ञाने इत्यभिप्रायान् ।

पूर्वोक्त 'यशोरूप सौरभ्याद्यभाववत्त्व' पदार्थको साधारणधर्म मानने पर अन्योन्या-श्रयदोष की आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—एवमपि इत्यादि । ऐसा मानने पर भी यदि भाप यह शंका करें कि—जब लहसुन और सुगन्धलक्षोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब 'लहसुनरूप सुगन्धलक्षो' में न रहने के कारण यश और सुगन्ध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा और जब यश और सुगन्ध का ताद्रूप्य सिद्ध होगा तब यशरूप सुगन्ध से शून्य होने के कारण लहसुन और सुगन्धलक्षोर का ताद्रूप्य सिद्ध होगा, इस तरह अन्योन्याश्रय होगा—अर्थात् एक ताद्रूप्य की सिद्धि के बिना दूसरा ताद्रूप्य सिद्ध नहीं होगा—फलतः एक भी ताद्रूप्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, तो इसका उत्तर यह है कि काव्य में सब बातों की सिद्धि कल्पनामय है और करवाना है कवि की प्रतिभा के अधीन । अतः प्रतिभा द्वारा दोनों में से किसी भी ताद्रूप्य का पहले निर्माण किया जा सकता है, और जब इस तरह एक ताद्रूप्य बन गया तब अन्य ताद्रूप्य बनने में तो कोई बाधा है नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ अन्योन्याश्रय की बात नहीं खल सकती । न केवल कल्पना में ही किन्तु लोक में भी—कारोगर लोग केवल एक दूसरे के सहारे खड़े रहने वाले ईंट-पाथरों से विरोध प्रकार के घर बनाते पाए जाते हैं । यदि अन्योन्याश्रय नहीं प्रकार के निर्माण में बाधक हो तब उनका कारोबार हो बन्द हो जाय । अतः यह समझना चाहिये कि अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है, जहाँ उसके कारण, कार्य का रुकना अनुभवयिद्ध हो, अन्यथा नहीं ।

रूपकध्वनिमुदाहर्तुमाह—

अथास्य ध्वनिः—

अतः परं रूपकालङ्कारध्वनिर्निरूप्यत इति भावः ।

अत्र रूपकध्वनि का निरूपण किया जाता है—

रूपकध्वनेः प्रथमभेदमुदाहर्तुमाह—

तत्र शब्दशक्तिमूलो यथा—

तत्रेति । रूपकध्वनिमध्य इत्यर्थः । शब्दशक्तिः शब्दनिष्ठा व्यञ्जना तन्मूलको रूपक-ध्वनिर्यथेति भावः ।

रूपकत्वनि दो प्रकार की होती है—एक शब्दशक्ति (शब्दी व्यञ्जना) मूलक और दूसरी अर्थ शक्ति (आर्थी व्यञ्जना) मूलक। इन दोनों से प्रथम, जैसे—

उदाहरण निर्दिश्यते—

‘विज्ञत्वं विदुषां गण्ये सुकवितां सामाजिकानां कुले
माङ्गल्यं स्वजनेषु गौरवमयो लोकेषु सर्वेष्वपि ।
दुर्धृते शनितां नृलोकवलये राजत्वमव्याहृतं
मित्रत्वं च वहन्नकिञ्चनजने देव त्वमेको भुवि ॥’

कवि राजान कमपि स्तौति—हे देव राजन् ! विदुषा पण्डितानां, गण्ये समूहे, विज्ञत्वं पाण्डित्य बुधत्वञ्च, सामाजिकानां सभ्यानां साहित्यिच्छातामिति यावत्, कुले समूहे, सुकविता सुन्दरकाव्यकर्तृत्वं शुक्रत्वञ्च, स्वजनेषु निजाधितलोकैषु, माङ्गल्यं कल्याण-रूपत्वम् आहारकत्वञ्च, अथो अनन्तरम्, सर्वेष्वपि लोकेषु सकलजनेषु, गौरव धेष्टत्वम् बृहस्पतिदेव, दुर्धृते दुराचारिणि जने, अशनिता वज्रत्वम् शनिताञ्च, नृलोकवलये मानवलोकमण्डले, अव्याहृतं अप्रतिहताम् राजत्व नृपत्वं चन्द्रत्वञ्च, तथा अकिञ्चनजने दरिद्रलोकै, मित्रत्वं सुहृत्वम् सूर्यत्वञ्च, वहन् दधान, त्वम्, भुवि संसारे एक अद्वितीय, असीत्यर्थ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—विज्ञत्वम् इत्यादि। कवि किसी राजा की स्तुति करता है—हे राजन् ! विद्वानों के समुदाय में विज्ञता (बुद्धय अर्थ बुधत्व) को, सम्य समूह (साहित्यिकों) में सुन्दर कवित्व (व्यङ्ग्य अर्थ शुक्रत्व) को, आत्मीय जनों में कल्याणरूपता (व्यङ्ग्य अर्थ मंगलप्रदत्व) को, सब लोगों में गौरव-धेष्टता (व्यङ्ग्य अर्थ बृहस्पतित्व) को, दुराचारियों में अशनिता—वज्रत्व (व्यङ्ग्य अर्थ शनिप्रदत्व) को भूमण्डल में अस्वाहतराजत्व (व्यङ्ग्य अर्थ चन्द्रत्व) को और दरिद्रजनों में मित्रता (व्यङ्ग्य अर्थ सूर्यत्व) को धारण करनेवाले आप पृथिवी पर एक हैं—अद्वितीय हैं (आपके जोड़ का दूसरा कोई नहीं)।

उपपादयति—

अत्र शक्तिनियन्त्रणेषु विधुत्व-शुक्रत्वादीनि बुधायभेदरूपाणि राजनि व्यज्यन्ते ।

‘विज्ञत्वम्—’ इत्यत्र राजप्रकरणगते पद्ये विज्ञत्व-सुकवितादीनां पराना शक्तिः (अभिया) प्रकरणेन पाण्डित्यसुन्दरकाव्यकर्तृत्वादायर्थं नियम्यते, अतो बुधत्व-शुक्रत्वादयोऽपि न तेषां पदानां वाच्याः किन्तु अनेकार्थकपदप्रयोगरूपयुक्तिसमुत्पत्तिसत्तया तत्तत्पद-निष्ठव्यञ्जनया बुधत्वादयोऽपि बोध्यन्ते, बुधत्वादयश्च बुधाद्यभेदरूपा पदार्था, अभेद एव च रूपकम् इति राजरूपोपमये बुधाद्युपमानाभेद रूपकम्—व्यज्यते, अतः शब्दशक्तिमूल-रूपकत्वेन उदाहरणमिदं परं भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘विज्ञत्वम्—’ यह पद्य राजा के प्रकरण में कहा गया है, अतः ‘विज्ञत्व-सुकविता’ आदि अनेकार्थक पदों की शक्ति (अभिया) प्रकरण द्वारा ‘पाण्डित्य—सुन्दरकाव्यनिर्माकृत्व’ आदि अर्थ में नियन्त्रित हो जायगी—फलतः ‘बुधत्व शुक्रत्व’ आदि अर्थ नाच्य नहीं हो सकेगा, परन्तु अनेकार्थक पद-प्रयोग करने के कारण ठीी हुई शब्दी व्यञ्जना से बुधत्व आदि अप्राकरजिक अर्थ भी शात होगा और बुधत्व आदि का अर्थ बुध आदि ग्रहों का अभेद ही पर्यवसित होता है अतः यहाँ रूपक ध्वनित होता है क्योंकि अभेद को ही रूपक कहा जाता है। तात्पर्य यह

कि—राजारूप उपमेय में कुछ आदि ग्रहों (उपमानों) का अमेद जो यहाँ ध्वनित होता है वह व्यङ्ग्यरूपक कहलायगा, अतः यह पद्य रूपकध्वनि का उदाहरण है।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणं प्रदर्शयति—

‘अविरलविगलदानोदकधाराऽऽसारसिक्तधरणितलः।

धनदाग्रमहितमूर्तिर्वैव ! त्वं सार्वभौमोऽसि ॥’

राजवर्णनमिदम् । हे देव राजन् ! अविरलम्, सततम्, विगलतं स्रवतः दानोदकस्य वत्सारजलस्थं मदसलिलस्थं च, धारासारेण धाराबाहिकमम्मातेन, सिक्तमार्द्रकृतम्, धरणिदलं येन साहसं तथा धनदायाम् धनदायकानाम् धनस्य कुवैरस्य च, भमे, महिता प्रशस्ता, मूर्तिं स्वरूपं यस्य तादृशं त्वम् सार्वभौमं सर्वभूमिपतिं (चक्रवर्तीं) दिग्गजस्य, असि विराट इत्यर्थः । अत्र व्यर्थकानाम् धन-धन-सार्वभौम-शब्दानामभिधाः प्रकरणेन राजपक्षीयैषु नियन्त्रिताः, अतो दिग्गजपक्षीया अप्या न वाच्या अपि ॥ शब्दशक्ति-मूलराज्यजनया बोध्याः—व्यङ्ग्या इति राजहरोरुपमेयगतदिग्गजपक्षीयमानताद्रूप्यात्मकं रूपकं ध्वन्यते, अतः इदमपि पद्यम् शब्दशक्तिमूलरूपकध्वनेरुदाहरणम् । इदं तु विशेषो यत् प्रथमोदाहरणे विशेषान्मेष व्यञ्जकानि, अत्र तु विशेषमपीति भावः ।

उदाहरणं दितलाया आता है—अविरल इत्यादि । राजा का वर्णन है—हे देव ! आप सार्वभौम (चक्रवर्ती राजा अथवा दिग्गज) हैं । आपने निरन्तर गिरते दान-जल (दिग्गजपक्ष में मद-जल) की धाराबाहिक वृष्टि से पृथिवीतल को सींच दिया है और आप ‘धनदाग्रमहितमूर्ति’ (राजा के पक्ष में धनदायकों के आगे प्रशस्त स्वरूपवाले, दिग्गज के पक्ष में—कुबेर के आगे प्रशस्त स्वरूपवाले) हैं । यहाँ प्रकरण से धन, धन-सार्वभौम शब्द की अभिधा शक्ति राजपक्षीय अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः दिग्गजपक्षीय अर्थ शाब्दीव्यञ्जना द्वारा ध्वनित होता है जिससे अन्त में राजारूप उपमेय में दिग्गजरूप उपमान का ताद्रूप्य अभिव्यक्त होता है, अतः यह पद्य भी शब्दशक्ति-मूलक रूपकध्वनि का उदाहरण होता है । पर, प्रथम उदाहरण में केवल विशेषगोश में ही ध्वनि हुई है और इस द्वितीय उदाहरण में विशेषण तथा विशेष्य दोनों अशों में वह होती है यह दोनों उदाहरणों में अन्तर समझना चाहिये ।

अर्परशक्तिमूलक रूपकध्वनिमुदाहर्तुमाह—

अर्थशक्तिमूलो यथा—

अर्थशक्तिः = अर्थनिष्ठा व्यञ्जना तन्मूलकरूपकध्वनिर्व्यत्यर्थः ।

अर्थनिष्ठव्यञ्जनामूलक रूपकध्वनि, जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

‘कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं

स्नेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम् ।

श्रीढि भजन्तु कुसुदानि गुदामुवारा-

मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखाणि ॥’

सही नापिकमाह—हे आति सखि ! सायम् सन्ध्यासमये, कस्तूरिकाया मृगाण्डरस, तिलकम् लज्जदिरञ्जं, विधाय कृत्वा, स्नेरानना प्रसन्नमुखी सती, सपदि सोपमम्, सौधमौलिम् गृहशिराम्, शीलय आश्रयः । एवंते सति किं स्यात्तदा—श्रीढि इति । कुसुदानि रात्रि-

विकाशीनि पुष्पाणि, मुदा विकासानाम्, उदाराम् अतिशयिताम्, प्रौढि पूर्णताम्, भजन्तु प्राप्नुवन्तु, अपि च हरित दिशा, परितः सर्वनोभावेन, मुखानि प्रारम्भिकभागान्, उल्लासयन्तु प्रकाशयन्तु इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कस्तूरिका इत्यादि । सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू सन्ध्या समय कमूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, प्रासाद शिखर का परीक्षण कर, जिससे कुमुद हर्ष की आयन्त अधिकता को प्राप्त करें—अर्थात् पूर्णतया विकसित हो उठे और दिशाएँ अपने मुखों को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना लें—अर्थात् उनके प्रारम्भिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायें ।

उपपादयति—

अत्र त्वदीयमाननं कलङ्कचन्द्रिका विशिष्टचन्द्राभिन्नमिति रूपकम् कुमुदविकासादिना ध्वन्यते न तु भ्रान्तिमान् । कुमुदानां हरितां चाऽचेतनत्वात् । न चाऽचेतनेषु मुदामसम्भवादवर्यं कुमुदादिषु चेतनत्वारोपेण भाव्यम्, तेन च भ्रान्तिसिद्धिरिति वाच्यम् । मुत्पदस्य विकासे लाक्षणिकत्वात् ।

अत्र प्रकृतपद्ये । कलङ्केति । कलङ्कचन्द्रिका चेति चन्द्र, ताभ्या विशिष्टो यच्चन्द्रस्तदभिन्नमिति भावः । विकासादिनेति । आदिपदेन हरिन्मुखोल्लास परान्वरयते । भ्रान्तिमान् भ्रान्तिमदलङ्कार इति । तस्याध्वने हेतुमाह—कुमुदानामिति । भ्रान्तिस्यापनायाशङ्क्यते न चेति । समाधीनते—मुत्पदस्येति । 'कस्तूरिका—' इति श्लोके स्मेराननाया कस्तूरीति-लकालङ्कृताया नायिकया साय सौधशिखरारोहणं निमित्तीकृत्य कुमुदविकास दिशामुल्लोकास्रश्च वर्णितः, स च नायिकाननस्य चन्द्राभिन्नत्वमन्तरा न सम्भवति, तस्य चन्द्रायत्तत्वात् अतः तद्वर्णनेन 'नायिकाननम् सकलङ्क सचन्द्रिकश्च चन्द्र' इति रूपकम् ध्वन्यते । कुमुदानाम् हरिताम् च नायिकानने चन्द्रभ्रम इति भ्रान्तिमदलङ्कारध्वनिरेवात्र न रूपकध्वनिरिति तु शक्यम्, ननु अचेतनेषु कुमुदहरित्सु भ्रान्तेरसम्भवात् । अचेतनेष्वपि तेषु चेतनत्वारोप, तदधिकरणकमुद्वर्णनस्वान्यथाऽलङ्कृतेरित्यपि न वक्तुं योग्यम्, मुत्पदस्य विकासे लाक्षणिकतया लक्ष्यार्थस्य विकासस्याचेतनकुमुदादावपि सम्भवेन चेतनत्वारोपस्यानावश्यकत्वात्, एवञ्चार्यराकिमूलकरूपकध्वनेरुदाहरणमिदं पर्यं सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कस्तूरिका—' इस पद्य में कस्तूरी का तिलक लगाकर प्रसन्नमुखी नायिका के प्रासाद शिखरारोहण से कुमुदों का विकास और दिशाओं का प्रकाश वर्णित हुआ है, यह वर्णन तब तक सगत नहीं हो सकता जब तक नायिका के मुख को चन्द्र नहीं मान लिया जाय, क्योंकि कुमुदों का विकास और दिशाओं का प्रकाश चन्द्र के ही अधीन है, अतः यहाँ इस वर्णन से 'नायिका का मुख कलङ्क और चाँदनी दोनों से युक्त चन्द्र से अभिन्न है' यह रूपकालङ्कार ध्वनित होता है । कुमुदों और दिशाओं को नायिका के मुख में उस तरह के चन्द्र का भ्रम हुआ, अतः वे विकसित तथा प्रकाशित हो उठे इस अभिप्राय के अनुसार यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार ही ध्वनित होता है, 'रूपकालङ्कार' नहीं—ऐसी बात तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि कुमुद आदि अचेतन पदार्थ हैं और अचेतनों में भ्रम (किसी तरह का भी ज्ञान) हो ही नहीं सकता । आप कहेंगे—अचेतनों में मुद (हर्ष) भी तो नहीं हो सकता और यहाँ कुमुदों में हर्ष का वर्णन किया गया है, अतः अवश्य ही इन अचेतन पदार्थों में चेतन्य का आरोप करना पड़ेगा और जब चेतनता का आरोप हो जायगा तब हर्ष के समान भ्रम भी उनमें हो ही सकता है तो यह तर्क भी उचित नहीं । कारण, 'मुत्' वह यहाँ 'विकास' अर्थ में लाक्षणिक है, अतः चेतन्य का आरोप आवश्यक नहीं है । फलतः यह पद्य 'अर्थ-शक्तिमूलक रूपकध्वनि' का उदाहरण होता है ।

उदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विविक्तमिति । भ्रान्तिमदमिधितमित्यर्थः । अत्र भ्रान्तिमदलङ्कारस्य सन्देहोऽपि न भवेतादृश रूपकध्वनेरुदाहरणं निम्नमिदिष्टं बोध्यमिति भावः ।

उदाहरणान्तरं विल्लहने के लिये कहा जाता है—इदं वा इत्यादि । अयं शक्तिमूलक रूपकध्वनि का विविक्त—अर्थात् जिसमें भ्रान्तिमत्-लङ्कारध्वनि का सन्देह भी नहीं किया जा सकता—उदाहरण इसको—निम्नलिखित पद्य को—समझना चाहिए ।

उदाहरणं दर्शयति—

‘तिमिरं हरन्ति हरितां पुरः स्थितं तिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम् ।

वदनत्पिपस्तव चकोरलोचने ! परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥’

हे चकोरलोचने चकोररूपनयने ! तव वदनत्पिप मुखकान्तय, हरिता शिरा, पुरः अग्रे, स्थितम् प्रद्युम्, तिमिरम् अन्धकारम्, हरन्ति नाशयन्ति, अथ अनन्तरम्, ताप-शालिनाम् तापयताम्, तापं राहम्, तिरयन्ति दूरीकुर्वन्ति, तथा, सरसीरुहश्रियः कमल-शोभा, परिमुद्रयन्ति मुद्रितां तिरोहितां कुर्वन्ति इत्यर्थः ।

उदाहरण विल्लहाया जाता है—वदन इत्यादि । कवि किसी सुन्दरी की मुखकान्ति का वर्णन करता है—हे चकोरलोचने ! तेरे मुख की कान्तिर्यों विद्याओं के भागे उपस्थित अन्धकार का हरण करती हैं, स्वप्नों के ताप को दूर करती हैं और कमलों की शोभाओं को मुद्रित करती हैं ।

उपनादयति—

इहापि वदन चन्द्र इति गम्यते ।

‘तिमिरम्—’ इति श्लोकेऽपि ‘मुखं चन्द्र’ इत्याशयक रूपकं ध्वन्यते । न चात्र भ्रान्ति-मदादेः संशयलेरोऽपि, अत इदं पद्यं सर्वसम्मत्या रूपकध्वनेरुदाहरणतां प्रतिपद्यत इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इहापि इत्यादि । ‘तिमिरम्—’ इस पद्य में भी ‘मुख चन्द्र है’ इस तरह का रूपक ध्वनित होता है । यहाँ अन्य किसी भ्रमकार के प्रयुक्त होने की संभावना ही नहीं है, अतः यह पद्य सर्व-सम्मति से रूपकालङ्कार ध्वनि का उदाह-रण होता है ।

ध्वनिकारोक्तं रूपकध्वनिं निरस्यति—

भ्रान्त्यन्तर्धनाचार्योस्तु—

‘भ्रातृश्रीरेय कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्यत्वेदं विदध्या-

भ्रिद्रामन्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।

सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-

स्त्वय्यायाते विकल्पानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥

अत्र रूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थापनाद्रूपकध्वनिः’ इत्याहुः । तच्चि-न्त्यम् । अत्र च जलधिकम्पहेतुत्वेन विकल्पत्रयं कल्प्यते । तच्च प्रकृते राजवि-शेष्यिकां जलनिधिगतामनाहार्यविष्णुतादात्म्यज्ञानरूपां भ्रान्तिमेवाक्षिपति, न रूपकम् । तज्जीवातोरानाहार्यविष्णुतादात्म्यनिश्चयस्य कम्पाजनकत्वात् । कविज-लधिगतत्वेन वैयधिकरणयाच । अज्ञातमेव केवलं विष्णुतादात्म्यं जलधेः कम्पेऽ-नुपयुज्यते । चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्तः ।

‘प्राप्तश्रीरेप-’ इति । कश्चित् चाटुकारो राजानं प्रत्याह—हे राजन् । त्वयि, आपात उपगते सति, प्राप्ता श्रीर्येन तादृश एष, पुनरपि, मयि, तम् अनुभूतपूर्वम्, मन्यजेदम् मन्द-
रगिरिकरणकमन्यनपीडनम्, कस्मात्, विदध्यात् कुर्यात्, अनलसमनस इदानीं पालना-
वसरे आलस्यशून्यहृदयस्यास्य, पूर्वम् प्राचीनाम् प्रलयकालिकीमिति यावत्, निद्रामपि,
नैव, समावयामि तर्कयामि, सकलानां दीपानां नायैरधिपैरनुयातोऽनुसृतश्चायं भूव पुन,
किमिति, सेतुं, वध्नाति, इत्येव विरुप्यान् ज्ञानभेदान्, दधती धारयत, इव, पयोधे समु-
द्रस्य, कम्प आभातोऽस्य । रूपकाग्रयेणेति । अनुरणनरूपकद्वारेत्यर्थः । खण्डमिति—
तद्विन्त्यमिति । तत्र हेतुमाह—अत्र चेत्यादिना । प्रकृते इति । ‘प्राप्त’ इति पद इत्यर्थः ।
राजविशेष्यकमिति । राजा विशेष्यो यस्याम् तादृशीम् राजविषयिकमिति यावत् । जल-
निधिगतामिति । समुद्रनिधिमित्यर्थः । भ्रान्तेरेवद् विशेषणद्वयम् । तद्धीनातीरिति । रूपक-
जीवातीरित्यर्थः । ‘रूपया सुधया सिद्ध’ इत्यत्र सेचनवत् आहार्याभेदनिधयतोऽपि भया-
दिकं सम्भवतीत्युपपत्त्यन्तरमाह—कविजलधिगतत्वेनेति । अनिश्चितमपि वस्तुगत्या वर्तमानं
राज्ञि विष्णुतादात्म्यं समुद्रे कम्पं जनयेत्तेत्याह—अज्ञातमेवेति । अस्य विवरणम्—केवल-
मिति । भ्रान्तेरेव निधयस्यापि समुद्रे सम्भव इत्यत आह—चमत्कारिण्यपीति । ‘प्राप्त-
श्री-’ इत्यत्रोत्प्रेक्षा वाच्या, ततश्च भगवत्तादात्म्यमस्य भूतोऽवगम्यत इति रूपकाल-
कारध्वनिः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्य इति ध्वन्यालोके आनन्दवर्धनाचार्य
आह, तत्र युष्मद्, विचारासहत्वात् । तथाहि—‘प्राप्तश्री-’ इत्यत्र समुद्रस्य कम्पो वाच्यः,
तत्कारणत्वेन च त्रयो विकल्पा कल्पिता—‘मन्यनाय विष्णुरायात्’ इत्येकः, ‘शयनाय
विष्णुरायात्’ इति द्वितीयः, ‘सेतुबध्नाय राम आगतः’ इति च तृतीयः । ते च राशि
समुद्रस्यानाहार्यविष्णुतादात्म्यभ्रमेण सम्भवन्ति—रज्ज्वादौ सर्पादानाहार्यभ्रमस्य भयादिजन-
कत्ववत् समुद्रगतस्योक्तभ्रमस्य कम्पजनकतासम्भवात्, न तु तस्मिन् सस्याहार्यविष्णुतादा-
त्म्यनिधयेन, आहार्यनिधयस्य कार्याजनकतया कम्पजनरूपावुपपत्तेः । एवमात्रानाहार्य-
निधयमूलकौ राज्ञि समुद्रस्य विष्णुतादात्म्यभ्रमरूप ‘भ्रान्तिमान्’ अलङ्कार एव ध्वन्येत, न
तु आहार्यनिधयमूलकं राज्ञि विष्णुतादात्म्यरूपो रूपकालङ्कारः । किञ्च तादृश आहार्यनिध-
योऽपि कवेरेव जायते, कम्पस्तु समुद्रस्येति न तन्निधयस्य तत्कम्पजनकत्वं सम्भवति,
समानाधिकरणयोरेव पदार्थयोर्जन्यजनकमावाप्तीकारात् । ज्ञातमेव सर्पादिकं यथा भयादि-
जनकं भवति तथा ज्ञातमेव विष्णुतादात्म्यं ज्ञातरि समुद्रे कम्पं जनयितुमलमिति ज्ञातस्य
विष्णुतादात्म्यस्य कम्पे उपयोगः । अपि च समुद्रगता भ्रान्तिरेवात्र चमत्कारजनिकेति भ्रान्ति-
मदलङ्कारध्वनिरेवात्र न्याय्य इति भावः । वस्तुतत्त्वत्रेदं रहस्यम्—कविः समुद्रगतं ज्ञानं
सम्भावयति, तच्च ज्ञानं यदि आहार्यनिधयरूपं स्वीकृतं स्यात् तदा रूपकध्वनिर्भवेत्, यदि
तु अनाहार्यभ्रमरूपमङ्गीकृतं स्यात् तदा भ्रान्तिमदध्वनिर्भवेत्, एवं स्थितौ ग्रन्थकृतोऽयमा-
शयोऽवगम्यते यत् तद् ज्ञानं आहार्यनिधयरूपं भवितुमर्हति आहार्यात् (बाधकालिकेच्छा-
जन्यात्) ज्ञानात् कम्पोत्पत्तेरसम्भवान्, कश्चिदुत्पत्त्यङ्गीकारेऽपि स कम्पोऽभिनयरूप-
एव भवेदिति चमत्कारो न स्यात्, अतस्तद् ज्ञानम् अनाहार्यभ्रमरूपमेव स्वीकरणीयम्,
यतस्तत् उत्पन्नं कम्पो वास्तविकतया वर्णनीयरूपप्रकर्षं साधयन् चमत्कारं जनयेत् ।
फलतो भ्रान्तेरेव चमत्कारप्रयोजकतया भ्रान्तिमतो ध्वनिरेवात्र स्वीकर्तुमुचितं न रूपक-
ध्वनिरिति ।

अथ ध्वनिकार इत्या पेश किए गए रूपक ध्वनि के उदाहरण का खण्डन किया जाता

हैं—आनन्द इत्यादि । आनन्दवर्धनाचार्य ने तो अपने ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ में 'प्राप्त-श्रीराम—अर्थात् हे राजन् ! आपके समुद्रतट पर जाने पर मानो इन विकल्पों को धारण करनेवाले समुद्र का कंप प्रतीत होता है । वह (समुद्र) सोचता है—इन्हें (विष्णु को) लक्ष्मी मिल चुकी है, फिर ये उस मन्थन—जिसका बटु अनुभव पहले मुझे हो चुका है—का स्नेह मुझमें क्यों करेंगे ? पहले वाली (प्रलयकाल की) इनकी (विष्णु की) निद्रा की भी संभावना नहीं करता, क्योंकि इस समय (पालन के अवसर में) इनके मन में आलस्य नहीं है । पुनः बाँध बाँधने की तैयारी कर रहे हों, पर यह भी क्यों ? इस समय तो सब द्वीपों के अधिपति इनके अनुयायी हैं (रावण की तरह द्वीपान्तरवर्ती कोई राजा प्रतिद्वन्द्वी आज नहीं है) । इस पक्ष में, रूपक द्वारा ही काव्य की सुन्दरता व्यथरिप्त है, अंतर रूपक ध्वनि है' ऐसा कहा है, परन्तु उनका यह कथन विचारणीय है । कारण, इस पक्ष में समुद्र के कंप के हेतुरूप में तीन विकल्पों—'मन्थन करने के लिये विष्णु आए हैं' एक, 'सोने के दिये विष्णु आए हैं' दो और 'बाँध बाँधने के लिये रामरूप में अवतीर्ण विष्णु आए हैं' तीन—की कल्पना की जाती है । और ये तीनों विकल्प प्रस्तुत पक्ष में, राजा जिसमें विरोध है ऐसी—अर्थात् राजा के विषय में होने वाली—और समुद्र में उत्पन्न, आहार्य नहीं, अपि तु सरथ विष्णु-तादात्म्य (अभेद-ज्ञानरूप, ज्ञान का ही आशेष करते हैं, न कि रूपक का, क्योंकि रूपक का जीवनदाता जो विष्णु का आहार्य (बाधित होने पर भी हृत्वा से कक्षित) तादात्म्य (अभेद) निश्चय है वह कंप को उत्पन्न नहीं कर सकता । तात्पर्य यह कि समुद्र को भ्रम हो सभी वह कंपित हो सकता है, अपने आप हठी कल्पना करके नहीं । आप कहेंगे—'रूपदा सुधया सिद्ध—' इस स्थल पर जैसे कृपा में सुधा के आहार्य (अभेद) निश्चय से सेवक कहा गया है उसी तरह यहाँ भी राजा में आहार्य (अभेद) निश्चय से कंप की बात कही जा सकती है तो इसका उत्तर यह है कि—हाँ, उक्त आहार्यनिश्चय और कंप यदि एक ही व्यक्ति में होते तब वैसी बात कही जा सकती थी, पर यहाँ ये दोनों एक में हैं नहीं—अर्थात् उक्त आहार्यनिश्चय हुआ है कवि को और कंप होता है समुद्र में, अतः इस व्यधिकरण (अन्य में रहनेवाले) ज्ञान से अन्य में कंप नहीं हो सकता । आप कहेंगे—समुद्र को राजा में विष्णु-तादात्म्य-ज्ञान अके ही नहीं हो, पर वस्तुतः राजा में वह तादात्म्य जब है तब उससे समुद्र कंपित क्यों नहीं होगा ? तो मैं कहूँगा कि महाशय जी ! रघु में सर्प का तादात्म्य यदि रहे भी तो क्या वह अज्ञातारुधा में भय का कारण होता है ? आप भी कहेंगे—नहीं, वस, यही बात यहाँ भी समस्त अर्थात् अज्ञात विष्णु तादात्म्य समुद्र में कंप उत्पन्न नहीं कर सकता । आप कहेंगे—उक्त आहार्यनिश्चय कवि को है, समुद्र को नहीं, ऐसा आप कैसे कह सकते हैं—जब कि आप विष्णु-तादात्म्य का भ्रम समुद्र में ही मानते हैं, भ्रम भी समुद्र में नहीं मानते, यह तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि तब आहार्यनिश्चय वाली आपत्ति इस पक्ष में भी आ जायगी अर्थात् अन्यगत भ्रम से अन्य में कंप नहीं हो सकेगा, अतः भ्रम तो आप को समुद्र में ही मानना है, फिर उक्त आहार्यनिश्चय भी समुद्र में ही क्यों नहीं माना जाय ? अगत्या आहार्यनिश्चय भी समुद्र में ही आप को मानना पड़ेगा और तब उससे कंप की बात भी बन जायगी तब रूपकध्वनि-कथन भी आनन्दवर्धन का छेक हो जायगा, तो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि हाँ, आपके कथनानुसार राजविषयक आहार्यविष्णु-तादात्म्यनिश्चय भी समुद्र में माना जा सकता है और मेरे कथनानुसार राजविषयक अनाहार्य (विष्णु-तादात्म्य) भ्रम भी समुद्र में माना जा सकता है पर मान्य होना चाहिए उक्त भ्रम ही—क्योंकि उसी में चमत्कार है, उक्त निश्चय में नहीं, और जब चमत्कार भ्रम में ही है तब ध्वनि भी उसी की मान्य होनी चाहिए । वास्तविक बात यह है कि कवि समुद्रगत ज्ञान का उद्घ करता है । अब यदि वह समुद्रगत ज्ञान आहार्यनिश्चयरूप

माना जाय तब 'रूपक' ध्वनित होगा और यदि वह ज्ञान अनाहार्य भ्रमरूप माना जाय तब 'आन्तिमान्' ध्वनित होगा। इस स्थिति में ग्रन्थकार का आशय यह है कि वह ज्ञान आहार्यनिश्चयरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि भगवान के आहार्यनिश्चय से समुद्र में कप नहीं हो सकता—'यह सर्प नहीं है' इस प्रकार का निश्चय रहने पर अपनी हृत्वा से रज्जु में सर्प का ज्ञान कर लेने पर भी भय होते नहीं देखा जाता, यदि दुराग्रहवश—आहार्यनिश्चय से समुद्र में कप का होना मान भी लिया जाय तो वह कप एक अभिनयमात्र होगा, वास्तविक नहीं, और इस अवस्था में यह कप की बात सहृदय-हृदयों में चमत्कार नहीं उत्पन्न कर सकती। कारण, इस तरह के अभिनयिक कप से वर्णनीय राजा का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता जो कवि का मुख्य उद्देश्य है, अतः समुद्रगत वह ज्ञान अनाहार्य भ्रमरूप ही माना जायगा, क्योंकि उससे समुद्र में कप उत्पन्न हो सकता है—रज्जु में सर्प के अनाहार्य भ्रम से भय होते देखा जाता है और इस दशा में समुद्र का वह कप वास्तविक होगा, अभिनयमात्र नहीं, अतः इस कप की बात से सहृदय हृदयों में चमत्कार भी उत्पन्न होगा। कारण, इस तरह के सत्य कप से वर्णनीय राजा का उत्कर्ष जो कवि का मुख्य उद्देश्य है—सिद्ध होता है। फलतः चमत्कार प्रयोजक भ्रम ही है, आहार्य निश्चय नहीं, अतः आन्ति (आन्तिमत्-अलंकार) की ध्वनि ही यहाँ मानी जायगी, रूपक की ध्वनि नहीं।

अथास्य दोष निरूपयति—

अथास्यापि कविसमयविरुद्धतया चमत्कारापकर्षका लिङ्गभेदादयो दोषाः सम्भवन्ति ।

अथेति । रूपकविषयकान्यविचारानन्तरमित्यर्थ । अस्य रूपकस्य । 'दोषा' इत्यत्रा-
ग्यप । विरुद्धतयेति । चमत्कारापकर्षे हेतुरयम् । भेदादय इति । वचनभेदादय आदि-
पद्माद्या । कविपरम्पराप्राप्तसिद्धान्तविहता ये लिङ्गभेदादयस्ते रूपकगतं चमत्कारमपकर्ष-
यन्तो रूपकस्य दोषा भविष्यन्तीति भावः ।

अथ रूपकगत दोष का निरूपण किया जाता है—अथ दूरवादि । कवि सिद्धांत से विरुद्ध होने के कारण चमत्कार को न्यून बनाने वाले 'लिङ्गभेद' (उपमान-उपमेय का भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पक्षों से घोषित होना) आदि दोष रूपक में भी हो सकते हैं ।

दोषोदाहरण दर्शयितुमाह—

यथा—

जैसे ।

उदाहरण दर्शयति—

‘बुद्धिरब्धिमहीपाल ! यशस्ते सुरनिम्नगा ।

कृतयस्तु शरत्कलचारुचन्दिरचन्द्रिका ॥’

हे महीपाल राजन् ! ते, बुद्धि, 'अब्धि' समुद्र, यश, सुरनिम्नगा गङ्गा, तु पुनः, कृतय व्यापाराः, शरत्कलस्य, चारो सुन्दरस्य, चन्दिरस्य चन्द्रमस, चन्द्रिका ज्योत्स्नेत्यर्थ । अत्रोपमेयभूता बुद्धि खोलिङ्गशब्दबोध्या, उपमानभूता समुद्रय पुलिङ्ग-
पदबोध्य, एवम् उपमेयभूत यशो नपुसकलिङ्गशब्दबोध्यम्, उपमानभूता गङ्गा च खोलिङ्ग-
पदबोध्येति लिङ्गभेदस्योदाहरणद्वयमिदम् । उपमेयभूतकृतयो बहुवचनान्तपदबोध्या उप-
मानभूतचन्द्रिका चैकवचनान्तपदबोध्येति वचनभेदस्येदमुदाहरणमिति भावः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—बुद्धि इत्यादि । हे राजन् ! आपकी बुद्धि समुद्र है । आपका यश गङ्गा है और कृतियाँ शरद् ऋतु के सुन्दर चन्द्र की चाँदनी हैं । यहाँ प्रथम दो रूपकों में उपमेय क्रमशः बुद्धि तथा यश खोलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग है—और उपमान

क्रमशः समुद्र तथा गंगा पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग है, अतः ये दोनों 'लिङ्गभेद' के उदाहरण हैं। इसी तरह अन्तिम रूपक में उपमेय (कृतिषी) बहुवचनान्त है और उपमान (चन्द्रिका) है एकवचनान्त, अतः यह 'वचनभेद' का उदाहरण है।

दूषकताबीजमाह—

अत्र विषयविषयिणोलिङ्गादिकृतं वैलक्षण्यं तयोस्तादृश्यबुद्धौ प्रत्यूह्यम् ।

उपमानोपमेययोः साम्यमेव तयोस्तादृश्यज्ञाने कारणं भवति । एवं स्थितौ यत्रोपमानोपमेययोरलिङ्गादिप्रयुक्तं वैलक्षण्यं (भेद) भवति तत्र तयोस्तादृश्यज्ञानं न भवितुं शक्नोतीति दोषत्वम् लिङ्गादिकृतवैलक्षण्यत्वेति भावः ।

'लिङ्गभेद' आदि क्यों दोष है इसमें बीज दिखलाया जाता है—मत्र इत्यादि । यहाँ उपमेय-उपमान में लिङ्गादिक द्वारा की गई विलक्षणता उनके तादृश्य ज्ञान के प्रत्यूह्य होती है—उसके कारण तादृश्य समझना बाधित हो जाता है, अतः वह (लिङ्ग आदि-कृत विलक्षणता) रूपक का दोष कहलाता है ।

दोषत्वैनाभिमतानामपि लिङ्गभेदादीनां कचिरदोषतामाह—

कचित्कविसमयसिद्धतया चमत्कारहानिराहित्ये तु नामी दोषाः ।

अमी लिङ्गभेदादयः । ये लिङ्गभेदादयः कविसिद्धान्तसंगृहीतास्ते चमत्कारहानिं न विदधतीति तादृशा लिङ्गभेदादयोऽदोषा एवेति भावः ।

जो लिङ्गभेद आदि दोष माने गए हैं वे भी कहीं-कहीं अदोष हो जाते हैं यही बात अब कही जाती है—कचित् इत्यादि । जहाँ कहीं कवि-सिद्धान्त सिद्ध होने के कारण चमत्कार की हानि नहीं होती हो वहाँ ये (लिङ्गभेद आदि) दोषरूप नहीं होते ।

लिङ्गभेदादेरदोषत्वमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'सन्ताप-शान्तिकारित्वाद्बदनं तव चन्द्रमाः' इत्यादौ हेतुरूपकैः ।

सन्ताप-शान्तिकारित्वात् सन्तापनाशकत्वात् हेतोः, तव, बदनं मुखं, चन्द्रमा इत्यर्थः । इदम् हेतु-रूपकम्, साधारणधर्मस्वामीपहेतुतयोपन्यासात् । अत्र बदनचन्द्रमसोपमेयोपमानयोर्मिश्रलिङ्गकदबोध्यत्वेऽपि न लिङ्गभेदादयो दोष, ईदृशलिङ्गभेदस्य कवि-सिद्धान्त-सिद्धत्वेन चमत्कारानवकर्षयत्वाविति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सन्ताप इत्यादि । 'सन्तापशान्तिकारित्वात्—अर्थात् सन्ताप-शामक होने के कारण तेरा मुख चन्द्रमा है ।' इत्यादि हेतु-रूपक में यद्यपि उपमेय (मुख) मधुसूक्तलिङ्ग और उपमान (चन्द्रमा) पुल्लिङ्ग है तथापि दोष नहीं, क्योंकि इस तरह का लिङ्गभेद कविसंग्रहाय-सिद्ध होने के कारण चमत्कार का अपकर्षक नहीं होता ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां रूपकालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

रूपकनिरूपणानन्तरं सम्प्रति 'परिणाम'निरूपणं प्रतिजानीते—

अथ परिणामः—

अप्येत्ययं शब्दोऽनन्तरत्वे । तथा च रूपकनिरूपणानन्तरमिति तदर्थः । परिणामं तदाख्योऽलङ्कारः । निरूप्यत इति शेषः ।

रूपकालङ्कार निरूपण के बाद अथ परिणामालङ्कार-निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—
अथ इत्यादि ।

तत्र तावत्तल्लक्षणमाह—

विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणामः ।

विषयी उपमानम् । विषयेति । उपमेयेत्यर्थः । एवकारव्यावर्त्यमाह—न स्वातन्त्र्ये-
येति । स्वस्वरूपेणेत्यर्थः । तत्रेति शेषः । स विषयाभेदः । उपमेयरूपेणोपयुज्यमानमुपमान
परिणामालङ्कार इति भावः ।

परिणाम-निरूपण प्रसङ्ग में पहले उसका लक्षण किया जाता है—विषयी इत्यादि ।
जहाँ उपमान उपमेयरूप से ही प्रसङ्गोपयोगी हो, वहाँ वह (उपमान में उपमेय का
अभेद) 'परिणाम' होता है ।

रूपक-परिणामयोर्भेदज्ञापनायाह—

अत्र च विषयाभेदो विषयिण्युपयुज्यते । रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य
भेदः ।

अत्र चेति । परिणामे चेति भावः । नैवमिति । किंतु विपरीतमिति भावः । रूपका-
दस्य भेद इति । अत्र “वयं तु ब्रूम” —उपमानप्रतियोगिकाभेदो रूपकम् । उपमेयप्रतियो-
गिकाभेद परिणाम प्रतीयमानः । तत्राभेद उपमेयप्रतियोगिकत्वतात्पर्यप्राप्त्यर्थं प्रकृतकार्योप-
योग न तु तच्छरीरेऽस्य प्रवेशः । एवं च यत्रोपमानस्य स्वात्मनैव प्रकृतकार्योपयोगो
यत्र चोदासीनता तत्र रूपकमेव । एव च परिणामो विशेषणसमासायत्तं रूपक मयूरव्यं-
सकादिसमासायत्तम् । मुखचन्द्र इत्यादौ यदि तु चन्द्रमुखमिति प्रयुज्यते तदा विशेषण-
समासायत्तमपि रूपकमिति । परे तु ‘उपमानोपमेयपदानामुपमानप्रतियोगिकाभेदसंसर्गेण
बोधकानां ‘मयूरव्यसंकादयश्च’ इति समासेन विशेषणसमासबाधाचन्द्रमुखमिति प्रयोग एव
न इत्याहुः ।” इति नागेशः । रूपकपरिणामयोश्चभेदोपि उपमानोपमेयभेदो यद्यपि
समान, तथापि परिणामे उपमेयप्रतियोगिकाभेद उपमाने प्रतीयमान प्रकृतकार्ये उपयोगं
व्रजति, रूपके तु उपमानप्रतियोगिकाभेद उपमेये प्रतीयमान प्रकृतकार्ये उपयोगं व्रजतीति
तयोर्भेद इति भावः ।

रूपक और परिणाम में जो परस्पर भेद है उसका ज्ञान कराने के लिये कहा जाता
है—अत्र इत्यादि । परिणाम में उपमेय का अभेद उपमान में प्रतीय होकर प्रकृतोप-
योगी होता है—अर्थात् उपमान को उपमेय से अभिन्न समझ लेने पर ही प्रस्तुत
वाक्यार्थ संगत होता है । पर रूपक में ऐसा नहीं होता, किन्तु उपमान का अभेद
उपमेय में प्रतीय होकर प्रकृतोपयोगी होता है—अर्थात् उपमेय को उपमान से अभिन्न
समझने पर प्रस्तुत वाक्यार्थ संगत होता है । यही इन दोनों में परस्पर भेद है । ‘रूपका-
दस्य भेद’ इस मूल प्रतीक पर नागेश कहते हैं कि—“उपमान जिसका प्रतियोगी हो ऐसा
अभेद—अर्थात् उपमान का अभेद—रूपक है और उपमेय जिसका प्रतियोगी हो ऐसा
अभेद—अर्थात् उपमेय का अभेद—परिणाम है, जैसे—प्रतीय । “इस अभेद का प्रतियोगी
उपमेय है” इस वक्तृ-नाश्रय का ज्ञापक होता है उसी तरह के अभेद का प्रकृत-
कार्योपयुक्त होता । अतः परिणाम के लक्षण में प्रकृतोपयोगवाली बात का निवेश अना-
वश्यक है । इस तरह से जहाँ उपमान अपने रूप में ही प्रकृत कार्य में उपयुक्त होता
हो अथवा उदासीन हो—अर्थात् प्रकृत कार्य में उसका (उपमान का) उपयोग होता
ही नहीं हो वहाँ रूपक ही होगा । फलतः ‘परिणाम’ विशेषणसमास (‘विशेषण विशेष-
ण्ये बहुलम्’ से समास) के अधीन है और रूपक मयूरव्यसंकादिसमास (‘मयूरव्यं-
संकादयश्च’ से समास) के अधीन है । ‘मुख चन्द्र’ की जगह पर यदि ‘चन्द्र मुख’ का

प्रयोग किया जाय तब विशेषण समासाधीन भी रूपक ही होगा, कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि उपमान जिसका प्रतियोगी हो वैसे अभेदसम्बन्ध से विशेषण-विशेष्यभाव का बोधक उपमानोपमेयवाचक पदों में अधूरन्यसकादिसमास विशेषणसमास का बाधक हो जायगा, अतः चन्द्र-मुख ऐसा प्रयोग ही नहीं हो सकता ।”

उदाहरणं प्रदर्शयितुमाह—

अयमुदाह्रियते—

अयम् परिणामालङ्कारः ।

परिणामालङ्कार का उदाहरण दिया जाता है ।

उदाहरणं निर्दिशति—

‘अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणी

मम भ्रमं भ्रमं विगलितविरामं जडमतेः ।

परिश्रान्तस्यायं तरणितनयासीरनिलय.

समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु ॥’

अयं प्रार्थयते—तरणितनयाया यमुनायाः तीरे तटे, निलय आवासो यस्यासौ, अयम् प्रत्यक्षघट् प्रतीयमानः, हरिनवतमाल हरिरूपो मयीनस्तमालराजः, अपारे अतीव्रि, संसारे जगति, विषम दुःसकरा इति यावत्, ये विषयाः भोग्यवस्तूनि स्मृत्वनन्दनबनितादीनि, तद्वत् अरण्यसरणी वनमार्गं, विगलितं निरस्तं, विराम विधमः यस्मिन्कर्मणि तद् यथा स्यात्तया, भ्रमं-भ्रमं भ्रान्त्या-भ्रान्त्या, परिश्रान्तस्य क्लान्तस्य, जडमतेः शिथिल-बुद्धेः, मम, सन्तापम् क्लेशविशेषम्, समन्तात् सर्वतोभावेन, तिरयतु निवर्तयत्वित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अपारे इत्यादि । मम प्रार्थना करता है—अपार संसार में, विषम विषयरूप जङ्गली रास्ते पर अदिरामगति से घूम घूमकर भ्रान्त चने मुक्त जवडि के समन्ताप को यमुना-तटवासी हरिरूप तमाल तब सब तरह से शान्त करें ।

उपपादयति—

अत्र भगवदात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनक्षमत्वम् । मार्गश्रान्त-जनसन्तापहारकत्वाद्मणीकशोभाधारत्वाच्च तमालो विपयितयोपात्तः । अयं समानाधिकरणो वाक्यगः ।

‘अपारे—’ इति पद्ये हरिरुपमेयभूतः तमालव्योपमानभूतः, तत्रोपमानाभेद उपमेये कविविशिष्टः प्रतीयते, भगवदभिमतयैव तमालस्य पद्योपबद्धसंसारतापशमनसमर्थत्वात्, तथा च प्रागुक्तलक्षणलक्षितः परिणामालङ्कारोऽत्र स्पष्टः । ननु हरेरेवोपमानत्वेन रूपकमेवास्त्विति चेत्, मार्गश्रमसन्ततजनसन्तापपापहारकत्वस्य शोभाविशेषशालिन्वस्य च तमाल एव सत्त्वेन तस्यैवोपमानतयोपादानम् । अयं च परिणामः समानाधिकरणः, उपमेयोपमान-योर्हरितमालयोः समानविभक्तिकपदजन्योपस्थितिमत्त्वात् (अत्र यद्यपि हरिनवतमाल इति समस्तं पदम्, अतो नोपमेयोपमानयोः पृथग् विभक्तिश्रवणम्, तथापि सुतविभक्त्यनुसंधानेन समानविभक्तिकत्वं बोध्यम्) । वाक्यपञ्चाय परिणामः, प्रकृतकार्योपयोगित्वपर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वेन कार्यबोधक‘तिरयतु’पदस्य समासघटकत्वात् । क्वचित्तु ‘हरिरिह तमाल’ इति पाठः । तथापाठे प्रकृतकार्योपयोगित्वस्य परिणामशरीरेऽप्रवेशोऽपि वाक्यगतत्वं स्पष्टमेवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘अपारे—’ इस पद्य में हरि (भगवान्) उपमेय है और तमाल है उपमान, जिन दोनों में परस्पर अभेदरूप किया गया है, पर

उस अमेद का प्रतियोगी उपमेय (हरि) को ही माना जायगा अर्थात् 'हरि का अमेद तमाल में है' ऐसा ही समझा जायगा, क्योंकि तमाल, संसारताप को, भगवद्गुण होने पर ही निवृत्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि भगवान् को तमालरूप समझने पर संसार-ताप निवर्तकता उसमें सिद्ध नहीं हो सकती। हरि को ही उपमान मानकर 'रूपक' ही यहाँ क्यों नहीं माना जाय ? ऐसी बात तो कही नहीं जा सकती क्योंकि भाग्य से धके मनुष्यों के सन्ताप को निवृत्त करने की शक्ति तमाल में ही है और रमणीय शोभा का आधार भी वही (तमाल) है, अतः उपमानरूप से उसी का उपादान किया जाना उचित है। यह परिणाम समानाधिकरण कहलाता है क्योंकि यहाँ के उपमेय तथा उपमान एकविभक्ति वाले हैं (यद्यपि 'हरिनवतमाल' समस्त पद है, तथापि 'हरिः तमालः' इस विग्रहावस्था की विभक्तियों को लेकर उन दोनों को एकविभक्ति वाला समझा जाता है)। साथ साथ यह परिणाम वाक्यगत कहलाता है, क्योंकि रसगङ्गाधरकार के हिसाब से 'प्रकृतकार्य में उपयुक्त होना' भी परिणामालङ्कार के शरीर-लक्षण में प्रविष्ट है और कार्य है यहाँ 'निवृत्त करना' जिसका श्रेष्ठ 'तिष्ठतु' प्रथममात्र के अन्तर्गत नहीं है। कोई-कोई यहाँ 'हरिनवतमालः' की जगह पर 'हरिरिह तमालः' पाठ मानते हैं—तदनुसार 'प्रकृतकार्योपयोग' को लक्षणवटक नहीं मानने पर भी इस परिणाम का वाक्यगतावस्था स्पष्ट है।

समासगत समानाधिकरण परिणाममुदाहर्तुमाह—

समासगो यथा—

समासगत समानाधिकरण परिणामालङ्कारो यथेति भावः ।

समासगत समानाधिकरण परिणामालङ्कार जैसे—

उदाहरण दर्शयति—

‘महर्षेर्कन्यासपुत्रस्य श्राव श्राव वचःसुधाम् ।

उप (अभि)मन्युसुतो राजा परा मुदमवाप्तवान् ॥’

उपमन्यो अभिमन्योर्वा सुत पुत्र (कश्चित्ज्ञातनामा पशुक्षितो वा), व्यास-पुत्रस्य, महर्षेः शुक्रदेवस्य, वचःसुधाम् वचनामृतम्, श्राव श्रावम् श्रुत्वा-श्रुत्वा पराम् अतिशयिताम्, मुदम् हर्षम्, श्रावप्रवान् लब्धवानित्यर्थः । अत्रापि सुधारणे उपमाने वचनरूपोपमेयाभेदारीपदम् श्रवणरूपे प्रकृतकार्ये उपयोगि-वात्परिणामः । वचनरूपोपमेयेनाभेदारीपदे तु वचनस्यापि सुधात्वात् श्रवणं न सम्भवति, अपि तु पानमिति तत्त्वम् । स चायं परिणामः पूर्वोदाहरणोक्तमुक्त्या समानाधिकरण समासगततश्च ‘ज्ञाया कालक’ इति-चरं मयूरग्यसकादिनात् समासेन ‘श्राव श्राव वचःसुधाम्’ इत्यस्य समस्तैकादत्वात् । इदं तु बोध्यम्—यदुक्तं समासगतत्वसाधनप्रकारं प्रकृतकार्योपयोगित्वपर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वमिति ग्रन्थकृदभिमतं पक्षमादाय, तावत्पर्यन्तस्य परिणामशरीरत्वान्नोकारे तु ‘वचःसुधाम्’ इत्येतादृशमस्तपदमादायापि परिणामस्य समासगतत्वे भिदे ‘श्राव श्रावम्’ इति पृथगसमस्तमेवास्तु तावतापि न क्षतिरिति ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—महर्षेः इत्यादि । उपमन्यु के पुत्र किसी राजा ने अथवा अभिमन्यु के पुत्र-राजा परीक्षित ने व्यास जी के पुत्र महर्षि शुक्रदेव जी के वचनामृत सुत-सुनकर पाम आनन्द प्राप्त किया । यहाँ भी उपमावरूप अमृत में आरोपित उपमेयरूप वचन का श्रवणरूप प्रकृत कार्य में उपयोग हो रहा है—अर्थात् अमृत भी वचनरूप बनकर ही ‘श्रवण’ का कर्म हो सकता है, अन्यथा (अमृत अपने रूप में) ‘श्रवण’ का नहीं, ‘पान’ का कर्म हो सकता है—अतः यह भी परिणाम है और पूर्वोक्त

उदाहरण की व्याख्या में प्रतिपादित युक्ति से समानाधिकरण कहलाने योग्य यह परिणाम समासगत कहलाता है, क्योंकि 'आवं-आव वच सुधाम्' यह एक समस्त पद है। समास यहाँ 'मयूरव्यंसकादिस्वात्' 'धात्वा कालकः' की तरह हुआ है। यहाँ के परिणामालंकार को समासगत बनाने की यह प्रणाली इसलिये अपनाई जाती है कि—'प्रकृत कार्य में उपपुक्त होता' भी 'परिणाम' के लक्षण में प्रविष्ट है और तदनुसार 'आवं-आवम्' इस कार्यबोधक पद को भी समास के भीतर ले आने पर ही समासगत 'परिणाम' कहा जा सकता है। यदि 'प्रकृतकार्योपयोग' को परिणाम (गरीर) प्रविष्ट नहीं मानें तब तो 'वच-सुधाम्' इतने अर के समस्त होने से ही यह 'समासगत परिणाम' माना जा सकता है, अतः 'आवं-आवम्' को पृथक् असमस्त पद मानने पर भी कोई हति नहीं।

व्यधिकरणं परिणाममुदाहर्तुमाह—

व्यधिकरणो यथा—

व्यधिकरण इति । भिन्नविभक्तिकपदबोध्योपमानोपमेयक इति भावः ।

व्यधिकरण (भिन्न विभक्ति वाला) परिणाम जैसे—

उदाहरणं समुपस्थापयति—

'अहीनचन्द्रा लसताऽऽननेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन ।

एषा हि योषा सितपद्मदोषा तोषाय केषां न महीतले स्यात् ॥'

लसता शोभमानेन, आननेन मुखेन, अहीनचन्द्रा पूर्णचन्द्रा (मुखरूपपूर्णः शुद्धचेति [यावद्] अपि पुनः, शुचिस्मितेन शुद्धपद्मसेन, ज्योत्स्नावती प्रकाशवती (शुचिरिमितरूप-ज्योत्स्नावती) च, अतः सितपद्मदोषा शुद्धपद्मदोषमिनी (तदुपेति यावत्) एषा वर्णनीया, योषा रमणी, महीतले पृथिव्याम्, केषां, तोषाय तृप्तये, न स्यात् ? अपि तु सर्वेषां तोषाय स्यादित्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—अहीन इत्यादि । शोभित होनेवाले मुख के द्वारा पूर्ण चन्द्र वाली और शुद्ध ईपद्मसद्वारा चोदनी वाली यह शुद्धवच की रात्रिरूपा रमणी पृथिवीतल पर किसके सतोप (वृत्ति) के लिये नहीं होगी ? अर्थात् सभी इससे समुत्त होतें । उपपादयति—

अत्र सर्वेषामेव तोषाय स्यादित्यनेन विरहिजनतोपजनकत्वमपि लभ्यते । सद्यारोप्यमाणशुक्लपद्मरज्ज्याः स्वात्मना बाधितम्, योषारूपेण तु सङ्गच्छत इति भवति परिणामः । स च परस्परसापेक्षवदुसह्यात्मकतया सावयवः । तत्राद्यार्धगतौ द्वावयवयो व्यधिकरणौ द्वितीयार्धगतश्चैकः समानाधिकरणः ।

अत्र सर्वेषामिति । काकुलम्भमिदम् । एवञ्च प्रकृतपदघटको नञ् काङ्क्षामिति सिद्धम् । आरोप्यमाणेति । उपमानेत्यर्थः । अत्र 'योषायाम्' इत्यादिबोधः । 'स्वात्मनेति । रज्ज्वरूपेणेत्यर्थः । बाधितमिति । तस्या उद्दीपकत्वेन विरहिजनतापजनकत्वादिति भावः । नन्वेवं समानाधिकरण एवामिति कुतः विपरीतप्रतिज्ञा अत आह—स चेति । प्रकृतपदगत परिणामश्चेति तदर्थः । सावयव इति । सङ्ग इत्यर्थः । तत्र सावयवे परिणामे । 'अहीनचन्द्रा—' इत्यत्र 'तत्तद्विशेषणविशिष्टा एषा योषा केषां तोषाय न स्यात्' इति काकुल्यक्त्यतो लब्धेन 'सर्वेषामेव तोषाय एषा स्यात्' इत्यर्थेन सर्वपदार्थान्तर्गतविरहिजन-तोषायपि स्यात् इत्यवगम्यते । परन्तु तत् विरहिजनतोपजनकत्वम् उपमेयभूतायाम् योषायाम् उपमानभूतायां शुक्लपद्मरात्रेणोपे न संगतम्, आरोप्यमाणपदार्थस्यैव प्राधान्ये योषाया अपि रात्रिरूपत्वसिद्धौ विरहोद्दीपकत्वेनासंतोषस्यैव सम्पत्तेः, अतः उपमानभूताया रात्रौ उपमेयभूताया योषाया आरोपोऽत्र स्वोच्चार्य, तथा च रात्रेरपि योषारूपत्वे सिद्धे विरहि-

णामपि संतोषकत्वं संयतं भवति, स्त्रीसाक्षिण्यस्य विरहविनाशकत्वात् । एवञ्च विषयात्मन्या विषयिण प्रकृतोपयोगेनात्र परिणाम- सिद्धयति । अयं च परिणाम साङ्ग । परस्परसा-
पेक्षानेकपरिणामसमूहात्मिकत्वात् । तत्र प्रथमार्धगतौ 'मुखेन पूर्णचन्द्रा' 'स्मितेन ज्योत्स्ना-
वती' इत्याकारकौ द्वावद्भूतौ परिणामौ व्यधिकरणौ, उपमेयोपमानयो विभिन्नविभक्तिक-
पदजन्योपस्थितिकत्वात् । उत्तरार्धगतश्च 'सितपल्लवो योपा' इत्याकारकोऽद्भूत परिणाम-
समानाधिकरण उक्त्युक्तेरिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'अहीनचन्द्रा—' इस पद्य में 'केषां सोपाय न स्यात् ?' इस काकु से यह विदित होता है कि—सबों के संतोष के लिये होगी और इस 'सबों' के अन्दर विरहोजन भी आ जाते हैं, अतः यह सिद्ध हुआ कि—शुक्लपत्र की रात्रिरूपा यह रमणी विरहियों के लिये भी संतोषजनक है । अब हम सोचें कि आरोपित होने वाली—अर्थात् उपमानरूप यह शुक्लपत्र की रात्रि क्या अपने रूप में विरहियों के लिये संतोष-जनक हो सकती है ? कभी नहीं, क्योंकि चाँदनी रात विरहियों के उत्ताप को ही बढ़ाती है, अतः यह मानना पड़ेगा कि रमणीरूप में ही यहाँ उक्त रात्रि को सकलजन-सन्तोषकर कहा गया है, ठीक भी है, नायिका का साक्षिण्य विरहियों के लिये भी सन्तोष-कर होता है । फलतः विदित है कि यहाँ उपमान उपमेय के रूप में प्रकृतकार्योपयोगी हो रहा है, अतः यह भी परिणामालंकार का उदाहरण है । परन्तु यह भी समझना चाहिए कि यहाँ एक नहीं बनेक परिणाम हैं । जैसे 'मुख द्वारा चन्द्रवाली' यह पद्य, 'ईषद् हास द्वारा चाँदनी वाली' यह दूसरा और—'शुक्ल पत्र की रात रमणी' यह तीसरा । इन तीनों में प्रथम दो परिणाम व्यधिकरण हैं, क्योंकि उपमेय (मुख तथा स्मित) को उपस्थिति तृतीयान्त पदों के द्वारा और उपमान (चन्द्र तथा ज्योत्स्ना) की उपस्थिति प्रथमान्त पदों के द्वारा हुई है । इन्हीं दोनों परिणामों को लेकर यह पद्य व्यधिकरण परिणाम के उदाहरणरूप में उपस्थित किया गया है । अन्तिम परिणाम तो समानाधिकरण ही है, क्योंकि उस अंश में उपमेय (नायिका) और उपमान (शुक्लपत्र की रात्रि) दोनों की उपस्थिति प्रथमान्त पदों से ही हुई है । इस तरह यहाँ परस्परसापेक्ष इन परिणामों का समूह सावयव (साङ्ग) परिणाम कहा जायगा ।
निरसनीयमप्यदीक्षितमनुमुत्थापयति—

यथाप्यदीक्षितैर्वैयधिकरण्येन परिणामे उदाहृतम्—

'तारानायकरोस्वराय जगदाधाराय धाराधर-

चक्ष्वायाधारककन्धराय गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिण्ये ।

नद्या रोस्वरिणे दशा तिलकिने नारायणेनास्त्रिये

नागैः कङ्कणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेय नतिः ॥'

यथा वा—

'द्विर्भाव पुष्पकेतोर्विबुधविटपिना पीनस्तस्य चिकन्प-

श्चिन्तारत्नस्य वीप्सा तपनवनुभुवो वासवस्य द्विरुक्ति' ।

द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमयनकलाकेलिकारस्य कुर्व-

आनन्द कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहक्षितीन्द्र- ॥' इति ।

भक्तो भगवन्त भूतनाथं नीति—तारानायकेति । तारानायक चन्द्र शंखर शिरो-
भूषण यस्य तस्मै, जगत सत्तारस्य, आधाराय अधिष्ठानाय, धाराधरस्य मेघस्य, छायाया-
कान्ते । धारिका धारयित्री, कन्धरा ग्रीवा यस्य तस्मै, नीलकण्ठयेति यावत्, गिरिजायाः-
पार्वत्या, सङ्ग सहचार, एव एक शृङ्गार तद्वत् गिरिजामात्रैवकान्तासंकायेति यावत्,

नद्या गङ्गाया, शेखरिणे शिरोभूषणवते गङ्गात्मकशिरोभूषाविशिष्टायेति यावत्, दृशा तृतीय-
नयनेन, तिलकिने तिलकयुक्ताय तृतीयनेत्रमेव तिलकयुक्तं यत्र कुर्वते तादृशायेति यावत्,
नारायणेन विष्णुना, अग्निणे अश्वत्वे नारायणात्मकशङ्खयुक्तायेति यावत्, नार्गैः सर्पैः,
कङ्कणिने वलयवते नागरूपकङ्कणविशिष्टायेति यावत्, नगेन पर्वतेन कैलासेनेति यावत्,
शृङ्गिणे गृहवते, पर्वतात्मकगृहवासिने इति यावत्, नाथाय अरमाकं स्वामिने, सा सकल-
मनोरथपूरकतया असिद्धा, इयम् दशानी मया निधीयमाना, नति- नमस्कारः, अस्तित्वार्थः ।
कवि- राजानं स्तौति—द्विर्भाव इति । पु-पकेतो कामदेवस्य, द्विर्भावः द्विराश्रयः (द्वितीयः
कामदेव इति सरलार्थः), विमुच्यन्तिपिनाम् देवतस्याम् मन्दारादीनामिति यावत्, पौनह-
त्यम् पुनरुक्तिः (द्वितीयो देवतसरिति सरलार्थः), चिन्तारत्नस्य चिन्तामणो, विकल्पः
अपरपञ्च (द्वितीयचिन्तामणिरिति सरलार्थः), तपनशनुभुवः सूर्यतनूजस्य कर्णस्येति
यावत्, वी-सा द्विर्भावः (द्वितीयः कर्ण इति सरलार्थः), वासवस्य इन्द्रस्य, द्विक्रिः
पुनरुक्तिः (द्वितीय इन्द्र इति सरलार्थः), दैत्याधिपानाम् दैत्यराजानां हिरण्यकशिप्वादीनाम्
यामयनकला दलनलीला तत्र केलिकारस्य क्रोडाकारस्य—दैत्यमणनाशकस्येति यावत्,
वेचस्य विष्णो, द्वैतम् द्वितीयता (द्वितीयो विष्णुरिति सरलार्थः), श्रीनृसिंहक्षितिन्द्रः
श्रीनृसिंहनामा नरेश, कोविदानाम् विदुषाम्, आनन्दम् सुखविशेषम्, कुर्वन् जनयन् सन्,
जगति संसारे, विजयने सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः । इदं पञ्चयुगलं व्यधिकरणपरिणामालङ्कारो-
दाहरणतया चित्रमोमासाभिधाने निजमिषन्धेऽप्यवशीक्षितेनोल्लिखितम् ।

अत्र अल्पयदीक्षित का खण्डनीय मत्त उपस्थित किया जाता है—यच्चापि । अल्पय-
दीक्षित ने व्यधिकरण परिणामालङ्कार के उदाहरणरूप से, अपनी चित्रमोमासामें 'ताराना-
थकनोत्तराय—' और 'द्विर्भाव. पुष्पकेतो—' ये दोनों पद्य उपस्थित किये हैं । इस दोनों
पद्यों के अर्थ प्रमथः निम्नलिखितरूप से होते हैं—'चन्द्र जिनका शिरोभूषण है, जो
जगत् के आधार है, जिनका कण्ठ मेघ की काम्ति को धारण करता है, और पार्वती के
साथ ही जिनका एक गङ्गा है ऐसे नदी (गङ्गा) द्वारा शिरोभूषावाले, ललाटचन्द्र द्वारा
लिलक वाले, नारायण द्वारा अश्व वाले, सर्पों द्वारा कङ्कण वाले और पर्वत (कैलास)
द्वारा घर वाले (हमारे) स्वामी (शिव) के लिये सकलमनोरथपूरकरूप में प्रसिद्ध
यह नमस्कार है ।' (यह प्रथम पद्य भक्त की उक्ति है ।) 'जो, कामदेव का पुहारना
है—अर्थात् दूसरा कामदेव है, कल्पवृक्षों की पुनरुक्ति है—अर्थात् दूसरा कल्पवृक्ष है,
चिन्तामणि का विकल्प है—अर्थात् दूसरा चिन्तामणि है, राजा कर्ण का बार बार कथन
है—अर्थात् दूसरा कर्ण है, इन्द्र की दुवारा उक्ति है—अर्थात् दूसरा इन्द्र है और दैत्या-
धिपों के विनाश की लीला करने वाले देवविष्णु का द्वैत है अर्थात् दूसरा रूप है वह
श्री नृसिंहनामा नरेश, विद्वानों के आनन्द को उत्पन्न करता हुआ, संसार में सर्वोत्कृष्टता
को प्राप्त कर रहा है ।' (यह दूसरा पद्य राजस्तुति में कवि के द्वारा कहा गया है ।)

प्रायुक्तं दीक्षितमत निरस्यति—

अत्र चिन्त्यते—तारानाथकशेखरायेति पदे गिरिजासङ्गैकशृङ्गारिणि मने
कविकर्तृका नतिः प्रकान्ता । शृङ्गारिता च शेखरादीनि भूषणान्यपेक्षत इति
नद्या आरोप्यमाणशेखररूपतयैवोपयोगः न स्वरूपेण । एवं दृशोऽपि तिलकरू-
पतयेति रूपकमेव शुद्धं मवितुमर्हति । ननु परिणामे विषयाभिन्नतया विषयव-
त्तिष्ठत इत्युक्तम्, प्रकृते च विषयवाचकेभ्यो नद्यादिशब्देभ्यः परस्यास्तृतीयाया
अभेदार्थकत्वाच्छेखरादेश्च तदन्वयित्वात्कथं नात्र परिणाम इति चेत्, न ।

विषयाभिन्नत्वेन विषयिणो मानेऽपि तेन रूपेण तस्यानुपयोगात् । द्विर्भावः पुष्प-
केतोरेति पक्षेऽपि कोविदानन्दजनन-जगदुत्कर्षौ कथ्येते राज्ञो नृसिंहस्य । तत्र
कोविदानन्दजनकत्वमपि राज्ञ आरोप्यमाणद्वितीयमन्मथादितादृश्येण यथा
सम्भवति न तथा केषलस्वरूपेण । तथाहि—अहो नयनानामस्मदीयानां
साकल्यं यद्यमपरो मन्मथोऽस्माभिरालोक्यत इति मन्यमानानां तेषां नयना-
नन्दस्वावस्युष्पकेतुनैवोपपाद्यते, न तु राज्ञा । एवमपरोऽयं कल्पतरुश्चिन्तामणि-
द्वितीयः कर्ण इन्द्रश्च भूगतोऽयमन्यो दारिद्र्यमस्माकं परिहरिष्यति । हरिः
स्वल्पं संसारं हरिष्यतीत्यभिमानाच्चास्मानन्दोऽप्यारोप्यमाणैः कल्प-
वृक्षादिभिरेवेति न विषयात्मना विषयिण उपयोगः, अपि तु स्वात्मनैवेति कुत्रास्ति
परिणामः ?

अत्रेति । तच्छरीरितमतविरये इत्यर्थः । चिन्त्यते विचार्यते । चिन्तामेव स्फोरयति—
तारानायकेत्यादिना । प्रकान्ता प्रस्तुता । आरोप्यमारोति । उपमानेऽर्थः । स्वहृदये
नदीरूपेण । शुद्धमिति । परिणाममिदमित्यर्थः । परिणामश्चमर्थवाचायुक्ते—नन्विति ।
विरपेति । उपमेयेत्यर्थः । विन्योति । उपमानमित्यर्थः । तृतीयाया इति । प्रकृत्यादित्वा-
च्चाताया इति भावः । तद्वन्वयित्वादिति । तृतीयायाभिधान्वयित्वादित्यर्थः । निरस्यति—
मेति । तत्र हेतुमाह—विषयाभिन्नेति । एवं प्रथमपक्षविषयक विचारं समाप्य द्वितीयपक्ष-
विषयक तं कर्तुमुपक्रमते—द्विर्भाव इत्यादिना । कथ्येते इति । 'कुर्वन्' इति शत्रन्तेन
'विजयते' इति लङ्गन्तेन चेति भावः । तत्रेति । तयोर्द्वयोर्मध्य इत्यर्थः । द्विर्भावः पुष्पकेतो-
रित्यस्यार्थमाह—अयमपरो मन्मथ इति । विवृषेति वाक्यस्यार्थमाह—अपरोऽयं कल्पतरुरिति ।
विद्वानिति बहुवचनं कल्पभेदाभिप्रायेण । चिन्तारत्नस्य विकल्प इत्यस्यार्थमाह—
चिन्तामणिद्वितीय इति । द्वितीय इत्यस्याभेदपक्षगुणो बोध्यः । तपनेत्यादेरर्थमाह—कर्ण
इति । वाचस्पत्येति स्यार्थमाह—इन्द्रश्चेति । भूगत इत्यनेन प्रसिद्धेन्द्राद् व्यतिरेकः सूचितः ।
द्वैतं देवस्येत्यादेरर्थमाह—हरिरिति । संसारं हरिष्यतीति । जनन-मरणादिसंसारं नाश-
यिष्यतीत्यर्थः । स्वात्मनैवेति । विषयिहर्षेणैवेत्यर्थः । परिणामः ? इति । काङ्क्षा नास्त्यर्थः ।
'तारानायकः—' इति प्रथमस्थले के शृङ्गारिशिवोद्देश्येन क्विना क्रियमाणो नमस्कारः
प्रस्तुतोऽर्थः । शृङ्गारित्वे च शेषरातिलकादीनि भूषणानि समपेक्षितानि तानि विना
शृङ्गारित्वानुपपत्ते, तत्र च । नदोद्गमादीनामुपमेयानाम् शेषरातिलकाद्युपमानरूपतयैव
उपयोगो न स्वत्वरूपेण । तथा च प्रकृतलक्षणाकाङ्क्षान्ततया न परिणामः, अपि तु रूपकमेव ।
उपमेयवाचकनदीदृगादिपदोत्तरतृतीयाविभक्त्यर्थेऽभेदे शेषरातिलकादेरुपमेयेन पर्ववसिते
'नद्यादिप्रतियोगिकाभेदाश्रयाणि शेषरादीनि' इत्यर्थे परिणामः स्पष्टः, तल्लक्षणे उपमेया-
भिन्नतद्योगमानावस्थानस्योक्तत्वादिति तु वक्तुं न मुशकम्, 'विषयान्ततया प्रकृतोपयोगी
विषयी' इत्युक्त्या परिणामपक्षकतया कलिनयो विषयामेद-प्रकृतोपयोगयोरशब्दो प्रथमस्यास्य
सत्त्वेऽपि द्वितीयांशस्यासत्त्वात् । ननु प्रकृते विषयिणि शेषरादौ विषयस्य नद्यादेरभेदः
शृङ्गारित्वे उपयोगादस्यैवेति कश्चिन्त्याद्यस्य सत्त्वहानिरिति चेत् ? सन्त्यम्, विषयिण
शेषरादेरुपयोगोऽस्ति, परन्तु न विषयाभिन्नत्वेन, अपि तु स्वहृदयेनैवेत्याशयः । न चैवं
रूपकमपि कथम् ? तत्रापेक्षितस्य विन्ययप्रतियोगिकभेदस्यात्राप्रतीतेर्विन्ययप्रतियोगिकाभेद-
स्यैव प्रतीतेरिति वाच्यम्, तपश्चक्रणोक्तरीत्या विन्ययप्रतियोगिकाभेदस्यैव देशे स्थले
स्वीकारात् । एवं 'द्विर्भावः—' इत्यत्रापि मुक्ततया वर्धमानगोरत एव प्रकृतकार्यपयो-

राज्ञः कौबिदानन्दजनकत्वजगदुत्कर्षयोर्मध्ये कौबिदानन्दजनकत्वाद्यौ प्रकृतपक्षोपमानभूतानां कामदेव-कल्पतरु-चिन्तामणि-कर्णेन्द्र-विष्णूनाम् स्वरूपेणैवोपयोगः न तु राजात्मकोपमेयरूपेण, यत् 'कामदेवोऽस्माभिर्दृष्टः' 'धरातलावतीर्णः कल्पतरुः, कर्णः, इन्द्रो वाऽयमस्माकं दासिद्य दूरीकरिष्यति' 'विशुरयं नः संसारयात्रा समापयिष्यति' इत्याकारकाणां ज्ञानानामेवानन्दहेतुत्वम् । तथा चोपमेयरूपेणोपमानोपयोगाभावाद्वा न परिणामप्रसङ्गः, अपि तु स्व-स्वरूपेणोपमानोपयोगसत्त्वादुपक्रमसक्तिरेव । इत्थं च दीक्षितमतं न युक्तमिति भावः । अत्र "वक्तृप्रधानपरिणामप्रकरणे 'इदं वैयधिकरण्यं रूपकेऽपि दृश्यते' इत्युक्त्वा तारानानायक-शेखरायेलानुदाहृतम् सत्र को दोषः ? । किं न नया शेषरिणे इत्यंशे विषयान्तयैव प्रकृतोपयोगाभावात्परिणामाभावेऽपि वाच्यमर्थं वा रूपकमपि न वाच्यम् । उपमानप्रति-योगिकाभेदस्योपमेयेऽभावात् । किं न शृङ्गारितोपपादकं शेखरादीत्युक्तमेव । भार-वणेनाग्निरणे इत्यस्य तदुपपादकत्वाभावात् । किं तु नमस्यतासम्पादकरिद्विगोत्कर्षबोधका-नीमानि विशेषणानि । तदुपपादकता च शेखरस्य नदीतादात्म्यापत्येति परिणाम एवायम्, शेखरस्य नीचजनसाधारणत्वात् । इत एवास्वरसात् द्विर्भावः पुष्पकैतोमिति पद्यान्तर-मुदाहृतं तैः । तस्मात् 'यच्च' इत्यादि 'कुत्रास्ति परिणामः' इत्यन्तं चिन्त्यमिति बोध्यम् ।" इति नागेशः ।

उक्त दीक्षितमत का खण्डन किया जाता है—अत्र चिन्त्यते इत्यादि । 'तारानायक-शेखराय—' इस पद्य में पार्वतीसङ्ग के कारण शृङ्गारी शिव के प्रति कवि द्वारा किया जानेवाला नमस्कार प्रस्तुत अर्थ है । और शृङ्गारी होने के लिये शिरोभूषण आदि शोभ-रणी की अपेक्षा है, क्योंकि उनके बिना शृङ्गारी होना सम्भव नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ आरोपित किए जानेवाले—अर्थात् उपमानभूत पदार्थ—शिरोभूषण, तिष्ठक आदि के रूप में ही नदी, नेत्र आदि उपमेयों का उपयोग सिद्ध होता है, अतः यहाँ कुछ रूपक ही होना चाहिए, परिणाम नहीं । 'परिणाम में उपमान उपमेय से अभिन्न होकर रहता है' यह कहा जा चुका है । और प्रस्तुत पद्य में उपमेयवाचक नदी आदि शब्दों के आगे की तृतीया विभक्ति का अर्थ अभेद है और उस अभेद के साथ 'शिरोभूषण' आदि का अन्यय होता है । अतः 'नदीद्वारा शिरोभूषणवाले' का अर्थ होगा 'नदी से अभिन्न शिरो-भूषणवाले—अर्थात् नदीरूप शिरोभूषणवाले' । ऐसी अवस्था में नदी का अभेद शिरोभूषण में होता है, न कि शिरोभूषण का अभेद नदी में । फिर यहाँ परिणाम कैसे नहीं ?' यह शङ्का तो की नहीं जा सकती, क्योंकि उक्त रीति से प्रकृत पद्य में उपमेय से अभिन्न उप-मान (नदीरूप शिरोभूषण) की प्रतीति अवश्य होती है—दूसमें किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं, पर प्रकृतकार्य—शृङ्गार—में उसका (शिरोभूषणरूप उपमान का) उपयोग उस रूप में (उपमेय नदीरूप में) नहीं होता, अपितु अपने आपके रूप में ही । तात्पर्य यह कि—परिणाम-रुचन में दो बातें कही गई हैं—एक उपमेय से अभिन्नरूप में उपमान का प्रतीति होना और दूसरी उपमेय रूप में ही उपमान का प्रकृत कार्योपयोगी होना, इन दोनों बातों में से प्रथम बात यहाँ अवश्य सङ्गठित होती है, पर दूसरी बात नहीं, अतः परिणाम का यह लक्ष्य नहीं हो सकता । आप कहेंगे—जब आप भी यहाँ उपमेय का ही अभेद उपमान में मानते हैं, तब रूपक भी कैसे होगा ? क्योंकि रूपक में उपमान का अभेद उपमेय में भासित होता है, तो इसका उत्तर रूपकप्रकरण की बात का स्मरण करके समझ लीजिये—अर्थात् ऐसी जगहों पर भी अभेद का प्रतियोगी उपमान की ही माना जाता है, अतः रूपक होने में कोई बाधा नहीं । 'द्विर्भावः पुष्पकैतोः—' इस पद्य में श्रीरामा नृसिंह के विषय में 'विद्वानों के आनन्द को उत्पन्न करना' और 'जगत् में उत्कृष्ट होना' ये दो बातें कही जा रही हैं । उनमें से राजा का 'विद्वानों के लिये

आनन्दजनक होना' भी जिस तरह आरोपित किए जानेवाले दूसरे कामदेव आदि के रूप में बन सकता है उस तरह केवल अपने रूप में नहीं। समक्षिए—'ओह! हमारे नेत्रों की सफलता, कि—इस दूसरे कामदेव को हम देख रहे हैं' ऐसा माननेवाले विद्वानों के नेत्रों के लिये आनन्द 'कामदेव' द्वारा ही सिद्ध किया जा रहा है, न कि राजा द्वारा। इसी तरह यह दूसरा कल्पवृक्ष और चिन्तामणि है, दूसरा कर्ण है और पृथ्वी पर अवतीर्ण इन्द्र है—यह हमारी दरिद्रता का हरण करेगा। यह विष्णु भगवान् है, अतः हमारी ससारयात्रा को निवृत्त कर देगा—इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला आनन्द भी 'कल्प वृक्ष' आदि के द्वारा ही बन सकता है, राजाद्वारा नहीं। अतः यहाँ उपमान का उपयोग उपमेयरूप में नहीं है, किन्तु उपमानरूप में ही है। फिर यहाँ परिणाम कहाँ है? अर्थात् रूपक ही है। साराण यह हुआ कि दीक्षित जी ने जो उस दोनों पक्षों को व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण बतलाया, वह असंगत ही है। यस्तुतः ऐसी बात है नहीं—अर्थात् दीक्षित जी ने परिणाम के उदाहरणरूप में इन पक्षों को उपरिचय नहीं किया है, किन्तु यह कहा है कि—'इस तरह का वैयधिकरण्य जैसा परिणाम में होता है—रूपक में भी हो सकता है। जैसे—'तारानायक—' और 'द्विर्भाव—' इन दोनों पक्षों में।' देखिए—उनकी चित्रमीमांसा के परिणामप्रकरण को। मागेवा भी अपनी टीका में यहाँ लिखते हैं कि—'परिणामप्रकरण में 'यह वैयधिकरण्य रूपक में भी दीक्षित पक्षता है' ऐसा कहकर दीक्षित जी ने 'तारानायकशेखराय—' इत्यादि उदाहरण दिए हैं। उसमें क्या दोष हुआ? और 'नदी द्वारा शिरोभूषणवाले' इस अंश में उपमेयरूप से उपमान का प्रकृतकार्य में उपयोग नहीं होता, अतः परिणाम भले ही न हो, पर वाच्य अथवा आर्थ रूपक भी तो नहीं हो सकता, क्योंकि उपमान प्रतिषेधोक्ति—अर्थात् उपमान का भेद उपमेय में यहाँ प्रतीत नहीं होता। और 'शृङ्गार के उपपादक शिरोभूषण आदि हैं' यह कथन भी अपुष्ट है, क्योंकि 'नारायण द्वारा भस्त्रवाले' यह अंश शृङ्गार का उपपादक हो नहीं सकता। अतः यह समझना चाहिये कि—ये सब विशेषण यहाँ शिव को प्रणम्य सिद्ध करने के लिये उनके उत्कर्ष के बोधक हैं। और शिव की प्रणम्यता की सिद्धि शुद्ध शिरोभूषण मात्र से होती नहीं, बल्कि शिरोभूषण की नदीरूपता से होती है, क्योंकि शुद्ध—अर्थात् किसी तरह का शिरोभूषण किसी नीच जन्म में भी हो सकता है, फिर उससे किसी का उत्कर्ष कैसा? और प्रणम्यता कैसी? हाँ, नदी को शिरोभूषण बना लेना अवश्य ही उत्कर्ष तथा प्रणम्यता का कारण हो सकता है। अतः यह पक्ष परिणाम की ही उदाहरण है। इसी अस्वरूप के कारण 'द्विर्भावः—' यह दूसरा पक्ष—जहाँ परिणाम का कोई गुणाह्वान नहीं—उदाहरण के रूप में उन्होंने रक्खा। अतः 'यद्य' से लेकर 'कुत्रास्ति परिणामः' तक का मूलग्रन्थ चिन्तनीय है ऐसा समझना चाहिए।"

खण्डनाय सर्वस्वकारमतमुपन्यस्यति—

अलङ्कारसर्वत्वकारस्तु—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति सूत्रयित्वा 'आरोप्यमाण रूपके प्रकरणोपयोगित्वामावात्प्रकृतोपरस्तत्वेनैव चेदलेनान्वय भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतयारोप्यमाणस्थोपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणतया परिणमति' इति व्याख्यातवान्।

आरोप्यमाणेति । उपमानेत्यर्थः । एवमप्रेक्षि । प्रकृतोपयोगित्वे इति । प्रस्तुतकार्योपयोगित्वे इत्यर्थः । प्रकरणेति । प्रकृतकार्येत्यर्थः । प्रकृतोपरस्तत्वेनेति । प्रकृतस्य-उप-] मेयस्य-स्वोपरकतुद्धिविषयीकरणेनेत्यर्थः । प्रकृतात्मतयेति । उपमेयस्वेत्येत्यर्थः । प्रकृतम् उपमेयम् । आरोप्यमाणतया उपमानरूपतया । 'आरोप्यमाणम् = उपमान यत्र प्रस्तुतकार्योपयोगि भवति तत्र परिणामालङ्कार' इति सूत्र निर्माय स्वयमलङ्कारसर्ववकृत् तस्य सूत्रस्य व्याख्यानमकरोत् यत्-रूपके उपमान प्रस्तुतकार्योपयोगि न भवतीति तस्य प्रस्तुत-

कार्येऽन्वयः उपमेयोपरवस्त्वमात्रेण भवति—अर्थात् उपमेयविष्ठाहायभिदनिश्चयगोचरतया भवति । परिणामे पुनः उपमेयव्येणोपमानस्योपयोगो भवतीति उपमेयमुपमानरूपतया परिणमति, अतः परिणाम इति संज्ञाकरणम् इति भावः ।

अथ सण्डहीय सर्वस्वकार का मत् उद्धृत किया जाता है—अलङ्कारसर्वस्वकारस्तु ह्ययादि । अलङ्कारसर्वस्वकार ने तो 'आरोपित किया जानेवाला—अर्थात् उपमान यदि प्रस्तुतकार्योपयोगी हो तब 'परिणाम' होता है ।' यह सूत्र बनाकर उसकी व्याख्या में लिखा कि—रूपक में आरोपित किया जानेवाला—उपमान—प्रस्तुतकार्य में उपयोगी नहीं होता अतः उसका कार्य के साथ सम्बन्ध केवल इतना भर होता है कि वह उपमेय का उपरञ्जक हो गया रहता है । सात्यक यह कि—कार्य में अन्वय उपमेय का ही होता है पर उसमें उपमान का कुछ सादृश्य गृहीत हुआ रहता है जिससे उपमान भी कार्यान्वित सा ज्ञात होता है । परन्तु परिणाम में तो उपमान उपमेयरूप में प्रस्तुतकार्योपयोगी होता है, अतः उपमेय उपमानरूप में परिणत हो जाता है, फलतः वहाँ उपमान का कार्य के साथ वास्तविक सम्बन्ध होता है ।

प्रागुक्तसर्वस्वकारोक्तं सण्डयति—

अत्रापि चिन्त्यते—आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोग इत्यस्य प्रकृतकार्ये उप-
योग-आहोस्वित् प्रकृतविषयात्मवया उपयोगोऽर्थः ? न तावदाद्यः ।

‘दासे कृतागसि मधत्युचितः प्रभूणां

पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-

यैस्त्रिघते तव पदं ननु सा व्यथा मे ॥’

इति त्वद्गुहाहृतरूपकोदाहरणे आरोप्यमाणानां कण्टकानां प्रकृतसैद्व्यथारूप-
कार्ये उपयोगेनातिप्रसङ्गात् न द्वितीयः ।

‘अयं पश्चिममतामुपेयिषद्भिः सरसैर्वक्त्रपद्याभितैर्वचोभिः ।

क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरङ्गमाद्यैः ॥’

इत्यत्र स्योक्तव्यधिकरणपरिणामोदाहरणासङ्गत्यपत्तेः । यतो राजसङ्घटने क्षुपा-
यनस्यारोप्यमाणस्य स्वात्मनैवोपयोगः, न तु विषयवचोरूपतया । वचसां तु
विषयाणामारोप्यमाणोपायनरूपस्त्वेन परमुपयोग इति प्रत्युत विपरीतम् । तस्मा-
दस्मदुक्तमेव व्यधिकरणपरिणामस्योदाहरणं साधु । इदं तु पुनर्व्यधिकरणरूपक
भवितुमर्हति । तृतीयार्थोभेदोऽपि भीनवर्तीनयनाभ्यामित्यत्रैव प्रकृत्यर्थानुयो-
गिको बोध्यः ।

अत्रेति । सर्वस्वकारोक्तिविषये इत्यर्थः । चिन्त्यते इति । विचारः क्रियते इति भावः ।
चिन्तास्वरूपमाह—आरोप्यमाणस्येत्यादिना । उपयोग इति । वक्ष्यमाणार्थपदस्यात्राप्य-
पकर्षः । दासे इति । कृतागसि कृतापरामे, दासे सेवके, प्रभूणाम् स्वामिना, पादप्रहार-
चरणापातः, उचितो युक्त, एव, भवति, अतः हे सुन्दरि ! अस्मि अहम् (अस्मदर्थक-
मव्ययमेतत्, कश्चित् ‘अस्मि’ इत्यस्य स्थाने ‘अत्र’ इति पाठो दृश्यते, तथा च अत्र
पादप्रहारविषये न दूये इत्यर्थः) न, दूये दुःखीभवामि । किन्तु उच्यन्ति त्वदीयचरण-
स्पर्शेनोत्पद्यमानानि यानि कठोरानि शुल्कानि रोमाणि तेषाम् अङ्कुरा एव कण्टकाग्रानि,
तैः, तव, पदं नत्, त्रिघते क्रेश प्राप्नोति, ननु निश्चयेन, सा मे, व्यथा वेदना इत्यर्थः ।

नायिका प्रति सापराधस्यानुभूततत्पादप्रहारस्य नायकस्योक्तिरियम् । तदुदाहृतेति । सर्वस्वकारोदाहृतेत्यर्थः । आरोप्यमाणानामिति । पुलकेशिन्यादि । प्रकृतेति । प्रकृतो यः खेदस्तत्सम्बन्धिनी या व्ययेत्यर्थः । अथ पक्वित्रमतामिति । पूर्वसाक्षात्सम्प्रकरणविशेष-
घटितमेतत्पद्यम् । अथ अनन्तरम्, कश्चिन् पूर्वप्रमान्तो जनः, वक्त्रपयाधितैः मुखनि-
रस्यते, पक्वित्रमताम् परिपक्वताम्, उपेयिबद्धिं प्राप्तवद्धिः, अत एव, सरसैः, वचोभिः
वचनैः, प्रथमम् प्राक्, तत्परत्तः, तत्पश्चात्, तुरज्जमाद्यैः अश्व्याद्यैः, क्षितिभर्तुः राज्ञः, उपाय-
मम् उपहारः चकारेत्यर्थः । असङ्गतिसुपपादयति—यतो इत्यादिना । राजसङ्घटने राज-
मेलने । उपायमस्य उपहारस्य । आरोप्यमाणस्येति । वचसोत्यादि । प्रयुक्त विपरीत-
मिति । अत्र 'अत्रेवं चिन्त्यम्—यत्किञ्चिद्दूषोपायनस्य राजसङ्घटनानुपायत्वात्, मिलक्षण-
जननतुरज्जमादिरूपस्यैव च तदुपायत्वात्, एव च राजसङ्घटनोपयोगित्वे तुरज्जमादिरूपेणै-
वोपायनस्यैतदुक्तिरेव विपरीतेति । अग्निप्रमवधारणमिदं त्वित्याद्युक्तं च चिन्त्यमिति
बोध्यम् ।' इति नायेशः । पर्यवसितार्थमाह—तस्मादिति । अस्मदुक्तमिति । 'अहीन-
चन्द्रा—' इति पद्यमित्यर्थः । इदं तु इति । 'अथ पक्वित्रम्—' इति पद्यमित्यर्थः । 'आरोप्य-
माणस्य प्रकृतोपयोगित्वे' इति सूत्राशस्य द्वावर्थौ सम्भवतः, प्रकृतकार्ये उपयोग इत्येकः,
प्रकृतोपमेयरूपेणोपयोग इति च द्वितीयः, तत्र प्रथमो न युक्तः, 'दासे कृतागमि' इति
सर्वस्वकाराभिमते उपबोधाहरणेऽतिव्याप्ते उपमेयकण्टकान् स्वजन्यनायिकागतखेदसभाव-
नाप्रयुक्तनायकगतव्यथात्पप्रकृतकार्ये उपयोगित्वात् । द्वितीयोऽपि नोचितः, 'अथ पक्वि-
त्रमता—' इत्यत्र त्वदुक्तव्यधिकरणपरिणामोदाहरणत्वस्यासङ्गते, उपायनरूपस्योपमानस्यो-
पमेयरूपतया राजमेलनात्मके प्रकृतकार्ये उपयोगाभावात्, उपमेयभूतवचनानामेवोपमा-
नात्मनोपयोगेन वैपरीत्याच्च । अतो मेदं व्यधिकरणपरिणामोदाहरणम् सम्भवति, व्यधि-
करणत्वमवस्थैव प्रयुक्ते । ननु उपमेयवाचकत्वं पदोत्तरतृतीयाविभक्त्यर्थभिर्द्वयं प्रकृत्यर्थ-
प्रतियोगिकृतया उपमानप्रतियोगिकाभेदभानाभावात् कथं रूपकमिति चेत्, 'मीनवती नय-
नाभ्याम्—' इति प्रागुक्तपद्य इवात्रापि प्रकृत्यर्थानुयोगिकाभेदस्यैव तृतीयार्थताप्रीकारात् ।
व्यधिकरणपरिणामोदाहरणं पुनर्मदुक्तमेवावगन्तव्यमिति भावः ।

उक्त सर्वस्वकारमत का खण्डन किया जाता है—अत्रापि चिन्तयते इत्यादि ।
उक्त सर्वस्वकार के मत के विषय में यह विचार किया जाता है कि 'आरोपित किये
जानेवाले का प्रकृत में उपयोग' इस सूत्राश का क्या अर्थ ? प्रकृत कार्य में उपयोग
अथवा प्रकृत उपमेय के रूप में उपयोग ? दोनों में से एक भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम
अर्थ मानने पर 'दासे कृतागमि—अर्थात् हे सुन्दरि ! दास यदि अपराधी हो तो उस
पर स्वामियों का पादप्रहार उचित ही है, अतः मुझ अपराधी पर जो तुमने पाद-प्रहार
किया उससे मैं दुखी नहीं हूँ । पर तुम्हारा चरण, उठते हुए कठोर रोमाँचों के अद्भुतरूप
काँटों की नोकों से, सिन्न हो रहा है, बस यही मुझे व्यथा है ।' इस पद्य द्वारा मानिनी
नायिका के प्रति कहे गए पद्य-जिसको आपने रूपक का उदाहरण माना है—में अति-
व्याप्ति हो जायगी । कारण, यहाँ आरोपित किष्ट जानेवाले-उपमान (काँटों) का प्रकृत
व्यथारूप कार्य में उपयोग होता है । द्वितीय अर्थ मानने पर 'अथ पक्वित्रमताम्—अर्थात्
तुमने पहले सुस्वरूप पद्य के पक्कि-मुख द्वारा उच्चरित-और परिपक्व, अतएव सरस,
वचनों द्वारा राजा की 'नजर' (ग्लेज़) की, बाद में घोड़ा आदि द्वारा ।' इस पद्य में
आपका कहा हुआ 'व्यधिकरणपरिणाम' का उदाहरण असङ्गत हो जायगा । कारण,
राजा से मिलने में आरोपित किष्ट जानेवाले 'नजर' रूप उपमान अथ उपयोग अपने रूप
में ही होता है, उपमेय वचनरूप में नहीं, प्रयुक्त उपमेयरूप वचनों का उपयोग उपमान-

रूप 'नजरों' के रूप में होता है जो आपके कथन से सर्वथा विपरीत है। अतः आपके लक्षण-उदाहरण सभी गड़बड़ हैं। फलतः बहुत लक्षण तथा अधिकरणपरिणाम का उदाहरण ही ठीक है। आपका यह उदाहरण तो व्यधिकरण रूपक का हो सकता है। आप कहेंगे—रूपक का यह उदाहरण कैसे हो सकता है? क्योंकि यहाँ वचः पद के आगे की तृतीया विभक्ति के अर्थ-अभेद-का प्रतियोगी प्रकृतार्थ-वचन-होगा, अतः उपमेय-वचन-का अभेद प्रतीत होगा, उपमान-'नजर'-का अभेद नहीं और रूपक की सिद्धि में उपमान के अभेद की प्रतीति आवश्यक है, तो इसका समाधान यह है कि जैसे 'मीनवती नयनाभ्याम्-' में प्रकृतार्थानुयोगिक अभेद ही तृतीयार्थ माना जाता है वैसे यहाँ भी प्रकृतार्थानुयोगिक अभेद को ही तृतीया विभक्ति का अर्थ माना जायगा। तात्पर्य यह कि ऐसी जगहों पर अभेद का प्रतियोगी उपमान ही होता है? उपमेय नहीं, अतः रूपक की सिद्धि होने में कोई बाधा नहीं। यहाँ भागवत अपनी टीका में सर्व-स्वकार का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—'राजा से मिलने में त्रित कितनी तरह के उपायन (नजर) का उपयोग नहीं किया जाता, अगिनु विलक्षण उपायन का ही उपयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ उपायन का उपयोग अपने आपके रूप में नहीं, किन्तु विलक्षण वचन अथ आदि के रूप में ही होगा, फिर यहाँ परिणाम अवश्य माना जा सकता है, अतः ग्रन्थकार का यह सङ्गठन उचित नहीं है।'

मतान्तरमाह—

केचित्तु "क्वचित्केवलो विषयः स्वात्मना न प्रकृतोपयोगीत्ययमारोप्यमाणा-भिन्नतयाऽवतिष्ठते, तत्रारोप्यमाणपरिणामः। यथा—'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ'। अत्र वदनमिन्द्रभिन्नतयाऽवतिष्ठते, केवलस्य वदनस्य दृक्छि-शिशिरीकारफत्वायोगात्। क्वचिदारोप्यमाणः स्वात्मना न प्रकृतकार्योपयोगीत्ययं विषयभिन्नतयाऽवतिष्ठते, तत्र विषयपरिणामः। यथा—'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरतापं विलुम्पति'। अत्रेन्दुर्वदनाभिन्नतयाऽवतिष्ठते, केवलस्येन्दोः स्मरतापापनोदकत्वायोगात्। एवं च परिणामद्वयात्मकमिदं रूपकमेव भवितुमर्हति। विषयतावच्छेदक-विषयितावच्छेदकान्यत्रपुरस्कारेण निश्चीयमानविषयविषया-न्यतरत्वस्य तल्लक्षणत्वात्। अत एवोक्तम्—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' इति। तस्मान्न रूपकपरिणामोऽतिरिच्यते" इति वदन्ति।

केवल इति। उपमानाभिन्नत्वेनाप्रतीयमान इति भावः। विषय उपमेयः। आरोप्य-मारोपेति। उपमानेत्यर्थः। आरोप्यमाणपरिणाम इति। आरोप्यमाणे परिणामः परिणतिः तद्रूपतयाऽवस्थानमिति यावत्। विषयस्येति भावः। आरोप्यमाणपरिणाममुदाहरति—यथेति। तन्वी कृशाङ्गी नाविका, वदनरूपेण दन्वुना, दृशौ नयने, शिशिरीकुरुते शीतलप्रती-त्यर्थः। वदनरथेति। तस्य लब्धभिन्नत्वादिति भावः। विषयपरिणाम इति। विषये-उपमेये-परिणाम विषयिण इति यावत्। उपमेयस्त्वेणोपमानावस्थितिविषयपरिणाम इति स्पष्टार्थः। विषयपरिणाममुदाहरति-यथेति। कृशाङ्गी चन्द्ररूपेण मुखेन कामतापमपनुदतीत्यर्थः। इन्दो-रिति। तस्योद्दीप्तत्वेन तज्जनकत्वादिति भावः। ननु कथमयं द्विविध परिणाम रूपकत्वेन स्वीकरणीयः, लक्षणानाकान्तत्वात् इत्यतोऽभिव्यक्त रूपकलक्षणमाह—विषयतावच्छेदकेत्या-दिना। तल्लक्षणेति। रूपकलक्षणेत्यर्थः। यमिनवमिदं लक्षण प्राचीनलक्षणेन रावादयति-अत एवेति। उक्तमिति मम्मटमतेनेति भावः। 'उपमेयतावच्छेदकम् (उपमेयवृत्त्युपाधार-णधर्मम्) पुरस्कृत्य निधीयमानमुपमेयतादात्म्यम्, उपमानतावच्छेदकम् (उपमानगतासा-धारणधर्मम्) पुरस्कृत्य निधीयमानमुपमेयतादात्म्यम्' इत्युभयविधं रूपकलक्षणम्। तेन

यत्रोपमेयमुपमानरूपेण परिणमति—अर्थात् उपमेयमुपमानात्मना कार्योपयोगि भवति, यत्र उपमानमुपमेयरूपेण परिणमति—अर्थात् उपमानमुपमेयात्मना कार्योपयोगि भवति, तत्रो-
भयत्र रूपकमेव । फलतः परिणामनामकं कश्चिद्रूपकव्यतिरिक्तोऽलङ्कारो नास्तीति केपाचिदभि-
प्रायः । अत्र 'केचित्' 'वदन्ति' इति पदद्वयेनाद्यं सूच्यते, तद्वीजमाह नागेश —'चमत्क-
तिनिदानत्वेनालङ्कारभेद इति सिद्धान्तितत्वादन्यत्रेवात्रापि भेद एवोच्यते ।' इति ।

अन्य मत का उल्लेख किया जाता है—केचित्तु इत्यादि । कुछ विद्वानों का कथन है कि—'दो तरह से परिणाम होता है । कहीं केवल उपमेय अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे (उपमेय को) आरोपित किए जानेवाले (उपमान) से अभिन्न होकर रहना पड़ता है । ऐसी जगह प्रस्तुत का आरोपित किए जानेवाले के रूप में—अर्थात् उपमेय का उपमान के रूप में—परिणाम होता है । जैसे—'वदनेन्दुना—अर्थात् कृशाङ्गी नायिका चन्द्ररूप मुख से नयनों को शीतल करती है ।' यहाँ मुख को चन्द्र से अभिन्न होकर रहना पड़ता है, क्योंकि केवल मुख नयन को शीतल नहीं कर सकता । और कहीं आरोपित किया जानेवाला (उपमान) अपने रूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगी नहीं होता, अतः उसे उपमेय से अभिन्न होकर रहना पड़ता है । ऐसे स्थलों पर उपमान का उपमेय के रूप में परिणाम होता है । जैसे—'वदनेन्दुना—अर्थात् कृशाङ्गी नायिका मुखरूप चन्द्र से कामताप को शान्त करती है ।' यहाँ चन्द्र को मुख से अभिन्न होकर रहना पड़ता है, क्योंकि केवल चन्द्र कामताप को शान्त नहीं कर सकता । इस तरह इन दोनों परिणामों के रूप में रूपक का होना ही उचित है, क्योंकि मेरे हिसाब से रूपक का लक्षण यह होना चाहिए कि—उपमेयतावच्छेदक ('मुखरूप' आदि) अथवा उपमानतावच्छेदक ('चन्द्ररूप' आदि) दोनों में से किसी एक को आरोपणकर निश्चित की जाने वाली उपमानरूपता अथवा उपमेयरूपता दोनों में से किसी को भी रूपक कहा जा सकता है । अतएव तो मम्मटभट्ट ने कहा है कि—'तद्रूपक—अर्थात् उपमान-उपमेय का जो अभेद होता है (उन दोनों में से चाहे कोई किसी रूप में परिणत हो) वह रूपक कहलाता है ।' अतः 'परिणाम' 'रूपक' से कोई अतिरिक्त अलङ्कार नहीं है ।' 'केचित्तु' तथा 'वदन्ति' इन दोनों ही पदों से इस मत में सम्प्रकार अपनी भरुचि सूचित करते हैं, जिसका बीज नागेश अपनी टीका में यह बतलाते हैं कि 'अलङ्कार के भेद में चमत्कार का भेद ही मूल कारण माना जाता है । ऐसी दृशा में जैसे अन्य अनेक भिन्न-भिन्न अलङ्कार माने जाते हैं, वैसे ही दोनों (रूपक और परिणाम) को भी भिन्न-भिन्न अलङ्कार मानना ही उचित है ।' इसका अभिप्राय यह हुआ कि—रूपक-जहाँ उपमान प्रधान रहता है और उपमेय गौण—में उपमानकृत चमत्कार होता है और परिणाम-जहाँ उपमेय प्रधान रहता है और उपमान गौण—में उपमेयकृत चमत्कार होता है, अतः ये दोनों चमत्कार दो तरह के होते हैं और चमत्कार जब दो तरह के होते हैं तब अलङ्कार भी दो मानने ही पड़ेंगे ।

अथ परिणामालङ्कारविशिष्टवाक्यजनोप विचारयितुं प्रक्रमते—

अथ बोध —

परिणामसम्बद्धविचारान्तरकरणान्तर सम्प्रति परिणामवाक्यजबोधो विचार्यते इति भावः ।

परिणाम के विषय में अन्य विचार कर लेने के बाद अब परिणामवाले वाक्यों से होनेवाले शब्दबोध का विचार किया जाता है ।

कतिपयेषु स्थलविशेषेषु बोध विचारयति—

हरिनयनमाल इत्यत्र भगवद्भिन्नतमाल इति निर्विवादैव धीः । तथा श्रावं

श्रावं वचःसुधामित्यत्र विशेषणसमासगतपरिणामे वचनाभिन्नां सुधामिति, पायं पायं वच सुधामितिरूपके तु वचोनिष्ठाभेदप्रतियोगिनीं सुधामिति बुद्धिः । एवं च 'वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरत्तापं विलुम्पति' इति व्यस्तरपरिणामे 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशी' इति व्यस्तरूपके च बोधवैलक्षण्यम् ।

तथा—

‘शान्तिमिच्छसि चेदाशु सतां वागमृतं शृणु ।

हृदये धारणाद्यस्य न पुनः खेदसम्भवः ॥’

इति परिणामे, शृण्विति बिहाय पिवेति कृते तत्रैव रूपके,

‘विद्धा मर्मणि वाग्वाणैर्घूर्णन्ते साधवः खलैः ।

सद्भिर्वचोऽसूतैः सिष्ठाः पुनः स्वस्था भवन्ति ते ॥’

इति रूपके च बोधव्यवस्थितिः । तथा ‘अहीनचन्द्रा लसताऽऽमनेन ज्यो-
त्स्नापती चापि शुचिस्मितेन’ इति व्यधिकरणपरिणामेऽभेदस्य तृतीयार्थत्वा-
ल्लसदाननाभिन्नहीनेतरचन्द्रयुक्तेति धीः । मीनवती नयनाभ्यामित्यत्र तु सरसी-
तादात्म्यारोपो बाधकाभावात्तावत्सिद्धः । तस्य च मीनयोर्नयनाभेदारोपेणा-
समर्थनान्नयनयोर्नानाभेदारोपो मृग्यः । स च तृतीयायाः प्रकृत्यर्थाभेदार्थक-
त्वायां न सम्भवतीति यथाकथञ्चित्तस्याः प्रकृत्यर्थनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वार्थकत्वं
वाच्यम् । तेन नयननिष्ठाभेदप्रतियोगिमीनयुक्तेति धीः । एवं चारोप्यभाषे
विषयप्रतियोगिकाभेदस्यामानान्न परिणामः, अपि तु रूपकमेव । इयमेव सरणिः
‘नया शेखरिये दृशा तिलकिने—’ इति प्रागुक्ताप्यदोक्षितदत्तोदाहरणे, ‘वचो-
भिरुपायनं चकार—’ इत्यलङ्कारसर्वस्वोदाहरणे च बोध्या । यदि पुनरारोप्यभाषे
यथाकथञ्चित्त्रिपदाभेदप्रत्ययमात्रात्परिणामतोच्यते, नात्रियते च प्रकृतोपयोग-
स्तदा ‘प्रवृत्तोऽस्याः सेकुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्’ इति तदुदाहृत्यरूप-
कस्य परिणामतापत्तिः, प्रेमलतिकामिति समासे प्रेम्णो विषयस्य लतिकामा-
मारोप्यमाणाद्यामभेदेन विशेषणत्वादिति दिक् ।

हरिवेति । अन्यकृता दत्ते परिणामप्रथमोदाहरणे इत्यर्थः । भगवदभिज्ञेति । तमा-
लनिष्ठाभेदप्रतियोगी भगवानिति भावः । निर्विवादवेति । परिणामस्य निर्विवादत्वेऽन्यस्या
असम्भवादेति भावः । धीः बोधः । अन्यहृदुक्तपरिणामद्वितीयोदाहरण आह—तथेति ।
विशेषणसमासेति । ‘विशेषणं विशेष्येण बहुलम्’ इति सूत्रविहितसमासेत्यर्थः । गत इति ।
अधीनैत्यर्थः, वचनाभिन्नमिति । सुधानिष्ठाभेदप्रतियोगिवचनानोति भावः । रूपके चिति ।
‘श्रावं भावम्’ इत्यस्य स्थाने स्थावृतस्य ‘पायं पायम्’ इति पाठस्य सुधाऽप्योपमानप्राधा-
न्यमूलरूपक्रमकन्यादेति भावः । एवञ्चति । समस्तयोः परिणामोपकृत्योर्बोधवैलक्षण्य-
सिद्धौ चेत्यर्थः । बोधवैलक्षण्यमिति । प्रतियोगिन्वसुखानामुपयोगिन्वसुखकृतमिति भावः ।
तथा च ‘इन्दुनिष्ठाभेदप्रतियोगिना वदनेने’ति परिणामे, ‘वदन्निष्ठाभेदप्रतियोगिना इन्दुना’
इति च रूपके बोध इति वारांशः । एवमप्येतां व्याह—तथेति । शान्तोति । स्वम्,
शान्ति इच्छामि चेत् २ तदा, आशु शीघ्रम्, सतां सज्जनानां, वागमृतं वचनशीघ्रम्,
शृणु, यस्य वचनशीघ्रस्य, धारणात्, ध्वजगन् पुनः, हृदये, खेदस्य, सम्भवो न
भवतीत्यर्थः । परिणाम इति । ‘आरोप्यमाणस्यानृतस्य विषयीभूतवचोऽप्यतयैव ध्वजगन्मूढे
प्रस्तुतकार्ये तत्प्रयोगादेति भावः । शृण्वतीति । ‘शृणु’ इत्यस्य स्थाने ‘पिव’ इति पाठे

समाधिते इति भावः । तत्रैव नरिभन्नेव पथे । रूपके इति । आरोप्यमाणस्य स्वरूपेणैव पानात्मके कार्ये उपयोगादिति भावः । विद्वेति । सखे दुर्जनं, वाग्वाणै वचनेषुभिः, मर्मणि मर्मभूतहृदयदेशावच्छेदेन, विद्वद्वाहता, साधवः सज्जना, घूर्णन्ते मस्तकघूर्णनं भजन्ते । पुनः, सद्भिः सज्जनैः, वचोऽमृतं वाणीसुधाभिः, सिद्धा आर्द्राकृता, संगतः, ते दुर्जनवाग्वाणविद्वद्वा साधवः, स्वस्या घूर्णनरहिता, भवन्तीत्यर्थः । रूपके चेति । 'विद्वद्वा' इत्यत्र 'वाग्वाणे' 'वचोऽमृतं' इत्युभयमपि रूपमेव, उपमानयोः वाणाभृतयोः उपमेयवाग्वाणे कार्यानुपयोगित्वात् स्वस्वरूपेण तदुपयोगित्वाच्चेति भावः । बोधव्यवस्थितिरिति । 'वाग्भिन्नममृतम्-' अर्थात् अमृतनिष्ठाभेदप्रतियोगिनीम् वाचम्' इति परिणामे, पित्वेति पाठासुसारं रूपके तु-चाहनिष्ठाभेदप्रतियोगिभ्यमृतमिति, 'वाग्वाणिभिर्वाग्भिः, अर्थात् चाहनिष्ठाभेदप्रतियोगिभिर्वाग्भिः' इति, 'वचननिष्ठाभेदप्रतियोगिभिरमृतं' इति च यथायथ बोधा इति भावः । व्यधिकरणपरिणामस्थले बोधो विचारयति—तथेति । लसताऽऽननेनेति । शोभमानमुज्ज्वलमभिलष्यपूर्णचन्द्रयुक्तेति बोधार्थः । एव शुद्धिर्मिताभिन्नयोः स्नायुक्त्यपि बोधो बोध्यः । नन्वेवम् 'मीनवती नयनाभ्याम्—' इत्यत्रापि तादृशबोधापत्तिरित्युक्त्याह—'मीनवती' इत्यत्र स्थितिः । तावत् आर्द्रा । तस्य चेति । सुन्दर्या सरसीतादात्म्यस्येत्यर्थः । प्रकृत्यर्थमेवेति । प्रकृत्यर्थप्रतियोगिकाभेदेत्यर्थः । विप्रकृत्या ससर्गबोधनस्य प्रकृत्यर्थप्रतियोगिकस्यैव व्युत्पत्तिसिद्धयेन तदसम्भवादाह—यथाकथमिति । तस्या तृतीयायाः तैनेति । तृतीयायाः प्रकृत्यर्थनिष्ठाभेदप्रतियोगित्वार्थकत्वव्यपनेनेत्यर्थः । अयमत्र विशदोऽर्थः—'सुन्दरी सरसी' इत्यथो सुन्दर्या सरसीतादात्म्यारोपे न किञ्चिद् वाचकमिति प्रधानमिदं सरसीरूपकं प्रथमतः सिद्धयति । ततः समर्थरूपकशब्दं नयनाभ्यामित्यभेदार्थकतृतीयाविभक्तिभ्रवणाद्यपि ऽकृत्यर्थस्य नयनस्य अभेदः—नयनप्रतियोगिकाभेद इति यावत्—प्राप्तः, किन्तु नयनाभेदेन सरसीरूपकस्य समर्थनं न भवति, अत एव नयनयोर्मीनाभेदं मीनप्रतियोगिकाभेद इति यावत्—सुगमं—यत्नविशेषेणापि श्वीकार्यः । ॥ च यत्नविशेषः स्थलविशेषातिरिक्तत्वेनोक्तव्युत्पत्तौ सङ्कोचरूपः । तथा चोक्ततृतीयाया नयननिष्ठाभेद एवार्थः फलितः । एवञ्च 'नयननिष्ठे'ति मूलोक्ताकारो बोधस्तत्र जायते । तादृशबोधविषयीभूतेन आर्थेन सरसीरूपकस्य समर्थनं भवतीति । फलितमाह—एव चेति । आरोप्यमाणे—अर्थात् माने विषयप्रतियोगिकाभेदस्य—अर्थात् नयनप्रतियोगिकाभेदस्य अप्रतीतिर्नात्र परिणामः, किन्तु रूपकमेवेति भावः । उक्तप्रकारेणायमेव बोधोऽन्यत्रेत्याह—इयमेवेति । सरणि पद्धतिः । उदाहरणे च बोधेति । 'नदीनिष्ठाभेदप्रतियोगिचोखरयुक्तयः' इति, 'हृन्निष्ठाभेदप्रतियोगितिलकयुक्तयः' इति, 'वचननिष्ठाभेदप्रतियोगिभ्युपायनम्' इति च बोधा भवन्ति । एवञ्चोक्तमुक्त्याऽत्रापि रूपकमेवेति सिद्धम् इति भावः । अत्र नमोऽर्थः—'परे तु पूर्वपदार्थप्रधानमभूत्व्यसकादिसमासेन मुधाप्रतियोगिकाभेदवद्वच इत्येव बोधः । रूपके मीनवती नयनाभ्यामित्यत्र सुन्दर्या सरसीतादात्म्यरूप रूपकं मुख्यवाक्यार्थः । तत्र च मीनवत्त्वादि साधारणो धर्मः । तस्य च सुन्दर्यामिभावात्प्राप्तबाधबुद्धिस्थगनाय नयनाभ्या मीनवतीति सुन्दरीविशेषणम् । सरस्या च मीनवत्त्वप्रसिद्धमेव । एव च सुन्दर्या मीनवत्त्वमप्यादनप्यप्रकृतकार्योपयोगिता मीनानां नयनतादात्म्यापर्यवेति तदर्थे परिणाम एवेति नयनप्रतियोगिकाभेदवन्मीनवतीत्येव बोध इति दिक् । 'पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु' इत्यादौ रूपकोपमयो सन्देह एव इति प्राहुः ।' इति । मीनवतीति पथे परम्परितरूपकम् ।

परम्परिते च अन्तर्ध्वसमर्थकभावो नियमतरितव्यति । रूपवत्स्य समर्थनम् च हृषिकेशं सम्भवति, न परिणामेनेति 'भोनवती नयनाभ्याम्' इत्यशेषेऽपि अन्वयवारेण दिशा रूपवत्स्य न्याप्यम्, न नायेशोफरीत्या परिणाम इति तु मम प्रतिभाति । तपसहारे पुनर्दीक्षिता-शयनिरसनमुखेन परिणामे कार्योपयोगं समर्थयति—यदिति । 'प्रवृत्तौऽस्या—' इति । रूपनोदाहरणतया पथमेतदीक्षितेनैव दृष्टम् । 'कुण्डलीभ्यां हितमितयति गीतध्वनिषु यत्, सखीं वान्तोदन्तं धृतमपि पुनः प्रश्नयति यत् । अन्दिं यथान्तं स्वपिति तदहो । वेद्य-भिनवाम्—' इति चरणप्रत्ययोपो बोध्यः । वरुणी हरिणी, ह्व, गीतध्वनिषु, अज्ञानि, यत्, हितमितयति निधलीकरोति, धृतमपि, वान्तोदन्तम् प्रियतमसमाचारम्, पुन वारंवारम्, सखीम्, यत्, प्रश्नयति प्रश्न करोति, अन्तः अन्दिम् आन्वन्तरनिद्रा विनैव, निद्रा-चकलेनेति यावत्, यत् स्वपिति स्वापमुद्रा धत्ते, तेनाह वेदि जानामि, किं जानामि ? मनसिजं कामं, अस्या, हृदि, अभिनवाम् नूतनाम्, प्रेमलतिकाम् प्रीतिवङ्गरी, सेषुम् आर्द्राकर्तुम्, प्रवृत्त उद्यत इत्यर्थः । सख्या सखीं प्रति नाभिवाङ्मताः तन्मूचनायोक्तिरियम् । अस्मिन् इलोके प्रेम्णि उपमेये कतिवाया उपमानभूतायास्तादात्म्यस्यारोपेण रूपम्, न तु परिणामः उपमानभूताया लतिकाया उपमेये (प्रेम)रूपेण सेवाल्लके कार्ये उपयोग-भावात् । यदि परिणामे कार्योपयोगाशो न निविश्येत, तदाऽप्रापि परिणाम आपतेत्, लतिकास्ये उपमाने प्रेमरूपोपमेयाभेदस्य प्रतीतेरिति भावः ।

परिणामालङ्कार वाले कतिपय वाक्यों में शब्दबोध दिखलाये जाते हैं—हरिणद—इत्यादि । 'हरितवत्तमालः' इस ग्रन्थोक्त प्रथम परिणामोदाहरण-वाक्य का शब्दबोध 'हरि से अभिन्न नवीन तमाल—अर्थात् तमाल में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी हरि' यह होता है । इस विषय में किसी को कोई आपत्ति है ही नहीं । 'आवं धाव वच-सुधां—वचनानृत सुन सुनकर' इस ग्रन्थोक्त द्वितीय परिणामोदाहरण वाक्य का शब्दबोध—'वचन से अभिन्न अनृत—अर्थात् अनृत में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी वचन' यह होता है । इसी वाक्य में 'आवं आवम्' की जगह पर यदि 'पाय-पायम्' ऐसा पाठ कर दिया जाय, तब यहाँ परिणाम न होकर रूपक अलङ्कार हो जाता है और तब उस रूपक वाक्य का शब्दबोध—'वचन में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी अनृत अर्थात् अनृत से अभिन्न वचन' यह होता है । और अब जब कि समस्त परिणाम तथा समस्त रूपक में शब्दबोध की भिन्नता दिखला दी गई, तब—'वदनेनेन्दुना तन्वी हमारतां विलुपति' इस व्यस्त (वाक्यगत) परिणाम में तथा 'वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुलते द्यौः' इस व्यस्तरूपक में भी शब्दबोधों की विलक्षणता सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह कि पूर्वोक्तरीति से परिणाम में 'चन्द्र में रहने वाले अभेद का प्रतियोगी मुख—अर्थात् मुख से अभिन्न चन्द्र' ऐसा बोध होता है और रूपक में 'मुख में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी चन्द्र—अर्थात् चन्द्र से अभिन्न मुख' ऐसा बोध होता है । चैते ही—'शान्तिमिच्छसि—अर्थात् यदि तू शान्ति चाहता है तो शीघ्र सज्जनों का वचनानृत सुन, जिसके धारण करने से फिर हृदय में खेद की उत्पत्ति नहीं होती ।' इस परिणाम में, और इसी पद्य में 'शृणु' की जगह पर 'पिब' पाठ कर देने से रूपक धन जाने पर, एव 'विद्रा मर्मणि—अर्थात् दुर्जनों द्वारा वचन वाणों से मर्मस्थल में घायल किए गये सज्जन पुरुष चकर खाते लगते हैं और वे हरे सज्जनों द्वारा वचनामृत से सँचि गये पुन स्वस्थ हो जाते हैं ।' इस रूपक में भी शब्दबोध की व्यवस्था हो जाती है । अभिप्राय यह है कि—परिणाम में पूर्वरीति से 'अनृत में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी वचन—अर्थात् वचन से अभिन्न अनृत' यह और रूपक में 'वचन में रहनेवाले अभेद का प्रतियोगी अनृत—अर्थात् अनृत से अभिन्न वचन' यह बोध होता है । इसी तरह 'वचन-

बाण' का भी बोध समझ लेना चाहिए। तथा—'अहीनचन्द्रा—अर्थात् सुन्दर मुख द्वारा पूर्ण चन्द्र वाली और शुद्ध मन्द हास द्वारा चाँदनी वाली' इस 'व्यधिकरण परिणाम' में तृतीया का (तद्द्वारा) अर्थ अभेद होता है, अतः 'सुन्दरमुख द्वारा पूर्ण चन्द्रवाली' वा वाक्य का शाब्दबोध—सुन्दर मुख से अभिन्न पूर्ण चन्द्रवाली—अर्थात् चन्द्र में रहने-वाले अभेद का प्रतियोगी जो मुख उससे युक्त और 'शुद्ध मन्द हास द्वारा चाँदनीवाली' इस वाक्य का शाब्दबोध—'शुद्ध मन्दहास से अभिन्न चाँदनीवाली—अर्थात् चाँदनी में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी जो चाँदनी उससे युक्त' ये होते हैं। 'मीनवती नयनाभ्याम्—' इत्यादि पूर्वोक्त रूपकोदाहरण में तो, प्रथमतः सरसीरूपक अर्थात् सुन्दरी में सरसी का तादात्म्यारोप—सिद्ध होता है—उसकी सिद्धि में किसी तरह की बाधा नहीं होती। पर उस प्रधानरूपक का समर्थन 'मङ्गलियों में नेत्रों के अभेदारोप से नहीं हो सकता, अतः 'नेत्रों में मङ्गलियों का अभेदारोप' ढूँढ़ने योग्य हो जाता है। और यह 'नेत्रों में मङ्गलियों का अभेदारोप' तब बन नहीं सकता यदि 'नयनाभ्याम्' इत्यादि तृतीया विभक्ति का अर्थ प्रकृत्यर्थाभेद—अर्थात् तृतीया विभक्ति की प्रकृति-नयन आदि शब्द—का अर्थ जिसका प्रतियोगी हो उस अभेद—को माना जाय, इसलिये जिस किसी तरह तृतीया विभक्ति का अर्थ उस अभेद को मानना पड़ेगा जो अपनी प्रकृति के अर्थ-नयन आदि—में रहनेवाला हो और जिसका प्रतियोगी मीन आदि हों। और जब ऐसे अभेद को तृतीया विभक्ति का अर्थ मान लिया जायगा तब उक्त सरसीरूपक का उससे समर्थन भी हो सकेगा। इस तरह से अब 'मीनवती नयनाभ्याम्' का शाब्दबोध—'नेत्रों में रहनेवाले अभेद के प्रतियोगी जो मीन (मङ्गलियों) उनसे युक्त' यह होगा। फलतः यहाँ परिणाम अलङ्कार नहीं होता, क्योंकि आरोप्यमाण—अर्थात् उपमानभूत मङ्गलियों—में विषय प्रतियोगिक अभेद—अर्थात् उपमेय(नेत्रों)का अभेद प्रतीत नहीं होता। हाँ, रूपक अलङ्कार यहाँ अवश्य होता है, क्योंकि आरोप्यमाण उपमानभूत पदार्थ-मङ्गलियों का अभेद उपमेयभूत पदार्थ (नेत्रों) में प्रतीत होता है। यही पद्धति 'नथा शैल-रिगे इशा तिलकिने' इत्यादि अप्ययदीक्षित के उदाहरण में और 'वचोभिरुपायनं चकार' इस अलङ्कारसर्वस्वकार के उदाहरण में समझनी चाहिये। अभिप्राय यह कि—इन पद्यों में परिणामालङ्कार नहीं, अपितु रूपकालङ्कार है, अतः इन वाक्यों का शाब्दबोध रूपक का-सा होना चाहिये। फलतः 'नदी में रहनेवाले अभेद के प्रतियोगी शैलर से युक्त' इस तरह का शाब्दबोध होना चाहिये, न कि 'शैलर में रहनेवाले अभेद की प्रतियोगिनी नदी से युक्त' इस तरह का। यदि आप इस तरह का दुराग्रह करें कि—किसी भी प्रकार से उपमान में उपमेय के अभेद की प्रतीति का नाम परिणाम है, उस का प्रकृत कार्य में उपयोग हो अथवा नहीं। तब तो 'प्रवृत्तोऽस्या—' जिसका एक चरण मूल में उद्धृत है और अवशिष्ट तीन चरण सस्कृत टीका में उद्धृत हैं तथा जिसका अर्थ यों है—(सखी सखी से नायिका के विषय में कह रही है—) मैं समझती हूँ कि—कामदेव इसके हृदय में नूतन प्रेमलता को सींचने में प्रवृत्त हो चुका है क्योंकि यह सखी(ध्वनि)समय में अङ्गों की हठिणी की तरह निश्चल कर देती है, प्रियतम के सुने हुए समाचार को भी सखी से पुनः पूछती है और भीतर से निद्रा के बिना ही सोती है—जागती हुई भी सोई हुई की सी मुद्रा बनाती है।' इस पद्य में जिसको दीक्षित जी ने रूपक का उदाहरण माना है वह परिणामालङ्कार होने लगेगा, क्योंकि 'प्रेमलतिकाम्' इस समस्त पद्य के अर्थ में उपमेय प्रेम, अभेदसम्बन्ध द्वारा, आरोपित की जानेवाली (उपमान) 'लतिका' का विशेषण बन रहा है—उपमेयप्रतियोगिक—अभेद उपमान में भासित हो रहा है। परिणाम लक्षण में 'कार्योपयोग' का निवेश करने पर तो यहाँ परिणाम का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रह जाता, क्योंकि उपमान लता का उपयोग। सेचन में उपमेय-प्रेमरूप से नहीं, अपितु अपने रूप से ही होता है। सारांश यह हुआ कि परिणाम

लक्षणम् । 'कार्योपयोग' का निवेश करना ही चाहिये और उस हालत में 'नद्या रोख-
रिणे—' इत्यादि पद्यों में रूपक ही माना जा सकता है, परिणाम नहीं । नागेश यहाँ
भी 'अन्य का मत' ऐसा कहकर कुछ भिन्न मत उपस्थित करते हैं । उनके कथन
का सारांश यह है कि—'अथ सुधा' में 'मयूरम्यसकादयश्च' से समास होता है और
इस समास में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होती है, अतः उक्त वाक्य का बोध—'सुधा जिस
की प्रतियोगिनी हो ऐसे अभेद से युक्त वचन—अर्थात् सुधा के अभेद से युक्त वचन'
ऐसा ही समझना चाहिये । 'मीनवती नयनाभ्याम्' इस वाक्य का 'सुन्दरी में सरसी-
सादृश्यात्मक रूपक' प्रधान अर्थ है और इस रूपक में उपमान उपमेय का साधारण
धर्म है मछलीवाला होना (मीनवत्) । पर सुन्दरी में इस धर्म का समाव है—अर्थात्
सुन्दरी में मछलियाँ नहीं हैं, अतः जो बाध-बुद्धि (सुन्दरी न मीनवती) प्राप्त है उसी को
हटाकर देने के लिये केवल 'मीनवती' न कहकर 'नयनाभ्यां मीनवती' ऐसा
सुन्दरी का विशेषण कहा गया है । सरसी में तो मीनवत्ता (मछलियों का रहना)
प्रसिद्ध ही है । इस रिपति में सुन्दरी को मीनयुक्त बनानारूप प्रस्तुत कार्य में मीनों
का उपयोग नयनरूप होने पर ही होता है, अतः उस अंश में परिणामालङ्कार ही है,
अतएव उस अंश का बोध भी 'नयन जिसके प्रतियोगी हैं इस तरह के अभेद वाली
मछलियों से युक्त सुन्दरी' ऐसा ही होगा ।"

परिणामालङ्कारध्वनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ परिणामध्वनिर्विचार्यते—

शब्दबोधनिरूपणानन्तरं परिणामध्वनिविषयको विचार प्रस्तव्य इति भावः ।

परिणामालङ्कारध्वनिरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि । शब्दबोध विचार
के बाद अब परिणामालङ्कारध्वनि के विषय में विचार किया जाता है ।

अप्ययदीक्षितोक्तमनूय उपड्यति—

तत्र यत्तावदप्ययदीक्षितेविद्याधरोक्तं ध्वन्युदाहरणमनूय दूषितम्—

"तथाहि—

'नरसिंह परनाथ ! के मयं तत्र वर्णते ।

अपि राजानमाक्रम्य यशो यस्य विजृम्भते ॥'

अत्र राजपदेन चन्द्रे विषये निर्विण्णे तत्रारोप्यमाणस्य नृपस्याक्रमणरूप-
कार्योपयोगिनः प्रतीतेः परिणामो व्यन्यते इति, तदयुक्तम् । तत्र ह्यारोप्यमाणस्य
नृपस्य नृपात्मनैवाक्रमणोपयोगः, न चन्द्रात्मना" इति । तदसत् । अत्र
विजृम्भण नाम न केवल प्रागल्भ्यमात्र कवेरभिप्रेतम्, येन यशःकर्तृकाक्रमणे
नृपस्य नृपात्मनैव कर्मत्वरूप उपयोगः स्यात् । अपि तु निरतिशयनैर्मल्यगुण-
वत्तायां स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्यप्रयुक्त प्रौढविशेषः । आक्रमण तु न्यग-
भाव एव । एवं चैवविधिविजृम्भाणो चन्द्रकर्मकमेवाक्रमणमुपयुज्यते, न तु नृप-
कर्मकमिति विपयितया व्यज्यमानस्यापि नृपस्य चन्द्रात्मनैवाक्रमणोपयोग इति
रमणीयमेव विद्याधरेणोक्त परिणामव्यङ्ग्यतायामुदाहरणम् ।

अवेति । 'नरसिंह—' इति पद्य इत्यर्थः । व्यज्यत इतीति । विद्याधरेणेति भावः ।
विद्याधरोक्तं उपड्यति—तदयुक्तमिति । अयुक्तत्वे हेतुमाह—तत्र ह्यारोप्येत्यादिना । न चन्द्रा-
त्मना इतीति । अस्य प्रागुक्तेन 'दूषितम्' इत्यनेनान्वयः । तदुद्धरण निरस्यति—तदसत्
इति । तत्र हेतुमाह—अत्रेत्यादिना । प्रागल्भ्येति । आक्रमणसाफल्यमभिमानेति भावः ।

गुणवत्तायाम् तद्रूपसाधारणधर्मे । स्वसमानजातीयद्वितीयराहित्येति । निजनिप्रतिद्वन्द्विते-
त्यर्थः । प्रौढि उत्कर्षे । न्यग्भाव इति नीचर्नयनमिति भावः । एव चेति । विजृम्भमाणा-
क्रमणयोक्तत्वे चेत्यर्थः । रमणीयमेवेति । अत्र “अत्रेदं चिन्त्यम्-राजशब्दस्यानेकार्थ-
त्वात्, विजृम्भतेषु प्रागल्भ्यतदुक्तार्थोभयपरत्वात्, प्रकरणादेश्च शक्तिसङ्कोचकस्याभावात्,
तन्त्रेण शक्यैव तुल्यतयाऽप्येदयोपस्थितौ ‘सर्वदो माधव पातु’ इतिवत् श्लेष एवायम्,
क परिणाम क वा नृपस्य व्यज्यमानतेति प्रकृतनरसिंहराजोत्कर्षस्य च चन्द्रवर्मप्रक्रमणे-
नेचेतरनृपाक्रमणेनापि सूपपादत्वात् । न च द्वयोरपि राजपदार्थयोरितरत्रित्यान्वये राजाना-
विति द्विवचन स्यादिति वाच्यम् । ‘न ब्राह्मण दन्वात्’ इतिवदुपपत्तेः । समाहारद्वन्द्ववि-
येऽप्येकशेषस्य कैश्चिद्व्याकरणैरङ्गीकाराच्च । अस्तु वारोप, तथापि नृपस्यैवारोप्यमाण-
त्वम् चन्द्रस्यैव विषयत्वमित्यत्र नियामकभावः । अत्रैव च दीक्षिततत्पर्यम् । अपि च
प्रागल्भ्यस्यापि विजृम्भत्यर्थत्वेन प्रकृतकार्योपयोगिता नृपत्वेनापि नृपस्य सम्भवति । ननु
तात्पर्यविषयीभूतप्रकृतकार्यानुपयोगित्वमस्त्येवेति चेत्, तस्यैव तात्पर्यविषयत्वे मान विभाव-
येति ।” इति भागेशः । हिन्दौरसगङ्गाधरकारस्थतुर्वेदमहोदयस्तु ‘उभयो कार्ययोस्तात्पर्य-
विषयत्वमन्मयेऽपि विद्याधरोक्ततात्पर्यविषयत्वं पण्डितराजोक्तकार्यस्यैव, अन्यथा तेन तस्य
पद्यस्य परिणामध्वनिलक्ष्यतयोरलेख्यतासङ्गते’ इति स्वपुस्तके टिप्पणमकरोत् । सरलाकारो
भट्टमहोदयस्तु “‘राजानमाक्रम्य यस्य (राज) यशो विजृम्भते’ इत्युक्तौ कवे शिल्प-
दप्रयोगसरम्भात् ‘प्रतिस्पर्धिनं राजानमाक्रम्य ययाऽय राजा विजृम्भते, तथा अन्येषां राज्ञां
यश उपमानत्वेन प्रसिद्धं राजानं (चन्द्रम्) आक्रम्य (न्यक्कृत्य) अस्य यशो विजृ-
म्भते’ इति पर्यवसितार्थानुसारमस्त्येव राजपदस्य चन्द्रस्यार्थे शक्तेनियामक प्रकरणम्”
इत्यप्याह स्म । ग्रन्थाशयः पुनरेवमवगन्तव्यः — ‘यस्य राज्ञो यश राजानम् (वाच्यवृत्त्या
चन्द्रं, व्यङ्ग्यवृत्त्या च नृपम्) आक्रम्य न्यक्कृत्य, विजृम्भते, हे नरसिंहनामकपराविप,
तस्य तव, वर्णने यय के ? न केऽपि (असमर्था यय तव वर्णने)’ इत्यर्थकम्
‘नरसिंहपरावाच—’ इति पद्यं परिणामालङ्कारध्वन्युदाहरणम्, राजपदेनोपस्था-
पिते चन्द्रात्मके उपमेये आरोप्यमाणस्य तेनैव पदेनोपस्थापितस्य नृपात्मकोपमानस्य
आक्रमणात्मके प्रकृतकार्ये उपयोगेन परिणामालङ्कारभिरुच्यते । ननु वाच्यत्वमेव कुतो
नास्य परिणामस्येति चेन्न, उपमेयस्य वाच्यत्वेऽपि प्रकारेण शक्ते सङ्कोचादवाच्यस्योप-
मानस्य प्रकृतोपयोगिनो व्यञ्जनवैय प्रतीतेरिति विद्याधरः स्वग्रन्थे प्रत्यपादयत् । उपमे-
यात्मनोपमानस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः, अत्र तु उपमानस्य नृपस्य स्वात्मनैवाक्रम-
णात्मके कार्ये उपयोगः, न चन्द्ररूपोपमेयात्मना, इति नात्र परिणामो वाच्यो व्यङ्ग्यो वा
सम्भवतीति विद्याधरमण्डयद् दीक्षितः । तत्राह पण्डितराजः—नैतत्त्वण्डन दीक्षितकृत
सम्यक्, यतोऽत्राक्रमणमात्रं न कार्यम्, अपि तु आक्रमणपूर्वकं विजृम्भणम्, विजृ-
म्भणं च नैर्मत्यातिशयात्मकगुणविषयेऽद्वितीयत्वप्रयुक्तोत्कर्षरूप कविविवक्षाविषयीभूतम्,
आक्रमणं च न्यग्भावनम्, तथा चैतदाक्रमणपूर्वकविजृम्भणैकदेशो आक्रमणे यश कर्तुं के
आरोप्यमाणस्य नृपस्य उपमेयचन्द्रात्मतयैवोपयोगः कर्मीभवनस्य इति युक्तमेवास्य पद्यस्य
विषयपरोक्ष परिणामध्वन्युदाहरणत्वम् । यदि प्रागल्भ्यमात्रं विजृम्भणम् आक्रमणं च
अस्मादिप्रहारादिरूप कविविवक्षितमस्यास्यन्, तदा यश-कर्तुं के तत्राक्रमणे नृपस्य स्वात्म-
नैवोपयोगः कर्मतात्त्वोऽभविष्यत् इति तत्रात्रे दीक्षितकृत तण्डनमपि सम्यक् स्यात्,
परन्तु प्रागल्भ्यमात्रस्य विजृम्भणपदार्थता कवेरभिमतैव नास्तीति ।

दीवितोक्ति का खण्डन किया जाता है—तत्र यत्तावत् इत्यादि । ‘नरसिंह—’ अर्थात् हे पराधिप नरसिंह ! जिसका यश राजा (चन्द्र तथा नृप) का भी आक्रमण करके विवृण्मन्त हो रहा है उस आएका वर्णन करने में हम कौन होते हैं ? इस पद्य में ‘राजा’ पद से ‘चन्द्र’ रूप उपमेय की उपरिधिति होती है जिसमें उसी पद से अभिव्यक्त होने वाले नृपरूप उपमान का आरोप है और उस आरोप्यमाण (नृप) का आक्रमण-रूप प्रस्तुत कार्य में उपयोग भी हो रहा है—अर्थात् आक्रमण का कर्म, चन्द्र नहीं, नृप ही हो सकता है अतः यहाँ परिणामालङ्कार ध्वनित होता है (उपमेय के वाच्य होने पर भी प्रकृतोपयोगी उपमान की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा होने के कारण परिणाम, वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य माना जाता है) यह कथा विद्याधर ने अपने ग्रन्थ में कही जिसका खण्डन अण्णप्रीक्षित ने अपने ग्रन्थ में किया । खण्डन करने में उनकी युक्ति यह है कि—आरोप्यमाण-नृप का उपयोग आक्रमणरूप कार्य में अवश्य होता है पर अपने रूप में ही-नृपरूप में ही, उपमेय(चन्द्र)रूप में नहीं, अतः यहाँ परिणाम अलङ्कार नहीं हो सकता, क्योंकि वह यहाँ होता है जहाँ उपमान उपमेय रूप से प्रकृतकार्य में उपयोगी होता हो । इस पर ग्रन्थकार (पण्डितराज) का कथन है कि—दीक्षितजी के द्वारा किया गया उक्त खण्डन उचित नहीं है । कारण, ‘विजृम्भण’ का अर्थ यहाँ केवल प्राप्तिभ्य (शत्रु पर सकल आक्रमण करने से होनेवाला एक प्रकार का हृद्य-विकास) कवि का अभिमत नहीं है । यदि वैसा रहता तब यह कहा जा सकता था कि—यशःकर्तृक (यश द्वारा किये जानेवाले) आक्रमण में नृप नृपरूप से ही उपयोगी (उस आक्रमण का कर्म) होगा । अपि तु यहाँ विजृम्भण का कवि-निवर्धित अर्थ है—सर्वाधिक निमलतारूप गुण में अद्वितीय होने के कारण होनेवाला उत्कर्षविशेष । और आक्रमण का अर्थ तो न्यूनभाव (नीचा दिखाना) ही है । ऐसी स्थिति में इस तरह के विजृम्भण का उपयोगी चन्द्र-कर्मक (चन्द्र के ऊपर किया गया) आक्रमण ही हो सकता है, नृपकर्मक (नृप के ऊपर किया गया) आक्रमण नहीं । अभिप्राय यह हुआ कि—यहाँ चन्द्ररूप नृप को निमलता विषय में नीचा दिखाकर यश का उत्कर्ष (अद्वितीय निमल होना) ही कवि का प्रतिपाद्य है । अतः यह सिद्ध हुआ कि उपमानरूप से अभिव्यक्त होने पर भी नृप का आक्रमण में उपयोग चन्द्ररूप से ही होता है इसलिये विद्याधर ने जो इस पद्य की परिणामालङ्कारध्वनि का उदाहरण कहा वह सुन्दर-उचित ही है । यहाँ भागीश कहते हैं कि—‘विद्याधर की उक्त को सुन्दर बखलाना चिन्तनीय है, क्योंकि यहाँ ‘राजा’ शब्द अनेकार्थक (चन्द्र और नृप दो अर्थवाला) है, ‘विजृम्भणे’ यह क्रियापद भी द्व्यर्थक (प्राप्तिभ्य और निर्मलता के विषय में अद्वितीय होने) कारण होनेवाला उत्कर्षविशेष इन दो अर्थों वाला) है, और तत्किं को सङ्कथित करनेवाला प्रकरण आदि कुछ है नहीं । ऐसी दशा ॥ ‘सर्वदो माधव’ की तरह यहाँ भी दोनों अर्थ (चन्द्र तथा नृप) अनिवार्यता से ही बोधित होंगे, अतः श्लेष का ही उदाहरण है, फिर परिणाम कहाँ ? और नृप की व्यङ्ग्यता कहाँ ? अर्थात् इन दोनों में से एक भी बात यहाँ नहीं है । रहा प्रस्तुत नरसिंह राजा का उत्कर्ष सिद्ध करना, खो वह तो तदीय यशोद्वारा चन्द्र को आक्रान्त करने से किस तरह सिद्ध होता है उसी तरह अपने द्वारा अन्य नृपों को आक्रान्त करने से भी सिद्ध हो ही जाता है । ऐसी स्थिति में राजपद के दो (चन्द्र और नृप) अर्थों के दो प्रकार की विजृम्भण क्रिया में अन्वय होने से ‘राजाभी’ यह द्विवचनान्त प्रयोग होना चाहिए इस आपत्ति का उठाना भी कुछ महत्व नहीं रखता, क्योंकि ‘न प्राहणं हन्यात्’ की तरह एकवचन भी हो सकता है और समाहार द्वन्द्व के विषय में भी कुछ वैयाकरणों ने एकशेष माना है तदनुसार एकशेष करके भी एकवचन की शुद्ध सिद्ध किया जा सकता है ।” इस नायेशोक्ति का खण्डन आंशिक रूप से मद्र मधुरानाथजी ने अपनी टिप्पणी में यों किया है—“‘राजा को आक्रान्त

कर जिस (नृप) का यश विजृम्भित होता है' इस उक्ति में कवि ने शिल्प प्रयोग (राजा) करने का जो प्रयास किया है उससे यह प्राकरणिक अर्थ पर्यवसित होता है कि-‘प्रतिस्पर्धी नृप को आक्रान्त कर जिस तरह यह नृपः विजृम्भित होता है उसी तरह अन्य नृपों के उपमानमूल यश को आक्रान्त कर इस नृप का यश विजृम्भित होता है।’ इस तरह चन्द्र का प्रकरण साफ ज्ञात होता है, अतः उस प्रकरण से ‘राजा पद की शक्ति चन्द्र में अवश्य नियन्त्रित होगी और उसके नियन्त्रित हो जाने पर ‘नृप’ रूप अर्थ व्यङ्ग्य ही होगा, फिर जो नागेश जी ने ‘शक्ति नियन्त्रित नहीं होती, दोनों अर्थ वाच्य ही हैं’ इत्यादि बातें कही हैं वे ठीक नहीं।” (मुझे तो भट्ट जी की व्याख्या के अनुसार भी दोनों ही अर्थ प्राकरणिक प्रतीत होते हैं) उक्त भट्ट जी द्वारा वर्णित आशय को हृदय में रखकर अथवा हिन्दी रसगङ्गाधरकार द्वारा कथित ‘उक्त द्विवचनापत्ति तथा उसके समाधान की छिष्टकल्पना’ को हृदय में रखकर आगे नागेश ने कहा है कि- “अथवा रहे आरोप-अर्थात् चन्द्र और नृप में से एक उपमेय तथा दूसरा आरोपित समझा जाय-तथापि नृप ही आरोप्यमाण (उपमान) और चन्द्र ही उपमेय हो इसमें क्या नियामक हो सकता है? अर्थात् आप जो चन्द्र को उपमेय और नृप को आरोप्यमाण मान कर परिणाम की बात करते हैं, सो यह भी तो माना जा सकता है कि नृप ही उपमेय और चन्द्र ही उपमान हो तब आपका ‘परिणाम’ कैसे होगा? अप्य दीक्षित का भी तात्पर्य इसी युक्ति में है-अर्थात् उन्होंने जो विद्याधर का खण्डन किया है उसका रहस्य भी यही है कि-नृप नहीं, चन्द्र ही यहाँ उपमान है और उसका उपयोग भी आपके हिसाब से अपने रूप में ही होता है, अतः यहाँ परिणाम नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि प्रागल्भ्य भी तो विजृम्भण का अर्थ है अतः नृपरूप से भी नृप आक्रमण में उपयोगी हो ही सकता है, फिर नृप को उपमान मानकर भी परिणाम नहीं सिद्ध किया जा सकता। आप कहेंगे विजृम्भण का जो अर्थ पण्डितराज ने लिखा है वही कवि का भी तात्पर्य विषय है और तदनुसार तो नृप अपने रूप से आक्रमण में उपयोगी होता नहीं, तो इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि पण्डितराजोक्त विजृम्भण पदार्थ में ही कवि का तात्पर्य है इसमें प्रमाण नहीं।” हिन्दी रसगङ्गाधरकार चतुर्वेदी जी यहाँ कहते हैं कि-‘प्रमाण रहे अथवा नहीं, पर विद्याधर का तात्पर्य उसी अर्थ में है, जो पण्डितराज ने लिखा है, अन्यथा परिणाम-ध्वनि की बात यहाँ वे नहीं लिखते।’

दीक्षितोक्तमन्यदपि खण्डयति—

यदपि तैरेव परोक्तिं दूषयित्वा स्वयं परिणामस्य व्यङ्ग्यतायामुक्तम्—

“‘धिराद् विपद्से तापं क्षित ! चिन्ता परित्यज !

नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः ॥’

अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादनखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तमेव निषेवस्व तन्निषेवणादयं तव तापः शान्तिमेप्यतीति परिणामो व्यन्यते” इति, तत्तुच्छम्। ‘आरोप्यमाणस्य विषयात्मकत्वेन प्रकृतकार्योपयोगे परिणामः’ इति स्वयमेवोक्तम्। तत्र प्रकृतकार्योपयोगमात्रं न परिणामशरीरम्। अपि तु विषयिगतायाः प्रकृतकार्योपयोगिताया अवच्छेदकीभूतं विषयताद्रूपम्। एवं चात्र नखचन्द्रसद्भावप्रदर्शनेन तन्निषेवणादयं तव तापः शान्तिमेप्यतीति प्रकृतोपयोगिताया व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदवच्छेदकीभूतस्य विषयिणि विषयताद्रूपस्य परिणामस्य वाक्यवाच्यत्वात् शक्यससर्गत्वाद्वा सर्वथैव न व्यङ्ग्यत्व वक्तुमुचितम्।

तैरेवेति । अप्यदीक्षितैरेवेत्यर्थः । परोक्तिं विशयोक्तिम् । व्यङ्ग्यतायामिति । उदा-

हरणमिति शेषः । तदुक्तमुदाहरणमनुवदति—चिरादिति । हे चित् ! त्वम्, चिरात्, यद्वाः कालात्, तापम् भवानलज्वालात्, विषद्से अनुभवमि, (अतश्चिन्तितस्तिष्ठति) परन्तु तां चिन्तां, परित्यज भुज । शौरेः श्रीकृष्णस्य, यत् पादाब्जम् चरणकमलम्, कमलमद-
श्चरणाविति यावत्, तस्य ये नद्याः तद्रूपचन्द्रमाः, (शौरेः पादाब्जेत्यत्र 'देवदत्तस्य शुरुकुलम्' इतिवत् समासः) ननु निश्चयेन अस्तीति उदर्यः । समारतापाङ्गलस्य पुंस-
स्वमानसं प्रत्युक्तिरियम् । दीक्षितोक्तपरिणामाभ्युपनिषत्तिपादनप्रसारमनुवदति—अत्रेति ।
दीक्षितोक्तं निरूपयति—तत्तुच्छमिति । तुच्छत्वे हेतुमाह—आरोप्यमाणस्वेत्यादिना । विष-
यिगताया इति । उपमाननिष्ठाया इत्यर्थः । विषयतादूप्यमिति । उपमेयतादूप्यम् इत्यर्थः ।
परिणामशरीरमित्यस्यानुपपन्नः । कलितमाह एवं चेति । उक्तस्य परिणामशरीरात्वे चेत्यर्थः ।
वैयाकरणमतेनाह—वाच्येति । नैयायिकमतेनाह—शक्येति । 'चिराद् विषद्से—' इति
श्लोके चिरतापार्तं चित्तं प्रति हरिपादनपञ्चनसद्भाव उक्तः । तेन 'तमेव सेवस्व, तत्सेव-
नादेव ते तापः शान्तौ भविष्यति' इत्याद्यौ व्यज्यते । एष चार्थः परिणामालङ्काररूपः, उप-
मानस्य चन्द्रस्य नखरूपोपमेयात्मकतया तापशान्तिरूपप्रस्तुतकार्ये उपयोगात् । तथा च
परिणामालङ्कारव्यनेहदाहरणं पद्यमिदं भवतीति दीक्षितेभोक्तम् न युक्तम्, विचारासहत्वात् ।
तस्माहि—'उपमानं यत्रोपमेयरूपेण प्रकृतकार्योपयोगि तत्र परिणामः' इति स्वयं दीक्षिते-
नापि कथितम् । तेन केवलस्य प्रकृतकार्योपयोगस्य परिणामस्वरूपत्वं न सिद्धयति, अपि तु
उपमानगतप्रकृतकार्योपयोगितावच्छेदकोपमेयतादूप्यस्य तात्पर्यरूपत्वं सिद्धयति—अर्थात्
प्रकृतकार्योपयोगः उपमाने उपमेयतादूप्यम् चेत्युभयांशस्य परिणामरूपता सिद्धयति । एवं
द्वितीयो परिणामस्य व्यञ्जयताऽत्र न सम्भवति, उक्तोभयांशकपरिणामपटकरुतौपयोगाशस्य
'नखचन्द्रमेवनादमं तस्य तापः शान्तौ भविष्यति' इत्याकारकस्य, नखचन्द्रसद्भाववर्णनेन
व्यञ्जनत्वेऽपि 'उपमाने उपमेयतादूप्यस्याशान्तरसस्य परिणामशरीरपटस्याभ्युपगम्यत्वात् ।
कार्यं तददृष्ट्याभ्युपगम्यत्वं इति चेत् २ वैयाकरणमते पृथक् समासकार्ये श्लोकारेण 'पादाब्ज-
नखचन्द्रमाः' इति समस्तवाक्यस्य नखचन्द्रमणोरिव तदीयतादूप्येऽपि शक्तेः गत्येन तस्य
वाच्यत्वात्, नैयायिकमते पुनः पृथक्शक्येस्वीकारेण तस्य वाच्यत्वविरुद्धेऽपि संगमर्गमा-
द्या भानात् इति भावः ।

दीक्षित द्वारा कथित परिणामाभ्युपनिषत्ति के उदाहरण का अनुवाद कर सज्जन किया जाता है—यद्यपि इत्यादि । अभ्युपनिषत्ति के विद्यापर की उक्ति को दूजिन कर 'चिराद्-
विषद्से—अर्थात् हे चित् ! तू बहुत समय से सन्ताप सह रहा है और चिन्ता कर रहा है, पर मेरा कहना है कि तू चिन्ता करना छोड़ दे । श्रीकृष्ण के चरण-कमल का नख-
रूप शीतल चन्द्रमा मिश्रय ही वर्तमान है ।' हम पद्य को परिणामाभ्युपनिषत्ति का उदाहरण कहा है और उसके उपपादन में लिखा है कि—यहाँ चिरकाल से सन्ताप-पीड़ित चित्त के प्रति 'श्रीकृष्ण के चरणकमल का नखरूपचन्द्र की सत्ता' दिखाने से जो 'उसी का सेवन करो, उसके सेवन से तेरा यह ताप शान्त होगा' यह कार्य भवित होता है वह परिणामालङ्काररूप है, क्योंकि इस अर्थ में उपमान(चन्द्र)का उपयोग उपमेय(नख) रूप से तापशान्तिरूप-प्रस्तुत कार्य से स्पष्ट है । पर उनका यह कथन ठीक नहीं है । कारण, विचार करने पर यहाँ परिणाम का व्यञ्जय होना सिद्ध नहीं होता । देखिए—
उन्होंने स्वयं कहा है कि—उपमान का उपमेयरूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोग होने पर परिणाम होता है ।' इस कथन में केवल प्रस्तुत कार्य में उपयोग परिणाम का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु उपमान में रहनेवाली कार्योपयोगिता का अवच्छेदक—अर्थात् उपयोगिता का विलक्षण परिचायक—उपमेय का तादूप्य ही परिणाम का स्वरूप (लक्षण)

सिद्ध होता है तात्पर्य यह कि-उपयोगिता का नाम परिणाम नहीं, अपि ॥ उपयोगिता के अवच्छेदक ताद्रूप्य का नाम है। सारांश यह निकला कि-कार्योपयोग तथा-उपमान में उपमेय का ताद्रूप्य इन दोनों अंशों का सम्मिलित नाम परिणाम है। ऐसी स्थिति में यहाँ नख-चन्द्र की सत्ता के वर्णन से 'उसके सेवन से तेरा यह ताप शान्त होगा' इस प्रकृत-कार्योपयोगिता-अर्थात् उपमान की उपमेयरूप से प्रस्तुत कार्य में उपयोगिता-की व्यङ्ग्यता सिद्ध होने पर भी, उस उपयोगिता के अवच्छेदक-उपमान में उपमेय के ताद्रूप्य—(जो परिणाम का स्वरूप है) की व्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वह अश अतिरिक्तसमासशक्तिवादी वैवाकरणों के मत से 'पादाब्जनसचन्द्रमाः' इस वाक्य का भाव्य ही होता है, समास पाकि नहीं मानने वाले नैयायिकों के मत से भी वह अश (ताद्रूप्य) शब्दार्थ के सम्बन्धरूप से भासित होता है। सारांश यह कि-जिन दो अंशों को मिलाकर परिणाम का स्वरूप तैयार होता है उन दोनों अंशों में से एक अंश यहाँ अवश्य ही व्यङ्ग्य है, पर दूसरा अश व्यङ्ग्य नहीं है—यह वाक्य अथवा सम्बन्ध रूप है, अतः 'परिणाम (उक्त दो अंशों का मिश्रित स्वरूप) यहाँ व्यङ्ग्य हुआ है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। कलसः यह पद्य परिणाम-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

स्वसम्मत् परिणामध्वन्युदाहरणं दर्शयितुमाह—

इदं तूदाहरणं युक्तम्—

तु पुन, इह निम्ननिर्दिष्टम्, उदाहरणं परिणामध्वनेरिति यावत्, युक्तम् उचित-मित्यर्थः।

परिणामध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित पद्य हो सकता है—

उदाहरण निर्दिशति—

‘इन्दुना परसौन्दर्यसिन्धुना बन्धुना विना।

ममायं विषमस्तापः केन वा शमयिष्यते ॥’

परस्य उत्कृष्टस्य, सौन्दर्यस्य रमणीयताया सिन्धुना सागरेण, (एतेन सौन्दर्य-न्यामृतरूपता ध्वन्यते) अतिशुन्दरेणेति यावत्, बन्धुना बन्धुबद्धितसाधकैनेति यावत्, इन्दुना बन्धेण (रमणीमुखेनेति मन्त्रबोध्यं) विना, विषम अयङ्कर, मम अयम्, तापः विरहताप इति भावः, केन, शमयिष्यते शान्तो विधास्यते, काङ्क्षा न केनापीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—इन्दुना इत्यादि। परम सौन्दर्य के समुद्र में बन्धु चन्द्रमा के विना (व्यञ्जनया सुन्दर रमणीमुख के विना) मेरा यह विषम ताप (विरहताप) अन्य किस से दूर किया जा सकता है ?

उपपादयति—

अत्र वक्तुर्विरहितया ध्वज्यमानरमणीवदनाभिज्ञत्वेनेन्दुरभिप्रेतः। तेन रूपे-नैव तस्य प्रकृतविरहसन्तापशमनहेतुत्वात्।

‘इन्दुना—’ इति पद्यस्य विरही प्रकरणप्राप्तो वक्ता। विरहिणो विरहजन्यतापस्य शमक चन्द्र चन्द्रत्वेन रूपेण न सम्भवति, तस्योद्दीपकत्वेन स्वरूपतो विरहतापवर्षकत्वात्। अतोऽत्र प्रेयसीमुखाभिज्ञ (तद्रूप) चन्द्रो वक्तुर्विवक्षितः। प्रेयसीमुखव नाम वाच्यम्, अपि तु वक्तुर्विरहेण प्रकरणशामेन व्यङ्ग्यम्। तथा च वाच्यस्य चन्द्ररूपोपमानस्य व्यङ्ग्यरमणीमुखरूपोपमेयात्मकत्वेन तापशान्तानुपपत्त्युज्यमानत्वात्परिणामध्वनिरिति भावः।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘इन्दुना—’ इस पद्य का वक्ता प्रकरणप्राप्त विरही है। अतः ध्वनित होनेवाले सुन्दरी-मुख से अभिज्ञ रूपमें चन्द्र अभिमत है। तात्पर्य यह कि-विरही वक्ता को सुन्दरी-मुखचन्द्र चाहिए, यह प्रसिद्ध चन्द्र नहीं।

कारण, विरहताप को चन्द्र रमणीमुखरूप से ही क्षान्त कर सकता है, अपने रूप से (चन्द्ररूप से) नहीं । अभिप्राय यह कि-यहाँ व्यङ्ग्य(उपमेय)रमणीमुखरूप से, वाच्य उपमान(चन्द्र), तापशान्तिरूप-प्रस्तुत कार्य में उपयोगी होता है, अतः यह पद्य परिणाम-ध्वनि का उदाहरण है ।

अत्रातिशयोक्तिमाशङ्क्य निरुद्धते—

न चात्र विषयनिगारणात्मिकातिशयोक्तिर्वक्तुं शक्या, तस्यां ह्यारोप्यमाणाभिन्नत्वेन विषयस्य प्रत्ययात् । यथा 'कमलं कनकलतायाम्' इत्यादी कनकलताऽभिज्ञायां वनितायां कमलामिन्नं मुख्यमिति ।

अतिशयोक्तेरेको भेदस्तादृशः सर्वसम्मतो यत्र विषयः (उपमेयभूत पदार्थः) निर्गोपितप्रति-अर्थात् उपमेयबोधोपयिष्योपमानवाचकपदमेवोपात्तं भवति, उपमेयवाचकं पदं न । सोऽतिशयोक्तेर्भेद एव 'इन्दुना—' इत्यत्र कुतो नाङ्गीक्रियते ? अत्रापि उपमेय-तात्पर्योपमानमात्रोपादानादिति शङ्कादलस्याशयः । अतिशयोक्तौ उपमानाभिन्नत्वेनोपमेयस्य प्रतीतिर्भवति-अर्थात् उपमानप्रतियोगिकामेद उपमेये गृह्यते, यथा 'कनकलताया कमलम्' इत्यत्र सुवर्णलताभिजाया कामिन्या कमलाभिन्नं मुख्यमिति प्रतीयते-अर्थात् 'कनक—' इत्यत्र कनकलताकमल्योरुपमानभूतपदार्थयोः अभेद कामिनीतन्मुखयोरुपमेयभूतयोः पदार्थयोर्विज्ञायते । अतः तत्रातिशयोक्तेरेको भेदः सम्भवति, प्रकृते तु नैति च समाधानाशयः ।

यहाँ अतिशयोक्ति की जासङ्का करके उसका समाधान किया जाता है-न च इत्थादि । 'इन्दुना—' इस पद्य में प्रतिज्ञा व्यङ्ग्य नहीं है, किन्तु वाच्य अतिशयोक्ति है, क्योंकि यहाँ उपमान-वाच्य-के द्वारा उपमेय-मुख-का निगारण है, मुख का बोध कराने के लिये ही चन्द्र पद प्रयुक्त हुआ है ऐसी भासङ्का भी उचित नहीं । कारण, अतिशयोक्ति में उपमेय की प्रतीति उपमान से अभिन्नरूप में होती है । जैसे—'कनकलता में कमल' यहाँ 'कनकलता से अभिन्न कामिनी में कमल से अभिन्न मुख' यह प्रतीति होती है ।

ननु प्रकृते कीदृशी प्रतीतिर्योऽतिशयोक्तेः प्रतिक्रिया परिणामस्य काङ्क्षतेति चेत् ? तादृशीम् प्रतीतिमुपपादयति—

इह तु मुख्यस्य चन्द्राभिन्नत्वेन प्रत्यये न पुनर्विरहतापशमनरूपप्रकृतकार्य-सिद्धिरिति चन्द्रस्यारोप्यमाणस्य मुख्यरूपविषयाभिन्नत्वं सूक्ष्मम् । तच्च व्यङ्ग्य-तायामेव भवतीति परिणामध्वनिरेवायम्, नातिशयोक्तिः ।

सूक्ष्मेवेतिव्यम् । तच्च तदभिन्नत्वम् । व्यङ्ग्यतायामिति । परिणामस्य व्यङ्ग्यता-यामिति भावः । उपमेयस्य व्यङ्ग्यता तन्मयोस्तुत्यैवेति बोध्यम् । 'इन्दुना—' इति पद्ये उपमानस्य चन्द्रस्योपमेयभूतमुखाभिन्नत्वं गृह्यते, अर्थात् मुख्यप्रतियोगिकामेदाध्यध्वन्द्र इत्येवोचितत्वात्प्रतीतिः, ननु मुख्यरूपस्योपमेयस्य चन्द्ररूपोपमानाभिन्नत्वं गृह्यते—अर्थात् चन्द्रप्रतियोगिकामेदाधमभूतं मुखम् इति प्रतीतिर्न भवति, यतः तादृशप्रतीतौ मुखस्यापि चन्द्ररूपतासिद्धौ प्रस्तुतस्य विरहतापशान्तिरूपस्य कार्यस्य पूर्तिर्न भवितुमर्हेत्, चन्द्र-रूपोऽयम् इति बुद्धेरपि चन्द्रोऽयम् इति बुद्धिर्न विरहतापकालत्वस्वैवानुभवसिद्धान्तः । एवमोपमानप्रतियोगिकामेदाध्यध्वन्योपमेयप्रतीतिमूलकातिशयोक्तिर्नैव सम्भवदुक्तिका । परिणामस्तु प्रकृतकार्योपमोपमेयप्रतियोगि-उपमानाध्यध्वन्यमामेदप्रतीतिमूलकः सम्भवदुक्तिक एव । स च परिणामोऽत्र वाच्यः, उपमेयस्यावाच्यत्वात् अपि तु व्यङ्ग्यः, उपमाननिष्ठ-

तादात्म्यप्रतियोग्युपमेयस्य व्यङ्ग्यत्व एव 'परिणामो व्यङ्ग्यः' इति व्यवहारात् । तथा च परिणामध्वनिरत्र मुख्य इति भावः ।

प्रकृत पद्य से कैसे प्रतीति होती है जो अतिशयोक्ति के प्रतिकूल पड़ती है और परिणाम के अनुकूल ? तथा वैसी ही प्रतीति क्यों होती है ? इन जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये कहा जाता है—इह तु इत्यादि । 'इन्दुना—' इस पद्य से चन्द्ररूप उपमान मुख्यरूप उपमेय का अभेद प्रतीत होता है, क्योंकि वही समुचित है और औचित्य यह है कि—उस प्रतीति से चन्द्र को मुख्यरूप समझना फलित होता है जिससे विरह-तापशान्तिरूप प्रस्तुत कार्य की सिद्धि होती है । प्रेयसीमुखदर्शन से विरहशान्ति अनुभव-सिद्ध है । मुख्यरूप उपमेय में चन्द्ररूप उपमान का अभेद तो यहाँ प्रतीयमान माना नहीं जा सकता, क्योंकि उस तरह की प्रतीति से मुख को भी चन्द्ररूप समझना फलित होगा और 'चन्द्ररूप यह है' इस तरह की प्रतीति होने पर उक्त प्रस्तुत कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती—अर्थात् किसी को चन्द्ररूप समझ लेने पर विरहियों की ताप-वृद्धि ही अनुभवसिद्ध है । ऐसी स्थिति में यहाँ वह अतिशयोक्ति हो नहीं सकती जिसके लिये उपमेय में उपमारूपता की प्रतीति निश्चित अपेक्षित है । हाँ, वह परिणाम अवश्य हो सकता है जिसके लिये उपमान में उपमेयरूपता की प्रतीति अपेक्षित रहती है और उपमेयरूप में ही उपमान का प्रस्तुत कार्योपयोगी होना अपेक्षित ही रहता है । पर यहाँ का यह परिणाम वाच्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस पर चमत्कार निर्भर है वह उपमेय यहाँ वाच्य नहीं है, व्यङ्ग्य वह यहाँ कहा जा सकता है, क्योंकि जिसका तादात्म्य गृहीत होने से चमत्कार उत्पन्न होता है उस उपमेय के व्यङ्ग्य होने पर ही व्यङ्ग्य परिणाम का व्यवहार होता है । अतः यहाँ परिणाम ध्वनि है अतिशयोक्ति नहीं, वह सारांश समझना चाहिये ।

ध्वनि विशेषतः प्रकृतध्वने. स्फोरयति—

अथ त्वर्थशक्तिमूलः ।

'इन्दुना—' इति श्लोकगत परिणामध्वनि अर्थशक्तिमूल, पदानां परिश्रुतिसहत्वा-दिति भावः ।

'इन्दुना—' इस पद्य में होनेवाली परिणामध्वनि अर्थशक्तिमूलक है, क्योंकि यहाँ के पद्य परिश्रुतिसह हैं—बढ़ते जा सकते हैं । सारांश यह कि जहाँ शब्द बढ़ने योग्य रहते हैं—अर्थात् जहाँ जिन शब्दों के स्थान पर तत्पर्याय दूसरे शब्दों को रखने पर भी ध्वनि होती ही रहे—वहाँ वे शब्द ध्वनिसाधक होते नहीं, अपितु यह अर्थ ध्वनिसाधक सिद्ध होता है, अतः यहाँ की ध्वनि अर्थशक्तिमूलक कहलाती है ।

भेदान्तरमुदाहरणमाह—

शब्दशक्तिमूलपरिणामध्वनिर्यथा—

शब्दशक्तिमूलक परिणामध्वनि का उदाहरण जैसे—

उदाहरण निर्दिशति—

'पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि ।

पयोधरं समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः ॥'

हे मन्दमते मन्दबुद्धे, पान्थ पथिक ! विरहिन् ! इति यावत्, त्वम्, किम् किमर्थम्, सन्तापं प्रवृत्त दाहम्, अनुविन्दसि प्राप्नोसि ? पयोधर मेघं (वस्तुतः स्तनम्), समा-शास्व, (तस्याश्रुतं वृक्ष इति समुदितार्थ), येन आशाविशेषेण, शान्तिम्, अवाप्नुया-न्ममेवा इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—पान्थ इत्यादि । हे मन्दबुद्धिवाले पथिक ! तु क्यों सन्ताप पा रहा है ? शीघ्र पयोधर (मेघ वस्तुतः स्तन) की आज्ञा कर, जिससे कि शान्तिप्राप्त हो ।

उपपादयति—

अत्र भगिति तापशमहेतुत्वेनोपस्थिते पञ्चान्मद-(मति-पद)-बोधनीयविशेष्यकस्मरतापवत्तावैशिष्ट्यबुद्धौ सत्यां सद्दयस्य तादृशतापशमकरमणीस्तनरूपविषयताद्रूप्यबुद्धिर्भवति ।

भगिति शीघ्रम् । उपस्थिते इति । मेघे इति भावः । अर्थ भावः—‘पान्थ—’इत्यत्र पयोधरपदार्थ प्रथमं तापशान्तिकारणत्वेन प्रसिद्धो मेघरूपार्थ उपस्थितौ भवति, ततः ‘मन्दमते’ इति सम्बोधनस्य ‘विरहतापशान्त्युपायान्वधारणेन तत्र बुद्धौ मन्दता’ इत्यर्था-नुमन्धानेन ‘विरहो स्मरतापवत्तावैशिष्ट्य’ इत्याकारके मन्दमतिपदबोधविरहिर्बिशेष्यक-स्मरतापवत्तावैशिष्ट्यज्ञाने सति सद्दयस्य प्रागभिव्योपस्थिते पयोधरपदार्थरूपे उपमाने स्मरतापशमनकारणकामिनीस्तनरूपोपमेयतादात्म्यं बुध्यते इति । प्रागभिव्योपस्थितः पयोधरपदार्थो मेघोऽत्रोपमानम्, पश्चाद् व्यञ्जनयोपस्थितः पयोधरपदार्थ एव रमणीस्तन उपमेयः, अन्वयोश्च तादात्म्यमत्र भासते, तत्रोपमेयं तादात्म्यस्य प्रतियोगी, ताप्रतियोगि-कतादात्म्येनैव प्रकृतस्मरतापशान्तिकार्यसिद्धिसम्भवात्, उपमानश्च तादात्म्यस्याश्रयः । तथा च प्रकृतकार्योपयोगितावच्छेदकोपमाननिष्ठोपमेयप्रतियोगिकतादात्म्यप्रतीत्या परिणाम-रूपः, स चोपमेयस्य व्यञ्जनत्वेन व्याज्य इति परिणामध्वनिः पयोधरपदस्य परिवृत्त्यमह-तया शब्दरात्मिकमूल इति स्पष्टार्थः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘पान्थ मन्दमते—’ इस पद में तापशान्ति के कारणरूप में प्रसिद्ध होवे के कारण, प्रथमतः ‘पयोधर’ पद से मेघरूप अर्थ अभिधा-बुद्धि द्वारा उपस्थित होता है । परन्तु वाद में जब ‘मन्दमति’ इस सम्बोधन की ओर प्यान जाता है और तापशान्ति का उपाय न सोच सकने के कारण विरही मन्दबुद्धि है यह विवक्षित हो जाता है तब बनायास ही मन्दमति पद से अवगत होनेवाला-विरही—जिसमें विशेष्य होता है और काम ताप जिसमें विशेषण होता है ऐसा—अर्थात् ‘विरही कामतापवाला है’ इस तरह का बोध हो जाता है, और इस बोध के हो जानेपर स्थाना द्वारा कामतापशमकरूप में पयोधर पद से ही उपस्थित होनेवाले कामिनीस्तनरूप उपमेय का तादात्म्य उसी पद से अभिधाद्वारा पहले उपस्थित मेघरूप उपमान में सद्दय को ज्ञात होता है । कहने का साराण यह कि—अभिधाद्वारा उपस्थित मेघरूप पयोधर पदार्थ उपमान है और व्यञ्जना द्वारा उपस्थित पयोधर पद का ही अर्थ—कामिनी-स्तन उपमेय है । इन दोनों में से उपमेय का ही ताद्रूप्य उपमान में यहाँ प्रतीत होता है, उपमान का ताद्रूप्य उपमेय में नहीं, क्योंकि उपमेय(स्तन)से अभिध उपमान(मेघ) को समझने से ही कामतापशान्तिकार्य कार्य की सिद्धि हो सकती है, मेघरूप उपमान से अभिध स्तनरूप उपमेय को समझने से नहीं । ऐसी स्थिति में परिणाम यहाँ स्पष्ट है और वह स्पष्ट इसलिये माना जाता है कि—उपमेय व्यञ्ज्य है । फलतः परिणामध्वनि का उदाहरण यह पद्य ठीक है । यह ध्वनि सन्दर्भकमूलक इसलिये मानी जाती है कि—‘पयोधर’ पद यहाँ परिवर्तित होने योग्य नहीं है ।

परिणामगतदोषपरिचायनावाह—

दोषाश्चात्रापि पूर्ववदुन्नेयाः ।

हृपके यथा ये लिङ्गमेदादयो दोषा उक्तास्ते तथैवात्रापि बोध्या इति भावः ।

रूपक में जो लिङ्गभेद आदि दोष बतलाए गए हैं वे ही सब दोष परिणाम में भी हो सकते हैं यह समझ लेना चाहिए ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकाया परिणामालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

परिणामालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं ससन्देहालङ्कारनिरूपणं कर्तव्यत्वेन प्रतिजानीते—

अथ ससन्देहः—

अथेति । परिणामालङ्कारनिरूपणानन्तरमित्यर्थः । ससन्देहः । तदाख्योऽलङ्कारः । अनिरूप्यते इति शेषः ।

‘परिणाम’ का निरूपण कर लेने के बाद अब ‘ससन्देह’ का निरूपण किया जाता है—

तत्र तावत्तल्लक्षणमाह—

सादृश्यमूला भासमानविरोधका समवला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया ससन्देहालङ्कृतिः ।

सादृश्यमूलेति । सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्येत्यर्थः । भासमानेति । भासमान = विषयी-भवनं विरोधी यस्याम् सा भासमानविरोधा, ततः समाप्तान्ते कप्रत्यये, पूर्वाकारस्य हृस्वत्वे, टापि ययौक रूपं सिद्धयति । धकारोत्तराकारस्येत्वं तु वैकल्पिकत्वान्नेति भावः । समबलेति । समानकोटिद्वयभासकसामग्रीजन्येत्यर्थः । नानेति । स्फुटत्वार्थमिदम् । कोट्य-वगाहिनीति । विद्वद्धानेकधर्मनिपयिणीति । समुदितार्थः । धी । बुद्धिरित्यर्थः । रमणी-येति । चमत्कारकरीत्यर्थः । ससन्देहालङ्कृतिरिति । सादृश्यधीवृत्तिससन्देहत्वप्रकारक-ज्ञान-विषया बुद्धिः ससन्देहालङ्कृतिरिति विवक्षितोऽर्थः । ईदृशविवक्षाफलं प्रथमोदाहरणव्याख्याया स्फुटीभविष्यति ।

सर्वप्रथम ससन्देह का लक्षण किया जाता है—सादृश्यमूलेत्यादि । सादृश्य-ज्ञान-रूप दोष से होनेवाला एवं जिसमें विरोध भासित होता हो और जिसमें अनेक कोटियों को भासित करनेवाली सामग्री (कारणसमूह) समानबलशालिनी हो ऐसा अनेक कोटियों (धर्मविरोधों) का अवगाहन करनेवाला ज्ञान, सुन्दर होने पर, ‘ससन्देह’ अलङ्कार कहलाता है । तात्पर्य यह कि उक्त तरह के सन्देह पदार्थ का ज्ञान ‘ससन्देह’ अलङ्कार होता है । इस तरह के तात्पर्य वर्णन का कल उदाहरण की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा ।

पदकृत्यान्याह—

‘अविरोप्य हरस्य हन्त चापं परितार्पं प्रशमय्य बान्धवानाम् ।

परिषेव्यति वा न वा युवाऽयं निरपायं मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ॥’

अत्र मिथिलास्थजनोंको तच्चिन्तामिव्यक्तके संशयमात्रेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यमूलेति । सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्येत्यर्थः । तेन ‘सिंहवत् प्रान्तरं गच्छ गृहं सेवस्व वा श्ववत्’ इत्युपमाविकल्पे धाकारप्रतीतिविरोधकप्रान्तरगमन-गृहसेवन रूपनानाधर्मावगाहिनि सादृश्यविषयकेऽपि नातिप्रसङ्गः । तस्य सादृश्यज्ञानरूपत्वात् । मालारूपकतिप्रसङ्गवारणाय भासमानविरोधकेति । उत्प्रे-क्षाव्यावृत्तये समबलेति समानभासकसामग्रीत्वार्थकम् । एतद्विशेषणद्वयप्राप्तस्यैवानेकत्वस्य स्फुटत्वार्थं नानेति । स्यात्पूर्वा पुरुषो वेति लौकिकसशयनिवृत्तये रमणीयेति, चमत्कारिणीत्यर्थः । एतच्च विशेषणं सामान्यालङ्कारलक्षणप्राप्तमेव ।

एवमुपस्कारकत्वमपि बोध्यम् । एतद्विशेषणद्वयस्य सादृश्यमूलत्वस्य चाभावे संशयमात्रमेव ।

सादृश्यमूलेतिविशेषणफलमभिप्रायं पश्यमुपन्यस्यति—अधिरोप्य इति । अयं दृगो-
चरीभूतः, युषा युवकः रामचन्द्र इति यावत्, हरस्य शम्भोः, चापं धनुः, अधिरोप्य
आकृष्य, बान्धवानां विश्वामित्रादीन्वम्, परित्यापं चिन्ताविरोधम्, प्रशमय्य शम्भ-
मित्वा, च, मिथित्वभिनायस्य जनकस्य, पुत्रीं तनयाम् सीतामिति यावत्, निरपार्यं
निर्यग्रम् यथा स्वातया, परिरोप्यति विवाहमिच्छति, न वा अथवा न विवाहमिच्छति
इति तदर्थः । हन्त इति खेदे । खेदश्चाभिमतसीतारामपरिणयसंशयजन्य इति बोध्यम् ।
वक्तव्यमुपपादयति—अत्रेत्यादिना । तद्विन्तेति । निमित्तात्पर्यजनचिन्तेत्यर्थः । संशय-
मात्रे इति । अलङ्कारत्वरहिते संशये इत्यर्थः । ‘अधिरोप्य’ इत्यत्र रामचन्द्रकृतकर्मक-
परिणयतदभावकूपविद्वद्कोटिज्ञानरूपं मन्देहो यद्यपि वर्णितस्तथापि नासादवद्वारः तस्य
चिन्तामूलकत्वेन सादृश्यमूलकत्वाभावात् । ईदृशसन्देहकारणायैव कथञ्चे सादृश्यमूलत्वौ-
फिरिति भावः । यद्यपि प्रकृतपक्षे संशयस्य न सादृश्यमूलत्वमिति यथाश्रुतेनैव कारणं
सम्भवति, तथाप्यन्यथाप्यदोषाय सादृश्यमूलेति विशेषणस्यविशेषमाह—सादृश्य-
ज्ञानेति । ‘इदमस्य सदृशम्’ इत्यादाकारकं यत् सादृश्यज्ञानम् तद्वृत्तौ यो बोधः तज्जन्यः
ज्ञानविशेष इति तदर्थः । एतादृशार्थकरणफलमाह—तेनेति । तयार्थविवशरणेनेत्यर्थः ।
‘सिंहवद्—’ इति । ‘सिंहो यथाऽरण्यं गच्छति तथा त्वमस्य गच्छि, अप्रया या कुक्कुरः,
यथा गृहं सेवते तथा त्वमपि गृहं सेवस्व’ इत्यर्थः । उपमाविकल्पोऽयम् । अत्र ‘वा’
पदेन विरोधः, अरण्यगमनगृहसेवनरूपद्वयस्य सादृश्यं च विपक्षतया भासन्ते इति
यथाश्रुतसन्देहलक्षणमत्रापि प्रसज्येत अतः ‘सादृश्यमूला’ इत्यस्यार्थविशेषणमावरणकं
जातम्, तादृशार्थकरणे तु नात्रोपमाविकल्पे कथञ्चातिप्रसङ्गि, तस्योपमाविकल्पस्य
सादृश्यज्ञानरूपत्वेन सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्यत्वविरहात् इति भावः । भासमानेतिविशेषण-
व्यावर्त्यं दर्शयितुं प्रक्रमते—मातारूपकेति । ‘भर्मेत्यान्मा मागधेयं क्षमायाः सारं सृष्टेः’
इत्यादावित्यर्थः । सादृश्यज्ञानरूपदोषजन्यं राजधर्मिकम् धर्मात्मनस्समाभागेयत्व-
सादृश्यरूपेणानाधर्मिकं ज्ञानं यद्यपि अत्र वर्णितम् तथापि न तत्र संशयरूपं प्रोक्ताना-
धर्माणां मिथोविरोधमावेन ‘भासमानविरोधक’ इति विशेषणेन कारणम् इति भावः ।
सम्बलेतिविशेषणफलं दर्शयितुं चेष्टते—उन्नेहोति । ‘भूतस्तोमं तम शङ्के’ इत्यादा-
वित्यर्थः । ननु धोविशेषणतयोक्तमपि सम्बलत्वं वस्तुतः कोट्योरेव पर्यवस्यते तथा च
अयं तेन विशेषणेनोपेक्षाव्यावृत्तिः, तत्रापि तयोस्तुल्यबलत्वस्य सत्त्वादव आह—
समानेति । समाना = समानस्थितिः, भासिका = कोटिद्वयमानजनिका सामग्री यस्या
पिस्तत्सादृशी धारित्वार्थः । तथा च कोटिद्वयभासकसामप्रमाणः सम्बलत्वं विवक्षितम्,
न तु कोटिद्वयस्येति भावः । एवञ्च वस्तुतो धोविशेषणमेव सम्बलेति सावधानः ।
अयमभिप्रायः—आहार्यसम्भावनालिकाया ‘भूतस्तोमं तम शङ्के’ इत्याद्युपेक्षायां तम-
आदिविशेषकोटिभासिका सामग्री उत्पद्य, विवेकाशे आहार्यस्यार्थवद्वेष्टाकारहेतोर्वेष्ट-
त्वात्, तथा च तत्रत्या धोर्न कोटिद्वयभासकसम्बलज्ञानमधोवन्नेति तद्वारणाय तदर्थकं
‘सम्बल’ इति विशेषणमिति । ‘समानं भासते तादृशी । भासनाविशयकसामग्री समाना
भवेदित्यारायः’ इति सरलाकारस्य भट्टमहोदयस्य विवरणं वस्तुतत्वं कियत् स्पष्टतरोति
दार्शनिकैः साहित्यिकैश्चधारणीयम् । नन्वेवं नानेति व्यर्थमेव आह—एतद्विशेषणद्वयेति ।

‘भासमानविरोधका’ ‘समबला’ इति विशेषणद्वयेन्यर्थः । अनेकत्वस्येति । अनेकधर्मस्य संशयस्येन्यर्थः । रमणीयेति विशेषणफल प्रदर्शयितुमाह—स्याणुरिति । ‘स्याणुर्वा पुरुषो वा’ इति ज्ञानं यद्यप्युक्तसंशयलक्षणान्तरम्, तथापि नालङ्काररूपम्, तस्य लौकिकत्वेन (बहिर्प्रतिमाऽनुत्पादितत्वेन) अचमत्कारित्वात् । एतद्वारणायैव लक्षणे ‘रमणीया’ इति विशेषणप्रवेश इति भावः । नेदं विशेषणमत्र विरोधतो निवेशनीयम्, उपस्कारकत्वस्य रमणीयत्वस्य च मङ्गलालङ्कारलक्षणेषु सामान्यतो निवेशस्य प्रागुक्तत्वादित्याह—एतच्चेति । पर्यवसितमाह—एतदिति । रमणीयवोपस्कारकत्वद्वयेन्यर्थः । यः संशयो रमणीयः, उपस्कारकः, सादर्यमूलो वा न भवेत्, स केवलः संशयः, नालङ्कार इति भावः ।

उक्त ससन्देहालङ्कार के लक्षण में दिए गए विशेषणों के फल दिखालाये जाते हैं—अधिरोष्य इत्यादि । ‘अधिरोष्य—अर्थात् हाथ । शिवजी के अनुप को चढ़ाकर और विश्वामित्र आदि बान्धवों का सन्ताप शांत कर यह युवक (रामचन्द्र) जनरुतनया सीता को निविष्टन व्याहृता अथवा नहीं ?’ मिथिलापुरी के निवासियों की इस छक्ति में, उनकी (मिथिलावासियों की) चिन्ता को अभिव्यक्त करनेवाले शुद्ध (अलङ्कार-शून्य) सन्देह में प्राप्त अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिये लक्षण में ‘सादर्यमूला’ यह विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है ‘सादर्यज्ञानरूपदोष से वरपन्न होनेवाली’ । ऐसा अर्थ करने का फल यह है कि ‘सिंहवत्—अर्थात् सिंह की तरह निर्जन वन में चला जा अथवा कुत्ते की तरह घर की सेवा करता रहा’ इस उपमा-विकल्प (जो तरह के सादर्यों का पाक्षिक ज्ञान) में उक्त लक्षण की अतिप्रसङ्ग नहीं होती, क्योंकि यह विकल्प सादर्यज्ञानरूप ही है, सादर्य-ज्ञान-रूप-दोष से उत्पन्न होनेवाला नहीं । यदि ऐसा अर्थ नहीं किया जाता तब तो उक्त उपमा-विकल्प में अतिप्रसङ्ग हो ही जाता, क्योंकि वह भी—‘वा’ (अथवा) इत्य से जिनमें विरोध की प्रतीति होती है ऐसे वनगमन तथा गृहसेवन रूप अनेक धर्मों (कोटियों) का अवगाहन करनेवाला—और सादर्य के विषय में होनेवाला ज्ञानरूप है । सारांश यह कि—‘सादर्यमूला’ इस विशेषण का ‘सादर्य जिसके मूल में हो ऐसी’ यह जो अर्थ आपाततः ज्ञात होता है उससे भी ‘अधिरोष्य—’ इस पद्य में अतिप्रसङ्ग का वारण हो जा सकता है, क्योंकि वहाँ के सन्देह के मूल में सादर्य नहीं अपितु चिन्ता है, तथापि ‘सिंहवत्—’ इत्यादि स्थलों पर अतिप्रसङ्गवारणार्थ उसका पूर्वोक्त अर्थ करना पड़ता है, क्योंकि आपाततः ज्ञात होनेवाले अर्थ से यहाँ काम नहीं चल सकता था । कारण, इस उपमा-विकल्प के मूल में सादर्य है ही । फलतः उक्त दोनों ही स्थलों में अतिप्रसङ्ग का वारण उक्तार्थक उक्त विशेषण का फल होता है ‘यह राजा धर्म की आत्मा, चमा का भाग्य और सुष्टि का सार है’ इत्यादि ‘मालारूपक’ में भी समानबल, सादर्यमूलक, अनेककोट्यवगाही ज्ञान होता है । उसमें प्राप्त अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिये लक्षण में ‘भासमान-विरोधका’ यह विशेषण जोड़ा गया है । ‘मालारूपक’ में भासित होनेवाले अनेक धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं रहते, अतः उक्त विशेषण से उसका वारण हो जाता है । ‘धूम-स्तोम तम शङ्के—अर्थात् तम में धूमममूह की शङ्का करता हूँ’ इत्यादि उल्लेख में अतिप्रसङ्ग का वारण करने के लिये लक्षण में ‘समबला’ यह विशेषण दिया गया है । आप कहेंगे—उक्त विशेषण शब्दतः यद्यपि ‘धी.’ में दिया गया है, तथापि अर्थात् यह ‘होतिद्वय’ का ही विशेषण होगा—अर्थात् उक्त विशेषण का फलितार्थ यही होगा कि ‘जिस ज्ञान में समानबलवाली दो कोटियाँ भास्मिन् हों ।’ ऐसी स्थिति में उक्त विशेषण में उक्त उल्लेख का वारण कैसे होगा ? क्योंकि वहाँ भी दोनों (तम तथा धूम) कोटियाँ समानबलशालिनी हैं, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि ‘समबल’ यह ज्ञान का ही विशेषण है, होतिद्वय का नहीं और उसका अर्थ है ‘जिस ज्ञान में

दोनों कोटियों को यासित करनेवाली सामग्री (कारण समूह) समान—तुल्यबल—हो । अथ भाव देंते कि उक्त उत्प्रेषा का कारण उससे होता है कि नहीं । अवश्य होता है, क्योंकि उत्प्रेषा आहार्य (याधित होकर भी इच्छाजन्य) सम्भावनारूप होती है, अतः वहाँ दो कोटियों को यामित करने वाली सामग्री के जन्यगत उत्प्रेषा करनेवाले की इच्छा भी एक है और वह इच्छा विशेषकोटि में उत्कट है—अर्थात् उत्प्रेषक में धूम-समूह के भान की जैसी उत्कट इच्छा है वैसी तम के भान की नहीं—अतएव तो वह यस्तुतः तम की धूमवेन सम्भावना करता है । इस तरह यद्यपि 'भाममानविरोधका' तथा 'समबला' इन दोनों विशेषणों से ही ज्ञात हो जाता है कि—'जिस ज्ञान में अनेक कोटि हों', तथापि उक्त दोनों विशेषणों से प्राप्त हुई कोटियों की अनेकता को स्पष्ट करने के लिये 'कोटि' में 'ताना' (अनेक) विशेषण कहा गया है । 'स्थानुकां पुरुषो वा—अर्थात् दूँत है अथवा महुष्य है' इस लौकिक सन्देह की निवृत्ति के लिये लक्षण में 'रमणीया' यह कहा गया है, जिसका अर्थ है 'चमत्कारयुक्त' । उक्त लौकिक सन्देह चमत्कार-युक्त नहीं, अतः उसका उक्त विशेषण से कारण हो जाता है । यह (रमणीय) विशेषण भलङ्कार-सामान्य के लक्षण से प्राप्त है—अर्थात् चमत्कारयुक्त पदार्थ ही भलङ्कार कहलाता है यह बात सभी भलङ्कारों के लिये समझनी चाहिये, उसी बात की याद दिलाने के लिये वहाँ 'रमणीया' कह दिया गया है । फलतः यह लक्षण का कोई पास अर्थ नहीं है । इसी तरह 'उपस्कारका' भी सभी भलङ्कारों के लिये सामान्य विशेषण समझना चाहिए—अर्थात् जो पदार्थ स्वयं गौण रहकर किसी प्रधान अर्थ को शोभित करनेवाला होता है वही भलङ्कार कहलाता है यह बात सामान्य से सभी भलङ्कारों में समझ लेनी चाहिए । इन दोनों विशेषणों में से एक भी यदि सह्युत नहीं होता हो और इन दोनों के सह्युत होते रहने पर भी यदि सादृश्य-ज्ञान-रूपदोष से उत्पन्न न हुआ हो तो अपेक्षित अन्य बातों के रहने पर वह ज्ञान विशेष सशय कहा जा सकता है, ससन्देहालङ्कार नहीं ।

ननु सशये विरोधो न भासते मानामावात् । किन्त्विविरोधित्वज्ञानानावविशिष्टनाना-
कीदिकज्ञानमेव संशय इति कुत उक्तलक्षणमित्यतो लक्षणान्तरमाह—

यद्वा 'सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धी रमणीया संशया-
लङ्कृतिः' ।

निश्चयसम्भावनोभयभेदस्यैकस्मिन् निश्चये सम्भावने च सत्त्वात्तयोक्तौ तत्रातिप्रसङ्गा-
भत्तेराह—अन्यतरेति । तथा च सम्भावनाभिन्नत्वे सति निश्चयभिन्नत्वमित्यप्यलम्भाच्च
रूपकोप्रेक्षादावतिप्रसङ्गस्तत्र निश्चयसम्भावनान्यतत्त्वस्यैव सत्त्वादिति भावः । तत्रालिनेत्रं
वेति बाष्पाद्विरोधभावन्यादिमतेऽस्त्वित्वाद्यमस्त्विविद्वदनेप्रत्ययानिति विशिष्टवेदिष्टपन्था-
यैन, एकत्र द्वयमिति न्यायेन वा बोधः । अलिखन्दस्य च पाराब्दसमभिव्याहारे उभयप्रा-
न्वयः । व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । केचित्तु पाराब्दद्वयवस्त्वलिखविद्वदनेत्रत्वानर्थं नेत्रत्वविद्वत्ता-
स्त्वित्वानिति बोधमाहुः । तदभावादेतत् अलिखत्वानर्थं नेत्रत्ववाभिति बोधः । समुच्चये
स्वेतन्मतेऽविरोधनाम्नादौकार्यमिति दिक् ।

यदि कहा जाय कि—सन्देह में विरोध नहीं भासित होता । कारण, वहाँ उसके
भासित होने में कोई प्रमाण नहीं है । अतः सन्देह उस ज्ञान को कहना चाहिए जिसमें
ऐसे दो धर्म—जिनके विषय में अविरोध का ज्ञान नहीं हो—विशेषणरूप से भासित हों ।
ऐसी रिपति में सन्देह का उक्त लक्षण ठीक नहीं, अतः दूसरा लक्षण किया जाता है—
यद्वा इत्यादि । निश्चयात्मक ज्ञान से अन्य तथा सम्भावनात्मक ज्ञान से भी अन्य
जो सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला चमत्कारजनक ज्ञान वह 'सन्देहालङ्कार' कहा
जाता है । यहाँ मूल में 'निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना—अर्थात् इन दोनों में से प्रत्येक

से भिन्न' ऐसा कहा गया है। क्यों? उसकी जगह 'निश्चयसम्भावनाभयभिन्ना-अर्थात् इन दोनों से भिन्न' ऐसा क्यों नहीं कहा गया? तो इसका रहस्य समझना चाहिए कि यदि ऐसा कहा जाता तब यह कथन व्यर्थ ही न होता, अपितु आपत्ति-जनक भी हो जाता, क्योंकि उभय भेद प्रत्येक में रह जाता-अर्थात् निश्चय तथा सम्भावना इन दोनों से भिन्न निश्चय भी कहला जाता और सम्भावना भी और ऐसी स्थिति में निश्चयारमक रूपक तथा सम्भावनात्मक उत्प्रेक्षा में इस लक्षण का अतिप्रसङ्ग हो ही जाता, अतः अन्यतर-भेद का निवेश किया गया है जिसका स्पष्टीकरण हो चुका है व्याख्या में और तदनुसार उक्त दोनों स्थलों में अतिप्रसङ्ग का वारण—जो उस निवेश का प्रयोजन है—सिद्ध हो जाता है। एक बात और—उक्त दोनों लक्षणों से निष्कर्ष यह निकलता है कि-संशय के विषय में दो पक्ष हैं—एक यह कि उसमें विरोध का भाव होता है और दूसरा यह कि वह नहीं होता है। तदनुसार 'यह भ्रमर है अथवा नेत्र' इस वाक्य से विरोधभावावयवों के मत में 'भ्रमरत्वधर्मवाला यह भ्रमरत्व-विरुद्ध नेत्रत्वधर्मवाला है' ऐसा शाब्दबोध होगा। इस बोध को 'विशिष्टवैशिष्ट्य'न्यायानुसारी अथवा 'एकत्र द्वयम्'न्यायानुसारी कह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि इस बोध में भ्रमरत्वविशिष्ट एवं पद (यह) के अर्थ को उद्देश्य बनाकर नेत्रत्ववैशिष्ट्य का विधेयरूप में भाव माना जाय अथवा ह्य पदार्थ को उद्देश्य बनाकर भ्रमरत्व तथा नेत्रत्व दोनों का विधेयरूप में भाव माना जाय—दोनों प्रकार हो सकते हैं। इस पक्ष में व्युत्पत्ति की विशिष्टता से वाक्य में एक बार उक्त होने पर भी भ्रमर पदार्थ का दो जगहों पर अन्वय करना पड़ता है और ऐसा करने में प्रेरक है वाक्य का 'वा' पद। जो छोग विरोध का भाव संशय में नहीं मानते उनके मत में उक्त वाक्य से 'भ्रमरत्वधर्मवाला यह नेत्रत्वधर्मवाला है' ऐसा बोध होगा। आप कहेंगे—इस द्वितीय मत के अनुसार 'समुच्चय' और 'संशय' में क्या अन्तर रहा? तो इसका उत्तर यह है कि इस मत के अनुसार 'समुच्चय' में अविरोध वश का भी भाव मान लेना चाहिए—अर्थात् 'देवदत्त ब्राह्मण है और पण्डित भी' इत्यादि समुच्चयात्मक वाक्यों से 'देवदत्त ब्राह्मणत्व वाला तथा ब्राह्मणत्व से अविरुद्ध पाण्डित्य वाला है' इत्यादि रीति से बोध होगा।

संशयालङ्कृति विभक्तिक—

सा च शुद्धा निश्चयगर्भा निश्चयान्ता चेति त्रिविधा ।

सा संशयालङ्कृति । शुद्धेति । निश्चयानिधितेत्यर्थ । निश्चयगर्भेति । यस्य गर्भे = मध्ये, निश्चयोऽपि जायते तादृशो य संशयस्तद्रूपेत्यर्थ । निश्चयान्तेति । यस्यान्त एव निश्चयो जायते तादृशो य संशयस्तद्रूपेत्यर्थ ।

सदेहालङ्कार वा विभाज्य किया जाता है—सा च इत्यादि । उक्त 'ससन्देहालङ्कार' तीन प्रकार का होता है—एक शुद्ध, अर्थात् जिसमें आदि से अन्त तक सन्देह ही बना रहता है। दूसरा निश्चयगर्भ, अर्थात् जिसके बीच-बीच में निश्चय भी होता रहता है, और तीसरा निश्चयान्त, अर्थात् जिसमें आदि से लगातार सन्देह बना रहता है, पर अन्त में निश्चय हो जाता है।

तत्र प्रथमभेदमुदाहर्तुमाह—

आद्या यथा—

शुद्धससन्देहालङ्कृतिर्येत्यर्थ ।

प्रथम—अर्थात् शुद्ध ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणं प्रदर्शयति—

'मरुतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरोरेष वा समालः ।

रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादपिनिकरैरिति संशयः प्रपेदे ॥'

वनं गच्छतो रघुपतेर्वर्णनमिदम् । ऋषिनिर्करैः मुनिवृन्दैः, तत्र वनमार्गे, दूरात्, रघुपतिं रामभद्रम्, आलोक्य दृष्ट्वा, एष दृश्यमानः, मरकतमणैः श्यामवर्णमणिविशेषस्य, मेदिनीधरः पर्वतः, वा अथवा, तरुणतरु सर्वथा ससृद्धः, तमालतटः तमालवृक्षः, इति संशयः, प्रपदे प्राप्त इत्यर्थः । अत्र यद्यपि शाब्दो बोधो न संशयात्मकः, शब्द एव च बोधः संशयात्मकः प्रकृतेऽलङ्कारत्वेनाभिमत इति कथमिहालङ्कार इति चेत् ? सत्यम्, तथापि ऋषिनिष्ठज्ञानवृत्तिसंशयत्वप्रकारकशब्दज्ञानविषयसंशयस्य सत्त्वादलङ्कारत्वमिति भावः । एतच्च स्मरणवाक्यव्याख्यायामपि सूचितं प्राक् ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—मरकत इत्यादि । वन जाते राम का वर्णन है—
'इत्थं वनपथ पर पग बढ़ाते रामभद्र को दूर से देखकर मुनिवृन्दों को यह सन्देह हुआ कि यह मरकतमणि का पर्वत है अथवा पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हुआ तमाल का वृक्ष है । यहाँ शाब्दबोध सन्देहरूप नहीं है अर्थात् शाब्दबोध में दो धर्म भासित नहीं होते, अर्थात् सन्देहयुक्त मुनिवृन्दरूप एक ही धर्म, भवतः यहाँ ससन्देहालङ्कार कैसे होगा । क्योंकि शाब्दबोधात्मक सन्देह को ही अलङ्कार मानना । आलङ्कारिकों का अभिमत है यह शङ्का पथपर हो सकती है, तथापि मुनिवृत्ति ज्ञान में 'सन्देहत्वप्रकार सन्देह-विशेष्यक' शाब्दबोध तो यहाँ होगा, परन्तु, इसी से 'ससन्देहालङ्कार' यहाँ वन जापगा, क्योंकि लक्षणवाक्य का तात्पर्य यही है यह बात पहले भी सूचित की जा चुकी है ।

द्वितीयं भेदमुदाहर्तुमाह—

द्वितीया यथा—

निधयगर्भससन्देहालङ्कारित्यप्येत्यर्थः ।

निधयगर्भं ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमाह—

'तरणितनया किं स्यादेषा न तोयमयी हि सा

मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यात् सा मधुरा कुतः ।

इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुके-

र्वतयसतिभिः कैः कैरादी न सन्दिदिहे जनैः ॥'

रघुपते रामभद्रस्य, कायच्छायायां देहकान्ते, निरोक्ते रचने, कौतुकं कृतकृत्यं येषां तैः, कैः कैः वनवसतिभिः वनवासिभिः जनैः, आदौ प्रथमम्, 'एषा, तरणितनया कालिन्दी, स्यात् भवेत्, किम् ? न, कुत ? हि यतः, सा, तोयमयी जलमयी, इयं तु न तथेति भावः, वा अथवा, मरकतमणैः ज्योत्स्नाप्रभा, स्यात्, किम् ? न, सा, कुतो मधुरा रुचिकरी ? नेत्यर्थः, इयं ॥ मधुरेति भावः' इति, न, सन्दिदिहे सन्देहः कृतः, सर्वैस्तथा सन्देहः कृत इत्यर्थः । अत्रापि प्राग्वदलङ्कारत्वमुपपादयम् । निधयस्य मध्ये प्रतिपादनादत्र निधयगर्भत्वं बोध्यम् । प्रसङ्गः प्राक् ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तरणितनया इत्यादि । यह भी वनयात्री राम का ही वर्णन है—रामभद्र की देहकान्ति के दर्शन में उत्कण्ठावाले किन-किन वनवासी जनों को, पहले, यह सन्देह नहीं हुआ कि—क्या यह यमुना होगी ? नहीं यह तो जलमयी है । तो क्या मरकतमणि की प्रभा होगी ? नहीं, यह मधुर कैसे हो सकती है—उसमें ऐसी रुच्यता कहाँ से आवेगी ? यहाँ भी अलङ्कारता का उपपादन पूर्ववत् करना चाहिए । यहाँ 'यमुना नहीं हो सकती' इत्यादि रूप से बोध-बीज में निधय भी हुआ है, अतः यह निधय-गर्भं सन्देह कहलाता है ।

तृतीयं भेदनुदाहरणमाह—

तृतीया यथा—

निश्चयान्तसप्तमोऽहः कृतिर्विद्येत्यर्थः ।

निश्चयान्त सप्तमोऽहः इति जैसै—

उदाहरणमाह—

‘चपला जलदाच्छ्रुता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः ।

गुरुनिश्चितैः कपिर्मनीषी निरुणैषीदथ तां वियोगिनीति ॥’

अशोकवाटिकायां विरहदुर्बलं जीवनं चापचन्त्या सीतायां वर्गनिमिदम्—जलदात् मेघात्, श्रुता पतिता, चपला विद्युद्धता, इत्यम्, अपवा, तरुमुखात् प्रधानात् वृक्षात्, श्रुता, लता बह्वरी, इति, संशये सन्देहे, निमग्नः सीत, मनीषी बुद्धिमान्, कपिः हनुमान्, अथ अनन्तरम्, गुरुनिश्चितैः श्वासवायुभिर्हेतुभिः, तां सीताम्, वियोगिनीं विरहिनीं, इति, निरुणैषीत् निरचिनोत् इत्यर्थः । इहापि प्राग्बदेवात्कारणं निगमनीयम् । अन्ते निश्चयस्त्वोक्तनिश्चयान्तोऽयं सन्देहः ।

उदाहरणं द्विवचनमात्रं जातं है—चपला इत्यादि । हनुमान् भी ने जब अशोकवाटिका में सीता को देखा तब वे पहले इस सन्देह में हुए यप कि—यह वा तो मेघ से गिरी हुई विद्युत् है वा किसी प्रधान वृक्ष से गिरी हुई लता है । तदनन्तर बुद्धिमान् हनुमान् ने दीर्घ निःश्वासां द्वारा निर्णय किया कि यह वियोगिनी है—नामविरहकारता जानकी है, विद्युत् लथवा लता नहीं । यहाँ भी सन्देह को अलङ्कारकोटि में लाने के लिये पूर्वोक्त युक्ति का अनुसरण करना चाहिए । यहाँ भादि से सन्देह के रहने पर भी अन्त में निश्चय हुआ है, अतः इसे निश्चयान्त सन्देह कहा जाता है ।

नन्वेवमुदाहरणेषु सशयैस्त्वेव प्राधान्येनान्योपस्कारकविरहान्कथमलङ्कारत्वमेत आह—

एषु सशयेषु मञ्जूपादिगतकटकादिष्विवालङ्कारव्यपदेशः ।

पूर्वोक्तेषु पद्येषु कविता सन्देहात् स्वं प्रधानवाक्यार्था, तथा चान्योपस्कारकत्वाभावात् कथमलङ्कारभावो ते मन्वेत्येव इति शङ्काया इव एनाधानं यत् यथा मञ्जूपादिगताः कटकादयस्तत्कालेऽलङ्कारविरहोक्तिरित्याद्या अपि अलङ्कारविरहोक्त्यादलङ्काराः कथ्यन्ते तेषां लङ्कारयोग्यतामादायैष्वपि सन्देहेष्वलङ्कारव्यपदेश इति ।

यदि कोई कहे कि—उक्त उदाहरणों में जो सन्देह वर्णित हुए हैं वे तो स्वयं प्रधान वाक्यार्थ हैं, किसी दूसरे को शोभित करते नहीं, फिर ये अलङ्कारकोटि में कैसे आ सकते हैं, तो इसका समाधान यह है कि—हाँ भाई ! ये सन्देह किसी अन्य को शोभित नहीं करते, पर शोभित करने की योग्यता तो रखते ही हैं, वस, इतने से ही ये सन्देह अलङ्कारकोटि में आ जाते हैं । [लोकरीति भी तो ऐसी ही है । देखिए—जो कटक-कृष्णलादि पेरी में ही घरे रहते हैं—तरावाल किसी की देह की शोभा नहीं बढ़ाते उन्हें भी तो अलङ्कार कहा ही जाता है । क्यों ? केवल शोभावर्धन की योग्यता रखने के कारण ही तो । वस, यही रीति यहाँ भी समझ लेनी चाहिए ।

प्रत्युदाहरणं दर्शयति—

एव च—

‘तं दृष्टवान् प्रथममद्भुतधैर्यवीर्य-

गाम्भीर्यमश्रुणविमुक्तसमीपजानिम् ।

वीक्ष्याय दीनमबलाविरहव्यथात्

रामो न वाऽयमिति संशयमाप लोकः ॥’

इत्यत्र सत्यपि चमत्कारे सादृश्यमूलत्वाभावात् संशयस्यालङ्कारत्वम् ।

एवं चेति । उक्तीत्या सञ्चालद्वारलक्षणस्य सादृश्यमूलत्वपदितत्वे चेत्पर्यः । तं दृष्ट-
वानिति । प्रथमं संयोगदर्शयाम्, अद्भुतानि आश्चर्यकराणि, धैर्यम्, वीर्यम्, गाम्भीर्यं
हानि मस्य सादृशम्, तथा न क्षणं विमुक्ता समीपदेशान्वाया (सीता) येन तम्,
(जानिरेत्यत्र 'जायाया निष्' इति सूत्रं स्मरणीयम्) तं रामचन्द्रम्, दृष्टवान्, नोक्तं,
अथ रावणकृतसीतापहारोत्तरम्, दीन धैर्यादिहीनम्, तथा अवस्थायाः सीतायाः, विर-
हात्, या ज्वया पीडा, तवा, आर्तं पीडितम्, तम्, वीर्यं दृष्ट्वा, 'अथ रामः न वा' इति
संशयम्, आप प्राप्तवान् इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । अयं भावः—यद्यप्यत्र विप्रलम्भ-
पोषकतया चमत्कारी सन्देहो वर्णितस्तथापि नास्त्वालङ्कारः, तस्य सादृश्यमूलकत्वाभा-
वात् इति ।

प्रागुदाहरणं विस्मयाया जाता है—एवं च दृष्ट्वादि । सादृश्यमूलक सन्देह ही अलङ्कार
होता है यह निर्णय जय लक्षण द्वारा हो गया तब 'तं दृष्टवान्—अर्थात् संयोगावस्था में
आश्चर्यजनक धीरता, धीरता और गम्भीरता से युक्त तथा क्षण भर के लिये भी अपने
समीप से सीता को अलग नहीं करने वाले राम को देख लुके छोगों ने रावण द्वारा
सीताहरण के बाद, उनकी दीन तथा सीताविरहजन्य व्यथा से पीड़ित देखकर,
यह सन्देह किया कि—'यह राम है अथवा नहीं' । इस सीताविरहकातर रामवर्णन-
परक पद्य में प्रतिपादित सञ्चय विप्रलम्भम्भार का पोषक होने के कारण चमत्कारजनक
होकर भी अलङ्काररूप नहीं होता, क्योंकि उसके मूल में सादृश्य नहीं है ।

विशेषं सूचयति—

एवमारोपमूलोऽयं सन्देहालङ्कारः ।

अयं = पूर्वोक्तद्वारलक्षणे प्रदर्शितः, सन्देहालङ्कारः उपमानोपमेयोद्बोधोदाहानात्
आरोपमूलः कथ्यते । एवमेवविषयसन्देहालङ्कारे रूपरूपजीव्यमिति भावः ।

विशेष की सूचना दी जाती है—एवमिति । पूर्वोक्त उदाहरणों में दिखलाये गये
ससन्देहालङ्कार आरोपमूलक हैं, क्योंकि यहाँ उपमान-उपमेय दोनों का ग्रहण किया
गया है । फलतः इस तरह से ससन्देहालङ्कार में रूपकालङ्कार ही सूत्रमूल्य से कार्य
करता रहता है । सन्देहकृत विस्मय चमत्कार के कारण सिद्ध अलङ्कार की संज्ञा इसे
दी जाती है ।

प्रागुक्तस्य त्रिविधस्यापि ससन्देहालङ्कारस्यान्यमतसिद्धं त्रैविध्यमाशङ्क्य निरस्पति—

अप्यवसानमूलोऽपि दृश्यते ।

यथा—

'सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवा लाक्षारसैः स्नातितं

लितं वा किमु कुङ्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम् ।

सन्देहं जनयन् नृणामिति परित्रातत्रिलोकस्त्विषां

भावः प्रातरुपात्तनोतु भवतां मव्यानि भासां निधेः ॥'

अयं च संशयः सविवृत्तिव्ययकविरतिपरिपोषकतया कामिनीकरगतकङ्कणा-
दिरिव मुख्यतयाऽलङ्कृतिव्यपदेश्यः । अत्र च विवक्षितविवेचने क्रियमात्रे
किरणवाते सिन्दूरत्वादिकोटिकः संशयः पर्यवस्यति । स च न सारोपः । विष-
यत्रिपयिपोस्तदनुकूलविभक्तेरभावात् । अतः सिन्दूरत्वादिना संशयधर्मी किरण-
प्रातोऽप्यवसीयत इति अत्र विचार्यते—सिन्दूरैः परिपूरितं किमथवेति पद्ये

तावत्सिन्दूरादिकरणकपरिपूरितत्वादिकोटिको जगन्मण्डलधर्मिकः संशयः शब्दा-
दप्रतीयते । तस्मिन् संशये किमिदं सिन्दूरजो वा स्यात्, आहोस्विज्ञा-
धारसः, उताहो कुङ्कुमद्रव इति सूर्यकिरणधर्मिक संशयान्तरमातुगुण्यमाधत्ते ।
यथा पुरोवतिनि तुरगे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयो भूतलमिदं स्थाणुमपुरुष-
वद्वेति संशये । एवञ्च सूर्यकिरणधर्मिकः संशयो गुणीभूतो व्यञ्जनागम्यत्वा-
द्विषयविषयिणोरारोपानुकूलविभक्तिकतां नापेक्षते । अपेक्षते च साक्षाच्छब्द-
वेद्यतायामिति कुत्राध्यवसानमूलता संशयस्य ? एतेनाध्यवसानमूलतां संशयस्य
निरूपयतो विमर्शिनीकारस्योक्तिरपास्ता ।

अध्यवसानमूल इति । उपमानेनौपमेयस्य निगुणादिति भावः । तादृशानुदाहरण
दर्शयति—सिन्दूरैरिति । कविराशोर्मुखेन भास्करभास स्तौति—एतत्, महीमण्डलम्,
सिन्दूरैः, परिपूरितम्, अथवा, लाक्षारसैः बाबक्यवैः, क्षालित धौतम्, वा, कुङ्कुमद्रव-
भरैः केमररससमूहैः, लिप्तम् किम्, इति, दृष्ट्वा मानवानाम्, सन्देहम्, जनयन् उत्पादयन्,
तथा, परिप्राप्ता, रक्षिता त्रयो लोका येन तादृश, भासा विधेः, सूर्यस्य, त्विषा तेजसाम्,
मात समूह, प्रात उप काले, भवताम्, भव्यानि धेयासि, उपातनोतु विस्तारयत्विति
तदर्थः । पूर्वतो मेदान्तरमाह—अयं चेति । ‘सिन्दूरैः—’ इति पद्ये कवेनिष्ठ सूर्यविषयको
रत्याख्यो भाव प्रधानतयाऽभिष्यज्यते, तं च भावं वाच्यं सन्देहं पुष्पाति । तथा च
मुख्योपस्कारकोऽयं सन्देहोऽलङ्कृतिक्रियाविशिष्टतया कामिन्या करावलङ्घनं कङ्कणादिरिय
मुख्याम् अलङ्कारपदव्यवहार्यतां धत्ते इत्यर्थः । एवञ्च पूर्वोदाहरणेभ्योऽस्मिन्नुदाहरणे द्वौ
भेदौ भवतः । एको मुख्यालङ्कारव्यवहाररूपः, अथवा साध्यवसानस्वरूप इति भावः ।
नवत्रापि महीमण्डलस्य विषयतयोपादानात्सारोपत्वमेव, न साध्यवसानत्वमित्यत आह—
अत्र चेति । विवक्षितेति । तात्पर्यायेत्यर्थः । किरणत्राते सिन्दूरत्वादिकोटिक इति । ‘किरण-
त्रात सिन्दूरत्ववान्, लाक्षारसत्ववान्, कुङ्कुमद्रवभरत्ववान्वा इत्याकार’ इत्यर्थः । ‘किरण-
त्रातो वा सिन्दूलाक्षादिक वेद्याकारक’ इति ‘सरला’विवरणं तु शोच्यमेव । स चेति ।
उक्ताकारकसंशयेत्यर्थः । तस्या सारोपत्वे हेतुमाह—विषयेति । उपमेयोपमानयोरित्यर्थः ।
किरणत्रातसिन्दूरादिकयोरिति वाचन् । तदिति । आरोपेत्यर्थः । तथा च तत्त्वेनानुपादान-
सिति अत्र । एतेन ‘एवमपि किरणत्रातस्त्वोपादानात्सारोपत्वमेव’ इति निरस्तम् । पर्य-
वर्तितार्थमाह—अत इति । अयं भावः—‘सिन्दूरैः—’ इत्यत्र किरणत्रातधर्मिक सिन्दू-
रत्वादिना नाधर्मावगाहो सन्देह एव वक्तृतात्पर्यनिषयः । स च नारोपमूल्ये वक्तुं योग्य,
‘सिन्दूरैः’ इत्यादेस्तृतीयान्ततया ‘त्विषा त्रात’ इत्यस्य च प्रथमान्ततया विभक्तिभेदात्,
आरोप्यमाणारोपविषययोः समानविभक्तिकपदबोध्यत्व एवारोप इति नियमात् । अतोऽगत्या
विषयिवाचकैः सिन्दूरादिपदैः सादृश्याख्यसम्बन्धेन विषयभूत संशयधर्मी च किरणत्रातो
लक्ष्यत इत्येवाङ्गीकरणीयम् । एवञ्च सिद्धमस्य संशयस्याध्यवसानमूलत्वम्, विषयिवाचकेन
पदेन सदृशलक्षणा विषयोपस्थापनस्थैवाध्यवसानपदार्थत्वात् । न रूपकोपजीव्यक एव
सदृशालङ्कारोऽपि तु अतिशयोक्त्युपजीव्यकोऽपीति । प्रागुपपादितं संशयालङ्कारस्याध्य-
वसानमूलकत्वं निरसितुमाह—अत्र विचार्यते इत्यादि । तान् आरो । इदं किरणजातम् ।
आनुगुण्यम् अनुकूलताम् । आपते सम्पादयतीति यावन् । संशये संशयान्तरस्यानुगुण्या-
धायकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । एव चेति । उक्ताया स्थिताविन्यर्थः । गुणीभूत इति ।
उपपादकत्वादिति भावः । उपपाद्य हि प्रधानं भवति । अगोस्तत्वे हेतुमाह—व्य घनेति ।

तर्हि कुत्र तदपेक्षा तत्राह—अपेक्षते चेति । एवमारोपमूलक एवायमपि सन्देह इति भावः । अप्यवसानमूलकस्तु सन्देह आकाराकुलगतुल्य एव । तदाह—कुत्रेति । एतेनेति । उक्तव्याख्यानेनेत्यर्थः । सचिरिति । एवधात्रत्य पूर्वपक्षः विमर्शिनीकारस्यैवेति स्पष्टम् । अयमत्र निर्गलितोऽर्थः—‘सिन्दूरै—’ इति पद्ये द्वौ संशयौ चर्णितौ स्तः । तत्रैक ‘मही-मण्डलं सिन्दूरकरणपरिपूरितत्ववत्, लाक्षारसकरणकालितत्ववत्, कुङ्कुमद्रवकरण-कलितत्ववत्’ इत्याकारकं साक्षाच्छब्दाच्च प्रथमप्रतीतिविषयः, अपरस्य सूर्यकिरण-समूहविशेषकः ‘अयं सिन्दूरपरागः, लाक्षारसः कुङ्कुमद्रवो वा’ इत्याकारकं साक्षाच्छब्दा-वेद्यतया व्यङ्ग्यः पञ्चमप्रतीतिभोचरः । अन्यो प्रथम प्रधानः, उपपादवत्वात्, त्रिंश-स्तुपादकतया गुणीभूतः । तत्र प्रधानीभूतस्य संशयस्य सारोपत्व विप्रतिपत्तिहीनमेव, विषयविषयिणोऽभयोपपादानात् । गुणीभूतसरावस्यापि सारोपत्वस्वीकारे न बाधा काचित्, बाधकत्वोपहितस्य विषयविषयिणो-समानविभक्तिकपदाबौध्यत्वस्य प्रकृतेऽप्र-सङ्गात्, शब्दवेद्यसराय एव तयो-समानविभक्तिकपदबौध्यत्वस्यारोपनियामकत्वात् । एवधारोपमूलकसन्देहालङ्कारोदाहरणमेवैतत्पदं भवति । अतः अप्यवसानमूलकसन्देहालङ्कार-स्वीकारो विमर्शिनीकारस्यासङ्गत एव । फलतो रूपकोपजीव्यक एवायमलङ्कारो, नातिशयो-क्त्युपजीव्यकः । तथा न अय एव मेदा अस्य, न पुनस्तत्रैकैकस्यापि त्रैविध्यमिति ।

सन्देहालङ्कार के विषय में एक विशिष्ट विचार किया जाता है—अप्यवसान इत्यादि । यह सन्देहालङ्कार अप्यवसानमूलक भी देखा जाता है । अभिप्राय यह कि जिस तरह पूर्वोक्त उदाहरणों में आरोप्यमाण तथा आरोपविषय दोनों उक्त हैं, अतः यहाँ के सन्देहालङ्कार आरोपमूलक—अर्थात् रूपकमूलक कहे जाते हैं उसी तरह कहीं-कहीं केवल आरोप्यमाण ही उक्त रहता है और आरोपविषय उससे निर्गीर्ण रहता है, अतः वैसे जगह का सन्देहालङ्कार अप्यवसानमूलक—अर्थात् अतिशयोक्तिमूलक कहा जायगा । जैसे—“सिन्दूरै—अर्थात् ‘यह धरामण्डल क्या सिन्दूर से परिपूर्ण है, अथवा भालते (लाषा) के पानी से धोया हुआ है, किंवा केसर के रससमूह से पुना हुआ है’ इस तरह के सन्देह को मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न करता हुआ त्रिलोकीनाता सूर्य का प्राप्त काळीन कागति-समूह आपका कहमाण करे ।” यहाँ का सन्देह सूर्य के विषय में कवि के प्रेम को पुष्ट करता है, अतः कामिनी के हाथ में पहने बङ्गल आदि की तरह मुख्यतया अलङ्कार कहने योग्य है । तात्पर्य यह कि—पूर्वोक्त उदाहरणों में वर्णित सन्देह पेदी में धरे भूषण की तरह अलङ्कृत करने की योग्यता रखने के कारण गौणतया अलङ्कार कहे गये हैं, पर यहाँ का सन्देह अलङ्कृत करने की योग्यता रखने के कारण ही नहीं, अपितु अलङ्कृत करने के कारण अलङ्कार कहा जायगा । यह भी उक्त उदाहरणों से इस उदाहरण में एक मिलनता है । ‘सिन्दूरै—’ हम पद्य में, वक्ता के अभिमत अर्थ का विवेचन करने पर, अन्ततः किरणसमूह में ‘सिन्दूरत्व’ आदि कोटिबोवाला सन्देह सिद्ध होता है । अर्थात् ऊपर से देखने पर यद्यपि धरामण्डलरूप धर्मी (आधार) में सिन्दूरपरिपूरितत्व आदि अनेक धर्मों का सन्देह दिखाई पड़ता है, पर वास्तविक विचार करने पर जिस सूर्यकिरण के घरा पर फैले रहने के कारण उक्त सन्देह दिखाई पड़ा है उस किरणरूप धर्मी में सिन्दूरत्व आदि अनेक धर्मों का सन्देह ही समझा जायगा । और वह (किरणधर्मिक) सन्देह सारोप—आरोपमूलक—है नहीं, क्योंकि पृथु का दूतारे में आरोप करने के लिये उन दोनों की एकजातीय विभक्तिकाले पदों से उपस्थिति अपे-क्षित रहती है और यहाँ ऐसी बात नहीं है—अर्थात् यहाँ सिन्दूरत्व आदि आरोप्यमाण की उपस्थिति ‘सिन्दूरै’ आदि तृतीया विभक्तिकाले पदों द्वारा होती है तथा किरणरूप आरोपविषय की उपस्थिति ‘किंवा बातः’ इस प्रथमान्त पद द्वारा होती है । फलतः

यहाँ रूपकवाली स्थिति नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि—यहाँ 'सिन्दूरैः' आदि पदों द्वारा 'सिन्दूरस्व आदि' रूप से संशय का धर्मी किरणसमूह अध्यवसित हुआ है—अर्थात् सादृश्यमूलक छवणा द्वारा सिन्दूर आदि पद ही किरण का भी बोधक है। फलतः यहाँ अतिशयोक्ति वाली स्थिति है। यह हुआ एक पक्ष। अब दूसरा पक्ष सुनिये—विचार करने से विदित होता है कि—'सिन्दूरैः परिपूर्णम्—' इस पक्ष में, प्रथमतः, पृथ्वीमण्डल-रूप धर्मी (आधार) में 'सिन्दूर आदि द्वारा परिपूर्ण किया गया' कोटियों (धर्मों) वाला—अर्थात् 'पृथ्वीमण्डल सिन्दूर से परिपूर्ण किया गया है, अथवा लापारस से घोषा गया है, किंवा केसररससमूह से पोत दिया गया है' इस तरह का सन्देह, वाच्य द्वारा प्रतीत होता है। उस सन्देह में सूर्यकिरणरूप धर्मी में होनेवाला 'क्या यह सिन्दूररज है अथवा आलते का पानी है किंवा केसर का रस' यह दूसरा सन्देह अनुकूलता उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् यह कि एक दूसरे सन्देह से पहला सन्देह सिद्ध किया जाता है। जैसे कि सामने खड़े घोड़े के विषय में (घोड़े का जरा भी ज्ञान न होकर) 'यह खम्भा है अथवा पुरुष' यह सन्देह 'यह पृथ्वीतल परभे से युक्त है अथवा पुरुष से' इस दूसरे सन्देह में उपयोगी होता है, क्योंकि बिना प्रथम सन्देह के द्वितीय सन्देह बन ही नहीं सकता, वही जान पहाँ भी है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सूर्य-किरणरूप धर्मी में होनेवाला (दूसरा) सन्देह स्वअनावृत्ति से प्रतीत होने के कारण उपमान-उपमेय में आरोप के अनुकूल समान विभक्ति की अपेक्षा नहीं रखता, पर यदि वही साक्षात् वाच्यों द्वारा प्रतीत होता (जैसा कि पहला सन्देह है) तो समान विभक्ति की अपेक्षा रखता। अतः यहाँ सन्देह की अध्यवसानमूलकता कहीं है? अभिप्राय यह कि वाच्य आरोप में उपमान उपमेय एक विभक्तिवाले हैं, क्योंकि आरोप में नहीं, ऐसी वृत्ता में ऐसे सन्देहों की अध्यवसानमूलक मानना उचित नहीं। सारांश यह कि 'सिन्दूरैः—' इस पक्ष का पहला (वाच्य आरोपवाला) सन्देह सादृश्यमूलक न होने के कारण अलङ्कारश्रेणी में आता ही नहीं, रहा दूसरा (व्यङ्ग्य आरोपवाला) सन्देह, तो उसमें उपमान-उपमेय की, समानविभक्तिक न होने पर भी, उक्त रीति से आरोपमूलकता मानी जा सकती है, अतः अध्यवसानमूलक (अतिशयोक्तिमूलक) सन्देह होता ही नहीं। अतः सन्देहालङ्कार की अध्यवसानमूलक भी मानकर भेदसंशय दवानेवाले विमर्शिनी (अलङ्कारसर्वस्व की शीका) कार परास्त हो गये।

अप्ययदीक्षितोक्तमनूय निरस्यति—

अप्ययदीक्षितास्तु—

‘अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

रट्कारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुण्याकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥’

इत्यत्र चन्द्रादीनां सन्देहधमिणा मेवानेकत्वम् । प्रकारस्तु वर्णनीयवनितास्त्रु-
त्यमेकमेवेत्यनेककोटिकत्वाभावाद्भिरोधेन परस्परप्रतिक्षेपकतया निबद्धानेक-
कोट्यवगाहित्यरूपस्य संशयलक्षणस्याव्याप्तिमाहुः । तत्र । अत्र हि अस्याः सर्ग-
विधौ यः प्रजापतिरभूत्स किं चन्द्रः, किं नु मदनः, किं वा नु वसन्त इति सशयः
प्रजापतिधर्मिकश्चन्द्रत्वादिना नाकोटिक एवेति कुत्राभ्याप्तिः । न चात्र चन्द्रादि-
धर्मिकः सशयो युक्तो वक्तुम् । एवं च प्रजापतेः प्रथमोद्देशो न स्यात् ।

‘अस्याः सर्गविधा’विति । कालिदासकृते विष्णुमोक्षशीयनाटके उर्वरस्या वर्णनमिदम् ।

‘मालतीमाधवे मालतीवर्णनमिदम्’ इति नागेशव्याख्या नु आन्तिमूलिकैव । पुरुरवा

उर्वाशीमवलोम्य कथयति—अस्याः सर्गविधौ सृष्टिकर्त्रे, कः, प्रजापतिः स्रष्टा, अभूत् ? कान्तिप्रदः कान्तिदायकः, चन्द्रः, जुः, शृङ्गारैकरसः शृङ्गाररसस्याद्वितीयः आश्रयः, स्वयं, मदन कामदेवः, जुः, पुष्पाकरः कुसुमाकरः भासः चैत्रः, वसन्त इति यावत्, जु । ननु अस्याः स्रष्टा कथमभिनवप्रजापतिगवेषणम् ? चिरप्रसिद्धराचरनिर्माता विधाता एवैनामपि सृष्टेत्, नेत्याह—वेदान्यास इति । वेदानाम्, अभ्यासेन = पुन पुनरभ्ययनेन, जड शिथिलः (उपहासोक्तिरियम्), अत एव विषयेभ्यः सासारिकवस्तुभ्यः, व्यावृत्तं निरस्तम्, कौतूहल वक्तव्यता यस्य तादृशः, स प्रसिद्धः, पुराणो वृद्धः, मुनिः प्रज्ञा, मनोहरं दर्शकजनचित्तार्ककं रमणीयमिति यावत्, इदं पूर्वोक्तवर्णितगतम्, रूपम्, निर्मातुं रचयितुं, कथम्, प्रभवेत् समर्थः स्यात्, न स्यादित्यर्थः । अत्र यदुक्तं दीक्षितेन तदनुवदति—इत्यत्रेति । अभावादिस्थव्याप्तौ हेतुः । संशयलक्षणमाह—विरोधेनेति । परस्परप्रतिषेधकतयेति । मियौऽवमर्दकतयेत्यर्थः । 'आममानविरोधकः समबलः नानाकौटवगाही ज्ञानविरोधः सरावः' इति संशयसामान्यलक्षणमेवात्र न सदुदत्ते, 'चन्द्रः, कामः, वसन्तो वा प्रजापतिः' इति ज्ञाने विशेष्यस्य चन्द्रादेरनेकत्वेऽपि विशेषणस्य प्रजापतित्वस्य (वर्णनीयनायिकासृष्टिकर्तृत्वस्य) एकत्वात्, एवञ्च संशयालङ्कारलक्षणसद्वृत्तं तु दूरापास्तम् इति दीक्षिताकृतमिति भावः । निरस्यति—तन्मेति । निरासे हेतुमाह—अत्रेत्यादिना । हि यतः । अस्याः उर्वरया । 'मालत्या' इति नागेशान्याक्या तु पूर्ववदत्रापि भ्रममूलिकैव । कुप्राव्याप्तिरिति । नाव्याप्तिरिति भावः । 'उर्वरया' स्रष्टा यो विधाता स चन्द्रः, कामो, वसन्तो वा' इति ज्ञानाकारोऽत्राभिप्रेतः । तत्र प्रजापतिरेव विशेष्यभूत एकः, विशेषणभूतं चन्द्रत्वादिकं पुनरनेकमेवेति श्लोकरावलक्षणमत्र सदुदत्त एवेति दीक्षितस्याव्याप्तिकथनं न युक्तमिति भावः । तदुपपादनं खण्डयति—न चेति । एवं चेति । यो ह्यर्थः । यत एव सतीत्यर्थः । प्रथमोद्देश इति । प्रागुच्चारणमिन्त्यर्थः । 'अस्याः सर्गविधौ—' इत्यत्र प्रजापतित्वप्रकारकं चन्द्रादिविशेष्यकः बोधोऽभिप्रेत इति न वक्तुं योग्यम्, तथा सति प्रजापतित्वस्य विधेयत्वेन तद्वैपरूपरस्य पश्चाद्भिर्दुर्माचित्यात् 'उद्देशकमतिक्रम्य न विधेयमुदीरयेत्' इति नियमादिति भावः । प्रजापतेः प्राग्निर्देशो नोद्देश्यत्वम्, चन्द्रत्वादेशः पश्चाद्भिर्देशेन विधेयत्वम्, तथा च ग्रन्थकाराभिमतः प्रागुपदर्शितो बोधाकार एवेष्ट इति साशराः ।

अब अप्यपदीक्षित के मत का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—अप्यपदीक्षिता इत्यादि, 'अस्याः सर्गविधौ—अर्थात् इस सुन्दरी की सृष्टि करने में कौन प्रजापति (सृष्टिकर्ता) हुआ होगा ? कान्तिदायक चन्द्रमा, अथवा शृङ्गाररस का एक (अद्वितीय) आश्रय स्वयं कामदेव, किया कुसुमाकर भास (चैत्र = वसन्त) ? कारण, वेद का सदा अभ्यास करते रहने के कारण जड़ बना हुआ, अतएव सांसारिक विषयों से कुछ मोह चुका वह पुराता मुनि (प्रज्ञा) मला इस मनोहर रूप को कैसे जना सकता है ? ' (यह 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरुरवा द्वारा किया गया उर्वशी का वर्णन है । 'मालती-माधव' में यह मालती का वर्णन है) ऐसा नागेशकृत 'मर्मप्रकाश' का विवरण भ्रममूलक है । यहाँ सन्देह के धर्माधर्मात् ज्ञान में विशेष्यरूप से भासित होने वाले पदार्थ चन्द्र आदि ही अनेक हैं, प्रकार—विशेषण तो वर्णनीय नायिका का उत्पन्न करना (प्रजापतित्व) एक ही है, अतः यह ज्ञान अनेक कौटियों (एक विशेष्य में अनेक विशेषणों) वाला हुआ नहीं—अर्थात् यह ज्ञान अनेक विशेष्यों में एकविशेषणवाला हुआ । ऐसी स्थिति में 'विरुद्ध होने के कारण परस्पर—एक दूसरे को—दबानेवाली अनेक कौटियों—विशेषणों—का अवगाहन करनेवाला ज्ञान संशय है' इस लक्षण की उक्त ज्ञान में अभ्यासित

होती है—अर्थात् यह संशयलक्षण वहाँ सहटित नहीं होता, यह अप्यदीक्षित का कथन है, जो सर्वथा अमङ्गत है। कारण, वहाँ, 'इस सुन्दरी की चृष्टि में जो प्रजापति हुआ है वह क्या चन्द्र है, अथवा कामदेव है, किंवा वसन्त है' इस तरह का ज्ञान अभीष्ट है जिसमें संशय का लक्षण सहटित होता ही है, क्योंकि इस ज्ञान में प्रजापतिरूप एक विशेष्य के विशेषणरूप से चन्द्रत्व, कामदेवत्व तथा वसन्तत्वरूप परस्परविरोधी पदार्थ भासित होते ही हैं। फिर यहाँ संशयलक्षण की अव्याप्ति कहाँ होती है? यदि कोई कहे कि—पण्डितराज ने जैसा बतलाया है वैसा ही ज्ञान यहाँ होगा, दीक्षित जी ने जैसा बतलाया है वैसा नहीं, इसमें प्रमाण क्या? तो ढूँढिए प्रमाण—ज्ञान में जो विशेष्य होता है वह रहता है उद्देश्य और जो विशेषण होता है वह रहता है विधेय, वह नियम है, और साथ ही उद्देश्यबोधक पद का विधेयबोधक पद से पहले प्रयुक्त होना भी निश्चित है। ऐसी स्थिति में दीक्षिताभिमत ज्ञान—जिसमें प्रजापतिरूप ही विशेषण और चन्द्र आदि ही विशेष्य माने जाते हैं—के अनुसार 'प्रजापति' का पहले प्रयोग नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके हिसाब से वह विधेयबोधक है। फलतः 'प्रजापति' पद के पूर्वप्रयोगरूप प्रमाण से पण्डितराजोक्त ज्ञान ही सिद्ध होता है, क्योंकि तदनुसार प्रजापति विशेष्य—अतएव उद्देश्य हो जाता है।

दीक्षिताभिप्रेतमन्यदपि निराचष्टे—

यदपि, 'साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा' इति प्राचां लक्षणं महता प्रयत्नेन त एव दूषितवन्तः, तदपि न। साम्यनिमित्ता निश्चयसम्भावनान्यतर-भिन्ना या धीरिति तदर्थकरणे दोषाभावात्। निश्चयत्वं तु संशयाघटितमेव निर्वचनीयम्।

'साम्याद्—' इति। 'प्रकृतार्थाभ्यातज्ज्ञे ससन्देह स श्यते' इति तदुत्तरार्धभाग। अवधारणभिन्ना प्रस्तुतार्थविरोधिका अप्रस्तुतार्थप्रकारिका या सादृश्यप्रयुक्ता धी स सन्देहालङ्कार इत्यर्थः। त एवेति। अप्यगदीक्षिता एवेत्यर्थः। इदितवन्त इति। चित्र-मीमांसायामित्यर्थः। तत्र "साम्यादिति किमन्नादेतोर्बसतीतिवक्त्रलक्ष्येन हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, उत स्वतो हेतुत्वविवक्षया, आद्येऽप्रकृतसाम्याभिभ्यक्तिफलकत्वमर्थः स्यात्। तथा सति 'आनीय दिपताम्—' इत्युदाहरणेऽप्यासि। द्वितीये साम्यादित्यनेन किमेकमेवा-प्रकृतसाम्यं विवक्षितम्, उतैकमनैक वेत्यनियमः। आद्ये 'अथ मार्तण्ड किम्—' इत्युदाहरणेऽप्यासि, मार्तण्डत्वादिविकल्पेषु नैक साम्यं हेतुः। किंतु प्रतापेन कुनिरीक्ष्यत्व-साम्यं मार्तण्डत्वविकल्पे, दुरार्थपर्यव्याप्त्यं कृशानुत्वविकल्पे, क्षणेन सकलसद्वर्तुत्वसाम्यं कृतान्तविकल्पे च हेतुः। द्वितीये 'इह नमय शिर कलिद्रवदा सभरमुखे करहादवदनुवा' इति विकल्पालङ्कारेऽतिव्याप्तिः। अपि चानवधारणेति किमुच्यते। अनिश्चयात्मकत्वमिति चेत्। तथा सति 'बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावात्' इत्यादावुदाहरिष्यमाणायामप्रकृतसाम्य-निमित्ततत्तादात्म्यसम्भावनारूपायामुल्लेखायामतिव्याप्तिः।" इत्याशयक दूषणमभिहितम्। तन्निरस्यति—तदपि नेति। तत्र हेतुमाह—साम्यनिमित्तेति। साम्यादित्यस्याशोऽयम्। निश्चयसम्भावनेति। अनवधारणेत्यस्य तात्पर्याशोऽयम्। ईदृशार्थकरणे सर्वेऽपि दीक्षितो-का दोषा निरस्ता भवन्ति। ननु तदोपनिरासेऽपि संशयलक्षणे निश्चयान्यत्वस्य निश्चय-लक्षणे च संशयान्यत्वस्य प्रवेशादन्योन्याश्रय स्यादिति मनसि निधाय तद्वारकमुपाय-मुपदर्शयति—निश्चयत्वं त्विति। निश्चयलक्षणे न संशयप्रवेशः, केदित्वात्यविषयतानवगादि-ज्ञानविशेषस्य तल्लक्षणत्वान्। तथा च निर्दुष्टमेव प्राचा 'साम्यादिति' लक्षणमिति भावः।

दीक्षित के ही एक दूसरे अभिप्राय का स्पष्टन किया जाता है—यदपि इत्यादि।

‘साम्यात्—अर्थात् सादृश्य के कारण प्रस्तुत अर्थ [जो अप्रस्तुत अर्थ का अवधारणा-रहित ज्ञान होता है उसको सन्देह कहते हैं]’ इस प्राचीनों के लक्षण को जो दीक्षित ने बड़े जादूगर के साथ दूषित किया है—अर्थात् उन्होंने “-‘साम्यात्’ का क्या अर्थ ? यदि ‘अज्ञाद्वेतोर्वसति’ को तरह फल को हेतु मानकर की गई पञ्चमी विभक्ति के अनुसार ‘जिस ज्ञान का फल अप्रस्तुत अर्थ की समता का ध्वनित होगा हो’ यह किया जाय तब उन्हीं के द्वारा दिखाने गये ‘जानोय द्विपत्राम्—’ इस उदाहरण में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ अप्रस्तुत की समता को अभिव्यक्त करना कवि का अभीष्ट नहीं है । यदि ‘साम्य’ को स्वतन्त्र ज्ञान का हेतु मानकर पञ्चमी करें और तदनुसार ‘साम्य-हेतुक ज्ञान’ ऐसा अर्थ किया जाय तब यह प्रश्न उठेगा कि हेतुभूत समता एक तरह की हो यह आपका अभिप्राय है, अथवा एक अनेक सब तरह की समता यह अभिप्राय है ? एक भी सङ्गत नहीं, क्योंकि प्रथम अभिप्राय में ‘अथ मार्तण्डः किम्—’ यह उदाहरण आपका सङ्गृहीत नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ भिन्न-भिन्न विक्षेप में भिन्न-भिन्न तरह की समता हेतु है, द्वितीय अभिप्राय में ‘इह नमय शिरः कलिङ्गवद्धा समरमुखे करहाटवद्वनुर्या—अर्थात् इस युद्ध में कलिङ्गवासियों की तरह मरतक नवाभी अथवा करहाटदेशवासियों की तरह घनुष नवाजो’ यह विक्षेपालङ्कार का उदाहरण सङ्गृहीत होने लगेगा । इसी तरह ‘अनवधारणा’ का क्या अर्थ ? यदि ‘निश्चय से भिन्न’ यह अर्थ अभीष्ट हो तब ‘वालेन्दुवज्राप्यविक्षाभायात्—’ इस सम्भावना-रमक उल्लेख में अतिव्याप्ति हो जायगी ।” इत्यादि बातें कही हैं । वह भी ठीक नहीं । कारण, यदि उक्त प्राचीनों की कारिका का ‘सादृश्यनिमित्तक और निश्चय तथा सम्भावना इन दोनों में से प्रत्येक से भिन्न जो ज्ञान’ ऐसा अर्थ कर दिया जाय—अर्थात् ‘साम्यात्’ के ‘परिश्चित् सादृश्य-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला’ और ‘अनवधारणा’ घटक ‘अवधारणा’ का निश्चय-सम्भावना दोनों ही अर्थ मान लिये जायें तब उक्त सभी दोषों के वारित हो जाने से प्राचीनों का लक्षण निर्बुद्ध हो जाता है । रही बात यह कि—सन्देह का ऐसा लक्षण बनाने से ‘निश्चय से भिन्न सन्देह’ और ‘सन्देह-भिन्न निश्चय’ इस तरह एक लक्षण में दूसरे लक्षण की अपेक्षा हो जाने से आद्योन्याय्य दोष होगा । पर यह दोष भी नहीं होगा, क्योंकि आपको एक का लक्षण तो ऐसा बनाना ही होगा कि जिसके अन्दर दूसरे का प्रवेश न हो, अतः निश्चय का लक्षण ऐसा बनाइए कि जिसके अन्दर सन्देह का प्रवेश न हो—अर्थात् ‘कोटिता’ नाम की जो एक विषयता मानी जाती है उसका अवगाहन जो न करे उस ज्ञान को निश्चय कहिए । वस, सभी वल्लेख समाप्त ।

विरोपमाह—

उक्तेषुग्राहणेषु सोऽयं संशयालङ्कारः स्वशब्दवेद्यत्वाद्वाच्यः ।

‘मरकतमणि—’ श्यादोनि याति ससन्देहालङ्कारस्थोदाहरणानि प्रायुक्तानि तेषु ससन्देहालङ्कारोऽयं अमरा ‘संशय’ ‘सन्दिदिहे’ ‘संशये’ इत्येभिः सन्देहवाचकैः पदैः बोधित इत्यतस्तत्रायमलङ्कारो वाच्यत्वेन व्यवहर्तुं योग्य इति भावः ।

विशेष बातों का स्पष्टीकरण किया जाता है—उक्तेषु इत्यादि । उक्त (‘मरकत-मणि—’ इत्यादि) उदाहरणों में यह ससन्देहालङ्कार अपने वाचक शब्दों—‘संशय’ आदि—से अवगत होता है, अतः वाच्य है ।

लक्ष्यं ससन्देहालङ्कारमुदाहर्तुमाह

लक्ष्यो यथा—

लक्ष्यं ससन्देहालङ्कारः, जैसे—

उदाहरणमुपदर्शयति—

‘साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतोः सौन्दर्यसृष्टेरभिदेवता वा ।

रामस्य रामामवलोक्य लोकैरिति स्म दोला दुरुहे तदानीम् ॥’

लोकैः जनैः, तदानीं विवाहानन्तरम्, रामस्य रामा कान्ताम्, सीतामिति यावत्, अवलोक्य, ऋष्यकेतो कामदेवस्य, साम्राज्यलक्ष्मी साम्राज्यसर्वस्वम्, सौन्दर्य-सृष्टे रमणीयतानिर्माणस्य, अभिदेवता अधिष्ठात्री देवी, वा, इयम्, इति दोला (झुला इति भाषा) दुरुहे स्म आरुढा इत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—साम्राज्य इति । उस समय (विवाह के अनन्तर) रामचन्द्र की रमणी (सीता) को देखकर लोग ‘यह काम की साम्राज्यलक्ष्मी है अथवा सौन्दर्यसृष्टि की अधिदेवता है’ इस झुले पर आरुढ़ हुए—इस तरह के सन्देह से युक्त हुए ।

उपपादयति—

अत्र पर्यायेणोभयकोट्यालम्बनतया दोलासादृश्यात् संशयोऽत्र दोलाशब्देन लक्ष्यते ।

दोला यथाऽरोहकैरान्दोल्यमाना पर्यायक्रमेण कोटिद्वयम् (पर्यन्तभागयुगलम्) आलम्बते, तथा संशयात्मकं ज्ञानमपि पर्यायक्रमेण कोटिद्वयम् (विरुद्धधर्मद्वयम्) अव-लम्बते (विषयीकुरुते), अतः ‘साम्राज्य—’ इति पदे दोलाशब्दस्य संशये सादृश्य-सम्बन्धमूलिका-गौणी-लक्षणा भवति । तथा चात्रत्यं ससन्देहालङ्कारं लक्ष्य इति व्यपदिश्यते इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र ह्रस्वादि । जिस तरह झुला आन्दोलित होने पर दोनों कोटियों (छोरों) का अवलम्बन करता है, उस तरह संशयात्मक ज्ञान भी दोनों कोटियों (विरुद्ध दो धर्मों) का आलम्बन करता है—विषय बनता है । इस तरह झुले का सादृश्य लक्ष्य में किञ्च है । अतः ‘साम्राज्य—’ इस पद में ‘दोला’ शब्द की सतप-रूप अर्थ में सादृश्यसम्बन्धमूलक-अर्थात् गौणी लक्षणा होती है । फलतः इस पद को लक्ष्य ससन्देहालङ्कार का उदाहरण कहा जाता है ।

व्यङ्ग्य ससन्देहालङ्कारमुदाहर्तुमाह—

व्यङ्ग्योऽयं यथा—

अयं ससन्देहालङ्कारो व्यञ्जनया प्रतीयमानो गयेत्यर्थः ।

व्यङ्ग्य ससन्देहालङ्कार, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘तीरे तरुण्या वदनं सहास नीरे सरोजं च मिलद्विकासम् ।

आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ॥’

मुग्धा अतपश, मरन्दे परागे विषये, लुब्धा लोभवती, अलिकिशोरणा भ्रमर-शिखरा, माला पङ्क्ति, तीरे तटे, सहास हासयुक्तम्, तरुण्या युवत्या, वदन मुखम्, नीरे जले, च, मिलद्विकास गविक्रयम्, सरोज कमलम्, आलोक्य दृष्ट्वा, उभयत्र मुग्धसमीपे कमलसमीपे च, धावति द्रुत गच्छतीत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तीरे इत्यादि । तदपर हास-युक्त युवती के मुख को और जल में विकसित कमल को देखकर मुग्ध तथा मरन्द-लोभी छोटे-छोटे भ्रमरों की पङ्क्ति दोनों तरफ दौड़ रही है ।

उपपादयति—

अत्र कमलधर्मिकोऽभेदेन संसर्गेण पुरोवर्तिव्यक्तिद्वयप्रकारकः कमलमिद-
मिदं वेति भ्रमरगतः संशयो व्यङ्ग्यः । न च कमलाभेदबुद्धेर्भ्रमरप्रवृत्त्युपाय-
तयाऽपेक्षणादिव पदार्थाभेदबुद्धिर्निरर्थिकेति वाच्यम् । एकपदार्थधर्मिकापर-
पदार्थाभेदबुद्धेरपरपदार्थधर्मिकैकपदार्थाभेदबोधप्रयोजकत्वेन कमलाभेदबोधसा-
म्प्राज्यात् । कमलत्वमेतद्वृत्ति तद्वृत्ति वेति सशयाकारः । सोऽयं संशयव्यभिः ।

अत्रेति । 'तीरे तरुण्या—' इति श्लोके इत्यर्थः । कमलधर्मिक इति । कमलविशेष्यक
इत्यर्थः । पुरोवर्तिव्यक्तिद्वयेति । तरुणीमुखकमलेतिपस्तुद्वयेत्यर्थः । व्यङ्ग्य इति । वाचक-
संज्ञकयोरभावाविति भावः । 'तीरे—' इति पक्षे वाच्येनोभयत्र भ्रमरकर्तृकधावनेन 'कमलं
इदं इदं वा' इत्याकारक अभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिव्यक्तिद्वयनिष्ठप्रकारतानिर्दिष्टकमल-
निष्ठविशेष्यताक 'भ्रमरनिष्ठ' सन्देहः (अलङ्कार) व्यज्यते इति भावः । अत्रा-
शङ्कते—न चेति । कमलागेदबुद्धेरिति । 'इदं कमलम्' इत्याकारकज्ञानस्येत्यर्थः । इदं पदा-
येति । इदं त्वेनेदम्पदार्थेत्यर्थः । अभेदबुद्धिरिति । 'कमलं इदम्' इत्याकारिका बुद्धिरि-
त्यर्थः । एकपदार्थधर्मिकेति । 'इदं कमलम्' इत्याकारिकाया इदपदार्थधर्मिककमलाभेद-
बुद्धेरिति प्रकृतोऽर्थः । अपरपदार्थधर्मिकेति । 'कमलं इदम्' इत्याकारक-कमलधर्मिकैदं
पदार्थमिदंज्ञानेति प्रकृतोऽर्थः । कमलाभेदबोधेति । 'इदं कमलम्' इत्याकारकबोधेत्यर्थः ।
कमले इदंपदार्थमिदो निरर्थक उभयत्र धावनकर्तृणि भ्रमरप्रवृत्तेरिव पदार्थधर्मिककमला-
भेदज्ञानाधीनत्वात् कमलधर्मिकैदं पदार्थमिदंज्ञानस्य तत्राप्रयोजकत्वात् । तथा च 'इदमिदं
वा कमलम्' इत्याकारकस्थानेकधर्मिकैकप्रकारकज्ञानस्यैवात्रौचित्येनानेककोटिकत्वाभावाभावं
संशय इति शङ्कादलाशयः, सम्बन्धरूपतयाऽभेदो द्विष्टः पदार्थः, तथा नैकस्य पदार्थस्या-
परभ्रमरेण गृहीतेऽपरस्य पदार्थस्याभेद एकस्मिन् गृहीतो भवत्येवेति इदपदार्थं कमला-
भेदे ज्ञायमाने कमले इदपदार्थमिदस्य ज्ञानं निष्प्रयोजनमपि स्यादेवेति च समाधानदला-
शयो बोध्यः । पर्यवसितमाह—कमलत्वमिति । 'कमलं इदमिदं वा' इत्याकारके कमल-
विशेष्यकेऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिव्यक्तिद्वयनिष्ठप्रकारताके सशये जायमाने 'कमलत्व
एतद्वृत्ति तद्वृत्ति वा' इत्याकारक कमलत्वविशेष्यक स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नैतद्वृत्तित्य-
तद्वृत्तिन्वोभयनिष्ठप्रकारताक एव सशयः पर्यवस्यतीति भावः । उपसहरति—सोऽयमिति ।
उपसहृत्वा प्रकृतपक्षे ससन्देहालङ्कारश्चमिश्र सुस्यमिति भावः ।

उपपादनं किं जातं है—अत्र इत्यादि । 'तीरे—' इस पक्ष में 'तटपर तरुणी-मुख
और जल में कमल को देख लेने के बाद भ्रमरों का दोनों तरफ दौड़ना' रूप वाच्यार्थ
से कमलरूप आधार में, अभेद सम्बन्ध द्वारा, आगे स्थित दो व्यक्ति (एक तरुणी का
मुख, दूसरा कमलपुष्प) जिसकी कोटियाँ हैं ऐसा 'कमल यह है अथवा यह' इस
आकार वाला भ्रमरनिष्ठ सन्देह (अलङ्कार) अभिगम्यक होता है । आप कहेंगे—कमल-
रूप आधार में 'यह' का अभेद निरर्थक है । कारण, भ्रमर जो दोनों वस्तुओं की तरफ
दौड़ रहे हैं तो 'कमल में यह' के ज्ञान से नहीं, किन्तु 'यह' में कमल' के ज्ञान से ग़ीब
रहे हैं । अतः भ्रमरगत ज्ञान का आकार वस्तुतः यह सिद्ध होता है कि—'यह अथवा
यह कमल है' । इस ज्ञान में धर्मों की अनेक हैं कोटि तो 'कमल' एक ही है, फिर यह
ज्ञान संशय हुआ ही नहीं । पर यह आपका कथन उचित नहीं । कारण, एक पदार्थ में
अन्य पदार्थ का अभेदज्ञान अन्य पदार्थ में एक पदार्थ के अभेद-ज्ञान का निमित्त हुआ
करता है । सारांश यह कि 'अभेद' परस्पर का सम्बन्ध है, अतः 'यह में कमल का अभेद'

मानने पर 'कमल में यह का अभेद' अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये अन्तर्नो-
गत्वा इस सन्देह का आकार यह हो जाता है कि 'कमलत्व इसमें रहनेवाला है अथवा
उसमें रहनेवाला'। इस अनेककोटियों वाले ज्ञान को सन्देह मानने में किसी को
आपत्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह निकला कि-ससन्देहालङ्कारध्वनि (व्यङ्ग्य
ससन्देहालङ्कार) का यह उदाहरण ठीक है।

ससन्देहालङ्कारध्वनेरुदाहरणान्तरत्रिरस्यति—

‘आज्ञा सुमेयोरविलङ्घनीया किं वा सदीया नवचापयष्टिः।

वनस्थिता किं वनदेवता वा शकुन्तला वा मुनिकन्यकेयम्॥’

यद्यप्यत्रापि वाचकशब्दामावाहू व्यङ्ग्य एव भवितुमर्हति सशयः, तथापि
विषयनिरूपणेन स्फुटमावेदितत्वात् ध्वनिव्यपदेशहेतुः। अपि तु गुणीभूतव्य-
ङ्ग्यप्रभेदव्यपदेशस्य, अनुगामी चात्र प्रतिप्रकार पृथगेव निदिष्टः।

सीता पश्यता मुनीनामुक्ति — इय सीतास्वेनानिर्णीता सीता, सुमेयो पुण्येपो. (कामी-
देवस्य) अविलङ्घनीया अवश्यमेव पालनीया, आज्ञा, किंवा, सदीया कामदेवसम्बन्धिनी,
नवचापयष्टि नूतनधनुर्वल्ली, किंवा, वनस्थिता वनवासिनी, वनदेवता वनाधिष्ठात्री देवी,
किंवा मुनिकन्यका मुक्तिनया, शकुन्तला अस्तीत्यर्थः। उपपादयति—यद्यपीति। वाचक-
शब्देति। सशय-सन्देहादीत्यर्थः। विषयेति। आज्ञादीत्यर्थः। गुणीभूतेति। गुणीभूत-
व्यङ्ग्यनामको य काव्य प्रभेदस्तद्व्यपदेशस्येत्यर्थः। हेतुरित्यस्यानुवृत्तिः। अनुगामीति।
एकस्मिन्नान्वीयमान उपमानोपमेयोभयमवृत्तिर्धर्म इत्यर्थः। प्रतिप्रकारमिति। प्रकाशतया भास-
माने प्रत्येकस्मिन् उपमाने इत्यर्थः। प्रतिसन्देहमिति स्थूलोऽर्थः। ‘आज्ञा-’ इति पदे सन्दे-
हवाचक कश्चन शब्दो नास्ति, अत इदमर्थधर्मिक अभेदेन कामाज्ञाकामचापयष्टि-
वनदेवताशकुन्तलाविविधधर्मप्रकारकी वर्णनीय सन्देहो व्यङ्ग्य इत्यत्र न काऽपि
विचिक्रिता, परन्तु सत्यपि तस्मिन् व्यङ्ग्ये ससन्देहालङ्कारध्वनिव्यवहारोऽत्र न भवेत्,
गूढव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनिव्यवहारप्रयोजकत्वात्, अत्रत्यसन्देहरूपव्यङ्ग्यस्य विषयनिरूपणेन स्फुट-
बोधिततयाऽगूढत्वात्। तस्मादेतैव सन्देहात्मक व्यङ्ग्यमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकमध्यम-
काव्यव्यवहार एव स्यात्, अगूढव्यङ्ग्यस्य तद्भेदेषु गणनात्। अत्र सीता प्रकृतत्वेनोपमेय-
भूता आज्ञाचापयष्टिवनदेवताशकुन्तलाश्चाप्रकृतत्वेनोपमानभूता, तत्र आज्ञासीतयो अविलङ्घ-
नीयत्वम्, चापयष्टि-सीतयोर्वनत्वम्, वनदेवतासीतयो वनवासित्वम्, शकुन्तलासीतयोश्च
मुनिकन्यात्वम्, साधारणोऽनुगामी धर्म इति भावः।

ससन्देहालङ्कारध्वनि का प्रसुदाहरण दिखलाया जाता है—आज्ञा इत्यादि। सीता
को देखकर मुनियों का कथन है—यह सुमेय (कामदेव) की अनुवृत्तनीय आज्ञा है,
अथवा उसके नूतन धनुष की यष्टि है, किंवा वनवासिनी वनदेवता है, अथवा मुनिकन्या
शकुन्तला है ? इस पद्य में भी सन्देह-वाचक कोई शब्द नहीं है—अर्थात् ‘मुनियों को
यह सन्देह हुआ’ यह बात नहीं लिखी है, अतः यहाँ भी सन्देह (अलङ्कार) व्यङ्ग्य ही
होगा, पर व्यङ्ग्य होकर भी वह सन्देह इस पद्य में ध्वनिकाव्यव्यवहार करने का कारण
नहीं हो सकता, क्योंकि सीता में त्रिन विषयों का सन्देह किया जा रहा है उन आज्ञा
आदि का निरूपण होने के कारण सन्देह स्पष्टतया बोधित हो गया है—गूढ (छिपा
हुआ) नहीं रह सका और ध्वनिकाव्यव्यवहार का कारण वही व्यङ्ग्य होता है जो
गूढ हो। हाँ, ‘गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक’ मध्यमकाव्यव्यवहार का कारण यह अगूढ व्यङ्ग्य
(सन्देहालङ्कार) हो सकता है। अन्यत्र ‘अस्फुटमगूढम्’ इत्यादि शब्दों द्वारा ‘गुणीभूत
व्यङ्ग्य काव्य’ के परिगणनप्रकरण में ‘अगूढ’ व्यङ्ग्य वाले काव्य को मध्यम काव्य में गिना

भी गया है। फलतः 'आज्ञा—' यह पद्य मध्यम काव्य का उदाहरण है, भूनि-काव्य का नहीं। इस पद्य में सीता प्रस्तुत होने के कारण उपमेयभूत है और आज्ञा, चाःयष्टि, वनदेवता तथा शकुन्तला है अप्रस्तुत होने के कारण उपमानभूत। इनमें से प्रत्येक उपमान-जो सन्देह में प्रकारतया (विशेषणरूप से) भासित हुए हैं—के साथ उपमेय-सीता-का साधारणधर्म जो अनुगामी (एक ही बार उच्चरित होकर दोनों तरफ अभिवृत्त हो सकने-वाला) है पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हुआ है। जैसे-आज्ञा के साथ 'अनुज्ञास्वीकृता', चापयष्टि के साथ 'नवीनता' वनदेवता के साथ 'वनवासिनी' और शकुन्तला के साथ 'मुनिकन्यात्व' सीता के अनुगामी साधारणधर्म हैं। यह ध्यान रहे कि-राजा जनक राजा होकर भी मुनि थे, अतः सीता भी मुनिकन्या कही जा सकती है।

निरूपितम् अप्ययदौस्तिकं सन्देहध्वन्युदाहरणं तद्विवरणबोद्धव्यम्—

यत्तु चित्रमीमांसायां संशयध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे अप्ययदीक्षिताः—

“काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी वीक्ष्य साक्षादिष भ्रियम्।

वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवैक्षत ॥”

अत्र संशयस्य शब्दोपात्तत्वेऽपि तावन्मात्रस्यानलङ्कारत्वात्तदलङ्कारताप्रयोजकस्य वक्षःस्थले स्थितैव लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुनस्तिष्ठतीत्येवं संशयाकारस्य वक्षःस्थलमवैक्षतेत्यनेन व्यङ्ग्यत्वात् सन्देहालङ्कारध्वनिरत्रेति।

यथा—

‘दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निपेक्षुषः।

वीक्ष्य विम्बमनुष्मिन्मार्मनः कानि कान्यपि चकार लज्जया ॥’

इत्यत्र कानि कान्यपीति सामान्यतो निर्दिष्टानुभावविशेषप्रतीत्यर्थं लज्जाशब्द-प्रयोगेऽपि तस्याः स्वविभाषानुभावाभ्यां रसानुगुणाभिष्यक्तिरूपो ध्वनिः” इत्याहुः।

काचिदिति। साक्षात् पुरं समुपस्थिताम्, त्रियं लक्ष्मीम्, इव, काचनवत् सुवर्णवत्, गौराणि पीतमच्छकान्तांनि, अज्ञानि सस्यास्तादृशीम्, काचित् सुन्दरीम्, वीक्ष्य हृद्वा, संशयापन्नं जातसन्देहं, वरदः ‘काञ्चीवरम् (मद्रास) बगरे वरदराजनाम्ना ख्यातो विष्णोर्मूर्तिविशेष, वक्षःस्थलम् स्वर्ग्यमुपरीदेशम्, अवैक्षत दृष्टवानित्यर्थः। अप्ययदीक्षित-मूलमुत्पन्नं स्वस्वार्थकृतवरदराजवसन्तोत्सवस्यमिदं पद्यम्। वरपादयति दीक्षितः—अत्रेति। तदिति। संशयेत्यर्थः। अयमत्र तदाशब्द—‘काचित्—’ इत्यत्र ‘संशयापन्नः’ इति समस्तपदघटक-‘संशय-’पदेन यद्यपि वाच्यइत्येव सन्देहो बोध्यते, तथापि तद्वि-धितस्यास्फुटान्कारस्य तस्य नालङ्कारत्वम्, अतः ‘वक्षःस्थले स्थिता लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य पुरं तिष्ठति अथवा काचिदन्या कनकगौरी रमणी’ इत्येवं स्फुटान्कारस्यैव तस्यालङ्कारत्वं निर्वचनीयम्, स चाकारस्तदाकारविशिष्टसंशयश्च वाच्यः, अपि तु ‘वक्षःस्थलमवैक्षत’ इत्यनेन अत्रैव एवेत्यत्र सन्देहालङ्कारध्वनिरिति। एवरीत्या ध्वनिलिख्यवहारे दृष्टान्तविधया पदान्तरसुपन्वस्यति दीक्षितः यथा—‘दर्पणे—’ इति। दर्पणे आदर्शं, परिभोग-दर्शिनी सम्भोगचिह्नदर्शिका पार्वती, आत्मनः स्वरूपा, विम्बमनु प्रतिकृतेः पश्चाद्भागे, पृष्ठतः पृष्ठदेशे, निपेक्षुषः उपनिष्ठस्य, प्रणयिनः प्रियतमस्य शिवस्य, विम्बं प्रतिकृतिम्, वीक्ष्य, लज्जया, कानि कानि नानाविधानि चेष्टितानीति यावत्, चकारेत्यर्थः। दीक्षित-ग्रन्थे तदुद्धरणान्तकै रसपद्माधारे ॥ ‘कानि कान्यपि’ इति पाठः समुपलभ्यते, तदनुसार-मित्यभ्याख्या उमास्वम्भवे ॥ ‘कानि कानि न’ इति पाठो दृश्यते, तदनुसारिणी व्याख्या

स्वयमूहितु शक्या । कुमारसम्भवे पार्वतीसम्भोगवर्णनमिदम् । उपपादयति स एव—
 अत्रेति । निर्दिष्टेति । निर्दिष्टा उपवर्णिता ये अनुभावा मुखनम्रीभावादयः, विशेषरूपेण
 तत्प्रतीत्यर्थमित्यर्थः । तस्या लज्जया । स्वविभावानुभावभ्यामिति । प्रियतमेन नायिका-
 कृतसम्भोगचिह्नदर्शनप्रवासस्य ज्ञानं विभाव, मुखनम्रीभावादिरनुभाव ताभ्यामित्यर्थः ।
 अन्यत्वं तृतीयार्थः । तस्य चाभिव्यक्तिपदार्थेऽवयवः । रसानुगुणेति । शृङ्गाररसोपेक्षा
 या अभिव्यक्ति तद्रूप इत्यर्थः । इदमत्र तदाकृतम् 'दर्पणे-' इति पदे 'कानि कानि'
 इत्यनेन अनुभावा निर्दिष्टा परन्तु 'के ते अनुभावा, कस्य वा अनुभावा' इत्यादि न
 तावता विशेषतः प्रतीयते इति तत्प्रतीत्यर्थम् 'लज्जया' इति कविना प्रयुक्तम् । येन त्रपा-
 नुभावा मुखनम्रीभावादयः प्रतीयन्ते । एवञ्चात्र लज्जया वाच्यत्वाद्यद्यपि न व्यङ्ग्यत्वम्,
 तथापि वाच्यायास्तस्या न प्रकृतशृङ्गाररसोपेक्षत्वम्, तत्पोषकत्वञ्च स्वकीयविभावानु-
 भावद्वाराऽभिव्यज्यमानायास्तस्या इति लज्जाध्वनिरत्र व्यवहियते यथा, तथा तत्रापि
 सन्देहध्वनिरिति ।

खण्डन करने के लिये सन्देह ध्वनि का दीक्षितोक्त उदाहरण तथा तत्कृत उसका
 उपपादन अब यहाँ उद्धृत किया जाता है—यत्तु इत्यादि । अल्पय दीक्षित ने अपनी
 'चित्रमीमांसा' में 'सन्देहध्वनि' के उदाहरण के प्रसङ्ग पर लिखा है—'काञ्चित्—
 अर्थात् वरदराज ('काञ्चीवरम्-सद्भास'-में भगवान् विष्णु की 'वरदराज' नाम से प्रसिद्ध
 एक मूर्ति) मानो साक्षात् लक्ष्मी हो ऐसी, सुवर्ण सङ्कषीर अङ्गों वाली किसी कामिनी
 को देखकर सन्देह-युक्त हुए और वच स्थल देखने लगे ।' (यह पद्य अल्पयदीक्षित के
 मूल पुष्प 'वच स्थलाचार्य' द्वारा रचित 'वरदराज-वसन्तोत्सव' का है ।) इस पद्य में
 यद्यपि सन्देहात्मक ज्ञान साक्षात् शब्द द्वारा वर्णित है—अर्थात् 'लक्ष्म्यापन्न' में सशय
 शब्द आया है, तथापि केवल उत्तमा भाग्य-अर्थात् स्पष्ट आकाररहित सन्देह-अलङ्कार-
 रूप नहीं होता, और 'वच-स्थल' में रहने वाली लक्ष्मी ही वहाँ से उतरकर भागे
 खड़ी है' इस तरह के आकार वाला जो वही सन्देह अलङ्काररूप है वह उस रूप में
 शब्दोपात्त है नहीं, अपि तु 'वच-स्थल को देखने लगे' इस उक्ति से व्यङ्ग्य होता है ।
 तात्पर्य यह कि-'सशय' पद से निराकार सन्देह के वाच्य होने पर भी साकार सन्देह
 वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, और साकार सन्देह ही अलङ्काररूप माना जाता है । अतः यह
 पद्य सन्देहालङ्कारध्वनि का उदाहरण है । जैसे कि—'दर्पणे च—अर्थात् दर्पण में
 सम्भोग के चिह्न—गलपत आदि—को देख रही पार्वती ने अपने पीछे बैठे प्रियतम-
 शिव-के प्रतिविम्ब को अपने प्रतिविम्ब के पीछे की तरफ देखकर लज्जा से क्या क्या
 न किया ।' (यह अर्थ कुमारसम्भव में उपलब्ध 'कानि कामि न चकार-' इस पाठ
 के अनुसार किया गया है । दीक्षित की चित्रमीमांसा में तथा तदुद्धरणार्थक रस-
 गङ्गाधर में 'कानि कायपि चकार' यह पाठ—जो मूल में लिखा गया है—प्राप्त होता है तद-
 नुसार किसी तरह 'नाना प्रकार की चेष्टाएँ कीं' यह अर्थ किया जा सकता है, पर पाठ
 अच्छा नहीं है जो कुमारसम्भव में प्राप्त होता है । यह पद्य पार्वती सुरत-वर्णन प्रसङ्ग
 पर कुमारसम्भव-अष्टम सर्ग में आया है ।) यहाँ 'क्या-क्या' इस तरह सामान्यरूप
 में वर्णित अनुभावों की विशेषरूप से प्रतीति के लिये 'लज्जा' शब्द का प्रयोग
 करने पर भी, अपने विभावों और अनुभावों द्वारा, लज्जा की रस के अनुकूल अभि-
 व्यक्तिरूप ध्वनि है—अर्थात् यहाँ अनुभावों की विशेष रूप में प्रतीति करवाने
 के लिये 'लज्जा' शब्द के आने पर भी रस का पोषण करने में यम लज्जारूप चित्तवृत्ति
 व्यङ्ग्य ही है । प्रकृत में कहने का तात्पर्य यह है कि—जिस तरह 'दर्पणे च-' इस पद्य में
 लज्जाशब्द का प्रहण रहने पर भी, जिस रूप में वह रस का पोषण कर सकती है उस-
 विभावानुभाव द्वारा प्रतीयमानत्व—रूप में व्यङ्ग्य ही मानी जाती है और तदनुसार

‘लज्जा-ध्वनि’ कही जाती है, उसी तरह ‘काञ्चित्—’ इस पद्य में भी सन्देह को अलङ्कारतावच्छेदकरूप में व्यवहृत माना जा सकता है और तदनुसार उस पद्य को ‘सन्देहालङ्कारध्वनि’ का उदाहरण भी कहा जा सकता है।

निरस्यति—

तदेतद् ध्वनिमर्मज्ञैरुपहसनीयमेव ।

प्रागुद्धृत दीक्षितोक्त सर्वमनुचितमेवेति भावः । .

दीक्षित द्वारा कही गई उक्त बातों का अब सण्ठन किया जाता है—तदेतद् इत्यादि । पूर्वोक्त सभी बातें ऐसी ही हैं जिनका ध्वनिमर्मज्ञ जन उपहास ही कर सकते हैं—आवर नहीं ।

उपहसनीयत्वे हेतुमाह—

तथाहि संशयाविष्ट इत्यत्र संशयपदेनैकस्मिन् पदार्थे विरुद्धनानापदार्थ-सम्बन्धावगाहिज्ञानं साक्षादेव निवेद्यते । तत्र कोऽसौ विरुद्धो नानार्थ इति विशेषाफाङ्गायां वक्षःस्थलावेक्षणैः पक्ष स्थलस्थैश्च लक्ष्मीस्ततोऽवतीर्य किं पुर-स्तिष्ठतीत्यादिरर्थो व्यञ्जनाभ्यापारेण बोध्यमानः शक्त्यसंशयसन्देहनिवेदितज्ञानविशेषणीभूतेन सामान्यार्थेन साकमभेदेन पर्यवस्यति । एवं च संशयमात्रस्य शक्त्या बोधनाद्वक्षःस्थलस्थितैवेत्यादिविषयभागस्यापि विरुद्धनानार्थत्वेन सामान्याकारेणावलीढतया तथैव कवलीकरणाद्व्यार्थसंशयपर्यवसायकत्वाच्च न कस्यापि ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम् । सर्वथा वाच्यवृत्त्यनुमितस्यैव तथा-त्वमिति ध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात् ।

तथा च द्वितीयोद्घोते—

“शब्दार्थशक्त्याक्षितोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।

यत्राविष्टिर्यते स्योक्त्या साऽन्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥”

इति सूत्रयित्वा ।

‘सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृत लीलापद्मं निमीलितम् ॥”

अत्र सङ्केतकालमनसं ज्ञात्वा लीलापद्मं निमीलितमिति वदता कविना लीलापद्मनिमीलनस्य प्रदोषाभिव्यञ्जकत्वं स्योक्त्यैव निवेदितमिति ध्वनिमार्गा-वयमपर एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः ।

यथा वा—

‘अन्या शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामप्रणीरत्र तातो

निःशेषागारकर्मग्रमशिमिलतनुः कुम्भदासी वयाऽत्र ।

अस्मिन् पापाहमेक कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा

पान्थापेत्य तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥”

अत्र निःशङ्कं रन्तुमावाहीत्यर्थश्रवणत्रयव्यङ्ग्योऽप्यवसरव्याहृतेर्न्याजत्वं प्रवृ-त्ता कविना स्फुटं स्योक्त्या निवेदित इत्ययमपि न ध्वनेर्मार्गः” इत्याहुरानन्दव-र्धनाचार्याः ।

तृतीयोद्घोते च गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपणे ‘व्यङ्ग्यस्यार्थस्य यदि मनाग-प्युक्त्या प्रकाशनं तदा गुणीभाव एव शोभते । तस्माद्यत्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थ-

स्तात्पर्येण प्रतीयते तत्र तस्य प्राधान्याद् ध्वनित्वम्' इति तद्युक्तिविवेचनेऽभि-
नवगुप्तपादाचार्याः ।

एवं चैवविधेषु विषयेषु व्यञ्जकत्वस्य व्यङ्ग्यस्य वा मनागुक्तिसंस्पर्शमात्रेण
ध्वनित्वं निराकुर्वाणाः 'काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी-' इति पद्ये शब्दाभिहितव्यङ्ग्ये
ध्वनित्वं कथमिव स्वीकुर्येति । एतेन 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी' इति प्रागुक्त-
पद्ये लज्जाध्वनित्वं यदोक्षितैरभ्यधीयत तदप्यपास्तमिति दिक् ।

इत्यत्रेति । घटकत्वं सप्तम्यर्थः । तथा चैतद्वाक्यघटकसंशयपदेनेत्यर्थः । अस्य 'निवे-
शते' इत्यत्रान्वयः । साक्षात् इति । वृत्त्यन्तरानन्तर्मात्राभिधयेत्यर्थः । निवेशते बोध्यते ।
तत्र सामान्यज्ञाने । अत्रेष्टेनेति । वक्ष्यलक्षणरूपार्थेनेति भावः । अस्य 'प्रोध्यमानः'
इत्यत्रान्वयः । संशयमात्रस्येति । अस्पष्टविषयाभारतया केवलस्य समदेहस्येत्यर्थः । अर्थ-
स्त्वेन सामान्याकारेणेति । एतद्रूपसामान्याकारेणेत्यर्थः । अवलीटयति । बोध्यतेत्यर्थः ।
तथैव शक्यैव । क्वलीति । बोधनादित्यर्थः । मन्वेवमपि विशेषरूपेण व्यङ्ग्यत्वमेवात आह-
वाच्यायैति । विशेषसंशयस्येत्यादि । तदाह—कस्यापीति । विशेषस्यापीत्यर्थः । सर्वथा
केनापि प्रकारेण । तथात्वम् ध्वनित्वम् । अयं भावः—विद्वन्नानाकोटिब्रह्माविज्ञानविशेषा-
त्मकमदेहपर्यायवाचकं संशयपदमित्यत्र न कस्यापि विमतिः । तादृशं च संशयपदं
'काञ्चित्-' इति पद्ये वर्तते । तथा चात्र, सन्देहस्य वाच्यत्वेन, न व्यङ्ग्यता । यद्यपि विद्व-
न्नानाकोटिब्रह्मात्मकेन सामान्यरूपेण कोटिद्वयस्य संशयपदवाच्यत्वेऽपि 'वक्ष्यलक्ष्यैव
सद्वृत्तौ ततोऽवतीर्य पुरस्तिष्ठति' इत्याकारेण विशेषरूपेण एकस्या कोटिर्न वाच्यता, अपि
तु वररक्तवृत्तवक्ष्यलक्षणरूपार्थव्यङ्ग्यत्वेन, एवम् 'न निर्विषयं ज्ञानस्य स्वरूपम्' इति
वाच्या सन्देहस्य व्यङ्ग्यताऽत्र कर्तुमुचितेति सत्यम्, तथापि कोटिद्वयत्वेन सामान्य-
रूपेण संशयपदावाच्यवृत्त्याऽवगते कोटिद्वये 'किं तद् कोटिद्वयम्' इति विशेषजिज्ञा-
साम् पूर्वोक्तरीत्या व्यञ्जनया ज्ञायमाना कोटिः अभिधाबोधितसामान्यकोट्यभिन्नैव
पर्यवस्यतीति स्थितौ विशिष्टात्मकमदेहपदार्थगतविशेष्याशस्य ज्ञानस्याभिधाबोध्यतया
विषयमागस्य विशेषणाशस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि अभिधास्पृष्टतया ध्वनिव्यपदेशोऽत्र न सम्भवति,
अभिधाऽनालितित्तत्त्वैव व्यङ्ग्यस्य ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वादिति । वाच्यवृत्त्युन्मितस्यैव व्य-
ङ्ग्यपरम ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वे ध्वनिमर्यादं प्रमाणतवोपन्यस्यति—तथा चेत्पादिना । द्वितीयो-
हतेति इति । आनन्दवर्धनानामप्रणीतध्वन्यालोक्तस्येति भावः । शब्दार्थेति । शब्दाशक्त्या,
अर्थशक्त्या, समयशक्त्या वा बोधितोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थो यस्मिन् काव्ये कविना पुन स्वीकृत्या
आविष्कृत्यते (अभिधावृत्तिबोध्यो विधीयते) तत्र न ध्वनिः, अपि तु ध्वनेरन्वोऽलङ्कार-
विशेष एवेत्यर्थः । ध्वनिमर्यादं तादृशमुदाहरणमुद्धरति—सङ्केतकालेति । विदग्धया
चतुरया नायिकया, विष्ट स्वस्यामासक्तं नारपुरुषम्, सङ्केतकाले मनो यस्य तादृशम्,
सङ्केतसमयज्ञानायाकुलमिति यावत्, ज्ञान्वा, लीलापद्मं मीढायं करे प्लुत कमलम्, हसता
प्रसीदता, मेत्रेण, अर्पितं सूचितं, आकृतं अभिप्रायविशेषो यस्मिन् कर्मणि तदथा
स्यात्तथा, निमीलितं मुदितं मुष्टिगूढं कृतमित्यर्थः । अत्रोक्तं तदुपपादनमुद्धरति—अत्रेत्या-
दिना । इति वदतेति । कत्वान्तवाक्यविशिष्टकान्तवाक्यं वदनेत्यर्थः । अन्यथा कत्वान्तवा-
क्येनैवार्थात्तदभिप्रेत्यकत्वे सिद्धे कत्वान्तवाक्यान्वयक्य स्पष्टमेव । तदाह—स्वीकृत्येवेति ।
कत्वान्तवाक्येनैवेत्यर्थः । अथमाशयः—'सङ्केत-' इत्यत्र पञ्चनिमीलनवेष्ट्या प्रदोषकालधौर्यत-
योम्यो व्यज्यते, स च व्यङ्ग्य 'सङ्केतकालमनसं विष्टं ज्ञान्वा' इत्यनेन वाच्यायमानं कृतं

अतएतं व्यङ्ग्यमादाय ध्वनिकाव्यव्यवहारो न भवति, अपि तु अलङ्कारप्रधानगुणभूतव्यङ्ग्य-
नामकमध्यमकाव्यव्यवहार एवेति । तादृशमुदाहरणान्तरं तदुक्तमुद्धरति—अन्वेति ।
अत्र गृह्यदेशविशेषे (एकमेवैषि), इहा (एतेन तस्या) चक्षुरादीन्द्रियशक्तिनैक्यम्,
तेन च ज्ञानरितामामपि तस्या ज्ञानविशेषाभाव आवेशते) अन्वा माता, शेते (वाक्या-
न्तरेऽपि क्रियापदस्यास्यान्वयो बोध्यः), अत्र, परिणतवयसाम् वृद्धानाम्, अग्रगो-
प्रधानः, अतिवृद्ध इति यावत्, तात पिता (अत्रापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यं बोध्यम्) तथा,
अत्र, नि शेषेण सकलेन, आभारकर्मणा गृहकर्मणे तत्कालेनेति यावत्, जनितः यः श्रमः,
तेन, शिथिला आलस्यमयी, तनु शरीरं यस्याः तादृशी (एतेन तज्जागरणसम्भावनानि-
रासः सूच्यते), कुम्भदासी कुम्भेति पान्थसम्बोधनमिति कथित्, सन्नामिकां दासीत्यन्यः,
जलापाहरणार्थं दासी, न स्त्रीदासीति तु तत्त्वम्, कतिपयेभ्यो, दिवसेभ्यः, श्रोपितः
विवेशस्थः, प्राणनाथ स्वामी यस्यास्तादृशी (अत्र कतिपयेत्यनेन शीघ्रं तदायमनाभावो
व्यज्यते, प्राणनाथेत्यनेन च तस्मिन् स्वकीयप्रेमाभावः), पापा पापिनो (सकलदुःखानां
पापमूलत्वेन विशेषतः खस्यापि पापमूलत्वात् पापात्त्वम्), एक एकाकिनी (एतेन रतसौ-
विध्यम् ध्वन्यते), अस्मिन् स्थानविशेषे, शयं इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः, इत्यम्
पूर्वोक्तप्रकारेण, तद्व्याज नव्यौवनशालिन्या (एतेन कामभावोत्कृष्टता व्यज्यते), पान्याय
पथिकाय (एतेन तस्यापि चिरवियोगित्वेनोत्कृष्टातिशयः सूच्यते), अवसरव्याहृतिः
प्रासङ्गिकी उक्तिस्तदुपे यो व्याज कण्टम्, स पूर्वः पुरस्सरो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा
स्यात्तथा, कथितम् इत्यर्थः । अत्रत्य तदुपपादनमुद्धरति—अत्रेत्यादिना । अयं भावः—
'अन्वा—' इति पदे आयेन चरणध्रयेण 'शङ्कामपहाय स सम्भोगविधातुमागच्छ' इत्यर्थोऽ-
र्थाकृत्या व्यज्यते, परमसौ व्यङ्ग्योऽर्धध्वनुर्यचरणगतेन अवसरव्याहृतिव्याजेन वाच्यीकृत
इति नैतं व्यङ्ग्यार्थमादायात्र ध्वनिव्यपदेशः, अपि तु अत्रानुपलङ्कारप्रधानगुणीभूतव्यङ्ग्य-
काव्यव्यपदेश एवेति । न केवलम् ध्वनिकृतैव एव सिद्धान्तितम्, अपि तु ध्वन्यालोकस्य
लोचनाभिधा उक्ता कुर्वता अभिनवगुणानायेणापि तथैव सिद्धान्तितमित्याह—तृतीयोद्घोते
चेति । गुणीभाव इति । मनागप्युक्त्या प्रकाशितस्य व्यङ्ग्यार्थस्येति भावः । तथा च
तादृशस्थले गुणीभूतव्यङ्ग्यनामकमध्यमकाव्यव्यवहारमिति तात्पर्यम् । परिरोपलब्धमर्थं स्मरे-
यति—तस्मादिति । यत्र मनागप्यनामुक्त्या व्यङ्ग्यसिर्षङ्ग्यार्थस्तत्रैव ध्वनिनामकौत्समका-
व्यत्वमित्याशयः । प्रन्धकार प्रकृतमुपसहरन्नाह—एवं चैवविधेर्विति । विपदेषु लक्ष्येषु ।
पूर्वोदाहरणारायेनाह—व्यङ्ग्यत्वस्येति । द्वितीयोदाहरणारायेनाह—व्यङ्ग्यत्वस्येति । निरा-
कुर्वाणा स्वङ्ग्यन्तः । रवाभिमतपुष्ट्यर्थम् दृष्टान्तविधया दोषितोत्थापितः प्रसङ्गोऽपि
उपदासास्पदमेवेत्याह—एतेनेति । अयमभिनन्धि—ध्वनिकार आत्मन्दर्षधनः, लोचन-
कारोऽभिनवगुणश्च सर्वमान्यापालङ्कारिकौ ईषद्व्याच्यश्रुतिसृष्टस्यापि व्यङ्ग्यार्थस्य ध्वनिव्य-
पदेशहेतुताम् निराकुरुताम्, अतः 'दर्पणे च परिभोगदर्शिनो—' इत्यत्र लब्धापदेनाभि-
हितस्य प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्यव्यवस्थापि त्रपाभावस्य न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् । इत्यथ
तद्व्यान्तेन 'कथितम्—' इत्यत्र शब्दाभिहितस्य सप्तन्देहालङ्कारस्य प्रकारान्तरेण व्यङ्ग्य-
त्वमुपपाय ध्वनिव्यवहारहेतुता त्रुपाणो दीक्षितो ध्वनिमर्गादानभिज्ञ एवेति ।

दीक्षित की-वार्ता के उपहासयोग्य होने में हेतु दिखलाया जाता है—तथाहि
इत्यादि । 'सशयापन्न' इस मूलोक्त वाक्य के 'सशय' पद से 'एक पदार्थ में, परस्पर-
विरोधी अनेक पदार्थों के सम्बन्धों का भवगाहन करनेवाला ज्ञान' (जिसे सन्देह कहा

जाता है) साक्षात् ही बोधित होता है अर्थात् सञ्चय-पद-घटित 'वरद, सशयापघ' इस वाक्य का वाच्य अर्थ ही यह है कि वरदराज को कोई ऐसा ज्ञान हुआ है जो एक पदार्थ में परस्परविरुद्ध अनेक कोटियों का ग्रहण कर रहा है। इसके बाद जब 'वह परस्पर-विरोधी पदार्थ (जो कोटिरूप है) कौन है' इस विशेष की जिज्ञासा होती है तब वरदराज के वचनस्थल-दर्शन रूप अर्थ से अभिव्यक्त होनेवाले 'वचनस्थल में रहनेवाली लक्ष्मी ही वहाँ से उतर कर आगे खड़ी है क्या ?' यह (कोटिभूत) अर्थ अवगत होता है। इस तरह विशेषरूप में व्यञ्जना द्वारा ज्ञात होनेवाला यह कोटिभूत अर्थ, अभिधा द्वारा, सञ्चय शब्द से बोधित उक्त ज्ञान में विशेषण बने सामान्य अर्थ (अनेक पदार्थ) के साथ अभिन्नता को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि जिस अंश को लेकर आप उक्त पद्य में सन्देह को व्यङ्ग्य मान रहे हैं वह अंश अन्ततः वाच्य सन्देह का विवरण मात्र टहरता है, स्वतन्त्र व्यङ्ग्य अर्थ नहीं। इस तरह सारांश यह सिद्ध हुआ कि 'काञ्चित्' इस पद्य में केवल (विषयांतरहित) सन्देह तो अभिधा द्वारा ज्ञात होने के कारण वाच्य है ही, साथ ही उसके एक अंश का विवरणरूप 'यद्यनस्थल में स्थित ही लक्ष्मी वहाँ से उतर कर सामने खड़ी है' यह विषयभाग भी 'विरोधी अनेक पदार्थ' रूप होने के कारण विशेषरूप से व्यङ्ग्य होकर भी सामान्यरूप से अभिधा द्वारा आक्रान्त है। ऐसी स्थिति में अभिधावृत्ति का प्राप्त बन जाने से इस अर्थ को स्वतन्त्र तथा व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता इस और व्यङ्ग्य अर्थ की समाप्ति भी वाच्यार्थ-विषयक सन्देह में ही होती है। अतः यहाँ एक भी ऐसा अर्थ नहीं जो इस काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम) बना सके। कारण, ध्वनिमार्ग-प्रवर्तकों का सिद्धान्त है कि जिसमें अभिधावृत्ति का स्पर्श सर्वथा नहीं हो वही व्यङ्ग्य काव्य में 'ध्वनि' व्यवहार करा सकता है। देखिए—'ध्वन्यालोक' के द्वितीय 'उद्घोष' में 'आनन्दवर्धनाचार्य' ने—'शब्दार्थ-साक्षात्—अर्थात् शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति किंवा उभयशक्ति (शब्दनिष्ठ व्यञ्जना अथवा अर्थनिष्ठ व्यञ्जना किंवा उभयनिष्ठ व्यञ्जना) द्वारा आच्छिन्न (बोधित) भी व्यङ्ग्य अर्थ, जहाँ कवि द्वारा अपनी उक्ति से पुनः प्रकट कर दिया जाता है, वह 'ध्वनि' से भिन्न ही अलङ्कार है—ऐसी जगह 'ध्वनि' नहीं, किन्तु अलङ्कार माना जाना चाहिये।' यह सूत्र बनाकर कहा है कि "सक्रेत—अर्थात् चतुर नायिका ने जार की सक्रेत-काल-ज्ञान के लिये उसुक मन वाला जानकर, हँसती आँखों से अपने अभिप्राय को प्रकट करने के साथ, लीलाकमल को मूँद दिया।" यहाँ 'जार को सक्रेत-काल-ज्ञान के लिये उसुक मन वाला जानकर' इस अंश से युक्त 'लीलाकमल को मूँद दिया' इस वाक्यांश को कहते हुए कवि ने 'लीलाकमलमुद्रण' में वर्तमान 'प्रदोषकालव्यञ्जकता' को अपनी उक्ति द्वारा ही प्रकट कर दिया, अतः ध्वनिपद्धति से भिन्न यह गुणीभूत व्यङ्ग्य की पद्धति है। अभिप्राय यह कि यदि 'जार को सक्रेत-काल-ज्ञान के लिये उसुक मनवाला जानकर' इस वाक्यांश का उच्चारण कवि नहीं करता तब 'लीलाकमलमुद्रण' की 'प्रदोषव्यञ्जकता' प्रकट नहीं होती—छिपी रहती, अतः उस स्थिति में यह पद्य ध्वनि-काव्य कहलाता, पर ऐसा हुआ नहीं, अतः यह मध्यमकाव्य ही कहलाता है। अथवा जैसे—'अम्बा रोते—अर्थात् यहाँ बूढ़ी माता सोती है, यहाँ बूढ़ों के अगुआ अति-बुद्ध पिता सोते हैं तथा यहाँ सारे घर के कामों को करने से श्रान्त अतएव शिथिल शरीरवाली 'कुम्भदासी' (कुम्भ नामकी दासी अथवा जल ढोने के लिये घड़ा उठाने वाली दासी, क्रीड़ा दासी नहीं) सोती है, और इस जगह, कुछ दिनों से दूरस्थ पति से वियुक्त अतएव पापिनी मैं अकेली सोती हूँ, इस तरह युवती ने प्रासंगिक उक्ति के छल से, पथिक को कहा।" (यहाँ 'माता को बूढ़ और पिता को बूढ़ों का अगुआ' कहने से उनके जगने का कोई मय नहीं, जग जाने पर भी इष्टिशक्ति श्रवणशक्ति आदि से हीन होने के कारण, उन पर हमारे जाचरणों के प्रकट होने का मय नहीं, हरपादि अर्थ व्यक्त

होते हैं, इसी तरह 'कुम्भदासी' को धान्त तथा शिथिल शरीरवाली 'कहने से उसके जगने का भी भय नहीं, यह जर्ज्य ध्वनित होता है, एवं अपने को पतिविरुद्धा तथा खेकी सोनेवाली कहने से नायिका की उत्कट सम्मोहेच्छा प्रतीत होती है, पति को 'प्राणनाथ' कहने से 'हृदयनाथत्व' का वारण श्लक्ष्णता है, 'पथिक को' इस कथन से उसका भी सम्मोहोत्सुक होना सिद्ध होता है। यहाँ 'निःशङ्क होकर रमण करने आगे' यह अर्थ पद्य के प्रथम तीन चरणों से यद्यपि व्यङ्ग्य होता है, तथापि कवि ने 'प्रासङ्गिक उक्ति' को छलरूप कहते हुए उस व्यङ्ग्य अर्थ को अपनी उक्ति से स्पष्ट अवगत होने योग्य बना दिया। अतः यह भी 'ध्वनि' का मार्ग नहीं है।" यह तो हुई आनन्दवर्धनाचार्य की बात। इसके अतिरिक्त 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक व्याख्या लिखनेवाले अभिनवगुप्ताचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्घोष में आनन्दवर्धन की युक्तियों का विवेचन करते हुए गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपण-प्रसङ्ग में लिखा है—'व्यङ्ग्य अर्थ यदि उक्ति द्वारा प्रकाशित हो जाय तब उसका अप्रधान होना ही शोभित होता है। सापेक्ष यह कि उस स्थिति में व्यङ्ग्य को प्रधान कहना उचित नहीं। अतः जहाँ उक्ति के बिना ही व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्यतः प्रकाशित होता है वहाँ उसकी प्रधानता होने के कारण काव्य को 'ध्वनि' माना जाता है, अन्यत्र नहीं।' इन उद्धरणों से यह सिद्ध हुआ कि जो ध्वनिमार्गप्रवर्तक आचार्य 'सकेतकाल'— इत्यादि लघुओं में व्यञ्जना अथवा व्यङ्ग्य का उक्ति (अभिधा) के साथ किञ्चित् भी-स्पर्श हो जाने पर 'ध्वनिकाव्यता' का निराकरण करते हैं वे 'काञ्चिकावनगौराङ्गीम्—' इस पूर्वोक्त उदाहरण में—जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ प्रकारान्तर से स्पष्टतया अभिधाभूति बोध्य हो गया है—'ध्वनिकाव्यता' कैसे स्वीकार करेंगे? इसी से 'दर्पणे च परिमोघदर्शनी—' इस पूर्वोक्त 'कुमारसम्भव' के पद्य में जो दीक्षित जी ने 'ध्वनिकाव्यता' का दृष्टान्तरूप में उल्लेख किया है, वह भी समाप्त हो गया। तात्पर्य यह कि न 'कुमारसम्भव' का पद्य ही 'ध्वनिकाव्य' (उत्तमोत्तम) है, न दीक्षित जी का उदाहरण ही।

ससन्देहालङ्कारे साधारणधर्मस्थिति विचारयति—

अस्मिन् संराये नानाकोटिषु कचिदेक एव समानो धर्मः। कचित् प्रथक्। सोऽपि कचिदनुगामी, कचिद् बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नः, कचिदनिर्दिष्टः, कचिन्निर्विष्टः।

अथ ससन्देहालङ्कारोऽपि सादृश्यमूलकः, अतोऽत्रापि सादृश्यनियामकः समानो धर्मः तिष्ठति। स च समानो धर्मः कुत्रचित् सन्देहे विशेषणीभूतान्यनुपमानभावापन्नानाम् अनेकपदार्थानाम् सादृश्यस्य विशेष्यीभूते उपमेयभावापन्ने पदार्थे नियामक एक एव भवति, कुत्रचित् भिन्नो भवति। अनयोद्विविधयो समानधर्मयो प्रत्येको धर्मः पुनश्चतुर्विधो भवति, अनुगामि-बिम्बप्रतिबिम्बमानापचानिर्दिष्टनिर्दिष्टरूपत्वात् इति भावः।

ससन्देहालङ्कार में साधारणधर्म की क्या स्थिति होती है इसका विचार अब किया जाता है—अस्मिन् इत्यादि। यह ससन्देह भी सादृश्यमूलक अलङ्कार है, अतः इसमें भी सादृश्य को सिद्ध करनेवाला साधारणधर्म होता है—अर्थात् सन्देह में जो विशेष्य-भूत पदार्थ रहता है वह उपमेय तथा सन्देह में जो कोटिभूत (विशेषण) पदार्थ रहते हैं वे उपमान कहे जा सकते हैं। अब उस एक उपमेय में उन अनेक उपमानों का सादृश्य जिसके कारण सिद्ध होता है वह समानधर्म अनेक प्रकार का हो सकता है जैसे—कहीं वह एक रहता है। तत्पर्य यह कि एक उपमान के साथ उपमेय का जो साधारणधर्म होगा वही दूसरे उपमान के साथ भी। और कहीं वह भिन्न-भिन्न रहता है। अभिप्राय यह कि एक उपमान के साथ जो उपमेय का साधारणधर्म रहेगा, उससे भिन्न दूसरे उपमान के साथ। इन दोनों प्रकार के साधारणधर्मों में से प्रत्येक पुनः चार-

चार प्रकार का होता है, जैसे—कहीं अनुगामी, कहीं विम्बप्रतिविम्बभावापन्न, कहीं अनुक्त और कहीं उक्त।

ममेण तत्तद्वर्मादाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रयगमनुगामिनोऽनिर्दिष्टैकस्य तस्योदाहरणमाह—
तत्र 'मरकतमणिमेदिनीधरो वा' इति प्रागुदाहृतपद्ये श्यामाभिरामत्वं धर्मिणो रामस्य कोट्योश्च तमाल-मरकत-भूधरयोरेक एवानुगामी धर्मः प्रतीयमानत्वादर्निर्दिष्टः ।

तत्रेति । तेषां धर्माणाम् भव्य इत्यर्थः । श्यामेति । श्यामत्वविशिष्टाभिरामत्वमित्यर्थः । धर्मिण इति । सशयीनविशेष्यताग्रहयेत्यर्थः । उपमेयस्येति यावत् । कोट्योरिति । संशयीयप्रकारताध्ययेतिरत्यर्थः । उपमानयोरिति यावत् । 'मरकतमणि—' इति पद्ये तमाल-रामयो मरकतपर्वतरामयोश्चैव एव साधारणो धर्मः श्यामत्वसमानाधिकरणाभिरामत्वरूपः । स चात्रानिर्दिष्ट अनिर्देशोऽपि प्रसिद्धिबलात्प्रतीतिः ।

अथ कर्मणा उन धर्मों के उदाहरण दिखलाने के क्रम में पहले अनुक्त एक अनुगामी धर्म का उदाहरण दिखलाया जाता है—तत्र इत्यादि। उक्त धर्मों में से अनुगामी एक अनुक्त समानधर्म का उदाहरण 'मरकतमणि—' यह पूर्वोक्त पद्य होता है, क्योंकि वहाँ धर्मों (सन्देह में विशेषरूप से भासित होनेवाला पदार्थ) राम तथा तमाल और मरकतपर्वत इन दोनों कोटियों में 'श्यामसुन्दरता'रूप एक ही धर्म है जो अनुगामी है तथा प्रसिद्धिबल से प्रतीत हो जाने के कारण अनुक्त है।

निर्दिष्टमेकमनुगामिनं धर्ममुदाहर्तुमाह—

स एव निर्दिष्टो यथा—

स एवेति । अनुगामी एक एवेत्यर्थः ।

उक्त अनुगामी एक समानधर्म, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम् ।

सरोजं चन्द्रविम्बं वेत्यखिलाः समशेरत् ॥'

अखिला सर्वे जना, रामाया सुन्दर्या, नेत्राभिरामम् नयनरमणीयम्, वदनं मुखम्, वीक्ष्य दृष्ट्वा, तत्क्षणम् तस्मिन्नेव समये, इदम्, सरोज कमलम्, चन्द्रविम्बं चन्द्रमण्डलम्, वा, इति, समशेरत् सशय कृतवन्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नेत्राभिरामम् इत्यादि। सुन्दरी के नयन-मनोहर मुख को देखकर सब लोग तत्काल 'कमल है अथवा चन्द्र-मण्डल' इस तरह सन्देह करने लगे।

उपपादयति—

अत्र नेत्राभिरामत्वरूपस्त्रिष्वेक एवानुगामी धर्मो निर्दिष्टः ।

'नेत्राभिरामम्—' इत्यत्रोपनेयस्थानोपे सशयधर्मिणि एवावदने यथा नेत्राभिरामत्वम् (नेत्रयो = नेत्रदेशावच्छेदेन नेत्राभ्या वा अभिरामत्वम्) तथोपमानस्थानोपयो-सरोजचन्द्रविम्बयोरपि नेत्राभिरामत्वम् (नेत्रवदभिरामत्वम्) इति रिलथेऽयमेकत्रिषु अनुगामी साधारणधर्मः । स चात्रोक्त इति यावत् ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। 'नेत्राभिरामम्—' इस पद्य में सुन्दरी-मुख, कमल और चन्द्रविम्ब तीनों में एक ही अनुगामी समानधर्म 'नयन-मनोहरत्व' शब्द द्वारा प्रतिपादित है। अभिप्राय यह है कि उक्त पद्य में सशय में विशेषभूत

पदार्थ (उपमेय-सुन्दरीमुख) जिस तरह नयन-मनोहर (नयन-देखने में मनोहर अथवा नयनों से मनोहर) है उसी तरह सशय में कोटिशूल पदार्थ (उपमान-कमल तथा चन्द्र-विशेष) भी नयन मनोहर (नयन के समान मनोहर) है, अतः श्लेषद्वारा एक 'नयन-मनोहरता' ही तीनों में रहनेवाला धर्म होता है जो शब्दद्वारा यहाँ कथित है।

उक्तभिन्नानुगामिपयोदाहरणं स्मारयति—

पृथगनुगामी निर्दिष्टो यथा आगुदाहृते 'आज्ञा सुमेयोः' इत्यादी ।

उपपादितमिदं प्राक् ।

शब्दद्वारा उक्त भिन्न-भिन्न तरह के अनुगामी समानधर्म—जो पहले उदाहृत हो चुके हैं—का स्मरण कराया जाता है—पृथग इत्यादि । 'आज्ञा सुमेयोः'— इस पद में यह तरह का धर्म है जिसका उपपादन पहले ही किया जा चुका है ।

तादृशस्य धर्मस्योदाहरणान्तरं दातुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'सम्पश्यतां' सामतिमात्रतन्वीं शोभाभिराभासितसर्वलोकां ।

सौदामिनी वा सितयामिनी वेत्येवं जनानां हृदि संशयोऽभूत् ॥'

अतिमात्रतन्वीम् नितान्तदुर्बलादीम्, तथा, शोभाभिः, आभासितां प्रकाशितां, सर्वे लोकां यथा ताम् ('सम्पश्यताम्' साक्षाक्षो नित्य सर्व- समस्यते' इति नियमेन 'शोभाभिः' इत्यस्य पृथक्निर्देशोऽपि 'आभासितसर्वलोकां' इत्यत्र समासो नैष्य), ताम् वर्णनीया नायिकाम्, सम्पश्यताम् समवलोकयताम्, जनानाम्, हृदि हृदये, 'इयं सौदामिनी विद्युक्ता, अथवा सितयामिनी शुक्लपक्षीयरश्मि' इति, संशयः, अभूदित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सम्पश्यताम् इत्यादि । अल्पभिरु दुर्बल अर्थात् घाली तथा शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करने वाली उस सुन्दरी के दर्शकों को 'विद्युक्ता है अथवा शुक्लपक्ष की रात्रि है' यह सन्देह हुआ ।

उपपादयति—

अत्रातिमात्रतनुत्वं सौदामिन्या, शोभाभिराभासितसर्वलोकात्वं च सितयामिन्या सह कान्तायाः पृथगनुगामी समानो धर्मः ।

सौदामिन्येति । सह कान्तेत्यत्रान्वेति । 'सम्पश्यताम्—' इत्यत्र सौदामिनी-कान्तयोपतिमात्रदुर्बलत्वम्, सितयामिनी-कान्तयोध शोभाभासितसर्वलोकत्वम् अनुगामी साधारणो धर्मः पृथक् पृथक् उक्त इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'सम्पश्यताम्—' इस पद में 'अत्यधिक दुर्बली होता' विद्युक्ता के साथ और 'शोभाओं से सब भुवनों को प्रकाशित करना' शुक्लपक्षीय रात्रि के साथ—इस तरह एक ही कामिनीरूप उपमेय के अनुगामी समान-धर्म पृथक् पृथक् उक्त हुये हैं ।

अनुक्तभिन्नानुगामिसाधारणधर्मोदाहरणप्रदर्शनायाह—

अत्रैव पूर्वार्धगतविशेषणद्वयत्यग्रे स एवाभिर्निर्दिष्टः ।

'सम्पश्यताम्—' इत्यस्मिन्पक्ष एव यदि धर्मबोधके पूर्वार्धगते 'अतिमात्रतन्वीम्' 'शोभाभिराभासितसर्वलोकां' इति विशेषणपदे अनिवार्येयाताम्, तदा तदेव पश्यन्तुक्त-पृथगनुगामिसाधारणधर्मोदाहरणतां प्रतिपद्येतेति भावः ।

‘सम्पश्यताम्—’ इस पद्य में ही यदि पूर्वार्ध के दोनों (‘अत्यधिक दुखली होना’ तथा ‘शोभाओं से सब सुवर्णों को प्रकाशित करना’) धर्मबोधक विशेषणों को छोड़ दिया जाय—अर्थात् उन दोनों विशेषणों का समावेश न करके ही पद्य-रचना की जाय—तब यह पद्य अनुक्त पृथक् अनुगामी समानधर्म का उदाहरण हो जायगा।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नपृथक्निर्दिष्टसाधारणधर्मोदाहरणं स्मारयति—

बिम्बप्रतिबिम्बभावमापन्नो यथा ‘तीरे तरुण्या वदनं सहासम्’ इत्यादौ प्रागुक्ते।

‘तीरे तरुण्या —’ इति श्लोके ‘सहासत्वम्’ ‘मिलद्विकाराशत्वम्’ चेति द्वौ साधारणधर्मौ शब्दतः कथितौ सौ च बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नाविति भावः।

बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारणधर्म, जैसे—‘तीरे तरुण्या—’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में। अभिप्राय है कि ‘तीरे तरुण्या—’ इस पद्य में ‘हसयुक्त होना’ और ‘विकाश-युक्त होना’ ये दो समानधर्म पृथक् पृथक् शब्दतः उक्त हैं और ये दोनों धर्म साधारण इसलिये होते हैं कि बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हैं।

तादृशधर्मोदाहरणान्तरं निर्देष्टुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘सपल्लवा किं नु विभाति वल्लरी सफुल्लपद्मा किमिय नु पद्मिनी।

समुल्लसत्पाणिपदां स्मिताननामितीक्ष्माणैः समलम्भि संशयः ॥’

समुल्लसत्पाणिपदा शोभमानकरचरणाम्, तथा, स्मितानना सेपद्मासमुत्थीम्, कामिनीम्, ईक्ष्माणै पर्यङ्गिर्जनै, ‘सपल्लवा किसलयवती, वल्लरी लता, विभाति शोभते, किं नु अथवा, सफुल्लपद्मा विकसितकमलकौशयुक्ता, पद्मिनी नलिनी, विभाति, किं नु’ इति इत्याकारक’, संशय, समलम्भि लम्ब इत्यर्थे (अत्र ‘नु’शब्दो वितर्क)। अत्र ‘पाणि-पदा स्मिते’ति प्रतीकमुपादायाह नागेश—‘पादप्रतिबिम्बानिर्देशान्मन्यताऽत्र। अत एव पाण्याननयोरित्यभिप्रेक्षे सन्नच्छते। वस्तुतस्तु फुल्लपद्य पाणिवत् पादयोरपि प्रतिबिम्ब इति न दोषः। व्याख्यानं तूपलक्षणत्वेन योज्यम्।’ इति।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—सपल्लवा इत्यादि। शोभायुक्त कर-चरणोंवाली तथा सन्देहोत्पन्न मुखवाली उस कामिनी को देखने वालों को वह सन्देह हुआ कि ‘वह क्या पल्लवोंसहित लता शोभित हो रही है अथवा विकसित कमलयुक्त पद्मिनी?’

उपपादयति—

अत्र पल्लवफुल्लपद्मे पाण्याननयो प्रतिबिम्बकोटयोः पृथक् निर्दिष्टे।

‘सपल्लवा—’ इति पद्ये नायिकारूपे धर्मिणि वल्लरी-पद्मिनीरूपविरुद्धकोटिकः सन्देहो वर्णित, सन्देहसाधनं साधारणधर्मवत्ताज्ञानजन्य, साधारणधर्मश्च वल्लरीनायिकयोः पल्लव-पाणिरूप, पद्मिनी-नायिकयोश्च फुल्लपद्मानरूपः। ननु पल्लवो वल्लरीमात्रवृत्ति पाणिव्य नायिकामात्रवृत्ति, एवम्, फुल्लपद्य पद्मिनीमात्रवृत्ति, आनन च नायिकामात्रवृत्ति, एवं स्थितौ कथं तयो मिलितयो (पल्लवपाण्योः फुल्लपद्माननयोश्च) साधारणतेति चेत्, बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्नत्वेन तयोरेकव्याख्यवसायात्। पाणिरूपस्य बिम्बस्य पल्लव प्रतिबिम्बः, आननरूपस्य च बिम्बस्य फुल्लपद्य प्रतिबिम्बभूतम्। प्रतिबिम्बभूतौ च द्वौ पदार्थौ पृथक् पृथक् निर्दिष्टाविति भावः।

उपपादन किया जाता है—अथ इत्यादि । ‘सण्डवा—’ इस पद्य में हाथ पैर के प्रतिविम्ब ‘पल्लव’ और मुख का प्रतिविम्ब ‘विकसित कमल’ उता और पद्मिनीरूप दोनों कोटियों में पृथक्-पृथक् शब्दतः उक्त हुए हैं । यद्यपि मूल में ‘पाण्याननयो.’ ऐसा कह कर हाथ मात्र का प्रतिविम्ब ‘पल्लव’ को कहा गया है, पर उस कथन में ‘पाणि’ को ‘पद’ का भी उपलक्षण समझना चाहिए, अन्यथा ‘न्यूनता’ हो जायगी ।

विम्बप्रतिविम्बभावापन्नस्य निर्दिष्टयोदाहरणं दत्त्वाऽनिर्दिष्टस्य तदाह—

‘इदमुदधेरुदरं वा नयन वाऽञ्जुतेश्वरस्य मनः ।

दशरथगृहे तदानीमेवं संशेरते स्म कवयोऽपि ॥’

कवयोऽपि वस्तुतत्त्वव्येपका अपि, किन्तु अन्ये, तदानीं रामोत्पत्तिमये, ‘इदम्, उदधे समुद्रस्य, उदर मध्यभाग, अथवा, अञ्जुतेश्वरस्यो मुने, नयनम्, उत, ईश्वरस्य, मनः’ इत्येषम्, दशरथगृहे तद्विषये, संशेरते स्म सन्देहं कृतवन्त इत्यर्थः । पुराणे चन्द्रस्य त्रिघोषादि वर्णिता समुद्रादग्निनेत्रात्परमेश्वरमनसरचेति भावः ।

उक्त विम्बप्रतिविम्बभावापन्न धर्म का उदाहरण देकर अब अनुक्त तादृश धर्म का उदाहरण दिया जाता है—इदमित्यादि । राम-जन्म के समय, दशरथ के घर के विषय में कवि भी इस तरह सन्देह करते थे कि—‘यह समुद्र का मध्य-भाग है अथवा अग्निमुनि का नेत्र है कि वा परमेश्वर का मन है ?’ (इस सन्देह के मूल में पुराणों की वह उक्ति काम कर रही है जिसमें तीन प्रकार से चन्द्रमा की उत्पत्ति वर्णित है—समुद्र के मध्य से, अग्नि के नेत्र से और परमेश्वर के मन से) ।

उपपादयति—

अथ तदानीमिति प्रकरणसाहाय्यवशाद्दशरथगृहेण धर्मिणाऽक्षितस्य तत्कालजातरूप भगवतो रामस्य जलध्युदरादिसंशयकोटित्रयाक्षितः साधारणश्चन्द्रः प्रतिविम्बः । इमो च विम्बप्रतिविम्बावनिर्दिष्टावपि प्रतीयमानौ सादृश्यं प्रयोजयतः । एतेन ‘अनुगाम्येव धर्मो लुप्तः सम्भवति, न तु विम्बितः’ इति वदन्तः परास्ताः । इति विक् ।

धर्मिणेति । संशयीवविरोप्यताश्रयेत्यर्थः । रामस्वेति । विम्बरपत्येति भावः । साधारण इति । जलध्यादिकोटिप्रत्ये वर्तमान इत्यर्थः । इमाविति । रामचन्द्रावित्यर्थः । एतेनेति । ईदृशोदाहरणोपलम्भेनेत्यर्थः । अयं भाव—‘इदमुदधे—’ इति श्लोके दशरथगृहधर्मिक समुद्रोदरादग्निनेत्रात्परमेश्वरमनोरूपनिरुद्धकोटिक सशयो वर्णितः । तत्र ‘तदानीम्’ इति पदप्रतिपाद्यप्रकरणसद्वृत्तेन सशयधर्मिणा दशरथगृहेण तत्कालोत्पन्नो राम आक्षिप्यते, ता विना तत्रोक्तकोटिकसशयस्यानुदयात्, एव संशयकोटिभूतैः समुद्रोदरादिभिस्त्रिभिः साधारणश्चन्द्र आक्षिप्यते, न विना तेषां संशये कोटित्वासम्भवात् । आक्षिप्तोद्धानयो रामो विम्ब, चन्द्रश्च प्रतिविम्बः । एवं विम्बप्रतिविम्बभावापन्नतयैक्यमापन्नो ‘राम-चन्द्र’पदार्थः समुद्रोदरादेरुपमानभूतस्य, दशरथगृहस्य चोपमेयभूतस्य साधारणधर्मः सम्पादते । अनुज्ञावपि तौ विम्बप्रतिविम्बौ प्रतीयते सादृश्यं च प्रयोजयत इतीह वैचित्र्यं नोप्यम् । ‘अनुगामी धर्म एवालुक्तः प्रतीयते, विम्बप्रतिविम्बभावापन्नस्तु न’ इति ये कथयन्ति ते अनेनानुक्तप्रतीयमानविम्बप्रतिविम्बभावापन्नधर्मणोदाहरणेन परास्ता इति ।

* उपपादन किया जाता है—अथ इत्यादि । ‘इदमुदधे.—’ इस पद्य में रामजन्मसमय-रूप प्रकरण की सहायता से संशयधर्मों (जिसके विषय में विभिन्नकोटिक सन्देह

होता है उस) दशरथगृहरूप अर्थ से तत्कालोत्पन्न राम का आद्येय होता है, इसी तरह संशय में कोटिभूत पदार्थ समुद्र के मध्यभाग, अत्रि-नेत्र और परमेश्वर-भन इन तीनों से, तीनों में रहनेवाले (तीनों से उत्पन्न होनेवाले) चन्द्र का आद्येय होता है। ये आदिष्ट पदार्थ (राम और चन्द्र) बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न हैं—अर्थात् राम बिम्ब और चन्द्र प्रतिबिम्ब है। यद्यपि ये दोनों बिम्ब और प्रतिबिम्ब (राम तथा चन्द्र) एक में उक्त नहीं हैं, तथापि इन दोनों की प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, क्योंकि जब तक इनकी प्रतीति नहीं होगी तब तक उक्त सन्देह बन ही नहीं सकता। और जब ये दोनों पदार्थ बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न होकर प्रतीत हो जाते हैं तब ये ही साधारणधर्मरूप होकर दशरथगृह का समुद्रमध्यभाग आदि उक्त तीनों पदार्थों के साथ सादर्य सिद्ध कर देते हैं और सादर्य सिद्ध हो जाने पर तन्मूलक उक्त सन्देह (दशरथगृह के विषय में समुद्र-मध्यभाग आदि का सन्देह) भी धन जाता है। इस उदाहरण से ये सब परास्त हो जाते हैं जो 'अनुगामी धर्म ही अनुक्त हो सकता है, बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म नहीं' ऐसा कहते हैं।

विशेषमाह—

अयं च कचिदनाहार्यः, कचिदाहार्यः। यत्र हि कविना परनिष्ठः संशयो निबध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्यः। यथा 'तीरे तरुण्याः' 'भरकतमणिमेदिनीधरो वा' इत्यादिषु प्रागुदाहृतेषु पद्येषु। तत्र भ्रमरादीनां संशयानानां प्रादुर्निश्चयाभावात्। यत्र च स्वगत एव तत्राऽहार्यः।

यथा—

‘अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद् विभासते।

अरविन्दं मृगाद्धो वा मुखं वेदं मृगीदृशः॥’

अत्र वक्तुः कवेस्तत्त्वज्ञतया संशयावाहार्यवेव।

अयं चेति। संशयधेन्यर्थः। अनाहार्य इति। वाचकालोत्पन्नाजन्यो नैत्यर्थः। अनाहार्यमंशयत्यल परिभाषते—यत्र कविनेति। परनिष्ठ इति। स्वभिन्ननिष्ठ इत्यर्थः। इतरचिद् वदभिचारदाह प्रायश इति। अनाहार्यसंशयोदाहरणमुपदर्शयति—यथा 'तीरे' इत्यादि। अनाहार्यम्बुपरादयति—उत्प्रेति। संशयानानामिति। भ्रमरादिविशेषणमेतत्। प्रादुर्निश्चयेति। ज्ञातव्यवस्तुनिश्चयेत्यर्थः। आहार्यसंशय परिभाषते—यत्र चेति। स्वगत एवेति। एवेन परनिष्ठव्यवच्छेदः। आहार्यसंशयोदाहरण प्रदर्शयति—यथा 'अलि-' इति, यत्र मुखरूपे वस्तुनि, अलि भ्रमरः, मृगः हरिणः, अपवा नेत्रम्, किञ्चिद् एव हृदयप्रतिबिम्बमेकम्, विभासते शोभते, इदम् मुखरूप वस्तु, अरविन्दं कमलम्, वा, मृगाद्धन्दो वा, मृगीदृशः मृगनयनाया नायिकाया मुख वा अस्तीत्यर्थः। उपपादयति—अत्र वक्तुरिति। तत्त्वज्ञतयेति। चास्तविकवस्तुनिर्णयविशिष्टतयेत्यर्थः। संशयाविति। नेत्रधर्मिनः भ्रमरहरिणोभयकोटिक एक संशयः, मुखधर्मिक कमलचन्द्रोभयकोटिक द्वितीय इति भावः। तुल्य कमलसंशये नेत्रे भ्रमरसंशयः, मुखे चन्द्रसंशये च नेत्रे चन्द्रमध्यगत-हरिणसंशय इति सादृशः। अलद्वारमृगोऽयं सन्देहो द्विविधः सम्भवति आहार्यः अनाहार्यः। यत्र कवि परगतं सन्देह वर्णयति तत्र—'तीरे तरुण्याः' 'भरकतमणिमेदिनीधरो वा' इत्यादौ—अनाहार्यः, संशयकारकाणाम् भ्रमरादीनाम् संशयविषयीभूतविषयकोटिगतैकपदार्थनिश्चयमाभावात्। यत्र तु कवि स्वयं संदिग्धः तत्र—'अलिर्मृगो वा—' इत्यादौ आहार्यः, कवेर्मतिनिश्चयसत्त्वेऽपि इच्छामात्रजन्यत्वात्तस्येति भावः।

एक अन्य रीति से ससन्देहालङ्कार का विभाग किया जाता है—अयं च इत्यादि । यह ससन्देहालङ्कार दो प्रकार का होता है, क्योंकि अनाहार्य और आहार्यभेद से सन्देह दो प्रकार के हो सकते हैं (आहार्य सन्देह का अर्थ है वास्तविक वस्तु को जानते रहने पर भी इच्छाजन्य सन्देह और अनाहार्य सन्देह का अर्थ है वास्तविक सन्देह—अर्थात् वास्तविक वस्तु को न जानने के कारण होनेवाला सन्देह) । जहाँ कवि दूसरे किसी को होनेवाले सन्देह का वर्णन करता है वहाँ प्रायः (प्रायः इतलिये कि कहीं इसके विपरीत बात भी हो जा सकती है) अनाहार्य सन्देह होता है । जैसे—‘तीरे तरुण्या-’ ‘भरकत-मणि-’ इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्यों में । ऐसे स्थलों के सन्देहों को अनाहार्य मानने में खास कारण यह है कि यहाँ जिन (अमर, अचिद्वन्द आदि) के सन्देहों का वर्णन कवि द्वारा किया गया है उन्हें ज्ञातव्य वस्तु का निश्चय नहीं है—ये वास्तविक वस्तु क्या है यह निश्चयपूर्वक नहीं जानते रहते हैं । जहाँ कवि स्वयं सन्देह करता है—किसी दूसरे के सन्देह का वर्णन नहीं करता—यहाँ सन्देह आहार्य होता है, क्योंकि वैसे स्थल में कवि वास्तविक वस्तु को जानकर भी केवल अपनी इच्छा से सन्देह का उद्धान करता है, जैसे ‘अलिर्गुणो वा-’ अर्थात् जिसमें अमर, हरिण अथवा नेत्र कुछ भासित हो रहा है वह कमल है, चन्द्रमा है अथवा मृगाक्षी मायिका का मुख है ? यहाँ का सन्देह आहार्य है, क्योंकि यहाँ कवि तत्त्वज्ञ है अर्थात् वह ‘मृगाक्षी की आखें हैं यह, और उस आँख से शोभित वह उसका मुख है’ इस वास्तविक तत्त्व को जानता है, फिर जो वसने नेत्र में अमर और हरिण का पूर्व मुख में कमल और चन्द्र का सन्देह किया है वह उस (कवि) की इच्छा का बिलास है ।

अपरं विशेषमाह—

परम्परितोऽपि चायं सम्भवति—

‘विद्वद्दैन्यतमस्मिर्तिरथवा वैरीन्द्रवंशाटवी-

दावाग्निः किमहो महोज्ज्वलयशःशीतांशुदुग्धाम्बुधिः ।

किंवाऽनङ्गमुजङ्गदध्वनिताजीवातुरेवं नृणां

केपासेप नराधिपो न जनयत्यल्पेतराः कल्पनाः ॥’

अत्राध्याहार्यः ।

परम्परितोऽपीति । अत्रारोपस्यारोपमात्रोपावत्त्वेन परम्परितत्वम्, न तु संशयोपा-
यत्वेन । वैन्यादीनां तमस्त्वादिसन्देहान्वियत्वादिति बोध्यमिति नागेशः । विद्वद्दैन्येति ।
राजस्तुतिरियम्—एष वर्णनीय, नराधिप- राजा, विदुषा पण्डितानाम्, वैन्यम् दारिद्र्यमेव,
तम- अन्धकार (रूपकम्, एषमप्येऽपि) तस्य कृते, त्रिमूर्तिः सूर्य, अयं किम् ? अथवा,
वैरीन्द्रा विरोधिरेष्टा राजान, एव, वंशाटवी वंशाारण्यम्, तस्य, कृते, दावाग्निं वनवहिः,
किम् ? अथवा, महोज्ज्वल परमस्वच्छम्, यश- कीर्तिरेव शीतांशुचन्द्रः, तस्य कृते,
दुग्धाम्बुधिं पयःपातनारः, किम्, अथवा, अनङ्गेन कामदेवेन तद्रूपेण्येति यावत्, मुञ्जनेन
सर्पेण, दशः कृतदशः अतिक्रामाकुल इति यावत्, या, वनिता कामिन्यः, तस्मां कृते,
जीवातु जीवनौपधम्, किम् ? इत्येवंप्रकारिका, अल्पेतरा अन्त्या, कल्पनाः संशयान्,
केषां नृणां मनुष्याणाम्, न, जनयति उत्पादयति ? सर्वेषां तथा कल्पना जनयतीत्यर्थः ।
अत्र दारिद्र्यादिषु तमस्त्वादेरातोषो राजनि सूर्यत्वादारोपस्य कारणमत एव परम्परित-
त्वम् । संशयधात्रापि स्वयत्तयाऽऽहार्य इति भावः ।

एक विशेष इस अलङ्कार के सम्बन्ध में बतलाया जाता है—परम्परितोऽपि इत्यादि ।

यह सन्देहालङ्कार रूपक की तरह परम्परित भी हो सकता है, जैसे—'विद्वद्भ्यः—
अर्थात् यह राजा विद्वानों के दारिद्र्यरूप अन्वकार के लिये त्रिमूर्ति (सूर्य) है, अथवा
शत्रुओं में श्रेष्ठ राजाओं रूप सौत के वन के लिये वनबद्धि है, किंवा अतिनिर्मल यश-
रूप चन्द्र के लिये घोरसागर है, आहोस्वित् काम-रूप सर्प से ढँसी हुई कामिनियों के
लिये जीवनीयध है, इस तरह यह राजा किन्हें अनेक रूपनाएँ (संशय) उरग्र नहीं
करता अर्थात् सभी के हृदय में इसे देखकर ऐसी रूपनाएँ उत्पन्न होती ही हैं।' यहाँ
दारिद्र्य आदि में अन्वकार आदि का आरोप जिस लिये किया जाता है इसलिये ही
राजा में सूर्य आदि का आरोप किया जाता है। फलतः एक आरोप दूसरे आरोप का
कारण होता है, अतएव यहाँ का सन्देहालङ्कार परम्परित कहलाता है, न कि एक
सन्देह का दूसरे सन्देह के प्रति कारण होने से, क्योंकि वैसी स्थिति यहाँ नहीं है—
अर्थात् दारिद्र्य में अन्वकार सन्देह नहीं, अपि तु आहार्यनिश्चय ही है। सन्देह यहाँ
का भी आहार्य ही है। कारण, कवि स्वयं सन्देह करता है—वस्तुस्थिति को निश्चितरूप
से जान कर भी।

‘यत्र स्वगत एव संशयस्तत्राहार्य’ इति यदुक्तं प्राक् तत्रैवकारेण कृतमवधारणमुक्त-
मिति साम्प्रतमाह—

कश्चित् परनिष्ठोऽपि कविना निबध्यमान आहार्यो भवति ।

न केवलम् स्वगत एव, अपि तु परगतोऽपि कविर्निर्णतः सन्देहः कविदाहार्यो
भवतीति भावः ।

‘स्वगत सन्देह ही आहार्य होता है’ यह जो पहले सामान्यतः कहा गया है, अब उस-
का अपवाद कहा जाता है—कश्चित् इत्यादि। कहीं कहीं कविद्वारा वर्णित परकीय सन्देह
भी आहार्य होता है।

तादृशमुदाहरण दर्शयितुमाह—

यथा—

जैते—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘गगनाद् गलितो गमस्तिमानुत वाऽयं शिशिरो विभावसु’ ।

मुनिरेवमरुन्धतीपतिः सकलज्ञः समरोत राघवे ॥’

सकलज्ञ सर्वज्ञ, अरुन्धतीपतिः मुनि वशिष्ठः, (जातकर्मसमये) राघवे रामचन्द्रे
धर्मिणि, अयम्, गगनाद्, गलितः पतितः, गमस्तिमान् सूर्य, वतः, शिशिरः शीतलः,
विभावसु अग्निः, एवम्, समरोत संशय कृतवानित्यर्थः । (अपि विद्वद्भ्यः—
इतोऽपि संशयः परनिष्ठो भवति, तथापि केषामिति सामान्येन निर्देशात् स्वनिष्ठोऽपि भवः)
तीति द्वितीयमिदमुदाहरणमुक्तमिति बोध्यम्) ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गगनाद् इत्यादि। अरुन्धती के स्वामी सर्वज्ञ
वशिष्ठमुनि (जातकर्म के समय), रामचन्द्र के विषय में, ‘यह आकाश से गिरा हुआ
सूर्य है अथवा शीतल अनल है’ इस तरह सन्देह करने लगे। (यहाँ एक बात समझ
लेनी चाहिए। वह यह कि यद्यपि ‘विद्वद्भ्यः—’ यह पहला पद्य भी परगत सन्देह का
उदाहरण हो सकता है पर वहाँ ‘केषाम्—किन्हें’ इस सामान्य कथन के कारण वह
स्वगत सन्देह का भी उदाहरण हो जा सकता है, अतएव शुद्ध परगत फिर भी आहार्य,
सन्देह का यह दूसरा उदाहरण दिया गया है) ।

उपपादयति—

अत्र मुनेर्वशिष्ठस्य सर्वज्ञत्वेनोपात्तस्य संशय आहार्य एव ।

‘गगनाद्—’ इति पद्ये वशिष्ठो मुनिः सर्वज्ञतयोपवर्णितः । तथा च तस्य वस्तुतत्त्वा-
नभिज्ञत्वमसम्भवम् । एवं स्थितौ ग्राह्यनियमवसो मुने सन्देह इच्छाजन्यत्वादाहार्य एव
‘भविष्यति’ इति । इत्यत्र सिद्धम् परमगुणस्यापि सन्देहस्याहार्यत्वमिति भावः ।

‘उपपादय कियो जाता है—अत्रे इत्यादि । ‘गगनाद्—’ इस पद्य में वशिष्ठ मुनि को
सर्वज्ञ कहा गया है, अतः उनको वास्तविक सन्देह नहीं हो सकता यह सिद्ध है । ऐसी
स्थिति में जो उनके सन्देह का वर्णन किया गया है वह आहार्य ही हो सकता है अर्थात्
यही यहाँ उचित समझा जा सकता है कि मुनि सब कुछ जान कर भी अपनी इच्छा से
सन्देह कर रहे हैं ।

‘गगनाद्—’ इति पर्यवर्णितस्य सन्देहस्यानाहार्यतामार्शक्य समाधत्ते—

यद्यप्यत्र ‘मुनीनां च मतिभ्रमः’ इत्युक्त्या तस्यानाहार्य एव संशयो वक्तुं
शक्यः, तथापि कोटितावच्छेदकयोः शिशिरत्वगगनगलितत्वयोरग्निसूर्यरूपको-
टिद्वये आहार्यबोधस्यैवावश्यवाच्यतया पुरोवर्तिनि कोटिद्वयभेदांशेऽपि तस्यैव
न्याप्यत्वात् । इह च कोट्योर्धर्मसादृश्यदाह्यायोग्यत्वगगनगतत्वरूपवैधर्म्यनि-
रासकमविद्यमानमपि गगनगलितत्वं शिशिरत्वं चारोप्यते वक्तव्यम् ।

अत्र ‘गगनाद्—’ इति पद्ये । मुनीनां चेति । चकारोऽन्यसमुच्चायक । तस्य वशिष्ठ-
स्य । कोटितावच्छेदकयोः विशेषणतावच्छेदकयोः । विशेषणविशेषणयोरिति भावः ।
पुरोवर्तिनि श्रीरामे । इतोऽग्रे यद्यपि ‘अभेदेन कोटि—’ इतीदृश एव पाठो मूले लिखितो
विलोकिताः, तथापि असङ्गततया ‘अभेदेन’ इत्यसौ मया त्यक्ता । नागेशोऽपि स्वगुरुमर्म-
प्रकाशे ‘वर्तिन्यभेदेनेति चिन्त्यम्’ इति आकाशयत् । तस्यैव आहार्यबोधस्यैव । ननु
तयो कोटितावच्छेदकयोर्निवेश एव विमर्शः इत्यत आह—इह चेति । ‘मुनीनां च मति-
भ्रमः’ इत्यात्मनोक्तिः सर्वज्ञस्यापि मुने प्राकृतजननत्वं व्यवहारवशात् भ्रमनरायादिकं
सूचयति । तथा च सर्वज्ञस्यापि वशिष्ठस्य वास्तविक संशयो भविष्यति, अतः ‘गग-
नाद्—’ इति पद्ये वर्णितः संशयः अनाहार्य एव स्वीकर्तुमुचितः, नाहार्य इति शङ्कादल-
स्याशयः, संशये यो विशेष्यो भवति ये च विशेष्ये भवतः, तयोरुपमेयोपमानभाव एव
सिद्धिः—अर्थात् विशेष्यमुपमेय भवति विशेषणयोश्च प्रत्येकं धृयक् धृयक् उपमानं भवति ।
एवं च तयोः सादृश्यं आवश्यकं सादृश्यं च साति वैधर्म्यं च सम्भवति, अतः प्रकृते कोट्यो-
रन्याग्नयो वस्तुतो वर्तमानयोरपि वैधर्म्यसाधकयोर्धर्मयो गगनगतत्वोत्पत्त्योर्निराकरणार्थं
वस्तुतोऽवर्तमाने अपि गगनगलितत्व-शिशिरत्वे कमशस्तयोरारोप्यते वर्णयित्वा वदितम् ।
इत्थं चारोपितयोरस्तयोर्बोधो मुनेरपि आहार्य एव सम्भवति अग्निसूर्यरूपकोटिद्वयात्मके
विशेष्ये । ततश्च तद्वच्छिन्नप्रकारताकं अभेदसम्बन्धावच्छिन्नपुरोवर्तिरामनिष्ठविशेष्यताकं
मुनिनिष्ठं संशयोऽपि आहार्य एव स्वीकर्तुमुचित इति च समाधानदत्तास्थाशयो बोध्यः ।

एक शङ्का और उसका समाधान किया जाता है—यद्यप्यत्र इत्यादि । ‘मुनिवो को
भी मति-भ्रम होता है’ इस उक्ति के अनुसार सर्वज्ञ वशिष्ठ को भी व्यवहार-दशा में
सन्देह हो सकता है, अतः ‘गगनाद्गलित—’ इस पद्य में वर्णित वशिष्ठ जी का सन्देह
अनाहार्य ही कहा जा सकता है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि वशिष्ठ जी सब
कुछ जानते हुए भी स्वेच्छया सन्देह कर रहे हैं, अपितु यही कहा जा सकता है कि
सचमुच वशिष्ठ जी को वैसा सन्देह हुआ है । इस शङ्का का उत्तर यह है कि वस्तुतः
संशय का आधार उपमेय और संशय के विषय भिन्न भिन्न उपमान ही रहते हैं, अतः
उन दोनों में परस्पर सादृश्य का बोध होना उपमा की तरह संशयालङ्कार के लिये भी
अपेक्षित है और यदि उन दोनों में से किसी एक में भी वैधर्म्य (सादृश्यविरोधी धर्म) .

ज्ञात होगा तब सादृश्य बन नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यहाँ संशय विपरीत सूर्य और अग्नि में ज्ञात होनेवाले विरोधी धर्म—गगनवासित्व और उष्णत्व—को दूर करने के लिये चक्का अपनी इच्छा से उन दोनों में क्रमशः 'गगन से गिरा हुआ होना' और 'शीतलता' का आरोप करता है, अन्यथा उन दोनों (सूर्य-अग्नि) में सदापाधार राम का सादृश्य ही सिद्ध नहीं होगा और सादृश्य की सिद्धि के बिना सन्देह मिट हो नहीं सकता। इस तरह आवश्यक समझकर आरोपित 'गगनवासित्व' और 'शीतलत्व' को यहाँ कोटितावच्छेदक—अर्थात् कोटिमूल सूर्य अग्नि के विशेषण हैं—का बोध बशिष्ठ जी को भी आहार्य हो होगा—ऐसा मानना ही पड़ेगा, दूसरा उपाय नहीं, फिर आगे स्थित राम में उन आरोपित विशेषणों से विशिष्ट सूर्य अग्नि के अमेद का ज्ञान (सदाय) भी आहार्य ही माना जाय यही उचित है।

उपसंहारः—

एवमादयोऽन्येऽपि प्रकारः सुधीभिः स्वयमुन्नेयाः ।

वाक्या माह्याः संख्यालङ्कारस्य भेदा प्रागुक्तास्तासां अन्येऽपि भेदा अल्प सम्भवन्ति, ते च निम्नलिखितः स्वयमुन्नेया इति भावः ।

उपसंहार किया जाता है—एवमादय इत्यादि। जिस तरह के भेद सन्देहालङ्कार के पहले दिखलाए गये हैं वैसे भेद और भी हो सकते हैं, पर उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया, सुधीजन स्वयं उन भेदों का उद्घाटन करेंगे।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायां ससन्देहालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

ससन्देहालङ्कारनिरूपणानन्तरमिदानीं भ्रान्तिमदलङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथ भ्रान्तिमान्—

अथेति । अनन्तरं अन्यथा । ससन्देहालङ्कारनिरूपणानन्तरमिति भावः । भ्रान्तिमानिति । निरूप्यत इति शेषः । अथवा—अनेन्यथा शब्दोपप्रेक्षारूपः । भ्रान्तिमदलङ्कारो निरूप्यत्वेनापेक्षितो वेदितव्य इति भावः ।

ससन्देहालङ्कार—निरूपण कर लेने के बाद अब प्रत्यक्षर 'भ्रान्तिमद' अलङ्कार-निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं—अथ इत्यादि। अब 'भ्रान्तिमद' अलङ्कार का निरूपण प्रारम्भ समझना चाहिये।

आरौ भ्रान्तिमदलङ्कारस्य लक्षणमाह—

सदृशे धर्मिणि तादात्म्येन धर्म्यन्तरप्रकारकोऽनाहार्यो निश्चयः सादृश्यप्रयोज्यधर्मत्कारी प्रकृते भ्रान्तिः । सा च पशुपस्यादिगवा यस्मिन् वाक्पशुसन्दर्भेऽनूयते स भ्रान्तिमान् ।

अन्यत्र नैकनिष्पाद—प्रकृत इति । पञ्चादिति । आदिना मनुष्यप्रद्वयम् । तादात्म्य-सन्दर्भावच्छिन्नवर्त्यन्तनिष्ठप्रकारत्वानिस्सतिसदृशधर्मिनिष्ठविशेषताशाली सादृश्यज्ञा-धेनः, अनाहार्यः, अनन्वृत्तिको निश्चयः अलङ्काराद्यप्रसिद्धभ्रान्तिप्रदार्थः । पशुपति-मनुष्यनिष्ठदाहप्रभ्रान्तिप्रदार्थवर्त्यन्तरो वाक्पशुमूहो भ्रान्तिमन्प्रदार्थ इति भावः ।

सर्वप्रथम 'भ्रान्तिमद' अलङ्कार का लक्षण किया जाता है—सदृशे इत्यादि। सादरप-युक्त धर्मी (वाधार) में, अमेदमयवृत्त से, अन्य किसी धर्मी का, अनाहार्य (वास्त-विक) और सादृश्यज्ञान का कारण होनेवाला निश्चयामक ज्ञान, समरकारयुक्त होने पर अलङ्कारशास्त्र में, 'भ्रान्ति' कहा जाता है और पशु, पक्षी, अथवा मनुष्य में रहनेवाली

उस 'भ्रान्ति' का वर्णन जिस वचनसमूह में किया जाता है वह वचनसमूह 'भ्रान्तिमान्' कहलाता है। इस लक्षण में 'अलङ्कार शास्त्र' में ऐसा जो कहा गया है उसका तात्पर्य यह कि अन्य (न्यायादि) शास्त्रों में 'भ्रान्ति' का लक्षण ऐसा नहीं, अपि तु भिन्न तरह का किया गया है।

प्रतिज्ञाविरोधाभावायाह—

अत्र च भ्रान्तिमात्रमलङ्कारः । भ्रान्तिमानलङ्कार इति व्यवहारस्त्यौपचारिकः । तथा चाहुः—

‘प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननुद्यते ।

स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः ॥’ इति ।

औपचारिक इति । भ्रान्तिनिश्चालङ्कारत्वस्य सदस्यारोपान् । भ्रान्तितद्गतोर्भेदारोपा-
द्वेति भावः । ससन्देह इति व्यवहारोऽप्येवमेवेति प्राशुक्तम् । अस्मिन्नप्येदन्यसम्मतिं दर्श-
यति—तथा चाहुरिति । प्रमात्रन्तरेति । भ्रान्तिरूपा, प्रमात्रन्तरस्य कविभिन्नस्य हावुः,
धीर्बुद्धिः, यस्मिन् वाक्सन्दर्भे, अनुद्यते वर्ण्यते, स वाक्सन्दर्भः, ‘भ्रान्तिमान्’ इति ख्यात
भ्रान्तिमच्छब्देनोच्यते स्म, अलङ्कारे तु, स शब्दः, औपचारिक इत्यर्थः ।

प्रत्यकार ने अलङ्कारनिरूपण की प्रतिज्ञा की है और ‘भ्रान्तिमान्’ शब्द से अलङ्कार का बोध होता नहीं, अतः जो विरोध आपाततः दिखाई पड़ता है उसे दूर करने के लिये कहा जाता है—अत्र च इत्यादि । ‘भ्रान्तिमान्’ शब्द में ‘भ्रान्ति’ मात्र अलङ्कार की संज्ञा है । ‘भ्रान्तिमान् अलङ्कार’ इस तरह का व्यवहार तो औपचारिक (आरोपमूलक) है । अभिप्राय यह कि भ्रान्तिमात्र में रहनेवाली अलङ्कारता का भ्रान्ति अलङ्कार से युक्त वाक्य में आरोप कर देने से वैसा व्यवहार होता है जयवा भ्रान्ति अलङ्कार तथा उस अलङ्कार से युक्त वाक्य इन दोनों में भेद का आरोप होने से वक्त व्यवहार किया जाता है । इस प्रसङ्ग पर दूसरे आचार्य भी यही बात कहते हैं—“प्रमात्रन्तर—
अर्थात् जिस वचन-सन्दर्भ में जानकार से अन्य—अर्थात् कवि से भिन्न—के भ्रामात्मक-
बोध का अनुवाद किया जाता है, वह वचन सन्दर्भ ‘भ्रान्तिमान्’ कहलाता है । अलङ्कार में इस शब्द का प्रयोग आरोपमूलक है ।” (‘ससन्देह’ शब्द का अलङ्कार अर्थ में प्रयोग भी इसी तरह आरोपमूलक है यह बात पहले कही जा चुकी है) ।

लक्षणे निषिद्धाना विरोपणाना कलान्युपदर्शयति—

लक्षणे मीलित-सामान्य-तद्गुण-वारणाय चमिन्नहणद्वयम् । रूपकवित्ति-
वारणायानाहार्य इति कविभिन्नगत इति वा । संशयवारणाय निक्षय इति । इदं
रजतमिति रत्नविशेष्यकबोधवारणाय चमत्कारीति । कविप्रतिभानिर्वर्तित
इत्यर्थः । रत्ने रजतमिति बुद्धेर्लौकिकतया न कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वम् ।

‘अकरुणहृदय प्रियतम मुञ्चासि त्वामितः परं नाहम् ।

इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा ॥’

इत्यत्र नायिकासन्देशहरस्योक्तौ व्यज्यमानस्योन्मादस्य वारणाय सादृश्य-
प्रयोज्य इति । न चात्रोन्मादस्य प्राधान्यात् सकलालङ्कारसाधारण्येनोपस्कारक-
त्वविशेषण्येनैव वारणमिति वाच्यम् । तस्यापि पार्यन्तिकविप्रलम्भोपस्कारक-
त्वात् । यद्वा सन्देशहरात् सन्देशं श्रुतवतो नायकस्य स्वमित्र प्रति यदेवं वाक्यं
‘अकरुणहृदय—’ इत्यादि तदास्मिन्नेव पक्षे सेतिपदव्यङ्ग्यथायाः स्मृतेरुपस्कारके-
उन्मादे, तथाप्यविप्रसङ्गापत्तेः सादृश्यप्रयोज्यत्वमावश्यकम् । लक्षणे चात्रैकत्वं

विवक्षितम् । अन्यथा वक्ष्यमाणानेकप्रहीतृकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिप्रसङ्गापत्तेः । अत एवैकवचनमपि सार्थकम् ।

‘लक्षणे’ इत्यस्य सर्वत्रान्वयो बोध्यः । ‘धर्मिद्वयनिवेशफलमाह—मोलित इति । यदि लक्षणे धर्मिद्वयग्रहणं न स्यात् ‘अन्यस्मिन् अन्यप्रकारकनिधय’ इत्येवमुक्तिः भवेत्, तदा मोलित-सामान्य-तद्गुणालङ्कारोदाहरणेषु प्रकृतलक्षणमतिप्रसज्येत, तत्रापि धर्मान्तरे धर्मान्तरस्यानाहार्यनिधयस्य वर्णितत्वात् । धर्मिग्रहणे कृते तु नैव दोषः, धर्मिणि धर्म्यन्तरनिधयानावादिता भावः । अनाहार्यनिवेशफलमाह—रूपकेति । वितर्कानम् । ‘प्रमाणान्तरे’ इति परकीयलक्षणानुसारमाह—कविभिर्भग्न इति चेति । उपमेये उपमानतादात्म्यरूपस्य रूपकस्य ज्ञानमपि भ्रम एव, सोऽपि सादृश्यमूलं चमत्कारी चेति तत्र प्रकृतलक्षणातिप्रसङ्गवारणाय ‘अनाहार्यत्व-निवेश’ । तन्निवेशे तु न तत्रातिप्रसङ्गः, तद्ज्ञानस्यानाहार्यत्वस्य सर्वोपमत्तत्वात् इति भावः । सश्यालद्वारे भ्रान्तिलक्षणमतिप्रसङ्गि-निरासाय निधयनिवेशः । चमत्कारीत्यस्य कविप्रतिभोन्मिथ इत्यर्थः । अभेदेन रजतप्रकार-करङ्गविशेष्यकलौकिकप्रभवारणाय तन्निवेशः । सादृश्यप्रयोज्यत्वनिवेशफलमाह—अकृष्ण इति । नायिकादूतो नायकं प्रस्थाह—‘हे अकृष्णहृदय निर्दयचित्त, प्रियतम ! अहम्, इत परम् अचारम्य, त्वा, न, मुष्मिं त्यजामि’ इति आलीजनम्य सखीजनस्य, कराम्बुजम् हस्तकमलम्, आदाय गृहीत्वा, विक्ला वियोगवैकल्यमनुभवन्ती, सा त्वं प्रेयसी, आलपति वक्तव्यम् । उपपादयति—अत्रेति । उन्मादस्येति । ‘विप्रलम्भमहा-पदादिजन्मा अन्यस्मिन्नन्यावभास उन्माद’ इति मतेनेदम् । ‘अकृष्ण—’ इति पद्यात्मि-क्या नायकं प्रति नायिकासन्देहहस्त्योक्त्या नायिकाया उन्मादो न्यज्यते । स चोन्मा-दोऽन्यस्मिन्नन्यावभास एव । तथा च भ्रमरूप एवासी सम्पद्यते । तस्मिन् प्रकृतभ्रमा-लङ्कारलक्षणं मा प्रसाक्षीत् इति भ्रमात्मकनिधये सादृश्यप्रयोज्यत्व निवेद्यते । निवेशिते च तस्मिन् न तत्रातिप्रसङ्गसम्भावना, तस्य (उन्मादस्य) वियोगजन्यतया सादृश्यप्रयोज-कत्वाभावात् इति भावः । आशङ्क्य समाधत्ते—न चेत्यादिना । ‘अकृष्ण—’ इत्यत्र प्रतीयमान उन्माद एव प्रधानवाक्यार्थः काव्यत्वप्रयोजकः । तथा च तत्र नालङ्कारत्व-सम्भवति, अनुपस्कारकत्वात्, अलङ्कारसामान्यलक्षणे उपस्कारकत्वस्य निवेद्यत्वात् । एष्वक्षरद्वयप्रसामान्यलक्षणान्तरत्वेनाप्युन्मादस्य आरम्भे सिद्धे विशेषलक्षणे तद्वार-कविशेषणं व्यभिचरेति शङ्कादलस्य, नोन्मादोऽत्र प्रधानो वाक्यार्थः, अपि तु विप्रलम्भ, अनुपस्कारक एव चोन्माद इति न सामान्यलक्षणानाकान्तत्वं तस्य, अतो विशेषलक्षणे तद्वारकविशेषणप्रक्षेप आवश्यक एवेति च समाधानदलस्याशयो बोध्यः । ननु विप्रलम्भ-जन्यत्वेनोन्मादस्य कथं तदुपस्कारकत्वमत आह—यत्नेति । ‘अकृष्ण—’ इति न नायकं प्रति नायिकासन्देहहस्त्योक्तिः, अपि तु श्रुतनायिकासन्देहास्य नायकस्य स्वमित्रं प्रती-त्यभिप्रेते पद्यपटकेन ‘सा’ इत्यनेन पदेन ‘मरणम्’ सर्वप्रधानतयाऽभिव्यक्तं स्यात्, उन्मादश्च तत्प्रेषकतया प्रतीतो भवेत् । तथा च तद्वश्ये उन्मादेऽतिव्याप्तिवारणाय सादृश्यप्रयोज्यत्वनिवेश आवश्यक इति भावः । ननु एवमपि उल्लेखालङ्कारे प्रकृतभ्रम-लक्षणातिप्रसङ्गिर्बुद्धरैक, उल्लेखस्यानेकव्यक्तिसमवेतानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रमसमूहरूप-तया प्रकृतलक्षणपटकमकलविशेषणसङ्गमनादिति चेन्न । प्रकृतलक्षणे ‘निधय’ इत्यत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वेन निधयसमुदायान्मके उल्लेखे तस्याप्रसङ्गः । तत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वादेव तत्रत्यैकवचनस्य सार्थक्यमपि भवति । अन्यथा विशिष्टैकवचनोक्तैर्वैयर्थ्यमेवेति सारांशः-

लक्षण में जोड़े गए भिन्न-भिन्न विशेषणों के फल दिखलाए जाते हैं—लक्षणे इत्यादि । लक्षण में दो चार 'धर्मी' पद के ग्रहण करने का फल यह होता है कि मीलित, सामान्य और तद्गुण भलङ्कारों में 'भ्रान्ति' भलङ्कार का लक्षण अतिप्रसक्त नहीं होता, क्योंकि उन भलङ्कारों में एक धर्मी में अन्य धर्मी का अभावक निश्चय नहीं होता, अतः एक धर्म में दूसरे धर्म का । यदि 'भ्रान्ति-लक्षण' में दो चार धर्मी का ग्रहण नहीं होता तब 'अन्य में अन्य का निश्चय' यही फलित होता और उस स्थिति में उन भलङ्कारों का भी संग्रह होने लगता । रूपक-ज्ञान में प्रकृत लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो, इसलिये यहाँ 'अनाहार्य' (वास्तविक) अथवा 'कवि से भिन्न में रहने वाला' यह 'निश्चय' का विशेषण दिया गया है । तात्पर्य यह कि उपमेय में उपमान का अभावक निश्चय रूपक में भी रहता है पर वह निश्चय वास्तविक नहीं, कृत्रिम (इच्छाजन्य) रहता है । सन्देश में अतिमत्प्रवचनार्थ 'निश्चय' कहा गया है, ज्ञान-सामान्य नहीं । 'यह चाँदी है' इस अर्थ को शीते में चाँदी का ज्ञान होता है—इस भ्रम में अतिव्याप्ति-निराकरणार्थ प्रकृतलक्षण में 'चमाकारी' पद दिया गया है—जिसका अर्थ है 'कवि की प्रतिभा से सम्पन्न किया हुआ' । शीते में जो चाँदी का ज्ञान होता है वह लौकिक है, कविप्रतिभा से सम्पन्न नहीं हुआ है, अतः यहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती । "अकरणहृदय—अर्थात् वह सखी का करकमल पकड़ कर 'हे निर्दय हृदय वाले प्रियतम ! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुम्हें नहीं छोड़ती—छोड़ ही नहीं सकती ।" इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है ।" नायक के प्रति इस नायिका का सन्देश छाने वाले की उक्ति में जो उन्माद अभिव्यक्त होता है उसमें अतिव्याप्ति न हो इसलिये प्रकृत लक्षण में निश्चय का विशेषण 'सादर्यप्रयोज्य—सादर्यज्ञान में सिद्ध होने वाला' कहा गया है । अभिप्राय यह है कि—'वियोग और इसी तरह की अन्य महा विपत्तियों के कारण जो अन्यवस्तु में अन्यवस्तु का ज्ञान होने लगता है' उसीको उन्माद कहा जाता है । ऐसी स्थिति में उक्त पद्य में जो उन्माद अभिव्यक्त होता है वह भी अभावक निश्चय ही है, अतः 'सादर्य-प्रयोज्य' इस विशेषण के अभाव में प्रकृत लक्षण की उस उन्माद में अतिव्याप्ति हो जाती । उस विशेषण के रहने पर तो यह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह उन्मादात्मक भ्रम सादर्यज्ञान के कारण नहीं हुआ रहता, अतः वियोग से हुआ रहता है । आप कहेंगे—उस उन्माद का वारण करने के लिये इस विशेष लक्षण में किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह 'उन्माद' यहाँ मभान स्वयम् के रूप में आया है, अतः यह स्वयम् उपस्कार्य है, किसी दूसरे का उपस्कारक नहीं, ऐसी स्थिति में उसका वारण भलङ्कार-सामान्य-लक्षण में जोड़े गए 'उपस्कारकत्व' विशेषण से ही हो जाएगा । पर यह कथन ठीक नहीं । कारण, यह उन्माद भी अन्ततः अभिव्यक्त होनेवाले 'विप्रलम्भ शृङ्गार' का उपस्कारक है, अतः सामान्य लक्षण-गत 'उपस्कारकत्व' विशेषण से उसका वारण नहीं हो सकता, फलतः विशेष लक्षण में उसके वारण के लिये विशेषण का जोड़ा जाना आवश्यक ही है । इस पर यदि आप कहें कि—'उन्माद' तो 'विप्रलम्भशृङ्गार' का ही फल है, फिर वह 'उन्माद' अपने जनक- (विप्रलम्भशृङ्गार) का उपस्कारक कैसे हो सकता है ? तो मैं भी इस युक्ति को मान लेता हूँ, पर इसका अर्थ यह नहीं कि विशेष लक्षण में 'सादर्य प्रयोज्यत्व' के निवेश की आवश्यकता नहीं रही—उसकी आवश्यकता तब भी है ही । कारण, 'अकरण-' इस पद्य को यदि सन्देश-वाहक द्वारा नायिका के सन्देश को सुन चुके नायक की अपने मित्र के प्रति उक्ति मानी जाय तब उस पद्य के 'सा' पद से 'मरण' अभिव्यक्त होगा और उस मरण का उपस्कारक होगा प्रथम अभिव्यक्त 'उन्माद', जिसमें आपको भी आपत्ति नहीं होगी । अब आप सोचें कि उस स्थिति में उस 'उन्माद' का वारण साधारण विशेषण (उपस्कारकत्व) से होगा ? आप भी कहेंगे—नहीं, फिर उसके वारण के

लिये विशेष लक्षण में उक्त विशेषण की आवश्यकता है अथवा नहीं यह आप स्वयं समझ सकते हैं। लक्षण में 'निश्चय' का एक होना अभीष्ट है—अर्थात् एक ही लक्षणोक्त-विशेषण-विशिष्ट निश्चय को 'भ्रान्ति' अलङ्कार कहते हैं, भिन्न-भिन्न अनेक तादृश निश्चयों को नहीं। अन्यथा जिन भ्रान्तियों में अनेक ज्ञाता तथा अनेक विशेषण ॥ और विशेष्य एक हो ऐसी भ्रान्तियों के समूहरूप जागे कहे जाने वाले 'उल्लेखालङ्कार' में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतएव 'निश्चय' पद में एकवचन लिखना सार्थक है।

भ्रान्त्यलङ्कारोदाहरणं निर्देष्टुमाह—

उदाहरणम्—।

निम्ननिर्दिष्ट बोध्यमिति शेषः ।

'भ्रान्ति' अलङ्कार का उदाहरण निम्नलिखित पद्य को समझना चाहिए—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया ।

चपलायुतवारिदभ्रमात्रनृते चातकपोतकैर्वने ॥’

चातकपोतकैः चातकाक्षयपक्षिशिशुभिः, कनकद्रवस्य सुवर्णरसस्य, कान्तिरिव या कान्तिः, तथा, कान्तया रमणीयया, कान्तया रमण्या, सीतयेति यावत्, मिलितं सङ्गतम्, रामम्, उदीक्ष्य दृष्ट्वा, चपल्या वियुता, युतस्य मिलितस्य, वारिदस्य मेघस्य, भ्रमात्, घने, नृते नृत्यं चके इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्वक्ष किया जाता है—कनक इत्यादि। सुवर्ण के रस की सी कान्ति से रमणीय रमणी (सीता) से युक्त राम को देखकर, वन में, चातकों के वन, विद्युत् से युक्त मेघ के भ्रम से नाचने लगे।

उपपादयति—

अत्र चातकगतहर्षोपस्कारकतया तद्रूपा भ्रान्तिरलङ्कारः ।

‘कनकद्रव—’ इति पद्ये ‘नृते’पदेन चातकगतो ‘हर्षभावः’ व्यज्यते, तं च वाच्या चातकनिष्ठा भ्रान्तिरुपस्करोतीति सा ‘भ्रान्ति’रलङ्कार इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘कनकद्रव—’ इस पद्य में ‘नाचने लगे’ इस वक्ति से चातकगत ‘हर्षभाव’ व्यक्त होता है और उस ‘हर्षभाव’ को पुष्ट करता है चातकनिष्ठ भ्रम (सीतायुक्त राम में विद्युत्पुक्त मेघ का ज्ञान), अतः यह ‘भ्रम’ अलङ्कार है।

विधिवद्वयसाधनप्रोक्तपद्यस्यैव भ्रान्तिश्चनेरुदाहरणत्वं दर्शयति—

यदि ‘परिफुल्लपतत्पल्लवैर्मुमुदे चातकपोतकैर्वने’ इत्युत्तरार्धं निर्मायते तदायमेव भ्रान्तिध्वनिः ।

परिफुल्लेति । पतत्राणि पलाणि, पल्लवा इव इति पतत्रपल्लवाः, ते परिफुल्ला विकसिता येषां तादृशैः चातकपोतकैरित्यर्थः । अत्र पाठे भ्रमो न वाच्यः, वाचकपिरहार्त्तः, अपि तु प्रधानतयाऽभिग्न्यमानस्य हर्षभावस्य कारणतया तत्प्रेषको भ्रमोऽपि व्यक्त्य एवेति । तादृशपाठविशिष्टमिदं पद्य भ्रान्त्यलङ्कारध्वनेरुदाहरणमिति भावः ।

‘भ्रान्तिअलङ्कारध्वनि’ का उदाहरण दिए जाने ॥ लिये उक्त पद्य में कुछ अंश का परिवर्तन करने की बात कही जाती है—यदि इत्यादि। ‘कनकद्रव—’ इस पद्य का ही उत्तरार्ध भाग यदि ‘परिफुल्ल—अर्थात् पल्लवों के समान विकसित खेजोंवाले चातकों के वन, वन में, नाचने लगे।’ इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तब यही पद्य ‘भ्रान्तिध्वनि’ का उदाहरण हो सकता है। अभिप्राय यह है कि—उक्त परिवर्तित पाठ में

भ्रान्ति-वाचक कोई शब्द नहीं रह जाता, अतः 'भ्रान्ति' वाच्य नहीं होती, पर प्रधान-तया धर्मिण्यक्त होने वाले 'हर्ष' के कारणरूप में 'भ्रान्ति' व्यङ्ग्य होती है और वह 'भ्रान्ति' हर्ष को उपस्कृत तो करती ही है। फलतः उस परिवर्तित पाठ के अनुसार उक्त पद्य 'भ्रान्ति-अलंकार-ध्वनि' का उदाहरण हो जाता है।

दीर्घितोक्तं लक्षणमनुधावयति—

यथाप्यदीक्षितैर्लक्षणमुक्तम्—

‘कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहित्वात्मनि ।

आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमात्रमतः ॥’ इति ।

‘तत्र कविसम्मतसादृश्यप्रयोज्ये विषये आरोप्यमाणानुभवो यत्र वाक्सन्दर्भे स भ्रान्तिमान्’ इति भ्रान्तिमतो लक्षणं विधाय रूपकव्यावृत्त्यर्थं पिहित्वात्मनी-स्तुष्यते । न चैतद्युक्तम् । नहि रूपकवाक्ये आरोप्यमाणस्यानुभवो वर्ण्यते, किं तु तस्माज्जायते । न चात्रानुभवान्तं भ्रान्तेर्लक्षणमभिमतं च भ्रान्तिमतः । तत्र भ्रान्तिलक्षणे रूपकेऽतिव्याप्तेर्वारणाय विषये पिहित्वात्मनीति विशेषणमिति पाठ्यम् । अनुभवत्वपटितस्य भ्रान्तिलक्षणस्यानुभूयमानाभेदात्मके रूपके कथमप्यप्रवृत्तेः । यदि च रूपकपद रूपकबुद्धिपरमिति ग्रन्थसामञ्जस्य विधीयते तदापि विषयतावच्छेदकानवगाहिनि ‘भरकतमणिमेदिनीधरो वा तद्वनतरस्त-करेप वा तमालः’ इति संशयेतिप्रसङ्गात्, ‘कमलमिवि पञ्चरीफाश्चन्द्र इति चकोरास्त्वम्बुलमनुधावन्ति’ इति भ्रान्तिसमुदायात्तन्मुल्लेखेऽतिव्याप्तेश्च । अत्र भ्रान्त्या सङ्कीर्णं उल्लेख इति चेत्, नद्योतायतोर्ल्लेखांशाविव्याप्तिर्न दोषः । नहि दुग्धजलमागानां व्यामिश्रतास्तीति दुग्धलक्षणं जलांशाविव्याप्तिकं कर्तुं युक्तम् ।

कविसम्मतेति । अस्यायं अनुपदं ‘तत्र-’ इत्यादिना ग्रन्थकृतं च परिच्यते । सादृश्य-प्रयोज्ये विषये इति । सादृश्यमूलकोपमेयभाषापन्ने इत्यर्थः । पिहित्वात्मनीति । निरूप-स्वरूपे इत्यर्थः । तत्वेनाप्यहीति इति वाक्यं । उच्यते इति । अत्र ‘अयं भाव — तद्विशेषणे-नारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिकस्य कविप्रतिभया कल्पनं निवसितम् । तस्यैव विषय-पिधानसामर्थ्यादिति ।’ इति नागेशः । खण्डयति—नैतत् इति । तत्र हेतुमाह—नहीति । अयमाशयः—‘कविसमयमिदसादृश्यद्वारोपमेयत्वमाप्ते वस्तुनि उपमानस्य निधयो करिभन्मान्ये वर्णितो भवति तद् वाक्यं भ्रान्तिमतः’ इति भ्रान्तिमतो लक्षणं क्रियते दीक्षितेन । एवञ्च तस्मिन्लक्षणे रूपकारकं ‘पिहित्वात्मनि’ इति विशेषणं नीचितम्, रूप-कालङ्कारविशिष्टे वाक्ये उपमाननिधयस्यावर्णनेन तत्र तद्विशेषणमात्रमपि लक्षणस्या-प्रसक्तं । रूपकवाक्यादुपमानस्य निधयो भवतीति तु अन्यत् । नहि उपमानानुभवाय सम्पत्तिस्तस्य वर्णनमिति व्यपदिश्यते इति । आशयान्तरमुपवर्ण्यं तद्विशेषणसार्थक्यं साङ्गते—न चेति । अस्तु नाम भ्रान्तिमतो लक्षणे तस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यम्, भ्रान्तिलक्षणे रूपकारकं तत्सार्थकमिति साङ्गादलमिष्टाय । तत्रापि तद्वर्ण्यमेवेति समाधत्ते—अनुभव-त्वेति । निधीयमानस्योपमानस्य तादात्म्यं रूपकम् तत्र निधयात्मिकाया भ्रान्तेः प्रसक्ति-नास्त्येवेति तद्वारणप्रयासो व्यर्थ एवेति समाधानदलाग्निप्रयः । पुनरप्यान्तरकरणेन तद्विशेषणसार्थक्यं कुरुते—यदि चेति । ‘रूपकव्यावृत्त्यर्थम्’ इति दीक्षितग्रन्थपटकल्पक-पदस्य रूपकज्ञानपरत्वे स्वीकृते रूपकज्ञानेऽतिप्रसङ्गतो भ्रान्तिलक्षणास्य प्रवृत्तेर्वारणाय ‘पिहित्वात्मनि’ इत्यस्य सार्थक्यं भवतीति भावः । तस्य विशेषणस्य सार्थक्येऽपि लक्षणं

दुष्टमेवेत्याह—तदापीति । उक्तविशेषणस्य सार्यवयेऽपि इति तदर्थः । विषयतावच्छेद-
केति । उपमेयतावच्छेदकेत्यर्थः । रामत्वेति यावत् । तथा च रामत्वाविषयके इति समुदा-
यार्थः । संशये इति । लक्षणघटक्रानुभवपदस्य हानसामान्यार्थवत्त्वे एष दोषो बोध्यः ।
ननु तस्य निधयपरत्वे नैव दोष इत्यतो दोषान्तरमाह—‘कमलमिति’ । अर्थोऽस्य रफुट
एव । आन्तिरामुदायात्मके उल्लेखे आन्तिलक्षणस्यातिप्रसङ्गः, सादस्यप्रयोज्ये विहितात्मनि
विषये आरोप्यमाणानुभवस्य तत्रापि सत्त्वादिति भावः । दोषाभावमाशङ्क्य पुनर्दोषं
ब्रूयति—अत्र भ्रान्त्या इति । भ्रान्तिमिश्रिते उल्लेखे आन्तिलक्षणप्रसक्तिरचितैव, न
दोषायेति शङ्काया इदं समाधानम् यत् यथा नियमतो दुग्धे जलभागस्य मिश्रणे सत्यपि
दुग्धलक्षणं जलाशयव्यावृत्तमेव विधीयते, तथैव उल्लेखस्य आन्तिसद्गोर्णत्वेऽपि भ्रान्ति-
लक्षणम् उल्लेखाराध्यावृत्तमेव कर्तुमुचितम्, अन्यथा यथा जलाशयव्याप्तं दुग्धलक्षणं
दुग्धमेव भ्रान्तिलक्षणमुल्लेखारातिव्याप्तं दुष्टमेव स्यादिति । अत्र ‘अतिव्याप्तिश्च’ इति
प्रतीकमुपादाय “उल्लेखवत्भ्रान्तित्वयोरत्र सद्गोर्णत्वम् । बाधकाभावात् । भूतत्वमूर्तत्वयोरपि
नरैर्बर्गतिप्रदेत्यत्रोल्लेखत्वस्य, कनकद्रवेत्यत्र भ्रान्तित्वस्य सावकाशत्वादिति कथितम् ।
वनिनेति वदन्त्येता लोका इति त्वदुदाहृतापहृतिसद्गोर्णोत्प्लेखे उपमेयतावच्छेदकनिषेध-
सामानाधिकरण्येनोपाप्याशङ्कितिलक्षणातिव्याप्तिस्तबाप्यस्ति । एवं तत्तदलङ्कारसद्गोर्णे
तत्तदलङ्कारलक्षणस्य सा दुर्वारिति चिन्त्यमिदमित्यपरे ।” इति नागेशः ।

अथ अप्यपदीक्षितकृत आन्तिलक्षण का अनुवाद करके खण्डन किया जाता है—
यच्च इत्यादि । अप्यपदीक्षित ने ‘कविसम्मत—’ इत्यादि लक्षण ‘आन्तिमान्’ का किया
है । इस लक्षण में “कवियों के अभिमत सादस्य द्वारा सिद्ध होनेवाले उपमेय में उपमान
का अनुभव जिस वाक्य में धर्जित हो वह वाक्य ‘आन्तिमान्’ है ।” इस तरह ‘आन्तिमान्’
का लक्षण बनाकर रूपक में अतिव्याप्तिवारणार्थ उपमेय का ‘विहितात्मनि (जिसका
स्वरूप छिपा दिया गया हो)’ यह विशेषण दिया गया है । इस विशेषण से यह अभि-
प्राय प्रकट होता है कि उक्त अनुभव क्विप्रतिभोत्थित होना चाहिए, क्योंकि बैसा
न होने पर उसके द्वारा उपमेय का छिपाना नहीं बन सकता—अर्थात् उपमेय को
उपमान समझना (भ्रम) नहीं हो सकता । पर दीक्षितजी का उक्त लक्षण ठीक नहीं
है । कारण, आपका लक्षण ‘आन्तिमान् (आन्तिमुक्त वाक्य)’ का है, अतः उसकी
अतिव्याप्ति रूपक के वाक्य में हो सकती है, रूपक में नहीं, फिर जो आपने “रूपक-
धारणार्थ इस लक्षण में ‘विहितात्मनि’ विशेषण लगाया गया है” ऐसा लिखा वह अस-
ङ्गत हो जाता है । यदि आप कहें कि ‘आन्ति’ तथा ‘आन्तिमान्’ दोनों का लक्षण किया
गया है—‘अनुभव’ पर्यन्त का भाग ‘आन्ति’ का लक्षण है और अग्रिम भाग ‘आन्तिमान्’
का । उनमें से ‘आन्ति’ लक्षण में ‘विहितात्मनि’ यह उपमेय का विशेषण दिया गया
है और वह इसलिए दिया गया है कि रूपक में आन्तिलक्षण का अतिप्रसङ्ग न हो,
तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आन्ति का लक्षण है ‘अनुभव’ । अब आप सोचें कि
अनुभवरूप आन्तिलक्षण का अनुभव में आनेवाले अभेदरूप रूपक में अतिप्रसङ्ग होता
ही कहाँ है जिसके वारणार्थ आप विशेषण जोड़ रहे हैं । तात्पर्य यह कि आन्ति अनुभव
का नाम है और रूपक है अनुभव में आनेवाले अभेद का नाम, फिर इन भिन्न पदार्थों
में किसी एक का दूसरे में अतिप्रसङ्ग कैसे हो सकता है ? अब यदि आप ‘रूपकव्या-
वृत्त्यर्थम्’ में ‘रूपक’ पद का ‘रूपक का ज्ञान’ अर्थ करके ग्रन्थ को सङ्गत बनाना चाहें
अर्थात् रूपक का ज्ञान अनुभवरूप हो जाता है, अतः उसमें अतिव्याप्तिवारणार्थ
आन्तिलक्षण में उक्त विशेषण दिया गया है (उस विशेषण से उक्त अतिव्याप्ति इसलिये
वारित हो जाती है कि रूपक अथवा उसके ज्ञान में उपमेय विहितात्मा—छिपे-

रूप वाला नहीं रहता, अपितु प्रकट रूपवाला ही रहता है) तो बना लें उस ग्रन्थ को सङ्गत, पर इतने पर भी उक्त लक्षण निर्दुष्ट नहीं होगा, क्योंकि यदि उस लक्षण में अनुभव का अर्थ ज्ञानसामान्य किया जाय तब 'मरकतमणि—' इस पूर्वोक्त सन्देह—जहाँ उपमेयतावच्छेदक अर्थात् रामत्व का अवगाहन नहीं हुआ है, तात्पर्य यह कि जहाँ रामरूप उपमेय छिपा ही हुआ है—में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जायगी, यदि अनुभव का अर्थ निश्चय किया जाय तब भी 'कमलमिति चञ्चरीका—अर्थात् तेरे मुख को अमर कमल और चकोर चन्द्रमा समझकर पीछे-पीछे दौड़ते हैं' इस भ्रान्तिर्था के समूहरूप उल्लेखालङ्कार में एक भ्रान्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति रहेगी ही । यदि आप कहें कि यह उल्लेख है ही भ्रान्ति से मिश्रित, अतः उसमें यदि भ्रान्ति का लक्षण सङ्गठित हो जाता है तो वह होना ही चाहिये वह कोई दोष (अतिव्याप्ति) नहीं, तो यह भी समुचित नहीं हो सकता । कारण, दूध जलभाग से मियमलः मिश्रित रहता है, अतः दूध का लक्षण ऐसा नहीं बनाया जाता जिसकी जलभाग में अतिव्याप्ति हो जाय । फलतः शीघ्रितज्ञों के लक्षण को असङ्गत ही कहा जायगा ।

दीक्षितोद्भूतं भ्रान्तिविरोधोदाहरणमनूयालोचयति—

यथापि भिन्नकर्तृकोत्तरोत्तरभ्रान्तानुदाहृतम्—

‘शिक्षानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बित चञ्चरीकै-

स्तत्रासोक्षासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः ।

तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकै-

रित्य चोलेन्द्रसिंह त्वदरिभृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम् ॥’ इति ।

तत्र विधायते—स्तनकलशयुगे हि न ताप्यमञ्जरीसादृश्यं कविसमयसिद्धम्, येन तन्मूला चञ्चरीकाणां भ्रान्तिरुपनिबभूवेत् । वीपान्तरमूला तु सा नालङ्कार इत्यनुपदमेव निरूपितम् । अपि च धर्मिणि कलशरूपकानुवादेन मञ्जरीभ्रान्तिरूपमलङ्कारान्तरमुपनिबध्यमानमुद्वेजकमेव सहृदयानाम् । नहि सादृश्यमूलैकालङ्कारावच्छिन्ने सादृश्यमूलालङ्कारान्तरं शोभते । यथा ‘मुखकमलं तव चन्द्रवत् प्रतीतः’ इति प्रगेष निवेदनात् । प्रत्युत कलशरूपकेण मञ्जरीसादृश्यतिरस्काराच्च । ‘तत्रासोक्षासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदृष्टाः’ इत्यत्र विधेया-विमर्शाद्विवेचान्तरमाकाङ्क्षितम् । कीरैर्दृष्टा इति ॥ भाव्यम् । जता इत्यप्याहा-रेऽपि विवक्षितस्याविधेयत्वमप्यवक्षितस्य च विधेयत्वं प्रसज्येत । एव ‘तल्लोपायालपन्त्यः पिकनिनदधिया ताडिताः काकलोकैः’ इत्यत्र न तावत्पिकनिनदास्ताडनयोग्याः काकानाम्, येन तद्धिया आलपन्त्यस्तैस्ताडयेत् । नापि पिकनिनद-भ्रम आलपन्तीषु सम्भवति । सम्भवन्वा न सादृश्यमूलः । पिकनिकरधियेति तु भाव्यम् । अथ तदालापेषु पिकनिनदबुद्धेरपि तासु पिकबुद्धयुत्पादनद्वारा सम्भवत्येव ताडनोपयोग इति प्रयोज्यत्वार्थकृत्वीर्या पिकनिनदधीप्रयोज्यका ककर्तृकताडनकर्मत्वमालपन्तीनां सुप्रतिपादमेवेति चेत्, नैवम् । तथा प्रतोते-रसिद्धेः । ‘चौरबुद्ध्या हतः साधुः’ इत्यादौ चौरबुद्धिहननयोः सामानाधिकर-ण्येन हेतुहेतुमद्भावनमकत्वव्युत्पत्तेः । एवं ‘दन्तिबुद्ध्या हतः शूर्पराहो वन-गोचरः’ इत्यत्रापि विशेष्यतया घराहृष्टेर्दन्तिबुद्धेर्घराहृष्टिहेतुभावावरणः । त्वदुक्तरीत्या दन्तिबुद्धयेति कृते बोधकदर्थनैव । किं च पिकानां हि कूजिता-दिशब्दैरेव शब्दो घर्ष्यते, न तु निनदादिशब्दैः सिंहदुन्दुभ्यादिशब्दप्रयोगयोग्यैः ।

तथा प्रथमद्वितीयचरणस्थयोः स्तनपाण्योर्यथाकथञ्चित् व्यवहितमपि जातान्वयमपि त्वदरिमृगदृशमिति पष्ठयन्तमन्वेतु शक्नुयात्, न तु तृतीयचरणस्थे आलपन्त्य इत्यस्मिन् विशेषणे विशेष्यभावेनेति तासां ताटस्थमेव स्यात् । विभक्तिविपरिणतावपि प्रक्रममङ्गासङ्गुलत्वाभ्यां स्थितमेवेति पद्यमव्युत्पन्न-निर्मितमेव । दीक्षितैस्तु अन्यलङ्कारांशमात्रमादायोदाहृतमिति दिक् ।

भिन्नकर्तृकेति । भिन्न कर्ता यस्या तादृशी या उत्तरोत्तरआग्निस्तस्यामित्यर्थः । विविधव्यक्तिसमवेताया पूर्वपूर्वआग्निप्रयुक्ताग्निमाग्निमन्ताविति यावत् । शिञ्जानैरिति । हे चोलेन्द्रसिंह चोलदेशनरेशमुख्य । त्वदरिमृगदृशा भवदोविराजुरमणीनाम्, त्वद्भयेन पलाय्य वनं ध्रितैः शत्रुभिः सह गतानामिति यावत्, अरण्यं वनम्, अपि, शरण्यं शरणदायरुम्, नाभूत् । यतः, तत्र, शिञ्जानैर्गुञ्जि, चघरीकं भ्रमरैः, मज्जरीति-शुद्धया, तासाम्, स्तनकलशम्, सुम्बितम्, तत्रासोल्लासलीला भ्रमरभयजननजातचेष्टा, तासां, पाणय, कितल्यभनसां कितलया इमे इति चेतसा, कीरदद्या शुर्कदंष्ट्रा तथा तल्लोपाय कीरवूरीकरणाय, आलपन्त्य वदन्त्यस्ता, काकलोकैः काकैः, पिकनिनदभिया कोकिलकूजनबुद्ध्या, ताडिता आहता इत्यर्थः । अत्र स्तने मज्जरीभ्रमो भ्रमरसमवेतः, तद्भ्रमोपद्रवशमनप्रयासहेतुक पाणिषु कितल्यभ्रमः कीरसमवेतः, तद्भ्रमजनितोपद्रव-वूरीकरणप्रयत्नमूलक मृगाक्षीषु पिकनिनदभ्रम काकसमवेत इति भवतीदं पद्यम् अनेक-कर्तृकोत्तरोत्तरान्तोदाहरणमिति भावः । पद्यमिदमालौचयितुमुपपद्यते—तत्र विचार्यते इति । ननु यथाकथञ्चित् सादृश्यमप्यस्तीत्यत आह—अपि चेति । भूमिणि स्तनकदे । अलङ्कारवच्छिन्ने अलङ्कारविशिष्टे । मुखकमलमिति रूपकम् । अभ्युपेत्याह—प्रत्युतेति । 'शिञ्जानैः—' इति श्लोके वर्णितस्य स्तनकलशाधिकरणकस्य मज्जरीभ्रमस्यालङ्कारत्वं नोपपद्यते, दोषान्तरमूलकस्य भ्रमस्यालङ्कारत्वानङ्गीकारात् । ननु सादृश्यमूलक एव स्तन-कलशो मज्जरीभ्रम इति चेन्न, स्तने मज्जरीगादृश्यस्य कविसमयासिद्धतया तन्मूलकस्य तत्र तद्भ्रमस्यासम्भवात् । ननु स्तने यत्किञ्चित् मज्जरीसादृश्यमस्त्येव, कविसमयासिद्धत्वं तस्याकिञ्चित्करमेवेति चेत् ? तथास्तु । परन्तु न तावतापि प्रकृते सामञ्जस्यम्, अधिकरणे स्तने कलशारोपरूपे रूपके जाते तदनुवादेन मज्जरीभ्रमस्यालङ्कारान्तरोपमिष्यन्त्यस्य सङ्ग-योद्वेजकत्वात् । 'मुखकमलं तप चन्द्रवत् प्रतीम' इत्यत्र मुखगतकमलरूपकमनूय चन्द्रोप-मेव सादृश्यमूलककालङ्कारविशिष्टे सादृश्यमूलकमेवालङ्कारान्तरं न शोभत इति तस्य सङ्गयोद्वेजकत्वं बोध्यम् । तुल्यदुर्जनन्यायेन स्वीकृत्येऽपि तादृशालङ्कारान्तरस्य सङ्ग-यानुद्वेजकत्वे प्रकृते न गतिः स्तने कलशरूपेण वस्तुतो मज्जरीसादृश्यस्य तिरस्कृततयाऽ-नुदयादिति भावः, एवमावे दोषमुक्ता द्वितीये दोषमाह—तत्रासोल्लासेति । विधेयाविमर्शा-दिति । विधेयस्याकपनादित्यर्थः । उद्देश्येऽतिप्रविष्टं सर्वमिति भावः । अत्र—'पाणीनु-दिरय विशिष्टस्य कीरकर्तृकदृष्टत्वस्य विधेयत्वे को दोष इति चिन्त्वमिदम्' इति नागेश । अदोषप्रकारमाह—कीरदंष्ट्रा इति । अप्याहारेण विधेयपूतौ दोषमाह—जाता इत्यप्या-हारे इति । विवक्षितस्येति । दृष्टत्वस्येत्यर्थः । अविवक्षितस्येति । जातत्वस्येत्यर्थः । द्वितीय-चरणे पाणीनुदिरय दृष्टत्वस्य विधेयत्वं विवक्षितं वक्तुं, परन्तु दृष्टत्वबोद्धव्यस्य सप्तम-पटकतया न तस्य विधेयतयाऽवगमः, अतोऽपरं निजिद् विधेयमिहाज्ञप्तिरिति भवति । 'कीरदंष्ट्रा' इत्येवमसमस्तपदविन्यासे वक्तुरभिमतं सेदुमर्हति । ननु 'जाता' इत्यस्या-प्याहारेण विधेयकाङ्क्षाशान्तिः सम्भवीतीति चेत्, सत्यम्, किन्तु विधेयाकाङ्क्षाशान्ता-

वपि वक्तुमिष्टेतस्यासिद्धिरेव, यतो दष्टत्वस्य विधेयत्वमभिप्रेतं वक्तुम् । तथाकरणे तु न तस्य विधेयत्वमपि तु जातत्वस्येति दुष्टमेवास्य पद्यस्य द्वितीयं चरणमिति भावः । तृतीयं तमाह—एवमिति । तावत् श्राद्धौ । दोषमूलं सम्भवनीत्याह—सम्भवन्वेति । अदोष प्रकारमाह—पिकनिकरेति । तृतीयचरणे पिकनिनदधीहेतुककाकर्तृकताडनकर्मत्वमाल पन्तीनामुपवर्णितम्, तच्च न युक्तम्, पिकनिनदस्यैव काकर्तृकताडनायोग्यतया तद्धौ हेतुकान्यताडनस्य काकर्तृकस्य सुतरामयोग्यत्वेन सम्भवात् । किञ्च तृतीयचरणगतपद-स्वारस्येन आलपन्तीषु साकांश पिकनिनदभ्रमो यत् प्रतीयते तदपि न सङ्गतम्, इव्या-त्मकव्यक्तौ गुणात्मकनिनदभ्रमस्य सादृश्यमूलकस्यासम्भवात्, इव्यगुणयोः कविसंमत-सादृश्यविरहात्, दोषान्तरमूलकस्य तादृशभ्रमस्य सम्भवोऽपि अलङ्कारत्वायोगात् । 'पिक-निकरधिया' इति पाठभेदभविष्यत्, तदा निर्दोषताऽसेत्त्यन्, यतस्तुत्यमाधुर्ययुक्तशब्द-वत्त्वात्मकसादृश्यमूलकं आलपन्तीषु पिकनिकरभ्रमं सम्भवति, तथा काकताडनयोग्य-पिकनिकरधीहेतुककाकर्तृकताडनकर्मत्वमपि तासु सुसङ्गतमिति भावः । यथास्थितपाठेऽपि दोषराहित्यमाशङ्क्य समाधत्ते—अथेत्यादिना । तदालापेषु इति । आलपन्तीनां मृग-इशामालापेभिरन्यर्थः । तृतीययेति । पिकनिनदधीपक्षोत्तरयेत्यर्थः । तथाप्रतीतेरिति । 'पिक-निनदधीप्रयोज्यकाकर्तृकताडनकर्माभूता आलपन्त्य' इति प्रतीतेरित्यर्थः । तथाप्रतीतेर-निर्दो हेतुमुपदर्शयति—चौरपुद्गलेति । सामानाधिकरण्येनेति । विशेष्यतासम्भवेन यत्र (साधौ) चौरपुद्गलं तत्र कर्मतासम्भवेन हनन इत्याकारकेणैत्यर्थः । तादृशं स्थलान्तर-माह—एवं 'दन्तिपुद्गले'ति । चौरैः कने दृष्टिपदमुपेतौ वराहो गजभ्रमेण हत इति तदर्थः । दन्तिपुद्गलेति कृते इति । अत्र यद्यपि मूले । 'दन्तिपुद्गला' इत्येव पाठः प्राप्तपुस्तके दृष्टः, तथापि नामी सङ्गत इति मूलैक-पाठान्तरं कल्पित । नायिकातापेषु सादृश्यमूलकं पिकनिनदभ्रमं सम्भवति, स च भ्रमो नायिकासु सादृश्यमूलकं पिकभ्रममुत्पादयितुं क्षमते । तथा च नायिकालापविशेष्यकपिकनिनदभ्रमोऽपि परम्परया काकर्तृकनायिकाकर्मकताडने उपयुज्यत एवेति 'पिकनिनदधिया' इत्यत्र तृतीयाविभक्तेः प्रयोज्यत्वमर्थसात्त्वात् 'पिकनिन-दधीप्रयोज्य' इति प्रागुक्तबोधे क्रियमाणे नासङ्गतिः काचित्—इति शङ्काऽलस्याभिप्रायः, 'चौरपुद्गला' इत्यत्र 'दन्तिपुद्गला' इत्यत्र च सामानाधिकरण्येन चौरभ्रमहननयोः दन्ति-भ्रमहननयोश्च हेतुहेतुमद्भावस्यानुभवसिद्धतया 'पिकनिनदधिया' इत्यत्रत्यतृतीयायाः प्रयो-ज्यत्वार्थकत्वान्नन्वे प्रागुक्तो बोधो न सेदं प्रमत्तमिति च समाधानदलस्याभिप्रायो बोध्यः । दोषान्तरमपि दर्शयति—किं चेति । शब्दप्रयोगयोग्यैरिति । शब्दे प्रयोगयोग्यैरित्यर्थः । 'पक्षिषु कूजितप्रायम्' इति कविसमयानुसारं पिकानां शब्दः कूजितादिशब्दैरेव वर्णयितुमुचितः, न तु निनदादिशब्दैः, निनदादिशब्दानां सिंहदुन्दुभ्यादीनां शब्दैरेव प्रयोगस्य कविसमय-मिदत्वादिति भावः । अपरामप्यनुपपत्तिमुद्गाडयति—तथेति । स्वारसिकयोरासत्त्याकाङ्क्षयो-रभावादाह—यथाश्रमविदिति । जातान्वयेति । नाप्यरण्यं शरण्यमिति संनिहितेनेति भावः । नत्विति । विभिन्नविभक्तिश्चात्स्वस्मिन् स्वमेदामावाचेति भावः । ननु विभक्तिविपरिणामेना-भेदान्वयः सुलभोऽत आह—विभक्तीति । नन्वेव दीक्षितैः क्यमुदाहरणत्वेनोद्धृतं पद्यमेत-दित्यत आह—दीक्षितैरिति । अन्वयबोधं प्रति आसत्त्याकाङ्क्षयो कारणत्वं सर्ववादि-सिद्धम्, तथा च प्रकृतपरीयवचन्युर्ध्वचरणघटकस्य 'मृगस्थां' इति पञ्चम्यन्तपदस्यार्थ-आसन्नेन साक्षाद्भेदेन च 'नाप्यरण्यं शरण्यम्' इत्यस्यार्थेन सदैवान्वेतुं यद्यपि योग्यः, तथापि तुष्यद्दर्जनन्वायेन अस्वारसिकत्वावि आसत्त्याकाङ्क्षे कथयित्वा उक्तपष्ठान्ता-

यस्य प्रथमद्वितीयचरणषट्कस्तनपाणिपदार्थाभ्या सहान्वय कथञ्चिदुपपादयितुं शक्यः । किन्तु तृतीयचरणस्यभिन्नविभक्तिरूपद्वयोप्यालपत्राधिक्यात्मके विशेषणे विशेष्यतयोक्त-पष्ठ्यन्तपदार्थान्वयः कथमपि नोपपादयितुं शक्यः । अभिमतस्तु तदन्वयोऽपि नचरिति 'अभयन्मतसम्बन्ध'-अपि महादोषोऽस्मिन् पद्ये । विभक्तिविपरिणामेनान्वयमुपपाद्य तदो-यनिरासेऽपि भग्नप्रग्नमताऽन्यद्वल्लतान्या दोषाभ्यामावाप्तमेव पद्यमेतत् इति भावः । इत्यध्याव्युत्पन्नकविरचितमिदं पद्यं दीक्षितेन परमव्युत्पन्नेन स्वप्नान्ये नोद्धर्तुमुचितम् इति सारांशः ।

अन्ति विशेष के उदाहरण देने के काम में दीक्षित द्वारा उद्धृत एक पद्य की आलो-चना की जाती है—यद्यपि इत्यादि । और जो दीक्षितजी ने भिन्न-भिन्न व्यक्ति को एक के बाद दूसरा इस काम से होनेवाले भिन्न-भिन्न तरह के उदाहरण में 'शिक्षानै—अर्थात् गूँजते हुए भ्रमरों ने मंजरी समझकर कलशरूप स्तनयुगल को चूम लिया । भ्रमरों के भय से ताना तरह की चेष्टाओं को करनेवाले हाथों को शुकों ने पल्लव समझकर काट लाया । शुकों को हटाने के लिये बोलती हुई रमणियों को कोयलों के शब्द समझकर कीर्तों ने ताड़न करना शुरू किया । हे बोलनेवालों में सिंह ! तेरे शत्रुओं की मृगाची नायिकाओं को घन में भी शरण नहीं मिल सकी ।' यह पद्य उद्धृत किया है उस पर विचार किया जाता है । प्रथम तो कलशरूप स्तनयुगल में मंजरी का सादर्य कवि समग्रदाय-सिद्ध नहीं है कि उसको मूल बनाकर भ्रमरों के भ्रम का वर्णन किया जाय । और यदि किसी अन्य (सादर्य से भिन्न) दोष के कारण भ्रमरों को कलशरूप स्तनयुगल में मंजरी का भ्रम हुआ हो तो वैसा भ्रम अलङ्काररूप नहीं होता—यह बात अभी धोरे ही पहले निरूपित हो चुकी है । यदि आप कहें कि स्तनयुगल में मंजरी का कुछ न कुछ सादर्य हो ही सकता है, रही बात उसके कविसमग्रदायसिद्ध न होने की, तो यह कुछ नहीं, तो मैं भी आपकी बात मान लेता हूँ, पर तब भी कलशरूप स्तनयुगल में मंजरी-भ्रम की उक्ति उचित नहीं, क्योंकि स्तनरूप धर्मी में कलश के रूपक का अनुवाद करके मंजरीभ्रमरूप अन्य अलङ्कार की कल्पना सहृदयों को उद्भिन्न ही बनाती है । उद्भिन्न बनावे भी क्यों नहीं, कारण, सादर्यमूलक एक अलङ्कारवाले पदार्थ में सादर्यमूलक ही दूसरा अलङ्कार शोभित नहीं होता, जैसे कि 'तेरे मुर-कमल को हम चन्द्र सा समझते हैं' इत्यादि में । तात्पर्य यह कि जैसे मुर में कमलरूपक हो जाने के बाद उसी में चन्द्रो-पमा नहीं सुन्दर प्रतीत होती, उसी तरह प्रकृत में स्तन में कलशरूपक हो जाने के बाद उसी में मंजरीभ्रम नहीं भण्डा लगता है । प्रत्युत कलशरूपक द्वारा मंजरीसादर्य का तिरस्कार हो जाता है अर्थात् स्तन की कलश के समान मान लेने पर मंजरी के समान मानना बनता नहीं है । यह तो हुई प्रथम चरण की बात । अब द्वितीय चरण को लीजिए । द्वितीय चरण के 'कीरदृष्टा' पद में 'विधेयाविमर्श' दोष है—अर्थात् हाथों को उदरय बनाकर 'दृष्टा' का विधान करना कवि का जमीद है, पर 'दृष्टा'—बोधक 'दृष्टा' पद 'कीर' पद के साथ समस्त कर दिया गया है जिससे 'दृष्टा' का विधेय होना अवगत नहीं हो पाता क्योंकि स्वतन्त्र पदार्थ का ही विधेयभाव अवगत होता है यह एक स्वाभाविक नियम है, अतः यहाँ किसी दूसरे विधेय की आकांक्षा बनी ही रहती है । वस्तुतः पदार्थ 'कीरदृष्टा' ऐमा असमस्त ही होना चाहिए था । यदि 'कीरदृष्टा' के साथ 'जाता' पद का अध्याहार करके विधेयवृत्ति की चेष्टा की जाय तब 'विनायकं प्रकुर्वाणो रक्षयामास वानरम्' हो जायगा—अर्थात् जिस 'दृष्टा' का विधान करना चाहते थे वह विधेय नहीं होता और जिसका विधान नहीं करना चाहते थे वह 'जाता' पद का अर्थ विधेय हो जायगा । इसी प्रकार तृतीय चरण में—प्रथम तो कोकिलों के शब्द ही कीर्तों के ताड़न करने योग्य नहीं—क्या कोई शब्दों की ताड़ना कर सकता है ? नहीं, फिर उनके भ्रम से दूसरों की (बोलनेवालों की) ताड़ना कैसे की जा सकती है ? और बोलनेवालों

में कोकिलों के शब्दों का भ्रम हो भी नहीं सकता। अभिप्राय यह कि द्रव्य (बोलने-वाली नायिकाओं) में गुण (शब्दों) का भ्रम सादर्यमूलक नहीं सम्भव है और अन्यदोषमूलक भ्रम सम्भव होकर भी बलद्वाररूप ही नहीं माना जाता है। वस्तुतः यहाँ 'पिक्वनिनदधिया' (कोकिलों का समूह समझकर) पाठ होना चाहिए। इस पाठ में सब बातें ठीक हो जाती हैं अर्थात् बोलनेवालों में समानशब्द मायुर्यरूप सादर्य-मूलक कोकिलसमूह का भ्रम भी हो सकता है और कोकिलसमूह के कौओं द्वारा ताड़न योग्य होने से कोकिलसमूहभ्रम के कारण बोलनेवालों का कौओं द्वारा ताड़न भी हो सकता है। आप कहेंगे—नायिकाओं की वाणियों में कोकिलों के शब्दों का भ्रम सादर्यमूलक होगा और वह भ्रम नायिकाओं में कोकिलों के भ्रम को उत्पन्न करेगा, इस तरह से नायिकाओं की वाणियों में होनेवाले कोकिलाशब्दभ्रम का भी परम्परया उपयोग काक द्वारा नायिकाओं के ताड़न में हो सकता है, अतः 'पिक्वनिनदधिया' पद में आई हुई तृतीया विभक्ति का 'प्रयोज्यता (सिद्ध होने योग्य होना)' अर्थ मानकर उस वाक्य का 'कोकिलों के शब्दों का भ्रम जिसका परम्परया साधक है ऐसी कौओं द्वारा की जानेवाली ताड़ना का कर्म बोलने वाली' यह अर्थ सहज में ही प्रतिपादित हो सकता है, अतः कोई गड़बड़ इस चरण में नहीं है। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं हो सकती अर्थात् उक्त प्रकार से उस वाक्य का अर्थ नहीं किया जा सकता। कारण, 'चोर के भ्रम से साधु मार डाला गया' इत्यादि स्थलों में चौरभ्रम तथा हनन में सामानाधिकरण्येन अर्थात् साक्षात् ही कारण-कार्यभाव का अवगत होना नियमसिद्ध है। इसी तरह 'वीरों ने सूकर को हाथी के भ्रम से घन में मार डाला' इस वाक्य में भी विशेषतासम्बन्ध से सूकर में रहनेवाले हाथीभ्रम का सूकर में कर्मतासम्बन्ध से रहनेवाले हनन के प्रति हेतु होना अवगत होता है। आपके हिमाच से यदि 'हाथी के भ्रम से' की जगह 'हाथीद्वित के भ्रम से' कह दिया जाय तब तो बेचारे बोध की मिट्टी पड़ी होगी—अर्थात् 'हाथीद्वित के भ्रम से वीरों ने सूकर को मारा' ऐसा ही वाक्य रचना जाय और उसकी व्याख्या यों की जाय कि सूकर के घाँत में हाथीद्वित का भ्रम सूकर में हाथी के भ्रम को उत्पन्न करेगा, अतः सूकर के घाँत में हाथीद्वित का भ्रम भी सूकर के हनन में परम्परया उपयोगी होता ही है, फिर 'प्रयोज्यत्व' 'दन्तबुद्धि' पदगत तृतीया का अर्थ मानकर उक्त रीति से अर्थबोध किया जाय तो वह अर्थबोध क्या होगा? अर्थबोध का उपहासमात्र होगा। सारांश यह कि जब 'चौरबुद्धि' 'दन्तबुद्धि' इत्यादि स्थलों में चौरबुद्धि (चौरभ्रम) और हनन में एवं दन्ति बुद्धि और हनन में साक्षात् ही कारण-कार्यभाव अनुभवमिष्ट है अर्थात् हननरूप कार्य के प्रति चौरभ्रम तथा दन्ति-भ्रम का साक्षात् कारण होना ही विदित होता है तब 'पिक्वनिनदधिया' में भी ताड़न के प्रति पिक्वनिनदध्रम का साक्षात् कारण होना ही समझा जायगा और जब साक्षात् कार्यकारणभाव ही इन सब जगहों में होगा तब 'प्रयोज्यत्व' तृतीया का कार्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह परम्परया साधक होनेवाली स्थिति में माना जाता है। फलतः ऐसी जगहों में 'हेतुता' ही तृतीया का अर्थ माना जायगा और उस अर्थ के अनुसार प्रकृत में वाक्यार्थ बैठ नहीं सकता, क्योंकि पिक्वनिनदबुद्धि काक द्वारा नायिकाताड़नरूप कार्य के प्रति हेतु (साक्षात् कारण) होती नहीं, आप दावा करेंगे—उन्हीं दो पदार्थों में कार्य-कारणभाव होता है जो किसी एक अधिकरण में रहते हों, जैसे घट के प्रति दण्ड इसलिये कारण होता है कि वे दोनों ही कपाल (घड़े के दो टुकड़ों) में रहते हैं अर्थात् घट समवायसंबन्ध से और दण्ड सयोगसंबन्ध से कपालरूप एक अधिकरण में रहते हैं, फिर यहाँ जो चौरभ्रम को कारण और हनन को कार्य बतलाते हैं वह कैसे? क्योंकि भ्रम समवायसंबन्ध से आत्मा में और हनन (क्रिया) कर्मतासंबन्ध से साधु आदि में रहनेवाले हैं, तो इसका समाधान

आपको यह समझना चाहिए कि जिस साधु आदि में 'कर्मता'संबन्ध से हनन रहता है उन साधु आदि में ही 'विशेष्यता'संबन्ध से उक्त भ्रम भी रहता है अतः उक्त कार्य-कारणभाव के होने में किसी तरह की बाधा नहीं। इसके अतिरिक्त इस पद्य में और भी दोष है, जैसे—कोकिल आदि पक्षिजातीय प्राणियों के शब्द 'कूजित' आदि शब्दों से ही वर्णित होते हैं, न कि 'निनद' आदि शब्दों से, क्योंकि वे शब्द सिंह, नगादे आदि के शब्दों में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं। अतः 'विकनिनद' में 'कृतातिविरुद्धता' दोष है। इसी तरह प्रथम तथा द्वितीय चरण में आये 'स्तनों' और 'हाथों' के साथ किसी तरह, दूर होने पर भी तथा दूसरे शब्द (शरण्यम्) के अर्थ के साथ अन्वित हो जुड़ने पर भी चतुर्थ चरण के 'मृगदशाम्' इस पष्ठ्यन्त पद का अर्थ अन्वित हो सकता है, ['किसी तरह' कहने का अभिप्राय यह है कि वस्तुतः ऐसा भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि अन्वयबोध के प्रति आसत्ति (सांनिध्य) और आकांक्षा का ज्ञान कारण होता है और यहाँ 'मृगदशाम्' के अर्थ की आसत्ति और आकांक्षा 'शरण्यम्' पदार्थ के साथ ही है, तथापि अन्वय द्वारा स्तनों और हाथों के साथ भी उन दोनों के ज्ञानरूप कारण की कल्पना कर ली जा सकती है] पर तृतीय चरण में आये 'आलपन्त्य,' इस प्रथमान्त विशेषणपदार्थ के साथ विशेष्यरूप से उस पष्ठ्यन्त पद के अर्थ का अन्वय किसी तरह नहीं हो सकता। अतः इस विशेषण के साथ 'मृगाक्षिणी' की तटस्थता ही हो जाती है—यह उनके साथ किसी तरह नहीं जुड़ सकता। और उसके साथ भी उसका जुड़ना कबि को दृष्ट था। फलतः यहाँ 'अभव्यमतसम्बन्ध' दोष है। इतने पर भी यदि आप विभक्ति बदलकर अन्वय कर भी दें, तथापि 'भग्नप्रकमता' (दो चरणों में 'मृगदशाम्' पष्ठ्यन्त होना और एक में प्रथमान्त होना) एवं 'असंप्लुता' (उपलब्धावकपन) ये दोष रह ही जाते हैं। अतः यह पद्य किसी अभ्युपगम जन का ही बनाया हुआ है। शीघ्रतया ने 'भ्रान्तिजलङ्काराभा' मात्र को लेकर इस पद्य को उदाहरणरूप से अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया है।

सर्वस्वकारोष्णं लक्षण परीक्षते—

यत्त्वलङ्कारसर्वस्वकृता लक्षितम्, 'सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' इति तत्र । प्रागुक्ते संशयालङ्कारे बह्यमाणायामुत्प्रेक्षायां चातिप्रसङ्गात् । प्रतीतिपदस्य निश्चयपरत्वे रूपकवित्तावतिप्रसङ्गात् । विषयतावच्छेदकानवगाहित्वेन निश्चयो विशेषणीय इति चेत्, विशेष्यताम् । तथाप्यतिशयोक्तिवित्तावतिप्रसक्तिरवारितैव । अनाहार्यत्वेन निश्चयविशेषणत्वे पुनरस्मदुक्त एव पर्यवसितिः, मतुब्धार्थासङ्गतिश्च ।

'सादृश्याद्वस्त्वन्तरे बस्त्वन्तरस्य प्रतीतिर्भ्रान्तिमान्' इत्यर्थक मूलोक्तं सर्वस्व-कारोष्णं लक्षण न सम्यक्, तत्रत्यप्रतीतिपदस्य ज्ञानसामान्यार्थकत्वे संशयालङ्कारे उत्प्रेक्षा-लङ्कारे चातिव्याप्ते, तत्रापि सादृश्यमूलिकाया बस्त्वन्तरे बस्त्वन्तरस्य 'प्रतीति' सत्त्वात्, तत्रत्यप्रतीतिपदस्य निश्चयार्थकत्वे संशयसम्भावनारूपयोस्तयोरेतिव्याप्तेर्वारणोऽपि रूपकस्य वित्तावति (ज्ञाने) अतिव्याप्तेस्तादवस्थ्याच्च । उपमेयतावच्छेदकाविषयको निश्चय इति तात्पर्ये वर्णमाने रूपकवित्तावत्यतिव्याप्तिर्यद्यपि वारिता भवति, तथापि अतिशयोक्तिवित्तावति या तिष्ठत्येव, तत्र उपमेयतावच्छेदकानवगादिनो निश्चयस्य वर्तमानत्वात् । अनाहार्यो निश्चय इत्याशयोपवर्णने यद्यपि सोऽपि दोषो निरस्तो भवति, तथापि तदा न सर्वस्वकारस्य विषयोऽपि तु मर्मैव, अस्मदुक्तलक्षण एव तदुक्ते पर्यवसानात् । किंच 'भ्रान्तिमान्' इत्यपरममुपवर्णनस्यासङ्गतिस्तथापि, भ्रान्तिमानस्यैव तल्लक्षणविषयत्वादिति भावः । भागेशस्तु

‘यनाहार्यत्वेन’ इति प्रतीकमुपादाय ‘नन्वेनमपि कथमतिशयोक्तावतिव्याप्तिवारणम् । तत्स्यामनाहार्याभेदज्ञानस्यैव सर्वसंमतत्वात् प्रागुक्तत्वाच्चेति चेत्, चिन्त्यमेतत् ।’ इत्याचष्टे ।

सर्वस्वकारकृत लक्षण की आलोचना की जाती है—यत् इत्यादि । ‘अलङ्कारसर्वस्वकार’ ने जो ‘अन्तिमान्’ का ‘सादरयात्—अर्थात् सादर के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति को ‘आन्तिमान्’ अलङ्कार कहते हैं’ यह लक्षण किया वह ठीक नहीं है । कारण, इस लक्षण की पूर्वोक्त ‘सन्देहालङ्कार’ और आगे कहे जानेवाले ‘उपेक्षालङ्कार’ में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि सन्देह तथा सम्भावना भी प्रतीतिरूप है । यदि आप कहें कि—‘प्रतीति’ शब्द का अर्थ यहाँ ‘निश्चय’ है—बेशक ज्ञान नहीं, अतः यह दोष नहीं हो सकता, तो तथापि रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी । आप कहेंगे—इस अतिव्याप्ति का कारण करने के लिये ‘निश्चय’ में विषयतावच्छेदज्ञानबगानी—अर्थात् उपमेयतावच्छेदक (मुख्य भाग) को जो विषय नहीं बनाता हो—यह विशेषण जोड़ दें, तो जोड़िए, पर तब भी अतिशयोक्तिज्ञान में होनेवाली अतिव्याप्ति का कारण वहीं ही हो सकेगा, क्योंकि वहाँ उपमेयतावच्छेदक का अवगमन वहीं किया गया रहता है । अब यदि आप ‘निश्चय’ में ‘अनाहार्य’ विशेषण लगाना चाहें, तब दोष का कारण तो होगा, पर आपके लक्षण की समाप्ति भी तब मेरे लक्षण में ही हुई । फलतः सर्वस्वकार के लक्षण में इतनी न्यूनता है ही । और इतना सब करने पर भी यह लक्षण ‘आन्तिमान्’ का नहीं, अपितु ‘आन्ति’ का हुआ, अतः ‘मनुष्य (मान्)’ का अर्थ तब भी असंगत ही रहा ।

भ्रान्त्यलङ्कारे साधारणधर्मस्थिति विचारयति—

तत्र ‘कनकद्रव्यकान्तिकान्तया’ इत्यत्र सीतातद्वितोषिन्व्यप्रतिबिम्बभाषः । युतत्वमिलितस्वयोश्च शुद्धसामान्यरूपता ।

‘रामं स्निग्धतरस्यामं विलोक्य वनमण्डले ।

धाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः ॥’

अत्र स्निग्धत्वस्यामत्वयोरनुगामित्वम् ।

तत्रेति । लक्ष्मीदाहरणानां मध्ये इत्यर्थः । भ्रान्त्यलङ्कारेऽपि साधारणधर्मो प्राग्वदनेकविधा भवन्ति । तत्र ‘वनमण्डले’ति पद्ये सीतातद्विल्लिते बिम्बप्रतिबिम्बभाषापन्ने राती साधारणधर्मो प्रतिपद्यते । युतत्वमिलितत्वे च शुद्धसामान्यरूपे वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्ने इति भावः । अनुगामिधर्मोदाहरणमाह—राममिति । शिखावला मयूरा, वनमण्डले, स्निग्धतरस्यामं चित्रकणमय च रयामलम्, रामम्, विलोक्य, धाराधरधिया नेत्रभ्रमेण, धीरं यथा स्यात्तदा नृत्यन्ति स्म ननृतिरे इत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । स्निग्धत्वं रयामत्वञ्च रामधारधरयोरनुगामिनो साधारणधर्मस्थिति भावः ।

‘आन्ति’ अलङ्कार में साधारणधर्म की स्थिति क्या है इसका विचार अब किया जाता है—यत्र इत्यादि । ‘आन्ति’ अलङ्कार में भी साधारणधर्म पूर्ववत् अनेक प्रकार के रहते हैं । उनमें से ‘कनकद्रव्य—’ इस पूर्वोक्त उदाहरण में ‘सीता’ और ‘विद्युत्’ में विषय प्रतिबिम्बभाव है और ‘युतत्व’ तथा ‘मिलितत्व’ में शुद्ध सामान्यरूपता—अर्थात् वस्तु-प्रतिवस्तुभाव है । ‘रामं स्निग्धतरस्यामम्—अर्थात् मयूर, वन में, अतिस्निग्ध रयाम-धरवाले रामचन्द्र को देखकर, मेघ के छम से, मन्द-मन्द, नाचने लगे ।’ इस पद्य में ‘स्निग्धता’ और ‘रयामता’ ये दो धर्म अनुगामी हैं—अर्थात् ये दोनों धर्म पृक्क रूप से राम तथा मेघ में अन्वित होनेवाले हैं ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकाया आन्तिमदलङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

भ्रान्तिमदलद्वारनिरूपणानन्तरमिदानीमुल्लेखालद्वारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अथोल्लेखः—

उल्लेखालद्वारनिरूपणं प्रारब्धं वेदितव्यमिति भावः ।

‘भ्रान्तिमान्’ अलंकार के निरूपण के बाद अब ‘उल्लेख’ अलंकार के निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि । अब ‘उल्लेखालद्वार’ का निरूपण आरब्ध होता है ।

तल्लक्षणमादौ वृत्ते—

एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद्यनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः ।

अनेककर्तृकम्, अनेकप्रकारकम् एकविशेष्यकम् यत्तत्कारणकं ज्ञानम् स उल्लेख इति भावः ।

सर्वप्रथम ‘उल्लेख’ का लक्षण किया जाता है—एकस्य इत्यादि । एक वस्तु का, अनेक ज्ञाताओं द्वारा अनेक प्रकार का तत्कारण ज्ञान ‘उल्लेख’ कहलाता है—अर्थात् उस ज्ञान को ‘उल्लेख’ कहा जाता है जिसके कर्त्ता एक से अधिक व्यक्ति हों और जिसमें विशेष्य एक तथा विशेषण अनेक हों एवम् जो सकारणक हो ।

तद्वशे योजिताना विशेषणानाम् फलान्याचष्टे—

‘अथर्वं विम्बमाज्ञाय मुखमञ्जं च तन्वि’ ते ।

कीराश्च चञ्चरीकाश्च विन्दन्ति परमां सुदम् ॥’

अत्र कीराश्चञ्चरीकाभ्यामधरपदनयोर्विम्बत्वेन पद्मत्वेन च महये भ्रान्तिरूपेऽतिप्रसङ्गवारणायैकस्य वस्तुन इति । ‘धर्मस्यात्मा भागचेर्य क्षमायाः’ इत्यादि-मालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वकं ग्रहणविशेषणम् ।

‘नृत्यस्वद्वाजिराजिप्रखरखुरपुटप्रोद्धतैर्धूलिजालै-

रालोफालोकभूमौधरमतुलनिरालोकभावं प्रयाते ।

विभ्रान्तिर्यासयन्ते रजनिरिति धिया भूतले सर्वलोकाः

कोकाः क्रन्दन्ति शोकानलविकलतया किं च नन्दन्त्युलूकाः ॥’

अत्र धूलिजालरूपस्यैकस्य वस्तुनोऽनेकैर्लोककोकोलूकैर्ग्रहीतृभिरेकेनैव रजनीत्वरूपेण प्रकारेण ग्रहणमिति तत्रातिप्रसङ्गवारणायानेकप्रकारकमिति । ग्रहणमिति ग्रहणसमुदायो विवक्षितः । एकत्वं जातीयं । अनेकग्रहीतृरूपैकस्य ग्रहणस्याप्रसिद्धे । तेन द्वयोर्कर्तॄणां वा ग्रहणं निमित्तवशादिति तु वस्तु-कथनमात्रम् ।

विशेष्यभूते वस्तुनि एकविशेषणस्य फलमाह—अधरमिति । हे तन्वि कुर्यात्ति । ते, अधरम्, विम्बम्, आश्रयं ज्ञान्वा, कीरा शुक्रा, तथा, ते, मुखम्, अञ्जम्, कमलम्, आश्रय, चञ्चरीका भ्रमरा, च, परमाम् उत्कृष्टम्, सुदम् इर्यम्, विन्दन्ति लभन्ते इति तदर्थः । उपपादयति—अत्रेति । ‘अधरम्—’ इति पदे कौरकर्तृकम् अधरविशेष्यकं विम्ब-त्वप्रकारकम् एकम्, द्वितीयं चञ्चरीकर्तृकम्, मुखविशेष्यकम् अञ्जत्वप्रकारकम्, ज्ञान वर्णितम् । ज्ञान्द्वयमप्येतद् भ्रमरूपम् भ्रान्तिमदलद्वारताप्रयोजकम् । तत्र प्रवृत्तोल्लेख-लक्षणं नानिव्याप्नोति तल्लक्षणे विशेष्यभूतस्य वस्तुनो विशेषणमेकत्वमुपात्तम् । उपात्ते च तस्मिन् प्रवृत्तवर्णितज्ञानविशेष्यो ‘अधरमुखयोर्वस्तुद्वयात्मकतयाऽतिव्याप्तिर्वारिता भवतीति भावः । अत्रोऽनेककर्तृकस्य ग्रहणविशेषणस्य योजने फलमाह—धर्मस्यात्मा इति । ‘धर्मस्यात्मा—’ इति मालारूपकेऽपि राजरूपैकविशेष्यकम् धर्मात्मत्वायानेकप्रकारकं ज्ञान वर्णितमन्तीति तत्रोल्लेखलक्षणातिव्याप्तिर्न भवदिति अनेककर्तृकत्वार्थकम् ‘अनेकैर्ग्रही-

तृभिः' इति ज्ञान-विशेषणं योजितम् । तथा च न तत्रातिव्याप्यत्वकाशः, सत्रत्यज्ञानस्यैक-
कर्तृत्वात् । नन्वेवं बहुवचनान् आदिकर्तृज्ञान एव लक्षणसंगतिः, न द्विकर्तृज्ञाने इति
चेन्न, बहुवचनेनैवाविनशितत्वात्, प्रकृत्यंशतश्चैवापिबन्तुरेव लभादिति भावः । अनेक-
प्रकारकत्वस्य ग्रहणविशेषणस्य निवेशे फलमुपदर्शयति—नृत्यदिति । हे राजन् । नृत्यताम्
मण्डलाकारेण, भ्रमताम्-स्वदाजिनाम् त्वदीयाश्चानाम्, राजे समूहस्य, प्रखरेस्तीक्ष्णैः
खुरपुटैः खुराप्रभाभिः, श्रोतृकैरुत्पाद्योच्छ्वासितैः, धूलिजालैः रजःपुञ्जैः, आलोकालोकभूमी-
धरम् लोकालोकनामवर्णतपर्यन्तम्, भूतले, अतुलनिरालोकभावम् अत्यन्तनिष्प्रकाशभावं,
प्रयाते गते संति, रजनि रात्रिः, समागता, इति धिया, सर्वे लोकाः मनुष्याः, विश्रान्तिम्
विश्रमम्, कामयन्ते इच्छन्ति, फोका चमयाकाः, शोकामलेन विकलतया, मन्दन्ति, किं च,
सत्तुष्टा, नन्दन्ति प्रसीदन्तीत्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । नृत्यदितिपदवर्णिते लोक-
काकौलूकरूपानेकव्यक्तिवर्तुके धूलिजालरूपैकविशेष्यके रजनीत्वरूपैकप्रकारके हानेऽति-
प्रसङ्गनिरासायानेकप्रकारकमिति ग्रहणविशेषणमिति भावः । लक्षणघटकग्रहणपदं व्याचष्टे—
ग्रहणमिति । ग्रहणपदस्य ज्ञानसमूहोऽर्थो बोध्यः । नन्वेव ग्रहणानीति बहुवचनान्तं पदं
प्रयोज्यमुचितमित्यत आह—एकत्वमिति । ज्ञानत्वज्ञानवच्छिन्नबोधनार्यैकवचनान्तोऽपि
प्रयोगो न दोषावह इति भावः, एक्यवचनान्तस्य ग्रहणपदस्य ग्रहणसमूहस्योऽर्थो नोपरिष्ठाद्
व्याख्येयोऽपि तु प्रकृते स एवोचित इत्याह—अनेक इति । एक्यस्तुविरोध्यकत्यानेकप्रका-
रकस्येत्यादि । ज्ञातृभेदेन ज्ञानभेदस्य नित्यसिद्धतया अनेकज्ञातृकैकज्ञानस्याप्रसिद्धत्वाद्
ग्रहणपदस्य प्रकृते ज्ञानसमूह औचित्यबलबद्ध एवार्थ इति भावः । फलितमाह—तेनेति ।
अनेकग्रहीतृकैरुपग्रहणस्याप्रसिद्धत्वेन हेतुनेति तदर्थः । 'ग्रहीतृभिः' इत्यत्र बहुवचनस्यापिद-
क्षितत्वस्योक्ततया । द्विग्रहीतृकस्यलासुरोधेनाह—द्वयोरिति । ज्ञानयोरिति भावः । द्वयधिक-
ग्रहीतृकस्यलासुरोधेनाह—बहुनामिति । ज्ञानानामिति भावः । ग्रहणमिति । बोध इत्यर्थः ।
एकवचनान्तादपि ग्रहणपदादिति भावः । भवतीति शेषः । ननु 'निमित्तवशात्' इति
विशेषणं लक्षणोऽव्याप्यतिव्याप्तिनिरासाय अन्यथा वा ? आद्ये ज्ञतो न तत्कलोपन्वात् ?
द्वितीये व्यर्थविशेषणघटितत्वं लक्षणस्येत्यत आह—निमित्तेति । अव्याप्यतिव्याप्तिनिरास-
क्याभावेऽपि न निमित्तं ज्ञानं भवतीति वस्तुस्थितिस्फोरणाय सार्थकतया न व्यर्थ-
विशेषणघटितत्वं लक्षणस्येति भावः । अत्र "न च कीर्तौ विस्मृतिमत्यां ते मृणादक्षीर-
शङ्खिनः । द्वयेऽपि नागास्तन्वन्ति जिह्वान्तोल्लोलं मुहुः ॥" इति भ्रान्तिमदुदाहरणे एकस्या
एव कीर्तनेनेन कुम्भभुवनरूपेण मृतीया मृणादक्षीररूपायानेकप्रकारेणोत्प्लेखनमस्तीति,
तत्रातिव्याप्तिनिरासाय निमित्तभेदादित्यर्थं निमित्तवशादित्यावश्यम् । तत्र कीर्तिगतं
धावत्येकमेवोल्लेखद्वयेऽपि निमित्तमिति वाच्यम् । स्वस्वप्रियाहारलिप्धारूपनिमित्तभेदस्यापि
तत्र रात्येन संमाहत्वादिति भावः ।" इति नागेशः ।

लक्षण में लगाए गए निम्नलिखित विशेषणों के फल दिखलाने के लिये कहा जाता है—अधरम् इत्यादि । "अधरम्-अर्थात् हे कृष्णहि ! तेरे अधर को विग्नफल और मुख को कमल समझकर सुगो तथा मीरे परम हर्ष को प्राप्त करने हैं ।" इस पंख में दो ज्ञानों का वर्णन है । एक वह जिसमें सुगो द्वारा अधर को विग्नफल समझा गया है और दूसरा वह जिसमें मीरों द्वारा मुख को कमल समझा गया है । ये दोनों ही ज्ञान भ्रमात्मक होने के कारण 'भ्रान्तिमान्' अलंकार के विषय हैं । इन ज्ञानों के समूह में प्रयुक्त 'उल्लेख-लक्षण' की अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'एक वस्तु का—अर्थात्—एक विशेष्य' यह विशेषणभाग जोड़ा गया है । उस विशेषण के जोड़ने पर अतिव्याप्ति

हसलिये नहीं होती कि यहाँ एक वस्तु का नहीं, अपितु अन्तर तथा सुख इन दो वस्तुओं का ज्ञान वर्णित है। 'धर्मस्यात्मा—अर्थात् यह राजा धर्म की आत्मा है, समा का भाग है' इत्यादि पूर्वोक्त मालारूपक में अतिव्याप्ति-वारण के लिये लक्षण में 'अनेक ज्ञाताओं द्वारा (अनेककर्तृक) यह ज्ञान का विशेषण लगाया गया है। उक्त मालारूपक में ज्ञाता एक है, अनेक नहीं, अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि—'अनेकैर्ग्रहीतृभिः' इस मूल पद में बहुवचन वच्चा (लक्षणकार) का अभीष्ट नहीं है, अतः एक से अधिक ज्ञाता का होना ही अपेक्षित है और एक से अधिक ज्ञाता दो ज्ञाताओंवाले स्थल में एवम् बहुत ज्ञाताओंवाले स्थल में समानरूप से हो सकता है। फलतः दोनों ही स्थलों पर उल्लेखालंकार होगा। 'नृत्पक्षद्वान्नि—अर्थात् हे राजन्! आपके अधो के समूह के तीक्ष्ण धुराग्रभागों से उड़ते धूलि समूहों द्वारा, 'लोकालोक' पर्वत पर्यन्त—अर्थात् समस्त संसार में—ऐसा प्रकाश का अभाव हो गया कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती। अतः 'रात्रि हो गई' यह समस्तक पृथिवीतल पर सब लोग विभ्रम चाह रहे हैं, शोकान्नि से विकल होने के कारण चक्रे रो रहे हैं और उल्लू भानन्द मना रहे हैं।' यहाँ धूलि-समूहरूप एक वस्तु में लोक, चक्राक और उल्लू इन अनेक ज्ञाताओं द्वारा किए जाने वाले रात्रिरूप एक-विषयक-ज्ञान में अतिव्याप्ति वारणार्थ लक्षण में 'अनेकप्रकारक' यह ज्ञान का विशेषण लगाया गया है। इस विशेषण के लगाने पर अतिव्याप्ति इसलिये नहीं होती कि यहाँ प्रकार (विशेषण) एक ही (रात्रिश्च) है, अनेक नहीं। 'ज्ञान' शब्द से लक्षण में 'ज्ञान का समूह' कहना अभीष्ट है। कारण, अनेक ज्ञाताओं द्वारा किया जानेवाला ज्ञान एक हो ही नहीं सकता—अर्थात् ज्ञाता के भेद से ज्ञान भी भिन्न हो ही जाता है। आप कहेंगे—तब 'ज्ञान' शब्द में एकवचन क्यों लिखा गया? तो इसका उत्तर यह है कि एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिये एकवचन का विधान शाब्दशास्त्र में किया गया है, वही एकवचन यहाँ है। अतः इस एकवचनान्त 'ग्रहण' पद से दो अथवा दो से अधिक ज्ञानों का ग्रहण समझना चाहिए। 'सकारणक' यह लक्षण का भाग तो केवल वस्तुस्थिति-कथन है—अर्थात् यह विशेषण अतिव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये नहीं, किन्तु ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये है।

उदाहरण प्रस्तौति—

उदाहरणम्—

प्रस्तुत इति भावः ।

उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'नरैर्वरगतिप्रदेत्यथ सुरैः स्वकीयापरो-

त्युदारतरसिद्धिदेत्यखिलसिद्धसङ्घैरपि ।

हरेस्तनुरिति श्रिता मुनिभिस्तसङ्घैरियं

तनोतु मम शं तनोः सपदि शन्तनोद्धना ॥'

वरगतिं ब्रह्म-सुखप्राप्तिं तत्प्रदा, इयम्, इति बुद्ध्या, नरैः, स्वकीयापरा मन्दा-
फिनी इति धिया, सुरैः देवैः, उदारतरसिद्धिदा अत्युत्कृष्टसिद्धिदायिनी, इति धिया,
अखिले सर्वे सिद्धसङ्घे, हरेस्तनु विष्णुस्वरूपा, इति धिया, अस्तसङ्घे विषयविमुखैः,
मुनिभिः, श्रिता सेविता, इयम् अयमो नरीभूता, शन्तनोः तन्नामकस्य राजर्षेः, अग्रना-
पत्नी, गच्छेति यावत्, मम, तनो शरीरस्य, शं कल्याण, तनोतु विस्तारयतु इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नरैः इत्यादि। कवि गङ्गा की स्तुति करता है—

श्रेष्ठ गति (मुक्ति) देने वाली है इस धारणा से मानवों द्वारा, अपनी नदी है इस धारणा से देवताओं द्वारा, बहुत बड़ी सिद्धि देने वाली है इस धारणा से सभी सिद्ध-समूहों द्वारा, भगवान् विष्णु की शरीररूपा है इस धारणा से आसक्ति-रहित मुनियों द्वारा, सेवित यह शान्तनु की पत्नी (श्री गङ्गा) मेरे शरीर का कल्याण करे ।

उपपादयति—

अत्र च लिप्साद्विभ्यां निमित्ताभ्यामस्त्यनेकग्रहीतुकवरगतिप्रदात्वाद्यनेक-प्रकारकग्रहणसमुदायो गङ्गाविषयकरतिभावोपस्कारकः ।

लिप्सेति । लाभेच्छेत्यर्थः । तादृशग्रहणसमुदायस्यालङ्कारत्वायाह—गङ्गेति । कवि-निष्ठेत्यादिः । 'नरैर्वरगतिप्रदा-' इति पद्ये 'नर-सुर-सिद्ध-मुनि-रूपा अनेके शातारः गङ्गा-रूपमेकं वस्तु धरगतिप्रदात्वस्वकीयापगत्योदारतरसिद्धिदात्वहरितनुत्वात्मकैरनेकैः प्रवरैः' लिप्साद्विरूपाभ्यां कारणभ्याम् आगन्तीति वर्णितम् । तेषां तानि ज्ञानानि (तादृशज्ञान-समुदाय) कविनिष्ठं गङ्गाविषयकं रतिभाव पद्यप्रधानव्यङ्ग्यम् पुष्पन्ति, अतः स ज्ञान-समुदाय उल्लेखालङ्काररूपं सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादनं किंवा जाता है—अत्र च इत्यादि । 'नरैर्वर-' इस पद्य में ऐसा ज्ञान समूह वर्णित है जिसका कारण अपनी-अपनी लिप्सा (छान की इच्छा) तथा अपनी-अपनी रुचि है, और जिसके कर्ता (ज्ञाता) नर, सुर, सिद्ध तथा मुनि-रूप अनेक व्यक्ति हैं, यवम् जिसमें उल्लेख गति देनेवाली होना आदि अनेक प्रकार (विशेषण) हैं, इसी तरह जो गङ्गा रूप एक वस्तु के विषय में हुआ है—अर्थात् जिसमें विरोध्य एक गङ्गा ही है । यह ज्ञान-समूह यहाँ 'उल्लेखालङ्कार'-रूप होता है, क्योंकि वह (ज्ञान-समूह) पद्य से प्रधानतया अभिगम्य होना वाले कविगत गङ्गाविषयक रतिभाव का उपस्कारक (पोषक) है ।

विरोधमाह—

शुद्ध पदान्नायमुल्लेखालङ्कारः, रूपकाद्यभिभवात् ।

उल्लेखालङ्कारो द्विविधः शुद्धः सङ्कीर्णश्च, तत्रालङ्कारान्तराभिधयो शुद्धः । यथा 'नरैर्वर-गति-' इति श्लोके । अत्र रूपकायलङ्कारान्तराभिधयोऽल्लेख इति भावः ।

उदाहृत उल्लेख की विलक्षणता सूचित की जाती है—शुद्ध इत्यादि । उल्लेखालङ्कार दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण । उनमें शुद्ध उसको कहा जाता है जिसमें किसी अन्य अलङ्कार का मिश्रण न हो । जैसे—'नरैर्वर-' इस पद्य में भी उल्लेख है वह शुद्ध है, क्योंकि यहाँ रूपक आदि अन्य अलङ्कारों का मिश्रण नहीं है ।

यत्रोल्लेखालङ्कारेऽलङ्कारान्तरयोगो भवति, स सङ्कीर्णः कथ्यते । तादृशमपि लक्ष्यं नालभ्यमित्याह—

सङ्कीर्णोऽपि दृश्यते ।

उल्लेख इति भावः ।

जिसमें अन्य किसी अलङ्कार का मिश्रण पाया जाता हो उसको 'सङ्कीर्ण' उल्लेख कहते हैं । वैसा उल्लेख भी दिखाई पड़ता है ।

तादृशमुदाहरणं निर्दिष्टमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणं निर्दिशति—

'आलोक्य सुन्दरि ! मुखं तव मन्दहासं
नन्दन्त्यमन्दमखिन्दधिया मिलिन्दाः ।

किञ्चालि 'पूर्ण मृग-लाञ्छन-सम्भ्रमेण
चञ्चुपुटं चटुलयन्ति चिरं चकोराः ॥'

हे सुन्दरि ! तब, मन्दहासम् ईषदासशोभितम् (एतच्च दसमुकुलितकमलमाम्यसि-
द्धपर्यम्) मुखम्, आलोक्य, मिलिन्दा भ्रमरा, अरविन्दधिया कमलभ्रमेण, अमन्दम्
अधिकम्, नन्दन्ति आनन्दमनुभवन्ति । किंच हे आलि सखि ! तादृशं तव मुखमालोक्य,
चकोरा पक्षिविशेष, पूर्णस्य रात्रागतस्य, मृगलाञ्छनस्य मृगाङ्गस्य चन्दस्येति यावत्,
सम्भ्रमेण सम्यग् भ्रान्त्या, चिरं कियत्काल यावत्, चञ्चुपुटम्, चटुलयन्ति चपलं पुर्वन्ति
हृदयम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—आलोक्य इत्यादि । हे सुन्दरि ! तेरे मन्द हास-
पुक्त मुख को देखकर, भ्रमर, कमलभ्रम से आत्यधिक आनन्दित होते हैं और हे सखि !
चकोर, पूर्णचन्द्र के भ्रम से, बहुत समय तक चोंचों को चञ्चल बनाते रहते हैं ।

उपपादयति—

अत्रैकैकप्रहरणरूपया भ्रान्त्या समुदायात्मक उल्लेखः सकीर्णः ।

'आलोक्य-' इति पदे मिलिन्दकर्तृकम् मुखविशेष्यक कमलचक्रकारकम् एकम् अपरञ्च
चकोरकर्तृकम् मुखविशेष्यकम् चन्द्रत्वप्रकारकम् ज्ञान वर्णितम् । ज्ञानद्वयमप्येतत् भ्रमरहपम्-
अन्यस्मिन् पदार्थेऽन्यपदार्थावगाहित्वात् । तथा च भ्रान्तिमदलङ्कारद्वयमत्र सिद्धयति । किंतु
तादृशभ्रमद्वयसमूहात्मक उल्लेखालङ्कारोऽप्यत्र भवति, लक्षणाकान्तत्वात्—अर्थात् मुख-
रूपैकधर्मिक-चन्द्रत्वकमलत्वात्मकानेकप्रकारकभ्रमरचकोररूपानेककर्तृक-ज्ञान-समूहोऽत्र वर्णित
एवेति न कस्यापि विप्रतिपत्तिरुल्लेखालङ्कारे । निमित्तश्चात्र स्वप्रियाहारलिप्ता । इत्यत्र
भ्रान्तिमदलङ्कारमिश्रितोऽल्लेखालङ्कारोदाहरणरूपस्य पद्यस्य सुस्पष्टमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'आलोक्य-' इस पद में दो ज्ञान वर्णित
रूप हैं—एक वह जिसमें भ्रमर कर्ता है, मुख विशेष्य है और कमलत्व प्रकार है,
अर्थात् एक ज्ञान में भ्रमर द्वारा मुख को कमल समझा गया है और दूसरा वह जिसमें
चकोर कर्ता है, मुख विशेष्य है तथा चन्द्रत्व प्रकार है, अर्थात् दूसरे ज्ञान में चकोर
द्वारा मुख को चन्द्र समझा गया है । ये दोनों ज्ञान अन्व में अन्यविषयक होने से भ्रम-
रूप हैं, अतः ये दोनों भ्रमात्मक ज्ञान दो पृथक्-पृथक् 'भ्रान्तिमान्' भङ्गकार-रूप हो जाते
हैं । और इन दोनों भ्रमात्मक ज्ञानों का समूह तृतीय भङ्गकार 'उल्लेख'-रूप होता है,
क्योंकि अपने-अपने प्रिय भोजन के लाभ की इच्छा रूप कारण से मुखरूप एक वस्तु का
भ्रमर तथा चकोर-रूप अनेक व्यक्ति द्वारा कमल तथा चन्द्रमा-रूप अनेक प्रकार से ज्ञान-
समूह यहाँ स्पष्ट है । फलतः यह 'उल्लेख' 'भ्रान्तिमान्' से मिश्रित है ।

भ्रान्तिसकीर्णमुल्लेखमुदाहृत्यापद्धतिसकीर्णं तमुदाहरति—

'वनितेति वदन्त्येता लोका- सर्वे वदन्तु ते ।

यूनां परिणता सेय तपस्येति मतं मम ॥'

सर्वे लोका, एताम्, वनिता नायिका, इति वदन्ति । ते वदन्तु । परन्तु यूना
शुक्लाना, सा लोकोत्तरा, तपस्या, इय परिणता इत्य रूपेणावतीर्णा, इति, मम, मतम्
अस्तीत्यर्थः ।

'भ्रान्ति' मिश्रित 'उल्लेख' का उदाहरण दिखलाकर अब 'अपद्धति'-मिश्रित 'उल्लेख'
का उदाहरण दिखलाया जाता है—वनिता इत्यादि । सब लोग इसे 'छी' कहते हैं । वे
मझे ही कहें, पर मेरा मत तो यह है कि—युवकों की तपस्या इस रूप में परिणत हुई है ।

उपपादयति—

अत्र विषयतावच्छेदकस्य परसम्मतत्वेन निषेध्यतयोपन्यासादपह्नव्या सङ्कीर्णः।

अवच्छेदकस्येति । वनितात्वस्येत्यर्थः । मिथ्येति । आर्जिकेत्यादिः । 'वनिता-' इति पदे एतदर्थविशेष्यः । वनितात्व तपस्यात्वप्रकारक तत्पदार्थमप्यपदार्थप्रतीक शानसमूहो वर्णित इति स 'उल्लेखः', तस्मिन् उपमेयतावच्छेदकस्य मुख्यस्य परसम्मततया वर्णना-भिप्रेतस्यार्थः फलितत्वेन सम्पद्यमानस्य अपह्नव्यलङ्कारस्य मिश्रणमिति भवतीदं पदमपह्नु-तिसंकीर्णोत्प्रेषोदाहरणमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'वनिता-' इस पद में 'पताम्' पदार्थ को लोग वनिता समझते हैं और मैं तपस्या समझता हूँ, ऐसा वर्णन है जिससे एक वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न-प्रकारक ज्ञान फलित होता है, अतः यह 'उल्लेख-लङ्कार' होता है जिसमें उपमेयतावच्छेदक-वनितात्व को दूसरों का माना हुआ बताने के कारण उसका भ्रमः निषेध फलित हो जाने से सिद्ध होने वाले अपह्नुति लङ्कार का मिश्रण है ।

दीक्षितोक्तमनूय निरस्यति—

अप्ययदीक्षितास्तु—“एवमपि यदि—

‘कान्त्या चन्द्रं विदुः केचित्सौरभेणाम्बुजं परे ।

वक्त्रं तव वयं ब्रूमस्तपसैक्यं गतं द्वयम् ॥’

इत्यपह्नवोदाहरणविशेषेऽतिव्याप्तिः । शङ्कया, तदानीमनेकधोल्लेखनं निषेधा-स्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् । तत्राद्योल्लेखनद्वयं परमतत्त्वोपन्याससामर्थ्यादस्य-माननिषेधमिति नातिव्याप्तिः” इत्याहुः । तत्र । ‘द्विविधश्चायमुल्लेखः शुद्धोऽसङ्का-रान्तरसङ्कीर्णश्च’ इत्युक्त्वा “श्रीकण्ठजनपदवर्णने—‘यस्तपोवनमिति मुनिभिर-गृह्यत’ इत्यादौ शुद्धः, ‘यगनगरमिति शत्रुभिः, बज्रपक्षरमिति शरणागतैः’ इत्यादौ भ्रान्तिरूपकादिसङ्कीर्णः” इति स्वयमेवोक्तत्वात् । इहाप्यपह्नव्या सङ्कीर्णं ल्लेख इत्यस्य मुख्यत्वात् । यदि चैवंविधापह्नविवारणाय निषेधास्पृष्टत्वं विशेषण-मुच्यते तदा—

‘कपाले मार्जारः पय इति करालोद्दिशरिण-

स्तुक्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति ।

रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति

प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥’

इति त्वदुदाहृतभ्रान्तायतिप्रसङ्गः कथं नाम वार्येत । मार्जाराद्यनेकप्रतीकान-नेकधोल्लेखनस्य तत्रापि सत्त्वात् । स्वस्वप्रियाहारलिप्सारूपनिमित्तभेदाच्च । तस्मात् सङ्कीर्णनिवारणाय यत्नोऽनर्थक एव ।

एवमपीति । उक्तविशेषणदानेऽपीत्यर्थः । आन्त्येति । नापि प्रथि नायकस्योक्ति— केचित् जना, तव, वक्त्रम् मुख्यम्, कान्त्या कान्तिमत्तया कारणेन, चन्द्रं, विदुः जानन्ति, परे अन्ये जना, तव, वक्त्रं, सौरभेण सुगन्धेन हेतुना, अम्बुजं कमलम्, विदुः । वयं तु, तपसा तपस्यावलेन, ऐक्यं मिश्रणम्, गतम्, द्वयम् चन्द्रवमलमत्तकं युगलम्, तव, वक्त्रम्, ब्रूम कथयाम, इत्यर्थः । अतिव्याप्तिरिति । उल्लेखलक्षणस्येति भावः । तत्रेति । ‘कान्त्या—’ इति पदे इत्यर्थः । उल्लेखनद्वयमिति । ग्रहणद्वयमित्यर्थः । चन्द्रत्वज्ञानं वमलत्व-

ज्ञानमिति यावत् । परमतत्त्वोपन्यासेति । 'परे विदु' इत्यादिकथनेत्यर्थः । गम्यमानेति । व्यज्यमानेत्यर्थः । 'कान्त्या—' इति पद्येऽपहृत्यलङ्कारोदाहरणेऽतिव्याप्तिनिरासायोल्लेखालङ्कारलक्षणे निषेधास्पृष्टत्वं विशेषणं देयम् । दत्ते च तत्र विशेषणं न तत्रातिव्याप्यवसरः, मुखविशेष्यकं चन्द्रत्वप्रकारकम् कान्तिहेतुकम् किंपदार्थकर्तृकम् एकम् ज्ञानम्, मुखविशेष्यकं कमलत्वचन्द्रत्वोभयप्रकारकम्—पूर्वोक्तगुणद्वयहेतुकम् अस्मत्पदार्थकर्तृकं तृतीयं ज्ञानमिति ज्ञानत्रयस्योल्लेखत्वप्रयोजकस्य सत्त्वेऽपि प्रथमज्ञानद्वयस्य परमतत्त्वोपन्याससामर्थ्याभिव्यज्यमाननिषेधास्पृष्टत्वादिति पूर्वपक्षिणो दीक्षितस्याशयः । निरस्यति—तथेति । तत्र हेतुमाह—द्विविध इत्यादिना । श्रीकण्ठेति । शुद्धस्यैकमुदाहरणमुक्त्वाऽन्यदाह—यथा वा हर्षचरिते इत्यादि । यस्तपोवनमिन्यादिगद्यम् । अष्टक्यतेत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः । यच्छब्दार्थः श्रीकण्ठजगत्पदः । शुद्ध इति । अलङ्कारान्तरस्याप्रसङ्गादिति भावः । यमनगरत्वादीनां तादृश्यानुभवोचरतयाऽन्वये भ्रान्तीति । यदि तेषामुपरजन्तानामात्रेणान्वयस्तदाह—एवमेति । ततः प्रकृते किमायातमिन्याह—इहापोति । दीक्षितोचिनिरासे हेत्वन्तरमाह—यदि चेति । एवविधेति । विलक्षणेत्यर्थः । कपाले इति । चन्द्रकरवर्णनमिदम्—'मार्जार' विडाल, पयःकुम्भम्, इति बुद्ध्या, कपाले तत्र स्थितान्, शशिन चन्द्रस्य, करान् निरणान्, लेखि आत्वादयति, करो गज', विसम् मृणालम्, इति बुद्ध्या, तद्विच्छिन्नप्रोतान् वृक्षविवरपातिन, शशिन करान्, सङ्कलयति सचिनेति, चनिता नायिसा, अपि, रतान्ते सम्भोगसमाप्तौ, अंशुकम् धवल वसनम्, इति बुद्ध्या, तत्पस्यान् शय्याप्रसृतान्, शशिन करान्, हरति पृच्छति । अहो आश्चर्यम् । प्रमया कान्त्या, मत्त, चन्द्र', इदं परिहरयमानम्, जगत् संसारं विभ्रमयति भ्रान्तं करोतीत्यर्थः । त्वदुदेति । त्वया प्रथम मुख्यवैनोदाहृत्येत्यर्थः । तादृशभ्रान्तिविशेषस्यापि नारणान्वयस्यात् । अन्यथा सङ्कीर्णं तत्त्वप्रमादादुदाहृतम् । तद्विविक्तविषयस्यैवादानुदाहर्तुमौचित्यात् । अन्यथाऽलङ्कारभेदो न स्यादिति भावः । अनेकथेति । पयस्त्वादीत्यर्थः । उपमहरति—तस्मादिति । अलङ्कारान्तरमकीर्णोऽप्युल्लेखो यदा दीक्षितं स्वीकृतं उदाहृतम्, तदा 'कान्त्या—' इति पद्येऽपि अपहृति-सङ्कीर्ण उल्लेखः स्वीकर्तव्यस्तै । तन्वीकारे च तद्वारणप्रयासः (निषेधास्पृष्टत्वविशेषप्रक्षेपः) मत्कृतो व्यर्थ एव । किञ्च यदि अपहृतिमह्वीर्ण उल्लेख उल्लेखलक्षणप्रसङ्गेर्वाणीयः, तदा भ्रान्तिसङ्कीर्णोऽपि स ततो वारणीय एव तुल्यत्वात् । तथा च 'कपाले—' इति पद्यगतभ्रान्तिसङ्कीर्णोल्लेखवारणापि उल्लेखलक्षणे त्वया मित्रिद् विशेषण दातव्यमासीत्, न च दत्तम् इति न्यूनता स्यात् । ननु 'कपाले—' इत्यत्र भ्रान्तिरेव वैचला, नोल्लेख इति चेन्न, मार्जारद्यनेकवर्तकस्य शशिकविशेष्यकस्य पयस्य-विसम्भाशुकत्वात्मकानेकप्रकारकस्य स्वरूपप्रियभोजनप्राप्तिलोभहेतुकस्य ज्ञानममुदाहृत्य उल्लेखत्वप्रयोजनस्य सत्त्वेनेल्लेखस्य स्पष्टत्वात् । तथा च तादृशस्थलेषु अलङ्कारान्तरसङ्कीर्ण उल्लेखः स्वीकरणीय एव, न तद्वारणप्रयासो विधेय इति उत्तरपक्षिणो जगन्नाथस्याशयः ।

दीक्षितजी की उक्ति का सण्डन किया जाता है—अप्ययदीक्षितास्तु इत्यादि । दीक्षितजी का कथन है कि—“यदि हम विशेषणों के लगाने के बाद भी 'कान्त्या—' अर्थात् तेरे मुख को कान्ति के कारण कुछ लोग चन्द्र कहते हैं, दूसरे लोग सुगन्ध के कारण कमल कहते हैं, पर हम तो कहते हैं कि—तप करके दोनों एकता को प्राप्त हो गए हैं—अतः तेरा मुख उन दोनों (चन्द्र तथा कमल) का मिश्रणरूप है ।” इस नायिका के प्रति नायक की उक्ति—जो अपहृति-विशेष का उदाहरण है—में अतिव्याप्ति की शका हो तो

‘उल्लेख’ के लक्षण में ‘अनेक प्रकार के उल्लेखन (ज्ञान)’ का ‘निषेध से स्पष्ट जो न हो’ यह एक विशेषण और लगा देना चाहिए। ऐसा कर देने पर उक्त (कान्त्या इत्यादि) पद्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ जो ‘सुख चन्द्र है, सुख कमल है, सुख दोनों का मिश्रण है’ ये तीन ज्ञान वर्णित हुए हैं उनमें से प्रथम दो ज्ञान निषेध से स्पष्ट हैं। कारण, उन दोनों का वर्णन ‘अन्य-भूत’ के रूप में हुआ है जिससे उन दोनों ज्ञानों का निषेध ध्वनित होता है। पर यह कथन दीचिवजी का ठीक नहीं है। कारण, आपने स्वयम् ही ‘यह उल्लेख दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अन्य अलंकार से मिश्रित’ यह कहकर भागे कहा है कि—“श्रीकण्ठ देश के वर्णन में ‘जिसे मुनि लोग तपोवन सम-जाने थे’ इत्यादि में शुद्ध उल्लेख है और ‘शत्रुगण यमराज का नगर समझते थे, शारणागतजन यज्ञ का पित्रा समझते थे’ इत्यादि में आन्ति अथवा रूपक से मिश्रित है।” ऐसी स्थिति में उपरिलिखित पद्य को भी अपहृति से मिश्रित उल्लेख का उदाहरण माना जा सकता है—अर्थात् यह उचित नहीं कि अन्य अलंकार से मिश्रित उल्लेख माना जाय और अपहृति से मिश्रित उल्लेख नहीं माना जाय। दूसरी बात यह कि यदि ऐसी अपहृति के वारणार्थ ‘निषेध से स्पष्ट नहीं हो’ यह विशेषण लगाया जाता है तब—‘कपाले मार्जार’—अर्थात् कपाल (खप्पर) में स्थित चन्द्र-किरणों को दूध समझकर विलाड़ चाट रहा है, घृष के चिबड़ों में ग्वास उक्त चन्द्र-किरणों की झुगल समझकर हाथी समेट रहा है और शय्या पर फैली हुई उन किरणों को साड़ी समझकर सुरत के अन्त में, कामिनी भी उठा रही है। ओह ! प्रभा से मत्त बना यह चन्द्र इस ससार को आन्त बना रहा है।’ इस आपकी उदाहृत आन्ति में उल्लेख की अतिव्याप्ति कैसे वारित होगी ? क्योंकि इसके वारण के लिये तो आपने उल्लेख-लक्षण में कोई विशेषण जोड़ा नहीं है। और जब आप उक्त अपहृति का वारण करने के लिये विशेषण जोड़ते हैं तब आपके लिये इस आन्ति के वारणार्थ भी विशेषण जोड़ना उचित था। यहाँ (‘कपाले मार्जार—’ में) उल्लेख है ही नहीं वह तो आप कह नहीं सकते, क्योंकि मार्जार आदि अनेक व्यक्तिओं द्वारा चन्द्र-किरणरूप एक वस्तु वा दूध आदि अनेक प्रकारक ज्ञान यहाँ भी किया गया है—ऐसे ज्ञानों का किया जाना वर्णित है—और वन भिन्न-भिन्न ज्ञानों का भिन्न-भिन्न कारण भी है—अपने अपने प्रिय भोजन की प्राप्ति की इच्छा। अतः यहाँ भी आन्ति-मिश्रित उल्लेख अवश्य है। ऐसी वृत्ता में यदि आप इसके वारणार्थ कोई प्रयास नहीं करते हैं, तब उक्त अपहृति के वारणार्थ भी प्रयास मत कीजिए। फलतः मिश्रित उल्लेख के निवारण का प्रयास व्यर्थ ही है—जब मिश्रित उल्लेख होता ही है तब फिर उसे हटाने की क्या आवश्यकता है ?

संशयसङ्कीर्णमुल्लेखमुदाहर्तुमाह—

संशयसङ्कीर्णो यथा—

ससन्देहालङ्कारमिथितोल्लेखालङ्कारो यथेति भावः ।

ससन्देह अलंकार से मिश्रित उल्लेखालंकार जैसे—

उदाहरणं समुपन्यस्यति—

‘मानुरभिर्यमो वाऽयं बलिः कर्णोऽथवा शिविः ।

प्रत्यर्थिनश्चार्थिनश्च विकल्पन्त इति त्वयि ॥’

यदि कमपि नृपं प्रति वक्ति—हे राजन् ! प्रत्यर्थिन- शत्रव, त्वयि भवति, ‘मानुः सूर्य, अग्नि, यमो, वा, अयम्’ इति विकल्पन्ते संशेरते तथा अर्थिनो याचकाः, त्वयि, ‘बलिः, कर्ण, अथवा शिविः, अयम्’ इति विकल्पन्ते इत्यर्थः । बलिकर्णशिविनामान् परमदानिनो राजान् प्रसिद्धा पुराणपदौ ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—मानुरित्यादि । कवि किसी राजा को कह रहा है—हे राजन् ! शत्रुजन आपमें सूर्य, अग्नि और यमराज का सदेह करते हैं तथा याचक-जन आप में बलि, कर्ण और शिवि का सदेह करते हैं । बलि, कर्ण और शिवि इतिहास-प्रसिद्ध दानी राजा हो चुके हैं ।

उपपादयति—

अत्र द्वयोर्ग्रहणयोः प्रत्येकं संशयत्वम् समुदायस्य तूल्लेखता ।

ग्रहणेति । ज्ञानेत्यर्थः । समुदायस्य ग्रहणसमुदायस्य । 'मानु—' इति पद्ये त्वद-र्थराजविशेषकम् प्रत्यर्थिकर्तृत्वम्, मानुत्वाग्निव्ययमत्वप्रकारकम् भयजनकत्वहेतुकम् एकं ज्ञानम्, राजविशेषक याचककर्तृत्वम् बलित्व-कर्णत्व-शिवित्वप्रकारकम्, शत्रुत्वहेतुकम् व्यापकं ज्ञानं वर्णितम् तयोः प्रत्येकं संशयरूपम्, एकरिभ्यो धर्मिणि विरुद्धानामाक्षेपव्या-दित्वात् । तयोः ज्ञानयोः समूहस्तु उल्लेखालङ्काररूपः, लक्षणाक्रान्तात्वात् । एवञ्च सप्तदेहालङ्कार-सङ्कीर्णोऽल्लेखालङ्कारोऽदाहरणत्वमस्य पद्यस्य सिद्धयतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अथ इत्यादि । 'मानु—' इस पद्य में दो ज्ञान वर्णित हुए हैं, दोनों ही पृथक् पृथक् संशयरूप हैं, क्योंकि एक में राजा को शत्रुओं द्वारा सूर्य, अग्नि तथा यम इन तीनों में से एक अनिश्चितरूप में समझा गया है और दूसरे में राजा को याचकों द्वारा बलि, कर्ण तथा शिवि इन तीनों में से एक अनिश्चित रूप में समझा गया है । तात्पर्य यह कि ये दोनों ही ज्ञान एक धर्मी में विरुद्ध अनेक कोटियों का अवागमन करने के कारण सदेहामक हैं । फलतः ये दो सप्तदेहालङ्कार होते हैं । पर इन दोनों सदेहामक ज्ञानों का समूह उल्लेखालङ्काररूप हो जाता है, क्योंकि शत्रु तथा याचकरूप अनेक धर्मियों द्वारा राजारूप एकवस्तु का अभिव्यक्ति तथा बलित्व आदि अनेक-प्रकारक जो ज्ञान तद्गुण ही पर्यवस्य होता है । अतः यह पद्य सप्तदेहालङ्कार से मिश्रित उल्लेखालङ्कार का उदाहरण होता है ।

भेदान्तरमाख्यातुं पूर्वोदाहृतेषु पद्येषु भेदस्वरूपं विवृणोति—

अथ च स्वरूपमात्रांल्लेखे स्वरूपोल्लेखः प्रागेव निरूपितः ।

अयं चेति । उल्लेखश्चेत्यर्थः । उल्लेखे इति । सतीति शेषः । एवमप्येव । वस्तुस्वरूपमात्रज्ञाने वर्णिते स्वरूपोल्लेखः स्वीक्रियते, तस्य निरूपणं प्राक् कृतम् इति भावः ।

उल्लेख के अन्य भेद दिखलाने के लिये पूर्वोदाहृत पद्यों में भेद का विवरण करते हैं—अथ च इत्यादि । जब किसी वस्तु के केवल स्वरूप का उल्लेख हो—ज्ञान वर्णित हो—तब स्वरूपोल्लेख होता है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है—पूर्वोदाहृत पद्यों में स्वरूपोल्लेख ही है ।

भेदान्तरस्य स्वरूपं विवृण्वन् तदुदाहरणं निर्देष्टुमाह—

फलानामुल्लेखे फलोल्लेखो यथा—

फलानाम् (प्रयोजनानाम्) उल्लेखे (पूर्वोपाकारे ज्ञाने) सति फलोल्लेखो भवति । स यणेति भावः ।

जब फलों (प्रयोजनों) का उल्लेख हो तब फलोल्लेख होता है, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘अर्थिनो दातुमेवेति त्रातुमेवेति कातराः ।

जातोऽयं हन्तुमेवेति वीरास्त्वां देव ! जानते ॥’

कविवृत्तं प्रति कथयति—हे देव ! ‘दातुम् दानं कर्तुम्, एव, अर्थं, जात’ उत्पन्न’ इति इत्य रूपेण, अर्थिनो याचका, ‘त्रातुम् रक्षितुम्, एव, अर्थं जात’ इति, कातरा-

भीताः, तथा, 'हन्तुम्, एष, अयं जातः' इति, बीराः, त्वा, जानते विदन्तीत्यर्थः । त्वदि-
शेष्यकाणि विभिन्नहेतुकानि नानाविधानि ज्ञानानि तेषां जायन्ते इति भावः । अत्रैवस्य
राजरूपस्य वस्तुभेदार्थि-कात्-चोरात्मकानेकजनकर्तृकाणि दातृत्व-वातृत्व हन्तृत्वप्रकारकाणि
ज्ञानानि वर्णितानीत्युल्लेखत्वं स्पष्टम् । तत्र प्रकाराण्य दातृत्वादीनां फलरूपतया फलोत्पत्ति-
त्वव्यवहार इति सारांशः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अर्थिनो दातृमित्यादि । हे देव ! पाचक लोग
आपको देने के लिये, कायर लोग रक्षा करने के लिये और वीर लोग आपको मारने के
लिये ही उत्पन्न हुआ समझते हैं । यहाँ राजारूप एक वस्तु का पाचक आदि अनेक-
व्यक्तियों द्वारा दातृत्व आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः 'उल्लेख अलंकार'
होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूत पदार्थ—दातृत्व आदि—प्रयोजन (फल) रूप
है, इसलिये इसे फलोत्पत्ति कहा जाता है ।

पूर्ववत् पुनरपरस्य भेदस्य स्वस्य प्रकटयन् तदुदाहरणनिर्देशं प्रतिजानीते—

हेतूनामुल्लेखे हेतुल्लेखो यथा—

कारणानां तथाविधे ज्ञाने वर्णिते हेतुल्लेखो भवति, स यथेति भावः ।

हेतुओं का उल्लेख होने पर हेतुल्लेख होता है, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'हरिचरण-नखर-सङ्गादेकै हरमूर्धस्थितेन्ये ।

त्वां प्राहुः पुण्यतमामपरे सुरतदिनि ! वस्तुमाहात्म्यात् ॥'

हे सुरतदिनि गङ्गे ! एकै कतिपये, हरिचरणयोः, नखराणाम् नयनाम्, सङ्गात्
संसर्गात्, अन्यै, हरस्य शिवस्य, मूर्ध्नि मस्तके, स्थितेः वासान्, अपरे, पुन, वस्तु-
माहात्म्यात् स्वदीयवस्वरूपैकं महत्त्वात्, त्वा भवतीम्, पुण्यतमाम् पवित्रतमाम्, प्राहुः
कथयन्तीत्यर्थः । अत्र पुण्यतमात्वपरविशेष्यकस्य विभिन्नजनकर्तृकस्य हरिचरणनख-
सङ्गादिविविधप्रकारकस्य ज्ञानसमुदायस्य वर्णनादुल्लेखः । तत्र प्रसारीभूतस्य पदार्थस्य
हरिचरणनखसङ्गादेहेतुत्वात् हेतुल्लेखत्वव्यापदेशः । अथवा पुण्यतमपदार्थगङ्गादपैकविशेष्य-
कस्य विभिन्नजनकर्तृकस्य हरिचरणनखसङ्गादिहेतुकपुण्यतमात्वप्रकारकस्य ज्ञानसमूहस्य वर्ण-
नादुल्लेखः । अत्र कल्पे एनस्यापि पुण्यतमात्वस्य हरिचरणनखसङ्गादिहेतुभेदेन भेदादनेक-
प्रकारकत्वं ज्ञानस्य बोध्यम् । प्रकारस्य हेतुगर्भत्वाच्च हेतुल्लेखत्वव्यापदेश इति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—हरिचरण इत्यादि । हे गङ्गे ! आपको कुछ
लोग भगवान् के चरण-नख के सङ्ग के कारण, दूसरे लोग शिवजी के मिर पर रहने के
कारण और अन्य लोग वस्तु के माहात्म्य के—अर्थात् आप हैं ही ऐसी वस्तु, इस—कारण
अत्यन्त पवित्र कहते हैं । यहाँ अत्यन्त पवित्रत्वरूप एक वस्तु का भिन्न-भिन्न व्यक्ति द्वारा
भगवान् के चरण-नख-सङ्ग आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः उल्लेख
अलंकार होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूतपदार्थ (भगवच्चरण-नख-सङ्ग आदि) के
हेतुरूप होने से यह 'हेतुल्लेख' कहलाता है । अथवा गङ्गा रूप एक वस्तु का भिन्न-भिन्न
व्यक्ति द्वारा भगवच्चरणनख-सङ्ग आदि-हेतुक अत्यन्त पवित्रता-प्रकारक ज्ञान किया गया
है, अतः 'उल्लेख' होता है और इस उल्लेख में प्रकारीभूत पदार्थ—अत्यन्तपवित्रता—के
पीछे उपाधिरूप से हेतुभूतपदार्थ जुड़े हैं, इसलिये यह 'हेतुल्लेख' कहलाता है । इस
पङ्क्ति में अत्यन्त पवित्रत्वरूप प्रकार यद्यपि एक ॥ है, तथापि हरिचरणनखसङ्ग आदि हेतु
के भेद से एक भी पवित्रता अनेक हो जाती है, अतः प्रकार की अनेकता समझी जाती है ।

प्रथममुल्लेखं निरूप्य द्वितीयमुल्लेखं निरूपयितुमिच्छुस्तावत्तल्लक्षणं सावतरणमाह—

अत्र प्रकारान्तरेणाप्युल्लेखो दृश्यते—यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रय समानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेक-प्रकारत्वम् ।

समानाधिकरणेति । समानम् अधिकरणं सधरणस्यानं येषां तादृशेत्यर्थः । तथा च विषयाश्रयसहचरादिस्था ये सम्बन्धिनस्तेषामिति स्पष्टोऽर्थः इति भावः । पूर्वं यथा ज्ञातृभेदादेकस्य वस्तुनोऽनेकया ग्रहणं भवति स्म तथा यदि नापि भवेत्—अर्थात् ज्ञाता यथेकोऽपि भवेत्, तथापि यदि विषयस्थ, आश्रयस्थ, सहचरादेव भेदेनैकस्य वस्तुनोऽनेक-प्रकारत्वमस्यात्, तदा सोऽप्युल्लेख इति लक्षणार्थः ।

प्रथम उल्लेख का निरूपण किया जा चुका । अब द्वितीय उल्लेख का निरूपण करना है, अतः सर्वप्रथम अवतरणपूर्वक द्वितीय उल्लेख का लक्षण किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘उल्लेख’ एक अन्य प्रकार से भी देखा जाता है । वह वहाँ होता है जहाँ ज्ञाताओं के अनेक न होने पर भी विषय, आश्रय अथवा समानाधिकरण-सहचर (साथ रहने वाले) आदि सम्बन्धियों में से किसी की भी अनेकता के कारण एक वस्तु अनेक तरह की हो जाय ।

द्वितीयस्याप्युल्लेखस्य पूर्ववद् भेदमाह—

अयमपि द्विविधः, शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्च ।

अयमपीति । द्वितीय उल्लेखोऽपीत्यर्थः ।

यह उल्लेख भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अन्य भङ्गकार से मिश्रित ।

तत्र प्रथममुदाहरणमाह—

शुद्धो यथा—

द्वितीय उल्लेख शुद्धो यथेत्यर्थः ।

शुद्ध द्वितीय उल्लेख, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘दीनव्राते दयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किं च मृद्री

काव्यालापेषु, तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्वं दधाना ।

लुब्धा धर्मेष्णुलुब्धा वसुनि परविपदर्शने कांदिशीका

राजभाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तधृतिः ॥’

हे राजन् ! दीनव्राते दीनप्राणितमूढे, दयार्द्रा कल्याणिका, निखिलानां सर्वेषां रिपूणां कुले समूहे, निर्दया दयारहिता, काव्यालापेषु काव्यकथासु, मृद्री कोमला (केचित्तु व्यालापेषु उक्तिसामान्ये, मृद्रीका द्राशारपेति व्याचक्षते), तर्कस्य प्रतिवचनविधौ उत्तरकरणे, कर्कशत्व कठोरताम्, दधाना धारयन्ती, धर्मेषु धर्मविषये, लुब्धा लोभवती, वसुनि धनविषये, अलुब्धा लोभरहिता, किं च, परेषाम् अन्येषाम्, पराया महत्या वा (पृथी-तत्पुद्गल कर्मधारयो वा) विपद, विपत्ते, दर्शने साक्षात्कारे ज्ञाने वा, सतीति शेष, कादिशीका कस्या दिशि गन्तव्यम् इति धीविशिष्टा (‘तदाह माराब्दादिभ्य उपसत्या-नम्’ इति चार्तिकेन ठक्, धृषोदरादित्वात्साधु, ‘कादिशीको मयदुत’ इति कोश), अत एव बहुविधा अनेकप्रकारिका, तावकी त्वदीया, आजन्मरम्या स्वभावती रमणीया, चित्तधृति, स्फुरति प्रकटीभवतीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दीनघाते इत्यादि । हे राजन् ! दीनों के समूह पर दया से आर्द्र, समस्त शत्रु-समुदाय पर निर्दय, काव्यों की कथा करने में कोमल, तर्कों के उत्तर देने में कठोरता को धारण करनेवाली, धर्म में लोभयुक्त, धन में लोभ-रहित, और अन्य भी विपत्ति का दर्शन होने पर अतिभीरु, अतएव अनेक प्रकार की संज्ञा सुन्दर भाषकी चित्तवृत्ति स्फुरित हो रही है—चमक रही है ।

उपपादयति—

अत्र दीनघातादीनां विषयाणामनेकत्वाच्चित्तवृत्तेरनेकविधत्वम् । राजविषयक-रतिभावोपस्कारकोऽयमुल्लेखः । यद्यपि चित्तवृत्तिव्यक्तीनामत्रैक्यं नास्ति, तदी-यचित्तवृत्तित्वेन सामान्येन तासामेकत्वं विवक्षितम् ।

अस्यालङ्कारत्वादाह—राजेति । कविनिष्ठेत्यादि । नास्तीति । तथा चैकस्य वस्तुन इत्यंशभावात्तेदं लक्ष्यमिति भावः । समाप्यते—तथापीति । 'दीनघाते—' इति पदो शत्रु-रेकत्वेऽपि विषयतया चित्तवृत्तिसम्बन्धिना दीनसमूहादीनाम् भेदात् चित्तवृत्तिरूपस्यै-कस्य वस्तुन दयार्द्रत्वादिविविधप्रकारत्वं वर्णितम्, तच्च कविगतराजविषयकरतिभावस्य प्रधानव्यङ्ग्यस्य पौष्टकमिति द्वितीयाल्लेखरूपतामासादयति, ननु चित्तवृत्तिव्यक्त्यस्य स्वतो भिन्ना इति तासामेकत्वाभावेन कथमेकस्य वस्तुन इत्यंशसङ्गतिरिति चेत् । सत्यम्, राजनीयचित्तवृत्तिवात्मकमामान्यरूपेण तासामेकत्वमिह वक्तुरभिप्रेतमिति साराशः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'दीनघाते—' इस पद से राजा की एक चित्तवृत्ति को भिन्न भिन्न प्रकार से समझने वाला ज्ञाता यद्यपि एक ही व्यक्ति है, तथापि चित्तवृत्ति के विषय 'दीनों का समूह' आदि अनेक हैं, अतः एक ही व्यक्ति एक ही चित्तवृत्ति को दया से आर्द्र, निर्दय आदि अनेक प्रकार से समझता है और चित्तवृत्ति का दयार्द्र आदि अनेक प्रकार का होना, पद से प्रधानतया प्वर्णित होने वाले राजा के विषय में कवि प्रेमभाष को पुष्ट करता है, अतः वह चित्तवृत्ति का अनेक प्रकार का होना द्वितीय अल्लेखालङ्कार है । यह अल्लेखालङ्कार शुद्ध है, क्योंकि इसमें किसी अन्य अलङ्कार का मिश्रण नहीं है । आप कहेंगे—चित्तवृत्तियों तो सभी व्यक्तिगतरूप से विभिन्न होती हैं फिर यहाँ राजा की चित्तवृत्तियों को एक कैसे मान सकते हैं ? और जब चित्तवृत्ति की एकता सिद्ध होती नहीं तब अल्लेख का लक्षण घटेगा कैसे ? क्योंकि लक्षण ॥ 'एक वस्तु यदि अनेकरूप हो' ऐसा कहा गया है सो इसका उत्तर यह है कि चित्त-वृत्तित्वेन रूपेण उन्हें एक कहना यहाँ अभीष्ट है ।

तथा लक्षणे विवक्षाया अभावानुदाहरणान्तर प्रदर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कातराः परदुःखेषु निजदुःखेष्वकातराः ।

अर्थेष्वलोमा यशसि सलोभाः सन्ति साधवः ॥'

परदुःखेषु अन्यदुःखविषये, कातरा भीता, निजदुःखेषु स्वदुःखविषये, अकातरा अभीता, अर्थेषु धनविषये, अलोभा लोभरहिता, यशसि यशोविषये, सलोभा लोभवन्ताः, साधवः सत्पुरुषाः, सन्ति अशुनाधि जगति विद्यन्त इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कातरा इत्यादि । दूसरों के दुःखों में कायर और अपने दुःखों में निर्भय, धन में लोभरहित और यश में लोभयुक्त सत्पुरुष आज भी संसार में हैं ।

उपपादयति—

अत्रापि साधवः सन्तीत्यनेन मृता अपि न मृतास्ते, इतरे पुनरमृता अपि मृता एवेत्यर्थाभिप्रेक्षितद्वारा व्यज्यमाने साधूत्कर्षविरोधे उपस्कारकोऽयम् ।

अत्र परदुःखादीनां विषयाणामनेकत्वात्साधूनामनेकविधत्वम् स्पष्टमुपेक्षालंकारत्वमुपपादयति—अत्रापि । 'कातरा —' इति पदे एतस्य साधुरूपस्य वस्तुन एकेनैव महीना परदुःखादिविषयभेदप्रयुक्तमनेकप्रकारकम् (कातरत्वादियप्रकारकम्) ज्ञानं कृतमिति द्वितीय उल्लेख । ननु कथमत्रोलेखस्यालंकारत्वम् इति चेन्न, 'साधव सन्ति' इत्येतद्वाक्यार्थेन 'मृता अपि साहसाः साधव न मृता —जीविता एव, अन्यादृशा अना पुन जीविता अपि मृता एव' इत्यर्थोऽभिप्रेक्ष्यते, तेन चाभिप्रेक्ष्यतेन साधूत्कर्षविरोधो ध्वन्यते, तस्य च साधूत्कर्षस्य प्रधानव्यङ्ग्यस्य पोषकत्वादुल्लेखन्यात्रालंकारत्वमित्याशयादिति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । अभिप्राय है कि—'कातरा —' इस पद में 'साधुरूप' एक वस्तु का परदुःखादिरूप विषयभेद के कारण एक ही शक्ति द्वारा कातर आदि अनेक प्रकारक ज्ञान किया गया है और वह एक वस्तु का अनेक-प्रकारक होना साधु के उस उदात्त-विशेष का उपस्कारक है जो 'सगुरुषु हैं' इस शक्ति से होने वाली 'मर कर भी वेने सगुरुषु जीवित ही हैं और अन्य साधारण जन जीकर भी मरे हैं' इस अर्थ की अभिशक्ति से अभिव्यक्त होता है, अतः वह द्वितीय उल्लेख (शुद्ध) का उदाहरण होता है ।

एवविषयानेकत्वप्रयुक्तमुदाहरत्याश्रयानेकत्वप्रयुक्तमुदाहरणमाह—

यथा वा—

आश्रयानेकत्वप्रयुक्त उल्लेखो यथेति भावः ।

विषय की अनेकता से होने वाले द्वितीय शुद्ध उल्लेख का उदाहरण दिखलाकर अब आश्रय की अनेकता से होने वाले द्वितीय उल्लेख के शुद्ध भेद का उदाहरण दिखलाने के लिये कहा जाता है—यथा वा इति । अथवा जैसे—

उदाहरणं रामुपन्यस्यति—

‘तुषारास्तापसत्राते तामसेषु च तापिनः ।

दृगन्तास्ताडकाशत्रोर्भूयासुर्मम भूतये ॥’

तापसत्राते तापससमूहोपरि, तुषारा शीतला, तथा तामसेषु तमोगुणप्रधानेषु राक्षसादिषु तदुपरीति यावत्, तापिन तापका, ताडकाशत्रोः ताडकाहन्तु, श्रीरामस्य, दृगन्ता कटाक्ष, मम, भूतये ऐश्वर्याय, भूयासु भवन्त्वित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—तुषारा इत्यादि । तपस्विणों के ऊपर शीतल, और तामसों (तमोगुण-प्रधान राक्षस आदिकों) के ऊपर तापदायक श्री रामचन्द्र के कटाक्ष मेरे ऐश्वर्य के लिये हों ।

पूर्वोदाहरणद्वयाद् नैलक्षण्यं तृतीयोदाहरणे दर्शयति—

पूर्वपक्षयोर्विषयानेकत्वप्रयुक्तम्, इह त्वाश्रयानेकत्वप्रयुक्तमनेकविधत्वं दृगन्तानाम् ।

‘दीनत्राते—’ ‘कातरा’ इत्यनयोः प्रागुक्तयोः श्लोकयोः विषयभेदप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनो भिन्नप्रकारत्ववर्णितम् । ‘तुषारा —’ इति तृतीये पदे तु दृगन्तानामाश्रयीभूता तापसा तामसाश्च भिन्ना इत्याश्रयभेदप्रयुक्तम् एकस्य दृगन्तरूपस्य वस्तुन तुषारत्व-तापित्वरूपानेकप्रकारत्ववर्णितमित्यत्रापि शुद्धो द्वितीय उल्लेख इति भावः ।

पूर्व उदाहरणों से तृतीय उदाहरण में विलक्षणता दिखाई जाती है—पूर्व इत्यादि । 'दीनमात्रे—' तथा 'कातराः—' इन दोनों पद्यों में विषयों की अनेकता से एक वस्तु का मिश्र-मिश्र-प्रकारक होना वर्णित हुआ है, पर 'तुषाराः—' इस तृतीय पद्य में कटाक्ष के आश्रय (तापस और तामस) मिश्र हैं, अतः कटाक्षरूप एक वस्तु के झीतलता और ताप-कटाक्षरूप अनेक प्रकार वर्णित हैं । तात्पर्य यह कि यह तीसरा पद्य भी शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण होता है ।

समानाधिकरणानेकप्रयुक्तमुदाहरति—

'विद्वत्सु विमलज्ञाना विरक्ता यतिषु स्थिताः ।

स्वीयेषु तु गरोद्रारा नानाकाराः क्षितौ खलाः ॥'

विद्वत्सु विद्वज्जनेसविधे, विमलज्ञाना-निर्मलबोधत्वेनात्मानं स्थापयन्तः, यतिषु संन्यासि-जनसन्निधौ, विरक्ता विरक्तवदात्तरन्तः, तु पुनः, स्वीयेषु स्वजनसमीपे, गरोद्रारा विषवमन-वारिणः, अत एव, नानाकारा विविधरूपा, खला दुर्जना, क्षितौ पृथिवीतले, सन्तीत्यर्थः ।

समानाधिकरणों (सहचरों) की अनेकता से होने वाले शुद्ध द्वितीय उल्लेख का उदाहरण दिखाया जा रहा है—विद्वत्सु इत्यादि । विद्वज्जनों के समीप निर्मल ज्ञान वाले, संन्यासियों के निकट विरक्त, और स्वजनों पर विषवमन करने वाले, इस तरह पृथिवी पर, दुर्जन लोग अनेक आकार धारण किए हुए हैं ।

उपपादयति—

अत्र विद्वदादिसहचरभेदप्रयुक्त खलानामनेकविधत्वम् ।

'विद्वत्सु—' इति पद्ये अलरूपरयैकस्य वस्तुनः विद्वदादिसहचरभेदाधीनम् विमलज्ञान-त्वाद्यनेकप्रकारत्वं वर्णितमितिदमपि पद्यं शुद्धद्वितीयोन्मेषोदाहरणत्वमेतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'विद्वत्सु—' इस पद्य में विद्वान् आदि सहचरों के भेद के कारण खल अनेक प्रकार के बताए गए हैं—अर्थात् यहाँ विद्वान् आदि सहचरों की भिन्नता से अलरूप एक वस्तु के विमलज्ञानत्व आदि अनेक प्रकार हो गए हैं, अतः यह भी शुद्ध द्वितीय उल्लेख का एक प्रभेद है ।

लक्षणपटके 'समानाधिकरणादीनाम्' इत्यत्र वर्तमानेन 'आदि'-पदेन सपष्टमानों स्फोरयति—

एवमन्येषां सम्बन्धिनां भेदेऽप्युह्यम् ।

विषयाश्रयसमानाधिकरणानामेकसम्बन्धिभेदप्रयुक्तं यत्रैकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वं तत्र यथा द्वितीय उल्लेखो भवति, तथैव अन्यविधमसम्बन्धिभेदप्रयुक्तमपि यत्रैकस्य वस्तुनोऽनेक-प्रकारत्वं स्यात्तत्रापि स भवेदिति भावः ।

लक्षण में लाये हुए 'आदि' पद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा जाता है—एवम् इत्यादि । जिस तरह विषय, आश्रय और सहचर के भेद से एक वस्तु के अनेक प्रकार होने पर द्वितीय उल्लेख होता है उसी तरह जहाँ इन तीनों (विषय आदि) से अन्य संबन्धी के भेद से एक वस्तु के अनेक प्रकार होंगे वहाँ भी यह उल्लेख हो सकता है इस बात का ऊह स्वयम् कर सकते हैं ।

अलङ्कारान्तरसंवीर्ण द्वितीयमुल्लेखमुदाहर्तुमाह—

सङ्कीर्णो यथा—

अलङ्कारान्तरमिश्रितो द्वितीय उल्लेखो यथेति भावः ।

मिश्रित द्वितीय उल्लेख, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘गगने चन्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले ।

पृथिव्यां सागरायन्ते भूपाल ! तव कीर्तयः ॥’

हे भूपाल राजन् ! तव, कीर्तय, गगने चन्द्रिकायन्ते चन्द्रिका इवाचरन्ति, हिमाचले हिमपर्वते, हिमायन्ते हिमवदाचरन्ति, तथा, पृथिव्या सागरायन्ते समुद्रवदाचरन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—गगने इत्यादि । हे राजन् ! आपकी कीर्तियाँ आकाश में चन्द्रिका-सा, हिमालय में हिम (बरफ)-सा और पृथिवी पर समुद्र-सा आचरण करती हैं ।

उपपादयति—

अत्रोपमया आपाततः प्रतीयमानया, पर्यवसितया चोत्प्रेक्षया ।

उपमानात्क्यडो विधानादाह—उपमयेति । तत्र तात्पर्याभावादाह—पर्यवसितयेति । उत्प्रेक्षयेति । सकीर्ण इति शेषः । ‘गगने—’ इति श्लोके कीर्तिरूपैकवस्तुन गगनाद्याश्रय-भेदप्रयुक्तम् चन्द्रिकात्वादिविविधप्रकारत्वम् वर्णितमस्तीति द्वितीय उल्लेख सिद्धः । स च न शुद्धः । क्यङ्प्रत्ययस्य सर्वत्रोपमानबोधकप्रकृतिविहितत्वेनापाततः प्रतीयमानेनोपमालङ्कारेण, वस्तुतस्तु उपमानोपमेयभावस्यात्र कविबिषयाविषयत्वविरहेण सम्भावनाया एव प्रतीत्या उत्प्रेक्षालङ्कारेण तस्य सकीर्णत्वादिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘गगने—’ इस पद्य में एक व्यक्ति द्वारा कीर्तिरूप एक वस्तु के गगन आदि आश्रय (भेद) प्रयुक्त चन्द्रिकाएँ आदि अनेक प्रकार वर्णित हैं, अतः यहाँ द्वितीय उल्लेख होता है और वह उल्लेख यहाँ ऊपर से प्रतीत होनेवाली उपमा, पर अन्ततः सिद्ध होनेवाली उत्प्रेक्षा से मिश्रित है । तात्पर्य यह कि ‘चन्द्रिकायन्ते’ आदि पदों में उपमानबोधक प्रकृति से आचारार्थक ‘स्यङ्’ प्रत्यय हुए हैं, अतः आपाततः पहले उपमा की प्रतीति हो आती है, पर जब वक्ता के अभिप्राय का अनुसन्धान किया जाता है तब ज्ञात होता है कि उपमानोपमेयभाव यहाँ उसका अभिप्रेत नहीं है, अतः वक्ता का अभिप्रेत सभावना सिद्ध होता है, इसलिये अन्त में उत्प्रेक्षा की ही प्रतीति होती है ।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णस्य द्वितीयोल्लेखस्वोदाहरणान्तरं दर्शयति—

‘उपरि करवालधाराकाराः क्रूरा भुजङ्गमुपगवान् ।

अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षगुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥’

उपरि बहि, करवालस्य असे, धाराया, आकार इव आकारो येषां तादृशा, तथा भुजङ्गमुपगवान् सर्पश्रेष्ठात्, क्रूरा क्रूरा, परन्तु, अन्तः हृदये, साक्षात्, द्राक्षाणाम् शूद्रीकानां, दीक्षासु गुरव उपदेष्टार, अतिमधुरा केमलाध्वनिं यावन्, केऽपि कतिपये, जना, जयन्ति सर्वोत्कृष्टतया वर्तन्त इत्यर्थः । अत्र “आर्यापूर्वार्धे ‘निह भवति विपमे ज’ इति नियमादत्र च विपमे सतमस्याने जगणस्य सत्त्वाच्छन्दोमङ्ग-दूषितमेतदार्यापूर्वार्धमिति शेषम् ।” इत्याहुः काव्यमालासम्पादका अष्टमहोदयाय । अहं तु मन्ये नासीं नियम सर्व-सम्मत, यतः ध्रुतबोधकारेण ‘यस्या प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥’ इत्येवोक्तम् । अस्मिन् लक्षणे स नियमो न कृतः । किं रमशाऽप्यत्रच्छन्दोमङ्ग न सूचयति, अतः ‘आर्यापूर्वार्धस्य द्वितीयमपि यत्र भवति दरागते । छन्दोविदस्तदानीं गीतिं ताममृतवाणि मापन्ते ॥’ इत्येव लक्षणकमीतिच्छन्दो-वदेऽस्मिन्पद्ये न छन्दोमङ्गदोष इति ।

अलंकारान्तर से मिश्रित द्वितीय उल्लेख का दूसरा उदाहरण दिखलाया जाता है—
उपरि इत्यादि । उपर से तलवार की धार के समान आकार वाले तथा सर्पराज से भी
कर, पर अन्तःकरण में साक्षात् दातों को भी दीक्षा देने वाले गुरु (अति मधुर और
कोमल) कतिपय पुरुष सर्वोत्कृष्ट हैं । यहाँ 'आर्या छन्द के विषम स्थानों में जगण नहीं
होता, पर यहाँ सप्तम स्थान में जगण है, अतः यह आर्या का पूर्वार्ध छन्दो-भङ्ग-द्रवित
है ।' यह काव्य-माला-मन्पादक ने पहले लिखा और उसका अनुवाद पीछे हिन्दी रस-
गङ्गाधरकार आदि ने भी अपनी दिष्पणी में किया है । पर मैं समझता हूँ कि वस्तुनः
यहाँ छन्दोभङ्ग है नहीं, क्योंकि एक तो जिह्वा यहाँ छन्दो-भङ्ग की सूचना नहीं देती,
दूसरे जिस नियम के अनुसार यहाँ छन्दोभङ्ग कहा गया है वह सर्व सम्मत है भी नहीं ।
देखिए—श्रुतयोधकार ने 'पर्या' प्रथमे पादे द्वादश मात्रा—' इत्यादि संस्कृत टीका में
उद्धृत किए गए आर्या-रचण में उस नियम की चर्चा नहीं की है । ततः 'आर्यापूर्वार्ध—'
इत्यादि संस्कृतटीकोद्घटन लक्षण के अनुसार 'गीति' छन्द में निबद्ध इस पद्य में कोई
दोष नहीं आता ।

उपपादयति—

अत्रोपमाव्यतिरेकाभ्यां तयोः समुच्चयेनोत्प्रेक्षया च सङ्कीर्णः ।

उपमेति । 'करवालधाराधारा' इत्यश इति भावः । व्यतिरेकेति 'कूरा' इत्यंश इति
भावः । तयोरुपमाव्यतिरेकयोः । उत्प्रेक्षयेति । 'गुरव' इत्यंश प्रतीयमानयेति भावः ।
'उपरि—' इति पद्ये जनरूपस्यैकस्य वस्तुनः बहिरन्तर्देशप्रपञ्च-भेद-प्रयुक्तम् करवाल-
धाराधारात्वाद्यनेकप्रकारत्वं वर्णितमिति द्वितीय उल्लेख सिद्धपति । स च उपमाव्यतिरे-
काभ्याम्, तयोः समुच्चयेन, गम्योत्प्रेक्षया च सङ्कीर्ण इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अथ इत्यादि । 'उपरि—' इस पद्य में जनरूप एक वस्तु
के 'ऊपर और अन्दर' रूप आधय-भेद-प्रयुक्त करवालधाराधाराध आदि अनेक प्रकार
वर्णित हैं, अतः द्वितीय उल्लेख यहाँ होता है, वह उल्लेख शुद्ध नहीं है, अपि तु—'धार
के समान आकारवाले' इस अंश में उपमा से, 'सर्पराज से भी कर' इस अंश में व्यतिरेक
से, इन दोनों के समुच्चय से और 'आवाओं को दीक्षा देनेवाले गुरु' इस अंश में गम्य
उत्प्रेक्षा से मिश्रित है ।

द्वयोः उल्लेखयोः सङ्क्रान्तादिपदप्राप्तसम्बन्धिभेदप्रयुक्तत्वं च दर्शयितुमाह—

'यमः प्रतिमहीश्रुतां हुतबहोऽसि तन्नीश्रुतां

सतां खलु युधिष्ठिरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम् ।

गृहं शरणमिच्छतां कुलिराकोटिभिर्निर्मितं

त्वमेक इह भूतले बहुविधो विधात्रा कुतः ॥'

हे राजन् । प्रतिमहीश्रुतां शत्रूणां, कृते, यमः अन्तरूपः, तन्नीश्रुतां प्रतिपशराज-
जनपदानाम्, कृते हुतबहः अग्निरूपः, सतां सज्जनानाम्, कृते, खलु निश्चयेन, युधिष्ठिरः
तद्रूपः, धनाकाङ्क्षिणः धनयाचकानाम्, कृते, धनपति कुबेरः, शरणम्, इच्छताम्, कृते,
कुलिराकोटिभिः वज्राप्रभागे, निर्मितं, गृहं भवनरूपः, त्वम्, असि, अतः, इह, भूतले,
एकोऽपि, त्वम्, विधात्रा व्रक्षणा, बहुविधः नानारूपः, कुत इत्यर्थः ।

अब दो उल्लेखों के सकर (मिश्रण) तथा 'आदि' पद से ग्रहण किये गये संबन्धि-
भेद-प्रयुक्तता को दिखलाने के लिये कहा जाता है—यमः इत्यादि । हे राजन् ! समुन्नत-
राजाओं के लिये यम, उनके देशों के लिये अग्नि, सज्जनों के लिये युधिष्ठिर, धन चाहने
वालों के लिये कुबेर और शरण चाहने वालों के लिये वज्र की नोकों से बनाया हुआ
धर इस तरह एक ही तुझे विधात्रा ने पृथिवीतल पर अनेक प्रकार का बनाया है ।

उपपादयति—

अत्र कविना यमत्वादिना रूपेण राज्ञो रूपवतः करणाद्रूपकेण, विपक्षभूपा-
लादीनामेतस्मिन्नायाते यमत्वादिना भ्रान्तिरपि सम्भवतीति भ्रान्तिमता, विपक्ष-
भूपालादिभिरनेकैर्प्रेरीतृभिर्यमत्वादिभिरनेकैर्धर्मैरुल्लेखनात् प्रागुक्तोल्लेखप्रकारेण च
सह सङ्कीर्णोऽयं सम्बन्धिपञ्चयन्तभेदप्रयुक्तवर्णनेकविधत्वक उल्लेखः ।

यमत्वादिना भ्रान्तिरपीति । अत्र 'शरणेच्छना भ्रान्तिवर्णने राजोत्कर्षविरोधीति
चिन्त्यमिदम्' इति नागेश । अहं तु मन्ये सादृश्यभूतकाह्यारोपरूपं रूपकं चेन्न विरोधि
तर्हि सादृश्यमूलिका भ्रान्तिरपि न विरोधिनी राजोत्कर्षे, तुरयन्वादिति । प्रागुक्तोल्लेखेति ।
अत्रापि 'इदमपि चिन्त्यम् । ज्ञानस्यानिबन्धने च ज्ञानपर्यन्तस्य पूर्वोल्लेखस्य कथमप्यत्रा-
सत्त्वात् । नियतव्यञ्जकमामप्रभावेनार्यस्यापि तस्यासत्त्वाच्चेति हि । इतोऽपि भ्रान्तिरपि
सम्भवतीति चिन्त्यमिति बोधम् ।' इति नागेश । विषयाश्रयसहचराणां सम्बन्धिन मात्रा-
सत्त्वादाह—सम्बन्धिपञ्चयन्तेति । पट्यन्तार्यमम्बन्धीत्यर्थः । क्वचित्तथैव पाठः । 'यम—'
इति श्लोके युग्मवर्णनैकस्य राज्ञः प्रतिमहोदृष्टादिपट्यन्तार्यसम्बन्धिभेदप्रयुक्तम् यमत्वाद्य-
नैकप्रकारत्वं वर्णितमिति द्वितीय उल्लेखो भवति । स च न शुद्धः । रूपकेण, भ्रान्तिमता,
प्रथमोल्लेखेन च सङ्कीर्णत्वान् । तत्र वर्णनीये राज्ञि सादृश्यमूलक्यमाशुपमानाभेदारोपाद्रूपकम्,
वर्णनीये राज्ञि समागते प्रतिपक्षराजादीनां यमत्वादिना भ्रान्ते सम्भवाद् भ्रान्तिमान्,
प्रतिपक्षराजादिभिरनैकैः हातृभिरनेकस्य वर्णनीयस्य राज्ञः यमत्वादिनानाप्रकारकत्वेन ज्ञानात्
प्रथमोल्लेखधेति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'यम—' इस पद्य में कवि ने अपने स्व-
रूप में विद्यमान राजा को 'यम' आदि रूपों में बताया है—अर्थात् कवि द्वारा
वर्णनीय राजारूप उपमेय में 'यम' आदि उपमानों का सादृश्यमूलक अभिव्यक्ति के लिए
गया है, अतः रूपक से, वर्णनीय राजा के आने पर शत्रुभूत राजा आदि को 'यम' आदि
का अर्थ भी सम्भव है, अतः भ्रान्तिमान् से और शत्रुभूत राजा आदि अनेक ज्ञाताओं
द्वारा वर्णनीय राजारूप धर्मी में यमत्व आदि अनेक-प्रकारक ज्ञान किया गया है, अतः
प्रथम उल्लेख से—इतने अलङ्कारों से—मिश्रित द्वितीय उल्लेख है, क्योंकि 'प्रतिमहोदृ-
ष्टाम् (शत्रुभूत राजाओं)' आदि पट्यन्त पद के अर्थ—सबन्धियों—के भेद के कारण
वर्णनीय एक राजा का 'यम' आदि अनेक प्रकार का होना यहाँ वर्णित है । नागेश यहाँ
कहते हैं कि—“द्वितीय उल्लेख के इस भेद को 'भ्रान्तिमान्' और 'द्वितीय उल्लेख' से
मिश्रित बताया उचित नहीं । कारण, एक तो शरणेच्छुजनों द्वारा वर्णनीय राजा के विषय
में किसी तरह की भ्रान्ति हुई है यह वर्णन वर्णनीय राजा के उत्कर्ष का विरोधी है, दूसरे
द्वितीय उल्लेख की भी यहाँ सम्भावना नहीं, क्योंकि उसके लक्षण में ज्ञान-पर्यन्त का
समावेश है और यहाँ यम आदि के ज्ञान का वर्णन है नहीं—अर्थात् अब यहाँ ज्ञान-वाचक
कोई शब्द नहीं है और न ज्ञान-व्यञ्जक कोई निश्चित सामग्री ही है तब शब्द अपवा
आर्थ किसी तरह का—ज्ञानात्मक प्रथम उल्लेख कैसे हो सकता है ? इससे यह सिद्ध
हुआ कि—भ्रान्ति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, अतः शब्द द्वारा अथवा अर्थ द्वारा
ज्ञान का वर्णन न होने के कारण भी भ्रान्ति की सम्भावना नहीं ।”

द्वितीयोल्लेखयोर्वल्लभ्य दर्शयति—

अत्रेदं बोध्यम्—प्रथमनिरूपितोल्लेखप्रकारे 'यं महाविष्णुरिति वैष्णवाः,
शिव इति शैवाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, स्वभाव इति लौकायतिकाः, ब्रह्मो-
त्थोपनिषदाः वदन्ति सोऽयमादिपुरुषो हरिः' इत्यादी तत्तद्ब्रह्महीतृकतत्तत्प्रकार-

फज्जानसमुदायस्य चमत्कारजनकताया अनुभवसिद्धत्वेनालङ्कारत्वम् । द्वितीये तु प्रकारे 'यः शिष्टेषु सद्यः दुष्टेषु फलः' इत्यादौ तत्तद्विषयभेदभिन्नस्य प्रकारसमुदायमात्रस्य तथात्वम् । न तु विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्य, चमत्कारित्वेनानुभवात् । चमत्कारनिबन्धनो ह्यलङ्कारभाव उपमादीनाम् । अत एवास्माभिः 'विषयाद्यन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्' इति द्वितीयं उल्लेखो लक्षितः ।

यमिति । वर्णनीय कथन राजा यत्पदार्थः । लोकायतिता-चार्याका । जनकताया इति । इदं ज्ञान चमत्कारीत्यनुभवाकार । य इति । अत्रापि वर्णनीय' कश्चिन्नृप एव मन्त्र-दार्थः । तायात्वम् चमत्कारित्वेकानुभवसिद्धत्वम् । प्रकारविशेषणमात्रव्यवच्छेदमाह— न स्थिति । विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्येति । एकस्य वस्तुन- भिन्नकत्वात्मकता ज्ञाननिबन्धनैव सम्भवतीत्यतः ज्ञानांशस्य विद्यमानता बोधा । अत एवेति । विद्यमानस्यापि ज्ञानांशस्याचमत्कारित्वान् उपमादीनामलङ्कारत्वस्य चमत्कारनिबन्धनत्वाच्चेत्यर्थः । 'यं महाविष्णुरिति वैष्णवा —' इत्यादौ प्रथमोऽल्लेखोदाहरणे वैष्णवाद्यनेकज्ञातृक-महाविष्णुवाद्यनेकप्रकारकवर्णनीयराजधर्मज्ञानमसमुदाय एव चमत्कारित्वेनानुभवसिद्ध इति तस्यैवालङ्कारत्वम्, तावत्पर्यन्तस्य प्रथमोऽल्लेखलक्षणे प्रवेशात् । 'य शिष्टेषु सद्यः—' इत्यादौ द्वितीयोऽल्लेखोदाहरणे पुनः शिष्टादिविषयभेदप्रयुक्तभेदविशिष्टस्य सद्यत्वादिप्रकाररामुदायस्यैव चमत्कारित्वेनानुभवसिद्धतेति तस्यैवालङ्कारत्वम्, तावत्पर्यन्तस्यैव च द्वितीयोऽल्लेखलक्षणे प्रवेशात् । ननु प्राशुषादिके द्वितीयोऽल्लेखोदाहरणेऽपि एकज्ञातृक-वर्णनीयधर्मिक-विषयादिभेदेहेतुक-ज्ञानाप्रकारयज्ञानसमूहस्य स्थितिरवश्यमेपितव्या, एकवस्तुगतानेकप्रकारत्वस्य ज्ञाननिबन्धनत्वात्, तथा च तत्रापि तस्यैव (ज्ञानममूहस्यैव) अलङ्कारत्वं किमिति नाङ्गीक्रियते इति चेन्न, ततोऽपि ज्ञानांशस्याचमत्कारित्वेनालङ्कारत्वायोगात् उपमादेरलङ्कारत्वस्य चमत्कारमूलकताया सर्वसम्मतत्वात् एवञ्च द्वयोऽल्लेखयोर्बैलक्षण्यं स्पष्टमिति भावः ।

दोनों उल्लेखों के प्रत्यक्षण में युक्ति दिखलाई जाती है—अत्रेदम् इत्यादि । 'जिसे वैष्णव महाविष्णु कहते हैं, याज्ञिक यज्ञपुरुष कहते हैं, चारों स्वभाव कहते हैं, वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं वह भाविपुरुष हरि यह (वर्णनीय राजा) है ।' इत्यादि प्रथम उल्लेख के उदाहरणों में भिन्न भिन्न ज्ञाताओं द्वारा किए गये भिन्न-भिन्न प्रकारों (विशेषणों) वाले ज्ञानों—जैसे प्रकृत में वैष्णव आदि ज्ञाताओं द्वारा किए गये महाविष्णुत्व आदि भिन्न-भिन्न प्रकारों वाले ज्ञानों के समूह में ही चमत्कारोत्पादकता अनुभवसिद्ध है—अर्थात् उन ज्ञानों के द्वारा ही सदृश्यों के हृदयों में आनन्द उत्पन्न किया जाता है, अतः उन्हें (ज्ञानों को) ही अलंकार माना जाता है । 'जो (वर्णनीय राजा) शिष्टों के विषय में दयायुक्त है, दुष्टों के विषय में भयकर है ।' इत्यादिक द्वितीय उल्लेख के उदाहरणों में तो उन-उन विषयों के भेद के कारण होने वाले एक व्यक्ति के भिन्न भिन्न प्रकार—अनेक रूप होना—(जैसे प्रकृत में शिष्ट आदि विषयों के भेद के कारण वर्णनीय राजा का दयायुक्त आदि अनेकरूप होना) ही चमत्कारी अनुभूत होता है, अतः उन (प्रकारों) को ही अलंकार माना जाता है । यद्यपि द्वितीय उल्लेख के उदाहरणों में भी ज्ञान अंश रहता अवश्य है, क्योंकि ज्ञान के भेद (समष्टि की भिन्नता) से ही एक वस्तु की अनेकप्रकारता हो सकती है, अन्यथा नहीं, तथापि ऐसे स्थलों में रह कर भी ज्ञान अंश चमत्कारी (आनन्दोत्पादक) नहीं अनुभूत होता, अतः उस अंश को अलंकार नहीं माना जाता । कारण, चमत्कारोत्पादक होने के कारण ही उपमा आदि को भी अलंकार माना जाता है । अतः पर्य दूसरे उल्लेख का लक्षण 'विषय आदि में से किसी एक की अनेकता के कारण एक

वस्तु के अनेक प्रकार होना' थीं बनाया गया है। सारांश यह कि प्रथम उल्लेख में ज्ञान-समूह को और द्वितीय उल्लेख में प्रकार समूह को अलंकार माना गया है।

एकरूपेण द्वयोरुल्लेखयोरनुगमं दर्शयति—

एव च 'लक्षणद्वयान्यतरत्वमुल्लेखसामान्यलक्षणतावच्छेदकम्' इत्याहुः। परे तु 'प्रकारद्वयेऽपि धर्मेणवृत्तित्वेन भासमानप्रकारसमुदाय एवोल्लेखः' इत्यपि वदन्ति।

उक्तरीत्या द्वयोरुल्लेखयोः पृथग्लक्षणकत्वेऽपि तल्लक्षणान्यतरत्वेन रूपेणानुगम सम्भवति। यदि तु अन्यतरत्वस्य गुरुत्वम् दुर्ज्ञेयत्वं च विभाव्यते तदा 'अनेकैर्ग्रहीतृभिः' 'असत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे' इत्यशब्दयः लक्षणद्वयघटक निरस्य वर्णनीयैकवस्तुगतप्रकारसमुदायस्य ग्रहीतृ-विषयाभ्यायन्यतमभेदप्रयुक्तस्योल्लेखद्वयसाधारणलक्षणत्वमङ्गीकार्यम्। स्वीकार्यम् च सर्वत्र प्रकारसमुदायस्यैव चमत्कारित्वमिति भावः। तथा चैकविध एवोत्प्लेख इति सारांशः।

दोनों उल्लेखों का एक रूप से अनुगम करने की रीति दिखलाई जाती है—एवं च इत्यादि। ऐसी स्थिति—जब कि एक जगह ज्ञानों और दूसरी जगह प्रकारों में चमत्कार अनुभूत होने के कारण दो तरह के उल्लेख माने गए—दो तरह के लक्षण किए गए—में 'इन दोनों लक्षणों में से किसी एक का होना' यदि उल्लेख—सामान्य लक्षण का अवच्छेदक (परिचायक) धर्म मान लिया जाय तब अनुगम हो सकता है यह कुछ लोग कहते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि—एक तो 'अन्यतरत्व (दो में से एक का होना)' परिष्कार-पद्धति के अनुसार गौरवप्रस्त वस्तु है दूसरे 'अन्यतरत्व' के स्वरूप का ज्ञान होना भी कठिन है, अतः दो लक्षण करके उसको एकरूप से कहने का प्रयास असंगत है, अपि तु दोनों उल्लेखों के भेद को मिटा कर एक लक्षण कर लेना—एक प्रकार का उल्लेख मान लेना—ही समुचित है, अर्थात् 'ज्ञाताओं, विषयों, आश्रयों आदि की अनेकता के कारण होने वाले एक वस्तु के अनेक प्रकार उल्लेख है' एक वही लक्षण—फलत एव ही उल्लेख—मानना चाहिए और सर्वत्र प्रकारांश में ही चमत्कार मान लेना चाहिए—पहले को प्रथम उल्लेख में ज्ञान को और द्वितीय उल्लेख में प्रकार को चमत्कारोपादक मानते थे उस मान्यता को खोद देना चाहिए।

व्यङ्ग्यमुरल्लेख निरूपयितुमाह—

अथोत्प्लेखस्य ध्वनिः—

उल्लेखालंकारध्वनिर्निहप्यत्वेनारभ्यत इति भावः।

व्यङ्ग्य उल्लेख का निरूपण करने के लिये कहा जाता है—अथ इत्यादि। अथ उल्लेखालंकार की ध्वनि का निरूपण आरब्ध समक्षिष्ट।

व्यङ्ग्यमुत्प्लेखमुदाहर्तुमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'अनल्पतापाः कृत्तकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदुःखजीर्णाः।

विलोक्य गङ्गां विचलत्तरङ्गाममी समस्ताः सुखिनो भवन्ति ॥'

वर्णयति—अनल्प अल्प, तापो येषाम् ते, बहुतापा इति यावत्, कृत्तानि कोटिसंख्यकानि पापानि यैस्ते, गदैकैः प्रधानयोगैः, शीर्णा विरुद्धाङ्गा, तथा, भवस्य संसारस्य, दुःखैः क्रोधादिभिः, जीर्णा जर्जरमनसः, इति, अमी, समस्ता सर्वविधा अपि लोका, विचलन्त चञ्चलीभवन्तः, तरङ्गा यस्याम् तादृशीम्, गङ्गाम्, विलोक्य, सुखिनः, भवन्तीत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अनरूप इत्यादि । गङ्गा का वर्णन है—आय-
धिक ताप घाले, करोड़ों पाप करने वाले, प्रधान हो गों से गलित्वाद् भीर संसार के दुःखों
(कामक्रोध आदि) से जर्जरित, ये सब के सब—लहराती हुई गङ्गा को देखकर
सुखी होते हैं ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्थोदीरितानां चतुर्णां विलोकनकर्तृणाम् । सुखित्वोक्तया क्रमेण
ताप-पाप-रोग-भय-नाशकत्वप्रकारकाणि ग्रहणान्याक्षिप्यन्ते ।

‘अनरूप—’ इति श्लोके पूर्वार्थनिर्णयतनुविधगङ्गादर्शकजनममेतमुक्तवर्णनेन वयशः
ताप-पाप-रोग-भय-नाशकत्वप्रकारकज्ञानममूहः (अर्थात् अनल्पतापजनकर्तृकं तापनाशकत्व-
प्रकारम्, कृतकोटिपापजनकर्तृकं रोगनाशकत्वप्रकारकम्, गदशीर्णजनकर्तृकम् रोगनाशकत्व-
प्रकारकम् तथा भवदुःखजीर्णजनकर्तृकम् भवनाशकत्वप्रकारकम् गङ्गाविशेषकं ज्ञानम्)
उल्लेखालङ्कारत्वपर्यवसायो व्यज्यते इति भावः ।

उपपादन किया जाना है—अत्र इत्यादि । ‘अनल्पतापा —’ इस पद्य में पूर्वार्थवर्णित
‘चारों प्रकार के दर्शकों के सुखी होने की बात’ से चारों ज्ञाताओं द्वारा किपु गद्य ‘गङ्गा
ताप-नाशिनी है, गङ्गा पापनाशिनी है, गङ्गा रोगनाशिनी है तथा गङ्गा संसारनाशिनी
है—’ ये चार प्रकार के ज्ञान ध्वनित होते हैं और ऐसे ज्ञानों का समूह ही ‘उल्लेख’ है,
अतः यह पद्य उल्लेख-ध्वनि का उदाहरण होता है ।

विशेषमाह—

अयं च शुद्धस्योल्लेखस्य ध्वनिः ।

‘अनल्पतापा —’ इत्यत्र ध्वन्यमान उल्लेख शुद्ध, अलङ्कारान्तरामिश्रितत्वा-
दिति भावः ।

शुद्ध (अन्य अलङ्कार से अमिश्रित) उल्लेखालङ्कार की यह (‘अनल्प—’ इस पद्य
में दिखाई गई) ध्वनि है ।

सङ्कीर्णोल्लेखध्वनिमुदाहरणमाह—

सङ्कीर्णस्य पद्या—

अलङ्कारान्तरामिश्रितस्योल्लेखालङ्कारस्य ध्वनिर्येति भावः ।

अन्य अलङ्कार से मिश्रित उल्लेख अलङ्कार की ध्वनि, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘स्मयमानाननां तत्र तां विलोक्य विलासिनीम् ।

चकोराध्वजरीकाञ्च मुदं परतरां ययुः ॥’

सख्युर्नायकस्य वा उक्तिरियम्—चकोरा स्वनामख्याता पक्षिविशेषा, चदरीका
अमरी, च, तत्र कीचेत् स्थानविशेषे, स्मयमानम् रासितम्, आनन्दम् मुहूर्तं, यस्यास्ताम्,
ताम् अनुभूता प्रसिद्धा वा, विलासिनीम् कामिनीम्, विलोक्य, परतराम् अत्युत्कृष्टाम्,
मुदम् तर्पम्, ययुः प्राप्तवन्ता इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—स्मयमान इत्यादि । वहाँ (किसी स्थान-
विशेष में) मन्वहासपुष्प मुखवाली उस विलासिनी को देखकर चकोर तथा अमरों ने
परम हर्ष प्राप्त किया ।

उपपादयति—

अत्र ध्वन्यमानया एकैकग्रहणरूपया ध्रान्त्या तदुभयसमुदायात्मा उल्लेखः
सङ्कीर्णः ।

एवमेति । चन्द्रत्वेन कमलत्वेन च ग्रहणेत्यर्थः । तदुभयेति । ग्रहणद्वयेत्यर्थः । 'स्मयमानाननाम्—' इति श्लोके चकोराणाम् चञ्चरीकाणाञ्च सरिमतमुख-कामिनी-विनोक्त-जन्य-मुत्प्राप्तिवर्णनेन सस्मिते कामिनीमुखे चकोराणां चन्द्रत्वभ्रमः, चञ्चरीकाणाञ्च कमलत्व-भ्रमो व्यज्यते । तौ च भ्रमौ भ्रान्तिमदलङ्कारद्वयरूपौ, तयोर्भ्रान्त्यो समूहश्च नानाप्रदी-तृवैकविशेष्यकानेकप्रकारवज्ञानममुदायरूपतया उल्लेखालङ्काररूपः । एवञ्च भ्रान्तिमद-लङ्कारद्वयमङ्कोर्लोलेखालङ्कारध्वनेरुदाहरणमिदं पञ्च सम्पद्यत इति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—'स्मयमानाननाम्—' इस पद्य में जो सस्मित मुखवाली कामिनी के बढोकेन से चकोरों तथा भ्रमरों के हर्ष की प्राप्ति वर्णित है उससे नायिका-मुख में चकोरों का चन्द्र-भ्रम तथा भ्रमरों का कमल-भ्रम—ये दोनों भ्रम—अभिप्यक्त होते हैं । ये दोनों ही भ्रम पृथक् पृथक् रूप में दो 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार हैं और इन दोनों भ्रमों का समूह अभिप्यक्त होकर 'उल्लेख' अलङ्काररूप होता है, क्योंकि भ्रमों का यह समूह अनेक व्यक्ति द्वारा किया गया एक वस्तु के विषय में अनेक प्रकारक ज्ञानरूप है ही । अतः यह पद्य 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार से मिश्रित 'उल्लेख' अलङ्कार की ध्वनि का उदाहरण होता है ।

आशङ्क्य समाधत्ते—

न चात्र भ्रान्तेरेव चमत्कार इति शक्यापहव उल्लेखः । अनेककर्तृका-नेकधामग्रहणस्थालङ्कारान्तरविविक्तविषयस्य चमत्कृतेरिहापि सत्त्वात् ।

शक्यापहव इति । नैवात्रोल्लेखोऽस्तीत्यर्थः । समाधत्ते—अनेकेति । विविक्तविषय-इयेति । अनेकधामग्रहणस्य विशेषणमेतत् । अलङ्कारान्तरेभ्यो विविक्तं पृथग्भूतो विषयो लक्ष्यम् यस्य तादृशस्येत्यर्थः । अन्यत्वं प्रत्यक्षदोषरूपत्वात् अर्थचमत्कृतावन्येतीति भावः । 'स्मयमानाननाम्—' इत्यत्रैकैकग्रहणरूपाया भ्रान्तेर्यथा चमत्कारोऽनुभवविषय-स्तथाऽनेककर्तृवैकविशेष्यकानाप्रकारवज्ञानममुदायान्मकस्य स्वतन्त्रान्योल्लेखालङ्कारस्य चमत्कारोऽपि अनुभवविषय इति "नानोल्लेखः, 'भ्रान्तिमान्' एव केवलः" इति न वक्तुं-शक्यमिति साधयः ।

एक दाढ़ा और उसका समाधान किया जाता है—न चात्र इत्यादि । 'स्मयमाना-ननाम्—' इस पद्य में भ्रान्ति का ही चमत्कार है, अतः उल्लेख द्विधाया जा सकता है—अर्थात् उल्लेख यहाँ है ही नहीं ऐसा कहा जा सकता है यह आप नहीं कह सकते, क्योंकि अनेक कर्ताओं द्वारा किया जाने वाला एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान (अर्थात् उल्लेख), जिसका विषय अन्य अलङ्कारों से पृथक् है—अर्थात् जिसको उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता, उसका चमत्कार भी यहाँ स्वतन्त्र रूप से है । तात्पर्य यह कि एक-एक भ्रम के चमत्कार को लेकर भ्रान्तिमान् जैसे होगा वैसे भ्रम-समूहवत् चमत्कारविशेष को लेकर उल्लेख भी यहाँ होगा ही ।

प्रथमोल्लेखस्य शुद्धस्य सङ्कीर्णस्य च ध्वनेरुदाहरणं प्रदर्श्य द्वितीयोल्लेखध्वनि-मुदाहर्तुमाह—

द्वितीयोल्लेखस्य ध्वनिर्यथा—

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'भासयति व्योमगता जगदरिल कुसुदिनीर्विकसयति ।

कीर्तिस्तव घरणिगता सगरमुतायासमफलता नयते ॥'

राजधृतिरियम्—हे राजन् ! तव कीर्ति, व्योमगता आकाशगता सती, अखिलं

समग्रं, जगत् संसारम् भासयति प्रकाशयति, तथा कुमुदिनी, विकसयति, धराणिगता धरातलगतता सती च, सगरमुत्तानाम् सगरराजतनयानाम् आयासम् सागरनिर्माणप्रयासम्, अप्रकृतताम् व्यर्थताम्, नयते प्रापयते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—भासयति इत्यादि । हे राजन् ! आपकी कीर्ति आकाशगवापिनी होकर समग्र संसार को भासित करती है तथा कुमुदिनियों को विकसित करती है और पृथिवीगत होकर सगर राजा के पुत्रों के परिश्रम को निष्फल कर रही है ।

उपपादयति—

अत्राधिकारणभेदप्रयुक्तमेकस्यामेव कीर्तौ चन्द्रिकात्वसागरत्वरूपानेकविधत्वं रूपकसङ्कीर्णं ध्वन्यते ।

‘भासयति—’ इतिश्लोके एकस्या कीर्तौ जगद्भासन-कुमुदिनीविकासन-सगरमुत्ताना-सर्वकलनयनकर्तृत्वेन वर्णनात् कीर्तौचन्द्रिकात्वसागरत्वात्मकनैकप्रकारत्वं द्वितीयोल्लेजा-त्मकम् व्यङ्ग्यं भवति, तत्र च प्रकारभेदे ज्योतिर्धराणिरुपाधिकारणभेदः प्रयोजकः । उल्लेख-ध्यायं न शुभं एपरुनङ्गोर्णत्वात् । रूपकवाच्यं व्यङ्ग्यमेव कीर्तिरूपोपमेये चन्द्रसागररूपोप-मानद्वयतादात्म्यरूप बोध्यम् । शुद्धद्वितीयोल्लेखचनितुरादितोऽपि स्वयमूहनीय इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘भासयति—’ इस पद्य में आकाश तथा धरातलरूप आधार-भेद के कारण कीर्तिरूप एक वस्तु के अनेक प्रकार—‘चौदनीपन’ तथा ‘समुद्रपन’—(अर्थात् द्वितीय उल्लेख) ध्वनित होता है । यह उल्लेख व्यङ्ग्यरूपक से मिश्रित है । कीर्तिरूप उपमेय में चन्द्र तथा समुद्ररूप उपमाओं का तादात्म्य यहाँ रूपक का स्वरूप है ।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिकायामुल्लेखालङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

उल्लेखालङ्कारनिरूपणानन्तरमपहुत्यलङ्कारनिरूपणं प्रतिजानीते—

अपापहुतिः—

अपहुति-अपहुति-निरूपणम्, अयं आरब्धं वैदितव्यमिति भावः ।

उल्लेख अलंकार का निरूपण कर लेने के बाद अब अपहुति अलंकार के निरूपण की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ इत्यादि । अब अपहुति निरूपण का आरम्भ किया जाता है ।

अपहुति-निरूपण-प्रसङ्गे तावत्तल्लक्षणमाह—

उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादा-त्म्यमपहुतिः ।

उपमेयतावच्छेदकस्य उपमेयवृत्त्यसाधारणधर्मस्य (मुख्यत्वादेः) यो निषेध शब्द-प्रतिपादितोऽर्षबलकृत्यो वा भावस्तत्सामानाधिकरण्येन तदधिकरणवृत्तित्वेन, आरोप्यमाणम् आहार्यनिश्चयविपर्ययाक्रियमाणम्, उपमानस्य चन्द्रादेः, तादात्म्यम् अभेदः, अपहुत्यलङ्कार इत्यर्थः । यस्मिन्नाधिकरणो मुख्यत्वादेर्निषेधः शब्दतोऽर्थतो वा प्रतिपाद्यते तस्मिन्नेवाधिकरणे (मुख्यादावुपमेयभूतपदार्थे) चन्द्रादेरुपमानस्य तादात्म्यमारोप्यमाण-मपहुतिरिति भावः ।

अपहुति अलंकार निरूपण प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उसका (अपहुति का) उद्घरण किया जाता है—उपमेयतावच्छेद इत्यादि । जिस मुख्य आदि अधिकरण में उपमेयवृत्ति-असाधारणधर्म (मुख्यत्व आदि) का निषेध शब्दतः, अथवा अर्थतः किया जाता हो उसी में

(मुख आदि में) आरोपित किया जाता हुआ उपमान (चन्द्र आदि) का अनेक अपभ्रुति अलंकार कहलाता ॥ ।

लक्षण विवेचयति—

रूपकवारणाय तृतीयान्तम् । अस्यां चोपमेयतावच्छेदकस्य निषेधादुपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकयोर्विरोधो गम्यते । रूपके तु तयोः सामानाधिकरण्यप्रत्ययात् स निवर्तते ।

रूपकवारणायतिभ्रान्त्यादेरप्युपलक्षणम् । तदुपपादयति—अस्या चेति । स विरोध । 'निद मुख किन्तु चन्द्रः' इत्याद्यपभ्रुतौ मुखत्वादेर्निषेध इति मुख्यत्वचन्द्रत्वयोर्विरोधो व्यक्ती भवति । 'मुखं चन्द्रः' इत्यादिरूपके पुनर्मुखत्व-चन्द्रत्वयोरैकाधिकरणवृत्तिसत्ताप्रतीतेरविरोध एव भासते । 'चन्द्रधिया चकोरास्त्वन्मुखमभिधावन्ति' इत्यादिभ्रान्तिमस्यपि तयोर्विरोधो नैव भासते, मुख्यत्वस्य शब्दतः अप्रतीयमानत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धत्वात् अथ तत्र निषेधाभावात् । तथा चोपमेयतावच्छेदकोपमानतावच्छेदकगतमियोविरोधव्यक्तिपर्यवसाय्यर्थकलक्षण-घटकतृतीयान्तभागेन रूपकभ्रान्तिमदादिवारणं भवतीति भावः ।

लक्षण का विवेचन किया जाता है—रूपक इत्यादि । पूर्वोक्त अपभ्रुति-लक्षण में 'निस अधिकरण में उपमेयतावच्छेदक का निषेध किया जाता हो' इतना अंश रूपक में अति-प्रसन्न का वारण करने के लिये कहा गया है । अभिप्राय यह कि अपभ्रुति में उपमेयतावच्छेदक का निषेध होने से उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का परस्पर-विरोध व्यक्त होता है अर्थात् 'मुख नहीं, चन्द्र है' इत्यादि अपभ्रुति में जब 'मुख नहीं' के द्वारा मुख्य का निषेध कर दिया जाता है तब यह साफ झलक उठता है कि मुख्य तथा चन्द्रत्व परस्परविरोधी पदार्थ हैं, अन्यथा उक्त निषेध करने की आवश्यकता ही क्या थी, 'मुख-चन्द्र है' ऐसा ही कहते । रूपक में तो उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का साथ साथ एक स्थल में रहना प्रतीत होता है, अतः उन दोनों का विरोध नहीं व्यक्त होता, अपितु अविरोध ही भासित होता है, अर्थात् 'मुख चन्द्र है' इत्यादि रूपक में मुख्य तथा चन्द्रत्व की एक ही मुख में जब प्रतीति होती है तब उन दोनों का अविरोध ही सिद्ध होता है । इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अपभ्रुति-लक्षण के उक्त अंश—निसका पर्यवसित अर्थ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक का पारस्परिक विरोध व्यक्त होना है—से रूपक का वारण हो जाता है । रूपक का ही नहीं, किन्तु भ्रान्तिमत् आदि का भी वारण वही अंश से होता है, क्योंकि वहाँ भी उपमेयतावच्छेदक तथा उपमानतावच्छेदक का विरोध व्यक्त नहीं होता । वस्तुतः वहाँ उपमेयतावच्छेदक की प्रतीति ही भ्रान्त को नहीं होती, फिर उसके साथ किसी का विरोध भासित होगा कैसे ?

लक्ष्यप्रदर्शनायाह—

उदाहरणम्—

उदाहरण, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'स्मित नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणाय विकसितं

मुख व्रूते मूढः कुमुदमिदमुद्यत्परिमलम् ।

स्वनद्वन्द्वं मिथ्याकनकनिभमेतत्फलयुगं

लता रम्या सेव्यं अमरकुलनभ्या न रमणी ॥'

एतत् अनुभूयमान वस्तु, स्मितम् ईषदात्, नास्ति, किं तु, प्रकृत्या स्वभावेन

एव युवान, कथम्, नितराम् अत्यन्तम्, मोहम् मूर्च्छाम्, सुदम् हर्षम्, च, दधते धारयन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—श्यामम् इत्यादि । कवि की उक्ति है—कि श्याम और श्वेत सुनयना के वचनों का स्वरूप नहीं है, किन्तु स्पष्ट है कि यह विष तथा अमृत है । कारण, यदि ऐसा न हो तो इन आँखों के पतन से तत्काल ही युवकगण मोह और हर्ष को कैसे प्राप्त करते हैं ? क्योंकि यह विष तथा अमृत का ही काम है ।

अत्रापि निरवयवत्वस्य स्फुटतया तदुपपादनमुपेक्ष्य प्राग्वद् भेदमाह—

अत्र प्रतिज्ञानार्थवैपरीत्ये बाधकोपन्यासाद्धेतुत्वपहृतिः ।

'श्याम मिराम्' इत्यत्र श्यामात्वनिगूढरूपोपमेयताबल्लेखनिषेधरामानाधिकरण्येन गरलामृतरूपयोश्चमानयोस्तादात्म्यस्य समश आरोप्यमाणत्वादपहृतिः । सा च निरवयवा, अपहृतिसङ्घातात्मकत्वाभावान् । प्रतिज्ञातस्य गरलामृततादात्म्यरूपस्यार्थस्य वैपरीत्ये 'नो चेत्' इत्यादिना बाधकहेतोरुपवर्णनान् हेत्वपहृतिराग्नेयमपहृतिर्यवहित इति भावः ।

यहाँ भी निरवयवत्व स्पष्ट है, अतः उसका उपपादन न करके अन्य विशेष वतलाया जाता है—अत्र इत्यादि । 'श्यामम्—' इस पद्य में श्यामात्व आदि उपमेयताबल्लेख का निषेध करके विष आदि उपमान के तादात्म्य का आरोप किया गया है, अतः अपहृति है और वह भी निरवयव है, क्योंकि यह समर्थ-समर्थकभावयुक्त अपहृतियों का समूहरूप नहीं है, यहाँ की अपहृति को 'हेतु अपहृति' भी कहा जाता है । कारण, यहाँ विष तथा अमृत होने की ओ प्रतिज्ञा की गई है उसके विपरीत पक्ष (श्याम तथा शुद्ध नयनों का स्वरूप ही है इस पक्ष) में बाधक हेतु का वर्णन 'नो चेत्' इत्यादि द्वारा किया जाता है ।

अपहृतिभेदानाच्छे—

अस्यां च नञादिभिः साक्षात्, परमतसिद्धत्वाद्यपन्यासैश्च किञ्चिद् व्यवधानेन विषयस्य निषेधे बोध्यमाने प्रायशो वाक्यस्य भेदः । मिपच्छलच्छब्द-कपटञ्जाजवपुरात्मादिशब्दैस्तु तस्मिन्स्तस्यैक्यम् । कचिदपहृत्पूर्वकत्वं कचिच्चारोपपूर्वकत्वम् कचिद्विपयितारूप्यविषयनिषेधयोरेकस्य शब्दत्वमेकस्यार्थत्वम् कचिदुभयो शब्दत्वमयोभयोरार्थत्व विषयत्वमनुवाकत्वं चेति । परमनेके प्रकाराः सम्भवन्ति ।

किञ्चिदिति । प्रान्त्यादीत्यर्थः । तस्मिन् तद्विषये । तस्य वाक्यस्य । निषेधयोरिति । मध्य इति शेषः । अयेति । कचिदित्यर्थः । अनुवाकत्वं चेति । उभयोरप्यनुवाकत्वं विषयत्वं चेत्यर्थः । अयमपहृत्यलङ्कारस्तावद् द्विविधः, एकत्र वाक्यभेदोपरत्र वाक्यैक्यम् । तत्र यत्र नञ्-शब्दादिभिः, साक्षात् उपमेयस्य निषेधः, 'फरे एव वदन्ति (नाहमेव वदामि)' इत्याद्यनुवादेन प्रान्त्याद्यलङ्कारान्तरं मध्ये निवध्य ततो ना उपमेयस्य निषेधः, तत्र प्रायो वाक्यभेदो भवति । यत्र तु मिपच्छलादिशब्दैरुपमेयस्य निषेधस्तत्र वाक्यैक्यम् भवति । प्रकारान्तरेणापि अपहृतेर्भेदाः भवन्ति । यथा कुत्रचित् प्रथममुपमेयस्य निषेधस्तत उपमानतादात्म्यस्यारोपः, कुत्रचित्प्रथममारोप एव ततो निषेधः, एव कुत्रचित् उपमान-तादात्म्योपमेयनिषेधयोर्मध्ये एकस्य शब्दतः प्रतिपादनमपरस्यार्थतोऽवगमः, कुत्रचित् तयोर्द्वयोः शब्दत एव प्रतिपादनम्, कुत्रचिच्च द्वयोरर्थत एव बोधः, एव कुत्रचित् उपमेय-निषेधोपमानतादात्म्ये निषेधे प्रधाने (अनुवाककोटिप्रविष्टत्वेन गुणाभूतेन) भवतः, कुत्र-

विचि ते उभे अपि अनुवाये गुणीभूते तिष्ठत । इत्थं च बह्वी भेदा अपहृतेर्भवेत्तु-
मर्हन्तीति भावः ।

अपहृति अलङ्कार के भेद किये जाते हैं—अस्यां च इत्यादि । इस अपहृति में जब
'नञ्' (नहीं) आदि शब्दों द्वारा साक्षात्, अथवा 'यद् दूसरे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं
कहता' इत्यादि रीति से किसी अन्य अलङ्कार (भ्रान्ति आदि) को मध्य में लाकर,
उपमेय का निषेध ज्ञात कराया जाता है तब प्रायः वाक्य भेद होता है, अर्थात् उपमेय
का निषेध एक वाक्य में और उपमान का ताद्रूप्य दूसरे वाक्य में रहता है । पर जब
वही निषेध मित्र, छल, छद्म, कपट, व्याज, वपु, आत्मा आदि शब्दों से भगगत कराया
जाता है तब वाक्य की एकता होती है, अर्थात् उक्त दोनों चार्ते एक ही वाक्य में आ
जाती है । इसके अतिरिक्त कहीं निषेध पहले रहता है, कहीं आरोप पहले । कहीं उपमान
का सावात्म्य और उपमेय का निषेध इन दोनों में से एक वाक्य द्वारा वर्णित होता है,
दूसरा होता है अर्धसः प्राप्त । कहीं दोनों वाक्य द्वारा ही वर्णित होते हैं, कहीं दोनों
अर्थ प्राप्त ही रहते हैं । कहीं दोनों विधेय होते हैं, कहीं दोनों अनुपाद्य । इस तरह
अपहृति के अनेक प्रकार हो सकते हैं ।

सत्स्वपि पूर्वोक्तेष्वनेकेषु प्रकारेषु न ते सर्वे प्रकारा अलङ्कारत्वेन परिगणयितु-
मुचिता इत्याह—

परं न ते वैचित्र्यविशेषमावहन्तीत्यगणनीयाः ।

प्रागुक्ता' सर्वे प्रकारा सम्भवन्तोऽपि बालङ्कारकोटौ प्रवेष्टुं शक्नुवन्ति, वैचित्र्यविशेषा-
नापायकत्वात्, वैचित्र्यविशेषस्यैव बालङ्कारजीवातुभूतत्वादिति भावः ।

अपहृति के जितने प्रकार ऊपर बताए गए हैं, उन सबों की अलङ्कारश्रेणी में गणना
करना उचित नहीं, क्योंकि उनमें कोई विलक्षण-वैचित्र्य (चमत्कार) नहीं होता और
विलक्षण-वैचित्र्य को ही अलङ्कार माना जाता है ।

ते प्रकारा भवन्त्येव नेति शङ्कामिरासाय तेषा दिग्दर्शनं कारयति—

एवमपि विल्लात्रमुपदर्शयते—तत्र प्रागुक्तायां सावयवापहृतौ प्रथमावयवेऽ-
पहृत्पूर्वकत्वमुभयोः शाब्दत्वं विधेयत्वं वाक्यभेदश्च । द्वितीयावयवे तु वक्तृगत-
मूढतोक्त्या सद्रतभ्रान्तिप्रतिपत्तिव्यवहिता निषेधप्रतिपत्तिरिति निषेध आर्थः ।
ताद्रूप्यं शाब्दम् । विधेयवाक्यभेदापहृत्पूर्वकत्वानि पूर्ववत् । चतुर्थावयवे पुनरा-
रोपपूर्वकोऽपहृत् । उभयोः शाब्दत्वविधेयत्वे वाक्यभेदश्च प्रथमवदेव ।

'वदने विनिवेशिता मुजंगी पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा ।

अनया कथमन्यथाऽबलीढा नहि जीवन्ति जना मनसामन्त्राः ॥'

अत्रैकवाक्यत्वं निषेधताद्रूप्ययोरार्थत्वमनुवाद्यत्वं च, निवेशनस्य विधे-
यत्वात् ।

एवमपीति । चमत्कारित्वाभावेऽपीत्यर्थः । उपदर्शयत इति । उक्तप्रकारजातमिति शेषः ।
तत्र तेषा मध्ये । प्रथमेति । स्मितमिति पादप्रतिपाद्य इत्यर्थः । अपहृतेति । निषेधस्य
प्रागुल्लेखादिति भावः । उभयो ताद्रूप्यनिषेधयोः । एतत्पदार्थस्थोद्देश्यत्वादाह—विधेयत्व-
मिति । द्वितीयेति । मुसमिति पादप्रतिपाद्य इत्यर्थः । तुरकबैलशृङ्ग्ये । तदेवाह—वक्तु-
गतेति । तद्वतेति । वक्तृगतेत्यर्थः । भ्रान्तीति । भ्रान्तिमदलङ्कारेत्यर्थः । प्रतिपत्तीति ।
वैयञ्जनिवबोधेत्यर्थः । पूर्ववदिति । प्रथमवरणवदित्यर्थः । स्तनद्वन्द्वमिति पादप्रतिपाद्य-
तोयावयवस्य द्वितीयेन तुल्यत्वात्समुपेक्ष्याह—चतुर्थेति । अनेति पादप्रतिपाद्य इत्यर्थः ।
पुनःशब्दो बैलशृङ्ग्ये । आरोपपूर्वक इति । उपमानताद्रूप्यस्य प्रागुल्लेखादिति भावः ।

उभयो तादृष्यनिषेधयो । वाक्यैक्यस्योदाहरण सप्रकारभेदमाह—वदन इति । धारा विविना, पिशुनाना, मुखे, रसनामिवेण जिह्वाच्छलेन । भुजङ्गी सर्पिणी, विनिवेशिता स्थापिता । अन्यथा तथात्वाभावे, अनया जिह्वा, अनलीढा आस्वादिता लक्ष्यकृता इति यावत्, जना, अमन्त्रा विफलमन्त्रात्मकप्रतिकारा सन्तः कथम्, मनाक् ईपदपि, क्षणमपीति यावत्, न, जीवन्ति भ्रियन्त इत्यर्थः । उदाहरति—अत्रैकेति । अनुवाच्य चेति क्वचित् पुस्तके 'विधेयत्व च' इति पाठ उपलभ्यते परमसौ न युक्तः । असंगतत्वात्, 'विनिवेशनस्य' इत्यभिप्रान्नविरोधाच्चेति भावः । 'वदने—' इति श्लोके 'मिष'पदेन निषेधस्य बोध्यमानतया वाक्यैक्यम् निषेधतादृष्ययोर्मयोरर्थादवगमो, न शब्दात्, अर्थावगतयोश्च तयोरनुवाच्यत्वेवात्र, न विधेयत्वम्, निवेशनस्यैव विधेयत्वादिति साराशः ।

पूर्वोक्त अपह्नुति के प्रकार हैं अवरब, लछकारकोटि में उनकी गणना भले ही न हो। यहाँ यदि कोई यह कहे कि इतने प्रकार होते ही नहीं तो ऐसा कहने वालों के मुख-मुद्रणार्थ उन प्रकारों का दिग्दर्शन कराया जाता है—एवमपि इत्यादि । देखिए—'स्मितं नेत्रम्' यह जो पहले सावयव अपह्नुति का उदाहरण कहा गया है उसमें चार अवयव हैं जिनमें से प्रथम अवयव—अर्थात् प्रथमचरणगत अपह्नुति—में अपह्ववपूर्वक आरोप है—अर्थात् निषेध पहले किया गया है और तादृष्यारोप पीछे दूसरा निषेध और तादृष्य दोनों शब्द द्वारा वर्णित हैं और हैं दोनों के दोनों विधेय तथा यहाँ वाक्य-भेद है । दूसरे अवयव—अर्थात् द्वितीयचरणगत अपह्नुति—में तो वक्ता को मूढ़ कहने के कारण वक्ता का भ्रम ज्ञान होता है और उसके बाद निषेध, अतः निषेध अर्थप्राप्त है और तादृष्य शब्द द्वारा वर्णित । विधेयता, वाक्य-भेद और निषेध का प्रथम होना—ये सब प्रथम अवयव की तरह हैं । अर्थात् इस अवयव में भी निषेध तथा तादृष्य दोनों विधेय हैं, दो वाक्य हैं और पहले निषेध तब आरोप होता है । तृतीय चरणगत अपह्नुति में सभी बातें द्वितीय अवयव की सी ही हैं । चतुर्थ अवयव अर्थात् चतुर्थ चरणगत अपह्नुति—में फिर रीति बदल जाती है अर्थात् यहाँ पहले आरोप है और निषेध पीछे । और निषेध-आरोप दोनों का शब्द द्वारा वर्णित होना, विधेय होना और वाक्य भेद ये सब प्रथम अवयव के समान ही हैं । एक उदाहरण और देखिए—'वदने—अर्थात् विधाता ने जिह्वा के मिष (छुछ) से जुगलस्रोतों के मुख में सर्पिणी रख दी है । अन्यथा इस जिह्वा से आस्वादित—इसके चक्कर में पड़े हुए—जन अमन्त्र अर्थात् मन्त्रात्मक प्रतिकार से भी निराश होकर कुछ देर भी क्यों नहीं जीते ।' यहाँ एकवाक्यता है अर्थात् 'उपमेव (जिह्वा)' का निषेध, और 'उपमान (सर्पिणी)' का तादृष्य दोनों एक ही वाक्य में आए हैं । दोनों (निषेध तथा तादृष्य) अर्थप्राप्त और अनुवाच्य हैं । अनुवाच्य इसलिए कि न यहाँ निषेध विधेय है न तादृष्य, किन्तु 'निवेशन (रखना)' विधेय है । किसी किसी पुस्तक में 'अनुवाच्यत्व च' की जगह पर 'विधेयत्व च' ऐसा पाठ प्राप्त है, पर वह असंगत है, क्योंकि आगे साफ लिखा जा रहा है कि "निवेशन" विधेय है ।"

भेदविचार समापयन्नाह—

एवमन्यदप्युच्यते—

अपह्नुतैरेव प्रकारा उपास्तेषु येषामुदाहरणानि प्रदर्शितानि तदतिरिक्तानामुदाहरणादिकम् स्वयमूहनीयमिति भावः ।

उक्त प्रकारों के विषय में अन्य बातें स्वयं समझिए ।

लक्षणघटकाहार्यपदार्थं विवृण्वन् तत्फलमाह—

अत्र च लक्षणे आरोप्यमागमित्यस्याहार्यनिश्चयः । क्रयमाणमित्यर्थः ।
तेन—

‘सद्ग्रामाद्गणसम्मुखाहृतकियद्विधम्मराधीश्वर—

व्यादीर्णकृतमध्यभागविवरोन्मोल्लभभोनीलिमा ।

अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन् सद्यो जगन्मण्डलं

मार्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥’

अत्र च विरहिजनवान्ये नाय शशाङ्कः, अपि तु सच्छिद्रो मार्तण्ड इति-
च्छायाभात्रमपहृतेः, न त्वपद्रुत्यलङ्कारः । सञ्ज्ञानस्य दोषविशेषजन्यत्वेनाना-
हार्यत्वात्, किं तु भ्रान्त्यलङ्कार एव ।

‘अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिद्विभासते ।

अरविन्दं मृगाद्धो वा मुखं चेदं मृगीदृशः ॥’

इत्थत्र मुखमरविन्दं वेति कविनिष्ठाहार्यसंज्ञये मुखनिषेधसामानाधिकरण्येन
विषयीभवतोऽरविन्दतादात्म्यस्य निश्चयविषयत्वाभावात् सद्ग्रहः । न चात्र
विषयनिषेधस्यापदार्थत्व शङ्क्यम्, वाशब्दार्थत्वात् ।

आरोप्यमाणपदस्यार्थं विवृणुते—अत्र च लक्षणे इति । निषये आहार्यत्वनिवेशफल-
माह—तेनेति । सद्ग्रामेति । सद्ग्रामाद्गणे पुद्गभ्यो, सम्मुखाहृताः सम्मुखयुद्धेन गृताः,
ये, कियन्त कतिपये, विधम्मराधोश्वरा घरापतयः, तैः, व्यादीर्णकृतेन विदारितैः, मध्य-
भागेन, यद् विवरम्, तस्मात्, उन्मोल्ल प्रकाशमानः, नभोनीलिमा आकाशनैल्यगुणौ
यस्य तादृशः, तथा, अङ्गारप्रखरैः अङ्गारवत्तोद्योः, करैः किरणैः, जगन्मण्डलम्, सद्यः
साक्षात्, कवलयन् भक्षयन्, अयं प्रत्यक्षं दृश्यमानः, मार्तण्डः सूर्यः, उदेति, केन पशुना
लक्षणया पशुपदहानेन, लोके, अयम्, शशाङ्कीकृतः शशाङ्कचन्द्रः स यो न भवति तं तथा
क कृतवानित्यर्थः । उपपादयति—अत्रेति । सग्रामेतिपद इति तदर्थः । छायाभात्रम्
सादृश्यमात्रम् । तज्ज्ञानस्येति । सच्छिद्रमार्तण्डज्ञानस्वेत्यर्थः । शेषविशेषेति । विरहेत्यर्थः ।
अनाहार्यत्वात् इति । इच्छाजन्यत्वाभावेनेति भावः । विरहिजनेके ‘तद्ग्राम—’ इति-
श्लोकवाक्ये ‘नायं चन्द्रः किंतु सविवरः सूर्यः’ इत्याकारकोऽपद्रवौ यद्यप्यापाततः प्रतीयते,
तथापि वस्तुतो नापद्रवः, मार्तण्डतादात्म्यनिश्चयस्य विरहजन्यत्वेनानाहार्यत्वात् । तथा च
शेषविशेषजन्यस्य सादृश्यमूलकस्य उपमेये उपमानधर्मस्य सत्त्वाद् भ्रान्तिमान् अलङ्कार
एवात्रेति सादृशः । आरोप्यमाणपदार्थकुसौ ज्ञानधर्मपहाय निश्चयत्वस्य निवेशयमानस्य
फलमाह—अलिरिति । व्याख्यातमिदं पद्यमनुपदं सत्तन्देहालङ्कारप्रकरण इति चेद् पुनर्व्या-
ख्यायते । प्रकृतमुपपादयति—अत्रेत्यादिना । ‘अलि—’ इतिपदेऽपि ‘सुद्धम् कमलम् वा’
इत्याशयकं कविसमवेतं ज्ञान वर्णितम् तत्र न ज्ञाने उपमेयमुखनिषेधाधिकरणवृत्तितया
उपमानभूतफलतादात्म्य विषयीभवति यद्यपि, तथापि न तत्रापद्रुतिः, तस्य ज्ञानस्य
संशयरूपतया निश्चयान्मकलाविरहान् । उपमेयनिषेधोऽत्र न कस्यापि पदस्यार्थः, एवञ्च
तावत्तत्र नापद्रुतिरिति तदर्थं निश्चयत्वपर्यन्तानुपादनं व्यर्थमिति न शङ्क्यम्, तन्निषेधस्य
चापदार्थत्वादिति भावः ।

लक्षण में भाप हुए ‘आरोप्यमाण’ पद के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए उसका फल
दिसलाते हैं—अत्र च इत्यादि । इस अपद्रुति-लक्षण में ‘आरोप्यमाण—अर्थात् आरोपित
किया जानेवाला’ शब्द का अर्थ है ‘आहार्यनिश्चय का विषय किया जाना ।’ तात्पर्य यह
कि वह पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिसका निश्चय अपनी दृष्टि से वस्तु ने (शत्रु ही सही
पर) कर लिया हो । उक्त पद का ऐसा अर्थ करने का फल यह हुआ कि ‘सद्ग्रामाद्गण
अर्थात् समग्रभूमि में सम्मुख मारे गए कितने ही राजाओं द्वारा विदीर्ण किए गए मध्यभाग

के छिद्र से आकाश की नीलिमा प्रकट हो रही है। उस नीलिमा से युक्त वह सूर्य अगारों के समान तीक्ष्ण किरणों से युवन मण्डल को तत्काल नरमसाव करता हुआ उदित हो रहा है। किस पक्ष ने इसे चन्द्रमा न होते हुए भी संसार में चन्द्रमा कर दिया ? इस विरही के वाक्य में अपभ्रुति अलंकार नहीं होता, क्योंकि यहाँ जो विरही को 'यह चन्द्रमा नहीं, किंतु छिद्रमदित सूर्य है' ऐसा निषेध होता है वह विरहरूपदोष के कारण, अतः वह आहार्य (इच्छान्वय) नहीं है। हाँ, अपभ्रुति की छाया यहाँ अवश्य है, पर वस्तुतः अलंकार यहाँ भ्रान्तिमान ही है। दूसरा फल यह हुआ कि—'अलिर्मुगो वा—' यह पक्ष जियकी व्याख्या सप्तदेहालंकारप्रकरण में की जा चुकी है—अपभ्रुति कोटि में सगृहीत नहीं होता। कारण, यहाँ जो कवि को 'यह सुप्त है अथवा कर्मण' ऐसा आहार्यज्ञान होता है उसमें यद्यपि सुप्त के निषेध के साथ ही कमल का साद्रूप्य भी विषय हुआ है, तथापि वह ज्ञान आहार्यसमय है, आहार्यनिश्चय नहीं। यहाँ उपमेय-कुल का निषेध किसी पद का अर्थ नहीं—अर्थात् निषेध वाचक कोई पद यहाँ नहीं है, वह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'वा' शब्द का अर्थ भी एक प्रकार से निषेध ही होता है—यदि कवि को सुप्त का निषेध करना अभीष्ट न होता तब 'अथवा' कह कर उसका उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

दीक्षितमतमनूय खण्डयति—

यत्तु कुत्रलयानन्दाख्ये सन्दर्भे अपभ्रुतीतिरपभ्रुतिप्रभेदवधनप्रस्तावै पर्यस्तापह्नुत्याख्यं भेद निरूपयद्विरभिहितम्—

'अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।

नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम् ॥' इति।

अत्र चिन्त्यते—नायमपह्नुतेर्भेदो यत्तु युक्तः, अपभ्रुतिसामान्यलक्षणाना-
क्रान्तत्वात्। तथा हि 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यस्ताभ्यते सा त्वपह्नुतिः, उपमेयमसत्यं
कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते साऽपह्नुतिः' इति काव्यप्रकाशोक्तलक्षण-
बहिर्भावस्तावत् स्फुट एव। एव 'विषयापह्नुते वस्तुन्तरप्रतीतावपह्नुतिः' इत्य-
लङ्कारसर्वस्वोक्तलक्षणमपि नात्र प्रवर्तते।

'प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्।

साम्यादपह्नुतिर्वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥'

इति चित्रमीमांसागत तन्निमित्तमपि लक्षणमिह तथैव। तस्मात् 'नायं सु-
धांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र दृढारोप रूपकमेव भवितुमर्हति,
नापह्नुतिः। उपमेयतोपमानतावच्छेदकयोः सामानाधिकरण्यास्य निष्प्रत्यूर्ह
भानात्। तदुक्तं विमर्शिन्याम्—'न विष विषमित्याहुर्ब्रह्मस्य विषमुच्यते।' अत्र
विषस्य निषेधपूर्व ब्रह्मस्यविषये आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोप रूपकमेव, नापह्नुतिः।
इति। यदि च प्राचीनमतमुपचालङ्काररत्नाकरेणैव मयाऽप्यय प्रकारोऽपह्नुतमध्ये
गणित इत्युच्यते, तदा आहार्यताद्रव्यनिश्चयस्य समानत्वाद्रूपकभेद एवापह्नुति-
रित्युच्यताम्। निरस्यतां च प्राचीनमुखदाक्षिण्यम्। एवमपि चित्रमीमांसा-
गतत्वन्निमित्तापह्नुतिलक्षणस्यात्रान्याप्तिः स्थितैव। अपि च यदि 'नायं सुधांशुः
किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' इत्यत्र पर्यस्तापह्नुतिरित्युच्यते, तदा तस्यामेव
त्यक्तचित्रमीमांसागतस्य—

'निष्ठाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यपिहते।

उपरलक्ष्यतामेति विषयी रूपकं तदा ॥'

इति रूपकलक्षणस्यातिव्याप्तिर्वैल्लेपायिता स्यात्, विषयिणो निहवेऽपि विषयस्यानिद्रुतत्वात् । अथापिचित्रमीमांसायां प्राचीनमत्तानुसारेण रूपकलक्षणम्, कुयल्लयानन्दे च स्वाकराद्यनुसारेणापह्नुवित्त्वोक्तिरिति यथाकर्थाञ्चित् सामञ्जस्यं निवेद्यमिति दिक् ।

अन्यत्रेति । अन्यत्र उपमेये आरोपार्थ उपमानतादृश्यारोपप्रयोजनक, तस्य उपमानस्य, स अपह्वं पर्यस्तापह्नुतिरिति लक्षणार्थ । उत्तरार्धेनोदाहरणमाह—नायमिति । अयं गगनस्थः, सुधाशु चन्द्रो, न, किन्तु प्रेक्षसीमुपमं सुधाशु इत्यर्थः । एण्डवितुमाह—अत्र चिन्त्यत इत्यादि । 'नायं सुधाशु—' इत्यत्रापह्नुतिर्न भवितुमर्हति, तत्रापह्नुतिसामान्यलक्षणाप्रसङ्गेति भावः । अप्रसज्यमानानि मानाविधानि लक्षणाद्युद्धरति—तथाहि इत्यादिना । 'प्रकृत—' इति । इयं मम्मटादस्य कारिका, प्रकृतम् उपमेयम् । अन्यन् उपमानम् । उपमेयमसत्यमिति । कारिकाप्रकृत कारिका-विवरणमेतत् । विषयापह्व इति । विषयस्य उपमेयस्य, अपह्वे सति वस्तुन्तरस्य उपमानस्य, प्रतीतौ, जायमानायां, अपह्नुतिरलङ्कारो भवतीत्यर्थः । प्रकृतस्य निवेधेनेति । प्रकृतस्य उपमेयस्य निवेधेनतद्द्वारेत्यर्थः, साम्बात् सादस्यमूलकम्, अतः, अन्यत्वस्य उपमानत्वस्य, प्रकृत्यन्तम्, ता, अपह्नुति एकाग्र्यगतत्वेन भिन्नग्रन्थगतत्वेन च द्विप्रकारिकेत्यर्थः । उपरि समुद्धृतानि त्रीण्यपि अपह्नुते सामान्यलक्षणानि 'नायं सुधाशु—' इत्यत्र न सचन्द्रो, सर्वत्रोपमेय-निषेधस्य निषेधात्, प्रकृते चोपमानस्यैव निषेधेनोपमेयस्यानिषेधादिति साराशः । उपसहरति—तस्मादिति । द्धारोपमिति । आरोपदाल्पसम्पादकत्वमर्थः । कपूरस्य सत्वेऽपह्नुतेश्चातत्वे हेतुमुपन्यस्यति—उपमेयतेति । सुपत्यसुधाशुत्वबोधेकादिकरणश्रुतिताया निर्दिष्ट भासमानत्वादित्यर्थः । अत्रार्थे प्राचीनोक्तिः [सवादयति—तदुक्तमिति । न विषमिति । विषं, विषं, न आहुः कथयन्ति, प्रकृतं ब्राह्मणस्वामिकं धनम् । विषम्, बध्यते कप्यते इत्यर्थः । विषमोक्तुं कथयिदनाशेऽपि ब्रह्मस्वमौक्तुर्नाशो द्रुव इति सद्भावः । अत्रत्यं विमर्शिनीकारकृतसुपपादनमुद्धरति—अत्रेति । विषय उपमानतया विनशितस्य । ब्रह्मस्वविषये इति । यद्यस्वरूपे उपमेये इत्यर्थः । आरोप्यमाणत्वादिति । विषयेति पूर्वांकेनान्वयः । यथा युक्त्या 'न विषम्—' इत्यत्रापह्नुतेरसत्त्व हयस्य च सत्त्वम् विमर्शिनीकारोऽसाधयत्, तथैव युक्त्या 'नायं सुधाशु—' इत्यत्रापि तथा सिद्धयतीति परत्तार्थः । अत्र 'इह चिन्त्यम्—नेदं मुलं चन्द्र इति प्रतिवापद्युत्तुदाहरणेऽपि मुलनिषेधस्य चन्द्रारोपदाल्पसम्पादकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वेनानुगतरिद्धत्वेन आपह्नुतिमात्र-स्वीच्छेदापत्तेः । यदि तु निषेधपूर्वकारोपे चयत्कारविशेषस्यानुभवसिद्धत्वादलङ्कारान्तरत्वं तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यमिति ।' इति नापेशः । वस्तुतस्तु 'नेदं मुलं, चन्द्रः' इति प्रसिद्धा-पह्नुत्तुदाहरणे उपमेयतापच्येदकस्य सुपत्यस्य निषेध-रूपश्च, अतोऽत्र रूपककथनं दुराग्रह-मात्रम्, 'विषये यच्चानिद्रुते' इति दीक्षितवृत्तरूपकलक्षणानुसारमपि विषयनिषेधस्य रूपक-त्वविरोधित्वात् । विषयनिषेधस्य रूपकदाल्पसम्पादकत्वमित्युक्तिरपि चक्षुषोर्नृतिप्ररोप एव । विषये निषेधे चोपमानतादात्म्यारोपः । तादात्म्यारोप एव चासिद्धे का पुनस्तस्य दाल्पसम्पादनशयः ? 'नायं सुधाशु—' इत्यत्र तु 'प्रेक्षसीमुलं सुधाशु' इति रूपकं चादिप्रतिवादिकथिता स्फुटमेव सिद्धयति, 'नायं सुधाशु' इति गगनस्थितस्य चन्द्रस्य कृते कृतो निषेधः प्रकृतारोपदाल्पस्य एवेति स्वीकरणोपमरामेवापीति मार्मिका विद्युशन्तु । ननु वस्तुस्थितेरेवानुरोद्धव्यतया प्राचीनैरनङ्गोक्तोऽप्येवोऽपह्नुतेर्भेदः स्वीकृत्यत इत्याह—

यदि चेति । रक्षाकरेणैवेति । दृष्टान्तोल्लेखात्तदनुरोधेनायं भेदो गणित इति सूचितम् । प्रतिबन्धा जागरूकत्वेन तदपि न सम्भवतीत्याह—तदेति । रूपके यद्योपमानाहार्यतादूष्य-निश्चयो भवति तथापहुतावपीति रूपकप्रकारविशेषा एव सर्वा अपहृतय इत्यपि वक्तव्यं भवतेति भावः । ननु प्राचीनसिद्धान्तविरोध इति चेत्तत्राह—निरस्यता चेति । प्राचीना प्रकाशकारादयस्तदनुरोधस्त्यज्यतामिति तात्पर्यार्थः । ननु निषेधपूर्वकारोपे नमस्कारविशेष-स्यानुभवसिद्धत्वेन कथमपत्त्या, अतो दोषान्तरमाह—एवमपीति । तत्करीत्या तथा-ज्ञोकारेऽपीत्यर्थः । लक्षणस्येति । 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इत्यादेः प्रागुद्धृतस्येत्यर्थः । अत्रेति । 'नायं सुधाशु—' इति लक्ष्ये इत्यर्थः । अव्याप्तिरिति । प्रकृतनिषेधाभावादिति भावः । दोषान्तरमाह—अपि चेति । तस्यामेवेति । पर्यस्तापहुतावेवेत्यर्थः । 'बिम्बाविशिष्टे—' इति । रूपकप्रकरणे समुद्धृता व्याख्याता चेय कारिका । वञ्चलेपायितेति । दुर्वारैत्यर्थः । अतिव्याप्तेर्वञ्चलेपायितत्वे हेतुमाह—विषयिण इति । 'नायं सुधाशु —' इत्यत्र सुधाशो-रूपमानस्य निषेधेऽपि मुखस्योपभेयस्यानिषिद्धतया त्वदुक्तलक्षणप्रसङ्गेरतिव्याप्तिरिति भावः । दीक्षितहृदयमुद्धृत्यति—अथापीति । रक्षाकरादीति, आदिना दण्डिग्रहणम् । इत्थं हि काव्यादर्शे (२।३०४) तेनोक्तम्—'अपहृतिरपहुत्य किञ्चिदन्यार्यसूचनम्' इति । यथा कथयित् सामग्र्यमिति । अत्र "एतदन्तरमत्र किञ्चिद्व्यतिरिक्तम् । तत्सर्ववृत्तके दुर्लभमेव अनन्तर 'निषेयमिति दिक्' इति ग्रन्थः ।" इति नागेशः ।

अनुवाद करके दीक्षितमत का स्पष्टन किया जाता है—यत्तु इत्यादि । 'कुवल्या चन्द्र' नामक ग्रन्थ में अप्यथ दीक्षित ने अपहृति के भेद कहने के प्रसङ्ग पर 'पर्यस्ता-पहुति' नामक भेद का निरूपण करते हुए कहा है कि "ग्रन्थग्र—अर्थात् उपमेय में उप-मान का आरोप करने के लिए (उपमान के) अपहृत्त्व को 'पर्यस्तापहुति' कहते हैं, जैसे वह आकाश में दिप्त चन्द्रमा, चन्द्रमा नहीं है, तो फिर चन्द्रमा क्या है ? प्रियतमा का मुख" उक्त दीक्षित-कथन पर विचार किया जाता है—'नायं सुधाशु —' को अपहृति का भेद कहना समुचित नहीं, क्योंकि इसमें अपहृति का सामान्य लक्षण सघटित नहीं होता । देखिए—'प्रकृतं प्रतिषिध्य—अर्थात् उपमेय को मित्या कहकर उपमान का साध-सया स्थापन करना अपहृति है ।' यह लक्षण काव्यप्रकाशकार मम्मट ने किया है । 'विषयापहृत्वे—अर्थात् उपमेय के छिपाने पर अन्य वस्तु की प्रतीति को अपहृति कहते हैं ।' यह लक्षण सर्वस्वकार ने बनाया है । स्वयं दीक्षित जी ने 'चित्रमीमांसा' में 'उप-मेय का निषेध करके, सादृश्य के कारण, अन्य होने की दृष्टि को अपहृति कहते हैं । वह कहीं एकवाच्यगत कहीं दोवाच्यगत होने से दो तरह की है ।' यह लक्षण लिखा है । ये तीनों ही अपहृति के सामान्य लक्षण प्रकृत में सघटित नहीं होते । कारण, इन तीनों ही लक्षणों में उपमेय का निषेध आवश्यक माना गया है और यहाँ ('नायं सुधाशु' में) उपमेय का निषेध नहीं हुआ है । अतः 'नायं सुधाशु —' इस वाक्य में 'द्वारोप' रूपक ही होना उचित है, अपहृति नहीं । कारण, यहाँ उपमेयतावच्छेदक (मुखत्व) और उपमानतावच्छेदक (चन्द्रत्व) दोनों का एक अधिकरण (आधार) में रहना—जो रूपक का साधक है—निर्विघ्न रूप से भासित होता है—अर्थात् उपमान-उपमेय का विरोध—जो अपहृति का साधक होता है—यहाँ भासित नहीं होता । यही बात 'चित्रांशु' में उपलब्ध भी होती है—'न विषम—अर्थात् जहर को जहर नहीं कहते अपि तु ब्राह्मण के धन को जहर कहते हैं, यहाँ पहले विष का निषेध कर अनन्तर उसका 'ब्रह्मस्वरूप' उपमेय में आरोप किया जा रहा है, अतः यहाँ 'द्वारोप' रूपक ही है, अपहृति नहीं ।" यदि आप कहें कि—'अलङ्कार-रत्नाकर' की तरह मैंने भी प्राचीन मत की उपेक्षा करके इस भेद को अपहृति में ही गिना है, तो मैं कहूँगा कि आहार्य तादृश्य का निश्चय तो

अपह्नुति में भी वैसा ही रहता है जैसा रूपक में, अतः अपह्नुति को भी रूपक का ही भेद कह दीजिए और प्राचीनों का मुँह मोहना छोड़ दीजिए । यदि आप निषेधपूर्वक आरोप में विलक्षण घमाकार अनुभूत होने की बात कहकर उक्त प्रतिबन्दी से बचना चाहें तो घब सकेते हैं, पर अन्य आपत्तिसे नहीं बच सकते—अर्थात् 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इस पूर्वोद्धृत चित्रमीमांसागत आपके लक्षण की ख्याति यहाँ हो ही जायगी, तत्पर्य यह कि जब आप 'नाय सुघोशु —' को अपह्नुति का भेद मानते हैं—तब उसमें आपके सामान्य अपह्नुति लक्षण सघटित हो यह उचित है, पर ऐसा होता नहीं—यह दोष आपके मत में होगा ही । इतना ही नहीं, यदि आप 'नाय सुघोशु —' में 'पर्यस्तापह्नुति' कहते हैं, तब उसी पर्यस्तापह्नुति में चित्रमीमांसागत आपके 'विम्बाविशिष्टे—' यह रूपकलक्षण जो रूपक-प्रकरण में व्याख्यात हो चुका है—अतिप्रसक्त हो जायगा, क्योंकि वहाँ उपमान का निषेध होने पर भी उपमेय का निषेध नहीं हुआ है । इतने पर भी 'चित्रमीमांसा' में प्राचीनों के मत के अनुसार रूपक का लक्षण किया गया है और 'कुवलयानन्द' में रत्नाकर, दण्डी आदि के अनुसार इस भेद को अपह्नुति कहा गया है इस तरह किसी प्रकार सम-न्वय किया जा सकता है । यहाँ नागेश का कथन है कि—'सामञ्जस्य' के बाद कुछ ग्रन्थ मुद्रित है, जो किसी भी पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता ।

भेषान्तरमुराहरति—

'अनल्पजाम्बूनददानवर्षं तथैव हर्षं जनयञ्जनेषु ।

दारिद्र्यं धर्म-क्षपणभ्रमोऽयं धाराधारो नैव धराधिनायः ॥'

कवि वमपि राजानं स्तौति—अनेषु लोकेषु, अनल्पं प्रभूतं यन्जाम्बूनददानम् सुवर्ण-वितरणम्, स एव वर्षः वृष्टिः, तम्, तथैव, हर्षम् सुखम्, जनयन् सम्पादयन्, अयम् वर्जनीयः पुरुषविरोधः, दारिद्र्यरूपस्य धर्मस्य रौद्रस्य, क्षपणे नाशने, क्षमः रामर्षः, धाराधरः मेघः, अस्ति, धराधिनायः समुधाधिपः (राजा) नैव, अस्तीत्यर्थः ।

अपह्नुति का अन्य भेद उदाहरण द्वारा दिखलाया जाता है—अमरप इत्यादि । कवि किसी राजा के विषय में कहता है—गानवी में अत्यधिक सुवर्णदान रूप वृष्टि तथा वर्ष उत्पन्न करता हुआ यह द्रविडता-रूप ताप के नाश करने में समर्थ मेघ है, राजा नहीं ।

मेघं कुट्टयति—

सावयवारोपेयमपह्नुतिः ।

'अनल्प—' इति लोके दाने वर्षारोपेण 'धराधिनायो न किन्तु धाराधरः' इत्यपह्नुतिः सावयवारोपा (अवयवारोपसहिता अवयवरूपकसहितेति यावत्) व्यवहियत इति भावः ।

भेद का स्पष्टीकरण किया जाता है—सावयवा इत्यादि । 'अनल्प—' इस पद्य में जो अपह्नुति है वह सावयवारोपा (अवयवांश में आरोपसहिता) नहीं जाती है । सारांश यह कि—यहाँ 'दानवषम्' इस अवयव-भाग में आरोप हुआ है—अर्थात् दान में वृष्टि-भाव आरोपित है (फलतः रूपक है), अतः 'राजा नहीं, किन्तु मेघ है' यहाँ की यह अपह्नुति 'सावयवारोपा' कही जाती है ।

पुनर्भेदान्तरमाह—

आरोपमात्रोपायत्वे परम्परिताप्येषा सम्भवति ।

आरोपेति आरोपस्येत्यादि । मात्रपदेन अपह्नुतेरपह्नुत्युपायत्वं व्यवच्छिद्यते । यस्या अपह्नुतेरवयवांशे एक आरोपोऽपरस्यारोपस्योपायभूतो भवेत्, साऽपह्नुतिः परम्परिता कथ्यत इति भावः ।

पुनः अन्य भेद किया जाता है—आरोप इत्यादि । जिस अपह्नुति के अवयवांश में

ऐसे दो आरोप हों जिनमें एक दूसरे का उपायभूत रहे तब वह अपहृति परम्परिता भी हो सकती है।

उदाहरणमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘मनुष्य इति मूढेन खलः केन निगद्यते।

अथ तु सज्जनान्भोजवनमत्तमतद्भजः॥’

केन, मूढेन, खलः दुष्टो जनः, ‘मनुष्य’ इति पदेन, निगद्यते कथ्यते। मनुष्यो न, अपि तु अयम् सज्जनममूढरूपस्य, अम्भोजवनस्य कमलपुञ्जस्य, कृते, मत्तः, मतद्भजः हस्ती, अस्तीत्यर्थः। अत्र सज्जनसमुदयेऽम्भोजवनवारोपः खले मतद्भजत्वारोपस्योपाय इति परम्परितताऽस्या अपहृत्योप्या।

उदाहरण विललाषा जाता है—मनुष्य इत्यादि। कौन मूख ‘दुष्ट’ को मनुष्य कहता है। यह तो सज्जनरूप कमल-वन के लिये मत्त हाथी है—जैसे मत्त हाथी कमल-वन को तोड़ फोड़कर बिनष्ट कर देता है, उसी तरह दुष्ट सज्जन को नष्ट कर देता है। यहाँ दुष्ट में हाथीपद के आरोप का उपायभूत है सज्जनों में कमल-वन भाव का आरोप, अतः ‘मनुष्य नहीं, हाथी है’ इस अपहृति का व्यवहार ‘परम्परित’ शब्द से किया जाता है।

अपहृतिष्यनिमुदाहर्तुमाह—

अस्याश्च ध्वनिर्यथा—

अस्या अपहृते।

अपहृति की ध्वनि जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘दयिते रदनत्रिपां मिपादयि। तेऽमी विलसन्ति केसराः।

अपि चालकवेपधारिणो मकरन्दस्पृह्यालवोऽलयः॥’

व्याख्यातमिदं ग्राह्यं (११४ पृष्ठे)।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—दयिते इत्यादि। (इसका अर्थ ११४ पृ में देखें)।

उपपादयति—

अत्र ‘नैता रदनत्रिपां, किंतु किञ्चित्कपरम्पराः। न चेतेऽलकाः, अपि त्वलयः’ इति पूर्वोत्तरार्थाभ्यां द्वे अपहृती वाच्यभ्राकट्येनैव निवेदिते। ताभ्यां च ‘न त्वं नारी, किं तु कमलिनी’ इति तृतीयापहृतिर्व्यञ्जनव्यापारेण प्राधान्येन निवेद्यते, तत्सम्बन्धिवस्तुनिपेधारोपयोस्तन्निपेधारोपनिवेदकत्वस्य न्याय्यत्वात्। तुल्य-योगिता तु गुणतया स्थिता।

तावत् आदौ। अप्राधान्ये ध्वनित्वाभावादाह—प्राधान्येनेति। तदिति। अवयवी-त्यर्थः। ननु वाच्यतुल्ययोगिताया एवात्र प्राधान्येन क्वं ध्वनिवन्मत आह—तुल्ययोगिता न्विति। ‘दयिते—’ इतिश्लोके रदन्वित्वनिपेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणकेसरतादात्म्यरूपा एका अपहृति पूर्वार्धेन, अलकत्वनिपेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणभ्रमरतादात्म्य-रूपा च द्वितीया अपहृति द्वितीयाधेन, वाच्यवृत्त्यैव बोध्यते। तेन चापहृतिद्वयेन। नारी-त्वनिपेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणकमलिनीतादात्म्यरूपा ‘न त्वं नारी, किंतु कमलिनी’ इत्याकारा तृतीयाऽपहृतिर्ध्वन्यते। एतत्तृतीयापहृतित्वव्यञ्जकत्वं प्रथमवाच्यापहृतिद्वयस्य सम-

चितमेव, यत् अवयवेमम्बन्धिवस्तुनिषेधारोपौ अवयविनिषेधारोपयो बोधकौ भवत एव—
अर्थात् अवयविभूतनारीमम्बन्धिरदनन्तनिषेधोऽवयविरूपनारीनिषेधस्य, एवम् अवय-
विभूतकमलिनीसम्बन्धिकिरूपरम्भारोप कमलिन्यारोपस्य बोधकौ भवेताम् । अस्याथ
आह्वापपद्धते सर्वाधिकवन्तकारितया प्रधान्येन तद्व्यभिच्यवहारोऽत्र कियते । ननु
अप्रकृतयो केसरभ्रमरयोर्विलासरूपकवियान्वयित्वेन जायमाना तुल्ययोगिताऽत्र प्रधानेति
चेत्, तस्या गुणताया एव स्वीकरणादौचित्याच्चेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'दयिते—' इस पद्य में 'ये दम्त-कान्तिर्यो
नहीं हैं, किंतु केसर पत्तियों हैं' और 'ये केसर नहीं हैं, किंतु भ्रमर हैं' ये दो अपभ्रंशित्यो
तो क्रमशः पूर्वार्थ तथा उत्तरार्थ द्वारा प्रकट रूप में ही निवेदित हैं—अर्थात् वाच्य ही
हैं । इन दोनों अपभ्रंशित्यो द्वारा 'वृत्ती नहीं, किंतु कमलिनी है' यह तृतीय अपभ्रंशिति,
व्यञ्जनावृत्ति से, प्रधानतया ध्वनित होती है । कारण, 'अवयवी से सम्बन्ध रखनेवाली
वस्तुओं के निषेध और आरोप से अवयवी के निषेध और आरोप विदित होते ही हैं'—यह
वात व्याप प्राप्त है । तात्पर्य यह कि भारी-सम्बन्धित्यकान्तिर्यो का निषेध नारी-निषेध
का और कमलिनी-सम्बन्धित्यकेमरों का आरोप कमलिनी-भारोप का व्यञ्जक म्पाद्यत' होगा ।
भाप कहेंगे—यहाँ उपमान होने के कारण अप्रस्तुत केसर तथा भ्रमरों का विलास-
क्रियारूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध है, अतः जो तुल्ययोगिता वाच्य होती है वहीं प्रधान
है, फिर अप्रधान स्पष्टव्य अपभ्रंशित्य को लेकर ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो मैं
कहूँगा कि—भापका कथन ठीक नहीं है । कारण, तुल्ययोगिता यहाँ है अवश्य, पर
प्रधान नहीं किन्तु गौण, अतः उक्त ध्वनि का व्यवहार यहाँ अत्यन्त समुचित है ।

अप्यनाय दीक्षितौकमुदरति—

यस्यपयशीक्षितैरपहुतिव्यनानुक्तम्—

“त्वदालेख्ये कौतूहलतरलतन्वी विरचिते

विधायैका चक्र रचयति सुपर्णमुत्तमपि ।

अपि स्वित्पाणिस्त्यरितमपमृज्यैवपरा

करे पीप्यं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति ॥”

इत्यादावप हुतिव्यनिरुदाहर्तव्यः । अत्र हि चक्रसुपर्णलेखनेन 'नायं साधारणः
पुरुष', किंतु पुण्डरीकाक्षः' इति कवाचिद् व्यञ्जितम् । अन्यथा तु—तस्यात्येता-
द्वरा रूपं न सम्भवतीत्याशयेन 'नायं पुण्डरीकाक्षोऽपि, किन्तु—मन्मथः' इति
सदुभयमपमृज्य पुष्पसायकमकरभ्रजलेखनेन व्यञ्जितम् ॥” इति ।

कस्यचन नायकस्य वर्णनम् त्वदालेख्ये इति । कवि कथयति—कौतूहलेन उत्क-
ण्ठया, तरलया वपलया, तन्म्या कृशाह्वया भागिक्या, विरचिते निर्मिते, त्वदालेख्ये
त्वद्व्यतिरिक्तभूते चित्रे, एका वायिका, चक्रं सुदर्शनाख्यम्, तच्चित्रमिति यावत्,
विधाय कृत्वा, सुपर्णमुत्तं गरुडम्, तच्चित्रमिति यावत्, अपि रचयति । स्वित्पाणौ
स्वेदमुक्षोभवन्तौ, पाणी करौ, यस्यास्तादृशी अपरा तृतीया वाचिवायिका, एतदपि चक्र-
गरुडचित्रमपि, त्वरितं शीघ्रम्, उपमृज्य शीघ्रञ्च, करे चित्रलिखितत्वदस्ते, पीप्यं प्रसून-
मयम्, चापं यत्, उपरिष्टाच्च, मकरम्, लिखतीत्यर्थः । अत्र 'स्वित्पाणि' इति विशेषण
चित्रापमार्जवयोग्यता व्यञ्जकं । तस्यापीति । पुण्डरीकाक्षस्यापि । तदुभयमिति । चक्रसुपर्-
णद्वयमपीत्यर्थः । अथ भावः—दीक्षितेन 'त्वदालेख्ये—' इति पद्यमपहुतिभन्नुदाहरणतया
स्वीकरणीयमिच्छत्वा सदुपपादने कथितम्, यत् अस्मिन् पद्ये चक्रसुपर्णचित्रनिर्माणेन
(तादृशनिर्माणवर्णनेन) 'नायं साधारणः पुरुष', अपि तु विष्णु' इत्यान्तरिकाऽपहुति-

ध्वन्यते । पुन विष्णोरोद्देश रूपं न भवितुमर्हतीत्यभिप्रायवदपरनायिकां कर्तृकृतोद्भूत-
पूर्वककटाधिकरणकपुष्पधनुरादिनिर्माणवर्णनेन 'नाय विष्णुरपि, अपि तु कामदेव' इत्याश-
रिकाऽपराऽप्यपहृतिर्ध्वन्यत इति । इति ।

खण्डन करने के लिये दीक्षितजी का मत उद्धृत किया जाता है—यत्तु इत्यादि ।
अप्यदीक्षित ने अपहृति-ध्वनि के विषय में कहा है कि—“श्रवणालेख्ये—अर्थात् डाकू
से घञ्जल घनी कृशाङ्गी नायिका द्वारा रचित तेरे चित्र में दूसरी नायिका सुदर्शन-
चक्र (उसका चित्र) बनाकर गरड़ बना रही है । और तीसरी नायिका—जिमके हाथों
में शरवेद आ रहे थे (इससे चित्र को मिटाने की योग्यता सूचित होती है) सट से चक्र
और गरड़ को मिटाकर हाथ में पुष्पमय धनुष तथा ऊपर मगर लिख रही है ।” (यह
किसी नायक का कविकृत वर्णन है ।) इत्यादिक में अपहृति-ध्वनि का उदाहरण देना
आदिप, क्योंकि यहाँ किसी नायिका द्वारा चक्र तथा गरड़ के चित्रण का वर्णन होने से
'यह साधारण पुरुष नहीं, किंतु विष्णु है' यह अपहृति ध्वनित होती है और पुन' अन्य
नायिका द्वारा 'विष्णु का भी ऐसा रूप नहीं हो सकता' इस अभिप्राय से 'शीघ्र चक्र तथा
गरड़ दोनों को मिटाकर पुष्पमय धनुष और मगररूप ध्वजा के चित्रण का वर्णन होने से
'यह विष्णु भी नहीं, किंतु कामदेव है' यह अपहृति भी ध्वनित होती है ।”

खण्डयति—

सदेतदापातरमणीयम् । यत्तावदुच्यते—‘चक्रमुपर्णलेखनेन नाय साधारण’
पुरुषः, किन्तु पुण्डरीकाक्षः’ इति कयाचिद् व्यञ्जितमिति । तत्रापहृतेर्द्वौ भागौ-
उपमेयनिषेधः, उपमानारोपश्चेति । तयोस्तावदुपमानारोपभागः पुण्डरीकाक्षोऽय-
मित्याकारश्चक्रमुपर्णलेखनेनाभिव्यङ्क्तुं शक्यः, चक्रमुपर्णयोस्तत्सम्बन्धित्वात् ।
न तु नाय साधारणः पुरुष इत्युपमेयनिषेधभागोऽपि, व्यञ्जकस्यारोपमात्रव्यञ्जन-
समर्थस्य सादृशनिषेधव्यञ्जने सामर्थ्याभावात् । नाप्यनुभवसिद्धं सः, येन
तद्व्यञ्जनोपायो गवेष्येत । नापि गवेष्यमाणोऽपि तद्व्यञ्जनोपायः शब्दोऽर्थो वा
उपलभ्यते, येनानुभवकलहोऽपि स्यात् । न च साधारणपुरुषनिषेधमन्तरेण
पुण्डरीकाक्षतादात्म्यारोपो दुर्घट इति सोऽपि व्यञ्ज्यत इति वाच्यम्, रूपको-
च्छेदापत्तेः । मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखनिषेधमन्तरेण चन्द्रत्वं दुरारोपमित्यस्यापि
सुस्पष्टपत् । ननु, मुखनिषेधावगमे, जितमपहृत्या ।

अथ मुखं चन्द्र इति रूपके मुखत्वसामानाधिकरण्येन चन्द्रताद्रूप्यस्यारोप्य-
माणतया न मुखनिषेधापेक्षेति चेत्, प्रकृतेऽपि तर्हि सादृशसाधारणपुरुषत्व-
सामानाधिकरण्येन पुण्डरीकाक्षतादात्म्यारोपरूपमसौ राजा पुण्डरीकाक्ष
इत्याकाररूपकमेव भवितुमीष्टे, नापहृति ।

यद्यपि चोच्यते ‘नाय पुण्डरीकाक्षः, अपि तु मन्मथः’ इत्यादि । तत्र यद्यपि
चक्रमुपर्णदूरीकरणेन नाय पुण्डरीकाक्ष इति निषेधः, पुष्पचाप-ध्वजगतमकरयो-
र्लेखनेन च मन्मथोऽयमित्युपमानारोपश्च व्यञ्ज्यो भवितुमर्हति, तथापि
नासावपहृतिः । ‘प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम्’ इति तत्कृतलक्षण-
स्याप्यत्रासत्तात् । अत्र हि निषेधस्य भगवत पुण्डरीकाक्षस्यावर्ण्यत्वेना-
प्रकृततया प्रकृतनिषेधाभावान् । नहि पूर्वोरोपिततामात्रेण प्रकृतत्वं वक्तुं
शक्यम् । प्रकृतपदस्यारोपविषयपरताया ‘निषिध्य विषयम्’ इत्यादिना क्त्वाप्रत्यय-
फलं ब्रूयता भवतैव तत्र स्पृष्टीकरणात् । काव्यप्रकाशकृतापि ‘प्रकृत यन्निषिध्या-

न्यस्ताध्यते सा त्वपहुतिः' इति सूत्रं व्याचक्षाणेन 'उपमेयमसत्यं कृत्वा' इत्यादिना प्रकृतपदस्योपमेयपरतयैव व्याख्यानाच्च ।

प्राचीनमतसिद्धेयमपहुतिर्व्यङ्ग्यत्वेनास्याभिरिहोच्यत इत्यपि कुशकाशा-
चलस्वनमात्रम्, 'प्रकृतस्य निषेधेन' इत्यादिलक्षणं कुर्वता भवसैव तस्या
बहिःकृपात् ।

एवमप्युक्तपथे कोऽलङ्कारो व्यङ्ग्य इति चेत् ? निच्छित्तिवैलक्षण्येऽतिरिक्तः,
अन्यथा त्वपहुतिरेवास्तु । लक्षणं तु तदा प्रसक्तयत्किञ्चिद्वस्तुनिषेधसामाना-
धिकरण्येन क्रियमाणवस्त्वन्तरारोपत्वमेव । तस्मात् सर्वमेवेदमहदयङ्गमं
सहृदयानाम् ।

तदेतदिति । पूर्वोक्तं दीक्षितमतमित्यर्थः । आपातरमणीयं बहिःसुन्दरम् ।
वस्तुतो दुष्टमिति यावत् प्रथममशविशेषमनूय सञ्जयति—यत्तावदिति । तत्रेति । उच्यत-
इति शेषः । तत्सम्बन्धिन्वादिति । पुण्डरीकमम्बन्धिन्वादित्यर्थः । भागोऽपीति ।
अतिव्यादृक् शब्द इत्यनुपात्तः । व्यञ्जकस्येति । चक्षुष्यतेष्वनस्येत्यर्थः । नन्वेवं कथं
तदनुभवोऽत आह—नापीति । न इति । तादृशनिषेधभाग इत्यर्थः । उक्तपथ इति शेषः ।
गवेष्येत अन्विष्येत । ननु विनिगमनाविरहोऽत आह—नापीति । उपलभ्यत इति ।
प्रकृतपथ इति शेषः । अनुभवकलह इति । 'निषेधभागो नानुभूयते' इति वदता मया सह
'अनुभूयत एव स भागः' इतिवदतस्तत्तानुभवविषयको विवाद इत्यर्थः । निषेधभागा-
भिव्यक्तेः स्वीकरणीयत्वे युक्तिं शङ्कते—न चेति । दुर्घट इति । तज्ज्ञानस्य तत्र प्रतिबन्धक-
त्वादिति भावः । सोऽपीति । निषेधभागोऽपीत्यर्थः । अनुपपत्तेरिति भावः । सगाथते—
रूपकोच्छेदेति । कथं तदुच्छेदः, 'मुखं चन्द्र' इत्यादौ सावकाशत्वादित्यत्राह—मुखं चन्द्र
इति । ननु तत्रापि तत्स्वीकारोऽत आह—तत्राप्येति । रूपकोऽपीत्यर्थः । एव च तदुच्छे-
दापत्तिरिति भावः । आपज्ञानमाहायज्ञाने न प्रतिबन्धकमित्याशयेनाह—अथेति । सामा-
नाधिकरण्येनेति । मुखत्वविशिष्टमुद्ररूपाधिकरणवृत्तित्वेत्यर्थः । अत्र 'न त्वपच्छेदका-
च्छेदेन' इति परिशिष्टार्थविहरणं तु न सुसह्यं प्रतिभाति, अप्रासङ्गिकत्वादिति लुभीभि-
रावलनीयम् । आरोप्यमाणतयेति । आहार्यज्ञानविषयीक्रियमाणतयेत्यर्थः । पूर्वोक्तं
'त्वश्लेषे—' इति पदस्यापहुतिश्चन्द्रादहरणताकथनं न युक्तम्, यद्वस्तुन प्रथमापहुते-
र्ध्वननं न सम्भवति, अपहुतिशरीरप्रविष्टयोऽपमेयनिषेधेपमानारोपात्मकयोर्द्वयोर्भागयो-
रन्तिमभागस्य 'पुण्डरीकमोऽयम्' इत्याकारकस्य पुण्डरीकमम्बन्धिचक्रादिलेखनवर्णनरूप-
व्यञ्जकेन व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रथमभागस्य 'नायं साधारणः पुरुषः' इत्याकारकस्याव्यङ्ग्यत्वात् ।
ननु कुतोऽव्यङ्ग्यत्वं तद्वायस्येति चेत् ? व्यञ्जकमावादिति बोध्यम् । यवादिलेखनमेव
तद्वागस्यान्यभिव्याञ्जकं किं न स्यादिति चेन्न, उदासीनतया तद्व्यञ्जने तस्यासमर्थत्वात्,
उदासीनस्यापि व्यञ्जकत्वे यत्किञ्चिदनभिमतार्थव्यञ्जकत्वस्याप्यापत्तेः । उपमेयनिषेधावगम-
मन्तारोपमानादुप्यारोपः सम्भवत्येव नेति कथं तु न किञ्चित्, तथाङ्गीकारे रूपकविडो-
पात् । तथा चात्रापि उपमेयताच्छेदकपुरस्कारेणोपमानतादात्म्यावगमात् रूपकत्वनिरेव,
नापहुतिश्चनिरिति सारायाम् बोध्यः । द्वितीयाप्यपहुतिर्ध्वन्यमानतया दीक्षिताभिमतता न
सम्भवतीत्याह—यदपीति । ननु निषेधसायानाधिकरण्येनोपमानतादात्म्यारोपरात्वात्कथं
तदभावोऽत आह—अत्र हीति । ननु पूर्वमारोपितत्वात्प्रकृत एव सोऽत आह—नहींति ।

निविध्य विषयमित्यादिनेति । “-‘निविध्य विषय साम्यादन्यारोप’ इति तु क्त्वाप्रत्ययेन लक्षणं नोक्तम् । वक्ष्यमाणोदाहरणे आरोपपूर्वकापह्नवेऽव्याप्तिप्रमत्तात्” इति तैत्तिरीयम् । फल कचिदव्याप्तिरूपमनिष्टम् । तत्र चित्रमीमासायाम् । ‘त्वत्कृतलक्षणस्यापि’ इत्यत्रापिपदेन सूचित लक्षणान्तरस्यासत्त्व स्फुटयति—काव्येति । व्याख्यानाच्चेति । पुण्डरीकाक्षस्तूपमानमिति भावः । ‘नाय पुण्डरीकाक्षः, अपि तु मन्मथ’ इत्याकारा द्वितीयापह्नुतिर्व्यन्यते इति कथनमपि दीक्षितस्यायुक्तमेव, एतदाकारान्तर्गताशब्दस्य मूलोक्तरीत्या व्यङ्ग्यत्वसम्भवेऽपि अपभ्रुतित्वस्यैव विरुद्धात् । निवेध्यस्य विष्णोरुत्कर्षणीयतया प्रकृतपदबोधप्रतापिरेहेण ‘प्रकृतस्य निषेधेन—’ इति तद्विधायकप्रकृतिलक्षणस्याप्यशङ्कते । ननु प्रकृतपदेन पूर्वोदापितार्थस्यैव ग्रहणं, तथा च प्रकृते पुण्डरीकाक्ष प्रकृत इति चेन्न, प्रकृतपदस्योपमेयप्रतापा भावता काव्यप्रकाशकृता च व्यवस्थापनादिति भावः । पुनरन्यथा दीक्षितोक्तेः सङ्गतिमाशङ्क्य समाधत्ते—प्राचीनेति । प्रागुक्तदण्डिमतेत्यर्थः । इह चित्रमीमासायाम् । कुशाकारोति । यथा ससारकाष्ठाद्यलम्बनमेवोचितम् न कुशाद्यसारतृणालम्बनम्, तथा सर्वसिद्धससारमतालम्बनमेवोचितं नैकदेशिमतालम्बनमिति भावः । तदेवाह—प्रकृतेति । एव प्रत्यासत्तिबोधकः । दण्ड्यादिमतेन ‘त्वदालेख्ये—’ इत्यत्रापह्नुतिष्वनिः सुस्थ एवेति मयापि तन्मतानुसारं तथा लिखितमित्यपि न दीक्षितेन वक्तुं शक्यम्, ‘प्रकृतस्य—’ इत्यपह्नुतिलक्षण रन्मता तेन दण्ड्यादिमतस्य तिरस्कारात्, स्वयं तिरस्कृतस्य स्वयं पुरस्कारोऽनुचित एवेति भावः । उक्तखण्डनोत्तरं जायमाना जिज्ञासा शमयितुमाह—एवमपीति । अन्यलक्षणबहिर्भावे इत्यर्थः । उक्तपथे इति । त्वदालेख्ये इति पथ इत्यर्थः । विच्छिन्ति चमत्कृति । अतिरिक्त इति । अपभ्रुतेरन्यं रूपकस्य अलङ्कार इत्यर्थः । अन्यथेति । विच्छिन्तिविशेषाभावे इत्यर्थः । ननु प्रागुक्तसर्वसम्मततापह्नुतिसामान्यलक्षणात्ताकान्तत्वात्कथं तत्त्वमत आह—लक्षणं त्विति । तदेति । तत्रापह्नुत्यङ्गीकरणे इत्यर्थः । प्रसक्तैति । प्रसक्तैत्यर्थः । प्रसक्तश्च यथाश्रयचित्—न तु प्रकृतत्वापेक्षेति भावः । ‘अस्तु’ ‘तदा’ इत्येताभ्यामस्य स्वानभिमतत्वं सूचितम्, अतः स्वमिद्वान्तरीत्योपसहारमाह—तस्मादिति । सर्वमेवेदमिति । दीक्षितस्य मूलभूत प्रकृतमतम्, यथाश्रयचित् तत्समर्थनं चेत्यर्थः । अन्वयः सुपमम् । अत्र ‘अहदयज्ञमन्’ इति प्रतीकगुणदाय नागेश विचारान्तरमुपस्थापितवान् । तद्व्यस्तान्निविश्यते—“अत्रेदं चिन्त्यम्—दीक्षितैर्हि दण्डी अपह्नुते साधर्म्यमूलत्वनियममनाख्य ‘अपह्नुतिरपह्नुत्य-किञ्चिदन्वार्थसूचनम्’ इति लक्षयित्वा उदाहरणं—‘न पठ्येत् रमरस्तस्य सहस्रं पत्रिणा वत् । वन्दनं चन्द्रिका गन्धो गन्धवाहश्च दक्षिणः ।’ इत्यानुपकम्प्य ‘त्वदालेख्ये’ इत्यायुक्तमिति । तदनुसारेणैव तत्रापह्नुतिष्वनिरुद्धाहृत इति न किञ्चिदहदयज्ञमन् । प्रकाशविरोधोऽपि न । तत्रोपमेयपदस्य पदार्थोपलक्षणत्वात् । अन्यथा ‘केसेसु बलमोडिश’ इत्यत्र ‘स्वयं न प्रपञ्चय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवः सभाव्यः तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिर्व्यज्यते—’ इति प्रकाशग्रन्थासङ्गतिः स्यादिति बोध्यम् । अत्र ‘त्वदालेख्ये’ इत्यायुदाहरणं दण्डिमतानुसारमिति नागेशमहाभागः समाधत्तः । निम्नु चित्रमीमासाया ‘साधर्म्यमूलत्वपह्नुतिरिति तेन व्याहृता’ अत्रैव दण्डिमतानुवादः समाप्यते । ‘त्वदालेख्ये’ इत्यायुदाहरणं दत्त्वा ‘इत्यादावपह्नुतिष्वनिरुद्धाहृतस्य’ इति दीक्षितानां स्वमतमिदम् । अन्यथाऽलङ्कारान्तरेष्विवात्र ध्वनेरुदाहरणानुल्लेखारप्रकरणपूर्तिरेव न सिद्धयेत् । किञ्च दण्डिकृतापह्नुतिलक्षणमस्वीकृतवत्ता दीक्षितमहोदयेन तन्मतानुसारमप-

हुतिष्वनिष्ठाहृत इति न सम्भाव्यते । प्रकाशविरोधपरिहारोऽपि न चेशकृतो विचारणीय एव । यतः कारिकाया 'प्रकृत'-पदं विवरणे चोपमेयपदं स्पष्टमुल्लिखतः, उपमानोपमेय-भावस्थल एव चापह्नुतिभेदानुदाहरतो मम्मटमहस्य दण्डिमतानुयायित्वं न कथमपि मिदधति । उपमेयपदस्य पदार्थोपलक्षणत्वकथनमपि मूलान्तरस्वारस्यप्रतिकूलमेव, प्रायो नागेशातिरिक्तोक्तकारानभिमतश्च । —“केमेसु चत्ता मोटिय” इत्यापह्नुतिर्ध्वज्यते—” इत्युक्तिस्तु ‘ये दण्डमदय ईदृशे स्थलेऽपह्नुतिमनोवृन्ति तेषां मतेऽपह्नुतिरपि व्यङ्ग्यत्वेना-होक्तुम् शक्या’ इत्याशयेनापि सङ्गता भवितुमर्हतीति तु नह्य ।

उक्त दीक्षितमत का खण्डन किया जाता है—तदेतत् इत्यादि । ऊपर उद्धृत किया गया अप्ययदीक्षितजी का कथन आपातमनोहर है—ऊपर से सुन्दर प्रतीत होने पर भी भीतर से परम कुरूप है (दोषयुक्त) है । देखिये, प्रथमतः यहाँ कहा जा रहा है कि—“नायिका द्वारा चक्र तथा गरुड के लेखन से ‘यह साधारण पुरुष नहीं, किन्तु विष्णु है’ यह अपह्नुति ध्वनित होती है ।” इसके सम्बन्ध में मेरा कथन है कि—अपह्नुति के दो भाग हैं—उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप । उनमें से दूसरा भाग अर्थात् उपमानारोपभाग—जिसका आकार है ‘यह विष्णु है’—चक्र तथा गरुड के लेखन से ध्वनित हो सकता है, क्योंकि चक्र और गरुड विष्णु से सम्बन्ध रखते हैं । पर ‘यह साधारण पुरुष नहीं है’ यह उपमेयनिषेध भाग भी यहाँ ध्वनित होता है—यह नहीं कहा जा सकता । कारण, चक्र-गरुडलेखन-रूप व्यञ्जक केवल आरोप भाग को ध्वनित करने में समर्थ है, उक्त उपमेय निषेध-भाग को ध्वनित करने का सामर्थ्य उस स्थलक में है ही नहीं । और यहाँ उपमेयनिषेधभाग अनुभवसिद्ध भी नहीं है—सहस्रों को यहाँ उस अंश की प्रतीति होती भी नहीं, यदि वैसी प्रतीति होती रहती तब उसको ध्वनित कर सकने वाला उपाय (व्यञ्जक) खोजा भी जाता । खोजने पर भी उस भाग का व्यञ्जक शब्द अथवा अर्थ यहाँ उपलब्ध नहीं होता, यदि वह उपलब्ध होता तब अनुभव के विषय में कुछ भी हो सकता—अर्थात् व्यञ्जक के उपलब्ध होने पर ‘उस अंश की भी प्रतीति यहाँ होती है’ इस तरह का मतभेद भी खड़ा किया जा सकता था । साधारण पुरुष का निषेध किये बिना विष्णु के साक्षात्कार का आरोप हो नहीं सकता, अतः वह अंश भी ध्वनित होता है वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर रूपक का उद्देश्य ही जायगा—उसके लिये ससार में कहीं स्थान ही नहीं रह जायगा । कारण, ऐसी स्थिति में ‘मुख चन्द्र है’ इत्यादिक में मुख का निषेध किये बिना मुख में चन्द्राव का आरोप कठिन है—यह भी सहज में कहा जा सकेगा । यदि वहाँ भी मुख-निषेध की प्रतीति स्वीकृत कर ली जाय तब अपह्नुति का विजय हुआ और वस्तुतः रूपक उच्छिद्य हो गया । अब यदि आप कहें कि—‘मुख चन्द्र है’ इस रूपक में मुखत्व के अधिकरण में ही चन्द्र तादृश्य का आरोप होता है—अर्थात् मुख को समस्तते हुए चन्द्र समझा जाता है, अतः वहाँ मुख के निषेध की अपेक्षा नहीं है, तो मैं कहता हूँ कि, प्रकृत में भी पूर्वोक्त साधारणपुरुषत्व के अधिकरण में विष्णु तादृश्य का आरोप होता है, अर्थात् यहाँ भी साधारण पुरुष को पुरुष समस्तते हुए ही विष्णु समस्तते है, यत्तत्. ‘यह राजा विष्णु है’ इस तरह का रूपक ही यहाँ हो सकता है, ‘राजा नहीं, विष्णु है’ इस तरह की अपह्नुति नहीं । यह तो हुई एक बात । दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि—‘यह विष्णु नहीं, किन्तु कामदेव है’ इत्यादि । इस कथन में यद्यपि कुछ सत्यता है—अर्थात् इस अंश में यद्यपि चक्र तथा गरुड के चित्र को पोंछ डालने से ‘यह विष्णु नहीं है’ यह निषेधभाग और पुष्पमय धनुष तथा पञ्च-स्थित मगर के लेखन से ‘यह कामदेव है’ यह आरोपभाग—इस तरह दोनों भाग ध्वनित हो सकते हैं, तथापि यह अपह्नुति नहीं है, क्योंकि ‘प्रकृतस्य—अर्थात् प्रस्तुत के निषेध द्वारा

अन्य की कल्पना अपहृति कहलाती है।' यह आपका अपना लक्षण भी यहाँ नहीं स्पष्टित होता—दूसरों के लक्षण की तो बात ही क्या। कारण, यहाँ जिसका निषेध किया जा रहा है वे भगवान् विष्णु वर्णनीय नहीं हैं, किन्तु राजा वर्णनीय है, अतः विष्णु के अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ प्रस्तुत का निषेध नहीं है। आप कहेंगे—जब पहले राजा में विष्णु का आरोप किया जा चुका है तब विष्णु प्रस्तुत क्यों नहीं? पर यह कथन भी ठीक नहीं, अर्थात्—केवल पहले आरोपित हो जाने से कोई पदार्थ—प्रकृत में विष्णु—प्रस्तुत नहीं कहा जा सकता। कारण, चित्रमीमांसा में आपने ही 'निषिध्य विषयम्' 'इत्यादि ग्रन्थ से निषिध्य पद में आप 'क्त्वा' प्रत्यय का फल कहते हुए 'प्रकृत' पद का अर्थ 'आरोप का विषय—अर्थात् उपमेय' होता है—इस तरह स्पष्ट किया है। स्पष्ट अभिप्राय है कि चित्रमीमांसा में दीक्षितजी ने कहा—'विषय का निषेध करके (निषिध्य) साम्यमूलक अन्य का आरोप' इस तरह 'क्त्वा' प्रत्ययवर्धित लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब जहाँ पहले आरोप करके अपहृत किया जाता है वहाँ अन्यत्वा हो जाती है। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वे (दीक्षितजी) प्रकृत पद का अर्थ उपमेय मानते हैं। और काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी 'प्रकृत यन्निषिध्य—' इस कारिका की व्याख्या करते हुए 'उपमेय को असत्य बनाकर—' इत्यादि कथन द्वारा 'प्रकृत' पद का अर्थ 'उपमेय' माना है। आप कहेंगे—प्राचीनों—दण्डी आदि—के मत से तो यह अपहृति अवश्य है, क्योंकि उनके लक्षण में उपमेय की बात नहीं है—अर्थात् उन्होंने 'अपहृतिरपहृत्य किञ्चिदन्वयसूचनम्—किसी वस्तु का निषेध करके अन्य वस्तु का सूचित करना अपहृति है' ऐसा ही लक्षण किया है, बस, उन्हीं के मत को मानकर मैंने भी यहाँ अपहृति-ध्वनि लिखी है। तो यह भी 'इष्टते को दिव्ये का सहारा' जैसा ही है। कारण, 'प्रकृतस्य निषेधेन—' इत्यादि पूर्वोक्त लक्षण बनाते हुए आपने ही उस तरह की अपहृति का बहिष्कार कर दिया है। तात्पर्य यह कि अब आप दण्डी आदि के लक्षण को नहीं मानते तब उनके मतानुसार उदाहरण उपस्थित करना आपका कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। इतने पर भी यदि आप पूछें कि—उक्त पद्य में कौन अलंकार व्यक्त है? तो इसका उत्तर यह है कि—यदि हममें अपहृति के चमत्कार से विलक्षण चमत्कार आपको अनुभूत हो तब अन्य अलंकार—अर्थात् रूपक मानिए, अन्यथा अपहृति ही मानिए। पर तब आपको दण्डी आदि की तरह 'प्रसक्त यत्किञ्चित् (उपमेय अथवा तन्निष्ठ) पदार्थ के निषेध के साथ किया जाने वाला अन्य पदार्थ का आरोप अपहृति है' ऐसा ही लक्षण बनाना चाहिए। सारांश यह सिद्ध हुआ कि हम सब गुरुवरियों के कारण ये सब कथन सहृदयों के लिए हृदयङ्गम नहीं हैं—इन बातों से सहृदयों को सन्तोष नहीं हो सकता। यहाँ नागेश कहते हैं कि—पण्डितराज का यह कथन विचारणीय है। कारण, दीक्षितजी ने "दण्डी ने तो 'अपहृति के सादर्यमूलक होने' के नियम का अनादर करके 'अपहृतिरपहृत्य किञ्चिदन्वयसूचनम्' यह लक्षण बनाकर उदाहरण दिया है 'न पद्मेषु स्मरस्तस्य सहस्र पत्रिणां यतः। चन्दन चन्द्रिका चन्द्रो गन्धवाहश्च दक्षिण। (अर्थात् कामदेव पञ्चबाण नहीं हैं, क्योंकि उनके हजारों बाण हैं, चन्दन, चाँदनी, चन्द्रमा और मलयानिल आदि)'" इत्यादि आरम्भ करके 'श्रवणालोक्ये—' यह पूर्वोक्त उदाहरण दिया है। अतः यह ध्वनि दण्डी आदि के अनुसार कथित होने का कारण अहृदयङ्गम नहीं है। प्रकाशविरोध भी नहीं होता, क्योंकि प्रकाश-ग्रन्थ में 'उपमेय' पद पदार्थमात्र का उपलक्षण है। अन्यथा—

'केसेषु चलाभोद्विष तेषां नमसमग्निं जज्वलितं गह्वरा।

जह कन्दरादि विहुरा तस्स दह कठ अग्निं सठविआ॥

अर्थात् उसने सग्राम में बलात्कार से जयलक्ष्मी को वैसे ग्रहण किया, जैसे कि गुफाओं में उसके विधुर (जीरहित) बैरियों को अपने कण्ठ (अन्दर के हिस्से) में दहृतया स्थापित कर दिया।' इस उदाहरण में 'वैरी अपने आप भाग कर नहीं गए, किन्तु गुफाएँ उससे

पराजय की संभावना करके उन्हें नहीं छोड़ती—यह अपहृति अभिव्यक्त होती है। यह प्रकाशकार का ग्रन्थ असंगत हो जायगा, क्योंकि यहाँ उपमेय का निषेध नहीं है। बहुत लोग नागेश की भालोचना करते हुए कहते हैं कि नागेश का कथन ठीक नहीं है। कारण, पहले जो उन्होंने यह समाधान दिया कि—दण्डी के मतानुसार 'त्वदालेख्ये—' यह अपहृतिष्वनि का उदाहरण दिया गया है, वह संगत नहीं जंचता, क्योंकि चित्रमीमांसा में दण्डी के मत का अनुवाद पहले समाप्त हो जाता है तब 'त्वदालेख्ये—' यह उदाहरण दिया जाता है और उसके आगे 'इत्यादि स्थलों पर अपहृतिष्वनि का उदाहरण देना चाहिये' ऐसा लिखा जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह दीक्षितजी का यह अपना मत है और यह बात जैवती भी है क्योंकि जब दण्डी के लक्षण को दीक्षितजी ने नहीं माना तब उनके मत से उदाहरण कैसे दे सकते हैं ? और यदि यह उदाहरण दूसरे के मत से दिया गया होता तब अपने मत से दूसरा उदाहरण अवश्य देते, जैसे सभी भलंकारों में देते हैं। दूसरा समाधान जो उन्होंने दिया है प्रकाश विरोध परिहार वाला, वह भी सर्वथा मानने योग्य नहीं होख पड़ता, क्योंकि जब मम्मटभट्ट ने मूल फारिका में 'मकृत' पद लिखा और उसकी व्याख्या में उसका अर्थ स्पष्टतः 'उपमेय' किया तथा सभी उदाहरण भी उपमानोपमेयमावस्थल में ही दिखलाए, तब उस 'उपमेय' पद को पदार्थमात्र का उपलक्षण कहकर मम्मट को वृण्दिमतानुयायी बनाना उचित नहीं, रही बात 'केसेसु—' इस पद्य में अपहृतिष्वनि लिखने की। सो उसका भावय इस तरह वर्णित हो सकता है कि—उक्त पद्य में 'उपेयाष्वनि और काव्यलिङ्गष्वनि है' और जिन—दण्डी आदि—के मत से ऐसे स्थलों पर अपहृति हो सकती है उनके मत से अपहृतिष्वनि भी सम्मति।

इति रसगङ्गाधरचन्द्रिवर्यामपहुरयलङ्कारप्रकरणं समाप्तम् ।

अपहृतिनिरूपणानन्तरमुत्प्रेक्षाप्रकरणं प्रारब्धव्यतया प्रतिजानीते—

उत्प्रेक्षाप्रकरणम्—

उत्प्रेक्षाप्रकरणमारब्धं वेदितव्यमिति भावः ।

अपहृतिनिरूपण के बाद अब उत्प्रेक्षानिरूपण-प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा की जाती है—अथ उत्प्रेक्षादि । उत्प्रेक्षाप्रकरण, अथ उत्प्रेक्षाप्रकरण, अथ उत्प्रेक्षा ।

तत्रादौ तद्वर्णनमाह—

तद्विन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्-
वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्पतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन
वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।

प्रमितस्येति । पदार्थज्ञानविषयीकृतस्येत्यर्थः । विनिर्माणानिरहादन्तोऽन्याभावात्प्रती-
भावपदितलक्षणद्वयस्य युगपदुक्तिरियम् । तथा च 'तद्विन्नत्वेन प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीय-
तद्गुणिततद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा' इत्येकम् 'तदभाववत्त्वेन प्रमितस्य
पदार्थस्य रमणीयतत्समानाधिकरणतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तद्वत्त्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा', इति च
द्वितीयं लक्षणं फलितम् । अत्र लक्षणद्वये त्रयस्तच्छब्दाः प्रयुक्ताः, तत्र प्रयोगेन तच्छब्देन
विषयी, द्वितीयेन तेन विषयः, तृतीयेन च तेन पुनर्विषयी धर्तव्यः । सम्भावनं ज्ञानविशेषः ।
अयोग्यत्वाभावानुसन्धानमिति यावत् । अवयव स्पष्टोऽर्थः—चन्द्रादिभिन्नत्वेन ज्ञानस्य
मुखादेः मुखवृत्तिचमत्कारकाह्लादकव्यापात्मकचन्द्रधर्मसम्बन्धप्रयुक्तम् चन्द्रत्वेन सम्भा-
वनमुत्प्रेक्षा । इदं सम्भावन तादात्म्य (अभेद) सम्बन्धेन अतो धर्म्युत्प्रेक्षा । एवं

‘निधिं लावण्यानाम्—’ इत्यादौ (अग्रे उदाहृते पद्ये) मोहमावर्ण्येन हासस्य प्रवृत्तः मोहसमानाधिकरणरमणीयाविचार्यकारित्वात्मकधर्मसम्बन्धप्रयुक्तम् मोहवर्ण्येन सम्भावना-मुत्प्रेक्षा । इदं सम्भावना तादात्म्येतरण-समतायसम्बन्धेन अतो धर्मोत्प्रेक्षा । इति ।

उत्प्रेक्षा-निरूपणप्रकरणम् सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा का लक्षण किया जाता है—तद्विधत्वेन हत्यादि । जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ की, उस पदार्थ के रूप में दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर, की जानेवाली सम्भावना, अथवा—जिस धर्म का अभाव जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ में उस धर्म से युक्त होने की ऐसी सम्भावना, जो उस धर्म के साथ रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो, ‘उत्प्रेक्षा’ कहलाती है । अभिप्राय यह है कि—अभाव दो प्रकार का होता है, एक अन्योन्याभाव और दूसरा अत्यन्ताभाव । (यद्यपि अभाव के दो अन्य प्रकार भी होते हैं, पर प्रकृत में उनका कोई उपयोग नहीं, अतः उनकी चर्चा नहीं की जाती) अन्योन्याभाव उस अभाव को कहा जाता है जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता का हो—अर्थात् जिसके द्वारा ‘घट पट नहीं’ हत्यादि रीति से दो धर्मियों की परस्पर अभिन्नता चारित हो—जिसका व्यवहार ‘भेद’ शब्द से किया जाता हो, और अत्यन्ताभाव उस अभाव को कहा जाता है जो निषेध हो—अर्थात् जो जहाँ कदापि नहीं रहे वहाँ उमका अभाव—जैसे वायु में रूप का अभाव । अब प्रकृत में कहना यह है कि—इन दोनों अभावों में से किसी एक का निवेद उत्प्रेक्षा-लक्षण में अधर्य करना है, क्योंकि आखिर ‘अन्य में अन्य की सम्भावना’ को ही सभी आलङ्कारिक उत्प्रेक्षा मानते हैं, पर इन दोनों अभावों में से किसी एक का निवेद करने में कोई खास युक्ति नहीं है, अतः पण्डितराज ने दोनों अभावों का वैकल्पिक रूप में निवेद किया है । फलतः प्रथम लक्षण अन्योन्याभाव-वर्धित और दूसरा लक्षण अत्यन्ताभाव-वर्धित बनाया गया है । प्रथम लक्षण का उच्य ‘मुख में चन्द्र की सम्भावना’ है, क्योंकि यह सम्भावना चन्द्र से भिन्नरूप में यथार्थतया ज्ञात मुख में चन्द्रवृत्ति आह्लादकता का सम्बन्ध रहने के कारण की जाती है । यह सम्भावना ‘तादात्म्य’ सम्बन्ध से की जाती है, अतः ‘धर्मों की उत्प्रेक्षा’ कहलाती है । द्वितीय लक्षण का उच्य ‘ग्रन्थ में मोह की सम्भावना’ है, क्योंकि यह सम्भावना उस ग्रन्थ में उस मोह की की जाती है जिसमें जिसका अभाव सदा यथार्थतया ज्ञात है और इस सम्भावना में निमित्त होता है ‘मोह’ के साथ सदा रहने वाला ‘अविचार्यकानिष्ठ-विना, विजरे कपं कृत्वा’ धर्म का अभाव’ यह सम्भावना ‘समताय-सम्बन्ध’ से की जाती है, अतः ‘धर्मोत्प्रेक्षा’ कहलाती है ।

लक्षणघटकपदकृत्यान्वाह—

‘लोकोत्तरप्रभाव’ त्वां मन्ये नारायण परम्’ इत्यत्र चाट्टशप्रभावस्य नारायणत्वव्याप्यतासम्भावनादशार्था सामप्रथभावेनानुमित्यनुदयाज्जायमानाया नारायणेनानेन प्रायशो भवितव्यमिति सम्भावनायावतिप्रसङ्गवारणाय तद्विभत्वेन प्रमितस्येति सम्भावनायामाहार्यता गमयति ।

एतेन—

‘रामं स्निग्धतरस्यामं विलोक्य वनमण्डले ।

प्रायो घाराधरोऽय स्यादिति नृत्यन्ति केकिनः ॥’

इत्यत्र सम्भावनायाम्, ‘घाराधरधिया धीरं नृत्यन्ति स्म शिखावलाः’ इत्यत्र भ्रान्ती च नातिप्रसङ्गः ।

‘वदनकमलेन बाले स्मितसुपमालेशमावहसि यदा ।
जगदिह तदैव जाने दशार्धनाथेन विजितमिति ॥’

अत्र जगज्जयसम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय रमणीयतद्धर्मनिमित्तकमिति ।
स्मितस्य सम्भावनोत्थापकत्वेऽपि जगद्विजितरूपविषयविषयिसाधारणत्वाभा-
वात्त दोषः ।

एतेन—

‘प्रायः पतेद् द्यौः शकलीभवेद् ग्लौः सहाचलैरम्बुधिभिः स्खलेद् गौः ।

नूनं ज्वलिष्यन्ति दिशः समस्ता यद् द्रौपदी रोदिति हा हतेति ॥’

अत्रापि रोदनकारणीभूतकेशमहणादिजन्यपापनिमित्तोत्थापितायां स्वर्ग-
पतनसम्भावनायां नातिप्रसङ्गः । प्रायः स्थाणुनाऽनेन भवितव्यम्, नूनं
पुरुषेणानेन भाव्यम्, दूरस्थोऽयं देवदत्त इवाभाति, इत्यादौ निश्चलत्वचञ्चल-
त्वादिसाधारणधर्मनिमित्तायां सम्भावनायामतिप्रसङ्गः स्यात्, अतो रमणीयत्वं
धर्मगतमुपात्तम् । रूपकवित्तावतिप्रसङ्गवारणाय सम्भावनमिति ।

इमपि राजानं प्रति कथ्यचिबुक्तिः—लोकोत्तरेति । हे लोकोत्तरप्रभाव ! राजन् । त्वा
परम् तत्कृष्टम्, नारायणं, मन्ये, इति तदर्थः । सम्भावनादशायामिति । एतेन नारायण-
सम्भावनायां कारणमुक्तम् । नन्वेव नारायणत्वस्य निश्चयात्मिकानुमितिरिव, न सम्भावनेति
चेत्तेत्याह—सामप्रधानावेनेति । निश्चयरूपव्याप्तिज्ञानादिरूपानुमितितानमप्रधानावेनेत्यर्थः ।
अनुमित्यनुदयादिति । नारायणत्वानुमित्यनुत्पत्तेरित्यर्थः । ननु कथमेतासां सम्भावनानां
तेन नारायणत्व आह—सम्भावनेति । इदं चेत्यादि । सम्भावनायां लक्षणपदकीभूतायाम् ।
कृत्वा ‘तद्विज्ञावेन प्रमितस्य’ इत्युक्त्या ‘तत्त्वेन सम्भावनस्य सञ्चयोक्तस्य वाचकादि-
केच्छाजन्यत्वरूपाहार्यत्वं प्रतीयते । तेन ‘लोकोत्तरप्रभाव—’ इत्यत्र ‘लोकोत्तरप्रभावो
नारायणत्वव्याप्यः प्रायः’ इति सम्भावनाजन्यायाम् ‘प्रायः नारायणोत्तानेन भवितव्यम्’
इत्याचारिकायां सम्भावनायाम् नातिव्याप्तिः, इच्छाजन्यत्वविरहेणावाहार्यत्वात् । नारायण-
त्वस्य निश्चयात्मिकाऽनुमितिरस्तु नात्र सम्भवदुक्तिका, लोकोत्तरप्रभावे नारायणत्वव्याप्य-
तानिश्चयदशायामेव ताप्रसक्त्यः । अत्र तु तत्र तस्याः सम्भावनेव, न निश्चय इति भावः ।
अत्र ‘सम्भावनायां आहार्यत्वस्वीकारेण—असामान्ये राजनि अलौकिकप्रभावयशाद् या
अनादयां (सत्या) नारायणत्वसम्भावना [नारायणत्वं वाममसत्यम् परं तत्त्वसम्भावना
तु सत्यैव] तस्यानुप्रेषात्वं न प्रसक्तम् ।’ इति ‘सरला’ ज्योपरि प्लयमाना भौकेव
सलगतं रजं वस्तुतत्त्वं नैव स्पृशतीति सुधीभिराकलनीयम् । आहार्यत्वनिवेशस्य फलान्तर-
माह—एतेनेति । कवेर्दत्तः—राममिति । केचित्तो मयूरा, वनमण्डले, क्षिप्रतरस्यरामम्
अतिचिक्वणं ह्यामलवर्णम् च, रामम्, निलोक्य, अयं, प्रायः, धारापरः मेघः, स्यात्,
इति, सम्भावनायां, नृत्वनतीति तदर्थः । अत्रैव पद्ये उत्तरार्धं परिवर्त्य गच्छति—‘धारापर-
धिया—’ इति । तादृशं राममालोक्य—धाराधरधिया मेघप्रान्त्या, शिखावला मयूरा,
नृत्यन्ति स्म नृत्यं कृतवन्त इति परिवर्तितपाठेऽर्थः । प्रथमपाठे रामे जायमानायां मेघ-
सम्भावनायाम्, परिवर्तितपाठे च रामे जायमानायाम् मेघप्रान्तौ नातिव्याप्तिः, तयो-
(मेघसम्भावनामेघप्रान्त्यो) वाचाकालिकतया अनाहार्यत्वात् । ननु कथमनाहार्य-
त्वनिश्चय इति चेत् ? नृत्यरूपकार्यस्योत्पत्तेर्दर्शनात् इति बोध्यम् । आहार्यज्ञावात् न
पायोत्पत्तिरिति भावः । ‘तद्धर्मनिमित्तकम्’ इत्यस्य व्यावर्त्यमाह—‘वदन—’ इति । हे

वाले । त्वं, यदा, वदनकमलेन मुखपद्मद्वारा, स्मितमुपमालेशम् ईषदास्यशोभालम्, आवहसि धत्से, तदैव तस्मिन्नेव क्षणे, अहं, जाने वेदि, यन् इह अस्मिन् स्थाने, दगार्थ-
 धाणेन पञ्चबाणेन (कमेन) जगत्, विजितम् इति तदर्थ । उपपादयति—अत्रेति ।
 जगज्जयेति । जगत्कर्मस्य जयस्य सम्भावनायामित्यर्थः । तद्वमेति । तद्वर्मसम्बन्धेत्यर्थः ।
 ननु स्मितरूपधर्मनिमित्तकत्वमस्त्येवात् आह—स्मितेति । जगदिति । जगद्विजितरूपौ
 यौ विषयविषयिणौ तन्निष्ठत्वाभावादित्यर्थः । 'वदनकमलेन—' इत्यत्र नायिकामुखगतस्मि-
 तस्य कामदेवकर्तृकजगज्जये सहचारितया तन्मूलकतादृशजगज्जयसम्भावनाया न प्रकृती-
 त्येकालक्षणातिप्रसक्तिः, 'रमणीयतद्गमम्बन्धनिमित्तकम्' इत्यनेन व्यावृत्तेः । स्मित तु
 न जगदात्मकविषयधर्मः, न वा तद्वर्मस्य विजितत्वात्मकविषयिणि सम्बन्ध इति भावः ।
 तस्यैव विशेषणस्य व्याख्यान्तरमाह—एतेनेति । प्राय इति । यत् यस्मात्, द्वौपदी
 पाण्डवपत्नी, 'हा हता' इत्युक्त्वा, रोदिति, तस्मात्, प्राय, यौ 'स्वर्ग', पतेत् भूतस्मा-
 गच्छेत्, ग्लौ चन्द्र, शकलौभवेत् खण्डश स्यात्, अम्बुविभि रामुद्रे, अवलै पर्वतैः,
 च सह, गौ पृथिवी स्थलेत् विचलेत्, समस्ता सर्वा, दिशश्च, नूतम् निश्चितम्,
 ज्वालाम्प्यन्ति ज्वालामया शुरित्यर्थः । उपपादयति—अत्रापीति । रोदनेति । रोदन-
 कारणीभूतं यत् केराग्रहणादि तन्मन्य यापापम् तद्रूपेण निमित्तेन, उत्थापितायामिति
 विवक्षितोऽर्थः । नातिप्रसन्न इति । पापस्य 'यौ पतेन्' इत्यादिविषयविषयिणाधारणत्व-
 विरहादिति भावः । धर्मे रमणीयत्वविशेषणस्य फलमाह—प्राय स्याणुना इत्यादि ।
 स्याणुना वृक्षेण । ययान्म धर्मानाह—निश्चलेति । आदिता विलक्षणाकारत्वपरिमहः ।
 रमणीयत्वमिति । तस्य च क्विप्रतिमानिर्वर्तितत्वमिति भावः । निश्चलत्वादिसाधारणधर्म-
 सम्बन्धनिमित्तिकासु 'प्राय स्याणुनाऽनेन भवितव्यम्—' इत्यादि सम्भावनासु नाति-
 व्याप्तिः, तेषा धर्माणा लौकिकत्वेन क्विप्रतिमानिर्वर्तितत्वाभावेन रमणीयत्वविरहादिति
 भावः । 'ज्ञानम्' इत्यपह्णाय 'सम्भावनाम्' इत्युक्ते फलमाह—रपदेति । निश्चयात्मके
 रूपज्ञाने प्रकृतलक्षणं नातिप्रसङ्गादीदिति लक्षणे सम्भावनाोक्तिः । ज्ञानोक्तौ तु तत्राति-
 प्रसङ्गो दुर्वार एवेति भावः ।

अथ लक्षण का विवेचन किया जाता है—लोकोत्तर इत्यादि । 'हे लोकोत्तर प्रभाव
 वाले राजन् ! मैं आपको उत्कृष्ट नारायण (विष्णु) मानता हूँ ।' इस स्थल पर जब
 लोकोत्तर प्रभाव में नारायणत्व-व्याप्यता की सम्भावना—अर्थात् प्रायः जहाँ-जहाँ लोको-
 त्तर प्रभाव है वहाँ-वहाँ नारायणत्व है इस तरह की सम्भावना—रहती है तब उस
 लोकोत्तर प्रभाव को हेतु बनाकर नारायणत्व की अनुमिति नहीं की जा सकती, क्योंकि
 अनुमिति की मामूली नहीं है जहाँ लोकोत्तर प्रभाव में नारायणत्व व्याप्यता की
 सम्भावना है, निश्चय नहीं, और अनुमिति का कारण व्याप्ति-निश्चय माना जाता है,
 अतः उक्त व्याप्यता-सम्भावना से 'प्रायः यह नारायण होगा' ऐसी सम्भावना उत्पन्न
 होगी । इस द्वितीय सम्भावना में अनिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'तिस पदार्थ
 का भेद जिस पदार्थ में यथार्थतया ज्ञात हो' यह अंश कहा जाता है । आप कहेंगे—इस
 अंश के कहने से उक्त सम्भावना में अतिव्याप्ति का कारण कैसे होगा ? तो मैं कहूँगा
 कि इस अंश से प्रकृत सम्भावना का आहार्य होना—वांछित रहने पर भी इच्छा से
 उत्पन्न होना—ज्ञात होता है अर्थात् तद्विध रूप में निश्चित पदार्थ को पुनः तद्रूप समझना
 आहार्य ही हो सकता है और उक्त सम्भावना आहार्य—अर्थात् बाधकालिक इच्छान्वय—
 नहीं है, अपितु प्रपञ्चोत्पन्न व्याप्यता सम्भावनाग्रन्थ है, अतः उसका कारण उक्त
 अंश से होता है । इसी अंश से 'रामम्—अर्थात् अत्यन्त चिकने तथा श्याम वर्णवाले राम

को धन में देखकर 'प्रायः यह मेघ होगा' इस सम्भावना से मयूर नाच रहे हैं।' इस सम्भावना (अर्थात् राम में मेघ की सम्भावना) में, एवं इसी पक्ष का उत्तरार्थ 'धाराधर-धिया इत्यादि अर्थात् मेघ की वृद्धि (आन्ति) से मयूर मन्द-मन्द नाचते रहते थे।' यों बदल दें तो इस आन्ति (अर्थात् राम में मेघ की आन्ति) में अतिव्याप्ति बारित हुई—अर्थात् यह सम्भावना अथवा आन्ति आहार्य (वापकालिक ज्ञानरूप) नहीं है। यदि आहार्य होती तब उससे नाचने की प्रवृत्ति मयूरों में नहीं बन सकती थी, क्योंकि वाधितार्थ-विषयक इच्छाजन्य ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं होती। 'वदनकमलेन—अर्थात् हे घाले! जब तू मुखकमल द्वारा मन्दहास की शोभा का एक लेख धारण करती है, मैं वसी चण जान लेता हूँ कि इस जगह, जगत् को कामदेव ने जीत लिया—यहाँ अग्नेवाला कामवतीभूत हुए बिना रह नहीं सकता।' इस पक्ष में जो जगत् के जय की सम्भावना वर्णित है उसमें अतिव्याप्ति को पारित करने के लिये लक्षण में 'उन दोनों पदार्थों में रहनेवाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर' यह अंदा जोड़ा गया है। तत्पर्य यह कि उक्त सम्भावना किसी ऐसे धर्म को निमित्त मानकर नहीं की गई है, अतः इस अंश से उसका वारण हो जाता है। यद्यपि उक्त सम्भावना का निमित्त स्मित(मन्दहास)को माना जा सकता है, पर वह मन्दहासरूप धर्म साधारण नहीं है—विषय—'जगत' और 'जीत लिया'—विषयी में से एक में भी वह नहीं रह जाता है। इसी से—'प्रायः पतेद् शौ.—अर्थात् सम्भव है स्वर्ग गिर जाय, चन्द्र टूट जाय, पर्वतों और समुद्रों सहित पृथ्वी विचलित हो जाय और यह तो अत्यधिक सम्भव है कि सारी विश्वाएँ जल बँडेंगी, क्योंकि द्रौपदी 'हाय! मरी' कहकर रो रही है।' यहाँ भी रोदन के कारणरूप 'केश पकड़ने' आदि से उत्पन्न पाप को निमित्त मानकर उठाई गई 'स्वर्ग के गिरने' आदि की सम्भावना में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि पापरूप निमित्त उभय साधारणधर्म नहीं है—अर्थात्—स्वर्गरूपविषय और वतनरूप विषयी इन दोनों में से एक में भी वह (पाप) रहनेवाला नहीं होता। 'प्रायः इसे टूट होना चाहिये' 'निश्चित ही यह दुरुप हो सकता है' और 'दूर खड़ा यह देवदत्त सा ज्ञात होता है', इत्यादि में क्रमशः निश्चलता, चञ्चलता और एक विशिष्ट प्रकार के आकाररूप समानधर्म को निमित्त मानकर की जानेवाली सम्भावनाओं में लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, अतः निमित्तभूत धर्म में 'सुन्दर—अर्थात् कवि-प्रतिभा-निर्मित' विशेषण दिया गया है। उक्त धर्म ऐसे नहीं हैं, अतः तन्मूलक उक्त सम्भावनाओं को उपप्रेषा नहीं कहा जा सकता। रूपक के ज्ञान में अतिव्याप्ति न हो इसलिये लक्षण में 'सम्भावना' कही गई है। रूपक का ज्ञान सम्भावनारूप नहीं, किन्तु निश्चयरूप होता है।

नन्वेवमपि तदभाववत्त्वेनेत्याद्यधिकमत आह—

अत्र च तादात्म्येन संसर्गेण धर्म्युपेक्षायाः, संसर्गान्तरेण धर्मोत्प्रेक्षायाश्च सङ्ग्रहार्थकोक्त्या लक्षणद्वयं विवक्षितम्।

अत्र चेति। लक्षणवाक्य इत्यर्थः। धर्म्युपेक्षा-धर्मोत्प्रेक्षा-भेदेनोत्प्रेक्षा द्विविधा। तत्र धर्म्यन्तरे धर्म्यन्तरोत्प्रेक्षणे प्रथमा धर्मिणि धर्मोत्प्रेक्षणे च द्वितीया भवति। धर्म्युत्प्रेक्षायां तादात्म्य मन्वन्ध, धर्मोत्प्रेक्षायाव तदितर सामानाधिकरण्यादि (समवायादिः)। धन-योद्धमनोऽप्रेक्षयो संग्रहाय लक्षणद्वयं पूर्वोक्तलक्षणवाक्ये यत्पुरभिप्रेतमिति भावः।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह 'जिस पदार्थ का भेद—' इत्यादि प्रथम लक्षण के विषय में ही, अतः 'जिस धर्म का अभाव—' इत्यादि द्वितीय लक्षण ध्यर्थ सा प्रतीत होता है इस सम्यक् की निवृत्ति के लिये कहा जाता है—अत्र च इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उपप्रेषा दो प्रकार की है—एक धर्म्युत्प्रेषा, जिसमें एक धर्म की दूसरे धर्म के रूप में उपप्रेषा की जाती है, और दूसरी धर्मोत्प्रेषा, जिसमें धर्म की धर्मों में उपप्रेषा

की जाती है। धर्म्युत्प्रेक्षा तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध द्वारा होती है और धर्मोत्प्रेक्षा अन्य सम्बन्ध (समवाय आदि) द्वारा। इन दोनों उत्प्रेक्षाओं का समझ करने के लिये मूल में एक उक्ति द्वारा दो लक्षणों का कथन अभीष्ट है। टीका में तो दोनों लक्षण पृथक् पृथक् लिखे गये हैं।

उत्प्रेक्षा विभजते—

सा चोत्प्रेक्षा द्विविधा—वाच्या, प्रतीयमाना च। इयं, नूनम्, मन्ये, जाने, अयमि, ऊहे, तर्कयामि, शङ्के, उत्प्रेक्षे, इत्यादिभिः क्यङ्काचारकिञ्चिदिभिः प्रतिपादकैः सहिता यत्रोत्प्रेक्षासामग्री, तत्र वाच्योत्प्रेक्षा। यत्र च प्रतिपादकशब्दरहित तत्सामग्रीभाग्रम्, तत्र प्रतीयमाना। यत्र तत्सामग्रीरहित प्रतिपादकभाग्रम्, तत्र सम्भावनात्रमेव, नोत्प्रेक्षा। सापि प्रत्येकं त्रिविधा—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा चेति। तत्र जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपाणां तद्भावरूपाणां च पदार्थानां तादात्म्येनेतरेण वा सम्बन्धेन जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकैर्व्यस्तैः समुचितैरुपात्तैरुपात्तैर्निष्पन्नैर्निष्पत्तौर्वा निमित्तभूतैर्धर्मैर्यथासम्भवं जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकेषु विषयेषुत्प्रेक्षणं स्वरूपोत्प्रेक्षा। तत्राभेदेन नसर्गेण धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा, ससर्गान्तरेण धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षेति चोच्यते। उक्तविधेषु पदार्थेषु प्रागुक्तप्रकाराणां पदार्थानां तथाविधैरेव निमित्तैर्यथासम्भवं हेतुत्वेन फलत्वेन च सम्भावना हेतुत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा चोच्यते। एताश्च कचिन्निष्पन्नशरीराः कचिन्निष्पाद्यशरीराश्चेत्येवमाद्यनल्पविकल्पाः सम्पद्यन्ते। तथापि विद्वान्मुपपश्यन्ते।

प्रतीयमानेति। अर्थसामर्थ्यावहेत्यर्थः। न तु व्यङ्ग्येति भावः। एतच्चाग्रे मूल एव स्फुटीभवत्यति। उत्प्रेक्षासामग्रीति। सा च रमणीयतद्धर्मसम्बन्धादिहवा। प्रतिपादकशब्देति। हवादीत्यर्थः। नोत्प्रेक्षेति। अलङ्कारत्वेनेत्यर्थः। पुनरन्यथा विभजते—साऽपीति। एव च द्वादश भेदाः सम्पन्ना इति भावः। स्वरूपोत्प्रेक्षादीनां स्वरूपपरिचयायाह—तत्रेति। तासां तिष्ठणा मध्य इत्यर्थः। द्रव्येति। सज्ञाशब्दाभिप्रायमिदम्। एवमग्रेऽपि। व्यस्तैरिति। पृथग्भूतैरित्यर्थः। समुचितैरिति। मिलितैरित्यर्थः। उपात्तैः शब्दबोधितैः। अनुपात्तैः शब्दाबोधितैः। अर्थसामर्थ्यलब्धैरिति यावत्। निष्पन्नैः स्वतः सिद्धैः। निष्पाद्यैः कल्पनया साध्यमानैः। विषयेष्विति। प्रकृतेष्वित्यर्थः। जात्यादीन् निमित्तीकृत्य जात्यादिषु विषयेषु जात्यादिस्पाणाम् विषयिणा सम्भावना स्वरूपोत्प्रेक्षेति सारांशः। उक्तमेव विरादयति—तत्रेति। तासां स्वरूपोत्प्रेक्षाणां मध्य इत्यर्थः। हेतुत्प्रेक्षा-फलोत्प्रेक्षे आह—उच्येति। जात्यादिष्वित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। जात्यादिषु पदार्थेषु जात्यादिभिर्निमित्तैर्जात्यादे पदार्थस्य हेतुत्वेन फलत्वेन च सम्भावनाम्—अर्थात् जात्यादिरूप पदार्थो जात्यादिरूप पदार्थं प्रति हेतु फल वा यत्र सम्भाव्यते तत्र—हेतुफलोत्प्रेक्षे भवत इति भावः। पुनरपरथा विभजते—एताश्चेति। पूर्वोक्ता उत्प्रेक्षा इत्यर्थः। निष्पन्नेति। स्वतः सम्भविपदार्थगता इति भावः। निष्पाद्येति। कचिकल्पितपदार्थगता इति भावः। अनल्पेति। बह्वित्यर्थः। तथापीति। तेषां सर्वेषां प्रभेदानामुपदर्शनस्याशक्यत्वेऽपीत्यर्थः।

उत्प्रेक्षा के भेद किए जाते हैं—सा च इत्यादि। पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा दो प्रकार की है—वाच्या और प्रतीयमाना (प्रतीयमाना का अर्थ व्यङ्ग्यता नहीं है, किन्तु अर्धतः अवगत होनेवाली, यह समझ रखना चाहिए)। जहाँ संस्कृत में हव आदि मूलोक्त उत्प्रेक्षा-बोधक शब्दों एवम् हिन्दी में मानो आदि तद्बोधक शब्दों से युक्त उत्प्रेक्षा की सामग्री (सुन्दर विषय-गत धर्म-सम्बन्ध आदि) हो वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा कहलाती है। और जहाँ

बोधक शब्द न हों, किन्तु केवल सामग्री हो वहाँ प्रतीयमानोपेक्षा कहलाती है। जहाँ सामग्री न हो और उपेक्षा-बोधक शब्द हों, वहाँ केवल 'सम्भावना' मानी जाती है उपेक्षा नहीं—अर्थात् वहाँ सम्भावना को अलङ्काररूप नहीं माना जाता। ये उपेक्षाएँ प्रायः तीन-तीन प्रकार की होती हैं—स्वरूपोपेक्षा, हेतुपेक्षा और फलोपेक्षा। फलतः उपेक्षा के बारह भेद इस तरह से सम्पन्न होते हैं। जैसे—वाच्यधर्मस्वरूपोपेक्षा, प्रतीयमानधर्मस्वरूपोपेक्षा, वाच्यधर्मस्वरूपोपेक्षा, प्रतीयमानधर्मस्वरूपोपेक्षा, वाच्यधर्महेतुपेक्षा, प्रतीयमानधर्महेतुपेक्षा, वाच्यधर्मफलोपेक्षा, प्रतीयमानधर्मफलोपेक्षा, वाच्यधर्मस्वरूपोपेक्षा और प्रतीयमानधर्मफलोपेक्षा। इसार के सभी पदार्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (सज्ञाशब्द-स्थल में) रूप तथा इन चारों के अभाव रूप हैं। इन पदार्थों की, अभेदसम्बन्ध द्वारा अथवा अन्य किसी सम्बन्ध द्वारा, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप—पृथक्-पृथक् अथवा मिलित, शब्दद्वारा वर्णित अथवा अवर्णित और सिद्ध अथवा साध्य—धर्मों को निमित्त मानकर, यथासम्भव, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यरूप विधियों (प्रकृत पदार्थों) में, उपेक्षा करना स्वरूपोपेक्षा कहलाती है। उक्त तरह के पदार्थों की, उक्त तरह के पदार्थों में, उक्त तरह के निमित्तों द्वारा, यथासम्भव, हेतुरूप से अथवा फलरूप से सम्भावना की जाय तो क्रमशः हेतुपेक्षा और फलोपेक्षा कहलाती है। इन उपेक्षाओं का शरीर (स्वरूप) कहीं सिद्ध होता है (अर्थात् सर्वांश में स्वतःसम्भवी पदार्थों को लेकर बना रहता है) और कहीं साध्य (अर्थात् अंश विरोध में अथवा सर्वांश में कविकल्पित पदार्थों को लेकर बना रहता है)। इस तरह ऐसे आपत्तिक विकल्प बन सकते हैं, तथापि वहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

उदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्रथमं जातिस्वरूपोपेक्षोदाहरणप्रदर्शनायाह—

आख्यायिकायां जात्यवच्छिन्नस्वरूपोपेक्षा यथा—

जात्यवच्छिन्नेति । जातिविशिष्टस्य धर्मिणो धर्म्यन्तरे तादात्म्येनोपेक्षेत्यर्थः ।

जात्यवच्छिन्न पदार्थ के स्वरूप की उपेक्षा (आख्यायिका में), जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिमुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी’ इति ।

यमुनावर्णनम्—इयं, यमुना, तस्या भगवत्या ऐश्वर्यविशेषशालिन्या, भागीरथ्या गङ्गाया, सखी, विद्यते, या, तनयस्य, मैनाकस्य उदाख्यपर्वतविशेषस्य, गवेषणाय शब्दे-पणाय, लम्बीकृतः दीर्घाकृतः, तथा जलधेः समुद्रस्य, जठरे उदरे, प्रविष्टस्य च हिमगिरि-हिमालयस्य, भुजो बाहुः, स इवाचरतीत्यर्थः ।

उदाहरण दिखलाया जाता है—तनय इत्यादि। यमुना का वर्णन है। यह यमुना उस ऐश्वर्यशालिनी गङ्गा की सखी है, जो अपने पुत्र मैनाक (एक पर्वत) को हँसने के लिये लम्बी की हुई और समुद्र के उदर में घुसी हुई, हिमालय पर्वत की भुजा से आचरण करती है।

उपादयति—

अत्र भागीरथ्यां द्रव्ये जातौ वा हिमगिरिसम्बन्धी मुजत्वजात्यवच्छिन्न-स्तादात्म्येनोपेक्ष्यते। तत्र च भागीरथीगतानां सैत्यशैत्यलम्बत्वजलधिजठर-प्रविष्टत्वानां धर्माणाम् निमित्ततासिद्धये विषयिहिमगिरिमुजगत्वमवश्यं सम्पादनीयम्। तेषां च मध्येऽनुपात्तयोः सैत्यशैत्ययोर्हिमगिरिसम्बन्धित्वादेव मुजगत्वत्वं सम्पन्नम्। इतरयोरपि सम्पादनाय तनयमैनाकगवेषणं फलमुपेक्षितम् ।

तत्साधनताज्ञानस्य लम्बत्वजलधिजठरप्रवेशानुकूलयत्नजनकत्वात् । एवं च विपयिगततादृशगवेषणफलकलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वाभ्यां विपयगतयोः साहजिकलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वयोरभेदाध्यवसानातिशयोक्त्या साधारण्यसम्पत्तौ निमित्तता । न चात्र फलस्याप्युत्प्रेक्षेति वक्तुं शक्यम् । उत्प्रेक्ष्यमाणफलनिष्पादितनिमित्तोत्पापितायां स्वरूपोत्प्रेक्षायामेव विधेयत्वाच्चमत्कृतेर्विश्रमात्, उत्प्रेक्षाप्रतिपादकस्य प्रत्ययस्य फलेनानन्वयाच्च, तयैवात्र व्यपदेशो युक्तः । धनिगीर्णविपया चेयमुपात्तानुपात्तगुणक्रियात्मकनिमित्ता निष्पाद्यविशिष्टशरीरा जात्युत्प्रेक्षा, हिमगिरिभुजस्य कविनैव निष्पादितत्वात् ।

द्रव्ये जातौ वेति । सज्ञाशब्दाभ्यायां जातिशब्दवाच्यायां वेत्यर्थः । तत्र चेति । तस्मिन्नुत्प्रेक्षेण इत्यर्थः । अस्य च 'निमित्ततासिद्धये' इत्यन्वयः । तेषां वेति । उक्तधर्माणामित्यर्थः । इतरयोरपीति । लम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वयोरित्यर्थः । तत्साधनतेति । गवेषणसाधनतेत्यर्थः । यत्नेति । अन्यथा गवेषणासम्भवादिति भावः । विपयिगतेति । विपयिहिमगिरिभुजगताभ्यामित्यर्थः । तादृशेति । तनयमैनाकेत्यर्थः । विपयेति । भागीरथीत्यर्थः । साहजिकेति । स्वाभाविकेत्यर्थः । अभेदाध्यवसानेति । विपयनिगारणपूर्वकाभेदादप्येत्यर्थः । तन्मूलक्यातिशयोक्त्येति समुदितार्थः । सम्पत्ताविति । सिद्धावित्यर्थः । शङ्कते—न चेति । समाधत्ते—उत्प्रेक्ष्यमाणेति । फलेति । गवेषणेत्यर्थः । निमित्तेति । साधारणीकृतलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वैत्यर्थः । विधेयत्वादिति । विधेयत्वेन प्राधान्यादित्यर्थः । यत्नकृतविश्रमे विनिगमनाविरहादाह—उत्प्रेक्षाप्रतिपादकस्येति । प्रत्ययस्य कपटः । तदर्थस्वेति भावः । फलेनेति । गवेषणेनेत्यर्थः । उपसहरति—तयैवेति । एव चेत्यादि । स्वरूपोत्प्रेक्षयैवेत्यर्थः । अत्र भेदानुपपादयति—धनिगीर्णेति । भागीरथ्या उपादानादिति भावः । उपात्तेति । इदं च यथासम्भव बोध्यम् । न तु यथासक्यम् । तथात्वे गुणयोरवोपात्तासिद्धिः, गुणौ च श्वेत्यशैत्यात्मकावनुपात्ताविति ग्रन्थासङ्गतिरस्यात् । निपाद्यत्वे हेतुमाह—हिमेति । एव चैकदेशस्य सिद्धत्वेऽपि विशिष्टस्य निष्पाद्यत्व स्पष्टमेवेति भावः । अयमत्र विशदोऽर्थः—'तनयमैनाकः' इतिगद्यवाक्ये गङ्गाया हिमालयबाहुरभेदेनोत्प्रेक्ष्यते । बाहु (भुज) पदञ्च बाहुत्वजातिविशिष्टवाचकमिति जातिस्वरूपेनेत्यर्थः । भागीरथीपदञ्च यदि सङ्गाशब्दस्य न सदाऽत्र द्रव्ये जातिस्वरूपेनेत्यर्थः, यदि पुनस्तत्पदम् कल्पभेदाभिप्रायेण भागीरथीत्वजातिविशिष्टवाचकम् स्वीक्रियते तदा जातौ जातिस्वरूपोत्प्रेक्षेति त्वन्यत् । अस्याद्योत्प्रेक्षया श्वेत्यशैत्यलम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वात्मकाधत्वार साधारणा धर्मा निमित्ततामुपयान्ति । कथमेतां साधारण्येति चेत् । इत्थम्—भागीरथ्या विपयभूताया ते धर्मा स्वतः सिद्धा एव । विपयिभूते हिमालयभुजेऽपि अनुक्ते श्वेत्यशैत्ये भुजस्य हिमालयीयतया सिद्धप्राये । लम्बत्वसमुदोदरप्रविष्टत्वे यद्यपि भुजविशेषणतयैव शब्दबोधिते तथापि गङ्गायामिव भुजेन तयो सिद्धत्वम्, अतस्तयोर्भुजगतत्वसिद्धये प्रयासोऽपेक्षितः, स च प्रयास तनयमैनाकगवेषणरूपफलोत्प्रेक्षात्मक कविनाऽत्र कृतः । ननु कथं तेन प्रयासेन तयोर्भुजगतत्वसिद्धिरिति चेत् ? लम्बीकृते समुदोदरप्रविष्टे च भुजे गवेषणसाधनताज्ञानवता हिमालयेन (भुजे लम्बत्व समुदोदरप्रविष्टत्वञ्च येन स्यात् तादृश) यत्नोऽवश्यं कृतोऽभूदित्यनुमिन्वा भुजे तयो सिद्धिरिति बोध्यम् । एवमपि यद्यपि विपयिभुजगते ते यत्नपूर्वके गवेषणफलके च, विपयगङ्गागते पुनस्ते स्वाभाविके इति मियो भिन्न एवेति न तयो साधारणता, तथापि तयोर्भेदाध्यव-

सान्मूलकतिशयोक्तेरज्ञीकरणैक्यात्साधारणता सम्पद्यते । एवञ्च साधारणीभूतान् तान् चतुरो धर्मान् निमित्तोक्त्योक्त्येक्षा क्रियते । यद्यप्यत्र गवेषणात्मकफलस्याप्युत्प्रेक्षणमिति सत्यम्, तथापि नात्र तद्व्यवहारः व्यवहारस्य प्रधानानुरोधित्वात् । साधारण्येवात्र चमत्कृतिविश्रमधामभूताया विषयाया उत्प्रेक्ष्यमाणफलनिष्पादितनिमित्तोत्थापितायाः स्वरूपोत्प्रेक्षाया एव । किञ्चात्रोत्प्रेक्षा वाच्या, नाचक्ष्य 'भुजायमान-' 'गदगत' 'क्यद्भ्रत्य', तदर्पस्य च भुजपदार्थेनैवान्वयः, न फलीभूतेन गवेषणेनेति कथं फलोत्प्रेक्षायव्यवहारः स्यात् ? अत्र च भागीरथीरूपो विषय उपात्त एव, न निर्गोर्णः, एवम् निमित्तभूतेषु प्रागुक्तेषु धर्मेषु, सम्बलजलभिजठरप्रविष्टरूपो क्रियात्मकौ धर्मावुक्तौ, शैत्यशैत्यरूपौ च शुणात्मकौ धर्मा अनुक्तौ इति अनिगोर्णविषया उपात्तानुपासोभयविधधर्मनिमित्ता चेयं जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा निष्पाद्या । ननु निष्पाद्यत्वं कुतः, विषयत्वाया गङ्गाया निष्पन्नत्वादिति चेन्न, विषयिणो हिमगिरिभुजस्य कविनेव निष्पादिततया विशिष्टस्य निष्पाद्यत्वाशङ्के । इति ।

उपपादनं किञ्च ज्ञातम् है—अथ इत्यादि । 'तनयमैनाक—' इस वाक्यार्थ में यदि भागीरथी-पद्म को एकस्मत्किञ्चिद्वचक (अर्थात् सत्ताशब्द) माना जाय तो गङ्गारूप तन्मय में, और यदि कल्प भेद से अनेक-भ्यक्तिवाचक (अर्थात् जाति शब्द) माना जाय तो जाति में हिमालय से सम्बन्ध रखनेवाले 'भुजत्व' जाति से अवन्निष्पन्न (निमित्त) पदार्थ (अर्थात् 'भुज') की, अमेदसम्बन्ध द्वारा, उत्प्रेक्षा की जाती है । इस उत्प्रेक्षा में, श्वेतता, क्षीतलता, लम्बता और समुद्रोदरप्रविष्टता ये चार धर्म साधारण (गङ्गा तथा भुज दोनों में वृत्ति) होकर निमित्त होते हैं । अब ये चारों धर्म साधारण कैसे होते हैं यह समझिए—गङ्गा में ये चारों धर्म स्वतः रहते ही हैं, भुज में भी हिमालय के सम्बन्धी होने से वाक्य में अनुक्त दो धर्म (श्वेतता तथा क्षीतलता) सिद्ध हो जाते हैं । अब बचे लम्बता तथा समुद्रोदर-प्रविष्टता ये शब्दोक्त दो धर्म । ये दोनों यद्यपि भुज के ही विशेषण बनाए गए हैं वाक्य में, तथापि वस्तुतः ये गङ्गा के ही धर्म हैं, भुज के नहीं, अतः इन्हें भुजगत सिद्ध करने के लिये उपाय अपेक्षित है, यही उपाय 'तनयमैनाक-गवेषणात्मक-फल' की उत्प्रेक्षा के रूप में कविद्वारा किया गया है—अर्थात् 'पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिये' इस रूप में की गई उत्प्रेक्षा से उक्त दोनों धर्मों की भुजवृत्तित्ता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जब हिमालय को लंबे बनाए गए और समुद्र के उदर में घुमे हुए भुज में उक्त गवेषण-साधनता का ज्ञान हुआ होगा—अर्थात् जब हिमालय ने यह समझा होगा कि लंबीकृत तथा समुद्रोदरप्रविष्ट भुज द्वारा ही पुत्र मैनाक को समुद्र में खोजा जा सकता है तब उन्होंने (हिमालय ने) अवश्य ही भुज को लंबा और समुद्रोदरप्रविष्ट बनाने के उपयुक्त यत्न किया होगा यह अनुमान करना कोई कठिन नहीं है, क्योंकि 'तत्साधनता का ज्ञान तत्साधनतोपयोगी पदार्थ के उत्पादक यत्न का अन्त होता है' यह एक नियम-सिद्ध बात है । यद्यपि इतना-सब कुछ-करने पर भी उक्त दोनों धर्म वस्तुतः साधारण हुए नहीं, क्योंकि भुज में रहनेवाले लम्बत्व और समुद्रोदरप्रविष्टत्व उत्पत्तीति से यत्नपूर्वक तथा गवेषणरूप फल वाले हैं और गङ्गा में रहने वाले वे दोनों धर्म स्वाभाविक तथा उक्त फल से शून्य हैं, फलतः ये केवल एक-एक में रहनेवाले भिन्न ही धर्म हैं—इनमें से कोई भी धर्मद्विक दोनों में रहनेवाला नहीं, तथापि विषयी (भुज) गत उक्त दोनों धर्मों के साथ विषय (गङ्गा) गत उक्त दोनों धर्मों का अमेदाध्यवसान मान लिया जाता है—अर्थात् एक तरह की भतिशयोक्ति मान ली जाती है जिससे वस्तुतः भिन्न होने पर भी विषयि-गत तथा विषयगत वे धर्म एक समझ लिये जाते हैं, अतः ये दोनों धर्म भी साधारण हो जाते हैं । श्वेतता तथा क्षीतलतारूप धर्म साधारण हो ही चुके हैं । इस तरह ये चारों धर्म उक्त उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं । यदि कोई कहे कि यहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा क्यों कही जा रही है ? यहाँ फल (गवेषण) की भी तो उत्प्रेक्षा है, अतः फलोत्प्रेक्षा ही क्यों

नहीं व्यवहृत होती ? तो इसका समाधान यह है कि—एक तो, जिस फलोत्प्रेक्षा की बात आप कर रहे हैं उसके द्वारा सिद्ध किए गए निमित्त (लम्बत्व तथा समुद्रोदरप्रविष्टत्व) से उठाई गई 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही वहाँ विषय है—प्रधान है, अतः चमत्कार का विश्राम वहीं जाकर होता है, फलोत्प्रेक्षा में नहीं। दूसरे, उत्प्रेक्षाबोधक प्रायय—'भुजायमान' पदान्तगतक्यङ्—का फल के साथ अन्वय नहीं है, किन्तु भुज के साथ है। ऐसी स्थिति में स्वरूपोत्प्रेक्षा का व्यवहार होना ही समुचित है। यह जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, विषयवाचक गङ्गापद के पृथक् विद्यमान रहने के कारण, अनिगीर्णविषया, और लम्बत्व तथा समुद्रोदरप्रविष्टत्व इन दो क्रियात्मक घटकों के उपात्त (उक्त) रहने के कारण, उपात्तनिमित्ता, एवम् श्वेतता तथा जीतलता इन दो गुणात्मक घटकों के अनुपात्त रहने के कारण, अनुपात्तनिमित्ता भी, और कविकल्पित हिमालयभुजरूपविषयी से युक्त होने के कारण, निष्पाद्या है। आप कहेंगे—उक्त विषयी के निष्पाद्य होने पर भी गङ्गारूप विषय तो स्वतन्त्रविषय ही है, ऐसी दशा में उत्प्रेक्षा को निष्पाद्य कैसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर है कि विषयी तथा विषय दोनों मिलकर ही तो उत्प्रेक्षारूप होते हैं, फिर उन दोनों में से एक का भी निष्पाद्य होने पर विशिष्ट को निष्पाद्य कहा ही जा सकता है।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

तादात्म्येन गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

अभेदसम्बन्ध से गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘अभोजिनीबान्धवनन्दनायां कूजद्रुकाणां समजो विरेजे।

रूपान्तराक्रान्तगृहः समन्तात् पुञ्जीभवनशुक्त इवाश्रयार्थी ॥’

कविर्यमुना वर्णयति—अभोजिनीबान्धवस्य सूर्यस्य, नन्दनाया तनवाया यमुनाया-मिति यावत्, कूजता शब्दायमानानां, बकानाम्, समजः सह, रूपान्तरेण रयामरत्नेन, आक्रान्त बलाद् व्याप्तम्, गृहम्, यस्य तादृशं, अतः, समन्तात् सर्वतः, पुञ्जीभवन-एकत्र समुपतिष्ठन्, आश्रयार्थी स्थितिस्थानाभिलाषी, शुक्तः शुक्लगुणः, इव, विरेजे शुशुभे इत्यर्थः।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—अभोजिनी इत्यादि। अभोजिनीबान्धव (सूर्य) की नन्दना (कन्या यमुना) में कूजते हुए बगुलों का झुंड ऐसा शोभित हुआ, मानो, दूसरे रूप (कालावन) से जिसका गृह आक्रान्त हो गया है वह अतएव सब तरफ से इकट्ठा हो रहा आश्रय की इच्छावाला शुक्लगुण (श्वेतवर्ण) हो।

उपपादयति—

अत्रैकाधिकरण्यापन्ने कूजनविशिष्टे बकत्वआत्यवच्छिन्ने विषये पुञ्जीभवनविशिष्टः शुक्लगुणस्तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते। तत्र बकगतानां कूजननैर्मल्य-पुञ्जीभवनानां शुक्लगुणगतत्वमन्तरेण बकशुक्तयोरभेदस्य दुरुपपादत्वात्तत्सिद्धये तेषां विषयिगतत्वं साध्यम्। तत्र नैर्मल्यस्थानुपात्तस्य यथाकथञ्चिदुत्प्रेक्ष्यमाणो विषयिणि सिद्धत्वात् कूजनपुञ्जीभवनयोर्निष्पादनाय रूपान्तराक्रान्तगृहत्वमाश्रयार्थित्वं च हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितम्। इहापि प्राग्वत् साहजिकयोः कल्पिताभ्यामभेदाध्यवसानात् साधारण्यम्। एवमन्यत्राप्यूहम्। पूर्वं हि यथा फलस्योत्प्रेक्षणेऽपि न फलोत्प्रेक्षा तथेहापि हेतोरिति।

अत्रेति। ‘अभोजिनी—’ इति पदे इत्यर्थः। ऐकाधिकरण्यापन्न इति। समुदायापन्न इत्यर्थः। अत्रेति। तयोर्विषयविषयिणोर्मध्य इत्यर्थः। अन्तरेणेति। विनेत्यर्थः।

तत्सिद्धये शुक्लगुणगतत्वसिद्धये । तेषामुक्तधर्माणाम् । विषयीति । शुक्लगुणेत्यर्थः । तत्र तेषां धर्माणां मध्ये । नैर्मल्यस्य गुणात्मकस्य धर्मात्मकस्य वा द्रव्यवृत्तिता, न शुक्लादिगुणवृत्तितेत्यत आह—यथावर्थाच्चरिति । गुणगतदोषविरोधभाववत्त्वस्य नैर्मल्यपदेन विवक्षणादिति भावः । नन्वेवं कूजनपुष्पीभवनयोर्विषयिणि सिद्धत्वेऽपि विषयगताभ्यां ताभ्यां मिश्रत्वेन कथं साधारण्यमित्यत आह—इहापीति । इदमुपलक्षणम् । नैर्मल्ययोरपि विषयविषयिगताचोर्मिश्रत्वेनामेदारोपादेव साधारण्यं बोध्यम् । ननु रूपान्तराकान्तगृहत्वाध्यापित्वयोर्हेतुत्वैतोत्प्रेक्षणे हेतुप्रेक्षैवेयं वृत्ती नेत्यत आह—पूर्वं हीति । अयं भावः—यकत्वजातिविशिष्टवक्तरूपद्रव्ये विषये शुक्लगुणस्य विषयिगतादातत्वेनोत्प्रेक्षणात् ‘अम्मोजिनी—’ इत्यस्य गुणरसपोत्प्रेक्षोदाहरणत्वं सम्पद्यते । अस्मिन्पोत्प्रेक्षणे कूजननैर्मल्यपुष्पीभवनात्मका धर्मा साधारणा सन्तो निमित्तभावं मज्जन्ते । ननु कथमेव साधारण्यमिति चेदित्यम्—यकवृत्तिता स्पष्टैवैषाम् । नैर्मल्यस्य पुनः कथञ्चित् शुक्लगुणवृत्तितापि सिद्धैव । कूजनपुष्पीभवनयोः शुक्लगुणवृत्तिता रूपान्तराकान्तगृहत्वाध्यापित्वयोर्हेतुत्वैतोत्प्रेक्षणात् निष्पद्यते, अन्यथापान्तगृहाणामाध्यापिनाच्च शब्दाद्यमानत्वस्य सत्त्वोभवनस्य च लोकाप्रसिद्धत्वात् । न चैकमपि विषयगतेभ्यस्तेभ्यो विषयिगतास्ते भिन्ना एव भवेयुरिति कथं साधारण्यमिति शङ्क्यम्, अभेदाप्यवसानेनैकत्वाङ्गीकारात् । हेतुप्रेक्षणे सत्यपि हेतुप्रेक्षाय्यपदेरास्तु न शक्यते विधातुम्, प्राग्वत् हेतुप्रेक्षाया निमित्तमात्रनिष्पादकतया गुणत्वेनाचमत्कारित्वात् । स्वस्वोत्प्रेक्षा तु प्रपाना नमस्तुतिभूमिरिति भवति तया व्यपदेश इति ।

उपपादन किया जाता है—अत्रैकाधिकरण्यापन्न इत्यादि । ‘अम्मोजिनी—’ इस पद्य में ‘एकत्र स्थित’ और ‘कूजन’—युक्त यकत्व जाति से अवस्थित वगुलारूप विषय—अर्थात् जातिरूप पदार्थ—में इकट्ठे हो रहे शुक्लगुण की अभेदसम्बन्ध से उल्लेख होती है यहाँ वगुलों में रहनेवाले कूजन, निर्मलत्व और पुष्पीभवन (इकट्ठे होना) इन तीन धर्मों की सिद्धि जब तक शुक्लगुण में भी न हो तब तक वगुलों और शुक्लगुण का अभेद सिद्ध होना कठिन है । अतः उन धर्मों की स्थिति विषयी (शुक्लगुण) में साथ-ही है । उनमें से अनुपासक धर्म (निर्मलत्व) की स्थिति किसी तरह विषयी (शुक्लगुण) में सिद्ध हो जाती है । (‘किसी तरह’ कहने का अभिप्राय यह है कि—वास्तुतः निर्मलता स्वयं गुणरूप है, अतः वह किसी द्रव्य में ही रह सकती है, पर यहाँ ‘मल’—अर्थात् किसी तरह का दोष, उसका अभाव ही ‘निर्मलता’ से विवक्षित है जो गुण में भी रह सकता है) । जब अवशिष्ट रहे ‘कूजन’ और ‘पुष्पीभवन’ ये दो धर्म । इन दोनों धर्मों की सिद्धि शुक्लगुण में करने के लिये ‘दूसरे रङ्ग से आक्रान्त गृहवाले होने’ की और ‘आश्रय की इच्छा वाले होने’ की हेतुरूप से उल्लेख की गई है । सत्यतः यह कि हेतुरूप से उक्त दोनों बातों की उल्लेख करने से शुक्लगुण में भी ‘कूजन’ और ‘पुष्पीभवन’ की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि जिनका घर दूसरों से आक्रान्त हो जाता है तथा जो दूसरों के यहाँ आश्रय चाहते हैं वे जोर-जोर से वाद करते हैं और इकट्ठे हो जाते हैं यह बात लोकप्रसिद्ध है । यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की तरह स्वाभाविक विषय यकत्व उन धर्मों का कल्पित विषय (शुक्ल) बात उन धर्मों के साथ अभेद मान लेने से इन धर्मों की साधारणता (दोनों में रहना) सिद्ध होती है । इसी तरह अन्यत्र भी तर्क कर लेना चाहिये । प्रथम उदाहरण में जैसे फल के उल्लेखित होने पर भी फलोत्प्रेक्षा नहीं व्यवहृत होती, वैसे यहाँ भी हेतु के उल्लेखित होने पर भी हेतुप्रेक्षा नहीं व्यपदिष्ट होती है । अभिप्राय यह है कि यहाँ की हेतुप्रेक्षा भी केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा के निमित्त की सिद्ध करने के लिये की गई है, अतः अनुवाच्य है—गौण है, उसमें कोई चमत्कार नहीं अनुभूत

अध्यवसानेति । अध्यवसानं च मया श्रोतव्यत्वादिवद्विषयवाचकशब्देनेति । बोध्यम् । तादृशेति । विशेषणद्वयविशिष्टेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । तादृशेति । एकविशेषणविशिष्टेत्यर्थः । क्रियायामिति । श्रोतव्यत्वादि । एव चेति । एव सतीति भावः । प्राग्बुद्धिति । उक्तैः सायिकमतसिद्धव्याख्यान इवेति भावः । अयमाशयः—तिङन्ते क्रियाप्राधान्यवादिष्वव्याकरणानामते प्रकृते शब्दनक्रियाया श्रोतव्यक्रियाया अभेदेनोत्प्रेक्षा भवति, अतो धर्म्युत्प्रेक्षैवेयं तन्मतेन । ननु शब्दनं नात्र पूर्यद्विदिष्टम्, अपि तु विशेषणमध्यगततयेति कथं तत्त्वं विषयत्वमिति चेत् ? सत्यम्, मया श्रोतव्यत्वात् तत्र मध्ये विषयिषु यथा मया स्थानामभेदाध्यवसानम् तथा शब्दनकृत्येषु शब्दनस्याध्यवसानान् तस्य विषयत्वं बोध्यम् । अयं विषयविषयभाव आशयः । शब्दे तु बोधे विशेषणविशिष्टा वक्ता श्रोतव्येऽनुयन्ति, वक्तेषु च विशेषणं शशिकिशोरः अभेदेन । शशिकिशोरतया साक्षात्क्रियान्वये वक्ता अस्मिन्ना एव भवेत् । एवञ्च 'ष्वान्तकर्तृवन्नैरहेतुकनिगमनकर्माभिप्राये शशिकिशोरतइभिप्राये अथ च यमुनाजलार्धमनकृतभूरिशब्दाभिप्राये वक्तास्तत्कर्तृका-श्रोतव्यक्रिया' इति बोधः । अस्मिन्नापि मते विषयविषयविशेषणान् विम्वप्रतिविम्वभाव-मूलबोद्धेऽभेदः पूर्ववदेवावगन्तव्य इति ।

शब्दबोधसहित उदाहरणतोपयोगी उपपादन क्रिया जाता है—अथ इत्यादि । जो लोग (सायिक) शब्दबोध में प्रथमात् पद के अर्थ को प्रधान बनाते हैं उनके मत से 'कश्चिन्वा' इस पद में अभेदसम्बन्ध द्वारा विशेषण बने हुए 'यमुना के जल में आधे हूने' और 'कोलाहल करनेवाले' इन दो अर्थों से युक्त वक्तरूप विषयो (आधारों) में 'श्रोतव्यकर्तृत्व—अर्थात् चिन्ना क्रिया के कर्ता होने' रूप धर्म की उत्प्रेक्षा होती है । पर इस उत्प्रेक्षा से पहले उन्हीं वक्ता में उन 'चन्द्रमा के चर्चों के तादात्म्य' की उत्प्रेक्षा होती है जो कश्चित्त हैं और अन्धकाररूप कर्ता से वैर के कारण की जानेवाली निगमन- (निगलना) क्रिया के धर्म हैं । सारांश यह कि इस पद में दो उत्प्रेक्षाएँ हैं—एक 'वक्ता में चन्द्रकिशोरों' की, दूसरी 'चन्द्रकिशोरों से अभिन्न वक्ता में श्रोतव्यकर्तृत्व' की । अब यह निश्चय है कि जहाँ अभेदसम्बन्ध द्वारा किसी पदार्थ में किसी पदार्थ की उत्प्रेक्षा होती हो वहाँ उस उत्प्रेक्षा को धर्म्युत्प्रेक्षा कहते हैं, जैसे उस दोनों उत्प्रेक्षाओं में प्रथम उत्प्रेक्षा, और ऐसी उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है विषय तथा विषयी दोनों में रहनेवाला साधारणधर्म, और जहाँ अभेद के सतिरिक्त समवाय भादि किसी अन्ध सम्बन्ध द्वारा किसी पदार्थ में किसी पदार्थ की उत्प्रेक्षा होती हो वहाँ उस उत्प्रेक्षा को धर्मोत्प्रेक्षा कहते हैं, जैसे—उक्त उत्प्रेक्षाओं में द्वितीय उत्प्रेक्षा, और ऐसी उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है उत्प्रेक्षित होनेवाले धर्म के साथ रहनेवाला वैसा धर्म जो विषय में भी रहता हो । ऐसी स्थिति में, प्रकृत पद में श्रोतव्यकर्तृत्वरूप धर्म की समवायसम्बन्ध-मूलक उत्प्रेक्षा में निमित्त बनाना पड़ेगा उस श्रोतव्यकर्तृत्व के साथ शशिकिशोरों में रहनेवाले निगमनधर्म—अर्थात् निगलना क्रिया का धर्म होने—को । पर यह धर्म तब तक निमित्त हो नहीं सकता जब तक विषय (वक्ता) में भी उसकी स्थिति सिद्ध नहीं हो पाय । अतः अनुवाच (गौण) रूप में वक्ता में चन्द्रमा के चर्चों की तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा उत्प्रेक्षा की जाती है । इस द्वितीय धर्म्युत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म है अनुक्त 'श्वेतता' अर्थात् श्वेत होने के कारण वक्ता को चन्द्रमा के चर्चों से अभिन्न मान लिया गया है । अब जैसे विविष्टोपमा में उपमान-उपमेय के विशेषणों तथा उन विशेषणों के विशेषणों का शब्द न होने पर भी अर्थात् परस्पर सादृश्य मान लिया जाता है, उसी तरह यहाँ भी वक्तरूप विषय के विशेषण 'आधे हूने' और उसके विशेषण 'यमुना-जल' का, मूलभूत-अर्थात् प्रधानोत्प्रेक्षा की सम्पादिका उत्प्रेक्षा के विषयी 'चन्द्रमा के चर्चों' के विशेषण 'निगमन' और उसके विशेषण 'अन्धकार' के साथ अर्थात् अभेद माना जाता

है। तात्पर्य यह कि 'आधे दूबने' को 'निगरण' से और 'बमुनाजल' को 'अन्धकार' से अभिन्न मान लिया जाता है। इस तरह वकों का अन्धकार द्वारा निगरण जय सिद्ध हो जाता है—अर्थात् चन्द्रमा के वकों का अन्धकार द्वारा निगरण जय सिद्ध है तब उनसे अभिन्न वकों का भी यह सिद्ध हो जाता है—तब मुख्य उल्लेख-अर्थात् वक्ररूप विषय में क्रोशनकरूप की उल्लेख का निर्वाह हो जाता है। यहाँ क्रोशन (चिह्नाने) और शब्दन (कोलाहल करने) का भी विग्रहप्रतिविग्रहभाव के कारण अभेद है, फलतः ये दोनों पदार्थ भी एक होकर साधारणधर्म के कर्तव्य पूर्ण कर सकते हैं—यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है। उक्त रीति के अनुसार नैयायिकों के मत में प्रकृत पद का "बमुना जल में आधे दूबे और अव्यधिक शब्द करते दून दोनों से अभिन्न बगुले, अन्धकार से निगले जा रहे और चन्द्रमा के वक्के—दून दोनों से अभिन्न होकर 'क्रोशन'रूप क्रिया के अनुकूल चेष्टा से युक्त हैं।" यह शाब्दबोध होता है। यह तो हुई शाब्दबोध में प्रथमान्त पद के अर्थ को मुख्य विशेष्य माननेवाले नैयायिकों की बात। अब जो लोग 'तिङ्गन्त'पदयुक्त वाक्यार्थ के बोध में क्रिया को प्रधान मानते हैं उन वैयाकरणों के मत की बात सुनिये। उनके विचार से यहाँ अभेदसम्यग्ध से 'क्रोशन' (चिह्नाने)-क्रिया की उल्लेख होती है। इस उल्लेख में विषय बगुले नहीं हो सकते, क्योंकि द्रव्य में क्रिया का अभेद बाधित है, अतः शब्दन (कोलाहल करने) को ही आक्रोशनक्रियो-ल्लेख का विषय समझना चाहिए। यद्यपि शब्दन वृथक् निर्दिष्ट नहीं है, उसकी प्रतीति शाब्दबोध में वक्र के विशेषणरूप में होती है, अतः वह विषय नहीं हो सकता, तथापि अध्यवसान के चल से वह (शब्दन) विषय होता है—अर्थात् मिस तरह 'मञ्जाः क्रोशन्ति' में मञ्जश्च जनों का मञ्जरूप विषयी के साथ अभेदाध्यवसान होता है उसी तरह यहाँ भी शब्द करनेवाले वकों में ही शब्दन का अध्यवसान (आरोप) करके उक्त उल्लेख की सिद्धि की जाती है। फलतः यह उल्लेख अर्थ (अर्थात् ज्ञात होनेवाली) है। शाब्दबोध में तो उक्त विशेषणों से युक्त बगुले 'क्रोशन'क्रिया में विशेषण बनते हैं और वैसे बगुलों में उक्त विशेषणयुक्त शशिकिशोर विशेषण होते हैं। इस शाब्दबोध में शशिकिशोर ही साक्षात् क्रिया में विशेषणरूप से अन्वित नहीं हो सकते, अपितु उक्त रीति से बगुले के विशेषण बनकर ही परम्परया अन्वित हो सकते हैं, क्योंकि यदि साक्षात् शशिकिशोर का ही अन्वय क्रिया के साथ कर दिया जाय तब बगुले अनन्वित हो रह जायेंगे। फलतः वैयाकरणों के मत से प्रकृत पद का शाब्दबोध "अन्धकार से निगले जा रहे शशिकिशोरों से अभिन्न तथा बमुना-जल में आधे दूबे और कोलाहल करते-दून दोनों से भी अभिन्न बगुले जिसके कर्ता हैं, वह 'क्रोशन'" यह होता है। भाष्यबोध के अनुसार यहाँ क्रियास्वरूपोल्लेख मानी जाती है। विषय और विषयी के विशेषणों का, इस मत में भी, पूर्व मत के अनुसार ही विग्रहप्रतिविग्रहभाव माना जाता है।

क्रियास्वरूपोल्लेखाया एवोदाहरणान्तरमुपदर्शयितुमाह—

तथा—

इसी तरह—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘राज्याभिपेकमाह्वय शम्बरासुरवैरिणः।

सुधामिर्लगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः॥’

कविश्चन्द्रज्योत्स्न वर्णयति—सुधाकरचन्द्रः, शम्बरासुरवैरिणः कामदेवस्य, राज्याभिपेकं राजन्वत्त्वकविभिर्विरोधम्, आह्वयं विदित्वा, जगतीमध्यं धरातलान्तरालम्, सुधामिं पीयूषैराय च चूर्णैः, लिम्पति इवेत्यर्थः।

उदाहरणं दिखलाया जाता है—राज्याभिपेक इत्यादि। कवि चन्द्रिका का वर्णन

करता है—चन्द्रमा, कामदेव का राज्याभिषेक समझकर, मानो, सुधा (अमृत-चूने) से वृषिदी के मध्यभाग को पोत रहा है ।

उपपादयति—

अत्रापि चन्द्रे विषये तादृशलेपनकर्तृत्वरूपधर्मोत्प्रेक्षेत्येक दर्शनम् । किरणव्यापने विषये चन्द्रकर्तृकसुधाकरणकलेपनस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षणमिति द्वितीयम् । तत्र प्रथमे मते धवलीकारकत्वरूपनिमित्तानुपादानादनुपात्तनिमित्ता, विषयस्योपादानादुपात्तविषया । द्वितीयेऽपि तस्यैव निमित्तस्यानुपादानादनुपात्तनिमित्ता, विषयस्य निगीर्णतयानुपात्तविषयेति विशेषः ।

अत्रापोति । 'राज्याभिषेक' इति पद्येऽप्युक्त्यर्थः । तादृशेति । सुधाकरणकजगन्मध्य-कर्मकेत्यर्थः । नन्दकर्तृकेति । चन्द्राभिलक्षकत्वेत्यर्थः । करणकेति । जगन्मध्यकर्मकेत्यपि बोध्यम् । विषयस्य चन्द्रस्य । तस्यैव धवलीकारकत्वस्यैव । विषयस्य किरणव्यापनस्य । निगीर्णेति । सुधाभिलिम्पतीत्यनेनेति भावः । 'राज्याभिषेक—' इति पद्येऽपि पूर्ववत् चन्द्रात्मके विषये तादृशलेपनकर्तृत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति प्रथमान्तार्थविशेष्यकबोधवादिनो नैयायिका इति तन्मतेनात्र धर्मोत्प्रेक्षा । सा च धवलीकारकत्वरूपोत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणधर्मात्मकनिमित्तस्यानुक्ततयाऽऽनुक्तनिमित्ता, चन्द्रात्मकविषयस्योक्ततयोक्तविषया । किरणव्यापनात्मके विषये तादृशलेपनस्याभेदेनोत्प्रेक्षेति च व्यापारमुख्यविशेष्यकबोधवादिनो नैयाकरणा इति तन्मतेनेय धर्म्युत्प्रेक्षा । सा च धवलीकारकत्वरूपसाधारणधर्मात्मकनिमित्तानुपादानादनुपात्तनिमित्ता किरणव्यापनात्मकविषयानुत्प्रेक्षादनुपात्तविषया च । नैयाकरणानां मतमनुसृत्यैव क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षात्वमनयो पथयोरिति भावः ।

'उपपादन किया जाता है—अत्रापि इत्यादि । 'राज्याभिषेक—' इस पद्य में भी चन्द्र में लेपनकर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है यह एक सिद्धान्त है नैयायिकों का । इस मत के अनुसार समवायसम्बन्धमूलक यह धर्मोत्प्रेक्षा हुई । यहाँ धवलीकारकत्व (श्वेत बनाना) रूप निमित्त (समानाधिकरण धर्म) उक्त नहीं है और चन्द्ररूप विषय उक्त है, अतः यह उत्प्रेक्षा अनुक्तनिमित्ता तथा उक्तविषया कहलायगी । किरणव्यापन (किरणों का फैलना) रूप विषय में लेपनक्रिया की तादात्म्यसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा है यह दूसरा सिद्धान्त है नैयाकरणा का । इस मत के अनुसार तादात्म्यसम्बन्धमूलक यह धर्म्युत्प्रेक्षा हुई । यहाँ धवलीकारकत्वरूप निमित्त (साधारणधर्म) उक्त नहीं है और किरणव्यापनरूप विषय भी सुधालेपन द्वारा निगीर्ण ही है—अनुक्त ही है, अतः यह उत्प्रेक्षा अनुक्तनिमित्ता तथा अनुक्तविषया कहलायगी । यही दोनों मतों में भिन्नता है । उक्त दोनों पक्ष नैयाकरणा के मत के अनुसार ही क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण होते हैं यह समझना चाहिये ।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

तादात्म्येन द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

अभेदसम्बन्ध द्वारा द्रव्यस्वरूप की उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'कलिन्दशैलादियमाप्रयाग केनापि दीर्घा परित्वा निरुता ।

मन्ये तलस्पर्शविहीनमस्यामाकाशमानीर्लामिदं विभाति ॥'

ववि यमुनां वर्णयति—कलिन्दशैलात् कलिन्दाख्यपर्वतात्, आरभ्य, आप्रयाग प्रयाग-पर्यन्तम्, केनापि अज्ञातनामधेयेन जनेन, इयम्, दीर्घा बहुदूरव्यापिनी, परित्वा गर्तविशेष, निरुता रक्षिता । अस्या परिचायाम्, तलस्पर्शविहीन अतलस्पर्श, आनीलम् ईदृशील-वर्णम्, इदं प्रत्यक्षदृश्यम्, आकाश गर्तगतं गगनम्, विभाति शोभते इति मन्ये इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—कलिन्द इत्यादि। कवि यमुना-वर्णन प्रपन्न में कहता है—कलिन्द पर्वत से लेकर प्रवागपर्यन्त, किसी ने, यह लम्बी खाई खोद डाली है। मानो, इसमें अवाध होने के कारण, नीचे हिस्से के स्पर्श से रहित यह यमुनाजल के रूप में गहरा नीला आकाश शोभित हो रहा है।

उपपादयति—

अत्र यमुनायां नीलत्वदीर्घत्वनिमित्तकमाकाशतादात्म्योत्प्रेक्षणम् । आकाशस्य स्वरूपात्मकत्वादद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षेयम् । अत एवाकाशपदाच्छब्दाश्रयत्वाद्यनुपस्थितिदशायामप्याकाशधीः । नीलत्वरूपनिमित्तस्य विपयिणि सिद्धयर्थं सृतीयधरणोपादानम् । दीर्घत्वरूपनिमित्तसिद्धयर्थं च पूर्वार्धम् ।

अत्रेति । 'कलिन्द—' इति श्लोक इत्यर्थः । ननु आत्म्यज्जात्युत्प्रेक्षेयं कुतो न, अत आह—आकाशेति । नन्वाकाशत्वं शब्दाश्रयत्वादिरूपमिति कुतः स्वरूपात्मकमत आह—अत एवेति । तस्य स्वरूपात्मकत्वादेवेत्यर्थः । आदिना शब्दसमवायिकारणत्वपरिग्रहः । विपयिणि आकाशे । कुतोयेति । तलस्पर्शोत्पादोत्यर्थः । अत्र 'तलस्पर्शे' सति प्रतिबिम्बासम्भव इति भावः ।' इति नागेश । वस्तुतस्तु प्रतिबिम्बस्यात्र न कश्चन प्रसङ्गः । 'उपरितनमाकाशं गर्ते प्रतिबिम्बितं सत् विभाति' इति ग्रन्थारायं प्रायो नागेशो वेति । अहं तु मन्ये, नासौ ग्रन्थारायः, अपि तु गर्तगते जलेऽतलस्पर्शजलशून्यगर्तगतगतसम्भावनात्र ग्रन्थकृतोऽभिप्रेता । तत्र यथोपरितने महाकाशे वस्तुतोऽर्ज्वरमानमपि नैत्यम् अपारत्वादाकाशस्य प्रतिभाति तथा गर्तगते आकाशेऽपि तलस्पर्शादहित्यहेतुको नैत्यविभ्रमः । तलस्पर्शे तु गर्तस्य घटावच्छिन्न आकाश इव न तद्रूपेऽप्याकाशे नैत्यं प्रतिभायात् । इति । सिद्धयर्थं वेति । आकाश एवेति शेषः । अत्रापि 'गर्तोपरितनस्याकाशस्य तदीर्घत्वारोपादिति भावः ।' इति नागेशोक्तिर्मदुष्प्रग्रन्थारायाज्ञानमूलिकैव । उपरितने प्रसिद्धे महाकाशे नीलत्वं दीर्घत्वञ्च प्रसिद्धमिति तद्द्वयं कलिन्दपर्वतारब्धप्रवागावधिकक्षातगतजलरूपे विपयेऽपि वर्तमानं साधारणधर्मात्मकत्वा निमित्तीभवत् आकाशरूपद्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा ज्ञायति । ननु आकाशत्वं शब्दाश्रयत्वं शब्दसमवायिकारणत्वं वेति नैयायिका, तथा च नाकाशत्वमाकाशात्मकमिति कुतोऽत्र द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षात्वम् इति चेन्न, नैयायिकमतस्य विचारासहत्वात्, तथाहि—यदि शब्दाश्रयत्वादिकमाकाशत्वं स्यात् तर्हि शब्दाश्रयत्वादि-रूपार्थस्मरणदशायामेवानाशपदादानाशबोधो भवेत्, न चैवं दृश्यते, दृश्यते तु तादृशार्थस्मरणाभावदशायामपि आकाशपदादाकाशबोधो भवतीति स्वरूपात्मकमाकाशत्वम्, अतो द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षात्वं सुस्पष्टम् इति । अन्यत् पदकृत्यप्रसङ्ग एव स्फुटीकृतम् ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'कलिन्द—' इस पद्य में 'नीलेपन' और 'लम्बेपन' को निमित्त बनाकर यमुना में आकाश के अभेद की उपप्रेक्षा की गई है । तात्पर्य यह कि जैसे यह प्रसिद्ध महाकाश नीला और लम्बा है वैसे यमुना (खाते का जलभाग) भी नीली और लम्बी है, अतः 'नीलत्व' तथा 'दीर्घत्व' इन दो साधारणधर्मों के कारण, कवि, यमुनारूप विषय में आकाशरूप विषयी की, अभेदसमन्वय से सम्भावना करता है । आकाश एक है, अतः आकाशत्व आकाशरूप ही पदार्थ है, जातिरूप नहीं, कारण, अनेक में रहनेवाला धर्म ही जातिरूप हो सकता है, एक में रहनेवाला नहीं । फलतः आकाशस्वरूप आकाशत्व द्रव्यरूप होता है, अतः इस पद्य में 'द्रव्योत्प्रेक्षा' हुई । आप कहेंगे—नैयायिक लोग आकाशत्व को 'शब्दाश्रयत्व' अथवा 'शब्दसमवायिकारणत्व'रूप मानते हैं, ऐसी स्थिति में आकाशत्व आकाशस्वरूप हुआ

नहीं, फिर कैसे यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा मानी जा सकती है ? तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि नैयायिकों की उक्त साम्यता अनुभव विरुद्ध है। कारण, यदि आकाशत्व शब्दाश्रयत्व आदिरूप होता तो 'शब्द का आश्रय है आकाश' इस अर्थ के स्मरण होने पर ही आकाश पद से अर्थबोध होता, पर ऐसा होता नहीं-होता तो यह है कि जो लोग 'शब्द का आश्रय आकाश है' ऐसा नहीं भी जानते रहते हैं उन्हें भी आकाश पद से आकाश का बोध होता है, अतः आकाशत्व आकाशरूप ही है, और कुछ नहीं, फलतः यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा सर्वथा उचित है। आकाश में 'नीलेपन'रूप निमित्तभूत धर्म को सिद्ध करने के लिये इस पद्य का तीसरा चरण ('नीचे के हिस्से के स्पर्श से रहित' यह विशेषण) रचा गया है। तात्पर्य यह कि-जैसे यह महाकाश इसलिये नीला प्रतीत होता है कि उसका कहीं अर पार नहीं है-निरवधि है-सर्वथा शून्य है-ऊपर कहीं कोई आवरण नहीं है, उसी तरह इस लम्बी खाई के अन्दर का आकाश भी निरवधि है-सर्वथा शून्य है, क्योंकि खाई की तलहटी दृष्ट चुकी है, अतः इस आकाश में भी 'नीलेपन' की प्रतीति होती है। यहाँ नागेश अपनी टीका में लिखते हैं कि-'तलस्पर्शे सति प्रतिबिम्बासम्भवा-अर्थात् अतलस्पर्शों न होने पर ऊपर के आकाश की तद्वत नीलत्व की परछाई नहीं हो सकती।' पर मेरे विचार से यह विवरण सङ्गत नहीं है। कारण, प्रतिबिम्ब का यहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता। प्रायः नागेशमहोदय यहाँ खाई में प्रतिबिम्बित उपरितन महाकाश की सम्भावना जल में समझते हैं। पर वस्तुतः बात यह है नहीं, अपितु यह है कि-यदि कलिन्द पर्वत से प्रयाग पर्यन्त एक अतलस्पर्शिणी खाई खोद दी जाय और उसमें जल नहीं हो, तब उस खाई के अन्दर का आकाश लम्बा और नीचे की ओर निरवधि होने के कारण ऊपर के महाकाश के समान ही नीला दीख पड़ेगा, यस, उसी स्थिति की सम्भावना यहाँ नीले जल में की गई है। और इस पद्य के पूर्वार्ध की रचना आकाश में 'लम्बेपन'रूप निमित्तभूत धर्म की सिद्धि के लिये की गई है-अर्थात् इतनी लम्बी खाई का गोदना वर्णित हुआ है, क्योंकि खन्दक के अनुसार ही उसके अन्दर का आकाश होता है। यहाँ भी नागेशजी ने 'गतोपरितनाकाशस्य तदीर्घत्वारोपाय' लिखकर उसी प्रतिबिम्बवाली भूल को दुहराया है।

भेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

जात्यादीनामभावोत्प्रेक्षा यथा—

जातेर्गुणस्य च योऽभावः (अत्यन्ताभावो ध्वंसो वा) तस्याभेदेन सम्भावना यथेति भावः ।

जाति आदि के अभावों की उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘बाहुजानां समस्तानामभाव इव भूर्तिमान् ।

जयत्यतिबलो लोके जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥’

समस्तानां सर्वेषाम्, बाहुजानां क्षत्रियाणाम्, भूर्तिमान् सविप्रह, अभावः अत्यन्ताभावः, इव, प्रतापवान् पराक्रमविरोपविशिष्ट, अतिबल परमबलशाली, जामदग्न्यः परशुरामः, लोके, जयति सर्वोत्कृष्टेण वर्तत इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—बाहुजानाम् इत्यादि। समस्त क्षत्रियों का, मानो भूर्तिमान् अभाव हो ऐसे परमप्रतापशाली अत्यधिक बलवाले परशुराम, सत्तार में, सर्वोत्कृष्ट हैं।

उपपादयति—

अत्र जात्यवच्छिन्नाभावो विरोधित्वनिमित्तेन तादात्म्येनोत्प्रेक्ष्यते ।

जातीति । जातिः क्षत्रियत्वम्, तदवच्छिन्नानाम् अभाव इत्यर्थः । सम्प्रक्षत्रियाभाव इति यावत् । विरोधित्वेति । जात्यवच्छिन्नमेत्यादि । जामदग्न्यः क्षत्रियत्वजातिमता विरोधी । ततश्च विरोधित्वनिमित्तेन जामदग्न्ये द्रव्ये क्षत्रियत्वजातेरभावस्तादात्म्येन सम्भाव्यत इति जात्यभावपर्युपेक्षा सेयमिति भावः ।

उपपादनं कियं जाता है—अत्र इत्यादि । 'वाहुजानाम्'—इस पक्ष में क्षत्रियत्व जाति से अवच्छिन्न के अभाव (अत्यन्ताभाव) की, क्षत्रियत्व जाति के विरोधी होने को निमित्त मानकर, उल्लेख की जाती है ।

पाठभेदेन भेदान्तरतामापादिते प्रकृतपक्षे विरोधमुपपादयति—

विनाश इवेत्युक्ती तु भ्वंसः । 'समस्तलोकदुःखानाम्' इति प्रथमचरणे कृते गुणभावः ।

यदि प्रकृतपक्षमटकाभावपदस्थाने 'विनाश' पदं स्थापयित्वा पदं रचितमभिव्यक्तदा क्षत्रियत्वप्राप्त्यवच्छिन्नत्वसौत्रेणा समपत्स्यन् । यदि तु सम्प्रथमचरणस्थाने 'समस्तलोकदुःखानाम्' इत्यपठित्यत्, तदा गुणभावोपेक्षाऽभिव्यक्त, दुःखानां गुणत्वादिति भावः ।

यदि इसी पक्ष में 'अभाव इव' के स्थान पर 'विनाश इव' पाठ मान लिया जाय तब वही पक्ष 'व्यसाभाव' की उल्लेख का उदाहरण हो जायगा । और यदि इसी पक्ष का प्रथम चरण 'समस्तलोकदुःखानाम्—सब लोगों के दुःख के' इस प्रकार बना दिया जाय तो वही पक्ष गुणभाव की उल्लेख का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'दुःख' गुण है ।

क्रियाभावोपेक्षोदाहरणमाह—

'घोरञ्जनकालीभिर्जलदालीभिस्तथा वज्रे ।

जगदखिलमपि यथासीन्निलोचनवर्गसर्गमिव ॥'

घोः आशयः, अञ्जनकालीभिः कञ्जलवच्छ्रयामाभिः, जलदालीभिः मेषपङ्क्तिभिः, तथा तेन प्रकारेण, वज्रे आच्छादिता, यथा, अखिलम् सकलम्, अपि, जगत् संसारः, निर्लोचनाः नेत्ररन्त्या, ये जना, तेषां, वर्गः समूहः, तस्य, सर्गः सृष्टिः, इव, आसीत् अभूदित्यर्थः ।

क्रिया के अभाव की उल्लेख का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—घोरित्वादि । आकाश, काजल-सी काठी मेष-पङ्क्तियों से घेरे फिर गया, मानो सारा संसार नेत्रहीन लोगों की सृष्टि हो गया । तात्पर्य यह कि धन धरा के कारण सब लोग भूचे हो गए, कोई किसी को दिखाई नहीं पड़ता था ।

उपपादयति—

अत्रापि आक्षुपज्ञानशून्यत्वेन निमित्तेन पार्यन्तिकः क्रियाभावो धर्मः ।

निमित्तेनेति । अनुपात्तेनेति भावः । पार्यन्तिक इति । अत्र चांगेरा 'यद्यपि सर्गमिति नृपुंसकोक्त्या तर्हि जगदन्तरमिवैतज्जगदिति पूर्वं बोधः, तथापि तादृशजगदन्तराप्रसिद्धया अभातोपेक्षावाभापत्त्या चात्रैव धर्मिणि जयति लोचनवर्गस्य सर्गो दानं संसर्गः प्रसरणं वा यत्र दर्शने तदभावो निरा बोध्यते इति दर्शनक्रियाभावरूपो धर्मः वद्रेच्यते पश्चादित्यर्थः । तदाह क्रियाभावो धर्म इति ।' इति ।

उपपादनं कियं जाता है—'घो'—इस पक्ष में 'नेत्रहीनक ज्ञान से सर्वधारहित होने' को निमित्त मानकर, अन्ततोगत्या क्रिया (दर्शन) के अभावरूप धर्म की उल्लेख की जा रही है । अभिप्राय यह है कि—'निर्लोचनवर्गसर्गमिव' का बोध पहले यद्यपि यह होता है कि—लोचनवर्ग का सर्ग (सृष्टि) निवृत्त (दूर) हो गया है जिससे ऐसे जगत् के समान (अखिल

जगत्), पर वस्तुतः ऐसा जगत् कहीं प्रसिद्ध नहीं है जिसमें आँखों की सृष्टि संभव हो ही नहीं, अतः अन्त में उक्त समस्त पद का अर्थ 'लोचनवशं का सर्गं समगं (सदम्भ)' है जिसमें ऐसी को दर्शनक्रिया यह निर्गत (दूर) हो गई है जिससे ऐसा सारा जगत् इस तरह से करना पड़ता है, अतएव अन्त में जगत् रूप धर्मी में दर्शनक्रियाभावस्य धर्म की उपेक्षा सिद्ध होती है।

अमाधोत्प्रेक्षोदाहरणदानप्रसङ्गमुपसंहरन्नाह—

एवं द्रव्याभाधोत्प्रेक्षाऽपि स्वयमूह्या ।

एवं पूर्वोक्तरीत्यैव । उह्या तर्कणीया ।

इसी तरह द्रव्याभाव की कल्पना का भी यह स्वयं कर लेना चाहिये।

विरोधमाह—

मालारूपाऽप्येषा सम्भवति ।

एषा स्वलोत्प्रेक्षा ।

यह स्वलोत्प्रेक्षा मालारूप भी हो सकती है।

उदाहर्तृमाह—

यथा—

जैले—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘द्विनेत्र इव वासवः करबुगो वियस्वानिव

द्वितीय इव चन्द्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव ।

नराकृतिरिबान्धुधिर्गुरुरिव क्षमाभागतो

हुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि सूमीपतिः ॥’

‘द्विनेत्र’ नेत्रद्वयसहित न तु सहस्रनेत्र, वासव इन्द्र, इव, करबुगः विहस्त द्विकिर्णो वा, न तु सहस्रकिर्णः (करबुगपदे करबुगम् अस्त्यस्येत्यर्शं आद्यच्, करयोर्बुगं अस्वेति व्यधिकरणबहुव्रीहिर्वा) वियस्वान्द सर्व, इव, द्वितीय अथवा, चन्द्रमा, इव, श्रितवपुः धृतशरीर, मनोभू काम, इव, नराकृति मनुष्याकार, अन्धुधि समुद्र, इव, क्षमा भुवम्, आपत अवतीर्ण, गुरु गृहस्पति, इव, निखिल सर्व, भूसुरैर्ब्राह्मणैः, हुतः अग्निनन्दित, कोऽपि अग्निर्वचनीय भूमीपति राजा, जयति सर्वोत्कृष्टेण वर्तते इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—द्विनेत्र इत्यादि । मानो दो मयन बाढा इन्द्र हो, मानो दो कर (हाथ अथवा किर्ण) बाढा सर्व हो, मानो दूसरा चन्द्रमा हो मानो देहधारी कामदेव हो, मानो मनुष्य के समान आकारवाला समुद्र हो और मानो पृथिवी पर अवतीर्ण गृहस्पति हो ऐसा, सकल ब्राह्मणों से अग्निनन्दित कोई—अग्निर्वचनीय राजा सर्वोत्कृष्ट है ।

राज्ञासमाधानुरस्सरमुपपादयति—

अत्र राजगतानां द्विनेत्रत्वादीनां वासवादिवादात्मकविरोधिनां विरोधनिवर्तनाय विपर्ययु वासवादिप्यारोपेण साधारणीकरणम् । न चात्रोपमा शक्यनिरूपणा, द्विनेत्रत्वादीनामुत्प्रेक्षानियोजनकत्वापत्तेः । न चोपमाया निष्पादकं तेषां साधारण्यम्, तदभावेऽपि परमैश्वर्यादिभिः प्रतीयमानैस्तस्या निष्पत्तेः । अनुन्दरत्यादुपमानिष्पादकत्वेन कवेरभिप्रेतत्वाच्च । नह्यत्र द्विनेत्रत्वादिभिर्धर्मैर्वासवादिसादृश्यं राज्ञः कवेरभिप्रायविपर्ययः । एव द्वितीयत्वादीनां चन्द्रादिप्या

रोपोऽप्युपमायां सत्यामनर्थक एव स्यात् । अभेदप्रतिपत्तौ तु सहस्रनेत्रेण सहस्रकरेण विधिसृष्टावेकेन वपुर्विहीनेन जलाकारेण स्वर्गगतेन च तेन तेन कथमस्याभेदः स्यादिति प्रतिकूलधियमपसारयतां विपयिगतानां द्विनेत्रत्वा-
चारोपाणामस्त्येवोपयोगः । अत्रैवैवशब्दस्याभावे दृढारोपं रूपकम् । विपयिगत-
विशेषणानामभावे उपमा । उभयेपामेकतरस्याप्यभावे शुद्धरूपकमिति विवेकः ।

मनूपमैवात्रास्तु इत्याशङ्कते—न चेति । समाधत्ते—द्विनेत्रत्वादीनामिति । पुनः
राष्ट्रापकसमर्पनायोक्त्युत्तरमाशिष्याशङ्कते—न चेति । समाधत्ते—सदभावेऽपीति । तस्या
उपमायाः । तनूपात्तधर्माभावा एव प्रतीयमानधर्मादरोऽत आह—अस्तुन्दरेति । निश्चिति-
विशेषाजनकत्वादित्यर्थः । मनूत्रेखापचेऽपि सप्तुक्तिवैयर्थ्यमत आह—अभेदेति । करेण
किरणेन । रोम तेनेति । वासव्यादिनेत्यर्थः । अस्य वर्णनीयस्य राहः । उभयाभावस्यैक-
दिगमपि सत्त्वादाह—एकतरस्येति । प्रत्येकस्येति भावः । 'द्विनेत्र—' इति पद्ये एकत्र
राजहरे विषये वासवादीनां बहुना विपयिणा तादात्म्यस्य सम्भावनामालाक्षणा इव्य-
स्वरूपोत्प्रेक्षा । तत्र द्विनेत्रत्वादिबिशिष्टे विषये सहस्रनेत्रत्वादिबिशिष्टानां विपयिणा कथं
तादात्म्यम्, द्विनेत्रत्वादिसहस्रनेत्रत्वायोर्विरोधित्वादित्वाशङ्कापनौदनाय विपयिषु द्विनेत्र-
त्वादिकमारोप्यते, येन विषयविपयिणो साम्यं सह्यते । उपमाऽत्र बाह्योक्तुं शक्या,
विपयिषु द्विनेत्रत्वाचारोपस्य निरर्थकत्वापत्तेः । उपमासम्पादकसाधारण्यसम्पादनाय तदा-
वरयकत्वमपि न वक्तुं योग्यम्, प्रतीयमानपरमैश्वर्यादिकसाधारण्यमादायापि उपमायाः
सिद्धेः सम्भवात् । किञ्च द्विनेत्रत्वादिधर्ममूलकं राशि वासवादिसादर्यं कविविशिष्टाविपयी-
भूतमपि नास्ति, तादृशासादर्यस्य प्राणिमात्रप्रतियोगिकत्वेनापमत्कारित्वात् । एवमत्रो-
पमात्वीकारे चन्द्रमसि द्वितीयत्वारोपोऽपि स्मर्य एव भवेत्, सदृशस्य द्वितीयत्वप्रीत्यात् ।
वत्प्रेक्षास्वीकारे तु द्विनेत्रत्वाचारोपं सार्यकं, यत् उत्प्रेक्षायामभेदप्रतिपत्तिर्भवति, द्विनेत्र-
त्वादिविशिष्टे राशि वासवादेरभेदस्य प्रतिपत्तौ च वासवादेः सहस्रनेत्रत्वादिकानि बाधकानि
भवन्ति, अतः वासवादी द्विनेत्रत्वाचारोपो बाधकसहस्रनेत्रत्वादिविपयिनिरासक इति भावः ।
अस्मिन्नेव पद्ये यदि इवशब्दा न स्युस्तर्हि दृढारोपो रूपमालङ्कारः स्यात्, यदि च
इवशब्दा यथावत् भवेयुः विपयिविशेषणानि द्विनेत्रत्वादिकानि न भवेदुस्तदोपमालङ्कारो
भवैत्, यदि इवशब्दा विपयिविशेषणानि च न स्युस्तदा शुद्धरूपकालङ्कारो भवेदिति
शिष्यबुद्धिवैशयाय विवेकं कृत इति बोध्यम् ।

राज्ञा समाधानसहित उपपादनं किया जाता है—अथ इत्यादि । 'द्विनेत्र—' इस
पद्य में इन्द्र आदि का तादात्म्य राजा में कहना अभीष्ट है, पर यह तादात्म्य स्व-
भावतः बन नहीं सकता, क्योंकि राजा दो आँखोंवाला, दो करोंवाला, एक चन्द्र से
मिल, शरीरधारी, मनुष्याकार और पृथ्वीगत है और इन्द्र हैं सहस्राक्ष, सूर्य हैं सहस्र-
रश्मि, चन्द्र है एक, कामदेव है अशरीरी, समुद्र है जलाकार एवं बृहस्पति हैं स्वर्गवासी,
अतः इस विरोध को हटाने के लिये राजारूप विषय में रहनेवाले द्विनेत्रत्व आदि का
आरोप इन्द्र आदि में यथायथ कर दिया गया है जिससे वे धर्म साधारण होकर विषय-
विपयी की समता को सिद्ध करते हैं । आप कहेंगे—यहाँ उपमा ही क्यों नहीं मान
लेते ? हम कहेंगे—यहाँ उपमा का निरूपण नहीं हो सकता । कारण, उपमा मानने
पर इन्द्र आदि में द्विनेत्रत्व आदि का आरोप करना व्यर्थ हो जायगा । आप कहेंगे—
यह व्यर्थ क्यों होगा ? यह तो उपमा का साफ़ साधारणधर्मरूप ही है । तो यह ठीक
नहीं । कारण, इन आरोपित धर्मों के बिना भी अनुक्त, पर प्रतीयमान परम पेश्वर्य आदि
साधारणधर्म को लेकर उपमा सिद्ध हो सकती है । दूसरे, ये धर्म सुन्दर (चमत्कार-

विशेषजनक) भी नहीं और कवि इन्हें उपमा के साधक मानता भी नहीं—अर्थात् यहाँ द्विनेत्रत्व आदि धर्म के कारण राजा में इन्द्र आदि की तुलना करना कवि को अभिप्रेत नहीं। ऐसा अभिप्राय कवि का हो भी कैसे सकता है? कारण, द्विनेत्रत्व के कारण यदि इन्द्र से तुलना की जाय तब तो सबों की तुलना इन्द्र से हो जाय, क्योंकि सभी द्विनेत्र हैं। इसी तरह 'द्वितीयत्व' का चन्द्र में आरोप भी उपमा मानने पर व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि 'चन्द्र जैसा' इतना कहने पर भी उपमा बन सकती है, उसके लिये 'दूसरे चन्द्र जैसा' यह कहना आवश्यक नहीं है। हाँ, अभेद-ज्ञान में इन आरोपित विशेषणों का उपयोग सिद्ध हो सकता है, क्योंकि अभेद-ज्ञान में हमें ये ज्ञान प्रतिबन्धक होते हैं कि-इन्द्र हजार आँखों वाला है, सूर्य सहस्रकर (हजार किरणवाला) है, चन्द्रमा विधाता की सृष्टि में एक है, कामदेव शरीररहित है, समुद्र जलरूप है एवं बृहस्पति स्वर्ग में रहता है, और राजा में ये बातें हैं नहीं, फिर उनके साथ इतका (राजा का) अभेद कैसे हो सकता है? इस प्रतिबन्ध को दूर करने में इन विशेषणों का उपयोग है। अतः यहाँ अभेदप्रधान उत्प्रेक्षा ही है और वह भी मालारूप, क्योंकि एक विषय (राजा) में अनेक विषयी (इन्द्र आदि) के तादात्म्य की सम्भावना की गई है। इसी पद्य में यदि 'इव' पद हटा दिया जाय तो यही पद्य हङ्गारोपरूपक का, यदि इव शब्द रहे और विषयी (इन्द्रादिक) के विशेषण (द्विनेत्र आदि) हटा दिए जायँ, तो उपमा का और यदि 'इव' पद पूर्वोक्त विषय-विशेषण दोनों हटा दिए जायँ, तो शुद्धरूपक का उदाहरण हो सकता है। यह विभाग सिष्य सुद्धि वैश्वामय्य दिखला दिया गया है।

उपसंहारति—

एय स्वरूपोत्प्रेक्षाविगुपदर्शिता ।

पूर्वोक्ता स्वरूपोत्प्रेक्षाया विविधभेदाणां रीतिः प्रकाशिता, अनया रीत्या स्वरूपोत्प्रेक्षाया अनुक्ता अपि तै तै विशेषा स्वयमूहनीया इति भावः ।

उपसंहार किया जाता है—एवं इत्यादि। इस तरह स्वरूपोत्प्रेक्षा का विवर्तन कराया गया है। तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध की अन्य बातें स्वयं समझ लीजिए ।

अध्यान्तरभिन्नप्रकरणारम्भं सूचयति—

अथ हेतुत्प्रेक्षा ।

जात्यादीनां पदार्थानां हेतुत्वेनोत्प्रेक्षाया निरूपणमारभ्यत इति भावः ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा-निरूपण के बाद अब जाति आदि पदार्थों की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का निरूपण किया जाता है।

उदाहरणमाह—

यथा—

जातिहेतुत्प्रेक्षा यथेति भावः ।

जातिहेतुत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘त्वत्प्रतापमहादीपशिखाविपुलकज्जलैः ।

नूनं नमस्तले नित्यं नीलिमा नूतनायते ॥’

राजानं प्रति कवेरिक्ति—हे राजन् ! त्वत्प्रताप एवं महादीपस्तस्य शिखाया, विपुलैः प्रभूतै, कज्जलै, नमस्तले आकाशे, नीलिमा नीलिमा, नूनं निश्चितम्, नित्यं प्रतिदिनम्, नूतनायते नूतन इव भवतीत्यर्थः ।

• उदाहरण का निर्देश किया जाता है—स्वप्नताप इत्यादि। कवि राजा से कहता है—
हे राजन् ! मानो, आपके प्रतापरूप महादीपक की निगा (लौ) के विपुल काजलों से
आकाश में 'नीलता' (कालापन) मिला मया-सा होता रहता है ।

उपपादयति—

अत्र नीलिमसामानाधिकरण्येनोत्प्रेक्षितस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणम् ।

अत्रेति । 'स्वप्नताप' इत्यत्रेत्यर्थः । नीलिमसामानाधिकरण्येनेति । नैत्याधिकरणोभूता-
काशगतत्वेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्षितस्येति । कञ्जलस्येति भावः । हेतुत्वेनेति । नूतनीभवन इति
भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'स्वप्नताप—' इस पद्य में 'नीलता' की
उपप्रेक्षा जिस अधिकरण (आकाश) में की गई है उसी अधिकरण-अर्थात् आकाश-में
ही उपप्रेक्षित 'काजलों' की हेतुरूप में उपप्रेक्षा की गई है । तात्पर्य यह कि इस पद्य में
दो उपप्रेक्षाएँ हैं—एक 'नीलता' की, दूसरी 'काजलों' की । ये दोनों ही उपप्रेक्षाएँ आकाश-
रूप आधार में हुई हैं । इन दोनों उपप्रेक्षाओं में 'नीलता' की उपप्रेक्षा प्रधान है और
'काजलों' की उपप्रेक्षा उसके हेतुरूप में की गई है । इसी अप्रधान उपप्रेक्षा को लेकर यहाँ
यह पद्य उदाहरण होता है । यह उदाहरण जाति-हेतूप्रेक्षा का है, क्योंकि 'कज्जल'
जातिपाचक शब्द है ।

पाठान्तरेऽस्यैव पद्यस्य हेतुप्रेक्षाप्रमेदान्तरोदाहरणता संभक्तोत्पाद—

'कज्जल-लेपनैः' इति कृते इयमेव क्रियाहेतूप्रेक्षा ।

'विपुल कज्जलै' इत्यस्य स्थाने 'कज्जल-लेपनै' इति पाठे विहिते लेपनस्य क्रियारूप-
तया क्रियाहेतूप्रेक्षोदाहरणता प्रतिपद्यते पद्यमेतदिति भावः ।

इसी पद्य में यदि 'विपुल-कज्जलै' के स्थान में 'कज्जल-लेपनै' पाठ कर दिया जाय
तब यही पद्य क्रिया-हेतूप्रेक्षा का उदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'लेपन' एक क्रिया है ।

हेतुप्रेक्षाप्रमेदान्तरोदाहर्तुमाह—

गुणहेतूप्रेक्षा यथा—

गुणहेतूप्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'परस्परसङ्गसुखाग्रतःपुनः पयोधरी पीनतरौ चभूवतुः ।

तयोरमृष्यत्रयमुन्नति परामयैमि मध्यस्तनिमानमन्नति ॥'

नतपुनः नम्रीभूतप्रलूतिकाया नायिकाया, पयोधरी स्तनौ, परस्परसङ्गसुखात् मिथो-
मिलनानन्दात् हेतोः, पीनतरौ अतिस्थूलौ, चभूवतु संजातौ, तथा, तयो स्तनयो, पराम्
उत्कृष्टाम्, उन्नतिम् उत्कर्षम्, अमृष्यन् असहमानः, अयं मध्य नायिकाकटिप्रदेशः,
तनिमानम् कृशताम्, अन्नति प्राप्नोति, इति, अयैमि जानामीत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—परस्पर इत्यादि । नतपुन नायिका के दोनों
स्तन, परस्पर आसक्त होने (बड़-बड़ कर मिल जाने) के सुख से अत्यन्त पीन (पुष्ट)
हो गए हैं और उन दोनों की इस परम उन्नति को न सहता हुआ मध्यभाग (कटि-
प्रदेश) कृशता को प्राप्त कर रहा है ऐसा मैं जानता हूँ, मानता हूँ ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वोक्तं सुखस्य गुणस्य हेतुत्वं तावत् पञ्चम्यैव निर्दिष्टम् । अपरोक्षं
धर्मिविशेषणतया अनूद्यमानस्य गुणाभावस्य त्वार्थम् । यथा 'भोक्ता भुज्जानो
वा नृप्यति' इत्यादी भोजनादेः ।

अपरार्थ इति । उत्तरार्थ इत्यर्थः । आर्यत्वे हेतुगर्भं विशेषणमाह—धर्मीति । मध्येत्यर्थः । गुणाभावस्येति । मर्पणाभावस्येत्यर्थः । आर्यमिति । हेतुत्वमिति पूर्वोक्तस्यानुपपत्तौऽत्र बोध्यः । आर्यहेतुत्वप्रतीतिस्यल दृष्टान्तविषयाऽह—यथा भोकेति । भोक्तृत्वत्र कालसामान्यप्रतीतिविशेषोदाहरणमाह—भुजानो वेति । 'परस्पर—' इत्यत्र पयोधरगते स्वाभाविके वयः कृते वा पीनतरत्वे परस्परसङ्गसुखस्य हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यते । सुखं च गुणः, अतो गुणहेतुत्वेऽप्युदाहरणत्वमस्य पक्षस्य सिद्धयति । मध्यगते वयः कृते तनुत्वे स्तनगतोन्नतिमर्पणाभावस्य हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यते इति गुणाभावहेतुत्वेऽप्युदाहरणत्वमपि प्रकृतपक्षस्य । ननु मर्पणाभावो नात्र पृथग्हेतुतया निर्दिष्टोऽपि न मध्यविशेषणतयेति कथं तस्य हेतुत्वेन प्रत्यय इति चेन्न, यथा 'भुजानं तृप्यति' इत्यादौ शब्दतः कर्तृविशेषणतयोरुक्तस्यापि भोजनस्मार्यतस्त्वमौ हेतुत्वं प्रतीयते तथैव प्रकृतेऽपि मर्पणाभावस्य तनुत्वे शब्दहेतुत्वाप्रतीतावपि आर्य हेतुत्वं प्रतीयत इत्याशय इति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र पूर्वार्धे इत्यादि । 'परस्पर—' इस पक्ष में अवस्था-कृत स्तनों की पुष्टता के प्रति परस्परमिळनजन्यसुखरूप गुण की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की गई है । उक्त सुख का हेतु होना पञ्चमी विभक्ति (सुखात् अ सुख से) द्वारा स्पष्ट कह दिया गया है । इसी वक्ता को लेकर यहाँ यह पक्ष उदाहरत हुआ है । उत्तरार्ध में मध्य की कृशता के प्रति मर्पणाभाव (स्तन की उन्नति को न सह सकने) की हेतुरूप से उत्प्रेक्षा हुई है । यद्यपि मर्पणाभाव यहाँ पृथक् हेतुरूप में निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु मध्यरूप धर्मी (विशेष्य) के विशेषणरूप में । ऐसी स्थिति में उसका हेतु होना सम्भव अवगत नहीं होता तथापि जैसे 'लामेवाला अथवा खरता हुआ मनुष्य घृस होता है' इत्यादि वाक्यों में खाने आदि (जो शब्दतः मनुष्य का विशेषण है) का घृसि आदि हेतु होना अर्थात् प्राप्त हो जाता है उसी तरह यहाँ भी मर्पणाभाव का कृशता के प्रति हेतु होना भी अर्थात् सिद्ध होता है । फलतः इस वक्ता में गुणाभाव-मर्पणाभाव- (मर्पण मन का धर्म है अतः उसको भी कतिपय दार्शनिक गुण मानते हैं)—हेतुत्वेका है ।

उत्प्रेक्षाप्रकरणे नैयायिकोक्तगुणानामेव गुणपदेन ग्रहणं न, अपि तु दार्शनिकान्तर-भिमतगुणानामपीति स्फुटयितुमुदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—

'व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीतामाकर्ण्य स्तुतिमुदयत्प्रपातिरेकात् ।

आभूमीतलनतकन्धराणि मन्येऽरण्येऽस्मिन्नवनिरुहा कुटुम्बकानि ॥'

आस्मिन्, अरण्ये वने, व्यागुञ्जताम्, मधुकराणाम्, पुञ्जे, मञ्जु मधुरं यथा स्यात्तथा, गीताम्, स्तुतिं स्वप्रशंसाम्, आकर्ण्य श्रुत्वा, उदयन्त्या आविर्भवन्त्या, प्रपाया लज्जया, अतिरेकात् आधिक्यात्, अवनिरुहा तरुणाम्, कुटुम्बकानि समूहा, आभूमीतलं भूमितलमभिव्याप्य, नटा नर्तकीभूता, कन्धरा शाला, येषाम्, तादृशानि, सम्पन्नानि सन्तीति मन्ये इत्यर्थः । अत्रापि स्वाभाविके उरुशाखानमोभावे लज्जागुणस्य हेतुत्वमुत्प्रेक्षितमिति भावः ।

उत्प्रेक्षाप्रकरण में गुणपद से नैयायिकों द्वारा परिभाषित गुण ही नहीं लिये जाते, अपितु अन्य दार्शनिकों के अभिमत गुण भी गृहीत होते हैं इस बात को स्पष्ट करने के लिये दूसरा उदाहरण उपस्थित किया जाता है—यथा वा इत्यादि । इस वन में, गूँजते अमरों के झुण्डों द्वारा मधुर-मधुर गाई गई अपनी स्तुति (प्रशंसा) सुनकर, मानो उत्पन्न हुई लज्जा की अधिकता के कारण, वृक्षसमूह अपनी गरदनें पृथिवी-तल तक घुकाए हुए हैं । यहाँ 'लज्जा' (जो अन्य दार्शनिकों के मत से ही गुण है, नैयायिकों के मत से नहीं) के हेतु होने की उत्प्रेक्षा है ।

हेतुप्रेक्षायां प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

क्रियाहेतुप्रेक्षा यथा—

क्रिया हेतुप्रेक्षा, जैसे—

गद्यात्मकमुदाहरणमुपन्यस्यति—

‘महागुरुकलिन्दमहोदरविदारणाविर्भवन्महापातकावलिबेल्लनादिव श्या-
मलिता’ इति ।

यमुना वर्णयति कवि—(या यमुना) महागुरोः पितुः, कलिन्दमहोदरस्य कलिन्दा-
स्यस्य पर्वतस्य, उदरस्य अप्यभागस्येति यावत्, विदारणेन भेदनेन, आविर्भवता
उत्पद्यमानस्य महापातकस्य, आवलेः पङ्क्ते, वेष्टनात् प्राप्ते हेतो, इव, श्यामलिता संज्ञात-
श्यामगुणा इत्यर्थः । अत्र बेल्लनात्मिकायाः क्रियाया हेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति भावः ।

गद्यात्मक उदाहरण उपस्थित क्रिया ज्ञाता है—महागुरु इत्यादि । यमुना का वर्णन
है—(जो यमुना) महागुरु (जन्मदाता) ‘कलिन्द’पर्वत का उदर विदीर्ण करने से
उत्पन्न होते हुए महापातकों की पङ्क्ति के प्राप्त हो जाने से, मानो, काछी हो गई है । यहाँ
‘बेल्लन’ (प्राप्त हो जाने)-रूप क्रिया का हेतु होना उत्प्रेक्षित हुआ है ।

हेतुप्रेक्षाया एवावशिष्टं भेदमुदाहर्तुमाह—

द्रव्यहेतुप्रेक्षा यथा—

द्रव्यहेतुप्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘वराका यं राकारमण इति बलान्ति सहसा

सरः स्वच्छं मन्ये मिलदमृतमेनन्मखभुजाम् ।

अमुष्मिन्या कापि पुतिरतिघना भाति मिषता-

मिथं नीलच्छायादुपरि निरपायाद्गगनतः ॥’

कवि कथयति—‘वराका’ कृपणा मूका इति यावत्, सहसा हठात्, यं चन्द्रम्,
राकारमणं पूर्णिमापतिः, इति, बलान्ति कथयन्ति । अहं मिलदमृतम् अमृतमयम्,
मखभुजा देवानाम्, स्वच्छम्, सरः सरोवरम्, मन्ये । अमुष्मिन् तस्मिन्, मिषतां
पृथक्ताम्, या कापि, अतिघना निविष्टा, पुतिः नीलकान्तिः, भाति, इयं पुतिः, उपरि
वर्तमानात्, नीलच्छायात् नीलकान्तेः, निरपायात् अविनश्वरात्, गगनतः आकाशा-
द्देवोरित्यर्थः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—वराका इत्यादि । कवि की उक्ति है—‘वामर
लोग जिसको राकारमण—पूर्णिमा पति (चन्द्र) शब्द से कहते हैं, इसे, मैं, अमृतमय
देवताओं का स्वच्छ सरोवर मानता हूँ । इसके अन्दर देखनेवालों को जो अत्यन्त गहरी
अतएव काछी चमक दिखाई पड़ती है, यह चमक उसके ऊपर घाते नीलकान्तियुक्त
और प्रतिबन्धरहित आकाश के कारण है ।

उपपादयति—

अत्रामृतसरोरूपत्वेनोत्प्रेक्षिते चन्द्रमसि नीलत्वेनाध्यवसिते कलङ्के उपरि-
वर्तिनभोहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । एतेन द्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणं नास्तीति प्राचां
प्रवादो निरस्तः ।

नीलत्वेनेति । पुतिरित्येवेनेति भावः । ‘वराका-’ इति पदे चन्द्रोऽमृतसरोरूपत-
योत्प्रेक्ष्यते, चन्द्रे च वर्तमानं कलङ्क नीलत्वात्मकपुतिपदार्थतयाऽध्यवस्यते, तथाऽध्य-

व्यति च तत्रोपरि वर्तमानाकाश हेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति द्रव्यहेतुत्प्रेक्षोदाहरणत्वमस्य पदस्य सिद्धयति । एवञ्च द्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा न सम्भवतीति प्राचीनालङ्कारिकाणां मतं परास्तमिति भावः ।

उपपादनं किञ्च जाता है—अत्र इत्यादि । ‘वराका.—’ इस पद्य में चन्द्रमा की उत्प्रेक्षा अमृतसरोवर के रूप में की गई है और इस रूप में उत्प्रेक्षित चन्द्र में द्युतिपद-बोध्य नीलत्वरूप से स्वीकृत ‘कलङ्क’ में अमृतसरोवर के ऊपरवाले आकाश के कारण होने की उत्प्रेक्षा की जा रही है जो प्रकृत में उदाहरण है । इस उदाहरण से प्राचीनों का यह प्रवाद (अफवाह) कि-द्रव्य की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा नहीं होती, उड़ जाता है ।

अभावहेतुत्प्रेक्षामुदाहर्तुमाह—

एषामेवाभावात्ता हेतुत्वोत्प्रेक्षा यथा—

एषाम् = आर्यादीनामेव येऽभावास्तेषां हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा यथेति भावः ।

जाति आदि के ही अभावों की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

तत्र प्रथम आर्यभावस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षाया उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘नितान्तरमणीयानि वस्तूनि करुणोष्मिन्तः ।

कालः सहरते नित्यमभावादिव चक्षुषः ॥’

काल, चक्षुषी नैग्रह्य (अत्रैकवचनेन ‘यद्येकमपि चक्षुरभविष्यत्तदा नैवमकरिष्यदिति’ सूच्यते) अभावात्, इव, करुणोष्मिन्तं त्यक्तकरण (आहिताग्न्यादित्वाभिधान्तस्य परनिपात), सन्, नितान्तरमणीयानि अतिमुन्दराणि, वस्तूनि, सहरते नाशयतीत्यर्थः ।

उनमें पहले आर्यभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का उदाहरण निर्दिष्ट किया जाता है—नितान्त इत्यादि । काल, अतिमुन्दर पदार्थों का, मानो नेत्र न होने के कारण, निर्दय होकर नित्य संहार करता रहता है—दो आँखों की तो बात क्या, यदि एक भी आँख काल को होती तो वह ऐसा निर्दय नहीं बन पाता और न ऐसा क्रूर कार्य ही उससे बन पड़ता ।

उपपादयति—

अत्र कालस्य साहजिके संहारकत्वे चक्षुरभावस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षा ।

कालो यद्यपि स्वभावतः संहारकस्तथापि ‘नितान्त—’ इत्यत्र स्वभाविके तस्य संहारकत्वे नैत्राभावहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते, नैग्रह्य च जातिरिति आत्यवच्छिन्नाभावहेतुत्वोत्प्रेक्षोदाहरणत्वमस्य पदस्य सिद्धयतीति भावः ।

उपपादनं किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘काल.—’ इस पद्य में काल की वस्तुता स्वभाविक संहारकता के हेतुरूप में ‘नेत्रों के अभाव’ की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः यह पद्य आत्यवच्छिन्न अभाव हेतुत्प्रेक्षा का उदाहरण संपन्न होता है । तात्पर्य यह कि नैग्रह्य जाति है और यहाँ तद्विशिष्ट के अभाव की हेतुरूप में उत्प्रेक्षा हुई है ।

गुणभावहेतुत्वोत्प्रेक्षोदाहरणमुपन्यस्यति—

‘नि सीमशोभा सौभाग्यं नताङ्गया नयनद्वयम् ।

अन्योन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलम् ॥’

नि सीमाया इत्यन्तारहिताया शोभाया, सौभाग्यं साम्राज्यरूपम्, नताङ्गया, नयनद्वयम्, अन्योन्यस्य परस्परस्य, आलोकनेन दर्शनेन, य, आनन्द, तस्य, विरहात् अभावात्, इव, चञ्चलम्, भवतीत्यर्थः ।

अब गुणभाव को हेतुरूप में उत्प्रेक्षा का उदाहरण दितलाया जाता है—नि.सीम

इत्यादि। सीमारहित सोभा के सीमाग्न्यस्वरूप, नटाङ्गी नायिका के दोनों नेत्र, मानो, परस्परदर्शनजन्य आनन्द के अभाव से चञ्चल हो रहे हैं।

उपपादयति—

अत्र गुणाभावस्य ।

‘नि संम—’ इति पद्ये आनन्दरूपगुणाभावस्य नयनचञ्चल्यहेतुत्वेनोपेक्षेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘नि-सीम—’ इस पद्य में आनन्दरूप गुण के अभाव की नेत्रगत चञ्चलता के हेतुरूप में उल्लेख की गई है।

क्रियाभावहेतुत्वोन्नेशोदाहरणमुपन्यस्यति—

‘जनमोहकरं वषालि मन्ये चिकुराकारमिदं घनान्वकारम् ।

पदनेन्दुरुचामिहाप्रचारादिव सन्वद्भि नितान्तकान्तिकान्तम् ॥’

सखी नायिकां प्रति व्रूते—हे आलि ! सखि ! जनमोहकरं दर्यकजनमोहकम्, तव चिकुराकार कैशाकृतचिरम्, इदं घनान्वकारं निबिडं तनम्, अहम्, मन्ये—अर्थात् कैशसमूहो नायम्, किन्तु तन पुङ्गवम् । हे सन्वद्भि कृपाङ्गि ! इह मस्तकोपरिभागे पद-नेन्दुरुचा मुखचन्द्र-ज्योत्स्नाम्, अप्रचारात् प्रचरणाभावात् इव, नितान्तकान्त्या अति-शयितनीलप्रमया, कान्तं रमणीयम् । इदं घनान्वकारविशेषणम् इत्यर्थः ।

अब क्रियाभाव की हेतुरूप में उपप्रेषा का उदाहरण दिखलाया जाता है—जनमोह-करम् इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे सखि ! लोगों को मोहित करनेवाले तेरे कैशों के आकार में, मैं, इसको गहरा अन्धकार मानती हूँ—अर्थात् यह केश नहीं किन्तु अन्धकार है। हे कृपाङ्गि ! मानो, यहाँ मुखरूप चन्द्र की ज्योत्स्ना का प्रचार न होने के कारण यह अन्धकार अत्यधिक कान्ति (नीली प्रभा) से रमणीय हो रहा है।

उपपादयति—

इह द्वितीयार्थे क्रियाभावस्य । प्रथमार्थे तु जात्यवच्छिन्नस्य जात्यवच्छिन्ना-भावस्य वा स्वरूपोत्प्रेक्षैव ।

व्येतिः । प्रचारस्य क्रियात्वादिति भावः । तुरकवैलखण्ये । एतेन प्राप्तत्रिकत्वमस्य सूचितम् । अत एव श्रुक्रमेणोक्तिः । अन्धकारोऽतिरिक्तं पदार्थ इति सीमासकृन्मतेनाह—जात्यवच्छिन्नमेति । तेजोऽभाव एव ॥ इति नैयायिकमतेनाह—जात्यवच्छिन्नाभावेति । ‘जनमोहकरम्—’ इति श्लोके प्रचारक्रियाभावस्य नितान्तकान्तिकान्तत्वे स्वभावसिद्धे हेतुत्वेनोपेक्षेति प्रकृतोदाहरणतासिद्धिः । यद्यपि पूर्वार्धेऽप्येकोत्प्रेक्षाऽस्ति, तथापि न सा हेतुत्प्रेक्षा, किन्तु स्वरूपोत्प्रेक्षैव । तत्रापि मतभेदः । येऽन्धकारमतिरिक्तं पदार्थं मन्यन्ते तेषां मते चिकुरेऽन्धकारस्वजात्यवच्छिन्नस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षा । ये तु तेजोऽभावमेवान्ध-कारं स्वीकुर्वन्ति तेषां मते चिकुरे तेजस्वजात्यवच्छिन्नाभावस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इह इत्यादि। ‘जनमोहकरम्—’ इस पद्य के उत्तरार्ध में क्रिया के अभाव की हेतुरूप में उल्लेख की जाती है। तत्पर्य यह कि—केशाकार निबिड अन्धकार यद्यपि स्वभावतः ‘नितान्तकान्तिकान्तम्’-सुन्दर है, तथापि यहाँ मुखरूप चन्द्र की कान्तियों के प्रचरण न होने के कारण उसको वैसा कहा गया है, अतः ‘नितान्त-कान्तिकान्तत्व’ के प्रति मुखचन्द्रकान्तित्वतः प्रचरणक्रिया के अभाव की हेतुरूप में सम्भावना स्पष्ट है। यद्यपि पूर्वार्ध में भी ‘केन्द्र में अन्धकार की सम्भावना’रूपा एक उल्लेख है, पर वह हेतुत्प्रेक्षा नहीं, किन्तु स्वरूपोत्प्रेक्षा है और स्वरूपोत्प्रेक्षा भी यहाँ मतभेद से भिन्न भिन्न रूप की है—अर्थात् जो लोग (नीमांसक) अन्धकार को एक भावपदार्थ मानते हैं उनके मत से यहाँ जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। पर जो लोग

(नैयायिक) ध्वन्यकार को तेज का अभावमात्र मानते हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, उनके मत से यहाँ जायमावस्वरूपोत्प्रेषा होती है ।

द्रव्याभावहेतुत्वोत्प्रेषोदाहरणमुपन्यस्यति—

‘न नगा. काननगा यदुदतीषु त्वदरिमूपसुन्तीषु ।

शकलीभवन्ति शतधा शङ्के श्रवणेन्द्रियाभावान् ॥’

कवि कमपि राजानं स्तोति—(हे राजन् !) तव, अरिभूतानाम्, भूपानाम्, सुद-
तीषु सुन्दरदन्तयुक्तानाम् कामिनीषु, रुदतीषु रोदनं कुर्वतीषु सतीषु, काननगाः वनस्थिताः,
नगाः ‘इडा’ पर्वता वा, यन्, शतधा, न, शकलीभवन्ति विदीर्यन्ते, तन्, श्रवणेन्द्रियस्य
श्रोत्रउद्गरस्य, अभावादेतेरिति, शङ्के मन्ये इत्यर्थः ।

द्रव्याभाव की हेतुरूप में उल्लेख का उदाहरण दिखलाया जाता है—न नगा
इत्यादि । कवि किसी राजा की स्तुति करता है—(हे राजन् !) आपके शत्रुमूल राजाओं
की सुन्दर दाँतवाली कामिनीयों के रोते रहने पर वन के वृक्षों अथवा पर्वतों के
जो सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते, मानो, इसका कारण कर्णेन्द्रिय का अभाव है ।

उपपादयति—

इह श्रोत्रत्वस्य जातिगुणक्रियाभ्योऽतिरिक्तस्य विवेके क्रियमाणे आका-
शस्यरूपतया सदवच्छिन्नाभावस्य द्रव्याभावस्य हेतुत्वेनोत्प्रेषा । निमित्तं क्रिया-
भावः ।

शङ्कुन्यवच्छिन्नमसत् श्रोत्रत्वादह—विवेक इति । भावस्यैतत्स्य व्याख्या द्रव्या-
भावस्येति । निमित्तमिति । तस्य तत्त्वेनोत्प्रेष्ये निमित्तमित्यर्थः । क्रियेति । शकली-
भवन्नूप्यर्थः । श्रोत्रत्वं न जातिरूपम्, न गुणरूपम्, न वा क्रियारूपम्, तेभ्यो निमित्तं
चेदं विचारे क्रियमाणे आकाशरूपमेव पर्यवस्यति, आकाशस्य द्रव्यम्, तथा च तदव-
च्छिन्नभावो द्रव्याभाव एव सिद्धयति, अतः ‘न नगा—’ इत्यत्र नगशकलीमवताभावे
तस्य हेतुत्वेनोत्प्रेषा द्रव्याभावहेतुत्वोत्प्रेषाया उदाहरणत्वाभावादयति । अस्याद्योत्प्रेषायां
शकलीमवताभावो निमित्तभूत इति भावः ।

उपपादयति कया जाता है—इह इत्यादि । कर्णेन्द्रिय जाति, गुण और क्रियाओं से
भिन्न वस्तु है । फलतः विवेचन करने पर वह आकाशरूप सिद्ध होती है, जो कि एक
द्रव्य है । अतः आकाश का अभाव द्रव्याभाव हुआ, इस अभाव का ‘न नगा—’ इस
पद्य में हेतुत्व से उल्लेख की गई है । उल्लेख का निमित्त है ‘टुकड़े होने’ रूप क्रिया का
अभाव । सारांश यह कि इस तरह यह पद्य द्रव्याभावहेतुत्वोत्प्रेषा का उदाहरण दीक है ।

उपसंहारि—

एवं हेतुत्वोत्प्रेषादिक् ।

एवम् उक्तप्रकारेण, हेतुत्वोत्प्रेषाया, टिक्, उपदर्शिता इति शेष । अथवा एवम् = एव-
म्यूता, हेतुत्वोत्प्रेषाया, टिक् रीतिः, बोध्येति शेषः ।

उपसंहार क्रिया जाता है—एवम् इत्यादि । इस तरह हेतुत्वोत्प्रेषा की दिशा (रीति)
दिखला दी गई ।

अवान्तरमन्यन् प्रकरणमारमते—

अथ फलोत्प्रेषा—

फलोत्प्रेषाविचारः प्रसन्नतो वेदितव्य इति भावः ।

अथ फलोत्प्रेषा के सवन्ध में विचार किया जाता है ।

तत्र प्रथमं जातिफलोत्प्रेक्षादाहरणमुपन्यस्यति—

‘दिवानिशं वारिणि कण्ठदध्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती ।

वक्षोजतायै किमु पद्मलाद्यास्तपश्चरत्यम्बुजपङ्क्तिरेषा ॥’

दिवानिशम् अहोरात्रम्, कण्ठदध्ने कण्ठप्रमाणे, वारिणि जले, दिवाकरस्य सूर्यस्य आराधनम् उपासनम्, आचरन्ती कुर्वती, एषा, अम्बुजपङ्क्तिः कमलमाला, पद्मलाद्याः सधनपद्मयुक्तनेत्राया नायिकाया, वक्षोजतायै स्तनतायै स्तनत्वप्राप्तये इति यावत्, तपः, चरति, किमु इत्यर्थः ।

जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण दिखलाया जाता है—दिवानिशम् इत्यादि । कवि की उक्ति है—दिन रात गले भर पानी में सूर्य की आराधना करती हुई वह कमलों की पङ्क्ति, क्या सधनपद्मयुक्त भौखोंवाली नायिका का स्तनत्व पाने के लिये तप कर रही है ।

उपपादयति—

अत्र वक्षोजत्वमवयववृत्त । जातिस्त्वप्रत्ययार्थः । त्वतलोः प्रवृत्तिप्रवृत्ति-निमित्ते भावे विधानात् । स एव चात्र तपश्चरणक्रियायाः साहजिकजलावस्थानमिन्नतयाऽभ्यवसितायाः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते ।

अवयवेति स्तनेत्यर्थः । स एवेति । जातिरूपतत्प्रत्ययार्थ एवेत्यर्थः । वक्षोजत्वं स्तन-रूपनायिकाप्रवृत्तिप्रदर्शकं, स च जातिरूपः, जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपेषु प्रवृत्तिनिमित्तेषु अन्येषां बाधितत्वेन जातिरूप एव वक्षोजपदप्रवृत्तिनिमित्तात्मके भावे वक्षोजपदात्तत्प्रत्ययस्थात्र विधानात् । सा जातिरेव चात्र तस्याः तपश्चरणक्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्ष्यते या तपश्चरणक्रियाऽत्र स्वाभाविकजलावस्थानेऽप्यारोप्य वर्णिता । एवञ्च जातिफलोत्प्रेक्षादाहरणता प्रकृतपदस्य समुचितैवेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘दिवानिशम्—’ इस पद्य में वर्णित ‘वक्षोजता’ (स्तनत्व) एक अङ्ग (स्तन) में रहनेवाला पदार्थ है । और वह जातिरूप ही हो सकता है, क्योंकि ‘तल’ प्रत्यय का अर्थ वहाँ जाति ही है । कारण, ‘त्व’ और ‘ता’ प्रत्यय जिस शब्द से विहित होते हैं, उनका उस शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तरूप भाव में विधान होता है । तात्पर्य यह कि—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इस तरह कुछ चार प्रकार के प्रवृत्ति निमित्त होते हैं, उनमें से ‘स्तन’ का प्रवृत्तिनिमित्त जातिरूप ही है, अतः यहाँ ‘ता’ प्रत्यय का अर्थ जाति हुआ । उसी जातिरूप अर्थ की यहाँ कमलों के स्वाभाविक धर्म—जल में रहने—से अभिन्नरूप मानी हुई ‘तपश्चरण’-क्रिया के फलरूप में उपप्रेक्षा की जा रही है । अतः यह पद्य जातिफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है ।

आशक्य समायत्ते—

न चात्र प्राप्तिक्रियामन्तरेण जातेः शुद्धाया अफलत्वात् क्रियाया एव फलत्वमिति वाच्यम् । प्राप्तेः संसर्गतया तद्द्वारेव जात्यादेः फलत्वोपपत्तेः । अन्यथा फलत्वबोधकचतुर्थ्या अनुपपत्तेः । अत एव—‘ब्राह्मण्याय तपस्तेपे विश्वामित्रः सुदारुणम्’ इत्यादयः प्रयोगाः ।

अफलत्वादिति । क्रियाया जातेस्तत्तिष्ठितं फलत्वं न संभवतीति भावः । क्रियाया इति । प्राप्तिरूपाया इत्यर्थः । संसर्गतयेति । तथा च लक्षणा नेति भावः । अन्यथेति । यथाकथञ्चिदफलत्वानङ्गीकारे इत्यर्थः । उक्तार्थं द्रष्टव्यं—अत एवेति । क्रियाद्वाराकफलत्वस्य जातेरपि संभवादेवेत्यर्थः । ब्राह्मण्यायेति । बालरामायणगतं पद्यात्ममेतत् । विश्वामित्रः जन्मना क्षत्रियो राजा, ब्राह्मण्याय ब्राह्मणत्वलाभाय, सुदारुणं, तपः, तेपे इत्यर्थः । केवल

वशोजन्वजाति तपश्चरणक्रियाया फल न भवितुमर्हति, अपि तु वशोजत्वप्राप्तिरिति मूले 'वशोजतायै' इत्यत्र वशोजतापदस्य स्वकर्मकप्राप्तिक्रियाया लक्षणाया स्वीकर्तव्यतया क्रियाफलोत्प्रेक्षात्वमेव, न जातिकलोत्प्रेक्षात्वमिति शङ्का न कर्तव्या, अपदार्थभूतामपि संसर्गविषया भासमाना प्राप्तिक्रिया द्वारोक्त्य नित्याया वशोजन्वजातेरपि फलत्वं संभवतीत्यारोप्यात्, तथा च न लक्षणाया अत्रावश्यकतेति साराशः । अत एव वशोजता-पदान् विहिता फलवार्थिका चतुर्थी उपपद्यते । एवंविध प्रयोग प्रागपि कृत सुधीभिः येषां 'ब्राह्मण्याय—' इति । इति भावः ।

एक आशङ्का करके उसका समाधान किया जाता है—न चाप इत्यादि । आप कहेंगे—यहाँ 'प्राप्ति' क्रिया के बिना केवल 'स्तनत्व' जाति फल नहीं हो सकती, क्योंकि 'जाति' नित्य पदार्थ है और 'फलत्व' है उत्पत्तिघटित पदार्थ—अर्थात् जन्म वस्तु ही फलरूप हो सकती है, नित्य वस्तु नहीं, अतः तपश्चरणक्रिया का फल यहाँ 'प्राप्ति' क्रिया को मानना उचित है, न कि 'जाति' को । तो इसका समाधान यह है कि—'प्राप्ति' क्रिया यहाँ सम्यग्यरूप से आसित होती है, उसके द्वारा नित्य पदार्थ (जाति) भी फलरूप हो सकता है । फलतः इस पक्ष में 'वशोजता' पद की 'वशोजताप्राप्ति' से लक्षणा नहीं करनी पड़ी । पूर्वपक्ष में तो वह करनी ही पड़ती । 'वशोजता' को फल मानने पर ही 'वशोजता' पद से फलवार्थक चतुर्थी विभक्ति का विधान सङ्गत होता है । अन्यथा वह असङ्गत हो जाता । इस तरह का प्रयोग कुछ नया नहीं है—प्राचीनों ने भी इस तरह का प्रयोग किया है । देखिए—भालरामायणकार ने लिखा है—'ब्राह्मण्याय—अर्थात् विश्वामित्रजी ने—जो जन्मना वृत्रिप थे—ब्राह्मणत्व के लिये भक्तिदारुण तप किया' । यहाँ का 'ब्राह्मण्याय' प्रयोग इसी तरह का है ।

‘फलोत्प्रेक्षाया’ प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

गुणफलोत्प्रेक्षा यथा—

गुण की फलरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘वियोगवह्नि कुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि ।

प्रियसङ्गसुखायैव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥’

हे वियोगिनि विरहिणि ! वियोगरूपस्य बहे, कुण्डे खाते, अस्मिन्, ते, हृदये, मुक्ताहारं मौक्तिक दाम, मुक्त आहारो येन स इति रिश्टोऽर्थः, प्रियसङ्ग एव सुखं तस्मै, इव, तपस्यति तपः करोतीत्यर्थः । अत्र सुखरूपगुणस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षण स्पष्टमेव ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—वियोग इति । हे विरहिणि ! इस विरहाग्नि के कुण्डरूप से हृदय में मोनियों का हार (मुक्त कर दिया है आहार को जिसने ऐसा—अनशनव्रती—उपवास करनेवाला) मानो, प्रियतमसङ्गरूप सुख के लिये तपस्या कर रहा है । यहाँ 'सुख' रूप गुण की फलरूप में उत्प्रेक्षा स्पष्ट ही है ।

फलोत्प्रेक्षाया एव प्रभेदान्तरमुदाहर्तुमाह—

क्रियाफलोत्प्रेक्षा यथा—

क्रिया की फलरूप में उत्प्रेक्षा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘हालाहलकालानलकाकोदरसङ्गतिं करोति विधुः ।

अभ्यतिबुधिव तदीयां विद्यामद्यापि हरशिरसि ॥’

विशुधन्द, अथापि, हरशिरसि महाव्यन्मस्तके, तदीया तत्त्वमन्त्रिणीम्, विद्यां

मारणकलारपाम्, अभ्यसितुम्, इष, हालाहलस्य विषस्य, कालानलस्य प्रलयाग्ने, काको-
दरस्य सर्पस्य, च, सङ्गतिं संसर्गम्; करोतोन्पर्य ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—हालाहल इत्यादि । साठ दिन भी चन्द्रमा,
महादेवजी के मस्तक पर विष, प्रलयग्नि और सर्पों की सङ्गति, मानो उनकी विद्या
(मार डालने की कला) का अभ्यास करने के लिये कर रहा है ।

उपपादयति—

अत्र विरहिवाक्येऽभ्यसनक्रियायास्तुमुना फलत्वं लभ्यते ।

‘हालाहल—’ इति विरहिजबोकां वाक्यम्, तत्र ‘तुमुन्’प्रत्ययप्रकृत्यर्थभूताया ‘अभ्य-
सितुम्’ इति पदशेष्याया अभ्यसनक्रियायाः ‘तुमुन्’प्रत्ययेन हालाहलादिसङ्गतिफलत्वं
लभ्यते । तथा चाभ्यसनक्रियायाः फलत्वेनोत्प्रेक्षा सिद्धेति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘हालाहल—’ इस विरही के वाक्य में
‘अभ्यास करने’रूप क्रिया का फलरूप होना ‘तुमुन्’(के लिये)प्रत्यय द्वारा प्रतीत
होता है । अतः यह पद्य क्रियाफलोत्प्रेक्षा का उदाहरण होता है ।

उपसहरति—

एवं लक्ष्यानुसारेण यथासम्भवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

पूर्वोक्तरीतिननुष्ठेय स्यात्सम्भवं तादृशानि उदाहरणान्तराप्यपि दातुं शक्यन्ते यादृ-
शानामुदाहरणानां लक्ष्याणि समुपलब्धानि स्युः । उक्ता यावन्त उत्प्रेक्षायाः प्रभेदास्ता-
वन्त एव सम्भवन्तीति न कश्चन नियमः, अपि तु लक्ष्योपलब्धौ प्रभेदान्तराप्यपि सम्भव-
न्तीति साराशाः ।

उपसहार किया जाता है—एवं इत्यादि । इसी तरह लक्ष्य के अनुसार यथासम्भव
अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं । तात्पर्य यह कि जितने प्रभेद उत्प्रेक्षा के विस्त-
रवाये गये हैं उतने ही हो सकते हैं यह कोई नियम नहीं है । यदि रूप्य प्राप्त करा दिये
जायें तब और-और भेद भी इसी तरह माने जा सकते हैं ।

स्वमतसिद्धं विशेषमाह—

इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचामनुरोधादुदाहृताः । यस्तुतस्तु तेषां चम-
त्कारे वैलक्षण्यमस्तीत्यनुदाहार्यतेव । चमत्कारवैलक्षण्यं पुनर्हेतुफलस्वरूपात्म-
कानां त्रयाणां प्रकाराणामेवेति ।

प्राचामिति । अलङ्कारतत्त्वस्वकारादीनामित्यर्थः । एवेत्यस्य बोध्यमिति शेषः ।

अन्यकार अपने मत की विशिष्ट बातें कहते हैं—इह इत्यादि । यहाँ (उत्प्रेक्षाप्रकरण
में) आति आदि भेदों के उदाहरण अलङ्कारसर्वस्वकार आदि प्राचीन विद्वानों के अनुरोध
से लिखे गए हैं । वस्तुतः इन भेदों के चमत्कार में कोई विलक्षणता नहीं है—अर्थात्
जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा की अपेक्षा गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा में कोई खास तरह का चमत्कार नहीं
उपलब्ध होता, अपितु स्वरूप की उत्प्रेक्षाप्रयुक्त एक ही तरह का चमत्कार प्राप्त
होता है, अतः इन भेदों का पृथक् पृथक् उदाहरण देना आवश्यक नहीं है । फलतः यह
समझना चाहिए कि—चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप—इन तीन
भेदों में ही है । तात्पर्य यह कि वस्तुतः उत्प्रेक्षा के हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा,
ये ही तीन भेद होने चाहियें, अन्य भेद अनुचित हैं ।

अपरं विशेषमाह—

प्रागुदाहृतेष्वेव परेषु वाचकानामिवादीनां त्यागे प्रतीयमाना, अर्थसा-
मर्थ्यावसेयत्वात् । न तु व्यङ्ग्येति भ्रमितव्यम्, तस्याः प्रकृते प्रसङ्गाभावात् ।

१७, १८ २० ग० द्वि०

अर्थमामर्त्येति । अर्थात्मकमामर्त्येयत्वादित्यर्थः ।

दूसरा विशेष बतलाया जाता है—प्राक् इत्यादि । पूर्व में जो पण उदाहरत हुए हैं उन्हीं में से यदि 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्द हटा दिए जायें तो प्रतीयमाना (गम्या) उत्प्रेक्षाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वैसी स्थिति में केवल अर्थ के चल पर, अतः उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है । किन्तु साथ ही इतना और ज्ञात होना चाहिए कि यहाँ प्रतीयमाना अथवा गम्या का अर्थ व्यङ्ग्य नहीं है, ऐसा उचित नहीं । कारण, प्रकृत में व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा का कोई प्रसङ्ग नहीं—यहाँ तो सामग्री के प्रबल होने के कारण अर्थात् प्राप्ति उत्प्रेक्षा का वर्णन है ।

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षासुदाहृत्य धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षासुदाहर्तुमाह—

धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

धर्मस्वरूप की उल्लेखा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘निधिं लावण्यानां तव खलु मुखं निर्मितवतो

महामोह मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम् ।

उपेक्ष्य त्वा यस्माद्विधुमयमकस्मादिह कुसी

कलाहीनं दीन विकल इव राजानमतनोत् ॥’

लावण्यानां सौन्दर्याणाम्, निधिं आकरम्, तव, मुखम्, निर्मितवतः रचितवतः, सरसिरुहसूनोः प्रह्लाप, खलु निधयेन, उपचितं समृद्ध, महामोहम् अज्ञानान्धकारम्, मन्ये, यस्मात्, कुसी कुशल, अयं प्रह्ला, विकलः व्यथ, इव इह ससारे, त्वाम्, उपेक्ष्य, कलाहीनं निःकलम्, अयं च, दीनं दैन्यपरीतम्, उत्साहरहितमिति यावत्, निर्धुं चन्द्रम्, राजानम् सर्वधेष्ट (चन्द्रस्य ‘राजा’ इति संज्ञा कल्पनामूलभूतैति स्मरणीयम्), अतनोत् अकरोत् इत्यर्थः । विकलो विधि ‘त्वन्मुखं राजपदयोभयम्, चन्द्रो वा तत्पदयोभय’ इति विवेकः नारादिति भावः ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—निधिसु इत्यादि । विधाता जब सौन्दर्यों के निधिरूप तेरे मुख को बना चुके तब उनमें महान् मोह (जड़ता) उमड़ भाषा ऐसा मैं मानता हूँ और ऐसा इसलिये मानना पड़ता है कि इसने (प्रह्ला ने) कुशल होते हुए भी, तुम्हारी उपेक्षा करके, कलाओं से हीन और दीन चन्द्रमा को, घबरापु की तरह, राजा बना दिया—उन में इतना सोचने की शक्ति ही नहीं रह गई कि राजा बनाने योग्य तेरा मुख है अथवा चन्द्रमा । (संस्कृत भाषा में चन्द्रमा का एक नाम ‘राजा’ भी है, उसीके आधार पर यह कल्पना खड़ी की गई है ।)

उपपादयति—

पूर्वार्धोत्प्रेक्षितमोहरूपधर्मसिद्धये द्वितीयार्धोऽविचार्यकारित्वं तत्सामानाधिकरण्येनोपात्तम् ।

पूर्वार्धोत्प्रेक्षितेति । अत्ररूपधर्मिणीति भावः । उपात्तमिति । अकस्मादित्यनेनेति भावः । वस्तुतो निर्महि अत्रागि मोहस्य समवायसम्बन्धेन सम्भावनमिति ‘निधिं लावण्यानाम्—’ इत्यत्र धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा । अस्या च धर्मोत्प्रेक्षायाम् उत्प्रेक्षमाणमोहाधिकरण-प्रसङ्गति (सामानाधिकरणम्) अविचार्यकारित्वम् निमित्तम् । तच्चोत्तरार्धेन-तत्रापि विशेषतः ‘अस्मान्’पदेन—उक्तमिति भावः ।

उपपादन किया जाता है—पूर्वार्ध इत्यादि । ‘निधिसु—’ इस पद्य के पूर्वार्ध में ‘प्रह्ला’-रूपधर्मों में ‘मोह’रूप धर्म की समवायसम्बन्ध से सम्भावना की गई है, अतः यह

धर्मोपेक्षा है। यद्वा में मोहरूप धर्म की सिद्धि के लिये, उत्तरार्ध में, उस मोह के साथ रहनेवाले धर्म के रूप में 'अविचार्यकारित्व' (बिना विचारे करने) का वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि—धर्मोपेक्षा का निमित्त होता है 'समानाधिकरण धर्म' यह पहले कहा जा चुका है तदनुसार यहाँ उक्त मोहरूप धर्म की उपप्रेक्षा में 'अविचार्यकारित्व' धर्म निमित्त है, क्योंकि यह धर्म मोह का समानाधिकरण है—अर्थात् मोह जिस ब्रह्मरूप आधार में है उसी में 'अविचार्यकारित्व' भी रहता है। यह निमित्तभूत धर्म यहाँ उत्तरार्ध में 'अकस्मात्' पद से उपात्त है।

निमित्ताशे प्रागनुक्तं विशेषमुपदर्शयति—

अस्यां च स्वरूपस्य विपर्ययत्वे निमित्तभूतो धर्मः सपमायामिव विम्बप्रति-
विम्बभावादिभिर्मिथ्य सपातोऽनुपात्तश्च । हेतुफलबोधिपयित्वे तु यं प्रति हेतुफले
निरूपिते स धर्मः कल्प्यमानोऽपि विपर्ययतसाहजिकधर्मोभिन्नतयाऽप्यवसी-
यमानो निमित्तं सम्पद्यते । स चोपात्त एव भवति । अन्यथा क्व प्रति हेतु-
फलयोरनन्वयः स्यादिति सङ्क्षेपः ।

अस्या चेति । उपप्रेक्षात्वावच्छिन्नतायामित्यर्थः । स्वरूपस्येति । धर्मिस्वरूपस्य धर्म-
स्वरूपस्य वैपर्ययः । मानादिभिरिति । आदिना अनुगामित्वादिसिद्धिः । एवं च चतुर्विधः
इति भावः । तदाह—मिथ्य इति । कल्प्यमानोऽपीति । अपि स्वाभाविकसमुत्थायकः ।
अयमाशयः—यथा 'त्वत्प्रतापमहादीपः' इत्यत्र हेतुप्रेक्षायाम्—नभस्तलगतं यं नीलि-
मधर्मं प्रतिप्रतापहृदयकज्जल हेतुनिरूपितः स नीलमधर्मः कज्जलजन्यत्वेन कल्प्यमानोऽपि
नभस्तलगतस्वाभाविकनीलिमाभिन्नतया अप्यवसीयते । स एव च नीलिमा कज्जलस्य हेतु-
त्वोत्प्रेक्षणं प्रति निमित्तं भवति । स च नीलिमा सर्वदोषात्त एव भवति । अन्यथा
(तस्यानुपात्तत्वे) कं प्रति हेतोर्नन्वयः स्यात्, अर्थात् नीलिमः शब्दानुपात्तत्वे कज्जल-
हृदयोत्प्रेक्षणं कुत्र स्यात् ? एव फलोपप्रेक्षायामपि यस्यास्तपश्चरणन्याया फलत्वेन
वक्षोजता (तत्प्राप्तिः) उपप्रेक्ष्यते स तपश्चरणरूपो धर्मः स्वभावसिद्धज्जलावस्थानाभिन्नतया-
ऽप्यवसीयते । स एव चोत्प्रेक्ष्यमाणा वक्षोजता प्रति निमित्तं भवति । इदं निमित्तं (तप-
श्चरणम्) यद्यनुपात्तं स्यात् तर्हि वक्षोजताप्राप्तिरूपस्य फलत्वात्पचः कुत्र स्यात् ? इति ।

निमित्तभूतधर्म के विषय में कुछ नवीन विचार किया जाता है—अस्यां च इत्यादि ।
उपप्रेक्षा में जब स्वरूप विषयी होता है तब—अर्थात् स्वरूपोपप्रेक्षास्थल में—निमित्तरूप
में अनेकाला धर्म, उपमा की तरह, विम्बप्रतिबिम्बमत्तव आदि उपाधियों से युक्त होकर
अनेक प्रकार का होता है । और अनेकप्रकारावध धर्म भी कहीं उपात्त और कहीं अनु-
पात्त रहता है । किन्तु जहाँ हेतु तथा फल विषयी होते हैं वहाँ—अर्थात् हेतुप्रेक्षा और
फलोपप्रेक्षा में स्थलों में—तो जिस धर्म के प्रति हेतु और फल का निरूपण किया जाता
है वही धर्म कल्पित होने पर भी (स्वाभाविक भी हो सकता है), उपप्रेक्षा के विषयभूत
पदार्थ में रहनेवाले स्वाभाविक धर्म से अभिन्नरूप में अप्यवसित होकर उपप्रेक्षा का
निमित्त होता है । अतः वह धर्म उपात्त ही होता है, अनुपात्त कभी नहीं । अन्यथा हेतु
और फल का अन्वय होगा किसके साथ ? उदाहरण के आधार पर इस प्रसङ्ग को स्पष्ट
कर देना अच्छा होगा, अतः निम्नलिखित कुछ पङ्क्तियों पर ध्यान दीजिए—'त्वत्प्रतापः'
इत्यादि पूर्वोक्त हेतुप्रेक्षा में आकाशगत जिस 'नीलेवन' धर्म के प्रति प्रताप-दीप-कज्जल
की हेतुरूप में उपप्रेक्षा हुई है वही 'नीलावन' धर्म आकाशगत स्वाभाविक 'नीलेवन'
से अभिन्नरूप में अप्यवसित होकर उक्त हेतुप्रेक्षा का निमित्त होता है । ऐसी स्थिति
में वह 'नीलावन' सदा उक्त रहेगा ही । यदि वह उक्त न रहे तब कज्जलरूप हेतु का
अन्वय ही कैसे और कहीं होगा ? इसी तरह 'दिवानिशम्—' इस पूर्वोक्त फलोपप्रेक्षा में

जिस तपश्चरणक्रिया के फलरूप में 'स्तनत्वप्राप्ति' की उल्लेखा होती है वह तपश्चरण-क्रियारूप धर्म ही स्वाभाविकमलसम्बद्ध जलावासरूप धर्म से, अभिन्नरूप में अप्यवसित होकर उक्त फलोत्प्रेक्षा का निमित्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि वह 'तपश्चरण' उक्त नहीं रहे तो 'स्तनत्वप्राप्ति'रूप फल का अन्वय कैसे होगा? सारांश यह निकला कि-स्वरूपोत्प्रेक्षा के निमित्त उक्त और अनुक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं, पर हेतुत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा के निमित्त सदा उक्त ही रहते हैं, अनुक्त नहीं।

शान्दबोधप्रकारज्ञानाय प्राचीनार्वाचीनभेदेन मतद्वयसत्तां सामान्यत सूचयित्वा प्रथम प्राचीनमतमुपदर्शयति—

अत्र च प्राचामर्बाचां चानेकधा दर्शनं व्यवस्थितम् । तत्र प्राचामित्थम्-सर्वत्राभेदेनैव विषयिणो विषये उत्प्रेक्षणम्, न सम्बन्धान्तरेण । तथाहि धर्मि-स्वरूपोत्प्रेक्षायाम् 'मुख चन्द्र मन्ये' इत्यादौ तावद्विषयिणश्चन्द्रस्याभेदो विषये मुखे स्फुट एव, नामार्थयोर्भेदेन साक्षादन्वयस्याव्युत्पत्तेः । उपात्तविषयां चेत्यन् । एवम् 'अस्यां मुनीनामपि मोहमूढे' इत्यत्र नैपथ्यपद्ये (७।६४) धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षायामपि मुनिसम्बन्धिनि धर्मान्तरे विषये दमयन्तीविषयकमोहस्य विषयिणोऽभेदेनैवोत्प्रेक्षा । उत्प्रेक्षयाश्च साध्यवसानत्वाद्विषयस्यानुपादानं सङ्गच्छते । निमित्तधर्मश्च तत्तद्ग्रासकवृत्तित्वम् । एवम् 'लिम्पतीष तमोङ्गानि धर्पतीषाङ्गनं नमः' इत्यादौ कस्यापि पद्ये न प्रथमान्तार्थे कर्तरि लेपनकर्तृत्वादेरुत्प्रेक्षणम्, तस्याख्यातार्थविशेषणत्वेनैकदेशत्वात् । नापि लेपनादिकर्तृभेदेन, तस्य क्रिया-विशेषणत्वेनाप्राधान्यात् । किन्तु तमःकर्तृकमङ्गकर्मकं लेपनमुत्प्रेक्ष्यते, तमः-कर्तृकमङ्गकर्मकं धर्पणं च । उत्प्रेक्ष्यमाणाभ्यां च ताभ्यां विषयस्य तमःकर्तृक-व्यापनस्य निर्गोर्णत्वादनुपादानम् । अत एव एवमादावियमनुपात्तविषयोच्यते । निमित्तधर्मश्च रयामोकारकत्वादिरनुपात्त एव । अत एव 'सम्भाषनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' इति लक्षणं विधायोक्तम् 'व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्' इति मम्मटभट्टैः । एवम्—

'उन्नेपं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-

मिन्दोरिन्दीवरदलहृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।

नीतः शान्तिं प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-

क्षमा मन्ये ललिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥'

इत्यादौ प्राचीनपद्ये हेतुत्प्रेक्षायामपि न हर्षरूप हेतुमात्रमुत्प्रेक्ष्यते लक्ष्मीरूपे विषये, किन्तु तद्वेतुकं कार्यं लगनादिरूपं विषयि तादात्म्येन साहजिकलगनादौ विषये । कार्यस्य निमित्ततावादिनामपि विषयगततत्समानजातीयेनाभेदाध्यवसानस्यावश्यवाच्यत्वात् । अन्यथा हेतुरूपविषयिधर्मसमानाधिकरणधर्मस्य कार्यरूपस्य विषयावृत्तित्वेनोत्प्रेक्षैव न स्यात् ।

एवम्—

'चोलस्य यद्वीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः ।

अद्यापि किं वानुमविध्यतीति व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥'

इत्यादिपरपद्ये फलोत्प्रेक्षायां कण्टकिपु वनान्तेषु विषयेषु न केवलं भालत्व-गिरिपाटननिमित्तं ललाटाक्षरदर्शनं फलमुत्प्रेक्ष्यते । किन्तु तत्फलकं भालत्वगि-

पाठनादिरूपं विषयिः कण्टकजविपाटनादौ विषये तादात्म्येनेति सर्वत्राभेदेनैव विषये विषयिण उत्प्रेक्षणमिति दर्शनम् ।

‘अत्र चेति । उत्प्रेक्षाविषये इत्यर्थः । अर्वाचाम् आयुनिकानाम् । दर्शनं मतम् । तत्र तयोर्मध्ये । तावत् । आदौ । इयमिति । ‘मुखं चन्द्रं मन्ये’ इत्यादिधर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा इत्यर्थः । धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षास्थले आह—एवमिति । अस्यामिति । ‘अस्यां मुनीनामपि मोहं मूढे भृगुर्महान् यत्कुर्वन्शीली’ । नानारदाद्वादि मुखं प्रितोख्यासो महाभारतसर्गयोग्यः । इति सम्पूर्णं पद्यम् । । दमयन्तीवर्णनप्रसङ्गे नलोक्ति—यत् यस्मात्, महान् पूज्यः, भृगुः एकः वृत्तिः (‘विशालं विशिष्टाकारः पर्वतभागः’ इति वस्तुतोऽर्थः), कुचशीलशीली दमयन्तीस्तनपर्वतसेवकः, मुखं दमयन्तीवदनम्, नानारदाद्वादि अनारदाद्वादि = नारद-स्यानाद्वादकम्, नः, अवरस्य नारदाद्वादकमिति यावत् (नानाभिधै ररै = दन्तैः आहादि इति वस्तुतोऽर्थः), तथा, महाभारतस्य तदाख्यनिबन्धस्य च सर्गः सृष्टिः तथोक्तः । (महाभाः महाकान्तिः, अथ च रत्नस्य सभोगस्य, सर्गे सृष्टौ योग्य उचित इति वस्तु-तोऽर्थः) व्यासः मुनिः (निस्तार इति वस्तुतोऽर्थः), प्रितोरः दमयन्त्या ऊहयुगलं धितः, तस्मात्, अस्या दमयन्त्या विषये, मुनीनां भृगवादीनाम्, अपि, मोहं मुग्धताम्, कृते तर्कयामि इति तद्व्याख्या धर्मान्तरे दर्शनादौ । श्रुतिवमिति । धितश्रुतिवमित्यर्थः । धर्मोत्प्रेक्षाया एव स्थलान्तर आह—एवमिति । लिम्पतीवेति । अन्धकारोऽह्नानि लिम्पति इव, आकाराः कृन्तनं कर्पति इत्येत्यर्थः । कस्यापीति । शृच्छकटिकप्रणेतु शृच्छकटिकस्येत्यर्थः । पद्य इति । ‘असत्पुरुषस्यैव दृष्टिर्विकलता गता’ इत्युत्तरार्धयुक्ते शृच्छकटिकचतुर्थोद्भूत इति भावः । वैयाकरणरीत्या आह—तस्येति । प्रथमान्तकर्तुरित्यर्थः । अभेदेनेति । प्रथमान्ताये उत्प्रेक्षणमित्यस्यानुपपन्नः । तस्येति । लेपनादिकर्तुरित्यर्थः । कर्णं चेति । अस्व उत्प्रेक्ष्यत इति शेषः । ननु कुत्र सा अत आह—उत्प्रेक्ष्यमाणाम्या चेति । अत एवेति । निगोर्णत्वादनुपादानादेवेत्यर्थः । एवमादाविति । इत्याद्युदाहरण इत्यर्थः । अप्राये प्रकाशकारस्य सम्मतिगाह—अत एव ‘सभावः’मिति । अयं भावः—विषयविषयिणौ धर्मिस्वरूपौ धर्मस्वरूपौ वा भवताम् उत्प्रेक्षा सर्वत्राभेदेनैव, न समनायादिना सम्बन्धान्तरेण । तत्र विषयविषयिणोः धर्मिस्त्वत्वे—अर्थात् धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणतया प्रसिद्धे ‘मुखं चन्द्रं मन्ये’ इत्यादौ ‘नामार्थबोधभेदातिरिक्तं संबन्धोऽव्युत्पद्य’ इति सिद्धान्ता-नुसारेण मुखरूपके विषये चन्द्रात्मनो विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षणं सर्वसम्मतमेव । ईदृशोत्प्रे-क्षणस्थले विषयस्य शब्दतो प्रदणं निवतम्, अत ‘उपात्तविषया’ इत्यनेनैतादृशमुत्प्रेक्षैव परामृश्यते । यत्र पुनः ‘अस्या मुनीनाम्’ ‘लिम्पतीव’ इत्यादौ अभेदातिरिक्तेन सम्बन्धेन धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षा वद्वो व्याहरन्ति—अर्थात् प्रथमस्थले समवायेन मुनिरूपे धर्मिणि मोह-रूपस्य धर्मस्य द्वितीयस्थले च तम आदौ धर्मिणि लेपनकर्तृत्वादेस्तेनैव सम्बन्धेनोत्प्रेक्षेति प्रतिपादयन्ति तत्रापि वस्तुतो मुनिसम्बन्धिनि दमयन्तीकर्मके दर्शनात्मके धर्मे दमयन्ती-विषयकमोहात्मकस्य धर्मस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षा, एव तम-कर्तृके अङ्गवर्मके तथा तम-कर्तृके नभ-वर्मके च व्यापने तम कर्तृकाङ्गवर्मकेलेपनस्य तथा नभ-कर्तृकाङ्गवर्मकवर्णनस्य चाने-देनैवोत्प्रेक्षा । जन्वेव दर्शनव्यापनादीनां भवदभिमतविषयाणामुपादानमावरयकम्, न च तदस्तीति कथमेतदिति चेन्न, विषयिणा विषयस्य निगोर्णत्वं नाम साध्यवसानत्वम्, तदात्मकत्वादेर्विधामां धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षाया विषयोपादानस्यानावश्यकत्वात् । निमित्तधर्मश्च तत्तद्व्यासकमनोवृत्तिश्च प्रथमस्थले उक्तम्, द्वितीयस्थले च श्यामीकारकत्वादिरनुक्तः ।

विषयस्तु सर्वत्रैवविधोत्प्रेक्षास्थले नियमतोऽनुक्त एव भवतीति 'अनुपात्तविषया' इत्यनेन-
 दृश्येवोत्प्रेक्षा बोध्यते । 'व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम्' इति मम्मटमहोक्तिरपि
 उक्तार्थे साक्षिता कुरुते । युक्तियुक्तोऽपि पश्योऽयमेव, यतः 'लिप्सति' इत्यत्र प्रथमान्तपदार्थे
 कर्तृकारके तमसि लेपनकर्तृत्वस्योत्प्रेक्षणं सम्भवदुक्तिरमेव नास्ति, तिष्ठार्थाप्रयविधेयणी-
 भूतप्रथमान्तपदार्थे लेपनादेरन्वयस्य 'पदार्थ' पदार्थेनान्वेति, न पदार्थेऽन्वयेति इति
 न्यायविरुद्धत्वात् । लेपनकर्तृत्वविषयस्योत्प्रेक्षया प्रथमान्तार्थे उत्प्रेक्षेत्यपि न वक्तुं योग्यम्,
 तिष्ठार्थस्य धात्वर्थक्याविशेषणत्वेनाप्रधानस्य विधेयत्वासम्भवात् । 'तस्याम्—' इत्यत्र
 निमित्तधर्मं प्रागुक्तो गुणरूप, 'लिप्सतीव—' इत्यत्र च स प्रागुक्तः किरारूप इत्यन्यत् ।
 इति । हेतुत्प्रेक्षास्थल आह—एवमिति । 'उन्नेपम्—' इति । नायको नायिका मूते—
 जातिवैरी कमलज्जातिविशिष्टद्वेषी, यं चन्द्र, निशाया रात्रौ, मम कमलज्जातिवि-
 शिष्टस्य, उन्नेपं विज्ञप्तं न, सहते मर्षयति, तस्य, इन्दो, सौन्दर्यदर्पः सुन्दरतागर्भः,
 अनया, इन्दोवरदलदशा नीलकमलपद्माद्या, पद्मकान्त्या मुखसौन्दर्येण, प्रसभं बलात्,
 शान्तिं वाराम्, नीतं प्रापितं, इति, हर्षात्, पद्मलक्ष्मी कमलशोभा, हे ललिततनु
 सुन्दरगात्रि । तै, पादयो, लग्ना संसृजा, इति, अहं मन्ये इत्यर्थः । हेतुत्प्रेक्षायामपीति ।
 तत्त्वेनाभिमततायामपीत्यर्थः । इदं च तादात्म्यं परमतेऽन्यावरयकमित्याह—कार्यस्येति ।
 समानजातीयेन साहजिकलगनेन । तदेव व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—अन्यथेति । हेतु-
 रूपेति । हर्षात्मकेत्यादि । इदमाकृतम्—'उन्नेपम्—' इत्यत्र लक्ष्मीरूपे विषये हर्षा-
 त्मकस्य हेतोरुत्प्रेक्षा न, किन्तु हर्षहेतुकस्य पादाधिकरणकस्य पद्मलक्ष्मीकर्तृकस्य
 रुगनस्य विषयिण पादाधिकरणके पद्मलक्ष्मीकर्तृके स्वाभाविके रुगने विषयेऽभेदेनोत्प्रेक्षा ।
 मन्वस्मिन्पक्षे द्वयोलगनयोरभेदाध्यवसानं कर्तव्यं भवतीति गौरवमिति चेन्न, परमतेऽन्यस्य
 गौरवस्य तादवस्थेनावबुध्यत्वात् । स्यादि—येऽत्र हर्षरूपं हेतुमात्रमुत्प्रेक्षन्ते तैऽपि
 सादृशोत्प्रेक्षणे निमित्त हर्षकार्यभूत पद्मलक्ष्मीकर्तृक पादलगनमेव मन्यन्ते, तच्च पादलगनं
 तावन्निमित्तं न भवितुमर्हति यावत् तस्य स्वाभाविकपद्मलक्ष्मीकर्तृकेन पादलगनेन सहाभेदो
 नाभ्यवसितः स्यात्, अत उत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणो धर्मो विषयगतो निमित्तस्यो
 भवति, प्रकृते च उत्प्रेक्ष्यमाणो धर्मः परमते हर्षरूपस्तत्समानाधिकरणधर्मस्तत्तद्धेतुकपद्म-
 लक्ष्मीकर्तृकपादलगनरूपः, स च न पद्मलक्ष्मीरूपविषयगतः, स्वाभाविकस्यैव पादलगनस्य
 वस्तुतस्तद्गतत्वात्, इत्युत्प्रेक्षैव न भवेत् । द्वयोलगनशोरभेदाध्यवसाने तु भवितु-
 मर्हति । इति फलोत्प्रेक्षास्थल आह—एवमिति । 'चोलस्य—' इति । राहो नृसिंहस्य
 वर्णनम्—कष्टकिं कष्टकाकोर्णा, वनान्ता वनप्रदेशा, अद्यापि पूर्वं यदनुभूतवान्
 तदनुभूतवानेव, इतोऽग्रे, किम् अनुभवविषयि, इत्येतद्बोधकानि अक्षराणि विधिलिखित-
 वर्णवली, द्रष्टुम् शङ्काम्, पठितुमिति यावत्, यस्य नृसिंहदेवस्य, मोत्या भयेन, पलायि-
 तस्य प्रपलाप्य वन प्रितस्य, चोलस्य चोलनरेशस्य, भालत्वच मस्तकचर्म, व्यापादयन्
 उत्पाटितवन्त इत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षाया तत्त्वेनाभिप्रेतायाम् । 'चोलस्य—' इत्यत्र
 कष्टकाकोर्णवनप्रदेशात्मके विषये भालत्वचुत्पाटनहेतुकललाटाक्षरदर्शनरूपफलस्योत्प्रेक्षा न,
 अपि तु कष्टकाकोर्णवनप्रदेशकर्तृकनिफलत्वगुत्पाटनात्मके विषये ललाटाक्षरदर्शनफलक-
 भालत्वगुत्पाटनरूपस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षेति भावः । उपसंहरति—इति सर्वत्रेति ।
 इत्यत्र सर्वत्राभेदसम्बन्धेनैव विषये विशयिण उत्प्रेक्षेति प्राक् यत् व्यवस्थितम् ।

शान्दशेषप्रकाश का ज्ञान कराने के लिये प्राचीन-नवीन भेद से दो मतों की सामा-

न्यतः सूचना देकर पहले प्राचीन मत का उल्लेख करते हैं—अत्र च इत्यादि। उल्लेख के विषय में प्राचीनों और आधुनिकों का अनेकप्रकारक मत व्यवस्थित है। उनमें से प्राचीनों का मत इस प्रकार का है—विषयी की विषय में सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उल्लेख होती है, अन्य (समवाय आदि) किसी सम्बन्ध से नहीं। अभिप्राय यह कि—विषयी तथा विषय ये दोनों अथवा इन दोनों में से कोई एक धर्मरूप हो अथवा धर्मरूप हो, इससे उल्लेख के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं होता—सर्वत्र एक में दूसरे की सम्भावना अभेदसम्बन्ध से ही की जाती है। देखिए—‘मुस मानो चन्द्रमा है’ इत्यादि धर्मस्वरूपोपेक्षास्थल में तो विषयी चन्द्र का विषय मुख में अभेद स्पष्ट हो है—अर्थात् ऐसे स्थलों में अभेदसम्बन्ध से ही उल्लेख होती है यह बात सर्वसम्मत है, क्योंकि दो मामाथों का भेदसम्बन्ध द्वारा साक्षात् अन्वयव्युत्पत्ति के विरुद्ध है। और यह उल्लेख उपास- (उक्त) विषया है, क्योंकि विषय मुख शब्दतः वर्णित है। कहने का तात्पर्य यह कि—धर्मस्वरूपोपेक्षा सर्वत्र उपासविषया ही होती है। कारण, इस तरह को उल्लेख में विषय का शब्दतः वर्णित रहना निश्चित है। इसी तरह ‘अस्या मुनीनाम्—(सम्पूर्ण पद्य सरकृत टीका में उद्धृत है) दमयन्तीवर्णनमसद्ग में नल की उक्ति है—दमयन्ती के विषय में मुनियों को भी मोह हो गया है ऐसा मेरा लक्ष्य है, क्योंकि महान् (पूजनीय, परशुतः बहुत बड़ा) ‘शृगु’ (एक शृषि, वस्तुतः बिना किनारे का वलाव) इसके स्तनरूप पर्वत का सेवन कर रहा है, मुख ‘मानारदाहादि’ (नारद को सम्मुख न कर ऐसा नहीं, किन्तु भवरस सन्तुष्ट करनेवाला, वस्तुतः अनेक दोनों के कारण आह्लादजनक) है और ‘महामारतसर्गयोग्य’ (महामारत निबन्ध बनाने की योग्यता रखनेवाला, वस्तुतः ‘महामा’=महाकान्तियुक्त और ‘रतसर्गयोग्य’=रति की सृष्टि के योग्य) ‘व्यास’ (कृष्णद्वैपायन, वस्तुतः-विरतार) ने इसकी जाँचों का आश्रयण कर लिया है।” इस नैपथ्य पद्य में जो धर्मस्वरूपोपेक्षा है वहाँ भी मुनियों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी धर्म (‘दर्शन’ आदि) रूप विषय में दमयन्तीविषयक मोहुरूप विषयी की अभेदसम्बन्ध से ही उल्लेख है। तात्पर्य यह कि यहाँ भी मुनिरूप विषय में मोह-रूप विषयी की समवायसम्बन्ध से उल्लेख नहीं है। आप कहेंगे—दर्शन आदि धर्म ही यदि यहाँ विषयरूप है तब यहाँ उसका वर्णन क्यों नहीं? फलतः जिसको पद्य में चर्चा ही नहीं वह विषयरूप माना कैसे जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि—यह उल्लेख आश्रयवसाना है—यहाँ विषयीद्वारा विषय निगल लिया गया है, अतः उसका ग्रहण न करना सङ्गत है—अर्थात् ऐसा करने में किसी प्रकार को असङ्गति नहीं। तात्पर्य यह कि ऐसी जगहों में विषयविषयक पद द्वारा ही विषय का बोध किया जाता है, जैसे अतिशयोक्तिस्थल में उपमानबोधक पद से ही उपमेय का भी बोध कर लिया जाता है। इस उल्लेख का निमित्तभूत धर्म है ‘दमयन्ती के बन-उन अहाँ में मुनिमनोवृत्ति का आसक्त हो जाना’ जो यहाँ अपने दङ्ग से उक्त ही है। इसी तरह ‘लिम्पति—(सम्पूर्ण पद्य मूल तथा सरकृत टीका में उद्धृत है) अन्धकार मानो, अङ्गों को पोत रहा है, आकाश, मानो, काजल बरसा रहा है।’ इत्यादिक किसी कवि (मृच्छकटिकनिर्माता शृङ्ग) के पद्य में प्रथमान्त पदार्थ ‘कर्ता’ (अन्धकार और आकाश) में ‘पोतना’ तथा ‘बरसाना’ रूप क्रियाओं के ‘कर्तृत्व’—अर्थात् उन क्रियाओं की उल्लेख नहीं है। कारण, वह कर्ता (प्रथमान्त पदार्थ) आख्यात (विद्=लिम्पति आदि में ‘ति’ आदि प्रायय) के अर्थ (आश्रय) का विशेषण है, अतः शायदार्थ का प्रधान अस्त नहीं, किन्तु एकदेश है। फलतः यहाँ उल्लेख करके ‘लेपनकर्तृत्व’ का अन्वय करने में एकदेशान्वय हो आया जो कि ‘पदार्थ’ पदार्थेनान्वेति, ननु पदार्थेकदेशेन—अर्थात् पदार्थ पदार्थ के साथ ही अन्वित होता है, पदार्थ के एकदेश के साथ नहीं—इस सिद्धान्त से विरुद्ध होता है। और न यहाँ ‘लेपनादि कर्ता’ (पोतने आदि के कर्ता) की अभेदसम्बन्ध द्वारा प्रथमान्त

पदार्थ अन्धकार आदि में उत्प्रेक्षा ही मानी जा सकती है, क्योंकि 'कर्ता' क्रिया का विशेषण होने के कारण अप्रधान है (यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि वैयाकरणों के मत से सम्पूर्ण वाक्यार्थ में क्रिया ही प्रधान होती है और अन्य सब शब्दों के अर्थ उसके विशेषण होते हैं ।) तात्पर्य यह कि अप्रधान पदार्थ विधेय नहीं हो सकता और उत्प्रेक्ष्यमाण पदार्थ विधेय ही होता है । किन्तु यहाँ, 'अन्धकार' जिसका कर्ता है, और 'अङ्ग' जिसका कर्म है उस 'लेपन' (पोतने) रूप क्रिया की, तथा आकाश जिसका कर्ता है और काजल जिसका कर्म है उस 'वर्णन' रूप क्रिया की उत्प्रेक्षा की जा रही है । उन दोनों उत्प्रेक्षित किए जानेवालों—अर्थात् 'लेपन' और 'वर्णन' द्वारा, जिसका अन्धकार कर्ता है उस व्यापन (व्याप्त होना) रूप क्रिया को जो इस उत्प्रेक्षा का विषय है, निर्णीत (उद्घरस्थ) कर लिया गया है, अतः उसका (विषयरूप व्यापन क्रिया का) उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है । तात्पर्य यह कि—यहाँ अन्धकारकर्तृक व्यापनरूप विषय में अन्धकारकर्तृक लेपन आदि विषयी की अभेदसम्बन्ध से सम्भावना की जाती है पर साध्यवसता होने के कारण इस उत्प्रेक्षा में विषय का उल्लेख नहीं किया गया है । अतएव ऐसे-ऐसे स्थलों में यह उत्प्रेक्षा अनुपात्तविषया कहलाती है । इस उत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म है 'श्यामीकारकत्व—काले कर डालना' आदि जो अनुपात्त है । सारांश यह कि—प्राचीनों के मत से धर्मोत्प्रेक्षा भी अभेदसम्बन्ध से ही होती है और उसके विषय सर्वदा अनुक्त ही रहते हैं । निमित्त कदाचित् उक्त और कदाचित् अनुक्त भी होते हैं । निमित्तभूत धर्म प्रायः दो तरह के होते हैं—गुणरूप और क्रियारूप, उनमें से गुणरूप निमित्तधर्मवाली धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है उपर्युक्त नैपथ्य का पद्य और क्रियारूप निमित्तधर्मवाली धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण है 'लिम्पतीव—' 'यह पद्य । अतएव मम्मटभट्ट ने—'सम्भावनामयोत्प्रेक्षा—अर्थात् प्रस्तुत विषय की उसके स्रष्टा के साथ सम्भावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं ।' यह लक्षण बनाकर 'लिम्पतीव—' इस उदाहरण के प्रसङ्ग में कहा है कि—व्यापनादि—अर्थात् यहाँ व्याप्त होने आदि की सम्भावना 'पोतने' आदि के रूप में की गई है । अभिप्राय है कि—मम्मटभट्ट ने भी 'सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उत्प्रेक्षा होती है' इस तथ्य का समर्थन किया है । इसी तरह—'उन्मेप यो मम—अर्थात् 'जो जातिवैरी शत्रु में मेरे विकास को सहन नहीं करता उस चन्द्रमा का सुन्दरताभिमान, इस कमलपत्राक्षी ने अपनी मुख-कान्ति द्वारा, बलात्, शान्त कर दिया ।' मानो, इस हर्ष के कारण, हे सुन्दराक्षि ! कमल की शोभा तेरे पैरों में चिपट पड़ी है ।' इत्यादिक प्राचीनों के पद्य—जिसको लोग हेतुत्प्रेक्षा का उदाहरण कहते हैं—में भी 'शोभा' रूप विषय में केवल 'हर्ष' रूप हेतु की उत्प्रेक्षा नहीं की जा रही है किन्तु 'हर्ष' जिसका हेतु है उस 'चिपटने' आदि विषयी की, अभेदसम्बन्ध से, स्वाभाविक 'चिपटने' आदि विषय में, उत्प्रेक्षा की जा रही है । तात्पर्य यह कि—पद्य की शोभा पैरों में स्वभावतः चिपटी ही हुई है, न कि हर्ष के कारण, उस स्वाभाविक चिपटने में 'हर्ष' के कारण चिपटने (जो कल्पित है) की उत्प्रेक्षा की जा रही है । जो लोग हर्ष के कार्य कल्पित 'चिपटने' की उत्प्रेक्षा का निमित्त मानते हैं उन्हें भी विषय—शोभा—में रहनेवाले, उक्त कल्पित 'चिपटने' के सजातीय स्वाभाविक 'चिपटने' के साथ उस कल्पित चिपटने का आरोपित अभेद अवश्य कहना पड़ेगा । यदि ऐसा नहीं कहेंगे तब उक्त हर्ष-कार्य-कल्पित 'चिपटना' निमित्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि विषयी-हर्ष-के अधिकरण में रहने वाला कल्पित 'चिपटना' विषय-शोभा—में है ही नहीं—उसमें तो स्वाभाविक 'चिपटना' ही है और जब उक्त धर्म निमित्त नहीं हो सकेगा तब यह उत्प्रेक्षा ही नहीं हो सकेगी । हाँ, उन दोनों धर्मों (कल्पित=हर्षहेतुक चिपटना तथा वास्तविक=स्वाभाविक चिपटना) में अभेद मान लेने पर सब बातें धन सकती हैं । तात्पर्य यह कि ऐसे स्थलों में सम्यग्चान्तर द्वारा हेतु-मात्र की उत्प्रेक्षा का निमित्त नियमतः उस

हेतु के कार्य को ही मानते हैं और वह कार्य रहता है नियमतः कल्पित। ऐसी स्थिति में उसको निमित्त बनाने के लिये—अर्थात् उस विषयिसमानाधिकरण कार्यभूत धर्म को विषयगत विद् करने के लिये (चाह रहे कि-सम्बन्धान्तरद्वारक धर्मोपेक्षा में वे लोग उत्प्रेष्यमाणधर्मसमानाधिकरणविषयगत धर्म को निमित्त मानते हैं) यह आवश्यक है कि विषयिसमानाधिकरण उस कल्पित कार्यरूप धर्म का विषयगततत्सजातीयस्वाभाविक धर्म के साथ आरोपित अभेद माना जाय। सारांश यह कि इस तरह का अभेद दोनों मतों में समानरूप से माना ही पड़ता है अन्तर केवल यह होता है कि एक मत में उस अभेद के दोनों सम्बन्धी उपेक्षा के विषय-विषयी होते हैं और दूसरे मत में अभेद के दोनों सम्बन्धी एक होकर उपेक्षा के निमित्त बनते हैं। ऐसी दशा में उचित तो यही प्रतीत होता है कि अभेद के उन सम्बन्धियों को उपेक्षा के विषय विषयी ही मान लें। इसी तरह—‘चोदरघ—अर्थात् जिस (वर्णनीय भूतिवृत्ते) के दर से भगे हुए चोदनरेश के ललाट की चमड़ी, कँटीले वनप्रदेशों ने, मानो, सब भी ‘न जाने यह क्या अनुभव करेगा’ इस रहस्य के ओघक विधाता के अचर को देखने के लिये, उधेड़ डाली।’ इस परकीय पद्य-जिसको फलोपेक्षा का उदाहरण मानते हैं—में, कँटीले वन-प्रदेशरूप विषय में ललाट की चमड़ी को उधेड़ने से होने वाले ललाटगत विधि-वर्णावली दर्शनरूप फल की केवल उपेक्षा नहीं है, किन्तु वह ललाटगत विधि वर्णावली-दर्शन जिसका फल है उस ललाटवचोत्पादनरूप विषयी की कण्टक से होने वाले, निष्कल अतः स्वाभाविक ललाटवचोत्पादनरूप विषय में अभेदसम्बन्ध से उपेक्षा होती है। सारांश यह निकला कि विषय में विषयी की उपेक्षा सर्वत्र (धर्मोपेक्षा, हेतुपेक्षा तथा फलोपेक्षा में) अभेद सम्बन्ध से ही होती है—यही है प्राचीनों का मत।

प्राचीनमज्जालोचयितु प्रथममाणस्तदुक्तयुक्तीनिरस्यति—

तत्र विचार्यते—न सर्वत्राभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति नियमे किञ्चिदस्ति प्रमाणम्, लक्ष्येषु भेदेनाप्युत्प्रेक्षणस्य दर्शनात्—‘अस्यां मुनीनामपि मोहमूढे’ इत्यादौ। न च मुनिसम्बन्धिनि धर्मविशेषे मोहस्याभेदेनोत्प्रेक्षणमिति घाच्यम्। भेदेनोत्प्रेक्षणे बाधकाभावेनेदृशकल्पनाया निरर्थकत्वात्। नह्यभेदेनैवोत्प्रेक्षणमिति वेदेन बाधितम्, यदर्थमयमाग्रहः स्यात्, लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधीनत्वान्। ‘हिम्पतीव तमोऽङ्गानि’ इत्यत्रापि लेपनादिकर्तृत्वं समआदिषु विषयेषु प्रेक्ष्यत इत्येव युक्तम्। अनुकूलव्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्वैभास्यतासंभवात्। तस्य च प्रथमान्ते विशेष्ये आश्रयतासमोणान्वयान्न दोषः। ‘भावप्रधानमाख्यातम्’ इत्यस्य ‘भावो व्यापारस्तदर्थकमाख्यात तिङ्’ इत्यर्थकरणान्न विरोधः। ‘सत्त्व-प्रधानानि नामानि’ इत्युत्तरवाक्यस्य प्रधानशब्दस्याभिधेयपरत्वात्। फलमात्रार्थस्यापि घातो राख्यातार्थव्यापारव्यधिकरणत्वसमानाधिकरणत्वाभ्यामर्थगताभ्यां सकर्मकाकर्मकत्वव्यवहारः। नामार्थयोर्भेदेनान्वयाभावाच्च भावकृदर्थ-व्यापारस्य न नामार्थेऽन्वयः। अत एव च ‘कर्त्तरि कृत्’ इत्यनेन विशिष्टशक्ति-घोषकेन न घवादेषु भावग्रहणस्य विशेषणशक्तिबोधकस्य गतार्थत्वम्, शब्दानुवृत्तिपक्षस्वीकाराच्च ‘कर्त्तरि कृत्’ इत्यत्र धर्मिपरस्यापि कर्तृग्रहणस्य ‘तः कर्मणि—’ इत्यत्र धर्मपरतायामपि न दोषः। यद्वा आस्तां फलव्यापारी घातोः, आश्रयश्च तिङोऽर्थः। परं तु देवदत्तः पचमान इत्यादाविव देवदत्तः पचतीत्यादिष्वपि प्रथमान्तार्थ एव तिङर्थस्याभेदेन विशेषणत्व युक्तम्, न तु भेदेन घात्वर्थभावनायाम्। सर्वजनसिद्धस्योद्देश्यविधेयभावस्य भङ्गापत्तेः।

सत्यां हि गतौ 'प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थो विशेषणम्' इत्यस्योत्सर्गस्याप्यनुग्रह एव
न्यायः । 'भावप्रधानमाख्यातम्' इत्यस्य 'भावनार्थको धातुः' इत्यर्थकरणान्न
विरोधः । न च वैयाकरणमतविरोधो दूषणमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रत्वेनालङ्कारि-
कतन्त्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात् । प्रपञ्चयिष्यते चैतदधिकमुपरिष्ठादिति प्रकृत-
मनुसरामः । एवं च 'लिम्पतीव—' इत्यादौ भेदेनाभेदेन वा तिङर्थस्यैव
प्रथमान्तार्थ एवोत्प्रेक्षणम् । न तु धात्वर्थस्य स्वनिर्गोणे व्यापनादौ, सर्वजन-
सिद्धाया इवार्थस्य विधेयताया अनुपपत्तेः । तम कर्तृकं लेपनमिवेत्यस्मादपि
उद्देश्यविधेयभावशून्यवाक्यादुत्प्रेक्षाप्रतीत्यापत्तेश्च । यदि च विषयिसम्बन्धिना
लेपनादिना विषयसम्बन्धिनो व्यापनादेनिमित्ततासम्पत्तये स्वताद्रूप्यसम्पाद-
नेन निगीर्णत्वादनुपात्तविषयत्वमध्यवसानमूलत्वं चोच्यते तदा रूपकेऽप्यनु-
पात्तविषयत्वमुच्यतामध्यवसानमूलत्वं च । 'लोकान् हन्ति खलो विपम्' इत्यादौ
खलसम्बन्धिनो दुःखदानादेविषयसम्बन्धिहननात्मनाऽध्यवसानात् । तस्मान्नि-
मित्तांशोऽतिशयोक्तिरेव । एषम् 'उन्मेषं यो मम न सहते' इत्यत्र लक्ष्मीरूपे
विषये लगनहेतुत्वेन हर्षं उत्प्रेक्ष्यते । तत्र साहजिकसम्बन्धे तादात्म्येनाध्य-
वसितं लगनमेव निमित्तम् । तथा—

‘सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुन्याम् ।

अदृश्यत त्वचरणारविन्दविरलेपदुःखमौनम् ॥’

अत्रापि मौनहेतुत्वेन नूपुरे विरलेपदुःखमुत्प्रेक्ष्यते । यत्र निश्चलत्वनिमित्तक-
निःशब्दत्वाध्यवसितं मौनं निमित्तम्, विरलेपदुःखसमानाधिकरणत्वे सति
नूपुरवृत्तित्वात् । न तु निश्चलत्वनिमित्तके निःशब्दत्वे विषये विरलेपदुःख-
हेतुकमौनमभेदेन । उत्प्रेक्षायामिवशब्दान्वितस्योत्प्रेक्ष्यताया उत्सर्गसिद्धत्वात् ।
विषयस्य निगीर्णतया विषयिणो विधेयत्वानुपपत्तेश्च । निमित्तान्तरगवेपणा-
पत्तेश्च । यद्यप्येककालप्रभवत्वादिरस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम् । तथापि
तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वात् । एव फलोत्प्रेक्षायाम-
पि बोध्यम् । एतेन 'यथा हेतुफलधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षोदाहरणेष्वपि तादात्म्येनैवो-
त्प्रेक्षा' इति प्राचां मतमनुसरता द्रविडपुत्रवेन यदुक्तं तदपि परास्तम् ।

दर्शनादिति । स्वरसतया प्रतीतेरिति भावः । प्रागुक्तं तदीय प्रकारं खण्डयति न
चेति । ननु लक्षणानुरोधेन तथोच्यतेऽत आह—उच्येति । सर्वत्राभेदसम्बन्धेनैव विषये
विषयिण उत्प्रेक्षेति नियमाङ्गीकारे प्रमाणाभावः । ननु भेदेनोत्प्रेक्षणस्य लक्ष्याप्राप्तिरेव
प्रमाणमिति चेन्न, 'अस्याम्—' इति प्रागुक्तनैपथीयपद्यात्मकस्य लक्ष्यस्य प्राप्तेः । न च
सत्रापि अभेदेनोत्प्रेक्षणप्रकारं प्रदर्शित इति वाच्यम्, भेदेनोत्प्रेक्षायाम् स्वारसिकायाः
स्वीकारे बाधकामावात् तादृशवृत्त्यप्रकाराङ्गीकारस्य वैयर्थ्यात् । यदि अभेदेनैवोत्प्रेक्षा
भवतीति भेदेन बोधितं भवेत्, तदा तादृशवृत्त्यप्रकाराङ्गीकारस्यैचित्त्यं सिद्धयेत्, तत्तु
नास्तीति कथं तदङ्गीकारौचित्यम् ? लक्षणमुत्प्रेक्षायाम् अभेदसम्बन्धघटितमेवोपलभ्यत इति
तदनुरोधेन तयाङ्गीकार इत्यपि न युक्तम्, लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधोन्तया भेदसम्बन्ध-
घटितलक्षणनिर्माणस्यापि कर्तुं शक्यत्वादिति विशदीकरणम् । नन्वेवमपि लिम्पतीत्यादौ
नान्यथा निर्वाह इति प्राचीनोक्तं मान्यमत आह—लिम्पतीवेति । फलमात्रस्य धात्वर्थ-
त्वादाह—अनुकूलव्यापारेति । यत इत्यादि । एवेन धर्मिव्यवच्छेदः । आरुह्यतेति ।

तिष्ठित्यर्थः । प्रथमान्तर्ध इति । प्रथमान्तर्ध इति भावः । नन्वेवं यास्कविरोधोऽत आह—
 भावेति । ननु प्रथमान्तर्धस्यार्थपरत्वमदृष्टमत आह—सत्त्वेति । ननु धातोर्व्यापारावाचकत्वे
 सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिरत आह—फलेति । व्यापारस्योभयत्रान्वयः ।
 अन्वय इति । आश्रयतासम्बन्धेनेति भावः । ननु 'कर्तरि कृत्' इत्यतः कर्तरीति 'लः
 कर्मणि—' इत्यत्रानुवर्तते । तत्र तत्त्वानुकूलव्यापारार्थकत्वे कृद्विधायकेऽपि तयैव स्यात् ।
 पाचको देवदत्त इत्यादौ सामानाधिकरण्याव्यवहारस्तु लक्षणयेत्याशङ्कानोदनायाह—अत
 एवेति । वक्ष्यमाणयुक्तेरेवेत्यर्थः । नन्वेवं कर्तारविधायकेऽपि तदर्थकत्वापत्तिरत आह—
 शब्दानुवृत्तिरिति । अयमाशयः—'लिम्पतीव—' इत्यत्र समवायसम्बन्धेन 'लेपनादि-
 व्यापारात्मकस्य लेपनादिकर्तृत्वस्यैव तम आदिशूत्रेणा । ननु प्रथमान्तर्धस्य तम आदेः
 कर्तृत्वात्तात्पर्यविरोधपक्षत्वेनैकदेशत्वमुक्तमिति चेन्न, धातोः फलमात्रमर्थः कर्तृत्वम् (अनु-
 कूलो व्यापारः) तिष्ठति, एवञ्च तिष्ठत्यस्य व्यापारस्याश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तर्धे कर्तारि
 अन्वय इति न प्रथमान्तर्धस्य कर्तृविशेषणत्वमित्याशयात् । न चैवरोत्या तिष्ठदित्याक्य-
 जन्यबोधे प्रथमान्तर्धस्य प्रधान्ये स्वीकृते 'भावप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कसिद्धान्त-
 विरोध इति शङ्कम्, 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इत्युत्तरवाक्ये प्रधानपदस्याभिधेयपरत्व-
 च्छेदपूर्ववाक्येऽपि प्रधानपदस्य तयार्थकत्वम्, आख्यातपदस्य तिष्ठपरत्वघातीकृत्य
 'भावार्थकरित्व' इति व्याख्यानेनाविरोधान् । 'तिष्ठत्यव्यापारमधिकरणफलवाचकत्वम्
 स्वकर्मकत्वम्, तिष्ठत्यव्यापारममानाधिकरणफलवाचकत्वमकर्मकत्वम्' इत्येवं परिष्कारेण
 सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवहारोच्छेदापत्तिरपि न भवितुमर्हति । ननु व्यापारात्मकस्य कर्तृत्वस्य
 प्रथमान्तर्धे तमसि विशेष्ये आश्रयतासम्बन्धेनान्वयमस्वीकृत्य 'लेपानुकूलव्यापाराश्रयः
 तम' इति बोधो यथा प्रागुपपादितस्तथाऽष्टुता कृदर्थस्यापि भावस्य (व्यापारस्य)
 आश्रयतासम्बन्धेन प्रथमान्तर्धेऽन्वयमस्वीकृत्य 'तमो लिम्पति' इत्यर्थे 'तमोलेपः' इत्यु-
 क्यतामिति चेन्न, 'नामार्थयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति सिद्धान्ते ज्ञामति
 घन्यस्य तमसि आश्रयतयाऽन्वयासम्भवात् । न च व्यापाररूपार्थे तिष्ठे विधानाय
 'कर्तरि कृत्' इत्यतोऽनुवृत्तस्य 'कर्तरि' इत्यस्य 'लः कर्मणि—' इत्यत्र 'कर्तृत्वे' इत्यर्थः
 करणीयस्तथा च 'कर्तरि कृत्' इत्यत्रापि तस्य पदस्य तादृश एवार्थ आस्थेयः स्यात्,
 आश्रयत्वात्, तथा च ऋतुतृजादीनां कृत्यप्रत्ययानामपि व्यापारार्थकत्वापत्तिरिति
 वाच्यम्, 'शब्दानुवृत्ति' 'अर्थानुवृत्ति' इत्युभयो प्रतिष्ठितयो पक्षयो प्रथमपक्षस्येवात्रा-
 ज्ञाकारेण 'लः कर्मणि—' इत्यत्र कर्तृत्वार्थकत्वा स्वीकारिष्यमाणस्यापि 'कर्तरि' इत्यस्य
 'कर्तरि कृत्' इत्यत्र व्यापाराश्रयार्थकत्वाज्ञाकारे क्षतिविरहात् । अत एव 'भावे' इति
 घनादिविधायकसूत्रस्य पदं सार्थकं भवति । यदि तु 'कर्तरि कृत्' इत्यत्रापि कर्तृत्वार्थकं
 कर्तरीतिपदं स्यात् तदा तेनैव सूत्रेण अन्यैः कृत्यप्रत्ययै सह घनादेरपि भावार्थे विधाने सिद्धे
 तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव भवेत् इति । शब्दानुवृत्तिपक्षेऽनुवृत्तस्य शब्दस्य पुनस्तत्रार्थबोधे
 करणीये आकाशज्ञानादिर्यथोपपत्तामभौ पुन उपपादनीया ततश्च तत्र पक्षे गौरवम्,
 अर्थानुवृत्तिपक्षे तु न तदुक्तमित्यन्तः पक्षान्तरमाह—यदिति । तिष्ठत्यस्य कर्तुः । अमेदेनेति ।
 सामान्यविशेषयोरभेदान्वयादिति भावः । मज्ञापत्तेरिति । एकप्रदोषस्याप्ययोस्तत्त्वे तु
 एकप्रसरतामज्ञापत्तेरिति भावः । युक्तान्तरमाह—सत्या होति । प्राग्वदत्रापि मते निरुक्त-
 विरोध प्रकारान्तरेण परिहरति—भावेति । पूर्वमाख्यातपदेन सिक् गृहीतः, इदानीं
 धातुरिति विरोधः । ननु वैशाकरणमतोरेता प्राकपोक्तमिति तद्विरोधोऽत आह—न

चेति । उपसहरति प्रपञ्चविष्यते चेति । उपरिष्ठादिति । एतेन । 'पण्डितराजोऽमिसिञ्चन्ये
 स्वतन्त्रालकारिकतन्त्रसिद्धान्तप्रतिपादक स्वतन्त्र प्रकरणं रित्वयिधुरासीत्' इति प्रतीयते,
 परन्तु पाठकजनदुरदृष्टवशादुपलब्धेऽस्मिन्निबन्धे तत्प्रकरणं नायातम् । अर्थाधिकारानुरोधेन
 'कर्तरि कृतं' 'ल' वर्गेणि च—' इत्युभयत्र 'कर्तरि' इति पदम् व्यापाराश्रयदोषकमेव, तथा
 च 'फलव्यापारौ धातोरश्रयश्च तिङोऽर्थ' इत्येव प्रकृतम्, एवञ्च 'लेपनादिकर्तृषु तमश्नादि-
 श्रुत्येक्ष्यते' इति प्रागुक्तं न सम्भवतीति चेत् ? सत्यम्, किन्त्वेष्वपि तिङर्थस्य कर्तुरभेदेन
 प्रथमान्तार्थे तमश्नादानुत्प्रेक्षा, 'देवदत्त पचमान' इत्यादाविव 'देवदत्त पचति' इत्यादावपि-
 तिङर्थस्याभेदेन प्रथमान्तार्थ एव विशेषणत्वस्यौचित्यात्, सामान्यविशेषयोरोभेदान्नये बाध-
 काभावात् । तिङर्थस्याश्रयस्य वृत्तित्वात्कभेदसम्बन्धेन धात्वर्थव्यापारेऽप्यय इति प्रार्थनाया
 पन्यासु ॥ शोभन, 'देवदत्त पचति', 'तमो लिम्पति' इत्यादौ प्रथमान्तार्थस्योद्देश्यत्वं
 तिङर्थस्य च विधेयत्वं यास्तवै स्वारसिकं प्रतीयते तस्य भङ्गापत्तेः । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहायं
 ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थं प्रधानम्' इति व्युत्पत्तिव्यवपालनजन्यपापप्रणोदकप्रायश्चित्तप्रसङ्गा-
 पत्तेः । भग्नते तु धात्वर्थस्य तिङर्थं प्रति विशेषणत्वसिद्धया न तदापत्तिः । ननु 'भाव-
 प्रधानम्—' इति यास्कजनविरोधं पुनरस्मिन् कल्पे समापततीति चेन्न, आख्यातपदस्य
 धातुपराय स्वीकृत्य 'भावनार्थको धातु' इति विचरणे विरोधाभावात् । प्रथमान्तार्थमुख्य-
 विशेष्यक एव बाध्यायबोधो, न तु व्यापारमुख्यविशेष्यक इति सारांशः । आलङ्कारिक-
 तन्त्रस्य स्वतन्त्रतया चैवाकरणमतविरोधो न दोषायेति भावः । पूर्वोक्तं प्रकृतानुसरणं
 विरुध्दाह—एव चेति पूर्वमतेनाह—भेदेनेति । द्वितीयमतेनाह—अभेदेनेति । प्रथमान्तार्थे
 तमसि लेपनकर्तृत्वस्य आश्रयतासत्तर्गेण आश्रयतानियामकमवयवसत्तर्गेण वा भेदात्म-
 केन सम्भावनम् (उत्प्रेक्षणम्) इति प्रथममतसिद्धा रीतिः, प्रथमान्तार्थे तमसि लेपन-
 कर्तुरभेदेन (तमोलेपनकर्तु इव) इत्याकारकम् उत्प्रेक्षणम् इति द्वितीयमतसिद्धा रीति-
 रिति भावः । क्रमेणैव मतद्वयव्यवच्छेदमाह—न रिति । तम कर्तृकव्यापने निगोर्णे विषये
 तम कर्तृकलेपनस्य निगरणकर्तृविषयिणोऽभेदेकोत्प्रेक्षणमिति प्राचीनोक्तं नैति भावः ।
 तत्र हेतुमाह—सर्वजनसिद्धाया इवार्थस्य विधेयताया इति । विषयनिष्ठोद्देश्यता-
 निहरितम् इवार्थसम्भावनाविषयिणो लेपनादेः प्रतीयमानं यद् विधेयत्वं तस्य भङ्गापत्तेरि-
 त्यर्थः । विषयस्य तत्र मते विषयिणोऽभेदेन तितीर्णत्वादिति भावः । सतु निगोर्णेनैव विषय-
 मादाय तदमङ्गोऽत आह—तम इति । विषयनिगरणस्थलेऽपि उद्देश्यविधेयभावस्वीकारे
 'तम कर्तृक लेपनमिव' इति वाक्यादपि उद्देश्यविधेयभावप्रतीत्यात्मकोत्प्रेक्षाप्रतीत्यापत्ति-
 रिति भावः । अनुवादपुरस्सरं बोधान्तरमाह—यदि चेति । विषयमिति । विषयिणा तत्र-
 सम्बन्धिनेत्यर्थः । निषेयेति । विषयस्य तम सम्बन्धिन इत्यर्थः । स्वेति । लेपनेत्यर्थः ।
 रूपकेऽपीति । अनुच निमित्तके रूपके इत्यर्थः । मयदीत्या तत्रापि निमित्तरूपविषयस्यानु-
 पादानं अभ्यवसानवास्तीति भावः । तदेवाह—'लोहान्—' इति । उपसहरति तस्मादिति ।
 ये तमसि लेपनकर्तृत्वस्योत्प्रेक्षा मन्यन्ते, ते तम कर्तृकव्यापनं तादृशोत्प्रेक्षाया निमित्त-
 मङ्गीरुवन्ति । तत्र निमित्तं तदा स्थावदि उत्प्रेक्ष्यमाणलेपनकर्तृत्वसमानाधिकरणं सद्
 विषयवृत्ति भवेत् । परन्तु तम कर्तृकव्यापनस्य तत्त्वं स्वतो न सम्भवति, लेपनकर्तृत्वस्य
 परतुतोऽधिकरणे लेपनकारके चेतने तस्यावृत्तितया प्रोक्तसामानाधिकरण्यविरहात् । लेपन-
 व्यापनयोर्मिथोऽभेदे आरोप्यमाणे तत्सम्भवति, अतो विषयितया स्वीकृतेन लेपनेन विषय-
 तया स्वीकृतस्व व्यापनस्य निगरणमात्रयकम्, अन्यथाऽभेदो न स्यात्, अभेदाभावे न

निमित्तता तस्य न भवेत्, निमित्ताभावे उद्योश्चापि न सिद्धयेदित्यकामेन कामेन वा तैरपि
 स्तेपने व्यापनार्थवसानं स्वीकार्यमेव । एवं स्थितौ यदि वयं (प्राचीनाः) उत्प्रेषाया
 विषयविपरिणोरेवाप्यवसानं स्वीकुर्महे तर्हि को नोपराधः ? इति शङ्काया इदं समाधानं—
 यदस्मदीयनिमित्ततासम्पादन्मुक्तिमादाय गवन्तो न निजं दोषं मार्जयितुं प्रभवन्ति यतो
 वयं केवलं निमित्ततासम्पादनाय (उत्प्रेक्ष्यमाणधर्मसमानाधिकरणभूतधर्मस्य विषयवृत्ति-
 तासम्पत्तये) स्तेपनेन व्यापनस्य निर्णीर्णत्व मन्त्यामहे । भवन्तस्तु एतदध्यवसानमादायो-
 त्प्रेक्षामेवानुपात्तविषयामध्यवसानमूला चाचक्षते । यदि भवन्तो निमित्तस्यानुपात्तत्वेनाध्य-
 वसानमूलकत्वेन च विषयस्यानुपात्तत्वमलङ्कारस्याध्यवसानमूलकत्वञ्चाभिप्रयन्ति तदा रूप-
 कस्यापि अनुपात्तविषयत्वमध्यवसानमूलकत्वञ्च भवद्विरुद्धीकरणीय स्यात्, यतो 'लोकान्
 हन्ति खलो विषम' (खलरूप विष लोकान् भारयतीत्यर्थः) इत्यादौ निमित्तस्य
 खलगतदुःखदार्तत्वस्य अनुपादानं विषयगतहन्तृत्वात्मनाप्यवसानमास्ति । न केवल-
 मस्मिन्नेव रूपके एष दोषः, अपि तु 'मुखचन्द्र' इत्यादिप्रसिद्धरूपकेऽपि, तत्रापि
 निमित्तस्य मुखगताहादकत्वस्यानुपादानात्, चन्द्रगताहादकत्वात्मनाऽध्यवसानाच्च । अतो
 निमित्तभागस्यानुपात्तत्वमध्यवसानमूलकत्वादायोत्प्रेक्षयास्वत्वं नाहोक्तुं योग्यम्, यस्य
 रूपकादेस्तत्त्वं भवतामपि नाभिमतं तत्रापि भवद्दीप्त्या तत्प्रसङ्गात् । अतो निमि-
 त्ताद्योऽतिशयोक्तिरेवालङ्कारो मन्तव्यः, तेन च निमित्तसम्पत्तौ महुचरीत्योत्प्रेक्षा स्वीकार्यः
 इति विशदोऽर्थः । हेतुत्प्रेक्षायामाह—एवमिति । तत्र तस्यामुत्प्रेक्षायाम् । सम्बन्धे
 शोभासम्बन्धे । लक्षणमेवेति । हर्षहेतुकं लक्षणमित्यर्थः । 'उन्मेषं च' इत्यत्रापि पद्म-
 मन्तरीरूपे विषये स्मृगनहेतुतया हर्षस्योत्प्रेक्षा, तत्रोत्प्रेक्षाया हर्षहेतुकपादलगनं निमित्तम्,
 तच्च पूर्ववतावन्न निमित्तं भविष्यतीति शान्तनामाविके शोभालगनेऽप्यवसितं न स्यात्,
 अतस्तद्वदो पूर्ववदतिशयोक्तिरिति भावः । हेतुत्प्रेक्षाया एवोदाहरणान्तरमाह—तथेति ।
 'सैया—' इति । लङ्घातः अयोध्यामागच्छन् रामभद्रः सीतां प्रत्याचष्टे—त्वाम्, विधिवन्ता
 गवेपयता, मया, उन्मां पृथिव्याम्, भ्रष्टं पतितम्, त्वद्वारणाविन्दस्य त्वदीगपारक्षन्-
 लस्य, विरलेपेन वियोगेन, यददुःखम्, तस्मादेतोरिष, यदमीनं स्वीकृतमूलकत्वम्, एकम्,
 नूपरं चरणभरणविशेषः, यत्र, अदृश्यत इष्टम्, सा, एषा, स्वली अकृत्रिमा भूनिरस्ती-
 त्वर्थः । उपपादमिति—अप्रापीति । मौनं द्विविधं निश्चलत्वहेतुकं तु खहेतुकञ्च, तयोरेव-
 माह—तथेति । निःशब्दत्वाध्यवसितमिति । निःशब्दत्वे तादात्म्येनाध्यवसितमित्यर्थः ।
 तस्योभयनिष्ठत्वमाह—विरलेषेति । 'सैया स्वली—' इत्यत्रापि प्राग्वन्मूढुरे मौनकारणतया
 वियोगजन्यदुःखस्य समवायसम्बन्धेनोत्प्रेक्षा, तत्र चोत्प्रेक्षाया निश्चलत्वनिमित्तकमौनत्वे तादा-
 त्म्येनाध्यवसिततया विरलेषदुःखसमानाधिकरणत्वनिश्चिन्नपूरवृत्तित्वचद्दुःखनिमित्तकमौनं
 निमित्तं भवति । एवं च निमित्तारोऽत्रापि पूर्ववदतिशयोक्तिरिति भावः । ननु निश्चलत्वनिमित्त-
 कनि शब्दत्वात्मके विषये विरलेषदुःखहेतुकमौनस्याभेदेनोत्प्रेक्षा कुतो नेति चेन्न, उत्प्रेक्षाया
 इवशब्दार्थान्वितस्योत्प्रेक्ष्यताया उत्प्रेक्ष्यताया भज्जापत्तेः । 'दुःखादिव' इत्युक्तौ इवशब्दा-
 र्थान्वितो दुःखपदार्थ एवेति तस्यैवोत्प्रेक्ष्यता समुचिता, परन्तु तथाज्ञोकारे सा न स्यादिति
 तात्पर्यम् । न च आकाङ्क्षादिना दुःखहेतुकमौनपदार्थ एवेत्यायान्वयोऽस्त्विति वक्तव्यम्,
 तथा सति पूर्वोक्तदोषाभावेऽप्यपरदोषापत्तेः । तथाहि उत्प्रेक्षास्येते नियमतः उद्देश्यविषय-
 भावो भवत्येव, तत्र विषय उद्देश्यम्, विषयो च विषेयो भवति । एवधानयोद्देश्य-
 विषेयभावाय पूर्वपद्याङ्गावेन निर्देश आवश्यकः, एकतरस्यापि अनिर्देशो व्युत्क्रमेण वा

निर्देशे तत्त्वात्ममत्वात् । तव मते तु विषयभूतं निश्चलनहेतुकं मौन निर्गोणं (अनिर्दिष्टम्) अतो निर्दिष्टस्यापि विषयिभूतस्य तु सहेतुवमौनस्य विषेयत्वं न भवेत् । ननु निर्गोणमेव विषयमादाव कथञ्चित् उद्देश्यविषयमान स्यादिति चेत् १ मन्वत् नाम, तथापि तादृशो-
त्प्रेक्षण न युक्तम्, निमित्तानुपलब्धे । न चैककालप्रभवत्वं निश्चलत्वहेतुकमौनदु सहेतुक-
मौनयो साधारणो धर्म इति तदेव निमित्तमिति वाच्यम्, अन्वयमकारिणस्तस्य धर्मस्यो-
पमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वात् । फलोत्प्रेक्षास्थलेऽपि 'चोलस्य—' इत्यादौ अभेदा-
तिरिक्तेन सम्बन्धेन फलस्यैवोत्प्रेक्षा, वामेदेन फलसाधकविपाटनादेरित्यपि बोध्यम् ।
एतेन सर्वत्राभेदेनैवोत्प्रेक्षेति प्राचीनमत वैकल्पिकरूपेण समर्थयन् अप्ययदोक्षितोऽपि निरस्त
इति भाव ।

अब उक्त प्राचीन मत पर विचार किया जाता है—सत्र इत्यादि । विचार यह है कि—
सर्वत्र अभेदसम्बन्ध से ही उपेक्षा होती है वह जो प्राचीनों ने निश्चल-ता मान रखी
है उसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि लक्ष्यों-उदाहरणों-में भेदसम्बन्ध से भी उपेक्षा
देखी जाती है, जैसे—'अस्यां मुनीनामपि मोहमूढे—' इत्यादि में 'मोह' आदि की मुनि
आदि में उपेक्षा समवायसम्बन्ध से । आप कहेंगे—प्राचीनों के मत में पहले ही कहा
जा चुका है कि—'यहाँ मुनियों से सम्बन्ध रखने वाले 'दर्शन' आदि में मोह की, अभेद-
सम्बन्ध से उपेक्षा है, न कि 'मुनियों' में 'मोह' की । तो इसके उत्तर में मेरा कथन
यह है कि—जब भेदसम्बन्ध से उपेक्षा करने में कोई बाधक नहीं है तब ऐसी कल्पना
अर्थ है । 'अभेदसम्बन्ध से ही उपेक्षा होती है' ऐसा कोई वैद्विबोधित नियम तो है
नहीं कि जिसके लिये ऐसा आप्रह किया जाय । आप कहेंगे—वैद्विबोधित नियम वैसा
भले ही न हो, पर लक्षण तो अभेदसम्बन्ध से ही उपेक्षा का बोध करता है—अर्थात्
लक्षण ऐसा ही उपेक्षा का उपलब्ध होता है जिसमें अभेदसम्बन्ध से उपेक्षा सिद्ध
की गई है, फिर भेदसम्बन्ध से उपेक्षा किस लक्षण के आधार पर मानी जायगी, तो
इसका समाधान यह है कि—लक्षण कोई परायत्त वस्तु भोदे ही है, वह तो पुरुषों के
अधीन की ही चीज ठहरी—भेदसम्बन्ध से होने वाली उपेक्षा का भी लक्षण बनाया
जा सकता है (जैसा ग्रन्थकार ने बताया भी है) । वह तो हुई आपके प्रथम उदाहरण
की बात । अब दूसरे उदाहरण 'लिप्यतीव तमोऽज्ञानि' को लीजिए । यहाँ भी अन्धकार
आदि विषयों में 'लेखनकर्तृत्व' आदि की ही 'आश्रयता' किंवा 'समवाय'सम्बन्ध से
उपेक्षा होती है—यही मानना उचित है । आप कहेंगे—ऐसा नहीं हो सकता यह बात
युक्तिपूर्वक प्राचीनमत में सिद्ध की जा चुकी है—अर्थात् अन्धकार आदि प्रथमान्त पदार्थ
तिष्ठ-आश्रय का विशेषण है—अप्रधान है, अतः उसमें 'कर्तृत्व' (व्यापार) की उपेक्षा
नहीं हो सकती और उस तिष्ठ आश्रय की ही अभेदसम्बन्ध से अन्धकार आदि में
उपेक्षा मानें वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह आश्रय धारक—व्यापार—का विशेषण
है इत्यादि बातें प्राचीन मत में कही जा चुकी हैं । तो इसका उत्तर यह है कि—प्राचीनों ने
जो तिष्ठ का अर्थ आश्रय माना है वह गलत है, वस्तुतः अनुकूल व्यापाररूप कर्तृत्व ही
तिष्ठ का अर्थ है और उसका अन्वय प्रथमान्त पदार्थ—जो वाक्यार्थबोध में सब से
विशेष्य होता है—में आश्रयतासम्बन्ध से होता है, अतः कोई दोष नहीं । तात्पर्य यह
कि प्रथमान्तार्थ—अन्धकार आदि—सब से प्रधान ही है उसमें तिष्ठ 'कर्तृत्व-व्यापार'
की उपेक्षा मानने में कोई अड़चन नहीं । आप कहेंगे—ऐसा मानने पर 'भावप्रधान-
साध्यातम्' इस निरक्त के वाक्य से विरोध होगा, क्योंकि उसका अर्थ है—'आश्रयात्
अर्थात् तिष्ठान्त में मात्र अर्थात् व्यापार प्रधान होता है' और आप के हिसाब से प्रधान
हो जाता है प्रथमान्त पदार्थ । तो इस विरोध के परिहाराय उक्त निरक्ता के वाक्य का
अर्थ इस तरह कर देना चाहिए कि आश्रयात् अर्थात् तिष्ठ (तिष्ठन्त नहीं) प्रत्यय का

प्रधान—अर्थात् वाच्य—‘भाव’ (अर्थात् व्यापार) होता है। इस अर्थ के अनुसार कोई विरोध नहीं। आप कहेंगे—‘प्रधान’ शब्द का अर्थ आपने ‘वाच्य’ किस आधार पर कर लिया ? तो इसके उत्तर में मेरा कहना यह है कि—मिस्र आधार पर उक्त ‘निवृत्त-वाच्य’ के अग्रिम वाक्य ‘सत्त्वप्रधानानि नामानि = प्रातिपदिक के वाच्य सत्त्व (द्रव्य) होते हैं’ ॥ प्रधान पद का अर्थ वाच्य किया जाता है। तात्पर्य यह कि इस द्वितीय वाक्य में प्रधान पद का अर्थ ‘मुख्य’ हो नहीं सकता, क्योंकि अनेक अर्थों के होने पर ही किसी एक अर्थ की मुख्यता कही जा सकती है और प्रातिपदिक का ‘द्रव्य’ से अन्य कोई अर्थ होता ही नहीं, अतः वहाँ प्रधान पद का अर्थ ‘वाच्य’ मानना ही पड़ता है, फिर यदि उस वाक्य के पूर्व वाक्य (‘भावप्रधान—’ में) प्रधान शब्द का ‘वाच्य’ अर्थ किया जाय तो यह कोई निराधार बात नहीं हुई। आप कहेंगे—यदि धातु का अर्थ केवल फल किया जाय, व्यापार नहीं, तब सकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का विभाग कैसे किया जायगा ? तात्पर्य यह कि जब धातु के फल और व्यापार दोनों अर्थ माने जाते थे तब ‘फल जिसमें रहता हो उससे भिन्न में रहनेवाले व्यापार का वाचक धातु सकर्मक और फल जिसमें रहता हो उसी में रहनेवाले व्यापार का वाचक धातु अकर्मक’ इस तरह से विभाग होता था अब तो वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि आपके हिसाब से किसी भी धातु का अर्थ व्यापार होता ही नहीं, किन्तु तिङ् प्रत्यय का अर्थ व्यापार होता है तो इसका समाधान यह कि—सकर्मक-अकर्मक धातुओं के विभाग के लिये ‘फल और व्यापार एक अर्थ के ही अर्थ हों’ यह आवश्यक नहीं है, आवश्यक है उन दोनों (फल तथा व्यापार) का एक में रहने और न रहने का, अतः उन दोनों को भिन्न भिन्न अर्थ (धातु और तिङ्प्रत्यय) का अर्थ मानने पर भी उक्त विभाग हो जायगा। तात्पर्य यह कि—अब ‘तिङ् प्रत्ययार्थ-व्यापार के अधिकरण से अन्य अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक धातु सकर्मक और तिङ्प्रत्ययार्थ व्यापार के अधिकरण में रहनेवाले फल का वाचक धातु अकर्मक’ इस प्रकार से कहा जायगा। इस बात को स्पष्ट रूप में समझने के लिये यह समझिए कि—सकर्मक धातुओं के स्थल में ‘फल’ (कर्ता के व्यापार से सिद्ध होनेवाली बात) कर्म में रहता है और व्यापार (फल को सिद्ध करनेवाली क्रिया) कर्ता में रहता है, जैसे—‘सोहन वाक्य पकाता है’ यहाँ ‘पकाने (फूँकने) आदि’ का फल (विकृति-बाबल का फैलना) कर्म (वाक्य) में रहता है और ‘पकाना (फूँकना) आदि क्रिया’ कर्ता (सोहन) में रहती है और अकर्मक धातुओं के स्थल में वे दोनों (फल तथा व्यापार) कर्ता में ही रहते हैं, जैसे—‘मोहन नहाता है’ यहाँ ‘व्यापार = गोता लगाना आदि’ मोहन में रहती है और उस व्यापार का ‘फल = सफाई आदि’ भी उसी में रहता है। आप कहेंगे—यदि आपके कथनानुसार तिङ्प्रत्यय का अर्थ व्यापार और उसका ‘आश्रयता’सम्बन्ध से ‘प्रथमान्त पदार्थ’ में अन्वय माना जाय तो ‘भाव-अर्थात् व्यापार’ अर्थ में जो कृत् प्रत्यय-धञ् आदि होते हैं उनका भी अर्थ ‘व्यापार’ होता है, अतः उस व्यापार का भी ‘आश्रयता’सम्बन्ध से अन्वय क्यों न हो जाय ? अभिप्राय यह कि—‘देवदत्तः पचति’ की तरह उसी अर्थ में ‘देवदत्तः शकः’ प्रयोग होने में क्या बाधा रही ? तो इसका उत्तर यह है कि—कृत्प्रत्यय शब्द प्रातिपदिक होते हैं—उनकी ‘कृत्प्रत्ययसमासाश्च’ इस पाणिनि-सूत्र से प्रातिपदिक सज्ञा होती है, और दो प्रातिपदिकार्थों का भेद-सम्बन्ध (अभेद से अतिरिक्त अन्य किसी सम्बन्ध) द्वारा सम्बन्ध हो नहीं सकता यह नियम है, अतः कृत्प्रत्ययार्थ भाव (व्यापार) का प्रथमान्तार्थ के साथ ‘आश्रयता’सम्बन्ध से अन्वय नहीं होता। अब शङ्का रही यह कि—‘लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः’ इस सूत्र से ‘कर्ता’ अर्थ में तिङ्प्रत्यय का विधान होता है और इस सूत्र में ‘कर्तरि’ पद ‘कर्तरि कृत्’ सूत्र से अनुवृत्त होता है। अब यदि ‘लः कर्मणि—’ में ‘कर्तृ’ शब्द का अर्थ ‘कर्तृत्व’ (व्यापार) किया जाय तो फिर ‘कर्तरि कृत्’ सूत्र में भी ‘कर्तृ’

शब्द का अर्थ वही करना पड़ेगा, क्योंकि एक ही शब्द के दो सूत्रों में दो अर्थ तो किए नहीं जा सकते और तब कृत् प्रत्यय (कृत्, कृच् आदि) भी 'कर्ता' अर्थ में न होकर 'व्यापार' अर्थ में होने लगेंगे और वस्तुतः ऐसा होता नहीं अतः आपकी सभी भूमिका ही विनष्ट हो रही है। तो इसका उत्तर यह है कि—'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ 'कर्ता' (व्यापार का आश्रय) ही है, अतएव तो 'घञ्' आदि प्रत्ययों का 'व्यापार' अर्थ समझाने के लिए 'भावे' सूत्र बनाना व्यर्थ नहीं होता, यदि 'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तृ' शब्द का अर्थ केवल व्यापार माना जाय तब तो उस सामान्य सूत्र के चल से ही अन्य कृत्प्रत्ययों के साथ-साथ 'घञ्' आदि प्रत्ययों का भी विधान भाव=व्यापार अर्थ में हो ही जाता, फिर 'भावे' सूत्र की सृष्टि ही निरर्थक हो जायगी। फलतः 'भावे' सूत्र की सार्थकता के लिये 'कर्तरि कृत्' सूत्र में 'कर्तरि' शब्द का अर्थ व्यापाराश्रय (कर्ता) माना जायगा, पर 'ल' कर्मणि—' इस सूत्र में 'कर्तरि' पद का अर्थ 'कर्तृ' = व्यापार मानने में भी कोई उस तरह की अनुपपत्ति नहीं होती, अतः वहाँ वही अर्थ माना जायगा। दस, मेरी भूमिका ठीक रह गई। आप कहेंगे—एक ही शब्द का अर्थ दो सूत्रों में दो तरह का कैसे किया जा सकता है—अर्थात् एक ही 'कर्तरि' पद का अर्थ जो आपने 'कर्तरि कृत्' में कर्ता और 'ल' कर्मणि च' में व्यापार कर लिया है वह तो उचित नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि व्याकरणशास्त्र में अनुवृत्ति के विषय में दो पक्ष माने गये हैं—एक शब्दानुवृत्तिपक्ष और दूसरा अर्थानुवृत्तिपक्ष, उनमें से द्वितीय पक्ष का आश्रयण करने पर आपकी कही हुई अनुपपत्ति हो सकती है—अर्थात् अर्थानुवृत्तिपक्ष के अनुसार एक शब्द के दो अर्थ नहीं हो सकते यह बात सही है, पर प्रथम पक्ष में उक्त दोष नहीं आता—अर्थात् उस पक्ष के अनुसार अन्यायक शब्द का भी अन्यत्र अनुवृत्त होने पर दूसरा अर्थ किया जा सकता है। फलतः, 'कर्तरि कृत्' में धर्म—व्यापाराश्रय—परक 'कर्तरि' पद को 'ल' कर्मणि—' इस सूत्र में धर्म—व्यापार—परक मानने में कोई बाधा नहीं। यदि आप कहें कि—शब्दानुवृत्तिपक्ष में यदा गौरव है—अर्थात् शब्द को एक जगह से दूसरी जगह ले जाकर पुनः उस शब्द से अर्थबोध करने में अर्थबोध के कारणों—आकाङ्क्षा, ज्ञान आदि को द्वारा जुटाना पड़ता है और अर्थानुवृत्तिपक्ष में यह गौरव नहीं है, क्योंकि अर्थ को ही एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं पुनः अर्थबोध आदि का कोई बल्लेदा ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में अर्थानुवृत्ति ही की जायगी—अर्थात् 'कर्तरि कृत्' में 'कर्तरि' पद का जो अर्थ है व्यापाराश्रय, वही 'ल' कर्मणि च' में भी अनुवृत्ति होने पर होगा, होगा क्या, वह अर्थ उठकर जायगा शब्द नहीं, और जब 'ल' कर्मणि—' से व्यापाराश्रय अर्थ में तिङ् का विधान होगा तब आपकी कही हुई सभी बातें समाप्त हो जायेंगी, तो मैं कहूँगा कि—रहे आपकी ही बात—अर्थात् आपके कथनानुसार ही मैं भी मान लेता हूँ कि कल तथा व्यापार दोनों ही धातु के अर्थ हैं और तिङ् प्रत्यय का अर्थ आश्रय ही है, पर उस तिङ् अर्थ का अन्वय अमेदसबन्ध से प्रथमान्त पदार्थ में ही होगा—अर्थात् 'पचमानो देवदत्त = पकाता हुआ देवदत्त' यहाँ जैसे 'ज्ञानच्' प्रत्ययार्थ आश्रय का अमेदेन देवदत्त में अन्वय होता है उसी तरह 'देवदत्त पचति = देवदत्त पकाता है' यहाँ भी तिङ् अर्थ अमेदसबन्ध से देवदत्त का ही विशेषण हो यही उचित है। (सामान्यविशेषयोरभेदान्वयः = सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ का अभेदान्वय होता है, जैसे 'नीला घटा' यहाँ नीला है सामान्य और घटा है विशेष, उसी तरह तिङ् अर्थ आश्रय है सामान्य और प्रथमान्त पदार्थ देवदत्त आदि है विशेष, अतः उन दोनों में अभेदान्वय हो सकता है।) वैयाकरणों के अनुसार आपने जो तिङ् अर्थ आश्रय का अभेदसबन्ध (वृत्ति) से धात्वर्थ (व्यापार) में विशेषण होता लिखा है वह कथमपि उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो, सब लोगों को जो ऐसे वाक्यों में प्रथमान्त पदार्थ कर्ता की वहेरपता और तिङ् की विशेषता प्रतीत होती है उसका भङ्ग होता है—

अर्थात् आपके हिसाब से तिङ्गर्थ उद्देश्य और धात्वर्थ (व्यापार) विधेय हो जाता है जो अनुभवविरुद्ध है। दूसरे 'प्रकृतिप्रत्ययौ साहाय्यं धृतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्—अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय साथ साथ अर्थ को कहते हैं पर उनमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है' इस श्रुति से जो यह फलित होता है कि—'प्रकृति का अर्थ प्रत्यय के अर्थ का विशेषण होता है' यह यद्यपि एक उत्सर्ग (सामान्य नियम) है, तथापि गति रहने पर उसका पालन करना ही उचित है और वैवाकरणानुयायी प्राचीनों के मत में इसका पालन नहीं होता, क्योंकि वे प्रत्यय तिङ् के अर्थ (आश्रय) को ही प्रकृति (धातु) के अर्थ व्यापार का विशेषण बताते हैं। अब रहा 'भावप्रधानम्' इस पूर्वोक्त निरूपवाक्य से विरोध। उसका भी समाधान 'आख्यात' पद का अर्थ धातु कर लेने से हो जाता है। सारपर्य यह कि—पूर्व मत में 'आख्यात' पद का अर्थ तिङ् किया गया था और अब उसका अर्थ 'धातु' करेंगे यदनुसार अब उस वाक्य का अर्थ होगा 'आख्यात—अर्थात् धातु का वाच्यभाव व्यापार है' इस अर्थ में कहीं कोई दोष नहीं। आप कहेंगे—देसा मानने से वैवाकरणों के मत का विरोध होगा—यह भी तो एक दोष ही है। तो मैं कहता हूँ—यह कोई दोष नहीं। आलङ्कारिकों का अपना एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है, वे वैवाकरणों के मत का अनुसरण करते चले इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात को हम भागे और निरह्न करेंगे, अतः अब प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हैं। (यहाँ यह समझना चाहिये कि प्रायः पण्डितराज आलङ्कारिकों के स्वतन्त्र सिद्धान्त के प्रसङ्ग पर एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखना चाहते थे पर दुर्भाग्यवश ग्रन्थ अपूर्ण रह गया और उपलब्ध भाग में वह प्रकरण नहीं आ सका।) इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—'लिप्यतीव्रम्—' इत्यादि तिङन्तपदयुक्त वाक्यगत उद्येष्टा में भेदसम्बन्ध से अथवा अभेदसम्बन्ध से तिङ्प्रत्यय के अर्थ की ही उद्येष्टा प्रयमान्तर-पदार्थ में होती है। 'भेदसम्बन्ध से अथवा अभेदसम्बन्ध से' इस कथन का अन्विष्टा यह है कि यदि 'तिङ्प्रत्यय का अर्थ व्यापार है' यह प्रथम पक्ष माना जाय तब उस तिङ्गर्थ की प्रयमान्तार्थ में भेदसम्बन्ध (आश्रयता किंवा आश्रयतानियामक समवाय) से उद्येष्टा और यदि 'यद्वा' वाला 'तिङ् का अर्थ आश्रय है' यह द्वितीय पक्ष माना जाय तब उस तिङ्गर्थ की प्रयमान्तार्थ में अभेदसम्बन्ध से उद्येष्टा। सारांश यह कि धात्वर्थ—लिप्यधातु के अर्थ लेपनात्मक व्यापार की उस लेपन द्वारा निर्णीत व्यापनात्मक व्यापार में उद्येष्टा है इस बात को सिद्ध करनेवाला आपका (प्राचीनों का) पक्ष ठीक नहीं है। कारण, एक तो, 'ह्रस्व' के अर्थ (संभावना) की (वस्तुतः संभावना के विषयी लेपन आदि क्रिया की) विधेयता, जो कि सर्वजनवेद्य है, उस पक्ष में नहीं बन पाती, क्योंकि—उद्देश विधेय-भाव के लिये उद्देश्य और विधेय का भिन्न भिन्न पदों से प्रतिपादित होना अनिवार्य है। दूसरे, यदि आपके कथनानुसार लेपन में अक्षयवसित व्यापन को विषय मानकर उसमें लेपनरूप विषयी की उद्येष्टा साती जाय तब 'अन्धकार भ्रमका कर्ता हो तादृश लेपन जैसा' इस वाक्य से—मिसमें उद्देश्यबोधक कोई पद नहीं—उद्येष्टा की प्रतीति होने लगेगी, क्योंकि वैसा अक्षयवसान तो यहाँ भी माना जा सकता है। अब यदि प्राचीनों के मत का समर्थन करनेवाले यह कहें कि जो लोग 'भेद-सम्बन्ध से अन्धकार आदि में लेपनकर्तृत्व को उद्येष्टा' मानते हैं वे भी उस तरह की उद्येष्टा का निमित्त 'अन्धकारकर्तृक व्यापन' को ही मानते हैं और तादृश 'व्यापन' तब तक निमित्त हो नहीं सकता जब तक अन्धकारसम्बन्धी लेपन को विषयी मानकर उसमें अन्धकारसम्बन्धी व्यापन को विषय मान कर उसका तादृश्यारोप न कर दें—अर्थात् लेपन से व्यापन को निर्णीत नहीं मान लें, क्योंकि ऐसी (भेदसम्बन्ध-मूलक) उद्येष्टाओं में वह धर्म निमित्त होता है जो उद्येष्टित होने वाले धर्म के साथ रह कर विषय में भी रहे और उक्त 'अन्धकारकर्तृक व्यापन' स्वतः (जब तक 'अन्धकार-

कर्तृक' लेपन के साथ उसका आरोपित अभेद नहीं मान लिया जाता तब तक) ऐसा है नहीं। कारण 'लेपनकर्तृत्व' वस्तुतः रहता है पोतने वाले किसी मनुष्य में, न कि अन्धकार में, अतः 'व्यापन' लेपन के साथ रहने वाला ही नहीं होता। हाँ, जब 'लेपन' तथा 'व्यापन' में अभेद मान लिया जायगा—'लेपन' शब्द से ही 'व्यापन' की सूचना समझ ली जायगी तब 'व्यापन' उक्त उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा। फलतः निमित्त बनाने के लिये आप को भी (नवीनों को भी) लेपन में व्यापन का अध्यवसान मानना पड़ता ही है। ऐसी स्थिति में यदि हम (प्राचीनों) ने उन परस्परालम्बन वाले लेपन व्यापन को निमित्त न मानकर उत्प्रेक्षा का विषयीविषय ही मान लिया तो क्या अनुचित किया? तात्पर्य यह कि—आप लेपन और व्यापन को अध्यवसान का विषयी तथा विषय मानकर उनको उत्प्रेक्षा का निमित्त बनाते हैं और हम उन्हीं लेपन तथा व्यापन को उत्प्रेक्षा का भी विषयी और विषय भी मान लेते हैं, कोई गौरव-लाभ तो दोनों के मतों में होता नहीं, तो इसके उत्तर में नवीनों का कथन है कि—प्राचीन हमारी दी हुई निमित्तता-साधक युक्ति को लेकर, अपने पक्ष को निर्दुष्ट नहीं बना सकते, क्योंकि हम केवल निमित्त बनाने के लिये (अर्थात् धर्म के साधारणीकरण के लिये) 'लेपन' से 'व्यापन' को निर्गोण मानते हैं, उसके चलते 'उत्प्रेक्षा' में किसी तरह की नवीनता नहीं मानते, पर आप तो इस नियरण के कारण उत्प्रेक्षा को अनुपातविषया और अध्यवसानमूलक कह रहे हैं। यदि आप के विचार से निमित्त के अनुपात और अध्यवसानमूलक होने मात्र से विषय का अनुपात होना और अलङ्कार का अध्यवसानमूलक होना माना जाय तो रूपक को भी अनुपातविषय तथा अध्यवसानमूलक मानिए। कारण, 'लोकान् हन्ति तलो विषम्-अर्थात् खलरूप विष लोगों को मारता है' इत्यादि रूपक में भी 'खल का दुख देना' रूप निमित्त अनुपात है और 'विषकर्तृक हनन' रूप से उस निमित्त का अध्यवसान भी है। यही नहीं, किन्तु 'मुखचन्द्र' आदि प्रसिद्ध रूपकों में भी वैसी ही स्थिति है—अर्थात् 'आह्लादकरव' रूप निमित्त अनुपात है और निमित्तरूप से अभिमत मुखरत 'आह्लादकरव' चन्द्रगत 'आह्लादकरव' रूप से अध्यवसित है, अन्यथा साधारणता के अभाव में यह निमित्त ही नहीं हो सकता। अतः उन प्रसिद्ध रूपकों को भी अनुपातविषय तथा अध्यवसान-मूलक मानना पड़ेगा, जो आपको भी हुए नहीं, किसी का अभिमत नहीं। अतः यह मानना चाहिए कि 'लिम्पतीव—' इत्यादि में निमित्त अंश में अध्यवसान हुआ है अतः उस अंश में अतिशयोक्ति अलङ्कार है और उस अतिशयोक्ति द्वारा निमित्त तैयार होने पर तन्निमित्तक अन्धकार में लेपनकर्तृत्व की भेदसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा होती है। यह तो हुई धर्मोपदेश की बात। अब हेतूप्रेक्षा को लीजिए। 'उन्मेष यो मम न सद्गते—' इस हेतूप्रेक्षोदाहरण में भी 'कमलशोभा (कमलशोभा)' ही उत्प्रेक्षा का विषय है और उसमें 'चिपटने के हेतु' रूप से 'हर्ष' रूप विषयी की उत्प्रेक्षा होती है। इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है 'पैरों के साथ शोभा के स्वामाश्रित सम्बन्ध (चिपटने)' से व्यत्यसित 'हर्ष' के कारण चिपटना। हेतूप्रेक्षा का एक और प्रसिद्ध उदाहरण देखिए—'सैया रखी—' लका से छोटते हुए रामचन्द्रजी सीता से कह रहे हैं—यह यही अकृत्रिम भूमि है, जहाँ तुम्हें बैठते हुए मीने, पृथिवी पर गिरा हुआ तेरा एक नूपुर देखा या, जो मानो तेरे चरण कमल के विद्योत के दुख से मौन साधे था—एकदम चुप हो रहा था। वहाँ भी मौन के हेतुरूप से नूपुर में विद्योत-जन्म दुख की उत्प्रेक्षा की जा रही है। तात्पर्य यह कि—यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है 'नूपुर' और विषयी है 'विद्योतजन्म दुख'। इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है 'निश्चलता के कारण शब्दरहित होने' में तादात्म्येन व्यत्यसित 'मौन'। अभिप्राय यह कि 'दुःखहेतुक मौन'—जो यहाँ उक्त है—वही निमित्त है, पर निमित्त बनाने के लिये उसका निश्चलताहेतुक मौन में तादात्म्यारोप किया गया है। कारण,

इस तरह एकरूप माना हुआ मौन ही वियोगजन्य दुःख के साथ रहते हुए नृपूर में रहनेवाला होता है। इस तरह यह उल्लेख भी भेदसंबन्ध से ही होती है। प्राचीनों ने जो यहाँ निश्चलता के कारण होनेवाले सन्दराहित्यरूप विषय में वियोगजन्य दुःख के कारण होनेवाले 'मौन' की अभेदसंबन्ध से उल्लेख सिद्ध की है वह कथमपि उचित नहीं, क्योंकि एक तो, उल्लेख में 'इव' शब्द का अन्वय जिसके साथ हो उसी की उल्लेख होती है यह एक नियमसिद्ध बात है और यहाँ 'इव' शब्द का अन्वय 'कुक्ष' के साथ ही है। दूसरे, जब विषय (आपके हिसाब से निश्चलता के कारण होनेवाली निःशब्दता) को निर्गीर्ण मानते हैं तब विषयी (आपके हिसाब से वियोगजन्य दुःख के कारण होनेवाला मौन) विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होना अनुभव-विरुद्ध है। तीसरे, ऐसी स्थिति में अन्य किसी निमित्त को हूँदना पड़ेगा। यद्यपि यहाँ एक धर्म ऐसा है जो प्राचीनमतसिद्ध उल्लेख के विषय तथा विषयी दोनों में रहनेवाला है और वह है 'एक काल में उत्पन्न होना' (यह धर्म निश्चलताहेतुक मौन और वियोग-दुःखहेतुक मौन दोनों में है—अर्थात् वे दोनों ही 'मौन' एक काल में उत्पन्न हुए हैं) अतः इसी धर्मको उक्त अभेदेन उल्लेख का निमित्त मान लिया जाय ऐसा कहा जा सकता है, तथापि ऐसा कहना सगत नहीं होगा, क्योंकि जैसे उपमास्थल में इसी साधारणधर्म को उपमाप्रयोजक (साधक) माना जाता है जो चमत्कारी हो उसी तरह उल्लेखस्थल में भी उसी साधारणधर्म को उल्लेख-साधक माना जाता चाहिए जो चमत्कारी हो और उक्त साधारणधर्म चमत्कारी है नहीं, अतः वह उल्लेख का निमित्त नहीं हो सकता। इसी तरह फलोल्लेख में भी समक्षिप्-अर्थात् वहाँ भेदसंबन्ध से ही उल्लेख होती है, अभेदसंबन्ध से नहीं। इस आलोचना से, द्रविदभेद (अप्यवदीक्षित) ने जो प्राचीनों के मत का अनुसरण करते हुए 'अथवा हेतुल्लेख, फलोल्लेख और धर्मो-ल्लेख के उदाहरणों में भी अभेदसंबन्ध से ही उल्लेख होती है' यह कहा है, वह भी परास्त हो जाता है।

पूर्वसूचितमर्वावा मतमुपस्थापयति—

अलङ्कारसर्वस्वकृता तावदुत्प्रेक्षाया लक्षणमित्यं निगदितम्—'विषयनिगद्यो-नाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽप्यवसायः। स च द्विविधः—सिद्धः, साध्यश्च। तत्र साध्यत्वप्रतिपत्तौ व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति।' अस्यार्थः—सिद्धत्वं निर्गीर्ण-विषयत्वम्। साध्यत्वं च निर्गीर्यमाणविषयत्वम्। यत्र हि सिद्धत्वं तत्राध्यव-सितप्राधान्यम्—यथाऽतिशयोक्त्यादौ। यत्र साध्यत्वं तत्र व्यापारस्याध्यवसान-क्रियायाः प्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति। एवमभेदगर्भमुत्प्रेक्षालक्षणं विधाय—“‘सैषा स्थली यत्र’ इत्यत्र नृपूरगतस्य मौनित्वस्य हेतुत्वेन दुःखं गुण उत्प्रेक्ष्यते। तत्र मौनित्वमेव नृपूरगतनि शब्दत्वाभेदेनाध्यवसितं निमित्तम्।” इत्युक्तम्। एवं ‘यत्र धर्म एव धर्मिगतत्वे’ इत्यादिना धर्मोत्प्रेक्षाप्रसङ्गे “‘लम्पतीव तमोऽङ्गानि’ इत्यत्र लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षणे व्यापनादि निमित्तम्।” इत्युक्तम्।

तत्रेति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। एवमप्येऽपि। व्यापारप्राधान्ये इति। अध्यवसानक्रिया-प्रधानतायामित्यर्थः। सर्वस्वकारोक्तस्यार्थं प्रत्यक्षार आह—अस्यार्थ इति। निर्गीर्णविष-यत्वमिति। निर्गीर्णो विषयो यत्र तद्भाव इत्यर्थः। निर्गीर्यमाणविषयत्वमिति। निर्गीर्यमाणो, न तु निर्गीर्णः, विषयो यत्र तद्भाव इत्यर्थः। अध्यवसितप्राधान्यमिति। विषयिणः प्राधान्य-मित्यर्थः। अभेदगर्भमिति। द्वयोरवयोरलङ्घ्योर्भेदेऽपि अध्यवसानम् उभयत्र परितृहीतम्। अध्यवसानप्रदार्पणं नाभेदप्रतिपत्तिस्तुप्रविष्टा, 'विषयनिगद्योनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽ-प्यवसायः' इति प्राणुकत्वात्, अत एवोत्प्रेक्षालक्षणमभेदगर्भमिति भावः। नृपूरगतस्य

मौनित्वस्य हेतुत्वेनेति । नूपुरवृत्तिमौनहेतुत्वेनेत्यर्थः । तत्र तु खगुणोत्प्रेक्षायाम् । मौनित्वमेवेति । तु खहेतुकमौनित्वमित्यर्थः । निशब्दत्वेति । निश्चलत्वहेतुकिं शब्दत्वेत्यर्थः । 'लेपनक्रियेति । अन्धकारादावित्यादि' । व्यापनादिति । अन्धकारकर्तृकव्यापनादीत्यर्थः । अन्यत् स्पष्टम् ।

अथ आधुनिकों का मत उपस्थित किया जाता है—अलङ्कारसर्वस्वकृता इत्यादि । अलङ्कारसर्वस्वकार ने, प्रथमतः, उत्प्रेक्षा का लक्षण इस प्रकार बनाया है—'विषयी द्वारा विषय का निगारण हो जाने (अन्तःप्रविष्ट कर लेने) के कारण जो विषयी का विषय के साथ अभेद (अभिन्नता=एकरूपता) प्राप्त होता है—उसीको अध्यवसाय (एक प्रकार का विषयी का विषय में आरोप) कहा जाता है । वह अध्यवसाय (अभ्यवसान) दो प्रकार का है—एक सिद्ध और दूसरा साध्य । उन दोनों में से जहाँ अभ्यवसान की साध्यता प्रतीत होती हो—वह सिद्ध नहीं हुआ हो, किन्तु सिद्ध हो रहा प्रतीत होता हो—और व्यापार (अभ्यवसान क्रिया) की प्रधानता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।' इसका अर्थ यह हुआ कि—विषय के निगारण हो चुकने (विषयी-द्वारा विषय के कुक्षिरथ कर चुकने) का नाम अभ्यवसान का सिद्ध हो जाना है—अर्थात् जहाँ विषयवाचक शब्द पृथक् उक्त न हो वहाँ अभ्यवसान 'सिद्ध हुआ' समझा जाता है । और विषय के निगारण होते रहने का नाम अभ्यवसान का 'साध्य होना' है—अर्थात् जहाँ, विषयवाचक शब्द पृथक् उक्त तो हो पर उस (विषय) की स्थिति सुष्ट न हो, किन्तु विषयी में विछीन होती-सी हो वहाँ अभ्यवसान 'साध्य' समझा जाता है । इन दोनों में से जहाँ अभ्यवसान 'सिद्ध' रहता है वहाँ अभ्यवसित—अर्थात् विषय को कुक्षिरथ कर चुके विषयी—की प्रधानता होती है, जैसे—'अविश्वामोक्ति' आदि में । और जहाँ अभ्यवसान सिद्ध नहीं, साध्य हो—अर्थात् सिद्ध हो ही रहा हो वहाँ विषय को कुक्षिरथ करने की क्रिया की प्रधानता होती है—अर्थात् वहाँ विषयवाचक पद के पृथक् उक्त रहने पर भी विषय विषयी में प्रविष्ट होता दिखाई पड़ता है, ऐसी जगह उत्प्रेक्षा होती है । इस तरह, जिसके अन्दर अभेद आया हुआ है (अभ्यवसान पदार्थ के पेट में अभेद का निवेश है और अभ्यवसान पदार्थ उत्प्रेक्षा के लक्षण में प्रविष्ट है) ऐसा उत्प्रेक्षा का लक्षण बनाकर—अर्थात् उत्प्रेक्षा केवल अभेदसम्बन्ध से ही होती है, यह मानकर, पीछे से, कहा है कि—'सैषा रथली पन्न'—इस पूर्वोक्त पद्य में, नूपुर में रहने वाले मौन (नि शब्दत्व) के कारण रूप में तुल्यरूप गुण की उत्प्रेक्षा की जाती है । इस उत्प्रेक्षा में निमित्त है वह 'मौनीपन्न' जिसमें निश्चलता के कारण नूपुर में रहनेवाली निःशब्दता के अभेद का अभ्यवसान है । इसी तरह 'जहाँ धर्म ही धर्मों में रहने वाले के रूप में—' इत्यादि से आरम्भ करके 'धर्मोत्प्रेक्षा' के प्रसङ्ग में कहा है कि—'लिम्पतीव'—इस पद्य में लेपनक्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है और उसमें 'व्यापन-व्याप्त होना' आदि निमित्त है ।

उक्तमलङ्कारसर्वस्वकारमतमालोचयति—

तदेतत्सर्वं परस्परविरुद्धम् । नहि तु खगुणोत्प्रेक्षायामभेदगर्भोऽध्यवसायोऽस्ति । मौनाशे सन्नप्यध्यवसायः सिद्धत्वादतिशयोक्तरेव विषयो भवितुमर्हति, नोत्प्रेक्षायाम् । त्वन्मते मौनस्य निमित्तत्वेनानुत्प्रेक्ष्यत्वाच्च । एवं 'लिम्पतीव' इत्यत्र लेपनाध्यवसायोऽपि । तस्यापि व्यापनरूपतया स्थितस्य त्वया कर्तृत्वोत्प्रेक्षानिमित्तत्वेनोक्तत्वाच्च । 'व्यापनादी तूत्प्रेक्षाविषये निमित्तमन्यदन्वेष्ट्यं स्यात्' इति त्वयैव बाधकोपन्यासात् । निमित्ताशाध्यवसान तूपमादावपि स्थितम् । किञ्च, 'नूनं मुखं चन्द्र' इत्यादौ कुत्राप्यध्यवसायः, विषयस्य जागरूकत्वात् । न च सिद्धेऽध्यवसाये विषयस्य जठरवर्तित्वम्, साध्ये तु निगीर्य-

माणत्वात्पृथगुपलब्धिरिति वाच्यम्, साध्याध्यवसाये मानाभावात् । अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसायगर्भत्वापत्तेः । किञ्च, अध्यवसानं लक्षणाभेदः । न चात्र विधेयांशे लक्षणास्ति । अभेदादिसंस्मृतिराहार्यबोधस्यैव स्वीकारात् । तस्मात्प्राचीनानामाधुनिकानां चोक्तयो न क्षोदक्षमाः ।

तदेतदिति । पूर्वोक्तमलङ्कारमर्बस्वकारमतमित्यर्थः । परस्परविरोधत्वमेव स्फुटयति—
नहोत्यादिना । 'सैया स्यली—' इत्यत्रत्यं सर्वस्वकारकृतं विचारं परीक्ष्य सम्प्रति 'लिरूपतीव—'
इत्यत्रत्यं तद्विचारं परीक्षते—एवम् इत्यादि । लेपनाध्यवसायोऽपीति । अत्र सिद्धत्वा-
दित्याद्यर्हतीत्यन्तानुपपन्न । प्राम्बदाह—तस्यापीति । ननु मया तथोक्तमपि नेदं खण्डित-
मित्युपलक्षणत्वेनोक्तमत आह—व्यापनादाविति । इदमन्यथापि दृष्टमित्याह—निमित्ता-
द्येति । परस्परविरोधमुपपाद्य तदुक्त्यामुपप्रेक्षायांमध्यवसानस्थितिमेव निरस्यति—किञ्चेति ।
अन्यथेति । पृथक्विषयवाचकपदोपलब्धावपि अध्यवसानस्वीकारे इत्यर्थः । पुनस्तामैव
युक्त्यन्तरेण स्पष्टयति—किञ्चेति । लक्षणाभेद इति । सारोपा साध्यवसाना चेति भेद-
करणादिति भावः । अत्र उपप्रेक्षायाम् । उपसंहारति—तस्मादिति । क्षोदक्षमा इति ।
विचारसहा इति भावः । सर्वस्वरूपा स्वकीयोत्प्रेक्षालक्षणेऽभेदगर्भाध्यवसायो निवेशितः,
सदाहरणस्येन न 'सैया स्यली—' इति पद्यमुक्त्वा 'नूपुरे दुःखगुणोत्प्रेक्षाऽत्र' इति व्याख्या-
तम् । तत्र परस्परविरोधि वचः, सैया स्यलीत्यत्रत्योत्प्रेक्षाविषयविषयिणोर्नूपुरदुःखगुणयो-
रभेदगर्भाध्यवसायाभावात् । यद्यपि मौनशोऽभेदगर्भाध्यवसायो वर्तते, 'मौनिकमेव
नूपुरगतनिराश्रयत्वाभेदेनाध्यवसित निमित्तम्' इति स्वीकारात्, तथापि निमित्ताद्ये सं,
नोत्प्रेक्षया, निमित्ताशमताध्यवसायमादाव च न तदुक्तलक्षणसञ्जातिः । किञ्च निमित्तारो
वर्तमानोऽध्यवसायः तदुक्तपरिभाषानुसारं सिद्ध एव, न साध्य इति सौऽतिशयोक्ते-
र्विषयः स्यात्, नोत्प्रेक्षया, साध्याध्यवसायस्येवोत्प्रेक्षाकुशौ तेन प्रवेशितत्वात् । एवं
'लिरूपतीव—' इत्यस्योत्प्रेक्षोदाहरणत्वमपि तदुक्तं स्वोक्तिविरोधम्, तत्रापि विषयविष-
यिणोरतनोलोपनकर्तृत्वशोऽभेदाध्यवसायविरहात् । निमित्तभूतव्यापने तत्रापि लेपनाध्यव-
साय पूर्ववत् सिद्धत्वादतिशयोक्तेर्विषयो, नोत्प्रेक्षया, तत्र निमित्तता स्वीकृतता सैनोत्प्रे-
क्षता स्वीकृतापि नेति किं तत्राध्यवसायेन स्थितेनापि फलम् । तत्र निमित्तता स्वीकृत-
ताऽपि मयोत्प्रेक्षया न खण्डिता, एवञ्च तदंश एवोत्प्रेक्षयाऽपि ममाभिमतोति तु वक्तुम-
शक्यम्, 'व्यापनादौ उपप्रेक्षाविषयतया स्वोक्तियमात्रे निमित्तान्तरं गवेषणीयं स्यात्' इति
वदता त्वया तदंशो उत्प्रेक्षयाया वापरस्य स्वयमुपन्यासात् । निमित्ताशमताध्यवसान-
मादायालङ्कारस्याध्यवसानमूलकत्वाद्वाहीकारे उपमादेरपि तदङ्गीकरणोपे स्यात्, तत्रापि
निमित्ताशोऽध्यवसानस्य सत्त्वात्, 'मुख चन्द्र इवाङ्गादयति' इत्यादौ चन्द्रगतस्य मुख-
गतस्य चाङ्गादयति मिथो मित्रत्वेपि अभेदाध्यवसायोत्तरमेव निमित्तत्वसम्भवात् ।
ननु धर्मिस्वरूपोत्प्रेक्षास्यलोऽभेदगर्भाध्यवसायः स्पष्ट इति चेत्, 'नूनं मुख चन्द्रः' इत्यादौ
विषयस्य मुखादेरस्त्वोत्प्रेक्षास्यगन्धस्यापि स्वीकर्तुमशक्यत्वात् । सिद्धेऽध्यवसाये विष-
यिजडनिजीनतया विषयस्योत्प्रेक्षाभावेऽपि साध्येऽध्यवसाये निर्गौर्यमाणादारापक्षस्य
विषयस्य पृथगुल्लेखो नास्त्यत इत्यपि न, साध्याध्यवसानसत्त्वे प्रमाणविरहात् । विषयस्य
पृथगुपलब्धावपि साध्याध्यवसानस्वीकारे रूपकाशङ्कारस्यापि अध्यवसानगर्भतापत्तेः ।
किञ्चाध्यवसानं लक्षणाप्रभेदाज्जातिरिच्यते लक्षणा च 'मुखं चन्द्रो नूनम्' इत्यादौ, चन्द्र-
रूपविधेयाशो नास्तीत्युं योग्या 'न विधौ परं शब्दार्थः' इत्यभिप्रायवत्या विधेयाशे तस्या

असम्भवात् । कथं तर्हि तत्रान्वयबोध इति चेत् ? अभेदादिसम्बन्धैराहार्यबोध इति बोध्यम् । इत्यत्र प्राचामर्वाद्या च कपनानि विचारनिष्पत्तौ शायामसङ्गतान्देव सम्पद्यन्त इति भावः ।

अर्वाचीनों के मत पर विचार किया जाता है—तदेवत् इत्यादि । अर्वाचीनों (अलङ्कारसर्वस्वकारादिकों) की उक्त सभी बातें परस्परविरुद्ध हैं । कारण, उन्होंने अभेदगर्भ उत्प्रेषालक्षण बनाया है—अर्थात् अभेदसम्बन्ध से सर्वत्र उत्प्रेषा मानी है और उदाहरण दिया है—‘सैया स्थली’—यह पद्य और कहा है कि ‘यहाँ दुःखगुण की उत्प्रेषा नूपुर में होती है ।’ यह उदाहरण लक्षण के हिसाब से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि दुःखगुण की उत्प्रेषा में जिसके गर्भ में अभेद हो ऐसा अभ्यवसान नहीं है । हाँ, ‘मौन’ अंश में अभ्यवसान अवश्य है, क्योंकि ‘निवृत्तता के कारण होनेवाले’ शब्दराहित्य को ‘मौनत्व-मौनीपन’ का अन्तःप्रविष्ट समझकर अभेद मान लिया गया है, परन्तु वह अभ्यवसान सिद्धरूप है, अतः अतिशयोक्ति का विषय हो सकता है, उत्प्रेषा का नहीं, क्योंकि उत्प्रेषा का विषय साध अभ्यवसान होता है । और आपके मत में ‘मौन’ को उत्प्रेषा का निमित्त माना गया है, अतः आपके मत में उसकी उत्प्रेषा मानी भी नहीं जा सकती । इसी तरह ‘छिपतीव’—इस पद्य में है जो आपने जगन्नाथ में लेपनकर्तृत्व धर्म की उत्प्रेषा कही है वह भी अभेदगर्भ अभ्यवसायवर्धित लक्षण से विरुद्ध है, क्योंकि यहाँ भी अभेदगर्भ अभ्यवसान नहीं है । लेपन में व्यापन का अभ्यवसान यदि है भी तो वह सिद्धरूप होने के कारण एक तो पूर्ववत् अतिशयोक्ति का लक्षण होगा, उत्प्रेषा का नहीं, दूसरे आपने उसे यहाँ की उक्त उत्प्रेषा का निमित्त माना है, फिर उस अंश में अभ्यवसान के रहने ही से क्या ? आप उस अंश की उत्प्रेषा मान नहीं सकते । आप कहेंगे—‘छिपतीव’ में लेपनक्रियाकर्तृत्व की उत्प्रेषा का निमित्त व्यापन आदि होता है’ इत्यादि तो मैंने कहा है और उसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि ‘कर्तृत्व की उत्प्रेषा मानने पर उक्त व्यापनादि निमित्त हो सकता है’ इससे यह तो सिद्ध होता नहीं कि मैं व्यापन में लेपन की उत्प्रेषा नहीं मानता, अतः यदि कहा जाय कि मैं वैसा ही मानता हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि—आप वैसा कह ही नहीं सकते, क्योंकि आपने स्वयं कहा है कि—व्यापन को यदि उत्प्रेषा का विषय फलतः लेपन को विषयी माना जाय तब किसी अभ्यवसान निमित्त की खोज करनी पड़ेगी । साथ ही यह कि जब आप ‘व्यापन में लेपन की उत्प्रेषा है’ इस पद्य की बाधिका युक्ति स्वयं दे चुके हैं तब आप उसी पद्य को कैसे मान सकते हैं । निमित्तभागागत अभ्यवसान को लेकर अलङ्कार में अभ्यवसानमूलकारण व्यवहार तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि उपमादि अलङ्कार-स्थल में भी निमित्तभागागत अभ्यवसान रहता है और फिर भी उन अलङ्कारों को दूसरों के साथ आप भी अभ्यवसानमूलक नहीं मानते । अन्य उत्प्रेषाओं को छोड़िये । धर्मस्वरूपोत्प्रेषा में प्रायः आपके सबसे अधिक अभ्यवसान का ग्रन्थ आता है, अतः आइये, उसी पर विचार कर लिया जाय । ‘नून मुखचन्द्रः—मुख मानो चन्द्र है’ इस उत्प्रेषा में भी अभ्यवसान कहाँ है ? क्योंकि यहाँ विषय (मुख) जीता जायता उपस्थित है—बहु जगत् तक विषयी द्वारा निर्गोण न हो तब तक अभ्यवसान कैसे माना जा सकता है ? आप कहेंगे—जहाँ अभ्यवसान सिद्धरूप रहता है वहाँ विषय विषयी द्वारा निर्गोण हो गया रहता है—अर्थात् विषयी से पृथक् विषय उपलब्ध नहीं होता, पर साध्य अभ्यवसान में तो विषयी से पृथक् विषय की उपलब्धि होती ही है, फिर आप विषय से पृथक् विषय की उपलब्धि होने से अभ्यवसान का अस्वीकार क्यों करते हैं तो इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि साध्य अभ्यवसान को ही मैं नहीं मानता, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि इस तरह से विषयी से पृथक् विषय की उपलब्धि होने पर भी साध्य अभ्यवसान माना जाय तब रूपक आदि अलङ्कार भी

अध्यवसानगर्भं माने जाने लगेंगे। उद्येष्टा में अध्यवसान नहीं रहता इस बात को गुप्त करनेवाली एक तीसरी युक्ति यह भी है कि 'अध्यवसान' लक्षणा का एक प्रमेद है, क्योंकि 'सारोपा', 'साध्यवसाना' ये सब लक्षणा के ही प्रमेद कहे गये हैं। अथ सोचिए कि उद्येष्ट्य विधेय अंश में लक्षणा यहाँ है? कहना पड़ेगा कि 'नहीं', क्योंकि 'विधेयांश में लक्षणा नहीं होती' ऐसा सिद्धान्त है। आप कहेंगे—लक्षणा के बिना 'मुख मानो चन्द्र है' इत्यादि स्थल ॥ वाक्यबोध हो कैसे सकता है तो इसका उत्तर यह है कि—अभेद आदि सन्दर्भों से आहार्य (बाधित होने पर भी इच्छाजन्य) बोध ही यहाँ माना जाता है जो लक्षणा के बिना भी हो ही सकता है। इस तरह उपसहार में कहना यह है कि—प्राचीनों तथा आधुनिकों दोनों ही की उक्तियाँ आलोचना की कसौटी पर कसने से गरी नहीं उतरती हैं।

प्राचीनानामाधुनिकानाञ्च मतान्युपपाद्य सामान्यतः समालोच्य च सम्प्रति तद्विषये स्वसम्मतं निष्कर्षमाह—

एवं प्राप्ते धूमः—तत्र तावद्धर्म्युत्प्रेक्षानिष्कर्षः प्राचीनमतपरीक्षावसरे कृत एव । हेतुप्रेक्षायां पञ्चम्यर्थो हेतुः, अभेदश्च प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्ग इति पक्षे विरलेषदुःखाभिन्नहेतुः पञ्चम्यन्तार्थः । तस्य च प्रयोज्यतासंसर्गोत्प्रेक्षणमिवाविना बोध्यते । प्रयोज्यत्व पञ्चम्यर्थ इति दर्शने निरूपितत्वं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः संसर्गः । आश्रयतासंसर्गोत्प्रेक्षणम् । उभयथापि पञ्चम्यर्थ एवोत्प्रेद्यः, तेनैवेवाधार्यान्वयात् । उत्प्रेद्यतावच्छेदकसंबन्धेनोत्प्रेद्यसमानाधिकरणश्च धर्मोऽतिशयोक्त्या मौनानिर्भवेनाध्यवसितनिश्चलत्वादिनिमित्तम् । बद्धमौनं च विषयः । मौनद्वारक च बद्धमौनस्य प्रयोज्यत्वं संभाव्यते । एवं प्रयोज्यधर्मके धर्मिणि सर्वत्रापि धर्मद्वारक एव पञ्चम्यर्थान्वयः । यत्र तु धर्म एव किञ्चिद्धर्मानिर्भवेनाध्यवसितः साक्षाद्विषयस्तत्र विषयतावच्छेदकधर्मो निमित्तम् । यथा तत्रैव 'विरलेषदुःखादिष मौनमस्य' इति निर्माणे मौनत्वम् । एवं वृत्तीयार्थेऽपि बोध्यम् ।

एवं प्राप्ते इति । प्राचीनाधुनिकोक्तीनां श्लोदक्षमत्वाभावे प्राप्ते इत्यर्थः । 'धूमः' इति क्रियायां बद्धशानपदार्थममूहं कर्म, अस्तमर्त्यभूता ग्रन्थकाराश्च कर्तृभूताः । तत्र उत्प्रेक्षानिष्कर्षमप्ये तावत् आदौ । परीतेति । विचारेत्यर्थः । कृत एवेति । धर्मिरवरूपोत्प्रेक्षालक्षणेऽभेदसंबन्धेनोत्प्रेक्षा भवतीति सर्वमतसिद्धं सिद्धान्त इति भावः । इदमुपलक्षणम् । गुणक्रियाभेदेन द्विविधधर्मस्वरूपोत्प्रेक्षयोर्मध्ये गुणात्मकधर्मोत्प्रेक्षोपाहरणे 'अस्या मुनीनामपि मोहमूहे' इत्यादी भेदसंबन्धेनोत्प्रेक्षेत्यपि निष्कर्षस्तत्र कृत एव । अवशिष्टायां किरारूपधर्मोत्प्रेक्षया यद्यपि महान् द्युतमेदस्तथापि तद्विषयेऽपि महता संस्मरणे 'लिम्बतीव' इत्यादौ प्रथमान्तार्थे विषये प्रकृतक्रियाकर्तृत्वस्य 'आश्रयता'-संबन्धेन, तिष्ठस्य कर्तुरगोदरावन्धेन चोत्प्रेक्षेति द्विविधौ निष्कर्षौ कृतावेव । अवशिष्टायां हेतुप्रेक्षया निष्कर्षं कुर्वन्नाह—हेतुप्रेक्षायामित्यादि । उभयथापीति । हेतोः पञ्चम्यर्थत्वे प्रयोज्यत्वस्य तत्रैवेत्यर्थः । पञ्चम्यर्थ एवेति । पञ्चमीप्रकृत्यर्थ एव व्यवच्छेद्यः । तत्र हेतुमाह—तेनैवेति । उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकसंबन्धेनेति । येन संबन्धेनोत्प्रेक्षा कियते स संबन्ध उत्प्रेक्षतावच्छेदक (प्रयोज्यता आश्रयता वा) तेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यसमानाधिकरण इति । उक्तसंबन्धेनोत्प्रेक्षस्य पदार्थस्य यदधिकरणं सत्र वर्तमान इत्यर्थः । निश्चलत्वादिति । निश्चलत्वनिमित्तकानि शब्दत्वादिरिति भावः । बद्धमौनं चेति । मौनविशिष्टं नूपुरमित्यर्थः ।

विषय इति । उत्प्रेक्षाया इति यावत् । ननु दुःखप्रयोज्यता वस्तुतो मौने, न बद्धमौने इति कथं तादृशप्रयोज्यताया आश्रयतासम्बन्धेन तत्र विषये सम्भावनमित्यत आह—मौनद्वारकं चेति । इयमुक्तिर्द्वितीयपक्षामिप्रायेण । प्रथमपक्षे प्रयोज्यतासम्बन्धेन दुःखामिग्रहेतोर्बद्धमौने सम्भावनमपि मौनद्वारकं बोध्यम् । फलितमाह—एवमिति । प्रयोज्यधर्मके इति । दुःखादियत्विधिहेतुप्रयोज्यो धर्मो यस्य तादृश इत्यर्थः । अयमत्र विशदोऽर्थः—‘विरलेप-दुःखादिबद्धमौनम्’ इत्यत्र “दुःखपदोत्तरपक्षमीविभक्तोर्यो हेतुः” प्रकृत्यर्थविभक्त्यर्थयोश्च सम्बन्धोऽभेदः” इति पक्षे विरलेपदुःखामिग्रहेतुरूपस्य पञ्चम्यन्तपदार्थस्य विषयिण ‘बद्धमौने’ (मौनविशिष्टे नूपुरे) विषये प्रयोज्यतासम्बन्धेनोत्प्रेक्षा । अस्या उत्प्रेक्षायां, प्रयोज्यता-सम्बन्धेनोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदकेन सम्बन्धेन दुःखामिग्रहेतुरूपस्योत्प्रेक्ष्यस्याधिकरणे मौनविशिष्टनूपुरे (मौनद्वारकं प्रयोज्यतासम्बन्धावच्छिन्नं तदधिकरणत्वं नूपुरे बोध्यम्) विद्यमानोऽति-शयोक्तिरूपेण मौनाभेदाध्यवसानेन विशिष्टो मिथ्यत्वहेतुस्त्वनि शब्दत्वात्मको धर्मो निमित्तं भवति । ‘दुःखपदोत्तरपक्षमीविभक्तेः’ प्रयोज्यत्वमर्थं निरूपितत्वं च प्रकृत्यर्थविभक्त्यर्थयो-सम्बन्धः इति पक्षे तु विरलेपदुःखानिरूपितप्रयोज्यत्वरूपस्य पञ्चम्यन्तपदार्थस्य विषयिणः मौनविशिष्टनूपुरात्मके विषये आश्रयतासम्बन्धेनोत्प्रेक्षा । अस्यामप्युत्प्रेक्षायां पूर्वोक्तरीत्या पूर्वोक्तमेव निमित्तं भवति । अत्रोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदक सम्बन्धः आश्रयतेति विशेषः । तेन सम्बन्धे-नोत्प्रेक्ष्यस्य निरूपितप्रयोज्यत्वस्याधिकरणता बद्धमौने (नूपुरे) पूर्ववदेव मौनद्वारिका बोद्धव्या । पक्षद्वयेऽपि तेन तेन उत्प्रेक्ष्यतापच्छेदकसम्बन्धेन तस्य तस्य उत्प्रेक्ष्यस्य स्थितिर्वस्तुतो मौनरूपधर्माद्य एवेति तेन तेन सम्बन्धेन तस्य तस्योत्प्रेक्ष्यस्य सम्भावनमपि यद्यपि तत्रै-वोचितं, न मौनविशिष्टे धर्मिणि, तथापि धर्मद्वारक धर्मिणि तत्सम्भावनमपि नानुचितम् । एवञ्च मौनरूपधर्मद्वारकं दुःखपदोत्तरपक्षमीविभक्त्यर्थस्य मौनरूपधर्मविशिष्टे नूपुरे धर्मिणि सम्बन्धो भवति । एतादृशे स्थले सर्वत्रैवैव गतिः । एतेन पक्षद्वयेऽपि पञ्चम्यन्तस्योत्प्रेक्ष्यता सिद्धा भवति, न प्रकृत्यर्थस्य । युक्तं चेत्, पञ्चम्यर्थे न सहैव ह्यवधार्यन्वयात् । इत्यथ ‘बद्धमौनम् (नूपुरम्) प्रयोज्यतासम्बन्धेन त्वचरणारविन्दवियोगजन्यदुःखामिग्र-हेतुप्रकारिकाया सम्भावनाया विषयः’ इति प्रथमपक्षे, ‘बद्धमौनम् (नूपुरम्) आश्र-यतासम्बन्धेन त्वचरणारविन्दवियोगजन्यदुःखानिरूपितप्रयोज्यत्वप्रकारिकाया सम्भावनाया विषयः’ इति च द्वितीयपक्षे बोधः पर्यवस्यतीति । धर्मिणो विषयत्वे उत्प्रेक्षणप्रकारमुक्तत्वा धर्मस्य विषयत्वे तत्प्रकारमाख्यातुमाह—यत्र तु इति । अयं भावः—‘विरलेपदुःखादिबद्धमौनस्य’ इत्यत्र मौनात्मके विषये, प्रयोज्यतासम्बन्धेन विरलेपदुःखामिग्रहेतुरूपस्य विषयिण, आश्रयतासम्बन्धेन विरलेपदुःखानिरूपितप्रयोज्यत्वरूपस्य विषयिणो वा उत्प्रेक्षा । अस्यां चोत्प्रेक्षायां प्रयोज्यत्वात्मकेनोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदकसम्बन्धेन ॥ खामिग्रहेतुरूपोत्प्रे-क्ष्यस्य, आश्रयतासम्बन्धेनोत्प्रेक्ष्यतापच्छेदकसम्बन्धेन दुःखानिरूपितप्रयोज्यत्वरूपोत्प्रेक्ष्यस्य वा अधिकरणे मौने वर्तमान मौनत्व निमित्तं भवति । अत्र सम्भावनेऽधिकरणत्वे वा न पूर्ववत् कस्यचिद्धारता समाश्रयणीया भवति, प्रयोज्यतासम्बन्धेन दुःखामिग्रहेतो आश्रयता-सम्बन्धेन दुःखानिरूपितप्रयोज्यत्वस्य वा मौने स्वत एव सत्त्वात् । इति पञ्चम्यन्तवाक्यगत-हेतुत्प्रेक्षास्थलीयमेना रीतिमन्यत्राप्यतिदिशति—एवमिति । तृतीयार्थेऽपीति । हेताविति शेषः । विरलेपदुःखेनैव बद्धमौनम्—(मौनस्य इति वा) इति वाक्ये हेतुत्वकृतृतीया-सत्त्वेऽपि पूर्वोक्तरीत्येनोत्प्रेक्षणादिकं ज्ञातव्यमिति यावत् ।

पहले प्राचीनों तथा आधुनिकों के मित्त-मिच्छ मर्तो का उपपादन किया गया, कि

उन मतों की सामान्यता आलोचना की गई, अब अपने मत के अनुसार निष्कर्ष लिया जाता है—एवं प्रायेः प्रमः इत्यादि। जब प्राचीनों तथा आधुनिकों-दोनों की उधियों विचार करने पर टिकने योग्य नहीं हुई, तब हम कहते हैं—उक्त उपप्रेषा-प्रभेदों में से 'धर्म्युपप्रेषा' का निष्कर्ष तो प्राचीनों के मत पर विचार करते समय कर ही दिया गया है—अर्थात् 'मुख मानो चन्द्र है' इत्यादि में अभेदसम्बन्ध से ही उपप्रेषा होती है—इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। [इसी तरह धर्मोपप्रेषा के दो प्रकार के उदाहरणों में से गुणरूप धर्म की उपप्रेषा के उदाहरण 'अस्यां मुनीनामपि मोहसूहे' आदि में भेद सम्बन्ध (समवाय आदि सम्बन्ध) से उपप्रेषा होने का सिद्धान्त भी स्थिर किया जा चुका है। क्रियारूप धर्मोपप्रेषा के उदाहरण 'लिम्पतीव—' आदि में विविध मतभेदों के रहने पर भी विशद साधार्थप्रक्रिया से यह सिद्ध किया जा चुका है कि यहाँ प्रथमान्त पदार्थ अन्धकार आदि में प्रकृत लेवन आदि क्रिया के 'कर्तृत्व' की 'आश्रयता'सम्बन्ध से, अथवा 'कता' (तिङ्य) की 'अभेद'सम्बन्ध से, उपप्रेषा मानना समुचित है।] हेतुप्रेषा में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ 'हेतु' होता है और प्रकृति (जिस शब्द से पञ्चमी की गई हो उस) के तथा प्रत्यय (पञ्चमी विभक्ति) के अर्थ का सम्बन्ध होता है 'अभेद'। यह एक पक्ष है। इस पक्ष में 'वियोगदुःखात्-वियोग-दुःख से' इस पञ्चम्यन्त पद का अर्थ होता है 'वियोगदुःख से अभिन्न हेतु'। इस अर्थ की 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से उपप्रेषा 'इव' आदि उपप्रेषावाचक पदों से बोधित होती है। 'प्रयोज्यता' पञ्चमी विभक्ति का अर्थ है यह दूसरा पक्ष है। इस पक्ष के हिसाब से प्रकृति तथा विभक्ति के अर्थ का सम्बन्ध होता है 'निरूपितत्व' और उपप्रेषा होती है 'आश्रयता'सम्बन्ध से। दोनों पक्षों में पञ्चमी के अर्थ की ही उपप्रेषा होती है, प्रकृति के अर्थ की नहीं, क्योंकि 'इव' आदि के अर्थ का अन्यत्र उसी से होता है। उस उपप्रेषा का निमित्त होता है वह निष्कलताहेतुक निःशब्दत्व आदि धर्म जो उपप्रेषतापच्छेदकसम्बन्ध—अर्थात् जिस सम्बन्ध से उपप्रेषा होती है उस=प्रयोज्यता अथवा आश्रयतासम्बन्ध—से उपप्रेष्य—अर्थात् दुःखामिन्न हेतु में अथवा दुःखनिरूपित प्रयोज्यता—के अधिकरण—मौनयुक्त नूपुर (यहाँ मौनयुक्त नूपुर 'मौन' द्वारा अधिकरण कहलाता है, स्वतः नहीं अर्थात् वस्तुतः अधिकरण 'मौन' है, पर उसके द्वारा मौनयुक्त नूपुर भी अधिकरण कहलाता है वह समझना चाहिए) में रहता है और जिसमें 'मौन' के अभेद का अति-शयोक्तिद्वारा आश्रयता हुआ है। और इस उपप्रेषा का विषय है 'मौनयुक्त' पदार्थ—अर्थात् नूपुर। तात्पर्य यह हुआ कि 'विरलेषदुःखादिव यद्मौनम्' में एक पक्ष के हिसाब से 'मौनयुक्त' नूपुररूप विषय में 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से 'विरलेषदुःखाभिन्नहेतु'रूप विषयी की और दूसरे पक्ष के हिसाब से उक्त विषय में ही 'आश्रयता'सम्बन्ध से 'विरलेषदुःखनिरूपित प्रयोज्यत्व'रूप विषयी की उपप्रेषा होती है। यदि कोई कहे कि—यह रीति तो ठीक नहीं है, क्योंकि विरलेषदुःखरूप हेतु से प्रयोज्य (साध्य) वस्तुतः मौन (शब्दरहित होना) है, मौनयुक्त पदार्थ नहीं, अतः प्रयोज्यतासम्बन्ध से उक्त दुःखाभिन्न हेतु की उपप्रेषा (समावृत्ति) मौन में की जा सकती है, मौनयुक्त में नहीं, इसी तरह विरलेषदुःखनिरूपित प्रयोज्यता का वस्तुतः आश्रय मौन ही है, मौनयुक्त नहीं, अतः आश्रयतासम्बन्ध से उक्त प्रयोज्यता की भी उपप्रेषा मौन में ही हो सकती है, तो मैं बूझूंगा कि कथन भाषका ठीक है, पर मौनरूप धर्म द्वारा मौनयुक्त धर्मों भी दुःखप्रयोज्य अथवा दुःखनिरूपित प्रयोज्यता का आश्रय होता है, अतः प्रयोज्यता-सम्बन्ध से दुःखरूप हेतु की अथवा आश्रयतासम्बन्ध से दुःखनिरूपित प्रयोज्यता की मौनयुक्त में उपप्रेषा की जा सकती है। सारांश यह कि—किसी पदार्थ से प्रयोज्य (साध्य) धर्मवाले धर्मों में पञ्चम्यर्थ का अन्यत्र धर्म द्वारा ही सर्वत्र होता है। अर्थात् जब 'चौराद् भीतः-चौर से डरा हुआ' इस तरह का वाक्य बोला जाता है तब 'चौर से'—

इस अंश का अन्वय 'मीत' के साथ होता है, पर उस अंश का अन्वय साक्षात् तो 'मीत' के साथ हो नहीं सकता, क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ वस्तुतः 'चौर से जो भय उससे युक्त' यह होता है—चौर, भय का कारण है, भययुक्त का नहीं, फिर अगर भाव-द्वारा उक्त अंश का अन्वय 'मीत' के साथ किया जाता है। उसी तरह यहाँ भी 'दुःख' के कारण मौनयुक्त इस वाक्य में 'दुःख' के कारण इस अंश का अन्वय 'मौनयुक्त' में मौन-द्वारा ही करना पड़ेगा। इस तरह 'विरलेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इस वाक्य का शब्दबोध—'मौनयुक्त पदार्थ—अर्थात् नूपुर, प्रयोज्यतासम्बन्ध से वियोगजन्य दुःख से अभिन्न हेतु की सम्भावना (तादृशहेतुप्रकारक सम्भावना) का, विषय (विशेष्य) है' यह होता है प्रथम पक्ष के अनुसार और द्वितीय पक्ष के अनुसार—उक्त वाक्य का शब्दबोध 'मौनयुक्त पदार्थ, आश्रयतासम्बन्ध से वियोगजन्यदुःख-निरूपित प्रयोज्यता की सम्भावना का, विषय है' यह होता है। अन्वय आदि करने में उक्त 'द्विविध-प्राणायाम', यहाँ करना पड़ता है जहाँ हेतुप्रेक्षा का विषय धर्मरूप (जैसे पूर्वोक्त 'मौनयुक्त') होता है। जहाँ धर्म ही किसी अन्य धर्म के भेदोपाधयवसान से युक्त होकर हेतुप्रेक्षा का विषय होता है वहाँ उक्त 'द्विविध-प्राणायाम' नहीं करना पड़ता। जैसे—उक्त वाक्य के स्थान पर 'विरलेषदुःखादिव मौनमस्य—अर्थात् वियोगजन्य दुःख के कारण, मानो, इसका मौन (निःशब्दता) है' इस तरह से वाक्य-निर्माण कर देने पर, 'मौन'-रूप विषय में, पक्षभेद से, 'वियोग-दुःखाभिन्न हेतु' की प्रयोज्यतासम्बन्ध से अथवा 'वियोग-दुःखनिरूपित प्रयोज्यता' की आश्रयतासम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानी जायगी और इस माय्यता के अनुसार, यहाँ, उक्त 'द्विविध-प्राणायाम' का अवसर नहीं आता, क्योंकि मौन, दुःख प्रयोज्य है ही—अर्थात् दुःख-साध्यता 'मौन' में साक्षात् ही है, अतः 'प्रयोज्यता' सम्बन्ध से साक्षात् ही दुःख का अन्वय मौन में होगा, किसी के द्वारा अन्वय करने का बखेड़ा यहाँ नहीं, इसी तरह दुःख-प्रयोज्यता का साक्षात् ही आश्रय जब मौन है तब आश्रयतासम्बन्ध से दुःख प्रयोज्यता का अन्वय मौन में करने के लिये भी किसी को द्वार बनाना आवश्यक नहीं होता, फलतः प्रयोज्यता अथवा आश्रयतासम्बन्ध से मौन-रूप विषय में भिन्न-भिन्न मत से भिन्नभिन्न उक्त पञ्चमर्थ की सम्भावना (उत्प्रेक्षा) करने में भी किसी को द्वार (जैसे पूर्व वाक्य में बनाना पड़ता है) नहीं बनाना पड़ता। यहाँ मौन जो विषय होता है, वह अध्यवसान द्वारा वि शब्दत्व से अभिन्न होकर ही, यह दिन कहे भी समझा जा सकता है। इस तरह की उत्प्रेक्षा में निमित्त होता है विषयतावच्छेदक (विषय में रहनेवाला) धर्म। जैसे—यहाँ उत्प्रेक्षा-विषय 'मौन' में रहनेवाला 'मौनत्व' धर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि यह 'मौनत्व' धर्म इसलिये उत्प्रेक्षा का निमित्त होता है क्योंकि वह, 'उत्प्रेक्ष्यतावच्छेदकत्वसम्बन्धेन उपप्रेक्ष्य-समानाधिकरण' है—अर्थात् प्रयोज्यतासम्बन्ध से दुःख के अथवा आश्रयतासम्बन्ध से दुःखनिरूपित प्रयोज्यता के अधिकरण—'मौन' में रहता है। ये ही सब बातें यहाँ भी समझनी चाहिएँ जहाँ हेतुप्रेक्षा में पञ्चमी के स्थान पर तृतीया विभक्ति आई हो। सारांश यह कि तृतीयाविभक्तिबोध्य हेतु की उत्प्रेक्षा के विषय में भी उक्त प्रकार की प्रक्रिया का ही अवलम्बन करना पड़ता है।

फलोत्प्रेक्षास्पर्शीय निर्वर्णमाह—

फलोत्प्रेक्षायां तुमुनादेरर्थः फलम् । प्राग्वत्प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोरभेदः संसर्गः । तच्च साधनताससर्गेणान्वेतीति तेनैव ससर्गेणोत्प्रेक्ष्यते, यत्र चोत्प्रेक्ष्यते—तदर्थे विशेषणतया भासमानो धर्मो निमित्तम् । स च धर्मिणि विषये अभिन्नत्वे-नाध्यवसितो धर्मः, तयामूले च धर्मे विषये तद्विशेषणीभूतोऽन्य इति विवेकः ।

तुमुनादेरिति । आदिपदेन चतुर्थीविभक्तिः परावृत्तते । प्राग्वदिति । पूर्वोक्तप्रथम-

पञ्चदित्यर्थः । तच्चेति । फलं चेत्यर्थः । तयामूने चेति । किञ्चिद्वर्माभिन्नत्वेनाप्यवसिते
चेत्यर्थः । तद्विशेषणीभूत इति । विषयतावच्छेदकधर्म इत्यर्थः । विवेको विभागः ।
'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' इत्यत्र फलोपेक्षा समुदाहृता । तत्र दृग्धावृत्तरवर्तिनस्तुमु-
न्प्रत्ययस्यार्थः फलम् । तस्मिन् तुमुन्प्रत्ययार्थे प्रकृत्यर्थस्य दर्शनस्याभेदेनान्वयः । तथा
च 'देशताभिन्नं फलम्' इति 'द्रष्टुम्' पदस्यार्थः । अस्यार्थस्य च 'साधनता (प्रयोज-
कता) सम्बन्धेन वनान्तपदार्थेऽन्वयो भविष्यतीति अतस्तेनैव सम्बन्धेन तत्रैव तस्य'
(फलस्य) उपेक्षापि भवति । यद्यपि ललाटाक्षरदर्शनरूपफलप्रयोजकता साक्षात्ललाट-
त्वग्विपाटन एव, न वनान्तेषु, तथा च प्रयोजकतासम्बन्धेन तत्रैव फलान्वयो युक्त-
स्तथापि ललाटत्वग्विपाटनस्य गुणीभूततया न तथान्वयः सम्भवति, एकदेशान्वयस्या-
स्योक्त्या, अतोऽप्यास्या ललाटत्वग्विपाटनद्वारा वनान्तेषु फलान्वयः प्रयोजकतासम्बन्धेन
विधेय एव । एतच्च प्रत्यक्षता प्राक् स्फुटीकृतम्, अप्रेक्षि स्फुटीकरिष्यतेऽनुपदम् । अस्या
षोडशोक्त्यामुपेक्षाविषयीभूतवनान्तविशेषणतया भासमान (वनान्तगतश्च) स्वाभाविक-
ललाटत्वग्विपाटनरूपो धर्मो ललाटाक्षरदर्शनफलकललाटत्वग्विपाटनाभिन्नत्वेनाप्यवसितो
निमित्तम् भवति । इत्युक्त्यात्रयस्य शाब्दबोधः — "ललाटत्वग्विपाटनानुसूक्त्यापारा-
ध्या वनान्ता, प्रयोजकतासम्बन्धेन ललाटाक्षरदर्शनाभिन्नफलप्रकारिकायाः सम्भावनाया
विषया." इत्याकारः पर्यवस्यति । यदि धर्मरूपो वनान्तपदार्थः उपेक्षाया विषयो न
भवेत्, अपि तु ललाटाक्षरदर्शनफलकत्वग्विपाटनाभिन्नत्वेनाप्यवसितं स्वाभाविक ललाट-
त्वग्विपाटनमेव धर्मरूप-मवेदुपेक्षाविषयः—अर्थात् यदि 'वनान्तैर्ललाटत्वग्विपाटनं
अक्षराणि द्रष्टुमिव' इतीदृश वाक्य स्यात् तदा प्रयोजकतासम्बन्धेन तादृशे धर्मात्मके
विषय एव अक्षरदर्शनरूपफलमुपेक्ष्येत, निमित्तं च तदा विषयविशेषणीभूत—अर्थात्
विषयतावच्छेदको ललाटत्वग्विपाटनत्वात्मको धर्म एव स्यादिति भावः ।

अथ फलोपेक्षाविषयक निष्कर्षं दिशताया जाता है—फलोपेक्षायां हृत्पादि ।
फलोपेक्षा में 'तुमुन्' प्रत्यय (के छिये) आदि का अर्थ 'फल' होता है । और हेतुपेक्षा
के प्रथम पक्ष की तरह प्रकृति (जिस घातु से 'तुमुन्' आदि प्रत्यय किए गए हों) तथा
प्रत्यय ('तुमुन्' आदि) के अर्थ (फल) का 'अभेद' संबंध होता है । और उस फल
(प्रकृत्यर्थ से अभिन्न प्रापयार्थ) का अन्वय ऐसी जगहों में 'प्रयोजकता'संबन्ध (साध-
नता'संबन्ध) से ललाटत्वग्विपाटन आदि रूप धर्म द्वारा वनान्त आदि धर्मों में होता
है, अतः ऐसी जगहों में 'फल' की उपेक्षा भी उसी सम्बन्ध से होती है । तात्पर्य यह
कि फलोपेक्षा सदा सर्वत्र 'साधनता' (प्रयोजकता) संबंध से ही होती है, पर कहीं
धर्मों में और कहीं धर्म में । जिस अंश में फल की उपेक्षा होती है उस विषयांश में
विशेषणरूप से भासित होने वाला धर्म उस फलोपेक्षा का निमित्त होता है । वह धर्म
भी जहाँ कोई धर्मोपेक्षा का विषय रहता है वहाँ विषयी में रहने वाले धर्म से अध्य-
वसान द्वारा अभिन्न होकर 'निमित्त' होता है और जहाँ अध्यवसान द्वारा किसी धर्म से
अभिन्न होकर कोई धर्म ही उपेक्षा का विषय होता है वहाँ विषय का विशेषणीभूत—
अर्थात् विषयता का अवच्छेदकीभूत—कोई दूसरा ही धर्म निमित्तरूप होता है । सारांश
यह कि—'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' यह जो फलोपेक्षा का उदाहरण पहले लिखा
जा चुका है वहाँ 'वनान्त' (वनप्रदेश)—जो धर्मोपेक्षा है—विषय है उसमें 'प्रयोजकता'-
(साधनता) संबंध से ललाटाक्षरदर्शनाभिन्न फल की उपेक्षा होती है । यद्यपि उक्त
फल का साक्षात् प्रयोजक वनान्त नहीं, 'ललाटत्वग्विपाटन' है, अतः उस फल का
अन्वय तथा उपेक्षा उस संबंध (प्रयोजकतासंबन्ध) से उसी में होना उचित है तथापि
वह (ललाटत्वग्विपाटन) एकदेश है—यौग्य है । अतः उसमें फल का अन्वय किंवा

उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकते इसीलिये यहाँ (ऐसे समी स्थलों पर) धर्म (उक्त विपादन) द्वारा धर्मों (वनान्त) में ही फल का अन्वय तथा उत्प्रेक्षा माननी पड़ती है यह रहस्य पहले भी ग्रन्थकार सूचित कर चुके हैं और अनुपद आगे भी सूचित करायेंगे। यहाँ की इस उत्प्रेक्षा में निमित्त होता है विषय (वनान्त) में रहने वाला स्वाभाविक ललाटत्वविपादन, (यह वनान्त में विशेषणरूप से भासित भी होता है), पर उक्त विपादनरूप धर्म निमित्त तब होता है, जब उसमें ललाटाक्षरदर्शनरूप फल साधक कतिपय ललाटत्वविपादन के अभेद का बध्यवसान मान लिया जाता है। इस तरह, उक्त वाक्य का शाब्दबोध 'ललाटत्वविपादनानुक्क व्यापार वाले वनप्रदेश प्रयोजकतासंबन्ध से की जानेवाली ललाटाक्षरदर्शनरूप फल की सम्भावना के विषय है' यह होता है। यदि बध्यवसान द्वारा ललाटाक्षरदर्शनफलक ललाटत्वविपादन से अभिन्न माना गया स्वाभाविक (कण्टकी होने के कारण स्वतः वनप्रदेश द्वारा होने वाला) ललाटत्वविपादन को ही उत्प्रेक्षा का विषय बना दिया जाय-अर्थात् 'वनान्तललाटत्वविपादनम् अक्षराणि द्रष्टुमिव (वनान्तों द्वारा ललाट की खचा का उद्देष्टा मानो, ललाट के अक्षरों को देखने के लिये हो रहा है)' इस तरह का वाक्य मानकर यदि ललाटत्वविपादनरूप विषय में ही ललाटाक्षरदर्शनरूप फल की उत्प्रेक्षा प्रयोजकतासंबन्ध से की जाय तब विषयताबद्धैक (उक्तललाटत्वविपादनरूप विषय में रहनेवाला) धर्म तादात विपादनरूप उत्प्रेक्षा का निमित्त होगा। ऐसे स्थलों में परम्परया अन्वय किंवा उत्प्रेक्षा करने का बखेदा नहीं होता यह ध्यान में रखना चाहिये।

इदानीं हेतुफलोत्प्रेक्षासाधारणं स्पष्टीकरणं कुरुते—

एवं च यत्र समासप्रत्ययगुणीभूते विषये हेतुफलान्वयो न साक्षात् सम्भवति तत्र प्रधान एव विषये तादृशविशेषणद्वारकप्रयोज्यत्वप्रयोजकत्वाभ्यां संसर्गाभ्यां हेतुफलयोरुत्प्रेक्षा बोध्या।

समावेति। समासप्रत्ययाभ्यां गुणीभूते इत्यर्थः। अत्र 'अयं भाव—समासादेः कारणात् अन्यपदस्य प्रत्ययस्य वाऽर्थो यत्र प्रधानं स्यात्' इति 'सरलायाः' सरलीकरणं कीदृशमिति विद्वैर्विवेचनीयम्। अयं भाव—'विरलेपदुःखारिष बद्धमौनम्' इत्यत्र वस्तुतः उत्प्रेक्षाया विषय मौनपदार्थः, परन्तु स बहुमोहिसमासान्तर्गततया गुणीभूतः। (अत्रैव 'बद्धमौनम्' इत्यस्य स्थाने 'मौनवत्, मौनी' इति वा कृते प्रत्ययप्रयुक्तगौणत्व बोध्यम्।) एष स्थितौ दुःखस्य प्रयोज्यतासम्बन्धेन तत्र (मौनपदार्थे) अन्यथा साक्षात् न सम्भवति, 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न पदार्थैकदेशेन' इति नियमात्, अतोऽत्र 'बद्धमौनम्' (मौनयुक्तं नूपुरम्) एवोत्प्रेक्षाया विषयो मन्तव्यः, तत्रैव च मौनद्वारा प्रयोज्यत्वसम्बन्धेन दुःखस्योत्प्रेक्षा बोध्या। एष 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि' इत्यत्र वस्तुतः उत्प्रेक्षाया विषय ललाटत्वविपादनपदार्थः परन्तु स गुक्तिप्रत्ययार्थाभ्यां गुणीकृतः (अत्रैव 'अक्षराणि द्रष्टुमिव विपादितभालत्वयो वनान्ताः' इत्येवकरणे समासप्रयुक्तं गौणत्व बोध्यम्) एवं स्थितौ अक्षरदर्शनरूपस्य फलस्य प्रयोजकतासम्बन्धेन तत्र साक्षादन्वयो न सम्भवति उक्तयुक्ते, अतः वनान्तपदार्थस्यैवोत्प्रेक्षाविषयत्वमास्थेयम्, तत्रैव च प्रयोजकतासम्बन्धेन ललाटत्वविपादनद्वारा दर्शनरूपफलस्योत्प्रेक्षा मन्तव्या। दिग्दर्शनमात्रमेतत्। सर्वत्रैवविपरिचितावेवविपरिच सरणिराश्रयणीया। इति।

अब सामान्यतः हेतुत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा दोनों के विषय में एक स्पष्टीकरण किया जाता है—एवं च इत्यादि। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—जहाँ वास्तविक उत्प्रेक्षाविषय समास तथा प्रत्ययद्वारा गौण हो गया हो, अतः हेतु तथा फल का उसके साथ साक्षात्

अन्वय न हो सकता हो (ईदृश अन्वय के न हो सकने में 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति, न पदार्थे-
कदेशेन—अर्थात् किसी पद का अर्थ किसी पद के पूरे अर्थ के साथ ही अन्वित होता है,
किसी पद के पूरे अर्थ के एक भाग से नहीं' इस नियम को कारण समझना चाहिये) ।
यहाँ प्रधान पदार्थ ही उल्लेख का विषय माना जाना चाहिये । और वस्तुतः
विषय की योग्यता रखनेवाले विशेषण को द्वार मानकर 'प्रयोज्यता' और 'प्रयोजकता'
संदर्भों से क्रमशः हेतु की तथा फल की उल्लेख समझनी चाहिये । तात्पर्य यह कि—
जैसे 'विरलेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इस हेतुल्लेख की जगह, उल्लेख का वास्तविक
विषय होने योग्य 'मौन' पदार्थ के बहुमीहि समासान्तगत हो जाने के कारण मौन ही
जाने से 'बद्धमौन' (मौनयुक्त) रूप प्रधान पदार्थ को ही विषय माना जाता है और
उसी में मौनद्वारा दुःख की उल्लेख 'प्रयोज्यता'सम्बन्ध से मानी जाती है, उसी तरह
'व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाचराणि' इस फलोल्लेख की जगह में भी उल्लेख का वास्तविक
विषय होने योग्य 'आलस्यविपाटन' पदार्थ के मुक्तिङ् प्रत्ययों के कारण मौन ही जाने
से प्रधान पदार्थ (वनप्रवेश) को ही विषय माना जाता है और उसी में उक्त वास्त-
विक विषय होने योग्य पदार्थ द्वारा प्रयोजकतासम्बन्ध से ललाटाचरदार्शनरूप फल
की उल्लेख मानी जाती है । उक्त हेतुल्लेखस्थल में 'बद्धमौनम्' की जगह 'मौनवत्'
अथवा 'मौनी' पद के रहने पर प्रत्यययुक्त मौनता होगी, इसी तरह उक्त फलोल्लेख-
स्थल में 'अचराणि द्रष्टुमिव विपारितआलस्यवचो वनान्ताः' ऐसे वाक्य के रहने पर
समासप्रयुक्त मौनता होगी यह समझना चाहिये । ऐसी स्थिति में सर्वत्र ऐसी रीति
से ही काम लेना चाहिये ।

आशङ्क्य समावृत्ते—

" यथापि विशेषणोऽपि यथाकथंचिद्धेतुफलयोरन्वयाद्विशेषणस्यापि विषयत्वमु-
चितम् । तथापि विषयविषयिणोर्द्वेयविधेयभावप्रत्ययस्यानुरोधादियं सरणि-
शश्रिता । यदि च तस्य नास्त्येवानुरोधस्तदा प्राचां दर्शनमेव रमणीयं स्यात् ।

" यथाकथंचिद्धेतुफलयोरेति । 'शिखी च्चस्तः', 'रव्यां च्चस्तः', 'नीलरूपवान् जातः'
इत्यादाविवेति भावः । तस्येति । तद्वैतैरस्यविधेयभावप्रत्ययस्येत्यर्थः । हेतुफलोरन्वये-
हेतुफलयोरन्वयः पदार्थकदेशतया शुभाभूतेषु धर्मेषु न सम्भवतीति धर्मद्वारा धर्मिणि
प्रधानेऽन्वयः करणीय इति बहुलं तदर्थचित्तरम्, 'शिखी च्चस्तः' इत्यादाविष एकदेशा-
न्वयस्यापि सम्भवेन परम्परया धर्मिण्यन्वयस्यायुक्तत्वात् । तथा च 'विरलेषदुःखादिव—'
'व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—' इत्यादौ मौनव्यपाटनादीनां धर्मान्नेवोद्देशाविषयत्वमुचितम्
इति शङ्कादकारणम्, उल्लेखस्थले विषयः (धर्मिण्युद्देशा भवति स पदार्थः) उद्देश्यो-
भवति विषयो (उल्लेख्यः पदार्थः) विषयो अवसीत्यनुभवसिद्धं भवति । अस्त्येवानुरोधस्त-
रक्ष उक्तस्थलेषु तदैव भवति यदा धर्मद्वाराकमन्वयमङ्गीकृत्य प्रधानत्वं धर्मि-
विषयत्वमङ्गीकृत्यते, धर्मिण्युद्देशाविषयत्वे स्वीकृते तदनुमबरता नैव भवेत्, यदा प्रधान-
स्यैव पदार्थस्य उद्देश्यताविधेयता वा भवतीति नियमः, धर्मस्तु तत्र न प्रधानः इति प्रागुप-
पादितम्—अर्थात् 'विरलेषदुःखात्—' 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिव—' इत्यादौ मौनव्यपाटना-
दीनां धर्मानामुद्देशाविषयत्वे स्वीकृत्यते तेषामुद्देश्यत्वसम्भवेनोद्देश्यत्वतापेक्षस्य विधे-
यत्वस्यापि हेतुफलोरन्वय-तदर्थानुरोधसम्भवेनोद्देश्यत्वस्थले निष्पन्नविधेयिणोर्द्वेयविधेयभाव-
स्यानुभवसिद्धस्य भङ्गापत्तिरिति तदनुरोधेन धर्मद्वाराकमन्वयमङ्गीकारेण प्रधानोभूतधर्मविषय-
त्वाङ्गीकारमार्गं स्वीकृत्य इति च समाधानद्वाराशयो बोध्यः । यदि उल्लेखस्थले विषय-
विषयिणोर्द्वेयविधेयभावप्रतीतेरनुरोधो न विधिन्येत तदा प्रागुपपादितेषु हेतुफलोरन्वयस्य-

सेषु प्राचीनोक्तरीत्या निश्चलचरनिमित्तकनिशब्दत्वादौ विरयेऽभेदेन विरलेषु हेतुक-
मौनादे, कष्टकञ्जविपाटनादौ विरयेऽपरदर्शनरत्नकमालचण्विपाटनादेधाभेदोपेक्षैव
किं न स्वीक्रियेत्, यतस्तत्त्वज्ञेऽपि अनुभवविज्ञोद्देशविषयभावमज्ञ एव प्रधानो दोष,
स चेदानीमपि स्वीक्रियत एवेति प्रोक्तसमाधानोपोद्बलशुद्धिपरगयाः 'यदि च...रमनीयं
स्यात्' इति पङ्क्तेरभिप्रायः ।

एक आशङ्का और उमका समाधान किया जाता है—यद्यपि इत्यादि । यद्यपि विवे-
चन में भी, किसी न किसी तरह, हेतु तथा फल का अन्वय हो जाने से विवेचन का
विषय होना उचित है—अर्थात् 'विरलेषु' इत्यात्— तथा 'व्यपाटयन् द्रष्टुमिदं—'
इत्यादि स्थानों में, धर्मों (मौन तथा विपाटन) में हेतु तथा फल (द्रष्टुं एव दर्शनं)
का अन्वय गौण होने के कारण नहीं हो सकता, अतः धर्मद्वारा धर्मियों (मौनयुक्त तथा
वनप्रवेशों) में उनके अन्वय किए जाते हैं यह जो कहा गया है सौ अकिञ्चिद्वै, क्योंकि
कहीं-कहीं (जैसे 'शिखी प्लव्हा हुआ' आदि में) एकद्वैतान्वय भी देखा जाता
है तदनुसार यहाँ भी उक्त धर्मों में ही हेतु तथा फल का अन्वय किया जा सकता है और
सब वैसा अन्वय किया जा सकता है सब उन धर्मों को ही विषय मानकर उनमें ही
हेतु-फल की उल्लेखा भी की जा सकती है, तथापि उल्लेखा में जो विषय की उद्देश्यता
और विषयी की विधेयता सर्वानुभवसिद्ध है, उसके अनुरोध से इस मार्ग का अनुसरण
करना पड़ता है—अर्थात् उल्लेखारण्य में उल्लेखा का विषय (जिसमें उल्लेखा होती है
वह पदार्थ) उद्देश्य और उल्लेखा का विषयी (उल्लेख्य पदार्थ) विधेय होता है ऐसा
अनुभव सभी को होता है और यह भी निश्चित है कि—किसी की उद्देश्यता सिद्ध होने
पर ही किसी की विधेयता भी सिद्ध होती है—ये दोनों परस्पर सापेक्षभाव हैं, ऐसी
स्थिति में यदि उक्तस्थलों में मौन तथा विपाटनरूप गौण धर्मों को उल्लेखा का विषय
बनाया जायगा सब वे उद्देश्य नहीं हो सकते, क्योंकि उद्देश्य किंवा विधेय प्रधान
पदार्थ ही होता है और जब वे उद्देश्य नहीं हो सकेंगे, सब हेतुफल (द्रष्टुं दर्शनं)
रूप उल्लेख्य विधेय भी नहीं हो सकेंगे, फलतः अनुभवसिद्ध वस्तु का अप-
रूप होने लगेगा, अतः धर्म द्वारा प्रधान धर्मों (मौनयुक्त तथा वनप्रवेश) को
उल्लेखा का विषय माना जाता है, जिससे उद्देश्यविधेयभावानुभव की रक्षा होती
है । यदि उद्देश्यविधेयभाव का अनुरोध न किया जाय सब तो प्राचीनों का मत ही
श्रीक था—अर्थात् उक्त भाव का अनुरोध नहीं करने पर प्राचीनों के हिसाब से हेतु-
फलोपेक्षानों में भी अभेदसंबन्ध से ही उल्लेखा मानना उचित था—निश्चलताहेतुक
निशब्दता में हेतुहेतुक मौन की और कष्टकञ्ज विपाटन में अपरदर्शनरूप फलवाले
आलम्ब्यविपाटन की उल्लेखा अभेदसंबन्ध से मानना युक्त था, क्योंकि उद्देश्यविधेय-
भाव का भङ्ग ही उस मत में प्रधान दोष होता था, वह भङ्ग भी हो ही रहा है और
आप उस दोष को दोष-कोटि में गिनना नहीं चाहते ।

प्राचीनमते न केवलमुद्देश्यविधेयभावभ्रष्टाप्रतिरेव दोष, अपि तु दोषान्तरमपीत्याह—

किञ्च प्राचां मते हेतुफलोपेक्षास्यले तद्धेतुकतत्फलकयोः कार्यकारणयोरेव
निगिर्णं विषये उत्प्रेक्षणात् स्वरूपोत्प्रेक्षायामेव पर्यवसानम्, न हेतुफलयोः । एवं
च विभागधिरन्तनानामुच्छिन्नः स्यात् । अथ स्वरूपतदात्म्याविशेषेऽपि हेतु-
फलाविशेषणकमुद्बस्वरूपोत्प्रेक्षया हेतुफलविशेषणकस्वरूपोत्प्रेक्षायामस्ति हेतु-
फलकृत एव भेद इति चेत् 'तनयमैनाकगवेणलम्भीकृतजलधिजठरप्रविष्ट-
हिमगिरिमुजायमानाया भगवत्या आगीरण्याः सखी' इति प्रागुदाहृतायां स्व-
रूपोत्प्रेक्षयां तनयमैनाकगवेणरूपस्य फलस्योत्प्रेक्ष्यविशेषणकोटिप्रविष्टत्वा-

‘फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, उत्प्रेक्ष्ये साक्षाद्विशेषणताया अप्रयोजकत्वात् । इत्यलं स्वगोत्रकलहेन ।

हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले इति । हेतुत्प्रेक्षास्थले फलोत्प्रेक्षास्थले चेत्यर्थः । तदेतुक्तत्फल-
क्योः कार्यकारणयोरिति । तदेतुक्तस्य कार्यस्य, तत्फलकस्य कारणस्य चेत्यर्थः । न हेतु-
फलयोरिति । उत्प्रेक्षाया पर्यवगानमिति पूर्वतनानुपपन्नम् । तावता किं स्यादित्याह—एवं
चेति । स्वरूपतादात्म्याविशेषे इति । यत्किञ्चित्पदार्थस्वरूपस्य तादात्म्येन (अभेदेन)
उत्प्रेक्षा इत्यस्य तुल्यत्वे इत्यर्थः । हेतुफलाविशेषणकेति । हेतुषु फलस्य ते न विशेषणे
अयोस्तारो अत एव शुद्धे ये पदार्थस्वरूपे तयोदत्प्रेक्षाया इत्यर्थः । एवमपि । ननु
सत्त्वोद्विप्रविष्टत्वेऽपि तस्य न तत्र साक्षाद्विशेषणत्वमत आह—उत्प्रेक्ष्ये इति । अभेद-
सम्यग्भेदेनैव सर्वगोत्प्रेक्षा समर्थयता प्राचा मते प्राशुक्ता दोषास्तु सन्त्येव । अपरोऽप्ययं
दोषस्तन्मते यत् स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा चेति चिरन्तनाचार्यकृतौ विभाग
वर्षिष्ठो भवेत्, यतस्ते ‘सत्ता मन्ये कलिततनु ते पादयोः पद्मलक्ष्मी’ ‘विरलेपदुःखादिषु
बद्धमौनम्’ इत्यादिहेतुत्प्रेक्षादाहरणे ‘स्वाभाविके शोभाकर्तृके पादलक्षणे हर्षहेतुकपाद-
लक्षणस्य, निश्चलत्वहेतुकिञ्चिदन्तरे दुःखहेतुमौनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षामङ्गीकुर्वन्ति, एवं
‘द्रष्टुमिवाश्वराणि’ इत्यादिफलोत्प्रेक्षादाहरणेऽपि कण्टकजन्यभालवग्विपाटनेऽक्षरदर्शन-
फलकभालवग्विपाटनस्याभेदेनैवोत्प्रेक्षा मन्यन्ते, तथा चासामुद्येक्षणां स्वरूपोत्प्रेक्षा-
स्येव पर्यवसानं जातम् । ननु यत्रोत्प्रेक्ष्यतावच्छेदककुक्षौ हेतुफले भासमाने भवतस्ते
हेतुफलोत्प्रेक्षे, यथा ‘विरलेपदुःखात्—’ ‘व्यपाटयन् द्रष्टुमिदं—’ इत्यादौ, यत्र पुन-
रुत्प्रेक्ष्यतावच्छेदककुक्षौ हेतुफले न भासमाने तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा ‘मुखं चन्द्रं मन्ये’
इत्यादिविषये रीत्या चिरन्तनकृतौ विभाग उपपद्यत एवेति न कश्चिदपि इति चेन्न, एवं-
रीत्या विभागे समुपपाद्यमाने ‘तदवर्गमनामवेपथ—’ इति प्राशुदाहृतस्वरूपोत्प्रेक्षाया अपि
‘फलोत्प्रेक्षात्वापत्तेः, तत्रापि भुजगतोत्प्रेक्ष्यतावच्छेदककोटौ—तदनयमैनामवेपथ्यात्मकस्य
फलस्य प्रविष्टत्वात् । हेतुफलयोः साक्षादुत्प्रेक्ष्यविशेषणपूर्वैव हेतुफलोत्प्रेक्षाव्यवहारनि-
यामिका ‘तदवर्गमैनाक—’ इत्यत्र तु प्रोक्तस्य फलस्य न साक्षादुत्प्रेक्ष्यभुजविशेषणतेति न
दोष इति न शक्यं कर्तुम्, तथा कल्पनायामनुकूलतर्कविरहादिति भावः ।

प्राचीनों के मत में पूर्वोक्त दोष तो है ही, अन्य दोष भी हैं वही अब दिखलाया
जाता है—किञ्च प्राचाम् इत्यादि । प्राचीनों के मत से हेतुत्प्रेक्षास्थल में हेतु की उत्प्रेक्षा
तो होती नहीं, अपितु तदेतुक्त कार्य की अनुक्त विषय में अभेदसम्यग् से उद्देशा होती
है, जैसे ‘विरलेपदुःखादिषु—’ में उनके मत से अनुक्त निश्चलत्वहेतुक निःशब्दस्वरूप
विषय में वियोगजन्य दुःखहेतुक मौन की उत्प्रेक्षा अभेदसम्यग् से होती है, एवं उनके
मत से फलोत्प्रेक्षास्थल में भी फल की उत्प्रेक्षा नहीं होती, अपितु तत्फलक कारण की
अनुक्त विषय में अभेदसम्यग् से उत्प्रेक्षा होती है, जैसे ‘व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाश्वराणि—’ में
उनके हिसाब से अनुक्त कण्टकजन्य भालवग्विपाटनरूप विषय में ललाटापरदर्शन-
फलक भालवग्विपाटन की अभेदसम्यग् से उत्प्रेक्षा मानी जाती है । ऐसी स्थिति में
ये उत्प्रेक्षायें भी स्वरूपोत्प्रेक्षा के रूप में ही परिणत हो जाती हैं—अर्थात् एक धर्म की
दूसरे धर्म में जब अभेदसम्यग् से उत्प्रेक्षा हुई तब वह स्वरूप की उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त
क्या कहला सकती है ? आप कदाचित् कहें कि चति क्या है ? मान लीजिए सब को
स्वरूपोत्प्रेक्षा ही । तो मैं कहूँगा—चिरन्तनों का किया हुआ विभाग समाप्त हो जायगा—
अर्थात् पहले जो चिरन्तन आचार्य ‘स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ये तीन भेद
उत्प्रेक्षा के कहते थे वह कथन मिथ्या हो जायगा—अब स्वरूपोत्प्रेक्षा नामक एक ही

भेद उत्प्रेक्षा का रह जायगा । यदि आप कहें कि—तीनों उत्प्रेक्षाओं में 'स्वरूपतादात्म्य' समानरूप से होता है अवश्य—अर्थात् तीनों उत्प्रेक्षाओं में एक पदार्थस्वरूप की ही अभेदेन दूसरे पदार्थस्वरूप में सम्भावना की जाती है इतनी समानता है, पर इस समानता के रहने पर भी कुछ भेदक है जिससे उन्हें विभाग बन सकता है और वह भेदक है हेतु तथा फल का उत्प्रेक्ष्यविशेषणकोटि में आना एवं न आना—अर्थात् जहाँ उत्प्रेक्ष्य के विशेषणरूप से हेतुभूत पदार्थ आता हो वह हेतुत्प्रेक्षा, जहाँ फल उत्प्रेक्ष्यविशेषण हो वह फलत्प्रेक्षा और जहाँ इन दोनों में से एक भी उत्प्रेक्ष्य का विशेषण न हो वह स्वरूपत्प्रेक्षा, इस तरह विभाग किया जा सकता है । तो इसके उत्तर में कहना यह है कि यदि इस तरह से विभाग किया जाय तब 'तनयमैनाक—' यह गद्य जो स्वरूपत्प्रेक्षा के उदाहरण में लिखा गया है वह भी फलत्प्रेक्षा का उदाहरण कहलाने लगेगा, क्योंकि वहाँ भी उत्प्रेक्ष्य भुज (भुजायमान पद पर ध्यान दीजिए) के विशेषणभाग में पुत्रमैनाक का अन्वेषणरूप फल आया है । आप कहेंगे—वहाँ फल यद्यपि विशेषण है, तथापि उत्प्रेक्ष्य का साक्षात् विशेषण नहीं किन्तु परम्परया है, अतः वह गद्य फलत्प्रेक्षा का उदाहरण नहीं कहला सकता । तो मैं कहता हूँ कि—फल उत्प्रेक्ष्य का साक्षात् विशेषण हो तभी फलत्प्रेक्षा कही जायगी इस तरह की कल्पना करने में कोई अनुकूल सर्क नहीं है, क्योंकि दोनों ही स्थानों पर अप्रधानता समान है । फलतः प्राचीनों का मत इस गद्यबन्धी के कारण भी ठीक नहीं है । पर अब छोड़िए इस सगवे को । कारण अपने ही गोत्रबालों (साहित्यिकों) से कलह करना स्वर्ध है ।

अपेक्षानुत्प्रेक्षाणां साङ्ख्ये कयोत्प्रेक्षया व्यपदेश इति वक्तुं प्रयतते—

उत्प्रेक्ष्यमाद्येऽपि यस्य विपयिण उत्प्रेक्षा विधेयतया भासते तदीयोत्प्रेक्ष्यैव व्यपदेशः, प्राधान्यात् । तेन 'विश्लेषदुःखादिषु बद्धमौनम्' इत्यत्र नूपुरगतत्वेन दुःखस्योत्प्रेक्ष्योऽपि न तदुत्प्रेक्षया व्यपदेशो न्याय्यः, तस्या अङ्गत्वेनानुवाद्यत्वात् । किन्तु पञ्चम्यर्थोत्प्रेक्षया, तस्या एव इयशब्दवेद्यत्वेन विधेयत्वात् । तथा 'बोलस्य' इति पद्येऽपि अमान्तगतत्वेन न ललाटाक्षरदर्शनोत्प्रेक्ष्याऽपि, अपि तु तुमुन्नर्थोत्प्रेक्षया । एव 'तनयमैनाक—' इत्यादिगद्ये न फलोत्प्रेक्षया व्यपदेशः । नापि 'कलिन्दजानीरभरेऽर्धमन्ना' इत्यत्र शशिकिशोरतादात्म्योत्प्रेक्षया, तदुत्थापितया ध्वान्तकर्तृकयैरहेतुकनिगरणकर्मतादात्म्योत्प्रेक्षया वा, प्रागुक्तादेव हेतोरिति दिक् ।

पञ्चम्यर्थोत्प्रेक्ष्येति । व्यपदेश इत्यस्यानुपपन्नः । एवमप्येऽपि । प्रागुक्तादेवेति । अङ्गत्वेनानुवाद्यत्वादित्यस्मादेवैतत्पर्यम् । 'विश्लेष—' इत्यत्र पञ्चम्यर्थस्य हेतोः, 'बोलस्य—' इत्यत्र 'तुमन्' प्रत्ययार्थस्य फलस्य, 'तनयमैनाक—' इत्यत्र भुजत्वसात्यवच्छिन्नस्य, 'कलिन्दजा—' इत्यत्र क्रीडनक्रियायाश्च क्रमशः उत्प्रेक्षासु इवादिपदवेद्यत्वेन वाच्यासु क्रमशो दुःखस्य, दर्शनस्य, तनयमैनाकगवेषणात्मकस्य फलस्य, शशिकिशोरतादात्म्यस्य ध्वान्तकर्तृकनिगरणकर्मतादात्म्यस्य चोत्प्रेक्षाणां नियमतो व्यवजनया प्रतीयमानत्वेऽपि न व्यङ्ग्यभाभिस्तत्तदुत्प्रेक्षाभिस्तत्र तत्र व्यवहारः, तासां व्यङ्ग्योत्प्रेक्षाणामङ्गत्वेनानुवाद्यत्वात् । अपि तु पूर्वोक्ततत्तदुत्प्रेक्षाभिरेव तत्र तत्र व्यवहारः, तासां प्रत्येक्षाणामेव इवादिपदवेद्यानां विधेयत्वेन प्राधान्यात् । एवमनेकविधोत्प्रेक्षासाङ्ख्ये यस्य विपयिण उत्प्रेक्षा विधेयतया भासते, प्राधान्यात्तदीयोत्प्रेक्ष्यैव व्यवहार इत्यनुगमः फलितो भवति । अनयैव दिशा सर्वोत्प्रेक्षाव्यवहरणीयेति भावः ।

अथ जहाँ अनेक उत्प्रेक्षाओं का साङ्ख्य हो वहाँ किस उत्प्रेक्षा का व्यवहार करना चाहिये

इस बात का निर्णय किया जाता है—उत्प्रेक्ष्यमात्रेणैवपि इत्यादि । जहाँ अनेक उत्प्रेक्षाएँ हों वहाँ भी जिस विषयी की उत्प्रेक्षा विधेयरूप से मासित होती हो उसकी उत्प्रेक्षा का ही व्यवहार करना उचित है, क्योंकि प्रधानता उसी उत्प्रेक्षा की होती है । इस अनुगम के अनुसार 'विरलेषः' इस जगह नूपुररूप विषय में दुःखरूप गुण की उत्प्रेक्षा के व्यङ्ग्य होने पर भी, उस उत्प्रेक्षा का व्यवहार उचित नहीं होता—अर्थात् गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा यहाँ नहीं कही जाती है । कारण, यह उत्प्रेक्षा अज्ञ होने के कारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं । किन्तु 'पद्ममी के अर्थ (हेतु) की उत्प्रेक्षा (हेतुत्प्रेक्षा) का व्यवहार ही उचित है, क्योंकि 'इव' शब्द से उसी का बोध होने के कारण विधेय वही है । इसी तरह 'चोलेस्य यज्ञीतिपलायितस्य'—इस पद्य में भी 'वनप्रदेश'रूप विषय में 'ललाटापरदर्शन' की उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य अन्वय होती है, पर व्यवहार उसका नहीं होता—अर्थात् 'क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा' यहाँ मानी नहीं जाती, क्योंकि वह उत्प्रेक्षा भी अज्ञभूत है—अनुवाद्य है । किन्तु 'तमुन्'प्रत्यय के अर्थ (फल) की उत्प्रेक्षा का ही व्यवहार होता है । कारण, 'इव'पद-बोध्य होने के कारण वही विधेय है—प्रधान है । इसी तरह 'वनयमैनाकः'—इस पद्य में भी यद्यपि 'पुत्र मैनाकान्वेषणरूप फल की उत्प्रेक्षा व्यक्तनामृच्छिद्वारा प्रतीत होती है, पर व्यवहार वस्तुका नहीं होता—अर्थात् 'फलोत्प्रेक्षा' का उदाहरण वह पद्य नहीं कहा जाता । किन्तु 'सुजलक्षणावविश्रुतोत्प्रेक्षा' का ही व्यवहार होता है—अर्थात् आतिस्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण ही उस पद्य को कहा जाता है । कारण वही है जो उक्तस्थलों पर था । इसी तरह 'कलिन्दजानीरः'—इस पद्य में भी यद्यपि 'वक'रूप विषय में 'चन्द्रकिशोर' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य होती है, और उसी उत्प्रेक्षा के बल से 'चन्द्रकिशोर'रूप विषय में 'अन्यकारकर्तृक धैरहेतुक निगमनकर्म' की अभेदसंबन्ध से उत्प्रेक्षा भी व्यङ्ग्य होती है, तथापि इन दोनों में से किसी भी उत्प्रेक्षा का व्यवहार नहीं किया जाता । किन्तु 'वक'रूप विषय में होनेवाली 'कोटान'विधोत्प्रेक्षा ही व्यवहार होता है । कारण यहाँ भी पूर्ववत् समझना चाहिए ।

उत्प्रेक्षानिमित्तभूतधर्मसम्बन्धविशेषमाह—

द्विविधो हि साधदमोऽपि—स्वत एव साधारणः साधारणीकरणोपायेनासाधारणोऽपि साधारणीकृतश्च । स चोपायः कचिद्रूपकम्, कचिच्छ्लेषः, कचिदुपहृतिः, कचिद्विग्वप्रतिबिम्बभावः, कचिदुपचारः, कचिविभेदाभ्यवसायरूपोऽतिशयः ।

द्विविधो इति । हि यतः । स्वत एवेत्यादिद्विविध्य प्रातोऽस्तौस्तादमोऽपि । द्विविध इत्यर्थः । स चोपाय इति । स साधारणीकरणोपाय इत्यर्थः । अन्यविगदव्याख्यातमेव ।

उत्प्रेक्षा के निमित्तभूत धर्म के संबन्ध में कुछ विविध बातें बताई जाती हैं—द्विविधो हि इत्यादि । उत्प्रेक्षा का निमित्तभूत धर्म भी दो प्रकार का है—एक स्वतः साधारण (विषय-विषयी दोनों में रहनेवाला, जिसे 'अनुगामी' कहते हैं), दूसरा साधारण बनाने के उपाय द्वारा असाधारण होने पर भी साधारण बना लिया गया । उनमें से स्वतः साधारण के विषय में तो कुछ कहा नहीं है । रहा साधारण बनाने का उपाय, तो वह कहीं रूपक, कहीं श्लेष, कहीं अपहृति, कहीं विग्वप्रतिबिम्बभाव, कहीं उपचार और कहीं अभेद का भग्यवसान (एक धर्म के प्रतिपादक द्वाद में अन्य धर्म को प्रविष्ट समझ लेना) रूप 'अतिशय' होता है ।

उपायेन साधारणीकृतानां धर्माणामुदाहरणेषु निदेश्येषु प्रथमं रूपोपायसाधारणीकृतं धर्ममुदाहरति—

यथा—

'नयनेन्दिन्द्रियानन्दमन्दिरं मिलदिन्दिरम् ।

इदमिन्दीवरं मन्ये सुन्दराङ्गि तवाननम् ॥'

अयि सुन्दराङ्गि ! नयनान्येव, इन्दिन्दिरा' भ्रमरा, तेषाम्, आनन्दस्थ, मन्दिरं स्थानम्, तथा मिलन्ती सयुज्यमाना, इन्दिरा लक्ष्मी (शोभा), यस्मिन्, तादृशम्, इदम्, तव, आननं मुखम्, इन्दीवरं कमलम्, मन्ये, इत्यर्थः ।

उक्त उपायों द्वारा साधारणीकृत धर्मों के उदाहरण दिखलानेके प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'रूपकालम्बक उपाय द्वारा साधारणीकृत धर्म का उदाहरण दिखलाया जाता है, यथा—नयनेऽहस्यादि । जैसे—हे सुन्दराङ्गि ! नयनरूप भ्रमरों का आनन्दस्थान तथा शोभासयुक्त यह तेरा मुख, मानो कमल है ।

उपपादयति—

अत्र प्रथमार्धगतः प्रथमो धर्मो रूपकेण विषयविषयिसाधारणीकृतः । द्वितीयश्च बिलक्षणशोभयोरभेदाध्यवसायेन ।

प्रथम इति । नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वरूप इत्यर्थः । द्वितीय इति । मिलदिन्दिरत्वरूप इत्यर्थः । अन्वयवसायेनेति । विषयेत्याद्यनुपपद्यते । 'नयने—' इति श्लोके आनन्दरूपे विषयेऽभेदेन इन्दीवररूपस्य विषयिण उत्प्रेक्षा । तस्याव्युत्प्रेक्षाया 'नयनेन्दिन्दिरानन्द-मन्दिरत्वम्' 'मिलदिन्दिरत्वम्' चेत्येतौ धर्मौ निमित्तभूतौ । निमित्तता च तयोः प्रथमस्य रूपकेण द्वितीयस्याभेदाध्यवसायेन साधारणीकरणद्वारा । कथमिति चेत् ? इत्यम्—नयना-नन्दमन्दिरत्वम् आनन एव इन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्वमेन्दीवर एव । नयनेन्दिन्दिरयोः रूपके कृते तु नयनेन्दिन्दिरानन्दमन्दिरत्व तयोः साधारण सम्पद्यते । एवम् आननस्ये-न्दिराभिधाऽऽनन एव इन्दीवरस्येन्दिराभिधा इन्दीवर एव । तयोरभेदाध्यवसाये तु मिल-दिन्दिरत्व तयोः साधारणं भवतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । अभिप्राय यह है कि—'नयने' इस पद्य में मुखरूप विषय में कमलरूप विषयी की अभेदसदृश्य से उल्लेख की जाती है और उस उल्लेख में 'नयनभ्रमरानन्दस्थानत्व' और 'शोभासुल्लस्य' ये दो धर्म निमित्त होते हैं, जिनसे धर्म स्वतः निमित्त हो नहीं सकते, क्योंकि स्वतः विषय विषयी दोनों में रहनेवाले नहीं हैं—अर्थात् 'नयनानन्दस्थानत्व' मुख में है तथा 'भ्रमरानन्दस्थानत्व' कमल में है—उभयानन्दस्थानत्व किसी एक में नहीं है । इसी तरह मुख की शोभा तथा कमल की शोभा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अतः मुख की शोभा से युक्त मुख और कमल की शोभा से युक्त कमल ही हो सकता है—किसी एक शोभा से युक्त दोनों नहीं होते, इसलिये नयन और भ्रमर में अभेदारोपरूप रूपक मानकर और मुख-शोभा तथा कमल-शोभा में अभेदाध्यवसान (अतिशयोक्ति) मानकर उक्त दोनों धर्मों को विषय-विषयी दोनों में रहनेवाला (साधारण) बना लिया जाता है और साधारण बन जाने पर उक्त दोनों धर्म उक्त उल्लेख के निमित्त होते हैं ।

सोदाहरणमुक्तप्रकारातिरिक्तमेकं निमित्तवर्मप्रकारं प्रकृत्यति—

केवलशब्दात्मकोऽप्यय सम्भवति ।

'अङ्कितान्यक्षसङ्घातैः सरोगाणि सदैव हि ।

शङ्के पङ्केच्छाणीति शरीराणि शरीरिणाम् ॥'

अयं निमित्तभूतो धर्मो उत्प्रेक्षाया शब्दात्मकोऽपि उपमादायिव भविष्यतीति । यथा—'हि यत, अक्षसङ्घातैः इन्द्रियसमूहैः' (अन्यत्र कमलबीजे), अङ्कितानि चिह्नितानि, सदैव, सरोगाणि रोमसहितानि (अन्यत्र सरोवरगतानि च), शरीरिण्य प्राणिनाम् ,

शरीराणि, सन्ति, अतस्तानि, पद्मेरुहाणि कमलानि, इति शब्दे' इत्यर्थके 'अङ्किता—' इति श्लोके 'अक्षसद्वाताङ्कित'शब्दः 'सरोज'शब्दश्च । अयं भाव —अर्थतः अक्षसद्वाताङ्कितत्वं 'इन्द्रियसद्वाताङ्कितत्वं'रूपम्, 'बीजसद्वाताङ्कितत्वं'रूपञ्च, एवं सरोजत्वं अर्थतः 'रोगसङ्कितत्वं'रूपं 'सरोवरगतत्वं'रूपञ्च । तत्र प्रथमप्रथम शरीरेषु द्वितीयं द्वितीयञ्च कमलेषु इति न कोऽप्यर्थात्मको धर्मः शरीर-कमल साधारणः । शब्दात्मको तु तौ द्वावपि धर्मौ 'प्रतिपाद्यता'संयन्धेन तदुभयसाधारणौ सन्तौ शरीरात्मके विषये पद्मेरुहात्मकस्य विषयिण उत्प्रेक्षां प्रयोजयस इति ।

उदाहरणसहित निमित्तधर्म का एक अपर प्रकार दिखलाया जाता है—केवल इत्यादि । यह निमित्तभूत धर्म उभया आदि की तरह उत्प्रेक्षा में भी केवल शब्दात्मक हो सकता है । जैसे—'अङ्किता'—अर्थात् मैं दाढ़ा करवा हूँ कि-शरीरधारियों के शरीर कमल हैं । कारण, वे 'अक्षसद्वाता' (इन्द्रियसमूहों, अन्यत्र कमलगट्टों के समूहों) से बिहित हैं और 'सरोज' (रोगमहित अन्यत्र सरोवरागत) हैं । इस पद्य में 'अक्षसद्वाताङ्कित' और 'सरोज' ये दो शब्दरूप धर्म हैं । अभिप्राय है कि-प्रकृत पद्य में शरीरों में कमलों की उत्प्रेक्षा 'अभेद'संयन्ध से की जाती है और उसमें निमित्त होते हैं उक्त दोनों धर्म । पर ये धर्म अर्थतः निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त दोनों धर्मों में से प्रथम धर्म अर्थतः 'इन्द्रियसमूहाङ्कितत्वं' तथा 'बीजसमूहाङ्कितत्वं'रूप सिद्ध होता है जिनमें प्रथम रूप केवल शरीर में तथा द्वितीयरूप केवल कमल में रहनेवाला है । इसी तरह द्वितीय (सरोजाव) धर्म अर्थतः 'रोगसङ्कितत्वं' तथा 'सरोवरगतत्वं'रूप सिद्ध होता है जिनमें पहला केवल शरीर में तथा दूसरा केवल कमल में रहनेवाला है । अतः केवल शब्दतः ये दोनों धर्म निमित्त होते हैं—अर्थात् 'अक्षसद्वाताङ्कित' तथा 'सरोज' ये दोनों शब्द ही 'प्रतिपाद्यता'संयन्ध से शरीर-कमल दोनों में रहनेवाले धर्मरूप होकर उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं ।

शब्दात्मके निमित्तधर्मों को विशेषस्तमाह—

अयमुपात्त एव भवति ।

उत्प्रेक्षायां शब्दात्मको निमित्तधर्म उक्त एव, नातुतोऽमम्भवादिति भावः ।

उत्प्रेक्षा का यह शब्दात्मक निमित्त धर्म उक्त ही होता है, अनुक्त नहीं ।

प्रसङ्गाच्छब्दात्मकेतरेषु धर्मेषु ततो वैलक्षण्यं दर्शयति—

अर्थमयोऽनुपात्तश्चापि भवति । तथा 'द्विनेत्र इव वासवः' इत्यादौ जगदाश्वरत्वादिवः । न चात्र द्विनेत्रत्वादिरूप उपात्त एव साधारणो धर्मः । साधारण्यार्थमेव तस्य विषयिण्यारोपादिति वाच्यम् । तस्यारोपेण साधारणत्वे कृतेऽपि असुन्दरत्वेनोत्प्रेक्षोत्थापकत्वविरहात् । साधारणीकरणं तु प्रतिबन्धकनिरासार्थमित्युक्तमेव ।

अर्थमय इति । प्रागुक्तोऽर्थमय इत्यर्थः । शब्दातिरिक्ता ये स्वतः साधारणा उपायेन साधारणीकृताश्च धर्माः प्रागुपपादितास्तेऽनुपात्ता अपि भवन्ति, उपात्तास्तु भवन्त्येवेति भावः । उदाहरणप्रदर्शनेनानुपात्तत्वं द्रष्टव्यम्—अथेति । 'द्विनेत्र इव—' इति पद्यं प्रागु-
 लिखितं व्याख्यातव्यं । तत्र रानरूपे विषये क्रियमाणाया वासवाद्युत्प्रेक्षायां जगदीश्वर-
 त्वादिनिमित्तभूतो धर्मः स चानुपात्त इति भावः । उद्धृते—न चात्रेति । द्विनेत्रत्वादिर्यत्र
 तत्र विषयभूतराजवृत्तिरेव यस्तुतो, न विषयि-वासवादिवृत्तिस्तथा च न साधारणस्तथापि
 विषयिणि वासवादौ समारोपेण स साधारणीकृतो विमित्तो भवितुं योग्यः, स न उक्त
 एवेति कथं तत्रानुपात्तस्य जगदीश्वरत्वादेर्निमित्तत्वेति भावः । समाधत्ते—तस्यारोपेणेति ।

आरोपेण साधारणीकृतोऽपि द्विनेत्रत्वादिरचमत्कारितयोत्प्रेक्षोत्थापको न भावितुमर्हतीति अनुपात्तस्यैव जगदीश्वरत्वादेश्वरमत्कारिणो निमित्ततेति भावः । नन्वेव द्विनेत्रत्वादे साधारणीकरणं व्यर्थमिति आह—साधारणीकरणं न्विति । द्विनेत्रत्वादिधर्मवति विषये (राज्ञि) विषयिणि (नासत्वादे) उत्प्रेक्षायाः विषयितृत्तिः सहस्रनेत्रत्वादिधर्मं प्रतिबन्धक इति तदपाकरणाय विषयिणि द्विनेत्रत्वादेरापेय इति न तस्य साधारणीकरणं व्यर्थमिति भावः ।
 “-‘इव’ शब्दस्तत्र सम्भावनार्थक एव, न सादृश्यार्थक” इत्यस्यार्थस्य स्फुटत्वायापि द्विनेत्रत्वादे साधारणीकरणस्य सार्थकतेत्यपि बोध्यम् ।

प्रसङ्गवशा, शब्दात्मक धर्म—जो केवल उपात्त ही होता है—से अर्थात्मक धर्म में विलक्षणता यतलाई जाती है—अर्थमय इत्यादि । अर्थात्मक उत्प्रेक्षा-निमित्तभूत धर्म जो स्वतः साधारण अथवा उपाय द्वारा साधारणीकृत पूर्व में बनाए गए है वे अनुपात भी हो सकते हैं (उपात्त तो होते ही हैं) । जैसे—‘द्विनेत्र इव वासव—’ इस पृथोप्लिखित् माळोप्रेक्षा में निमित्त होने वाला ‘जगदीश्वरत्व (जगत्पति होना)’ आदि अनुपात्त है । आप कहेंगे—वहाँ अनुपात्त (जगदीश्वरत्व आदि) धर्म को निमित्त मानने की आवश्यकता ही क्या है ? उपात्त ‘द्विनेत्रत्व’ आदि धर्म ही निमित्त हो सकता है, निमित्त बनाने के लिये ही तो ‘आरोप’रूप उपाय द्वारा द्विनेत्रत्व आदि का साधारणीकरण किया गया है—अर्थात् ‘द्विनेत्रत्व’ आदि, विषय (राजा) में ही रहनेवाला था, विषयी (इन्द्र आदि) में रहने वाला नहीं, अतः विषयी में आरोप करके ‘द्विनेत्रत्व’ आदि को साधारण बनाया गया है और जब वह साधारण बन गया तब वह निमित्त भी हो ही सकता है फिर अन्य किसी धर्म को निमित्त मानना व्यर्थ है । पर वह कथन भाषका ठीक नहीं । कारण, द्विनेत्रत्व आदि धर्म साधारण हो जाने पर भी उत्प्रेक्षा का निमित्त नहीं हो सकता—उत्प्रेक्षा का उत्पादक नहीं हो सकता क्योंकि वह सुन्दर (चमत्कारी) नहीं है और उत्प्रेक्षा का निमित्त (उत्पादक) वही धर्म होता है जो सुन्दर हो । आप कहेंगे—यदि ऐसी बात भी तब द्विनेत्रत्व आदि को उपाय (आरोप) द्वारा साधारण बनाया ही किसलिये गया ? तो इसका उत्तर यह है कि—वह (द्विनेत्रत्व आदि का साधारणीकरण) तो ‘सहस्रनेत्रत्व (सहस्र आँख वाला होने)’ आदि उत्प्रेक्षाप्रतिबन्धक धर्म को हटाने के लिये किया गया है यह पहले कहा ही जा चुका है । यदि द्विनेत्रत्व आदि का साधारणीकरण नहीं किया जाता—अर्थात् यदि ‘द्विनेत्र इव वासव’ ऐसा न कहकर केवल (वासव इव) इतना ही कहा जाता तब ‘इव’ शब्द सादृश्यबोधक ही सिद्ध होता सम्भावनावोधक नहीं, और उसका साधारणीकरण कर देने पर—अर्थात् वैसा कहने पर, वह सम्भावनावोधक सिद्ध होता है । फलतः ‘इव’ शब्द सम्भावनावोधक है इस तत्त्व का धोष करना भी उक्त साधारणीकरण का एक प्रयोजन है यह भी समझना चाहिये ।

श्लेषरूपेणोपायेन साधारणीकृत धर्ममुदाहरति—

‘दृष्टिः सम्मृतमङ्गला बुधमयी देव त्वदीया समा

काव्यस्याश्रयभूतमास्यमरुणाधारोऽधरः सुन्दरः ।

श्रोत्रस्तेशनिमूरनन्पधिपण स्वान्त तु सोमास्पद

राजान्नूनमनूनविक्रम भवान् सर्वमहालम्बनम् ॥’

कविः राजान् स्तौति—हे देव । त्वदीया, दृष्टि, सम्मृतमङ्गला परिपूर्णशुभा (अन्यत्र परिपूर्णमङ्गलग्रहा), त्वदीया, समा, बुधमयी पण्डितमयी (अन्यत्र बुधग्रह-शुक्ला), त्वदीयम् आस्य मुखम्, काव्यस्य कविताया (अन्यत्र शुभग्रहस्य), आश्रय-
 १. स्थानभूतम्, त्वदीय सुन्दर, अधरः श्रवणाधार रक्तस्र आश्रय (अन्यत्र

सूर्यग्रहस्य आघारः), ते, क्रोध, अशानि चक्ररूपः (अन्यत्र शनिग्रहरूपः), ते, स्वान्तं हृदयम्, तु पुनः, सोमास्पदम् उभया सहितः सोमः शिवः तस्य आस्पदम् अथवा 'चन्द्रमा मनसो जातः' इति श्रुतेर्जनकतासम्बन्धेन चन्द्रविशिष्टम् (अन्यत्र चन्द्रग्रह-युक्तम्), अस्ति, अतः, हे अनल्पविषण्ण महामते ! अनूतविनय महापराक्रम ! राजन् ! भवान्, नूनम्, सर्वप्रहालम्बनं सर्वेषां ग्रहाणाम् अवलम्बभूतो, विवत इत्यर्थः ।

श्लेष द्वारा साधारण किम् यम् निमित्त धर्म का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—
दृष्टिः इत्यादि । कवि राजा की स्तुति करता है—हे देव ! आपकी दृष्टि 'मङ्गल' (शुभ + मङ्गलग्रह) से परिपूर्ण है, आपकी सभा 'बुधमयी' (विवध विद्वानोंवाली + बुधग्रहरूप) है, आपका मुख 'काव्य' (कविता + शुक्रमह) का आश्रय है, आपका सुन्दर अधर 'अहर्ण' (छलाई + सूर्यग्रह) का आघार है, आपका क्रोध '(५) शनि' ('अशानि = चक्र + शनिग्रह) का स्थान है, और आपका हृदय 'सोम' (उमासहित = शिव + चन्द्रग्रह) का निवासस्थान है । अतः हे महामते ! तथा महाविक्रम ! राजन् ! आप निश्चित ही, सब ग्रहों के आलम्बन हैं—एक भी ग्रह ऐसा नहीं जो आपसे संबन्ध नहीं रखता हो ।

उपपादयति—

अत्रोत्प्रेक्ष्यमाणस्य सर्वप्रहालम्बनस्य धर्मेण तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वेण विशेषणीभूतैस्तत्तद्ग्रहैर्विषयस्य राज्ञो धर्मेण कल्याणाश्रयत्वादिषु विशेषणानां कल्याणादीनां श्लेषेण तादात्म्यसम्पादनद्वारा सादृशधर्माणां साधारणतासम्पत्तिः ।

उत्प्रेक्ष्यमाणस्येति । विषयिण इति शेषः । कल्याणाश्रयत्वादिष्विति । कल्याणाभिताङ्गकत्वादिविषयः । 'दृष्टिः—' इति श्लोके राजस्ये विषयेऽमेवसंबन्धेन सर्वप्रहालम्बनात्मकत्वं विषयिण उत्प्रेक्षा । तत्र च तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वस्यो धर्मो निमित्तम् । ननु कथमस्य धर्मस्य प्रोक्तविषय-विषयिसाधारण्यम् ? साधारण्यविरहे च कथं तस्य धर्मस्य निमित्तमिति चेत् ? तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वानि विषयिणः सर्वप्रहालम्बनस्य धर्मा [यथा दृष्टे संघत-मङ्गल(भौम)त्वम्, समाया बुध(बुधग्रह)भयत्वमोत्यादीनि] । एषु धर्मेषु विशेषणीभूतानां तत्तद्ग्रहाणां (मङ्गल-बुध-काव्यादीनाम्) राज्ञो धर्मेण कल्याणाभिताङ्गकत्वादिषु विशेषणी-भूतैः कल्याणादिभिः सह श्लेषेण (एकेन पदेन अनेकायोरपस्थापनरूपेण) तादात्म्यं (अभेदः) सम्पाद्यते । अत एव तत्तद्ग्रहाभिताङ्गकत्वस्य विषय-विषयिसाधारण्यधर्मत्वम्, साधारण्यधर्मत्वे च प्रोक्तोत्प्रेक्षा-निमित्तत्वम् इति बोध्यम् । अथमाश्रयः—मङ्गलबुधादिग्रहाणां यद्यपि वस्तुतो राज्ञो धर्मेण च प्रवेशस्तथापि शुभाचार्यकी मङ्गलादिशब्दः शिखरतया भौमप्रदायमिचार्यकी जातः । एवप्रकारेण विशेषणानामभेदे सति सादृशविशेषणघटित-धर्माणाम् (सम्भूतमङ्गलबुधभयत्वादोनाम्) अपि अभेदेन साधारण्यधर्मतासम्पत्ति-निश्चित्यहेति ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । 'दृष्टिः सम्भूतमङ्गला—' इस पद्य में 'सब ग्रहों के आलम्बन' की 'अभेद'सम्बन्ध से राजा में उत्प्रेक्षा की जाती है । उस 'आलम्बन' के धर्म है 'उन-उन ग्रहों से आश्रित अङ्गों वाला होना' क्योंकि जिसके अङ्गों में ग्रह आश्रित हों वही तो 'ग्रहों' का आलम्बन कहा जा सकता है । वे धर्म 'दृष्टि 'मङ्गल' से परिपूर्ण है' इत्यादि अनेक रूपों में आये हैं, उनके विशेषणरूप में आप हुए वे वे (अर्थात् मङ्गल आदि) ग्रह, उत्प्रेक्षा के विषय 'राजा' के धर्म 'शुभ से परिपूर्ण होने' आदि के विशेषण बने हुए 'शुभ' आदि धर्मों के साथ, श्लेष द्वारा अभिध्वनित दिष्ट गये हैं । तात्पर्य यह कि—यद्यपि 'मङ्गल' आदि ग्रह का राजा के धर्म में किसी तरह प्रवेश नहीं हो सकता, तथापि मङ्गल आदि शब्द के दूसरे अर्थ 'शुभ' आदि का प्रवेश उसके

धर्म में हो सकता है । अतः 'मङ्गल' आदि शब्द में उन उन दो-दो अर्थों का श्लेष होने के कारण वे धर्म अभिन्न बना दिए गए हैं । और उस अभिन्नता के कारण वैसे (पूर्वोक्त) धर्मों की साधारणता सिद्ध हो जाती है । और इस तरह से साधारण बने वे धर्म उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त होते हैं ।

श्लेषेण साधारणीकृतस्यैव धर्मस्योदाहरणान्तरं दर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

‘विभाति यस्यां ललितालकायां मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः ।

कपोलपालिं तव तन्वि मन्ये नरेन्द्रकन्ये दिशमुत्तराख्याम् ॥’

नायको नायिका वक्ति—हे तन्वि कृशाङ्गि ! नरेन्द्रकन्ये राजपुत्रि ! ललितालकायाम् ललिता = सुन्दरा, ‘अलका’ केरा यस्या तथाभूतायाम्, (अन्यत्र ललिता अलका = तन्नामिका पुरी यस्या तथाभूतायाम्) यस्याम्, कपोलपात्रायाम् (अन्यत्र उत्तराख्यदिशि) मनोहरा = रमणीया, वैश्रवणस्य वै = निधयेन, कर्णस्य, (अन्यत्र वैश्रवणस्य = कुबेरस्य) लक्ष्मी शोभा, विभाति भासते, तव, कपोलपालिम्, ताम्, उत्तराख्याम् उत्तराभिधाम्, दिशाम्, मन्ये, अहम् इति शेष । इत्यर्थः ।

उदाहरण का निर्वेश किया जाता है—विभाति इत्यादि । नायक नायिका से कहता है—हे कृशाङ्गि राजपुत्रि ! ‘ललितालका’ (सुन्दर अलकों = केशोंवाली, अन्यत्र सुन्दर अलकापुरीवाली) जिसमें ‘वैश्रवण’ (निश्चितरूपेण कानों, अन्यत्र कुबेर) की मनोहर शोभा भासित होती है । ऐसी तेरी कपोलमिति को मैं, ‘उत्तर’नामवाली दिशा मानता हूँ ।

उपपादयति—

इहापि विषयविषयिधर्मविशेषणयोरलकालकयोः श्रवणवैश्रवणयोश्च श्लेषेणाभेदे धर्मस्य साधारण्यम् ।

धर्मस्येति । ललितालकत्वस्य वैश्रवणशोभाभानस्यानन्वयस्य चेत्यर्थः । ‘विभाति-’ इति पद्ये । विषयस्य कपोलपाल्या. धर्मः ललितालकत्व (सुन्दरकेशत्वम्) श्रवणलक्ष्मीभानस्यानन्वयस्य तत्र अलका श्रवणश्च विशेषणौ, एव विषयिण उत्तराख्यदिशः धर्मः ललितालकत्व (सुन्दरालकापुरीकत्वम्) वैश्रवणलक्ष्मीभानस्यानन्वयस्य तत्र अलकापुरी वैश्रवणश्च विशेषणौ, तयोस्तयोश्च विशेषणयोः श्लेषेणाभेदः सम्पद्यते । सम्पन्नाभेदेन च तेन तेन विशेषणेन विशिष्ट प्रायुक्त धर्मद्वय साधारणीभूतं कपोलपालीरूपे विषये उत्तराख्यदिशात्मकस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षासुत्वापयतीति भावः ।

उपपादन किया जाता है—इहापि इत्यादि । ‘विभाति—’ इस पद्य में भी विषय (कपोलमिति) का धर्म है ‘सुन्दर अलकों = केशोंवाली होना’ तथा ‘श्रवण = कर्ण की मनोहर शोभा के भान का स्थान होना’ इसी तरह विषयी (उत्तर दिशा) का धर्म है ‘सुन्दर अलकापुरीवाली होना’ तथा ‘वैश्रवण = कुबेर की मनोहर शोभा के भान का स्थान होना’ । इन धर्मों के विशेषणरूप में ‘अलक’ तथा ‘अलका’ और ‘श्रवण’ तथा ‘वैश्रवण’ आए हैं । श्लेष द्वारा ये विशेषणीभूत अर्थ (अलक-अलका तथा श्रवण-वैश्रवण) अभिन्न हो जाते हैं और इनके अभिन्न हो जाने पर इनसे घटित (युक्त) धर्म (‘ललितालकत्व’ तथा ‘वैश्रवणलक्ष्मीभानस्यानन्वय’) साधारण हो जाते हैं और साधा-

रण हो जाने पर ये धर्म यहाँ कपोलपात्नीरूप विषय में उत्तरदिशारूप विषयी की अभेद सवन्ध से उपप्रेषा में निमित्त होते हैं।

पुनः श्लेषेण साधारणीकृतस्यैव धर्मस्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयितुमाह—

यथा वा—

अथवा, जैसे—

तदाहरणमुपन्यस्यति—

‘नासत्ययोगो वचनेषु कीर्तौ तयार्जुनः कर्मणि चापि धर्मः।

चित्ते जगत्प्राणभवो यदास्ते वशंवदास्ते किमु पाण्डुपुत्राः॥’

कवे राजानं प्रत्युक्तिः—हे राजन् । ते, वचनेषु, यत्, नासत्ययोग (असत्यस्य योगो न, अन्यत्र अधिनीकुमारयो = नकुलसहदेवयो संयोगः), कीर्तौ यशसि, अर्जुनः (श्वेतता, अन्यत्रार्जुन), कर्मणि, धर्म (पुण्यम्, अन्यत्र बुधिष्ठिर), अपि च, चित्ते जगत्प्राणभव, (जगता प्राणभूतो भव = परमेश्वर, अन्यत्र भीम = बाबुपुत्र), आस्ते, तत् किं पाण्डुपुत्रा, ते वशंवदा अधीनाः ! इत्यर्थः । (अत्र ‘जगत्प्राणभव’पदस्य ‘हनुमान्’ अपि अर्थो नागेशमहाभागैल्याह्यता, परन्तु स मूलकारस्वारस्वविपक्षः मूलकारेणोपपादनग्रन्थे परमेश्वरस्य तदर्थतया स्पष्टमुन्नेयम् ।

उदाहरण का निर्देश किया जाता है—नासत्य इत्यादि । राजा के प्रति कवि की उक्ति है—हे राजन् ! आपके वचनों में जो ‘नासत्ययोग’ (असत्य-योग नहीं, अन्यत्र अधिनीकुमारों = नकुल-सहदेव का संयोग) है, कीर्ति में ‘अर्जुन’ (श्वेतता, अन्यत्र अर्जुन) है, कर्म में ‘धर्म’ (पुण्य, अन्यत्र बुधिष्ठिर) है, और चित्त में ‘जगत्प्राणभव’ (जगत् के प्राणमूल अव-परमेश्वर, अन्यत्र जगत्प्राण=बाबु का भव=पुत्र—भीम) है, तो क्या पाण्डव लोग आप के वशवर्ती हैं ? (यहाँ ‘जगत्प्राणभव’ पद का अर्थ नागेश ने ‘हनुमान्’ भी किया है, पर वह अर्थ मूलकार के स्वारस्य से विरुद्ध है, क्योंकि आगे उन्होंने उस पद का अर्थ ‘परमेश्वर’ स्पष्ट ही लिखा है ।)

उपपादयति—

अत्र पाण्डुपुत्रेषु विषयेषु राजवशंवदत्तादात्म्योत्प्रेक्षायां राजाश्रितत्वरूपो विषयिधर्मः श्लेषेण विषयाणां तदाश्रितानां चासत्याभावशुक्लगुणपुण्यपरमेश्वराणामभेदसम्पादनद्वारा विषयसाधारणीकृतः ।

राजवशंवदेति । धर्मेणीयराजवशंवदा ये राजानस्त एव विषयिणस्तत्तादात्म्येत्यर्थः । विषयाणां पाण्डुपुत्राणाम् । तदाश्रितानां चेति । राजाश्रितानां चेत्यर्थः । विषयेति । पाण्डुपुत्रेत्यर्थः । ‘नासत्य—’ इत्यत्र पाण्डुपुत्रात्मकेषु विषयेषु धर्मेणीयवशवदराजविशेषात्मकानां विषयिणामभेदेनोत्प्रेक्षा भवति । तत्र च ‘राजाश्रितत्वरूपो धर्मः’ निमित्तम् । ननु क्यमयं धर्मो निमित्तं राजवशवदरूपविषयिमात्रवर्तिनस्तस्य पाण्डुपुत्रात्मनविषयसाधारण्यविरहात्, इति चेन्न, रिल्टै. नासत्ययोगादिपदै. उपस्थाप्यमानानां पाण्डवासत्वाभावादीनां श्लेषमूलकेऽभेदेऽनात्वाभावादिबल पाण्डवानामपि राजाश्रितत्त्वसिद्ध्या साधारण्यसम्पत्तेः । श्लेषस्य कथितं समग्रं कथिदमत्र इत्यन्यत् । इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘नासत्य—’ इस पद्य में ‘पाण्डव’ विषय है जिनमें वर्णनीय राजा के वशवर्ती अन्य राजास्य विषयी की अभेदसवन्ध से उपप्रेषा की जाती है और इस उपप्रेषा का निमित्त है ‘राजाश्रितत्व’ (राजा का आश्रित होना) रूप धर्म । आप कहेंगे—कैसे यह धर्म उपप्रेषा का निमित्त है ?—अर्थात् यह धर्म

निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल विषयी (राजवर्शवद्) का धर्म है, विषय (पाण्डवों) का नहीं, ऐसी दशा में वह साधारण हुआ ही नहीं और साधारण धर्म ही निमित्त हो सकता है यह बात बार-बार लिखी जा चुकी है। इसके उत्तर में मेरा कथन यह है कि—हाँ, आपकी बात ठीक है—‘राजाश्रितत्व’ धर्म स्वतः साधारण नहीं है, पर श्लेषरूप उपाय द्वारा उसको साधारण बना लिया गया है—अर्थात् यहाँ वस्तुतः जो राजाश्रित हैं वे असत्याभाव, शुक्लगुण, पुण्य और परमेश्वर जिस-जिस पद (‘नासत्य’ आदि) से उपस्थित होते हैं उसी पद से श्लेषद्वारा एक-एक पाण्डव भी। फलतः श्लेष की महिमा से वे एकपदोपस्थाप्य अर्थ परस्पर अभिन्न हो जाते हैं और उनके अभिन्न हो जाने पर जैसे असत्याभाव आदि राजाश्रित होते हैं वैसे असत्याभाव आदि से अभिन्न समस्त गण पाण्डव भी राजाश्रित समझे जाते हैं, अतः अन्ततः ‘राजाश्रितत्व’, विषय (पाण्डवों) का भी धर्म हो जाता है फिर उसकी साधारणता में बाधा क्या? उपायभूत श्लेष किसी अंश में ‘समग्र’ और किसी अंश में ‘अभग्र’ है वह एक निश्चय बात है, उससे प्रकृत में कोई हानि या लाभ नहीं।

अपहृतिरूपेणोपायेन साधारणीकृत धर्ममुदाहरति—

‘स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ।

मनोऽनुरागि ते तन्मि मन्ये बल्लभमीक्षते ॥’

सखी नायिकामाह—हे तन्मि कृपाञ्जि ! स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुः सत् बहिरुपागत स्तनमध्यगतमाणिक्यस्वरूपेण बहिरागतम्, अनुरागि अनुरागयुक्तम्, ते, मन, बल्लभ प्रियतमम्, ईक्षते पश्यतीत्यह मन्ये इत्यर्थः ।

अपहृतिरूप उपाय द्वारा साधारण बनाए गए धर्म का उदाहरण दिया जाता है—स्तनान्तर्गत इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे कृपाञ्जि ! स्तनों के मध्यवर्ती माणिक्य के रूप में बाहर आया हुआ तेरा अनुरागी मन, मनो, प्रियतम को देख रहा है।

उपपादयति—

अत्र बल्लभेक्षणस्य मनस्युत्प्रेक्षायां तन्निमित्तमन्तःप्रदेशाद्बहिरागमनमपेक्ष्यम् । तच्च बहिःप्रदेशसम्बन्धरूप माणिक्यमात्रवृत्ति मनसो न सम्भवतीति माणिक्यापहृत्या मनोगतं क्रियते ।

‘स्तनान्तर्गत—’ इति श्लोके प्रियतमस्पर्शकदर्शनक्रियायां समवायसम्बन्धेन मनोरूपे विषये उत्प्रेक्षा क्रियते, तत्रान्तःप्रदेशाद्बहिरागमननिमित्तं समपेक्षितम् । परन्तु तदवधिक-बहिरागमनस्य निमित्तता तदैव सम्भवति यदोत्प्रेक्ष्यमाणदर्शनसमानाविकरणात् स्यात्, सा च नास्ति बहिःप्रदेशसंयोगरूपस्य बहिरागमनस्य माणिक्यवृत्तिस्त्वेऽपि मनोवृत्तिविरहात्, अतः ‘माणिक्यवपुः’ इत्यत्र ‘वपुः’पदेन माणिक्यापहृतेन बहिरागमनस्य मनोवृत्तिव्यवस्थाप्य इति भावः ।

उपपादन क्रिया जाता है—अत्र इत्यादि। ‘स्तनान्तर्गत—’ इस पद्य में प्रियतम के दर्शन-रूप क्रियात्मक धर्म की मनरूप विषय में समवायसम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की जाती है। इस उत्प्रेक्षा का निमित्त ‘मन का अन्दर से बाहर आना’ अपेक्षित है, क्योंकि बाहर आए बिना ‘देखना’ नहीं बन सकता। ‘बाहर आने’ का अर्थ है बाहर के देश (देह के किसी भाग) से सम्बन्ध (संयोग), जो केवल ‘माणिक्य’ में रह सकता है, मन (अमूर्त पदार्थ) में उसका सम्भव नहीं, अतः माणिक्य की ‘अपहृति’ द्वारा (अर्थात् माणिक्य को ‘वपुः’ पद की उक्ति से छिपा कर) उस धर्म को ‘मन में रहने वाला’ बनाया गया है।

विश्वप्रतिविम्बभावात्मकेनोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहरतुं प्राशुक्तं पद्यं स्मारयति—

विश्वप्रतिविम्बभावस्तु “कलिन्दजानीरभरेऽर्धमात्रा” इत्यत्रैव निरूपितः ।

‘कलिन्दजा—’ इत्यत्र वक्रत्ये विषये क्रियमाणाया क्रोशनकर्तृत्वोत्प्रेक्षाया निमित्तं विश्वप्रतिविम्बभावेन साधारणीकृत (क्रोशनाभेदमापादितः) शब्दनात्मको धर्मो भवतीति प्राशुपर्दाशितमेवेति भावः ।

विश्वप्रतिविम्बभावात्मक उपाय द्वारा धर्म का साधारणीकरण तो ‘कलिन्दजा—’ इस पूर्वोक्त उदाहरण में छिपा ही जा चुका है । तात्पर्य यह कि उक्त पद्य में ‘क्रोशन’ की उत्प्रेक्षा ‘वक्र’रूप विषय में की जाती है और उस उत्प्रेक्षा का एक निमित्त होता है विश्व-प्रतिविम्बभावद्वारा क्रोशान से अभिन्न बनाया गया वक्रयुक्ती स्वाभाविक ‘शब्दना’ भादि ।

उपचारात्मकेनोपायेन साधारणीकृतं धर्ममुदाहरति—

‘माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता ।

पिथतामनल्पसुखदा वमुघाया ननु सुधा कविता ॥’

माधुर्यस्य, परमसीमा परमानधि (यदधिकं माधुर्यं कनिदपि नास्तीति यावत्) सारस्वतस्य सरस्वतीसम्बन्धिनं साहित्यरक्षास्त्व तद्रूपस्येति यावत्, जलधेः समुद्रस्य, मथनेन आलाङ्घनेन मन्नेनेति यावत्, सम्भूता उत्पन्ना, पिबताम् आस्वादयताम्, अमनल्पसुखदा प्रभूतसुखदायिका, कविता कान्यम्, वमुघायाम्, ननु मिथयेन, सुधा पीयूषम् अस्तीत्यर्थः ।

उपचाररूप उपाय द्वारा साधारण बनाय गये धर्म का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—माधुर्य इत्यादि । मधुरता की परमावधि (जिससे अधिक मधुरता कहीं न हो ऐसी), सारस्वतीसम्बन्धी (साहित्यरूप) समुद्र को मथन करने से उत्पन्न हुई और पीनेवालों को अत्यधिक सुखदायक कविता, मानो पृथिवी पर असृत है ।

उपपादयति—

अत्र कवितायां माधुर्यपानयोर्मुखयोरस्तम्भवादास्वादश्रवणयोरमुखयोरुप-
चारेण मुरुपाभ्यां साधारणीकरणम् । लक्षणया शक्याभेदेन लक्ष्यबोधनात् ।

उपचारेणेति । लक्षणयेत्यर्थः । मुख्याभ्यामिति । सहाभेदसम्पादनद्वारा तयोर्धर्मयो-
रिति शेषः । ‘माधुर्य—’ इति श्लोके कवितारूपे विषये मुरारूपस्य विषयिणोऽभेदेनोत्प्रेक्षा
विधीयते, तत्र माधुर्यं पानत्र निमित्तम् । निमित्तता च तयोः स्वतः न सम्भवति, कवि-
तात्मकविषयेऽविद्यमानत्वात्, अतो माधुर्यपानयोः ममरा आस्वादश्रवणयोर्लक्षणया माधु-
र्यास्वादयोः पानश्रवणयोश्चाभेदः सम्पाद्यते, सम्पन्ने चाभेदे आस्वादश्रवणवन्माधुर्यपान-
योरपि प्रोक्तविषयवृत्तितया साधारण्येन निमित्ततेति भावः । ननुपचारेऽमुख्यस्यैव प्रतीत्या
मुख्याप्रतीत्या दोषस्त्वदवस्य एवात आह—लक्षणयेति । लक्षणाद्वारा माधुर्याभिन्नतया
आस्वादस्य, पानाभिन्नतया च श्रवणस्य, बोध इति न दोष इति भावः ।

उपपादन किया जाता है—अत्र इत्यादि । ‘माधुर्य—’ इस पद्य में असृत की अभेद-
सम्बन्ध से कवितारूप विषय में उत्प्रेक्षा की जाती है । उस उत्प्रेक्षा में निमित्त होते हैं
‘माधुर्य’ और ‘पान’रूप धर्म । पर ये दोनों धर्म स्वतः निमित्त होने योग्य हैं नहीं,
बशर्कि मुखरूप में ये दोनों धर्म केवल असृत में हो रह सकते हैं, कविता में नहीं, अतः
लक्षणा द्वारा ये दोनों धर्म आस्वाद तथा श्रवण से अभिन्न बना लिये जाते हैं और उन
दोनों से अभिन्न हो जाने पर आस्वाद तथा श्रवण की तरह माधुर्य और पान भी कविता-
में रहने वाले हो जाते हैं । इस तरह साधारणीकृत माधुर्यपान उक्त उत्प्रेक्षा के निमित्त

होते हैं। सात्पर्य यह कि—यहाँ के माधुर्य तथा पान पद क्रमशः आस्वाद तथा भक्षण रूप अर्थ में लाक्षणिक हैं। आप कहेंगे—लक्षणा मानने पर तो उन दोनों पदों से लक्ष्य अर्थ (आस्वाद तथा भक्षण) का ही बोध होगा और उस स्थिति में पुनः उनका निमित्त होना असम्भव ही रहेगा, क्योंकि तब माधुर्यपदार्थ आस्वाद और पानपदार्थ भक्षण कविता में ही रहने वाले होंगे, अमृत में रहने वाले नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि लक्षणा से वाच्यार्थ के अभिव्यक्ति रूप में ही लक्ष्यार्थ का बोध होता है।

अभेदाध्यवसायरूपेणातिशयेन साधारणोक्तस्य धर्मस्योदाहरणभूतं पूर्वोद्धिखितं पर्यं स्मारयित्वोपपादयति—

अभेदाध्यवसायमात्रं यथा प्रागुदाहृतायां हेतुत्प्रेक्षायाम् । 'व्यागुञ्जन्मधुकर-
पुञ्जमञ्जुगीताम्' इत्यत्र शाखानीचत्व कन्धरानमनयोरभेदाध्यवसाय एव
त्रपाहेतुत्प्रेक्षानिमित्तयोपात्तस्य कन्धरानमनस्य नीचशाखनतकन्धरोभयसाधा-
रण्ये बीजम् ।

अध्यवसायमात्रमिति । मात्रपदेन पौनःपुन्यं परिहृतम् । पूर्वं स्पष्टमिदं अभेदाध्यव-
साय उक्त इति भावः । नीचशाखनतकन्धरोभयेति । नीचा शाखा यस्य स नीचशाखी
वृक्षः, नता कंधरा यस्य स नतकंधरो मनुष्यः तदुभयस्यार्थः । 'व्यागुञ्जन्—' इत्यत्रावनिर्गह-
कुटुम्बकेषु विपक्षेषु त्रपारूपस्य हेतोरुपभ्रताद्यन्वयेनोत्प्रेक्षा विद्यते । तत्रोपात्त कंधरानमनं
निमित्तम् । ननु वृक्षात्मकविषयावृत्तेस्तस्य साधारण्यविरहेण कथं निमित्तत्वमिति चेत् ?
शाखानीचत्वं वृक्षधर्मः, कंधरानमनं च मनुष्यधर्मः, तयोरभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिः,
अतिशयोक्त्या चान्या शाखानीचत्वाभिन्नस्य कंधरानमनस्य वृक्षवृत्तित्वेन साधारण्या-
निमित्ततेति भावः ।

अभेदाध्यवसानरूप अतिशयद्वारा साधारण्य बचाए गए धर्म का उदाहरण उपस्थित
किया जाता है—अभेदाध्यवसाय इत्यादि । यद्यपि 'नयनेन्विन्द्रि—' इस पद्य में अभेदा-
ध्यवसायरूप अतिशय उदाहृत हो चुका है पर वहाँ वह रूपक से मिश्रित था, अब
केवल अभेदाध्यवसान का उदाहरण दिया जाता है, अतः पुनरुक्ति का प्रसङ्ग नहीं आता
यही रहस्य मूल में 'मात्र' पद से सूचित किया गया है । 'व्यागुञ्जन्—' इत्यादि पूर्वो-
दाहृत हेतुत्प्रेक्षा में शुद्ध अभेदाध्यवसानरूप अतिशयोक्ति द्वारा धर्म का साधारणीकरण
हुआ है । सात्पर्य यह कि—उक्त पद्य में वृक्षरूप विषय में 'लज्जा'रूप हेतु की उल्लेखा
की जाती है और उस उल्लेखा का निमित्त होता है पद्य में उपात्त 'कंधरानमन' । यद्यपि
कंधरानमन प्राणिधर्म है, अचेतन वृत्त में वह नहीं रह सकता, तथापि 'कन्धरानमन'
से यहाँ 'शाखानमन' निर्गोण है—अर्थात् कन्धरानमन तथा शाखानमन (शाखा की
भीचता) इन दोनों में अभेदाध्यवसानरूप अतिशयोक्ति है । फलतः ये दोनों धर्म अभिन्न
(एक) समझ लिये जाते हैं, फिर जैसे शाखानमन वृत्त में रहता है वैसे कन्धरान-
मन भी रहेगा अतः कन्धरानमन साधारण्यधर्मरूप होकर उक्त उल्लेखा का निमित्त
होता है ।

पर्यवसितार्थमाह—

एव सर्वत्र हेतुफलयोर्लक्षणे यस्य हेतु-फलं बोधेक्ष्यते सोऽनेन प्रवारेण
साधारणोक्तो निमित्तमित्यसकृदावेदितम् ।

अशरण्यं स्पष्ट एव । 'विरलेष—' इत्यत्र मौनस्य हेतुत्वेन विरलेषदुःखमुप्रेक्ष्यते,
अत एव तन्मौनं अध्यवसानात्मकतिशयद्वारा निश्चिन्दत्वाभिन्नं सत् यथा निमित्तं भवति,
यथा वा 'व्यपाटनम्—' इत्यत्र विपाटनस्य फलत्वेन दर्शनमुप्रेक्ष्यते, अत एव तद्विपाटनं

अध्यवमानान्मकातिशयद्वारा स्वाभाविकवनान्तर्कृतविपादनाभिन्नं सन्निमित्तं भवति, तथा सर्वत्र हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले कार्यकारणयोर्निमित्तता बोध्यते भावः ।

पर्यवसित अर्थ दिखलाया जाता है—एवम् इत्यादि । इस तरह, यह पर्यवसित हुआ कि—हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्थलों में जिस (कार्य) का हेतु (कारण) और जिस (कारण) का फल (कार्य) उत्प्रेक्षित होता है वह (हेतुत्प्रेक्षास्थल ॥ कार्य और फलोत्प्रेक्षास्थल में कारण) उक्त प्रकार से (अर्थात् अभेदाप्यवसानरूप अतिशय द्वारा साधारणीकृत होकर) निमित्त होता है । यह बात पहले भी अनेक बार लिखी जा चुकी है ।

निमित्तधर्म विरोधमाह—

एवं कचिदुपातो धर्मो विषयविषयिसाधारण्यामात्रादसुन्दरत्वाद्वा स्वयमुत्प्रेक्षणं साक्षादुत्पापयितुमसमर्थोऽपि तदुत्पापनश्यमयमन्तरोत्थापनेनानुपूज्यविधानादुपपुज्यते ।

साधारण्यसत्त्वेऽप्याह—असुन्दरेति । उपपुज्यत इति । एवं च तदानर्पक्यं नैति भावः । कुत्रचिदुपातो धर्म एतादृशो भवति यो विषयविषयिणोः साधारणो न, कुत्रचिच्च विषयविषयिसाधारणोऽपि चमात्करजनको नैति तौ स्वयमुत्प्रेक्षानिमित्तौ न भवितुं शक्यतो यद्यपि, तथापि तादृशबोध्योर्धर्मबोधानर्पक्यं नाशङ्कनीयम्, यतस्तादृशवोरपि धर्मयोः श्रेष्ठानिमित्तत्वयोग्यपरमान्तरोत्थापनद्वारा सार्पक्यं भवतीति भावः ।

निमित्त धर्म के विषय में एक विशेष बातलाया जाता है—एवम् इत्यादि । कहीं धर्म उक्त होने पर भी, या तो विषय और विषयी दोनों में साधारण न होने के कारण, या सुन्दर न होने के कारण, स्वयं उत्प्रेक्षा को उठाने में यद्यपि असमर्थ होता है—अर्थात् स्वयं निमित्त नहीं हो सकता, तथापि उत्प्रेक्षा के उठाने में समर्थ किसी अन्य धर्म के उपधान में अनुकूलता करने के कारण उत्प्रेक्षा में उपयोगी हो जाता है ।

तत्राद्योदाहरणं सौपपादनमाह—

यथा 'द्यौरजनकालीभिः—' इति प्रागुदाहृतं पद्ये दिवो जलदाक्षीसमावृणु-
स्वरूपो धर्म उपातो जगतो निर्लोचनवर्गसर्गत्वोत्प्रेक्षायां वैशेषिकरम्पादमयोज-
कोऽपि स्वप्रयोज्यनिविधान्भकारप्रयुक्तबाधुपज्ञानशून्यत्वस्य तथाविधोत्प्रेक्षा-
निमित्तस्योत्थापनेन ।

स्वेति । जलदाक्षीसमावृणुत्वैत्यर्थः । तथाविधोत्प्रेक्षेति । जगतो निर्लोचनवर्गसर्गत्वौ-
त्प्रेक्षेत्यर्थः । 'द्यौरजन—' इत्यत्र जगदुपे विषये निर्लोचनवर्गसर्गत्वस्योत्प्रेक्षा क्रियते, तत्र
नोपात 'आकाशस्य मेघमावृणुसमावृणुत्वस्यो' धर्मो न स्वयं निमित्तं भवितुमर्हति, तस्य
जगदवृत्तिवेनोद्भिद्यमाननिर्लोचनवर्गसर्गत्वसामानाधिकरण्यामावान्, अतस्तस्य सार्पक्यं
तस्यामुत्प्रेक्षायां स्वप्रयोज्यघनान्वधरप्रयुक्तबाधुपज्ञानशून्यत्वस्य प्रोक्तोत्प्रेक्ष्यमाणधर्म-
सामानाधिकरणस्य यत एव प्रोक्तोत्प्रेक्षानिमित्ततायोग्यस्योत्थापनेन भवतीति भावः ।

स्वयं निमित्त नहीं होने योग्य उक्त दो प्रकार के धर्मों में से प्रथम का (विषय-विषयी में जो साधारण नहीं होता उसका) उदाहरण उपपादकसहित दिखलाया जाता है—
यथा इत्यादि । 'द्यौरजनकालीभिः—' यह जो पद्य पहले उदाहरणरूप में लिखा जा
चुका है उसमें 'जगत् के नेत्रहीनों के समूह की दृष्टि से मुक्त होने' की उत्प्रेक्षा की जाती
है, उस उत्प्रेक्षा में प्रयोज्य 'आकाश' का 'मेघमावृणु से आवृत होना' रूप धर्म स्वयं यद्यपि
निमित्त होने योग्य नहीं है, क्योंकि वह धर्म उत्प्रेक्षित होनेवाले उक्त धर्म का सामाना-
धिकरण नहीं है—अर्थात् जगत् रूप विषय में रहनेवाला नहीं है, तथापि उसके उपादान

की यहाँ सार्थकता है, क्योंकि वही 'आकाशगतमेघमालासमावृतत्व', उल्लेखमाण 'निलोचनवर्गसर्गात्' के समानाधिकरण होने के कारण निमित्त होने योग्य 'सघन अन्धकारप्रयुक्त नेत्र से होनेवाले सब प्रकार के ज्ञान से रहित होना' रूप धर्म को उपस्थित करता है। तात्पर्य यह कि जगत् रूप विषय में की जानेवाली 'निलोचनवर्गसर्गात्' की उत्प्रेक्षा में जगत्गत 'सघन अन्धकारप्रयुक्त चाक्षुषज्ञानसामान्यशून्यत्व' रूप धर्म निमित्त होता है पर वह निमित्त धर्म उक्त नहीं है, उसकी उपस्थिति उक्त 'आकाशगत मेघमालासमावृतत्व' से होती है—अर्थात् 'आकाश मेघ-माला से आवृत है' ऐसा कहने पर आपसे आप घना अन्धकार और उस घने अन्धकार के कारण सत्सार का नेत्रद्वारक सभी ज्ञानों से वञ्चित होना सिद्ध हो जाता है, इस तरह से उक्त धर्म का प्रकृत उत्प्रेक्षा में उपयोग, साक्षात् न सही, पर परम्परया अवरय होता है।

विषयगत विशेष स्फोरयति—

विषयोऽप्युपात्तो निरूपित एव । कचिदयमपह्नतोऽपि भवति ।

निमित्त-धर्मवत् उत्प्रेक्षाया विषयोऽपि राब्दोपात्त पूर्वोदाहरणेषु ('तमय-मैनाक—' इत्यत्रोत्प्रेक्ष्यस्य विषयिणो हिमगिरिभुजस्य माधोरधीरूपो विषयः, 'अम्भोजिनीबान्धव—' इत्यत्र शुक्रगुणस्य विषयिणः बकसमजस्यो विषयः, एवमादि) निरूपित एव । अयं विषय कचिदपह्नतोऽपि भवतीति भावः ।

विषयगत विशेष का स्पष्टीकरण किया जाता है—विषयोऽपि इत्यादि । निमित्तभूत धर्म के समान उत्प्रेक्षा का उपात्त विषय भी निरूपित हो चुका है—अर्थात् 'तमय-मैनाक—' इस पद्य में 'माधोरधीरूपः, 'अम्भोजिनीबान्धव—' इस पद्य में 'बकसमाज—' रूप इसी तरह अन्यत्र अन्यरूप, उपात्त विषय विललाया जा चुका है । पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि विषय सर्वत्र उपात्त ही होता है । कहीं-कहीं वह अपह्नुत (छिपा हुआ) भी होता है ।

अपह्नुत विषयमुदाहरणमाह—

यथा—

जैसे—

उदाहरणमुपन्यस्यति—

'जगदन्तरममृतमयैरंशुभिरापूरयन्मयं नितराम् ।

उदयति वदनव्याजात् किमु राजा हरिणशावनननाथाः ॥'

इति रसगङ्गाधर उत्प्रेक्षाप्रकरणम् ।

अमृतमयै सुधामयै, अंशुभिः क्षिरैः, जगदन्तरं जगन्मध्यम्, नितराम् अत्यन्तम्, आपूरयन्, हरिणशावनननाथा भृगाव्या, वदनव्याजात् मुखच्छलात्, अयं दृश्यमानः, राजा चन्द्रः, उदयति उदेति किमु ? इत्यर्थः । अत्र मुखरूपो विषयोऽपह्नुत तदपह्नवश्चात्र—राजतादात्म्यसम्भावनादाढययिति बोध्यम् ।

चकास्ति लघुकम्योऽपि केविदामोदवर्णन ।

मिथिलास्वर्णदीशोभिसरोनथियमाश्रित ॥ १ ॥

'न्यानी' नामको ग्रामो गुणग्रामागिमण्डितः ।

मण्डले दरमङ्गाख्ये विस्थातबुधजन्मम् ॥ २ ॥ (युग्मकम्)

तस्मिन्मातृपुरे पिब्यं पुरं 'शतलक्षा'भिषम् ।
 विद्याय विद्यामध्यैष्ट विशिष्टा योऽतिमिष्टवाक् ॥ ३ ॥
 समाप्यध्ययनं यच्च संप्राप्तपुरवर्तिनि ।
 विद्यालये विप्रपुत्रान् पञ्चवर्षाण्यपाठयत् ॥ ४ ॥
 मुजफ्फरपुरे राजमहाविद्यालये तु यः ।
 साहित्यविषयस्यास्ते प्रधानाध्यापकोऽयुता ॥ ५ ॥
 रहस्यमतिशंसितं रसगङ्गाधरस्य यः ।
 प्रागुदात्तवचोभङ्गवा प्राकारायदुहारधी ॥ ६ ॥
 रसगङ्गाधरस्यैव प्रथमाननमागमाम् ।
 हिन्दीब्याख्या ततो यच्च विरुदासमुदपादयत् ॥ ७ ॥
 'मदनमोहन'-नामसुधोरिबामरचयद्भुविद्य स च 'चन्द्रिका' ।
 भुभजनो यदि तां विनिभालयेत्, धम इहैव तदा सफलो भवेत् ॥ ८ ॥
 यदि मनागमि सञ्जनमानसे मृदुलतानलिनीनिलयेऽनुले ।
 रुचिमुदञ्चयिता मम 'चन्द्रिका' किमधिकैरपि दुर्जनदूषणैः ॥ ९ ॥
 जगन्नाथकृतस्यैव रसगङ्गाधरस्य या ।
 चन्द्रिकाख्या महाभित्त्या व्याख्या सह्यावता मुने ॥ १० ॥
 प्रारब्धाऽब्धि-धरा-व्योम-नेत्र-सह्यासमन्विते (२०१४) ।
 वैक्रमेऽब्दे गता पूर्तिः कृष्णोत्पत्तिरिति तु सा ॥ ११ ॥ (दुग्मकम्)

इति मैथिलब्राह्मणवंशावतसेन विहारप्रान्तीयमुजफ्फरपुरस्वराजकीयधर्मसमाज-
 संस्कृतमहाविद्यालये साहित्यप्रधानाध्यापकपदमलङ्कृता श्रीमदन-

मोहनका शर्मणा कृतायां रसगङ्गाधर-चन्द्रिकाया
 द्वितीयाननसाहित्येक्षान्तो भागः समाप्तः ।



उद्गाहरण का निर्देश किया जाता है—जगदन्तर इत्यादि । अमृतमय अपनी किरणों से जगत् के मध्यभाग को भस्मन्त पूर्ण करता हुआ, यह क्या, मृगाची के मुख के निप से चन्द्र उदित हो रहा है ? यहाँ मुखरूप विषय में अभेदसम्बन्ध से चन्द्रमा की उल्लेख की जाती है । पर मुखरूप विषय यहाँ 'व्याप्त' पद कहकर छिपा लिया गया है और इस छिपाने का फल है 'मुख में चन्द्रमा के अभेद की संभावना का उद् हो जाना' । अर्थात् इस तरह कहने से उल्लेख और भी उद् हो जाती है ।

इति वरभद्रासण्डलान्तर्गत 'नवानी'ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतंस, व्याकरण-
 न्याय साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्य राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयीय साहित्य-
 प्रधानाध्यापक श्री मदनमोहन सा रचित रसगङ्गाधर
 (द्वितीय आननगत उल्लेखानिरूपणान्त भाग) को
 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।



समाप्तश्चाऽयं द्वितीयाननस्योत्प्रेक्षान्तो भागः

टीकाकर्तुः परिचयः

मान्ये मिथिलादेशे सविरोधे सद्गुणैरसिद्धैः ।
 सीतासम्भवभूमौ सुखानिलोभास्पदे पूते ॥ १ ॥
 'दोदलस्य'पदविदितो ग्रामो गुणि-गणाश्रयो जयति ।
 गग्नैकस्मिन् मञ्चे नृत्यन्तौ धाम्-रमे दृष्टे ॥ २ ॥ (दुग्मकम्)
 सत्रासीदतिथोरो 'विद्यानायो' विदां श्रेष्ठः ।
 मैथिलभूखुरभूषाभूतो भवसेवया पूतः ॥ ३ ॥
 तत्तनयो 'मणि' नामा मणिरिष किरणोज्ज्वलौ जातः ।
 'सीमा' नाम्नि ग्रामे स्ववासमसौ कल्पयामास ॥ ४ ॥
 सत्रासौ शुभशीलो निजविशुद्धपुदिबलमूलम् ।
 धेनु-धरा-धान्य-धनं सपनयशःशोभितं लेभे ॥ ५ ॥
 कन्नौ कृपतडागौ लपतस्तत्र खानितौ तेन ।
 अद्यापि तस्य कीर्तिं कथयन्तौ लोलकल्लोलैः ॥ ६ ॥
 भ्राता तस्य कनोयानतुल्यवत् कीडपि मल्लोऽभूत् ।
 तडागेऽद्य यदामोतपृथुलशिला शोभते धृष्टा ॥ ७ ॥
 मणिरुपलेभे कलितं 'कलितकाल'नामकं तनयम् ।
 विनयविभूषितहृदयं सद्यः सकलशक्तियोगेऽपि ॥ ८ ॥
 तस्य ह्यै समभूताम् पुत्रां जनलोचनानन्दा ।
 'सिंहेश्वर'-कपिलेश्वर'नामानौ परिणते वयसि ॥ ९ ॥
 अयं दैवार्थग्राहा राजकर्मचारिणि प्रबलैः ।
 समुपद्रुतं स्वकीयं ग्रामं तौ तूर्णमत्यजताम् ॥ १० ॥
 नैदीत्यस्यतिरम्ये रवशुरपुरे 'शतलक्षा'संघे ।
 अतः, 'सिंहेरपरशर्मा' कृतवसतिर्जीविनं निन्ये ॥ ११ ॥
 'कपिलेश्वर'स्तदानीं बालो 'नरदा' पुरे मातुः ।
 विहिताश्रयोऽधुनावधि जीवति बहुमि पुतोः साधम् ॥ १२ ॥
 पुत्राश्रयो विनांताः 'सिंहेर' शर्मणो जाताः ।
 त्यक्त्वा यानतिबाल्ये पिता पुरन्दरपुरीं प्रास्यात् ॥ १३ ॥
 पूज्यो 'दुग्गबकिशोरो' मम तु पिता मध्यमस्तेषाम् ।
 कृतकृत्योऽसौ सम्प्राप्तं जीवति देवार्चने लोभे ॥ १४ ॥

अहम्भानस्य 'नवानी' वसन्तौ मातुः कृतावासः ।
 निजजीवनं निनीषे 'चक्रमचिन्त्य' हि दैवस्य ॥ १५ ॥
 'मज्जिमोहनोप्रमोहननामानौ भ्रातरौ धीरौ ।
 विद्या-विनय-समेतौ प्राणसमौ मे प्रियां भवत ॥ १६ ॥
 'कामेश्वरौ' प्रिया मे सत्कुल-शीलान्विता पत्नी ।
 पुष्टिला जीवनयार्था सरलमेवाधुना कुर्वते ॥ १७ ॥
 'आनन्द' खलु प्रथमौ 'धीरेन्द्र'श्च द्वितीयो मे ।
 पुत्रौ विनयसमेतौ विलसन्ति विद्यार्जने लीन ॥ १८ ॥
 कन्ये द्वे कमनीये 'गङ्गा-चरिता'-भिधे गेहम् ।
 सुखरयतौ मधुकल्पैर्वात्योचितवचनविन्यासै ॥ १९ ॥
 श्रीमान् 'यदुपतिमित्रौ' शुद्धस्तमिस्राशुक्ले जयने ।
 प्रोन्मीलयन् मदीये बहुविधबोधाजनै पूर्वम् ॥ २० ॥
 बुधगणधन्दिनचरणः शरणागतवत्सलो जयति ।
 धीमा'नीश्वरनाथो' यो मयि शुभवैदुषी व्यतनोन् ॥ २१ ॥
 व्याकृतिक्लाप्रवीण सालङ्कृतिक्लाव्यमर्मज्ञम् ।
 तत्पादाम्बुजसेवा मामकरोदल्पकालेन ॥ २२ ॥
 प्रातः स्मृतिविषयौऽसौ 'श्रीजगदीशो'ऽतिशिवभक्तः ।
 निपुणः नन्यन्याये कृत्वा मामुद्धत चक्रे ॥ २३ ॥
 श्रेष्ठ 'वृष्ठीनाथ' श्रीप्रियवशावतसो मे ।
 वैदान्तज्ञानगुरुः काश्या परलोकपथिकोऽभून् ॥ २४ ॥
 मम परिचयमेन स्पष्टमक्षिरूप
 गुणमयमगुण वा नूतन कौतुकेन ।
 चरितरसविचारग्रन्थपाठप्रसङ्गे
 परकृतिषु प्रतीता साधवो भावयन्तु ॥ २५ ॥



प्रथमाननस्योदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः
अकुरुष्व मृषाभाषा	३०१	ता तमालतरुकान्ति	२३४	यौवनोद्गमनितान्त	३४९
अकुरुष्व हृदय	३१०	तुलामनालोकव निजा	२५५	रणे हीनान्देवान्दश	१५८
अघरघृतिरस्तपस्त्रवा	२८८	तृष्णालोखिलोचने	३२६	राघवविरहगवाला	६३
अपहाय सकल	१४३	दयितस्य गुणाननु	३१२	लीला विहितसिन्धु	३२०
अपि बहलदहनजाल	१६२	दरानमर्कधर	२७८	लोलाकावलिघट	२५१
अपि यत्किं विरां	१६१	धनुर्विदहनध्वनि	१४८	वज्रोत्तमं पाणिना	३०६
अपाचितः सुखं	२२५	न कपोतकरोतकं	१५७	वचने तव यत्न	२५४
अपि पवनरवाणां	३१७	मलैर्विदारितान्द्राणां	१७०	वाचा निर्मलया सुधा	२३२
अपि मन्दस्मित	२५७	न धन न च राज्य	३३३	वाचो मातृलिङ्गीः	१४०
अलका पणिनाय	२५४	अयनाश्रुत्यादमर्श	१४१	विष्णुतां निशङ्कं	२२१
अवधौ दिवसावसान	२७४	नारिकेलजलधर	३५३	विधाय सा महदना	२९३
अवाप्य मङ्गं खलु	३०९	निखिलं जगदेव	२९७	विधिवञ्चिता	२८३
अद्वित्यतपाया	३३०	निखिलो रजनी	३२३	विरहेण विकलहृदया	२८१
आ मूलाद्रजसानो	२९४	नितरां दितयाद्य	३०३	वीक्ष्य वञ्चति विपश्च	३४८
आयातैव निजा निजा	२६३	नितरां पुरुषा सरोज	२१२	वयस्यस्तं लपति शर्णा	३४३
आलीपु केलीरभसेन	२९९	नितामन्तं घौसमोन्मत्ता	१८८	व्यानम्राश्रुलिताश्वेव	३४३
आविर्भूता गदवधि	१४१	निपतद्राप्यसंरोध	३१९	घातेनोपायानां कथ	३३४
आ साय मलिलभरे	२५६	निरुद्धय वान्ती	२८०	शयिता शैवलक्षणे	२८४
इयमुल्लसिता मुखस्य	१	निर्माणि यदि मार्मिको	२२०	शयिता सविषेष्टवती	३४४
दशिता कवरीभरं	१८४	निर्वासयन्ती एति	३५८	शुष्कादण्डं कुण्डली	२८२
दशाय कुरुपुष्टे	७७	परिहरतु धरां फणि	१६३	शुष्कं वासगृहं	२६२
उपति प्रतिपद्य	३५५	पादं हन्त सघा	३५१	श्येनमग्नरतलादु	१००
एववादिनि देवर्षी	३६२	प्रायुक्ता तन्निर्णय	१८२	श्रीतातपादैर्विहिते	१६८
श्रीणिङ्गं दोषवर्कं	५०	प्रमोदभरतुन्दिक	२१९	सदा जयानुपगाणा	२४४
कलितकुलिशघाताः	२५३	प्रपञ्चे गोपानां	३०७	सन्तापयामि हृदय	२८२
कस्तूरिकासिलक	२६१	प्रहरनिवृत्तौ मध्ये	६७	सपदि विलयमेतु	१६०
कालागुरद्वयं सा	२६०	प्रहस्ययजमन्य	१९९	मरिजवतधनु	२२७
किं प्रमस्तव वीरतां	२११	भग्न धर्मिभ्रं वीरल्यो	४७	सर्वेभ्य विस्मृतिपथं	३४५
किमिदमधिकं	१५०	मवनं करुणावती	३३९	सानुरागा सानुकम्पारय	२४२
कुचकलशयुगात्त	२७९	मादकरसुनावस्तं	३१६	मादिष्वप्युपकुलाचलां	१५३
कुण्डलीकृतकोदण्ड	१७८	भुजगाहितप्रकृतयो	२४९	सा मदायामनघृहित	२९६
कुत्र शैव धनुरिदं	३२५	भुजपञ्जरे गृहीता	३४०	साहकारसुरासुरा	२१५
कम्पापणैकपदयो	३५६	नधुरतरं सम्यमान	२९०	सुरस्रोतरिश्वन्या	१४४
खण्डितानेत्रकञ्जालि	३२५	मधुरमाम्मुर हि	२९१	सुराजनाभिराक्षिष्टा	१०९
गणिकाज्जाविलसु	२२६	मलयानिलकाल	१४३	स्वर्गनिर्गततिरसंल	२१७
गण्डमालिङ्ग्य सकलां	३०५	मा कुरु कता करान्ते	३००	यवेदाम्बुमान्द्रकण	३३५
गुरुमध्यगता मया	४०	मिताविप्रवनेत्राय	७२	यवेदाम्बुमान्द्रकण	२१३
गुरुमध्ये कमलादी	२२२	सुजलि नाद्यापि रप	३४७	हतकेव मया वनान्तरे	२८६
चराचरजगजाल	१६५	यथा यथा तामरसा	२४३	हरि पिता हरिमाता	२२०
चिन्तामौलितमानसो	२३७	यद्वदपि दयितो निलो	३२१	हरिणीप्रेक्षणं यत्न	२४५
तन्मज्जु मन्दहसितं	२७४	यदि लक्ष्मण म्या	३३२	हरिमागतताकण्य	३२९
तपस्यतो मुनेर्वेत्ताद्	२२५	यदि सा मिथिलेन्द्र	३१४	हीरफुल्लदहनशुधि	२११
तपस्यतापि च सुतनुः	४१	यस्योदामदिवाणि	१५२	हृदये कृतसैबलानु	२९८

द्वितीयाननोत्प्रेक्षान्तभागस्योदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०
धक्कणहृदय प्रियतम ५९१		अस्याः सर्गविधौ ५६८		कलिन्दगिरिनन्दिनी ६५४	
अथाथ परितः पूर्ण ४४४		अहं लतायाः सदसी ३६६		कलिन्दशैलादियमा ६५८	
अद्वितीयमानमलिके २५५		अद्वितापकरण ४७७		कलेव सूर्यादमला २९३	
अद्वितीयान्यक्षस १७२		अहीनचन्द्रा लसता ५३५		कल्पिकातिठक ५२५	
अद्वितीयान्यक्षसया ५१८		आज्ञा सुमेधोरवि ५७४		कस्मै हन्त कलाय ११०	
अद्वितीयान्यक्षसया ७०६		आमनोऽस्य तपो ४९७		काचित्काञ्चनगौरा ५७५	
अतिमात्रवलेषु ४११		आनन्दनेन लोकाना २२३		कातराः परदुःखेषु ६१५	
अत्युच्चाः परितः ४२७		आनन्दसुगदावा ४५४		कान्त्या चन्द्र विदुः ६०९	
अत्रानुयोद मृगया ४३१		आलिङ्गितो जलधि २६४		कारण्यकुसुमाकाशः ४९४	
अथ पवित्रमतामुपे ५४४		आलोक्य सुन्दरि ६०७		कास्य सुधा रस ४८२	
अथ या मम गोविन्द ३९६		आह्लादिनी नयनयो २२२		कुङ्कुमद्रवलिताङ्ग ४९९	
अद्वितीयं हृत्तामनं २८४		इत एव निजालय ४२५		कुचकलशोभनबला २३५	
अधर विचमामाश्रय ६०४		इदं लताभि स्तवका ४३८		कुलिशमिव कठिन ३६१	
अधिरोग्य हरश्च ५५८		इदमप्रतिमं परय ४४०		कृतधुद्राघौघानय ३८४	
अनन्तरत्नप्रभवस्य ४१७		इदमुदधेरुदरं वा ५८५		कृतं स्वयोज्ञतं कृप १२०	
अनन्तरत्नान्नद ६३५		इन्दुना परसौन्दर्यं ५५४		कृपया सुधया सिद्ध ५०३	
अनन्तरत्नावा कृत ६२२		इषति प्रपञ्चविषये ३८५		कृष्णपञ्चाधिकरुधि ८५	
अपारे ससारे विषम ५३३		उदित मण्डलमि १०८		कैशोरे वयसि क्रमेण ५१०	
अपि तुरगसमीपा ४२६		उन्मेष यो मम ६७६		कोपेऽपि वदन् तन्नि २२९	
अथलार्था भ्रिय हृत्वा ३२		उपकारमस्य साधो ४४०		कौमल्यतपञ्चोणाभ्र २०१	
अभिरामतासदन ३६३		उपकारमेव कुरते ४१२		कौमुदीव भवती ६५१	
अमितगुणोऽपि ४१०		उपरि कारवाल ६१८		कचिदपि कार्ये मृदुलं ४४४	
अमृतव्रदमाधुरी २५७		उल्लास कुष्ठपङ्के ५२१		लल कापक्यदोषेण २७२	
अम्बररमभ्वर ३८८		अतुराज अमरहित ४४५		गगनादलितो गभस्ति ५८८	
अग्न्या शोतेऽत्र वृद्धा ५७७		एकीभवरमलय ४२२		गगने चन्द्रिकायन्ते ६१८	
अम्भोजिनीवान्धव ६५२		एतावति प्रपञ्चे सुन्दर ३९०		गङ्गा हृद्या यया ३८७	
अयं सज्जनकार्पास ४९५		एतावति प्रपञ्चेऽस्मिन् ३८९		गन्धेन सिन्धुर ३९१	
अर्थिनो दानुमेवेति ६१२		एतावति महीपाल ३४८		गात्रमीर्षणातिमात्रेण ३७७	
अर्थिमिश्रियमानां ४१६		कंदर्पद्विपकर्णकम्बु ४५४		गाहितमखिल विपिन २३४	
अलिभृङ्गो वा ५८६		कनकद्रव्यमग्नि ५९४		गोष्पतिरप्याद्विरसो १३१	
अविचित्र्यशक्ति ५१२		कपाले मात्रारः पय ६०९		गुप्तमिति मञ्जु परितो ९३	
अविरतचिन्तो लोके ३६२		कमलति वदन २९५		गुरुजनभयमद्विलो २०७	
अविरतपरोपकरण २५४		कमलावासाकासार ४७९		ग्रीष्मचण्डकरमण्डल २२०	
अविरलविगल ३०७		करतलनिर्गलद ७०		घण्टा जलदाच्युता ५६४	
अविरलविगल ५२५		कलाधरस्येव कला २२७		घराचरोभयाकार ४३१	

श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०	श्लोकाः	पृष्ठा०
चलद्भृङ्गमिवाम्भोज	२९३	न नगाः कानन	६७०	मरकतमणिमैत्रिनी	५६२
वाञ्छल्ययोगि न	३३	न भनागपि राहु	१०५	मलयानिलमनली	२३१
विराद्विपदसे तापं	५५२	नरसिंह घराणाथ	५४९	महपेर्यासपुत्रस्य	५३४
बोलस्य यज्ञीतिपला	६७६	नरैर्वातिप्रदे	६०६	महीभृतां खलु गणे	२९९
जगदन्तरममृत	७१६	नवाङ्गमेवाङ्गमेपि	३५५	माधुर्यपरमसीमा	७१३
जडानन्धान्पद्मप्रकृ	५१५	नासत्ययोगो वच	७११	मीनवती नयनाभ्यां	५१३
जनमोहकरं तवालि	६६९	निःसीमशोभा सौभाग्य	६६८	मुनिः श्वद्वयं माति	३४०
ज्योत्स्नाभिमुखसिता	२९५	निखिलजगन्माह	२९४	मृगतां हरयन्मथ्ये	३०१
हुण्डन्तो हि मरीह	२२६	निखिले निगम	३६०	मृद्रीका रसिता सिता	९८
हुण्डुलन्तो मरीहसि	४०३	नितान्तरमणीयानि	६६८	यञ्जोराणामख्य च	२४२
तदवधि कुशली	१०९	निधि लावण्यानां	६७४	यथा तवानन चन्द्र	२०८
तद्वलगुना युगपदु	३७१	निरपाय सुधापायं	२३३	यथा लतायाः स्तवका	२७४
तं दृष्टवान् प्रथम	५६४	निरपादानसंभा	८६	यज्ञकानां सुखमयः	२५०
तथा तिलोत्तमीयनया	२३८	निर्मिथ दमारहाणा	१०७	यज्ञनुष्णो भवेद्वह्निः	१७५
सरणितनया किं	५६३	नीलाञ्जलेन संवृत्	३५१	यमः प्रतिमहीभृतां	६१९
सारानायकशैलराय	५३६	नीर्वीं नियम्य शिथि	२८२	यशः सौरभ्यलघुन	५२२
तिमिर हरन्ति	५२७	नृणा य सेवमानानां	२४९	यस्य तुलामधि	२२४
तीरे तरण्या वदनं	५७२	नृत्यश्चहाजिराजि	६०४	रजोभिः स्वन्दनो	३७४
तुषारास्तापसमाते	६१६	नेत्राभिरामं रामाया	५८२	शशाङ्गो शवण	३४४
त्वापादमखरत्ना	४५१	पञ्चशालः प्रभो	५१९	रमणीयस्तवकयुता	३६०
त्वापादनखरत्ना	४५४	परपरास्तज्जुस्ता	६६५	रम्यहासा रसोक्तासा	११७
त्वाप्रतापमहादीप	६६४	पान्थ मन्दमते किं वा	५५६	रराज राजराजस्य	३४७
त्वदालेख्ये कौतुहल	६३७	पूर्णमसुरे रसातल	४०८	राजधिरहज्जाला	६३
दयिते रत्नन्विषां	११४	पृष्टा खलु परपुष्टाः	३९८	राजा हुर्योधनो	३०२
वरानमाकन्धर	४२५	प्रफुल्लहारनिभा	३४०	राजा युधिष्ठिरो	३०१
वर्षणे च परिभोग	५७५	प्राचीसंध्या समुद्य	४८०	राजेश सम्भृत कोप	३४८
वसाननेन हतेन	२६५	प्राणापहरणेनासि	२२२	राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे	८७
दासे कृतगासि भव	५४३	प्राणेशविरहकुन्तः	५२०	राज्याभिषेकमाज्ञाप	६५७
दिवानिदा वारिणि	६७१	प्राप्तश्रीरेष कस्मा	५३७	रामं क्षिप्यतरयात	६४४
दिग्धानामपि	४२७	यथान द्रगेव द्रविम	१२१	रामं क्षिप्यतरयात	६०३
दीनवासे दवादां	६१४	यहुमानां समस्ता	६६०	रामायमाण श्रीरामः	३८७
दृष्टि सम्भृतमङ्गला	७०८	पुद्गिरन्विमहीपाल	५३०	रूपजला चलनयना	४७२
देवाः के पूर्वदेवाः	१११	पुद्गिर्दीपकला लोके	४७५	रूपवौवनलावण्य	२५२
दोर्दण्डद्वयकुण्डली	४२०	भवग्रीष्मश्रीदातप	४७१	रूपवत्यपि च क्रूरा	२७३
शौरभ्रमकालीभिः	६६३	मालुरश्रियंभो वाय	६११	लङ्कापुरादतितरां	३८८
द्राक्षेव भयुरं वाक्य	३४३	भामयति व्योमगता	६२४	लोहितपोतैः कुमुदै	३८०
द्विनेत्र इव वासवः	६६१	मुजन्ममितपद्मिनी	४२१	वदनकमलेन घाले	६४५
द्विर्भावः पुष्पकेतो	५३६	मुजो भगवतो माति	२०५	वदने विनियेशिता	६२९
धर्मस्यामा भाग	४७६	भुवनत्रितयेऽपिमानवै	४०१	वनितेति वदनधेतां	४०८
नखकिरणपरम्परा	३८३	भूधरा इव मत्तेभा	३०४	वराका यं राका	६६७
नगरान्तमहीन्द्रस्य	२९७	भूमीनाथ शहाव	४०१	वागिव मधुरा	३०४
नगेभ्यो यान्तोनां	३९९	मकरप्रतिमैर्महा	२९६	वामाकल्पितवामाङ्गो	३४२
नदन्ति मददन्तिन	१०५	मनुष्य इति भूदेन	६३६	वारिधिराकावासमो	३६२
		मयि खदुपमाविधौ	४०६		

श्लोकाः	पृष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः
विज्ञत्वं विदुषां गणे ५३४		श्लोकाधराशुसमिष्ठा २३६		साहंकारसुरासुरा ११२	
विद्वानर्मणि वाग्वाणे ५४५		रयाम सित च सुह ६२७		सिन्दूरारणवपुषो २७१	
विद्वत्सु विमलज्ञाना ६१७		रयामलेनाङ्कितं भाले २७०		सिन्दूरैः परिपूरित ५६५	
विद्वद्भ्यस्तमस्त्रिमूर्ति ५८७		संकेतकालमनसं ५७७		सुधासमुद्रं तव ३७	
विभाति यस्यां ललिता ७१०		सङ्ग्रामाङ्गसमुत्ता ६३१		सुपेव वाणी वसु २२८	
विमलतरमतिगभीरं ३०८		सदसद्विवेकरसिकै ४०८		सुविमलमौक्त ४६८	
वियोगवद्विकुण्ठे ६७२		सदृशी तव तन्वि ३५८		सौमित्रे ननु सेव्यता ३२५	
विलसत्याननं तस्या २००		सन्त्येवास्मिजगति ४३७		स्तनान्तर्गतमाणि ७१९	
वष्पुवचं स्थितो ३४३		सपहवा किं नु ५८४		स्तनाभोगे पतन्भाति १५९	
व्यापुञ्जमधुकर ६९६		सगृहं सौभाग्यं ५१६		रम्यमानननाम् ६२६	
व्योमाङ्गणे सरसि ४७०		सपर्ययता तामति ५८३		स्मितं मैतर्कितु ६२६	
प्रातकोटिफटिमचिस्त २६८		सरसि पूवदामाति ३४१		हरिचरणकमल १२२	
पारदिन्दुरिवाह्लाद २६१		सरोजतामय सदा ३०३		हरिचरणनक्षर ६१३	
शान्तिमिच्छसि चेदा ५४५		सर्पं हव शान्तमूर्ति २७२		हालाहलकालादल ६७२	
शिक्षानैर्मञ्जरीति ५९७		सविता विधवति ३७३			
शिशिरेण यथा सरो २५८		साम्राज्यलक्ष्मीरिव ५७२			



प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, वाराणसी-१